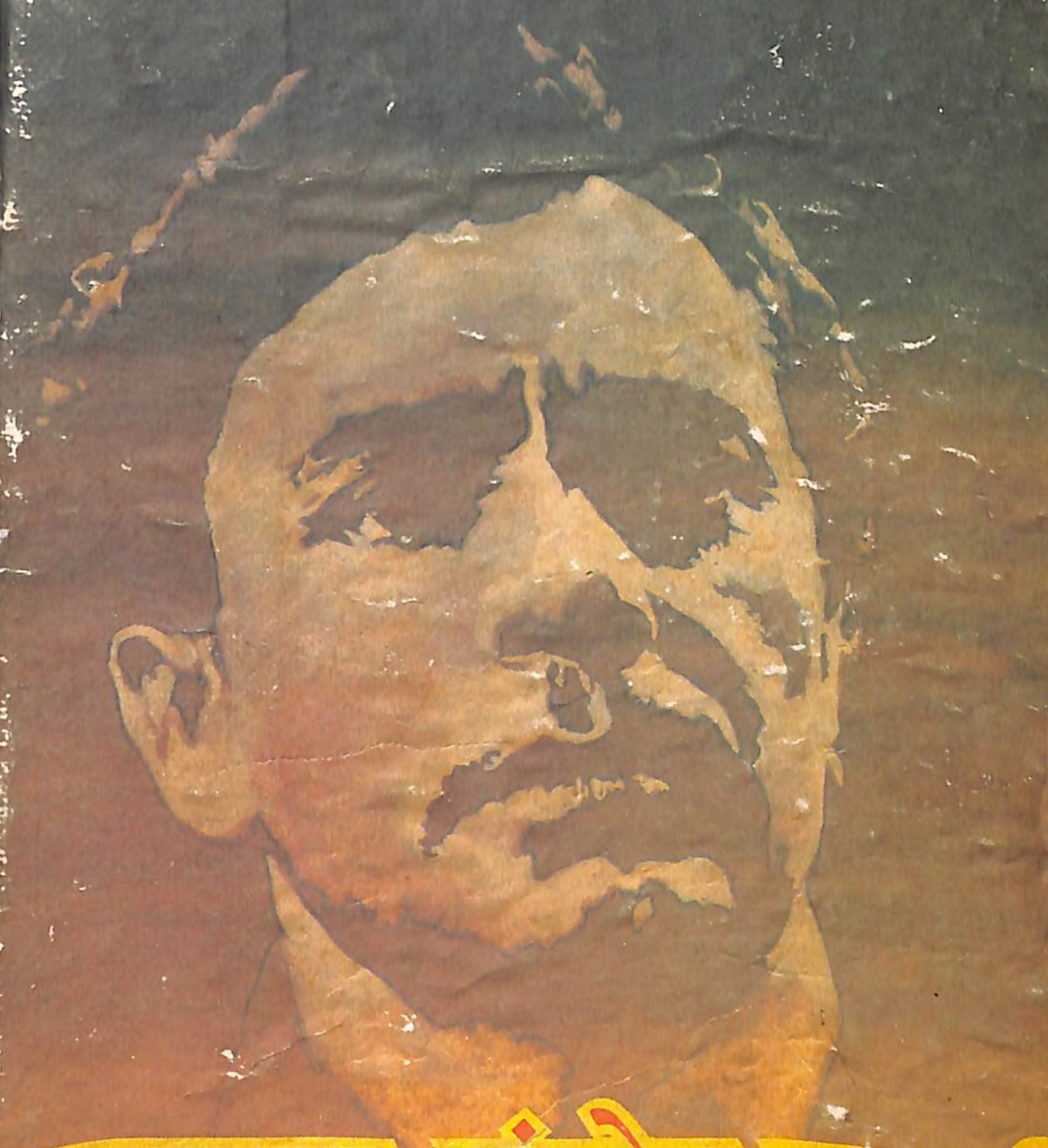

बलराज-संतोष साहनी समग्र

सम्पादक - डॉ० बलदेवराज गुप्त
प्राध्यापक (पत्रकारिता), बी० एच० यू०

Centre for the Study
of Developing Societies
29, Rajpur Road,
DELHI - 110 054

CENTRE FOR THE STUDY OF DEVELOPING SOCIETIES
LIBRARY
Accession No. ACN 6
Classification No. 28905

प्रकाशकीय कथ्य

समग्र की परम्परा का श्रीगणेश कहाँ हुआ-ठीक से कहना कठिन है। परन्तु अंग्रेजी साहित्य में महान रचनाकारों के समग्र प्रकाशित हुए। बंग और गुजरात साहित्य में भी समग्रों का पाठक वर्ग ने भारी स्वागत किया। हिन्दी में समग्र देने की हिन्दी प्रचारक संस्थान की शुरुआत काफी लोकप्रिय रही। कम दाम पर महान साहित्यकारों की समस्त रचनाओं का एकजिल्द में पाठकों के हाथों में देने का संकल्प हमने किया। इस महान यज्ञ में काफी धन की आहूति देनी पड़ रही है। कागज और छपाई के बढ़ते दाम ने गति अवरोधक का काम किया है।

यह एक आन्दोलन है। सतत् जारी है। हिन्दी के पाठक छपाई के माध्यम से अपने महान लोकप्रिय लेखकों के साथ तादतम्य स्थापित करें। इसी भावना के साथ हम आपसे मुखातिब हैं.

आप इन महान रचनाकारों की संगति चाहेंगे। इसी सोच के साथ। समग्र प्रकाशन का यह आन्दोलन हमने चलाया है। आपका सक्रिय सहयोग और उत्साह ही इसमें गति ला सकता है।

समग्र किसी भी रचनाकार के कार्यों का वह खुलासा होता है जिसमें साहित्यकार के जन्म, पनपने, विकसित होने की कहानी होती है। समाज को रचनाकार ने कैसे जिया, झेला और अनुभव किया। रचनाकार ने किस रंग-ढंग से मानवीय सम्बन्धों को उधेड़ा और बुना। अपने तौर तरीकों, प्रभावों, अनुभवों और प्रतिक्रियाओं को अपने अन्दाज से विभिन्न विधाओं में कैसे व्यक्त किया।

किस तरह से उम्र की दहलीजों विभिन्न आकारों में प्रतिबिम्बित किया? किस तरह से तथ्यों के सवारों को भावनाओं के घोड़ों पर आरोहित कर समाज की संकरी, चौड़ी, ऊबड़ खाबड़, कभी सपाट और कभी दलदली, रेतीली और कण्टकीय, भयावह और रुपहली राहों पर दौड़ाया। हर रचनाकार की हर दौड़ कामयाब रही हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। कभी स्वयं अश्वरोही, कभी अश्व, कभी रास्ता और कभी मौसम दौड़ में बाधक बना। निर्माण-सहजता की प्रेरणा कभी दरिया से तो कभी कतरे से मिलती है। कभी किसी की नाव मंझदार में डूबी तो किसी का सफीना किनारे पर तल पकड़ने लगा। कभी हवा का झोंका ही किसी को मंजिल तक बेप्रयास के पहुँचाने में मददगार साबित हुआ।

खुशनसीबी और बदकिस्मती रचना और रचनाकार के साथ नत्थी रहती है। पर रचनाकार को रचना का जन्म देते समय हर बार थोड़ी बहुत प्रसव पीड़ा तो सहनी पड़ती है। हर रचना की अपनी 'डिमांड' होती है। यह डिमांड 'बाइलोजीकल' होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति करता है रचनाकार, पात्र, सम्वाद और स्थितियाँ उत्पन्न करके और बन बैठता है सृजनकार; ईश्वरङ्ग

अपने मानस पुत्र पुत्रियों (पात्रों) के सुख, दुःख, जीवन-मृत्यु का संसार रचता है। यथार्थ और भावनाओं में बहते तैरते सामाजिक मूल्य के अवरोधक उसकी गति रोकते; बढ़ाते हैं।

भाषा के शाब्दिक वस्त्र, व्याकरण की 'फिटिंग' और अलंकारों के गहनों से प्रचलित 'फैशन'

या अपने अनोखेपन से फैशन का चलन करता है।

ऐसे ही प्रभावों और अनुभवों को जिया था बलराज साहनी ने। उनकी पत्नी श्रीमती सन्तोष साहनी जो उनसे काफी प्रभावित रहीं। साहित्य की विभिन्न विधाओं पर दोनों ने लेखनी चलाई थी। बलराज साहनी की समस्त रचनाओं के साथ श्रीमती सन्तोष साहनी की रचनाओं, नाटक, कविताएं, लेख, कहानियाँ और संस्मरणों का समग्र भी साथ दे रहे हैं।

हिन्दी प्रचारक संस्थान ने पहली बार किसी दम्पत्ति (पति-पत्नी) का समग्र प्रकाशित करने का लोभ किया है।

श्रीमती सन्तोष साहनी की बाल रचनाओं का साहित्य में अपना एक अलग स्थान है। उनका रेडियो व रंगमंच पर भी अपना अधिकार रहा है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र विभिन्न विधाओं पर उनकी लेखनी ने सुख-दुःख, पीड़ाओं, स्वप्नों और भावनाओं के मोतियों की अनेक मालाएं पिरोई हैं। यह मालाएं हम हिन्दी के पाठकों को अर्पित कर रहे हैं।

बलराज साहनी समग्र के सम्पादक प्रोफेसर बलदेवराज गुप्त--पत्रकारिता विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय ने अपना महत्वपूर्ण समय रचनाओं का संयोजन करने में लगाया है। हम उनके आभारी हैं।

कम्प्यूटर फोटो कम्पोजिंग के कार्य को सम्पन्न कराने में 'शुभम् कम्प्यूटर्स' मीरघाट, वाराणसी की श्रीमती प्रवीण इस्सर के उत्साह और उनके तकनीकी स्टाफ के सहयोग के लिए हम उनका भी धन्यवाद करते हैं।

हम महेश साहनी 'साहनी ग्राफिक्स' के भी आभारी हैं।

श्रीमती सन्तोष साहनी जी ने भी प्रूफ देखने में सहायता की साथ ही उन सभी फोटो छायाकारों, भूमिका लेखकों, बलराज साहनी एवं सन्तोष साहनी परिवार के मित्रों, सहयोगियों के प्रति हम कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। जिनका समग्र में उल्लेख है।

पुस्तक के कवर डिजाइन का निर्माण श्री आशिष सेनगुप्ता ने किया है उनका भी धन्यवाद।

हिन्दी प्रचारक संस्थान बलराज साहनी, सन्तोष साहनी समग्र को हिन्दी पाठकों के हाथों में देकर प्रसन्नता का अनुभव करता है।

–कृष्ण चन्द्र बेरी

सम्पादक की ओर से

अगर हम अपने आस-पास के माहौल को पकड़ने का प्रयास करें तो एक सामान्य आदमी के जीवन के इर्द-गिर्द भी बहुत कुछ होता है, बहुत कुछ घटता है, बहुत कुछ बीतता है। जो कुछ हमारे आस-पास घटता है उसमें से कुछ की छाप हमारे मस्तिष्क में गहरे में अंकित हो जाती है और कुछ समय की मार के साथ स्वतः विस्मृत हो जाती है। कुछ लोग ऐसे भी होते है जो माहौल को प्रभावित करते हैं, कुछ माहौल से प्रभावित होते हैं। बिरले ही ऐसे होते हैं जो उन सब तथ्यों, परिस्थितियों एवं घटनाओं को जो तत्व प्रभावित कर रहे हैं उन पर अपना असर डालते हैं। सम्भवतः बलराज साहनी एक ऐसा ही व्यक्तित्व था।

बलराज साहनी तीन भाषाओं में लिखते रहे। वह अंग्रेजी साहित्य के छात्र थे और १९३३ में पंजाब विश्वविद्यालय (लाहौर) से अंग्रेजी साहित्य में एम०ए० किया था और अंग्रेजी से प्रभावित होकर अंग्रेजी में लिखने लगे थे। अंग्रेजी का उनका कोई लेख, मुझे पढ़ने का अवसर तो नहीं मिला। हाँ हिन्दी में मैंने उन्हें पढ़ा, १९३५ से उन्होंने हिन्दी में लिखना शुरु किया और उनका यह लेखन कहानी कि विधा से शुरु होता है। इधर मुझे जब 'बलराज साहनी समग्र' का सम्पादन करने का दायित्व सौंपा गया तो मैंने उनकी अनेक हिन्दी रचनाओं को पढ़ा। हिन्दी में उन्हें लिखने की सलाह श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने दी थी। उनकी पहली हिन्दी कहानी 'शहजादों का ड्रिंक' पंडित बनारसी दास चतुर्वेदी ने 'विशाल भारत' में प्रकाशित की थी।

बलराज साहनी-प्रसिद्ध साहित्यकार श्री हीनानन्द सचिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' से बुरी तरह झटका खाने के बाद भी उन्हें 'बस्ता' (कश्मीरी में उस्ताद या गुरु) का दर्जा देते थे। चतुर्वेदी जी के बाद 'अज्ञेय' जी विशाल भारत के सम्पादक हुए थे।

बलराज ने उन्हें अपनी दूसरी कहानी भेजते हुए लिखा-' -------- मेरा हिन्दी ज्ञान बहुत कम है। ---- मैं आपसे हिन्दी में लिखना सीखूँगा।' ----- मैं कलम के सहारे जिन्दा रहने की कोशिश कर रहा हूँ ---- मेरी रचना के लिए कुछ भी पारिश्रमिक देंगे तो आपका आभार मानूंगा।

कहानी लौटाते हुए अज्ञेय ने अंग्रेजी में हाशिये के बाहर एक कोने में लिखा 'कहानी की भाषा एकदम अशुद्ध है। इस पर मेहनत करने का अर्थ होगा कि आप पारिश्रमिक मांगे नहीं बल्कि पारिश्रमिक दें।'

बलराज निराश नहीं हुए। कलकत्ता चले गए और 'विशाल भारत' के समकालीन 'सचित्र भारत' में चार रुपये प्रति सप्ताह पर उसमें लिखने लगे थे।

ऐसी थी 'अज्ञेय' की फटकार और बलराज का उत्साह।

बकौल चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के बलराज साहनी १९४० में हिन्दी के नव लेखकों में सम्मान प्राप्त कर चुके थे। उनकी मातृभाषा न तो अंग्रेजी थी और न हिन्दी फिर भी उन्होंने हिन्दी की बढ़ती लोकप्रियता और राष्ट्रीय महत्व को आंक लिया था। उन्होंने

कलकत्ता में रहकर साहित्य सृजन किया। कलकत्ता से वे शांति-निकेतन चले गये जहां उन्हें हिन्दी के मूर्धन्य विद्वान पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी के सानिध्य में अध्यापन कार्य करने का अवसर मिला। शांति निकेतन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बलराज साहनी को प्रायः हिन्दी साहित्य में गहन अनुभव को आत्मसात करने की ही प्रेरणा नहीं दी थी, बल्कि उन्होंने बलराज जी को उनकी मातृभाषा पंजाबी में लिखने के लिये भी प्रेरित किया था। पराई भाषा में लेखक अपनी समस्त संवेदनशीलता की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर पाता है। इस बात की पुष्टि प्रख्यात अंग्रेजी लेखक श्री मुल्कराज आनन्द ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में मेरे विभाग (पत्रकारिता एवं जन संचार विभाग) में व्याख्यान के दौरान की थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'बंगला साहित्य' और सत्यजित रे की 'बंगला फिल्में' पूर्ण अभिव्यक्ति का सबसे बड़ा उदाहरण है।

वैसे बलराज साहनी का झुकाव भाषाओं की ओर शुरु से ही था। उन्होंने १० वर्ष की आयु में ही संस्कृत की 'बाल्मीकी-रामायण' का अध्ययन किया था और उनका कवि मन उसी तरह के श्लोक भी लिखने लगा था। एक बार तो आर्यसमाज के एक जलसे में जनसूह के सम्मुख उन्होंने कई श्लोकों का सश्वर पाठ भी किया था। बलराज का साहित्य के प्रति रुझान उनकी बाद की सभी लेखन विधाओं में स्पष्ट रुप से परिलक्षित होता है। वह स्वयं कहते हैं 'साहित्य की पाठयपुस्तकें मुझे अनायास ही जबानी याद हो जाया करती थीं।' बलराज साहनी अन्तः मन से साहित्यकार ही बनना चाहते थे और बचपन से ही उन्होंने कहानियाँ, कविताएँ लिखना आरम्भ कर दिया था।

बेशक आज का पाठक वर्ग और नयी पीढ़ी बलराज को एक अभिनेता के रुप में हीं जानती है पर बलराज साहनी का फिल्म विधा में आना और फिल्म अभिनेता बनना एक संयोग की बात ही थी। वैसे बलराज साहनी के अभिनेता बनने की बात हम बाद में करेंगे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि स्वयं बलराज साहनी का सिनेमा से रिश्ता हुआ, तो, हुआ कैसे? 'प्लेग' की बीमारी का और बलराज साहनी के सिनेमा से जुड़ने से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। बलराज साहनी स्वयं कहते हैं कि रावलपिण्डी शहर (अब पाकिस्तान) में जहाँ के वह रहने वाले थे एक बार 'प्लेग' का खतरा हुआ। घर में मेरी माँ ने चूहे मरते देखे और बच्चों को लेकर मेरी माँ भेरे (गाँव का नाम) चली आयी। यह शहर गाँव जैसा ही था। यहाँ पर पहली बार स्कूल की ओर से विद्यार्थियों को 'बाईसकोप' दिखलाने के लिए मडुंआ लगा। यह तम्बू और कनाते लगाकर तैयार किया गया पंडाल था। और यहीं पहली बार माँ की इजाजत लेकर मैं सिनेमा देखने गया। मुझे याद है कि कई दृश्यों को प्राम्प्ट (बुलारा) करने वाला कहता 'साहब ख्याल रखे यह नंगी नहीं है इसने जादुई पोशाक पहन रखी है जिसे यह देख सकती है और आप नहीं देख सकते।'

अपने बचपन के स्मृति चिन्हों को कुरेदते हुए बलराज साहनी लिखते हैं 'मुझे याद नहीं कि उस समय मेरे अंदर कोई काम भावना जाग्रत हुई थी या नहीं, पर जवानी के दिन बहुत दूर नहीं थे और बालिग (व्यस्क) होते ही औरत की नग्न छातियाँ के 'क्लोज-अप' मेरे लिए स्वाद लेना का साधन बन गये थे और उससे मेरी कितनी शारीरिक या मानसिक हानि हुई मैं कह नहीं सकता।'

बाद में बलराज साहनी ने अपने बचपन के दिनों में घर के नौकरो के साथ मिलकर कई फिल्में देखी। जिनमें अंग्रेजी फिल्मों में पुरुष और स्त्री की निर्लज्ज़ता के भोगदृश्य थे।

स्वयं बलराज कहते हैं कि ज्यों-ज्यों मैं बालिग होने लगा ये दृश्य जिनसे मुझे पहले घृणा हुई थी बाद में आकर्षण में बदल गये। यह थी फिल्मों के साथ मेरी पहली जान-पहचान।' उन्हीं के शब्दों में, 'सिनेमा के इस प्रभाव को हर कोई महसूस करता है। जाहिर है कि अगर ऐसी शक्तिशाली कला को केवल व्यापारिक ढंग से इस्तेमाल किया जाए, और समाज का उस पर अंकुश न हो, तोबड़े खतरनाक नतीजे निकल सकते हैं।'

प्रौढ़ावस्था में बलराजसाहनी बेशक पूरा समय फिल्मों में बिताते रहे और उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कृति 'सिनेमा और स्टेज' लिखी। इसमें उन्होंने फिल्म विधाओं के अनेक आन्तरिक पक्षों को प्रस्तुत किया है और सिनेमा को अनगिनत कला समूहों का नाम दिया है। बलराज साहनी ने सिनेमा में लगभग सैतीस अड़तीस साल की उम्र में प्रवेश किया था। वह सिनेमा के व्यापक प्रभाव को सदैव स्वीकारते रहे हैं। सिनेमा के बारे में अपने विचारों को बलराज ने अनेक माध्यमों में व्यक्त भी किया है। साहित्य और सिनेमा में यर्थाथवाद से बलराज साहनी का तात्पर्य था 'यर्थाथवाद का मतलब है, कला में लम्बाई चौड़ाई और गहराई-तीनों आयामों का होना। लम्बाई और चौड़ाई को पेश करना आसान है, गहराई पैदा करना बहुत मुश्किल है।' उदाहरणार्थ 'काबुली वाला' जिसमें एक पठान की भूमिका है जिस बलराज साहनी ने फिल्म में भी अभिनीत किया है स्टेज पर भी और नाटक में भी। उन्होंने इस पात्र को जीवन्त बना दिया था, रेडियो में भी उन्होंने 'काबुली वाला' का प्रसारण किया था। पठान न होते हुए भी पठान की भूमिका अलग-अलग माध्यमों में उन्होंने बखूबी पूरी की। बेशक एक ही पात्र को विभिन्न माध्यमों में व्यक्त करने में उन्होंने जितनी कठिनाईयों को व्यक्त किया है वह आज के नये अभिनेता, मंच कलाकारों, रंगकर्मियों और रेडियो कलाकारों के लिए मार्गदर्शन बन सकती है। कोई चित्र, कोई संगीत अपनी रचनात्मक क्रिया में स्वाभाविक नहीं होता। लेकिन जब उसे उसके अन्तिम रुप में पेश किया जाए तो वह स्वाभाविक होना चाहिए।' 'शब्द, 'अर्थ' और उसका 'भाव' तीनों का ताल-मेल किसी भी अभिनय को अद्वितीय और चिरस्थायी बना देता है। बलराज साहनी ने कलाकार के रुप में समाज के अनेक वर्गो बच्चों, व्यस्कों, बूढ़े लोगों पड़ोसियों के सन्दर्भ में झांक कर देखा। उन्हें समझा और पाया है कि इन चरित्रों को कैसे जिया जाता और भोगा जाता है। उनमें निहित भावनाओं को आत्मसात किया और जब उसे उसके अन्तिम रुप में पेश किया तो वह स्वभाविकता से ओत प्रोत था।

बलराज साहनी फिल्म में कला और व्यवहार की दुनिया की आपसी खींचा-तानी को भी अपनी पुस्तक 'सिनेमा और स्टेज' की दुनिया में बाखूबी स्पष्ट करते हैं। स्टूडियों का जीवन, कलाकारों का जीवन और निर्देशकों से कलाकारों के संबंध को भी उन्होंने इस पुस्तक में सविस्तार लिखा है। थियेटर और 'इप्टा' पर उनकी पकड़ और जानकारी इस बात से प्रकट होती है कि कलाकार को भी एक तपस्या करनी होती है।' वह पृथ्वीराज कपूर को कलाकारों के लिए आदर्श व्यक्तित्व मानते थे।

बलराज साहनी मूलतः पंजाबी थे और पंजाबी होने पर उन्हें गर्व भी था। इसलिए पुस्तक में उन्होंने 'भारतीय फिल्म इण्डस्ट्री' को पंजाबियों की देन का भी एक अध्याय जोड़ने का सफल प्रयास किया है।

बलराज साहनी एक दमदार और साफगोई में विश्वास करने वाले मजबूत आदमी ही नहीं एक प्रौढ़ और विचारवान लेखक भी थे। आत्म आलोचना और खुद पर हँसने की भी उनमें जुर्रत थी। जहाँ वह पंजाबियों के गुणों के कायल थे वहीं पंजाबियों की खामियों को भी उन्होंने स्वीकारने में गुरेज नहीं किया। अंग्रेज शासक पंजाबियों को सांस्कृतिक तौर पर पिछड़ा हुआ रखना चाहते थे ताकि तोपों का सामना करने के लिए रंगरुट मिलते रहे। आजादी के बाद भी पंजाबी सांस्कृतिक तौर पर पिछड़े रहे। फिल्मों पर पंजाबियों ने बड़ा प्रभाव डाला बड़ी मेहनत कर इसे इण्डस्ट्री बनाया पर अपनी भाषा व संस्कृति के लिए इन्होंने कुछ नहीं किया। पंजाबी नाम और खुशहाली में तो आगे है पर कला और संस्कृति में पिछड़े हुए हैं।

उन्होंने लिखा है कि 'हमारे भारतीय मानस में भी गाँधी तथा टैगोर (रविन्द्रनाथ) से प्रेरणा लेकर राष्ट्रीय भावना जागी थी और 'न्यू थियेटर' तथा 'प्रभात फिल्म कम्पनी' जैसी संस्था बनी थीं लेकिन आज पंजाबियों के प्रभाव के कारण इस क्षेत्र में भी नकल का झण्डा बड़ी मजबूती से गाड़ा जा चुका है। 'पंजाबियों की तुलना में सिनेमा के क्षेत्र में बंगालियों की देन यद्यपि बहुत कम है पर कलात्मक दृष्टि से उन्होंने न केवल बंगाल और हिन्दुस्तान को अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म-इंडस्ट्री में स्थान दिलाया है, बल्कि समूची भारतीय फिल्म इंडस्ट्री के कलात्मक स्तर को ऊंचा उठाने में लगातार प्रयत्न किया है। संख्या में अधिक और अच्छे साधनों के होते हुए भी पंजाबियों ने आज तक पी. सी. बरुआ, देवकी बोस, बिमल राय, सत्यजित राय और अमिय चक्रवर्ती जैसी हस्तियां पैदा नहीं कीं।

बात पंजाबियों की आयी तो बलराज साहनी द्वारा लिखी उनकी पुस्तक 'पाकिस्तान का सफर' का हवाला देना भी मैं आवश्यक समझता हूँ। यह सफर उन्होंने १९६२ में किया था। उन्होंने अपने इस दौरे का वर्णन बड़े ही मार्मिक ढंग से संवेदनशील होकर किया है। किस प्रकार यादें ताजा हो जाती हैं बीती घटनाओं से जुड़ी चीजों को देखकर। इसका वर्णन बलराज साहनी ने बड़े ही आकर्षक ढंग से किया है। इतिहास के छात्र जानते हैं कि शाहजहाँ ने हिन्दुस्तान में अनेक यादगार इमारतों को बनवाया था। ये इमारतें दिल्ली, लाहौर, आगरा में आज भीसिर उठाये खड़ी हैं। बलराज लिखते हैं कि देश के बंटवारे के बारे में क्या लाहौर वाला शाहजहाँ पाकिस्तानी था और आगरा वाला शाहजहाँ हिन्दुस्तानी था? नहीं। पाकिस्तान में एक स्थान है 'डेरा बाबा नानक' पाकितानी आज भी इस स्थान को बड़ा मर्दमखेज इलाका मानते हैं। 'मर्दमखेज' शब्द प्रतिभा का बोध कराता है तथा बाबा डेरा नामक ऐसे ही व्यक्तियों का जन्म स्थान रहा है। यहीं से ही थोड़ी दूर पर एक और कस्बा समाज में प्रसिद्ध है। नाम है 'टोबा टेकसिंह' इस शीर्षक से उर्दू के प्रसिद्ध कहानीकार सआदत हसन मण्टो ने बंटवारे पर बतौर एक कहानी लिखी थी। लाहौर के मुसलमान जिनसे बलराज साहनी के पाकिस्तान में दोस्ताना रिश्ते थे वह इधर (भारत) के भगवान या 'गॉड' को अलग-अलग मजहब वाले बेशक अलग-अलग ढंग से पूजते हैं पर उसकी अपनी जाति में इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। अगर वह एक है तो तीन या चार खुदा नहीं हो सकते।'

पाकिस्तान के बारे में खास तौर से बलराज का 'फ्लैश-बैक' इस प्रकार संचालित होता है। 'लाहौर की अनारकली' भीड़ उतनी ही है पर रौनक नहीं। पिण्डी की तरह यहाँ भी जहाँ पहले हिन्दू किताबें बेचता था वहाँ मुसलमान बेच रहा है, जिस दुकान पर

बिसाती बैठता था वहाँ बिसाती बैठता है, जहाँ पहले हिन्दू दूध-लस्सी बेचता था वहाँ मुसलमान दूध-लस्सी बेचता है और सिखों की कमी किसी हद तक मौलवी टाइप दाढ़ियाँ पूरी करती हैं पर औरतों की अनुपस्थिति कोई भी छलावा पूरी नहीं कर सकती। --- इसके अलावा कोई खास तरक्की पसन्द तब्दीली देखने में नहीं आती। '------ हिन्दुस्तान की फिल्में वहाँ खूब पसन्द की जाती हैं।' ---- बकौल बलराज साहनी के पाकिस्तानी लोकमत, सामाजिक जीवन में पर्देदारी का पक्षधर है और फिल्मों में वह बेपर्दगी का समर्थक है, अधनंगे अंगों का जुनून और अश्लीलता सम्पूर्ण आदमियों पर छा चुकी है।'

बलराज साहनी एक कम्युनिस्ट थे। बलराज साहनी ने 'इप्टा' के माध्यम से रंग-मंच पर बेबाक चरित्रों को जीकर सामाजिक परिवर्तन में यथाविधि योगदान दिया था। बलराज साहनी का जीवन मार्क्सवाद प्रभावित रहा। जिन लोगों को मार्क्सवाद का ज्ञान नहीं है, वे उसे केवल एक राजनीतिक सिद्धांत समझे हुए हैं। यह उनकी बहुत बड़ी भूल है। मार्क्सवाद वास्तव में एक दर्शन है, जो प्राकृतिक और सांसारिक जीवन के हर पक्ष को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखता है। वह कहते हैं कि ज्यों-ज्यों मार्क्सवाद का अध्ययन करता गया मेरी दिमागी धुन्ध मिटती गयी और मेरे अन्दर रोशनी हो गयी। मार्क्स की प्रसिद्ध पुस्तक 'दि कैपिटल' का बलराज साहनी पर गहरा प्रभाव था। उन्होंने अपनी 'फिल्मी-आत्मकथा' में लिखा है जिन्स (वस्तु) हमसे बाहर की चीज होती है वह अपने गुणों से किसी न किसी के इंसानी जरुरतों को पूरा करती है। इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि वे जरुरतें शारीरिक हैं अथवा मानसिक।' बलराज साहनी अभिनय कला को भी मार्क्सवादी दृष्टि से देखते हैं और कहते हैं कि 'अभिनय कला भी अन्य दुनियावी जरुरतों की तरह एक जिन्स है। बढ़ई मेज-कुर्सी बनाकर या इंजिनियर मशीनें बनाकर आदमी की कोई न कोई शारीरिक आवश्यकताएं पूरी करता है। उसी प्रकार लेखक नाटक की रचना करके या अभिनेता किसी पात्र की भूमिका निभा करके मानव की मानसिक आवश्यकताएँ पूरी करता है। दोनों एक ही तरह के काम हैं और पात्र हैं, और प्रशंसा के हकदार हैं।' वह लिखते हैं लोग समाजवाद की बहुत सी परिभाषाएँ करते हैं ---- मेरी मुराद उसी समाज से है जो आज हमारे देश का स्वीकृत लक्ष्य है। ---- मेरा अपना दृष्टिकोण समाजवादी है और मैं समझता हूँ कि इस बात ने फिल्म के क्षेत्र में मेरी बड़ी सहायता की है, क्योंकि समाजवाद आज के युग की सबसे ऊंची, सबसे खरी और सबसे सुलझी हुई विचारधारा है।' बलराज साहनी के 'इप्टा' के साथ गहरे संबंध थे। ख्वाजा अहमद अब्बास और शम्भूमित्रा के साथ उन्होंने काम, विमलराय की 'दो बीघा जमीन' और धरती के लाल' उनके मार्क्सवादी व्यक्तित्व को सुनिश्चित करते हैं। इन फिल्मों में बलराज ने अपने मार्क्सवादी दर्शन का सही प्रस्तुतीकरण किया था परन्तु बलराज जिसे स्वयं अपने प्रति मोह था। स्वयं से प्यार था। जो जवानी के दिनों में घण्टों अपने चेहरे को शीशे में देखते रहते थे और हर हीरो से अपनी शक्ल मिलाते थे कभी-कभी उन्हें अपने को खूबसूरत मानने का मुगालता भी हो जाता था। वही बलराज जब कलम पकड़ते हैं तो उनका लेख सब कुछ भुलाकर यथार्थ के धरातल पर उतर आते हैं। वे लिखते हैं 'आज अगर कोई व्यक्ति मेरी प्रारंभिक फिल्मों को देखे तो उनमें मेरा काम उसे इतना घटिया लगेगा और उसके आधार पर उसे यह विश्वास करने में कठिनाई होगी कि मैं कभी अच्छा अभिनेता बन सकूँगा।'

बलराज साहनी का यह मानना आज भी सही साबित होता है कि 'मर्दों की अपेक्षा स्त्रियों में अभिनय की प्रतिभा कहीं अधिक होती है' बाहुबल की कमी स्त्री को चालाकी से काम लेने पर मजबूर करती है।' उन्होंने अपनी प्रथम पत्नी दमयन्ती जो एक अच्छी अभिनेत्री भी थी; उसके बारे में लिखा है कि 'मैं दम्मो (दमयन्ती) को कैमरे के सामने लापरवाही से हँसते, गाते व नाचते हुए देखकर बहुत हैरान होता था।' बलराज मानते हैं कि मर्दों में संकोच अधिक होता है स्त्रियाँ बचपन से ही चंचल और चपल होती है। बलराज साहनी की पहली पत्नी दमयन्ती अपने समय की स्टार रही थी और दूसरी पत्नी श्रीमती संतोष साहनी एक समृद्ध और प्रसिद्ध बाल्य साहित्य की लेखिका हैं जिनकी रचनाएं भी बलराज साहनी समग्र के साथ दी जा रही हैं।

बलराज साहनी मंच कलाकार, अध्यापक, अभिनेता, रेडियो एनाउन्सर, सम्पादक, जननेता कार्यकर्ता सब कुछ थे। पर उनका साहित्यकारों व लेखकों से अपना एक अलग रिश्ता था जिसको हम कुछ देर बाद देखेंगे। पर यहाँ बात फिल्मों की चली है तो फिल्मी अभिनय और उससे जुड़ी शोहरत खास तौर पर फिल्मी-हस्तियों के जीवन पर उसके प्रभाव को भी देखते हैं। फिल्मी जीवन की यथार्थता एवं उससे जुड़े सिने कर्मियों के बारे में वह हमेशा चिन्तित रहते थे। वह सिने-युनियनों की हालत से भी वाकिफ थे।' वह कहते हैं कलाकार मैं भी हूँ, पर किसी यूनियन का मेम्बर आज तक नहीं बना। फिल्म लाइन में कलाकारों, टेकनिशियनों और कर्मचारियों का दूसरे क्षेत्रों की अपेक्षा, कम शोषण या अपमान नहीं होता। फिल्म में असर-रसूख वाले सिर्फ गिनती के कुछ व्यक्ति, जिनमें मेरा नाम भी शामिल है, ऊपर की सारी मलाई उतारकर ले जाते हैं। बाकी लोगों को उनकी मेहनत का योग्य पारिश्रमिक मिलना तो एक तरफ रहा, बाकायदा हर महीने तनख्वाह मिलने का भी भरोसा नहीं होता।' वह सब होते हुए भी बलराज साहनी की पहचान अलग है। वह ऐसा अभिनेता थे जिसने मोटरसाईकिल चलाने के लिए मासिक वेतन पर ड्राइवर को रखा था। जबकि लोग कार चलाने के लिए ड्राइवर नियुक्त करते हैं। लोग कहते हैं कि बम्बई शहर में प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही दुनिया में खोया रहता है। फिल्म-स्टार का जीवन अपनी जगह किसी छोटे-बड़े तुल्फ से कम नहीं होता। बलराज लिखते हैं कि उन दिनों हमारा घर कामरेडों का कैम्प, और फिल्म निर्माताओं और अभिनेताओं, पत्रकारों और फोटोग्राफरों के लिए आकर्षण का केन्द्र बना रहता था पर २७ अप्रैप १९४७ को बलराज की पहली पत्नी दमयन्ती सांहनी की मृत्यु हो गयी और सब सूनसान हो गया। बलराज लिखते हैं कि १५ अगस्त, १९४७ को देश के दो टुकड़े हो गये। देखिये उनकी संवेदनापूर्ण यह पंक्ति 'हमारा सारा परिवार रावलपिण्डी से उजड़कर अलग-थलग बिखर गया और मेरा ताश का घर बिखर गया।'

नया देश पाकिस्तान बन चुका था। भारत बांट दिया गया था। बंटवारे के बावजूद बलराज बच्चों को लेकर पाकिस्तान की तरफ बढ़े और वहाँ कम्युनिस्टों का साथ पकड़ा और शहीद भगतसिंह के साथी श्री धनवंतरि के साथ सायकिल पर सवार होकर आजादी के तराने गाते गांव-गांव घूमने लगे। पर देश फिर न जुड़ सका। इसका अफसोस रंज उनमें बना रहा।

बलराज साहनी के हीरो बनने की भी एक अजब दास्तां है, जिसमें उनके मित्र हिन्दी उपन्यासकार श्री अमृतलाल नागर का हाथ था। चेतन आनन्द ने भी बलराज को

मनोवैज्ञानिक ढंग से अनेक अवसरों पर साहित्यिक तकनीकी और आर्थिक सहायता दी थी। एक फिल्म थी 'गुंजन' इसमें बलराज साहनी हीरो थे हीरोइन थी नलनी जयवंत और दूसरे कलाकार थे त्रिलोक कपूर। फिल्म खास नहीं चली पर बलराज अपनी आत्म आलोचना करते हुए लिखते हैं कि 'गुंजन' की कहानी अब मुझे याद नहीं है। कहानी लिखी तो एक अच्छे साहित्यकार द्वारा गयी थी। नागर जी (श्री अमृतलाल) खुद अभिनेता नहीं थे इसलिए वह मेरी (हीरो) कमजोरी को पहचान न पाये थे अगर मेरी जगह यह रोल दिलीपकुमार या राजकुमार से करवाया गया होता तो फिल्म यादगार बनती।' ऐसी स्पष्टवादिता फिल्म इंडस्ट्री में आज कहाँ देखने को मिलती है। बलराज साहनी श्री अमृतलाल नागर के साथ अपने संबंधों का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट करते हैं नागर जी फिल्मों से निराश होकर फिल्म जगत छोड़ गये थे। वह फिल्मों में बड़ा उत्साह लेकर आये थे। मैं जानता था कि उन्होंने भी मुंशी प्रेमचन्द जी की तरह पैसे की खातिर अपनी आत्मा को धोखा देना स्वीकार नहीं किया था। किसी हद तक बलराज साहनी अमृतलाल नागर कीइस नकामयाबी का दोषी स्वयं को मानते थे।

बलराज साहनी ने साहित्यकारों से अपने रिश्ते मजबूत बनाये थे वहीं फिल्म निदेशकों से भी उनके संबंध अच्छे थे। उन्होंने बिमलराय द्वारा निर्देशित 'दो बीघा जमीन' के बारे में अपने कुछ रोचक संस्मरण 'मेरी फिल्मी आत्मकथा' में दर्ज किये हैं। वे कितने मानवीय हैं।

फिल्म 'धरती के लाल' से प्रभावित होकर ही महेश कौल ने खुद एक यथार्थवादी फिल्म 'काशीनाथ' बनाई थी। इसमें तृप्ति मित्रा एवं राजकपूर ने हीरो का काम किया था। 'काशीनाथ' अविस्मरणीय फिल्म बनी थी। पर व्यापारिक असफलता के बावजूद, 'धरती के लाल कलात्मक दृष्टि से बढ़िया फिल्म थी। देश की बजाय विदेशों में इसे सराहा गया था।

बलराज साहनी कहते हैं, बिमलराय ने 'दो बीघा जमीन' और सत्यजित राय ने 'पाथेर पंचाली' में वही रास्ता अपनाया, जिस राह के कांटे 'धरती के लाल' ने साफ किये थे। अब्बास फिर रास्ते से शायद हट गए उन्हें फिर वह इज्ज़त व शौहरत नहीं मिली जो 'धरती के लाल' में मिली। एक निर्माता नेयहाँ तक कहा था, 'आप लोगों ने तो यथार्थवाद में रुसियों को भी मात कर दिया है।'

बलराज देश के राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन पर भी कड़ी नजर रखते थे। उनकी पत्नी दमयन्ती जो 'स्टार' बन चुकी थी। खद्दर का लिबास पहनती मोटरों की बजाय लोकल ट्रेन से सफर करतीं। बलराज अपनी स्टार पत्नी के बारे में लिखते हैं। पहले हम दस रु० के नोट को भी आंखे फाड़कर देखते थे और अब सौ-सौ के बंडल महत्वहीन हो गए थे। ज्यादा कमाई दम्मों की थी-पर उसे न पैसे जमा करने का शौक था न सुख आराम का-खद्दर का सफेद सूट उसका लिबास था। घर के गुजारे के लायक पैसे रखकर बाकी सारे पैसे वह देश सेवा की भेंट चढ़ा देती।' घर से बाहर आकर बलराज जी जब स्थितियों का विश्लेषण करते हैं-हमारे देश का सारा राजनीतिक नेतृत्व पूंजीपति-वर्ग की पैदावार रहा है। एक समय था जब मजदूरों-किसानों की सबसे महत्वपूर्ण संस्था कम्युनिस्ट पार्टी थी। पर वह भी कांग्रेस और मुस्लिम लीग के पीछे-पीछे चलने लगी थी, हालांकि वह ऐसा बढ़िया मौका था वह आगे बढ़कर उन दोनों पार्टियों से नेतृत्व

छीन सकती थी परजंग की हिमायत करने की वजह सेउस पर देशद्रोही होने का इल्जाम लग चुका था।'

'जहाजियों की बगावत' का वर्णन करते हुए-बलराज बम्बई में इस दृश्य को अपनी आत्मकथा में बांधते हुए कहते हैं।----वह एक समय था सारा बम्बई शहर-क्या हिन्दू, क्या मुसलमान और क्या पारसी-एक होकर गोरों पर टूट पड़े थे। गोरे बिना किसी पूर्व सूचना के राह चलते लोगों पर शरीर के अन्दर जाकर फटने वाली डमडम की गोलियां चलाकर आगे बढ़ जाते थे। पर लोगों के उत्साह का क्या कहना। इधर गोली चलती उधर सड़क पर फिर से भीड़ का हुजूम आ जाता।

बलराज जी ने नेता वर्ग से नाखुश थे, आगे लिखते हैं-चाहे सही, चाहे गलत मैं बार-बार यही सोचता हूँ कि अगर उस समय हमारे नेताओं ने जनता का साथ न छोड़ा होता, अंग्रेजों से समझौता करने की वजाय बगावत की रहनुमाई की होती तो अंग्रेज का तम्बू उसी मौके पर उखड़ जाता। जहाजियों की हिमायत में हवाई सेना ने हड़ताल कर दी थी। बम्बई पुलिस विगड़ गई थी। नेता जी की आजाद हिन्द फौज के पद चिन्हों पर चलकर सरकारी फौजों द्वारा बगावती झंडा उठा लेना भी हैरानी की बात नहीं थी। तब न देश का बंटवारा होता, न ही पुरानी रिश्वतखोरी नौकरशाही का ढांचा सलामत रहता, जिसने आज जनता की नाक में दम कर रखा है।

'गांधी जी ने स्पष्ट कर दिया था-मेरा 'अहिंसा' और 'धर्म' का रास्ता है। मुझे कांग्रेस और राजनीतिक मार्ग दर्शन से छुटकारा दे दिया जाए। पर नेहरु और अन्य कांग्रेसी नेताओं को गांधी जी के कंधों पर चढ़ने की आदत जो पड़ चुकी थी।'

बलराज जी स्थितियों का मूल्यांकन करते हुए कहते हैं-'सरदार वल्लभ भाई पटेल और कायदे आजम मुहम्मद अली जिन्नाह दोनों मिलकर बागी जहाजियों के हाथों से हथियार छुड़वाने के लिए आगे आए। कठिन समय में काम आने के उपकार के बदले में आखिर अंग्रेज सरकार ने उन्हें आपस में ही लड़ा दिया। जो इंकलाबी बाढ़ अंग्रेज साम्राज्य को बहा देना चाहती थी, वह अपने ही देशवासियों के पांव उखाड़ने लगी।'

'पूरब के नाई' में बलराज साहनी ने उन १३ हिन्दी रचनाओं को सम्मिलित किया है जो उन्होंने प्रायः १९३८-३९ के दौरान लिखीं थी। 'दिल्ली' शीर्षक से उन्होंने दिल्ली और नयी दिल्ली कातुलनात्मक खाका प्रस्तुत किया है। 'पुरानी दिली के मकानों, दुकानों, खिड़कियों और बरामदों का रंग ग्रीन यानी हरा और आँखों को आराम पहुँचाता है, वहीं नयी दिल्ली की इमारतें यानी बिल्डिंगे सफेद ही सफेद हैं और आँखों को पागल बना देती है---- नयी दिल्ली की सड़कें इतनी चौड़ी हैं और इतनी तपती हैं कि उनमें से एक मकान से दूसरे मकान तक जाते-जाते आदमी भाड़ का भुना आलू हो जाता है।

भारत की राजधानी नयी दिल्ली के बारे में बलराज लिखते हैं दिन में नयी दिल्ली ऐसे नजर आती है जैसे धोवियों ने शहर धोकर सूखने डाल दिया हो। मैं कई ऐसे व्यक्तित्व यानी व्यक्तियों से जांन पहचान है जो कई-कई बार इन एक सी इमारतों के चक्कर में आकर अपना घर ही भूल बैठे और कनाट प्लेस के चक्कर मारते-मारते बेहोश हो गये हैं। वर्तमान राजनेताओं का जनता और घर से दूर हो जाने का कैसा सटीक खाका बलराज जी ने खींचा है।

चन्द्रगुप्त विधालंकार रिश्ते में बलराज साहनी के जीजा लगते हैं। एक रचना 'जीजा जी का बदला' भी है इसमें उन्होंने रोचक शैली में अपने संस्मरण लिखे हैं।

बलराज साहनी कई बार सोवियत संघ की यात्रा कर चुके हैं। अब सोवियत संघ टूट चुका है और रुस उसमें सबसे प्रमुख देश के रुप में संसार के नक्शे पर हमारे सामने है। बलराज साहनी ने अपनी सोवियत संघ के यात्रा संस्मरणों को 'रुसी सफरनामा' नामक पुस्तक में बड़े ही रोचक ढंग से से लिखा है। बलराज साहनी के पुत्र फिल्म अभिनेता परीक्षित साहनी ने रुस में रहकर ही अभिनय का प्रशिक्षण पाया था। उनके छोटे भाई प्रसिद्ध सृजनकर्ता भीष्म साहनी भी वर्षों रुस में रह चुके हैं। रुस से बलराज परिवार का जुड़ाव बराबर बना रहा है। 'रुसी सफरनामा' में बलराज साहनी ने अपने संस्मरण में रुस का जिक्र बड़े बेबाक तरीके से किया है। बड़े साइन बोर्ड पर चित्र छपे थे। पाँच-सात लोगों के चित्रों के नीचे बडे-बड़े अक्षरों में लिखा। 'ये व्यक्ति मुनाफाखोरी करते हुए पकड़े गये हैं।' डिपार्टमेण्ट में चीजें लेकर ये ज्यादा दाम पर बाहर बेच रहे थे। ऐसा था रुस और ऐसा चित्र, वहाँ आम बात थी। जिसे बलराज साहनी के छोटे भाई एवं प्रसिद्ध लेखक एवं फिल्म अभिनेता भीष्म साहनी ने उनकी पुस्तक की भूमिका में अंकित किया है।

बलराज साहनी कई बार रुस गये। एक कलाकार के रुप में और जाने माने अतिथि के रुप में भी। इस संस्मरण में उन्होंने भारतीय प्रतिनिधि के प्रमुख के रुप में जो यात्रा की उसका बड़ा ही मनोरंजक प्रस्तुतीकरण इस पुस्तक में किया है जिसे यदि आपने एक बार पढ़ना शुरु किया तो उपन्यास की तरह पढ़ते ही चले जायेंगे। बलराज साहनी देश से गए प्रतिनिधि मंडल के नेता थे तथा उसके अन्य सदस्य थे डॉ० बी एन दातार, कम्युनिस्ट कामरेड गोपालन तथा भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह। ज्ञानी जी ने भी बलराज साहनी के नेतृत्व में रुस यात्रा की थी। बलराज चाहते थे ज्ञानी जी प्रतिनिधि मंडल के नेता बनें पर जैल सिंह जी बलराज की रहनुमाई में ही खुश थे।

बलराज साहनी कहते हैं कि पश्चिमी देशों के आलोचक मास्कों में तड़क-भड़क की कमी का जिक्र करते हुए वहाँ की निन्दा करते हैं। पर जो व्यक्ति विलासिता के बजाय काम करना और 'काम करो' और 'कमाकर' खाओ को अपने जीवन का आदर्श मानता हो उसे मास्को के सामाजिक सामरिक जीवन में बहुलता और सुन्दरता के दर्शन होंगे----- रुस के स्त्री-पुरुषों के चेहरों पर एक प्रकार का तनाव था। क्या कारण था उसका? अगर कोई पूंजीवादी देश का प्रचारक वहाँ बैठा होता तो झट बोल उठता कि इस तनाव का कारण यह हैकि यहाँ बोलने की आजादी नहीं है और कुछ लोग इसे मान भी लेते---- किसी जमाने में हिन्दुस्तान पर हुकुमत करने वाले अंग्रेजों को शिकायत होती थी कि कांग्रेसियों के चेहरे सख्त और तने हुए रहते हैं। मुझे भी वह चेहरे याद हैं----- आजादी के लिए संघर्ष कर रहे कांग्रेसियों, सोशलिस्टों, कम्युनिस्टो और आतंकवादियों के चेहरे।

एक ओर बलराज साहनी मास्को की ठंड से बचने के लिए बोदका (रुसी शराब) पीने में मस्त थे वहीं डा० दातार और ज्ञानी जी शराब को छूते भी न थे पर ज्ञानी जी रुसी यात्रा के दौरान खाने की टेबुल पर पंजाब से लाई गयी लाल मिर्चों की पुड़िया खोल लेते थे ताकि वह अपने खाने का लुत्फ ले सकें। पीना न सही खाना तो जायकेदार हो।

मास्को के हवाई अड्डे पर जब कस्टम वालों ने भारतीय प्रतिनिधि मंडल का सामान नहीं खुलवाया तो ज्ञानी जैल सिंह ने पूछा। सामान नहीं खुलवाया नहीं तो काफी देर लग जाती।'

परीक्षित साहनी बलराज साहनी के पुत्र जो रुस में पढ़ रहे थे और हवाई अड्डे पर स्वागत के लिए आए थे। गम्भीर होकर ज्ञानी जी को बताया, 'आपको पता नहीं है जी इनके पास ऐसी-ऐसी मशीनें हैं जो सूटकेस को बिना खोले ही अन्दर का सब कुछ देख लेती हैं।'

'सचमुच।' डेलीगेट डा०दातार ने हैरान होते हुए कहा।

ज्ञानी जी चमके, डाक्टर साहब फिक्र तो इस बात का होना चाहिए कि कहीं हमारा खुद का एक्स-रे न ले लिया गया हो।

बलराज साहनी में साफ गोई इतनी थी कि वह बड़ी से बड़ी बात भी अगर अपमानमयी होती तो उसका प्रतिकार करते थे। बलराज जी चाहते थे कहते हैं कि हम दिल्ली के लाल किले, खूनी दरवाजे, कश्मीरी गेट को वह सम्मान नहीं दिया जो रुसियों ने लाल चौक और क्रेमलिन को दिया है। वह लिखते हैं, 'अगर दिल्ली के इन स्थानों को हमारी सरकार ने उतना सम्मान दिया होता तो रुसियों---के क्रेमलिन और लाल चौक से यह ज्यादा शानदार होता। लेकिन हमारी आजाद सरकार के लिए तो 'वॉइसरीगल लाज' (अब राष्ट्रपति भवन) को अपनाना ज्यादा गर्व की बात है, हालांकि सच पूछा जाए तो वाइसराय वाली बग्घी में बैठे हुए हमारे राष्ट्रपति का जब जुलूस निकलता है तो वे फिरंगियों के चपरासी प्रतीत होते हैं। बाद के वर्षों में बलराज की रहनुमाई में रूस जाने वाले ज्ञानी जैलसिंह भारत के राष्ट्रपति हुए।

अपनी आत्मकथा में बलराज ज्ञानी जैल सिंह के साथ रुसी सफरनामा में लिखते हैं कि किस प्रकार एक सुन्दर रुसी बाला को ज्ञानी जी पंजाबी स्टाइल में कनखियों से ललचाई 'बगुला भगत' जैसी नजरों से देख रहे थे।

मैंने शरारत से पूछा, 'क्या सोच रहे हैं, ज्ञानी जी।'

'कुछ नहीं।'

'फिर भी।' मैं हंस पड़ा

'जो आपका खयाल वही सोच रहे थे हम।'

एकाएक मुझे ज्ञानी जी अपनी उम्र से २० साल छोटे हो गए प्रतीत हुए।

उन्होंने आगे कहा-— हमें तो अपनी मूर्खता पर अफसोस होता है कि अपनी 'सोने जैसी जवानी' व्यर्थ में जेलों में खराब कर डाली। वही समय था, जब मौज मेला कर सकते थे। माता पिता के सिर पर विलायत भी जा सकते थे।'

ज्ञानी जी भारतीय पुलिस के अत्याचारों को अंग्रेजों के जमाने के अत्याचार की तरह ही मानते थे। -— उस समय वह श्री जवाहर लाल नेहरु के भी परोक्ष आलोचक थे। बलराज जी लिखते हैं उनके कहने के मुताबिक, 'आजादी अभी आई ही नहीं थी, और यह कि नेहरु अंग्रेजी साम्राज्य के फरमाबरदार गुलाम थे, और उन्होंने देश के साथ विश्वासघात किया था।

बलराज साहनी के संबंध अपने युग के उन सभी प्रमुख व्यक्तियों, लेखकों से बराबर के थे जिन्होंने बाद में साहित्य, समाज, संस्कृति, कला एवं राजनीति के अकादमिक पक्ष को समय-समय पर प्रभावित किया। बलराज साहनी के बारे में चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने अपनी टिप्पणी में लिखा हैकि बलराज का छात्र जीवन लोकप्रिय 'इण्टैलेक्चुअल' किस्म के विद्यार्थी का रहा। छात्र राजनीति में वह विश्वविद्यालय यूनियन के प्रेसीडेण्ट बने और मार्क्सवादी विचारधारा के साथ जुड़े रहने के साथ-साथ साहित्यकारों के संपर्क में भी आये। बलराज साहनी ने जहाँ अंग्रेजी में लिखने की प्रेरणा अपने अंग्रेजी अध्यापकों और अपने अंग्रेजी ज्ञान से ली वहीं हिन्दी में लिखने की प्रेरणा उन्हें चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने दी। बेशक उनका प्रथम अक्षर 'ज्ञान' आर्य समाजी होने के कारण हिन्दी और संस्कृत में हुआ था पर उनकी मातृभाषा पंजाबी थी।

बलराज की पहली हिन्दी कहानी जो विशाल भारत में प्रकाशित हुई थी। अपने समय की हिन्दी कहानियों में भिन्न मानी गयी थी और पढ़ने वालों ने इसे खूब सराहा था। १९३६ में साहित्य और कला प्रेम ने उन्हें विवाह बन्धन में बाँध दिया और अपने पिता के लम्बे-चौड़े कारोबार को छोड़कर परिवार जनों से मुँह मोड़कर अपने पैरों पर खड़े होने की सोची और लाहौर के अंग्रेजी अखबार 'मण्डे मार्निंग' में काम करने लगे।

बलराज साहनी ने लाहौर छोड़ दिया और कलकत्ता आ गये। कलकत्ता जहाँ वह पत्रकार एवं लेखक के रुप में काम करने लगे। उन्होंने अनेक कहानियाँ लिखी। फिर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के सानिध्य में शांति-निकेतन चले गये। यहाँ पर उन्होंने ७५/- मासिक वेतन पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साथ सहयोगी अध्यापक के रुप में हिन्दी विभाग में काम करना शुरु कर दिया। बलराज साहनी ने अपने हिन्दी के अल्प ज्ञान को आचार्य द्विवेदी के सम्पर्क में आकर काफी सुधारा-संवारा। पर वह अपनी इस कमी से परिचित थे कि हिन्दी पर उनका वैसा अधिकार नहीं है। यहीं पर गुरुदेव ने उन्हें सलाह दी कि वे अपनी मातृभाषा पंजाबी में लिखा करें।

बलराज साहनी जी मार्क्सवादी विचारधारा के होते हुए भी गांधी जी से काफी प्रभावित थे और गांधी जी से उन्हें प्रेरणा भी मिली। यहीं वजह है कि बलराज साहनी सपत्नीक सेवाग्राम गाँधी जी के आश्रम में चले गये। वे वर्धा में रहे। तालीमी संघ में काम किया वहाँ 'नई तालीम' पत्रिका में उप सम्पादक हो गए। वर्धा के संस्मरणों के बारे में भीष्म साहनी ने पिछले दिनों एक पर अच्छी टिप्पणी लिखी है। एक बार तो ऐसा मौका भी आया जव सेवाग्राम में बलराज साहनी को नाई का काम भी करना पड़ा और अपने छोटे भाई भीष्म साहनी के बाल काटने उन्हें सजाने-संवारने का काम भी उन्होंने अपने हाथों किया। बलराज साहनी का संपर्क अनेक महत्वपूर्ण लोगों से समय-समय पर होता रहा। सेवाग्राम में ही उनकी मुलाकात आल इण्डिया रेडियो के पहले डायरेक्टर जनरल मि०लाइनेल फील्डेन से हुई। फील्डेन साहनी-दम्पत्ति को लन्दन ले गये। जहाँ बलराज साहनी बी. बी. सी. लन्दन के लोकप्रिय प्रसारक बने। वहां उन्होंने न केवल द्वितीय विश्वयुद्ध की घटनाओं की टिप्पणी की बल्कि रेडियो-स्क्रिप्ट पर भी अपनी सृजनात्मकता का परिचय दिया। वह हिन्दी के लोकप्रिय उदघोषक बने। अपने लेखों में उन्होंने बड़ी यथार्थ एवं प्रेरक टिप्पणियाँ लिखी हैं।

बलराज साहनी ने हिन्दी साहित्यकारों के नाम एक पाँच फरमें का लम्बा पत्र भी लिखा जिसमें उन्होंने अपने को हिन्दी साहित्यकारों से जोड़ने की बात कही है। हरिवंशराय बच्चन, अज्ञेय, अमृतलाल नागर, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार एवं उपेन्द्र नाथ 'अश्क' को अपना समकालीन माना है। उन्होंने बनारस में आयोजित हिन्दी साहित्य सम्मेलन १९३९ में माखनलाल चतुर्वेदी, निराला, मैथलीशरण गुप्त और बनारसी दास चतुर्वेदी के सम्पर्कों का हवाला विस्तार से दिया है। वहाँ उन्होंने अपनी सृजनात्मकता को समाज के सन्दर्भ में जोड़ते हुए ये पंक्तियाँ लिखी हैं-

'यद्यपि आजकल मैं हिन्दी में नहीं बल्कि अपनी मातृभाषा पंजाबी में लिखता हूँ फिर भी आप लोगों से खुद को अलग नहीं समझता। आज भी मैं हिन्दी फिल्मों में काम करता हूँ। हिन्दी, उर्दू रंगमंच से भी मेरा अटूट संबंध रहा है। ये चीजें अगर साहित्य का हिस्सा नहीं तो उसकी निकटवर्ती जरुर है।'

'हिन्दी हमारे देश की एक विशेष और महत्वपूर्ण भाषा है। इसके साथ हमारी राजनीति और भावनात्मक एकता का सवाल जुड़ा हुआ है और इस दिशा में अपनी अनेक बुराइयों के बावजूद हिन्दी फिल्में अच्छा रोल अदा कर रही हैं।'

बलराज साहनी फिल्मों के माध्यम से एक ऐसी दिशा देना चाहते थे जिससे कि हमारे वातावरण को सहज बनाया जा सके। उन्हें सम्प्रदायवाद से घृणा थी। वह एक हिन्दुस्तान की बात करते थे। मानवता की बातकरते थे। वह संवेदनशील थे अंग्रेजों ने हमारी कौम की बेवकूफियों का फायदा उठाया था। जिसकी वजह से हिन्दू कौम और मुस्सिम कौम जैसी बाते पैदा हुई थीं। वह लिखते हैं 'दो कौमों के सिद्धान्त को जन्म देने का सेहरा मात्र मिस्टर जिन्नाह के सिर पर बांधना अन्याय है। इसका अविष्कार सबसे पहले बंकिम बाबू के जमाने में बंगाल के सुशिक्षित हिन्दू मध्यवर्ग में हुआ था। हिन्दू कौम और हिन्दू राष्ट्र के निर्माण की घोषणाएं सबसे पहले इसी वर्ग के लोगों ने शुरु की थी। सच तो यह है कि बंगाल और महाराष्ट्र के आतंकवादी क्रांतिकारी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति से मुक्त नहीं थे। बंगाल की गुप्त संस्था 'अनुशीलन समिति' के विधान में साफ लिखा था कि मुसलमान एक घटिया कौम है। बंगाल ने ही बाद में मुस्लिम-लीग को भी जन्म दिया था। सम्प्रदायवाद के बीज बंगाल में जन्में और पनपे थे।

बलराज साहनी मार्क्सवादी थे, फिर भी गांधी जी की तरह वह भी एक हिन्दुस्तान की और हिन्दुस्तानी जबान की बात करते थे। परन्तु अंग्रेजों ने सबसे पहले भाषा का सवाल पंजाब में खड़ा किया और पंजाब की भाषा पंजाबी की बजाय उर्दू को बनाया और हम देखते हैं कि पाकिस्तान के बहुसंख्यक मुस्लिम आज भी पंजाबी बोलते हैं परन्तु पंजाब में उर्दू को तो वहाँ की भाषा बनाकर अंग्रेजों ने साम्प्रदायिकता का बीज बोया।

१८७० में अंग्रेजों ने महसूस किया कि हिन्दुओं को प्रोत्साहन देने का सौदा महंगा है। अतः उन्होंने अल्पसंख्यक मुसलमानों को सहायता और उनकी रक्षा करने का रोल अदा करना शुरु किया और मुसलमानों के मन में डाला कि हिन्दुस्तान उनके लिए जन्मभूमि नहीं बल्कि खोए हुए राज्य के रुप में देखने की चीज है। उनका भावात्मक संबंध उस धरती से होना चाहिए जहाँ से दीने इस्लाम आया था। और हिन्दुस्तान उनके लिए एक जीता हुआ इलाका बन गया। अतः उनमें यह भावना पैदा की गयी कि मुसलमान

हिन्दुस्तान में, गुलाम बनकर नहीं जी सकेंगे और खासकर उन काफिरों के गुलाम बनकर जो कल तक उनके अपने गुलाम थे।' ऐसी दूषित भावना के बीज अंग्रेजों ने मुसलमानों के मन में अलगाव और कड़वाहट के बीच बोए।

बलराज साहनी खुले दिमाग के आर्य-समाजी संस्कारों में पले बढ़े व्यक्ति थे उनके विचार आज के संदर्भ में कितने सटीक हैं यह उनके लेख में प्रकट होता है। जिसका आज के समय में और भी महत्व बढ़ जाता है।

१९९३ की सत्तारुढ़ कांग्रेस सरकार धर्म को राजनीति से अलग करने के बिल संसद में लाती है। किसी जमाने में भाषा को भी धर्म से अलग करने की बात की गयी होगी। पर तब हमने उस ओर ध्यान नहीं दिया। बलराज जी ने कई दशक पूर्व यह लिखा था कि भाषा को धर्म केसाथ जोड़ने कीनापाक साम्राज्यवादी साजिश को पाकिस्तान में बंगालियों ने, हिन्दुस्तान में तमिलनाडियों नेकी है। बंगाली मुसलमानों को उर्दू को अस्वीकार करके उर्दू को इस्लामी भाषा होने का दावा सदा के लिए रदद कर दिया है।

बलराज साहनी ने साहित्य की अनेक विधाओं, नवीन कहानियों, कविताएं, व्यंग, नाटक, प्रहसन, रेडियो-स्क्रिप्ट, यात्रा-संस्मरण एवं अपूर्ण उपन्यास भी लिखा। उन्होंने प्रायः उस समय की प्रचलित हर विधा पर लिखा। अध्यापन कार्य किया समाज सेवा पत्रकारिता एवं ट्रेड यूनियन का काम भी किया गीत गाए, रंग मंच, रेडियो स्टूडियो और फिल्मों में अभिनय भी किया। इन अवसरों पर भी उनका लेखक मन सदा उनके साथ रहा। कलम को उन्होंने नहीं छोड़ा और बौद्धिक समाज सेउनका सम्पर्क बराबर बरकरार रहा। देश केअत्यन्त अधुनातम विश्वविद्यालय, जवाहर लाल नेहरू यूनिवर्सिटी नयी दिल्ली में उन्हें मुख्य अतिथि केरुप में दीक्षांत भाषण देने के लिए भी वहाँ की विद्वत परिषद ने आमन्त्रित किया। इससे बलराज साहनी जी के व्यक्तित्व का नया आयाम समाज के सम्मुख प्रस्तुत हुआ था। उनका शानदार दीक्षांत भाषण यथार्थ और मानवीय संवेदनाओं से ओत प्रोत था।

बलराज साहनी जी की रचनाएं विविध रुपों में, विविध विधाओं में इस समग्र में दी गई है। जिससे पाठकों को उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व को समझने, आंकने और मूल्यांकन करने में सुविधा मिलेगी जो एक हरफनमौला और हरदिल अजीज इंसान थे।

डॉ. बलदेवराज गुप्त
प्रोफेसर-पत्रकारिता
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

सी-५, न्यू मेडिकल एन्क्लेव
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००५

बलराज साहनी
एक चेहरा, कई चेहरे

बलराज साहनी को कई चेहरों वाला अभिनेता कहा जाये, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह बात हमारे देश के वहुत कम अभिनेताओं के बारे में कहीं जा सकती है। अधिकांश अभिनेता विभिन्न पात्रों के रोल करने पर भी अपने खुद के चेहरे को छिपा नहीं पाते हैं और सही अर्थों में उन पात्रों को साकार करने में असमर्थ रहते हैं। पर बलराज साहनी चाहे किसान बने या क्लर्क, रिक्शा-चालक बने या लोक-गायक, करोड़पति बने या कंगाल, उन्होंने अपनी खुद की शखसियत को उन पात्रों में उजागर नहीं होने दिया। इसीलिए वे पात्र इतने सजीव होकर साकार हुए। इसी में बलराज साहनी की कला की महानता है।

जहां अभिनेता के रुप में वे कई चेहरे बने, वहाँ अपने जीवन में भी कई क्षेत्रों में काम करते हुए उनके कई रुप उजागर हुए। फिल्मों में जाने से पहले वे शांतिनिकेतन में अध्यापक बने, सेवाग्राम में गांधी जी के साथ समाजसेवी बने, बी०बी०सी०, लंदन में न्यूज-रीडर बने, 'इंडियन पीपल्स थियेटर' में नाटकों के निर्देशक बने, कम्यूनिस्ट पार्टी में सरगरम कार्यकर्ता बने, जिसके फलस्वरुप उन्हें जेल तक काटनी पड़ी। उनकी यह सभी शखसियतें बहुत भरपूर थीं, जिनकी बदौलत उनकी समूची शखसियत इतनी बड़ी और समृद्ध नजर आती है।

इन सभी शखसियतों के पीछे बलराज साहनी की एक और महत्वपूर्ण शखसियत थी, जो उनकी अपनी नजर में भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी। वह शखसियत थी एक साहित्यकार की। वे खुद भी कहा करते थे, 'अगर मैं साहित्यकार न होता, तो इतना अच्छा अभिनेता शायद न बन पाता।'

सच पूछिये। तो वे बुनियादी तौर पर एक लेखक थे। उन्होंने कालेज के दिनों में ही लिखना शुरु कर दिया था, जो अन्त तक जारी रखा। उनके अभिनय में जो गहराई और सूक्ष्मता है, और जिसकी बदौलत वे किसी भी पात्र को उसके पूरे यथार्थ में साकार करने में सफल हो पाते थे, इसके मूल में उनका साहित्यकार होना था। उनका कहना था कि साहित्य के- खासकर अंग्रेजी साहित्य के- अध्ययन की बदौलत ही वे किसी पात्र के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक यथार्थ को समझने में सफल हो पाते थे।

लेखक के तौर पर भी बलराज साहनी के कई रूप नजर आते हैं- वे कहानीकार भी थे, नाटककार भी, उपन्यासकार भी। वे कवि भी थे, पटकथा-लेखक भी. समालोचक भी। वे यात्रा-लेखक भी थे, निबन्धकार भी, आत्मकथा- लेखक भी। और उन्होंने डायरियां

भी लिखीं। जो विस्तार उनके अभिनय में था, वही उनके लेखन में भी पाया जाता है। साहित्य की इतनी विधाओं में लिखना कोई खेल नहीं है। फिर, इतनी व्यस्तताओं के बावजूद इतना ज्यादा लिख पाना आश्चर्य की बात है फुर्सत का अधिकांश समय वे लिखने में बिताते थे। वे घर में ही नहीं, स्टूडियो में भी लिखते थे, सफर में भी लिखते थे, होटलों में भी लिखते थे। जहां भी वे जाते, अपना छोटा टाईपराइटर हमेशा साथ ले कर जाते। एक बड़ा टाईपराइटर घर में होता। घर में वे उस पर लिखते।

आप शायद जानना चाहें कि वे कैसे लिखते थे? उनके अपने शब्दों में सुनियेः

'मैं कहीं भी और किसी भी हालत में बैठ कर लिख लेता हूं। हां, अगर उस समय मेरे सामने कोई कुदरती नजारा हो, तो लिखने में ज्यादा मजा आता है। अपना मकान बनवाते समय मैंने आर्कीटेक्ट को खास हिदायत दी थी कि मेरा लिखने-पढ़ने वाला कमरा ऐसी जगह पर हो कि वहां से समुद्र दिख सके। समुद्र को देखकर लिखने में मदद मिलती है। वैसे, बहुत पहले, जब मैं एक और घर में रहता था, तो लिखते समय रुसी संगीतकार चेकावस्की की पांचवी सिम्फनी का रिकार्ड लगा लिया करता था। वह संगीत लिखने में बहुत मदद देता था। यह सिलसिला बहुत देर तक चलता रहा। रिकार्ड बज-बज कर घिस गया। पड़ोसी हैरान थे कि क्या मेरे पास कोई और रिकार्ड नहीं है, जो मैं हर समय एक ही रिकार्ड लगाये रखता हूँ?.......लेकिन घर से बाहर मैं किसी होटल के कमरे या स्टुडियो के मेक-अप-रुम में भी आसानी से लिख लेता हूं। मन में लिखने की प्रबल लालसा हो, तो कही भी लिखा जा सकता है।'

लिखने की यह प्रबल लालसा बलराज साहनी के अंतिम पंद्रह-बीस वर्षों में बहुत बढ़ गई थी, और वे बहुत ज्यादा लिखने लगे थे। वे तो यह भी सोचने लगे थे कि फिल्मों का काम घटा कर लिखने-पढ़ने पर और ज्यादा समय खर्च करें। आखरी कुछ सालों में उन्होंने ऐसी व्यवस्था बना भी ली थी।

शुरु में वे हिन्दी में लिखते थे। फिर, वे हिन्दी के बजाय पंजाबी में लिखने लगे। इसके पीछे एक दिलचस्प घटना है।

एक बार रवीन्द्रनाथ टैगोर ने उन्हें अपनी मातृभाषा, पंजाबी में लिखने का सुझाव दिया, तो उन्होंने जैसे विरोध करते हुये कहा, 'हिन्दी पूरे देश की भाषा (राष्ट्रभाषा) है। मैं किसी प्रांतीय भाषा में क्यों लिखूं, जबकि हिन्दी में पूरे देश के लिए लिख सकता हूँ?'

टैगोर ने बड़े शान्त भाव से कहा, 'मैं बंगाली में लिखता हूं, जो कि प्रांतीय भाषा है। लेकिन भारत ही नहीं, सारा संसार मुझे जानता है।'

टैगोर ने और भी दलीलें दीं, लेकिन बलराज साहनी उनकी बातों के कायल नहीं हुए। अन्त में क्या हुआ, बलराज साहनी ने इस बारे में लिखा हैः

'आखिर मैं वहां से जाने के लिए मुड़ा। तभी गुरुदेव में मुझे रोकते हुए ऐसी बात कही, जो कई सालों तक मेरे दिल में चुभती रही। फिर, एक दिन अचानक मैंने महसूस किया क़ि उसमें कितनी बड़ी सच्चाई थी। उन्होंने कहा था; एक वेश्या संसार की सारी दौलत पाकर भी इज़्ज़तदार नहीं बन सकती। तुम पराई भाषा में चाहे जिन्दगी भर लिखते रहो, न तुम्हारे अपने लोग तुम्हें अपना समझेंगे, न ही वे लोग, जिन की भाषा में तुम लिखते हो। दूसरों का बनने से पहले तुम्हें अपने लोगों का बनना चाहिये।'

आखिर कुछ वर्षों के बाद जब वे पंजाबी में लिखने लगे, तो उनकी कलम में जो सहजता, स्वाभाविकता और रवानी आई, उस पर वे खुद हैरान रह गये।

पंजाबी में उनकी लगभग तेरह पुस्तकें छप चुकी हैं, जिनमें से कई हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू में भी छपी हैं। इन में से कुछ पुस्तकें बी०ए०, एम०ए० के (पाठ्यक्रमों) कोर्सों में लगी हुई हैं।

आज से पचास साल बाद लोगों को बलराज साहनी की फिल्में देखना शायद नसीब न हो, लेकिन उनकी पुस्तकें हर कोई पढ़ पायेगा। तब अभिनेता के बजाय एक लेखक के रुप में उनका कहीं ज्यादा नाम होगा।

– सुखबीर

बलराज साहनी समग्र के लिए

भीष्म साहनी

बचपन से ही बलराज जी का रुझान साहित्य की ओर था। साहित्य की ओर भी और साहित्यिक अभिव्यक्ति की ओर भी। अनेक घटनाएं आंखों के सामने घूम जाती हैं। बचपन में ही हम दोनों भाइयों को एक गुरुकुल में डाला गया। यह 'गुरुकुल पोठोहार' शहर से लगभग तीन मील की दूरी पर था। वहाँ हिन्दी तथा संस्कृत की शिक्षा दी जाती थी, बालराज लघु कौमुदी के सूत्र कण्ठस्थ करते। दो-एक साल तक इस तरह की पढ़ाई चली। सहसा ही बलराज का मन गुरुकुल की पढ़ाई से उचट गया और वह बाकाइदा किसी स्कूल में जाने के लिये इसरार करने लगे। पिता जी ने गुरुकुल में से हमें उठा लिया और स्थानीय आर्य्य स्कूल में भरती करवा दिया, पर साथ ही हिन्दी-संस्कृत की पढ़ाई घर पर जारी रखी। एक पण्डित जी हर दोपहर घर पर आते थे, और यह सिलसिला कम से कम छः-सात वर्ष तक तो जरुर ही चला। हितोपदेश तथा संस्कृत की पाठ-पुस्तकें तभी पढ़ने को मिलीं। एक दिन जब पण्डित जी आये तो बलराज ने संस्कृत भाषा में रचित अपनी चार पंक्तियों की कविता पढ़ने को दी। उस कविता के शब्द तो मुझे याद नहीं, पर आज भी कापी का वह पन्ना और पेंसिल से, मोटे-मोटे सुंदर अक्षरों में लिखी उस कविता की झलक आंखों के सामने आ जाती है, उन्हीं पण्डित जी ने एक बार पिताजी से कहा था कि बलराज लिखता है हो मोती पिरोता है।

उन्हीं दिनों बलराज की ही पहलकदमी पर हम लोग घर में नाटक भी खेलने लगे थे। 'हल्दी घाटी', 'शिवाजी', 'श्रवण कुमार' आदि की कथाओं पर बलराज स्वयं संवाद लिख डालते और हम लोग परिवार के सदस्यों के सामने वे नाटक खेलते। हमारी दोनों बड़ी बहिनें, माता तथा पिता जी और घर का नौकर तुलसी, हमारे नाटक देखते। कभी-कभी तुलसी को भी छोटी-मोटी भूमिका दी जाती थी।

उन दिनों भी बलराज की रुचियों में बड़ी मौलिकता और ताजगी होती। तीर कमान के खेल खेलना उन्हें पसन्द था। हमारा घर संध्योपासना वाला घर था, पर उस सारे कार्यकलाप में बलराज के लिये हवन का विशेष आकर्षण था। कविता के छन्दों में भी उनकी विशेष रुचि थी। जिन छन्दों में संगीत का भास मिले, वे उन्हें बहुत पसन्द थे और उन्हें वह कण्ठस्थ कर लेते।

स्कूल की पढ़ाई के बाद बलराज कालिज पहुँचे तो अभिव्यक्ति की भाषा अंग्रजी बन गयी, और साहित्य के अध्ययन और रंगमंच में रुचि पहले से भी ज्यादा नजर आने लगी। गौर्वन्मेण्ट कालिज लाहौर में बी०ए० (आनर्स) और बाद में अंग्रेजी साहित्य में एम०ए०

की शिक्षा पाते हुए बलराज बराबर लिखने लगे और उनकी कृतियां कालिज की पत्रिका 'रावी' में छपने लगी। अंग्रेजी में कविता तो वह हाईस्कूल में ही कहने लगे थे, १९३१ में जब सरदार भगतसिंह को फांसी हुई तो बलराज ने गहरे में छूने वाली, उस वीर पुरुष के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखी जो कविता आज भी मुझे पूरी की पूरी याद है।

They cry, they moan, they wail for him
For he died and left them But I,
I cheer whilst I sigh, I say,
Sucked in India, child of chains, thou art lucky;
for whilst thou lived, thou bleeded,
The bindings stressed thee,
But how, high in the regions, free
They soul shall soar,
Where no more slavery-chains shall reach.

आदि आदि।

इसी भांति काश्मीर में रहते हुए उन्होंने एक कविता लिखी जिस में प्रकृति का बड़ा सुन्दर वर्णन था।

कालिज के दिनों में ही वह नाटकों में भी भाग लेते रहे। 'दा मेन हू एट दा पोपोमेक' नामक अंग्रेजी नाटक का हिन्दुस्तानी रुपांतर खेला गया जिसमें हम दोनों भाइयों ने स्त्रियों का पार्ट किया, बलराज ने एक अंग्रेज युवती का, जबकि मैंने बुढ़िया का। कालिज छोड़ने के बाद भी बलराज नाटकों में गर्मजोशी से हिस्सा लेते रहे, 'दा बिल्डर आफ ब्रिजस' नामक नाटक, उन्होंने लाहौर के स्टेज पर खेला, जिसमें उनकी नवविवाहिता पत्नी भी उनके साथ थी!

अब सोचता हूँ तो दाद देता हूँ कि अभिनय और लेखन, दोनों में ही उनकी गहरी रुचि बराबर बनी रही।

कालिज का दौर खत्म हुआ, बलराज अपने शहर लौट कर आये, पर केवल कुछ अर्से के लिये ही और इस अर्से में उन्होंने पत्रिका निकालने का निश्चय किया। दुर्गाप्रसाद धर तथा श्रीनगर के अपने अन्य मित्रों के साथ उन्होंने 'कुंगपोश' नाम से एक साहित्यिक पत्रिका निकालने का फैसला किया। पर क्रियान्वित से पहले ही वह श्रीनगर छोड़कर, पहले लाहौर और बाद में शांतिनिकेतन जा पहुंचे।

शांतिनिकेतन निवास में भी ये दोनों शौक साथ-साथ चले। तब बलराज हिन्दी की ओर उन्मुख हुए, और कलकत्ता से निकलने वाली 'सचित्र भारत' नामक पत्रिका में अपने लेख, कहानियां आदि देने लगे। उनकी कहानियां विभिन्न पत्रिकाओं में भी छप कर आने

लगीं। 'बसन्त क्या कहेगा?' शीर्षक से उनका पहला कहानी-संग्रह उनके मित्र श्री हरदेव बाहरी द्वारा प्रकाशित हुआ। शांतिनिकेतन में ही उन्होंने बर्नार्ड शॉ का प्रख्यात नाटक आर्म्स दा मेन भी खेला। शांति निकेतन से वह सेवाश्रम चले गये थे जहां गांधी जी के निवास स्थान से निकलनेवाली 'नई तालीम' नामक पत्रिका में वह उप-सम्पादक के रुप में काम करने लगे थे। वह जमाना सनं ३८-४० का था। आजादी की लहर जोरों पर थी। कुछ दिन के लिये मैं बलराज जी के साथ रह पाने के लिये सेवाग्राम चला आया था। देश भर के वातावरण में बड़ी गर्म जोशी और तनाव पाया जाता था। भारी संख्या में लोग कांग्रेस में शामिल हो रहे थे, मैंने सोचा, बलराज, जो शांति निकेतन छोड़ कर सेवाग्राम चले आये हैं निश्चय ही उन्होंने भी आजादी की जद्दोजहद में शामिल होने की ठान ली होगी। मुझे याद है, दोपहर के समय, एक दिन, हम दोनों 'नई तालीम' के कार्यालय के बाहर घास पर बैठे बतिया रहे थे जब मैंने उनसे पूछाः

'क्या तुम राजनीति में सक्रिय
रुप से भाग लेने लगोगे?'

तो जवाब में उन्होंने बड़े निर्णयात्मक ढंग से जवाब दियाः

'नहीं। मैं केवल कल्चरल काम करुँगा।'

बड़ी साफ, सुचिंतित उत्तर था। और इसी पर वह आजीवन कायम रहे।

फिर यूरोप की जंग छिड़ी। बलराज सेवाग्राम से विदा लेकर लन्दन जा पहुंचे और बी०बी०सी० में काम करने लगे। चार साल के उस दौर में उन्होंने पढ़ाई भी खूब की-जिस में गालिब का कलाम तथा अन्य भारतीय साहित्य की कृतियाँ शामिल थी, पर लिखा कम, फिर भी अनेक रेडियो नाटक और रिपोर्ताज आदि लिखे जिन में 'वह आदमी जिसके सिर में घड़ी थी', बड़ी रोचक कृति थी।

भारत लौटने पर पहले 'इप्टा' का दौर आया, रंगमंच और नुक्कड़ नाटक का, फिर 'धरती के लाल' फिल्म बनी और बलराज का सांस्कृतिक क्षितिज तेजी से फैलने लगा। और जब फिल्मों में काम घटने लगे तो साहित्यिक रुचि ने फिर से जोर पकड़ा और वह पहले से कहीं ज्यादा गर्मजोशी के साथ लिखने लगे, पर अब की बार उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम, पंजाबी भाषा थी। पंजाबी भाषा और साहित्य की ओर वह एक प्यासे प्राणी की भांति उन्मुख हुए। शीघ्र ही उनके पत्र जो अक्सर उर्दू अथवा अंग्रेजी लिपि में आया करते थे, अब गुरुमुखी लिपि में आने लगे। गुरुमुखी का टाईपराइटर घर में आ गया। वह स्टूडियो में भी जाते तो कभी-कभी पंजाबी टाईपराइटर साथ में जाता ताकि खाली वक्त में वह साहित्य रचना कर सकें। फिर एक के बाद एक, साहित्यिक कृतियां उनकी कलम से निकलने लगी सन '६५ के आस-पास मैं 'नई कहानी' नामक हिन्दी पत्रिका का सम्पादन कर रहा था। मेरे आग्रह पर बलराज उसमें अपना योगदान देने लगे- 'गैर जज़बाती डायरी' और 'फिल्मी सरगुजश्त' संग्रहों की अनेक रचनाएं उसी दौर की लिखी हैं जिन्हें 'नई कहानी' में प्रकाशित किया गया था। बलराज जी अपना लेख पंजाबी भाषा में लिख भेजते, हम लोग उसका हिन्दी में अनुवाद कर लेते।

पर इससे पहले उनकी लोकप्रिय पुस्तक 'पाकिस्तानी सफरनामा' छप चुकी थी, और बलराज जी ने सोवियत संघ की अपनी यात्रा का वृत्तांत भी 'मेरा रुसी सफरनामा' तव्यार कर लिया था।

धीरे-धीरे उनका मन फिल्मी काम को छोड़कर मात्र साहित्यिक काम में लग जाने को बड़ी तीव्रता से महसूस करने लगा था। पंजाबी भाषा और साहित्य के साथ उनका जुड़ाव उत्तरोत्तर गहरा होता जा रहा था। जब भी मौका मिलता, वह पंजाब की यात्रा करते, श्री गुरुशरण सिंह की नाटकमण्डली में भाग लेते और पंजाब के विभिन्न शहरों तथा देहात में नाटक खेलते। स्वयं उन्होंने 'बापू क्या कहेगा?' शीर्षक नाटक की रचना की जो पहली बार, उनके मरणोपरांत, श्री सथ्यु के निर्देशन में, बलराज जी की बरसी के अवसर पर खेला गया।

उनके लेखने में जो चीज सबसे अधिक प्रभावित करता है वह है उनका खरापन। बलराज जी अपनी बातें बेलाग होकर कहते, गहरे में महसूस करते हुए, साहित्य रचना उनके लिये नाम कमाने का साधन नहीं था, - यों तो फिल्मों में भी उन्होंने इस दृष्टि से काम नहीं किया था, और इसलिये फिल्मी भूमिकाओं में भी उनका खरापन ही उभर कर आता है और जब वे अधिक प्रभावित करता है। खरापन, असीम उदारता, जिंदगी से गहरा जुड़ाव, गहरी मानवीय संवेदना, विशाल दूरगामी दृष्टि से उनके लेखन के भी उतने ही प्रभावशाली गुण हैं जितने उनके व्यक्तित्व के और जिस भांति आज भी उनके फिल्मी अभिनय को देखते हुए हम उनके प्रखर व्यक्तित्व और गहरे संवेदन से प्रभावित होते हैं, वैसे ही उनकी साहित्यिक रचनाओं को पढ़ते हुए भी। बलराज जी तो असमय चले गये लेकिन निश्चय ही वह अपने पीछे अपनी कृतियां छोड़ गये हैं जो बड़े आग्रह और उत्सुकता के साथ देखी और पढ़ी जा रही है।

मुझे इस बात की हार्दिक प्रसन्नता है कि उनकी सभी रचनाओं का हिन्दी भाषा में एक समग्र संकलन प्रकाशित किया जा रहा है। मुझे विश्वास है कि पाठक समुदाय इसका स्वागत करेगा और इसे बड़े चाव से ग्रहण करेगा। मेरी हार्दिक शुभकामनाएं!

दिल्ली
११.८.९३

★ *प्रख्यात लेखक नाटककार, रंगकर्मी श्री भीष्म साहनी-श्री बलराज साहनी के छोटे भाई हैं।*

अंतिम पत्र

प्रिय बलराज,

याद है न, १९६ में 'गैरजजबाती डायरी' नाम से छप कर आई तुम्हारी पुस्तक की कुछ प्रतियाँ जब घर पहुँची तो उनमें से एक पर 'तेरी तुझे ही सौपी क्या लगता है मेरा' भेंट शब्द लिखकर मेरे हाथ में थमाई थी।

आज तुम्हारे ही वे भेंट शब्द तुम्हारे रचे 'समग्र साहित्य-बलराज साहनी' पर अंकित कर तुम्हें, तुम्हारी अमिट स्मृति को भेंट कर रही हूँ।

बरसों बीते, एक बार तुमने मुझे कहा था, 'मुझमें इतनी शक्ति है कि उसे पूरे अनुशासन में रखना मेरे लिए कठिन है।'

सचमुच अदभुत बाहुल्य का शक्ति का तुममे, शायद जन्मजात एक स्वाभाविक शक्ति, जिंदादिली से जीने की अनुभव, अध्ययन से सब ग्रहण करने की प्रयोग करने की प्रयोगों की गलतियों से सीखकर विकास करने की, सृजनात्मक कार्य करने की, सभी, सभी के अंग-संग रह स्वस्थ, सुन्दर सुअर्थ पूर्ण जीवन जीने की प्रचुर शक्ति! जिसे मैं देखती, अनुभव करती, और उस शक्ति के मोहक आकर्षण से खिंची रहती।

उच्चकोटि के कलाधार थे तुम! अचंभित करती रहती हर क्षेत्र में अभिव्यक्ति तुम्हारी।

कवि हृदय था तुम्हारा, अति संवेदनशील! प्रेमी, पति, पिता, भाई, पुत्र, सखा सभी नातों को गहन स्नेह उदारता परिपूर्णता से निभाने वाले थे तुम विद्वान और शक्तिमान!.......

तेरह एप्रिल की सुबह, 'अमानत' फिल्म की शूटिंग के लिए तैयार थे तुम! लेकिन नियती की विडम्बना! उसी समय सीने में ऐसा दर्द उठा, कि आधे ही घंटे के भीतर हम हस्पताल के कमरे में थे........हस्पताल की शैय्या पर कुछ डाक्टर, हमसे, कह रहे थे, 'मैंने जिन्दगी से प्यार किया है। मुझे कोई गिला, शिकायत नहीं। मैंने अच्छी जिन्दगी बिताई है---- पर अब मुझे में दोबारा स्वस्थ हो जाने की शक्ति नही रही --- मुझे समुद्र से, पर्वतों से, प्रेम है --- मेरे देशवासियों को मेरा प्यार ----' और बस ---

सूर्य से सतरंगी प्रकाश सी तुम्हारी वह शक्ति क्षणों, क्षणों में अस्त हो गई थी, वैसाखी की उस ढलती सांझ को जब पंजाब में और पंजाब से बाहर दूर-पार सभी पंजाबी, पंजाब के नए बरस की खुशियां, समारोह मना रहे थे ----- तभी ही मिली वह दुर्देवी खबर सभी को, सारे देशवासियों को ----। पंजाब से के हमारे मित्र ने पत्र में मुझे लिखा था, 'उस सांझ शोक ग्रस्त पंजाब के किसी भी घर में चूल्हा जला हो '------

कितने चाव से अपनी कड़ी मेहनत की कमाई से तुमने बनवाया था यह इतना बड़ा घर, अपने परिवार ही के लिए ही नहीं बल्कि अपने से घर में रोज-रोज आते रहने वाले

मित्रों संबधियों के लिए भी —— अपने सांस्कृतिक सृजनात्मक कामों के लिए भी —— घर को नाम 'इकराम' भी तुम्हीं ने दिया था, फारसी का शब्द इकराम यानि 'भेंट'। पर 'इकराम' में तुम पूरे पाँच बरस भी न रह पाए —— तेरह एप्रिल वैसाखी की संध्या को इकराम की बड़ी सी, सुन्दर बैठक में तुम अब, सो रहे थे, चिर निद्र में, शान्त, सौम्य सुन्दर, सुडौल, प्रसन्न मुख, समाधिस्थ, —— चिन्ता की एक रेखा भी न थी तुम्हारे मुख-मस्तक पर —— जीवन के अनेक क्षेत्रों में पूरी लगन, तन-मन-धन से समर्पित कार्यरत रहे तुम। —— अभी तो कितने ही और बरस समर्पित जीवन जी सकते थे तुम, समर्पित काम करने के लिए दीर्घस्वस्थ्य जीना चाहते भी थे तुम ——

उस संध्या को घटे नियती को सत्य को असत्य मानती, घर की बैठक में, संज्ञा असंज्ञा की अवस्था में मैं, कैसे मेरी दृष्टि अनायास, पल भर के लिए आकर्षित हुई, मानो किसी अज्ञात प्रेरणा से, बैठक की दीवार पर सजे एक चित्र की ओर, गहन नील गगन में ऊँची उड़ान लेने में मग्न पंख फैलाए, शुभ्र-श्वेत सुनद्र राजहंस की ओर —— उस समय उस बैठक में कितने ही अश्रु पूर्ण नयन, कितने ही स्तब्ध, पीड़ित मुख, शरीर, आत्माएं, बंधु मित्र खड़े-बैठे थे, इसकी ठीक चेतना मुझे उस समय न थी। क्या तुम्हें थी, शायद थी। इसीलिए तो प्रसन्न मुख तुम सभी को सांत्वना, अभयदान सा दे रहे थे। तुम्हारा शान्त मौन मग्न सा अस्तित्व ही शायद मुझे इंगित कर रहा था उड़ान भरते तुम ही से, उस राजहंस के चित्र की ओर तुम और वह दोनों राजहंस, मेरे अंतरमन में अस्पष्ट स्पष्ट संदेश सा बन प्रफुल्लित हुए थे 'सार्थक समर्पित जीवन अमर है, संपूर्ण है, चित्रकार के चित्रित, गहन नील गगन में अपने शुभ्र पंख फैलाए ऊँची उड़ान भरते उस चित्र की तरह' ———

यह संकेत मेरे अंतरमन, अर्धचेतन से मन में आदि अंत अनन्त मिलन के क्षणों में तुम्हारे जीवन-मृत्यु के क्षणों में तुम्हारें संग जिए और उन क्षणों में जो मुझे मिला। वही संकेत, भावना, विचार, उन क्षणों। उस दिन और उस दिन के बाद भी मुझे प्रेरित करते रहे तुम्हारी कलाकृतियां, तुम्हारी रची कविताओं, कहानियों, नाटकों, लेखों, सफरनामों और बारह एप्रिल की आधी रात तक लिखे जा रहे, अधूरे रह गए उपन्यास, सभी को तुम्हारी मातृभाषा पंजाबी और हिन्दी में पुस्तकों के रुप में प्रकाशित कर तुम्हारे पाठकों, तुम्हारे अभिभावकों के सन्मुख रखने के लिए शायद यही एक अधूर रह गई तुम्हारी इच्छा पूरी करने के लिए देश-विदेशों में तुम्हें तुम्हारे अभिभावक एक उत्कृष्ट अभिनेता ही के रुप में जानते हैं। फिल्मों में निभाए पात्रों में वे तुम्हें भारत की शोषित जनता के जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति करने वाले, मानवतावादी, अभिनेता के रुप में जानते और प्यार करने थे। लेकिन अधिकतर लोग तुम्हारी लेखन प्रतिभा के बारे में नहीं जानते थे और तुम अपने आपको सर्वप्रथम लेखक ही तो मानते थे न!

यह घर 'इकराम' क्या अब मेरे लिए घर रहा है? यह घर, जिसके 'स्टडी रुम' की शेल्फो पर अनेकों विषयों पर, हिन्दी, अंग्रेजी, पंजाबी, उर्दू, गुजराती, मराठी भाषाओं में खरीदी अनेकों पुस्तकें तुमने करीने से रखी थी पढ़ने के लिए। हमारे अपने परिवार ही के लेखकों की तुम्हें और मुझे भेंट दी हुई पुस्तकें देश-विदेश के अनेक स्थानों से लेखक मित्रों की सप्रेम सादर भेंट दी हुई पुस्तकें। तुम्हारी दैनिक डायरियां, और नोट

बुक्स! बड़ी सी मेज पर रखे अंग्रेजी पंजाबी के टाइपराईटर, तुम्हारा चश्मा, दीवारों और शेल्फों पर सजे फ्रेम किए कई एक समान पत्र, उपहार! अलमारियों में रखे अनेकों फोटो एलबम, छोटे-बड़े लैसों के साथ रखा हुआ बढ़िया कैमरा! कपड़ों की अल्मारी में तुम्हारे रोजमर्रा के कपड़े, पर्वतारोहण के लिए विशेष सादा सा एक कास्टयूम। और वहीं, तुम्हारी आराम करने की शैय्या भी —— सभी, तुम्हारी आलीयता भरी नजर से देखने की, तुम्हारे स्पर्श, तुम्हारे उन्हें प्रयोग करने की प्रतीक्षा में थे- पल पल दिन और रात —— तुम्हारे इन्तजार में, तुम्हारी स्टडी टेबल पर —— घर, जिसका हर कोना, तुम्हारी खुश तबीयत- हंसी, हंसी के फव्वारे से गूंजता रहता था, घर जो बच्चों, बड़ों, मित्रों संबधियों से की जाती तुम्हारी बातों, हर विषय पर की जाती बहसों चर्चाओं को हर दिन अपनी फिजां में संजोता रहता था, वह घर, वह आशियाना, एक ही झिंझोड़ते झटके से टूट गया था, उसका वातावरण कितना अजीब हो गया था और न मैं ही वह रही थी, जो अभी कुछ ही तो पहले; मैं थी —— न अपनी नजरों में, और न औरों की नजरों में।

मैं चली गई थी महीने भर के लिए तुम्हारी कच्ची कली सी भोली बेटी सरोवर को साथ लेकर काश्मीर अपने सहृदय भाई के पास रहने, प्रकृति मां की गोद में सिर रख कर कुछ सांत्वना पाने को, काश्मीर, जिसकी गोद ही मैं पली, बड़ी हुई थी। वहाँ भरपूर रोई थी मैं तुम्हारे मित्र कवि महजूर की कब्र पर। रोई थी मैं काश्मीर की विरहन कवयत्री हव्वाखातून की कब्र के पैरों पर बैठ, रोई थी मैं पेड़ों पर्वतों के गले लग कर, झीलो, झरनों और में रोई थी अपनी सखी जेहलम नदी के जल से एक होकर -- और फिर लौट आई थी बम्बई

हां, फिर लौट भी आई थी, उसी बम्बई महानगर में जिसकी चप्पा-चप्पा जमीन, गलियों सड़कें, राहें हमने अपने विवाहित जीवन के पच्चीस बरस, कभी पैदल तल, कभी बसों, लोकल ट्रेनों और कभी अपनी ही मोटर में घूम पहचानी और अपनी बनाई थी। बम्बई जहाँ तुम्हारे संग-संग रहती मैं अनेक नागरिकों की प्यार भरी दृष्टि तुम्हारी सुन्दर काया तुम्हारे सुंदर व्यक्तित्व के और स्वाभाविक ही आकर्षित होती थी। मैं उसी बम्बई की सड़कों पर अब किसी भी जरुरी काम कर्तव्य के लिए अकेली निकल चलती मैं भयभीत, कांप जाया करती। बरसों बीत चुके हैं, पर उस एक शाम की याद अभी भी मेरा मन तन जर्जरित सा कर देती है; अब, मैं एक बस स्टाप पर खड़ी थी। खेमे के ऊपर ही चिपका हुआ था एक पोस्टर तुम्हारी एक फिल्म 'हिन्दुस्तान की कसम' का। एयरफोर्स के एक अफसर के रुप में खड़े थे तुम आत्मविश्वास भरी मुद्रा में। राह जातों में आत्मविश्वास जगाती वह छवि तुम्हारी! मेरे तन मन में इतनी भयावह शून्यता भर रही थी कि अगर उसी समय बस न आ जाती तो मैं संज्ञा खो बैठती ——

अभी कुछेक सिनेमा हालों में तुम्हारी पिक्चरें चल रही थीं —— एक दो जो मुकम्मल हो जाने पर रिलीज होने वाली थीं, विशेष तौर पर 'गरम हवा' फिल्म। उसकी रिलीज से पहले उसे एक प्राईवेट स्टुडियों में दिखाया जा रहा था। हम, तुम्हारे छोटे से परिवार के लोग, विशेष तौर पर आमंत्रित थे। स्टुडियों में बैठी मैं, तुम्हें इतने करीब से देखती हुई, तुम्हारे भावना भरे क्लोज अप, अनेक रंगभावों मुद्राओं में खड़ी, चलती, बैठती, सोचती मेरे रोम-रोम को कंपकपाती तुम्हारी छवि तुम्हें अपने इतना पास पाकर भी तुमसे

अपने जीवन से अलग अछूता पाकर, एक अहत, क्रूर सत्य को सहन करती, मैं वहाँ थी। कितना, कितना कठिन था वह मेरे लिए ——

फिर भी मैं जी रही थी, जाग रही थी सो रही थी दैनिक कार्य कर्तव्य कर रही थी उसी पुरानी दुनियां में जिसके कारोबार, व्यापार कभी किसी साधारण या असाधारण के प्रयाण से बन्द नहीं हुए। वे सदा, सपाट, ऊँची, नीची सच्ची-झूठी राहों पर प्रगति अप्रगति करते रहते हैं ——— उसी पुरानी दुनियां को अब दूसरी ही दृष्टि से देखने, उससे फिर से अलग ही तरह का नाता; कर्तव्य मान जोड़ने के लिए शक्ति संचित कर रही थी।

बंबई के इसी घर, 'इकराम' की चार दीवारी के अन्दर अब कुछेक कर्तव्य थे, तुम्हारे प्रति, तुम्हारे-मेरे परिवार के प्रति, वक्त और जीवन से एक और ही तरह से साक्षात करने के प्रति- और, और बैठक की दीवार पर सजी, गहन नील गगन में ऊँची उड़ान में मग्न शुभ्र राजहंस से सतत मिल रहे उस मूक मौन संदेश के प्रति ——

अभी तीन चार महीने पहले ही तो तुमने घर ही में पंजाबी कला केन्द्र की स्थापना की थी। साहित्यिक गोष्ठियाँ तो पहले ही यहां हुआ करती थी। इपटा के कुछेक नाटकों की रिहर्सलें भी यहां हुआ करतीं।

दिसम्बर जनवरी १९७३ में तुमने बम्बई ही में पंजाबी नाटक समारोह करने का भी निश्चय किया। उससे पिछले दो तीन बरसों में पंजाब की एक नाटक मंडली के साथ रहकर तुमने पंजाब के गावों में जाकर नाटक खेला था। लेकिन अब कि पंजाबी कलाकार यहां आ रहे थे। बम्बई पंजाबी कलाकेन्द्र ने सुप्रसिद्ध पंजाबी नाटक लेखक बलवन्त गार्गी का नाटक खेलने का निश्चय किया। हर शाम घर के बगीचे ही में रिहर्सलें होने लगी। नाटक में तुम और मैं दोनों भाग ले रहे थे। निर्देशन भी लगभग तुम्हारा ही थी। तुम हीरो का रोल निभा रहे थे। लेकिन जब तुमने कलाकार को खलनायक का पात्र अच्छी तरह निभाते न देखा तो हीरो का रोल न करके तुमने खलनायक का पार्ट स्वयं किया यह कह कर कि अगर खलनायक का पार्ट अच्छी तरह से न निभाया गया तो नाटक कमजोर पड़ जायेगा। हम सभी हैरान थे। पर तुमने कहा, 'वक्त कम है अधिक रिहर्सलों के लिए, इसलिए ऐसा ही करना पड़ेगा। ऐसा निश्चय, फिल्मों और रंगमंच पर काम करने वाले किसी हीरो ने शायद ही कभी लिया होगा।

फरवरी के मध्य में, बम्बई में पहली बार पंजाबी नाट्य उत्सव खूब सफलता से मनाया गया जिसका श्रेय तुम्हीं को था।

मार्च महीने में साम्प्रदायिकता समस्या पर लिखा तुम्हारा अपना ही नाटक 'क्या यह सच है बापू?' बम्बई इप्टा द्वारा सफलता से प्रस्तुत किया गया। इसकी एक मुख्य भूमिका तुम भी निभा रहे थे। इन्हीं दिनों इप्टा दो तीन और तैय्यार हुए नाटक बम्बई के विभिन्न स्थानों पर प्रस्तुत कर रही थी। इनमें से एक था 'आखरी शमा' जिसमें तुम मिरजा गालिब का पार्ट इतनी बखूबी निभा रहे थे कि दर्शक अचंभित रह जाते। उस भूमिका को उतनी ऊँचाइयों पर आज तक कोई अन्य कलाकार नहीं ले जा सका। बर्डनार्ड शा के एक नाटक का रुपांतर भी इपटा उन्हीं दिनों खेल रही थी। उसमें भी तुम्हारी प्रमुख भूमिका थी साथ ही साथ दो तीन फिल्मों की शूटिंग भी हो रही थी। इसी बीच महाराष्ट्र के अकाल पीड़ित इलाकों में राहत कार्य के लिए भी तुम हो आए थे कितने, कितने काम तुम एक साथ कर रहे थे।

स्टेज और सिनेमा में प्रसिद्धि पा चुकी तुम्हारी पहली पत्नी दमयन्ती की यौवन में ही असमय मृत्यु के बाद, चार पांच बरस की, परी सी सुन्दर बेटी शबनम को, तुम दमयन्ती की निशानी मान कितने प्यार दुलार से पाल पोस कर बड़ी कर रहे थे, उसे हर क्षेत्र में बेहतरीन शिक्षा-दीक्षा दे रहे थे। लेकिन विवाहित जीवन में वह सुख न पा सकी। दुख-दुविधा में से निकलने के उसने और हमने बहुत प्रयत्न किए, कई एक क्रियात्मक काम करके। पर अतिसंवेदनशील शबनम मस्तिष्क की एक नस अकस्मात् फटने से, हमसे बिछड़ गई, जीवन के उस समय में, जब उसको अपने नए घर-गृहस्थ में सुख आनन्द मिलना चाहिए था।

समस्त परिवार को, पर तुम्हें विशेष तौर पर गहरी चोट लगी थी। दमयन्ती के बिछोह का दर्द-घाव फिर से उभर आया था।

इस दर्द और असीम अभाव पर काबू पाने के लिए तुमने अपने आपको अधिक से अधिक सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, कलात्मक कामों में लगाए रखा। इसका असर तुम्हारे स्वास्थ्य पर स्पष्ट दिखाई दे रहा था। लेकिन तुम्हें इन कामों से रोकना संभव था? इन्हीं कामों में तुम अपना दुख भुला रहे थे।

'मैं बेटी सनोवर को ही अब शबनम के रुप में भी देखता हूँ।' धीमे स्वर में एक दिन तुमने मुझे कहा।

शबनम के प्रयाण के बाद तुमने फिल्मों में काम न करने का निश्चय किया था। 'जिन फिल्मों का काम बाकी है वही खत्म करुँगा।' नया कोई कांट्रेक्ट साइन नहीं करुँगा।' और पूरा साल भर तुमने कोई नया कांट्रेक्ट साइन नहीं किया। उस समय तुम फिल्मों में सफलता के ऊँचे शिखर छू रहे थे। फिल्मों वाले तुम्हें अपनी फिल्मों में लेना अपना सौभाग्य मानते थे। तुम्हारे अभिनय ही के कारण उनकी फिल्में अधिकतर सफल होती थी। पर तुम्हारी अनुमति के बिना तुम्हारे सेक्रेटरी श्री राजेन्द्र भाटिया को इन्कार करना पड़ता।

पर एप्रिल के पहले सप्ताह में एक दिन तुमने मुझसे कहा, 'मुझे अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियाँ नहीं भूलनी चाहिए। दो तीन पिक्चरें साइन कर लूँगा। घर का गुजारा चलता रहेगा। जितना वक्त शूटिंग नहीं होगी वह सभी वक्त अब मैं पंजाब ही में रह कर पंजाबी में लिखने का काम करुँगा। अच्छे स्तर का पंजाबी साहित्य रचने के लिए पंजाब के गांव शहर, की माया, संस्कृति वातावरण समस्याओं आदि से घुलमिल कर रहना निहायत जरुरी है।' और कुछ ही महीने पहले तुमने पंजाब के प्रीतनगर इलाके में एक घर भी खरीद कर रहने लायक बना लिया था।

बारह एप्रिल १६७३ की शाम को तुम और मैं तुम्हारे सेक्रेटरी के घर गए। वहाँ तुमने साल भर के बकफे के बाद एक नई फिल्म का कांट्रेक्ट साइन किया।

तेरह एप्रिल की सुबह, 'अमानत' नाम की एक फिल्म की शूटिंग करके चौदह एप्रिल को तुम्हें अमृतसर के लिए रवाना होना था। बारह एप्रिल की आधी रात तक तुम अपने शुरु किए उपन्यास का लेखन कार्य करते रहे।

तेरह एप्रिल की सुबह ही तुमने हैदराबाद स्थित एक सांस्कृतिक संस्था की सेक्रेटरी को रोमन लिपी में टाइप की हिन्दी में लिखा, 'आपकी संस्था के कार्यक्रम के लिए मैं अवश्य पहुँचूगा निमंत्रण के लिए धन्यवाद।'

नहा धोकर नाश्ता करके, तुम स्टुडियो से फोन आने का इन्तजार कर रहे थे। स्टुडियो में फिल्म का नया सेट लगने में कुछ देर लग रही थी। और तभी, अकस्मात कुनियती का वह संघातक आक्रमण ——

तुम्हारी विद्वान माता जी कभी-कभी पंजाबी भाषा में कहा करती थी, 'कौण कहे रब्ब नू, ऐसो कर, ऐसे न कर।'

जब गृहस्थी चल रही होती है तो घर बाहर के काम परस्पर बटे हुए होते हैं, आपस में सलाह मश्वरे सोच योजनाएं मिल जुलकर किए जाते हैं। लेकिन तुम्हारी अनुपस्थिति में, अब मुझ पर, वे जिम्मेदारियाँ, काम आ पड़े थे, जिनकी मुझे कोई जानकारी न थी, न ही मैंने इससे पहले उनमें विशेष रुचि दिखाई थी। अब आर्थिक, कानूनी, समस्याओं और जिम्मेदारियों की समस्याएं मुंह खोले सामने खड़ी थीं।

इन समस्याओं को समझने, सुलझाने के प्रयत्नों में वक्त और ताकत लगने लगी। गम में डूबने से शायद यही बेहतर था।

हर शाम को पंजाबी कला केन्द्र द्वारा चुने नए नाटक 'लूणा' की रिहर्सलें भी घर ही की बैठक में शुरु हो गई थी। सभी सदस्य कलाकारों ने दृढ़ निश्चय किया था कि 'बलराज जी द्वारा स्थापित पंजाबी कलाकेन्द्र की गतिविधियों को अवश्य ही आगे चलाना है।' ——

अपने बच्चों पर, अपने पर कैसे बीत रही है, कैसे बीतेगी, भविष्य क्या है, कैसे चलेगा, कैसे चलाना चाहिए, जिन्दगी के सामने एकाएक उठ खड़े हुए सवाल! कभी मन तन को उद्वेलित करता, दिल की धड़कन को बन्द सा करने वाला गम, शून्यता- कभी ऐसी गंभीर समस्याएं कि सभी दरवाजे बन्द हुए दीखते ——

फिर भी पता नहीं, कैसे, कौन सी शक्ति जो मुझसे दिन रात काम करवाती रहती। कहां से आ रही थी वह शक्ति, शायद, कर्तव्यों के प्रति आस्था से? बचपन में अपने माता-पिता से मिले संस्कारों से? आदर्श स्त्री पुरुषों की पढ़ी, सुनी, देखी जीवनियों से? गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'दुःसमय' की शक्ति-प्रेरणा दायक कविताओं के बार-बार पाठ करने से? मेरे अपने ही अंतरतम की गहराइयों में बसी काश्मीर की धरती से मिले अपार अनुपम प्राकृतिक सौन्दर्य शीतलता से? अपनी संतान का मुख देखकर मिलती शीतलता ममता से? और तुम्हारे घर इकराम की बैठक की दीवार पर सजे, नील गगन में पंख फैलाए ऊँची उड़ान ले रहे मग्न, शुभ्र राजहंस के चित्र से संदेश लेते हुए-

यौवन काल में विषय, शैली, अभिव्यक्ति के लिहाज से तुमने जो ताजगी, नवीनता एवं प्रतिभा पूर्ण कहानियां ललित लेख कविताएं भी हिन्दी पत्रिकाओं के लिए लिखी थी, उन्हें पुस्तक रुप में छपवाने का विचार कभी तुम्हें नहीं आया था वे नौ तुम्हारे पुराने साहित्यिक मित्र प्रो० हरदेव बाहरी जी ही के अनुरोध से पत्रिकाओं से इकट्ठी की गई और उन्हीं द्वारा 'बसंत क्या कहेगा?' नाम से पुस्तक रुप में १९६५ में प्रकाशित हुई। वे बरस थे भी तुम्हारे देश विदेश के अनेक स्थानों संस्थाओं में काम करने के प्रयोग करने के दिन संस्कृति, राजनीति, रंगमंच, फिल्मों के क्षेत्रों में संघर्ष करके, नित नए अनुमान पाने के बरस, फिर कुछ आर्थिक और मानसिक स्थिरता पाकर तुमने एक के बाद एक, 'मेरा पाकिस्तानी सफरनामा' 'रुसी सफरनामा' सी सम्पूर्ण एवं महत्वपूर्ण पुस्तकें

हिन्दी पंजाबी में लिखीं प्रकाशित करवाई और अपने जीवनकाल ही में, पंजाब साहित्य अकाडमी और सोवियत लैन्ड नहरू पुरस्कार पाए।

'मेरी फिल्मी आत्मकथा' भी उन्हीं दिनों नई पंजाबी एवं हिन्दी मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रही थी। १९६० से १९७३ के बरस तुम्हारे फिल्मों रंगमंच, में काम करने पंजाबी, हिन्दी, अंग्रेजी भाषाओं में कहानी, कविता, नाटक, लेख, पत्रिकाओं के पत्र, पंजाबी साहित्य की पुस्तकों की समीक्षा, लिखने पंजाब महाराष्ट्र और अन्य प्रांतों में भी जाकर सांस्कृतिक राजनैतिक क्षेत्रों में सक्रिय समर्पित काम करने के बरस थे। भारतीय जन मानस के जीवन में जागृति प्रगति खुशहाली लाने में तन मन धन से समर्पित थे। तुम हर प्रकार की कुर्वानी करने को तैय्यार रहते थे। विश्व में युद्ध, अस्त्र-शस्त्र बन्दी एवं विश्वदर्शन, विश्व भर की सर्व साधारण जनता के उज्जवल भविष्य के सपने बुनने वाले थे तुम। इसके लिए 'विश्व शान्ति पदक' से सम्मानित किए गए थे तुम।

पर देश विदेशों से पाए इन सम्मानों का तुम्हें रत्ती भर भी अहंकार नहीं था। बल्कि इन्हें पाते हुए तुम्हारी समर्पण की भावना और बढ़ी थी

अतः समर्पित तुम्हारी सृजन की धरोहर को, अपने लिए, अपने परिवार के लिए और इससे भी विशाल तुम्हें चाहने वाले, देश के नागरिक परिवार के लिए संजो कर रखना कर्तव्य बनता था, विशेष तौर पर तुम्हारी लिखी सभी रचनाओं को।

बरसों बाद आज, यह रिर्पोताज सी लिखते हुए उन सभी बन्धु मित्रों को हार्दिक कृतज्ञता से याद कर रही हूँ जिन्होंने उस विकट समय में मेरा साथ निभाया, इस कार्य में सहयोग दिया। इन्हीं के सक्रिय सहयोग से 'बलराज साहनी साहित्य प्रकाशन समिति' बन सकी।

इन सहयोगियों में से सर्वप्रथम मैं याद कर रही हूँ 'बलराज साहनी साहित्य प्रकाशन समिति' के सदस्य पंजाबी 'भाषा के सुप्रसिद्ध साहित्यकार और तुम्हारे मित्र सुखवीर जी को जिनके साथ मिल कर मैने सभी संग्रहित रचनाओं को विषय और भाषा के अनुसार कहानी, नाटक, कविता, लेख, संग्रह की पांडुलिपियां तैय्यार कीं। लेख, कहानी, कविता की रचनाओं को घर मंगवाने के लिए, पंजाबी, हिन्दी, अंग्रेजी में छप चुकी कई एक रचनाओं को पत्रिकाओं के संपादकों से सम्पर्क करके मंगवाने का काम हुआ। सभी महानुभावों ने आदर एवं प्रेम से इस कार्य में सहयोग दिया। इनमें उल्लेखनीय नाम है श्री बनारसी दास चतुर्वेदी श्री धन्य कुमार जैन एवं श्री अमृत राय। पंजाबी पत्रिकाओं से भी छप चुके लेख कहानियां कवितां मंगवाए गए।

फ़िर, आज सादर सप्रेम स्मरण करती हूँ अपने बहनोई स्व० श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार को। प्रकाशन समिति के वे सदस्य थे और दिल्ली में रह रहे थे। यहाँ से मैं हिन्दी की पांडुलिपियाँ उन्हें वहाँ भेजती और वहाँ वे विभिन्न प्रकाशकों से संपर्क करके उन्हें एक बरसे के भीतर ही प्रकाशित करने का वायदा लेते। सभी प्रकाशकों ने भी तुम्हारे प्रति आदर श्रद्धा रखते हुए समय पर पुस्तकें तैय्यार कर देने का बीड़ा उठाया। हिन्दी पाकेट बुक्स के संचालक और तुम्हारे मित्र स्व० श्री प्रकाश पंडित ने 'पाकिस्तान का सफर' एवं मेरी फिल्मी आत्मकथा को उर्दू में भी प्रकाशित करने का फैसला किया। बाकी की दस पुस्तकें राजपाल एंड संस के अध्यक्ष विश्वनाथ जी, सरस्वती विहार के दीनानाथ मल्होत्रा

जी, आत्माराम एंड संस के श्री पुरी को प्रकाशन के लिए दी गई। पंजाबी में यही पुस्तकें, नानक सिंह पुस्तकमाला, और गुरुनानक देव यूनीवर्सिटी प्रकाशन के अध्यक्ष डा० प्यारा सिंह जी ने प्रकाशन के लिए ले लीं।

दिल्ली में भाई भीष्म साहनी भी प्रकाशन समिति के सदस्य थे। उनसे भी इस काम के लिए हर जरुरी बात पर सलाह मश्वरा पत्र व्यवहार चल रहा था।

घर में, खाने के कमरे की बड़ी सी टेबल जिसके गिर्द तीन ही महीने पहले परिवार के मित्रों सम्बन्धियों की रोनकें लगी रहती थी अब साहित्य प्रकाशन की वर्कशाप की टेबल थी। उसी पर थे अब हिन्दी पंजाबी और अंग्रेजी के टाइपराईटर। प्रतिदिन उन पर काम चलता। चिट्ठियां-पत्र, और अन्य सभी जरुरी टाइपिंग काम के लिए, तुम्हारे स्टेनोटाइपिस्ट स्व० मि० मंटेरों, स्व० श्री मिना और मिस्टर मंटेरों की बेटी रोज आते और तीन चार घंटे काम करते। तुम्हारे जाने के बाद जिस व्यक्ति ने मेरे लिए और मेरे साथ का काम घर-बाहर का हर प्रकार का काम निःस्वार्थ होकर अपने जीवनकाल में किया वे थे तुम्हारे स्टेनोटाइपिस्ट श्री मंटेरो। उनकी सहायता सहयोग के बिना मेरे लिए घर बाहर चलना उन पहले कठिन बरसों में संभव न होता। उन्होंने एक भाई बन कर मेरे लिए बहुत कुछ किया। और मैं उनके लिए कुछ भी नही कर सकी। उनके देहान्त से घर के सुचारु संचालन की एक और कड़ी टूट गई थी।—

दिल्ली से चन्द्रगुप्त जीजा जी ने आश्वासन दिया था कि सभी पुस्तकें पहली मई १९७४ तुम्हारी जन्मतिथी समारोह के अवसर से पहले ही तैय्यार हो जाएंगी। बल्कि मुझे यहाँ बम्बई में तुम्हारे बिजनेस सेक्रेटरी और प्रकाशन समिति के सदस्य श्री राजेन्द्र भाटिया से मालूम हुआ कि तुम्हारी पुस्तक 'मेरी फिल्मी आत्मकथा' तो हिन्दी-उर्दू में छप कर बुक स्टालों में खूब बिक भी रही है, हालांकि निश्चय यही हुआ था कि विमोचन से पहले पुस्तकें बेचनी न शुरु की जाएं।

पुस्तकों का विमोचन पहले दिल्ली, और फिर बम्बई के 'तेजपाल' थियेटर में करने का निश्चय किया था मैंने। क्योंकि तेजपाल हाल ही में हमारे जुहु आर्ट थियेटर के नाटक खेले जाते थे। पंजावी नाट्य समारोह भी तुमने इसी हाल में किया था। कुछ ही महीने पहले इपटा के नाटक, आखरी शमा में ' मिर्जा गालिब' की भूमिका कितनी महानता से तुमने निभाई थी। और साम्प्रदायिक समस्या पर लिखा तुम्हारा नाटक भी फरवरी १९७३ में इसी थियेटर में इपटा द्वारा खेला गया था । स्मृतियां सम्पूर्ण यह थियेटर था। और बम्बई तो १९४५ से १९७३ तक फिल्म एवं रंगमंच के क्षेत्रों के अलावा अनेक राजनैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक गतिविधियों का केन्द्र, रहा था। पंजाब सांस्कृतिक क्षेत्र में तो तुमने शायद १९६५ ही में ही कदम रखा था। दिल्ली में जन्मदिन समारोह राष्ट्रीय स्तर पर होना था और बम्बई में प्रादेशिक स्तर पर।

अब निमंत्रण पत्र छपवाकर उन्हें भारत के अनेक प्रांतों में, अनेक क्षेत्रों में, तुम्हारे सहयोगी सहकर्मी मित्रों एवं संस्थाओं को भेजे जाने का समय आ गया था। दिल्ली और बम्बई के समारोहों के लिए मुख्य अतिथियों से, पत्रों, टेलीफोन अथवा स्वयं संपर्क करके निमंत्रण स्वीकृति ले रही थी और सभी तुम्हारे प्रति आदर स्नेह पूर्व भावना से अथवा कर्तव्य भाव स्वीकृति दे रहे थे।

दिल्ली में मुख्य अतिथि के आसन के लिए प्रधानमंत्री श्रीमति इन्दिरा गांधी जी से निवेदन किया गया। किसी आवश्यक कार्य के लिए उनका विदेश जाना पहले से ही तय हो चुका था। लेकिन उन्होंने अपने पत्र में अपनी श्रद्धांजलि लिखकर मुझे भेजी, बलराज साहनी न केवल उच्चकोटि के कलाकार ही थे। वे अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों के प्रति समर्पित, मानवतावादी व्यक्ति थे।'

श्रीमती इंदिरा गांधी की अनुपस्थिति में अब श्री इन्द्रकुमार गुजराल समारोह की अध्यक्षता कर रहे थे, पुस्तकों का विमोचन करने वाले थे। उनके अतिरिक्त मेरे विशेष निमंत्रण पर, पंजाब के शिरोमणी वयोवृद्ध लेखक (स्व०) श्री सरदार गुरबख्श सिंह पूरे पंजाबी समाज का प्रतिनिधित्व करने के लिए अमृतसर से पधार रहे थे। मेरी सबसे बड़ी बहन श्रीमती सत्यवती मल्लिक को भी हमारे परिवार की एक प्रमुख सदस्य और प्रसिद्ध लेखिका होने के नाते मंच पर होना था और भाई भीष्म साहनी जी को उस स्मृति संध्या के कार्यक्रम का संचालन करना था।

दिल्ली में समारोह दो दिन का होना था। पहली शाम को बम्बई की पंजाबी कलाकेन्द्र के हम सभी कलाकार पंजाब के सुप्रसिद्ध कवि शिवकुमार बटालवी का प्रसिद्ध काव्य नाटक 'लूणा' तुम्हारी स्मृति को समर्पित कर रहे थे और दूसरी शाम 'पहली मई' को था जन्मतिथी समारोह एवं पुस्तक विमोचन।

जन्मतिथी समारोह की दोपहर ही को सप्रू हाऊस के बाहर के एक कमरे में , पंजाब और दिल्ली से आए हुए प्रकाशक, लम्बी मेजों पर अपनी-अपनी प्रकाशित पुस्तकें लगाने सजाने लगे थे। उसी कमरे ही के इर्द-गिर्द की दीवारों साथ खड़े बोर्डों पर तुम्हारे जीवन के, बचपन से मार्च १९७३ तक के पचासों फोटो एन्लार्ज करके सुरुचि से टांगे सजाए गए थे।

उसी शाम के कार्यक्रम में बम्बई से विशेष निमंत्रण पर इपटा के कलाकार भी पहुंच गए थे साम्प्रदायिक समस्या पर लिखे तुम्हारे नाटक 'क्या यह सच है बापू?' की प्रस्तुति करने के लिए। इस नाटक का निर्देशन तुम्हारी फिल्म 'गर्म हवा' के निर्देशन एम. एस सथ्यु कर रहे थे। श्री ए०के० हंगल एवं इपटा के अन्य बेहतरीन कलाकार उसमें भाग ले रहे थे।

समारोह का आरंम्भ दिल्ली के जाने माने गंधर्वमहाविद्यालय के विद्यार्थियों ने तुम्हारी फिल्म 'दो बीघा जमीन' के प्रसिद्ध गीत 'अपनी कहानी छोड़ जा, इक तो निशानी छोड़ जा, कौन कहे इस ओर, फिर तू आए, न आए!' एवं गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के गीत 'हे नूतन' सुमधुर भावपूर्ण कंठ से गाकर किया।

उसके बाद श्रीमती इंदिरा गांधी जी की श्रद्धांजलि पढ़ी गई। श्री इन्द्रकुमार गुजराल ने अपने वक्तव्य में तुम्हारे आदर्श पूर्ण जीवन के बारे में कह कर भावनापूर्ण शब्दों से तुम्हारी पुस्तकों का विमोचन किया। पुस्तक संग्रह मंच पर उपस्थित सभी के भेंट किए गए। सरदार गुरुबख्श सिंह जी ने पंजाबी में स्नेह एवं करुणा भरे शब्दों में, आधुनिक पंजाबी साहित्य संस्कृति में तुम्हारे महत्वपूर्ण योगदान का उल्लेख किया। बहन सत्यवती जी और भाई भीष्म साहनी जी ने हमारे समस्त परिवार की ओर से तुम्हें स्नेह पूर्ण शब्दों में याद किया। तुमने हमारे परिवार के गौरव को बढ़ाया था। उस अवसर पर तुम्हारी

पुस्तकों के सभी प्रकाशकों के हार्दिक सहयोग के लिए उनके प्रति कृतज्ञता के शब्द भाई भीष्म जी और चन्द्रगुप्त जी ने कहे।

तब बम्बई इपटा के कलाकारों ने तुम्हारे सशक्त नाटक 'क्या यह सच है बापू?' के कुछ अंश प्रस्तुत किए।

१९७३ ही में तुम्हारे देहान्त के बाद ही फिल्म डिविजन द्वारा तुम्हारे किए महत्वपूर्ण कामों के बारे में एक डाक्युमेंटरी भी बनाई थी। वह भी सभी अतिथियों को दिखाई गई।

सिर्फ दिल्ली और बम्बई ही से नहीं बल्कि, देश के कई और प्रान्तों से भी तुम्हारे कुछेक सहकर्मी मित्र पहुँचे थे उस अवसर के लिए। सप्रू हाऊस पूरा भरा हुआ था। हाल में बैठे तकरीबन एक हजार स्त्री-पुरुषतों में कोई भी ऐसा न था कि जिसके तुम्हारे स्नेहपूर्व आत्मीयता के संबंध न रहे हो। तुम सभी के अपने प्रिय बलराज जी थे। हमारे परिवार के सभी छोटे-बड़े तो अपने बलराज जी की पंजाबी, हिन्दी में विमोचित की जा रही तेरह पुस्तकों के विमोचन के गौरवपूर्व स्मृति समारोह के लिए तो वहाँ उपस्थित थे ही। हर एक के लिए कितनी गर्व पूर्ण, पर तुम्हारी ही अनुपस्थिति की गहरी उदासी लिए, मन में अनेक स्मृतियां उभारती हुई, स्मरणीय संध्या थी वह।

सभी सांस्कृतिक मेलों समारोहों में हम अनेक बार संग-संग होते थे, संग-संग हंसी-खुशी से काम करते हुए। लेकिन यह १९७४ की तुम्हारी पहली जन्मतिथी समारोह में भरे हुए हाल में, उस संध्या को मुझ सा एकाकी, मन-तन में शून्यता लिए क्या कोई और भी था? क्या पता।----

दिल्ली के समारोह के बाद पंजाबी कला केन्द्र के हम सभी सदस्य एवं कलाकार, दो तीन दिन के लिए चंडीगढ़ गए। वहां स्मृति दिवस के उपलक्ष में हमने टैगोर थियेटर को अपने नाटक लूणा के तीन-चार शो खेले। पंजाब के अनेक स्थानों- संस्थाओं से अनेक कलाकार, बुद्धिजीवी इस समारोह के लिए जमा हुए थे सभी की भावपूर्ण श्रद्धांजलियां बार-बार सजल नेत्र करतीं।

चंडीगढ़ से हम सीधा बम्बई के लिए रवाना हुए। उन दिनों रेलवे कर्मचारियों की हड़ताल चल रही थी। तो भी, स्थान-स्थान पर जो भी रेलगाड़ी मिल जाती उस पर चढ़ते उतरते, रेलगाड़ियाँ बदलते-बदलते प्लेटफार्मों पर सोते, बैठते इन्तजार करते हुए हम अपना अपना सामान स्वयं उठाते हुए किसी न किसी तरह उस सुबह को बम्बई पहुँच ही गए जिस की शाम को तेजपाल थियेटर में स्मृति समारोह एवं फिर से पुस्तक विमोचन का कार्यक्रम बहुत पहले ही से तय हो चुका था। तुम्हारी पुस्तकों के पारसल मैं स्वयं अपने साथ लाई थी।

घर पहुँचते ही मैंने मुख्य अतिथियों को टेलीफोन पर अपने पहुँच जाने की और शाम के कार्यक्रम के बारे में सूचना फिर से दी।

बम्बई के कार्यक्रम के मुख्य अतिथि थे केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी के अध्यक्ष थे तुम्हारे मित्र डा० नारायण मेनन। मंच पर उनके साथ थे सुविख्यात उर्दू लेखक श्री क्रिशन चन्दर, सुप्रसिद्ध गुजराती साहित्यकार श्री गुलाब दास ब्रोकर, सुप्रसिद्ध मराठी नाटक लेखक श्री विद्याधर गोखले, सुप्रसिद्ध पंजाबी साहित्यकार श्री सुखबीर और जाने माने कवि

श्री साहिर लुधियानवी। दिल्ली की तरह यहाँ भी मुख्य अतिथि के भाषण प्रधान भाषण के बाद पुस्तकों का विमोचन किया गया, पुस्तकें भेंट की गई। मंच पर आसीन सभी विशिष्ट महानुभावों ने तुम्हारे साथ अपने पुरानी मैत्री एवं तुम्हारे संग संग काम करने की अपने-अपने निजी स्मृतियाँ भरी श्रद्धाजलियाँ अर्पित की थियेटर हाल में, कला, साहित्य, संगीत, राजनीति, संस्कृति फिल्म रंगमंच, शिक्षा के क्षेत्रों के अनेक विशिष्ट पुरुष उपस्थित हुए थे उस शाम! ---- बम्बई तो सदैव ही रहा है भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य, फिल्म रंगमंच, ललित कलाओं शैक्षणिक एवं राजनैतिक धाराओं आंदोलनों का सृजनात्मक अग्रणी केन्द्र एवं संगम। और तुम पिछले कई बरस से कितने अभिन्न होकर जुड़े हुए थे इस संगम की एक विधा के साथ, प्रादेशिक, राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर, सर्वसाधारण के अंग-संग रहकर आत्म समर्पित हो, प्रसन्न मुख प्रसन्न चित्त, तन-मन धन से योगदान करते हुए। इसी कारण तो तुम्हारे निधन के एक बरस बाद जरा से निमंत्रण पर, पूरा तेजपाल हाल भर गया था, मानो तुमसे एक बार फिर से साक्षात्कार करने को आतुर! और तुम भी तो थे वहाँ, उस शाम के विमोचित की जा रही तुम्हारी पुस्तकों के लेखक, बलराज साहनी! उसी संध्या को फिर से इपटा द्वारा खेले जा रहे तुम्हारे लिखे नाटक में कही प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रुप में बलराज साहनी।

थियेटर हाल की गैलरी में दिल्ली समारोह की भांति ही सजाए गए थे तुम्हारी सफल जीवन यात्रा के चित्र! यूं संपूर्णता पाया बम्बई महानगर में तुम्हारे जन्मतिथि समारोह ने।

बम्बई के बाद पूना में भी किए इसी प्रकार के समारोह के साथ तुम्हारा जन्मतिथि समारोह सम्पन्न हुआ।

भारत के अनेक प्रांतों में अनेकों सांस्कृतिक संस्थाओं ने भी स्मृति दिवस आयोजित किए थे। उनमें शामिल होने के लिए तुम्हारे परिवार को भी स्नेहपूर्वक निमंत्रण भेजे जाते। कई पुस्तकालयों सांस्कृतिक संस्थाओं मार्गों एवं उद्यानों का नामकरण एवं उद्घाटन तुम्हारे नाम से किया गया।

तुम्हारे प्रयाण के डेढ बरस बाद मैं फिर दिल्ली जा रही थी। वहाँ, तुम्हारी फिल्म 'गर्म हवा' के लिए तुम्हें सर्वोत्तम अभिनय के लिए राष्ट्रीय सम्मान प्रदान किया जा रहा था।

दिल्ली ले जा रही ट्रेन में बैठी थी मैं। शाम का समय था। खिड़की से बाहर, भारत के किसी प्रांत के हरे-भरे खेतों के दृश्य देख रही थी। बड़ा सा लाल सूरज क्षितिज पर उतर रहा था। तभी मेरी नजर अपने कम्पार्टमेन्ट के भीतर कोने की एक सीट पर चुपचाप कुछ सोच में कुछ उदास से एक पठान की ओर अनायास ही खिंच गई। पठान की पोशाक, दाढ़ी मूंछ कुल्हेदार पगड़ी, चेहरा भी सभी वैसे ही थे जैसे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर की कहानी की फिल्म काबुलीवाला में अभिनय करते हुए तुम्हारा। अपने जुहु आर्ट थियेटर में भी उन्हीं की इस कहानी पर आधारित नाटक काबुलीवाला के अनेक शो किए थे। पठान की भूमिका में तुम्हारी सारी वेष भूषा यादाश्त के तौर पर तुम्हारी अल्मारी में सुरक्षित रखी थी। ---- ना जाने, उन क्षणों में मुझे प्रतीत होने लगा कि मुझसे कुछ ही परे, कोने की उस सीट पर तुम ही बैठे हो, चुपचाप, सोच में उदास! किसी को याद करते? शायद दूर-दूर अपने गांव में अपनी बेटी मिनी को याद कर रहे थे? ---- मेरी

ही तरह, एक बड़ी सी, सूर्य की ज्योति को अस्त होते देख रहे, एक जीवन, एक संबंध को अस्त होते देख रहे थे। चाहा कि उठ कर उस काबुली वाला के निकट जाऊँ, दो टूक बात कर लूँ ---- लेकिन नहीं, सूर्य अस्त हो चुका था कम्पार्टमेंट की बत्तियां जल गई थी और अगले ही किसी स्टेशन पर एकाकी सा उदास सा पठान, डिब्बे से उतर गया था ---- आलोप हो गया था ---- क्या सीट खाली थी ----- क्या सचमुच ही वहाँ थोड़ी ही देर पहले एक काबुली वाला बैठा था? उसने भी मेरी ओर देखा था अजब सी नजर से, जैसे वह मुझसे दो शब्द कहना चाहता हो, प्रश्न था पूछना चाहता हो ----- क्या वह दृश्य सच था? या मेरी भ्रमित दृष्टि ----- ।

बंगाल फिल्म जर्नलिस्ट ऐसोसियेशन भी तुम्हें सर्वोत्तम अभिनेता का सम्मान दे रही थी। किसी अभिनेता के लिए सम्मान विशेष महत्व रखता है। इसे स्वीकारने के लिए मैं कलकत्ता गई ---- कलकत्ता, में 'दो बीघा जमीन' फिल्म की शूटिंग के दौरान मैं तुम्हारे साथ गई थी ----- कलकत्ता जिसकी तपती पिघलती कोलतार वाली सड़कों पर, तुमने रिक्शा खेंची-दौड़ाई थी जानबूझ कर, भूखे प्यासे रह कर ----- तुम्हारे नंगे पाओं पर छाले पड़ गए थे, आंखों और गालों पर काली छाइयां आ गई थी। लेकिन तुम पूरी सच्चाई से भारत के समक्ष गरीब शोषित, कर्जदार किसान वर्ग की त्रासदी, उस फिल्म में अपने अभिनय द्वारा, सामाजिक कर्तव्य मानकर दर्शकों के सामने रखना चाह रहे थे। यह भी पटकथा गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की कविता 'दुई बीघा जिमी' पर आधारित थी- फिल्म को बने बीस एक बरस हो चुके थे- लेकिन पुरानी स्मृतियाँ मन मे उमड़ने लगी और कलकत्ता जाते हुए मेरा मन कांप-कांप जाता। लेकिन कर्तव्य था, इसलिए जाना आवश्यक था। सो गई।

कलकत्ता में अपने तीन चार दिन के प्रवास में कभी घर से बाहर सड़क पर चलते किसी भी रिक्शा वाले को रिक्शा खेंचते देखकर, शोषित किसान शंभु महतो की तुम्हारी छवि मन में उभ आयी। और वही, एक दोपहर ऐसी भी आई कि किसी काम के बाद अपने निवास स्थान पर लौटते समय मुझे बिल्कुल न चाहते हुए भी रिक्शा लेनी ही पड़ी। मुझे अपनी रिक्शा पर बैठा, रिक्शावाला रिक्शा खेंचता दौड़ता मुझे अपने निवास पर ले जा रहा था। यह रिक्शा वाला कौन था? शंभु महतो? क्या वह, तुम थे कितने ही बरस बीत चुके थे दो बीघा जमीन की शूटिंग को लेकिन, उसके सभी दृश्य मन में एक बारगी ताजा हो रहे थे। ---- निवास स्थान पर पहुँची। जी चाहा, बटुए में जो भी पूँजी थी सभी दे दूँ, बल्कि उससे भी कहीं अधिक कुछ और -- शायद उस समय उमड़ रही सभी भावनाएं , भावनाओं के पीछे दबी एक कहानी उससे सांझी कर लूँ---- रिक्शा वाले ने अधिक किराया पाकर आश्चर्य भरी मूक दृष्टि से मुझे देखा और धीमा मुस्कराया। और मैं अपने उमड़ते आंसू उससे छिपाती हुई तेजी से। निवास की सीढ़ियों की ओर बढ़ गई------।

कलकत्ता से बम्बई लौटने से एक दिन पहले एक तीर्थ स्थान पर जाना अत्यन्त आवश्यक था तीर्थस्थान था गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर का पारिवारिक निवास स्थान 'जोरोशैको हाऊस'। मानो मेरे अन्तरमन को संदेश सा मिल रहा था, कि शायद वहीं जाकर, जो खोया था उसे किसी रूप में पा सकूँ, सान्त्वना पाऊं, आशीष पाऊँ।

ज्यों अपने भानजे अशोक के साथ जाकर जोरोशैको निवास का एक-एक कक्ष देखा, परिवार की सभी सुरक्षित रखी स्मृतियां, वस्तुएं निशानियां देखी। तभी, वह छोटा सा कक्ष भी देखा जिसमें एक स्मृति वाती टिमटिमा रही थी, और उसकी दीवार पर एक कविता अंकित थी। आज इतने वरसों बाद यह लेख लिखते हुए मुझे ठीक याद नहीं आ रहा पर जहां तक स्मरण है, यही गुरुदेव रवीन्द्रनाथ का निवास कक्ष था।

उस कक्ष में नतमस्तक बैठ कर, बरसते आंसुओं भरे नयनों से दीवार पर अंकित वह कविता मैंने पढ़ी थी और कांपती हुई उंगलियों से अपनी नोटबुक पर उतार ली थी। जहाँ तक विचार है वह 'गीतांजलि' से अंग्रेजी भाषा में लिखी गई थी। उस कविता का हिन्दी रुपांतर, मेरी तुच्छ बुद्धि, तुच्छ भाषा ज्ञान, और अति तुच्छ अनुभव एवं अभिव्यक्ति क्षमता ठीक-ठीक नहीं कर सके। फिर भी मैंने रुपान्तर करने की धृष्टता की है।

वह रुपांतर मैं आज तुम्हें और तुम्हारे पाठकों को सविनय समर्पित कर रही हूं। क्योंकि मैंने विश्व कवि रवीन्द्रनाथ की व्यक्त की इन पंक्तियों में तुम्हारे व्यक्तित्व की भी झलक पाई। शायद इन्हीं पंक्तियों को बरसों से मन में संजोए, तुम्हारी आत्मा से मेरा साक्षात्कार होता रहा है। हम दोनों ही गुरुदेव के अनन्य शिष्य भक्त अभिभावक रहे हैं, दोनों ही उस समय के शांति निकेतन में रह चुके हैं, उनसे साक्षात्कार करने का सौभाग्य प्राप्त कर चुके पाए है। तो क्या सुनोगे वह कविता?

जब मैं विदा लूं यहां से,
तो मेरे अंतिम शब्द होंगे कि
जो मैंने देखा, अनुभव किया है
वह है अदभुत।
चखा है मैंने मधु
बसा, छिपा, इस कमल के भीतर.
जो प्रसारित हो रहा है, वहां
ज्योति के समुद्र तक!
यों, पाई है मैंने आशीष!
मेरे विदाई शब्द हैं, कि
अंत्तहीन रुप, आकारों के
इस रंगमंच पर, मैंने
खेला है अपना खेल!
यही हुआ है मेरा साक्षात्कार
उससे, जो छलता है।
समस्त रुप-आकारों को!
मेरी शिरा-शिरा, आयु आयु
हुआ है , आच्छादित, उल्लसित
उसके स्पर्श से!

और यदि
यहां होता है अंत, तो
स्वागत है इसका।
यही है मेरे विदाई शब्द।

सृष्टि के रंगमंच पर अपना बेहतरीन खेल खेल गए 'प्रिय बलराज, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की कविता 'दुई बीघा जीमी' के शोषित किसान शंभु महतो, तुम्हारे कलकत्ता ही से एक दिन, संयोग संदेश की तरह मिला था एक पत्र, आदरणीय भाई कृष्णचन्द्र बेरी जी का, मेरी रचनात्मक गतिविधियों का जरा सा परिचय पाने के लिए

उनके उस पहले पत्र का उत्तर ही बन गया, एक माध्यम, एक सुसंयोग, एक राह एक निश्चय तुम्हारी सभी पहले प्रकाशित हो चुकी पुस्तकों को बेरी जी के, बनारस स्थित हिन्दी प्रचारक संस्थान द्वारा समग्र रुप में फिर से प्रकाशित करके तुम्हारे पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत करने का।

तुम और मैं, दोनों ही आभारी हैं बेरी जी के स्नेह आदर एवं उद्यम भरे इस सतकर्म, सहयोग के लिए।

तो बलराज, अपनी इस बेहद लम्बी शायद बोरिंग भी हो गई, इस चिट्ठी के अन्त में मैं इसके आरंभ में लिखे शब्द 'तेरा, तुझको सौंपा, क्या लगता है मोर!' के साथ अलविदा कर रही हूँ।

और एक बार फिर मेरी नजर उठी है हमारी बैठक की दीवार पर सजी, गहन-नील गगन में, पंख फैलाए ऊँची उड़ान में मग्न मौन इस शुभ्र राजहंस की ओर!

— **संतोष साहनी**

कस्मै देवाय हबिषः

संतोष साहनी रचित साहित्य समग्र। भला यह क्यों कर? इस स्त्री ने ऐसा क्या साहित्य रचा है कि इसकी, जो भी, जैसी भी रचनाएँ हैं, वे समग्र रुप में छापने योग्य हों? तिस पर इतनी महंगाई के ज़माने में। कोई भी पाठक (अगर इस समग्र को कोई पाठक मिले भी) सोचेगा।

संतोष साहनी रचित, बाल साहित्य समग्र तो आदरणीय भाई श्री कृष्णचन्द्र बेरी ने निःसंकोच प्रकाशित करना स्वीकार किया था।

और बलराज साहनी रचित साहित्य भी समग्र रुप में प्रकाशित करना भी बेरी जी के आग्रह ही से तय हो गया था।

लेकिन मेरी प्रौढ़ पाठक रचनाओं को भी अलग से, समग्र रुप में प्रकाशित करने का निश्चय लेना तो बेरी जी की उदारता ही, का सुफल मुझे मिल रहा है। लेखक लेखिकाओं को प्रोत्साहना देना उनका आदर्श रहा है। उनकी इस स्वीकृति ने मुझे आत्मविश्वास दिया है, और मेरे लम्बे जीवन के अंतिम चरण पर मुझे सृजनात्मक विकास का भी अवसर दिया है। अतिशय कृतज्ञ हूँ हिन्दी प्रचारक संस्थान परिवार की।

इस समग्र की रचनाएं जब प्रूफ देखने के लिए, मेरे पास बम्बई पहुँचने लगी तो अपनी अति प्राचीन, आधी कच्ची-आधी पक्की रचनाओं को, फिर से पढ़ते हुए मेरे मन का अपने दशकों पहले के जीवन की झांकियां, झलकें देखना स्वाभाविक था-- कि, जब मैंने, यह कविता या वह कहानी या लेख लिखा था तब मेरी कितनी उमर थी, कितना था मेरा जीवन अनुभव, साहित्य अध्ययन? भाषा ज्ञान? क्या थी मेरी भावनात्मक अवस्था, परिस्थिति? साहित्य सृजन की दिशा में मेरे संस्कार क्या थे? कब, किससे प्रेरणा मिली? कौन सी घटनाओं, प्रभावों के कारण मैं लेखन कार्य शुरु करके भी अपनी सृजनात्मक क्षमता में विश्वास खो गई? और किस आदर्श ध्येय आवश्यकता ने मुझे फिर से लिखने की ओर अग्रसर किया? आदि आदि अनेकों स्मृतियों, विचारों, भावनाओं का सिलसिला चलचित्र सा घूमने लगा। वह लम्बी स्मृतिमाला एक आत्मकथा सी लम्बी कहानी बनने लगी, इस प्रस्तावना की सीमाओं से बाहर--

पर अपनी अति प्राचीन से लेकर तकरीबन नवीन रचनाओं के प्रूफ़ देखते हुए, मैं यह सोच हैरान भी हुई कि क्या मैं वाकई पिछले तरेपन-चौवन बरसों से कविता, कहानी, लेख, नाटक, बाल एवं प्रौढ़ पाठक रचनाएं लिखती रही हूँ।

जो सब लिखा है वह सब सदाबहार, उत्कृष्ट भी नही है इसका भी अहसास हुआ। लेकिन मैं लिखती ही रही हूँ, क्यों? शायद इसलिए कि, साहित्य-संगीत में सृजनात्मक अभिव्यक्ति की चाह मुझे पारिवारिक संस्कारों और अपने विकास की आयु के वातावरण में सहज ही मिल रही

थी और सृजनात्मक अभिव्यक्ति तो प्राण वायु है आवश्यक रक्त स्पंदन है जो मेरे जीवन यात्रा की हर परिस्थिति, हर परीक्षा में मेरी सखी- संगिनी रही है। क्रियात्मक अभिव्यक्ति के बिना तो जीवन, जीवन नही है।

बचपन से मिले, साहित्यिक सांस्कृतिक संस्कारों की देन के लिए, आज यह पंक्तियां लिखते हुए मैं सर्वप्रथम कृतज्ञ हूँ अपने आदरणीय माता-पिता की। फिर, अपने प्रतिभाशील स्नेहमय प्रोत्साहन देने वाले भाई जयदेव जी की, और अपनी छः बहनों की जिनके साहित्य, संगीत, शिक्षा, सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में किए निस्वार्थ समर्पित कार्य मेरे लिए और हम सभी के लिए, परस्पर प्रेरणा स्रोत रहे हैं।

पश्चिम पंजाब (अब पाकिस्तान) के निवासी मेरे माता-पिता कारोबार के लिए, कश्मीर में जा बसे थे। सो मेरे जीवन के पहले सत्रह अठारह बरस, आज से कई दशक पहले के कश्मीर में विकास पाए। अर्ध शताब्दी से भी पहले के कश्मीर की अनुपम छवि मेरे तन मन की गहराईयों में समाई है। उषा: काल में हरी दूब पर ओस कवियों सा विमल अबोध कश्मीर ऊँचे हिमशिखरों पर नई बरफ़ सा नरम ताजाह, हरी, कोमलांग धरती और चट्टानों से फूटते निकलते, प्रवाहते स्रोतों सा स्वच्छ-स्वछंद कश्मीरी जीवन। शान्त, सौम्य विस्मृत, गहन, चंचल, रहस्यमय, कश्मीर वादी का भोला स्वस्थ मोहक स्वरुप, मेरे लिए हर पल, मानसिक स्वास्थ्य- संतुलन, सृजनात्मक प्रेरणा का स्रोत रहा है, आज बरसों से काश्मीर धरती से दूर रहते हुए भी।

तथाकथित जड़, अर्ध विकसित विकासशील, विकसित प्रकृति और मनुष्य का परस्पर हितकारी घनिष्ट संबंध जग-जीवन ब्रहमांड जीवन के लिए, कितना अनिवार्य है यह महान सत्य, तथ्य, तत्व महाकवि रवीन्द्र, वर्ड्ज़ बर्थ, कालिदास, विश्वकवियों, विचारकों, वैज्ञानिकों एवं विश्व के जनसाधारण के सदियों, सदियों से पाए, सीखे अनुभव किए, व्यवहारिक ज्ञान और सत्यों से मैंने भी कुछ ग्रहण किया है। प्रकृति के पाजिटिव, नेगेटिव, जीवन दाई और रौद्र रुपों को मैंने अपने बाहर-भीतर स्वीकारा है। प्रकृति का बहुरुपी संसार मुझसे, मेरी सृजनात्मक अभिव्यक्ति से अलग नही।

ख़ुशनसीब हूँ कि स्कूल कालेज के बरसों से ही मुझे उत्तम विश्व साहित्य के पठन–पाठन का अवसर मिलता रहा भले ही आंशिक मात्रा में। इस कारण मेरे भीतर साहित्य सृजन के आदर्श, मूल्य स्तर बनते रहे हैं, चाहे अपनी रचनाओं में मैं उस स्तर पर न पहुँच सकी हूँ। इसके कारण भी मन ही मन सोचती रही हूँ।

वे कारण थे, या हो सकते थे, मेरी अपनी ही प्रकृति से बनी, या इत्तेफ़ाकन घटती घटनाओं से बनती रही, परिस्थितियां, मेरे विकास की सीमाएं, जिनके घेरे में रहती मैं किसी भी विषय घटना, समस्या के बारे में ख़ूब गहरा अध्ययन और सोच कर सकूँ और अभिव्यक्ति के लिए अपनी भाषा को समृद्ध कर सकूँ। अपनी सृजनात्मक कैनवस के सीमित रहने की अशनुष्टता बराबर मन में बनी रही है। –– इसके साथ ही जीवन के हर क्षेत्र में, नित बदलती दिन पर दिन अधिक जटिल विषम होते जा रहे और कहीं सरल भी हो रहे सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक नैतिक मान्यताएं मूल्य, स्तर, जिन्हें विश्व भर के संवेदनशील विचारक, सृजनहार,

देखे और अनुभव कर रहे हैं, उन्हें अपनी लेखनी की पकड़ में लाना, उनकी सार्थक, मूल्यवान अभिव्यक्ति करना विरले मनुष्यों ही की तपस्या रुप फल है। ऐसी तपस्या का भाग्य, वरदान मैं नहीं पा सकी। फिर भी अपनी सीमित क्षमता के मुताबिक मेरे आदर्श और दिशा पाज़िटिव की ओर ही रहे हैं।

बलराज जी से मुझे कई वरदान मिले। सबसे अहम वरदान था, मुझे मेरी मातृभाषा पंजाबी के अध्ययन और उसमें अभिव्यक्ति की जागृति का। इस दिशा में उनके मन में प्रकाश किरण जगाई गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने। उसका प्रकाश उन्होंने मुझे दिया। हम दोनों के परिवारों में बोलचाल की भाषा ठेठ पश्चिमी पंजाब की ही थी और अब भी है। लेकिन हम सभी की पठन पाठन पत्र व्यवहार एवं साहित्यिक सृजन की भाषा हिन्दी और अंग्रेज़ी ही रही है। हमारे परिवारों के कुछेक सदस्यों ने हिन्दी और अंग्रेजी में उच्च कोटि के साहित्य का सृजन किया है। लेकिन हिन्दी-अंग्रेज़ी में लिखते हुए भी पंजाबी साहित्य का अध्ययन करने और उसमें गद्य पद्य रचना करने वाले सिर्फ़ बलराज जी और मैं ही रहे हैं।

पंजाबी में लिखना शुरु करने से पहले तीन चार बरस ऐसे भी गुज़रे कि मैं न हिन्दी, न पंजाबी ही में लिख सकी। यूँ महसूस हुआ जैसे मैं दोनों ही भाषाओं में कच्ची हूँ। लेकिन पंजाबी साहित्य का कुछ अध्ययन करने पर यह संकोच धीरे-धीरे दूर होने लगा और फिर से लेखनी चलने लगी, विशेष तौर पर पंजाबी भाषा में बाल साहित्य सृजन की दिशा में। आज से पच्चीस एक बरस पहले पंजाबी में बाल साहित्य सृजन बहुत कम हो रहा था। तब पंजाबी बाल पत्रिकाओं में मेरी कहानियां, गीत, नाटक आदि प्रकाशित होने से मुझे प्रोत्साहना मिली। मेरी अभिव्यक्ति में स्वाभाविक सहजता और रोचकता आई। मैं अब हिन्दी, पंजाबी दोनों में लिख रही थी। सरल हिन्दी से सरल पंजाबी और सरल पंजाबी से सरल हिन्दी में रुपांतर करने का मेरा अभ्यास बढ़ा। हिन्दी-पंजाबी दोनों में बाल एवं प्रौढ़ पाठक साहित्य लिखना और उसका पत्रिकाओं में प्रकाशित होना नवीन और सन्तोषजनक अनुभव था। पुस्तकें भी छपीं। मेरा पहला काव्य संग्रह 'थोर कमलिनी' पंजाबी ही में प्रकाशित हुआ।

बलराज जी ही ने मेरा परिचय बेहतरीन उर्दू साहित्य से भी करवाया। मेरे एक जन्मदिन पर श्री रतन सिंह, सरशाद रचित, 'फसानाएं आज़ाद' के चार बड़े-बड़े वाल्यूम उन्होंने मुझे भेंट किए और रोज़ सुबह पढ़-पढ़ कर मुझे सुनाते। उन्होंने मिरज़ा गालिब के जमाने से लेकर आधुनिक उर्दु शायरी को पढ़ने सुनाने से मेरी रुचि विकसित की। इससे पहले, लन्दन में, बी.बी.सी., हिन्दुतानी विभाग द्वारा हर हफ़्ते प्रसारित किए जाते योरुपियन नाटकों के सरल हिन्दुतानी अनुवादों में मैं तीन-चार बरस बराबर अभिनय कर चुकी थी। कुछ बरस पहले हिन्दी भूषण की परीक्षा के लिए मध्यकालीन गद्य-पद्य लेखकों की रचनाओं से परिचय हो चुका था। इसके अलावा हिन्दुस्तानी शास्त्रीय एवं भक्ति गीत, संगीत की मेरी भाषा और अभिव्यक्ति पर सहज ही प्रभाव पड़ता रहा।

अपने देश में रेडियो एवं नाटक जगत से मेरा बरसों से सक्रिय संबंध बना रहा है। बलराज जी, उनकी पहली पत्नी दमयन्ती और बाद में मैं, इपटा के स्थाई सदस्य रहे हैं। बम्बई के अपने ही इलाके जुहु में हमने जुहु आर्ट थियेटर की स्थापना की। अपने इस थियेटर के लिए मैंने अधिकतर अकेले ही या कभी किसी साथी के सहयोग से भी गोगोल, चेख़न, गोर्की इब्सन, गाल्ज़वर्दी, अरविन शा के, एक-एक नाटक के हिन्दी अनुवाद मंचन के लिए किए। पंजाबी के

और बंगला के भी एक-एक नाटक के अनुवाद किए। इन्हीं दिनों से मैंने अपनी कालोनी के बच्चों के लिए, बाल गीत, नृत्य, नाटक आदि हिन्दी में लिखे और बच्चों द्वारा प्रस्तुत करने शुरु किए। टैगोर रचित नाटक 'डाकघर' बहुत सफल पुर्न प्रस्तुति रही। बाद में अपने नए घर में रहते हुए मैंने अड़ौस-पड़ौस के सर्व साधारण बालक-बालिकाओं को लेकर जुहु बाल रंगमंच की स्थापना की। बम्बई में बसे हर प्रांत, हर भाषा बोलने वाले बालक-बालिकाओं के लिए सरल सहज बोलचाल की हिन्दुस्तानी में संगीतबद्ध गीत, नृत्य नाटिकाएं लिखना और बच्चों द्वारा प्रस्तुत करवाना मेरे लिए, समाज के हर वर्ग के बच्चों के लिए, और दर्शकों के लिए भी नवीन प्रयोग, लाभदायक एवं रोचक अनुभव थे।

अपने जुहु आर्ट थियेटर के लिए बंगाली, पंजाबी, अंग्रेज़ी नाटकों के हिन्दी अनुवाद करने का काम मैंने अपने ही शौक रुचि से ही स्वीकार किया। इससे मेरा एक भाषा से दूसरी भाषा में अभिव्यक्ति का ज्ञान-अनुभव विकसित हुआ। तब यह भी समझ में आने लगा कि अनुवाद का काम, विशेष तौर पर किसी अन्य देश प्रांत के भाषा के नाटक का अनुवाद, मौलिक सृजन से भी कहीं कठिन है। इसके लिए दूसरे प्रांत, देश की संस्कृति परिवेश, साहित्य वातावरण आदि के ज्ञान की भी आवश्यकता पड़ती है। नाटक की भाषा उसे रंगमंच पर बोलचाल के लिए कैसे प्रभावशाली बनाया जाए इन बातों की जरुरत भी समझ में आई।

अनुवाद करने के इन बरसों में मैं कभी मन में चिढ़ती भी कि मैं सिर्फ़ अनुवादिका बन कर ही रह गई हूँ। पर इसके साथ ही मुझे नाटक, लेखन, मंचन के तकनीकी पक्षों पर लिखे साहित्य पढ़ने सीखने और व्यवहार में लाने का भी अवसर मिलता। मेरे अनुदित किए नाटकों में से रुस के महान साहित्यकार निकोलाह गोगोल के जगत विख्यात व्यंग नाटक 'इंस्पेक्टर जनरल' का हिन्दी अनुवाद 1956 में प्रकाशित हुआ। इसी नाटक का पंजाबी अनुवाद भी कुछ बरसों बाद मैंने पंजाबी में छपवाया। अन्य कुछ अनुदित नाटकों की पांडुलिपियां अभी तक अल्मारी में पड़ी हैं।

बलराज जी और मैं दोनों, अन्य देशों के नाटकों के रुपांतर करने में कभी कायल नही हुए। रूपांतर तो किसी देश- विशेष की अपनी परम्परा, संस्कृति, पृष्ठभूमि, समस्या आदि का परिवेश ही बदल जाता है। इन सभी का ज्ञान तो पाठक और दर्शक को नाटक का अनुकूल उपयुक्त भाषा में किए अनुवाद और उस देश, प्रांत विशेष के असली परिवेश में दर्शाने ही से हो सकता है।

हमारे सांझे जीवन के तकरीबन पच्चीस बरस, बलराज जी फ़िल्मों और रंगमंज के साथ बराबर जुड़े हुए व्यस्त थे। मैंने फ़िल्मों में काम नही किया। लेकिन रंगमंच पर उनके साथ अभिनय करती रही और फ़िल्मी दुनियां से भी संबंधित रही। तब मुझे फ़िल्म निर्माण, तकनीक, पटकथा, लेखन, फ़िल्म गीत, फ़िल्म डायलाग लेखन के गुणों, विधियों के बारे में भी ज्ञान प्राप्त हो रहा था। बलराज जी ने स्व. गुरुदत्त निर्मित 'बाज़ी' फ़िल्म के लिए पटकथा लिखी थी जो बेहद मकबूल हुई। उन्हीं दिनों मैंने भी रेडियो के लिए 'वह देख सितारा' नामक फ़िल्मी दुनिया की पृष्ठभूमि लेकर एक सीरियल लिखा और निर्देशित किया जो बहुत सराहा गया। घर में फ़ुरसत की घड़ियों में बलराज जी रोज़-रोज़ विभिन्न अनुभवों पर डायरी नोट्स लिखते, लेख, कहानी, कविता, यात्रा संस्मरण लिखते और मैं घर परिवार की ज़िम्मेदारियां संभालते हुए समय

पाकर पढ़ती, हिन्दी, पंजाबी में कुछ न कुछ लिखती ही, भले ही वह दैनिक डायरी हो या किसी नए-पुराने अनुभव पर कविता। हमारे घर-परिवार का वातावरण साहित्यिक, सांस्कृतिक ही रहा नुमाइशी, फ़िल्मी नही।

साहित्य, संगीत दोनों ही बचपन से मेरे जीवन के अंग रहे हैं। कभी एक का पलड़ा भारी हो जाता है तो कभी दूसरे का। जब कभी लिखना छोड़कर सिर्फ़ संगीत अभ्यास सृजन का निश्चय किया है, तो रेडियो किसी हिन्दी-पंजाबी बाल-प्रौढ़ पाठक पत्रिका से या कभी कभार दूरदर्शन से भी कुछ लिखने के लिए कहने पर चाव से फिर लिखने बैठी हूँ, और फिर लौट आई हूँ संगीत अध्ययन, रियाज के आनन्दमय अपार समुद्र में तैरने के लिए, कुछ सृजन के लिए। इन दोनों सखाओं के सुख-दुःख दोनों में, मुझे ज्ञान, अनुभव, संतुलन, एकाग्रता आत्मिक बल एवं समृद्धि प्रदान की है।

मेरा जीवन, घटनाओं, परीक्षाओं, चुनौतियों भरा रहा है। किसका नही होता? अचंभित होती हूँ कि मैं उनमें जी कर कैसे एक-एक कदम कुछ आगे भी बढ़ सकी। इसी संदर्भ में मैं आज अतीव कृतज्ञता से उन कुछ हस्तियों को स्मरण करना अपना आवश्यक कर्तव्य मानूंगी, जिन्होंने मेरे यौवनकाल के कुछ विकट मोड़ों पर मुझे आत्मिक बल और सृजनात्मक प्रेरणा, प्रोत्साहन दी।

याद कर रही हूँ अपनी कवयित्री बहन स्व. पुरुषार्थ के पति मेरे जीजा जी प्रसिद्ध साहित्यकार स्व. चन्द्रगुप्त विद्यालंकार जी को। हिन्दी में पहले पहल उनकी अनुदित 'संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियां' ही मेरा पहला पाठन अनुभव या विश्व साहित्य का। अधिक अध्ययन और लिखने की प्रेरणा, प्रोत्साहना पहले पहल और सदैव उन्हीं से मिली। उन्होंने ही मेरी पहली एक दो रचनाएं 'हंस' में भेजी जो छपी भी। संगीत अध्ययन के लिए शान्ति निकेतन में प्रवेश भी उन्हीं द्वारा हुआ।

ऋणि हूँ मैं उर्दु के सुविख्यात साहित्यकार स्व. श्री कृशन चन्दर जी की। समय पर उनकी सुझाई दिशा और सहायता ही से मैंने एम. ए. अंग्रेज़ी की पढ़ाई की और अंग्रेज़ी साहित्य की अमीरी से लाभान्वित हुई। मेरी लेखनी को अग्रसर करने के लिए उन्होंने मेरी दो कहानियों के उर्दु अनुवाद 'मरा जाविए' नामक उर्दु पत्रिका में छापे। दिल्ली आकाशवाणी से प्रसारित हो रहे नाटकों में भाग लेने और आकाशवाणी के लिए लिखने के लिए मेरा प्रवेश उन्हीं द्वारा हुआ। वे तब वहां प्रोग्राम प्रोड्यूसर थे। तभी से मेरी आर्थिक स्वतंत्रता की शुरुआत भी हुई।

अतिशय कृतज्ञ हूँ मैं कि 1946 में कलकत्ता से प्रकाशित हो रही, नया समाज पत्रिका के संपादक लेखक स्व. श्री मोहन सिंह सेंगर जी की। इंग्लैण्ड प्रवास के बरसो में उनके सुझाव पर मैंने यात्रा लेख, ललित निबंध, ऐटम चेखन के पत्रों का अनुवाद आदि लिख कर उन्हें भेजने शुरु किए जो वे 'नया समाज', 'विशाल भारत', आदर्श 'विश्वबन्धु' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित करवाते और उनका जो भी मुआवज़ा बनता, मुझे इंग्लैण्ड भेजते। प्रवास और वनवास के उन कठिन, पर नए अनुभवों के बरसों में अपने देश की हिन्दी पत्रिकाओं के लिए लिखने से, मिल रही मेरी और सेंगर जी की मेहनत से मिल रही वह थोड़ी सी कमाई कितनी प्रेरणा आत्मविश्वास और उत्साहवर्धक थी।

कृतज्ञता से याद कर रही हूँ, दिल्ली से प्रकाशित होने अंग्रेज़ी साप्ताहिक 'वैनगार्ड' के प्रतिभावान सहृदय संपादक स्व. रामसिंह जी को जिनके आग्रह पर मैं लन्दन-इंगलैण्ड के चुनिन्दा साप्ताहिक समाचार उन्हें भेजती और वे अपनी पत्रिका में प्रकाशित करते।

पर्वतों से उतरी, मैदानों की मट्टी में बही, मिली अब सागर तट पर रहती, सागर में विलीन सी होती, फिर हिमशिखरों की ओर लौटने को उतावली, नदी सी, मेरी लम्बी जीवन यात्रा में कितनी ही साधारण-असाधारण हस्तियां, शक्तियां मेरी सहायक रही हैं। छोटे, बड़े, प्रिय बन्धु बांधव, मित्र, सहयोगी, सहकर्मी एक-एक करके सभी का प्रेम से धन्यवाद पूर्वक उल्लेख करने को मन चाहता है, पर इतना ही कह सकूँगी कि सभी, सभी के लिए कृतज्ञता प्रकट करने का अवसर इस समग्र के प्रकाशन द्वारा ही आदरणीय भाई बेरी जी ने मुझे दिया है।

और अपनी बेटी, सखी, संगिनी, सतत सहायक सनोवर के लिए अगर दो शब्द भी स्नेह आशिष, धन्यवाद के यहाँ लिखूँ तो, वह तो यही कहेगी मेरा ज़िक्र क्यों किया?

–संतोष साहनी

इकराम
बलराज साहनी मार्ग
जुहु, बम्बई 49

विषय-सूची

बलराज साहनी समग्र

नाटक	१-६२
काव्य-संग्रह	६३-११२
कहानियाँ	११३-२११
लेख	२१२-३२९
संस्मरण	३३०-४०२
यात्रा	४०३-६१९
उपन्यास	६२०-६९८
सिनेमा	६९९-७६२
आत्मकथा	७६३-८९१

सन्तोष साहनी समग्र

नाटक	१-७५
काव्य	७७-२१७
कहानी	२१९-२७८
लेख	२८०-३४६
यादें	३४८-३९४

बलराज साहनी समग्र

नाटक

सूची

१- क्या यह सच है बापू ?
२- साई महाराज

बलराज साहनी

‘क्या यह सच है बापू?’

(दो अंकी बौद्धिक नाटक)

क्या यह सच है बापू

दो अंकी नाटक

घटना स्थल - एक शहर, जिसमें अभी अभी हिन्दु मुस्लिम फसाद हुए है

समय - उन्नीस सौ सढ़सठ के लगभग

नाटक के पात्र -

अशोक कुमार आज़ाद -	लगभग पैसठ बरस का एक गांधीवादी कांग्रेस कार्यकर्ता जिसने सारी उमर, निस्वार्थ, देश-सेवा में लगाई है
भागसिंह -	करीब तैतीस बरस का नौजवान। खूबसूरत, हंसमुख और अच्छा गायक जो १९६५ की हिंद-पाक जंग में मारा गया था।
मलिक जान -	अशोक कुमार आजाद का हमउमर, एक खुदाई खिदमतगार, उर्फ़ बापू!
कैप्टिन रंगा स्वामी -	तीस एक बरस का दक्षिण भारतीय, हिन्द फौज का कप्तान, उर्फ़ नहरु!
लेफ्टिनेट इमतियाज़ख़ान -	आज़ाद हिन्द फौज का अफसर? आयु पच्चीस बरस उर्फ़ नेता जी सुभाष
डाक्टर पारिख-	
डाक्टर राय-	शहर के दो बड़े डाक्टर
निरंजन और देवा -	सेवा आश्रम के दो कार्यकर्ता। अशोक बाबू की तरह गांधीवादी। वैसी ही पोशाक! निरंजन करीब पैतालिस बरस का है, देवा चौबीस बरस का
शर्मा -	शहर का एक बड़ा वकील। आयु पच्चास के करीब।
	कुछ नागरिक। सेवा आश्रम के स्वयंसेवक। पुलिस मैन और नर्से।

पहला अंक

डाक्टर पारिख के प्राईवेट अस्पताल में उनका निजी कमरा। यह एक बैठक भी है, और मरीज़ों को देखने का स्थान भी। कमरे की एक ओर एक पार्टीशन लगी है, जिसके पीछे मरीज़ वेड पर लेट सकता है। कमरे की पिछली दीवार में एक खुली सी खिड़की है जिसमें से, इमारत का पिछला भाग दिखाई देता है, पर ज़्यादा नहीं, क्योंकि रात के ग्यारह वजने वाले हैं।

परदा खुलने पर, कमरे में भीड़ सी जमा हुई है, जिनमें निरंजन, देवा और कुछेक और सेवा आश्रम के स्वयंसेवक भी है। कुछ लोग पिछली खुली खिड़की में से भी झांक रहे है। भीड़ चिन्तातुर और अशांत है। मिस्टर शर्मा अस्पताल के अंदरुनी भाग से प्रवेश करके, भीड़ को संबोधन करते है -

शर्मा- भाइयो! डाक्टर पारिख की ओर से, मैं आपसे विनती करता हूं, कि बराएमेहरवानी आप यहां से तशरीफ़ ले जाएं। अस्पताल ज़र्खामयों से खचाखच भरा हुआ है। आज की रात, अशोक बाबू को शायद इस आफ़िस ही में रखना पड़ेगा। उनके जख्म सिए जा चुके है। डाक्टरों के बस में जो कुछ था किया जा चुका है। बाकी अब ईश्वर परमात्मा की कृपा पर निर्भर है।

मैं जानता हूं आप सब कितने दुखी हैं। एक देवता स्वरुप इन्सान, सैकड़ों मीलों की दूरी से, हमारी विपदा को अपनी समझ करके, हमारा दुख बांटने आया। जलती आग में, अपनी जान की भी परवाह न करके, वह गली गली, मुहल्ले मुहल्ले में जाकर तपे हुए दिलों को शान्त करता, नफ़रत को प्यार में बदलता रहा। और इसका फल उसे क्या मिला? उस पर कातिलाना, वहशियाना वार हुआ। हमें शर्म से डूब मरना चाहिए। सचमुच, हिंसावृत्ति ने हमें बहुत ही नीच और बहशी बना दिया है।

पर दोस्तो! याद रखो, इस बेहद दर्दनाक घटना की घड़ी में भी हमें निराश नहीं होना। बल्कि अपने कर्तव्य की ओर पूरा ध्यान देना है। जो काम अशोक बाबू अधूरा छोड़ गए है, उसे हमें पूरा करना है। हमें वचन लेना है कि हमारे इस पवित्र शहर में दोबारा, कभी भी ऐसा हत्याकांड नहीं होगा। यहां हिन्दू-मुसलमान सदियों से भाई भाई की तरह रहते आए हैं। और भविष्य में भी रहते रहेंगे। हमें वचन लेना है कि हमें भविष्य में कभी भी बदमाशों और सांप्रदायिकता की ज़हर फैलाने वालों के हाथों का खिलौना नही बनना।

भीड़ में से एक आदमी -	माफ करना शर्मा जी। इस तरह के भाषण हम लोग पहले भी बहुत सुन चुके है। सवाल तो यह है कि जब फ़सादों के दौरान किसी ने अशोक बाबू पर हाथ नही उठाया तो अब कैसे उठा लिया?
कुछ और आदमी -	सही बात है। यह इस शहर के किसी आदमी का काम नहीं। यह तो कोई प्लैन की हुई साज़िश मालूम पड़ती है।
एक और आदमी -	जिस इमारत की छत पर यह खून हुआ, उसके नीचे ही पुलिस की चौकी है। चौबीस घंटे पुलिस का पहरा रहता है। इसके बावजूद खूनी, बच कर कैसे निकल गया?
शर्मा -	शांति, शान्ति! शान्ति भाइयो। मैं आपके सामने अपने बच्चों की कसम खाकर कहता हूँ कि जब तक खूनियों को हथकड़ियां न पहना दूँ, मेरा खाना पीना सोना हराम होगा। सुनिए, कर्फ्यू को हटे अभी दो ही दिन हुए है। आप केलिए यहां भीड़ लगाना ठीक न होगा। बराए मेहरबानी, अब अपने अपने घर जाइए। और पूरी पूरी कोशिश कीजिए कि शहर में कोई भी सनसनी न फैले।
	लोग बेदिली से बाहर जाने लगते है। इस बात का लाभ उठाकर, एक पुलिसमैन अचानक ही प्रकट हो जाता है, और भीड़ को बाहर धकेलने लगता है। लेकिन वह गांधी टोपी वालों को हाथ नहीं लगाता। अब सिर्फ़ चार पांच लोग कमरे में रह जातेहै। अपने जज़बात का इज़हार करने के लिए बाहर जाते लोग एकाध मिनट आपस में ऊँची नीची बात करते है। फिर शान्ति हो जाती है।
शर्मा -	(एक कार्यकर्ता से) बेटा! जाओ, एक दो जन बाहर बरामदे में जाकर बैठ जाओ। अब किसी को अन्दर न आने देना। (दो आदमी बाहर चले जाते है। अब निरंजन देवा, और एक और आदमी कमरे में रह जाते है।)
शर्मा -	(एक कुरसी पर बैठते हुए) निरंजन तुम्हें पुलिस का फ़ोन किस वक्त आया था?
निरंजन -	नौ बजे के करीब। मैं खाना खा रहा था उस वक्त
शर्मा -	फिर?
निरंजन -	फिर क्या। मैं भाग कर वहां पहुंचा। अशोक बाबू स्कूल की छत पर, खून में लतपत पड़े थे। एक इन्स्पेक्टर ने उनका सिर अपने घुटनो पर रखा हुआ था और उनसे कुछ पूछने की कोशिश कर रहा था। तब वह थोड़ी थोड़ी होश में थे। उन्होंने मुझे पहचान लिया और पास बुला कर कहा, मुझे डाक्टर पारिख के अस्पताल में ले चलो। मैं कोई बयान नहीं देना चाहता। और वे फिर बेहोश हो गए। हम इन्हें एम्बुलेंस में डालकर यहां ले आए।

टेलीफ़ोन वजता है। शर्मा रिसीवर उठाना है।

शर्मा - हैलोऽ! शर्मा हेयर! कौन? अच्छा ऽ नमस्कार जी। आपका दास हूँ जी। हुकुम कीजिए ..... सर चले गए है ..... यहां पर अव कोई नहीं ...... अभी तो आपरेशन थियेटर ही में है ..... डाक्टर पारिख के साथ डाक्टर राय भी है। ..... कुछ नही कटा जा सकता ... बस मैं अभी जा ही रहा था डाक्टर साहब के बंगले पर .... मीटिंग है जी .... बहुत ही अफसोसनाक वारदात हुई है जी .... हां ऽऽ बेटा उनका, नक्सलवादी जरुर है ..... वह तो मैंने सुना था .... पर .. जी? आप ठीक फरमा रहे है, मामले को पवलिसिटी नही मिलनी चाहिए .... क्या पता शायद बच ही जाए ..... जी अच्छा। मैं पहले आप ही की तरह चला आता हूं। वहीं से फिर मीटिंग में चला जाऊंगा .... नमस्कार जी ....

(रिसीवर रख देता है)।

देवा - क्या बात है शर्मा जी?

शर्मा - सेठ हरिदास जी का फोन था। कहते थे कि अशोक बाबू के खून का फसादों के साथ कोई ताल्लुक नही? जिस आदमी ने खून किया है वह कही बाहर से आया है इसी इरादे से। शायद कोई नक्सलिया था।

निरंजन - गिरफ्तार करने से पहले ही पुलिस को मालुम पड़ गया कि वह नक्सलिया है?

शर्मा - अशोक बाबू के कागज़ों में से, पुलिस को कुछ खत मिले है। जिनमें नक्सलवादियों ने उन्हें मार डालने की धमकियां दी हुई है।

निरंजन - अजीब बात है! अशोक बाबू जैसे आदमी को मार डालने की धमकियां

शर्मा - बंगाल में तो ऐसे खून रोज हो रहे है।

निरंजन - तब तो यह भी कहिए कि शहर में जो फ़साद हुए है हिन्दु मुसलमानों के, वे भी नक्सलवादियों ही ने करवाए होंगे Give the dog a bad name and kill it.

शर्मा - निरंजन, अशोक बाबू सेठ हरिदास के पुराने दोस्तों में से है। सन उन्नीस सौ बयालिस के स्वतंत्रता आंदोलन में वे कितनी ही देर सेठ साहब के बंगले में ही अंडरग्राऊंड हुए छिपे रहते थे।

निरंजन - तब सेठ जी के पास, सिर्फ़ दो कारखाने थे। और अब बीस है। उस ज़माने के सेठ साहब और आज के सेठ साहब में जमीन आसमान का फ़र्क है।

शर्मा - पर बड़ी हैरानी की बात है कि अशोक बाबू ने पुलिस को बयान देने से क्यों इन्कार किया? उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था।

देवा - उन जैसे देवता इन्सान खूनी को माफ़ भी कर सकते है।

शर्मा - हां ऽ यह भी मुमकिन है, बल्कि यह ज्यादा मुमकिन लगता है .... अब मुझे जाना चाहिए ... कहीं सेठ जी अफ़सरों पर नाजायज़ दबाव न डाल रहे हो .... हम कोई ग़लत कारवाई न होने देंगे .... डाक्टर पारिख से कहना, मगर मेरी ज़रुरत पड़े तो मुझे कलेक्टर के बंगले पे फ़ोन कर लें ...।

(जाता है)

देवा - एक तो इस आदमी ने बड़ा गंद फैला रखा है शहर में। हर काम में टांग अड़ाता फिरता है। हिन्दुओं का यह भाई, मुसलमानों का यह हमदर्द, कलक्टर साहब का यह खास सलाहकार! सेठ जी का दास! सेवा आश्रमिओं के साथ सेवा आश्रमी, सोशलिस्टों के साथ सच्चा समाजवादी कम्युनिस्टों के साथ कट्टर कम्युनिस्ट! जाने किस ज़ात का कबूतर है यह?

निरंजन - हम खुद भी न जाने, किस जात के कबूतर है यार! यह बड़ा आदमी है, इसका मिलने जुलने का दायरा बड़ा है। हम ठहरे छोटे आदमी। पेट की मजबूरी हमें अपनी जगह से हिलने नहीं देती। ज़बान को ताले लगा कर जो कुछ भी हो रहा है, किया जा रहा है, देखना और झेलना पड़ता है।

देवा - करेगा यह वही जो सेठ हरिदास करेगा। भले ही यह अपने बच्चों की कसम क्यों न खाए।

निरंजन - इसीलिए तो ऐसों की औलाद चौपट निकलती है।

देवा - दिखावे तो बहुत करता है अशोक बाबू के श्रद्धालु होने के।

निरंजन - हमारे मुल्क में लोगों को उल्लु बनाना बड़ा आसान है। चार दिन अशोक बाबू के लिए आंसू बहाएंगे भाषण देंगे, मीटिंगे करेंगे, फिर भूल जाएंगे कि इस नाम का कोई आदमी पैदा भी हुआ था कि नही।

देवा - ठीक कहते हो यार। आजकल की दुनियां तो शर्मा जैसे लोगों के ही जीने के लिए है।

निरंजन - कहता है कोई ग़लत कारवाई नहीं होने देंगे। भला जैसे आज तक सभी कारवाइयां ठीक ही होती रही हैं।

डा० पारिख अन्दर से बाहर आता है। एक कुरसी खेंच कर उनके पास बैठ जाता है।

देवा - क्या खयाल है डाक्टर साहब! अशोक बाबू बच जाएंगे?

पारिख -	कुछ नहीं कह सकता। जख्म बहुत गहरे हैं। हैमरेज का भी खतरा है। यही प्रार्थना है कि बच जाएं। अशोक बाबू अच्छे भले आपके पास सेवा आश्रम में रह रहे थे कैम्प में। वहां से उठ कर स्कूल की इमारत में क्यों चले गए?
देवा -	अंदर की बातें तो भगवान ही जाने डाक्टर साहब।
पारिख -	कब गए यहां से?
देवा -	तीन चार दिन ही हुए है
पारिख -	पर कोई वजह तो होगी।
निरंजन -	मैं वजह बताता हूं। आपसे कुछ छुपा नही। अशोक बाबू, अमन और शान्ति के नाम से मुसलमानों पर, पुलिस, अफ़सरों और शहर के कुछेक हिन्दुओं की तरफ से हो रही ज्यादतियां बरदाश्त नही कर सकते थे। वह कहते थे सच को अहिंसा से अलग नही किया जा सकता। जिस आदमी में सच कहने की हिम्मत न हो वह कभी भी गांधीवादी नही हो सकता। इससे उलट, कुछ प्रबंधक कहते, इस वक्त सबसे ज़रुरी काम शहर में हो रही हिंसा को रोकना है। शान्ति स्थापित करना है। और वह हकूमत की मदद बिना नहीं हो सकता। इसलिए इस वक्त, फ़िलहाल, सेवा आश्रम के लोगों को, चुपचाप अपना सेवा का काम करना है। सरकार की, किसी बात की भी आलोचना नही करनी चाहिए।
देवा -	कई बातें और राज़ हकूमत ही को पता होते है। तलाशियों के दौरान, बहुत सा तेज़ाब और असला बग़ैरा पुलिस को मिला है। मुमकिन है, फ़सादों में पाकिस्तानी एजेन्टों ही का हाथ हो।
निरंजन -	पर इसका यह मतलब तो नही कि शहर के सारे मुसलमान, मरद, औरतें बच्चे सभी पाकिस्तानी एजेन्ट हो।
डाक्टर -	देश बहुत नाजुक हालत से गुज़र रहा है। कई फ़िरकु आतंकवादियों ने दहशत मचा रखी है। कही, सूवा और भाषा के नाम पर सिर फुटावल हो रही है, कहीं कालेजों और यूनीवसिटियों में छुरे चल रहे हैं।
देवा -	बहुत आसानी से आज़ादी मिल गई हमें न। इसीलिए इसकी कदर नहीं हमें।
डाक्टर -	बरखुरदार, तू अभी छोटा है। तुमने वे दिन नहीं देखे। वरना बखूबी पता होता कि आज़ादी आसानी से मिली या मुश्किल से। इसी शहर में सन उन्नीस सौ बयालिस में, अंग्रेज़ी हकूमत की आतंकशाही के खिलाफ सांझे मोर्चे बने थे। यहां, इस शहर में, तो अंग्रेज़ों ने कत्लेआम में, जलियांवाले बाग को

	भी मात कर दिया था। क्योंकि वे सारे इलाके में हिन्दु मुसलमानों के वीच झगड़ा नही पैदा कर सके थे। .... जाने कहां खो गए वे दिन।
निरंजन -	शर्मा जी कह रहे थे कि पुलिस को नक्सलवादियों पर शक है।
डाक्टर -	नक्सलवादियों पर?
निरंजन -	जी! उनको अभी अभी सेठ हरिदास का फ़ोन आया था।
डा० -	आप लोगों को चाहिए था, दो चार वालेंटियर हमेशा अशोक बाबू के पास रखते, उनकी हिफ़ाजत के लिए।
देवा -	कितनी कोशिश की हमने। पर वे नही मानते थे। अपनी हिफाज़त की रत्ती भर भी परवा नही करते थे। यूं लगता है जैसे अन्दर ही अन्दर उनकी जीने की इच्छा ही खत्म हो गई थी। हर वक्तबड़े मायूस और उदास से दीखने लगे थे।
डाक्टर -	हूँ ऽ .... (एक नर्स बुलाने आती है) एक्सक्यूज मी।
	(डाक्टर पारिख अन्दर जाता है)
निरंजन -	सच्चे आदमी में एक रुहानी चुम्बक शक्ति होती है। कितने वरसों के वाद इस शक्ति को मैंने फिर से महसूस किया है। अगर देश में अशोक बाबू जैसे सौ आदमी भी निकल आए तो, देश की किस्मत बदल सकती है।
देवा -	दुश्मनों ने तो एक को भी जीने नही दिया, आप सौ की बात कर रहे हैं।
	(डाक्टर पारिख वापिस आता है)।
डाक्टर -	अशोक वावू को ला रहे है। अब आपको भी बाहर जाना पड़ेगा।
निरंजन -	होश तो नही आई होगी, अभी।
डाक्टर -	अभी होश आने का तो सवाल ही पैदा नही होता।
	(डाक्टर राय भी बाहर जाने लगता है)।
डा० पारिख -	सो वेरी कांइड आफ़ यू डाक्टर राय। इस वक्त आपकी वेहद ज़रुरत थी।
डाक्टर राय -	यूं आर राइट, काफी काम्पलिकेटिड ज़खम है।
पारिख -	आपको वहुत तकलीफ दी। एकाध बार तो आपको अदालत में भी पेश होना पड़ेगा। पुलिस केस जो हुआ।
राय -	आप मुझे शर्मिंदा कर रहे है। वल्कि मैं आपका अहसानमंद हूं कि मुझे आपने ऐसे काम पर लगाया।
पारिख -	नही नही।

राय - ठीक ही तो कह रहा हूं। आप बड़े खुशकिस्मत है। आपका अस्पताल तो नहीं जलाया फ़सादियों ने। मेरा तो अस्पताल ही जला दिया उन्होंने मरीज़ों समेत। भला सोचिए। जिस धर्म मज़हब की रक्षा के लिए बीमार औरतों और बच्चों को आग में झोंकना पड़े क्या वह मज़हब धर्म रक्षा करने के काबिल है। अगर भगवान के नाम पर आपको यही कुछ करना है, तो क्या भगवान के बगैर गुज़ारा नहीं हो सकता।

पारिख - कसूर मज़हब धर्म का नही डाक्टर साहब। कसूर जनता का भी नहीं। कसूर तो -

राय - लीडर लोगों का है। प्लीज डोंट टेल मी दैट (please Dont tell me that)। पारिख, जब से मैं पैदा हुआ हूं तभी से हिन्दु मुसलिम फ़साद होते देख रहा हूं। क्या इतने, इतने फ़सादों के बावजूद भी आम जनता को इतनी समझ नही आई कि इसमें नुकसान आम लोगों का अपना ही होता है। अमीरों का कुछ नहीं बिगड़ता। इस सच्चाई को समझने के लिए ज्यादा तालीम और अक्ल़ की जरुरत नही।

मैंने अपनी आंखों से देखा कि मेरे हस्पताल को आग अमीरों ने नही लगाई। वह सब तो अपने अपने घरों में छुपे बैठ थे। मेरे हस्पताल को आग लगाई ग़रीबों ने। मेरे अपने मुहल्ले के ग़रीबो ने। उससे मेरा नुकसान हुआ, जाने गई। लेकिन अमीर वर्ग का क्या नुकसान हुआ। जैसे मुझे काम मिलता रहेगा, वैसे ही अमीरो के लिए भी कई और हस्पताल है, बड़े वड़े डाक्टर है। पर ग़रीबों का नुकसान होता है हर बार। और तुम कहते हो कसूर आम लोगों का नहीं।

पारिख - (ज़रा सी खामोशी के बाद) एक कप काफ़ी का पिएंगे?

राय - थैक्यू! एक घूंट पिऊंगा ज़रुर!

(निरंजन और देवा बाहर चले जाते है)

पारिख - बचने के चांस भी है। यह नहीं कि बिल्कुल चांस नहीं। तुम्हारा क्या खयाल है?

(अशोक बाबू को स्ट्रेचर पर लाया जाता है। उनके मुंह सिर पर पट्टीयां बंधी हुई है। उन्हें पार्टीशन के पीछे लिजाया जाता है। नर्से आ जा रही है। काफ़ी के कप भी लाए जाते हैं)

राय - अपनी कोशिश तो यही है कि बच जाएं।

(दोनों काफ़ी पीते हैं)।

राय - माई डियर फ्रेंड, religion has outlived its usefulness. धर्म अपना मकसद खो चुका है .... मेरे

घर में, मेरे फ्रिज में दो चार बोतले ब्लड प्लाज़मा की पड़ीहै, मंगवा लेना। बस वही निशानी बची है मेरे अस्पताल की। .... (दरवाज़े की तरफ़ जाते हुए) .... मूरखों का देश! दूसरे देश चांद और मंगल ग्रहों की ओर उड़ाने ले रहे है। और यहां आपस में कुत्तों की तरह लड़ने के सिवाय और कोई काम नही। बिल्कुल कुत्तों की तरह। अस्पताल के लिए मैंने अमरीका से लेटेस्ट एक्विपमेंट, सामान मंगवाया था। तुम्हें दिखा भी नही सका। सब, जल कर राख हो गया। और अब दोबारा मुझे इम्पोर्ट लाइसेंस कौन देगा। यह हकूमत। नो कोई चान्स नही, No bloody chance! मेरा लड़का कहता है पापा, आप मेरे पास अमरीका चले आइए। चला ही जाऊं तो बेहतर होगा। इस अहमकों के देश में रहकर क्या करूंगा। अच्छा, दोस्त! गुडनाइट!

डाक्टर पारिख डा० राय को बाहर छोड़ने जाते है। एक नर्स बत्तियां बुझा देती है। अब सिर्फ एक धीमी सी रौशनी है कमरे में। एक नर्स और डाक्टर का एक असिस्टेंट बाहर चले जाते हैं। एक नर्स पार्टीशन के पीछे चली जाती है। डाक्टर पारिख वापिस आते हैं। थोड़ी देर के लिए वे भी पार्टीशन के पीछे जाते हैं। वे दबी आवाज़ में नर्स को हिदायतें देते है। फिर बाहर आकर अस्पताल के अंदरुनी भाग में चले जाते हैं। अब स्टेज खाली है। थोड़ी देर के बाद इसी धीमी रौशनी में, पार्टीशन के पीछे से, अशोक बाबू के धीमी आवाज़ में कुछ फुसफुसाने के शब्द सुनाई देते हैं।

अशोक बाबू - .... दरवाज़ा खोलो ...... दरवाज़ा खोलो .....।

धीरे धीरे, रंगमंच के पिछले भाग में खिड़की के पास, एक अलौकिक से दरवाज़े का आकार उभरता है। खिड़की में से तारों भरा आकाश दीखने लगता है वह भी जैसे किसी प्लैनेटेरियम में हरकत करता हुआ। संगीत। दरवाजा धीरे धीरे करीब आधा खुलता है। दरवाज़े में से आती प्रकाश की चादर सी रंगमंच पर बिछ जाती है। इस प्रकाश में हमें, फौजी में वर्दी पहने एक आदमी प्रवेश करता दिखाई देता है। यह भाग सिंह है। भागसिंह के प्रवेश करने के बाद दरवाज़ा बन्द हो जाता है। संगीत भी बन्द हो जाता है। भागसिंह भारी बूट पहने कुछ चहलकदमी करता है, मानो जगह की पहचान कर रहा हो।

अशोक बाबू - (आहट सुनकर पार्टीशन के पीछे से) कौन?

भागसिंह - (हंसकर) अच्छा जीऽ! अब हम कौन हो गए! नज़दीक आइए और देखिए तो!

अशोक - शर्म नहीं आती एक जखगी, अधमरे इन्सान से मज़ाक करते।

भाग - अच्छा, जैसी आपकी मरज़ी।

ज़रा सी खामोशी। फिर अशोक बाबू पार्टीशन से बाहर आता दिखाई देता है। प्रकाश कुछ बढ़ता है।

अशोक - यह क्या? न पट्टीयां? न खून? न कोई जखम! मैं इतनी जल्दी तंदरुस्त कैसे हो गया। बेहोशी की हालत में कोई सपना तो नहीं देख रहा।

भाग - न आप ठीक ही हो गए हो। न आप सपना ही देख रहे हो। आप अब पैरोल पर हो।

अशोक - पैरोल पर? क्या मतलब? (भागसिंह के करीब आकर उसे ग़ौर से देखकर) तुम तो कोई मिलिटरी के आदमी दिखाई देते हो। पर मिलिटरी की मदद लेने से तो कलक्टर ने साफ़ इन्कार किया हुआ है। तुम यहां क्या करने आए हो?

भाग - मैं अपने एक दोस्त को मिलने आया हूं। आपको कोई एतराज़ है?

अशोक - यहां? डाक्टर पारिख के हस्पताल में?

भाग - डाक्टर पारिख के हस्पताल में नहीं इस कमरे में

अशोक - यह तो उनका आफ़िस है। यहां तो सिर्फ़ मेरी ही चारपाई पड़ी है उस पार्टीशन के पीछे।

भाग - अच्छा? (पार्टीशन के पीछे झांकता है) चलो न तो न सही। मुलाकात किए बिना ही लौट जाएंगे।

अशोक - कहां?

भाग - जहां से आए थे। (दरवाजे की तरफ़ घूम जाता है)

अशोक - तुम उस दरवाजे में से लांघ कर आए हो न।

भाग - हां।

अशोक - पर यह तो, अभी अभी मुझे यूं महसूस हुआ, जैसे मेरे कानों में कोई कह रहा हो कि जब यह दरवाज़ा खुलेगा तो इसमें से तुम अगले जहान में पहुंच जाओगे।

भाग- ठीक! बिल्कुल ठीक कह रहा था वह।

अशोक - तो फिर तुम अगले जहान ही से आए होगे।

भाग - इसमें क्या शक है।

अशोक - तो मुझे भी साथ ले चलो। तुम्हारी बड़ी मेहरवानी होगी।

भाग - अच्छा! तो इसीलिए शोर मचा रहे थे दरवाजा खोलो, दरवाज़ा खोलो। खबरदार! ऐसी हरकत फिर न कीजिएगा

यह ग़ैर कानूनी है। और न ही मेरे पीछे पीछे आने की कोशिश करना जी (फिर दरवाज़े की तरफ़ जाने लगता है)

अशोक - (उसकी बांह पकड़ कर) जरा ठहरो! नाराज़ क्यों होते हो? मुझे जरा समझाओं तो सही, यह सब क्या हो रहा है। मैं तो वहां मृत्यु शय्या पर पड़ा था - और तुम कहते हो मैं पैरोल पर हूं - - - यह दरवाज़ा —— यह रहस्य - राज़ क्या है?

भाग - जनाब, आपने सोचा होगा मरना आसान काम है। पर इतना आसान काम नहीं। जब कोई मरने लगता है तो झट से उसके सिरहाने यमराज के दूत बही खाते खोल कर बैठ जाते है। सांस पूरे हुए नहीं कि, अगले जनम में कब जाना होगा। और उससे पहले किस सौर मंडल में विचरना होगा। उसके बाद कौन सा जनम, जेरज, अंडज, शेतज़ इन सबके बारे में जब तक फ़ैसले हो चुकते जब तक प्राणी की आत्मा को खंड मंडल में विचरने के लिए छोड़ दिया जाता है। इसीलिए मैंने कहा आप पैरोल पर है।

अशोक - आत्मा को विचरने के लिए छोड़ दिया जाता है? और शरीर? क्या मेरा, मेरा शरीर अब नही?

भाग - जी! अब तो यह शरीर के ऊपर का छिलका मात्र है जैसे किसी अंडे का छिलका हो। इसे सूक्ष्म रुप कहते हैं। शरीर तो आपका यह स्ट्रेचर पर पड़ा है।

(अशोक बाबू जाकर तसदीक करते है)।

अशोक - तुम ठीक ही कह रहे हो। पर मुझे तो कोई फ़र्क महसूस नहीं होता। मैं हमेशा की तरह इसे छूह सकता हूँ, दबा सकता हूँ।

भाग - यह सब आपकी कल्पना है। कोई जीता जागता मनुष्य तो आपको देख भी नहीं सकता। आप अदृश्य हो चुके हैं।

अशोक - (दर्शकों की तरफ देखकर) वह, सामने, कौन लोग बैठे है। कही यह यमराज के दूत ही तो नही? पर इनके पास वही खाते तो नहीं।

भाग - यह यमराज के दूत नहीं। यह यमराज की खच्चर पार्टी है।

अशोक - खच्चर पार्टी?

भाग - हां! इनमें से कई ऐसे है जो जी रहे है पर समझते है कि वे मर चुके है। कोई मर चुके है पर समझते है कि वे जी रहे है। इसीतरह का गड़बड़ घोटाला है।

अशोक - मैं तो इनको देख सकता हूँ - तुम्हारा मतलब है कि यह मुझे बिल्कुल नहीं देख सकते?

भाग -	बिल्कुल नही। अभी स्थूल रुप में है न। इनके और हमारे दरमियान परदा है।
अशोक -	कमरा तो डाक्टर ही का मालूम पड़ता है।
भाग -	पर इसे भी अपने साथ सूक्ष्म रुप ही में आया, समझिए। यह देखिए तारिका मंडल।
	(अशोक खुली खिड़की के पास जाता है)।
अशोक -	कितना सुन्दर दृश्य है। इस तरह का नज़ारा मैंने एक बार कलकत्ता के प्लैनेटेरियम में देखा था। यूं महसूस होता है जैसे स्पूतनिक में उड़ रहे हों हम। कहीं यह कमरा ही स्पूतनिक तो नहीं बन गया?
भाग -	इसे स्पेस स्टेशन कहना बेहतर होगा। बड़ा सा है न। अच्छा अब आप तमाशा देखिए। मैं चलता हूँ।
अशोक -	नहीं, मत जाओ भगवान के लिए। अकेले में मुझे डर लगेगा।
भाग -	तो मैं क्या करूं! मैं तो यहां और रुक नही सकता। जिस शख्स को मिलने यहां आया था वह तो यहां है नही। फिर मेरे रुकने का फ़ायदा।
अशोक -	कौन है वह शख्स?
भाग -	एक है। अशोक कुमार आज़ाद नाम है उसका। बड़ा देश भक्त बना फिरता है।
अशोक -	अशोक कुमार आज़ाद! वह तो मैं ही हूं।
भाग -	नही नही। आप कैसे हो सकते है!
अशोक -	क्या कहा, झूठा है, धोकेबाज़ है वह। क्यों भई उसने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है?
भाग -	अजी धोखेबाज़ न होता तो मुझसे मिलने का बात करके खुद चुपचाप चंपत क्यों हो जाता?
अशोक -	मैंने कब वादा किया था तुमसे मिलने का? (करीब जाकर ग़ौर से देखता है) अरे! तुम? तुम क्या भागसिंह हो? शक्तिमान थ्री टनर ट्रक का ड्राईवर भाग सिंह! हिन्द-चीनी जंग के बाद, एक पत्रकारों के डेलीगेशन केसाथ जब मैं वहां था - क्या मैं ठीक कह रहा हूँ?
भागसिंह -	(नकल लगाते हुए) क्या मैं ठीक कह रहा हूं? तब तो मुझे गले लगाते और बेटा! बेटा! कहते नहीं थकते थे और अब, क्या मैं ठीक कह रहा हूँ!
अशोक -	तुम मुझे जितना भी फटकारो वह कम है। मुझे कुछ शक ज़रुर हुआ था कि मैंने तुम्हें कही देखा है कि लेकिन मैं कैसे सोच भी सकता था कि तुम, यहां! आओ गले मिलो!

(भाग को गले से लगाता है)।

भला मैं तुम्हें कैसे भूल सकता हूं भाग! तुम्हें सच बताऊं, जब भी मैं निराशा में डूबने लगता हूँ तेरा नाम मेरा सहारा बन जाता है। और कितनी अजीब बात है कि इतनी देर तू मेरे सामने खड़ा रहा और मैं तुम्हें पहचान न सका। तुम्हें मिले अरसा भी तो काफी हो गया है। छः बरस से ऊपर हो गए है।

भाग - पालिटिशनों को बाते बनानी बहुत आती है।

अशोक - अच्छा बाबा, अब माफ़ भी कर दो। कितनी खुशी हुई है तुम्हें दोबारा गिलकर! पर मैंने तुम्हें यहां मिलने का वादा कब किया था?

भाग - वादा नही किया होता तो यहां आपके लिए मेरी यहां ड्यूटी क्यों लगाई जाती!

अशोक - ड्यूटी! कैसी ड्यूटी?

भाग - आज़ाद साहब! जब कोई प्राणी मृत्युशय्या पर होता है रतो कोई वाकिफ़कार आत्मा उसकी अगवाई, सहायता के लिए आ पहुंचती है, ताकि मरने वाले की कोई अन्तिम इच्छा अगर हो, तो वह पूरी की जा सके और यह परिचित आत्मा वही होती है जिसे मरने वाला आदमी खुद बुलाना चाहे।

अशोक - हो सकता है, बेहोशी की हालत में तुम्हारा नाम मेरे मुंह से निकला हो। जब जिन्दा था तब भी तो तुम्हारा नाम मेरे मुंह से निकला करता था। तुम्हारे कहे वे शब्द मेरे कानों में हमेशा से गूंजते रहते थे।

भाग - कौन से शब्द?

अशोक - वहीं शब्द जो मैंने पहले पहल तुम्हारे मुंह से सुने थे। याद है जब पहली बार मैं तुम्हारी ट्रक में बैठा था अपनी ड्राईवर की सीट के ऐन सामने तुमने प्रेजीडेंट जॉन कैनेडी और पंडित नेहरू के फोटो चिपकाए हुए थे याद है तुम्हे?

भाग - (याद करके) हां ऽ ! ठीक है।

अशोक - तौबाह। कितनी खतरनाक सड़क थी! एक तरफ इतनी गहरी पर्वत खड, नीचे चट्टाने चीर कर बहती पर्वती नहीं और ऊपर आसमान की नीलाइयों को चूमती ऊंची पर्वत चोटियां! और उस टेढ़ी मेढ़ी कठिन पर्वती सड़क पर तुम अपनी ट्रक शक्तिमान यूं चला रहे थे जैसे वह कोई अमृतसर की जी.टी.रोड हो! मैंने तुम्हें कहा, आहिस्ता चलाओ! इतनी जल्दी क्या है नौजवान? तो तुमने जवाब में कहा था, क्यों

साहब! मौत से डर लगता है। फिर मैंने भी जवाब में कहा था,' क्या तुम्हें नही लगता?'

तो तुमने ज़ोर से हंस कर और पंडित नेहरु की फ़ोटो की तरफ़ इशारा करके कहा था, जब ढाई सौ रुपए माहवार में अपनी जान इस हसती के हवाले कर दी है तो फिर डर किस बात का। यह थे तुम्हारे वे लफ्ज! मैं उन लफ्जों को कभी भूल नही सका। यूं लगा मुझे जैसे किसी ने मेरी छाती पर मुक्का मारा हो ज़ोर से।

भाग सिंह - कभी कभी हम भी बढ़िया बात कह जाते हैं। उस दिन प्लेटो भी यही कह रहे थे।

अशोक - प्लेटो?

भाग - वहीं अपना पुराना यूनानी फ़िलासफर।

अशोक - तुम उसे कैसे जानते हो?

भाग - लो जी महाराज। अपना तो आजकल, प्लेटो, गांधी। नेहरु, नेनिन स्टालिन, वगरह सभी केसाथ मिलना जुलना है।

अशोक - आज विस्की का अच्छा तगड़ा घूंट मार के आए हो या शायद भंग पी रखी है।

भाग - जो मरज़ी समझे आप जनाव!

अशोक - अरे! मैं भी कितना मूरख हूँ। तुमने कहा न तुम उस दरवाज़े से आए हो ...... इसका मतलब है - तुम मर चुके हो।

भाग - और आप अब तक क्या समझ रहे थे।

अशोक - मैं तो अपने खयालों में डूबा हुआ था। कितनी दुःख भरी खबर है। चढ़ती जवानी ही में तू मर गया भाग! काश तुम्हें मेरी उमर लग जाती। ऐसी दर्दनाक घटना कैसे हुई?

भाग - बादशाहो! फ़ौजियों से ऐसी बातें नही पूछा करते। हमें पाला किस लिए जाता है। चीन की जंग में बच गए थे। हिन्द-पाक लड़ाई में कूच कर गए।

अशोक - तुम तो ऐसे कह रहे हो, जैसे कुछ हुआ ही नही।

भाग - आपके पेट में छुरा घुसेड़ा गया वह भी जैसे कुछ हुआ नही।

अशोक - बेटे, मैं तो अपनी उमर पूरी कर चुका हूं। मैं तो मौत को खुद ही पुकार रहा था। बताओ तो सही क्या हुआ। तुम तो बंदूक से मारने मरने वाले सिपाही नही थे। तुम तो सिर्फ़ एक ट्रक ड्राईवर थे।

भाग - इससे क्या फ़र्क पड़ता है।

अशोक - फिर भी यह वाकया कहां हुआ, कैसे हुआ?

भाग - अजी, अपनी मूरखता। और क्या। वही लद्दाख के पहाड़ जिनकी आपको सैर कराई थी। और वहीं सिंध नदी। हमारा कानवाय रेस्ट के लिए खड़ा था। मैं सुन्दरी के पिछले हिस्से की सड़क के किनारे बैठा

अशोक - सुंदरी? हां, हां! याद आया। तुमने अपनी शक्तिमान ट्रक का नाम सुन्दरी रखा था। तो फिर?

भाग - सड़क के किनारे बैठा मैं चाय पी रहा था। एकाएक मैंने देखा, सुन्दरी खड की तरफ झुकी हुई थी। उसके बाई तरफ के टायर धरती में दबते जा रहे थे। मेरे देखते ही देखते वह पलटी खाकर खड्ड में लुढ़क गई। मैं भी चाय का मग ज़मीन पर फेंक उसके पीछे पीछे छलांगे लगाने लगा। पीछे से साथियों ने बहुत आवाज़े लगाई 'ओए ऽ ! क्या कर रहे हो ऽ ! न जाने क्या जनून सवार हुआ था। कभी मैं सुन्दरी पर, और कभी सुंदरी मुझ पर चढ़ जाती। पलटीया खाते हम दोनों सिंघ नदी की भेंट चढ़ गए। वह खेल खतम हो गई ...!

अशोक - तुम्हे ज़रा भी ख्याल नहीं आया कि तुम यूं ही जान गवां रहे हो।

भाग - लो जी! आप भी कैसे बाते करते है। सुंदरी को अकेले खंड में गिरने देता।

अशोक - अरे भई, एक ट्रक के खड में गिरने से कोई आसमान तो नही गिर जाना था।

भाग - ख्ब की कसम! मुझे यह तो खयाल ही नहीं आया। इसी को तो मूरखता कहते है न। मुझे उस वक्त यह खयाल तक नही आया कि मैं मरने लगा हूँ।

अशोक - बस आप लोगों की ऐसी ही हरकते देख देख कर मैं वहां हैरत में आ जाता था। जिस दुनियां से मैं आया था वहां हरेक को सबसे पहले अपने ही बचाव का ख्याल आता था। हर तरफ लालचों और स्वार्थो का जाल फैला हुआ था। देश की खातिर समाजी इन्साफ़ की खातिर कोई छोटी सी कुरबानी भी करने को तय्यार नही था। हालांकि बातें बड़ी बड़ी करते थे। देश की जनता के सुख कल्याण के लिए यह होना चाहिए यह करना चाहिए। सब स्कीमें और भाषण! और दूसरी तरफ़ आप लोग! अपने घर-बाहर, सुख आराम छोड़ कर अकेले, कठिन स्थानों और हालात में हर प्रकार के काट सहते झेलते, पल पल अपनी जान वार देने के लिए तय्यार। पंजाबी, बंगाली, मराठी, आसामी, दक्षिणी सभी देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए एक सूत्र में पिरोए हुए! आपस

में कोई लड़ाई झगड़े नहीं, न किसी सूबे, न किसी खास भाषा, न किसी विशेष धर्म मज़हब के लिए। तुम लोगों को देख कर मुझे क्यों और कैसे प्रेरणा, उत्साह न मिलता! देश के उज्ज्वल भविष्य और नेहरु जी के आदर्शों पर मेरा विश्वास एक बार फिर से जागा मज़बूत हुआ। सुनो! तुम्हारा एक दोस्त था, जो तुम्हारे साथ भांगड़ा नाचा करता था, वह मदरासी कपतान। तुम्हारे साथ पंजाबी गीत गाता था। टप्पे, हीर और न जाने क्या क्या! कितनी अच्छी पंजाबी बोलता था वह। क्या नाम था उसका?

भाग - (याद करते हुए) हां ऽ रंगा, रंगास्वामी। कैपटन रंगार वामी।

अशोक - रंगास्वामी! बड़ा बांका नौजवान था वह भी। वह कहां है आजकल?

भाग - यहीं है।

अशोक - क्या कहा?

भाग - बस जनाब, वह भी इधर है अपने साथ, और क्या?

अशोक - अच्छा, तो वह भी?

भाग - जी, बिल्कुल!

अशोक - क्या हुआ था उसे?

भाग - (हंसकर) वह शेर का बच्चा तो मूरखता में मुझसे भी बढ़ कर निकला। सुनिए, एक पहाड़ी पर पाकिस्तानियों की चौकी थी। रंगास्वामी उस चौकी पर टैंक चढ़ा कर ले गया। भला बताइए टैंक भी क्या पहाड़ पर चढ़ाने की चींज होती है।

अशोक - फिर? फिर क्या हुआ?

भाग - बस जी रंगास्वामी जा चढ़ा उनके सिर पर। पाकिस्तानी चौकी छोड़ कर पीछे हट गए। पर फ़ायर करते वक्त, टैंक खुद ही, अपनी तोंप के धक्के से टेढ़ा हो गया और जलता सड़ता पहाड़ी के नीचे जा गिरा वहीं जहां से ऊपर चढ़ा था। सभी वहीं खत्म हो गए।

अशोक - (खामोश हो सोचो में डूब जाता है)

भाग - क्या सोच रहे हैं?

अशोक - मुझे अपना पत्रकारों का डेलीगेशन याद आ रहा है। उसमें बड़े बड़े मशहूर पत्रकार थे। चीन के जंग के बाद लद्दाख के मोरचो का जायज़ा लेने आए थे। दिन के वक्त वे जवान फ़ौजियों को देशभक्ति के बारे में लम्बे चौड़े भावना भरे भाषण देते। जवानो को विश्वास दिलाते कि देश का बच्चा

बद्या उनके साथ है, उनकी मदद के लिए हर कुरबानी करने केलिए तय्यार है। और शाम होते ही विस्की की बोतलें खुल जाती। वह भी देसी नही बरखुदार। देशी चीज़ तो उन्हें कोई भी पसंद नही थी। फिर पेग पर पेग चढ़ाते हुए वे आलोचना करते, नेहरु ने यह नही किया, नेहरु ने वह नही किया। नेहरु ने ऐसा क्यों किया, वैसा ठीक टाइम पर क्यों नहीं किया। साहब नेहरु को ऐसा कदम नहीं उठाना चाहिए था? नेहरु की वह पालिसी ग़लत, बेवकूफ़ाना थी। सुबह के वक्त नज़ारे और भी देखने लायक होते थे। अगर किसी को वक्त पर गरम पानी, शेव या नहाने के लिए नहीं मिला तो वह मुंह टेढ़ा कर के बैठा हुआ है किसी को जीप के बजाए ट्रक पर बिठाया गया सैर के लिए तो वह अलग नाराज़ है। और वह तुम्हारा दोस्त ऐसे साहवान की सेवादारी में लगा रहता था। क्योंकि डेलीगेशन के मशहूर पत्रकार फ़ौजियों के मेहमान जो थे।

भाग - चलिए छोड़िए उन गई बीतियों को। अब आप फ़रमाइए आपकी क्या सेवा करें। आप जो फिर महमान बन कर आ गए हैं।

अशोक - बस एक ही सेवा कर दो मेरी, तुम्हें लाख लाख आर्शीवाद!

भाग - हुकम कीजिए।

अशोक - बस, यह दरवाज़ा खुलवा दो, और मुझे अपने साथ ले चलो।

भाग - फिर वही बात! छी, छी! अपने मुंह से अपनी मौत मांगते आपको शर्म नहीं आती?

अशोक - क्यों जी! एक ट्रक के खातिर खड में कूद पड़ना, और पहाड़ पर टैंक चढ़ा लेना, यह क्या अपने मुंह से मौत मांगना नही?

भाग - आपका खयाल गलत है। सिपाही मौत के मुंह में जाता भी उसे बुलाता नहीं। वह तो मौत की आंखों में आंखे डाल कर उसे घूरता है। उसे विश्वास होता है कि जिस गोली से उसे मरना है वह अभी बनी ही नहीं।

अशोक - बस बस! मैं तुमसे अच्छा भाषण दे सकता हूँ। तुमने खुद ही तो कहा है कि तुम्हारी ड्यूटी मेरी आखिरी इच्छा पूरी करने की लगी हुई है। और मैंने तुम्हें अपनी आखिरी इच्छा बता दी। उसे पूरा करो।

भाग - पर इसे आखिरी इच्छा तो नहीं कह सकते। यह तो यमराज का उल्लू बनाने वाली बात हुई न। आपको मैंने बताया था न कि आपकी सांसों की गिनती हो रही है। अगर वे पूरे हो चुके है तो दरवाज़ा अपने आप खुल जाएगा। और आप

निश्चिन्त उस पार चले जाएंगे। अगर अभी पूरे नहीं हुए तो आपको धरती पर लौट जाना होगा। यह तो सृष्टि का नियम है इसमें मैं दखल कैसे दे सकता हूँ।

अशोक - नहीं कर सकता तो लौट कर जाओ जहां से आए थे। मुझे तुम्हारी कोई ज़रुरत नहीं। तुमसे मुलाकात हो गई बहुत अच्छा लगा। और क्या चाहिए।

भाग - आप मुझसे नाराज़ हो गए है। पर जो बात मेरे बस में नही मैं वह कैसे कर सकता हूँ।

अशोक - तुमसे क्या नाराज़गी होगी!

भाग - तो फिर आपके अन्दर किसी कारण गहरी निराशा है।

अशोक - नहीं नही। कोई निराशा नही। जितनी देर जिया अपना फर्ज निभाया। तुमने तो फिर भी, ढाई सौ रुपए की नौकरी करके नेहरु को अपनी जिन्दगी बेच दी थी। मैंने तो ज़िन्दगी भर किसी से कुछ भी नहीं लिया। पूरे पैतालिंस बरस, पहले महात्मागांधी और फिर पंडित नेहरु का चेला बनकर गुज़ार दिए। विना कोई सवाल किए उनके हुकम, आदर्शो पर चलता रहा। इसीलिए मैं कहता हूँ, मेरी जगह तो तेरे और रंगास्वामी जैसे लोगों के साथ है।

भाग - आपकी सोच किसी गड़बड़ झाले में पड़ी लगती है।

यहां आपके पास आने से पहले यनराज के सूचना बिभाग ने भी मुझे यही कहा था। फ़सादो की भयानक घटनाएं देख देख कर आपका दिमाग़ कुछ अस्थिर सा हुआ मालुम पड़ता है।

अशोक - तुम्हारे यमराज के सूचना और प्रसारण विभाग की ऐसी की तैसी।

भाग - एक तरफ़ तो आप कहते है कि मुझे देखकर आप बेहद खुश होते है। मुझे देख कर आपका देश के अच्छे भविष्य और नेहरु पर और दृढ़ हो जाता है। और दूसरी तरफ़ देश से यूं मुंह मोड़ लिया कि किसी सूरत भी वहां लौटने को तय्यार नहीं।

अशोक - यह बड़ी फ़लसफ़ें की दार्शनिक बाते है, बेटा, अपने यार अफ़लातून से जाकर पूछ।

भाग - मुझसे गुनाह हुआ, बेवकूफ़ी हुई। अनाड़ी आदमी जो ठहरा। पर क्या करूं। मजबूर हूँ। अपनी मरज़ी से तो मैं यहां आया नही। आपको मेरी ज़रुरत नही तो लीजिए मैं, यहां आपसे कुछ परे होकर बैठ जाता हूँ, और आप, यहां वैठ जाइए। अगर लेटना चाहें तो वापिस चारपाई पर लेट जाएं।

जब तक यमराज अपना फैसला, जजमेंट पास नही करता, मुझे अपनी ड्यूटी तो करनी ही पड़ेगी।

अशोक - तुम बोलने से बाज़ नही आओगे।

भाग - न बोलूं तो क्या करूं? आप मौत के सागर के किनारे पर खड़े है। सौ फ़ीसदी मुमकिन है कि यह दरवाज़ा खुल ही जाएगा और आपको अगले जहान कूच कर ही जाना है। फिर इतनी जिद करने की क्या ज़रुरत? जीवन और मौत के बीच में झूलने का जो मौका मिल रहा है उसका फ़ायदा उठाएं।

अशोक - क्या फ़ायदा उठाऊँ?

भाग - चलिए, आपको कही सैर सपाटे के लिए ले चलें। यहां फ़ालतु में मंखियां मारने का क्या फ़ायदा।

अशोक - कहां की सैर कराओगे?

भाग - चलिए, चन्द्र-लोक चले। अमरीकियों और रुसीयों ने वहां अपनी निशानियां रखी हुई है। वहां उनके जंतर मशीने मोटरे चल रही है। वहां मोटरों की सवारी करेंगे?

अशोक - (व्यंग से) नही बाबा नहीं। ऐसे सब करतब तो महाभारत के जमाने में ही हमारे भीमसेन जैसे वीरों ने कर दिखाए थे। हमारे युग में तो एक दूसरे के पेट में घुसेड़ना ही वीरता की काफी निशानी है।

भाग - तो चलिए आपको पैरिस के नाइट क्लबों की सैर करा लाएं। कैसी कैसी सुंदरियां, सोन परियां वहां अपने शरीरों की प्रदर्शनियां करती है, नाचती है, थिरकती है जी चाहता है ऐसे हुस्न नज़रों ही से पिया जाए। और भी कुछ पीने को जी चाहे तो बिना संकोच के बताइए। प्रबंध हो जाएगा।

अशोक - अब आए हो न अपने असली फ़ौजी रंगो में।

भाग - आप भी ऐसे धर्मात्मा परमात्मा मत बनिए। आप जैसे कितने ही खद्दरपोशों को भी मैंने वहां नज़रें गड़ाए, सिजदे करते देखा है। कितने ही ऐसों को तो मैं खुद ले जा चुका हूँ।

अशोक - मेरे जैसे खद्दरपोशों की बहु-बेटियां भी अब तो दिल्ली कलकत्ते के होटलों में नंगे नाच करने लगी है। पैरिस जाने की क्या ज़रुरत है।

भाग - वाह गुरु की कसम, आप तो बड़े ही खुश्क तबीयत आदमी हो। अच्छा और न सही, कम से कम अपने परिवार के लोगों से तो मिल लीजिए। दोबारा कभी शायद मौका न मिले।

अशोक - तुमने ही तो कहा था कि कोई जीता जागता, इस सूक्ष्म रूप में देख सुन ही नहीं सकता।

भाग - वह तो जब मेरी मदद के बिना हो। पर मेरी मदद से सब कुछ हो सकता है। आपका कोई मित्र संबंधी प्यार से आपके गले भी मिल सकता है ..... हाँ पर बाद में उसे यही महसूस होगा कि उसने कोई सपना देखा है। पर उसे इस बात से आपको क्या वास्ता।

अशोक - (अपने आपसे) जीते जी ऐसे भुलावे, कई बार होते है। मुझे नहीं पता था कि इनमें असलीयत का अंश भी है।

भाग - तो मौके का फ़ायदा उठाइए। बस फ़रमाइए, पहले किससे मिलने चलें?

अशोक - भागसिंह ! मेरी पत्नी उन्नीस सौ अढ़तीस में स्वर्गवास हुई थी। तभी मैं जेल में था। देश के बंटवारे के वक्त मेरे मां बांप फ़सादों में मारे गए। बाकी, मेरा बड़ा लड़का बंगलोर के एक बड़े कारखाने में इंजिनियर लगा हुआ है। वह मुझे साफ़-साफ़ कह चुका है कि मैं उसके घर में कदम न रखूं। क्योंकि मेरी सिरफिरी हरकतों से उसकी नौकरी खतरे में पड़ती है। वह कहता है कि मैंने अपनी जिन्दगी तो बरबाद की ही है, अब मैं अपने बच्चों की ज़िंदगी भी बरबाद करने पर तुला हुआ हूँ। और मज़े की बात तो यह है भाग कि मैं उसकी शिकायत से पूरी तरह सहमत हूँ।

भाग - आप सोचते है कि देश के लोगों की सेवा करके आपने अपनी ज़िंदगी खराब की है?

अशोक - बिल्कुल! और भी सुनो। मेरा छोटा लड़का एक कालेज में प्रोफ़ेसर था। प्रोफेसरी छोड़ कर अब वह नक्सलवादियों से जा मिला है।

भाग - नक्सलवादी कौन?

अशोक - नक्सलवाद का मतलब यह कि किसी भी सिद्धांत असूल की ज़रुरत नहीं। जागृति और सहयोग की ज़रुरत नही। इन्कलाब बन्दूक की नाली में से निकलता है। मेरे लड़के के खयाल में गांधी, नेहरु, अव्वल दर्जे के गद्दार और देश के दुश्मन थे और उनकी चेलागिरी मैंने भी देश के साथ दुश्मनी की है।

भाग - क्या आप उसके साथ सहमत हैं?

अशोक - पूरे सौ फ़ीसदी।

भाग - यानी गांधी और नेहरु आपको देश के दुश्मन दीखते है।

अशोक - सौ फ़ीसदी।

भाग - क्या ऊटपटांग बोले जा रहे है। अभी तो कह रहे थे कि ट्रक में नेहरु की फ़ोटो देख कर आपका दिल खुशी से उछल पड़ा था। और अभी फ़रमाते हो कि नेहरु ग़द्दार व देश द्रोही था। यह किस किस्म की सोच है?

अशोक - वस यही तो फ़र्क है मेरे दोस्त कल में और आज में।

भाग - क्यों छः वरसों में नेहरु का हुलिया इतना वदल गया है?

अशोक - नेहरु का नही, मेरा वदल गया है। तव मेरी आंखे आधी खुली थी। अब पूरी खुल गई है।

भाग - आप पांलिटिशन लोगों का कुछ पता नहीं। आज कुछ, कल कुछ।

अशोक - गांधी के पीछे पीछे चल हिन्दु मस्लिम एकता का शोर जितना मैंने किया था, देश भर में किसी और ने नहीं किया होगा। पर जितना मैं शोर मचाता फसाद उतने ही तेज़ होते, ज्यादा होते। इसी तरह नेहरु के पीछे लग के समाजवाद का जितना शोर मैंने मचाया उतनी ही सरमाएदारी की नीवे पूंजिपतियों की नीवें और तकड़ी मज़बूत हुई।

भाग - पर गांधी नेहरु तो कभी के अगले जहान में विराजमान हैं। क्या सारा कसूर उन्हीं का है?

अशोक - जिस हकीम की दवाई से मरीज़ की हालत, दिन पर दिन विगड़ती जाए उस हकीम की कावलियत पर कभी न कभी शक होना कुदरती है। नहीं? तुम क्या सोचते हो?

भाग - मुझसे न पूछिए साहव। सिपाही का पालिटिक्स से कोई संवंध नही होता।

अशोक - फ़ौजी हो तो कभी दूरवीन लगा कर धरती की तरफ़ भी देख लिया करो। तुम्हारे जाने केबाद पीछे रह जाने वालों पर क्या बीत रहीं है। तुम्हारे जो साथी जख्मी और अंगहीन हुए है वह कैसे दरबदर ठोकरें खा रहे हैं। क्या उन्हें -

भाग - आप मेरे साथ ऐसी वातें न करें। सिपाही की सोच अपनी ड्यूटी पूरी करने तक ही सीमित होती है।

अशोक - (अधीरज में) और जिनके लिए सिपाही ड्यूटी पालता है उनका कर्त्तव्य सिर्फ़ इतना ही है कि सिपाही के लिए वनाए कम्वलों के वंडल ब्लैक में विकें?

भाग - ---------- (चुप है)

अशोक - और भी सुनो। मेरी एक ही वेटी, मुझ पर इसलिए नाराज़ है कि मैंने, उसके लालची ससुराल वालों की मिनिस्टरों से वाकफियत कराके, उन्हें ठेके नही दिलवाए। इस वजह से

उस बेचारी को ससुराल से दिन रात ताने सुनने पड़ते है। तुम ही बताओं, मैं उसे कैसे मुंह दिखाऊं? क्या वह मुझे देख के खुश होगी? या मैं उसकी ऐसी हालत देखकर खुश हूंगा?

भाग - अगर यही हालत है तो छोड़िए राजनीति के काम। वापस जाकर कोई दुकान खोल लीजिए।

अशोक - इस उमर में मैं कोई दुकान खोलूंगा। और वह भी तो बेइमानियां किए बगैर नहीं चलेगी।

भाग - तो कर लेना बेइमानी। कौन सी आफ़त आ गई। जो चार सौ बीसियां दूसरे सभी कर रहे हैं आप भी कर लेना।

अशोक - यह तू मुझे कह रहा है भाग? मेरी तरफ़ देख! यह नसीहत मुझे तू दे रहा है ?

(भाग चुप रहता है)

अशोक - बोलो न! चुप क्यों हो! बोलो मैं क्या करूं?

भाग - मैं तो अब भी यही कहूंगा होनी को स्वीकार करें। अगर आगे जाने का हुक्म आ गया तो आगे चले जाइएगा। और अगर पीछे मुड़ने की आज्ञा हुई तो वापस लौट जाइएगा। और पहले की तरह फ़र्ज निभाते रहिएगा, जितनी देर और जीना है। धर्म पुस्तकों में भी तो यही लिखा है कि फल की इच्छा न करो।

अशोक - साफ़ मालुम पड़ रहा है कि मेरे फर्ज निभाने से उल्टा नुकसान ही होता जा रहा है। इसके बावजूद मैं फर्ज निभाता जाऊं?

भाग - सुनिए साहब, अगर यमराज की ही आज्ञा आपको वापस भेजने की हुई तो आप क्या कर सकेंगे।

अशोक - तब? आत्महत्या।

भाग - और अगर आप उसमें कामयाब न हुए। तो फिर आप आधे बीच में ही लटक जाएंगे, जैसे अब लटके हुए है और आपको फिर वापस जाने का हुक्म मिला तो?

अशोक - तो फिर आत्महत्या करूंगा। कभी तो यमराज की ज़िद टूटेगी ही न।

भाग - तो वाह! हिन्दुस्तान में और भी तो करोड़ों इन्सान रहते हैं। आप क्या उनसे इतने ही न्यारे हो?

अशोक - रहते होंगे करोड़ों इन्सान। मगर मुझे इतना पता है कि मेरे जैसों केलिए वहां कोई काम नहीं। अगर मैं वापिस चला गया तो मालुम है लोग क्या कहेंगे। लो भाई यह अहमक, मरा नही। आ गयाहै सिरफिरा वापस। मैं तो क्या अगर

बापू गांधी जी की वापस आ जाएं तो लोग उन्हें भी अहमक और सिर फिरा ही कहेंगे।

भाग - और नेहरु?

अशोक - अहमक दर अहमक।

भाग - कमाल है।

अशोक - भाग, देश को कोई अंधी ताकत तबाही की तरफ़ ले जा रही है। लेकिन किसी को नहीं पता कि क्या करना चाहिए। सबको मालूम है। सब महसूस कर रहे हैं इस खतरे को। लेकिन कबूतरों की तरह सभी आंखे बन्द किए बैठे है, अपने स्वार्थों और अपने बचाव की तरफ ध्यान दिए। सब यह जानते भी है कि यह स्वार्थ झूठे स्वार्थ है और यह बचाव खोखले बचाव है।

(भाग खिड़की के पास जाकर खड़ा होता है)

अशोक - क्या सोच रहे हो।

भाग - आपकी गहरी तकलीफ़ मुझे भी कुछ कुछ छूने लगी है। अगर मैं इस वक्त आपके काम न आ सका तो फिर कब आऊंगा।

अशोक - तुम खुद भी तो मजबूरी की हालत में हो! तुम क्या कर सकते हो?

भाग - कहते है फ़ौजी डिक्शनरी में नामुमकिन नाम का कोई शब्द नहीं। मुझे सोचने दीजिए।

(थोड़ी खामोशी)

भाग - सुनिए! मैं आपको तो इस दरवाज़े से पार नहीं कर सकता। मगर मुमकिन है मैं उन्हें उधर से इधर ले आऊं।

अशोक - किसको?

भाग - गांधी और नेहरु को।

अशोक - गांधी और नेहरु? वे कैसे आ सकते है?

भाग - जैसे मैं खुद आया हूँ।

अशोक - पर किसलिए?

भाग - जो बातें आप मुझे सुना रहे है, वे सब आपको उन्हें उनके मुंह पर सुनाएं। मुमकिन है वे आपको कोई जवाब भी दे सके। अगर न भी दे सकें तो कम से कम आपके दिल से बोझ तो उतर जाएगा।

अशोक - (सोचकर) हां यार। तजवीज़ तो तुम्हारी बुरी नहीं। जब इतनी दूर आया हूँ, देव लोक के किनारे तक पहुंचा हुआ हूँ

तो फिर उनको तो मिल कर ही जाना चाहिए। मुमकिन है उनके पास मेरे सवालों का जवाब हो? शायद वे कोई काम की बात बता दें। तब तो मेरी धरती पर लौटना भी फ़ायदेमंद होगा। (हंसकर) फिर तो बेटा मेरे अन्दर से भी देवताओं की आत्मा बोलने लगेंगी। क्या पता लोग मुझे भी महात्मा कहने लग जाएं।

भाग - मैं मज़ाक नही कर रहा।

अशोक - मैंने कब कहा है तुम मज़ाक कर रहे हो।

भाग - अच्छा! तो अगर वाहगुरु मेहरबान हुए तो काम बन जाएगा।

अशोक - भाग अगर तुम यह करामात कर दिखाओ तो मैं मैं तुम्हारे चरणों की धूल माथे पर लगाऊंगा। तब तो मुझे धरती पर लौट जाने में जरा भी एतराज नही होगा।

भाग - मेरे चरणों की धूल माथे पर लगाने की कोई जरुरत नही। पर इसके बदले में आपको मेरा एक काम करना होगा।

अशोक - ज़रुर ज़रुर! बताओ क्या कौन सा काम?

भाग - धरती पे जाइए। खुशी से जाइए। बस एक चक्कर मेरे गांव का भी लगा आइएगा। गांव का नाम है यही सैद। तहसील और जिला गुरुदासपुर। वहां मेरी चन्नी से मिलिएगा हमारी शादी को अभी एक बरस भी नहीं हुआ था। मैं उससे वादा करके आया था कि दीवाली पर उसे अमृतसर जरुर ले जाऊंगा। .... फिर, फिर मिलना ही न हुआ। मैं अपना वादा पूरा नहीं कर सका। आप मेरी तरफ़ से माफ़ी मांग लीजिएगा। .... बस इतना ही।

अशोक - (उसका हाथ हाथ में लेकर भावना से) ज़रुर, ज़रुर।

भाग - और उसे यह भी कह देना कि, वह मुझे, भूल जाए।

अशोक - यह तो मैं कभी नहीं कहूंगा। मैं तो उसे कहूंगा कि वह जन्मो जन्मो तक तुम्हें न भूले। मेरी प्रार्थना तो यह है कि आप दोनों फिर एक साथ जनम लो और एक दूसरे के जीवन साथी बनो।

भाग - नहीं, नही! ऐसा मत कहिए। मैंने उसे बहुत दुख दिया है।

अशोक - मैं ज़रुर कहूंगा। अगर भगवान की सृष्टि में कही, कोई न्याय है तो यह होकर रहेगा।

भाग - (हंसकर) इतनी दूर की न सोचो जनाब! जो प्लैन में मन मैं सोच कर बैठा हूँ, उसे सफल करने के रास्ते में अगर ज़रा सी भी ग़लती हो गई तो डर है कि कही मुझे कुत्ते बिल्ली की जून में न जाना पड़े।

अशोक - ऐसी अशुभ बाते मुंह से न निकालो भाग।

भाग - बात यह जनाब कि गांधी और नेहरु निर्वाण पा चुकी रुहे हैं। इसलिए यमराज ने उनके शरीर के सूक्ष्म रुप भी नष्ट कर दिए हैं क्योंकि किसी नीचे के स्तर के मंडल पर आने से उनका अपमान होता है। उनको नीचे के मंडल में लाने का एक ही तरीका है। वह यह कि नीचे के यानी मेरे मंडल की रुहों के सूक्ष्म रुप उन महान रुहों के लिए उधार लिए जाएं।

अशोक - बात मेरी समझ से बाहर है। लेकिन भाग, अगर मेरी खातिर तुमने अपने आपको किसी भी खतरे में डाला तो मैं अपने आपको कभी भी माफ़ नही करूंगा।

भाग - आप इस बारे में बिल्कुल चिन्ता न करें। बस इतना बता दें कि अगर नेहरु और गांधी अपने रुप की बजाए किसी और रुप में आपके सामने आएं तो आपको कोई एतराज़ तो नहीं होगा?

अशोक - मुझे, मुझे क्यों एतराज होगा!

भाग - उधार लिए रुप में उन्हें देख कर आप यकीन कर लेंगे कि यह वही है?

अशोक - तुम कहो और मैं विश्वास न करूं! यह कैसे हो सकता है। पर भाग, मैं तुम्हारे आगे हाथ जोड़ता हूं, कोई ऐसा काम न करना जिससे तुम्हें, तुम्हे किसी नीचे की जून में जाना पड़े।

भाग - ओ, भोले बादशाहो! वह तो मैंने जरा सा मज़ाक किया था। उसे आप सच मान गए! बिल्कुल फ़िक्र मत कीजिए। बस यही दुआ कीजिए कि काम हो जाए .... सुनिए, ऐसा कीजिए आप थोड़ी देर के लिए, अपने स्थूल शरीर में वापिस चले जाइए। जब तक मैं न बुलाऊँ, बिल्कुल न उठे। किसी हालत में भी न उठे प्रॉमिज़?

अशोक - प्रॉमिज़। पर भाग ....

भाग - जाइए, जाइए। जल्दी कीजिए।

अशोक बाबू, बेदिली से भाग की ओर देखता हुआ, पार्टीशन के पीछे चले जाते हैं। अंधेरे में, उनकी पुकार सी आती है- 'रंगस्वामी ऽ ! रंगास्वामी ऽ !'

ब्लैक आऊट

©

(पंजाबी से हिन्दी अनुवाद संतोष साहनी)

बलराज साहनी

'क्या यह सच है बापू?'

एक बौद्धिक दो अंकी नाटक

दूसरा अंक

दूसरा अंक

(वही दृश्य। मद्धिम-सी रोशनी में आरशी दरवाज़ा खुलता है। भागसिंह दाखिल होता है तो, दरवाज़ा बंद हो जाता है। दृश्य के दौरान में रोशनी धीरे-धीरे तेज़ होती जायेगी।)

भागसिंह : सोये हैं या जाग रहे हैं?

अशोक : (पार्टीशन से पीछे से) आ गये, भाग?

भाग : हां।

अशोक : कोई अच्छी खबर लाये हो?

भाग : बहुत अच्छी। आ आ जाइये, उठिये।

अशोक : (पास आकर) सचमुच, वे आ रहे हैं?

भाग : वे ही नहीं, साथ में दो और भी।

अशोक : दो और? वे कौन?

भाग : नेताजी सुभाषचंद्र बोस, और शहीद आजाद सरदार भगतसिंह।

अशोक : उन्हें तकलीफ़ देने की क्या जरूरत थी?

भाग : वे खुद तकलीफ़ लेना चाहें, तो मैं क्या करूँ?

अशोक : गांधी-नेहरू अहिंसावादी, और वे दोनों हिंसावादी। उनकी तो आपस में ही छिड़ जायेगी।

भाग : कभी तो कोई अच्छी बात भी सोचा कीजिये।

अशोक : ओ बाबा, नक्सलवादियों ने तो आजकल भगतसिंह को अपना पीर-मुर्शिद माना हुआ है, और पानी-पी पीकर गांधी-नेहरु को गालियां देते हैं।

भाग : पहले मेरी बात सुन लीजिये, फिर जो मर्ज़ी हो कीजिये। सुनिये, गांधी आ रहे हैं एक पठान खुदाई खिदमतगार के रूप में, जो पाकिस्तान बनने के बाद बारह साल तक बादशाह खान के साथ जेलों में रहा था। अभी दो ही साल हुए हैं उसे स्वर्गवास हुए। मालिकजान नाम है उनका।

अशोक : पठान तो होगा पर्वत जैसा। और गांधीजी चिड़ी के बच्चे जितने। वे उसके अंदर फ़िट कैसे होंगे? खड़-खड़ करते नहीं रह जायेंगे?

भाग : फ़िट जिस्म नहीं, आत्मा होगी, हुजूर। और सुनिये - नेहरूजी को अपना सूक्ष्म शरीर देना मेरे अपने मित्र, कैप्टन रंगास्वामी ने मंज़ूर किया है - वहीं, जो पाकिस्तानी चौकी पर टैंक चढ़ाकर ले गया था।

अशोक : वाह वाह, यह तो बड़ी खुशी की बात है। बड़ी खुशी होगी दोबारा उस शूरवीर के दर्शन करके।

भाग :	पर खुशी के आलम में कहीं नेहरूजी को छाती से लगाना और रंगास्वामी कहकर बुलाना न शुरू कर देना। वे बड़ी-बड़ी बातों पर गुस्सा नहीं खाते, लेकिन छोटी बातों पर झट नाराज़ हो जाते है।
अशोक :	मैं ख्याल रखूंगा।
भाग :	और नेताजी आ रहे हैं, आज़ाद हिन्द फौज के लेफ्टीनेंट इम्तयाज़ खां के रूप में, जो मांडले-फ्रंट पर मारा गया था।
अशोक :	नेताजी भी मुसलमान के रूप में आयेंगे?
भाग :	क्यों मुसलमान का रूप आपको काटता है? या क्या आपके खयाल में धर्मराज ने स्वर्ग सिर्फ़ हिन्दुओं के लिए रिज़र्व किया हुआ है?
अशोक :	मेरा यह मतलब नहीं था। मैं –
भाग :	मुझे अच्छी तरह पता है कि आपका क्या मतलब है। दूसरों पर तअस्सुब का इल्ज़ाम लगाना आसान है। खुद गरेबान में मुंह डालकर कोई नहीं देखता।
अशोक :	मेरी बात तो सुनो, यार। मुझे तो इस शहर के सिर-फिरे हिन्दुओं से डर लग रहाथा कि कहींबापू या नेताजी को मुसलमान के रुप में देखकर 'भारतीय करण, भारतीय करण' का शोर न मचा दें।
भाग :	मैंने कहा नहीं था कि धरती के लोग सूक्ष्म रूप को देख नहीं सकते?
अशोक :	हां, मैं तो भूल ही गया था।
भाग :	बाकी रह गये सरदार भगतसिंह। मेरा अपना सूक्ष्म रूप खाली वापस आ रहा था। सो, मैंने सोचा कि चलों, उन्हें अपने ही अंदर डालकर ले चलते हैं।
अशोक :	क्या मतलब? भगतसिंह तुम्हारे अंदर घुसा बैठा है?
भाग :	अभी नहीं। जब वे लोग आयेंगे, उसी वक्त सरदार की आत्मा मेरे अंदर दाखिल हो जायेगी।
अशोक :	तब तो देखने वाला नज़ारा होगा।
भाग :	देखियेगा।
अशोक :	मुझे तो अब तुमसे डर लगना शुरू हो गया है।
भाग :	भगतसिंह की आत्मा मेरे अपने जिस्म के अंदर होगी, तो फिर डर किस बात का? मैं उसे कंट्रोल में रखूंगा।
अशोक :	यह सब यमराज की इजाजत से किया है न?
भाग :	आपको इससे क्या? आपको आम खाने हैं, या पेड़ गिनने हैं?
अशोक :	पर तुम्हें कहीं कुत्ते-बिल्ली की जून में न जाना पड़ जाये। इसलिए पूछा है।
भाग :	आपकी बातें सुनकर मुझे यकीन हो गया है कि कुत्ते-बिल्ली और आदमी की जून (जोनि) में कोई फ़र्क ही नहीं है।

अशोक : एं? क्या कहा? मेरी बाते तुम्हें --

भाग : मेरा मतलब उन बातों से है, जो आपने देश के बारे में सुनाई हैं।

अशोक : यह अल-जलूल छोड़ों, मेरी बातों का साफ़-सीधा जवाब दो।

भाग : कोई खतरा नहीं, बाबा। थोड़ी वहुत हेर-फेर ज़रूर करनी पड़ी थी, लेकिन काम बन गया।

अशोक : स्वर्ग में ही हेर-फेर करनी पड़ती है?

भाग : बस, यहां चुप ही भली ..... श-श.....चुप ....

(जैसे बादल गरजने लगे हों, गंभीर किस्म का संगीत सुनाई देता है। फिर एक किरण स्टेज के बीच में आकर जैसे नाच करने लगती है।)

अशोक : (चौंककर) यह क्या हो रहा है?

भाग : निर्वाण प्राप्त रूहें आगमन कर रही हैं।

(तभी वह आगे बढ़कर किरण में जैसे शावर-बाथ लेना शुरु कर देता है।)

अशोक : यह क्या कर रहे हो, भाग? क्या हो गया है तुम्हे? भाग!

(भागसिंह किरण में से बाहर निकल आता है। किरण ग़ायब हो जाती है। संगीत बजता रहता है। उसमें से कोरस उठता है।)

कोरस : (नैपथ्य में से) हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी-ज़िन्दाबाद!

भाग : इन्कलाब!

कोरस : ज़िन्दाबाद!

(अशोक बाबू बिदकता है। अरशी दरवाज़ा खुलता है। नेतागण अपने अलग-अलग रूपों में प्रवेश करते हैं अशोक भौचक्का बना देखता रह जाता है।)

बापू : वोए, सरदार भगतसिंह, तुम हमसे पहले इधर पहुंच गया?

भगत : अगले जहान में भी तो आपकी कृपा से आपसे पहले ही पहुँच गया था, बापू। हमारे लिए तो आप अपने वाइसराय दोस्त से फांसी के बजाय गोली भी नहीं मनवा सके थे।

बापू : ओए उस आदमी का नाम हमारे सामने मत लो ओ, हम समझा ता, अंग्रेज जबान का पक्का होता है, मगर वोह तो बहुत कच्चा निकला।

अशोक : भागसिंह, तुम अब भगतसिंह हो गये हो?

भगत : (घूरकर) जी?

अशोक : कुछ नहीं।

बापू : (अशोक के पास आकर) वोए, इस आदमी को तो हम पहचानता है। सुभाष, रामगढ़ में जब तुम हमारा मुकाबले में फारवर्ड ब्लाक का जलसा बनाया ता न, तो इसी आदमी के हात हम तुमको पैगाम भेजा ता। (अशोक) क्या नाम है तुम्हारा?

अशोक : अशोक कुमार आज़ाद।

बापू : हां, अशोक कुमार आज़ाद। जोड़ ए, तगड़ा ए, खुशहाल ए?

अशोक : मैं जानता था कि आप अपने पुराने साथियों को कभी नहीं भूलते।

बापू : तुम्हारा नाम तो हम भूल ही गया ता न। सुभाष, तुम बी पहचाना इसको?

सुभाष : मैंने तो नाम से ही पहचान लिया था। इनकी शोहरत हमारे पास बर्मा में भी पहुंच गयी थी। लेकिन शक्ल अब इनकी बहुत बदल गयी है।

अशोक : आपकी मुझसे भी ज्यादा, नेताजी।

(सब हंसते है।)

सुभाष : अशोक कुमार आज़ाद, खूब पुल उड़ाये थे आपने अंग्रेज़ों के सन बयालीस की मूवमैंट में!

अशोक : आपका आशीर्वाद था, नेताजी।

सुभाष : लेकिन यह बताइये, पुल उड़ाने के लिए आप हिंसावादी बारूद इस्तेमाल करते थे, या अहिंसावादी?

अशोक : वह तो वक्त की मजबूरी थी, नेताजी। उस मजबूरी को तो बापू ने भी तसलीम किया है।

नेहरू : नमस्कार।

अशोक : ओहो, नमस्कारम, कैप्टन रंगास्वामी। (उसे सीने से लगाने के लिए आगे बढ़ता है कि भगतसिंह खांसता है। अशोक की याद आ जाता है और वह एकाएक रूक जाता है।) - मेरा मतलब है, नमस्कार पंडित जवाहर लाल नेहरूजी।

नेहरू : (हंसकर) याद है, नैनी जेल में इकट्ठे तरकारियां उगाया करते थे?

अशोक : हां जी खूब फल लायी थी आपकी बागवानी। टमाटर, भिंडी, टींडे.....। आप हमारी वॉलीवाल-टीम के कैप्टन भी तो थे।

नेहरू : ओहो, उस टीम का नाम न लो मेरे सामने। आज़ादी के बात उसके के छः मेम्बरों को मिनिस्टर बनाना पड़ा था मुझे।

अशोक : पर मैं आपसे मिनिस्टरी तो नहीं मांग रहा। मैं तो आपके पास कभी फटका तक नहीं था।

नेहरू : यहीं तो बदनसीबी थी मेरी। जिन्हें फटकना चाहिये था, वे फटकते नहीं थे। और जिन्हें नहीं फटकना चाहिए था, वे फटकते ही रहते थे।

अशोक : (गंजे रंगास्वामी को अपनी गांधी टोपी देता है) लीजिये यह पहन लीजिये। आपको अच्छी लगेगी।

नेहरू : यानी कि मेरा गंजापन छिपाना चाहते हो?

बापू : अच्छा बाई, अबी काम का बात शुरू करो। सरदार चगतसिंह को हम आज की मीटिंग का सदर तजबीज़ करता है।

सुभाष : सदर बनाने का आपका शौक अभी तक पूरा नहीं हुआ, बापू!

बापू : ओए, इधर सिरफ़ एक कुर्सी पड़ा है। अगर पड़ा है तो उसको इस्तेमाल बी करना चाहिए।

भगत : फ़िक्र न कीजिये, सुभाष बाबू, मेरा नाम भी भगतसिंह है, पट्टा भी सीतारभैय्या नहीं। - पर बापू, मैं तो आप लोगों के सामने अभी बच्चा हूँ। आप मुझे क्यों यह इज्ज़त दे रहे हैं?

बापू : तुम बच्चा नहीं है ओ। इधर तुम हम सबसे बड़ा है।

भगत : मैं? आप अपनी सफ़ेद दाढ़ी देखिये, और उसका मेरी काली दाढ़ी से मुकाबला कीजिये।

बापू : वो जमीन पर हम बड़ा था, तुम छोटा ता। मगर जन्नत में तुम हम सबसे पहले तशरीफ़ लाया है। उस हिसाब से तुम हमसे सत्रह वर्ष, बड़ा है। सुभाष से सोलह बरस बड़ा है, और नेहरू से पूरे चौंतीस बरस।

सुभाष : वाह वाह, क्या खोज की है बापू ने!

बापू : और सिर्फ़ उम्र में ही नहीं ओ, अक्ल में भी बड़ा है। हम जमीन पर क्या गलत करता ता, क्या ठीक करता ता, तुम अरश से अब्राहम लिंकन, गैरीबाल्डी, रस्किन, टाल्स्टाय, और लेनिन जैसा बुज़ुर्गों के साथ बैठकर देखता और जायज़ा लेता ता।

सुभाष : (खुद से) आदमी को फूंक मारकर खस्सी कर देना बापू को खूब आता है।

भगत : (व्यंग्य से) वे लोग आपकी भी बहुत तारीफ़ करते हैं, बापू। लेनिन तो हमेशा बड़े प्यार से आपको हिन्दु टाल्स्टाय कहकर बुलाता है।

बापू : अच्चा? बहुत नवाजिश उसका, वरना हम क्या चीज़ है।

सुभाष : (ऊपर की ओर देखकर) हम तुश हाजी बगोइम, तू तू मेरा हाजी बगो।

नेहरू : मैं बापू की ताईद करता हूँ।

सुभाष : हां हां, तुम तो करोगे ही। (हाथ जोड़कर) बापू, मैं भी ताईद करता हूँ।

भगत : जरा अशोक बाबू से भी पूछ लीजिये। आप लोगों के आने से पहले यह मुझे नक्सलवादियों का पीर-मुर्शिद कर रहे थे।

बापू : ओ पीर-मुर्शिद कहा है, गाली तो नहीं दिया। चलो, कार्रवाही शुरू करो।

भगत : (कुर्सी पर बैठकर) अशोक बाबू, देख लीजिये आपकी ख्वाहिश पूरी हो रही है। नेतागण आपके सामने मौजूद हैं। अब दिल खोलकर, इन्हें जो चाहे सुना लीजिये, और इनसे जो चाहे, सुन लीजिये।

अशोक : (कुछ झिझकते हुए) खुश किस्मती है मेरी - आप सब मेरे पूज्य हैं, आपकी शान में कुछ कहना तो - सूरज को दिया दिखाने वाली बात है।

भगत : (हैरानी से अशोक की ओर देखते हुए) क्या? क्या फ़रमाया आपने? कानों पर यकीन ही नहीं हो रहा है।

अशोक : (सहम कर) सरदार, मैं झू ..... झू ....

भगत : ओहो, आप झुड्डू कहना चाहते हैं किसी को! बढ़िया शब्द है, बेशक कहिये। झुड्डू कहिये, झुड्डू दर झुड्डू कहिये। जो चाहे, कहिये।

अशोक : नहीं, शहीदे आज़म, मैं .... मैं तो कह रहा था कि मैं झू ... झूठ नहीं बोल रहा। जहां तक इन महापुरुषों की शख्सी ज़िन्दगी का तअल्लुक है मुझे उनसे कोई शिकायत नहीं है। आजकल के लीडरों की तरह यह दुराचारी और बेईमानी तो नहीं हैं न ...

भगत : वाह वाह, शाबाश, और भी खुल जाइये ज़रा।

अशोक : इनके आने से पहले सैकड़ों सवाल मेरे मन में उठ रहे थे। अब एक भी याद नहीं आ रहा।

भगत : भारतवर्ष की पुरानी बीमारी है यह। लोग पीठ के पीछे ही दूसरों की निन्दा कर सकते हैं।

नेहरू : अशोक बाबू, आते वक्त एक यमदूत ने मुझे कहा था कि आपके श्वासों की गिनती लगभग पूरी हो चुकी है। वक्त बहुत कम है आपके पास। इधर-उधर की बातें छोड़िये और असली बात की तरह आइये।

सुभाष : हां आते वक्त एक हूर ने बापू को और मुझे भी आंख मारकर यही बात कहा था। देखने में अच्छी थी, क्यों बापू क्या ख्याल है?

बापू : ओ तुमको शर्म नहीं आता, बुज़ुर्गों से मज़ाक करता है।

सुभाष : यहां आप मुझ से एक साल छोटे हैं, आज ही के हिसाब के मुताबिक़।

भगत : आर्डर - हां अशोक बाबू। सोच लिया कोई सवाल?

अशोक : हां शहीदे आज़म। बापू, आप सारी उम्र हिन्दु-मुसलिम एकता की रट लगाते रहे। इसकी तह में कोई राजनैतिक तथ्य भी था, या यह महज एक जज़बाती उबाल था।

बापू : वह हमारा ईमान था।

अशोक : होगा वह ईमान, पर जितना आपने शोर मचाया उतनी ही नफ़रतें और बढ़ती गयीं। इसके लिए क्या आपको दोष दें, या अपने भाग्य को रोये।

बापू : रोने -धोने की कोई ज़रूरत नहीं। साबित-कदमी से अपना मंज़िल की तरफ बढ़ते जाओ।

अशोक : और पेट में छुरे खाते जाओ। क्या उस मंजिल पर पहुंचने की आपके मन में अब भी कोई आशा बाकी रह गयी है?क्या अब भी आप उम्मीद करते हैं कि किसी दिन हिन्दुस्तान के हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता हो जायेगी।

बापू : बेशक।

अशोक : किस आधार पर?

बापू : सच्चाई की बिना पर।

अशोक : (कड़वे अन्दाज़ में) क्या वही अंधी और जज़बाती सच्चाई या कि कोई और?

बापू : तारीख की बुनियादों पर खड़ी हुई मज़बूत और अटल सच्चाई।

अशोक : क्या है वह?

बापू : वह यह कि हिन्दुस्तान का हिन्दू और मुसलमान, दोनों का खून भी एक है, उसका तहज़ीब भी एक है, और किसी ज़माने में उसका मज़हब भी एक था।

सुभाष : देखिये बापू, यही अलूल-जलूल बातें आपने मुहम्मद अली जिन्ना के सामने भी कहीं थीं, और देश का सत्यानाश कर लिया था। आज फिर ....

बापू : देखो सुभाष। हमको अपना बात मुकम्मल करने दो। हम जिन्हा भाई को क्या बोला ता और नहीं बोला ता, वोह हम बेहतर जानता ए। तुम तो उस वक्त मुल्क में भी नहीं था।

सुभाष : मुल्क में क्या, मैं तो उस वक्त दुनिया जहान में भी नहीं था। पर खबरे तो हर जगह पहुंच ही जाती है।

भगत : नेताजी, सवाल बापू से पूछा गया है। मेरे खयाल में उन्हें अपनी बात कह लेने दीजिये। बाद में आप बोल सकते हैं।

सुभाष : अब कुछ-कुछ समझ में आया बापू के क्यों प्रधान बनाया तुम्हें।

भगत : आरडर प्लीज़ - - -

बापू : देखो अशोक बाबू, हिन्दुस्तान में जो भी मुसलमान लोग आया, और बड़ा-बड़ा हकूमत बनाया -- मुग़ल। तुर्क, अफ़गान, वो किधर से आया ता ?

अशोक : दर्रा खैबर की तरफ़ से।

बापू : दर्रा खैबर के रास्ते से तो आया ता, मगर उसका कारवां रवाना कहां से हुआ था ?

अशोक : काबुल, कंधार, समरकंद, बुखारा, ग़ज़नी —

बापू : ठीक। मतलब, पश्चिम एशिया से।

अशोक : जी।

बापू : अभी तुम यह बताओ कि इस्लाम कबूल करने से पहले वस्त एशिया का कौमों का -- अफ़गानों, मुगलों, तुर्कों का -- क्या मजहब ता ?

अशोक : इतनी हिसटरी किस को आती है बापू।

बापू : नेहरू, तुम तो बता ही सकेगा ?

नेहरू : (सोचकर) इस्लाम से पहले, इन मध्य एशिया के मुल्कों में तो ऐसे लगता है कि बौध्द धर्म फैला हुआ था। बौध्द बिहारों के खंडहर और बुध्द की मूर्तियां कधार, गज़नी, बुखारा आदि में बहुत मिलती है। चीनी यात्री हून सांग ने भी लिखा है कि समरकंद, जो उन दिनो चीन और हिन्दुस्तान के दरम्यान आने-जाने वाले बौध्द भिक्षुओं का सबसे बड़ा केन्द्र था, समागम कहलाता था।

बापू : ठीक बोला तुम। तो फिर, ह्यून सांग जब हिन्दुस्तान आया ता, तो हिन्दुस्तान के लोगों का उस वक्त क्या मज़हब ता?

नेहरू : तब यहां भी चारों तरफ बौद्ध धर्म ही फैला हुआ था।

बापू : तो अशोक बाबू, पहला बात हम यह कहना चाहता है कि अगर मज़हब के नाम पर कौम बनाने का असूल ठीक है, तो कदीम जमाने के अफ़गान, मुग़ल, तुर्क, और हिन्दुस्तानी सब एक ही कौम का बाशिन्दा ता, क्योंकि सबका मज़हब एक ता, बुद्ध मजहब।

अशोक : बड़ी अजीब बात लगती है। क्या यह सच है?

बापू : देखो ओ, अगर हमको बापू बुलाता है, तो हमारा बात पर एतबार करो, नहीं तो बापू मत बुलाओ।

अशोक : आप झूठ तो नहीं कह रहे, बापू, पर यह बात है बड़ी अनोखी।

बापू : इसमें नया बात कुछ भी नहीं है। अगर मज़हब के नाम पर कौम बनता, तो आजकल बी तुर्क, अफगान, मिसरी, ईराकी, ईरानी सबको एक कौम होना चाहिये, क्योंकि सबका मजहब एक है - इस्लाम। है कि नहीं?

अशोक : पर अब इस गड़े मुर्दे को उखाड़ने का क्या फ़ायदा है, जबकि दो कौमी असूल को कबूल किये हुए, और उस पर अमल करते हुए भी आज पच्चीस साल होने को आये हैं?

सुभाष : हां हां, बिलकुल ठीक)

अशोक : अब तो यहीं देखना बाकी रह गया है कि पहले पाकिस्तान में हिन्दुओं को नेस्तनाबूद किया जाता है, या हिन्दुस्तान में मुसलमानों को।

बापू : जोश में मत आओ ओ। पच्चीस बरस गुज़रने से झूठ सचाई में तबदील नहीं हो जाता। जब बदलने पर आता ए तो ज़माना चुटकियों में बदल जाता है। हधर आया है तो हमसे कुछ हासिल करके जाओ। बैठ जाओ। सुनो, शुमाली हिन्दुस्तान का हिन्दु अपने को आर्य नसल का बोलता है न?

अशोक : जी।

बापू : और जनूबी हिन्दुस्तान का हिन्दु अपने को द्राविड़ नसल का बोलता है?

अशोक : जी।

बापू : तो यह जो वस्त एशिया का ईरानी, अफ़गानी, मुगल और तुर्क लोग है, उसको हम कौन-सा नसल का बोल सकता है?

अशोक : क्या पता।

बापू : क्यों नेहरू?

नेहरू : वे भी आर्य नसल के ही कहे जा सकते हैं। हां, उनमें थोड़ी-सी मिलावट मंगोली नसल की कही जा सकती है।

अशोक : इसका सबूत?

बापू : इसका सबूत उसका कदो-कामत, उसका ज़बान, उसका शक्ल-सूरत और रंग है। शुमाली हिन्दुस्तान का जितना ज़बान है, और वस्त एशिया का जितना ज़बान है, उस सब का सर चश्मा एक ही है - इंडोआर्यन कदीम संस्कृत।

अशोक : जी।

बापू : जो तुम यह समझा कि आज शुमाली हिन्दुस्तान का जितना हिन्दु और मुसलमान है, उसके बुजुर्गों का नसल बी एक, सरचश्मा बी एक, और किसी ज़माने में उसका मजहब बी एक था - बुद्ध मज़हब। तो हम अगर उसको बोला कि तुम भाई-भाई है। आपस में मत लड़ो। तो बताओ कौन सा गुनाह किया?

अशोक : आप सवाल को अपने ज़माने के हिसाब से देख रहे हैं। आजकल ऐसे नहीं देखा जाता, बापू। नयी पीढ़ी के नौजवान भारत में मुसलमानों को एक बिलकुल अगल नसल, बिलकुल अलग कौम गिनते हैं - उसी तरह, जैसे युरोप में यहूदियों को गिना जाता है।

बापू : देखो, दीने इस्लाम का बानी हज़रत मुहम्मद रसूलिल्ला आर्य नसल का नहीं ता, वह अरब नसल का ता। दीने इस्लाम अरबिस्तान में ज़हूर में आया था। और अरब नसल और यहूदी नसल एक दूसरे के बहुत करीब है। यह धोखा इस वास्ते होता है।

सुभाष : कहीं हिटलर की तरह आप नसली सिद्धान्त के प्रचारक तो नहीं बनते जा रहे, बापू।

बापू : हिटलर तुम्हारा दोस्त ता ओ। तुम उसका पास गया ता, हम नहीं। ज़रा खामोशी से हमारा बात सुनो। अशोक बाबू, अबी हम अरब नसल और इस्लाम के बारे मैं तुमको एक ज़रूरी बात बताता है।

अशोक : इरशाद।

बापू : बरखुर्दार, याद करो, कबी अरब नसल के लोगों ने बी हिन्दुस्तान पर हमला किया, या हुकूमत बनाया?

अशोक : बापू, मैं कह चुका हूँ हिसटरी -मैं बहुत कमज़ोर हूँ।

बापू : बनाया ता। अफ़गानों और तुर्कों से बी बहुत पहले, सातवीं ईस्वी में, मुहम्मद बिन कासिम नाम का अरब सरदार ने सिंघ पर हमला किया और मुल्तान तक का इलाका फ़तह कर लिया था। क्यों, नेहरू, सुभाष, ठीक यह ठीक है?

नेहरू, सुभाष : ठीक।

बापू : लेकिन सिन्ध पर कितना देर राज किया मुहम्मद बिन कासिम?

नेहरू : सिर्फ एक साल। फिर लूट-मार का माल सिमेटकर वह जिधर से आया था, वापस चला गया।

बापू : मगर वह लूट-मार का सामान क्या ता?

नेहरू : (हंसकर) मैं तो मौके पर मौजूद नहीं था, लेकिन इतिहासकारों ने लिखा है कि वह सामान बहुत ही दिलचस्प था - डेसीमल सिस्टम; एक से दस तक अंक लिखने का तरीका, जिसे आज सारी दुनिया इस्तेमाल करती है, और जिसे एरब न्यूमरल्ज़ कहा जाता है; शतरंज का खेल; पंचतंत्र की कहानियां; उपनिषदों का फ़लसफा; और दूसरा कई किस्म का इल्म। यह सब चीज़ें मुहम्मद बिन कासिम हिन्दुस्तान से लूटकर ले गया था।

बापू : अशोक बाबू, तुम इस लूट-मार को अच्चा कहेगा या बुरा?

अशोक : क्या यह सच है?

बापू : तुम बार-बार वही बात बोलता है। जब जमीन पर वापस जायेगा तो किसी किताबखाना मे बैठकर अपना तसल्ली कर लेना। अब बोलो, यह लूट अच्चा ता कि बुरा?

अशोक : जिस लूट से सारे संसार का फ़ायदा हो, उसे बुरा कैसे कह सकते हैं?

बापू : अबी हमारे दिल को खुश करने वाला बात बोला तुम। हर बात को, हर चीज़ की बनी नूह इन्सान के फायदे के नुक्ता नज़र से देखना चाहिये। - अन्दाज़ा करो, हज़रत मुहम्मद की ज़ात में कितना इन्कलाबी तासीर ता। उनका बाद सिर्फ़ एक सौ बरस के अन्दर-अन्दर दीने इस्लाम न सिर्फ़ तमाम अरब कबीलों को मुत्ताहिद किया, बल्कि उसका परचम समाय, मिसर, ईराक, ईरान, अलजीरिया, मराकश, सिसली, स्पेन फ्रांस और इटली में भी लहराने लगा।

अशोक : स्पेन, फ्रांस, इटली में? -

बापू : हां! मगर इस्लाम का करामात सिर्फ़ इन फतूहात में नहीं है। असली करामात यह है कि अरबो ने चीन हिन्दुस्तान, यूनान, रूस, हर तरफ़ से इल्मो अरब, फ़लसफ़े और साइंस का खजाना लूटा, उसको अपने अन्दर बैठाया, उसको हर मुमकिन तरीके से तरक्की और फ़रोग दिया, और फिर उसको सारी दुनिया में फैला दिया।

अशोक : मैं तो सारी उम्र यही सुनता आया हूं कि इस्लाम ने दुनिया में जहालत फैलाई है।

बापू : तुम सुनता आया, सुनता आया, मगर यह पता लगाने का तकलीफ कवी गवारा नहीं किया कि जो सुना, कहीं वह ग़लत तो नहीं है। वह भी क्या हमारा कसूर है? युरोप वालों को पूछो। उसका लिखा हुआ तवारीख का किताब पढ़ो। वह बतायेगा कि लाइब्रेरी बनाना, अस्पताल बनाना हमाम में नहाना - यह सब युरोप वालों को अरबों ने सिखाया है। बल्कि वह लोग तो यह भी कबूल करता है कि आज का ज़माना में युरोप ने साइंस और सन्नत में जो हैरत अंग्रेज़ तरक्की किया है, उसके लिए भी वह अरबों का दीने इस्लाम का कर्ज़दार है। नेहरू, सुभाष, अगर हम ग़लत बोलता है, तो हमको दुरुस्त करो।

नेहरू : इसमें कोई शक नहीं, अशोक बाबू, कि युरोप में दुनियावी यानी सेक्यूलर इल्म और साइंस की परम्परायें चलाने में अरबों का बहुत सा हाथ था।

अशोक : बापू, आपके कहने के मुताबिक इस्लाम ने युरोप को इल्म की रोशनी दी। तो फिर हिन्दुस्तान में आकर तो मुसलमानों ने नालन्दा जैसी यूनिवर्सिटियां तबाह ही की न? सोमनाथ जैसे मंदिर तोड़े, कत्लेआम किये, औरतों की बेइज़्ज़ती की।

बापू : देखो ओ, जिस महमूद गज़नवी ने तुम्हारा सोमनाथ का मंदिर तोड़ा ता ना, उसी ने बगदाद शहर का मस्जिद भी तोड़ा था। यह तुमको मालूम है? अरब सल्तनत का राजधानी, बगदाद, दुनिया का सबसे हसीन और आलीशान शहर था। उस जमाने में। महमूद ने उसको मिटटी में मिलाया। उसने जितना हिन्दुओं का कत्लेआम किया। उससे दस गुना ज्यादा मुसलमानों का कत्लेआम किया। अरबों का खोपड़ियों का मिनार बनाया वह। वस्त एशिया का हमलावरों ने ही अरबों का भी टुकड़ा-टुकड़ा किया ता। - कसूर इस्लाम का तालीम का नहीं है ओ। उसको और अच्छी तरह से इस्तेमाल किया, कोई बुरी तरह से इस्लेमाल किया।

अशोक : हिन्दुस्तान पर अरबों ने फिर कभी हमले नहीं किये?

बापू : नहीं। वह सिर्फ़ तिजारत के वास्ते आता ता, इल्मो हुनर और फ़लसफ़े का लेन-देन का वास्ते आता ता - ज्यादातर समुन्दर के रास्ते से। जिस तरह जनूबी हिन्दुस्ता का हिन्दु द्राविड़ नसल का है, मुसलमान ज्यादातर अरबी या अफ़्रीकी नसल का है।

सुभाष : बापू, आप तो कमाल कर रहे हैं! अरबों और द्राविड़ों को ऐसे पेश कर रहे हैं, जैसे वे भी आप ही की तरह अहिंसावादी हों। दक्षिणी भारत के हिन्दुओं ने और अरबी मुसलमानों ने क्या मलाया,

इन्डोनेशिया और हिन्द चीन आदि में नौ आबादियां और हुकूमते नहीं बनायी थीं? और क्या वे लड़ाइयां किये बिना ही बन गयी थीं?

बापू : हमको ग़लत मत समझो, सुभाष। हम सिर्फ इतना बताना चाहता है कि शुमाली हिन्दुस्तान का हिन्दू और मुसलमान दोनों का खून एक है, फिर भी वह हर वक्त आपस में लड़ता है, नफ़रत करता है। यह जहालत है। जनूबी हिन्दुस्तान का हिन्दु और मुसलमान का खून उतना एक नहीं है, फिर भी वह आपस में नहीं लड़ता है। यह अच्छा बात है।

अशोक : एक बात मुझे अभी तक समझ में नहीं आयी है। हिन्दुस्तान पर हुकूमते बनाने वाले मुसलमान जो वास्त एशिया से आये थे, आर्य नसल के थे, सिर्फ़ इसलिए उनकी सारी खराबियां हम माफ कर दें।

बापू : देखो ओ, मुसलमानों से भी बहुत पहले, बुद्ध भगवान का ज़माना से भी बहुत पहले, यही वास्त एशिया वालों का कबीला आर्यों की शक्ल में जब हिन्दुस्तान आया ता, तो क्या वह खराबी नहीं करता ता? इधर का औरत को घर में नहीं बैठाता ता? तमाम शुमाली हिन्दुस्तान से वह द्राविड़ नसल का लोगों को दक्खन और पूरब की तरफ भगा दिया। सिर्फ़ मुल्क पर कब्ज़ा ही नहीं किया, बल्कि मकाबी लोगों को राक्षस, शूद्र, और अछूत का दर्जा दिया। जात-पात और ऊंच-नीच का चक्कर भी आर्य लोगों ने ही चलाया था। जिसके नाम पर आज भी देवताओं के सामने इन्सान का कुर्बानी दिया जाता है। मुसलमान हमलावर ने हिन्दुओं पर उतना ज़ुल्म नहीं किया, जितना खुद ऊंचा जात का हिन्दु नीचा जात का हिन्दु पर किया है, और अब बी करता है। इस वास्ते हम बोलता है सक गड़े मुर्दों को उखाड़ने का कोई फायदा नहीं है।

अशोक : पर आर्य लोग तो फिर भी यहां आकर यहां के हो गये थे। द्राविड़ों और आर्यों की सभ्यता और संस्कृति आपस में मिलकर एक हो गयी थी। पर मुसलमानों ने तो हमेशा खुद को अलग और पराया समझा है। उनके मज़हबी जनून का तो कोई हक हिसाब ही नहीं।

बापू : यह तुम्हारा अपना अकीदा है, अशोक बाबू?

अशोक : (झेप जाता है) नहीं - मेरा नहीं - पर आम हिन्दुओं का यही खयाल है।

बापू : देखो ओ, जब तुम बादशाहों और हुक्मरानों की तरफ़ से अपना नज़र नहीं हटायेगा, तुमको असलियत कबी मालूम नहीं होगा। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, नानक - यह लोग इन्सान को जानवर बनाने का नहीं, इन्सान बनाने का तालीम देने दुनिया में आया ता।

सुनो, इस्लाम ने हिन्दुओं को सूफ़ी फ़लसफ़ा दिया है, जिसने हाथ बढ़ाकर भगती लहर को भगत और संत को अपना आग़ोश में लिया।

गोसाई तुलसीदास ने रामायण लिखा, जो हिन्दुओं का मुकद्दस किताब है। मगर उसी गोसाई तुलसीदास का गुरु और उस्ताद एक मुसलमान सूफी मलिक मुहम्मद जायसी ता, जिसने हिन्दी ज़बान में सबसे पहला बड़ा नज़म 'पद्मावत' लिखा।

वेदान्त का अद्वैतवाद और इस्लाम का वहदत का संगत भगत कबीर में देखो। आज तक कोई माई का लाल बता नहीं सका है कि वह जुलाहा हिन्दु ता, या मुसलमान ता। अमीर खुसरों ने हिन्दुस्तानी मौसीकी को 'खयाल' जैसा खजाना दिया है, तानसेन ने तराना दिया है। बताओं, वह किसका है - हिन्दु का, या मुसलमान का। या सारे हिन्दुस्तान का? ऐसा संत और सूफ़ी शायद, जिसको हिन्दु और मुसलमान अकाम दोनों अपना दिल में बैठाकर रखता है, तुमको हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दोनों मुल्कों के कोने-कोने में मिलेगा - काशमीर में लल्ल देवी और शेख़ नूरुद्दीन; पंजाब में शेख़ फरीद, गुरू नानक, बुल्लेशाह और वारिस शाह; सिन्ध में शाह रसूल और शाह लतीफ़; मेरा गुजरात में नरसी भगत, सत्तार शाह, और मुराद। ज़रा सारा मुल्क में जाकर घूमो, जैसा हम घूमता। हुक्मरानों को मत देखो आवाम को देखो और पहचानो। फिर मालूम हो जायेगा कि हर इलाके का हिन्दु और मुसलमान एक ही ज़बान बोलता है, एक जैसा लिबास पहनता है। एक जैसा रस्मो-रिवाज है उसका, एक जैसा फ़न और अदब है उसका।

और फिर तुमको अच्छी तरह मालूम हो जायेगा कि असली कौमियत मज़हब का नहीं है। असली कौमीयत है, बंगाली, पंजाबी, काशमीरी, सिंधी, मराठी, गुजराती, तामिल, तेलगू, मलयालम वगैरह। इन सब कौमों को बनाने में हिन्दुओं और मुसलमानों ने एक हज़ार बरस से यकसां मेहनत और कुर्बानी किया है। कुल हिन्दुस्तान की तहजीब इन्हीं कौमों के भाई-चारे से बनता है।और इस हकीकत को दुनिया का कोई ताकत मिटा नहीं सकता है - न पच्चीस बरस में, न ही पच्चीस हज़ार बरस में। जो सच्ची कौमीयतों को मिटाने का कोशिश करेगा, वह खुद मिट जायेगा।

भगत : वाह-वाह, बापू बहुत अच्छे।

नेहरू : जब मैं ज़िन्दा था, तो आपकी शखसीयत मेरे लिए एक पहेली थी, बापू। आज सब राज़ खुल गये हैं। मैं जब देखता था कि वही खूंखार पठान जो छोटी-छोटी बात पर बंदूक उठा लेते थे, आपका हुक्म पाकर सबसे बढ़िया अहिंसावादी सिपाही बन जाते थे, तो मैं भौचक्का रह जाता था। मुझे नहीं पता था कि आप उनके खून में सोये हुए, पुराने ज़माने के बौद्ध विरसे को जगा देते थे। इसी तरह,

जब आप गाते थे - 'ईश्वर अल्लाह तेरे नाम', तो हर हिन्दुस्तानी के दिल में किसी कोने से कबीर बोल उठता होगा। कबीर सबका था, इसलिए आप भी सबके थे। चालीस करोड़ आवाम के दिलों पर राज करते थे आप। और यह हमें एक करिश्मा लगता था।

सुभाष : इतना जज्बाती होने की जरुरत नहीं, जवाहर। अगर बापू तुम्हारे और मेरे लिए एक पहेली थे, तो वे खुद के लिए भी एक पहेली थे। वे तो खुद कबूल करते हैं कि 'जब भी कोई फ़ैसला करना हो, मैं अपने अन्दर की आवाज़ का इन्तजार करता हूं।' इस तरह वे सिर्फ़ हमेशा नहीं, खुद को भी उलझन में डाले रखते थे। अगर अपनी ज़िन्दगी में इन्होंने उतनी ही सीधी और साफ़ बातें की होती, जितनी कि आज की हैं, तो मुल्क बहुत सारी तबाही से बच जाता।

नेहरू : तुम्हारा मतलब है कि बापू ने जो बातें आज बताई है, उन बातों को वे अपनी ज़िन्दगी में खुद नहीं जानते थे? या क्या तुम्हारे खयाल में उन्होंने हमसे छिपाकर रखी थीं?

सुभाष : क्या पता। हमारे देश में ऐसे वैद्य-हकीमों की कमी नहीं, जो अपनी मान्यता बनाये रखने के लिए मरते दम तक अपने नुस्खे किसी को नहीं बताते।

नेहरू : सुभाष, कभी तो बापू के जज्बात का खयाल रखा करो।

सुभाष : देखो नेहरू, मैं भी गांधीजी की उतनी ही इज्ज़त करता हूं, जितनी तुम करते हो। पर मैं तुम्हारी तरह उनकी कमज़ोरियों पर पर्दा डालने की कोशिश नहीं करता। आज गांधीजी ने हिन्दु-मुसलिम पृष्ठभूमि को कैसे पेश किया है, और सन १९४५ में जिन्नाह साहब से मुलाकातों के दौरान में कैसे किया था। तब गांधीजी ने कहा था, 'भारत के मुसलमान हिन्दुओं में से ही पतित होकर मुसलमान बने है।' देखा फर्फ़? उनके मुंह से निकले हुए इस एक वाक्य से देश के वातावरण में ज़हर घुल गया था। उसके बाद जिन्नाह के साथ किसी समझौते की गुंजाइश ही नहीं रह गयी थी। बापू की इस एक ग़लती से कितने लोगों का खून बहा। और ऐसी ग़लतियां बापू ने एक बार नहीं, अनेकों बार की थीं। आज बापू खुदाई खिदमतगार का रूप धारकर आ गये हैं। क्या उन्हें याद है कि पार्टीशन के बारे में तुम्हारे आगे सिर झुकाने के कारण बादशाह खान और पूरी पठान कौम के साथ कितना बड़ा अन्याय हुआ था?

(कुछ देर सभी चुप रहते हैं।)

भगत : आप कुछ कहना चाहेंगे, बापू?

बापू : सुभाष बिलकुल ठीक बोलता है। खुदा जानता है, हम अपनी ग़लतियों पर कितना शर्मसार है। (जज्बाती होकर) सुभाष बाबू, हम तुमसे सिर्फ़ इतना इल्तजा करता है - बादशाहखान ने हमको माफ़

कर दिया है, तुम बी हमारा खता माफ़ करने की कोशिश करो। अशोक बाबू, यह हकीकत है कि जीते वक्त हम बहुत-सा बात महसूस करता ता, मगर साफ़-साफ़ बयान नहीं कर सकता ता। और कोई बात हमारा ज़ेहन में साफ़ होता बी ता, मगर वह आज़ादी की लड़ाई कोई मामूली लड़ाई नहीं ता। हम कितना बार बोला कि इतना बड़ा ज़िम्मेदारी हमारे कंधों पर मत डालो, इस को खुद उठाओ, मगर यह लोग नहीं मानता ता। और फिर, जब हमारा साथ अंग्रेज़ लड़ता ता, तो हम चट्टान के माफ़क मज़बूत हो जाता ता। मगर जब हमारा अपना भाई हमारा साथ लड़ने के वास्ते आता ता, तो हम कमज़ोर हो जाता ता। हमारा अक्ल बी जवाब दे जाता ता। उस वक्त ठीक बात बी हमारा मुंह से ग़लत बनकर निकल जाता ता। तुम हमारा दिल का आवाज़ का मज़ाक मत उड़ाओ, सुभाष। हमारा दिल का इसी आवाज़ को सुनकर हिन्दुस्तान का चालीस करोड़ गरीब और बे हथियार इन्सान अंग्रेज़ का बन्दूक और मशीनगन का साथ उसी तरह खेलने का वास्ते निकल आया ता, जिस माफ़क बच्चा लोग दीवाली का रात को पटाखा से खेलता है।

सुभाष : इसमें क्या शक है, बापू। आपके साथ मेरे कितने भी मतभेद हों, यह बात तो हम सभी दिलोजान से कबूल करते हैं।

अशोक : सुभाष बाबू, मेरा भी आपसे थोड़ा-सा मतभेद है। गांधीजी जिन्नाह साहब को चाहे ऐसे कहते, चाहे वैसे, कोई फर्क़ पड़ने वाला नहीं था। जिन्ना साहब देश का बंटवारा करने पर तुले हुए थे। अगर वे अपने दो कौमी असूल को छोड़ देते, तो उनकी लीडरी फ़ौरन खतरे में पड़ जाती।

सुभाष : माफ़ करना, अशोक बाबू, दो कौमी असूल की ईजाद मुहम्मद अली जिन्नाह ने नहीं की थी। इस ईजाद का सेहरा हिन्दुओं के सिर है। खासकर मेरे अपने बंगाली हिन्दु भद्र पुरुषों के सिर।

अशोक : सुभाष बाबू, दो कौमी असूल की तो हिन्दुओं ने हमेशा ही सख्त मुखालफ़त की है। क्या आपके खयाल में पाकिस्तान हिन्दुओं ने बनवाया है?

सुभाष : अगर मैं कहूँ, 'हां' तो फिर?

अशोक : मैं आपकी बात मानने के लिए कभी तैयार नहीं हूंगा।

सुभाष : क्यों? बापू की बात मानने के लिए तैयार हो, मेरी नहीं?

अशोक : मैं जानता हूं कि इस बात का आपके पास कोई सबूत नहीं है।

सुभाष : सबूत पेश करने का फ़ायदा तब है, अगर आपमें सुनने की हिम्मत हो।

अशोक : है हिम्मत मुझमें। बताइये। मैं जरूर सुनना चाहूंगा।

सुभाष : अच्छा तो, बापू की तरह मैं भी आपका हिस्टरी का थोड़ा सा इम्तहान लेना चाहूंगा। बुरा न मानना।

अशोक : बड़ी खुशी से।

सुभाष : अंग्रेज़ हिन्दुस्तान में तिजारत करने के इरादे से आये थे न?

अशोक : जी।

सुभाष : ज्यादा फ़ौज तो साथ मैं नहीं लाये थे?

अशोक : फ़ौज लाने का सवाल ही नहीं था तब।

सुभाष : और उन दिनों हिन्दुस्तान दुनिया में सबसे अमीर और शानदार मुल्क गिना जाता था न?

अशोक : जी। सोने की चिड़िया कहलाता था।

सुभाष : तो फिर, यह बात आपको अजीब नहीं लगती कि थोड़े से समय में ही हिन्दुस्तान जैसे महान देश को इंग्लैंड जैसा छोटा-सा देश, पांच हज़ार मील दूर आकर चित्त कर ले? भला ऐसी शर्मनाक हार का आपके खयाल में क्या कारण था?

अशोक : आपस की फूट, और क्या। मुग़ल साम्राज्य कमज़ोर हो चुका था। बंगाली मराठी, टीपू, दक्षिणी, पंजाबी सब अपनी अलग खिचड़ी पका रहे ते। देश का खयाल क्या, देश का पता ही नहीं था किसी को। ऊपर से मज़हब के झगड़े।

सुभाष : मगर अशोक बाबू, अंग्रेज़ों ने सिर्फ़ हिन्दुस्तान पर ही तो कब्ज़ा नहीं किया था, उन्होंने तो दुनियां के पांचवे हिस्से पर अपना झंडा लहराया था। बाकी बचे-खुचे देशों को फ्रांसीसियों, डचों, और रूसियों ने बांट लिया था। सारी दुनिया ने युरोप के आगे घुटने टेक दिये थे। क्या इसका कोई और गहरा कारण नहीं हो सकता?

अशोक : और कारण होगा, उनकी गोरी चमड़ी का रोब। या फिर हारने वाले देशों की जलवायु ने वहां के लोगों को सुस्त बना रखा होगा।

सुभाष : नहीं। असली कारण था युरोप का सन्नती इन्कलाब। युरोप की मशीनी सन्नत और साइंस की तरक्की।

अशोक : हां, नेताजी, असली कारण तो जरूर यही होगा, अगरचे स्कूलों-कालेजों की किताबों में यह नहीं बताया गया था।

सुभाष : बापू और नेहरू ने आपको बताया है कि किस तरह अरबों ने युरोप में साइंस की बुनियादे रखीं। यह बीज फल लाया। कुदरते की बेहिसाब ताकतें - भाप, बिजली आदि, और कई किस्म की दूसरी ताकतें युरोप के लोगों के कब्जे में आनी शुरू हो गयीं थीं। मशीनी इन्कलाब की बदौलत युरोप वाले, जिनमें अंग्रेज़ सबसे आगे थे, सभ्यता की सीढ़ी पर और ऊंचा चढ़ गये थे।

अशोक : इसे ताकत की सीढ़ी तो कह सकते हैं, सभ्यता की नहीं। मशीनों की बदौलत तो युरोप में इखलाकी गिरावट आयी थी।

नेहरू :	अशोक बापू गांधीवादी है, मशीन-युग की सभ्यता को अच्छा कहना इनके लिए आसान नहीं है।
बापू :	हर बात में तुम लोग हमको अन्दर मत घसेड़ो, नेहरू अगर हम मशीन के खिलाफ़ ता, तो तुम जैसा आदमी को, जो कारखाने को अपना पूजा का मंदिर बताता ता, हम अपना वारिस और जानशीन कैसे बना दिया? तुम हमको समझाया कि मशीन बुरा नहीं है, उसका सरमायादारी इस्तेमाल बुरा है। अबी फिर हमारा नाम तुम क्यों लेता है?
नेहरू :	आप तो कट्टरवादी नहीं थे, बापू! पर आपके चेले -
अशोक :	माफ़ करना जी, मैं कोई कट्टरवादी नहीं हूँ। अगर होता, तो बारूद से पुल क्यों उड़ाता? मैंने यूंही सहज ढंग से सवाल पूछा है।
सुभाष :	अच्छा तो, मैं एक मिसाल देकर बात साफ करता हूँ। देखिये, आप पूरे मन से चाहते होंगे कि राजनीति में मज़हब का कोई दखल न हो। मजहब हर आदमी का ज़ाती मसला ही रहे।
अशोक :	जी हां, अगर ऐसा हो जाये, तो हमारे देश में हिन्दु-मुस्लिम फ़साद आज ही खत्म हो जायें।
सुभाष :	तो फिर, युरोप में यही कारनामा मशीनी इन्कलाब ने बिना भाषणों के कर दिखाया था। लोग अपना परलोक सुधारने के बजाये संसार सुधारने के बारे में सोचने लगे। सन्नती इन्कलाब से पहले, अंग्रेज़ भी मज़हब के नाम पर आपस में लड़ते थे, पर सन्नती इन्कलाब के बाद उनकी नज़र में जहां देश और कौम के लिए लड़ना बड़े गर्व की बात थी, वहां मज़हब के लिए लड़ना पहले दर्जे की मूर्खता थी। समझे न?
अशोक :	हां अंग्रेज़ों को मज़हब के नाम पर आपस में लड़ते हुए कभी नहीं सुना।
सुभाष :	तो फिर आप इसे सभ्यता की ऊंची सीढ़ी कहेंगे कि नहीं?
अशोक :	तब तो ज़रूर कहेंगे।
सुभाष :	और देखिये। हुकूमत का लोकवादी ढांचा, वोटें डालकर सरकार बनाना राजाओं, महाराजाओं की अंधी लूट-खसोट को खत्म करना - यह भी युरोप में सन्नती इन्कलाब का ही नतीजा था। आप इसे भी सभ्यता की ऊंची सीढ़ी कहेंगे न? या क्या आपको रामराज्य चाहिये? पर यह याद रखिये। कि सभी महाराजे श्री रामचन्द्रजी जैसे नहीं होते।
बापू :	ओ देखो ओ, सुभाष, तुम फिर शरारत करता है। बाज़ आ जाओ।
अशोक :	आप फ़िक्र न कीजिये, बापू। रामराज्य से आपका मतलब हमेशा प्रजाराज्य होता था - यह मैं जानता हूँ। हां, सुभाष बाबू, लोकवाद

	भी सन्नती इन्कलाब की एक बड़ी प्राप्ति थी, यह मैं मानता हूँ। अंग्रेज़ों ने बादशाहों से सभी अधिकार छीन लिये थे।
सुभाष :	पर हमारे देश में उन दिनों कोई ऐसा इन्कलाब नही आया था। हमारे देश में सैकड़ों सुल्तान और राजा-महाराजा भरे हुए थे, और उन्हें इतिहास कंडम कर चुका था।
अशोक :	इतिहास कंडम कर चुका था?
सुभाष :	हां, दुनिया में बादशाही निज़ाम का सूरज डूब रहा था, और सरमायादारी निज़ाम का सूरज चढ़ रहा था। इसलिए, उन दिनों अंग्रेज़ों के आगे हमारे देश का हारना और यूरोप के देशों के आगे बाकी देशों का घुटना टेकना एक ज़रूरी और यकीनी बात थी। इसमें न हमारे आपसी झगड़ों का दोष है, न हमारी काली चमड़ी या गर्म जलवायु का।
अशोक :	कितनी अच्छी तरह समझाया है। नेताजी, मैं आपका मशकूर हूँ।
सुभाष :	अच्छा, अब जब अंग्रेज़ों ने हमें गुलाम बना लिया, तो हमें हमेशा के लिए ग़ुलाम बनाये रखने के लिए जरूरी था कि वे हमारे देश में वक्त की घड़ी की चाबियों को उल्टा चलाते।
अशोक :	हां, उन्होंने हमें आगे बढ़ने से रोकना ही था।
सुभाष :	एक पालिसी तो उन्होंने यह इस्तेमाल की कि हिन्दुस्तान में मशीनी सन्नती विकास को हर मुमकिन तरीके से रोका जाये, चाहे इसके लिए ढाका के जुलाहों के अंगूठे ही क्यों न काटने पड़ें।
अशोक :	ठीक।
सुभाष :	पर इससे गहरी चाल उनकी यह थी कि मज़हब को जिसे वे अपने मुल्क में ताक पर रख चुके थे, हमारे मुल्क के हर एक सामाजिक मामले में आगे लाया जाये। उनकी कोशिश थी कि हिन्दुस्तानियों की नज़रें हमेशा परलोक की तरफ़, या पुराने ज़माने की तरफ़ ही लगी रहे, ताकि अपनी वर्तमान हालत की तरफ उनका ध्यान न जाये।
अशोक :	यह उन्होंने कैसे किया?
सुभाष :	पहले उन्होंने हिन्दुओं को ऊपर उठाना और मुसलमानों को दबाना शुरु किया। हिन्दुओं को कहा - 'ऐ हिन्दुओं, तुम अपने-अपने इलाके और प्रान्तों की तंगनज़री में कैद हुए क्यों बैठे हो? सारा हिन्दुस्तान ही तुम्हारा है, जहां तुम्हारे प्राचीन ऋषियों-मुनियों ने वेदों और उपनिषदों की रिचाएं गायी थीं। हम तुम्हें ग़ुलाम बनाने नहीं आये हैं। हम तो इन मुस्लिम म्लेच्छों से तुम्हें आज़ाद कराने आये हैं, जिन्होंने कि तुम्हें एक हज़ार साल से ग़ुलाम बनाकर ज़लील किया हुआ है। इन्होंने तुम्हारे मंदिर तोड़े, तुम्हारा इखलाक खराब किया, तुम्हारे जंजू तोड़े, तुम्हारी स्त्रियों की बेइज़्ज़ती की। कहां गयी है आपकी ग़ैरत? अपने प्राचीन गौरव को पहचानो। हम तुम्हें नये ज़माने

की तालीम देते हैं। उससे अपनी पुरानी सभ्यता की सुरक्षा करो। अपनी ज़बान में से, अपने रहन-सहन में से मुस्लिम-म्लेच्छों के सभी संस्कार निकाल बाहर फेंको। हिन्दू कौम को संगठित करो। भारत में हिन्दू राज्य स्थापना को अपना आदर्श बनाओ। हम तुम्हारा साथ देंगे। इस तरह मजहब को ही उन्होंने देशभक्ति का रूप देना शुरु कर दिया, और और इस धोखे की आड़ में एक वफ़ादार हिन्दु मध्यवर्ग का निर्माण किया। इस प्रतिक्रियावादी किस्म की देशभक्ति का प्रगतिशील केन्द्र पहले बंगाल बना, क्योंकि उस समय कलकत्ता ही अंग्रेजों की राजधानी था। बंकिमचन्द्र चटर्जी के जमाने के बंगाली साहित्य को पढ़िये, उसमें हिन्दु कौम और हिन्दु राष्ट्र की घोषणा में आपको सुनाई देगी। इसलिए मैंने कहा था कि दौ कौमी असूल की ईजाद का सेहरा असल में हिन्दुओं के सिर है।

अशोक : मैंने तो यह घोषणाएं कभी नहीं पढ़ी।

भगत : मैंने ऐसी एक घोषणा जरूर पढ़ी है, अशोक बाबू। आपको बताता हूँ। एक रात मैं अपने बंगाली क्रांतिकारी साथियों के गुप्त अड्डे पर ठहरा हुआ था। सब से मुझे उनकी सबसे पुरानी और मज़बूत इन्कलाबी तन्जीम, 'अनुशीलन समिति' का विधान पढ़ने का मौका मिला। उसमें साफ लिखा हुआ था : 'हमारा आदर्श भारत को आज़ाद कराना और उसमें हिन्दुराज्य स्थापित करना है। मेम्बरों को हिदायत दी जाती है कि वे मुसलमान म्लेच्छों से हमेशा दूर रहें। वे उनसे बुरा सलूक न करें, लेकिन उनसे दूर रहें।'

अशोक : अपने महान इन्कलाबी साथियों पर आप यह कैसा घटिया इल्ज़ाम लगा रहे हैं, सरदार?

भगत : सच हमेशा मीठा नहीं होता, अशोक बाबू, मैं पढ़ कर खुद भौचक्का रह गया था। हिन्दुस्तान के अलग-अलग इलाकों में गदरी तहरीक की शक्ल अलग-अलग ढंग की थी। मैं मानता हूं कि समूचे तौर पर उसमें मुसलिम इन्कलाबी साथियों की कमी नहीं थी, पर फिर भी, मैंने जो कुछ अपनी आंखों से पढ़ा था, उससे इन्कार कैसे कर सकता हूँ। यहां से वापस जाने पर आप मेरे इस कथन की पुष्टि कर सकते हैं।

सुभाष : हमारे देश की बड़ी-बड़ी साम्प्रदायिक संस्थाओं की बुनियाद कई ऐसे महान क्रांतिकारियों के हाथों पड़ी है, जिनकी शख्सी कुर्बानियां सोने के अक्षरों में लिखी जानी चाहिये। क्या मुझे उनके नाम बताने की ज़रुरत है? - आप याद करिये, खुद हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन में क्या हिन्दु मध्यवर्ग गांधीजी की शिक्षा और इन्कलावी तत्वों पर पर्दा डालकर पुरातनवादी और धार्मिक तत्वों को आने की कोशिश नहीं करता? क्या हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन में ऐसे लोगों की कमी थी, जो

ऊपर से तो हिन्दु-मुस्लिम एकता का दम भरते थे, पर अन्दर से साम्प्रदायिकता की दलदल में फंसे हुए थे?

अशोक : तो आपको मतलब है कि पहल हिन्दुओं ने की, और जो कुछ मिस्टर जिन्नाह ने किया, वह उसकी प्रतिक्रिया थी?

सुभाष : मेरी बात थोड़ी सी बाकी रह गयी है, वह भी सुन लीजिये। जब हिन्दु मध्यवर्ग के सामने ब्रिटिश साम्राज्य का असली चेहरा बेनकाब होने लगा। और इन्कलाबी सरगर्मियां जोर पकड़ गयीं, तो अंग्रेज़ों ने हिन्दुओं को दबाना और मुसलमानों को उठाना शुरू किया। उन्होंने कहना शुरू किया : 'मुसलमानो, हम तुम्हे यहां ग़ुलाम बनाने के लिए नहीं, हिन्दु बनियों की अकसरियत से तुम्हारी हिफ़ाजत करने के लिए बैठे हुए है। याद रखो। यह हिन्दुस्तान तुम्हारा मादरे वतन नहीं है। यह तो दारूल हरब है, जिसे तुम्हारे पुरखों ने कुव्वते बाजू से फ़तह किया था। तुम्हारा मादरे वतन है, अरब, ईरान, तुर्की, अफगानिस्तान, जहां से कि तुम्हारे गाज़ी आबाओं इज़दाद अपने अज़्मे हैदरी से मार-धाड़ करते आये थे। क्या तुम इस मुल्क में उन लोगों के ग़ुलाम बनकर रह सकोगे, जिन पर तुमने एक हज़ार साल तक राज किया है? हिन्दुस्तान तुम्हारी मौरूसी मलकियत और जायदाद है। डटकर हिन्दुकाफ़िरों से अपना हिस्सा मांगो। अपनी जबान अपने रहन-सहन में से तमाम गलीज़ भारतीय तास्सुरात को दूर करो। अपना अलग पाकिस्तान बनाओ, जहां तुम्हारा इस्लामी तहज़ीबों-तमद्दन महफूज हो सके।' इस तरह देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, गली-गली, मोहल्ले-मोहल्ले शहर-शहर में साम्राज्यवादियों और उनके पिट्ठुओं ने हमारे सामाजिक जीवन को अन्दर से खोखला कर दिया, उसमें ज़हर घोल दिया। हमारी साझी कौमीयतों के नक्श, जिनका बापू ने ज़िक्र किया है, बिल्कुल मिटा डाले। हिन्दुओं की देशभक्ति का तो उन्होंने सिर्फ़ चेहरा ही बिगाड़ा था, मुसलमानों से देश भक्ति का जज़्बा ही छीन लिया। हम छोटी-छोटी बात पर, पागल कुत्तों की तरह, एक दूसरे पर टूट पड़े।

सो, अशोक बाबू, देश का बंटवारा हिन्दु मध्य वर्ग और मुस्लिम मध्य वर्ग को, ब्रिटिश साम्राज्य की तरफ से, उसकी मानसिक ग़ुलामी का इनाम है। अब आ गई पूरी तस्वीर आपके सामने?

अशोक : आ गई, नेता जी। अमृत-मंथन हुआ, मलाई पूंजीपतियों के हिस्से आई, पानी जनता के हिस्से, और ज़हर बापू के हिस्से।

सुभाष : यह सब आपको बहुत संक्षेप में बताया गया है। इन बातों पर गहरा अध्ययन करने की ज़रूरत है।

बापू : तो बर्खुददार, तुम्हारा सवाल का जवाब मिला कि नहीं?

अशोक : मिलगया, बापू। मैं पूरी तरह सन्तुष्ट हूँ।

बापू : तो फिर जाओ, और अपना मुलक में तुअस्सब और ग़लतफहमियों को दूर करो। अवाम को तंगदिल देश भगती का रास्ता से हटा कर फ़राख दिल देशभगती का रास्ता दिखाओं। नौजवान तबके का दिल मासूम होता है। वह तुम्हारा बात जरूर सुनेगा।

अशोक : मैं कोशिश करूंगा। यह बातें नौजवानों को वाकई बताने लायक है। पर-एक सवाल रह रह कर मेरे मन में उठ रहा है। - नेहरू जी - (कुछ देर से खिड़की में से लाल लपटे दिखाई देने लगीं थीं।)

भगत : अशोक बाबू, उस खिड़की की तरफ देखिए। वे लाल-सुर्ख लपटें देखी आपने?

अशोक : क्या मतलब है उनका?

भगत : कि अब और सवाल पूछने का वक्त नहीं रहा। फ़ैसले की घड़ी सिर पर आ गई है। हम बड़ी तेजी से नीचे की तरफ़ जा रहे हैं।

नेहरू : आप पूछिये। जितना भी वक्त मिल जाय, फ़ायदा उठा लेंगे।

अशोक : मैं पूछना चाहता हूँ कि आपने सत्रह साल तक हुकूमत की, पूरा देश आपके साथ था, तो क्या यह बाते, जो आज आपने मुझे बताई है, नई पीढ़ी तक नहीं पहुँचा सकते थे? स्कूलों-कालेजों की तालीम में इतनी-सी भी तबदीली नहीं ला सकते थे?

नेहरू : (हंसकर) लम्बे जवाब देने का वक्त नहीं है। अंग्रेजी में कहते हैं, 'फर्स्ट थिंग्स फर्स्ट'।

अशोक : यानी आपने इसे ज़रूरी नहीं समझा?

नेहरू : मुल्क की पहली ज़रूरत है - मशीन, सन्नती इन्क्लाब, ताकि मज़हब को राजनीति से अलग करने का काम बिना भाषणों के हो जाये, जैसा कि यूरोप में हो गया था सुभाष ने बताया ही है।

अशोक : (सोचते हुये) हूं।

नेहरू : दूसरा ज़रूरी काम है, बापू की बताई कैफ़ीपन की सही परिभाषा को फिर से लागू करना, और साम्राज्यवाद की दी हुई ग़लत दो कौमी परिभाषा को रद्द करना। भारत को हर लिहाज़ से बराबर अधिकार रखनेवाली अलग-अलग कौमो का सांझा और सुखी परिवार बनाना। जिसमें किसी भी भाषा के साथ, किसी भी वर्ग, धर्म या संस्कृति के साथ बेइन्साफ़ी न हो।

अशोक : पर पंडितजी, आप कहते कुछ और हैं, होता कुछ और ही रहा है। आपकी पालिसियों ने तो भाषाओं और कार्यों से भी ज़्यादा मुसीबतें खड़ी कर दी है।

नेहरू : सब मुसीबतें खत्म हो जायेगी।

अशोक : पर कैसे। (खिड़की की ओर देखता है, जहां लपटें ज्यादा तेज़ हो गयी हैं।)

नेहरू : अशोक बाबू, दुनिया में कोई भी चीज़ एक जगह स्थिर नहीं रहती। सुभाष ने आपको बताया कि किस तरह आज से दो सौ साल पहले एक युग परिवर्तन हो रहा था। और तब हमारा हारना लाज़मी था। आज फिर एक युग परिवर्तन हो रहा है। साम्राज्यवादी पूंजीवादी निज़ाम का सूरज उसी तरह डूब रहा है, जिस तरह कभी सामंतवादी बादशाही निज़ाम का सूरज डूबा था। और उसकी जगह समाजवाद का सूरज उदय हो रहा है। जिस तरह तक हमारा हारना लाज़मी था, उसी तरह आज हमारा जीतना और अपना मंज़िल पर पहुंचना यकीनी है। देखो, आज की दुनिया की तरफ। कहां गया ब्रिटिश साम्राज्य? कहां गये फ्रांसिसी, डच और जापानी साम्राज्य? इतिहास उन्हें उसी तरह कंडम कर रहा है, जैसे कभी उसने बादशाहों के ताज कंडम किये थे। अब मेहनतकशों के राज का युग आ चुका है। आज दुनिया की तीसरे हिस्से पर मेहनतकश राज कर रहे हैं और बाकी तो तिहाई हिस्से को जीतने की जद्दोजहद कर रहे हैं। जब इंसान इंसान को लूटना बंद कर देगा, कौमों को जवानों के, मज़हबों के झगड़े खत्म हो जायेंगे।

अशोक : (हंसकर) यह तो आपकी पुरानी आदत है। जब आप ज़िंदा थे, तब भी आपसे कोई सवाल पूछा जाता था, तो आप झट सारी दुनिया का नक्शा खोलकर बैठ जाते थे, और समाजवाद का गुरुमंत्र पढ़ने लगते थे।

नेहरू : अंधेरी रात के वक्त बियाबानों में भटकता हुआ राही बार-बार ध्रुव तारे की तरफ़ देखकर अपनी दिशा ठीक करता है। इन्क्लाब का रास्ता सिर्फ़ उनके लिए आसान है, जो किताबें पढ़-पढ़कर अपने खयालों में ही उसके फ़ार्मूले बनाते रहते हैं। ज़िन्दगी की किताब पढ़ने वालों के लिए न आज़ादी का रास्ता आसान था, और न अब इन्कलाब का रास्ता आसान है।

अशोक : पर आजकल समाजवाद की भी तो कितनी ही परिभाषाएं बन गयी है। आदमी किसे माने, किसको मानें?

बापू : देखो ओ, नेहरू का, मेरा, सुभाष का भगतसिंह का नज़रिया में कितना फ़र्क ता। ज़मीन-आसमान का फ़र्क ता। फिर भी हमारा निशाना था एकता-मुल्क का आज़ादी। और हमारा दिल साफ ता इस लिए तमाम इख्तलाफ़ात के बावजूद हम एक दूसरों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर बढ़ा ता।

(पीछे, खिड़की कुछ क्षणों के लिए लपटों से बिल्कुल लाल हो जाती है। फिर उस लाल रंग में कई और रंग झलकने लगते है।)

आज तुम्हारा मंज़िल है, इंसान का बराबरी। उसको रामराज बोलो, समाजवाद बोलो, या किसी और नाम से पुकारो। अगर उस मंज़िल पर इमान है, और दिल साफ़ है, तो दिलेरी के साथ आगे बढ़ो,

	दुनिया तुम्हारे साथ आयेगा।' - तुम गोरी रंगत का डाकू को मुल्क से निकाल दिया, तो काली रंगत वाले डाकू का होश ठिकाने लगने में कौन-सा मुश्किल पेश आ रहा है?
अशोक :	आप तो बापू, शेर और बकरी को एक ही घाट पानी पिलानेवाले थे, आज यह कैसी नसीहत दे रहे हैं।
बापू :	ओ कौन कहता है, हम शेर और बकरी को एक ही घाट पानी पिलाता ता
अशोक :	लेनिन और मार्क्स ने जायदाद को लूट का माल कहा है, आप उसे ट्रस्ट और अमानत कहा करते थे।
बापू :	ओ लूट का माल बी दूसरा का माल, और अनामत का माल बी दूसरा का माल। ओ लेनिन कड़वा लफ्ज़ इस्तेमाल किया, हम मीठा लफ्ज़ इस्तेमाल किया। मतलब दोनों का एक ही निकलता है। समझा? (हंसी) गरजता हुआ संगीत फिर शुरू हो जाता है। सब खिड़की की तरफ़ देखते है, और गंभीर हो उठते है। खिड़की में अजीब-अजीब रंग घुल-मिल रहे है। डाक्टरों, नर्सो आदि का आना-जाना शुरू हो जाता है।)
भगत :	मीटिंग बर्खास्त। आ गई फ़ैसले की घड़ी। जाइये, अशोक बाबू, सुनिए जाकर।
अशोक :	मेरा फ़ैसला धर्मराज ने नही, मुझे खुद करना है। बापू, मुझे आशीर्वाद चाहिए आपका।
बापू :	(कुरान की एक आयत पड़ते हैं।)
नेहरू अशोक :	नेहरू जी!
नेहरू :	अब आप वेशक मुझे रंगा स्वामी कह सकते है, और सीनें से भी लगा सकते हैं।
	(नेहरू और सुभाष भी अशोक को सीने से लगाते हैं। नर्से, डाक्टर आदि यह सब कुछ नहीं देख सकते। वे अपने काम में लगे हुए हैं, जैसे मरीज़ की हालत कुछ गंभीर हो।
भगत :	और अगर फ़ैसला वही हुआ, जो मैं चाह रहा हूँ, तो भगत सिंह का काम कम कर देंगे न?
अशोक :	भट्टी सैद, जिला और तहसील गुरुदासपुर-मुझे याद है। (उसे मन-से-प्यार से गले से लगाता है।)
	(अशोक पार्टीशन के पीछे जाता है। नेता लोग एक पंक्ति में खड़े देखते रहते हैं। सन्नाटा। अब सब डाक्टर पार्टीशन के पीछे है। निरंजन और देवा दाखिल होते है, और पार्टीशन के सामने खड़े हो जाते हैं, जैसे कोई ज़रूरी खबर के इंतज़ार में हो। पार्टीशन के पीछे से डाक्टर पारीख मुस्कराता हुआ निकलता है, और निरंजन को कहता है।)

डा० पारेख : होश में आ रहे है। अब हम यकीन से कह सकते है कि बच जायेंगे।

एक नर्स : रेडी सर!

डा०पारेख : ओ.के. शिफ्ट हिम।

(पार्टीशन हटाकर, अशोक की पट्टियों वाली चारपाई को अस्पताल के अंदरूनी हिस्से की तरफ ले जाया जाता है। अशोक की आंखे बन्द है, और चेहरा शान्त है।)

निरंजन : ऐसे लगता है, जैसे मुस्करा रहे हों।

(भगतसिंह चारपाई की तरफ देखता हुए बड़ा सुरीली आवाज़ में गाने लगता है।)

भगत : मैकदा किस का है और जानो सबू किस का है?
दार किस का है मेरी जान गलू किस का है?
जो बहे कौम की खातिर वह लहू किस का है?
आसमां साफ़ बता दे तू अ दू किसका है?
क्यों नये रंग बदलता है तू तड़पाने को?

(खिड़की का रंग फिर लाल सुर्ख हो जाता है। बापू, नेहरू, सुभाष दरवाज़े की तरफ़ चल पड़ते हैं। संगीत। कुछ देर के बाद भगतसिंह एक नया गीत गाता हुआ उन के पीछे चल पड़ता है।)

भगत : नौजवानों जो तबीयत में तुम्हारी खट के।
याद कर लेना कभी हम को भी भूले भटके।
आपके उज्वे बदन होंवे जुदा कट कट के।
और सर चाक हो, माता का कलेजा धड़के।
पर न माथे पे शिकन आये कसम खाने को।

(भगतसिंह दरवाज़े के पीछे गायब हो जाता है। दरवाज़ा बन्द हो जाता है। धीरे-धीरे अंधेरा होने लगता है।)

पर्दा गिरता है।

बलराज साहनी

सांई महाराज

एकांकी व्यंग नाटक

सांई महाराज

बलराज साहनी

बीवी : मैंने तो मर्दों को अकसर बैठकर शेव करते देखा है। तिपाई पर सजा धजा कर अपना सामान रखते हैं। प्याले में खौलता हुआ पानी और फिर बड़े इत्मिनान से आइने में अपना निहारते हुए हज़ामत बनाते है। लेकिन तुम्हें वाश-स्टैंड के पास खड़े होकर ठंडे पानी से दाढ़ी घसीटने में न जाने क्या मज़ा आता है।

मियां : अगर तुम्हारी तबियत भी मेरे तरह शायराना होती तो तुम्हें मालूम पड़ता कि क्या मज़ा आता है। पहले खिड़की के डंडे पर आइना बिठाने में पांच मिनट लग जाते हैं, उसके बाद भी खटकालगा रहता है अब गिरा कि अब गिरा। एक तो ये मज़ा है। दूसरा मज़ा ये है- खिड़की के बाहर का नज़ारा। ये ठीक है कि इस खिड़की में से मुझे सिर्फ़ एक अमरूद का पेड़ और थोड़ा-सा आसमान नज़र आता है। मगर बंबई में इतना भी बहुत है। बम्बई शहर में रहनेवालों के कमरे चारों तरफ़ से पंचमजला मकानों से घिरे होते हैं उनमें धूप तो क्या रोशनी भी बड़ी मुश्किल से पहुंचती है। आसमान के इस नज़ारे के लिये बम्बई वाले तरस जाते हैं।

बीवी : मालूम है, मालूम है।

मियां : और सुनो इस पेड़ पर एक सांडा रहता है और एक गिलहरी। ये दोनों एक चिड़िया के घोंसले पर बुरी तरह आशिक है और बेचारी चिड़िया अपने अंडों के भविष्यके बारे में चिंतित रहती है।

बीवी : अच्छा, अच्छा अब जल्दी जल्दी शेव खत्म करो और कपड़े पहनो। नाश्ता मेज़ पर पड़ा है।

मियां : अच्छा, हो हां, बस एक मिनट में। ये बारिश बंद हो तो आज मैं भी साई महाराज के पास जाऊंगा और उनसे पूछूंगा-महाराज ज़रा ज्योतिष लगा कर बताइये तो चिड़िया के अंडे सांड़ खायेगा या गिलहरी। अगर उन्होंने ये सही बता दिया तो समझ लूंगा कि ज्योतिष विद्या में अभी भी कुछ दम है। वर्ना सब ढोंग है।

बीवी : ।हंसकर। वो कहेंगे न सोडा न गिलहरी हम खायेंगे साथ चिड़िया और चिड़िया के बाप को भी।

मियां : अब तुम खुद साई महाराज का अपमान कर रहे हो जानेमत। ये सोचने की बात है कि अगर आदमी को जीवन पर सितारों का असर पड़ता है तो चिड़िया, साडे और गिलहरी पर भी ज़रूर पड़ता होगा। इस बारे में खोज करनी चाहिये।

बीवी :	हां-वक्त ज़ाया करने का ये भी अच्छा तरीका है।
मियां:	तो तुम्हें अपनी ज्योतिष विद्या परखुद ही यक़ीन नहीं है।
बीवी :	मुझे ऐसी चीज़ो के लिये ज्योतिष की जरूरत पड़े तब न मेरे पास तुम्हारी तरह ज़ाया करने को फालतू वक्तनहीं है, कभी साई महाराज के पास जा के देखा है-- फ़िल्म प्रोड्यूसरों की भीड़ लगी रहती है।
मियां:	अब ये तुम्हारी ज़्यादती है। मैं मानता हूँ तुम्हारे साई महाराज के पास बहुत से फ़िल्म प्रोड्यूसर और एकटर जाते हैं। मगर मैंने देखा है कि औरतों की तादाद भी वहां कम नहीं होती। मैं नहीं कहता कि ज्योतिष साईस है, लेकिन ये भी नहीं कहा जा सकता कि नहीं है। बहुत-सी बातें...
बीवी :	अच्छा भई मैं तो जाती हूँ खाने की मेज़ पर। तुम सोचते रहो अपने फ़लसफ़े। हां देखो साई महाराज करते करते कहीं नलका खुला न छोड़ देना। टंकी का सारा पानी बह जायेगा।
मियां:	अरे कहां चली जानेमन। ज़रा बात तो सुनो। भई चलता हूँ,मैं भी अभी चलता हूँ। (आगोश में लेना चाहता है) (तभी नौकर दाखिल होता है।)
नौकरः	साहब! (यह कह कर रूक जाता है)
मियां:	क्या है।
नौकरः	कोई साहब आपसे मिलने आये है और पूछते है आप घर पर है। क्या कह दूं ?
मियां:	मिलने आये हैं के बच्चे। तुमसे कितनी बार कहा है कि अन्दर आने से पहले दरवाज़े पर दस्तक दिया करो। क़ौन मिलने आये हैं-- क्या नाम है क्या काम है ?
नौकरः	कोई फ़िल्म कम्पनी के साहब मालूम होते हैं।
मियां:	अरे फ़टूंश। फ़िल्म कम्पनी के साहब तो इस शहर में बीस हज़ार घूमा करते हैं।
नौकर :	एक बार पहले भी आये थे। गोलमोल से आदमी हैं। उस्तरे से सिर मुड़वा रक्खा है। बदन पर भकाभक सिल्क का कुर्ता डाले हैं, चमकदार बटन भी लगाये हैं। और नीचे ध्यान नहीं दिया धोती पहने हैं या पाजामा।
मिया :	उस्तरे से सिर मुड़वा रक्खा है इसलिए तो फ़िल्म कम्पनी के आदमी हो गये। वाहरे मेरे क्रिस्टोफ़र कोलंबस।
बीवी :	ठहर तो जाओ (नौक़र से) अरे बाहर खड़े हैं क्या?
नौकर :	नहीं बीवीजी सीधे नाश्ते की मेज़ पर आ बैठे हैं।
बीवी :	तब तो ज़रूर फिल्म कंपनी के आदमी होंगे। और कौन हो सकता है मुफ्त खोरे कहीं के। जाओ कह दो साहब घर में नहीं हैं।

(नौकर जाने लगता है)

मियां : नहीं नहीं अब ये कैसे हो सकता है। किधर जाता है बे, ठहरसुन इधर आ। ये सारी गड़बड़ तेरी बेवक़ूफ़ी की वजह से हुई है। मैंने कितनी बार तुझसे कहा है कि जब कोई मिलने आये तो पहले नाम पूछा करो। कहा था कि नहीं। चुप क्यों खड़े हो जवाब क्यों नहीं देते।

नौकर : जी।

मिया : तो फिर तुमने पूछा क्यों नहीं।

नौकर : भूल गया था साहब ग़लती हो गई।

मियां : ग़लती नहीं ग़लतियां हो गई ग़लतियां। दरवाज़े पर दस्तक नहीं दी एक ग़लती। नाम नहीं पूछा दूसरी ग़लती। और दरवाज़ा खुला छोड़ आये तीसरी ग़लती।

नौकर : आगे से ऐसा नहीं होगा साहब।

मिया : क्यों नहीं होगा ज़रूर होगा। तुम कलयुग के भीष्म पितामह हो तुमने हम सब को हैरान करने का प्रण कर रखा हैं।

बीवी : अब छोड़ा भी उसने कह जो दिया आयंदा ऐसा नहीं करेगा। देखो फिर तुमने नलका खुला छोड़ रक्खा है, तुम भी कौन से कम हो।

मियां : (नौकरसे) जाओ उनसे कहो साहब आते हैं।

नौकर : अच्छा जी। (जाता है)

मियां : जानेमन तुम्हें नौकर के सामने मेरा अपमान नहीं करना चाहिये।

बीवी : मैंने क्या किया है।

मियां : मुझसे नलका खुला रह गया। तुम कहती हो तुम कौन से कम हो याने मैं भी उतना ही जाहिल हूं जितना वो। वो आनेवालों के नाम पूछना भूल जाता है। मैं नलका बंद करना बंद करना भूल जाता हूँ।

बीवी : हाय राम - आज तो सुबह की सुबह ही तुम्हें कुछ हो गया है - अभी उस बेचारे के पीछे पड़े हुये थे अब मेरे पीछे पड़ गये।

मियां : और फिर तुमने एक और नावाजिब बात की थी। ऩौकर ने कहा था आदमी बग़ैर पूछे अंदर चला आया इस पर तुमने कहा था तब तो ज़रूर फ़िल्म कम्पनी का आदमी होगा। मतलब ये कि फ़िल्म कम्पनी में काम करनेवाला हर आदमी भूखा आवारा और उजड्ड होता है। उधर उस कम्बख्त की राय में जिस आदमी का सर उस्तरे से मुड़ा हुआ हो वो ज़रूर फ़िल्म का आदमी होता है। खूब....।

बीवी : पर इससे तुम्हारा अपमान कैसे हो गया।

मियां : क्या, क्या मैं एक्टर नहीं। क्या मैं फ़िल्म कम्पनी में काम नहीं करता ?

बीवी :	अच्छा बाबा माफ़ करो। अपने मुंह से तो हमेशा फ़िल्म इंडस्ट्री को कोसते रहते हो। मेरे मुंह से ज़रा-सी बात निकल गई तो तुमने तूफ़ान खड़ा कर दिया।
मियां :	वो अलग बात है ये और बात है।
ऩौकर :	वो बैठे हैं साहब। (ऩौकर आता है)
मियां :	तुमने कहा उनसे कि हम आ रहे है।
ऩौकर :	जी।
मियां :	चायवाय दी उनको।
ऩौकर	नहीं साहब।
मियां :	क्यों नहीं, मेज़ पर नाश्ता नहीं रक्खा है क्या ?
ऩौकर :	रक्खा है साहब।
मियां :	तो पिलाओ न चाय उनको। उनसे कहो साहब तैयार हो रहे हैं। पांच दस मिनट में आयेंगे
ऩौकर :	अच्छा साहब। (ऩौकर जाता है)
मियां :	देखो दरवाज़ा फिर खुला छोड़ गया। ये जानबूझ कर गुस्ताखी करता है। तुमसे कहे देता हूं।
बीवी :	तुम भी तो हाथ धोकर उसके पीछे पड़ जाते हो। क्या हुआ है खुला छोड़ गया है तो ?
मियां :	अरे भाई हवा आती है एक बनियान में खड़ा हूं सर्दी लग जायेगी। बारिश हो रही है।
बीवी :	तौबा, खिड़की के सामने खड़े हो तब हवा नहीं आती। (दरवाज़ा बन्द करती है)
मियां :	बंबई में हवा पश्चिम से आती है। चार बरस हो गये हैं यहां रहते हुये इतना भी नहीं मालूम!
बीवी :	मालूम है। इन चार बरसों में और भी बहुत-सी बातें मालूम हो गई है।
मियां :	मसलन।
बीवी :	मसलन ये कि दो दिन भी अगर शूटिंग न हो और तुम्हें घर में रहना पड़े तो तुम इतने परेशान हो जाते हो कि घर ही में एक्टिंग शुरू कर देते हो।
मियां :	तो मैं एक्टिंग कर रहा हूं ?
बीवी :	और ये कोई भी तुमसे मिलने आये तुम पहले यही सोचते हो कि कोई प्रोड्यूसर नया कानट्रैक्ट लेकर आया है।
मियां :	खूब।
बीवी :	क्यों ? ठीक कह रही हूं ना ?

मियां : बिल्कुल ग़लत।

बीवी : सच-सच बताओ कि क्या मैं वाईक ग़लत कह रही हूं ? शायद कोई प्रोड्यूसर ही हो।

मियां : (अनसुनी करके) आज अगर उस सांडे की गिलहरी से टक्कर हो जाती तो मज़े आ जाते। इस कमबख्त बारिश ने सब मज़ा किरकिरा कर दिया है। अरे वो देखो, वो आया। देखो देखो क्या दहशतमरी चाल है इसकी। जानेमन इधर तो आओ...

बीवी : मैं नहीं आती तुम बात बदलने की कोशिश कर रहे हो ।...

मियां : खुदा न खास्ता कहीं मेरा उससे सामना हो जाये तो मैं साफ़ मैदान छोड़ कर भाग जाऊं । मालूम है आज से करोड़ों साल पहले ज़मीन पर सिर्फ़ सांडे ही सांडे फिरा करते थे। हाथी, न शेर, न गीदड़ न इन्सान, सिर्फ़ सांडे बड़े-बड़े सांडे।

बीवी : देखो मुझसे कुछ भी छुपाने की कोशिश न किया करो।

मियां : क्या छुपाने की कोशिश कर रहा हूं जी ?

बीवी : तुम्हें सुबह से किसी का इंतज़ार था।

मियां : इस मूसलाधार बारिश में ? अगर तुम्हारा नौकर क्रिस्टोफर कोलम्बस है तो तुम भी शरलकहोम्स से कम नहीं हो।

बीवी : (उसकी तरफ़ देखते हुये) वो देखो चेहरे पर कट लग गया है तो ज़रा-सा पाउडर मुंह पर लगा लो। (लगाती है) सच अब तो अच्छे खासे लगते हो।

मियां : अरे हटाओ भी क्यों फिजूल बातें करती हो।

बीवी : अच्छा बताओ तुम्हें इंतज़ार नहीं था किसी के आने का।

मियां : बिल्कुल नहीं।

बीवी : तो फिर सुबह इतनी जल्दी शेव करने का क्या मतलब ? वैसे तो तुम दस बज़े से पहले उठने का नाम नहीं लेते। और तुमने इस आदमी को बिठवा भी लिया इतना भी नहीं पुछवाया क़ौन है क़ौन नहीं ?

मियां : अब तो अंदर आ ही चुका है आकर ब़ैठ ही गया तो उसे क़ैसे निकाला जा सकता है। तहज़ीब भी तो कोई चीज़ है।

बीवी : अगर कोई चोर चकारा हो, ब़ैठक से कुछ उठाकर चलता बने फिर?

मियां : अच्छा भई तो तुम जाओ और उसे कान पकड़कर बाहर निकाल दो। कह दे मैं घर में नहीं हूं, बल्कि कह दो वो कहते हैं घर पे नहीं हैं। खालिस फ़िल्मी मोहावरा है।

बीवी : ठीक है। मैं देखती हूं क़ौन है। अगर कोई माकूल आदमी हुआ तो बिठाऊंगी वरना टहला दूंगी। उस्तरे से सर मुड़वानेवालों का घर में आना ठीक नहीं।

(दरवाज़े तक जाती है।)

मियां : देखो जल्दबाज़ी न करना, सिर मुड़वाये हुए हैं शायद किसी सभा सोसायटी का आदमी हो। किसी चैरेटी शो के लिये इंवाइट करने आया हो।

बीवी : चैरेटी-शो वाले सिर नहीं मुड़वाते। तुम चिंता न करो। एक्टरों से कैसे कैसे लोग मिलने आते हैं मैं उन्हें अच्छी तरह पहचानती हूँ।

मियां : ठहरो। मैं भी तो दो-एक मिनट में कपड़े पहन कर तैयार हो जाऊंगा फिर इकट्ठे चलेंगे। नाश्ता भी तो करना है ना।

बीवी : अच्छा। क्या पहनोगे?

मियां : क्या पहनूंगा? कमीज़ पतलून पहनूंगा और क्या पहनूंगा।

बीवी : कौन-सी?

मियां : यही जो तुम्हारे सामने टंगी है। और कौन-सी?

बीवी : कल वाली?

मियां : और क्या। कहीं बाहर तो नहीं जा रहीं हूँ।

बीवी : ये तो मैली हो चुकी है।

मियां : तो क्या ड्रेस सूट पहनूँ?

मैं बताऊँ? वह जो मेरा ड्रेसिंग-गाऊन है ना (सिल्क का) जो मैं विलायत से लाई हूँ वो पहन लो। और उसके साथ वो गुलूबंद जो वक्शीजी ने तुम्हारे वर्थ-डे पर दिया है।

मिया : जानेमन मज़ाक छोड़ो। क़सम से तुम तो अजीब औरत हो।

बीवी : अच्छा मैं कुछ नहीं कहती, जो तुम्हारे जी में आये पहनो।

मियां : मैं तो यही कमीज़ पतलून पहनूँगा।

बीवी : तो पहन लो। मेरी राय कभी मानी है तुमने।

मियां : पहन लूँ।

बीवी : अब मुझसे क्यों पूछते हो।

मियां : तुम वाकई सोचती हो शायद कोई प्रोड्यूसर है।

बीवी : मैं नहीं सोचती, तुम सोचते हो। मान-क्यों नही लेते?

मियां : वैसे हो भी सकता है।

बीवी : क्यों नहीं हो सकता। आखिर इतनी सुबह, और ऐसी भयानक बारिश में अगर कोई खास काम न हो तो कौन किसी के घर आता है। इसलिये मैं तो कह रही हूँ कि -

मिया : ये तो ठीक है कल से आज तक बारिश भी पचीस इंच हो चुकी है। चर्चगेट से लेकर बांदरे तक तमाम बसे और गाड़ियां भी वंद हो गई हैं।

बीवी : मेरा तो खयाल है आज भी बंद रहेंगी। रात भर पानी बरसा है और अब भी बरस रहा है। मेरे ख्याल में ये आदमी जरुर मोटर पर आया होगा।

मियां : यहां अड़ोस-पड़ोस का तो कोई आदमी हो नहीं सकता।

बीवी : और फिर साई महाराज ने भी तो बताया था कि इस हफ्ते हमें लाभ होनेवाला है।

मियां : अरे रहने भी दो मैं ये सब नहीं मानता।

बीवी : मैं जानती हूँ तुम नहीं मानोगे इसबात को। आज क्या दिन है? (सोचती है) बुध। साई महाराज ने कहा था बुध, बीर और शुक्र खास तौर से अछे दिन होंगे।

मियां : अरे हाँ जानेमन। कानपुर से जो मेरा दोस्त आया है वो कह रहा था कि हमारी 'प्रेम की छत' वहां छः हफ्ते से चल रही है। अन्दर ही अन्दर इंडस्ट्री में खबर फैल गई होगी मगर जानेमन उस फ़िल्म में तो मैंने बिल्कुल लचर काम किया है।

बीवी : तो क्या हुआ पिक्चर तो हिट हो गई है ना। शायद गाने अच्छे होंगे। खूब डट कर सौदा करना।

मियां : लेकिन मैं ड्रेसिंग-गाऊन में तो बहुत अजीब लगूंगा।

बीवी : तो क्या हुआ ज़रा बन संवर के जाओ। एक्टरी करनी है तो तो एक्टरों वाली आदतें डालना भी ज़रूरी है।

मियां : लेकिन अगर कोई फ़ालतू-सा आदमी साबित हुआ तो?

बीवी : फिर भी कोई बात नहीं। अपनी तरफ़ से लापरवाही नहीं होनी चाहिये।

(दोनों चीज़ें ले जाती है)

मियां : हम तो अच्छी खासी हवा बांध रहे हैं क्यों बीबी। (ज़ोर से हंसता है)। ये सब इस कमबख्त नौकर की जहालतका नतीजा है। देख लेना ये कोई इंश्योरेन्स एजेंट होगा।

बीवी : तो क्या हुआ? मैं खुद इंश्योरेन्स एजेंट हूँ। उसको ही इंश्योर कर लूँगी। लो ये पहन लो (देती है)

मियां : मैं भी नहीं पहनूँगा।

बीवी : क्यों?

मियां : क्योंकि मैं समझता हूँ कि मैं एक अच्छा एक्टर हूँ। मुझे बनाव सिंगार की ज़रूरत नहीं।

बीवी : हाँ हाँ सो तो ठीक है। मगर इस वक्त आदर्शवादी बनने की कोशिश न करो। कोई गड़बड़ हो गई तो हाथ मलते रह जाओगे। इस बार के कांट्रेक्ट पर तो मैं सत्यनारायण की कथा करवाऊंगी। कोलोनी के सारे पड़ोसियों को न्यौता दूंगी। क्यों ठीक है ना। हां और साई महाराज को ....

मियां : साई महाराज को तो बाद में देखी जायेगी पहले कान्ट्रेक्ट तो हो जाने दो।

बीवी : तो ये जल्दी से पहन लो, गुलुबन्द भी डाल लो। ज़रा कंघी तो कर लेते। लाओ मुझे दो। (करने लगती है)

मियां : ठीक है ठीक है। देख लेना ज़रूर कोई इंश्योरेंस एजेन्ट होगा। (नौकर से) पूरन पूरन।

बीवी : अब नौकर को किसलिए बुला रहे हो।

(नौकर आता है)

नौकर : (आकर) जी।

मियां : देखो वो मोटर में आये हैं या पैदल।

नौकर : मोटर में आये मालूम होते हैं साहब।

मियां : क्या वो वाकई फ़िल्म कम्पनी के आदमी मालूम होते हैं?

नौकर : साहब मुझे याद है जब वो पहली बार आये तो तो आप उनसे अपनी फ़िल्मों की ही बात कर रहे थे। उस वक्त भी उनका सिर मुड़ा हुआ था।

मियां : अच्छा अच्छा। मुझे तो कोई मुड़े हुए सर वाला याद नहीं आ रहा। जवान है कि बड़ी उमर के?

नौकर : बड़ी उमर के हैं साहब। चालीस के कुछ ऊपर होंगे।

मियां : चाय-वाय पी उन्होंने?

नौकर : हां साहब खूब डट के पी।

मियां : अच्छा जाओ जल्दी से हमारा नाश्ता वहीं पे ले आओ।

नौकर : नाश्ता ? .... साहब आप दोनों का नाश्ता तो वो अकेले ही चटम कर गये।

मियां : हैं। अरे फंटूश अगर उनके अंदर क़दम रखते ही तू उनका नाम पता पूछ लेता तो तेरा क्या बिगड़ जाता।

नौकर : वो तो मैंने सब पूछ लिया है साहब।

मियां : क्या नाम है।

नौकर : साई महाराज। कुछ ऐसा ही नाम बताया है साहब।

मियां : साई महाराज। .... धत तेरे की। जाओ फ़ौरन उन्हें बाहर का रास्ता दिखाओ। सुन लिया जानेमन।

(सर पकड़ कर बैठ जाता है)

। पर्दा गिरता है ।

काव्य संग्रह

बलराज साहनी

'एक होटल वेटर की गाथा'

और

अन्य कविताएं

सूची

१- एक होटल वेटर की गाथा
२- हादसा
३- मनोकामना
४- लूट
५- सीख
६- आशा-निराशा
७- कलगीधर के सच्चे वारिस वीयतनाम!
८- सट्टा बाज़ार
६- जेहलम नदी के मोड़ पर
१०- पार्टी में मिनिस्टर और फ़िळम स्टार
११- प्रभात से पहले
१२- नमः नमः मम जननी बंग भूमि
१३- उस दूर खो गए युग की याद में

एक होटल वेटर की गाथा

नहा धो बना के ठाठ बढ़िया
किसी सुंदरी का मन के ध्यान रखे
मैं निकला होटल के कमरे से, चला नाश्ते को डाइनिंग हॉल की ओर।

होगा मेरा सौभाग्य जो साथ की मेज़ पर
आज भी सुंदरी, आ बैठे
जाएं मस्तीयां झूम फ़िजा में, अगर
वह नज़र से नज़र मिला बैठे।

दूजे तीसरे माह इस शहर की मैं
अपने फ़िल्मी रोज़गार के सिलसिले में
फेरी कर जाऊँ, और आमतौर पर
इसी होटल ही मै ठहर जाऊँ।

बहुत बड़ा नहीं, और शान्त भी है
खुला खुला बाग़ानी माहौल इसका
महंगा खूब, पर ओछी सजावट नहीं
कलावन्तों के मन की पसन्द वाला।

हर बार मै नए सुधार देखूँ
रहन-सहन हुआ खुशगवार देखूँ
सेवा अधिक विनम्र टहल और तत्पर
सारे सुख आराम ज्यों घर के ही।

हां पर एक विशेषता और इसकी
मुझे रहे सदा हैरान करती
जहां और चेहरे सदा कायम रहते
चेहरे वेटरों के नित बदल जाते।

कभी पूछा नहीं ऐसा क्यों होता,
इस चल-चलाव का राज़ क्या है
सेवा अनुभवी पुराने सेवकों की
पाने मे इन्हें इतराज़ क्या है।

पर है संकोचशील स्वभाव मेरा
अपने आप मे रहना पसन्द मुझे
और अपने ही ज़ाती कामों से
फ़ुरसत पासकना आसान कहां।

बस मैं सोच ही सकूँ, अपने मन में
छोटे मोटे अनुमान लगा लेता
शायद होटल की कुशल संचालता
का राज़ वेटर तबदीली ही है।

जहां मिलें आसान बेशुमार निधर्न
वहां पक्के कांट्रेक्ट की ज़रूरत क्या है?
टिक गए तो खाएंगे पेट भरके
शुरू होंगी इनकी तब और मांगे।

आ टपकेगा कोई भड़काने वाला
बिल्ले बांटने और यूनियन बनाने वाला
जो है मांगते नौकरी पैर छूकर
कल उठेंगे मिल के बलवान बन कर।

या फिर सीखेंगे ढंग चालाकिओं के
हेरा फेरीयों, हाथ-सफ़ाइयों के
'टिपें' झाड़ने, मस्कावाजियों के
मौका पाकर धमकियां देने के।

इससे बेहतर है इनके सिर ऊपर
अस्थिरता की तेग लटकाए रखना
वादे करके पक्की नौकरी के
आवागमन का चक्कर चलाए रखना।

सोचें सोचता जब मै जा पहुँचा
डाइनिंग हाल मे तो क्या देखता हूँ
सुन्दरी ब्रेकफ़ास्ट खा के लौट रही
मेरे सभी अरमानो का ख़ून करके।

नाव डुबा चुके मल्लाह सा मै
जा बैठा मै अपनी मेज़ पीछे
इससे पहले कि सोचूँ मै क्या खाऊँ
खाने दौड़ी थी जैसे दीवारें मुझे।

जब होश संभली तो पास मेरे
वेटर खड़ा सामने कार्ड ले के
आंखे सेवा की जोत से जगमग थी
'सावधान' ज्यो फ़ौजी जवान जैसा।

मैने मौके अनुसार बना लिया
'पोज़' साहबी रौब रूवाब वाला
ऐसे देखा 'कार्ड' जैसे नाश्ते पर
ही सेहत का दारोमदार सारा।

वह भी सोच गंभीर का बुत बन कर
पेंसिल से निशान लगा रहा था
मानों मोर्चे पर एकाएक, मौका
बाज़ी प्राणों की देने का आ गया हो।

आर्डर लेके भागा वह तीर माफ़िक
मै भी नैपकिन खोल के बैठ गया
और चांदी की डिश मे ठंडे किए
'आरेंज जूस' आने का इन्तज़ार किया।

इन्तज़ार की घड़ी सहन शील करने
हैड वेटर एक चक्कर लगा गया था,
बड़े अदब से उसने मिज़ाज पूछा
छुरी कांटे को ज़रा सजा गया था।

इतना आरामदेह वातावरण
एयरकंडिशन से शीतल और शान्त किया
दूर कुल जहान के शोरोगुल से
कूड़े कचरे और कुरूपता से।

मानों देश और काल से ऊपर उठ
अंतरिक्ष में जा रहा था खेला
अलौकिक औ स्वप्नमय नाटक
और मैं था नायक उस नाटक का।

मैं ही नहीं वहां और लोग भी
'नायक' बन कर नाटक खेल रहे थे
सभी अपने दायरों में वे
बखूबी 'रोल' निभा रहे थे।

तभी, ट्रे में ख़ूब सजा धजा कर,
ज़ेवरों सी चमकती-भरी डिशें बरतन
वेटर लाया जीते सैनिक सा
नई लाल कालीन पर कदम धरता।

मेरे मुंह से स्वभावता इक कविता निकली
''शाबास सलोने खान सो!
सद़ शाबास तेरे तान को!
सद़ रहिमन तुर्रे नचावन को।''

ट्रे के रख के साथ की मेज़ ऊपर
पेश करने लगा वह लज़ीज चीज़ें
मानो जंग की लूट की कीमत का
बादशाह को मूल्य बता रहा हो।

खूब बढ़िया थी उसकी अदाकारी,
सुन्दर गठा हुआ शरीर उसका,
इधर मै पकड़ता छुरी कांटा
उधर खट वह फिर 'सावधान' होता।

इस 'सावधानी' से कुछ उखड़ा भी मैं
यहां रोज़ ही देखूँ मै वेटऱों को
पर, इतनी 'फ़ौजी' और आंखों को चुभती सी
पहले कभी न देखी थी 'सावधानी।'

सोचा मैने यह खास ही 'सावधानी'
उसकी सर्विस को क्या निखारती है?
या इसमें दीखता यह छोछलापन
होटल सर्विस की शान घटा रही है?

कारण जानने को इस विशेषता का
मै वेटर को चोरी से घूरने लगा
मन में हसा कि आया था बन ठनके
दरअसल तो 'सुन्दरी' को घूरने को।

फ़र्क यही था कि नज़रें मिलते ही
सुन्दरी अपनी पलकें झुका लेती
पर यह नौजवान तो नज़रे चार करने
को खड़ा था बहुत उतावला सा।

एक ही टक्कर में सब ही भेद खुले
बादल फटे, हकीकत ने दर्शन दिए
न कोई 'सावधानी' न कोई वह योद्धा
सारा वहम था मेरी कल्पना का।

किसी गांव का वह था भोला लड़का
हल्का करने बाप के कंधों का भार
छोड़ खेतियां, मां की ज़िद को मान
फौज में दाखिल न हो वह यहां आया।

पल्ले बांधी थी सभी नसीहते यह
जो मां-बाप और गांव के लोगों ने दी
स्कूल के मास्टरो पंडितों दोस्तों ने भी
जहां सात क्लासें वे पढ़ चुका था।

'खेल कर्मों की इस जहान पर है
जिनसे होते है निर्धन बलवान पैदा
करो कर्म सच्चे, किस्मत होगी अच्छी
द्वार खुलेंगे उसकी रहमतों के।

'उसके घर में है देर, अंधेर नही
मन में प्यार यह सच्चा विश्वास लेना
काम-क्रोध, लोभ-मोह-अंहकार आदि
पर रखो काबू रखो चरित्र सच्चा अपना

खाए नमक को न हराम करना
अपने मालिक को दूजा भगवान समझ
सेवा सच्ची सहनशीलता से करनी
तन मन को वार अहं का त्याग करना

वक्त आने पे प्रभु का रूप बनके
कोई भी कृपा निधान बन्दा
चुन के हीरे को कूड़े के ढेर में से
ऊपर किसी ऊंचाई पे ले जाएगा।'

इन्हीं वाक्यों और सीखों को मन धारे
अब वह होटल की ड्यूटी से मुक्त होता,
किसी गंठी अंधेरी सी बस्ती में
कही रैन बसेरा वह कर लेता।

इन्हीं सीखों पर सोच विचार करते
ग़रीब बस्तियों की बुरी हालतों की
कभी ओ, तलखीओ और जहालतों से
कभी चित्त भी उसका डांवा डोल होता।

गरचे यहां वह सीखें न भासती थी
अटल ध्रुव सी सच्ची पवित्र जो थी
जितनी गांव के पेड़ों की छाह तले
जहां होनी थी अपनों की बैठकें।

यहां हर कोई अकेला औ अजनवीया,
और कौड़ी के मूल्यचरित्र बेचे,
कभी जुए-शराब में खो दे वह
अपनी हीनता और नाकामी का दुख।

चारों तरफ़ यहां गंदगी बदबू
ज्यों नरक था धरती पर आ गया
ज्यों शहर का गंद और ग़रीबी सारी
फेंक दी गयी थी सब यहां

हां पर फिर भी कीचड़ में कमल जैसा
सदा ऐब कुसंग से दूर रह कर
अपने सपनों और अपनी इच्छाओं को
अपने दिल में सदा सजाए रखना।

अपनी छोटी सी खोली को साफ़ रखना
सुबह उठते ही पूजा और पाठ करता
तब ही वह अन्न औ पानी छूता
रात, बच्चों की लगाता वह पाठशाला।

जो जो बस उसके, खुश हो करता
कितने और भी काम भलाइयों के
मुंह भोला औ मीठे थे बोल उसके
दुखी दिलों की तपश को शीतल करते।

केवल एक हसीन गुनाह मामूली सा
आठवें दसवें दिन वह कर लेता,
जब छुट्टी मिलती, जरा बन ठन के
सिनेमा हाऊस में फ़िल्म इक देख लेता

दृष्य हुस्न और ठाठ अमीरियों के
उसकी रुह को ताज़गी बख़्शते थे
हां पर जहां बेशरमी का दृष्य होता
वह नज़रें नीची या बन्द करता।

खोज यहां भी उसे उपदेश की थी
होती फ़िल्म के अंत में जीत सच की
हीरो, विलेन को जब पछाड़ देता
उसका दिल ख़ुशी से भर जाता।

अपने आपको हीरो वह समझ लेता,
जब नेकी, शराफ़त के बल बूते
किसी लखपती सेठी की लड़की का
बनता आंख का नूर ग़रीब हीरो।

यही कल्पना कर, किसी फ़िल्म को देख
सेहरा बांध वह बना जमाई मेरा
यहां बैठा देख मुझ एक्टर को,
उठता उसके दिल में तूफ़ान क्यों न!

शक की रही न कोई गुंजाइश बाकी
मैं ही बन गया वह 'दयावान' इन्सान
जिसे हीरो को कूड़े के ढेर में से
चुनके ऊंचे आसन पे ले जाना था।

फीका पड़ गया मुंह का स्वाद मेरा
मुश्किल हो गया बैठना और वहां
चश्मा अपने वहम का उतार सका
कैसे उसका चश्मा उतार सकता।

कैसे उसे लाऊं हकीकत की ओर
कैसे कहूं कि ज्ञान भी समय भान्ति
किसी एक जगह स्थिर नहीं रहता
बदल जाता है जैसे संसार बदले।

कभी राज था दुनियां में राजों का
वक्त ने उसके मुकुट उतार डाले
आज राज है लुटेरे पूंजीपतियों का
उनके ऊपर भी काल मंडला रहा।

इस राज ने ज़ुल्म की हद कर दी
चक्की बन के आज लुटेरो ने
गेहूँ सा गरीब को पीस डाला
भर लिए भंडार उनके लहुओं से।

इसीलिए इस कंस को मारने को
कृष्ण-वक्त ने खरा इन्साफ़ करके
खुद मज़दूर जमायत सजाई है
करने सपने सच्चे माता देवकी के।

भूखा रहे न कोई जहान ऊपर
सभी रहे सुखी कल्याण सबका
मोटा हो न कोई मुनाफों पर
ऊंच-नीच के भेद से मुक्ति हो

इस एटमी युग में जब चांद ऊपर
चौथे दिन अब आदमी जा पहुंचे,
नई गीता का प्रकट ज्ञान हुआ
हाथ नए कान्हा के सुदर्शन चक्र।

आगे आगे जागृत मज़दूर सो हैं
पीछे सेना अनन्त किसानों की
साथ में ज्ञानी और विज्ञानी
'अनहद नाद शब्द बाजे मेरी।'

आज धरती के तीसरे भाग पर भी
मज़दूरों का परचम लहरा रहा
बाकी हिस्सों पे भी डोलते पूंजी वाद की
हैं नीवे, लड़खड़ा रही।

इस ज्ञान से जो अनजान हो
समझो ज्ञान पुराने से चिपटा
तभी रे भोले! शेर की जान हो
तू चाचा पुकारना गीदड़ों को।

खोज नया ज्ञान होश्यार हो
लड़ अपने हक को तान सीना
वरना होटल के चालू मालिक
तुझे जल्दी दफ़ा करा देंगे।

यह बातें और कितनी ही बातें
उसे कहने को मन में उठी
पर मुंह से कुछ भी न बोला
रख एक रुपया टिप उठ आया।

एक तो संकोची स्वभाव मेरा
अपने आप में रहना पसंद करता
फिर अपने निजी रुझानों से
फ़ुरसत पाना आसान कहां!

•

हादसा

चकरा कर, औंधा हो, गिरा मैं
चौथी मंजिल से, ज़मीन पर
खोपड़ी समेत, सभी हड्डियां टूटी–
मर रहा हूँ
मरने से कुछ पल पहले
तुम मुझे बता रहे हो साथी
(कौन से साथी, अब कुछ फ़र्क नहीं पड़ता)
कि खड़ा था मै अकेला
इमारत की दसवीं या ग्यारवी
स्लैब की धार पर, जो थी
नारियल पेड़ों की ऊँची काफ़ी ऊँची।
खड़ा था मै नीले आसमान में
किसी शाह सुलतान सा
मैं मानो जगत पर राज करता।

कल भी तो इसी वक्त
शिखर दोपहर को मै यही खड़ा था
बन रही ऊँचो इमारत के बाहर,
वांसो को रस्सीयों से बांधकर जोड़ता
वांसों के जाल के जाल बांधना
यही हमारा रोज़ का धंधा है।
और आज
सिर्फ चौथी ही मंज़िल से गिरा
मै मर गया।
हमारा मुकद्दम सरदार तो
पुलिस रिकार्ड में यही लिखवाएगा कि
''दारु पिए था, यह मज़दूर''
पर साथी, सच बताऊँ
मैं क्यों गिरा?
मैं चकाचौंध हो गया

सेठ को चमचम करते
आलीशान सूट में देख।
अभी तो उस ससुरे का मुंह सिर भी
चौखट में से पूरा निकला न दीखा था
है न हसी की बात साथी!
उसका चमचमाता सूट और
अपनी पतली हालत देख
मेरा सर चकराया ठिकाने में नहीं रहा
फिसला मेरा, पैर सरक गया
और– अब तेरे सामने
सिसकता दम तोड़ रहा हूँ।

मेरे साथी
इस सत्ता की हैवानी ताकत से
मुक्ति पाने के लिए
ढूंडो कोई नानक,
ढूंडो कोई लेनिन,
निडर हो, हिम्मत पाओ
इस विश्राम के गर्दन से पकड़ने के लिए।
नही तो, कल तुम
परसो नरसों एक और एक और
न जाने कितने मुझ जैसे
गिरते रहेंगे अनगिनत
सत्ताधारियों की ऊँची इमारते बनाते।
कब तक, कब तक होता रहेगा ज़ुल्म साथी!

मेरे प्यारे साथी, तुम अपने पैर
मज़बूत रखना, खड़े रहना मेरी साहस से
नज़रो के सामने भी, स्थिर
ऊँचाइयों पर, सजना
सितारे की तरह, नीले आरमान में
शाह सुल्तान की तरह
अगर जीना चाहते हो
स्वाधीनता से इज़्ज़त से
इन्सान की शान से मेरे साथी।

मनोकामना

मीठे बोले बोल बुलबुल आज प्रभात
छेड़ जाए फल फूल शाख और पात।
बुलबुल सा हिय ने झांक न देखा
तो किस काम आया मेरा लिखना लेखा!

सावन भादों मेह की झड़ी,
काली रातें सिंतारों भरी,
सी भावना यदि उमड़ न आई
तो किस काम आई मेरी लिखाई।

चिंगारी जो, साथी! आग न बनी, यदि
सोचें, जो विश्व-आंदोलन न बनी,
गांव-शहर में जिन्होंने बिगुलें न बजाई
तो किस काम आई मेरी लिखाई!

•

लूट

मेरी यौवनमयी सुंदरता
को ईर्ष्या से देखे तू
और तो सब कुछ छीन लिया
अब हुस्न भी छीना चाहे तू!

मेरी सफलता करनी का फल,
बख्शी सेहत है कुदरत ने
मेरे हुस्न में अंश ईश्वर का
काहे लम्बे सांस भरे है तू!

•

सीख

वैज्ञानिकों का कथन है कि
डरे हुए मनुष्य के शरीर से
एक प्रकार की बास निकलती है
जिसे कुत्ता झट सूंघ लेता है
और काटने दौड़ता है।

और अगर आदमी न डरे
तो कुत्ता मुंह खोल
मुस्कुराता, पूंछ हिलाता
मित्र ही नहीं, मनुष्य का
गुलाम भी बन जाता है।

तो प्यारे!
अगर जीने की चाह है,
जीवन को बदलने की चाह है
तो इस तत्व से लाभ उठाएं,
इस मंत्र की महिमा गाएं,
इस तत्व को मानवी स्तर पर लाएं!
जब भी मनुष्य से भेंट हो
भले ही वह कितना ही महान क्यों न हो,
कितना प्रबल
कितना ही शक्तिमान हाकिम क्यों न हो,
उतने ही निडर हो जाइए
जितना कि कुत्ते से।

मित्र प्यारे!
अगर डरोगे, तो निकलेगी बास जिस्म से
जिसे वह कुत्ते से भी जल्दी सूंघ लेगा
और कुत्ते से भी
बढ़ कर काटेगा!

•

आशा-निराशा

एक बार पहले भी भटका था दर-बदर,
तुझे खोकर,
वह पाने के लिए
जिसकी आशा नहीं थी।
आज फिर भटक रहा हूँ
तुम्हें पाकर,
जो पाने की आशा थी
उसे खोकर।
पी०डब्ल्यु डी० महकमे के पोस्टरों की तरह
'बचाव में ही बचाव है।'
मेरी, अब तो
गति में ही गति है।

•

कलगीधर के सच्चे वारिस वीयतनाम!

'चिड़ियों से मैं बाज़ लड़ाऊं'
उसने कहा ही नहीं था
करके भी दिखाया था!
आज वीयतनाम
तूने भी वही कर दिखाया
तेरा भी वही मान!

तूने धरा पर पटक
तोड़ दिया घमंड
संसार के सबसे बलवान, मगरुर देशको!
कलगीधर के सच्चे वारिस
वीयतनाम
तुझे सलाम!

कहां महाबली अमरीका
और कहां नन्हा सा वीयतनाम
चहुं दिस गगन भेदी
गूंजी पुकारें,
मुरदाबाद जानसन!
ज़िन्दाबाद हो ची मिन!
'भूप गरीबन को करवाऊँ'
उसने कहा ही नहीं था
करके भी दिखाया था।

'मानस सभी एक
पर अनेक का प्रभाव है'
था उसका सच्चा विश्लेषण
सच्चा अध्ययन, अनुभव।
लाए उसी सत्य
उसी भावना को क्रियात्मक रुप में
वियतनाम और वियतमिन

उतर गई है उनकी आंखो पर से
स्वार्थी सत्ता की अंधी पट्टियों
खुले है जागृत जागरुक नयन
तभी तो वे उन्नत मस्तक
साहसी संगठित
अजेय!

•

सट्टा बाज़ार

भौकते देख मनुष्य को, कुत्तों की तरह
यहां, देखिए खरी हकीकत इस निज़ाम की!
यहां न पले, धर्म, नियम न्याय,
सरल पवित्रता और संस्कृति
युगों-युगो से विकसित हुआ बुद्धज्ञान
कोमल कला विभूतियों और अनुभूतियां
भौंकते देख मनुष्य को कुत्तों सा
यहां देखिए, खरी हकीकत, पूंजीवाद की!

•

जेहलम नदी के मोड़ पर

नदी के मोड़ वाले इस बांध पर
हम आ पहुंचा करते थे
लुक छिप कर, कभी कभी।
कोमल हरी घास वाले बांध की ढलान पर,
जगह जगह उगी थी झाड़ियां
कही बिच्छु बूटी, कही नरगिस की!
और नीचे, नदी तट से कुछ परे
बारिश का पानी रुका हुआ
तालाब सा बना ना कोमल काई वाला।
वेंत वृक्षों की हल्के हरे पत्तों भरी
शाखाएं एक दूसरे में मिल
सघन वन सा बना रही।
तालाब के पानी में चोंच डुबो
नीलकंठ नन्हीं मछलियां पकड़े
तैरती धूप-छांह में जाल के दायरे बनाते।
नदी के मोड़ वाले इस बांध पर
थी एक छोटी सी कोठरी
पानी के महकमे की।
वह बनी कोठरी, खिड़कियों वाली,
दरवाज़े पर था ताला, अन्दर पाइपों से
पानी की आती आवाज़ गर्र! गर्र!
कोठरी की ओट में हम दोनो
ढलान पर शाख-वेलरिया भांति
आंलिगन में होते।
मचलते यौवन, सौदर्य के आकर्षण में
हम बेखबर एक सुरक्षा दृष्टि फिर भी
राह गुज़रती पर रखते।

कोठरी की छत पर घोंसला बैठा
रहता था एक बुलबुल जोड़ा
बन गया था हमारा मित्र।

हमारे सन्मुख कोमल घास पर वह
खेलें खेलना, चहकता! खेलता
हमारे स्नेह को कलगियां लगाता।

पर हाय! तेरे-मेरे
स्नेह यौवन की प्रतीक
इस कोठरी की भी नहीं सुरक्षा हुई।

खड़ी है सुनसान, वीरान, टूटी-फूटी
भीतर-बाहर से नोची खरोची
छत की शहतीरें छत से अलग।

हां पर, ढलान की घास पर
खेल-चहक रहा एक बुलबुल जोड़ा
क्या यह वही है?

•

पार्टी में मिनिस्टर और फ़िल्म स्टार

पहला - चल रे, डरपोक कही का!
वड़ा बनता है फ़िल्म स्टार!
मिनिस्टर के पास बैठते तो
उनका मान बढ़ता,
पार्टी का माहौल
हल्का फुल्का रंगीला रौनकी रहता।
इतनी जल्दी न चले जाते वे
और हमारी मेहमान नवाज़ी का
-यूं चेहरा न पीला पड़ता।

दूसरा - अरे यार, मिनिस्टर साहब को
पता है इस फ़िल्मस्टार के पंजाब प्रेम का
वे सरदार साहब जो हुए।

तीसरा - लेकिन इसे यह भी तो पता है
कि कोई भरोसा नहीं आजकल
कब, कौन किसे कुरसी से हटाले।

चौथा - कुरसी से हटाए या
जान से मार डाले, एक ही बात है।
और पंजाब पुलिस भी तो
ताबेदारी वफ़ादारी से रहती है
ऐसे कामों के लिए तय्यार!

पांचवां - सुना है एक नया शस्त्र प्रयोग में है,
जांघिए में चूहे भर के
जुर्म कबूल करवाए जाते है आजकल!

छटा - पर यार, मिनिस्टर फिर भी मिनिस्टर है
और फ़िल्म स्टार का कर्तव्य है
मौके की रौनक को रंगीन करना!

•

प्रभात से पहले

एयरपोर्ट जाती सड़क को बीच में काटती,
बम्बई, अहमदाबाद सफ़र के लिए बनी
यह नई सड़क, यहां है इतनी ऊंची कि
हमारे आगे भागती एक मोटर
सड़क से नीचे लुढ़क गई।

इस क्रास रोड के लिए एक
पुलिया बनानी चाहिए थी, पर
उन्हें सूझेगा पुल बनाना तभी जब
कुछ और गाड़ियां लुढ़केंगी
कुछ और लोग मरेंगे।

ग़नीमत हुई कि
लुढ़कती मोटर की लाइटें
मेरे ड्राइवर को दीख गईं
अगर लाइटें होती 'डिम' तो
तेज़ भागती गाड़ियां, निश्चय ही
सभी टकरा लुढ़क जाती, और
एयरपोर्ट के बजाए, हमें
कहीं और पहुँचाती।

अब हो गई वह मोटर, अब सबसे आगे
जो थी बहुत बड़ी और आलीशान।
उसकी काली पालिश थी चकाचक चमकती
और आगे पीछे की बत्तीयां खूब तेज़ थी।

कोई बहुत बड़े लोग थे उसमें
उनके सामने था जगमग करती
विशाल एयर पोर्ट भूमिका
विस्तार, एक तिलइस्मी सा संसार!
जिस पर यूँ भासता, था
उनका ही विशेष अधिकार!

सजा था मेरे सामने एयरपोर्ट यूं
मानों एक बड़ा इश्तिहार
देश के बढ़ते धन-ऐश्वर्य का,
जिसका फल स्वरुप है, चीख़ पुकार
जनता की, रोटी के लिए, और
सरकार की,
केक से बढ़िया समाजवाद की!

अपनी छोटी सी मोटर तब
मुझे यूं दीखी, ज्यों
किसी बड़े आलीशान बंगले का
छोटा सा सर्वेंट-क्वार्टर।

साथ ही उठा मन में एक सवाल
कि मेरे आदर्श ऊंचे होने के बावजूद
क्या मेरा जीवन भी कुराह तो नही पड़ गया?

•

नमः नमः मम जननी बंग भूमि

ऐसे तो नहीं होना था, इधर तो नहीं था जाना
हाथ में हाथ पकड़, खोज लेना था अपना ठिकाना
भोले भय्या! तू तो बैरियों से जा मिला हो अनजान
वहां, जहां बहे हवस की हवा और भूले दोस्त की नहीं पहचान।
जहां गीधे है मंडराती है बैठी बीच शमशान।
और उनके वारि वारि जाना जिन्हें शर्म न, आन?
आंसू सूखे, आहें मूक हुई अब एक ही वचन निभाना
हक के बैरी का, नामुमकिन जीते वापिस जाना!

•

उस दूर खो गए युग की याद में

कहा जाता है कि यह प्रयोगवाद का युग है। अपनी इस कृति (या करतूत?) को हवा लगाने से पहले, भूल चूक के लिए, क्षमा प्रार्थना की प्रथा को त्यागते हुए, कुछ हल्का-फुल्का सा महसूस कर रहा हूँ, प्रयोगवाद की नवीन प्रथा के शरणागत होने में।

मेरे हमसफ़र, अंग्रेज़ी साहित्य के भंडारों पर बड़े-बड़े डाके डालते हैं। मैंने तो अपनी इस कविता में फ़िल्हाल सिर्फ़ एक ही छंद को चुराने की घृष्टता की है। प्रयोग विरोध कहेंगे, भाई, जब श्रीखंडी छंद पांच सौ वरसों से पंजाबी काव्य साहित्य में मौजूद हैं तो अंग्रेजी 'ब्लैंक वर्स' को पंजाब की काव्य धरती पर घसीट लाने की क्या ज़रुरत थी?

जवाब में अर्ज़ है कि आज से सौ बरस पहले, प्रतिभावान बंगला कवि माइकल मधुसूदन दत्त भी, अपने वक़्त में इस अनोखी ब्लैंक वर्स को इंग्लैंड से, बंगाल में खेंच लाए थे और इस छंद को बंगाल की काव्य धरती खूब माफ़िक आई है।

-बलराज साहनी

उस दूर खो गए युग की याद में-----

पहला खंड

उस दूर खो गए युग में जब
भाग्य ने, अनुपम, स्वर्णिम गाथा, स्नेह हमारे
की आरंभ की, तब इस गाथा के पन्नों में
रोज़ रची थी जाती नवनीत रिचाएं यौवनमयी,
न कोई पन्ना खाली, न मैला, न दाग़ी---
तुझे याद है प्रेयसी, एक बार जब
'अलापत्थर झील' के निर्मल शीतल जल प्रसार
की ढलान पर, आ उतरी थी सेना सी
पिकनिक करने, हम सबके परिवारों की। तब
खेले थे हम खूब, बरफ़ों से और
पर्वतों की कोख में छिपी, गूंज डायन को था
खूब चिढ़ाया अपने मीठे गीतों और
पुकारों से, कैसे लौट लौट आतीं प्रति ध्वनियां,
उन गीतों और पुकारों की! कैसे उन्हीं पुकारों से
टूट टूट कर, हिम चट्टाने थीं फिसली
और गिरी थी झील लहरों में, हिला गई थीं
झील में पड़ती किनारों की कोमल परछाइयां!-----
और संध्या को, लौटती बार, कैसे
रुक गई, बर्फ़ीली पवन, थी होती
आर पार बदन के, सनसनाती, चीत्कारती!-----
अलपत्थर से उतरते, नीचे, दूर दूर तक
बिछी, नंगी चट्टानों का, समुद्र सा संसार लांघते
पहाड़ियों से उछल, कूद उतरते
हरिण शिशुओं से हम दोनों, खिलनमर्ग के

समतल पर पहुँच कर, बुर्जुगों की पहरा देती
आंखो को छलकर, अपनी राह अकेली
चुपके से, सोच-बना ली थी कैसे।
और एक स्थली पर देख
सुन्दर नन्हें गुलानारी फूलों का ग़ालीचा
वहीं बैठ गए थे हम। तब
तू, मेरी बाहों में आ, दूर सामने, बहुत
बहुत दूर, गगनचुंबी 'नागावर्वत' के
हिमशिखर देखती, और उसके मीलों नीचे विस्तृत
निर्मल वूल्लर झील के सपने से अलौकिक
विहंगम दृश्य, अपनी भोली चंचल दृष्टि से विलोकती,
कर रही थी मुझ पर जादुई प्रभाव!—
था अनन्त, गहन मौन चहुंदिश।
पुष्प सुगंध भरी, जोगिया सांझ-धूप थी खिली अभी भी।
शीतल थे तेरे हाथ, गाल, मस्तक, जिन्हें
मैं चूम, प्यार भरे होठों से था गरमाता। तभी
अकस्मात, मुझसे होकर ज़रा परे, तूने
मेरे मन भाते, तेरे चंचल भोले, अन्दाज़ से
मुस्का, एक पहेली सी घड़ मुझसे पूछा-
'असपलस! मुझे दिखाओ, यहां कहीं
किसी फ़ैशनेवल जूते की नोकीली ऊँची एड़ी?'
यद्यपि, तेरी ही ओर देखने के सिवाय
और कहीं देखने की चाह न थी मुझको
तो भी मैंने, धरती, गगन पर दौड़ रई दृष्टि
खोज भरी, ताकि दे पाऊँ उत्तर मैं
अपनी लावण्यमयी की पहेली का।
पर, जब मैं, खोज न पाया तो, हार मान
नज़रें नीची कर, सन्मुख तेरे, लजा के बैठा।
तो अपनी गोरी बांह, बढ़ा के आगे
इंगित करके, दूर का इक दृश्य दिखाते
मुस्का, हंस कर तूने जीत का किया ऐलान
'खिलनमर्ग से नीचे वहां ऽऽऽ'
गुलमर्ग के धोबी घाट के दाएं, चीड़ वनों से
घिरी औंधी सी पड़ी, छोटी सी घाटी

क्या किसी फ़ैशनेबल जूते की, नोकीली
ऊँची एड़ी सी, नही दीखती भला?'

तो, मैंने, पहले कच्ची-पक्की नज़र से,
पर फिर देखा, विश्वास खुशी से, और पहचाना।
और की भूरि-भूरि प्रशंसा तेरी तुलना की।
पर कुछ दिखावा भी कर, अपनी
अधिक ज्ञानी, मनोवैज्ञानिक सूझ का, कहा-
'प्रियतमे, तेरे परिवार के दकियानूसी बड़े,
नहीं पहनने देते न तुझे, ऊँची एड़ी के जूते
इसीलिए, इस सृष्टि में, तुझे ऊंची एड़ी
के विविध रुप ही दृष्टिगोचर हैं होते।'—

मेरी आदर्श, पता है तुझे, आज
पूरे बारह वर्ष पश्चात, गुलमर्ग में
तेरी कल्पना की भेंट, उस औंधी पड़ी
जूते की नोकीली एड़ी सी पहाड़ी के
आंचल ही में, हरी घास पर लेटा मैं,
गुलमर्ग और अलपत्थर की पवर्तों की ऊँचाइयां
नज़रों से नापना, याद कर रहा हूँ तुम्हें!

याद कर रहा हूँ तुझे,
दुख से? नही! बिछोड़े की अन्तहीन,
प्रलय सी अवधि की सौगंध! मै तो
उस अमर, अमूल्य अतीत की स्मृति की
सुखद, स्नेह धारा में खोया, मुग्ध,
याद कर रहा हूँ तुम्हें, मेरी आदर्श!—

और, बिछा रहा हूँ इन्द्रजाल
कल्पना के, कि तुम पास ही हो, मेरे अंक में,
और दे रही हो मुझे बधाई, कि मैंने
हम दोनों के एकान्त के लिए, चुन लिया है
एक और सौंदर्य स्थल। और
याद होगा तुझे, कि तब भी तो, जब
लालिमा उदय हुई थी हमारे प्रथम मिलन की,
मैं खोज लिया करता था, प्रयत्न कर
विरोधी नज़रों से लुका छिपा कर,
कोई सौंदर्य स्थली, तेरे-मेरे स्नेह मिलन की
अनुपम स्वर्णिम कश्मीर प्रान्त में।

आह। सुख-संतोष है कितना,
इस भ्रम-छल में, कैसे बखानू तुझे,
छल, जिससे भरमाए हूँ अपना मन,
कई दिनों से बनाए हूँ इसको, अपना संगी
स्वयं इसे महज हल्का उन्माद मानते हुए भी,
अगर घटी एक घटना ने, इस इन्द्रधनुषी
झूला झूलते जुनून के झाग बुलबुले को
जिसमें आसन बिछाके बैठी
'बूढ़ी मां' फूल के उड़ने वाले सी, उड़ान लेती
कल्पना ने, मेरे भ्रम-छल को
और मोहक, सशक्त न बना दिया होता!-----
जैसे रंगमंच पर, कलाकार, हो जाता है
दूर, परे, अपनी निजी, छोटे दायरे की
दुनियां के जंजालों से, देखने है लगता,
अपने सुख-दुख को भी ऐसे, मानो वे हो
किसी अन्य के!
कलाकार, रंगमंच की चारदीवारी
बीच आकर
उतार देता है भार, अपनी कमियों, बाधाओं के,
और हो मुक्त, स्वच्छ, निर्भीक वह
रचता है, घड़ता है इक संसार,
जो है कल्पना का यथार्थ! वैसे ही,
इस स्थली के विशाल विस्मृत घेरे के
जादुई, मोहक प्रभाव में मैं भूलकर
अपना निम्न निजत्व, मानो
किसी राजकुंवर के सिंहासन पर आसीन होने का
काल्पनिक ऐश्वर्य लूट रहा हूँ---
जानता हूँ, जानता हूँ आदर्श,
एक वक्त था जब, यदि, कवि वारिसशाह
के कहे शब्दों "प्रेमी युगल, त्याग घर-परिवार,
सह कर घनघोर तूफान, वर्षा, तपिशें
जानें हथेली पर लिए, एक जान हो
निकल कर बैरियों के चंगुल से, कर लेते पार
नदियां, खाईयां, मरुस्थल, समुद्र, पर्वत!" अनुसार

हम दोनों भी, साहस करते, तो, स्वर्ग दरबार में
गर्व से खड़े होते सच्चे मोतियों से।
तव, जीत, जीवन, अमर यौवन के हकदार
हम दोनों भी होते। तब कर्ज़दारों की तरह
तुझे हारकर, मन बहलावों से जीने की ज़रुरत
मुझे न होती, न ही मुझे तुमको
"प्रेम, आदर्श प्रेम गाथाओं में अलग,
एवं व्यावहारिक जीवन में कुछ और ही होता है"
जैसे हीन, तुच्छ शब्द कहने की, धृष्टता होती।
एक बार जब पीठ दिखाई तुझे, तो
क्या अधिकार था मुझे, फिर से तुम्हें पुकारने का।
छोड़ तुझे मझधार में, स्वयं जा लगा किनारे।
क्या हक मुझ कायर का, तुझसे 'प्रियतम' का
संबोधन पाने का! मैं, जो देना था सीख तुझे
स्वतंत्रता से पंख फैला, नील गगन में
ऊँची उड़ाने भरने की। तेरा गुरु बन,
सुनाता था तुझे, बुलन्द व्यक्तित्व, निज अस्तित्व,
प्रगतिशीलता, अधिकार, विद्रोह की गाथाएं,
सिखाता था तुझे अंध परम्परा विरोध की सीखें
रुढ़िगत परम्परा, जो है चूस लेती जीवन रस
जो रखती कायम अपनी सत्ता केवल
अपने स्वार्थ, और दुर्बल, अज्ञानी के शोषण के हित
वही गुरु तेरा, स्वयं लगने पर पहली ही चोट
सत्ता और परम्परा की, झट बन गया
बड़े बूढ़ों का, खान्दान का बरखुरदार, आज्ञाकारी।
कैसे कोई करे क्षमा, ऐसे दोषी को!----
उस दिन से हमारा प्रेम, यदि रहा है
नासूर सीने का, सतत वेदना, लाइलाज रोग
अन्तरतम सुखाता, भरता असहय शून्यता रग रग में,
तो भी, वह प्रेम सदा रहा है मेरे लिए
निधी अमूल्य, जीवन दायिनी शक्ति, प्रेरणा स्रोत भी।
पर वही स्नेह, जो हुआ तेरे लिए अस्पृश्य
एक दाग़, धब्बा, धोखा, वंचना, छल।
उसका मार हृदय, मस्तिष्क, मन-तन से उतार,

त्याग, मूल, उसके सभी सिंगार-स्मृतियां
तभी तू, पुनः जीना प्रारंभ कर सकती थी।—
तू थी कोमलांगी तितली सी, जिसने
किया था पान पुष्प रस। पुष्प रंगों से थे तेरे पंख
स्वप्निल पंख जो आतुर थे प्रिय मिलन को।
नही जानती थी पर तितली कि एक ही रात्रि में
कोई ठगनी, जादुगरनी, डाल गई थी, कोई
कड़वी ठंडी विष पुष्पों पर जिन्हें सूंघ
पंख तेरे कोमल, बने कांच से कठोर
पंख किनारे बने छुरी धार से तेज़ स्व रक्षा हित।
अचंभित, छलित, घायल शंकित, विद्रोही
किसी भी आश्रय निकट जा, जो खाते, चोट, धोखा,
सहन करते गए नए घाव----। टूटे पंख तितली के
भटकती, गिरती, तड़पती तितली, फिर भी
करती रही प्रयत्न, माटी में मिलने से बचने के---
धन्य हो तुम आदर्श!
स्वर्ग से गिर, तिरस्कृत, वंचित, भंगित होकर भी
नही मानी हार तूने! छोड़ पूर्व आशा, सहाय्य की,
किसी भी दिशा से, किसी सहृदय मीत की,
सुख-दुख के सहयोगी को, तो भी अपनी
आत्मनिहित, अंतरतम शक्ति, साहस, अध्ययन,
युक्ति-बुद्धि अनुभव की भावना से, करती रही प्रयत्न सतत
उद्देश पूर्व हो, स्वतंत्रता से स्वतंत्र गगन में
उड़ सकने की, निकल पाने की बाहर, अंधियारों से
अनेक भूल भुलय्यों भरी राहों से, जिनके
वहशी जबड़ों बीच, दबोची जाती रही है
परम्परा से, लाखों कोमल भोली तितलियां, तेरे सी।
खोजी तूने प्रकाश किरण सी इक राह अपनी
आत्म विकास, प्रगति, विश्वास पाने की।
गर्व है मुझे तुझ पर मेरी आदर्श।
तू जो जी रही, अपने बल पर
विकासशील हो, अग्रसर हो
विद्या, गुणवत्ता, रचनात्मक जीवन धारा
स्पंदित, प्रवाहित है तेरी शिरा शिरा में।

वे सब थे जो तुझे रोकते, तुझे टोकते
हर क्षण तीखे तिरस्कार से तुझे ताड़ते
तेरे किसी कार्य पर, तुझ पर हंसते
आज प्रशंसा तेरी करते, और है कहते,
'हम न कहते थे कि इस दिन दर्श हमारी
कुछ कर दिखलाएगी।'

यद्यपि 'सफलता' का मै न पुजारी,
न हूँ सहमत तेरे हर दृष्टिकोण से,
तो भी तेरी क्रियाशीलता में, मानवता के प्रति
संवेदना, मानवता के सुखद भविष्य
की भावना, हिलोरे लेती, ख़ूब स्पष्ट है
गर्व से मैं भर जाता हूँ, संतुष्ट होता हूँ
यह देख कि उस अतीत में
हम दोनों ने स्वर्णिम स्वप्न, आदर्शों के
कमी जो बुने थे, पूर्ण रुप से जागृत हो तुम
उनके प्रति, सुचेत हो तुम, अग्रसर हो।

अपने बारे में कहूँ क्या-----
परिचित हो तुम, मेरी सभी
रची-अनरची से-----
तेरे स्वरुप की झलक-प्रतिबिम्ब मैंने
भटक के, खोज के, पाना चाहे
अन्य अनेक रुपों-गंधों-स्पर्श-स्वरों में-----
मेरे अन्तरतम में प्रवेश कर, मेरे हृदय पटल को तूने
अपने निर्मल, स्निग्ध स्नेह की
मणि मालाओं से था संजोया और सिंगारा।
और मैंने, इस माणिक धन को अंजलियां भर भर
लुटा दिया, गिरवी रखा, बाज़ारों में।
तेरे अर्पित स्नेह की लौ में सजाई मैंने
महफ़िलें करके दिखाना अपने ही अनोखेपन का।
लज्जित हूँ मैं! नहीं पास मेरे कोई उत्तर
मेरी आदर्श, अपनी करनी का---
सत्य तो यह कि जो है दुर्बल
प्रण से मुख मोड़, दिखावे करता,
वफ़ादारी की क्या आशा उससे!

याद आ रही है बेला, तुझसे अंतिम मिलन की,
उस क्षण, जब हो तटस्थ सी, इक
समझदार, अनुभवी प्रौढ़ स्त्री की भांति
तूने, मुझको, पिछली बातें सभी भूला कर,
मेरे ग्रहण किए, नए कर्तव्यों का
पूरा पालन करने का, वचन मांगा था।
तेरे कहे वह वाक्य, तपती सलाख़ से।
भस्म कर गए थे मुझको, मैं जो स्वयं को मान रहा था
किसी दुखान्त नाटक में आत्मवलिदान कर रहा
दुखी नायक तथा कथित हीरो।
मेरे क्षुद्र, सीमित भाव-अनुभवों से
नही था संभव तव समझ पाना
सदियों से अस्तित्व विहीन, अधिकार विहीन
अतिसहनशील शोषित नारी के तन मन की
त्रासदी, वेदना, पीड़ा चोटें, जो स्वभावतः
बन जाती है उसकी संगी सहवासी, और
संभवतः वही देती हैं उसे किसी प्रकार भी
जीवित रहने की शक्ति! उस क्षण, मुझे
केवल यही भास हुआ कि तू कर रही है,
व्यंग मुझसे। पर न था कोई चिन्ह
व्यंग का, तेरे कोमल मुख पर। तू दीखी थी
जैसे रात्रि होने पर, किसी झील में
पंख समेटे, सो रही राजहंसिनी सी
शान्त, अडोल, शीतल मस्तक
सर्वस्व खोकर भी तब,
जैसे; किसी जन्तु को करके घायल, काट फिर
शाहरग उसकी, कुशल व्याध
देता उसे मुक्ति, विफल क्रोध असह पीड़ा से
तूने कृपा की थी यूँ कहने की,
'आपके प्रति रहा सदैव, आदर, श्रद्धा,
ज्यों शिष्या की गुरु से, पर न थी
कभी भावना, कामना प्रेमिका की मुझमें।''
काश। हाए, वे अंतिम वाक्य
तूने कहे न होते आदर्श। तो भी मैं
क्षमा, क्षमा करता हूँ तुझको

तुझसे तो हुई एक ही भूल, पर मुझसे?
मुझसे हुई लाखों ही, लाखो की भूलें----
अव, स्वयं ही सोचो, कि
यह सब जानते मानते हुए भी, कैसे
मेरी कल्पना उड़ान को हुआ साहस
तुझे, यहां, अपने अंक में ले आने का!
यहां, जहां हरी दूब के मखमली शरीर पर
जगमगा रही है नन्हीं ओस बुन्दियां
असंख्य, गुलमर्ग की पर्वती धूप में---
प्रिये, यह अनुकंपा तो है 'काशर देश' कश्मीर के
स्वर्ग तुल्य सौंदर्य की, जो है तीसरा भागीदार
हमारी उजड़ चुकी प्रेम विरासत का, साक्षी
हमारे स्नेह मिलन का। कश्मीर जो है
वसुंधरा के वक्ष स्थल पर सुशोभित
सुसज्जित हीरक हार। कश्मीर
जिसके कण-कण ने वर्षाया था अमृत रस
हमारे प्रथम मिलन, आलिंगन चुम्बन पर,
पिरोई थी हमारी रक्त शिराएं, हड्डियां
अपूर्व, अनुपम स्नेह डोरी में,
कश्मीर जिसने दी थी भेंट
हमारी भावनाओं रस-रंग स्पर्श
श्रवण सहज स्वाद, विचार, चिन्तन को
असीम गहनता, असीम शास्वत की---
आज वह 'नागराई' कश्मीर है, पुनः
सूत्रधार रंगमंच का! और मैं हूँ
एक तुच्छ पात्र उसकी खिलवाड़ का।
अक्षय रुप विलास दर्शाता वह,
मुझे अपने मोहक आकर्षण से
भरमाता है बरबस, जहां भी मैं रुकूँ, चलूँ
कण-कण से गुंजारते अपने मौन
मुखरित-अमुखरित संगीत, अनहद नाद से।
मुझे विचरण है करा रहा अपनी
अनेक वनवीथियों, हरित समतलों, अधित्यकाओं में
और गवां जाता है मेरी सुध-बुध, भ्रमा जाता है मुझे

और बारंबार जगा जाता है मेरे अन्तरतम
अचेतन में सोई, दबी गहरी पीड़ाएं,
ज्यों कह रहा हो, अपने मौन संकेतों
इंगितों से, ओ बनजारे। जो सरल
विमल, अमर अमिट नेह-स्नेह
जन्मा, छला था, मेरी कोख-गोद में
है क्यों कर वह मर सकता! वह तो है
स्वर्ग कानन का सतत यौवनांग कोमलांग
सतत सुगंधमय पुष्प वृक्ष
मेरी ही भांति।'—

इसकी पहेलियां बूझ बूझ, घिसी मेरी मति,
क्यों कर फिर स्वरुप, सुचेत होती यदि
यह नागराई, जादूगर, स्वयं ही
खोल देता द्वार इस रहस्य का।
वह गाथा इसने बखानी, विस्तार से
कैसे अनोखे पन विचित्रता से उसे,
तेरे बिन कहे ही, तुझे सुनाऊँ आज।
मैं वारि-वारि जाऊं इस जादूगर पर
इसी के मनमुग्ध कर रहे जादू ही से तो
मेरी आदर्श, इस घड़ी तू निकट है मेरे,
दे रही मुझे बधाई, कि खोजली है
आज भी, मैंने हम दोनों के लिए
एक और मनमोहक, स्नेह मिलन की सौंदर्य स्थली
स्वर्गतुल्य इस घाटी के इक कोने में,
और तभी तो मेरा हुआ दृढ़ विश्वास
मोहक भ्रम के इस झाग बुलबुले में,
भीतर जिसके बिछा के आसन बैठी कल्पना,
'बूढ़ी मां फूल' के उड़ रहे बालों सी!-------

•

दूसरा खंड

उस एक सांझ को जब पोस्ट आफ़िस में
डाल के चिट्ठियां, मैं उतर रहा था
उतराई गुलमर्ग बाजार की, बाज़ार
जो अब दीखता है जल चुकी लकड़ियों
का कंकाल मात्र, बरसों पहले हुए
कबायलियों के किए घावों के परिणाम से।
टूट, जल चुकी है दुकानें, मकान, होटल सभी तो।----
वातावरण था सूना, उदासी निराशा भरा,
नही था मन मेरा भी, घूमने फिरने का।
पर्वत श्रृंखलाओं पर से मटियाले बादल
यों ढुलक रहे थे, मानो कोई व्याधि पीड़ित जन समूह
छोड़ आए हो देश, अब परदेश में हो शरणार्थी
और फटे मैले वस्त्रों में खड़े, मांग रहे हो भीख
सीमा सुरक्षा सैनिकों की भांति सीना ताने
कतारों में खड़े, कद्दावर वन वृक्षों से-----
मैं स्वयं भी था उदास, एकाकी।
गुलमर्ग की अप्सरासी घाटी के
कोनों कोनों से गुज़रता, सामने बिछे
गॉल्फ़ कोर्स के मैदान को था चुपके से पार कर रहा
ताकि बच सकूँ, घोड़े वालों की, किसी
देसी या अंग्रेज़ साहब बहादुर के पीछे
भागती साहब घोड़ा, घोड़ा चाहिए साहब!'
पुकारती गिड़गिड़ाती सी सेना से और
मै जा निकला 'नीडो होटल' के पिछले भाग में,
जहां, ऊपर, खिलनमर्ग के वक्षस्थल को
ढके-लपेटे थे गहरे, हरे वन एकान्त,
जिनमें सकल विश्व के कार-व्यापार
दुनिया व्यवहारों, त्रासदियों से लुक छिप
मैं था खो सकता अपना आप
उस निर्मल भोले अतीत में, जो था महकता
तेरी नवयुवती, सुवासित श्वासों से----

राह का एक और विघ्न, एक फ़ौजी कैंप
(आज़ादी बेटी को अंग्रेज़ पिता से मिली
बटवारे की दहेज!) की जीप की चढ़ाई चढ़ने की
घूं ऽ घूँ आवाज़ और फिर, मेरे पुराने परिचत मित्र
पहाड़ी झरने के मधुर शोर को भी पार करता
मैं जा पहुँचा, पहले 'लोअर सरक्युलर रोड'
फिर, उससे ऊपर वाली 'अपर सरक्युलर रोड' पर,
वहां, जहां था इक लकड़ी का जंगला, जो
चीड़ वृक्षों के नीचे से झांकते हुए।
सांझ के तारों के प्रकाश तले
हमारे सांध्य मिलन की प्रतीक्षा में
हमेशा खड़ा होता था स्वागत के लिए ----
वहीं, मैंने देखी वह 'हट' भी जिसमें
मेरे मित्र ललित, टायनी और मैं, थे ठहरे
एक ग्रीष्म ऋतु में। वृक्षाच्छादित उस कभी सुन्दर 'हट' की
देह, अब ढकी हुई थी लम्बी बन घास से।
था वहां द्वीप भी वह परिचित सा, जहां
झरने के बर्फ़ीले जल में डुबकी लगा मैं,
था लेटा करता, प्रातः की सुखद धूप में
हरी घास पर, प्रतीक्षा करता, कि शायद
खिलनमर्ग की पगडंडी चढ़ती तुम
हो सको साकार! ---- और वहीं, यादों में खोया
कितनी देर ही मैं, समय-सीमा को मानों
भंग करते, झरने के झर झर करते
जल प्रवाह को रहा ताकता खड़ा मौन!-----
दूर कहीं, गूंज रही थी, किसी वृक्ष की
झिन झिन झंकार
सांझ धुंध में डूबती जा रही शाखाओं पर से
किसी झींगुर की झिनझिन झंकार----
कुछ राहत सी पा, मैं फिर चल पड़ा
घूमने, करता हुआ याद, बीते दिनों के
दृश्य-चित्र बातें, घटनाएं, स्थान, और
गुलमर्ग की वह पर्वतीय 'हटें', जो चीड़ समूहों
से आच्छादित, थीं दीखा करतीं परीकथाओं

में वर्णित; जादुई घोसलों सी-----
चलते हुए याद कर रहा था मैं
सूरजमुखी फूलों को जो अपने हंसमुख व्यक्तित्व से
थे खिल खिल जाते हरी घास पर, चारों दिसही,
औ, नन्हीं कटोरियो जैसे, 'बटरकप' फूल भी जो
सांझ की हल्की गरमी में थे झुकते से
अपने मनमोहक मुखों पर थे झलकाते
सूर्यास्त समय की लालिमा। जाग रही थी यादें मन में
सैलानी पार्टियों की, पिकनिकों की रौनकों की
जिनकी फैल जाती थी गूंज, पर्वत की वन स्थलियों में,
सुन सा रहा था मैं प्रेमी युगलों की चोरी छुपी की जा रही
घुड़सवारियों की टापों की धीमी प्रतिध्वनि,
पहाड़ी 'हटों' में की आयोजित सांझ बैठकों में
गीत-संगीत, उमर खय्याम, टैगोर
खलील ज़िवरान की कविताओं का पठन पाठन,
परस्पर लिए-दिए जा रहे प्रेमोपहार
कविताओं में लिखे भेंट किए जा रहे 'आटोग्राफ!'
चल रहा हूँ धीमी गति से मन में लिए
स्मृतियां, स्मृतियां, स्मृतियां-----

और अब इस ढलती सांझ में
देख रहा हूँ वही 'हटें', वही वनवीथियां
हो चुकी वीरान, लावारिस, टूटी-फूटी,
सभी राहें पुले, चट्टानें, चिर-परिचित
फुलझड़ियां, सभी है आज मानव स्पर्श-संबंध विहीन।
अब, नही कोई विचरता, गुज़रता
इन राहों, सड़कों वीथियों पगडंड़ियों पर से, मानो
स्वयं वन देवताओं ने ही, ले कुल्हाड़ियां
चीर काट, तोड़ कर, बुझा मिटा दिए हों
चिन्ह सभी, मानव की, प्रकृति राज्य पर
की ज़बरदस्ती, अनाधिकृत चेष्टाओं के।
और निसंदेह, इन भोली, सुधी वनस्थलियों पर
छुट्टियों, आराम, ऐश-ऐश्वर्य के लिए
सजाए स्थापित किए वह साजो सामान
क्या न थे थोथी प्रदर्शनियां?

भीतर से खोखली? अंग्रेज़ अफसरशाही के
रहन सहन की ओछी, सस्ती नकलबाज़ी जिसे
स्वहीनता, और ईर्ष्या की चेतन
अचेतन भावना, कामना से, उसे प्रगति का नाम दे
हम प्रयत्न करते रहते, उनके अनुकरण की।
शायद, उसी अपराध के दंड रुप हैं, मेरे सामने
खड़ी हुई बिजली की नंगी तार की यह दीवार,
और 'आदम बू' सी भय जगाती
फ़ौजी हदबन्दी की खेंची जा चुकी
नई सीमा-रेखा, यहां से दस ही मील परे!-----
पर, इसी मलबे के ढेरों नीचे ही तो
दबो पड़ी है, हमारे प्रथम स्नेह मिलन की
कोमल भावनाओं की कोयले, हमारा
उमगता, सपनो भरा नवयौवन काल।
यह 'हट', यह चीड़ वन, झींगुर की झिनझिन, गूंज
यह सभी, कितना, कितना कुछ है मेरे लिए----
अब बादल कुछ और नीचे ढुलक आए है,
गिरने लगी है हल्की हिम फुहार, ऊपर, ऊपर
अलपत्थर की ऊँचाइयों पर,
मानो बिखेर रही है श्वेत, संगमरमरी चूरा!
सांझ की ठंडी धूप छांह अभी भी
वन-गहराईयों से यूँ लुक-छिप खेल रही है
मानो घड़ रही हो मेरी ही भटक रही स्मृतियों
की बनती, टूटती मूर्तियाँ,
उछलती सी, ज़ल्दी लम्बी हो रही घास ने
गुलमर्ग की लम्बी सरक्युलर रोड को भी
ढक दिया है अनेक स्थानों पर
कहीं तो कहीं दियाहै उसका नामोनिशां तक
बार-बार राह भूल, मैं भटक हूँ जाता,
राह में आ रहे छोटे झरनों, नालों को
देख, फिर से पहचान पाता हूँ फिर परिचय उनसे,
पक्षी यहां है भांति-भांति के रंग रंगीले, वन फूलों से।
नाम न जानू इनके मैं, यह गाएं, कूकें चहके,
एक पंछी पूछे प्रश्न सा, किम, किम, किम?

फिर स्वयं दे उत्तर, ताह!विताह! ताह!
और पुकारे दूजा पक्षी, आइ! आजा! आइ!
तभी तीसरा तान अलापे सात सुरों की,
मानो आवागमन के चक्रव्यूह में फंसी
किसी संगीत सम्राट की आत्मा, अब
भोग रही हो पक्षी जीवन
उधर, उधर इक बड़ई पंछी, मानों
रोक रहा हो, टोक रहा हो, अपने नन्हें
चंचल बच्चों को, बुज़ुर्ग के रौब से
ऊँचा बोल, उ हु हूँ ऽ! उ हु हू ऽ ऽ !
अब, बाईं ओर, पश्चिम दिशा में
कुछ प्रखर हो उठी, दिवस शेष की
अंतिम लालिमा, जिसमें, रंगे जा रहे मेघ समूह,
और अपने सजल वेशों से प्रतिविम्बित करते
हरित गीली लम्बी घास की ढलवानो को भी-----
सन्मुख, उत्तर दिशा में, हिम भरी श्रृंखलाओं की
एक श्वेत चोटी मानो, गतिमान सी हो, निकट आती।
गुलमर्ग घाटी की हल्के होली से रंगों में रंगी रंगीनियाँ
गगनचुंबी शिखर कंगूरों को, लगा रही मानो सुनहरी गोटा!
मेरी अपनी कंचन किरण आदर्श।
यदि होती तू इस क्षण यहां तो,
एक और पहेली, बूझने को कहती 'असपलस!'
यहां, सुनहरी हैंडल वाला दिखाओ कोई कप!'-----
नहीं जानता, कितनी देर तक
बैठा रहा वहीं, स्तब्ध, समाधिस्थ सा, उस
अपूर्व सौंदर्य के मोहक आकर्षण में! देखता रहा
अलोप होने, धीरे-धीरे, धीरे सभी रंग,
बढ़ने लगा था अंधियारा। मेघ भी ज्यों
अभी बरसना चाहें! निश्चय किया मैंने तब
अलविदा कहना इस सूनेपन को, किन्तु
उसी क्षण उठी धीमी पुकार सी, अंतर तम में,
'आगे बढ़! प्रतीक्षा कर रही, एक
अमृत अमर स्थली तेरी।' और
रग रग मेरी ले उठी हिलोरें, किसी
रहस्यमय, गहन आल्हाद स्रोत के प्रवाह से!

कैसा रहस्य? कैसा यह उन्माद अनोखा?
क्या जानने, क्या पाने का यह जादुई आकर्षण?--------
खिंचा हुआ सा, जिज्ञासु सा, हुआ मैं गतिमान,
फिर से चिन्ह खोजता,, परिचय पाना, सो चुकी
सरक्युलर रोड को फिर से जगाता, उत्कंठित
कुछ सहमा और कुछ आशंकित-----
पग-पग चलते, तभी मैंने देखा जर्जर पिंजर
एक 'हट' का, ऊँचाई पर था, बिन मालिक
हुआ द्रवित, वर्षा धूप हिमपात तूफां, सहता।
उसके टूटे फूटे बरामदे में, सामने ही
बैठे थे, जर्जर हालत में, कुछ कुली मज़दूर
ओढ़े, फटी, पुरानी, मैली लोइयां।
कोहमरी या पुन्छ इलाके के थे दीखते वे!
चौंक गए वे मुझे देखकर, मानो मैंने
घात लगा कर उन्हें पकड़ा, चोरी करते।
पर मैं अपनी उन्मत्तता में, पार कर गया
वह भी चढ़ाई। कुछ आगे ही, देखी मैंने
चढ़ाई चढ़ती, वैसे ही कुछ और जनों की
कतार लम्बी सी। कुछ थे बच्चे दुबले, मैले,
हाथ सटाए थे शरीर से, ठिठुर रहे थे, सर्दी कारण,
बूढ़ों से वे चल रहे थे शीश झुकाए,
घोड़े पर चढ़ी, झुकी हुई सी, बीमार सी
एक थी औरत, बुर्कानशीन। लगाम थामे
साथ में चल रहा, एक मर्द था। दीख रहे थे
वे सभी, जैसे हो घड़ी 'चिन्ता मूर्तियां'
मुझे देखकर कोई न बोला, 'सलाम साहब!'
उठी न कोई आंख, न किसी ने पूछा,
'क्या टैम है साहब?' न ही मांगी बखशीश।
यह तो थे दस्तूर यहां के रोज़ रोज़ के,
अमीर-गरीब के संबंध के, आज़ादी से पहले।
पर अब आए वक्त नए, नई तरह के---
खत्म और वीरान हो चुकी, थी
गुलमर्ग की पहली दुनियां। अब तो यह सब
थे बेकार, कोई शरणार्थी, कोई लाचार,

अब जीते थे यह सब प्राणी, किसी तरह भी
रोटी के दो टुकड़ों खातिर, कहीं भी; कैसे भी---
शिष्ठचार से रुक, राह किनारे
दिया गुज़रने काफ़िला मैंने।----
तभी हुई, अकस्मात ही, दृष्टिगोचर
एक राह अति मनोरम, सांप सलोटी
पहले बनी पक्की राहों सी
दूर नीचे नीचे उतरती।
धड़कन सी हुई मेरे हृदय में
मानों मिले किसी संदेश, किसी संकेत से
क्या किसी लक्ष्य निर्धारित,
के करीब, पहुँच रहे थे कदम मेरे?
यह सब कैसे, क्यों कर?
था आश्चर्यान्वित, अवाक स्वयं पर
ऐसी परिचित और अपरिचित सी राह वह थी,
स्वप्न में भी मैंने किया न था जिसका कभी
गुमान! कहां से आ रही? कहां जा रही
नागिन सी यह सड़क रहस्यमयी?
हां ऽ हां ऽ? आ रहा है याद! हांऽ,
यही तो है वह राह, जिसे देखा था मैंने
चिरकाल पहले, जब पीड़ा
जीवन पराजय के घावों की थी ताज़ा, गहरी,
तब एक बार? नहीं बार-बार
देखा करता था स्वप्नों में, यही राह
सिर्फ़ एक ही राह, यही एकाकी, राह।
न मैं, न ही कोई और चल रहा होता
इस राह पर। होते इसके, मोड़, इसके वृक्ष
हर बार स्वप्न में, हूबहू वैसे ही,
हां पर, ऋतुएं, अकसर बदल थी जाया करती,
कभी होती मौसमें बहार, कभी होता पतझड़,
कभी फूल ही फूल चहुँदिस, कभी सब सूखा सूखा, सा
एक बार तो पत्ते, घास हरियाली भी न थे,
थी केवल नंगी धरती, टेढ़ी मेढ़ी सूखी टहनियां,
जिनपे थे बैठे पंछी, चित्रों से मौन,

सैकड़ों ही पंछी! खिलौनों से रखे हुए,
उनके पंख होते रंग रंगीले, किसी
फकीर की लम्बी माला के मनकों से।
जब भी स्वप्न मुझे यह आता
मेरी तड़पती रुह को सदा राहत
शांति देता, सिर छाती से भार
उतरने यूँ, मानों मरुथल की तपती रेत पर
नन्हीं शीतल बुंदियों की फुहार, बरसा जाती
सावन की बदलियां!----- कस्तूरी मृग
की नाभि में नन्हें पिंड सा, छुपा था मन में
कोई रहस्य जो था उकसाता, उत्कंठित करता
वार-बार मुझे इसे खोलने प्रकाशित करने को।
कोहमरी, रखटोपी झिक्का गली कश्मीर
(इन्हीं स्थानों तक ही तो थे सीमित
तव परिचय हमारे सौंदर्य स्थलों के!)
के सौंदर्य पूर्व दृश्यों से मिलता जुलता ही
सुन्दर दृश्य मैं देखा करता इन सपनों में
और आश्चर्यन्वित, अवाक आल्हादित हो,
लगता जोड़ने स्वप्नों को, किसी
दैवीय देन से और यदि बनाना कभी मित्रों को
तो, 'शायर नहीं, तो शायरों की दुम ज़रुर है!'
का उपहास कर, मित्र इसे टाल देते।
तव, इस स्वप्न इसका अर्थ-रहस्य
खोलने की मनोकामना रह जाती
बन कर इक धुंधला सा खयाल ही----
और अन्त में इस स्वप्न दृश्य के केन्द्र बिन्दु से
दूर, परे हो, इसे भूलते, बिसरते लगा था मै।
स्वप्न आता फिर भी कभी कभी, किन्तु यों
ज्यों बाल अवस्था में चखे, किसी अनोखे
रस की याद, हो रह गई मन में
बड़ा होने पर, धीरे धुंधली होती, मिट गई।
पर आज, इस घड़ी अनायास अकस्मात
इतने बरसों बाद, हृदय, तन मन
आल्हादित, उल्लसित आंदोलित, स्पंदित

कह रहे थे, आह! यही स्थली थी मेरे स्वप्न की
सत्य मेरे की। औ' इस प्राप्ति, पूर्णता का
कर रह था स्वागत, था बधाइयां देता
मानो सकल ब्रहमांड!----
अन्तरतम में इसी ध्वनि की, कूक मधुर सी
सुन रहा मैं, लगा उतरने, मंत्रमुग्ध सा
'एक और अमृत बूंद, कर रही तेरी प्रतीक्षा।'
कितनी सत्य थी यह कूक, मधुर पुकार।
मिल गई वह, बिना मांगे, स्वप्न में देखी स्थली!----
अवलोकी मैंने हृदय, नैनो से, हो अवाक।-----
निश्चय ही किसी शुभ घड़ी में, देखा होगा
गहन स्नेह से हो प्रभावित, हो प्रेरित
की होगी दृष्टि केन्द्रित, असाधारणतया से
तभी के हुई होगी प्रतिबिम्बित, अन्तरतम की
अर्धचेतन और अचेतन गहराई में।
एक मोड़, और फिर दूजा, उतर रहा मैं
व्यग्रता से, और पहचान बढ़ी जा रही
इस प्रिय राह से! आगे, और आगे
जा रही थी राह लहराती, मानो
किसी यौवनमय वनदेवता के, विशाल
वक्षस्थल पर, लहराया इक यज्ञोपवीत!----
अब वह राह, अलोप होने लगी, 'नेरी'
एवं 'गुंच' झाड़ियों की हरी सघनता में,
जिन्हें निहारते, हुआ उजागर, स्मृति पटल पर
इक और दृश्य तब, दूर हुए उस प्रिय अतीत का----
रात चान्दनी, ठंड में ठिठुरती मैं
चोर सा, दबे पांव, आ गया हूँ, तेरी
'हट' के बाग़ीचे में, वहां, जहां तू
है ठहरी परिवार सहित, अवकाश-दिनों में,
कालेज की परीक्षा में हो उत्तीर्ण।
तेरी मेरी जान, खतरे में डाल, कांपते हाथों से
तेरी चारपाई से लगी खिड़की के कांचों को
हूँ कुरेदता नाखूनों से, धीमे धीमे,
फेंकता हूँ मैं उन काँचों पर नन्हीं कंकरिया।

ज़रा खोल खिड़की, तू सहमी हुई धीमे स्वर में
ताड़ना करती, 'हाय भगवान। सौगंध मेरी,
जाइए यहां से, अभी ही फौरन!
कल प्रातः, चाहे जल्दी आए, तभी मिलूँगी
विचरण करती, बाहर कहीं, कहीं अकेली!'—
तब बेचैन, ठौर ठौर भटकता मैं
जा बैठा हूँ गिरजे समीप। देखता हूँ
ऊपर, खिलनमर्ग पर बिछी, श्वेत हिम चादरें,
और अपने आसपास अस्त होते चन्द्रमा की
फीकी पड़ रही दीप्ति में, झिलमिलाती
कंपकपाती नन्हीं ओस बुंदियां असंख्य,
बुंदियां गुनगुनाती है, मौन सा संगीत। फिर
धीरे-धीमे फैलने लगी है, दूर तक
उषा काल की हल्की धुंध श्वेत चुनरी सी।
झकोरे ले रही थी शीतल, प्रातः पवन
पर सहला न सकी; मेरा तपता बदन।—
देख उजाला प्रथम किरण का पूर्वाकाश में,
पुनः चला आया तेरी खिड़की तले मैं।
तुझे भी, संभवतः, था आभास कि
लौट आऊँगा मैं, समय से पहले ही।
खुले थे ताक, खिड़की के। फिर से कंकरी फेंकी मैंने।
प्रत्युत्तर था, केवल मौन। फिर हुआ आभास किसी के
शैय्या त्यागने का जान गया हूँ, तू है।
तो भी, चौंक आहट से, घबड़ा कर मैं
चुपचाप उतरता, भाग हूँ आया 'हट' के
लकड़ी जंगले के निकट, एक वृक्ष के
तने से हूँ सिमट सा गया। तब आई है तू।
मेरे स्नेह त्रिषित नेत्रों के लिए
बन मुंह मांगा, मन चाहा वरदान।
काले बार्डर की, केसरी सूती साड़ी
बिखरे से लम्बे केश, पवन में लहरा से रहे,
अंग पर रेशमी हरा ब्लाऊज
पर्वतीय ठंड से अपना तन बचाने के लिए
पल्लु से अपना अव ढकने की चेष्टा में।

तेरे भरे, सुडोल, कोमल अंग निखर रहे थे।
दबे पांव, चुपचाप निकल आए हम
'हट' से बाहर विचरण करने,
किस ओर, नहीं; नहीं याद यह----
हाँ पर अवश्य, याद है इतना
कि यहीं, अंत में यहीं, सघन झाड़ियों
बूटियों वाली, इस स्थली पर पहुंच के हम
गए थे खो, अलोप हुए थे सकल जगत से।
संयम खो, मुदित उन्मादित हो, मैंने
तेरा अंग अंग था स्नेह से निहारा
बारंबार, चुम्बित किएमैंने, कमल दल कोमल,
सदैव के लिए अपना आप, अर्पित किया तुझको
और तू भी, अर्पित हो मेरी; मेरी, मेरी हुई थी।------
मौनधारिणी सदा रही तू, आज भी यदि
चिरकाल बाद, पूछूँ तुमझे, तो मौन रहोगी
अनपे बीते, सुख-दुखों की दुनिया
के समुद्र को, अन्तरतम में छिपा रखोगी,
वहन करोगी अपनी स्वाभाविक
धैर्यमयी शान्त शीलतला में ही संपूर्ण।
किन्तु, फिर भी दावा मेरा, कि उन
अमृत अमर क्षणों में वसुंधरा के
वक्षस्थल पर, शोभायमान, श्रृंगारित
अनुपम अलौकिक चन्द्रहार से
काशर देश-कश्मीर का, अणु अणु
अपने सकल रस-रंग स्पर्श सुगंध ले
हुआ था पुंजित सदा, सदा के लिए
स्नेह भरे तेरे-मेरे होठों पर ----
और, फिर लौटे कदम हमारे
स्नेह मिलन की अमर स्थली से,
हो अभिशापित, ज्ञात या अज्ञात भाग्य से,
मानो किसी निर्दयी व्याध-वाण से होकर छलनी
विरह वियोग की अन्तहीन असीम, राहों पर
यदि कहें हम, खोजती है राहें बुद्धि,
तो हृदय ही, वो देता है उसे प्रेरणा चलने की

और यदि राह के राही हों प्रेमी युगल
तो बुद्धि नही, हृदय, तर्क नहीं सच्चा स्नेह
हिसाब नहीं सौंदर्य ही, मिलाता है कदम से कदम।
और वह वरदान, विभूति भी तो, जो
मिली हम दोनों को कश्मीर के सौंदर्य की
जो रही चिर संगिनी, सहवासी हमारी
अमर, अमिट, संपत्ति सांझी, जीवन भर।----
रही थी जन्मदायिनी जीवन दायिनी हमारे नेह की
तीसरी भागीदार!

बस! इतना ही!
यही थी वह याद, अभिव्यक्ति जिसकी
चाहता था करना, मेरा अन्तरतम
मेरा चेतन, अर्धचेतन, अचेतन मन
कल्पना या सत्य, जय या पराजय
नही मुझे आवश्यकता इस विश्लेषण की,
यह जानता हूँ कि उस क्षण से तू
पल-पल दिवस रात्रि प्रातः संध्या
मेरे रोम-रोम में, ही विराजती।

इसीलिए तो, हम दोनों हैं, विचरण कररहे,
हंसते-खेलते, हाथ में हाथ ले स्वच्छन्द,
आनन्दित, संपूर्ण स्वतंत्रता से
गुलमर्ग के इस छोटे से, रत्नजडित
अन्तरवाह्य ज्योतिपूर्ण ब्रह्मांड में।
आज, इस घड़ी मेरी अनुभूति
के पूर्ण सत्य पर, पूर्ण विश्वास की
है मुझे स्वतंत्रता!-----

आज हम दोनों ने 'वावा ऋषि' पहाड़ी पर
चढ़ने का किया है निश्चय
इस छोटी पहाड़ी से लौट उतरती राह में
है जो इक प्राचीन सुन्दर पड़ाव------।

(पंजाबी से हिन्दी रुपान्तर संतोष साहनी द्वारा)

•

कहानियाँ

सूची

१- अन्तिम चित्र

वसन्त क्या कहेगा?	११७
ओवर कोट	१२१
वापसी व वापसी	१२६
शाहज़ादों का ड्रिंक	१३८
ज़र्रे	१४७
दोपहर का सर्वनाश	१५४
तिलस्म	१६३
पालिशवाला	१७०
शैवरले-टैवरले-हैवरले	१७३
बिज़नेसमैन की डायरी	१८०
एक मधुर याद	१८६
अन्तिम चित्र	१६२

२- ढपोर शंख

बलराज साहनी

अन्तिम चित्र

कहानी संग्रह

एक बात

भूमिका के नाम पर कहने को तो कुछ था ही नहीं लेकिन रस्म-अदायगी के तौर पर कुछ लिखना ही पड़ा। कहानी-संग्रह छपवाने का कभी मैंने विचार ही नहीं किया था हालांकि कई एक प्रकाशकों ने इसे प्रकाशित करने के लिए कई बार मुझे लिखा। लेकिन इस सम्बन्ध में देवेन्द्र के एक के बाद कई खत आये तो मैं इस उत्साही प्रकाशक का दिल न तोड़ सका और मैंने इस संग्रह को छापने की अनुमति लिख भेजी। इनमें से ज्यादातर कहानियाँ आज से लगभग बीस बरस पहले की लिखी हुई हैं। तब मैं शान्तिनिकेतन में अध्यापक था। तब गुरुदेव टैगौर जीवित थे। उनके व्यक्तित्व का मेरे जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इनमें से कुछ कहानियां समय-समय पर हँस, विशाल भारत तथा धर्मयुग में प्रकाशित होती रही है। "शाहज़ादों का ड्रिंक" मेरी सबसे पहली कहानी है। इच्छा रहते हुए भी इधर मैं लेखन कार्य की ओर अधिक समय नहीं दे पा रहा हूँ और जो कुछ लिखता भी हूँ वह अपनी मातृभाषा पंजाबी ही में। मैं चाहता था कि इस संग्रह में चार-पाँच नई कहानियाँ और जोड़ दी जायँ मगर प्रकाशक के पास इन्तज़ार करने का समय ही नही था। अगर प्रस्तुत संग्रह पाठकों को पसन्द आया तो आयंदा भी किसी और रचना के छपने की आशा की जा सकती है।

देवेन्द्र बाहरी ने इस पुस्तक को प्रकाशित करने में जिस तत्परता और लगन का परिचय दिया है वह निःसन्देह प्रशंसनीय है।

समझ नहीं पा रहा हूँ कि उसे क्या धन्यवाद दूँ।

-बलराज साहनी

जुहू,
बम्बई
1957

वसन्त क्या कहेगा ?

जीवन की कितनी घटनाएं ऐसी होती हैं, जिनकी कहानी नहीं बन सकती, लेकिन उनकी याद कुछ ऐसा विलक्षण आनन्द दे जाती है कि व्यक्ति उसे हृदय से लगाये विना नहीं रह सकता। और इस याद को ताज़ा करने के लिए फ़िजूल-सी चीज़ें काफ़ी हैं-गुसलखाने में किसी विशेष सावुन की खुशबू, तेज़ हवा में रोशनदान की ठक-ठक...

उनके पास तीन ही तो कमरे थे। तिस पर गीली दीवारें और चूहों की पीठ पर टिके हुए फ़र्श। कोई वस्तु ठिकाने न थी। छतों पर जालों की मसहरियाँ लग रही थीं, दीवारों के जोड़ों में छोटे-छोटे कीड़ों के तरतीबवार तम्बू लग रहे थे, जिन्हें मंजु और माधव अपनी आर्थिक समस्याओं पर विचार करते समय असामान्य एकाग्रता से छीलते रहते।

इन तीन अपर्याप्त कमरों के पीछे एक बड़ा भारी बाग़ था। पुराने ढंग का। उसके अग्रभाग में लकड़ी की ब्रैकेटों पर लदी हुई अंगूर की बेलों की लम्बी-लम्बी सुरंग-सी थी। सुरंग के अन्त में एक विशाल फुलवाड़ी थी, जिसमें डैफ़ोडिल, हालीहाक, लेडी आफ़ दि नाइट आदि विदेशी फूलों की क्यारियाँ थीं। इसके बाईं ओर बीसेक बीघे का नन्दन वन था, जिसमें लीची, आम, लुकाट, नाशपाती आदि के अगणित पेड़ थे। दाहिनी ओर संगमरमर की सिलों से जुड़ा हुआ एक तालाब था, जिसमें कमल खिलते थे। तालाब के किनारों पर सेठ साहब ने संगमरमर की कुछ बड़ी बड़ी नग्न मूर्त्तियाँ बम्बई से मँगवाकर लगवाई थीं। बीच में एक फव्वारा भी था। और आगे चलकर सरू-वृक्षों से अंकित कई लॉन थे, जिनमें सैकड़ों प्रकार के फूल खिला करते थे। (इससे आगे जाना मंजु पसन्द नहीं करती थी, बाग़ तो था।)

माधो इस बाग़ की और साथ वाली कुछ कोठियों की देखभाल करता और किरायेदारों से किराया वसूल करता था, जिसके एवज़ में उसे तीस रुपये माहवार मिलते और रहने के लिये कमरे।

सेठ साहब सुबह-शाम आकर स्वयं अपने उद्यान की देखभाल कर जाते। थे इतने मोटे कि लॉन के जिस हिस्से पर चहलक़दमी कर जाते, वहां घास कई दिन तक सिर न उठा सकती। आस्ट्रेलिया, हालैंड, काश्मीर इत्यादि दूर-दूर के देशों से सेठ जी बीज मँगवाते, और नई क्यारियों पर जी खोलकर काम करते और ख़र्च भी। जीवन में यही एक उनका मनोरंजन था।

उनके कार्यक्रम में मंजु को बेहद दिलचस्पी थी। ज्यों ही उनकी पीठ मुड़ती, या बेंच पर पड़े-पड़े ऊँघने लगते, मंजु चुहिया की तरह घर से निकल कर बाग़ में जा घुसती और मालियों से धीरे-धीरे बात करती। उनसे सेठ साहब के नवीन आदेशों के बारे में पूछती और राय देती, नये फूलों के नाम रटती, और जब अवसर मिलता, अपने बालों को सजाने के लिए सेठ साहब की क़ीमती-से-क़ीमती क्यारी पर हाथ साफ़ कर देती।

सेठ साहब उसके 'सहयोग' से सख़्त अप्रसन्न थे। कई बार हार्दिक इच्छा हुई कि उसे पकड़कर पीटें, लेकिन तबीयत से सुस्त थे। और फिर उनका अपना कोई बाल-बच्चा भी न था।

यह कहा जा चुका है कि मंजु उद्यान के परले सिरे तक कभी न जाती थी। उससे उसे दिली नफ़रत थी। वहाँ हरियाली तो छू नहीं गई थी, थे केवल बीसियों बेढंगे दिगम्बर नंग-धड़ंग पेड़, जिनपर न पत्ते थे, न फल न फूल। जब से मंजु यहाँ पर रहने लगी थी, तभी से ये वैसे के वैसे खड़े थे।

जब मंजु ट्यूलिप, हेसिन्थ और गुलाब के गमलों को भिन्न-भिन्न पक्तियों में सजाकर हार जाती, तो उंगली मुँह में लेकर एकटक उन बेढब दरख़्तों की ओर देखती और उनके अस्तित्व की व्यर्थता पर हैरान हुआ करती। न फूल, व न पत्ते, न शक्ल, न सूरत- उद्यान का सबसे रमणीक भाग क्यों उनको भेंट किया गया था? क्या कोई विशेष रहस्य था इसमें? मंजु नित्य सोचती कि आज माधो से पूछेगी, लेकिन नित्य भूल जाती। यह उसकी आदत थीं। भाजी में नमक डालना भूल जाती, धोबी के कपड़ों वाली कापी खो डालती, तालियाँ भीतर छोड़कर संदूक बन्द कर देतीं- जीवन की आवश्यक बातें वह ठीक मौके पर हमेशा भूल जाती। तबीयत ही कुछ ऐसी थी।

इन पेड़ों को देखते ही उसे अस्पताल के सर्जिकल वार्ड में टंगे हुए अस्थिपंजर स्मरण हो आते, और वह सिहर उठती। कई दिन घंटों बैठकर उनकी सूखी टहनियों को पुचकारती रही, दिलासा देती रही, लेकिन कभी एक कोंपल भी उमड़ने में न आई। अब फ़रवरी का महीना सिर पर था। बुलबुलें आ गयी थीं। नरगिस और स्वीट पी फूट रहे थे, लेकिन ये बेढब पेड़ नियमानुसार अपनी नग्न निर्लज्जता का प्रदर्शन कर रहे थे।

छिः, क्या यह वसन्त का अपमान नहीं है?...वसन्त क्या कहेगा? आखिर बेचारी मंजु ने बाल्टियाँ उठाई और भर-भरकर उनकी जड़ों में पानी उड़ेला और फिर पास बैठकर उनकी सूखी टहनियों को हाथ से सहलाया। किन्तु व्यर्थ- न कहीं पत्ता और न कहीं पत्ते की शक्ल। आखिर सेठ साहब की मूर्खता पर खिन्न होकर मंजु ने फैसला कर लिया कि इस बाग़ का सुधार करना अब उसके बस की बात नहीं। उसने प्रण किया कि जब तक माली उन वृक्षों को काटकर जला न देगा, वह बाग़ में क़दम ही नहीं रखेगी।

लेकिन अभी इस प्रण को एक सप्ताह भी न होने पाया कि माधो मंजु को ज़बरदस्ती खींचकर बाग़ में ले गया। उस रात वायु में कठोरता कम थी, और शिशिर का चांद भी मानो कुछ गरमाई पाकर अधिक स्निग्ध और दीप्तिमान हो उठा था। घास मखमल की तरह चमक रही थी और बीच-बीच में फूलों की क्यारियाँ सलमे-सितारे की तरह जगमगा रही थी।

मंजु आँख मूँदकर सिर को ऊपर-नीचे और दायें-बायें हिलाती हुई कदम रख रही थी। ऐसा करने से फूल उसे नाचते हुए-से मालूम देते थे, और साथ ही ये कम्बख़्त कुरूप नंग-धड़ंग वृक्ष भी आँखों से छिप जाते थे।

माधो ने उसके खेल में विघ्न डालना चाहा, पर जब वह न मानी तब उसे अपनी बग़ल में लेकर बेंच पर बैठ गया। एकाएक उसने वही प्रश्न मंजु से पूछा, जो मंजु स्वयं कई दिनों से उससे पूछने वाली थी।

"मंजु, जानती हो, वे रूखे-सूखे पेड़ कौन-से हैं?"

मंजु का छोटा-सा मुँह एकाएक विस्मय से खुल गया। माधो ने कैसे जान लिया कि वह यही प्रश्न उससे पूछना चाहती थी? माधो सोचने लगा, मैंने कौन-सी ऐसी बात कह दी, जिससे इसे इतना बड़ा मुँह खोलने की आवश्यकता हुई? किन्तु वह मंजु के स्वभाव को कुछ-कुछ समझने लगा था। एकाएक उसने झुककर मंजु के उठे हुए मुँह पर अपना मुँह रख दिया और फिर मंजु के साथ सटकर बैठता हुआ बोला- "पगली, ये वही पेड़ हैं, जिनके झड़ते हुए फूलों के नीचे हमने पहली बार एक दूसरे को चूमा था।"

आश्चर्य से भरकर मंजु केवल इतना ही कह पाई- "अलूचों के?"

उसके सारे शरीर में सिहरन दौड़ गई, उसका रोम-रोम उसी तरह पुलक उठा, जैसे एक बार पिछले साल इन्हीं दिनों में, जब माधो ने चुपचाप उसका अचेष्ट हाथ अपने हाथों में ले लिया था...और फिर सायंकाल दोनों छिपकर सैर को निकल गये थे...और...चोरों की तरह किसी के बाग़ की दीवार के पीछे नंगी ज़मीन पर बैठ गए थे...माधो ने क्या कहा था?...

"मंजु, मैं- मैं नहीं जानता, मुझे क्या हो गया है, किन्तु मुझे रात को नींद नहीं आती। मैं-तुम-तुम्हारे साथ-क्या तुम मेरा भाव समझ गयी हो?"

मंजु ने सर को आवश्यकता से अधिक हिलाकर कहा था-"नहीं..."

माधो ने और भी पास जाकर क्या कहा था- "हम दोनों एक दूसरे के साथी हैं। मैं तुम्हारी मदद करूँगा। तुम मेरी मदद करना। इसमें कौन-सा अपराध है ?"

मंजु ने कहा था- "फिर मुझे पढ़ाओगे ?"

और माधो ने उसका हाथ पकड़कर प्रतिज्ञा की थी- "अवश्य" ! और मंजु ने मानो किसी गम्भीर चिन्ता में आँखें बन्द कर ली थीं... माधो के ओठ बढ़ते आ रहे थे, बढ़ते आ रहे थे। उसी क्षण कहीं आहट हुई थी और माधो के ओठ उसके गाल पर आ लगे थे, और उसने कहा, "चलो भागें यहाँ से कोई आ रहा है।" लेकिन मंजु न हिली थी। बल्कि अपने दुपट्टे को मुँह पर तानकर वहीं पड़ रही थी। उसी समय तीन-चार मज़दूर वहाँ से गुज़रे थे और दोनों को देखकर दिल खोलकर हँसे थे। जब वह उठी थी, तो उसका दुपट्टा बर्फ़ जैसे सफ़ेद फूलों से भरा हुआ था...

माधो ने कहा- "हां, ये वही अलूचों के पेड़ हैं।"

माधो ने आज तक उसे कुछ भी नहीं पढ़ाया, और यदि सोचा जाय, तो तकलीफ़ें भी हज़ार दिलवाई हैं। किन्तु इन बातों को याद न करके मंजु ने उठकर बारी-बारी से सभी प्रेतकाय वृक्षों को सहलाया, प्रत्येक से कुछ कहती हुई बढ़ती चली। माधो चुपचाप देखता रहा।

उसी रात अलूचों की नई कोंपलें फूट पड़ीं। और प्रातःकाल उन पेड़ों के पास खड़े होकर सेठ साहब बड़बड़ा रहे थे- ''आज फिर क्यारियों में पैर मार गयी है। लड़की है कि आफ़त। अभी कहीं सामने आ जाय तो-''

मंजु ने दूर से सुन लिया।

ओवर कोट

शाम के छः बजे इकबालनाथ सख्त चिन्तित था कि कैसे अपने-आप को संवार सके। उसने अपने एकमात्र सूट में कई दोष देखे। कोट की बाँह पर चूने की तह जमी थी, जिसे बिना ब्रश के परिष्कृत करना असंभव था। वह ब्रश कहां से लाये? कुछ साहस कर, कुछ संकोच कर, आख़िर ऊपरवाली छत के पड़ोसियों से ब्रश तो माँग लिया, किन्तु देखा कि केवल बाँह को ब्रश करने से काम न चलेगा। एक स्थान पर ब्रश कर चुकने पर दूसरे स्थान पर मैल नज़र आने लगती, और वक्त तंग था। पतलून का जेब झिरा हुआ था। बूट तो पालिश करवा लिये थे, किन्तु जुराबों की एड़ियां फटी हुई साफ़ नज़र आती थीं। बाहर की जेब के लिए रूमाल भी न था। आखिर किसी तरह, इस विश्वास को अग्रसर करके कि इतने ध्यान से देखता ही कौन है, अपनी अन्धकारमयी संक्षिप्त कोठरी को ताला लगाकर गाल्फ़ रोड की ओर धड़कते हुए दिल से रवाना हो गया।

यदि वह इस समय माल रोड पर पदार्पण करता तो उसकी झुरड़-मुरड़ पतलून, अनफब टाई व उद्धत बालों को देखकर, संभव है, कई परिचित भद्र पुरुष मुस्करा उठते। नये ज़माने का विद्यार्थी वर्ग उसकी पतलून गुथलीनुमा सीट पर कई कसीदे बनाता। किन्तु शाहालमी दरवाज़े की खचाखच भीड़ में वह एक साहब की भाँति चला जा रहा था। तांगेवाले आशा भरे नेत्रों से उनकी तरफ़ देखते, भिखारी ईश्वर के खज़ाने भरपूर रखने की दुआएँ करते। कोई यह अनुमान न कर सकता था कि वह लाहौर की एक संकीर्णतम गली में एक शताब्दी पुराने घर के सबसे सीले कमरे का अस्थायी स्वामी है, अथवा उसके आनन्द का एकमात्र साधन केवल एक टूटी हुई खाट है, जिसकी गहराई में लुप्त होकर वह कभी-कभी सारा दिन सिगरेट पीने में ही गुज़ार देता है।

यह होता भी कैसे? आज वह जिस तेज़ रफ़तार से भीड़ को चीर रहा है, उससे तो यही प्रतीत होता है कि इस शहर में यह एक व्यक्ति है, जिसका हर क्षण कीमती है। उसके चेहरे पर व्यग्रता है और कुछ रौनक़ भी, कर्नल ने उसे घर पर बुलाया है। यदि कोई विशेष कारण न होता तो क्या आफ़िस में ही न बुला लेता? यह रहस्य उसने अभी अपने घनिष्ठतम मित्रों को भी नहीं बताया। पहले जब भी कोई ऐसा अवसर बनता था, वह लोगों से बात छिपाकर न रखता था, और अन्त में सभी भी दृष्टि में उसे लज्जित होना पड़ता। उसका मित्र महेन्द्र कैसे चुपचाप जोधपुर के कालिज में लेक्चरर जा लगा, हालांकि सभी को उसने यही विश्वास दिला रक्खा था कि वह पत्रकार की नौकरी ढूंढ़ रहा है। और जमील, और रूपकिशन? सभी अपने-अपने रहस्य को छिपाकर रखते थे और ईश्वर जाने कैसे उसी के अवसर छीन ले जाते थे। लेकिन आज इकबालनाथ को भी विश्वास था कि शगुन अच्छा है। अवश्य किसी ने उसके बारे में कर्नल से दो शब्द

कह दिये होंगे। पहले-पहल वेतन कितना मिलेगा, एक सौ बीस। कितनी शान होगी। माँ कितनी प्रसन्न होगी, पिता भी आदर से बात करेंगे। अच्छा पहनने को मिलेगा, अच्छा खाने को। मित्रों के सामने भी वह धुल-मिलकर बातचीत कर सकेगा। यह संकोच, यह ग्लानि, जो अन्दर ही अन्दर उसे कई महीनों से खा रही थी, हट जायगी। उसके जीवन का सर्वस्व एक नौकरी पर अवलम्बित था। यदि यह हो गया- यदि यह हो गया, जो वह कुसुमा को आज सारी रात बैठ कर एक लम्बा व्याकुल प्रेमपत्र लिखेगा। यदि आवश्यकता हुई तो संसार से छीनकर भी उसे अपना बना लेगा।

बाज़ार शनैः शनैः चौड़े होते गये, भीड़ व गन्दगी कम होती गई। दुकानों के थड़े बाहर से हटकर भीतर चले गये। सजी शीशे की खिड़कियाँ दिखाई देने लगीं। मोटरों का ताँता बँध गया। सिनेमा के मोहक पोस्टर लाायायित करने लगे।

लारेन्स गार्डन में पहुँचने तक रात हो गई। चिड़ियाघर के पक्षी कभी अपने स्वतन्त्र वृक्षारूढ़ हमजिन्सों के साथ मिलकर गाते, कभी चुप हो जाते। इकबाल को ठंड लगने लगी। हाथों की उंगलियों में दर्द-सा होने लगा। सोचा, यदि कर्नल के घर ठिठुरता हुआ पहुंचा तो बातचीत क्या करूँगा, खाक। इसलिए कुछ दौड़ लिया। हाथों को बग़ल में देकर गर्म किया।

बंगले के बाहर पहुँचकर एक गन्दे रूमाल से बूट साफ़ किये, ताकि कर्नल जान सके कि ताँगे पर आया है। फिर आड़ में होकर बाल ठीक किये। मन को आश्वस्त होने का आदेश दिया, फिर बजरी पर महत्वपूर्ण आहट करता हुआ बंगले के अन्दर दाख़िल हुआ।

गोल दरवाज़े पर चपरासी कोई न था। यदि दिन होता तो कितनी देर बाहर लटकना पड़ता। लेकिन अफ़सरों की नियमावली से इकबाल को अब तक परिचय हो चुका था। उसने बढ़कर किवाड़ पर दबी-सी दस्तक दी।

कर्नल कपूर स्वयं बाहर निकले और बड़ी भद्रता से कहने लगे, "आइये, आइये, कम इन।"

इकबाल ने 'धन्यवाद' कहा और अन्दर कदम रखा। कमरे का वायुमंडल बाहर की अपेक्षा ख़ूब गर्म था। अंगीठी जल रही थी और उसके सामने आराम कुर्सियों पर दो युवक, एक युवती और एक छोटी बालिका बैठे थे।

"इतनी-सर्दी में आप बिना ओवर कोट चले आये? सचमुच नौजवानों को सर्दी कम लगती है।" कर्नल ने आश्चर्य से कहा।

दिल ही दिल इकबाल ने अपने आप को कोसा। क्यों न वह किसी से मांगकर ओवरकोट ले आया? कई बार उसने अपने "भावी" अफ़सरों को प्रभावित करने के लिए थर्ड से बदलवाकर सैकंड का टिकट कटवाया है, ताकि उनके साथ वाले डिब्बे में सफ़र कर सके, होटलों में कई शाम कड़वा बीयर का गिलास सामने रखकर बैठा रहा कि कोई अफ़सर एक बार देख ले कि किसी अच्छे घराने का लड़का है। सैकड़ों रुपये इसी आडम्बर पर बर्बाद किये हैं, किन्तु आज के दिन इतनी आवश्यक बात एकदम भूल गया। "एक मित्र माँगकर ले गया था, उसने वापस नहीं किया," आखिर उसने लापरवाही से हँसकर उत्तर दिया।

कर्नल से ऐसे सहानुभूतिपूर्ण बर्ताव की इकबाल को बिल्कुल आशा न थी, वह अब तक भूल ही चुका था कि अफ़सर भी सजीव मनुष्य होते हैं।

कर्नल ने बड़े आदर भाव के साथ उसे अपने कुटुम्ब से परिचित कराया। अंगीठी के साथ वाली कुर्सी पर बैठने के लिए बाधित किया जिस पर वह खुद बैठा करते थे। कुछ देर एक स्वप्रवत संसार में आलाप होता रहा। एक छोटा गिलास शैरी का भी इकबाल की भेंट हुआ। कुछ ही क्षण में उसपर उनकी साधारण नम्रता ने ऐसा जादू किया कि वह भूल ही गया कि मैं यहाँ हस्पताल की हाउस सर्जिनी की खोज़ में आया हूँ। उसकी देर से सुप्त मानवता जागृत होने की चेष्टा करने लगी। अब चाहे नौकरी मिले, न मिले, इन लोगों ने मुझे अपने जैसा ही एक मनुष्य समझा, क्या यह काफ़ी नहीं?

कुछ देर बाद कर्नल का इशारा पाकर लड़के-लड़कियाँ उठकर चले गये। रेडियो भी बन्द हो गया। कर्नल और वह आराम से एक दूसरे के सामने बैठकर बातें करने लगे। इधर उधर की, उधर इधर की। जिस आराम और सुख की सामग्री के इकबाल स्वप्न लेता था, वह सब यहाँ मौजूद थी। और कर्नल का बातों से यह कदापि सूचित न होता था कि वह कोई पराया आदमी है।

''आपका स्टूडेण्ट कैरियर इतना अच्छा रहा है, आप विलायत क्यों नहीं जाते?''

''जाऊंगा तो अवश्य, मुझे सर्जरी में बेहद दिलचस्पी है, किन्तु मेरी आर्थिक परिस्थिति अभी कुछ अच्छी नहीं है। मेरे पिता रुपये का इन्तज़ाम तो कर सकते हैं, किन्तु दरअसल बात यह है कि वह मुझे ठीक पहचानते नहीं। मैं भी स्वतन्त्र तबीयत का आदमी हूँ और जब तक उन्हें दिखा न दूँ कि अपने पैरों पर खड़ा हो सकता हूँ, मैं उनसे बेदिली से दी हुई सहायता लेना नहीं चाहता।''

कर्नल की रुचिपूर्ण समर्थन पाकर इकबाल बोलता ही गया। वह स्वयं नहीं जानता था कि वह क्यों इस आवेश में आ गया है, लेकिन अपने आपको रोक न सका। अपने जीवन की सभी महत्त्वाकांक्षाओं को, सभी अड़चनों को गिना गया। जो प्रशंसा-पत्र साथ लाया था, दिखाना भूल गया, जिन बड़े आदमियों से कुछ दूर के रिश्ते थे, उनके नाम भी न लिये। यही जताने की कोशिश करता रहा कि संसार में मैं भी कुछ हूं। मैं क्या नहीं कर सकता ! कर्नल सहज मुद्रा में बैठा सब सुनता रहा, कोई टीका-टिप्पणी न की। यदि इकबाल को यह रहस्यपूर्ण चेहरा केवल सौहार्दपूर्ण व सूक्ष्मदर्शी दिखाई दे रहा था, तो इसमें कर्नल का कुछ कसूर न था।

आखिर बात खत्म हुई। कर्नल ने अन्त में केवल इतना कहा कि वह कुछ दिनों बाद इकबाल को सूचित करेंगे। उन्हें अपने डिपार्टमेन्ट में एक निःस्वार्थ एवं आत्मनिर्भर नवयुवक की ज़रूरत थी और वह प्रसन्न थे कि इकबाल ऐसा ही नवयुवक हैं। किन्तु निश्चित कुछ कह नहीं सकते।

इकबाल ने मुस्कराकर सिर हिलाया और बड़े उत्साह के साथ कर्नल के प्रस्तुत हाथ को अपने हाथ में लिया और यह कहकर कि- ''नौकरी मिले या न मिले, मेरे लिए यह बात कोई महत्त्व नहीं रखती। मुझे आप जैसे व्यक्ति को मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यही काफ़ी है,''- बिदा हुआ।

जब वह बाहर निकला तो कर्नल साहब ने अपने मित्र भाव का एक अन्तिम परिचय दिया- "सर्दी बहुत है। मेरे पास एक दूसरा ओवर कोट है, यदि आपको एतराज़ न हो तो शौक से ले जाइये, कल आफ़िस में भेज दीजियेगा।"

इकबाल के लिए आत्म-सम्मान की इससे बढ़कर और क्या बात हो सकती थी। नौकर ओवर कोट ले आया। कर्नल ने स्वयं पहनाने में मदद दी और कहा- "यह तुम्हें ख़ूब फबता है।"

अन्धकार में फिर विलीन होकर इकबाल ने ओवर कोट के कालर ऊपर उठा लिये और जेबों में हाथ डालकर उल्लासपूर्ण हृदय से चलता बना, जैसे कोई भटका हुआ सैनिक रात-भर किसी आनन्दमयी कुटिया में विश्राम पाकर वापस युद्धक्षेत्र में जा रहा हो।

कुछ कदम जाकर उसने देखा कि दायें जेब के कोने में एक दुअन्नी पड़ी है। उसने सोचा, वापस दे आऊं, लेकिन फिर कहा- "पड़ी रहने दो कौन-सी बड़ी रकम है।" लेकिन इसके बाद उसे बाक़ी जेब टटोलने का भी कौतूहल हुआ। जब अन्दर की जेब में हाथ डाला तो देखा कि एक पांच रुपये का नोट और कुछ नकदी पड़ी है। इकबाल ने निश्चय किया कि अब इन्हें वापस न करना ज़्यादती है। लौटकर फिर दरवाज़ा खटखटाया किन्तु इस बार शुष्क से स्वर में एक आवाज़ आई- "कम इन।"

लड़के-लड़कियाँ फिर आ गये थे। रेडियो फिर बज रहा था। उसे देखकर वे सकुचा गये और कर्नल की आँखों में भी यत्किंचित आक्षेप की रेखा दिखाई दी। उनकी आशंकाओं पर जल्दी पानी फेर देने के लिए इकबाल ने वह नोट और पैसे कर्नल को पेश किये।

"ये आपके कोट में पड़े थे।"

कर्नल ने विस्मित होकर रुपयों की ओर देखा- "ये कहाँ से आये? यह तो पुराना कोट है, मैंने कभी पहना ही नहीं।"

"बाहर के कोट में एक दुअन्नी पड़ी थी। सोचा हज़म कर जाऊँ, किन्तु जब यह रकम अन्दर की जेब में पाई तो ठीक यही लगा कि लौटा आऊँ।"

इसकी यह टीका हास्योत्पादक न हुई।

कर्नल ने केवल इतना कहा- "अच्छा, थैंक यू।"

कर्तव्यपालन कर, कालर को ऊपर उठा, इकबाल ने अन्धकार में अपनी यात्रा पुनः आरम्भ की। किन्तु अब उसके मन में कुछ आशंकाएँ उत्पन्न हुएं। दूसरी भेंट में अवश्य कुछ अन्तर था। जैसे उसे दूसरी बार घुसने का कोई अधिकार नहीं था, चाहे उन्हीं का धन लौटाने जा रहा हो। नहीं, नहीं, केवल विस्मय था, शुष्कता न थी। दूसरी बार जाना भी तो अनावश्यक था। पैसे कल लौटा दिये जाते। या न भी दिये जाते तो क्या था। कर्नल को तो याद भी न थे। न न, जीवन में कुछेक सदनियमों का हमेशा पालन करना चाहिये। हो सकता है कि यह त्याग भी उसे नौकरी के निकट ले जाने में सहायता करे।

मन में एक विचित्र वाद-प्रतिवाद शुरू हुआ। इन्हीं पाँच रुपयों से वह एक सिनेमा देख लेता। महीने गुज़र चुके थे कोई फ़िल्म देखे हुए, किसी भी विलास का अनुभव किये। उसके बाद किसी रेस्टराँ में टाँगें पसारकर मुर्गे व रोग़न जोश पर हाथ साफ़

करता। तदनन्तर फ्रूटक्रीम का मज़ा लेता। न कर्नल की अमीरी में, न उसकी अपनी ग़रीबी में इन पाँच रुपयों से कुछ अन्तर पड़ता। संसार में केवल यही पांच रुपये थे जिनका एक-एक पैसा मानवीय मनोविनोद का कारण हो सकता था।

ईश्वर जाने नौकरी मिलेगी भी या नहीं। बड़े लोगों की नज़रों का भी कोई भरोसा है? कितना गधापन किया, बेलगाम होकर बकता गया। कभी ऐसी असंगत और मूर्खतापूर्ण भावुकता से अफ़सर लोग भी प्रेरित हुए हैं ! यह भी संभव है, कर्नल पहले ही किसी अपने सम्बन्धी को चुन चुका हो। क्या अमीर ग़रीबों को वृथा नचाकर तमाशा नहीं देखते? कितने ही उसके मित्र ऐसे थे जो कालिज के दिनों में इतने लम्बे-लम्बे वचन देते थे और अब मोटरों में बैठे मुंह फेरकर निकल जाते हैं। कल फिर दिन चढ़ेगा और हज़ार कठिनाइयों व असुविधाओं का सामना करना पड़ेगा। किन्तु यह पाँच रुपये कम-अज़-कम इस रात्रि को सौरभमय बना सकते थे। इनके बल पर भविष्य का आलोचन आशादीपित हो सकता था। फिर? नौकरी अवश्य मिल जायगी। वरना कर्नल को पहले तो उसे घर ही बुलाने की और दूसरे, इतनी आत्मीयता दिखाने की ज़रूरत ही क्या थी? यदि उत्साहित न करना होता तो भला यह और वह क्यों कहता? क्या संसार से कृपा भाव बिलकुल लुप्त हो गया है? कभी नहीं। दूसरी बार भी कर्नल इतना कोरा नहीं था जितना कि उसे प्रतीत हो रहा है।

इस प्रकार कभी अपने-आपको आश्वासन और कभी कष्ट देता हुआ वह चला जा रहा था। यदि बिजली के खंबे के नीचे बैठा हुआ कोई भिखारी अपना हाथ बढ़ाता, तो इकबाल सोचने लगता- 'इन पाँच रुपयों से मैं कम से कम तीस भिखारियों को भरपेट भोजन करा सकता था। और एक उदार-हृदय सम्राट की भांति उनके आशीर्वाद लेकर आराम से घर जाकर सो रहता।''

पांच रुपये उसके मन में विचित्र उन्माद पैदा कर रहे थे, क्योंकि उसकी नज़रों में वे रुपये किसी एक व्यक्ति का द्रव्य न थे। वह फूलों की तरह संसार में खिलने-खेलने के लिए आये थे, किन्तु उसकी मूर्खता-वश फिर कैद में ढकेल दिए गए। वे रुपये क्या न कर सकते थे? महीना-भर उसके कमरे में बिजली की रोशनी जलवा सकते थे। उसमें दो महीने तक रोज़ प्रातःकाल झाड़ू दिलवा सकते थे। कई दिन तक उसे लाल-लाल काश्मीरी सेब खिला सकते थे। सोलह जोड़े जुराबों के ला सकते थे, दो-एक टाइयाँ खरीद सकते थे।

क्रमशः बाज़ार संकीर्ण होते गये। सजी-धजी शीशे की खिड़कियाँ दूर रह गईं। मोटरों के स्थान पर टाँगों की घंटियाँ सुनाई देने लगीं। दुकानें अन्दर से हटकर बाहर आ गईं। भीड़ और गन्दगी बढ़ने लगी।

इकबाल ने नियमपूर्वक एक महरे की दुकान में प्रवेश किया। छोटे-से बक्स को चाबी लगाकर, उसमें से घी निकालकर तन्दूरवाले को दिया। खाना खाकर सनलाइट सोप की घिसी हुई चाकी से हमाम की दातन-जटित टूटी पर हाथ धोकर पास लटकते हुए गीले तौलिये से पोंछे। तत्पश्चात ओवर कोट के बटन खोलकर सूटवाले कोट के जेब में पैसों के लिए हाथ डाला। लेकिन ओह! बेचारा सुनहरी स्वप्नावस्था में अपना ही खज़ाना कर्नल को भेंट कर आया था।

वापसी व वापसी

लंगड़ू नूरअहमद ने सर्गी की निमाज़ पढ़ते वक्त कुछ तोपें दगती सुनी थीं। उसके बाद चपरासियों को नई वर्दियां पहने इधर-उधर दौड़ते हुए देखा था। लेकिन परवरदिगार की दरगाह से यह पूछने की कोशिश न की कि माजरा क्या है। नियमानुसार खुदावन्द ताला से सारे काश्मीरियों की, और विशेषकर दारोग़े की, चमड़ी कुत्तों के आगे डालने की दुआ करके वह चुपचाप अपनी लोई की तहों में सिमटकर बैठ गया, और कई घंटे बैठा रहा।

नियमानुसार बारह बजे लोहे का बड़ा फाटक कड़कड़ाया और दारोग़ा साहब ने अपनी छड़ी घुमाते हुए प्रवेश किया। उन्हें देखते ही नूरअहमद ने नियमानुसार अपना छः फुट चार इंच लम्बा शरीर एक टांग के भार उभारा और बड़े परिश्रम से गला साफ़ करते हुए तोला-भर बलग़म दालान में थूक दी। इस स्वागत पर आज दायें बायें की कोठड़ियों से हंसी की बजाय प्रतिवाद उठा, जिससे एकान्त-वासी नूर अहमद को पता चला कि आज महाराज का जन्मदिन है और शायद कुछ क़ैदी छूट जायेंगे।

यदि आठ साल इन तोपों के दगने का कुछ असर नहीं हुआ तो आज होगा, इसकी लंगड़ू नूरअहमद को आशंका न थी। लेकिन जब पिछले सालों की तरह कैदी कोठरियों में से लोइयाँ सम्भालते हुए निकले, तो नूर सोचने पर बाधित हुआ कि अब उसकी पत्नी की जवानी पर एक साल और पड़ जायगा।

और जब उसकी कोठरी के आगे से गुज़रते हुए दारोग़ा साहब के क़दम सहसा रुक गये तो उसका दिल भी रुक गया, और उसकी लाल आंखें डबडबा गईं।

कुंजी ताले में फिरी और उसे बाहर निकलने का आदेश हुआ। निकलते ही दारोग़ा साहब ने एक ऐसा चौरस थप्पड़ उसकी गर्दन में दिया कि उसकी टोपी मिट्टी में जा पड़ी। लेकिन उसे उठाकर नूरू अपनी मस्तमौला चाल से चलता गया। वह दिन पूरे हो चुके, जब थप्पड़ उसके मस्तक पर बल डाल सकते थे। कमखुश्क़िमत क़ैदी अपनी-अपनी कोठरियों से पूरी हार्दिकता के साथ उसे 'अल्विदा' क़ह रहे थे, लेकिन उसने न सुना, न ही यह सोचा कि उसके जाने के बाद उनका वक्त कैसे गुज़रेगा। किसी ने, ज़माने की हास्यास्पद रीति के अनुसार एक पुरानी कपड़ों की थैली उसे ला दी। किसीने पैसे दिये, किसीने अंगूठा लगवाया, किसीने मशीन पर चढ़ने को कहा। नूरू मन्त्र-मुग्ध की भाँति सब कुछ करता और अपनी बड़बड़ाहट से कर्मचारियों का दिल-बहलाव करता रहा। फाटक के बाहर पहुँचकर उसने बाक़ियों से आगे बढ़कर छाती पर हाथ रखा और अपनी गुस्ताखियों के लिए दारोग़ा साहब के आगे सिर झुका दिया। अपने इस अन्तिम मसखरेपन पर लोगों का हास्य सुनता-सुनता वह पहाड़ से नीचे उतरने लगा।

दस-पंद्रह क़दम उतरकर वह ठहरा। एक बार श्रीनगर के शहर पर और चारों ओर की फ़सल पर नज़र घुमाई। अपने मुहल्ले को पहचानने की कोशिश की। झील पर नन्हें-नन्हें शिकारों को रींगते हुए देखा। फिर आश्वस्त हो, अल्लाह का शुकर कर, उतरने लगा। सड़क पर क़ैदियों के सम्बन्धियों का जमघट-सा लग रहा था। चीं-चपड़ का बाज़ार गरम था, जिसे देखकर उसे नफ़रत हुई। स्वतन्त्रता की कल्पना करते समय उसने यह कभी न सोचा था कि बाहरी संसार में रोना-धोना भी होगा।

फिर उसकी गर्दन, जनसमूह से ऊपर उभरी हुई, घूम-घूमकर किसीको खोजने लगी। किन्तु थोड़ी देर बाद निराश हो गई और वह चल निकला। यह देखकर भीड़ के सम्पर्क से दूर पुल पर बैठा हुआ एक नवयुवक उठा और नूरू की ओर चला। उसकी दाढ़ी पान के पत्ते की तरह तराशी हुई थीं, रंग गोरा था, और वह हरे कोट व सफ़ेद लाल पट्टेवाली पगड़ी में सुसज्जित था। नज़दीक आकर अकस्मात उसने नूरू के पाँव छू दिये। नूरू सटपटा गया, और आवश्यक 'वार छुस' 'ख़ैर छुस' के बाद खिसकने लगा। स्वच्छ कपड़े पहनने वालों से उसे सख़्त नफ़रत थी। लेकिन नवयुवक ने उसकी बांह पकड़कर कहा, ''लाला, मुझे पहचाना नहीं?''

नूर तै न कर सका कि यह विनोद है या यथार्थ। उसने नवयुवक को सिर से पैर तक देखा। न, न, यह छेड़खानी नहीं थी। नवयुवक की आंखें सरल थीं और उनमें कुछ नाहक उसे अपनी ओर खींच रहा था। नवयुवक ने कहा- ''लाला, मैं हबीब हूं।'

''ओ हबीब ? ओ बेशरम?'' नूरू ने नवयुवक को छाती से लगा लिया। उसकी लाल आँखें फिर उमड़ आईं और उसकी मुस्कराहट सुख और दुःख की सीमाओं में निरर्थक-सी पंक्ति खींचने लगी। लेकिन नवयुवक को यह भावुकता अच्छी न लगी, क्योंकि इसमें कई महीनों के बिन नहाये शरीर की बू थी। वह अलग होने की कोशिश करने लगा।

''हबीब ? ओ बेशरम ? तू इतना बड़ा हो गया,'' पिता ने पुत्र को फिर से निहारते हुए कहा।

''लाला, आठ साल हो गया।''

''हां, आठ साल हो गया,'' नूरे ने साँस छोड़ते हुए कहा और दोनों आगे बढ़े। कुछ देर की चुपचाप के बाद हबीब ने गंभीरता के साथ पूछा :

''लाला, अब तुम क्या करोगे ?''

नूरू को यह प्रश्न भद्दा-सा मालूम हुआ। आठ साल की पाशविक कैद से छुटकारा पाकर दोज़ख की पहाड़ी से अभी उतरा हूं और मेरे पुत्र के पास स्वागत का केवल यही साधन है कि मुझसे पूछे कि अब मैं क्या करूँगा? क्या इसे किसीने नहीं सिखाया कि ऐसी बात नहीं कही जाती? नूरू खिन्न हो गया। यह वह हब्बू नहीं था जो पुलिसवालों को जतन करने पर भी बाप के कन्धे से नहीं उतरता था, जिसके रोते हुए चेहरे की स्मृति ने उसके जीवन में तूफ़ान पैदा कर दिया था। इस पान के बादशाह की-सी दाढ़ी और अकड़े हुए कपड़ों वाले को अपने बाप से शरम आती थी। शायद रहती भी इसी कारण नहीं आई। क्यों आये? कभी चोर के घर आने पर भी किसीको ख़ुशी हुई है?

लेकिन नहीं, नहीं। उसने प्रेम-भरे नेत्रों से अपने पुत्र की ओर देखा। कितना सुन्दर चेहरा था, कितना पौरुषमय डील डौल। कुछ दिनों तक ये लोग स्वयं ही देखेंगे कि नूरू कितना बदल चुका है। लेकिन रहती क्यों नहीं आई ? कहीं बीमार न हो, कहीं मर ही तो नहीं गई? भला पूछूँ तो? फिर रूक गया। हब्बू सोचेगा, बाप कितना निर्लज्ज हो गया है। उसे अब यह अवसर नहीं देना चाहिये। उसने पुत्र के सवाल का जवाब सवाल में दिया- 'तू अपना अहबाल सुना।'

हब्बू का चेहरा तमतमा गया। वह इसी इन्तज़ार में था। उसके वरदी पहनकर आने, व बाक़ी लोगों से अलग होकर बैठने का अभिप्राय ही यह था कि संसार जान ले कि वह मामूली आदमी नहीं है। शायद उसे देखकर बाप को भी उपदेश मिले कि स्वच्छता व पारसाज़ी बुरी वस्तु नहीं। अट्ठारह वर्ष की अवस्था में ही उसके जीवन की महत्त्वाकांक्षाएँ बर आई थीं, यह श्रेय किस किसको हासिल होता हैं? वह एक प्रभावशाली अंग्रेज़ का बैरा है। दिन-रात, जीवन का एक-एक क्षण साहब की सेवा में व्यतीत करता है। घर जाना, अपने सम्बन्धियों के मुहल्ले तक में क़दम रखना उसे मुसीबत है। कई सड़कें ऐसी हैं, जिनपर से गुज़रने की बजाय दो मील का चक्कर काटना उसे ज़्यादा मंजूर है। ऐसा बाप, और अब ऐसी माँ, बिरादरी तो उसे कच्चा चबा डाले।

"मैं राम-मुन्शी बाग़ में गिटमैन साहब की कोठी पर नौकर हूं। दो साल हुए काम शुरू किया था। पहले झाड़-फूँक व बूट पालिश का काम मिली, फिर साहब ने मेरी ईमानदारी और परिश्रम की दाद देकर मुझे अपने कारख़ाने में चपरासी लगा लिया। अब दो महीने से बैरे का काम कर रहा हूं। बीस रुपये तलब मिलती है और रोटी-कपड़ा साथ में। साहब बहुत ही नेक आदमी है। उसकी फ़ैक्टरी में दो सौ आदमी काम करते हैं लाला, दो सौ। महाराज के साथ पोलो खेलता ऐ। दो मोटरें रखी हैं, उसने, जिधर से निकल जाती हैं जहान देखता है। पिछले हफ़ते मुझे अपने साथ बिठाकर गुल्मर्ग ले गया था। कहा तो कुछ जाता नहीं, पर लाला, अल्ला रहम करे और मेरे ईमान को बरकत बख्शे, साहब आगे और भी मेहरबान होगा। खुदा जानता है कि रात तीन बजे क्लब से आता है और उसकी जेबों में सैकड़ों रुपये होते हैं। अगर चाहूँ तो पाँच-दस रोज़ इधर-उधर कर दूं लेकिन हराम की एक पाई मुझे मंजूर नहीं..."

लँगड़ू नूर अहमद को और सुनना असह हो गया। देखो लंगूर की तरफ़। बजाय इसके कि मर्यादानुसार पहले अपनी माँ का, फिर दूसरे सगे-सम्बन्धियों का कुशल-समाचार दे, इसे अपने साहब की पड़ी है। और फिर इसकी यह जुर्रत कि अपने बाप को धर्म-ईमान का उपदेश देना शुरू कर दे? लानत है। उसने काटकर कहा- "खैर, बहुत अच्छा। लेकिन बेटा, जो शख़्श बाहर से आये उसे पहले बुजुर्गों का हाल-अहवाल देना चाहिये, अदब यही सिखाता है।"

"ऊँह, उनका क्या है?" हब्बू ने उपेक्षा से कहा- "जिस ज़िन्दगी में आगे सड़ रहे थे, उसीमें अब भी पड़े हैं। वही गंदा पानी पीते हैं, साल-भर नहाते नहीं, सारा दिन फ़िज़ूल बकबक में गुज़ार देते हैं। बाबा अहदजू के पास जो कुछ था, वह शराब और जुए की नज़र हो गया है और अब घरवाली को लातें जड़ने के सिवा उन्हें कोई काम नहीं। लाला, इन लोगों से मुझे नफ़रत हो गई है।"

चिनारों से घिरी हुई अब वह पुरानी सड़कें न थीं, उनका स्थान चौड़े-चौड़े चिकने मैदानों ने ले लिया था, जिन पर चर्र-चर्र करती हुई मोटरें इधर से उधर भाग रही थीं। चौराहों पर सिपाही कौतुकपूर्ण अन्दाज़ से हाथ हिला रहे थे और बार-बार नूरू को आस-पास के थड़ों पर चलने का आदेश करते, जिन पर उतरने-चढ़ने में उसे दिक़्क़त होती। हर तरफ़ परिवर्तन, स्वच्छता की बू आ रही थी। नदी के आसपास बेंत के वह जंगल जिनमें कई दोपहर उसने छिपकर चरवाही युवतियों के संग बिताये थे, अब कहीं नज़र नहीं आते। आठ साल के अन्दर नूरू का काशर देश बिल्कुल बदल गया था। "मैंने सुना है, फ़िरंगी हराम की चीज़ भी खाते हैं, क्या यह ठीक है ?" नूरू ने विष-भरे स्वर में कहा।

हबीब का उन्नत मस्तक इस प्रश्न गिर गया। बेशक खाना पकाना ख़ानसामा का काम था, लेकिन प्लेट पर धरकर लाता तो वही था। उसके जी में आया कि स्पष्ट कह दे कि चोरी के मुक़ाबले में यह काम बुरी नहीं है, लेकिन आखिर बाप था। वह यह धृष्टता न कर सका। नूरू को भी पश्चाताप हुआ। यह माना कि उसने अपने पुत्र के लिए सदैव किसी उज्वल और स्वतन्त्र जीविका की कल्पना की थी, लेकिन इस क़ैद की लम्बी अनुपस्थिति ने सब बरबाद कर दिया। इसमें हब्बू का क्या कसूर ?

कुछ दूर तक फिर दोनों चुपचाप चलते गये। आखिर नूरू से रहा न गया- "रहती क्यों नहीं आई, ठीक तो है न?"

"हां ठीक है"- हब्बू ने गुनगुना सा जवाब दिया- "मुझे काम ज़्यादा था इसलिए कोठी से सीधा इधर ही आ गया।"

अब वह सड़क के आर-पार बनाये गये एक ऊंचे फाटक के पास पहुँचे जो टहनियों और फूलों से लदा हुआ था। इससे आगे रंग बिरंगी झंडियों का एक तांता सा लगा हुआ था। दूकानें सजी हुई थीं और स्थान-स्थान पर सुनहरे अक्षरों से जटित कपड़े लटक रहे थे।

जन्मोत्सव की इन निशानियों को देखकर नूरू को पहले महाराज की याद हो आई। तब मोटरें भी न थीं और यह चौड़ी सड़कें भी न थीं। फ़ौजी डोगरे एक कन्धे पर बन्दूक और दूसरे पर चिलम थामकर पहरा दिया करते थे। कितना शरीफ़ था बूढ़ा महाराज। जाते-जाते हज़ारों खरायत कर जाता था। जिस दिन थोड़े पड़े, डेवढ़ी में जा घुसे। दाल-भात नसीब हो जाता था। सिपाही को चौथे-पांचवें दिन एक विलायती सिगरेट पिला दो, फिर चाहे वज़ीर की जेब कुतर लो। आह, वे दिन...

अकस्मात हबीब ठहर गया और कलाई पर लगी घड़ी को देखते हुए बोला- "लाला, अब इजाज़त दो, मुझे काम है। शाम को आऊँगा।"

नूरू को जैसे किसीने नश्तर चुभो दिया हो। इसे बाप को घर तक छोड़ आने की फ़ुर्सत नहीं। उसके हाथों में जलन हुई, लेकिन पहले दिन ही कान पीस देना ठीक नहीं होगा। कल सही।

इसके बाद लँगड़ू, नूर अहमद अपनी मद्धम चाल से चलकर अपने मुहल्ले में पहुँचा। काले कीचड़, बाकरखानी तथा सड़ी हुई मछली की बदबू एक साथ सूँघते ही उसने अपने

शरीर में एक नयी जान महसूस की। किसी कंजूस बनिये कि तरह जिसे परदेस से लौटते समय ही आशंका बनी रहती है कि मेरा घर कहीं लुट न चुका हो, वह धड़कते हुए दिल के ठहर-ठहरकर प्रत्येक स्थान को पहचानता। उसे तसल्ली हुई कि उसका कोई समव्यवसायी मुहल्ले के दो-एक मकान उड़ा नहीं ले गया।

अपनी गली के सिरे पर पहुंचकर उसने 'बिस्मिल्ला' कही और अन्दर प्रवेश किया। लेकिन, न जाने क्यों, वहीं दीवारें जिनकी ओर कभी उसने आँख उठाकर देखने की पर्वाह न की थी, आज उसे खाने को दौड़ीं। उनकी ईंटें उसे अपरिचित-सी मालूम हुईं जैसे पूछ रही हों- 'तुम कौन हो? यहाँ तुम्हारा क्या काम है?' दीवारों से नूरू को वैसे भी अब डर लगता था, मगर यह तो रास्ता ही रोक रही थीं। नूरू ने यह सोचा शायद वह किसी दूसरी गली में घुस आया है और वापस मुड़ा। एक क्षण के लिए उसे ऐसा प्रतीत हुआ, शायद वह मरने के बाद अपनी क़ब्र से उठकर चल पड़ा है। उसने रहती, अपनी पत्नी, के चेहरे को याद करने की चेष्टा की, लेकिन वही रेखाएँ जो जेल में हर दम उसके सामने रहती थीं अब दूर, किसी धुँधले संसार में जा बसी थीं। बाज़ार में पहुँचकर उसने फिर गली को परखा। गली तो वही थी।

इतने में अन्दर से एक ढोल की तरह मोटी अधेड़ उमर की हतबी, हाथों को फिरन के अन्दर छिपाये हुए, अपनी छातियों की विपुलता को काँगड़ी का सेंक देती हुई, आती दिखाई दी। नूरे को देखते ही अपनी छोटी-छोटी दाग़ी सेब की-सी आंखें नचाती हुई चिल्ला उठी- "वाह रे मेरे नागराई...य, वाह रे मेरे राँझिये, वाह रे मेरे कौंग पोश।" फिर हँसते हँसते लाल हो गई। फिर पास आई और नूरू की बाँह थामकर मुहल्लेवालों को पुकारने लगी कि उसका नागराई वापस आ गया है।

लेकिन उस मूर्खा के नागराई रोज़ वापस आते थे, इसलिए मुहल्ले में कोई हरक़त पैदा नहीं हुई। उदास-सी होकर वह उसे लेकर एक थड़े पर बैठ गई।

नूरू ने उसे शोर करने से मना किया और कहा- "देखो, मैं थका हूँ, मुझे घर जाने दो, छेड़ो मत।"

स्त्री ने नटखट अन्दाज़ से हाथ उठा लिये और उन्हें अपनी जाँघों पर पटकती हुई बोली- "जाओ, तुम्हें रोकता कौन है, मगर जाओगे कहाँ?"

"क्यों, रहती घर पर नहीं?"

स्त्री अपनी भयानक हँसी से फिर लोट-पोट हो गई।

"रहती ? अरे काफ़िर, तुझे इस बेहूदा ढंग से बात करते हुए लाज नहीं आती? बेगम अख़्तरी जान नोशेलब को रहती पुकारता है?"

चुड़ैल का व्यंग्य नूरे की समझ में न आया। आख़िर उसे क़ाबू करने के एकमात्र उपाय का आश्रय लेते हुए उसने स्त्री की ठोड़ी हाथ में लेकर दस-पन्द्रह लगातार अश्लील वाक्य कह डाले कि वह पसीज गई और शरमाती हुई बोली- 'रहती ने धन्धा कर लिया है। वह जो दरिया पर झुका हुआ मकान हैं, वह जिसके छज्जे पर फूलों के गमले हैं और ऊपर मैना का पिंजड़ा है, हाँ, उसीमें बैठती है।" यह कहकर वह रोने लगी।

नूरू उठा और अपनी टोपी को हाथों में टटोलता हुआ इस नये घर की ओर दृष्टि बाँधकर चला।

मकान की सीढ़ियों के पास एक क्षीणकाय, लम्बे और खूब सँवारे हुए बालोंवाला व्यक्ति खाट पर बैठा हुक्का पी रहा था। लँगड़ू को ऊपर जाते हुए देखकर दुत्कार कर बोला- "ओ हतो, कहाँ जाता है?'

नूरू रुका नहीं।

व्यक्ति अपनी गुड़गुड़ी छोड़, लोई के आराम को स्थगित कर, उसपर लपका, लेकिन कुछ क्षण बाद उसी तेज़ी के साथ लुढ़कता हुआ सीढ़ियों से वापस आ गिरा और कुछ सोचकर फिर तम्बाकू पीने लगा।

नूर एक बन्द-से विलास-गृह में दाखिल हुआ। फ़र्श पर लाल गद्दा बिछ रहा था, और उसपर, कोने में, तकियों से सजी हुई एक सफ़ेद चादर। खिड़कियाँ बन्द थीं और बत्ती जल रही थी। उसका प्रकाश खिड़कियों के आगे लटकी हुई रंग-बिरंगे मोतियों की झालरों, दीवार के साथ टँगे हुए एक चौड़े शीशे, अथवा कुछेक अधनंगी तस्वीरों में छलक रहा था। उसकी रहती सिल्क की रज़ाई ओढ़े, आँखों में हल्का-सा काजल डाले, सिरहाने कुछ फूल रखे हुए, चौड़ी शय्या पर सो रही थी।

नूरू अपनी सालम टाँग के बल खड़ा होकर बेहोशी के आलम में उसे देखता रहा। यदि वह इस समय उसे छुरे से काट देता, या उसके साथ जा लेटता, तो यह दोनों ही घटनाएँ असंभव न थीं। लेकिन वह निश्चल खड़ा रहा। ऐसी परिस्थिति का उसे स्वप्न में भी सामना न हुआ था। वेश्याओं के पास वह जा चुका था, लेकिन उनमें से कोई भी न इनती सुन्दर, न उसकी पत्नी थी।

हठात रहती ने आंखें खोलीं। विश्वास न कर सकी और उठ बैठी। उसके आतंक में अपनी भार्या की झलक नूरू को मिली- उन दिनों की जब सड़क पर ही वह उसे पीटने लग जाया करता था। पहचान से मुहब्बत और चाह जागृत हुई। वह चिल्ला उठा- "ओ हरामज़ादी, खंज़ीर की बच्ची, तुझसे इस नापाक कुतियापन के बग़ैर रहा न गया ? ओ तेरे बाप की नसल दोज़ख में जाय । मैं वहाँ आग में जलता रहा और तू यहाँ गुलछर्रे उड़ाती रही । ओ..."

पेश्तर इसके कि अपनी आवाज़ से अधिकाधिक उत्तेजित होने का पुराना सिलसिला जारी हो जाता और क्रमशः नौबत हाथ उठाने पर पहुँचती, रहती ने रोना शुरू कर दिया। यह रोना वास्तविक था या नहीं, केवल रहती ही जाने। वह कुछ न कुछ बदल चुकी थी। उसके चेहरे का अल्हड़पन बदस्तूर क़ायम था, लेकिन अब वह उससे काम लेती थी। यह भी जान गई थी कि जितना थोड़ा काम लिया जाय, प्रतिक्रिया उतनी ही अधिक होती है। जीवन में पहली बार उसे अपने खाविन्द के प्रति इस धारणा से प्रेरित होने का सौभाग्य मिला कि वह बेवकूफ़ है।

आधा घंटा बीता। नूरू उसे क्षमा कर चुका था। वह पास बैठी रूधे कंठ से अपनी अगण्य विपत्तियों का हाल कह रही थी। नूरू सहानुभूति के साथ सिर हिला रहा था। बेशक वह भी सच्ची थी। वह क्या करती? लोगों ने उसे यह नहीं बताया कि उसके

अज़ीज़ को किश्तवाड़ में ले जाकर बन्द किया गया था, बल्कि यह बताया कि उसे कलकत्ते ले गये हैं। सम्बन्धियों ने मुंह मोड़ लिया, खाती कहां से ? पुत्र भी ऐसा पामर निकला कि साहबी के चकमे में आकर अपनी माँ तक को भूल बैठा। दो बार वह दरिया में कूद पड़ी, लेकिन बदनसीब को लोगों ने निकाल लिया। उसके वास्ते और क्या चारा था? फिर भी उसने किसी काफ़िर को अभी तक नहीं छुआ, हालांकि पैसे ज़्यादा देते हैं। पांच बार नमाज़ें पढ़ती थीं।

अच्छा, जो हुआ सो हुआ, नूरू ने कान में दियासलाई फेरते हुए कहा- लेकिन अब रवैया बदलना होगा। मौजूदा हालत दोनों ही के गुनाहों का नतीजा है, वरना बेटा ऐसा गँवार न निकलता। रहती को शरीफ़ज़ादियों की तरह फिर से मैले कपड़े पहनने होंगे, और मुंह धोना भी दस बीस दिन के लिए स्थगित करना होगा। सिर में राख डालकर बाल सीधे कर डालने होंगे, ताकि ज़माने का कटाक्ष न रहे। रहती सहमत हो गई, उठी, और शीघ्र ही वेष बदलकर पुरानी बन गई।

उसके बाद वही हुआ, जिसकी गली-मुहल्ला अब तक प्रतीक्षा में था। बेग़म अख्तरी जान नोशेलब के चबारे में अकस्मात बला की चीख पुकार शुरू हुई। तस्वीरें और मोतियों की झालरें गर्मियों की बारिश की तरह यकायक बाज़ार में टपक पड़ीं। श्रोताओं ने न केवल मर्द के बच्चे के प्रचंड गर्जन की दाद दी, बल्कि किश्तवाड़ से आई हुई कई गालियां अपने शब्द-कोष में जोड़ लीं। अख्तरी जान नौशेलब का चीत्कार मुहल्ले के दरो-दीवार को कम्पायमान करने लगा। टफ़....टफ़... जूतियों की, थप्पड़ों की, छड़ी से पीटने की आवाज़ें आने लगीं।

फिर लोगों ने देखा कि बेगम नंगे सिर सीढ़ियों से लुढ़ककर नीचे आ रही है। उसके पीछे लंगड़ू, पलंग का एक रंगीन पैर हाथ में लिये हुए जल्दी से उतरने में असफल हो रहा है। सड़क पर पहुंचते ही बेगम एक कोने में सर पटक पटककर लगी विलाप करने।

नूरू ने उसे तो वहीं छोड़ा, और किंकर्तव्यविमूढ़ चारपाई पर आसीन दलाल के संवारे हुए बालों को थामा। सड़क पर घसीटकर उसकी खोपड़ी को ऊबड़ खाबड़ पत्थरों पर ठोका और कमर में तीन चार घूँसे दिये। दो क्षण में ही उसे संज्ञारहित लोथड़े की तरह चित्त कर दिया।

अब नूरू ने बेगम को चुटिया से पकड़ा और ले चला उसका वितस्ता नदी में अन्तिम संस्कार करने। जनता, जिनमें कई बेगम के प्रेमी रह चुके थे, अब बरदाश्त न कर सकी। सैकड़ों की तादाद में लोग जमा हो चुके थे। अब वे तमाशा देखने के बजाय छुड़ाने के लिए आगे बढ़े। स्त्रियां थड़ों पर खड़ी होकर अपनी कीमती राय प्रकट करने लगीं। लेकिन जितना लोग आग्रह करते, उतना ही नूरू अपने नृशंस इरादों पर कटिबद्ध होता जा रहा था। जब कोलाहल और जमघट अपनी तमाम पुरानी मर्यादाओं को पार कर चुका तो नूरू की छाती ठंडी हुई। वही मोटे ढोल की सी, गंदे सेब की सी आंखों वाली, हतबी बेगम को अपने नरपिशाच नागराई के हाथों से छुड़ाने के लिए आई और आन की आन में सफल हो गई।

फिर वही पुराना घर जिसकी तिकोन छत पर प्याज़ की खेती होती थी। नूरू ने सन्तोष की सांस ली। रहती के साथ विवाहित जीवन की पुनरारम्भ करने में अब कोई

रुकावट न थी, क्योंकि रसम पूरी संजीदगी के साथ निभा दी गई थी। रहती ने भी मुंह से नकली लहू पोंछा, और देखा कि नोटों का पुलिन्दा इज़ारबन्द में सुरक्षित है। फिर घर के काम में लग गई। नूरू साथवाले घर की छत पर बैठकर एक बुजुर्ग की चिलम की सांझी करने लगा। उसी घर के एक नवयुवक ने बाज़ार से उसके लिए मलमल की सफ़ेद पगड़ी ला दी, जिसे अपने उन्हीं मैले कपड़ों पर सजाकर और रहती की ओर एक लोलुप नज़र फेंककर, वह संसार को अपने नये जीवन की सूचना देने के लिए निकल पड़ा।

शाम हो चुकी थी। बाज़ार में भीड़ बढ़ गई थी। घरों में से चील के धूएं की खुशबू फैल रही थी। नूरू के मन में दो भाव इस समय प्रबलता से उद्दीप्त थे। एक तो यह कि उसे भूख लगी है और दूसरे यह कि जेल के फाटक में से जो संसार इतना सुखमय और बहुमूल्य नज़र आता था, वह अभी तक बहुत विशाल और फीका जान पड़ता है। जेल में कुछेक महत्वपूर्ण निश्चय करके निकला था, लेकिन अब उनके प्रतिफलित होने की आशा कठिन जान पड़ती थी। रहती के शरीर के लिए उसके रक्त में ज़बरदस्त भूख थी। शायद रात को वह चुपके-चुपके उसे फ़िर उसी तरह साफ़ होकर आने के लिए इशारा करे। लेकिन उसके जीवन का भविष्य हब्बू पर ही अवलम्बित था। वह कितनी उपेक्षा के साथ कन्नी काट गया? शाम हो गई लेकिन अभी तक नहीं आया। क्या ही अच्छा हो कि उसे कुछ दिनों के लिए जेल ही में सोने दिया जाय। अभी कुछ घंटों की आज़ादी ही काफ़ी है।

कुछ इसी प्रकार सोचता वह लंगड़ाता हुआ चला जा रहा है। उसका ध्यान एक खाने पीने की दुकान के बाहर पड़े हुए सन्दूक की ओर गया। इसमें से किसी लड़की के गाने की आवाज़ आ रही थी-

चुल हमा रोशे रोशे
पोशे मति जाना नो।

नूरू ठहर गया। यह कौन गा रही थी? उसने देखा कि सड़क के किनारे बीस आदमी कान पर हाथ रखे बैठे हुए हैं, लेकिन किसी के मुंह पर तरस की रेखा तक नहीं कि गानेवाली को इस तरह बन्द किया गया है। और सन्दूक उसकी कोठरी के मुकाबले में कितना छोटा था? इतने में गाना बन्द हो गया। दुकानदार ने सन्दूक का ढक्कन खोला और उसमें से एक थाली सी निकाली। नूरू लपककर आगे बढ़ा और अन्दर झांककर पूछने लगा- 'हतबी कहां है?' सभी लोग हंसने लगे। इतने में एक पुराने हमजोली ने उसकी बांह पर हाथ रखा और उसे दूकान के अन्दर ले गया।

रात के दस बज चुके थे जब नूरू लड़खड़ाता हुआ दूकान में से निकला। लड़की फिर वही गीत गा रही थी-

चुल हमा रोशे रोशे
पोशे मति जाना नो।

नूरू ने हंसते-हंसते ढकना उठाया और अन्दर झांकर फिर रख दिया। लेकिन अब कोई न हंसा। सड़क खाली थी।

अपने मित्र से विदा लेकर नूरू आहिस्ता-आहिस्ता अपने घर की ओर चला। लेकिन साथ ही साथ उसका मन घर की ओर से उचाट होने लगा। क्या रखा है वहां? बीसियों के साथ प्रेम कर चुकी है। हब्बू के घर न आने का कारण भी वही है। न जाने अब भी किसी यार को बग़ल में ले बैठी हो। नशे में आकर किसी की प्रवृत्ति तामसिक हो जाती है और किसी की सात्विक।

नूरू वापस लौट पड़ा। पूरव दिशा में आकाश लाल बत्तियों के प्रकाश से अंगारे की तरह जगमगा रहा था। अभी अमीराकदल में जनसमूह का कोलाहल सुनाई दे रहा था। नूरू के दिमाग़ में शराब की मस्ती कुछ बढ़ रही थी। कदम चुस्त करके वह भी अमीराकदल की ओर चला।

बड़े बाज़ार में भीड़ सड़क के दोनों ओर रुकी हुई थी और महाराज की मोटरें गुज़र रही थीं। नूरू को भीड़ में ठहरना पसंद न आया। सरकता-सरकता लोगों की गालियां और धक्के खाता हुआ वह पुल के पास पहुँच गया। भीड़ में से निकलकर वह पास ही के एक बाग में चिनार के नीचे जा बैठा।• उसका हाथ उठकर उसकी आंखों के सामने आया। उसमें एक सोने की घड़ी अथवा ज़ंज़ीर थी और एक था चमड़े का बटुआ। नूरू ने उसे खोलकर देखा, पन्द्रह रुपए थे।

इनकी तरफ़ देखता हुआ नूरू हंसने लग गया। हंसता गया और घड़ी को उलट पलटकर देखता रहा। उसकी उंगलियां अनभ्यस्त होकर भी इतनी शिथिल नहीं हुई थीं। यकायक उसने बटुआ भी और घड़ी भी घृणा के साथ दूर फेंक दी और उंगलियों को बन्द-खोलकर सराहने लगा।

लेकिन उसके मन की बेचैनी दूर न हुई। उठकर वह फिर बाज़ार में आ गया। मोटरें गुज़र चुकी थीं और भीड़ तितर बितर हो रही थी। नूरू को ऐसा लगा कि उसके मनोविनोद के लिए बनाई गई वस्तुएं बिखर रही हैं। और वास्तव में जो लोग एक व्यक्ति को मोटर में गुज़रते हुए देखने के लिए घंटों खड़े रहें और फिर चुपचाप घर चले जायें वे और थे ही क्या ?

भीड़ एक स्थान पर गठ गई थी। एक मोटे पेटवाला व्यक्ति कभी पुल पर इधर और कभी उधर जाता था। जिधर वह जाता, भीड़ उसके पीछे जाती। नूरू को पता चला कि उसकी सोने की घड़ी चोरी हो गई है। उसके बाद एक और टोली एक थानेदार साहब की निगरानी में आ पहुंची। इनमें से एक का बटुआ गुम हो गया था और एक का कलम। एक दूसरे व्यक्ति का जेब कट गया था। नूरू पहले तो विस्मित हुआ, फिर उसकी बांछें खिल गई। यह अकेले जादूगर का काम नहीं है। कोई और भी खेल रहा है। पुल के नीचे-नीचे दरिया अपनी मस्त चाल से बह रहा था। डूंगों में हतवियां किसी आगामी शादी के गीत गा रही थीं। तख़्ताए सुलेमान पर चांद अपनी पूरी ज्योति के साथ चमक रहा था। पुल के जंगले के साथ टेक लगाकर नूरू ने गुनगनाना शुरू किया :

'चुल हमा रोशे रोशे

पोशे मति जाना नो।'

भीड़ आहिस्ता-आहिस्ता ख़त्म होने को आई। लंगडू भी उसकी एक शाखा के साथ-साथ पीछे चला।

वह नहीं जानता था कि वह किस दिशा में जा रहा है, या क्यों। कभी कभी राहगीरों को ताने दे देता, उसके वस्त्रों पर कटाक्ष करता, लेकिन वह गम्भीर सा मुंह बनाकर आगे चले जाते, जैसे घर नहीं दफ्तर जा रहे हों।

अब उसे ख़्वाहिश हो रही थी कि घर लौट जाऊँ, लेकिन एक-एक कदम के साथ उसे ऐसा प्रतीत होता था कि वहबीस-बीस कोस आगे बढ़ रहा है। हबीब ख़ान घर पर नहीं होगा। रहती कितनों के साथ लेट चुकी है। नापाक औरत ! अब भी किसी की बग़ल में बैठी होगी।

इस उधेड़बुन का आखिरी फ़ैसला करते हुए नूरू ने तय किया कि वह आज ही रात दूसरी शादी करेगा। रहती और हबीब को भविष्य में शकल तक न दिखायेगा। स्त्रियां डूंगों में बैठकर उसके गीत गाएंगी और वह सन्दूक से भी संगीत करवायेगा।

लेकिन इसके लिए पैसों की ज़रूरत होगी। हूं ? पैसों के लिए हो तो वह भीड़ के पीछे जा रहा था।

हजूरी बाग़ के चिनारों के समीप पहुंचकर उसने राह बदल ली। बाग़ के बाई ओर तीन-चार सफ़ेद कोठियां चांद की धूप में सो रही थीं। इन्हीं में से एक पर उसकी नज़र जम गई।

कोठी की बग़ल में एक पेड़ था। नूरू उसके साथ सटकर खड़ा हो गया, जैसे किसी प्रेयसी के गाढ़ आलिंगन में हो। आहिस्ता से उसने अपनी सफ़ेद पगड़ी को ज़मीन पर रगड़कर मैला किया, और फिर उसे रस्सी की तरह गठकर बांह के नीचे दाब लिया।

कोठी के आगे सात फुट ऊंची दीवार थीं और उसकी चोटी पर कांच के टुकड़े जड़े हुए थे। सड़क की टोह लेकर नूरू बड़े आराम के साथ दीवार के पास पहुंचा और छांहों में लुक गया। थोड़ी देर भिखारियों की तरह बैठकर दायें बायें देखता रहा, फिर उठकर पगड़ी को ढीला किया और काँच के ऊपर ज़बरदस्त झटके के साथ पटका। वह फ़ौरन बैठ गई। स्थान स्थान पर उसने गाँठे बांधीं। इस प्रकार पगड़ी की दोहराई में जूते समेत कदम रखकर वह सहज ही दीवार पर पहुंच गया। वहां से बिजली की तरह पगड़ी-सीढ़ी उठाकर अन्दर की ओर फेंकी और फिसलकर बाग़ीचे में आ रहा।

फिर पगड़ी खोलकर उसने इस ढंग से फैला दी, जैसे कोई कपड़ा सूखने के लिया डाला जा रहा हो। उसके लिए छोर के नीचे अपना जूता छिपा दिया ताकि ढूंढ़ना न पड़े।

मकान के आगे एक छोटा सा बरामदा था, जिसके शीशे के सभी दरवाज़े बन्द थे। शीशों को काटकर दरवाज़ा खोलना असम्भव था, क्योंकि नूरू के पास कोई औज़ार न थे, इसलिये वह मकान की पिछली तरफ़ गया। .ऊपर की छत के एक कमरे में बत्ती जल रही थी, और इसमें नौकर बरतन मांज रहे थे। मकान के एक तरफ लकड़ी की तंग सीढ़ी थी जिसका दरवाज़ा अभी बन्द नहीं किया गया था। यदि फ़ौरन ही उसने इसका फ़ायदा न उठाया तो यह भी बन्द कर दिया जायगा। नूरू दबे पांव ऊपर चढ़ गया और रसोई घर की खिड़की में से अन्दर झांकने लगा। एक नौकर बरतन धो रहा

था और दूसरा प्लेटों को पोंछ रहा था। कम-अज-कम आधे मिनट के लिए उनके मुंह फेरने की सम्भावना नहीं। यह ठानकर नूरू ऐन उनके सामने होकर गुज़र गया और एक अंधेरे कमरे में प्रविष्ट हुआ। लेकिन तभी उसे एक नौकर के गाने की आवाज़ अपनी ओर आती सुनाई दी। नूरू एकदम सटकर दीवार के साथ खड़ा हो गया। नौकर अन्दर आया। नूरू का कलेजा धड़कने लगा, लेकिन उसने सोच लिया कि यदि नौकर बिजली का बटन दबा दे तो उसे क्या करना चाहिये। मगर नौकर ने बटन नहीं दबाया। कोई चीज़ उठाकर वह फिर बाहर चला गया। नूरू फ़ौरन दूसरे दरवाज़े से होकर मकान के भीतर जा घुसा। यहां एक गली सी थी, जिसके साथ-साथ सीढ़ियां ऊपर नीचे-जाती थीं। फ़र्श लकड़ी का था और चिरचिर करता था। लेकिन नूरू हल्के कदमों से ऊपरवाली साढ़ियों पर जा चढ़ा। फिर अपने हाथों की मदद से जंगले पर जोर डालकर तीन छलांगों में तीसरी छत पर जा पहुंचा। एक मंज़िल बाक़ी थी, वह भी चढ़ गया। उसने जांच लिया कि इस मंज़िल पर कोई नहीं रहता। आश्वस्त होकर वह सीढ़ियों पर बैठकर दम लेने लगा।

सीढ़ियों के दायें बायें के दरवाज़ों से चन्द्रमा का प्रकाश छलककर अन्दर आ रहा था। इसकी सहायता से नूरू ने अपरिचित घर के दायें बायें नज़र फेरी। सब सुनमान था। नूरू को अपना वहां होना बहुत ही विचित्र सा लगा।

उसका मन चुटकियाँ लेने लगा। मैं यहां क्यों आया हूं? इसलिए कि मैं रह नहीं सका। मुझे दूसरे के घरों के वह हिस्से देखने की लत पड़ गई है, जिन्हें वह स्वयं नहीं देखते। धन खर्च करते हैं, मकान बनवाते हैं, फिर उन्हें भूल जाते हैं। सुबह उठे, काम पर चले गये, रात को लौटे, चिटखनियाँ चढ़ाकर सो गये। कभी इस तरह सीढ़ियों पर बैठकर उन्होंने चन्द्रमा नहीं देखा। वास्तव में मकानों का स्वामी तो मैं हूं। मैं पास आते ही उनकी दीवारों से मित्रता पैदा कर लेता हूं। मैं उनकी छातियों चीरकर चला जाता हूं और वह मुझे याद करती रहती हैं।

एक सफ़ेद बिल्ली किसी कोने से निकली और उसे देखकर भाग गई। नूरू भी सटक गया। फिर हँसने लगा। खुदावन्द ने उसे ग़रूर की सज़ा दी।

नौकर अब सो गये होंगे, यह अनुमान करके नूरू उठा और शनैः शनैः निचली छत पर उतर आया। यहाँ उसने एक किवाड़ को धकेला और दाख़िल हुआ। चन्द्रमा की रोशनी कमरे के अन्दर आ रही थी। कमरा खाली था। दीवार के साथ एक मेज़ पर कुछ बोतलें पड़ी थीं और बाक़ी कमरा भी एक बड़े से मेज़ और कुर्सियों से भरा था। नूरे ने एक बोतल खोली और नाक से लगाई। फिर गटागट पांच दस घूंट पी गया। इसके बाद वह कुर्सियों से बचता हुआ साथवाले कमरे में पहुंचा। यह भी खाली था। क्या सारा मकान ही खाली था ?

इस कमरे के एक तरफ़ मेज़ पर कुछ वस्तुएँ पड़ी थीं। नज़दीक आने पर मालूम हुआ कि यह तेल की बोतलें व कंघी बुरूश इत्यादि हैं। नूरू ने दराज़ खोलकर देखे। यहां उसे सोने की चार चूड़ियाँ और दो अंगूठियां मिलीं। नूरू ने इसे बहुत अच्छा सगुन समझा। उसकी भावी पत्नी के लिये ज़ेवरों का इन्तज़ाम भी सहज़ ही में हो गया। उन्हें जेब में डालकर उसने दरवाज़ों को फिर टटोला लेकिन और कुछ न मिला। वापस लौटते

वक्त उसने देखा कि उसकी टांगें कुछ न कुछ लड़खड़ा रही हैं। यह अनुभव करके कि शराब अब भी ठीक वही वस्तु है जो आठ बरस पहले थी, उसे प्रसन्नता हुई, इसलिए उसने पहले कमरे में वापस आकर बाकी बोतल भी समाप्त की। अब उसे खयाल आया कि दुलहिन के लिए ज़ेवर तो ले लिये, लेकिन अगर तेल, कंघी और शीशा भी ले चलूं तो क्या हर्ज है। जमाना बदल रहा है। मुझे भी अपने विचार बदलने चाहियें। मैं अपनी दुलहिन को वेश्याओं से भी सुन्दर बनाकर रखूँगा और वह किसी दूसरे मर्द की ओर देखेगी भी नहीं। केवल मुझे प्यार करेगी।

अब निधड़क होकर उसने बिजली का बटन दबा दिया। रोशनी ने उसकी आंखों को चुँधिया दिया। उसने देखा कि दीवारों से सटी हुई दो तीन आल्मारियां भी हैं। वह रुकता रुकता उनके पास पहुंचा और किवाड़ खोल दिये। देखा कि आल्मारियां सिल्क और ऊन के मुलायम कपड़ों से लदी पड़ी हैं, और उनमें अत्याकर्षक गन्ध आ रही है। उसने कपड़े फ़र्श और फेंकने शुरू कर दिये। फिर कंघी शीशा लेने ड्रेसिंग टेबल पर पहुंचा। शीशियों के बीच में एक चांदी की छोटी सी, अति सुन्दर, कश्मीरी सुरमादानी पर उसकी आंख पड़ी। उसका दिल बाग़ बाग हो गया। अगर दुलहिन सजी धजी होनी चाहिए तो दूल्हे का श्रृंगार भी तो लाज़िमी है। कपड़ों के ढेर के दरमियान आईना अपने सामने रखकर वह बैठ गया और लगा आँखों में सलाई फेरने।

दूर से पहरेदार की आवाज़ उसके कानों में पड़ी- 'खबरदार ! खबरदार हो...ए?' यह नूरू को बड़ी सुरीली लगी, विशेष कर 'हो...ए' वाला हिस्सा, जैसे पहरेदार ने केवल उसी के मनोरंजन के लिए निकाली हो। बड़े आराम से उसने अपने नेत्रों में सुरमा डाला और कोशिश की कि आंखों में ही पड़े।

पहरेदार की फिर आवाज़ आई।

'खबरदार हो...ए?'

नूरू को फिर बहुत आनन्द आया। बच्चों की तरह नकल उतारकर उसने भी ऊँचे स्वर में पुकारा- 'खबरदार ! खबरदार हो...ए?'

मुहल्ले का पहरेदार इस प्रतिध्वनि को सुनकर बहुत सन्तुष्ट हुआ। कलाविदों को कलाविदों का अभिनन्दन पाकर प्रोत्साहन मिलता है। उसने लटठ किसी दीवार के साथ पटककर एक नये ढंग से ललकारा-

'हट हट अहहहह खबरदार हो...ए?'

इधर से भी प्रतिध्वनि हुई-

'हट हट अहहहह खबरदार हो...ए?'

लेकिन साथ ही एक दारुण चीत्कार भी उठा। वज़ीर-माल साहब के बंगले से घबराई हुई आवाज़ें आनी शुरू हो गई। पहरेदार भागा और फूल में छुपे हुए कांटे की तलाश में, फाटक कूदकर मकान के अन्दर घुसा। घुसते ही उसने एक फ़ायर बन्दूक का आकाश में किया। निचली छत पर वज़ीर साहब और उनका कुटुम्ब बरामदे में खड़ा काँप रहा था। ऊपर से लगातार आवाज़ें आ रही थीं-

'हट हट अहहहह खबरदार हो...ए?'

'हट हट अहहहह खबरदार हो...ए?'

शाहज़ादों का ड्रिंक

ओवरकोट की बांह को कंधे पर फेंकते हुए जगदीश दरवाज़े की ओर बढ़ा। दरवाज़े के नज़दीक पहुंचकर उसने फिर कहा- 'देखो, वक्त पर पहुंच जाना। गाड़ियां अक्सर समय पर ही आती जाती हैं। प्लेटफ़ार्म नम्बर दो।'

केवल ने हंसकर कुछ धीमे से कहा- 'अच्छा' । उसको अपने मित्र का ऊँचा बोलना पसन्द नहीं था। आजकल यह सब इतना ऊँचा क्यों बोलते हैं? ऊँचा और खोखला।

'चीरियो' कहकर जगदीश बाहर चला गया। उसके पैरों की चाप होस्टल के बरामदे में देर तक सुनाई देती रही।

केवल ने साथ के कमरे में जाकर बिस्तर में से एक गर्म चादर खींच ली और वापस आकर टहलने लगा। इतने सबेरे उठा दिया जाना कम्बख़्ती नहीं तो और क्या है! ख़ासकर जब कोई रात को इतनी देर से सोया हो। अभी अख़बार बेचने वालों का गिरोह होस्टल पर धावा बोल देगा और थके हुए दिमाग़ पर घोर अत्याचार करेगा। उसे जल्दी सोने और जल्दी जागने वालों से दिली नफ़रत थी। लेकिन अब लेटने से कुछ लाभ नहीं था, क्योंकि दिन चढ़ा ही चाहता था। कालेज के रोमन स्टाइल के नोकीले शिखर की चोटी सूर्य की प्रथम किरणों की प्रतीक्षा कर रही थी। केवल ने कमरे की खिड़की बन्द कर दी, ताकि रात वहां कुछ देर और टिकी रहे। और तब वह आराम कुर्सी पर बैठकर ऊँघने लगा।

प्रभात के हल्के प्रकाश से कमरे में क्रमशः उजियाला होने लगा। कमरा ढंग से सजा था। बेंत की चार-पांच कुर्सियां, बीच में लाल कालीन। केवल की कुर्सी के ठीक ऊपर बौटीसेली का 'फ़रिश्तों के सिर' नामक चित्र लटक रहा था। साथ वाले कमरे में केवल का साथी अभी तक सोया हुआ था। इन दोनों ने मिलकर यह स्पेशल सेट ले रक्खा था।

नाश्ते के समय केवल के दोस्त ने पूछा- 'इतनी सुबह कौन तुम्हारा सिर खाने आया था।'

'जगदीश, और कौन। अपने निमन्त्रण की याद दिलाने। आज ही बारात दिल्ली के लिए रवाना होगी।'

'अपनी सूरत को दाद दो मियां।'

'इसका मेरी सूरत से क्या ताल्लुक है?' केवल ने खीजकर कहा।

'दुनियां चलती ही हुस्न के बल पर है। जगदीश मेरा भी उतना ही दोस्त है, फिर भी उसने मुझे नहीं बुलाया। और देखो-यहां भी मेरे रात वाले दृष्टिकोण का समर्थन होता

है। संसार में यदि कुछ है तो बस हुस्न ही। हुस्न के बिना दुनियां रीती है। यह भीतरी सत्य और आन्तरिक वास्तविकता की फ़िलासफ़ी सब बकवास है। सत्य या तो सादा होता है या कड़ुवा। सौन्दर्य मीठा होता है, इसलिये हम सब उसकी ओर दौड़ते हैं।'

'क्यों फ़िज़ूल बहक रहे हो?'

'...तुम्हें याद है, वह दूर से आती हुई चांदनी में चमकती हुई नाव? कितना लुभाती थी। मानों संसार भर का रोमान्स उसी में भरा हो, निकट आने पर उसका क्या हुलिया निकला? अब...'

केवल ने हंसते हुए तिपाई पर हाथ मारा।

'शाबाश, माई डियर सोक्रेटीज़! लेकिन यह न होगा। वाद-विवाद के लिये अभी बहुत सबेरा है। तुम इतने दार्शनिक कब से बन गये? पता नहीं, उन बेचारों का क्या हाल हुआ होगा, जिनका तुम तीन घण्टे तक सिर खाते रहे थे। मियां, हम कल पिकनिक पर गये थे, मिशन पर नहीं। बात को कहीं छोड़ा भी करो। आज मुझे दिल्ली जाना है। इस समस्या का तो तुम्हें ख़याल नहीं।'

'दिल्ली जाना भी कोई समस्या है? वह शहर जो एकदम सबसे बूढ़ा और सबसे जवान। देखो, मैंने अपने दूध के दांत दिल्ली की धरती में गाड़े थे, इस ख़याल से कि सिपाही उगेंगे। काश्मीरी दरवाज़े के साथ वाले बाग़ में। ज़रा देखते आना, अभी उगे या नहीं।'

'दिल्लगी छोड़ो, मियाँ! इम्तहान में सिर्फ़ बीस दिन रह गए हैं। मैं ज़रूर इंकार कर देता, पर जगदीश इतना ऊँचा चिल्लाता है कि उसने मुझे बोलने तक नहीं दिया।'

'सच बात तो यह है कि तुम बड़े मुलायम हो और सारी उम्र तुम मुलायम ही रहोगे, और मैं तुम्हारा गुलाम रहूँगा। अब तुम्हें छुट्टी लेने की समस्या होगी? अच्छा, यह भी मैं ठीक कर लूँगा।'

'थैंक यू'।'- केवल ने कहा।

यों तो पश्चिम ने हमारे विवाहों पर कोई प्रभाव नहीं डाला। सम्बन्ध मां-बाप ही ठीक करते हैं। लड़के-लड़की का बीच में बोलना गुनाह समझा जाता है। रस्में भी वही अदा होती है, जो क़भी बाबा आदम के ज़माने में शुरू हुई होंगी। विवाह के दिन दूल्हे और ईद के बकरे में कुछ विशेष अन्तर नहीं रहता। इन पुरानी प्रथाओं पर दूल्हा-दुलहिन को चाहे जितनी खीज आये, उन्हें मन मारकर रह जाना पड़ता है।

लेकिन सतह के ऊपर पश्चिम का सिक्का खूब जम चुका है। घरों को बिजली से सजाकर नुमाइश की जाती है। बारात का स्वागत करने के लिये मंडप बनाये जाते हैं, जिनमें सोफ़ों और पॉम के गमलों की कमी नहीं होती। बराती सूट-बूट पहन कर मोटरों में आते हैं, और उन्हें पान-सिगरेट मुस्तैदी के साथ पहुँचा जाते हैं। खाना मेज़ों पर दिया जाता है, हो सके तो चीनी की तश्तरियों में। वे बुजुर्ग जो अब भी चाय नहीं पीते, पुरानी वज़हदारी के शौकीन हैं, पिछली कतार में जगह पाते हैं, जहां वे बैठकर पुराने और नये ज़माने की गुत्थियां सुलझाते रहते हैं। मौसियों और चाचियों के झुंड घर के

भीतर पकवान बांटते और आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं। विवाह समारोह के इस चित्र का अगला भाग रंग बिरंगी साड़ियाँ पहनने वाली ललनाओं से भरा रहता है, जो चतुर दूल्हे के लिये गुलाब के हार लिये इन्तज़ार में होती हैं।

आज स्टेशन पर स्त्रियां भी काफ़ी संख्या में आई थीं। दूल्हे के पिता लाहौर के प्रमुख व्यक्तियों में से थे, इसलिये बरातियों की कमी न थी। सारा प्लेटफ़ार्म जगमगा रहा था। हर तरफ़ हँसी-मज़ाक की बहार थी।

गाड़ी चलने से दस-पन्द्रह मिनट पहले केवल भी वहाँ जा पहुँचा। भीड़-भाड़ को देखकर पहले तो वह झिझका, लेकिन जल्दी ही उसका मन बारीक-सी खुशी से भर गया। आज उसकी पोशाक में कोई त्रुटि न थी। बाल उसने बड़ी कोशिश से संवार थे। रेशम की मुलायम कमीज़ पहनी थी और उसपर गहरे नीले रंग की इस्त्री किया हुआ सूट। पैरों में चमकीले काले चमड़े के जूते। अब सिर्फ़ अपने आपको अपनी सुन्दरता में बंद कर लेना ही बाकी थी। यही उसने किया। बग़ैर किसी को मिले वह एक कोने में जाकर खड़ा हो गया, मगर ऐसे कोने में नहीं, जहां प्लेटफ़ार्म के किसी तेज़ बल्ब की रोशनी ऐन उसके मुंह पर न पड़े। जगदीश केवल के इन्तज़ार में था और उसे देखते ही उसके पास आ पहुंचा। आज वह इतना उल्लासित था कि दूर ही से उसने केवल को अपने मित्रों से परिचित कराना शुरू कर किया- ''यह प्रकाशचन्द हैं, दो साल हुए हमारे ही कालेज से एम०ए० किया था, अब ई० ए० सी० हैं। रौनकी आदमी हैं। इन्हें हम पीपी कहते हैं। जिसके साथ वह बातें कर रहा है, क्रिशन खन्ना है, ये भी ओल्ड जी०सी० हैं, अब इंश्योरेंस का काम करते हैं। यह दोनों हमारे डिब्बे ही में सफ़र करेंगे। शानदार आदमी है। और वह...'

केवल जगदीश की बात तो सुन रहा था, पर उसका ध्यान उधर न था। प्लेटफ़ार्म की चहल पहल उसे आकर्षित कर रही थी। उसे ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे उन बिजलियों के नीचे एक नई दुनियां आ बसी हो, जिसकी छत पर न सितारे हैं और न दिल में जोश पैदा करने वाले क्षितिज। इस छोटी सी दुनियां में केवल उल्लास और सौन्दर्य था। जनसमूह में लाल और नीली साड़ियां पहने हुए किशोरियों का चंचल चक्रव्यूह खिले हुए फूल की तरह शोभायमान हो रहा था। केवल निस्तब्ध होकर देखता रहा। उसे अपने रूम-मेट की बहस फिर याद आई। सचमुच सौंन्दर्य बहुत बड़ी चीज़ है। उसे गार्ड की सीटियों तक का ध्यान न रहा। जब गाड़ी चली और प्लेटफ़ार्म फिसलना शुरू हुआ, फूल की पत्तियां भी बिखरती नज़र आने लगीं, तब उसे ध्यान आया कि सौन्दर्य का यह संसार तो क्षण भर के लिए था। जगदीश ने उसे ज़ोर से पुकारा और वह दौड़कर गाड़ी में सवार हो गया। गाड़ी उफ़ उफ़ करती हुई कुछ ही क्षणों में रात की असीमता में विलीन हो गई।

केवल अब भी डिब्बे के दरवाज़े पर खड़ा था। जगदीश ने उसके पास आकर कहा- 'अब वहां कुछ नहीं है, अन्दर आ जाओ, वरना सर्दी खा जाओगे।'

केवल ने जैसे अपनी मूर्खता पर हँसते हुए किवाड़ बन्द कर दिया और जगदीश के पास जा बैठा।

'तुम्हें औरतों को घूरने का शौक कब से सवार हुआ है? मेरा ख्याल था, तुम अभी बच्चे हो।'

'इसमें बुराई क्या है? किसी ख़ास स्त्री को तो मैं ताक नहीं रहा था। यह सारा का सारा दृश्य ही इतना मोहक था। मुझे तो ऐसा जान पड़ता था कि हम वहां से कभी हिलेंगे ही नहीं।'

'अगर मैं तुम्हें आवाज़ न देता, तो तुम तो कम से कम न हिलते।' फिर 'हांजी' कहकर उसने ताली बजाई- 'यह मेरे परम मित्र मिस्टर केवल, फोर्थ ईयर गवर्नमेंट कालेज, और यह मेरे भाई मिस्टर रतनचन्द, आप शादी कर रहे हैं?'

'हाउ डू यू डू ?'- 'हाउ डू यू डू!'

'मिस्टर प्रकाशचन्द, केवल, क्रिशनलाल।'

'हाउ डू यू डू ?' 'हाउ डू यू डू !' 'हाउ डू यू डू !'

यह अच्छा हुआ कि सब यार दोस्त ही थे। सबने अपने अपने बिस्तर निचली सीटों पर खोल दिये और सूट बूट उतारकर रात की पोशाक में हो गये। केवल ने मन ही मन ईश्वर को धन्यवाद दिया कि वह अपने रूममेट का ड्रेसिंग गाउन ले आया था, वरना उसकी फज़ीहत अवश्य होती।

गाड़ी खटाखट तेज़ी से भागी जा रही थी। बाहर कृष्णपक्ष की दूज का चांद वृक्षों की कतारों के परदे में से उठता हुआ दीख रहा था।

ज़्यादा देर चुप रहना क्रिशन की आदत के खिलाफ़ था। उसका सिद्धांन्त था कि चुप रहना मानव स्वभाव के विरुद्ध है- खासकर इंश्योरेंस एजेन्ट नामक जीव के लिए। चांदी का सिगरेट केस निकाल कर उसने सबको पेश किया। केवल पहले तो हिचकिचाया-उसे आदत न थी- फिर ले लिया। क्रिशन ने बारी-बारी सबके सिगरेट सुलगाये, फिर उन्हें पास बुलाकर अपने ट्रंक के ऊपर बैठ गया और बोला- 'तुम्हें कुछ दिखायें।'

सबने यही सोचा, दूल्हा के लिये कोई उपहार लाया होगा। ऊपर की तहें कपड़ों की थीं। उन्हें उठाते हुए क्रिशन ने कहा- 'भई बूझो, जादू के इस पिटारे में क्या है?'

'बिज्जू !'

'बिज्जू तो पिटारे के बाहर है।'- पीपी ने क़हा। इस पर सब खिलखिलाकर हंस पड़े। सिगरेट के धुएं से आंखों को बचाने के लिए क्रिशनलाल ओठ बाहर किये और मुंह के 'मसिल' सिकोड़े हुए था। इससे उसकी शक्ल में थोड़ा सा बिज्जूपन आ गया था। यदि क्रिशनलाल आई० ए० के स्थान पर वहां सम्पूर्ण बिज्जू बैठा होता, तो भी शायद उन्हें इतनी हँसी न आती। इस हँसी में क्रिशन ने तौलिये में लिपटी हुई एक शेम्पेन की बोतल निकाली और गाल के साथ लगाकर खड़ा हो गया।

'एंजिल्स एण्ड मिनिस्टर्स आफ ग्रेस डिफंड अस।' रतनचन्द ने सेहरा सिर पर रखकर नाचना शुरू कर दिया। जगदीश और पीपी भी 'जीन्दा रवें, जीन्दा रवें!' का शोर करते हुए उनके साथ शामिल हो गये। केवल को ऐसा जान पड़ा, जैसे वह एकाएक किसी बिल्कुल अपरिचित स्थान पर आ गया हो। छोटी उमर में जब कभी अपने गांव जाता था, तब उसका यही हाल होता था। वहां का पानी उसे फीका लगता और हरदम यही जी चाहता कि वापस लौट जाऊँ, लेकिन उसी गांव से एक मास के अन्दर इतना स्नेह हो जाता कि बाद में लौटने को जी न करता।

'खुदा के वास्ते शोर न करो, पिछले डिब्बों में बुज़ुर्ग लोग बैठे है।' क्रिशनलाल ने चेतावनी दी।

'अरे, जाने भी दो, भला कभी उन्होंने भी शराब पी है ! इधर लाओ।'

'पहले देख लो कि गाड़ी ठहरने को तो नहीं।'

'ठहरेगी तो बत्ती बुझा देंगे।'

'यह जाती है फिर,'- कहते हुए उसने फक से बोतल का डाट खोल डाला और छोटे-छोटे गिलास भर दिये।

'यह लो पहला जाम, दुलहिन के सुहाग का।'

केवल ने इन्कार किया- 'मुझे क्षमा कीजियेगा, मैं नहीं पिया करता- मैं सिगरेट में जो आपके साथ शरीक हूं- कोई ज़रूरी है ?'

लेकिन कौन मानता था। 'तुम्हें मार तो नहीं डालेगी मियाँ ! क्या तुम हो ? शेम्पेन तो शाहज़ादों का ड्रिंक है, इससे नशा बिल्कुल नहीं होता।' जगदीश ने भी दो लफ्ज़ कह दिये- 'अपने दोस्त की शादी पर जो हज़ार खुशियां मनानी चाहिएँ, कभी कोई जामे सेहत से भी इंकार करता है?'

केवल ने थोड़ी सी ले ली। बहस करना उसके स्वभाव में न था। आख़िर हो क्या गया। एक घूंट भर लेने से इन्सान शराबी थोड़े बन जाता है। हमें इन सामाजिक बंदिशों को तोड़ना ही पड़ेगा, फिर भी मन मुंह लगाने से घबराता था। दिल कड़ा करके वह उसे पी तो गया, मगर उसी वक्त उसे यह सोच कर सख्त हैरानी हुई कि मज़बूत से मज़बूत दीवारें भी कितनी आसानी से टूट सकती हैं।

जब स्टेशन आया, तो सब बत्तियां बुझा दी गयीं। सब अपने-अपने विस्तरों पर चले गये। ईश्वर की कृपा से वहां गाड़ी कुछ ही मिनट ठहरती थी। टोली का अधिक समय जाया न हुआ। अब असल मज़ाक शुरू हुआ। कुछ देर तो दूल्हा की खबर ली गई। फिर ब्रिज शुरू हुई। शेम्पेन से सुरूर में एक दूसरे को चिख करने का जो मज़ा उन्हें आ रहा था, उसका अन्दाज़ा उनके चमकते हुए चेहरों से ही हो सकता था।

पहला गिलास पीते वक्त केवल ने कोशिश की थी कि दो-एक घूंट भरकर वह इस खट्टी बला को बाहर फेंक दे, किन्तु वह ऐसा न कर सका। इसके बजाय यह अच्छा रहेगा कि वह दूसरा गिलास हरगिज़ न ले, लेकिन जब वक्त आया, तब उसकी "नहीं नहीं" की तरफ़ किसी ने ध्यान न दिया। अब तीसरा दौर चल रहा था। पता नहीं कम्बख़्त क्रिशन कहां से इतनी बोतलें उठा लाया था।

इस वक्त तक बाहर सभी ओर चाँदनी छिटक गई थी। और वही असीम दुनियां जो दिन को धूल-धूसरित और दरिद्र सी नज़र आती थी, चाँद के नीलम प्रकाश में शान्त और आनन्दमयी प्रतीत हो रही थी। गाड़ी धुंआधार, चीखती-चिंघाड़ती जीवन के क्षणों को निगलती जा रही थी।

लगभग दो घंटे के बाद।

स्टेशन पर बिजली का बटन गिराना और उठाना जगदीश की डयूटी थी। अब वह इसे इतनी चुस्ती से नहीं कर सकता था। इस बार जब वह रोशनी करने उठा, तो अंधेरे में किसी की टांगों से उलझकर फर्श पर जा गिरा। क्रिशन भाग कर उसकी मदद को गया। केवल ने रोशनी की। तब उन्होंने देखा कि अंधकार में ही दो व्यक्ति छिपकर इस डिब्बे में घुस आये हैं। एक तो अधेड़ उम्र का पुरुष था और दूसरी बुर्का पहने एक स्त्री। वस्त्रों से दोनों ही मामूली हैसियत के जान पड़ते थे।

'कौन हो तुम? क्या करने आये हो यहाँ?' क्रिशन ने डांटकर पूछा।

'माफ़ कीजियेगा ! हमें पता न था कि यह डिब्बा आप लोगों का है। अगले स्टेशन पर उतर जायेंगे। उसके लहज़े में थकावट थी- 'अब गाड़ी छूट रही है और मेरे साथ ज़नाना सवारी है।'

केवल इस व्यक्ति को ग़ौर से देख रहा था। उसके गोरे और सुधड़ चेहरे पर चेचक के दाग़ थे। होठों पर छंटी हुई काली-काली मूँछें। आंखें काली और अशान्त।

जगदीश गुस्से में बड़बड़ा रहा था- 'निकाल दो इसको, यह चोर है।'

केवल को अनुभव हुआ कि बहुत बातें कर सकने की ताकत उसमें भी नहीं रही, किन्तु उसने देखा कि बुर्के की जाली में से दो सुन्दर आँखें उसे देख रही हैं। उसने क्रिशन से कहा- 'अब गाड़ी चल चुकी है, इन्हें बैठने दो, मामूली बात है।'

क्रिशन अभी तक बिलकुल होश में था। केवल की बचकानी आतुरता पर वह हंस पड़ा। आगन्तुक और स्त्री एक कोने में सिमटकर बैठ गये। ताश और बोतल के दौर में उनकी उपस्थिति का किसी को ख्याल तक न रहा- सिवा केवल के। इस रबर में वह पांचवां था। अलग बैठकर वह ख्याल के दौरे डालने लगा।

रात कितनी सुन्दर थी। तारे जुगनुओं की भांति टिमटिमा रहे थे। टेलीग्राफ के काले-काले तार के नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे तरंगें मारते थे। कभी-कभी बड़े वृक्ष आकर उन्हें मानों पोंछ डालते। कभी कोई नहर चमकीले रिबन की तरह क्षण भर के लिये झलक दिखाकर भाग जाती और गाड़ी की निरन्तर झंकार में एक क्षण के लिये परिवर्तन आ जाता।

यकायक स्त्री ने मुंह पर से पर्दा हटा दिया। केवल का ध्यान उसकी तरफ खिंच गया। वह सचमुच सुन्दर थी- रंग सांवला, आंखें बड़ी-बड़ी और चंचल। जब से वह आई थी, केवल को अनुभव हो रहा था कि वह विशेषकर उसी के प्रति दिलचस्पी ले रही है, पर शायद यह उसकी भूल थी।

उसे फ़िक्र हुई। कहीं मैं नशे में तो नहीं हूं। कहीं मुझे किसी ने पहचान तो नहीं लिया। अगर लालाजी को पता लग गया तो फिर? मन ने दूसरी चुटकी ली। कौन कहता है मैं नशे में हूँ ? वह चांद है, वह ध्रुवतारा है, वह जगदीश है। मैं नशे में कैसे हो सकता हूँ? हो क्या गया, यदि मैंने आज थोड़ी सी शेम्पेन पी ही ली तो! पश्चिम में सब छात्र शराब पीते हैं, नाचते हैं, गाते हैं। एक हम हैं, हर समय यही सोचते रहते हैं कि यह करेंगे, तो वह क्या कहेगा, वह करेंगे, तो यह सब क्या कहेंगे ? उंह ! कितनी कमाल की चांदनी है ! क्या यह चांदनी रात सिर्फ़ सोने के लिये बनी है? वह देखो, मेरे तरफ़ देख रही है। आवारा कहीं की। ऊपर के बर्थ के साये के और भी अन्दर छिपकर केवल लेट गया। और उन दोनों की तरफ़ देखने लगा।

पुरुष सामने की दीवार पर टकटकी बांधे था, जैसे वह किसी विस्तीर्ण मरुभूमि पर नज़र फेंक रहा हो। वह किसी गहरे सोच में होगा। केवल के जी में आया कि उसे भी लापरवाही का एक गिलास भर पिला दे।

एकाएक उसे जान पड़ा कि वह चेहरा उसने पहले भी कहीं देखा है। चेहरे से ज़्यादा आगन्तुक की मूंछें और पगड़ी उसे परिचित जान पड़ीं। निश्चय ही उसने यह चेहरा पहले भी कहां देखा है, पर कब और कहाँ?

'केवल, यह लो।' क्रिशन ने पुकारा। केवल अपना गिलास थामकर उठा। उसे यह अनुभव करके आश्चर्य हुआ कि उसकी टांगें उसका कहना मानने से इंकार करने लगी हें। इस विचित्र अनुभूति पर उसे बेअख़्तियार हंसी आई। केवल को हंसता देखकर उसके साथियों ने भी हंसना शुरू कर दिया। कुछ देर के लिये वह सब खूब खिल-खिलाकर हंसते रहे। केवल हंसता भी गया, पर साथ ही उसे हैरानी थी कि और सब क्यों इतना हंस रहे हैं। नाराज़-सा होकर वह वापस लौटा, तो वह युवती भी उसपर मुस्करा रही थी। केवल को इस क्षण वह बहुत अच्छी लगी।

पुरुष के चेहरे ने फिर से उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। उसने अवश्य ही यह चेहरा कहीं देखा है! उसे स्मृति को कुरेदने की आवश्यकता प्रतीत हुई। स्मृति भी एक सागर है, जिसकी लहरों पर हाथ मारता हुआ इंसान कहां से कहां जा पहुंचता है। ओह, यह तो भाई कांशीराम था। अवश्य ही। अब उसने नई दिलचस्पी से आगन्तुक की ओर देखा। निश्चय ही यह तो वही है। उसके जी में आया बग़ैर सोच-विचार किये उन्हें बुला ले। फिर रुक गया। सोचा, शायद वह कांशीराम न हो। शायद मैं नशे में हूं। भला यह कांशीराम कैसे हो सकता है? इसके साथ तो मुसलमान औरत है।

काश कि वह कांशीराम होता। केवल के दिल में भावों की लहर सी उठ खड़ी हुई और उसका गला भर आया। उसे अपना बचपन याद हो आया। कांशीराम उन दिनों स्कूल में अध्यापक था, और वह केवल को कितना प्यार करता था। केवल के जेब हमेशा चाक और सलेट-पेंसिलों से भरे रहते थे। स्कूल की पिकनिकों पर कांशीराम उसे अपनी साइकिल के आगे बैठाकर ले जाया करता और रास्ते में नई-नई बातें सुनाकर उसे हैरान

किया करता। सूरज खड़ा है, पृथ्वी चल रही है। जिस दिन उसने केवल को यह दिखाया कि साइकिल के पैडल उलटे घुमाने से भी वह आगे जाती है, उस दिन केवल की हैरानी की सीमा न रही थी। जब केवल को पान खिलाया जाता, तो उसकी लाली केवल की ठोड़ी तक बह आती। हज़ार कोशिश करने पर भी वह इसे रोक न पाता था और सबके सामने उसे शर्मिन्दा होना पड़ता था।

मन ही मन केवल ने अपने आपको कोसा। कांशीराम का ख़याल आए भी उसे दस साल हो चले थे। केवल ने सुना था कि कांशी बदचलन है। वह शराब पीता है और जुआ खेलता है। किसी अपराध में वह जेल भी गया था। उस उम्र में केवल की नज़रों में इनसे बढ़कर पाप कांशी और न कर सकता था। उसका कांशी के प्रति सारा प्यारा गुस्से में परिणत हो गया था। अब यदि .... काश यही कांशीराम होता।

ऐसा प्रतीत होता था कि कोई स्टेशन आने ही वाला है। केवल अपने आनन्द में मग्न बैठा था। उसे लोगों की बेवकूफी और क्रूरता पर अफ़सोस हो रहा था। एक आदमी को निकाल बाहर करना, केवल इसलिये कि वह शराब पीता है! मगर वह युवती तो फिर उसे ही ताक रही है। आवारा कहीं की।

ट्रेन के पहिये में से एक गान का सा-स्वर निकल रहा था। केवल ने उस स्वर की नकल करना शुरू किया। बाकी साथियों ने देखा, केवल गाने की कोशिश कर रहा है। पीपी ने इशारे से क्रिशन को जताया - 'इसे और मत देना।'

गाड़ी की रफ्तार धीमी पड़ गई थी। मजलिस धीरे-धीरे गिलास और बोतलें छिपाने लगी। केवल ने चिल्लाकर कहा - 'मत छिपाओ, मत पड़वाह करो किसी की, मत डरो किशी शे!'

उसे प्रतीत हो रहा था कि वह अब सारी दुनिया का मुकाबला कर सकता है। आगन्तुक यात्री ने अपनी साथिन का हाथ पकड़ लिया था और वह एकटक सामने की ओर देख रहा था। सब दोस्त ताश छोड़-छोड़कर अपने बिस्तरों में जाने के लिये उठ खड़े हुए, परन्तु केवल वहीं का वहीं बीच के बर्थ पर हाथ टिकाकर खड़ा था। अब वह चुप था। बड़ी देर से वह निरन्तर टकटकी लगाये आगन्तुक की ओर देख रहा था।

गाड़ी खड़ी हो गई। वचन के मुताबिक दोनों आगन्तुक बाहर निकलने को उठे, परन्तु वह उनकी किस्मत में नहीं बदा था। दरवाज़ा खुला और एक अंग्रेज अफसर दो-तीन सिपाहियों के साथ अन्दर आ धमका। आते ही उसने गरजकर कहा 'टुम कांशीराम है'? 'इन्शा अल्ला! यही हैं जनाब।' साथ के सिपाही ने खुशी से चमकते हुए कहा।

कांशीराम का सिर झुक गया। उसने दोनों हाथ आगे बढ़ा दिये। सिपाही हथकड़ी डालने लगा, इतने में पीछे से केवल ने चीखकर कहा - 'कौन पकड़ता है इनको? छोड़ दो इनको। यह मेरा भाई है - छोड़ दो।'

अफसर ने विस्मय से मुड़कर देखा। केवल लड़खड़ाता हुआ उसी तरफ़ आने का यत्न कर रहा था। साथ ही वह अंग्रेज़ी में चिल्लाता भी जा रहा था। क्रमशः वह निकट आकर कैदी के गले लग गया। पता नहीं, उसके मुंह से क्या कुछ निकल रहा था,

हालांकि वह कहने की कोशिश में था - 'मास्टर कांशीराम! क्या तुम्हें याद नहीं? तुम्हीं तो थे, जो मुझे अपने कंधे पर बैठाकर नहर में नहलाया करते थे?'

बाकी चारों मित्र आश्चर्य के पुतले बन रहे थे। सिपाहियों ने बड़ी कठिनता से केवल को हटाया, फिर कैदी से पूछा - 'क्या तुम इस छोकरे को जानते हो?'

कांशीराम ने डपटकर कहा - 'क्या तुम देख नहीं रहे हो कि इसने शराब पी रखी है? मैं क्या जानूं कि यह कौन है।'

उधर केवल अंग्रेजी में सार्जण्ट को अपनी तरफ़ से बड़ी संजीदगी के साथ समझा रहा था - 'मेरा नाम केवल है। मैं इसका भाई हूँ - सगा भाई हूँ।'

सार्जण्ट ने देखा कि सब लड़के किसी शरीफ़ घराने के हैं और इस वक्त नशे में हैं। अपने कैदियों को बाहर ले जाकर उसने पास ही खड़े हुए गार्ड से उनका ध्यान रखने की ताकीद की। क्रिशन ने बत्तियां बुझा दीं। गाड़ी भी सीटी देकर चल दी।

केवल अपने वर्थ पर औंधे मुंह जा गिरा। वृक्षों में उलझी हुई चांदनी से पृथ्वी पर विचित्र-विचित्र प्रतिबिम्ब बन रहे थे। कांशी ... क्या उसने मुझे नहीं पहचाना? .... थके हुए दिमाग में सुबह के शब्द झंकृत हो उठे - वास्तविकता, सौन्दर्य .... उसने सोचने की कोशिश की, पर शराब सोचने नहीं देती।

गाड़ी खटाखट-खटाखट दौड़ी चली जा रही थी।

ज़र्रे

बम्बई के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जो बिजली की गाड़ियां चलती हैं उनकी भीड़ का अन्दाजा इस बात से हो सकता है कि तीन चार आदमी रोज़ कट जाते हैं। परिस्थिति ऐसी गंभीर हो गई है कि स्वयं राष्ट्रीय सरकार के मंत्री चिन्तित है और सुना है, मृतात्माओं की शान्ति के लिए बहुत जल्दी ही वे प्रार्थना सभाओं का प्रबन्ध करने वाले है। इस ख़बर से जनता को काफी आश्वासन हुआ है और सफर को सुविधाजनक बनाने के तरीके खुद भी सोचने शुरू कर दिये हैं। मसलन, बहुत से मुसाफ़िर प्लेटफार्म से उतर कर पटरी की दूसरी तरफ खड़े होते हैं ताकि गाड़ी के आने पर दोनों तरफ के दरवाजे काम में लाये जा सकें। सैकड़ों लोग बिल्कुल आगे के डिब्बे में घुस जाते हैं, जो वास्तव में मुर्दा मछलियों के लिए सुरक्षित होते हैं। बहुत हद तक यह केवल मन बहलावा है, फिर भी इससे यह जरूर ज्ञात होता है कि अपनी सरकार का हाथ बंटाने की जनता में कितनी तीव्र भावना है।

हां, कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो इस सद्भावना का नाजायज़ फ़ायदा उठाते हैं। उनकी गुलामाना मनोवृत्ति अभी भी दूर नहीं हो सकी। गाड़ी में सवार होते और उतरते वक्त उनका व्यवहार ऐसा घृणित होता है कि देखने वालों के सिर शर्म से झुक जाते हैं। अफ़सोस ! मेरी गणना भी इन्हीं लोगों में होती है। मेरी गिरावट का सब से बड़ा सबूत और क्या होगा कि हर रोज गाड़ियों में सफ़र करता हूँ, तब भी अभी तक जिन्दा हूँ।

लेकिन आज तो मुझे भी कायल होना पड़ा कि किये का फल एक दिन जरूर मिलता है। थोड़ी सी कसर रह गई वरना कल मेरे मरने की खबर जरूर अखबार में निकल जाती।

हुआ यह कि जिस डिब्बे के बाहर मैं और तीस चालीस और मुसाफ़िर लटके हुये थे, उनके अन्दर से किसी औरत के रोने-चीखने की भयानक आवाज़ आ रही थी। न यह आवाज बन्द होती थी और न हमें कोई बताता ही था कि औरत कौन है और क्यों रो रही है। चुनांचे हमें अपनी मानसिक स्थिरता ग़ायब होती हुई दिखाई दे रही थी - वह मानसिक स्थिरता जो फुटबोर्ड पर सफर करते वक्त शारीरिक स्थिरता को कायम रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक होती है।

बांदरा स्टेशन तक पहुंचते-पहुंचते हमारी बुरी हालत हो गयी। लेकिन इत्तफ़ाक से वहां एक 'फ़ास्ट' गाड़ी तैयार खड़ी थी। इसलिए बहुत से लोग अपना कौतूहल मिटाए बिना ही उतर कर दूसरी गाड़ी में लटक गए। इस तरह मेरी जान बची और मैंने अपने गुनाहों पर तोबा किया।

कम्पार्टमेंट में खड़े होने की जगह मिल जाने पर मैंने उस रोने-धोने का भी अनुसंधान किया। मैंने देखा कि बड़े फट्टे पर साधारण जनता के अलावा जनता के तीन सेवक, यानी पुलिस के सिपाही भी विराजमान हैं, और इन्हीं के कदमों में खिड़की के नीचे, गाड़ी की दीवार से मुंह लगाए एक औरत, जिसने काला दुपट्टा ओढ़ रखा है, विलख-विलख कर रो रही है।

उपर्युक्त गुलामाना मनोवृत्ति से मजबूर होकर पहिले मैंने यही सोचा कि ज़रूर कोई सरकारी कारवाई हो रही है। लेकिन जब कोई ज़ंजीर, बेड़ी, रस्सी, लाठी, बन्दूक नज़र नहीं आई और सिपाहियों के चेहरे भी सर्वथा तटस्थ, बल्कि कुछ हद तक द्रवित नजर आए और साथ ही बाकी मुसाफ़िरों को भी बिलकुल स्वाभाविक रीति से बैठे या खड़े हुए देखा, तो मुझे अपनी ग़लती का एहसास हुआ। कुछ क्षणों के लिए मैंने भी स्वतन्त्र नागरिकों की तरह सभ्य और स्वाभाविक होने की कोशिश की।

मगर औरत थी कि बेतहाशा रोए जा रही थी। चाहे कुछ भी कहो, उसके रोने से डिब्बे पर एक आतंक-सा छा गया था, वरना सब मुसाफिर एक साथ चुप क्यों हो जाते? औरत के लिबास से जाहिर था कि वह पश्चिमी पंजाब या सीमाप्रान्त की रहने वाली है। खुद पंजाबी होने की हैसियत से क्या मेरा फर्ज नहीं था कि उसकी कुछ मदद करूँ?

मैं यह सोच ही रहा था कि खिड़की से आती हुई धूप में मोती की तरह चमकता हुए एक आँसू सिपाहियों के सामने वाले फट्टे, यानी मेरी तरफ पीठ किए बैठे हुए एक मुसाफ़िर की आँखों से गिरा। इस शख़्स के बाल बिखरे हुए थे, कमीज़ मैली और जगह-जगह से फटी हुई थी और वह अपना सिर झुकाए माथे पर हाथ धरे बैठा था। इस आँसू ने औरत को, इस आदमी को और सिपाहियों को मेरी कल्पना में फिर इकट्ठा कर दिया।

मेरे करीब दो लड़कियाँ खड़ी थीं, जो शायद किसी फ़िल्मी स्टूडियो में काम करके लौट रही थीं और उनके पीछे, गाड़ी के आधे बन्द दरवाज़े के साथ टिके हुए, एक ऐसे सज्जन खड़े थे जिनके साथ एक बार किसी दूसरे वातावरण में मुलाकात हो चुकी थी, लेकिन याद नहीं आ रहा था कि कब और कहाँ? इसलिए वह मुझ से और मैं उनसे संकोच कर रहा था। लेकिन इन्सान का मन भी कैसी अदभुत चीज़ है। उस आँसू को गिरते देख कर जब मैं चौंका तो साथ ही यह भी याद आया कि उस सज्जन को मैंने अपने मित्र नन्दलाल के साथ कभी देखा था। उनका नाम अब भी मुझे याद नहीं आया, मगर संकोच मिटाने का अवसर तो मिल ही गया था।

"कहिए, नन्दलाल जी यहीं हैं या नासिक लौट गये हैं?"

इस सवाल पर उनके मन का संकट भी दूर हुआ और वे मुस्करा कर बोले, "देखिये अब मैंने आपको पहिचाना है। बड़ी देर से सोच रहा था कि आपको कहीं देखा है, मगर याद नहीं आ रहा था ...."

"अजी कोई बात नहीं। मैंने तो फौरन ही पहिचान लिया था। कहिए, ठहरने का कोई प्रबन्ध हुआ या नहीं?"

चुनांचे कुछ मतलब, कुछ बेमतलब की बातें होने लगीं। औरत बराबर रोए जा रही थी। मैंने देखा कि उसकी उम्र चालीस बरस के लगभग होगी। उसने अपना काला दुपट्टा माथे पर जिस ढंग से बांध रक्खा था, उससे पता चलता था कि वह जिला हज़ारा के पहाड़ों की रहने वाली है और गुज्ज़र जाति की है। उसके कानों में बड़ी-बड़ी बालियां थीं और उनके इर्द-गिर्द बालों की पतली गुंथी हुई वेणियां बिखरी-बिखरी लटक रही थीं।

मैंने अपने साथी से पूछा : "आपका क्या ख़याल है, यह क्यों रो रही है?"

"अरे भाई, हमारी तरफ़ के लोगों की ऐसी ही आदत है। जहां किसी के हथकड़ी पड़ गयी, घरवालों ने यही समझ लिया कि वह हमेशा के लिए चला गया।"

मैंने लड़कियों के थोड़ा पास सरक कर उस नौजवान को, जिसका आँसू गिरा था, अपने साथी के दृष्टिकोण से झाँक कर देखा। उसके दाईं तरफ़ उसी के ढंग का एक और लड़का बैठा हुआ था। दोनों का एक-एक हाथ हथकड़ी में बन्द था, और उसकी जंजीर खिड़की के पास बैठे हुए एक चौथे सिपाही के हाथ में थी। जिसकी सिर्फ़ वर्दी दिखलाई पड़ती थी। दोनों लड़के गोरे चिट्टे, स्वस्थ और ख़ूबसूरत थे, जैसे बम्बई में नए-नए आये हों। एक का सिर झुका हुआ था और दूसरा बड़ी-बड़ी आँखों से छत की तरफ देख रहा था। शायद दोनों भाई थे।

मैंने अपने साथी की बात का समर्थन करते हुए कहा - "आप ठीक फ़रमाते हैं। मुझे कई बरस बम्बई में रहते हो गए। लेकिन किसी मराठी या गुजराती औरत को इस तरह खुलेआम रोते-चीखते नहीं सुना।"

"यहाँ के लोग पढ़े-लिखे हैं न? हमारी तरफ़ तो एकदम जहालत है।"

उनकी यह दलील मेरी समझ में नहीं आई। मराठी गुजराती औरत से मेरा मतलब था गरीब तबके की औरतों से, जो लाखों की संख्या में मर्दों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर मेहनत करती हैं। भला उनमें कितनी पढ़ी-लिखी होंगी? हाँ, पढ़ने-लिखने से अगर उनका अभिप्राय जीवन के कठोर संघर्ष से मिलने वाली शिक्षा से था, तो ठीक। इस कठोरता ने बम्बई के मज़दूरों को मशीन में पीस-पीस कर कुछ संयम भी दे दिया है, और आत्मसम्मान भी।

"लेकिन", मैंने कहा, "हमारी तरफ़ की पुलिस भी तो ऐसी नहीं होती। उनके हत्थे जो आदमी एक बार चढ़ जाये, सही-सलामत थोड़े लौटता है?"

'यह भी ठीक है', उन्होंने जवाब दिया।

ज़ाहिर था कि उन्हें इस किस्म के वार्तालाप में कोई महत्व नहीं नज़र आ रहा था। और फिर भीड़-भाड़, गाड़ी के और उस औरत के शोर में बातें करना कहाँ आसान था?

कुछ देर तक मैं सामने बैठे हुए सिपाहियों को देखता रहा। उनमें से एक पाँव हिला-हिला कर अपने चमकते हुए जूतों को सराहता हुआ बीड़ी पी रहा था। दूसरा मुजरिम लड़कों की ही उम्र का होगा। उन्हीं की तरह का अल्हड़पन इसके चेहरे पर भी पाया जाता था। साँवला रंग, चिकने बालों पर तिरछी अदा से रक्खी हुई किश्तीनुमा टोपी-फ़र्क केवल इतना था कि यह पालतू था, और वह गंवार थे। तीसरा सिपाही खुर्राट

मालूम होता था, चौड़ा चौकस चेहरा, बड़ी बड़ी मूंछे। तीनों अत्यन्त साधारण भाव से बैठे थे, लेकिन एक ऐसे ढंग से जो उत्तरी भारत के पुलिस वालों के लिए विचित्र और अकल्पनीय है और जिसे अंग्रेज़ कौम अपनी खूबी समझती है।

मैं नहीं जानता कि मेरे साथी ने भी यह सोचा या नहीं कि दोनों मुलज़िम हमारे हमवतन हैं - कि वह औरत परदेस में है और एक अजनबी गाड़ी के फटटों से सिर टकरा कर रो रही है - कि उसका अपना वातावरण वह पहाड़ है जिसकी निचली घाटियों में लुकाठ, गरंडे और चोटे पैदा होते हैं - वह फल जो सिर्फ़ वहीं चखे और खाए जा सकते हैं - और इन्ही घाटियों में भेड़ बकरी चराना इस जाति की औरतों का पेशा है। उनकी बकरियाँ 'बहेकड़' नामक झाड़ी के पत्ते खुशी से खातीं है, जिसके फूल सफ़ेद और कड़वे होते हैं मगर जिनके सिरे पर शहद की एक मीठी बूंद छिपी रहती है। गुज्ररों की लड़कियाँ अपने काले दुपटटे में इन फूलों की झोलियाँ भर-भर कर छाती से लगा रखती हैं और ढोर हाँकते वक्त शहद चूसा करती हैं। उनके गोरे और चौड़े माथे पर काली, कस कर बंधी हुई चुन्नियाँ, गालों पर लटकती हुई बारीक गुंथी वेणियाँ और गुन गुनाने वाले बालियों के छल्ले बड़े सुन्दर मालूम होते हैं। शहर के लड़के गुज्ररों के डर के मारे दूर ही दूर से उन्हें ललचाई हुई नज़रों से देखते हैं। यह औरत भी कभी जवान थी, कभी इन्हीं लड़कों को गोद में उठाये हुए चश्मों और आबशारों की सैर कराया करती थी....

इसके विरुद्ध शायद मेरे साथी ने सोचा हो कि यह औरत मुसलमान है। यह लड़के भी मुसलमान है। इसलिए नीच कर्म करते हैं। इन्होंने ज़रूर ही कोई संगीन जुर्म किया होगा। इन्हीं लोगों ने हमारे घर जलाए थे। हमारी बहू बेटियों पर पाशविक अत्याचार किए थे। इनसे हमारा कोई संबंध नहीं है। इन्हें हिन्दुस्तान से निकाल कर उसी जहन्नुम में भेज देना चाहिए जिसे पाकिस्तान कहते हैं। हमारे देश में इन वहशियों का क्या काम .... या शायद उसने कुछ भी न सोचा हो। मैं नहीं जानता। आख़िर कोई ऐसी विशेष घटना तो थी नहीं। रोना सुनकर लोग चुप ज़रूर हो गए थे, मगर ज्यादा माथापच्ची तो वृही करे जिसका कोई लगाव हो, या जिसे दूसरा कोई काम न हो।

कुछ ही मिन्टों में गाड़ी दादर स्टेशन पर आ खड़ी हुई और डिब्बा यूँ ख़ाली हो गया जैसे किसी हौज़ का नल खोल दिया गया हो। इस बहाव में मेरा साथी भी उतर गया, कैदी, सिपाही और औरत भी। औरत ने लड़कों के साथ-साथ रहने की कोशिश की, लेकिन बड़ी मूँछों वाले सिपाही ने गुस्से से नहीं, बल्कि शायद कायदे से, उसे ढकेल दिया।

औरत अब चुप हो गयी थी। पल्ले से आँसू पोंछ लिए थे, जैसे फ़र्ज का एक हिस्सा कामयाबी से पूरा कर चुकी हो। अब कोई न कह सकता था कि कुछ क्षण पहिले वह धाड़े मार मार कर रो रही थी।

डिब्बा नए और पुराने मुसाफ़िरों से फिर खचाखच भर गया। इस हलचल में मुझे भी बैठने की जगह मिल गयी। यह वहीं जगह थी जहाँ पहिले बड़ी-बड़ी मूँछों वाला सिपाही बैठा हुआ था। मैंने साथ वाले मुसाफिर से पूछा - 'क्यों साहब, उन लड़कों ने क्या जुर्म किया था?'

जवाब में वह जोर से हँसा। फिर कहने लगा - 'कुछ न कुछ चार सौ बीस जरूर किया होगा, और क्या? किए का फल एक न एक दिन मिल ही जाता है।'

उसके लहजे से मैं फौरन जान गया कि वह न सिर्फ पंजाबी है, बल्कि उस औरत के ही हज़ारा जिले का है। मेरे आश्चर्य की सीमा न रही - इतनी बेरुखी। औरत कितने समय तक उसके घुटनों के पास बैठी रोती रही और इसने इतना भी नहीं पूछा कि क्या बात है? अगर यही गाड़ी पंजाब के किसी इलाके में होती तो क्या यही शख्स उछल-उछल कर सवाल न पूछता? अपनी राय न देता? जिरह न करता? मुलजिमों और पुलिस तक को बहस में शामिल न कर लेता? और बम्बई में यह कितना बदला हुआ है?

मैंने कुछ तलखी से जवाब दिया - 'छोटे चार सौ बीसों को ज़रूर मिल जाता है, मगर बड़े-बड़े चार सौ बीसों को नहीं मिलता।'

'कभी न कभी उन्हें भी मिल जाता है।' यह कहकर वह फिर ज़ोर से हँसा।

मुझे इतनी ज़्यादा खुशी की कोई बात नहीं नजर आई। मैंने फिर उसे गौर से देखा। उसका नंगा सिर कुछ-कुछ गंजा था और अगल बगल बाल बेतरतीब से माथे पर आये हुए थे। हँसने से उसके चेहरे पर सैकड़ों लकीरें पड़ जाती थीं, मूंछें झाड़ी की तरह फैल जाती थीं और उनके नीचे के दाँत एक सफेद जंगले की तरह मालूम होते थे जिसकी फट्टियाँ थोड़ा-थोड़ा स्थान छोड़कर लगाई गई हों। तदनुसार उसके हाथ भी मजबूत और खुरदुरे थे। इनमें वह एक लोहे का औजार पकड़े हुए था। उसके खाकी कोट को देखकर मुझे अन्दाजा हुआ कि वह किसी बस कम्पनी में काम करता है।

'आप ज़िला हज़ारा के हैं न?' मैंने कहा।

इस सवाल का उसने बड़ी संजीदगी और नम्रता से उत्तर दिया - "जी, मैं मानसहरे का रहने वाला हूँ। और आप?"

"मैं रावलपिंडी का हूँ।"

"अच्छा, ठीक .... फ्रन्टियर मेल तो अब वहाँ नहीं जाती न?"

"वह तो बरसों से बन्द हो गई है। अब सिर्फ़ दिल्ली तक ही जाती है, और वहाँ से दूसरी गाड़ी पकड़नी पड़ती है।"

"हाँ।" यह कह कर उसने इस तरह की साँस ली जैसे उसमें फ्रन्टियर मेल के फ़्रंटियर तक न जाने का दुख छिपा हुआ हो।

कुछ क्षण बाद वह फिर जोर से हँसा और जल्दी-जल्दी कुछ बोल गया जो मैं ठीक-ठीक समझ भी नहीं सका। शायद उसने कहा कि बम्बई की तवायफ़ों को अब कव्वाल और तबलची नहीं मिलते। सब पाकिस्तान भाग गए हैं। वह न अच्छी तरह पंजाबी बोल सकता था, न उर्दू। बम्बई में रहते हुए उसे काफ़ी अर्सा हो गया है, ऐसा प्रतीत होता था।

उसने मेरे बाजू पर हाथ रखकर कहा - "बाबूजी, एक बात बताऊँ तुमको। अब वह जमाना आने वाला है जब दुनियां में औरतें राज करेंगी। हर बात में औरतों का स्थान ऊंचा हो जायेगा और मर्दो का नीचा। देख लेना तुम।"

यह बात उसने इतनी ऊँची आवाज़ में कही जैसे ख़ासतौर पर डिब्बे की औरतों को भद्दे ढंग से सुना कर कह रहा हो।

डिब्बे में वह लड़कियाँ अब भी खड़ी थीं जिनके लिबास और अंदाज से ज़ाहिर होता था कि वे किसी फिल्म स्टूडियो में काम करके लौट रही हैं। मैंने देखा कि उसका इशारा उन्हीं की तरफ़ है। अकस्मात मुझे उसके बार-बार हँसने का असली कारण मालूम हुआ। यह शख़्स तमाम वक्त इन लड़कियों के ध्यान में मग्न था - ऐसा मग्न कि बुढ़िया के रोने-धोने की इसे रत्ती भर भी परवाह नहीं हुई।

मेरे दिल में उसके लिए सख़्त घृणा पैदा हुई। जी में आया कुछ जवाब न दूँ और मुँह फेर लूँ। मगर बातचीत उसके साथ मैंने शुरू की थी। जवाब न देना भी मुश्किल था। कुछ सोच कर मैंने कहा - "औरत मर्द का असली दर्जा तो बराबरी और बाहमी इज़्ज़त का दर्जा है। ऊँच-नीच का सवाल तो अमीरों के घरों में उठता है। ग़रीबों की औरतें भला पर्दा कब करती हैं?"

"क्यों नहीं, करती हैं।"

"बहुत कम। आपके अपने इलाके में जवान लड़कियाँ खुले आम भेड़-बकरी चराती हैं, घाटियों में गाती फिरती हैं, खेतों में मर्दों के साथ काम करती हैं।"

यह सुन कर वह कुछ झेंप-सा गया और फिर कमज़ोर-सी आवाज में बोला - जैसे मेरे फ़ैसले के ख़िलाफ अपील कर रहा हो - 'मगर हमारी औरतें यह चूना-सुर्ख़ी तो नहीं मलती हैं न?'

'क्यों, क्या वह बालियां नहीं पहिनतीं, बाल नहीं संवारती? दुपट्टा माथे पर किस बेमिसाल ढंग से बांधती हैं? हाँ; उनके बालाई जैसे सफ़ेद और गुलाब के फूल जैसे नर्म चेहरों को सुर्खी-चूने की ज़रूरत नहीं होती इसलिए नहीं लगातीं।'

एकाएक वह पीछे को झुक गया और सिर को डिब्बे की दीवार से लगा कर इस तरह मेरी तरफ़ घूरने लगा जैसे बड़े गुस्से में हो, जैसे अचानक उसे माँ-बहन की गाली दे दी गयी हो।

कुछ देर तक इसी तरह देखने के बाद उसने पूछा - 'तुम क्या काम करते हो, बाबूजी?'

मैंने जान लिया कि जानबूझ कर उसने यह निरर्थक सवाल किया है।

'यहीं एक दफ़्तर में काम करता हूँ।' मैंने जवाब दिया।

वह फिर खामोश होकर मेरी तरफ देखता रहा। फिर उसने अपने ख़ाकी कोट से दो बीड़ियां निकाली। एक मुझे दी दूसरी खुद सुलगा ली। दो एक कश लगाकर उठ खड़ा हुआ, हालांकि कोई स्टेशन नहीं आया था।

'अच्छा, आदाब अर्ज़।' उसने कहा और अपना हाथ बढ़ाया। मैंने भी आदाब अर्ज किया और हाथ मिलाया। उसका कुछ लोहे का सामान, कागज में लिपटा हुआ, ऊपर वाले फट्टे पर पड़ा था। इसी फटटे के नीचे वे एक्स्ट्रा लड़कियाँ खड़ी थी। भीड़ में सरकता हुआ वह उनके पास पहुंचा और सलीके से उन्हें ज़रा हटने को कहा। लेकिन उसका कद छोटा था और हाथ बड़ी मुश्किल से सामान तक पहुंचते थे। उसकी कोशिशों को देखकर लड़कियां हँसने लगी। आख़िर अपने शरीर को खींचखाँच कर, अपने ढीलम-ढालम कोट की अच्छी तरह नुमाइश करके, वह सामान उठाने में कामयाब हुआ। इन लड़कियों की हँसी के जवाब में वह ख़ुद भी, मेरी तरफ देखता हुआ, उसी ठाठ से हँसा जिस ठाठ से पहले हँसा था और जिस ठाठ से तमाम वक्त वह हज़ारे की औरत रोई थी।

गाड़ी रुकी और वह निकल गया।

दोपहर का सर्वनाश

एक बात में हम लोग शेर हैं। हवाई जहाज बनाने में नहीं, टेलीफ़ोन या वायरलैस बनाने में नहीं, गप्पें हाँकने में। तेरहवीं सदी में लिखता हुआ चीनी उपन्यासकार शी नै एन इस पूरबी प्रवृत्ति का ख़ूब व्यवच्छेद करता है - 'जो वस्तु मुझे सबसे ज़्यादा आनन्द देती है वह है अपने दोस्तों के साथ बैठकर गोष्ठी करना। यदि मेरे दोस्त मेरे घर पर केवल इस कारण न आ सकें कि हवा तेज़ थी या बारिश की वजह से ज़मीन लथ-पथ हो रही थी या उनकी तबीयत नासाज़ थी, तो मेरे दिल पर चोट लगती है। अपना एकान्त मुझसे सहा नहीं जाता......

'मेरे सभी मित्र उदारचित्त अथवा सुशिक्षित हैं, किन्तु फिर भी हमने अपने बहुमूल्य वार्तालाप की कभी लेख-स्मृति रखने की चेष्टा नहीं की। क्यों?

(१) क्योंकि हम आलसी हैं और हमें यशस्वी बनने की कोई अभिलाषा नहीं।

(२) बातें करना सुखप्रद होता है, लिखना संकट।

(३) मरने के बाद तो हम अपनी लिखाई को पढ़ नहीं सकते, फिर लेख-स्मृति रखने से क्या फायदा?

(४) जो कुछ हम आज लिखें वह शायद अगले साल हमें एकदम निकम्मा मालूम हो।........'

लेकिन शायद तर्क-प्रिय पाठक यह पूछ बैठें कि यदि यह बात थी तो शी नै एन उपन्यासकार कैसे बन गया? इसका भी वह खूब जवाब देता है - 'मैं यह नावल इसलिए लिखता हूँ कि -

(१) जब मेरे मित्र न आ सकें, तो मेरा समय कट जाये।

(२) यह कहानी तो एक चूं चूं का मुरब्बा है जो मुझे कभी शोहरत नहीं दिला सकती।'

कितना दुर्लभ स्पष्टवाद। लेकिन ईश्वर जाने हमारे नौनीतराय को इस फ़िलासफ़ी से क्यों चिढ़ है? भूतग्रस्त की तरह अपनी रिसर्च पुस्तकों के थैले उठाये रेलवे स्टेशनों पर टिकट कटाता फिरता है। आज इस शहर में है तो कल उससे चार सौ मील परे। क्षण भर के लिए निकम्मा रहना उसे असहय है। उसके विचार में प्राचीन आर्य-सभ्यता की कुंजी उसके पास है, अब केवल ताले का सूराख़ टटोलना बाकी रह गया है। इसी के लिए उसने अपना जीवन दान दे डालने में गौरव समझा है।

जहाँ पहुँचता है, बेचारा पहले कुछ दिन खूब चुस्ती से काम करता है। फ़ैसला कर लेता है कि कम से कम एक पुस्तक तो वहीं बैठकर लिख लेगा। फिर देखता है कि

वहाँ के लोग उसे जनूनी समझने लगे हैं, इसलिए कुछ कुछ उनके नज़दीक जाने की कोशिश करता है। नज़दीक पहुंचा नहीं कि फिर उसी बवंडर में। वह गप्पमंडली जमती है कि थमने में नहीं आती। सुसंस्कृत होने के कारण बेचारा किसी को कुछ कहता नहीं, केवल संकेत करता है। लेकिन भला संकेतों से क्या होता है? आखिर दो-एक महीने के बाद किताबें उठाकर फिर सफल अख्तियार करता है। ....

आजकल नौनीत बनारस में है। अच्छे चालीस दिन लगाकर उसने व्याकरण अथवा बौद्ध धर्म का अध्ययन किया है। बड़े बड़े पंडितों व महामहोपाध्यायों से मदद ली है। बल्कि एक चीनी भिक्षु से चीनी भाषा के भी कुछ अक्षर सीखे है। किन्तु आज इकतालीसवां दिन है।

हिन्दू यूनीवर्सिटी के ही एक हॉस्टल में वह टिका हुआ है। आज पाकशाला में दोपहर का खाना खाकर लौट रहा था कि एक परिचित व्यक्ति उसे खींचकर अपने कमरे में ले गया। वहाँ एक अंग्रेज प्रोफ़ेसर के साथ कुछ नवयुवकों की पश्चिमी अथवा भारतीय संगीत के विषय में बहस हो रही थी। एक घंटा इस बहस में बक-झक कर चुकने के पश्चात नौनीत ने सोचा - 'यह मैं क्या कर रहा हूँ?' और भागा। लेकिन किस्मत इतने सस्ते में कहां छोड़ती है! बाहर बूंदे पड़ रहीं थी। कुछ दूर चलकर उसने संयोग-वश पीछे मुड़कर देखा तो क्या देखता है, बहस-कारियों में से एक महाशय एक हाथ में धोती थामे और दूसरे में छाता लिये बढ़ते चले आ रहे है। नौनीत ने अपने कदम तेज़ किये और फैसला किया कि सड़क का मोड़ लांघकर दौड़ना शुरू कर देगा। लेकिन यकायक पीछे से आवाज़ पड़ी-

'अरे भाई ठहरो, छाते के नीचे आ जाओ।'

नौनीत ने आंखें बंद कर, विधाता का स्मरण कर, अपने आप को उनके सुपुर्द कर दिया। इतनी दलील से किये गये प्रस्ताव को कैसे अस्वीकार कर सकता था? इकट्ठे दोनों नौनीत के हॉस्टल तक पहुँचे। धन्यवाद कहके जब नौनीत्त बरामदे में आया और कमरे का ताला खोलने लगा तो देखा कि बाबू अब भी वाटिका में खड़े हैं। सर्वनाश। शिष्टाचार से प्रेरित होकर नौनीत ने कहा - 'आइये, अन्दर आ जाइये।'

अभ्यागत ने हँसते-हँसते इन्कार किया। 'नहीं, नहीं, आपका आराम करने का समय होगा', किन्तु उसकी आँखों से स्पष्ट था कि बैठकर दो बातें कर लेने में उसे तनिक भी आपत्ति न होगी। चुनांचे वही हुआ जिसका नौनीत को डर था। अभ्यागत ने कुर्सी पर चौकड़ी जमा कर बातचीत शुरू की। 'मेरा नाम नलिनी कान्त सेन है, आपका शुभ नाम?'

'नौनीत।

'ओह नौनीत'-बंगाली बाबू ने तसल्ली से दुहराया। फिर एक क्षण सोचकर - 'आपका चेहरा हमारे एक काश्मीरी मित्र से बहुत मिलता-जुलता है।'

'अच्छा, आप काश्मीर हो आये है', नौनीत ने कुछ कहने के लिए कहा।

'ओह हमने काश्मीर बहुत देखा। तीन महीने उधर ठहरा। पहलगाम, पंचतरनी, अमरनाथ, खीर भवानी, मानस बल, सब देखता है। आप अमरनाथ गिया है?'

'जी? ..... मैं .....'

नौनीत फैसला न कर सका कि सच बोलना ठीक रहेगा या झूठ। वास्तव में ऐसे असमंजस की जरूरत नहीं थी, क्योंकि नौनीत क्या कह रहा है या नहीं कह रहा है, नलिनीकान्त को इससे प्रयोजन नहीं था।

'ओह, हामें काश्मीर कभी भूलने नहीं सकता। जब से हमने आपको देखा है हमको लगातार काश्मीर आंखों के सामने दीखता है। आपका शक्ल हामरे एक दोस्त प्रेमनाथ काक से बहुत मिलता है। प्रेमनाथ काक को जानता है आप?'

'नहीं, मेरा यह सौभाग्य नहीं हुआ,' - नौनीत ने थके हुए अन्दाज से घड़ी की ओर देखते हुए कहा।

लेकिन निशाना ठीक नहीं बैठा। कुर्सी पर वीरासन लगाकर नलिनीकान्त अजीब अदा से छत की ओर देखता हुआ सिर हिला रहा था - 'काश्मीर। हामें काश्मीर नहीं भूलने सकता।' फिर एकदम चौकन्ना होकर - 'आपने मानस बल देखता है?'

'हां' - नौनीत ने आख़िर एक झूठ टिका ही दिया। उसे डर था कि 'नहीं' कहने पर कहीं मानस बल का चित्रण आरंभ न हो जाये।

'हामरे वास्ते वह एक हिस्ट्री हो गया है। वह हिस्ट्री सुनोगे?' नलिनीकान्त ने एक ठंडा साँस भरते हुए पूछा। 'वेशक' नौनीत ने एक ठंडा साँस भरते हुए जवाब दिया। 'हि हि हि हि हि, वैसे तो कुछ भी नहीं है। ऐसा बात रोज होता है। हाम, प्रेमनाथ काक-जिसका शक्ल आपके साथ मिलता है - और दो ठो और काश्मीरी मित्र खीर भवानी का मन्दिर देखने गया था। उन दिनों में हिन्दू मुसल्मान के दंगे का जोर था। जब हम खीर भवानी पहुंचता था तो एक दम से सायंकाल हो गया। हामरा को उधर पता लगा कि मानस बल वहाँ से पांच मील है। हम सोचा कि बाबा जिन्दगी का तो कुछ भरोसा नहीं है। ईश्वर जानता है फिर कभी ए रकम देश में आना होगा या नहीं होगा, फिर अच्छा है यदि मानस बल देखकर वापस लौटा जाये। किन्तु हमारा मित्र तो राजी था नहीं। पर हम सोचा हम अकेला ही जायेगा, कुछ पर्वाह नहीं। हाम बंगाली हैं, इस वास्ते हमें कोई किस वास्ते छेड़ेगा? सो हमने एक पाव मिठाई अपना रूमाल में बांध लिया और चल पड़ा।

'चलता गया, चलता गया। मौसम अच्छा था और दृश्य सुन्दर था। किन्तु मानस बल के एक मील इस तरफ ही सायंकाल गंभीर होना शुरू हो गया। सड़क एकदम निर्जन था। और दूर का पहाड़ भी एकदम विकट और भयानक स्वप्न की तरह छाती पर बैठता था। बंगाली में 'एडवेन्चर' का स्पिरिट बहुत होता है, किन्तु बाबा ऐसा समय में बड़े बड़े शूरवीर का मन घबड़ा जाता है। अपना देश से दो हजार मील का दूरी पर हैं? एकदम से अकेला, और फिर ऐसा देश में जिधर पहले से छुरी चलता है, घबड़ा जाता है कि नहीं? हर क्षण हम दाएं बाएं देखता था, कभी कोई पक्षी पेड़ को छोड़कर उड़ता था तो हामरा शरीर सिर से पैर तक सन्न हो जाता था। लेकिन हाम रुका नहीं, चलता गया। आखिर हमरा को अपनी ढिठाई का फल मिल गया। जिस बात का डर था वही हुआ। हमरा को अकेला देखकर एक काश्मीरी मुसल्मान छुरे की किसम का हथियार हाथ में लिये चुपके से एक खेत की आड़ में से निकला और हामरे पीछे हो गया। पहले तो हामरी टांग में पानी पड़ गया। फिर हम सोचा कि अब ठहरने से काम नहीं चलेगा।

हम तेज हो गया - जैसे नौनीत भाई तुम आज हमको देखकर तेज हो गया था, हि हि हि - लेकिन अपांग दृष्टि से हमने देखा कि वह भी तेज हो गिया है। हमने और भी तेज चलने की कोशिश की, किन्तु क्या फायदा था, वह तो यमराज की तरह हम पर झपटता आ रहा था। कुछ पूछो मत भाई, जो हमरा साथ उस समय में गुजरा, अपना माता याद आया, अपना सारा जीवन आंखों के सामने घूम गया। फिर सोचा कि नहीं, बगैर बचाव करने के मरना अच्छा नहीं। बगल में हमको एक टीला दिखाई दिया। वह लाल टीला आपने देखा है न?'

'हाँ' - नौनीत ने एक और झूठ सज्रित किया। उसे नलिनीकान्त की जान की इतनी फ़िकर नहीं हो रही थी जितना उसकी जिरह की।

'हाम भागकर उस टीले पर चढ़ गया। वह भी पीछे आया। अब हामरे को विश्वास था कि ओ हमें छोड़ेगा नहीं। हम सोचा हम ऊपर से उस पर पत्थर फेंकेगा। यदि फिर और मुसल्मान आ गया तो हाम लड़ते-लड़ते प्राण दे देगा।'

'शाब्बाश, वाह वाह'।

'किन्तु चोटी पर पहुँच के हमने देखा कि पत्थर तो छोड़ो वहाँ पर मुट्ठी भरने के वास्ते मिटटी भी नहीं है। कोई पेड़ भी नहीं कि हमने लकड़ी काट सकता। हाम हताश होकर पृथ्वी पर बैठ गया। उस हत्यारे का एक एक कदम हामरा छाती में चार-चार मुक्का मारता था। आखिर वह हामरे सिर पर आकर खड़ा हो गया। जब बत्ती बुझने लगता है, तो एक बार ऊपर को उठता है। हाम जोर से बोला - 'क्या बात है?'

'वह कहता है - सलाम बाबू, पैसा।'

यह कहकर नलिनीकान्त बाबू कुछ क्षण के लिए ऐसे हँसा जैसे किसी ने पीछे आकर उसे गुदगुदी कर दी हो - 'क्या करेगा पैसा को?'

'तम्बाकू लेगा।'

'हामने उसे एक आना निकालकर दिया। कुछ देर हाम उस पाजी की तरफ रूमाल मुँह पर रख कर देखता रहा। जब चला गया तब हामने मुख पोंछा और देखा कि मानस बल झील भी सामने ही नजर आता है। झील अभी दूर था, किन्तु हामरे मन का आवस्था कुछ ऐसा था कि वहीं से देखना हामको काफी मालूम हुआ। और साथ में दृश्य सचमुच नजदीक से ऐसा सुन्दर होने नहीं सकता था। पूर्णिमा का चांद बादलों में से निकल-छिप कर रहा था। और अस्ताचल का एक चौड़ा अन्तिम किरण बादलों को काटता हुआ पानी में पड़ रहा था। बहुत सुन्दर था। उधर हम बहुत देर बैठा रहा। जब उठा तो एकदम से रात हो चुका था।

'हामरा किस्मत! जब वापस लौटा तो रास्ता भूल गया। एक घंटा भर इधर से उधर भटककर हम देखा कि अब वापस जाना हो नहीं सकता है। एकदम निराश होकर हम एक खेत के किनारे बैठ गया और अपने भाग्य पर रोने लगा।'

'कुछ देर के बाद जब हमने सिर उठाया तो देखा कि एक काश्मीरी छोकरी खेत में कुछ काम कर रही है। हाम उसके नजदीक जाकर बैठ गया। ईश्वर जाने हमको ऐसा प्रतीत हुआ जैसा कि हम अपने चिर परिचित बन्धु के पास आ गया है।'

'पता नहीं आपने भी ऐसा अनुभव किया है या नहीं, किन्तु हमारा यह विश्वास है कि जिस स्थान के साथ, जिस वस्तु के साथ, या जिस व्यक्ति के साथ, हमारा विशेष प्रबन्ध भविष्य में होना है, उसके साथ पहली दृष्टि पड़ते ही एक अदभुत आकर्षण हो जाता है, जैसे हाम उसकी इन्तजार ही में था। टामस हार्डी की पुस्तक 'टैस' में भी ऐसा होता है न। एञ्जल एक्लेयर टैस के साथ साधारण एक दो बात करके चला जाता है, किन्तु यह घटना दोनों के हृदय में एक विचित्र मिलन सुख दे जाता है। आपने 'टैस' पढ़ा है न?'

'हाँ', इस बार नौनीत से सच कहा। वह बाबू के मानस बल से लौटने पर आश्वस्त था।

'हामने छोकरी को धीरे से कहा' - देखी कुड़ी, हामको इधर रात हो गया है। हम परदेसी हैं। हाम बहुत दूर कलकत्ते से आया है। बताओं हाम क्या करेगा?'

'पहले तो वह कुछ बोला नहीं। ऐसा एक बार हामरी तरफ देखा फिर अपना काम में लग गया। वह बहुत सुन्दर था। कपोल का इतना गोल लाइन हमने कभी देखा नहीं है।'

यह कहते हुए नलिनीकान्त पलक मारकर हँस दिया, इसलिए कि नौनीत से उसका परिचय नया था, अतः वह शायद कहीं उसकी कहानी का वास्तविक अर्थ न समझकर बुरा न मानने लगे। नौनीत को यह सादगी अच्छी लगी। भिन्न प्रान्तों के लोग कई बार उल्टे इशारों से सीधा मतलब भी निकाल लेते हैं।

'हामने फिर कहा उसको - 'देखो कुड़ी, हाम तुमरा देस में आया है, तुम्हारा धर्म है हामरा मदद करना। तुम हामरे देश में आओ तो हम तुमरे वास्ते सब कुछ करेगा, कि नहीं करेगा?'

'इसका भी कुछ असर हुआ नहीं। वह चुपचाप अपना काम करता गया। हम बोला- 'बहुत अच्छा, हम अब किधर जाने सकता नहीं तो इधर ही बैठेगा, और क्या करेगा।'

'इस पर वह हामरे पास आकर खड़ा हो गया। हामरी ओर देखता रहा। ईश्वर जाने वह क्या सोचता था? फिर बोला - 'अच्छा, हमरे साथ आओ।'

'हम उठा और उसके पीछे-पीछे चल पड़ा। उसने हमें बताया कि उसका मां-बाप मर चुका था और वह अपने दो भाई के पास रहता था। हामने सोचा शायद उसके साथ-साथ चलने से कोई बुरा मनायेगा, इसलिए कुछ दूर पीछे-पीछे चला। इस समय चन्द्रमा बहुत सुन्दर निकल आया था। धान के खेत में कुछ लाल फूल खिल रहा था, जो बहुत भला था। ठंडी इतना था कि जो मिट्टी हमरे पैर रखने से उठता था वह भी हमरी टांगों को ठंडा लगता था। खैर, आखिर हम उसके घर में पहुँचा। उस छोकरी का- क्या बोलता है उसको? हाँ - भावी, भावी दालान में बैठा खाना पकाता था। हमरे को देखकर वह कश्मीरी भाषा में बहुत कुछ बोला। किन्तु छोकरी उत्तर में कुछ बोला नहीं, केवल हामरी ओर देखकर मुस्किराता रहा। हमने माई को बोला - 'माई, हम भूखा है। कलकत्ते से आया है। बहिन ने हामरा बात सुना है। तुम हामरी अम्मां के समान है। हम शकाल में चला जायेगा।' वह चुप हो गया। हम एक कोने सिमटकर बैठ गया।

इतनी देर में छोकरी का दोनों भाई भी आ गया, खूब ऊँचा-लँबा था वह। हम सोचा कि यदि इस समय इनको सन्तुष्ट करेगा नहीं, हम को ये मुसल्मान लोग आज भात के स्थान पर हामरा को खायेगा। हम बहुत डर गया था भाई। वह हमें देखकर बहुत हैरान हुआ। और माई से झगड़ने लगा। भाई ने बताया कि छोकरी हमें लाया। फिर वह बहुत जोर से छोकरी को गालियां देने लगा। अब हम सोचा कि काम बिल्कुल खराब हो गया। किन्तु एकदम से हमने सुना कि छोकरी हिन्दुस्तानी में उनको कह रहा है - 'हम जिसको मर्जी होगा इधर लायेगा। हम बिलकुल ठीक किया है।' हमें उसका यह बात बहुत अच्छा लगा। हमरा अपना पढ़ा लिखा छोकरी में तो कुछ होता नहीं है।

'दोनों भाई हामरी तरफ आया। अब हामरा में भी कुछ जान आ गया था। हम बोला - 'देखो लाला, बैठो, इधर हामरे पास बैठो। सुनो हामरा बात। वह उधर चन्द्रमा देखता है कि नहीं। वह हामरे वास्ते भी है कि केवल तुमरा वास्ते है? और देखो, यह हामरा हाथ है, तुमरा भी वैसा ही हाथ है कि नहीं? हामरे अन्दर भी खून है, तुमरे अन्दर भी खून है, है कि नहीं?'

'अन्त में वह बोला - 'है । हि हि हि हि हि हि ।'

इस दौरान में नलिनीकान्त ने नौनीत का हाथ पकड़ लिया था, वह अब छोड़ दिया।

'फिर हम बोला - 'खुदा एक है। तुम उसको अल्लाह बोलता है। हम उसको राम बोलता है। चीज तो दोनों एक है। हम बहुत दूर कलकत्ता से आया है और इधर हमको रात हो गया है। बहिन हमको मेहरबानी से इधर लाया है तो इसमें क्या नुकसान है? शकाल में हम चला जायेगा।'

'गाँव का लोग एकदम सरल होता है। उसने हामरी दलील का कोई जवाब नहीं दिया। कहने लगा - 'अच्छा, तुम भात खायेगा या रोटी?'

'इस पर हमें बहुत चिन्ता हुआ। मुसलमान के घर का भात खाने को हमारा जी नहीं करता था, किन्तु हम सोचा कि इतना बड़ा लेकचर दिया है, अब हम कैसे इन्कार कर सकता है। सो लड़की हामरे वास्ते रोटी लाया। हमने खा लिया। हमने उसको मिठाई दिया, उसने खा लिया।

'खाने के बाद भाई लोग सोया नहीं। हमने सोचा था कि उसी से एक आध कम्बल मांग कर दालान में पड़ा रहेगा, किन्तु हमें मालूम हुआ कि वह रात का ग्राट पर जाता है। आपने ग्राट देखा होगा?

'नही', - नौनीत बोला।

'ग्राट एक प्रकार का चक्की होता है जिसमें पानी के जोर से चक्की पीसता है। अरे बाप रे, बड़ा शोर होता है उसका। भाई लोग बोला - 'चलो तुम भी ग्राट पर चलो।' हमने बोला 'अच्छा।' वह आगे चला हम पीछे। दरवाजे के पास पहुँचा तो छोकरी हमारे पास धीरे आकर बोला - 'मत जाओ।'

'इसके बाद हामरा जाने का एकदम मर्जी नहीं था, किन्तु विवश था, हम घबराहट से कुछ बोला नहीं, आगे बढ़ा।'

'ग्राट के एक कोने में हमको लेट जाने का आदेश हुआ। किन्तु वहाँ का शोर, उछल कर आता हुआ आटे का पौडर, और साथ में छोकरी का सन्देश, हमको रह रहकर सताता था। हमने सोचा कि शायद भाई लोग का इरादा बुरा हो इसीलिए लड़की ने हमें अनुरोध किया है। हमारे पास एक घड़ी था और कुछ रुपया था, वह हमने धोती में ठीक से बांध लिया और फिर सोने की चेष्टा की। लेकिन नींद नहीं था। 'मत जाओ', 'मत जाओ' यही शब्द दिमाग में आता था। आखिर हम उठा, भाई लोग व्यस्त था, और चुपचाप बाहर चन्द्रमा के प्रकाश में टहलने लगा।

'आप तो कितनी बार काश्मीर गया है। आपने सामके रात की खूबसूरती का वर्णन करना कुछ फायदा नहीं है। किन्तु ऐसा करने से हामरी तबीयत को कुछ चैन मिलता है। ओह! ऐसा सुन्दर रात्रि हमने न कभी देखा और न कभी फिर देखना नसीब होगा। वह नीरवता, वह चिनार, वह पहाड़ों का लाइन, वह विकीर्ण जंगली फूल, वह मानस बल, स्वर्ग था, स्वर्ग था। किन्तु उस समय हम उसकी सुन्दरता को देख नहीं रहा था, क्योंकि हामरा मन अशान्त था। अशांत मन से चांद को देखने वाला लोग उसके सौन्दर्य का अनुभव कैसे कर सकता है। हम विमूढ़ होकर उसी स्थान की ओर चला जिधर वह छोकरी हमको पहले मिला था। क्यो? ईश्वर जाने। उसके वहाँ होने का कोई आशा नहीं था, किन्तु उस अपरिचित देश में केवल वही एक परिचित स्थान था, शायद इसलिए।

'जब हम उधर पहुंचा तो देखा कि लड़की फिर अपने काम में लगा है। हमें बहुत आनन्द हुआ। फ़ड़कते हुए दिल को साथ में लेकर हम वहीं पर जाके बैठ गया। वह हमें देखने पर खूब हँसा।

'उसका मुख चन्द्रमा से भी बढ़ कर चमकता था, क्योंकि चन्द्रमा तो पीला होता है गुलाबी और सफेद तो होता नहीं है।'

'हमने पूछा - 'तुम क्यों बोला था, मत जाओ?' इस पर वह बच्चे की तरह मुस्किराया और अपना कमीज की बांह चढ़ा कर हामरे पास आया। हम भी उठा। उसने अपनी गोरी बांह के साथ हामरा बांह पकड़ा और हमें पास के एक टीले के पीछे, जहाँ एकदम अन्धकार था, ले गया। एक चिनार की ओट में हम दोनों टीले के साथ टिककर साथ-साथ बैठ गया। वह बोला - 'तुम बहुत अच्छा है।'

'यदि कोई शहर का स्त्री हामरे साथ ऐसा बोलता तो हम निश्चय करता कि वह बाजारी है, किन्तु इस छोकरी की आंखों में सरलता, सुकुमारता और न जाने क्या था। हमने उसके कन्धे पर हाथ रख कर प्यार से कहा - 'तुम भी बहुत अच्छा है।' नौनीत भाई, तुमरी राष्ट्र-भाषा का हम दोनों ने खूब चमत्कारपूर्वक प्रयोग किया।

'इतना बात करने के पश्चात वह एक दम से ठंडा सा हो गया - हो गयी। अब वह हँसती नहीं थी। कुछ बोलती नहीं थी। हमने उसके सिर के नीचे हाथ डाल कर उसको अपने साथ लगा लिया और बहुत प्यार किया। उसकी आंखों को बड़ी कोमलता के साथ चूमा, उसके कपोल पर अपना कपोल लगाया। हामरे को ऐसा प्रतीत होता था कि स्वर्ग की कोई अप्सरा किसी राक्षस की कैद से छूट कर हमरी शरण में आई है।

'वह हमसे बोला - बोली, -'तुम कलकत्ते से आया है? उधर क्या है?'

'हमने उसे सब चीज का अहिस्ता-अहिस्ता बड़े प्यार के साथ वर्णन किया। रेलगाड़ी की बाबत सुनकर वह बहुत विह्वल हुआ, आप कल्पना कर सकता नहीं है। एक बार वह हमारी बात सुनती-सुनती हमारी छाती के साथ मुंह सटाकर रोने लगी - 'हमको अपना साथ ले आओ, हम इधर नहीं रहेगी।'

'हम बड़ी खुशी के साथ बोला - 'अवश्य, हम जरूर ले जायेगा।' हमको उसने बताया कि उसका मां बाप मर चुका था। उसका भाई सगा भाई नहीं था, और वह उसे पीटता था, और रात को भी काम करवाता था। उसका भाबी उसको खाने को भी नहीं देता था।

'हम उसको बोला - 'चलो, अभी चलो, हम तुमको ले जायेगा।' ईश्वर साक्षी है, हमको उसके साथ कामवासना नहीं था, ईश्वर जाने क्या था। यदि प्रेम नहीं था तो वासना भी नहीं था।

'लेकिन वह बोला - 'अभी नहीं। खेत में शायद और लोग काम करता होगा। वह देख लेगा।' ठीक तो था। भविष्य के आनन्द की खातिर छोकरी वर्तमान के आनन्द को छोड़ना नहीं चाहती थी।

'समय गुजरता गया। सर्दी काफी था इसलिए हम दोनों एक दूसरे को खूब जकड़ कर लेटा रहा। कुछ देर के बाद वह सो गया। हम सोचता रहा।

'जब चन्द्रमा फीका पड़ने लगा और दिन का कुरूप आक्षेप दिखाई दिया तो हमने उसे जगाया और कहा - 'चलो।' वह उठा और श्रद्धा भरी दृष्टि के साथ हम पर मुस्किराया। ओह, हम भूलने नहीं सकता। फिर एक दूसरे का हाथ लेकर हम तेजी से चल पड़े।

'किन्तु दिन जब कुछ और ऊपर उठा तो हमने सोचा कि हम यह क्या कर रहा है? एक परदेसी होकर एक अनजान छोकरी को भगा ले जा रहा है। हमें कौन भगाने देगा? तरह तरह की शंका उठी, किन्तु हम उस समय सोचा नहीं। हम उसका हाथ पकड़कर चलता गया। वह छोकरी हमारे लिए आकाश-वाणी था। आकाश-वाणी को त्याग कर जो चलता बने, वह इन्सान नहीं है .....

'मेरा आँख बन्द था, और मन स्थिर था। कोई हामरी मेहर (उसका नाम मेहर था, किन्तु हम सोचा है कि यदि वह हामरे साथ आता तो हम उसका नाम अरुन्धती रखता) को छीन नहीं सकता था।

'किन्तु जब हम एक दो मील चला गय। तो दिन खूब चढ़ गया और दो तीन काश्मीरी लोग हमको दूर से गाता हुआ आता दिखाई दिया। बस, हम जानता नहीं छोकरी को क्या हुआ। एकदम हाथ छुड़ाकर पीछे ठहर गया। हामरी तरफ सजल आँखों से देखता हुआ बोला - न।'

'इसके बाद उसने अपने कान से एक छोटा सा चांदी का बाली उतारकर हामरे हाथ में दिया। फिर हामरा हाथ को चूमा। हमने देखा कि समय आ गया है। अब वाद-विवाद का कुछ फायदा नहीं है। हमने अपना घड़ी उसे दे दिया, जी करता था जिगर काटकर उसे देऊँ, उस सौन्दर्यमूर्ति को। एक क्षण में वह पूरी रफ्तार से वापस दौड़ गया।

'किन्तु हामरे को अफसोस नहीं है। वह उसी देश का चीज था, वह इधर आकर जीने नहीं सकता था। किस्मत पर हामरा हाथ नहीं है, किस्मत पर किसी का हाथ नहीं है।'

नौनीत को चुपचाप देखकर नलिनीकान्त धीरे से हँसा और बोला - 'बस यही है, इतना ही है। काश्मीर हमें भूल नहीं सकता है। दिल से हम काश्मीरी हो चुका है। हामरा दिल वहीं रहता है। किन्तु अब हम उधर जायेगा नहीं।

कुछ क्षण और टिककर बाबू नलिनीकान्त ने अपना छाता सम्हाला और चल दिये। वर्षा बदस्तूर हो रही थी।

उनके निकलते ही नौनीत ने टाइमपीस की ओर देखा। चार बज चुके थे। दो एक व्यक्तियों से मिलने का समय टल चुका था।

नौनीत शीशे के सामने गया और अपनी प्रतिछवि को देखता हुआ ईश्वर से पूछने लगा - 'क्या मेरे चेहरे पर कोई निमन्त्रण पत्र लिखा धरा है? क्या इस कहानी की ज़रूरत बाकी थी?'

अपनी विचित्र भवितव्यता से प्रेरित होकर उसने पुस्तकों को फिर से समेटना शुरू कर दिया।

तिलस्म

कालेज की ग्राउन्ड पर फुटबाल मैच के आखिरी मिनट थे। बाहर से आये हुए खिलाड़ी अपने सिर से एक गोल का कलंक उतार फेंकने की बेतहाशा कोशिश कर रहे थे। दर्शक लड़के-लड़कियों का हर तरफ शोर-गुल हो रहा था। उत्तेजना चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। ऐन ऐसे वक्त पर कालेज का नया प्रोफेसर हेमन्तराय, बिल्कुल ठप्प हो गया। यह बात साथवालों को बड़ा हैरान कर रही थी। जिस समय जोश का कोई विशेष अवसर न था, हेमन्तराय की आवाज़ लाउडस्पीकर की तरह चारों तरफ़ पहुँच रही थी। दाएं-बाएं छोटे-बड़े सभी को उकसा रही थी। लेकिन यकायक यह निष्ठुरता क्यों? लोगों को इसकी छानबीन करने की फुर्सत नहीं थी।

दरअसल बात यह हुई कि एक बार जब फुटबाल ऊपर उठा तो नवयुवक प्रोफ़ेसर की नज़र उसके साथ गई। लेकिन लौटते वक्त फुटबाल अकेला लौटा। प्रोफ़ेसर की नज़र आकाश ही में रह गई। वहाँ बरसात के बादल बड़ी गहराई के साथ छाए हुए थे और उन्हें अस्ताचल का सूर्य जाते जाते अपना सोना, अपने सिन्दूर के खजाने, और अपनी रत्नजटित इन्द्रधनुष की माला भेंट कर रहा था। ऐसी लूट बादलों को आगे कभी नसीब न हुई थी।

लेकिन कुदरत में भी पक्षपात की कमी तो नहीं ना। जहाँ अगले हिस्से के बादल अपने ऐश्वर्य के भार से इतने लदे हुए थे कि सोने की एक सलाख उनके हाथों के नीचे फिसल रही थी, वहाँ क्षितिज पर के पिछले बादल भिखमंगों की तरह मैले कुचैले चीथड़े पहने खड़े थे। उनकी हालत देखकर हेमन्तराय को दर्द हुआ, किन्तु अकस्मात एक चमत्कार-पूर्ण घटनां हुई। उन निर्धनों के ऐन पीछे से पूर्णिमा का पूरा चांद जैसे एक्र छलांग में ही उछल आया, और पल भर में उनकी झोली ऐसे शुभ्र रत्नों से भर दी कि सूरज की देन मात हो गई।

'महाक्रान्ति, महाक्रान्ति' - भावुक प्रोफ़ेसर बेताब होकर उठ बैठा और मैच समाप्त होने से पहले ही अपने कमरे की तरफ तेज़ी से चल पड़ा। कालेज की टीम जीत गई। दर्शक व खिलाड़ियों की आवाजें उसे दूर से आती हुई सुनाई दीं - हिंप हिप हुर्रे - हिप-हिप हुर्रे।'

लेकिन हेमन्त, जिसकी तीव्र कल्पना हमेशा शगुन और इशारे खोजती रहती थी, अपनी मुट्ठियाँ बांधकर गुनगुनाता जा रहा था - 'महाक्रान्ति हुर्रे, सौंदर्य हुर्रे, संसार का उज्ज्वल भविष्य हुर्रे।'

खलबली में उसने दरवाजे को धक्का दिया और कमरे के अन्दर पहुंचकर चिटख़नी चढ़ा दी। तभी तैश में एक कापी खोली, सिगरेट जलाया और मेज के आगे बैठकर कल्पना के बराबर अंश छन्द के तराजू पर तौलने लगा।

कविता कुछ प्रवाहित हुई, कुछ रुकी, कुछ सोई, कुछ जागी, और उसकी भावभंगियां यह कवि की शारीरिक हरकतों में छलकने लगीं। कभी वह आकाश की वर्ण वल्लरियों की याद को ताज़ा करता हुआ व्यग्रता से छत की ओर देखने लगता, और कभी कमरे में इसका ढंग से हाथ हिला हिलाकर टहलने लगता जैसे किसी अदृश्य तानों की 'तांतें' सुलझा रहा हो। एक बार खुली हुई खिड़की के पास आकर खड़ा हो गया और मन्त्र मुग्ध सा होकर सामने के एक पेड़ की तरफ़ ताकने लगा, जिसमें हज़ारों चिड़ियाँ अपनी सायंकालीन उपासना कर रही थी।

अकस्मात उसके कल्पना-क्षेत्र के किसी रिक्त स्थान की पूर्ति करती हुई सी एक भिखारिन युवती उसके सामने आ ठहरी। उसका काला वक्षःस्थल नंगा था। बगल से सटा हुआ एक शिशु एक स्तन से दूध पी रहा था और दूसरे से खेल रहा था। साथ में स्त्री का बायां हाथ थामे एक और बालक खड़ा था। हेमन्त की सौन्दर्य क्षुधित कल्पना ने युवती का एक एक अंग टटोला, देखा कि स्तन बेल फल की तरह गोल हैं, उसका शरीर लंबा और सुपुष्ट है, उसके बाल मटैले और रूखे होने पर भी बुरे नहीं लगते। निर्धनता की वह एक अभिमानपूर्ण प्रतिनिधि है। और फिर स्त्री के शरीर से वह अक्षर उभड़कर आने लगे जिन्होंने महाक्रान्ति की दुन्दुभि, उस कविता को पूरित करना था।

स्त्री ने प्रोफ़ेसर को इसके प्रकार अपनी तरफ घूरते हुए देखकर अपनी मैली धोती छाती पर सरका ली। और दायाँ हाथ पसारकर दीन आवाज में विनय करने लगी। उसकी मिसाल पाकर बालक भी कुछ गुनगुनाने लग पड़ा।

यदि वह किसी और समय आती तो भीख देने से पहले प्रोफेसर मन ही मन दलीलें उड़ाता। भीख के मामले में वह अभी तक कुछ फ़ैसला नहीं कर सका। कभी सोचता है, हरगिज़ नहीं देनी चाहिये, इससे समाज की सम्पत्ति नष्ट होती है, फ़ायदा कुछ नहीं होता। फिर सोचता है, मेरे छः आने रोज के सिगरेट फूंक डालने से समाज को क्या लाभ पहुंचता है? यदि भीख का पेशा बुरा है तो समाज इस सवाल को हल करने पर कटिबद्ध क्यों नहीं होता? क्या समाज की उपेक्षा का हल यही है कि बेरोज़गार असहाय लोग जल्दी से जल्दी भूखे मार दिये जायें? न ही उसने सिगरेट छोड़कर धर्मार्थ शुरू किया है और न भिखारियों पर किवाड़ बन्द करने का अभ्यास किया है। उससे भीख पा लेना काफ़ी हद तक भिखारी की जिद और प्रोफेसर के मूड पर निर्भर है।

लेकिन आज प्रोफ़ेसर के मन में आरोध-विरोध पैदा नहीं हुआ। पहले उसने कोट में से एक दुवन्नी निकाली, फिर उसे एक भद्दी आवाज़ वाले रुपए की याद आई जो मेज़ की दराज में पड़ा था। दुवन्नी की बजाए यह रुपया ही क्यों न दे दिया जाय? ग़रीबों की खोटा रुपया चला लेने की क्षमता पर हेमन्त को विश्वास था। खोटे रुपये के आख़िर काम आ जाने की संभावना पर ख़ुश हो वह किवाड़ खोल कर स्वयं बाहर गया और रुपया स्त्री की हथेली में देकर उल्टे कदमों वापस लौट आया। फ़र्श पर फेंकने से उसकी असलियत बेवक्त ज़ाहिर हो जाती। कमरे में आकर वह दीवार की आड़ में खड़ा हो

गया ताकि स्त्री की चकाचौंध का प्रत्यक्ष साक्षी न होना पड़े। लेकिन छिपे-छिपे उसने देखा कि स्त्री मूर्ति की तरह खड़ी कितनी ही देर तक कभी रुपए की तरफ़ और कभी खिड़की की तरफ देखती रही। उसके चेहरे पर उल्लास के आँकड़े न थे, बल्कि एक गंभीर सोच सा व्याप्त था, जिसे वह समझ न सका।

और भिखारिन स्वयं भी न समझ सकी कि उसके साथ क्या बीत रही है। रुपए के हथेली पर पड़ते ही उसका स्वभाव से गुदगुदा हाथ पसीने से भीग गया। सारा दिन इधर उधर भटकने पर दो पैसे भी न बना सकी थी। और अब हाथ उठाते ही सही सलामत चांदी। उसके लिए सोचना या कुछ कहना मुश्किल हो गया और यों ही वापस लौट पड़ी। हेमन्त को उसका लौटना गर्व पूर्ण सा दिखाई दिया, जैसे स्त्री की नज़र में उसने रुपया देकर अपना समझदारी का परिचय दिया हो, दयालुता का नहीं।

रुपया मुट्ठी में कसकर भिखारिन शहर की तरफ चल पड़ी। उसे अपने हाथ में से अनूठे कम्पन शरीर में फैलते प्रतीत हुए जैसे कहीं उसका हाथ किसी सुन्दर और बलिष्ठ पुरुष ने थाम लिया हो और उससे प्रणय याचना कर रहा हो। उसी तरह जिस तरह की तस्वीर हलवाई भुल्लड़ की दुकान पर टंगी हुई थी।

भिखारिन के लिए यह रुपया पा जाना उतनी ही रोमांचकारक बात थी जितनी कि पंचानन के लिए होती - अगर कोई सड़क पर जाते जाते उसे यह खबर दे देता कि पत्नी घर वापस आ गई है और मुस्कराती हुई उसकी प्रतीक्षा कर रही है। क्या यह संभव है कि वह मारे ख़ुशी के सड़क पर चिल्लाना न शुरू कर देता? मुमकिन है बेचारा पागल ही हो जाता। पंचानन भिखारिन के भूतपूर्व स्वामी का नाम था। पंचानन ने उसे ज़मानत रख कर एक माली से पचास रुपए लिये थे।

पंचानन ने रकम चुकता कर देने की बड़ी कोशिश की थी, लेकिन सफल न हुआ। और आख़िर वह दिन भी आया जब माली ने स्कूल की ग्राउन्ड में ही उसे अपने घर की रानी बनाने के लिए घसीटना शुरू कर दिया। पंचानन भी चावल की मिल में काम निबटा कर लौट रहा था। उसने उसका दूसरा बाज़ू पकड़ लिया। दोनों में वह खींचातानी हुई कि बेचारी के कन्धे ही उखड़ गए होते। लेकिन माली के पक्ष में सत्य था, इसलिए जीत उसी की हुई।

पंचानन उसके बिछोह को न सह सका, लेकिन वह अपने बच्चे की खातिर बच रही थी। पंचानन मर गया। और माली अपनी पत्नी से मिलने देश गया और लौट कर नहीं आया।

भिखारिन ने सोचा यदि उन दिनों पंचानन को, जिन दिनों वह चिन्ता में डूबा हुआ हमेशा सिर झुका कर चलता था, इसी तरह किसी ने पचास रुपये दे दिये होते तो वह क्या करता? उससे चुप न रहा जाता।

लेकिन वह औरत ज़ात थी। उसके मानसिक उद्वेग को यही विमुक्ति मिली कि वह थोड़ा-सा उछली और बच्चे के मुँह को स्तन में लगा दबोचा। उसकी नन्हीं सी साँस रुक गई और वह रो पड़ा।

कुछ वर्षा हुई और तदनन्तर अँधेरा छाने लगा। लेकिन कभी-कभी पूर्णिमा का चाँद बादलों में से झाँक लेता और उसे मुस्कराकर कहता - 'देख, यह रुपया भी तेरा लाड़ला है। इसे सम्हालकर रखना।' यह सुनकर वह ठहर जाती और हथेली खोलकर चाँदी को देखती रहती जब तक कि चाँद फिर छिप न जाता।

जब भिखारिन भुल्लड़ हलवाई की दूकान के सामने से गुज़री तो उससे न रहा गया। भुल्लड़ के तमाम पुराने कटाक्ष और धुड़कियां उसके मन में गूँजने लगें, और उसने सोचा कि अगर भुल्लड़ को उसकी ज़बानदराज़ी का मजा चखा दिया जाय और स्वयं कुछ गरमागरम पूरियाँ चख ली जाएं तो कैसा रहे?

कुछ देर वह बिजली के खम्बे के साथ टिककर अनमनी आँखों से दूकान को ताकती रही। फिर जी पक्का कर निकट आई और बोली।

'भुल्लड़, जरा आध, सेर पूरी तौल दो तो।"

भुल्लड़ भन्ना गया। अपनी चिकनी धोती का लड़ तौंद में ऐंठता हुआ चिल्लाया - 'हट यहां से हरामजादी, भुल्लड़ की बच्ची। आध सेर पूरी तौल दो इसको। वाईसरानी तो यही ठहरी।'

इसके उत्तर में भिखारिन ने, उत्साह के साथ जो बहुत हद तक छिछोरेपन पर झुकता था, रुपया दिखाया और कहा -

'पैसे दूँगी।'

भिखारिन के हाथ में रुपया देखकर भुल्लड़ की जीवात्मा और भी ज़ख्मी हो गई, और वह तरह-तरह की अनुचित तोहमतें लगाने लगा। लेकिन उसकी दूकान पर उस समय कुछ कालिज के विद्यार्थी खड़े थे, उन्होंने उसे मना किया और समझाया कि जो भी ग्राहक दूकान पर सौदा लेने आये वह सम्मान के योग्य है। चाहे वह चमार हो, चाहे ब्राह्मण और चाहे निर्धन या धनी। विशेष कर स्त्रियों से तो बहुत ही विनम्र बर्ताव होना चाहिए। इसके समर्थन में उन्होंने अंग्रेज़ दूकानदारों की मिसालें दीं।

अक्सर दलीलें भुल्लड़ की समझ में न आई। बोला - 'साहब, आप इसे जानते नहीं।' फिर उसने अपनी चिकनी धोती का लड़ तोंद में ऐंठते हुए दुष्टा की सारी रामकहानी सुना दी। किन्तु जब नवयुवक इससे भी विचलित नहीं हुए तो उसने स्थायी ग्राहकों का मुँह रखने की ख़ातिर कहा - 'अच्छा ला पैसे, देता हूँ पूरी।'

भिखारिन पहले रुपया न देना चाहती थी, लेकिन फिर उसने सोचा कि इतना बड़ा सेठ क्यों बेईमानी करने लगा।

'दो आने का कलाकन्द भी दे देना।' उसने आदेश दिया।

लेकिन उसे क्या मालूम था कि रुपए का पत्थर से भी रिश्ता होता है? हलवाई ने रुपया लेकर पत्थर पर दो बार पटका और उसे सड़क पर फेंकते हुए नौजवानों की ओर प्रवृत्त हुआ - 'देखा साहब, चुड़ैल धोखा देने आई थी। सारा बाज़ार इसकी करतूतों से बेज़ार है। आप इस जात के लोगों को जानते नहीं।'

इसके बाद उसने स्वतन्त्र होकर स्त्री के प्रति अश्लील शब्दों का एक दरिया बहा दिया, जिसका रस लेने और भी कई रसिक लोग ठहर गए। कालेज के विद्यार्थी साइकिलें उठाकर चल दिये।

भिखारिन ने रुपया उठा लिया और ढीठ सी बनकर बड़े बाजार की ओर चल पड़ी। उसने तीन चार और दुकानों पर सौंदा खरीदने की कोशिश की, लेकिन दुकानदार रुपए वाली की शकल देखकर पहचान जाते कि रुपया ठीक नहीं है। हताश होकर एक बरामदे में जा बैठी। दो मिनट बाद वहां से भी उठा दी गई। फिर किसी और स्थान पर आश्रय लिया। लेकिन वहाँ से भी घुड़कियां खाती हुई वापस सड़क पर आ निकली।

कविता के छन्द, और संगीत की लय में भी इसी प्रकार के उतार चढ़ाव होते हैं। इन्हीं में काव्य लहरी को बाँधता हुआ उस अनुपम सायंकाल में प्रोफेसर हेमन्तराय अलौकिक सुख का अनुभव कर रहा था। एक-एक शब्द में उसे संसार के उस हेमयुग का प्रत्यक्ष हो रहा था जिसमें 'वर्ग द्वन्द्व' और निर्बलों का शोषण समाप्त हो चुका होगा। संसार की प्रत्येक सभ्य जाति दूसरी जातियों के शारीरिक, सामाजिक और आध्यात्मिक उद्धार की ओर रजूह होगी, न कि उनके विनाश की ओर। देशीयता और धर्म के नाम पर संग्राम और कलह अतीत की वस्तु हो चुके होंगे। और व्यक्तिगत जीवन। ओ हो, कितना स्वच्छन्द होगा, कितना सुमधुर। यह परस्पर विश्वास का युग होगा न कि शक ओ शिकायत का। ज्ञान और विज्ञान तमाम अन्ध विश्वास का अन्त कर देंगे। नारी विश्व समाज में अपना इच्छित स्थान ग्रहण करेगी। दाम्पत्य जीवन का एक मात्र आधार स्तम्भ प्रणय होगा। न कि कर्तव्य।...........

'क्या यह सब सम्भव नहीं? हाँ, यह सब सम्भव है। इस युग की कल्पना सभी विशिष्ट कवियों एवं महात्माओं ने की। लेकिन मानव समाज के पास उस समय पर्याप्त ज्ञान नहीं था, पर्याप्त वैज्ञानिक शक्ति न थी कि सकल संसार को किसी वैश्विक न्याय विधान के अधीन कर सकें। अब हममें शक्ति है। गगन के जिस नक्षत्र के सहारे हमें आगे बढ़ना है, इस अँधेरी रात में स्पष्ट दिखाई दे रहा है।....

आखिर कविता समाप्त हुई और हेमन्त राय थककर एक आराम कुरसी में लेट गया। उसकी आँखों के सामने धुंधलाहट-सी छा रही थी, और ऐसा प्रतीत होता था कि उसके प्रत्येक अंग का ख़ून सिर ही में दौरा करने लगा हो। कुछ देर के लिए उसने आँखें बन्द कर लीं।

भिखारिन ने इस रुपए के अलावा दिन में केवल एक पैसा बनाया था। अब इससे उसने मुट्ठी भर चने खरीदे और किसी तरह अपने बड़े लड़के की भूख मिटाई। फिर नगर से बाहर निकल पड़ी। ताकि ताल के निकट भिखारियों की बस्ती में जाकर अपने पेट का भी कुछ प्रबन्ध करे। उसके मन में निराशा नहीं, वेदना थी, क्रोध था। एक असह्य पीड़ा - जिसका विग्रह किसी पुरुष की छाती से सट कर रोने से ही हो सकता था। और तीन साल हुए जब पंचानन मर चुका था।

प्रोफेसर हेमन्तराय जब कुर्सी से उठा तो आकाश में बादल का नाम निशान नहीं था। चाँद की ज्योत्स्ना निखरकर फैली हुई थी। लेकिन इस अवकाश में हेमन्त के मन का वह उल्लास और आवेग जाता रहा था। उसका स्थान फिर उसी सूनेपन ने ले लिया

था जो अब उसके जीवन का एक स्थायी अंग बन चुका था। कविता बनी और अच्छी बनी इसका उसे सन्तोष था, लेकिन वह दिव्य लोक जिसमें वह कुछ क्षणों के लिए जा बसा था, वह गैस के गुब्बारे की तरह उड़ गया था। उसके स्थान पर हेमन्त के आगे एक कागज का टुकड़ा धरा पड़ा था, जिसे हाथ लगाने से भी तबीयत कतराती थी। उस टुकड़े की उपयोगिता अब इतनी ही रही रह गई थी कि उसे कल किसी पत्रिका में भेज दिया जाय ताकि कुछ विद्वान लोग उसकी क्षमताओं व त्रुटियों पर विचार-विमर्श कर सकें।

उसे ऐसा लगा जैसे चन्द्रमा उसे कह रहा हो, 'भाई, लाखों साल के तजुरबे के बाद मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि वर्तमान के आगे भविष्य एक बड़ी तुच्छ वस्तु है।' उसे प्रतीत हुआ कि इस समय उसके जीवन की अपने बाधाएँ और अपूर्तियाँ उसे डस रही हैं कि उसके हृदयस्थल में एक अथाह शून्य है जिसे भविष्य का कोई अवलोकन दूर नहीं कर सकता।

किसी प्रकार इस बेचैनी का विच्छेद करने की इच्छा से हेमन्तराय ने कोट पहना और साइकिल पर सवार होकर देहात में निकल गया। होस्टल से मील भर की दूरी पर एक लम्बा चौड़ा तालाब था, जिसमें कमल खिलते थे, और जिसके इर्द गिर्द जंगल ही जंगल था। हेमन्त तेजी से साइकिल चलाता हुआ तालाब के समीप पहुँचा। साइकिल को एक पेड़ के साथ टिकाकर स्वयं एक टीले पर जा बैठा।

न जाने कितनी देर बैठा होगा कि उसे जीर्ण पत्तों पर किसी के कदमों की आवाज़ सुनाई दी। उसने देखा कि एक स्त्री दो सोये हुए बच्चों को उठाये पगडंडी के रास्ते कहीं जा रही है। कुछ क्षण उसने स्त्री की तरफ कौतूहल-भरी दृष्टि से देखा और फिर अपने विचारों में तल्लीन हो गया। लेकिन स्त्री जङ्गल की ओर जाने के बजाय उसी की तरफ़ बढ़ती चली आई। उसके नज़दीक आने पर हेमन्त को याद आया कि यह वहीं स्त्री थी जिसे उसने वह खोटा रुपया दिया था।

भिखारिन उसके सिरहाने आकर खड़ी हो गई, और कुपित दानवी की तरह उसे घूरने लगी। हेमन्त उसकी मुद्रा को देखकर ठिठक गया, लेकिन हिम्मत करके बोला।

'क्या है?'

इसके जवाब में स्त्री ने हाथ उठाकर सहसा वह रुपया हेमन्त के मुँह पर दे मारा। हेमन्त के गाल पर चोट लगी, लेकिन वह पल भर में परिस्थिति समझ गया और चुप खड़ा रहा। स्त्री भी कुछ भयभीत-सी होकर वापस जाने लगी। लेकिन हेमन्त ने आगे बढ़कर उसका हाथ थाम लिया और करुण स्वर में बोला - 'भूखी हो?' मन ही मन वह खुश था कि उसे मानव चरित्र को स्टडी करने का एक सुअवसर मिल रहा है।

'हाँ।' स्त्री ने सजल नेत्रों से सिर हिलाया।

'बच्चे भी?'

'हाँ।'

'ओह।'

फिर अपने आपको सम्हालते हुए हेमन्त ने और भी द्रवित शब्दों में कहा।

'देखो रानी, मुझे जरा भी ख़याल नहीं था कि रुपया खोटा है। सच जानो मैंने जान बूझकर तुम्हें नहीं दिया। बस, तुम दो मिनट यहाँ इन्तज़ार करो। ईश्वर की कसम मैं कुछ खाने पीने की चीजें लेकर दस मिनट में लौटता हूँ। मैंने भी कुछ नहीं खाया। इकटठे खायेंगे, अच्छा? देखो, रोओ मत।'

फिर उसे और अधिक आश्वासन देने के लिए हेमन्त ने कोट में से कुछ पैसे निकाल लिये और कोट स्त्री के हवाले करते हुए कहा -

'तुम इसका ख़याल रखना।' जैसे वह कोई चिर परिचिता हो।

भिखारिन के जवाब का इन्तजार न करके वह साइकिल पर शहर की तरफ रवाना हो गया।

भिखारिन ने, न जाने क्यों, फिर विश्वास कर लिया। हालांकि कोट में एक अच्छी घड़ी थीं, और दस रुपये थे।

थोड़ी देर में हेमन्त लौटा। उसके हाथ में एक बड़ी सी पिटारी थी।

पिटारी में पूरियाँ थीं, मिठाई थी, समोसे थे, सेब और दो एक टीन के डिब्बे थे। स्त्री अनमनी सी होकर इन चीज़ों को देखने लगी, लेकिन छूने की हिम्मत उसमें न थी। हेमन्त ने साहस किया और मिठाई का एक टुकड़ा उठाकर स्वयं उसके मुँह में रख दिया। भिखारिन ने एतराज़ नहीं किया। वह सुन्दर न थी, लेकिन उसका शरीर सन्तोषप्रद था, और उसकी आँखों में एक प्रकार की सरलता थी, विश्वास था। यह टूटी-फूटी कोमलता हेमन्त को एक पुरानी, और सुन्दरतर कोमलता की याद दिला रही थी, जिससे बिछुड़े हुए अब हेमन्त को कई बरस हो चले थे।

शनैः शनैः बात गंभीर होती गई ....

इस प्रकार भिखारिन के तीसरे शिशु का आगमन हुआ।

पालिशवाला

धूप में जलती हुई प्लैटफार्म की कंकड़ी पर गिलहरी पत्ता चबाती हुई इधर से उधर रेंग रही थी। कुली ने मेरा बिस्तर उसकी पीठ पर फेंका, और वह भार उठाने पर रज़ामन्द हुई या नहीं यह न देखकर, दूसरी तरफ़ एक 'लौन्डे' का गीत सुनने चला गया। पास ही एक शहतूत का पेड़ था जिसकी कमर पर ईंटों का पेटीकोट कसा हुआ था। मैं पेटीकोट पर बैठकर उसे एड़ियों से ठुकराता हुआ सेकन्ड गिनने लगा। सौ ठोकरों का एक मिनट, डेढ़ हज़ार ठोकरों में पन्द्रह मिनट। बस फिर गाड़ी आ जायेगी।

पेटीकोट के मध्य में, पेड़ की कमर से पीठ टिकाकर, एक नाई एक लाला की मूँछों की जड़ में उंगलियां देकर, उसके होठों को रद्दी कागज़ की तरह मरोड़कर, दाढ़ी बना रहा था। तिस पर भी लाला लगातार शीशा देख रहे थे, जैसे दुनिया के बस एक माशूक हों।

कमर के दूसरे पक्ष से पीठ टिकाकर, फटा हुआ काला कोट पहने एक बूढ़ा, जिसका दायां हाथ लकवे की वजह से फ़व्वारे की तरह झिलमिल करता था, बायें हाथ से टोपी उतार कर, दायें हाथ से अपने पसीने से तर गंजे सिर को खुजलाने की चेष्टा कर रहा था। शायद, मेरी तरह, समय काटने के लिये। वरना बायें हाथ से खुजला लेता।

इतने में वही बूट पालिश करने वाला, जिसकी ढिठाई से तंग आकर मैं मुसाफ़िरखाने की बेंच छोड़कर वक्त से पहले यहां आ बैठा था, एक गरम सूट में सुसज्जित, सरदार साहब के पीछे-पीछे चला आया। सरदार साहब मेरे और लाला के दरम्यान सज गये, जैसे मुंडेर पर कव्वों के दरमियान कोई सफ़ेद कबूतर बैठ जाए।

पालिशवाला उनके कदमों में बैठकर अपनी पोटली खोलने लगा।

सरदार-क्या लोगे?

पालिशवाला - ओ सरकार, आप जैसे जन्टलमैन से क्या बात बोलेंगे? जो जी में आये दे दीजियेगा।

सरदार - फिर भी?

पालिशवाला - ओ सरकार, आप कुछ भी न दीजिये।

सरदार - उस दिन दो पैसा दिया था।

पालिशवाला - (काँपकर) कब?

सरदार - (पास खड़े अपने एक मित्र को अपनी मोटी गाल की मदद से आँख मारते हुए) उस दिन।

पालिशवाला - कहाँ साहब, मुझे तो याद नहीं।

सरदार साहब - दो ही पैसा होगा।

पालिशवाला - (हताश स्वर में) अच्छा सरकार आपसे झगड़ेंगे थोड़े ही।

यह कहकर उसने सरदार साहब की लाल पतलून के नीचे जड़े हुए काले बूटों को थाम लिया। मुझे लैमनेड के लिये मुसाफ़िरखाने में अढ़ाई आने देने पड़े थे क्योंकि मैंने पहले तय कर लेने में संकोच किया। मेरे दिल में जलन हुई और पक्का इरादा किया कि आइन्दा संकोच नहीं करना होगा। लेकिन मैं जानता था कि फिर भी संकोच करूंगा।

सामने एक सफ़ेद कुत्ते की एक भूरे कुत्ते से भेंट हुई। नाक के निकट नाक आई। भूरे कुत्ते की गरदन अकड़कर ऊपर उठी। सफ़ेद की नीचे झुकी और दाँत निकल आये। फिर भवकते हुए दोनों पिल पड़े। किसी ने सफ़ेद पर छड़ी से प्रहार किया। भूरा लाइन पर कूद गया। सफ़ेद ने प्लेटफ़ार्म पर अपने आप को सुरक्षित समझा, और वहीं लेट गया।

सरदार - दो पैसे वाला काम न करना।

पालिशवाला - मजाल है, सरकार साहब।

कुछ क्षण चुपचाप रही। इंजनों की फप फप सूं सूं के अतिरिक्त।

सरदार - पानी लगाने से सस्ता रहता है।

पालिशवाला - नहीं सरदार, चमक बढ़ती है।

सरदार - तुम किसी पालिश कम्पनी के मैनेजर क्यों नहीं बन जाते?

पालिशवाला - हैं हैं हैं हैं सरकार, आप तो बनाते हैं।

इतने में पटरी पर से उतरी हुई एक इन्सानी आवाज़ हमारे कानों में पड़ी। पेटीकोट की आबादी ने घूमकर देखा। 'लौंडे' का गाना ख़तम हो चुका था। कुली लोग एक औरत से, लगभग तीस बरस की होगी, और मैले कपड़ों की वजह से कुछ अधिक बदसूरत नज़र आती थी, लेकिन वह हँस रही थी, और ख़ुशी में अपने अंगों की दुनियावी कीमत से बेबहरा थी, उसी से ये लोग छेड़छाड़ कर रहे थे।

सरदार - यह कौन है?

पालिशवाला- पगली है साहब और गूंगी भी है।

सरदार - तब कुलियों के पौबारह हैं।

पालिशवाला - हैं हैं हैं हैं (औरत से)। ए.....ई ये ये ....इधर था, इधर आ।

औरत दौड़ती हुई आई और एक दिव्य लापरवाही से, जिससे किसी भी सभ्य पुरुष को घबराहट हो सकती थी, सामने ठहर गई।

पालिशवाले ने हाथ से दिशाओं की तरफ संकेत करते हुए, और फिर उसे प्रश्नसूचक अदा से मटकाते हुए, औरत ही की भाषा में सवाल किया - 'ये? है?है?'

(लेकिन इस प्रकार सरदार का मनोरंजन कर देने से यदि उसे दो पैसे की बजाए एक आना पा लेने की आशा थी तो गरमी के दिनों में पहने हुए उस गरम सूट के रहस्य को वह नहीं समझ सका था।)

औरत जवाब में मुस्कराई, चेहरे के दोनों ओर मुट्ठियां बांधकर गालें फुलाई, और फिर सिर मटकाते हुए, आँखें निकालकर मूंछों को ताव देने का नाट्य किया।

सरदार - यह क्या कर रही है?

पालिशवाला - सरकार, इसका ख़ाविन्द जेल में है। यह कह रही है कि वह ख़ूब तगड़ा हो गया है और अब मूँछों को ताव देता हुआ आयेगा।

सरदार - उस कम्बख़्त को पगली को ही ब्याहना था।

पालिशवाला - उसके जाते हुई सरकार। इसका मालिक यहीं रेल में ही नौकर था। गबन में गया।

सरदार- यह भी नौकर है किसी की या नहीं?

पालिशवाला - हैं हैं हैं हैं, भली मानस औरत थी साहब। अब तो.....क्या कहूँ सरकार। जमाना ऐसा ही है।

मेरी कुली असबाब सम्हालने आ गया था। बोला - तीन औरतें हैं साहब उस आदमी की।

पालिशवाला - हाँ सरकार, अकेले की तीन बीवियाँ हैं।

सरदार साहब ने विस्मय से. आँखें ऊपर चढ़ा लीं।

पालिशवाला - हैं हैं हैं हैं ....

आकाश में कुछ बादल उमड़ आये थे। सरदार साहब ने पैसे कंकड़ी पर पटक दिये।

सरदार - यह पैर ज़्यादा चमका है।

पालिशवाला - नहीं साहब, दो पैसे के लिए खराब हो तो कहिये। हैं हैं हैं हैं, होटल में होता तो चार ही पैसा लेता।

भूरा कूत्ता फिर सफ़ेद कुत्ते के पास खड़ा दुम हिला रहा था।

सरदार उठकर बूटों को देखता हुआ अपने साथी से जा मिला। लकवे वालें ने सोई आवाज में कहा - 'अरे, ज़रा यह भी पालिश कर दे।'

लेकिन पालिशवाला रुका नहीं, क्योंकि भीड़ बढ़ आयी थी और गाड़ी का धुँआ दूर से दिखाई दे रहा था। मैं भी जी कड़ा करता हुआ कुली के पीछे पीछे चला, क्योंकि मैं जानता था कि कुली से कुछ ठहराया नहीं है।

शैवरले-टैवरले-हैवरले

निश्चल, स्तब्ध, शान्त! तमाम दरवाज़े बन्द थे। दोपहर की कड़ी धूप घंटों इस कोशिश में रही कि किसी न किसी तरह, खिड़की में से नहीं तो किसी छेद या झरोखे से ही सही, इस समृद्ध कमरे में कदम रखने का भी नयाज़ हासिल कर ले, लेकिन नाकामयाब होकर अब ढल रही थी। छत का पंखा आदर्श नौकर की तरह-जो अफसोस! इस जमाने में नहीं मिलते - बगैर शोरगुल किये चक्कर मार रहा था। उसके नीचे निर्मल, एक गुदगुदे सोफ़े पर टांगें पसारे, दिन का तीसरा सिगरेट पी रहा था। कभी-कभी उसकी आँखें दीवारों पर टंगी हुई तस्वीरों की ओर जातीं, और वह हैरान होता कि ईश्वर जिसे धन देता है, शऊर भी क्यों नहीं देता। सोचता, अगर अंगीठी पर राम और सीता की तसवीर ही रखनी थी, तो क्या उसे सलमे और सितारे में जड़ाना भी जरूरी था? फिर उस तसवीर की पड़ोस में हाथियों और चीतों पर बन्दूकें ताने हुये अंग्रेजों का किस प्रकार सामंजस्य था?

लेकिन वह उन कृतघ्न मेहमानों में से न था, जो हज़ार ख़ातिर होने पर भी मेज़बान पर तर्क छांटते ही रहते हैं। अगर रस नहीं था, सम्पन्नता तो थी। इसी आराम की बदौलत निर्मल ने सुबह से अब तक केवल तीन ही सिगरेट पिये थे, वरना जीविका की तलाश में दर बदर अपने व्यक्तित्व के मर्मस्थलों पर ठोकरें खाते हुए अब तक बीस पी गया होता। महीनों बाद उसने आज सभ्य पुरुषों की तरह स्नान किया है, और दोपहर सूट पहनकर, सोफ़े में ग़र्क हो, रेडियो सुनने में बिताया है।

आज उसे जीवन की प्रथम अभिलाषाओं के विषय में सोचने की फ़ुर्सत मिली थी। काश, किसी की न ख़ुशामद हो, न अधीनता। किसी पहाड़ की तलहटी में हो एक छोटा सा झोंपड़ा, जिसके इर्द गिर्द की नैसर्गिक सुषमा ही उसकी सजावट हो। गुलामी यदि हो, तो किसी पीयूषवर्षिणी प्रेयसी की, धुआँ उगलनेवाले सिगरेटों की नहीं। काम हो कला, कविता, संगीत, और उन्माद अपने पड़ोसियों पर प्रेम और सेवा की बौछार करते रहना।

इस निरर्थक शेख़चिल्लीपन में आकर वह उठ बैठा और बेचैनी से कालीन पर इधर-उधर टहलने लगा, मानों व्यक्तिगत जीवन को मसल डालने वाली कलुषित सामाजिक श्रृंखलाओं को उसी वक्त छिन्न-भिन्न, चूर-चूर कर देना चाहता हो। सिगरेट का शेष टुकड़ा अंगीठी में फेंककर उसने एड़ी से दबोच दिया और फैसला किया कि अब आइन्दा सिगरेट नहीं पियूंगा। इस वचत से क्रान्तिकारी साहित्य इकटठा करूंगा या इसे कांग्रेस के हवाले कर दूँगा। अगर परिपूर्णता इस जीवन में मुझे नसीब नहीं, तो न सहीं, मैं भावी पौध के हितार्थ अपना जीवन स्वाहा कर देने का बीड़ा उठाता हूँ। मैं मनुष्य हूँ। मुझसे दबना सहा नहीं जाता।

यह पहली बार नहीं थी।

उसी समय किवाड़ पर दस्तक किये बिना ही आंधी की तरह उसे फट से खोलकर रायसाहब जगन्नाथ ने प्रवेश किया - तोंद पहले, ख़ुद पीछे। उन्हें देख कर निर्मल निराश हो गया - उस खिलाड़ी की तरह, जिसे खेल शुरू होने के दो सेकेण्ड पहले मैदान से बाहर बुला लिया गया हो। रायसाहब कमरे के वातावरण को अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व से भरते हुए अभ्यासानुसार ऊँचे स्वर में बोले - 'अरे अभी यहीं पड़े हो? यह चुपचाप लेटे-लेटे क्या सोचते रहते हो तुम? अमां, अजीब इंसान हो! हमें तो एक मिनट बेकार बैठना पड़े, तो जान मुश्किल में आ जाती है।'

इस नाटकीय मुद्रा में खड़े हुए रायसाहब जगन्नाथ फ़िरोजगनर छावनी के एक सुविख्यात व्यक्ति, आनरेरी मजिस्ट्रेट तथा म्यूनिसिपल कमिश्नर हैं। इनकी कपड़े की दो बड़ी-बड़ी दूकानें हैं (गोल कमरे में टंगी हुई कई एक तस्वीरों को कलेंडरों और कपड़े के थानों से ही स्थानान्तरित किया है)। न केवल छावनी और शहर, वल्कि प्रान्त भर में इनकी धर्मपरायणता, दानवीरता, कार्यनैपुण्य तथा मिलनसारी की धूम है। वे इस समय डिप्टी कमिश्नर बहादुर के बंगले पर हिन्दू महासभा की ओर से डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में हिन्दू अधिकारों को सुरक्षित करने के लिये एक व्यक्ति विशेष को मुकर्रर करवाने का प्रस्ताव लेकर जाने वाले डैपूटेशन का प्रभावशाली नेतृत्व निभाकर लौट रहे हैं।

मझोला कद, पेट अलीगढ़ ताले की तरह पक्षों में फैला हुआ और सिर तकरीबन गंजा है। मुख बच्चे की तरह सरल और हँसी, लगातार पान खाने की वजह से बटुये के बन्द होने और खुलने से समता रखती है। रायसाहब को निर्मल की शक्ल सूरत अच्छी लगती है, वरना कौन अपने बहनोई के बेकार दामाद की परवाह करता है।

रायसाहब कुछ क्षणों के लिये एक सोफ़े पर बैठे, लेकिन इसे बेकार बात समझकर उसी उग्रता के साथ उठ खड़े हुए और बोले- 'आओ, तुम्हें कार में घुमा लाऊं।'

निर्मल ने रेडियों का धीमा संगीत बन्द कर दिया और कहा - 'चलिये।'

सड़क पर पहुँचकर रायसाहब ने मोटर की तरफ़ इशारा करके अपने नाटकीय अन्दाज़ से मुस्कराते हुए पूछा - 'गाड़ी बुरी नहीं-क्यों?'

'वाह, बड़ी शानदार है! कौन सा मेक है?'

'शैवरले! बड़ा अच्छा रहता है। हर एक पुर्ज़ा जब चाहो, तबदील किया जा सकता है।'

'ओह शैवरले? हूं, १९३६ मॉडल होगा?'

'नहीं.... है तो तैंतीस' रायसाहब ने कुछ नाराज़गी से कहा, 'लेकिन चली बहुत कम है। कर्नल तो बेचता ही न था, बहुत ढंग से निकाली हमने। जब दूकान पर आता, हम कह देते, 'साहब, अब यह गाड़ी तेरे काम की नहीं रहीं।' किसी देशी के पास होती, तो अब तक कचूमर निकल गया होता इसका। अंग्रेज़ ही मशीनों को संभालना जानते हैं।'

निर्मल ने अब, दिल से बनावटी लेकिन बाहर से दिली, दिलचस्पी के साथ कार की सराहनापूर्ण प्रदक्षिणा शुरू की। कार अगर शैवरले की जगह हैवरले, टैवरले या नैवरले कुछ भी हो, तो उन लोगों के लिये कोई फर्क नहीं पड़ता, जो कभी कार खरीद ही नहीं

सकते, लेकिन सच तो यह था कि अपनी भावनाओं का दमन करके दूसरों की हां-में-हां मिला लेने का निर्मल को काफ़ी अभ्यास हो चुका था। जब प्रदक्षिण हो चुकी, तो रायसाहब को अंतिम संतृप्ति प्रदान करने के लिये उसने पूछा - 'कितने की?'

'तू बूझ!' रायसाहब ने विजयी उल्लास से पतलून की पाकेट में कुंजियों से खेलते हुए और उनके ताल से पान के चबाने का ताल मिलाते हुए आदेश दिया। निर्मल ने गंभीरता के साथ होंठ टेढ़ा करते हुए कहा - 'यही बारह सौ की होगी।' उसकी आशानुसार रायसाहब पहले तो हँसी में बेसुध हो गये। और फिर विजयी आंखों से एक बार गाड़ी की ओर, फिर निर्मल की ओर टकटकी बांधकर बोले - 'छः सौ।'

'छः सौ।'

'दुहराकर रायसाहब' उल्लसित बाज़ीगर की सी उपेक्षा के साथ गाड़ी में आ बैठे और सेल्फ़ दबाने लगे। निर्मल भी छः सौ की पहेली पर आश्चर्य से सिर हिलाता हुआ उनके साथ आ बैठा। कार चली।

धूप ढल चुकी थी। बड़े मैदान में कुछ पूरबिये बैरे और जमादार गोरे सिपाहियों की उतार फेंकी वर्दियों में सजकर बड़े ठाठ से फ़ुटबाल खेल रहे थे। पास ही एक देशी भद्रपुरुषों की क्लब थी, जहां कुछ नवयुवक अंग्रेजों से भी बढ़ चढ़कर अंग्रेजी में बुज़ुर्ग, न इधर न उधर की पोशाक में टेनिस का शौक फ़र्मा रहे थे।

निर्मल अपने सर्वतः सफल संबंधी से घबराता था। जीवन में कोई वस्तु ऐसी न थी, जिसे ये दोनों समदृष्टि से देखते हों। न कोई ऐसा विषय ही था, जिसमें उनकी समान दिलचस्पी हो फिर भी बिरादरी के हुक्म के मातहत इन्हें हर तीसरे चौथे महीने कुछ दिन इकट्ठे गुज़ारने पड़ जाते थे। कभी कोई शादी, कभी कोई ग़मी - यदि अपने नहीं तो और किसी संबंधी के घर। यह नहीं तो लाहौर से पेशावर जाना ही फिरोज़नगर में सफ़र तोड़ने की बड़ी भारी दलील था।

जब कुछ समय गुज़र गया और कोई बात न छिड़ी, तो निर्मल ने कहा - 'आपने ड्राइव करना अभी सीखा या पहले ही से जानते थे? खूब उद्योगी इंसान हैं आप।'

बस इतना काफ़ी था। आपस में यह स्थायी समझौता था कि निर्मल बात छेड़ दे और रायसाहब उस पर एक हल्का-सा भाषण देकर उसे ठिकाने लगा दें। संसार में कोई ऐसी समस्या न थी, जिसे वह अपनी प्रज्ञापूर्ण युक्तियों से सुलझा न दें। यदि निर्मल इस पर आगामी युद्ध के बारे में पूछ बैठता, तो उस पर वे बीस मिनट बोल सकते थे। यदि स्त्री शिक्षा का ज़िक्र हो जाता, तो उसकी भी सांगोपांग समालोचना कर सकते थे। यह विशाल परिचय उन्होंने पुस्तकों से नहीं लिया था। जिस बाज़ार में से अब मोटर गुज़र रही थी, वहां के सारे पुस्तक विक्रेता उनके अपने सज्जन मित्तर हैं। यदि रायसाहब चाहें, तो वे लोग ख़रीद के माल उन्हें किताबें बेच दें। लेकिन रायसाहब के पास इस सिरदर्दी के लिये वक्त कहाँ? रसूख़वाले व्यक्ति का सिर ऊँचा रहता है। अपने सिंहासन पर बैठा हुआ वह जमाने की दौड़धूप और उसके लक्ष्य को भली भांति देख सकता है। किताबों-विताबों में क्या रखा है? निर्मल निश्चिन्त होकर सुनने लगा - 'ज़रूरत ईजाद की माँ है, भाई। दो एक महीना ड्राइवर रख कर भी देख लिया था, लेकिन आख़िर यही

फ़ैसला किया कि मशीन एक ऐसी चीज़ है जिस पर दो मनुष्यों का हाथ नहीं होना चाहिए। ड्राइवर को कार का दर्द नहीं होता। पेट्रोल में गड़बड़ करने की भी हर एक ड्राइवर में आदत होती है। और फिर पैसा कमाना, तुम जानते हो, आजकल आसान काम नहीं। हमारा क्या है सुबह दूकान पर गये और कहीं रात में लौटे। यदि किसी अफ़सर ने बुला भेजा, या कभी महासभा की मीटिंग हुई, तो कार की ज़रूरत पड़ी, वरना मुझे तो अपनी सुध नहीं रहती। अब इस थोड़े से काम के लिये तीस रूपये माहवार का एक ऐसा आदमी रख लेना जो सारा दिन निठल्ला बैठा रहे, मेरे जैसे, ख़ून-पानी एक करके पैसा कमाने वाले इंसान को बर्दाश्त नहीं हो सकता।

'और एक तीसरा कारण भी है।' रायसाहब ने आँखें मींचकर गुदगुदाते हुए कहा - 'हमने तुम्हारी तरह बीवी को सिर पर चढ़ाकर थोड़े रखा है? अगर ड्राइवर हो तो सारा दिन सैर करती फिरे। मुझे औरतों की आज़ादी से हमेशा डर लगता है। ऐसी-ऐसी वारदातें अख़बारों में छपती हैं कि कलेजा बैठ जाता है .... हाँ, और एक चौथी वजह .....'

सड़क पर कुत्तों की एक टोली खेलकूद रही थी। यह स्पष्ट करती हुई कि रायसाहब के हाथ से भी ख़ूब चल सकती है, कार वेग में जा रही थी। राय साहब ने बचकर निकलने की कोशिश की। पर तब तक मडगार्ड एक कुत्ते के मुँह पर लगा और उसका भीषण चीत्कार दूर तक सुनाई देता रहा।

'हां, चौथी वजह .....' रायसाहब आज अपनी लहर में थे, 'हमको कभी न कभी ड्रिंक विंक भी करना हुआ, कभी न कभी यार दोस्त नाच तमाशे पर भी खींच ले जाते हैं - मैं स्पष्ट बात कहता हूँ, तुम अपने अजीज़ हो, तुम से क्या छिपाना - अब अगर ड्राइवर बन्दर की तरह बाहर इंतज़ार कर रहा हो, तो इंसान पकड़ा जाता है। सोसाइटी की निगाहों में हरगिज़ नहीं आना चाहिये, हमारा तो यह उसूल है।'

'बेशक।'

अब निर्मल के मन में, इस शाम के दौरान में, सिगरेट पीने की लालसा फिर जाग्रत हुई। उसकी उन्निद्र भावुकता के लिये सिगरेट मरहम का काम देता था। यदि पास होता तो वह अपने प्रण की परवाह न करके शायद सुलगा ही लेता, लेकिन सिगरेट केस वहीं छोड़ आया था। और कुदरत की सितमज़रीफ़ी रायसाहब तम्बाकू नहीं पीते थे।

कुछ देर बाद जब कार माल रोड के स्वच्छ निराकुल वायुमंडल में पहुँची, तो निर्मल ने सोचा, चलो अच्छा ही हुआ। केवल सिगरेट सुलगा लेना ज़िंदगी की तलख़ियों के लिये काफ़ी नहीं है।

इतने में कार एक बिल्डिंग के सामने रुकी। यह रायसाहब की नयी इमारत थी, जिसके अगले हिस्से में दूकानें रखने की इजाजत कैन्टोन्मेन्ट बोर्ड से केवल उन्हें अपने रसूख के बल पर मिली थी।

दोनों इमारत देखने उतरे। रायसाहब की मुद्रा अब गंभीर, रोबदार थी। कोठी की पिछली डयोढ़ी में तीन सिख मिस्त्री ईटों के चूल्हे पर अपनी रूखी सूखी दाल-भाजी पका रहे थे। रायसाहब को देखकर वे उठ खड़े हुए और आदर सहित फ़तह बुलाई। आदर

क्यों न करते? रायसाहब ने साधारण देखभाल के बदले में उन्हें खुले दम बसेरा करने की इजाज़त दे रखी थी। सुबह नल पर नहाने धोने का आराम था, रात में सोने का। इससे बड़ी उदारता क्या हो सकती है?

फिर भी प्राई वस्तु का किसे दर्द होता है? देखो, कैसी मोटी-मोटी लकड़ियाँ जला रहे थे। रायसाहब ने फिर भी कोई आलोचना नहीं की। केवल इतना ही कहा - 'भाई सरदारो! लकड़ी समझ-बूझकर जलाया करो। मोटे टुकड़े कहीं काम आ जाते हैं। छिलके थोड़े तो नहीं हैं न!'

सरदारों ने विनम्र भाव से उत्तर दिया - 'सत बचन महाराज।'

निर्मल ने उनके कठोर चेहरों की तरफ़ देखा कि कहीं उन पर खिन्नता की झलक हो, मगर नहीं थी। सरदार संतुष्ट थे। एक रायसाहब के पीछे, दिन में जितना काम मुकम्मल हुआ था, दिखाने चल पड़ा। जहाँ कहीं खिड़कियाँ बन्द होने की वजह से अन्धकार होता, वहाँ वह आगे हो जाता। फ़र्शों पर लकड़ी, ईंट, मसाले के स्थान-स्थान पर अम्बार लगे हुए थे, किन्तु उसके नंगे पैरों में न कहीं कील चुभी, न ठोकर लगी। उनकी नंगी, काली, रस्सी की तरह तनी टांगों के लिये यही ड्राइंग रूम बने थे। महीने तक मकान मुकम्मल हो जायगा। फिर इन कमरों में पतलूनों में सजी हुई टांगें आ जायेंगी, चमकते हुए बूट चलने लगेंगे। लकड़ी के छिलकों के स्थान पर कालीन बिछेंगे, ईंटों की जगह बुक कैस, अल्मारियाँ, सोफ़े। तब यह सूखी हुई टांगें और किसी इमारत में चली जायेंगी। यह सोच-कर निर्मल मुस्कराया।

मकान की ख़ूबी यह थी कि चाहे कोई होटल बना ले, चाहे क्लब, चाहे अंग्रेज़ रह ले, चाहे देशी, सबकी ज़रूरतें पूरी होती थी। और यह डिजाइन रायसाहब का बिल्कुल अपना था।

जब प्रदक्षिणा समाप्त हुई, तो मिस्त्री हाथ बांधकर बोला, - 'महाराज एक विनती है।'

निर्मल ने सोचा, 'आह! यह सब विनम्रता और आदर दिखावट की चीज थी। असली चीज़ तो अब आई। देखें क्या माँग पत्र पेश होता है।'

लेकिन जब उसने सुना तो दंग रह गया सरदार कह रहा था - 'महाराज, ये सफ़ेदी वाले काम नहीं करते। यहाँ महाराज, काम ठीक साढ़े सात बजे सुबह शुरू हो जाता रहा है, लेकिन वे आठ साढ़े आठ से पहले आते ही नहीं और समझिये छः से पहले ही चले जाते हैं। आज सिरफ़ तीन कमरे ही किये हैं! सबका अपना-अपना नसीब है सरकार, लेकिन मालिक का नुकसान होता हमसे नहीं देखा जाता, इसलिये विनती की है।'

यह सुनते ही रायसाहब की हालत बदल गयी। ज़बान की लगाम को आवश्यकता से अधिक ढीला कर उन्होंने हरामख़ोर सफ़ेदी वालों पर खूब फूल बरसाये। मिस्त्री अपने धर्मपालन पर संतुष्ट, भीगी आँखों से सराहना की भीख माँग रहा था।

'अच्छा' रायसाहब बात पर आये, 'कुछ मत कहो उन्हें। पैसे मुझसे ही लेंगे न? अभी जानते नहीं मुझे। देखूँगा कैसे ईमानी हिसाब पर लेते हैं?'

इतना कहकर वे कार में आ बैठे। पल भर में फिर वहीं गुलाबी रायसाहब थे। जमते ही लाल बटुये में से दाँत दिखाकर कहने लगे - 'इसका कम से कम डेढ़ सौ माहवार किराया आयगा।'

दो संसारों के मध्यवर्ती शून्य में लटकने वाले निर्मल को ऐसा लगा, मानों रस्सी टूट गयी है और वह एक अथाह कूप में गिरता चला जा रहा है, किसी भयानक स्वप्न में। सायंकाल में दूसरी बार उसे सिगरेट पीने की तीव्र लालसा हुई। आदर्शवाद का उत्साह बुख़ार की तरह आया था। पर अब ठंडा पड़ चुका था। जीवन का सबसे बड़ा उत्साह यही है कि व्यक्ति सब कुछ देख सके। निश्चय ही सिगरेट इसमें मदद देते हैं। इतना उद्यम उसमें नहीं था कि मोटर रूकवाकर डिबिया खरीद ले। लेकिन इन्तज़ार जबरदस्त थी। सिगरेट तो क्या, हमारे देश में इन्तज़ार करने से भगवान भी मिल जाते हैं। निर्मल की इच्छापूर्ति में देर नहीं लगी। कार अब पैरीशियन रेस्तराँ के आगे रुकी। सफ़ेद पोशाक वाले बैरे ने दरवाज़ा खोला।

कमरे का आधा हिस्सा अंग्रेज स्त्री पुरुषों और दिव्य समाज के हिन्दुस्तानियों से भरा था, जिसमें से प्रायः सभी बैंत की कुर्सियों में जमकर शराब पी रहे थे। हाल के बाकी हिस्से में उल्लसित जोड़े छाती से छाती मिलाकर डांस कर रहे थे। दूर एक कोने में कुछ हब्शी पैर हिलाहिलाकर और राक्षसों की तरह दाँत दिखा-दिखाकर बैंड बजा रहे थे। तम्बाकू के धूएँ से वायुमंडल घुट रहा था।

बैरा पहचानता था कि कलियुग में हिन्दू-धर्म के स्तम्भ रायसाहब इस मजलिस में बेपर्दा नहीं बैठते। वह उन्हें साथ के कमरे में ले गया, जहाँ उन जैसे असाधारण पक्षियों के लिये आच्छादित घोंसले थे। एक में रायसाहब के चुने हुए मित्र पहले से ही इन्तज़ार में थे। चांदी का एक सिगरेट केस मेज़ पर खुला पड़ा था।

लेकिन सिगरेट से भी बढ़कर शराब में - यदि संगीत भी साथ हो - एक नवयुवक के मन की ऊबड़-खाबड़ हालत को समतल कर देने की विशेष ताकत होती है। 'आप क्या पियेंगे? व्हाट इज़ योर ड्रिंक?' कहकहा, आजादी, सौहार्द, दीवारों का धम से ज़मीन पर आ गिरना। यही तो अवसर होता है। बड़े आदमियों के साथ उठना बैठना व्यर्थ नहीं जाता। डिगरियों को कौन पूछता है? पहाड़ की तलहटी में वह शान्त कुटीर ....बड़ी दूर की बात है। और वह आत्म बलिदान .... तो और भी असंभव है।

आख़िर बैरे ने बिल पेश किया, जो कुछ आग्रह के बाद रायसाहब ने ख़ुद अदा किया, लाल-लाल अस्थिर उंगलियों से पैंतीस रुपये। दो रुपये बैरे के।

बाहर निकलते वक्त निर्मल को ऐसे लगा कि डांस-रूम में लकड़ी के छिलके ही छिलके बिछ रहे हैं और उन पर सूखी-सूखी काली-काली टागें छुटपटा रही हैं। बरामदे में पहुँचकर उसने देखा कि रात हो चुकी है। तारे शुभ्र आकाश में अपनी महफ़िल जमा चुके हैं। चांद नहीं है, लेकिन ध्रुवतारा पिघले हुये सोने की बूँद की तरह लटक रहा है।

रायसाहब के साथी अपनी कार में पहले बिदा हो गये, लेकिन रायसाहब खड़े-खड़े अपनी कार के सौन्दर्य पर मुग्ध हो रहे थे। उस पर हाथ फेर-फेर कर रह रहे थे 'इज़ण्ट शी ए ब्यूटी?'

निर्मल उनसे अधिक होश में था। फिर भी वह इंकार न कर सका। बेशक कार रायसाहब की परखी हुई सुन्दरियों से भी सुन्दर थी। सड़क की रोशनियां उसकी सफ़ेद और लाल पालिश में अलौकिक चमचमाहट पैदा कर रही थीं।

रायसाहब ने कार को प्रेमावेश में आकर चूम लिया। दो-एक भिखारियों को डांटकर फिर जिस सड़क से आये थे, उसी सड़क से वापस लौट चले। कह रहे थे - 'मैंने पी रखी हो, तो बेहतर ड्राइव कर सकता हूं। देखा ... यह देखा .... ? मजाल है बीबी को शक भी हो सके।'

बिज़नेसमैन की डायरी

हम लोग, करीब दस बारह आदमी, हर साल काश्मीर में गर्मियों में इकटठे हो जाते हैं। सितम्बर समाप्त होते ही तितर-बितर हो जाते हैं, परन्तु जून के आरम्भ में हमारी पार्टी फिर बननी शुरू हो जाती है। कभी दो-एक नहीं भी आते, परन्तु उनके स्थान की दो-एक नये व्यक्ति आकर पूर्ति कर देते हैं इसलिए हमारा प्रोग्राम कभी नहीं बिगड़ता। मिल-मिलाकर हमने हाकी, टेनिस, सैर वगैरह सबका प्रोग्राम बनाया है, परन्तु हमारा सबसे आकर्षक प्रोग्राम क़िश्ती चलाना होता है। प्रातःकाल ६ बजते ही हम लोग डल झील के गेट पर पहुँचकर मिशन स्कूल की दो-एक लम्बी किश्तियों पर सवार होकर झील के मध्य में पहुँच जाते हैं। वहाँ पर सब अपने कपड़े उतारकर पानी में कूद पड़ते हैं। दो घंटे हुँस-खेलकर आठ बजे तक घर वापस आ जाते हैं।

हमारा यह प्रोग्राम करीब सात साल से लगातार ऐसा ही चला आता है, मगर मैं पिछले दो-तीन साल से इसमें सम्मिलित नहीं हो सका था। यह नहीं कि काश्मीर नहीं जाता था, बल्कि मैं एक साल तो सर्दियों में भी वहीं रहा, परन्तु मेरा मन तब व्यायाम और खेल-कूद से उचाट हो गया था। वह दिन थे, जब मैंने एम०ए० पास करके नया-नया 'बिज़नेस' में प्रवेश किया था। इन दिनों मेरा मन विचलित रहता था। कालेज में पढ़ते हुए बाहरी संसार से अनभिज्ञ था। यह न मालूम था कि संसार में तालीम की कदर टके के तौल पर होती है, और इसलिये इंसान जितनी डिग्रियाँ प्राप्त कर सके, करे।

कालेज में मुझे अंग्रेज़ी साहित्य का चस्का था। पढ़ने से लिखने में अधिक रुचि थी। नतीजा यह हुआ कि कालेज पत्रिका की तरफ़ से तो मुझे इनाम मिलते रहे, परन्तु एम०ए० में मेरा डिविजन थर्ड आया। थर्ड डिविज़न पाकर पिता जी को विलायत भेजने के लिये मजबूर न कर सका, इसलिये यहीं फ़ैसला किया कि उनके व्यापार में पड़कर साथ-साथ अपनी साहित्यिक रुचि को भी बढ़ता रहूँ। मैंने सुन रखा था कि अंग्रेज़ लड़के भी आक्सफोर्ड और केम्ब्रिज से निकलकर यही करते हैं।

परन्तु कुछ समय बाद ही दो बातें साफ़ दीख पड़ीं। एक तो यह कि जो अंग्रेज़ी इतने शौक से पढ़ी थी, उसकी कोई कदर न रही। कई अख़बारों को कहानियाँ और कवितायें भेजीं, पर वह लोग यही उत्तर देते कि हिन्दुस्तानियों के हाथों लिखी हुई अंग्रेज़ी पर हमें विश्वास नहीं। कुछ देर तो मैं इस औदासीन्य पर झुंझलाता रहा, परन्तु धीरे-धीरे मुझे यह समझ में आ गया कि अंग्रेज़ी में मैं जो अपने आपको कालेज में समझता था, वह मैं हूँ नहीं। इसलिये मैंने अंग्रेज़ी में लिखना छोड़ दिया, और अब मैं अंग्रेज़ी में एक अच्छा पत्र भी नहीं लिख सकता।

दूसरी बात मुझे यह दिखाई दी कि बिज़नेस की हिन्दुस्तान में वह क़द्र नहीं, जो विलायत में होगी। यहाँ तो तंग बदबूदार गलियों में झूठ और फरेब का बाजार गर्म है। और जिस आराध्य द्रव्य के लिये यह संग्राम छिड़ रहा है, उसका बड़ा हिस्सा चुपके से योरोप और जापान के व्यापारियों की जेब में जा पड़ता है। थोड़े दिनों में ही मैं इतना तंग आ गया कि सदा इसी सोच में पड़ा रहता कि किस तरह इस जाल से निकल सकूँ। इसी विपता में मेरे बाल झड़ने लगे और एक ऐनक की भी आवश्यकता आ पड़ी।

यही दिन थे, जब कि मैं अपने दोस्तों के साथ किश्ती का मज़ा न ले सका था। जिस समय सूर्य की किरणें झील के स्वच्छ पानी पर नाचती होंगीं और मेरे मित्रों के कूदने से डरी हुई मछलियाँ अबरक की तरह चमचमाती हुई भाग जाती होंगीं, उस समय मैं बिज़नेस के क्षुद्र झंझटों से घिरा हुआ न जाने क्या-क्या सोचा करता था।

ख़ैर, समय बीत गया। मेरी शादी हो गई सौभाग्य से एक ऐसी लड़की के साथ जो कबूतर के समान कोमल और शैतान है। उसकी मीठी मुस्कराहट ने मेरे दुःखों को गठरी में बाँधकर जल में बहा दिया। अब हम फिर दोनों इकटठे बोटिंग के लिए जाने लगे। मित्रों ने भी कमला को देखकर मेरा अपराध क्षमा कर दिया।

यद्यपि अपने गुज़ारे लायक मैं कमा लेता हूँ, फिर भी साहित्य के स्वप्न अब भी आते रहते हैं। विजनेस मुझे हर प्रकार के व्यक्तियों के पास ले जाता है, और मुझे उनकी प्रवृत्तियाँ जाँचने का अवसर मिलता है। बाज़ारों में घूमते हुए जो कुछ मैं देखता हूँ, वह बहुत कम लेखक देख पाते हैं - यही कारण है कि हमारा साहित्य हमारी वास्तविक ज़िन्दगी का चित्र नहीं खींच पाता। एक-एक गली मुझे एक नई कहानी का प्लाट दे जाती है, लेकिन मेरे पास लिखने का अवकाश नहीं होता। कोई समय आवेगा जब मैं अपना मास्टरपीस लिखूँगा, और मास्टरपीस में फालतू रोमांस को स्थान न होगा।

एक दिन सुबह जब हम इकटठे हुए, तो एक अपरिचित व्यक्ति भी हमारी टोली में आया हुआ था। देखने में वह मदरासी युवक जान पड़ता था। उसका कद लम्बा और शरीर की बनावट सुन्दर थी।

पहली नज़र में वह मुझे अच्छा लगा या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता। पहले पहल मैंने तो यही अनुभव किया कि हमारी आज़ादी में कुछ रुकावट सी आ गयी है। मिस्टर पिल्ले अंग्रेज़ी के सिवा हमारी और कोई भाषा नहीं समझता था, और अंग्रेजी भी वह बिलकुल अंग्रेज़ों की तरह बोलता था। यों तो हम भी आम अंग्रेज़ी का इस्तेमाल करते हैं पर उसके साथ बात छेड़ने की हिम्मत किसी को न होती थी। यदि कोई बात छिड़ जाती, तो वह भी कुछ कह देता था, नहीं तो अधिकतर चुप ही रहता था। उस दिन हमें इतना ही मालूम हुआ कि वह बंगलौर के किसी कालेज में फ़िज़िकल डाइरेक्टर (व्यायाम-शिक्षक) है और काश्मीर की सैर के लिये साइकिल पर चक्कर लगा रहा है।

उसने प्रतिदिन आना आरम्भ कर दिया। परन्तु जो पंजाबी भाषा न समझता हो और पंजाबी नौजवानों की टोली में फँस जाय, उस पर आफ़त आने में देर नहीं लगती। और फिर जब आदमी खुद भी अजीब-सा हो। नहाना शुरू करे तो नहाता ही जावे, किश्ती में लेटे तो उठने की सुध नहीं। हम लोगों को उसका स्वभाव समझ में नहीं आता था। मेरी समझ में वह मेरी पत्नी पर रोब जमाने की कोशिश करता था।

इसी बीच मामला और भी दिलचस्प हो गया। एक दिन हमारा 'कप्तान' एक और व्यक्ति को साथ ले आया। मिस कश्यप अभी-अभी आक्सफोर्ड से शिक्षा लेकर आई थी। हमें किश्ती चलाते देखकर उसका भी मन ललचा आया था। उसके आने पर हम सब बहुत प्रसन्न हुए। मैं इस कारण कि प्रारम्भ से ही वह मेरी पत्नी के घुंघराले बालों की तरफ आकर्षिक हो गयी थी। साथ ही दूसरी लड़की के आ जाने से समाज की आचोवना का डर भी कम हो गया। हमारी पार्टी में मिस कश्यप ने दुगनी जान डाल दी। उसकी देखादेखी मेरी स्त्री ने भी कास्टयूम पहनकर नहाना शुरू कर दिया। 'कप्तान' साहब सुबह चाय का सामान लाने लगे। पहले तो हम गगरीबल तक ही जाते थे, अब नगीन और चारचिनार तक के चक्कर लगाने लगे। जोश इतना बढ़ा कि हमारी टोली बकायदा एक क्लब का रूप धारण करने लगी। पहली मीटिंग में ही पास किया गया कि दस-दस रुपये देकर एक 'डाइविंग बोर्ड' तैयार कराया जाये। साथ ही एक ड्रामा खेलने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई।

परन्तु हमारे देश में ऐसी बातें मुश्किल से निभ पाती हैं। थोड़े दिनों में ही हमें महसूस हुआ कि मिस कश्यप की ख़ास बातचीत मदरासी बाबू से ही रहती है। पहले वह प्रतिदिन प्रातःकाल मेरी धर्म-पत्नी के बालों को छेड़ा करती थी, परन्तु अब वह उस ओर ध्यान भी न देती थी। जैसे ही हम झील में किश्तियां ठहराते, दोनों आपस में फुसफुसाना आरम्भ कर देते। बहुत बार तो वे नहाना भी भूल जाते। यद्यपि इसका हमारी पार्टी में कोई असर नहीं होना चाहिये, फिर भी हमारा मज़ा किरकिरा हो गया, जैसे हम अपने ही घर से बाहर निकाल दिये गये हों।

सबसे पहले हमारा 'कप्तान' ऊब गया। मिस कश्यप की ख़ातिर वह अब भी चाय लाता था। उसकी खातिर उसने हमारा चिल्ला-चिल्लाकर गाना भी बन्द करा दिया था और मुझे सिगरेट तक पीने से मना किया था। जो मनुष्य इतनी ताब लाये, वह उस हद की लापरवाही कितनी देर तक सह सकता है?

एक दिन हम चप्पू रखकर बैठे थे, तो मैंने उन दोनों की बातें सुनी। पिल्ले कह रहा था - 'ख़ाली समय में मैं कहानियाँ लिखा करता हूँ। वह सामने जो महाराज के महल दिखाई दे रहे हैं, उन दो महलों के बीच जो द्वारपालों की डयोढ़ी है उसके बारे में मैंने एक कहानी सोची है।"

मिस कश्यप ने सराहना से खिलकर मेरी ओर देखा - 'है न शानदार बात? मैं पहले ही बूझ चुकी थी कि पिल्ले लिखते होंगे!'

मैंने कुछ आश्चर्य प्रगट करते हुए पिल्ले की ओर उन्मुख होकर कहा - 'सच ? क्या आपकी कोई कहानी छपी भी है?'

'नहीं, मेरे कुछ लेख छपे हैं, परन्तु मैं कहानियों को जमा करके एक अलग पुस्तक तैयार कर रहा हूँ। यह कहानी जो मुझे अब सूझी है - उस डयोढ़ी के बारे में - वह शायद मेरी सर्वोत्तम कहानी होगी।'

एक साथी ने बात काटते हुए कहा - 'मिस्टर पिल्ले, यह भाई साहब ख़ुद भी कहानियाँ लिखा करते हैं।'

ऊपर से मैंने उसे टाल दिया, किन्तु भीतर ही भीतर मैं इस संकेत पर प्रसन्न था - 'हां मैं भी लिखने की कोशिश करता हूँ, पर मैं अधिकांश लेखकों का रवैया नहीं पसन्द करता।' इसके बाद मैं एक लम्बा सा भाषण दे गया, जिसमें मैंने साधारण भाव से पिल्ले को यह जतलाने की कोशिश की कि जो मनुष्य अंग्रेज़ी के अलावा और कोई भाषा नहीं जानता और जिसे कभी ग़रीब हिन्दुस्तानियों में रहकर उनकी असली हालत देखने का अवसर नहीं मिला, उसे कहानियां लिखने का कोई हक नहीं। 'महलों के बीच की डयोढ़ी- उसकी बावत आप क्या कहानी रच सकते हैं, सिवाय इसके कि कोई शाहज़ादा और कोई शाहज़ादी एक दूसरे से प्रेम करते थे। क्षमा करना, इन रोमांटिक कहानियों का समय अब बीत गया। भारतीय जीवन में प्रेम-प्रलाप का कोई स्थान नहीं है, 'यह आप जानते हैं?' मेरी बात का उत्तर यह मिला कि दोनों चुप-चाप पानी में कूद गये।

उस दिन शाम को सैर करते हुए कप्तान से मुठभेड़ हुई। मुझे देखते ही उसने कहा- 'मैंने मिस्टर पिल्ले का आना कल से बन्द कर दिया है।'

मैंने कहा - 'बहुत अच्छा किया।'

दूसरे दिन से दोनों ही ने आना छोड़ दिया। हमारा कई दिनों से टूटा हुआ सिलसिला धीरे-धीरे फिर बनना शुरू हो गया। हम इस क्षेपक को जल्दी ही भूल गये।

शादी से पहले मुझे ज्योतिषी ने बताया था कि मेरा भाग्य शादी के बाद चमक पड़ेगा। बिज़नेस के लिहाज से तो यह भविष्यवाणी ठीक ही निकली। इस साल मुझे रियासत के कुछ ठेके भी मिल गये। इनमें से एक काम था उसी डयोढ़ी के, जिसने पिल्ले को कहानी का कथानक दिया था, बीच की सड़क की मरम्मत कराना। इस काम में मेरी सहायता करने के लिये टैक्सास का एक साहब भी आया हुआ था। दिन में करीब पचास मजदूर पत्थर कूटते, रेत छानते और तारकोल खौलाया करते। उनकी ओर देखकर मेरा हृदय पिघल जाता। कभी-कभी तो मैं उनके विचार में इतना मग्न हो जाता कि स्वयं महाराज को मोटर में गुजरते हुये देखकर अभिवादन करना भी भूल जाता। केवल पाँच आने पैसे के लिये यह बेचारे दस घंटे काम करते हैं। खौलती हुई तारकोल का धुआँ, तपी हुई रेत और जलती हुई धूप - यह सब कुछ इनको इस संजीदगी से सहना पड़ता है, जैसे एक अमीर को भरपेट मेहमानी। इनकी दरद-कहानी पर कौन कान देता है .....

कभी-कभी मैं एकटक उस डयोढ़ी की ओर देखकर सोचा करता कि पिल्ले ने इसमें से कहानी के लिये क्या सहारा पाया होगा तब मेरी दृष्टि के आगे आ खड़े होते एक शाहज़ादा और एक शाहजादी, शाहजादी इस महल में और शाहजादा दूसरे महल में अर्थात मिस कश्यप एक में और मिस्टर पिल्ले दूसरे में ..... इससे आगे पिल्ले की दृष्टि कहाँ पहुँची होगी? क्या डयोढ़ी के बीच में से जाने वाली सड़क को कूटने वाले इन अभागों का उसे ध्यान आया होगा? कभी समय आवेगा, जब मैं इन लोगों की हालत का नक्शा पिल्ले और उसके जैसे दूसरे कथाकारों के सामने रखूँगा।

साहबों के आगे-पीछे फिरने का मुझे अभ्यास नहीं, परन्तु हमारे भाइयों में खुशामद की योग्यता इतनी भरी हुई है कि मुझे भी कभी-न-कभी अपनी इच्छा के विरुद्ध चलना

ही पड़ता है। ज्यों ही दूसरे ठेकेदारों ने देखा कि टैक्सास का साहब मुझ पर इतना मेहरबान है, त्यों ही उन्होंने उसको दावतें देना शुरू कीं। मेरे लिये इसके सिवाय कोई चारा न रहा कि उसे कम से कम चाय के लिये घर पर बुलाऊँ।

मेरे ड्राइंग रूप को देखकर कोई यह शक नहीं कर सकता कि इसकी सजावट किसी अनजान हाथों ने की है। मेरा सारा प्रयत्न इस कमरे को आदर्श ड्राइंग रूम बनाने का होता है। इसमें मैं कोई ऐसी वस्तु नहीं देख सकता, जो मुझे अरुचिकर हो। मेरे जैसे आदमी के लिये जिसका अधिकांश समय दुनियां की दौड़-धूप में लगता हो, एक ऐसा कोना नितान्त आवश्यक है, जिसमें घुसते ही मन को पूर्ण शान्ति मिले। टैक्सास वाले साहब पर भी मेरे कमरे का कम गहरा असर नहीं पड़ा। चाय के बाद करीब सब बत्तियाँ बुझाकर ग्रामोफोन पर बीथौवन और मोज़ार्ट का संगीत सुना। इस सबका फल यह हुआ कि साहब में और मुझ में घनिष्ठता हो गई।

मैंने साहब को सलाह दी कि मैं उसे गुलमर्ग दिखा लाऊँ। उसने बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार किया। दूसरे दिन हम उसकी कार में दो दिन के लिये गुलमर्ग चल दिये।

गुलमर्ग से तीन मील नीचे ही मोटर छोड़नी पड़ती है। बाकी अढ़ाई हज़ार फुट की चढ़ाई घोड़े पर तै करनी होती है। पहले तो ज्यों ही मोटर दिखाई देती थी, त्यों ही कुली और घोड़े वाले उस पर टूट पड़ते थे, पर उस दिन ऐसी कोई घटना नहीं घटी सिपाही ने स्वयं ही घोड़े ला दिये। कुली का प्रबन्ध साहब के बेहरे ने कर दिया। जैसे ही घोड़ों ने पहाड़ी सड़क पर कदम रखा, सामने तोश मैदान की चोटियों पर बर्फ़ का सफ़ेद फ़र्श, उसके नीचे चीड़ के घने जङ्गल और फिरोज़पुरी नाले का शोर करता हुआ जल आँखों के आगे घूमने लगा। साहब एकटक इस अनुपम दृश्य को देख रहा था, किन्तु मैं अपने आपको काबू में न रख सकता था। मेरा जी होता था कि मैं उसे गुलमर्ग की हर एक ख़ूबी से फौरन परिचित करा दूँ। इसी के वर्णन में मैंने 'कुमारसम्भव' के हिमालय की स्तुति के दो एक श्लोक भी सुना डाले। साथ ही मैंने यह जतला दिया कि सामने के जङ्गलों में शिकार और मछलियाँ पकड़ने का भी अच्छा इन्तज़ाम है। यह खबर उसके लिये अधिक दिलचस्प साबित हुई।

गुलमर्ग पहुँचकर मैं उसे अपने एक मित्र की कोठी में ले गया, जहाँ मुझे विश्वास था कि मेरे मेहमान को ख़ूब आराम मिलेगा। बरामदे में कुर्सियाँ डालकर हम लोग बियर का एक-एक गिलास लेकर असबाब का इन्तज़ार करने लगे। जब कुली आ पहुंचे तो ख़ानसामा ने सामान उतरवा लिया। दोनों कुली थककर पसीना पोंछने के लिये बैठ गये। मैं उन्हें पैसे देने के लिये उठा, किन्तु साहब ने ज़ोर दिया कि वहीं पैसा देगा। उनके पास पहुंचकर उसने मुझे पुकार कर पूछा - 'ह्वाट शैल आई पे दीज डेविल्स?' (इन पाजियों को क्या देना होगा)।

एकाएक एक कुली ने कड़ककर उसी भाषा और लहजे में उत्तर दिया - 'हमारा रेट पांच आने है।' साहब सिटपिटा गया। मैं भी अचम्भे में उठ खड़ा हुआ। काश्मीरी लिबास में मिस्टर पिल्ले हाथ निकाले खड़ा था। उस वक्त मैंने उधर से मुँह फेर लेना ही अच्छा समझा।

साहब ने एक रुपया निकालकर पिल्ले को दे दिया, परन्तु वह हंसकर कहने लगा - 'अगर इसमें चार आने और डाल दो, तो मेरा साथी अपना लाइसेंस नया करवा सकेगा।'

साहब ने एक और रुपया फेंक दिया। पिल्ले ने मुस्कराकर सलाम किया और दूसरे कुली की बांह में बांह डालकर नीचे उतर गया।

साहब ने मुझसे पूछा - 'यह अजीब कुली कौन हो सकता है?'

मैं कंधे हिलाकर हँस दिया, पर मेरी आँखे दूर तक पिल्ले का पीछा करती रहीं। उस कुर्सी में वैठे हुए मैंने अपने आपको बहुत ही छोटा महसूस किया। मैंने निश्चय किया कि हाथ में लिये हुए कामों को निपटाकर एकदम बिजनेस छोड़ दूँगा।

मैंने सुना है कि वही मिस्टर पिल्ले मलयाली भाषा के एक सुविख्यात लेखक हैं। उनकी कहानियों को देखने के लिये मैं अत्यन्त उत्सुक हूँ। महलों की उस डयोढ़ी का नक्शा मेरी आँखों के सामने अब घूमता रहता है।

वहाँ पर झील के साथ-साथ जाने वाली सड़क एकाएक मुड़कर उस ड्योढ़ी में इस प्रकार दाख़िल होती है, मानों किसी को वहाँ शाहज़ादी के आने की उम्मीद हो -मानों किसी को झील के कमल-फूलों से मिस कश्यप के उठकर आ जाने की इन्तज़ार हो!

यदि कलम में ताकत हुई, तो कभी-न-कभी अवश्य इस घटना के विषय में लिखूँगा।

एक मधुर याद

एक ज़माना था जब मैं अपने आप को साहित्यिक आदमी समझा करता था। तब मुझे ख़याल भी नहीं था कि मैं कभी फिल्म अभिनेता बन जाऊँगा। पर मुझे अब बिश्वास हो गया है कि जिस तरह की व्यवस्था में हम रहते हैं, उस में पिछले जन्मों के कर्मों या प्रकृति द्वारा प्रदान किये गये संस्कारों पर मनुष्य का भविषष्य उतना अवलम्बित नहीं, जितना वातावरण का परिस्थितियों और मजबूरियों पर। मैं जब आज तक के अपने जीवन पर दृष्टि डालता हूँ, तो ऐसा लगता है कि मैं हमेशा एक पहाड़ी दरिया में पड़े हुए पत्थर की भांति ढुलकता रहा हूँ, जिसको पानी न केवल अपनी इच्छा के अनुसार ढुलकाया करता है, बल्कि शक्ल भी गढ़ता रहता है। ऐसी परिस्थितियों में पत्थर अधिक से अधिक यहीं कर सकता है कि जहाँ कोई भी अच्छी जगह मिले, वहां दृढ़ता से अटक जाये। किसी ऐसी जगह, जहां पानी का प्रवाह उसे गोल-मटोल ही न बना दे। गोल पत्थर का तो वैसे भी कोई ठिकाना नहीं।

साहित्य से मेरा प्रेम अब भी बहुत है और यदि कोई मुझसे पूछे कि मेरे जीवन में सब से बड़ी महत्त्वाकांक्षा कौन-सी है, तो मैं कहूँगा कवि बनना। किन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि वह कभी पूर्ण होने वाली नहीं।

पर इसका यह मतलब नहीं है कि मुझे अपनी अभिनेता की ज़िन्दगी से घृणा है। कदापि नहीं। मैं अभिनय को भी एक श्रेष्ठ कला समझता हूँ और उसमें पूर्णतया कमाल हासिल करने के लिए मेरे विचार में अथक और असीम श्रम की आवश्यकता है। यदि चिढ़ होती है, तो इस बात से कि जिस प्रकार का वातावरण फ़िल्मी दुनिया का बना हुआ है, उसमें इस प्रकार का परिश्रम यदि असंभव नहीं, तो मुश्किल जरूर है। यदि प्रेमचन्द की तरह इस वातावरण से घबराकर भागा नहीं, तो इसका केवल यही एक कारण है कि समय के साथ-साथ वातावरण कुछ-न-कुछ जरुर बदला है और अच्छी फ़िल्मों के लिए जनता की माँग अधिक ज़ोर पकड़ रही है। पर क्या पता यह मेरी खुशफ़हमी ही हो।

पर नहीं। कितनी ही बार मेरे साथ ऐसी मधुर घटनायें चरितार्थ होती हैं कि मेरा दिल आशाओं और उमंगों से परिपूर्ण हो जाता है। और कम से कम कुछ समय के लिए मैं अपनी अभिनेता की ज़िन्दगी से संतुष्ट हो जाता हूँ। कहानी लिखने का अवकाश तो मेरे पास है नहीं, और न मैं यही समझता हूँ कि मेरे पास वह टेकनीक है, जिसकी कलात्मकता से मैं आज से पन्द्रह साल पहले कभी-कभी सुन्दर कहानी लिख लेता था। पर ऐसी ही एक मधुर घटना की कहानी तुम्हें जरूर सुनाता चाहता हूँ।

ऐक्टरी ज़िन्दगी में मोटर साइकिल मेरी बहुत दिनों से साथिन रही है। इसको मैंने १९४७ में ख़रीदा था, और भी सूक्ष्मता से कहूँ, तो इसको मैंने उस दिन ख़रीदा था, जिस दिन हिन्दुस्तान में आज़ादी आयी थी। और अब जिस तरह हमारी आज़ादी के कुछ पुरज़े अच्छे मज़बूत और कुछ पुरज़े बिलकुल ढीले हैं, वही हाल इस मोटर साइकिल का भी है। मेरे बहुत सारे मित्र मुझे राय देते हैं कि मैं इसको त्याग कर मोटर ले लूँ। पर इस पुरानी साथिन को छोड़ना मेरे लिए उतना ही मुश्किल हो रहा है, जितना कि जवाहरलाल नेहरूजी को कांग्रेस छोड़ना।

गत वर्ष की बात है, मैं एक दिन अपने स्नेही मित्र लेखक कृशन चन्दर के घर से वापस अपने घर की तरफ आ रहा था कि अन्धेरी स्टेशन के चौक के पास आकर मोटर साइकिल बिगड़ गयी। क्लच के तार की टाँकी टूट गयी। अब जब तक उसकी मरम्मत न करवायी जाय, वह चलने में असमर्थ थी। मुझे बड़ी खिजलाहट महसूस हुई। सुबह घर से बिना नहाये-धोये, शेव किये निकल आया था और कपड़े भी कोई ठीक से नहीं पहन रखे थे। कृशन से गप्पें मारते-मारते, वक्त का ख़याल ही नहीं रहा, और अब दोपहर सिर पर सवार थी। सख़्त गर्मी, और साथ ही लोगों की निगाहों की गर्मी, जो एक फ़िल्म ऐक्टर की हर भाव-भंगिमा में बड़ी सरगर्मी से दिलचस्पी लेती है। मैं कमबख़्त मोटर साइकिल को मन-ही-मन में सैकड़ों गालियाँ देता हुआ बाज़ार में इधर-उधर भटकने लगा कि उसको ठीक करवाने के लिए किसी मिस्त्री के सुपुर्द करूँ। कई जगहों पर गया, पर वेल्डिंग करने वाला कोई भी नहीं मिला। अन्त में एक आदमी ने बताया कि चौक के पास एक ठठेरे की दुकान है। उस ठठेरे का लड़का किसी वर्कशाप में काम करता था, पर अब बेकार है। अक्सर अपने बाप की दुकान पर बैठा रहता है। वेल्डिंग का काम उसको आता है। आखिर पसीने से तर-बतर उस लोहे के हाथी को घसीटता हुआ बूढ़े ठठेरे की दूकान पर पहुँचा। कुछ तमाशबीन लोगों की उन्मत्त भीड़ मेरे पीछे-पीछे थी।

बूढ़े का लड़का दूकान पर बैठा दालदा का टीन कूट रहा था। मुझे उसने एक अजीब तरह की लापरवाही से देखा। मेरे कहने को भी उसने एक अजीब तरह की लापरवाही से सुना। फिर मोटर साइकिल को हाथ लगाये बगैर कहने लगा - इसको एक साइड पर करके उधर छोड़ दो। दो घंटे बाद आकर ले जाना। - यह कहकर वह फिर अपनी दूकान पर जा बैठा, और टीन कूटने लग गया।

एक तो मैं पहले ही परेशान था, दूसरे मुझे उसका व्यवहार वैसे भी अच्छा नहीं लगा। मुझे उसकी योग्यता पर भी शक होने लगा। फिर दालदा के टीन को टाँका लगाना और बात है और मोटर साइकिल के क्लच को टाँका लगाना और बात। पता नहीं, उसके पास वेल्डिंग करने का जरूरी सामान भी है या नहीं। अपनी तसल्ली के लिए मैंने उससे बार-बार सवाल पूछे पर उसने किसी का भी ठीक-ठीक जवाब नहीं दिया। बस इतना ही कहता - हाँ, हाँ, हो जायेगा। दो घंटे बाद आकर ले जाना।

यदि मेरे पास मोटर साइकिल वहाँ छोड़ने के सिवाय दूसरा कोई चारा होता, तो शायद मैं उसको एक दो खरी-खरी जरूर सुनाता। पर विवश था। मैंने मोटर साइकिल उसके बताये हुए स्थान पर टिका दी, और जाने से पहले उससे पूछा - पैसे कितने लोगे?

उसने फिर एक अजीब लापरवाही से हँसकर जवाब दिया - दो रुपये दे देना और क्या!

मैंने अपने को बड़ा अपमानित महसूस किया। इस बात पर परदा डाल देने के ख़याल से मैंने जरा रोबदार अन्दाज़ में, ताकि तमाशबीन सुन लें, उससे कहा - देखो, दो घंटे बाद आना तो हमारे लिए मुश्किल होगा। तुम ठीक कर रखना। हम शाम को पाँच छः बजे आकर ले जायेंगे।

अपने काम से दृष्टि उठाये विना ही उसने 'अच्छा कह दिया। और मैं चौक की तरफ़ वापस चल दिया। उम्मीद थी कि चौक पर टैक्सी मिल जायेगी, पर वह उम्मीद भी पूरी नहीं हुई। नज़दीक ही बस-स्टाप था। मन में आया कि वहाँ जाकर खड़ा हो जाऊँ। कोई लम्बी लाइन नहीं थी। पाँच-दस मिन्टों में कोई बस आती ही होगी। पर साथ ही मन में यह भी हो रहा था कि तमाशबीन क्या कहेंगे। एक कामयाब फ़िल्म ऐक्टर के लिए तो मोटर साइकिल पर बैठना भी शोर-शराबा होने वाली बात है। उसके पास तो एक शानदार मोटर होनी चाहिए। फिर, बस की लाइन में जा खड़ा होना ....नहीं...नहीं......... वह तो तमाशबीनों के लिए बड़ी निराशा-जनक बात है। क्या पता, मेरे बस-स्टाप पर जाकर खड़े होते ही फ़िकरेबाजी शुरू कर दें। मन करते हुए भी मैं बस-स्टाप पर जाने की हिम्मत न कर सका। बस आयी और चली भी गयी। पर मैं सोचता ही रह गया।

इतने ही में ख़्वाजा अहमद अब्बास की गाड़ी अकस्मात ही आ निकली और अब्बास ने मुझे देख लिया। मेरी जान में जान आयी और मैं उसकी गाड़ी पर सवार हो गया। लेकिन यह भी कुएं से निकलकर खाई में गिरनेवाली कहावत सावित हुई। अब्बास को शायद उस दिन किसी साथी की बहुत ज़रूरत थी। घर पर छोड़ देने की बजाय वह मुझे सारा दिन अपने साथ-साथ लिये फिरा। कभी एक स्टूडियों, कभी दूसरे; कभी लेबोरेटरी, कभी अपने घर। शाम के सात बजे तक मैं उसके साथ ही लटका रहा। मोटर साइकिल का मुझे ख़याल ही नहीं रहा।

कोई आठ बजे के करीब जब मैं घर की तरफ मुड़ा, तो मुझे मोटर साइकिल का ख़याल आया। अँधेरा हो चला था। शहर के बाहर के इलाके की दूकानें जल्दी बन्द हो जाती हैं। कहीं वह मिस्त्री का लड़का मेरी मोटर साइकिल सड़क पर ही छोड़कर घर न चला गया हो। मैंने तुरन्त अँधेरी की ओर रुख किया।

अंधेरी चौक के आसपास की बहुत सी दुकानें बंद हो चुकी थीं, होटलों को छोड़कर। जब मैं ठठेरे की दूकान के नजदीक पहुंचा, तो देखा कि उस लाइन की सारी दूकानें बंद है और मेरी मोटर साइकिल एक यतीम की तरह सड़क के किनारे खड़ी है। मैं टैक्सी से उतरकर उसके पास पहुँचा। दिन भर धूल-मिटटी पड़ने से वह तन्दुरुस्त लगने की बनिस्बत मुझे और भी बीमार नजर आई। खैर, इस बात की तस्कीन ज़रूरी थी कि उसको कोई उठाकर नहीं ले गया। मैंने क्लच पर ध्यान दिया। उसको दबाकर देखा। क्लच तो वास्तव में लड़के ने ठीक कर दिया था।

मैंने अंधेरे में इधर-उधर देखा, कि किसी तरह लड़के का पता लगाऊँ, उसको पैसे देकर चलता बनूँ। इतने ही में मैंने देखा कि एक ईरानी चायखाने से दो लड़के निकलकर मेरी तरफ आ रहे हैं, मुझे तसल्ली हुई, इन में से एक वह ठठेरे का बेटा ही था। मैंने टैक्सीवाले को पैसा देकर रवाना कर दिया था।

मेरे समीप आकर लड़के ने उसी लापरवाही से कहा - अरे साब, तुम इतना देर से आया। तुम्हारा वजा से तो हमारा आज बहुत नुकसान हो गया।

- मुझे अफ़सोस है। कुछ जरूरी काम थे, देर हो गयी - पर यह मेरी समझ में न आया कि देर करके आने से उसका खास क्या नुकसान हो सकता था। शायद उसे कहीं जाना हो, न जा सका। मैंने सोचा, मैं एक रुपया उसको ज़्यादा दे दूं।

पर जब उसने अपने नुकसान की वजह न बतलायी, तो फिर मेरा दिल उसके विरुद्ध गुस्से से भर गया। उसने कहा - अरे साब, तूम्हारा गाड़ी यहाँ सड़क पर पड़ा था। कोई साला टंकी का कैप उतारकर ले गया। अभी हम दो रुपया खर्च करके इसके ऊपर लगाया।

मेरी टंकी की तरफ नज़र गयी। मेरी चमकदार ख़ूबसूरत कैप ग़ायब थी, और उसकी जगह एक दूसरी सलेटी रंग की अलमूनियम की कैप लगी हुई थी, जिसने मेरी मोटर साइकिल की रही-सही रौनक भी खराब कर दी थी। कुछ दिन पहले मोबिल आयल की टंकी से भी कैप इसी तरह उड़ गयी थी। मैंने वैसी ही कैप ख़रीदने के लिए सारी बम्बई छान मारी, पर किसी की भी दूकान पर नहीं मिली। मालूम हुआ कि वह विदेशी कैप अब बिलकुल ही अप्राप्य हो गयी है। मुझे विश्वास हो गया कि कैप इस लड़के ने स्वयं ही ग़ायब की है और उसको कहीं बेच-बाचकर पाँच-दस रुपये झाड़ लेगा। और उस पर मुझे यह जता रहा है कि उलटा उसका नुकसान हुआ है।

'तुम्हारा कैसे नुकसान हुआ, मास्टर? दस-बीस रुपये की मेरी कैप गुम हो गयी और तुम जानते हो कि आजकल बाजार में मिलती ही नहीं। तुम्हारी दूकान के सामने गाड़ी खड़ी थी। क्या तुम उसका ख्याल नहीं रख सकते थे?'.

'हम को मालूम था, तुम ऐसा ही बोलेगा। जभी तो अपनी जेब से पैसा खर्च करके दूसरा कैप फिट कर दिया। हम दूकान पर बैठकर अपना काम करेगा या तुम्हारा गाड़ी का चौकीदारी?'

मेरे मन में आया प्रत्युत्तर में कड़ा जवाब दूँ, पर मैंने अपने-आपको रोक लिया। मैं अकेला था, पराये स्थान पर था। वे दो थे और साफ़ लोफ़र-से लगते थे। पता नहीं, झगड़ा होने की सूरत में और कितने यार-दोस्त उसके निकल आयेंगे। मैंने अपने गुस्से का इज़हार सिर्फ़ इस तरह किया कि क्लच की उजरत के दो रुपये के अलावा दो रुपये उसकी कैप के भी दे दिये। उसने एक बार तो बड़े शाही अन्दाज़ प्रदर्शित करके लेने से इन्कार किया। फिर ले लिये।

उसकी नीचता मुझे हद के बाहर जान पड़ी। मेरी ख़्वाहिश बस अब यही थी कि जल्दी-से-जल्दी मोटर साइकिल को स्टार्ट करके वहाँ से दूर निकल जाऊँ, उन लड़कों की बेशर्म और गुस्ताख़ आँखों से दूर। बातों के दौरान में तीन चार और लड़के भी इकटठे हो गये थे। इस मुल्क में फ़िल्म ऐक्टर होना वाकई बहुत बड़ा गुनाह है, मैंने मन में सोचा।

खुशकिस्मती से पहली किक मारते ही मोटर साइकिल स्टार्ट हो गयी। मैं उसका बड़ा कृतज्ञ हुआ, क्योंकि पहले कुछ दिनों से कारबोरेटर साफ़ करने जैसे हो रहा था, इसलिए पाँच-सात किकें स्टार्ट करने के लिए मारनी पड़ती थीं। यदि जल्दी स्टार्ट न होती, तो इन लोगों को उपहास करने का और मौका मिल जाता। एंजिन स्टार्ट होते ही मैं चलने को हुआ। मुड़कर उनकी ओर देखा भी नहीं। बल्कि बत्ती जलाना भी भूल गया।

कुछ दूर जाकर मैंने बत्ती का स्विच आन किया। वह स्विच बहुत दिनों से ढीला हुआ पड़ा था, इसलिए पिछली बत्ती तो वैसे जलती ही नहीं थी और अगली भी जलती बुझती ही रहती थी। लेकिन अब बड़ी अच्छी तरह जल गयी। उसका भी मुझे इत्मीनान हुआ, वर्ना मुमकिन था कि चौराहे पर सिपाही नम्बर नोट कर लेता, और पन्द्रह-बीस रुपये का नुकसान और हो जाता।

और कुछ दूर आगे जाकर ऐक्सलरेटर दबाते ही मेरा हाथ अचानक हार्न बजाने वाले बटन से छू गया। यह बटन भी काफ़ी समय से ढीला हुआ पड़ा था और हार्न नहीं बजता था। मैंने ठीक नहीं करवाया था, क्योंकि हार्न बजाने की मुझे आदत नहीं। पर आज हाथ लगाते ही हार्न भी बजने लगा। इसकी आवाज़ अलबत्ता अजीब-सी निकली। पहले इस हार्न की आवाज़ इस तरह की नहीं थी, बड़ी बेसुरी और गिड़गिड़ाने जैसी आवाज़ थी, जैसे कोई भूखी भेड़ बें बें करती हो और एक अजीब बात और। हार्न की आवाज ऐन मेरी सीट के नीचे से निकली, जिसकी वजह से खामखाह मेरे बदन में सिहरन-सी पैदा हो गयी, जैसे मैं ही अनजाने में कोई बेजा हरकत कर बैठा होऊँ। ज़ाहिर था कि मिस्त्री के लड़के ने मेरे साथ एक और गुस्ताख़ी की थी। मुझे गुस्सा आया, पर साथ ही मेरे अन्दर बार-बार हार्न बजाने की बचकानी ख़्वाहिश भी पैदा हो गयी और ज़ब सीट के नीचे से आवाज़ निकलती, तो मुझे हँसी आ जाती।

और कुछ दूर जाकर मुझे महसूस हुआ कि एंजिन आज बहुत ही अच्छा चल रहा है। मैंन सोचा, रात का समय है, हवा ठंडी है इसलिए अच्छा चल रहा है। पर फिर मैंने महसूस किया कि चेन के चेन-बक्स से रगड़ने से जो खड़खड़ पहले सुनायी देती थी, अब बिलकुल बंद है। लड़के ने क्लच का टाँका लगाने के अलावा जरूर मोटर साइकिल की और भी थोड़ी-बहुत मरम्मत की है, मैंने सोचा। पर यह सब कुछ मेरे लिए इतना आश्चर्यजनक था कि मैंने गाड़ी को रोक दिया और उसको स्टैंड पर खड़ा करके पुरज़े-पुरज़े को गौर से देखने लगा।

अब मैंने देखा कि पिछली बत्ती भी जल रही थी। जरूर इसकी वायरिंग भी उसने ठीक की होगी। फिर मैंने देखा, मोबिल आयल की टंकी पर भी पेटरोलवाली टंकी की तरह एक सस्ती पर नयी कैप लगी हुई थी। पहले उस पर एक सिगरेट का ख़ाली टीन उलटा पड़ा हुआ था। फिर मैंने देखा, ब्रेक भी कसी हुई है। चेन भी कस दी गयी है। गीयर बाक्स को भी ठीक किया गया है। फिर मैंने सोचा, ज़रा टूल बाक्स तो खोलकर देखूँ। उसमें से कोई औज़ार तो उसने तिड़ी नहीं कर दिया। क्या देखता हूं कि न सिर्फ़ सब औजार ही सही सलामत हैं, बल्कि वह पेटरोल टैंक की कैप भी, जिसके लिए वह कहता था, गुम हो गयी है, उसमें पड़ी हुई है। मैं बिलकुल हक्का-बक्का हो गया। लड़के ने मुझसे कुल चार रुपये लिये थे। पर ज़ाहिर था कि काम उसने कम-से-कम पन्द्रह-बीस रुपये का किया था। पर क्यों? यदि किया था, तो बताया क्यों नहीं? इस तरह मजाक करने का क्या प्रयोजन?

अब मेरे दिल में उस लड़के के प्रति भाव बदल गये। एक बेकार, बेरोजगार कारीगर जो कि मोटरों के एंजिन ठीक करने की बजाय अपनी शक्ति दालदा के टीन कूटने में व्यय करता है, वह इतनी पुरमजाक तबीयत का आदमी हो सकता है!

मेरे लिए आगे बढ़ना मुश्किल हो गया। उसकी मेहनत का मुआवज़ा दिये बगैर घर जाना मुझे पाप नजर आने लगा। मैं उलटकर वापस अँधेरी चल पड़ा।

रास्ते में फिर एक-दो बार गाड़ी रोकी और उसका निरीक्षण किया कि कहीं मुझे भ्रम तो नहीं हो गया। पर यह भ्रम नहीं था। कल तक मैं गाड़ी को गैरेज भेजकर सर्विस कराने की जरूरत महसूस कर रहा था और आज इस तरह मालूम हो रहा था, जैसे गाड़ी अभी गैरेज से सर्विस कराके आयी हो। नहीं मैं उसको ज़रूर पैसे दूँगा और उसके मज़ाक की पूरी दाद दूँगा।

साथ ही खयाल आया कि मैं और नयी मुसीबत तो मोल नहीं ले रहा। क्या पता, वह लड़का अब वहाँ होगा कि नहीं। मुमकिन है, मुझे देखकर उसके साथियों को कोई नयी शरारत सूझ जाय। फिर क्या होगा? पर मैं रुका नहीं।

चौक पार करके मैंने देखा कि टीनोवाली दूकान खुली हुई है। एक मिटटी के तेलवाली बत्ती जल रही है, और एक बूढ़ा, उस लड़के का बाप, टीन ठोक रहा है। मैं मोटर साइकिल का एंजिन बन्द करके उसकी तरफ़ चला ही था कि पता नहीं किस तरफ़ से वह लड़का और उसके साथी भी उपस्थित हो गये। लड़का मोटर साइकिल के पास जा खड़ा हुआ और कहने लगा - क्यों साहब, फिर कोई ख़राबी हो गयी क्या?

मैंने सीधे जाकर उसका दायां हाथ अपने दायें हाथ में ले लिया, और कहा - अरे यार, तुम तो बड़े शानदार आदमी हो। मुझे मालूम नहीं था कि तुमने गाड़ी पर इतना काम किया है। बताओ, मुझे और कितने पैसे देने हैं?

- कुछ नहीं, कुछ नहीं। सब ठीक है। तुम 'हम लोग' पिक्चर में बहुत फ़स्ट क्लास काम करता है, बस!

- मगर मैं तो तमाम वक्त यह सोचता रहा था कि तुम मेरा मजाक उड़ा रहे हो। - मैंने कहा।

- ऐक्टर लोग के साथ थोड़ा मज़ाक करना माँगता है।

मैंने बड़ी कोशिश की कि वह मुझसे पैसे ले ले। पर उसने एक न सुनी। बल्कि उसकी मंडली मुझे साथ ही के ईरानी चायखाने में ले गयी। वहाँ उन्होंने मुझे चाय पिलायी, और फ़िल्मों के बारे में, ऐक्टरों और एक्ट्रेसों के बारे में बड़े मज़ेदार सवाल पूछते रहे। मेरी उनसे अब सारी झेंप-झिझक मिट गयी थी और एक अपूर्व मज़ा मिल रहा था। अब तक मैं मजदूरों के प्रति कुछ और ही विश्वास मन में लिये बैठा था। बेकारी की हालत में भी मजदूर इतना हँसमुख, खुशदिल, ऐसा बादशाह हो सकता है, मुझे कल्पना भी नहीं थी।

और यह है मेरी ऐक्टरी ज़िन्दगी की वह मधुर याद। यदि कहानी लिखने की कला को भूल न गया होता, तो मैं इसका बहुत रोचकता से वर्णन कर सकता था।

अन्तिम चित्र

डाक्टर साहब दिन का काम खत्म कर चुकने के पश्चात चिलमची में हाथ धो रहे थे कि उन्होंने आर्टिस्ट के लड़के को दीवार के साथ सिकुड़कर खड़े हुए पाया। पूछने लगे - 'क्यों बेटा, क्या हाल है?'

'आपको माता जी ने बुलाया है।'

'क्यों, तकलीफ़ ज्यादा तो नहीं?'

'पता नहीं, उन्होंने सिर्फ़ यही कहा था, डाक्टर साहब को जल्दी बुला ला।'

डाक्टर साहब ने बालक को अपनी ज़ाहिरी उपेक्षा से विस्मित करते हुए, आराम के साथ हाथ पोंछे, दस्ताने व ओवरकोट पहना, फिर कम्पाउंडर को कुछेक आदेश देकर बाहर निकले। बालक उनका बैग सम्हालता हुआ पीछे पीछे चला। वर्षा तो अब थम चुकी थी, किन्तु सड़क पर लथपथ दलदल थी, डाक्टर साहब छड़ी के सहारे, मुहल्ले की दुकानों के साथ-साथ, किन्तु उनकी छूत से बचने की चेष्टा करते हुए जा रहे थे। आर्टिस्ट गली में रहता था, वरना तांगा ले लेते। बालक के पांव नंगे थे, इसलिए उसे सड़क के बीचोंबीच उंगलियों को कीचड़ में दबा दबा-कर चलना अधिक रुचिकर था। बादलों से आच्छादित संध्या रात्रि का रुप धारण कर रही थी, किन्तु अब भी कम्बख़्त बिजली वालों ने सड़कों पर रोशनी नहीं की। सदर में, जहाँ न भीड़ होती है न कीचड़, पाँच बजे ही जगमग हो जाती है। वहाँ इस समय शानदार मौसम होगा। यदि इस समय बुलावा न आ जाता, तो आज डाक्टर साहब की शाम की सैर विशेष रोचक होती, क्योंकि शहर के अन्य भद्र पुरुषों की तरह वह भी कैन्टोन्मेन्ट की ओर ही हवाखोरी के लिये जाया करते हैं।

इसी कारण आज उन्हें दया के साथ अपने आर्टिस्ट मित्र पर खीज भी आ रही थी। जब वह उसके साथ कालेज में पढ़ते थे, तो रूपलाल अच्छे बुद्धिमान विद्यार्थियों में गिना जाता था। पिता भी सम्पन्न आदमी थे, वह यदि चाहता तो विलायत भी जा सकता था। फिर यह दारिद्रय सजना किस लिये? माना कि आदर्श एक सराहनीय वस्तु है, किन्तु यदि समाज ने अभी उसकी कदर न कर पाई तो सत्याग्रह करने से क्या लाभ? उन्हें रूप से कहीं बढ़कर ग़रीबी का सामना करना पड़ा, लेकिन वह अपने कैरियर के प्रारम्भ में ही पहचान गये थे कि संसार में मनुष्य को अकेले दम ही उठना होता है। इस क्रूर संघर्ष में स्वार्थ-रहित होकर कोई किसी की सहायता नहीं करता। नतीजा यह कि वह अब अकेले भद्रपुरुषों की तरह सभ्य व उपयोगी जीवन बिता सकते हैं। किन्तु यदि वह भी यहीं फ़ैसला कर लेते कि सरकारी कालेजों से निकले हुए छात्रों के लिये कारोबार प्रस्तुत करना सरकार का ही कर्तव्य है, तो अब तक गलियों में सड़ रहे होते, संभव है, चरित्रहीन भी हो बैठते!

वेशक उन दिनों वह रूपलाल की युक्तियों का प्रत्युत्तर न दे सकते थे। रूप व्यक्तिगत दृष्टि से नहीं, हमेशा सर्वगत दृष्टि से बहस किया करता था। अगर सड़कें और बाजार गन्दे हैं और अधिकांश देशवासी उन्हीं में निवास करते हैं, तो मैं क्यों सिविल लाइन्स के बंगलों में ज़ालिमों का पड़ोसी जा बनूँ, चाहे मेरे पास दौलत हो? यदि मैं समझता हूँ कि शिक्षा प्रणाली बुरी है, तो मैं क्यों किसी कालेज में प्रोफेसर बनकर अपने टुकड़ों की ख़ातिर छात्रों को धोखे में डालूँ?

लेकिन यह पुरानी बात थी। अब तो रूपलाल किसी से मिलता-जुलता भी न था। घर पर ही पड़ा-पड़ा समय बिता देता। अपने आप को चित्रकार कहने का उसे अब भी शौक था, किन्तु चित्र बनाना भी वर्षों से छोड़ रखा है। संसार ऐसे मनुष्यों को छोड़कर आगे चला जाता है।

अंधकारपूर्ण तंग गलियों के एक लम्बे चक्रव्यूह में से गुज़र कर वह रूपलाल के मकान पर पहुँचे। कमरे की खिड़कियाँ और किवाड़ सब बन्द थे। हवा में बैंजीन तथा अन्य दवाइयों की बू फैल रही थी। बिजली के बल्ब पर शेड के स्थान पर एक कार्बन पेपर चिपका हुआ था। किताबों, कपड़ों और असंख्य अनावश्यक वस्तुओं से कमरा घुट रहा था। आर्टिस्ट अपनी धर्मपत्नी के बार-बार मना करने के बावजूद अपने बिछौने की चादर झाड़ रहा था और बड़ी सावधानी के साथ अपने गिरे हुए बाल चुन रहा था।

'हैलो विश्वनाथ!' उसने डाक्टर को प्रवेश करते देखकर कहा।

'रूप!' डाक्टर ने छूटते ही कहा - 'यह तुम क्या कर रहे हो? हज़ार बार मैंने तुम्हें उठने-बैठने से मना किया है, तुम क्यों नहीं बाज़ आते?'

'देखो मिया', रूप ने अंग्रेजी में बोलना शुरू किया - 'गृहिणी को एक बात की आवश्यक समझ होनी चाहिए और वह यह कि मरीज का बिछौना सदा साफ़ सुथरा होना चाहिये। यदि उसको यह न सूझे तो और क्या चारा है? अब बिस्तरा साफ है, मैं लेट सकता हूँ, लो। अब ख़ुश हो।'

डाक्टर ने नब्ज़ पर हाथ रखा, बुख़ार ज़ोरों से जा रहा था। फेफड़ों में साँस भी वदस्तूर जलन सी पैदा कर रही थी। डाक्टर ने रूपलाल की धर्मपत्नी से मुख़ातिब होकर कहा - 'देखिये, अभी मैं एक शीशी भेजूँगा, कार्क खोलकर उसमें खौलता हुआ पानी डाल देना। रूप को कहना कि उसकी थुथनी के साथ मुँह लगाकर लम्बी-लम्बी सांस खींचता रहे। खाँसी आराम हो जायेगी, कोई फ़िक्र की बात नहीं। बाकी यह दवाइयां देते जाइये।'

'लेकिन डाक्टर साहब,' - धर्मपत्नी ने पल्ला मुंह पर सरकाते हुए कहा - 'मैंने इसलिये आपको तकलीफ नहीं दी। मुझे फ़िकर इनकी बातों से लगती है। तीन घंटे से लगातार बोल रहे हैं, और आराम नहीं करते। आप इन्हें समझाइये। मेरी नहीं मानते।'

'डाक्टर, यहां दो मिनट बैठो, यहां,' मरीज़ ने संजीदगी से अनुरोध किया, 'मैं जानता हूँ कि मुझे डबल निमोनिया है। मुझे यह भी पता है कि बुख़ार तेज़ है और मैं कुछ डिलीरियम में हूँ, लेकिन मैं बक नहीं रहा, इसका मुझे विश्वास है। यह स्त्री मेरी बात को नहीं समझती। सारी आयु इसने मेरी एक बात भी नहीं समझी। यह समझती है, मैं बहक रहा हूँ। इसीलिये मुझे ज़्यादह चिल्लाना पड़ता है। सारा दिन मैं इसी इन्तज़ार में

रहा हूँ कि जो कुछ मैं देख रहा हूँ, किसी को दिखा दूँ। क्योंकि,' वह फिर अंग्रेजी में हो गया, 'मुझे जीवन का अब विश्वास नहीं रहा। यह साफ़ बात है। मैं जानता हूँ, दिल ही दिल तुम भी सहमत हो।'

डाक्टर निर्णय न कर सका कि वह क्या कहें। हालत आगे से ख़राब नज़र आने लगी थी, और कुछ डिलीरियम भी था। लेकिन रूप को पहचानते हुए उसकी इच्छा का विरोध करना उसे उस हालत में और भी उद्विग्न करना था। इसलिये वह चुप रहा। रूप बोलता गया - 'तुम जानते हो, मेरे जीवन की ट्रेजडी क्या है? जब मैं स्वस्थ होता हूँ, तो मेरे शरीर में इतनी सामर्थ्य नहीं होती कि मैं किसी से बात भी करूँ। यही जी चाहता है कि आराम करूँ। पड़ा रहूँ। किसी का मुँह तक न देखूँ। मेरी ग़रीबी के कारण न कोई मुझे बुलाता है, न मैं किसी के यहां जाता हूँ। लेकिन जब मैंने शराब पी होती है, तो मेरे ख़ून का दौरा तेज होता है - वैज्ञानिक उसूल है - उस समय मेरा मस्तिष्क ज़ोरों से काम करता है, चित्र बनाता है, उस समय मैं वह मनुष्य होता हूँ, जो कि, यदि बाधाओं और झंझटों ने मेरी कमर न तोड़ दी होती, तो मैं होता। लेकिन चूंकि लोग मेरे विचारों को नहीं समझ पाते, इसलिये, जीवन से रही-सही ठोकरें मुझे इस समय मिलती है। मुझे लोग शराबी कहकर टाल देते हैं। जो कभी मेरी तरफ़ आँख उठाकर भी नहीं देखा करते, वह भी उस वक्त सिर हिलाकर इशारे करते हुए गुज़र जाते हैं - देखो, यह अमुक आदमी का लड़का है। पिता की सब जायदाद मूर्खता में उड़ा डाली है। अब दूकानों पर बैठा-बैठा बकता है।'

स्त्री ने रोते हुए पति के माथे पर हाथ रखा - 'ऐसी बातें क्यो सोचते हो, नरक में पड़े दुनियां। तुम अब आराम करो। डाक्टर साहब भी थके हुए होंगे। जब ठीक हो जाओगे तो बातें करते रहना।'

'देखो, इसकी तरफ़,' रूप ने पूरे ज़ोर से हँसते और खाँसते हुए कहा, 'जैसे मैं कहीं संसार की बेवकूफ़ी के विरुद्ध अपीलें कर रहा हूँ। यह नहीं समझती। इसने जीवन में मेरी एक बात नहीं समझी। सिर्फ पांच मिनट के वास्ते, डाक्टर, फिर तुम चले जाना। तुम मेरे एकमात्र मित्र हो। तुम्हारी राय की मैं कदर करता हूँ -

इस समय बुखार तेज़ है, पर इतना तेज नहीं कि बेसुध हो जाऊँ। उत्तेजना है, लेकिन - अहोभाग्य! - उसी मिकदार में, जिससे मेरे मस्तिष्क को पूरी सहायता मिले, बस। मैं इस समय वह प्रोमीथियस नहीं हूँ, जो पत्थर के साथ बंधा है, बल्कि वह जिसका रोम-रोम एक नई स्वतंत्रता, नई स्फूर्ति की अनुभूति पा रहा है। यह तुम ठीक जानों। मेरी बातें मेरी पत्नी को बहकी हुई बेशक नज़र आयें किन्तु तुम्हें जाँच होनी चाहिये।

'इसी प्रसंग में यह मार्मिक कहानी बन सकती है। जब स्वस्थ हो तब भी संसार न समझे और जब बीमार हो तब भी न समझे - ह-ह, लेकिन मैं कहानियाँ नहीं लिखता।'

डाक्टर चुपचाप सुन रहा था। यह विचित्र पहेलियाँ न वह बूझ सकता था, न बूझना ही चाहता था। उसके लिये यह स्पष्ट था कि टाक्सीमिया बढ़ रहा है और मरीज़ को आराम की बेहद ज़रूरत है। किन्तु इसका और क्या उपाय हो, सिवाय इसके कि रूप अपने मन का बोझा उतार दे? नहीं तो वह पट्टी भी कहाँ रखने देगा? शायद इस मानसिक विभ्रान्ति में रूप कोई विशेष बात कहने की चेष्टा कर रहा हो?

'हाँ, कहानियाँ नहीं लिखता और चित्र भी नहीं बनाता। तुम यही सोचते हो न? मैं तुमसे सहमत हूँ। मैंने अभी तक कोई काम का चित्र नहीं बनाया। इसीलिये संसार की दृष्टि में मुझे कलाकार नहीं कहा जा सकता। लेकिन तुम्हें याद है कि मैं क्लास में बैठा-बैठा दीवार पर तस्वीरें देखा करता था। कई बार तुम्हारी शंका मिटाने के लिये मैंने पैंसिल से कई चित्र पक्के करके तुम्हें दिखाये थे। मैंने अपनी आयु में हज़ारों मास्टरपीस कल्पित किये हैं - उन्हें देखा है, छाती से सटाकर रखा है, लेकिन चित्रित नही किये। क्यों करता? मेरे संसार को उनकी आवश्यकता न थी। मैं लोगों की कुन्द नज़रों द्वारा अपनी कला का अपमान बरदाश्त नहीं कर सकता था।

'या यूँ कह लो कि दुर्भाग्य से मुझे अपनी कल्पना से बाहर कोई भी वस्तु ऐसी सुन्दर नज़र नहीं आई, जिसका मैं चित्र बनाता। या बेशक यह समझ लो - और शायद यह हो भी ठीक- कि आलस्य का शिकार होकर मैंने ब्रश सम्हालने में भी प्रवीणता हासिल नहीं की।

'लेकिन ईश्वर की दृष्टि में मैं अवश्य पेन्टर हूँ। कैन्वस उठाकर साथ थोड़े ही ले जाई जा सकती है। मेरा तो विश्वास है कि जो दृश्य कल्पना देखती है, वह हू-बहू कैन्वस पर लाया ही नहीं जा सकता।

'बस, यह भूमिका थी। अब इधर आओ, यह देखो, मेरा अन्तिम चित्र।'

डाक्टर उठकर उसके सिरहाने के पास आ गया। रूप फ़र्श की ओर संकेत कर रहा था, किन्तु डाक्टर को वहां एक रूमाल के अतिरिक्त और कुछ नजर न आया। डाक्टर का संदेह अब विश्वास का रूप धारण करने लगा। स्त्री दीवार के साथ अशान्तमयी मुद्रा में खड़ी थी। डाक्टर ने उसे ठंडी पट्टी तैयार करने का इशारा किया और स्वयं खिन्न चित्त होकर खिड़की के पास आ खड़ा हुआ। डाक्टर होकर भी उसकी आँखें डबडबा आईं।

इस पर रूप ने ज़ोर से कहा - 'मूर्ख कहीं का। तुम्हारी दृष्टि हमेशा वस्तुओं पर ही रही, आगे नहीं गई। देखो भाई, इधर आओ, इसी रूमाल में देखो।' डाक्टर का हाथ खींच कर रूप ने फिर उसे अपने पास बिठा लिया, और अब धीमी आवाज़ में उसे बड़े प्यार से समझाने लगा।

उसकी उंगली के इशारे का अनुसरण करके डाक्टर ने देखा कि सचमुच रूमाल पर कार्बन पेपर से ढके हुए बल्ब का प्रकाश एक चित्र का रूप धारण कर रहा है। 'ऐसा दीखता है कि कम्बल ओढ़े हुए कोई मनुष्य ज़मीन पर बैठा है। उसके चेहरे की हड्डियाँ निकली हुई है और कनपट्टियाँ अन्दर धसी हुई है। ऐसा मालूम होता है कि कोई मज़दूर सारे दिन की - सारे जीवन की - मेहनत के बाद थककर आ बैठा है और अब आँखें मूंद कर प्यास और श्रद्धा भरे ओठों से एक श्वेत सुकोमल हाथ को चूम रहा है, जो शायद किसी अदृश्य युवती ने उसके कंधों पर डाल रखा है। एक मनुष्य और उसके कंधे पर एक हाथ। बस।'

डाक्टर कुछ क्षण स्तब्ध होकर देखता रहा, लेकिन कुछ कह न सका। एक लम्बी साँस खींच कर उठ खड़ा हुआ। रूप स्नेहपूर्ण नेत्रों से रूमाल की ओर देखता हुआ कह रहा था - 'कितना साफ़, कितना कोमल, प्यारा हाथ? डाक्टर, शायद हर एक मनुष्य को

जीवन में कभी न कभी एक ऐसा हाथ पकड़ने का अवसर मिलता है। लेकिन कई उसे पकड़कर फिर छोड़ते नहीं, उस हाथ की ख़ातिर संसार में उन्हें क्या नहीं सहना पड़ता - ठोकरें, पामालियां, मुसीबतें। मगर वह अपने अरमानों को दबा कर सब कुछ सहते हैं, इस आशा में कि शायद वह हाथ .....'

डाक्टर ने देखा कि उसकी आंखें डबडबा गई हैं। वह अपने मित्र के सिरहाने आ बैठा और उसके माथे पर हाथ रख कर पुचकारने लगा - 'पागल मत बनो रूप, मैं यह ज़िम्मा लेता हूँ कि तुम ठीक हो जाओगे, और यह चित्र पूरा करोगे। सचमुच यह एक अपूर्व चित्र होगा, धीरज रक्खो।'

यह कहते हुए उन्होंने आर्टिस्ट की पत्नी को दूध लाने के लिये कहा और तिपाई पर पड़ी हुई दवाइयों को ठीक करते हुए कई सांत्वना-प्रद वाक्य कहे। मरीज़ अब सम्हल गया था। उसे तसल्ली थी कि उसकी बातों पर डाक्टर को अविश्वास नहीं हुआ।

उसने डाक्टर से अंतिम प्रार्थना की, वह उसकी पत्नी को हिदायत कर दे कि इस रूमाल को किसी हालत में भी यहाँ से न हटाया जाय।

स्त्री दूध लाई और आर्टिस्ट ने चुपचाप पी लिया। डाक्टर साहब ने एक नुस्खा लिखा और साथ ही स्त्री को रूमाल न हटाने का निर्देश किया। इसके बाद वह छड़ी उठा कर चल दिये। थड़े पर आर्टिस्ट का लड़का अन्य बच्चों के साथ खेल रहा था। डाक्टर साहब को उतरते देख कर वह फ़र्माबरदार ऊपर बैग उठाने चला गया।

गलियों के चक्रव्यूह में से वापस निकलते वक्त डाक्टर साहब असमंजस में थे कि रूमाल वहीं पड़ा रहने देने में उन्होंने ग़लती तो नहीं की थी? शायद उसे लगातार देखने से मरीज़ और भी उत्तेजित होता रहे और अपनी रही-सही शक्ति भी ख़र्च कर डाले। लेकिन उठा देने से भी तो वह झुंझला उठता। इसी तरह वह कुछ देर सायंकाल की घटनाओं पर विचार करते रहे। अपनी सारी आयु में उन्होंने एक रूमाल पर इतनी गहरी सोच नहीं की थी। पीड़ित होकर भी वह एक बार मुस्करा दिये।

•

बलराज साहनी

ढपोर शंख

बाल कहानी

परिचय शब्द

बलराज जी को बच्चों से बहुत प्यार था। वे अपने बच्चों, अपने परिवार और अपने मित्रों के बच्चों के साथ मित्रों की तरह ही खेलते और उन्हें मज़ेदार कहानियाँ भी अक्सर सुनाया करते थे।

एक पुरानी लोक कथा है जो बलराज साहनी ने बचपन में अपनी मां से सुनी थी। बलराज जी की मां लेखिका तो नहीं थी, लेकिन वे अपने बेटों-बेटियों को खूब मज़ेदार कहानियां सुनाया करती थीं। जब बेटों-बेटियों के ब्याह हो गए तो पोते-पोतियों और दोहते-दोहतियों को भी वही कहानियां सुनाने लगीं। उनका कहानी सुनाने का ढंग इतना बढ़िया था कि सभी बच्चे उन्हें एक-एक कहानी बार-बार सुनाने को कहते।

माता जी की एक कहानी को बलराज जी ने लिखा और उसे एक पंजाबी बाल-पत्रिका में छपवाया। उसी कहानी का हिन्दी में अनुवाद करके बाल पाठकों को भेंट करती हूँ।

-संतोष साहनी

ढपोर शंख

एक भिखारी था। उसका नाम था शामू। वह रेलवे के एक पुल के नीचे बैठकर भीख मांगा करता था। रेलगाड़ियों से उतरकर मुसाफ़िरों को बाज़ार में जाने के लिए इस पुल से गुज़रना होता था। शामू पुल की किसी एक सीढ़ी पर बैठकर लम्बी-लम्बी पुकारें लगाता, 'ए ..... बाबू साहबSS। गरीब, मोहताज के बच्चे भूखे हैं। एक रोटी का सवाल है। पांच पैसा, दस पैसा मेरे दाताSS! दे मेरे दाता, भगवान तेरा भला करेगा।'

बम्बई बहुत बड़ा शहर है, इसीलिए शहर में यहां से वहां जाने के लिए रेलगाड़ी चलती है। यह रेलगाड़ी दूर से ऐसी दिखाई देती है जैसे मटर के दानों में कोई लाल रंग का कीड़ा रेंग रहा हो। शहर के बहुत सारे स्टेशनों में से एक स्टेशन का नाम है, सांताक्रूज़। इसी स्टेशन के पुल पर शामू भिखारी बैठा करता था।

एक दिन भागती-रुकती रेलगाड़ियों में बहुत ही भीड़ थी। रेलगाड़ियां स्टेशन पर रुकतीं। मरदों, औरतों, बच्चों की भीड़ रेल के डिब्बों में से तेज़ी से नीचे प्लेटफ़ार्म पर उतरती और पुल चढ़कर सड़क पर चली जाती।

भागते हुए लोगों से भिखारी भला क्या भीख मांगता! कभी-कभी तो उसे ऐसा लगता जैसे भागता हुआ कोई आदमी उसके सिर पर ही आ गिरेगा।

कुछ देर तो उसने धीरज रखा, लेकिन जब लगातार भीड़ इसी तेजी से आती-जाती रही तो वह पुल से उतरकर सड़क पर आया और बस के अड्डे पर जा खड़ा हुआ। एक बस चलती तो दूसरी उसकी जगह पर आ खड़ी होती। चींटियों की तरह लोगों की लाइन आगे सरकती रहती।

सवारियों के बस में बैठते ही वह उसकी खिड़की के आगे हाथ पसारकर पुकारता, 'ए बाबू जी, गरीब-मोहताज पर दया करो! सिर्फ पांच पैसे, दस पैसे का सवाल है....'

लेकिन उसकी तरफ़ कोई ध्यान न देता। 'जा बाबा जा, माफ़ कर, माफ़ कर,' कहते हुए हर कोई उससे मुंह फेर लेता।

सड़क के दूसरे फुटपाथ पर एक 'चना जोर गरम' वाला बैठा करता था। शामू की उससे पहचान थी। शामू ने उससे पूछा, 'क्यों भैया चनेवाले, आज यह भीड़-भड़क्का किसलिए?'

'वही जो हर छुट्टीवाले दिन होता है, प्यारे। जुहू, चौपाटी पर लोग सैर-तमाशा करने और नहाने जा रहे हैं।'

'जुहू-चौपाटी क्या रे?'

'अरे घनचक्कर! जुहू-चौपाटी नहीं देखी कभी? कभी गए नहीं वहां हवाखोरी के लिए?'

'नहीं भाई, हम गरीबों को फुरसत कहां सैर की? हां, नाम सुना है। कहते हैं वहां समुन्दर का पानी है नीला-नीला, रेत है और नारियल के पेड़ हैं, और तो कुछ नहीं।'

'हां हां! लेकिन लोग-बाग फिर भी जाते हैं, देखा नहीं तुमने?'

'पर आज इतवार तो नहीं है।'

'अरे इतवार नहीं, पर शिवरात्रि तो है। शिवरात्रि को वहां बहुत बड़ा मेला लगता है। बम्बई के लोग, उस दिन समुन्दर में स्नान करते हैं।'

'फिर तो शिवरात्रि के दिन उन्हें पुन्नदान भी करना चाहिए।'

'अरे उल्लू की दुम! उन लोगों का स्नान करने का टाइम निकला जा रहा है, और तुझे पुन्नदान करने की पड़ी है। लोग तुझ पर बिगड़ेंगे नहीं तो क्या करेंगे! अगर इनसे दान लेना है तो जुहू चला जा। तेरे मज़े हो जाएंगे। स्नान के बाद यह लोग जरुर कुछ न कुछ दान करेंगे ही।'

'पर जाऊं कैसे? बस पर सवार होने के लिए मेरे पास एक पैसा भी नहीं।'

'अरे अगर पैसा होता भी तो इन चीथड़ों में तुझे बस पर बिठाएगा कौन?'

'अरे पैदल चला जा। मर तो नहीं जाएगा, दो-तीन मील चलकर। देखता नहीं, लोग पैदल भी जा रहे हैं।'

'अच्छा भाई' मैं तो मूरख ठहरा। जैसा तू कहेगा वैसा ही करूंगा।' और शामू चल पड़ा, जुहू-चौपाटी की तरफ। मराठी औरतें अपनी रंग-बिरंगी लांगड़वाली धोतियां पहने, पैरों में चप्पल और जूड़ों पर फूलों की वेणियां लगाए सुन्दर दीखती थीं। मरद लोग, पूजा के लिए, टोकरियों में नारियल, केले और निम्बू डाले चले जा रहे थे।

शामू भिखारी इन्हीं के पीछे-पीछे चलने लगा। 'चना जोर गरम' वाले ने उसे ज़ोर से पुकारा :

'अरे घनचक्कर, ले थोड़े से चने ले जा। भूख लगेगी तो खा लेना।'

'जीते रहो भैया, भिखमंगे की बोहनी करा दी।'

'हत, तेरा सतियानास! भिखमंगों को चने खिलाना भी कोई बोहनी होती है!'

'फिकर मत करो। अगर तुम्हारी बात सच्ची निकली और मैंने मेले में ढेर सारे पैसे बना लिए तो तुझे इसके बदले में लड्डू-पेड़े खिलाऊंगा।'

'अरे जा! जा! तुम अपना आप संभाल। तू मुझे क्या खिलाएगा?'

शामू फिर चल पड़ा, भीड़ के पीछे-पीछे। चौड़ी सड़क पर पहुंचने तक धूप तेज़ हो गई थी। छाया का कहीं नाम निशान न था। गरम मसालेदार चने चबाते-चबाते उसकी जीभ जलने लगी थी। मगर राह में कहीं कोई पानी का नल नहीं था!

वहां नारियलवाला ग्राहकों को नारियल पिला रहा था। लोग-बाग गटागट मीठा-मीठा नारियल-पानी पी रहे थे। लेकिन एक-एक नारियल आठ-आठ आने का बिक रहा था! और एक फूटी कौड़ी भी तो नहीं थी शामू के पास!

शामू रेत पर चलने लगा। कुछ ही कदम आगे एक फेरीवाला बरफ़ के गोले और रंग-बिरंगे शरबत बेच रहा था।

हिम्मत करके शामू ने शरबतवाले से कहा, 'साहब शिवरात्रि का मेला है। गरीब को एक गिलास शरबत का पिला दो। पुन्न होगा।'

'वाह-वाह! इसे शरबत पिलाने में पुण्य होगा! अरे तू कोई ब्राह्मण है?'

'मैं तो तुम्हारे चरणों का दास हूँ, भाई। शरबत न सही दो घूंट पानी ही पिला दो। प्यास के मारे गला सूख रहा है।'

'अरे वाह! अगर हम ऐरे-ग़ैरे को पानी पिलाना शुरु कर दें तो शरबत किस चीज से बनाएं, तेरे सिर से? और शरबत वाले के आस-पास खड़े लोग हँस पड़े। कितनी दूर से यह सामान ढोकर लाते हैं, पता है!'

समुद्र की लहरों के पास की रेत गीली और ठंडी थी।

सूखी रेत पर लाग कपड़े उतारकर, नहाने के कपड़े पहन, समुन्दर की लहरों की तरफ़ बढ़ते, नहाने के लिए। और जो भी कोई नहाकर पानी से बाहर निकलता, शामू फकीर उसके आगे हाथ बड़ा देता।

'ए दाता, शिवरात्रि का बड़ा दिन है, गरीब भूखे को भोजन करा दे बाबा!'

लेकिन हर बार उसको जवाब मिलता, 'जा बाबा, जा! माफ़ कर, माफ़ कर!'

एक जगह एक मदारी सांप और नेवले की लड़ाई करवा रहा था।

सांप नेवले की लड़ाई
शुरू होती है मेरे भाई
कोई टिकट नहीं लगाई
सिर्फ़ चादर है बिछाई
फेंको इस पर खेल-खिलाई

और लोग खनाखन पैसे मदारी की तरफ़ फेंकने लगते। शामू ने सोचा, 'यहां खड़े लोग ज़्यादा दयावान हैं।' 'ए बाबू साहब, शिवरात्रि का बड़ा दिन है, गरीब-मोहताज को पांच पैसा, दस पैसा। ए बाबू, ए मेमसाहब, तेरे बच्चों की खैर....!'

एक पारसी कड़ककर बोला- 'जुहु मां केटलो भंभर भड़ास छे। जाओ नी बाबा! दूसरा रास्ता मा जाओ नी!'

मगर आज न मालूम कैसा दिन था। सब जगह से डांट-फटकार के सिवाय कुछ न मिलता।

चलता-चलता वह भीड़-भाड़ से बहुत दूर निकल गया, किनारे पर बने एक बड़े बंगले की दीवार की छाया में लेट गया। अपनी पगड़ी उतारकर उसने सिर के नीचे तकिया बनाकर रख ली और पगड़ी के एक छोर में मुंह छुपाकर बहुत रोया। रो-रोकर जब उसका जी कुछ हल्का हुआ तो उसे नींद आ गई।

न जाने वह कितनी देर सोता रहा होगा! धूप ढलती गई। शाम की हवा में ठंडक आ गई। शामू ने आंखें खोलीं। समुद्र की लहरों का नज़ारा देखता रहा।

धीरे धीरे सूरज, दूर क्षितिज के गहरे पानी में तैरकर, घड़े की तरह डूब गया! शामू ने सोचा, अब उठना चाहिए। लेकिन उसके मन में आया कि वह उठकर करेगा तो क्या

करेगा! उसे अपने बीवी बच्चों की भूख-प्यास का ध्यान आया। कितनी उम्मीदें लेकर आया था वह यहां। लेकिन एक पैसे की भी कमाई नहीं हुई। अब वापस किस तरह से लौटेगा, और घर जाकर बच्चों, बीवी को क्या मुंह दिखाएगा? वह उदास होकर यह सब सोच ही रहा था कि उसे एक अजीब नज़ारा दिखाई दिया। समुद्र में से एक विचित्र-सी मूर्ति उठ कर उसकी तरफ चली आ रही थी। सफेद रेशमी साड़ी पहने, सुनहरी बालोवाली, एक बहुत ही सुन्दर लड़की। उसके सुनहरी बालों के चारों तरफ़ किरणें-सी चमक रही थीं, जैसे सूरज फिर से उदय होने वाला हो। हल्का मीठा संगीत हवा में बजने लगा। चलती हुई परी भिखारी के ऐन सामने आ खड़ी हुई। पूछा-'फकीर बाबा, तुम्हें क्या चाहिए?'

'क्या, बताऊं, बेटी, मेरी जो हालत है, सो तो तू देख ही रही है।'

परी ने अपनी साड़ी के पल्लू में से हीरे-पन्ने मोतियों से जड़ा बटुआ निकाला और उसमें से एक शंक निकाल कर शामू की हथेली पर रख दिया और कहा - 'फकीर बाबा, तुम कोई मंत्र पढ़ सकते हो?'

'मंतर! सचमुच का तो कोई नहीं आता बेटी। हां, बचपने में गांव की गलियों में खेलते-खेलते जो ऊटपटांग मंतर बोला करते थे वह आता है। वह तो हम लड़कों ने खुद ही बनाया था।'

'याद है तुम्हें वह मंतर?'

'हां ! अच्छी तरह याद है।'

'मुझे सुनाओ।'

इन्द्रो मिंद्रो

भली मलिंद्रो

बली राजा की रानी
गधी ने दुलत्ती झाड़ी
गधे ने मारी लात

पैसा रखो मेरे हाथ।

मंतर पढ़ने की देर थी कि शंख से टन-टन बोलते दो चांदी के रुपये शामू की हथेली पर आकर गिर पड़े।

शामू हक्का-बक्का रह गया। लेकिन जब उसने आंख उठाकर देखा तो परी जाने कहां गुम हो गई थी और चांदी के दो रुपये शामू की हथेली पर पड़े थे।

हैरानी और घबराहट के मारे उसका दिल ढोल की तरह बज रहा था। उसे यकीन नहीं आ रहा था कि उसने जो देखा वह सच था या झूठ! कहीं उसने सपना तो नहीं देखा! लेकिन सपना कैसे हो सकता था, जब रुपये उसकी पगड़ी के पल्लू से बंधे थे! झिझकते हुए उसने फिर मंतर पढ़ा -

'टन! टन!' फिर दो रुपये शंख में से निकलकर उसकी हथेली पर आ पड़े। अब तो भिखारी की खुशी का कोई पारावार नहीं था। उसने शंख को संभालकर अपने झोले में डाल लिया। तेज़ कदमों से वह सांताक्रूज़ की तरफ लौट चला। उसकी टांगों में नई ताकत आ गई थी।

सड़क पर बस खड़ी थी। सवारियां भी बहुत नहीं थीं। 'क्यों न बस पर सवार हो जाऊं। पैसे हैं मेरे पास। अब मुझे कौन रोक सकता है?'

'नहीं, बस में नहीं बैठूंगा। न जाने बस कण्डक्टर क्या सोचने लगे रुपये देखकर! मुझे कहीं चोर ही न समझ ले!' और वह फिर पैदल ही चल पड़ा।

सांताक्रूज़ के चौराहे पर एक हलवाई की बड़ी-सी दुकान थी। दुकान से कुछ दूर ही खड़े होकर, एक हाथ से रुपया दिखाते हुए और दूसरे हाथ से अपना अल्मीनियम का कटोरा आगे बढ़ाते हुए उसने दुकानदार से विनती की, 'सेठ साहब, आप एक पाव जलेबी और आधा सेर दूध बरतन में डाल दीजिए। आज शिवरात्रि है। बच्चों के लिए कुछ लेता जाऊं।'

हलवाई को उसने सेठ साहब कहकर जो बुलाया तो वह नरम पड़ गया। अपनी 'हथेली आगे बढ़ाकर उसने रुपया लिया और लगा रुपये को परखने। कहने लगा, 'यह चमकता चांदी का रुपया तुम्हें कहा से मिला?'

'एक गोरी चिटटी मेमसाहब ने दिया है सेठजी। एक नहीं, बल्कि दो रुपये दिए हैं। सचमुच कोई देवी थी।

'अच्छा, यह ले आधा सेर दूध और आध पाव जलेबी। और भी चाहिए कुछ?'

'सेठजी, दो रुपये में जितना सौदा आवे, आप ही सोचकर दे दीजिए। कुछ पूरी-कचौरी, कुछ बरफ़ी, कुछ कलाकंद, कुछ बालूशाही, कुछ दालमोठ, हां और थोड़ी-सी रस मलाई।'

'वाह, भाई वाह! कलजुग है कलजुग! भिखारी भी अब रसमलाई खाने लगे!

एक ग़ली की नुक्कड़ पर बैठकर उसने स्वाद ले-लेकर दूध-जलेबियां खाईं। अब उसे परी के दिए हुए रुपयों पर विश्वास हो गया। और उसने अपने मन में पक्का इरादा कर लिया कि अपनी बीवी रानो के सिवाय रुपयों के भेद की बात और किसी को नहीं बताएगा। दुनिया में दुश्मन ज़्यादा हैं, दोस्त कम! दुनिया तो पैसे और पैसेवाले की दोस्त है।

उसने पगड़ी का पल्लू खोलकर बाकी बचे दो रुपये भी निकाले और फलों की दुकान से अंगूर, संतरे, केले खरीदे। और शामू 'चना जोर गरम' वाले के पास पहुंचा, शामू के सिर पर बड़ी-सी टोकरी देखकर पहले तो वह हैरान हो गया, फिर जोर से हंस पड़ा, 'अरे घनचक्कर! यह सिर पर क्या उठा रखा है?'

बिना कुछ कहे शामू ने रसमलाई का दौना उसके सामने रख दिया।

'वाह! तू तो अपनी बात का बड़ा पक्का निकला! क्यों, क्या कहा था मैंने! हो गए न पौ बारह!'

'भैया, सच कहते हैं कि भगवान जब देता है, छप्पर फाड़कर देता है। तुमने बड़ा अहसान किया जो मेले में भेज दिया। ऐसे दिलवाले लोग तो मैंने अपनी ज़िन्दगी में नहीं देखे। जिस किसी के आगे कटोरा बढ़ाया, झोला फैलाया, उसी ने कुछ-न-कुछ डाल दिया। किसी ने इंकार नहीं किया। पांच पैसे, दस पैसे, पचास पैसे .... हर कोई देता ही चला गया। इतना चिल्लर हो गया मेरे पास कि संभालना मुश्किल हो गया था। फिर मैंने

सोचा, खाली पैसे ले जाकर क्या करूंगा। आज बच्चों को भी शिवरात्रि मना लेने दो। सो खाने-पीने की चीजों पर ही सब खर्च कर दिया। कल जो होगा, सो देखा जाएगा। तुम रसमलाई तो खाओ भाई। यह तो खास तुम्हारे लिए लाया हूँ।'

'नहीं, नहीं घनचक्कर! यह भी मेरे भतीजे को खिला देना। कहना चना जोर गरमवाले चाचा ने दी है।'

शामू भिखारी उसकी तरफ़ ही रह गया। उसकी आंखे गीली हो गई थीं।

शामू की झोपड़ी एक गन्दी सड़क के किनारे पर थी। कभी-कभी वह शामू के बारे में चिन्ता करने लगती। बीवी ने शामू को बड़ी-सी टोकरी सिर पर उठाए आते देखा। क्या आज वह कहीं बोझा ढोने के काम पर लगा था?

अभी वह यह सोच ही रही थीं कि शामू ने टोकरी उसके सामने ला रखी। टोकरी में से पूरी-कचौरी की खुशबू आने लगी उसे।

शामू भी खुशी से गदगद हो रहा था। एक ही सांस में उसने रानो को परी की कहानी सुनानी शुरु की। 'बताओ क्या कहती हो?'

'मुझे क्या पता? 'अगर जो तुमने मुझे बताया वह सच है तो बैठ जाओ झोपड़ी की तरफ मुंह करके। मांगते जाओ शंख से। जितने रुपये मिल जाए उतना ही अच्छा है। जरा दिखाओ तो।'

शामू ने शंख उसके सामने रखते हुए कहा, 'पर भलीमानस, कहीं हम भी वही गलती न कर बैठें जो मूरख जाट ने सोने के अंडे देने वाली मुरग़ी का पेट काटकर की थी। जल्दी में कुछ नहीं करना चाहिए।'

'पहले दिखाओ तो सही'।

'लो देखो।'

इन्दो मिन्द्रो

भली मलिन्द्रो

बली राजे की रानी

गधी ने दुलत्ती झाड़ी

गधे ने मारी लात

पैसा रखो मेरे हाथ।

टन! टन! दो रुपये शंख में से ऐसे निकल आए जैसे सीप में से मोती निकलता है। रानी भौंचक्की-सी रह गई। फिर हंस-हंस के दोहरी होने लगी।

'एक बार फिर मंतर पढ़ो, एक बार फिर।'

शामू ने फिर मंतर पढ़ा।

फिर दो रुपये निकल आए।

'फिर कहो, एक बार और। सिर्फ एक बार!'

इस तरह रात ही रात में उन्होंने बहुत-सा रुपया जमा कर लिया। और अगले दिन सुबह-सवेरे उन्होंने रहने के लिए किराए का घर ढूंढ लिया। बच्चों के लिए कपड़ा-लत्ता भी ख़रीद लिया। उन्हें स्कूल में भी दाखिल करवा दिया। कुछ ही दिनों में लोग शामू भिखारी को मिस्टर शामूदास और रानो को श्रीमती रानी देवी के नाम से पुकारने लगे।

और शंख बराबर पैसे देता जा रहा था।

एक दिन उनके गांव का एक बनिया सौदा ख़रीदने बम्बई आया हुआ था। और सूट बूट पहने उसने शामू को देख लिया।

बनिये ने गांव लौटकर शामू के बारे में सबको लम्बी-चौड़ी कथा सुनाई।

शामू का बड़ा भाई स्वभाव का बहुत निर्मोही आदमी था। छोटे भाई के अमीर बन जाने की खबर सुनकर उसे खुशी के बदले ईर्ष्या हुई। मियां-बीवी दोनों, बैठकर बार-बार सोचते हैं, यहां तो एक कौड़ी का न था, वहां जाकर लाखों का कैसा बन गया? पता नहीं बम्बई में पानी में क्या जादू है चीटियों को भी पर लग जाते हैं।'

'तुम यहां बैठे क्या मक्खियां मार रहे हो! तुम्हारा भाई इतना बड़ा आदमी बन गया है, क्या तुम्हारा फर्ज नहीं कि तुम वहां जाकर उसे बधाई और शाबाशी दो। छोटे भाई तो बेटों की तरह हैं। क्या हमने उसे पाला-पोसा नहीं? उससे जाकर मिलोगे तो वह तुम्हें भी अच्छी राह पर डालेगा।'

और इस तरह बीवी के बहुत जोर डालने पर मनसा बम्बई रवाना हो गया।

एक दिन अचानक बांदरा स्टेशन पर दोनों भाई एक दूसरे के सामने आ गए। एक दूसरे के गले लगने लगे। परदेस में अपने बड़े भाई से मिलकर शामू को जैसे कोई खज़ाना मिल गया।

शामू बड़े चाव से मनसा को टैक्सी में बिठाकर घर ले गया।

'यह घर तुम्हारा अपना है?' पूछते हुए मनसा का गला घबराहट से सूख रहा था।

'नहीं, भैया! इसमें मेरे तो सिर्फ़ दो ही कमरे हैं। वह भी किराये के।'

'और बाकी सब किसके हैं?'

'अरे भैया, यह बिल्डिंग तो तकरीबन तीन सौ आदमियों की है। सहजे-सहजे बताऊंगा सारी बात।'

'तुम दो कमरों का कितना किराया देते हो?'

'यही, महीने का पांच सौ।' शामू ने लापरवाही से कहा।

लेकिन मनसा की तो जैसे ख़ून की हरकत ही रुक गई, 'पांच सौ! झूठ बोलते हो। पांच सौ की तो गाय बिकती है।'

'तो भैया इसे भी गाय ही समझ लो, शहरी गाय।'

'पांच सौ मकान का किराया देते हो! और उतना ही खाने-पीने पर भी ख़र्च होता होगा!'

'हां भैया, इतना तो हो ही जाता है, बच्चों की स्कूल की फ़ीसों के अलावा।'

'और फ़ीसों के लिए कितना देना पड़ता है?'

'बस,यही सौ रुपया और।'

'सौ रुपये! गांव में तो कोई स्कूल की फ़ीस नहीं देनी पड़ती। फिर भी बच्चों को ज़बरदस्ती स्कूल ले जाना पड़ता है, टांगों से घसीट कर। तेरे तो फिर बहुत ही मुश्किल से जाते होंगे।'

'नहीं भाई, मेरे तो ख़ुशी से जाते हैं। विद्या न हो तो आदमी जानवर के बराबर है।'

'यह तो ठीक है। यह तो ठीक है।'

रात को मनसा और शामू कमरे में लेटे हुए थे। अच्छा मौका देखकर मनसा ने बड़ी चतुराई से अपने झूठ-मूठ के दुखड़े सुनाने शुरू किए। पहले तो शामू मन कड़ा करके सुनता रहा, लेकिन धीरे-धीरे उसका मन पसीजने लगा।

'भैया, मैं इंकार कहां कर रहा हूँ? जितने रुपये तुम्हें चाहिए बोलो, हाज़िर कर देता हूं।'

'वह तो ठीक है। लेकिन मैं तुम्हारा बड़ा भाई हूं। अगर तुम्हारे दिल में सच्ची हमदर्दी है तो एक हफ़्ते के लिए यह शंख मुझे दे दो। मैं तो अपने पुराने कर्जे उतारकर और दो-चार एकड़ जमीन खरीदकर शंख तुम्हें वापस कर दूंगा।'

'नहीं भैया, यह नहीं हो सकता। अगर कहीं तुमसे शंख गुम हो गया या तुमने न लौटाया तो.....'

'तुमने मुझे इतना नीच समझ रखा है!' 'तुम्हें बड़े भाई का इतना भी विश्वास नहीं! बिना सोचे-समझे बकवास करने लगते हो। मैं तेरे पिता समान हूं। तुम्हारा भला सोचने के बदले में तुम्हारी बुराई सोचूंगा? मैं एक पल भी तुम्हारे घर नहीं रह सकता, मैं अभी यहां से जा रहा हूँ।'

और भाई पलंग से उठकर पगड़ी बांधने लगा।

शामू ने झट से उसके पैर पकड़ लिए।

'ना, ना भाई। ऐसा न करो। मुझे माफ कर दो।' और शामू ने मनसा को शंख देने की हां कर दी।

रात को जब सभी खाने के लिए बैठे तो सिर झुकाकर शामू ने अपनी पत्नी से कहा, 'अजी मैंने कहा, भाई साहब के लिए शंख तो निकल के ले आना जरा! गांव ले जा रहे हैं। सात-आठ दिनों में वापस ले आएंगे।'

रानो के तन-बदन में आग लग गई। लेकिन जेठ के सामने मुंह कैसे खोलती।

अगले दिन मनसा शामू के गुण गाता हुआ, उसे आशीर्वाद देता हुए शंख को गांव ले गया।

और जब जिस बात का डर था वही हुआ। मनसा भैया को नहीं आना था, सो नहीं आए। शामू ने बहुतेरी चिट्ठियां भेजीं, पर एक ख़त का जवाब तक नहीं दिया मनसा भैया ने। आख़िर खामू शंख लेने गांव गया। लेकिन बहुतेरी मिन्नत, ख़ुशामदे, हाथ जोड़ने पर भी कोरा जवाब लेकर शहर वापस लौट आया।

शामू की हालत दिन-पर-दिन बिगड़ने लगी। बच्चों का स्कूल जाना बन्द हुआ। दोस्तों ने आंखे फेर लीं। मेहनत-मजूरी के लायक भी अब वह नहीं रहा था। फिर वही मांगने का धंधा शुरु हुआ। शामू फिर से भिखारी बन गया।

एक दिन वह सान्ताक्रूज बस के अडडे पर खड़ा हुआ था। 'चना जोर गरमवाला' शामू को देखते ही पुकारा। क्यों बे घनचक्कर, कहां मर गया था? इतने दिनों से नजर ही नहीं आया!'

'क्या बताऊं भाई! दिनों का चक्कर है।'

'क्यों क्या हुआ?'

बहुत देर के बाद शामू को कोई दुःख बांटने वाला मिला था। चने वाले के सामने फूट-फूट कर रो पड़ा और उसे अपनी सारी राम कहानी सुना दी।

चनेवाला अजीब ढंग से उसकी तरफ देखे जा रहा था। उसको यकीन हो गया कि शामू अपना होश गवां बैठा है, बिल्कुल पागल हो गया है। ग़रीब आदमी का दुःख और चिन्ता से पागल हो जाना कोई अजीब बात तो नहीं थी। फिर किसी भी तरह से दिलासा देने के बहाने वह शामू से बोला - 'तो फिर यहां खड़ा होकर क्या कर रहा है? जल्दी जा, न जाने परी कब से तेरे इन्तज़ार में खड़ी होगी।'

शामू, समुद्र के किनारे चलते-चलते ठीक पहलेवाली जगह पर पहुंचकर मुंह-सिर ढांपकर रेत पर लेट गया। उसने ठीक पहले की तरह सोने की कोशिश की पर उसे नींद नहीं आई। मन जो बेचैन था!

धीरे-धीरे समुद्र में से परी का आकार उठकर उसकी तरफ बढ़ने लगा। उसने सोचा, 'परी जब पूछेगी कि पहले शंख का क्या किया तो मैं क्या जवाब दूंगा?' शर्म से उसने सिर झुका लिया और रेत की तरफ देखने लगा।

परी उसके पास आकर खड़ी हो गई और मधुर स्वर में उससे कहने लगी-

'मैं सब जानती हूं फ़कीर बाबा। मुझे तुम्हारे साथ हमदर्दी है पर ....'

'अब तो तुम्हें देने के लिए मेरे पास कुछ भी नहीं।'

नहीं परी रानी! मुझे तो कुछ भी नहीं चाहिए', 'तुमने तो मुझ पर एहसान किए हैं वह मैं कभी भूल नहीं सकूंगा। बस सिर्फ तुम्हारे दर्शन के लिए यहां आया था। अगर तुम न आतीं तो मैं समझता तुम मुझसे नाराज हो गई हो।'

'नहीं, नहीं! नाराज काहे को हूंगी भला मैं? हां, सच एक और शंख भी है मेरे पास। लेकिन उसके करतब उल्टे हैं। तू ले ले इसे। शायद तेरे किसी काम आए।'

शामू ने सिर झुकाकर दोनों हाथों से शंख स्वीकार कर लिया।

शामू की खुशी का ठिकाना न था। उसने मंतर पढ़ना शुरु किया -

इन्द्रो मिन्द्रो
भली मलिन्द्रो
बली राजा का रानी

गधी ने दुलत्ती झाड़ी
गधे ने मारी लात
पैसा रखो मेरे हाथ।

लेकिन शंख में से कुछ न निकला। शामू ने नम्रता से विनती की, 'शंख जी मुझे दो रुपये चाहिए।' जवाब में शंख ऐसे बोला जैसे कोई पुतली बोल रही हो -

दो रुपया काहे
हम तो पांच रुपया देगा
तुमको दस रुपया देगा
तुमको बीस रुपया देगा
तुमको सौ रुपया देगा
तुमको पांच सौ रुपया देगा
तुमको हज़ार रुपया देगा
दस हज़ार रुपया देगा
एक लाख रुपया देगा
दुमा दुमा! तुपा तुपा!
दुमा दुमा! तुपा तुपा!

अब शामू के मन में कुछ शक पैदा होने लगा, उसने कहा, 'अरे भाई शंख! तू दुमा दुमा, तुपा तुपा कहना छोड़। मुझे कुछ पैसे चाहिए। जरा जल्दी निकालो।'

तब शंख भी गुस्से में बोला, 'अरे भिखारी के बेटे, तुझे किसने कहा कि हम पैसे देते हैं। हमारा नाम तो ढपोर शंख है ढपोर शंख! हम तो सिर्फ बोलना जानते हैं, देते-वेते हम कुछ नहीं।'

शामू का मन निराशा से भर गया। वह परी से भी बहुत निराश हुआ। 'कहां तो इतनी दया और कहां गरीब के साथ इतना भद्दा मजाक!'

दुखी मन से वह कितनी देर तक बुत बना बैठा रहा। अचानक उसके मन में एक अनोखा विचार आया।

उधर गांव में शामू का भैया असली शंख की कृपा से अब तक गांव का बड़ा चौधरी बन चुका था।

दरवाज़े पर हाथी सूंड हिलाता था। हवेली के साथ बाग-बगीचा, नौकर-चाकर अलग। रोज़ दावतें और महफ़िलें होतीं। लोग हैरान थे कि मनसा को इतना खजाना कहां से मिल गया?

एक दिन हाथी पर बैठा मनसा नहर की तरफ़ जा रहा था। जैसे हाथी की चाल में मस्ती थी वैसे ही मनसा के दिमाग़ पर भी मस्ती छाई हुई थी, एक तो दौलत के नशे की और दूसरे, कल रात उसने पी थी शराब। जब भी जेब में पड़े रुपये ख़त्म होने को आते वह पूजा घर में बैठता। अपने टाइलोंवाले फर्श के नीचे उसने एक तहखाना बनवा

लिया था। कितनी-कितनी देर वह पूजा का कमरा बन्द करके बैठा रहता। लोग समझते कि भगवान से अपने गुनाहों के लिए माफी मांग रहा है। लेकिन कमरे के अन्दर तो सिर्फ़ एक ही मंत्र का जाप हो रहा होता।

इस वक्त मनसा हाथी पर बैठा कोई फ़िल्मी गीत गा रहा था। उसने अपने सामने देखा तो क्या देखा कि फटे-पुराने कपड़े पहने बुरे हालों में उसका छोटा भाई भामू चला आ रहा है।

'राम-राम भैया, अच्छे तो हो न?' शामू ने दूर से ही पुकारकर कहा।

'राम-राम शामू। अरे यह क्या हाल कर रखा है अपना।' रामू नें नफ़रत से कहा।

'अरे भैया, तुम बाहर के हाल की चिन्ता मत करो। अन्दर से मालामाल हूं।' 'पहले ज़रा यह चीज तो देखो भैया।'

और शामू ने अपने झोले में से शंख निकालकर भाई को उसके दर्शन कराए। मनसा की आंखे लालच से बाहर निकलने को हो आई।'

'यह क्या है?' उसने मूंछों को बल देते हुए पूछा।

'अकेले में बैठकर बताने वाली बात है, भैया। यह दो-दो रुपये एक वक्त निकालनेवाला शंख नहीं है। यह तो शुरु से ही हज़ार, लाख की बात करता है।' यह कहकर उसने एक पोटली ज़रा दूर से ही खोलकर भाई को दिखाई जिसमें मोती-हीरे जगमगा रहे ते। दरअसल वे सब थे नकली।

'अरे शामू, यही सारी बात बता दे। क्यों पहेलियां बुझा रहा है। दूसरा कौन बैठा है यहां, जो सुन लेगा?'

शामू मनसा के कान के पास मुंह ले जाकर बोला, 'परी ने एक नया शंख दिया है। एक ही बार मंतर पढ़ने पर ढेरों ढेर रुपये। उन रुपयों से मैंने हीरे बेचने-ख़रीदने का व्यापार शुरु किया है। कल सुबह मुझे द्वारकाजी पहुंचना है, एक अरब के सौदागर को मोती बेचने के लिए। वह पालवाली किश्तियों से बन्दरगाह पर आए हैं, छुपे-छुपे, और छुपे छुपे ही वापस जाएंगे। अब समझे इन फटे कपड़ों का भेद? सबर करो, इतने उतावले न बनो। घर चलो। बाकी की बात घर चलकर करेंगे।'

हवेली में दाख़िल होते ही मनसा छोटे भैया को सीधा पूजा घर में ले गया और अन्दर जाकर दरवाज़े को कुंडी लगा दी। फिर बोला, 'दिखाओ तो नये शंख की करामात!'

'हां, हां, देखो भैया।' कहकर शामू ने ढपोर शंख अपनी झोली में रख लिया और वहीं मंत्र पढ़ा

शंख बोला -

दो रुपया काहे को, तुमको पांच रुपया देगा।

तुमको दस रुपया देगा, तुमको हजार रुपया देगा।।

तुमको दस हजार रुपया देगा।

'बस, बस, बस। अभी नहीं, अभी नहीं।' शामू ने झट से शंख का मुंह ढक दिया। शंख चुप हो गया।

'जब मुझे ज़रुरत पड़ेगी, मैं इससे ले लूंगा।' शामू ने हंसकर भाई को समझाया, 'पर एकबात साफ़-साफ़ बता दूं। यह शंख मुझसे मत मांगना। यह शंख मैं नहीं दूंगा हां, अगर व्यापार में मेरे हिस्सेदार बनना चाहते हो तो मुझे मंजूर है। लाखों-करोड़ों का नफ़ा है।

शामू बोलता गया, 'सवेरे-सवेरे मुझे एक बढ़िया घोड़ा चाहिए, सवारी के लिए। नींद से उठते ही मैं चल दूंगा, क्योंकि द्वारकावाली गाड़ी पकड़नीहै। तीन दिन के बाद मैं लौट आऊंगा। फिर तुम्हारे पास ठहरुंगा और व्यापार के सभी ढंग तुम्हें समझा दूंगा। ठीक है?'

'हां-हां, बिल्कुल! तू तो बड़ा समझदार निकला शामू। मुझसे कोई भूल-चूक हुई हो तो माफ़ कर देना।'

'नही, नहीं भैया। बड़े भाई तो पिता समान होते हैं। तुम मेरे साथ बेशक ज्यादती कर लो। मेरी जो जान हाज़िर है, तुम्हारे लिए।'

मनसा और उसकी बीवी ने शामू की इस प्रकार सेवा-टहल शुरु की जैसे स्वर्ग से साक्षात भगवान उसके घर में उतर आए हों।

रात को खाना खाने के बाद शामू पलंग पर लेट गया सोने के लिए।

अपना झोला लपेटकर अपने तकिये के नीचे रख लिया और आंखें बन्द करके सो गया। थोड़ी ही देर के बाद सारी हवेली उसके खर्राटों से गूंजने लगी। लेकिन बड़े भैया की आंखों में नींद कहां! आधी रात जागते हुए काटी। जब लगातार ख़र्राटों की आवाज़ से उसे यकीन हो गया कि शामू गाढ़ी नींद में है तो वह दबे पांव उसके कमरे में घुसा। पलंग के सिरहाने फ़र्श पर बैठकर उसने कांपते हाथों से तकिये के नीचे से झोला सरकाकर उसमें से शंख निकाल लिया और उसमें अपना पहलेवाला शंख रख दिया।

सवेरे-सवेरे शामू भाई से प्यार, आदर से मिलकर, उसके पांव छूकर, दो-तीन दिन में लौट आने का वायदा करके घोड़े पर सवार होकर सरपट गांव की हद से पार हो गया।

भाई को रवाना करके मनसा खुशी से उछलता अपने पूजा घर में पहुंचा। शंख से दस हजार रुपये की मांग की। शंख बोला -

दस हज़ार काहे को
तुमको लाख रुपया देगा
तुमको दस लाख रुपया देगा
तुमको करोड़ रुपया देगा
दुमा दुमा! तुपा तुपा ....!

'अच्छी बात है, बहुत अच्छा शंख महाराज। हमारी तिजोरी में बहुत जगह है।' मनसा ने पागलों की तरह खुशी से हंसकर कहा।

शंख बोला -

दस करोड़ काहे को
तुमको अरब रुपया देगा
तुमको दस अरब रुपया देगा
तुमको खरब रुपया देगा
तुमको नीलम रुपया देगा

तुमको दस नीलम रुपया देगा

तुमको संखन रुपया देगा

दुमा दुमा! तुपा। तुपा!

दुमा! दुमा! तुपा! तुपा!

'अरे क्या दुमा दुमा तुपा नुपा बकते जा रहे हो! संखन-नीलम के लगते भवन्नक! कुछ देते निकालते भी हो कि नहीं!' मनसा ने झुंझलाकर कहा।

जवाब में शंख भी गजरकर बोला - 'अरे चोर उचक्के! बेईमान कहीं के! सुन ले कान खोलकर! हम ढपोर शंख हैं! तुझे किसने कहा कि हम रुपया तुम्हारी हथेली पर रखेंगे। हम तो सिर्फ़ बोलनेवाले शंख हैं।'

सुनकर मनसा की बोलती बन्द हो गई। वह दोनों हाथों से सिर धुनने लगा। उसे पता लग गया कि पहला शंख वापस लेने के लिए उसके भाई शामू ने खूब चतुराई से काम किया था।

और उधर शामू खुशी से सरपट घोड़ा दौड़ाए भागा जा रहा था।

•

लेख

सूची

१- पूरब के नाई

दिल्ली	२१५
पेशावरी दिल	२२३
जीजाजी का बदला	२२७
खूनी पंजा	२३२
नई दुलहिन	२३६
रमज़ान	२३९
पूरब के नाई	२४५
समाधि लेख	२४९
द्विवेदीजी	२५०
ताश की मेज़ पर	२५३
एक जीनियस की नोटबुक से	२५५
कल्पित आपबीती	२५७
नारी और दृष्टिकोण	२६२

२- मेरी धारणाएं और दृष्टिकोण

मेरा जीवन दृष्टिकोण
वामपंथी अतिवाद का चेहरा
मज़दूर भाषा का संकल्प
जवाहर लाल नेहरु, मेरी निगाह में
दीक्षांत भाषण
(०जवाहर लाल नेहरु यूनिवर्सिटी, नईदिल्ली)

३- हिन्दी साहित्यकारों के नाम पत्र

बलराज साहनी

पूरब के नाई

दिल्ली

क्या आपने दिल्ली की सैर की है? ज़रूर की होगी। आज कौन ऐसा रह गया है, जिसने दिल्ली की सैर नहीं की!

असल बात तो यह है कि इन कमबख्त रेलों ने किसी भी नगरी के सतीत्व को कायम नहीं रहने दिया। जिसकी जेब में दस-बीस रुपये फालतू होते हैं, वही किसी बड़े शहर की ओर भागता है। 'भागने' से मेरा मतलब यह हैकि रेलवे के टिकट-घर के सामने जाकर वह दूसरों को धक्के देता है, भागती तो बेशक रेल है। सैलानियों के इन लगातार होनेवाले हमलों का ही यह नतीजा है कि दिल्ली की पुरानी दीवारों, जिनका निर्माण मुगलों द्वारा बड़ी लगन और उससे भी ज्यादा मेहनत के साथ हुआ था, अब वहां कुछ-एक टूटे-फूटे निशान ही बाकी रह गए हैं।

अब सवाल पैदा होता है कि रेलें भागती हैं या हम भागते हैं? इस सुगम्भीर विषय पर दिल्ली के सुमहान दार्शनिक साहित्यकार जैनेन्द्र को दिल्ली-दर्शन पर अवश्य ही ऐसा कोई निबन्ध लिखना चाहिए था, जिससे साधारण जिज्ञासुओं की जिज्ञासा का कोई हल निकल आता; क्योंकि साधारण पाठकों की जिज्ञासा ही कुछ ऐसी अनूठी हुआ करती है, जिसका समाधान अनूठे दार्शनिक साहित्यकार ही कर सकते हैं।

मैंने अपनी आंखों से एक व्यक्ति को देखा है, जिसने गाड़ी 'हांकने' तक में संकोच नहीं किया और वह हमारे ही डिब्बे में सफर कर रहा था। उसके साथ उसका एक चचेरा भाई भी था। वे दोनों जालंधर-स्टेशन पर 'ढाएं' मार-मारकर रोते हुए गाड़ी में सवार हुए थे। बाद में हमें मालूम हुआ कि दोनों चचेरे भाई हैं, और उनमें से एक की मां मर गई है, सो वे लुधियाना जा रहे हैं। तो, जिसकी मां मरी थी वह तो गाड़ी छूटने के बाद कुछ सम्हल गया; लेकिन जिसकी चाची मरी थी, उसका शोकोच्छवास गाड़ी की रफ्तार के साथ-साथ लगातार बढ़ता ही चला जा रहा था।

खैर, रोने में तो कोई अचम्भे की बात नहीं। सभी रोते हैं। लेकिन जिस बात ने हम सभी यात्रियों को सबसे अधिक प्रभावित किया, वह यह थी कि जिसकी चाची मरी थी, वह आदमी हर पांच मिनट के बाद शोकावेग में आकर उठता, गाड़ी की काष्ठप्राचीर को पैर के धक्कों से चेताता हुआ चिल्लाने लगता, 'सुअर की बच्ची, उल्लू की पट्ठी! तेज़ चल, तेज़ चल ...गधी कहीं की, तेज़ क्यों नहीं चलती! हमारी तो मां मर गई है, और तू .... हाय हाय, हाय ...हाय! हाय....!'

इस पर दूसरा साथी भी, जिसकी चाची नहीं, खुद की मां मर गई थी, अपनी शोक-सन्तप्त व्यथा को काबू में न रख सकता, और नये सिरे से रोना शुरू कर देता।

लेकिन, प्रियपाठक, मेरा यह आशय कदापि नहीं कि आप भी जब दिल्ली गए थे तब आपके पास केवल दस या बीस ही रुपये थे! नहीं, नहीं, शायद आप गरीब आदमी हों। गरीब आदमी दिल्ली जाते हैं, तो अपने साथ खूब पैसे लेकर जाते हैं। उनके लिए दिल्ली अब भी उचक्कों से खाली नहीं। वहां के जेब-कतरे ऐसी सफाई से जेब कतरा करते हैं कि उनके शिकारों के कान पर जूं तक नहीं रेंगती। यही वजह है कि गरीब लोग जब दिल्ली की सैर करने जाते हैं तो अपने करेन्सी-नोट कुछ तो भीतरी जेब में, कुछ आज़ारबन्द में और कुछ देशी टोपी की पट्टी के अन्दर सीकर रख लिया करते हैं।

मैं ऐसा गरीब नहीं हूं। आधुनिक सभ्यता का एक अमीर आदमी हूं। इसके मानी यह कि कपड़े अच्छे पहनता हूं, और ठाठ से रहता हूं। पैसे-वैसे की मुझे जरूरत ही नहीं होती। -दो-एक बार बगैर टिकट सफर करते पकड़ा भी गया हूं। टी-टी साहब को तब चाय-केक खिलाने पड़े हैं, और अन्त में स्टेशन-मास्टर के घर बसेरा भी डाला है। सुबह दो रुपये चन्दा भी ले लाया हूं। उसके बाद तो, आप जानते ही हैं कि टिकट खरीदना या न खरीदना हमारी इच्छा पर छोड़ दिया गया है।

दिल्ली की जैसी सैर बटुए की जगह 'विज़िटिंग कार्ड' रखने वाले साहब कर सकते हैं, वैसी और कोई नहीं कर सकता। इसकी वजह एक तो यह है कि दिल्ली में, खासकर नई दिल्ली में, केवल धनी और प्रभावशाली पुरुष ही बसते हैं; और वे किसी एक प्रान्त से नहीं बल्कि सभी प्रान्तों से आए हुए हैं।

और, आप ही सोचिए कि बूढ़े आदमियों से किसकी रिश्तेदारी नहीं निकल आती! अगर इन्सान थोड़ा-सा तरददुद करे, तो कोई-न-कोई सिलसिला बन ही जाता है। दूसरी वजह यह कि नई दिल्ली की आबादी बहुत कम है। जंगम वस्तुओं से स्थावर चीजों की तादाद ज्यादा है। वहां बड़े-बड़े चकाचौंध पैदा कर देनेवाले बाजार बनवाए गए हैं, लेकिन उनमें चलने-फिरने वाले लोग बहुत कम, बल्कि यों कहिये कि नहीं के बराबर ही दिखाई देते हैं! एक-आध जो दिखाई देंगे भी तो उनके पास मोटरें हैं; और जिनके पास मोटरें नहीं हैं, वे मारे गमके बाहर निकलते ही नहीं। और, जो लोग कलकत्ता या लाहौर की तेज़-रफ्तारी के क़ायल हैं, उनसे पूछिए, नई दिल्ली को वे गांव समझते हैं। असल में, नई दिल्ली के रहनेवालों का जीवन वैभवशाली होने पर भी सरकारी किस्म का होता है; और वह ऐसा कि जिसमें स्वच्छन्दता और उन्माद का नाम-निशान तक नहीं होता। इसलिए हम जैसे रंगीन-मिजाज लोगों का वहां जाना उन लोगों के जीवन की नीरसता में थोड़ी-बहुत जान डाल देनेवाला होता है। आजकल मेहमान की कदर जितनी दिल्ली में है, उतनी देश के किसी और हिस्से में नहीं।

एक ज़माना था जब कि दिल्ली निहायत ही रूखी नगरी समझी जाती थी। आपने अठारहवीं सदी के उस कुत्ते की कहानी तो सुनी ही होगी, जो दिल्ली का रहनेवाला था। वह एक दिन पास के किसी शहर में गया। वहां के कुत्तों ने देखा कि दिल्ली का कुत्ता है, इसलिए उनकी तरफ से उस कुत्तें की बड़ी-भारी खातिर दारी की गई। किसी दुकान से वे उसके लिए पूरियां उड़ा लाए और किसी से कबाब। दो दिन तक वहां उसे बड़े लाड़-प्यार से रखा गया; और उससे वे दिल्ली के मजेगार दास्तान सुनते रहे। और फिर, जब उसने दिल्ली वापस जाने की ठानी, तो वे दो मील तक उसे छोड़ने आए; यहां तक

कि एक तांगे का भी इन्तजाम कर दिया। इससे दिल्लीवासी कुत्ता बहुत ज्यादा प्रभावित हुआ; और जाते समय उन्हें भी निमन्त्रण दे गया कि कभी फुरसत मिले तो वे जरूर दिल्ली आने का कष्ट उठाएं।

वैसे तो, छोटे शहरों के कुत्ते प्रायः बड़े आराम-तलब हुआ करते हैं, लेकिन फिर भी, एक मनचले कुत्ते ने ठानी कि चलो दिल्ली जाकर दोस्त से मिल ही आएं। चुनांचे वह दिल्ली के लिए रवाना हो गया।

मगर हुआ यह कि क्यों ही वह जमुना के उस पार पहुंचा, मरघट के कुत्तों ने उसपर धावा बोल दिया! खैर, किसी तरह उनसे कन्नी काटता हुआ वह शहर के अन्दर जा पहुंचा। लेकिन अफसोस कि वहां भी उसे ठीक वैसी ही मुसीबत का सामना करना पड़ा; यानी उसे देखते ही वहां के सबके सब कुत्ते एक साथ भौंक-भौंककर उसे काले झण्डे की याद दिलाने पर आमादा हो गए!

बेचारा छोटे शहर का रहने वाला आराम-तलब कुत्ता आरामगाह की तलाश में दिन-भर इधर से उधर और उधर से इधर मारा-मारा फिरता रहा और आखिर में जाकर, यानी दिन भर भौंक-भौंककर और दिल्ली शहर की नालियों में घुस-घुसकर किसी तरह अपनी जान बचाते-बचाते जब उसे सूरज डूबता हुआ नज़र आने लगा तब उसे दोस्त के दर्शन हुए।

दोस्त को देखते ही वह कहने लगा, 'वाह यार, खूब खातिरदारी करवाई तुमने हमारी। पहले से ही, वहीं बता दिया होता...!'

दिल्लीशाही कुत्ता बोला, 'भाई, कसूर तो तुम्हारा ही है।

बगैर इत्तला दिये चले आए। एक चिट्ठी डाल दी होती, तो मैं सब इन्तजाम कर देता। आखिर देहाती ही जो ठहरे! खैर, चलो मेरे साथ।'

घुमाते-घुमाते क्रमशः वह उसे दिल्ली के लगभग सभी देखने लायक स्थानों पर ले गया - 'यह शाही किला है, यह चांदनी चौक है, यह कुतुबमीनार है ....' वगैरह-वगैरह।

रात हो चुकी थी; और, देहाती कुत्ते ने सुबह से पानी तक नहीं चाटा था। वह अचानक बौखला उठा; बोला, 'अरे यार, ये सब चीजें तो फिर कभी देख लूंगा ... अब कुछ खिलाओगे-पिलाओगे भी, या यों ही बातों-ही-बातों में बहकाते रहोगे?'

दिल्लीशाही कुत्ता बोला, 'यार, क्या बताएं, तुम आए भी तो ऐसे अजीब वक्त हो कि जिसका कोई ठिकाना नहीं। आखिर देहाती ठहरे, भला तुम क्या जानों कि बड़े शहरों के रस्मोरिवाज कैसे हुआ करते हैं। खैर, कोई बात नहीं, चलो, आगे चल कर देखते हैं।'

इसके बाद उस दिल्लीवाले कुत्ते ने बेचारे 'देहाती कुत्ते' को और भी कुछ देर तक अपनी महान दिल्ली की सैर करवाई, यानी शहर के गली-कूचों के चक्कर कटवाए। और, उस बेचारे गरीब मेहमान की जान लबों पर आ रही थी। इतने में, यकायक वह क्या देखता है कि जामा मस्जिद की सीढ़ियों पर एक लोटा पड़ा है। उसे देखते ही बेचारा फौरन उसकी तरफ लपका, और उसमें अपना मुंह घुसेड़ दिया। दुर्भाग्य देखिए उसका, उस लोटे में पिसी हुई लाल मिर्चे रखी थी। नतीजा यह हासिल हुआ कि उसने आनकी आन में बारूद की तरह दिमाग से लेकर दुम तक उसका पलस्तर उखाड़ दिया। बेचारा सिर धुनता हुआ अपने 'दोस्त' की तरफ लौटा और उसे फटकारता हुआ बोला-

'अरे, वाह रे वाह! यही है तुम्हारी अनूठी दिल्ली!!'

दिल्लीवाला कुत्ता कहने लगा, 'अरे वाह! तुमने भी खूब कही! अरे भई, इसी चटखारे के लिए ही तो हम यहां पड़े हुए हैं, वरना, यहां और रखा ही क्या है!'

★ ★ ★

मगर, अब यह वह दिल्ली नहीं रही। आधुनिक दिल्ली में रौनक ही बाहर से आनेवालों से है। एक सिरे से दूसरे सिरे तक घूम-फिर आइए, कहीं आपको रंगीन साड़ी तक नजर नहीं आएगी। और, जो भी दो-चार नजर आएंगी, छान-बीन करने पर आप जान जाएंगे कि वे बाहर से आई हुई हैं। लिहाज़ा मेरी तो आपसे यहीं सलाह है कि अगर आपके मन में सैर करने की धुन सवार हुई हो, तो आप पुरानी राजधानी कलकत्ता की सैर को धत्ता बताकर नई राजधानी दिल्ली और खासकर नई दिल्ली की सैर कीजिए। फिर देखिए कि क्या-क्या और कैसे-कैसे लुत्फ आते हैं।

मेरी ही मिसाल लीजिए। जैसे ही मैं रेलगाड़ी के एक संयुक्त फर्स्ट-एण्ड-सेकेण्ड कम्पार्टमेंट से (जिसे कितने ही लोग अंगरेजी के १११ नम्बर का डिब्बा भी कहा करते हैं) निकला, देखा कि बाहर एक मोटरकार मेरे इन्तजार में खड़ी है। बात यह है कि मेरे दो मित्र नई दिल्ली में रहते हैं, और तीन रिश्तेदार सिविल-लाइन्स में। एक खातिर करता है तो बाकी सब अपनी नाक रखने की खातिर में लगे रहते हैं। जितने दिन मैं वहां रहा, औसतन तीन-तीन नाश्ते, एक-एक घण्टे के वक्फे पर दो-दो लंच, चार-चार पांच-पांच बार चाय, और एक-एक अच्छे से अच्छा डिनर रोज़ खाता रहा। अलबत्ता, एक-दो बार भूखा भी रहना पड़ा, लेकिनवह किसी रूखेपन की वजह से नहीं, बल्कि निमंत्रणों की बहुतायत की वजह से। मसलन, एक दिन मेजवान साहब ने बताया कि 'आज रात को किसी बड़े आदमी ने हमें खाने पर बुलाया है, इसलिए आज आठ बजे तक घर पहुंच जाना, कार में एक साथ चलेंगे।' मुझे याद न रहा कि उसी रात के लिए मैं नई दिल्ली का एक निमन्त्रण स्वीकार कर चुका हूं। शाम किसी तीसरे साहब के यहां गुजरी। और जब आठ बजे, तो मैं साइकिल पर सवार हुआ और अपने नई दिल्ली के मेजबान के घर की तरफ चल दिया।

चलते-चलते रास्ते में अचानक दूसरे निमन्त्रण की याद आई। और वह ऐसा निमन्त्रण था कि जिसे दावे के साथ रुचिकर कहा जा सकता था। मैं तुरन्त साइकिल से उतर पड़ा; और पास के किसी एक सज्जन के यहां से उस मेज़बान को टेलीफोन कर दिया कि मेरी तबीयत कुछ खराब है, इसलिए आज नागा कर रहा हूं और फिर मैं पूरी तेज़ी के साथ अपने उस स्थान की तरफ लौट पड़ा, जहां मैं ठहरा हुआ था। वहां पहुंचा, तो सुना कि वे लोग, मेरा इन्तजार करते-करते थक चुकने के बाद, अभी-अभी चले गए हैं।

और मेरा हाल यह कि चार मील तेज़ रफ्तार से साइकिल चलाने की वजह से पेट में चूहे कूद रहे थे। आखिर मुझे झख मार कर बड़ी निराशा के साथ नौकर से कहना पड़ा, 'जो कुछ बना सकते हो, बना कर ले आओ।' और मैं नहाने चला गया। नहा-धोकर ज्यों ही मैं खाने को बैठा कि टेलीफोन बज उठा। मेरे लिए आर्डर हुआ कि 'खाना मत खाओ, हम मोटर भेज रहे हैं।' मैंने थाल लौटा दिया, और लगा प्रतीक्षा करने मोटरकार की।

नौकर बेफिक्र होकर कहीं रास देखने चला गया। और मैं बैठा हूं कि अब आई मोटर, अब आई! पैंतालीस मिनट यानी पौन घण्टा गुजर गया। इतने में फिर टेलीफोन से संवाद आया कि 'मोटर रास्ते में बिगड़ गई है, तुम घर पर ही खाना खा लो।'

मगर ऐसा सिर्फ एक ही बार हुआ, और वह भी मेरी मूर्खता के कारण। मेजबानों ने अपनी तरफ से कोई कसर उठा नहीं रखी थी।

अपने साथ मैं सिर्फ एक ही टाई लाया था; और वह इस वक्त किसी दोस्त के यहां पड़ी थी। उसकी जगह यहां नई-नई टाइयां पहनने को मिल जाया करती थीं। बाकी कपड़ों की तबदीलियां भी कुछ ऐसे ढंग से हो जाया करती थीं जैसे सरकारी कर्मचारियों की हुआ करती हैं। कहीं से कमीजें अच्छी मिलीं तो कहीं से पतलूनें। फिर तो मैंने उस बहुमूल्य लोकोक्ति पर अमल करते हुए कि रोम में रोमवालों के कपड़े ही पहनने चाहिए, जहां और जब कोई नया वस्त्र अच्छा देखा कि पहला उतार कर फेंक दिया।

लौटते समय मैंने पूरा एक घण्टा समाधि में लगा दिया, और तब ज्योतिष-शास्त्र और गणित-ग्रन्थों की सहायता से पांच-सात पत्र निम्नलिखित ढंग से लिखकर डाक में डाल दिए-

'प्रिय ....

कारणवश जल्दी शहर छोड़ रहा हूं। न तो आपसे मिल सकने का अवकाश था और न आपकी चीजें वापस करने का। मुझे पूरी आशा है कि आप मेरी क्षमा-प्रार्थना और धन्यवाद दोनों एक साथ स्वीकार कर लेने की कृपा अवश्य करेंगे। आपकी दो टाइयां और एक पतलून श्री ...के घर पड़ी हैं। ... इस पते पर पत्र लिखकर मंगा लीजिएगा। अनेकानेक धन्यवाद!

विनीत

....

अगर आपके मतानुसार ऐसे पत्र पाकर लोग नाराज़ होते हैं, तो उसे आप 'ग़लत बात' ही समझने की कृपा कीजिएगा। खास कर मेरे जीवन में यह तजरबा इतना कामयाब हुआ है कि मैंने वक्त बचाने के लिए अब ऐसी चिट्ठियां छपवा ली हैं और उन्हें मैं हर वक्त और हर हालत में अपने साथ रखता हूं। उनमें सिर्फ खाली जगहें भरनी पड़ती हैं।

हां, एक गलती मैंने ज़रूर की और वह यह कि मैं गर्मियों में दिल्ली गया; इसलिए मेरी आंखें ज्यादा-कुछ देख न सकीं। इससे पता चलता है कि हमारे बुजुर्गों और आजकल के अंग्रेजीदां महान बुद्धिमानों की बुद्धि में कितना बड़ा अन्तर है, इसबात की तहकीकात की जाए तो आप खुद हैरान होकर जहां के तहां रह जाएंगे कि इतनी मुसीबत उठाने के बावजूद आप एक इन्च भी आगे नहीं बढ़ पाए हैं।

एक बात और, जहां पुरानी दिल्ली के मकानों, दुकानों, खिड़कियों और बरामदों का रंग ग्रीन यानी हरा है और आंखों को आराम पहुंचाता है वहां नई दिल्ली की इमारतें यानी कि बिल्डिंगें एकदम सफेद-ही-सफेद हैं; और आंखों को पागल बना देती हैं। और, जहां पुरानी दिल्ली के बाज़ार तंग हैं और एक तरफ के मकान दिन-भर दूसरी तरफ के मकानों को छाया देते रहते हैं, वहां नई दिल्ली की सड़के इतनी चौड़ी हैं और इतनी तपती

हैं कि इन्सान एक मकान से दूसरे मकान तक जाते-जाते भाड़ का भूना आलू हो जाता है।

दिन में नई दिल्ली ऐसी नजर आती है जैसे कहीं धोबियों ने शहर धोकर सूखने डाल दिया हो। मीलों तक कहीं छाया का नाम-निशान तक नहीं। मैं कई ऐसे व्यक्तित्व यानी व्यक्तियों से जान-पहचान रखता हूं जो कई-कई बार इन एक-सी इमारतों के चक्कर में आकर अपना घर ही भूल बैठे और कनाट-सरकस के चक्कर मारते-मारते बेहोश हो गए।

लीजिए, साहब, कहते-कहते मैं एक नया आविष्कार ही कर बैठा, जिसका न आपको कुछ पता था और न मुझे ही, वह यह कि मेरे खयाल से 'कनॉट' के साथ 'सरकस' शब्द भी शायद इसी मकसद से जोड़ा गया होगा।

नई दिल्ली के दुकानदारों को अलबत्ता इस सफेदी से खूब फ़ायदा होता है। उन्हें साइनबोर्ड नहीं बनवाने पड़ते। दीवारों और मुंडेरों पर ही अपना नाम लिखवा छोड़ते हैं। कलाकारों का भी मनोविकास खूब होता है। कहां वे छोटी-छोटी चौखटें और कहां ये लम्बीं-चौड़ी 'चरम-सीमी' दीवारें! भला उन पर खूब मोटे-मोटे जड़े हुए अक्षरों की महिमा इन बारीक-बारीक हरुफों से कैसे बखानी जा सकती है। कोई-कोई तो ऐसे महान यानी विशाल होते हैं कि उन्हें आप कुतुबमीनार पर बैठे-बैठे बड़े आराम से पढ़ सकते हैं।

नई दिल्ली की एक और खासियत यह है कि वहां सवारी आसानी से नहीं मिलती। ट्राम नहीं, 'बस' नहीं, और हों भी तो आपको खड़े-खड़े ही चलने का आनन्द उठाना होगा, यानी आपका बस नहीं कि आप 'बस' पर सवार होकर अपनी मंजिल तय कर डालें। मीलों तक पैदल चलकर आप अपनी चलन-शक्ति की वृद्धि करते रहिए, या फिर 'तांगा शरणं गच्छामि' मन्त्र जपते हुए जहां के तहां खड़े खड़े 'सुदीर्घ प्रतीक्षारत' बने रहिए।

तांगों की बात जब छिड़ ही गई है, तो फिर कोई वजह नहीं कि उन पर रोशनी न डाली जाए। आज की बात नहीं, यहां मैं उन दिनों की चर्चा कर रहा हूं, जिन दिनों मैं खुद दिल्ली की सैर करने गया था। सारी दिल्ली में तब कुल मिलाकर दस-पन्द्रह तांगे होंगे। और वे भी लाहौर के कबाड़-खानों से पिछली सदी में लाये गए थे। जिस तांगे को जो घोड़ा आज तक खींचता चला आ रहा है, उसे आप 'जनता-नुमा' कोई साधारण घोड़ा न समझे। प्रागैतिहासिक न सही, पर उसे ऐतिहासिक तो मानना ही पड़ेगा। कारण सिर्फ इतना ही समझ लीजिए कि जो घोड़ा आज आपको तांगे में जुता दीख रहा है, घोड़ा वहीं है, तांगा भी वहीं है, जिन्हें लगातार तीन पीढ़ियां जोतती चली आ रही हैं; और चौथी पीढ़ी के जवान भी 'उम्मीदवार' हों तो ताज्जुब न कीजिएगा। यह सारी की सारी राम-कहानी हम नहीं, खुद तांगे की ढिबरियां सुना रही हैं। लेकिन बात यह है कि बेचारे की राम-कहानी हर कोई सुन नहीं पाता। कारण, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, दिल्ली में तांगा मिलना मुश्किल है। कम-से-कम आध घण्टा धूप में तपने के बाद तब कहीं किसी एक के दर्शन सुलभ होते हैं।

और फिर, 'तांगा दिखाई तो दिया' का मतलब यह नहीं कि तांगा आपको मिल ही गया। दिल्ली के पुराने दिन अभी इतने पुराने हरगिज नहीं हुए कि वहां के तांगे वाले उन्हें भूल ही गए हों! यही कारण है कि अब भी वे इस शान के साथ लगाम थामते हैं जैसे बाज उड़ा रहे हों! उनकी नजरों में घोड़े हों या तांगे, वे कभी पुराने नहीं होते, और न

हो सकते हैं। आपको कहीं भी जाना हो, पहले वे आपके सामने जरूर चौदह आने का चार्ज-मेमोपेश किए बगैर नहीं मानेंगे। और, अगर आप जवाब में 'चार आने' से ज्यादा कह डालें, तो आपकी अबुद्धिमानी पर वे हंस पड़ेंगे; और फिर इस शान के साथ आगे चल देंगे कि जिसके मानी होंगे- 'इस शख्स ने दिल्ली को अभी तक नहीं समझा!'

और नई दिल्ली के कुछ विनोदप्रिय लोगों ने अपनी तबीयत बहलाये रखने केलिए जो एक चमत्कारपूर्ण साधन जुटा रखा है, उसे आप बहाल तबीयत के साथ 'दिल्ली बस सर्विस' कह सकते हैं। दस-बीस आदमी सैर के लिए किसी एक निश्चित समय पर 'बस' में बैठ जाते हैं, और किसी एक सुनिश्चित मार्ग से पुरानी दिल्ली की तरफ चल देते हैं। हरएक चौराहे पर उनका खैर-मकदम यानी स्वागत करने के लिए बीस-पचीस-तीस पुरुष और स्त्रियां खड़ी रहती हैं। ज्यों ही उन्हें 'बस' दूर से आती दिखाई देती है, त्यों ही वहां खड़ी जनता प्रसन्नतापूर्वक हाथ हिलाना शुरू कर देती है, और कभी-कभी तो मन्द-मन्थर आवेग से नृत्य भी करने लगती है। और, 'बस' उनका कुतूहल मिटाने के सदुद्देश्य से ठहर जाती है और तब, जनता बड़ी श्रद्धा से श्रीमती 'बस' को शायद वशीभूत करने की गरज से, उनके विभिन्न अंगों का स्पर्श कर-करके उसकी सराहना करने लगती है। फिर वह उसके अन्दर दूल्हों की तरह आराम से बैठी हुई ओजस्विनी मूर्तियों की प्रसन्न मुद्राओं की तरफ गौर से निहार-निहारकर दांत निपोरती रह जाती है।'

इसके बाद? इसके बाद 'बस' सबको बेबस छोड़कर तेज़ रफ्तार से चल देती है। और जनता? जी हां, जनता उस 'बस' के लौटने का इन्तजार करने लग जाती है। आप चाहे कुछ भी कहिए या कहते रहिए, मगर मैं तो बगैर कहे हरगिज नहीं मानने का कि यह बारीक मज़ाक यानी सूक्ष्म परिहास मुझे बेहद अच्छा लगता है।

नई दिल्ली में 'ट्राम' नहीं है। एक जमाने में फकत पुरानी दिल्ली में चलती यानी चक्कर काटती रही। बाद में उखड़ गई, तो मैं क्या करूं? जब मैं खुद दिल्ली गया था तब तो चला ही करती थी। भला आप बता सकते हैं कि आखिर 'ट्राम' दिल्ली में क्यों चला करती थी? महज इसलिए कि कोई देहाती कभी यह न समझे और कह बैठे कि 'भारत की राजधानी में ट्राम नहीं चलती।' जबकि पुरानी राजधानी कलकत्ता में चलती और खूब चलती है।

असल में, दिल्ली की 'ट्राम' देखने से ताल्लुक रखती थी, लेखनी उसका वर्णन नहीं कर सकती। इसकी एक खास खूबी तो यह थी कि इस पर कोई चढ़ता नहीं था; क्योंकि अपनी मनचाही मंजिल तक लोग अपने पैरों के सहारे उससे जल्दी पहुंच जाते थे। अलबत्ता जो लोग पैदल चल-चलकर थक जाते थे, वे इसमें बैठकर अपनी थकान दूर करने का प्रयत्न ज़रूर कर सकते थे। किन्तु उसमें सफल होना न होना बैठने वाले की क्षमता और तबीयत पर निर्भर करता था। इसमें सिर्फ वे लोग सफर करते थे जो पैदल चलने को नये युग की व्यर्था की भाग-दौड़ समझते थे या फिर मक्खियां करती थीं, एक दुकान से दूसरी दुकान तक पहुंचने के लिए, क्योंकि उनका टिकट माफ़ था।

इन्हीं सब कारणों से मैं बहुत ज्यादा घूम-फिर नहीं सका। एक मित्र ने अपनी मोटर में बिठाकर दिल्ली के सब-के-सब ऐतिहासिक खण्डहर एक ही चक्कर में दिखा दिए थे; और उससे मैं आश्वस्त हो गया था कि वे सबके-सब जहां के तहां ठीक-ठाक मौजूद हैं। बाकी और क्या-क्या देखा या नहीं देखा, सो मुझे कुछ याद नहीं।

अलबत्ता 'गालिब' साहब का मजार खूब याद है। पंडित बनारसीदास चतुर्वेदीजी की भाषा में कहूं तो दृढ़ विश्वास के साथ कह सकता हूं कि इस 'तीर्थयात्रा' को मैं कभी नहीं भूल सकता। किन्तु मेरा खयाल है कि बहुत कम ऐसे पर्यटक होंगे, जिन्होंने महाकवि 'गालिब' की कब्र देखने की कोशिश की हो। वहां कोई लाल पत्थर का मजार नहीं, कोई संगमरमर का गुम्बद भी नहीं। तो आप पूछेंगे, 'तो फिर क्या है?' मेरा जवाब है - एक बड़े-से सेहन में आसमान की बदलती हुई रंग-विरंगी अठखेलियों को ताकती हुई दस-बीस कब्रें हैं, उसमें से एक सुप्रसिद्ध कवि 'गालिब' की भी है। जीवन के जिन बदलते हुए रंगों को 'गालिब' ने देखा, उनका देखना संसार के बहुत कम कवियों को नसीब हुआ। काश्मीरी-दरवाजे के बाहर अपने सगे-सम्बन्धियों की लटकती हुई लाशों को 'गालिब' ने देखा था। लालकिले की डयोढ़ियों में बादशाह को अपनी नवीनतम रचनाएं सुनाने के लिए व्यग्रता और उल्लास से बढ़ने वाले आखिरी कदम 'गालिब' के ही कदम थे। साकी की एक-एक अदा पर सैकड़ों अशरफियां लुटा देनेवाले हाथ 'गालिब' के ही थे, और फिर उन्हीं हाथों ने कैदखाने में सन की रस्सियां भी बटीं; और इसीलिए उन्हीं हाथों ने यह पक्तियां भी लिखीं -

'ग़मे हस्ती का 'असद' किससे
हो जुज़ मर्ग इलाज;
शमा हर रंग में जलती है
सहर होने तक।

ठीक है, 'गालिब' की कब्र भी ऐसी ही होनी चाहिए थी।

जिस शाम को मैं वहां पहुंचा, तब एक रसिक सज्जन भी वहां मौजूद थे। कब्र के सिरहाने शराब की बोतल लिए बैठे थे वे। एक जाम खुद पीते और एक कब्र पर उंडेल देते; और कहते जाते - 'जिन्दगी में तरसता रहा, ले अब तो पी!'

सारांश यह कि मेरी विनीत राय में आधुनिक युग में दिल्ली की सबसे बड़ी विशेषता है वहां का अतिथि-सत्कार।

औरों की तो मैं नहीं कह सकता, अपनी कह सकता हूं; कम-से-कम मैं तो वहां इसी की परख करने जाता हूं।

नई दिल्ली की प्रचण्डता मुझे डरा देती है। और, पुरानी दिल्ली के खण्डहर मन में एक अगाध निराशा का भाव पैदा कर देते हैं। धीरे-धीरे वहां के वे खण्डहर भी किसी-न-किसी दिन मिट्टी में मिल जाएंगे; और वहां केलोग उनके पत्थरों को कूट कर बजरी के तौर पर इस्तेमाल करने लगेंगे। कई जगहों पर तो अभी से ऐसा हो रहा है।

जब मैं जैनेन्द्रजी के घर गया, तो देखकर सन्नाटे में आ गया कि उन्होंने छत के नीचे लालकिले के पत्थरों की शिलाएं जड़वा ली हैं। लेकिन, उन्हें मैंने यह सोचकर क्षमा कर दिया, हालांकि उन्होंने मुझे फालसों के सिवा और कुछ नहीं खिलाया, कि हो सकता है कि उन शिलाओं को वे एक नया अमरत्व प्रदान कर दें।

अप्रैल, १९३९]

पेशावरी दिल

पेशावर के सुप्रसिद्ध तरबूज शायद आपने देखे हों! तरबूजों के बारे में एक घटना मुझे याद आती है। किन्तु उसे फिर कभी सुनाऊंगा। शायद सरदे भी, और अंगूर भी आप देख चुके हों! मगर काले अंगूर, जिनका सिर्फ एक दाना, जी हां, सिर्फ एक दाना किसी युवती के सुघड़ मुंह को और अधिक आकर्षक बनाने के लिए काफी है। लेकिन पेशावरी लोगों की रंगीन-मिजाजी इन सब चीजों से बढ़कर है। पेशावरी मिजाज़ की सृष्टि में यूनान, ईरान, चीन, मिस्र, अरब, इंग्लैण्ड, यानी जिस-जिस देश ने पिछले दो हज़ार वर्षों से कभी भारतवर्ष में अपना डेपुटेशन भेजा है, उन सबका हाथ है।

पेशावरी छैल-छबीलों की पोशाकों पर ही नज़र डालिए। मुशद्दी लुंगी का तुर्रा हवा में ऐसी शान से फरफराता रहता है, जैसे किसी नाचते हुए मोर का पंखचक्र। कुल्हा ज़री और नगीनों से जगमगाता हुआ। गले में सिल्क की लहलहाती हुई कमीज़, जिसके साथ टाई का प्रयोग भी अवश्य होगा। उसके ऊपर कनावेज की वास्कट, या फिर सनप्रूफ का घुटनों से भी लम्बा कोट। नीचे सफेद लट्ठे की सलवार इस बलाकी अकड़ी हुई कि किसी धोतीवाले बाबू की टांग के साथ छू भी जाए तो वह चिल्ला उठे। पैरों में पेटेन्ट लैदर का पम्प शू, जिसकी आवाज़ अगर किस्साखानी-बाजार से गूंजती हुई काबुली-दरवाज़े तक न पहुंचे, तो वह किसी काम का नहीं।

सच्चे पेशावरी की ज़िन्दगी का सिर्फ़ एक ही असूल है, और वह यह कि गवरनर नवरनर होगा तो अपने घर में होगा, लफटन्ट लफटन्ट होगा तो अपने घर होगा, बाप बाप होगा तो अपने घर होगा। बाजार में सब एक-जैसे हैं। ईश्वर ने ज़मीन दी है तो वह इसलिए कि उस पर अकड़कर चला जाए। नहीं तो जीने से फायदा? समानता को पेशावरियों ने पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया है। बाप-बेटा, अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष कोई किसी को 'जी' कहकर नहीं पुकारता।

'सजावट सजावट के लिए' - अगर इस सिद्धान्त का प्रत्यक्ष प्रमाण देखना हो, तो किसी फलवाले की दुकान पर चले जाइए। केले, आम, अंगूर, तरबूज, आड़ू, खुमानी, और-तो-और, अमरूद तक इस तरतीब से सजाकर रखे होंगे कि देखनेवाले का कलेजा फड़क उठे। मच्छर-मक्खियों का वहां कोई काम ही नहीं, और न ऐसे ग्राहकों का जो दस दुकानें घूम-फिर कर माल खरीदते हों। अगर लाहौर की दुकानों का भूला हुआ कोई बाबू यहां आ निकले तो उसकी कुछ ऐसी दशा होगी :-

बाबू - 'सुनाओ भाई, ये आड़ू किस भाव दिए हैं?'

दुकानदार - 'खान, बारह आने सेर। कितने लोगे?'

बाबू-'पिछली दूकानों पर तो आठ आने सेर सब दे रहे हैं, और तू बारह आने पढ़ रहा है।'

दुकानदार-'तो वहां से क्यों नहीं ले लेता बाबू! यहां खड़ा होकर क्यों डकार मार रहा है? भाग यहां से, शकल गुम कर। शीशा देख घर जाकर। आड़ू खरीदने आया है। जा, प्याज खा।'

अगर इस पर बाबू तिलमिला उठे, तो उनका अपना नुकसान है; क्योंकि पेशावरी ने दूकान तो सिर्फ शौक के लिए लगा रखी है। बाबू को छुरा मारकर फांसी पर लटक जाने में उसे जरा भी मलाल नहीं।

जो लोग सारी ज़िन्दगी कानपुर या लखनऊ के इक्केनुमा टांगों पर चढ़ते रहे हैं, वे पेशावरी टांगे के बांकपन का अनुमान नहीं लगा सकते। पेशावरी टांगे और लखनऊ की टमटमों में उतना ही अन्तर है, जितना एक रोल्स-रायेल और १९२० माडल की फोर्ड में। कहावत है कि जो टांगे पेशावर में बेकार हो जाते हैं, वे रावलपिण्डी पहुंच जाते हैं, और जो पिण्डी में रद्द हो जाते हैं वे लाहौर में; और जो लाहौर में भी किसी काम के नहीं समझे जाते, वे हिन्दुस्तान की राजधानी इन्द्रप्रस्थ में चालू हो ज़ाते हैं।

पेशावर का टांगेवाला रोटी कमाने के लिए टांगा नहीं जोतता, बल्कि लुत्फ उठाने के लिए चलाता है। उसे दिन में सिर्फ दो रुपयों की ज़रूरत है; एक नशे के लिए और दूसरा पांसा फेंकने के लिए। अगर पांसा ठीक पड़ गया, तो रोटी भी खा ली, और थियेटर भी देख लिया; नहीं तो भूखे ही सो रहे। रुपये जोड़ना तो वह हराम समझता है। गर्मियों के मौसम में तो शौकीन टांगेवाले सिर्फ रात को ही टांगे जोतते हैं, घोड़ों को फूलों-बूलों से खूब सजाकर।

एकबार जब मैं टागें में बैठा, तो देखा कि टांगेवाले ने एक की बजाय तीन पगड़ियां पहन रखी हैं, पायदान पर चार-पांच जोड़े बूटों केधरेहैं, और वास्कटों की भी तीन-चार तहें लगी हैं। पूछने पर मालूम हुआ कि इन सबके बाद जुए में हारने वालों के पास बाकी कुछ बचा ही नहीं था!

कहने का मतलब यह कि पेशावरीलोग इस दुनिया में आराम-चैन कीबंसी बजाने आए हैं। आज से नहीं, हजारों सालों से उनका तजरबा है कि जोड़ी हुई दौलत कोई-न-कोई आकर लूट ही लेता है, क्यों न 'बाबर बऐश कोश' की फिलासफी पर अमल किया जाए? अच्छा खाओ, अच्छा पहनो; अगर अपने पैसों से न बने, तो दूसरों केपैसों से ही सही। हर हालत में अपना दिल पेशावरी रखो।

पेशावरी दिल की बाबत मुझे एक घटना याद आ रही है। मैं रावलपिण्डी से पेशावर जा रहा था, कुछ साल पहले कीबात है। उस डिब्बे में इत्तफाक से मेरे और एक पेशावरी नौजवान के सिवा और कोई न था। पिण्डी से लेकर नौशहरे तक तो वह नवयुवक फट्टे पर इस तरह पड़ा रहा, जिस तरह चिमगादड़ दिन में लटका रहता है। जम्हाइयां और अंगड़ाइयां ले-लेकर उसने नाक में दम कर दिया। लेकिन जब गाड़ी नौशहरे से आगे बढ़ी, तो वह एकाएक जागकर उठ बैठा। और मुझसे कहने लगा, 'सलाम आलेकुम!'

'वालेकुम अस्सलाम!' मैंने जवाब दिया।

इसके बाद वह खिड़की के बाहर सिर निकालकर हरियाली की तरफ देखने लगा। पेशावर अब नज़दीक आता जा रहा था; और गाड़ी फलों से लदे हुए घने बाग-बगीचों को पार करती हुई धीमी रफ्तार से जा रही थी।

अगर आपने कभी ऐसा सफ़र किया हो जैसा कि हम दोनों कर रहे थे, तो आपको याद होगा कि ये बाग-बगीचे एकदम कश्मीर की याद दिला देते हैं। कहीं-कहीं नहरें, कहीं-कहीं बेंत के दरख्त और उनके पीछे पहाड़ों की लम्बी कतारें। मैंने सोचा कि मेरा साथी ज़रूर किसी शायराना किस्म की तबीयत का मालिक होगा, जो शायद प्रकृति के बजाय भूल से मुझे सलाम कर गया है। खैर, मैं फिर अपनी किताब में लग गया।

इतने में एकाएक वह नौजवान किसी बाग में काम करते हुए माली की तरफ मुखातिब होकर जोर-जोर से चिल्ला उठा, 'अरे ओ बोस्तान के बच्चे! ओ...ह...! देख तूने चमन का क्या हाल कर दिया है। अगर आज नहर का पानी न खोला, तो खाल उधेड़ दूंगा।' और फिर वह घूमकर बड़े संयम के साथ मुझसे कहने लगा, 'जनाब, यह चमन आपके गुलाम का है।'

मैंने उस शुभ-संवाद का सिर झुकाकर स्वागत किया।

पांच मिनट गुजर गए तो फिर वह खिड़की से बाहर झांकता हुआ चिल्लाने लगा, 'ओ फज़ल्दीन, सूअर, खंजीर के तुखुम, आज दस दिन से हम आलू बुखारों के इन्तजार में हैं, और तू है कि कभी ठेकेदार के पास जाता ही नहीं। काम के लिए रखा है तुझे, हराम के लिए नहीं .... समझा!'

उसने फिर मुड़कर मुझे सूचित किया, 'जनाब, यह भी चमन आपके गुलाम का है।'

मैंने उसी तरह झुककर उसकी बात कबूल कर ली।

दस मिनट के बाद फिर एक बार वह चीख उठा, 'ओ रहीमे! शाबाश बेटे, शाबाश! हम बहुत खुश हैं तुझ पर। यह बाग हमारा नहीं, तेरा है....!- 'जनाब, यह भी चमन आपके गुलाम का है।'

मेरा सिर इस बार और भी ज्यादा अदब के साथ झुक गया।

पेशावर पहुंचने के पहले तक कोई बारह-तेरह बार उसने यही क्रिया की।

मैं सोचने लगा, निगरानी करने का यह कितना आसान और कितना अचूक तरीका है। उसकी आवाज़ों से मेरे कान फटे जा रहे थे, लेकिन इतने बड़े आदमी के बारे में कोई बुरी बात सोचना मुझ जैसे नाचीज़ पत्रकार की कल्पना से बाहर की बात थी।

आखिर पेशावर का स्टेशन आ गया, और वह नवयुवक मेरी आंखों से ओझल हो गया।

बात गई-आई, मैं भूल -भाल गया। लेकिन एक दिन बाजार में घूमते वक्त मुझे लगा कि कोई परिचित आवाज मेरे कानों में पड़ती चली जा रही है - 'खा लो केले, पैसे-पैसे। शक्कर-से मीठे, पैसे-पैसे।'

मैंने घूमकर देखा, छाबड़ी में कुछ गले-सड़े केले और कुछ आड़ रखे हुए वही नवयुवक आवाज़ें लगा रहा है।

मैंने हैरान होते हुए उससे पूछा, 'क्यों खान, तुम्हारे तो इतने चमन थे। तुम यह क्या बना रहे हो?'

'हां बाबू, वक्त-वक्त का बात है।' उसने आसमान की तरफ आंखें उठाते हुए कहा, 'अतरसों हमारा बाप के साथ लड़ाई हो गया। हमने कहा, चल ओए, हम कोई तेरे बाप का नौकर नहीं है। हम खुद अपना रोजी कमायेगा। अल्ला करेगा तो हम तेरे से भी बड़ा साहूकार हो जायेगा।'

तो पेशावरी दिल एक ऐसी दिलचस्प और काबिले-तारीख चीज़ है, जो पेशावर से बाहर कहीं नहीं मिलता।

नवम्बर, १९३८]

जीजाजी का बदला

कहते तो लाज आती है; किन्तु जितना शौक चाकलेट खाने का हमारे जीजाजी[1] को है, उतना किसी बच्चे को भी न होगा। सुबह से लेकर शाम तक वे बराबर चाकलेट खाया करते हैं। खासकर जब वे काश्मीर आये हुए हों, तब की तो बात ही क्या! सुबह आठ-नौ बजे के करीब उठते हैं; और दस बजे तक बिस्तर पर ही आंखें मूंदे बैठे रहते हैं।

मेरा तो यह विश्वास है कि उस समय वे नहाने की समस्या पर ही गौर करते रहते हैं; और मेरी माताजी की धारणा है कि उस समय वे पाठ किया करते हैं। परन्तु जीजाजी का कथन है कि उस समय वे अपनी कहानियों के लिए 'इन्सपिरेशन' (प्रेरणा) लेते रहते हैं। खैर, जो भी हो। ग्यारह बजे तक वे नाश्ता करके तैयार हो जाते हैं और फिर वहीं चाकलेट।

जीजाजी नहाने के बहुत बरखिलाफ हैं। उनके विचार से विधाता ने मानव शरीर को इतना मलिन नहीं बनाया है कि उसे बार-बार धोना ही पड़े। उनकी राय में एक अन्ध-प्रथा है, जो बहुत पुराने ज़माने में शुरू हुई थी, और बिना किसी खास कारण के सही-सलामत चलती चली आ रहीहै। असल बात यह है कि उस ज़माने में अपने नश्वर शरीर को हर प्रकार से कष्ट देते रहना निर्वाण या मोक्ष का एकमात्र मार्ग समझा जाता था। कोई भूखा रहता तो कोई शरीर पर राख मला करता था। और बहुत से नहाया करते थे। कदाचित सरल होने से नहाने के व्रत की एक प्रथा-सी चल पड़ी थी। बुद्ध भगवान ने इसे तोड़ने का प्रयत्न बहुत किया था; किन्तु भारत जैसे रूढ़िवादी विशाल देश में उन्हें बहुत कम सफलता मिली थी। चीन में बेशक बौद्ध धर्म खूब फैला था। और यही कारण है कि वहां नहाने की यह कुप्रथा बहुत कम पनप पाई और जीजाजी हमारे बौद्ध धर्म के बहुत ज्यादा कायल हैं।

आज सुबह मैं तैयार होकर बैठा चाय पी रहा था कि इतने में जीजाजी कंधे पर तौलिया डाले, हाथ में साबुन-तेल लिये आए और मुंह से सीटियां बजाते हुए गुसलखाने में घुस गए। मैंने सोचा, आज कुछ होनेवाला है।

काश्मीर में अक्टोबर के दिनों गुसलखाने में सीटियां बजाते हुए जानेवाले महान पुरुष, वहीं क्या, संसार में बहुत कम मिलेंगे। और, जीजाजी उनमें से हैं ही नहीं। आखिर यह रहस्य क्या है? खैर, साहब! उनके दाखिल होते ही गुसलखाने से गाने की धुआंधार आवाजें आने लगीं। वो भी क्या - 'भजो नाम सिरी गिरधारी' से लेकर 'न्यारे बंगले' तक जितने गाने सहगल गा चुके थे, पुरानी रुई की धुनाई की तरह उनके धुनके आने लगे।

मैंने वहीं से बैठे-बैठे ज़ोर से आवाज़ लगाते हुए पूछा, 'आज क्या बात है भाई साहब?'

---

१. चन्द्रगुप्त विद्यालंकार।

गुसलखाने के भीतर से आवाज़ आई, 'नहा रहे हैं, और क्या बात है?'

'मैंने तो समझा, शायद बजरंगबली या महावीर दलवालों का रिहर्सल हो रहा है।'

'झूठ बात! कहीं-और हो रहा होगा।'

मेरा कुतूहल बढ़ने लगा। आखिर ये कर क्या रहे हैं। देख तो लूं।

मैं उठा, और चुपके-से दबे-पांव, एक कुरसी उठाकर गुसलखाने के दरवाजे के पास ले गया, और फिर उस पर चढ़के दरवाजे के ऊपर वाले शीशे की घिसी हुई पालिश में से झांक के देखने लगा। देखता हूं कि जीजाजी पानी के टब के आगे एक ऊंचे स्टूल पर विराजमान हैं, और पैर उनके स्टूल के नीचे के डण्डे पर हैं, पानी से बिलकुल अलग, यानी, जिसे कहते हैं 'सुरक्षित!' पाजामा, कमीज, जर्सी जहां की तहां, यानी जैसे पहने हुए थे वैसी-की-वैसी पहन रखी हैं। अलबत्ता शरीर के वे भाग जो कपड़ों से बाहर रहते हैं, मसलन सिर-शुदा चेहरा, हाथ और पांव गीली तौलिया से पोंछ लिये थे।

और अब, भरे टब से लोटा भर-भरके बड़े समारोह के साथ फर्श पर फेंक रहे थे। बीच-बीच में गले को उंगलियों में लेकर कंपा देते, ताकि 'ह-ह-ह-ह-ह' की ध्वनि से गाने का आलाप भी माधुर्य और सौन्दर्य पकड़े; और नहाने का कष्ट पूरी तरह हम लोगों पर जाहिर हो जाए।

मैंने उनका यह दृश्य चुपके से घरवालों को प्रत्यक्ष दिखला दिया; और फिर कुरसी जहां की तहां रखकर मैं चाय की चुसकियों का मर्मस्पर्शी मज़ा लेने लगा।

★ ★ ★

जीजाजी बाहर निकले; स्लीपर में पांव डालते हुए कहने लगे, 'बाबू रामानन्द, बड़ी सरदी है आज।'

'सो आपको क्या?'

'हमें क्या! क्या मतलब? अजीब बात कर रहे हैं आप! हम सुबह दस बजे ठण्डे पानी से नहायें, जान को जोखम में डालें, और हमीं को क्या? माई डियर, आप कभी-कभी ऐसीबात कह देते हैं कि ताज्जुब होता है।'

इशारा पाकर बहन-भाइयों ने मिलकर जीजाजी का रास्ता रोक लिया। पिताजी-उनके कानों में भी भनक पड़ गई थी - अपने कमरे से निकलकर वहीं आ पहुंचे। आते ही उन्होंने सिर हिलाते हुए अपना विचार प्रकट किया, 'हिन्दी-साहित्य के एक जगमगाते हुए सितारे को ऐसा कदापि नहीं करना चाहिए था। इससे बच्चों पर बुरा असर पड़ता है।'

इस तरह घिर जाने से जीजाजी कुछ सहम-से गए। सोचने लगे, कहीं मेरी गाई-डी-मोपासां के अनुकरण में लिखी हुई कोई कहानी तो नहीं पकड़ी गई? वे सोच ही रहे थे कि बालक अशोक ने उनकी कमीज उठाकर उनके पेट पर हाथ रख दिया। सबके सब कहकहाकर हंस पड़े। मैं चुपचाप बैठा चाय और उसके साथ साथ जीजाजी के हाल-बेहाल का मज़ा ले रहा था। जीजाजी ने बाकी सब लोगों से तो टाल-मटोल कर किसी कदर जान छुड़ाई; फिर मेरी तरफ बहुत देर तक एकटक देखते रहे। उसके बाद धीरे से बोले, 'बदला लिया जाएगा।' और ऊपर चले गये।

काश, मैं सरलता से कहे हुए उनके इन दो शब्दों की तह तक पहुंच जाता।

★ ★ ★

अक्टूबर के दिनों में चिनार के पत्ते तांबे की तरह लाल हो जाते हैं। फिर टहनियों को छोड़-छोड़कर घूमते हुए जमीन पर आ पड़ते हैं। दिन में अठखेलियां करते रहते हैं, और शाम होते-न-होते वे सड़कों के किनारे बसेरा करने बैठ जाते हैं। प्रेमियों को इनसे बचकर रहना पड़ता है; नहीं तो इनकी आवाज कुत्तों को जगा लाती है; और तब उनका रोमान्स पसीना बनकर रह जाता है।

इन्हीं दिनों सामने के पहाड़ों पर नयी बरफ बिछ जाती है, ऐसी कि मानो श्रीनगर के इर्द-गिर्द चूने की दीवार चढ़ गई हो। शायद इसी भ्रम में पड़कर कश्मीरी लोग इस मौसम में अपने मकान ऊंचे ले जाना चढ़ाना शुरू कर देते हैं, वरना इतनी सरदी में कौन ऐसी तरददुत उठाता है।

प्रकृति की इस अनुपम लीला को देख-देखकर किसका मन पागल नही हो जाता। इस दृश्य के सामने मनुष्य अपने झगड़े-झमेलों को सचमुच बेमानी समझने लगता है।

मैंने ऊपर जाकर अपनी धृष्टता के लिए जीजाजी से माफी मांग ली; और उनसे सैर करने के लिए बाहर चलने का अनुरोध किया। थोड़ी देर सोचने के बाद वे इसके लिए राजी भी हो गए।

जीजाजी ने कैमरा उठाया। पतलून उतारकर प्लस-फोर पहन लिया; और फिर हम दोनों सैर के लिए चल पड़े। पहले नदी के साथ-साथ चलते गए। जीजाजी को अभी तक गम्भीर मुद्रा में देखकर मुझे चाकलेट की याद उठ आई; और तब मैंने चट से जेब में से चाकलेट की तख्ती निकालकर उनके हाथ में थमा दी।

आगे चलकर दोनों नाव पर बैठे, और उस पार जाकर हम लोग 'परी-महल' की ओर चल दिए।

लगातार चार मील चलकर पहाड़ के दामन में चश्माशाही के किनारे जा पहुंचे, जिसका पानी मुगलों के हरम को जाया करता था। वहां रुककर हम दोनों ने पानी पिया। उसके बाद जीजाजी ने चॉकलेट मुंह में डाले, और मैंने सिगरेट सुलगाली, ताकि भाप बने और परी-महल की चढ़ाई चढ़ने में सहूलियत हो।

पहाड़ पर चढ़कर हम लोगों ने डेरा लगाया। मुगल बादशाहों के आनन्द-भवनों के ये खण्डहर अपने चारों तरफ के दृश्यों की दृष्टि से अब भी लासानी हैं। उन्हें देखते-देखते कुछ देर के लिए हमारे मन एक तरह के उदास आनन्द से भर उठे।

किन्तु कुछ देर बाद अकस्मात ही भूख ने हम पर धावा बोल दिया। घर से हम पांच मील की दूरी पर बैठे थे। हालांकि घर अपना सामने ही नज़र आ रहा था, लेकिन था वह पांच मील की दूरी पर, और लग ऐसा रहा था कि वह रहा सामने। पहाड़ी जगहों में यह भी एक बड़ी-भारी मुसीबत की बात है। किन्तु किया क्या जाए, भूख तो आखिर भूख ही है। चारों तरफ कहीं भी तो कोई पेट की आग बुझानेवाला 'फायर-ब्रिगेड' यानी रेस्तरां नज़र नहीं आ रहा था। आखिर झख मारकर हमें घर का रास्ता ही नापना पड़ा।

★ ★ ★

उतरते समय हमने देखा कि बाड़ के पीछे एक पेड़ पर सैकड़ों लाल-लाल और बड़े-बड़े सेब लटक रहे हैं। मुंह में पानी भर आया।

जीजाजी बोल उठे, 'बचपन में हम छिप-छिपकर दरख्तों पर चढ़ जाया करते थे और खूब आम उड़ाया करते थे। बाज़ार से मोल लेकर आम खाने में तो कुछ स्वाद ही नहीं।'

मैंने कहा, 'हूं!' और चुप रह गया।

वे कहने लगे, 'मेरी तो टांग ही इसी तरह टूटी थी। वरना मैं ... इस पेड़ पर कभी का चढ़ गया होता।'

मैंने अपने मन में सोचा, 'तो फिर मैं किस मर्ज़ की दवा हूं।' और चट से जंगले को फांदकर पास की दीवार पर खड़ा हो गया, और लगा फटाफट सेब तोड़ने। जीजाजी ने माली की निगरानी रखने की जिम्मेदारी बड़ी उदारता से अपने ऊपर ले ली।

मेरा इरादा था कि दो-चार सेब जीजाजी की तरफ फेंककर दो-एक अपने लिए जेब में डाल लूंगा। मगर जीजाजी को मेरा इरादा कतई पसन्द नहीं आया, और यह बात मैं उनके चेहरे का भाव देखते ही समझ गया।

उन्होंने हिकारत की नज़र से मेरी तरफ़ देखते हुए कहा, 'देखो, मेरी तरफ़ मत फेंको। अपने 'प्लस-फोर' के पैंचे भर लो। किसी को नज़र नहीं आएगा। सड़क पर जाकर टांगा ले लेंगे।'

चोर को लालच जल्दी आता है। सेब भी मुंह मांगते थे। मैंने एक तो मुंह में कस लिया, पेटी उतारकर कन्धे पर डाल ली, और सेब 'प्लस-फोर' में डालता चला गया। जबकि खुद जींजा जी खबरदारी पर थे, तो फिर चिन्ता किस बात की! आखिर दोनों पौंचे बोरियों की तरह भरे ही नहीं, बल्कि लद गए।

मैंने एक बार पीछे मुड़कर देखा, तो जीजाजी बीस कदम आगे जाकर इत्मीनान से एक टीले पर बैठ रहे थे। मुझे उनकी लापरवाही पर क्षण भर के लिए बड़ा अफसोस हुआ, मगर फिर सोचा कि जो काम जिस पर छोड़ा गया हो, उसे अपने तरीके से कोई निभा रहा हो, तो निभाने देना चाहिए और मेरा काम था सेब तोड़ना, सो वह मुझे दयानतदारी और मुस्तैदी के साथ करते रहना चाहिए। और फिर मैं अपने सिद्धान्त की सुदृढ़ आधारशिला पर बैठा निश्चिन्त होकर सेब तोड़ता और पौंचे भरता चला गया।

थोड़ी देर बाद मैंने फिर मुड़कर देखा। जीजाजी वहां से उठकर और नीचे जा रहे थे। उसी क्षण एकाएक मेरे 'प्लसफोर' की सीट पीछे से खिंचकर तन गई। मेरी टांगे लरज गई और आंखों के आगे अंधेरा छा गया। पीछे मुड़कर देखने की हिम्मत नहीं पड़ी, मार पड़ने की प्रतीक्षा में मैं मुंह में सेब डाले पत्थर की मूर्ति की तरह निश्चल शान्त हुआ जहां का तहां खड़ा रहा। लेकिन माली ने मुझे मारा नहीं, पीछे से ही पकड़कर मुझे सड़क पर डाल लिया और इस तरह घसीटना शुरू कर दिया जैसे दुम पकड़ के मुर्गे को घसीटा जाता है। उसके बाद उसने अपनी जननी-जन्मभूमि की भाषा में भाषण देना शुरू कर दिया। सेब को थूककर मैंने जीजाजी को पुकारा। जीजाजी अब बीस कदम और आगे बढ़कर गुलमर्ग के पहाड़ों का नक्शा बांध रहे थे।

मैंने भागने को कोशिश की; लेकिन पहला कदम रखते ही मुझे ऐसा लगा कि मैं ताण्डव नृत्य कर रहा हूं।

गुस्से में आकर मैंने जीजाजी की तरफ़ इशारा करते हुए माली से कहा- 'मेरे साथ वह भी तो है, उसे क्यों नहीं पकड़ते?'

एक दूसरा माली जीजाजी को पकड़ने के लिए लपका; किन्तु वह जब जीजाजी के पास पहुंचा, तो उन्होंने उसकी तरफ़ इस तरह घूरकर देखा कि वह घबरा-सा गया, और चुपचाप वापस चला आया।

अब तक दस काश्मीरियों की 'काश्मीरियां' मुझ पर बरस रही थीं। इतने में दाढ़ी पर हाथ मारते हुए ठेकेदार साहब भी वहां आ पहुंचे।

मैंने फिर जीजाजी का नाम जपना शुरू किया, जिससे प्रेरित होकर वह भी उनके पास पहुंच गया।

बोला-'क्या जनाब भी इन साहब के साथ हैं?'

जीजाजी ने कहा - 'किन साहब के? इनके? इनके?? नहीं। क्यों?'

वह भी नफ़रत की निगाह से मेरी तरफ़ घूरता हुआ, वापस चला आया। उसकी आंखों से निकलती हुई चिनगारियों से ऐसा लग रहा था कि थोड़ी ही देर में उसकी दाढ़ी में आग लग जायेगी।

मेरे पौंचे से बारी-बारी से सेब निकाले जाने लगे। पहला माली अब भी मेरी सीट को बदस्तूर थामे हुए था।

मारे गुस्से के मुझे बुखार-सा चढ़ रहा था। मगर मैं विवश था, कुछ कर नहीं सकता था।

उधर जलती पर तेल डालने के लिए जीजाजी दूर ही से हमारा फोटो उतार रहे थे। फोटो लेकर उन्होंने बड़ी संजीदगी के साथ दो आने के सेब मोल लिए और उन्हें खाते-खाते वहां से चल दिए।

मैंने एक रुपया देकर उन लोगों से अपनी जान छुड़ाई। उसके बाद जल्दी-जल्दी वहां से भाग खड़ा हुआ।

रास्ते में जीजाजी बड़े आराम से सेब खाते हुए मिले। जी में तो आया कि उन्हें उठाकर आकाश में इतनी दूर फेंक दूं कि वे सीधे जाकर भीम के हाथियों से जा मिलें। फिर सोचा कि जाने दो, आखिर है तो अपने जीजाजी ही। इससे वातावरण बेहूदा हो जाएगा।

मगर जीजाजी क्यों माननेवाले! उन्होंने अपना लैक्चर शुरू कर दिया, 'नहाना एक फ़जूल-सी रस्म है। देखने में आया है कि बहुत-से नहाने वाले दिल के साफ नहीं होते। चोरी, दग़ा .... बाली द्वीप में ....।'

'खुदा के वास्ते....।'

'तो फिर कभी मुझे ....।'

'नहीं।'

जनवरी, १९३८]

खूनी पंजा

मैं उस ज़माने का जिक्र कर रहा हूं जब कि हॉलिवुड के गगन में केवल दो नक्षत्र थे; एक एल्मो लिंकन, और दूसरे स्नव पोलर्ड। एल्मो लिंकन महा शूरवीर थे। हाथी के दिमाग पर बिस्तरा करके सारे अफ्रीका का पर्यटन करना उनकी आदत थी। जिब्राल्टर से फेंका हुआ सिगरेट ऐटलाण्टिक सागर का चक्कर काटता हुआ सान-फ्रान्सिस्को पहुंच सीधा उनके मुंह में जाकर दम लेता था। और, स्नव पोलर्ड हंसी के देवता थे। जब वह अपनी बाई आंख फड़फड़ाते तो सिनेमा-हाल, चवन्नी से लेकर दो रुपये तक, मारे गुदगुदी के सिहर उठता!

वह हमारे बचपन का ज़माना था। उसके बाद हमने चार्ली चैपलिन, हेरल्ड लायड और डगलस फेयर बैंक का कृत्रिम काण्ड देखा, और फिर, हम ग्रेटा गार्बो और क्लार्क गैबलको भी देख चुके हैं। लेकिन, मेरे और मेरे भाई के विचार में इतनी वैज्ञानिक सम्पन्नता आ जाने के बावजूद भी सिनेमा में वह बात नहीं देखी, जो उन दिनों हुआ करती थी।

उन दिनों मुझे और मेरे भाई को सिनेमा देखने की कड़ी मनाही थी। पिता जी इस तरह के खेल-तमाशों को घृणा की दृष्टि से देखा करते थे, कभी-कभी और छिप-छिपकर। और, उनका यह पक्का विश्वास था कि ब्रह्मचारी बालकों पर 'सिनेमा' का विध्वंसक प्रभाव पड़ता है, और अन्त में जाकर उसका परिणाम बुरा ही निकलता है।

लेकिन तो भी, हमारे जीवन में स्नव पोलर्ड की मूंछ एक विशेष स्थान रखती थी। जब कभी हम किसी सीरियल फिल्म का विज्ञापन देख लेते, हमारे जी का चैन उड़ जाता। अगर फिल्म साढ़े-पांच से शुरू होने वाली होती, तो हम तीन ही बजे तैयार होकर बैठ जाते। और तब, अगर कहीं साढ़े तीन बज गए और मेरा भाई स्कूल से न लौटा, तो मेरे तमाचे उसका बेताबी से इन्तजार करते रहते।

चार बजे से ही हम लोग सिनेमा हाल के चक्कर काटना शुरू कर देते, खास कर इसलिए कि पैसे खर्च किये बिना ही शायद भीतर घुसने का कोई गुप्त मार्ग मिल जाए। चुनांचे, हठयोग के कई आसनों के फलस्वरूप हम यह दावा कर सकते हैं कि कितनी ही फिल्में हमने परदे के सामने से नहीं, पीछे बैठकर देखीं, जहां कुछ चित्रकार लोग दिन में इश्तहार वगैरह तैयार करते थे।

वहां से हम दोनों भाई रंग-रोगन के कनस्तरों के पीछे चूहों की तरह सिमट कर चित्रपट को श्रद्धापूर्ण नेत्रों से देखा करते। और जब हंसी आती तो उसे प्रकट न होने देने के लिए परदे के उस पार, यानी सामने, बैठे हुए दर्शकों के हंस पड़ने के बाद ही हंसते। और अगर रुलाई आ जाती, तो चुपचाप आस्तीन में मुंह छिपाकर सिसकियां लिया करते। और तो और, कई बार तो यहां तक नौबत आ जाती कि मुझे अपने भाई का मुंह रूमाल से बांध देना पड़ता था।

यह हो ही नहीं सकता था कि इतने पुरुषार्थ से देखी हुई फिल्में हमारे जीवन पर गहरी छाप न डालें! हममें से एक-न-एक, रात को हवा में मुक्के मारता हुआ चारपाई से नीचे टपक पड़ता था। सिनेमा से प्रेरणा पाकर ही हम लोगों ने एक लकड़ी बेचने वाले के स्टाल में गुप्त किला तैयार किया था। जहां पर तरह-तरह की युद्ध-सामग्री इकट्ठी की जाती थी। जब कभी मुहल्ले में महायुद्ध छिड़ जाता, तो आधुनिक रणनीति के मुताबिक ज्यादा नुकसान 'सिविल पापुलेशन' ही का हुआ करता था।

खैर! एक दिन हम लोगों ने एक अत्यन्त रोमांचकारी फिल्म देखी, जिसका नाम था 'खूनी पंजा'। उसका नायक केवल एक बाजू था।जिसकी उंगलियों के आगे शेर के-से नाखून लगे थे। आये दिन उसका वह पंजा किसी-न-किसी शरीफ़ आदमी या औरत की गरदन को चुपके से दबोच देता था, और पंजे के मालिक की किसी को खबर तक नहीं लगती थी। उसकी इन हरकतों को देखकर दो-एक दिन तो हम खुद सहमे रहे; फिर हमें औरों को डराने की सूझी।

उस दिन पण्डितजी हमारी कक्षा को 'कस्मिश्चिंदधिष्ठाने भासुरको नाम सिंहः प्रतिवसतिस्म' वाला पाठ पढ़ाने के लिए जीने के ऊपर चढ़ रहे थे। और तब, मैं अपना हाथ लाल स्याही से रंगकर सीढ़ियों के दरवाज़े के पीछे छिपकर खड़ा हो गया। और ज्यों ही पण्डितजी ने आखिरी सीढ़ी पर पैर रखते हुए आराम की सांस ली, मेरा हाथ खुलता और बन्द होता, बन्द होता और खुलता हुआ, उनकी गरदन की तरफ़ रवाना हो गया। पण्डितजी के गले से कुछ इस तरह की आवाज निकली जैसे वह खुद अपनी जीभ निगल रहे हों! और फिर, वह पूरी रफ्तार से नीचे भाग खड़े हुए।

तजुरबे की इस मुकम्मल क़ामयाबी ने मुझे और भी हिम्मत बख्श दी।

होनहार की बात, कि ठीक उसी दिन रोटी खाकर हाथ मुंह धो रहा था कि इतने में बड़े दरवाज़े की कुंडी खड़की। मैंने सोचा कि हसब मालूम मेरा भाई मास्टर साहब के घर से पढ़ कर आ गया है। मैं भागकर उसी तरह सीढ़ियों में जा खड़ा हुआ। नीचे से मेरे भाई ने बिजली का बटन दबाया, मैंने ऊपर से फिर अंधेरा कर दिया। फिर हंसी को मुश्किल से थाम कर रिहरसल किया। और जब उसके क़दम नज़दीक पहुंचे तो मैंने झठसे 'खूनी पंजा' तैयार किया, - खुलता और बन्द होता हुआ और बन्द होता और खुलता हुआ।

मेरा पक्का विश्वास था कि मेरा भाई अवश्य चीखेगा, मगर वह चीखा नहीं। फिर मैंने जरा झांककर देखा कि कहीं वह चीखने की जगह कोई और तमाशा न कर रहा हो?

पगड़ी-मूछें-यह क्या? मेरे पैरों तले की ज़मीन खिसकने लगी! ऐं! चाचाजी? तौबा! तौबा! मैं सपने में भी अनुमान नहीं कर सकता था कि चाचाजी की प्रभावशाली शक्ल ऐसी सूरत अख्तियार कर सकती है! उनकी आंखों में विचित्र ज्योति थी, जैसी कि उस साधुकी आंखों में थी जो समाज में कहता फिरता था कि 'मैंने परमात्मा देखा है!'

चाचाजी की पगड़ी वापस सीढ़ियों में कूद जाने की तैयारी कर ही रही थी कि इतने में जब उन्होंने देखा कि मेरे 'खूनी पंजे' का सिगनल मारे घबराहट के डाउन हो रहा है, तो वे मेरी तरफ़ लपक पड़े।

'अरे बदबख -बदबख-बदबख्त। क्या कर रहा था तू?'

'मैंने समझा-भाई है।'

'तो तू अपने भाई का गला अभी से घोंटना चाहता है? तुझे पता नहीं, ऐसा करने से कभी-कभी 'हार्ट-फेल' हो जाया करता है?'

'मैं-मैं-'

'मैं-का बच्चा! तू नन्हूको रोज़ सताता होगा। इसीलिए वह पनपता नहीं! एं! आ, तुझे आज सीधा करूं-'

चाचाजी डाक्टर थे। उसकी दलीलों का भला मैं क्या जवाब दे सकता था?

फिर तो और ज़ोरों से पड़ी; और मेरे होश ठिकाने आ गए।

★ ★ ★

'खूनी पंजा' मेरे लिए बहुत महंगा पड़ा। पड़ा तो पड़ता रहे। लेकिन मैं इस दुर्घटना को विशेष महत्त्व नहीं देना चाहता था। आखिर स्नव पोलर्डपर भी ऐसी ही बीतती होगी। पंजाबी में एक मशहूर कहावत है, 'दो पइयां, विसर गइयां; यारां दियां दूर बलाइ गइयां', यानी, 'दो पड़ीं, भूल गईं; यारों की बलाएं गईं।' तदनुसार मैंने भी उसे भूल जाने की कोशिश की। किन्तु, फिर विचार उठा, भूलने की कोशिश क्यों करूं? पिटते वक्त कोई देखने वाला, चश्मदीद गवाह तो था नहीं। फिर क्यों न, मार खाने की बात को मन से निकालकर, चाचाजी के प्रथम संकट पर रंग चढ़ाकर उसे अपने दोस्तों को सुनाऊं?

लिहाजा, एक दिन शाम को 'थड़े' पर बैठकर मैंने पूरा-का-पूरा किस्सा मुहल्ले के लड़कों को सुनाना शुरू कर दिया। वे सबके सब सुनते और जोर-शोर से हंसते रहे। और, जितना वे हंसते उतना ही मैं और भी ज्यादा चटखारे लगा-लगाकर सुनाता रहा। सच तो यह है कि उस शाम का हंसी का वह बाज़ार इतना सरगर्म होता गया कि उसे ठण्डा होने में काफ़ी से ज्यादा देर लग गई। वास्तव में, ऐसी हंसी हंसने और देखने का अवसर मुझे मुद्दत से नसीब नहीं हुआ था। मेरी आत्मा उस हंसी से संगीत-स्रोत में बही चली जा रही थी। जी करता था कि मैं बोलता ही चला जाऊं।

किन्तु अचानक उनकी हंसी जहां की तहां ऐसी रुक गई जैसे हैण्ड-ब्रेक और फुट-ब्रेक एक साथ दबा देने से भारी-भरकम लदा हुआ ट्रक रुक जाता है।देखा कि उनके चेहरे उस घोंसलों की तरह लटकते रह गए, जिनके अण्डे निकाल लिये गए हों!

फिर तो मैं चाचाजी की घबराहट का और भी रोचक, और भी प्रभावशाली चित्रण करना शुरू कर दिया। लेकिन फिर भी, देखा कि उनके चेहरे पूर्ववत ज्यों-के-त्यों लटक रहे हैं और तब, मेरे मन में ज़रा-कुछ खटका-सा हुआ। लेकिन फिर भी, मैं रुका नहीं; उन्हें सात्वना देते हुए मैंने फिर बोलना शुरु कर दिया। मैंने कहा- 'अरे, मरे क्यों जा रहे हो! चाचाजी का 'हार्ट-फेल थोड़े ही हो गया था, जो तुम लोग इस तरह मुंह लटकाये रह गए!'

किन्तु आश्चर्य है, इससे उनके चेहरों पर कोई असर नहीं पड़ा! बल्कि मेरे भाई ने दबी हुई आवाज़ में कुछ कहना शुरू किया, पर मुझे इतना ही सुनाई दिया, 'हुश-श, -हुश्श-'

मैंने उसे डांटते हुए पूछा-'क्या कह रहा है तू? हुश-हुश क्या होता है?'

उस बेचारे ने सहमी हुई अदा से सिर्फ इतना ही जवाब दिया-'हुश-श, हुश, श, हुश-श!-'

उसके बाद तो मुझे इतना ही याद है कि पीछे से चाचाजी के उस दिन के उसी हाथ ने मेरी चोटी पकड़ ली थी! और मैं अपने उन यार-दोस्तों से निकालकर ऐसे फेंक दिया गया था जैसे दूध में से मक्खी!

मई, १९३८]

नई दुलहिन

कई दिनों से मुझ पर एक कहानी सवार थी। चाहता था कि मैं उसे लिखूं। रात को सिरहाने पर सिर रखता, तो कभी उसका पहला हिस्सा बोलने शुरू कर देता, कभी बीच का, और कभी पिछला। दिमाग़ की हालत बिलकुल ब्राडकास्ट-रिसीवर की तरह हुई जा रही थी। एक बार तो सपने में इस कमाल का 'क्लाइमेक्स' आंखों के सामने फिरा कि मैंने सुप्तावस्था में ही फैसला कर लिया कि सुबह उठते ही उनको नोट कर लूंगा। लेकिन, जब आंख खुली, तो वह हद से इतना ज़्यादा निकम्मा था कि मुझे यकीन हो गया कि अगर चार दिन और कहानी को मन में रोक रखा, तो मैं खबती हो जाऊंगा।

आखिर तंग आकर मैं एक रोज़ सुबह सबसे ऊपरी कोठे की छत पर कागज़-पैन्सिल लेकर जा बैठा। धूप कई दिनों के बाद खूब निखर कर निकली थी। शहर के नज़दीक वाला पहाड़ तीन दिन के लगातार 'शावर-बाथ' यानी वर्षा-स्नान के बाद कुछ सुथरा हो गया था। उसके पीछे बरफ़ से लदी हुई पहाड़ों की अनगिनत कतारें काश्मीर के दिलचस्प स्थानों की याद ताज़ा कर देती थी। मेरे साथी भी मज़े से धूप ले रहे थे। वे थे चार मोटी तोंद वाले, मुझसे आलसी, घड़े। एक सीट-रहित कुरसी भी अपनी रिटायर्ड ज़िन्दगी के दिन वहीं बिता रही थी।

मैंने यह महसूस किया है कि कहानी का प्लाट गांठ लेना और बात है, और उसका लिखना और बात। खासकर शुरू के फ़िकरे तो बहुत ही फ़िकर में डाल देते हैं।

मैंने लिखना शुरू किया - 'कमलपुष्पा अपने ज़माने की सबसे ज़्यादा खूबसूरत लड़की थी। शायद इसलिए कि वह बचपन से अपने नाम पर ज़्यादा गौर करती रही थी।' लिखा, फिर काट दिया।

फिर लिखने लगा, 'चाहे उससे और भी सुन्दर लड़कियां संसार में हों, लेकिन कमलपुष्पा के ओठों पर एक प्रकार का निमन्त्रण था, जिसने गनीमतराय को कमलपुष्पा पर-' कमल-पुष्पा, कमलपुष्पा!-एक वाक्य में दो-दो बार?

इसी तरह मैं काट-छांट करता हुआ पारे को उंगलियों से चुन रहा था। लेकिन कहानी को, दिमाग़ में, ठीक होते हुए भी, आगे नहीं बढ़ा पाता था। इसलिए आंखे चंचल होकर इधर-उधर भाग रही थीं।

★ ★ ★

एक बार मुंडेर के झरनों में से होती हुई नज़र एक पड़ोसी के सहन में जा पड़ी। वहां सब्ज कमीज़ पहने एक लड़की किसी बच्चे के पैर धो रही थी। कमल पुष्पा के सौन्दर्य का चित्रण करने में नाकाम हुआ मैं वक्त टालने के लिए यह पड़ताल करने लग पड़ा कि वह बच्चे की मां है या बहन? मां तो नहीं हो सकती क्योंकि उसके बाल काले और

लच्छेदार थे। बहन होगी, बारह तेरह साल की। लेकिन, दुपट्टा सम्हालने के ढंग से यह स्पष्ट लगने लगा कि वह बारह-तेरह साल की नहीं, सत्रह-अठारह साल की बहन होगी। खैर। कमल पुष्पा थोड़ी देर के लिए गनीमत राय के पास पहुंचा दी गई।

मैं उस लड़की की चुस्त हरकतों में दिलचस्पी लेने लग गया। बच्चे के पैर धोने के बाद उसने जुराब-बूट पहनाए, बाल संवारे और मुंह पर वैसलीन लगाई। फिर उठ खड़ी हुई। उसके कपड़े मोटे और मामूली थे। इतनी दूर से अन्दाजा नहीं लग सकता था कि वह सुन्दरी है या नहीं। अलबत्ता उसके कानों में लटकता हुआ लाल कांटा बार-बार हिलता था। वह जगह आकर्षक थी। उसका कद छोटा था; या फिर ऊंची जगह पर बैठे होने के कारण मुझे ही छोटा मालूम होता था। शरीर की गढ़न अच्छी थी। बच्चे को संवार कर वह उसे बरामदे में लटकते हुए झूले में बिठा आई; और फिर आंखों से ओझल हो गई।

ओ! वह तो एक नौकरानी थी! अब वह कालीन सिर पर उठाए हुए कमरे से निकल रही थी। कालीन को उसने जंगले पर रखा, और एक चारपाई को। जिस पर शलगम सूख रही थी, खींच कर दीवार के पास ले आई। फिर पानी से भरा हुआ एक जग लाकर चारपाई पर चढ़ गई। जग को दीवार पर रखा, और आप भी गिलहरी की तरह कूद कर दीवार पर चढ़ गई। दीवार पर चलती हुई बरामदे की टीन की छत पर जा चढ़ी। फिर जग को दीवार के कोने में रख कर वह छत पर पेट के बल लेट गई, और सहन में आवाज़े देने लगी। उसकी आवाज़ मोटी थी। कमल पुष्पा की तरह बारीक नहीं; लेकिन उसने मुझे शक में डाल दिया कि दरअसल मैं पतली आवाज पसन्द करता हूं या मोटी?

उसके बुलाने पर एक सूखा हुआ बदसूरत आदमी सफ़ेद पगड़ी पहने बाहर निकला। नालायक को पता भी था कि वह कालीन मांगती है, फिर भी वह उसके सामने खड़ा होकर लगा बातचीत करने। लड़की ने भी, हालांकि वह काम इस मुस्तेदी से कर रही थी कि शायद और भी चार घरों को निबटाना हो, हंसते हुए जवाब दिए।

ओहो, मैंने सोचा, स्त्री की प्रकृति कितनी सहनशील होती है। आखिर मर्द ने कालीन उठा कर ऊपर फेंक दिया। लड़की ने उसे छत पर बिछा दिया, और जग को विचित्र अदा से बगल में लेकर वह लगी उसे धोने।

मुंडेर के झरोखों में से गरदन मोड़ कर ज़्यादा देर तक इन्सान टकटकी नहीं लगा सकता। और कहानी भी मुझे आज ज़रूर लिखनी थी, चाहे कुछ भी हो। कितनी फंजूल बात है कि सारा ढांचा दिमाग़ में होते भी आदमी उसे कागज पर न ला सके। थोड़ी देर केलिए फिर मैं कहानी की तरफ़ लग गया। लेकिन, पता नहीं क्यों, ध्यान मुड़-मुड़ कर पड़ोसी के घर की तरफ़ जाता था।

वह लड़की अब तनकर खड़ी थी; और अंगड़ाइयां ले रही थी। वहां से वह फिर वापस नीचे उतरी। बरामदे में दो-तीन बच्चे खेल रहे थे। चारपाई पर एक अधेड़ उम्र की गृहिणी उसी आदमी के साथ बातें कर रही थी। छोकरी अपना काम खत्म कर सीढ़ियों से नीचे उतर गई।

मैंने शुक्र किया। नाटक खत्म हुआ। फ़ुरसत पाकर मैंने अपने-आपको कोसा- 'तुम एक शरीफ़ आदमी हो, और जल्दी ही तुम्हारी शादी होनेवाली है। फिर लोगों से घरों में ताकने का क्या मतलब? लेखक को सब चीजों से बढ़कर एकाग्रताकी ज़रूरत है। अगर वह नहीं, तो कुछ भी नहीं।'

इसके बाद, मन पक्का कर मैं फिर कमलपुष्पा और गनीमतराय के ध्यान में समाधि लगाकर बैठ गया। मगर किया क्या जाए, मेरा मन खब्ती जो हो चुका था। उसी तरफ़ बार-बार झपटता था। सोचने लगा, हम भी क्यों न घर के काम-काज केलिए ऐसी ही लड़की रख लें? क्या फाजदा बदतमीज़ नौकरों के साथ मुंह लगाने से? और फिर, कितनी ही लड़कियां ऐसी होंगी जो घरों में काम कर अपने ग़रीब मां-बाप का बोझ हल्का कर सकती हैं।

अच्छा, फर्ज करो, रख ही ली-लेकिन नहीं, इन्सान को अपने-आप पर भरोसा नहीं हो सकता। फिर विचार हुआ कि अगर मेरे जैसे बुद्धिमान आदमी इतनी दूर बैठा हुआ इतना विचलित हो सकता है, तो, वह भी तो, जिसके घर वह काम करती है, इन्सान ही है! लेकिन हां, शायद लेखकों में शराकत कम हुआ करती हो?

पता नहीं, कितनी देर मैं इस सोच में डूबा रहा। फिर घूम कर उस आदमी की तरफ़ इस तरह देखने लगा, जैसे कोई मनो-वैज्ञानिक डाक्टर अपने मरीज़ को देखे।

★ ★ ★

अधेड़ उम्र की स्त्री अब वहां नहीं थी। बच्चे भी नहीं थे। चपला किशोरी फिर आ गई थी; और अब वह झूला झूल रही थी।

इतने में, वह आदमी दरवाज़े में आकर खड़ा हो गया, और उसे ताकने लगा। तीन-चार पैंग लेकर लड़की बिजली की तरह झूले से उतरकर, दुपट्टे को सम्हालती हुई, नीचे उतर गई। पुरुष चारपाई पर बैठकर निचली डयोढ़ी की तरफ़ ताकने लगा।

मैं अपनी मनोवैज्ञानिक दृष्टि को बेलगाम कर उसके मन के भाव बूझ रहा था। क्या मैं उसकें भाव ढूंढ़ रहा था या अपने भाव उसकी तरफ फेंक रहा था? इतनी देर में वह उठा और बड़े आराम के साथ सीढ़ियों वाले किवाड़ की ओट में जाकर खड़ा हो गया। अकस्मात लड़की भी ऊपर चढ़ आई। मर्द की बांहों ने उसे आते ही समेट लिया। लड़की के लाल कांटेवाली जगह उसकी पगड़ी के पीछे छिप गई। कुछ देर बाद लड़की ने अपने-आपको छुड़ा लिया, और नीचे भाग गई।

उसके बाद मैं क्या कहानी लिखता? निराश होकर मैंने अपनी कापी बगल में दबाई, और नीचे उतर आया।

लेकिन, इससे बड़ी निराशा तो मुझे दूसरे दिन हुई, जब पता लगा कि वह किशोरी उसकी 'नयी दुलहिन' थी।

मार्च, १९३८]

रमज़ान

रमज़ान फिर लौट आई है। स्थान-स्थान पर ड्राइवरों ने चांद देखने के लिए लारियां रोक रखी हैं। पहाड़ का चांद भी एक अजीब चीज़ है। कोई कहता है, 'मैंने चिनारी के नज़दीक देखा था, अब खुदा जाने कहां ग़ायब हो गया है।'

कोई कहता है, 'आज तो पहला चांद है, हमने रोज़ा नाहक ही रख छोड़ा।'

कोई कहताहै, 'अरे नहीं, यह दूज का चांद है। न भीहो तो क्या है? एक रोज़ा अधिक रखने से मर तो नहीं जाओगे?'

किन्तु हमारा ड्राइवर इस बहस में भाग नहीं लेता। उसने अपना रोज़ा सबेरे ही खोल दिया था। श्रीनगर से चलते ही पिता जी को फ़िक्र हुई कि रोज़े आ गए हैं और ड्राइवरों के वायदों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। पता नहीं, एक दिन में रावलपिंडी पहुंचा दें या नहीं। प्रायः रोज़ा खोलने वाले पांच ही बजे सब काम छोड़कर खाने-पीने की सामग्री सामने रखकर बैठ जाते हैं। मैं एक बार मुरादाबाद के स्टेशन पर गाड़ी में सवार हुआ। जिस डिब्बे में मैंने प्रवेश किया, उसमें कुछ पठान लोग भी थे। ज्योंही सूरज कुछ नीचे झुका, उनकी तबीयत बेचैन होना शुरू हो गई। एक ने दो अमरूद खरीदे, उसे बड़ी सावधानी से काटा, नींबू लगाया, कुछ पकौड़े निकाले और फिर इन सबको एक कागज़ में संवारकर सामने वाले फट्टे पर रख दिया, पट्ठे ने लखनऊ तक किसी यात्री को उस रास्ते से गुज़रने नहीं दिया। एकटक उस कागज़ की ओर देखता रहा। ज्योंही छः बजे, एक फांकी उठाकर मुंह में रख ली। उसके बाद यह था कि रात को दो बजे तक खाने-पीने का दौर चलता रहा। कभी रोटी, कभी गोश्त, इस स्टेशन पर अंडे, अगले पर संतरे, फिर रोटी, फिर गोश्त, इत्यादि।

सो रमज़ान के दिनों मोमिनों के प्रोग्राम पक्के नहीं होते- विशेष कर ड्राइवरों के। यदि शाम के चार बजे ही किसी पड़ाव पर मुर्गे की शुशबू आ गई, तो लारी वहीं ठहरा कर सूर्यास्त की प्रतीक्षा करने लगे। यदि यात्रियों ने हाय-तोबा मचाई, तो कह दिया कि खाना यहीं अच्छा मिलता है, तुम भी खा लो। बाद में चाहे मुर्गे की एक टांग पांच आदमियों में बंटे।

पिता जी तो जानते थे। जो व्यक्ति साठ साल तक मोमिनों को रोज़े रखते देख चुका हो, वह भी आधा रोज़ई हो जाता है। ज्योंही लारी श्रीनगर के बाज़ारों में से गुजरी, पिता जी ने चार आने का गर्मागरम हलुआ खरीदा और तत्कालही ड्राइवर के आगे कर दिया। रमज़ान, रमज़ान है, लेकिन हलुआ भी तो आखिर हलुआ है। और फिर कल शाम को बादल थे। चांद ने भली प्रकार दर्शन नहीं दिए। कोई कहता है, 'आज शुरू है,' कोई कहता है, 'कल शुरू होंगे।' कुछ इस प्रकार मन को तसल्ली देकर ड्राइवर ने हलवा घप

कर लिया। अब हम उसकी चिकनाहट के बिरते मज़े से फ़िसलते जा रहे थे। उसी दिन शाम को घर पहुंच गए।

चांद के साथ सम्बन्ध होने के कारण रमज़ान में भी चांद का कुछ रोमांस छलक आता है। पहले रोज़े के दिन हमेशा बहस होतीहै कि चांद नज़र आया या नहीं। पत्र-पत्रिकाओं में तारीख चाहे महीनों पहले से छप चुकी हो, फिर भी लोग जब तक चांद को अपनी आंखों से न देख लें, उन्हें विश्वास नहीं होता कि रोज़े आ गए हैं। बच्चे, बूढ़े, जवान, स्त्री, पुरुष सभी छतों पर चढ़कर नज़रों के पतंग उड़ाते हैं। किन्तु ईद के चांद का आगमन होने पर यह बेचैनी एक दूसरा रूप धारण कर लेती है। एक शख़्स भी यदि यह कह दे - 'हां, चांद नज़र आ गया है,' तो प्रतीक्षकों की निगाहें आकाश से हटकर ईद के साज-ओ-सामान की ओर चली जाती हैं। कल के एक दिन में सारे साल के लिए आनन्द और उल्लास का स्मृति-पुंज संचित करना है। कल का एक-एक क्षण उन्माद से भरना है। और यह कितना मुश्किल है।

ईद का अपना वायुमंडल होता है। किन्तु रमज़ान की भी अपनी एक मस्ती है। अगर ईद द्रुतगामी वसन्त है, तो रोज़े शीत-कालीन लम्बा सोग है; अगर ईद मिलन की इनी-गिनी घड़ियां हैं, तो रमज़ान विरहकाविषम युग है, जिसमें न दिन में जान, न रात को चैन।

मैंने सुना है कि कलकत्ते में अब जनता को सुबह सचेत करने के लिए तोप दाग़ी जाती है। हमारी तरफ़ यह नहीं होता। मेरी समझ में तो यह तरीका सहज, शानदार और गौरवपूर्ण चाहे हो, कामयाब नहीं। पहला कारण तो यह है कि सबकी नींद एक जैसी नहीं होती। कई, तोप को जाने दीजिए, चूहे की कुतर-कुतर को सुनकर ही जाग जाते हैं। और कई-मेरे जैसे-बीस किस्म के खुर्राटेबाजों के मध्य में सोकर भी सुबह ताज़ा उठते हैं। इस दूसरी किस्म के शरीफ़ज़ादों के लिए क्या तीन मील दूर से एक तोप का फ़ायर काफ़ी होगा? अव्वल तो कलकत्ते जैसे बड़े शहर में सभी सोने वाले सुन भी न पाएंगे। यदि सुन भी लें, तो भी सभी धर्मनिष्ठ एक से नहीं होते। हमारा शम्भू आपके ऐन सामने बीस कदम के फ़ासले पर खड़ा अपनी तोतानुमा आंखों से आपको टुकुर-टुकुर ताकता रहेगा और इक्कीसवीं आवाज़ पर कहेगा, 'बाबूजी, हमका बुलावत हैं?' ऐसे लोगों के लिए तो दस फ़ायर से भी काम नहीं चलेगा। फिर क्या मालूम, यही सोचकर करवट बदल लें किशायद लाटसाहब की सलामी हो रही है।

और हमारे विरोध का दूसरा कारण यह है कि यदि तोप ही दगवाना है, तो क्या फ़ोर्ट विलियम से ही? क्यों न हर मुहल्ले में पांच-दस मंचल पटास के गोले दाग दो? क्या यह वही तोप नहीं, जिसकी आग सदियों से मुसलमान वीरों की छातियों पर बरसती रहीं। क्या यह वही फोर्ट विलियम नहीं, जिसकी दीवारों के पीछे हमारी स्वतन्त्रता की देवी दिल्ली से जकड़कर लाई गई थी और जिन्दा दफ़ना दी गई थी? फिर एक छूंछा, नकली गोला दग़वाने की क़ीमत भी हमीं दें। वाह! सचमुच इतनी बेमुरव्वती हमारे इतिहास में कभी देखने में न आई थी। आखिर गोला किस का है, तोप किस की है? लेकिन इन पाश्चात्यकों की सभ्यता ही कुछ ऐसी है। इनके डाक्टर भी तो अपने चचा तक को बिल भेजने में संकोच नहीं करते।

न भाई, हमारे यहां तो ऐसा नहीं है। हम तोप-वोप नहीं दगवाते। जब मैं छोटा था, तो यह काम अखाड़ेवाले करते थे।

अखाड़ेवाले उन शूरवीरों की संतान हैं, जो किसी ज़माने में ढाल तलवार से लड़ा करते थे, किन्तु अब तलवारें महंगी हैं और फांसी के तख्ते का भी डर है, इसलिए गतकों का प्रयोग होता है। पैतरें बेशक वही हैं।

हमारे शहर में छः या सात अखाड़े हैं। हरेक अखाड़े का अपना झण्डा, मरद्वियां व ढोल होते थे। जब भी किसी बड़े आदमी के घर शादी-ब्याह हो, या कोई त्यौहार हो, अखाड़ेवाले अपनी युद्ध-सामग्री लेकर पहुंच जाते थे। ढोल की धमाधम से दिशाएं गूंज उठती थीं। वह ग़ज़ब के पैंतरे चलते थे कि नाचने वाली बाईयां भी दाद दिए बिना न रहती थीं।

रमज़ान के दिनों मोमिनों को प्रातःकाल सचेत करना भी अखाड़ेवालों के जिम्मे था। सुबह तीन बजे ये लोग विविध दिशाओं से शहर पर आनन-फानन धावा बोल देते थे। र्र र्र र्र र्र र्र .....क र्र र्र र्र र्र र्र र्र ..... धमाधम-धमाधम-धमाधम। प्रत्येक ढोल दूसरे ढोल को पराजित करने पर तुल जाता था। अखाड़ेवालों की टोलियां हर एक घर के आगे ठहरकर चिल्लाती थीं - 'उठो मुसल्मीनों, रोज़े रक्खो-ए....' यदि नगर में एक आदमी भी सोता रह गया, तो उस हल्के के अखाड़ेवालों की मारे शर्म के कई दिन आंख न उठती थी।

बाकी दिन ये लोग मुहल्लों के नलकों पर पहरा देते थे। सभी मोमिन एकसां नहीं होते और न रोज़े सदा सर्दियों में आते हैं। गर्मी में कोई रोज़ा रख के देखे तो जानें। दोपहर को वह प्यास लगती है कि मन फ़ायर ब्रिगेड को बुलाने को दौड़ता है। ऐसे समय में कई छोटे दिल वाले हाथ-पैर धोने के बहाने टोटियों के सिरहाने जा बैठते हैं। पहले पाद-हस्त प्रक्षालन होता है, फिर इधर-उधर की शिस्त लेकर कुल्ले पर कुल्ला चलता है। ऐसे लोगों की निगरानी भी अखाड़ेवाले ही करते हैं।

हमारे मुहल्ले में एक नये फैशन के नौजवान को तम्बाकू की इल्लत थी। रोज़े के दिनों वह विधर्मी सिगरेट पीनेवालों के पीछे-पीछे उनका छोड़ा हुआ धुआं सूंघने के लिए चला करता था। आखिर एक अखाड़ेवाले के हाथों सीधा हुआ।

इन अखाड़ेवालों में एक परले दरजे का रंगीन आदमी था। आर्थिक दृष्टि से बाकी साथियों से कहीं अधिक सम्पन्न था। गलियों में चीनी-शीशे के बर्तन बेचा करता था। उसका मुंह कुप्पी की तरहगोल था और उस पर मेंहदी के रंगी हुई मूंछें झंडियों की तरह लटकती थीं। इनकी वजह से उसको देखकर सभी लोग हंस पड़ते थे। इसलिए वह उनके हंसने से पहले हंस पड़ता था।

लेकिन था बेचारा बेनसीब। बीवी-बच्चे खुदा के घर पहुंचा चुका था, और स्वयं भी जोड़ के दर्दों के मारे परेशान रहता था। कारोबार भी चीनी के बर्तनों का था, जो आज है, कल नहीं। इसलिए अपनी मूंछों की देखभाल को ही उसने एक व्यसन-सा बना रखा था। हर छठे दिन उन्हें रंगता और प्रतिदिन उन्हें घी का पुट देता था।

अखाड़ों पर वह जान देता था, लेकिन गतके में प्रवीण न था। ज्योंही उस्ताद को सलामी देने झुकता कि प्रतिद्वंद्वी वार कर देते। पैंतरे के हेर-फेर उसकी समझ से बाहर थे। अलबत्ता वह बकता खूब था। अनपढ़ होने के बावजूद घंटों वह अंग्रेजी में लेक्चर देता था। किसी न किसी चौराहे पर रात को अवश्य उसकी रौनक बनी रहती।

अब हमारे शहर में रमज़ान के ढोल नहीं बजते। अखाड़ों के लोग सभी बेलचा फ़ौज में भरती हो गए हैं। बेलचा फ़ौज एक प्रकार की मुसलमान सेवा-समिति है, जो कुछ वर्षों

से कई शहरों में प्रचलित हुई है। खाना खा चुकने केबाद अखाड़े वाले खाकी वर्दियां पहनकर कंधे पर बेलचा सजाकर अंग्रेजी ढंग की कवायद सीखते फिरते हैं। बेलचा क्यों है, वे नहीं जानते, पर यह अवश्य जान गए हैं कि पैंतरे पुराने हो चुके हैं। लेफ्ट-राइट का ज़माना है। ढोल बेचकर बिगुल व ड्रम खरीद लिए गए हैं। चीनीवाले ने मुंह मांगी मुराद पाई है। इस फौज में अब वह कारपोरल है। लेक्चर देने के बजाय आर्डर देता है। मौका लगे तो दिन को भी वर्दी पहनकर अपने सिपाहियों से सलाम लेता फिरता है।

अब ढोल-धमाके के स्थान पर दो बिगुल और ड्रम बजते हैं। शोर मचाने की परम्परा को भी त्याग दिया गया है, क्योंकि वह असभ्यता है। शहर के एक सिरे से दूसरे सिरे तक कारपोरल और उसकेबैंड का प्रभावशाली मार्च होता है। सिपाहियों के कदमों की थप-थप- अथवा कारपोरल के आर्डरों के अतिरिक्त और कोई अनावश्यक आवाज़ें नहीं उठती। केवल कभी-कभी सिपाहियों की परस्पर फुस-फुस सुनाई दे जाती है, मसलन-'तोंद का मारा अपना क़दम ठीक रखता नहीं और हमें गालियां देता है।'

इन दो बिगुलों के आगे वह ढोल चीज़ ही क्या थी! एक जापानी है और दूसरी जर्मन। बजानेवाले भी अभी उस्ताद नहीं हुए। जो-जो स्वर निकालने के लिए बिगुल नामक वाद्य तैयार किया गया है, उन्हें छोड़कर हर प्रकार की आवाज़े वे निकालते हैं। यदि कोई साधारण स्वर फूट पड़े, तो फौरन उसे दबा दिया जाता है। कभी स्लेट पर खुर्दरी पेंसिल के रगड़ने की - सी आवाज उठती है, तो कभी मेंढकी-सी बें-एं। और ज़ालिम एक साथ भी नहीं बजाते। एक-दूसरे की नकल करते हैं। शुरू-शुरू में बेलचा प्रबन्धक कमेटी को आशंका थी कि केवल दो बिगुलों से काम नहीं चलेगा। अब सुना है कि कमेटी के कई सदस्य आन्दोलन कर रहे हैं कि बिगुलों को रेल के नीचे रखकर पिसवा दिया जाए लेकिन दूसरा पक्ष सहमत नहीं। वह चाहता है कि उनकी पिछली नली बन्द करवाकर उन्हें पियाउ पर लोटे के तौर पर इस्तेमाल किया जाए। अतएव पहला प्रस्ताव पास नहीं हो सका।

ठीक है, रमज़ान के संबंध में पूरब और पश्चिम का मेल नहीं कराया जा सकता। काश कि वही ढोल बजाने की व्यवस्था फिर लौट आए। बड़ों के तो क्या बच्चों के अरमान फिर पूरे हों। जिन दिनों ढोल बजा करते थे, मेरा भांजा रमजान से एक महीना पहले और रमज़ान के दो महीने बाद तक सारा दिन मकान की सबसे ऊपरी वाली छत पर बैठा टीन बजा-बजाकर मुहल्ले वालों को रोज़े रखाया करता था- 'उठो मुशिल्मानों, रोज़े रखा-ओ-ओ-ओ-ए!'

कई डरपोक इस प्रातःकाल के महाघोष से सख्त घबराते हैं। कईयों को तो मारे डर के सारी रात नींद ही नहीं आती। बेचारे बिगुल बजने से आध घंटा पहले ही गली के सिरे पर जा बैठते हैं और आक्रमणकारियों के प्रवेश करते ही निवेदन करते हैं - 'सलाम अ-लैक्म, हम जाग उठे हैं, ज़रा और आगे जाकर बजाइएगा।'

हमारे पड़ोसी भी कुछ ऐसी ही नाजुक तबीयत के थे। रमज़ान पड़ते ही मुरझा जाते। यह नहीं कि वह रोज़ा नहीं रखना चाहते, वह फर्माते - रोज़े तो बीस ज्यादा भी रख सकता हूं, लेकिन यह कम्बख्त बिगुल ....

एक दिन हमारे घर कुछ अतिथि आ गए, इसलिए मुझे और मेरे भाई को गली के साथ वाले एक ऐसे कमरे में सोना पड़ा, जो कई वर्षों से अप्रयुक्त पड़ा था। रमज़ान के

दिन थे, यह हमें याद न रहा। रात को एक बार नींद खुली, तो क्या सुनता हूं कि पास ही से दबी-दबी आवाज़ें आ रही हैं।'

'वह हंडिया भी उठा ला।'

'उसकी क्या ज़रूरत है?'

'पूछ मत, ले आ।'

'और भी कुछ लाऊं?'

'श-श-श-शोर मत कर, जाग पड़ेगी।'

'सब सामान आ गया?'

'आग सुलगा दे।'

'अभी नहीं। ऊपर का सामान भी आने दो।'

'श-श-श-शोर मत कर, जाग पड़ेगी।'

मेरा कलेजा धक से रह गया। हे ईश्वर, यह क्या काण्ड हो रहा है? क्या मैं स्वप्न ले रहा हूं, या सचमुच चोर घुस आए हैं? इतने में आवाज़ें बन्द हो गई। शायद स्वप्न ही था, किन्तु चैन न आया। माताजी साथ वाले कमरे में सो रही थीं। भयंकर विचार उठने लगे। उस अपरिचित कमरे का वायुमंडल बोझ बन कर छाती पर बैठने लगा। आवाज़ें फिर आनी शुरू हुई-

'ट्रंक में देख।'

'वहां नहीं है।'

'कोट के जेब में देख।'

'यहां रख दे।'

फिर छुरी तेज़ करने की आवाज आई। मेरा बदन डर के मारे शल्ल हो गया। इतने में किसी वस्तु के कटने की आवाज़ आई। अकस्मात मेरे मुख से चीख निकली, 'चो....' दूसरी बार फिर निकली, 'चो...' मेरे भाई पर भी शायद यही गुज़र रही थीं। मेरी टोह पाकर वह भी पुकार उठा, 'चो...'

एक-दूसरे का सहयोग पाकर हम दोनों ने उच्चारण शुद्ध किया, 'चोर, चोर!'

बस फिर क्या था। साथ के कमरे से माता जी ने भी पुकारना शुरू किया - 'चोर, चोर!'

मेहमानों ने चिल्लाना शुरू किया - 'चोर, चोर!' पड़ोसिनों ने भी वहीं आवाज़ बुलन्द की। पल-भर में मुहल्ले-भर में दगड़-धूम शुरु हो गई। हमारी मौसी का मकान नज़दीक ही था। मौसेरे भाइयों ने दूर से एही चिल्लाना शुरू किया - 'फ़िकर न कर मौसी, हम आ रहेहैं।'

कुत्ते तो ऐसे सुअवसरों की इन्तज़ार में ही रहते हैं, खूब भूके। सिपाहियों की सीटियां सुनाई देने लगी। पड़ोसियों ने धक्के देने शुरु किए। कई दीवारें फांदकर घुस आए। 'कहां है चोर, कहां है चोर?'

हमारे एक अतिथि को डर के मारे बदहज़मी की शिकायत हो गई थी, इसिलिए बेचारे गुसलखाने में जा घुसे थे। ज्यों ही निकले, बीस आदमिइयों का शोर हुआ - 'वह है, वह है, पकड़ो।'

सब उसी पर पिल पड़े। मौसेरे भाई ने उन्हें चित्त किया और बाकी सवार हो गए। जिस किसी को उनके शरीर का कोई भाग सलामत नज़र आया, उसने वहीं वार किया। गरीब चीखता रहा, 'मैं चोर नहीं हूं।' लेकिन कौन सुनता है? आखिर पुलिस वालों के आने पर मामला सुधरा। जब होशहवास ठिकाने आए, तो थानेदार साहब ने अनुसंधान शुरु किया। किसी को कुछ न कहना था। आखिर जांच पड़ताल होते-होते हम तक पहुंची। हम फिर वैसे के वैसे रजाई तानकर पड़े थे।

थानेदार साहब ने जब हम से जिरह शुरु की, तो जमघट में से हमारे पड़ोसी की आवाज़ आई- 'वल्लाह, वह तो हमारे घर की आवाज़ें थीं। हम सेहरी पका रहे थे। वाह साहब अजीब मज़ाक है। हमारा वक्त टाल दिया और अब हम सारा दिन भूखों मरेंगे।'

ईद नाटक के अन्तिम अभिनय की तरह है और रमज़ान महीने भर की कड़ी रिहर्सल। कष्टपूर्ण होते हुए भी जिसकी एक अपनी शान है।

पूरब के नाई

हमारी पश्चिम प्रियता का एक शोचनीय पहलू यह भी है कि हमारा सभ्य समाज नाइयों से रिश्ता तोड़ रहा है। हम अब उस श्रद्धा और प्रेम से नाइयों के आगे सर नहीं झुकाते, जिससे हमारे पूर्वज सदियों से झुकाते चले आए हैं - विशेषकर नौजवानों में तो यह भाव तरक्की पर है कि नाई का काम केवल हजामत बनाना है। और तो और, जो भद्र पुरुष किसी दूसरे मनुष्य को भद्रपुरुष नहीं समझता, वह उसे नाई कह कर पुकारता है।

ऐसा व्यवहार न केवल नाइयों से ही बेइंसाफी है, बल्कि अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारने वाली बात भी है। शायद इसी निःस्नेहता के कारण नाइयों ने हमारे घरों में निर्विघ्न चले आने का अभ्यास छोड़ दिया है। हमें अब स्वयं अपना नाई बनना पड़ता है, या उठकर उनकी केश श्रृंगार-शाला में जाना पड़ता है, जो इस देश में हजारों की संख्या में खुल चुकी हैं, और खुल रही हैं।

मुझे याद आता है कि बचपन में मैं पिता जी को हजामत कराते समय नाई के साथ हमेशा किसी सुगूढ़, रहस्यपूर्ण, पाडयंत्रिक वार्तालाप में डूबा हुआ पाता था। और मैं सच्चे दिल से प्रार्थना किया करता था कि 'हे ईश्वर, कब वह समय आएगा, जब मैं भी मुंह पर साबुन चुपड़वाने की रस्म अदा कर किसी नाई से ऐसी ही शपथबद्ध मित्रता पैदा कर सकूंगा।' किन्तु समय आने पर मेरी सारी उत्सुकता न जाने कहां चली गई। अब मुझे लम्बे-लम्बे नामों वाले 'पेरिस' और 'मिनर्वा' हेयर-ड्रेसिंग सैलूनों में जाना पड़ता है, जहां पहुंचकर मेरी आत्मा सिकुड़ जाती है और कलेजा ऊपर को आता है, जैसे कहीं मैं किसी ऐसे शल्य चिकित्सक के उपचार-भवन में पहुंच गया हूं, जिसकी शराफत पर मुझे विश्वास नहीं है। कौन कह सकता है कि यह सैलून बाहर से क्या हो और अन्दर से क्या? संभव है कि बाहर एक बीस फुट लम्बे फट्टे पर सुनहरे अक्षरों में 'अन्तर्राष्ट्रीय-केश-सुधार-भवन' लिखा हो और अन्दर पड़ी हों दो-तीन मैली कुचैली खाली शीशियां अथवा गंजे ब्रशों से सज्जित मेज़। यदि ऐसा नहीं, इससे एकदम उल्टी बात है - अर्थात संगमरमर, की चिलमचियां, स्प्रिंगदार कुर्सियां और बिजली के ब्रश पड़े हैं, तो आप समझिए, इंसान बगलें तो क्या यहां नाखून तरशवाने की याचना भी नहीं कर सकता कि कहीं इसका अलग बिल पेश न हो जाए।

यह विदेशी केश वैराग्य किसी भी शरीफ़ हज्जाम को पसन्द नहीं। अब भी यदि किसी बुजुर्ग नाई से पूछिए कि उसके लिए संसार में सबसे बड़ी मुसीबत क्या है, तो वह पुराने वक्तों की याद में आह भरता हूआ यही उत्तर देगा-'छोटी बातें और लम्बे बाल।'

इतिहास के पन्ने उलटने से पता चलता है कि पूरब के नाइयों का काम बालों की बारीकियों में जाना हरगिज़ नहीं था। हमारे पुरखे अपनी पगड़ी या पगोड़े इतनी सावधानी

से उतारते थे कि उनके लिए उस्तरे से सिर को मुंड़वा लेना निहायत सुखदायी सिद्ध होता था। प्राचीन अरब, तुर्किस्तान, चीन सभी देशों में सिर का प्रायः उस्तरे से ही सत्कार होता था। अलबत्ता दाढ़ी के विषय में नापित को अपनी प्रवीणता दिखाने का खूब अवसर मिलता था। ऐसे समय में यजमान और नाई के मुखारविन्द एक दूसरे के सामने होते थे और जिह्वा को चालू होने की खुद-बखुद उकसाहट मिलती थी। यही वजह है कि राजाओं, नवाबों और खलीफाओं तक के दरबार में पाकपटु तथा चुलबुले नाइयों की हमेशा कदर होती थी। लेकिन इस कोरे जमाने में तो नाई बेचारे का सारा समय गर्दन के पृष्ठभाग पर ही मेहनत करने में नष्ट हो जाता है।

यह सच है कि यूरोप ने अपने नापितवर्ग की इतनी क़दर नहीं की, जितनी कि एशिया ने की है। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में लिखा है कि नाइयों की दुकानें प्रायः निकम्मे और आवारा आदमियों के अड्डे हुआ करती थीं, जहां सारा दिन या तो चौपड़ उड़ती थी या गप्पे हांकी जाती थीं। यह नहीं तो कोई दिलजला सुबह से लेकर शाम तक बंशी ही बजाया करता था। अलबत्ता यूरोप के हज्जाम जर्राही के लिए मशहूर थे, किन्तु आठवें हेनरी के राज्य में यह काम उनके हाथ से छिन गया। भारत में नाइयों का भाग्य नक्षत्र सदैव उन्नत रहा-यहां तक कि क्रमशः नाइयों ने अपनी योग्यता के बल पर चारों वर्णों के व्यवसाओं पर अधिकार जमा लिया। अकबर ने एक बार बीरबल से कहा-

लाओ रे एक ऐसा नर

पीर, बावर्ची, भिश्ती, खर।

लोग कहते हैं, बीरबल ने फ़ौरन एक ब्राह्मण को हुजूर की खिदमत में पेश कर दिया। किन्तु बात ग़लत है वास्तव में बीरबल ने एक नाई को ही पेश किया था। एक प्रसिद्ध नापित विद्वान ने मुगल दरबार के राजपूज स्कूल आफ़ आर्ट के पुराने चित्र का अध्ययन करके इस सत्य का आविष्कार किया है।

पृथ्वी पर कोई भी ऐसा काम नहीं, जो भारतीय नाई न कर सकता हो। ज्यालामुखी मन्दिर के पुजारी वास्तव में नाई हैं, किन्तु अपने आपको ब्राह्मण बतलाते हैं। बंकिम बाबू ने हजामत बनाने के बहाने शत्रुओं की सेना में घुसकर सिपाहियों के नाक-कान काट लिए थे। क्या यह क्षत्रियों का काम नहीं है? और देखिए, नाइयों के द्वारा ही लड़के लड़कियों की सगाई का व्यापार होता था - यह हो गया वैश्य का काम। और नाई, बावरची तो प्रसिद्ध ही हैं। यह हुआ शूद्र का काम। यदि आप सच्चा ऐतिहासिक प्रमाण चाहते हैं तो वह भी प्रस्तुत है। सन १८४० में लखनऊ के नवाब नासिरउद्दीन हैदर का प्रधान मंत्री एक नाई था, जिसका नाम था सरफ़राज़ खां। शासन संबंधी कार्यों के अतिरिक्त साहब की हजामत भी माननीय सरफ़राज़ खां का नित्य कर्म था।

पुराने वक्तों में, बल्कि जहां-जहां पश्चिमी सभ्यता का पदार्पण नहीं हुआ,वहां अब भी, हिन्दू हो या मुसलमान, हर एक घराने का अपना-अपना नाई होता था। मुझे याद है कि हमारे गांव में हमारा खानदानी नाई एक फ़जलदीन था, जिसे हम यदि चचा कहकर न पुकारते, तो मार पड़ती थी। जिन लोगों के विचार में हिन्दू और मुसलमान हमेशा से आपस में लड़ते रहे हैं, उनके लिए यह जान लेना हितकर होगा कि सैकड़ों हिन्दू घरानों के नाई मुसलमान और मुसलमान घरानों के नाई हिन्दू हुआ करते थे। और इन नाइयों को कभी तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखा जाता था, बल्कि ये लोग अपनी लियाकत और

सच्चरित्रता के लिए मशहूर थे। दुल्हिन को मायके से ससुराल या ससुराल के मायके ले जाने का काम नाई के सुपुर्द था। जब नाई गाड़ी-घोड़ा लेकर लड़की को बुलाने चला जाता, तो उसे कोई भी इंकार नहीं कर सकता था, क्योंकि दोनों परिवारों की ओर से नाई को लड़की के पिता के समान समझा जाता था। विवाह-शादी के उचित नाते जोड़ने की भारी जिम्मेवारी भी नाई ही की थी। अपने यजमान की सन्तान का भविष्य सुधारने की खातिर नाई गांव-गांव चक्कर काटता था। आगामी विवाह की सूचना बिरादरी के मेम्बरों को नाई के द्वारा ही पहुंचती थी। जिस-जिस को बारात में शरीक होना रहता, उसे नाई दो-दो साबुन की टिकिया दे आता था, ताकि वे अपने कपड़े धोकर सुसज्जित ,हो जाएं। बारात के रवाना होने पर बरातियों की हजामत बनाना, उनके आराम और सुख का प्रबन्ध करना उसी का पोर्टफोलियो था। बारात के जुलूस में दूल्हे के सिर पर छत्र उठाकर नाई ही चलता था। उधर दुलहिन के घर का नाई दहेज सजाने, सम्हालने, बरातियों के ठहरने और बैठने का इन्तज़ाम करता था। उनकी पत्नी दुलहिन के बाल संवारती थी। दहेज को लड़की के ससुराल पहुंचाना भी नाई का कर्त्तव्य था। क्या मजाल कोई दूसरा उसे हाथ भी लगा सके।

इन प्रधान अवसरों पर यजमान अपनी सामर्थ्य के मुताबिक नाई को चाहे रकम दे दे या अनाज, नाई स्वयं अपना हाथ कभी आगे नहीं करता था। ये अवसर ही ते, जब वह यजमान से कुछ आशा रखता था, वरना कई साल लगातार हजामत बनाने के बावजूद भी वह ऐसे तुच्छ परिश्रम के लिए कभी पारितोषिक नहीं लेता था। यह उसकी हत्तक थी।

इसका एक कारण तो यह भी है कि हजामत बनाने में उन दिनों कोई खास खूबी नहीं मानी जाती थी। उस्तरे के एक ही प्रहार से सिर भी मूंड़े जाने ते और दाढ़ी भी। दाढ़ी को कोमल करने के लिए साबुन इत्यादि का प्रयोग अनावश्यक था। यजमान पानी ही से बड़े संतोष के साथ दाड़ी मुड़वा लेते थे। एक नाई के बारे में सुना है कि एक रईस ने उससे पूछा-'क्यों भाई उस्तरा तो ठीक है?' कहने लगा-'यजमान, उस्तरे की आप फ़िकर न करें। उसकी धार ठीक हो या नहीं, बाजू में आपकी दया से पूरी ताकत है। और देखिए, पानी की कटोरी के नीचे राख भी खूब जमा है। टक होते ही ऊपर राखभरी चुटकी से दबा लेता हूं। मजाल है, जो खून निकले।'

किन्तु दूसरा और वास्तविक कारण है पूरब के नाई का आत्मगौरव। यदि पूरब का नाई किसी चीज पर जान देता है, तो वह अपना चौधरीपन। उसकी इज्ज़त इसी में है कि यजमान उसकी खातिर करे और उसकी मेहनत की दाद दे। यदि कोई यजमान इसमें भी कंजूसी करे तो नाई फिरदौसी की तरह उसकी निन्दा में कसीदे भी लिख सकता है। उदाहरणतः एक पंजाबी नाई की पुकार सुनिए-

बुथ काड के दन्द किराड़ मिल्दो
कुछ भूत-परेत दा रूप बना जी,
छड़ी करे जी आओ जी, आओ जी,
टहल टकोर न पूछत पाजी,
निमणी खिमणी बहुत करे

जिवें बीच मसीत के निवें निमाज़ी

आओ जी लाला जी, बैठो जी भाया जी,

हैं-हैं जी, हूं-हूं जी, राजी जी राजी।

भावार्थ - किसी भूत या प्रेत की तरह मुंह बनाता अथवा दांत निकालता हुआ मुझे एक कंजूस बनिया मिला, जो केवल 'आओ जी, आओ जी ही करता था, लेकिन और टहल सेवा कुछ नहीं। झुकता वह इस प्रकार था, जैसे मस्जिद में निमाज़ पढ़ने वाला। लेकिन 'हैं-हैं जी, हूं-हूं जी,' के अलावा उससे मुझे कुछ न मिला।

ब्रजभाषा और पंजाबी का इतना सुन्दर सम्मिश्रण फिर कभी नहीं हो पाया। गरज़ कि नाई कवि भी हो गए हैं। खान्दानों में नाई भाट का काम भी करता था और आड़े वक्त नौजवानों के दिल, उनके पूर्वजों के कारनामे सुना-सुनाकर उभार दिया करता था।

जब रेलगाड़ी नहीं थी, और सफ़र करना मुफ्त में भाग्य से टक्कर लेना समझा जाता था, केवल नाई का ही एक ऐसा वर्ग था, जो देश के कोने-कोने में भ्रमण करता और नव समाचार संकलित करता था। इसलिए उसकी दूरदर्शिता और बुद्धिमानी पर सबको गहरी श्रद्धा थी। यमजान उसकी किसी बात पर शक नहीं करता था। कहां जाता है, कि किसी अमीर के ससुराल से नाई आया। अमीर ने उससे कुशल समाचार पूछा, तो वह कहने लगा- 'जनाब, आपकी स्त्री विधवा हो गई है!'

अमीर धाड़ मार-मारकर रोने लगा। दोस्तों ने पूछा-'क्या माजरा है?' तो अमीर ने सारी कहानी कह सुनाई। लोगों ने कहाकि यह कैसे सम्भव हो सकता है कि क़िसी की जीवितावस्था में ही उसकी पत्नी विधवा हो जाए? किन्तु अमीर को तसल्ली न होती थी। वह इतना ही कहता था-

तुम भी ठीक कहते हो भाई;

मगर घर से आया है नाई!

तात्पर्य यह कि नाइयों की कहानी पूर्वी सभ्यता का सबसे विलक्षण तथा रोमांटिक पहलू है, जो किसी भी अनुसंधानशील विद्यार्थी के लिए उपयोगी और रोचक साबित हो सकता है।

१६३६]

समाधि लेख

मैंने इसी स्थान पर एक लड़की को
प्यार किया था।
इसलिए यौवन ही में मैंने इस भूमि
को खरीद लिया।
इस अनन्त सुख की, जो मैं अब भोग
रहा हूं, कामना ने मुझे जीवन में भी सान्त्वना दी।

१९३९-४०]

द्विवेदी जी

द्विवेदी जी[१] में एक दोष है। ढीलम-ढालम रहते हैं, हजामत हफ्ते में एक बार से अधिक नहीं करते, तिस पर जो व्यक्ति पहली नज़र में उन्हें जँच जाए उसकी तो खैर, जो न जँचे उसे सामने बिठाकर उसके मुंह की ओर देखते रहते हैं। इसलिए कई महानुभाव शान्ति निकेतन से यह धारणा बनाकर लौटते हैं कि द्विवेदी जी वैरागी आदमी हैं।

दूर बैठे हुए लोग द्विवेदीजी के आलोचनात्मक लेखों को पढ़कर यह अनुमान कर लेते हैं कि शास्त्राचार्य पचपन और साठ के दरमियान होंगे। प्रेमचन्द्र तक को यही भ्रम है। वास्तव में ये दोनों बातें ग़लत हैं।

मैं भी उन्हीं सौभाग्यशालियों में से हूं, जिनकी ओर वह एकटक देखा करते हैं। किन्तु दूर ही से मुझे यह देखने का अवसर मिला है कि वह इतने विरक्त नहीं हैं। जिस मंडली के साथ शाम को सैर करने निकल पड़े, उसका अट्टाहास मील के घेरे में लोगों के कान चीरता है। उनके शुभचिन्तक शान्तिनिकेतन से आने वाले बटोहियों से प्रायः यही सवाल जवाब कर सन्तुष्ट हो जाते हैं।

'पंडितजी हंस रहे हैं न?'

'हां, हंस रहे हैं।'

देखने में छः फुट से कम नहीं। एक ऐसे बनारसी महापंडित के शिष्य रह चुके हैं, जिनका सत्तर वर्ष की अवस्था में भी डेढ़ सौ सपाटा (डण्ड-बैठक) प्रातःकाल का नियम था, जिन्होंने डबल निमोनिया का इलाज भी सपाटों से करने की कोशिश की और मर गए। आयु इकत्तीस वर्ष है। रेलगाड़ी देखने के बेहद शौकीन हैं। दूर से आती हुई रेलगाड़ी का शब्द सुनते ही शास्त्रार्थ व चप्पल छोड़कर लाइन की तरफ भाग खड़े होते हैं।

द्विवेदीजी जीवन से अथक प्रेम रखते हैं। एक सच्चे पारिहासिक की तरह वह उसकी क्रीड़ा को निर्लिप्त होकर देखते हैं, और अपने समेत सभी वस्तुओं पर हंस सकते हैं। किन्तु साथ ही उसमें जीवन के चरम उद्देश्य, साहित्य व कला की आर्यता के प्रति गहरी श्रद्धा है। ज्ञान और अनुभव केलिए अतोषणीय भूख है। सूई से लेकर सोशलिज्म तक सभी वस्तुओं का अनुसन्धान करने के लिए उत्सुक रहते हैं। किसी विषय पर भी अचल धारणाएं नहीं। बोलने के बजाय सुनना अधिक पसंद करते हैं। इसीलिए जिस मूर्तिमान समस्या को नहीं समझ पाते, उसे सामने बिठाकर ताकते रहते हैं।

आत्म-सम्मान का उनमें एकदम अभाव है, फिर भी अपनी क्षमताओं व त्रुटियों की जांच स्वयं ही करना पसंद करते हैं। इसलिए प्रशंसात्मक पत्रों को फाड़कर फेंक देते हैं।

---

१. श्री हज़ारी प्रसाद द्विवेदी।

अखबारों में तसवीरें छपवाना बुढ़ापे पर स्थगित कर रखा है। रुपये-पैसे की परवाह नहीं करते। ऐसा आदमी अगर न हंसे तो कौन हंसे।

उनकी आलोचनाओं के गम्भीर तथा सारगर्भित होने का कारण यह है कि वह साहित्य को खेल की चीज़ नहीं समझते। मुद्दत से, उनके विचार में, उर्दू और कुछ हद तक यूरोपियन रोमांटिक साहित्य ने, सस्ते में छूट जाने की, अर्थात श्रृंगार और मुहावरेबाजी की प्रथा चालू कर दी है। हिन्दी साहित्य का पहला कर्तव्य यह है कि अपने रुके हुए विकास को अपनी पुरानी नींवों के बल पर उभारे। संस्कृत के समृद्ध साहित्य के लिए अगाध पक्षपात रखने के कारण उन्हें आधुनिक हिन्दी साहित्य में काफी त्रुटियां नज़र आती हैं। कहानियां बहुत कम पड़ते हैं। गद्य कविता व अतियथार्थवाद (sur-realism) के प्रति उनकी उपेक्षा उनकी इस निम्नोद्धृत रचना में प्रकट हुई है।

अथ कविता

??

[कौन किसकी सुनता है-]

अनन्त का नर्तन

शंख, नीहारिका, पैराबोला, हारपारबोला।

★ ★ ★

[कौन किसे सुनने देता है]

सुदूर की आवाज कानों को खाये जाती है।

[कोई, मानों कुंडी खटखटा रहा है]

खरल में पिसा करते हैं मोती।

घिसा करते हैं चन्दन

अशेष फूत्कार

विराटनर्तन।

छप छप!

[कौन किसकी सुनता है]

उफ

सेठों की पगड़ियां सुन्दरियों की साड़ियां,

पहलवानों के लंगोट, आगरे की दालमोट

छप छप छप ....।

[कौन किसे सुनने देता है।]

हुश!

ज्योतिष व नक्षत्र विद्या के भी माहिला हैं। आठ साल से महाभारत पर अनुसन्धान कर रहे हैं।

बहुत लोग, इन पंक्तियों का लेखक भी उन्हीं में से है, अभिलाषा रखते हैं कि श्रीहर्ष की तरह द्विवेदीजी को भी कोई हकीम उड़द की दाल और बासी भात खिला दे, ताकि

अनुसन्धान-वनुसन्धान को त्यागकर लगते हाथ एक नावेल लिख डालें। अपनी मोहक भाषा को अपना वास्तविक काम करने दें। जहां अभी साहित्य के मान बन ही नहीं पाए, वहां आलोचक का क्या काम? और जिसके पास लेखक होने की प्रतिभा विद्यमान है, वह आलोचक बने क्यों? नावेल न सही, कोई कटाक्षपूर्ण निबन्ध संग्रह ही सही।

यह नहीं कि उनके प्रज्ञापूर्ण परिहास को उनकी कृतियों में अवसर नहीं मिला। अवश्य मिला है। लेकिन यदि उसका प्रवाह एक बार उसकी अपनी गहन अनुभूतियों में से छलककर बहे तो कवि 'बच्चन' के लिए एक बेहतर मधुशाला तैयार हो।

१६३७]

ताश की मेज़ पर

'मुझे ब्रिज खेलना नहीं आता'-मैंने शरमाते हुए कहा।

'ब्रिज खेलना नहीं आता? वाह! तब तो ज़रूर सीखना पड़ेगा तुम्हें। ब्रिज और टेनिस से अनभिज्ञ रहना तो आजकल एक किस्म की सामाजिक आत्म-हत्या कर लेना है। लाओ, मैं तुम्हें सिखाऊंगा। बड़ी आसान चीज़ है।'

मैं दबी-सी आवाज़ में गुनगुनाया, 'काम तो चल ही रहा है; जहां ज़िन्दगी के पच्चीस साल गुज़र गए हैं, वहां बाकी के पचहत्तर भी किसी-न-किसी तरह गुज़र ही जाएंगे।' वगैरह-वगैरह। किन्तु किसी ने एक न सुनी। तिपाई के इर्द-गिर्द चार कुरसियां तैनात की गईं, और उसमें से एक में मुझे धकेल दिया गया।

ललिता बच्चों से ताश छीन लाई; और मुझे दिखा-दिखा-कर वाईं तरफ़ से बांटने लगी।

मैंने कहा, 'इतना तो मुझे आता है। रंग पहचानना भी आता है।

'बस, फिर क्या है?' - प्रकाश ने कहा-' घुंडी तो सिर्फ़ सरें बोलने में होती है। मैं तुम्हें सीधी बात बताए देता हूं। जब तक तुम्हारे पास अढ़ाई सरें साफ़ न हों तब तक कुछ मत बोलो। अढ़ाई से भी अगर शुरू-शुरू में साढ़े-तीन का अन्दाज़ा रखो तो बेहतर है, - क्यों शील?'

'नहीं जी नहीं। इन्हें सीधा समझाओ। देखिए साहब! अगर किसी रंग के दो पत्ते पास हों, और साथ ही और और रंगों में भी कुछ काम बनता नज़र आए, तो एक बोलिए: अगर सात हों और पार्टनर मदद दे रहा हो, तो तीन बोल जाइए। मसलन अगर आपके पास हुकमका इक्का, बादशाह और उसके साथ चार पत्ते और हों, तो एक हुक्म ....'

ललिता बोल उठी, 'नहीं जी, यह हिसाब मुद्दत से रद्द हो चुका है। ब्रिज के विशेषज्ञों ने इसे बहुत ही खतरनाक पाया है। नाज़ुक हालत में चार पत्तों पर ही साहस करना पड़ता है।'

प्रकाश ने मेज़ पर हाथ मारते हुए कहा, 'तो फिर आपको 'कल्चटसन' ही सीखना होगा। अगर ढाई से लेकर तीन हों, तो एक बोलिए; अगर साढ़े-तीन से चार हों, तो एकदम तीन पर कूद जाइए। कोई आपको रोक ही नहीं सकता।'

ललिता कहने लगी, 'लेकिन, अगर मेरी मानो तो फिर उसमें रिस्क का कोई काम ही नहीं रहेगा। जब तुम्हें ऐसा लगे कि तुम्हारा हाथ कुछ हद तक अच्छा है तो एक चिड़ी बोल दो। फिर अगर पार्टनर को जंच गया, तो वह 'नोट्रम्प' यानी बदरंगी का रास्ता पकड़ लेगा नहीं-तो, फिर वह एक ईंट कह देगा, जिसका मतलब होगा कि उसके पास कुछ भी नहीं।'

प्रकाश ने कहा, 'बड़ी लगव-सी रस्म है यह। दर-असल बात यह है कि भारत में कोई एक प्रथा चल पड़े, तो फिर वह हिलने का नाम नहीं लेती। असल में, शील को

'कान्ट्रेक्ट' नाम का नया खेल तो आता नहीं, इसलिए वह मेरे दृष्टिकोण को अच्छी तरह समझ ही नहीं पाता।'

अपने भाई पर किए गए कटाक्ष से ललिता तिलमिला उठी।

अब तक मेरी यही धारणा थी कि मेरी प्रणयिणी के मुंह में विधाता ने जो जुबान रख दी है, वह खास तौर से बोलने केलिए ही नहीं, बल्कि अन्य प्रयोजनों के लिए ही रखी होगी; कारण, वह आंखों से ही अपनी मनोभावनाएं बड़ी खूबी के साथ व्यक्त कर सकती थी। लेकिन, आज देखता हूं कि वह अकस्मात अपने चिर-साधित आत्म-संयम को धत्ता बताकर ज़ोर-ज़ोर से बोलने लगी हैं! कहने लगीं, 'देखो प्रकाश, यह तुम्हारी बहुत ज्यादती है! तुमने शील को आखिर समझ क्या रखा है? तुमने वह हज़ार गुना अच्छा ब्रिज खेलना जानता है। समझे! तुम हमारे अतिथि हो, वरना मैं बता देती कि तुम अपने 'ब्रिज' के कारण कहां-कहां से ठुकराये गए हो। उस दिन क्लब में जब आठ पत्ते पान के हाथ में रख कर चार 'नो-ट्रम्प' बोलते चले गए तब तुम्हारी यह शेखी कहां चरने गई थी? उस बात को भूल क्यों गए? उस दिन से क्लब के सभी मैम्बर पीठ-पीछे तुम्हारी दुहाई फेंकते रहते हैं! और आज-'

'खैर।' - शील ने झुंझालाते हुए कहा, 'मुझे नारी-जाति की शरण लेने की ज़रूरत नहीं है। 'कान्ट्रेक्ट ब्रिज' के नियम भी मुझे समझाने की ऐसी कोई खास गर्ज नहीं। मैं पिछले दस सालों से 'आक्शन ब्रिज' खेल रहा हूं और जब तक हाथ उठाने की बदन में ताक़त रहेगी, खेलतां रहूंगा। लिहाज़ा 'आक्शन का खेल' मुझे किसी से सीखने की ज़रूरत नहीं। मैं पिछले वर्ष चार टूर्नामेन्ट जीत चुका हूं, - अगर यहां किसी ने जीते हों तो जवाब दे।'

'ब्रिज के टूनामेंट जीत लेना ऐसी कोई खास बहादुरी का कमाल नहीं, जिसके लिए छाती ठोंककर चैलेंज देना लाज़िमी ही हो जाए? और न वह इतने गौरव की ही बात है कि जिसे जहां-तहां गाता फिरा जाए! किस्मत से अच्छे पत्ते आ गए होंगे। हां, मेरी तरह गोला फेंक कर दिखाओ तो मानूं! खैर, बात ब्रिज की हो रही है, और मैं वाही-तबाही में नहीं पड़ना चाहता। मेरी मौजूदगी में ब्रिज का खेल होगा तो ब्रिज के सिस्टम के माफ़िक होगा। कल्बर्टसन संसार में-'

'कल्बर्टसन माई फुट (ny foot) समझे! क्या हमारे अपने माथों में भूसा खतम हो गया है? क्या हम ताश के लिए भी विदेशियों का आश्रय लेने लगे हैं? ओ माई गाड! ....'

'भूसा' 'खतम' नहीं, भूसा 'भरा हुआ' कहो। जोश में आकर भाषा की रेढ़ मत मारो!-खैर। देखो रामानन्द,-' प्रकाश तीखी निगाहों से मेरी तरफ़ देखता हुआ कहने लगा, 'जिसके हाथ में तीन सरें हों तो एक 'नो-ट्रम्प' वह मज़े में बोल सकता है। इसमें फ़िक्र की कोई बात नहीं। दुबारा फिर बोलने की पारी आए तो और भी ऊंचे स्वर में दो बोल जाओ। साहस और उत्साह-'

मैं बीच ही में झिझकता हुआ बोल उठा, 'एक हाथ 'भाबो' का न खेल लें? वक्त ही तो काटना है!'

जुलाई, १६३८]

एक जीनियस की नोट-बुक से

अगर मैं वही बैठकर पूरियां खाने लगता, तो जरूर मेरी गाड़ी छूट जाती।

भला मैं क्यों इतना बेसुध हूँ? क्या इसलिए कि मैं हर समय विचारों से लदा रहता हूं? या इसलिए कि मेरी नई पतलूनों के आसन तंग हैं, और मैं जहां बैठ जाता हूं, वहीं बैठा रहना चाहता हूं? शायद दोनों ही बातों में सच्चाई की कुछ-न-कुछ मात्रा हो।

विचारधारा को तो मैं रोक नहीं सकता। लेकिन पतलूनों को दरजी के पास तो भेज ही सकता हूं। यह मैं क्यों नहीं करता?

यों तो पैसे बचाने की खातिर खोमचेवाले के पास गया था, लेकिन वहां इतना भी न देखा कि दही डेढ़ पाव ठीक तुला या नहीं। पैसे भी ज़्यादा दे डाले। उन्हीं पैसों से वेटिंग-रूम में चाय और बिस्कुट मिल जाते।

अब बची-खुची पूरियां खिड़की से बाहर फेंक दूं? नहीं, रख ही दूं तो अच्छा है। क्या अच्छा है? फेंक देना ही ठीक है। नहीं, रख छोडूं। लाहौर पहुंचकर किसी ग़रीब भिखारी को दे दूंगा। लेकिन इन चमड़े के टुकड़ों को कौन खुश होकर खाएगा? और फिर, लाहौर में हैज़ा फैल रहा है। लिहाज़ा फेंक ही देना चाहिए। कम-से-कम किसी कुत्ते का तो पेट भर ही जाएगा।

हां, अखबार में छपा है कि गुजरात में एक पागल कुत्ते ने इक्कीस आदमियों को काट लिया है। शायद उसने ऐसी ही कोई पूरी खा ली होगी। हः-हः-हः-हः....!

क्या यह सचमुच हंसने की बात है? नहीं, तो फिर मैं ठहाका मारकर हंस कैसे पड़ा?

मान लो, जुगल अगर मुझे पूरियां हाथ में लिए प्लेटफार्म पर भागते हुए देख लेता, तो वह अपने मन में क्या सोचता? और, शायद उसने देख ही लिया हो तो? तो क्या? कभी-न-कभी तो वह मिलेगा ही। लेकिन, अगर उसने मुझसे अकड़ने की कोशिश की, तो, ... तो मैं फौरन ही उसे फटकार दूंगा - 'अबे डिप्टी के बच्चे, अगर मैं चाहूं तो तुझे और तेरे दफ्तर को भी, जहां तुझे लिहाज़ी नौकरी मिल गई है, खरीद लूं। तूने मुझे समझ क्या रखा है? पर, मैं ग़रीबों की तरह, और ग़रीबों के साथ, सफ़र करना पसन्द करता हूं। सब इन्सान एक से हैं।'

अच्छा, इस डिब्बे के लोग मेरी तरफ़ हैरानगी से क्यों देख रहे हैं? क्या मैं बड़बड़ाने लग गया था? सुना तो नहीं। शायद पूरी का कोई हिस्सा मुंह पर चिपक रहा हो! नहीं तो .... मुंह पर तो कुछ नहीं मालूम होता। तो फिर, शायद मैं बड़बड़ा ही रहा था।

अच्छा, अगर मैं ग़रीबी पसन्द करता हूं, अपनी पूंजी को दान क्यों नहीं कर देता? पण्डित जवाहरलाल नेहरू से पूछना चाहिए। 'क्यों नहीं कर देता?'

हां, ठीक तो है। अगर ऐसा कर दिया जाए, तो अपने प्रगतिशील विचारों का विस्तृतीकरण इतनी सफलता से नहीं हो सकता। उसे सोचने के लिए एकान्त और स्थिरता की ज़रूरत है। क्या मेरे विचार ऐसे नहीं जिनके एकान्त और आराम की ज़रूरत हो?

खैर, हुआ यह कि छः आने की रोटी खाई, और चार आने सिगरेटों के लिए विलायत भेज दिया। अच्छा तो, सिगरेट सुलगा लूं या नहीं? लेकिन, अगर साथवाले सरदार साहब बुरा मानें तो? कह दूंगा, 'सरदारजी, बेशक गाड़ी की दीवार पर इस बात की हिदायत की तख्ती चिपक रही है कि अन्य मुसाफिरों की बगैर रज़ामन्दी के तम्बाकू पीना मना है, फिर भी क़ानून की दृष्टि से बहुमत ही मुझे सिगरेट सुलगाने से रोक सकता है। पहले आप बाकी मुसाफिरों का 'वोट' लें, फिर मुझसे बात करें।'

सरदार साहब क्यों मेरी तरफ़ घूर रहे हैं? क्या मैं फिर बड़बड़ा रहा था? .... नहीं, अब सिगरेट नहीं पी जा सकती।

पूरियां फेंक ही दूं! ओह, स्टेशन आ रहा है। अच्छा किसी भिखमंगे को दे दूंगा। सूटकेस दूसरे हाथ में ले लूंगा। क्या हर्ज है?

लेकिन अगर जुगल अपने डिब्बे से उतरकर अकड़ता हुआ मेरे सामने आ खड़ा हुआ तो?... नहीं, नहीं, पूरियां फेंक ही दूं।

धुत, कैसी बेहूदा आवाज़ के साथ गिरी हैं। अरे! कोई चिल्ला रहा है। शायद कोई गाड़ी के नीचे आ गया मालूम होता है, देखूं तो सही, क्या बात है?

और, पूरियां बेचारे के सिर पर जा पड़ी हैं। आलू उसके मुंह पर फिसल रहे हैं।

'मुझे क्षमा कर दो भाई!'- बेचारा नहीं सुन सका। ओह! लोग हंस रहे हैं। बोलो भला, कितनी निर्दयता है, कितनी बेहयाई है!

अगस्त, १९३८]

कल्पित आप-बीती

वैसे तो सभी पहाड़ अपनी-अपनी जगह होते है; किन्तु एक बात सब में 'कामन' यानी सामान्य यानी एक-सी होती है। अगर आप उसे ज़ेहन-नशीन कर लें, तो फिर, चाहे आपने कभी पहाड़ पर कदम भी न रखा हो, आप किसी भी पहाड़ से परिचित होने की धारणा कर सकते हैं। गुलमर्ग हो या शिमला, दारजिलिंग हो या डलहौज़ी, सभी आपके हाथ में हैं; और तब आप हांकिए जितनी गप्पें हांक सकते हों! और, अगर दो-एक 'गाइड-बुकें' पढ़ लें, तो बस सोने पर सुहागा है। बताऊं वह गुर आपको? तो लीजिए।

ध्यान से सुनिए। हर एक हिल-स्टेशन पर एक सरकुलर रोड होता है। बहुतों पर दो भी होते हैं। यानी, एक अपर और दूसरा लोअर। लेकिन अभी आप 'एक' से शुरु कीजिए।

और एक बात का आपको ध्यान दिलाए देता हूं कि रात का खाना खाने के बाद श्रोता उतने सतर्क नहीं रहते, जितने कि दिन में रहते हैं। इसलिए वक्ता के लिए प्रारम्भ में वही वक्त अच्छा है। तो बस, लीजिए, ऐसे शुरु कीजिए :-

गुलमर्ग में पिछली गरमियों में हम चार दोस्त सरकुलर रोड पर सैर कर रहे थे।

यहां पर सम्भवतः कोई-न-कोई प्रश्न करेगा, 'कौन से सरकुलर रोड पर अपर या लोअर पर?'

निश्चिन्त रहिए आप। वह तो सिर्फ़ यही दिखाने के लिए प्रश्न कर रहा ह कि उसके भी चरण कमल गुलमर्ग में टाप दे चुके हैं। आप जवाब में कुछ कह दीजिए-

मैं नहीं जानता, कौन-सा अपर है, कौन-सा लोअर। मैं तो उसकी बात कर रहा हूं, जो घने जंगलों में से घूमता हुआ टनमर्ग वाली सड़क से जा मिला है। दाहिनी तरफ़ एक रोड के साथ पानी का एक नल है, जहां से दूर के पहाड़ों का मनोरम दृश्य देखने वाले व्यक्ति के मन को जबरन अपनी तरफ खींच लेता है। खैर। हम चले जा रहे थे। चारों दोस्त बातें करते-करते। बातों का सिलसिला कुछ इस प्रकार था-

'बस करो यार, अब चलो, वापस चला जाए।'

'नहीं-नहीं यार कम से कम टनमर्ग वाली सड़क तक तो चलना ही चाहिए। उसके बाद जैसी सब की राय होगी-'

'हां-हां, वहां तक तो चले ही चलो, फिर देखा जाएगा।'

'सड़क तक ही क्यों भाई-टनमर्ग तक चले चलो न! आखिर सैर करने आए हैं या सिर्फ रास्ता नापने?'

'हां, ठीक तो है। वहां से बस में बैठ जाएंगे, और हम दोनों घोड़े कर लेंगे।'

स्पष्ट है कि हमारे दो साथी गुलमर्ग से प्रस्थान कर रहे थे; और हम उन्हें अलविदा करने की दर्दनाक रस्म अदा कर रहे थे।

हमारे पिछले तीन-चार दिन इसबला की शान के साथ गुज़रे थे कि बरसों याद रहेंगे! कम से कम हमारे उदार-हृदय मेज़वान तो उन्हें भूल ही नहीं सकते।

सबसे पहले रमेश ने अपने पास होने की खुशी में निमन्त्रण मुझे दिया था; लेकिन मैं ऐसा सूफ़ियाना अतिथि था कि मेरे होने न होने से मेज़वान को कुछ फ़र्क नहीं जान पड़ता। रंग तो उस दिन जफ़र-कुमार का तार हमारे असल औरसुखमय जीवन पर आ बिछा-

'बधाई! आ रहे हैं। दो दिन ठहरेंगे।

-जफ़र-कुमार।'

तार पढ़कर रमेश के तन-मन में आग लग गई। उसे एक बार पक्की उम्मीद थी कि कम से कम इस साल, गुलमर्ग की दूरवर्ती रेस्तरां-रहित तराइयों में, उसे जफ़रकुमार से छुट्टी मिलेगी। 'जफ़र-कुमार, जफ़र -कुमार'-इस मन्त्र को वह बार-बार दुहराने लगा। और फिर अपने-आपमें ही बड़बड़ाने लगा, 'उल्लू के पट्ठे!-खुद तो तार में अपना पूरा नाम देने में भी किफ़ायत करते हैं, और मेरा खून चूसने में हर साल आ नाजिल होते हैं! नहीं। मैं अभी तार देता हूं- 'पिताजी नहीं मानते।'

मैंने उसे समझाया कि जफ़रकुमार से इतनी पुरानी जान-पहचान का सौभाग्य रखते हुए भी ऐसा तार देना एक अठन्नी और जाया करने वाली बात है। इसके सिवा कुछ नहीं। क्योंकि ऐसे लोग जवाब के इन्तज़ार में समय नष्ट नहीं करते। मेरा तो ख्याल यह है कि वे अब गुलमर्ग के नज़दीक ही कहीं होंगे। और फिर, इन्सान को जब कि सात-आठ साल की विफलता के बाद बी०ए०की डिग्री का मुंह देखना नसीब हुआ, तो जल्सा कुछ लम्बा भी हो जाए तो कोई हर्ज नहीं।

मेरा अनुमान ठीक था। तार आने के दो ही घण्टे बाद जफ़र अली और निर्मलकुमार आ पहुंचे। इन दो नौजवानों की दोस्ती भी विधाता का विचित्र परिहास है। जफ़र कोई साढ़े छः फुट लम्बा कागज़ी पहलवान है। और कुमार है पांच फुट दो इंच लम्बा और पांच फुट दो इंच ही चौड़ा, यानी घिराव में गोल। उसका वजन भी लगभग पांच मन दो सेर होगा। उसका सिर, उसका धड़ और उसकी टांगे दूर से एक ही साइज़ की दिखाई पड़ती हैं।

जफ़र-कुमार के आने के बाद 'राम-निवास', ३१५-ए, गुलमर्ग में जो रौनक होने लगी, उसका सर्वांगीण वर्णन अकेले दम करना असम्भव है। सौभाग्य से रमेश के पिताजी श्रीनगर गए हुए थे, नहीं तो यह इतिहास किन्हीं दूसरे अक्षरों में लिखा जाता। जफ़र-कुमार यानी जफ़रअली और निर्मलकुमार सुबह होते ही तीन-तीन अण्डे और चार-चार बिस्कुट पर हाज़िरी करते। फिर नहा-धोकर दलिया, फल, केक आदि खाद्य-पदार्थों को नीचे उतारने के लिए एक-एक घूंट चाय पर नाश्ता करते। फिर दो घोड़े मंगाकर उन पर सवारी करने निकल जाते। और जब वे वापस आते, तो घोड़ों की दशा यह होती कि मालिक उन्हें पहचान ही न पाते। इसके सिवा, एक घटना यह हुई कि साथ वाली कोठी में रहने वाली बुढ़िया मेम साहिबा मकान-मालिक को यह लिखकर कि 'पड़ोस में कौए बहुत हैं' हवा हो गई।

अब जफ़र-कुमार तीन दिन के 'शार्ट स्टे' के बाद वापस जा रहे थे। आकाश बिलकुल साफ और नीला था; और पहाड़ियों के ऊपर बादलों की उभरी हुई सफेद पंक्तियां किसी

रूपवती युवती के कोट पर जमे हुए फरों की याद दिला रही थीं। सूरज के तेज़ प्रकाश में जफ़र-कुमार के कपोल, जो दो दिन पहले कच्चे अमरूद की तरफ ऊबड़-खाबड़ और पीले-पीले से लग रहे थे, अब सेब की तरह चिकने-चौरस और लाल-गुलाबी हो रहे थे।

लेकिन मुझे आश्चर्य इस बात का था कि यह सब कुछ रमेश कैसे सहन कर रहा है। मुझे शक था कि वह उन्हें फाटक तक भी छोड़ने नहीं निकलेगा। रात को ही वह कह रहा था कि अगर उसे मज़बूरन उनसे हाथ मिलाने पड़े, तो वह सारे बदन पर स्पिरिट मलकर नहाएगा। लेकिन, भगवान जानें अब उसे क्या हो गया है। पहले वह सरकुलर रोड तक उनके साथ आया, और अब टनमर्ग तक जाने का इरादा कर रहा था। और-तो-और, उसके साथ वह ऐसे घुल-मिलकर बातें कर रहा था जैसे उन्होंने उसके यहां ठहरकर उसका गौरव बढ़ा दिया हो। हर दो मिनट बाद कभी वे उसकी पीठ पर थाप जमाते या वह उनकी पीठ पर, उनके अट्टहास की गूंज चट्टानों को विगलित-सी कर रही थी। उन लोगों की हालत देखकर मुझे आस्कर वाइल्ड की वे पंक्तियां याद आ रही थीं-

'कौन जान सकता है कितनी
धारों, में, रक्त-ज्वाल नरक में
गिर सकती हैं जीवात्माओं में।'

इसेक बाद मैंने रमेश को उच्छृंखल कण्ठ से कहते सुना-

'बन्धुओं, सीधे मार्ग से टनमर्ग उतरने में कुछ मज़ा नहीं। सभी उल्लू, बुद्धू उधर ही से जाया करते हैं। मुझे एक शानदार पगडंडी का पता है जो सीधी फिरोज़पुर-नाले पर उतरती है। पहले उधर ही चलें। बड़ी शानदार मछलियां हैं वहां, और पकड़ने की खुली इजाज़त भी। वहां से नाले के साथ-साथ चलते हुए टनमर्ग पहुंच जाएंगे। डाक-बंगले में मछलियां भुनवाकर खाएंगे। खूब मज़ा रहेगा। वहां से तुम लोग अपनी राह लेना और हम अपनी राह।'

वैसे तो शायद जफ़रकुमार इस प्रस्ताव को स्वीकार न करते, किन्तु भुनी हुई मछलियों की सुगन्ध महापुरुषों तक को काबू में कर लेती है; फिर ये तो साधारण पुरुष ठहरे।

थोड़ी देर बाद पगडंडी भी आ गई। रमेश आगे-आगे, जफ़रकुमार उसके पीछे-पीछे और फिर मैं, सबके-सब खाई में उतरने लगे। दो-एक फर्लांग तक तो पगडंडी ने खूब निभाया, फिर एकाएक कुपित पण्डित की तरह वह अपना पोथी-पत्रा उठाकर ग़ायब हो गई। जफ़र-कुमार डरे, लेकिन रमेशजी ने जोरदार शब्दों में आश्वासन दिया कि बारिश ज़्यादा होने के कारण घास उग आई है, वरना पगडंडी तो ठीक मौजूद है। मतलब यह कि उन्हें साफ़ दिखाई दे रही है।

निर्मलकुमार एक वज़नदार गेंद की तरह लुढ़कता जा रहा था। बेचारे की टांगों में इतना संयम भी न बचा था कि रुककर सांस ले ले। कभी-कभी वह मुश्किल से किसी पेड़ से टक्कर खाकर रुक जाता, और रुमाल से अपने विशाल मुखमंडल को पोंछता हुआ कहने लगता, 'रमेश, बाप की क़सम, अगर रास्ता भूल चुके हो, तो अब भी बता दो। मुझसे अब वापस चढ़ना न हो सकेगा। यहीं कब्र खुदवाकर पड़ रहूंगा।'

उसकी ऐसी परिहास-पूर्ण बातें सुनकर बेशक हम हंस पड़ते।

जफ़र एक और ही दुनिया में था। वह रहरहकर सोच उठता, 'काश! मेरे पास एक छुरा होता, तो मैं बस इसी बहिश्त में रहना शुरू कर देता। टार्जन की तरह इसी पेड़ पर घोंसला बनाकर रहने लगता। एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर छलांगें मारता हुआ हवाई सैर करता रहता। और, हफ्ते में दो-एक बार शेर या रीछ का ज़रूर शिकार करता।'

फिर उसने पुंछ रियासत में अपने हाथों से मारे गए आठ चीतों का, और जख्मी किए गए बारह चीतों का किस्सा सुनाना शुरू कर दिया।

हमें सड़क छोड़े अब करीब आधा घण्टा हो चुका था; लेकिन अब तक फीरोजपुर-नाले का नाम-निशान तक नहीं दिखाई दिया था! बल्कि जंगल अब ऐसा घना शुरु होता जा रहा था कि जैसे कभी किसी मनुष्य के वहां कदम ही न पड़े हों! बड़ी-बड़ी डरावनी चट्टानें, और उनकी जड़ों में तरह-तरह के जानवरों की लम्बी-लम्बी हड्डियां दिखाई देने लगीं। मगर रमेश नहीं रुका। जफ़र की कहानी कुछ देर लड़खड़ाकर खतम हो गई। और कुमार भी अब घुटनों को हाथों से पकड़े हुए उतर रहा था। और फिर, जंगल की आत्मा धीरे-धीरे हमें अनुत्साहित करने लगी।

मनुष्य के जीवन में कोई भी घटना या दुर्घटना झटका देकर नहीं आती। बड़े-से-बड़े हादसे भी उनमें फंसने वालों को नितान्त स्वाभाविक दीखते हैं। यहां पर अगर मैं कहूं कि अकस्मात ही हमें एक भालू दिखाई पड़ा, तो वह अत्युक्ति ही समझी जाएगी। नहीं ऐसी बात नहीं, जब हम एक ऊंची चट्टान पर चढ़े और दूसरी तरफ़ उतरने लगे, तो देखा कि हमारे ऐन नीचे एक हृष्ट-पुष्ट जंगली रीछ एक बकरी की लहू से सनी लाश पर सिर रखे बड़े आराम के साथ लेटा हुआ कुछ सोच रहा है! शायद अगर जफ़र ने पहल न की होती, तो हम उतर कर उससे दस्त-पंजा करते। किन्तु जफ़र ने मुड़ कर एक ऐसा क़दम लिया कि वह पहाड़ के सौ गज़ ऊपर पहुंच गया। कुमारने पहले तो कांपना शुरू कर दिया, लेकिन जब उसने देखा ऐसा करने से पैर फिसलने की सम्भावना बढ़ रही है, तो वह चट्टान के साथ चिपक कर ऐसे रोने लगा जैसे विलायत से लौटकर अपनी मां से मिल रहा हो! लेकिन हां, शाबाश है पट्ठे को, मुंह से आवाज़ उसने एक भी नहीं निकली! पानी में डूबते की तरह मुंह खोलकर हांफता हुआ अपना हाथ हमारे हाथ में देने की इच्छा प्रकट करता रहा।

अब तक हम चट्टान से नीचे उतर चुके थे, और फिर से वापस चढ़ने का हमारा कतई इरादा नहीं था। लेकिन जब कुमार की आतुरता कुछ क्षणों के बाद शिथिलता का रूप धारण करने लगी तब हमसे अपनी मानसिक सज्जनता की लगाम रोके न रुक सकी। आखिर हम दोनों को हाथ का सहारा देकर उसका उद्धार करना ही पड़ा। और तब सबके सब उस चट्टान से वापस खिसके।

अब रमेश एक ऐसी संजीदा और बारीक बात कह बैठा कि उसके प्रति मेरी श्रद्धा पहले से लगभग दुगुनी हो गई! वह कहने लगा-

'देखो कुमार, तुम अब वापस चढ़ाई तो चढ़ नहीं सकते, क्योंकि विधाता ने दुर्भाग्य वश एक निहायत बेहूदा शरीर तुम्हें प्रदान किया है! और इसीलिए इस अल्प समय में तुम्हारी तबीयत के माफ़िक कब्र भी नहीं खोदी जा सकती। लिहाजा, अब तुम ऐसा करो कि हूबहू मुरदे की तरह यहां लेट आओ। और वह अपना 'सोना' और 'पन्ना' वाला

किस्सा याद है न तुम्हें? रीछ मुरदे को कभी नहीं छूता। हम ऊपर जाते हैं। जब रीछ तुम्हें सूंघ कर चला जाएगा, तब हम तुम्हारे लिए सीटी बजाएंगे। फिर तुम आराम से उठकर चले आना।

'बहुत अच्छा' - कह कर कुमार वहीं जमीन पर चित लेट गया। किन्तु, दूसरे ही क्षण भगवान जाने उसे क्या हो गया! रमेश को, मुझे, और हमारे मां-बाप को कोसता हुआ वह उठ खड़ा हुआ और ताबड़तोड़ पहाड़ फांदने लगा! फांदता जाता और गालियां देता जाता! जफ़र का कुछ पता न था। और, टार्जन बहादुर पांच-सात छलांग में ही एक घण्टे का सफ़र तै कर चुके थे।

वैसे, डर तो मुझे भी लग रहा था, किन्तु कुमार की हालत देखकर किसी हद मन बहल रहा था। जब भी कहीं बेचारा हांफ कर रुकने लगता तो हमेश अपने-आपसे कहने लगता, 'मुझे रीछ की बू आ रही है!' या 'मुझे अभी-अभी किसी की चिंघाड़ सुनाई दी थी! तुमने सुनी रामानन्द?'

और, कुमार बेचारा 'हाय-हाय' करता हुआ फिर पुरी रफ्तार से भागने की कोशिश मे लग जाता। और तब, रमेश उसे सान्त्वना देने के लिए तरह-तरह की युक्तियां सोचने लगता, 'घबराओ नहीं, रीछ मोटे आदमी से डरा करता है।' या 'गोरे रंगवाले आदमियों को तो रीछ चाहता है।' लेकिन फिर भी, कुमार की हालत में किसी तरह के सुधार के लक्षण नहीं दिखाई दे रहे थे।

चुनांचे, जो सफर नीचे जाते समय पौन घण्टे में तय हुआ था, वापसी में उसे फकत बीस ही मिनट लगे।

★ ★ ★

आखिर उसी सरकुलर रोड पर पहुंचने के बाद जब 'भद्रं ब्रूयात' कहने का समय आया तो मैंने देखा कि जफ़र-कुमार के मुखारविन्द तब ठीक वैसे ही नीले पड़ रहे थे जैसे वे तीन दिन पहले थे। बल्कि यों कहना चाहिए कि उससे भी कहीं ज्यादा।

घर लौटते समय मैंने रमेश को फटकार लगाई, 'बदला लेने के लिए भला ऐसा खतरनाक तरीका भी कहीं कोई अख्तियार करने की बेवकूफी कर सकता है! कौन कह सकता है कि रीछ पहले किसे खत्म करने को आमादा हो सकता था?'

बस, साहब! एक नमूना आपकी खिदमत में पेश है। पहले आप इसी ढंग पर कहना शुरू कीजिए। फिर देखिए कि आप क्या से क्या बन जाते हैं! मेरी तरफ़ से आप चाहें तो - आन्तरिक शुभ कामना ग्रहण कर सकते हैं - ईश्वर शीघ्र ही आपको इस दिशा में पारंगत करे।

(वासृव में यह घटना कल्पित नहीं है। रमेश वह स्वयं हैं और एक आप बीती घटना को उन्होंने नमक-मिर्च लगाकर लिखा है।)

फरवरी १९३९]

नारी और दृष्टिकोण

बढ़िया मुर्गा कौन-सा? जिसे खाकर स्वाद आ जाए। खाने-पीने के शौकीनों की नज़र में ईश्वर ने मुर्गे को इसलिए बनाया है। लेकिन अगर मुर्गे में सोचने की शक्ति हो, तो क्या वह मनुष्य के इस विचार को स्वीकार करेगा? हम आम तौर पर मुर्गे को कटते हुए देखने से झिझकते हैं। लेकिन जिन्होंने उसे कटते हुए देखा है, उनका कहना है कि मुर्गा अपने बढ़ियापन के बारे में मनुष्यों की प्रशंसा-भरी बातें आमतौर से पसन्द नहीं करता है।

पुरुष ने स्त्री को अपनी शारीरिक, मानसिक और कलात्मक भूख मिटाने का साधन समझ रखा है। सदियों से पुरुष को रिझाना ही स्त्री का लक्ष्य बना हुआ है-कभी मां के रुप में, कभी बहन, कभी पत्नी और कभी प्रेमिका के रुप में। लेकिन मुर्गे और स्त्री में एक फर्क है। जो भूमिका मुर्गे को अपनी नादानी में भी पसन्द नहीं, उसे स्त्री ने पूरे होश-हवास में अपनी मर्ज़ी से स्वीकार कर रखा है, वह भी सदियों से।

आदर्श भारतीय नारी का सुन्दर और सुडौल होना हर हालत में जरूरी है। भला असुन्दर होकर वह 'आदर्श' नारी कैसे कहला सकती है! सुन्दरता को मापने का मेरे पास कोई निजी पैमाना नहीं है। मुझे कभी लम्बे कद की स्त्री सुन्दर लगती है, कभी मझले कद की, और कभी छोटे कद की। मैं तो यहां तक कह सकता हूं कि किसी खास मनःस्थिति में मुझे बौनी लड़की भी बहुत सुन्दर लग सकती है।

मैं हैरान हूं कि अन्तर्राष्ट्रीय सौन्दर्य प्रतियोगिता में निर्णायक स्त्रियों की सुन्दरता को किस पैमाने से नापते होंगे। अपने जीवन में मैं काली लड़कियों पर भी मुग्ध हुआ हूं और गोरी लड़कियों पर भी; पतली लड़कियों पर भी और मोटी लड़कियों पर भी; नीली आंखों वाली लड़कियों पर भी और काली आंखों वाली लड़कियों पर भी। इसलिए, शारीरिक दृष्टि से आदर्श भारतीय नारी की कल्पना करना मेरे जैसे अस्थिर स्वभाव वाले व्यक्ति के लिए असंभव है।

एक और बात सामने आती है। अगर हमारा दृष्टिकोण प्रजातंत्रवादी है, तो इस बात की ओर से आंखें नहीं मूंदी जा सकतीं कि स्त्री की सुन्दरता तभी निखर सकती है, जब उसे खाने के लिए अच्छी खुराक मिले, पहनने के लिए अच्छे कपड़े मिलें और साफ-सुथरा रहने की सहूलियतें मिलें। भारतीय स्त्रियों की बहुसंख्या इन बुनियादी ज़रूरतों से वंचित है। रिजर्व बैंक आफ़ इंडिया द्वारा जमा किए गए आंकड़ों के अनुसार हमारे देश की ६० प्रतिशत स्त्रियां लगभग भूखी और फटेहाल हालत में जीवन बिताती हैं।

सो; शारीरिक दृष्टिकोण से अग़र मैं किसी आदर्श स्त्री का चुनाव करना चाहूं, तो यह अल्पसंख्यक वर्ग की स्त्री होगी। ऐसी स्त्री पूरे भारत की स्त्रियों की प्रतिनिधि कैसे कहला सकती है।

अब गुणों की दृष्टि से भी स्त्री को देखा जाए। मैं अपनी उम्र का पचासवां साल पूरा कर चुका हूं। मैं शिक्षित हूं, और जीवन का काफ़ी अनुभव मुझे है। हां, मैंने लगभग तीस साल का वैवाहिक जीवन बिताया है। इसलिए मैं समझता हूं कि मेरे अनुभव की कुछ कीमत जरूर है।

क्या है मेरा अनुभव?

जब मैं हंसी-खुशी में समय बिताना चाहूं और मेरी पत्नी घर का काम-काज छोड़कर मेरा साथ न दे, तो मुझे उनके घरेलू पन पर चिढ़ आती है। अगर मैं बाहर से थका-टूटा हुआ घर आऊं और मेरी पत्नी लिखने-पढ़ने में व्यस्त हो, तो मुझे उनके शिक्षित होने पर कटुता अनुभव होने लगती है। अगर मैं अपने दोस्तों-साथियों के साथ बैठा हुआ राजनीतिक बहस कर रहा हूं और मेरी पत्नी मेरे दृष्टिकोण से कोई गलत बात कह दे, तो मुझे उसके राजनीतिक अज्ञान पर हैरानी होती है। अगर वह बहुत बोले, तो भी मुझे अच्छी नहीं लगती; उसके कम बोलने पर भी मैं शिकायत करता हूं। फिर भी मैं उसके व्यक्तित्व के प्रत्येक पहलू की आलोचना किए बिना नहीं रह पाता।

इससे साबित होता है कि स्त्री के गुणों और स्वभाव के संबंध में भी मेरा कोई निश्चित दृष्टिकोण नहीं है। स्त्री का जो गुण मुझे एक मौके पर अच्छा लगता है, दूसरे मौके पर बुरा लगने लगता है। भारतीय स्त्री को कितना शिक्षित होना चाहिए, कितना घरेलू, कितना चंचल, कितना गंभीर, कितना हंसमुख, कितना आधुनिक, कितना परंपरावादी, कितना शोख, कितना संकोचशील ...उसे सिगरेट और शराब पीनी चाहिए या नहीं; पार्टियों-क्लबों में जाना चाहिए या नहीं .... आदि सवालों के बारे में मैं आज तक कोई निश्चित मत नहीं बना पाया हूं। न मेरे लिए यह बताना ही संभव है कि आदर्श भारतीय स्त्री में कौन कौन से गुण कितनी मात्रा में होने चाहिए।

लेकिन अगर मैं जैसे-तैसे करके कोई ऐसा फार्मूला तैयार कर भी लूं, तो वह केवल भारतीय स्त्रियों के एक छोटे-से हिस्से पर ही लागू होगा।

इन सब अड़चनों को ध्यान में रखते हुए यही कहना पड़ेगा कि अब तक आदर्श भारतीय नारी की कल्पना कर सकना असंभव है। हां, आदर्श भारतीय पुरुष की कल्पना ज़रूर की जा सकती है, क्योंकि आदर्श भारतीय पुरुष के लिए न तो सुन्दर होना जरूरी है, न शिक्षित होना, और न ही सभ्य होना।

१९६५]

बलराज साहनी

मेरी धारणाएं और दृष्टिकोण

कुछ शब्द

'मैं जानता हूँ कि कई बार बड़े से बड़ा वैज्ञानिक भी सृष्टि की अनन्तता और मनुष्य की नगण्यता से व्याकुल होकर ईश्वर या किसी आध्यात्मिक शक्ति की कल्पना करने लगता है; लेकिन यह एक कमज़ोरी है, जो मनुष्य में किसी कारणवश आ सकती है। मौत, बुढ़ापा आदि डरावनी चीज़ें हैं। मैं नहीं कहता कि मैं इनसे डरता नहूं हूँ; फिर भी किसी डर के वशीभूत होकर मैं ईश्वर को कबूल नहीं कर सकता। मैं संस्थापित धर्मों और मत-मतान्तरों का विरोधी हूं और मेरा खयाल है कि इन धर्मों के जन्मदाता भी संस्थापित धर्मों के उतने ही विरोधी थे। महापुरुषों के विशाल चिन्तन को किसी सीमित घेरे में बांधकर लोगों को पथभ्रष्ट करना, प्राचीन काल से शासक-वर्ग की साज़िश चली आ रही है।' यह और ऐसे ही अनेक दर्शन-सम्बन्धी प्रश्नों को पैनी दृष्टि से देखा है स्वर्गीय बलराज साहनी ने अपनी इस अत्यन्त विचारोत्तेजक पुस्तक में। बलराज साहनी, जो स्वयं को अभिनेता से अधिक लेखक मानते थे।

मेरा जीवन-दृष्टिकोण

मैं ईश्वर को मानता हूं या नहीं ? क्यों ?

मैं ईश्वर को बिलकुल नहीं मानता। अपने-आपको पूर्ण रूप से नास्तिक कहकर मुझे वही सन्तोष होता है, जो किसी व्यक्ति को अपने दिल की बात बिना किसी छल-बल के स्पष्ट शब्दों में कहकर होता है।

एक नास्तिक के लिए आस्तिकता के साथ ज़रा-सा भी समझौता करना खतरे से खाली नहीं हैं, क्योंकि आज के ज़माने में धर्म एक ऐसी व्यापारिक संस्था बन गया है कि उसके 'सेल्ज़मैन' हर तरफ भागे-दौड़े फिर रहे हैं, जिनसे अपने-आपको बचाये रखने के लिए हर समय चौकन्ना रहने की ज़रूरत है।

प्रत्येक मनुष्य अपने चौगिर्द को अपनी मानसिक पकड़ की हद तक ही समझने का प्रयत्न करता है। विकास के जिस पड़ाव पर मनुष्य पशु-अवस्था से ऊपर उठा था, उसी प्रकार से ईश्वर की कल्पना का युग आरम्भ होता है।

उस समय मनुष्य का ज्ञान क्योंकि बहुत ही सीमित था, इसलिए वह जिस किसी भी चीज़ या प्राणी से डरता था उसीको देवता मानकर पूजने लगता था। आग, पानी, हवा, सूरज, चांद, सांप, शेर आदि सभी उसके लिए देवता थे।

लेकिन ज्यों-ज्यों उसके ज्ञान और कर्म का क्षेत्र विशाल होता गया, सृष्टि-संबंधी उसके विचार भी विशाल और सूक्ष्म होते गये। इस प्रकार, एक ओर विज्ञान और दूसरी ओर दर्शनशास्त्र ने जन्म लिया। दोनों ही मानव विकास की सर्वोत्तम प्राप्तियां हैं।

विज्ञान और दर्शनशास्त्र कई सदियों से कभी एक-दूसरे के निकट, कभी एक-दूसरे के समर्थक, और कभी एक-दूसरे के विरोधी रहे हैं। लेकिन वे एक-दूसरे से पिंड कभी नहीं छुड़ा सके हैं।

कई सदियों तक विज्ञान और दर्शनशास्त्री सृष्टि को जड़ पदार्थ समझते रहे हैं, जिसके संचालन और नियंत्रण के लिए किसी विराट, अदृश्य बाह्य शक्ति का अस्तित्व अनिवार्य है।

लेकिन पिछली दो सदियों में विज्ञान ने आश्चर्यजनक उन्नति की है और साबित किया है कि सृष्टि के मूल तत्त्व जड़ और स्थूल नहीं, बल्कि चेतन और गतिशील हैं, अर्थात सृष्टि स्वयं ही अपना संचालन, विकास और विनाश करने वाली है।

पिछली सदी में डार्विन और कार्ल मार्क्स ने यह भी प्रमाणित कर दिखाया कि मनुष्य और समाज का भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया जा सकता है। अर्थात जो वैज्ञानिक नियम सृष्टि पर लागू होते हैं, वही मनुष्य और समाज पर भी लागू किए जा सकते हैं। उन नियमों का इन दोनों विद्वानों ने स्पष्टीकरण भी किया।

मैं मार्क्सवाद को दर्शनशास्त्र की सर्वोच्च उपलब्धि मानता हूं। मार्क्सवाद के अनुसार सृष्टि ही वास्तविक सत्य है, और उसे अपने विकास के लिए किसी बाह्य आध्यात्मिक शक्ति की आवश्यकता नहीं है। और सृष्टि को समझने-बूझने के लिए विज्ञान ही सबसे अधिकसार्थक साधन है, धर्म या अध्यात्मवाद नहीं।

मनुष्य का चांद पर पहुंच जाना, और अन्य ग्रहों तक अंतरिक्ष-विमान भेजना ऐसी घटनाएं हैं, जो विज्ञान के क्षेत्र में अत्यन्त असाधारण सम्भावनाओं की ओर संकेत करती हैं।

लेकिन इसका यह मतलब बिलकुल नहीं कि हम सृष्टि का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। आज भी मनुष्य का ज्ञान बहुत सीमित और नगण्य है। सृष्टि क्यों बनी, कैसे बनी आदि अनेक प्रश्न हमारे लिए आज भी रहस्य हैं। लेकिन इन रहस्यों को जानने का एकमात्र साधन विज्ञान ही है- यह सोचकर मुझे सन्तोष होता है।

इसके उलट, अध्यात्मवादियों, योगियो, ज्योतिषियों और दर्शनशास्त्रियों ने सृष्टि को पूर्ण रूप से समझने के जो दावे किए हैं, वे मुझे हास्यजनक प्रतीत होते हैं।

मैं जानता हूं कि कई बार बड़े से बड़ा वैज्ञानिक भी सृष्टि की अनन्तता और मनुष्य की नगण्यता से व्याकुल होकर ईश्वर या किसी आध्यात्मिक शक्ति की कल्पना करने लगता है। लेकिन यह एक कमज़ोरी है, जो मनुष्य में किसी कारणवश आ सकती है। मौत, बुढ़ापा आदि डरावनी चीजें हैं। मैं नहीं कहता कि मैं इनसे डरता नहीं हूं, फिर भी, किसी डर के वशीभूत होकर मैं ईश्वर को कबूल नहीं कर सकता।

मैं संस्थापित धर्मों और मत-मतांतरों का विरोधी हूं, और मेरा ख्याल है कि इन धर्मों के जन्मदाता भी संस्थापित धर्मों के उतने ही विरोधी थे। महापुरुषों के विशाल चिन्तन को किसी सीमित घेरे में बांधकर लोगों को पथभ्रष्ट करना प्राचीन काल से शासक वर्ग की साज़िश चली आ रही है।

संस्थापित धर्मों से स्वतंत्र रहने वाले मनुष्य के विचारों में स्वतंत्रता आ जाती है, और वह बुद्ध, ईसा/ मुहम्मद और नानक जैसे धार्मिक महापुरुषों को भी प्लेटो, सुकरात, अरस्तू, शंकर, नागार्जुन, महावीर, कांट, शोपनहॉवर, हीगेल आदि की ही तरह उच्चकोटि के चिन्तक और दार्शनिक मानने लगता है, जिन्होंने कि मानव विकास के विभिन्न पड़ावों पर मनुष्य के चिन्तन को आगे बढ़ाया है। इसी प्रकार, वह उनके अमूल्य विचारों का पूरा लाभ उठा सकता है, जो कि मानव सभ्यता का बहुत बड़ा विरसा हैं।

हम पंजाबी इस साल गुरु नानकदेव की ५००वीं वर्षगांठ मना रहे हैं। मैं नानक की वाणी की प्रेमी हूं। मैं समझता हूं कि उनकी शिक्षा अपने समय का सर्वोत्तम चिन्तन और साहित्य थी। संसार का कोई भी अन्य दार्शनिक या चिन्तक ज्ञान की खोज में शायद ही इतने दूर-दराज़ इलाकों तक गया होगा। इस भ्रमण का गुरु नानक की कविता और शैली पर जो प्रभाव पड़ा, वह आश्चर्यचकित करने वाला है। यह सोचकर मैं गर्व से भर जाता हूं कि पंजाबी राष्ट्रीयता को जन्म देने और पंजाबी चरित्र को मेहनती, साहसी और मधुर बनाने वाले महान व्यक्ति गुरु नानक थे। और गुरु नानक ही थे, जिन्होंने पंजाबी भाषा को निखारा और सर्वप्रथम पंजाबी में साहित्य-रचना की। उनकी वाणी ने मुझे अपने जीवन में कदम-कदम पर शक्ति और सुन्दरता प्रदान की है। लेकिन इतना होने पर भी मुझे न ईश्वर की, और न ही गुरु नानक को अवतार मानने की ज़रूरत महसूस होती है। उन्हें अवतार मानना, मेरी नज़र में, उनके साथ अन्याय करना है।

अब सवाल उठता है पाप और पुण्य का। अगर हम ईश्वर को नहीं मानते, तो क्या पुण्य के बजाय पाप बढ़ेगा नहीं ? मानव इतिहास में आज तक देखने में आया है कि पुण्य के मुकाबले में पाप की जीत कही ज़्यादा हुई है। पाप का निकृष्टतम रूप है अन्याय। इतिहास में अधिकतर अन्याय का ही पलड़ा भारी रहा है। पुण्य की पूरी जीत तब होगी जब अन्याय का हमेशा के लिए खात्मा हो जाएगा। और यह तभी होगा जब लोग धर्मो और कई प्रकार के अंधविश्वासों से मुक्त होकर एक परिवार के रूप में जीने लगेंगे, और हर मनुष्य को बराबर के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक अधिकार मिलेंगे।

इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए अगर कोई विचारधारा सबसे अधिक सहायक सिद्ध हो सकती है और सही दिशा दिखाने वाली है, तो वह मार्क्सवादी विचारधारा ही है, जो विज्ञान और दर्शनशास्त्र के बीच की दीवार हटाती है, और समाजवाद का रास्ता दिखाती है।

२

मैं अपने देश में समाजवादी व्यवस्था चाहता हूं, जो कि सही अर्थों में प्रजातंत्र की ओर ले जाने वाली सीढ़ी है। और उस मंज़िल पर पहुंचकर मैं ऐसे साधनों के प्रयोग का हामी हूं, जो मेरे अपने देश की महान सभ्यता के अनुकूल हों।

प्लेटो ने आदर्श प्रजातंत्र (रिपब्लिक) की कल्पना करते हुए एक पुस्तक लिखी थी। लेकिन उस कल्पना को यथार्थ में ढालने का गर्व आज से हज़ारों साल पहले मेरे देश को प्राप्त हो चुका है। आप भारत के इतिहास का जितना ही गहरा अध्ययन करेंगे, आपको साफ दिखाई देगा कि विभिन्न उतारों-चढ़ावों के बावजूद भारत में प्रजातंत्रवाद और पंचायतवाद की जड़ें हमेशा से मज़बूत रही हैं। भारतवासियों का स्वभाव लोकवादी है। इसीलिए नये विचारों और नई प्रवृत्तियों को बड़ी सहजता, उदारता और शांतिमय ढंग से अपने अन्दर समाने की शक्ति हमारे समाज में कायम रही है। प्लेटो के प्रजातंत्रवाद की तरह अहिंसा के सिद्धांत को भी यूरोप के विद्वान आम तौर पर एक यूरोपीय सिद्धांत ही मानते आए हैं। भारत में भी इस सिद्धांत को कई सदियों से व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया जाता रहा है, और वह प्रयत्न यदि पूरी तरह सफल नहीं, तो असफल भी नहीं कहा जा सकता। आज से दो हजार साल पहले सम्राट अशोक ने, और इस सदी में गांधीजी ने राजनीति के क्षेत्र में इसका उपयोग किया है।

हमने बर्तानवी साम्राज्य से जो स्वतंत्रता प्राप्त की है, वह कहां तक गांधीजी के अहिंसा के सिद्धांत पर चलकर प्राप्त की है, इस बहस में न पड़ते हुए भी यह बात तो स्पष्ट है कि उनके अहिंसावाद ने लाखों-करोड़ों हिन्दुस्तानियों को राजनैतिक संघर्ष के लिए प्रेरित किया था। जिन विचारों को दूसरे देशों के विद्वान हमेशा असाधारण और काल्पनिक मानते आये हैं, उन्हें सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में व्यावहारिक और क्रांतिकारी बनाकर दिखाने का सेहरा मेरे देश के सिर पर सम्राट अशोक के समय से बंधा हुआ है।

समाजवाद और साम्यवाद मनुष्य के सामने आज महान आदर्श हैं। मेरा देश अपनी लोकवादी और शांतिमय परम्पराओं पर चलकर इन आदर्शों तक अवश्य ही पहुंच सकता है।

गांधीजी और पं० नेहरू जैसे नेता बड़ी आसानी से 'डिक्टेटर' बन सकते थे। लेकिन ऐसा करना उनके भारतीय चरित्र के प्रतिकूल था। तानाशाही हमारे स्वभाव के अनुकूल नहीं है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि स्वतंत्रता के बाद, हमारी प्रजातंत्रवादी समाज-व्यवस्था अपने तमाम उतारों-चढ़ावों के बावजूद दिन-प्रतिदिन मज़बूत होती गई है। इस असलियत को हमारे विरोधी कबूल करने से इनकार नहीं कर सकते हैं।

३

मेरे ख्याल में जब तक समाज में स्त्री को पुरुष के बराबर आर्थिक और राजनैतिक अधिकार नहीं मिलते, तब तक यह निर्णय कर पाना बहुत कठिन है कि हमारा दाम्पत्य और पारिवारिक जीवन किस हद तक स्वाभाविक या अस्वाभाविक है। स्त्री की असमानता ने इस समस्या को बहुत पेचीदा बना दिया है। विवाह तभी सार्थक और सुखमय हो सकता है, अगर वह स्त्री-पुरुष द्वारा मनमर्ज़ी से कबूल किया गया रिश्ता हो, और इस रिश्ते को कायम रखने या तोड़ने को दोनों को एक-सी आज़ादी हो।

आज के युग में जिन देशों में स्त्री को पुरुष के बराबर आर्थिक अधिकार नहीं मिले हैं, वहां वैवाहिक जीवन को बनाए रखने या तोड़ने, वफादारी या गैरवफादारी आदि चीज़ों का फैसला पुरुष के ही हाथ में है। सभी हालतों में नुकसान स्त्री को ही उठाना पड़ता है। कई बार शिक्षित लड़कियां भी, प्रचलित फैशनों के प्रवाह में बहकर और सचाई से मुंह मोड़कर, पुरुषों की आज़ादी को अपने लिए अच्छा समझने लग जाती हैं, और खुद को पुरुष की कामतृप्ति का साधनमात्र बना लेती हैं। लेकिन एक न एक दिन उनका जीवन-अनुभव उन्हें कड़वे या मीठे ढंग से यह समझाए बिना नहीं रहता कि पुरुष की नज़रों का आकर्षण बनना उनके लिए कोई बड़ा आदर्श नहीं है।

४

अपने हाथों के श्रम में ही सच्ची खुशी है, और अगर इस श्रम से समाज का भी कोई कल्याण होता हो, तो मनुष्य की शारीरिक और मानसिक शक्तियां दोनों ही निखरती हैं। निराशा और निष्फलता से छुटकारा पाने का एक ही रास्ता है कि मनुष्य खुद को समाज से अलग न होने दे, और समाज के हित को अपना हित और अहित को अपना अहित समझे। समाज से कटकर वह जितना ही अपने अन्दर लीन होता जायेगा, उतना ही दुःखी और बेचैन होगा। इसके उलट, वह अपने सुख-दुःख को अपने इर्द-गिर्द के लोगों के साथ साझा करके भोगेगा, उतना ही उसका मानसिक संतुलन कायम रहेगा।

५

मौत को मैं एक शोकपूर्ण घटना समझता हूं, जिसपर हो सकता है एक दिन विज्ञान काबू पा ले। मैं शरीर और आत्मा को अलग-अलग नहीं मानता। इसलिए, मेरे ख्याल में, मनुष्य मरने के बाद पूरी तरह खत्म हो जाता है। किसी दूसरी दुनिया या पुनर्जन्म में मेरा विश्वास नहीं है। यह बात मैं इस लेख के शुरू में विस्तारसहित स्पष्ट कर चुका हूं। मरने के बाद मनुष्य के अच्छे या बुरे काम ही उसकी निशानी रह जाते हैं।

वामपंथी अतिवाद का चेहरा

कुछ वर्ष पूर्व संबलपुर, उड़ीसा, में होने वाले 'इसकस' (हिन्द-सोवियत मैत्री संस्था) की सालाना कान्फ्रेंस का उदघाटन करने के लिए मुझे जाना था। जाने से कुछ समय पहले मुझे डाक से छः पत्र मिले।

एक पत्र में लिखा था :

''वियतनाम का रास्ता, हमारा रास्ता !

''माओ त्से-तुंग- लाल सलाम !

''हमें 'इसकस' वाले मूर्खों के हलकों से खबर मिली है कि आप उनकी कान्फ्रेंस में शामिल होने के लिए जा रहे हैं। मैं, कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) की संबलपुर शाखा का अध्यक्ष, आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप इस कान्फ्रेंस में किसी भी हालत में शामिल न हों, क्योंकि आपकी उपस्थिति संबलपुर की जनता के अन्दर रूसी ब्रांड कम्युनिज़्म के कीटाणुओं का संचार कर देगी। और इस तरह मंज़िल तक पहुंचने के हमारे रास्ते में रुकावट पड़ेगी।

''मैंने आपको सचेत करके अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया है। इसके बावजूद अगर आपने आने का हठ किया तो खतरनाक नतीजों के ज़िम्मेदार आप खुद होंगे।''

दूसरे पत्र में लिखा था :

''कौन नहीं चाहेगा कि उसका प्रिय कलाकार इस संसार में जीवित रहे ? इसलिए मैं आपको सचेत करता हूं कि 'इसकस' की कान्फ्रेंस में भाग न लें, क्योंकि कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) इस कान्फ्रेंस पर बम फेंकने वाली है।...''

तीसरे पत्र में लिखा था :

''अगर आप चाहते हैं कि आपका सिर धड़ से अलग होकर 'लक्ष्मी टाकीज' के चौक में टांगा जाये, तो संबलपुर में होने वाली 'इसकस' की कान्फ्रेंस में बेशक आइए।...''

पत्र पढ़कर पहले तो मैं हंसा, फिर कुछ गंभीर होकर सोचने लगा। समाचारपत्रों में बंगाल के बारे में जिस किस्म की खबरें पढ़ने में आ रही थीं, उन्हें देखते हुए उपर्युक्त पत्रों में दी गयी धमकियां नज़रअन्दाज़ नहीं की जा सकती थीं।

मैंने 'इसकस' की बम्बई शाखा के सेक्रेटरी को फोन किया और पत्रों का जिक्र करते हुए पूछा कि ऐसी हालत में मुझे क्या करना चाहिए।

''जाते समय आप कलकत्ता में रूकेंगे?'' उसने पूछा।

''एक दिन के लिए।''

''तो मुझे आप वहां का पता दे दीजिए। मैं संबलपुर वालों को तार द्वारा सूचित कर देता हूं कि वे आपको कलकत्ता में मिलें और पूरी हिफाज़त से आगे ले जाएं।''

कलकत्ता पहुंचने पर मैं सुबह से शाम तक कान्फ्रेंस वालों का इन्तज़ार करता रहा, पर कोई न आया। संबलपुर जाने के लिए गाड़ी पकड़ने में दो घण्टे रह गये थे। आखिर मैंने खुद फोन करके पता लगाना चाहा। काफी कोशिश करने के बाद 'इसकस' की कलकत्ता-शाखा के सेक्रेटरी श्री चटर्जी से बात हो सकी। उन्होंने कहा, ''आपको अगर हिफाज़त से ले जाने का इन्तज़ाम नहीं किया गया है, और अब तक कोई कर्मचारी आपके पास आया तक नहीं है, तो आपको अकेले नहीं जाना चाहिए।''

''धन्यवाद,'' मैंने कहा।

अगले दिन मैं संबलपुर के बजाय शांतिनिकेतन के लिए रवाना हो गया।

जिस प्रथम श्रेणी के डिब्बे में मैं बैठा था, वह खचाखच भरा हुआ था। उन यात्रियों में कुछ वकील थे, कुछ रेल विभाग के कर्मचारी। राजनीति पर खुलकर बातें हो रही थीं।

''वह देखिए, किस प्रकार शांतिपूर्वक धान की कटाई हो रही है,'' किसी ने खिड़की के बाहर संकेत करते हुए कहा। इस बार विभिन्न राजनीतिक पार्टियों के किसानों की कहीं भी आपस में लड़ाई नहीं हुई है।''

''तो क्या उनकी सुलह हो गयी?''

''सुलह तो नहीं हुई, लेकिन जिस प्रकार के बलवे कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) कराती रही है, उससे किसानों की नाक में दम आ गया था। खेत तबाह होते हैं तो किसान खुद भूखा मरता है। इसलिए इस बार कटाई के समय पूरे बंगाल में किसानों ने किसी राजनीतिक पार्टी को नज़दीक नहीं आने दिया।''

आगे गाड़ी जब गांवो में से गुज़रने लगी तो मुझे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता 'दो बीघा ज़मीन' की, जिसके आधार पर विमल राय ने इसी नाम की फिल्म बनाई थी, पंक्ति याद आई :

नमो नमो मम जननी बंगभूमि !

मेरा कंठ भर आया। मुझे वे दिन याद आए जब मैं इन्हीं गांवों में शांतिनिकेतन के विद्यार्थियों के संग पिकनिक मनाने जाया करता था। बंगाल की धरती मुझे मां की तरह प्यारी है।

बर्दवान जंक्शन पर मेरा डिब्बा खाली हो गया था। वहां से कुछ विद्यार्थी उसमें सवार हुए थे, जो शांतिनिकेतन जा रहे थे। मैं उनसे नक्सलवाली आन्दोलन-संबंधी जानकारी पाने लगा। कहा गया कि कलकत्ता में एक ऐसा कॉलेज है, जिसके सभी विद्यार्थी अमीर घराने के हैं। सबसे पास मोटरें या मोटरसाइकिलें हैं। लेकिन फिर भी वे नक्सलवादी आन्दोलन में भाग ले रहे हैं। वह कॉलेज नक्सलवादियों का गढ़ है। सभी विद्यार्थी आदर्शवादी हैं और एक नये समाज का सपना साकार करना चाह रहे हैं।...दूसरे कॉलेजों के मध्यवर्ग या निम्न वर्ग के विद्यार्थी भी नक्सलवादी बन रहे हैं, क्योंकि उन्हें पता है कि डिग्री लेने के बाद भी उन्हें नौकरी नहीं मिलेगी। सो, ऐसी पढ़ाई से क्या फायदा? फिर, ऐसे विद्यार्थी भी नक्सलवादी बन रहे हैं, जो इतने गरीब हैं कि फीस तक

नहीं दे पाते, लेकिन पढ़ना चाहते हैं। पैसों की खातिर वे कहीं भी बम फेंकने के लिए राज़ी हो सकते हैं।...यह भी कहा जाता है कि देश के बड़े पूंजीपति और कुछ विदेशी दूतावास इन नक्सलवादियों के पीछे हैं और उन्हें खुला पैसा देकर देश में बदअमनी फैला रहे हैं...

एक स्टेशन पर टिकट-चेकर आया। उसने मेरा टिकट देखा, लेकिन उन विद्यार्थियों में से किसी से टिकट नहीं मांगा और उसी समय डिब्बे से उतर गया। एक विद्यार्थी ने बताया, ''गाड़ी में या स्टेशन पर कोई रेलवे कर्मचारी विद्यार्थियों से टिकट मांगने का साहस नहीं कर सकता। जरा इस डिब्बे की हालत देखिए।''

मैंने देखा- डिब्बे की सीटें कटी- फटी हुई थी और बल्ब गायब थे।

मैं तीन दिन शांतिनिकेतन में रहा।

अपने पुराने दोस्तो-साथियों से मिलकर बहुत खुशी हुई। फिर, पता चला कि वहा भी नक्सवादि विचारधारा का अन्दर ही अन्दर खूब जोर है। पुरानी और नई पीढ़ी के बीच गहरी खाई दिखाई दी। पता नहीं, किस समय शांतिनिकेतन में भी नक्सलवादी विचारधारा की आग भड़क उठे। हर कोई खतरा महसूस कर रहा था। इसीलिए 'पौष मेले' के दौरान वहां के कलाभवन को नहीं खोला गया था। डर था कि कहीं विद्यार्थी वहां की अमूल्य वस्तुएं नष्ट न कर दें।

यह सब देख-सुनकर मैं उदास हो गया। क्या शांतिनिकेतन के विद्यार्थी कलाकृतियों पर भी हाथ उठा सकते हैं? मैंने सोचा। यह कैसी अनहोनी है?

शांतिनिकेतन में मैं तीन दिन रहा। तब वहां कोई वारदात नहीं हुई। लेकिन वापस आने पर अखबारों में पढ़ा कि वहां का पुस्तकालय जला दिया गया है। पढ़कर मन बहुत दुःखी हुआ। क्या यह वही पुस्तकालय था जिसमें नन्दलाल बोस के चित्र टंगे थे? उन चित्रों को संसार-भर के कलाप्रेमी देखने आया करते थे। काश, वह कोई और पुस्तकालय हो, जिसे आग लगाई गई है। फिर सोचा कि इस बारे में किसीको पत्र लिखकर पता करूं। लेकिन नहीं, न जानना ही अच्छा है। असलियत जानने से डर लगता है। अगर सचमुच वही पुस्तकालय हुआ तो उसका जलना मुझसे सहन नहीं हो पाएगा। कभी मैं शान्तिनिकेतन में अध्यापक था, तब उस पुस्तकालय में जाकर नंदलाल बोस के उन भव्य चित्रों को किस नज़र से देखा करता था !

फिर, एक विद्यार्थी का पत्र आया, जिसमें लिखा था कि शान्तिनिकेतन के एक प्राध्यापक की छुरा मारकर हत्या कर दी गई है। उससे दो दिन पहले पढ़ा था कि जादवपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति को छुरे से मार डाला गया है। तब लगा, जैसे क्रांति की कोई नई परिभाषा अस्तित्व में आई है। लेकिन ऐसी क्रांति के साथ मार्क्स और लेनिन के नाम कैसे जोड़े जा सकते हैं? मैंने मार्क्स और लेनिन का काफी अध्ययन किया है। उन्होंने कहीं भी व्यक्तिगत हिंसा का समर्थन नहीं किया, बल्कि उसकी निन्दा ही की है। उन्होंने व्यक्ति के बजाय वर्ग से लड़ने को कहा है।

यह था वामपंथी अतिवाद का चेहरा, जिसकी कुछ झलकें ही मैं देख सका। उसे देखकर मुझे कोई उत्साह नहीं मिला, कोई प्रेरणा नहीं मिली।

'मज़दूर-भाषा' का संकल्प

मैं कोई राजनीतिज्ञ नहीं हूं, न ही किसी राजनैतिक पार्टी का मेंबर। लेकिन एक आज़ाद देश के नागरिक की हैसियत से मुझे राजनीति को समझने तथा अपने राजनैतिक दृष्टिकोण बनाने का जन्मसिद्ध अधिकार है। मेरे दृष्टिकोण मार्क्स और लेनिन के महान साहित्य से प्रभावित हैं, इस बात को मैंने कभी नहीं छिपाया। बल्कि इस बात को कबूल करते हुए मुझे सरूर आता है कि मैंने 'पूंजी' (कैपिटल), 'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' तथा 'हुकूमत और इनक्लाब' जैसी महान पुस्तकें पूरे गौर से पढ़ी हैं। इन पुस्तकों ने जीवन के अनुभव द्वारा मुझे कायल किया है कि ज़माने की गति को ठीक-ठीक देखने तथा समझने का एक ही रास्ता है- आर्थिक वर्गों तथा वर्ग-संघर्ष को परवान करना।

मेरे खयाल में आज संसार का हर सूझ-बूझ वाला व्यक्ति वर्ग-संघर्ष को परवान करता है। यह मार्क्सवाद की बहुत बड़ी जीत है।

साथ ही साथ, ज़माने की चाल इस हकीकत को भी बेनकाब कर रही है कि वर्ग-संघर्ष का शिखर और मंज़िल मज़दूर वर्ग की जीत ही हो सकती है। कोई ज़माना था, जब पंजाब के लोग पूरे निश्चय के साथ कह सकते थे : 'राज करेगा खालसा, आकी रहे न को।' आज इस बीसवीं सदी के आखिर में, उसी निश्चय के साथ सारे संसार के लोग कह सकते हैं : 'राज करेगा कामगर, आकी रहे न को।'

जब राजसत्ता मेहनतकशों के हाथ में आएगी, तभी मानवता को लूट-खसोट, जात-पांत, ऊंच-नीच और दीन-धर्म के झगड़ों से मुक्ति मिलेगी। तभी गुरु का कथन सही अर्थों में सच हो सकेगा कि 'सभै सांझी-वाल सदाइन, इक न दिस्से बाहरा जिओ।'

जब हम अपने देश में समाजवाद का नाम लेते हैं- और अगर हमारे दिल साफ हैं- तो अवश्य वर्ग-संघर्ष और उसके अंतिम रूप को परवान करते हैं। दिन-ब-दिन हमारा अपना अनुभव हमें बता रहा है कि देश की उन्नति और कल्याण का यही रास्ता है, दूसरा कोई नहीं। मुनाफाखोरों या मज़हबी लीडरों के हाथों देश का कल्याण कभी नहीं हो सकता।

अगर हम समाजवाद के आदर्श को कबूल करते है तो हम खुद चाहे किसी भी वर्ग के हों, हमारा कर्त्तव्य है कि हम मज़दूर वर्ग में जागृति लाएं, उसके साथ अपने चिंतन की साझा करे, हर तरह से उसके हाथ मज़बूत करें, क्योंकि पूंजीवाद के अजगर को गरदन से पकड़ने की ताकत केवल उसी वर्ग में है। इस ताकत का सही ढंग से इस्तेमाल करके मज़दूर वर्ग केवल अपना ही नहीं, पूरे देश का कल्याण कर सकता है।

आज हमारे देश में मज़दूर वर्ग के संगठित और मज़बूत होने की ज़रूरी शर्त क्या है? यह कि देश के किसी भी कोने में बैठे मज़दूर को सारे भारत के मज़दूरों के विचार तुरंत, बाकायदा और निर्विघन रूप से मिला करें। माना कि हमारा देश बहुत बड़ा, बहुत विशाल है, उसमें भांति-भांति की बोलियां बोली जाती हैं, भांति-भांति की कौमें बसती हैं, फासले बहुत लंबे हैं, लेकिन अगर हम सिर्फ किताबी समाजवादी नहीं हैं तो हमें इन सारी बाधाओं को दूर करने के तरीके सोचने पड़ेंगे।

पिछले दिनों मैंने अखबारों में खबर पढ़ी थी कि इंग्लैंड में पांच जहाज़ी मज़दूर के अगुओं के गिरफ्तार होते ही, पलक झपकते इंग्लैंड के सभी बंदरगाह ठप हो गए। इतना ही नहीं, बल्कि खानों, रेलों तथा हवाई कामगारों की भी देशव्यापी हड़तालें हो गईं और सर्वव्यापी हड़ताल की नौबत आ गयी।

इसके उलट, हमारे देश में हालत क्या है ? अंबरनाथ में गोली चलती है। दस मज़दूर वक्त पर तनख्वाह न मिलने के खिलाफ मुज़ाहिरा करते हुए मौत के घाट उतार दिए जाते हैं, लेकिन बाकी भारत के मज़दूरों के कान पर जूं तक नहीं रेंगती। रेंगे भी कैसे ? उन्हें तो इतना भी मालूम नहीं कि भारत के नक्शे में अंबरनाथ है कहां पर।

ऐसी हालत में समाजवाद की उम्मीद रखना महज़ सपने देखने वाली बात है। पंजाब के मज़दूर को नहीं मालूम कि बंगाल का मज़दूर कैसे जी रहा है, उसपर क्या बीत रही है, उसके साथ कैसे दुःख-सुख बांटा जा सकता है, उसके संघर्ष को कैसे हिमायत दी जा सकती है। इसी तरह बंगाल के मज़दूर के लिए महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, काश्मीर, मैसूर, केरल, आंध्र, तमिलनाडु केवल नक्शे में खिंची हुई लकीरें-मात्र हैं।

इसके विपरीत, पूंजीपति मोर्चे की ओर नज़र डालें तो पता चलेगा कि जत्थेबंदी किसे कहा जाता है। देश के किसो भी कोने में बैठे हुए पूंजीपति के पास वे सभी सुविधाएं मौजूद हैं, जिनके द्वारा वह दिनों या घंटों में ही नहीं, मिनटों में संसार-भर के वर्ग-भाइयों के साथ ताल-मेल पैदा कर सकता है, वर्गहितों की रक्षा के लिए उनका समर्थन प्राप्त कर सकता है।

अगर हम चाहते हैं कि मज़दूर वर्ग पूंजीपति वर्ग के सामने बराबर का होकर खड़ा हो सके, तो हमें भी उन तरीकों के बारे में सोचना होगा, जिनसे मज़दूर वर्ग के बीच के भाषाओं तथा प्रान्तों के फासले खत्म हो सकें। इस वक्त हालत बड़ी निराशाजनक है। मज़दूर बिरादरी को देशव्यापी स्तर पर अव्वल तो अपनी स्थिति की सूझ होती ही नहीं, अगर होती भी है तो बहुत देर से और बहुत-सी छलनियों में से छन-निथर कर।

इस हकीक़त को सामने रखकर आज एक सुझाव पेश करने की हिम्मत कर रहा हूं, ताकि सोचने-समझने वाले लोग इसका विश्लेषण-परीक्षण करें।

आज से कई सदियां पहले भक्तिकाल के सन्तों-सूफियों को जब तमाम हिन्दुस्तान की जनता को जात-पांत और धर्म-मज़हब के नाम पर होने वाले जुल्म-जबर के खिलाफ उठने का सन्देश देना था, तो उन्होंने संतभाखा का निर्माण किया था, जो तमाम हिन्दुस्तान में समझी-बोली जाने लगी थी। संस्कृतवादी ब्राह्मणों तथा फारसीवादी काज़ियों के घोर विरोध के बावजूद यह भाखा विकसित हुई थी और उसने सारे भारत में इनक्लाबी जज्बें का

संचार किया था। पंजाबियों की अपनी 'गुरुबाणी' इस साधभाखा का उत्तम उदाहरण है। याद रखना चाहिए कि गुरु गोविन्दसिंहजी ने जिन 'पांच प्यारो' को सबसे पहले 'अमृतपान' कराया था, उनमें से केवल एक ही पंजाबी था और बाकी सब बाहरी प्रान्तों के थे- एक द्वारका से आया था, एक कर्नाटक की तरफ से, और एक दूर-दराज़ के आसाम से।

याद रखने लायक बात है कि छत्रपति शिवाजी के गुरु श्री रामदासजी पंजाब में सिक्खों के छठे गुरु हरगोविन्दजी से, जिन्होंने कि पतनोन्मुख मुगलशाही साम्राज्य के खिलाफ सबसे पहले झण्डा उठाया था, मिलन ओर सलाह-मशविरा करने काश्मीर तक आये थे।

उर्दू ज़बान का निर्माण भी एक विशेष ज़रूरत की पूर्ति की गर्ज़ से ही हुआ था। मुगल फौजों के आम सिपाहियों को एक ऐसी बोली की ज़रूरत महसूस हुई थी, जो देश-भर में समझी जाए और उनका काम चलाए। साधभाखा की तरह यह ज़ोरदार बोली भी जनता की विशेष ज़रूरतों के आधार पर ही सिरजी गई थी।

१८५७ के गदर के समय जब देशव्यापी सम्पर्क का और कोई रास्ता नहीं मिला था तो जनसाधारण ने रोटी को ही इनक्लाबी 'अखबार' का रूप दे दिया था।

आज मज़दूर वर्ग की आर्थिक और सामाजिक ज़रूरतें शासकों की कायम की हुई पंडिताऊ कदरों-कीमतों से मुक्त होकर एक मज़दूर-भाषा की मांग कर रही है। यह भाषा मज़दूर वर्ग और उसके हितैषियों को खुद अपने हाथों विकसित करनी होगी।

किसी ज़माने में हमारे देश के शासक वर्ग के हित संस्कृत या फारसी के साथ बंधे हुए थे। आम मेहनतकश जनता को जाहिल और मूर्ख बनाए रखने में उक्त भाषाएं सहायक थीं। ठीक उसी तरह, आज के शासक वर्ग को अंग्रेज़ी रास आती है- सबसे ज्यादा इसलिए कि वह आम जनता की पहुंच से बाहर है। मज़दूर वर्ग को स्थायी तौर पर मोहताज बनाए रखने के लिए अंग्रेज़ी भाषा पूंजीवादियों के लिए ईश्वरीय वरदान है।

संस्कृत के भार के नीचे दबी हुई हिन्दी को राष्ट्रभाषा के तौर पर पेश करना, उसके गुणगान करना, उसके प्रचार के लिए करोड़ों रुपये खर्च करना महज़ एक आडम्बर है, एक पाखण्ड है। इसके पिछड़े हुए सरपरस्तों को भली भांति मालूम है कि यह भाषा राष्ट्रीय स्तर पर कभी भी परवान नहीं होगी और वैर-विरोध का कारण ही बनी रहेगी। वे इसे धकेले जाते हैं क्योंकि पूंजीपति वर्ग के लिए वैर-विरोध और झगड़े लाभप्रद होते हैं। जिस तरह अंग्रेज़ी साम्राज्य जनता को मज़हब के नाम पर लड़वाता था, वैसे ही भारतीय पूंजीपति उसे आज भाषा और प्रान्त के नाम पर लड़वाता है। राष्ट्रभाषा हिन्दी अपने वर्तमान रूप में जनता में फूट डाले रखने का एक बहुत बड़ा साधन है। असली मकसद अंग्रेज़ी के पांव हिन्दुस्तान में दिनों-दिन मज़बूत करना है। अंग्रेज़ी को कायम रखने में उच्च वर्ग का लाभ ही लाभ है और मज़दूर वर्ग की हानि ही हानि। गरीब जनता को इस कठिन विदेशी भाषा को सीखने के मौके कभी नहीं मिल पाएंगे। अर्थात मज़दूरों और आम जनता के दिलों में हीन भाव की ग्रन्थि पैदा करने के लिए अंग्रेज़ी आज उसी तरह एक कारगर साधन है, जैसे कभी संस्कृत या फारसी हुआ करती थी। इस हकीकत को समझने की ज़रूरत है। हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं कि राष्ट्रभाषा हिन्दी का जितना ही शोर बढ़ता है, उतने ही अंग्रेज़ी के कदम मज़बूत होते जा रहे हैं।

इस पाखण्ड का जवाब मज़दूर वर्ग को ढूंढ़ना पड़ेगा। मेरी समझ के मुताबिक जवाब है: रोमन लिपि में लिखी आम बोलचाल की हिन्दुस्तानी, जो हर तरह के पण्डिताऊ ब्राह्मणवाद से मुक्त होगी।

मज़दूर के लिए अंग्रेज़ी ज़बान सीखना कठिन है, लेकिन रोमन लिपि कठिन नहीं है। इस लिपि के सीखते ही कम से कम हमारे देश के अलग-अलग लोगों के बीच उठी हुई लिपि की दीवारें ढह जाती हैं। मेरे ख्याल में भारत के मज़दूर वर्ग को अपनी स्थानीय भाषा में अच्छी तरह बोलने और सीखने के साथ-साथ एक-दूसरे से सम्पर्क कायम करने वाली भाषा के लिए रोमन लिपि में लिखी बोलचाल की हिन्दुस्तानी को अपनाना चाहिए।

रोमन, अर्थात अंग्रेज़ी की लिपि, में लिखी टूटी-फूटी हिन्दुस्तानी भारत का हर मज़दूर देश के कोने-कोने में बरत सकता है। इस लिपि में छपा हुआ अखबार किसी न किसी ढंग से देश-भर के मज़दूरों को एक-दूसरे के निकट आ सकता है, उनकी एकता को देशव्यापी ताकत प्रदान कर सकता है।

सचेत और आत्मविश्वासी मज़दूर वर्ग ज्यों-ज्यों इसे उपयोग में लाएगा, यह टूटी-फूटी बाज़ारू बोली अलग-अलग पेशों के तकनीकी शब्दों के साथ ही भारत की हर बोली के खनकदार और जानदार शब्द अपने में समोकर तथा लम्बे समय से लोक-उच्चारण के अनुसार बदले अंग्रेज़ी, फारसी तथा संस्कृत के शब्दों को अपनाकर मालामाल होती जाएगी। और जब भारत समाजवाद की दहलीज़ तक पहुंचेगा, तब तक सच्चे अर्थों में राष्ट्रभाषा कहलवा सकने वाली भाषा उपयोग में आ चुकी होगी, जिसमें अंग्रेज़ी का जूता उतार फेंकने की सामर्थ्य होगी, जो संस्कृत और फारसी शब्दकोशों की मोहताज नहीं होगी, और भारत की अन्य स्थानीय भाषाओं से डायनों की तरह नहीं, बल्कि बहनों की तरह पेश आएगी, उनकी सहायता से खुद अमीर बनेगी और उन्हें भी अमीर बनाती चली जाएगी।

जैसे मज़दूर का संघर्ष केवल मज़दूर वर्ग को ही नहीं, बल्कि सारे समाज को बंधनों से मुक्त करता है, नये युग में आंखें खोलने और ऊपर उठने के रास्ते बताता है, वैसे ही नवयुग के निर्माता मज़दूर द्वारा निर्माण की हुई यह भाषा हमारे सारे देश और समाज के रास्तों को विस्तृत बनाएगी और सभी वर्गों की परवानगी हासिल करेगी- यह मेरा विश्वास है।

हमारे फिल्मी समाज में, हमारी सेनाओं में, रोमन लिपि का आम उपयोग हो रहा है। चिट्ठियों के पतों में और रेलवे स्टेशनों और दुकानों के बोर्ड बनाते समय रोमन लिपि प्रयोग में लाई जाती है। भारत की एक भाषा कोंकणी (जो गोआ में बोली जाती है) का लिखना, पढ़ना, छपना, सब रोमन लिपि में ही होता है। वहां यह लिपि उनती ही विकसित और लोकप्रिय है जितनी कि पड़ोस में देवनागरी अक्षरों वाली मराठी, जब कि कोंकणी को मराठी की ही उपभाषा कहा जाता है।

इस तरह, मुझे नहीं लगता कि मैं कोई गैर-अमली या शेखचिल्लियों की-सी तजवीज़ पेश कर रहा हूं। फिर भी, सौ फीसदी ठीक होने का मेरा दावा नहीं है। मैंने केवल एक तजवीज़ पेश की है, जिसपर विद्वान और खासकर मज़दूर पार्टियों के अगुआ गौर कर सकते हैं। मेरा यह लेख इस विषय पर गोष्ठी का आधार बन सकता है।

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि इस समय मजदूर वर्ग को एक देशव्यापी और अपने मतलब की साझी बोली और लिपि की सख्त ज़रूरत है। और यह भी कि जर्जर संस्कारों को त्याग कर इनक्लाबी कदम उठाने की सामर्थ्य, सांस्कृतिक क्षेत्र में भी, मज़दूर वर्ग के ही पास होती है, क्योंकि वही हमारे समाज का सबसे ज़्यादा प्रगतिशील और सम्भावनाओं से भरपूर वर्ग है।

जवाहरलाल नेहरू : मेरी निगाह में

मैं एक फिल्म की शूटिंग के सिलसिले में लद्दाख गया हुआ था। एक दिन पैदल सैर के लिए लेह से सात-आठ मील दूर निकल गया। वापसी पर एक ट्रक के ड्राइवर ने मुझे पहचान लिया और ज़िद करके अपने पास अगली सीट पर बैठा लिया। वह 'बार्डर रोड्स' विभाग का कर्मचारी था- बीस-पच्चीस साल का सिक्ख जवान । कच्ची और खतरनाक सड़क पर पतंगे की तरह ट्रक को उड़ाते हुए वह अपने बारे में बता रहा था, "कुल ढाई सौ पगार मिलती है, साहब। हमने तो समझ लिया है, ढाई सौ के बदले नेहरू को अपनी जान बेच दी है। यहां कुछ भरोसा नहीं है अपनी जान का। नेहरू से हम धोखा भी नहीं कर सकते, साहब। जो बेईमान हैं, वे हेरा-फेरी करके सैकड़ों ऊपर से बचा लेते हैं। पठानकोट से यहां तक जो आना-जाना हुआ, साहब, माल ढो लिया, पेट्रोल बचा लिया। पर मैं तो कहता हूं, जब अपनी जान नेहरू को बेच दी, तो उसके साथ पैसे का धोखा क्यों करें?"

मेरे मन पर उस जवान के गौरववान व्यक्तित्व का गहरा असर पड़ा। मेरी ज़िन्दगी स्वार्थी लोगों के बीच में गुज़रती हैं। उनमें नेहरू के खिलाफ सिर्फ तकरीरें और शिकायतें ही सुनने में आती हैं। उन्हें बूढ़ा और निकम्मा कहा जाता है। तब ऐसे लगा, जैसे मैं बन्द कमरों के उमस में से निकलकर खुली हवा में आ गया हूं। मैं सोचने लगा, इस जवान में नेहरू से व्यक्तित्व के लिए कितनी श्रद्धा और प्यार है! इसने न तो नेहरू की हसीन जवानी देखी, और न ही स्वतन्त्रता-संग्राम की वे लड़ाइयां देखीं, जिनके नेहरू सेनापति थे। क्या इसकी भावनाओं का बौद्धिक विश्लेषण किया जा सकता है? क्या ये भावनाएं स्थायी हैं या केवल सामयिक ? फिर, ये भावनाएं सिर्फ इस एक अकेले व्यक्ति की तो नहीं ? ऊंचे, अमीर हलकों में चाहे कितनी ही चर्चाएं हों, साधारण जनता के दिलों में नेहरू राज करते थे। केवल देश के अन्दर ही नहीं, बाहर भी, जहां देखें, नेहरू के लिए आदर और प्यार मिलता है। मेरे अपने दिल में भी तो उनके लिए अपार श्रद्धा है। मैं कम से कम अपनी भावनाओं का विश्लेषण तो कर ही सकता हूं। इस तरह शायद उस नौजवान के दिल तक भी पहुंच सकूं। कितनी बार मेरे मन में नेहरू के खिलाफ आवाज़ उठी है, उनकी नीतियां गलत प्रतीत हुई हैं, वह अपने सिद्धान्तों के साथ धोखा करते हुए दिखाई दिए हैं। कभी वह कमज़ोर और अवसरवादी भी लगे हैं। पर अजीब बात है कि कुछ समय बीत जाने के बाद घटनाएं नेहरू को सच्चा और उनके आलोचकों को गलत साबित करती रही हैं। आखिर ऐसे क्यों हुआ है?

आज से पच्चीस-तीस साल पहले नेहरू अपने बारे में कहा करते थे :

"मैं हिन्दुस्तान को अच्छी तरह नहीं समझता। कई साल इंग्लैंड में रहने के कारण मेरा सोचने का ढंग यूरोपीय हो गया है। मैं अपने देश में पराया-सा महसूस करने लगता हूं। जब गांधीजी बोलते हैं, तो उनके शब्द जनता के दिलों की गहराई में उतर जाते हैं। एक तो मैं हिन्दी में अच्छी तरह बोल ही नहीं सकता, और अगर बोलूं भी, तो मेरी बातें लोगों के दिमागों तक ही पहुंचती हैं, उनके दिलों तक नहीं पहुंचती।"

पर आज कौन कह सकता है कि नेहरू को अपनी मातृभाषा बोलनी नहीं आती थी, उनकी बातें लोगों के दिलों को नहीं छूती थीं ? गांधीजी के बाद नेहरू के अलावा और कौन-सा नेता था, जिसमें हमारे दिलों को जीतने की इतनी बड़ी ताकत थी? नेहरू ने अपने अन्दर इतना बड़ा परिवर्तन कैसे पैदा कर लिया था?

एक और बड़ी अजीब बात सामने आती है। नेहरू ने कई और जगहों पर कबूल किया है कि उन्हें कई मौकों पर गांधीजी के विचारों से बुनियादी मतभेद हो जाता था। वह कई बार अपने विचारों को एक ओर रखकर गांधीजी के पीछे चलने लग पड़ते थे। इसीलिए देश के प्रगतिवादी उनसे चिढ़ जाते थे। तो क्या नेहरू सचमुच अपनी आत्मा और सिद्धान्तों से धोखा करते थे? उधर गांधीजी की ओर देखें तो और भी हैरानी होती है। यह बात अच्छी तरह जानते हुए भी कि उनके और नेहरू के सोचने के ढंग में बुनियादी फर्क था, उन्होंने नेहरू को हमेशा अपने दिल के साथ लगाकर रखा और अपना उत्तराधिकारी करार दिया, हालांकि उनके दूसरे साथियों में कितने ऐसे थे, जो पूर्ण रूप से उनके अनुयायी होने का दावा करते थे। क्या गांधीजी जैसा सिद्धान्तों का पक्का व्यक्ति भी नेहरू के प्रेम में गिरफ्तार होकर अपने सिद्धान्तों से धोखा कर जाता था?

इन सवालों के जवाब दोनों महापुरुषों की रचनाओं और उनके जीवन-संग्राम में से ही मिल सकते हैं। गांधीजी ने सारी उम्र अपने-आपको सचाई का जिज्ञासु और खोजी कहा है। नेहरू ने अपने देश और कुल संसार के इतिहास का गहन अध्ययन किया था और भूतकाल, वर्तमान और भविष्य में होने वाली गतिविधियों को बारीकी से देखा था। पर अफ़सोस है कि इस आज़ादी के युग में भी हमारे देश में महापुरुषों को आंखें मूंदकर पूजने या पानी पी-पीकर कोसने की परम्परा है। उनके जीवन को गम्भीरता के साथ देखने-परखने की कोशिश हम नहीं करते।

जवाहरलाल नेहरू की सारी शिक्षा इंग्लैंड में हुई थी। वह ऐसे स्कूलों और कॉलेजों में पढ़े थे, जहां बादशाहों, बड़े-बड़े लार्डों और धनवानों की सन्तान पढ़ती थी, आगे चलकर नेहरू को अपने देश में हुकूमत की ऊंची कुर्सियां संभालनी थीं। जवाहरलाल के गौरवशाली पिता, जिन्हें कि अंग्रेज़ों के साथ बराबर का होकर रहने की आदत थी, अपने बेटे को नौकरशाही का पुर्ज़ा नहीं बल्कि अपनी तरह वाइसराय तक के साथ बराबर की टक्कर लेने योग्य बैरिस्टर बनने की शिक्षा दिला रहे थे। पर नेहरू जैसे सूक्ष्म बुद्धि वाले विद्यार्थी के लिए यह भांप लेना मुश्किल नहीं था कि जिस बराबरी की कल्पना उनके पिता कर रहे थे, वह वास्तव में बेबुनियाद और खोखली थी। अंग्रेज़ों के साथ बराबरी करने का एक ही तरीका था : अपने देश में उनके शासन के सामने सिर झुकाने से इनकार करना। और यह रास्ता बगावत का था, इनक़लाब का था।

जवाहरलाल की विशेष रुचि विज्ञान-संबंधी विषयों में थी। इस शिक्षा ने उनके सामने यह स्पष्ट कर दिया था कि हिन्दुस्तान पर अंग्रेज़ों के कब्ज़ा जमाने का भेद उनकी गोरी रंगत या उच्च सभ्यता नहीं, बल्कि विशेष ऐतिहासिक कारणों से, हिन्दुस्तान का विज्ञान और टेक्नॉलॉजी की दौड़ में पीछे रह जाना था। अंग्रेज़ जाति की बराबरी करने की पहली शर्त यह थी कि इस पिछड़ेपन को दूर किया जाए। पर गुलामी और नाबराबरी की हालत में यह कमी दूर नहीं हो सकता था। नेहरू ने इस समस्या के बारे में गहराई से सोचा और संसार-भर की क्रांतिकारी और प्रजातंत्रवादी विचारधाराओं का अध्ययन किया। अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा है कि उनपर मार्क्स और लेनिन की विचारधारा का बहुत गहरा असर पड़ा था। इसके कई कारण थे। एक तो यह विचारधारा मानव-इतिहास को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने-समझने का महान प्रयत्न है। यह शासक और शासित के रिश्ते को ईश्वरीय देन और अटल नहीं मानती, बल्कि उसके पीछे छिपे हुए और बदलते हालात के अनुसार वर्ग-संघर्ष को बेनक़ाब करती है। दूसरे, लेनिन ने समाज की जो परिभाषा की है, वह ग़ुलाम हिन्दुस्तान के हालात पर सौ प्रतिशत पूरी उतरती थी। तीसरे, इंग्लैंड में रहते हुए नेहरू ने खुद अपनी आंखों से देखा था कि अंग्रेज़ पूंजीपति अपने देश के मज़दूरों को भी उसी तरह बेदर्दी से लूटते हैं, जिस तरह की हिन्दुस्तानियों को। चौथे, लेनिन के नेतृत्व में रूस ने ज़ारशाही साम्राज्य से सिर्फ खुद आज़ादी हासिल नहीं की थी, बल्कि उसके कब्ज़े में आए हुए अनेक एशियाई देशों को आज़ाद किया था। रूसी क्रांति की सफलता से एशिया और अफ्रीका के गुलाम देशों में आज़ादी की लहर दौड़ गई थी। पर नेहरू जैसे गंभीर चिन्तक के लिए यह देखना मुश्किल नहीं था कि मार्क्स और लेनिन के विचारों को आंखें मूंदकर हिन्दुस्तान पर लागू नहीं किया जा सकता। रूस क्रांति के पहले भी राजनैतिक तौर पर एक आज़ाद देश था। वहां की जनता के पास ज़ारशाही का तख्ता उलटने के लिए साधन मौजूद थे। उसके उलट, हिन्दुस्तान एक कुचला हुआ, निहत्था और सत्ताहीन देश था। सन १९२७ की हार के बाद उसकी कमर टूट चुकी थी।

शिक्षा समाप्त करके नेहरू वापस हिन्दुस्तान आ गये। उन्होंने भी अपने पिता की तरह वकालत करनी शुरू की।' लेकिन, वे अपनी आत्मकथा में लिखते हैं कि वे मन ही मन बड़े निराश और दुःखी रहते थे। उन दिनों ग़दर पार्टी और अन्य कई क्रांतिकारी दल अंग्रेज़ी शासन पर हथियारबन्द हमले करने की योजनाएं बना रहे थे। पर उनका संघर्ष खुद की कुर्बानी देने तक ही सीमित होकर रह जाता था। उसे आम जनता की ओर से आवश्यक सहयोग नहीं मिलता था। इक्का-दुक्का अफ़सरों को मार डालने से साम्राज्य की देशव्यापी व्यवस्था पर कोई बुनियादी चोट नहीं मारी जा सकती थी। नेहरू की मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार क्रांति करने की सामर्थ्य केवल जनता में होती है। पर हिन्दुस्तान की जनता अपना स्वाभिमान, साहस, एकता सब कुछ खो चुकी थी। नौकरी, रुतबा, पैसा, स्वार्थसिद्धि आदि चीज़ें शहरों में लोगों के जीवन का आदर्श बन चुकी थीं। नये ज़माने की शिक्षा ने शिक्षित वर्ग को अपने देश के जनसाधारण से विमुख करके शासकों का नक़्क़ाल बना दिया था। ग़रीबी और जहालत की दलदल में फंसी हुई जनता छोटी-छोटी बात में आपस में ही लड़कर मर रही थी, और शासक यह तमाशा देखते थे और सारी

दुनिया को दिखाते थे। क्या ऐसे घोर अन्धकार में आशा की कोई किरण नहीं चमकेगी? क्या सारा जीवन निराशा और निष्फलता में ही बीत जायेगा? यह सोचना नेहरू जैसे स्वाभिमानी और दिलेर नौजवान के लिए असह्य था।

अचानक इस अन्धकार को सात सूरजों जितने तेज़ प्रकाश ने चीर डाला। नेहरू, जो प्रकाश की किरण के लिए तरस रहे थे, चुंधिया कर चारों ओर देखने लगे। इस महान नवोदय का नाम था : गांधी। नेहरू ने अपनी आत्मकथा में लिखा है :

"कल तक हम निर्बलों और कायरों की तरह सिर झुकाकर चलते थे, पर गांधीजी ने हमारे अन्दर एक नयी रूह फूंक दी थी। हिन्दुस्तान की चालीस करोड़ जनता फिर से सिर उठाकर चलने योग्य हो गई थी।"

गांधीजी ने देखते-देखते लोगों के मनों में यह अहसास भर दिया था कि दुनिया में सबसे बड़ी ताकत इन्सान खुद है, हथियार नहीं। इन्सान बिना हथियार के भी बड़े से बड़े दुश्मन के साथ सिर्फ लड़ ही नहीं सकता, उसे हरा भी सकता है। नेहरू की नज़र में गांधीजी की अहिंसावाद की शिक्षा अपने-आपमें कोई चमत्कार नहीं थी। अहिंसावाद का प्रचार ताल्सताय ने भी किया था, और गांधीजी ने मन में उनका बहुत सत्कार था। चमत्कार वाली बात थी, हिन्दुस्तानी जनता की प्रतिक्रिया। ताल्सताय के अहिंसावाद का महत्त्व उनके अपने देश रूस में एक सनक से ज़्यादा कुछ नहीं था। यूरोप की ज़्यादा आंबादी ईसाइयों की है। उसके व्यावहारिक जीवन पर ईसा की अहिंसावादी शिक्षा का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था। पर हिन्दुस्तान में हर जगह जनता ने अहिंसावाद को गुरुमंत्र की तरह अपना लिया, और दुश्मनों के सामने डट गयी। कल तक तो ब्रिटिश साम्राज्य खुद को पूरी तरह सुरक्षित समझे हुए था। अब उसके पैरों तले से ज़मीन सरकने लगी। इससे बड़ा चमत्कार और क्या हो सकता है!

नेहरू अगर सिर्फ किताबी मार्क्सवादी होते, तो उन्हें भी गांधीजी का अहिंसावाद एक सनक ही प्रतीत होता, और कट्टर भौतिकवादी होने के कारण वह उस अध्यात्मवादी आन्दोलन पर हंसकर उसे छोड़ देते। पर उनका मतलब सिर्फ सिद्धान्त से नहीं, अमल और संघर्ष से था। यद्यपि वह खुद गांधीजी के दर्शन को समझ नहीं सके थे, पर जनता इसे अच्छी तरह समझ रही थी। वह दर्शन जनता के हाथ में एक ज़बर्दस्त इनक्लाबी ताकत बन गया था। फिर, नेहरू उससे कैसे मुंह मोड़ सकते थे ! एक बहादुर सिपाही की तरह वह भी अहिंसा का हथियार हाथ में लेकर रणक्षेत्र में उतर पड़े। पर वह एक वफ़ादार सिपाही के अलावा विद्वान और चिन्तक भी थे। उनके लिए इस हथियार का योग्यतापूर्वक प्रयोग करना ही काफ़ी नहीं था, वह उसे पूरी तरह समझना चाहते थे। गांधीजी ने जिस महान जनशक्ति के स्रोत का मुंह खोला था, उसे मज़बूत और स्थायी बनाने के लिए ज़रूरी था कि उसकी तह तक पहुंचा जाए। सो, नेहरू ने अपने देश के हज़ारों साल पुराने इतिहास का अध्ययन करना शुरू किया। अपने नेता और अपनी जनता को समझने का, अपने देश के विचारों को अपनाने का, अपना-परायापन दूर करने का यह बहुत प्रभावशाली तरीका था।

गांधीजी का अहिंसावाद ताल्सताय या ईसाई धर्म के अहिंसावाद की तरह धर्म या नैतिकता पर आधारित नहीं है। उसका मूल स्रोत है, उपनिषदों का अध्यात्मवादी दर्शन, जो आज से हज़ारों साल पहले मनुष्य के विचारों में एक नया मोड़ लाया था। यह दर्शन

एक ऐसी सभ्यता की उपज था, जिसने ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में कई अनोखे आविष्कारों को जन्म दिया था- उदाहरणार्थ, गणित और ज्योतिषशास्त्र के हमारे विद्वानों ने (जिनके द्वारा अस्तित्व में आई इकाई-दहाई की प्रणाली आज भी सारे संसार नें प्रचलित है।) प्रकृति-सम्बन्धी काफी ज्ञान प्राप्त कर लिया था, जैसे कि सृष्टि अनादि और अनन्त है और हमेशा गतिशील रहती है। सृजन और विनाश, निर्माण और ध्वंस उसके अटल नियम हैं। उन्होने गणित में दशमलव प्रणाली को जन्म दिया था। निःसन्देह विज्ञान के क्षेत्र में ये चीज़ें प्रारंभिक और बहुमूल्य कारनामे थे।

इन्हीं के अनुकूल (पहले या बाद में ? कहा नहीं जा सकता) उपनिषदों के रचयिता ऋषियों-मुनियों ने घोषणा की कि अनन्त प्रकृति का स्रष्टा और परिचालक भी कोई अनादि, अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, अजर-अमर और निराकार परमपुरुष ही हो सकता है। उसी की शक्ति सृष्टि के जड़ पदार्थों को गतिशील और जीवों को प्राणवान बनाती है। जीवों का भौतिक शरीर नाशवान है, असली चीज़ आत्मा है, जो कभी नहीं मरती, बल्कि पुनर्जन्मों का चक्कर पूरा करती हुई अन्त में परमात्मा में लीन हो जाती है। मानव-जीवन में अच्छे कर्म करके जीव पुनर्जन्म के चक्कर से मुक्त होकर परम गति प्राप्त कर सकता है। इसी दर्शन ने भगवदगीता, बौद्धधर्म, जैनधर्म और अनेकों दूसरे महत्त्वपूर्ण धर्मों और विचारधाराओं को जन्म दिया। उनमें से कई, बौद्धधर्म की तरह, ईश्वर के अस्तित्व से विमुख नास्तिक धर्म कहलाते हैं। चार्वाक मुनि का दर्शनशास्त्र तो निःसंकोच होकर नास्तिकता की घोषणा करता था। पर इन सभी दर्शनों के कुछ मूल अंश साझे थे, जिनका कि हमारे देश की सामूहिक विचारधारा में पीढ़ी-दर-पीढ़ी समावेश होता गया, जैसे कि मृत्यु आत्मा का एक वस्त्र त्यागकर दूसरा वस्त्र ग्रहण करना है, सभी प्राणी आवागमन में विचरण करते हैं, जो आत्मा मनुष्य में है, वही पशु-पक्षियों और जीव-जन्तुओं में भी है, किसी प्राणी को अकारण दुःख पहुंचाना या उसकी हत्या करना पाप इसी शिक्षा से प्रभावित होकर ही सम्राट अशोक अहिंसावादी बन गया था। और जैसा कि नेहरू ने लिखा है : मांस खाने से परहेज़ भी सम्राट अशोक के ज़माने से ही शुरू होता है।

औपनिषदिक अध्यात्मवाद अपने समय का सर्वोच्च और सम्यक दृष्टिकोण था। उसने भारतीयों के दिलों के दायरों को फैलाया, धर्म और दर्शनशास्त्र का आपस में मेल कराया। इसी विचारधारा के अनुसार इन्द्र, वरुण, ब्रह्मा, शिव और अन्य अनगिनत देवी-देवता एक ही ईश्वर के प्रतिबिम्ब माने जाने लगे। परस्पर विरोधी धर्मों और विचारधाराओं में सहिष्णुता का भाव पैदा हुआ। इसीसे देशवासियों के दिलों में नये विचारों और नये प्रभावों को समा लेने की अदभुत शक्ति आई, जिसे इतिहासकारों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकारा और सराहा है। मतभेद को हिंसा और ज़ुल्म-जबर से नहीं बल्कि परस्पर विचार-विमर्श (शास्त्रार्थ) द्वारा सुलझाने की परम्परा चल पड़ी। इसी सहिष्णुता का यह एक उदाहरण है कि नास्तिक कहलाने वाले बुद्ध को हिन्दू शास्त्रों में ईश्वर का अवतार माना गया। पर इस सहिष्णुता और अहिंसा का मतलब कायरता नहीं था। यह विचारधारा अपनी मान-मर्यादा को कायम रखने के लिए सिर पर कफ़न बांधना भी सिखाती थी। हिन्दुओं के परमप्रिय धर्मग्रन्थ भगवदगीता के अनुसार कर्मयोगी फल की कभी कामना नहीं करता और कर्तव्यपालन के लिए अपने प्राणों की आहुति देने से कभी संकोच नहीं करता। मृत्यु का वस्त्र-त्याग से अधिक कुछ महत्त्व नहीं है। कर्मयोग की इसी शिक्षा ने अर्जुन के मन

की दुविधा दूर की थी। यह शिक्षा युग-युगान्तर से हमारे देश के बहादुरों और शहीदों का आदर्श रही है। अहिंसावाद में पूरा विश्वास रखने वाले गांधीजी भी गीता के परमभक्त थे। इस बात पर किसी हिन्दू को हैरानी नहीं होती। गांधीजी ने खुद कई बार स्पष्ट किया है कि अहिंसावाद का मतलब कायरता बिलकुल नहीं है।

सिकन्दर के ज़माने से लेकर इस्लाम के हमलों तक भारतीयों को उनकी सभ्यता की यह बहुमुखी प्राप्ति बहुत सहायक सिद्ध हुई। एक तरफ जहां दुश्मन का अद्वितीय वीरता से मुकाबला किया जाता था, वहां दूसरी तरफ, जब भी दुश्मन देश में बस जाने की इच्छा प्रकट करता था, भारतवासी कमाल दर्जे की उदारता और सहनशीलता का सबूत देते थे। जो बाहर से लूटने के लिए आता था, यहां का होकर रह जाता था। सभ्यता की कड़ी टूटने के बजाय नये प्रभावों के असर तले और मज़बूत बनती थी। शहनशाह अकबर का युग सम्राट अशोक के युग की तरह हमारे देश के इतिहास में एक सुनहरा युग बन जाना इस कथन की पुष्टि करता है। पर यह सोचना बिलकुल मूर्खता होगी कि हमारे प्राचीन विरसे में सब कुछ अच्छा ही था, और कोई बुराई नहीं थी। हमें भूलना नहीं चाहिए कि इस सहनशीलता और अहिंसावाद की परम्परा ने धर्म के नाम पर किए अनगिनत पाखण्डों, अन्धविश्वासों और बर्बर रीति-रिवाजों की भी पुष्टि की, वर्णभेद की अन्यायपूर्ण व्यवस्था को पिछले कर्मों का फल कहकर सही साबित किया और उसे मज़बूत बनाया। इसीके फलस्वरूप हमारे सामाजिक जीवन में ठहराव पैदा होता रहा और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता खत्म होती गयी।

मध्यकाल में इस्लाम के हमलों ने इस ठहराव को ज़बर्दस्त चोट पहुंचाई। हमारे देश का मध्यकाल यूरोप के मध्यकाल की तरह बिल्कुल 'अंधेरा युग' नहीं था। उपनिषदों के अध्यात्मवाद का मुस्लिम सूफीवाद के साथ संगम इस युग की विशेषता है, और हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्राण न्यौछावर करने वाले गांधीजी इस चिन्तन का दूसरा स्तम्भ है। कबीर, शेख फ़रीद, नानक, दादू, सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई, नामदेव, तुकाराम और भक्ति-लहर के अनेकों दूसरे सन्तों-गुरुओं ने देश-भर में नये जीवन का संचार किया और कट्टरतावाद को नष्ट किया। उन्होंने समाज को जात-पांत, ऊंच-नीच आदि के भेदभावों से मुक्त कराकर सभी लोगों को एक सूत्र में पिरोने का यत्न किया। उनकी वाणी बर्बर रीति-रिवाजों, गुलामी, ज़ुल्म-जबर और अन्याय के खिलाफ उठने वाले अनेकों जनआन्दोलनों का आधार बनी। सिर्फ़ यही नहीं, उन्हीं की प्रेरणा के कारण हमारी विभिन्न भाषाएं, संगीत, साहित्य, कला, उद्योग और शिल्प आदि उन्नति के शिखर पर पहुंच गए, और भारत फिर से संसार का सबसे अमीर और खुशहाल देश बन गया। शिक्षा और सभ्यता, जो अब तक महलों में निवास करती थी, जनसाधारण के घरों की शोभा बनी।

हमारे अंग्रेज़ शासकों और उनके टुकड़ों पर पलने वाले इतिहासकारों के लिए हमारे विरसे को एकांगी रूप में और बिगाड़कर संसार के सामने पेश करना फ़ायदेमन्द था। अपने शासन की लूट-खसोट पर पर्दा डालने के लिए ये लोग हिन्दुस्तानियों को उनकी ग़रीबी और जहालत का ज़िम्मेदार ठहराते थे। वे कहते थे कि हिन्दुस्तानियों को अपना इहलोक सुधारने की जगह परलोक सुधारने की चिन्ता लगी रहती है। वे सब कुछ की ज़िम्मेदारी अपने पूर्व जन्म के कर्मों और भाग्य पर छोड़कर बैठ जाते हैं। पर गांधीजी

ने इसी विरसे का ज़िक्र करके हिन्दुस्तानियों के सोए हुए गौरव को जगाया, और देखते-देखते ब्रिटिश साम्राज्य की जड़े हिल गईं। संसार ने देख लिया कि अध्यात्मवादी दर्शन भी एक प्रचंड क्रांतिकारी दर्शन बन सकता है।

यूनान और रोम की प्राचीन सभ्यताएं भारत की समकालीन सभ्यता से बराबरी करती थीं, बल्कि दर्शन और ज्ञान के कई क्षेत्रों में वे हमसे कहीं आगे निकल चुकी थीं। पर अचानक मध्यकाल के आरम्भ में उनके विकास का क्रम टूट जाता है। लगभग एक हज़ार साल का ऐसा युग आता है, जिसे यूरोपीय इतिहासकार 'अंधेरा युग' का नाम देते हैं। इस अंधेरे युग का बड़ा कारण था, अहिंसावादी होते हुए भी ईसाई धर्म के अनुयायियों का दर्शन और अन्य विद्याओं के प्रति सख्त असहनशील होना।

कितना विशाल, कितना भरपूर है हमारा देश ! इसका चप्पा-चप्पा प्रकृति के वरदानों और कला तथा संस्कृति के अमूल्य रत्नों से भरा पड़ा है। जिन यूरोपवासियों की हम शिक्षित लोग हर बात में नकल करते हैं, वे इन खज़ानों की चाहे कितनी भी कद्र क्यों न करें, पर हमें इनकी कोई परवाह नहीं होती। यूरोप की तीन-तीन, चार-चार भाषाएं सीखकर तो हमें गर्व होता है, पर अपने देश की एक भी सीखने के लिए कोई हमें मजबूर करे, तो हम इसे अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर हमला समझते हैं। गांधीजी और नेहरू, जिन्होंने अपनी उम्र के कई दशक यूरोप के ऊंचे से ऊंचे सामाजिक हलकों में गुज़ारे थे, अपने देश की सभ्यता और संस्कृति के आगे सिर झुका सकते थे, पर इस आज़ादी के दौर में भी ऐसे शिक्षित हिन्दुस्तानियों की कमी नहीं है, जो इंग्लैंड में छः महीने रह आने के बाद अपने देश की हर चीज़ और अपने देशवासियों तक को घटिया समझने लगते हैं।

निःसन्देह शिक्षित वर्ग में ऐसे भी बहुत-से लोग हैं, जो देश की बेहतरी के लिए हर तरह की कुर्बानी देने को तैयार हैं, और जो आज़ादी की लड़ाई में भी सबसे आगे रहे हैं, जिनमें बड़े-बड़े प्रगतिशील नेता और चिन्तक तथा मार्क्सवाद, गांधीवाद और अन्य विचारधाराओं के समर्थक हैं। उनके पास बहुत ज्ञान है, और अपने देश की जनता को भी वे खूब जानते और समझते हैं। जनसाधारण की तकलीफ़ों को दूर करने के लिए वे संघर्ष करते हैं, जेलें काटते हैं, अपना सब कुछ कुर्बान करते हैं। पर फिर भी, उनकी आवाज़ लोगों के दिलों पर वह असर नहीं करती जो गांधीजी या नेहरू की आवाज़ असर करती थी।इसका कारण यह है कि गांधीजी और नेहरू जी ने सच्चे जिज्ञासुओं की तरह किसी भी विचारधारा को आंखें मूंदकर और किताबी ढंग से नहीं अपनाया था, किसी की नकल नहीं की थी, और न ही किसी का निरादर किया था। उन्होंने अपने देश की परम्पराओं और परिस्थितियों का पूर्ण रूप से अध्ययन किया था और जनता की आत्मा तक पहुंचकर आगे बढ़ने का सही और पक्का रास्ता ढूंढ़ा था। उनके लिए यह काफ़ी नहीं था कि मंज़िल उन्हें साफ़ दिखाई दे रही है, बल्कि वे कदम उठाने से पहले यह देखते थे कि जनता की नज़र मंजिल के रास्ते के किस पड़ाव तक पहुंच रही है। उन्हें सारा रास्ता एकबारगी तै कर लेने की इतनी लालसा नहीं थी, जितनी कि इस बात की कि जनता हमेशा उनके साथ चले, उनके अंग-संग रहे- मजबूर होकर या डर-सहम कर नहीं, बल्कि अपने दिल की उमंग और जोश और विश्वास के साथ- तभी उसके अन्दर स्वाभिमान और आत्मविश्वास पैदा होगा, तंगदिली की दीवारें टूटेंगी, और यह फैसला करने की

सामर्थ्य पैदा हो सकेगी कि किस विचारधारा में से क्या लेना है। इस प्रकार देश की आत्मा तक पहुंचकर नेहरू ने अहिंसा के हथियार की शक्ति को पहचाना और उसे सही ढंग से ग्रहण किया। और इस प्रकार वह गांधीजी के ऐसे अनुयायी और साथी बने कि उनकी योग्यता और दृढ़ता पर गांधीजी हमेशा विश्वास कर सकते थे। संकुचित और सीमित विचारों वाले लोगों के लिए गांधीजी एक पहेली बन रहे, पर नेहरू के लिए नहीं।

गांधीवाद को अपना कर भी नेहरू ने समाजवादी दृष्टिकोण का त्याग नहीं किया, न ही अपने विचारों को गांधीजी या किसी दूसरे से छिपाकर रखा। कई बार सुनने में आता है कि अपने मध्यवर्गीय संस्कारों के कारण नेहरू अचेतन रूप से क्रान्तिकारी मार्ग छोड़कर सुधारवादी बन गए थे। पर यह दोष लगाने वाले खुद भी ऐसे ही संस्कारों वाले लोग होते हैं, जिनपर क्रान्तिवाद का मुलम्मा चढ़ा होता है। वास्तव में, न तो नेहरू जैसे स्वतन्त्र पुरुष के लिए किसी अन्य पुरुष के सामने, चाहे वह कितना भी महान क्यों न हो, अपने विचारों को गिरवी रखना सम्भव था, और न ही गांधीजी किसी से ऐसी आशा करते थे।

कट्टर गांधीवादी गांधीजी को केवल सन्त-महात्मा के रूप में पेश करके सागर को गागर में बन्द करने की व्यर्थ कोशिश करते हैं। गांधीजी का व्यक्तित्व असीम, व्यापक और विशाल था। वह सन्त-महात्मा ही नहीं, वर्तमान युग के चोटी के चिन्तक भी थे, जिन्हें रोम्यां रोलां जैसे महान लेखकों ने श्रद्धांजलि अर्पित की है। उनमें यूरोप की सभ्यता को भी उतनी ही गहराई से पखने की योग्यता थी, जितनी कि भारतीय सभ्यता को। यूरोप की सभ्यता के प्रत्येक सुन्दर और लोकवादी पक्ष के वे प्रशंसक और समर्थक थे। मशीनों के विरुद्ध वह इसलिए नहीं थे कि वे अपवित्र या बुरी चीज़ें थीं, बल्कि इसलिए थे कि पूंजीपतियों के हाथों उनका दुरुपयोग हो रहा था, और वे अमीरों से जहां सभ्यता और नैतिकता छीन रही थीं, वहां ग़रीबों से सभ्यता और नैतिकता के साथ रोटी भी छिन रही थीं।

गांधीजी ने क्रान्ति का आधार भारतीय किसान को माना था। एक तो इसलिए कि उसकी आर्थिक दशा बहुत हद तक गिर चुकी थी, जिसे बदलने के लिए वह बुरी तरह बेचैन था। दूसरे, आर्थिक तौर पर किसान की हालत चाहे कितनी भी गिरी हुई क्यों न हो, आत्मिक तौर पर वह शहरी लोगों के मुकाबले में कहीं ज़्यादा अच्छा था। युग-युगान्तर से उसने अपने देश की सभ्यता को बड़े गर्व से संभालकर रखा था। वह अनपढ़ चाहे था, अशिक्षित नहीं था। इसलिए गांधीजी ने उसे दरिद्रनारायण का दर्जा दिया और खुद को उसके रूप में ढालने और जीवन को उसके हितों के दृष्टिकोण से देखने की कोशिश की। पर इसका यह मतलब नहीं कि किसान का जीवन उनकी नज़र में आदर्श जीवन था। देहाती समाज को दकियानूसी और बर्बर रीति-रिवाजों, अन्धविश्वासों, जात-पांत आदि के अन्यायों से मुक्त कराना उनकी नज़र में क्रान्ति-आन्दोलन का अभिन्न और रचनात्मक अंग था। समाज के ठहराव को तोड़ने और देश को बीसवीं शताब्दी के लोकशाही प्रकाश में लाने के लिए गांधीजी भी उतने ही इच्छुक थे, जितने कि नेहरू या अन्य नेता। इसमें कोई शक नहीं कि उनकी अध्यात्मवादी विचारधारा के अनुसार मनुष्य में आत्मिक क्रांति ले आना सामाजिक क्रान्ति की पहली शर्त है। इसके उलट, मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक क्रान्ति मनुष्य को बदलने की पहली शर्त है। स्वार्थी लोग जनता को पथभ्रष्ट

करने की चाहे कितनी भी कोशिश करें, फिर भी इस बुनियादी फर्क के बावजूद रामराज्य और समाजवाद का लक्ष्य एक ही है : वर्गहीन समाज का निर्माण, जिसमें हर मनुष्य बराबर, आज़ाद और सुखी हो, कोई दूसरों की मेहनत पर न पले, अन्याय और लूट-खसूट का अन्त हो। ऐसे समाज का सपना संसार के हर एक महापुरुष ने देखा है, अगर फ़र्क़ है तो लक्ष्य तक पहुंचने के साधनों में है।

मार्क्सवाद से गहरा मतभेद होने पर भी गांधीजी ने अपनी रचनाओं में मार्क्स और लेनिन का ज़िक्र हमेशा बड़े आदर के साथ किया है। मार्क्सवादियों की निःस्वार्थ देशभक्ति पर उन्होंने कभी शक नहीं किया, और न ही राष्ट्रीय आन्दोलनों में उन्हें अपने साथ रखने से इनकार किया। स्वाभाविक था कि उन्हें क्रान्ति के वही साधन पसन्द थे, जो अपने देश की संस्कृति और परम्परा के अनुकूल हों। उन्हें चिढ़ सिर्फ उन मार्क्सवादियों से थी, जो इस नये वाद को अपना कर अपने देश के समस्त नवीन और प्राचीन चिन्तन को व्यर्थ और दकियानूसी समझने लगे थे, जिनके विचार अपने नहीं बल्कि उधार लिए हुए थे, जो नये-बनाये फार्मूलों का इस्तेमाल लकीर के फ़कीर बनकर करते थे। ऐसे कट्टरवादियों की गांधीवाद के क्षेत्र में भी कमी नहीं थी जिनसे कि गांधीजी को उतनी ही चिढ़ थी।

दोनों क्षेत्रों के कट्टरवादी इस वहम का शिकार प्रतीत होते थे कि गांधीवाद और मार्क्सवाद की आपस में ईंट-कुत्ते की दुश्मनी है। उनके इस वहम को दूर करने के लिए भी कुछ कहना अनुचित नहीं होगा।

अठारहवीं शताब्दी यूरोप में दर्शन के पुनर्जागरण का समय माना जाता है। उस समय के दार्शनिकों के पास उपनिषदों का दर्शन भी पहुंचा था। कांट, शोपेनहावर और अन्य कई दार्शनिक भारतीय अध्यात्मवाद से काफी प्रभावित हुए थे। उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू में शेली और वर्डसवर्थ की कविता पर भी उपनिषदों के छायावाद का बहुत असर पड़ा था। हीगेल उस समय के अध्यात्मवादी दार्शनिकों का सिरताज माना जाता था। कार्ल मार्क्स उसका प्रतिभाशाली शिष्य था, जिसने साम्यवादी विचारधारा को जन्म दिया है।

हीगेल के चिन्तन के अनुसार सृष्टि का मूल पदार्थ वही शक्ति है, जिसे भारतीय दर्शन में निराकार ब्रह्म कहा जाता है। हीगेल ने उसे 'परम विचार' (सुप्रीम आइडिया) का नाम दिया और कमाल दर्जे की सूक्ष्मता से उसकी परिभाषा की।

मार्क्स विज्ञान की नवीनतम खोजों के आधार पर इस नतीजे पर पहुंचा था कि जिस प्रकृति को अध्यात्मवादी युग-युगान्तर से जड़ और स्थूल मानते आए हैं, वास्तव में वह न जड़ है, न स्थूल। वह क़िसी भी बाह्य शक्ति से चालित नहीं है। मार्क्स ने कहाकि हीगेल ने परम विचार या निराकार ब्रह्म की जो परिभाषा की है, यह वास्तव में प्रकृति की अपनी परिभाषा है, जो गुण परम विचार के बताए हैं, वे प्रकृति के अपने गुण है, ईश्वर कोई चीज़ नहीं है, प्रकृति के रहस्यों को जानने का रास्ता सिर्फ विज्ञान का रास्ता है, मनुष्य के लिए अभी बहुत कुछ जानना बाकी है।

यूरोप की असहनशील धार्मिक विचारधारा ने झट मार्क्स को नास्तिक घोषित करके जिहाद खड़ा कर दिया। लगभग उसी समय डार्विन ने अपनी खोजों द्वारा सिद्ध किया कि मनुष्य वास्तव में बन्दरों की एक नस्ल में से प्रकट हुआ है। उसके खिलाफ भी

जिहाद खड़ा किया गया। पर, जैसा कि ऊपर कहा गया है, नये विचारों के प्रति असहनशील होना हमारे देश की परम्परा नहीं है। हमारे ही देश ने गणित की उच्च कोटि की खोजें संसार को दीं, जिनके बिना विज्ञान का विकास असंभव था। फिर, हम दूसरे देशों की वैज्ञानिक खोजों के प्रति कैसे विमुख हो सकते हैं? हमारे ही पूर्वजों ने नास्तिक कहलाने वाले महात्मा बुद्ध को ईश्वर का अवतार कहकर आदर किया था। केवल इतना ही नहीं, उन्होंने चीन और जापान जैसे देशों में जाकर अहिंसावादी ढंग से बौद्धधर्म का प्रचार किया था। सो, हम अपनी इस सहनशील परम्परा को कैसे त्याग दें? मार्क्सवाद के साथ अपमान-भरा सलूक क्यों करें? हमने अध्यात्मवाद और मार्क्सवाद के विरोध-विकास वाले भौतिकवाद का गहरा रिश्ता देख लिया है। मानव-ज्ञान युगों से विकासशील एक श्रृंखला है। भविष्य में कई और गांधी और मार्क्स जन्म लेंगे। मार्क्स ने खुद स्पष्ट रूप से कहा था कि वह कोई आकाशवाणी नहीं कर रहा, जो हमेशा के लिए सच्ची हो, और मनुष्य का ज्ञान अभी तक राई के ढेर में पड़ें एक दाने के बराबर भी नहीं है।

मार्क्स के भौतिकवादी दर्शन को हम मानें चाहे न मानें, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य के साम्यवाद के सपने को सच करने के लिए मार्क्स की विचारधारा बहुत सहायक सिद्ध हुई है और संसार-भर में मनुष्य के विचारों को झकझोर रही है। जिस समाज-व्यवस्था की उसने भविष्यवाणी की है, उसमें मशीनें सारे समाज की पूंजी बनकर मनुष्य के शरीर और आत्मा की दुश्मन नहीं बन सकतीं। मार्क्स ने अकाट्य ढंग से मानव-इतिहास में सामन्तवादी और पूंजीवादी व्यवस्थाओं का विश्लेषण करके बताया कि वर्ग-संघर्ष समाजवादी समाज में ही मिट सकता है।

नेहरू ने रामराज्य को हमेशा समाजवाद के रूप में देखा। उनकी नज़र में समाजवाद का अर्थ ग़रीबी को आपस में बांटना नहीं, बल्कि मशीनी युग के नये साधनों द्वारा देश की भरपूर औद्योगिक उन्नति करना, उपज को आश्चर्यजनक हद तक बढ़ाना, हिन्दुस्तान को संसार के खुशहाल और बलवान देशों के स्तर पर लाना, धन-दौलत को केवल एक वर्ग के हितों के लिए नहीं, बल्कि सारे देश की मिलकियत बनाकर सारे समाज के हितों के लिए इस्तेमाल करना है। नेहरू इस लक्ष्य की ओर कट्टरवादी ढंग से नहीं बल्कि अपने देश की परिस्थितियों के अनुकूल, और गांधीजी के अहिंसावादी और लोकवादी रास्तों पर चलना चाहते थे। इस तरह पुराने और नये ज़माने की विचारधाराएं गांधीजी और नेहरू में आपस में मिलकर एक नया रूप धारण करती हुई दिखाई देती हैं। हम देख सकते हैं कि किस प्रकार गांधीजी और नेहरू के परस्पर मतभेद उन्हें कमज़ोर करने के बजाय और ज़्यादा मज़बूत बनाते गए। वे जो भी कदम उठाते सारा देश उनके साथ चलता। और जब गोडसे की ज़ालिम गोली ने गांधीजी को हमसे छीन लिया, तो उनकी आत्मा मानो नेहरू के अन्दर समाकर देश को प्रगति के रास्ते दिखाती गई।

कौन कहता है कि गांधीजी या नेहरू ने गलतियां नहीं कीं? दोनों ने ही अपनी रचनाओं में अपनी बड़ाई का ज़िक्र कम और कमज़ोरियों का ज़िक्र कहीं ज़्यादा किया है। पर गांधीजी और नेहरू की गलतियों के बावजूद उनके नेतृत्व में ही देश आज़ाद आज आज़ाद है, और दिन-प्रतिदिन इस आज़ादी के कदम मज़बूत होते जा रहे हैं।

नेहरू की नीतियों में कितना गांधीवाद था और कितना मार्क्सवाद, यह बता सकना किसी सयाने से सयाने दार्शनिक या राजनीतिज्ञ के लिए भी मुश्किल है। उनकी नीतियां गांधीजी के आदर्शों का कहीं भी खंडन नहीं करतीं, न ही वे मार्क्सवाद का उल्लंघन करती है। वे पूर्णरूप से नेहरू की अपनी नीतियां हैं, जिन्होंने संसार-भर में हमारे देश का सिर ऊंचा किया है। इसके उलट न तो कट्टर गांधीवादी और न ही कट्टर मार्क्सवादी हमारे देश के सामने कोई ऐसा प्रोग्राम रख सके हैं, जिससे जनसाधारण में प्रेरणा की लहर दौड़ सके। देश में प्रचलित कोई दूसरी विचारधारा भी ऐसा नहीं कर सकती है।

जिस दिन से नेहरू ने शासन की बागडोर संभाली, हमारे देश के कई बुद्धिमानों ने दायें-बायें, हर तरफ़ से उनपर अपनी चांदमारी जारी रखी, कभी उन्हें गुप्त रूप से कम्युनिस्ट कहा, कभी साम्राज्यवादी शक्तियों का ज़रखरीद गुलाम, और कभी कुछ और। पर नेहरू बिना डगमगाए अपनी राह पर चलते गए। किसीका उन्होंने मुंह बन्द नहीं किया, न ही कभी प्रजातन्त्रवादी सिद्धान्तों का उल्लंघन किया। उन्हें पूरा विश्वास था कि उनकी नीतियां सही, और देश के लिए हितकर हैं, क्योंकि वे उनके विशाल अध्ययन और अनुभवों पर आधारित थीं। वह जानते थे कि वे नीतियां देश की परम्परा और समय के अनुकूल हैं और जनता अवश्य उन्हें अपनाएगी। कठिन से कठिन समय में भी उन्होंने अपने असूलों को नहीं छोड़ा, और न ही कभी जनता ने उनकी ओर से मुख मोड़ा। पिछले सोलह वर्षों में देश पर एक नहीं, अनेकों संकट आए, पर हर बार हमारी एकता पहले से ज़्यादा मज़बूत हुई। हमारे देश की सभ्यता-संस्कृति, भाषाओं, साहित्य और कला को हर प्रकार से फलने-फूलने का मौका मिला। हमारे देश ने कभी किसी दूसरे देश को बुरी आंख से नहीं देखा। बड़ी से बड़ी मजबूरियों के समय में भी हमने अपनी आज़ादी और गौरव को किसी दूसरे देश के पास गिरवी नहीं रखा।

पिछले एक साल से लगातार चर्चा सुनते आ रहे हैं कि "नेहरू के बाद क्या होगा?" हम यह नहीं देखते कि गांधीजी की तरह नेहरू ने भी अपना उत्तराधिकारी हमें दे दिया था- अपनी यथार्थवादी नीति और मानवता के लिए कल्याणकारी, सुलझे हुए दृष्टिकोण के रूप में। हमारे देश का हर नौजवान उनके जीवन-संघर्ष से अद्वितीय प्रेरणा ले सकता है, अपने देश और देशवासियों के जीवन के साथ अभिन्न होने की सीख ले सकता है। नेहरू ह्लों पर चलकर हम सभी उनके उत्तराधिकारी बन सकते हैं। आज जब नेहरू हमारे बीच में नहीं रहे, तो किसी उत्तराधिकारी को खोजने के बजाय उनके जीवन-संघर्ष और दृष्टि-कोण को समझने और समझाने की ज़रूरत है। उनकी नीतियों की बुनियाद पर प्रजातन्त्रवादी और समाजवादी लोकमत कायम करने की ज़रूरत है। इस लोकमत की सहायता से हम थोड़े समय में ही कुरीतियों और भ्रष्टाचार की जड़ें उखाड़कर रख सकते हैं। ज़रूरत नये उत्तराधिकारियों की नहीं, बल्कि नेहरू की नीतियों के महत्त्व को समझने और पूरी ईमानदारी से उनपर अमल करने की है।...

लद्दाख में मिला वह अलबेला ट्रक-ड्राइवर आज मुझे याद आ रहा है। हर नेकदिल हिन्दुस्तानी की तरह उसके दिल में नेहरू के लिए गहरी श्रद्धा और प्यार था। पर उस श्रद्धा और प्यार का विश्लेषण करने की योग्यता उसमें नहीं थी। चालाक किस्म के लोग

उसे ग़लत रास्ते पर भी डाल सकते हैं। पर अगर मैं और मेरी श्रेणी के पढ़े-लिखे लोग वाद-विवादों, निजी स्वार्थों और अपने सीमित जीवन के झंझटों से ऊपर उठकर उसे नेहरू के व्यक्तित्व और दृष्टिकोण से परिचित करा दें, तो हम उसकी भावनाओं को चिरस्थायी और इरादों को फौलाद की तरह मज़बूत बना सकते हैं। तब वह अपने काम के महत्त्व को दस गुना ज़्यादा अक्लमंदी से समझने लगेगा। वह अपने इर्द-गिर्द फैली हुई कई किस्म की खामियों और बुराइयों को दूर करेगा, और अपने जीवन का प्रकाश फैलाएगा। इस प्रकार वह और उस जैसे अनेक लोग अपने देश और भविष्य के रक्षक बनकर उसका निर्माण करने लगेंगे। यह तभी हो सकता है, अगर हम देश-कल्याण के छूमंतर वाले फ़ार्मूले ढूँढने के बजाय उन सिद्धान्तों का मूल्यांकन करें, जिनकी बदौलत हमारे देश को आज़ादी का मुंह देखना नसीब हुआ, जिनके सहारे हम प्रगतिशील रास्तों पर चलनेलायक बन सके, और जो आगे के लिए भी न केवल हमारे देश, बल्कि एशिया, अफ़्रीका और सारे संसार के लिए उजले भविष्य का सन्देश दे सकते हैं।

दीक्षांत भाषण

(जवाहरलाल नेहरू यूनिवर्सिटी, नई दिल्ली)

बीस साल पहले की बात है, 'दो बीघा ज़मीन' फिल्म के निर्माता, विमल राय और उनके कलाकारों तथा टेकनीशियनों को कलकत्ता की 'फिल्म जर्नलिस्ट एसोसिएशन' की ओर से सम्मान दिया जा रहा था। बड़े सुन्दर भाषण हुए। पर श्रोता बड़ी उत्सुकता से विमल राय को सुनने की प्रतीक्षा कर रहे थे। वे उस महान व्यक्ति से उसकी कला और जीवन-सम्बन्धी अनुभव और विचार सुनना चाहते थे। आखिर विमल राय को बोलने के लिए प्रार्थना की गई। मैं उस समय विमल राय के बिलकुल पास फ़र्श पर बैठा हुआ था और काफ़ी समय से देख रहा था कि वह बहुत ही बेचैन और घबराए हुए-से लग रहे थे। आखिर वह उठे और उन्होंने श्रोताओं के सामने बड़ी नम्रता से हाथ जोड़कर सिर्फ़ इतना कहा, ''जो कुछ कहना था, मैं फ़िल्म में कह चुका हूं। मैं क्षमा चाहता हूं कि मेरे पास कहने के लिए और कुछ नहीं है, और न ही मुझे भाषण देना आता है।''

इस समय मैं भी सिर्फ़ इतना ही कहना चाहता हूं। अगर मैं इससे ज़्यादा कहने का साहस कर रहा हूं, तो सिर्फ़ इसलिए कि जिस व्यक्ति के नाम पर आपकी यूनिवर्सिटी कायम की गई है, उसके व्यक्तित्व से मुझे प्यार है। उतना ही प्यार और आदर, बल्कि उससे भी ज़्यादा, मेरे मन में पी०सी०जोशी के लिए है, क्योंकि मैंने उन्हें बहुत निकट से जानने समझने का सौभाग्य प्राप्त किया है। इसलिए आपकी संस्था की ओर से मिलने वाली किसी भी आज्ञा का मैं उल्लंघन नहीं कर सकता। अगर आप मुझे इस इमारत की सीढ़ियां और फ़र्श साफ करने की आज्ञा देते, तो भी मैं अपना उतना ही सौभाग्य समझता, जितना इस समय यहां खड़े होकर आपको सम्बोधित करने में महसूस कर रहा हूं। उस सेवा के लिए मैं शायद अधिक योग्य साबित होता।

मुझे ग़लत न समझा जाए। मैं यहां नम्रता और शिष्टता का दिखावा करने के लिए नहीं आया हूं। जो बात मैंने कही है, वह दिल से कही है। और अब आगे भी जो दिल में होगा, वह साफ़-साफ़ और खुलकर कहूंगा, चाहे वह आपको अच्छा लगे चाहे बुरा, चाहे वह ऐसे मौकों के अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल। मेरे खयाल में यह बात आपसे छिपी हुई नहीं है कि यद्यपि किसी ज़माने में मैने विद्यार्थी की हैसियत से उच्च शिक्षा प्राप्त की थी और एक-दो साल अध्यापक भी रहा था, पर ये तीस साल पहले की बातें है। शैक्षणिक वातावरण से मेरा सम्बन्ध एक अरसे से टूटा हुआ है। बल्कि यह कहना भी ग़लत न होगा कि इस सम्बन्ध को तोड़ने के लिए बहुत बड़ी हद तक फ़िल्में ज़िम्मेदार है। फ़िल्मी दुनिया में अभिनेता या तो भूखा मरता है, या फिर उसे चाहे धन-दौलत की

भूख हो या न हो, उसे इतना ज़्यादा काम करना पड़ता है कि वह और सब तरफ़ से कट जाता है। उसे न अपने पारिवारिक जीवन की सुध-बुध रहती है, न ही अपनी मानसिक और आत्मिक आवश्यकताओं की। पिछले पच्चीस वर्षों में मैंने लगभग सवा सौ फ़िल्मों में काम किया है। इतने समय में अमेरिका या यूरोप में एक अभिनेता मुश्किल से तीस-पैंतीस फ़िल्मों में काम करता है। इससे आप खुद अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि मेरी ज़िन्दगी का कितना बड़ा हिस्सा सेलूलायड के फ़ीतों में दफ़न हुआ पड़ा है। इस अरसे में कितनी किताबें थीं, जो मैं नहीं पढ़ सका, कितना कुछ लिखना चाहता था, जो नहीं लिख सका, किस हद तक सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों से जुड़ना चाहता था, जो नहीं जुड़ सका। और इन सवा सौ फ़िल्मों में याद रखने लायक कितनी फ़िल्में होंगी? कितनी ऐसी फ़िल्में होंगी, जिन्होंने देश का कुछ संवारा हो? मुश्किल से अंगुलियों पर गिनने लायक। और उन्हें भी लोग या तो भूले गए हैं, या जल्दी ही भूल जाएंगे।

मैं यह सब कुछ निराशा की हालत में नहीं कह रहा, बल्कि आपको सचेत करना चाहता हूं कि अगर मेरा भाषण खास विद्वत्ता का सबूत न दे, तो आपको निराश नहीं होना चाहिए। मैं यहां जो कुछ कहूंगा, अपने उस जीवन-अनुभव के बारे में ही कहूंगा, जिसमें से गुज़र रहा हूं। उससे बाहर जाना मूर्खता होगी।

इस समय मुझे अपने विद्यार्थी-जीवन के ज़माने की एक घटना याद आ रही है, जिसे मैं कभी भुला नहीं सका, और जिसने मेरे मन पर बहुत गहरा असर डाला था।

हमारा परिवार एक बस में रावलपिंडी से काश्मीर जा रहा था। रास्ते में पहाड़ का एक हिस्सा टूटने के कारण सड़क बन्द हो गई थी। ऊपर से बेहद बारिश हो रही थी। कई दिन तक न बारिश बन्द हुई, न सड़क मरम्मत हो पाई। दोनों तरफ मोटरों की लंबी कतारें लग गयीं। न खाने-पीने का अच्छा इन्तज़ाम था, न सोने का। आसपास के गांवों के लोग यात्रियों की सेवा करते हुए थक गए थे। पी०डब्ल्यू०डी० के कर्मचारी सड़क की मरम्मत करने में सिरतोड़ मेहनत कर रहे थे। फिर भी ड्राइवर और यात्री हर समय उनके पीछे पड़े रहते, उन्हें सुस्त और निकम्मा कह-कहकर कोसते रहते। आखिर चौथे-पांचवें दिन रास्ता खुलने का एलान हुआ और ड्राइवरों को हरी झंडा दिखा दी गई। पर तब एक अजीब नज़ारा देखने में आया। न इस तरह से और न ही उस तरफ से कोई ड्राइवर अपनी गाड़ी आगे बढ़ाने में पहल करने के लिए तैयार था। सभी खड़े एक-दूसरे का मुंह देख रहे थे। इसमें शक नहीं कि रास्ता कच्चा था, और खतरनाक भी। एक तरफ पहाड़ था, और दूसरी तरफ खाई और ठाठें मारता जेहलम दरिया। ओवरसियर ने अपनी पूरी तसल्ली करके रास्ता खोला था, पर कोई भी व्यक्ति उसका आश्वासन सुनने को तैयार नहीं था। आधा घण्टा बीत गया। कोई टस से मस न हुआ। इतने में पीछे से एक छोटी-सी, हल्के हरे रंग की, स्पार्ट्स कार आती हुई दिखाई दी। एक अंग्रेज़ उसे चला रहा था। भीड़ को देखकर वह हैरान हुआ। मैं कोट-पतलून पहने ज़रा बन-ठनकर खड़ा था। उसने मुझसे पूछा, ''क्या हुआ है?''

मैंने उसे सारी बात बताई, तो वह ज़ोर से हंसा और उसी क्षण हार्न बजाता हुआ, बिना किसी डर के, कार चलाता हुआ आगे बढ़ गया।

उसके बाद का नज़ारा और भी देखने लायक था। कहां तो कोई माई का लाल गाड़ी स्टार्ट करने के लिए तैयार नहीं था, और कहां अब सभी की गाड़ियों के इंजन एकदम स्टार्ट हो गए, और वे हार्न पर हार्न बजाते हुए एक साथ वह हिस्सा पार करने लगे। इतनी भगदड़ मची कि रास्ता फिर काफ़ी देर के लिए बन्द हो गया।

तब मैंने अपनी आंखों से प्रत्यक्ष देखा कि गुलाम और आज़ाद आदमी में कितना फर्क है। आज़ाद आदमी के अन्दर कुछ सोचने, फ़ैसला करने और अपने फ़ैसले पर अमल करने की दिलेरी होती है। गुलाम आदमी यह दिलेरी खो चुका होता है। वह हमेशा दूसरे के विचारों को अपनाता है और घिसे-पिटे रास्तों पर चलता है।

इस सबक को मैंने अपनी ज़िन्दगी की कसौटी बना लिया था। ज़िन्दगी के जिस मोड़ पर भी मैं अपना फ़ैसला खुद कर सका, मैं खुश हुआ और खुद को मैंने आज़ाद आदमी समझा। मैं ऊपर उठा। मुझे जीने का आनन्द आया। मुझे जीवन सार्थक लगा। पर ऐसे मौके बहुत कम आए। ज़्यादातर मैं घिसे-पिटे रास्तों पर ही चला। मैंने वही फ़ैसले किए, जो मेरे इर्द-गिर्द का मध्यवर्ग, सभ्य समाज, मेरी बिरादरी, मेरा परिवार अपनी बनाई पुरानी कद्रो-कीमतों के अनुसार मुझसे आशा करता था। और उस हद तक मैंने जीने का आनन्द खोया, मेरे फ़ैसले गलत साबित हुए, मेरा हौसला टूटा, और मेरा जीवन निरर्थक साबित हुआ। मैंने आपके सामने एक अंग्रेज़ का उदाहरण रखा है। यह भी किसी हद तक मेरे हीनभाव का सबूत है। मैं भगतसिंह का उदाहरण दे सकता था। वह भी मेरे विद्यार्थी-जीवन के ज़माने में ही फांसी चढ़ा था। मैं महात्मा गांधी का उदाहरण दे सकता था। मुझे याद है कि कैसे मेरे कॉलेज के प्रोफेसर, मेरे शहर के सम्माननीय और बुद्धिमान व्यक्ति गांधीजी की बातों पर हंसा करते थे कि वह बिना हथियार की लड़ाई से अंग्रेज़ सरकार को हरा देंगे और देश को आज़ाद करा लेंगे। मेरे शहर के शायद एक प्रतिशत लोगों को भी इस बात का विश्वास नहीं होता था कि वे अपने जीवनकाल में देश को आज़ाद हुआ देख सकेंगे। यह चीज़ वे सपने में भी देखने की कल्पना नहीं कर सकते थे। पर गांधीजी को अपने विचारों और अपने देशवासियों पर भरोसा था। पता नहीं, आपमें से किसीने नन्दलाल बोस द्वारा चित्रित गांधीजी का चित्र देखा है या नहीं। वह एक ऐसे व्यक्ति का चित्र है, जिसे अपने-आपपर, अपने विचारों और अपने चरित्र पर विश्वास था।

लेकिन मैं पहले भी कह चुका हूं कि मैं आपके सामने दिखावा नहीं करूंगा। मैं वही कुछ बताऊंगा, जो मेरा अपना अनुभव है, और जिसने मेरे जीवन पर गहरी छाप डाली है। जिस समय की मैं बात कर रहा हूं, उस समय मुझपर भगतसिंह या गांधीजी का प्रभाव नहीं था। मैं पंजाब की सबसे प्रसिद्ध विद्यक संस्था, गवर्नमेंट कालेज, लाहौर में अंग्रेज़ी साहित्य में एम०ए० कर रहा था। मेरे सहपाठी आज हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में ऊंचे ओहदों पर लगे हुए हैं। उनमें से शायद ही कोई ऐसा होगा, जिसके मन में उस कॉलेज का विद्यार्थी होने का गर्व न हो। उस कालेज में दाखिला लेते समय हमें लिखकर देना पड़ता था कि हम राजनैतिक कामों में कोई हिस्सा नहीं लेंगे। उस समय राजनैतिक कामों का मतलब देश में चल रहे आज़ादी के आन्दोलन से था।

आज हमारे देश को आज़ाद हुए पच्चीस साल हो गए हैं। इस साल हम आज़ादी की रजत जयंती मना रहे हैं। पर क्या हम कह सकते हैं कि गुलामी और हीनता का भाव हमारे मन में से बिलकुल दूर हो चुका है? क्या हम दावा कर सकते हैं कि व्यक्तिगत, सामाजिक या राष्ट्रीय स्तर पर हमारे विचार, हमारे फैसले और हमारे काम मूलतः हमारे अपने हैं और हमने दूसरों की नक़ल करनी छोड़ दी है ?

हमारी फ़िल्मों को ही देखिए। मैं जानता हूं कि उनमें से ज़्यादा फिल्में ऐसी हैं, जिनका ज़िक्र सुनकर ही आप हंस पड़ेंगे। उनकी कहानियां बेतुकी और असलियत से दूर होती हैं। उनके नाच-गानों और उनकी तकनीक पर विदेशी फ़िल्मों की छाप होती है। कई वार तो पूरी की पूरी फिल्म ही किसी अमेरिकी फिल्म की नकल होती है। मुझे बिलकुल हैरानी नहीं होगी, अगर आप हिन्दी फ़िल्मों को एक तमाशा समझकर देखने जाते हों, उनका मज़ाक उड़ाते हों, और साथ ही फ़िल्म-स्टार बनने के सपने भी देखते हों।

मेरे लिए उनका मज़ाक उड़ाना आसान नहीं है। मैं उनसे अपनी रोज़ी कमाता हूं। मैंने उनसे खूब पैसा भी कमाया और मशहूरी भी हासिल की। आज मुझे यहां जो इज़्ज़त दी जा रही है, उसके पीछे किसी हद तक मेरी फ़िल्मी मशहूरी का भी हिस्सा है।

जब मैं आपकी तरह विद्यार्थी था, तो हमारे अंग्रेज़ प्रोफ़ेसर बड़ी कोशिशों से हमारे अन्दर यह अहसास पैदा करना चाहते थे कि अच्छी फ़िल्में बनाना, अच्छे नाटकों और साहित्य का सृजन करना सिर्फ गोरी चमड़ी वाले लोगों का ही काम है, कि हमारी भाषाओं और हमारी संस्कृति को यूरोप के स्तर तक पहुंचने के लिए कई सदियों का समय चाहिए। हमें उनकी इन बातों पर ग़ुस्सा आता था, पर हम उन बातों को सच मानने के लिए भी मजबूर थे।

उस ज़माने और आज के ज़माने की तस्वीर में बहुत फ़र्क़ है। आज हमारे कई फ़िल्म-निर्माता, जिनमें से सत्यजित राय और विमल राय के नाम एकाएक सामने आते हैं, कई कलाकार और टेकनीशियन अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। और भी कितने कलाकार हैं, जिन्हें देश के बाहर चाहे उतनी ख्याति न मिली हो, पर हम विश्वस्त रूप से कह सकते हैं कि उनकी बदौलत हमारा देश फ़िल्म-निर्माण की कला में किसी अन्य देश से पीछे नहीं है। आज़ादी से पहले हमारे देश में जहां एक साल में मुश्किल से दस-पन्द्रह फ़िल्में बनती थीं, आज वह संसार-भर में सबसे ज़्यादा फ़िल्में बनाने वाला देश है। इन फ़िल्मों को सिर्फ हमारे देश की जनता ही नहीं, बल्कि मध्य एशिया और अफ़्रीका के अनेक देशों की जनता भी करोड़ों की संख्या में बड़े शौक से देखती है।

पर इस सब कुछ के बावजूद अगर कमी है तो सिर्फ़ एक बात की कि हम अभी भी नक्काल हैं। हम विदेशी फ़ार्मूलों के अनुसार फ़िल्में बनाते हैं। अपने देश के जीवन को अपने ढंग से देखने और पेश करने का साहस हममें नहीं है। माफ़ कीजिएगा, यह बात मैं सिर्फ़ हिन्दी या तमिल की 'बाक्स-ऑफ़िस' फ़िल्मों के बारे में ही नहीं कह रहा, बल्कि उन फ़िल्मों के बारे में भी कह रहा हूं, जो सत्यजित राय, मृणाल सेन, सुखदेव, बासु भट्टाचार्य या राजेन्द्र सिंह बेदी बनाते हैं, और जिनपर शिक्षित वर्ग के लोगों में गर्व किया जाता है। मैं भी उनपर गर्व करने वालों में से हूं, पर फिर भी यह कहे बिना नहीं

रह सकता कि इन गिनती की फ़िल्मों को भी प्रेरणा इटली, फ्रांस, स्वीडन और सोवियत यूनियन से ही मिलती है। उन्नत देशों में किया गया तजुर्बा झट हमारे लिए फ़ार्मूला बन जाता है। हम नया क़दम ज़रूर उठाते हैं, पर दूसरों के बाद।

मेरा थोड़ा-बहुत सम्बन्ध साहित्य की दुनिया से भी है, और यही हालत मैं उस दुनिया में भी देखता हूं। यूरोपीय साहित्य के फ़ैशन भी हमारे उपन्यासकारों, कहानी-लेखकों और कवियों पर झट हावी हो जाते हैं। मेरे पंजाब में कवियों की नई पौध इनक़लाबी जज़्बे से ओत-प्रोत है, वह पश्चिमी पूंजीपति देशों की कविता की तरह न तुकान्त है, न उसमें लय है, न छन्द। वह जनता की समझ में नहीं आती, जिसे कि वह इनक़लाब की प्रेरणा देना चाहती है। मुझे चित्रकला के बारे में कोई ज्ञान नहीं है, पर इतना ज़रूर जानता हूं कि उसमें भी फ़ैशन का बोलबाला है। उसके प्रभाव से बचकर अलग राह पर चलने की शायद ही कोई चित्रकार हिम्मत कर सकता हो।

और अगर आप अपने शैक्षणिक संसार को भी ज़रा गहरी नज़र से देखें, तो शायद दूसरों पर हंसने के साथ-साथ आप खुद पर भी हंसना चाहेंगे।

इस साल मेरी मातृभूमि पंजाब ने मुझे सेनेट का मेम्बर बनाकर सम्मानित किया है। जब मुझे उसकी पहली मीटिंग में शामिल होने के लिए बुलाया गया, तो मैं पंजाब में ही था और प्रीतनगर के आसपास के गांवों में किसानों से दोस्तियां गांठ रहा था। एक दिन जब उनसे गपशप करते हुए मैंने अगले दिन अमृतसर में सेनेट की मीटिंग में जाने का ज़िक्र किया, तो किसीने कहा, "हमारे साथ तो आप तहमद कुर्ते में हमारे जैसे ही बने फिरते हो, अगर इसी लिबास में शहर जाकर दिखाओ तो मानें।"

"इसमें कौन-सी बड़ी बात है!" मैंने शेखी मारते हुए कहा।

"अब हमारे इन सरपंच को ही लीजिए। शहर में इन्हें किसी छोटे-मोटे सरकारी दफ्तर में जाना हो, तो तहमत उतारकर पाजामा पहन लेते हैं। कहते हैं कि तहमत पनहने पर इज़्ज़त नहीं होती। और आप तो यूनिवर्सिटी में जा रहे हैं।"

एक और फौजी किसान, जो छुट्टी पर आया हुआ था, कहने लगा, "अजीब बात है, आजकल तो कॉलेजों की लड़कियां भी तहमत बांधती है, फिर हमारे सरपंचजी की इज़्ज़त क्यों नहीं होती ?"

काफी देर गप-शप होती रही, जिसके फलस्वरूप मैं अगले दिन सचमुच देहातियों के-से लिबास में सेनेट की मीटिंग के लिए चल पड़ा। वहां पहुंचा तो बरामदे में गाउन पहनाने के लिए एक प्रोफ़ेसर खड़ा था। उसने पहली नज़र में तो मुझे पहचाना ही नहीं। फिर, जब पहचाना तो हैरानी-भरी नज़र से मुझे सिर से पांव तक देखने लगा। आखिर गाउन पहनाते समय कहने से न रह सका, "साहनी साहब, तहमत बांधी है, तो बूटों की जगह 'खुस्सा' पहनना चाहिए था।"

"आपकी तजवीज़ के लिए बहुत शुक्रिया," मैंने कहा और मीटिंग वाले कमरे में दाखिल हुआ। तभी मुझे खयाल आया कि किसीके लिबास के बारे में आलोचना करनी सभ्यता के नियमों के उलट समझा गया है। सो, यह बात मैंने प्रोफ़ेसर को क्यों नहीं कही? पर मुझमें हाज़िर-जवाबी की कमी है।

मीटिंग के बाद यूनिवर्सिटी के लड़के-लड़कियों से मिलने पर भी मेरा लिबास उनके मनोरंजन की चीज़ बना रहा। कई लड़कों ने पतलून के साथ चप्पल पहने हुए थे। इसमें उन्हें कोई अजीब बात दिखाई नहीं दी थी। पर मुझे तहमत के साथ बूट पहने हुए देखकर उन्हें हंसी आ रही थी। इसका कारण क्या है? उनकी नज़रों में देहाती लिबास अभी तक घटिया, असभ्यतापूर्ण और शहरों के शिक्षित लोगों के अयोग्य था- खास कर उस पंजाब में, जहां किसानों ने 'हरा इनक़लाब' लाकर सारे संसार को आश्चर्यचकित कर दिया है और देशवासियों का पेट भरा है।

पंजाब में यह जानी-पहचानी बात है कि किसान का बेटा कॉलेज की शिक्षा प्राप्त करने के बाद खेती-बाड़ी के काम के लायक नहीं रहता। उसे अपने चौगिर्दे और अपने लोगों से नफ़रत हो जाती है। वह शहर भागने की कोशिश करता है। क्या आपके शैक्षणिक वातावरण की यह स्थिति शोकपूर्ण नहीं है?

जवाब में आप कह सकते हैं कि हर जगह ऐसा ही होता है। भारत बहुत बड़ा देश है। हर जगह स्थिति एक-सी नहीं है। आजकल मद्रास और कलकत्ता में विद्यार्थियों या प्रोफेसरों का धोती या तहमत बांधकर कालेज जाना कोई अनोखी बात नहीं है। पर फिर भी, उधार लिए हुए हीनभाव पैदा करने वाले विचार किसी न किसी शक्ल में हर जगह देखने में आते हैं। आज़ादी से पच्चीस साल बाद भी हमारी शिक्षण-प्रणाली, यूनिवर्सिटियों और कालेजों का वातावरण लगभग वही है, जो अंग्रेज़ों ने यहां कायम किया था।

आज से दस साल पहले दिल्ली के कॉलेज के किसी विद्यार्थी को पतलून के साथ कुर्ता पहनने के लिए कहा जाता तो वह आपकी मूर्खता पर हंस देता। आज यूरोप से आए हिप्पियों की नकल में पतलून के साथ कुर्ता पहनना सिर्फ फैशन ही नहीं बन गया बल्कि कुर्ते का नाम 'गुरुशर्ट' हो गया है। आज लंबे बाल रखना और दाढ़ी-मूंछें बढ़ाना मर्दों के लिए फ़ैशन बन गया है। कॉलेज के किसी विद्यार्थी के लिए सिर के बाल सफ़ाचट करा लेना अकल्पित-सी बात है, पर अगर यूरोप या अमेरिका में यह फ़ैशन चल पड़े तो मुझे यकीन है कि इसकी बदौलत बेकार बैठे हुए हज्जामों को रोज़ी मिलने लगेगी।

आप कहेंगे कि मैं यह छोटी-छोटी बातें क्यों कर रहा हूं ? वास्तव में ये बातें उस विशेष मनोवृत्ति की सूचक हैं, जो हमारे समाज को अन्दर से खोखला कर रही हैं।

आइए, मैं आपके सामने एक बड़ा उदाहरण पेश करता हूं। मैं जिन हिन्दी फ़िल्मों में काम करता हूं, सभी जानते हैं कि उनकी भाषा उर्दू है, उनके संवाद और गीत लिखने वाले ज़्यादातर उर्दू के ही लेखक-कवि हैं- कृश्न चन्दर, राजेन्द्रसिंह बेदी, गुलशन नन्दा, राजेन्द्र कृशन, साहिर लुधियानवी, मजरूह सुल्तानपुरी, कैफ़ी आज़मी आदि। इससे यही साबित होता है कि हिन्दी और उर्दू असल में एक ही भाषा के दो नाम हैं। पर नहीं। अंग्रेज़ शासक क्योंकि हिन्दी और उर्दू को दो अलग-अलग भाषाएं करार दे गए हैं, इसलिए आज़ादी से पच्चीस साल बाद भी हमारी हुकूमत, हमारी यूनिवर्सिटियां, हमारे विद्वान हिन्दी और उर्दू को अलग-अलग भाषाएं माने हुए हैं। रेडियो-पाकिस्तान फ़ारसी के शब्द

धुसेड़-धुसड़ेकर और ऑल इंडिया रेडियो संस्कृत के शब्दों की भरमार से एक सुन्दर भाषा को बिगाड़ने और उसपर अपनी-अपनी मोहर लगाने की कोशिशें कर रहे हैं। इस हास्यास्पद रवैये पर नुक्ताचीनी करते हुए मेरे फिल्मी अदाकार दोस्त जानी वाकर ने एक बार कहा था, ''खबरें पढ़ते वक्त अनाउंसर को यह नहीं कहना चाहिए, 'अब हिन्दी में समाचार सुनिए', बल्कि यह कहना चाहिए, 'अब समाचार में हिन्दी सुनिए।''

क्या आपने कभी संसार के किसी और देश के बारे में भी ऐसा सुना है कि वहां लोग बोलते हों एक भाषा, पर लिखते समय वह दो भाषाएं कहलाएं? कोई भी भाषा किसी भी लिपि में लिखी जा सकती है। मेरी अपनी मातृभाषा पंजाबी के लिए दो लिपियां कबूल की गई हैं- हिन्दुस्तान में गुरुमुखी और पाकिस्तान में फारसी। दो लिपियों में लिखी जाने पर भी वह भाषा तो एक ही रहती है- पंजाबी। तो दो लिपियों में लिखी जाने के कारण हिन्दी और उर्दू अलग-अलग भाषाएं कैसे हो गईं?

इस समस्या के बारे में मैंने हिन्दी और उर्दू के अनेकों साहित्यकारों से बात की है। उनमें से कई मेरे हमखयाल हैं, जिनका कि मार्क्सवादी दृष्टिकोण है। पर फिर भी, वे हिन्दी-उर्दू-सम्बन्धी असलीयत देखने के लिए तैयार नहीं हैं। बताइए, क्या यह दिमाग़ी ग़ुलामी का सबूत नहीं है?

लीजिए, एक और उदाहरण देता हूं। आपने पंडित जवाहरलाल नेहरू की आत्मकथा में पढ़ा होगा कि हमारे देश के आज़ादी के आंदोलन पर, जिसका नेतृत्व इंडियन नेशनल कांग्रेस करती थी, शुरू से ही पूंजीपति वर्ग का ग़ल्बा रहा है। सो, स्वाभाविक था कि आज़ादी के बाद इसी वर्ग का शासन और समाज पर ग़ल्बा होता। आपमें से कोई भी इस बात से इनकार नहीं करेगा कि पिछले बीस सालों से पूंजीपति वर्ग दिन-प्रतिदिन और ज़्यादा धनवान और शक्तिशाली होता जा रहा है, और मज़दूर और किसान वर्ग और ज़्यादा लाचार और परेशान। पंडित नेहरू इस स्थिति को बदलना चाहते थे, पर बदल नहीं सके। इसके लिए मैं उन्हं दोष नहीं देता। हालात ने उन्हें मजबूर कर रखा था। आज इंदिरा गांधी के नेतृत्व में हमारी हुकूमत फिर इस स्थिति को बदलने का वादा कर रही है। वह कब और किस हद तक सफल हो सकेंगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। न ही इस बहस में पड़ने का मेरा इरादा है। सिर्फ इतना कहना ही काफी है कि जिस तरह हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों की हुकूमत पर अंग्रेज़ पूंजीपतियों का ग़ल्बा था, उसी तरह आज हमारे देश की हुकूमत पर हिन्दुस्तान के पूंजीपतियों का गल्बा है।

हम जानते हैं कि अंग्रेज़ों की पूंजीवादी व्यवस्था ने अपने कदम मज़बूत करने के लिए अंग्रेज़ीं भाषा का प्रयोग किया था। आज हमारे देश की पूंजीवादी व्यवस्था के कदम कौन-सी भाषा मज़बूत करते है?

पूंजीपति हर चीज़ को मुनाफे के दृष्टिकोण से देखता है। उस दृष्टिकोण से उसके लिए आज भी अंग्रेज़ी ही फ़ायदेमन्द है। मैं आर्थिक कारणों की ओर नहीं जाता, हालांकि वे भी एकदम स्पष्ट हैं। मैं सिर्फ सामाजिक और राजनैतिक कारणों को लेता हूं। उन्हें देखते हुए भारत के पूंजीपति वर्ग के लिए अंग्रेज़ी सिर्फ फ़ायदेमंद ही नहीं बल्कि ईश्वरी

वरदान है। वह कैसे? अंग्रेज़ी भारत के आम मेहनतकश लोगों के लिए एक मुश्किल और अपहुंच भाषाएं थी। इसीलिए शासक वर्ग ने उन्हें राजभाषा का दर्जा दिया था, जिनके द्वारा वह जनसाधारण में असभ्य और अशिक्षित होने तथा हीनता और आत्मग्लानि की भावनाएं पैदा करता था, ताकि वे अपने हाथों अपनी गुलामी की ज़ंजीरें मज़बूत करते रहें और आपस में लड़-लड़कर मरते रहें।

आज यही रोल अंग्रेज़ी अदा कर रही है। भारत का पूंजीपति वर्ग देश में इनक़लाब नहीं चाहता, कोई बुनियादी तब्दीली नहीं चाहता। अंग्रेज़ों से विरसे में मिली हुई व्यवस्था को उसी प्रकार क़ायम रखने में उसका फ़ायदा है। पर वह खुले आम अंग्रेज़ी को अंगीकार नहीं कर सकता। राष्ट्रीयता का कोई न कोई आडम्बर खड़ा करना उसके लिए ज़रूरी है। इसीलिए वह संस्कृतवादी हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करने का ढोंग करता है। उसे पता है कि संस्कृत शब्दों के बोझ तले दबी नकली और बेजान भाषा अंग्रेज़ी के मुकाबले में खड़ी होने की सामर्थ्य अपने अन्दर कभी भी पैदा नहीं कर सकेगी। आज के युग के वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दों से रिक्त होने के कारण वह हमेशा कमज़ोर भाषा बनी रहेगी। और सबसे बढ़िया बात तो यह है कि जिस प्रकार अंग्रेज़ों के समय थी, उसी प्रकार आज भी वह लड़ाई-झगड़े का कारण बनी रहेगी।

फ़िल्मी कलाकारों को उनके प्रशंसकों की ओर से रोज़ पत्र आते हैं। ऐसे पत्र मुझे पिछले बीस साल से आ रहे हैं। यह पत्र आम तौर पर कॉलेजों के विद्यार्थियों और पढ़े-लिखे नौजवानों की ओर से आते हैं। उनके आधार पर मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि हमारी शिक्षण संस्थाओं में अंग्रेजी का स्तर दिन-प्रतिदिन गिरता जा रहा है। शायद इसलिए, मैंने सुना है कि दाखिला देते समय पब्लिक स्कूलों से पढ़कर आने वाले विद्यार्थियों को पहल दी जाती है। पर फिर भी, आप खुद अपनी आंखों से देख सकते हैं कि किस प्रकार जीवन के हर क्षेत्र में अंग्रेज़ी को महत्त्व दिया जा रहा है। मेरी नाचीज़ राय में इसका बुनियादी कारण यही है कि उद्योग के क्षेत्र में पूंजीपतियों के राष्ट्रीय पैमाने पर संगठित होने और वर्तमान सामाजिक ढांचे को ज्यों का त्यों कायम रखने के लिए अंग्रेज़ी बहुत ज़्यादा सहायक है।

कुछ दिन पहले की बात है, मैंने अपना यह विचार बम्बई के लिए मज़दूर नेता के सामने रखा और कहा कि आप अगर सचमुच पूंजीवादी व्यवस्था की जगह समाजवादी व्यवस्था कायम करना चाहते हैं, तो मज़दूरों को भी पूंजीपतियों की तरह राष्ट्रीय पैमाने पर संगठित होकर आत्मविश्वास पैदा करना होगा। और यह चीज़ अंग्रेज़ी से पीछा छुड़ाकर ही हो सकती है।

मज़दूर नेता मुझसे सहमत हुए, पर कहने लगे, "रोग तो आपने ठीक पकड़ा है, पर इसका इलाज क्या है ?"

"इलाज है अंग्रेज़ी लिपि को अपनाना और अंग्रेज़ी भाषा को धक्का देकर बाहर निकालना।"

"वह कैसे?"

''टूटी-फूटी हिन्दुस्तानी सारे देश के मज़दूर बोल और समझ लेते हैं। यह बोली पंडिताऊ शब्दावली और व्याकरण से मुक्त होती है और यही चीज़ उसके विकास की सही बुनियाद है। इसीलिए उसे उर्दू यानी बाज़ारू गंवार बोली कहा जाता था। इसलिए यह हमारे देश में प्रचलित हुई। फौजी ज़बान में इसे रोमन हिन्दुस्तानी कहा जाता है। मज़दूरों को चाहिए कि वे इसे अपना लें, और इसमें निःसंकोच होकर अपनी प्रांतीय बोलियों और अपने व्यवसायों से संबंधित शब्दों को अपनी रुचि के अनुसार तोड़मरोड़ कर प्रयोग करें, जैसे कि चैसिस को चैसी, पैनर को पाना, पुलथ्रू को फलत्रू, यूनिवर्सिटी को यूनीवरास्टी (विश्वविद्यालय के मुकाबले में यूनीवरास्टी कितना सुन्दर और जानदार शब्द है !) कहना शुरू करें। हमारी बम्बइया हिन्दुस्तानी में तो स्त्रीलिंग और पुल्लिंग का भेद भी मिटा दिया जाता है। इसमें लड़की भी 'जाता है' और लड़का भी 'जाता है', जो बहुत बढ़िया बात है। इस प्रकार की आम बोलचाल की हिन्दुस्तानी के रोमन लिपि में अखबार निकलें ओर देश-भर के मज़दूरों और मेहनतकशों के भाईचारे को मज़बूत बनाएं। तब देखिए क्या होता है । कुछ ही समय में संसार-भर के प्रगतिशील विद्वानों का ध्यान भी इस जीती-जागती और संभावनाओं-भरी ज़बान की ओर खिंच आएगा और देखते-देखते यह अंग्रेजी जितनी ही शक्तिशाली और अमीर बन जाएगी। सच्चे अर्थो में यही राष्ट्रभाषा या जनभाषा होगी और हमें अंग्रेजी की मोहताजी से छुटकारा दिलाएगी।''

''पर रोमन लिपि क्यों ?'' उन्होंने पूछा।

''इसलिए कि इस लिपि से किसीको द्वेष नहीं है। फिर, इस समय यह राष्ट्रीय पैमाने पर सबसे ज़्यादा प्रचलित लिपि है। मद्रास, कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली आदि शहरों में हर जगह दुकानों और फिल्मों के साइनबोर्ड इसी लिपि में लिखे हुए नज़र आएंगे। खतों पर नाम व पता लिखने के लिए भी तो देश-भर में यही लिपि इस्तेमाल की जाती है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि सबसे ज़्यादा व्यावहारिक होने के अलावा यह एक ऐसी लिपि है, जिसके प्रति किसी के मन में द्वेष नहीं है।''

मज़दूर नेता कुछ देर चुप रहे, फिर हंसकर कहने लगे, ''कॉमरेड, यूरोप में भी एक बार एस्प्रांटो चलाने का तजुर्बा किया गया था। जॉर्ज बर्नार्ड शॉ जैसे विद्वान साहित्यकारों ने उसके हक में पूरा ज़ोर लगाया था। पर वह तजुर्बा बुरी तरह असफल हुआ, क्योंकि वह नकली ढंग से बनाई गई भाषा थी। भाषाएं अपने-आप स्वाभाविक ढंग से बनती हैं, बनाई नहीं जातीं।''

मैं हैरान बना उनकी ओर देखता रह गया। आखिर मैंने कहा, ''कॉमरेड, एस्प्रांटो तो वह है, जिसे आज राष्ट्रभाषा हिन्दी के नाम पर बनाया जा रहा है और जिसके लिए शब्द ज़िन्दगी में से नहीं बल्कि संस्कृत के शब्दकोष में से लिए जा रहे हैं- बेजान, मुर्दा शब्द।''

मैंने और भी कई दलीलें दीं, पर उन्हें कायल न कर सका। अंत में मैंने जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस के हवाले दिए कि इन दोनों महान नेताओं ने रोमन हिन्दुस्तानी की ज़ोरदार हिमायत की थी। पर इसका भी उनपर कोई असर न हुआ। मेरी बात उन्हें शेखचिल्ली का सपना प्रतीत हो रही थी।

मैं नहीं कहता कि जो कुछ मैं कह रहा था, वह ठीक ही था, लेकिन मैं अपने तजुर्बे के आधार पर बोल रहा था। उन्हें मेरी बातों पर विचार करना चाहिए था। लेकिन उनका सोचने का ढंग बने-बनाए रास्तों को छोड़ने के लिए तैयार न था।

कोई भी देश तभी उन्नति कर सकता है, जब उसमें अपनी समस्याओं को अपने ढंग से हल करने की शक्ति आ जाए। पर मैं जिस ओर भी देखता हूं मुझे लगता है कि हमारी हालत अभी भी उस पक्षी जैसे है, जो लम्बी कैद के बाद पिंजरे में से आज़ाद तो हो गया हो, पर उस आज़ादी का फ़ायदा उठाने और खुले आसमान में उड़ने से उसे अभी भी डर लग रहा हो।

व्यक्तिगत जीवन में भी और सामाजिक जीवन में भी हमारी हालत दुविधा की जैसी है। हर आदमी जीना चाहता है किसी और ढंग से, लेकिन जी रहा है किसी और ढंग से। वह कहना चाहता है कुछ, लेकिन कर रहा है कुछ और। जो हालत व्यक्ति की है, वही हमारे समाज की भी है, वही हमारी हुकूमत की भी है, और वही हमारी यूनिवर्सिटियों की भी है।

मैं समझता हूं कि हमारे देश में भी कई पुलिस-अफ़सर ऐसे होंगे, जो जनता के मन में डर पैदा करने के बजाय उसकी सेवा और सहायता करना चाहते हैं। उन्होंने यह भी पढ़ा-सुना होगा कि इंगलैंड में पुलिस जनता की मददगार होने का ही रोल अदा करती है। पर वे अंग्रेज़ी साम्राज्य से मिली हुई व्यवस्था का शिकार हैं। जब भी कोई व्यक्ति उनके दफ्तर में दाखिल होता है, वे मानो अपना फ़र्ज़ समझते हैं कि उसे ऐसे घूरकर देखें कि उसकी जान ही निकल जाए। यही हाल सरकारी मंत्रियों का है। यही हाल चपरासियों का है। मुझे एक घटना याद आ रही है, जो मेरे एक फ़िल्म-निर्माता ने बताई थी। उसने बॉक्स-ऑफ़िस के बजाय समाज की भलाई को सामने रखकर एक फ़िल्म बनाने की गलती कर डाली। वह चाहता था कि उसपर एंटरटेनमेंट टैक्स माफ़ हो जाए। सरकारी मंत्री ने उसे मिलने के लिए राजभवन में आने का समय दिया हुआ था। वे नये-नये मंत्री बने थे और उस दिन उन्हें कसम खानी थी। निर्माता नियत समय पर पहुंच गया। मंत्री के सेक्रेटरी ने उसे अपने पास खड़ा कर लिया। उधर मंत्री राज्यपाल के सामने जनता की निष्काम सेवा करने की कसम उठा रहे थे और इधर उनका सेक्रेटरी निर्माता से बीस हज़ार रुपये रिश्वत के तौर पर मांग रहा था।...वह निर्माता बहुत चाहता है कि इस दृश्य को अपनी किसी फ़िल्म में डाल दे। पर क्या हमारा सेंसर इस बात की इजाज़त देगा? सेंसर के अनुसार सरकार का कोई भी मंत्री रिश्वत नहीं लेता। पर अजीब बात तो यह है कि जो लोग हर समय मंत्रियों के रवैये के खिलाफ शिकायतें करते हैं, वही मंत्रियों को हार पहनाने के लिए सबसे आगे होकर खड़े होते हैं। किसी भी सभा-सोसायटी का जलसा हो, वहां मंत्री ज़रूर आना चाहिए। मैं पच्चीस वर्षों से 'इप्टा' (इंडियन पीपुल्स थिएटर एसोसिएशन) का मेम्बर हूं। यह संस्था आम जनता के लिए नाटक खेलने का दावा करती है। इसके नाटकों में सरकार और शासन-व्यवस्था की कड़ी आलोचना होती रही है। इसीलिए सी०आई०डी० पुलिस इसपर खास नज़र रखती है। पर मैंने देखा है कि इसी इप्टा की कान्फ्रेंस के उद्घाटन के लिए मंत्रियों का आना ज़रूरी समझा जाता रहा है। दूसरे विश्वयुद्ध के ज़माने में मैंने चार साल इंगलैंड में बिताए थे,

जहां मैं बी०बी०सी० का अनाउंसर था। उन चार सालों के दौरान मैंने चर्चिल को एक बार भी नहीं देखा था। चर्चिल तो क्या मैंने इंगलैंड के किसी मंत्री को भी नहीं देखा था। पता नहीं, वे कहां छिपे रहते थे। पर जब से हिन्दुस्तान आज़ाद हुआ है, मैंने मंत्रियों के सिवा और कुछ देखा ही नहीं है।

महात्मा गांधी जब गोलमेज़ कान्फ्रेंस के लिए इंगलैंड गए थे, तो उन्होंने इंगलैंड के सम्राट को सम्बोधित करके कहा था, "हिन्दुस्तान के चालीस करोड़ लोग ब्रिटिश सरकार की बन्दूकों और मशीनगनों को उसी तरह देखते हैं, जिस तरह कि दीवाली के दिन उनके बच्चे पटाखों को देखते हैं।" यह दावा वे क्योंकर कर सके? इसलिए कि उन्होंने हिन्दुस्तानियों के दिलों में सै अंग्रेज़ शासकों का डर निकाल दिया था। आम लोग अंग्रेज़ शासकों को इज़्ज़त की जगह नफ़रत से देखने और उनके सात असहयोग करने लगे थे। यह साहस महात्मा गांधी ने निहत्थे हिन्दुस्तानियों के दिलों में भर दिया था।

आज अगर हम सचमुच चाहते हैं कि हमारे देश में समाजवाद आए, तो जनसाधारण को पैसे और रुतबे के सहम से आज़ाद कराने की ज़रूरत है। पर इस समय असलीयत क्या है ? हर तरफ पैसे और रुतबे का बोलबाला है। समाज में इज़्ज़त उसीकी है, जिसके पास मोटरें हैं, बंगले हैं, दौलत का दरिया बहता है। क्या कभी ऐसी हालत में भी समाजवाद आ सकता है? अगर जनता के विचार पुराने युग से जुड़े हुए हों, तो नया युग कैसे जन्म ले सकता है? अगर हम देश में समाजवाद लाना चाहते हैं, तो पहले हमें ऐसा वातावरण पैदा करना चाहिए, जिसमें इज़्ज़त पैसे वालों की नहीं, बल्कि गरीब की हो। सम्मान उसे मिले, जो अपने दो हाथों की मेहनत से देश के लिए अनाज पैदा करता है, मशीनें चलाता है। सम्मान उसे नहीं मिलना चाहिए, जो उसकी मेहनत से मुनाफ़ा कमाता है। सम्मान गुणवानों का होना चाहिए, साहित्यकारों का, कलाकारों का, वैज्ञानिकों का। पर ऐसे व्यक्तियों को कहां इज़्ज़त मिलती है? इज़्ज़त होती है रुतबे की, पैसे की, चाहे वह किसी भी जायज-नाजायज़ ढंग से हासिल क्यों न किया गया हो।

आज फिर हमें किसी महात्मा गांधी की जरूरत है, जो हमें ग़ुलाम कद्रो-कीमतें छोड़कर आज़ाद कद्रो-कीमतें अपनाने की प्रेरणा दे। अब यह ज़रूरत किसी नये अवतार का रास्ता देखने के बजाय उन रास्तों पर चलकर पूरी की जा सकती है, जो महात्मा गांधी ने बनाए थे। वे रास्ते कौन-से हैं?अपने-आपको शासकों के साथ जोड़ने के बजाय आम जनता के साथ जोड़ना। जैसे कि मेरे पंजाब के गुरु अर्जुनदेव ने कहा है:

जन की टहल संभालन जन सिउ
ऊठन बैठन जन के संगा।
जन चर रज मुख माथे लागी
आसा पूरन अनंत तरंगा।।

आप जवाहरलाल नेहरू यूनिवर्सिटी के ग्रेजुएट अपने अन्दर ऐसा साहस पैदा कर सकेंगे और आजाद होकर सोच सकेंगे, जो मेरे जैसे लोग अपने जीवन में करने से असमर्थ रहे हैं-- यही मेरी आकांक्षा है। भूल-चूक माफ़ !

बलराज साहनी

हिन्दी साहित्यकारों के नाम पत्र

भाइयो,

कभी मेरा भी नाम हिन्दी लेखकों में गिना जाता था। मेरी कहानियां अपने समय की प्रमुख हिन्दी पत्रिकाओं-विशाल भारत, हंस आदि-में नियमित रूप से प्रकाशित हुआ करती थीं। बच्चन, अज्ञेय, अमृतलाल नागर, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, उपेन्द्रनाथ अश्क-सब मेरे समकालीन लेखक और प्रिय मित्र हैं।

मेरी शुरू की जवानी का समय था वह-बहुत ही प्यारा, बहुत ही हसीन! मैंने कुछ समय शांतिनिकेतन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के पास, और कुछ समय सेवाग्राम में गांधी जी के चरणों में बिताया। मेरा जीवन बहुत समृद्ध बना। शांतिनिकेतन में मैं हिन्दी विभाग में काम करता था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी मेरे अध्यक्ष थे। उनकी छत्रछाया में हिन्दी जगत के साथ मेरा संबंध दिन प्रति दिन गहरा होता गया। सन १९३९ के अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन में वे मुझे भी अपने संग प्रतिनिधि बना कर बनारस ले गये थे, और वहां मैथिली शरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, बनारसीदास चतुर्वेदी, निराला और साहित्य के अन्य कितने ही महारथियों से मिलने और उनके विचार सुनने-जानने का मुझे गौरव प्राप्त हुआ।

यद्यपि आजकल मैं हिन्दी में नहीं, बल्कि अपनी मातृभाषा पंजाबी में लिखता हूं, फिर भी आप लोगों से खुद को अलग नहीं समझता। आज भी मैं हिन्दी फिल्मों में काम करता हूं, हिन्दी-उर्दू रंगमंच से भी मेरा अटूट संबंध रहा है। ये चीजें, अगर साहित्य का हिस्सा नहीं तो उसकी निकटवर्ती जरूर हैं।

हिन्दी हमारे देश की एक विशेष और महत्वपूर्ण भाषा है। इसके साथ हमारी राष्ट्रीय और भावात्मक एकता का सवाल जुड़ा हुआ है। और इस दिशा में, अपनी अनेकों बुराइयों के बावजूद, हिन्दी फिल्में अच्छा रोल अदा कर रही हैं।

लेकिन इस असलियत की ओर से भी आंखें बन्द नहीं की जा सकतीं कि हिन्दी, कई दृष्टियों से, अपने क्षेत्र में और उससे बाहर भी, कई प्रकार के साम्प्रदायिक और प्रांतीय बैर-विरोध और झगड़े-झमेलों का कारण बनी हुई है। कई बार तो डर लगने

लगता है कि कहीं एकता के लिए रास्ते साफ करने के बजाय वह उन रास्तों पर कांटे तो नहीं बिछा रही, उन शक्तियों की सहायक तो नहीं बन रही, जो हमें उन्नति और विकास के बजाय अधोगति और विनाश की ओर ले जाना चाहती हैं, जो हमारे पांवों में फिर से साम्राज्यवादी गुलामी की बेड़ियां पहनाना चाहती हैं।

उर्दू कन्वेन्शन

पिछले साल, दिसम्बर में, बम्बई में एक उर्दू-कन्वेन्शन बुलाई गयी थी, जिसके सूत्रधार डा० मुल्कराज आनन्द, कृष्ण चन्दर, सज्ज़ाद जहीर, राजेन्द्रसिंह वेदी और अली सरदार जाफरी जैसे प्रसिद्ध प्रगतिशील लेखक थे। मैं उस समय बम्बई में नहीं था, सो मुझे इस बात की ज्यादा जानकारी नहीं है कि कन्वेन्शन में क्या कुछ हुआ। लेकिन जब मैं वापस आया तो यह सुनकर बेहद हैरानी हुई कि हिन्दी का एक भी प्रगतिशील लेखक इस कन्वेन्शन में शामिल नहीं हुआ था। ऐसे लगा, जैसे हिन्दी-उर्दू के सवाल पर प्रगतिशील लेखक संघ का, अन्दर ही अन्दर, उसी प्रकार बंटवारा हो चुका हो, जैसे हिन्दु-मुस्लिम सवाल पर हिन्दुस्तान का बंटवारा हो चुका है। मुझे बहुत गहरी निराशा हुई।

साथ ही, इस बात पर सख्त हैरानी भी हुई कि कन्वेन्शन की प्रौढ़ता करने के लिए सिक्ख लेखकों का एक काफी बड़ा जत्था भी बम्बई आया हुआ था, हालांकि हर कोई इस बात को जानता है कि उर्दूवाले कल तक उर्दू को ही पंजाब की भाषा मानते थे, और पंजाबी को उपभाषा का दर्जा देते थे। अनायास ही मेरे मन में एक मलिन-सा संशय उठा कि कहीं उर्दू को अल्पसंख्यकों की भाषा करार देकर उनकी रक्षा के लिए अल्पसंख्यक जातियों को तो नहीं उकसाया जा रहा। कहीं उर्दू की रक्षा करने के लिए पंजाबी को केवल सिक्खों की भाषा तो नहीं बनना पड़ रहा? मन में यह घटिया विचार उठने पर मैंने खुद को फटकारा। बेशक, पंजाबी साहित्य के क्षेत्र में इस समय सिक्ख लेखक ही अधिक संख्या में है, लेकिन पंजाबी को सिक्खों की भाषा मानने का दावा कभी किसी ने नहीं किया। फिर, देश के इतने बड़े प्रगतिशील, मार्क्सवादी विद्वानों से कभी सपने में भी आशा नहीं की जा सकती कि वे भाषा की समस्या को साम्प्रदायिक राजनीति से जोड़ेंगे। लेकिन फिर भी, रह-रह कर चिन्ता घेर लेती थी। एक बार पहले मेरा वतन पंजाब साम्प्रदायिक राजनीति की छुरी के नीचे अपना सिर दे चुका था, और लाखों लोगों को व्यर्थ में कुर्बान होना पड़ा था। कहीं किस्मत एक और बरबाद की शुरुआत तो नहीं कर रही? पहले भी तो जो कुछ हुआ था, वह पंजाबियों के भोलेपन और लापरवाही का नतीजा था। खतरे के बादल मंडराते हुए देखकर भी हम उसे नजरअन्दाज करते रहे थे, और यह सोच कर मीठी नींद लेते रहे थे कि 'ऐसे भला कैसे हो सकता है?'

बाद में, 'नई कहानियां' में अमृतराय के दो सम्पादकीय लेख छपे। उसी पत्रिका में यशपाल, अमृतलाल नागर, और नरेन्द्र शर्मा आदि द्वारा उर्दू-कन्वेन्शन सम्बन्धी दिये गये वक्तव्यों को पढ़कर मेरी चिन्ता और बढ़ी। फिर 'उपलब्धि' नामक पत्रिका का एक

पूरा अंक इस कन्वेन्शन के लिए अर्पित किया गया देखा, जिसमें डा० धर्मवीर भारती और अन्य कई लेखकों के विचार पढ़ने को मिले। 'धर्मयुग' में प्रकाशित टीका-टिप्पणियां भी देखीं। मुझे लगा कि मानसिक अशान्ति केवल मेरे तक ही सीमित नहीं थी।

और आज यही मानसिक अशांति मुझे मजबूर कर रही है कि आपके सामने अपना दिल खोलूं, अपने जीवन के कुछ अनुभव और विचार पेश करूं। मैं जानता हूं कि आप देश की भलाई, एकता और प्रगति के इच्छुक हैं, और आशा करता हूं कि जो कुछ अच्छा-बुरा मैं कहूंगा, उसे पूरी सदभावना से परखेंगे। अगर मेरे मुंह से कोई बुरी या नाजायज बात भी निकल जाये, तो मुझे अपना भाई या साथी समझकर माफ कर देंगे।

अब मैं अपनी बात पर आऊं।

मेरे भाषा सम्बन्धी अनुभव :

मैं जब शांतिनिकेतन मे था, तो गुरुदेव टैगोर मुझे बार-बार कहा करते थे, 'तुम पंजाबी हो, पंजाबी में क्यों नहीं लिखते? तुम्हारा उद्देश्य होना चाहिए कि अपने प्रान्त में जाकर वही कुछ करो, जो हम यहां कर रहे हैं।'

मैं जवाब में कहता, 'हिन्दी हमारे देश की भाषा है। हिन्दी में लिखकर मैं देश भर के पाठकों तक पहुंच सकता हूं।

वे हंस देते, और कहते, 'मैं तो केवल एक प्रांत की भाषा में ही लिखता हूं, लेकिन मेरी रचनाओं को सारा भारत ही नहीं, सारा संसार पढ़ता है। पाठकों की संख्या भाषा पर निर्भर नहीं करती।'

मैं उनकी बातें एक कान से सुनता और दूसरे कान से निकाल देता। बचपन से ही मेरे मन में यह धारणा पक्की हो चुकी थी कि हिन्दी पंजाबी के मुकाबले में कहीं ऊंची और सभ्य भाषा है। वह एक प्रांत की नहीं, बल्कि सारे देश की राष्ट्रीय भाषा है (उन दिनों देश सम्बन्धी मेरा ज्ञान उत्तरी भारत तक ही सीमित था)।

एक दिन गुरुदेव ने जब फिर वही बात छेड़ी तो मैंने चिढ़कर कहा, 'पता नहीं क्यों, आप मुझे यहां से निकालने पर तुले हुए है। मेरी कहानियां हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिकाओं में छप रही हैं। पढ़ाने का काम भी मैं चाव से करता हूं। अगर यकीन न हो तो मेरे विद्यार्थियों से पूछ लीजिये। जिस प्रेरणादायक वातावरण की मुझे जरूरत थी, वह मुझे प्राप्त है। आखिर में यहां से क्यों चला जाऊं?'

उन्होंने कहा, 'विश्व भारती का आदर्श है कि साहित्यकार और कलाकार यहां से प्रेरणा लेकर अपने-अपने प्रान्तों में जायें और अपनी भाषाओं और संस्कृतियों का विकास करें तभी देश की सभ्यता और संस्कृति का भंडार भरपूर होगा।'

'आपको पंजाबी भाषा और संस्कृति के बारे में गलतफहमी है।' मैंने कहा, 'हिन्दुस्तान से अलग कोई पंजाबी संस्कृति नहीं है। पंजाबी भाषा भी वास्तव में हिन्दी की एक उपभाषा है। उसमें सिक्ख-धर्मग्रन्थों के अलावा और कोई साहित्य नहीं है।'

गुरुदेव चिढ़ गये। कहने लगे, 'जिस भाषा में नानक जैसे महान कवि ने लिखा है, तुम कहते हो उसमें कोई साहिय नहीं है?'

और तब मैंने अपने जीवन में पहली बार उनके मुख से गुरु नानक की ये पंक्तियां सुनी :

गगन में थाल रवि चन्द दीपक बने
तारक मंडल जनक मोती
धूप मलयानलो पवन चंवरो करे
सगल वनराय फूलंत जोती। ......

और अगर मुझे याद धोखा नहीं देती, तो गुरुदेव ने साथ में यह भी कहा था, 'कबीर की वाणी का अनुवाद मैंने बंगाली में किया है, लेकिन नानक की वाणी का अनुवाद करने का साहस नहीं हुआ। मुझे डर था कि मैं उनके साथ इन्साफ नहीं कर सकूंगा।'

उसी शाम आचार्य क्षितिमोहन सेन के साथ नंगे पांवों लम्बी सैर पर जाने का मौका मिला, जो भक्तिकाल सम्बन्धी सर्वोच्च खोजी और विद्वान माने जाते हैं। जब उनसे गुरुदेव के साथ हुई बातचीत का जिक्र छिड़ा, तो अचानक उनके मुंह से निकला, 'पराई भाषा में लिखने वाला लेखक वेश्या के समान है। वेश्या धन-दौलत, मशहूरी और ऐशइरत भरा घरवार सब कुछ प्राप्त कर सकती है, लेकिन एक गृहणी नहीं कहला सकती।'

मैं मन ही मन बहुत खीझा। बंगाली लोग प्रान्तीय संकीर्णता के लिए प्रसिद्ध थे। लेकिन टैगौर और क्षितिमोहन जैसे व्यक्ति भी उसका शिकार होंगे, यह मेरे लिए आश्चर्य की वात थी।

गांधी जी के विचार

फिर मुझे एक और धक्का लगा। शांतिनिकेतन से मुझे कुछ समय के लिए 'बुनियादी तालीम' संस्था की पुस्तकें अनुवाद करने के लिए सेवाग्राम जाना पड़ा। वहां गांधी जी को निकट से देखने का मौका मिला। और यह देखकर हैरानी हुई कि वे अपना अधिकांश लेखन-कार्य गुजराती में करते थे। गांधी जी पर मैं प्रान्तीय मनोवृत्ति का दोष कैसे लगा सकता था, जबकि वे हमारी राष्ट्रीय चेतना के जन्मदाता थे? राष्ट्र भाषा 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' का सबसे बड़ा प्रकाश-केन्द्र भी तो वही थे। फिर, वे राष्ट्रभाषा को छोड़कर अपनी प्रान्तीय भाषा में क्यों लिखते थे?

इस बारे में एक दिन मैं उनसे पूछ ही बैठा। मेरा सवाल सुन कर वे भौंचक्के रह गये, जैसे सोचने लगे हों कि कोई पढ़ा-लिखा व्यक्ति ऐसा बचकाना सवाल कैसे पूछ सकता है। आखिर उन्होंने कहा, मातृभाषा तो मां के दूध जैसी मीठी होती है। राष्ट्रभाषा का मनोरथ प्रांतीय भाषाओं को खत्म करना नहीं, बल्कि उनकी रक्षा करना है, उन्हें एक-दूसरी के निकट लाना और प्रेम सूत्र में पिरोना है।

मैं फिर भी न समझ सका। मेरे दिमाग में कई सवाल उठ रहे थे। गांधीजी हिन्दी-हिन्दुस्तानी को एक सीधी-सादी और आम बोलचाल की भाषा तक सीमित रखना चाहते थे, जिसमें न तो मोटे-मोटे फारसी शब्दों का प्रयोग हो, न ही बड़े-बड़े संस्कृत शब्दों का। इसके लिए वे लिपियां भी दो चाहते थे- देवनागरी और फारसी। यह दोनों बातें ही मुझे अव्यवहारिक लगती थीं। हिन्दी को किस हद तक, कब तक और क्यों केवल आम बोलचाल की भाषा रखा जायेगा? उसके विकास पर क्यों बन्धन लगाये जायेंगे, जबकि वे बन्धन प्रांतीय भाषाओं की अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध बनाना चाहिए। और एक भाषा के लिए दो लिपियों का परवान करना कहां की अक्लमंदी है?

मुझे याद है, इस समस्या के बारे में उन दिनों मेरे मन में निरंतर उथल-पुथल मची रहती थी। मैं मौका ढूंढता रहा कि कब गांधी जी के साथ दोबारा इस बारे में बातचीत करूं। लेकिन वह मौका न मिला। दूसरा विश्व-युद्ध शुरु हो चुका था, और गांधी जी राजनैतिक मामलों में बहुत ज्यादा उलझ गये थे।

एक दिन उन्हें मिलने के लिए आल इंडिया रेडियो के अंग्रेज डायरेक्टर-जनरल, मिस्टर लाइनल फील्डन, वहां आये। वे हिन्दुस्तान से इस्तीफा देकर लंदन के बी०बी०सी० में हिन्दुस्तानी विभाग खोलने के लिए जा रहे थे। वे अपने तुरंत और हंगामी फैसलों के लिए अद्वितीय थे। वे आये थे गांधी जी को अलविदा कहने, लेकिन जाते समय मुझे अपने साथ रेडियो-अनाउन्सर के रूप में लंदन ले गये।

लन्दन में

उस जमाने में, रेडियों पर उर्दू का वैसा ही बोलबाला था, जैसा आजकल हिन्दी का है। शुरू से अन्त तक सभी काम उर्दू लिपि और उर्दू भाषा में ही किये जाते थे। और मैं इन दोनों से लगभग कोरा था। हिन्दुस्तान से चलने से पहले कई बार दिल में आया था कि फील्डन से इस बारे में खुलकर बात करूं, लेकिन लंदन और युद्ध को निकट से देखने का चाव मुझे रोकता रहा।

दो-तीन अनाउन्सर वहां पहले से पहुंच चुके थे। सभी उर्दू के माहिर उस्ताद। वे हिन्दी न जानते थे, न उसे किसी गिनती में लाते थे। उर्दू से अनजान होने के अलावा मेरी एक और कमजोरी यह थी कि माइक्रोफोन पर बोलने का तजरुबा भी मुझे बहुत कम था। फिर, बोलने का लहजा इतना ज्यादा पंजाबी कि अपनी पहली रिकार्डिंग सुन कर मेरे अपने कान फटने को आ गये थे। तब मेरा सारा अहंकार मिट्टी में मिल गया कि फील्डन मुझे सेवाग्राम से विशेष रूप से अपने साथ लंदन लाये थे। आखिर मैं भी उनकी नजर में खटकने लगा। फिर तो मुझे साफ दिखाई देने लगा कि वहां मेरा ज्यादा देर टिकना सम्भव नही था।

मेरा मन गुस्से और ग्लानि से भर गया। एक तो, मैंने खुद इस नौकरी की मांग नहीं की थी, बल्कि सारे आश्रमवासियों को नाराज और दुखी करके आया था। दूसरे, एक साहित्यकार के तौर पर मेरा कुछ महत्व था। मैं हिन्दी के पहली श्रेणी के कहानीकारों में गिना जाता था। मेरी कई रचनाएं उर्दू में अनूदित हो कर 'अदबे लतीफ' जैसी

प्रसिद्ध पत्रिकाओं में छप चुकी थीं। इस सब कुछ का क्या कोई महत्व नहीं था? क्या हिन्दी भाषा में अपने अधिकार नहीं थे? जिस भाषा में प्रेमचन्द, जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय यशपाल, बच्चन, सुमित्रानन्दन पंत जैसे महान साहित्यकारों ने लिखा हो, उसे इस प्रकार अवहेलना की दृष्टि से देखना क्या पहले दर्जे का अन्याय नहीं था? रहा सवाल पंजाबी लहजे का। उसे सुधारते कौन सी देर लगती है। किसी की थोड़ी सी मदद और अभ्यास ही की तो जरूरत है।

यह बात मुझे दिन प्रतिदिन स्पष्ट हो रही थी कि अगर मैंने अपने बचाव के लिए खुद कोई कोशिश न की, तो विस्तर गोल होने में ज्यादा देर नहीं लगेगी। मैं सारी सारी रात बिस्तर पर करवटें बदलता सोचता रहता। आखिर क्या करूं? क्यों न बी०बी०सी० के डायरेक्टर-जनरल को मिल कर अपना दुख उनके सामने रखूं और इस घोर अन्याय का पर्दाफाश करूं। मैं लाइनल फील्डन को मुंह की खिला सकता था। भारत के हिन्दी समर्थकों को उकसा कर उनके लिए अच्छा खासा सिरदर्द पैदा कर सकता था।

लेकिन फिर, मन में दूसरी तरह के विचार मंडराने लगते। मैं गांधी जी के चरणों से उठ कर अंग्रेजों के कदमों में गिरा था। यह कोई मामूली गिरावट नहीं थी। और अब शिकायती टट्टू बनना, अपने घर में के लड़ाई-झगड़ों को दुश्मन के सामने नंगा करना, उससे न्याय की मांग करना, क्या यह शर्म से डूब मरने वाली बात नहीं होगी? दूसरों की इज़्ज़त उछालते हुए क्या मेरी इज़्ज़त रह जायेगी? इससे देश का अपमान न होगा? अंग्रेज अफसरों को मुंह मांगी मुराद नहीं मिल जायेगी? हमारी अनबन का वे पूरा लाभ नहीं उठायेंगे? फिर, लाइनल फील्डन आम अंग्रेज अफसरों जैसे नहीं थे। वे गांधी जी के भक्त थे, और हिन्दुस्तान की आजादी के सच्चे चाहवान। वे वाइसराय तक को नाराज करके इस ख्याल से मुझे अपने साथ लाये थे कि मेरा व्यक्तित्व आम जी-हुजूरी करने वाले सरकारी कर्मचारियों से कुछ अलग होगा। क्या ऐसे व्यक्ति के विश्वास को तोड़ना उचित होगा?

एक दिन मैं कैन्टीन में काफी पी रहे अपने साथियों के सामने फूट पड़ा, 'हिन्दी के हक मनवाने का बीड़ा उठा कर मैं भी आप लोगों को उतना ही परेशान कर सकता हूं, जितना इस समय आप मुझे कर रहे हैं। नतीजा हम दोनों के लिए बुरा होगा। फायदा होगा तो सिर्फ अंग्रेजों का। हमारी कौमी इज़्ज़त मिट्टी में मिल जायेगी। मैं आपके आगे एक प्रार्थना करता हूं। अगर आप लोग मेरी बेकद्री करना छोड़ दें, बल्कि मेरी मदद करे, तो मैं दिन-रात मेहनत करके थोड़े-से अरसे में ही उर्दू सीख लूंगा। उर्दू मैंने सातवीं जमात तक पढ़ी हुई भी है।'

इस सुझाव का मेरे साथियों पर बहुत अच्छा असर पड़ा। विदेश में प्रत्येक व्यक्ति की राष्ट्रीय भावना जाग उठता है। मेरे साथियों ने महसूस किया कि मैंने अच्छी और सही बात की थी। उसी दिन से उनके साथ मेरे संबंध अच्छे बन गये। सबने दिल खोल कर मेरी मदद करनी शुरू कर दी। दो-तीन महीनों में ही मैं उर्दू में अच्छी तरह अपना काम करने लगा। पूरे चार साल मैं वहां रहा। इस अरसे में कभी एक बार भी

अंग्रेज हमें एक-दूसरे के प्रति न भड़का सके। हमारी आपसी प्यार और भाईचारा दूसरे विभागों के लोगों के लिए भी एक अच्छा उदाहरण बन गया था। वह समय बहुत अच्छा बीत गया।

उर्दू साहित्य का अध्ययन

उर्दू साहित्य का अध्ययन करने से मेरी आंखें खुल गईं। ऐसे लगा, जैसे कोई खोया हुआ खजाना मिल गया हो। मन में समाये सभी वैर-विरोध और गलत धारणाएं खत्म हो गईं। कितना विशाल, कितना गौरववान था उर्दू साहित्य। गालिब की गजलें पढ़ते हुए ऐसे लगता, जैसे मेरी आत्मा पर कोई नया सूर्योदय हो रहा हो। इसी प्रकार अद्वितीय और अविस्मरणीय आनन्द कालेज के जमाने में शैली की रचना 'प्रोमीथियस अनबाउंड' और शेक्सपियर का नाटक 'हैनरी फोर्थ-भाग पहला' पढ़ कर आया था। ऐसी अनुभूतियां जीवन की पूंजी बन जाती हैं।

कितने सुन्दर लगते थे उर्दू कविता में फारसी शब्द! कितनी चुस्ती, कितनी लचक, कितनी शालीनता थी इस भाषा में! हर एक शेर में अर्थ और भाव का एक पूरा संसार सिमटा होता था, जैसे बून्द में सागर समा गया हो। अब तक मैं प्रेमचन्द को हिन्दी का लेखक मानता आया था। तब ज्ञात हुआ कि वे उर्दू लेखक कहलाने के और भी ज्यादा हकदार थे। मुझे विश्वास हो गया कि हिन्दी और उर्दू को अलग-अलग भाषाएं कहना सरासर गलती है। दोनों एक ही भाषा के दो रूप हैं। दोनों एक दूसरे के बिना न जी सकती हैं, न फलफूल सकती हैं। इनके बारे में सही दृष्टिकोण वही है जो प्रेमचन्द का था-दोनों को जानना, दोनों में लिखना, दोनों को लोक-जीवन और बोल-चाल की भाषा के निकट लाना, दोनों को एक-सा प्यार करना। यहां नफरतों को कोई काम नहीं था। उर्दू का अच्छा लेखक बनने के लिए उर्दू का। इस असलियत को नजरअन्दाज करना वैसा ही होगा जैसे कोई आदमी अपनी दोनों आंखें इस्तेमाल करने के बजाय एक आंख बन्द कर ले।

रोज़गार की मजबूरी ने मुझे अपनी दूसरी आंख खोलने का मौका दिया था। लेकिन मेरे साथियों को ऐसी कोई मजबूरी पेश नहीं आई थीं। इस लिए उन्हें अपने अभाव का कोई अहसास नही था। लिखने या बोलने में संस्कृत का कोई आसान-सा शब्द मुझसे इस्तेमाल हो जाता, तो वे नाक मुंह चढ़ाने लगते, और उसका मजाक उड़ाते। उन्हें बिल्कुल यह अहसास नहीं था कि उन्होंने अपनी एक आंख बन्द की हुई थी। उन पर मुझे गुस्सा भी आता, और तरस भी।

हिन्दी और उर्दू शैलियां

अब हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियों में मुझे इकहरेपन और अधूरेपन का दोष नजर आता था। जहां हिन्दी वाले अन्धाधुंध संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते हुए कच्ची और कंकरों भरी खिचड़ी पकाते थे : जिसे ग्रियर्सन ने 'बास्टर्ड मिक्सचर आफ संस्कृत एण्ड बर्ने कुलर' कहा है : वहां उर्दू वाले अपना जोर लताफ़त और मुहावरेबाजी पर जाया कर देते थे, जैसे उनकी नजर में 'क्या कहना है' से अहमियत ज्यादा 'कैसे कहना है' की हो। हिन्दी वाले इस धोखे का शिकार थे कि वे साहित्य को मुस्लिम

सामन्तवादी संस्कारों से मुक्त करा रहे थे। और उर्दू वाले इस वहन के मरीज थे कि जो कुछ भी भारतीय है, वह घटिया है, और जो कुछ फारसी या अरबी द्वारा आया है, उसी में साहित्यिक महानता है।

हिन्दीवालों के इस आरोप में मुझे कुछ सचाई प्रतीत होती थी कि उर्दू साहित्य पतनोन्मुख सामन्तवादी और दरबारी संस्कारों के नीचे दबा हुआ था और जनसाधारण के जीवन से उनका संबंध टूट चुका था। उनका दावा था कि वे इस संबंध को फिर से कायम कर रहे थे।

इरादा बड़ा नेक था, लेकिन उसे पूरा करने का जो तरीका अपनाया गया था, वह बहुत अजीब था। फारसी की जगह संस्कृत के शब्द प्रयोग करके क्या वे भाषा या साहित्य को जनता के निकट ला रहे थे, या उसे और भी पराई और कठिन बना रहे थे? फिर अपने समय में संस्कृत भी तो सामन्तवादी और दरबारी संस्कारों से लदी हुई भाषा थी। आम लोगों में उसे बोलने की योग्यता नहीं थी, यहां तक कि उन्हें उसे बोलने की इजाजत भी नहीं थी। मनु महाराज के कथनानुसार तो रानियों-महारानियों को भी संस्कृत बोलने की इजाजत नहीं थी। कालिदास, भवभूति आदि के नाटक पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसलिए तो महात्मा तो महात्मा बुद्ध ने जनता के निकट होने के लिए संस्कृत के बजाय पाली और प्राकृत को अपनाया था। सो, आजके जमाने में भाषा को जनता के निकट लाने के लिए क्यों संस्कृत की इतनी जरूरत पेश आ गई है?

वैसे, उर्दू भाषा की भी सारी पृष्ठभूमि नवाबी नहीं थी। बादशाहों की फौजें हिन्दुस्तान भर में चक्कर लगाती थीं। उन फौजों के लोग भानुमती का कुनबा होते थे-कोई पठान, कोई राजपूत, कोई तुर्क, कोई हब्शी। मेरठ-दिल्ली के आसपास की बोली में, जिसे खड़ी बोली कहा जाता था, वे लोग अपनी मूल भाषाओं के शब्द इस्तेमाल करके अपना काम चलाते थे। उर्दू का जन्म इसी प्रकार हुआ तो कहा जाता है।

यह लशकरी बोली, जिसके हिन्दवी भी कहते थे, काफी समय तक सभ्य समाज में प्रवेश नहीं पा सकी थी। ब्रज और अवधी ही, जिन्हें आज उपभाषाओं का स्थान दे दिया गया है, उन समय की उन्नत, साहित्यिक भाषाएं थीं। अधिकांशतः उन्हीं में काव्य रचनाएं होती थीं। कवि हिन्दु भी थे और मुसलमान भी। मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पदमावत' की रचना की। उनसे प्रेरणा लेकर तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' लिखना शुरू किया। अमीर खुसरो, रहीम, कबीर, सूरदार, मीराबाई और अन्य कितने ही महान कवि इन भाषाओं में लिखते रहे। यही इस समय का हिन्दी साहित्य था-वास्तविक अर्थों में जनवादी साहित्य।

लेकिन शाही हल्कों में उर्दू को धीरे-धीरे इज्ज़त मिलने लगी थी। अपनी पहले की मातृभाषाओं के साथ रिश्ता कायम रखना नवाबों-बादशाहों के लिए भी मुश्किल होता जा रहा था। उन्हें भी तो हिन्दुस्तान में रहते हुए पुश्ते बीत गई थीं, सो कहां तक तुर्की-फारसी को उठाये फिरते? जब अच्छे कवियों ने वही आनन्द 'खड़ी बोली' में पैदा करके दिखाया, तो उच्च वर्ग की मानसिक भूख पूरी हो गई। उच्च वर्ग की सरपरस्ती

हासिल होते ही खड़ी बोली के लिए उन्नति और विकास के ऐसे नये रास्ते खुल गये, जिनकी कमी कल्पना भी नहीं की गई थी। देखते-देखते फारसी लिपि मेंलिखी जाने वाली खड़ी बोली अमूल्य साहिय से मालामाल हो गई।

शहरों में धीरे-धीरे इस बोली का आम रिवाज हो गया। ब्रज, अवधी आदि भाषाएं घरेलू और देहाती जीवन से जोड़ दी गई। और जब सामान्तवाद के पतन का समय आया तो विलासमय और रूपसारवादी रुचियां उर्दू शायरी का 'सिंगार' बनने लगीं। लेकिन इस दौर में भी सौदा, मीर, आतिश, नजीर, ताबां और दूसरे उच्च कोटि के कवियों ने इस घटिया प्रवृत्ति की ओर से मुंह मोड़कर साहित्य में उत्तम उदार, मानवतावादी मानमर्यादायें कायम रखीं। सच तो यह है कि इन महान कवियों ने राजनैतिक पतन के दौर को साहित्यिक उत्थान का दौर बना दिया। उनकी कविता जन साधारण को हमेशा प्रिय रही है और रहेगी।

गालिब के पत्र, साहित्य और इतिहास का अमूल्य खजाना है। उन्हें पढ़कर मुझे पता चला कि उर्दू के सर्वश्रेष्ठ कवि मिर्जा गालिब को सामन्तवादी व्यवस्था और साहित्य के बनावटी मान-मूल्यों से कितनी नफरत थी। वरतानवी पूंजीवादी सभ्यता, और राजा राममोहन राय जैसे प्रगतिशील विचारकों के सम्पर्क में आने से उनका साहित्यिक दृष्टिकोण बहुत बदल गया था। वे कविता के गहन सामाजिक कर्तव्य के प्रति सचेत हुए थे और नई पीढ़ी के कवियों के लिए नये रास्ते वना गए थे।

कुछ इसी प्रकार की भावना ने ही मिर्जा गालिब के समकालीन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे वर्तमान हिन्दी साहित्य के कर्णधारों को भी प्रेरणा दी होगी। उन्होंने उर्दू से खड़ी बोली और ब्रज-अवधी से नागरी लिपि लेकर दो लोकप्रिय परम्पराओं का सुमेल कराना चाहा होगा।

लेकिन अफसोस, इन प्रगतिशील प्रवृत्तियों को विकसित होने का मौका नहीं मिला। उनके सिर उठाने की देर थी कि बरतानवी साम्राज्य ने उन्हें कुचलना शुरू कर दिया।

लंदन में मेरे एक बहुत विद्वान बंगाली दोस्त थे। वे कभी पिस्तौलबाज इन्कलाबी भी रह चुके थे। एक दिन उन्होंने बहुत महत्वपूर्ण बात बताई।

उन्होंने बताया कि ईस्ट इंडिया कम्पनी का असर-रसूख शुरू में हिन्दुस्तान के तटवर्ती इलाकों में पैर जमाने के बाद ही मध्यवर्ती इलाकों में फैला था। शुरू शुरू में अंग्रेजों को कोई अनुमान नहीं था कि एक दिन वे हिन्दुस्तान के मालिक बन जायेंगे। उनकी नीति व्यापार और छीना-झपटी तक ही सीमित थी। इस दौर में वे हिन्दुस्तानियों के साथ बराबरी का सलूक करते थे। हिन्दुस्तान के 'ऐश्वर्य, सभ्यता और संस्कृति से वे बहुत प्रभावित हुए थे। देश की विभिन्न भाषाओं को वे बड़े शौक से सीखते थे, और अपना रहन-सहन भी हिन्दुस्तानी नवाबों जैसा बनाने की कोशिश करते थे। इस प्रारम्भिक मेल-मिलाप और आदान-प्रदान का नतीजा तटवर्ती इलाकों-बंगाल आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, मालाबार, महाराष्ट्र, गुजरात आदि के लिए बहुत अच्छा निकला। नवीन युरोपीय सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान का प्रभाव ग्रहण करके उनकी अपनी राष्ट्रीय भावना का बहुत विकास हुआ। उनकी भाषाएं, धार्मिक भेदभाव से दूषित हुए बिना अलग-अलग प्रान्तीय भाषाओं के रूप में परवान हो गई।

बर्तानवी सरकार की भूमिका

लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे या चौथे दशक तक सारा हिन्दुस्तान अंग्रेजों के कब्जे में आ गया। अंग्रेजों ने उस पर अपना साम्राज्य स्थापित अंग्रेजों के कब्जे में आ गया। अंग्रेजों ने उस पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। अब, खासकर १८५७ के गदर के बाद, उनके रवैये में इंकलाबी तबदीलियां आई। हिन्दुस्तानियों से बराबरी का सलूक करना वे अपनी शान के खिलाफ समझने लगे। तार, समुद्री जहाजों, और रेल के आविष्कारों ने उन्हें दूर होते हुए भी अपने देश, इंग्लैंड के साथ जुड़े रहने की सहूलियत दी। अपनी साम्राज्यवादी पकड़ मजबूत रखने केलिए उन्होने ऐसी देशव्यापी अफसरशाही का आविष्कार किया, जो जनता की पहूंच से दूर और निर्लिप्त रहकर कमाल की अक्लमंदी और सलीके से शासन-चक्कर चलाये, बाहर से हिन्दुस्तानियों का हितैषी और पालक होने का दिखावा करे, लेकिन अन्दर से साम्राज्यवादी हितों की रक्षा करे। इस प्रकार भारतीय भाषायें और संस्कृतियां नगण्य बन गई, उन सब पर राज्य भाषा, अंग्रेजी की छाया पड़ने लगी। उनके बारे में जो भी फैसले किये जाते, वे बरतानवी हितों को सामने रख कर बड़ी सूक्ष्म दृष्टि, खोज और अनुभव के आधार पर किये जाते।

इस नई परिस्थिति का सबसे गहरा और घातक असर उन प्रान्तों पर पड़ा जो अंग्रेजों के कब्जे में बाद में आये। वे मध्यवर्ती और उत्तरी इलाके थे-उत्तर प्रदेश, पंजाब आदि। इन इलाकों में युरोपीय प्रभाव अभी बिल्कुल नये थे।

बंगालियों द्वारा बंगाली को अपनी साझी प्रांतीय भाषा मानने में अंग्रेजों को कोई संकोच नहीं हुआ था। लेकिन जब पंजाब की भाषा का सवाल आया तो उन्होंने बड़ी दूरदर्शिता से काम लेकर, सिख-राज्य की प्राप्तियों को नष्टभ्रष्ट करने के लिए, पंजाबी के बजाय उर्दू को पंजाब की भाषा माना, क्योंकि पंजाब में मुसलमान बहुसंख्या में थे। इस प्रकार भाषा की समस्या को धर्म से जोड़कर उन्होंने पहले दिन से ही पंजाब के सामाजिक जीवन में साम्पदायिकता के जहरीले बीज बो दिये। पंजाबियों की सांझी कौमियत को नये युग में आंखें खोलने का मौका ही न मिला।

लगभग यही तरीका उन्होंने उत्तर प्रदेश और केन्द्रीय भारत में इस्तेमाल किया। भाषा और संस्कृति की समस्याओं को धर्म के साथ जोड़ कर उन इलाकों में भी उसी प्रकार के गुल खिलाये। गदर के बाद, बीस वर्ष तक मुसलमानों को कुचला और हिन्दुओं को ऊपर उठाया। हिन्दुओं के सामने यह प्रकट किया कि उनकी अधोगति का मूल कारण अंग्रेज नहीं बल्कि म्लेच्छ मुसलमान हैं, जिन्होंने भारत की महान और संसार की सबसे प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को भ्रष्ट किया था। फारसी लिपि और फारसी शब्द वास्तव में हिन्दू समाज की गिरावट और गुलामी के चिन्ह थे। हिन्दुओं का अपना सच्चा विरसा था-आर्यकाल, अर्थात देव भाषा संस्कृत, और देव लिपि नागरी, जिन में कि वेदों और शास्त्रों की रचना हुई थी। संस्कृत ही यूरोप की भाषाओं का भी मूल

स्रोत थी। सो, अगर हिन्दू जाति अपने गौरवमय अतीत को पहचाने तो भारतवर्ष फिर से एक महान देश बन सकता है। हिन्दुओं को अपना चरित्र उस जमाने के आदर्शों के अनुसार ढालने की जरूरत है, जब भारत मुस्लिम प्रभावों से मुक्त था। इस काम में अंग्रेजों ने हिन्दुओं को अपनी पूरी सहायता देने का वचन दिया।

फिर सन १८७० के बाद, जब हिन्दुओं को प्रोत्साहन देने का सौदा महंगा पड़ता दिखाई दिया तो बरतानवी साम्राज्य ने बहुसंख्यक हिन्दुओं के उलट अल्प संख्यक मुसलमानों के सहायक और रक्षक होने का रोल अदा करना शुरू कर दिया। उन्होंने जिस प्रकार हिन्दुओं की कल्पना को वैदिककाल की ओर दौड़ाया था, वैसे ही मुसलमानों के विचारों का रुख करबला और काबा की ओर मोड़ना शुरू किया। उन्होंने बताया कि मुसलमानों के लिए हिन्दुस्तान को अपनी जन्मभूमि के रूप में नहीं, बल्कि अपने खोये हुए राज्य के रूप में देखना अधिक स्वाभाविक है। उनका वास्तविक भावात्मक संबंध उस धरती से होना चाहिए, जहां दीने-इस्लाम अस्तित्व में आया था। उन्होंने हिन्दुस्तान को अपनी अलौकिक महानता और बाहु-शक्ति से जीता था। सो, यहां वे गुलाम बन कर नहीं रह सकते; खासकर उन काफिरों के गुलाम बनकर, जो कल तक उनके अपने गुलाम थे। फारसी और अरबी लिपि और शब्दावली इस्लामी महानता और गौरव की निशानी हैं। मुसलमान मरते दम तक उनकी रक्षा करते रहेंगे।

इन परिस्थितियों में 'हिन्दूकौम' और 'मुस्लिम कौम' के नामुराद सिद्धान्त का पैदा होना कोई अनोखी बात नहीं थी। दो कौमों के सिद्धान्त को जन्म देने का सेहरा मिस्टर जिन्ना के सिर पर बांधना अन्याय है। इसका आविष्कार सब से पहले बंकिम बाबू के जमाने में बंगाल के सुशिक्षित हिन्दू मध्य वर्ग में हुआ था। 'हिन्दू कौम' और 'हिन्दू राष्ट्र' के निर्माण की घोषणाएं सब से पहले इसी वर्ग के लोगों ने शुरू की थीं।

सच तो यह है कि बंगाल और महाराष्ट्र के आतंकवादी क्रांतिकारी भी इस संकुचित और साम्प्रदायिक मनोवृत्ति से मुक्त नहीं थे। बंगाल के क्रांतिकारियों की सबसे बड़ी गुप्त संस्था, 'अनुशीलन समिति' के विधान में साफ लिखा गया था कि मुसलमान एक घटिया कौम है। 'समिति का आदर्श हिन्दू जाति का राज्य स्थापित करना है। क्रांतिकारियों को मुस्लिम म्लेच्छों से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। यद्यपि उनके साथ बुरा व्यवहार नहीं करना चाहिए, लेकिन फिर भी उनसे दूर ही रहना चाहिए।' वीर सावरकर और वादी भी थे। इस में उन्हें कोई अन्तर्विरोध दिखाई नहीं देता था। हिन्दू महासभाई आन्दोलन बहुत हद तक इसी प्रकार की विचारधारा का परिणाम है।

मुझे अपने बंगाली दोस्त की इस बातों में काफी सचाई दिखाई दी, और अपने दिमाग की कई गांठें खुलती हुई प्रतीत हुईं। अब मुझे अहसास हुआ कि मैं टैगोर और गांधी जी के दृष्टिकोणों को समझने में क्यों असमर्थ रहा था। वे हिन्दुस्तान के तटवर्ती इलाकों में जन्मे-पले थे। उनके दिल में अपनी मातृभाषा और संस्कृति सम्बन्धी संस्कार स्वाभाविक ढंग से प्रफुल्लित हुए थे, औरं सच्ची राष्ट्रीयता की ओर विकास कर रहे थे। लेकिन मैं शुरु से ही साम्प्रदायिक संस्कारों में पला था। पंजाबियन और हिन्दुस्तानियत, दोनों के बारे में मेरे विचार अधूरे और विकृत थे। मातृभाषा और राष्ट्रभाषा सम्बन्धी उन महापुरुषों का दृष्टिकोण यथार्थवादी और सही था। लेकिन मैं अर्थ का अनर्थ कर

रहा था। किसी ने सच कहा है कि 'जिस का दिमाग गुलाम हो जाये, उससे बड़ा दुनिया में और कोई गुलाम नहीं है।'

पंजाब की स्थिति और मेरे संस्कार

मैं अपने अन्दर गहराई से देखने के लिए मजबूर हुआ। मैं सोचने लगा कि पंजाबी होते हुए मैं हिन्दी में क्यों लिखता हूं। इसका कारण मेरे सामने आया। मेरे पिता जी आर्यसमाजी थे। उन्होंने खुद हिन्दी कभी नहीं सीखी थी, न ही वे संस्कृत जानते थे। उनकी धार्मिक पत्रिका, 'आर्य गजट' भी हर हफ्ते उर्दू में छप कर आती थी। हिन्दू-हितों के रक्षक 'मिलाप' और 'प्रताप' समाचार-पत्र भी उर्दू में ही अपनी नफरत उगलते थे।

मेरे पिताजी की उर्दू की लिखावट कातिबों की लिखावट को मात करती थी। फारसी भी वे खूब जानते थे और उसे दिल से प्यार करते थे। 'गुलिस्तां' और 'बोस्तां' के हवाले दे कर हमें उपदेश देने का उन्हें खास शौक था। फिर भी, अपनी सन्तान को उर्दू और फारसी की शिक्षा देना उन्हें अच्छा नहीं लगा। मुझे पहले-पहल स्कूल में दाखिल कराने के बजाए उन्होंने एक गुरुकुल में डाला जहां पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्र उसी प्रकार रटाये जाते थे, जैसे मस्जिदों में मौलवी बच्चों को कुरान शरीफ़ की आदतें रटाते थे।

मेरे पिताजी के चरित्र में अजीब किस्म के अन्तर्विरोध थे। हमारे मोहल्ले में हिन्दुओं-सिक्खों के चार-पांच घरों को छोड़कर बाकी सब मुसलमानों के घर थे। अपने पड़ोसी मुसलमानों के साथ पिताजी का बहुत गहरा और सच्चा प्यार था। लेकिन घर की चारदीवारी के अन्दर वे हमेशा मुसलमानों की निन्दा करते। उनके लिबास, खुराक, रहन-सहन, रीती रिवाज-सब की कटु आलोचना करते। उन्हें इस बात का कोई अनुमान नहीं था कि हमारे कोमल दिलों में इस किस्म की आलोचना का कितना गहरा असर पड़ सकता है, और हमारी अपनी दोस्तियां किस हद तक खराब हो सकती हैं। स्कूल और कालेज के जीवन में मैं जब भी मुसलमान लड़कों से दोस्ती करता, यह संस्कार मेरे और उनके बीच में हमेशा एक अदृश्य-सी दीवार बन जाते, जिसे हजार कोशिशें करने पर भी मैं तोड़ न सकता। मेरी दोस्तियों को ग्रहण-सा लग जाता। उर्दू को दिल से प्यार करने पर भी, मेरे पिताजी उसे घटिया भाषा कहते। हिन्दी-संस्कृत न जानते हुए भी वे उन भाषाओं की प्रशंसा में झूमने लगते। इससे उन्हें धार्मिक तृप्ति मिलती।

इस पृष्ठभूमि के सामने मैं कैसे कह सकता था कि मेरा हिन्दी में लिखना एक स्वाभाविक कर्म था? मैं समझता हूं कि यदि कृशनचन्दर के पिता के दिल में भी वहीं अन्तर्विरोध होता, तो वे भी उर्दू के बजाय हिन्दी के लेखक बनते। पता नहीं, राजेन्द्रसिंह बेदी के पिता के अन्तर्विरोध कैसे थे कि सिक्ख होते हुए भी पंजाबी लेखक न बन सके। अजीत गोरखधंधा था यह मेरी पीढ़ी के बुद्धिजीवियों के लिए!

मैंने देखा कि मानसिक तौर पर साम्प्रदायिकता से स्वतंत्र होने पर भी मेरे लिए उससे छुटकारा पाना मुश्किल था, क्योंकि उस की जड़े मेरे अचेतन मन में फैली हुई थीं। उर्दू को घटिया, पराई और अपवित्र भाषा समझने के संस्कार होश सम्भालने से पहले ही मेरे मन में बो दिये गये थे।

सो, हैरानी की क्या बात है, अगर मेरे बी०बी०सी० के साथियों के मनों में भी हिन्दी के विरुद्ध इतने ही गहरे संस्कार भरे हुए थे! वे हिन्दी को इसलिए नफरत नहीं करते थे कि वह बुरी थी, बल्कि इसलिए कि उसमें से उन्हें हिन्दुपन की बू आती थी। इसके बावजूद वे खुद को साम्प्रदायिकता से बिल्कुल मुक्त समझते थे।

शुक्र है ईश्वर का कि कम से कम मेरे अपने विचार गुलामी से छुटकारा पा गए थे। अब मैं न हिन्दी को कभी दो भाषाएं मानने के लिए तैयार था, न ही राष्ट्रभाषा के मुकाबले में अपनी मातृभाषा को घटिया समझने के लिए ही तैयार था।

इस बात का सबूत मुझे कदम-कदम पर मिलने लगा कि उर्दू-हिन्दी मेरे लिए पराई भाषा है। मैं अपने लहजे में से 'पंजाबियत' को निकालने की काफी कोशिश करता था, लेकिन फिर भी यू०पी०वालों के सामने बोलते हुए मेरी जबान को जैसे ताला लग जाता था। यही हालत मैं उर्दू जानने वाले अपने दूसरे पंजाबी साथियों की देखता था। मैं तो खैर उर्दू के क्षेत्र में फिर भी नया था, लेकिन मेरे दूसरे साथियों की तो उम्रें गुजर गई थीं। लिखते या माईक पर बोलते समय वे दिल्ली-लखनऊ के अच्छे से अच्छे विद्वानों और वक्ताओं को मात कर देते थे, लेकिन जब कभी उनके साथ मिलकर बैठते तो बहुत सम्भल-सम्भल कर मुंह खोलते। अपनी शर्म को छिपाने के वे कई तरीके जानते थे, जिन्हें यू०पी०वाले तो न भांप सकते, लेकिन मैं घर का भेदी, झट भांप जाता। मैं यह भी देखता कि उन्होंने मुझे भांपते हुए देख लिया है। लेकिन इस असलियत को हम एक दूसरे के सामने कबूल नहीं करते थे। मेरे साथियों को यू०पी०वालों के सामने पंजाबी भाषा के उच्चारण और संस्कृति का मजाक उड़ाने में भी कोई शर्म महसूस नहीं होती थी, लेकिन अब मेरे अन्दर गर्व जाग उठा था। आखिर इस हीन भाव की क्या जरूरत है? मैं सोचता। हम पंजाबी आपस में तभी पूरी तरह खुलते, जब कोई भी अंग्रेज या यू०पी०वाला हमारे बीच में न होता। तब हमारा रंग और ही होता। ऐसे मौकों पर यू०पी० वालों या अंग्रेजों का मजाक उड़ा कर हमें खास तौर पर मजा आता, जैसे कि मालिक की पीठ के पीछे नौकर उसकी नकलें उतारने लग जाते हैं। हमारे मन का बोझ उतर ही जाता।

मार्क्सवादी विचारधारा

लंदन में जो एक और प्रभाव मुझ पर पड़ा, उसका उल्लेख करना भी जरूरी है। वह था मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव। जब सिर पर बम बरस रहे हों तो आदमी खुद को राजनीति से दूर नहीं रख सकता। वह जानना चाहता है कि यह बम क्यों बरस रहे हैं, लड़ाइयां क्यों होती हैं और मानवीय मूल्यों का जनाजा क्यों निकलता है। यद्यपि मैंने मार्क्स या लेनिन की कोई पुस्तक नहीं पढ़ी थी, फिर भी जज्बाती तौर पर मैं मार्क्सवादी सिद्धांत के बहुत निकट आ गया था।

युद्ध समाप्त होने से लगभग एक साल पहले मैं हिन्दुस्तान लौट आया, और बम्बई में फिल्मों में काम करने लगा। देश की हालत बड़ी हंगामी थी : सबसे बड़ी तबदीली यह देखने में आ रही थी कि गांधी जी का हिन्दु-मुस्लिम एकता का सपना

टूटने पर आया हुआ था। मुसलमान बड़ी तेज़ी से कांग्रेस छोड़कर लीग के झंडे के नीचे जमा हो रहे थे। अब खुलेआम हिन्दी हिन्दुओं की और उर्दू मुसलमानों की भाषा बनती जा रही थी।

कम्युनिस्ट पार्टी, कांग्रेस और लीग दोनों को मिलाकर अंग्रेजों से टक्कर लेने के लिए ललकार रही थी। इस बात का जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ रहा था, क्योंकि आजादी की तड़प हर किसी के दिल में बहुत तीखी थी। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का दुरुपयोग नहीं हो रहा था। कम्युनिस्ट पार्टी और मुस्लिम लीग के दृष्टिकोणों में जमीन-आसमान का फर्क था, लेकिन पार्टी के, मेरे जैसे, राजनैतिक तौर पर अनपढ़ और अपरिपक्व कर्मचारी जब इन्कलाबी जोश में आकर अपने विचारों का प्रचार करते तो यह फर्क धुंधला पड़ जाता। ऐसे लगता, जैसे कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस और लीग दोनों को एक ही गज़ से नाप रही हो। पार्टी का नारा था : 'आजाद हिन्दुस्तान में आज़ाद पाकिस्तान।' लेकिन कांग्रेस के हिमायतियों को ऐसे लगता, जैसे कम्युनिस्ट भी लीग की तरह देश के बंटवारे का समर्थन कर रहे हों। ख्वाजा अहमद अब्बास जैसे बुद्धिमान व्यक्ति इस अस्पष्टता के खतरों से परिचित थे और इस बारे में कामरेडों की सख्त आलोचना करते थे। लेकिन जज्बात की बाढ़ में मैं इन बारीकियों को नजर-अंदाज कर छोड़ता। मैं सोचता कि पार्टी का सारा ज़ोर जनता की एकता, और साम्राज्यवाद के खिलाफ सांझा मोर्चा बनाने पर लग रहा है। जब इरादा नेक है तो उसका नतीजा बुरा कैसे हो सकता है?

हां, लेकिन जब मैं 'प्रगतिशील लेखक संघ' की बैठकों में आता तो मेरा दिल बैठ सा जाता था। मैं देखता कि यहां भी हिन्दी और उर्दू के सवाल पर लेखक दो हिस्सों में बंट रहे थे। मैं सोचता कि मार्क्सवादियों का काम है, इस नकली भेद की दीवार तोड़ना, न कि उसे परवान करना।

आखिर, जो किस्मत को मंजूर था, वही होकर रहा। धर्म के नाम पर देश का भी बंटवारा हुआ और जबान का भी। पंजाब और उत्तर प्रदेश, दोनों जगह, जहां बरतानवी साम्राज्य सांझी भाषा और संस्कृति के विकास को रोकने में ज्यादा सफल हुआ था, हैवानियत के सबसे ज्यादा घृणित करिश्मे देखने में आये। बंटवारा बंगालियों का भी हुआ था, वे आपस में लड़े भी थे, अल्प संख्यक लोगों पर वहां भी कम जुल्म नहीं हुआ था, लेकिन सांझी भाषा और संस्कृति ने आंख की शर्म किसी हद तक कायम रहने दी थी। वे बिल्कुल ही भूल नहीं गये थे कि वे मनुष्य हैं, हैवान नहीं।

देश के बंटवारे ने मुझे महसूस कराया कि पराई शह पर मूंछें मुंडवाने के शौक में हम पंजाबियों ने ख्वाहमख्वाह अपना घर बरबाद कर लिया है। हमने अपने सदियों से चले आ रहे रिश्तेनाते तोड़ डाले, और एक दूसरे के लिए पराये बन गये। मेरा हिन्दी-उर्दू को अलविदा कह कर अपनी मातृभाषा की शरण में आने का अंतिम कारण यही अहसास था। मुझे पता था कि हिन्दी और उर्दू दोनों क्षेत्रों में पहली कतार के लेखक पंजाबी थे - कृशन चन्दर, फैज अहमद 'फैज', यशपाल, मंटो। यह सभी प्रसिद्धि

की चोटी पर पहुंचे हुए थे। लेकिन ऐसी प्रसिद्धि की अब मेरी नजर में कोई कीमत नहीं रह गई थी।

आज की स्थिति

आज बीस वर्ष हो गये हैं इस बात को। मुझे अपने फैसले पर तनिक भी अफसोस नहीं हुआ है। बल्कि मैंने इससे सच्ची रुहानी आजादी का स्वाद चखा है। पूरी आजादी से सोचने, लिखने और पढ़ने का ढंग सीखा है। अपने पंजाबी लोगों को प्यार और इज़्ज़त की नजर से देखने लगा हूं, इसलिए सारे हिन्दुस्तान के लोगों को जानने और उनके साथ प्यार बंटाने का चाव दिल में जाग उठा है। हिन्दी में सिर्फ कहानियां लिखकर खुश था, अब पंजाबी में कविता, नाटक, उपन्यास और अन्य कई क्षेत्रों में हाथ आजमाने लगा हूं। जरूरत पड़ने पर मैं दूसरी भाषाओं से शब्द लेने में संकोच नहीं करता। कभी बंगाली से लेता हूं, कभी गुजराती-मराठी से, कभी हिन्दी-संस्कृत से, और कभी उर्दू-फारसी से। यहां तक कि अंग्रेजी से लेने में भी संकोच नहीं होता। ईश्वर ने चाहा तो कभी तमिल और मलयालम से भी लेने लगूंगा।

इस व्यक्तिगत अनुभव ने ही नहीं, बाहरी घटनाओं ने भी मेरे फैसले की पुष्टि की है। इन बीस वर्षों में साम्प्रदायिक विरोध के बावजूद, पंजाबी भाषा हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं की तरह, अपना अधिकार प्राप्त कर पाई है। और पाकिस्तान से आने वाली खबरें भी इसी प्रकार की अच्छी सम्भावना का संदेश ला रही है।

उर्दू पाकिस्तान की किसी भी कौम की मातृ-भाषा नहीं है। उर्दू के हिमायती बनने से पाकिस्तानी पंजाबियों को आर्थिक लाभ बेशक हुआ हो, लेकिन रुहानी नुकसान बहुत बड़ा झेलना पड़ा है। न सिर्फ उनके कलात्मक और सांस्कृतिक विकास में रुकावट पड़ी है, बल्कि अपने राष्ट्रीय भाईचारे में भी वे ईर्ष्या और द्वेष के पात्र बने हैं। यह खुशी की बात है कि उर्दू सारे पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा बने। लेकिन उसकी असली टकसाल दिल्ली-लखनऊ ही है, और वही रहेगी। इस असलियत को दुनिया की कोई ताकत नहीं बदल सकती। और न ही पाकिस्तान में उर्दू पंजाबी को हमेशा के लिए उसके अपने घर में बेघर कर सकती है।

भाषा को धर्म के साथ जोड़ने की नापाक साम्राज्यवादी साजिश को पाकिस्तान में बंगालियों ने और हिन्दुस्तान में तमिलनाडियों ने करारी चोट लगाई है।बंगाली मुसलमानों ने उर्दू को स्वीकार करने से इन्कार करके उसके इस्लामी भाषा होने का दावा हमेशा के लिए रद्द कर दिया है। इसी प्रकार तमिलनाडु के हिन्दुओं ने हिन्दीको सब हिन्दुओं की भाषा न मान कर इस दकियानूसी सिद्धान्त का जनाजा निकाल दिया है। यह समय की जीत है। इस पर किसी लोकवादी देशभक्त को अफसोस नहीं करना चाहिए, बल्कि शुक्र मनाना चाहिए कि साम्प्रदायिक जहर किसी हद तक हमारे अन्दर से खारिज हुआ है। इस जहर से पूरी तरह छुटकारा पाकर ही हम देश के सामने आई किसी गम्भीर समस्या का हल खोज सकते हैं।

उपरोक्त घटनाओं ने मेरा यह विश्वास भी दृढ़ कर दिया है कि पाकिस्तान की कौमी जवान या हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा बनने से पहले उर्दू-हिन्दी को, बंगाली या पंजाबी

की तरह, किसी विशेष इलाके या जाति की मातृभाषा बनना पड़ेगा। आज नहीं तो कल, समय यह असलियत भी मनवा कर रहेगा।

खड़ी बोली

हिन्दी-उर्दू का मूल आधार है, खड़ी बोली। ब्रज, अवधी, गढ़वाली, राजस्थानी, छत्तीसगढ़ी, भोजपुरी, मैथिली, मधई आदि अनेकों बोलियां इसकी उपभाषाएं बन कर रह गई हैं। इनमें कितनी वास्तव में उपभाषाएं हैं और कितनी पंजाबी की तरह स्वतंत्र भाषायें, यह अभी नहीं कहा जा सकता। लेकिन खड़ी बोली की ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टिगोचर करते हुए इतना जरूर कहा जा सकता है कि मेरठ से लखनऊ तक का इलाका-हरियाणा, ब्रज और अवध-अवश्य ही इस भाषा का प्रामाणिक इलाका है। दिल्ली और लखनऊ ही इसके टकसाली केन्द्र हैं। यहीं के लोगों की यह मातृभाषा है। यहीं के लोग इसे सबसे ज्यादा अच्छे और सुन्दर ढंग से बोलते हैं। इसकी रूपरेखा, उन्नति और विकास के बारे में यहीं के लोगों को फैसले करने का अधिकार है। जब तक इस प्रदेश के लोग अपना यह अधिकार और कर्तव्य नहीं पहचानेंगे, तब तक इस भाषा की दुर्दशा ही होती रहेगी। यह 'गरीब की जोरू सब की भाभी' ही बनी रहेगी।

जिस प्रकार की हिन्दी में आकाशवाणी से समाचार प्रसारित किये जाते हैं, उसे सचमुच भाषा की दुर्दशा ही कहा जा सकता है। ऐसी शिखंडी भाषा जो खुद समाचार सुनाने वाले के मुंह से मुश्किल से निकलती है, कभी पूरे हिन्दुस्तान के लोगों की जबान पर चढ़ पायेगी-ई ख्याल अस्तो मुहाल अस्तो, जनून अस्त।

उत्तर प्रदेश वालों की मातृ भाषा की फिल्में बम्बई के स्टुडियों में बनती हैं, जहां के घटिया वातावरण से तंग आकर मुंशी प्रेमचन्द छः महीने और अमृत लाल नागर कुछ वर्षों के अन्दर ही भाग खड़े हुए थे। या फिर फिल्में बनती हैं मद्रास में, जहां के लोग हिन्दी को सौ जूतेमार कर एक गिनते हैं। ऐसी हालत में उन फिल्मों के घटिया होने पर हैरानी क्यों? मजे की बात तो यह है कि जितना किसी हिन्दी फिल्म का स्तर घटिया होगा, उतनी ही ज्यादा उसके उत्तर प्रदेश में सफल होने की सम्भावना बढ़ेगी। बंगालियों ने शरतचन्द्र की कोई कृति फिल्माये बिना नहीं छोड़ी। लेकिन प्रेमचन्द की अधिकांश रचनाएं अभी तक वैसी हीधरी पड़ी हैं। हिन्दी तो सारे देश की भाषा है! सो उत्तर प्रदेश वाले इस भाषा में फिल्में बनाने का कष्ट क्यों करें? उन महानुभावों का काम तो बस रह जाता है, आलोचना करना और यह बताना कि फिल्मों की भाषा किस हद तक 'हिन्दी प्रधान' है और किस हद तक 'उर्दू प्रधान'। सम्मान-हीनता का इससे ज्यादा अच्छा उदाहरण किसी अश्लील चुटकुले में ही खोजा जा सकता है।

यही हाल तटवर्ती इलाकों की भाषाओं के मुकाबले में हिन्दी साहित्य, लोक कलाओं और रंगमंच का है। यही दयनीय हालत उनकी खेती-बाड़ी और उद्योग-धन्धों की है। हिन्दुस्तान का सब से उपजाऊ और प्रकृति की विभिन्न प्रकार की देन से भरपूर इलाका होते हुए भी उत्तर प्रदेश पिछड़ेपन और दीनता का उदाहरण बना हुआ है।

दिल्ली, मथुरा, आगरा, बनारस, लखनऊ कितने जादू भरे नाम हैं! उन्हें याद करते ही क्या-क्या चित्र आंखों के सामने साकार हो उठते हैं? लेकिन अब ऐसे लगता

है, जैसे इस प्रदेश की भाषा की तरह इस प्रदेश के शहरों का भी अपना व्यक्तित्व समाप्त हो गयाहै। इनकी सांझी हिन्दु-मुस्लिम सभ्यता, संस्कृति, रहन-सहन आदि की कोमल विशेषताएं भी साम्प्रदायिकता की भट्टी में जल कर राख हो गयी हैं। कहा जाता है न कि काजी जी दुबले क्यों हुए? शहर के फिक्र में! उत्तर प्रदेश वासियों ने राष्ट्र का प्रतीक बनने के आडम्बर में पड़ कर अपनी सांस्कृतिक कद्रें-कीमतें ही गवां दी हैं, और वे पिछड़ेपन के अंधे कुएं में गिर पड़े हैं। उन्होंने अपने रत्नागारों के सभी दरवाजे ऐसे लुटेरों के लिए खोल रखे हैं, जिन्हें उनकी कोई कद्र-कीमत नहीं है। वे इस ओर ध्यान तो तब दें, जब उन्हें घरेलू नफरतों से फुर्सत मिले!

टैगौर ने ठीक ही कहा था कि हम सारे हिन्दुस्तान को तभी पहचान सकते हैं, अगर पहले अपने प्रान्त को पहचानें। सारी मनुष्यता को वही व्यक्ति प्यार कर सकता है जो पहले अपने घर के लोगों को, अपने पड़ोसियों को प्यार करे। जिसे खुद से प्यार नहीं, वह पराये लोगों को प्यार क्या करेगा?

हमारा देश अनेक कौमियतों का सांझा परिवार है। वह तभी उन्नति कर सकता है, अगर हर एक कौम अपनी जगह संगठित और सचेत हो, और अपनी जगह भरपूर मेहनत और उद्यम करे। सब कौमों के समान अधिकार हों। कोई एक-दूसरी से ज्यादती न करे। जैसे हर कौम, वैसे ही हर व्यक्ति समान अधिकार रखने वाला हो-आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक। भारतीय एकता और उन्नति का संकल्प लोकवाद और समाजवाद के आधार पर ही किया जा सकता है, न कि बड़ी मछली छोटी मछली को हड़प करने का अधिकार दे कर।

जो लोग देश की एकता की खातिर 'एक देश, एक भाषा' की रट लगाये रहते हैं, उन्हें पाकिस्तान के तजरूबे से सबक सीखना चाहिये। यह एकता का रास्ता नहीं, बल्कि पिछड़ेपन, लूट-खसोट और साम्राज्यवादी मोहताजी का रास्ता है। एकता प्राप्त करने के लिए पहले अनेकता का मोल आंकना होगा। कवि ने ठीक ही कहा है :

चमन में इख्तलाते रंग ओ बू से बात बनती है।
हमीं हम हैं तो क्या हम हैं, तुम्हीं तुम हो तो क्या तुम हो?

मध्य युगीन साहित्य

हिन्दी लेखक के बजाय जब मैं पंजाबी लेखक बना तो मेरे विचार 'वैदिक काल' की ओर छलांगे लगाना छोड़कर उस युग की ओर लौटे, जिसमें भारत की वर्तमान भाषाओं, लिपियों, कौमियतों और संस्कृतियों का जन्म हुआ था- अर्थात वही बदनाम मध्य युग, जिसमें मुस्लिम-म्लेच्छ संस्कार हिन्दु संस्कृति में सम्मिलित होने शुरु हुए थे। घर की शिक्षा और स्कूल कालेज में पाई शिक्षा के प्रभाव में मैं इस युग को अंधकारमय और उधोगति का जमाना समझता आया था, और भक्ति-लहर के कवियों और संतों-सूफियों को केवल निराशा फैलाने वाले देहाती कवि, बैरागी और छायावादी मानता था। लेकिन जब मैंने अपनी भाषा के प्राचीन साहित्य का अध्ययन किया तो पता लगा कि असलियत कुछ और ही थी।

इस्लाम का जन्म अरब में हुआ था, लेकिन हमारे देश पर अरबों ने कभी राज्य नहीं किया। ग्यारहवीं सदी के आसपास उन्होंने सिर्फ एक हमला सिन्ध पर किया था और लगभग एक साल मुलतान तक का इलाका उनके कब्जे में रहा। फिर वे वापस चले गए। इस हमले का जिक्र इतिहासकार बड़ी इज्जत से करते हैं, क्योंकि इस छोटे से अरसे में ज्ञान-विज्ञान का जो आदान-प्रदान अरबों और भारतीयों के बीच में हुआ, उससे सारे संसार को लाभ पहुंचा। अरब वाले हिन्दुस्तान से गणित की दशमलव प्रणालीले गये, और फिर वह यूरोप में भी प्रचलित हुई। आज सारा संसार उसका प्रयोग कर रहा है। इसी तरह, वे पंचतंत्र की कहानियां, उपनिषद और पता नहीं अन्य क्या कुछ ले गये। अरबों की नजर में भारत की सभ्यता-संस्कृति की कितनी कद्र थी, यह बात तेरहवीं सदी के एक अरबी इतिहासकार, अबुल-कासिम सायद-बिन-अहमद के कथन से स्पष्ट हो जाता है। यह विद्वान मूर-शासन-काल में स्पेन में रहता है। वह लिखता है

'संसार के सभी प्राचीन देशों में हिन्द ज्ञान और विज्ञान में सब से आगे है। न्याय और उत्तम राजनीति का वह प्रकाश केन्द्र है।

'हिन्द के लोग बड़े सुशील, बुद्धिमान और ऊंचे विचारों वाले हैं। उन्होंने मानव जाति के लाभ के लिए प्रत्येक क्षेत्र में उच्च स्तर कायम किये हैं। ईश्वर ने उन्हें सफेद चमड़ी वाली कौमों के मुकाबले में ज्यादा ऊंची अक्ल दी है।

'हिन्दी के लोग नम्र और सभ्य है। उन्होंने अंक विद्या, गणित विद्या और नक्षत्र विद्या में कमाल हासिल किया है। औषधि-शास्त्र और चिकित्सा शास्त्र के भी वे विशेषज्ञ हैं। वे एक ही ईश्वर में विश्वास रखते हैं।

१ से ९ तक के अंक, शून्य के साथ, हमें हिन्द से ही हासिल हुए हैं। गणित में इन अंकों का प्रयोग हिन्द के लोगों की अदभुत विचार-शक्ति की पैदावार है .....

अद्वैतवाद की परम्परा

'वे एक ही ईश्वर में विश्वास रखते है' - इस वाक्य पर ध्यान देने की जरूरत है। इसका संकेत हमारे उपनिषद-दर्शन शास्त्र की सर्वोत्तम देन, अद्वैतवाद की ओर है, जो कि मध्य युगीन भक्ति-लहर का मूल स्रोत माना जाता है। सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म का रुप है। वह सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, अजर, अमर, अनादि, अनन्त, निराकार, सृष्टि को जन्म देने वाली शक्ति, जो निरन्तर गति और निरन्तर विकास प्रदान करती है, जो सृजन करती है, पालन करती है और संहार भी करती है। सत, चित और आनन्द उनके गुण है। सभी जड़ और चेतन पदार्थ उसके गर्भ में से प्रसूत होते हैं, और उसी में विलीन हो जाते हैं। जीव की आत्मा का परमात्मा से बून्द और सागर वाला रिश्ता है। या यह कहा जाये कि पंच भौतिक शरीर धारण करके जीव विरह की अवस्था में आ जाता है। लेकिन इस अवस्था में भी अपने प्रियतम, अर्थात ब्रह्म, के साथ जुड़ कर अनन्त सुख प्राप्त कर सकता है। सभी जीवों में ब्रह्म है। इसलिए किसी को अकारण कष्ट नहीं देना चाहिए। मनुष्यों से प्यारा और उदारता भरा व्यवहार करना चाहिए।

किसी भी विचारधारा या धर्म के साथ द्वेष नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह सभी ब्रह्म का ही रूप हैं।

डा० राधाकृष्णन के कथनानुसार इस दार्शनिकता का एक हानिकारक पक्ष भी था, जिसके कारण भारतीय संस्कृति अच्छाइयों के साथ बुराइयों को भी अपने आंचल में समेटती चली गयी। (आखिर सब कुछ ब्रह्म का ही तो रूप था!)। अत्यधिक उदारता के कारण अद्वैतवाद का क्रांतिकारी मूल-गुण खो गया। लेकिन फिर भी दर्शनशास्त्र में अद्वैतवाद का बहुत ऊंचा स्थान है। निःसन्देह यह अपने समय का सर्वोत्तम दर्शन था। इतिहास के प्रत्येक पड़ाव पर अद्वैतवाद ने किसी रूप में हमारे समाज को हाथ देकर गिरावटों से बचाया है। भगवत गीता, बुद्ध और महावीर की शिक्षा, शंकराचार्य, नानक, कबीर, तुकाराम, ज्ञानेश्वर और वर्तमान युग में विवेकानन्द टैगोर और महात्मा गांधी-सबकी विचारधारा में उपनिषदों का चिन्तन किसी न किसी रूप में मौजूद था। भारतवासियों ने हमेशा नये प्रभावों और नये लोगों को अंगीकार करके अपनी सभ्यता-संस्कृति के प्रवाह को अटूट रखा है। इस बात पर संसार को आश्चर्य होता है। मेरे ख्याल में इसका रहस्य ज्यादातर उपनिषदों की शिक्षा में ही छिपा हुआ है।

ईरान और अरब के सूफीवाद के साथ अद्वैतवाद और वेदान्त के प्राचीन काल के सम्बद्ध रहे हैं। इन्हीं सम्बन्धों ने हमारे देश में इस्लामी और हिन्दू विचारधाराओं के टकराव को एक सुमेल और संगम में बदल दिया, जो इतिहास की एक अदभुत और अपूर्व घटना है। इस संगम में बदल दिया, जो इतिहास की एक अदभुत और अपूर्व घटना है। इस संगम में से ही, सांस्कृतिक पुनर्जागृति की भांति भक्तिलहर की धारा विभिन्न दिशाओं में बहने लगी थी। अनेकों सूफी दरवेश हमेशा के लिए हिन्दुस्तान में बस गये। सिन्धियों को अरबी लिपि उन्हीं की देन है, जो उन्हें इतनी प्रिय है कि बंटवारे के बाद अपना सब कुछ लुटा कर आये हुए हिन्दू सिन्धी भी उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। शाह रसूल और शाह लतीफ को अब भी वह सीने से लगाये हुए हैं।

अरबों ने हिन्दुस्तान पर शासन नहीं किया, लेकिन हमारे साथ उनके व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध के पश्चिमी तट पर आकर उतरते और फिर वहीं बस जाते। केरल के मोपला लोग इन्हीं अरब जहाजरानों की सन्तान हैं। केरल की भाषा में 'मोपला' शब्द का अर्थ है, 'दूल्हा'। अरबवासी अपनी स्त्रियों को साथ लेकर नहीं आते थे। वे यहीं शादियां करते और यहीं के हो कर रह जाते थे। इसीलिए उनका नाम मोपला पड़ गया। गुजरात, कोंकण, कन्नड़, केरल और लंका से लेकर मलाया और इंडोनेशिया तक अरबों ने शांतिमय ढंग से अपनी नौआबादियां कायम कीं।

जिन मुस्लिम कौमों ने हिन्दुस्तान पर बाकायदा तौर से हमले किये और हुकूमतें कायम कीं, वे उत्तर-पश्चिम की ओर से हिन्दुकुश पर्वतश्रेणी के दर्रों के रास्ते आती थीं। वे केन्द्रीय एशिया और मध्य एशिया की कौमें थीं। सच पूछिये तो ये कौमें वास्तव में उसी आर्य जाति की संतान थीं, जो प्राचीन काल से भारत में आकर बस गई थी और अब हिन्दू कहलाती थीं।

आर्यों ने जिस प्रकार द्रविड़ों और मुंडों को भगा कर सारा उत्तरी भारत अपने कब्जे में कर लिया, इससे उनके विशेष शांतिमय होने का सबूत नहीं मिलता। हारी हुई जातियों को शूद्र और दस्यु का दर्जा दे कर अपमानित करना सहनशीलता या उदारता की निशानी नहीं है। लेकिन यह प्राचीन समय की बातें है। इतना हम जरूर कह सकते हैं कि मध्य और केन्द्रीय एशिया की जातियों को हमेशा से ही हिन्दुकुश के रास्ते से भारत पर हमले करने का चस्का रहा है। इसका कारण, यहां का ऐश्वर्य या सुखद जलवायु, कुछ भी।

सम्राट विक्रमादित्य (द्वितीय) और कनिष्क के बारे में अनुमान लगाया जाता है कि वे तुरुष्क (तुर्क) जाति के ही थे।

सम्राट अशोक के समय बुद्ध-मत देश-देशान्तर में फैल गया था। तब चीन और जापान की तरह, मध्य और केन्द्रीय एशिया के सारे प्रदेश भी बुद्ध मत के अनुयायी हो गये थे। उन दिनों तुर्क, मुगल, अफगान सभी बौद्ध होते थे। अशोक काल के कई खंडहर इन्हीं इलाकों में मिले हैं। चीनी चात्री हयून सांग के कथनानुसार समरकंद (बाबर की जन्मभूमि) मध्य एशिया में बौद्धों का प्रमुख केन्द्र था। बौद्ध भिक्षु वहों से हो कर चीन और भारत में आया-जाया करते थे।

समय का चक्कर चलता रहा। बौद्ध-मत भारत में पतनोन्मुख होकर अपना प्रभाव खो बैठा और हिन्दुमत-मतान्तर फिर से उधर आये। इसी प्रकार अफगानिस्तान, कंधार समरकंद आदि में भी बौद्धमत गिरावट के रास्ते पर चल पड़ा और अंत में इस्लाम ने उसका स्थान ले लिया।

नसली एकता

मतलब यह कि इस्लाम कबूल करने से पहले भी हिन्दुस्तान पर खैबर के रास्ते से वहीं जातियां हमले करती थीं, जिन्होंने इस्लाम कबूल करने के बाद हमले किये थे। उनका सिर्फ धर्म बदला था। नकली तौर पर वे वहीं थीं जो आर्यकाल से भारत में बसी हुई थीं। एक ही खून था दोनों का। उनकी भाषाएं भी उसी प्रकार संस्कृत में से निकली थीं, जैसे कि उत्तरी भारत की भाषाएं। विचारधाराओं और संस्कृतियों का जिस प्रकार पहले टकराव और संगम होता आया था, वैसे ही तब भी होता चला गया। विदेशियों को जिस प्रकार पहले भारत अपने अन्दर समा लेता रहा था, तब भी समाता रहा। कोई अनहोनी बात नहीं हुई।

इतिहास के विद्यार्थियों के सामने ये बातें जरूर ही स्पष्ट होनी चाहियें। अंग्रेजों ने दो सौ वर्ष तक हिन्दुस्तान पर राज्य किया। इस दौर को हम भारतीय इतिहास का 'ईसाई युग' नहीं कहते, 'ब्रिटिश' युग कहते हैं। और यह ठीक भी है। राज्य कायम करने के प्रयत्न फ्रांस, हालैंड और पुर्तगाल के लोगों ने भी किये और वे भी ईसाई थे। इसलिये 'ब्रिटिश युग' कहना ही ठीक है, वरना इतिहास का चेहरा धुंधला पड़ जायेगा।

इसी प्रकार, भारतीय इतिहास को सिरे से 'हिन्दुकाल' और 'मुस्लिमकाल' में बांट देना भी उसके चेहरे को धुंधला करता है, वहम और द्वेश के कीटाणुओं को जन्म देता है।

इतिहास केवल राजाओं-महाराजाओं की लड़ाइयों और प्रेमकथाओं का वर्णन नहीं होता। उसे समझने के लिए आर्थिक और सामाजिक असलियत की गहराई तक पहुंचने की जरूरत है। यद्यपि राजनैतिक दृष्टिकोण से भारतीय मध्यकाल भी, यूरोप के मध्य काल की भांति, रक्तपात, बर्बरता और शासकों की निरंकुशता का समय रहा है, लेकिन कला-कौशल और साहित्य के दृष्टिकोण से वह एक निरन्तर प्रगति और विकास का दौर रहा है।

संस्कृतियों का सम्मिश्रण और बहुमुखी विकास

हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के सम्मिश्रण ने इसी युग में इमारतकारी के अद्वितीय शाहकार पेश किये हैं। संगीत के क्षेत्र में 'खयाल' जैसा विस्मयजन के आविष्कार इसी युग की देन है। तबला, सारंगी, सितार जैसे साज भी मध्य युग में ही अस्तित्व में आये, जिनकी सूक्ष्मतायें आज यूरोप के संगीतकारों को भी मुग्ध कर रही हैं। चित्रकला, नृत्य, छन्द शास्त्र और अन्य कई विद्याओं के नाम गिनाये जा सकते हैं। कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है, जिसमें हिन्दुस्तानियों ने इस युग में भी आश्चर्यजनक प्राप्तियां न की हों। इन्हीं के आधार पर हिन्दुस्तान सोने की चिड़िया कहलाता था। हिन्दुस्तान के कला-कौशल और उद्योग धंधे संसार भर के आकर्षण की चीजें बने हुए थे।

इस बहुमुखी विकास का वैचारिक प्रेरणा-स्रोत हम भक्ति-लहर को कह सकते हैं। जिस प्रकार प्राचीन काल में बौद्ध मत ने हमारे देश की जनता को नये ढंग से सोचने और जीने की प्रेरणा दी थी, उसी तरह मध्यकाल में संतों, भक्तों और सूफियों ने भी एक नया क्रांतिकारी चिन्तन प्रदान करके सृजनात्मक शक्तियों के रास्ते साफ कर दिये थे।

भक्ति-लहर का अनमोल विरसा हिन्दुस्तान के चप्पे-चप्पे में बिखरा पड़ा है। काश्मीर में लल-देद, नुन्द ऋषि (असली नाम शेख नुरुद्दीन), हव्बा खातून, सिन्ध में शाह रसूल, शाहलतीफ; पंजाब में शेख फरीद, गुरुनानक, बुल्लेशाह ; गुजरात में नरसी भगत; उत्तर प्रदेश में कबीर, सूरदास, शेख मुहम्मद बाबा, बंगाल में जयदेव, रामानन्द, चंडीदास-जनता के दिलों पर राज्य करने वाले नाम हैं। मुझे विश्वास है कि ऐसे नाम दक्षिण भारत में भी मिलेंगे, क्योंकि भक्ति लहर का जन्मस्थान दक्षिण भारत ही बताया जाता है। और इन नामों के साथ कोई साम्प्रदायिक विशेषण नहीं जोड़ा जा सकता। हिन्दू और मुस्लिम जनता को यह समान रुप से प्रिय हैं। इन की वाणी वर्तमान भारतीय भाषाओं का आधार है, और इस में अमृत घुला हुआ है।

भक्ति लहर

भक्ति लहर का युग एक अथाह सागर है। रवीन्द्र नाथ टैगोर और क्षितिमोहन सेन जैसे विद्वानों ने इस सागर में गहरे गोते लगाये है। मैं तो केवल इसके किनारे पर ही टहला हूं और सिर्फ पंजाब की भक्तिलहर से ही थोड़ा-बहुत परिचय प्राप्त किया है। लेकिन इतने से ही आश्चर्यचकित रह गया हूं। इसके गौरव से मेरी आंखें चुन्धया गई हैं।

जिस हिन्दू-मुस्लिम एकता, धर्मनिरपेक्षवाद, भावात्मक एकता, लोकवाद और समाजवाद के लिए हम इतनी तीव्रता से लालायित हैं, उसका बीड़ा पंजाब के भक्त गुरुओं और संत-सिपाहियों ने कई सदियां पहले उठा लिया था। उदाहरण के तौर पर, गुरु गोविन्द सिंह की वाणी में से कुछ पंक्तियों का उल्लेख करना चाहता हूं :

देहुरा मसीत सोई, पूजा ओ नमाज ओई
मानस सभे एक पै अनेक को भ्रमाओं है।
देवता अदेव जच्छ गंधर्व तुर्क हिन्दू
न्यारे न्यारे देसन के भेस को प्रभाओ है।
एकै देह एकै बान, एकै नैन एके कान
खाक बाद आतश और आब को रलाओ है।
अल्लाह अभेख सोई, कुरान और पुरान ओई
एक ही सरूप सभै एक ही बनाओ है।

उदारता, सहनशीलता और धर्मनिरपेक्षतावाद की एक से अधिक स्पष्ट शब्दों में व्याख्या कहां मिलेगी?

भक्ति लहर के अन्य सभी सन्तों-सूफियों की तरह गुरु गोविन्द सिंह भी व्यक्ति-पूजा, मठवाद और अन्ध विश्वास केकड़े विरोधी थे। उन्होंने जोरदार शब्दों में कहा है :

जो मो को परमेश्वर उचरें
ते जन नरक कुंड में परैं।
मैं हूं परम पुरख को दासा
देखन आयो जगत तमासा।

दीन-दलितों को अपने बाहुबल से बादशाहों का मुकाबला करने और उनके सिंहासन छीनने योग्य बनाने के आदर्श का उन्होंने इस प्रकार वर्णन किया है :

चिड़ियों से मैं बाज लड़ाऊं
राठन के संग रंक लड़ाऊं
भूप गरीबन को कहवाऊं
सवा लाख से एक लड़ाऊं
तब गोविन्दसिंह नाम धराऊं।

और यह सिर्फ कागजी आदर्श नहीं था। इसे उन्होंने अपनी जीवन-तपस्या का अंग बनाया था। जो कहा, वह करके भी दिखाया।

गुरु अर्जुन देव औरभाई गुरदास द्वारा सम्पादित किया गया आदि-ग्रंथ भी, जिसे सिक्ख अपना ग्यारहवां गुरु मानते है, भावात्मक एकता की दिशा में उठाया गया एक ऐतिहासिक कदम था। इस में उत्तरी भारत के प्रमुख निर्गुणवादी, वेदांती और सूफी सन्तों-दरवेशों की वाणी इकट्ठी की गई है। शेख फरीद, कबीर, रविदास, नामदेव (महाराष्ट्र), जैदेव, रामानन्द (बंगाल) सबकी वाणी इस अपूर्व ग्रन्थ में सुशोभित है। जिस पवित्र हरिमंदिर में इस ग्रन्थ की स्थापना की गई, उस का बुनियादी पत्थर पीर मियां मीर के हाथों रखवाया गया था-वही महापुरुष, जिसने उपनिषदों का अनुवाद फारसी में

करवाया था। मैक्स भूलर के कथनानुसार, यूरोप की उपनिषदों का पता सब से पहले इन्हीं फारसी अनुवादों द्वारा मिला था।

बहुत विशाल विरसा है यह। और इसे हमारी नजरों में कभी जबर्दस्ती संस्थायक धार्मिकता के साथ जोड़ कर और कभी मध्यकालीन और छायावादी कह कर नगण्य बनाया गया है। हम सुशिक्षित लोग जिस हद तक इस विरसे से दूर हो गये हैं, उसी हद तक जनता से भी दूर हो गये हैं। अगर हम इस विरसे का गंभीरता से मूल्यांकन करें तो अतीत के युग-सत्य का वर्तमान के युग-सत्य से सहज ही सुमेल और संगम करा सकते हैं, सब द्वेष-भाव मिटा कर अपने देश की सृजनात्मक शक्तियों के लिये नये सिरे से रास्ते-खोल सकते हैं।

भक्त और सूफी कवियों की सब से बड़ी देन उनके भाषा और साहित्य सम्बन्धी स्पष्ट और टोस जनवादी दृष्टिकोण है। आज का कोई विद्वान उनमें नुक्स नहीं निकाल सकता।

जन भाषा

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, जन भाषा के रुप में संस्कृत का रोल महात्मा बुद्ध के समय में ही खत्म हो गया था। उनका स्थान पाली-प्राकृत ने ले लिया था। अर्थात भाषा-विज्ञान की दृष्टि से पाली और प्राकृति संस्कृत का अधिक उन्नत और सजीव रूप थीं।

कितनी सदियां और गुजर गई। कितने उतार-चढ़ाव और आये। संसार के अन्य पदार्थों की भांति भाषाएं भी एक स्थान पर खड़ी नहीं रह सकतीं। मध्यकाल के आगमन तक पालो-प्राकृत भी विभिन्न प्रकार की प्रादेशिक अपभ्रंश भाषाओं में बंट गई थी। संस्कृत अब पूर्ण रूप से निर्जीव और किताबी भाषा बन कर रह गई थी।

यह अपभ्रंश भाषाएं भी पाली-प्राकृत की भांति, पैदा तो संस्कृत की कोख से हुई थीं, लेकिन अब उससे उनकी नाल कट चुकी थी। उनमें स्वतंत्र भाषाएं बनने की पूरी सम्भावना पैदा हो चुकी थी।

लेकिन उस समय का उच्चवर्ग-हिन्दू चाहे मुस्लिम-इस संभावना को पसन्द नहीं करता था। विद्या और संस्कृति पर ब्राह्मणों और काजियों ने अपना एकाधिकार जमाया हुआ था, और वे खुद राजाओं और सुल्तानों का दाहिना हाथ थे। उन्हें समाज में गति और विकास नहीं, बल्कि ठहराव चाहिए था। उनके वर्ग हित तभी सुरक्षित रह सकते थे, अगर साधारण जनता अज्ञान, अन्धविश्वास और आत्मग्लानि में डूबी रहे, उनकी मोहताज बनी रहे, धमौर जात-पात के बंटवारे को ईश्वर का हुक्म मान कर स्वीकार किये रहे। इसलिए जन-भाषाएं उच्च वर्ग द्वारा घटिया करार दी जाती थीं।

लेकिन भक्तिकाल के संतों-दरवेशों ने इस साजिश पर से पर्दा उठा दिया। वे अपनी आंखों के सामने गरीब जनता पर अन्याय और अत्याचार होते देख रहे थे। यह उनके लिए असह्य था। जनता का इससे छुटकारा दिलाने का एक ही रास्ता था-जनता

के स्वामित्व को जागृत करना, उसके हाथों में किसी ऐसी विचार-धारा का हथियार देना, जो उच्चवर्ग के इजारों को खत्म करने के लिए सुदर्शन-चक्र का काम दे।

इस क्रांतिकारी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने उन्हीं स्थानीय अपभ्रंश भाषाओं को अपने संदेश का माध्यम बनाया, जो अभी पूर्ण-रूप से विकसित नहीं हुई थीं। और ऐसे महान साहित्य का निर्माण किया कि समय पाकर वे 'असम्य' और 'गंवार' बोलियां संस्कृत और फारसी के साथ कंधा मिलाकर खड़ी होने के योग्य साहित्यिक भाषाएं बन गई। यह शांदार करिश्मा एक और उनके अथाह जनप्रेम को-

(जन की टहल, संभाखन जन सिउ
ऊठन बैठन जन के संगा।
जन चर रज मुख माथे लागी
आसा पूरन अनत तरंगा।

- गुरु अर्जुन देव

और दूसरी ओर उनके अतीव विवेकपूर्ण और निर्भीक प्रगतिशील चिन्तन को प्रमाणित करता है -

संस्कृत अंधा कूप है
भाखा बहता नीर।

कबीर

इसका यह मतलब हरगिज नहीं कि भक्त कवियों को संस्कृत या फारसी से कोई द्वेष था। भाषाओं के प्रति वहीलोग छोटे दिल का सबूत देते हैं, जिनके दृष्टिकोण फरसूदा हों। जब भी जरूरत महसूस हुई या मन में लहर उठी तो इन भक्त कवियों ने संस्कृत और पारसी में भी ऊंचे स्तर की कविता की सृष्टि की। प्राचीन धर्म-ग्रन्थों के प्रति उनके दिल में अथाह प्यार और श्रद्धा थी। लेकिन 'भाखा' में लिखते समय वह किसी आत्मग्लानि का अनुभव नहीं करते थे, और न हो उसके कारण अपनी शैली को शुद्ध संस्कृत या फारसी के शब्दों से 'अलंकृत' करने का प्रयत्न करते थे। इन भाषाओं में से वे असंख्य शब्द खुलदिली से लेते रहे। लेकिन प्रयोग करने से पहले वह उनका तदभवीकरण या अपभ्रंशीकरण कर लेते थे, ताकि उनकी ध्वनि तथा रूप भाखा में बोझिल, अपरिचित या खटकने वाला न रहे।

यही रास्ता अंग्रेजी भाषा के विकास के लिए चांसर, स्पेन्सर और शेक्सपियर जैसे महान साहित्यकारों ने अपनाया था। बड़े चाव से हर तरफ से नये शब्द ले लेना और तदभवीकरण के रास्ते उन्हें अपने हाजमे के अनुकूल पचा लेता, यह अंग्रेजी भाषा की पुरानी परम्परा चली आ रही है।

गोस्वामी तुलसीदास रचित 'रामचरित मानस' शब्दों के तदभवीकरण का सर्वोत्तम उदाहरण है। संस्कृत में लिखी गई बाल्मीकि रामायण को तुलसी दास ने पुरोहितों और पंडितों की कैद में से निकाल कर जनसाधारण की सम्पदा बना दिया। यही नहीं कि साहित्यिक दृष्टि से रामचरित मानस बाल्मीकि रामायण से किसी भी तरह कम नहीं, बल्कि उसे तुलसीदास की आश्चर्यजनक प्रतिभा और परिश्रम ने संसार-साहित्य का एक

विशिष्ट ग्रन्थ बनने का सम्मान दिलवाया है। शेक्सपियर के बारे में कहा गया है कि संसार में कोई ऐसी कहने लायक बात नहीं है, जो अपने नाटकों में न कह दी हो। वही कथन तुलसीदास पर भी पूरा उतरता है। मानव-जीवन के गहन से गहन अनुभव, सूक्ष्य से सूक्ष्य भाव और प्रकृति के अतीवमनोरम चित्रण तुलसीदास के काव्य में पाये जाते हैं। लेकिन किसी स्थान पर भी उन्होंने अपनी शैली को संस्कृत के तत्सम शब्दों से बोझिल नहीं किया। उन्होंने अतीव सुरुचिपूर्ण ढंग से संस्कृत शब्दों के केवल तदभव और अपभ्रंश रूपों का प्रयोग किया है। साहित्य-सौन्दर्य का इससे बढ़िया उदाहरण ढूंढे ने नहीं मिल सकता।

हमारे पंजाब के भक्ति-साहित्य की परम्परा भी यही है। बल्कि गुरु नानक, भाई गुरदास और बुल्लेशाह जैसे महान कवियों ने इस परम्परा को इतना परिपक्व बना दिया है कि वर्तमान पंजाबी साहित्य में संस्कृत और फारसी के तत्सम शब्द कोशिश करने पर भी सुन्दर नहीं लगते और पढ़ते समय बुरी तरह खटकते हैं।

यही प्रवृत्ति मैंने गुजराती मराठी, बंगाली आदि में भी देखी है। पहली नजर में ये भाषायें संस्कृत से लदी हुई प्रतीत होती हैं, लेकिन असलियत यह नहीं है। 'विस्माद' जैसा संस्कृत शब्द बंगाली में 'बिशाद' बोला जाता है, चाहे लिखने में वह तत्सम ही प्रतीत हो। 'सभा-मौकूफी' शब्द मैंने आज के एक गुजराती समाचार-पत्र में से लिया है। कितनी आजादी के साथ संस्कृत के एक शब्द को फारसी के साथ जोड़ दिया गया है। 'शिक्षा' शब्द का अर्थ मराठी में 'सजा' और 'साक्षर' शब्द का अर्थ गुजराती में 'साहित्यिक व्यक्ति' हो जाता है। हरकत, गनीम, तहाकुब, जकात, आमदार, खासदार, आदि शब्द मराठी में आम प्रयोग के शब्द हैं। ये फारसी से आये हैं, या और कहीं से, इस बात की किसी मराठी भाषी को परवाह नहीं है। शब्द चाहे संस्कृत का हो, या फारसी का, मराठी व्याकरण के अनुसार ही उसका प्रयोग किया जाता है। यह बात मराठी भाषियों की खुलदिली और आत्मविश्वास का सबूत देती है।

शब्दों का तदभवीकरण

जो बात पंजाबी, बंगाली, मराठी, गुजराती आदि के लिए उपयुक्त और सही है, मैं समझता हूं कि वह उर्दू-हिन्दी के लिए भी उतनी ही सही होनी चाहिये। शुद्ध संस्कृत और शुद्ध फारसी को हज्म करना खड़ी बोली के लिए भी उतना ही मुश्किल है। खड़ी-बोली वालों को भी संस्कृत-फारसी और उसके व्याकरण की दासता से छुटकारा पाना चाहिएं। इन भाषाओं में से लिए गये शब्दों का अपनी भाषा के स्वभाव के अनुसार अपभ्रंशीकरण या तदभवीकरण बहुत जरूरी है। ऐसा न करना भाषा को निर्जीव और दुर्बल बनाना है। इस बारे में जब तक आप अपना दृष्टिकोण नहीं बदलेंगे, तब तक आप तटवर्ती इलाकों की भाषाओं के साथ आंख नहीं मिला सकेंगे, अंग्रेजी को गर्दन से पकड़ना तो अलग रहा।

कहने का मतलब यह, मेरे प्यारे दगोस्तों, कि आपकी वर्तमान हिन्दी सैली, जिसमें संस्कृत शब्दों का अंधाधुंध प्रवेश और पारसी शब्दों का अंधाधुंध बहिष्कार हो रहा है, उसकी उन्नति या विकास का सूचक नहीं है। इस रुझान की बदौलत यह शैली

आपके अपने प्रान्त में भी, और बाकी भारत की जनता के लिए भी प्रिय होने के बजाय अप्रिय बनती जा रही है। इस असलियत को आप जितनी जल्दी समझ सकें, उतना ही आपके लिए अच्छा है।

लिपि की समस्या

लिपि की समस्या के बारे में भी भक्तिकाल और मध्यकाल की पृष्ठभूमि को देखने पर बहुमूल्य संकेत मिलेत हैं और पता चलता है कि हमारे पूर्वज इस दिशा में भी धार्मिक पक्षपात से बिल्कुल मुक्त थे।

मुगल साम्राज्य के समय से फारसी सारे उत्तरी भारत की राज्य भाषा बनी रही। उस साम्राज्य को मराठों और सिक्खों के आन्दोलनों ने गहरी चोट पहुंचाई। लेकिन छत्रपति शिवाजी और महाराजा रणजीत सिंह ने अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित करने पर भी राज्यभाषा का दर्जा फारसी को ही दिया। इससे उनकी उदार और असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति का अनुमान भली भांति लगाया जा सकता है। हम यह भी देख चुके हैं कि किस प्रकार अरबी लिपि सिन्धी हिन्दुओं और मुसलमानों को हमेशा से एक सी प्यारी रही है।

सैकड़ों सालों से सारे उत्तरी भारत में स्थानीय लिपियों के साथ-साथ फारसी लिपि का भी प्रयोग होता रहा है, कहीं ज्यादा कहीं कम। पंजाब और उत्तर प्रदेश में ज्यादा, क्योंकि यह इलाके शासन-केन्द्र के निकट थे। बंगाल और महाराष्ट्र जैसे दूर के इलाकों में कम। लिपियों के संबंध में लोगों में किसी प्रकार का परस्पर विरोध नहीं था। आज जैसे रोम लिपि हमारे लिए विदेशी और पराई लिपि नहीं रह गई है, इसी प्रकार, सदियों से प्रयोग में आने पर, फारसी लिपि भी, मुगल वेशभूषा की तरह, भारत की अपनी चीज बन गई थी। हम नहीं कह सकते कि शेष फरीद ने अपनी रचना फारसी लिपि में की थी, या गुरमुखी लिपि में, यद्यपि आज वह गुरमुखी में प्राप्त है। वारिसशाह के बारे में हम किसी हद तक दावे के साथ कह सकते है कि हीर-रांझा का किस्सा उन्होंने फारसी लिपि में लिखा होगा। हो सकता है किबुल्लेशाह ने भी पारसी लरिपि का पुपयोग किया हो, या शायद दोनों ही लिपियों में लिखा हो, किसी भी पंजाबी को इस बात के कोई फर्क नहीं पड़ता। उसकी भाषा की यह दोनों ही ऐतिहासिक लिपियां हैं। पंजाबियों को अपने महान कवि हर हालत में प्रिय हैं। और यह प्यार अटूट है।

पश्चिमी पाकिस्तान में फिर से सूबे कायम कर दिये गये हैं। ईश्वर ने चाहा तो वहां भी पंजाबी को अपना अधिकार मिल कर रहेगा, जैसे कि बंगाली को मिला हुआ है। लेकिन इसका यह मतलब बिल्कुल नहीं कि वहां गुरमुखी लिपि भी कबूल की जायेगी। अगर की जाये तो बहुत अच्छा है, क्योंकि बंगाली की तरह, वह विशेष रूप से अपनी भाषा के लिए ही जन्मी और विकसित हुई लिपि है। लेकिन अगर उसे कबूल नहीं किया जाता को किसी हिन्दुस्तानी पंजाबी को एतराज नहीं हो सकता, क्योंकि वह जानता है कि पंजाबी के लिए फारसी लिपि भी सदियों से प्रयोग की गई है। भूतकाल में भी यह दोनों लिपियां साथ-साथ चलती रही हैं, और आज के जमाने में भी बड़ी खुशी से इन दोनों का प्रयोग कर सकते हैं।

इसी तरह आपके प्रांत, उ०प्र० में भी फारसी और नागरी दोनों ही लिपियां सदियों से बहनों की तरह साथ-साथ रहती आई हैं। कौन कह सकता है कि अमीर खुसरों ने अपने दोहों और अन्य रचनाओं केलिए किस लिपि का प्रयोग किया होगा? वे प्रसिद्ध दरबारी व्यक्ति थे। उनका फारसी लिपि में लिखना ज्यादा यकीनी प्रतीत होता है। मलिक मोहम्मद जायसी ने जरूर 'पदमावत' लिखते समय नागरी लिपि का प्रयोग किया होगा। लेकिन इन बात से कोई फर्क नहीं पड़ता। दोनों की हिन्दी के महान कवि हैं। उर्दू उच्चवर्ग और शहरी लोगों की लाडली बनती गई। लेकिन उसमें लिखने वाले कवि मुसलमान भी थे और हिन्दू भी। यहां तक कि अंग्रेज भी थे। इस तरह फारसी लिपि के साथ अन्याय या द्वेष करना आपको भी किसी प्रकार शोभा नहीं देता।

हम ऊपर देख आये हैं कि खड़ी बोली तभी विकसित हुई, जब सरकार-दरबार में उसे सम्मान मिलने लगा। और तब वह ज्यादातर फारसी लिपि में ही लिखी जाती थी और उर्दू कहलाती थी। अगर आपने आधुनिक हिन्दी के लिए ब्रज और अवधी जैसी महान भाषाओं को हत्या कर (उन्हें उपभाषाएं करार दे कर), खड़ी बोली को ही अपनाना था तो उसके लिए फारसी लिपि को भी खुले दिल से अपना लेना उचित था। द्वि-लिपिया भाषा होने से हिन्दी-उर्दू का कुछ भी नहीं बिगड़ जाता।

यह बात आपको चाहे कितनी ही कड़वी लगे, लेकिन कहना ही पड़ेगा कि जिस सिहासन पर आप इस समय अधिकार जमाये बैठे हैं,वह आप को साम्प्रदायिक राजनीति और देश के बंटवारे की बदौलत मिला है। उस पर विराजमान होकर आप कभी भी असाम्प्रदायिक होने का दावा नहीं कर सकते। आपकी आनेवाली पीड़ियां आपके इस दावे को झूटलायेंगी। उर्दू का हक मार कर उत्तर प्रदेश के लोगों ने न ही पाकिस्तान को अंगूटा दिखाया है, औरग न ही मुसलमानों की गर्दन मरोड़ी है। उन्होंने अपनी पवित्र मातृभाषा का अपमान किया है, और अपने सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास पर कुल्हाड़ी मार ली है। जबर्दस्ती हासिल किये गये हक कानूनी तो करार दिलाये जा सकते हैं (बशर्ते कि कानून पर जोर चलता हो), लेकिन नैतिक करार नहीं दिये जा सकते।

अगर आप अब भी सचेत हो जायें और वह रास्ता छोड़ने का साहस करें, जो हर प्रकार से गलत है; अगर आप अपनी पिता-पुरकी परम्पराओं का सम्मान करते हुए उत्तर प्रदेश के लिए फारसी और नागरी दोनों ही लिपियों को स्वीकार कर ले; अगर आप दोनों की शैलियों को संस्कृत और फारसी की गुलामी से आजाद करा लें, और अपनी भाषा का वैसे ही विकास करें, जैसे बंगाली या अंग्रेजी का हुआ है, या जैसे भूतकाल में आपके अपने माहन लेखक करते रहे हैं, तो निःसन्देह आप बहुत जल्द दोनों शैलियों को आपस में मिला सकते हैं, और उन्हें फिर जनता की बोलचाल की भाषा और मुहावरे में ढाल सकते हैं। इस प्रकार आप भारतीय परिवार की अन्य भाषाओं के साथ आदान प्रदान कायम कर सकते हैं। आप खुद भी समृद्ध बन सकते हैं, उन्हें भी समृद्धि प्रदान कर सकते हैं। आपका शब्द-भंडार तुलसी और गालिब दोनों को अपने अन्दर समेट कर बाकी सारी भारतीय भाषाओं की नजर में एक अनोखी

विराट और शक्तिशाली भाषा का स्थान ग्रहण कर सकता है। आपके शहर-दिल्ली, आगरा, लखनऊ और बनारस - इस दौर में भी वही शान हासिल करसकते हैं जो उन्होंने अकबर, शाहजहां, तुलसी और कबीर के जमानों में हासिल की थी। आप भारत माता की कंठमाला का सब से कीमती मोती है। अपने घर में साम्प्रदायिक वैर-विरोध दूर कर के आप भारत के इतिहास को एक नया मोड़ दे सकते हैं, उसे एकता और सच्ची आजादी की ओर ले जा सकते हैं।

लेकिन अगर आप नहीं संभलेंगे तो नीम-मुर्दा साम्राज्यवादी नीतियों को, आजादी के युग में भी जिन्दा रखने का इल्जाम अपने सिर जायेगा। देश में जो नफरतों का जहर बढ़ता जा रहा है, वह और बढ़ जायेगा, गांधी, नेहरू, सुभाष बोस, और उनके असंख्य साथियों की कुरबानी अंधे कुएं में पड़ जायेगी।

मैं जानता हूं कि सज्ज़ाद जहीर और कृशनचन्दर जैसे प्रगति शील लेखक किसी हालत में भी उर्दू के सावल को साम्प्रदायिक राजनीति के साथ जोड़ना नहीं चाहते; लेकिन अपने घर से जबर्दस्ती बेघर की गई इस भाषा को, जिसकी उन्होंने सारी उम्र सेवा की है, कहीं न कहीं सिर छिपाने के लिए जगह ढूंढ़ कर देना वे अपना फर्ज समझते हैं। आपके ठंडे-रूखे रवैये की प्रतिक्रियां में वे भी बारी गलतियां कर बैठते हैं। उर्दू-कंवेन्शन करने के लिए उन्हें महाराष्ट्र भागना पड़ता है। उत्तर प्रदेश में दाल गलती न देख कर वे उर्दू को अन्य प्रान्तों में दूसरे नम्बर की प्रान्तीय भाषा मनवाने की उपहासजनक और मूर्खतापूर्ण कोशिसें करते हैं। मैं उनकी सख्त आलोचना करता हुआ भी, उनके दिल के दुख और मजबूरी को समझ सकता हूं।

लेकिन फिर भी, मैं उन्हें माफ नहीं कर सकता। आपकी तरह उन्हें भी अपनी इकहरी, अधूरी, सामन्तशाही और पारसी परस्त परिभाषायें छोड़ने की जरूरत है। तभी, वे भी अपने व्यक्तिगत छोटे-छोटे हितों के संकुचित घेरे में से निकाल कर देशहित को गर्क होने से बचा सकेंगे। जिन प्रान्तों की मातृभाषा उर्दू नहीं है, उनमें उर्दू के हक मनवाने की कोशिश करना, उर्दू को मुस्लिम अल्प-संख्या से जोड़ना है। अगर उर्दू पंजाबियों या बंगालियों की भाषा नहीं है, तो वह मराठों, गुजरातियों तेलगुओं और केरलियों की भी भाषा नही हो सकती चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान। इन प्रांतों के मुसलमानों का कल्याण इसी में है कि वे अपनी मातृभाषा के साथ प्यार करें, जितना बंगलादेश के बंगाली को अपनी मातृभाषा से है। अगर वे ऐसा नहीं करेंगे, तो हिन्दू सम्प्रदायवादियों को साफ तौर पर यह कहने का बहाना मिलेगा कि मुसलमान अभी तक उर्दू को मिस्टर जिन्ना के दृष्टिकोण से देखते हैं, और खुद को एक अलग कौम समझते हैं। इस तरह नफरतें बढ़ेंगी, जिनके भयानक नतीजों की ओर से लापरवाह हो कर कोई भी व्यक्ति लेखक या साहित्यकार कहलाने का हकदार नहीं रहता। उर्दू का जन्म सिद्ध अधिकार उसे उत्तर प्रदेश में जरूर मिलना चाहिए; क्योंकि वह वहां की मातृभाषा है। उत्तर प्रदेश में निसंदेह उर्दू को हिन्दी के बराबर का स्थान मिलना चाहिए। इस बात से कोई न्यायशील व्यक्ति इंकार नहीं कर सकता। उर्दू-हिन्दी का आपस में कोई फर्क नहीं है कोई बैर नहीं है। वह दो लिपियों में लिखी जाने वाली एक भाषा है - उसी

तरह, जैसे पंजाबी। दोनों शैलियों को एक-दूसरी के निकट लाने के लिए उत्तर प्रदेश के सभी देशभक्त, लोकवादी, प्रगतिशील लेखकों को प्यार-मोहब्बत से मिल-बैठ कर सोच-विचार करना चाहिए, क्योंकि यह इनकी कौमी इज़्ज़त और गैरत का सवाल है। यह उनके घर का अन्दरुनी मामला है। उत्तर प्रदेश के बाहर के हिन्दी-उर्दू के लेखकों को इस झगड़े में से अलग हो जाना चाहिए-किसी हमदर्द लेकिन चुप मेहमान की तरह। तभी उत्तर प्रदेश वाले अपनी गाड़ी को इस कीचड़ में से खींचकर निकाल सकेंगे जिसमें ब्रिटिश सामाज्य वाद ने उसे आज से सौ साल पहले फंसा दिया था। उत्तर प्रदेश में जब प्यार और इन्साफ की गंगा बहेगी तो सारे देश का वातावरण सुधरेगा, क्योंकि वहीं की भाषा को एक दिन भारत की राष्ट्रभाषा बनने का कठिन और महान रोल अदा करना होगा। यह रोल और कोई भाषा अदा नहीं कर सकती। लेकिन आज उस मंजिल तक पहुंचने के लिए हिन्दी-उर्दू को बड़ी कठिन तपस्या करनी होगी। गुरुकुलों और गऊशालाओं वाली तपस्या नहीं, बल्कि अणु-युग की सामाजिक और तकनीकी जरूरतों को समझने की तपस्या। इस बड़े मोर्चे पर हिन्दी का मुकाबला अंग्रेजी के साथ है, किसी छोटे-मोटे पहलवान के साथ नहीं। केवल संस्कृत का शब्द-कोश हाथ में लेकर यह मोर्चा जीता नहीं जा सकेगा। वह तो उस प्रकार की खुशफहमी होगी, जिसके शिकार मेरे गुरुकुल के आचार्य जी थे, जो अष्टाध्यायी के सूत्र रटवाते समय हमें बताया करते थे कि किस प्रकार जर्मन लोग भारतवर्ष में से वेद चुरा कर ले गये, और उनमें से रेल, इंजन, हवाई जहाज, रेडियो और अन्य कई प्रकार के यंत्रों का ज्ञान निकाल कर यूरोप के देशों में बेच दिया।

संस्मरण लेख

बलराज साहनी

यादों के झरोखे से

सूची

यादों के झरोखे से

चालीस साल पहले की एक घटना	३३३
इंग्लैंड में हिन्दुस्तानी मेहनतकश	३३७
जलते हवाई जहाज़ों की दीपावली	३५५
मज़दूर अभिनेता	३६०
रवीन्द्रनाथ ठाकुर : कुछ यादें	३६२
शांति निकेतन में एक गांधी-दिवस	३७१
सेवाग्राम की यादें	३७५
टेलीफ़ोन वाला	३७८
भैयाजी	३८४
कुत्तों की लड़ाई	३६२
महजूर : कश्मीर का राष्ट्रीय कवि	३६४

चालीस साल पहले की एक घटना

चालीस साल पहले की बात है, मैं अपने माता-पिता और भाई-बहनों के साथ रावलपिंडी से कश्मीर जा रहा था। सर्दी का मौसम रावलपिंडी में, और गर्मी का मौसम कश्मीर में बिताना हमारे परिवार का दस्तूर था। दोनों जगह हमारे अपने घर थे और दोनों जगह ही पिताजी का कारोबार चलता था।

कैसी हैरतभरी तबदीलियों में से गुज़रा है ज़माना भी। रावलपिंडी, मेरी मातृभूमि अब एक पराये देश की राजधानी बन चुकी है। और जब मैं श्रीनगर से हवाई जहाज़ में बैठकर लगभग चार घंटों में बम्बई पहुंच जाता हूं, तो उस ज़माने को याद करके हैरानी होती है, जब श्रीनगर से रावलपिंडी तक का दो सौ सील का फ़ासला तय करने में कई-कई दिन लग जाते थे।

हां, यह चालीस साल पहले की बात है, जब मैं लाहौर में बी०ए० में पढ़ता था। गर्मी की छुट्टियां हुईं, तो मैं पहले रावलपिंडी गया और वहां से परिवार के साथ कश्मीर के लिए रवाना हुआ। हम बस में आगे की सीटों पर बैठे हुए थे और पिछली सीटों पर ड्राइवर ने सामान रखा हुआ था। सफ़र में, एक रात के लिए, कहीं पड़ाव करना पड़ता था। इस बार हमने दुमेल पहुंचकर पड़ाव किया। दुमेल मुज़फ्फ़राबाद तहसील में है जहां मेरे फूफाजी रियासती पुलिस में थानेदार लगे हुए थे। हम उनके यहां जाकर ठहरे। खाने के बाद जब हम बिस्तरों पर लेटे, तो मूसलाधार बारिश होने लगी। रात-भर बारिश होती रही। सुबह होने पर भी बारिश उसी प्रकार हो रही थी। मेरे फूफाजी ने राय दी कि ऐसे मौसम में हम आगे न जाएं। कहीं कोई दुर्घटना न हो जाए। पर बस का ड्राइवर वहां रुकने के लिए तैयार नहीं था। उसे विश्वास था कि दो-तीन घंटों में, कच्चे पहाड़ों वाले रास्ते हो होकर, ऊंड़ी पहुंच जाएंगे। अगर रुके रहे, तो क्या पता बाद में आगे जा ही न सकें।

किसी हद तक ड्राइवर का अन्दाज़ा ठीक साबित हुआ और किसी हद तक मेरे फूफाजी का। चिनारी तक हम बड़े आराम से चले गए। वहां से ऊंड़ी तक का फ़ासला लगभग अठारह मील था। बारिश लगातार हो रही थी, लेकिन हम निश्चिन्त बने सोच रहे थे कि आगे का सफ़र भी इसी तरह बिना किसी रुकावट के तय हो जाएगा। कुछ आगे बढ़ने पर हमने एक मोड़ पर बहुत-सी बसें देखीं, जो रुकी हुई थीं। हम नज़दीक पहुंचे तो फूफाजी की भविष्यवाणी सच हो रही प्रतीत हुई। पहाड़ का एक हिस्सा टूटकर नीचे बिफरे हुए जेहलम दरिया में गिर गया था। खुशक़िस्मती से उस समय वहां सड़क पर कोई बस नहीं थी, वरना वह भी मुसाफिरों के साथ जेहलम में गिर पड़ी होती। हमारा ड्राइवर अक्लमंद था। इसके पहले कि पीछे से आने वाली बसें हमारा रास्ता रोकतीं, वह बस को मोड़कर वापस दुमेल की ओर चल पड़ा। उसका खयाल था कि सड़क के ठीक होने में छः-सात दिन ज़रूर लग जाएंगे। जब हम चिनारी पहुंचे, तो पता लगा कि आगे पहाड़ का एक और टुकड़ा टूटकर गिर पड़ा है। अब दुमेल का रास्ता भी बन्द हो गया था। हमें मजबूर होकर चिनारी में ही रुकना पड़ा।

चिनारी गांव में लगभग एक सौ घर थे- ज़्यादातर सड़क के दोनों तरफ बने हुए कच्चे मकान। हमें उन्हीं में से एक मकान रहने के लिए मिल गया। कच्चा होने के बावजूद

वह बड़ा रोमांटिक था। उसी निचली मंज़िल पर उसके मालिक का ढाबा था। ड्राइवर और मुसाफिर उस ढाबे का खाना बहुत पसन्द करते थे।

मकान की ऊपरी मंज़िल पर साथ-साथ दो कमरे थे और दोनों के आगे और पीछे बरामदा था। आगे का बरामदा सड़क की ओर खुलता था और पिछले बरामदे में खड़े होकर पहाड़ों, धान के खेतों और लहराते हुए जेहलम दरिया को देखा जा सकता था। एक कमरे में ढाबे वाला अपनी जवान और चंचल पत्नी के संग रहता था। दूसरा कमरा उसने हमें दे दिया। हम जैसे-तैसे करके वहां दिनकटी करने लगे।

इस प्रकार अचानक रुकने पर, पड़ाव करने का अपना खास मज़ा था। ढाबेवाले की पत्नी चोरी-चोरी मुझसे आंखें चार करने का शौक फरमाने लगी। जीवन में इस प्रकार की यह मेरी पहली अनुभूति थी। देखने में वह बहुत सुन्दर नहीं थी, लेकिन देहाती लिबास में उसके अंगों की सुडौलता ग़ज़ब ढाती थी। उसका अधेड़ उमर का पति दिन-भर नीचे ढाबे पर रोटियां बनाता और कभी-कभार ही कमर सीधी करने के लिए कुछ देर के लिए ऊपर आता था। मैंने पिछले बरामदे में खाट डालकर दिन-भर किताबें पढ़ना अपना शुगल बना लिया था। इसका एक कारण यह भी था कि वहां लेटकर मैं आसानी से दूसरे कमरे में झांक सकता था। ढाबेवाले की पत्नी इस बात को जानती थी और अपनी चंचल अदाओं से मुझ पर बिजलियां गिराती रहती थी। लेकिन मैं अत्यन्त डरपोक और अनुभवहीन होने के कारण उस जादू-भरे रोमांस को आंखें सेंकने की हद से आगे न ले जा सका। अजीब बात है कि वह नाकाम हसरत आज भी मेरे दिल में तीखी टीस पैदा करती है। मैं आज भी कभी-कभी अपने-आपको कोसने लगता हूं कि मैंने तब हिम्मत से काम क्यों नहीं लिया था। उस देहाती युवती की निडर, मनमोहक और मासूम अदाओं को मैं भुला नहीं सकता हूं और रह-रहकर सोचने लगता हूं कि क्या वह आज भी ज़िन्दा होगी। कहां होगी? देश का बंटवारा होने पर जो क़त्लेआम हुआ था, उसमें उस बेचारी का क्या बना होगा?

सड़क का टूटा हुआ पिछला हिस्सा जल्दी ही ठीक हो गया और कई और बसें चिनारी आकर जमा हो गईं। अगले टूटे हुए हिस्से की मरम्मत पी०डब्ल्यू०डी० के ओवरसियर की निगरानी में दिन-रात हो रही थी। छः दिन बीत गए थे, लेकिन सड़क के चालू होने की कोई उम्मीद नज़र नहीं आ रही थी। ड्राइवर और मुसाफ़िर रोज़ वहां जाते और ओवरसियर से जल्दी-से-जल्दी सड़क ठीक कराने का अनुरोध करते। सभी बहुत तंग आ चुके थे और श्रीनगर पहुंचने के लिए बेहद उतावले थे। मेरे पिताजी भी बेकार बैठे हुए तंग आ गए थे। लेकिन मुझे वहां से जाने की कोई जल्दी नहीं थी। बल्कि मैं तो चाहता था कि सड़क ठीक हो ही न पाए तो अच्छा है। गांव में आटे-दाल की कमी होने लगी थी। गांववाले भी शहरी मेहमानों से तंग आए हुए थे। एक दिन, सड़क के पार, ऊंची जगह बने हुए एक घर की छत पर गांव की लड़कियों ने परदेशी का पुतला बनाकर जलाने का खेल खेला। यह एक प्रकार का टोना था, ताकि परदेशियों में रूप में आई हुई बला गांव से जल्दी टल जाए। मेरी उस प्रेयसी ने भी उस टोने में भाग लिया था, यह जानकर मुझे बेहद गुस्सा आया।

आखिर दसवें या ग्यारहवें दिन सड़क चालू हुई। यह दृश्य भी देखने लायक था। अनगिनत बसों और मोटरों की कतारें खड़ी थीं। पी०डब्ल्यू०डी० के कर्मचारी हाथ हिला-हिलाकर ड्राइवरों को आगे बढ़ने के लिए कह रहे थे। लेकिन ड्राइवर थे कि आगे

बढ़ने का नाम नहीं ले रहे थे। मुसाफिर लोग भी, जो वहां से जाने के लिए इतने उतावले बने हुए थे, उस समय चुपचाप खड़े थे। बसों में बैठकर जाना तो एक तरफ़, कोई पैदल चलकर भी आगे बढ़ने के लिए तैयार नहीं था। दायें हाथ कच्चा पहाड़ था और बायें हाथ खाई की सपाट दीवार थी, जो नीचे जेहलम के किनारे को छूती थी। मलवे में से काटकर बनाई गई सड़क के किनारे-किनारे न कोई जंगल था, न पत्थरों की दीवार थी। उस पर खड़े होने पर डर लगता था।

आधा घंटा इसी प्रकार बीत गया। सब हैरान-परेशान बने एक-दूसरे का मुंह देख रहे थे। ओवरसियर यह विश्वास दिला-दिलाकर थक गया था कि सड़क पक्की है और उस पर चलने से कोई खतरा नहीं है। आखिर वह एक पत्थर पर जाकर चुपचाप बैठ गया था। इतने में पीछे से एक छोटी-सी, हरे रंग की मोटर आती हुई दिखाई दी। उसमें सिर्फ़ एक ही व्यक्ति बैठा हुआ था, जो उसे चला रहा था। वह एक अंग्रेज़ था। नज़दीक आने पर जब उसने बसों और लोगों की इतनी बड़ी भीड़ देखी, तो मोटर रोककर, कुछ हैरानी से देखने के बाद, मुझसे पूछा, ''क्या हुआ है यहां?''

''कुछ नहीं।'' मैंने कहा, ''बारिश की वजह से सड़क टूटकर नीचे बह गई थी। दस दिन का मरम्मत के बाद अब ठीक हुई है। लेकिन कोई ड्राइवर आगे बढ़ने का हौसला नहीं कर रहा है।''

सुनकर वह ज़ोर से हंसा और उसी क्षण मोटर चलाकर आगे बढ़ा। देखते-देखते वह उस हिस्से को पार करके काफ़ी आगें निकल गया। उसके वहां से गुज़रने की देर थी कि ड्राइवरों में हलचल मच गई। दोनों तरफ़ हर कोई उस हिस्से को पार करने के लिए जल्दबाज़ी करने लगा। न उधर वाले इधर वालों की कोई बात सुनने को तैयार थे, न इधर वाले उधर वालों की कोई बात मानने को तैयार थे। लड़ाई-झगड़ा होने लगा। उस बौखलाहट में एक बस की छत पर लदा हुआ बहुत-सा सामान-बिस्तरे, ट्रंक, टोकरियां आदि-खाई में गिर पड़ा। लोगों के लिए यह भी एक तमाशा बन गया। इक्का-दुक्का सिपाहियों के लिए मोटरों-बसों को किसी तरसीब में आगे बढ़ाना बहुत मुश्किल हो गया। अगर सब कुछ किसी क़ायदे-क़ानून से होता, तो आधे-पौने घंटे में भीड़ छंट जाती। ऐसी हालत में हमें वह हिस्सा पार करने में दो घंटे लग गए।

उस दिन आज़ाद कौम और गुलाम कौम का फर्क मुझे बहुत साफ़ तौर पर दिखाई दिया। मैं, जो कुछ किताबों में नहीं पढ़ सकता था, वह मुझे उस घटना ने दिखा दिया। अंग्रेज़ एक आज़ाद कौम का बाशिन्दा था। आज़ाद कौम के लोगों में खुद सोचने और फ़ैसला करने की हिम्मत होती है। गुलाम कौम के लोगों का स्वभाव ऐसा बन जाता है कि वे भेड़ों की तरह किसी न किसी के पीछे ही चलना पसंद करते हैं।

इस घटना को मैं कभी नहीं भूल सका, क्योकि इसमें से प्राप्त की गई शिक्षा की सच्चाई के सबूत मुझे अपने देश के सामाजिक जीवन में आज तक हमेशा मिलते रहे हैं।

जब मैं सरकारी दफ्तरों में देखता हूं कि मंत्रियों से लेकर क्लर्कों तक, कोई भी व्यक्ति फ़ैसला करने की ज़िम्मेदारी अपने सिर पर लेने के लिए तैयार नहीं होता, तो मुझे वह घटना याद आ जाती है।

जब मैं देखता हूं कि लोग लीडरों के बहकाने में आकर एक-दूसरे के घर जलाते हैं, एक-दूसरे की जान लेते हैं, और अपने हाथों पैदा की हुई मुसीबतों का खुद शिकार बनते

हैं, तो मुझे वह घटना याद आ जाती है। आखिर यह गुलामों की-सी भेड़-चाल कब खत्म होगी? कब मेरे देश के लोग अपना नफ़ा-नुकसान खुद सोचने के क़ाबिल होंगे? कब वे समझेंगे कि देश का और जनता का अपना हित एकता और संगठन में है, घृणा में नहीं। और धर्म के नाम पर लड़ाने वाले लोग आज भी वही हैं, जो पहले साम्राज्य के पिटठू थे।

भाषा, संस्कृति, भावात्मक एकता, प्राचीन इतिहास आदि से संबंधित कितनी ही ऐसी समस्याएं हैं, जिनका हल हमें आसानी से मिल सकता है, बशर्ते कि हम गुलामी के दौर में सीखी हुई ग़लत बातों को छोड़कर, नये सिरे से, ताज़गी से, स्वतंत्र होकर सोचें, और निरपेक्षता के साथ फैसला करें।

लेकिन आमतौर पर मैं यही देखता हूं कि आज़ादी मिलने के बीस साल बाद भी हम उन्हीं रास्तों पर सोच रहे हैं, जो अंग्रेज़ों की देन है। उन रास्तों को छोड़ने की हममें हिम्मत नहीं है। इसीलिए हमारा इतना ज़्यादा समय देश-निर्माण के बजाय आपसी लड़ाई-झगड़े और व्यर्थ की दौड़-धूप में बरबाद हो रहा है।

इंग्लैंड में हिन्दुस्तानी मेहनतकश

दिल्ली के हवाई-अडडे पर टिकट और सामान सम्बन्धी कार्रवाई से निवृत्त होकर मैं बम्बई वाले हवाई जहाज़ की रवानगी का इन्तज़ार कर रहा था। आज भीड़ हद से ज़्यादा थी, जिसका एक विचित्र पहलू था- रोज़ी की खातिर इंग्लैंड जाने वाला जालन्धर के लोग और उन्हें विदा करने के लिए आए हुए देहाती जाट। जगह-जगह टोलियां बनाकर बैठे या खड़े ये लोग अनायास ही मेरा ध्यान अपनी ओर खींच रहे थे। ज़ाने वाले व्यक्तियों ने आज के लिए विशेष रूप से तैयार किए हुए सूट-बूट पहने हुए थे-तीस साल पहले के फैशन के। उन्हें विदा करने के लिए आए हुए व्यक्तियों में ज्यादा संख्या बड़ी उम्र के पुरुषों की थी, जिन्हें देखकर लगता था, जैसे वे सीधे खेतों में से उठकर आ गए हों-मैले कुरते, मैली चादरें, ढीली पगड़ियां, बिखरी दाढ़ियां। उन्हें देखते हुए मुझे अपनी कई फिल्में याद आई, जिसमें बड़ा छोटे भाई की 'ज़िन्दगी बनाने' के लिए हर सम्भव कुर्बानी करता है। हां, स्त्रियां बेशक काफ़ी सज-धज-कर आई थीं- वही तीस साल पहले के फैशन के झिलमिलाते हुए गोटे और सलमे-सितारे वाले सूट, आंखों में सुरमा, गालों पर रूज और होंठो पर लिपस्टिक की मोटी तह। पहली नज़र देखने पर ऐसे लगता था, जैसे वे भी साथ में जाने वाली हों। लेकिन जब कभी उनमें से किसी के सिसक उठने की आवाज़ सुनाई देती, तो लगता कि उनमें से कोई इक्का-दुक्का ही जाने वाली होगी, बाकी सबने तो देखा-देखी ही बनाव-सिंगार किया हुआ है।

मेरे नज़दीक दो पढ़े-लिखे 'जंटलमैन' खड़े थे- काले रंग के, एकदम अप-टू-डेट, कॉण्टिनेण्टल स्टाइल के सूट पहने। उनकी चाल-ढाल में भी बड़ी नवीनता थी। ऐसे लगता था, जैसे कनॉट सर्कस के किसी बहुत बढ़िया होटल के मालिक हों। उनकी बातचीत मेरे कानों में पड़ी।

''भापे, एक तो इन जालंधरियों ने बड़ी गंदगी फैलाई हुई है इंग्लैंड में। नाक कटवा डाला है हमारे हिन्दुस्तान का।''

''पर ब्रिटिश सरकार ने क्या इनका दाखिला बन्द नहीं कर दिया था? एक नया क़ानून जो बना था।''

''नहीं यार, बन्द नहीं किया या, बल्कि रेस्ट्रिक्शन (पाबन्दी) लगाई थी। पर ये लोग कहां बाज़ आने वाले हैं ! यह तो अपना पासपोर्ट भी खुद ही बना लेते हैं।''

उनके लहज़े में बेहद नफ़रत भरी हुई थी, जैसे उन्हें निम्न स्तर के लोगों के अस्तित्व पर ही एतराज़, या जैसे इंग्लैंड कोई देश न होकर होटल या रेस्तरां हो, जो उन्होंने नया खरीदा हो।

मेरा ध्यान फिर उन लोगों की ओर गया, जिनका ज़िक्र-ए-खैर हो रहा था। वे तगड़े-सेहतमंद होने पर भी बड़े दीन-हीन-से बने हुए थे, जैसे अपना कोई दोष छिपा रहे हों। वैसे, अपनी धरती, अपने बीवी-बच्चे छोड़कर सात समुद्र पार जाने के लिए तैयार होना दोष नहीं तो और क्या है? लेकिन सिर्फ़ यही एक कारण प्रतीत नहीं होता था। उस समय तो ऐसे लगता था, जैसे मेरे पास खड़े उन 'भद्र पुरुषों' के दिलों में ही नहीं, हवाई अडडे के पूरे वातावरण में उनके लिए नफ़रत भरी हुई हो। वे जैसे अपने देश की नहीं, किसी दुश्मन-देश की धरती पर आकर खड़े हो गए हों।

'इतने परायेपन और दुत्कारे होने का भाव तो ये शायद लंदन के हवाई-अडडे पर पहुंचकर भी महसूस न करें,' मैंने अपने मन में कहा। तब मेरी कल्पना आज से बीस साल पहले के ज़माने की ओर चली गई, जब मैं खुद इंग्लैंड में रहता था, बी०बी०सी० में काम करता था, और वहां रहने वाले हिन्दुस्तानी मज़दूरों और पैडलरों के साथ मेरा पहली बार वास्ता पड़ा था।

दूसरे विश्वयुद्ध के शुरु के दिन थे वे। रूस अभी युद्ध में नहीं कूदा था। जर्मनी ने इंग्लैंड को गर्दन से पकड़ा हुआ था। लंदन और दूसरे बड़े शहरों पर रोज़ सारी-सारी रात बमबारी हुआ करती थी। हवाई और समुद्री रास्तों पर खतरा बढ़ जाने के कारण बी०बी०सी० के लिए विदेशी कर्मचारियों की जानें कुछ ज़्यादा 'प्यारी' हो रही थीं। हम लोगों को लंदन से लगभग सवा सौ मील दूर ईवशैम नामक एक छोटे से शहर में ले जाकर वहां के लोगों के घरों में पेइंग-गेस्ट के रूप में ठहराया गया था। स्टुडियो शहर के तीन मील दूर चीड़ के पेड़ों से भरी एक सुन्दर पहाड़ी पर बनाये गए थे- एक विशाल इमारत के तहखानों में, जो युद्ध से पहले शायद किसी करोड़पति की आरामगाह थी।

अंग्रेज़ कौम आत्मकेंद्रित और नये प्रभावों को ग्रहण करने से संकोच करने वाली कही जाती है। लेकिन मिडलैंड प्रांत के उस छोटे से शहर में तो अंग्रेज़ों की यह विशेषता जैसे अपनी आखिरी हद को पहुंची हुई थी। दस हज़ार की आबादी थी वहां, और लोग बड़े ही सुशील थे, पर सामान्य जानकारी में कुएं के मेढकों से भी गए-बीते थे। मैं और मेरी पत्नी जिस घर में ठहरे थे, वहां के मकान-मालिक ने एक बार भी लंदन शहर नहीं देखा था। पूछने पर उसने कहा, 'मुझे यहां किस चीज़ की कमी है, जो लंदन जाऊं ?' शेक्सपियर का जन्म-स्थान, स्ट्रेटफोर्ड-आन-एवन भी यहां से नज़दीक ही है। उस शहर में घूमते हुए मुझे एक ऐसा अंग्रेज़ भी मिला, जिसने संसार-प्रसिद्ध 'शेक्सपियर मेमोरियल थिएटर' का नाम पहली बार मेरे मुंह से ही सुना था।

ऐसे संकीर्णता-भरे वातावरण में एकाएक विभिन्न देशों, विभिन्न शक्लों और बोलियों वाले और अधिकतर अविवाहित नौजवानों का आ जाना किसी सामाजिक भूचाल से कम नहीं था। लेकिन कहते हैं कि ज़रूरत पड़ने पर गधे को भी बाप कहना पड़ता है। वैसे, मुसीबत के समय दांत भींच लेना, खुश दिखाई देना और अपने इर्द-गिर्द साहस फैलाना अंग्रेज़ों की एक और जातीय विशेषता मानी जाती है। युद्ध के ज़माने में यह विशेषता भी निखर कर सामने आई थी, कि आज भरपूर तरीके से जी ले, कल पता नहीं क्या हो जाए- यह उनका एक तरह से दृष्टिकोण बन गया था। इसी दृष्टिकोण से अनेक माता-पिताओं ने अपनी बेटियों के रिश्ते ऐसे देशों के नौजवानों के साथ करने क़बूल कर लिए थे, जिनके कल तक उन्होंने नाम भी नहीं सुने थे।

एक रात भरपूर तरीके से जी लेने के इसी सिद्धान्त पर अमल करता हुआ मैं भी अपनी पत्नी से चोरी एक सुन्दर नीलाक्षी की बांह में बांह डालकर शहर से बाहर सैर के लिए निकला हुआ था। पूर्णिमा की रात थी, आसमान निर्मल था और पतझड़ की ऋतु थी। ऐसे लगता था, जैसे ईश्वर ने अलौकिक सुन्दरता से लबालबा भरा हुआ प्यारा मेरे हाथों में थमा दिया हो। लेकिन अंग्रेज़ी कहावत है : "एक के लिए अमृत, दूसरे के लिए ज़हर।" उन दिनों चांदनी रातें बड़े शहरों के लिए बेहद खतरनाक होती थीं। चांद के प्रकाश में दुश्मन के जहाज़ किसी भी समय वहां हमला कर सकते थे।

तीन बड़े शहर, बर्मिंघम, कवैन्टरी और बूस्टर वहां से विभिन्न दिशाओं में बीस-पचीस मील की दूरी पर थे। उनमें से एक पर, हमारे देखते-देखते, खूनी दीवाली शुरु हो गई। हवाई हमला, जो बेहद भयानक और कानों के पर्दे फाड़ देने वाली चीज़ है, दूर से देखने पर कितना सुन्दर और मौन होता है, इतना ज्ञान आज रात मुझे पहली बार हुआ। ऐसा लगता था, जैसे विशेष रूप से हमारे लिए चुम्बन-आलिंगन आदि के आनन्द को बढ़ाने के लिए आतिशबाज़ी का इन्तज़ाम किया गया हो। दुश्मन हवाई जहाज़ों द्वारा फेंके गए अनगिनत लाल, पीले, नीले. हरे 'फ्लेयर' आसमान में जगमगाते हुए फुग्गों की तरह धीरे-धीरे नीचे उतर रहे थे। धरती की ओर से सुनहरी रेखाएँ खींचती हुई ट्रेसर गोलियां ऊपर की ओर जातीं। कभी लगता, जैसे किसी ने अचानक सोन-चूर के ढेर पर पत्थर दे मारा हो। कभी क्षितिज पर जैसे पिघले हुए सोने की लहरें फैल जातीं। धरती पर बिखरे फ्लेयरों की भरमार से अनुमान होता था कि बहुत ज़बरदस्त हवाई हमला हो रहा था और उसमें सैकड़ों नहीं, हज़ारों निर्दोष लोगों की आहुति पड़ रही थी। पर उस समय न मेरा और न ही मेरी साथिन का इस बात की ओर ध्यान गया था। मैं जवान और अल्हड़ था। जीवन मेरे लिए एक नशासा, एक नाटक-सा था। शमां को सहर तक हर रंग में जलते देखना, अनुभवों के सागर को अगस्त्य ऋषि की तरह एक ही सांस में पी जाना-उन दिनों मेरी नज़र में जीवन का एकमात्र आदर्श था।

दूसरे दिन दफ्तर जाने पर पता लगा कि हमला कवैन्टरी पर हुआ था, जो कि इंग्लैंड का सबसे प्राचीन और ऐतिहासिक शहर है। कुछ दिन पहले अंग्रेज़ी हवाई बड़े ने जर्मनी के किसी प्राचीन शहर पर यूं ही शुगल के तौर पर बम्ब गिराए थे। उसके जवाब में जर्मनों ने पूरे कवैन्टरी शहर को तबाह कर दिया था। इतना भयानक हवाई हमला इसके पहले कभी नहीं हुआ होगा। दुनिया भर में सनसनी फैल गई थी। उस दिन बी०बी०सी० के भी प्रत्येक विभाग में एक गम्भीर खामोशी छायी थी। यद्यपि और लोगों ने भी मेरी तरह अपनी व्यस्तताओं में से बेदिली से समय निकालकर उस दर्दनाक दृश्य को देखा होगा, लेकिन तब प्रत्येक व्यक्ति उस असह्य दुःख को किसी हद तक सहने और अपने ग़म और गुस्से के जज़्बों पर क़ाबू पाने की कोशिश कर रहा था। ऐसे लगता था, जैसे उस बर्बरता का बदला लेने और आखिरकार जंग जीतने के फौलादी फैसले का प्रदर्शन करना उस दिन सबके लिए पवित्र कर्तव्य बन गया हो। हमारे सर्विस-डायरेक्टर, सर मैलकम डार्लिंग उस दिन अपने कमरे से बहुत कम बाहर निकले थे। वह जब कभी बाहर आते, तो लगता जैसे जान गाल्सवर्दी के उपन्यास 'फार्साइट सागा' का कोई पात्र उठकर आ गया हो। उनके दिल में उठने वाले तूफ़ान का अन्दाज़ा उनके चेहरे की ज़रा-सी लालिमा या होंठो के मामूली से कम्पन को देखकर लगाया जा सकता था। दोपहर के तीन बजे उन्होंने मुझे अपने कमरें में बुलाया।

"साहनी !" उन्होंने कहा, "मुझे खबर मिली है कि कवैन्टरी में, डनलप और दूसरी कुछ फैक्टरियों में बहुत-से हिन्दुस्तानी मज़दूर काम करते थे। पता नहीं, उनमें से कोई बचा है या नहीं। हो सकता है कि इन्सानी कद्रों-कीमतों की हिफाज़त के लिए लड़ी जा रही इस जंग में सभी लोग शहीद हो गए हों। पर अगर हम उनके चिन्ताग्रस्त परिवारों को रेडियो पर जल्द से जल्द कोई खबर दे सकें, तो यह बहुत उपकार वाली बात होगी। तुम्हारा क्या खयाल है?"

इन्सानी कद्रों-कीमतों की हिफाज़त का ब्रिटिश सरकार को कितना बड़ा फ़िक्र था, इसका सबूत उन्होंने जवाहरलाल नेहरू जैसे 'पापियों' को जेल में बन्द करके पेश किया था। मैं अच्छी तरह जानता था कि सर मैलकम का असली मनोरथ मज़दूरों के घरवालों का फ़िक्र दूर करना नहीं, बल्कि हिन्दुस्तान में बी०बी०सी० के प्रोगाम सुनने वालों की संख्या बढ़ाना था। लेकिन एक व्यक्तिगत लोभ ने मुझे उनकी हां में हां मिलाने पर मज़बूर किया। मैंने कैन्टीन में उड़ती-उड़ती यह बात सुनी थी कि बी०बी०सी० के अनाउन्सरों का एक प्रतिनिधि-मंडल बहुत जल्द 'आंखों-देखे हाल' पेश करने के लिए कवैन्टरी भेजा जा रहा है।

हो सकता है कि सर मैलकम मुझे भी उसमें शामिल करना चाहते हों, मैंने सोचा। उन दिनों जान का खतरा मोल लेना मुझे बहुत अच्छा लगता था। कुछ दिन पहले जब खबर सुनी पत्रकार और कैमरामैन भी भेजे जाते थे, तो मैंने भी झट से अपना नाम सर मैलकम के सामने पेश कर दिया था। तब उन्होंने हंसकर टाल दिया था, लेकिन वह मन-ही-मन जरूर खुश हुए होंगे।

"बहुत अच्छी बात होगी, सर मैलकम !" मैंने बड़े उत्साह से कहा।

और उसके तीसरे दिन कवैन्टरी जाने वाले प्रतिनिधि मंडल के साथ मैं भी सुबह की गाड़ी से रवाना हो गया। पचीस मील का फ़ासला गाड़ी ने तीन या शायद चार घंटे में तै किया। दो-तीन व्यक्तियों को छोड़कर बाकी सभी साथी गैर-अंग्रेज़ थे- लातिन अमरीकी, इस्पानी, इतालवी, मिस्री, मराकी, मलाई, अफ्रीकी। हमें शहर के बाहर ही किसी स्टेशन पर उतार लिया गया। हमारा पथ-प्रदर्शन करने के लिए दो व्यक्ति वहां आए हुए थे। हम उनके साथ कैन्टीन में रूखा-सूखा खा-पीकर शहर में पैदल घूमने के लिए चल पड़े। चारों ओर ऐसी तबाही थी कि देखकर आंखों को यकीन ही नहीं था। सड़क के दोनों ओर दूर-दूर तक टूटी हुई दीवारें और मलबा ही मलबा नज़र आ रहा था, जैसे वैज्ञानिकों ने कोई नया टैक्सिला-हड़प्पा धरती में से खोद निकाला हो। शायद ही कोई मकान सही-सलामत खड़ा दिखाई दिया हो। क़दम-क़दम पर गहरे गडढे थे, जिसमें कीचड़ भरा हुआ था, और पानी के फटे हुए मोटे-मोटे नल दिखाई पड़े रहे थे। सुनसान सड़कों पर वीरानी छाई हुई थी। गम की मारी एक नीम-पागल औरत दिखाई दी, जिसने अपने कपड़े खुद अपने हाथों से फाड़ डाले थे। दो फ़ौजी उसे वहां से पकड़े कहीं लिए जा रहे थे, और वह उनसे छूटने के लिए हाथ-पांव मार रही थी। लेकिन वह मुंह से कुछ नहीं बोल रही थी, और फ़ौजी भी चुप थे। कवैन्टरी पहुंचते ही हमारी टोली पर भी एक अस्वाभाविक-सी चुप्पी छा गई, जैसे हवाई हमले के खतरनाक धमाकों के बाद मामूली-सा शोर भी शहर के ताज़ा ज़ख्मों को छील सकता हो। एक टूटे हुए मकान के बाहर टंगी हुई तख्ती पर चाक से लिखा हुआ था- 'ईश्वर की मार पड़े उस मकीने पर, जिसने ऐसे समय हमारे घर में चोरी की।' दूर सुलगती हुई आग और धुआं अभी तक दिखाई दे रहा था।

हम शहर के बीच के इलाके की ओर जा रहे थे। वह शहर मुझे छोटा-सा लगा। लेकिन उस हालत में उसके बारे में पूरा अन्दाज़ा नहीं लगाया जा सकता था। शायद हमें कवैन्टरी का प्रसिद्ध पुराना गिरजा (कैथीड्रल) दिखाने के लिए ले जा रहे थे, जो हवाई हमले का बुरी तरह शिकार हुआ था। गिरजों, अस्पतालों और स्कूलों का ज़िक्र किए बिना दुश्मन के बहशीपन का बयान कभी भी पूरा नहीं समझा जाता।

हम अभी वहां से काफी दूर थे कि फौज़ी अधिकारियों ने यह कहकर हमें आगे जाने से रोक दिया कि शहर पर फ़ौज की मोहर लग चुकी है और गैर-फौज़ी लोगों के आने-जाने पर मनाही है। हमने उन्हें अपने कागज़-पत्र दिखाए, पर कोई फायदा न हुआ। वे कोई रियायत करने के लिए तैयार नहीं थे। इससे हमने अन्दाज़ा लगाया कि शहर के अन्दर की हालत और भी ज़्यादा बुरी होगी।

सो हम लाचार बने उल्टे पांव चल दिए। हम चुप थे और हमारे अन्दर तलखी थी। भला परवानगी के सारे कागज़-पत्र होने पर भी हमें अन्दर न जाने देना कहां का इन्साफ़ है! हमारे साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया गया, जिसका असली कारण हमारा विदेशी या गुलाम होना ही हो सकता है। फौज़ी अफसर के लिए यह बात असह्य थी कि हमारे जैसे लोग उसके देशवासियों को उस दयनीय हालत में देखें। एक अरबी ने, जो शायद अपने मोटापे के कारण खुद ही हमारा मुखिया बन गया था, यह कहकर बात टाल दी कि हमने ब्राडकास्ट करने लायक बहुत कुछ देख लिया है, बाकी सारा हाल बी०बी०सी० का समाचार-विभाग खुद प्राप्त करके हमें बता देगा। पर मेरी तसल्ली न हुई। दिलेरी दिखाए और खतरे वाला कोई भी काम किए बिना लौट जाना मुझे बिलकुल पसन्द नहीं था।

एक गली के सिरे पर एक गोरा संतरी अकेला खड़ा पहरा दे रहा था। मैं अपनी टोली से कुछ पीछे रहकर उसके पास गया और रोनी-सी सूरत बनाकर जैसे उसकी मिन्नतें करता हुआ कहने लगा, ''मेरा सगा भाई यहां डनलप-फैक्टरी में काम करता था। पता नहीं ज़िन्दा बचा है या नहीं। मैं उसके बारे में पता किए बिना वापस कैसे जा सकता हूं? जिस पर मुसीबत पड़ती है, वही जानता है। किसी दुःखी परदेशी पर रहम करना क्या आपका फर्ज़ नहीं बनता ? किसी एक आदमी के शहर में दाखिल होने से किसी का क्या बिगड़ जाएगा? शायद इस वक्त मैं अपने ग़रीब भाई के किसी काम आ सकूं। कम से कम हज़ारों मील दूर बैठे अपने परिवारवालों को तो कुछ बताने लायक हो सकूंगा।''

संतरी पर कुछ असर होता दिखाई दिया। उसने पूछा, ''यू फ्राम इंडिया? (तुम हिन्दुस्तान से आये हो?)''

''यस।''

''ओ०के०बडी, आई एम नॉट लुकिंग (अच्छा, दोस्त, मैं नहीं देख रहा।)''

पहले तो मैं समझ न सका, पर जब उसने आंख मारी तो मैं समझ गया। फिर मैंने अनपढ़ लोगों के लहज़े में उसे 'थैंक्यू साहब' कहा, और झट से आगे बढ़कर उसकी आंखों से ओझल हो गया। बस, जिधर मुंह था, उसी तरफ चलता गया। अब मैं था और कवैन्टरी शहर की लाश थी। मैं अभी बहुत दूर नहीं गया था कि एक जगह ज़मीन में गड़ी एक तख्ती पर चाक से लिखा हुआ देखा- 'अनेक्स्पलोडिड लैंड माईन' (अविस्फोटित सुरंग)। पढ़ते ही टांगें कांप उठीं। अब किस तरह जाऊं? सुना हुआ था कि पांव का वज़न पड़ते ही सुरंग फट जाती है। कौन जाने, सुरंग किस तरफ़ और कितनी दूर पर थी। पर अब डरकर वापस लौटना भी तो बड़ी शर्म की बात थी। जान का खतरा मोल लेना मैंने खुद ही तो चाहा था। तभी मैं आगे की तरफ़ दौड़ने लगा जैसे सुरंग मेरे पीछे-पीछे आ रही हो।

ऐसे लगा, जैसे मेरे चारों ओर टूटे-जले हुए मकान नहीं, बल्कि कब्रें मुंह फाड़े हुए थीं, जिनमें से मुर्दे 'रोज़े हशर' समझकर ईश्वर के दरबार में अपने कर्मों का हिसाब कराने

के लिए चले गए हों। कहीं कोई आदमी दिखाई नहीं दे रहा था। ज़िन्दा और मुर्दा लोगों को पता नहीं दो ही दिन में कहां छिपा दिया गया था। न कहीं कोई एम्बुलेन्स थी, न कहीं फौज़ी या गैर-फौज़ी सरगर्मी का नाम-निशान था। मैंने सोचा, हो सकता है कि सहायता-केन्द्र शहर के किसी और हिस्से में बनाए गए हों। पर उन तक मैं कैसे पहुंचूंगा?

इसमें शक नहीं कि अंग्रेजों ने हवाई हमलों से बचने के लिए कमाल के इन्तज़ाम किए हुए थे। लंदन, बर्मिंघम, ब्रिस्टल, ग्लास्गो और अन्य कई शहरों में मुझे एक नहीं, अनेक हवाई हमलों का तजुरबा हुआ था। पर मैंने कहीं भी अंधाधुंध भाग-दौड़ नहीं देखी। हैरानी की बात है कि अपनी चार साल की रिहायश के दौरान मैंने न कोई ज़ख्मी आदमी देखा, न कोई लाश देखी। बस, देखते-देखते हालात पर ऐसे क़ाबू पा लिया जाता था, जैसे और कामों की तरह जंग भी साधारण-सी चीज़ हो। ऐसे बढ़िया अनुशासन की दाद दिए बिना नहीं रहा जा सकता।

सुरंग के खयाल से मैं काफी हद तक होश खो बैठा था। बाद में इतना याद रहा कि एक ऊंची जगह पर सही-सलामत खड़े कुछ मकानों को देखकर मैं उनकी तरफ चल दिया था। उनके नज़दीक पहुंचा तो कानों के पर्दे फाड़ देने वाला एक धमाका हुआ, धरती कांपी और दरवाज़ाओं-खिड़कियों के कांचों के गिरने-टूटने की आवाज़ सुनाई दी। और उस ऊंचे स्थान के पीछे, किसी फोड़े में से निकलने वाले मवाद की तरह, गाढ़ा काला-स्याह धुआं धीरे-धीरे आसमान की तरफ उठता हुआ दिखाई दिया। शायद वही सुरंग फटी थी। या शायद कोई और सुरंग फटी हो।

खुद को खतरे में डालना आसान है, पर उसमें से गुज़रते हुए अपने होश-हवास क़ायम रखना आसान नहीं है। सुरंग फटने के बाद तो मैं बिलकुल ही होश खो बैठा था। हिन्दुस्तानी मज़दूरों के पास मैं कब और कैसे पहुंचा, मुझे कुछ याद नहीं। हां, यह याद है कि वहां पहुंचने पर एक ऐसा आश्चर्यजनक दृश्य देखा, जिसकी छाप मेरे दिल पर हमेशा अमिट रहेगी। वहां बहुत सारे हिन्दुस्तानी जमा थे और 'लंगर' (एक साथ मिलकर खाना) लगा हुआ था। बड़े-बड़े तवों पर रोटियां पक रही थीं। खिलाने वाले हिन्दुस्तानी थे, और खाने वाले अंग्रेज़ औरतें, मर्द, बच्चे। और वे सभी हिन्दुस्तानियों की तरह हाथों पर रोटियां रखे खा रहे थे।

दो दिन से शहर को पानी, बिजली, गैस, दूध, डबलरोटी-कोई भी चीज़ नहीं मिली थी। वैसे भी, अंग्रेज़ अपने घरों में सिर्फ एक-दो हफ्ते का ही राशन रखते हैं। पर हिन्दुस्तानियों के यहां आटे से भरी बोरियां थीं, घी था, दालें थी। सो वे अपने पड़ोसी अंग्रेजों को वहां से दूर रिलीफ़-कैम्पों का मोहताज क्यों बनने देते ? उन्होंने पहले उन्हें खिलाया, फिर खुद खाया। उनकी युगों पुरानी सभ्यता ने उन्हें यही सिखाया था!

तब मुझे पहली बार अपने देश और अपने देशवासियों पर बहुत बड़ा गर्व हुआ।

आज पचीस वर्षों के बाद, जब बर्मिंघम और इंग्लैंड के दूसरे शहरों में हिन्दुस्तानी मज़दूरों के साथ अंग्रेज़ मज़दूरों के नसली भेद-भाव और बुरे सलूक की खबरें पढ़ता-सुनता हूं, तो इस बात का अफ़सोस होता है कि उस समय मेरे पास कैमरा नहीं था। अगर कैमरा होता तो मैं जो फ़ोटो खींचता, वे आज के अंग्रेज़ों को दिखा सकता। उस ज़माने में तो काली चमड़ी वाले लोगों के साथ आज से कई गुना बुरा सलूक किया जाता था, क्योंकि तब हमं ग़ुलाम थे। यह कल्पना करना मुश्किल है कि उन दिनों कवैन्टरी के

हिन्दुस्तानी मज़दूरों ने कैसे-कैसे अपमान और अन्याय सहे होंगे। लेकिन मुसीबत के समय उन्होंने सब कुछ भुला दिया था, और अपना मानवीय कर्तव्य याद रखा।

लेकिन फ़ोटो मैं कैसे खींच सकता था? ये पंक्तियां लिखते समय अचानक खयाल आया है कि क्या पता, फ़ौजी कमांडर को शहर के अन्दर हो रहे काले-गोरे के मेल-मिलाप का ज्ञान था, और इसीलिए उसने हमारा दाखिला बन्द किया था। एक तरफ़ से उसने बड़ी सज्ञनता दिखाई थी। आखिर वह भी तो 'इन्सानी कद्रों की हिफ़ाज़त' कर रही ब्रिटिश सरकार का कर्मचारी था।

कवैन्टरी के उन हिन्दुस्तानियों में ज़्यादा गिनती पंजाबियों की थी- खासकर जालंधर के इलाके के लोगों की- सिक्खों, हिन्दुओं, मुसलमानों की।

और फिर ठिगुने-से सरदार अमरसिंह का काला-कलूटा चेहरा मेरी आंखों के सामने आ गया। वह बर्मिंघम शहर का रहने वाला था। किसी हवाई हमले के दौरान उसने अपनी जान की परवाह न करते हुए जगह-जगह आग बुझाई थी। इसके बदले में शहंशाह जार्ज पंचम ने अपने मुबारक हाथों से 'जार्ज क्रास' का तमग़ा दिया था। मेरी कवैन्टरी वाली सफलता से खुश होकर सर मैलकम ने अमरसिंह को बर्मिंघम से ढूंढकर लाने और माइक्रोफ़ोन के सामने खड़ा करने का काम भी मेरे ज़िम्मे लगाया था।

बर्मिंघम ईवशैम से कवैन्टरी जितना ही दूर है। मैं सुबह के ग्यारह बजे अमरसिंह के घर पहुंचा। उसके पास वाले घर बमों ने तबाह कर डाले थे। सीढ़ियां हवा में लटकी हुई प्रतीत हो रही थीं। मैं बहुत सम्भलकर पांव रखता हुआ ऊपर वाली मंज़िल तक गया। दरवाज़ा बन्द था। अन्दर से किसी स्त्री के गाने की ऊंची आवाज़ सुनाई दी। वह 'छई' गा रही थी।

छई रन गई बसरे नूं गई
वे मोड़ीं बाबा डांग वालिया सरदारा
कि तेरियां भुआवां गुड्डियां...छई...

मुझे बड़ी हैरानी हुई। 'छई' गाने वाली यह पंजाबिन यहां कहां से आ गई ? आखिर जब एक अंग्रेज़ स्त्री ने दरवाज़ा खोला तो देखकर मेरी आंखें खुली की खुली रह गईं। उसके दोनों हाथ आटे से सने हुए थे। कमरे की चिमनी में उसने कोयलों वाली अंगीठी सुलगाई हुई थी। बर्तन भी फ़र्श पर उसी तरह रखे हुए थे, जैसे हमारे यहां रसोई में रखे होते हैं। दरवाज़ा खोलकर वह फिर अंगीठी के पास एक छोटे से स्टूल पर जा बैठी और रोटी पकाने लगी। गाने की ही तरह उसका खाना बनाने का ढंग भी बिलकुल पंजाबी किस्म का था। उसी तरह से रोटी चुपड़ती और पतीले में कलछा फिराती। अगर कोई फ़र्क था तो सिर्फ़ उसके रंग और लिबास में था।

''अमरसिंह जी कहां है?'' मैंने पंजाबी में पूछा।

''मैं क्या जानूं कहां हैं, मां अपनी का...'' उसने बड़ी-सी गाली देने का खास आनन्द लेते हुए कहा, ''बैठ जाओ, अभी आता ही होगा।''

उसने जिस धड़ल्ले से पंजाबी में बोलना शुरू किया था, उसे ज़्यादा देर तक क़ायम न रख सकी। या तो उसका शब्दकोश जल्दी खत्म हो गया था, या फिर मुझे उच्च वर्ग का आदमी जानकर उसे अपना आपा छोटा महसूस हुआ था। तब उसने बढ़िया अंग्रेज़ी

में बोलना शुरु किया। उसने मुझे सचेत किया कि मैं कहीं उसे अमरसिंह की पत्नी न समझ लूं। भला उस निकम्मे के साथ कौन शादी करेगा ? वह तो उसकी सिर्फ़ दोस्त है।

कमरे में ज्यादा जगह चारपाइयों ने घेरी हुई थी। चारों तरफ़ गंदगी, सीलन और पसीने की बदबू थी। मैले बिस्तरों पर तीन व्यक्ति मुंह-सिर लपेटे सोए पड़े थे। शायद रात की डयूटी देकर आए थे। वे शाम को उठकर काम पर जाएंगे तो दिन की डयूटी देकर आने वाले उनकी जगह सो जाएंगे। इंग्लैंड के हिन्दुस्तानी मज़दूरों के बारे में जो कुछ सुना था, वह सामने प्रत्यक्ष रूप में दिखाई दे रहा था। कमरे के घुटन-भरे वातावरण में बैठे हुए मुझे ऐसा लग रहा था, जैसे किसी से जादू करके एकाएक मुझे हिन्दुस्तान पहुंचा दिया हो- वहां के जीवन के अभावों, तलखियों और ज़ख्मों-भरे इन्सानी रिश्तों के ऐन बीच में। इंग्लैड में रहते हुए मैं जो कुछ भूल चुका था, सब अचानक याद आ गया। कुछ ही क्षणों के बाद जब सपना टूटा, तो मैंने सुख का सांस लिया। लेकिन उसके बाद फिर कई मौक़ों पर वैसा ही एहसास होता रहा और मैं जैसे हिन्दुस्तान पहुंच जाता रहा। मुझे इंग्लैंड आए हुए अभी एक साल भी नहीं हुआ था। वापस जाने पर जिन हलकों में मुझे अपना नाम रौशन करना था, वहां उस आदमी की कोई कद्र नहीं होती थी, जो इंग्लैंड में कम से कम तीन-चार साल तक न रहा हो।

कुछ देर के बाद दो व्यक्ति वहां आए और मेरी तरफ़ से किसी हद तक लापरवाह बने हुए हुक्का तैयार करने लगे। वे पंजाब के दोआबा इलाक़े के मुसलमान थे। स्त्री उन्हें खाना खिलाने लगी। कहीं यह पांच पांडवों की द्रौपदी तो नहीं ? मैंने सोचा और मुझे अपने इस खयाल पर ग्लानि हुई। तभी अमरसिंह भी आ गया। उसने फ़ायरमैनों वाली नीले रंग की गर्म वर्दी पहनी हुई थी और उसके सिर पर कसकर बांधी हुई छोटी-सी पगड़ी थी। छोटे-से क़द और फुर्तीली हरकतों वाला व्यक्ति था वह। उसे मेरे आने के बारे में पता था, सो डयूटी खत्म होने पर वह कैन्टीन से खा-पीकर आया था और चलने के लिए तैयार था। स्त्री के ज़िद्द करने पर वह मेरे साथ चाय पीने को तैयार हो गया। चाय शर्बत-जैसी मीठी थी, हालांकि उन दिनों शक्कर हासिल करना बहुत मुश्किल था। चाय पीने के बाद हम घर से बाहर निकले। सड़क पर आकर अमरसिंह ने कहा, ''टैक्सी कर लें?''

''मिल जाए तो बहुत अच्छी बात है।''

''मिलेगी क्यों नहीं सुसरी!''

रास्ते में जितने भी अंग्रेज़ हमें मिले, सबने बड़ी नम्रता से अमरसिंह को 'गुड मार्निंग, सिंह!' कहा। क़द छोटा होने के कारण वह ऐसी तेज़ी से चल रहा था, जैसे उसके पांवोंमें पहिए लगे हुए हो। उसी तरह चलता हुआ वह एक मकान के अन्दर गया और काउंटर पर पड़े फ़ोन का चोंगा इसतरह उठाया जैसे खुद उसका फ़ोन हो। दूकान की बूढ़ी मालकिन ने मेरे चेहरे पर हैरानी देखी, तो आंखें मटकाकर हंस दी। कुछ ही देर में टैक्सी आ गई। हम उसमें बैठ गए।

रास्ते में अमरसिंह ने पूछा, ''पैसे कितने दिलाओगे?''

मैं ऐसे सवाल के लिए तैयार नहीं था। मैंने कहा, ''यह तो मुझे पता नहीं। क्या बी०बी०सी० वालों ने तुम्हें लिखा नहीं ?''

''लिखा होता तो तुमसे क्यों पूछता ?''

"मेरा खयाल है कि हम तुमसे पांच या सात मिनट तक बुलवाएंगे और एक मिनट का एक पौंड मेहनताना देने का रिवाज है।"

"यह हम नहीं जानते। हम तो पच्चीस पौंड लेंगे।"

मुझे हैरानी हुई और मैंने सोचा, सरकार का दिमाग़ तो ठीक है?

"यह तो मुमकिन नहीं होगा।" मैंने कहा, "हमारे डायरेक्टर यह मंज़ूर नहीं करेंगे।"

"लेकिन हम पच्चीस पौंड से एक कौड़ी कम नहीं लेंगे।

"ऐसी हालत में, मेरा खयाल है कि ईवशैम फ़ोन कर लेना चाहिए।"

"दूसरे शहर में फ़ोन करना आजकल इतना आसान नहीं है। तुम आराम से बैठो। आखिर मरे क्यों जा रहे हो?" तब उसने ड्राइवर को कहा, "कम आन फ्रेंड, गो ईवशैम।"

मैं उलझन में पड़ गया। पैसों के मामले में सर मैलकम बहुत सख़्त थे। वे तो इस बात पर भी नाक-भौं चढ़ाते थे कि हिन्दुस्तानियों को अंग्रेज़ों के मुकाबले में पैसे दिए जाएं। वे दोनों क़ौमों के लोगों में कुछ न कुछ फ़र्क़ क़ायम रखने की तरकीबें सोचते रहते। पर इधर यह अमरसिंह भी पहले दर्जे का अभिमानी प्रतीत होता था। दो अभिमानियों की टक्कर में कहीं मैं न मारा जाऊं। अगर कोई समझौता न हुआ तो अमरसिंह के आने-जाने का टैक्सी का किराया कौन देगा ? और टैक्सी बिना मीटर के थी। पता नहीं, ड्राइवर कितने पैसे मांगे।

आखिर मैंने कुछ झिझकते हुए अमरसिंह से कहा, "अगर वहां जाकर सौदा न बना, तो टैक्सी का किराया मैं तुम्हें दे दूंगा। उनसे न मांगना ।"

"तुम क्यों दोगे ?" उसने लाल-सुर्ख आंखों से मेरी ओर ऐसे देखा, जैसे इतना बुज़दिल आदमी पहली बार देख रहा हो। "अच्छा, अब ज़रा सो लेने दो। कई रातों से सोया नहीं हूं।"

उसने आंखें बन्द कर लीं और मैं उस मुलाक़ात के बारे में सोचने लगा, जो मुझे माइक के सामने बैठकर उसके साथ करनी थी। कुछ सवाल मैंने पहले सोच रखे थे। शहंशाह जार्ज पंचम के हाथों उसे कब और कैसे तमग़ा प्राप्त हुआ ? उस समय उसके दिल में क्या विचार उठ रहे थे? तमग़ा किस विशेष सेवा के लिए दिया गया था? उस हवाई हमले के दौरान उसने क्या कुछ सोचा था?... बाक़ी बातचीत भी उस सफ़र के दौरान करने का मौक़ा मिल जाता, तो मैं दफ्तर पहुंचते ही कागज़ी कार्रवाई पूरी कर लेता और सारा काम उसी दिन खत्म हो जाता। इस तरह अमरसिंह के रात के ठहरने का खर्च बच जाता, तो सर मैलकम उसे चार-पांच पौंड ज़्यादा देने के लिए मान जाते। कितनी अच्छी बात होती ! लेकिन सरदार जी तो गहरी नींद में डूबे पड़े थे।

पौन घंटे के बाद टैक्सी वुडनार्टन पहाड़ी की चढ़ाई चढ़ती हुई बी०बी०सी० के फाटक पर जाकर रुकी। मैंने अमरसिंह से कहा, 'तुम यहीं बैठो, मैं डिफ़ेन्स वालों से तुम्हारा पास बनवा लूं।"

"नहीं, पहले तुम अन्दर जाकर अपने साहब से पूछ आओ कि उसे पच्चीस पौंड देना मंज़ूर है या नहीं। हम बोलें चाहे पांच मिनट, चाहे एक घंटा। मान गया तो आकर बता देना, वरना हम वापस चल देंगे।"

"नहीं, नहीं, यह क्या बात हुई? तुम अन्दर ज़रूर चलो। यहां बहुत से हिन्दुस्तानी भाई काम करते हैं। उनसे मिलकर तुम्हें खुशी होगी।"

"ओ, तुम समझते क्यों नहीं ? यूं ही ऊल-जलूल बोले जा रहे हो !" अमरसिंह ने मेरी ओर घूरकर कहा, "जैसा कहा है, जल्दी करो।"

फाटक के दफ्तर तक की चढ़ाई चढ़ते समय मैंने खुद को सरदार का चपरासी महसूस किया और जैसा कि मेरा अनुमान था, सर मैलकम सुनकर भड़क उठे और लगे मुझ पर इल्ज़ाम लगाने। गुस्से की हालत में उनके मुंह से रुक-रुककर आवाज़ निकलती थी।

"क्या बेहूदगी है?...क्या मज़ाक है?...क्या कमबख्ती है?... हिन्दुस्तान में ऐसे कमीने को रेडियो वाले दस रुपये भी न दें!...यहां आकर लाट साहब बन जाते हैं। तुम उसे साथ में लाए ही क्यों? वहीं दफ़ा कर देते।"

"पर मैंने उसे साफ़ कह दिया था कि पांच पौंड से ज़्यादा..."

"तुम्हें पहले तीन कहने चाहिए थे। पांच क्यों कहे ? तुम्हें ऐसी बातें करने का तरीक़ा ही नहीं आता। सब चौपट कर दिया। अब उस मरदूद को मेरे सिर पर लाकर खड़ा कर दिया है।"

अब मैं भी सब्र न कर सका और मुंह में जो आया, बोलने लगा। "फ़ीसों के सौदे करना मेरा काम नहीं है। मैं कोई मुंशी-मुनीम नहीं, अनाउन्सर हूं। बी०बी०सी० की बर्मिंघम वाली शाखा को खत लिखकर यह फ़ैसला पहले करना चाहिए था और बाद में मुझे भेजना चाहिए था।"

सर मैलकम को अपनी ग़लती का पहले खयाल नहीं आया था। हिन्दुस्तान से लौटते समय वह पंजाब के गवर्नर थे और मैं गांधी जी के सेवाग्राम में 'नई तालीम' का एक साधारण-सा कर्मचारी। ऐसे काम न सर मैलकम ने पहले कभी किए थे, न मैंने ।

"तो बताओ, अब क्या किया जाए ?" उन्होंने कुछ शांत होकर कहा।

"नहीं मंजूर तो साफ़ इनकार कर दीजिए। वह अपनी मर्ज़ी से आया है, मैं ज़बरदस्ती तो नहीं लाया। वापस चला जाएगा। टैक्सी का किराया मैं उसे अपनी जेब से दे दूंगा।"

"इस बारे में देखा जाएगा। मेरा खयाल है, वह यूं ही अकड़ रहा है। जाकर साफ़-साफ़ कह दो कि हम नियत फीस से ज़्यादा कुछ नहीं देंगे। खुद ही मान जाएगा। साथ में समझाने की कोशिश करना कि ज़्यादा देने का हमें अधिकार नहीं है। जंग का ज़माना है, सो यह एक तरह की सेवा ही है। ऐसी हालत में ज़्यादा मांगना शोभा नहीं देता। जैसे शहंशाह सलामत ने उसे इज़्ज़त दी है, वैसे ही हम भी उसे इज़्ज़त दे रहे हैं।"

"अच्छा, कोशिश करके देखता हूं," मैंने कहा और लौट पड़ा। अभी कुछ ही दूर गया था कि सर मैलकम ने अपने सेक्रेटरी द्वारा कहला भेजा कि अगर कुछ ज़्यादा देना ही पड़े, तो आठ या दस पौंड तक दिए जा सकते हैं।

यह सुनकर मुझे हैरानी हुई और खुशी भी। मैंने जाकर अमरसिंह को बड़े गर्व से कहा कि मैंने बड़े अफ़सर को दस पौंड पर मना लिया है।

अमरसिंह बिगड़ बैठा, "तुम मुझसे चालाकियां क्यों करते हो? सीधा जवाब दो कि पच्चीस मंज़ूर हैं या नहीं ? मंज़ूर न हो तो मैं जाता हूं।"

उसकी वह अकड़ देखकर मेरे मन में उसके लिए इज़्ज़त पैदा हुई। तब मैंने सर मैलकम को फ़ोन पर उसका फैसला सुनाते हुए अपने अन्दर डर के बजाय गर्व महसूस किया। सर मैलकम फिर गुस्से में बोलने लगे। फिर उन्होंने मुझे अपने पास आने के लिए

कहा। मैंने कहा कि सरदार झटपट जवाब चाहता है। तब सर मैलकम ने मुझे फाटक पर इन्तज़ार करने के लिए कहा।

कुछ ही देर में मेरे विभाग का एक हिन्दुस्तानी कर्मचारी उस तरफ आता दिखाई दिया। वह सरकारी कामों में काफ़ी सिद्धहस्त समझा जाता था। मैंने उसे सारी बात बताई तो उसने अमरसिंह को बड़े अपनत्व से बुलाया, जैसे वह उसे बहुत अरसे से जानता हो। ''अजी, क्या बात है, सरदार साहब, किबला आप अन्दर तो तशरीफ़ लाइए, बाक़ी बातें होती रहेंगी। ऐसे क्या रूठ गए हैं आप हमसे। रास्ते की थकान तो उतारिए।''

अमरसिंह पर कोई असर न हुआ। उसने कहा, ''देखो, भाई साहब, तुमको लम्बी बातें करनी आती हैं, हमको नहीं आतीं। बोल दिया कि हमको पच्चीस पौंड मांगता है। देना हो तो दो, वरना तुम अपने रास्ते जाओ, हम अपने रास्ते।''

''हां-हां, तो पच्चीस ही लीजिए न। कम कौन दे रहा है। मैं तो आपको सिर्फ़ बुलाने के लिए आया हूं।''

''अपने साहब से पूछ लिया है?''

''हां-हां, साहब ने ही तो भेजा है मुझे।'' उसने वजद में आए हुए कव्वाल की तरह सिर हिलाते हुए कहा।

और जब अमरसिंह अपनी नीली वर्दी में हम दोनों के बीच जरनैलों की तरह चलता हुआ ऊपर गया, तो सर मैलकम उसके स्वागत के लिए दरवाज़े में खड़े थे। इससे पहले मैंने सर मैलकम को किसी हिन्दुस्तानी के साथ ऐसी इज़्ज़त से पेश आते हुए नहीं देखा था।

मैं उसी साल ईवशैम से स्रोज़बरी शहर में एक टैंक-फैक्टरी का 'आंखों देखा हाल' रिकार्ड करने के लिए जा रहा था। रेलवे कम्पार्टमेंट को गर्म रखने वाली मशीन, जंग में बचत करने के नुक्ते से बन्द की हुई थी। यात्री दो पंक्तियों में आमने-सामने बैठे हुए ठिठुर रहे थे। एक स्टेशन पर एक यात्री कपड़ों की बड़ी-सी गठरी, धोबियों की तरह, फर्श पर रखकर अन्दर आया। उसके बैठने के लिए कहीं कोई जगह नहीं थी। पर जंग के ज़माने में लोगों के दिल उदार बने हुए थे। सामने की सीट के ऐन बीच में कुछ जगह हुई, तो वह किसी न किसी तरह फंसकर वहां बैठ गया। यहूदियों जैसी पीली रंगत थी उसकी। लेकिन उसकी ठुड्डी पर अंकित हरे रंग के छोटे-छोटे बिन्दु देखकर मुझे उसके पंजाबी होने पर शक हुआ। तभी हमारी नज़रें मिलीं तो वह मेरे मन की बात जान गया। सुन्दर चेहरा था उसका और कोमल-से अंग थे। काला ओवरकोट उसे खूब सज रहा था।

''कहां जा रहे हो?'' मेरे मुंह से अनायास निकला।

''किडी मिंस्टर।''

मैं समझ न पाया। वह बोला भी कुछ इस तरह, जैसे गले में कोई नुक्स हो। पर मैंने दोबारा न पूछा। फिर मैंने कुछ देर प्रतीक्षा की कि वह बात आगे चलाता है या नहीं। वह मेरी ओर एकटक घूरता रहा। आखिर उसने दस्तानों में से हाथ निकालकर पांवों में पड़ी कपड़ों की गठरी खोली। सूट के बढ़िया क़िस्म के कपड़ों के टुकड़ों का ढेर लग गया। देखते ही यात्रियों की आंखें जैसे फटी-की-फटी रह गईं। उन दिनों कपड़े का भी राशन हो चुका था और कूपनों पर मिलता था।

"उठा लो एक पीस!" उसने फिर वैसी ही आवाज़ में कहा।

"नहीं, नहीं, यह कैसे हो सकता है! फिर, इस वक़्त तो मेरे पास पैसे भी नहीं हैं।"

"अरे, पैसे कौन मांगता है तुमसे ? आखिर मेरे वतनी हो। उठा लो एक पीस।"

"बड़ी मेहरबानी तुम्हारी, पर तक़ल्लुफ़ की ज़रूरत नहीं।"

"अरे, मैं कब कहता हूं कि तुम्हें कोई ज़रूरत है। चलो, उठा लो अपनी पसन्दका एकपीस।"

इस तरह मेरी मुलाक़ात हुई पैडलर (फेरीवाला) अली से। पराये देश में अपने देश के व्यक्ति को देखकर उसके ज़ज़्बे इतने बेक़ाबू हो गए थे कि मेरे बारे में कुछ भी जाने बिना कि मैं कौन था, क्या करता था, किस शहर का था, हिन्दू था या मुसलमान, वह मुझे अपने प्यार की कोई निशानी देना चाहता था। इस तरह खुलेआम बिना कूपन के कपड़ा लेने-देने के ग़ैर-कानूनी काम का उसे कोई खयाल नहीं था। आखिर मैंने किसी बहाने उसे टाल दिया, तो वह बहुत उदास हुआ, जैसे मैंने उसका अपमान कर दिया हो। इंग्लैंड में आमतौर पर रेलगाड़ियों के बरामदे होते हैं, पर उस गाड़ी का बरामदा नहीं था। और जिस हालत में हम बैठे हुए थे, उस हालत में बातचीत करना आसान नहीं था। सर्दी इतनी ज़्यादा थी कि मेरे दांत बज रहे थे। हम अभी आपस में पूरी तरह परिचित भी नहीं हो पाए थे कि उसका स्थान आ गया। मुझे तब पता लगा कि किडी मिंस्टर एक स्टेशन का नाम है। हमने जल्दी-जल्दी एक-दूसरे को अपने कार्ड दिए और वह अपनी गठरी उठाकर गाड़ी से उतर गया।

इसके लगभग तीन महीने बाद मैं एक हफ्ते की छुट्टी लेकर अपनी पत्नी के साथ स्कॉटलैंड की सैर करने के लिए रवाना हुआ। सामान बांध रहा था कि अचानक अली का कार्ड मेरे सामने आ गया। वह ग्लास्गो में रहता था। मैंने वहां जाकर उससे मिलने का फैसला किया।

एक शाम को, जो बादलों ढके आसमान के कारण रात-जैसी काली बनी हुई थी, हमें ग्लास्गो की जिन कंगाल बस्तियों को देखने का मौका मिला, उन्हें नरक का नाम देना ज्यादती नहीं होगी। अली का पता पूछने के लिए हमने जहां-जहां भी दरवाज़े पर दस्तक दी, पहली नज़र में सीलन-भरे बदबूदार घर, मैले-गंदे बर्तन, कीचड़-सने टाट और कमज़ोर, बेजान-से चेहरे देखे। गुसलखाने और पाखाने पत्थर की दीवारों वाले, बर्फ-से ठंडे, लम्बे बरामदों में पता नहीं कितनी दूर थे। क्या पता, नलों में गर्म पानी भी था या नहीं, इंग्लैंड का मालिक-मकान भी उतना ही निर्दयी है, जितना हिन्दुस्तान का- यह बात मैं अपने तजुरबे से जान चुका था। इंग्लैंड के गरीब वर्ग के लोगों के लिए एक-एक, दो-दो महीने न नहाना बहुत मामूली बात है। पर वहां जो ग़रीबी देखने में आई, वह इतनी भयानक थी कि हमने उसकी कभी कल्पना भी नहीं की थी। यकीन ही नहीं आता था कि ये लोग भी उस क़ौम के लोग है, जिसके साम्राज्य में सूरज कभी डूबता नहीं है।

उस ज़माने में मेरे विचारों पर अभी मार्क्सवाद का प्रभाव नहीं पड़ा था। समाज की आर्थिक और राजनीतिक असलियत से हम दोनों तब तक अनजान थे। हमें नहीं पता था कि इंग्लैंड के अल्पसंख्यक और हिन्दुस्तान के बहुसंख्यक लोगों की ग़रीबी एक ही लड़ी के दो सिरे हैं। दोनों देशों में लोगों के अभावों-भरे नीरस जीवन का जिम्मेदार लूट-खसोट

करने वाला पूंजीवादी समाज है, मनुष्य का भाग्य नहीं। थोड़े से लोगों की जेबें भरने के लिए ज़्यादा लोगों की जेबें खाली की जाती हैं, लड़ाइयां लगती है, देश जीते जाते हैं। जीवन के असह्य अभावों से तंग आकर ही ग़रीब गोरे लोग ब्रिटिश फौज़ में भर्ती होते हैं, विदेशों में जाकर अपने-जैसे ग़रीब लोगों पर गोलियां चलाते हैं, और खुद भी गोलियों का शिकार होते हैं। इसी तरह, हिन्दुस्तानी मज़दूर अपने पेट की आग बुझाने के लिए घर-बार छोड़कर इंग्लैंड चला जाता है। ग़रीबी हर जगह की बड़ी भयानक, कुरूप और निन्दनीय है। पर यूरोप के लेखक और पत्रकार आमतौर पर हिन्दुस्तान की ग़रीबी की तसवीरें खींचते समय ग्लास्गो, लंदन, बर्मिंघम आदि की कंगाल बस्तियों को भूल जाते हैं। वे भूल जाते है कि हिन्दुस्तान की सड़कों और बाज़ारों में दिखाई देने वाली ग़रीबी उतनी ही भयानक चीज़ है, जितनी कि अंधेरी और जर्जर चारदीवारियों में पलने वाली इंग्लैंड की ग़रीबी। वैसे हिन्दुस्तान जैसी जलवायु वाले देश में ग़रीबी को सहना यूरोप के देशों के मुकाबले में काफ़ी आसान है।

दिल बहुत खराब हुआ। मैंने उस दुर्गन्ध-भरे इलाके में से जल्द से जल्द निकल जाना चाहा। तब इस बात की किसी हद तक कमी नगी-भरी खुशी भी महसूस हो रही थी कि मैं गोरी कौंम के बड़प्पन का जादू अपनी आंखों के सामने टूटता हुआ देख रहा था। तभी सामने से अली आता हुआ दिखाई दिया- वही ओवरकोट पहने, जैसे किसी नाच-पार्टी से आ रहा हो। उसने मुझे देखते ही पहचान लिया और ऐसे बगलग़ीर होकर मिला, जैसे सगे भाई मिलते हैं। उसने कुछ पी हुई थी। और जब उसने वहां के खास लहजे में अंग्रेज़ी में बोलना शुरु किया तो हमारे लिए समझना मुश्किल हो गया कि वह क्या कह रहा है। उसका घर वहां से ज़्यादा दूर नहीं था, और पड़ोसियों के घरों के मुकाबले में साफ़-सुथरा था। उसकी पत्नी ऐना को देखते ही हम जान गए कि वह घर ऐसे दो प्रेमियों का घर है, जो एक-दूसरे पर जान कुर्बान कर सकते हैं। वह अली की तरह ही बड़ी कोमल और कमज़ोर-सी थी। साफ़ दिखाई दे रहा था कि जंग से पहले की ग़रीबी का असर उसके शरीर और मन पर से अभी तक पूरी तरह मिटा नहीं था। उसकी बड़ी बहन जो ऐलीना, किसी नज़दीक के गांव में रहती थी, उसके यहां दो-चार दिन के लिए आई हुई थी। ऐना कद की जितनी छोटी थी, उसकी बहन ऐलीना उतनी ही ऊंची-लम्बी और हृष्ट-पुष्ट थी। हंसती, तो उसके दोनों कपोलों में गडढे पड़ जाते, और उसका चेहरा लाल-सुर्ख हो जाता। उसने अपने सिर पर साधारण-सा सफेद रंग का रूमाल बांधा हुआ था, जिस तरह कि रूसी किसान औरतें बांधती हैं।

हम वहां दो घंटे तक ठहरे। अली ने अपने हाथों से बड़ा स्वादिष्ट पंजाबी क़िस्म का खाना बनाकर हमें खिलाया। अगले दिन सुबह हमें वहां का प्रसिद्ध सरोवर 'लाख लोमांड' देखने के लिए जाना था। ऐलीना का गांव रास्ते में पड़ता था। उसने झट अपना प्रोग्राम बदलकर हमारे साथ अपने गांव तक चलने का फैसला सुना दिया। हमने उसे बहुतेरा कहा, अली द्वारा भी कहलवाया कि वह हमारी खातिर अपना प्रोग्राम न बदले, पर उसने एक न सुनी। हम उसके गांव में से बिना जलपान किए गुज़र जाएं, यह उसके लिए शर्म वाली बात थी।

सो, अगले दिन हमने ऐलीना का गांव देखा। वह गांव हमें अंग्रेज़ी गांवों से कुछ भिन्न और पंजाबी गांवों से किसी हद तक मिलता-जुलता-सा लगा। घरों की दीवारें मिटटी

से पुती हुई थीं। कच्ची गलियां थीं और चौड़ी नालियां। ऐलीना ठुमकती, नाचती हुई कहीं से ताज़ा अंडे लाने के बहाने, सारे गांव में हमारे आने की खबर दे आई। कुछ ही देर में लोग हमें मिलने, छोटे तोहफ़े देने, और घर बुलाने के लिए वहां आने लगे। ऐलीना इतनी खुश थी, मानो उसके समधी उसके यहां आ गए। घर में वह अकेली ही थी। शायद वह शादीशुदा नहीं थी, या शायद उसका पति जंग पर गया हुआ था। इस बारे में हमने कुछ न पूछा।

स्कॉट और अंग्रेज़ दो अलग-अलग क़ौमें हैं, यद्यपि हिन्दुस्तान में वे अपना फ़र्क मिटा देते हैं। हमने सुना हुआ था कि स्कॉटलैंड के लोग अंग्रेज़ों के मुकाबले में ज्यादा स्निग्ध और अच्छे व्यवहार वाले लोग हैं। पर वे इस तरह हमारे साथ पेश आएंगे, यह हमने सोचा तक नहीं था।

उस दिन से मुझे ऐसा महसूस होने लगा, जैसे हिन्दुस्तानी मेहनतकशों, मज़दूरों और फेरीवालों का वास्ता अंग्रेज़ों के ऐसे वर्ग के लोगों से पड़ता है, जो धरती के निकट हैं, और जहां मानवीय सम्बन्ध अधिक स्वाभाविक होते हैं।

जर्मनी ने रूस से जंग छेड़कर सन १६४२ के अन्त तक अपनी हालत बहुत ज़्यादा खराब कर ली थी। इंग्लैंड के शहरों को अब दिन के समय होने वाले हवाई हमलों से छुटकारा मिल गया था। बी०बी०सी० के विदेशी कर्मचारी भी धीरे-धीरे लंदन वापस आ गए। अब मुझे अपने 'वतनियों' (हिन्दुस्तानी मजदूरों और फेरीवालों को प्रायः इस नाम से बुलाया जाता था) से मिलने-जुलने के खुले मौके मिलने लगे।

ईस्ट एंड (लंदन का गरीब इलाका) में एक सरदार और उसकी पत्नी ने 'ढाबा' (सस्ता-सा होटल) खोला हुआ था। बिलकुल पंजाबी किस्म का वातावरण था वहां का। साफ़-सुथरा और अपनत्व-भरा। सरदार को मुनाफा कमाने के बजाय सेवा करने का शौक़ ज्यादा था। एक समय खाना खाने का बंधा-बंधाया रेट था, अढ़ाई शिलिंग- चाहे कोई एक रोटी खाए, चाहे दस। हिन्दुस्तानी रेस्टरां वेस्ट एंड (लंदन का अमीर इलाका) में भी थे- बहुत शानदार और तड़क-भड़क वाले। लेकिन न तो वहां का खाना स्वाद था, न चीज़ों की कीमतें जेब को रास आने वाली थीं। कोई चीज़ थोड़ी-सी भी ज़्यादा मंगानी पड़ती तो हाथ अनायास ही जेब में पैसे टटोलने लग जाता।

उस ढाबे पर खिलाने वाले 'वतनी' की तरह ही खानेवाले 'वतनियों' का भी सलूक खुलदिली का सबूत देता था। वहां बैठने पर अपने देश में बैठे हुए होने का अहसास होता था। इन मेहनतकशों को इंग्लैंड आने में कोई बड़प्पन महसूस नहीं होता था। और न ही वे खुद को किसी मज़हबी ढांचे में ढालने के इच्छुक थे। वे जो कुछ थे, और जैसे थे, उससे सन्तुष्ट थे। अपनी भाषा और अपने रहन-सहन से उन्हें गहरा प्यार था, और उस पर गर्व भी था।

उस ढाबे पर मेरे-जैसे मध्यवर्गीय सुशिक्षित हिन्दुस्तानी भी जाते थे। लेकिन उनकी मनोवृत्ति कुछ और तरह की होती। कई सिर्फ़ इसलिए आते कि वहां खाना सस्ता मिलता था। उनकी आर्थिक स्थिति चाहे कितनी भी बुरी क्यों न हो, वे अपने उच्चवर्गीय होने का अहंकार न छोड़ते। वे अजनबियों की तरह जाते, और अजनबियों की तरह खा-पीकर चले आते।

दूसरी क़िस्म के लोग वे थे, जो अपनी क़िफ़ायतदारी पर कभी शुगल और कभी देशभक्ति या प्रगतिशीलता का गिलाफ चढ़ाते ले अधिकतर अंग्रेज़ों के साथ घी-खिचड़ी

होने और हिन्दुस्तानियों से दूर रहने की कोशिश करते। वे समझते कि अंग्रेज़ों की नज़र में वे जितना ज़्यादा परवान चढ़ेंगे, उतना ही वे हिन्दुस्तान का सिर ऊंचा करेंगे। हूबहू अंग्रेज़ों की तरह बोलना और लिखना भी उनकी नज़र में हिन्दुस्तान के गौरव को बढ़ाने वाली बात थी। लेकिन कभी वे इस आडम्बर से ऊब भी जाते, और उन्हें अपनी बोली और अपने ढंग से उठने-बैठने और खाने-पीने की ज़रूरत सताने लगती। तब वे टोलियां बनाकर उस ढाबे पर जाते। कभी अपने अंग्रेज़ दोस्तों को भी साथ लेकर जाते- 'असभ्य' स्वादों को चखने के लिए 'सभ्य' जीवन की उकताहटें दूर करने के लिए। वहां वे हाथ से खाते, निःसंकोच होकर अंगुलियां चाटते, ऊंची आवाज़ में, बोलते और अपने 'देसी' भाइयों के साथ बगलगीर होते। कभी-कभी वे जोश में आकर हाकिमों को गालियां भी देते, आज़ादी के आन्दोलन का समर्थन करते, और संसार में होने वाली इन्क़लाबी तबदीलियों के बारे में भाषण देते। 'वतनी' उनकी बातें बड़े सत्कार से सुनते और उनसे प्रभावित भी होते। उन्हें अपने अशिक्षित होने का उतना ही विश्वास था, जितना भाषण देने वालों के सुशिक्षित और सुयोग्य होने का। उन्हें विश्वास था कि इंग्लैंड में ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कर ये लोग अपने देश को अंधेरे में से निकालकर प्रकाशमय रास्ते पर चलाएंगे। लेकिन इस सब कुछ के बावजूद वातावरण में तनाव-सा पैदा होने लगता, और दो विभिन्न वर्गों के लोगों में खाई पैदा होने लगती।

सरदार के ढाबे पर स्थानीय गुरुद्वारे के ग्रंथी, सरदार बुद्धसिंह से मेरी जान-पहचान हुई। एक दिन उन्होंने मुझे गुरु नानक के जन्म-पर्व पर आने के लिए मेरे दफ्तर के पते पर निमंत्रण-पत्र भेजा, जो सबसे पहले सर मैलकम के हाथ लगा। अपनी आदत के अनुसार उन्होंने मौके का फायदा उठाने का झट फैसला कर लिया और मेरे साथ बात करने के पहले ही गुरुद्वारे के प्रबन्धकों से कार्यवाही रिकार्ड करने की इजाज़त ले ली। बाकी सारा प्रबन्ध भी उन्होंने अपने सेक्रेटरी द्वारा पूरा कर लिया। मैं नियत समय पर रिकार्डिंग विभाग के दो अंग्रेज़ कर्मचारियों को साथ लेकर गुरुद्वारे पहुंचा। उस दिन बर्फ पड़ रही थी। सीढ़ियां चढ़ते समय बूट उतारना और नंगे सिर पर रूमाल रखना मेरे साथियों को बड़ा कष्टमय और हास्यास्पद लगा। गुरु ग्रंथ के अखंड पाठ का 'भोग' पड़ने वाला था। रिकार्डिंग शुरु की गई। कुछ देर के बाद बुद्धसिंह ने उठकर 'अरदास' (प्रार्थना) करनी शुरू की।

मैं जब बहुत छोटा था, तो मुझे मां या बुआ कभी-कभी गुरुद्वारे ले जाया करती थीं। मुझे याद है कि वहां मैंने कभी उकताहट महसूस नहीं की थी, बल्कि वहां मां की गोद में बैठने जैसा स्निग्ध-सा एहसास होता था और मैं सोचा करता था कि वहां कीर्तन करने वाले रागी हमेशा नेत्रहीन क्यों होते हैं। बाद में हमारे घर में आर्य-समाजी प्रभाव बढ़ जाने के कारण स्त्रियों ने गुरूद्वारे जाना छोड़ दिया था। सो गुरुवाणी, गुरुमुखी लिपि, पंजाबी साहित्य आदि से बहुत समय तक मैं कोरा ही रहा। मुझे नहीं पता कि 'अरदास' क्या होती है। जब बुद्धसिंह ने अरदास में शहीदों के नाम लेने शुरु किए, तो सुनकर मेरे रोंगटे खड़े हो गए और मेरे अंगों में सिहरन होने लगी। हर बार वाक्य के अन्त में जब वह कहते, "इनकी कमाई की ओर ध्यान करके बोलो खालसाजी श्री वाहे गुरु !" और नगाड़े पर चोट पड़ती, तो मेरा खून जोश से खौलने लगता। उस दिन बुद्धसिंह पता नहीं किस मूड में थे कि उन्होंने सिर्फ़ सिख इतिहास के शहीदों के ही नाम नहीं लिए, बल्कि वर्तमान युग के बहादुरों, कूकों, गदर-पार्टी के वीरों, गुरू के बाग के मोर्चों के अकालियों,

शहीद भगतसिंह और उनके साथियों आदि के भी नाम लिए। मेरे लिए अपने जज़्बात को काबू में रखना मुश्किल हो गया। बुद्धसिंह का शायद यही मनोरथ था। उस दिन उन्होंने मुझे देखते ही मुंह मोड़ लिया था, जिससे मैं समझ गया था कि मेरा वहां बी०बी०सी० के प्रतिनिधि के रूप में आना उन्हें अच्छा नहीं लगा था। नाराज़गी ज़ाहिर करने का उनके पास शायद यही एकमात्र तरीका था। मुझे ऐसे लगा, जैसे वह एक अरसे से मेरी सोई हुई आत्मा को झकझोरकर जगा रहे हैं। भला यह कैसा अनोखा मज़हब है ! मैं हैरान बना सोच रहा था।

रिकार्ड की गई अरदास में से 'खतरनाक' हिस्से काट-छांट-कर प्रोग्राम बड़ी कुशलता से ब्राडकास्ट किया गया। उसके बाद मैंने बुद्धसिंह जी से सिख-पंथ के बारे में बहुत-सी बहुमूल्य बातें जानीं। उनकी बताई कई बातें मुझे आज भी याद हैं।

''पंजाबी व्यक्तिगत तौर पर हिन्दू, सिख, या मुसलमान हो सकता है, पर पंजाबी किरदार (व्यक्तित्व) का कोई मज़हब नहीं है, वह सब पंजाबियों का सांझा है, और इस पंजाबी किरदार का निर्माण करना ही सिख गुरुओं और खालसा पंथ की सबसे बड़ी देन है।'' उन्होंने मुझे रजनी पामदत्त की पुस्तक 'इंडिया टुडे' और कई और बढ़िया राजनीतिक पुस्तकें पढ़नेके लिए दीं। यह भी मुझे उन्हीं से पता लगा कि कैनेडा, उत्तरी अमरीका और यूरोप में हिन्दुस्तान की आज़ादी की खातिर अपना सब कुछ कुर्बान करने और फांसी पर झूलने वाले बागियों में बहुत बड़ी संख्या जालंधर के मज़दूरों और फेरीवालों की थी।

एक दिन मैं बस-स्टॉप पर खड़ा था कि मुझे लगा, जैसे बुद्धसिंह एक नये रूप में मेरे पास से होकर गुज़रे हैं। सिर के बाल, दाढ़ी-मूंछें- सब कुछ सफ़ाचट था। सिर पर टेढ़ी करके रखी हुई फ़ैल्ट हैट थी। नीला डबलब्रेस्ट ब्लेज़र और फ्लैनल की पैंट। आंखों को यकीन न आया। यह कैसे हो सकता? बुद्धिसिंह को तो अपने धर्म पर इतना गर्व था। फिर वह गुरुद्वारे के ग्रंथी थे। शायद उनसे मिलता-जुलता कोई आदमीहोगा। लेकिन उस आदमी ने जाते हुए मेरी ओर मुड़कर देखा भी तो था।

अगले इतवार को ढाबे वाले सरदार के मुंह से सुना कि बुद्धसिंह खुद भी एक इन्क़लाबी थे, और अब ज़रूरत पड़ने पर उन्होंने गुप्तवास कर लिया था।

ध्यान फिर दिल्ली के हवाई अडडे की ओर लौट आया। आज फिर 'वतनियों' का एक समूह पराये देशों के कारखानों में पसीना बहाने और कंधों पर गठरियां उठाकर फेरी लगाने के लिए रवाना हो रहा था। कितना प्यारा लगता था 'वतनी' शब्द। क्या आज के अमरसिंह और अली भी इस शब्द का प्रयोग करते होंगे? यह कैसे हो सकता है, जबकि सुशिक्षितों ने, जिन्होने कि मूर्ख जनता को रौशन रास्तों पर चलाना था, वतन के दो टुकड़े करा दिए हैं। अब अमरसिंह हिन्दुस्तानी है, और अली पाकिस्तानी। आज़ादी हासिल करने के लिए दोनों ने एक-दूसरे के पेट में कितने गहरे छुरे घोंपे थे। पर आज़ादी मिली कैसे? आज़ादी मिलने के सतरह साल बाद भी दोनों को उसी तरह अपने घरवालों को रोते छोड़कर रोज़ी कमाने के लिए सात समुद्र पार जाना और गोरे मज़दूरों की घृणा का पात्र बनना पड़ता है, बल्कि अब तो वे दो तरह से दुःखी बन गए हैं- एक, अपने देश में फ़ालतू, दूसरे, पराये देश में जाकर अपने देश की 'नाक कटाने वाले'।

लाउडस्पीकर पर किसी सुशिक्षिता की आवाज़ आई- ''मे आई हैव युअर काईंड अटैन्शन, लेडीज़ एण्ड जन्टलमॅन ! इंडियन एयरलाइन्ज़, अनाउन्सिज़ द डिपार्चर ऑफ एअर कैरावैल फ्लाइट टू बौम्बे । द पैसेन्जर्स...''

और फिर इस घोषणा का शुद्ध अनुवाद शुद्ध अंग्रेज़ी लहजे में पेश कर उसने भारत के गौरव को चार चांद लगाए। "कृपया सुनिये जी। इंडियन एअरलाइन्स का कैरावैल विमान अब बाम्बे रवाना होने को तैयार हाये। यात्रियों से प्रार्थना की जाती हाये कि वोह विमान पर पधारें।"

मैं जब कैमरा और हैंड-बैग कंधे पर लटकाकर, विमान की ओर जा रही क़तार में शामिल हुआ तो इस प्रकार की एक और सुशिक्षिता का चेहरा मुझे याद आया, जिसे कुछ साल पहले मैंने हांगकांग से बम्बई आते समय देखा था। एअर इंडिया के हवाई जहाज़ में वह सुन्दर एअर-होस्टेस लचक-लचककर चलती हुई उनके दिलों में जैसे आग भड़का रही थी। गुलाब और रंगत थी उसकी, और ऐसी अंग्रेज़ी बोलती कि अंग्रेज़ों को भी मात करती थी। सो, वह विदेशियों की प्रशंसा का पात्र क्यों न बनती, जोकि उसके लिए जीवन में सबसे बड़ी खुशी और गर्व की बात थी। सिर्फ़ एक चीज़ उसका मज़ा खराब कर रही थी, और वह थी हवाई जहाज़ में उसके कुछेक देशवासियों का बैठे होना।

मेरे दायीं ओर, बीच के रास्ते के दूसरी तरफ, एक बहुत ही बूढ़ी उम्र के सिख बुज़ुर्ग बैठे थे। उनका रंग यूरोपीय लोगों जैसा गोरा था। दूधिया सफेद दाढ़ी और कबरी आंखें। अगर सिर पर पगड़ी न होती तो उन्हें हिन्दुस्तानी मानना मुश्किल हो जाता। लेकिन उस समय उनकी नीले रंग की पगड़ी उनके लिए कैसी मुसीबत का कारण बनी हुई थी, पर उन्हें पता नहीं था।

मैंने देखा कि वे बार-बार होस्टेस का ध्यान अपनी ओर खींचने की कोशिश कर रहे थे, पर वह थी कि लापरवाही से उनके पास से गुज़र जाती थी। मैं खुद भी तो सुशिक्षित वर्ग का था। उधार लिए हुए अंग्रेज़ी शिष्टाचार का कैदी। सो व्यर्थ में किसी के मामले में दखल देना असभ्यता थी। मैं काफ़ी देर तक खुद को यह कहकर तसल्ली देता रहा कि शायद मुझे ही गलती लग रही है। लेकिन फिर भी महसूस कर रहा था कि सरदार जी की तबीयत ठीक नहीं है, और उन्हें किसी की मदद की ज़रूरत है। शायद हवाई सफर उन्हें रास नहीं आ रहा था, या शायद वह बीमार थे। उन्होंने जो बोझिल ओवरकोट पहना हुआ था, वह उतारा नहीं था, हालांकि हवाई जहाज़ के अन्दर हवा काफी गर्म थी।

एक बार मैंने होस्टेस को उनके पास एक क्षण के लिए रुकते हुए देखा और उसने पूछा, "तुमको क्या मांगता?" उसके लहज़े में तिरस्कार था।

सरदार जी ने या तो जवाब नहीं दिया, या वह सुन न सके। तब उसने यही सवाल ऊंची आवाज़ में अंग्रेज़ी में दोहराया और फिर जैसे सभी यात्रियों से सहानुभूति की याचना करती हुई वह कंधे हिलाकर चली गई।

तभी मैंने आगे बढ़कर सरदार जी से पंजाबी में पूछा, "आपको क्या चाहिए, सरदार जी?"

"कॉफ़ी ।" उन्होंने मद्धिम-सी आवाज़ में कहा।

होस्टेस विदेशियों को मुसकराहटें बांटती हुई जब फिर वहां से गुज़री, तो मैंने उसे नम्रता से कहा, "दिस जन्टलमैन वान्टस ए कप ऑफ कॉफी । (इन सज्जन को एक कप कॉफी चाहिए।)"

वह जवाब में क़ातिलाना अन्दाज़ में देखती हुई बोली, "आई हैव आस्कड हिम सो मैनी टाइम्ज़, बट ही डज़न्ट से एनी थिंग। (मैं कितनी बार पूछ चुकी हूं, पर यह कुछ बोलते ही नहीं।)" तभी वह कर्मचारियों वाले कैबिन में ग़ायब हो गई।

काफ़ी समय बीत गया। वह जब भी आती, किसी को ह्विस्की, किसी को सिगरेट, किसी को मुसकराहट देकर चली जाती। लेकिन वह कॉफी न लाई। सरदार जी की हालत खराब होती जा रही थी। उन्होंने आंखें बन्द कर सिर पीछे की ओर डाल दिया था। उनके रक्तहीन चेहरे पर ठंडा पसीना चमक रहा था। मेरे अन्दर गुस्सा भड़क उठा। अगर उनकी जगह कोई अंग्रेज़ या अमरीकी होता, तो वह चाहे गूंगा, बहरा, अन्धा क्यों न होता, होस्टेस एअर इंडिया की लाजवाब नम्रतापूर्ण सेवा का नया स्तर कायम करके दिखाती। आखिर मुझसे रहा नहीं गया, और मैं उठकर होस्टेस के पीछे कैबिन में चला गया, और जो मुंह में आया, लगा ऊंची आवाज़ में बोलने।

''लुक, यू आर इंडियन, दिस इज़ एन इंडियन प्लेन, इज़ इट नॉट ए शेम, दैट यू ट्रीट ए हेल्पलेस ओल्ड कंट्रीमैन सो शैबिली! (देखिए, आप हिन्दुस्तानी हैं, यह हवाई जहाज़ हिन्दुस्तानी है, आपको शर्म नहीं आती एक बूढ़े लाचार हमवतन के साथ ऐसा घटिया सलूक करते हुए।)''

खुशक़िस्मती से मैं फ़िल्म-अभिनेता था। एक-दो अफ़सरों ने मुझे झट पहचान लिया और पूरे ध्यान से मेरी शिकायत सुनी। होस्टेस ने भी सुनी, और सारा समय मेरी ओर इस तरह आंखें फाड़े देखती रही, जैसे मैं चिड़ियाघर का कोई बहुत ही अनोखा जानवर था।

सरदार जी को कॉफी दी गई तो उन्होंने जेब से एक-दो गोलियां निकालकर खायीं। उनकी तबीयत कुछ सुधरी।

''कहां से आ रहे हैं, सरदार जी?'' मैंने उनसे पूछा।

''कैनेडा से।''

''वहां रिहायश है, या किसी काम से गए थे?''

उनके होंठों पर हल्की-सी मुसकराहट आई। ''वहां तो सारी उम्र गुज़ार दी है। अब मरने के लिए अपने वतन जा रहा हूं।''

मैं हवाई जहाज़ की सीढ़ियों के पास पहुंच गया। वहां स्वागत करने के लिए एक प्रियदर्शिनी होस्टेस खड़ी थी- सिर से पांव तक नकली अंग्रेज़ीपन का ज़िरहबख्तर पहने। मेरे आगे जालन्धर के दो सरदार खड़े थे। उन्हें देखते ही होस्टेस ने रोबदार नम्रता से कहा, ''नो प्लावर्ज प्लीज़।''

दोनों सरदारों ने रुककर अपने गलों में से फूलों के हार उतारे, जो उनकी मां-बहनों और परिवार के अन्य व्यक्तियों ने उन्हें पहनाए थे, और एक कोने में रखकर हवाई जहाज़ में दाखिल हुए। मेरी सीट उस सीढ़ी के पास ही थी। ज्यों-ज्यों और 'वतनी' आते गए, सीढ़ी हारों और गुलदस्तों से भरती गई। अब पीछे से आने वाले यात्रियों के लिए उन पर पांव रखकर गुज़रने के सिवा और कोई चारा नहीं था। और उनमें वे दो 'जन्टलमैन' भी थे, जिनकी बातों से यह सारा क़िस्सा शुरु हुआ था।

जलते हवाई जहाज़ों की दीपावली

एक सप्ताह हो गया है हमें इस नये मकान में रहते हुए। जिस समय पहले यहां कदम रखा था, दिल बैठ-सा गया था। इस घर का उन अमीर जगहों से कोई मुक़ाबला नहीं, जिनमें हम अभी तक इंग्लिस्तान में रहते आए हैं। हमारा कमरा बहुत छोटा-सा है, जिसके ऐन बीच कमरे को भरता हुआ-सा, एक चौड़ा पलंग है। बिस्तर का बीच का भाग उभरा हुआ है। सोते समय हम डरते रहते हैं कि कहीं फिसलकर फर्श पर न आ गिरें। इसके अलावा बिस्तर में गढ़े हैं, जो रजाई के नीचे छिपे रहने की वजह से दिखाई नहीं देते। सुबह उठने पर रीढ़ की हडडी नीचे से ऊपर तक दर्द करती है। मगर यह 'कड़कन' बुरी नहीं लगती, क्योंकि इसी से अन्दाज़ा होता है कि रात हम सोए हैं- अर्थात सोना सामान्य की बजाय असामान्य क्रिया बन जाता है। सिरहाने वाली दीवार पर बहुत सारे कार्ड एक फ्रेम में जुड़े हुए हैं। तसवीरों के ऊपर एक बड़ा-सा शीर्षक है- ''ईश्वर प्रार्थना स्वीकार करता है।''

प्रत्येक कार्ड पर उसी तरह कुछ न कुछ लिखा हुआ है। लिखाई के अनुकूल ही तसवीरें बनी हुई हैं, जो सब हज़रत ईसा के जीवन की किसी न किसी घटना पर आधारित हैं। यदि किसी कार्ड पर ईसा की तसवीर नहीं है, तो किसी बच्चे की है। ऐसा लगता है कि कि बढ़े दम्पति को बच्चों की तसवीरों का बड़ा शौक़ है। कमरे में दो और तसवीरें है। एक बड़ी-सी, घटिया ढंग की तसवीर है, इश्तहार-सी, जिसमें एक बच्चा अपनी एक बगल में कुत्ते का पिल्ला और दूसरी में बिल्ली का बच्चा लिए हुए एक नीले रंग के गद्दे पर लेटा हुआ है। बच्चे की मोटी-मोटी, गुलाबी टांगों में मासूमियत नहीं है। वे किसी 'कोरस गर्ल' की-सी टांगें लगती है। बच्चे की मुसकान में भी कोई मासूमियत नहीं है। साफ़ नज़र आता है कि चित्रकार में कोई प्रवीणता नहीं है या फिर उसे पैसे की खातिर यह भद्दी तस्वीर बनानी पड़ी है। खैर, सौभाग्यवश घर के मालिकों को चित्र की कलात्मकता से कोई लेन-देन नहीं है। तसवीर उनके लिए एक निमित्त मात्र है। तसवीर के नीचे लिखा है...'दोस्तों के साथ'। उसी तरह कमरे की दूसरी तसवीर में एक बच्चे को कबूतरों से खेलते हुए दिखाया गया है।

मिस्टर और मिसेज़ कुक तक़रीबन पचपन साल के हैं। दोनों ग़रीब हैं। सुबह आठ बजे मिसेज़ कुक हमें जगा देती है और नीचे बैठक में टेबल पर चाय, टोस्ट आदि रखकर काम पर चली जाती हैं। रात को जब हम लौटते हैं तो कुछ समय इन दोनों के पास बैठ जाते हैं। कई बार सोचा है कि शामें क्लब में गुज़ारने के बजाय क्यों न इन लोगों के साथ घर में गुज़ारा करें। क्यों न कभी इन लोगों के लिए कोई काम की चीज़ खरीद लाया करें। मसलन ग़ुसलखाने में जो एक बहुत ही पुरानी शीशा टंगा हुआ है, उसकी जगह नया शीशा लगवा दें। लेकिन ये इरादे बस इरादे की ही हद तक रह जाते हैं। नीचे बैठक में बहुत-से फ़ोटो लटक रहे हैं। बढ़े दम्पति का एक लड़का सात साल पहले बिजली के खंभे से करंट लगने से मर गया था। एक तसवीर उसकी है। दूसरा फौज में था, जो किसी लड़ाई में मारा गया। मरने से दो महीने पहले उसने अपनी बहन के लिए एक पियानो खरीदा था, जो अब बैठक के कोने में पड़ा है। तीसरा लड़का ज़िन्दा है और फौज में है। उसकी छाती कमज़ोर है। मां को हर समय उसकी चिन्ता रहती है। उसकी चिट्ठी

आई है कि उसे खाना काफ़ी नहीं मिलता। उसकी गर्दन पर फोड़ा हो गया है। मिसेज कुक की बेटी ईवशैम के किसी अमीर घर में नौकरानी का काम करती है। बूढ़े मां-बाप शायद इसी कारण बच्चों की तसवीरें लटकाते हैं और 'क्रिश्चियन टाइम्स' पढ़ते है और ईश्वर पर भरोसा रखते है कि किसी दिन उनके दुःख ज़रूर कट जाएंगे। भला हिन्दुस्तान में रहते हुए कभी मैंने ऐसे अंग्रेज़ों की भी कल्पना की थी।

बूढ़े मिस्टर कुक की बातें बड़ी ज़िम्मेदार होती हैं। दमयन्ती उन्हें सुनकर बहुत खुश होती है। आज शाम मिस्टर कुक ने बताया कि पिछले साल सर्दियों में इतनी ठंड पड़ी थी कि पंछी पंख नहीं खोल सकते थे। 'स्टरलिंग्स' नामक पंछी एक साल पूरब से पश्चिम की तरफ़ और दूसरे साल पश्चिम से पूरब की तरफ़ उड़ान भरते हैं। वह लाखों की संख्या में झुंड बनाते हैं। पिछले साल ईवशैम में ऐसी धुंध आई थी कि 'स्टरलिंग्स' का एक पूरा झुंड-का-झुंड शहर के घंटाघर की घड़ी से चिपक गया था, क्योंकि धुंध के कारण वे पक्षी देख नहीं पाते थे। बूढ़े ने बताया कि वह कभी सिनेमा देखने नहीं जाता। ''ये सब काम हम शादी से पहले कर चुके हैं।'' उसने कहा।

दमयन्ती ने चुहल की, ''तो क्या जवानी के दिनों में आप भी लड़कियों के पीछे भागा करते थे?''

कुक बोले, ''क्यों नहीं ! इसलिए कि अपनी पसन्द के मुताबिक अच्छी लड़की चुन सकूं। ग़लत क़िस्म की लड़की पल्ले न पड़ जाए।''

(मिस्टर कुक ने अच्छी साथिन चुनी, इसमें क्या सन्देह है।)

दमयन्ती ने पूछा, ''शादी से पहले आप दोनों एक-दूसरे को जानते थे?''

श्रीमती कुक ने कहा, ''पन्द्रह महीने की जान-पहचान के बाद हमने शादी की थी।''

कहते-कहते श्रीमती कुक लजाकर हंस पड़ी। थोड़ी देर के लिए कमरे में चुप्पी छा गई। दीवारों के फोटो हमारी तरफ़ घूरने लग गए। सोच रहा था कि क्या कभी मैं अपने कमरे में इतने फ़ोटो, विशेषकर तब, जबकि उनकी यादें इतनी दुखान्त हों, लगा सकता हूं ? मेज़ पर पीटर (उनके जीवित सिपाही बेटे का पाला हुआ पिल्ला) लेटा हुआ था। दमयन्ती ने कहा, ''कल सुबह चाय बनाने की तक़लीफ़ न करना, मिसेज़ कुक। कल इतवार है। हम देर से उठेंगे। चाय मैं खुद बना लूंगी।''

इस सारी वार्ता का सार यह है कि ज्यों-ज्यों हम इस बूढ़े दम्पति के साथ दिन गुज़ारते जाते हैं, हमारा मन इस गरीब घर को छोड़ना नहीं चाहता। ग़रीबी में सादगी है, मिठास है। इस सादगी और मिठास का अमीर और अमीरों के गुमाश्ते यानी पादरी, जर्नलिस्ट आदि हमेशा नाजायज़ फ़ायदा उठाते हैं और उन्हें लूटते हैं। मिसेज़ कुक 'क्रिश्चियन सोशल वीकली' और डब्ल्यू०एच० एलिअट के ब्राडकास्ट किए गए उपदेश पढ़ती हैं। लेकिन उसके पीछे का व्यंग्य और षडयन्त्र नहीं देखतीं। वह नहीं देखतीं 'क्रिश्चियन सोशल वीकली' में छपने वाले इश्तहार जिनको पढ़ने से ही अन्दाज़ा हो जाता है कि ग़रीबों के घरों में कितनी घुटन, कितनी बीमारी, कितने फोड़े हैं। ऐसे इश्तहार 'पंच' पंच - इंगलैंड से प्रकाशित होती एक व्यंग कार्टून पत्रिका में नहीं छप सकते। मिस्टर कुक 'न्यूज़ ऑफ दि वर्ल्ड' पढ़ते हैं, जो अपने ढंग का सारा निराला अखबार है, जैसे लाहौर में कभी 'गुरुघंटाल' निकलता था।

मिसेज़ कुक घर का सारा काम करती हैं। वह बाहर कुछ घरों में काम करने इसलिए जाती हैं कि ज़रा भी बेकार बैठने से चिन्ताएं घेरने लगती हैं। घर के पीछे उनका छोटा-सा बग़ीच है। उसमें एक 'एयर रेड शेल्टर' भी है। रात को जिस समय जर्मन हवाई जहाज़ आते हैं, तो मिस्टर और मिसेज़ कुक दोनों कांपने लगते हैं। जब हवाई जहाज़ चले जाते हैं तो अखबारों और रेडियो की दिलासा-भरी खबरों को सुनकर वे आश्वस्त हो जाते हैं। ऐसा है मिस्टर और मिसेज़ कुक का यह घर। यानी हमारा नया मकान।

वह बड़ी-बड़ी मूंछों वाला अंग्रेज़, जिसकी बड़ी-बड़ी, घूरने वाली, नीली आंखों से मुझे डर-सा लगता है, जो मुझसे दोस्ती लगाने की बड़ी कोशिश करता है, और जिसके दिल में, मैं जान चुका हूं कि भारत के प्रति स्नेह और श्रद्धा है, मुझे 'बार' पर मिला, तो कहने लगा, ''नेहरू के गिरफ्तार होने की बात सुनी ?''

''हूं, '' मैंने कहा।

''इस बारे में आप क्या सोचते हैं ?''

''बहुत दुःखद समाचार है।''

''अच्छा। किसलिए गिरफ्तार किया गया है उन्हें ? क्या किया था उन्होंने ?''

मैं नहीं समझ पाया कि इस भीड़-भरे 'बार' में इतने लोगों के सामने वह मुझसे यह सब क्यों पूछ रहा है। लोग मुझे घूरने लगे थे और इन्तज़ार में थे कि मैं कुछ जवाब दूं। मुझे यह बहुत बुरा लगा।

''उन्होंने एक आदमी का फ़ाउन्टेनपेन चुरा लिया था।'' मैंने कहा और कमरे से बाहर निकल गया।

कल का हाल लिखने बैठा हूं। कल रात को मैं एडिनबरा से चलकर आज सुबह यहां ईवशैम वापस पहुंचा था। इस समय रात के साढ़े ग्यारह बजे हैं। जर्मनों के हमलावर हवाई जहाज़ आसमान में घूं-घूं कर रहे हैं। कुछ देर हुई, उन्होंने तीन-चार सीटी वाले बम्ब गिराए हैं। इसलिए हम लोग निचली मंज़िल पर आग के सामने आ बैठे हैं। मिसेज कुक खानेवाली मेज़ के पास बैठी है। बहुत कहने पर भी वह सोफ़े पर नहीं आई। वह वहां इसलिए बैठी हैं कि अगर बम गिरे तो फौरन दरवाज़ा खोल सकें। उनका मुंह तमतमाया हुआ है। मिस्टर कुक रेडियो के पास बैठे हैं और गाहे-बगाहे कोई चुटकीली बात कर देते हैं, ताकि उनकी पत्नी का मन लगा रहे। दमयन्ती अपना हरे रंग का ड्रेसिंग गाउन पहने हुए है, और कुछ बुन रही है, मेज़ पर चाय की प्यालियां पड़ी है। गैस बन्द कर दी गई है। और मैं मोमबत्तियों के प्रकाश में लिख-पढ़ रहा हूं। मैं कोशिश कर रहा हूं कि जो बातें ये लोग करें, उन्हें लिख लूं।

श्रीमती कुक बोली, ''देखो, इस जहाज़ की आवाज़ अपने जहाज़ जैसी लग रही है न ?''

मिस्टर कुक चुप रहे। कहीं उन्हें मेरे जर्मन जासूस होने का शक तो नहीं ?

पिछली तीन रातों से मैं सोया नहीं। हर रात बम गिरते हैं। चार ह्विस्कियां शाम को इसलिए चढ़ाई थी कि आज रात को हर हालत में सो जाऊं।

'बर्मिंघम पोस्ट' में लिखा है कि जर्मन नई क़िस्म के ऐसे हवाई जहाज़ बना रहे हैं, जो ३६००० फुट की ऊंचाई पर उड़ेंगे और उन तक न हवामार तोपों के गोले पहुंच

सकेंगे और न आर०ए०एफ० के लड़ाकू हवाई जहाज़। 'न्यू स्टेटसमैन एण्ड नेशन' ने इस हफ्ते लिखा है कि अमरीका को हम साफ-साफ बता देना चाहते हैं कि अगर वह फौरन लड़ाई में नहीं उतरा तो उसे इंग्लैंड के जल्दी ही लड़ाई हार जाने पर हैरान नहीं होना चाहिए।

मिस्टर कुक बाहर गए थे। वहवापस आए, तो मिसेज़कुक ने पूछा, ''बाहर कोई खास बात पाई ?''

मिस्टर कुक ने सिर हिला दिया। बमों के और हवामार तोपों के धमाके सुनाई दे रहे हैं।

अब ये लोग हैरान हो रहे हैं कि साथवाले घर से कोई आवाज़ क्यों नहीं आ रही। आखिर क्या बात है?

कल एडिनबरा में एक बहुत बड़ा राजनीतिक जलसा हुआ था। लगभग दस हज़ार आदमी हॉल में जमा हुए थे। एक कम्युनिस्ट वक्ता ने भी तकरीर की थी, जिसका नाम हैरी पॉलिट था। उसने कहाकि इंग्लिस्तान की जनता को आज वही कुछ करना चाहिए, और फ़ौरन करना चाहिए, जो रूस के मज़दूरों ने अक्तूबर १६१७ में किया था। इस पर लोगों ने बड़े ज़ोर से तालियां बजाईं। पॉलिट ने कहाकि यदि इंग्लैंड में कम्युनिज्म़ न आया तो फासिज्म़ आ जाएगा। अंग्रेज़ जनता को सोच लेना चाहिए कि वह किसे ज्य़ादा पसंद करती है। श्रोताओं में बहुत-सी संख्या फ़ौजी सिपाहियों की थी- वही गोरे सिपाही, जिन्हें देखते ही हिन्दुस्तान में मुझे डर लगता था। मुझे गाड़ी पकड़नी थी, इसलिए मैं जल्दी उठ गया था।...मेज़ पर बिल्ली सो रही है। शेल्टर की बावत बातचीत हुई थी। उसमें पानी भर जाता है। मैं सोच रहा था, क्यों न उसे ठीक करा लिया जाए ! लेकिन मिस्टर कुक की राय में इसका कुछ फ़ायदा नहीं है।

शेल्टर ज़मीन के नीचे नहीं, ऊपर बना हुआ है। इसलिए पानी का बार-बार जमा होना, कीचड़ और दलदल होना स्वाभाविक ही है। बैठने के लिए शेल्टर में बेंचे भी नहीं हैं।

पड़ोसियों ने बीच की गत्ते जैसी पतली दीवार पर ठकठक की है।

मिसेज कुक देखने गई कि क्या बात है। इससे पहले इटालियन लोगों के लड़ाकू 'गुणों' पर मिस्टर कूक ने व्यंग्यभरी टीका की थी।

मिसेज़ कुक खीझकर कहने लगी थीं, ''छोड़ो ऐसी बातों को। ईश्वर करे, यह मनहूस जंग जल्दी ही खत्म हो जाए।''

मिस्टर कुक बोले, ''तुमने पढ़ा नहीं, अखबार में लिखा था कि अगली गर्मियों में भी जंग हो रही होगी।''

मिस्टर कुक ने हँसकर कहा, ''अभी तो शुरूआत है।''

मिसेज कुक नहीं चाहती थीं कि ऐसी बातचीत हो। शायद उनके कमरे से बाहर चले जाने का एक कारण यह भी था।

मिसेज कुक वापस आईं तो उनकी सांस फूली हुई थी।

मैंने मिस्टर कुक को एडिनबरा की उस राजनीतिक सभा के बारे में बताना चाहा, लेकिन उन्होंने इसमें कोई दिलचस्पी नहीं ली। वह हमेशा 'टोरीज़' को वोट देते हैं। मिस्टर

कुक घर में बैठे हुए भी लंबे रबड़ के बूट चढ़ाए हुए हैं। मुझे दमयन्ती से नाराज़गी थी कि वह मेरे दफ्तर से लौटने पर मेरी कोई देखभाल नहीं करती। लेकिन अब यह खयाल आने लगा कि शायद यही आखिरी रात हो। मुझे अपनी वह नाराज़गी हास्यास्पद मालूम होने लगी। बमों के प्रत्येक धमाके से, चाहे वह दूर का हो या नज़दीक का, मकान हिलने और कड़कड़ाने लगता है। बार-बार बिजली की-सी चमक हो रही है। शायद इसी वक्त हिन्दुस्तान में दीपावली मनायी जा रही हो। पर यहां हर क्षण कोई घर जल जाता है, या कोई जहाज़ जलकर आतिशबाज़ी की तरह ऊंचे-नीचे झूलने लगता है। ऐसे लगता है, जैसे मैं जलते हवाई जहाज़ों की दीपावली देख रहा हूं।

बारह बज चुके हैं। दमयन्ती ऊबकर सोने लगी हुई हैं।

लन्दन,

अक्तूबर १९४१

मज़दूर अभिनेता

कई साल पहले पंजाबी के ज्ञात नाटककार बलवंत गार्गी ने उर्दू में एक नाटक लिखा था, जिसका नाम था 'सिग्नलमैन दूली'। यह नाटक इलाहाबाद में पीपुल्स थिएटर की बम्बई शाखा ने यही नाटक खेलने का फैसला किया, तो उसके निर्देशन की ज़िम्मेदारी मुझ पर डाली गई।

गार्गी के यूनिट में जिस लड़के ने सिग्नलमैन का रोल किया था, वह वास्तव में सुलझा हुआ कलाकार था। शारीरिक दृष्टि से भी वह कुछ ऐसा दिखाई देता था कि जब वह रेलवे की वर्दी पहनकर, हाथ में झंडियां पकड़े स्टेज पर आया, तो दर्शकों को विश्वास ही न हुआ कि कोई अभिनेता वह रोल कर रहा है। वह सौ फीसदी सिग्नलमैन लग रहा था।

मुझे अपने यूनिट के लोगों में कोई भी वैसा सिग्नलमैन दिखाई नहीं दिया। किसी में भी वह खुरदरापन नहीं था, जो मैंने दिल्ली वाले दूली में देखा था। मैं कई दिन तक परेशान रहा और अपने साथियों को भी परेशान करता रहा।

जिस हॉल में हम रिहर्सल किया करते थे, वहां एक दिन मैंने एक अजीब-से आदमी को बैठे हुए देखा, तो मुझे लगा, जैसे ईश्वर ने खुद उसे दूली के रूप में मेरे पास भेज दिया है। वह दिल्ली वाले दूली से भी कहीं ज्यादा दूली लगता था।

मैंने उसके बारे में पता किया, तो जाना कि हमारे हॉल के बाहर जो बढ़ई सिनेमा के इश्तहारों के लिए तख्ते तैयार कर रहे थे, वह लड़का उन्हीं में से था। वह अपना काम खत्म करने के बाद हमारी रिहर्सलों का तमाशा देखने के लिए वहां आकर बैठा हुआ था। मैंने उसे नाटक में 'हीरो' का रोल करने के लिए कहा, तो वह भौंचक्का रह गया।

"क्या बात करो हो, बाबूजी ?" उसने बनारस के इलाके की अपनी बोली में कहा, "हम तो नाटक-फाटक का कुछ भी जानत नाहीं ।"

बात ठीक भी थी। उसे लिखना-पढ़ना बिलकुल नहीं आता था। स्टेज के निकट जाते हुए भी उसे डर लगता था। लेकिन मेरे कहने पर शौक के मारे वह 'हां' कर बैठा।

हमारे एक-दो साथियों ने उसे दूली के संवाद याद कराने की ज़िम्मेदारी ली। यह साधारण काम नहीं था। नाटक में उसका रोल सबसे लम्बा और सबसे मुश्किल था। और रिहर्सल के लिए हमें शाम को सिर्फ दो-ढ़ाई घंटे मिलते थे।

मुझे किसी अभिनेता के साथ इतनी मगज़पच्ची नहीं करनी पड़ी। स्टेज पर खड़े होते ही उस लड़के की ऐसी हालत हो जाती थी कि वह न किसी की बात समझता था, न ही अपनी बात को समझा सकता था। जब मैं उसे समझाने की कोशिश करता, तो वह मेरे पांव पकड़ लेता। "ईह काम हमसै नाहीं होई, बाबूजी ! हमका छोड़ दिअ, बाबूजी। हमका माफ करो, बाबूजी।"

पर मैं उसे कैसे छोड़ता ? मुझे तो वह साक्षात दूली दिखाई देता था। दस दिन बीत गए, पन्द्रह दिन बीत गए, एक महीना बीत गया, लेकिन हमारा दूली अभी तक वहीं का वहीं था, जहां वह पहले दिन था। मेरे साथी भी तंग आ गए और मुझे मजबूर करने लगे थे कि मैं इस मुसीबत से छुटकारा पाऊं। मैंने उनसे एक हफ्ते की मोहलत मांगी।

अगले दिन रिहर्सल शुरु होते ही मैं दिखावे के तौर पर गुस्से में आकर लड़के पर बरस पड़ा, "अगर आज तुमने ठीक काम करके न दिखाया, तो तुम्हारी खाल खींच लूंगा। बुद्धू कहीं के ! तुम्हें शर्म नहीं आती, जाहिलों की तरह स्टेज पर आकर खड़े हो जाते हो और अपना मज़ाक कराते हो। आखिर कौन-सी बात है जो अब तक तुम्हारी समझ में नहीं आई? आदमी हो, गधे तो नहीं हो! अगर तुम्हारी अपनी कोई इज़्ज़त नहीं, तो मेरी इज़्ज़त का तो खयाल करो। महीने-भर से तुम्हें सिखा रहा हूं। ये लोग क्या सोचते होंगे ?..."

लड़का मेरी ओर ऐसे देख रहा था, जैसे एकाएक फूट-फूट-कर रोने लगेगा, या फिर स्टेज से नीचे उतरकर मेरा गला घोंट देगा। मैं उसकी नज़र सह न सका, फिर भी उसके जवाब में उसकी ओर एकटक देखता रहा। तब मैंने बड़े रोबदार ढंग से, जिसका कि मैं निर्देशन के समय बहुत कम प्रयोग करता हूं, परदे वाले को परदा उठाने के लिए कहा, और हुक्म दिया कि रिहर्सल शुरू की जाए। परदा उठा। लड़के ने बड़ी आज्ञाकारिता के साथ और पूरी तरह एकाग्रचित्त होकर अपना काम करना शुरू किया। एक मिनट बीता, दो मिनट बीते, उसकी एकाग्रता नहीं टूटी। मुझे लगा कि कोई अदृश्य शक्ति उससे काम करवा रही है, और वह दूली बना हुआ सब कुछ कर रहा है।

फिर, अचानक एक क्षण ऐसा आया कि उसे अपनी हरकतों में मज़ा आना शुरू हुआ। उसके अन्दर से कला का स्रोत फूट पड़ा। तब उसे ही नहीं, उसके साथियों और हॉल में बैठे लोगों को भी एहसास होने लगा कि अब वह अभिनेता है, और इस समय बड़ा सुख अनुभव कर रहा है।

अब हमारी सभी अड़चनें दूर हो चुकी थीं। आठ दिन के बाद जब वह नाटक जनता के सामने पेश किया गया, तो दूली ने कमाल ही कर दिया। नाटक के अन्तिम भाग में पुलिस दूली को पकड़ने के लिए आती है (मूल नाटक में कुछ तबदीलियां कर दी गई थीं), तो वह एक भाषण के रूप में अपने दिल की भड़ास बाहर निकालता है। वह भाषण उसने ऐसे शानदार ढंग से दिया कि दर्शकों के रौंगटें खड़े हो गए।

नाटक खत्म हुआ। दर्शक उठकर जाने लगे। लेकिन दूली का जोश तब भी ठंडा होने में नहीं आ रहा था। वह जैसे भूल चुका था कि वह नाटक में भाग ले रहा है, और नाटक अब खत्म हो चुका है। उसे दूली की दुनिया में से निकालने में हमें काफी समय लगा।

इस घटना ने मेरे दिल पर बहुत बड़ा असर किया। मैं सोचने पर मजबूर हुआ कि अभिनय-कला क्या केवल शिक्षित लोगों को ही जन्म से मिलती है? क्या हमारे देश के लाखों-करोड़ों किसानों-मजदूरों को ईश्वर ने कला के संस्कारों से वंचित रखा है? नहीं, उनमें सैकड़ों नहीं, हज़ारों कलाकार मौजूद हैं, जिन्हें अपने कलात्मक गुणों को अभिव्यक्त करने का मौका ही नहीं मिलता। अगर समाज उन्हें 'मनुष्यों' जैसा जीवन बिताने का मौका दे, तो वे 'शिक्षितों' को कहीं पीछे छोड़ जाएं, क्योंकि वे जीवन के वास्तविक संघर्ष के लिए निकट हैं। तब शायद 'शिक्षितों' को यह दावा करने का साहस न हो कि वे जन्मजात कलाकार हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर : कुछ यादें

गुरुदेव से मैं पहली बार जनवरी, १६३७ में मिला था। उन दिनों मेरी शादी हाल में ही में हुई थी और मेरी पत्नी की बहुत बड़ी लालसा थी कि हम 'हनीमून' शांतिनिकेतन में मनाएं। यह खयाल मुझे भी पसन्द आया था। मैं शांतिनिकेतन में एक सज्जन को जानता भी था, जिनका नाम था श्री गुरदयाल मल्लिक।

श्री मल्लिक का व्यक्तित्व बड़ा प्रिय और सनकी क़िस्म का था, जो अन्त तक वैसा ही रहा। उनसे होने वाली अपनी पहली मुलाकात मैं कभी भूल नहीं सकता। उन दिनों मैं लाहौर से कॉलेज की शिक्षा पूरी करने के बाद रावलपिंडी में अपने पिताजी के दफ्तर में काम करता था, जहां उनके इम्पोर्ट-एक्सपोर्ट के व्यापार सम्बन्धी कार्य मेरी समझ में नहीं आ रहे थे। मैं बड़ा उलझाहुआ और परेशान रहता था। मेरी सभी दोस्त मेरी इस हालत को जानते थे और मुझसे हमदर्दी जताते थे। उनमें एक दोस्त रावलपिंडी छावनी में पुस्तकों की सबसे बड़ी दुकान का मालिक था। मैं ज्यों ही पिताजी के दफ्तर से छुट्टी पाता, अपने दोस्त की पुस्तकों की दूकान में शरण पाने के लिए भाग उठता। वह दूकान मेरे लिए स्वर्ग के समान थी, क्योंकि अंग्रेज़ी साहित्य-सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ने का मुझे बेहद शौकथा।

एक दिन दोपहर के बाद दफ्तर में मेरे पिताजी और मैं अपनी-अपनी जगह पर बैठे हुए काम कर रहे थे कि अचानक दरवाज़ा खुला और केसरी चोगा और टोपी पहने, लम्बी लहराती हुई दाढ़ी वाला एक व्यक्ति अन्दर आया। वह सीधा मेरे पिताजी की मेज़ के सामने गया और उसने ऊंची आवाज़ में कहा- "आपने इस पक्षी को पिंजरे में क्यों डाला हुआ है ?" उसने मेरी ओर संकेत किया, "इसे पिंजरे में से निकालिए और चहकने-गानेदीजिए।

मेरे पिताजी भौंचक्के रह गए। मुझे भी हैरानी हुई, लेकिन उतनी नहीं, क्योंकि मैंने अपने दोस्त, किताबों की दूकान के मालिक को उसके पीछे दफ्तर में दाखिल होते हुए देखा लिया था। वह दरवाज़े के पास रुक गया था और मुसकरा रहा था।

केसरी चोग़ा पहने हुए मल्लिक जी थे। हमारी हैरानी जब किसी हद तक दूर हुई, तो हमने मल्लिक जी को बैठने के लिए कहा। मेरे दोस्त ने बताया कि मल्लिक जी शांतिनिकेतन में अध्यापक है और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के मित्र और शिष्य हैं। यह सुनकर मेरे पिताजी का रवैया कुछ बदला। मल्लिकजी लगभग एक घंटा वहां रहे, और उन्होंने हमें भक्ति और रहस्यवाद के गीत सुनाए। फिर वे 'मरी' पहाड़ के लिए रवाना हो गए।

उसके बाद मेरे लिए पिंजरे में रहना असह्य हो उठा। मल्लिकजी के शब्दों का मेरे मन पर गहरा असर हुआ था, और लगा था कि मुझे एक ऐसी दुनिया से बुलावा आया है, जो मुझे रास आ सकती थी। दफ्तर छोड़ने की मुझमें हिम्मत नहीं थी, लेकिन मैं दिन-रात अपनी कल्पना में वहां से छुटकारा पाने के तरीक़े सोचता रहता था।

इस घटना के कुछ ही अरसे बाद मैंने ठाकुर का नाटक 'डाकघर' पढ़ा। मुझे लगा कि उसमें गाफ़र नाम का पात्र और कोई नहीं, बल्कि गुरुदयाल मल्लिक ही हैं। या तो ठाकुर ने मल्लिकजी को आधार बनाकर गाफ़र के पात्र की दृष्टि की होगी, या फिर मल्लिकजी ने खुद को गाफ़र के अनुरूप बना लिया होगा।

मल्लिकजी से मिलने के बाद, ठाकुर की रचनाओं में मेरी दिलचस्पी बढ़ी। अपने दोस्त की दूकान में ठाकुर की जो भी पुस्तक मुझे अंग्रेज़ी में मिली, वह मैंने पढ़ डाली। पर सच बात यह है कि मैं ठाकुर से प्रभावित न हो पाया। आज भी मैं समझता हूं कि गुरुदेव की 'गीतांजलि' और अन्य कविता-पुस्तकों के अंग्रेज़ी अनुवाद बहुत बुरी तरह पथ-भ्रष्ट करने वाले हैं। अब जब कि मैं बंगाली जानता हूं, और ठाकुर की रचनाओं को मैंने उनके मौलिक रूप में पढ़ा है, तो विश्वस्त रूप से कह सकता हूं कि उनके ये अनुवाद पाठक पर बिलकुल उल्टा असर डालते हैं। लय और तुकान्त रहित ये अनुदित कविताएं उस भेड़ की तरह लगती हैं, जिसके बाल मूंड डाले हुए हों। ठाकुर के छन्दों और शब्दों की भावात्मक सुन्दरता अवर्णनीय है। फिर, क्योंकि ठाकुर उच्चकोटि के संगीतकार भी थे, उनके शब्दों में बंगाल की आत्मा झलकती है। अगर हमारे देश के इस युग में किसी कवि ने सजगता, उन्नति और धर्म-निरपेक्षवाद का संदेश दिया है, तो वह ठाकुर ही हैं। लेकिन अंग्रेज़ी अनुवाद में उनके शब्द हमारे सामने काले और सफ़ेद रंग की उजागर करते हैं, और उनकी ध्वनियां हमारे कानों में उलझनसी पैदा करतीं हैं। अभी कुछ दिंन पहले मैंने रेडियो पर 'गीतांजलि' के गीतों की धुनें सुनीं, जिन्हें कि यूरोपीय संगीतकारों ने स्वरबद्ध किया था। वे कानों को इस कद्र अखरने वाली थीं कि उन्हें सुन पाना असह्य था। वे संगीतकार शायद इस बात से अनभिज्ञ थे कि उन गीतों की धुनें स्वयं रबीन्द्र ने बनाई थीं, और किसी को यह हक नहीं है कि वह उनके शब्दों से उनकी ध्वनियों और लय को अलग करके नई धुनें बनाए।

लेकिन उन दिनों मैं इस सब कुछ से अनजान था। इसके अलावा शेली, कीटस, वर्डसवर्थ, बायरन आदि अंग्रेज़ कवियों की कविताएं मेरे दिल में बसी हुई थीं, और उनके मुकाबले में रवीन्द्र कवि के बजाय एक रहस्यवादी दार्शनिक अधिक प्रतीत होते थे। सबसे बढ़कर, अंग्रेज़ी शिक्षा की बदौलत, मेरी दृष्टिकोण ग़ुलामों का-सा बना हुआ था। मैं हर हिन्दुस्तानी चीज़ को हिक़ारत से और यूरोपिय चीज़ को इज़्ज़त की नज़र से देखता था।

सो, हनीमून के लिए शांतिनिकेतन जाते समय मेरे सामने कोई बड़ी सम्भावनाएं नहीं थीं। हम दोनों वहां गेस्ट-हाउस में ठहरे। मल्लिकजी हमारे साथ बहुत अच्छी तरह पेश आए, और उन्होंने सरकारी ढंग से हमें सारा आश्रम दिखाया। जिस दिन हमें लौटना था, उस दिन गुरुदेव ने हमें मिलने का समय दिया, जो कि वहां आने वाले दर्शकों को वह दिया क़रते थे।

मुझे याद नहीं कि उन दिनों वह किस कुटिया में रहते थे। हम एक संकरे रास्ते से होकर उनके कमरे मं दाखिल हुए। वह अपनी मेज़ के सामने बैठे हुए थे, और चारों ओर की उस सुन्दर सागदी में बहुत शानदार लग रहे थे। मल्लिकजी बड़ी नम्रता से एक स्टूल पर बैठ गए, और फिर जैसे अदृश्य हो गए। मेरी पत्नी और मैं रवीन्द्र के सामने कुर्सियों पर बैठ गए।

"सो, कैसा लगा शांतिनिकेतन ?" महाकवि ने पूछा, "मुझे पता लगा है कि तुम्हें यहां आए हुए कुछ दिन हो गए हैं।"

"बहुत अच्छा तो नहीं कह सकता।" मैंने नाटकीय ढंग से कहा। वास्तव में, मैं उनसे प्रभावित होने के बजाय, खुद उन्हें अपने व्यक्तित्व द्वारा प्रभावित करने के इरादे से गया था। जवानी में आदमी कितना मूर्ख होता है!

सुनकर गुरुदेव को धक्का-सा लगा। उनकी आंखों में पीड़ा दिखाई दी। लेकिन उन्होंने अपना धीरज नहीं खोया।

''क्यों, क्या बुराई है?'' उन्होंने पूछा, ''मैंने तो सोचा था कि तुम लेखक हो और शांतिनिकेतन में आकर शरण पा सकोगे। तुम जानते ही हो कि हमारे देश में लेखकों, कलाकारों के लिए कोई जगह नहीं है। वे पिंजरे में पड़े किसी पक्षी की तरह चारों ओर से बन्द हैं। यहां मैंने अन्य स्कूलों की तरह ही एक स्कूल खोला है।''

वह चुप हो गए, मैं भी चुप रहा। कुछ देर के बाद गुरुदेव बोले, ''हमारे देश में लोग झटपट नतीज़े निकालना चाहते हैं। यह बहुत बड़ा नुक्स है हम लोगों में। आखिर तुमने यहां तीन-चार दिन ही तो बिताए हैं। यहां न बड़ी-बड़ी इमारतें हैं, न ही ऐसी और चीज़ें हैं, जो पहली नज़र में ही दर्शकों को प्रभावित कर सकें। यहां हम जो कुछ करना चाहते हैं, अगर उसे पूरी तरह समझना चाहो, तो तुम्हें यहां कुछ महीने रहना चाहिए। तभी तुम यहां के वातावरण को पकड़ पाओगे।''

''शायद आप ठीक कहते हैं,'' मैंने कहा। मैं उन्हें और अधिक दुःख पहुंचाना नहीं चाहता था।

इसके बाद वह मुलाक़ात जल्दी ही खत्म हो गई। मैं वहां से अपने मन में गुनाह का एहसास लेकर आया कि मैंने उसे बूढ़े व्यक्ति को दुःख पहुंचाया है। यह सोचकर मुझे और भी बेचैनी हुई कि गुरुदेव मेरे साथ बड़े धीरज से पेश आए थे। ज्योंही मैं घर पहुंचा, मैंने उन्हें पत्र लिखकर माफ़ी मांगी, जिसके जवाब में उनके सेक्रेटरी श्री अनिल चन्दा की ओर से मुझे नम्रतापूर्ण पत्र मिला।

गुरुदेव से उपरोक्त मुलाक़ात के बाद मुश्किल से एक साल बीता होगा कि मैं एक पत्रकार के रूप में कलकत्ता में सड़कों की खाक छानने लगा। मैं अपनी पत्नी के साथ एक छोटे-से कमरे में रहता था, जहां हमारे सामान वाले ट्रंक के सिवा और कुछ नहीं था। मेरे मित्र अज्ञेय थे, जो उन दिनों 'विशाल भारत' का सम्पादन करते थे, अपने मासिक पत्र और 'सचिव भारत' नामक एक और साप्ताहिक पत्र की ओर से लिखने का कुछ काम दिलाने में मेरी मदद की। किसी भी हफ्ते में मैं पांच रुपये से ज़्यादा नहीं कमा पाया। लेकिन मेरी पत्नी और मैं अपनी जवानी की उम्र में थे और कुछ ऐसी लापरवाही थी हममें कि दुःख और ग़म हमारे पास फटक नहीं सकते थे।

लेकिन खुश होने का भी कोई कारण नहीं था। मेरे पिताजी ने जब यह देखा कि मैं उनके साथ काम न करके का पक्का फ़ैसला कर चुका हूं तो उन्होंने मुझे कुछ हज़ार रुपये की रक़म दी, जो हम लाहौर में ही खर्च कर बैठे और किसी मंज़िल तक पहुंच नहीं पाए। फिर, जब हमें अपनी हार दिखाई देने लगी, तो हम अपने नौकर तक को बताए बिना कलकत्ता के लिए भाग खड़े हुए। बेचारा नौकर कई महीनों तक हमारे फ़्लैट और सामान की निगरानी करता रहा। आखिर एक दिन पिताजी वहां का सारा सामान वापस अपने घर ले गए।

चिन्ता और परेशानी में दिन काट रहे हमारे परिवारवालों को काफ़ी देर के बाद कहीं जाकर हमारा अता-पता लगा। सुबह मुझे पिताजी की ओर से जवाबी तार मिला, जिसमें रखा था : ''मंगलवार तक पिंडी पहुंचो, वरना खुद शुक्रवार को कलकत्ता आऊंगा। सस्नेह-हरबंसलाल।''

साथ ही उन्होंने सफ़र के खर्च के लिए एक सौ रुपये तार से भेजे थे।

हम समझ नहीं पा रहे कि क्या करें। असफल होकर घर लौटना हारे लिए असह्य था। लेकिन जो जिन्दगी हम बिता रहे थे, वह भी असह्य थी। हमारी सेहत खराब हो रही थी और हम अपने मित्र अज्ञेय के लिए चिन्ता का कारण बने हुए थे। उन्होंने भी सलाह दी कि हम घर लौट जाएं और वहां जाकर नये सिरे से अपने भविष्य के बारे में सोचें।

मैं निराश बना हुआ अज्ञेय के साथ डाकखाने की ओर चल दिया। तार लिखने से पहले मुझे एक खयाल सूझा और मैंने तार में अपने पिताजी को लिखा :

''शांतिनिकेतन में नौकरी मिल गई है। पूजा की छुट्टियों में आएंगे।''

मैंने तार में जो लिखा था, वह अज्ञेय को नहीं बताया था। दोपहर के बाद जब अज्ञेय को पता लगा कि हम रावलपिंडी की बजाय बोलपुर जा रहे हैं, तो वह बेबसी में हाथ हिलाकर रह गए।

हम काफ़ी शाम ढले शांतिनिकेतन पहुंचे और एक बार फिर उसी अतिथि-गृह में दाखिल हुए। हमने मल्लिकजी को सारी बात बताई। उन्हें सचमुच बहुत अफ़सोस हुआ होगा, क्योंकि उन्हीं ने मेरे पिताजी से कहा था कि वह पंछी को आज़ाद कर दें।

खैर, अगले दिन वह हमें कृष्ण कृपलानी से मिलाने के लिए ले गए। कृष्ण और उनकी पत्नी नंदिता, जो कि गुरुदेव की पोती हैं, हमारे साथ बहुत ही अच्छी तरह पेश आए। जब हम चाय पी रहे थे, तो कृष्णजी बताने लगे कि शांतिनिकेतन की आर्थिक हालत किस कद्र बुरी है और वहां हमें नौकरी दिलाना मुश्किल ही नहीं, असम्भव है।

लेकिन क़िस्मत मेरे हक में थी। जबकि हम बातें कर रहे थे, हमने गुरुदेव को कार में उधर आते हुए देखा। वे कृष्णजी और नंदिता से मिलने आ रहे थे। यह उनके लिए कुछ असाधारण चीज़ थी, लेकिन बहुत-सी अच्छी चीज़ें संयोगवश ही हो जाया करती है।

गुरुदेव हमारे सामने बेंत की कुर्सी पर बैठ गए। उन्होंने अपनी ऐनक के शीशे में से कुछ देर हमारी ओर देखने के बाद कहा, ''लगता है मैंने आपको पहले भी कहीं देखा है।''

मुझे लगा कि बात अब तो बिलकुल ही बिगड़ जाएगी। लेकिन मैंने हौसला किया और कहा, ''आपको कहा था कि हम अगर शांतिनिकेतन में कुछ महीने रहें, तभी यहां के वातावरण को समझ सकते हैं। सो हम आए हैं।''

और मैंने उन्हें सारी कहानी कह सुनाई। फिर कहा, ''आप मुझे इसी समय नौकरी बेशक न दें। मेरे पिताजी ने मुझे सौ रुपये भेजे हैं। मैं और मेरी पत्नी इस रक़म की बदौलत आसानी से तीन महीने निकाल सकते हैं। बस, हमें यहां रहने की इज़ाजत दे दें। अगर तीन महीने के बाद यह महसूस हुआ कि हम शांति-निकेतन के लिए किसी तरह उपयोगी साबित हो सकते हैं, तो हमें नौकरी पर रख लिया जाए, वरना हम खुद ही यहां से चले जाएंगे। इस समय हमें बस सिर छिपाने-भर के लिए जगह चाहिए।''

गुरुदेव ने मेरी बातें सुनीं और कुछ देर तक चुप रहे। वे कुछ क्षण मेरे लिए बहुत बोझिल थे। आखिर गुरुदेव इस प्रकार खिलखिलाकर हंसे, जैसे कोई बहुत मज़ेदार चुटकुला सुना हो। फिर उन्होंने कहा- ''तो तुम्हारे पास सौ रुपये हैं ! तुम मुझसे कहीं ज़्यादा अमीर हो । खैर, कोई बात नहीं। तुम्हें यह रकम खर्च नहीं करनी पड़ेगी और न ही हम तुम्हें यहां से वापस भेजेंगे। हम इसी समय तुम्हें नौकरी देंगे।''

इस प्रकार की खुलदिली के लिए गुरुदेव के साथी उनकी कड़ी आलोचना किया करते थे। ऐसा लगता था, जैसे वह किसी को निराश नहीं कर सकते थे, जिसके फलस्वरूप शांतिनिकेतन को, जिसकी आर्थिक हालत बहुत ही खराब थी और भी बुरे दिन देखने पड़ रहे थे। लेकिन गुरुदेव शांतिनिकेतन में मानवी सम्बन्धों की कविता को नष्ट करने के बजाय, अठत्तर वर्ष की आयु में देश-भर में घूमकर अपने प्रोग्रामों द्वारा पैसा इकटठा करना कहीं अच्छा समझते थे।

कई मौकों पर लोग उनकी इस खुलदिली का ग़लत फ़ायदा भी उठाते थे। गुरुदेव जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त व्यक्ति के निकट रहने से आध्यात्मिक ही नहीं, आर्थिक लाभ भी हो सकता था। काफ़ी लोगों ने उनसे आर्थिक लाभ उठाया। यहां तक कि मैंने भी- हालांकि मैं नहीं समझता कि मैंने कभी ग़लत फ़ायदा उठाया है- शांतिनिकेतन में उनके साथ बिताए दिनों को याद करके गर्व महसूस किया है।

जब मैं पूजा की छुट्टियों में अपने घर गया तो रावलपिंडी में मेरा शानदार स्वागत हुआ, जैसे किसी जादू की बदौलत हर चीज़ बदल गई थी। मैं किसी परी-लोक में जीने लगा। कहां तो मैं बिलकुल असफल समझा गया था और कहां अब बहुत बड़ी सफलता के कदम चूम रहा था। बुज़ुर्ग लोग अब मेरी आलोचना न करते, न मुझे नसीहतें देते। मेरे पिताजी बड़े गर्व के साथ मुझे लेकर लोगों से मिलाने के लिए जाते। मुझसे छोटी उम्र के लोग मुझे आदर की दृष्टि से देखते और बहुत बुद्धिमान समझते। मुझे भाषण देने और सभाओं की अध्यक्षता करने के लिए बुलाया जाने लगा, क्योंकि मैं शांति निकेतन का एक अध्यापक था।

मै शांतिनिकेतन में दो साल से कुछ ऊपर रहा। सच पूछिए तो मैंने वहां अपना समय खराब ही किया। इसका मुझे बहुत ज़्यादा अफसोस है।

वास्तव में, शांतिनिकेतन में रहते हुए मुझे सबसे पहले उसके इतिहास से परिचित होना चाहिए था। मुझे गुरुदेव के जीवन, उनकी पृष्ठभूमि, उनकी शिक्षा आदि के बारे में और उस उद्देश्य के बारे में जानना चाहिए था, जिसने कि उन्हें शांतिनिकेतन की स्थापना करने के लिए प्रेरित किया था।

मुझे कई बार यह सोचकर हैरानी होती है कि मैंने यह क्यों नहीं किया। साधारण-सी जिज्ञासा भी मुझे यह करने के लिए प्रेरित कर सकती थी। जब मैं गुरुदेव से पहली बार मिला था, तो क्या मैंने शांतिनिकेतन को आम स्कूलों जैसा ही एक स्कूल समझकर नज़र-अंदाज़ नहीं कर दिया था? और अब मैं वहां एक साधारण-से शिक्षक के रूप में काम करने लगा था और मैंने अपने नित्य-प्रति के कामों में से निकलकर कुछ और देखने-समझने की कोशिश नहीं की थी।

इसका दोष मेरे पालन-पोषण और शिक्षा के सिर मढ़ा जा सकता है। जो नौजवान मेरे तरह अमीर घरानों में पले होते हैं, वे ज़्यादातर दिखावा करते हैं कि उन्हें जीवन-निर्वाह के लिए किसी काम की ज़रूरत नहीं है। वे महान आदर्शों की बातें करते हैं। अपने चारों ओर के वातावरण के प्रति उनका असंतोष ग़लत नहीं होता। लेकिन इस असंतोष के बावजूद वे जो कुछ भी करते हैं, सिर्फ पैसे के लिए ही करते हैं। और जब वे कोई काम करने और पैसा कमाने लगते हैं, तो फिर उस काम और पैसे की सीमाओं में ही घिरकर ज़िन्दगी बिताते हुए संतोष अनुभव करने लगते हैं। यद्यपि तब भी वे महान आदर्शों के

सपने देखते हैं, लेकिन अमली तौर पर वे उन तक पहुंचने के लिए कुछ नहीं करते, जैसा कि उनके पिताओं ने कुछ नहीं किया था, जिनके खिलाफ़ कि उन्होंने बग़ावत की होती है।

लगभग एक साल की बेकारी के बाद शांतिनिकेतन की वह नौकरी मेरे लिए वरदान साबित हुई। उसने मेरे अन्दर सम्मान और आत्मविश्वास का भाव पैदा किया। उसे पाकर मैं इतना खुश हुआ कि भूल ही गया कि उसे पाने के बाद मुझे अपने शिक्षण-कार्य के अतिरिक्त कुछ और भी करना चाहिए, जिसकी कि गुरुदेव को मुझसे आशा थी। इसके उलट, मेरी सबसे बड़ी दिलचस्पी इस बात में थी कि मैं अन्य शिक्षकों की तरह नियमित रूप से अपना काम करूं।

मेरी कॉलेज की शिक्षा मेरे रास्ते की रुकावट बनी। मैंने अंग्रेज़ी साहित्य में एम०ए० किया था। मेरे लिए यह अपने आप में बहुत बड़ी बात थी, और मैं अपनी इस डिग्री को बहुत महत्त्वपूर्ण मानता था। लेकिन इसका एक हानिकारक पक्ष भी था। मेरी शिक्षा ने मुझे केवल भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य से अनभिज्ञ ही नहीं रखा, मेरे अन्दर जीवन के प्रति एक आलस्य-भरा रवैया भी पैदा किया। मुझे सिखाया गया कि कि कला और विज्ञान में विरोध होता है। कला का सम्बन्ध आध्यात्मिक चीज़ों से होता है, जबकि विज्ञान का सम्बन्ध केवल भौतिक चीज़ों से होता है। इसलिए विज्ञान कला से घटिया होता है। विरक्त होकर चीज़ों को देखना, शोध और प्रयोगों द्वारा सचाई का पता लगाना विज्ञान का काम है। लेकिन कला के क्षेत्र में मनुष्य सहज ज्ञान और व्यक्तिगत अनुभवों द्वारा सचाई तक पहुंचता है। उसे अपनी भावनाओं से विमुख नहीं होना चाहिए, बल्कि उनकी बदौलत अपने अनुभव को विशाल और गहरा बनाना चाहिए। उसे निश्चेष्ट होकर हर चीज़ के प्रभाव ग्रहण करने चाहिए। उसे जीवन को जानने की कोशिश करने के बजाय बस अनुभव करना चाहिए।

सो, शांतिनिकेतन को जानने-समझने के बज़ाय मैंने उसे मात्र 'अनुभव' करके ही संतोष कर लिया। मैंने अनुभव किया कि वहां का वातावरण बहुत मनमोहक और अपनत्वभरा था। उसमें गुरुदेव के अतीव लयपूर्ण गीतों के स्वर गूंजते रहते और पायल के घुंघरू बजते। उन दिनों मुझे हिन्दी में कहानियां लिखने का शौक था। हिन्दी साहित्य-संसार में मैंने थोड़ा-सा नाम भी कमाया था। तब मैं पहले से भी ज़्यादा कहानियां लिखने लगा और किसी न किसी हिन्दी नाटक की तैयारी में भी भाग लेता। वह नाटक किसी विदेशी नाटक का अनुवाद या रूपान्तर होता। मेरे लिए काफ़ी सृजनात्मक काम था।

लेकिन अगर मैंने कुछ और मेहनत और कोशिश की होती, और सही ढंग से की होती, तो मैं उन मौक़ों का कहीं ज़्यादा फ़ायदा उठा सकता था। उदाहरणार्थ, मुझे इस बात का पता लगता कि रवीन्द्र ने अंग्रेज़ी और यूरोपीय साहित्य का बहुत गहन अध्ययन किया था, और उनका साहित्यिक स्तर उन लोगों के स्तर से कहीं ऊंचा था, जो केवल हिन्दी साहित्य की सीमाओं में घिरे हुए थे। मुझे यह भी पता लगता कि जहां मैंने अपनी मातृभाषा से मुंह मोड़ा हुआ था, वहां गुरुदेव ने अपनी मातृभाषा को अपनाया था। उन्होंने जो कुछ विश्व-साहित्य से सीखा था, उसका उपयोग अपने साहित्य-सृजन में किया था। तब मुझे महसूस होता कि मैं लेखक के रूप में सही रास्ते पर आगे नहीं बढ़ रहा था। तब मैं बंगाली भाषा सीखता, रवीन्द्र साहित्य का अध्ययन करता, और मुझे अपनी कुछ बुनियादी उलझनों और गलतफ़हमियों को दूर करने में मदद मिलती।

गुरुदेव बहुत वृद्ध थे, फिर भी वह शांतिनिकेतन की सरगर्मियों में भाग लेते रहे। सो उनसे मेरी मुलाकात होती रहती और वह पूछते, "बंगला सीख रहे हो न ?"

मैं कहता, "जी, सीख रहा हूं।" लेकिन यह झूठ था। मैं सच्चे दिल से बंगला नहीं सीख रहा था।

हर बार उनका यह प्रश्न मेरे मन में तलखी पैदा करता था। मुझे लगता कि ठाकुर प्रान्तीयता के शिकार हैं। लेकिन दूसरी तरफ वह 'विश्वभारती' के आदर्शों की बातें करते थे। वह शांतिनिकेतन को भारतीय संस्कृति का ही नहीं, विश्व-संस्कृति का केन्द्र बनाना चाहते थे। लेकिन साथ ही अपने प्रान्त की भाषा मुझ पर थोपना चाहते थे। यह कैसा ढोंग था?

एक दिन मैं उन्हें वार्षिक हिन्दी सम्मेलन पर निमंत्रित करने के लिए गया। उन्होंने मुझे बैठने के लिए कहा और मुझसे बातें करने लगे।

"तुम यहां कुछ महीनों के लिए रहना चाहते थे। अब तुम्हें साल से ऊपर हो गया है। अब तुम जाते क्यों नहीं ?"

मुझे धक्का-सा लगा। शिक्षक के तौर पर मेरा काम संतोषप्रद था, मेरे साथियों की मेरे बारे में अच्छी राय थी और विद्यार्थी मुझे चाहते थे। आखिर गुरुदेव मुझे वहां से जाने के लिए क्यों कह रहे थे?

" मैं यहां खुश हूं। मैं यहां से बिलकुल जाना नहीं चाहता।" मैंने कहा।

"लेकिन यह ऐसी जगह नहीं है कि तुम हमेशा के लिए यहां टिक जाओ। अब तक तुम्हें पता लग गया होगा कि हम यहां क्या करना चाहते हैं। अब तुम्हें अपने प्रान्त में जाकर इसी विषय में सृजनात्मक काम करना चाहिए ।"

"मैं यहां काफ़ी सृजनशील हूं। मैं उसमें तबदीली नहीं लाना चाहता। मैं खुश हूं यहां। मेरी पत्नी भी खुश है।"

"पढ़ाने के अलावा और यहां क्या कुछ करते हो?" उन्होंने पूछा।

"मैं हिन्दी में कहानियां लिखता हूं, जो हिन्दी की प्रमुख पत्रिकाओं में छपती हैं। मैंने यहां रहकर काफ़ी कुछ लिखा है, और काफी नाम कमाया है।"

"लेकिन तुम्हारी भाषा हिन्दी नहीं है। तुम पंजाबी हो। आखिर पंजाबी में क्यों नहीं लिखते ?"

मुझे फिर लगा कि गुरुदेव संकीर्ण विचारों वाले प्रान्तीयतावादी हैं। तब मैं यह नहीं जानता था कि कलाकार तभी अन्तर्राष्ट्रीय बन सकता है, अगर पहले वह सही अर्थों में राष्ट्रीय बने।

"लेकिन हिन्दी राष्ट्रभाषा है। यह पूरे देश की भाषा है। मैं किसी प्रान्तीय भाषा में क्यों लिखूं, जबकि मैं पूरे देश के लिए लिख सकता हूं?"

"बंगला में लिखता हूं, जो कि प्रान्तीय भाषा है, लेकिन सारा हिन्दुस्तान ही नहीं, सारा संसार मुझे पढ़ता है।"

"मैं आप जैसा महान लेखक नहीं, एक छोटा-सा लेखक हूं।" मैंने कहा।

"बड़े या छोटे का सवाल नहीं है। लेखक का सम्बन्ध अपनी धरती से है, अपने लोगों और अपनी भाषा से है। वहीं तुम्हें अपनेपन का एहसास होगा।"

''शायद आपको मेरे प्रान्त के हालात की जानकारी नहीं है। पंजाब में हम या तो हिन्दी में लिखते हैं, या फिर उर्दू में। कोई भी पंजाबी में नहीं लिखता। पंजाबी बहुत पिछड़ी हुई भाषा है। सच पूछिए तो उसे भाषा नहीं कहा जा सकता। वह हिन्दी की एक उप-भाषा मात्र है।''

''मैं तुम से सहमत नहीं हूं। पंजाबी साहित्य, बंगला साहित्य जितना ही पुराना है। क्या तुम उस भाषा को पिछड़ी हुई कहते हो, जिसमें गुरु नानक जैसे कवियों ने लिखा है ?''

और तब उन्होंने मुझे गुरु नानक की कुछ पंक्तियां सुनायीं, जो आज मुझे जबानी याद हैं, लेकिन उस समय मैं उनके बारे में बिलकुल अनजान था। वे पंक्तियां थी-

गगन में थाल रवि चन्द दीपक बने
तारका मंडल जनक मोती।
धूप मलयानल पवन चवरो करे
सगल बनराये फूलन्त जोती।

ये पंक्तियां सुनाने के बाद गुरुदेव ने कहा- ''तुम्हें यह भी बता दूं कि मैं गुरु नानक की महान कविता के कुछ अंशों का बंगला में अनुवाद करने का प्रयत्न कर रहा हूं। लेकिन मुझे लग रहा है कि उनके साथ पूरा न्याय नहीं कर पाऊंगा।''

''यह तो सिखों की धार्मिक वाणी है।'' मैंने कहा, ''मैं तो ऐसे साहित्य की बात कर रहा हूं, जो धर्म-सम्प्रदाय की संस्थाओं से ऊपर हो। ऐसा साहित्य पंजाबी में बिलकुल नहीं है। इसका कारण है कि आधुनिक पंजाबी बहुत पिछड़ी हुई भाषा है।''

''इसी प्रकार की बातें अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे बंगाली बुद्धिवादी आज से सौ साल पहले बंगला के बारे में किया करते थे। अपनी भाषा को समृद्ध बनाना इतना कठिन नहीं है। बंकिम बाबू ने बंगला भाषा को बीस हज़ार नये शब्द दिए थे। खुद मैंने अस्सी हज़ार नये शब्द दिए हैं। मैंने बंगला भाषा को बनाया है।'' उन्होंने गर्व से कहा, ''आज यह भाषा अपनी अभिव्यक्ति में संसार की किसी भाषा से पीछे नहीं है।''

मैं चुप रहा, लेकिन उनकी बातों से क़ायल नहीं हुआ। जहां तक मैं जानता था, अधिकांश पंजाबी लेखक हिन्दी या उर्दू में लिखते थे। पंजाबी सिर्फ गुरुमुखी थी- एक ऐसी लिपि, जिसका प्रयोग सिख ही करते थे, क्योंकि उसका उनके धर्म से सम्बन्ध था। मैं तो उसे पढ़ना-लिखना भी नहीं जानता था। और फिर, हिन्दुस्तान आज़ादी के लिए लड़ रहा था। उसे एक राष्ट्रभाषा की ज़रूरत थी। कांग्रेस उस राष्ट्रभाषा को फलने-फूलने के लिए प्रोत्साहन दे रही थी।... मैंने बहस करना ठीक नहीं समझा। मैंने गुरुदेव को अपने आने का कारण बताया। उन्होंने निमंत्रण स्वीकार कर लिया। मैं जाने के लिए उठा।

मैं कभी दरवाज़े तक पहुंचा ही था कि गुरुदेव ने मुझे बुलाया और ऐसे शब्द कहे, जो कई सालों तक मेरे दिल में चुभते रहे। लेकिन फिर एक दिन अचानक मैंने महसूस किया कि उन शब्दों में कितनी बड़ी सच्चाई थी। उन्होंने कहा था :

''एक वेश्या संसार की सारी दौलत पाकर भी इज़्ज़तदार नहीं बन सकती। तुम पराई भाषा में चाहे ज़िन्दगी-भर लिखते रहो, लेकिन न तुम्हारे अपने लोग तुम्हें अपना समझेंगे, न वे लोग, जिनकी भाषा में तुम लिख रहे हो। दूसरों का बनने के पहले तुम्हें अपने लोगों का बनना चाहिए ।''

यह था गुरुदेव का तरीका। वह कभी आपे से बाहर नहीं होते थे, फिर भी वह सच्ची बात कहने से डरते नहीं थे, क्योंकि वे जानते थे कि एक न एक दिन सच्चाई जड़ पकड़कर रहेगी और फले-फूलेगी।

वह समय देश और विदेश में बहुत बड़ी उथल-पुथल का था। आज़ादी के लिए हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन तेज़ी से आगे बढ़ रहा था, लेकिन उसमें अजीब क़िस्म के विरोधाभास भी जन्म ले रहे थे। चीन, जापान के चंचुल में फंसता जा रहा था। यूरोप में नाज़ीवाद अपने घिनौने रूप में उभर रहा था और एक-एक करके कई देशों की आज़ादी को हड़पता जा रहा था। युद्ध की कली छायाएं दिखाई देने लगी थीं। मैं अभी इतना छोटा था कि इन सब चीज़ों को समझ नहीं सकता था, और इसीलिए मैं बड़ी समस्याओं के बजाय अपनी व्यक्तिगत समस्याओं में घिरा हुआ था। लेकिन गुरुदेव के भाषण और उनसे होने वाली मुलाक़ातें हमेशा मुझे सोचने के लिए मजबूर करती थीं। फिर, ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, मैं देखता कि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में, चाहे वे राजनीतिक हों या सांस्कृतिक, गुरुदेव बिना किसी उलझन के, स्पष्ट शब्दों में अपने विचार प्रकट करते थे। और दस में से नौ बार उनकी बातें सही साबित होती थी। लंबे-चौड़े भाषण दिए बिना, या आप से बाहर हुए बिना, उन्होंने जो बीज हमारे दिलों में बोये थे, वे फूटने पर हमारे अपने अनुभवों द्वारा फलने-फूलने लगे। इस प्रकार धीरे-धीरे मैं भी उनके बताए रास्ते पर चलने लगा। तब उनके संग बिताया हर क्षण मेरी यादों में साकार होकर अर्थवान बनने लगा। मैं महसूस करता हूं कि रवीन्द्र केवल साहित्य और कला में ही हमेशा के लिए जीवित नहीं हैं, वह मेरे दिल में और उन लोगों के दिलों में भी जी रहे हैं, जो उनके संपर्क में आए थे। इसे शायद मेरी भावुकता समझा जाए, लेकिन यह असलियत है। मैं एक सच्चाई सामने रख रहा हूं, जिसका सबूत उन लोगों से मिल सकता है, जो गुरुदेव के और ज़्यादा नज़दीक थे, और सौभाग्यवश लंबे अरसे तक उनके नज़दीक रहे थे।

शांतिनिकेतन में एक गांधी-दिवस

भानू नीली साड़ी पहने अहाते में बैठी कुछ काम कर रही है। आश्रम की तरफ़ पेड़ों के घने कुंज में पक्षी कलरव कर रहे हैं। किन्तु यहां इस तरफ़ एक भी पक्षी नहीं है। बस, वीरानी है और सुनसान है। वे कौन-से परिन्दे होते हैं, जो 'टाटा भवन' के आस-पास सुबह सुरीली आवाज़ में गाते हैं? वे कहां से आते हैं और शाम को कहां चले जाते हैं? शायद वे भी कलरव में हिस्सा लेने चले गए होंगे। यहां तो एक कौवे की, और कभी-कभी कुछ दूर पर एक कोयल की आवाज़ सुनाई दे रही है। पश्चिम में जंगली कबूतर के पंखों जैसे बादल आकाश में फैले हुए हैं। उत्तरायण के आगे एक 'छंजीरी' क़िस्म के दरख्तों की खूबसूरत कतार है। टेनिस की गेंदों की 'ठप-ठप' सुनाई दे रही है ('उत्तरायण' के टेनिस कोर्ट से) । साथ वाले कमरे से रथी दी के खांसने की आवाज़ आ रही है। आश्रम से लड़कियां सैर को निकल रही हैं- शुरुल के रास्ते पर। टाटा भवन का वरदान, आमले के पेड़, अपनी सूखी हुई उंगलियों जैसी भयावह शाखों को अजीब ढंग से कसे हुए हैं। सुधीर बाबू की कुटिया के पिछवाड़े रस्सी पर धुले हुए कपड़े सूखने के लिए टंगे हैं। बिजली अभी-अभी आई है और मेरे पास बैठी दम्मो (दमयन्ती) उठकर अन्दर कमरे में पढ़ने चली गई है। गर्मी बढ़ रही है। मैं ये पंक्तियां टाटा भवन के नोटिस बोर्ड के नीचे बैठा लिख रहा हूं- गमला रखने वाले स्टूल पर बैठकर। मच्छरों की भिन-भिनाहट भी शुरू हो गई है। भानू ने कलम में स्याही भर देने का सवाल उठाया है, और दम्मो सैर की दावत दे रही है। दूर अब नया घड़ियाल आलस्यभरी, वेदनाशील ध्वनि में टनटनाने लगा है। उत्तरायण का बिजली का इंजिन 'भप-भप' कर रहा है।

आज दो दिन बाद डायरी लिखने बैठा हूं। इस दौरान शरीर और मन की हालत फिर पहले-जैसी हो गई है। आंखें तकलीफ़ दे रही हैं। जो नियम बंधा था और जिसकी सहायता से शिथिलता कुछ हद तक दूर हुई थी, वह फिर टूट गया है। शायद इन पृष्ठों का लिखना कायदे को दोबारा चालू करने में मदद करे।

परसों शाम से आज तक की घटनाओं के बारे में थोड़ा-बहुत याद है :

चार बजे के करीब हिन्दी भवन के बारे में लिखा अपना लेख मिला। इसे मैंने दो-तीन बार पढ़ा। यह पहला लेख है, जिसके छपने पर मुझे कोई खुशी हासिल नहीं हुई। अच्छा होता, यदि मैं न ही लिखता। शाम को चाय पर क्षितिज बैनर्जी और सोमा आ गई। सोमा अपनी ऑटोग्राफ-बुक छोड़ गई। चाय के बाद हम अध्यापकों के 'चायचक्र' में गए, जहां गांधी-दिवस मनाने के सिलसिले में डयूटियां बांटी जा रही थीं। हम लोग देर से पहुंचे। अनिल चंदा ने मेरा नाम किचिन में बर्तन साफ़ करने वालों में दर्ज कर लिया था। सोमा मेरा लेख पढ़ रही थी, यह देखकर मुझे कोफ्त हुई।

इसके बाद हम सैर को निकल गए। इच्छा भी मैं पंडित हज़ारीप्रसाद द्विवेदी (जो उस समय हिन्दी के अध्यक्ष थे) और भगवतीप्रसाद चंदोला (बाद में इस स्कूल में हिन्दी के अध्यापक, उस समय हिन्दी भवन में द्विवेदी जी के सहकारी) के साथ जाऊं, लेकिन अपने स्वभाव की उदारता का शिकार होकर मैं क्षितिज, मैनेजर, मौलाना और क्रिस्तान बढ़ई (याद नहीं आ रहा, ये कौन थे?) के साथ जाना पड़ा। आफिस का क्लर्क भी शायद साथ था, लेकिन वह कोई बात नहीं करता था।

पंडितजी की पार्टी बहुत आगे निकल गई थी। हम रेलवे लाइन को पार कर उस बैलगाड़ी वाले किसान की गुटिया के बगल से खेतों की तरफ़ चल पड़े, जिसे एक पठान के बीस रुपये चुकाने हैं, पर हो हमेशा हिसाब चुकाने में असमर्थ रहता है। याद आता है वह दिन, जब मैं अकेला सैर करते-करते इधर निकल आया था और उसके झोंपड़े के बाहर ठहर गया था। उसके लिए दस रुपये साथ लाया था। बैल मिट्टी की सुन्दर खुरल में मुंह डालकर खा रहे थे। गाड़ी भी वहीं पड़ी थी। एक तरफ खजूर का तना कटा हुआ पड़ा था। औरत खाना पका रही थी। बर्तन एकदम साफ़-सुथरे थे। उसके दो नंग-धड़ंग बच्चे मुझे देखकर चिढ़ाने के अन्दाज़ में पुकारने लगे। मैं थोड़ी देर रुककर वापस लौट गया। मेरी दुनिया इनसे बहुत दूर थी। निकट आने की कोशिश करना बेसूद था। वहां से होते हुए हम खेतों में चले गए। वापस आने तक रात हो गई। कई बार ज़रा-सी आहट होने पर मैं उछल पड़ता, क्योंकि सांप से सचमुच मुझे बहुत डर लगता है। व्यायाम के तौर पर मैंने उस दिन खूब हाथ-पांव हिलाए। घरआकर काफ़ी देर तक 'सचित्र भारत' के लिए एक खेल लिखता रहा। सारा दिन खूब चुस्त रहा।

आज गांधी-दिवस मनाया जाना है। सुबह साढ़े छः बजे ही दाढ़ी बनाकर निकर और सफ़ेद कमीज़ पहनकर मैं रसोईघर में पहुंच गया। मुझे 'बाटिया' उठाते देखकर लड़के-लड़कियों ने खूब मज़ाक किए। जब बर्तन जमा हो गए, तो उन्हें मांजना शुरु किया गया। काम करने वालों में तीन लड़कियां थीं और पांच लड़के। हमने आधा घंटे तक बर्तन साफ किये- राय, काली निकर, बनियान और गांधी टोपी पहने हुए आ गया। आते ही हुकुम चलाने लगा। मुझे उसके आडम्बर से ज़रा भी विक्षोभ नहीं हुआ, क्योंकि सचमुच यहां किसी हुकुम चलाने वाले की ज़रूरत थी। कोई काम नियत ढंग से नहीं हो रहा था। राय ने पहले पांचों हौज़ भरवा दिए। मंजे हुए बर्तन पांच बार अधिकाधिक स्वच्छ पानी में धुलने लगे, लेकिन मुझे गंदी नालियां साफ करनी पड़ी। मेरे साथ दो और लड़के थे। पाठ-भवन के एक छोकने ने तो जोश में आकर अपने हाथ से गंदगी निकालनी शुरू कर दी। इस पर मुझे बहुत अफ़सोस हुआ। काम कर चुकने के बाद हम तीनों ने चूना लिया और हाथ धोने चले। अनिल चंदा मुंह में सिगार लिए एक पम्प का हैंडल चला रहे थे। मैंने सोचा कि साफ़ पानी होगा। सो, हाथ धोने शुरू कर दिए। मेरे साथी भी हाथ धोने लगे। अनिल चंदा कहने लगे कि वह तो कुएं का सड़ा गंदा पानी से निकाल रहे हैं। बहुत मन खराब हुआ।

सुबह का काम समाप्त कर मैं घर आया। रास्ते में लड़के-लड़कियां कई प्रकार का परिश्रम करते दिखाई दिए। टट्टियां तक शिक्षक और शिष्य स्वयं साफ़ कर रहे थे। घर पहुंचकर मैंने अपने शरीर को खूब साफ किया और दो-तीन समीक्षाएं लिखीं। उसके बाद खाना खाया और फिर बड़े आराम से सामूहिक किचन में काम करने जा पहुंचा। वहां जो कुछ देखा, वह बयान से बाहर है। गांधीवाद के प्रति जो श्रद्धा थी, वह हटती हुई प्रतीत हुई। यह ठीक है कि अपना काम स्वयं करने की शक्ति प्रत्येक व्यक्ति में होनी चाहिए, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि जो काम नौकर रोज़ पूरे साल-भर बिना छुट्टी किए बारह घंटे करते हैं, वह हम एक रोज़ करके सुर्खरू हो जाएं। गंदे बर्तन यहां निहायत गंदे तरीके से साफ किए जाते हैं। उन्हें सिर्फ़ कहना सरासर अन्याय है। मुझे इतनी घिन पहले कभी नहीं हुई थी। गांधी-दिवस ने मुझे नौकरों के घृणित दैनिक जीवन का आभास

तो करा दिया, लेकिन इतनी गहराई में जाने की शक्ति उस समय मुझमें नहीं थी, ऐसा ज्ञात होता है। दूसरे लड़के गंदी राख में इस तरह हाथ मसल रहे थे, जैसे कोई बड़ा मनोरंजक खेल हो रहा हो। मैं हैरान हूं कि यहां कैसे बीमारी नहीं फैलती। लड़के काम तो करते थे, लेकिन व्यवस्थित रूप से कुछ नहीं हो रहा था। क्यों नहीं किचन को अच्छे और नये तरीकों पर चलाने की कोशिश की जाती? बर्तनों की जूठन एक पीपे में फेंक दी जाती है। भिखमंगे और अनाथ बच्चे इस टीन में से जूठन निकाल-निकालकर खाते हैं। सुबह के वक्त एक बच्चा बाटियां उठा-उठाकर उसमें से झोल का एक-एक घूंट पी रहा था। डेढ़ बजे के क़रीब यह सिलसिला खत्म हुआ। फिर, फ़र्श धोने पड़े। इस कारण मेरे हाथ-पैर चिकनी-सी गंदगी से इस तरह काले हो गए कि साबुन मसलने पर भी साफ़ नहीं होते थे। पैर के नाखून जूठन घुस जाने की वजह से पीले-पीले हो रहे थे।

हां, जब सुबह समीक्षाएं लिख रहा था, तो लखन झा नामक भागलपुर का एक विद्यार्थी मुझसे मिलने आया। उसने कहा कि मेरी कहानियों द्वारा मुझसे परिचित है। वह वज़ीफा हासिल कर यहां बी०ए० की तालीम मुफ्त हासिल करना चाहता है। उसे मेरी कहानियां और लेख पसंद हैं, इसलिए उसकी सहायता करने का फैसला करने में मुझे ज़रा भी आपत्ति नहीं हुई। किचन में काम कर चुकने के बाद मैं यह देखकर सख्त हैरान हुआ कि लड़के-लड़कियां साबुन से हाथ धोए बिना खाना खाने बैठ गए। मैं मल्लिकजी (श्री गुरदयाल मल्लिक) से मिलने चला गया। वह सो रहे थे। मैं बरामदे के नीचे बैठी कुछ संथाल औरतें पानी में चावल-सा कुछ घोलकर खा रही थी। उनके 'मरद' कला-भवन की इमारत के पास एक अलग कोने में बैठे भोजन कर रहे थे।

मृणाल (अब मृणालिनी साराभाई) साथ वाले तख्तपोश पर बैठी मल्लिकजी के जागने की प्रतीक्षा कर रही थी। जब वह जागे, तो मैंने उनसे लखन झा के बारे में बात की। उन्होंने अपनी प्रकृति के अनुकूल, यथासंभव सहायक होने का विश्वास दिलाया। वापस जाते समय मैं गेस्ट-हाउस में लखन झा से मिला। वह विस्तर पर बैठा न जाने क्या सोच रहा था। उसकी वह मुद्रा मुझे न भूलेगी। मुझे बम्बई में बिताई हुए अपने वे दिन याद आ गए, जब मैं होटल के कमरे में बैठकर इसी तरह दीवारों को घूरता रहता था, लेकिन मैं इतना गरीब नहीं था। मुझे बड़ी इच्छा हुई कि इस नवयुवक के बारे में कुछ जान सकूं, लेकिन मैंने अपने और उसके बीच बड़ा अन्तर पाया। केवल इतना जान सका कि वह कट्टर गांधीवादी है। और जाने क्यों, यह बात मुझे पसंद नहीं आई।

दोपहर को 'ग्लिम्पसेज़ ऑफ बंगाल' किताब पढ़कर खतम की, जो खास पसंद नहीं आई। पांच बजे लखन झा को चाय-चक्र में ले गया और मल्लिकजी से भेंट कराई। वापस आकर कुछ लिखने की कोशिश करता रहा, क्योंकि सैर के लिए देर हो चुकी थी। खाने के बाद डॉक्टर आरनसन, भानू, एक फ्रांसीसी महिला और मौलाना के साथ बातें होती रहीं। भानू कह रही थी, "मैं जीवन की समस्तता में दिलचस्पी लेती हूं।" मैंने कहा, "यह असंभव है। जीवन में मनुष्य उसके किसी एक भाग में ही दिलचस्पी ले सकता है। जीवन की समस्तता बहुत बड़ी चीज़ है।" वह मेरी बातें बड़े धीरज से सुनती रही, मगर उसकी आंखों से स्पष्ट है कि वह मुझे बिलकुल बुद्धू समझती है। वह मुझे अच्छी नहीं लगती। वापस आया तो दम्मो मेरे देर से आने पर नाराज़ थी। मैं कमरे में आकर चुपचाप सो गया।

रात को गर्मी थी। नींद देर से आई। याद है एक सपना इतना साफ़ तौर पर आया कि उसकी कहानी बन सकती है। लेकिन अब मैं उसे बिलकुल भूल गया हूं। एक और सपना कुछ इस तरह था : मोटर में मैं और दमयन्ती रावलपिंडी से वापस शान्तिनिकेतन आ रहे हैं। रास्ते में रामपुर की रियासत में से गुज़रना पड़ रहा है। एक लाल-सा, लम्बा-चौड़ा, आलीशान महल नज़र आता है। जब मोटर उसके पास से गुज़रती है तो एक दरबान यह कहता हुआ पीछे-पीछे भागता है, "मैं इन शांतिनिकेतन की मोटरों से तंग आ गया हूं।" जब तक मोटर रामपुर की सीमाओं से बाहर नहीं निकल जाती, वह पीछा नहीं छोड़ता। और भी कई सपने देखे, जिनमें मैं अपने घरवालों के आगे शांतिनिकेतन की डींग मार रहा था। इसता मतलब यही निकलता है कि मुझे घर की याद सताने लगी है। छः महीने हो गए हैं घर छोड़े हुए।

अक्तूबर, १६४०

सेवाग्राम की यादें

मार्च का महीना चढ़ आया। मेरी अपनी जन्म-नगरी, रावलपिंडी में ये दिन शीत ऋतु के ही गिने जाते हैं, मगर इस भूखण्ड में अभी से गर्मी शिखर पर पहुंच गई है। हमारे तालीमी संघ के सारे कर्मचारी बाहर खुले मैदान में चारपाइयां बिछाकर सोते हैं। रात के डेड़ या दो बजे अचानक तापमान गिरता है। चादर ऊपर लेने के लिए जब मैं उठ बैठता हूं, तो ऐनी उसी वक्त आस-पास के लगभग सभी साथियों को भी यही क्रिया करते देखता हूं, जैसे कोई परेड हो रही हो। बड़ा मज़ेदार दृश्य होता है यह।

साढ़े तीन या पौने चार बजे के करीब आश्रम में, जो हमारी तालिमी-संघ वालों की बस्ती से कोई एक फ़र्लांग दूर है, प्रार्थना की घंटी बजती है। आश्रमवासियों के लिए प्रार्थना में शामिल होना लाज़िमी है, हमारे लिए नहीं। लेकिन हमारे अध्यक्ष श्री आर्यनायकम और उनकी धर्मपत्नी आशा दीदी विला नागा वहां जाते हैं। दमयन्ती और मैं भी इन दिनों, एक विशेष कारण से, प्रतिदिन उनके साथ जाने लगे हैं, हालांकि कुछ दिन पहले हमारे लिए इतने सवेरे उठ जाना असाध्य-सी क्रिया थी।

मुझे पूजा-पाठ में कोई विश्वास नहीं है। बर्ट्रेण्ड रसेल, एल्डस हक्सले और एम०एन०राय की किताबें आजकल मैं बड़े शौक से पढ़ रहा हूं, और इनका मेरे ऊपर बहुत गहरा असर पड़ा है। इस्लाम के आने से भारत की सभ्यता और संस्कृति पर क्या असर पड़ा, इस बारे में इस छोटी-सी हरे रंग की ज़िल्दवाली किताब ने मुझे बहुत ही बहुमूल्य बातें बताई हैं। आचार्य कृपलानीजी का पूना में तालीमी-संघ के प्रथम कांफ्रेंस के अवसर पर दिया गया भाषण भी मुझे बहुत याद आता है। उसका हिन्दी तथा उर्दू भाषाओं में अनुवाद मैंने बड़ी ही मेहनत से तैयार किया था। और अब तो वह छप भी चुका है। बल्कि कांफ्रेंस की सारी रिपोर्ट ही हिन्दी में मैंने तैयार की थी और अहमदाबाद के नवजीवन प्रेस में लगभग दो महीने गुज़ार कर अपनी निगरानी में उसे छपवाया भी था। दिन-रात मेहनत करनी पड़ी थी। दमयन्ती ने भी भरसक सहायता की थी। तब छपी हुई रिपोर्ट की पेटियां साथ लेकर हम दोनों अहमदाबाद से सीधे रामगढ़ के कांग्रेस अधिवेशन के लिए रवाना हो गए थे। कांग्रेस प्रदर्शनी में ठीक समय पर किताबें पहुंचाने की हमें अपार खुशी थी। अपने स्टाल में खड़े होकर हम दोनों सारा दिन किताबें बेचते थे। कांग्रेस-नगर से थोड़े ही फ़ासले पर सुभाष बोस की अध्यक्षता में फ़ार्वर्ड ब्लाक का भी प्रथम वार्षिक अधिवेशन हो रहा था। वातावरण में खूब गरमागरमी थी, मगर ये सब हमारी समझ के बाहर की बातें थीं। दमयन्ती को सुभाष बाबू के हस्ताक्षर अपनी आटोग्राफ़ बुक में लेना ही था। पंडित नेहरू का हस्ताक्षर लेने के लिए वह सीधें उनके कैम्प में घुस गई थी। पंडितजी बाहर ही खड़े थे। दमयन्ती को भयभीत देखकर उन्होंने प्यार से अपने पास बुलाया और हिन्दी में आटोग्राफ़ दिया : "भारत की सिपाही बनो।" नेताजी के कैम्प में जाने की हम लोगों को मनाही-सी थी, पर उनके हस्ताक्षर भी हम ले ही आए थे।

पूना में कृपलानीजी ने अपने अत्यन्त प्रभावशाली भाषण में बड़े सुलझे हुए ढंग और विस्तार के साथ वर्तमान युग की दो प्रमुख क्रांतिकारी विचारधाराओं का विश्लेषण किया था : मार्क्सवाद तथा गाँधीवाद का। उनका भाषण सुनते-सुनते मुझे ऐसा अनुभव हो रहा था, जैसे उनके शब्द मेरे मन के अंधेरे में खिड़कियां खोलकर प्रकार ला रहे हों। वे कार्ल

मार्क्स तथा महात्मा गांधी के सिद्धान्तों का वर्णन कर रहे थे, पर इसका यह मतलब हरगिज़ नहीं कि वह स्वयं अक्षरशः गांधीजी ने नक्शेकदम पर ही चलते है। कृपालानीजी का दृष्टिको अपनी जगह न्यायसंगत था। यदि गांधीवादी क्रांति के सफल होने की पहली शर्त अक्षरशः अनुसरण है, तो उस क्रांति के सफल होने की आशा ही क्या, जिसके नेता ही इस शर्त को पूरा करना अनिवार्य न समझते हों? मेरे मन का डावांडोल हो जाना स्वाभाविक ही था।

आशा दीदी और आर्यम-दा का जीवन, आश्रम से बाहर रहते हुए भी, आदर्श गांधीवादी जीवन है। उनके बारे में शायद हम अवश्य कह सकें कि सचमुच उन्होंने गांधीवाद को अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है। कितना अथाह आदर और प्रेम है हमारे दिलों में अपने आर्यम-दा और आशा दीदी के लिए। सायंकाल को हरीकेन लालटेन की रोशनी में जब हम उनके साथ खाना खाने बैठते हैं तो आश्रम के बारे में सुनी-सुनाई बातों पर चर्चा छिड़ जाता है। उनके चेहरों पर गूढ़ विषाद की रेखाएं उभर जाती हैं।

एक बार दमयन्ती ने जोश में आकर आश्रम में दाखिल हो जाने का प्रण कर लिया। गांधीजी ने उसे अपने पास बैठाकर इस कठिन मार्ग के लक्ष्यों तथा मूल सिद्धान्तों से उसका परिचय कराया। उसे समझाया कि ऐसे फैसले जल्दबाज़ी में करने वाले नहीं होते। पहले गंभीर अनुभव, ज्ञान तथा चिन्तन की आवश्यकता होती है। पर दमयन्ती अपनी जिद पर अड़ी हुई थी। उसने कहा, ''मैंने सब सोच-समझ लिया है। मैं अपना सर्वस्व देश को अर्पण करना चाहती हूं।'' मैं चिन्तापुर हो उठा। लेकिन कस्तूरबा (उफ, उस मां का प्यार क्या कभी हमें भूल सकता है? लेकिन मैं 'हमें' शब्द कैसे प्रयोग कर रहा हूं? दमयन्ती भी तो अब कस्तूरबा तथा बापू की तरह सदा के लिए नज़रों से ओझल हो गई है!) तथा आशा दीदी ने एक ही वाक्य में उसे दृढ़ता से डांट बताई और वापस भेज दिया, ''तुम्हारा व्रत-धर्म अपने पति के साथ है। आश्रम में प्रवेश करने का फैसला तुम अकेली नहीं कर सकतीं।''

कहते हैं, जो अच्छे हों ईश्वर उनकी बड़ी परीक्षा लेता है। आशा दीदी और आर्यनायकम को अभी कुछ दिन हुए भाग्य ने ऐसी ज़बरदस्त ठोकर लगाई कि सोचते ही हृदय कांप उठता है। हमारी तालीमी-संघ वालों की बस्ती के खुले प्रांगण में उनके दो फूल जैसे बच्चे खेला करते थे। अक्समात दिन-दहाड़े भावी चील की तरह झपटकर आई और एक को उठा ले गई। अब छः बरस की, कुछ न समझने वाली मितू, अपने अकेलेपन पर हैरान होती है। उसका छोटा भाई चार बरस का था- भरपूर, सुन्दर, हंसोड़, सर्वप्रिय। पिछले महीने जब मेरे पिताजी आए हुए थे तो उसने उनके साथ बड़ी ज़बर्दस्त दोस्ती जमा ली थी। सारा-सारा दिन उनकी पगड़ी सिर पर रखकर और छड़ी हाथ में लेकर घूमता रहता था। हंसी के मारे सबका बुरा हाल होता रहता था। सारे सेवाग्राम की रौनक था वह। बापू से भी उसकी विशेष मित्रता थी। सारी दुनिया बापू को मिलने आती थी, पर बापू उस नन्हे के लिए कोई न कोई सौगात लेकर खुद चलकर आया करते थे। सभी के प्रेम का केन्द्र था वह।

एक दिन दोपहर को वह आशा दीदी के कमरे में अकेला बैठा खेल रहा था कि उसकी नज़र एक शीशी पर गई, जिसमें खांड से पोती हुई कुनेन की गोलियां पड़ी थीं। मिठाई समझकर जाने कितनी निगल गया। घंटे-भर के अन्दर-अन्दर हम उसकी लाश के सिरहाने सिर पिट रहे थे।

सारी रात आशा दीदी अपने मृत शिशु को गोद में लेकर बैठी रहीं। हमारी भी कहां हिम्मत थी उसे उठाकर फूंक आने की ! बापू बार-बार आते, चुपचाप खड़े रहते, गीता का पाठ करने की सलाह देते। पर रुंधे हुए कंठों से भला कहां श्लोक पढ़े जाते हैं ! आंसुओं की बाढ़ थी कि थमती ही नहीं थी। अन्त में, मैंने दिल पक्का किया और श्लोक पढ़ने लगा। आशा दीदी बुत की तरह बैठी रहीं, जैसे उनके प्राण भी अपने साथ ही ले गया हो नन्हा। गीता मैंने पहले भी दो-एक बार पढ़ी थी, पर इस पुस्तक के अन्दर कितना बल है यह मुझे आज ही अनुभव हुआ।

(बार-बार बच्चे का नाम याद करता हूं तो मन में आते-आते फिर गायब हो जाता है, जैसे वह स्वयं पकड़ में आने से पहले ज़ोर-ज़ोर से हंसता हुआ दूर भाग जाया करता था!)

बड़ा हौंसला है आर्यम-दा और आशा दीदी का। फिर उसी तरह अपने काम-काज में जुट गए हैं दोनों, जैसे कुछ हुआ ही न हो। पर उनके चेहरे कितने बदल गए हैं, यह शायद उन्हें स्वयं भी नहीं मालूम।

नींद हमारे युवक अंगों को बहुतेरा जकड़ने की कोशिश करती है, पर हम अपने बड़े भाई और बड़ी बहन का साथ देने की खातिर प्रार्थना की घंटी सुनते ही फौरन उठ बैठते हैं। आर्यम-दा लालटेन उठा लेते हैं, और खेतों में से आश्रम की तरफ हमारी प्रातः यात्रा आरम्भ हो जाती है।

चाहे हम ठीक समय पर पहुंचने की कितनी भी कोशिश करें, बापू अपने आसन पर पहले से विराजमान नज़र आते हैं- अपनी लालटेन को दायीं तरफ कुछ देर पर रखे, सफेद चादर ओढ़े, आंखें बन्द किए, सिर झुकाए। उन जैसा वक्त का पाबंद व्यक्ति आश्रम में दूसरा कोई नहीं है। उनकी दिनचर्या ऐसी ही अटल है, जैसे सूर्योदय और सूर्यास्त। उनकी आंखें बन्द देखकर मुझे एकटक उनकी तरफ़ देखते रहने का साहस हो जाता है। चाहे मुझे गांधीजी के जीवन-सिद्धान्त समझ न ही आएं, चाहे उनके साथ मेरा कितना ही मतभेद क्यों न हो, उनकी मौजूदगी में मैं अपने आप को हमेशा खुला-खुला अनुभव करता हूं। हमेशा जी चाहता है कि उनके सामने अपना दिल खोलूं, हमेशा निर्भयता तथा स्पष्टवादिया की प्रेरणा लूं। उनके माथे की चमक में मुझे अपने देश का भविष्य निखरता और उभरता दिखाई देने लगता है। कई बार मैं अपने आप कहता हूं, "यदि तुझे सफल होना है तो इस व्यक्ति की ही तरह दृढ़-निश्चय, निष्काम, सच्चा और निडर होने की साधना करनी पड़ेगी।" उस महापुरुष का स्वरूप मैं अपने हृदय की गहराइयों में सदा के लिए बैठाने का प्रयत्न करता रहता हूं।

टेलीफ़ोन वाला

होटल। अपने कॉटेज में दाखिल होते ही मैंने सामान खोलकर उसे बड़े करीने से रखना शुरु कर दिया। साढ़े बारह बजे थे। डेढ़ बजे लंच खाने के लिए साथी आएंगें। पूरा एरा एक घंटा पड़ा हैं। इढे बजे लंचतो काले कर ही सकता हूं। एक छोटी कहानी अधूरी छोड़े हुए काफी दिन हो गए हैं। हो सकता है कि शूटिंग दोपहर के भी काफ़ी देर से शुरू हो । लिखने का मूड बन गया तो बम्बई लौटने से पहले कहानी पूरी कर ही लूंगा।

कमरे की बड़ी खिड़की में से लोनावला की पहाड़ियों का बहुत सुन्दर दृश्य दिखाई दे रहा था। मैं पलंग को एक तरफ़ हटाकर उस खिड़की के पास ले आया। फिर कागज़-पत्र मेज़ और ड्रेसिंग टेबल की दराजों में रखे और किताबें एक रैक में टिका दीं। फ़र्नीचर पुराना और सस्ती क़िस्म का था, लेकिन था अच्छा और ज़रूरत के मुताबिक। तभी खयाल आया कि 'जीनियस' क़िस्म के लेखक ऐसे होते होंगे, जो अपने इर्द-गिर्द बेहिसाब बेतरतीबी पैदा करके मूड में आते होंगे। दूसरी प्रकार के लेखकों को बेतरतीबी रास नहीं आती और उन्हें उलझन में डाल देती है। उस हालत में वे लिख नहीं पाते, क्योंकि लिखना उनके जीवन का ऐसा महत्त्वपूर्ण भाग नहीं होता कि वे उसकी खातिर अपना सुख-चैन, सेहत और मानसिक सन्तुलन खराब कर दें। मुझे खुद को इस दूसरी श्रेणी के लेखकों में गिनते हुए तकलीफ़ तो हुई, पर फिर भी कागज़-कलम लेकर मेज़ के आगे डट गया।

खिड़की के बाहर, बन्दरों के बचाव के लिए एक मोटी जाली लगी हुई थी। खिड़की का निचला हिस्सा मलमल के पर्दे से ढका हुआ था। उसे एक तरफ़ हटाकर तसल्ली हुई कि कुर्सी पर बैठने से भी सामने का लगभग उतना ही दृश्य देखने को मिल जाता है, जितना खड़े होने पर। खिड़की से बीसेक फुट की दूरी पर एक पेड़ था, जिसका तना लहराते चमकते पत्तों और हरी टहनियों में खोया हुआ-सा था। वह पेड़ खाई के बिलकुल किनारे पर था, जो यहां से दिखाई नहीं देती थी। ज़मीन में दबी सीमेंट की एक टंकी का अगला हिस्सा ही शून्य में टंगा हुआ दिखाई देता था, और देखने में अच्छा लगता था। मैं दो महीने पहले यहां एक फ़िल्म की शूटिंग के सिलसिले में आया था, और एक शाम इस टंकी पर कुर्सी-मेज़ रखकर लिखने-पढ़ने का आनन्द ले चुका था। वहां से कुछ दूर घाटी में लहराते हुए पेड़ों के झुंड, पहाड़ों में से बल-पेच खाकर गुज़रती रेलवे लाइनें, बिजली के खम्भे, बंगले और बाज़ार थे। इस दृश्य का शिमला या कश्मीर के दृश्यों से कोई मुक़ाबला नहीं है। बम्बई से लगभग साठ मील के फासले पर ऐसे पहाड़ों का होना एक बहुत बड़ी नेमत है। लिखते समय, विचारों में खोई हुई आंखें, इन पहाड़ों पर घूमती हुई, अपनी थकान दूर कर लेती हैं और दिल लगा रहता है।

मैं कलम हाथ में लिए काफ़ी देर तक इस दृश्य को देखता रहा। आखिर मन एकाग्र हुआ तो मैं लिखने लगा। एक-आधा पृष्ठ लिखने पर ध्यान टूटा। टंकी पर बैठा एक नन्हा-सा सुन्दर पक्षी अपनी अनोखी और सुरीली बोली में बोल रहा था। तभी वह आहट सुनकर उड़ा तो मैंने देखा कि पेड़ के दायें हाथ कुछ दूर खड़े बिजली के खण्मे पर खाकी वर्दी वाला एक कर्मचारी अपने हाथों और पावों के बल चढ़ रहा था। वह खम्भा होटल के अहाते के अन्दर था, जो सड़क पर के खम्भों से छोटा था, और मजबूती से गड़ा हुआ नहीं था। वह आदमी ज्यों-ज्यों सरकता हुआ ऊपर चढ़था गया, खम्भा डावांडोल होता रहा। वह खम्भा भी उस पेड़ की तरह, खाई के बिलकुल सिरे पर गड़ा हुआ था।

उस आदमी को मैंने पहले भी देखा था जबकि वह सीमेंट की टंकी पर खड़ा था। उसके हाथ में टेलीफोन की तार था, जिसे वह नीचे खाई में से ऊपर लाया था। देखकर मुझे खुशी हुई थी। होटल के दफ्तर में किसी ने बताया था कि टेलीफ़ोन बिगड़ा हुआ है और रात के दस बजे मुझे जिस ट्रंककाल का इन्तज़ार है, उसके लिए कहीं और जाना पड़ेगा। लेकिन तब उस आदमी का आना इस बात की आशा दिलाता था कि टेलीफ़ोन जल्दी ही ठीक हो जाएगा।

खम्भे के ऊपरी सिरे पर पहुंचकर वह लटटूओं वाले डंडे पर बैठ गया, जिसमें से एक की तार सही-सलामत थी। उस आदमी का सिर नंगा था और उसके घने बाल सीधे कटे हुए थे। शायद सिर इतना बड़ा होने के कारण वह अपनी खाकी वर्दी के बावजूद, सरकारी कर्मचारी के बजाय स्कूल से भागा हुआ लड़का या सरकस का कोई कलाबाज़ लगता था। उसने डंडे पर सावधानी से बैठकर अपने हाथ में पकड़ी एक सफ़ेद रस्सी, जिसके दूसरे सिरे पर टेलीफ़ोन की तार बंधी हुई थी, ऊपर की ओर खींचनी शुरू की। जब वह आदमी झटके दे-देकर उसे छुड़ाने की कोशिश करता, तो खम्भा इतने ज़ोर से हिलता कि उसे मज़बूती से पकड़कर रखने वाली तम्बू के रस्से जैसी मोटी, ज़मीन में गड़ी, बांकी-टेढ़ी, जंगभरी तार के टूटने का शक होता।

मुझे आदमी की दिलेरी, या कह लीजिए, लापरवाही पर हैरानी हो रही थी। काम का इतना शौक़ भी क्या? बन्दरों की तरह खम्भों पर चढ़ना-उतरना उसकी आदत बन गई थी। ऐसे मुश्किल काम के लिए क्या उसे कोई सहायक नहीं मिलना चाहिए। ईश्वर न करे, अगर वह खाई में गिर पड़े तो हाथ-पांव तो ज़रूर तुड़ा लेगा। इससे भी बड़ी दुर्घटना हो सकती है।

फिर मैंने सोचा कि हर आदमी खुद को कहीं ज़्यादा अच्छी तरह जानता है। यह आदमी इस तरह निडर होकर रस्सी को झटके दे रहा है, तो उसे खम्भे की मज़बूती का भरोसा होगा ही।

तार निचली झाड़ियों में से तो निकल गई, लेकिन ऊपर आने पर फिर से झाड़ियों, बेलों, पेड़ों के एक झुंड में फंस गई। आदमी ने फिर उसे झटके देने शुरू किए। मुझे दूर बैठे होने पर भी साफ़ दिखाई दे रहा था कि इस बार उसकी पेश नहीं चल रही थी। कुछ देर बाद वह नीचे उतरने लगा। मैं अनायास ही कुर्सी पर से उठकर खड़ा हुआ और ऊंची आवाज़ में बोला, "ठहरो, मैं आता हूं।"

उसके बार-बार खम्भे पर चढ़ने-उतरने से मुझे कोफ्त होने लगी थी। वह मेरी आवाज़ सुनकर हैरान हुआ और उसी समय रुक गया, जैसी मेरी मदद को ठुकरा न सकता हो।

मेरा खयाल था कि वह कोई लकड़ी या टहनी उठाकर फंसी हुई तार को निकाल देगा। लेकिन बाहर आने पर देखा कि काम इतना आसान नहीं था। तब मैंने एक मोटी-सी लकड़ी ढूंढ़ी और टंकी पर खड़े होकर, जहां से नीचे देखने पर डर लगता था, टहनियों का निशाना बांधकर ज़ोर से फेंकी। पर निशाना ठीक न लगा। कुछ लकड़ियां और भी वहां पड़ी थीं, जिन्हें उठाकर मैं फेंक सकता था, लेकिन यह तरीका मुझे ठीक न लगा।

उस समय उस आदमी ने टांगें नीचे उटकाकर कहा, "हम आता है।"

"ज़रा ठहर जाओ।" मैंने कहा, "मैं पत्थर मारकर देखता हूं।"

वह रुक गया। मैंने चार-पांच बड़े-बड़े पत्थर उठाकर मारे। एक-दो निशाने पर लगे भी, पर तार अटकी ही रही। आखिर वह आदमी नीचे उतर गया। मुझे ऐसा लगा, जैसे मैं किसी इम्तहान में फ़ेल हो गया था। पर साथ ही मज़ा भी आने लगा। मानो बचपन के दिन लौट आए हों और खेलने के लिए एक अच्छा साथी मिल गया हो।

नीचे आकर उस आदमी ने भी एक लकड़ी उठाई। फिर ज़ेब में से सफ़ेद रस्सी का एक और टुकड़ा निकाला, जो शायद प्लास्टिक या रबड़ की मोटी तार थी। उसका एक सिरा उसने लकड़ी के बीच के भाग पर बांधा और दूसरा सिरा हाथ में पकड़कर लकड़ी को ज़ोर से टहनियों पर फेंका। मुझे उससे ईर्ष्या हुई, जैसे बाबू किस्म के आदमी को किसी हाथों से काम करने वाले मज़दूर से होती है। लेकिन मैंने देखा कि उसकी कोशिश भी व्यर्थ ही गई। एक तो रस्सी छोटी थी, दूसरे उसने लकड़ी पूरी तरह लहराकर नहीं फेंकी थी।

वहां होटल के गिर्द लम्बे बांसों की बाड़ लगी हुई थी। मैंने सलाह दी कि अगर एक बांस खुलवा लिया जाए, तो मुश्किल हल हो सकती है। पर वह चुप रहा, जिससे मैंने अनुमान लगाया कि वह होटल वालों के सामने यह बात कहने से डरता है।

"लाओ, अब मैं कोशिश करता हूं।" मैंने कहा और उसके हाथ से रस्सी ले ली। उसने रस्सी ऐसे दी, जैसे हम सचमुच ही बचपन के साथी हों। हो सकता है, उसने मुझे किसी 'साहब' का नौकर समझा हो, क्योंकि उस समय मैं सिर्फ निकर और बनियान ही पहने हुए थे। उसका अपना हुलिया मुझसे अच्छा था- उसने खद्दर का बन्द गले का कोट और सूती कार्डराए की पतलून पहनी हुई थी, जिसका रंग कुछ फीका पड़ा हुआ था।

हमारा 'खेल' देखने के लिए लोग जमा हो गए थे। स्वाभाविक था कि उनमें ज़्यादा गिनती बच्चों की थी। बच्चों में एक आठ साल की लड़की थी, जिसने दूसरों की तरह मैले-कुचैले कपड़े पहने हुए थे, लेकिन उसका चेहरा बहुत सुन्दर था। शायद होटल के गोरखा चौकीदार की लड़की थी। उसके भूरे-से बाल कंधों पर बिखरे हुए थे। गेहुंआ रंग था उसका और चीनियों-जैसी तिरछी आंखें, मानों सुरमे की सलाई भरकर भौंहों के नीचे दो लकीरें खींच दी हों। उस समय टंकी पर जो एक पक्षी आकर बैठा था, उसके नारंगी रंग के माथे पर भी इसी तरह की स्याह लकीर खिंची हुई थी। मैं दोनों की समानता के बारे में सोचने से न रह सका।

दर्शकों में एक बूढ़ा व्यक्ति था। मैं पिछली बार जब इस होटल में ठहरा था, तो यह बूढ़ा रोज़ जंगल से पलाश के लाल-सुर्ख फूलों की एक टहनी लाकर मुझे दे जाया करता था और मैं उसकी सूखी, झुर्रियों-भरी टांगों पर तरस खाकर उसे चवन्नी या अठन्नी दे दिया करता था। पता नहीं, इस बार मेरे आने का इसे इतनी जल्दी कैसे पता लग गया था। पलाश के फूलों का मौसम जा चुका था। आज उसके हाथों में साधारण-से जंगली फूलों का गुच्छा था। मज़दूरिनों के लिबासों की तरह साधारण होने पर भी, उन फूलों में शोखी-भरी सुन्दरता थी। मुझे व्यस्त देखकर वह बूढ़ा लोगों के बीच में खड़ा हो गया था। होटल का वेटर भी अपनी सफेंद, कलफ़ लगी वर्दी पहने वहां आ गया था। उसे देखते ही मेरा साथी उसके पास जाकर खड़ा हो गया, जैसे मुझसे पीछा छुड़ाने का बहाना मिल गया हो। कुछ ही देर के बाद वह बैरे के साथ चलता बना।

मैं बहुत चाहता था कि उसके लौटने तक तार को छुड़ाकर दिखा दूं। मैंने दो-तीन बार सीमेंट वाले चबूतरे पर खड़े होकर रस्सी से बंधी हुई लकड़ी फेंकी। फिर किसी हद

तक खाई में उतरकर लकड़ी फेंकी। वहां से रस्सी छोटी नहीं पड़ती थी। लेकिन वहां जमकर खड़ा होना मुश्किल था। और फिर, झाड़ियों में सांप-बिच्छू का भी डर था। वहां खड़े बच्चे मेरी हर हरक़त को हैरानी-भरी नज़रों से देख रहे थे।

टेलीफ़ोन वाला एक पुराना लम्बा बांस वापस आया। उसके पीछे-पीछे बैरा था। बांस का एक सिरा कुछ इस तरह से तीखा था कि वह तार को उसमें फंसाकर छुड़ाने में सफल हो गया।

बाक़ी सारा काम आसान था, जिसे जल्दी-से-जल्दी निर्विघ्न रूप से खत्म करने के लिए वह उत्सुक दिखाई दे रहा था, मानो वहां खड़े दर्शकों के सामने अपने महकमे की शान बरक़रार रखने का सवाल उठ खड़ा हुआ हो। वह फिर उसी तरह खम्भे पर जा चढ़ा। खम्भा फिर हिला, पर उसने इस बात की कोई परवाह नहीं की। तब मैंने भी उसकी ओर ध्यान देना छोड़ दिया। लटटुओं वाले डंडे पर बैठते समय उसने अपने शरीर का सन्तुलन इस तरह क़ायम किया, जैसे घुड़दौड़ के पहले जौकी करते हैं। फिर उसने अपने दाएं पांव का अंगूठा लटटू में फंसाया और उकडूं होकर उसके तलबे में धंसे किसी कांटे या कील को टटोला। उसके पांव की चमड़ी जगह-जगह से फटी हुई थी, और उस पर खराशें पड़ी हुई थीं, जैसे कि सूखा पड़ने पर धरती फट जाती है। उसकी ऐड़ी में से कुछ खून निकला। पिछली बार शूटिंग करते समय मैं नंगे पांव दौड़ा था, तो मेरे पांव में भी कील फंस गई थी। वहां से बम्बई पहुंचते ही मुझे 'टिटनिस' होने के डर से डॉक्टर के यहां जाकर इंजेक्शन लगवाया था। डॉक्टर ने तीन महीने के बाद एक और इंजेक्शन लगवाने का सलाह दी थी ताकि छः सात साल तक टिटनिस होने का खतरा न रहे। पर वह टेलीफ़ोन वाला पांव के तलवे को जिस तरह साफ़ करके रगड़ रहा था, उससे लगता था कि मामला वहीं खत्म हो गया है।

उसके हाथ में की तार खम्भे से लेकर दूर मैनेजर के दफ्तर तक गई हुई थी। मैं देखने लगा कि वह तार का सिरा लटटू से किस तरह जोड़ता है। क्या वह तार को सिर्फ़ लटटू के गिर्द लपेट देगा? इस तरह बिजली की लहर में कोई विघ्न तो नहीं पड़ेगा? मुझे बचपन में टेलीफ़ोन की खेल खेलने का बहुत शौक था। शायद उसी शौक के बचे-खुचे अंश ने मुझे अन्य बच्चों की तरह वहां से जाने नहीं दिया और मैं खड़ा देखता रहा।

अब उसने जेब में से प्लास निकाला और बड़ी फुर्ती से तार को बीच में से काट। उसके एक भाग को उसने अपने शरीर के गिर्द लपेटा और दूसरे भाग को लटटू के गिर्द कसकर लपेटने लगा। ऐन मौक़े पर लटटू अपने कुंडे सहित छेद में से निकल आया और खम्भा इस तरह से कांपा कि मेरे अन्दर जैसे बिजली की लहर दौड़ गई। पर टेलीफ़ोन वाला अपने काम में तल्लीन बाक़ी हर चीज़ से बेखबर था। उसके चेहरे पर ऐसी चमक थी, जैसे लिखते समय किसी लेखक या रणभूमि में लड़ते हुए किसी योद्धा के चेहरे पर होती है। आखिर उसने लटटू को फिर से छेद में बैठा दिया और तार के फ़ालतू हिस्से को मरोड़कर तार के साथ ही जोड़ दिया। मैंने देखा कि जिन टहनियों के साथ तार उलझी हुई थी, वह नज़दीक ही थी। मैंने पास खड़े बैरे से कहा, "यह टहनियां एक दिन फैलकर फिर तार के साथ उलझ जाएंगी। पक्का इलाज तो हुआ नहीं।"

"हां, यह झाड़ बहुत खराब है।" उसने कहा।

"तुम मैनेजर को दिखा दो। यह सब-कुछ कटवा देना चाहिए यहां से।"

"यह तो टेलीफ़ोन-कम्पनी का काम है। कटवा देंगा तो मैनेजर क्या बोलने वाला है?"

"मगर झाड़ तो होटल के कम्पाउंड में है न। तुम खुद भी कटवा सकते हो।"

"ऐसा कैसा होएंगा?" उसने बहस खत्म करने के अन्दाज़ में कहा। उसे लगा जैसे मैंने कोई बहुत बेसमझी की बात कही हो। सचमुच, उससे मैनेजर के सामने ज़बान खोलने की आशा करना बेसमझी ही तो थी। फिर भी मैंने कुछ तसल्ली से, शायद अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए कहा, "देखो तो सही, बेचारा काम करता हुआ कितने खतरे में है और महीने तक बरसात शुरु होने वाली है। यह झाड़ फिर तारों में उलझेगा।"

"ठीक है। ऐसा बहुत होता है। आवाज़ भी सुनाई नहीं पड़ता है।"

टेलीफ़ोन वाले ने गांठ खोलकर अपने शरीर के गिर्द लपेटी मोटी सफेद तार को टेलीफ़ोन वाली तार के बाक़ी हिस्से से अलग किया और योग्य घुड़सवार की तरह फिर से अपना सन्तुलन क़ायम करते हुए मैनेजर के दफ्तर के लरज़ने का ख़याल था या नहीं, पर मेरे मन में फिर डर पैदा हुआ और जब उसने दोनों हाथों से तार को खींचना शुरु किया, तो मैंने खम्भे को खाई की ओर झुकते हुए देखा। बैरा और मैं दौड़कर खम्भे की ओर बढ़े पर हमारे पहुंचने के पहले ही वह पेड़ों, झाड़ियों और बेलों आदि में प्रवेश कर चुका था। टेलीफ़ोन वाला मामूली-सी खराशों का शिकार होकर सही-सलामत बाहर निकल आया।

स्थिति फिर पहले जैसी हो गई थी, बल्कि उससे कहीं ज़्यादा बुरी। मैंने सोचा कि अब तो रात को किसी और जगह जाकर ट्रंककॉल करनी पड़ेगी। तब मैंने टेलीफ़ोन वाले को हौसला देने के लिए उसके महक़मे को दोष देना शुरू किया।

"भला यह भी कोई क़ायदा है कि इतने जोखिम के काम के लिए अकेले आदमी को बे-सरो-सामान भेज दिया जाए? उसकी क़िस्मत अच्छी थी, जो बच गया, वरना दो महीने अस्पताल में जाकर लेटना पड़ता।"

मुझे ऐसा लगा, जैसे मेरी बातें सुनकर वह बेचैन हो रहा हो। उसे शायद इस बात का अफ़सोस था कि इतने लोगों के सामने, जो कि उसके काम के बारे में कुछ नहीं जानते थे, उसकी सारी कुशलता व्यर्थ में गई थी और वह टेलीफोन के महकमे का सम्मान क़ायम नहीं रख सका था। या शायद मैंने उसकी चुप का ग़लत मतलब निकाला था। या शायद उसे इस बात का डर था कि वापस दफ्तर में जाने पर उससे जवाब-तलबी की जाएगी। खम्भे पर चढ़ने-उतरने की वरजिश के बदले में दफ्तर की ओर से दूध-जलेबियां तो खिलाई नहीं जाएंगी। अधिकारी तो यही कहेंगे कि उसे जिस काम के लिए भेजा गया था, उसे वह करके नहीं आया है। अगर होटल के मैनेजर के साथ उनका अच्छा उठना-बैठना है, तो वे और ज़्यादा डांट-डपट करेंगे।

मैने अपनी जेब में से दो रुपये निकालकर उसे देते हुए कहा, "मेरा तुम्हारे काम से कोई सरोकार तो नहीं है, फिर भी... जाओ, चाय-वाय पीकर कुछ आराम कर लो।"

उसने मेरी ओर कृतज्ञता के बजाय ऐसे देखा, जैसे मेरे बड़प्पन और अपनी नगण्यता का उसे पहली बार एहसास हुआ हो। लेकिन दो रुपये के लालच पर वह क़ाबू न पा सका। उसने रुपये लेकर अपनी चप्पल पहनीं और खाई के रास्ते से नीचे चला गया।

बैरे ने मेरी उदारता से प्रभावित होकर मेरी ओर देखा और फिर बांस लेकर चला गया। फूलों का गुच्छा लिए खड़ा बूढ़ा तो और भी ज़्यादा प्रभावित हुआ प्रतीत होता था। उसने फूल मेरी ओर बढ़ाए तो मैंने ले लिए और कहा, "बाबा, इस वक्त तो एक फूटा पैसा भी नहीं है मेरे पास। कल आकर दो दिन के पैसे एक साथ ले जाना।"

उसकी आंखों में निराशा की धुंध-सी फुल गई, लेकिन मुंह से 'अच्छा साब' कहकर चला गया। तब सिर्फ़ बच्चे ही वहां हर गए, जो खम्भे के गिरने से बनने वाले गडढे को ऐसे देख रहे थे, जैसे उन्हें उसमें से किसी अनोखी चीज़ के निकलने की आशा हो।

भैयाजी

जाने क्या बात है, हर बार किसी न किसी कारण से मुझे चुनावों में जूझना पड़ जाता है।

पहले कृष्ण मेनन थे- प्रगतिशील, नेहरू के मित्र समाजवादी प्रवृत्तियों के पोषक और संचालक तथा प्रतिक्रियावादियों की आंख के कांटे। उसकी जीत कौमी तरक्की का सवाल बन जाती। ज्यों-ज्यों चुनाव का दिन नज़दीक आता जाता, हमें बुखार-सा चढ़ता जाता। जुआरियों की तरह हम अपना सब-कुछ दांव पर लगा देते। रात बीते तक एक मीटिंग से दूसरी मीटिंग में भाषण करते फिरते। आगे-आगे जीपें लाउडस्पीकर लगाए भां-भां करतीं, पीछे-पीछे हम मोटरों में बैठे, नये-से-नये दुश्मन को काट फेंकने वाले नुक्ते सोचते रहते।

चालों और बस्तियों पर हमारी खाम नज़र थी, जो इन्क़लाब के बीज बोने के लिए तैयार ज़मीन का काम कर सकती थी। मसलतों-मुलम्मों का ज़रूरत सिर्फ शहर के अमीर इलाकों में ही पड़ती थी। यहां हम मार्क्स और लेनिन की शिक्षा का प्रयोग दिल खोलकर कर सकते थे। शोषण और अन्याय का निःसंकोच होकर पर्दाफ़ाश कर सकते थे, पुरानी व्यवस्था को तोड़-फोड़कर नयी व्यवस्था स्थापित करने का आह्वान दे सकते थे, साफ़-साफ़ कह सकते थे कि मेनन को वोट देकर मेहनतकश जनता हम पर कोई एहसान नहीं करेगी, बल्कि इन्क़लाब का दिन नज़दीक लाएगी, अपने बच्चों का भविष्य अपने हाथों से बनाएगी, अपने वर्ग-हितों के साथ इन्साफ़ करेगी...वगैरह। मज़े की बात कि लोग हर बार हम पर विश्वास कर लेते, और हमारे सपनों में शरीक़ हो जाते, जैसे बच्चों के खेल में कई बार बड़े भी शरीक़ हो जाते है।

फिर, इंदिरा जी का युग आया। इन्होंने इक्का-दुक्का तो क्या, प्रतिक्रियावादियों के पूरे हाई कमांड को धराशायी कर दिया। सारे देश में वाह-वाह होने लगी। हमारी खुशियां भी हदें पार कर गईं। दिलीपकुमार, मैं प्रेम धवन और कई अन्य फ़िल्मी साथी मारो-मार करते गुजरात, यू०पी०, एम०पी०, दिल्ली और पंजाब तक के मोर्चों पर जा पहुंचे। हम जहां-जहां गए, दुश्मन की पांतों में भगदड़ मच गई।

इस पंद्रह वर्षों के अभ्यास ने मुझे अभिनेता के अलावा वक्ता भी बना दिया है। शुरु-शुरु में स्टेज पर खड़े होकर दो शब्द बोलने में भी डर लगता था। अब मज़े से, बिना तैयारी के, किसी भी विषय पर धड़ल्ले से बोल सकता हूं- दस मिनट, बीस मिनट, एक घंटा- जितना कोई कहे ! मजाल है कोई श्रोता कान भी खुजला ले। मतलब, मेहनत बेकार नहीं गई। मेरे दूसरे साथियों को भी, यकीनन, कुछ-न-कुछ लाभ ज़रूर हुआ होगा। हां, चालों-बस्तियों को अभी कोई लाभ नहीं हुआ। वे अभी तक ज्यों की त्यों हैं।

इसी तरह की एक बस्ती के पास आज कोई उदघाटन समारोह था। मुझे सभापति बनना था उसका। शहर के मेयर साहब मुख्य अतिथि थे। चुनाव के दिनों में किसी स्कूल की बन रही इमारत हमारी सरगर्मियों का केन्द्र होती थी। वह मुकम्मिल हो गई थी शायद, या उसका कोई हिस्सा। या फिर स्कूल प्राइमरी से हायर सेकंडरी बन गया था। ऐसी ही कोई बात थी, ठीक याद नहीं।

गोरेगांव जाने वाला 'हाईवे' किसी कारण से बंद था, इसलिए मुझे पुराने रास्ते से, यानी रेलवे-फाटक को क्रॉस करके और पूरी बस्ती में से गुज़रकर ही जाना पड़ा। मैं इस

रास्ते से भी अच्छी तरह वाक़िफ़ था, बल्कि चुनावों के दिनों हम जान-बूझकर इस रास्ते से गुज़रा करते थे। तब मन की भावना कुछ और होती थी। सड़क के अनगिनत टीलों-खडडों, आस-पास की बदबू और गंदगी में से सुरूर-सा आता था। तृप्ति-सी होती थी, निष्काम सेवा की, गरीबों से कंधा मिलाने की, जीवन की खुरदुरी हकीक़तों को पास से देखने की। इस गंदगी के खिलाफ़ ही तो हम आवाज़ उठा रहे थे, अंधेरी राहों में भटकी हुई जनता को उजाले का पैग़ाम दे रहे थे। उस वक्त यह बिलकुल याद नहीं रहता था कि चुनाव एक दिन खत्म हो जाएंगे और ज़िन्दगी पहले वाली रफ्तार से ही चलती जाएगी और अगले चुनावों तक हम फिर कभी इधर चक्कर नहीं लगाएगे।

आज यह सोचकर कुछ ग्लानि-सी भी महसूस हो रही थी। मोटर मैं खुद ही ड्राइव कर रहा था, बचा - बचाकर ।राह में,दूकनों पर , काम कर रहे और बेकार लोग मुझे पहचान रहे थे । कोई सलाम साहब करता, कोई हंस पडता, कोई व्यंग्य कसता, "क्यों, साहनी साहब, कुशल तो है न?"

चुनावों के दौरान बस्तियों के बच्चों को मोटरों को घेरने और साथ-साथ दौडने का बहुत शोक होता है । उनमें से एक लडका मुझे बार - बार अंकल कहकर पुकारता । साफ - सुथरी स्कूल की वर्दी पहन रखी थी उसने, और कंधे पर किताबों का थैला था ।मैंने उसे पहचान लिया और कहा, कहो ,तुम्हारे दादाजी कैसे हैं।

" अब अच्छे हैं । आपको बहुत याद करते हैं । घर चलिए न !" "क्या फिर बीमार हो गए थे ।"

"जी।"

"स्कूल के प्रोग्राम से निबट लूं , फिर चलूंगा ।"

"मैं भी तो स्कूल ही जा रहा हूं । आपके साथ बैठ जाऊं ?"

मैंने मोटर को रोक लिया । उसे और उसके साथियों को साथ बैठा लिया। हम स्कूल पहुच गये।

मेयर साहब के इंतजार में खडे प्रबंधकों ने मेरे हिस्से का हार मेरे गले में डाला , एक गुलदस्ता मेरे हाथ में थमाया और एक अध्यापक के पीछे-पूछे मुझे हैडमास्टर के कमरे में पहुंचा दिया । इमारत बड़ी खूबसूरत लग रही थी । विद्यार्थियों ने बड़ी मेहनत से उसे सजाया था । बरांडो और सीढियों से दूर तक रंगेलियां बनी हुई थीं , 'सुस्वागतम लिखा हुआ था , तोरण बने हुए थे।

हैडमास्टर का आफ़िस ऊपर वाली मंज़िल पर था । यहां से आसपास का सारा नज़ारा दिखाई देता था । सामने पहाड़ी की ढलान, जिसे बरसात का मौसम हरा - भरा करके छोड गया था । उसके ऊपर बस्ती के झोपडों की कतारें । नीचे बस्ती का गंदा जोहड़ । स्कूल के पिछवाड़े, ऊंचाई पर हाईवे। उसके पार सफ़ेद-सफ़ेद, पांच-पांच मंज़िले ब्लाकों की कॉलोनी। पहली नज़र में स्कूल की इमारत भी इसी कॉलोनी का भाग नज़र आती थी। लेकिन सड़क के सपाट होने के कारण बस्ती भी साथ मिल गई थी- जैसे फूल डार से बिछुड़ गए हो। जोहड़ स्कूल के कंपाउंड से ज्यादा दूर नहीं था। उसके किनारे पर बैठकर कुछ औरतें-मर्द टोकरियां बुन रहे थे। एकाएक मुझे यह दृश्य पहचाना-सा लगा। याद आया, कि जिस 'भैयाजी' के पोते को मैंने अपने साथ मोटर में बैठाया था, वह इस जोहड़ के आस-पास ही कहीं रहते हैं।

किसी ज़माने में हम उन भैयाजी से दूध लिया करते थे। बहुत पुरानी बात है- आरे मिल्क कॉलोनी के बनने से भी पहले की। मैं अभी मोटर खरीदने लायक नहीं हुआ था, मोटर-साइकिल चलाता था।

भैयाजी ने कहीं से सुन लिया था कि मैं जोगेश्वरी के भैयों के साथ उठता-बैठता था। मैं उनकी निगाहों में आम फ़िल्म-ऐक्टरों से ऊंचा उठ गया था। बाद में 'दो बीघा ज़मीन' देखकर तो वह मेरे भक्त ही बन गए थे, क्योंकि मैंने अपना पात्र जोगेश्वरी के भैयों के अनुसार ही ढाला था।

भैयाजी हमें खरीदा हुआ दूध बेचते थे या उन्होंने खुद भैंसे पाल रखी थीं, मालूम नहीं। इतना ज़रूर याद है कि दूध का, और भैयाजी का भी स्तर, सदा समान नहीं रहता था। फिर आरे मिल्क कॉलोनी बन जाने पर हम नखरा भी कुछ ज़्यादा ही करने लगे थे। बना हुआ सिलसिला तोड़ने को भी जी नहीं चाहता था। जितनी देर निभ सका, निभाया। आखिर रोज़ की चख-चख से तंग आकर बोतलें लगवानी पड़ीं। बिजली के युग में कब तक कोई कुप्पियां जलाता फिरे?

कभी-कभी विले पार्ले, सांताक्रूज़ जा जुहू की सड़कों पर साइकिल के पैडल मारते हुए भैयाजी के दर्शन हो जाते और देखकर तरस-सा आता। पर वह सदा मुसकराते हुए, हैंडल पर सिर झुकाकर नमस्कार करते। एल्युमिनियम का बड़ा-सा टीन उसी तरह लटक रहा होता। देखकर तसल्ली होती की उनका कारोबार सलामती से चला जा रहा है।

कुछ समय के बाद भैयाजी की सेहत तेज़ी से गिरने लगी। देखते-देखते हृष्ट-पुष्ट शरीर सूखकर टांडा हो गया। हड्डियां बाहर निकल आईं। चेहरे का मांस झुर्रियों से भरकर अंदर धंस गया। बाल सफ़ेद होना शुरू हो गए। यहां तक कि उन्हें पहचानना भी मुश्किल होता जा रहा था।

एक दिन मैंने मोटर रोककर कारण पूछ ही लिया।

"क्या बताऊं, साहब, पेचिश ने हालत बिगाड़ रखी है। कुछ खाया-पिया ही नहीं जाता। और जो खाता हूं, हज़म नहीं होता।"

"इलाज करवा रहे हैं न?"

"हां साहब, पहले तो अपना देसी इलाज ही चलता था, अब डाक्टरी इलाज शुरू किया है। अब तो कुछ फ़ायदा भी नज़र आता है।"

"कारोबार कैसा है, भैयाजी?"

"अच्छा, बहुत अच्छा। अब तो आपकी दया से बेटा भी दूकान पर बैठता है।"

उम्र में भैयाजी मुझसे साल-छः माह छोटे ही होंगे, पर अब बड़े लगने लग गए थे। उसी के अनुकूल स्वभाव में सब्रसंतोष की भी वृद्धि हो गई थी।

कुछ बरस गुज़र गए। भैयाजी न दिखाई दिए, न याद ही आए। बम्बई के जीवन में आम तौर पर ऐसा हो जाता है। अचानक एक दिन एक चुनाव-जलसे में मैंने उन्हें सामने बैठे देखा। बड़ी खुशी हुई। उस दिन मैं बहुत ही अच्छा बोल रहा था। जब भी मेरी नज़र भैयाजी की तरफ़ जाती, वह मेरे शब्दों को सांस रोककर पी रहे मालूम होते।

भाषण खत्म होते ही उन्होंने मुझे बांह से पकड़ लिया और कोई भी हील-हुज्जत सुने बिना अपने घर खींचकर ले गए। बोले, "आज तो सुदामा की कुटिया में चरण डालने ही पड़ेंगे।"

बाहर से देखने पर कुटिया दयनीय-सी खोली-सी लगी थी। लेकिन भीतर जगह भी खुली और रिहाइश भी अच्छे स्तर की थी। सामने के छप्पर के नीचे एक स्पिंग-विहीन लेकिन फूलदार प्लास्टिक से मढ़ा हुआ सोफ़ा हुआ। टेबल पर रेडियो था। कच्चे फ़र्श पर दरी थी।

"पांच मिनट बैठकर आराम कीजिए। फिर अगली मीटिंग में जाइए। हम-जैसे अनपढ़ तो बस ताली बजाकर खुश हो जाते हैं। उनको क्या मालूम आपको कितना कष्ट करना पड़ता है। बताइए, कुछ ठंडा मंगवाऊं या चाय-कॉफी पीजिएगा?"

इतने आत्मीय शब्दों का मैं निरादर कैसे कर सकता था? मैंने चाय की एक प्याली मांगी, और उससे पहले गुसलखाने जाने की आज्ञा।

पिछवाड़े जाने के लिए तंग बरांडा-सा बना हुआ था। इसमें लाल पर्दे से ढंके दो दरवाज़े थे। उससे आगे कामचलाऊ लेकिन खुला झावली की दीवारों वाला गुसलखाना था। बाहर छोटा-सा अहाता। इसमें कुछ बाग़बानी की हुई थी। इसी में पुराने ढंग का पाखाना था।

चौगिर्दा गंदा और गरीब था, लेकिन भैयाजी की अपनी रिहाइश साफ़-सुथरी थी। मैं सारे परिवार और पल-वन बढ़ती भीड़ से बड़ी नम्रता से मिला। फिर जलपान ग्रहण करके अगली मीटिंग के लिए रवाना हो गया।

दूसरे दिन भैयाजी साइकिल का पैडल मारते हमारे नये घर आ पहुंचे। मैं समुद्र में स्नान करके बगीचे में धूप सेंक रहा था। नौकर ने कुत्ते को संभाल लिया और मैंने खुद आगे बढ़कर फाटक खोला। उनके घर की दुर्गन्ध-मिश्रित सुगन्ध मुझे अभी तक याद थी। भला इस तरह के वातावरण में पेचिश का मरीज़ कैसे बहाल हो सकता है, मैंने उन्हें लॉन में कुर्सी पर बैठाते हुए सोचा। यकीनन रोज़ साइकिल चलाने की वर्जिश ही उन्हें ज़िन्दा रखे हुए है।

मेरे भाषण का उन पर गहरा प्रभाव पड़ता था। तारीफ़ों के पुल बांध दिए उन्होंने, और फिर दिल का भार हलका करना शुरू किया।

"हमारी झोपड़ी-पट्टी के सब वोट कृष्ण मेनन साहब के हैं, साहब, आप बिलकुल खातिर-जमा रखिए। उन्होंने पिछले साल जोगेश्वरी के झोंपड़ी-पट्टी वालों को नया सड़क बनवाकर दिया, और भी मदद किया। बस, एक बार हम उनके साथ थोड़ा बात करना चाहते हैं।"

"वह तो अब चुनाव के बाद ही हो सकेगा, भैयाजी। इस वक्त उन्हें कहां फुरसत मिलेगी!"

"थोड़ा वोट नहीं है, साहनी साहब, बहुत वोट हैं।"

मांग को यों वज़न देना मुझे अच्छा नहीं लगा। पर ग़लती मेरी थी। यों एकदम इनकार नहीं करना चाहिए था।

"अच्छी बात है, कल या परसों वह दिल्ली से आ जाएंगे। मैं पूरी कोशिश करूंगा।"

"कोशिश नहीं साहब, पक्का वायदा कीजिए।"

"अच्छी बात है, भैयाजी, पक्का वायदा करता हूं लेकिन अगर मामले को थोड़ा-बहुत खुलासा कर देंगे, तो मेरा काम आसान हो जाएगा।"

''झोंपड़ी-पट्टी हटाकर नेताजीनगर के लिए पक्की इमारतें बनाने की बहुत पुरानी स्कीम थी सरकार की। सस्ती ज़मीन, बीस बरस में अदा होने वाला आसान कर्ज़ा। मगर कांग्रेस वालों ने इधर ऐसी धांधली की है, साहब, कि पूछो मत।''

''आपकी बस्ती का नाम नेताजीनगर है?''

''जी, नाम बड़े और दर्शन छोटे ।'' भैयाजी ने हंसकर कहा। मैंने देखा कि उनके ऊपर वाले जबड़े में से बहुत सारे दांत गायब हो चुके थे।

''खैर जी, वह सब जो हुआ सो हुआ। कॉलोनी बनने वाली थी बस्ती वालों की। बन गई बाहर वाले बड़े-बड़े लोगों की। आप देख ही चुके हैं उसे। हाईवे के उस पार। वहां भी आप भाषण दे ही चुके हैं।...साहनी साहब, आप यह न सोचिएगा कि हमारी बस्ती में सब गरीब-कंगाल ही बसते हैं। बड़े-बड़े भले-मानस लोग भी बैठे हैं। मकान मिलता नहीं, इसीलिए वहाँ पड़े हैं। छह-छह सात-सात सौ पगार पाने वाले अफ़सर भी मिल जाएंगे आपको इन झोंपड़ों में। दस-दस हज़ार की पगड़ी दिए बिना मकान मिलता नहीं, करें तो क्या करें?...खैर, छोड़िए इस किस्से को, दिल चाहे कितना दुखे, कर कुछ भी नहीं सकते इस बारे में- न आप, न मैं।''

भैयाजी का चेहरा तमतमा उठा और उनकी सांस फूल गई जैसे भीतर कोई विस्फोट हुआ हो।

मुझे तैयार होकर स्टुडियो पहुंचना था। इंतज़ार कर रहा था कि भैयाजी जल्दी से किसी ठोस नुक्ते पर आएं।

''करप्शन का तो कोई हद-हिसाब ही नहीं रहा, भैया-जी।'' मैंने कहा।

''हमारे बहुत ज़ोर लगाने पर मुंसीपालिटी ने नेताजी-नगर में एक स्कूल बनवाया था। अब ये बड़े-बड़े लोग इस स्कूल को भी हड़प करने जा रहे हैं। मुंसीपालिटी को इन्होंने अपने हाथ में कर लिया है। पक्की इमारत बनवाने की आड़ में सोसायटी कायम कर रहे हैं। अभी से बस्ती की बहुत-सी ज़मीन इन्होंने स्कूल के अहाते में लिखवा ली है और झोंपड़े वालों को वहां से उठवाने पर तुले हुए हैं। अगर ऐसी ही चलता रहा, साहब, तो हमारा झोंपड़ा भी उठ जाएगा।''

अब बात कुछ-कुछ मेरी समझ में आई।

''बस, इसी बारे में हम बस्ती के दस-बारह आदमी मेनन साहब से मिलना चाहते हैं। इन बगुला-भगत कांग्रेसियों का भांडा फोड़ना चाहते हैं।''

मैंने भैयाजी को याद दिलाया कि मेनन इस बार कांग्रेस के उम्मीदवार नहीं थे। इस पर उन्होंने हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक कहा, ''वह हम अच्छी तरह जानते हैं। इसीलिए कह रहे हैं कि आप हमें उनसे ज़रूर मिलाइए। इसमें हमारा भी फ़ायदा है और उनका भी फ़ायदा है।''

''बहुत अच्छा।''

वायदा तो मैंने कर लिया, पर हज़ार कोशिश करने पर मैं उसे पूरा न कर सका। कृष्ण मेनन ने नेताजीनगर का चक्कर लगाना तो मंजूर किया, लेकिन मुलाकात के लिए वक्त नहीं निकाल सके। फिर, ईश्वर की करनी ऐसी हुई कि वह चुनाव हार गए। चार

महीने बाद बर्वे की मृत्यु की वजह से, वे फिर खड़े हुए और फिर हार गए। बात वहीं ही वहीं रही।

फिर चुनाव आए। इस बार कृष्ण मेनन को चाहने वाले खुद भी ढेर हुए पड़े थे। इंदिरा जी ने कांग्रेस में और सारे देश में नई जान फूंक दी थी। 'ग़रीबी हटाओ' का नारा, फिर बंगला देश का उदय! हर तरफ़ धन्य-धन्य हो रही थी। इंदिरा जी को 'रणचंडी' और 'दुर्गा' की उपमाएं दी जा रही थीं।

लोक सभा और बाद मैं विधान सभा, दोनों के चुनावों में मैं फिर सरगर्म रहा। वड़े-बड़े शानदार जलसे नेताजीनगर में भी हुए। एस जलसे में, जब फूलों का गुलदस्ता हाथ में थामे मैं मंच पर बैठा हुआ था, भैयाजी का वही पोता, पीछे से मेरे पास आया और कान में बोला, ''दादाजी आपको याद कर रहे हैं। वह बीमार हैं। आप उनसे मिलने आएंगे न?''

''आज तो नहीं, वेटे। इस मीटिंग के बाद तीन दूसरी मीटिंगें हैं। कल या परसों आऊंगा।''

इस बात को भी अब सालभर होने को आया है। मैं जा नहीं सका था। आज, घर से चलते वक्त, मुझे इतना भी याद नहीं था कि उसी बस्ती और उसी स्कूल में जा रहा हूं। बड़ी कमबख्त ज़िन्दगी है बम्बई की! जब रास्ते में सेक्रेटरी का दिया कागज़ का टुकड़ा पढ़ा, तब पता चला।

पिछली खिड़की में शोर सुनकर मैंने मुंह घुमाया। खिड़की की सलाखों के साथ स्कूल के बच्चों का झुंड जुटा हुआ था और मुझे मेरी एक नई फ़िल्म का डायलाग याद करा रहा था- ''इसको कहते हैं बाडी !'' ऐन बीच में भैयाजी का पोता शोभायमान था और शरारत और प्यार-भरी नज़रों से मेरी ओर देखे जा रहा था। ''हमारे घर आएंगे न, अंकल...अंकल...!'' उसने कहा। मैंने हंसकर मुंह घुमा लिया। इसी बीच नीचे से बुलावा आ गया। मेयर साहब तशरीफ़ ले आए थे।

मेयर साहब की खादी टोपी, कुर्ता, धोती, जवाहर जाकेट किसी फ़ौज़ी यूनिफॉर्म से कम असरदार नहीं थी। प्रवेश-द्वार के आर-पार लाल रेशमी फीते को उन्होंने कैंची से काटा। तालियों की गड़गड़ाहट हुई और फिर भीड़ उनके पीछे-पीछे बड़ी सड़क वाले अहाते में आ गई, जहां शामियाना लगाया गया था। कालीन से ढके मंच पर कुर्सियां रखी गई थी। लड़कियों की एक टोली ने 'वन्दे मातरम' गाया। हैडमास्टर ने मेहमानों का स्वागत किया। पिर मेयर साहब ने छोटे लेकिन सारगर्भित भाषण में कहा -

''देश ग़रीबी अशिक्षा को हटाने और समाजवाद लाने का पक्का फैसला कर चुका है। इस महान संग्राम में बन्बई का पक्का फैसला कर चुका है। इस महान संग्राम में बम्बई शहर उसी रीति से अग्रणी दंस्ते का काम कर रहा है, जैसे स्वतन्त्रता संग्राम में किया था। सभी नागरिकों का यह कर्तव्य है कि वे बदलते युग के अनुसार अपने विचारों, अपने रहन-सहन तथा व्यवहार को बदलें। योजनाओं को समझें और उन्हें पूरा करने में हिस्सा बंटाएं।''

बाद में, स्कूल-कमेटी के सेक्रेटरी ने रिपोर्ट पेश की। अन्त में सभापति से, अर्थात मुझसे भी कुछ शब्द बोलने के लिए कहा गया। बारह बज चुके थे। गर्मी बहुत थी। मेयर साहब को भी और मुझे भी जल्दी थी। इसीलिए प्रोग्राम संक्षिप्त रखा गया था।

भाषणों के बाद जलपान हुआ। इसका प्रबन्ध मुझे असाधारण रूप से किया बड़ी दावत का-सा लगा। एक कमरे का सारा फर्श कालीन से ढक दिया गया था। कमरे की दीवारों के समान्तर जोड़-जोड़कर मेज़ों की तीन लम्बी तथा सफ़ेद चादरों से ढंकी कतारें थीं, जिन पर करीने से सजाए गए गुलदस्ते थे। दीवारों पर स्कूल के विघार्थियों द्वारा बनी तसवीरों की प्रदर्शनी थी। मेहमानों के अपनी-अपनी जगह बैठते ही छम-छम करती महिलाओं की एक कतार बादाम, काजू,कलाकंद और अन्य कितने ही किस्म के मिष्ठान्नों,फलों आदि के डोंगे हाथों में लिए मोरनियों की तरह झूमती हुई भीतर दाखिल हुई। केन्द्रीय मेज़ की केद्रीय सीट से उठकर मेयर साहब ने देवियों को प्रणाम किया। उनकि देखा-देखी हम सब भी उठ खड़े हुए और फिर बैठ गए। मेयर साहब की दायीं ओर स्कूल के हेड मास्टर। जलपान शुरू हुए अभी थोड़ी ही देर हुई थी कि एक

वृद्ध सज्ञन जज्बात के आवेश में अपनी कुर्सी से उठ खड़े हुए और ऊंचे स्वर में बोलने लगे

मेयर साहब उन्होंने खिड़की के बाहर के दृश्य का ओर इशारा करते हुए अपनी मात्रभाषा में कहा, यह गन्दगी मासूम बच्चों के लिए बीमारी और मौत का सामान है। और यह उन लोगों की पैदा की हुई समस्या है, जिन्हें अपनी सामाजिक जिम्मेदारी का कोई एहसान नहीं हैं, कायदे-कानून में विश्वास नहीं है। हम एक बार नहीं, अनेक बार कार्पोरेशन का ध्यान इस गन्दे जोहड़ और आस-पास के झोंपड़ों को, जो स्कूल की जमीन पर नाजायज तौर पर कब्जा करके बनाए गए हैं, फौरन साफ़ कराया जाना चाहिए, ताकि उसका सही तौर पर और विधार्थियों के लाभ के लिए प्रयोग हो सके।

इस समय उसका प्रयोग दारू की भठियां लगाने के लिए, स्मगलिंग, चोरी-चकारी और न जाने और किस-किस प्रकार के गलत कामों के लिए हो रहा है। जब भी हमने भलमनसाहत और शान्ति से इस समस्या को सुलझाने की कोशिश की, ये लोग मरने-मारने पर उतर आए हैं। अभी दो हफ्ते भी नहीं हुए कि बस्ती के गुंडो ने स्कूल पर पथराव किया, कितने ही खिड़कियों-दरवाजों के शीशे तोड़ डाले। इन समाज-विरोधी ततत्वों को कहां तक मुझे भैयाजी की दो-ढाई साल पहले बताई बातें याद आई और शक हुआ उस बुजुर्ग का भाषण उन्हीं की योजना के अनुसार हो रहा है। शायद मेयर साहब को भी यही महसूस हुआ, उन्होंने टोकते हुए कहा, मुझे मालूम था, आप लोगों ने इसीलिए मुझे यहां बुलाया है।

वक्ता कुछ झेंप गया, लेकिन हौंसला करके फिर बोलने लगा।

बस-बस, अब आराम से बैठ जाइए और कोका-कोला पीजिए। मेयर साहब ने व्यंग्य से हंसकर कहा।

बुजुर्ग को बैठना पड़।

बड़ा बेवकूफ़ है यह आदमी हैडमास्टर ने मिठाई की प्लेट उठाते हुए कहा, जैसे खुद से बात की हो। क्यों?मैंने पूछने की हिम्मत की।

जानी-पहचानी बात है। पालीटीशियनों की नजरें हमेशा वोटों पर रहती है। बस्ती में कम से कम दस हज़ार वोट हैं। झोंपड़ हटवाकर क्या मेयर साहब की अपने वोट गंवाने हैं ?आप तो खुद समझदार हैं साहनी साहब, हर बार चुनाव लड़ते हैं।

समझदार शब्द उसने ऐसे इस्तमाल किया, जैसे उसका कुछ और ही मतलब निकलता हो।

अपने लिए। मैंने स्पष्ट किया।

किसी के लिए सही, पर हालत से तो वाकिफ ही हैं न।

नहीं। मैं हालात से वाकिफ नहीं हूं, पर होना चाहता हूं ।

झोंपड़े हम हटवा लेंगे । हमें एक आदमी मिल गया है कार्पोरेशन में । उसने कहा है कि आप मुझ पर छोड़ दीजिए

हुकूमत से ज्यादा ताकत पैसे में होती है, साहनी साहब

फिर तो जो सुनने में आता है, ठीक ही होगा । मैंने कहा ।

क्या ओ?

कि सड़क के पास की कालोनी, स्कूल सोसायटी, इमारत, सब पैसे की ताकत से ही बनी हैं ।

मैं भी हैडमास्टर की तरह बहुत आहिस्ता ही बोल रहा था, पर वह ऐसे चमक उठा, जैसे मैंने उसके कान में चीख मार दी हो । उसने घूरकर मेरी ओर देखा, जैसे मेरे बारे में कोई सोये हुए संशय जाग उठे हों ।

जलपान समाप्त कर मेयर साहब उठ खड़े हुए थे ।

दरवाज़े तक वह बड़े शांत भाव से किसी और सज्जन का मार्गदर्शन करते रहे, जिसकी लोकसेवा की कोई योजना आठ साल से कार्पोरेशन की फाइल में झाक रही थी ।

देवियों और सज्जनों का नम्रतापूर्वक धन्यवाद करते हुए मेयर साहब,और मैं भी, अपनी मोटरों में सवार हुए । भैयाजी का मछिंदर पोता फिर मुझसे आ चिपटा। उसकी निर्मल और चमकदार आंखों में जीवन और समाज के प्रति अगल विश्वास छलक रहा था, जो मुझसे सहन नहीं हुआ। मुझे यों लगा, जैसे किसी ने मुझे दफा ४२० लगाकर अदालत के कटघरे में खड़ा कर दिया हो।

"बेटा, भैयाजी को बोल देना कि मेरी अपनी तबीयत इस वक्त बहुत खराब हो रही है। मैं फिर किसी दिन आऊंगा, ज़रूर ।"

उसकी प्रतिक्रिया जाने बिना ही मैंने मोटर स्टार्ट कर दी और बड़ी सड़क पर आ गया। जानता था कि आगे रास्ता बंद है, पर यही सोचकर रहा कि आगे कोई न कोई और रास्ता निकल आएगा।

कुत्तों की लड़ाई

जब मैं बच्चा था तो हमारे घर के नज़दीक एक खुले मैदान में हर इतवार को कुत्तों की लड़ाई हुआ करती थी। बड़ा खूंख्वार नज़ारा होता था वह। कुत्तों के मालिक अपने कुत्तों की जंज़ीरें पकड़े मैदान में आते थे। कुत्ते एक-दूसरे को देखते ही भड़क उठते थे। तभी उनकी जंज़ीरें खोल दी जा और वे एक-दूसरे पर टूट पड़ते थे। बस, देखते-देखते खून के फव्वारे छूट पड़ते थे। दर्शकों पर वहशत-भरा सहम छा जाता था।

कुत्तों की यह लड़ाई मैं बस, एक-दो बार ही देख सका था। उसके बाद, तब से लेकर आज तक, यही सोच-सोचकर हैरान होता हूं कि वे कुत्ते क्यों लड़ते थे। उन्होंने एक-दूसरे का क्या बिगाड़ा था कि वे इस प्रकार एक-दूसरे के खून के प्यासे हो जाते थे? अगर कुत्तों को पता लग जाता कि मालिक उनका तमाशा देखने के लिए उन्हें भड़काते थे, या इसलिए कि उन्हें अपनी शर्तें जीतनी होती थीं, या फिर दर्शकों से पैसे वसूल करने होते थे, तो क्या फिर भी वे लड़ने-मरने के लिए तैयार हो जाते?

इन सवालों का मुझे जवाब नहीं मिलता। कुत्ते शायद इसलिए लड़ते थे कि ईश्वर ने उन्हें सोचने लायक दिमाग़ नहीं दिया है।

जब मैं हिन्दू-मुसलमानों के दंगों के बारे में सोचता हूं, तो मुझे अचानक कुत्तों की लड़ाई याद आ जाती है। कुत्तों को तो ईश्वर ने अक्ल नहीं दी, पर मनुष्य को तो दी है। क्या मनुष्यों का कर्तव्य नहीं कि लड़ने से पहले वे अपना नफा-नुकसान सोच लें?

जब भी दंगे-फसाद होते हैं, मैंने देखा है कि ग़रीब ही मरते हैं, गरीबों के ही घर जलते हैं, गरीबों की ही स्त्रियों की इज़्ज़त लूटी जाती है, ग़रीबों के ही बच्चों को आग में झोंका जाता है, गरीबों के ही रोज़गार तबाह होते हैं- उनके, जिनकी गर्दनों में पहले ही से मजबूरी और गुलामी की जंज़ीरें पड़ी होती हैं और जिनकी ज़िन्दगियां नरक बनी हुई हैं।

मैं सोचता हूं कि अमीर क्यों नहीं इन दंगों में हिस्सा लेते। क्यों वे अपने बंगलों पर आराम से बैठे यह तमाशा देख रहे होते हैं?

जवाब मिलता है- वे पढ़े-लिखे हैं, सभ्य हैं। उन्हें पता है कि इस प्रकार का खून-खराबा करने से उन्हें कोई फायदा नहीं पहुंचेगा। उन्होंने अपने दिमाग़ का उपयोग करने का तरीक़ा सीख लिया है।

अमीर लोग अपनी शक्ति पर-दूसरे के साथ लड़कर व्यर्थ में गंवाना नहीं चाहते। अगर लड़ाई का तमाशा देखना ही हो तो वे गरीबों को आपस में लड़ा देते हैं- अपनी लीडरियों के लिए, अपने मुनाफ़ों के लिए, अपने बड़प्पन को कायम रखने के लिए। वे जानते हैं कि आग लगाने के लिए गरीबों को खरीदा जा सकता है, और आपस में लड़ने के लिए भी अनपढ़ गरीबों को झट उकसाया जा सकता है। सो, वे खुद यह काम क्यों करें?

पर मैं अपने ग़रीब भाइयों से पूछता हूं- तुम अपने दिमाग़ का उपयोग कब करोगे? क्या तुम कभी नहीं सोचोगे कि इन फ़सादों से तुम्हारी कौन-सी समस्याएं हल होती हैं? तुम्हें क्या फ़ायदा पहुंचता है? क्यों तुम लड़ने वालों की बातें सुनते हो? क्यों जोश में आकर अपने पड़ोसियों का गला काटते हो? क्यों, क्यों, क्यों?

तुम क्यों नहीं यह पक्का प्रण कर लेते कि अब अगली बार तुम्हें कोई आपस में लड़ने के लिए उकसायेगा, तो तुम सब मिलकर उसे कहोगे-

"इस बार अमीर आगे आपस में लड़ लें, हम कुछ देर आराम करना चाहते हैं। बहुत लड़ चुके हैं हम। धर्म की रक्षा का ठेका सिर्फ़ गरीबों ने ही तो नहीं लिया हुआ।"

ग़रीब अगर आपस में मिलकर एक बार फैसला कर लें कि कोई ग़रीब किसी हालत में भी किसी ग़रीब पर हाथ नहीं उठाएगा, तो मैं शर्त लगाकर कह सकता हूं कि दंगे-फ़साद हमेशा के लिए बन्द हो जाएंगे।

मैं अपने हिन्दू भाइयों से पूछता हूं- "कौन-से धर्म-ग्रंथ ने तुम्हें किसी राह-चलते निहत्थे आदमी की जान लेने या किसी मासूम बच्चे को धर्म के नाम पर आग में झोंकने की शिक्षा दी है? तुम्हारे धर्म-ग्रंथ तो तुम्हें अपना पेट भरने के लिए किसी जानवर की जान लेने से भी रोकते हैं। बुद्ध भगवान ने तुम्हारे देश में तुम्हारे धर्म की कोख में से पैदा होकर ही तो संसार-भर को दया और अहिंसा का संदेश दिया था। महावीर भी तो तुम्हारे ही देश में जन्मे थे, और गांधीजी भी।"

और मैं अपने मुस्लिम भाइयों से भी कहता हूं- "क्या हज़रत मुहम्मद ने तुम्हारी धर्म की कोख में से पैदा होकर ही तो संसार-भर को दया और अहिंसा का संदेश दिया था। महावीर भी तो तुम्हारे ही देश में जन्मे थे, और गांधीजी भी।"

और मैं अपने मुस्लिम भाइयों से यह भी कहता हूं- "क्या हज़रत मुहम्मद ने तुम्हारी धर्म-पुस्तक, क़ुरान शरीफ़ में यह नहीं कहा है कि जो इन्सान का बिना कारण क़त्ल करता है, वह दुनिया-भर के इन्सानों का क़ातिल है, इन्सानियत का क़ातिल है? तो फ़िर तुम कैसे बेकसूर लोगों को मारने के लिए भड़क उठते हो?"

सच्चा ईश्वर, दरिद्रनारायण गरीबों की ही झोंपड़ियों में बसता है। यह दंगे-फसाद तभी खत्म होंगे, जब ग़रीब लोग ईश्वर की सच्ची आवाज़ सुनेंगे और ललकारकर कहेंगे कि हर ग़रीब में ईश्वर निवास करता है, और हम ईश्वर का खून नहीं करेंगे।

महजूर : कश्मीर का राष्ट्रीय कवि

यह चार साल पहले की बात है। झील पर की हवा बेहद ठंडी थी। सूरज बर्फ़ से ढके 'तोष मैदान' पहाड़ों के पीछे गायब हो चुका था, और सारी घाटी मद्धिम-से अंधेरे में डूब गई थी। पिछले तीन घंटों से हमारी किश्ती के किनारे झील के पानी की सतह को छूने लगे थे। मल्लाह की गलती के कारण किश्ती डगमगाई थी, और कुछ पानी उछलकर हमारी सीटों के नीचे बहने लगा था। हम हर-हरकर डर रहे थे कि किसी भी समय किश्ती डूब जाएगी, और खतरनाक बर्फीली मौत हमें अपने गले से लगा लेगी।

इसमें किश्ती का कसूर नहीं था। अगर उस पर ज़रूरत से ज्यादा बोझ न होता, तो वह मटकती हुई, तेज़ी से आगे बढ़ती। उसमें हम सात व्यक्ति सवार थे- एक थे हमारे मेज़बान श्रीमान देवेन्द्र सत्यार्थी, जिन्हें लोकगीत जमा करने का शौक है, और वह लोकगीत इस तरह इकटठा करते हैं, जैसे म्युनिसिपालिटी के लोग चूहे पकड़ते हैं। साथ में उनका मुन्शी था और एक नौकर था, जो समावार को बार-बार फूंक रहा था। चौथा व्यक्ति हमारा मल्लाह था, जिसके बारे में हमें बहुत बाद में पता लगा कि वह बहरा था, और किसी हद तक अन्धा भी। उसके साथ उसका दोस्त था, जो पता नहीं क्यों, किस्ती में सवार था। और सातवां मैं था। देवेन्द्र सत्यार्थी ने बताया था कि इस की किश्तियां ऐश-इशरत में जीने वाले मुगल खास तौर पर प्रेमियों की सुविधाओं को ध्यान में रखकर बनवाई थीं। लेकिन उस समय यह बात दिलचस्प नहीं लग रही थीं।

अगर हम सीधे रास्ते से गए होते, तो चिन्ता की कोई बात नहीं थीं, क्योंकि जिस गांव में हमें जाना था, वह श्रीनगर से आठ मील दूर था, और किश्ती द्वारा दो घंटे का सफ़र था। लेकिन बहरा हांजी-नाविक रास्ता भूल गया था, और हमारी कोई बात उसके पल्ले नहीं पड़ रही थी। हमारी हर बात पर वह हां में सिर हिलाता और उसके उलट चलता। सो, हम अभी तक झील की नहरों, जिनके दोनों और बांस उगे हुए थे, और तरकारियों के तैरते हुए बागों में भटक रहे थे। देवेन्द्र सत्यार्थी के कहने पर अब हम चुप हो गए थे। हम अपनी बगलों में हाथ दबाए निःसहाय-से बैठे थे और तारों को देख रहे थे, जो आसमान में फिजूल-से अनगिनत छेद प्रतीत हो रहे थे।

ऐसे मौके पर हमारे मल्लाह का दोस्त, जो अब तक अपनी लोई ओढ़े चुप बना बैठा था, एकाएक गाने लगा। गाना क्या था, सुनकर हमारे कान फटने लगे। वह इतनी ऊंची और खतरनाक आवाज़ में गा रहा था कि सुनकर पक्षी तक भयभीत हो उठे-

वाणी महजूर हुस्नाक अफ़साना
यानी सुइ यार बानी यह ज़नाना
गाने याथ क्या बोज़न हंदवारी
सोज़दिल मित्राने बोज़ीबान हारिये।

ऐसा लग रहा था कि हमारी उस दयनीय हालत पर उसे कोई तरस नहीं आ रहा था। अगर किश्ती डूबने लगती, तो वह अपनी लोई उतारकर तैरता हुआ किसी घाट पर पहुंच जाता, और अगर कोई घाट नज़दीक न होता, तो वह झील के किनारे तक भी पहुंच जाता, जो वहां से बहुत दूर था। वह उन शहरी लोगों में से नहीं था, जो एक सेव बेचने के लिए किसी के घर के चक्कर लगाया करते हैं। वह एक देहाती था, जिसने अपने

अनुभव से जाना था कि 'एक पंजाबी की दोस्ती चीड़ की लकड़ियों की आग की तरह कुछ देर तक ही कायम रहती है।' उसे हमारी ज़िन्दगियों की तनिक भी परवाह नहीं थी।

लेकिन पता नहीं क्यों, उसके उस गीत में मुझे दिलचस्पी हुई। मैंने देवेन्द्र सत्यार्थी से गीत की पंक्तियों का अर्थ पूछा। उन्होंने अनुवाद करके बताया-

महजूर सुन्दरता का एक मित्र बनायेगा

सिर्फ वही उसकी प्रशंसा कर सकेगा, जिसने उसकी प्रेमिका को देखा होगा।

हंदवारा के लोग उसकी भावनाओं को कैसे जान सकते हैं

हे जंगल की मैना मेरी प्रेमिका, मेरे दिल के गमों को सुन।

गीत की सुन्दरता से मैं प्रभावित हुआ। कश्मीर की सैर के लिए आने वाले हज़ारों यात्रियों की तरह, मैं कई साल से गर्मी का मौसम कश्मीर में बिताने आया था, और वहां की असीम सुन्दरता से आंखें भरता रहा था, लेकिन मैंने यह कभी नहीं सोचा था कि ऐसी अद्वितीय सुन्दरता के बीच में जाने वाले लोगों के पास भी ऐसी अद्वितीय सुन्दरता के बीच में जीने वाले लोगों के पास भी कोई ऐसी सुन्दर चीज़ थी, जो वे दूसरों को दे सकते थे। तब मैंने महसूस किया कि मैं हंदवारा के लोगों जैसा ही था, जिनका और उपरोक्त पंक्तियों के लेखक ने मज़ाक उड़ाया है। मुझे लेखक के बारे में जानने की भी दिलचस्पी हुई। मैंने कश्मीरी से पूछा कि वह गीत किसने लिखा है।

"महजूर शरीफ।" उसने देहातियों की तरह संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

"कहां रहता है वह?"

"कौन, महजूर शरीफ़? वह यहां से बहुत दूर रहता है।" उसने चारों ओर बांहें फ़ैलाकर कहा, "अजमेर शरीफ में रहता है।"

उसने गलत बताया था। श्रीनगर लौटने पर मैंने पूछताछ की, तो पता लगा कि महजूर का पूरा नाम ग़ुलाम अहमद है, और वह निकटवर्ती सोपोर ज़िले में पटवारी है।

महजूर की लोकप्रियता का यह कैसा विरोधाभास है कि जहां आम कश्मीरी लोग उसके गीत गाते हैं, वहां बहुत कम ऐसे लोग हैं, जो उसके जीवन के बारे में जानते हैं। कुछ लोग उसे मर चुका समझते हैं, कुछ लोगों का खयाल है कि वह किसी सुदूर इलाके का रहने वाला है। जब वह किसी काम से श्रीनगर में आता है, तो वह गुमनाम बनकर सड़कों पर चलता है। लेकिन फिर भी उसके गीत और कवितायें बारामूला और पीर पंचाल के बीच के इलाके में रहने वाले प्रत्येक पुरुष, स्त्री और बच्चे के दिल का खजाना हैं। महजूर अगर आज कोई कविता लिखता है, तो वह हफ्ते-दस दिन में सभी लोगों की ज़बान पर चढ़ जाती है। स्कूल जाते हुए बच्चे, धान बोती हुई लड़कियां, चप्पू चलाते हुए मल्लाह, बोझ तले झुके हुए मजदूर- सभी उसे गा रहे होते हैं। विशेष रूप से अशिक्षित लोगों के देश में अगर कविताएं छपकर लोगों के सामने आएं, तो पुस्तक की शायद दस प्रतियां भी न बिकें, लेकिन कुछ दिनों में उनका हर किसी की ज़बान पर चढ़ जाना एक अलौकिक घटना है।

इस प्रकार अकस्मात महजूर के नाम से परिचित होने के बाद कई हफ्ते बीत गए। बार-बार यह फ़ैसला करने पर भी कि मुझे जलद से जल्द उसका पता लगाना चाहिए, काफ़ी समय बीत गया। वैसे, इस बीच में मैंने उसकी कुछ कविताएं ज़रूर प्राप्त कीं,

जिनके अर्थ यहां दे रहा हूं। यह पतझड़ था, जबकि यात्री लौट चुके होते हैं, और कश्मीरियों के पास गाने, खुशियां मनाने और ऊन कातने के लिए खुला समय होता है।

बागे निशात के गुलो
नाज़ करां करां वलौ...

यह गीत बहुत ही लोकप्रिय है और अपनी कोमल भावनाओं की बदौलत अतीव सुन्दर है। उसका खुला अनुवाद है :

१. हे निशात बाग के फूलो,
नाचते हुए मेरे पास आओ
अपनी पंखुड़ियां बिखेरते हुए
हंसते हुए आओ।
मेरी दो आंखें तुम्हारा रास्ता देख रही हैं
उछलते हुए उनके पास आओ।
मैं तुम्हें सैर कराने ले चलूंगा।
तब तुम जल के पानी में अपने चेहरे देखना
और दूर से निशात और शालीमार को तालियां
बजाकर बुलाना।
मेरी दो आंखें तुम्हारी किश्तियां हैं।

(इस गीत की नकल में हास्य कविताएं भी रची गई हैं। उदाहरण के लिए एक विद्यार्थी द्वारा रचे गए गीत की पंक्तियां देखिए :

हे निशात के फूलो
तम्बाकू चबाते हुए मेरे पास आओ...)

२. मेरा दिल प्रेमिका के अभाव में हमेशा बेचैन रहता है, क्या मैं इसे किसी दूसरे के सीने पर रखकर ठंडा नहीं कर सकता?

३. इसका वापस लौटना मुश्किल है,
किनारों पर की चरागाहों जल चुकी हैं
आह, बचपन जा रहा है।
आह, जवानी का पहला कम्पन सपना हो गया है।

४. प्रेमियों ने कहा है- दिल एक कीमनी हीरा है
आओ, इसकी कीमत सुन्दरता के बाज़ार में आंकें।

५. तुम्हारे प्रेम में तड़पते हुए मैं रात सो नहीं सका
मैं केसर के फूल चुनता रहा
और मेरी नज़र लगातार तुम्हारा रास्ता देखती रही
अब मैं थक गया हूं
क्या तुम आज आओगी?

अगर मेरे लिए नहीं तो चांदनी में मेरे केसर के खेतों की बहार देखने के लिए ही आ जाओ।

ये पंक्तियां महजूर की कविताओं में से बिना किसी खास चुनाव के ली गई हैं। यह माना जाता है कि उसकी कविता में विचार की गहराई की अपेक्षा भाव और लय कहीं ज़्यादा है। उनमें कश्मीर की धरती के अदभुत दृश्यों-जैसी सुन्दरता दिखाई देती है।

आखिर एक दिन अचानक महज़ूर से मेरी मुलाक़ात हो हो गई। वह मेरे तांगे के नीचे आते-आते बचा और झगड़ा उठ खड़ा होने के डर से एक तरफ़ चुप बना खड़ा हो गया। उसके महज़ूर होने का पता मुझे अपने साथी से लगा। उसने बड़ी-सी पगड़ी बांधी हुई थी, जो हास्यास्पद-सी लगती थी। उस पगड़ी के नीचे एक चेहरा था, जिसमें कोई आकर्षण दिखाई नहीं देता था। यह वह व्यक्ति था, जो लाखों लोगों के दिलों में समाया हुआ था। वह अपनी अंगुली के इशारे से लोगों को जिधर चाहे ले जा सकता था। पर उसके दिल में ऐसी कोई लालसा नहीं थी। वह प्रसिद्धि का इच्छुक नहीं था। कुछ समय पहले उसे साम्प्रदायिक आग भड़काने वाले गीत लिखने के लिए बहुत बड़ी रक़म पेश की गई थी, पर अपनी बेहद गरीबी की हालत में भी उसने उसे ठुकरा दिया था। अज्ञात और एकान्त में जीवन बिताने की उसकी चाह को कोई चीज़ बदल नहीं सकती।

मैं झट तांगे से नीचे उतरा और महजूर को बांहों में भर लिया। मुझे यह बताकर खुशी होती है कि इसके बाद कुछ ही महीनों में वह मेरा गहरा दोस्त बन गया और मैं उसके जीवन-सम्बन्धी सही जानकारी लेने में सफल हो सका।

गुलाम अहमद महजूर का जन्म सन १८८८ में अवन्तिपुर जिले के मित्री गांव में हुआ था। यह गांव श्रीनगर से बीस मील दूर है। महजूर का पिता, पीर अब्दुल्ला शाह एक ज़मींदार और खानदानी पीर था। सो, महजूर सुख-सुविधाओं और सम्मान के वातावरण में पला। पिता की मौत के बाद उसने पीपी त्याग दी और आम लोगों का-सा जीवन शुरू किया। दूसरों की कमाई पर पलने वाले मुल्लाओं और पुजारियों से वह आज तक नफ़रत करता है।

जैसा कि स्वाभाविक था, महजूर के पिता ने उसे केवल अरबी-फ़ारसी की ही शिक्षा दी थी। पर महजूर में अपनी मातृ-भाषा के लिए प्यार और कविता लिखने की रुचि बहुत प्रबल थी। सामाजिक विरोध होने पर यह रुचि और भी बढ़ी। एक पुराने कश्मीरी कवि, मकबूल शाह ने नौजवान महजूर को बहुत प्रभावित किया। शाहज़ादा अजब-उल-मलिक और उसकी प्रेमिका नीशेलब की प्रेम-कथा को उसने ज़बानी याद कर लिया। सबसे पहले फ़ारसी में कविता लिखनी शुरू की। उन दिनों, बदक़िस्मती से पढ़े-लिखे वर्ग के लोग अपनी मातृ-भाषा में लिखी गई कविता को घटिया समझते थे। महजूर उनके इस रवैये से सन्तुष्ट नहीं था। सन १९११ में वह पंजाब गया। जहां उसे कुछ विद्वानों की ओर से काफ़ी उत्साह मिला, लेकिन उन्होंने उसका रुख उर्दू कविता की ओर मोड़ दिया। अगले तेरह साल तक मजदूर उर्दू और फ़ारसी के बीच में लटकता रहा। यह बड़ी दुःखद असलियत है कि हमारे होनहार नौजवान अपने जीवन का सबसे कीमती समय भाषाओं के साथ तजुरबे करते हुए बिता देते हैं।

आखिर वह दिन आया, जब एक छोटी-सी घटना ने महजूर के समूचे दृष्टिकोण को बदलकर रख दिया। एक शाम वह उदासी की हालत में घूमता हुआ एक गांव में जा

पहुंचा। वहां वह एक चिनार के वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गया। अचानक उसने देहाती लड़कियों की एक टोली को अपनी ओर आते हुए देखा। लड़कियां तीन सौ साल पुराना एक गीत गा रही थीं, जो कश्मीर की महारानी, हब्बा खातून ने लिखा था। गीत के बोल थे :

पोशन मन्ज़ हा वाथुरावाये
वलो मैनी पोशे मदनो।
वलो माती गाच वो हिमाये
युसमरी सुकातेओ इयाये।
पावान छेयायेस मो इयाये
वलो मैनी पोशे मदनो।

पूरा गीत यहां देने की ज़रूरत नहीं है। उसके केवल उपरोक्त अंश से ही उसके उतार-चढ़ाव और सुर-ताल का पता लग सकता है। यहां गीत का अनुवाद दिया जाता है। इसमें प्यार के देवता, मदन, को सम्बोधित किया गया है :

मैं गुलाब के फूलों से झूला बनाऊंगी
हे मदन देवता, आओ।
मैं अपनी सखी-सहेलियों के संग चमेली के फूल चुनने गई
वहां मैंने सोचा
एक बार का बिछड़ा हुआ लौटकर कब आता है?
और मैंने तुम्हारा साथ पाना चाहा।
मेरे महबूब, आओ
हम एक साथ मिलकर खुशबूदार बब्बर की चरागाहों में जाएंगी
मेरी प्रेमी ने मेरे दिल पर कुल्हाड़ा चला दिया है
और वह मुझसे सदा के लिए बिछुड़ गया है।
हे मदन, मुझे तुम यहां से दूर ले चलो
इन पागल लोगों ने मुझे बदनाम कर दिया है
मेरे भाग्य की यह पहेली कब हल होगी !
मेरे अपने सम्बन्धी मुझे ताने दे-देकर पागल बना रहे हैं
आह, वे भी मेरी तरह दुःख भोगें।
हे मदन, हम एक साथ जंगलों में जाएंगे
और मैं तुम्हारी पूजा करूंगी
मै तुझे अपनी सुनहरी बालियां दूंगी
याद रखना कि एक-एक बाली बादशाहत के बराबर है।
आओ, कुछ पानी लेने चलें
दुनिया नींद की बांहों में सोई पड़ी है

मैं तुम्हारे उत्तर की प्रतीक्षा में हूं
काश, मैं जाकर फूल तोड़ सकती
पर मैं क्या करूं ?
मेरा मदनदेव मुझसे नाराज़ है
वह जल्दी ही मेरे पास से चला जाता है
मैं उसे हर जगह ढूंढूंगी- चांदनी रात में
हो सकता है, मैं अपने खोये हुए दिन फिर से पा लूं
प्यारी सहेलियो, हब्बा ने सिर्फ़ अपने दुःखों की
कहानी ही कही है।

बर्फ़ ढके पहाड़ों, रुंड-मुंड खड़े चिनारों और शीत से मुरझाए हुए खेतों की पृष्टभूमि के सामने इस गीत का नौजवान दिलों पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे कौन जान सकता है? अगर कोई जान सकता है, तो सिर्फ़ वह, जिसने हब्बा की दुःख-भरी कहानी को समझा हो।

उपरोक्त गीत हब्बा खातून ने अपने पति, शाहज़ादा यूसफ़ चक की याद में तब लिखा था, जब यूसफ चक को उससे बड़ी बेरहमी से छीनकर बंगाल की एक जेल में भेज दिया था। यह तीन सौ साल पहले की बात है। हब्बा एक किसान की बेटी थी। उसके माता-पिता ने उसकी शादी अपनी बिरादरी के एक आदमी से कर दी थी। वह बड़े कोमल दिल वाली स्त्री थी और इस शादी से खुश नहीं थी। एक शाम जब वह अपनी सहेलियों से संग खेतों में काम कर रही थी, तो अचानक उसकी नज़र एक परदेसी पर पड़ी, जो चिनार के एक पेड़ के नीचे खड़ा उसे देख रहा था। वह शाहज़ादा यूसफ़ चक के सिवा और कौन हो सकता था? आखिर वे एक-दूसरे पर मोहित हो गए और उन्होंने शादी कर ली। हब्बा काफ़ी समय तक शाहज़ादे को प्यार करती और कविता लिखती रही। फिर, एक बार शहंशाह अकबर ने कश्मीर पर हमला कर दिया। हब्बा को कश्मीर में शाही कैदी बना लिया गया और यूसफ़ चक को कैदी बनाकर बंगाल भेज दिया गया।

उस समय हब्बा की-सी मानसिक दशा में बैठे हुए महजूर के अन्दर उस गीत ने उसे सोई हुई तंरगें जगा दीं। वह मन्त्र-मुग्ध-सा बना बैठा रहा। आखिर जब वह उठा तो उसने उसी छन्द और उसी शैली में एक कविता का आधा भाग लिख लिया। उसका बाक़ी भाग उसने अगले दो दिनों में लिखा। वह फैसला कर चुका था कि उसे किस भाषा में लिखना चाहिए। उसके बाद उसने उर्दू में कभी कुछ नहीं लिखा।

अपनी मातृभाषा में लिखी महजूर की इस पहली रचना को विशेष सफलता मिली। आज कश्मीर में वह कविता बेहद लोकप्रिय बन चुकी है। उसकी कुछ पंक्तियां यहां दी जा रही हैं, जो उसकी संगीतमय लय का परिचय देंगी :

चुल हामा रोशे रोशे
पोशे माती जाना नो।
बुच माखा हुरे हुरे
सांगे मम सरगच हूरे
छियास बदन चुरे चुरे

पोशे माती जाना नो

गीत का अनुवाद नीचे दिया जाता है-

मेरा महबूब, फूलों का महान प्रशंसक
मुझसे नाराज़ होकर चला गया है
मैंने उसे दूर से देखा
फिर भी, मैं जो स्वर्ग की हूर हूं
हैरानी में खो गई हूं।
और अब मैं छिप-छिपकर रोती हूं।
ओ जादूगर, मुझसे भागकर न जा
तू मुझे छोड़कर ऐसे कैसे जा सकता है?
पहले मुझे बता कि मैं तेरे बिना कैसे जी सकूंगी?
एक वीरान टीले पर खड़ी मैं तुझे देख रही हूं
आंसुओं की जगह खून बहा रही हूं
तूझे इस खून की कीमत चुकानी होगी।
अगर कहीं तू इस समय आ सके
तो मैं तुझे अपने जले हुए दिल के अंगार दिखाऊं।
क्या तू तब आएगा, जब आने का कोई फ़ायदा नहीं होगा?
अगर ऐसे ही करना है, तो मैं अपना आखिरी सन्देश
किसके पास छोड़ आऊं?
अपनी शिकायतों का चिटठा किसके हाथ भेजूं?
हे निर्मोही, सिर्फ एक बार आ जा
मैं तेरा जीवन फूलों की सेज बना दूंगी।
हे आनन्द और खुशियों के प्रेमी
तूने मुझे अपने जाल में क्यों फंसाया है?
मेरा दिल क्यों छलनी-छलनी कर दिया है?
तेरे लिए मेरे प्यार ने मुझे बदनाम किया है
मेरे प्यार की कहानी गांव-गांव, कस्बे-कस्बे में घूमी है
मेरी अपनी सहेलियां भी मेरा गला काटने को तैयार हैं।
तू मुझे सड़क पर छोड़ गया
तू मेरे हाथ पर एक दहकता हुआ कोयला रखकर चला गया
मैं अपनी आशाओं की आखिरी चमक पर रोती हूँ'
वह जो मेरे लिए प्यार लाया था
मेरे दिल पर गर्म राख डालकर चला गया है।

जंगल में तोता अपनी मैना को छोड़ गया है।
मैं अपने महबूब को ढूंढ़ने के लिए रात को घर से निकली।
मुझे क्या पता था कि किस्मत ने मेरे लिए जाल बिछाया हुआहै।
लोगों की ईर्ष्या ने तुझे मेरे उलट कर दिया है।
तूने जंगल के दूसरे सिरे पर डेरा लगाया हुआ है।
क्या सचमुच तेरे पास मेरे लिए कोई प्यार नहीं है?
नींद से उठते ही मैं तेरी सेवा के लिए भाग उठती थी।
तेरा प्यार पाने के लिए मैंने नींद तक हराम कर दी है
हे ईश्वर, क्या मेरी इच्छा पूरी नहीं होगी?
आह, एक बार तू फिर से मेरे झरोखे के सामने आ
हे मेरे महबूब ! तेरे लौटने से मेरी सेहत भी लौट आएगी।
मैं अपने वालों को फिर से महकाऊंगी।
मैं अपने चांदी जैसे बदन को फिर से कीमती वस्त्रों से सजाऊंगी।
पर मैं भूलती हूं, तू फिर कभी नहीं आएगा।
काश, मुझमें जोगन बनने की शक्ति होती।
आह, अब मुझे गम में धीरे-धीरे मरना होगा।
नहीं, मैं किसी पागल की तरह मकान की छत पर
चढ़कर रोऊंगी।
झूठे, तूने इस तरह जाने का हौसला कैसे कर लिया?
आ, पहले अपना वचन पूरा कर।
मैं शिकवों-भरा खत भेजूंगी।
मैं तुझे कचहरी तक ले जाऊंगी।
पर क्या फायदा ? आओ चलें, मेरी सखियो !
उसके कानों में ज़हर घोल दिया गया है।
मैं हैरान हूं कि क्या कभी फिर उसके दर्शन होंगे?
सखियो, आओ, हम फिर से काम शुरू करें
आओ, खान बाबा के मेले चलें।
मेरे माता-पिता ने जो फंदा मेरे लिए तैयार किया है
वह मैं सह नहीं सकती।
कवि महजूर !
क्या तू जाकर उस निर्मोही से पूछ सकेगा
कि मैं उसे और कहां जाकर ढूंढूं?

श्रोताओं पर इस गीत के प्रभाव को आजमाने के लिए महजूर ने एक नया तरीक़ा सोचा। उसे पता था कि खुद को साहित्यकार कहने वाले लोग देहाती कश्मीरी में लिखी हुई कविता को हिक़ारत की नज़र से देखेंगे। इसलिए उसने कुछ लड़कों को यह गीत ज़बानी याद करा दिया और उन्हें श्रीनगर के गली-कूचों में ऊंची आवाज़ में गाने के लिए कहा, बस, फिर क्या था, एक हफ्ते में ही महजूर का नाम लोगों की ज़बान पर था।

महज़ूर ने इस समय अपनी उम्र के पचासवें साल में कदम रखा है। मुझे इस बात की पूरी जानकारी नहीं है कि पिछले चार सालों में उसने कौन-सी नई कविताएं लिखी हैं। पर मुझे यक़ीन है कि उसने बहुत-सी कविताएं लिखी होंगी। अपनी सादगी, प्यार, मेहनत और कलात्मक दृष्टि की बदौलत उसने और ज़्यादा गहरी और प्रौढ़ रचनाओं को जन्म दिया होगा।

कश्मीरी भाषा की जानकारी न होने के कारण महजूर की कविता का आलोचनात्मक विवेचन करना मेरे लिए सम्भव नहीं है। पर महजूर की लोकप्रियता और मनोहर व्यक्तित्व को देखते हुए मुझे विश्वास होता है कि समकालीन कश्मीरी साहित्य को उसकी बहुत बड़ी देन है।

लाहौर, १९३८

यात्रा संस्मरण

सूची

१- रूसी सफ़रनामा
२- पाकिस्तान का सफ़र

बलराज साहनी

रूसी सफ़रनामा

दो पोटलियां

कार कलकत्ता शहर के पुराने भागों में से गुज़र रही है। बीस साल पहले ये सड़कें नई-नई, खुली-खुली, साफ-साफ दिखाई देती थीं। इमारतें भी बहुत पुरानी नहीं हुई थीं। पर अब कितना बूढ़ा-बूढ़ा दिखाई देने लगा है कलकत्ता। क्यों न दिखाई दे? जहां पहले पंद्रह लाख लोग रहते थे, अब वहां पच्चासी लाख रह रहे हैं। ठसाठस भरा हुआ। हर समय और हर तरफ हलचल जारी है। म्युनिसिपॅलिटी की व्यवस्था में जरा-सी भी गलती हो जाए तो हजारों लोग कीड़ों-मकोड़ों की तरह मर जाएं। प्यादे, ठेले, रिक्शा, साइकल, बग्घियां— अजीब-सी भीड़। कार ऐसे धीरे-धीरे सरक रही है,जैसे किसी बारात के साथ जा रही हो। ड्राइवर बिहार के इलाके का है,जो शब्दों पर विशेष जोर डाल-कर बोलता है,"दिल्ली का डलेवर यहां गाड़ी नहीं चला सकता साहब,बहुत जाम ट्राफिक है यहां का। लगातार क्लच ब्रेक लगाना पड़ता है।"

एकाएक नज़र सामने एक दो मंज़िली दुकान के बोर्ड की ओर गई। झट पढ़ गया उसपर के बंगला के अक्षरों को। पिछले दस दिनों में बहुत बढ़िया नाटक भी देखे हैं। उनके संवाद आसानी से समझ लेने में कितनी खुशी होती थी। बंगाली भाषा मुझे हमेशा से ही प्रिय रही है। जब छः-सात साल का था तो आर्यसमाज (गुरुकुल विभाग), रावलपिंडी में एक बंगाली साधु आकर ठहरा था, जो नीम या शायद किसी और पेड़ के पत्ते पानी में उबालकर उनके साथ रोटी खाया करता था। उसने एक दिन योंही मुझे बंगाली अक्षर सिखाने शुरू कर दिए। बहुत ही सुन्दर लगे वे अक्षर। और उस दिन से ही मैं इस सुन्दर लिपि से प्यार करने लगा।

आज मन को बहुत सन्तोष है। जिस फ़िल्म की शूटिंग के सिलसिले में आया हूं, उसका काम बहुत अच्छी तरह खत्म हो गया है। परसों सुबह हवाई जहाज़ से दिल्ली के लिए उड़ जाऊंगा- 'हकीकत' फ़िल्म के प्रीमियर के लिए। राष्ट्रपति राधाकृष्णन उदघाटन करेंगे। बहुत आनन्द-भरा समारोह होगा। अगले दिन फिर हवाई जहाज में उड़कर बम्बई पहुंच जाऊंगा— अपने परिवार के संग नये साल की शाम मनाने के लिए। एक और खुशी-भरी बात की भी प्रतीक्षा कर रहा हूं। मास्को में परीक्षित ने विश्वास दिलाया था कि नये साल की शाम को वह अचानक घर पहुंचकर सबको आश्चर्यचकित कर देगा। क्या सचमुच वह अपना वचन पूरा करेगा?

मैने दिन गिने। पूरा एक महीना और चार दिन हो गए थे मास्को से लौटे हुए। दिन जैसे पंख लगाकर उड़ रहे थे। मैं जैसे रूस नहीं गया था, बल्कि कोई सपना देखकर हटा था। पर उस सपने में यादों का कितना बड़ा खज़ाना भरा पड़ा था। कितनी बड़ी प्रेरणा मिली थी मुझे, और मेरा मन आन्दोलित हो उठा था। उस यात्रा के बारे में लिखने के लिए मन किस प्रकार लालायित था पर वापस लौटते ही नई व्यस्तताओं और सफ़रों में खो गया। यादों की जैसे पोटली बांधकर दिमाग के एक कोने में रख दी, और सोचा कि कभी फ़ुर्सत मिलेगी तो उसे खोलूंगा। और आज कलकत्ता की यादों की पोटली बांध रहा हूं।

इस पोटली में भी बहुमूल्य मसाला जमा किया है। कल सारा दिन शहर का चक्कर लगाकर शरतचन्द्र चैटर्जी का घर, माइकेल मधुसूदन की समाधि, टैगोर परिवार का महल और पी०सी०बरूआ की 'बाड़ी' देखी। वह इमारत भी देखी,जिसमें से सुभाषचन्द्र बोस फ़रार हुए थे। उसका हर एक कमरा यह अहसास दिलाता है जैसे वे अभी-अभी वहां से गए हों। बाहर कम्पाउंड में वह मोटर देखी, जो उन्हें सुरक्षित रूप से देश की सीमा पार कराकर काबुल पहुंचा आई थी। और वह मोटर भी देखी, जिसका वे आजाद हिन्द फौज के कमाण्डर-इन-चीफ की हैसियत से मांडला और बैंकाक में उपयोग किया करते थे।

इसी तरह, रूस-यात्रा के दौरान में भी,मास्को से डेढ़ सौ मील दूर, ताल्स्ताय का घर, यासनाया पोलियाना नामक गांव में देखने का अवसर मिला था, जहां लेखकों के उस सम्राट ने अपने जीवन के पचास वर्ष बिताए थे। वह कमरा देखा था, जहां उसने अपना महान उपन्यास 'युध्द और शान्ति' लिखा था। रूसी धरती पर क्षितिज तक बर्फ़ की चादर बिछी हुई थी। मैं अपनी कल्पना में 'पुनर्जागरण'और 'अन्ना कारनीना' उपन्यासों के पात्रों को 'स्लेजों' में बैठे, इधर- उधर जाते हुए देख रहा था और स्लेजों की घंटियों की आवाज सुन रहा था। कितनी ज्यादा ठंड थी रूस में। ......अगले दिन उसी २० सेण्टीग्रेड की ठंड में मैं जैसे स्वयं ही किसी उपन्यास का पात्र बना हुआ, बालशाय थियेटर के सामने ईना त्रास्तिख की प्रतीक्षा में खड़ा था।

ईना, नताशा ताल्सताया की सहेली है। जैसे नताशा पंजाबी भाषा बहुत अच्छी तरह जानती है, वैसे ही ईना बंगाली में प्रवीण है। उसके साथ एक रेस्तरां में बैठकर काफ़ी पीने और बातें करने का मुश्किल से आधा घंटा ही नसीब हुआ था। ईना ने बताया था कि उसने जो रूसी में बंगाली साहित्य का इतिहास लिखा है, वह छप चुका है। जब मैंने उसे बताया कि मास्को से लौटने के बाद मैं एक फ़िल्म की शूटिंग के लिए कलकत्ता जाऊंगा तो उसने एक फ़रमायश करते हूए कहा था, ''सोलहवीं सदी में एक बंगाली कवि हुआ था, जिसका नाम था, मुकंददास। उसका काव्य मैं पढ़ना चाहती हूं। अगर पुस्तक रूप में मिल सके तो भेजिएगा।''

और आज यही फ़रमायश पूरी करने के लिए लोअर सर्क्युलर रोड की भीड़ में से गुज़र रहा हूं। कितनी खुशी है मुझे वह काम करते हुए, जिससे एक दोस्ती का रिश्ता पक्का होता है!

स्टूडियो से निकलते समय मेक-अप रूम में एक नौजवान कलाकार ने कहा था,''साहनी साहब, जो खुराक आपने बचपन में खाई है, वह हमें अपने बचपन में नसीब नहीं हुई । और जो हमें नसीब हुई वह आज हम अपने बच्चों को नहीं खिला पाते हैं। क्या रूस में भी लोगों की ऐसी ही हालत है?''

और मैं आवेश में आकर कहने से नहीं रह सका था,''भाई, तुम्हें क्या बताऊं, तुम लोग कहोगे कि मैं बहुक ज़्यादा तारीफ कर रहा हूं। पर यह सच है कि जो आराम और सुख आज रूसी बच्चों को नसीब है, वह शायद अमीर से अमीर देश के किसी अमीर से अमीर बच्चे को भी नसीब नहीं होगा। 'ग़रीब' शब्द, आज रूसी बच्चा सिर्फ़ किताब

में ही पढ़ सकता है। ग़रीब आदमी कैसा होता है, वह अपनी आंखों से देख नहीं सकता। वहां किसी भी विद्यार्थी को फ़ीस नहीं देनी पड़ती, चाहे वह स्कूल में पढ़ता हो, या कालेज में। यहां तक कि उसे पुस्तकें, खाना, होस्टल की रिहायश भी मुफ्त मिलती हैं। बीमार पड़ने पर उसका अच्छे से अच्छा इलाज भी मुफ्त होता है।''

वहां खड़े व्यक्ति अवाक बने आश्चर्यचकित दृष्टि से मेरी ओर देखते रह गए थे। उनकी नजर में यह सब काल्पनिक और असम्भव बातें ही थीं। यही नहीं , वे रूस-सम्बन्धी पत्र- पत्रिकाओं में कई किस्म के झूठे प्रचार के शिकार बने हुए थे। एकाएक मुझे ऐसे लगा जैसे मैं उनकी नजरों में एक खतरनाक- सा आदमी बन गया था।

उस समय अचानक मेरी कल्पना ने रूस और कलकत्ता वाली दोनों पोटलियां खोल लीं– एक में से कुछ निकालकर ईना को दिखाने के लिए, और दूसरी में से कुछ निकालकर अपने देशवासियों को दिखाने के लिए।...

रूस की ओर

हवाई जहाज पूरी तरह भरा हुआ था। ऐसे लग रहा था जैसे बहुत से यात्री सिर्फ दिल्ली तक ही जा रहे थे। हम तीनों को एक जगह सीटें नहीं मिलीं। इसपर मुझे किसी हद तक तसल्ली हुई, क्योंकि उस समय मैं एकान्त चाह रहा था। पर दूसरी ओर अपना फ़र्ज़ पूरा करने के लिए अपने साथियों का निकट से परिचय भी पाना चाहता था। अखबार पढ़ा, नाश्ता किया। इतने में साथ वाला यात्री उठकर पायलट के केबिन में चला गया। सीट खाली देख कर गोपालन मेरे पास आकर बैठ गए। अंग्रेजी में बोले, ''बलराज जी, अगर आपको एतराज़ न हो तो आपसे एक बात करनी है।''

''ज़रुर, बड़ी खुशी से।''

''आप क्योंकि पहले भी कई बार सोवियत यूनियन जा चुके हैं,और फिर उम्र में भी हम सबसे बड़े हैं, इसलिए हमारी ख़्वाहिश है कि इस डेलीगेशन का लीडर आपको होना चाहिए।''

''हमारी ख्वाहिश से क्या मतलब?'' फ़िलहाल यह ख़्वाहिश मेरी और डां०दातार की है। जब दिल्ली से ज्ञानी जी शामिल हो जाएंगे तो उनकी भी राय ले ली जाएगी। अगर वे मान गए तो उम्मीद है, आपको कोई एतराज़ नहीं होगा।''

ज्ञानी जैलसिंह की कल्पना मैंने एक वृद्ध व्यक्ति के रूप में की हुई थी। क्या वे मुझसे छोटे हैं? गोपालन को यह विश्वास कैसे है कि वे भी मुझे अपना लीडर परवान कर लेंगे? वे पंजाब कांग्रेस के उप- प्रधान हैं और मंत्री भी रह चुके हैं। क्या वे नहीं चाहेंगे कि खुद लीडर बनें? उचित भी शायद यही होगा कि वे लीडर बनें। पर गोपालन को लीडर चुनने की इतनी जल्दी क्या पड़ गई है? हो न हो, मुझे लीडर बनाने की उन्हें कहीं से हिदायत मिली हुई है।

विदेशों में हिन्दुस्तानी प्रतिनिधि-मंडल अपना अच्छा प्रभाव नहीं डालते। कई बार तो वे काफ़ी हद तक बदनामी लेकर लौटते हैं। पर इसमें ज़्यादा दोष जानेवालों का नहीं, व्यवस्थापकों का होता है, जो उसूलों और आदर्शों की रक्षा के लिए चिन्तित होकर छोटी-छोटी व्यावहारिक बातों की ओर बिलकुल ध्यान नहीं देते।

कुछ दिन पहले की एक घटना याद हो आई। मैं एक मित्र को गाड़ी चढ़ाने के लिए बाम्बे सेण्ट्रल स्टेशन पर गया हुआ था। साथ के डिब्बे में एक फौजी अफसर सवार होनेवाला था, जो तबदील होकर किसी और जगह जा रहा था। उसके यूनिट के जवान उसे सलामी देने के लिए आए हुए थे। आते ही वे डिब्बे के सामने दो पंक्तियां बनाकर खड़े हो गए। उनके बीच में लगभग दस फुट की जगह खाली थी ताकि लोगों को आने-जाने में किसी किस्म की कठिनाई न हो। हर जवान के हाथ में फूलों का हार था। अफ़सर आया तो पहले तो उसने उन जवानों की ओर ध्यान ही नहीं दिया। उसने अपना सामान डिब्बे में रखाया, अपनी पत्नी को बैठाया। इसके बाद वह बाहर आया और एक ओर से शुरू होकर उन जवानों से हाथ मिलाने लगा। साथ ही, बड़ी नम्रता से उनके हाथों में पकड़े हुए हार अपने गले में डलवाए। फिर दोनों पंक्तियों के जवानों ने हाथ

उठाकर अफसर की शान में ज़िन्दाबाद के नारे लगाए। उसके बाद अफ़सर ने एक ओर खड़े अपने साथी फ़ौजी अफ़सरों से हाथ मिलाया और कुछ देर वहां खड़े होकर उनसे बातचीत की। कुछ देर के लिए उसकी पत्नी भी बाहर आ गई थी। आखिर अफ़सर बड़ी चुस्ती से अपनी पत्नी को साथ लेकर डिब्बे में सवार हो गया। उसके डिब्बे में कदम रखते ही जवान दो की जगह एक पंक्ति बनाकर खड़े हो गए और गाड़ी के चलने की प्रतीक्षा करने लगे। इस सारी रसम में एक ऐसा सलीका था, और ऐसी खूबसूरती और सादगी थी कि वह मन को छू गई थी।

इसके उलट अगर कोई सरकारी मंत्री या अफ़सर जा रहा होता तो स्टेशन पर इतनी दौड़-धूप मची हुई होती कि यात्रियों के नाक में दम आ जाता। गाड़ी भी लेट हो जाती। गाड़ी लेट करना तो हमारे देश के बड़े व्यक्तियों का विशेष लक्षण है।

इंग्लैंड, अमरीका, रूस, जापान और संसार के अन्य उन्नतिशील देशों का सामाजिक ढांचा आज के औद्योगिक युग की ज़रूरतों के अनुसार ढल चुका है। इसके साथ उनकी जातीय विशेषताएं भी उभरी है। मूल रूप से यह ढांचा हर देश में लगभग एक-सा ही है। सो किसी भी यात्री को इन देशों में जाने से पहले उसका किसी हद तक ज्ञान प्राप्त कर लेना बहुत ज़रूरी है।

इस ढांचे का प्रभाव हमारे देश पर भी तेज़ी से पड़ रहा है। पर यह कहना गलत नहीं होगा कि अभी तक वह बड़े-बड़े शहरों तक, और उन शहरों में भी केवल धनी वर्ग तक ही सीमित है। छुरी-कांटे से खाना, खाने की मेज़ पर वेटर की सेवा कबूल करना, स्नान-शौच आदि के लिए ग़ुसलखाने का उपयोग करना, समय की पाबन्दी, परस्पर सहयोग, अपनी बारी आने पर संयम से बोलना, स्थानीय लोगों की जातीय भावनाओं की कद्र करते हुए और अपने जातीय गर्व की रक्षा के लिए क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए-इन सब बातों का ज्ञान हिन्दुस्तान से पहली बार बाहर जानेवाले लोगों में बहुत कम होता है। अगर व्यवस्थापकों या सरकार की ओर से प्रतिनिधि-मंडल के व्यक्तियों के रवाना होने से पहले, इस बारे में थोड़ी-बहुत हिदायतें मिल जाया करें तो बहुत-सी वैसी ग़लतियां होने से बचाव हो सकता है, जो देश के लिए लज्जा का कारण बनती हैं। विदेश में किसी व्यक्ति के सभ्य या असभ्य होने का अनुमान शुरू में इन छोटी-छोटी बातों से ही लगाया जाता है, उसके आदर्शों या विचारों से नहीं।

पर शुरू से लेकर अन्त तक, चाहे व्यवस्थापक हों, चाहे सरकार, सबको चिन्ता इस बात की होती है कि जानेवाले व्यक्तियों के राजनैतिक विचार और दृष्टिकोण क्या हैं। सरकारी दफ्तरशाही तो व्यवस्थापकों को ऐसे-ऐसे उल्टे नाच नचाती है कि उनके लिए कोई भी काम सही ढंग से करना असम्भव हो जाता है। पता नहीं कि प्रतिनिधि-मंडल भेजने के लिए सरकार अपनी मर्ज़ी से हां करती है, या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दिखावे की ज़रूरतों से मजबूर होकर करती है। पर यह बात स्पष्ट है कि एक बार हां करने के बाद सरकार की सारी मशीनरी उस 'हां' से निकलनेवाले नतीजों को रद्द करने में लग जाती है। व्यवस्थापकों और सरकार के बीच में एक तरह की रस्साकशी शुरू हो जाती है, जैसे दोनों इस बात का फ़ैसला करके देखना चाहते हों कि किसकी ज़िद ज़्यादा तगड़ी है। आखिर रवानगी से कुछ दिन पहले एक ग़लत और अजीब-सा समझौता हो जाता है, जिसके अनुसार कुछ व्यक्तियों को सीधे और कुछ व्यक्तियों को बांके-टेढ़े ढंग से

अचानक पासपोर्ट मिल जाते हैं। तब तक व्यवस्थापकों की इज़्ज़त मिट्टी में मिल चुकी होती है। किसी न किसी तरह कुछ लोगों का नाममात्र का एक प्रतिनिधि-मंडल विदेश के लिए रवाना कर दिया जाता है।

यह मंडल जब आगे पहुंचता है तो उसका स्वागत करनेवाले निराश हो दूसरे कामों में लीन हो चुके होते हैं। भाग-दौड़ में एक ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है कि दल के नेता को सारी ज़िम्मेदारियों की बागडोर अपने हाथ में लेनी पड़ती है। आमतौर पर जो व्यक्ति नेता चुना जाता है, उसे उस संस्था की सरगर्मियों की पूरी जानकारी नहीं होती। उसका चुनाव सिर्फ़ इस आधार पर किया जाता है कि उसने जीवन के किसी न किसी क्षेत्र में मशहूरी हासिल की होती है। इसकी सहायता के लिए, या कहना चाहिए कि उसे सही रास्ते पर चलाने के लिए, व्यवस्थापकों की ओर से कुछ सलाहकार नियत किए जाते हैं, जिनका महत्त्व बाहरी तौर पर कम, पर अन्दरूनी तौर पर बहुत ज़्यादा होता है। उनकी अपने नेता पर कुछ ऐसी कृपा-दृष्टि होने लगती है कि कुछ ही समय में बाकी साथियों को अपने नेता की नपुंसकता का यकीन होने लग जाता है। बस फिर, क्या अपने-अपने हकों की रक्षा के लिए कई किस्म के गिरोह बन जाते हैं, जो पहले अन्दर ही अन्दर एक-दूसरे को काटते हैं, और फिर खुले तौर पर अपनी बात कहने लग जाते हैं, और दुनिया उनका तमाशा देखती है अब नेता का काम सिर्फ़ इतना-भर रह जाता है कि वह किसी न किसी तरह समय को धक्का देता हुआ आगे बढ़ाता जाए। उसके बाकी साथियों का काम होता है, उसे अंगूठा दिखाना, शरारतें करना और अपना व्यक्तिगत झंडा ऊंचा उठाना। और मज़े की बात यह कि हर व्यक्ति अपने-अपने तौर पर हिन्दुस्तान की इज़्ज़त और नाम की रक्षा कर रहा होता है।

''क्या सोच रहे हैं?'' गोपालन की आवाज़ ने मुझे चौंका दिया।

''देखिए, गोपालन, मैं हर तरह से सेवा के लिए हाज़िर हूं, पर एक बात साफ़-साफ़ बता दूं। अगर ज्ञानी जी को मेरे नेता बनने पर ज़रा भी एतराज़ हुआ तो मैं किसी हालत में भी नेता नहीं बनूंगा।''

''ठीक है।'' गोपालन ने कहा।

दिल्ली पहुंचने पर हवाई जहाज़ से उतरते ही हमें 'ट्रांज़िट लौंज' में जैसे बन्द कर दिया गया। यहां भी ज्ञानी जी के दर्शन नहीं हुए। वे उस समय मिले, जब हम दोबारा हवाई जहाज़ पर सवार हो रहे थे। अब यात्री बहुत कम रह गए थे। मैं पिछले हिस्से की एक सीट पर अपना सामान रख रहा था कि कुछ दूर गोपालन और दातार को ज्ञानी जी से बातें करते हुए देखा। फिर कुछ ही क्षणों में वे तीनों मेरी ओर आए। मैंने सोचा कि गोपालन ज्ञानी जी से मेरा परिचय कराना चाहते हैं। पर ज्ञानी जी ने खुद ही आगे बढ़कर मुझसे हाथ मिलाया और बड़ी ही सज्जनता से बोले, ''बलराज जी, हम तीनों की ही यह ख़्वाहिश है कि आप हमारे डैलीगेशन के लीडर बनना मंज़ूर कर लें।''

मैं अवाक-सा बना उनकी ओर देखने लगा। दिल में आया कि अपने पंजाबी भाई को बांहों में भर लूं। पर संकोच कर गया कि कहीं मेरी इस हरकत का गलत मतलब न समझा जाए। हम एक-दूसरे से अलग हुए और अपनी-अपनी सीट पर जाकर बैठ गए। हिन्दुस्तानी घड़ियों के अनुसार ठीक साढ़े नौ बजे एयर इण्डिया का हवाई जहाज़ 'मेघदूत' उड़ान भरकर मास्को की ओर रवाना हो गया।

पेटियां बांधने और खोलने तक हवाई जहाज़ पता नहीं कहां से कहां पहुंच चुका था। उसमें का वातावरण भी बदलकर अन्तर्राष्ट्रीय बन गया था, और उसीके अनुसार होस्टैसों और अन्य कर्मचारियों का रवैया भी बदल गया था। ऐसे लगता था जैसे हर व्यक्ति को अकस्मात सुरखाब के पर लग गए हों। पर्सर ने 'ड्रिंक्स' की सूची लाकर मेरे सामने रखी। मज़े की बात यह नहीं कि हर क़िस्म की शराब पीने को मिलेगी, बल्कि यह कि पानी के भाव में मिलेगी, और वह भी सुबह साढ़े नौ बजे। भला उस समय किसका पीने को दिल चाहेगा? पर सैर का 'मूड' बनाने के लिए ऐसी अय्याशी की जा सकती है। मैंने एक ड्राई मार्टीनी का आर्डर दिया।

ठीक उस समय, जब होस्टैस मेरे लिए मार्टीनी ट्रे पर रखकर लाई, ज्ञानी जी भी मेरे पास बैठने के इरादे से वहां आए। जब उन्होंने अपने नेता को व्यस्त देखा तो ठिठक गए। मैं भी कुछ झिझका कि खद्दर के उस लिबास में उन्हें शराब के बारे में पूछूं या न पूछूं। तभी वे जैसे कांटा बदलकर मुझसे अगली सीट पर जाकर बैठ गए, और वहां खिड़की में से नीचे झांकते हुए धरती का नज़ारा देखने लगे। कांग्रेसियों की गांधीवादी पवित्रता से मैं उतना ही डरता हूं जितना आर्यसमाजियों की कट्टरता से, जिसके वातावरण में मैं पला था, और जो मेरे पंजाब छोड़कर भाग उठने की असली ज़िम्मेदार है। पर उसके अन्दर छिपा हुआ एक सादगी-भरा अंश मुझे प्रभावित भी करता है। आज भी मैं अपने हाथ में पकड़े हुए शराब के गिलास को देखकर सोचने पर मजबूर हो उठता हूं कि इसे पीने का मुझे कहां तक हक है, जबकि मेरे देश के लाखों लोग दो समय की रोटी से भी वंचित है। मैं समझता हूं कि केवल मेरा ही नहीं, मेरी पीढ़ी के सभी व्यक्तियों का यही प्रतिकर्म है। हमें छिपकर गुनाह करना ज़्यादा पसन्द है, हालांकि आज के ज़माने में ऐसा करने की खास ज़रूरत नहीं है, जबकि कांग्रेसियों के लिए खद्दर केवल एक रस्मी-सी बात बनकर रह गया है।

गुज़र गया है वह दौर साक़ी कि छुप के पीते थे पीनेवाले
ज़माना आया है बेहिजाबी का आम दीदारे यार होगा।...

जहाज़ में बैठते ही प्रतिनिधि-मंडल के नेता ने हाथ में शराब पकड़ ली। इस बात का पता नहीं ज्ञानी जी पर क्या प्रभाव पड़ा हो। पता नहीं कैसे गुज़र होगी उनके साथ।...मैं अभी ये बातें सोच ही रहा था कि ज्ञानी ने सीट और खिड़की में की खाली जगह में से झांककर कहा; "बलदेव राज जी, हम पाकिस्तान के ऊपर से उड़कर जाएंगे कि नहीं?"

"ख्याल तो नहीं, ज्ञानी जी। सुना था कि पहले एयर इण्डिया का जहाज़ पाकिस्तान से होकर जाता था। पर अब नहीं जाता।"

"पर यह नीचे 'गुरु का पत्तन' नहीं है क्या ? दिखाई तो वही देता है।"

मैं भी खिड़की में से नीचे देखने लगा। पर पहचानता कैसे, जबकि गुरु का पत्तन मैंने देखा ही नहीं था। अब ज्ञानी जी मुझे कांग्रेसी के बजाय पंजाबी के रूप में दिखाई दिए, और अच्छे लगने लगे। मैं खुद टहनी से कटा हुआ पंजाबी था।

"इस हिसाब से जालन्धर उधर बायें हाथ आएगा। बलदेव...स...न सच, बलराज जी, यह तो हम पाकिस्तान में दाखिल हो रहे हैं।"

उसी समय लाउडस्पीकर पर जहाज़ के कैप्टन की आवाज़ आई, ''लेडीज़ एण्ड जेण्टलमेन, इन ए फ्यू मिनिटस वी शैल बी पासिंग दि सिटी ऑफ लाहौर ऑन आवर राइट।''

ज्ञानी जी अपनी सीट से उठकर कभी दायें और कभी बायें हाथ की खिड़कियों में से झांकने लग गए। मैंने भी जल्दी से एक ही घूंट में मार्टीनी खत्म की और ज्ञानी के साथ हो गया। लाहौर की हम प्रतीक्षा ही करते रह गए। वह नहीं आया। उसकी जगह एक गोल-से शहर का आकार दिखाई दिया।

''यह लायलपुर नहीं है जी?'' ज्ञानी जी ने कहा।

''हां, यह तो लायलपुर ही है,'' इस बार मैंने विश्वस्त रूप से कहा। अभी दो साल ही तो हुए थे, लाहौर से बस में झंग जाते हुए मैंने लायलपुर का भी चक्कर लगाया था। इर्द-गिर्द की वीरान धरती भी नज़र आई। थोड़ी देर बाद झनां (चनाब नदी) के दर्शन हुए, और वारिसशा की पंक्ति याद आई :

लाल चरखड़ा डाह के छोप पाइये

केडे सोहणे गीत झनां दे ने।

(लाल चर्खा डालकर पूनियां कातें। कितने सुन्दर गीत हैं चनाब के।)

''काबुल की तरफ से जाना है तो पिंडी पिशौर भी ज़रूर दिखाई देंगे। आप तो पहचान ही लेंगे?'' ज्ञानी जी ने कहा।

''पिंडी को तो मैं आंखें बन्द करके भी पहचान लूं।''

मेरा जवाब सुनकर ज्ञानी जी एक क्षण के लिए मेरी ओर इस प्रकार देखते रह गए, जैसे मेरे दिल की हालत जानना चाह रहे हों। उस समय हम जहाज़ के बीच में खड़े थे। हमारे आस-पास केरल और तमिलनाडु के पत्रकारों का एक प्रतिनिधि-मंडल बैठा हुआ था, जो सोवियत पत्रकारों की किसी संस्था का अतिथि बनकर जा रहा था। कुछ वर्ष पहले केरल की सैर करते हुए मैं उनमें से दो-तीन सज्ञनों को मिला भी था। एक थे तमिलनाडु के प्रसिद्ध कम्युनिस्ट नेता, श्री बालदंडा युद्धम। उन्हें मैं हिन्दुओं के मशहूर तीर्थ-स्थान मदुरा में इसकस की एक कान्फ्रेंस में मिला था। अगर मैं गलती नहीं करता तो उन दिनों वे नये-नये जेल से रिहा हुए थे- बारह-तेरह वर्ष की लम्बी कैद काटकर। सन १९४८ में कम्युनिस्ट पार्टी ने नेहरू सरकार के खिलाफ लड़ाई का ऐलान कर दिया था। बहुत फ़तूर मचा था उन दिनों, जिसमें वे भी पकड़े गए थे। पर उनके कोमल और विवेकशील स्वभाव की उनके दुश्मनों ने भी कद्र की थी।

देश-प्रेम की हिलोर में आया हुआ मैं उन सबको सम्बोधित करते हुए कहने लगा, ''यह मेरी धरती, मेरी मातृभूमि है, जिसपर से हम इस समय गुज़र रहे हैं। अब यह पाकिस्तान में है।...''

सभीने मेरा दिल रखने के लिए एक बार नीचे देखा, पर प्रशंसा का कोई शब्द उनके मुंह से न निकला। मैंने दिल ही दिल में उन्हें कोसा। जितने दिन केरल में रहा था, उनके इलाके की सुन्दरता की लगातार प्रशंसा करता रहा था। पर इनके पास मेरी जन्मभूमि के लिए एक भी प्रशंसा-भरा शब्द नहीं।

बालदंडा युद्धम ने कहा, "खुश्क इलाका है। यहां तो बहुत सख्त गर्मी पड़ती होगी।"

"गर्मी की भी अच्छी कही।" मैं हंसकर बोला, "इन दिनों तो यहां इतनी सर्दी होती है कि धूप में ओवरकोट पहनकर बैठिए, फिर भी ठंड लगे। यह उत्तर-पश्चिमी सीमा का इलाका है। आपके देश से यहां के 'लैटीच्युड' का बहुत फ़र्क है।"

बालदंडा युद्धम ने शक्की अन्दाज़ में सिर हिलाकर पूछा, "हिमालय कहां है?"

मैंने दूर क्षितिज के पास उभरी नीली लकीर की ओर संकेत करते हुए कहा, "बस थोड़ी देर में बर्फ़ से ढके हुए पहाड़ आपको साफ़ नज़र आने लगेंगे।"

दस मिनिट और गुज़र गए, पर पहाड़ नज़र न आए। मैं निराश होकर सीट पर बैठ गया। अचानक जहाज़ ने बहुत तीखा मोड़ लिया और फिर दायें हाथ को तीर की तरह सीधा उड़ने लगा। बात कुछ-कुछ समझ में आने लगी। रावलपिंडी, गुजरात, पेशावर आदि शहरों में पाकिस्तान की अहम छावनियां थीं। सो पाकिस्तानी सरकार के आदेशानुसार हवाई जहाज़ दक्षिण की ओर से लम्बा चक्कर काटकर उड़ा होगा। अब पिंडी को आंखें बन्द करके पहचानने की कोई ज़रूरत नहीं रह गई थी।

पर तब क्षितिज की नीली धुंध धीरे-धीरे एक जानी-पहचानी पर्वत-श्रेणी का रूप धारण करने लगी। पहाड़ों के शिखरों पर बर्फ़ साफ तौर पर दिखाई देने लगी। निःसन्देह उन्हीं पहाड़ों के कदमों में कहीं न कहीं मेरी पिंडी लेटी हुई थी। ऐसे लगा जैसे वह भी मेरी ओर आने के लिए छटपटा रही हो। अब मैं पूर्ण विश्वास से फिर बालदंडा युद्धम के पास गया।

"आइए, देखिए, हिमालय पहाड़। इन पहाड़ों के बिलकुल दामन में मेरा जन्मस्थान रावलपिंडी है। बहुत ही सुन्दर और हरा-भरा इलाका है।"

पर बालदंडा युद्धम ने इस बार भी मुझे निराश ही किया। बात को किसी और तरफ ले जाते हुए बोले, "अयूब खां अगर चुनाव में हार गया तो इस इलाके की राजनैतिक हालत ज़रूर सुधरेगी। पर उसके हारने की आशा कम है।"

"हां जी, है तो कम ही," मैंने कहा और वापस आ गया।

दिल्ली से उड़े हुए अभी एक घंटा भी नहीं हुआ था, और अब हम काबुल शहर के ऊपर मंडरा रहे थे। हम वहां के उन पहाड़ों और दर्रों पर से गुज़र रहे थे जिन्हें पार करके आक्रमणकारी हिन्दुस्तान में दाखिल होते और हमारी किस्मत बदलते रहे थे। शुष्क और बंजर पहाड़ों से घिरा हुआ काफी बड़ा शहर है काबुल। पर ज़्यादा अमीर दिखाई नहीं दे रहा था।

रावलपिंडी का नाम सुनकर बालदंडा युद्धम को सिर्फ अयूब खां और पाकिस्तान में होने वाले चुनाव का ख़्याल आया था। आज जीवन में पहली बार काबुल पर दृष्टिपात करते हुए मुझे भी केवल राजनैतिक बातों का ही खयाल आया। नेताजी सुभाष बोस और उनके पहले अनगिनत और इन्कलाबी देशभक्त, हिन्दुस्तान से काबुल के रास्ते ही फरार हुए थे। बहुतों को यहां की जेलों में डाला गया था। कहीं पढ़ा था कि ये जेलें बहुत भयानक होती थीं। पहले विश्वयुद्ध के बाद हज़ारों हिन्दुस्तानी मुसलमान हिज्रत करते काबुल के रास्ते ही अरब और तुर्की की ओर चले गए थे। कुछ एक एम०एन०राय के साथ आमू दरिया पार करके रूस जा पहुंचे थे और वहां उन्होंने हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट

पार्टी की बुनियाद रखी। करतारसिंह सराभा काबुल पहुंच फिर हिन्दुस्तान के लिए लौट पड़े थे- फांसी का फंदा पहनने के लिए। खान अब्दुल गफ़्फ़ार खां ने भी आजकल यहीं शरण ली हुई थी। मुझे वे दिन याद आए जब गढ़वाली फ़ौजियों द्वारा पेशावर में खुदाई-खिदमतगारों पर गोलियां चलाने से इन्कार करने की खबर रावलपिंडी में पहुंची थी तो सारे शहर में बिजली की तरह सनसनी दौड़ गई थी। मैं उन दिनों दसवीं पास करके हटा था। उन्हीं दिनों जतीनदास ने जेल में भूख-हड़ताल करके जान दे दी थी। उन्हीं दिनों भगतसिंह शहीद हुए थे। कैसे-कैसे जज़्बे थे उस ज़माने में देशभक्ति के।...

अचानक आज के ज़माने की देशभक्ति का खयाल आया तो दिल को ठेस-सी लगी। मार्टीनी का बिल अदा करने के लिए ज्यों ही मैंने कोट की जेब में हाथ डाला, सुन्दर होस्टैस हड़बड़ाकर बोली, "ओह, बट वी डोंट एक्सैप्ट इण्डियन मनी।" (हम हिन्दुस्तानी पैसे स्वीकार नहीं करते।)

कितना तिरस्कार भरा हुआ था उसके शब्दों में हिन्दुस्तानी पैसों के लिए। पर उसे क्या कहूं, जहाज़ में की हर बात से ही हीन भाव की बू आती थी। उस हीन भाव का यह भी तकाज़ा है कि जो आपके देश से सबसे ज़्यादा नफ़रत करे, उसे ही सबसे ज़्यादा प्यार करो। और जिस देश में आपके साथ इज़्ज़त और बराबरी का सलूक हो, उसे घटिया समझो। होस्टैस को जितना हिन्दुस्तानी रुपया नापसन्द था, शायद उतना ही रूसी रूबल भी। हां, पौंड या डालर हाथ में लेकर उसकी शान बढ़ जाती थी।

जहाज़ में आपस के परिचय गहरे बनने शुरू हो गए थे। लोग उठ-उठकर एक-दूसरे के पास जाते। केरल का एक पत्रकार ज्ञानी जी से पूछ रहा था कि वे क्या पिएंगे, ह्विस्की या बियर। और वे आगे से हाथ जोड़कर कह रहे थे, "पी तो नहीं सकता, पर आपके साथ बैठ ज़रूर सकता हूं। हम खद्दर पहननेवाले आदमी जो हुए, भाई। हमारे ऊपर डिसिप्लिन है।"

रेगिस्तानों और नखलिस्तानों में कहीं-कहीं औद्योगिक बस्तियों के लक्षण दिखाई देने लगे थे। रेलें, सड़कें। जगह-जगह तम्बुओं की कतारें। एक जगह रेगिस्तान के चौड़े सीने पर लकीर-सी खिंची हुई थी। क्या यह सड़क थी, या कोई नहर? क्या हम सोवियत संघ में दाखिल हो चुके थे, या अभी अफ़गानिस्तान का इलाका ही चल रहा था? उस इलाके को देखकर बार-बार लद्दाख याद आ रहा था। किसीने बताया था कि लद्दाख भी गोबी रेगिस्तान का ही एक हिस्सा है। तो क्या यह इलाका गोबी रेगिस्तान कहलाता है? दिल में आया कि ज्ञानी जी से नक्शा मांगूं, पर वे केरल वालों से गप्पें मार रहे थे। गोपालन मेरे पास आ बैठे थे, और मेरे इन्कार करने के बावजूद उन्होंने बियर भरा हुआ गिलास मेरे हाथ में थमा दिया था। गोपालन ने आज तक कभी बर्फ़ नहीं देखी थी! क्षितिज पर बर्फ़ानी पहाड़ों को देखकर वे कैमरा ठीक कर रहे थे।

और फिर जहाज़ उन बर्फानी चोटियों पर जैसे तैरने लगा। कई चोटियां बिलकुल नज़दीक दिखाई दे रही थीं। जहाज़ कम से कम तीस हज़ार फुट की ऊंचाई पर था। दूर से अनुमान लगाया जा सकता था कि उन चोटियों में से कुछ एक की ऊंचाई बीस हज़ार फ़ुट तो होगी पर फिर भी वे कच्चे पहाड़ प्रतीत हो रहे थे, मानो रेत और मिट्टी के बड़े-बड़े ढेर हों। कई अधूरे और इस तरह तराशे हुए थे, जैसे किसीने तलवार से उनका एक हिस्सा काट डाला हो। चोटियों पर बर्फ़ की धूल-सी दिखाई देती थी, जैसे

केक पर शक्कर लगाई हुई हो। ठंडी हवाएं उत्तर की ओर से आती होंगी, जिधर कि हम जा रहे थे। इसीलिए पीछे मुड़कर देखने पर पहाड़ों के नंगे और टूटे हुए भाग दिखाई दे रहे थे। ज्ञानी जी ने मेरे पीछे आकर कहा, ''साहनी साहब, हवा दिखाई दे रही है?''

मैं समझ न सका कि वे क्या कह रहे हैं। तब उनके संकेत करने पर पीछे की ओर देखा। हवाई जहाज़ के जैट इंजनों में से निकलती हुई हवा बर्फ़ानी चोटियों पर दूधिया सफ़ेद बादल बनकर छाने लगी। इससे बाहर की ठंड का भी अनुमान होता था।

फिर एक वादी आई- सुन्दर, खुशहाल, बनी-संवरी हुई। अब तो हम ज़रूर सोवियत संघ में दाखिल हो चुके होंगे। ठीक उसी समय लाउडस्पीकर पर कैप्टन की आयाज़ सुनाई दी, ''वी आर पासिंग द सिटी आफ समरकंद आन आवर राइट।''

''समरकंद रूस में है?'' ज्ञानी जी ने पूछा।

''हां जी, समरकंद, गज़नी, बुखारा- ये सभी सोवियत यूनियन में ही तो हैं। लाल इन्क़लाब से पहले यह रूस के ज़ार की सल्तनत थी, जैसे हिन्दुस्तान ब्रिटिश शहंशाह की सल्तनत था। पर इन्कलाब के बाद रूसियों ने इन एशियाई मुस्लिम कौमों को अपने बराबर का दर्जा देकर ऊपर उठा लिया था। बाबर इसी देश का आदमी था। यहां के लोग उज़बेक कहलाते थे।''

''हां, ताशकंद। याद आया। यहां के कुछ लोग आए थे हमारे पंजाब में। बिलकुल हमारे जैसे लोग हैं यहां के। उन्होंने मुझे ताशकंद आने की दावत दी थी। आपका क्या खयाल है, हमें ताशकंद दिखाया जाएगा?''

''यह तो मास्को पहुंचने पर ही पता लगेगा।''

पर वह इलाका भी ज्यादा हरा-भरा नहीं था। उसी तरह रेगिस्तान में नखलिस्तान दिखाई दे रहे थे। पर जगह-जगह आदमी की मेहनत के निशान भी दिखाई दे रहे थे। यहां आदमी प्रकृति के सामने हारा हुआ और मोहताज नहीं, बल्कि विजयी और बलवान प्रतीत होता था। रेत पर अनेकों रेखाएं खिंची हुई थीं, जैसे कोई नक्शा हो। भला यहां का सोवियत इन्सान कैसा होगा? मैंने सोचा, 'क्या वह अपने पुराने संस्कारों से पूरी तरह छुटकारा पा चुका होगा?''

आज से पंद्रह सौ साल पहले इसी रास्ते से चीनी यात्री ह्यूनसांग हिन्दुस्तान गया था। उसने समरकंद के बारे में लिखा था :

''सुतृष्ण देश के उत्तर-पश्चिम की ओर आदमी एक विशाल मरुस्थल में प्रवेश करता है, जिसमें न पानी है, न हरियाली। केवल पहाड़ियों या मुर्दों के कंकालों को देख-देखकर आदमी अपना रास्ता ढूंढ़ता है। लगभग ५०० ली चलने पर सा-भाई-कान (समरकंद) आता है। चीन की ओर जाते हुए बौद्धभिक्षु, धर्मगुप्त ने यहां के आशी-ले-यी (आश्चर्य) मठ में निवास किया था।''

उस ज़माने में यह सारा इलाका बौद्ध था। समरकंद का नाम उन दिनों 'समागम' था, अर्थात वह स्थान जहां विभिन्न देशों के बौद्ध आपस में मिलते थे। इसी रास्ते से बौद्ध धर्म चीन और जापान गया था। फिर अरब की ओर से इस्लाम की छटा उठी और इधर से ही गुज़रती हुई, इन्सानी विचारधारा को अपनी लपेट में लेती हुई, हिन्दुस्तान के

कोने-कोने में फैल गई। और आज के युग में इसी समागम में एक नई क्रांतिकारी विचारधारा-साम्यवाद-बड़ी तेज़ी से न केवल एशिया, बल्कि पूरे संसार पर अपना प्रभाव डाल रही है। कितना दिलचस्प और रंगीन है मनुष्य का इतिहास।

धीरे-धीरे पहाड़ बिलकुल खत्म हो गए। रेगिस्तान में अब नखलिस्तान भी दिखाई नहीं दे रहे थे। वह समतल और सपाट किस्म का रेगिस्तान था। कहीं-कहीं उसकी विशालता को काटती हुई बड़ी-छोटी नीली झीलें दिखाई देती थीं। उनके किनारों पर सफ़ेद परत जमा हुआ था, जिससे शक होता था कि वे मीठे पानी के बजाय नमकीन पानी की झीलें हैं। उस रेगिस्तान में भी कहीं-कहीं रेखाएं दिखाई देती थीं। ध्यान से देखने पर कहीं दस-बारह तम्बुओं का समूह भी रेगिस्तान में धंसा हुआ जान पड़ता। पर झीलों के किनारों पर तो बिलकुल ही आबादी नहीं थी। इससे उनके नमकीन होने का अनुमान पक्का हो जाता था।

बाहर के नज़ारों की ओर से हटकर नज़र अन्दर के नज़ारों की ओर चली जाती। अपने काम में लीन होस्टैस बार-बार हमारे पास से गुज़रती हुई हर किसीका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती। वह अतीव सुन्दरी बेशक नहीं थी, पर काफ़ी सुन्दर कही जा सकती थी। लम्बा कद, सुडौल जिस्म, सांवला रंग। अगर कोई कसर थी तो सिर्फ़ यह कि शरीर के कुछ भागों की सुन्दरता अपनी सीमा को लांघ गई थी, जो कि शास्त्रों के अनुसार वर्जित है (अतिसर्वत्र वर्जयेत)। उदाहरणार्थ उसकी आंखें कवियों और चित्रकारों की परिभाषा पर इतनी ज़्यादा पूरी उतरती थीं कि निर्जीव-सी प्रतीत होती थीं। मानो हम उन्हें किसी चित्र में देख रहे हों। इसी तरह दांत इतने ज़्यादा सफ़ेद, समतल, और मोतियों जैसे थे कि उनके नकली होने का शक पड़ता था। बेचारी के लिए अपनी सुन्दरता ही दुश्मन बन बैठी थी। या क्या यह मेरी नज़र का कसूर था, जो जहाज़ के छैल-छबीले परसर पर होस्टैस के खास तौर पर मेहरबान होने को अच्छा नहीं समझ रही थी। थोड़ी-सी भी फ़ुर्सत मिलती तो दोनों एकान्त में खड़े होकर गप्पें मारने लग जाते। आखिर इसमें बुराई क्या थी? कुल चार घंटे का तो सफ़र था। यात्रियों को जितनी देखभाल और सेवा की ज़रूरत थी, उससे कहीं ज़्यादा वह कर रही थी। फिर भी वह परसर के पास जाकर खड़ी होती तो मेरे दिल में छुरियां चलने लगतीं। कैसा अजीब है इन्सान भी !

अगर कोई ह्यूनसांग से कहता कि जिस सफ़र में उसने तीन साल लगाए थे, कभी भविष्य में एक हसीन साकी के हाथ से शराब पीते और नई कुरसी पर आराम करते हुए तीन घंटों में खत्म हो जाया करेगा तो वह झट आंखें बन्द करके और दोनों हाथ जोड़कर जू ले (बुद्ध भगवान) के नाम पर जाप शुरू कर देता, क्योंकि ऐसा अलौकिक करिश्मा उनके अलावा और कोई नहीं कर सकता था। पर आज हम यह करिश्मा साधारण आदमियों के हाथों होता हुआ देख ही नहीं रहे थे, बल्कि उसकी ओर से ऐसे लापरवाह बने हुए थे, जैसे वह सुबह दातन करने जैसी साधारण घटना हो।

कितना इन्क़लाबी फर्क था। पर क्या सचमुच यह सफ़र ह्यूनसांग के चार मील प्रतिघंटा के सफ़र से ऊंचे दर्जे का सफर था? उस तीन साल की पद-यात्रा के दौरान में ह्यूनसांग ने ज्ञान और अनुभव का कितना बड़ा अनमोल खज़ाना जमा किया होगा, कैसे-कैसे

लोगों से मिला होगा, कितनी विचित्र चीज़ें देखी होंगी। फिर सफ़र में भी कितनी ज़बानों को वह सीख गया होगा। हिन्दुस्तान पहुंचने से पहले ही उसके बारे में कितनी जानकारी प्राप्त कर चुका होगा।

इसके उलट हमारी प्राप्ति क्या थी? मास्को उसी हालत में उतर जाएंगे जिस हालत में बम्बई से चढ़े थे। दो-तीन दिन तक ऐसे महसूस होता रहेगा कि पांव रूस की धरती पर हैं, पर दिमाग अभी तक हिन्दुस्तान में घूम रहा है। फिर जब मास्को किसी हद तक नज़र के फ़ोकस में आना शुरू होगा तो हमें लेनिनग्राद या किसी और शहर में पहुंचा दिया जाएगा। दिमाग़ की टंकी नये प्रभावों से, पेट्रोल-पम्प पर खड़ी कार की तरह, तेज़ी से भरने लगेगी। उसीके अनुसार हमारे शरीर को भी कई किस्म की खाने-पीने की चीज़ों से ठसाठस भरा जाएगा। फिर एक दिन उसी हालत में नियत तारीख पर हमें बम्बई पहुंचा दिया जाएगा। वहां हम अपने परिवारवालों और मित्रों को इस प्रकार खुमार-भरी नज़रों से देखेंगे जैसे कोई बेहोशी में से जाग रहा हो। तीन-चार दिन के बाद मन के तार फिर उन पुरानी परिस्थितियों के साज़ में जुड़ने शुरू हो जाएंगे, जिन्हें कि हम पीछे छोड़कर गए थे। यादों की टंकी जिस तेज़ी से भरी थी, उसी तेज़ी से खाली होनी शुरू हो जाएगी। जब उसमें कुछ ही बूंदें बाकी रह जाएंगी तो 'इसकस' या अन्य संस्थाएं रूस का आंखों-देखा हाल बताने के लिए हमें निमंत्रित करेंगी, और उन निमन्त्रणों को स्वीकार करना हमारा कर्तव्य बन जाएगा। हमें हार पहनाए जाएंगे। हम भाषण देंगे। यह दिखाने की कोशिश करेंगे कि हमने सोवियत संघ में सब कुछ बहुत ध्यान और निष्पक्षता से देखा है। पर श्रोताओं को लगेगा कि ये बातें वे पहले भी कई बार सुन चुके हैं।

रेगिस्तान लगातार चला जा रहा है। पर उसके ऊपर बादलों के छोटे-छोटे फूल इस प्रकार बिखरे हुए हैं, जैसे सैकड़ों तोपों ने एकबारगी कई गोले दाग़ दिए हों।

कुछ आगे जाने पर बादलों के वे फूल आपस में मिलकर एक ही बादल का रूप धारण करने लगे। कभी-कभी उन बादलों के सीने पर सूरज का प्रकाश छलक पड़ता था। बादलों को मुंह ऊपर उठाकर देखने के ज़माने तक ही कवियों के मन में उनकी रोमांटिक कल्पना जागती रही। पर जब आदमी ने बादलों के ऊपर उड़ना शुरू कर दिया तो उनके प्रति उसका रवैया ही बदल गया। अगर कालिदास उड़ सकता होता, तो शायद 'मेघदूत' की रचना कभी न करता।

दो मार्टीनी और बियर की दो छोटी बोतलों का नशा ज़्यादा नहीं हो सकता, पर फिर भी मेरे विचार किसी हद तक आवारा ज़रूर हो गए थे। बारह बज चुके थे। होस्टैस लंच ला रही थी। एक बार जब वह आ रही थी तो उसका चेहरा और वक्ष एक क्षण के लिए किसी अलौकिक प्रकाश से आलोकित हो उठा। पता नहीं कहां से आया था वह प्रकाश। चार चांद लगा गया था उसकी सुन्दरता को। जब वह ट्रे रखकर वापस जाने के लिए मुड़ी तो मैंने उसे सम्बोधित करते हुए मन में कहा, ''समाजवाद के युग में भी तुम्हारी वह सुन्दरता कायम रहेगी, पर यह बनावटी किस्म के नाज़-नखरे तुम्हें नहीं करने पड़ेंगे।' फिर अपने इस विचार पर खुद ही दाद भी दी। प्रारम्भिक दौर में प्रगतिशील लेखकों की रचनाओं में ऐसे ही विचार पाए जाते थे :

तेरे माथे पै यह आंचल बहुत ही खूब है लेकिन

तू इस आंचल से इक परचम बना लेती तो अच्छा था।

''क्यों बलराज जी, ये बादल हैं या धरती ही इस किस्म की है?'' आगे की सीट पर बैठ हुए ज्ञानी जी ने मुड़कर मुझसे पूछा।

''जहां तक मेरा ख्यात है, बादल ही हैं।''

''बहुत सघन हैं ससुरे कहीं के। सैकड़ों मीलों तक चले जा रहे हैं। तब तो यहां बहुत ठंड होगी। मास्को तक यही हालत रहेगी तो क्या नज़र आएगा नीचे।''

दातार बहुत देर से अकेले बैठे हुए थे। दो-चार बातें उनसे भी कर लेनी चाहिए, मैंने सोचा। नेता जो हूं। सो मैं उनकी सीट के पास जाकर खड़ा हो गया। वे 'अंजुलि' नामक एक मराठी पत्रिका पढ़ रहे थे। मुझे पत्रिका के देवनागरी अक्षरों को ध्यान से देखते हुए पाकर उन्होंने पूछा, ''डू यू नो मराठी?'' (आप मराठी जानते हैं?)

''लिटल बिट,'' (कुछ-कुछ) मैंने कहा।

''ह्वेयर आर वी नाऊ? कांट सी ए थिंग?'' (कहां हैं हम इस समय? नीचे कुछ भी नज़र आ रहा है?)

हम दोनों नीचे देखने लगे। अब बादलों में दरारें पड़ गई थीं। उनमें से पहाड़ी वादियां और चीड़ के जंगलों से घिरे हुए मकान साफ़ दिखाई दे रहे थे। कश्मीर के पहाड़ो जैसे हरे-भरे दृश्य। क्या पता हम कोहकाफ (काकेशस) के ऊपर से उड़ रहे हों, दातार ने कहा।

''ठंड बहुत होगी यहां,'' दातार ने कहा।

''आप काफी सारे गर्म कपड़े लाए हैं न?''

दातार हंसकर सिर को दायें-बायें हिलाने लगे, जिसका मतलब मराठी में 'हां' और पंजाबी में 'नहीं' हो सकता है।

''ओवरकोट लाए हैं या नहीं?'' मैंने पूछा।

''नहीं।''

''कोई बात नहीं। मैं भी नहीं लाया। एक-दूसरे के गिर्द बांहें डालकर चला करेंगे।''

पिछली सीट से बालदंडा युद्धम की आवाज़ आई, ''बस, दिल्ली की सर्दी जितनी ठंड होगी। कामरेड डांगे मास्को से अभी वापस गए हैं। कह रहे थे कि बहुत मामूली ठंड है।''

मैं वापस अपनी सीट पर आ गया। बादल का कालीन ऊपर ही ऊपर आ रहा था। सैकड़ों-हज़ारों मील लम्बा था वह बादल। एक इतने विशाल बादल की कभी कल्पना भी नहीं की थी। निकट जाने पर वह किसी सैलाब की तरह प्रतीत हो रहा था। अब उसमें की दरारें साफ़ दिखाई देने लगी थीं। जैसे किसी ने उसे धुन डाला था। अचानक मेरी खिड़की की ओर का जहाज़ का पंख ऊंचा हो गया। उसके बीच में से एक छोटा

पंख बाहर निकलकर सरकने लगा। वह जैसे किसी चीज़ को दबोच लेना चाहता था। ऊपर की ओर एक ग़रारी तेज़ी से घूम रही थी। कितना बड़ा और ज़रूरी काम कर रही थी छोटी-सी ग़रारी उस समय। बाहर पता नहीं कैसा मौसम था, पर अन्दर बैठे हुए हम पूरी तरह सुरक्षित थे। लेकिन वह ग़रारी किसी तरह भी सुरक्षित नहीं थी। फिर भी अपना काम किए जा रही थी। जिस तरह बाज़ शिकार पर झपटता है, जहाज़ बादलों में गोता लगा गया। हम धुंध में खो गए। पंख साफ़ तौर पर दिखाई देने से हट गए। उस धुंध में कहीं-कहीं धूप चमक उठती थी। काफी समय उस धुंध में गुज़र गया। पता नहीं, नीचे क्या था। पायलट को हवाई अड्डा दिखाई देगा या नहीं। अभी तो वह अपने कल-पुर्ज़ों के सहारे ही नीचे उतर रहा था एक ऐसे दैत्य की बागडोर हाथों में लिए हुए, जो छोटी-सी गलती को भी माफ़ नहीं कर सकता। शाबाश है उनकी बहादुरी को! (लेकिन उनकी बहादुरी को नहीं, जो निर्दोष लोगों पर बम गिराते हैं।)

लाउडस्पीकर पर होस्टैस की आवाज़ सुनाई दी। वह हमें पेटियां बांधने के लिए कह रही थी।....

मास्को में स्वागत

हवाई जहाज़ की सीढ़ी से नीचे उतरते हुए लीडरी के अहसास ने मेरी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की खुशियां मुझसे अचानक छीन लीं। स्वागत के लिए आए हुए लोगों के समूह में कैमरे जगमगा रहे थे। मैंने शरीर को झटपट सिर से लेकर पांव तक चुस्त हो जाने का हुक्म दिया, जैसे स्टूडियो में 'शाट' शुरू होने से पहले किया जाता है। आंखों में चमक ले आया। यह भी सोच लिया कि हाथ मिलाने के बाद मेज़बानों से पूछूंगा, "तापमान शून्य से नीचे है, तो बर्फ़ क्यों नहीं गिर रही?" इस तरह बातचीत शुरू हो जाएगी तो स्वाभाविक किस्म के फ़ोटो खींचे जाएंगे। लीडरी और एक्टिंग एक-दूसरे के बहुत निकट आ रहे थे।

रूसी मेज़बानों में से दो-तीन व्यक्ति मेरे परिचित थे। प्रो० दियकाफ, जो हिन्दुस्तान की अर्थ-व्यवस्था, इतिहास और राजनीति के विशेषज्ञ माने जाते हैं। वे कई बार हिन्दुस्तान आ चुके हैं। उम्र सत्तर के लगभग होगी। इतनी दूर, इतनी सर्दी में वे हमारा स्वागत करने के लिए आए थे, इस बात का हम सब पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। दूसरे एक नवयुवक सज्जन थे- याकूनिन। गत वर्ष तक दिल्ली में सोवियत दूतावास के सांस्कृतिक विभाग में उच्चाधिकारी थे। बम्बई, मदुरा और अन्य एक-दो शहरों में 'इसकस' के समागमों में हम एक ही मंच से भाषण दे चुके थे। वे हिन्दू-उर्दू इतनी अच्छी बोलते थे कि सुननेवाला हैरान रह जाता था। बहुत ही नम्र, मिलनसार और अपनत्व भरा स्वभाव था उनका। हमेशा इस तपाक से मिलते जैसे अपने दिल में मेरे लिए खास जगह बना रखी हो। आज उन्हें देखकर मेरा भी दिल बाग-बाग हो उठा, जो बिना सोचे-समझे आगे बढ़कर उन्हें अपनी बांहों में भर लिया। लेकिन उनकी ओर से वैसे ही चाव के अभाव ने मेरे पैरों के नीचे से जैसे ज़मीन निकाल दी। होठों पर छोटी-सी, फीकी, और रसमी किस्म की मुसकराहट लाकर उन्होंने खुद को मुझसे अलग कर लिया। तभी मुझे पता चला कि वे असल में केरली पत्रकारों का स्वागत करने के लिए वहां आए थे। अपनी ग़लती पर मुझे बड़ी शर्म आई, लेकिन साथ ही यह भी लगा कि यह बहुत अनोखी बात नहीं हुई थी। पहले भी कई बार ऐसा हो चुका था। हिन्दुस्तान में आने पर रूसी लोग बहुत गहरी दोस्तियां बनाते हैं, आपके साथ इस तरह उठते-बैठते, खाते-पीते हैं, कि आपके ही हो जाते हैं। लेकिन जब कभी हम रूस जाते हैं तो पहले तो उनका पता ही नहीं लगता कि वे कहां है और अगर पता लग भी जाए तो सिलसिला रसमी किस्म की मुलाकात से आगे नहीं बढ़ता। पता नहीं ऐसा क्यों होता है। मेरे खयाल में हर एक सोवियत कर्मचारी अपनी हुकूमत की ओर से विशेष अनुशासन का पालन करता है, जिसके अनुसार विदेशों में जाकर थोड़े से थोड़े समय में ज़्यादा से ज़्यादा दोस्तियों के ताने-बाने बुनना, और वापस अपने देश में आकर उसी तेज़ी से उन तानों-बानों को काट डालना उसके लिए ज़रूरी होता है।

इसमें मैं कोई बुराई नहीं समझता। हर देश को आत्मरक्षा का पूर्ण अधिकार है। संसार जानता है कि पूंजीपति देशों की ओर से सोवियत संघ को नुकसान पहुंचाने की

आए दिन साज़िशें होती रहती हैं। उनसे हमेशा चौकन्ने रहने में भला क्या बुराई है? फिर एक और बात की ओर ध्यान देना भी ज़रूरी है। सोवियत समाजवादी व्यवस्था हर व्यक्ति को निजी स्वार्थ से ऊपर उठकर समूह के हितों के लिए कर्मशील होने की शिक्षा देती है। यह आसान रास्ता नहीं है। इसपर चलते हुए कई व्यक्तियों को मजबूर भी होना पड़ता होगा। इसके उलट, पूंजीवादी व्यवस्था का मूल आधार ही व्यक्तिगत स्वार्थ है। समूह के हितों को कुचलकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना पूंजीवादी समाज का नियम है। सोवियत व्यवस्था में दूसरों के स्वार्थ की खातिर काम करनेवाले व्यक्ति को सम्मान दिया जाता है, लेकिन पूंजीवादी व्यवस्था में उसे मूर्ख समझा जाता है। मतलब यह कि दोनों समाज-व्यवस्थाएं विपरीत दिशाओं में चलती हैं। इसलिए जितना डर समाजवादी देशों से आनेवाले लोगों से पूंजीवादी देशों को लगता है, उससे कहीं ज़्यादा डर पूंजीवादी देशों से आनेवाले लोगों से समाजवादी देशों को लगता है। उनकी नज़र में वे पूंजीवादी समाज के रोगों के कीटाणु लेकर आते हैं, जिनसे जितना ही परहेज़ किया जाए, उतना ही अच्छा है। रूस में मेहमानों की लाजवाब आवभगत की जाती है, लेकिन होटलों और संस्थाओं में। रूसी लोग मेहमानों को अपने घरों में बहुत कम बुलाते हैं।

लेकिन यह सब जानते और स्वीकार करते हुए भी जब कोई दोस्त मुंह फेरकर पराया-सा बन जाता है तो दुःख होता है। हमें बहुत सुन्दर गुलदस्ते दिए गए, बड़े आदर से हवाई अडडे की आलीशान इमारत में प्रवेश कराया गया, लेकिन मेरा मज़ा खराब हो चुका था। शायद याकूनिन ने भी यह बात महसूस की थी। कुछ आगे बढ़ने पर उन्होंने नर्मी से मेरी बांह पकड़कर कहा, "परीक्षित आया हुआ है आपको मिलने के लिए। अन्दर पहुंचकर देख सकेंगे उसे।"

सुनकर बहुत खुशी हुई। याकूनिन ने खुद ही मुझे निराश किया था, और खुद ही मेरी निराशा दूर भी कर दी। मैं उनका आभारी था।

मुझे और डा० दातार को बिना ओवरकोट के देखकर हमारे मेज़बान बड़ी चिन्ता में पड़ गए, और जितनी जल्दी हो सका, हमें खींचकर इमारत के अन्दर ले गए, जिसे कि अन्दर से गर्म किया हुआ था। वे बार-बार कह रहे थे, "ओह, आप बिना ओवरकोट के आ गए। सबसे पहले तो हमें ओवरकोटों का प्रबन्ध करना होगा।"

परीक्षित भी मुझे बिना ओवरकोट के देखकर अपनी हंसी नहीं रोक सका। फिर जब मुझसे मिला तो उसने मेरे कान में कहा, "रूसियों से ओवरकोट बिलकुल न लेना, डैडी। ये आपको नये बनवाकर देंगे, और इस प्रकार अपने देश को नीचा देखना पड़ेगा।"

"तुम फ़िक्र न करो, हमें ओवरकोटों की ज़रूरत ही नहीं है। हम बिलकुल फ़र्स्ट क्लास इन्तज़ाम करके आए हैं। इन्हें क्या पता, हमने कपड़ों के नीचे क्या-क्या पहना हुआ है।"

"इन्हें सब पता है, डैडी। इन्होंने खुद भी तो नीचे वही कुछ पहना हुआ है। मैं कल सुबह आपके होटल में ओवरकोट ले आऊंगा। बस, आप इनसे ओवरकोट लेने के लिए हां न करना।"

"वह तो बिलकुल नहीं करूंगा। तुम बेफ़िक्र रहो।"

"ठीक है।"

"बात सुनो,यार,"मैंने अपना मुंह उसके कान के पास ले जाकर कहा, "पिछले साल जब मैं यहां आया था तो मेरे मना करने पर भी तुमने मुझे नाम लेकर बुलाना शुरू कर दिया था। और अब यहां जबकि मैं जवान दिखाई देने के लिए इतनी कोशिशें कर रहा हूं तो तुम यह 'डैडी, डैडी' क्या कहे जा रहे हो?"

"यही तो बात है। इसीलिए तो कह रहा हूं।"

और हम बेतहाशा हंसने लगे। प्रोफ़ेसर सिआकाफ के लिए सचमुच विश्वास करना कठिन हो रहा था कि परीक्षित मेरा बेटा है– खास कर जबकि उसने चेहरे पर दाढ़ी बढ़ाई हुई थी। उन्हें क्या पता कि अभिनेताओं के पास कम उम्र के दिखाई देने के क्या-क्या तरीके होते हैं।

सामान आ जाने पर मेजबानों ने हमें मोटरों में बैठाया। आरामान में बादल किसी शेर की खाल के समान भूरे दिखाई दे रहे थे, जिससे हर चीज़ किसी हद तक अप्राकृतिक और भयानक-सी लग रही थी। उस हालत में हाथों में पकड़े हुए रंग-बिरंगे फूलों के गुलदस्तों का आंखों को वहुत सुख मिल रहा था। डा० दातार, परीक्षित और मैं एक मोटर में सवार हुए। अगली सीट पर एक रूसी नौजवान आकर बैठा, जिसका नाम परिचय कराते समय मुझे बहुत आसान-सा लग रहा था, पर अब भूल गया था। बर्च (सफ़ेदे) के जंगलों और मैदानी इलाके में से गुज़रती हुई चौड़ी, समतल सड़क पर मोटर जैसे हवा से बातें करने लगी।

रूसी धरती को पहली बार देखने के चाव में सीट पर तनकर बैठे हुए डा० दातार की नज़र एक बार कार के स्पीड-मीटर की ओर गई। सूई ८० का बिन्दू पार करके ९० की ओर बढ़ रही थी। डा० दातार को नहीं पता था कि वह मील की बजाय किलोमीटर दिखा रही थी। उन्हें तो यह भी नहीं पता था कि यहां मोटरें हिन्दुस्तान की तरह बायें हाथ नहीं, बल्कि दायें हाथ चलती हैं। सो वे डर रहे थे कि सामने के आनेवाली मोटरों से कहीं हमारी मोटर टकरा न जाए। उनके चेहरे का रंग उड़ने लगा, और उन्होंने मेरा हाथ ज़ोर से पकड़ लिया।

दस-बारह मील का फ़ासला तै करके हम मास्को शहर के नये उपनगर में दाखिल हुए, जिनका निर्माण इतनी तेज़ी से हो रहा है कि उसकी खबरों ने संसार को आश्चर्यचकित किया हुआ है। पिछले दस सालों में मैं जब भी मास्को आया, हर बार शहर का हुलिया न पहचान सकने की हद तक बदला हुआ पाया। यह आश्चर्यचकित करने वाली बात तो है ही जबकि सात-सात, आठ-आठ मंज़िली इमारतें, जिनमें तीन-तीन सौ परिवार रहते हैं, यहां तीन-तीन महीनों के अन्दर खड़ी कर दी जाती हैं।

पर एक बात माननी पड़ेगी कि ये पहाड़ जैसी इमारतें देखने में बहुत सुन्दर नहीं है। ये स्तालिन-विरोधी और ख्रुश्चेववादी युग के उस प्रारम्भिक दौर में बननी शुरू हुई थीं, जब नई इन्कलाबी विचारधारा ने उपयोगिता को सुन्दरता का मुख्य लक्षण मान लिया था।

कुछ एक इमारतों पर लाल झंडे लहरा रहे थे और मार्क्स, एंजेल्स, लेनिन, कोसीगिन, ब्रेज़नेव आदि नेताओं के चित्र लगे हुए थे।

डा० दातार ने परीक्षित से पूछा, "क्या ये सरकारी दफ्तरों की इमारतें हैं?"

''नहीं, रिहायशी मकान हैं।''

मैं मन ही मन हंस दिया। नये आगन्तुक की प्रतिक्रियाएं बहुत सही और बहुमूल्य होती हैं। सचमुच ये इमारतें रिहायशी मकानों की बजाय दफ्तर प्रतीत हो रही थीं।

परीक्षित डा० दातार को बता रहा था कि रूसी इन्कलाब की ४७वीं सालगिरह मनाई जानेवाली है,जिसकी खुशी में इमारतों की सजावट की जा रही है। मुझे भी याद आया कि लाल चौक में परेड देखने का लालच भी एक खास कारण था, कि मैं इस प्रतिनिधि-मंडल में शामिल हो गया था।

मैं बार-बार डा० दातार के चेहरे पर मास्को-सम्बन्धी उनकी प्रथम प्रतिक्रियाएं जानने की कोशिश कर रहा था। उन्हीं के दृष्टिकोण से लोगों की आवाजाई को देख रहा था। उन लोगों की वेशभूषा में पश्चिमी यूरोपवाला बांकपन अभी तक नहीं आया था। हृष्ट-पुष्ट शरीरवाली मज़दूर स्त्रियां हाथों में लम्बे-लम्बे ब्रश पकड़े हुए सड़क की सफ़ाई कर रही थीं। बहुत साधारण-सी वर्दियां थीं उनकी, लेकिन किसी के भी शरीर पर ज़रूरत से कम कपड़े नहीं थे। सभी सर्दी से पूर्ण रूप से सुरक्षित थीं।

पश्चिमी देशों के आलोचक मास्को में तड़क-भड़क की 'कमी' का ज़िक्र करते हुए वहां की निन्दा करते हैं। पर जो व्यक्ति विलासिता की बजाय 'कामकरो और बांटकर खाओ' को अपने जीवन का आदर्श मानता हो, उसे मास्को के सामूहिक जीवन में बहुलता और सुन्दरता के दर्शन होंगे। उदाहरणार्थ पूंजीवादी देशों में जहां कपड़े का काम सिर्फ़ तन ढकना नहीं, बल्कि वर्गीय उच्चता का प्रदर्शन करना भी है, वहां अनेकों लोग भूखे रहकर भी लिबास पर ज़ोर देते हैं। लेकिन वर्गहीन समाज में ऐसे प्रदर्शन की जरूरत नहीं है। वहां आदमी की कद्र न लिबास के आधार पर होती है, न धन-दौलत के आधार पर। बल्कि वहां लिबास का अनावश्यक प्रदर्शन आदमी को दूसरों की नज़रों में गिराता ही है।

हमारी मोटर तीस मंज़िले 'यूकराइना'होटल के सामने जाकर रूकी। हम उसके दोहरे सिंहद्वारों में से गुज़रकर अन्दर दाखिल हुए और वहां की गर्म हवा का दामन पकड़ा। 'जान बची और लाखों पाए' वाली बात हुई। मेरे कान अकड़े हुए थे और रीढ़ की हड्डी में हल्का-सा दर्द हो रहा था।

होटल में दाखिल होने पर, दायें हाथ, कुछ कर्मचारी हमारे ओवरकोट लेने के लिए खड़े थे, जैसे कि गुरुद्वारों के बाहर जूते रखने के लिए 'सेवादार'खड़े होते हैं। पर उनका लाभ उठाने के लिए हममें से सिर्फ़ ज्ञानी जी और गोपालन को ही मौका मिला, क्योंकि उन्हीं दोनों ने ओवरकोट पहने हुए थे। जब वे काउंटर पर अपने ओवरकोट दे रहे थे तो पता नहीं कैसे, ज्ञानी जी का वापसी हवाई टिकिट गोपालन के ओवरकोट की जेब में चला गया और गोपालन के दस्ताने ज्ञानी जी के ओवरकोट की जेब में।

काफ़ी देर तक हम चारों ओर की चहल-पहल देखते रहे। संसार के प्रत्येक भाग के लोग नज़र आ रहे थे। यूरोपीय, जापानी, बर्मी, अफ्रीकी, अमरीकी, चीनी। दुभाषिये नवयुवक ने आते ही बताया था-- सात नवम्बर के जशन में शामिल होने के लिए बाहर से इतने अधिक यात्री आए हुए थे कि होटलों में जगह मिलनी मुश्किल हो गई थी। बात ठीक ही लगती थी। पर वातावरण में जशनवाली रंगीनी नहीं थी। बोझल और गम्भीर- सा वातावरण था। स्त्री-पुरुषों के चेहरों पर एक प्रकार का तनाव था। क्या

कारण था इसका? अगर कोई पूंजीवादी देश का प्रचारक वहां बैठा होता तो झट बोल उठता,'इस तनाव का कारण यह है कि यहां बोलने की आजादी नहीं है। यहां सहम छाया हुआ है।' और राजनैतिक समझ-बूझ न रखनेवाला व्यक्ति इसे मान भी लेता। लेकिन इतना तो मैं भी समझता था कि ये विदेशी अतिथि अक्तूबर- इन्कलाब की साल-गिरह को सिर्फ तमाशा समझकर देखने नहीं आए थे। उन्हें कोई विश्वास वहां लाया था, कोई आदर्श वहां लाया था। हो सकता है कि ये लोग अपने- अपने देश की कम्यूनिस्ट पार्टियों के मेम्बर हों। या हो सकता है कि उन्हें मित्र- देशों ने प्रतिनिधि बनाकर भेजा हो। उनकी गम्भीरता का कारण चलने-फिरने या बोलने की आज़ादी का अभाव नहीं, बल्कि उनका अपना गम्भीर व्यक्तित्व है। उनमें से कई शायद ऐसे देशों से आए हों,जहां हुकूमत समाजवादी विचारों को कुचलने के लिए अपने हर किस्म के हथियारों का प्रयोग करती है। पता नहीं कैसी-कैसी कठिनाइयां झेलकर और गुप्त तरीकों से ये मास्को आने में सफल हुए हैं, जो कि इनके लिए किसी तीर्थ के समान है, और वापस कैसे जाएंगे? ऐसी स्थिति में अगर उनके चेहरों पर तनाव हैं तो इसमें हैरानी की बात नहीं हैं।

किसी ज़माने में हिन्दुस्तान पर हुकूमत करनेवाले अंग्रेजों को शिकायत होती थी कि कांग्रेसियों के चेहरे सख्त और तने हुए रहते हैं। मुझे भी वे चेहरे याद हैं– अज़ादी के लिए संधर्ष कर रहे कांग्रेसियों, सोशलिस्टों, कम्यूनिस्टों और आतंकवादियों के चेहरे। बिलकुल इसी तरह के चेहरे थे वे। गम्भीर, और आदर्शों के लिए मर-मिटने की कसम खाए हुए चेहरे। आज हमारा देश आज़ाद है। आज हुकूमत या लीडरी की कुर्सियों के लिए लड़ने-झगड़नेवाले देशभक्तों के चेहरों पर उन दिनोंवाली गम्भीरता देखने में नहीं आती। आज वे दूधिया सफ़ेद गांधी टोपियां पहने हुए कैमरों के सामने खड़े होकर हंस-हंसकर फ़ोटो खिंचवाते, लेकिन उनकी उस बनावटी खुशी को देखकर किसी का मन खिलता नहीं है।

विचारों ने दूसरी आर पलटा खाया। ज्यादा श्रद्धा दिखाने की जरूरत नहीं है। लोगों की शक्लों और लिबासों से इन्कलाबी महानता का अनुमान लगाना हद दर्जे की भावुकता है, जिसके हम हिन्दुस्तानी पुराने मरीज़ हैं। हमें पूजा करने के लिए हर समय कोई न कोई इष्टदेव चाहिए। क्या यहां स्तालिन ने व्यक्तिगत और शहरी आज़ादी का खून नहीं किया था? निर्दोषों को जेलों में नहीं डाला था ? क्या पता आज भी अन्दर क्या कुछ हो रहा है। कुछ दिनों के लिए बाहर से आनेवाले व्यक्ति को अन्दरूनी हालत का क्या पता लग सकता है? क्या पता यहां सरकारी दफ्तरों में कितनी तानाशाही, रिश्वतखोरी और सिफ़ारिश चलती है। चीन भी तो समाजवादी देश कहलाता है। उसने हमारे साथ कैसा सलूक किया? क्या बदला चुकाया उसने पं० नेहरू की अच्छाइयों का? किस तरह गले फाड़-फाड़कर 'चीनी- हिन्दी भाई-भाई' कहते थे।...... जिस तरह व्यक्तियों में, उसी तरह देशों में भी अच्छाइयां- बुराइयां दोनों होती हैं, और उनका सही जायज़ा लेने के लिए भावुक होने के बजाय निष्पक्ष होकर गहरा अध्ययन करने की जरूरत होती है। ऐसे गम्भीर अध्ययन की हमें आदत नहीं है, इसलिए बार-बार धोखा खा जाते हैं। आज जिसे आसमान पर चढ़ाते हैं, कल उसी को ज़मीन पर पटक देते हैं।

यही कमज़ोरी किसी हद तक रूसी-स्वभाव में भी प्रतीत होती है।

ज्ञानी जी ने जम्हाई लेते हुए कहा,"इन्तज़ाम तो यहां भी अपने देश जैसा ही है। अभी तक होटल की डयोढ़ी में ही बैठे हुए हैं।

"कोई बात नहां,"मैंने कहा,"हवाई अडडे पर इनके कस्टमवालों ने हमसे सामान नहीं खुलवाया, वरना वहीं देर लग जाती।"

"हां, यह तो है ।"

आपको नहीं पता जी," परीक्षित ने गम्भीर चेहरा बनाकर कहा, "इनके पास ऐसी-ऐसी मशीनें हैं जो सूटकेस को बिना खोले ही उसके अन्दर का सब कुछ देख लेती हैं।"

"सचमुच?" डा० दातार ने फिर अपनी सीट पर तनकर बैठते हुए कहा, और आनक में से बारी-बारी से सबकी ओर देखा। चमके ज्ञानी जी भी किसी हद तक, पर परीक्षित के चेहरे की ओर देखकर भांप गए कि उसने गप्प मारी है ।" तभी उन्होंने डा० दातार की बांह पकड़कर कहा, 'डाक्टर साहब फिक्र तो इस बात का होना चाहिए कि कहीं हमारा खुद का एक्स-रे न ले लिया गया हो।'

उसी समय दुभाषिया कमरों का प्रबन्ध करके आया, और कहने लगा, " आइए जी, मियरे साथ आइए।"

उसका लहजा हिन्दुस्तानी बोलते समय किसी कश्मीरी जैसा बन जाता था। उसका चेहरा भी कश्मीरियों जैसा लगता था। वास्तव में यह रूसी यहूदी था।

ज्ञानी जी ने कहा, "अरे, आप इनती अच्छी हिन्दी बोलते हैं।" फिर मेरी ओर मुड़कर बोले, "बलराज जी, ऐसे गुणी आदमी से आपने अभी तक हमारा तुआरफ भी नहीं कराया।"

मैं चुप बना खड़ा रहा। कार में मुझे उसका नाम पूरी तरह याद था। लेकिन अब भूल चुका था।

"बलराज जी क्या तुआरफ कराइएंगे जी, वे तो खुद भूल जाते हैं। इनको मैं यहां मास्को में इनके छोटे भाई के साथ भी कितनी बार मिल चुका हूं। जब यह पाकिस्तान में थे तो वहां भी एक दावत में मैं इनसे मिला था। पर यह तो मुझे भूल ही गए हैं।"

मैं मूर्खों की तरह मुंह खोले खड़ा रहा।

"तो फिर आप खुद ही अपना तुआरफ करा दीजिए," ज्ञानी जी ने कहा, "हमको तो ऐसा मालूम हो रहा है, जैसे अपने मुलक का एक और साथी हमें मिल गया है।"

"मुझे ग्लोबेफ कहते हैं जी।"

"जी ? ग्लो...ग्लोबे...?"

"देखिए जी, हमारी रूसी ज़वान में ग्लोबेफ कबूतर को कहते हैं। जब भी आपको मेरा नाम याद न आए, आप मुझे कबूतर बुला लिया कीजिए।"

हाथ पकड़ने का मौका मिलते ही बांह खींच लेने की जाट लोगों की खूबी से वह शायद परिचित नहीं था। उस समय से लेकर रिस से विदा होने तक ज्ञानी जी उसे कबूतर भैया कहकर ही बुलाते रहे।

पहली व्यस्तता

मन की किसी निचली तह में छिपी हुई बेचैनी ने एकाएक झकझोरकर उठा दिया। बिस्तर की भरपूर स्निग्धता में से हाथ बाहर निकालकर मैंने घड़ी देखी। उफ़! चार बजे तो 'दोस्ती-भवन' में जाना था- इसकस की ओर से शुभ इच्छाएं भेंट करने के लिए।

बाहर तेज़ हवा के चलने की आवाज़ आ रही थी। बड़े-बड़े शीशोंवाली खिड़की में से आसमान अभी भी भूरे रंग का दिखाई दे रहा था। पता नहीं उस समय तापमान कितना हो। शून्य डिग्री से कितना नीचे? पर कमरे के अन्दर मैं सिर्फ़ एक कम्बल में ही इतनी गर्मी महसूस कर रहा था कि पसीना आ रहा था। लेकिन घुटनों में अभी तक वह सर्दी महसूस हो रही थी जो हवाई अडडे से आते समय महसूस की थी। फ़ोन की घंटी बजी। बिस्तर में से निकलकर मेज़ के पास जाना पड़ा।

"हैलो।"

"हैलो, बलराज जी। दिस इज़ गोपालन।"

"हां, गोपालन, क्या बात है?"

"ज्ञानी जी का हवाई-टिकिट ग़लती में कहीं आपके पास तो नहीं चला गया?"

"मेर पास किस तरह आ सकता था? मैंने तो देखा भी नहीं।"

"पता नहीं, कहां खो गया है। हम तीनों में से किसी ने आराम किया ही नहीं है। दुभाषिये बेचारे की बुरी हालत बनी हुई है। उसने पहले हवाई अड्डे पर फोन किया, वहां से कुछ पता नहीं लगा। फिर पता नहीं, बेचारा कहां-कहां भटककर अब वापस आया है।"

"पर इतना परेशान होने की ज़रूरत ही क्या है? न भी मिले तो डुप्लीकेट टिकिट बनवाया जा सकता है।"

"खैर, आप आ रहे हैं न नीचे ?"

"बीस मिनिट में।"

"ठीक चार बजे लिफ्ट़ के पास मिल जाएंगे। तीनों के कमरे साथ-साथ हैं। यह बहुत अच्छी बात है।"

'लो, झंझट शुरू हो गए,' मैंने सोचा, किसीका टिकिट खो गया, किसीका पासपोर्ट खो गया। और सबसे बड़ा सिरदर्द है, सबका नियत समय पर तैयार होकर चलना, पता नहीं, ज्ञानी जी वक्त के किस हद तक पाबन्द हैं। दो बार पंजाब सरकार के मंत्री रह चुके हैं। वक्त का पाबन्द होना तो हमारे मंत्री अपने लिए अपमान की बात समझते हैं। आते ही टिकिट का खो जाना, और दुभाषिये का उसे ढूंढ़ने के लिए दो घंटे भटकना- बिस्मिल्ला ही ग़लत होने वाली बात है।'

लम्बे बरामदों में से गुज़रता हुआ मैं अन्दाज़ से लिफ्ट तक पहुंच ही गया। सात सालों के बाद इस होटल में दोबारा आकर ठहरा था। किस तरह पंख लगाकर उड़ गए

थे सात साल। लिफ्टवाली चौकोर डयोढ़ी में एक मोटी-ताज़ी स्त्री, जो वहां की व्यवस्थापिका थी, मेज़ के सामने बैठी हुई थी। एक और स्त्री आपके पास खड़ी गप्पें मार रही थी। शायद लिफ्ट की प्रतीक्षा में खड़ी थी। मैंने नीचे आने का बटन तो दबा दिया, पर उसके बाद क्या होगा, या मुझे क्या करना है, यह मुझे भूल गया था। कुछ देर के बाद फिर बटन दबाया। दोनों स्त्रियों ने मुड़कर मेरी ओर देखा, और रूसी में कुछ कहने लगीं, जिसका अर्थ मैं पुराने अनुभव से झट समझ गया। वे कह रही थीं, जल्दबाज़ी क्यों? आ जाएगी लिफ्ट।'' मैंने उस दूसरी स्त्री को पहचान लिया, जो कि वहां खड़ी थी। पिछली बार वह लिफ्ट चलाया करती थी। शायद अब भी यही काम करती हो, और इस समय डयूटी पूरी करके घर जा रही हो। उसने भी जैसे कुछ याद करते हुए मेरी ओर देखा, लेकिन पहचान नहीं सकी। कितना बदल गया था उसका चेहरा इन पिछले सात सालों में। उन दिनों एकदम जवान दिखाई देती थी और बहुत चुस्त। अब जवानी ढलनी शुरू हो गई थी। उसके आगे के दांतों में लगी हुई सोने की रेखाएं कभी उसके तीखे नक्शों की सुन्दरता में विशेषता पैदा करती थी, लेकिन अब वह उसे कुरूप बना रही थी।

आहट हुई। लिफ्ट के ऊपर सुर्ख रोशनी जल उठी, जिसका मतलब था कि लिफ्ट आ गई है। अभी दरवाज़ा खुल जाएगा। स्त्री मेरे पास आकर खड़ी हो गई। उसने मुझे पहचाना नहीं था, फिर भी अपनत्व का अहसास दिला रही थी। तब लगा, जैसे होटल पराई जगह नहीं है। 'मैं भी तो बदल गया हूंगा इन सात सालों में,' मैंने सोचा।...

मेरे साथी पहले से नीचे पहुंचे हुए थे। टिकिट खोने, या पहली बार विदेश आने और अपने चारों ओर इतनी बड़ी संख्या में गोरी युवतियों को देखने के कारण वे ऐसे लग रहे थे, जैसे मेले में खोया हुआ बच्चा लगता है। ज्ञानी जी का 'कबूतर भैया' उनसे भी ज़्यादा परेशान दिखाई दिया। मुझे देखते ही उसने रिपोर्ट देनी शुरू की कि टिकिट के लिए वह क्या कुछ कर चुका है। मेरे साथियों की बेचैनी ने उसने मन में भी बेचैनी पैदा कर दी थी। मैंने ज्ञानी जी को विश्वास दिलाया कि टिकिट किसी हालत में खो नहीं सकता। ज़रूर मिल जाएगा। और मेरी यह बात सच होने में ज़्यादा देर भी नहीं लगी। काउण्टर पर जाकर अपने-अपने ओवरकोट लेते ही गोपालन को ज्ञानी जी का टिकिट मिल गया, और ज्ञानी जी को गोपालन के दस्ताने मिल गए। फिर क्या था? उनके उदास चेहरों पर खुशी की लहर दौड़ गई। पर ग्लोबेफ उनकी उस खुशी में शामिल न हो सका।

'दोस्ती-भवन' यूकराइना होटल से ज़्यादा दूर नहीं था। मोटरों में बैठकर कुल पंद्रह मिनिट में ही हम उस सफेद, प्राचीन यूनानी शैली की इमारत के सामने पहुंच गए। ख्याल आया कि सूट पहनकर आना चाहिए था। लेकिन ओवरकोट न होने के कारण खुद निमोनिया को छाती से लगानेवाली बात होती वह। जिनके पास ओवरकोट थे, उन्हें टिकिट खोने की बेचैनी के कारण कपड़े बदलने की फ़ुर्सत नहीं मिली थी। इस बार फिर बिस्मिल्ला गलत हो गई। लेकिन अब क्या हो सकता था?

अन्दर पहुंचकर फिर उन्हीं सज्जनों से हाथ मिलाए, जिन्हें हवाई-अडडे पर मिले थे। उन सबके नाम बार-बार दोहराकर याद किए थे। अब फिर भूल चुके थे।

इसके अलावा, शिष्टाचार से अनजान होने के कारण, मुझे ठीक-ठीक पता नहीं था कि क्या करना है, और क्या बोलना है। किसी ने बताया भी नहीं था। मेज़बानों के पास लम्बे बरामदे में से गुज़रते हुए हम एक बहुत बड़े कमरे में दाखिल हुए। वह कमरा काफी ठण्डा भी था। दिल वोदका (Vodka) के लिए तरसने लगा। लेकिन सामने मेज़ों पर सिर्फ सोडे की बोतलें पड़ी थीं। साथ में चाय आदि के बर्तन थे। शुभ इच्छाएं भेंट करने के लिए मैंने अपने अन्दर जो जोश पैदा किया हुआ था, वह ठण्डा होने लगा। मुझे लगा, मैं जैसे सर्दी से बोल ही नहीं पाऊंगा।

सोफे पर बैठते ही मैंने महसूस किया जैसे कोई बर्फ़ का टुकड़ा मुझे छू गया हो। शायद पहले मुझे बोलना चाहिए था। लेकिन मैं चुप था, और वह चुप लम्बी होती गई। ज्ञानी जी एकाएक मेरी ओर देख रहे थे। इसके पहले कि मैं उनके चेहरे का भाव समझ सकता, मौका हाथ से निकल चुका था। सोवियत-विदेश मित्रता संघ के उपप्रधान पैनकाफ़ अपना भाषण शुरू कर चुके थे, और गोलुव्येव उसका अनुवाद करता जा रहा था।

विदेशों से मित्रता स्थापित करने और सांस्कृतिक लेन-देन का काम यही संस्था करती है। यह काम वह कैसे करती है, इस बारे में पैनकाफ़ ने बहुत रोचक और अमूल्य जानकारी दी, जो हमारे लिए भी लाभदायक सिद्ध हो सकती हैं, क्योंकि आज़ादी के बाद हमारे महान नेता पं० नेहरू ने हिन्दुस्तान को भी शान्ति और मित्रता के रास्ते पर चलाया है।

पैनकाफ़ ने बताया कि उनकी संस्था के अन्तर्गत उस समय ४२ संस्थाएं काम कर रही हैं, जैसे कि सोवियत-हिन्द मित्रता संघ, सोवियत-ब्रिटेन मित्रता संघ, सोवियत-इटली मित्रता संघ, सोवियत-जापान मित्रता संघ आदि। और इनकी शाखाएं सोवियत संघ की सभी रिपब्लिकों में फैली हुई हैं।

इन संस्थाओं का मूल आधार सामुदायिक मेम्बर संस्थाएं होती हैं। मतलब कि केवल व्यक्ति ही चन्दा देकर मेम्बर नहीं बनते, बल्कि फ़ैक्टरियां, स्कूल, कालेज, कलैक्टिव फार्म, फ़िल्म स्टूडियो आदि सामूहिक रूप से मेम्बर हो जाते हैं, और जिस देश से उनका सम्बन्ध बना हो, वहां के बारे में अपनी जानकारी बढ़ाते हैं, पत्र-व्यवहार करते हैं, वहां से आनेवाले मेहमानों का स्वागत करते हैं, और अन्य कई तरीकों से संस्था के काम में हिस्सा लेते हैं।

उदाहरणार्थ, मास्को में अनेक कालेज हैं। उनमें से कोई कालेज सोवियत-हिन्द मित्रता संघ का मेम्बर बन जाएगा, कोई सोवियत-ब्रिटेन मित्रता संघ का, और कोई सोवियत-जापान मित्रता संघ का। इस तरह केन्द्रीय संस्था को न पैसे की कमी रहेगी, और न कर्मचारियों की।

फर्ज़ कीजिए कि हिन्दुस्तान से डाक्टरों का प्रतिनिधिमंडल आया है। सोवियत संघ में सोवियत-हिन्द मित्रता संघ की सभी शाखाएं तो उसके स्वागत के लिए तैयार होंगी ही, साथ ही केन्द्रीय संस्था का यह दोस्ती-भवन अपने मेडिकल विभाग द्वारा प्रतिनिधिमंडल की विशेष रुचियों और आवश्यकताओं की पूर्ति का खयाल रखेगा।

मतलब यह कि विदेशों के साथ मित्रता का प्रदर्शन केवल भावुकतापूर्ण भाषण और जलसे करके ही नहीं किया जाता, बल्कि बहुत व्यवस्थित और अमली ढंग से सोवियत जनता को मित्रता-आन्दोलन का हिस्सेदार बनाया जाता है, और जानकारी का दायरा और चौड़ा किया जाता है।

पैनकाफ़ ने और भी कई महत्त्वपूर्ण बातें बताईं। हमारे लिए जो प्रोग्राम बनाया गया था, उसका विवरण भी दिया। देश की प्रगति के आंकड़े बताए।

मैं भी लगभग पांच मिनिट के लिए बोला, जो काफ़ी नहीं था। मैंने संस्था के सभी साथियों का धन्यवाद किया, जिन्होंने इस ऐतिहासिक अवसर पर हमें निमन्त्रित किया था! सोवियत इन्कलाब मानवता की प्रगति और विकास के लिए एक प्रकाश-स्तम्भ है। हमारा भारत देश भी, अपनी विशेष ऐतिहासिक और सांस्कृतिक रुचियों के अनुसार समाजवाद की ओर बढ़ने का फैसला कर चुका है। हमारे देश को सोवियत संघ की ओर से जो सहायता और प्रेरणा मिल रही है, उसके लिए हर एक हिन्दुस्तानी आभारी है। रूस ने हर मुश्किल में हमारी मदद की है। सोवियत यूनियन से हमारी सैर का जो प्रोग्राम बनाया गया है, वह बहुत ही बढ़िया है। हम सब साथी मिलकर उसपर ग़ौर करेंगे, और अगर कोई सुझाव हुआ तो निःसंकोच होकर उसके बारे में बताएंगे। हो सकता है कि राजनैतिक नेता के रूप में ज्ञानो जी, सर्जन के रूप में डा० दातार, पत्रकार के रूप में गोपालन, और कलाकार के रूप में मैं खुद अपनी विशेष रुचियों के अनुसार प्रोग्राम में छोटी-मोटी तबदीलियों की सिफ़ारिश करें, जोकि आशा है, मन्जूर कर ली जाएंगी....।

शायद भाषण-प्रतियोगिता में हिन्दुस्तान का पलड़ा हल्का देखकर ज्ञानी जी ने कुछ राजनैतिक किस्म का भाषण देना शुरू किया, "जिस तरह रूस के देशभक्तों ने," उन्होंने कहा, "कुर्बानियां दी है, उसी तरह हिन्दुस्तान में भी देश की आज़ादी के लिए अनगिनत लोग शहीद हुए हैं। हमारे संग्राम के दो भाग थे- एक, जो अंग्रेज़ी हुकूमत के खिलाफ था, और दूसरा, जो देशी राजाओं के खिलाफ था। हिन्दुस्तान के ये राजा रूस के ज़ार से भी ज़्यादा जाबर और ज़ालिम होते थे। उनका ज़ुल्म अंग्रेज़ी हुकूमत से कहीं ज़्यादा संगीन और बेरहम था। मुझे खुद इन राजाओं की जेलों में पांच साल की कैद हुई थी, इस नाते मैं रूस के इन्कलाबियों से अपना गहरा रिश्ता महसूस करता हूं। मैं पुराने इन्कलाबियों में से कुछ एक को मिलना चाहूंगा, जिन्होंने इन्कलाब में हिस्सा लिया था। इसके अलावा हमारे डेलीगेशन के साथी सोवियत संघ के प्रमुख नेताओं के दर्शन करना चाहेंगे। साथ ही पार्लियामेंट, कचहरियां और पुलिस-स्टेशन देखना चाहेंगे। सुना जाता है कि सोवियत सरकार अपने नागरिकों को धर्म की पूरी आज़ादी देती है। सो हम धार्मिक स्थान भी देखना चाहेंगे।...।"

पैनकाफ़ एक कागज़ पर ज्ञानी जी की फ़र्माइशें नोट करते गए।

जिस तरह ज्ञानी जी को मेरा भाषण रूखा और प्रभावहीन लगा होगा, उसी तरह मुझे उनका भाषण बेमौका और ज़रूरत से ज़्यादा लम्बा लगा। पर ज्यों-ज्यों ज्ञानी जी बोलते गए, मुझे उनके दिल की सरलता और सच्चाई पर गर्व होने लगा। अनुकूल वातावरण मिलने पर उनके दिल की तड़प बेकाबू होकर बाहर आ गई थी। इसमें उनका दोष नहीं था। वे आज़ादी की लड़ाई के एक बहादुर सिपाही थे। देशी राजाओं की जेलों की सख्तीी देखकर तो पं० नेहरू भी कांप उठे थे। अपने देश की ओर से बोलने का ज्ञानी जी को हम सबसे ज़्यादा अधिकार था।

मैंने घड़ी की ओर देखा। हिन्दुस्तानी समय के अनुसार रात के दस बज चुके थे। जिस मीटिंग का कार्यक्रम एक घंटे में खत्म हो जाना चाहिए था, उसे अढ़ाई घंटों से ज़्यादा लग चुके थे। पेट में चूहे कूद रहे थे।

बाहर आकर सड़क पार करने और मोटर में बैठने तक शरीर जैसे बर्फ़ बन गया था। हल्की-हल्की बूंदाबांदी भी होने लगी थी।

"अब हम कहां जा रहे हैं, कबूतर भैया?" ज्ञानी जी ने पूछा।

"अब तो जी होटल जा रहे हैं। पहले अंदाज़ा था कि डिनर से पहले आप कुछ आराम कर सकेंगे, पर मीटिंग से देर से फारिग हुए हैं, और जिन साहबान से आप अभी मिलकर आए हैं, वे आपके साथ ही खाना खाने के लिए आ रहे हैं। इसलिए मेरा खयाल है कि हमें सीधे डाइनिंग रूम में ही जाना चाहिए।

"वे क्यों तकलीफ़ कर रहे हैं आने की ?"

"क्योंकि आप उनके मेहमान हैं।"

"वे हमारे होटल में आ रहे हैं, फिर तो वे हमारे मेहमान हुए; हम उनके मेहमान कैसे हुए?" ज्ञानी जी ने हंसकर और मुझे आंख मारकर कहा।

"होटल में भी आप हमारे ही मेहमान हैं," गोलुव्येव ने गम्भीरता से जवाब दिया।

"अच्छा तो कबूतर भैय्या, होटल पहुंचने पर हमारा एक काम कर दोगे?"

"फ़रमाइए।"

"जरा फ़ोन पर मुझे हिन्दुस्तानी राजदूत से मिलवा देना, उनसे मुझे अपाइंटमेंट लेनी है।"

"इस वक्त तो टेलीफ़ोन नही हो सकता जी, उनका दफ्तर बन्द हो चुका है।"

"नहीं, दफ्तर में तो इस वक्त वे होंगे भी नहीं। फ़ोन तो उनके घर पर करना पड़ेगा।"

"उसका नम्बर तो मेरे पास नहीं है।"

"डायरेक्टरी में तो होगा न?"

"वह तो मुझे मालूम नहीं है।"

"डायरेक्टरी में क्यों नहीं होगा, होटल में चलकर देख लेना।"

"अच्छी बात है, कोशिश करूंगा।"

ऐसे लगा जैसे वह टालमटोल कर रहा हो। बहुत थका हुआ था बेचारा।

लौटने पर देखा कि होटल खूब जगमगा रहा था। छत से लटक रहे बहुमूल्य कांच के शमादानों की रोशनी संगमरमर के फ़र्श और दीवारों पर दूधिया चमक पैदा कर रही थी। ज्ञानी जी ने गोलुव्येव से पूछा, "यह होटल कब बना ?"

"इन्कलाब के बाद।"

मुझे उसकी यह बात चुभी। साफ़ क्यों नहीं बताया कि होटल को बने सात साल हुए हैं। इतना रूखा जवाब देने की क्या ज़रूरत है?

फिर खाने के समय भी एक-दो ऐसी बातें हुई कि 'मूड' खराब हुआ। खाना शुरू करने से पहले सोवियत-हिन्द मित्रता शाखा के सेक्रेटरी बैदाकाफ ने कहा, "मिस्टर साहनी, अंगूरी शराब लेंगे थोड़ी-सी?"

एक तो अभी तक मेरी हड्डियों में सर्दी समाई हुई थी, दूसरे आज पहली बार रूसी मेज़बानी के समय शराब बिना पूछे मेज़ पर नहीं लाई गई थी। मैंने कहा, "शराब न सही, थोड़ी वोदका मैं ज़रूर चाहूंगा, ताकि मास्को में आने का पूरा यकीन हो जाए।"

वह कुछ संकोच में आ गए, जैसे पहले से शक हो कि हिन्दुस्तान से पियक्कड़ों की एक और टोली आ गई है, जो अपने मुल्क में शराब न मिलने की कमी बाहर आकर पूरी करना चाहती है।

सौभाग्य से ज्ञानी जी और डा० दातार दोनों 'सूफ़ी' थे। लीडर बेशक पीनेवाला था, पर प्रतिनिधिमंडल पीनेवालों का नहीं था। मेरे और गोपालन के लिए वोदका आ गई। और किसी ने नहीं मंगवाई। मैंने बैदाकाफ़ से कहा, "क्यों, आप नहीं पिएंगे?"

"नहीं, मुझे बाद में कार चलानी है।"

"तो क्या हुआ? थोड़ी-सी पीने में क्या नुकसान है?"

"नहीं, मोटर चलानेवालों को पीने का हुक्म नहीं है।"

मुझे यह बहाना-सा लगा। दिल में आया कि मैं भी न पिऊं। पर शरीर को गर्माहट और थके हुए दिमाग को उकसाहट की बहुत सख्त ज़रूरत थी।

और फिर एक और ग़लती हो गई।

बातों-बातों में बैदाकाफ़ ने कहा, "सात नवम्बर को लाल चौक की परेड के बाद मास्को रेडियोवाले आपके पीछे पड़ जाएंगे-आपके विचार ब्राडकास्ट करने के लिए।"

"बहुत खुशी की बात है, क्यों ज्ञानी जी?" मैंने कहा।

"हां, हां, ज़रूर। पर इस वक्त लाल मिर्च मंगवा दीजिए कहीं से। वैसे मैं हिन्दुस्तान से साथ में लाया हूं, पर वह ऊपर कमरे में पड़ी है।"

सभी हंस पड़े। और मैंने वातावरण को और भी सुखद बनाने के लिए कहा, "रेडियो मास्को से मेरी तो पुरानी दोस्ती है। जब फ़िल्म-डेलीगेशन के साथ आया था तो एक दिन मैं और देव आनन्द पता नहीं कितना कुछ रिकार्ड करते रहे थे- गोर्की की कहानियां, प्रेमचन्द की कहानियां। कुछ देर के बाद नरगिस और अब्बास भी हमारे साथ शामिल हो गए थे। और जिस शाम हमें रवाना होना था, एक महिला आई और हमारी जेबें रूबलों से भर गई। और हम हैरान थे कि उस दौलत का क्या करें, जो अचानक हमारे पास आ गई थी।"

यह बात मैंने बिलकुल सहज भाव से कही थी। एक तो मैं बैदाकाफ़ का संकोच दूर करना चाहता था, दूसरे, अपने साथियों को तसल्ली देना चाहता था कि मास्को रेडियो से डरने की ज़रूरत नहीं है, वहां उनसे कम्युनिज़्म का प्रापेगेंडा नहीं करवाया जाएगा।

लेकिन गोलुव्येव की देशभक्ति ने फिर गर्दन उठाई। उसने कहा, "ठीक तो है। हमारे देश में किसी से मुफ्त मेहनत नहीं करवाई जाती।"

मेरे सिर पर जैसे घड़ों पानी पड़ गया। यह बात किसी से छिपी हुई नहीं थी कि हम अपने देश के नियमों के अनुसार सिर्फ ७५ रुपये जेब में डालकर घर से निकले थे। उसे देखते हुए मेरी बात का यह मतलब भी निकाला जा सकता था कि हम पैसे कमाने के मौके ढूंढ़ रहे हैं। आखिर मैंने गोलुव्येव को अपनी बात ग़लत समझने का मौका ही क्यों दिया?

खाना खत्म होते ही ज्ञानी जी ने गोलुव्येव से पूछा कि हिन्दुस्तानी राजदूत का टेलीफ़ोन नम्बर मिला है या नहीं। उसने फिर गोलमोल जवाब दिया। दिल में और तलखी पैदा हुई। भला ज्ञानी जी को आते ही राजदूत से मिलने की ऐसी क्या ज़रूरत पड़ गई है? क्या वे अपनी ऊंची हैसियत का रौब डालना चाहते हैं? फिर दूसरी तरफ़, अपने मेहमान की छोटी-सी फ़र्माइश पूरी कर देने से गोलुव्येव का क्या बिगड़ जाता?

बिस्तर पर लेटकर काफ़ी देर तक करवटें बदलता रहा, पर नींद न आई। बुरा फंसा था लीडर बनकर। हो सकता है, ज्ञानी जी ने मजबूर होकर मुझे लीडर के रूप में मंज़ूर किया हो और अब अपनी मनमानी हरकतों से मेरी इज़्ज़त खराब करना चाहते हों। क्या डेलीगेशन के व्यवस्थापकों ने आपस में सलाह करके मुझे दिखावे का लीडर तो नहीं बना दिया, जैसे कि पोलैंड के युवक-मेले में बनाकर भेजा था! एक बार जो ग़लती हो चुकी थी उसे दोहराया क्यों जाए? क्या सुबह उठते ही साथियों के सामने अपना इस्तीफ़ा पेश कर देना ठीक नहीं होगा? पर...

और मैं सो गया।

आधी रात के समय मैं हड़बड़ाकर उठ बैठा। बिस्तर ऐसे था जैसे ठंडे पानी का लबालब भरा हुआ टब हो। यह क्या हुआ? सर्दी के कारण पेशाब भी ज़ोर से आया हुआ था। मैं ग़ुसलखाने की ओर भागा, जो कमरे के प्रवेशद्वार के पास बना हुआ था। ज्यों ही उसके दरवाज़े पर पहुंचा, मैंने अंधेरे में अपने जैसा ही स्लीपिंग सूट पहने एक आदमी तेज़ी से बाहर आते हुए देखा। डर के मारे मेरी चीख निकल गई, और उसी क्षण मैंने उसे पकड़ लेना चाहा। तभी पता लगा कि वह तो मेरा प्रतिबिम्ब था, जो दरवाज़े में लगे हुए आदमकद आईने में पड़ रहा था। होश ठिकाने आया तो दरवाज़ा खोलकर अन्दर गया। याद आया कि सात साल पहले भी जब इस होटल में ठहरा था तो ऐसी ही घटना हुई थी। उस अक्लमंद आदमी को दाद दी जिसने होटल के प्रत्येक ग़ुसलखाने के दरवाज़े पर आदमकद आईने लगवाए थे। उसके अढ़ाई तीन हज़ार कमरों में रोज़ रात के समय, पता नहीं कितने लोगों की चीखें निकल आती होंगी। फिर अपने शरीर की ओर ध्यान गया, जो ग़ुसलखाने के अन्दर गरमाहट महसूस कर रहा था। सेण्ट्रल हीटिंग वाले पाइपों को हाथ लगाया, जो खूब गर्म थे। फिर मेरा बिस्तर क्यों बर्फ़-सा टंडा बना हुआ था? ज़रूर कोई खिड़की खुली रह गई होगी। बाहर आकर बत्ती जलाई। दोहरे ताकोंवाली बड़ी-बड़ी खिड़कियों के ऊपर छोटे-छोटे शीशोंवाले रोशनदान खुला छोड़ दिया था। मैंने कुरसी पर खड़े होकर स्टेज के 'प्राम्पटर' की तरह पता नहीं कितनी बार रस्सियों को बारी-बारी से खींचा, तो कहीं जाकर उस नाटक का 'ड्राप-सीन' हुआ। लेकिन अब ठंडे बिस्तर पर सोने से डर लग रहा था। स्लीपिंग-सूट के ऊपर कोट-पतलून पहना। तब कुछ सहारा हुआ। धीरे-धीरे बिस्तर और कमरे, दोनों की ठंड जाती रही। हर क्षण बढ़ती हुई उस स्निग्धता का आनन्द लेता हुआ मैं फिर सो गया। तब सपने में देखा कि लाल चौक में इन्कलाब-दिन की परेड शुरू हो गई है। बैंड बज रहे हैं, जुलूस निकल रहे हैं, लेकिन किसी ग़लती के कारण हमारा प्रतिनिधिमंडल वहां नहीं पहुंच सका। अगर यह परेड नहीं देखी तो फिर यहां आने का फायदा ही क्या है?

...हड़बड़ाकर फिर उठ बैठा। रात उसी तरह गहरी थी। पर बैंड ज़ोरशोर से बज रहा था। जबकि सपना खत्म हो चुका था और मैं उठकर बैठा हुआ था, तो फिर यह बैंड की आवाज़ अभी तक क्यों आ रही थी? आज तो चार नवम्बर है। परेड तो सात नवम्बर को है। जल्दी से खिड़की के पास गया। फिर कई रस्सियां खींचकर पर्दे खोले। दूर नीचे होटल का बर्फ़ से सफेद बना हुआ आंगन दिखाई दिया। वहां होटल में काम करनेवाली एक स्त्री या होटल के अन्दर आया काम खत्म करके बाहर जा रही थी। यहां से सड़के दिखाई नहीं देती थीं। आखिर ऐसे घने अंधेरे में ये कौन लोग जुलूस निकालकर जा रहे हैं? बैंड की आवाज़ अब और भी ऊंची हो गई थी। काफ़ी देर की परेशानी के बाद पता लगा कि सफ़ाई करनेवाली स्त्री सिर्फ रोशनदान ही खुला नहीं छोड़ गई थी, रेडियो को भी चलते हुए छोड़ गई थी। रात के समय जब मैं कमरे में आया था तो रेडियो पर प्रोग्राम बन्द हो चुका था, और अब प्रातःकाल के समय फ़ौजी बैंड की जोशीली धुन से शुरू हो गया था। मैंने घड़ी देखी। सवा नौ बजे थे। यह आज हो क्या रहा है? कहीं मेरा दिमाग तो .... हाँ! अरे यह तो हिन्दुस्तानी समय है। तभी मैंने गुस्से में आकर घड़ी की सुइयों को अढ़ाई घंटे पीछे किया, और फिर बिस्तर पर लेट गया।

मास्को की सैर

नाश्ते के लिए जब नीचे रेस्तोरां में पहुंचा तो देखा कि मेज़ों पर बिछे सफ़ेद मेज़पोशों के ऊपर अलग-अलग देशों के झंडे रखे हुए थे। इससे प्रकट था कि उस रेस्तेरां को विदेशी प्रतिनिधियों के लिए सुरक्षित रखा गया था। हमें अपने देश का झंडा ढूंढने में देर नहीं होगी, क्योंकि गोलव्येव पहले से ही वहां बैठा हुआ हमारी प्रतीक्षा कर रहा था। समय बचाने के लिए उसने हमारे आने से पहले ही नाश्ते का आर्डर दे दिया था। उसने बड़ी नम्रता से हमसे माफ़ी मांगी कि हमारी पसन्द पूछे बिना ही उसने नाश्ते का आर्डर दे दिया था।

दही खाने का रूसियों को भी बहुत शौक है। बहुत ही बढ़िया दही होता है वहां, जिसे विटामिन मिलाकर और भी पौष्टिक बनाया गया होता है। वह बोतलों में बन्द होकर सीधा डेरियों से आता है। कीमत भी बहुत कम होती है। हमने देखा कि दही के भरे हुए गिलास पहले से ही मेज़ पर पड़े हुए थे। उन्हें देखकर हमने माफ़ी देने के बजाय, गोलव्येव का धन्यवाद किया। ज्ञानी जी को अफ़सोस हुआ कि लाल मिर्च की पुड़िया वे फिर कमरे में ही भूल आए थे। पर नमक के साथ काली मिर्च डालकर भी खाने का कम स्वाद नहीं आया। ज्ञानी जी ने तो तारीफ़ के पुल ही बांध दिए। गोलोव्येव को जैसे इस बात की प्रतीक्षा थी। उसने कहा, ''आप जानते हैं, यह दही क्यों इतना अच्छा है?''

''हां भाई, बताओ, क्या राज़ है? इतना अच्छा दही तो हमारे यहां पंजाब में भी नहीं मिलता।''

''इसकी वजह यह है कि अगर कोई दुकानदार इस दही में किसी किस्म की मिलावट करे तो उसे दस साल के लिए जेल में भेज दिया जाएगा।''

गोलोव्येव की बात सच थी। और हम भौचक्के से बने देखते रह गए। ऐसे लगा जैसे गोलोव्येव ने सरे-बाज़ार हमारी पगड़ी उतार ली हो। उसका छिपा हुआ इशारा हमारे देश की ओर ही तो था, जहां आज के ज़माने में खाने-पीने की कोई भी चीज बिना मिलावट के नहीं मिलती। और मिलावट करनेवाले, खुराक की जगह ज़हर खिलानेवाले हमेशा ऐश करते हैं। जेल जाते हैं उन पर अंगुली उठानेवाले, उनकी दुकानों के आगे खड़े होकर प्रदर्शन करनेवाले। सरकार की लाठियां और बन्दूकें भी उन्हीं पर चलती हैं।

फ़ुर्तीली वेट्रेस खाने की कई बढ़िया चीजें ट्रे में रखकर लाई- आमलेट, टोस्ट, मक्खन, कॉफी, फल आदि। लेकिन फिर किसी चीज़ का मज़ा न आया। गोलोव्येव के उस एक वाक्य ने सारी भूख खत्म कर दी थी।

भला क्या ज़रूरत थी उसे सुबह-सुबह हमारा दिल दुखाने की? क्या हम खुद नहीं जानते अपने देश की खामियों के बारे में? क्या उनपर हम खुद शर्मसार और दुःखी नहीं हैं? जिस इसकस के प्रतिनिधि बनकर हम आए हैं, वह खुद मानवता के लिए दिल में दर्द रखनेवाले प्रगतिशील लोगों की संस्था है। फिर ऐसे व्यंग्य कसने की क्या ज़रूरत है?

शायद गोलोव्येव चेतावनी देना चाहता हो कि हम सिर्फ सैर और मौज करने को ही अपनी रूसी यात्रा मनोरथ न समझ लें। हमारा कर्तव्य है कि देखें, कि सार्वजनिक प्रगति और निर्माण के लिए रूस क्या कुछ कर रहा है, जोकि हमें खुद भी अपने देश में करना चाहिए, और जिसे हम नहीं कर रहे हैं। अगर उसका यह मतलब था तो बहुत अच्छा था, पर अतिथि-सत्कार के असूलों के उलट था।

इतने में परीक्षित आ गया। उसके सुन्दर व्यक्तित्व का प्रभाव चारों ओर पड़ रहा था।

"बहुत बढ़िया मौसम बन रहा है, और धुंध भी बढ़ती जा रही है," उसने कहा और सबसे हाथ मिलाया।

"बहुत अच्छी खबर लेकर आए हो। शायद ओले भी पड़ रहे हों," ज्ञानी जी ने बड़े प्यार से उसे कहा।

परीक्षित खिलखिलाकर हंसने लगा।

"आपकी क्या उम्र है, परीक्षित ?" गोपालन ने पूछा।

"पच्चीस साल।"

"और मेरी है उनतीस साल। अब मैं भी बलराज जी को डैडी कहकर बुलाया करूंगा," गोपालन बोला।

फिर परीक्षित और गोलुव्येव रूसी में बातें करने लगे। दोनों एक-दूसरे को अच्छी तरह जानते थे। गोलुव्येव मास्को रेडियो पर हिन्दुस्तानी का अनाउन्सर है, और परीक्षित भी ब्राडकास्टिंग का अनुभव प्राप्त करने के लिए हफ्ते में एक-दो बार वहां जाता है!

"परीक्षित, अगर फ़ुर्सत हो तो आज का दिन हमारे साथ रहो," मैंने कहा।

"नहीं डैडी, मैं तो आपको ओवरकोट देने के लिए यहां आया हूं। दस बजे मेरे लेक्चर शुरू हो जाते हैं। हां, शाम को मैं आ सकता हूं, और आपको फ़ुर्सत हो तो।"

"हां, हां, यह तो बहुत अच्छी बात होगी। पर पता नहीं शाम का क्या प्रोग्राम रखा है। क्यों, सेक्रेटरी साहब?" मैने गोपालन को सम्बोधित किया। गोपालन को सर्वसम्मति से यह सम्मान दिया गया था। उसने झट अपनी नोटबुक निकाली।

"दोपहर के तीन बजे हम इन्कलाब-अजायबघर देखने के लिए जा रहे हैं। उसके बाद साढ़े आठ बजे सर्कस देखने जाना है।"

"सर्कस देखकर आप क्या लोगे, बलराज जी? यह तो बच्चों के देखने की चीज़ होती है। आप परीक्षित के साथ शाम गुज़ारें अपनी," ज्ञानी जी ने कहा।

सभीने समर्थन किया। अगर अब तक किसीसे सावधान रहने की ज़रूरत महसूस हुई थी तो वे ज्ञानी जी थे। एक तो कांग्रेसी, दूसरे सरकार के मंत्री। पर तब अचानक महसूस हुआ कि वे बड़े ही सहृदय व्यक्ति हैं।

"अब चलना चाहिए जी, नहीं तो देर हो जाएगी," गोलुव्येव ने कहा। बरामदों के चक्रव्यूह में से गुज़रते हुए मैंने गोलोव्येव से कहा, "ज्ञानी जी की राय है कि हमें भारतीय दूतावास को अपने आने की खबर ज़रूर देनी चाहिए। मैं भी उनसे सहमत हूं। इसलिए आज ज़रूर किसी वक्त आप ज्ञानी जी का टेलीफोन मिला दीजिएगा।"

लेकिन शायद व्यस्तता के कारण, या प्रोटोकोल के किसी नियम के कारण, ग्लोबेफ ने इस काम की ओर ज़्यादा ध्यान नहीं दिया, जिससे धीरे-धीरे गलतफ़हमी पैदा होनी शुरू हो गई।

हम होटल से बाहर निकले तो रुई जैसी बर्फ़ पड़ रही थी, जिसका अब ओवरकोटों के कारण हम आनन्द ले सकते थे। सीढ़ियों पर स्कूल के छोटे-छोटे बच्चों की एक टोली विदेशों के सिक्के या टिकिट लेने के लिए कुछ विदेशी व्यक्तियों के पास खड़ी थी। गोपालन उन बच्चों की फ़ोटो लेने के लिए बड़े चाव से आगे बढ़ा। लेकिन वे उनके काले रंग, बड़ी-बड़ी मूंछों और पीछे खड़े ज्ञानी जी की पगड़ी आदि को देखकर भाग उठे और एक खंबे के पीछे जाकर छिप गए। बड़े प्यारे, गोलमटोल बच्चे थे वे। घर से तो बहुत दिलेर बनकर निकले होंगे, लेकिन हिन्दुस्तानियों को देखकर उनकी हिम्मत जवाब दे गई। गोपालन निराश होकर फिर मोटर में बैठ गए।

सोवियत शब्द का अर्थ है, पंचायत। और पंचायत का अर्थ वही है, जो हमारे पुरुषों की नज़र में था। सोवियत संघ की सारी आर्थिकता पंचायती है। मतलब यह कि मास्को शहर के रिहायशी मकान, कारखाने, होटल, थियेटर, दुकानें, स्कूल, कालेज, युनिवर्सिटियां, सरकारी दफ्तर, छापाखाने, समाचार-पत्र, रेडियो- हर चीज़ पंचायत के अधीन है।

कोई व्यक्ति इस पंचायती व्यवस्था की इजाज़त के बिना मास्को में नहीं रह सकता। और जब यह इजाज़त उसे मिल जाए, तो उस दिन से उसकी रिहायश, नौकरी, सेहत, बच्चों की शिक्षा, बुढ़ापे की पेन्शन और जीवन की अन्य आवश्यकताओं की ज़िम्मेदारी समाज अपने ऊपर ले लेता है।

इस पंचायती व्यवस्था में हर व्यक्ति की आमदनी उसकी योग्यता और काम के आधार पर नियत की जाती है। उसी हिसाब से उसे इज्ज़त भी मिलती है। लेकिन उसके सामाजिक अधिकारों में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। वह हर हालत में हर व्यक्ति के बराबर समझा जाता है। और इसी बात की, पूंजीवादी देशों के समाचार-पत्र 'सभीको एक ही डंडे से हांकना' कहकर निन्दा करते हैं। लेकिन सोवियत समाज में ऐसी समानता पर किसीको कोई गिला नहीं है, बल्कि बहुत गर्व है, क्योंकि यही समानता समाजवाद को पूंजीवादी व्यवस्था से ज़्यादा बढ़िया व्यवस्था बनाती है, जोकि मानव-सभ्यता का अगला पड़ाव है।

मास्को के नागरिक को अपनी तनख्वाह या आमदनी का केवल तीन प्रतिशत भाग, और कुछ हालतों में इससे भी कम, मकान के किराये के रूप में शहर की पंचायत को देना पड़ता है।

सरकारी अधिकारी, बड़े-बड़े वैज्ञानिक, प्राध्यापक, अभिनेता, इंजीनियर, चित्रकार, संगीतकार, लेखक, अंतरिक्ष-यात्री, मंत्री, नाई, टैक्सी-ड्राइवर, बैरे, लांडरी में काम करनेवाली स्त्रियां, कारखानों के मज़दूर, सड़कें साफ करने वाले व्यक्ति- सब एक तरह के फ्लैटों और एक-सी इमारतों में पड़ोसी बनकर रहते हैं।

हां, किसीका फ्लैट बड़ा है और किसीका छोटा। किस हिसाब से? आमदनी के रसूख के हिसाब से? नहीं, ज़रूरत के हिसाब से। कोई फ़िल्मस्टार अगर अकेला रहता है तो उसे दो ही कमरों का फ्लैट मिलेगा। पर उसके साथवाला चार कमरों का फ्लैट उस टैक्सी-ड्राइवर को मिलेगा, जो अपने छः बच्चों के परिवार के साथ रहता है।

फिर, अगर फ़िल्म-स्टार की आमदनी दो हज़ार रुपये महीना है, और टैक्सी-ड्राइवर की पांच सौ रुपये महीना, तो फिल्म-स्टार को दो कमरों के फ्लैट के लिए ६० रुपये किराया देना पड़ेगा, और टैक्सी-ड्राइवर को चार कमरों के फ्लैट के लिए १५ रुपये। दोनों फ्लैट एक-से होंगे, और एक ही इमारत में होंगे। फ़र्क होगा तो सिर्फ़ यह कि एक छोटा होगा, दूसरा बड़ा।

मेरा छोटी भाई भीष्म साहनी, हिन्दी का प्रसिद्ध कहानीकार, सात साल मास्को में रह चुका है। उसके पास भी नये लेनिन हिल इलाके में ऐसा ही एक फ्लैट था, जिसमें मैं भी दो बार उसका मेहमान बना था। फ्लैट में एक छोटा और दो बड़े कमरे थे। साथ में रसोई और ग़ुसलखाना था। रहनेवाले चार प्राणी थे- पति, पत्नी और दो बच्चे। रसोई में गैस का कुकर, छोटा तंदूर और रेफ्रिजिरेटर फ्लैट का हिस्सा थे। इसी तरह ग़ुसलखाने में टब, वाश-बेसिन, शावर आदि थे। फ्लैट को सर्दियो में गर्म रखने के लिए सेण्ट्रल हीटिंग का प्रबन्ध था। आधुनिक ज़माने की सभी सहूलियतें वहां प्राप्त थीं। उनमें से टेलीफ़ोन और गैस के सिवा किसीका अलग किराया नहीं देना पड़ता था। टेलीफ़ोन का किराया भी महीने का दो-अढ़ाई रूबल था, और जितनी बार मन आए, टेलीफ़ोन करो। मैंने कई बार भीष्म से पता किया था कि फ्लैट का हर महीने कितना किराया देना पड़ता है, लेकिन वह कभी भी ठीक से जवाब नहीं दे पाया था। वह रकम इतनी मामूली थी कि उसके बारे में उसने कभी सोचा ही नहीं था। भीष्म को शायद अपनी आमदनी का भी ठीक पता नहीं था। वह भाषाओं के विदेशी भाषा प्रकाशन-गृह में काम करता था- अनुवादक के तौर पर। वह जितना अनुवाद करता था, उसी हिसाब से पैसे मिलते थे। सोवियत संघ के लेखक की मेहनत का बड़ी उदारता से मूल्य आंका जाता है। इस नाते भीष्म वहां असाधारण व्यक्ति था। वैसे आम रूसियों को मैंने पैसों की ओर से लापरवाह ही देखा है। भीष्म भी अपनी तनख्वाह जेब में ही डाले फिरता था। मैंने उसे कभी पैसों को अलमारी में ताला लगाकर रखते हुए नहीं देखा था। पूंजीवादी व्यवस्था में आदमी के लिए सबसे बड़ी और सबसे प्यारी चीज़ पैसा है। सोवियत समाज में बात इसके उलट है।

जो इमारतें सड़क के किनारे पर हैं, उनकी निचली मंज़िलों में दुकाने बनी हुई हैं, जिनमें हर चीज़ की कीमत निश्चित है। ज़रूरत की किसी भी चीज़ के लिए दूर नहीं जाना पड़ता। वहीं रेस्तेरां भी है और सैलून भी। ये दुकानें भी किसीकी व्यक्तिगत पूंजी नहीं हैं। उनके ऊपर न रंगबिरंगे, भड़कीले बोर्ड लगे हुए हैं, न रात के समय खास रोशनियां जगमगा रही होती हैं। उन्हें ग्राहकों का ध्यान खींचने की ज़रूरत नहीं पड़ती। उनके बारे में समाचार-पत्रों में या शहर की दीवारों पर विज्ञापन भी नहीं होते। जब व्यक्तिगत व्यापार ही नहीं है, तो इश्तिहारबाज़ी की क्या ज़रूरत है? हां, खास-खास जगहों पर बड़े सलीके से लगाए गए थियेटरों और सिनेमाओं के विज्ञापन ज़रूर दिखाई देते हैं, जो सड़कों की सुन्दरता को कम नहीं करते, बल्कि बढ़ाते हैं। उनमें के चित्र बहुत बढ़िया रुचि का परिचय देते हैं। इसके अलावा एक और प्रकार के चित्र सड़कों की शोभा बढ़ाते हैं- उन सम्मानित इंजीनियरों, मज़दूरों, शिल्पियों, वैज्ञानिकों आदि के बड़े-बड़े चित्र, जिन्होंने अपने क्षेत्र में कोई बड़ा कारनामा करके दिखाया हो। ऐसे व्यक्तियों को समाज की नज़रों के सामने बहुत आदर और गर्व के साथ पेश किया जाता है।

जब हम चालीस मंज़िली मास्को युनिवर्सिटी की इमारत की ओर आए तो दो अफ़्रीकी नौजवानों ने मुझे शक्ल से पहचान लिया। शायद रूस, या अपने देश सूडान में, उन्होंने मेरी फ़िल्में देखी थीं। वे बड़े आश्चर्य से मेरी ओर देख रहे थे। मिलने पर पता लगा कि वे उस विशाल इमारत में रहते और पढ़ते हैं। उस युनिवर्सिटी में केवल वैज्ञानिक विषय ही पढ़ाए जाते हैं। कला-विभाग शहर के पुराने हिस्से में है। वे बहुत खुश थे वहां। बेहद खुश थे। उन्होंने हमें अपने साथ इमारत में चलने का निमन्त्रण दिया।

पास ही, बर्फ़ और कोहरे से ढकी हुई क्यारी में एक बिलकुल अकेला पैंज़ी का फूल खिला हुआ था। देखकर मुझे बहुत हैरानी हुई कि इस मौसम और इतनी सख्त सर्दी में पैंज़ी जैसा नाज़ुक फूल खिला हुआ है। तभी मुझे खयाल आया कि नसलों, कौमों और रंगों के भेदभाव से रहित यह युनिवर्सिटी भी भावी मानव सभ्यता की टहनी पर निकला हुआ पहला फूल था।

मोटर ने नये मास्को का लम्बा चक्कर लगाया। हमने मास्को का प्रयोगवादी भाग भी देखा। यहां इमारत-कला के विशेषज्ञों को नये आविष्कारों के आकार पर इमारतें बनाने के लिए सहूलियतें दी जाती हैं। इस भाग की इमारतें सचमुच बहुत अजीब, रंगीन और आधुनिक शैली की हैं। बम्बई के मलाबार हिल और पैडर रोड के फैशनपरस्त इलाके में कई हूबहू इसी प्रकार की इमारतें बन रही हैं। फ़र्क़ सिर्फ़ यह है कि मास्को की इमारतें सबके लिए हैं, और बम्बई की इमारतें गिने-चुने अमीर लोगों के लिए। हिन्दुस्तान में गौरव किसी ऐसी चीज़ का मालिक बनने में है, जो किसी और व्यक्ति के पास न हो। रूस में खुशी उस चीज़ को पाने में है, जो सबको प्राप्त हो। पर कार्य करना और बांटकर खाना किसी ज़माने में हमारे देश का भी तो एक आदर्श था।

एक प्रयोगवादी इमारत नुमायश के लिए सड़क के किनारे प्रदर्शित की गई थी। यह एक पूरा फ्लैट था। इमारतें बनानेवाले क़ारखाने में से इस तरह के बने-बनाए फ्लैट ट्रकों पर लादकर उस स्थान पर आ जाया करेंगे, जहां इमारत बननी होगी। फिर क्रेनें उन्हें एक-दूसरे के साथ या एक-दूसरे के ऊपर रखकर जोड़ती हुई इमारत खड़ी कर देंगी। इस प्रकार इमारत दो महीने के बजाय पंद्रह दिन में बन जाएगी। बस, पंद्रह दिन में हज़ार, दो हज़ार कमरोंवाली दस मंज़िली इमारत का तैयार हो जाना अनहोनी-सी बात लगती है।

हमने पूछा कि इस नये आविष्कार को कब प्रयोग में लाया जाएगा। गोलुव्येव ने वहां लगी एक तख्ती पर लिखा हुआ विवरण पढ़कर बताया कि यह आविष्कार प्रयोग में लाया जा चुका है। साथवाली इमारत इसी ढंग से बनाई गई है। हमने उस इमारत की ओर देखा। उसके आगे के भाग में कांच ही कांच लगे हुए थे। वह हल्का-फुल्का-सा खिलौना प्रतीत होती थी। चौथी मंज़िल पर कांच के पीछे दस-बारह साल की एक लड़की हमें हैरानी से देख रही थी। मैंने ज्ञानी जी से कहा, "इसे हाथ से इशारा कीजिए, बहुत खुश होगी।' ज्ञानी जी ने हाथ हिलाया...तो आगे से लड़की ने भी हाथ हिलाया। हमारे देश में ही नहीं, उन्नतिशील पूंजीवादी देशों में भी, वह किसी उच्चवर्ग की लड़की हो सकती है। पर यहां के वर्ग-रहित समाज में उसका पिता एक साधारण मज़दूर भी हो सकता है, एक प्रसिद्ध इंजीनियर भी। यह समानता भी समाजवाद का एक बहुत बड़ा अपराध है, जिसे पूंजीवादी देशों के पत्र कभी माफ नहीं कर सकते।

लेकिन यह सोचना गलत होगा कि मास्को सोने का शहर बन चुका है, या वहां रिहायश की समस्या पूरी तरह हल हो चुकी है। मकानों की कमी आज भी वहां दूर नहीं हुई है। कहते हैं कि यह कमी दूर करने में अभी आठ-दस साल और लगेंगे। मेरे अनुमान के अनुसार इस समय बहुत कम रूसी ऐसे होंगे, जिन्हें अपना अलग कमरा नसीब हो। एक कमरे में दो-दो, तीन-तीन व्यक्तियों का रहना आम बात है। इससे दिमागी काम करनेवालों को खास तौर पर कठिनाई होती है। और इसमें भी शक नहीं कि जो अभाव

एक साथ मिलकर झेलें जाए, उनका अपना अनोखा आनन्द होता है। इसके उलट अपने चारों ओर के अभावों की ओर से आंखें मूंदकर, लूटी हुई दौलत द्वारा पैदा किए गए ऐश्वर्य में असली आनन्द नहीं होता।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि सोवियत समाज में अन्याय नहीं होते। ताकतबुरी चीज़ है। इसका नशा सभी नशों से बुरा है। सुनने में आया है कि रूस में भी दफ्तरशाही का बोलबाला कम नहीं है। वहां के अधिकारी भी सिफ़ारिशों और रिश्वतों के शिकार हैं। और यहूदियों के खिलाफ़ भी रूसियों के दिलों में जो छिपी हुई घृणा है, वह दूर नहीं हुई है।

इस बात को लेकर हमारे देश के कई विद्वान अजीब नतीजे निकालने लग जाते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य मूल रूप से बुरा है, और वह कभी पूरी तरह सुधर नहीं सकता है। चाहे पूंजीवादी व्यवस्था हो, चाहे समाजवादी व्यवस्था, कोई फर्क नहीं पड़ता। फिर इन्कलाबी सरगर्मियों का फायदा ही क्या है?

या फिर कहा जाता है कि इन्कलाब की ज़रूरत समाज को नहीं, मनुष्य के चरित्र को है। व्यक्ति को अपने इर्द-गिर्द की बुराइयों से लड़ने के बजाय पहले अपने अन्दर की बुराइयों से लड़ना चाहिए। इस प्रकार जब एक व्यक्ति अच्छा और पवित्र बन जाएगा, तो वह अपने चारों ओर अपनी आत्मिक पवित्रता की किरणें बिखेरेगा, और उससे प्रेरणा पाकर दूसरे व्यक्ति भी अच्छे बनेंगे। इस प्रकार धीरे-धीरे संसार में रूहानी इन्कलाब आ जाएगा। इस इन्कलाब को चाहे हज़ारों वर्ष लग जाएं, पर वही सच्चा इन्कलाब होगा। ग़रीबों की आंखों में धूल झोंकने और उनकी इच्छा-शक्ति को नपुन्सक बनाने का इससे अच्छा और कोई साधन नहीं है।

नैतिक पतन, छीनाझपटी, धक्केशाही और अन्याय का बुनियादी कारण वास्तव में आर्थिक अभाव ही होता है। जो समाज ग़रीबी, बेकारी, अपढ़पन और हर प्रकार की असमानता को जड़ से उखाड़कर फेंक सकता है, वह सदियों से चली आ रही मानव-स्वभाव की बुराइयों को भी कुछ ही समय में खत्म करने की शक्ति रखता है। इस सच्चाई को कोई भी ईमानदार व्यक्ति सोवियत संघ में आने पर अपनी आंखों से देख सकता है।

गोलुब्येव ने बताया कि इस नये मास्को के कई मील के क्षेत्र में कहीं भी कोई मिल या कारखाना नहीं बनाया गया, ताकि रिहायशी इलाके की हवा खराब न हो। लेकिन एक जगह हमें कारखाने की चिमनी दिखाई दी, जिसमें से खूब धुआं निकल रहा था। हमने झूठ पकड़ने की कोशिश की।

''वह क्या है?'' यह सभी एकसाथ बोल उठे।

गोलुब्येव हंस दिया।

''यह इमारतों को गर्म रखने के लिए सेण्ट्रल हीटिंग का कारखाना है। यहां से गर्म पानी के पाइप घरों में जाते हैं,'' उसने कहा।

और भी कोई दिलचस्प बातों का पता लगा। उदाहरणार्थ, स्कूलों के लिए जगहें इस ढंग से चुनी गई हैं कि किसी बच्चे को न तो अपने घर से ज़्यादा दूर जाना पड़ता है, और न ही रास्ते में कोई ज़्यादा आवाजाई वाली सड़क पार करनी पड़ती है।

दातार ने कहा, ''रात मिस्टर बाडीकाफ़...''

"बैदाकाफ़," गोलुव्येव ने गलती सुधारी।

"सॉरी! मिस्टर बैदाकाफ़ ने कहा था कि शराब पीकर मोटर चलाने की यहां मनाही है। क्या वह वाकई सच है?"

"जी। मोटर चलानेवाले को शराब की एक बूंद भी मुंह में डालने की मनाही है। और उस कानून का बहुत सख्ती से पालन किया जाता है।"

"पर कैसे? जिस आदमी के पास मोटर है, वह तो किसी भी समय मोटर चलाएगा। इसका मतलब है कि वह किसी भी समय शराब नहीं पी सकता।"

"यह वह खुद जाने। हां, मोटर चलाते समय उसका खून शराब के असर से बिलकुल मुक्त होना चाहिए।

"पर इसका फैसला कौन करता है कि उसने कितनी पी है। और किस समय पी है?"

गोलुव्येव ने कहा, "हमारे देश में कानून लोक-सम्मति से बनाए जाते हैं, और लोगों को शिक्षा दी जाती है कि वे उनका मतलब समझने की कोशिश करें, और यह सोचकर उनपर अमल करें कि वे उनके अपने लाभ के लिए है।"

"मतलब यह कि यहां कानून कोई भी नहीं तोड़ता?" मैंने ज़रा व्यंग्य से कहा।

"नहीं, सभी तो एक-से नहीं होते। लोग नशे में मोटर चलाते भी हैं, दुर्घटनाएं भी होती है, ऐसे लोगों की अधिक संख्या नहीं है।"

"अगर कोई नशे में मोटर चलाता हुआ पकड़ा जाए तो उसे क्या सज़ा मिलती है।"

"उसका लाइसेंस कुछ अरसे के लिए ज़ब्त कर लिया जाता है। बार-बार अपराध करनेवाले का लाइसेंस हमेशा के लिए ज़ब्त कर लिया जाता है।"

"अगर सड़क पर दुर्घटना हो जाए तो कार्यवाही की जाती है?"

"मास्को में दो-दो, तीन-तीन मील के फासले पर 'एक्सीडेंट स्क्वाड' बने हुए हैं, जो हर समय डयूटी पर रहते हैं। हर स्क्वाड के पास अपने एम्बुलेंस, डाक्टर, नर्स आदि का प्रबन्ध होता है। यहां तक कि खून की बोतलें भी एम्बुलेंस में रखी रहती हैं। दुर्घटना होने के तीन मिनट में ही स्क्वाड का घटनास्थल पर पहुंच जाना ज़रूरी होता है। एम्बुलेंस फायर ब्रिगेड की तरह घंटी बजाता जाता है, जिसे सुनकर ट्रैफिक अपने-आप उसके लिए रास्ता छोड़ देता है।"

"क्या पुलिस का भी मौके पर पहुंचना ज़रूरी होता है।"

"बेशक! पर पहला काम होता है। ज़ख्मी होनेवालों की जानें बचाना। उसी समय उन्हें 'फर्स्ट-एड' दी जाती है, और फिर ज़रूरत हो तो अस्पताल में पहुंचाया जाता है। दुर्घटना क्यों हुई, उसमें किसका दोष था- आदि बातों का पता बाद में लगाया जाता है।

पुराने मास्को की ओर जाते हुए एक अनोखी और भुलाई न जानेवाली चीज़ देखी। वह थी, सड़क के कुछ नीचे उतरकर एक मैदान में बना हुआ बहुत बड़ा गोल शक्ल का तालाब। वह तैरने के लिए बनाया गया था और उसपर कोई छत नहीं थी। बर्फ पड़ रही थी, आकाश में बादल छाए हुए थे, ठंड इतनी ज़्यादा थी कि ओवरकोटों के बावजूद हमारे हाथ-पांव सुन्न होते जा रहे थे। पर उस तालाब की ऐसी शान थी कि उसमें सैकड़ों

स्त्रियां, पुरुष और बच्चे बड़े मज़े से तैर रहे थे। तालाब का पानी गर्म था और उसमें से उठती हुई भाप के कारण ऊपर का वातावरण बड़ा स्निग्ध था। तालाब में दाखिल होने और बाहर निकलने के लिए छतदार, गर्म रास्ते बने हुए थे। सो ठंड लगने की कोई सम्भावना नहीं थी। स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों के लिए अलग-अलग विभाग बने हुए थे। कोई भी व्यक्ति वहां नहा सकता था। तालाब सबके लिए था। वहां पाई जानेवाली स्वच्छता अगर संसार के अन्य सभी देशों से ज़्यादा नहीं तो कम भी नहीं कही जा सकती थी। हमें जंगले के साथ लगकर हैरानी-भरी नज़रों से देखते हुए फ़ोटोग्राफर कामरेड ने कहा, "मेरी उम्र छप्पन साल की है। मैं बचपन से नये मास्को को बनते हुए देखता आया हूं। और यह मेरे लिए एक ऐसी खुशी-भरी आदत बन गई है कि मैं हर तबदीली का हिसाब रखने की कोशिश करता हूं। पर शहर इतनी तेज़ी से बदलता जा रहा है कि हर छः महीने के बाद में खुद को उसके मुकाबले में पीछे रह गया महसूस करता हूं।"

उसके दिल के उदगार के कारण उसकी आंखें सजल हो गई थीं, और उसके शब्द काव्यात्मक बन गए थे।

जब हम फिर कार में बैठे तो ड्राइवर हमारे साथ अंग्रेज़ी में बातें करने लगा, जैसे बताना चाहता हो कि सोवियत संघ में ड्राइवर भी साधारण व्यक्ति नहीं होता। रास्ते में गोलुब्येव ने कहा, "मिस्टर साहनी, आप देख रहे हैं कि पिछले पांच साल में मास्को कितना बदल गया है। और भी ज़्यादा बदल सकता था, अगर हम इतने बड़े पैमाने पर दूसरे देशों की मदद न करते। हमारे लोगों को अभी अपने लिए बहुत कुछ चाहिए। जिसके पास ज़्यादा है, वह अगर देता है तो आसान बात है। पर जिसके पास नहीं है फिर भी वह अपने भाई की तरह दोस्त की मदद करता है तो सच्ची दोस्ती इसीमें है।"

वह ठीक कह रहा था। इसमें कोई शक नहीं कि रूस ने जितनी हमारे देश की मदद की है, और कर रहा है, उसके लिए हम जितना भी आभार मानें, कम है। लेकिन ग्लोबेफ का इस तरह शिक्षकों की तरह हर बात का निष्कर्ष निकालकर बताना मुझे अच्छा नहीं लगा। 'रूसी पहले तो इस तरह नहीं करते थे,' मैंने मन में कहा। लेकिन उन्हें शायद हमारी ज़्यादा ज़रूरत थी। अब वे जानते हैं कि हमें उनकी ज़्यादा ज़रूरत है।

"अब आप लोगों के पास किसी चीज़ की कमी नहीं रही," मैंने उसकी बात के जवाब में कहा।

पता नहीं, यह बात उसे पसन्द आई या नहीं। उसका चेहरा बहुत थका-थका-सा दिखाई देने लगा। उसने बताया था कि इस बार इन्कलाब-दिन की तैयारियों में वह और उसके साथी इतने ज़्यादा तल्लीन रहते थे कि रात को बहुत देर से घर पहुंचते थे। बाहर से इतनी बड़ी संख्या में लोग आए हुए थे कि होटल उनसे बुरी तरह भरे हुए थे। 'कितनी मुबारक है वह थकान," मैंने सोचा, 'जो अपने देश की सेवा करते हुए प्राप्त हो।' कभी ऐसी ही थकावट हम लोगों को भी नसीब थी। आज़ादी मिलने के बाद वह और भी बढ़ जानी चाहिए थी। अगर बढ़ जाती तो आज हमें किसी पराये देश की मोहताजी न रहती। पता नहीं कहां खो गई थी वह देशभक्ति की सारी 'स्पिरिट'। अब तो हिन्दुस्तान में किसीको देश-सेवक कहना, उसे गाली देने के बराबर है।

अचानक बादल बिखर गए और धूप निकल आई। सामने क्रेम्लिन के सुनहरी कलश चमक उठे। दिल में आया कि मोटर रुकवाकर उसमें से उतर जाऊं और इस

प्रतिनिधि-मंडल की कैद में से छुटकारा पा लूं। इस तरह की धूप में, क्रेम्लिन की सुर्ख दीवारों और सुनहरी कलशों के चौगिर्दे में ईना और मैं कितनी दूर चले गए थे। आज से दो साल पहले भी मास्को आने का मौका मिला था। मैं ईना के लिए तोहफ़े के तौर पर ज़रीदार सैंडल लाया था। कितनी खुश हुई थी वह उन सैंडलों को पहनकर। और कितने सुन्दर लगे थे वे उसके पांवों में। क्रेम्लिन के कलशों की तरह ही चमक उठे थे उसके गोरे गोरे पांव।

क्रेम्लिन के चौकों में बहुत-से लोग चहलकदमी क़र रहे थे, और जैसे कि लंडन या पेरिस में देखा जाता है, वे कबूतरों को दाने डाल रहे थे। हां, सफाई के दृष्टिकोण से मास्को सब शहरों से बाज़ी ले गया लगता है। इतनी ज़्यादा सफाई है वहां कि अनायास ही उसकी ओर ध्यान चला जाता है।

बड़े फाटक में से निकलकर लाल चौक में आ गए। उसके बीच में लोगों की एक बहुत ही लम्बी कतार लगी हुई थी। उसका पिछला हिस्सा दिखाई दे रहा था।

''यह लाइन कैसी लगी है, कबूतर भैया?'' ज्ञानी जी ने पूछा, और हम सब हंस पड़े, क्योंकि उसी समय कबूतरों की एक कतार ऐन हमारे सिरों पर से उड़ती हुई निकल गई। गोलुव्येव भी हंस पड़ा।

वह कतार लेनिन के मज़ार के आगे लगी हुई थी। रूस आने पर यह कतार हमेशा दिखाई देती है। यह कभी खत्म नहीं होती। लेनिन के लिए रूसी लोगों के दिलों में अनन्त श्रद्धा है, उनके जीवन में लेनिन की देन कभी खत्म नहीं हगी। उस देन में ईसा, मोहम्मद, बुद्ध और नानक जैसे महापुरुषों की सच्चाई भी एक नया रूप धारण करती है। इन महापुरुषों ने शान्ति, न्याय और प्रेम से भरपूर जिस जीवन की कल्पना की थी, उसे साकार करने का लेनिन ने अमली तरीका बताया था। वैज्ञानिक समाजवाद के रास्ते पर चलकर उसे पाया जा सकता है। लेनिन ने यह तरीका बताया ही नहीं, बल्कि उस-पर चलकर वे अपने लोगों को मंज़िल पर पहुंचा गए। और उस मंज़िल पर पहुंचने के लिए लेनिन के बताएं हुए रास्ते के अलावा और कोई रास्ता नहीं है।

हम मेहमान थे, इसलिए कतार में हमें सबसे आगे जगह दे दी गई। हमारे पीछे हाथों में गुलदस्ते पकड़े खड़े बच्चों की एक बहुत बड़ी टोली थी। ज्ञानी जी ने दबी आवाज़ में, जैसे खुद को सुना रहे हों, कहा, ''यहां तो सभी बच्चे एक से एक बढ़कर खूबसूरत हैं।''

हमारे हाथों में फूल नहीं थे। लेकिन ज्ञानी जी के इन शब्दों का उपहार लेनिन के लिए फूलों से भी ज़्यादा बढ़िया था। हम धीरे-धीरे सरकते हुए, पत्थर के बुतों की तरह सिर झुकाए खड़े सन्तरियों के पास से गुज़रकर काले संगमरमर की सीढ़ियां उतरे और नीचे जाकर लेनिन के दर्शन किए।

इन्कलाब संग्रहालय

मास्को में दर्शक को टेलीफोन तो हर जगह नज़र आते हैं, पर डायरेक्टरी कहीं नहीं दिखाई देती। एक-दो बार रूसी मित्रों से इसका कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि शहर में इतनी बड़ी संख्या में टेलीफोन लगे हुए हैं कि अगर डायरेक्टरी छापी जाए तो वह इतनी बड़ी बन जाएगी कि उसे उपयोग करना बहुत मुश्किल हो जाएगा। इसलिए एक छोटी डायरेक्टरी छापी जाती है, जिसमें रेलवे, हवाई अड्डों, पुलिस स्टेशनों, अस्पतालों, सरकारी दफ्तरों और अन्य सार्वजनिक स्थानों के नम्बर दिए गए होते हैं। व्यक्तिगत नम्बर लोग खुद एक-दूसरे से ले लेते हैं, या उनके बारे में एक्सचेंज से पता लगा लेते हैं।

इसमें कुछ सच्चाई ज़रूर महसूस होती है। मास्को के वर्ग-रहित समाज में टेलीफ़ोन कोई असाधारण और सर्वसाधारण की पहुंच से बाहर की चीज़ नहीं है, बल्कि बिजली या पानी की तरह आम है। उस हालत में डायरेक्टरी छापना अवश्य सिरदर्द का काम होगा।

दोपहर के बाद, चार बजे, इन्कलाब संग्रहालय देखने का प्रोग्राम था। जब हम नीचे लाउंज मे इकटठे हुए तो ज्ञानी जी ने मुझे बताया कि गोलुव्येव ने अभी भी भारतीय राजदूतावास को फोन नहीं किया है।

मुझे गोलुव्येव पर खीझ-सी आई। उसके आते ही मैंने कहा, ''भाई, आपने अभी तक हमारी एम्बेसी को फ़ोन नहीं किया?''

''किया था, पर वहां से कोई जवाब नहीं मिला।''

''पर यह कैसे हो सकता है?'' ज्ञानी जी ने कहा, ''मुझे नम्बर दे देते, मैं खुद ही कर लेता।''

''पहले आप फ़ोन कीजिए, फिर हम यहां से बाहर निकलेंगे,'' मैंने कहा।

हम सभी होटल के दफ्तर में गए, जिसे 'सर्विस ब्यूरो' कहते हैं। हम बैठ गए तो गोलुव्येव अपनी जेब से छोटी-सी नोटबुक निकालकर नम्बर देखने लगा। एक-दो बार उसने नम्बर घुमाया।

''दफ्तर में कोई नहीं है,'' उसने हमें कहा, ''कोई फ़ोन उठा नहीं रहा है।''

''आप दफ्तर में फ़ोन करते ही क्यों हैं?'' ज्ञानी जी ने कहा, ''आप उनके घर पर फ़ोन कीजिए न।''

''घर का नम्बर मेरे पास नहीं है।''

''डायरेक्टरी में से देख लीजिए, डायरेक्टरी में तो होगा।''

गोलुव्येव डायरेक्टरी लेने के लिए नहीं उठा। वह फिर देर तक अपनी नोटबुक के पन्ने पलटता रहा, और पता नहीं किस-किस नम्बर पर रूसी में बातें करता रहा। हमारे लिए यह बड़ी अजीब-सी स्थिति थी। एक जगह टेलीफ़ोन करने में इतनी परेशानी? कहीं गोलुव्येव जानबूझकर टालमटोल तो नहीं कर रहा?

''क्यों भाई साहब, आपके यहां टेलीफ़ोन-डायरेक्टरी नहीं होती?'' ज्ञानी जी ने हैरानी दिखाते हुए कहा।

गोलुव्येव ने कोई जवाब नहीं दिया और अपने काम में लगा रहा। आखिर उसे इतनी देर क्यों लग रही है? और अभी और कितनी देर लगेगी? ज्ञानी जी पंजाब सरकार के मन्त्री रह चुके थे। ऐसे काम वे चुटकियों में करवाने के आदी थे। मैंने महसूस किया कि इस घटना द्वारा उनके मन पर सोवियत संघ सम्बन्धी बुरा प्रभाव पड़ रहा है। इस बात का मुझे अफ़सोस हुआ। तभी उन्होंने मुझे पंजाबी में कहा, ''बात सच ही लगती है बलराज जी, यहां और सब ठीक है, पर आज़ादी नहीं है...''

सौभाग्य से ये शब्द उन्होंने दबी ज़बान में कहे थे। गोलुव्येव नहीं सुन सका था। पर उसने हमें खुसर-पुसर करते हुए देख ज़रूर लिया था। छोटी-सी बात के कारण आपस में दिल खराब हों- कितने अफसोस की बात है।

गोलुव्येव फोन पर किसी के साथ देर तक रूसी में ऊंची आवाज़ में बातें करता रहा। लगता था कि वह खुद भी काफ़ी तलखी महसूस कर रहा था। आखिर चोंगा रखते और मेज़ पर से अपना हल्के हरे रंग का फ़ैल्ट हैट उठाते हुए उसने कहा, ''चलिए जी, हो गया आज का काम। एम्बैसेडर साहब ने कल शाम को पांच बजे आप सबको मिलने की ख्वाहिश ज़ाहिर की है।''

गोपालन और डा० दातार फ़ोन किए जाने में कोई दिलचस्पी न लेते हुए वहां से उठकर चले गए थे। गोपालन विदेशी मुद्रा तबदील कराने के बहाने काउंटर के पास खड़ा एक रूसी सुन्दरी से बातें कर रहा था। डा० दातार बरामदे में रखी हुई अलमारियों में की चीज़ों को देख रहे थे।

वहां से हम सब इन्कलाब-संग्रहालय देखने के लिए रवाना हुए।

हमारे देश में संग्रहालयों के बारे में अभी तक शिक्षित लोगों की धारणाएं भी नहीं बदली है। अभी भी चिड़ियाघर को जीवित पशु-पक्षियों और संग्रहालय को निर्जीव पदार्थों की तमाशगाहें माना जाता है, जहां इतवार के दिन बच्चों को सैर कराई जा सकती है। और संग्रहालयों की व्यवस्था उसी पुराने ढंग से होती चली जा रही है। जगह-जगह चीज़ें देखकर उनके नीचे लेबल लगा देना ही काफी समझा जाता है। गाइड आम तौर पर तो होते ही नहीं, अगर हों भी तो उनका होना न होने के बराबर होता है। उन्हें अपने काम का विशेष ज्ञान नहीं होता है। दर्शकों को सच्ची-झूठी कहानियां सुनाकर रिझाना ही वे अपना कर्तव्य समझते हैं। इसलिए ऊंचे बौद्धिक स्तर के दर्शकों को उनसे सन्तोष नहीं होता, और वे अपने ही प्रयत्नों से जानकारी प्राप्त करते हैं। इस प्रकार वे अपने साथियों से अलग हो जाते हैं, और खुद को ज़्यादा अक्लमंद समझने लगते हैं। यह बात हमारे देश में बुरी नहीं समझी जाती, लेकिन यूरोप के देशों में इस प्रकार अपने व्यक्तित्व का दर्शन करना असभ्यता समझी जाती है। इस सिलसिले में एक दिलचस्प घटना याद आती है। मास्को के संग्रहालयों में एक संग्रहालय लेनिन के जीवन के सम्बन्ध में भी है। 'परदेसी' फ़िल्म की शूटिंग के दिनों में हिन्दुस्तान से लेखकों का भी एक प्रतिनिधि मंडल रूस में गया हुआ था। उन लेखकों में कई लेखक मेरे मित्र थे। मौका कुछ ऐसा था कि मैं भी उनके साथ वह संग्रहालय देखने के लिए गया। इमारत में दाखिल होते ही गाइड को दुभाषिये ने बड़े चाव से बताया कि वे दर्शक कोई साधारण व्यक्ति नहीं है, वे

एक मित्र-देश के प्रमुख साहित्यकार हैं। सुनकर गाइड बहुत खुश हुआ। ऐसे मौक़े रोज़-रोज़ कहां आते हैं? आज वह बेहद शौक से अपना काम करेगा। पहले वह हमें उस विभाग में लेकर गया जहां लेनिन के बचपन के विभिन्न पक्ष प्रदर्शित किए गए थे। एक मौके पर जब उसने सामने के चित्रों की ओर से मुंह मोड़कर देखा तो हमारी संख्या पंद्रह की बजाय पांच रह गई थी। अधिकांश लेखक अपनी रुचि के अनुसार घूमने के लिए इधर-उधर बिखर गए थे, जैसे चरागाह में भेड़ें बिखर जाती हैं। लेनिन उनके लिए कोई अनजानी शखसीयत तो थी नहीं। भला यह गाइड उन्हीं को क्या बताएगा? वे खुद सब कुछ देखने और समझने की योग्यता रखते हैं।...

मेहमाननवाज़ी का उसूल है कि मेहमान की किसी हालत में आलोचना न की जाए। इसलिए न गाइड और न दुभाषिये ने कुछ कहा। फिर और कुछ देर के बाद तो सभी लेखक बिखर गए। कोई लेखक मूर्तियों पर अंगुली रगड़ता, कोई अलमारी से पीठ टेककर खड़ा हो जाता, कोई किसी खिड़की में बैठकर जम्हाइयां लेता। एक बार जब गाइड ने कहा, ''मार्ताफ़ से लेनिन की ज़बर्दस्त झड़प हुई.....'' तो एक लेखक ने, जिसका ध्यान एक सुन्दर गाइड युवती की ओर लगा हुआ था, एकाएक चौंककर कहा, ''मार्क्स से लेनिन की झड़प हो गई। यह कैसे हो सकता है? यह कैसे हो सकता है?''

''मार्क्स नहीं, मार्ताफ। मार्ताफ।'' उसीके एक साथी लेखक ने उसे बताया। यह सुनना था कि उसने बड़ी चालाकी से पैंतरा बदलकर कहा, ''वह तो मैं समझता हूँ, पर मार्ताफ़ ने कहा क्या?''

आज मुझे ऐसी स्थिति का फिर संशय था। सोचा कि मोटर में बैठे-बैठे ही साथियों को कुछ एक बातों के प्रति सचेत कर दूं। लेकिन गोलुव्येव भी तो साथ में बैठा हुआ था, और अंग्रेज़ी और उर्दू दोनों भाषाओं को जानता था। कश्ती को किस्मत के हवाले करने के अलावा और कोई चारा नहीं था। उधर गोलुव्येव के मन में भी शायद ऐसा ही संशय, उठ रहा था। शायद इसीलिए संग्रहालय के पहले विभाग में दाखिल होने पर गाइड की सहायता लिए बिना ही वह खुद ही हमें अलमारियों के आगे से ले जाने लगा। लेकिन हम दोनों ही वास्तव में अपने प्रतिनिधि-मंडल से अन्याय कर रहे थे। मेरे तीनों साथी उस अवसर के शिष्टाचार से पूरी तरह परिचित न होते हुए भी रूसी इन्कलाब की यादगारों को पूरी नम्रता और श्रद्धा से देखने के इच्छुक थे। पहले विभाग में दाखिल होते ही जब उन्होंने अपनी जेबों में से नोटबुकें और पैन निकाल लिए तो एक बूढ़ी स्त्री, जो वहां निगरानी कर रही थी, झट गोलुव्येव के पास आकर शिकायत के लहजे में रूसी में कहने लगी कि गाइड की सहायता क्यों नहीं ले रहा है। पता नहीं गोलुव्येव ने उसे क्या जवाब दिया, लेकिन स्त्री ने एक न सुनी और एक गाइड को बुलाकर हमें उसके हवाले कर दिया।

आज कई हैरान करनेवाली बातों का पता लगा। एक यह कि अक्तूबर-इन्कलाब में विदेशों से आए हुए इन्कलाबियों ने भी हज़ारों की संख्या में हिस्सा लिया था। उनमें काफ़ी बड़ी संख्या हिन्दुस्तानियों को भी थी। आज़ादी की शाम के ये परवाने काबुल, कंधार के पहाड़ों को पार करके, उन वीरान और रेगिस्तानी इलाकों में से कई किस्म की मुसीबतें झेलते हुए मास्को और लेनिनग्राद में पहुंचे थे, जिन इलाकों पर से हम कल हवाई जहाज़ में बियर और मार्टीनी पीते हुए बड़े मज़े से उड़कर तीन घंटे में यहां आ गए थे। सोवियत यूनियन की समाजवादी व्यवस्था को अस्तित्व में लाने के लिए हमारे देशवासियों

ने भी अपने प्राणों का बलिदान दिया था, और वे हिन्दू, सिख, मुसलमान, आदि सभी कौमों के लोग थे- यह जानकर हमें बेहद खुशी महसूस हुई। हम चाहते थे कि उन शहीदों के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करें।

उसी समय भारतीय राजदूत की ओर से हमें एक ज़रूरी सन्देश देने के लिए बाइकाफ़ बड़ी जल्दी में वहां आए। उन्होंने आते ही बताया कि मास्को में रहने वाले हिन्दुस्तानी व्यक्ति आज रात को राजदूतावास में इकटठे होकर दीवाली का त्योहार मना रहे हैं, और राजदूत ने हमें भी उसमें शामिल होने के लिए बुलाया है।

हम उलझन में पड़ गए। अभी तो हमने संग्रहालय का एक तिहाई हिस्सा भी नहीं देखा था। अचानक गाइड को कैसे कहें कि बाकी का हिस्सा देखे बिना ही हम जा रहे हैं? कितनी निराशा होगी उसे। लेकिन अपने देश के राजदूत को इन्कार भी तो नहीं किया जा सकता। मैंने गोलुव्येव से उसकी राय मांगी। उसकी आंखें शिकायत कर रही थीं यह उसीका फल भुगतना पड़ रहा है। उसने कहा, ''आप जिस तरह ठीक समझते हैं, कीजिए। वैसे आपका प्रोग्राम यहां अखबारों में छप जाता है। और यही उम्मीद की जाती है कि आप उसके मुताबिक चलेंगे?''

किसी फ़ैसले पर पहुंचने की ज़िम्मेदारी मेरे सिर पर आ गई थी, और मैं बिना फ़ैसला किए ज़िन्दगी की गाड़ी को धकेलने का आदी हूं। साथियों से राय लेना व्यर्थ था। ख़्वाहमख्वाह बहस छिड़ जाने का खतरा था। और जिसकी बात न मानी गई वह नाराज़ हो जाएगा। आखिर दीवाली के त्योहार की शरण लेने का बहाना सूझा। ''बात सिर्फ एम्बैसेडर साहब के बुलाने की ही नहीं, दीवाली हमारे देश का सबसे बड़ा त्यौहार है, जैसे कि आपका 'सात नवम्बर' है। अगर न गए तो बुरा लगेगा, हमारे अपने दिल भी खराब होंगे।''

अपराधी-सा महसूस करते हुए हम अजायबघर से निकलकर राजदूत, त्रिलोकीनाथ कौल जी के यहां गए, जिन्होंने बड़ी सज्जनता से हमारा स्वागत किया। वे हर किसी से बिना किसी औपचारिकता के, खुलकर मिल रहे थे। फिर भी वहां के वातावरण में एक तनाव-सा था। कुर्सियों की दो पंक्तियां आमने-सामने लगी हुई थी, जिनपर बहुत बढ़िया सूटबूट पहने हुए मर्द और खूब सजी-संवरी हुई स्त्रियां विराजमान थीं। बच्चे उनकी गोद में बैठे हुए थे, या नीचे खेल रहे थे। ऐसे लग रहा था, जैसे वे सभी व्यक्ति किसीके आने की प्रतीक्षा में बैठे हों, और उसके आने के बारे में उन्हें विश्वास न हो। उनके निरुत्साह चेहरों से बिलकुल यह प्रकट नहीं होता था कि वे किसी खुशी के मौके पर वहां इकटठे हुए हैं। ऐसे लगता था, जैसे कोई उनकी मर्ज़ी के खिलाफ उन्हे खीचकर वहां ले आया है।

हम अपने दिलों में जो खुशी और चाव लेकर आए थे, वह भी ठण्डा पड़ गया। राजदूतावास के हिन्दुस्तानी नौकर-चाकर प्लेटों में रखी हिन्दुस्तानी मिठाई बांट रहे थे। हर कोई बहुत आहिस्ता-आहिस्ता खा रहा था ताकि उसके बाद उठनेवाले सवाल 'अब क्या करें?' को जितनी देर तक हो सके, टाला जा सके।

कौल साहब ने उस मौन और तनाव को तोड़ने के लिए वहां आए हुए लोगों से हमारे प्रतिनिधि मंडल का परिचय कराया। कई लोगों ने मुझे शक्ल से पहचान लिया

था। लेकिन किसीने ताली नहीं बजाई, न ही उठकर हमारे साथ हाथ मिलाया। किसी के चेहरे पर मुस्कराहट नहीं आई। वह पार्टी नहीं, बल्कि हठयोग की कोई कक्षा प्रतीत हो रही थी।

''यहां आकर हमने बहुत ग़लती की,'' डा० दातार ने मुझे धीमे से कहा।

ज्ञानी जी उनसे अगली कुर्सी पर बैठे हुए थे। मैंने उनसे पूछा कि अब क्या करना चाहिए। ज्ञानी जी ने कहा कि मुझे लीडर की हैसियत से अपनी मिठाई वाली प्लेट हाथ में लेकर कौल साहब के पास जाकर खड़ा होना चाहिए, और उनसे बातचीत करनी चाहिए।

लेकिन इन बातों से मैं बहुत घबराता हूं। यह जानते हुए भी कि ज्ञानी जी ठीक कह रहे हैं, मैं बैठा ही रहा। इसका कारण हीन भाव के अलावा और कुछ नहीं था। जिस ढंग से मेरा पालन-पोषण हुआ है, मुझे हर किस्म के अफ़सरों से डर लगता है। सिर्फ़ अफ़सरों से ही नहीं, हर उस आदमी से भी, जो दुनियावी नज़र से मुझसे ऊंचा हो। अपने से छोटे व्यक्ति से मैं बड़ी आसानी से घुलमिल सकता हूं। उसे हंसा सकता हूं, नसीहतें कर सकता हूं। लेकिन अपने से बड़े व्यक्ति के निकट जाते ही मुझे सांप सूंघ जाता है। मेरी टांगें बोझल बन जाती हैं, ज़बान सूख जाती है, आंखें पथरा जाती हैं। उस समय वहां दूसरे लोग भी मेरी वाली बीमारी के शिकार बने हुए प्रतीत हो रहे थे।

हमारे देश में, और देश के बाहर भी, मध्यवर्ग के समारोह इसी तरह के फीके, बेजान और बेस्वाद हो गए हैं। उनमें आदमी को नहीं, उसकी 'पोज़ीशन' को देखा जाता है। शरीर सोफ़ों और कुर्सियों पर बैठे रहते हैं, लेकिन आत्माएं सीढ़ी के अलग-अलग डंडों पर जाकर खड़ी हो जाती हैं, जहां से वे हर एक को ऊंचे या नीचे स्तर पर देखती हैं। सिर्फ ऊपरी तीन-चार डंडों पर बैठी आत्माएं इस ईर्ष्या और सहम के भाव से मुक्त होती हैं और उनमें पूर्ण आत्मविश्वास होता है। सभी व्यक्ति उन्हीं की ओर देखते रह जाते हैं। हर कोई तब हंसता है जब वे हंसती हैं। हर कोई जैसे उनके संकेतों पर चलता है, चाहे अपने दिल में वह उनसे घृणा ही कर रहा हो।

सचमुच अंग्रेज़ शासक हमारे शिक्षित मध्यवर्ग को बुरी तरह ग़ुलामी में फंसा गए हैं। न तो हम अपनी ज़बान अच्छी तरह बोल सकते हैं, न हमें बैठने-उठने का ढंग आता है और न ही ख़ुशी और गमी के मौकों पर किसी से पेश आने का तरीका। न हम अपने गीत गा सकते हैं, न अपने देश के नाच, नाच सकते हैं। फिरंगी हमें अपने ही घर में बेगाना कर गए हैं।

''क्या बात है, बलराज जी? कहां है आप इस वक्त?'' ज्ञानी जी ने मेरे विचारों का तांता तोड़ते हुए कहा, ''आइए, कौल साहब के पास चलें।''

हम दोनों उठकर उनके पास गए। ज्ञानी जी तो पहले से ही सीढ़ी के ऊपरी डंडे पर खड़े होने के आदी थे, वे मुझे भी खींचकर अपने स्तर पर ले आए। फिर क्या था, औटोग्राफ़ लेने और हाथ मिलानेवालों की भीड़ लग गई। मैं भी निःसंकोच और मुस्कराकर बातें करने लगा। कौल साहब दूर खड़े जैसे मज़ा लेने लगे। मैंने खुद को उनकी ओर आकर्षित होते पाया। उन्होंने अपने सेक्रेटरी को बुलाकर कहा कि अठारह तारीख की शाम को राजदूतावास में हमारे डेलीगेशन के सम्मान में एक काकटेल पार्टी का प्रबन्ध किया जाए।

कुछ देर के बाद हमने बड़ी नम्रता से उनसे विदा होने की इजाज़त मांगी।

इस सारे अरसे में बाइकाफ़ मुख्य द्वार पर जमी हुई लोगों की भीड़ में खड़े रहे। उस भीड़ में वे एक ही रूसी व्यक्ति थे। हमने उन्हें अपने साथ आने के लिए कहा था। लेकिन उन्होंने अन्दर आना स्वीकार नहीं किया था। गोलुव्येव भी नहीं आया था। कहीं नाराज़ होकर तो नहीं चला गया? मैंने सोचा। शायद बाइकाफ़ को अपने साथ रखना और उनका योग्य आदर करना मेरा फर्ज़ बनता था। मुझे कब अक्ल आएगी?

बाहर निकले तो टैक्सियां लेने में कुछ देर लग गई। छः बज चुके थे। साथियों ने राय दी कि हमें फिर अजायबघर में जाना चाहिए, ताकि जितना समय मिले, कुछ और देखा जा सके। लेकिन बाइकाफ़ को यह बात पसन्द नहीं आई उन्होंने रूखे-से लहजे में कहा कि संग्रहालय सात बजे बन्द हो जाता है, और वहां पहुंचने में लगभग बीच मिनट लग जाएंगे। बाइकाफ़ हमें इस बात की रियायत देने के लिए तैयार नहीं थे कि हम मजबूर होकर ही राजदूतावास में गए थे। उनका यह रवैया मुझे अच्छा नहीं लगा। मैंने कहा कि हम ज़रूर संग्रहालय जाएंगे। चाहे देख न सकें, लेकिन प्रबन्धकों को अपनी मजबूरी का यकीन तो दिला सकेंगे, उनका पूरे दिल से धन्यावद तो कर सकेंगे। बाइकाफ ने फिर एतराज़ किया कि वहां गए तो वापस आने के लिए टैक्सी बड़ी मुश्किल से मिलेगी।

''कोई बात नहीं। हम बस में बैठकर होटल चले जाएंगे,'' मैंने कहा।

उन्होंने याद कराया कि हमें आठ बजे सर्कस देखने के लिए जाना है। फिर होटल पहुंचकर खाना भी खाना है। इसपर मेरे साथियों ने कहा कि वे बिना खाना खाए सर्कस देखने चले जाएंगे। बाइकाफ़ के लिए, जो नियमों के बहुत पाबन्द थे, विचित्र-सी स्थिति बन गई, और हगें रोकने का उन्हें कोई तरीका न सूझा।

संग्रहालय के कर्मचारियों को हमें देखकर हैरानी ज़्यादा हुई, या खुशी, कहा नहीं जा सकता। वे हमारे साथ इसी प्यार से पेश आए। समय बहुत थोड़ा रह गया था, लेकिन इसके बावजूद उन्होंने संग्रहालय की खास-खास कुछ चीज़ें हमें दिखा ही दीं, जिनमें से एक थी-फ़िल्मी पर्दे पर लेनिन को चलते-फिरते और कोलते हुए देखना। आखिर गाइड ने, जो हमारा बहुत अच्छा मित्र बन गया था, हमें तेज़ी से चलाते हुए संग्रहालय के सभी विभागों में घुमा दिया, ताकि हमें उसकी विशालता का अनुमान हो सके। कितना महान है, वह देश, जिसमें देशभक्तों की इतनी कद्र होती है। कितना अभागा है वह देश, जो अपने शहीदों को भुला देता है।

सर्दी बहुत बढ़ गई थी। उत्तरी देशों की शाम में हमारे देश के प्रातःकाल जैसी आभा होती है। टैक्सी सचमुच नहीं मिली। बस में सवार होने से पहले एक-दो फ़र्लांग पैदल चलना पड़ा। बस के उस छोटे-से सफ़र में कुछ अनोखी बातों का पता लगा। एक यह कि बस में कोई कंडक्टर नहीं होता। टिकिट देनेवाली मशीन लगी होती है, जिसमें पैसे डालने से टिकट निकल आता है। दूसरे, बाइकाफ़ ने बताया कि अगर कोई यात्री ग़लती से टिकिट न ले, तो साथ बैठे हुए यात्री उसे याद करा देते हैं। लेकिन अगर वह जानबूझकर टिकिट न ले और साथियों के कहने की कोई परवाह न करे, तो सज़ा के तौर पर उसकी फ़ोटो उसके नाम और पते के साथ, बस में टांग दी जाती है। यह इतनी बड़ी सज़ा है कि लोग इससे बहुत डरते हैं। लोगों की ईमानदारी का इससे बढ़िया सबूत और क्या हो सकता है कि मैंने कम से कम उस बस में किसी ऐसे व्यक्ति की फ़ोटो लगी हुई नहीं देखी।

क्लारा ज़ैटकिन सिलाई-कारखाना

मोटर क्लारा ज़ैटकिन कारखाने के फाटक के अन्दर दाखिल हुई। पुरानी-सी इमारत थी वह, जिसका हमपर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। एक लम्बी गली में से गुज़रकर हम दरवाज़े के पास पहुंचे, जहां दरबान खड़ा था। उसने नम्रता से दरवाज़ा खोला और हम एक बड़े-से आंगन में पहुंचे, जिसके फ़र्श पर सीमेंट का प्लस्तर किया हुआ था। दायें हाथ, सीढ़ियों के पास, एक अधेड़ उम्र की स्त्री और उसी उम्र के तीन-चार पुरुष हमारे स्वागत के लिए खड़े थे। स्वागत के बाद हम उनके पीछे सीढ़ियां चढ़ते हुए ऊपरी मंज़िल पर डायरेक्टर के दफ्तर में पहुंचे। उस दफ्तर को देखकर भी हमपर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। बल्कि मुझे हैरानी हुई कि हमें उस साधारण-से कारखाने में लाने का क्या फ़ायदा है। कहीं इन्कलाबी अजायबघर पूरा न देखने की सज़ा तो नहीं दी जा रही हमें?

कमरे के एक ओर लम्बी मेज़ थी, जिसपर बिलियर्ड टेबल की तरह हरा कपड़ा लगा हुआ था। उसके एक सिरे पर डायरेक्टर बैठ गए और इर्द-गिर्द रखी हुई कुर्सियों पर हम बैठ गए। बाकी के रूसी स्त्रियां-पुरुष भी हमारे साथ बैठ गए। वे लोग भी कारखाने के अधिकारी प्रतीत होते थे। डायरेक्टर ने हमारे स्वागत में कुछ शब्द कहे और कारखाने के बारे में बताना शुरू किया :

कारखाना सन १६०४ में बना था, यानी इन्कलाब से तेरह साल पहले। उनके लखपती मालिक को ज़ार की तरफ़ से फौजी वर्दियां और ओवरकोट सीने का ठेका मिला करता था।

लेकिन इन्कलाब के बाद, सन १६२२ में, मज़दूरों की फरमाइश पर कारखाने का नाम बदलकर 'क्लारा ज़ैटकिन सिलाई-कारखाना' रख दिया गया। क्लारा जर्मन मज़दूरों की संस्था की प्रमुख नेता थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध में जब हिटलर की फौज़े रूस पर चढ़ आई थीं तो इस कारखाने में फिर फ़ौजी वर्दियां बनने लगी थीं। लेकिन आजकल आम नागरिकों के लिए थोक पैमाने पर कपड़े सिए जाते हैं। कपड़ा बाहर से मंगाया जाता है।

पहली जनवरी, १६६३ से सोवियत सरकार के आदेशानुसार कारखाने में एक खोज-विभाग स्थापित किया गया था, जहां सिलाई के ज़्यादा अच्छे और किफ़ायती तरीके सोचे जाते हैं।

डायरेक्टर ने खोज-विभाग के डायरेक्टर का परिचय कराया। वह मेरे पासवाली कुरसी पर बैठा हुआ था। उसने हाथ में छड़ी पकड़ी हुई थी। लगभग पैंसठ वर्ष की उम्र होगी उसकी। सीढ़ियां चढ़ते समय अनायास ही मेरा ध्यान उसकी ओर गया था। 'जवानी की उम्र में यह आदमी बहुत सुन्दर रहा होगा,' मैंने सोचा था। उसके चेहरे पर संवेदना और सहृदयता की झलक थी। उसने मुझे अपनी ओर ध्यान से देखते हुए पूछा था, "सुना है कि आपमें से कोई ऐक्टर भी है। कौन है वह?" और यह पता लगने पर कि वह मैं ही हूं, उसने कहा था, "मैंने भी यही अनुमान लगाया था। आपका चेहरा बड़ी आसानी से अलग-अलग किस्म के भावों को प्रकट कर सकता है।"

ठीक वही बात जो मैंने उसके बारे में सोची थी। और फिर वह मेरे साथवाली कुरसी पर बैठ गया था।

पापकाफ़ उसका नाम था।

खोज-विभाग में तैयार किए गए कपड़ों के नमूने देश के अन्य सिलाई-कारखानों को भी भेजे जाते हैं, ताकि वे भी उनका लाभ उठा सकें। सभी कारखाने जनता की मिलकियत हैं, इसलिए एक-दूसरे से कोई भेद छुपाकर रखने की ज़रूरत नहीं पड़ती। बल्कि किसी बात को छुपाना अपराध समझा जाता है।

कुछ अरसे के बाद कारखाने की इमारत गिरा दी जाएगी, क्योंकि वह बहुत पुरानी हो चुकी है। नई इमारत आठ हज़ार वर्ग गज़ के क्षेत्र में बनेगी। अब इमारत का क्षेत्रफल तीन हज़ार वर्ग गज़ है। इस समय उसमें तीन हज़ार व्यक्ति काम करते हैं। नई इमारत बनने पर छः हज़ार व्यक्ति काम करने लगेंगे।

अब यहां मर्दों और बच्चों के कोट और ओवरकोट ही बनाए जाते हैं, फिर सूट भी बनेंगे और स्त्रियों के कपड़े भी।

कारखाने का अपना टैक्नीकल स्कूल और कालेज है, जहां हर साल १५० कर्मचारी डिग्री हासिल करते हैं।

कारखाने की अपनी नर्सरी है, जहां काम करनेवाली माताएं अपने बच्चों को छोड़ जाती हैं। बड़े बच्चों के लिए कारखाने का अपना किंडरगार्टन स्कूल है। उसमें १३० बच्चे पढ़ते हैं।

कारखाने के कर्मचारियों के बच्चों के लिए, शहर से बाहर, एक स्वास्थ्यवर्धक स्थान पर आरामगाह (सैनेटोरियम) बनाई गई है। बच्चों की टोलियों को बारी-बारी से छुट्टियां बिताने के लिए वहां भेजा जाता है। गर्मी के मौसम में लगभग ६०० बच्चे वहां छुट्टियां मना रहे होते हैं । कारखाने की ओर से बच्चों के स्वास्थ्य और पालन-पोषण का खास ख्याल रखा जाता है । वे कारखाने के बहुत बड़े परिवार के बच्चे समझे जाते हैं । पिछले साल सैनेटोरियम में कर्मचारियों ने आपस में मिलकर बच्चों की एक फ़िल्म बनाई थी। अगर हम चाहें तो वह हमें दिखाई जा सकती है ।

(मैने अपने साथियों की ओर से कहा कि हम उसे ज़रूर देखना चाहेंगे ।)

कारखाने का अपना एक छोटा-सा अस्पताल भी है । उसमें पैंतीस चारपाइयां हैं ।

(डा० दातार ने कहा कि हम अस्पताल भी ज़रूर देखना चाहेंगे ।)

कारखाने के कर्मचारियों में अधिक संख्या स्त्रियों की है । जवान लड़कियां और लड़के 'कोमसोमोल' (युवक कम्यूनिस्ट दल) के मेम्बर हैं, जोकि हर पहलू से उनके जीवन का अंग बन चुका है । उदाहरणार्थ, जब किसी लड़की या लड़के की शादी होती है तो आम तौर पर कोमसोमोल की तरफ से ही जशन मनाया जाता है । पिछले हफ्ते एक ऐसा ही जशन मनाया गया था। पहले 'शादी-महल' (वह सार्वजनिक स्थान जहां शादी की रसम अदा होती है) में दम्पती ने रजिस्टर में हस्ताक्षर किए, जिसपर उन्हें 'चैका' (रूस में बननेवाली सबसे बड़ी मोटर, जिसमें कि कल हमने मास्को की सैर की थी) में बैठाकर ज़मींदोज़ रेलवे के मज़दूरों के 'संस्कृति महल' में ले जाया गया । पुराने रूसी रिवाज के अनुसार डायरेक्टर ने लड़के के धर्मपिता का रोल अदा किया और कारखाने

की एक इंजीनियर स्त्री ने लड़की की धर्ममाता का रोल अदा किया । उस समय उन दोनों ने सफ़ेद गाउन पहने हुए थे, जिनपर मुर्गे का चित्र बना हुआ था, जोकि कारखाने का ट्रेड मार्क है।

शाम को एक सौ मेहमानों को खाना खिलाया था। इस जशन की खबर टेलीविजन वालों को भी कहीं से मिल गई थी और कैमरे आदि लेकर वहां पहुंच गए थे । टेलीविजन पर जो प्रोग्राम दिखाया गया, वह इस प्रकार शुरू होता है :

एक शानदार चैका मोटर चली आ रही है । अनाउन्सर की आवाज़ सुनाई देती है, "कोई बता सकता है कि इस चैका में कौन आ रहा है ? कोई राजदूत ? कोई प्रमुख नेता ? कोई विदेशी मेहमान ?...नहीं-नहीं, इसमें क्लारा जैटकिन सिलाई-कारखाने का एक नवविवाहिता मजदूर जोड़ा सफ़र कर रहा है ।" फिर मोटर एक इमारत के आगे आकर रुकती है । दम्पती जोड़ा उसमें से उतरता है । दरवाज़े पर कारखाने की ट्रेड यूनियन कमेटी के मेम्बर स्वागत के लिए खड़े हैं । वे उस दम्पती को उस नये फ्लैट की चाबी उपहार के रूप में देते हैं, जो यूनियन ने उनकी रिहायश के लिए प्राप्त किया है । चाबी के अलावा एक मेज़ और छः कुर्सियां उन्हें उपहार के रूप में दी जाती हैं ।....

कारखाने के तीन हज़ार मज़दूरों में से १२५५ मज़दूर नियमित रूप में शिक्षा पा रहे हैं । अध्ययन-मंडल (स्टडी-ग्रुप) भी बने हुए हैं, जिनमें मजदूर अपने काम को और ज़्यादा अच्छे ढंग से करने के तरीकों पर विचार करते हैं ।

लेनिन ने कहा था कि सोवियत व्यवस्था में एक बावर्ची को भी हुकूमत की कुर्सी पर बैठने के लायक बनाना होगा। इस बात को हमेशा सामने रखा जाता है। ट्रेड यूनियन कौन्सिल के मेम्बर चुनाव द्वारा चुने जाते हैं । फिर उन्हें कारखाने के संचालन की ज़िम्मेदारियां दी जाती है। कोमसोमोल भी कौन्सिल के लिए, चुनाव के बाद, अपने प्रतिनिधि भेजती है, क्योंकि कारखाने के मज़दूरों में अधिक संख्या युवकों और युवतियों की है । हर मज़दूर की योग्यता को प्रकट होने के लिए पूरे मौके दिए जाते है उदाहरणार्थ, अगर कारखाने का इंजीनियर छुट्टी पर जा रहा है तो ज़रूरी नहीं कि डिप्टी इंजीनियर ही उसकी जगह संभालेगा। किसी साधारण मज़दूर को भी यह मौका दिया जा सकता है, बशर्ते कि उससे उस काम के लिए अपनी योग्यता का सबूत दिया हो । इस तरह मज़दूरों को खास ज़िम्मेदारी वाले काम करने का मौका दिया जाता है। उसमें किसीको न कोई एतराज़ होता है, न कोई ईर्ष्या होती है ।

कमरे के बीच में दीवार के साथ सजाए हुए कुछ एक झंडों की ओर संकेत करते हुए डायरेक्टर ने बताया कि वे कारखाने को सरकार और विभिन्न संस्थाओं की ओर से इनाम में मिले हैं । देश का सबसे अच्छा सिलाई-कारखाना होने का झंडा पिछले साल कीव (Kiev) शहर के एक कारखाने के पास था, इस साल इस कारखाने ने जीत लिया है । (लाल रंग की मखमल का बहुत बड़ा झंडा था वह, जिसके बीच में लेनिन का चित्र बना हुआ था।)

डायरेक्टर के भाषण के बाद सवाल-जवाब हुए । पहला सवाल ज्ञानी जी ने पूछाः

सवाल- आपके कारखाने के जनरल मैनेजर और फर्श पर झाड़ू लगाने वाले मजदूर की तनख्वाहों में कितना फ़र्क है ?

जवाब- कारखाने में कम से कम तनख्वाह ४५ रूबल (लगभग २२५ रुपये) माहवार है, लेकिन इसके साथ निचले दर्जे के मज़दूरों को अलाउन्स भी दिए जाते है। अब जैसे फ्लैट का किराया कारखाना अपनी तरफ से देता है । वर्दी भी मुफ्त दी जाती है । कुल मिलाकर अलाउन्सों की रकम तन्खवाह का चौथा हिस्सा बन जाती है ।

कारखाने का सबसे बड़ा अधिकारी डायरेक्टर होता है । उसकी तनख्वाह २१० रूबल (लगभग १०५० रुपये) हैं । लेकिन डायरेक्टर को कोई अलाउन्स नहीं मिलता ।

कारखाने की औसत तनख्वाह ८० रूबल (लगभग ४०० रुपये) है । अच्छे कारीगर मज़दूरों की तनख्वाह ११० से १२० रूबल है । और उन्हें अलाउन्स भी मिलते हैं ।

सवाल- मज़दूरों को तरक्की कैसे दी जाती है ? उदाहरणार्थ, जब डिप्टी इंजीनियर चीफ़ इंजीनियर बन जाता है तो क्या उसकी जगह भरने के लिए अखबारों में इश्तिहार दिए जाते हैं ?

जवाब- इश्तिहार देने का रिवाज़ नहीं है । पहले अपने यहां के कर्मचारियों को मौका दिया जाता है । अगर आवश्यक योग्यता वाला व्यक्ति उनमें न हो तो बाहर के किसी कारखाने से भी कोई व्यक्ति लिया जा सकता है ।

सवाल- तरक्की के लिए डिग्री ज़रूरी है या अनुभव ?

जवाब- पहले डिग्री, यानी योग्यता, शिक्षा । दूसरे नम्बर पर अनुभव ।

सवाल- तनख्वाह हफ्तावार दी जाती है या माहवारी ?

जवाब- पन्द्रह दिन के बाद ।

सवाल- फर्ज कीजिए, मैनेजर गुस्से में आकर किसी मजदूर को नौकरी से निकाल देता है । उस हालत में मज़दूर क्या करेगा ?

जवाब- इसमें शक नहीं कि डायरेक्टर या मैनेजर जैसे उच्चाधिकारी के पास बहुत अधिकार होते हैं, लेकिन नौकरी से निकालने का हक उन्हें नहीं है । रखने या निकालने का हक सिर्फ ट्रेड यूनियन कौंसिल के पास होता है । वह दोनों पक्षों की बात सुनकर फ़ैसला करती है । मज़दूर को एक विभाग से दूसरे विभाग में बदलने का हक भी सिर्फ ट्रेड यूनियन कौंसिल को ही है ।

सवाल- क्या खोज-विभाग के डायरेक्टर अपने बारे में हमें कुछ बताएंगे ?

पापकाफ़- क्यों नहीं । मैं मास्को में पैदा हुआ था । जब बारह साल का था तो माता-पिता ने एक दर्ज़ी की दुकान पर काम सीखने के लिए लगा दिया। वहां मैंने छः साल काम किया । वहां ज़िन्दगी बहुत मुश्किल थी। उन्हीं दिनों मुझपर कम्यूनिस्ट विचारों का असर हुआ । आजकल जो कुछ बच्चों और नौजवानों के लिए किया जा रहा है, उन दिनों उसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था ।

अक्तूबर-इन्कलाब के बाद मैं फ़ौज में भर्ती हो गया । तीन साल फ़ौज में रहा । तब तक मैं सिर्फ चार कक्षाएं पढ़ा हुआ था । फौज से छूटने पर फिर दर्ज़ी का काम करने लगा । मैं 'कटर' बना । साथ ही तालीम पूरी की। यूनिवर्सिटी की डिग्री हासिल की । अपनी प्रतिभा के विकास के लिए मुझे अच्छे मौके मिलने लगे । अब भी मिल रहे हैं । मैं बहुत सन्तुष्ट हूं ।

सवाल-जवाब खत्म होने पर हमें कारखाना दिखाया गया।

आंगन के एक कोने में अस्पताल था । डा० दातार के कहने पर पहले उसे देखा गया । हमें देखने के लिए नर्सें और डाक्टर आदि पहले से बाहर खड़े थे । ज्ञानी जी उनकी नज़रों को विशेष रूप से अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे।

बाहर से अस्पताल छोटा-सा दिखाई देता था, पर अन्दर जाने पर हमने उसे हर प्रकार के समान से लैस पाया । अस्पताल का अपना आपरेशन थियेटर भी था । सिर्फ़ बड़े आपरेशनों के लिए ही वहां के मरीज़ों को किसी बाहर के अस्पताल में जाने की ज़रूरत पड़ती थी । डा० दातार का काफ़ी प्रभाव पड़ा। उन्होंने बताया कि वहां उतना ही अच्छा प्रवन्ध है जितना कि बम्बई के एक बढ़िया नर्सिंग होम में होता है । अस्पताल का डाक्टर एक ऊंचा लम्बा और बहुत ही सुन्दर व्यक्ति था । डा० दातार के मुंह से अस्पताल की प्रशंसा सुनकर वह बड़ी सहृदयता से मुस्कराया ।

सिलाई-विभाग में हमने कोई विशेष वर्णन योग्य बात नहीं देखी, सिवा दो-एक आविष्कारों के, जिनके लिए खोज-विभाग सचमुच मुबारकबाद का हकदार था ।

उन आविष्कारों में एक खास किस्म का फीता था, जो कपड़े के अलग-अलग टुकड़ों को इस मज़बूती से आपस में जोड़ सकता था कि सिलाई करने की कोई ज़रूरत नहीं पड़ती थी । टुकड़ों पर फीता रखकर ऊपर इस्त्री कर देने से वे टुकड़े जुड़ जाते थे । सचमुच यह एक क्रांतिकारी आविष्कार था ।

फिर एक मशीन दिखाई गई । पतलून या कोट काटने के लिए कागज़ पर बनाए गए नक्शों को एक मेज़ पर बिछा दिया जाता है । तब मेज़ पर लगी हुई पटड़ी पर से एक ट्राली चलने लगती है, जिसमें लगे हुए कैमरे नीचे बिछे हुए नक्शे की फ़ोटो खींचते जाते हैं। उस फ़ोटो की जितनी चाहिए कापियां बनाई जा सकती हैं । इस प्रकार वह एक ही समय अलग-अलग कारीगरों के पास पहुंच जाता है, और जितने समय में एक कोट तैयार होता है, उतने समय में बीस-तीस या इससे भी ज्यादा कोट तैयार हो जाते हैं । इस प्रकार समय और मेहनत की बहुत बचत हो जाती है।

हमें तोहफ़े के तौर पर एक छोटा-सा कोट दिया गया, जो सिलाई की बजाय फीते से जोड़ा गया था।

कारखाने में घूमते हुए हमें लगा जैसे हमारी खातिर काम बन्द कर दिया गया था। बहुत कम मज़दूर नज़र आ रहे थे। डायरेक्टर ने बताया कि अक्तूबर-इन्कलाब की सालगिरह पर (जैसे हमारे देश में दीवाली पर होता है) मज़दूरों के साल-भर के काम का मूल्यांकन होता है, और उन्हें इनाम दिए जाते हैं । आज यह रसम हमारे हाथों करवाने का फ़ैसला किया गया है, और मज़दूर ऊपर की मंज़िल पर हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

जब और हम ऊपर पहुंचे तो तालियों से हमारा स्वागत किया गया। जैसा कि डायरेक्टर ने बताया था, कारखाने में अधिक संख्या स्त्रियों की थी, और वह भी कम उम्र की स्त्रियों की। सिलाई की मशीनों और मेजों आदि को एक तरफ हटाकर बैठने के लिए स्थान बंनाया गया था। एक तरफ मेहमानों और अधिकारियों के लिए कुरसियां रखी हुई थीं। बैठने से पहले डायरेक्टर ने हमारा परिचय कराया, और नौजवान लड़के-लड़कियों ने बड़े चाव से आगे बढ़कर हमें फूलों के गुलदस्ते पेश किए। वे एक कमरे में से

निकलकर आ रहे थे, जिसे कि सामने पर्दा गिराकर स्टेजज का नेपथ्य (ड्रेसिंग रुम) बनाया गया था। प्रोगाम शुरु हुआ। पर्दे के पीछे से गाने-नाचने वालों की टोलियां भांति-भांति के लिबास पहने हुए आतीं, और दर्शकों के सामने अपना प्रोग्राम पेश करतीं। प्रोग्राम की विशेषता उसका फिल्बदीह-पन था। कभी कोई लड़की गाने से पहले शर्मा जाती। उसके साथ की लड़कियां ऊंची आवाज में बोलती हुई उसका हौसला बढ़ातीं। कोई मजाक भी करती। लड़की का चेहरा लाल सुर्ख हो जाता। चारों तरफ हंसी फूट पड़ती। लड़की भागने की कोशिश करती, लेकिन भाग न पाती। किसी किस्म की औपचारिकता नहीं थी। ऐसे लग रहा था जैसे कोई परिवार खुशी मनाने के लिए एक जगह जमा हुआ हो। वह पेशेवर कलाकारों का प्रोग्राम नहीं था, फिर भी कलात्मक-स्तर काफी ऊंचा था। उनमें एक नौजवान तो बहुत ही बढ़िया कलाकार था, जिसने कई टोलियों के साथ भाग लिया और जो अकार्डियन भी बजा रहा था। और प्रोग्राम का सूत्रधार भी बना हुआ था। वह फिल्मों में या स्टेज पर बढ़िया किस्म का 'कामेडियन' बन सकता था।

जिस चीज ने हमें सबसे ज्यादा प्रभावित किया वह थी, अधिकारियों के प्रति मजदूरों में किसी किस्म की खुशामद का अभाव। कोई उनकी प्रशंसा प्राप्त करने की कोशिश नहीं कर रहा था। न ही उनसे किसी को संकोच हो रहा था। ऐसा कोई अहसास भी नहीं था कि बड़े लोगों ने वहां आकर उनपर कृपा-दृष्टि की है। हमारे देश में ऐसी वर्ग - भावना बहुत आम है, जिससे कि अच्छे-अच्छे समागमों का मजा खराब हो जाता है।

हमारे देश में आज भी किसी व्यक्ति को इज्ज़त पाने के लिए खुद अपना प्रचारक बनना पड़ता है। लेकिन यूरोपीय देशों में नम्रता की ज़्यादा कद्र होती है। खास कर रूस के लोग तो आदमी के कपड़ों के बजाय उसके दिल को देखते है। सौभाग्य से हमारा प्रभाव भी उनपर बहुत अच्छा पड़ा। हममें से कोई भी दिखावा करनेवाला व्यक्ति नहीं था। प्रोग्राम के अन्त में मेरे हाथ से मजदूरों को प्रशंसा-पत्र और इनाम आदि दिलाए गए। फिर मेरे प्रार्थना करने पर ज्ञानी जी ने बड़े ही मीठे शब्दों में सबका धन्यवाद किया। इस अरसे में, पता नहीं कैसे दोस्ती और अपनत्व का बातावरण पैदा हो गया था, और हम भूल गए थे के हम कहीं बाहर से वहां आए हुए थे।

कारखाने का अपना थियेटर था, जहां लगभग पांच सौ व्यक्तियों के बैठने का प्रबन्ध था। वहां फ़िल्म दिखाने का भी प्रबन्ध था। कारखाने के पास अपना फ़िल्म प्रोजैक्टर था। हमारी फ़रमाइश पर बच्चों के सैनेटोरियम वाली फ़िल्म दिखाई गई। मजदूरों के उन बच्चों को देखकर लगा कि उन्हें हमारे देश के अमीर बच्चों से भी ज्यादा सुख-सुविधाएं प्राप्त थी। हमारे साथ कारखाने की बहुत-सी स्त्रियां भी बैठी हुई फ़िल्म देख रही थीं। लेकिन उनमें से कुछ एक की सेहत इतनी अच्छी नहीं थी। ऐसे लगा जैसे वे अपनी खुराक पर ज़्यादा खर्च नहीं करती थीं।हो सकता है कि अमेरिका के मज़दूरों का स्तर आर्थिक तौर पर उनसे ऊंचा हो, लेकिन इससे हमारा क्या मतलब? हमें तो अपने देश के मजदूरों से उनकी तुलना करनी है।

फ़िल्म खत्म होते ही गोलुव्येव ने धीमे से मुझे कहा कि लंच का समय हो चुका है, और होटल पहुंचने तक दो बज जाएंगे। मैं उसकी बात से सहमत था, लेकिन जब उसने हमारी ओर से मेज़बानों से विदा मांगी तो उन्होंने हमें जलपान किए बिना जाने की इजाजत

नहीं दी। उस समय 'जलपान' शब्द कानों को बहुत अच्छा नहीं लगा, क्योंकि भूख बहुत ज़्यादा लगी हुई थी। लेकिन दोष हमारा अपना था। हमने ज़्यादा सवाल पूछकर खुद ही देर की थी। वरना प्रोग्राम के अनुसार बड़ी आसानी से साढ़े बारह बजे वहां से जा सकते थे। मैंने सोचा कि जलपान से पेट नहीं भरेगा, और फिर होटल जाने तक भूख मर जाएगी। लेकिन मजबूरी थी। आखिर जब हम डायरेक्टर के साथ एक कमरे में दाखिल हुए तो वहां का दृश्य देखकर मैं हैरान रह गया। लम्बी-सी मेज पर दस्तरखान बिछा हुआ था। वोदका, कोन्याक, अंगूरी शराब की बोतलें वहां रखी हुई थीं, और साथ में कई किस्म का मांस, मछली, पनीर, कवियार (मछली के अंडे) और बहुत - सी दूसरी चीज़ें थीं। ऐसी दावत को अंग्रेजी में बैंक्वेट कहा जाता है। पता नहीं उसके लिए रूसी शब्द क्या है। इससे पहले जितनी बार भी मैं रूस आया था, कई बार ऐसे बैंक्वेट देखने में आए थे। लेकिन इस बार उनके लिए नज़र तरस गई थी। रूस में बैंक्वेट का मतलब है कि बाकी सब कामों की ओर से बेखबर होकर पूरी तरह से खाने-पीने में लग जाना। इससे पांच-छः घंटे बड़ी आसानी से निकल जाते हैं।

शुरू में मेज़बान वोदका का भरा हुआ गिलास हाथ में लेकर खड़ा हो जाता है और एक संक्षिप्त-से भाषण द्वारा मेहमानों का स्वागत करता है। उस समय सब अपनी-अपनी जगह खड़े हो जाते हैं, और हर आदमी अपना गिलास बाकी लोगों के गिलासों से टकराता है और फिर सभी व्यक्ति गिलासों को मुंह लगाकर एक ही बार में खाली कर देते हैं। वोदका सोडा या पानी डाले बिना पी जाती है। गले में से आग की लपट की तरह नीचे उतरती है। उसकी ज़लन को मिटाने के लिए बाद में सोडे के कुछ घूंट पिए जाते हैं और फिर खाने की चीज़ों पर जैसे धावा बोल दिया जाता है। कुछ देर के बाद मेहमानों का मुखिया वोदका का गिलास पकड़कर खड़ा होता है और मेज़बानों का धन्यवाद करता है और उनकी लम्बी उम्र और उनके परिवारों की सेहत और खुशी के लिए शुभकामनाए प्रकट करता है। तब फिर सभी व्यक्ति खड़े हो जाते हैं, गिलास टकराए जाते हैं और दूसरा जाम खत्म कर दिया जाता है।

इस किस्म की सुन्दरता और खुशी-भरी दावतें हमारे देश में-राजस्थान और काठियावाड़ में भी देखी जा सकती हैं, जब राजपूत बहादुर चांदी के खरल में अफ़ीम घोलते हैं, और हथेली में लेकर एक-दूसरे पर से न्योछावर करते हुए उन्हें पिलाते हैं और बड़ी काव्यात्मक बातें करते हैं।

दो-तीन दौर चल चुकने पर प्यार का सागर छलकने लगता है और कल्पना छलांगें लगाने लगती है। हर ज़बान पर सरस्वती आकर विराजमान हो जाती है। जब तक टांगें लड़खड़ाकर जवाब नहीं दे जातीं, लगातार एक-दूसरे की सेहत के जाम पिए जाते हैं।

मैं हैरान था कि इतनी बड़ी दावत का इन्तज़ाम कैसे हो गया, जबकि प्रोग्राम में इसका कोई ज़िक्र नहीं था। डायरेक्टर की खुलदिली थी कि यह देखकर कि खाने का समय हो गया है, उसने हमें रोक लिया था। शायद दोस्ती के उस वातावरण को तोड़ना उनके लिए असह्य था। खैर, जो भी कारण हो, मज़ा बहुत आया।

यूक्राइना होटल के संगमरमर के बने हुए विशाल आंगन के पीछे एक और छोटा आंगन है, जिसमें लिफ्टें लगी हुई हैं। पहले यहां एक बुक-स्टाल होता था। इस बार आने पर वहां काफ़ी-बार बनी हुई देखी, जहां सारा-सारा दिन और सारी-सारी रात

युवकों-युवतियों की ऐसी चहल-पहल लगी रहती है जैसी कि लंडन या पेरिस में देखी जा सकती है। उसे देखकर लगता है कि मास्को के सामाजिक जीवन में कितना बड़ा परिवर्तन आ गया है। परीक्षित ने शाम को यहीं मिलने का वादा किया था। मैं जब लिफ्ट़ से बाहर निकला तो पास में ही, दीवार के साथ लगी हुई मेज़ पर कोहनियां टिकाए वह खड़ा एक लड़की से बातें कर रहा था।

थोड़ी देर बाद परीक्षित और मैं अकेले रह गए। पहली बार बिलकुल अकेले हुए थे। हमारे दरम्यान अजीब-सा तनाव पैदा होना शुरू ह़ो गया। न उसे पता था कि बेटे की हैसियत में उस समय उसका क्या फर्ज़ बनता था, और न ही मुझे पता था कि पिता के नाते मुझे क्या करना चाहिए। मेरे पिताजी के ज़माने में ऐसी बातों का ज्ञान ज्य़ादा स्पष्ट होता था। पिता अपनी बुज़ुर्गी को सन्तान के सामने ज्य़ादा उभारकर पेश करता था। क्योंकि वह बड़ा था, इसलिए उसे सन्तान पर हुक्म चलाने या उसे डांटने, मारने का अधिकार था। जिस दिन बेटे ने होश संभाला और पिता के लिए अपना हुक्म मनवाना मुश्किल हो गया, समझो उसी दिन से बूढ़ा हो गया, चाहे वह दुनिया की नज़र में अभी जवान ही हो।

इसके उलट, मेरी पीढ़ी ने सन्तान के साथ शुरू से ही 'दोस्ती' का रिश्ता कायम करने की कोशिश की है। बचपन से हीं सन्तान को बड़े होने का अहसास दिलाया गया है। बदले में हम चाहते हैं कि बुढ़ापे में सन्तान हमें जवानी का अहसास दे, हमें अच्छा दोस्त समझे। लेकिन यह कैसे संभव हो सकता है, जबकि प्रकृति ने उसे हमें पीछे धकेलने और हमारी जगह संभालने के लिए पैदा किया है?

मेरे मन में तरह-तरह के खयाल चक्कर लगा रहे थे। परीक्षित भी पता नहीं क्या सोच रहा था। उसे भी जैसे कुछ सूझ नहीं रहा था। सो उस तनाव से छुटकारा पाने के लिए हम होटल में से निकले।

यूक्राइना के बिलकुल सामने एक बस आकर रुकती थी, जो सिर्फ कीव्स्काया मेट्रो (ज़मीन के नीचे रेलवे स्टेशन) तक जाती थी। हम उसमें सवार हुए।

मास्को की ज़मींदोज़ रेलवे संसार की सबसे सुन्दर रेलवे मानी जाती है। उसे देखे ही बनता है। लंडन और पेरिस की रेलों के मुकाबले में मास्को की मेट्रो की अपनी अलग शान है। एक से एक स्टेशन बढ़-चढ़कर सुन्दर। हर किसी का अलग किस्म का डिज़ाइन, और अलग रंग के संगमरमर का बना हुआ। ज़मीन के सौ गज़ नीचे जाकर एक नई ही दुनिया नज़र आने लगती है, जैसे अलादीन का चिराग रगड़ने से वह एकाएक साकार हो गई हो। कई आलोचक एतराज़ भी करते हैं कि उस समय जबकि रूसियों के पास रोटी और कपड़े की कमी थी, ऐसे 'ताजमहल' बनाने की क्या ज़रूरत थी। क्या वह जनता की कठिनाइयों का मज़ाक उड़ानेवाली बात नहीं है? इसके जवाब में, जैसा कि उन दिनों रिवाज था, सारा दोष स्तालिन पर लगा दिया जाता था।

प्लेटफ़ार्म पर परीक्षित ने मुझे बहुमूल्य पत्थरों द्वारा दीवारों में बनाए गए चित्र दिखाए। पहले मैं उसका मतलब न समझ सका, लेकिन एक चित्र के पास खड़े होकर जब वह शरारत-भरे अन्दाज़ में मेरी ओर देखकर मुस्कराने लगा तो मुझे कुछ शक हुआ। मैंने

चित्र की ओर ध्यान से देखा। चित्र के विभिन्न दृश्यों में स्तालिन की शक्ल मिटाकर उसके स्थान पर लेनिन की शक्ल बना दी गई थी। एक दो और चित्र भी देखें, जिनमें लेनिन की शक्ल के पीछे धुंधली-सी स्तालिन की शक्ल की झलक देखी जा सकती थी। मुझे वह बड़ी हास्यजनक और बचकाना किस्म की हरकत महसूस हुई।

मैंने परीक्षित से पूछा था, ''तुम्हारा क्या खयाल है? यहां रहते हुए तुम्हें पांच साल हो चले हैं। तुम रूसियों जैसी रूसी बोलते हो। और यहां के जीवन के बारे में तुमने काफ़ी गहरा तजरबा हासिल किया है।''

''कुछ नहीं कहा जा सकता डैडी,'' उसने जवाब में कहा था, ''लेकिन इतना ज़रूर देखने में आता है कि रूस का विद्यार्थी-वर्ग बड़ी तेज़ी से पश्चिमी यूरोप के रंग में रंगता जा रहा है। राजनीति में लड़के-लड़कियों की बहुत कम दिलचस्पी है। वे नये से नये फ़ैशन के पीछे भागते हैं। किसी पश्चिमी देश का कोई गवैया यहां आ जाए तो उसे सुनने के लिए टूट पड़ते हैं।''

''पर इसमें तो मुझे कोई बुराईवाली बात नज़र नहीं आती। इन्कलाब का यह मतलब तो नहीं कि मज़दूर हमेशा दुःख-तकलीफें सहता हुआ अपना सब कुछ कुर्बान करता रहे? लेनिन ने कहा था कि हर देश में इन्कलाब लाना उस देश की जनता और मज़दूरों का फर्ज़ है। रूस का मज़दूर-वर्ग अपने देश में इन्कलाब ले आया। अब उसका फर्ज़ है कि वह अपने देश की जनता को ऐश्वर्य के शिखर पर पहुंचाए। हर कोई अच्छा खाए, अच्छा पहने, नये ज़माने की सहूलियतों को हासिल करे। पूंजीवादी देशों में वैज्ञानिक आविष्कारों का लाभ ज़्यादातर पूंजीवादी वर्ग ही उठाता है। रूस के मज़दूर-वर्ग ने उसे अपने देश के प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुलभ कर दिया है। रेफ़्रीजिरेटर, टेलीविजन, टेलीफ़ोन आदि चीज़ें मास्को के हर नागरिक को प्राप्त हैं। इसमें बुराई क्या है? या क्या इन चीज़ों का कोई अलग 'इन्कलाबी' डिज़ाइन होना चाहिए? क्या हम चाहते हैं कि रूसी अच्छे कपड़े न पहनें? अगर पहनें तो वे पश्चिमी यूरोप के देशों के फ़ैशन से अलग, किसी 'इन्कलाबी' फैशन के हों? क्या इन्कलाब की पहचान कपड़ों या मशीनों में है। बाकी यूरोप की तरह रूसी भी यूरोपीय हैं। दोनों की सभ्यताओं में बहुत-सी समानताएं और गहरे सम्बन्ध हैं, अगर रूसी उन सम्बन्धों के आधार पर यूरोपीय लोगों से दोस्ती के रिश्ते मज़बूत करें और शान्ति का वातावरण पैदा करें तो इसमें किसीको क्या एतराज़ हो सकता है। इसका यह मतलब कैसे लिया जा सकता है कि उन्होंने अपना इन्कलाबी विरसा छोड़ दिया है?....''

''आपको सब कुछ मुझसे ज़्यादा पता है डैडी, फिर मुझसे क्यों पूछते हैं?''

और हम दोनों खिलखिलाकर हंस पड़े।

रात जब अपने कमरे में लौटा तो गोपालन का फ़ोन आया। उन्होंने बताया कि सर्कस पहुंचकर गोलुब्येव ने टैक्सी छोड़ दी थी और वापसी पर टैक्सी नहीं मिली। इसलिए डेढ़-दो मील पैदल चलकर आना पड़ा था। सड़क पर बर्फ़ पड़ी हुई थी। तापमान शून्य से आठ डिग्री नीचे आया हुआ था। सो पैदल चलने का नतीजा यह निकला था कि ठंड लगने से उनके पांव की छोटी अंगुली में बहुत सख्त दर्द हो रहा था। क्या यह अपमान-भरा

सलूक नहीं है? कहीं यह भी इन्कलाबी अजायबघर को बीच में ही छोड़कर दूतावास चले जाने का दंड तो नहीं?...गोपालन की अंगुली सदा के लिए बेकार हो सकती थी। कुछ साल पहले, हमें ठंड से बचाने के लिए रूसी कितने इन्तज़ाम किया करते थे। लेकिन अब उन्हें शायद अमरीका, इंगलैण्ड, फ्रांस और जर्मनी से आए हुए मेहमानों का ज़्यादा ख्याल था। आखिर तो वे उनकी यूरोपीय बिरादरी के लोग हैं। बराबरी हो गई तो बिरादरी भी याद आ गई।...

तभी तो चीनी कहते हैं कि अगर रूसियों के लिए सांस्कृतिक तौर पर अपने-आपको यूरोप का अंग बनाने में कोई हर्ज नहीं है तो एशिया और अफ्रीका के देशों को अपने अलग परिवार बनाने में क्या हर्ज है। धनवानों का अपना परिवार, गरीबों का अपना परिवार।....

लेकिन यह कैसा बेहूदा तर्क है। सोवियत संघ ने फिर पश्चिमी यूरोप के साथ मिलकर राजनैतिक गुट बनाने की कब कोशिश की है? और चीन, जो एशियाई और अफ्रीकी देशों को एक परिवार कहने का ढोंग रच रहा है, उसका अपना सलूक एशियाई देशों के साथ कैसा है?

हिन्दुस्तान ने चीन का क्या बिगाड़ा था? हम तो 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' कहते नहीं थकते थे। सबसे पहले हमींने आगे बढ़कर उनके इन्कलाब का स्वागत किया था। हम उनके लिए राष्ट्रसंघ में लड़े थे। बिना किसी हिचकिचाहट के तिब्बत पर उनका हक माना था।

क्या पता, चीनी भी रूस के प्रति हीन भाव के शिकार हो रहे हों। हो सकता है, उनके आपसी झगड़ों का कारण राजनैतिक न हो, बल्कि मानसिक हो। रूसियों के मुकाबले में छोटे लगना माओत्से तुंग और उनके साथियों को अच्छा न लग रहा हो।...मैंने चीनी नेताओं के बारे में ख्रुश्चेव के एक-दो लेख पढ़े थे, जिनमें चीनी गांवों में 'कम्यून' बनाने के आन्दोलन का बड़े तिरस्कृत शब्दों में मज़ाक उड़ाया गया था। हिन्द-चीन के सरहदी झगड़े के दिनों में भी उन्होंने कहीं लिखा था कि "चीनी शोर बहुत मचाते हैं, लेकिन शोर मचाने से समस्या हल नहीं हो सकती।" भला ऐसे शब्दों का प्रयोग करना अच्छी बात है? क्या इसमें से अहंकार की बू नहीं आती? शायद इसी ग़लती को महसूस करके रूसियों ने ख्रुश्चेव को अचानक गद्दी से उतार दिया हो। सुना है कि अक्तूबर-इन्कलाब के समारोह में चाऊ एन आई भी आ रहे हैं। अगर सचमुच इनका आपसी झगड़ा किसी सिद्धान्त के आधार पर नहीं है तो शायद आज नहीं तो कल उनकी सुलह हो ही जाए। तब हिन्दुस्तान क्या बीच में ही लटक जाएगा?...काश, नेहरू कुछ समय जीवित रहते। उनकी-सी योग्यतावाला व्यक्ति अब कौन है हमारे नेताओं में ? क्या नेहरू सचमुच अब नहीं है? यकीन ही नहीं आता।...खैर, छोड़िए इन बातों को।...गोपालन ने आज तक बर्फ़ गिरती हुई नहीं देखी थी। अब उन्होंने सिर्फ़ बर्फ़ गिरती हुई नहीं देखी बल्कि उस पर चलने का मज़ा भी ले लिया है....

हम मास्को यूनिवर्सिटी देखने जाएंगे, यह खबर किसी तरह वहां के हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों को मिल गई थी। कुछ एक वहां पहुंचते ही हमसे मिलने आ गए। उनमें कल्पना दीदी भी थीं, मेरे प्रिय मित्र पी०सी०जोशी की धर्मपत्नी। मैं इन दोनों व्यक्तियों

को आदर्श मनुष्य मानता हूं। पी०सी०जोशी कम्यूनिस्ट पार्टी के वे नेता है, जिनके लिए उनकी प्रतिभा और सरलता ही सबसे बड़ी दुश्मन साबित हुई हैं। किसी ज़माने में वे पार्टी के जनरल सेक्रेटरी थे। द्वितीय विश्व महायुद्ध के ज़माने में उनकी लाजवाब प्रेरणा शक्ति ने पार्टी को देश की प्रमुख राजनैतिक शक्ति बना दिया था। पर यह बात किस्मत को गवारा न हुई। अन्दर ही अन्दर उन्हें नीचे गिराने की साज़िशें होने लगीं। पी०सी०को अपने देश और उसकी सदियों पुरानी अद्वितीय सभ्यता और संस्कृति पर बहुत गर्व था, जो हमेशा से नये विचारों और प्रभावों को अपने अन्दर समाती और उन्हें अपने ढंग से निखारती आई है। इसी विशेषता ने भारत को इतिहास के हर मोड़ पर सचेतन और सजीव बनाए रखा है। पी०सी० को यह विश्वास था कि हमारे देश के विभिन्न प्रगतिशील आन्दोलन मार्क्सवाद को भी अपने ढंग से ग्रहण करेंगे। इसलिए वे उन आन्दोलनों को कम्यूनिस्ट आन्दोलन के विरोधी या उससे पृथक नहीं समझते थे। उन्हें देश के स्वतन्त्रता-आन्दोलन पर गर्व था। उन्हें गांधी जी और पंडित नेहरू पर भी उतना ही गर्व था जितना भगतसिंह और सुभाषचन्द्र बोस पर। उनसे सैद्धांतिक विरोध रखते हुए भी वे उनके कुर्बानियों से भरे महान व्यक्तित्वों के आगे सिर झुकाते थे। इसी आधार पर उन्हें सुधारवादी करार दिया गया। उन्हें कम्यूनिस्ट पार्टी के सेक्रेटरी के पद से हटाया लगया। लेकिन उनके विरोधी केवल इतने से सन्तुष्ट नहीं हुए। वे तो जैसे जीवित व्यक्तियों की सूची में से उनका नाम खारिज कर देने की हद तक उनके दुश्मन बन गए थे।

अफ़सोस और हैरानी की बात है कि उनके अपने कामरेडों और साथियों ने उन्हें ऐसी शारीरिक और मानसिक यातनाएं दीं। पहले मैं सोचा करता था कि ऐसी बातें केवल हमारे देश में ही हो सकती हैं जो हमारी दो सौ वर्ष की ग़ुलामी का नतीजा हैं। लेकिन हावर्ड फ़ास्ट की पुस्तक, 'नैकेड गाड' पढ़ने के बाद इस असलियत का पता लगा कि दूसरे देशों की कम्यूनिस्ट पार्टियों में भी सैद्धान्तिक मतभेद रखनेवाले अपने साथी को कुचल डालने के अनगिनत उदाहरण मिलते हैं, और यह स्तालिन के ज़माने के कम्यूनिस्ट पार्टी के विधान की आवश्यक पैदावार है। कहा जाता है कि स्तालिनवाद को सोदियत संघ और अन्य देशों की कम्यूनिस्ट पार्टियां भी बड़ी तेज़ी से खत्म कर रही हैं। परन्तु अपने देश में तो मुझे ऐसी कोई स्थिति दिखाई नहीं देती जिसके आधार पर हम कह सकें कि कम्यूनिस्ट पार्टी के अन्दर प्रजातन्त्रवादी सिद्धान्तों का उपयोग होने लगेगा। इसका एक सबूत तो यह है कि पार्टी के अन्दर जो मतभेद और नेताओं के परस्पर विरोध की खाई है, वह दिन-प्रतिदिन चौड़ी होती जा रही है। दूसरा सबूत यह कि पार्टी के अधिकांश मेम्बरों द्वारा मुक्त कण्ठ से यह स्वीकार करने पर भी कि समय ने पी०सी०जोशी के दृष्टिकोण और नीति को सही और विरोधी नेताओं की नीति को ग़लत साबित किया है, आज भी उनकी पहले ही की तरह निन्दा होती है और उन्हें तिरस्कार की नज़र से देखा जाता है। पहले उन्हें 'सुधारवादी', 'प्रतिक्रियावादी', 'नेहरू की पूंछ' आदि कहा जाता था, और आज कहा जा रहा है कि उनका दिमाग़ जवाब दे चुका है और वे बेतुकी बातें करने लगे हैं।

परन्तु पी०सी० जोशी एक सच्चे कर्मयोगी हैं। गीता और मार्क्सवाद के सम्मिश्रण ने उनके खून में पता नहीं कैसी जादू-भरी शक्ति पैदा कर दी है कि पिछले कई वर्षों से अनेक प्रकार के दुःख तकलीफें सहते हुए भी उनके मुंह से हाय तक नहीं निकली है।

कभी किसी पराये व्यक्ति के सामने उनकी ज़बान पर कम्यूनिस्ट पार्टी के विरुद्ध एक शब्द तक नहीं आया है। उनकी जगह कोई और होता तो पार्टी छोड़कर अपनी अलग पार्टी खड़ी कर लेता, या फिर सचमुच अपने होशहवास खो बैठता। पी०सी० ने आखिर अपना शरीर तो तोड़ दिया है, लेकिन मन नहीं टूटने दिया। मैं राजनीति का उस्ताद नहीं हूं, लेकिन कई बार मेरे दिल की गहराई में से आवाज़ उठती है, 'काश, नेहरू के बाद देश की कश्ती का खेवनहार कोई पी०सी० जैसा व्यक्ति होता।' लेकिन इस देश की सदियों से यही बदकिस्मती रही है। उसने किसी महापुरुष की महानता को अगर पहचाना तो उसके मरने के बाद।

कल्पना दीदी का जीवन-संघर्ष भी पी०सी०से कम नहीं है। चिटागांव की इस वीर बाला ने सोलह वर्ष की उम्र में बंगाल के गवर्नर पर गोली चलाई थी। वे उम्र कैद की सज़ा पूरी करके विश्वयुद्ध के दिनों में रिहा हुई थीं। अनेकों दूसरे आतंकवादी क्रांतिकारियों की तरह कल्पना भी जेल में मार्क्सवादी विचारधारा के कारण कम्यूनिस्ट पार्टी में शामिल हो गई थीं। कहते हैं कि पाकिस्तान बनने के बाद भी पूर्वी बंगाल के गांवों में कल्पना की बहादुरी के लोकगीत गाए जाते हैं। पी०सी० का कल्पना से १९४१ के लगभग विवाह हुआ था।

पी०सी० और कल्पना की इस जोड़ी को संसार की सभी अच्छाइयों का वरदान मिला हुआ है। उनपर मुसीबतों के पहाड़ टूटे हैं, परन्तु मुस्कराहट ने उनका साथ नहीं छोड़ा। उनका ध्यान हमेशा दूसरों के दुःखों की ओर रहा है, अपने दुःखों की उन्होंने कभी परवाह नहीं की।

उम्र के पचासवें वर्ष में पांव रख रही कल्पना दीदी में आज भी किसी छोटी-सी लड़की की चंचलता है। मुलाकात होने पर कुछ ही क्षणों में उन्होंने मेरे साथियों के दिलों में खुशी भर दी। वे हमें अपने कमरे में ले गईं, जिसमें कि वे और एक रूसी युवती एकसाथ रह रही थीं। दोनों ने बड़े प्यार से हमारे लिए हिन्दुस्तानी ढंग की चाय बनाई, जिसके लिए हम किसी हद तक तरस गए थे। उनके साथ उस नगर-समान यूनिवर्सिटी की सैर करने का मज़ा दुगुना-चौगुना हो गया।

सार्वजनिक सभा

हमारे मनों में सार्वजनिक सभा का चित्र एक खास तरह का बना हुआ है। खुला मैदान, एक तरफ़ जल्दी-जल्दी बनाया गया मंच। लोगों की भीड़ नीचे धरती पर बैठी हुई। अगर टाट बिछा दिए गए हैं, शामियाना लग गया है तो समझो प्रबंधकों ने बेहद खूबसूरती का सबूत दिया है। जगह-जगह लगे हुए लाउडस्पीकर, जिनकी आवाज़ से कान फटते हैं। शहर की दीवारें इश्तिहारों से गंदी बनी हुईं। उन इश्तिहारों में वक्ताओं के परोपकारी जीवन की ढिंढोरा पीटा हुआ। झंडियां, बिल्ले, सोडा, पान-बीड़ी, सिगरेट, चना ज़ोर गरम। किसी ज़माने में इन सभाओं और नेताओं के प्रति जनता को बहुत श्रद्धा थी। अब दोनों तमाशा बनकर रह गए हैं।

गोलुव्येव लंच से उठते समय ताकीद कर गया था कि रूसी इन्कलाब की याद में सार्वजनिक सभा शाम को छः बजे शुरू हो जाएगी, सो हमें वहां पंद्रह मिनट पहले पहुंच जाना चाहिए। और फिर लिफ्टोंवाली डयोढ़ी में वायकाफ़ दोबारा ताकीद कर गए थे। और यह भी कह गए थे कि सभा में हमारे साथ वे खुद चलेंगे, गोलुव्येव नहीं।

दोनों की गम्भीरता से हमने अन्दाज़ा लगा लिया था कि सभा असाधारण महत्त्व रखती है। पर उसका चित्र हमारे मनों में अपने देश में होनेवाली सभाओं जैसा ही था। सोचा था कि लाल चौक में शायद बहुत शानदार प्रदर्शन होगा, नारे गूंजेंगे, नेताओं के धुआंधार भाषण होंगे। अपने देश के लिए नेताओं ने बहुत कुछ कर दिखाया है, सो यही तो मौका है प्रशंसा पाने, हार पहनने और सम्मान प्राप्त करने का।

मुझे लग रहा था कि हमें एक ऐसा फ़र्ज़ पूरा करना पड़ रहा है, जिसमें हमें कोई दिलचस्पी नहीं है। इसकी बजाय हमें बॉलशाय थियेटर में बैले दिखा दिया जाता, या किसी और थियेटर में कोई नाटक। कल रात क्या दिखाया था मेरे साथियों को ?- सर्कस। और वहां से उन्हें पैदल आना पड़ा था। गोपालन आज भी लंगड़ाकर चल रहे थे। दोपहर के समय जब मास्को यूनिवर्सिटी में से बाहर निकले थे तो जो मोटर हमें वहां लाई थी, वह जा चुकी थी। गोलुव्येव को टैक्सी ढूंढने में काफी समय लग गया था। बर्फ पर खड़े रहने से हमारे पांव सुन्न हो गए थे। गोपालन की तकलीफ़ और बढ़ गई थी।...और आज शाम का प्रोग्राम था- सार्वजनिक सभा में शामिल होना। मेरे मन में तलखी थी।

परन्तु ज्ञानी जी इतने निराश नहीं थे। वे खुद एक राजनैतिक नेता थे। उन्होंने यह भी सुना था कि चाऊ एन लाई आएंगे। इसका मतलब है कि सभा में कोई महत्त्वपूर्ण घोषणा हो सकती है। बस, इससे ज़्यादा शौक उन्हें भी नहीं था।

नतीजा यह हुआ कि लंच के बाद दो-तीन घंटे का समय हमने होटल की रौनक देखने में ही बिता दिया।

...छत से लटके हुए एक बिलौरी शैंडलियर के नीचे, बड़ी-सी गोल मेज़ के गिर्द, नर्म सोफ़ा-कुर्सी पर एक बेहद सुन्दर युवती बैठी हुई थी। उसने सिर पर एक गोल टोपी पहनी हुई थी, जो उसके छोटे-से कद के मुकाबले में ज़्यादा बड़ी लगती थी, और उस

टोपी के कारण उसके चेहरे पर बच्चों का-सा भोलापन दिखाई दे रहा था। टोपी के नीचे से गर्दन के पास, बाहर निकली हुई सुनहरी लटें और नसवारी रंग की पलकों की कैद में बेचैन बनी हुई बड़ी-बड़ी नीली आंखें गज़ब ढा रही थीं। पिंडलियों तक ऊंचे बूट थे। और उसी किस्म के दस्ताने मेज़ पर रखी हुई पुस्तकों और कापियों के ढेर पर पड़े हुए थे। वह विद्यार्थी थी। काफी देर से चुपचाप अकेली बैठी हुई थी। पता नहीं किसकी प्रतीक्षा कर रही थी। पता नहीं उसके मन में कैसे-कैसे विचार उठ रहे थे।

मैंने देखा कि बड़ी मेहनत से तराशे हुए कुदरत के इस बुत को ज्ञानी जी भी प्रशंसा-भरी नज़र से देख रहे थे। ऐनक के शीशों के पीछे 'बगुला भगत' जैसी नज़र थी उनकी, जिसकी मिसाल पंजाब के बाहर मिलनी मुश्किल है।

"क्या सोच रहे हैं, ज्ञानी जी?" मैंने शरारत से पूछा।

"कुछ नहीं, सोचना क्या है?"

"फिर भी?" और मैं हंस पड़ा।

"जो आपका खयाल है, वही सोच रहे थे हम।"

एकाएक मुझे ज्ञानी जी अपनी उम्र से बीस साल छोटे हो गए प्रतीत हुए। मैं और भी ज़ोर से हंस पड़ा।

"क्या बात है, इतना हंस क्यों रहे हैं?"

हमारा परिचय अभी नया-नया था, सो मैंने अपनी सफ़ाई देना ज़रूरी समझा।

"मेरा कसूर नहीं है ज्ञानी जी," मैंने कहा, "आदर्शवादी ढंग से सोचने की बीमारी हमारे देश में हर किसीको लगी हुई है। जब से आपने यह बताया है कि रियासती जेलों में आपने इतने साल काटे है और पुलिस की इतनी मारें खाई हैं, मैं आपको एक ऐसे महापुरुष के रूप में देखने लग पड़ा हूं, जो हर किस्म की इन्सानी कमज़ोरियों से ऊपर उठा हुआ है। इसीलिए आपका खालिस पंजाबी जवानों की तरह इस लड़की की ओर देखना मुझे अजीब-सा लग रहा था।"

"मैं जानता था कि कोई ऐसी ही बात होगी।"

"ज्ञानी जी, यहां इन्कलाब का दिन इतनी धूमधाम से मना रहे हैं, पर सबसे बड़ी खुशी तो उन बूढ़े हो चुके इन्कलाबियों के दिलों में होगी, जिन्होंने अपनी जानों पर खेलकर उस दौर में कुर्बानियां की थीं। ठीक है कि नहीं ?"

"बेशक ।"

"इसी तरह आपको भी तो यह सोचकर खुशी होती होगी कि हिन्दुस्तान की आज़ादी आपने कुर्बानियां देकर ली है ?"

"यह न कहिए, बलराज जी। हमें तो अपनी मूर्खता पर अफ़सोस होता है कि अपनी 'सोने जैसी जवानी' व्यर्थ में ही जेलों में खराब कर डाली। वही समय था, जब मौज-मेला कर सकते थे। माता-पिता के सिर पर विलायत भी जा सकते थे।"

इस उत्तर की मुझे आशा नहीं थी। सुनकर मैं आश्चर्यचकित बना उनकी ओर देखता रह गया। उनके चेहरे पर उदासी दिखाई देने लगी थी।

"सच बात है, बलराज जी," उन्होंने कहा, "हम इस किस्म की आज़ादी के लिए नहीं लड़े थे। वही पुलिस अफ़सर जिन्होंने हमपर पाशविक अत्याचार किए थे, आज और भी ऊंचे ओहदों पर पहुंचकर हमें अंगूठा दिखा रहे हैं। जो बदकारियां वे उन दिनों किया करते थे, आज और भी निडर होकर कर रहे हैं। और हम हैं कि सब कुछ आंखों से देखते हुए भी मुंह से कुछ नहीं कह पा रहे हैं। बल्कि अगर जनता ज़बान खोलती है तो उसके मुंह पर हाथ रखना हमारा फर्ज़ बन जाता है, हुकूमत जो हमारी पार्टी की है।"

"आपका क्या मतलब है कि आज़ादी आने के बाद हमारे देश में कोई फ़र्क नहीं पड़ा है?"

"फ़र्क पड़ना तो इसे कहते हैं, बलराज जी, जो हम यहां अपनी आंखों से देख रहे है। जंग में तो इनका मुल्क भी तबाह हो गया था। नये निर्माण का काम उन्होंने भी लगभग उसी समय शुरू किया था जब हम आज़ाद हुए थे। आप खुद हिसाब लगाइए, पिछले बीस वर्षों में इन्होंने क्या किया है और आज़ादी के बाद सत्रह वर्षों में हमने क्या कुछ किया है।"

"हर देश की अपनी अलग परिस्थितियां होती है, ज्ञानी जी। बेशक रूस लड़ाई में बहुत ज़्यादा तबाह हुआ, पर उसके साथ अपने देश का मुकाबला करना ठीक नहीं है। अगर हम अपना मुकाबला, लड़ाई के बाद आज़ाद हुए देशों- लंका, पाकिस्तान, इंडोनेशिया, बर्मा आदि- से करें तो हमें इतना निराश नहीं होना पड़ेगा। बल्कि इन देशों के मुकाबले में हम बहुत अच्छे रहे हैं, क्योंकि हमें नेहरू जैसे महान नेता की रहनुमाई मिली है, जिन्होंने कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को एक नया मोड़ दिया है।"

"मैं पंडित नेहरू का आपसे कम प्रशंसक नहीं हूं। इसमें शक नहीं कि वे एक महान पुरुष थे। बहुत बड़ा दिल और बहुत ही ऊंचा दिमाग था उनका। पर सांपों को पेट भरकर दूध भी उन्हींकी हुकूमत में पिलाया गया है।"

मैं ज्ञानी जी से पूरी तरह सहमत नही था। पं० नेहरू की आलोचना करने से पहले उन परिस्थितियों पर दृष्टिपात करना ज़रूरी हैं, जिनमें कि उन्होंने हुकूमत की बागडोर अपने हाथ में ली थी। बंटवारे के बाद देश में चारों ओर साम्प्रदायिक फ़सादों की आग लगी हुई थी। छः सौ छोटे-बड़े रजवाड़े, अंग्रेज़ी साम्राज्य के इशारों पर, आज़ाद हिन्दुस्तान की पीठ में छुरा भोंकने का मौका देख रहे थे। गांधीजी का कत्ल उनकी साज़िश का पहला नतीजा कहा जा सकता है। कश्मीर पर हमला हो चुका था। और ठीक उस समय, जबकि हमारी आज़ादी पांवों पर खड़ी होने के लायक भी नहीं बनी थी, कम्यूनिस्टों और अन्य वामपक्षी पार्टियों ने, जिन्होंने कि पं० नेहरू को अपना साथ देने की आशाएं दिलाई थीं, उनपर धावा बोल दिया। उनके कहने के मुताबिक आज़ादी अभी आई ही नहीं थी, और यह कि नेहरू अंग्रेज़ी साम्राज्य के फरमाबरदार गुलाम थे, और उन्होंने देश के साथ विश्वासघात किया था।

ऐसी हालत में, नेहरू के पास पुलिस, फौज और अंग्रेज़ों से विरसे में मिली नौकरशाही पर निर्भर होने के अलावा और क्या चारा था? उन्होंने खुद पुलिस और फौज के डंडे खाए थे। उनसे बेहतर कोई नहीं जानता था कि सरकारी व्यवस्था कितनी अत्याचारी, कितनी भ्रष्ट और जनता-विरोधी है। पर अगर उस नाज़ुक समय पर वे उस व्यवस्था को ही तोड़ना शुरू कर देते तो कितना बुरा नतीजा निकलता। मंझधार में पड़ी हुई देश की

कश्ती बिलकुल ही डूब जाती। दुश्मनों के लिए देश पर फिर से अधिकार जमा लेने के दरवाज़े खुल जाते।

हैरानी की बात तो यह है कि ऐसी लाचारी की हालत में भी पं० नेहरू ने इतनी स्थिरता से काम लिया। इतना ही नहीं, बल्कि ऐसी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय नीतियां अपनाईं, जिनकी संसार का कोई भी सच्चा इन्क़लाबी निन्दा करने का साहस नहीं कर सकता। नहीं, नहीं, सारा दोष नेहरूजी पर नहीं लगाया जा सकता।...

परन्तु फिर भी, ज्ञानीजी का यह कहना कि आज़ादी के लिए लड़कर उन्होंने व्यर्थ में अपना जीवन बरबाद किया है, उसी तरह की बात है, जैसे कभी-कभी ग़रीब लोगों के मुंह से सुनने में आती है कि कांग्रेस हुकूमत से तो अंग्रेज़ों की हुकूमत ही अच्छी थी। सो उनकी बात सुनकर दिल को धक्का लगा।

इसी प्रकार समय गुज़र गया, और जब बायकाफ़ हमें लेने के लिए आए तो हम लौंज में बैठे हुए थे। उसी हालत में उठकर उनके साथ चल दिए। खास तैयारी की ज़रूरत नहीं थी, क्योंकि हमें मंच पर तो बैठना नहीं था।

''आप तैयार हैं?'' बायकाफ़ ने हमपर नज़र डालते हुए कहा। उन्होंने खुद काले रंग का बढ़िया सूट पहना हुआ था।

''हां, हां, बिलकुल।''

उनकी शक-भरी नज़र का मतलब मुझे तब समझ आया जब फिर उसी आलीशान काली चैका मोटर में हमें 'हाल ऑफ़ कांग्रेसेज़' के दरवाज़े के सामने ले जाकर उतारा। देखकर हमारे दिमाग़ चकरा गए। यकीन करना मुश्किल हो गया कि हम कम्यूनिस्टों की किसी सभा में शामिल होने के लिए आए हैं। ऐसे लग रहा था, जैसे कोई जादू हो गया हो और हम किसी परी-देश के राजमहल के सामने आ गए हों, जहां कोई बहुत बड़ा जशन होनेवाला हो, और दुनिया-भर के राजकुमार, काऊंट, डयूक आदि उसकी रौनक को बढ़ाने के लिए वहां पधारे हों।

क्रेम्लिन के किले के अन्दर यह इमारत उन दिनों नई ही बनी थी। देखकर हमारा वही हाल हुआ, जो गांव के किसी व्यक्ति का पहली बार शहर में आने पर होता है। मेरा खयाल नहीं कि संसार के किसी भी और देश में इतना विशाल और आलीशान आडेटोरियम होगा। बिलकुल नये ढंग की इमारतकारी की कला, जिसे देखकर पश्चिमी यूरोपवाले भी दांतों में उंगलियां दबाएं। आसपास क्रेम्लिन के पुराने राजमहल थे, जिनके साथ यह इमारत बिलकुल मेल नहीं खाती थी। इससे वह और भी ज़्यादा आधुनिक और शानदार लगती थी। दिल खोलकर कांच का प्रयोग किया गया था, जिससे इमारत इतनी विशाल होने पर भी ऐसी हल्की-फुल्की लगती थी, मानो उसे उठाकर हथेली पर रखा जा सकता था। ऊपरी मंज़िलों पर जाने के लिए लिफ्टों की बजाय घूमनेवाले पट्टे लगे हुए थे। अन्दर हॉल में, ज़्यादा नहीं तो छः सात हज़ार व्यक्तियों के बैठने का प्रबन्ध होगा। सबसे ऊपरी मंज़िल पर खाने-पीने और आराम करने के लिए बहुत बड़ा लौंज था। कुल मिलाकर इतनी अमीरी का प्रभाव पड़ता था कि देखनेवाला आश्चर्यचकित रह जाता था।

यद्यपि मैं उच्च वर्ग का व्यक्ति हूं और यूरोप के देशों में भी काफ़ी अरसा रहा हूं, फिर भी पता नहीं क्यों, ऐसे स्थानों पर आकर मैं घबरा उठता हूं। मुझे वे दिन याद

आने लगते हैं, जब कोई भी गोरी चमड़ीवाला व्यक्ति मुझे किसी ऊंचे दर्जे के होटल या रेस्तेरां में से कान से पकड़कर बाहर निकाल सकता था।

रूस के बारे में आज तक मेरी यही धारणा बनी हुई थी कि वहां का ऐश्वर्य मनुष्यों में काफ़ी बड़े-छोटे की लकीर नहीं खींचता। मनुष्य की सादगी और नम्रता प्रत्येक वातावरण में कायम रहती है। परन्तु इस भयभीत करनेवाले दृश्य में तो वह सादगी और नम्रता कहीं पंख लगाकर उड़ गई लगती थी। जितनी शान इमारत की थी, उतनी ही वहां आनेवाले लोगों की थी। मैंने पहले कभी रूसियों को इस सजधज में नहीं देखा था। बार-बार यही महसूस हो रहा था, मैं जैसे रूस में नहीं बल्कि लंडन या पेरिस के किसी नाइट-क्लब में आ गया था, और वहां कोई राजनैतिक जलसा नहीं, बल्कि बालरूम डान्स होनेवाला था।

चमकते हुए काले सूटोंवाले मर्दों और भड़कीले लिबासोंवाली स्त्रियों के उस महासागर में हमारे लिबास बहुत साधारण और अजीब-से लग रहे थे। सौभाग्य से ज्ञानी जी अचकन और चूड़ीदार पाजामे के शौकीन थे। उस समय उनका व्यक्तित्व निखर उठा। लेकिन बाकी हम तीनों को बड़ी ग्लानि महसूस होने लगी। बहुत गुस्सा आया। आखिर हमें बताया क्यों नहीं गया कि वह खास मौका है, और हमें खास मौके के मुताबिक लिबास पहनकर जाना चाहिए? यह क्यों कहा गया कि हमें सार्वजनिक सभा में जाना है? भला सार्वजनिक सभा ऐसी होती है? ऐसे लग रहा था जैसे हर कोई हमारी ओर तिरस्कारभरी दृष्टि से देख रहा था, और हैरान हो रहा था कि हमारे जैसे गंवार व्यक्तियों को अन्दर कैसे आने दिया गया है।

अब बायकाफ़ का बढ़िया काला सूट मुझे और भी अखरने लगा। ऐसा भी लगा, जैसे वे हमारे साथ-साथ चलने से संकोच कर रहे हैं, जैसे उनकी शान में फ़र्क पड़ रहा हो। क्या पता, क्या सोच रहे थे वे। उस दिन, जब इन्कलाब अजायबघर देखने का प्रोग्राम बीच ही में छोड़ हम भारतीय दूतावास में चले गए थे, तो उस समय भी उन्होंने नाक-मुंह चढ़ाया था, जैसे हमने उनके देश का अपमान कर दिया हो। कहीं आज फिर बुरा तो नहीं मना रहे ? क्या हमने जानबूझकर इतने महत्त्वपूर्ण समारोह के प्रति लापरवाही की है?

लेकिन इसमें हमारा क्या कसूर? कसूर था तो हमारे दिमाग़ों में अंकित हो चुके सार्वजनिक सभाओं के चित्र का। हमारे देश में लोग सिर्फ़ डिनरों और पार्टियों पर ही काले सूट या काली अचकनें पहनकर जाते हैं। सार्वजनिक सभाओं में तो अंग्रेज़ों के देश में भी कम्यूनिस्टों को इस हद तक बनठनकर जाते हुए नहीं देखा था। कम्यूनिज़्म का चित्र भी तो हमारे दिमाग़ों में कुछ और तरह का है। हमारी नज़र में कम्यूनिस्ट वह है, जिसने दुनिया के सारे सुख आराम त्याग दिए हों, जो बार-बार जेल जाता हो, हाथ उठाकर नारे लगाता हो, पुलिस से टक्कर लेता हो, और फितनेबाज़ कहलाता हो। भला ये किस नई किस्म के कम्यूनिस्ट थे, जो अमीरी-सम्बन्धी हमारे ऊंचे से ऊंचे मियारों को झुठला रहे थे?

बहुत सम्भव है कि अगर हम नहा-धोकर और नये कपड़े पहनकर आए होते तो मन में इस प्रकार के हीन भाव पैदा न होते। बात बहुत मामूली-सी थी। वास्तव में हमारे

कपड़ों की ओर किसीका ध्यान तक नहीं जा रहा था, और न ही किसीने हमारे साथ किसी प्रकार का बुरा व्यवहार किया। बल्कि हमें हाल में बहुत आगे और इज़्ज़तवाली सीटों पर बैठाया गया। हम अभी बैठे ही थे कि ज्ञानी जी अपनी पगड़ी और अचकन के कारण सैकड़ों लोगों की नज़रों का आकर्षण-केन्द्र बन गए। भला और हमें क्या चाहिए था? लेकिन मैं समझता हूं कि अगर हम पूरी सजगता से भी आए होते तो उस हाल की शान को देखकर कुछ न कुछ ईर्ष्या तो हमें ज़रूर होती। दूसरे देशों की अमीरी को देखते हुए अपने देश की गरीबी को भुलाना मुश्किल हो जाता है।

नियत समय पर खुलते हुए पर्दे, जगमगाती हुई रोशनियों, संगीत की झनकार और तालियों के शोर में प्रमुख व्यक्तियों की एक लम्बी पंक्ति वहां दाखिल हुई और स्टेज पर रखी हुई कुरसियों पर सभी व्यक्ति, बिना किसी उलझन के, अपने-अपने स्थान पर बैठ गए। बीच की कुरसी पर सोवियत संघ के राष्ट्रपति, मिकोयान थे। उनके दाईं और कम्यूनिस्ट पार्टी के सेक्रेटरी, ब्रेज़नेव थे और आगे दाईं ओर प्रधानमंत्री, कोसीगिन थे। उनके साथ चाओ एन लाई बैठे थे, जिनका वहां आना संसार-भर में चर्चा का विषय बना हुआ था। उनसे आगे पूर्वी जर्मनी के प्रधान, चैकोस्लोवाकिया के प्रधान, आदि बैठे थे। क्यूबा के प्रतिनिधि को विशेष सम्मान दिया गया था, और दर्शकों ने भी उसके सम्मान में खास तौर पर तालियां बजाई थीं। पंक्ति के अन्तिम भाग में सोवियत संघ के कुछ और प्रमुख व्यक्ति बैठे हुए थे, जिनकें बीच में यूरी गगारिन, वैलन्तीना तरिश्कोवा और छः-सात और अंतरिक्ष-यात्री बैठे थे। सौभाग्य से हमारी सीटें उनके बिलकुल सामने थीं, और हम उन्हें बहुत निकट से देख सकते थे। हमने उन्हें हाथ के इशारे से शुभ इच्छाएं दीं और उन्होंने बड़े उत्साह से स्वीकार कीं। मिकोयान के बायें हाथवाली पंक्ति में संसार के उन देशों की कम्यूनिस्ट पार्टियों के नेता बैठे हुए थे, जहां कम्यूनिस्ट शासन नहीं है। बहुत लम्बी पंक्ति थी वह भी। उन व्यक्तियों को उतनी दूर से देखकर पहचानना आसान नहीं था। लेकिन वहां की व्यवस्था की दाद देनी पड़ेगी, क्योंकि हर सीट के पीछे दूरबीन और हैडफोन, दोनों लगे हुए थे। पंक्ति के अन्तिम भाग में हिन्दुस्तानी कम्यूनिस्ट पार्टी के नेता डांगे भी दिखाई दे रहे थे।

दर्शकों में से सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान जो कि मंच के बिलकुल सामने था, चीनियों को दिया गया था। वहां लगभग दो-सौ चीनी बैठे हुए थे। सबने आसमानी रंग के बंद गले के कोट पहने हुए थे। जब चाओ एन लाई किसी भाषण के दौरान में ताली बजाने के लिए हाथ उठाते तो उसी समय और उसी कम या ज़्यादा जोश से उन दो-सौ चीनियों के भी हाथ उठ जाते। और जब चाओ एन लाई ताली बजाते हुए रुक जाते तो वे भी झट एकसाथ रुक जाते। देखने में बड़ा मज़ा आ रहा था। ब्रेज़नेव और कोसीगिन के भाषणों के दौरान में हॉल रह-रहकर जोश-भरी तालियों की आवाज़ से गूंज उठता था। लेकिन चाओ एन लाई के चेहरे पर शायद ही कभी कोई भाव प्रकट होता, या उनके हाथों में हरकत होती। हां, जब बहुत ही ज़ोर-शोर से तालियां बजने लगतीं तो दिखावे के तौर पर वे भी तालियां बजाने लगते। वे विशेष रूप से दोनों हाथों को एक-दूसरे से काफ़ी दूर ले जाकर ताली बजाते। जैसे कोई व्यक्ति 'चेस्ट-एकस्पांडर' द्वारा व्यायाम करता है। ऐसे लगता था जैसे उस बहुत बड़े हॉल में वे किसीके मन में कोई शक नहीं रहने देना चाहते थे कि वे बाकी लोगों से अपना अलग दृष्टिकोण रखते हैं। और निस्सन्देह

दोनों सोवियत नेताओं के भाषणों से भी साफ प्रकट हो गया था कि ख्रुश्चेव के हटाए जाने के बाद सोवियत नीतियों में जिन परिवर्तनों की आशा चाओ एन लाई लेकर आए थे, वह पूरी नहीं हुई थी। ख्रुश्चेव खुद तो चले गए थे, पर अपनी नीतियां ज्यों की त्यों छोड़ गए थे।

लेकिन वह मानसिक हालत ज़्यादा देर नहीं रही। एक छोटी-सी घटना ने फिर मज़ा किरकिरा कर दिया। भाषणों के बाद पंद्रह मिनिट का विश्राम था। हम बाहर बरामदे में आए तो बहुत-से हिन्दुस्तानी यार-दोस्त मिल गए। उनमें वह पत्रकारों का प्रतिनिधि-मंडल भी था, जो हवाई जहाज़ में हमारे साथ आया था। उनके अलावा तेरा सिंह चन मिले, जो कई महीनों से अपना इलाज कराने के लिए रूस में आए हुए थे। दर्शनसिंह कैनेडियन और दूसरे कई जाने-पहचाने व्यक्ति मिले। उनमें एक सफ़ेदपोश बुज़ुर्ग भी थे, जो हिन्दुस्तानी कम्यूनिस्ट पार्टी के प्रसिद्ध और पुराने नेता हैं। मेरे दिल में उनके लिए बहुत गहरा सम्मान है, क्योंकि राजनैतिक नेता होने के अलावा वे उच्चस्तर के साहित्यकार और भाषा-शास्त्री भी है। इमारत की उस जादू-भरी सुन्दरता ने उन्हें ज़रूरत से ज़्यादा भावुक बना दिया था। मैंने जब बायकाफ़ से पूछा कि ग़ुसलखाना किस तरफ है तो वे झट मेरी बांह पकड़कर बोले, "आओ, मैं ले चलता हूं। देखना, कितना सुन्दर बना हुआ है।"

उनका यह रवैया मुझे कुछ अजीब-सा लगा, जो मेरे दिल में ग्लानि पैदा करने से न रहा। मेरे रोकने पर भी वे मुझे बांह से पकड़कर ले ही गए, जैसे मैं रूसियों का नहीं, बल्कि उनका मेहमान था। रूस की खुशहाली पर उनको गर्व था। वे जैसे उन सुन्दर ग़ुसलखानों द्वारा कम्यूनिज़्म की खूबियों का मुझपर रोब डालना चाहते थे। मुझे ऐसे लगा जैसे कोई ग़रीब आदमी अपने अमीर रिश्तेदार के बारे में डींगे मार रहा हो। मुझे अपना व्यक्तित्व फिर छोटा और अपने-आपसे सिकुड़ा हुआ-सा प्रतीत होने लगा।

मध्यान्तर के बाद बहुत बड़े पैमाने पर संगीत, नृत्य आदि की अतीव रोचक प्रोग्राम शुरू हुआ। उसमें कितने ही बैंडों, आर्केस्ट्राओं, फौजी दस्तों और नृत्य-मंडलियों ने भाग लिया, और अपने राष्ट्रीय दिवस की महानता को कलात्मक रूप में पेश किया। पर मेरा मज़ा किरकिरा हो चुका था, और जब प्रोग्राम के खात्मे पर बाइकाफ़ ने बताया कि जिस विशाल चैका में बैठकर हम आए थे, वह हमें सिर्फ छोड़ने ही आई थी, और अब टैक्सी या बस द्वारा वापस जाना पड़े, तो मेरा मन तलखी से भर उठा।

बाहर गहरी शाम हो चुकी थी। बेहद सर्दी थी और मंद-मंद फ़ुहार पड़ रही थी। गोपालन का पांव लगातार दर्द कर रहा था, और वे लंगड़ाकर चल रहे थे। इसके अलावा अपनी मोटर के भरोसे पर मैं एक हिन्दुस्तानी पत्रकार को, जिसे कि हममें से कोई नहीं जानता था, होटल तक साथ चलने के लिए 'हां' कर दिया, "देखिए, मिस्टर बायकाफ़, हम ग़रीब देश के लोग हैं। बैलगाड़ी, तांगा, बस, किसी में भी मज़े से सफ़र कर सकते हैं। पैदल चलने में भी हमें कोई एतराज़ नहीं है। पर हमें अपनी इज़्ज़त-आबरू अपनी जान से भी प्यारी है। आगे के लिए या तो मोटर में बैठाकर हमें लाएं नहीं, अगर लाएं तो वापस भी मोटर में लेकर जाएं। दिखावे की इज़्ज़त हमें पसन्द नहीं है।"

बायकाफ़ सुनकर चुप रहे, और फिर टैक्सी की तलाश में इधर-उधर दौड़धूप करने लगे। लेकिन ऐसी भीड़ में टैक्सी का मिलना लंडन, पेरिस में भी आसान नहीं है, मास्को

की तो बात ही अलग है, जहां आम तौर पर टैक्सी मुश्किल से ही मिलती है। और ऐसी सर्दी में एक जगह खड़े होकर प्रतीक्षा करना और भी मुश्किल काम था। अगर सिर्फ़ हम चारों साथी ही होते तो कोई बात नहीं थी, किसी न किसी तरह गुज़ारा कर लेते। पर जो पत्रकार हमारे साथ नत्थी हो गया था, उसने अपनी कटु आलोचना द्वारा हमारे दिलों में और भी तलखी पैदा कर दी थी। साथ ही मुझे इस बात की शर्म महसूस हो रही था कि उसे हमारे कारण पैदल चलना पड़ रहा था। अगर वह केरल के पत्रकारों को कहता, जो हमारी आंखों के सामने अपनी मोटरों में सवार होकर गए थे, तो वे अवश्य उसे अपने साथ बैठा लेते। लेकिन उसे तो उस समय एक फ़िल्म-स्टार के साथ सफ़र करने का चाव था। लेकिन साथ ही वह बड़ी होशियारी से अपनी ज़बान की कैंची भी चला रहा था।

"बलराज साहब, जिस तरह हमारे देश में रोब से काम निकलता है, उसी तरह यहां भी रोब दिखानेवाले की ही कद्र होती है। नम्रता और सज्जनता से काम नहीं चलता यहां। शराफ़त में पड़े रहेंगे तो कोई पूछेगा भी नहीं।..."

उसकी बातें मुझे बिलकुल अच्छी नहीं लग रही थीं। पता नहीं वह कौन था और किस हैसियत का मालिक था। मैं अपनी टोली का लीडर था। जो रोष मुझे प्रकट करना चाहिए था, वह मैं कर चुका था। उससे आगे कुछ कहना एक मेहमान को शोभा नहीं देता था। आखिर उस पत्रकार को व्यर्थ में आलोचना करने का क्या अधिकार था? मुश्किल तो यह थी कि उसकी देखादेखी मेरे साथियों ने भी बायकाफ़ को तंग करना शुरू कर दिया था।

मैं डरा कि मामला कहीं बिगड़ न जाए। ग़लती हर किसी से हो सकती है। मैं खुद बम्बई में 'इसकस' का एक कर्मचारी हूं। मुझे पता है कि व्यवस्था-सम्बन्धी हमारी गलतियों और कमज़ोरियों के कारण सोवियत मेहमानों को कितनी परेशानी हुआ करती है। पर वे लोग कभी कोई शिकायत नहीं करते। हमारे सुख-आराम का ख्याल जितना यहां की मित्रता-संस्था कर रही थी, हम उसका दसवां हिस्सा भी करने में असमर्थ हैं। फिर एक छोटी-सी ग़लती को इतना महत्त्व देना कहां तक उचित है? अभी तक मैं अपने साथियों से भी अच्छी तरह परिचित नहीं हुआ था। पता नहीं, उनके दिलों में सोवियत संघ के बारे में किस किस्म के अच्छे-बुरे विचार भरे हुए हैं। फिर राई को पहाड़ बनाना तो पत्रकारों के बायें हाथ का खेल है। "मास्को में पंजाब के भूतपूर्व मंत्री ज्ञानी ज़ैलसिंह का घोर अपमान।...मास्को की बर्फ़ में भारतीय प्रतिनिधि के पांव सुन्न हो गए।...बलराज साहनी को बम्बई में पैदल चलना मंज़ूर नहीं, लेकिन मास्को की सड़कों पर पांव घसीटने में कोई एतराज़ नहीं...।" और समाचार-पत्र भी तो ऐसी खबरें छापने के लिए हर समय तैयार रहते हैं। पता नहीं, उस पत्रकार का क्या इरादा था?

हम एक बस-स्टाप के पास से गुज़रे, जहां यात्रियों की बहुत लम्बी लाइन लगी हुई थी। बायकाफ़ ने अचानक कमाल की चुस्ती का सबूत दिया। उन्होंने लाइन के आगे के व्यक्तियों ने बड़ी खुशी से हमें बस में पहले सवार होने की इजाज़त दे दी। बस ने हमें होटल के दरवाज़े के सामने उतार दिया।

इन्कलाब परेड

निखरी हुई साफ़ धूप जितनी ही तेज़ हो, हम मिर्च खानेवाले हिन्दुस्तानियों को उतनी ही प्यारी लगती है। पर यहां वह कितनी तेज़ हो सकती है? शून्य डिग्री सेण्टीग्रेड पर पानी जम जाता है। इस धूप का तापमान उससे भी पांच डिग्री नीचे है।

हम यूक्राइन होटल से एक छोटी-सी बस में, अन्य कई देशों के दर्शकों के साथ बैठकर, काले पत्थरों के फ़र्शवाले लाल चौक में पहुंचे, जिसकी विशालता और सफ़ाई की जितनी भी प्रशंसा की जाए, कम है। एक छोटी-सी गली में उतरकर, जहां और कई बसें हमसे पहले आकर खड़ी थीं, हम बैदाकाफ़ के पीछे-पीछे चल पड़े। आज गोलुव्येव नहीं आया था। पता नहीं छुट्टी पर था, या फिर आज मेहमानों को विशेष सम्मान देने के लिए बैदाकाफ (सोवियत-हिन्द दोस्ती संस्था के केन्द्रीय मंत्री) खुद आए थे। बहुत विवेकशील चेहरा था उनका। चौड़ा माथा, छोटे कटे हुए सुबह के बाल। सुनहरी फ्रेमवाला चश्मा, जिसमें से झांक रहीं नीली, सुहृद आंखें। सरल मुस्कान। उनकी शक्ल मेरे एक भानजे से कुछ कुछ मिलती थी, और पहली मुलाकात में ही मेरा ध्यान उनकी ओर विशेष रूप से आकर्षित हो गया था।

रूसी इन्कलाब की सालगिरह सिर्फ़ रूसियों के लिए ही नहीं, बल्कि सारे संसार के पीड़ित और दलित व्यक्तियों के लिए खुशी का दिन है। आज के दिन इतिहास में पहली बार मज़दूर-किसानों ने खून पीनेवाले अपने मालिकों को पछाड़कर धरती के एक बड़े हिस्से पर से उनके अस्तित्व को मिटा दिया था। इससे पहले भी संसार में अनेकों इन्कलाब हुए थे, लेकिन शासक-वर्ग हर बार जनता को दबाने और फिर उसकी गर्दन पर सवार होने में सफल हो गया था। आज इन्क़लाबी रूस ने अपने अन्दर इतनी बड़ी शक्ति पैदा कर ली है कि पूंजीवादी देश उससे टक्कर लेने से डरते हैं। पिछले सैंतालीस वर्षों में पूंजीवाद ने रूस में समय की घड़ी को उलटा चलाने की क्या-क्या कोशिशें नहीं कीं। एक बार नहीं अनेक बार, उसने खूंखार दरिंदों की तरह रूस पर चढ़ाइयां कीं, एक सिरे से दूसरे सिरे तक देश को बरबाद किया, बेगुनाह लाखों लोगों को बड़ी निर्दयता से मारा गया। और जब इस प्रकार सफलता नहीं मिली तो उसके खिलाफ हर तरह का झूठ बोला गया। ऐसा कोई दोष नहीं जो पूंजीवादी प्रचार ने रूस पर न लगाया हो। पर सब निष्फल रहा।

अब जब भी इन्क़लाब परेड होती है, संसार-भर के लोग उसमें भाग लेने-वाली फ़ौजों को शांति के मित्र और रक्षक के रूप में देखते हैं। उस परेड में दिखाए जानेवाले राकेटों और विमानों को देखकर अगर किसी को डर महसूस होता है तो साम्राज्यवाद को। संसार की जनता उस प्रदर्शन का स्वागत ही करती है।

पर मनुष्य के अहंकार को देखिए। सब कुछ जानते-समझते हुए भी आज का यह समारोह, जिसे देखने की एक अरसे से मेरे दिल में लालसा थी, मुझे रूसियों का त्योहार प्रतीत हो रहा था, जिसके साथ मेरा अपना कोई सम्बन्ध न हो। और इसका कारण सिर्फ़ यह था कि कल हमें मीटिंग के बाद टैक्सी नहीं मिली थीं।...

जगह-जगह मिलीशिया (रूस में पुलिस को मिलीशिया कहते हैं) ने कतारें बांधकर रास्ते रोके हुए थे। हमें हिदायत दी गई थी कि अपने पासपोर्ट हाथों में पकड़कर रखें। हर नाकाबंदी पर चेकिंग करवाते हुए हम धीरे-धीरे लाल चौक की ओर बढ़ने लगे। हम जिन गलियों, मोहल्लों और पार्कों में से गुज़र रहे थे, उनमें बच्चों और युवकों-युवतियों के समूह खेलते हुए समय बिता रहे थे। उन्हें फौजी जुलूस के बाद नागरिकों का जुलूस बनाकर चलना था। उनके सुन्दर, रंग-बिरंगे लिबास थे, जिनमें उनके स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट शरीरों का आभास होता था। उस समय जितनी सर्दी पड़ रही थी, उसे देखते हुए उनके लिबास काफी हल्के लग रहे थे। शायद इसीलिए वे खेलते, दौड़ते, भागते हुए अपने जिस्मों को गर्म रख रहे थे। उस दृश्य का हमपर बहुत प्रभाव पड़ा। चारों ओर खुशियों का सागर लहरा रहा था। उस समय उन बच्चों और युवक-युवतियों पर कोई निगरानी करनेवाला दिखाई नहीं दे रहा था। फिर भी उनकी कोई भद्दी हरकत देखने में नहीं आ रही थी। कोई भी युवक किसी युवती के शरीर को बुरी नज़र से नहीं देख रहा था, हालांकि उन्होंने जिस किस्म के लिबास पहने हुए थे, वैसे लिबासों में हमारे देश की युवतियां कभी घर से बाहर कदम रखने का साहस नहीं कर सकतीं।

पहरेदार मिलीशिया का रवैया भी पूंजीवादी प्रचार द्वारा फैलाई गई कहानियों के उलट था। हमारे इस आज़ादी के युग में भी, पुलिस जनता को अपना दुश्मन समझकर उसके खिलाफ कार्यवाही करती है। हर मौके पर पुलिस का हाथ डंडा चलाने के लिए मचल पड़ता है। पर मास्को शहर में मैंने अनगिनत मौकों पर देखा कि पुलिस जनता के प्रति सेवाभाव का रवैया रखती है। उसे किसी व्यक्ति पर हाथ उठाने का किसी हालत में भी हक नहीं है। लंडन की पुलिस अपने बढ़िया व्यवहार के लिए संसार भर में मशहूर है। पर मास्को की पुलिस का व्यवहार भी उससे किसी तरह कम नम्रतापूर्ण नहीं है। कहा जाता है कि रूस में पुलिस-राज है। जिस देश में पुलिस-राज हो, वहां के लोगों के चेहरों पर पुलिस के प्रति भय या विरोध का भाव साफ़ देखा जा सकता है। पर मास्को में मैंने इस किस्म का कोई तनाव नहीं देखा। एक जगह, हमने देखा कि लड़कियों का एक गिरोह क्रेम्लिन की सुर्ख दीवार फांदकर, बिना इजाज़त के लाल चौक में चला गया था। सिपाही ने उन्हें रोक लिया। लड़कियों ने झट उसके गिर्द घेरा डाल दिया और उसे अपने जाल में फंसाने लगीं। सिपाही ने ज़रा-सा हंसकर और फिर झेंपकर उन्हें आगे बढ़ जाने दिया।

ठंड के कारण सुन्न हुए हाथों से बार-बार पासपोर्टों को जेबों में से निकालते हुए हम उस स्थान पर पहुंचे, जहां खड़े होकर हमें परेड का दृश्य देखना था। पता लगा कि ज्ञानी अपना एक दस्ताना रास्ते में कहीं गिरा आए थे। पता लगते ही बैदाकाफ़ झट उसे ढूंढ़ने के लिए गए। हम उन्हें रोकते ही रह गए। बेशक सर्दी में दस्ताना बहुत ज़रूरी चीज़ थी, लेकिन उस भीड़ में उसे ढूंढ़ना घास के ढेर में सूई ढूढ़ने के बराबर था। पता नहीं किस गली या मैदान के किस हिस्से में गिरा था। हमें खुद कोई अनुमान नहीं था कि हम किधर से गुज़रकर आए थे। ज्ञानी जी पछताने लगे कि उन्होंने दस्ताने का ज़िक्र ही क्यों किया। लगभग पंद्रह मिनिट के बाद बैदाकाफ़ दस्ताना लेकर लौट आए। उनके चेहरे पर बड़े सन्तोष का भाव था कि वे मेहमानों के काम आने में सफल हो सके हैं।

बैदाकाफ़ एक उच्च अधिकारी थे। उनके पास अपनी मोटर थी, जो रूस में बड़ी असाधारण बात समझी जाती है। इस रुतबेवाले व्यक्ति से हमारे देश में आशा नहीं की जा सकती कि वह किसी मेहमान का दस्ताना ढूंढ़ने के लिए जाएगा। उससे तो इतनी आशा भी नहीं की जा सकती कि वह मेहमान के हाथ से गिरे हुए दस्ताने को उठाकर उसे पकड़ाएगा। ऐसे मौके पर वह झट अपने चपरासी या नौकर को आवाज़ देगा। हां, अगर वह दस्ताना किसी सुन्दर स्त्री के हाथ से गिरा हो तो और बात है।

सुर्ख संगमरमर के बने हुए लेनिन के मकबरे के दोनों ओर, दूर-दूर तक, क्रेम्लिन की दीवार के साथ-साथ, सीमेंट के ढलवां चबूतरे बने हुए हैं। लोग इन चबूतरों पर खड़े होकर परेड देखते हैं। बैठने का कोई प्रबंध नहीं है, बल्कि चबूतरों की ढलवान के कारण खड़े होने में भी दिक़्क़त होती है। बड़े-बड़े नेता भी लेनिन के मकबरे की छत पर खड़े होकर ही परेड देखते हैं। इस बार चाओ एन लाई भी उनके साथ खड़े होनेवाले थे। मकबरे के पिछले भाग में नेताओं की कब्रें हैं। स्तालिन के शव को भी लेनिन के पास से उठाकर अब उन कब्रों के बीच में दफ़नाया गया है। और उनके इर्द-गिर्द उन दुर्भाग्यशाली व्यक्तियों के कब्रें हैं, जो व्यक्ति-पूजा के परिणामस्वरूप अपने इष्टदेव के हाथों ही बलिदान हुए थे। यह भी एक मनोरंजक इतिहास है, जिसपर कि ख़ुश्चेव की एक रिपोर्ट रोशनी डालती है। यह रिपोर्ट 'गुप्त रिपोर्ट' के नाम से मशहूर है, जिसे मैंने अभी तक पढ़ा नहीं है, और जिसे पाना आसान काम नहीं लगता। हम लेनिन के मकबरे के दायें हाथ, लगभग सौ गज़ की दूरी पर खड़े थे। हमारे बिलकुल पीछे क्रेम्लिन का घंटाघर दिखाई दे रहा था, जो रूसियों के लिए वही हैसियत रखता है, जो लंडन में बिगबॅन की है। हमारे सामने लाल चौक का परेड-मैदान था, जिसकी चौड़ाई दिल्ली के लाल किले की दीवार से लेकर जामा मस्जिद तक होगी, और लम्बाई खूनी दरवाज़े से लेकर कश्मीरी गेट तक। अगर दिल्ली के इस स्थान को हमारी सरकार ने उतना ही सम्मान दिया होता, जितना कि रूसियों ने इन्कलाब के बाद क्रेम्लिन को दिया है, तो इसका नज़ारा लाल चौक से कहीं ज़्यादा शानदार होता। लेकिन हमारी आज़ाद सरकार के लिए तो वाइसरीगल लॉज को अपनाना ज़्यादा गर्व की बात है, हालांकि सच पूछा जाए तो वाइसराय वाली बग्घी में बैठे हुए हमारे राष्ट्रपति का जब जुलूस निकलता है तो वे फिरंगियों के चपरासी प्रतीत होते हैं। अगर सोवियत संघ के कम्यूनिस्ट राष्ट्रपति को ज़ार का महल नामन्ज़ूर नहीं हो तो बहादुरशाह ज़फर के महल को रद्द करने का कोई कारण ही नहीं है। बहादुरशाह यद्यपि मुसलमान बादशाह था, पर वह एक देशभक्त था। आज़ादी की लड़ाई में मर मिटा था। भगतसिंह अपनी जेल की कोठड़ी में वे गीत गाया करता था जो ज़फ़र ने अपनी जलावतनी के समय लिखे थे-

न किसी की आंख का नूर हूं
न किसी के दिल का करार हूं
जो किसी के काम न आ सके
मैं वह एक मुश्ते गुबार हूं...

दायें हाथ, मैदान के बिलकुल बीच में एक ऐतिहासिक गिरजे के रंग-बिरंगे गुम्बद हैं, जिनकी शक्ल शाही मस्जिद के गुम्बदों जैसी है, लेकिन वे छोटे हैं, और सफ़ेद की बजाय रंगदार हैं। गिरजे के आगे कभी सिर्फ़ मास्को दरिया दिखाई दिया करता था, पर अब दरिया की सुन्दरता में उस पार की इमारतों की सुन्दरता भी शामिल हो गई है।

परेड दस बजे शुरू होनी थी। हम आधा घंटा पहले पहुंच गए थे। परेड देखने का इच्छुक हर व्यक्ति अपने स्थान पर पहुंच चुका था। अब लोगों का चलना-फिरना बिलकुल बन्द हो चुका था, जैसे परेड शुरू होने ही वाली हो। इस चीज़ से रूसियों की वक्त की पाबंदी और इस दिन के लिए उनके सम्मान का अनुमान लगाया जा सकता है। जिस चबूतरे पर हम खड़े थे, वह हमारे आने से पहले ही खचाखच भर चुका था। तो हमें खड़े होने के लिए बिलकुल पीछे जगह मिली, जहां से उचक-उचककर मैदान को देखना पड़ रहा था। पर चबूतरे शायद नवम्बर की परेड की बजाय मई की परेड को ध्यान में रखकर बनाए गए थे, जबकि मौसम साफ होता है और लोग सिरों पर से हैट उतार लिया करते हैं। पर इस समय बेहद सर्दी के कारण हर किसी के सिर पर हैट था। या फिर चबूतरों की ढलान इसलिए कम रखी गई होगी कि उचक-उचक और उछल-कूदकर परेड देखनेसे लोगों के पांव गर्म रहें। हमारे इर्द-गिर्द बहुत-से रूसी स्त्रियां-पुरुष यह तरीका अपना भी रहे थे। पांव तो हमारे भी बेहद ठंडे बने हुए थे, पर इस प्रकार उछल-कूदकर सामने मैदान की ओर देखने का यत्न करना हमें अपनी शान के खिलाफ लगा। लेकिन पंद्रह-एक मिनिट के बाद हम अपनी शान का खयाल भूल गए। परेड शुरू होने तक हालत ऐसी बन गई कि लग रहा था, लोग अपने पांवों पर नहीं खड़े थे, बल्कि बेचैन घोड़ों पर सवार थे।

परीक्षित के साथ होने का बहुत फ़ायदा हुआ। उसने बड़े विनोदी ढंग से 'भोज़ना, भोज़ना' (माफ करना) कहते हुए हमारे लिए अच्छी जगह बना ली।

हम दोनों, बाप-बेटा शेखी दिखाने के मूड में थे। दोनों सिर से नंगे थे। बैदाकाफ इधर-उधर चक्कर लगाकर फिर हमारे पास आ जाते थे, और मुझे सिर ढक लेने के लिए कहते थे। हम रूसियों को दिखाना चाहते थे कि ऐसा मौसम हिन्दुस्तानियों के लिए कोई अनोखी चीज़ नहीं है। हमारे देश का भी एक विशाल इलाका ऐसा है, जहां इतनी ही बल्कि इससे भी ज़्यादा सर्दी पड़ती है। संसार में सबसे ठंडी जगह, जहां कि आबादी हो, रूस के साइबेरिया इलाके में बताई जाती है। और दूसरे नम्बर पर सबसे ठंडी जगह हिन्दुस्तान के लद्दाख के इलाके में, जिसका नाम दरास है। यह ज़ोजीला दर्रे से लगभग तीस मील आगे, कारगिल के इलाके में आता है। यहां सर्दी के मौसम में तापमाऩ शून्य से ५४ डिग्री नीचे चला जाता है। 'हकीक़त' फिल्म की शूटिंग के दिनों में हमने एक रात वहां बिताई थी।

इस समय तो तापमान शून्य से केवल ५ डिग्री नीचे था। हिमालय पर्वत की घाटियों में जन्म लेनेवालों के लिए यह सर्दी इतनी ज़्यादा नहीं थी।

परीक्षित ने एक फेरीवाले से सेब खरीदे, जो हमें बहुत स्वादिष्ट लगे।

ज्ञानी जी ने कहा, ''परीक्षित, इस कड़ाके की सर्दी में तुम सेब खिला रहे हो हमें, क्या कोई नाराज़गी है हमारे साथ !''

''सेब खा लीजिए, उसके बाद आईस्क्रीम खिलाऊंगा।''

''सतनाम सिरी वाहे गुरू ।'' ज्ञानी जी के मुंह से निकला।

पर परीक्षित ने मज़ाक नहीं किया था। एक हृष्ट-पुष्ट स्त्री आईसक्रीम बेचती हुई वहां आई तो बहुत-से लोग उससे खरीदकर खाने लगे। अजीब नज़ारा था। एक तरफ़ तो पांवों को गर्मी पहुंचाने के लिए कूदना, और दूसरी तरफ बड़े स्वाद से आईस्क्रीम खाना!

ज्ञानी जी ने फिर कहा, "परीक्षित यार, उस दिन हम सैर करते हुए यहां आए थे तो बहुत-से कबूतर देखे थे, आज एक भी नज़र नहीं आ रहा। क्या बात है ?"

"ज्ञानी जी, परेड से एक-दो दिन पहले एक खास किस्म की लारी यहां आकर चक्कर लगाती है। उसमें एक ऐसी मशीन लगी होती है, जो हवा को बहुत ज़ोर से अपने भीतर खींचती है। वह देखते-देखते कबूतरों को निगल जाती है।"

"हाय, हाय, मर जाते होंगे बेचारे ?"

"और क्या ? पर फिर नये पैदा हो जाते हैं ।"

"यह तो बड़े ज़ुल्म की बात है, परीक्षित। क्या तुम सच कह रहे हो यह बात !"

परीक्षित के चेहरे से अनुमान लगाना कठिन था कि वह सच कह रहा था या नहीं। हिन्दुस्तानियों के अहिंसावादी संस्कार बहुत पुराने हैं। कबूतरों पर हमें बहुत तरस आया।

क्रेम्लिन की घड़ी ने मौके की गम्भीरता का पूरा खयाल रखते हुए बड़े धीरज से दस बजाने शुरू किए। और उसी समय मैदान के दूसरे सिरे पर अचल खड़े फौजी दस्तों में हरकत देखने में आई। हुक्म सुनाई दिए। बैंड बजने लगे। एक ओर से आ रही एक असाधारण रूप से लम्बी मोटर दिखाई दी, जिसके आगे-पीछे मोटर साइकिलों के दस्ते थे। उसमें सोवियत संघ के कमांडर-इन-चीफ़, मार्शल मलिनाव्स्की खड़े थे। उन्होने सभी फ़ौजी दस्तों से सलामी लेनी शुरू की। उसी समय क्रेम्लिन की दीवारें तोपों के धमाकों से कांप उठीं। पूरे इक्कीस गोले चलाए गए। मैदान फ़ौजियों की "हुर्रा ! हुर्रा !" की आवाज़ों से गूंज उठा। विचित्र-सा नाटकीय वातावरण पैदा हो गया। मोटर तेज़ी से हमारे सामने से गुज़र गई। लेनिन के मकबरे की छत पर नेता लोग आ चुके थे। लोगों की तालियों के जवाब में उन्होंने भी तालियां बजाई। मार्शल मलिनाव्स्की मोटर में से उतरकर नेताओं में शामिल हो गए। तभी फूलों से सजी हुई एक लारी में से फूलों जैसे बच्चे इस तरह बाहर निकले जैसे किसी पिटारी का मुंह खुल गया हो। उनके हाथों में गुलदस्ते थे। जब वे नेताओं के पास पहुंचे तो उन्होंने बच्चों को उठाकर प्यार किया। आकाश फिर तालियों से गूंज उठा। हमारे इर्द-गिर्द खड़ी कुछ स्त्रियों की आंखें सजल हो उठीं। उसके बाद मार्शल मलिनाव्स्की का संक्षिप्त-सा भाषण हुआ, जिसमें उन्होंने कोई खास बात नहीं कही, सिवाय इसके कि सोवियत संघ संसार में शान्ति चाहता है, लेकिन अगर उसकी इस शान्तिप्रियता का कोई नाजायज़ फायदा उठाएगा तो उसके दांत तोड़ने के लिए भी सोवियत संघ हर समय तैयार-बर-तैयार है। फिर परेड शुरू हुई। आसमान अब फिर बादलों से ढक गया था। शायद इसीलिए हवाई जहाज़ों का प्रदर्शन नहीं हुआ। उस समय हमारे सामने पेट्रोल और डीज़ल द्वारा सारे मैदान को धुआंधार करती हुई लारियां गुज़र रही थीं, जिनपर टैंक, राकेट और कई किस्म का दूसरा जंगी सामान रखा हुआ था। लगभग आधे घंटे तक वह जंगी सामान हमारे सामने से गुज़रता रहा। दिल दहला देनेवाली गड़गड़ाहट हो रही थी। देख और सुनकर दहशत का अहसास होता था। कई स्थानों पर खड़े संतरी झंडियां हिला रहे थे। कहीं कोई गड़बड़ या त्रुटि नज़र नहीं आ रही थी। देखकर अकल दंग रह जाती थी।

परन्तु एक बात उल्लेखनीय है। उस प्रदर्शन को आकर्षक बनाने का बिलकुल ही प्रयत्न नहीं किया गया था, जैसा कि पूंजीवादी देशों में आम तौर पर होता है। उस परेड

का मनोरथ दर्शकों के दिलों में शक्ति का अभिमान पैदा करना प्रतीत नहीं होता था। प्रदर्शनकर्ताओं को जैसे अहसास था कि वे दर्शकों को कोई अच्छी चीज़ नहीं दिखा रहे हैं। और इसीलिए इतनी प्रभावशाली होने पर भी वह परेड कुछ-कुछ उकताहट पैदा करनेवाली थी। खाकी रंग देख-देखकर आंखें तंग पड़ गई थीं। उस एकरसता को तोड़ने के लिए कहीं भी रंगीनी पैदा नहीं की गई थी। फ़ौज और उसकी शक्ति का प्रदर्शन करके दर्शकों में अथाह जोश पैदा किया जा सकता है। लेकिन यहां तो जैसे लोगों को जल्द से जल्द दवाई का कड़वा घूंट पिलाकर छुटकारा देने की हालत थी।

फ़ौजी परेड के बाद जनता का जुलूस शुरू हुआ। लोगों के शब्दों में कड़वी दवाई पिलाने के बाद मिठाई खाने को दी गई। सबसे पहले सजे हुए रथों में वे खिलाड़ी वहां से गुज़रे जिन्होंने पिछले ओलिम्पिक खेलों में कई इनाम जीते थे। उनके इर्द-गिर्द और आगे-पीछे, सारे लाल चौक में फैले हुए, वे बच्चे और युवक-युवतियां दिखाई दिए जिन्हें हमने कुछ देर पहले रास्ते में खेलते हुए देखा था। वे गेंदों, बल्लो और गोल चक्करों से भांति-भांति के खेल खेल रहे थे। फिर जनता के प्रिय कलाकार गुज़रे- फ़िल्म-अभिनेता, थियेटर-अभिनेता, नर्तक, नर्तकियां आदि। फिर प्रसिद्ध शिल्पकार, वैज्ञानिक, आविष्कारक, चित्रकार, मूर्तिकार, लेखक, कवि आदि गुज़रे। वे लोग पूंजीवादी देशों के कलाकारों की तरह फ़ाकामस्ती में दिन बिताने वाले नहीं थे। सोवियत समाज इन्हें पलकों पर बैठाकर रखता है। जुलूस का विशेष रूप से दर्शनीय हिस्सा अब सामने आया। हमारे चारों ओर खड़े लोगों के उत्साह और जोश का कोई अन्त नहीं था। बहुत-से दर्शक आगे बढ़कर जुलूस में शामिल हो गए, और उछलते हुए खुशियां मनाने लगे।

हमारे पांव अब ठंड से बुरी तरह अकड़ गए थे। मैं कभी एड़ियों के बल खड़ा होकर तलवों को ठंडे सीमेंट से ऊपर उठाता, कभी पांव को हिलाकर विश्वास करना चाहता कि वे मेरी टांगों से जुड़े हुए हैं। अब बर्फ पड़नी भी शुरू हो गई थी। बैदाकाफ ने सलाह दी कि लोगों के साथ हम भी जुलूस में शामिल होकर कुछ देर तक चलें, और फिर भीड़ को चीरकर अपनी बस की ओर चल पड़ें। सभीको उनकी यह सलाह पसन्द आ गई।

लंच के लिए तैयार होते हुए मैंने परीक्षित से कहा, ''आओ, तुम भी हमारे साथ ही चलो।''

''नहीं डैडी, आप तैयार हो जाइए। वहां तक इकट्ठे चलेंगे, फिर मैं कहीं बाहर चला जाऊंगा खाने के लिए। मैं जानता हूं कि रूसियों को कौन-सी बात अच्छी लगती है औरं कौन-सी बुरी। बेकायदा बात नहीं करनी चाहिए।''

मैंने आज उससे फिर पूछा, ''परीक्षित, कम्युनिस्ट व्यवस्था के बारे में तुमने क्या राय बनाई है?''

''मुझे तो यह व्यवस्था एक मशीन की तरह लगती है डैडी, जो कमाल की कामयाबी से चल रही है। इसका हर एक कल-पुर्ज़ा अपना काम बड़ी चुस्ती और मुस्तैदी से कर रहा है। ठीक समय पर मशीन को साफ़ किया जाता है, तेल दिया जाता है। सो लगातार बिना किसी अड़चन के चलती जा रही है। पर इसका मकसद क्या है, कोई नहीं कह सकता।''

''मैं समझ नहीं सका तुम्हारा मतलब।''

''कम्युनिज़्म मानव समाज में इतना विशाल तजरबा है कि कोई भी आदमी इसे पूरी तरह समझने की ताकत नहीं रखता। इस समय तो अंधाधुंध पैदावार बढ़ाए जाना ही इस मशीन का मक्सद लगता है।''

''पर पैदावार बढ़ाने का फायदा भी तो यहां सारी जनता को मिलता है न। किसी विशेष वर्ग का नहीं, बल्कि हर एक नागरिक का जीवन-स्तर ऊंचा उठ रहा है। यह बहुत बड़ी बात है। फिर हर किसीके लिए तालीम पाने के सभी साधन हैं, रोज़गार का फिक्र नहीं, और...''

''आप ठीक कहते हैं डैडी, पर दूर बैठे हुए आप इन बातों को ज़रा जज़्बाती और आदर्शक ढंग से देखने लग जाते हैं। यहां रहकर पता चलता है कि यहां कई किस्म की खराबियां और बुराइयां हैं। व्यक्तिगत आज़ादी की कमी का जो दोष रूस पर लगाया जाता है वह बिलकुल बेबुनियाद नहीं है। स्तालिन के समय मशीन एक खास दिशा में दौड़ रही थी, ख्रुश्चेव ने उसका रूख बदला, पर तब तक यह मशीन बहुत-से लोगों को कुचल चुकी थी। इसीलिए लोग कहते हैं कि ख्रुश्चेव ने स्तालिन के मुकाबले में कम दमन नहीं किया। साथ ही उसपर यह दोष भी लगाते हैं कि वह हर बात में पश्चिमी देशों की नकल करने लगा था। आजकल रूसी लोग अंधाधुंध पश्चिमी फ़ैशन की नकल कर रहे हैं। अब उन देशों का मुकाबला करने की योग्यता भी रूसियों ने खुद में पैदा कर ली है। और हो सकता है कि उसी किस्म का अहंकार भी उनमें पैदा हो जाए। रूसी भी आखिर इन्सान हैं, और इन्सानी कमज़ोरियां उनमें भी पाई जाती हैं। आपने देखा था कल ? बायकाफ़ के चेहरे पर उस समय कैसी खुशी आई थी जब 'एक्सेलेटर' पर पांव रखते हुए ज्ञानी जी और दातार डर गए थे, और उन्होंने बताया था कि पहले कभी उन्होंने ऐसी लिफ्ट़ नही देखी है। यहां आम शिकायत यह भी है कि ख्रुश्चेव की पालिसियों ने नई पीढ़ी को राजनीति से विरक्त कर दिया है। ख्रुश्चेव को हटाने के बाद अब ये लोग उन पालिसियों को सुधारेंगे, पर तब तक फिर पता नहीं कितना नुकसान हो जाए। यह मशीन एक समय पर एक ही दिशा में चलनेवाली है।''

''पर ख्रुश्चेव की बुनियादी पालिसियां तो इन्होंने नहीं बदली हैं।''

''नहीं। इसमें शक नहीं कि ये लोग व्यक्तिवाद को खत्म करने की भरपूर कोशिशें कर रहे हैं। और यह ज़रूर दिखाई देता है कि कुछ समय पाकर सोवियत प्रजातन्त्रवाद के पश्चिमी प्रजातंत्रवाद की अच्छी रिवायतें अपने अन्दर समा करके संसार का सबसे सच्चा और ऊंचे दर्जे का प्रजातन्त्रवाद बन जाएगा। पर यह सोच लेना कि वह स्टेज आजकल आ चुकी है, अपनी आंखों पर पट्टी बांधनेवाली बात है।''

''तुम ठीक कह रहे हो, परीक्षित, बिलकुल ठीक।''

वह लंच भी एक तरह से कम्यूनिज़्म पर रोशनी डालनेवाला ही था।

प्रोफेसर दयाकाफ और बालाबुशेविच संसार के प्रसिद्ध भारत-शास्त्रियों (इंडालोजिस्ट) में गिने जाते हैं। उन्होंने हिन्दुस्तान की राजनीति, उसकी आर्थिकता, उसके प्राचीन और नवीन दर्शन-शास्त्र, सभ्यता और संस्कृति का अध्ययन करने में अपनी उम्रें लगा दी है।

कितनी कृपा थी उनकी कि आज के दिन, जो उनके लिए छुट्टी और आराम करने का दिन था, वे अपनी वृद्धावस्था का खयाल न करते हुए हमें सम्मान देने के लिए आए थे।

'परीक्षित के कथनानुसार ये लोग भी मशीन के पुर्ज़े ही है,' मैंने मन में कहा। पुर्ज़ों को हुक्म मिला होगा कि जाकर इसकस के प्रतिनिधि-मंडल के साथ लंच खाओ। पुर्ज़े ने हुक्म का या कह लो अपने कर्तव्य का पालन किया होगा- चाहे दिल से, चाहे बेदिली से। दोनों प्रोफ़ेसर सत्तर से ज़्यादा उम्र के थे। हममें से कोई व्यक्ति भी इतना विद्वान नहीं था, जिससे उन्हें कुछ प्राप्त हो सकता, या जिसके साथ बैठकर उन्हें समय खराब करने का अहसास न होता। पर वे आए थे। इसी तरह आज इन्क़लाब की सालगिरह के दिन और भी कितने ही पुर्ज़ों को हुक्म मिला होगा। पर पुर्ज़ा किसी न किसी देश के प्रतिनिधि-मंडल के साथ बैठकर लंच खा रहा होगा, या पी रहा होगा, फिल्म देख रहा होगा, बातें कर रहा होगा। हमारे देश में ऐसी कोई मशीन नहीं है। वहां व्यक्तिगत आज़ादी है। वहां विदेशों से आनेवाले मेहमानों को सम्मान देना हर किसी के 'मूड' पर निर्भर है।

लेकिन यही पुर्ज़े लाखों की संख्या में विश्व-शान्ति के आन्दोलन के लिए अफ्रीका और एशिया की गुलाम कौमों की आज़ादी और बराबरी के लिए, पुनर्निर्माण कर रहे नये आज़ाद हुए देशों की सहायता के लिए, अपने व्यक्तिगत कामों और आराम में से समय निकालकर आ जाते हैं। इन्हीं लाखों पुर्ज़ों ने आज संसार का वातावरण बदल दिया है। इस समय ये पुर्ज़े संसार के प्रत्येक प्रगतिशील आन्दोलन के सहायक और समर्थक बने हुए हैं।

यही मशीन स्तालिन के शासन के अंतिम दिनों में ग़लत दिशा में चल पड़ी थी, और अब चीन में ग़लत दिशा में चलने लगी है। रूस में, अन्दरूनी तौर पर मशीन में क्या-क्या गुण-दोष हैं, यह रूसी ही जानें, लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि मशीन को पूर्ण रूप से रद्द नहीं किया जा सकता। संसार में कम्यूनिज़्म बहुत बड़ी उथल-पुथलवाली एक घटना है, जिसमें ग़लतियों का होना स्वाभाविक है। परीक्षित ठीक कहता था कि इस इतनी बड़ी तबदीली को आंखें मूंदकर देखना गलत है।

मेज़ वही थी, जहां हमने कल खाना खाया था, पर आज उस पर 'बैंक्वेट' के नियमों के अनुसार वोदका, कोन्याक और शैम्पेन की बोतलें सजी हुई थीं, उसी तरह जिस तरह सिलाई के कारखानेवालों ने मेज़ों पर सजाई हुई थीं। आज बड़ा दिन जो था रूसियों का। लेकिन हमारे दिलों में से अभी तक यह बात नहीं निकली थी कि कल रात खास तकलीफ़ के कारण गोपालन ने दो घूंट वोदका मांगी तो उसकी जगह बीयर आई थी। इसलिए हम सबने माफी मांगते हुए पीने से इन्कार कर दिया। इसपर बैदाकाफ़ को बहुत हैरानी हुई, क्योंकि अभी थोड़ी देर पहले वे मेरे कमरे में बोतल खुलती हुई देख आए थे। पर उन्हें निराश करने का हमें उतना अफ़सोस नहीं था, जितना बूढ़े प्रोफेसरों को निराश करने का था। लेकिन दोनों प्रोफेसर खुशकिस्मती से खुद भी ज़्यादा पीने के शौकीन नहीं थे। और उन्हें यह जानते भी देर न लगी कि हम उनके प्रति बहुत ही आभारी है। जिस भारतीय सभ्यता के अध्ययन के लिए उन विद्वानों ने अपने जीवन अर्पित कर दिए

थे, वह अनायास ही उनके व्यक्तित्वों में भी समा गई थी। कुछ ही देर में हमारे बीच की सभी दूरियां मिट गईं। हम उनके साथ नानक और कबीर के बारे में, उपनिषदों और गीता के बारे में बातें करने लगे। बैदकाफ़ के साथवाली कुर्सी पर बैठे हुए प्रोफेसर चैलीशोव हमारे साथ इतनी बढ़िया हिन्दी बोलते कि यकीन करना मुश्किल हो जाता कि वे हिन्दुस्तानी नहीं है। कहते हैं, लोग शराब पीकर एक-दूसरे से बहुत खुलकर पेश आते हैं। लेकिन वहां यह हाल था कि सादे पानी के घूंट पीकर ही हम एक-दूसरे के लिए जैसे एक ही परिवार के व्यक्ति बन गए थे। उस खुशी का शब्दों द्वारा वर्णन करना कठिन है। और सोवियत-व्यवस्था की सारी महानता हम उन बुज़ुर्ग प्रोफ़ेसरों के व्यक्तित्वों में देख रहे थे। उस लंच को भुलाया नहीं जा सकता।

रेडियो स्टेशन से

जैसे कि आशा थी, इन्कलाब-दिन और परेड के बारे में बोलने का निमन्त्रण रेडियो की ओर से आ ही गया। खुद गोलुव्येव हमें पकड़कर रेडियो-स्टेशन ले गया। वह उसका अपना घर था, वहां रोज़ वह उर्दू-खबरें सुनाया करता. है।

लेकिन फिर भी वहां जाकर हमें विशेष सम्मान प्राप्त नहीं हुआ। किसी उच्च अधिकारी ने हमसे मुलाकात नहीं की। गोलुव्येव हमें सीधा रिकार्डिंग-रूम में ले गया और उसने हमारे आगे कागज़ रख दिए।

मुझे अपने ब्राडकास्टिंग के ज़माने की एक पुरानी आदत है कि कोई भी दिमाग़ी काम शुरू करने से पहले एक प्याला चाय मुझे ज़रूर चाहिए। फ़िल्मों के काम को दिमाग़ी काम नहीं कहा जा सकता। फिर भी मेक-अप रूम में, शूटिंग से पहले मैं एक प्याला चाय ज़रूर मंगाता हूं। जब मैंने अपनी इस कमज़ोरी का गोलुव्येव के सामने ज़िक्र किया तो उसने कहा, ''नीचे तीसरी मंज़िल पर रेस्तेरां है, वहां जाना पड़ेगा।''

''वहां जाकर चाय पीने में क्या मज़ा है? मज़ा तो तब है कि चाय खुद चलकर यहां आए,'' मैंने कहा।

''तो फिर मैं राय दूंगा कि जल्द से जल्द रिकार्डिंग कर लीजिए, उसके बाद नीचे चलकर मज़े से चाय पिएंगे।''

मैं समझ गया। रूस में चाय आती नहीं, हर हालत में उसके पास जाना पड़ता है। जब यूक्राइना जैसे आलीशान होटल में यह हाल था तो यह कमरा तो फिर भी दफ्तर था।

लगभग डेढ़ घंटे में हम चारों साथियों ने अपना-अपना भाषण रेकार्ड किया। हम सब अब वहां से निकलने और वहां घूमने जाने के लिए उतावले हो रहे थे। लेकिन मैंने अपनी चाय की ज़िद नहीं छोड़ी।

हम नीचे रेस्तेरां में पहुंचे। वह रेस्तेरां था, या कैण्टीन थी- कुछ कहा नहीं जा सकता। पहली खबर यह मिली कि इस समय वह बन्द है। यह भी कोई नई बात नहीं है। यूक्राइना होटल में भी चार-पांच रेस्तेरां बन्द मिलने पर ही कहीं जाकर छठा रेस्तेरां खुला हुआ मिलता था। गोलुव्येव आगे बढ़कर एक कर्मचारी से हमारी सिफारिश की। हमें अन्दर जाने की इजाज़त मिल गई। मेज के गिर्द बैठे तो एक स्त्री नर्सों जैसे कपड़े पहने हुए आई। गोलुव्येव आर्डर देने के लिए उसके पास गया। वापस आया तो उसने बताया कि चाय तो नहीं है, पर कॉफ़ी मिल सकती है। जब हम कॉफी पीने के लिए रज़ामंद हुए तो गोलुव्येव ने फिर वापस आकर बताया कि दूध नहीं है। हमने ढीठ होकर बिना दूध के ही कॉफी पीनी कबूल कर ली। बिना दूध की कॉफ़ी को ज़्यादा स्वादिष्ठ बनाने के लिए हमने काउंटर पर पड़ी पेस्टरी की ओर संकेत किया। स्त्री ने दूर ही से कह दिया कि वह पुरानी हो चुकी है और खाने के काबिल नहीं है।

हम अपना-सा मुंह लेकर डयोढ़ी में आए और वहां से अपने ओवरकोट लिए। मीलिशिया मैन ने दरवाज़ा खोला और हम बाहर निकले। मुझे याद आया कि जैसे लंडन

में बी०बी०सी० की कैण्टीन चौबीस घंटे खुली रहती थी। वहां सिर्फ़ चाय-कॉफ़ी ही नहीं, बियर भी हर समय मिल सकती थी। हम अपने प्रोग्रामों के बारे में आम तौर पर कैण्टीन में बैठकर ही सोचा करते थे। दफ्तर या स्टूडियो के मुकाबले में वहां दिमाग ज़्यादा तेज़ी से चलता था।

मास्को रेडियो और आल इंडिया रेडियो के मुकाबले में बी०बी०सी० के प्रोग्राम क्यों इतने चुस्त और दिलचस्प होते हैं, यह बात तब कुछ-कुछ समझ में आई, पर उस समय मुझे यह पता नहीं था कि आज़रबाईजन सोवियत रिपब्लिक के बाकू रेडियो स्टेशन में चाय हर समय और जहां चाहिए मिल सकती है। और वह बढ़िया चाय होती है। इसका ज़िक्र आगे जाकर करूंगा।

वहां से जाते समय मैंने फिर एक नज़र मास्को रेडियो की उस नई बनी इमारत पर डाली। इमारत बहुत बड़ी जरूर थी। परन्तु सुन्दर नहीं थीं, और पुराने ज़माने की थी। मास्को में एक ही समय में 'हाल आफ कांग्रेसेज़' जैसी नये डिज़ाइन की, और 'मास्को रेडियो' जैसी बहुत पुराने डिज़ाइन की इमारतें बन सकती हैं, यह बात मुझे अजीब-सी लगी।

अब हमें फ़ुर्सत थी। परसों हम उड़कर किशीनेव पहुंच जाएंगे, जोकि रोमानिया की सीमा के साथ लगनेवाले मोलदाविया सोवियत रिपब्लिक की राजधानी है। सुना था कि वहां मौसम मास्को के मुकाबले में बहुत कम सर्द और खुशगवार होगा। बैदाकाफ़ नेकह ही दिया था कि लौटने पर हमें मास्को की खास-खास चीज़ें दिखाई जाएंगी। सो अब सिर्फ़ आवारागर्दी करने को दिल चाहता था। पहले डा० दातार और ज्ञानीजी भीड़ में कहीं खो गए। लेकिन हमने उन्हें ढूंढ़ने की कोशिश नहीं की, क्योंकि हमने आपस में फैसला किया हुआ था कि खोए हुए व्यक्ति को उसके अपने हाल पर छोड़ दिया जाए। बाद में हमने गोलुव्येव को भी अपने इस फैसले के बारे में बताया। पर उसे यह फ़ैसला पसन्द नहीं आया। वह उन्हें ढूंढ़ने के लिए चला गया। इस प्रकार बाद में गोपालन और मै 'खो' गए।

अचानक हमें परीक्षित मिल गया। उसके साथ एक नई सोवियत फ़िल्म 'हैमलेट' देखने का प्रोग्राम बन गया। फ़िल्म बहुत ही बढ़िया थी। (बाद में उसे संसार-भर में भी दिखाया गया था, और उसकी बहुत प्रशंसा हुई थी।) पर वह थियेटर घटिया-सा था। निकट भविष्य में दिखाई जानेवाली फिल्मों के जो चित्र लगे हुए थे, वे भी प्रभावशाली नहीं थे।

हम फ़िल्म देखकर बाहर निकले तो अंधेरा हो चुका था। सड़क के किनारे खड़े होकर हम छतों और कॉर्निशों पर बने बर्फ के हाशिये देखते हुए सोच रहे थे कि अब आगे क्या करें। इतने में एक बहुत ही छोटी-सी मोटर, जिसमें मुश्किल से दो आदमी बैठ सकते होंगे, हमारे पास से गुज़री। उसे देखकर मुझे हंसी आ गई। कभी मेरे दोस्त, ऐक्टर रशीद खां के पास, जिनका अपना कद बहुत छोटा-सा है, ऐसी ही मोटर होती थी।

''किस बात पर हंस रहे हैं डैडी?'' परीक्षित ने पूछा।

''उस पिद्दी-सी मोटर को देखकर।''

''अच्छा। वैसे हंसनेवाली बात नहीं है। यह मोटर सोवियत सरकार खास तौर पर उन फ़ौजियों के लिए बनाती है, जिनकी टांग, बांह या कोई अंग लड़ाई में कट गया हो। यह उन्हें मुफ्त दी जाती है। इसके गियर, ब्रेक आदि इसको चलानेवाले की खास ज़रूरतों का खयाल रखकर बनाए जाते हैं।''

मैं चुप हो गया, और देर तक चुप रहा। हमारे देश में चीन की लड़ाई में पता नहीं कितने जवान अपाहिज हो गए होंगे। उस समय तो उनकी शान में कई गीत लिखे गए थे, भाषण दिए गए थे, उनके लिए बहुत कुछ करने की कसमें खाई गई थीं। लेकिन बाद में उनके लिए क्या कुछ किया गया? उन कसमों पर किस हद तक अमल किया गया? यहां तक भी सुनने में आया कि सैनिकों के लिए भेजे गए कम्बल कलकत्ता के चोर-बाज़ार में बिके।

मोलदाविया की ओर

कार मानो उड़ती हुई हवाई अडडे की ओर जा रही थी। दोनों ओर बर्फ़ से ढके हुए खुले मैदान। उनमें बर्फ़ के झुंड। उन पेड़ों के तनों की सफ़ेद बर्फ़ के साथ मिलकर अजीब-सी बहार पैदा कर रही थी। एक बार ईना त्रास्तिरन मुझे मोटर लांच में बैठाकर, मास्को शहर से बीस मील दूर, एक सुन्दर गांव में ले गई थी। दरिया की बहुत यादगारी सैर थी वह। उस गांव और बर्च के झूंडों को देखकर मैं अचानक चेखव की कहानियों की दुनिया में पहुंच गया था।

रास्ते में गोलुव्येव ने एक इमारत की ओर संकेत करके कहा, "वह प्लेनीटेरियम है। यहां अंतरिक्ष यात्रियों को आकाश की पूरी जानकारी दी जाती है।"

"हमें दिखाया तो नहीं गया यह," गोपालन ने कहा।

"माई फ्रेण्डस," गोलुव्येव ने अंग्रेज़ी में कहना शुरू किया, " मास्को में देखने के लिए इतना कुछ है कि अगर आप पूरा महीना भी इस काम में लगा दें तो फिर भी बहुत कुछ अनदेखा रह जाएगा।"

हर एक आदमी को अपना शहर प्यारा होता है, और निःसन्देह मास्कोवासी को अपना शहर प्यारा ही नहीं है, उसपर वह जितना भी गर्व करे थोड़ा है।

गोपालन ने कहा, "तो आप हमें यह न बताइए कि वह अमुक इमारत है और वह अमुक। इससे हमारा दिल खराब होता है।"

कुछ आगे जाने पर एक और आलीशान और अजीब-सी शक्ल की इमारत दिखाई दी। डा० दातार ने पूछा, "वह क्या है?"

"वह पुराना...पर नहीं, मैं नहीं बताऊंगा, आपका दिल खराब होगा," गोलुव्येव ने हंसकर कहा।

"नहीं-नहीं ज़रूर बताइए, इनकी बात मत सुनिए," डा० दातार ने कहा।

"वह पुराना स्टेडियम था।"

फिर तो हमने हर बड़ी इमारत के आने पर उसके बारे में सवाल पूछने शुरू कर दिए। गोलुव्येव को भला सबके बारे में जानकारी कैसे हो सकती थी? वह ठंडी सांस लेने लगा।

उस ज़माने में, जबकि न बिजली थी, न ही अन्य सहूलियतें, रूसी लोग इतनी ज़्यादा सर्दी को कैसे सहन करते होंगे? शून्य से भी नीचे ३० डिग्री तापमान में एक साधारण आदमी कैसे दिन काटता होगा? क्या उसका जीवन नरक के जीवन के समान नहीं था?

पर अब प्रकृति रूसियों की ग़ुलाम बन चुकी है। ज्ञान-विज्ञान और सामुहिक पुरुषार्थ द्वारा उन्होंने सर्दी और गर्मी दोनों को अपने काबू में कर लिया है। इतनी सख्त सर्दी में उन्होंने शहरों और गांवों के हर एक घर को गर्म बना रखा है। लोग सर्दी के मौसम में खूब काम करते हैं ताकि गर्मी के मौसम में वे सैर-सपाटे के लिए कहीं जा सकें। अब

उन्हें इस असह्य सर्दी पर गर्व है। इसे वे अपने देश की विशेषता समझते हैं और हमारा देश, जो कभी उनके पूर्वजों की नज़र में 'सोने की चिड़िया' था, आज अपनी गर्मी के कारण प्रशंसा की बजाय निंदा का पात्र बना हुआ है। हम खुद भी तो सर्द देशों के मुकाबले में अपने देश को घटिया समझते हैं, जैसे मौसमों की ज़िम्मेदारी ईश्वर पर नहीं बल्कि हमपर हो।

'अगर हमारे देश में भी इतनी ही खुशहाली होती?' मैंने सोचा, 'अगर हम भी बिजली की शक्ति द्वारा शहरों और गांवों में घरों को मौसम के अनुकूल ठंडा या गर्म रख सकते? फिर हमारा देश अद्वितीय होता। कितनी उपजाऊ है हमारी धरती! कितनी विभिन्नता और सुन्दरता है उसपर ! कितनी दोस्त है वह मनुष्य की ! हम फिर से संसार की प्रशंसा का केन्द्र बन जाते।'

विदेशों में जाकर अपने देश का पिछड़ा हुआ होना कैसी तलखी पैदा करता है मन में। क्या हालत बन गई है हमारे देश की। आज़ाद होकर भी दिन-प्रतिदिन पतन की ओर जा रहे हैं। क्या इसका कोई इलाज नहीं है? आज़ादी की लड़ाई के समय कितना जोश था देश की खातिर अपने-आपको कुर्बान कर देने का। कहां चला गया वह जोश? ज़रूर वह इस समय भी हमारे सीने में कहीं न कहीं छिपा हुआ है। चीनी हमले के समय किस तरह शेर की तरह उठ खड़े हुए थे हम। पर कुछ समय के बाद फिर पहले जैसी हालत बन गई। क्या किसी भी पार्टी या नेता में इतनी शक्ति नहीं कि वह इस दबे हुए जोश को हमारे सीनों से खींच निकाले, देश को तेज़ी से उन्नति के रास्ते पर चलाए, जैसे कभी लेनिन ने रूस को चलाया था? गांधी जी या नेहरू की शिक्षा में कहीं न कहीं कमी ज़रूर थी, जिसके कारण आज़ादी के लगभग बीस साल बाद भी हम वहीं के वहीं पड़े हुए हैं।

फिर खयाल आया कि हम लोगों को अति भारी पड़ी है। हम सब अतिवाद के शिकार हैं। हमारे पूर्वजों ने कहा था, "अति सर्वत्र वर्जयेत।" पर आजकल हर किसीको, नेताओं और चिन्तकों को अतिवाद से प्यार हो गया है। गांधीजी का मशीनों से घृणा करने का अतिवाद। नेहरू का मशीनों से प्यार करने का अतिवाद, जैसे मशीनें ही सब समस्याएं हल कर देंगी। होने दो सरमायादारी, लूट-खसोट और काला बाज़ार। कारखाने ही नये ज़माने के 'मंदिर' हैं। पूजा करो उनकी। वे खुद ही सभी समस्याएं हल कर देंगे।

और समाजवादियों का अपना अलग अतिवाद है। जो कुछ मैं कहता हूं, वही सच है, बाकी कामरेड जो कह रहे हैं, वह झूठ है। मज़दूर जाए भाड़ में, मुझे तो अपने सिद्धान्तों की पवित्रता प्यारी है।

हिन्दुओं और मुसलमानों को अपने-अपने धर्म का अतिवाद प्यारा है और विनोबा भावे को भूदान का अतिवाद। बोलो, अतिवाद की जय।

रूस-यात्रा की यह भी एक विशेषता है कि हर समय ध्यान राजनैतिक समस्याओं में उलझा रहता है। पश्चिमी यूरोप के देशों में आदमी मौज-मेले के लिए जाता है। लेकिन रूस में यह संभव नहीं। वहां पैर-पैर पर मानव समाज की समस्याएं आदमी के विचारों को उकसाती हैं। इसीमें रूस की बड़ाई भी है और बुराई भी।

हवाई अड्डा आ गया था। वहां से हमें किशीनेव के लिए जहाज़ पकड़ना था।

हवाई जहाज़

मैला-सा, मिट्टी के रंग का हवाई जहाज़। बहुत बड़े-बड़े सिर्फ़ दो पंखों-वाला। अजीब-सी शक्ल थी उसकी, जैसे कोई बहुत बड़ी मछली हो, जिसके धड़ का अगला हिस्सा पिछले हिस्से के मुकाबले में बहुत भारी और बेढंगा-सा हो। पंखों की आवाज़ इतनी ऊंची थी कि उस शोर में न किसीसे बातचीत की जा सकती थी, न पढ़ा जा सकता था और न ही सोया जा सकता था। सीटों के बीच में बहुत कम फ़ासला था। अगर किसीको गुज़रना होता तो बाकी सब यात्रियों को कठिनाई होती। अन्दर की सुख-सुविधाएं भी हमारे इंडियन एअर लाइन्ज़ के हवाई जहाज़ों के मुकाबले में बहुत कम थीं। दोनों में फर्स्ट क्लास और थर्ड क्लास जितना फर्क था। होस्टैसों को देखकर ऐसे लगता था जैसे वे वर्दी के बजाय घर के कपड़े पहनकर आ गई हों। अपने व्यवहार से भी वे होस्टैस कम और किसी जलसे की स्वयंसेविकाएं ज़्यादा प्रतीत होती थीं। सफर कम से कम चार घंटे का था। हवाई सफर के नुक्ते से उसे लम्बा सफर कहा जा सकता है। खान-पान के लिए प्लेट में रखा हुआ सिर्फ एक सेब, मोटा-सा पनीर का टुकड़ा, कुछ बिस्कुट और ठंडी चाय का गिलास पेश किया गया। लेकिन यह कहना पड़ेगा कि पनीर खाने में बहुत स्वादिष्ठ था।

जैसे-तैसे समय काटनेवाली बात थी। उस सफर में ऐसी कोई चीज़ नहीं थी, जो यात्री को आनन्द दे सकती।

लेकिन अगर यात्री ज़रा गहरी नज़र से देखे तो उसकी निराशा कुछ कम भी हो सकती है। याद रखने लायक पहली बात यह है कि सोवियत संघ अपने हवाई जहाज़ खुद बनाता है।

दूसरे, सोवियत संघ में हवाई सफर केवल विशेष वर्ग के लोगों तक ही सीमित नहीं है। हवाई जहाज़ और रेलगाड़ी के किराये लगभग बराबर हैं। लम्बे सफर के लिए हवाई सफर सस्ता रहता है, और छोटे सफर के लिए रेलगाड़ी का सफर।

बांई ओर, अगली सीटों पर, जिनका मुंह हमारी ओर था, लाल फ़ौज का एक सिपाही बैठा हुआ था- वर्दी पहने हुए। बीस-बाईस साल की उम्र होगी उसकी। उसके साथ की सीट खाली थी। जब भी होस्टैस उसके पास से गुज़रती, वह उसे अपने पास बैठने का संकेत करता। जब कभी उसकी मुझसे नज़र मिलती तो वह मुझे भी आंख मारता। हिन्दुस्तान में ऐसी हरकत करने पर किसी लड़की द्वारा थप्पड़ खा जाना असम्भव नहीं है। लेकिन वहां होस्टैस ने उसकी हरकतों की कोई परवाह नहीं की। सिपाही की हरकतों में एक प्रकार की सादगी और निर्बलता भी थी, जो आम तौर पर हमारे यहां के जाट नौजवानों में देखी जा सकती है। होस्टैस भी पंजाब के किसी गांव की 'मुटियार' ही प्रतीत हो रही थी।

हमारे देश में एक साधारण फ़ौजी का हवाई जहाज़ में सफर करना असम्भव-सी बात है। उसे तो रेलगाड़ी में सफर करने के लिए भी थर्ड क्लास का टिकट मिलेगा। और अगर कभी उसे हवाई जहाज़ के सफर का मौका मिल भी जाए तो क्या वह होस्टैज से

इस प्रकार निःसंकोच होकर पेश आने का साहस कर सकता है? हमारा समाज वर्गों में बंटा हुआ है। फ़ौजी आम तौर पर ग़रीब माता-पिता की सन्तान होते हैं। होस्टैस प्रायः उच्च वर्ग से आती हैं। वे केवल राष्ट्रीय संकट के समय ही फौजी जवानों की प्रशंसा के गीत गा सकती हैं, उन्हें भाई कहकर बुला सकती हैं। लेकिन अपने नित्य-प्रति के व्यवहार में उन्हें बराबरी का दर्जा देना वे कभी सहन नहीं कर सकती हैं।

हिन्दुस्तान को छोड़िए, इंग्लैंड को लीजिए। वहां वर्ग-भेद की दीवारें अब तक काफ़ी कमज़ोर हो चुकी हैं। लेकिन वहां भी जहां तक मेरा अनुमान है, जंग के ज़माने को छोड़कर किसी फ़ौजी को अकेले हवाई जहाज़ पर सफर करना कम ही नसीब होता होगा।

मनुष्य अपने धन-दौलत और ऐश्वर्य का दिखावा तब करता है, जब दूसरों के पास उसकी कमी हो। पूंजीवादी व्यवस्था में हवाई सफर काफ़ी हद तक अमीरी का दिखावा है। आम लोगों से ऊंचे और अनोखे होने का अहसास हवाई जहाज़ के यात्रियों को बड़ा सुखद लगता है। और हवाई कम्पनियां उसे और सुखद बनाने का हर संभव यत्न करती हैं। साज-सजावट, सुख-सहूलियतों, होस्टैसों ने नाज़-नखरों, हवाई-अडडों-इन चीज़ों पर होने वाला सारा खर्च भी यात्रियों के सिर पर डाला जाता है। जितनी बढ़िया सजावट होगी, टिकटों की कीमतें उतनी ही ज्यादा होंगी।

मास्को में पेट्रोल-पम्पों का नज़र आना हिन्दुस्तानियों के लिए हैरानी-भरी बात है। इसी प्रकार पूंजीवादी देशों में जाने पर रूसियों को हैरानी होती है, जब वे देखते हैं कि वहां पेट्रोल-पम्पों को इतना सजाकर रखा गया होता है। मास्को में पेट्रोल स्टेशन उसी तरह हैं, जैसे हमारे यहां शहरों में म्युनिसिपालिटी के पानी के नल। रूस में पेट्रोल को पानी की तरह ज़रूरत पूरी करनेवाली चीज़ समझा जाता है, इससे बढ़कर नहीं। यह स्वाभाविक बात है कि पेट्रोल-पम्पों की सजावट के कारण पेट्रोल की कीमत बढ़ जाती है।

रूसी एअर लाइनें इस मनोरथ को सामने रखकर बनाई गई प्रतीत होती हैं कि यात्रियों को सुरक्षित रूप से एक जगह से दूसरी जगह पहुंचाया जाए। हवाई सफर ज्यादा समय नहीं लेता। फिर व्यर्थ में ज़रूरत से ज्यादा सुख-सुविधाओं का प्रबन्ध क्यों किया जाए?

लेकिन शायद यह कहना अनुचित नहीं होगा कि रूसी हवाई सफर में यात्रियों को आराम के बजाय बेआरामी ज्यादा होती हैं। आखिर यात्रियों को सब्र का घूंट पीकर रह जाने की आदत पड़ जाती है। जिस देश में हर एक उद्योग का राष्ट्रीयकरण हो चुका हो, वहां अपने काम को दिल लगाकर या बेदिली से करना कर्मचारी की मानसिक अवस्था या उसके चरित्र पर निर्भर है। और रूस का मनुष्य भी उतना ही मनुष्य है जितना कि किसी और देश का।

खैर, जैसे-तैसे सफर कट ही गया। और हैरानी की बात यह है कि कानों के पर्दे फटने से बच गए।

किशीनेव शहर पर मंडराते समय शाम हो गई थी। धरती का नज़ारा काफी बदल चुका था। वह कश्मीर की वादी की तरह बहुत सुन्दर और हराभरा नज़र आ रहा था। विशाल सांझे खेतों ने उसमें एक नया आकर्षण पैदा कर दिया था। सांझे खेत सोवियत संघ की विशेष प्राप्ति हैं। उन्होंने वहां के साहित्य और संस्कृति पर भी काफ़ी असर डाला है। कितना अच्छा हो, अगर हमें किशीनेव में कोई सांझा खेत दिखाया जाए।

हवाई जहाज़ में से देखने पर किशीनेव बहुत बड़ा शहर प्रतीत हुआ, लेकिन उसके चारों ओर का फैलाव बहुत ज़्यादा लगा। विशाल खुले स्थान और पार्क हमें दिखाई दिए।

हम हवाई जहाज़ में से बाहर निकले तो मौसम बदला हुआ लगा। मास्को के मुकाबले मे ठंड बहुत कम थी, लेकिन हमें वह फिर भी ज़्यादा लगी। वह मौसम ऐसा था जैसा नवम्बर के महीने में शिमले या श्रीनगर में होता है।

चार व्यक्ति हमारा स्वागत करने के लिए आए हुए थे। उनमें से एक मिस्टर कान्स्तान्तिन थे। हंसमुख और नम्रता-भरा चेहरा था उनका। वे फ़िल्म डायरेक्टर थे। उनके साथ उनकी पत्नी खड़ी थी- श्रीमती आज़ा। वे लगभग पैंतीस वर्ष की सुन्दर और छोटे कद की महिला थीं। उनके चेहरे की प्रौढ़ता में बच्चों की-सी चंचलता का मिश्रण था। आंखें ऐसी लगती थीं, जैसे इतने वर्ष तक संसार की लीला देखकर भी उनमें की हैरानी कम नहीं हुई थी, बल्कि और ज़्यादा बढ़ गई थी। अचानक अजीब रंग-रूप और लिबासोंवाले हिन्दुस्तानियों का आसमान से धरती पर उतर जाना उनकी आंखों के लिए एक कौतूहल-भरी बात थी। मोलदाविया में सोवियत-हिन्द मित्रता संस्था की कोई शाखा नहीं थी। वहां केवल अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता संस्था की ही शाखाएं हैं। और आज़ा उनकी मुख्य मंत्री हैं। फिर हमने मिस्टर दुबिनाव्स्की से हाथ मिलाए, जो मोलदाविया के प्रसिद्ध मूर्तिकार और शिल्पकार हैं। भारी-भरकम शरीर है उनका, और आंखों पर मोटे शीशों की ऐनक, जिसमें से उनकी आंखें हमें गहरी नज़र से देख रही थीं कि हम इस योग्य हैं या नहीं कि वे हमारे-सामने अपना दिल खोल सकें। और चौथे सज्जन थे अमील। पच्चीस वर्ष की उम्र के हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर जवान थे वे। उन्होंने नये फैशन का नसवारी रंग का सूट पहना हुआ था। उनके बाल आज़ा के बालों जैसे ही बहुत मुलायम और लच्छेदार थे और तांबे की तरह चमक रहे थे। वे मोलदाविया के सबसे कम उम्र के फ़िल्म डायरेक्टर थे। इसी साल मास्को की फ़िल्म-इन्स्टीटयूट से कोर्स पास करके आए थे, जहां कि मेरा पुत्र परीक्षित शिक्षा प्राप्त कर रहा है। यह जानकर मुझे बहुत खुशी हुई कि वे परीक्षित को जानते थे, यद्यपि बहुत अच्छी तरह नहीं।

गुलाब के फूलों के महकते हुए गुलदस्ते हमें पेश किए गए। फिर दो मोटरों में बैठकर हम शहर के लिए रवाना हुए, जो वहां से छः मील की दूरी पर था।

जिस होटल में हमें ठहराया गया, उसकी बम्बई या दिल्ली के मशहूर होटलों से तुलना नहीं की जा सकती। हो सकता है कि वह शहर का सबसे अच्छा होटल न हो। पर बड़ी-सी डयोढ़ी में एअर लाइन्ज़ का दफ्तर और विदेशी यात्रियों के लिए चीज़ें खरीदने की दुकानें इस बात का पता देती थीं कि वह होटल अगर सबसे बढ़िया नहीं तो पहले दर्जे के होटलों में से एक ज़रूर था। लेकिन देखने में वह हमारे देश के किसी अच्छे डाक बंगले से ज़्यादा बढ़िया नहीं था।

हवाई अडडे से आते हुए शहर को देखकर ऐसे लगा, जैसे वह अभी बन रहा हो। सड़कों और मकानों की हालत देखकर विश्वास नहीं होता था कि हम मध्य यूरोप के इतने निकट पहुंच गए थे। सड़कों की होनेवाली मरम्मत, धूल-मिट्टी और लकड़ी के घरों की छोटी-छोटी बालकोनियां ज़्यादातर अपने देश की याद ताज़ा कर रही थीं। शायद

इसीलिए हमारा जो स्वागत हुआ उसमें इतना सम्मान और अपनत्व भरा हुआ था। मैंने सोचा कि कुछ वर्षो के बाद, मास्को की तरह, यह गणतन्त्र भी इंग्लैंड और फ्रांस की बराबरी करने लगेगा। यहां के लोगों को भी यह अहसास होने लगेगा कि वे हिन्दुस्तान के मुकाबले में अधिक उन्नत और धनवान हैं! फिर शायद उनके व्यवहार में भी अन्तर आ जाए, वे हमारे साथ उच्च स्तर पर खड़े होकर बोलें, शिक्षा देने के अंदाज़ में बातें करें, जैसे कि किसी अमीर आदमी के घर में गरीब मेहमान से की जाती हैं। हो सकता है कि इस ओर अभी अधिक यात्री न आए हों। क्या हमसे पहले यहां कोई हिन्दुस्तानी प्रतिनिधि-मंडल आया है? अगर आया हो तो पता नहीं कैसा प्रभाव छोड़कर गया हो। हो सकता है कि आज़ा और कान्स्तान्तिन के मन में हिन्दुस्तान के बारे में एक विचित्र देश की कल्पना हो नेहरू, ताजमहल, अजंता, एलोरा, हाथी, राजा-महाराजा आदि के देश की कल्पना। पता नहीं उनकी यह कल्पना कब तक कायम रहेगी।

दस्तक देकर कान्स्तान्तिन मेरे कमरे में दाखिल हुए, जो कि एक स्पेशल सुईट था। उसके एक कमरे में ज्ञानी जी थे, दूसरे में मैं था। गुसलखाना और बैठक सांझी थी। अच्छी सजावटवाले कमरे थे। फर्नीचर और कालीन कीमती थे। लेकिन गुसलखाने में गर्म पानी की कमी थी, और टब भी साफ़ नहीं था। जो व्यक्ति इससे पहले नहाकर गया था, उसने उसे साफ़ नहीं किया, सो गर्म पानी से नहाकर थकावट दूर करने की जो लालसा थी, वह पूरी न हुई।

"आइए कान्स्तान्तिन साहब, तशरीफ़ रखिए," मैंने उनके दाखिल होने पर कहा। "मैं बाकी साथियों को अभी बुलाकर लाता हूं।"

कान्स्तान्तिन मुस्कराए। उन्हें अपनी मातृभाषा के अलावा रूसी और फ्रांसीसी भाषाएं आती थीं, अंग्रेज़ी या हिन्दी बिलकुल नहीं आती थी।

कुछ देर के बाद गोलुव्येव और दूसरी साथी आ गए। थोड़ी देर की बातचीत के बाद हम कान्स्तान्तिन के साथ शहर देखने के लिए चल पड़े।

शहर का बीच का हिस्सा, हमारे पहले के प्रभावों को झुठलाने लगा। चौड़ी और साथ-सुथरी सड़कें दिखाई दीं। नये ढंग की सुन्दर इमारतें और सजधजवाली दुकानें दिखाई दीं। लेकिन ज्यों-ज्यों हम शहर के केन्द्रीय भाग की ओर बढ़ते गए, किशीनेव का अपना विशेष व्यक्तित्व लुप्त होता हुआ प्रतीत हुआ। हमें इस तरह महसूस होने लगा, जैसे फिर वापस मास्को में आ गए हों लेकिन यह भी तो पहला प्रभाव ही थी, जो धोखा दे सकता था।

हवाई अड्डे से आने पर, और अब फिर एक मोड़ पर हम एक बुत के पास से गुज़रे, जो मुझे बहुत ही सुन्दर लगा। वह एक शूरवीर का बुत था, जिसने दायें हाथ में तलवार पकड़ी हुई थी। बहुत ही सजीव लग रहा था वह। बेहद सादा और यथार्थवादी ढंग का बुत था, जो किसी उच्चकोटि के कलाकार की कला का प्रतीक था। ग्लोबेफ से पूछने पर पता लगा कि उसे दुबिनाव्स्की ने बनाया था, वही जिनके साथ कि हवाई अडडे पर मुलाकात हुई थी। वह मोलदाविया के उस महान शूरवीर का बुत था जिसने अठारहवीं

सदी में मोलदाविया को तुर्कों की गुलामी से आज़ाद कराया था। कैटाव्स्की नाम था उसका। गोलदाविया के प्रत्येक घर में उसका नाम बड़े प्यार और आदर से लिया जाता है।

"सफ़र में आप बहुत थक चुके होंगे, इसीलिए हम आपको ज़्यादा नहीं घुमाएंगे। इस समय शहर की बड़ी लाइब्रेरी ही आपको दिखाई जाएगी।"

लाइब्रेरी का नाम सुनकर हमने एक-दूसरे की ओर बेचैनी से देखा। सचमुच हम बहुत ज़्यादा थके हुए थे। जहाज़ के उस बड़े-बड़े पंखों के शोर और रीढ़ की हड्डी के नीचे इंजन की घरघराती हुई आवाज़ ने हमें बेहद थका दिया था। उस समय हमें दिखाने के लिए एक लाइब्रेरी का चुनाव करना ज़ख्मों पर नमक डालनेवाली बात थी।

लेकिन लाइब्रेरी में दाखिल होते ही हमारी सारी थकावट दूर हो गई। वहां के वातावरण का हमपर बहुत अच्छा और सुखद प्रभाव पड़ा। इमारत और पुस्तकों से कहीं ज़्यादा असर उनका उपयोग देखकर पड़ा। शाम का समय नौजवानों के लिए सैर और खेलों का समय होता है! लेकिन उस समय लाइब्रेरी का हर एक कोना नौजवानों से भरा हुआ था, जोकि पढ़ने में व्यस्त थे। साफ प्रकट था कि वे युवक और युवतियां परीक्षा पास करने के लिए नहीं पढ़ रहे थे। उनके अन्दर ज्ञान प्राप्त करने की अथाह भूख थी। वह लाइब्रेरी उनके लिए ज्ञान का मंदिर थी। उसके प्रति उनके दिलों में इतना ज़्यादा आदर था जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। कहीं कोई शोर नहीं था। वातावरण में स्वच्छता का आभास होता था। विद्यार्थियों और प्रबंधकों ने हमारी ओर उस हद तक ही ध्यान दिया, जिस हद तक कि रसमी तौर पर ज़रूरी था। यहां तक कि ज्ञानी जी की दाढ़ी और पगड़ी ने भी किसी को पुस्तक पर से आंख उठाने के लिए मजबूर नहीं किया।

हमें बताया गया कि मोलदाविया क्षेत्रफल में सोवियत संघ का हिस्सा १/६०० भी नहीं है। वहां की आबादी सोवियत संघ की कुल आबादी का १.५ हिस्सा है, यानी २५ लाख। दूसरे शब्दों में पूरे मोलदाविया देश की आबादी दिल्ली की आबादी जितनी भी नहीं है। लेकिन छोटी-सी आबादीवाले देश में इस किस्म की चार हज़ार लाइब्रेरियां हैं। सिर्फ़ इस लाइब्रेरी में ही बीस लाख किताबें हैं। इसमें डेढ़ सौ कर्मचारी काम करते हैं। उसका मेम्बर बनने के लिए कोई फीस नहीं है। एक विशेषता यह भी थी कि सभी पुस्तकें खुली पड़ी थीं। आदमी उन्हें देख-परखकर अपनी पसन्द की पुस्तक उठा सकता था।

यह सब हमारे लिए दिखावे के तौर पर नहीं किया गया था। मैं खुद शांति-निकेतन में अध्यापक रह चुका हूं, और विद्या के क्षेत्र में असली-नकली को अच्छी तरह पहचानता हूं।

उस समय हमें पूरी तरह ज्ञात हो गया कि सोवियत संघ में कम्यूनिस्ट व्यवस्था का सबसे बड़ा आधारस्तम्भ और गौरव वहां की शिक्षा-प्रणाली है।

सच्चा प्रजातन्त्रवाद वह है जो जनता के प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञानवान और विचारशील बनाने के लिए सभी वसीले पैदा करता है। और ऐसे वसीले वही हुकूमत पैदा कर सकती है, जो सही अर्थों में जनता के हित में काम करने-वाली हो और जिसे जनता की ओर से विश्वास प्राप्त हो। जिन हुकूमतों को जनता के प्रति अपने कर्तव्य सिर्फ चुनाव लड़ने के मौके पर ही याद आता है, वे ज़्यादातर जनता को बुद्धू बनाने में ही अपनी शक्ति

खर्च करती हैं। उन देशों के बुकस्टालों पर अश्लील साहित्य बेचा जाता है। पत्र-पत्रिकाएं भी लोगों की अक्ल पर पर्दा डालनेवाली होती हैं। लाइब्रेरियां या तो होतीं ही नहीं, और अगर हों तो उनका उपयोग केवल उस वर्ग के लोगों तक सीमित होता है, जिन्हें किताबों के कीड़े और सनकी कहकर अवज्ञा की दृष्टि से देखा जाता है।

उक्त लाइब्रेरी का अपना थियेटर भी था। उसका भाषणों, नाटकों और फ़िल्में दिखाने के लिए उपयोग होता था। कान्स्तान्तिन ने कहा कि अगर हमें एतराज़ न हो तो वे हमें मोलदाविया के उद्योग, कृषि और लोक-कला सम्बन्धी छोटी-छोटी फिल्में दिखाना चाहेंगे। हमने बड़ी खुशी से उनकी फरमाइश कबूल कर ली।

लेकिन बत्तियां बन्द होते ही नींद ने हमें दबोच लिया। हम बेहद थके हुए थे, सो लाचार थे। मेरे बायें हाथ ज्ञानी जी, गोपालन और डा० दातार सब ऊंघने लगे। मुझे सिर्फ़ लीडरी के अहसास ने जगाए रखा। वह भी सिगरेटों के सहारे। मैं बेतहाशा सिगरेट फूंके जा रहा था।

हैरानी की बात यह कि जब हम वापस होटल में पहुंचे तो सिर्फ़ आठ ही बजे थे, जबकि हमारा ख्याल था कि दस से ऊपर का समय हो गया। कान्स्तान्तिन ने कहा कि हम नीचे चलकर खाना खा लें। ज्ञानी जी को बिलकुल भूख नहीं थी। उन्होंने सलाह दी कि भूख जगाने के लिए पहले कुछ देर बाहर सड़कों पर घूम लें। बाकी साथी भी उनकी इस राय से सहमत थे।

"मैं अर्ज़ करना चाहूंगा," कान्स्तान्तिन ने गोलुब्येव के द्वारा हमें कहा, "कि इस होटल के कर्मचारियों को सात और आठ तारीख को, बाकी नागरिकों की तरह इन्कलाब-दिन की छुट्टी नहीं मिली है, क्योंकि वे ड्यूटी पर थे। उसकी जगह वे आज जशन मना रहे हैं। अगर आप जल्दी खाना खा लेंगे तो उन्हें जल्दी फ़ुर्सत मिल जाएगी।"

यह सुनकर हम खुशी से मान गए। होटल के लौंज में पहुंचे तो आज़ा प्रतीक्षा कर रही थी। सिवा हमारी मेज़ के बाकी सब मेज़ों पर मेहमान पहले से बैठे हुए थे। शायद हमारी प्रतीक्षा की जा रही थी। हाल में नाच के लिए काफ़ी जगह खुली छोड़ दी गई थी। जिस दरवाज़े में से हम दाखिल हुए थे उसके बाईं ओर, एक छोटे-से प्लेटफार्म पर, आर्केस्ट्रावाले तैयार-बर-तैयार बैठे थे। हमारे दाखिल होते ही हॉल तालियों से गूंज उठा। जवाब में हमने पहले हाथ जोड़े, फिर रूसी रिवाज के अनुसार खुद भी तालियां बजाने लगे।

मेज़ पर बैठते ही ज्ञानी जी ने पूछा, "ये सभी इस होटल के ही नौकरचाकर हैं क्या?"

"जी।"

विश्वास मुझे भी नहीं हुआ। ऐसे लगा जैसे वह सब कुछ हमारे सम्मान में किया गया था, लेकिन हमें साफ़ तौर पर बताया नहीं जा रहा था। तभी एक वेट्रेस ने हमें 'सर्व' करना शुरू किया। उसकी सुन्दरता देखकर हमारे होश-हवास गुम हो गए। लम्बा कद था उसका, और बाहें भी जैसे मक्खन की बनी हुई हों। स्वस्थ और सुन्दर शरीर था, जिसपर उसने अंगूरी रंग का फ्रॉक पहना हुआ था। चेहरा गुलाब के फूल की तरह खिला हुआ था और माथे पर सुनहरी बालों की कुछ लटें लहरा रही थीं। ईश्वर ने काफ़ी

समय लगाकर उसे तराशा होगा। 'चढ़ा हिन्द पर कटक (दरिया) मोलदाविया का' वाली बात हुई, जब देखते-देखते हम चारों साथी उस सुन्दरी पर कुर्बान हो गए। अचानक खाना खाने के बजाय, खूने-जिगर पीने का सवाल उठ खड़ा हुआ था।

''ऐसे साकी के हाथ से मिल रही शराब पीने से कौन इन्कार कर सकता है?'' मैंने ज्ञानी जी से कहा, ''इन्कार करने के बजाय तो वह बदनसीब डूब मरे तो अच्छा है।''

''साहनी साहब, आपको तो हर किस्म के सर्किल में घूमना पड़ता है,'' ज्ञानी जी ने कहा, ''हम ठहरे साधु आदमी, त्याग-मूर्ति।''

''ये बातें रहने दीजिए ज्ञानी जी, मैं सब जानता हूं आप कांग्रेसी लोगों के त्याग को।''

''भई, हम आंखों से पी लेंगे,'' ज्ञानी जी ने सन्तोंवाले लहजे में कहा।

मोलदावी अंगूरों की शराब का घूंट भरकर आज़ा ने 'टोस्ट' पेश किया, ''मैं इस साल मित्रता संस्था की सेक्रेटरी चुनी गई हूं, और यह पहला प्रतिनिधि-मंडल है जिसका मैं स्वागत कर रही हूं। यह दिन मुझे कभी नहीं भूलेगा, जैसे कि जीवन में अपना पहला प्यार मनुष्य को कभी नहीं भूलता।''

हॉल की चमकीली रोशनियों में आज़ा भी अतीव सुन्दर लग रही थी। अपने चारों ओर इतनी सुन्दरता देखकर शक होने लगा कि हमारे खिलाफ कोई साज़िश तो नहीं रची गई, जैसे विश्वामित्र का तप भंग करने के लिए इन्द्र ने अप्सराएं भेज दी थीं। ज्ञानी जी का ऐसा मूड बना कि उसका कोई हदहिसाब नहीं था।

''शेर अर्ज़ करता हूं, गोलुव्येव साहब।''

गोलुव्येव खाने में व्यस्त था। उसने सुना नहीं। तब बैंड भी बज रहा था।

''कबूतर भैया!'' ज्ञानी जी ने फिर कहा, ''आपने जब भी शेर सुनाया, हमने सिर्फ गौर से ही नहीं सुना, बल्कि दाद भी दी। अब आप बगलें झांकने लगे हैं। सुनिए।''

''इरशाद।''

''इन हसीनों को, खुदा ने खुद बनाया हाथ से
हम ही हैं कम्बख्त जो ठेके पै बनवाए गए।''

डा० दातार के हाथ से हंसी के मारे कांटा गिर पड़ा। जब आज़ा और कान्स्तान्तिन ने शेर का अनुवाद सुना तो वे भी बेहद खुश हुए। ज्ञानी जी ने यहीं बस नहीं की। कहने लगे, ''हमारा तो ठेकेदार बेईमान था, मैटीरियल खराब लगा दिया। गोपालन साहब, आपको खुदा ने ठीक बनाया है।''

जब महफ़िल का रंग जम गया तो होटल के कर्मचारियों की ट्रेड यूनियन के नेता ने ऑर्केस्ट्रावालों के प्लेटफ़ार्म पर खड़े होकर एक छोटा-सा भाषण दिया-

''साथियो, आज खूब मज़ा लूटिए। आपने इसीलिए तो पैसे खर्च किए हैं। आपकी खुशी को कायम रखना, उसे दिन-ब-दिन बढ़ाना हमारी ट्रेड यूनियन का फर्ज़ है। और इस फर्ज़ को वह हमेशा पूरा करती रहेगी। किसी बात की चिन्ता न कीजिए। नाचिए, गाइए, हंसिए। हमारी लड़कियां सिर्फ आलू छीलने में ही माहिर नहीं हैं। हमें बहुत खुशी

है कि हमारे मित्र-देश हिन्दुस्तान से मेहमान आए हैं। हम उनका स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि आज के जशन का वे भी आनन्द लेंगे।"

इसके बाद मुझे भी कुछ शब्द बोलने के लिए कहा गया। मैंने कहा कि मैं यूनियन के नेता की बातों से सहमत हूं। फिर उनकी ट्रेड यूनियन और वहां उपस्थित महिलाओं और पुरुषों की लम्बी उम्र और सेहत के लिए शुभकामना प्रकट की।

मेरे बैठते ही बैंड ने राजकपूर की एक धुन बजानी शुरू की :

मेरा जूता है जापानी,

यह पतलून इंग्लिस्तानी।

सर पै लाल टोपी रूसी,

फिर भी दिल है हिन्दुस्तानी।

उसी समय उस सुन्दर वेट्रेस ने, जिसका नाम नादिया था, मुझे नाचने के लिए पकड़ लिया। होटल का पूरा 'फ्लोर' नाचनेवाले व्यक्तियों से भर गया। एक बहुत ही लम्बी चोटीवाली लड़की ने ज्ञानी जी को अपने साथ नाचने के लिए मजबूर किया। ज्ञानी जी ने बहुत इन्कार किया, पर वह एक न मानी। ज्ञानी जी का मज़ाक लाजवाब है। जब वे नाचते हुए मेरे पास से गुज़रे तो कहने लगे, "बलदेव जी," (लड़की के संग होने की घबराहट में उन्होंने मुझे ग़लत नाम से बुलाना शुरू कर दिया) "जब हम चलने लगे न, तो किसी ने कहा कि हम सूट सिलवा लें। इरादा भी किया, पर उसी दिन हमारी पार्टी के एक व्यक्ति का कत्ल हो गया। चार दिन उस दौड़-धूप में निकल गए। फिर सोचा कि छोड़ो, हमें कौनसा डान्स करना है रूस में जाकर। और अब देखिए, डान्स कर रहे हैं।"

गोपालन आज़ा पर लट्टू थे। पर जहां तक मेरा ध्यान है, वे वहां की सभी सुन्दरियों पर लट्टू थे, और यह सोच नहीं पा रहे थे कि उनमें से खास तौर पर किसको चुनें।

उस जशन में खूब खुशी मनाई गई। टोस्ट पेश किए गए। ज्ञानी जी ने जोश में आकर भाषण झाड़ दिया। बहुत मज़ा आया। ज्ञानी जी और डा० दातार उपहार के तौर पर देश के लिए कुछ छोटी-छोटी चीज़ें भी ले आए। हमें लगा, जैसे हम हंसी-खुशी में जी रहे किसी परिवार का अंग बन गए थे।

मैंने कई बार देखा है कि रूसी शुरू में बहुत साधारण-सा स्वागत करते हैं, जिससे मेहमान को निराश भी होना पड़ता है, लेकिन बाद में बेहद गर्मजोशी से आवभगत करने लगते हैं। पहले दिन ही किशीनेव के लोगों ने हमें मोह लिया था। मास्को की सारी नाराज़गी हमें भूल गई। यह सब नाप-तोलकर किया गया था या अपने-आप होने लगा था- यह कहना बहुत मुश्किल है।

बारह बजे हमने विदा होने के लिए इजाज़त ली, क्योंकि सफ़र की थकावट अब असह्य प्रतीत हो रही थी। हम अपने कमरों के लिए रवाना हो गए। गोपालन हमारे इस फैसले से बिलकुल खुश नहीं थे। वे जवान थे, इतनी जल्दी थक नहीं सकते थे।

"प्लीज़ डैडी, मुझे कुछ देर और यहां रहने दीजिए," उन्होंने कहा।

"नहीं बेटा, और नहीं, चलो अब।" मैंने दिल को सख्त करके उन्हें अपने साथ ही चलने के लिए कहा।

प्रेज़ीडेंट से मुलाकात

सुबह नल में गर्म पानी आ गया था। मैं वाश-बेसिन भरकर खूब रगड़-रगड़कर मुंह धो रहा था। आइने में मुझे अपना चेहरा बहुत जवान दिखाई दे रहा था। मैंने देखा कि ज्ञानी जी भी अपने कमरे में बड़ी मेहनत से सजधजकर तैयार हो रहे थे। और गुनगुना रहे थे :

प्याला भर, प्याला भर
प्याला भर के दे मुझे।

आज़ा हमें नौ बजे लेने के लिए आनेवाली थी। आज हमारा पहला प्रोग्राम मोलदाविया के प्रेज़ीडेंट से मिलने का था।

दो मोटरें आईं। हमने गोपालन को आज़ा के साथ बैठा दिया। दूसरी कार में डा० दातार, ज्ञानी जी और मैं, तीनों पिछली सीट पर बैठ गए। रास्ते में डा० दातार ने कहा, "भाई, जब भी आप दोनों इकट्ठे होते हैं, अपनी पंजाबी शुरू कर देते हैं, और हमारे पल्ले कुछ नहीं पड़ता।"

उनका एतराज़ सही था। ज्ञानी जी और मैं सचमुच ही एक-दूसरे के बहुत निकट होते जा रहे थे, जिसका एक कारण था कि हम दोनों की मातृभाषा एक थी। डा० दातार की बात के जवाब में ज्ञानी जी ने कहा, "अच्छा, दातार जी, अब हम हिन्दी में ही बोलेंगे। किसी मुशतरका ज़बान में ही हमें बोलना चाहिए।"

"क्या?"

"मुशतरका।"

मैंने कहा, "अगर ऐसे शब्दों का प्रयोग करना है ज्ञानी जी, तो बेशक पंजाबी में ही बोलिए।"

"ओह ! मैंने मुश्किल शब्द का प्रयोग किया है। आप मिश्रित शब्द तो समझते हैं न?"

हम फिर खिलखिलाकर हंस पड़े।

उस समय गोपालन वाली मोटर हमारी मोटर से आगे निकल गई। आज़ा ने हमें हंसते हुए देखा तो उनके चेहरेपर हैरानी आई। शायद सोचा हो कि हम लोगों की हंसी कभी खत्म नहीं होती। आखिर हम किस बात पर इतना हंसते हैं?

लेकिन हम भी क्या करते? एक से एक बढ़कर हंसानेवाली बात ज्ञानी जी के मुंह से निकलती। जब हम सचिवालय की नई और आलीशान इमारत के सामने मोटर में से उतरे तो लगातार हंसे जा रहे थे। गोलुब्येव भी हैरान हो रहा था कि एकाएक किशीनेव पहुंचकर हममें अचानक यह क्या तबदीली आ गई है।

प्रेज़ीडेंट का कमरा बहुत सुन्दर और सादगी से सजाया गया था। सड़क की ओर शीशेवाली बड़ी-बड़ी खिड़कियां थीं, जिनमें से शीतकाल की स्निग्धताभरी धूप आ रही थी।

खिड़कियों के पास एक लम्बी मेज़ के गिर्द बैठने के लिए हमसे प्रार्थना की गई। पचास के लगभग उम्र होगी प्रेज़ीडेंट की। वे स्वस्थ और मिलनसार स्वभाव के व्यक्ति थे। पहले उन्होंने हमें कोट पर लगानेवाले बहुत सुन्दर बिल्ले भेंट किए। फिर मीठे शब्दों में हमारा स्वागत किया। मैंने अपने साथियों से उनका परिचय कराया। और ज्ञानी जी ने हम सबकी ओर से उनका धन्यवाद किया और उन्हें और उनके देश को शुभेच्छाएं भेंट कीं। फिर उपहार के तौर पर उन्हें एक चीज़ भेंट की, जो बढ़िया दस्तकारी का नमूना थी।

उसके बाद प्रेज़ीडेंट हमें मोलदाविया की कृषि और उद्योग-सम्बन्धी ज़रूरी बातें बताते रहे।

अन्त में डा० दातार ने खड़े होकर हम सबकी ओर से प्रेज़ीडेंट का धन्यवाद किया और फिर हम उनसे विदा हुए। नीचे डयोढ़ी में पहुंचे तो ज्ञानी जी का ध्यान दीवार पर लगी एक मशीन की ओर गया।

"भई, यह क्या है, कबूतर भैया?"

"यह सोडावाटर बेचनेवाली मशीन है। इसके इस सूराख में पंद्रह कोपेक डालकर देखिए कि क्या होता है।"

ज्ञानी जी ने पंद्रह कोपेक का सिक्का उसमें डाला और उसी समय लाल रंग के मीठे सोडे का लबालब भरा हुआ गिलास बाहर आ गया।"

ज्ञानी जी ने खुश होकर कहा, "बड़ी ईमानदार मशीन है।"

हम ज़ोर से हंस पड़े। पर सोवियत साथी हमारी हंसी का कारण समझ नहीं पाए।

"यह ससुरी अगर हमारे देश में लगी होती तो दस बार कहना पड़ता कि पूरा गिलास तो भरकर दे।" ज्ञानी जी ने दबी आवाज़ में कहा।

दुबिनाव्स्की

आज़ा ने सलाह दी कि कल हम शहर का जो चक्कर लगा रहे थे, उसे लंच से पहले पूरा कर लें। लंच के बाद हमें एक सांझा खेत दिखाया जाना था। हमने आज़ा की बात खुशी से मान ली। जितना सुन्दर वह देश था उतने ही बढ़िया ढंग से हमारा प्रोग्राम आगे बढ़ रहा था। और आज़ा के साथ ने उसे और भी चार चांद लगा दिए थे।

एक पार्क में से गुज़रते हुए हमने यूनिवर्सिटी की नई इमारत देखी। मेरा कैमरा ठीक नहीं था। गोपालन बार-बार आगे होकर फ़ोटो खींचते थे। वे चाह रहे थे कि कोई उनकी भी आज़ा के साथ एक फ़ोटो खींचे। जब भी वे हममें से किसी को फ़ोटो खींचने के लिए कहते, हम जानबूझकर कोई न कोई बहाना बनाकर टाल देते। वे मुश्किल में फंस गए थे। पता नहीं क्यों वे मुझे यानी अपने 'डैडी' को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझने लग गए थे, जबकि स्वाभाविक रूप से चुप रहनेवाले डा० दातार ही काफ़ी समय से आज़ा से बातें करने में लगे हुए थे। आज़ा के एक ओर डा० दातार थे और दूसरी ओर गोलुव्येव। सबसे आगे रह-रहकर कैमरे में से झांकते हुए गोपालन जा रहे थे, और सबसे पीछे ज्ञानी जी और मैं थे।

गोपालन ने ज्ञानी जी से विनती के लहजे में कहा, ''ज्ञानी जी, इस बार ज़रा आप 'क्लिक' कर दीजिए। यह पीछे झंडों की बैकग्राउंड बहुत अच्छी लग रही है।''

''भई, हमें नहीं आता क्लिक करना। कबूतर भाई से करा लीजिए।''

गोलुव्येव ने ज्ञानी जी से कहा, ''आपको बहुत फ़ायदा है। आप हर एक फ़ोटो में आ जाते हैं।''

''फ़ोटो हमारे किस काम की है, कबूतर भैया। तुमने यूसुफ़ का किस्सा सुना हुआ है न? जब वह बाज़ारों में से गुज़रता था तो घरों की खिड़कियों में से औरतें झांक-झांककर उसके हुस्न को देखा करती थीं, और हैरानी में अपनी अंगुलियों को मुंह में डालती ही नहीं थीं, उन्हें काट भी लेती थीं। इसी तरह कल रात जब गोपालन और आज़ा नाच रहे थे तो हम अपनी अंगुलियों को छुरी से कट जाने से बचा रहे थे।''

ज्ञानी जी के मज़ाक का जवाब नहीं है। अपना नाम सुनकर आज़ा ने गोलुव्येव को मजबूर किया कि वह ज्ञानी जी की बात का मतलब उन्हें समझाएं। आखिर सुनकर दाद दिए बिना न रह सकीं, ''ज्ञानी जी इज़ लिरिक।'' (ज्ञानी जी गीत हैं।)

जब हम वापस अपनी मोटरों के पास आए तो वहां मूर्तिकार दुबिनाव्स्की खड़े थे। वही कलवाले ढीले-ढाले कपड़े, गंजा सिर, चेहरा जैसे तौलिये से रगड़-रगड़कर सुर्ख किया हुआ हो, ऐनक के मोटे शीशों में से तीखी नज़र-वाली आंखें।

''मैंने सुना है, मिस्टर साहनी ने मेरे केटाव्स्की के बुत की बहुत प्रशंसा की है। इसलिए अपनी कुछ और कलाकृतियां दिखाने की मेरे मन में ख्वाहिश पैदा हुई है।''

''बहुत अच्छा हुआ, जो आप आ गए,'' आज़ा ने उनसे कहा, ''मुझे कुछ काम से घर जाना है। अब आप इन्हें सैर कराइए। आधे घंटे तक होटल में पहुंच जाइएगा। मैं वहीं मिलूंगी।''

आज़ा अपने घर के सामने उतर गई। दुबिनाव्स्की निःसन्देह बहुत बड़े मूर्तिकार थे, पर उस समय हमें मूर्तियां देखने की इच्छा नहीं थी, जबकि एक जीवित मूर्ति हमारे पास से चली गई थी।

मोटर फिर उस चौराहे में कैटाव्स्की की मूर्ति के सामने जाकर रुकी। मैंने फिर उत्सुकता से उसे देखा। वह मुझे पहले से कहीं ज़्यादा अच्छी लगी। कैटाव्स्की तलवार से, नीचे गिरे हुए अदृश्य दुश्मन का सिर क़त्ल करने वाला था। घोड़ा जैसे अपने मालिक के दिल की सारी बात समझ रहा था और अपना पूरा सहयोग दे रहा था। हम कुछ देर तक चुप बने देखते रहे। मेरे सामने एक ऐसा शाहकार था, जो कला की उस परिभाषा पर पूरा उतर रहा था, जिसे कि मैं आज तक मानता आया हूं। मेरी चुप में से दुबिनाव्स्की की आंखें जैसे अपने सवालों के जवाब पा रही थीं।

''चलिए, अब एक-दो चीज़ें और दिखाऊं,'' उन्होंने मुस्कराकर कहा।

हम फिर मोटरों में बैठ गए।

दुबिनाव्स्की कह रहे थे, ''सिर्फ़ शहर न देखिए, उसे बनानेवालों के चेहरों को भी ध्यान से देखिए। शहर का निर्माण, देश का निर्माण मुश्किल काम नहीं है। बस, हिम्मत चाहिए। आखिर डर किस बात का?''

उनके शब्दों में से शक्ति फूट रही थी। ऐसे लग रहा था जैसे किशीनेव का सारा शहर उन्होंने अपने हाथों से बनाया हो। हम सुन चुके थे कि पिछले युद्ध में वे स्तालिनग्राद में मोर्चे पर बड़ी बहादुरी से लड़े थे।

ऊंची-नीची धरती और सफ़ेदे के पेड़ों की कतारें मुझे फिर-फिर से कश्मीर की याद दिला रही थीं। वही हवा, वही हरियाली, वही स्निग्ध धूप। एक बहुत ही सुन्दर झील दिखाई दी। फिर एक बड़ी आकर्षक वादी दिखाई दी। दुबिनाव्स्की ने कहा, ''एक ज़माने में इस वादी को मौत की वादी कहा जाता था। यह जगह कीचड़ और दलदल से भरी हुई थी। और बेहद गंदी थी। यहां सिर्फ गरीब लोग रहते थे, जो तरह-तरह की बीमारियों का शिकार होते थे। फिर जब कामरेड ब्रेज़नेव यहां की पार्टी के सेक्रेटरी बने तो उन्होंने कुछ ही समय में इस मौत की वादी को सेहत की वादी में बदल दिया। अब यहां एक नुमाइशगाह बनाई गई है, जहां मोलदाविया की कृषि और उद्योग-सम्बन्धी सभी प्राप्तियों के नमूने देखने को मिल सकते हैं।

दुबिनाव्स्की कलाकार किस हद तक थे और कम्यूनिस्ट पार्टी के प्रचारक किस हद तक, यह कहा नहीं जा सकता। उनमें दोनों चीज़े एकसाथ चलती हुई दिखाई दीं। इसमें बुराई कोई नहीं है, पर ऐसी बात कम ही देखी गई है। यह आदमी कहीं 'फ़्रॉड' तो नहीं? मैंने सोचा।

मोटर एक नई इमारत के सामने जाकर रुकी।

''यह हमारी संगीत अकादमी की नई इमारत है, और इसके सामने, वह, इस अकादमी की आत्मा, स्टीफ़न न्यागा के प्रति मेरी श्रंद्धाजलि है।''

बगीचे में एक छोटे-से चबूतरे पर जामुनी रंग के संगमरमर का एक बड़ा-सा अनगढ़ पत्थर रखा हुआ था। वह संगीत-साधना में लीन किसी संगीतकार की मूर्ति थी। उसका सिर्फ 'बस्ट' था वह। संगीतकार के हाथ में वायलिन थी, और उसकी अंगुलियां तारों में केवल स्वर ही नहीं, बल्कि किसी बहुत गहरी चीज़, किसी चिरन्तन सचाई को ढूंढ़ रही थीं।

''स्टीफ़न ने मोलदाविया को हमारा राष्ट्रीय गीत दिया है। वे मेरे दोस्त थे। ज़ालिमों ने उन्हें बहुत दुःख दिए थे।''

संगीत...पत्थर में संगीत...यही शब्द केटाव्स्की का बुत देखने के बाद बार-बार मेरे मन में उठे थे। मैंने दुबिनाव्स्की से कहा, ''आप भी मूर्तिकला में संगीत हैं। मैं इस कला के बारे में कुछ नहीं जानता, लेकिन मुझे ऐसे लगता है, जैसे आप मूर्तिकार से बढ़कर एक संगीतकार हैं।''

मेरी बात का पता नहीं उन्होंने क्या मतलब लिया। कहने लगे, ''हां, हो सकता है। मैं किसी ज़माने में ऑपेरा में गाया करता था। संगीत से मेरा हमेशा इश्क रहा। मुझे पत्थर में मनुष्य दिखाई देता है- चलता-फिरता हुआ मनुष्य। इसीलिए मैं हिन्दुस्तान की प्राचीन मूर्तिकला का आशिक हूं। वे लोग पत्थर में मनुष्य को देखते थे, लोगों के जीवन को देखते थे। पर प्राचीन मिस्र के मूर्तिकार पत्थर में हमेशा आर्कीटेक्चर (इमारत) देखते थे।''

हम फिर मोटरों में बैठ गए। मुझे ऐसे लग रहा था, जैसे किशीनेव शहर की आत्मा दुबिनाव्स्की में रूपमान होकर हमारे साथ-साथ चल रही हो। जैसे वह सारे शहर पर छाई हुई थी।

''मूर्तिकला मेरी 'मोनोपली' (एकाधिकार) है इस शहर में। अब आपको एक और चीज़ दिखाऊंगा।''

इस विचित्र व्यक्ति को मैं किस नज़र से देखूं? कुछ समझ नहीं आ रहा था। कभी वह अपने बारे में डींगे मारता था, फिर दूसरे ही क्षण ऐसे लगता था, जैसे उसका अपना कोई व्यक्तित्व है ही नहीं, बल्कि वह पूरे शहर में विलीन हो चुका है।

अब हम वापस अपने होटलवाले इलाके में आ चुके थे। एक सड़क पहाड़ी की ओर से आ रही थी, दो और सड़कें शहर के अन्दरूनी भाग की ओर जा रही थीं। जहां वे मिलती थीं, वहां एक ऊंचे खम्बे पर एक युवती की काले रंग की मूर्ति थी, जो पहली सभी मूर्तियों से बढ़-चढ़कर शानदार थी। वह धातु की बनी हुई थी।

'फ़ासिज़्म पर विजय' की प्रतीक थी वह युवती। उसके एक हाथ में, मशाल थी, और उसका दूसरा हाथ किसी विजयी अंदाज़ में, जिसमें किसी प्रकार की नाटकीयता या अस्वाभाविकता नहीं थी, आसमान की ओर उठा हुआ था।

''इस चौक को हम नौजवानों का चौक कहते हैं। यह मूर्ति शहर के नौजवानों ने मिलकर बनाई है। इसके लिए न सरकार ने और न ही किसी और संस्था ने कोई आर्थिक सहायता दी है। इसपर जितनी धातु खर्च हुई है, नौजवान लड़के-लड़कियों ने शहर के कूड़े-कर्कट में से इकट्ठी की थी। खम्भे के निचले हिस्से में, जो मूर्ति-चित्र आप देख रहे हैं, वे मोलदाविया के स्वतंत्रता-संग्राम के विभिन्न दृश्य हैं।''

वे चित्र इतने सजीव थे कि कोई रूखे स्वभाव का आलोचक भी इनमें शायद ही नुक्स निकाल सके। उन्हें देखकर मन में ऐसी भावना पैदा होती थी कि अपने देश और समाज के लिए सब कुछ कुर्बान कर देने को दिल चाहता था। इस बात का कोई उल्लेख नहीं था कि वे चित्र किन कलाकारों ने बनाए थे। कोई नहीं जानता था कि उनकी सृष्टि में दुबिनाव्स्की का अपना कितना हिस्सा था और अन्य कलाकारों का कितना। वे अन्य कलाकार कौन थे? दुबिनाव्स्की के शागिर्द? उनके सहायक? या केवल मज़दूर? या फिर उनके साथी कलाकार?...

अजंता-एलोरा की तरह ही वह कलाकृति भी अनगिनत कलाकारों की ओर से अपने इष्टदेव के प्रति एक श्रद्धांजलि थी। कौन था वह इष्टदेव? कम्युनिज़्म? बेशक, कम्युनिज़्म ही, यदि संसार के सभी मनुष्य बराबर हों, सबकी मेहनत सांझी हो, सबका हक एक-सा हो।

"कमाल है। सचमुच कमाल है। कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी गई," ज्ञानी जी ने कहा।

"बच्चों के नुक्स उनके माता-पिता ज़्यादा अच्छी तरह जानते हैं," दुबिनाव्स्की ने हंसकर कहा।

"पर कभी बच्चे माता-पिता को पीछे छोड़कर आगे निकल जाते हैं," मेरे मुंह से निकला।

दुबिनाव्स्की यह सुनकर बहुत खुश हुए। "यह भी ठीक है," उन्होंने कहा, "वह सामने, शहर का सबसे बड़ा प्रसूतिगृह है। वहां हर रोज़ बच्चे पैदा होते हैं। इसलिए इस जगह पर यह विजय-स्तम्भ बहुत उपयुक्त है।"

मैंने अप्रकट रूप से दुबिनाव्स्की की प्रशंसा की थी। यह कहने की कोशिश की थी कि उस मूर्ति के निर्माण में उन्होंने और उनके साथी कलाकारों ने अपनी कलाकार से भी बढ़कर सफलता प्राप्त की है। पर वे इस बात को दूसरी ही तरफ ले गए। बल्कि अच्छी दिशा में ले गए।

एकाएक मुझे ऐसे लगा, जैसे दुबिनाव्स्की नहीं, पी०सी०जोशी मेरे साथ खड़े थे। वही मोटी ऐनक, वही गोल-सा दमकता हुआ चेहरा, वही नम्रतापूर्ण व्यक्तित्व, जिसमें कहीं कोई अहंकार नहीं था। पी०सी०हिन्दुस्तानी कम्यूनिस्ट पार्टी के एक ही ऐसे नेता हैं जिनके प्रति मेरे दिल में हमेशा गहरा आदर रहा है उनके दिल में भी दुबिनाव्स्की की तरह, अपने देश के इतिहास और सभ्यता-संस्कृति के लिए अथाह श्रद्धा का भाव था। इसीलिए वे कला और कलाकारों से विशेष रूप से प्यार करते थे। और उनके सम्पर्क में आनेवाले कलाकार भी उनसे प्यार करते थे। दुबिनाव्स्की की तरह उन्हें भी बहुत ज़्यादा बोलने की आदत थी। उनकी बातें भी बिखर जाती थीं और बड़ी कठिनाई ने उनको आपस में जोड़ा जा सकता था। वे भी कई बार डींगें हांक रहे प्रतीत होते थे। पर अपने बारे में नहीं। एक दिन वे बहुत बड़े कलाकार और निर्माता दिखाई देने लगे थे। तब उन्होंने अपनी पार्टी को देश की एक बहुत बड़ी शक्ति बनाकर दिखा दिया था। वह शक्ति नेहरू और गांधी के पवित्र कदमों में झुकना भी जानती थी और चट्टान जैसी दृढ़ता से उनका

विरोध करना भी। काश, उस शक्ति को व्यक्तिवादी नेताओं ने टुकड़े-टुकड़े न कर दिया होता। वह देश के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध होती।

मोलदाविया का सौभाग्य है कि वहां दुबिनाव्स्की जैसे सच्चे और गुणी कलाकार की कद्र हुई। हिन्दुस्तान का दुर्भाग्य है कि पी०सी० जोशी जैसे अनमोल क्रांतिकारी को रद्दी की टोकरी में फेंक दिया गया।

कलाकार हो तो दुबिनाव्स्की जैसा, वरना और बहुत-से काम हैं दुनिया में करने के लिए, मैंने खुद से कहा। आज दुनिया को ऐसे सनकियों, जनूनियों और सौदाइयों की ज़रूरत है।

मिचुरिन : सांझा खेत

जिस तरह हमारे देश में पहाड़ों पर बने हुए बंगले होते हैं, वैसे ही एक मकान की बैठक में, जो सांझे खेत के मुखिया कामरेड प्रेकाप का दफ्तर भी था। हम नोटबुकें मेज़ पर रखकर उनके खेत के बारे में प्रारम्भिक जानकारी प्राप्त करते रहे। फिर कुछ सवाल-जवाब हुए।

कामरेड प्रेकाप ने बताया।

इस समय आप मिचुरिन नामक सांझे खेत के मेहमान है। गांव का नाम त्रुशेनी है। ज़िला नोवासअनेन्स्की। यह खेत सामुदायिक रूप में १६४८ में शुरू हुआ था। उन दिनों यहां दो सांझे खेत बनाए गए थे। बाद में दोनों को मिलाकर एक बना दिया गया। १६६१ में, हमारे पड़ोस में से ही, एक और सांझा खेत हमारे साथ शामिल हो गया। इस समय हमारा खेत १६,२५० एकड़ क्षेत्र में फैला हुआ है। इसमें से १२,५०० एकड़ जमीन में खेती-बाड़ी होती है। बाकी हिस्सा सड़कों, रास्तों और पशुपालन आदि के लिए उपभोग में लाया जाता है। ५,००० एकड़ ज़मीन अनाज पैदा करने के लिए है। बाकी ७,५०० एकड़ में फल, तरकारियां आदि पैदा की जाती_हैं। अनाजवाली ज़मीन में से २,१२५ एकड़ में मक्की और १,००० एकड़ में गेहूं पैदा की जाती है। हमारे पास १३५० पशुहैं, जिनमें से गायों की संख्या ६०० है। इनके अलावा ३,१०० सुअर और १०,००० मुर्ग़ियां हैं।

आमदनी : हमारी सालाना आमदनी ५० लाख रुबल के लगभग है। आमदनी का मुख्य साधन अंगूर है, जिससे हमें ३० लाख रूबल के लगभग बचत होती है। ७ लाख रूबल हम दूसरे फलों से कमा लेते हैं।

खर्च : आमदनी का ५०%भाग किसानों की तनख्वाहों में खर्च होता है। २५% भाग सुरक्षित खंड के रूप में रखा जाता है, जिसे खेत की बेहतरी, मशीन में, और पशु आदि खरीदने में खर्च किया जाता है।

१२% भाग सरकार को इन्कम टैक्स दिया जाता है।

१३% भाग शिक्षा, संस्कृति और मनोरंजन के साधनों पर खर्च किया जाता है।

किसानों को माहवार तनख्वाहें दी जाती हैं।

तनख्वाह का हिसाब रोज़ाना काम के हिसाबसे लगाया जाता है, जो औसत तौर पर ३.५० से ३.८० रूबल तक होता है। अगर कोई किसान इससे ज़्यादा काम करे तो उसके मुताबिक अतिरिक्त रकम उसकी तनख्वाह में जोड़ दी जाती है।

तनख्वाह के अलावा सांझे खेत की ओर से किसानों को आटा, मांस, मक्खन, दूध, तरकारी आदि चीज़ें बाज़ार की अपेक्षा सस्ते भाव में मिलती हैं।

हमारे सांझे खेत की सात शिशुशालाएं (नर्सरी) हैं, जहां काम पर जाने वाली माताओं के बच्चों की वैज्ञानिक ढंग से बहुत अच्छी देखभाल होती है। इन शिशुशालाओं का सारा खर्च खेत के ज़िम्मे होता है, जिसमें बच्चों के खानपान का खर्च भी शामिल है।

जो बच्चे स्कूल में जाते हैं, उन्हें मुफ्त नाश्ता दिया जाता है।

हमारे देश की सुप्रीम सोवियत ने कानून पास किया है कि अगले साल से सांझे खेत के प्रत्येक किसान को बुढ़ापे की पेन्शन दी जाएगी।

पर इस सांझे खेत में हम अपने बूढ़े किसानों को कई सालों से पेन्शन देते आ रहे हैं। और भी कई सांझे खेतों में पेन्शन देने का रिवाज पहले से प्रचलित है।

जो किसान बीमारी गा किसी और लाचारी के कारण काम पर न आ सके, उनकी तनख्वाह नहीं काटी जाती। इस तरह बच्चों को जन्म देनेवाली स्त्रियों को भी नियत अवधि के लिए तनख्वाह सहित छुट्टी दी जाती है।

हमारे सांझे खेत के दो क्लब हैं। दोनों में दो हॉल हैं, जिनमें ७०० व्यक्तियों के बैठने की व्यवस्था है। उनमें रोज़ कोई न कोई फ़िल्म दिखाई जाती है, या अपने यहां के या बाहर से आनेवाले संगीतकारों, नर्तकों और नाटक-मंडलियों के प्रोग्राम होते हैं।

इन क्लबों को हम संस्कृति-गृह कहते हैं। अब हम फ़िल्मों और नाटकों के लिए अलग-अलग थियेटर बना रहे हैं।

हमारी अपनी आटे की मिल और बेकरी है। नहाने के लिए हमाम हैं। हमारा अपना अस्पताल है, जिसमें ५० चारपाइयां हैं।

हमारे दो स्कूल हैं। प्रत्येक स्कूल में २५० बच्चे पढ़ते हैं। अब हम एक नया स्कूल बना रहे हैं, जिसमें७५० विद्यार्थियों के पढ़ने का प्रबन्ध होगा।

हमारे यहां एक वर्कशाप भी है, जहां ८० मशीनों की एकसाथ मरम्मत की जा सकती है।

पौधों-सम्बन्धी नये प्रयोग करने के लिए एक अलग प्रयोगशाला है।

पशुओं के तबेले, मुर्गीखाने आदि सांझे खेत की ओर से ही बनाए जाते हैं। सड़कें बनाने और उनकी मरम्मत का काम सांझे खेत के ही ज़िम्मे है।

हमारे गांव की शक्ल अब काफ़ी बदल चुकी है। पहले टीन या लकड़ी की छतें होती थीं। फिर उनके लिए एस्वेस्टस और ईंटों का प्रयोग होने लगा। पर अब हम और भी आगे बढ़ आए हैं। हमने नये सिरे से गांव के निर्माण का काम शुरू किया है। अब गांव बिलकुल नये ढंग से बनेगा। उसमें सेण्ट्रल हीटिंग (कमरों को सर्दियों में अन्दर से गर्म रखना), नलों में चौबीस घंटे गर्म और ठंडा पानी, किंडर गार्टन, दुकान आदि सभी सहूलियतें प्राप्त होंगी। देहाती और शहरी जीवन का फ़र्क खत्म कर दिया जाएगा।

इस समय हमारे यहां ४६ मोटरें, ट्रक, बसें आदि और ४२ ट्रैक्टर हैं।

हमारे यहां कम्यूनिस्ट पार्टी की अपनी शाखा है। उसके ६० मेम्बर हैं। पार्टी हमारे सांझे खेत की जान है। कम्यूनिस्ट मेम्बर हर क्षेत्र में हमारे किसानों का मार्गदर्शन करते हैं।

सवाल : जब यह सांझा खेत बनाया गया होगा तो मेम्बर बननेवाले किसानों में से किसीने एक एकड़, किसीने दस एकड़ और किसीने पचास एकड़ ज़मीन दी होगी! पर आपने बताया है कि सबको काम के हिसाब से एक-से पैसे दिए जाते हैं। क्या यह इन्साफ़वाली बात है?

जवाब : इस सवाल का जवाब देने के लिए किसी हद तक राजनैतिक पृष्ठभूमि के बारे में बताना होगा। अक्तूबर-इन्क़लाब से पहले किसानों की बहुत बड़ी संख्या के पास ज़मीन ही नहीं थी। जिनके पास थी, बहुत थोड़ी थी। बस गिनती के कुछ एक ज़मींदार ही थे, जिनके पास बेहिसाब ज़मीन थी। इन्कलाब के बाद पहले तो सोवियत सरकार ने सारी ज़मीन का राष्ट्रीयकरण कर दिया, फिर उपजाऊ ज़मीन अपने हाथों से खेती करनेवाले किसानों में बांट दी। उस ज़माने में 'सांझे खेत' कहीं नहीं थे। सिर्फ उद्योग को ही सरकार ने अपने हाथ में लिया था। लेकिन उसके बाद सरकार ने महसूस किया कि केवल औद्योगिक उन्नति से ही सारे आर्थिक मसले हल नहीं हो सकते। खेती-बाड़ी-सम्बन्धी भी कुछ कदम उठाने की ज़रूरत थी, ताकि उसकी उन्नति के साथ किसान खुशहाल और सुशिक्षित होकर औद्योगिक माल खरीदें और देश के निर्माण में अपना हिस्सा डालें। यह तभी हो सकता था, अगर खेती-बाड़ी के पुराने साधनों को त्यागकर, ट्रैक्टरों और अन्य मशीनों के प्रयोग द्वारा पैदावार को बढ़ाया जाए। पर छोटे किसानों में ट्रैक्टर खरीदने का सामर्थ्य नहीं था। इसलिए सांझे खेतों का आन्दोलन चलाया गया। सो जब हमारा यह सांझा खेत अस्तित्व में आया, उस समय सभी किसानों की हैसियत एक जैसी थी।

सवाल : एक एकड़ में आप कितनी गेहूं पैदा करते हैं?

जवाब : पौना टन। उन ज़मीनों में, जहां आबपाशी नहीं है।

सवाल : एक एकड़ में बीज कितना डाला जाता है ?

जवाब : ७२ से ८० किलोग्राम तक।

सवाल : आपकी गायें दूध कितना देती हैं ?

सवाल : कई गायें रोज़ का ३० किलोग्राम देती हैं। कई २० किलोग्राम। औसत १० किलोग्राम ।

सवाल : जो मेम्बर पंचायत का दिन-भर काम करते हैं उन्हें तो आप तनख्वाह देते हैं, पर बाकी मेम्बरो को कुछ नहीं देते। यह क्यों ?"

जवाब : हमारे देश में व्यक्तिगत और सामाजिक कामों में भेद नहीं समझा जाता। यहां हर काम समाज-सेवा के तौर पर भी किया जाता है, और अपने लिए भी। दोनों का आपस में कोई विरोध नहीं है दिन-भर पंचायत का काम करनेवालों को तनख्वाह देना ज़रूरी है, क्योंकि उनके गुज़ारे का और कोई साधन नहीं है।

सवाल : जवाब ने काफ़ी समय ले लिया था। अनुवाद कर रहे गोलुव्येव की हालत बड़ी दयनीय बनती जा रही थी। अब सांझे खेत की चीज़ों को देखने के लिए समय नहीं रहा था। बूंदाबांदी भी हो रही थी। मुखिया ने सुझाव पेश किया कि हम वे खख-खास चीज़ें बताएं जिन्हें कि हम देखना चाहते हैं। डा० दातार ने झट अस्पताल देखने की फरमाइश की।

ज्ञानी जी ने कहा, "खेतों, बगीचों को देखकर हमें क्या लेना है, अपने गांव के लोगों से मिलाइए।"

गोपालन ने स्कूल देखने की इच्छा प्रकट की।

मैंने हंसकर कहा, "मैं सबके साथ चलकर ये तीनों चीज़ें देख लूंगा।"

ज्ञानी जी ने मुझे कहा, "हां, हम एकसाथ चलेंगे। अकेले चलने में तो इन हट्टे-कट्टे लोगों से डर लगता है। अफ़रीदियों जैसे दिखाई देते हैं।"

और यह बात ठीक भी थी। ३०० वर्षों की तुर्की हुकूमत ने उन लोगों पर किसी हद तक इस्लामी असर ज़रूर डाला था, जो उस समय साफ़ तौर पर प्रकट हो गया जब हमें खिलाना-पिलाना शुरू किया गया। हमें इस तरह ठूंस-ठूंसकर खिलाया गया कि हम उसे ज़िन्दगी-भर भूल नहीं सकेंगे।

हमें किसानों के घरों में भी ले जाया गया। पहले घर में एक अस्सी साल का बूढ़ा अपनी बूढ़ी पत्नी के साथ रहता था। उस घर की बनावट भी कश्मीरी घरों से मिलती-जुलती थी। फ़र्श पर बैठने का ही प्रबन्ध था। इसलिए कालीनों का काफ़ी प्रयोग किया गया था। सोने के कमरे में ऊंचा चबूतरा बना हुआ था, जिसपर कई व्यक्ति अपने-अपने बिस्तर बिछाकर सो सकते थे। बुढ़िया का लिबास कश्मीरी या पठान स्त्रियों जैसा था। उन्हींकी तरह उसने सिर पर दुपट्टा लिया हुआ था।

बूढ़ा हंसमुख और मज़ाकिया स्वभाव का था। कहने लगा, "मेरी बड़ी ख़्वाहिश है कि मरने से पहले गंगा नदी के दर्शन कर सकूं।"

ज्ञानी जी ने पूछा, "क्या आप मज़हब में यकीन रखते हैं?"

बूढ़े ने हंसकर जवाब दिया, "ईसा, मोहम्मद, बुद्ध तीनों बहुत अच्छे महात्मा थे। मैं किसको मानूं और किसको न मानूं, इस बात का अभी तक फ़ैसला नहीं कर पाया हूं।"

बूढ़ा अभी तो सेहतमंद था। हर एक काम फुर्ती से करता था। बुढ़िया अपने घर की बनी अंगूरों की शराब प्यालों में भरकर हमारे लिए लाई और उसने कहा, "यह मैंने अपनी बेटी के लिए बनाई। आप चखकर देखिए, ठीक बनी है या नहीं।"

ज्ञानी जी और डा० दातार ने बहुत आनाकानी की, पर बूढ़ी ने एक न मानी। "अगर आप नहीं पिएंगे तो अपशकुन हो जाएगा। एक-आध घूंट ही पी लिजिए।"

आखिर दोनों को एक-एक घूंट भरना पड़ा।

तभी बूढ़े ने कहा, "प्याले में शराब छोड़ देना और भी बड़ा अपशकुन होता है। उठाइए, खत्म कीजिए।"

उसके बाद बूढ़े ने आंखों में शरारत-भरी मुस्कराहट लाकर प्याले फिर शराब से भर दिए।

अभी हम बूढ़े से बातें कर ही रहे थे कि पड़ोस के घर से हमें बुलावा आ गया। वहां भी घर की बनी शराब पीनी पड़ी। फिर साथ के घर में भी पीनी पड़ी, और फिर उसके साथ के घर में भी। हर एक घर में हमने टेलीविज़न लगा हुआ देखा। एक बात देखकर बहुत हैरानी हो रही थी। स्त्रियों ने, चाहे वे जवान थीं या बूढ़ी, पुराने ढंग के लिबास पहने हुए थे, जो हमारे यहां के देहाती लिबासों से बहुत मिलते-जुलते थे। और उन लोगों का हमारे साथ व्यवहार भी देहाती लोगों जैसा ही था- अपनत्व से भरा हुआ।

दोस्ती-भवन में विदाई पार्टी

दोस्ती-भवन में हमें विदाई पार्टी दी जा रही है। किशीनेव की तीन दिन की सैर पूरी हो गई। इन तीन दिनों में हम जहां-जहां भी गए, वहां का कोई न कोई प्रतिनिधि इस पार्टी में शामिल है, जैसे वह हमें उस अनुभव को फिर से मन में दोहराने की प्रेरणा देने के लिए आया हो। चाकलेट फैक्टरी की वह ७५ वर्ष की बूढ़ी मज़दूर स्त्री आई हुई है, जिससे मिलकर हमें गोर्की के उपन्यास की 'मां' याद आ गई थी। उसका काम है, बच्चों की पसंद के चाकलेटों को रंग-बिरंगे कागज़ों में लपेटना। इस काम में उसे आनन्द मिलता है, मानो वह सारे सोवियत बच्चों को अपने हाथ से चाकलेट खिला रही हो। यह काम वह किसी हालत में छोड़ने को तैयार नहीं है। वह पेन्शन की हकदार है और घर में रहकर आराम कर सकती है। पर न उसे पेन्शन चाहिए न ही तनख्वाह। वह चाकलेटों का स्पर्श अनुभव करना चाहती है, जिससे उसके चेहरे पर वही सरूर आ जाता है, जो किसी बूढ़ी स्त्री को कहानियां सुनाते समय महसूस होता है। उसे फैक्टरी का एक ऊंचा लम्बा मजदूर अपने साथ लेकर आया है। वह मज़दूर पिछले ओलम्पिक खेलों में सोवियत संघ की वाटर-पोलो टीम का मेम्बर बनकर गया था।

पार्टी में सांझे खेत के मुखिया, कामरेड प्रेकाप भी शामिल हैं। मेज़ पर कोहनियां टिकाए गम्भीर बने बैठे हैं। वही कलवाला कलेजी रंग का सूट पहना हुआ है, जैसे वे शहरी लोगों को अपनी देहाती सादगी से प्रभावित करना चाहते हों। उनके सांझे खेत का मेरे साथियों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। बाद में हमने कई बार उसके बारे में बातें की थीं, और सोचा था कि इस किस्म की चीज़ें हम अपने देश में भी कर सकते हैं। किसानों का कितना समय पटवारियों, नम्बरदारों और अन्य अधिकारियों के पीछे भटकते हुए गुज़र जाता है। अगर सौ-पचास किसान भी इकटठे हो जाएं और आपस में काम बांट लें तो सबकी ओर से सिर्फ एक किसान को ही पटवारियों आदि के पीछे घूमना पड़े। इस तरह समय की कितनी बड़ी बचत हो जाए।...पर नहीं, मालिक होने की भावना को छोड़ना हमारे किसानों के लिए बहुत मुश्किल है। पर रूस में सारी ज़मीन का राष्ट्रीयकरण हो गया था, फिर सांझे खेत बना दिए गए थे, और किसान भूल गए थे कि उनकी अपनी निजी ज़मीनें भी थीं। अब उनकी सन्तानों को पता ही नहीं है कि कभी वे ज़मीनों के मालिक भी थे। इस बात की उन्हें चिन्ता भी क्यों हो, जबकि उन्हें हर प्रकार की सहूलियतें मिल रही है।...लेकिन खेती-बाड़ी का कारखानों की तरह उद्योगीकरण कितनी बड़ी और अनोखी बात दिखाई देती है।

झील के किनारे बनी हुई उस प्रदर्शनी के कुछ कर्मचारी भी आए हुए हैं, जहां हमने मोलदाविया के उद्योग-धंधों और खेती-बाड़ी के हैरान करनेवाले नमूने देखे थे। वे हमारी ओर मुस्कराकर देख रहे हैं, जैसे नज़रों से पूछ रहे हों, 'हमें पहचाना या नहीं?' टेलीविज़न विभाग का वह हंसमुख व्यक्ति भी आया हुआ है, जिसने हमें आधे घंटे के लिए एक विचित्र दुनिया में पहुंचा दिया था। और जब उसनेपास में खड़े एकाउंटेंट द्वारा हमें पांच-पांच रूबल दिलाने चाहे थे तो ज्ञानी जी ने कहा था, "आपने मोलदाविया के लाखों

लोगों से हमारी मुलाकात करा दी है, सो धन्यवाद तो हमें आपका करना चाहिए। पर आप हैं कि हमें पैसे दे रहे हैं।" छोटी-सी बात थी यह, पर इसका बहुत गहरा असर पड़ा था। कुछ ही देर में हमारे गिर्द टेलीविजन के बहुत-से कर्मचारी जमा हो गए थे। हमारा इण्टरव्यू भी कामयाब रहा था, जिसका अंदाजा इस बात से हुआ कि जब हम होटल के सामने पहुंचे तो वहां युवक-युवतियों की काफी बड़ी भीड़ हमारी प्रतीक्षा में खड़ी थी।

कान्स्तान्तिन और अमील, फ़िल्म निर्देशक भी आए हुए हैं। दुबिनाव्स्की भी आए हुए हैं। वे अपने साथ संगीतकारों नर्तकों, नर्तकियों, चित्रकारों, लेखकों, मूर्तिकारों आदि की पूरी फौज लेकर आए हैं। उनकी जवानी और सुन्दरता पर वे इस तरह गर्व कर रहे हैं, जैसे वह उन्हींने दी हो। जैसे वे उनकी जवानी में खुद भी जवान बन गए हों। और सबके बीच में इधर-उधर चक्कर लगाती और पार्टी में अपनी मेहमानवाज़ी से जान डालती हुई आज़ा कान्स्तान्तिनोवना दिखाई दे रही है। वह एक केन्द्रबिन्दु की तरह है, जिसके गिर्द सब कुछ घूम रहा हो।

हमें मोलदाविया के गीत सुनाए गए, जो हमारे उत्तरी हिन्दुस्तान के गीतों से बहुत मिलते-जुलते थे। मैंने मन में कहा कि इन लोगों की खुशियां सदा कायम रहें, जिन्होंने कि हमें इतना प्यार दिया है, इतना सम्मान दिया है। हमें उनकी खुशहाली पर ज़रा भी ईर्ष्या नहीं थी। लेकिन दोस्ती का मज़ा तो तब है कि वे हमारे देश में आएं तो हम भी उनकी उसी प्यार और सम्मान से मेहमांनवाज़ी करें, उन्हें अपने गांवों और गली-मोहल्लों में फिराएं। हमारे गीतों में वे अपने ही दिल की धड़कन महसूस करें।...

एक कलाकार मेरी तरफ लगातार देखे जा रहा था। पता नहीं कौन है यह, मैंने सोचा, और मेरी ओर क्यों देख रहा है। कहीं यह अपनी नज़रों से मुझे यह तो नहीं कहा रहा, 'तुम नहीं जानते, मैं यहां कितना कैद हूं, कितना बंधा हुआ हूं। मेरी आत्मा इस समूहवादी वातावरण में संकुचित बनी हुई है। मैं व्यक्तिगत आज़ादी चाहता हूं, ताकि यहां से बाहर जाकर दूसरी दुनिया भी देखूं। पर मुझे बाहर जाने की इजाज़त नहीं है। मुझे मनचाहे गीत रचने, चित्र बनाने और कहानियां लिखने की आज़ादी नहीं है। हर समय 'पार्टी-लाइन' का बोझ ढोना पड़ रहा है। मैं लाचार हूं, और मैं उड़ नहीं सकता। आप लोग तो सब कुछ ऊपर-ऊपर से देखकर जा रहे हैं, अन्दर की हालत कैसी है, इसका आपको क्या पता है?"

उसकी नज़र सचमुच यह कह रही थी, या मेरा भ्रम था? ठीक तौर पर नहीं कह सकता। यह भी नहीं हो सकता कि रूस में खामियां न हों। पूंजीवादी व्यवस्था से घृणा करते हुए भी मैं जानता हूं कि आज अगर हिन्दुस्तान में किसानों-मजदूरों का शासन हो जाए तो मुझे दुनियावी सुख-आराम और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की बहुत बड़ी कुर्बानी देनी पड़े। और पता नहीं कि उस नुकसान को मैं किस हद तक सहन कर सकूं। फिर अगर पार्टी-लाइन खुद गलत रास्ते पर चल पड़े, या नेता अपनी नेतागिरी का नाजायज़ फायदा उठाने लग जाए, तब तो ईश्वर ही रखवाला है। इसमें कोई शक नहीं कि संसार में ज्यों-ज्यों कम्युनिज़्म फैलता और मज़बूत होता जाएगा, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की मात्रा भी ज़रूर बढ़ती जाएगी, जैसे कि रूस, पोलैंड, चैकोस्लावाकिया आदि देशों में देखने में आ

रहा है। लेकिन आज भी वहां मनुष्य पर बहुत-से बन्धन हैं। फिर भी यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि इन बन्धनों का मनोरथ सारी जनता का कल्याण है। सदियों से अच्छे मनुष्यों ने मनुष्यता की खातिर अपनी ख़्वाहिशें कुर्बान की हैं। महान हैं वे लोग जिन्होंने नये इन्क़लाबी समाज के लिए अपने काम-काज, रहन-सहन और आचार-व्यवहार पर खुशी से सख़्त पाबन्दियां कबूल की है। और लाख लानत है उन नेताओं और अधिकारियों पर, जिन्होंने हुकूमत की कुर्सियों पर बैठकर लोगों की इन कुर्बानियों का नाजायज़ फायदा उठाया है। मनुष्य तभी पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो सकेगा जब व्यक्ति और समाज के बीच में, न केवल कुछ एक देशों में, बल्कि विश्व-भर में रस्साकशी खत्म हो जाएगी, और जब सभी लोग सही अर्थों में एक बहुत बड़े परिवार के रूप में रहने लगेंगे। वह दिन ज़रूर आएगा, औरवह समाजवाद के रास्ते पर चलकर ही आ सकता है पर है वह अभी बहुत दूर।

आज़ा के संकेत पर सभी व्यक्ति एक लम्बी मेज़ के गिर्द खाने-पीने के लिए बैठ गए। पहला 'टोस्ट' आज़ा ने पेश किया। उसके बदले में ज्ञानी जी ने एक सुन्दर 'फुलकारी', जो पता नहीं उन्होंने तब तक कहां छिपाकर रखी हुई थी, उनके कंधों पर डाल दी। तालियां गूंज उठीं। आज़ा के चेहरे पर लज्जा का भाव आया जो भारतीय नारी की विशेषता है। और कमाल तब हुआ जब दुबिनाव्स्की ने किसीसे लिपस्टिक मांगकर उनके माथे के ठीक बीच में बिंदिया लगा दी।

रेडियो-स्टेशनवाले मित्र ने हमें मोलदायाई संगीत के रिकार्ड भेंट किए। हमने भी उन्हें सौगातें भेंट कीं। बहुत प्यारा समय था वह। कई घंटों जशन चलता रहा, जैसे किसीका बिछड़ने को दिल न चाह रहा हो।

वापस होटल में आने पर वह जशन काफ़ी रात तक कायम रहा। सेब जैसे रंगवाली नादिया ने फिर दर्शनदिए। दो दिन वह पता नहीं कहां गायब रही थी। हमारी आंखें बराबर उसे ढूंढ़ती रही थीं। शायद छुट्टी पर गई हुई थी, या शायद गोपालन के डर के कारण उसे कहीं छिपा दिया गया था। अच्छा हुआ जो आ गई। सिर्फ गोपालन ही उसे याद नहीं कर रहे थे। और वह दुकानदार लड़की भी डा० दातार के पास देर तक बैठी रही, जिसके काउंटर पर, होटल की ड्योढ़ी में, उन्होंने कुछ चीज़ें खरीदकर रेडियो से मिले पांच रूबल खर्च किए थे। डा० दातार तो शर्मीले स्वभाव के थे, सो वह लड़की खुद आगे बढ़कर उनसे हाथ मिलाने आई थी। उस समय हम लिफ्ट पर चढ़ने वाले थे, ताकि अपने हाथों में का सामान कमरों में रख आएं। लिफ्ट ऊपर जाने लगी तो ज्ञानी जी ने ठंडी सांस लेकर कहा "अच्छा हुआ कि दातार जी नीचे रह गए। लिफ्ट में जगह भी तीन आदमियों की है। ईश्वर जो करता है, अच्छा करता है।"

जिस प्यार से हमारा स्वागत हुआ था, उसी प्यार से हमें रखा गया था, और फिर उसी प्यार से हमें विदा भी किया गया। हम किशीनेव वालों के हमेशा के लिए कृतज्ञ हो गए।

लेनिनग्राद

गहरी शाम हो जाने पर हवाई जहाज़ लेनिनग्राद की धरती पर उतरा। सफर में होस्टैस हमारे पीछे, गोलुब्येव के साथ बैठी हुई, बातें करती रही थी। उसके हाथों से हमें सिर्फ़ सोडा ही नसीब हुआ था। होस्टैस का ऐसा रवैया था, जैसे वह कह रही हो- किसी चीज़ की ज़रूरत हो तो मांग लीजिए, वरना भाड़ में जाइए।

चारों ओर अनगिनत नीली रोशनियों का विशाल प्रसार था। लेनिनग्राद का हवाई अडडा मैंने पहले कभी नहीं देखा था। वह मुझे मास्को के हवाई अडडे से कहीं बढ़-चढ़कर लगा। लेनिनग्राद के यूरोपीय रंग-ढंग पर हर एक रूसी को गर्व है। ज़ार पीटर प्रगतिशील व्यक्ति था। उसने 'बोयारा' (रूसी नवाबों) की लम्बी दाढ़ियां खुद अपने हाथों में कैंची लेकर काट डाली थीं। उसने विज्ञान और उद्योग धंधों को विकसित किया था, और अपने नाम पर (पीतरग्राद) इस शहर का, अठारहवीं सदी में लंडन और पेरिस के नक्शों के अनुसार, निर्माण किया था। इस परम्परा पर रूसी गर्व करते हैं और उसे कायम रखना चाहते हैं। आज से दस वर्ष पहले मैं जब वहां गया था तो लेनिनग्राद बहुत हद तक लंडन जैसा लगा था। इन्कलाब के बाद पीतरग्राद का नाम लेनिनग्राद रख दिया गया था।

तीन व्यक्ति हाथों में फूलों के गुलदस्ते लेकर हमें मिलने आए, जिनके नेता प्रोफ़ेसर बारानिकोव थे। वे संस्कृत और हिन्दी के उच्चकोटि के विद्वान हैं। उनकी एक पुस्तक दिल्ली के एक प्रकाशक ने छापी है। मेरे भाई, भीष्म ने उन्हें डाक द्वारा पुस्तक की तीन कापियां भेजी थीं, और जानना चाहा था कि उन्हें मिली हैं या नहीं। उस समय मुझे उन्हें पूछने का मौका मिल गया। वे भी मुझे, यानी भीष्म के बड़े भाई को, मिलकर बहुत खुश हुए। पुस्तक उन्हें अभी तक मिली नहीं थी।

सामान मोटरों में रखा गया, और हम ऍस्टोरिया होटल के लिए रवाना हुए, जहां कि हमारे ठहरने का प्रबन्ध किया गया था।

इस बार ज्ञानी जी का और मेरा सोने का कमरा सांझा था। उस कमरे के साथ एक छोटी-सी बैठक थी, जिसमें अठारहवीं सदी का सुर्ख मखमली फर्नीचर सजा हुआ था, जो प्रभावशाली ज़्यादा और उपयोगी कम था। डा० दातार और गोपालन को भी इसी तरह का रईसी ठाठवाला 'सैट' मिला था, जो हमसे कुछ दूर था। हमने जल्दी से सामान रखा और मुंह-हाथ धोकर नीचे डाइनिंग हॉल में पहुंच गए क्योंकि विश्वविख्यात फिल्म अभिनेता चर्खासाफ हमें मिलने आ रहे थे।

मैं मुंह-सिर लपेटे बिस्तर पर पड़ा था। साथ के पलंग पर से ज्ञानी जी की आवाज़ आई।

''बलराज जी, उठेंगे नहीं? आठ बज गए हैं ।''

''आप पहले तैयार हो जाइए, ज्ञानी जी, फिर मैं उठ जाऊंगा। रात मुझे नींद नहीं आई ठीक से।''

''नींद तो हमें भी ठीक से नहीं आई। शायद नई जगह होने की वजह से। रात-भर ठंड-सी महसूस होती रही।''

"आज एक और कम्बल लाने के लिए कहेंगे।"

"अच्छा एक बात और बताइए, फिर बेशक सो जाइए। आपने कहा था कि बाबा रामसिंह कूक के खत के बारे में लेनिनग्राद पहुंचकर पता लगाएंगे, याद है न?"

"अच्छा याद कराया। मैंने रात गोलुव्येव को कहा था कि नताशाको हमारे आने की खबर पहुंचा दे। अगर उससे मुलाकात हो गई तो हमारा काम बन जाएगा।"

खाने की मेज़ पर पहुंचकर वही मास्को वाली कोफ्त फिर सामने आई, जिसे कि मोलदाविया जाकर हम भूल गए थे। बैठते ही गोलुव्येव ने पूछा कि हम नाश्ते में क्या खाना पसन्द करेंगे, लंच के लिए क्या, और डिनर के लिए क्या। एक तरह से यह बहुत सख्त सज़ा थी। एकसाथ दिन-भर के खाने के बारे में क्या बताया जा सकता है? रूसी में छपा हुआ मीनू कार्ड हम पढ़ नहीं सकते थे। ग्लोबेफ मीनू कार्ड लेकर बैठ जाता और उसमें लिखी हुई चीज़ों के नामों का अनुवाद करके बताता। इससे पेट में गए हुए खाने का स्वाद भी खराब हो जाता। हम बेज़ार होकर हाथ जोड़ते, "ईश्वर का वास्ता है, जो चाहें चुन लें, पर हमसे कुछ न पूछें।"

गोलुव्येव जवाब देता, "आपका खयाल है, मुझे सुनाकर मज़ा आ रहा है? अगर इस समय आर्डर देंगे तभी ठीक समय पर खाना मिल सकेगा। अगर खाने के समय आकर आर्डर देंगे तो खाना आने में कम से कम पौना घंटा इन्तज़ार करना पड़ेगा।"

"पर हमने आपको खाने का चुनाव करने की पूरी आज़ादी दे रखी है न ? आप जो भी मंगाएंगे, हम बिना किसी एतराज़ के खा लेंगे।"

इस बात का जवाब भी गोलुव्येव के पास तैयार होता। हिन्दुस्तानियों में एक व्यक्ति की पसन्द दूसरे को रास नहीं आती थीं। डा० दातार वैष्णव थे, ज्ञानीजी को उबली हुई चीज़ें पसन्द नहीं थी। इस समस्या को हल करने के लिए डा० दातार ने मास्को में सुझाव दिया था कि जो कुछ भी उनके सामने आएगा, वे उसे बिना किसी एतराज़ के खा लेंगे। कहना आसान था, करना मुश्किल। किशीनेव में तो हमारे कहे बिना ही हमारा मनपसन्द खाना हमारे सामने आ जाता था। किसीने एक बार भी हमसे मीनू नहीं पढ़वाया था। न ही पेशगी आर्डर लेने का कष्ट किया था। शायद इसलिए कि वह छोटा शहर था। छोटे शहरों में हमदर्दी और अपनत्व की भावना हमेशा ज़्यादा महसूस होती है। पर अब हम फिर एक बड़े शहर में आ गए थे। ज़िन्दगी फिर एक मशीनी किस्म के नीरसता-भरे चक्कर में पड़ गई थी। हमारी अहमियत भीड़ में खो गई थी।

साथ की मेज़ पर वही केरल के पत्रकार आकर बैठ गए, जिनके साथ हमने दिल्ली में हवाई जहाज़ में सफ़र किया था। अचानक मिलने की एक बार फिर खुशी प्राप्त करते हुए उनमें से एक ने याद दिलाया, "कल जवाहरलाल नेहरू का जन्मदिन है। इस मौके पर हमें कुछ न कुछ करना चाहिए।"

हां, कल १४ नवम्बर ही तो है। फैसला हुआ कि उनके प्रतिनिधि-मंडल के नेता के कमरे में कल सुबह नौ बजे लगभग पंद्रह मिनिट के लिए सब व्यक्ति इकटठे हों।

कभी कोई दिन ऐसा चढ़ता है कि एक के बाद एक, हर दांव ही उलटा पड़ता है। आजका दिन ऐसा ही दिन होने की सम्भावना पैदा कर रहा था।

हमारी मेज़ों के पीछे सफ़ेद संगमर्मर की बनी हुई नग्न स्त्री की एक मूर्ति खड़ी थी। कमरों के फर्नीचर की तरह वह मूर्ति भी पुराने ज़माने की रईसी पसन्द की सजावट का

नमूना थी। उसमें कोईभी कलात्मक विशेषता दिखाई नहीं दे रही थी, सिवाय इसके कि विदेशी यात्रियों को इस किस्म की सजावट पसंद आ सकती है। हमारे देश में भी राजाओं के महलों में ऐसी मूर्तियां आम तौर पर देखने में आती हैं। पर मैंने एक केरलीय पत्रकार को कहते सुना, "कितनी सुन्दर मूर्ति है! मूर्तिकला में समाजवादी यथार्थवाद भरना यही लोग जानते हैं।"

मुंह का मज़ा खराब हो गया। यह अन्धी श्रद्धा, ये ग़ुलामाना खयाल हमारे अन्दर से कब निकलेंगे? इन्होंने हमारे देश में पांवों में बेड़ियां डाली हुई हैं। हमारी प्रगति की सबसे बड़ी रुकावट हैं यह।

"कामरेड, यह मूर्ति समाजवादी यथार्थवाद के जन्म से कम से कम सौ साल पहले की बनी हुई है," मैं उसे कहने से न रह सका।

बाहर लौंज में आए। वहां तरह-तरह के काउण्टर बने हुए थे, जैसेकि बैंकों में होते हैं। ग्लोबेफ और बारानिकोव ने पूरा एक घंटा कभी एक काउण्टर पर, कभी दूसरे काउण्टर पर खड़े होने में लगा दिया। हमें शहर की सैर कराने का प्रोग्राम था। पता नहीं क्या गड़बड़ हो गई थी। बाद में पता लगा कि गाइड का प्रबन्ध नहीं हो रहा था। हम इन्तज़ार करते हुए तंग पड़ गए थे।

हम क्लोक-रूम वाले काउण्टर पर ओवर कोट पहनने के लिए दिये गए। वहां खड़े बूढ़े व्यक्ति ने डा० दातार के सम्मान में खुद उन्हें कोट पहनाना चाहा। पर उसी समय डा० दातार अपने खयाल में खोए हुए बुक-स्टाल की ओर चल दिए। वह बूढ़ा व्यक्ति कोट पकड़े देखता रह गया।

आखिर जब हम बाहर निकले तो बर्फ़ की जगह मूसलाधार बारिश हो रही थी। बर्फ़बारी में चलना बड़ा अच्छा लगता है, पर बारिश में चलना सबसे बड़ी मुसीबत है। भला ऐसे मौसम में शहर देखने का क्या मज़ा आएगा? गाइड भी कुछ-कुछ मौसम के अनुकूल मिली थी। अगर वह वैसी होती जैसी कि मास्को की प्रदर्शिनी में गोपालन की दोस्त बन गई थी, तो हम उसे ही देख-देखकर शहर की सुन्दरता की दाद दे लेते। पर अगर दिन शुरू ही गलत ढंग से हुआ हो, तो किसको दोष दिया जा सकता है?

सैर शुरू हुई तो गाइड ने अंग्रेज़ी में बताना शुरू किया :

"इस विशाल चौक में जो मीनार आप देख रहे हैं- अफ़सोस है कि बारिश और धुंध के कारण यह ठीक से दिखाई नहीं दे रही है- उन इन्कलाबियों के सम्मान में बनाई गई है, जिन्होंने 'विण्टर पैलेस' पर हमला किया था। उस समय रूस में दो पार्टिया थीं। एक बालशविक और दूसरी मैनशविक। बालशविकों के नेता ब्लादीमीर ईलइच लेनिन थे। आज लेनिन को संसार-भर में कम्युनिस्ट विचारधारा की रूह माना जाता है। सामने 'विण्टर पैलेस' है, जिसे मोटर के शीशों पर पड़ रहे पानी के कारण आप साफ़ तौर पर देख नहीं सकते हैं। पर यह बहुत बड़ी और आलीशान इमारत है।...इन्क़लाब के समय मैनशविकों का दृष्टिकोण कुछ और था, और बालशविकों का कुछ और।..."

श्रीमती अंग्रेज़ी बहुत अच्छी बोलती थी, लेकिन ज़रूरत से इतनी ज़्यादा कि हमें लगा, वह हमारे साथ अंग्रेज़ी का अभ्यास कर रही है।

उसने फिर कहना शुरू किया :

"इस समय बारिश बन्द है। आप सामने फ़िनलैंड स्टेशन देख रहे हैं। इसे फ़िनलैंड इसलिए कहा जाता है, क्योंकि जिस रेलवे इंजन में ब्लादीमीर ईलइच लेनिन ने इन्क़लाब से कुछ देर पहले गुप्त रूप से पीटर्सबर्ग आने के लिए सफर किया था, वह इस स्टेशन पर आकर रुका था। लेनिनग्राद को उन दिनों पीटर्सबर्ग कहकर बुलाया जाता था। वह इंजन यहां नुमाइश के लिए रखा हुआ है।"

"हम मोटर में से उतरकर देख लें ज़रा ?"

"नहीं-नहीं इसकी कोई ज़रूरत नहीं है। उसे आप कल दोपहर को देखेंगे।"

"इस स्त्री ने तो इस्तरी कर दिया बलराज जी, अब क्या करें?" ज्ञानी जी ने मुझे पंजाबी में कहा।

"मैं क्या कहूं?"

"इससे तो कबूतर भैया ही हमारे साथ आ जाता तो अच्छा था। उसकी उर्दू समझने में कुछ आसानी होती है।"

गोलुब्येव की जगह श्री बारानिकोव हमारे साथ आए थे। वह पंजाबी नहीं समझते थे। फिर भी उन्हें हमारी परिस्थिति का कुछ-कुछ अनुमान हो गया था ।

"मैडम, यू स्पीक वेरी गुड इंग्लिश, वेरी गुड। ह्वेयर डिड यू लर्न इट?" (मैडम, आप बहुत अच्छी अंग्रेज़ी बोलती हैं, बहुत ही अच्छी। कहां से सीखी है आपने?)

गाइड को अपनी प्रशंसा अच्छी लगी। "थैंक यू," उसने कहा, "पिछली लड़ाई के दिनों में मैं इंग्लैंड में रहती थी, एक अंग्रेज़ परिवार के साथ। वहां मुझे अच्छा अभ्यास हो गया था।"

"वेरी गुड," ज्ञानी जी ने कहा।

इससे पहले कि हमारी सैर मोटर में बैठे-बैठे ही खत्म हो जाती, ज्ञानी जी ने कहा, "मिस्टर बारानिकोव, हमने सुना है कि लेनिनग्राद में मुसलमानों की एक मस्जिद भी है। क्या यह सच है?"

"हां अवश्य, आपने सत्य सुना है।" बारानिकोव ने शुद्ध हिन्दी में जवाब दिया।

"तो मैडम से कहिए, वह हमें दिखा दें। इनकी बड़ी मेहरबानी होगी।"

इसके बाद बारानिकोव और गाइड के बीच में काफी लम्बी बहस हुई, जिससे प्रकट होता था कि गाइड को निश्चित किए गए प्रोग्राम से इधर-उधर हटना पसन्द नहीं था। पर अन्त में हम मस्जिद में पहुंच ही गए।

मध्य एशिया की इमारतकारी का नमूना थी वह। हल्के हरे रंग का मोज़ेक का बुर्ज़ था उसका। एक लम्बा-सा रास्ता पार करके हम मस्जिद के अन्दरूनी सहन में पहुचे, जो हिन्दुस्तान में हमेशा खुला पाया जाता है, पर यहां उसपर छत पड़ी हुई थी। काफी संख्या में मुसलमान वहां बेचों या फर्श पर बिछे हुए कालीनों पर बैठे हुए थे। बोसीदा-से चेहरे थे उनके। सबके सिरों पर काली टोपियां थीं और उन्होंने ओवर कोट पहने हुए थे। मस्जिद का दरवाज़ा हमेशा खुला रहने के कारण उसपर एक बोझिल कपड़ा तना हुआ था। वहां बैठे हुए व्यक्तियों में शायद ही कोई जवान उम्र का व्यक्ति होगा। वे ज्यादातर

बूढ़े और अधेड़ उम्र के थे। चुन्धियाई हुई-सी आंखें थीं उनकी। यह अनुमान लगाना कठिन था। कि वे रूसी थे, या मंगोली, या तातारी। ऐसे लगता था, जैसे उनकी अपनी अलग दुनिया थी, जिसका बाहर की दुनिया से कोई सम्बन्ध नहीं था। बहुत बन्द-बन्द और पिछड़ी हुई थी उनकी दुनिया। अचानक मैंने देखा, ज्ञानी जी बिना बूट उतारे नमाजगाह की ओर चल पड़े थे, जिसके गिर्द जंगला लगा हुआ था। देखकर मुझे हैरानी हुई। तभी तीन-चार मुसलमानों ने बहुत नाराज़ होकर उन्हें आगे बढ़ने से रोका। फिर और कई व्यक्ति उनके गिर्द जमा हो गए। ज्ञानी जी हंस पड़े। "अब पता लगा कि यह असली चीज़ है, इसमें नकलवाली कोई बात नहीं है।"

"एक कदम और आगे गए होते तो ये लोग आपको पीट डालते," मैंने उन्हें कहा।

"पर क्यों ? हमें पता नहीं था क्या ? हम ईश्वर को माननेवाले लोग हैं। यह नास्तिकों का देश है। हमने इनका इम्तहान लेना था, सो ले लिया।"

वहां से हम शहर के बाहर उस पवित्र समाधि की ओर गए, जहां जंग के दिनों में भूखों मरनेवाले हज़ारों लोगों को दफ़न किया गया था। उसे देखकर दिल द्रवित हो उठता है। वहां एक मूर्ति है, जिसे देखकर दिल में दर्द भी जागता है और प्यार भी। वह मरनेवालों को अपनी गोद में लेती हुई प्रतीत होती है। उसके पास ही एक मशाल हमेशा जलती रहती है। हमें इस बात का अफसोस हुआ कि श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए हम कोई हार या गुलदस्ता नहीं लाए थे। हम सिर झुकाए, चुप बने, उन अज्ञात वीरों को कुर्बानी की यादगार को देख रहे थे, जिन्होंने भूख से लड़ते हुए जानें दे दी थीं, पर अपने देश के सम्मान को कलंकित नहीं होने दिया था। हम उस देश को सलामी दे रहे थे, जिसने अदम्य साहस से फ़ासिज़्म को कुचलकर लोकवादी कद्रों की कीमतों को सुरक्षित रखा था, साम्राज्य के चुंगुल में फंसे हुए हमारे जैसे देश के लिए आज़ादी जीतना आसान बना दिया। हमारी गाइड इस गलतफहमी का शिकार बनी हुई लग रही थी कि हम सोवियत संघ के शुभेच्छुक नहीं हैं, बल्कि 'बूर्ज़ूआ प्रतिक्रियावादी' किस्म के लोग हैं। उस समय कब्रिस्तान में खड़े होने पर उसका दिल भी पिघल उठा था। और उसने कहा, "जो हमारा दोस्त है, वही इस धरती पर पांव रख सकता है, दुश्मन नहीं ।"

हम चुप रहे। हम उसकी बात को दिल से, "आमीन' कह रहे थे। पर वह समझ नहीं पाई। अभी भी उसकी तसल्ली नहीं हुई थी। जब फिर मोटर में बैठे तो कहने लगी, "लेनिनग्राद हमारे देश का एक ऐसा शहर है, जिसमें कभी किसी हमला करनेवाले का कदम नहीं पड़ी है। इसलिए हम इस शहर पर सबसे ज्यादा गर्व करते हैं।"

उसकी देशभक्ति अपनी हद को पार कर रही थी। मुझसे रहा न गया, और मैंने कहा, "हमारे दिल्ली शहर पर सदियों से हमला होता रहा है। इसलिए हमें उस शहर पर सबसे ज़्यादा गर्व है।'

दोनों ओर से देशभक्ति का मुकाबला था। गाइड दिल ही दिल में तलख होकर रह गई। शहीदों के कब्रिस्तान के निकट एक प्रदर्शनी भी थी। गाइड ने उसे दिखाने की ज़रूरत नहीं समझी। लेकिन ड्राइवर उसके कहे बिना ही कार उस ओर ले गया। अन्दर हमले के दिनों के फ़ोटो टंगे हुए थे, जो मन में असह्य दुःख की भावना पैदा करते थे।

हर एक फोटो सैकड़ों जवानों से बोलता हुआ प्रतीत होता था। हम अपने आंसुओं को रोक न पाए। गाइड को हमारी ऐसी प्रतिक्रिया की आशा नहीं थी। अब उसका अपना दिल भी हमारे देश के लिए हमदर्दी से भर गया। भारत ने भी तो अनगिनत दुःख झेले थे।

हमारे दिलों की उन सांझी भावनाओं का प्रकृति ने भी सत्कार किया। उसी समय बादलों में से सूरज निकल आया। हम लेनिनग्राद का उजला चेहरा देखने के काबिल हो गए। हमारी सैर नीवा दरिया के सीने पर खड़े 'आरोरा' नामक जहाज़ पर खत्म हुई। गोपालन को वह जहाज़ निकट से देखने की बहुत लालसा थी। उसी जहाज़ ने अक्तूबर-इन्कलाब का पहला सिग्नल किया था। हम जहाज़ के ऊपर नहीं जा सके, क्योंकि उस समय वहां किसी फिल्म की शूटिंग हो रही थी। डैक पर तरह-तरह का फिल्मी सामान दिखाई दे रहा था। दरिया के दोनों किनारों पर बहुत सुन्दर इमारतों की पंक्तियां थी, इनमें वह इमारत भी थी, जिसमें लेनिन गुप्त रूप से रहे थे। गाइड ने बताया कि सर्दियों में दरिया बिलकुल जम जाता है, पर मछलियां नहीं मरतीं। वे एकदम नीचे चली जाती हैं, जहां का पानी बर्फ़ नहीं बनता। बर्फ़ में छेद करके मछलियों को पकड़ा भी जा सकता है। सर्दियों में दरिया का दृश्य सचमुच बहुत सुन्दर होता है, क्योंकि उसकी सफेद सतह पर लोग सैर कर रहे होते हैं, और स्केटिंग तथा अन्य कई प्रकार के खेल खेलते हैं। वारानिकोव ने दरिया के उस पार की वह इमारत भी दिखाई, जहां एशियाई भाषाओं और साहित्य का अध्ययन किया जाता है। नताशा टालस्टाया वहाँ काम करती है।...

वापस होटल आए तो सीढ़ियों के पास वही नताशा खड़ी थी। उसे देखते ही मेरे मुंह से खुशी-भरी चीख निकल गई और मैंने दौड़कर उसे अपनी बांहों पें भर लिया।

आज से दस वर्ष पहले भी ठीक इसी जगह नताशा से मुलाकात हुई थी। रेलवे स्टेशन से हमारा प्रतिनिधिमंडल होटल के पास पहुंचा ही था और हम एक काउण्टर के पास अपने पासपोर्ट दिखा रहे थे कि किसी स्त्री की आवाज़ कानों में पड़ी, "क्या आपमें से कोई पंजाबी भी बोलता है?" चेतन आनन्द और मैं साथ-साथ खड़े थे। हमने अचानक मुड़कर पीछे देखा। एक ऊंची-लम्बी, सुन्दर चेहरे और सुनहरे बालोंवाली युवती खड़ी थी। उसने बालों की लम्बी चोटी की हुई थी, जैसा कि पंजाब की जाट युवतियां करती हैं। और उसके चेहरे जाटों जैसा ही सादगी और गर्व का भाव था। उसके मुंह से पंजाबी शब्द निकलते ही वह हमारी बहन बन गई थी- हमारी रूसी बहन।

और उसके बाद वह हमें पंजाबी में पत्र लिखती रही। मैंने कुछ एक पत्र 'पंज दरिया' नामक पत्रिका को भेजे। अपनी मां को पढ़कर सुनाए। उसके हाथों की लिखी 'गुरुमुखी' अपने मित्रों को दिखा-दिखाकर शर्मिन्दा किया कि वे पंजाबी होते हुए अपनी मातृभाषा को पढ़-लिख नहीं सकते।

नताशा का सारे पंजाब में ज़िक्र था। वह अब सभी पंजाबियों की बहन बन चुकी थी। हर तरफ से उसके हिन्दुस्तान आने की मांग होने लगी। बड़ी बेसब्री से उसकी प्रतीक्षा की जाने लगी। कई सम्मेलनों में उसके आने की खबर भी सुनाई गई। आखिर प्रतीक्षा करके सभी निराश हो गए। नताशा नहीं आई। हो सकता था कि उसे आने की इजाज़त न मिली हो, या शायद उसे इस योग्य न समझा गया हो कि वह एक पूंजीवादी

देश में दृढ़ कदमों से चल सके। जिस नताशा को देखने की सारी आशाओं पर पानी फिर गया था, वही अब फिर मेरे सामने खड़ी थी।

"क्या हाल-चाल है चन्नियें, तुम्हारा?" मैंने पंजाबियों के-से हौंसले से इर्द-गिर्द खड़े लोगों को सुनाकर कहा। और निःसन्देह सभी लोग, जिनमें रूसी भी थे और विदेशी भी, हमारी ओर बड़ी हैरानी से देखने लगे। उस गम्भीर किस्म के वातावरण में इस तरह जोशीले अंदाज़ में प्यार का दिखावा करना विचित्र घटना थी। पर मैं भी रूसियों से इस बात का बदला ले रहा था कि उन्होंने नताशा को पंजाब नहीं भेजा था। मेरे उस व्यवहार से नताशा कुछ चौंक-सी गई थी, जैसे उसे डर हो कि उसे नुकसान पहुंच सकता है।

मैंने अपने साथियों से उसका परिचय कराया। ज्ञानी जी बहुत अरसे से उस 'रूसी पंजाबन' के दर्शन करने के लिए उतावले थे। उनकी आंखों में भी एक भाई का प्यार छलक रहा था।

"बलराज ज़ी, यह तो बिलकुल पंजाबन ही लगती है, और वह भी शहरी नहीं, बल्कि किसी गांव की लड़की।"

"आपके घर में सब ठीक हैं? नताशा ने पूछा, "तोष जी ठीक हैं ? आपकी माता जी की अच्छी सेहत है न, मेरे भाई ?"

"सब ठीक है, नताशा। अलिओशा का क्या हाल है, तुम उसे साथ क्यों नहीं लाई?"

"मैं सीधे अपने दफ्तर से आ रही हूं। शाम को आप सब 'बैले' (नृत्य नाटक) देखने जा रहे हैं। मुझे भी निमन्त्रित किया गया है। वहां मैं उसे साथ लेकर आऊंगी।"

"वाह, यह तो बहुत अच्छी बात है। आओ, अब कहीं बैठें। तुम्हारे साथ एक बहुत जरूरी बात करनी है।"

हम रेस्तेरों में जाकर बैठ गए। मैंने नताशा के पास उस पत्र का ज़िक्र किया, जो कूका रामसिंह जी ने सन १८७६ में रूस के ज़ार को किसी के हाथ भेजा था। नताशा ने कहाकि वह हिन्दू-शास्त्र की विदुषी, मैडम लुस्तरनिक को जानती है, जो इस सिलसिले में हमारी मदद कर सकती है। उससे हमें मिलाने का उसने वादा किया।...

थियेटर में नताशा से फिर मुलाकात हुई। उसके पुत्र, अलिओशा को भी मैं पांच साल बाद देख रहा था। काफी बदल गया था वह। उनकी सीटें भी हमारे साथ ही रखी गई थीं। और उस चीज़ ने बैले देखने का हमारा मज़ा दुगुना-चौगुना कर दिया था।

मैंने सोवियत-हिन्द मित्रता संस्था और उसके अधिकारियों, प्रैकाफ़, दैनीलाफ़ बैदाकाफ़ आदि के प्रति दिल ही दिल में आभार प्रकट किया। ऐसे लगा, जैसे वे दूर, मास्को में बैठे हुए निरन्तर हमारी देखभाल कर रहे थे। वे एक-एक कर के हमारी सभी फरमाइशें पूरी करते जा रहे थे। उन्हें पता था कि मास्को में हम बैले नहीं देख सके थे। इसलिए वहां उसे दिखाने का प्रबन्ध करना वे भूले नहीं थे। वह थियेटर अन्दर से हुबहू बालशाए थियेटर जैसा ही था। और बैले भी चौकाव्स्की के संगीत पर आधारित था, जिनकी धुनें हिन्दुस्तानी पसन्द के बहुत नज़दीक थीं। उस शाम को हर प्रकार से एक यादगारी शाम बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी गई थी।

वापस होटल पहुंचे तो मैडम लुस्तरनिक हमारी प्रतीक्षा कर रही थीं। साठ से ऊपर उम्र होगी उनकी। प्राचीन भारत के इतिहास और संस्कृति का अध्ययन करने का उन्हें

जनून-सा है। हमारे देश के बारे में उनका ज्ञान किसी हिन्दुस्तानी विशेषज्ञ को भी मात कर सकता है। उन्हें हमारे देश से असीम प्यार है। यह कोई अजीब बात नहीं है, क्योंकि जो भी व्यक्ति भारत की बहुमुखी संस्कृति का जितना ज़्यादा अध्ययन करता है, उसकी झोली अनमोल रत्नों से भरती जाती है और वह हमारे देश को प्यार करने लगता है। बस हमारे देश का शिक्षित वर्ग ही एक ऐसा वर्ग है, जो इस असलियत को अभी पूरी तरह समझ नहीं पाया है।

कूका रामसिंह के पत्र के बारे में ज्ञानी जी की फ़रमाइश मैडम लुस्तरनिक ने बड़े ध्यान से सुनी। पत्र के बारे में उन्हें पता था, पर वह इतनी जल्दी कैसे और कहां से मिलेगा, इस बात पर वे सोचने लगीं।

"यह तो घास के ढेर में से सूई ढूंढ़ने वाली बात है," उन्होंने अपनी टूटी-फूटी अंग्रेज़ी में कहा, "और समय भी बहुत थोड़ा है। कल रात को आप जा रहे हैं। पर कोशिश करना मेरा फर्ज़ है, जो मैं ज़रूर करूंगी। मुझे शक है कि ज़ार-हुकुमत के पुराने कागज़-पत्र कहीं मास्को न ले जाए गए हों। खैर, कल शाम को मैं फिर इसी समय आपको मिलने आऊंगी, और जो भी खबर होगी, दूंगी।"

बातों के दौरान में डा० दातार और गोपालन ऊपर जाकर नताशा, अलिओशा और मैडम लुस्तरनिक के लिए कुछ उपहार ले आए। उन्होंने अलिओशा को हाथीदांत की नटराज की मूर्ति दी, मैडम लुस्तरनिक को अगरबत्तियों का बंडल दिया, और नताशा को काठियावाड़ी डिज़ाइन का बटुआ। तब मुझे भी याद आया कि मुझे भी नताशा को शिवकुमार की पुस्तक, 'आटे दीआं चिड़ियां' और ज्ञानी गुरदित्तसिंह की पुस्तक 'मेरा पिंड' भेंट करनी थीं। ज्ञानी जी और मैं जल्दी से एकसाथ ऊपर गए। ज्ञानी जी ने ज़री की कढ़ाईवाली पंजाबी जूती नताशा के पावों में पहनाई। हैरानी की बात कि वह उसके पांवों में इस तरह फ़िट बैठी, जैसे खास तौर पर उसीके नाप की बनवाई गई हो।

चौदह नवम्बर

जवाहरलाल नेहरू का जन्मदिन मनाने के लिए ठीक नौ बजे हम श्री बालदंडा युद्धम के कमरे में इकटठे हुए। सर्वसम्मति से ज्ञानी जी को अध्यक्ष नियुक्त किया गया। उसके बाद एक साथी ने सुझाव पेश किया कि जो प्रस्ताव हम पास करें, उसकी कापी सोवियत-समाचार एजेंसी, 'तास' के स्थानीय प्रतिनिधि को भेजी जाए, और दो कापियां मास्को में भारतीय राजदूतावास और पी०टी०आई० तक भी जल्दी से जल्दी पहुंचाई जाएं। सभी साथी इस सुझाव से सहमत थे। फिर एक और साथी ने उठकर प्रस्ताव पेश किया, जो उसने पहले से लिखकर अपनी जेब में रखा हुआ था। उसमें पं० नेहरू की शांतिवादी, निष्पक्ष, और सहअस्तित्व की नीतियों की प्रशंसा की गई थी। बालदंडा युद्धम ने संक्षेप में उसका समर्थन किया और वह प्रस्ताव भी पास हो गया। तब ज्ञानी जी ने सभा से पूछा, ''और कुछ?''

मैंने कहा, ''उनकी याद में एक मिनिट के लिए खड़े हो जाना चाहिए।''

''नहीं, जन्मदिन मनाते समय ऐसा नहीं किया जाता।''

और सभा ब़र्खास्त हो गई। जिस कार्यवाही ने पन्द्रह मिनिट लेने थे, वह पांच ही मिनिट में खत्म हो गई।

मेरे दिल को धक्का-सा लगा। क्या हमने दिखाने के लिए और समाचार-पत्रों द्वारा शोभा पाने के लिए यह सभा की थी, या सचमुच नेहरू के प्रति प्रेम और आदर-भाव से प्रेरित होकर हम इकटठे हुए थे? क्या इस सभा द्वारा हमने नेहरू का सम्मान किया है या अपमान? इससे तो कुछ भी न करते तो अच्छा होता।

किसीने नेहरू के उस व्यक्तित्व का ज़िक्र नहीं किया, जिसमें से हमेशा खुशी फूटती थी और जिसमें जनता को अपनी ओर आकर्षित करने का अपूर्व सामर्थ्य था। किसीकी बातों या चेहरे से यह प्रकट नहीं हुआ कि हम अपने देश के एक महान सपूत को श्रद्धांजलि अर्पित कर रहे हैं। किसीने नेहरू के बारे में अपने किसी व्यक्तिगत अनुभव का ज़िक्र नहीं किया कि वह उनसे पहली बार कैसे मिला था और उसपर उनका क्या प्रभाव पड़ा था।

बस एक प्रस्ताव पास कर दिया गया था।

मैं बालदंडा युद्धम को दोष नहीं दे सकता। उन्होंने नेहरू सरकार की जेलों में बारह साल काटे थे। ऐसे कड़वे अनुभव को भुला पाना आसान नहीं होता। पर बाकी लोग तो कुछ उदारता दिखा सकते थे। मैंने अपने साथियों के सामने अपना असन्तोष प्रकट किया, पर मैंने देखा कि वे तीनों पूर्ण रूप से सन्तुष्ट थे। प्रस्ताव पास कर दिया था, और प्रस्ताव पास करने से बड़ी चीज़ हमारे देश में और कोई नहीं है।

मोटर एक स्कूल के फाटक में दाखिल हुई। वहां बच्चों को प्रारंभिक कक्षाओं में हिन्दी पढ़ाई जाती है। इमारत के विशाल अहाते में कैल और देवदार के वृक्षों का झुरमुट था, जिसमें से सफेद कमीज़ों के ऊपर लाल रेशमी 'पायोनियर' गुलूबन्द बांधे हुए फूलों

जैसे बच्चे एक पंक्ति में हमारी ओर दौड़ते हुए आए। "नमस्कार, नमस्कार" की आवाज़ों से चौगिर्दा गूंज उठा। मोटर में से बाहर निकलते ही लड़के-लड़कियां हमारे हाथ पकड़कर हमें स्कूल की इमारत में ले गए। सीढ़ियों पर शिक्षक और शिक्षिकाएं खड़ी थीं। बारानिकोव ने हमारा परिचय कराया। उनमें हिन्दुस्तानी शिक्षक कोई भी नहीं था। वे सब रूसी शिक्षक थे।

हम ऊपरी मंज़िल पर पहुंचे। अब बच्चे बरामदे में दो लम्बी पंक्तियां बनाकर खड़े हो गए थे। उनके पीछे दीवार पर रूस का लाल झंडा और हमारे देश का तिरंगा झंडा सुशोभित था। नीचे पं० नेहरू की फ़ोटो टंगी हुई थी। और उसके नीचे भारतीय जीवन के बारे में रंगीन चित्रों की एक प्रदर्शनी थी।

मुख्य अध्यापिका ने, जो बाद में पता चला कि बारानिकोव की धर्मपत्नी थीं, घोषणा की, "अब हम दोनों देशों के राष्ट्रीय गीत गाएंगे।"

बच्चों ने पहले 'जन गण मन' गाया और बाद में अपने देश का राष्ट्रीय गीत। फिर मुख्य अध्यापिका ने रूसी भाषा में, जिसका सारांश बारानिकोव और ग्लोबेफ हमें बता रहे थे, बच्चों को चाचा नेहरू का संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त सुनाया, और अन्त में कहा कि वे केवल भारत के बच्चों के नहीं, बल्कि संसार भर के बच्चों के चाचा थे।

इसके बाद एक बाहर वर्ष की लड़की ने संस्कृत के बोझ तले दबी हुई हिन्दी में सोवियत संघ और भारत की मित्रता के बारे में एक छोटा-सा भाषण दिया, जो शायद उसने पहले से कण्ठस्थ किया हुआ था। फिर एक आठ वर्ष के लड़के ने एक हिन्दी कविता पढ़ी, जिसका शीर्षक था, 'मेरी भारत मां।' बीच-बीच में वह रुक जाता, झेंप भी जाता, उसका उच्चारण भी अशुद्ध था, पर उस कविता ने हमारे रोंगटे खड़े कर दिए और हमारी आंखों में आंसू आ गए।

मीटिंग समाप्त होने के बाद हमें एक कक्षा में ले जाया गया। वहां बड़ी उम्र के बच्चों का हमारे साथ मेल-मिलाप बढ़ा। उन्होंने उन्हें हिन्दुस्तानी फिल्मों के रिकार्ड सुनाए। ज्ञानी जी ने उनके साथ बातें की। एक बार जब मैंने पीछे मुड़कर देखा तो वहां एक हिन्दुस्तानी युवक बैठा हुआ दिखाई दिया। मुझे हैरानी हुई उसे कहीं देखा था मैंने। उसे अपने पास आने के लिए कहा। तभी याद आया कि कल हवाई अडडे पर जो हिन्दुस्तानी विद्यार्थी मिले थे, यह युवक उनमें से था। दत्त उसका नाम था, और वह पंजाबी था।

"आप यहां कैसे आ गए?" मैंने पूछा।

"यह स्कूल तो हमारे लिए अपने घर की तरह है, साहनी जी। जब भी परदेश में अपने घर की याद सताती है, तो इन बच्चों से मिलने के लिए चले आते हैं। यह स्कूल हम सभी हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों के लिए प्यार का केन्द्र है। हम इन्हें हिन्दी सिखाते हैं, ये हमारी रूसी ठीक करते हैं। बारावनिकोव और उनकी धर्मपत्नी, दोनों ही बहुत अच्छे दिल के व्यक्ति हैं। इन्हें हिन्दुस्तानियों से बहुत प्यार है।"

मैडम लुस्तरनिक को हमारी प्रतीक्षा करते हुए एक घंटे से ज़्यादा समय हो गया था। हमने उनसे माफी मांगी। वे हमारी स्थिति को अच्छी तरह समझती थीं। वे हमारे साथ

---

१. प्रश्नवाचक चिह्न वहां दिए गए हैं, जहां कोई शब्द साफ पढ़ने में नहीं आया (पत्र की फ़ोटो 'सोवियत ओरिएंटोलोजी' नामक पत्रिका के सन् १६५७ के नवम्बर २ अंक में छपी है)

हमारे कमरे में चली आई ताकि बातों के दौरान में हम सामान भी बांध सकें। डेढ़ घंटे के अन्दर हमें रेलवे स्टेशन पहुंचना था। कमरे में पहुंचने तक मैडम ने कूका रामसिंह के पत्र का कोई ज़िक्र नहीं किया। ज्ञानी जी और मैं प्रश्नवाचक दृष्टि से एक-दूसरे की ओर देखते रहे। अगर पत्र नहीं मिला तो मैडम को ऊपर आने की तकलीफ़ करने की क्या ज़रूरत थी ?

कमरे में पहुंचकर हम बैठक में मेज़ के गिर्द बैठ गए। उसी खामोशी से मैडम ने अपना बैग खोला और उसमें से कूका रामसिंह का पत्र निकालकर हमारे सामने रख दिया। वह गुरुमुखी लिपी में लिखा हुआ था। हमने उसकी नकल उतार ली। उसमें लिखा था-

"एक ओमकार सत्गुरु ।।

"लिखा बाबा रामसिंह का। हमने रूसनाथ की ओर एक सूबा भेजा है, उसकी ज़बानी बात समझ लेनी। गुरुवचन सिंह सूबे का नाम है। गुरु गोविन्द सिंह जी का वचन है कि जब १२७८ हिजरी आवे तब सन्त खालसा प्रकट होवेगा। नरंगज़ेब से वचन हुआ है, इंग्लिश दुःख देवेगा नामधारियों को, तब रूस आवेगा, अंग्रेज़ को दूर करेगा। और रूस बहादुर की जीत होगी। गुरु बाबे नानक साहब जी का वचन है, मैं अवतार धारूंगा।

एक......?[१] ....सितम ते आवै।
करे जुद्ध बहु दुंद मचावै।
शेशनागहि अंत को पावै।
ब्रह्मा बिशत अंत नहीं पायो
नेत नेत कर मुखों अलावै।
सरब दीप के राजे जानो
करन जुद्ध ते....? कठि आनो।
रकत ताजिया तंग परसनों विच पशौर
खंडा घोड़ा मर्द जो ढूंढ़ रहे सम ठौर।
लाहोर शहर जब होसी जंग
रकत ताजिया तब होसी तंग।
रोज रुपया नौकर हाथ ना आवै।

गुरुनानक साहब का हुक्म है नाथ जी आवेगा, तिसकी जीत होवेगी, तीन लाख पन्द्रह हज़ार सिख हमारे बस में है। और भी किए जा रहे हैं। पंजाब उजरेगा, शहर जलेंगे। आठ युद्ध होवेंगे। अंगरेज़ चौतीस बरस रहेगा हिन्द में। दो बरस बाकी रहते हैं। उडरा१ (?) नाथ पीतनपुर२ से आवेगा। और पंजाब में सब छावनियां खाली पड़ी हैं। आठ सिखों ने दंगा किया। असबर भी पहल की है। एक सूबा सौ सिख बेगुनाह मरे हैं। भजन बंदगीवाला उन आठों के अलावा उन्होंने तोप के आगे रखे हैं। आपको हुकम बाबा

१. रूस का ज़ार।
२. पीटर्सबर्ग।

नानक जी का कि हमारी रक्षा करें। तीन लाख पन्द्रह हज़ार सिख आपके लिए तैयार हैं। और भी इकटठे किए जा रहे हैं। जिस समय आएं और चाहें उसी समय हाज़िर होंगे। और जी सब सिखों ने अर्ज़ की थी श्री गुरु दसवें पातशाह गुरु गोविन्दसिंहजी के पास कि कहां-कहां आठ युद्ध होंगे। एक काबुल के पहाड़ों में, एक काबुल में, एक जमरौद में, एक पेशावर में, एक जम्मू में, एक लाहौर में, एक फीरोज़पुर में, एक लुधियाने में। और जी मुख्तयारकारा बाबा बुद्धसिंह भैणी में रहते हैं। पैंतीस सूबे उसके आगे काम देने वाले हैं।''

ज्ञानी जी और मैं हैरान रह गए। बेचारी मैडम लुस्तरनिक कहां-कहां भटकी होंगी इस पत्र की खोज में। हमारी आंखें भर आईं। कुछ इस दुःखी देशभक्त को याद करके, जिसके साथियों को फ़िरंगी ने तोप से मरवा डाला था, और कुछ उस महिला के अहसान को देखकर जिसका बदला हम चुका नहीं सकते थे। उस समय तो हमें यह भी नहीं सूझ रहा था कि उनका धन्यवाद किन शब्दों में करें।

अस्लाम-आ-लेकुम

हवाई जहाज़ से उतरने पर किसी और हवाई जहाज़ की रोशनियां आंखों को चुंधिया रही थीं। तभी कहीं से एकसाथ तीन-चार आवाज़ें आईं :

''अस्लाम-आ-लेकुम।''

ध्यान से देखा। कुछ व्यक्ति तेज़ कदमों से चलते हुए हमारी ओर आ रहे थे।

अपने देश में अस्लाम-आ-लेकुम का खास महत्त्व नहीं है, पर विदेश में यह शब्द कानों को अमृत जैसा मीठा लगा, और जवाब में हमने ऊंची आवाज़ में न सिर्फ़ 'वा-लेकुम-सलाम' कहा, बल्कि गुलदस्ते देनेवालों को अपनी सीनों से घोंट लिया।

''माई डियर, मेरा नाम है तौफ़ीक कुलीमेव,'' उन व्यक्तियों के मुखिया ने बहुत सुन्दर अंग्रेज़ी में कहा, ''मैं सोवियत-हिन्द मित्रता संस्था का अध्यक्ष हूं। यह मेरे साथी मिस्टर हाफिज़ सेक्रेटरी हैं। मिस्टर जब्बार असिस्टेंट सेक्रेटरी। मिस्टर रशीद, मिस्टर लतीफ......

हम आइज़रबाइजान की राजधानी बाकू में प्रवेश कर चुके थे। बाकू में सोवियत संघ के तेल के बहुत बड़े खज़ाने हैं। यह हमने सुना हुआ था, लेकिन यह पता नहीं था कि वहां मुसलमानों की आबादी है। हम बांहों में बांहें डालकर पैवेलियन की ओर चल पड़े।

''माई डियर, यहां कम से कम सौ आदमी आए हुए थे आपको खुशामदीद कहने के लिए। आखिर सब वापस चले गए। इतने सारे गुलाब के फूल बेकार गए। यह क्या ज़ुल्म किया आपने हमपर ? आपको दोपहर के दो बजे पहुंचना था, और आप अब आ रहे हैं रात के ग्यारह बजे। ऐसा भी कोई करता है?''

''हमारा इसमें क्या कसूर, तौफ़ीक साहब। कसूर तो मास्को के बादलों का है। आप क्या जानें, दिन-भर हवाई अड्डे पर बैठे इन्तज़ार करते हुए हमारी क्या हालत हुई है?' मैंने कहा।

'कोई बात नहीं, माई डियर, हम आपको ज़्यादा तकलीफ नहीं देंगे। खाना खिलाकर सीधे बिस्तरों पर लिटा देंगे।'

'खाना तो हमने जहाज़ में खा लिया है।'

'वाह, तो हमने जो खाना बनाकर रखा हुआ है, उसका क्या होगा? थोड़ा सा तो खाना ही पड़ेगा।

मुझे लगा कि मैं सोवियत संघ में नहीं, बल्कि पेशावर या रावलपिंडी में हूं। कुछ ही मिनिटों में हम आपस में इतना घुल मिल गए, जैसे एक अरसे से बिछुड़े हुए मिले हों। ग्लोबेफ बेचारा पराया-सा महसूस करने लगा।

तौफ़ीक लगभग पचास साल के हंसमुख व्यक्ति थे। हर बात केसाथ 'आई डियर' जोड़ते थे - हूबहू पेशावरी अंदाज में। उनकी शक्ल और चाल ढाल मुझे अपने दूर के

एक रिश्तेदार की याद दिलाती थी, जो पेशावर में ही जनमें और पले थे। वे भी इसी तरह हर बात के साथ 'माई डियर' कहा करते थे।

हफीज़ का भी कद-काठ और शक्ल-सूरत मेरे एक दोस्त, अस्लम मलिक से मिलती थी। जो लंदन में मेरे साथ बी०बी०सी० में काम करते थे, और अब पाकिस्तान में एक ऊंचे ओहदे पर लगे हुए हैं। हां, हफीज़ का रंग कुछ ज्यादा गोरा था, पर रुसियों जितना गोरा नहीं। जब्बार को देखकर मुझे कोई खास व्यक्ति याद नहीं आया था। पर बार-बार लग रहा था कि मैंने इस आदमी को पहले भी कहीं देखा हुआ है। वे उम्र में सबसे छोटे थे। इसलिए बहुत आदरपूर्वक चुप बने हुए, सबसे पीछे रहते थे।

जिस होटल में हमें ठहराया गया वह बहुत बढ़िया था। सबके लिए अलग-अलग कमरे थे। ग़ुसलखाने में आधी रात को भी गर्म पानी मिल सकता था। और मित्रों के साथ बैठकर अंगूरी शराब के घूंट भरते हुए जो कबाब खाए उनका माई डियर, कोई जवाब नहीं है।

सुबह जागने पर मैं कमरे में छोटी-सी बालकोनी में खड़ा होकर शहर को देखने लगा। बाकू समुद्र के तट पर बसा हुआ है। कौन-सा समुद्र है? कैस्पियन? या काला सागर? पूछना पड़ेगा किसी से। सामने का दृश्य कुछ कुछ बम्बई के 'मैरीन ड्राइव' के दृश्य जैसा था। पर मैरीन ड्राइव की तरह वहां सिर्फ़ सड़कें और इमारतें ही नहीं थीं। समुद्र तय पर पहले एक खूब चौड़ा बाग़ीचा छोड़ा गया था। फिर बहुत खुली, बढ़िया सड़क थी, और उसके साथ चलने-फिरने के लिए खुली जगह छोड़ी हुई थीं। मुझे आशा नहीं थी कि बाकू इतना आधुनिक शहर होगा। दस साल पहले सोची से मास्को जाते समय हम कुछ देर के लिए बाकू उतरे थे। जहाज के नीचे उतरने का रास्ता कच्चा होने के कारण जहाज़ का एक टायर फट गया था। जहाज में से बाकू का जो रूप देखा था, वह उत्साहवर्धक नहीं था। ज्यादातर तेल के कुओं के मस्तूल ही नज़र आए थे। पर इस बार तो जैसे छूमन्त्र से कोई जादू का शहर बस गया था। बम्बई आगे मालूम हो रहा था। अगर इमारतों को जानबूझकर एशियाई इमारत-कला के अनुसार न बनाया गया होता तो शहर की सुन्दरता और भी बढ़ गई होती। अब उनमें एक अस्वाभाविक और एक तरह की उसादी दिखाई देती है, जैसे यूरोपीय आर्केस्ट्रा से कोई हिन्दुस्तानी धुन पैदा करने की कोशिश की गई हो। सड़क पर आवाजाई ज्यादा नहीं थी। मैं गिनने लगा कि उन लोगों में से कितने रूसी हैं और कितने आज़रबाइजानी। दोनों में रंग, धर्म और सभ्यता का उतना ही अन्तर है जितना कि हम अंग्रेजी शासन के दौर में अंग्रेजों के और अपने बीच में देखते थे। यह अन्तर हमारी नजर में एक खाई की तरह थी, जिसे कभी भरा नहीं जा सकता। अंग्रेज़ हमें घृणा करते थे और हम उन्हें अपने दुश्मन समझते थे। पर यहां इन लोगों ने काले और गोरे की खाई कैसे भर ली? सामने से एक रूसी लड़की गुजरी। उसके साथ काले बालों और सांवले रंग का एक आजर-बाइजानी पुरुष था। दोनों ने एक-दूसरी की बांह में बांह डाली हुई थी। वे पति-पत्नी लगते थे। फिर और भी कई रूसी स्त्रियां गुजरीं। टेनिस खेलनेवाली लड़कियां आज़रबाइजानी थीं। अब उन्हें सिखाने के लिए एक 'ट्रेनर' आ गया था। क्लब की इमारत पर लाल रंग के कपड़े पर कुछ लिखा हुआ था। पता नहीं वह रुसी थी या आज़रबाइजानी। सोवियत संघ में भी हिन्दुस्तान की तरह, कई भाषाएं बोली जाती हैं, पर उनकी लिपि एक कर दी गई है - रूसी लिपि।

लड़की का महल

मनुष्य का मन बड़ी विचित्र चीज़ है। आइज़रबाइजानी गणतंत्र की उपाध्यक्ष ताहिरा खातुम के-से चेहरे और यूरोपीय लिबासवाली इराकी, ईरानी स्त्रियां बम्बई में चलती-फिरती हुई आम दिखाई देती हैं। पर उनके राज्याधिकारी या इंजीनियर होने का कभी मन में ख्याल भी नहीं उठता। इसीलिए ताहिरा का हमपर उतना रोब नहीं पड़ा, जितना अगर उनकी जगह कोई नीली आंखों और सुनहरे बालोंवाली रूसी स्त्री होती तो उसका पड़ता, शायद उससे हम इतने प्रश्न पूछने का साहस भी न कर पाते। जो लोग हमें अपने जैसे दिखाई दें, वे साधारण महसूस होने लगते हैं।

इसी प्रकार सड़कों पर चलते-फिरते हुए आज़रबाइजानियों को भी हम अपने जैसे काले आदमियों के रूप में ही देखते थे। इन लोगों ने कैसे यूरोपीय शानवाला शहर बसा लिया है। कैसे ये लोग तेल निकालनेवाली मशीनें खुद बनाने और विदेशों को भेजने के योग्य हो गए हैं? ये तो मुसलमान हैं, जो शिक्षा के दृष्टिकोण से हमेशा पिछड़े हुए और सिर्फ खा-पीकर ज़िन्दगियां बिता देने के लिए मशहूर रहे हैं। इनकी स्त्रियों ने कैसे बुर्के उतार डाले?...मैं सब कुछ अपनी आंखों से देख रहा था, पर मेरा अचेतन मन उसे मानने से इन्कार कर रहा था।

इसका क्या कारण था?- दिल में बैठी हुई ग़लतफहमियां? हीन भाव?

क्या पता, तौफ़ीक, हाफिज़ और उनके दूसरे साथी हमारे बारे में भी ग़लतफहमियों के शिकार हों। उनकी आर्थिक और सामाजिक उन्नति उन्हें उस स्थान पर पहुंचा चुकी है, जहां एशिया के देशों में से सिर्फ जापान ही पहुंचा है। उनके रहन-सहन और जीवन में अब यूरोपीय लोगों जैसी ही सुबद्धता आ गई है। इसके उलट, हमारे अस्तव्यस्त-से विशाल हिन्दुस्तान के सामूहिक जीवन का स्तर अभी बहुत नीचा है और उसकी कोई निश्चित शक्ल नहीं बनी है। केरल के गोपालन की आदतें कुछ और हैं, और महाराष्ट्रीय डा० दातार की कुछ और। पंजाब के ज्ञानी जी की और पंजाब से बाहर के बलराज साहनी की आदतें कुछ और हैं। अगर ये लोग हमें गंवार मान लें तो कोई हैरानी की बात नहीं है। पर वास्तव में यह हमारे साथ उतनी ही बेइन्साफी होगी, जितनी हम उनके साथ कर रहे हैं। राष्ट्रीय पैमाने पर हिन्दुस्तान की शिक्षित उच्चवर्ग भी काफ़ी हद तक पश्चिमी रंग में रंगा जा चुका है। अगर हम चारों व्यक्ति उस वर्ग के होते तो मेज़बानों के लिए हमारी देखभाल करना बहुत आसान हो जाता, और निःसन्देह वे हमें सभ्य व्यक्ति मानते। पर वह उच्चवर्ग अन्दर से कितना खोखला और कितना बीमार है, इस बारे में इन्हें क्या पता? हम समय के पाबन्द नहीं थे, उसके कारण तौफीक साहब और उनके साथियों को काफी परेशानी उठानी पड़ी। पर हमें इस बात की तसल्ली थी कि हम उनके देश के हितैशी थे, और हम जैसे हितैशी पश्चिम के रंग में रंगे हुए उच्चवर्ग में बहुत कम मिलते हैं।

सड़क के उस पार महल जैसी एक पुरानी इमारत दिखाई दी, जिसे लड़की का महल (गिज़ गालासे) कहते हैं। यह १५०० साल पुरानी है। तौफ़ीक ने बताया कि उसके बारे

में प्रचलित बहुत-सी लोककथाएं और कविताएं, नाटकों और नृत्यनाटकों का आधार बन चुकी हैं।

एक बादशाह के यहां बेटी ने जन्म लिया। ज्योतिषियों ने उसे मनहूस करार दिया और बादशाह के हुक्म से उसे जंगल में छोड़ दिया गया। वहां वह एक व्यक्ति के हाथ आ गई जिसने उसे पालना शुरू किया। सोलह वर्ष के बाद बादशाह एक बार उसी जंगल में शिकार खेलने के लिए गया। उसकी नज़र अपनी बेटी पर पड़ी, जो अब बहुत सुन्दर युवती बन चुकी थी। बादशाह उस पर मोहित हो गया। और उसने लड़की के पिता से कहा कि वह उससे विवाह करना चाहता है। वह व्यक्ति इन्कार कैसे कर सकता था? पर सगाई के समय एक निशानी की बदौलत बादशाह को पता लग गया कि वह उसकी अपनी बेटी है। फिर भी वह अपनी काम-लालसा पर काबू न पा सका और शादी करने की ज़िद करने लगा। लड़की को भी पता लग गया था कि बादशाह उसका पिता है। सो उसने शर्त रखी कि बादशाह पहले उसके लिए एक बहुत ऊंचा महल बनवाए, तब वह विवाह का दिन निश्चित करेगी। जब इमारत बन गई तो लड़की देखने के बहाने ऊपर पहुंच गई और बादशाह को देखते-देखते नीचे छलांग लगाकर मर गई।

फिर हम एक और दुःखान्त यादगार देखने के लिए गए, जिसे '२६ शहीदों का बाग़' कहा जाता है। इन्कलाब के बाद जब अंग्रेज़ों ने बाकू पर कब्ज़ा कर लिया था तो २६ इन्कलाबी 'कॉमीसार' (कमांडर) उनके घेरे में आ गए थे। उनमें से प्रत्येक ने बड़ी बहादुरी से लड़ते हुए अपनी जान दी थी। बगीचे में उनकी याद में एक मशाल हर समय जलती रहती है। बागीचे के लिए एक कोने में एक प्रसिद्ध अंग्रेज़ मूर्तिकार ने, जैसे अपनी कौम के अपराध का प्रायश्चित करने के लिए, उस शहीदी के दृश्य को लाल संगमरमर की विशाल शिला पर बड़े ही कलात्मक ढंग से साकार किया है। एक अकेले मूर्तिकार के लिए यह बहुत बड़ा काम था। वह अपनी मृत्यु तक उसे खत्म नहीं कर सका था। उसका लगभग एक चौथा हिस्सा अधूरा रह गया है।

उस दृश्य को देखते हुए, शहीदों की याद में हमारे सिर झुक गए। पर वहां घूम रहे लोग उसकी ओर से जैसे लापरवाह बने हुए थे। युवक और युवतियां बगलों में किताबें दबाए हंसते-बोलते हुए वहां से गुज़र रहे थे। उनके फूलों जैसे खिले हुए चेहरों और बढ़िया लिबासों को देखकर उन शहीदों के चेहरों पर भी जैसे एक नया भाव आ रहा था-खुशी का भाव, कि उनकी कुर्बानी व्यर्थ नहीं गई है।

काले सूट पहने हुए बूढ़े लोग बेंचों पर बैठे हुए धूप सेंक रहे थे। कहीं शतरंज की बाज़ी लगी हुई दिखाई देती, कहीं ताश की। बहुत साफ-सुथरा और शान्त वातावरण था। स्वस्थ, गोल-मटोल कबूतर थे वहां, और वैसे ही बच्चे भी थे, जो खेल रहे थे। कहीं गरीबी या चिन्ता का नाम-निशान नहीं था। एक बच्चा, जिसे शायद गोपालन की मूछों से प्यार हो गया था, निडर होकर उनके साथ खेलने लगा।

वहां से निकलकर हम मोटरों में बैठ गए और उस पहाड़ी पर चढ़ने लगे, जो दूर से शहर का सबसे सुन्दर भाग प्रतीत होता था। रास्ते में डा० दातार और गोपालन ने मोटर रोकने के लिएं कहा। वे अपने कैमरों के लिए फिल्म खरीदना चाहते थे। मोटरें बाज़ार में एक तरफ रोक दी गई। सब उतर गए, पर मैं बैठा रहा और लोगों की

आवाजाई को देखता रहा। चौराहा नज़दीक ही था। ट्रैफ़िक की लाल और हरी बत्तियां कभी जलतीं, कभी बुझतीं। मुझे लगा कि मैं बाकू में नहीं, बल्कि इटली के किसी शहर में हूं। उसी तरह के मकान, उसी तरह के लिबास, उसी तरह का रंग-रूप। इतालवियों की तरह ही आज़रबाइजानियों का औसत कद छोटा है। एशियावाली बात वहां कहीं नज़र नहीं आ रही थी। मास्को में भी इतना यूरोपीय ढंग का कोई चौराहा नज़र नहीं आया था। युवतियों के बालों और युवकों के सूटों का फैशन बिलकुल आधुनिक इतालवी फैशन जैसा था।

मुझे लगा कि कहीं इन लोगों ने पश्चिमी सभ्यता को अपनाते हुए अपनी आत्मा तो नहीं खो दी है। पर नहीं, वे अपने देश की सभ्यता से मुंह मोड़े हुए नहीं थे। उनकी चाल-ढाल में नकलचियोंवाला सस्तापन कहीं भी दिखाई नहीं दे रहा था। वे अपनी मेहनत और कोशिशों से इस पड़ाव पर पहुंचे थे।

लोग कहते हैं कि भाषा के आधार पर प्रान्त बनाकर हमारी सरकार ने देश की एकता खतरे में डाल दी है। पर सोवियत संघ में तो भाषा के आधार पर बने हर एक प्रान्त को एक अलग देश का दर्जा मिला हुआ है। यहां तक कि हर एक गणतन्त्र को सोवियत संघ से अलग हो जाने का भी वैधानिक अधिकार है। फिर इनकी एकता खतरे में क्यों नहीं पड़ती? बल्कि वह दिन-प्रतिदिन मज़बूत होती जा रही है। यहां क्यों नहीं भाषा और सीमा के सवाल पर नित्य नये झगड़े होते? उसका कारण ईमानदारी से ढूंढ़ना चाहिए, क्योंकि हिन्दुस्तान की उन्नति के लिए वह कोई रास्ता दिखा सकता है।

हम पहाड़ी के ऊपर पहुंचे। फ़ोटो खींचे गए। वहां से शहर का दृश्य बम्बई की मालाबार पहाड़ी से दिखाई देनेवाले दृश्य से बहुत ज़्यादा मिलता था।

वहां नज़दीक ही कहीं टेलीविज़न स्टेशन था, जहां कल शाम को हम आज़रबाइजान की जनता के सामने पेश होनेवाले थे। पहाड़ी पर आने-जाने के लिए बिजली की रेल काम करती है, जिसे अंग्रेज़ी में 'रोप-वे' कहते हैं।

इस ओर बेशुमार पुरानी इमारतों को तोड़कर गिराया जा रहा है। उनकी जगह नई और बढ़िया इमारतें बनाई जाएंगी। एक फिल्म स्टूडियो का भी निर्माण हो रहा है।

"बाकी शहर की आबादी कितनी होगी?" दा० दातार ने पूछा।

"माई डियर, आज के दिन के लिए आप काफी ज़्यादा सवाल पूछ चुके हैं। अब मज़े से सैर कीजिए।"

ज्यों-ज्यों हम शहर से बाहर होते गए, नई इमारतों और नवनिर्माण का कार्य बहुत बड़े पैमाने पर नज़र आया। तौफीक कह रहे थे, "मैं पिछले छः महीनों से इस तरफ नहीं आया हूं। मुझे भी शहर बदला हुआ लग रहा है।"

अब मोटरें बहुत तेज़ रफ्तार से आगे बढ़ रहीं थीं। हमें बताया गया कि 'सुमगाइत' की ओर जा रहे हैं- वह शहर, जिसके बारे में ताहिरा खातुम ने कहा था कि आज़रबाइजान का सबसे नया औद्योगिक केन्द्र है।

तफरीह

हम रेस्तेरां में बैठे थे। जब्बार ने कहा, "हमें छुरी-कांटे से खाते हुए देख-कर हमारे माता-पिता हमपर हंसते हैं।"

उनके बोलने का बहुत ही नम्रता-भरा अन्दाज़ था और अंग्रेज़ी का उच्चारण भी बहुत बढ़िया था। ऐसे लगता था जैसे वे अभी-अभी अलीगढ़ से एम०ए० पास करके आए हों।

"खाने का ढंग बदलेंगे तो खाना भी खुद-बखुद बदल जाएगा।" डा० दातार ने कहा।

उस समय किसी का खाने की ओर ध्यान नहीं था। रेस्तेरां में आर्केस्ट्रा बज रहा था और बहुत रौनक थी। नाचनेवालों की जोड़ियां बनतीं और टूटतीं। लड़कियों के मेक-अप और लिबासों में कामुकता को उभारनेवाली कोई बात नहीं थी। सारे सोवियत संघ में ही तंग और शरीर की नुमायश करने वाले लिबासों को नापसंद-सा किया जाता है। आज कोई खास मौका था। लड़कियों को यूरोपीय ढंग के लिबासों में किसी हद तक एशियाई झलक भी दिखाई देती थी। इस यूरोपीय और एशियाई सुमेल ने हमपर कई जगह कहर ढाया था।

साथ ही मेज़ पर एक परी जैसी स्त्री बैठी थी। उसका रंग न ज़्यादा गोरा था, न सांवला। उसमें पीले रंग की आभा थी। बड़ी-बड़ी काली स्याह आंखें थीं उसकी, और भूरे बाल कंधों पर लहरा रहे थे। लिबास यूरोपीय ढंग का था, पर रंगों का चुनाव एशियाई ढंग का था। उफ, अल्लाह !

एक और मेज़ पर बैठी हुई सुन्दरी हमारे होश-हवास गुम किए जा रही थी। उसका रंग भी पहली स्त्री जैसा ही था। सलमा-सितारेवाली गोल टोपी के नीचे ज़ुल्फों के काले नाग। बादामी आंखें।

संसार की सभी कौमों में मेल-मिलाप हो- यह अच्छी बात है। यह मेल-मिलाप की भावना कितनी तेज़ हो सकती है, इसे कोई बाकू जाकर देखे।

"खाना खा लीजिए, ज्ञानी जी," ग्लोबेफ ने कहा, "खूबसूरत लड़कियों को देखते रहेंगे तो खाना नहीं खा सकेंगे।"

ज्ञानी जी ने ठंडी सांस ली। "अरे कबूतर भैया, यह तो सब पब्लिक गार्डन के फ्लावर हैं। अपने गमले में फूल लगा हो तो उसे तोड़ सकते हैं। पर पब्लिक गार्डन में फूलों को सिर्फ़ देख ही सकते हैं..."

खाना खत्म होने पर चाय आई। चाय पीने का आज़रबाइजानी तरीका बड़ा दिलचस्प है। चाय कांच के गिलासों में लाई जाती है। उसमें दूध नहीं होता। फिर मिसरी का एक टुकड़ा हाथ में लेकर दूसरे हाथ से गिलास उठाया जाताहै। इधर चाय का एक घूंट भरो, उधर मिसरी का टुकड़ा दांतों में रखकर तोड़ो। दिन में हम कई बार चाय पी चुके थे। डा० दातार ने कहा, "हमारी तरह आप लोग भी बहुत चाय पीनेवाले हैं।"

जब्बार ने कहा, "हमारे बुज़ुर्ग कहा करते थे कि ज़्यादा चाय पीने के कारण ही आज़रबाइजानी लोगों की उम्र इतनी लम्बी होती है।"

"अगर न पीएं तो और भी लम्बी हो," ज्ञानी जी ने कहा।

सभी हंस पड़े।

जब्बार ने अपनी मातृभाषा में, हमारे यहां के उर्दू कवियों के अंदाज़ में, चाय की शान में एक कसीदा पढ़ा-

चाई बरी कायदा दर
अकसी जाना फ़ायदा दर
उचसी नैस दिर
दर्दी बैस दिर
चाह दून बसह
वूर ऊन बसह
चाई नदीर
साई नदीर.......

अगले दिन सुबह मैं फिर अपने कमरे की बालकोनी में जाकर खड़ा हो गया। सात बजे का समय था। सड़क के उस पार तीन व्यक्ति फ़ुटपाथ पर खड़े दिखाई दिए। उनके कपड़े मैले-से थे। मुझे लगा कि आखिर ग़रीबी की मिसाल मिल ही गई। उनमें से दो व्यक्तियों ने काले रंग के सूट पहने हुए थे और सिर पर अरबों जैसी सफ़ेद पगड़ियां थीं। तीसरे ने पतलून की जगह लटठे का पाजामा पहना हुआ था। तभी वे सड़क पार करके होटल के दरवाज़े की ओर आए। वहां एक हल्के हरे रंग की टैक्सी खड़ी थी। पाजामेवाले व्यक्ति ने ड्राइवरवाला दरवाज़ा खोला और अन्दर बैठ गया। बाकी दोनों भी आगे-पीछे बैठ गए। मोटर चल पड़ी। ऐसे लगा जैसे वे चुराकर ले गए हों। चारों ओर यूरोपीय लिबास देख-देखकर वह देसी लिबास अजीब-सा लगा था।.....

समुद्री तेल-कूप

हम समुद्री तेल के कुएं देखने के लिए बड़ी-बड़ी मोटरों में बैठकर होटल से रवाना हुए। वे वहां से लगभग सत्तर मील के फ़ासले पर थे। इस बार हमने किसी दूसरे रास्ते से शहर को पार किया। तेल साफ़ करनेवाली दो 'रिफाईनरियों और कुछ एक कारखानों के पास से हम गुज़रे। हाफिज़ ने बताया कि उनमें से एक कारखाना मिट्टी के तेल में से मक्खन निकालता है, जो असली मक्खन की तरह स्वादिष्ठ और पौष्टिक होता है। हमारे लिए इस बात पर यकीन करना वहुत मुश्किल था, पर हाफिज़ मज़ाक नहीं कर रहे थे।

हम तेल के कुओं में से गुज़रे तो लगा जैसे किसी जंगल में से गुज़र रहे हों। गलियों-मोहल्लों में मस्तूल उठते हुए प्रतीत हो रहे थे। तेल का कुआं दूर से ऐसे दिखाई देता है, जैसे रेडियो-स्टेशन का ट्रांसमीटर हो। सीमेंट के चबूबरे पर लगे तेल-पम्प को मस्तूल में लगे हुए लोहे के दो मोटे-मोटे रस्से ऊंपर-नीचे लेकर जाते हैं। दूर से ऐसे दिखाई देता है जैसे कोई पहलवान मुगदर फिरा रहा हो। तेल के अनगिनत कुएं थे वहां।

सफ़र के अन्त में हम एक फाटक के पास आकर रुके। वहां समुद्र में खम्बे गाड़कर दूर तक लकड़ी का पुल बनाया गया, जो आधा मील लम्बा ज़रूर होगा। यह वह तेल-नगर नहीं था, जिसका ताहिरा खानुम ने ज़िक्र किया था, वह तो समुद्र से अस्सी मील दूर था। वहां जहाज़ पर जाना पड़ता था।

फाटक पर एक साधारण-सा व्यक्ति हमारी प्रतीक्षा में खड़ा था। वह गाइड लगता था। उसने काले रंग की सर्ज का ढीला-सा सूट पहना हुआ था। गहरा रंग था उसका और कमज़ोर-सा शरीर। सिर पर कानों तक पहना हुआ एक फ़ैल्ट हैट। वह बिना कुछ बोले अगली सीट पर जब्बार के साथ बैठ गया। फाटक खुला तो मोटरें लकड़ी की सड़क पर चलती हुई अंत में सीमेंट के एक बड़े-से प्लेटफार्म पर पहुंचीं। हम मोटरों में से उतरे और उस व्यक्ति के पीछे चलते हुए डायरेक्टर के दफ्तर में दाखिल हुए। अन्दर कोई नहीं था। उस व्यक्ति ने अपना हैट खूंटी पर टांगा और सिर पर हाथ फेरता हुआ डायरेक्टर की कुर्सी के पीछे खड़ा हो गया और हमें बैठने का संकेत किया। तो यह आदमी डायरेक्टर है? हमने सोचा और आश्चर्यचकित रह गए। हमने तब तक उसे एक चपरासी से ज़्यादा कुछ नहीं समझा था। शुरू की रस्मी बातचीत के बाद उस व्यक्ति ने, जिसका नाम ताहिराव था, अपने तेल-केन्द्र का परिचय इस प्रकार देना शुरू किया।

इस केन्द्र का नाम आर्कीयोव है।

(आर्कीयोव उन २६ कॉमीसारों में से था, जिनकी यादगार हमने कल पार्क में देखी थी।)

इसका संचालन १९४७ में आरम्भ हुआ था।

बाकू के इलाके का ५० प्रतिशत तेल समुद्र में से निकाला जाता है।

मेरी नज़र फिर डायरेक्टर की ओर गई। उसने लापरवाही से हजामत की हुई थी। एक ओर की कलम बांकी हो गई थी। बाल खिचड़ी बने हुए थे। उम्र पचास के लगभग होगी। मूंछें एकदम बारीक रेखा की तरह, पर नाक के नीचे ज़रा सघन। हमारे देश में किसी विभाग का डायरेक्टर ऐसी मूंछें नहीं रख सकता, कोई छोटा कर्मचारी भले ही रख ले। ताहिराव को अपने ओहदे का तरीका नहीं आता था।

समुद्र की गहराई ८ मीटर (लगभग २५ फुट) है, पर तेल के ज़खीरे २०००मीटर नीचे हैं।

१६४६ तक यहां सांझे प्लेटफ़ार्म द्वारा कुओं को जोड़ा नहीं गया था। यह प्लेटफ़ार्म बनाना कोई आसान काम नहीं था। यहां का समुद्र क्योंकि शान्त नहीं है, इसलिए अलग-अलग कुओं की देखभाल करना बहुत मुश्किल था।

धरती और समुद्र के तेल-कुओं में फ़र्क तब तक होता है, जब तक कि तेल का पता नहीं लग जाता। धरती में एक समय में सिर्फ एक ही पाइप धंसाया जा सकता है, पर समुद्र में एक ही बार में कई पाइप डाले जा सकते हैं।

तेल के कुएं तीन प्रकार के होते हैं। और इस हिसाब से उनका प्रयोग भी तीन प्रकार से होता है-

(१) छर्रे-कुएं- इनमें तेल का दबाव इतना ज़्यादा होता है कि तेल के छर्रे अपने-आप फट जाते हैं।

(२) कम्प्रेशर-कुंए- इनमें पाइपों द्वारा हवा का दबाव डालकर तेल को ऊपर उठाया जाता है।

(३) पम्प-कुएं- इनमें पम्प चलाकर तेल ऊपर खींचा जाता है।

जब तेल के साथ गैस भी निकले तो उसे दूसरा पाइप डालकर अलग करना पड़ता है।...

ताहिराव हमें साथ लेकर प्लेटफ़ार्म पर गए और उन्होंने हमें तीनों किस्म के कुएं दिखाए। फिर अपने साथी मज़दूरों से मिलाया। प्लेटफार्म के नीचे बेशुमार पाइप और नालियां थीं, जिन्हें समझना हमारे बस की बात नहीं थी।

वापस दफ्तर में आकर हमने चाय पी। बातों-बातों में डायरेक्टर ने बताया कि उन्हें तेल-इन्स्टीटयूट में से डिग्री लिए हुए २५ साल हो गए हैं। उनके नीचे रूसी भी काम करते हैं और आज़रबाइजानी और अन्य कौमों के लोग भी। यहां तेल की पैदावार हमेशा बहुत अच्छी रही है, क्योकि तेल के ज़खीरों का कोई अन्त नहीं है।

मैंने खड़े होकर ताहिराव का हार्दिक धन्यवाद किया। जवाब में उन्होंने जो कुछ कहा वह बहुत भावपूर्ण था। उन्होंने कहा, "मैं जब आपसे मिला, मुझे अपना छोटा भाई याद आया, जो आजकल कैम्बे (गुजरात) में तेल निकालने में हिन्दुस्तान की मदद कर रहा है। आप क्योंकि उस देश में से आए हैं जहां मेरा भाई काम करता है, इसलिए आप भी मेरे भाई हैं। आपके आने का मुझे बहुत चाव था। मैं आपसे सिर्फ़ यही कहना

चाहता हूं कि हम सोवियत लोगों के दिलों में आपके महान देश के लिए बहुत आदर और प्यार है। हमारी जिस किस्मकी भी मदद की आपको ज़रूरत हो, आपके कहने-भर की देर है, हम उसी समय करेंगे...।''

जब हम वापस आ रहे थे तो ड्राइवर ने कार में का रेडियो चला दिया। बहुत मीठी आवाज़ में एक गीत गाया जा रहा था। मैंने गोलुव्येव से पूछा, ''यह किस ज़बान का गीत है- रूसी ज़बान का?''

''हां, आपने ठीक समझा। आजकल यह गीत बहुत लोकप्रिय है।'' फिर उसने उसका अनुवाद किया-

'मुझे तुमसे अच्छा दोस्त और कोई नहीं मिल सकता क्योंकि हम दोनों भूगर्भ-शास्त्री (जियोलोजिस्ट) हैं।

हमें पता है कि हमारे रास्ते में कदम-कदम पर मुश्किलें हैं, पर दोस्त, उस रास्ते पर चलने का मज़ा ही क्या है, जिसे दूसरे लोग बना गए हों? हम भूगर्भ-शास्त्री, हम सूरज और हवा के हम उम्र, हमारे रास्ते लम्बे और दुर्गम हैं, पर दोस्त, हम पीछे मुड़कर कभी नहीं देखेंगे। बहादुरों की तरह आगे ही बढ़ेंगे, क्योंकि हम सूरज और हवा के हमउम्र हैं।''

अलविदा

किशीनेव की तरह बाकू में भी विभिन्न क्षेत्रों के विद्वान, कलाकार, संगीतकार, चित्रकार, लेखक आदि हमें शुभइच्छाएं देने के लिए आए। उन्हीं में रशीद बैबूताफ़ भी थे, जिनकी जादू-भरी आवाज़ के लाखों आशिक हिन्दुस्तान में भी पाए जाते हैं, और उनका नाम सुनकर वे झूम उठते हैं। हमारा राष्ट्रीय गीत, 'सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा' जिस कमाल से रशीद ने गाया है, आज तक कोई हिन्दुस्तानी गवैया भी शायद गा नहीं सका है।

अलमीरा खानुम से भी आज दोबारा मिलकर बहुत खुशी हुई। उन्होंने डा० राधाकृष्णन के कहने पर कुछ साल शान्तिनिकेतन में निवास किया था और रवीन्द्र-संगीत सीखा था। उसके पहले वे अपने देश में संगीत की उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुकी थीं। उस शिक्षा की बदौलत वे गुरुदेव के गीतों में एक भावपूर्ण नवीनता ला सकी हैं। उनके मुंह से गुरुदेव का एक-एक गीत सुनने को दिल चाहता है।

सुमगाइत के मेयर, करीम अखदंफ भी आए हुए थे। फिल्मस्टार दिलरुख भी आई थी, जिसके अंगों की सुन्दरता और सुडौलता देखते ही बनती थी। उसके साथ एक और फ़िल्मस्टार आई थी, जिसका नाम मीनार खानुम था, और जिसका कदकाठ सचमुच किसी मीनार की तरह था। कल स्टूडियो में उससे मुलाकात नहीं हुई थी। डायरेक्टर यूसुफ भी बड़े तपाक से आकर मिले। उन्होंने इच्छा प्रकट की कि हिन्दुस्तान में कभी न कभी आज़रबाइजानी फिल्मों का प्रदर्शन ज़रूर हो, क्योंकि हिन्दुस्तान और आज़रबाइजान की कला, संस्कृति और भाषाओं में बहुत कुछ समानता है।

अलमीरा और रशीद ने गीत गाने शुरू किए तो खाने-पीने का स्वाद दुगुना-चौगुना हो गया।

समय गुज़रता गया। दोस्तियां गहरी होती गईं। मैंने कल जब्बार से कहा था, ''दस साल पहले, मास्को के 'बाकू' नामक रेस्तेरां में मैंने पुलाव खाया था, जो इतना स्वादिष्ठ था कि वह मुझे आज तक नहीं भूला।''

जब्बार ने कहा, ''हम जो पुलाव आपको यहां खिलाएंगे, वह आपको सारी उम्र नहीं भूलेगा।''

और सचमुच उन्होंने अपनी बात सच कर दिखाई थी। इस्लाम को वे अब चाहे न मानते हों, पर ऐसी मेहमांनवाज़ी तो सिर्फ मुसलमान ही कर सकते हैं।

आखिर हम ठीक समय पर टेलीविज़न स्टेशन पर भी पहुंच गए। हमें खास तौर पर कहा गया था, ''टेलीविजन पर बोलें तो राजकपूर और नरगिस का नाम लेना न भूलें। लोग बहुत खुश होंगे।''

''ज़रूर लेंगे उनका नाम।''

दोस्ती का कारवां कब और कैसे टेलीविजन-स्टेशन पहुंच गया, हमें याद नहीं है। बस इतना याद है कि मोटर में रशीद बैबूताफ और तौफीक कुलीमेव की आपस में चुहलबाज़ी हो रही थी-

"मेरा एक भी रिकार्ड तुमने इन्हें नहीं दिया।"

"मैं क्या करूं? बाज़ार में मिला ही नहीं।"

"क्या मतलब ?"

"मतलब यह कि तुम्हारे रिकार्ड बाज़ार में आते ही बिक जाते हैं।...पर यार, तुमने आज मुझे खूब मस्का लगाया। मैं प्रधान था, इसलिए तुम मेरे कम्पोज़ किए हुए गीत ही सुनाते गए।"

"लाख लानत है तुमपर। मोटर रोको जी, मैं उतरना चाहता हूं....."

खूबसूरत घड़ियां थीं वे मेल-मिलाप की। उन घड़ियों में बेहद थकावट होने पर भी महसूस नहीं हुई। उनमें बिछड़ने का समय भी अपनी असलियत खोए हुए था। हसरत-भरी नज़रोंवाली गहरी आंखें। सपनों की हालत में अलविदा कहते हुए आलिंगन। गुलदस्ते, और गुलदस्ते।....खुश रहो, सदा खुश रहो, आज़रबाइजान के प्यारे और हसीन लोगों। खुश रहो, तौफीक, करीम अखंदफ, जब्बार ताहिराव, मीनार, दिलरुख, जमीना, यूसुफ़। अलविदा सुमगाइत।

अलविदा! शुक्रिया ! खुदा हाफ़िज़ ! अस्लामा-लेकुम !

बिछुड़े हुए मिलेंगे फिर
खालिक ने गर मिला दिया....

अपूर्व खुशियों का युग आ रहा है

लेखक : अहमद जमील
(आज़रबाइजानी कवि)

इस धरती पर, जिसपर हम रहते हैं
इतिहास नया पृष्ठ खोल रहा है।
दोस्ती के असूल की जीत हो रही है।
अपूर्व खुशियों का युग आ रहा है-
सुनहरी युग
सब कौमों
और सब देशों का युग।
जो हमने सोचा था कई पीढ़ियों के बाद आएगा
वह ज़माना
हमारी ज़िन्दगी में आ गया है।
अणु शक्ति वाले जहाज़ ध्रुव तक बर्फ़ काटते हुए जा रहे हैं।
अमन के जहाज़ हिमालय की चोटियां पार कर रहे हैं।
मनुष्य के बनाए उपग्रह चन्द्रमा तक पहुंच गए हैं
हम सबकी ओर से
उसे और उसके बर्फ़ानी मैदानों को
प्यार देने के लिए।
मध्य एशिया के प्राचीनतम मरुस्थलों में
अब सुनहरी गेहूं की फसलें लहराती हैं
आकाश की स्वच्छ आभा
सागरों, पहाड़ों, वादियों
के चेहरों को निखार रही है।
दूर-दूर से
मनुष्यों के हाथ
दोस्ती के लिए बढ़ रहे हैं।
दोस्ती के असूल की जीत हो रही है
अपूर्व खुशियों का युग आ रहा है
इतिहास नया पृष्ठ खोल रहा है।

हमने अपने दिलों की तरह
अपने दरवाज़े भी खोल दिए हैं
हर एक दिशा से आनेवाले दर्शकों और मेहमानों के लिए
जो हमारे देश के दोस्त बनकर आएंगे।

मैं उन मनुष्यों में से हूं
जो मानते हैं
कि मनुष्य सिर्फ़ एक बार दुनिया में आता है,
इसीलिए मैं इस जन्म में
देश-देशान्तरों के दोस्तों को जानना चाहता हूं
दूर देशों के फलों को चखना चाहता हूं
हाथ में पकड़कर देखना चाहता हूं
विभिन्न ऋतुओं के रंगों को पहचानना चाहता हूं।

सुनो, मेरे दोस्तो,
नज़दीक और दूर के दोस्तो !
बहार हर जगह एक ही समय में नहीं आती
यहां हमारे वृक्षों ने मुश्किल से शीतकाल के कोहरे से जान बचाई हैं

और उधर हरियाली झूम रही है
जैसे उसे शीतकाल ने स्पर्श भी न किया हो।
पर दोस्तो,
जिस बहार के मौसम का मैं ज़िक्र कर रहा हूं
उसकी महकी हुई हवाएं
इस धरती पर एक ही समय में सब जगह बहने लगी हैं।
शीतकाल की उदासी सब जगह गायब हो रही है
मनुष्य का दिल एक नये सूरज का स्वागत कर रहा है।

दोस्ती के असूल की जीत हो रही है
अपूर्व खुशियों का युग आ रहा है
इतिहास नया पृष्ठ खोल रहा है।
मेरे देश के लोग
मेहमान-नवाज़ी के लिए मशहूर हैं

आओ दोस्तो,
धूमधाम से आओ

हम अपने हाथों से पैदा की गई खुराक का
आपके आगे दस्तरखान बिछाएंगे
आपको पेट भरकर खिलाएंगे, पिलाएंगे
'युगान' के असीम मैदानों के सरपट घोड़े दौड़ाएंगे
जंगली हिरनों का शिकार खेलेंगे।
'ईसक कुल' झील में जाकर गिरनेवाले
निर्मल, बर्फानी, चश्मों का पानी
हम ओक भर-भरकर पिएंगे।
वोल्गा दरिया के किनारों पर
फूलों से झोलियां भरेंगे।
गांव की युवतियों के गीतों की
चांदी की तरह छनछनाती हुई
आवाज़ें सुनेंगे।

आओ,
शान्ति और दोस्ती के लिए
हम तुम्हें आवाज़ें दे रहे हैं।

यकीन करो
इस धरती पर, जिसपर कि हम रह रहे हैं
दोस्ती के असूल की जीत हो रही है
अपूर्व खुशियों का युग आ रहा है
इतिहास नया पृष्ठ खोल रहा है।

भारतीय दूतावास में

भारतीय दूतावास में कॉकटेल-पार्टी हो रही है, जिसका हुक्म दीवालीवाले दिन हमारे सामने कौल साहब ने अपने सेक्रेटरी को दिया था। त्रिलोकीनाथ कौल बहुत सहृद सज्जन हैं। रूसियों के दिलों में उन्होंने उसी तरह स्थान बना लिया है, जैसे उनके पहले श्री के०पी०ऐस० मेनन ने बनाया था। मेहमानों के स्वागत के लिए उन्होंने हमारे प्रतिनिधि-मंडल को आगे कर दिया है, जिसमें उनकी अपनत्व की भावना महसूस की जा सकती है। सोवियत विदेश मंत्री ग्रोमीको और अन्य कई प्रसिद्ध व्यक्ति हमें मान देने के लिए आए हैं। कौल साहब सबसे हमारा परिचय करा रहे हैं। ह्विस्की और अन्य कई किस्म की शराबें पेश की जा रही हैं। बहुत खुशी-भरा वातावरण है। अचानक मैं डा० दातार को एक ओर चुप और उदास बने हुए देखता हूं।

''क्या बात है दातार, मज़ा नहीं आ रहा?''

''मज़ा क्या आएगा, मेरे भाई। कल बाकू से वापस आकर चार बार मैंने एम्बेसी में फ़ोन किया, यह पूछने के लिए कि मेरा कोई पत्र तो नहीं आया हिन्दुस्तान से। घरवालों को मैंने दूतावास के पते पर पत्र लिखने की हिदायत की थी। दो बार तो जवाब मिला कि दफ्तर में कोई है ही नहीं। तीसरी बार किसीने यह कहकर फ़ोन बन्द कर दिया कि पत्र बाहर बोर्ड पर टांग दिए जाते हैं, सो खुद आकर देख जाओ। मैं कैन्सर का अस्पताल देखने में फंसा हुआ था, कैसे जाता? चौथी बार फ़ोन करने पर किसीने बोर्ड देखने के लिए जाने की तकलीफ़ ज़रूर की, पर वापस आकर कह दिया कि मेरा कोई पत्र नहीं है।

''आपको नहीं पता कि मैंने कैसी चिन्ता में रात बिताई है! जब मैं घर से चला तो मेरी पत्नी बीमार थी। पता नहीं क्या हाल था उसका। आज भी कई बार फ़ोन किया, तो वही कोरा जवाब मिला। अब इस पार्टी में एम्बेसी के एक महाराष्ट्री कर्मचारी के परिचय हुआ तो उसके आगे मैंने अपना रोना रोया। उसने झट दफ्तर जाकर पता लगाया। मेरे नाम के तीन पत्र आए हुए थे। अब आप ही बताइए, एक तरफ जबकि ऐसा सलूक हो रहा हो तो इस पार्टी में दी जानेवाली इज़्ज़त का क्या करें, क्या शहद लगाकर चाटें उसे?''

''यह कोई नई बात थोड़े है, भाई। घर में सब सकुशल तो है न ?''

''हां, चिन्ता की कोई बात नहीं है।''

''तो फिर परवाह न कीजिए। क्या फ़ायदा है दिल छोटा करने का?'' लेकिन मज़ा मेरा भी काफ़ी हद तक किरकिरा हो गया था।

यासनाया पोल्याना

तात्स्ताय जैसे महान व्यक्ति का खयाल आते ही मन में से छोटे-छोटे संकुचित किस्म के विचार निकल जाते हैं, और मन ईर्ष्या-द्वेष से छुटकारा पाकर ऊंची उड़ान भरने लगता है। तात्स्ताय ने संसार के सर्वोत्तम उपन्यास लिखे हैं। उनके विचारों ने गांधी जी जैसे महान व्यक्ति के जीवन को झकझोरा और नया मोड़ दिया, जिसका प्रभाव करोड़ों हिनदुस्तानी अपने जीवन में महसूस करते हैं। मुझे गांधीजी के चरणों में बैठने का, उनके आश्रम में रहकर काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। और यह भी मेरा सौभाग्य था कि मुझे तात्स्ताय के निवास-स्थान की यात्रा करने का मौका मिला। इस कृतज्ञता को प्रकट करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं।

सुबह खिड़की में से देखा, मास्को दरिया जमा हुआ था। बर्फ़ अभी भी पड़ रही थी। ठीक आठ बजे बायकाफ आ गए। और उनके पीछे-पीछे बाकी साथियों के साथ परीक्षित भी था। कल रात वह हमारे होटल में ही सोया था। कमरे में दाखिल होते ही परीक्षित ने कहा, "वह देखिए डैडी, दरिया में जहाज़ किस तरह बर्फ को काटता हुआ जा रहा है।" हम सब खिड़की के पास पहुंच गए। सचमुच बड़ा अनोखा दृश्य था।

हम नीचे खानेवाले कमरे में गए। जल्दी-जल्दी नाश्ता किया, जो सादा भी था और स्वादिष्ट भी। दही से भरे हुए गिलास और पनीर से गुथे हुए मैदे के मोटे पेड़े, जिनपर जाम लगाकर खाने की बायकाफ़ ने सिफ़ारिश की। ठेठ रूसी किस्म का नाश्ता था वह और ज्ञानी जी जैसे ठेठ पंजाबी व्यक्ति के तो बहुत ही अनुकूल। वे कहने लगे, "बलराज जी, मेरा बस चले तो अपने मुलक में खाने-पीने की चीज़ों का तो एकदम राष्ट्रीयकरण कर दूं। वहां तो हमें ज़हर खिलाई जा रही है।"

आज गोलुव्येव को हमारे साथ नहीं जाना था, और बायकाफ़ सिर्फ अंग्रेज़ी जानते थे। हम निश्चिंत होकर हिन्दी और पंजाबी में बोल सकते थे।

सौ मील के उस सफर के लिए एक बड़ी, लेकिन पुरानी चैका कार का प्रबन्ध किया गया था। ज्ञानी जी आगे बैठ गए, बीच की दो स्टूल जैसी सीटों पर बायकाफ़ और परीक्षित बैठे, और पिछली सीट पर हम बाकी के तीन व्यक्ति। रास्ते में हिन्दुस्तानी और रूसी चुटकुलों का मुकाबला होने लगा, जिसमें बायकाफ़ और परीक्षित बढ़-बढ़कर हिस्सा लेने लगे। अवश्य उनमें कुछ चुटकले अश्लील भी थे।

खिड़की के पास बैठे हुए गोपालन को कहीं से हवा लग रही थी। मैंने सोचा, उसे यूंही वहम हो रहा है। फिर देखा कि कुछ गड़बड़ ज़रूर थी। दरवाज़े की किसी दरार में से बर्फानी ठंड गोपालन की टांगों में सूई की तरह चुभ रही थी। तब एक भेद खुला मोटर को अन्दर से गर्म रखनेवाली मशीन काम नहीं कर रही थी। ड्राइवर ने बताया कि वह बिगड़ी हुई थी। आखिर कुछ देर के बाद हमारी वैसी ही हालत बन गई जैसी कि रेफ्रिजिरेटर में पड़ी हुई मछली या मांस की होती है। दरवाज़े में से आ रही ठंड की गोपालन को कोई चिन्ता न रही, क्योंकि घुटनों से लेकर पांवों तक अब दोनों टांगें जैसे बेजान बन चुकी थीं। काश, उस समय कोई फ़ोटो खींचने वाला होता। किसी-किसी

समय हम सीटों पर इस प्रकार बैठे होते, जैसे नमाज़ पढ़ रहे हों। किसी प्रकार के भी आसन में आराम नहीं मिल रहा था। जब किसी एक की हालत ज्यादा बिगड़ती, हम उसे आगे की सीट पर बैठा देते, जहां कार का इंजन नज़दीक होने के कारण कुछ गर्मी थी। बाहर दूर-दूर तक बर्फ ही बर्फ दिखाई दे रही थी। कहीं-कहीं बर्च के जंगल दिखाई देते। कुछ आगे जाने पर एक कस्बा आया। छोटे-छोटे, खिलौनों जैसे घर दिखाई दिए। ऐसे लगा, जैसे कोई फौजी कैम्प हो। एक ओर काफी बड़ी फैक्टरी थी, जिसका धुआं सर्दी के कारण सुस्त-सा होकर धरती पर लेटता जा रहा था। नज़दीक ही कोई दरिया था, जो पूरी तरह जमा हुआ नहीं था। वह भी ठंडा धुआं-सा छोड़े जा रहा था। कहीं-कहीं दोनों धुएं आपस में मिल रहे थे। हमने मोटर रुकवाई और फोटो खींची। मैंने ज्ञानी जी से कहा, ''यहां के गरीब लोगों के सामने इन्कलाब करने के अलावा और चारा ही क्या था?''

जवाब में ज्ञानी जी ने एक बहुत अच्छा शेर सुनाया, जिसका अर्थ था : गरीब की झोंपड़ी में सिर्फ़ उसके आंसुओं के प्रकाश से रोशनी होती है, लेकिन उस रोशनी में हज़ारों इन्कलाब छिपे हुए होते हैं।

ध्यान ताल्स्ताय के उपन्यासों की ओर चला गया। उनमें हर मौसम के बहुत सुन्दर प्राकृतिक वर्णन मिलते हैं- खास तौर पर 'अन्ना कैरानीना' में। 'अन्ना कैरानीना' और 'पुनर्जागरण' उपन्यासों के पात्र कभी इन्हीं बर्फो पर अपनी 'स्लेजें' (बर्फ-गाड़ियां) इधर-उधर दौड़ाया करते थे, जिनके आगे जुते हुए घोड़ों की घंटियां बजा करती थीं।

'तूला' नामक शहर गुज़रा। फुटपाथों पर माताएं स्लेजनुमा किस्म की बच्चा-गाड़ियों में अपने बच्चों को सैर करा रही थीं। शायद गर्मियों में इन्हीं गाड़ियों के निचले डंडे निकालकर पहिये लगा दिए जाते होंगे। एक व्यक्ति स्लेज पर घरेलू सामान लादे जा रहा था। लिबास सबका यूरोपियन किस्म का था। हां, कहीं-कहीं हैट की जगह कश्तीनुमा पोस्तीन की टोपियां भी देखने में आ रही थीं।

वहां से लगभग बीस मील का सफर तै करके हम यासनाया पोल्याना पहुंच गए और ईश्वर का धन्यवाद किया।

मोटर से उतरकर हम पहले लकड़ी के बने एक शेड में दाखिल हुए। क्या यही ताल्स्ताय की कुटिया थी? लेकिन नहीं। वे तो, सुना है बहुत धनवान थे। बरामदे में उनके चित्र, पुस्तकें और बिल्ले (कोट पर लगानेवाले) बिक रहे थे। हमने वे खरीदे। इतने में बायकाफ़ ने फिर मोटर में बैठने की सज़ा सुनाई। अब मोटर एक बड़े फाटक के अन्दर दाखिल हुई। ताज़ा बर्फ से ढकी हुई सड़क पर से चलती हुई मोटर एक और इमारत के सामने जाकर रुकी। उसके सामने गाइड खड़ा था। बायकाफ़ ने फ़ोन करके उसे हमारे पहुंचने की सूचना दी थी। बर्फ पर खड़े-खड़े परिचय कराया गया। वे सज्जन यासनाया पोल्याना की सोवियत-हिन्द मित्रता संस्था के प्रधान थे। ताल्स्ताय की सारी ज़मीन-जायदाद आदि को अब एक कौमी यादगार करार दे दिया गया है। वे सज्जन उसके डायरेक्टर थे। उन्होंने रूसी साहित्य की ऊंची डिग्रियां प्राप्त की हुई थीं। ताल्स्ताय पर थीसिस लिखकर डॉक्टरेट की डिग्री ली थी। हमारा सौभाग्य था कि ऐसा विद्वान व्यक्ति हमें गाइड बनकर सब कुछ दिखाने वाला था।

उन्होंने प्रोग्राम बताया : पहले इस इमारत में एक प्रदर्शिनी देखेंगे। फिर उस इमारत में जाएंगे जहां ताल्स्ताय ने अपनी उम्र के पचास साल बिताए थे। उसके बाद उनकी कब्र देखने जाएंगे। वहां से लौटने पर खाना खाएंगे।

हमने खुशी से प्रोग्राम मंज़ूर कर लिया। हम चाहते थे कि जल्द से जल्द किसी गर्म स्थान में पहुंचकर टांगों को आराम पहुंचा सकें।

खुशकिस्मती से वह इमारत अन्दर से गर्म थी। ताल्स्ताय-परिवार उसका गोदाम के रूप में उपयोग करता था। अब वहां ताल्स्ताय के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को लेकर प्रदर्शनियां की जाती हैं। उस समय जो प्रदर्शनी लगी हुई थी वह उन चित्रों की थी, जो ताल्स्ताय की बच्चों और किसानों के बारे में लिखी हुई कहानियों के आधार पर बनाए गए थे। कहानियों और उनके पात्रों से परिचित न होने के कारण हम प्रदर्शनी में ज़्यादा दिलचस्पी न ले सके। दूसरी तरफ़, मेज़ों पर ताल्स्ताय-लिखित पुस्तकों और पुस्तिकाओं की भरमार लगी हुई थी। एक थी- 'रूसी भाषा कैसे सीखें।' एक गणित-सम्बन्धी थी। इसी प्रकार अन्य कई विभिन्न विषयों-सम्बन्धी थीं। गाइड ने उनमें से केवल चार-पांच के ही नाम बताए। लेकिन दूसरे कमरे में मैंने परीक्षित से कुछ और पुस्तकों के रूसी नामों के बारे में जाना। मैं हैरान था कि एक उपन्यासकार ने बच्चों और देहाती लोगों की शिक्षा के लिए कितनी मेहनत की थी, कितनी पाठय-पुस्तकें लिखी थीं। इसके उलट, हमारे देश के लेखक किसी दूसरी भाषा की अच्छी पुस्तक का अपनी भाषा में अनुवाद करना अपना अपमान समझते हैं।

दूधिया सफ़ेद बर्फ़ पर चलते हुए हम मुख्य इमारत की ओर गए। रास्ते में एक शिला देखी, जिसपर कुछ लिखा हुआ था। गाइड ने बताया कि उस स्थान पर एक बहुत बड़ा मकान होता था। उसकी जगह, निशानी के तौर पर, वह शिला लगा दी गई थी। आखिर हम मुख्य इमारत के दरवाज़े पर पहुंचे। दायें हाथ पर मज़बूत पेड़ देखा, जो एक ओर को झुका हुआ था। उसे एक लकड़ी से सहारा दिया गया था। कुछ रूसी नौजवान इमारत में से निकलकर उस पेड़ की ओर गए। उनमें से एक पागलों की तरह ऊंची आवाज़ में कुछ बोलने लगा। बीच-बीच में 'ताल्स्ताय' शब्द सुनाई देता। उसे देखकर अजीब-सा लगा और अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। जब हम उसके निकट पहुंचे तो वह नौजवान एकाएक चुप हो गया। वह पूरे होश में था। हमने पूछा तो नहीं, लेकिन जानने की इच्छा ज़रूर हुई कि वह क्या बोल रहा था। पता लगा कि उस पेड़ का भी ताल्स्तय के जीवन से गहरा सम्बन्ध था। सुबह के समय उसके नीचे बैठकर वे किसानों से मिला करते थे, गोष्ठियां किया करते थे। अपने उपन्यासों और कहानियों के कितने ही पात्र उन्होंने उस पेड़ के नीचे बैठकर अपनी कल्पना में साकार किए थे।

गाइड ने ताल्स्ताय का रोजनामचा सुनाया। सुबह आठ बजे उठना, कुछ पढ़ना, फिर नहाकर नाश्ता करना। दस बजे वे लिखने बैठ जाते थे और दो बजे तक लिखते रहते थे। दोपहर के खाने के बाद वे लोगों से मिलते थे, पढ़ते थे। वे १६ भाषाएं जानते थे, जिनमें एक भाषा अरबी भी थी। मौत से पहले वे जापानी भाषा सीख रहे थे। संगीत का उन्हें बेहद शौक था। बुढ़ापे में उन्होंने संगीत सीखना शुरू कर दिया था। संगीत को वे सब कलाओं से ऊंचा स्थान देते थे। परन्तु कविता से उनका कोई लगाव नहीं था। और यह सचमुच बहुत ही अजीब बात है। शेक्सपियर और गेटे जैसे कवियों को भी वे पसन्द नहीं करते थे।

हम इमारत के अन्दर दाखिल हुए। ड्योढ़ी जिसे अंग्रेज़ी में हाल कहा जाता है, लोगों की भीड़ से भरी हुई भी। पता लगा कि हर साल वहां एक लाख दर्शक आते हैं। भीड़ में दो फ़ौजी अफसर भी थे, जो बहुत रोबदार दिखाई दे रहे थे। वहां हर एक दर्शक को टोकरी में पड़े चमड़े के गिलाफ़ उठाकर अपने बूटों पर चढ़ाने पड़ते हैं, ताकि फर्श खराब न हो। हम सीढ़ियां चढ़कर ऊपर की मंज़िल पर पहुंचे। वहां एक बग्घी देखी, जिसपर सवार होकर ताल्स्ताय की पत्नी अपने बुढ़ापे की उम्र में बाहर जाया करती थी। फिर डाइनिंग-रूम देखा। आज के ज़माने के हिसाब से ताल्स्ताय का रहन-सहन बहुत सादा प्रतीत हुआ, लेकिन उतना सादा नहीं, जितना गांधी जी या टैगोर का था। एक कोने में पियानो पड़ा हुआ था और दूसरे कोने में ग्रामोफोन। खाना खाने की मेज़ बहुत बड़ी थी और उसके गिर्द आठ-दस कुर्सियां पड़ी हुई थीं। प्लेटें, छुरी-कांटे, नैपकिन आदि चीज़ें जिस ढंग से इस्तेमाल होती थीं, उसी तरह रखी हुई थीं। ऐसे लग रहा था, जैसे ताल्स्ताय-परिवार अभी-अभी खाने के लिए बैठनेवाला हो। मेज़ के पास एक छोटे-सी मेज़ पर 'समावार' रखा हुआ था। मेज़ से कुछ दूर, दीवार के पास एक सोफा पड़ा था। एक आराम-कुर्सी थी। कुछ और कुर्सियां भी पड़ी हुई थीं। इस भाग में चाय पी जाती थी। कमरे का एक दूसरा कोना गोष्ठी करने के लिए था, जहां जामुनी रंग के चमड़े से मढ़े हुए सोफो-कुर्सियों के बीच में एक गोल मेज़ रखी हुई थी। वहां ताल्स्ताय अपने खास जिगरी दोस्तों से मिला करते थे। दीवार पर उनकी बेटियों के, उनकी जवानी के ज़माने के चित्र टंगे हुए थे, जो उस समय प्रसिद्ध चित्रकारों द्वारा बनवाए गए थे। प्रसिद्ध चित्रकार रेपिन ताल्स्ताय का बहुत प्यारा दोस्त था। रेपिन ने ताल्स्ताय के बुढ़ापे के दिनों का एक चित्र बनाया था, जो आम तौर पर पुस्तकों में पाया जाता है। वह चित्र भी दीवार पर टंगा हुआ था। एक और चित्र ज़माने का था, जब ताल्स्ताय 'अन्ना कैरानीना' लिख रहे थे, और उनकी उम्र लगभग पचास वर्ष की थी।

उस कमरे में से गुज़रकर हम इमारत के पिछले बरामदे में पहुंचे। उसमें भी गोष्ठी के लिए एक जगह बनी हुई थी। आगे एक छोटा-सा कमरा था, जहां ताल्स्ताय अपनी उम्र के अन्तिम दिनों में बैठकर लिखा करके थे। वहीं से वे एक दिन बेचैनी की हालत में उठकर घर से निकल गए थे और लौटकर नहीं आए थे। उस समय उनकी उम्र ८२ वर्ष की थी। उस उम्र में भी उनकी सेहत बहुत अच्छी थी। अगर वे घर छोड़कर न चले जाते, तो वे कम से कम दस साल तक और ज़िन्दा रहते।

हमने देखा कि लिखने की मेज़ के पास पड़ी हुई कुर्सी नीची थी। गाइड ने बताया कि ताल्स्ताय की नज़र बहुत कमज़ोर थी, लेकिन उन्हें ऐनक लगाना पसन्द नहीं था। लिखते समय उनके चेहरे और कागज़ के बीच में बहुत ही कम फ़ासला होता। इसीलिए वे इतनी नीची कुर्सी का प्रयोग करते थे। मेज़ के पीछे एक दीवान पड़ा था, जिसपर वे आराम किया करते थे। अंगीठी पर कुछ पुस्तकें पड़ी थीं, जिनमें से दो पुस्तकें खोलकर उलटी रखी हुई थी। गाइड ने बताया कि वे पुस्तकें और अन्य चीज़ें हू ब हू उसी हालत में पड़ी हुई हैं जिस हालत में कि ताल्स्ताय उन्हें छोड़कर गए थे। ताल्स्ताय की पत्नी ने किसी भी चीज़ को अपनी जगह से हटाया नही था। जब द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मन फ़ौजें ला के पास पहुंच गई थीं तो ताल्स्ताय के घर की हर एक चीज़ को बड़ी सावधानी से देश के पिछले भाग में भेज दिया गया था। युद्ध खत्म होने के बाद सभी चीज़ें फिर

उसी हालत में लाकर रख दी गई थीं। अंगीठी पर पड़ी हुई पुस्तकों में कोई इस्लाम के बारे में थी, कोई बौद्ध धर्म के बारे में। उनके ऊपर एक शेल्फ़ रूसी भाषा में लिखित विश्वकोष की जिल्दों से भरी पड़ी थी।

उसके आगे लेखक का सोने का कमरा था। हद दर्जे की सादगी नज़र आई वहां। एक शेल्फ़ पर देसी किस्म की दवाइयों की बोतलें पड़ी थीं। व्यायाम करने के लिए 'डम्बल' थे, और सैर का साथी एक मोटा डंडा। एक ऐसी छड़ी थी, जिसे ऊपर से खोलकर बैठने के लिए भी इस्तेमाल किया जा सकता था। चमड़े की पेटियां दीवारों पर टंगी हुई थीं। एक मेज़ पर मुंह-हाथ धोने के लिए चिलमची और जग था। एक कोने में दीवार के साथ लगा हुआ लोहे का पलंग था। गाइड ने एक फोटो की ओर हमारा ध्यान दिलाया, जो ताल्स्ताया ने मृत्यु से कुछ ही पहले एक वैज्ञानिक के साथ इसी पलंग पर बैठकर खिंचवाई थी। फ़ोटो में ताल्स्ताय के चेहरे पर थकावट और आंखों में बेचैनी नज़र आती थी।

वहां काम करनेवाली एक बूढ़ी स्त्री ने आकर कहा कि उसने ताल्स्ताय की पत्नी के सोने के कमरे का दरवाज़ा भी खोल दिया है। गाइड ने हमें बताया कि यह कमरा आम लोगों को नहीं दिखाया जाता, क्योंकि इमारत का वह भाग पिछली जंग में बहुत कमज़ोर हो चुका है। कमरे में प्रवेश करने से पहले उन्होंने ताल्स्ताय की पत्नी के बारे में कुछ जानकारी देना ज़रूरी समझा। उन्होंने कहा :

''यह बात बिलकुल बेबुनियाद है कि ताल्स्ताय की अपनी पत्नी से अनबन थी। अगर ऐसा होता तो वे पचास साल उसके साथ एक छत के नीचे न गुज़ार सकते। इसी घर में वह ताल्स्ताय के तेरह बच्चों की मां बनी थी। ताल्स्ताय से वह उम्र में सोलह साल छोटी थी।''

गोपालन : कहा जाता है कि 'अन्ना कैरानीना' में किटी का पात्र ताल्स्ताय की पत्नी पर आधारित है। इस उपन्यास में ताल्स्ताय ने अपने जीवन की बहुत-सी व्यक्तिगत बातों का ज़िक्र किया है, जिसके लिए उनकी पत्नी नाराज़ थी।

गाइड : किसी हद तक मैं इस बात को मानता हूं, लेकिन फिर भी कहूंगा कि जब आप इस कमरे में घूमें तो एक चीज़ को ध्यान से देखिएगा। बाद में हम फिर इस विषय पर बातें करेंगे। यूरोप में ताल्स्ताय के कई आलोचकों ने इस बात को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया है।

सो हमने वह कमरा जासूसोंवाली नज़र से देखा, लेकिन कोई खास रहस्य-भरी बात हमें दिखाई नहीं दी। गाइड ने फिर कहा :

''इस कमरे की चीज़ों से आपको श्रीमती तालस्ताय का चरित्र साफ नज़र आ सकता है। उन चीजों से- खास कर दीवार पर टंगे हुए चित्रों से आप इस बात का बड़ी आसानी से अन्दाजा लगा सकते हैं कि वह किस हद तक इसाई धर्म को माननेवाली स्त्री थी। वह ज्यों-ज्यों बुढ़ापे में प्रवेश करती गई उसकी धार्मिकता अपनी चरम सीमा को पहुंचती गई। वह धार्मिक रस्मों रीतियों और अन्धविश्वासों पर ज्यादा ज़ोर देने लगी। ताल्स्ताय को यह बात पसन्द नहीं थी। वे धर्म को दर्शन-शास्त्र के रूप में देखते थे।''

धार्मिक चित्रों के अलावा दीवारों पर और भी बहुत-से चित्र थे। ताल्स्ताय की जवानी से बुढ़ापे तक के चित्र वहां लगे हुए थे। उन्हें देखकर हमें बहुत आनन्द आया। एक-दो

चित्र उस ज़माने के भी थे जब तालस्ताय फ़ौजी अफ़सर थे। उन चित्रों में उन्होंने फ़ौजी वर्दी पहनी हुई थी।

गाइड : यह चित्र इस बात का सबसे अच्छा सबूत है कि श्रीमती तालस्ताय का जीवन अपने पति और बच्चों के गिर्द घूमता था। परिवार का एक-एक चित्र उसने संभालकर रखा हुआ है। तालस्ताय की मृत्यु के नौ साल बाद तक वह इस घर में रही। अपने पति के घर से निकल जाने, सर्दी में भटकने और मर जाने का उसे बहुत दुःख था। वह खुद को उनकी मौत की ज़िम्मेदार समझती थी। आखिर इसी कमरे में उनकी मृत्यु हुई थी। अगर पति-पत्नी का आपस में प्यार न होता तो वह अकेली यहां कभी न रहती, जबकि वह आसानी से मास्को में रह सकती थी। इन सब बातों को देखकर इस नतीजे पर पहुंचना पड़ता है कि तालस्ताय का घर छोड़कर चले जाना उनकी मानसिक अशान्ति का परिणाम था और कुछ नहीं।

ऊपरी मंज़िल पर, एक तरफ़ तालस्ताय के सेक्रेटरी का कमरा था, जो बरामदे में पुस्तकों की अलमारियों की दीवार बनाकर तैयार किया गया था। तालस्ताय की लाइब्रेरी में कई भाषाओं की दस हज़ार से ज़्यादा पुस्तकें थीं।

मैंने सोचा कि तालस्ताय बहुत खुशकिस्मत आदमी थे। अच्छे अमीर माता-पिता के घर में जन्म हुआ था उनका। कई हज़ार एकड़ ज़मीन उन्हें विरसे में मिली थी, जिसमें सफ़ेदे के सुन्दर जंगल और बाग थे। शहर की भागदौड़ और पैसा कमाने की मजबूरी से दूर थे वे। पचास साल तक निश्चिंत होकर रहने और लिखने का समय मिला था उन्हें। ऐसी किस्मत कितने लेखकों की हो सकती है?

लेकिन नहीं, लिखने के लिए सुख-सुविधा ही काफ़ी नहीं होती। वह तो प्रतिभा और लगन की पैदावार है। अपने विचारों और आदर्शों के अनुसार निडर होकर अपने जीवन को ढालने की शक्ति थी तालस्ताय में।

गाइड के कुछ और दिलचस्प बातें बताईं। तालस्ताय की मृत्यु १९१० में हुई थी और उनकी पत्नी की १९१९ में। ये नौ साल रुस में बहुत बड़ी राजनैतिक उथल-पुथल के साथ थे। कई दोस्तों ने श्रीमती तालस्ताय को जमीन और मकान बेचकर शहर में रहने की राय दी थी। लेकिन वह नहीं गई थी। हर प्रकार की आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद उसने मकान नहीं बेचा था, क्योंकि उसके साथ उसके पति की यादें जुड़ी हुई थी। इन्क़लाब के बाद तो उसे किसी ओर से भी सहायता की आशा नहीं रही थी। लेकिन जब लेनिन खुद उसके यहां गए और उसकी खबर ली और उसकी अच्छी तरह देखभाल करने का उन्होंने हुक्म दिया तो वह हैरान रह गई।

फिर गाइड ने आलमारी पर उलटी पड़ी हुई एक फ़ोटो उठाकर हमें दिखाई, जिससे प्रकट होता था कि जर्मनों ने इस घर की कैसी दुर्दशा की थी, उसे खाली देखकर उन्होंने उसे फ़ौजी बैरक बना दिया था, हालांकि वे अच्छी तरह जानते थे कि वह तालस्ताय का घर है। सिपाहियों ने फर्शों पर आग जलाई थी। आज जर्मनी में कई लोग उस बात को मानने के तैयार नहीं हैं। लेकिन वह फ़ोटो इस बात की गवाह है। वह उस दिन खींची गई थी जब रूसियों ने दोबारा उस घर में प्रवेश किया था।

वहां से नीचे आकर हमने फिर उसी ड्योढ़ी को देखा, जहां बूटों पर चमड़े के गिलाफ चढ़ाएं थे। वह स्थान लाइब्रेरी का मुख्य भाग था। उसके पीछे कई और कमरे थे। वह स्थान लाइब्रेरी का मुख्य भाग था। उसके पीछे कई और कमरे थे। ठीक पीछे वह कमरा था जहां ताल्स्ताय के शव के अन्तिम दर्शन के लिए दिन-भर बाहरी दरवाजे से आकर पिछले दरवाजे से निकल जाते रहे थे। इसके साथ वाले कमरे को ताल्स्ताय ने अन्ना कैरानीना लिखने के लिए इस्तेमाल किया था। उससे आगे वह कमरा था, जो उस घर में लेखक को सबसे प्रिय था। उसे वे मेहराबें-सी बनी हुई थीं। पहले वह एक गोदाम के रुप में उपयोग में लाया जाताथा। लेकिन ताल्स्ताय ने साफ करवाकर उसे लिखने का कमरा बना लिया था। उसी में उन्होंने अपना महान उपन्यास 'युद्ध और शान्ति' लिखा था। कमरे का दरवाज़ा और खिड़कियां बाहर बाग की ओर खुलते थे, जहां सफ़ेदे, चीड़ और बैद केवृक्ष लगे हुए थे। वह बाग ताल्स्ताय के मन में बड़ा सुखद अनुभव पैदा करता होगा।

पक्षी उड़ गया था और हम उसका पिंजरा देख रहे थे। बाहर बर्फ़ गिर रही थी। धरती दूधिया सफ़ेद बनी हुई थी। बर्फ़ पेड़ों की शाखाओं पर अटक जाती थी। गर्मी के मौसम में यह बाग कितना सुन्दर होता होगा। अपने उपन्यास के पात्रों को मन में बसाकर इस बाग में घूमना लेखक को कितना अच्छा लगता होगा। इसीलिए तो वे 'युद्ध और शान्ति' जैसे इतने बड़े उपन्यास का लम्बा सफल तै कर पाए।

उस घर के दो फ़र्लांग के फासले पर- उन्हीं जंगलों में, जो ताल्स्ताय की अपनी मिलकियत थे और जिनमें वे अपने मुज़ारों के साथ मिलकर लकड़ियां चीरते और दूसरे काम किया करते थे, ताल्स्ताय हमेशा की नींद में सोए पड़े हैं। एक खाई पर ज़मीन की तीन तहें आकर मिलती हैं। राजपूत शैली के चित्रों में धरती की तहें इसी प्रकार गोल आकार की खींची जाती हैं। सबसे ऊपरी तह पर ताल्स्ताय की सादी-सी कब्र है। उसके ऊपर कोई सलीब नहीं है, कोई संगमरमर का पत्थर नहीं है, न ही कोई चबूतरा है और न ही वहां कुछ लिखा हुआ है। बस एक डिब्बा-सा है, जिसपर घास उगी हुई है। वह स्थान ताल्स्ताय ने अपनी कब्र के लिए खुद चुना था। वहां वे अपने बचपन के दोस्तों के साथ खेला करते थे। उन्हें नर्म घास पर फिसलना बहुत अच्छा लगता था। बचपन में ताल्स्ताय को यकीन था कि वहां कोई जादू की लकड़ी दबी पड़ी है। अगर वह मिल जाए तो जीवन में मनुष्य की सभी इच्छाएं पूरी हो सकती है। जिस जगह उन्हें बचपन में लकड़ी के दबे हुए होने का यकीन था, उसीको उन्होंने अपने दफ़नाए जाने के लिए चुना था।

और अन्त में

आज इस यात्रा का आखिरी दिन है। आज तो ईना को ज़रूर मिलना चाहिए। कल गोलुब्येव ने मुझे उसके घर का टेलीफोन नम्बर पता कर दिया था। इस समय फ़ोन करूं? पता नहीं, ज्ञानी जी क्या सोचें? बड़ी लम्बी-चौड़ी व्याख्या करके समझाना पड़ेगा। लेकिन क्यों? डरना तो तब चाहिए, जब दिल में चोर हो। खत्म हुआ डेलीगेशन का झमेला। पूरी हो गई तीन हफ्तों की कैद। आज का दिन मेरा अपना है। मैं अपनी मर्ज़ी से बिताऊंगा। परीक्षित के संग बिताऊंगा-उसके होस्टल में जाकर। उसके दोस्तों के संग बिताऊंगा। और ईना को भी ज़रूर मिलूंगा। लेकिन ज्ञानी जी शापिंग कैसे करेंगे? उन्हें तो एक मिनिट के लिए भी मुझसे अलग होने की आदत नहीं है। डा० दातार ने कहा था कि एअर इंडिया के दफ्तर में इकटठे चलेंगे। वहां उनका परिचित कोई व्यक्ति है जो हमारे हिन्दुस्तान पहुंचने की खबर आज शाम से पहले-पहले हमारे घरवालों को पहुंचा देगा।...क्या मुसीबत है। साथियों से अलग होकर दिन बिताना मुझसे भी तो सहन नहीं हो रहा है। हिन्दुस्तान पहुंचने पर तो बिछड़ना ही है। अभी से क्यों बिछुड़ें!

जब ज्ञानी जी गुसलखाने में नहाने के लिए गए तो मैंने डरते हुए फोन उठाया। ईना का नम्बर घुमाया। आवाज़ आई, ''दा?''

''मे आई स्पीक टू ईना त्रास्तिख प्लीज़ ?'' मैंने कहा।

''हू....इज़.....स्पीकिंग?''

''बलराज साहनी....फ्रॉम इंडिया....भारोत थेके।''

''और तूमी.....कैमोन आछो.....'' ईना के लिए बंगाली में बोलना अंग्रेज़ी बोलने से ज़्यादा आसान था।

''भालो आछी, देखा हौबे कोखुन, आज रात्रे फिरे जाबो भारते...''

मैं भी अपनी टूटी-फूटी बंगाली में बोलने लगा।

ईना कुछ देर चुप रही। वह नाराज़ थी कि तीन हफ्तों से मैंने उसे फोन नहीं किया था। लेकिन जब कारण बताऊंगा तो वह ज़रूर समझ जाएगी।...मैंने उसे कहाकि शाम को सात बजे वह मुझे बालशाय् थियेटर के सामने मिले। पहले सोचा कि 'अरबात स्क्वेयर' वाले रेस्तेरां का पता दूं, लेकिन मुझे यकीन नहीं था कि वहां पहुंचने का रास्ता मुझे याद है। हां, बालशाय थियेटर का रास्ता अच्छी तरह याद था।

फोन करने के बाद महसूस किया कि अब मैं असली अर्थों में मास्को में आया हुआ हूं, जो मेरा जाना-पहचाना शहर है, जहां मैं एक संस्था का सिर्फ मेहमान ही नहीं हूं, बल्कि मेरी अपनी भी कोई हस्ती है, मेरे अपने भी दोस्त हैं।

''ईना, मैं बम्बई से वादा करके चला था कि अपना सारा समय अपने साथियों को दूंगा। मुझे एक ज़िम्मेदारी दी गई थी, जिसे अच्छे ढंग से पूरा करने का बोझ मैंने अपने

सिर पर उठाया था। इसीलिए मैं कई बार आपको टेलीफ़ोन करते हुए रुक गया, ताकि मेरे साथी खुद को मुझसे अलग महसूस न करें। उन्हें यह न लगे कि मैं मास्को को उनसे ज़्यादा अच्छी तरह जानता हूं।''

''कोई बात नहीं। मैं समझ सकती हूं आपकी अड़चन। लेकिन यह बात मैं नहीं समझ सकी कि परीक्षित इतने सालों से यहां रह रहा है, फिर भी मुझें मिला नहीं है।''

''उसका क्या दोष, जब मैंने उसे तुम्हारे बारे में बताया ही नहीं। यह तो भीष्म और शीला को चाहिए था कि आप दोनों की मुलाकात कराते। मैंने आज ही उसे बताया है। वह बालशाय थियेटर तक मुझे छोड़ने आया था। अगर वापसी पर मेरे साथ होटल चल सको तो बहुत अच्छा हो, परीक्षित वहीं होगा।

''ज़रूर,'' कहकर ईना चुप हो गई। फिर अचानक हंसकर व्यंग्य से बोली, ''अब फिर कब आएंगे?''

''यह बात न तुम्हारे बस में है, न मेरे। वैसे अब तुम्हारे भारत आने की बारी है। मैं तो कई बार यहां आ चुका हूं।''

फिर चुप।

आखिर मैंने कहा, ''आपके देश ने बेहद उन्नति की है- पिछले पांच सालों में।''

ईना ने खुश होकर मेरी ओर देखा और कहा, ''अभी और बहुत कुछ करना बाकी है।''

कितना सरल जवाब था। ऐसे जवाब के लिए मैं तरस गया था। उपदेश सुन-सुनकर कान पक गए थे।

हम काफ़ी देर तक रेस्तेरां में बैठे हुए इधर-उधर की बातें करते रहे। फिर समय के सीमित होने का अहसास हुआ। टैक्सी की तलाश में सड़क पर चल पड़े। बातों में फिर इतने ज़्यादा खो गए कि टैक्सी का ध्यान न रहा और चलते-चलते ज़मींदोज़ रेल के स्टेशन पर पहुंच गए। अब फिर हमारे बीच में चुप छा गई थी, जिसे तोड़ने के लिए मैं कोई बात सोचने लगा। ''तुम्हें पता हैं ईना, मैं यहां से बम्बई जाकर अगले दिन कलकत्ता के लिए रवाना हो जाऊंगा। मैं आजकल एक बंगाली फ़िल्म में काम कर रहा हूं। अगर इस सर्दी के मौसम में तुम कलकत्ता आ सको तो बहुत अच्छा हो। मैं तुम्हें शांतिनिकेतन ले चलूंगा। मज़ा आ जाएगा।''

''आऊंगी, कभी ज़रूर आऊंगी।'' उसकी आवाज़ फिर जैसे कहीं खो गई। क्या पता इसके मन में बंगाल का कैसा चित्र है। असलियत को देखकर कहीं इसे निराशा तो नहीं होगी?

और फिर उसने सोहलवीं सदी के बंगाली कवि मुकंददास की कविता की फ़रमाइश की। और मैंने वादा किया कि कलकत्ता जाते ही वह पुस्तक खरीदकर उसे भेजूंगा।

गाड़ी में यात्री हमें अजीब-सी भाषा में बातें करते हुए देखकर हैरान हो रहे थे।

•

बलराज साहनी

पाकिस्तान का सफ़र

पाकिस्तान का सफ़र

दिल्ली, ६अक्तूबर, १६६२

पाकिस्तान की सैर का प्रोग्राम बनाते समय यह ध्यान नहीं आया कि उसका प्रभाव मेरी बूढ़ी मां पर क्या पड़ेगा ! उन्हें मेरा वहां जाना बिलकुल पसन्द नहीं। मैं कहता हूं, 'माता जी, ज़रा सोचिए तो सही, मैं पिंडी जाऊंगा, भेरा जाऊंगा, अपने पुराने घर देखूंगा, बचपन के दोस्तों से मिलूंगा ।...'

'अब कहां की दोस्ती और कहां के घर-बार ! उन स्थानों से अब हमारा क्या नाता रह गया है?'

'वह तो ठीक है, पर सैर-सपाटा करने में क्या हर्ज है ?'

'तू तो बेटा, सैर-सपाटे में लगा रहेगा और बीच में मेरी जान टंगी रहेगी। बड़े मूर्ख लोग हैं वे। उनका क्या भरोसा?'

'नहीं, वे सब बातें खत्म हो गई हैं। अब तो रोज़ ही लोग आते-जाते हैं। रत्ती-माशा भी कोई खतरा नहीं है। अच्छा लो, तुम्हें फ़िक्रचिन्ता न हो इसलिए मैं हर दूसरे-तीसरे दिन तार भेज दिया करूंगा।'

चल तो पड़ा घर से मगर माताजी का चेहरा मुर्झाया हुआ था। मेरा मज़ा आधा रह गया। मुझे मालूम था कि मेरे लौटने की घड़ी तक उन्हें सुख-दुःख की चिन्ता लगी रहेगी।

दिल्ली स्टेशन के प्लेटफार्म पर बड़ी देर तक भटकने के बाद पता चला कि पाकिस्तानवाला डिब्बा गाड़ी के बिलकुल आखीर में लगा हुआ है। उस डिब्बे तक पहुंचा तो दिल बैठ गया। बड़ा ही गन्दा था। ऐसा लगा जैसे पाकिस्तान की सवारियों के साथ अछूतों का-सा व्यवहार किया गया हो, जैसे उनके साथ मिलते ही मैं भी अपने देशवासियों से अलग कर दिया गया होऊं। बैठे हुए दिल से मैंने सामान भीतर रखवाया और कुली को विदा कर दिया।

अच्छा, जो होगा देखा जाएगा, अब तो ओखली में सिर दिया ही है। ऊपरवाली बर्थ पर एक यात्री का बिस्तर बिछा हुआ था, पर वह कहीं गया हुआ था। न जाने कैसा आदमी होगा? न जाने उसके साथ कैसी निभेगी? डिब्बे के आसपास फ़िल्म एक्टर को देखने के लिए भीड़ जमा हो जाती है। आज एक आदमी भी क़रीब नहीं फटका, जैसे पाकिस्तान जाना कोई बहुत बड़ा अपराध हो।

डिब्बे की खस्ता हालत देखकर फिर दुःख हुआ। खराब डिब्बे लगाने का अर्थ अगर पाकिस्तानियों का अपमान करना है तो इससे अपने देश का भी तो अपमान होता है। जब यह डिब्बा लाहौर पहुंचेगा तो वहां के लोग हमारी रेलवेज़ के बारे में कैसी धारणाएं बनाएंगे? पराये देश को जानेवाले डिब्बे तो विशेषरूप से तड़क-भड़कवाले होने चाहिए, जिससे रोब पड़े !

मेरा साथी आ गया। पक्का रंग, खूब क़द्दावर और भरा-भरा जिस्म। चटक कलेजी रंग की तहमद बांधे हुए। उसको देखकर मैं घबरा-सा गया, और अपनी रक्षा के लिए सचेत रहने की सोची। बड़ा कट्टर पाकिस्तानी लग रहा था। पर बाद को शीघ्र ही पता चल गया कि वे हिन्दू सज्जन हैं और केवल जालन्धर तक जा रहे हैं। बोलचाल ज़िला शाहपुर की थी, जो मेरा अपना पुश्तैनी वतन है। मैं भेरे का और वे सरगोधा के निकले। बड़े मौजी तबियत के व्यक्ति थे। रात काफ़ी देर तक उनसे बातें होती रहीं। वे पुनर्वास विभाग के अफ़सर हैं। पाकिस्तान के कई चक्कर लगा चुके हैं।

दिल्ली से गाड़ी चलने से पहले ही हम दोनों काफ़ी घुल-मिल गए। डिब्बे के बाहर दर्शकों की भीड़ भी हमेशा की तरह ही हो गई थी। शुरु-शुरु में मुझमें भय पैदा होने के कारण भ्रम के सिवाय और कुछ नहीं था। जैसे भ्रम पैदा हुआ वैसे ही मर भी गया। डिब्बे को सबसे पीछे जोड़ने का कारण केवल यह था कि अमृतसर पहुंचकर उसे आसानी से काटकर दूसरे प्लेटफ़ार्म पर ले जाया जा सके। डिब्बे के घटिया होने का भी इस मित्र ने कारण बताया। यह डिब्बा वास्तव में उस गाड़ी का भाग है जो केवल अमृतसर और लाहौर के बीच चलती है। केवल तीस मील की दूरी होने के कारण हमारी रेलवेज़ को अच्छा इंजन या अच्छे डिब्बा लगाने में कोई लाभ नहीं। पाकिस्तान से अमृतसर पहुंचते ही अधिकतर यात्री दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई आदि दूर-दूर के स्थानों के लिए तेज़ रफ्तार गाड़ियों में सवार हो जाते हैं। इसमें भेद-भाव की कोई बात नहीं। यह सेवा भी केवल भारत ही करता है। पाकिस्तान की कोई गाड़ी सरहद पार करके इधर नहीं आती।

मेरे सहयात्री ने मुझे विश्वास दिलाया कि मेरी पाकिस्तानी यात्रा बड़ी मनोरंजक होगी। "मेहमान-नवाज़ी उन लोगों में खत्म हो गई है, "उन्होंने कहा, "पर आपको सिर-आंखों पर लेंगे। और किसी प्रकार का आपको कोई खतरा भी नहीं है, अपनी मर्ज़ी से जहां चाहें जा सकेंगे। बातचीत ज़रा सोच-समझकर कीजिएगा। खुफ़िया पुलिस आपकी हर गतिविधि पर नज़र रखेगी।"

बातचीत के दौरान वे बड़ी देर तक चुप हो जाते थे, जैसे पाकिस्तानियों के विषय में पूरी तरह राय न निर्धारित कर सके हों या शायद उन्हें वहां की अपनी कोई यात्रा याद आ रही हो। एक ओर वे दिल खोलकर प्रशंसा करते थे तो निन्दा भी अच्छी-खासी करते। "हो आइए, आप खुद ही सब कुछ देख लेंगे। इस बार तो आपको खूब मज़ा आएगा, पर दोबारा जाने को शायद दिल न चाहे।"

बड़े ही मिलनसार और विचारवान सज्जन थे। मुझे गहरी नींद में सोता देखकर चुपचाप किसी इधर के ही स्टेशन पर उतर गए थे, जिससे सुबह तड़के हाथ-मुंह आदि धोने से मेरी नींद में विघ्न न पड़े। पर जब गाड़ी जालन्धर पहुंची तब मैं जाग चुका था। यह देखकर वे मुझे बड़े प्रेम से नमस्कार करने आए और अपने हाथ में लिया हुआ उपन्यास मुझे भेंट कर गए।

१० अक्टूबर, १९६२

जब गाड़ी जालन्धर स्टेशन से चली तो कम्बल में सिर-मुंह लपेटकर थोड़ी देर और सो लेने को जी चाहा। गाड़ी के सफ़र में यह सुबह-सुबह की नींद सचमुच बड़ी प्यारी होती है।

मन में पाकिस्तान-यात्रा की सफलता की प्रार्थना करते वक्त ये पंक्तियां उभर आईं :

भुखां लै के चलिआं रबा लाहवीं,[1]
आसां दी टहिणी ते फुल खिड़ावीं ।[2]
ग़ैर-मुल्कीए हो गए मेरे वतनी,
होर उन्हां नूँ नां हुण ग़ैर बणावीं।

साढ़े आठ बजे गाड़ी अमृतसर स्टेशन पर पहुंची। मकानों की दीवारों पर उर्दू और गुरुमुखी में अजीब-अजीब विज्ञापन लिखे हुए थे। एक में तो बड़ी ललकार थी, 'ऐनक तोड़ सुरमा'। लाहौर शहर की दीवारों पर पता नहीं कैसे-कैसे विज्ञापन पढ़ने को मिलेंगे? पिछली बार लाहौर का स्टेशन तब देखा था जब दीवारें गिर रही थीं, आग जल रही थी!

गाड़ी रुकते ही थैला लटकाए एक आदमी, जिसका लिबास बनियों-सा और आंखें डाकुओं जैसी थीं, भारतीय पैसे पाकिस्तानी पैसों में बदलने के लिए आ पहुंचा।

सरमायेदारी निज़ाम में हर आदमी की अन्तरात्मा बेईमान हो जाती है। मेरी जेब में कुल मिलाकर ११० रुपये थे। यदि सबके सब बदलवा लूं तो सम्भव है कस्टमवाले मुझे सभी पैसे ले जाने दें। वैसे तो पचहत्तर रुपये ही देश के बाहर ले जाने की आज्ञा है। मैंने सौ का नोट उसे पकड़ाया और अपने लालच की तस्दीक करने के लिए पूछा, "क्या पचहत्तर ही...?"

"हां जी, और हम आपको कौन-से ज़्यादा देंगे।" उसने बात काटते हुए २५ रुपये के भारतीय नोट और शेष धन पाकिस्तानी नोटों में जल्दी-जल्दी गिन दिया और चलता बना। उसकी इस फ़ुर्ती ने मुझे सकते में डाल दिया। न जाने कौन आदमी था कौन नहीं? न जाने असली नोट दिए हैं कि नक़ली? भला मुझे एक अनजान आदमी से सौदा करने की क्या जल्दी थी? अब अगर वह जाली नोट थमा गया हो तो मैं क्या करूंगा? और लाहौर पहुंचकर क्या होगा? बम्बई से चलते वक्त डा० नज़ीर अहमद को, जिन्होंने मुझे पाकिस्तान आने का निमन्त्रण दिया था, तार अवश्य दे दिया था और दिल्ली से चलने से पहले उनका उत्तर भी आ गया था। फिर भी जाते ही उनसे पैसे तो नहीं मांगे जा सकते। क्या मालूम उन्होंने मेरे ठहरने का प्रबन्ध किसी होटल में किया हो? और मुझे खुद पर गुस्सा आने लगा। बेक़ायदा काम करने का मुझे लोभ ही क्यों हुआ? विदेश-यात्रा का इतना अनुभव होते हुए भी मैं कैसे भूल गया कि सरहदी पड़ावों पर कई प्रकार की चार सौ बीसें होती हैं। और चार सौ बीसी करनेवालों को शह ही लोगों के दिलों में छिपे लोभ से मिलती है।...इतने में एक रेलवे कर्मचारी मुझे पहचानकर मेरे पास आ गया। मैंने उससे उस आदमी के बारे में पूछा। उसने बताया कि खास-खास लोगों को ही नक़दी बदलने का ठेका मिला हुआ है, और मैंने कोई नावाजिब बात नहीं की। एक और भ्रम दूर हो गया।

---

१. मिटाना २. खिलाना

प्लेटफ़ार्म पर बहुत-से लोग केले खरीद रहे थे। पाकिस्तान में अच्छी क़िस्म का केला नहीं होता, फिर यहां भाव आठ आने दर्जन है और लाहौर में तीन रुपये दर्जन! मैंने भी पांच दर्जन खरीदकर टोकरी में रखवा लिए। अपने मेज़बान के लिए सौगात का काम देंगे।

डिब्बा बगलवाले प्लेटफ़ार्म पर पाकिस्तान जानेवाली गाड़ी से जोड़ दिया गया। वातावरण फिर कुछ उखड़ा-उखड़ा और बनावटी-बनावटी-सा लगा। सरहदी जगहों पर पुलिस और कस्टम के अफसरों की बहुलता के कारण अचानक ऐसा अनुभव होना स्वाभाविक भी है।

फ़िल्म-अभिनेता होने पर जहां बहुत-सी परेशानियां हैं वहां लाभ भी कम नहीं है। सबसे बड़ा लाभ यह है कि हर कोई मदद बड़े चाव से और बेग़र्ज़ होकर करता है। मुझे खाकी वर्दी वाले अफ़सरों ने बड़े प्रेम से अपने पास बैठा लिया और कहा, "आप अपने सामान की चिन्ता न करें। डिब्बे में ही हम उसकी जांच कर लेंगे।"

डेढ़ घण्टा मैं वहां बैठा रहा और उनका कार्य-प्रणाली देखता रहा। उनका काम बड़ी सिरदर्दी का है और ड्यूटी लम्बी है। पाकिस्तान जानेवाली सवारियां ज़्यादा से ज़्यादा कपड़ा भारत से ले जाने का प्रयत्न करती हैं, क्योंकि यहां से वहां महंगा है।

एक बड़ा बांका मुसलमान युवक मेरे पास बैठे अफ़सर को खुश करने की बड़े चुस्त ढंग से कोशिश कर रहा था। वह सिल्क की नीली कोरी तहमद बांधे है, जिसको वह निश्चय ही पाकिस्तान पहुंचकर बेच देगा। दस-बारह और चादरें उसके सामान में है। अफ़सर ने पांच माफ़ कर दी हैं पर वह तीन और बिना टैक्स दिए ले जाना चाहता है। कभी हाथ जोड़ता है, कभी अफ़सर के पैर दबाने लगता है। मेरठ की तरफ़ का आदमी है शायद। बाल बड़ी अच्छी तरह काढ़े हुए हैं, मुंह में पान, बोस्की की कमीज़, बटन खुले हुए ! उसका व्यवहार एक सुघड़ विदूषक अभिनेता-सा है। आखिर जब उसका सामान पास हो गया तो उसने अपनी जेब से सुगन्धित चुरुटों का पैकेट निकाला और चुरुट बांटने शुरु कर दिए। कोई भी उन्हें, लेने को तैयार नहीं था पर वह ज़बर्दस्ती हम लोगों की ज़ेबों में एक-एक चुरुट छोड़ गया, 'किसी और को पिला देना !' जंगले के पार जाकर उसने अपना सामान गाड़ी में रखवाया और फिर आकर जंगले के पास खड़ा हो गया। उसकी आंखों में अपनेपन की भावना थी, जैसे कह रही हों, 'तुम्हें कैसे समझाऊं कि मैं तुम्हारा अपना ही आदमी हूं। भारतीय होने का मुझे उतना ही अभिमान है जितना तुम्हें। मुझे अपनेसे अलग मत समझो!'

उसका आधा परिवार पाकिस्तान में है और आधा हिन्दुस्तान में। अपने किसी सम्बन्धी के ब्याह में वह कुछ दिनों के लिए लाहौर जा रहा है। अफ़सरों ने मुझे बताया कि इस गाड़ी के यात्रियों में बड़ी संख्या ऐसे ही लोगों की होती है।

गाड़ी छूटी तो मेरी आंखें सरहद की प्रतीक्षा में चौड़ी होने लगीं। एक सिक्योरिटी अफ़सर मेरे साथ आकर बैठ गया था। यह गाड़ी को सरहद तक पहुंचाकर उतर जाएगा। सरहद की दूसरी ओर पाकिस्तानी अफ़सर उसकी जगह ले लेगा।

अटारी स्टेशन पर गाड़ी का ड्राइवर और फ़ायरमैन मुझे लिवाने आ गए। मुझे उनके इंजन में बैठकर सरहद की झांकी देखने का निमन्त्रण दिया गया था। यह कैसी झांकी होगी? क्या दोनों तरफ़ पुलिस और फौज का पहरा होगा? क्या कोई कांटेदार तार बिछाए गए होंगे? ये तार कितनी दूर तक बिछाए गए होंगे? इंजन टांगे में जुते बूढ़े घोड़े की तरह हचकोले खाता चल रहा था। दोनों ओर विशाल मरुस्थल-सा दिखाई पड़ रहा था।...अचानक एक पेड़ के नीचे कुछ सिपाही लेटे हुए आराम करते दिखाई दिए। तभी ड्राइवर ने कहा, "बस जी, यही हद है।" और थोड़ी देर बाद मैं खेतों में मुसलमान किसानों, उनकी औरतों और बच्चों को देख रहा था।

अब मैं पाकिस्तान में था, मुसलमानों के देश में, एक ग़ैरमुल्क में। पर ये मनुष्य तो मैंने पहले भी देखे थे। ये तो मेरे लिए न नये हैं न पराये।... इनमें कौन-सी अनोखी बात देखने की मुझमें इतनी उत्सुकता थी? हां, एक अंतर अवश्य था, कहीं भी कोई सिख-सरदार नज़र नहीं पड़ रहा था।

पाकिस्तान का पहला स्टेशन वाघा आ गया। गाड़ी रुकी। मैं प्लेटफ़ार्म पर उतरा। थोड़ा टहलकर जब अपने डिब्बे की तरफ़ वापस जा रहा था, एक सफ़ेद दाढ़ीवाले वृद्ध यात्री ने खिड़की से लटककर मुझसे हाथ मिलाया, फिर कहा, "बलराज साहनी साहब, चन्द अल्फ़ाज इस नाचीज़ से भी सुनते जाइए। मेरी उम्र के आदमी को फ़िल्में देखने का बहुत कम शौक़ होता है, मगर आपकी फ़िल्में मैं हमेशा देखता हूं, और मुझे आपको देखकर जो मुसर्रत हुई है मैं बयान नहीं कर सकता। आप इन्सानी जज़्बात को हक़ीक़त बनाकर पेश करते हैं। आपकी फ़िल्में अखलाक़ी और तमद्दुनी एतिबार से बहुत बुलन्द होती है। आपसे दरख्वास्त है कि अपने इन्सानी मेयार को कभी मत छोड़िएगा। अल्ला आपको हर नेंमत से माला-माल करे।"

मैं उस वृद्ध की ओर देखता ही रह गया। मेरे मुंह से एक शब्द भी नहीं निकल सका। पर जब अपने डिब्बे में पहुंचा तो मेरे भीतर जज़्बातों का तूफ़ान-सा उमड़ रहा था।

डिब्बे में ठेठ लाहौरी ज़बान बोलनेवाले पाकिस्तानी सिक्योरिटी अफ़सर आ गए थे। गाड़ी में यही एक फ़र्स्ट क्लास का डिब्बा था, इसलिए अफ़सर यहीं आकर बैठते थे। तीस एक साल की उम्र थी, देखने में सुन्दर, गोरे-चिट्टे। उन्होंने मेरा पासपोर्ट देखा और एक फ़ार्म भरने को दिया। उनके अंदाज़ से मुझ साफ़ लग रहा था कि वे मेरे नाम से परिचित हैं, पर इस बात पर विश्वास करना नहीं चाहते। एक बात से मुझे बड़ी ख़ुशी हुई कि उन्होंने मेरे साथ अंग्रेज़ी या उर्दू में बोलने की चेष्टा नहीं की। उनके साथ पंजाबी में बातचीत करके मुझे बड़ा आनन्द आ रहा था, और परदेसी होने का एहसास घटता जा रहा था।

"लाहौर में आप कहां ठहरेंगे?" उन्होंने पूछा।

मैंने बड़े शौक़ से उनको अपनी जेब के एक तार निकालकर दिखाया जो मुझे अमृतसर से चलने के कुछ देर पूर्व मिला था, और जिसने मेरी सारी चिन्ताएं दूर कर दी थीं।

"कृपा करके हिन्दुस्तानी मुसाफ़िर बलराज साहनी से मिलिए और उनसे कहिए कि वे गवर्नमेंट कॉलेज, लाहौर के प्रिंसिपल के यहां ठहरेंगे।- डा० नज़ीर अहमद"

२

गाड़ी रुकी तो उतरने से पहले मैंने खिड़की में से झांककर लाहौर स्टेशन की बुर्जियों की ओर देखा। मुझे लाहौर कभी भी ज़्यादा याद नहीं आता था। अधिकतर रावलपिंडी के लिए ही जी तड़पता था। इसके कई कारण थे। एक तो मैं बचपन से वहां के पहाड़ देखने का आदी था। जब पिंडी छोड़कर गवर्नमेंट कॉलेज, लाहौर के न्यू होस्टल में पहुंचा तो उसकी छत पर से किसी ओर भी कोई पर्वत-श्रृंखला न देखकर मुझे ऐसा लगा था जैसे प्रकृति के किसी बहुत बड़े नियम का उल्लंघन हो गया हो।

फिर पिंडी एक छोटा शहर था। वहां अंग्रेज़ी राज्य की कुटिलनीतियां लोक-जीवन पर पूरी तरह से हावी नहीं हुई थीं। मुहल्लेदारियां और बिरादरी के मेल-मिलाप प्रचलित थे, दोस्तियों में स्निग्धता और मिठास थी। शराफ़त की क़द्र की जार्ता थी। फ़िरक़ापरस्ती का ज़हरीला पौधा अवश्य बढ़ रहा था पर मज़बूत अभी नहीं हो सका था। पर लाहौर केन्द्रीय शहर होने के कारण नये .फैशन की 'सभ्यता' के रंग में रंग चुका था। यहां पैसे और असर-रसूख के आदर्शों ने पुराने ढंग के रिवाज एकदम खत्म कर दिए थे। जैसे भी हो आगे बढ़ने के लिए हर प्रकार के हीले, अच्छे या बुरे, जायज प्रमाणित किए जा चुके थे। और इसीलिए मैं लाहौर को कभी भी अपना नहीं कह सका। पर आज लाहौर स्टेशन के बुर्ज देखकर पता नहीं मुझे क्या हो गया। ऐसा लगा जैसे उनके लिए मेरी आत्मा युग-युग से तरस रही थी। भीतर के किसी ढंके सोते में से प्यार और आदर फ़ूट पड़ा। फ़ुटबोर्ड से नीचे पैर रखंने से पहले मैंने हाथ से धरती को प्रणाम किया।

डा०नजीर अहनद (गवर्नमेंट कालेज, लाहौर के प्रिंसिपल) मुझे लेने के लिए यूनिवर्सिटी की एक आवश्यक मीटिंग से उठकर आ गए थे। उनके रसूख ने कस्टम, पासपोर्ट की कठिन घाटियां मिनिटों में पार करवा दी; यही नहीं अफसरों ने बड़े आदर से मुझे चाय भी पिलाई। डा० नजीर अहमद बड़े संतुष्ट थे कि उनके पाहुन को सामान बगैरा खोलने का कष्ट नहीं उठाना पड़ा, पर मैं इस उतावली से ज़रा भी सन्तुष्ट नहीं था। मेरा दिल एक बार फिर प्लेटफ़ार्म पर जाकर घूमने को मचल रहा था।

शाम के चार बजे है। मैं काफ़ी देर तक सो चुका हूं। बदन में ताज़गी .आ गई है। जी चाहता है अभी सड़कों पर निकल पड़ूं। गवर्नमेंट कॉलेज के टावर की वही पुरानी घड़ी टन-टन करती है। शायद ग्यारह बजाए हैं उसने। वही पुरानी बेपरवाही उसकी, जिसके बारे में तरह-तरह के लतीफ़े गढ़े जाते थे। अजीब-सी झनझनाहट होती है उसकी टन-टन सुनकर। कोई भी याद स्पष्ट नहीं हो रही थी- केवल एक गहरा एहसास, एक सांत्वना-सी, जैसे तेज़ कड़कड़ाती धूप से दूर-दूर तक उड़ाने भरकर लौटा हुआ भूखा-प्यासा पक्षी घोंसले का आनन्द ले रहा हो। दूर से टांगों की घंटियां, कॉलेज के सामने फल बेचनेवालों की आवाज़ें।...

जिस बंगले में मैं ठहरा था, पुराने वक्तों में वह जी०डी०सौंधी साहब की रिहाइशगाह थी। वही हल्की-हल्की रोशनीवाले ठण्डे ठण्डे कमरे, जालीदार और दरवाज़े ग़ुसलखाने में तौलिया फैलाने-वाला रैक। यह सब कुछ 'भवानी जंक्शन' फ़िल्म में बड़ी यथार्थता पूर्वक दिखलाया गया था। वैसे फ़िल्म बड़ी घटिया थी, फिर भी बम्बई के सिनेमा हॉल में बैठा-बैठा आज से दस साल पहले, मैं लाहौर के लिए तड़प उठा था।

हमारे समय में इन बंगलों में घुसते हुए टांगे कांपने लगती थीं। प्रोफ़ेसरों का बड़ा धमाकेदार 'अंग्रेज़ी-डर' होता था। पर आजकल यह बात नहीं रही। बाहर से घण्टी बजते ही डा० नज़ीर अहमद खुद दौड़कर बाहर जाते हैं, कोई दरबान नहीं है, कोई वरदीवाला पहरेदार नहीं है। नज़ीर साहब ने मुझे अपना सोनेवाला कमरा दे दिया है। उसमें कपड़ों की आलमारी न होने का उन्हें खेद था। कहने लगे, "यार, मेरे पास वार्डरोब नहीं है, तुम्हें तकलीफ़ होगी। दरअसल मेरे पास इतने कपड़े ही नहीं है। अगर तुझे ज़रूरत हो तो तकल्लुफ़ मत करना मैं मंगवा दूंगा।" कितना अच्छा लगा था मुझे यह सुनकर। मैं कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था कि गवर्नमेंट कालेज, लाहौर का प्रिंसपल ऐसा भी हो सकता है।

डा० नज़ीर कमरे में आए और कहा, "आओ, बाहर लॉन में बैठ के चाय पिएं।" उनके कहने के अन्दाज़ में कोई विशेषता नहीं है, फिर भी ऐसा लगा जैसे मेरी इच्छाओं को मेरे बिना कहे ही समझते हों। और शायद इसीलिए चाय के बाद मुझे मोटर में बिठाकर घुमाने निकल पड़े। ज़िला कचहरीवाले मोड़ पर से हम रावी रोड पर मुड़े। गवर्नमेंट कॉलेज के फाटक के पास एक मील-पत्थर हुआ करता था। न्यू होस्टल के सड़क पार करके कॉलेज जाते हुए मैं अकसर उस पर निगाह फेंककर जाया करता था 'रावलपिंडी- १७८ मील, गुजरांवाला- ३६ मील, जेहलम-११८मील...' अब इस मील के पत्थर का शरीर बढ़कर चौगुना हो गया है, और उसपर कितनी ही और दूरियों का विवरण लिखा हुआ है: 'कराची-८६७ मील, मुलतान- २६३...।' यह निकल गई सेंट्रल ट्रेनिंग कॉलेज की ओर जानेवाली सड़क ! इसी ओर रैटीगन रोड और मेरे फूफाजी का घर था। उनके पास ही प्रोफेसर रुचिराम रहते थे। शायद पारसियों का एक मन्दिर भी था, जिसके बगल की गली में से होकर प्रोफ़ेसर गुलबहारसिंह और प्रोफ़ेसर मदनगोपालसिंह के यहां जाया करते थे। यह भाटी की ओर से आनेवाली सड़क मिल गई। यह 'गुरुदत्त भवन' आ गया। देखूं तो सही, अब यहां क्या बोर्ड लगा है?...ड्राइवर मोटर इतनी तेज़ क्यों भगाए लिए जा रहा है?

कॉलेज के ज़माने में रावी रोड की सैर साइकिल या टांगे पर किया करते थे। आज यह मोटर बेरहमी से दिमाग में जुगराफ़िया बदलती जा रही है। जो स्थान मेरी कल्पना में दूर-दूर थे अब वे चप्पे-चप्पे के अन्दर पर आ गए थे। पलक झपकने में जामा मस्जिद के आलीशान गुम्वद दिख गए फिर मिंटो पार्क-इसे अब मुहम्मद-इक़बाल पार्क कहते हैं। लाहौर की तस्वीर एकदम सरल और संक्षिप्त हो गई है। गोल बाग़ की गोलाई बड़े नुमाइशी ढंग से शहर के गिर्द घूम रही थी। गुरु अर्जुनदेव की समाधि, महाराजा रणजीत सिंह की समाधि, पुराना क़िला, सारे स्थानों के चित्र फिर से दिमाग़ में जड़े। भला विद्यार्थी-जीवन में इस ओर आता ही कब था? तब मैं साहब बहादुर था। गोरों की तरह सोला हैट लगाए माल रोड और मैक्लोड रोड को ही नापा करता था। बहुत हुआ तो कभी निसबत रोड का राउंड मार लिया। पर अब के एकदम देशी आदमी बनकर लाहौर की गलियों के चक्कर लगाऊंगा!...शहर की फ़सील में ऊंची-सी ढकी पर एक पुराना दरवाज़ा दिखाई पड़ा (नाम भूल गया !...क़ावली दरवाज़ा?) मुझे शहर की ओर ललचाई नज़रें फेंकते देखकर डा० नज़ीर ने तज़वीज़ पेश की कि इस दरवाज़े के पीछे एक तंग गली में, उनका पुश्तैनी मकान है, चलकर एक रात वहां रहा जाए। कितना खुश हुआ मैं इस बात पर! पाकिस्तान आने का सबसे बड़ा लोभ ही मुझे यही था। (जी भरकर) अपनी

पंजाबी बोली सुनना-माझी, लहिंदी, पोठोहारी, मेरी अपनी मातृ-बोलियां जिनसे मैंने अपनी आयु का इतना बड़ा भाग विमुख रहकर बिता दिया था। कितना बड़ा गुनाह किया था मैंने। पर फिर भी उन्होंने मुझे नहीं विसराया। मुझे पछताते और अपनी ओर लौट के आते देखकर उन्होंने बांहें फैलाकर मुझे गले से लगा लिया। मुट्ठियां भर-भर के अनमोल रत्न मेरी जेबों में भरने शुरू कर दिए, जैसे बचपन में मेरी मां रेवड़ियों, पिन्नियों और चिलगोज़ों से मेरी जेबें भरा करती थीं। कितनी प्यारी है लाहौर-वालों की बोली। यहां यह इतनी ताज़ी और निखरी-निखरी-सी लगती है, जैसे खेतों में लहलहाती सुनहरी सरसों, जैसे झरनों से बहता पानी! बम्बई में मेरे अनेकों मित्र यही बोली बोलते हैं, पर वहां यह कानों को कुछ बासी-बासी-सी लगती है।

तागांनुमा रेहड़ियों में बांके घोड़े जोतकर शाम को सैर के लिए निकलना छैलों का खास शौक़ है। मलमल का सफ़ेद कुर्ता या फ़तूई, तहमद और हाथों में फूलों के गजरे। कितने हसीन गोरे-गोरे और शोहदे-शोहदे-से चेहरे हैं इनके। यूं पलक झपकने में निकल जाते हैं। (दोस्त की मोटर है नहीं तो अभी गाली दे देता!) वह निकल गया ! कितना खूबसूरत जवान था ! इतना खूबसूरत आदमी तो दुनिया में कम ही देखने को मिलेगा।

वारिसशाह की बात याद आ गई :

नाज़ां पालिआ दुध मलाइआं वे ।१...

मन ने पलटा खाया, 'छोड़ भी यार, ये तो मुसलमान हैं, ग़ैरमुल्की हैं! कितने हिन्दू मार चुके हैं, कितना आग लगाई हैं, कितनी औरतों की आबरू लूटी है, कैसे भूल गया वे सब बातें?...'

अच्छा, ठीक है ! अब मैं इनको ग़ैर समझ के ही देखूंगा...पर हाय, करूं तो क्या करूं? ये फिर भी मुसलमान नहीं दिखते, ग़ैर नहीं लगते- जो कुकर्म जिसने किए हैं स्वयं ही उनका हिसाब देगा, मुझे तो किसीने न्यायाधीश नहीं बनाया?

बाग़वानपुरे में अच्छी-खासी नई आबादी है। बढ़िया-बढ़िया और पक्के-पक्के बंगले हैं, आवागमन भी बहुत है। पर पुराने डिज़ाइन के लाहौरी तांगे नज़र नहीं आ रहे। ड्राइवर ने बताया कि अब हर डगह पेशावरी तांगों का चलन हो गया है। पिंडी में केवल तीन सवारियां बैठती थीं, यहां अब भी चार ही का दस्तूर है। हम पिंडी वाले लाहौरी टांगों को 'ढ़िचकू-ढ़िचकू' कहकर मज़ाक़ किया करते थे। आखिर पिंडी की जीत हुई न ! बड़ी खुशी हुई सोच के। पर दूसरे दिन फिर मन में वही विचार उठ पड़ें...'पिंडी और लाहौर से तुझे क्या लेना? ख्वाहमखा पराई छाछ पर मूछें मुंड़वा रहा है।'

'चलो जी, मैं बेगाना तो बेगाना सही। पर पिंडी और लाहौर को यहां, के तांगों को जी भर के देखने की तो छूट है न मुझे! सदा सलामत रहें ये। इन्हें कभी गर्म हवा न लगे। इनकी मुरादें पूरी हों। इनके बच्चे जिएं...'

यह सिख नेशनल कॉलेज की इमारत थी। इस हिसाब से वह नई नहर की तरफ़ से आनेवाली सड़क...हां, ठीक ही तो है...यहीं पास में पीर मियां मीर का मज़ार है, जिसने अमृतसर में सिखों के सोने के हरि-मन्दिर की नींव का पत्थर रखा था। दाराशिकोह का गुरू था वह। दाराशिकोह, जिसने उपनिषदों के अनुवाद फ़ारसी में करवाए थे। पर अब ऐसी ऐतिहासिक घटनाओं का कोई अर्थ नहीं निकलता...

१. दूध-मलाई और नाज़ों से पाला है।

शालीमार बाग़ जा पहुंचे, जहां पच्चीस साल पहले मैंने सिगरेट पी थी, और खांसते-खांसते मेरा बुरा हाल हो गया था। मैं और मेरा एक प्यारा दोस्त साइकिलों पर सवार होते और यूंही बेमतलब शालीमार की ओर निकल पड़ते थे। दिल में कुछ इस तरह की दबी-दबी आशाएं हुआ करती थीं कि आज ज़रूर कोई हसीना मिलेगी, मेरी ओर मद-भरी नज़रों से देखेगी, फिर हमारी दोस्ती हो जाएगी और जीवन में कोई उन्माद-भरी लहर आएगी। पर शाम तक हमारे सारे महल ढह जाते थे। सिवाय बेमतलब चक्कर लगाने के, फटी-फटी नज़रों से चारों ओर देखने के, और सिगरेट फूंक-फूंककर जंटलमैनी दिखाने के लिए और कुछ हाथ नहीं लगता था। हां, बारह मील साइकिल पर पैर मारने से भूख ज़रूर तेज़ हो जाती थी, जिसे शांत करने के लिए कभी 'स्टिफ़ल्ज़' और क़भी 'लॉरेंग' जा पहुंचते थे। वहां पहुंचते-पहुंचते सोई हुई हसरतों के नाग़ पर फिर चौक पड़ते थे। शायद रेस्तरां में ही कोई सुन्दरी प्रतीक्षा कर रही हो!

भविष्य का सूर्य अब अतीत के पहाड़ों के पीछे जा छुपा था। केवल धीरे-धीरे फीकी पड़ती जा रही यादों की लाली आकाश में रह गई थी। कर लिए रोमांस जितने करने थे, खेल लिए जितने खेल खेलने थे। अब तो वह जो किसीने कहा-

बाज़ीचा-ए अतफ़ाल है दुनिया मेरे आगे,
होता है शबो-रोज़ तमाशा मेरे आगे।

डाक्टर नज़ीर अहमद ने मुझे मेरे ख़्याल पर छोड़ दिया है। चाय मंगाते हैं। चुपचाप सरू के एक पेड़ के नीचे घास पर बैठकर चुस्की लेते हैं। शाम की खामोशी की आवाज़ें सुनते हैं। रह-रहकर बीती बातें फुलझड़ियों की तरह छूट-छूट पड़ती हैं, जैसे आज यहां चिराग़ों का मेला लगा हो।...आखिर प्यार हुआ भी तो था एक लड़की से, सारी उम्र एक उसीके नाम की ही माला जपी थी। उस मेहराबदार दरवाज़े के दोनों ओर बने और छोटे-छोटे चबूतरों पर खड़े होकर हमने बारी-बारी से एक-दूसरे के फ़ोटो खींचे थे...उसके सारे परिवार को शालीमार की पिकनिक के लिए किस तरह एड़ी से चोटी तक का ज़ोर लगाकर प्रेरित करता था...कितने निवेदन...कितनी राजनीति...कितनी मिन्नतें...

पूरे जोश-ख़रोश से इसी दरवाज़े में से होकर कभी गांव के लोग चिराग़ों के मेले की रौनक़ देखने आते होंगे। वहां, उस जगह पर बादशाह बैठता होगा। तालाब के दोनों किनारों पर बनी बारहदरियों में से चिराग़ों और फ़व्वारों की झिलमिल में अपने ज़रीं लिबासों को ग़लतान करते हुए गीतकार, नर्तक और नर्तकियां चलकर हुजूर के रूबरू पेश होते होंगे और अपनी कलाएं दिखाते होंगे...!

फिर मन में वही बेतुके विचार सिर उठाने लगे। लाहौरवाला शाहजहां वास्तव में पाकिस्तानी था, आगरेवाला शाहजहां हिन्दुस्तानी था...पर नहीं। बार-बार ऐसी कसक और टीसें नहीं उठने देना चाहिए। राजनीति के दांव-पेचों से मेरा क्या वास्ता? मैं एक मेहमान हूं, डाक्टर नज़ीर मेरे मेज़बान हैं। इस प्रकार के प्रश्न दिल में उठाना ही शिष्टता से बाहर की बात है। यह चाहे कितना भी मुझे प्यारा क्यों न हो, फिर भी अब यह शालीमार पराया है। इस हिसाब से डाक्टर नज़ीर भी पराये हैं। पर क्यों बार-बार उनसे पूछने को जी चाहता है, 'नज़ीर साहब, आपकी और मेरी मुलाक़ात बहुत पुरानी नहीं। पिछले साल

जब आप बम्बई आए थे तभी तो पहली बार आपसे मिला था। फिर आपके पास बैठकर मुझे इतना सुकून, क्यों मिलता है, जो बम्बई में मेरे लिए नायाब है ?' अभी नहीं, पर पूछूंगा अवश्य। डाक्टर नज़ीर निस्संदेह एक असाधारण व्यक्ति हैं।

फिर बाहर आकर मोटर में बैठते समय एक अधेड़-सी भिखारन, उंगली पकड़े एक आठ वर्ष की बच्ची, काफ़ी मैले, फटे-पुराने कपड़े, हाथ फैलाकर गिड़गिड़ाई, ''भइया जीते रहो, कभी तत्ती हवी न लगे। अल्लाह तेरी मुरादें पूरी करे, इक़बाल बढ़ाए, तेरे बच्चे जिएं...''

यह कमबख्त आंखें क्यों चू-चू पड़ती है। यह औरत मेरी क्या लगती है? यह पाकिस्तानी, मैं हिन्दुस्तानी...

लाहौर, ११ अक्टूबर, १६६२

रात को बड़ी उमंग से निश्चय करके सोया था कि सवेरे मुंह-अंधेरे लम्बी सैर पर निकल जाऊंगा। पर समय आने पर जोश ठण्डा पड़ चुका था। बिस्तर में लेटे-लेटे विचार आने लगे, 'जिस देश के अस्तित्व का आधार फ़िरक़ापरस्ती हो, उस देश में इन्सान खुलके कैसे सांस ले सकता है, विशेषकर जब वह पसंदीदां फ़िरक़े का आदमी न हो? फ़िरक़ापरस्ती से कितनी घृणा की जाती थी, कितना उसके परिणामों से डर लगता था, पर आखीर में वह यहां एक तस्लीमशुदा और क़ानून के द्वारा नवाज़ी गई वास्तविकता बन गई। अगर भारत केवल हिन्दुओं का देश मान लिया जाए, हर समय मन्दिरों में घण्टे टनटनाएं और घूर-घूरकर जनेऊओं और बोदियों (चोटियों) की गणना होने लगे तो क्या वह रहने योग्य देश रह जाएगा?'

फिर मन में प्रश्न उठा, 'क्या अब तक भारत को हम सही अर्थों में धर्मनिरपेक्ष गणराज्य बना सके हैं? चाहे धार्मिक रुचियों का व्यक्ति न सही, फिर भी बहुसंख्यावाले फ़िरक़े का जीव हूं। मुझे क्या मालूम कि अल्पसंख्यक फ़िरक़े स्वयं को हिन्दुओं के समान सुरक्षित और स्वतन्त्र अनुभव करते हैं या नहीं ? कभी मैंने इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक जांच-पड़ताल की है? कभी मैंने जानने का प्रयत्न किया है कि मुसलमान जनता कैसे रहती है, उसके दृष्टिकोण क्या हैं? कुरान शरीफ़ का अध्ययन भी मैंने बम्बई से चलने के कुछ दिन पहले किया था, वह भी शायद सुरक्षा की ग़रज़ से विवश होकर। पर उससे मेरे मन के कितने भ्रम दूर हो गए थे, हज़रत मुहम्मद की ज़ात और उनकी शिक्षा के लिए दिल में कितना आदर उत्पन्न हुआ था?'

परन्तु अभी भी मुझमें कितनी अज्ञानता, कितनी संकीर्णता है। इसे दूर करने के लिए हम लोग क्या करते हैं? क्या अभी भी हमारे देश में अछूतों के साथ पशुओं जैसा व्यवहार नहीं किया जाता? हो सकता है, हिन्दुओं के चले जाने से पाकिस्तान के मुसलमानों ने शुक्र किया हो। उनकी कोई भी तो बात हिन्दुओं को अच्छी नहीं लगती थी। हर समय हिन्दुओं की भेदती नज़रें उन्हें चुभती रहती थीं, उनके स्वाभिमान को डसती रहती थीं...

पर दूसरी ओर यह भी तो मानना पड़ेगा कि भारत का विधान न्यायपूर्ण है, प्रगतिशील है। वहां क़ानूनी तौर पर तो एक फ़िरक़े को मान्यता प्राप्त नहीं है, चाहे भीतर कितनी ही बुराइयां मौजूद हों। वहां कभी न कभी अज्ञानता दूर होने की, दिलों के साफ़ होने की आशा तो की जा सकती है! पर पाकिस्तान का विधान ही जब...?

रात लाहौरी दरवाज़े से फुलाह की दांतनें खरीदी थीं। उनकी तरफ़ ध्यान जाते ही फिर उत्सुकता हुई कि देखूं तो सही पिंडी की फुलाह से टक्कर लेती हैं कि नहीं? फुलेरियां की दुकान के पास धरती पर बैठे हुए एक आदमी ने कैसी सुरीली हांक लगाई थी, "ओए भलवा...नं....अं! बाबू जी को फुलाह की गड्डी निकाल दे ज़रा!"

अंगीठी से दांतन उठाके गुसलखाने में चला गया। और फिर नहा-धोकर और कैमरा कन्धे से लटकाकर बाहर निकल पड़ा।

अपने पुराने न्यू होस्टल के आगे से निकला। रूक जाऊं थोड़ी देर ? फ़ोटो खींच लूं? नहीं, नहीं कहीं कोई देखकर खाहमखा शक करने लगा तो? मेरा कौन रक्षक है यहां? सच, कितना डरपोक हूं मैं! यह तो मेरा अपना होस्टल है जो मेरी ही तरह थका-थका और पुराना-पुराना-सा हो गया है। समय ने इसे भी मेरी तरह अधेड़ कर दिया है। अफ़सोस की जगह तसल्ली हुई देखकर।

होस्टल के सामनेवाला थाना भी मौजूद था। इसके हाते में थकान मिटाने के लिए किसी-किसी रात सिपाही अपने गांव के माहिये और ढोले गाने लगते थे, जो हम अंग्रेज़ी संगीत के उपासक विद्यार्थियों के लिए 'भैंसों के डकराने' के समान था। हम चिल्ला-चिल्लाकर उन्हें 'शट अप' असभ्य-सी नक़लें करके उन्हें चिढ़ाते और हर संभव तरीके से उनका मज़ा किरकिरा करके प्रसन्न होते थे।

थाने से लगी ट्रेनिंग कॉलेज की ओर जानेवाली गली में से होकर मैं अपनी बुआ के घर जाया करता था। आज भी उधर से निकला, पर सहमता-सहमता कि कहीं मेरी चाल-ढाल में हिन्दुओंवाली विशेषता न प्रकट हो जाए! पर गली की ग़रीबनी-सी वसों (आबादी) को, जो सिर पर बिना बुलाए आ खड़ी सुबह के स्वागत में डरे हुए घोंघे की तरह धीरे-धीरे सींग बाहार निकाल रही थी, मेरी और आंख उठाकर देखने की भी फ़ुर्सत नहीं थी। मोड़ पर हलवाई की दुकान, जहां सोडावाटर, सिगरेट, पान और अखबार आदि भी बिका करते थे, बिलकुल उसी तरह विद्यमान थी। जिस पटरे पर से हिन्दू हलवाई उठकर चला गया था उसीपर मुसलमान हलवाई आ बैठा था- बस इतना ही अन्तर था। यह शायद 'उधर' के किसी पटरे से उठकर आ गया होगा! मुसलमान को हलवाई के रूप में देखना बड़ा अजीब लगता था।

पारसी प्रार्थना-भवन के सामने मेरी बुआ का घर भी बिलकुल उसी तरह खड़ा था। उसकी शक्ल-सूरत मुझे चुपचाप पहचानने और अपनी परवशता जताने लग गई। फ़ोटों खींचकर उसकी भावनाओं का निरादर करना मुझे उचित नहीं लगा। उसके आगे प्रोफ़ेसर रुचिराम की कोठी देखी। वहां मेरी छोटी बुआ रहा करती थी। आजकल वह देहरादून में है। आज उसकी कोठी तो देख ली, पर बंटवारे के बाद उससे मिलने का अवसर अभी तक नसीव नही हुआ। इन कोठियों के पास से एक गली मवेशी अस्पतालवाली सड़क को जाती है। इस गली में मेरे संस्कृत के प्रोफ़ेसर गुलबहारसिंह जी का घर था, जो मुझे बड़ा प्यार करते थे। मवेशी अस्पतालवाली सड़क पर पहुंचकर अंग्रेज़ी के हरमन प्यारे प्रोफ़ेसर मदनगोपाल सिंह की कोठी देखी, जिसके माथे पर 'ॐ' वैसे का वैसा ही बना हुआ था। वे स्वयं बंटवारे के उत्पात में मारे गए थे।

यह परिक्रमा पूरा करके फिर वापस कचहरी रोड पर आ गया। डी०ए०वी० कॉलेज के फाटक पर अब 'इस्लामिया कॉलेज' का बोर्ड लगा हुआ है, पर इमारत की मेहराब पर नागरी लिपि में 'दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज' जैसा का तैसा लिखा है। डी०ए०वी० कॉलेज के होस्टल के सामने से गोल बाग़ पार करके सांदा रोड पर चल दिया। रास्ते में जगह-जगह एक सनसनीखेज़ सुरख़ीवाला विज्ञापन लगा हुआ था।

'क्या आप चाहते हैं कि हिन्दुस्तानी हमारी बहू-बेटियों को उठाकर ले जाएं?'

हो सकता है कि किसी राजनीतिक पार्टी का हथकंडा हो, या अमृतसर की तरह यहां के किसी हकीम ने भी 'ऐनक तोड़' क़िस्म का सुरमा तैयार किया हो! ठीक ही तो है। अगर निगाह अच्छी होगी तो बहू-बेटियों की रखवाली अच्छी तरह हो सकेगी, फिर वे भारतीयों के हाथों हरण किए जाने के ख़तरे से बच जाएंगी। वर्तमान युग की सभ्यता में हर वस्तु विज्ञापन पर निर्भर होती जा रही है। बहरहाल पूरा विज्ञापन पढ़ने की मुझे कोई उत्सुकता नहीं हुई।

तभी सामने से एक पागल आता दिखाई दिया जो नेताओं की तरह सिर हिला-हिलाकर शरअ और हदीस के नुक्ते बयान कर रहा था।

यूनिवर्सिटी ग्राउंड के किनारे-किनारे चलता हुआ और पेड़ों की जानी-पहचानी छांव का आनन्द प्राप्त करता हुआ मैं चबुर्जी जा पहुंचा।

किनर्ड कॉलेज के पास एक कोठी में कभी मैं पूरा एक वर्ष तम्बू लगाकार रहा था-न्यू होस्टल से निकाल दिए जाने पर। निकाले जाने के कारणों में से एक यह था- डारमिट्रिओं में टेनिस खेलना और शीशे तोड़ना। कोठी मेरे एक प्रिय सहपाठी की थी। उसके पिता बड़े उदार और बारसूख व्यक्ति थे। कोठी के एक खाली कोने में तम्बू लगाने की आज्ञा आसानी से मिल गई। पर वह सौदा मेरे मित्र के पिता को महंगा पड़ा। जब भी वह घर में कोई बड़ी पार्टी करते, उस तम्बू में कालेज के लड़कों की पार्टी मुफ़्त में ही हो जाती।

कोठी के फाटक पर खड़े होकर मैं खाली पड़ी जगह को देख-देखकर उन रंगीले दिनों की याद करने लगा। कभी-कभी छुट्टीवाले दिन कोठी के अहाते में क्रिकेट भी खेलते थे। बैटसमैन का जो शॉट गेंद को उछालकर मेरे तम्बू पर फेंक दे उसे छक्का समझा जाता था। और हर छक्के पर गर्द की एक मोटी तह तम्बू के भीतर पड़े सामान पर जम जाती थी, पर नाराज़ होने के स्थान पर मैं इसे खेल का एक करामाती अंग समझता था।

अगले चौराहे पर पहुंच के समझ में न आया कि अब आगे क्या करूं। समय बिताने के लिए विदेशी यात्रियों की तरह चबुर्जी को भीतर-बाहर से बड़े ग़ौर से देखने लगा, हालांकि देखनेवाली कोई वस्तु वहां नहीं थी। फिर एक तांगेवाले को 'मुज़ंग-मुज़ंग' पुकारते सुनकर उसके तांगे पर जा बैठा। धूप तेज़ हो गई थी। आवागमन काफ़ी बढ़ गया था। एक बस स्टॉप पर काले बुर्क़े पहने खड़ी कॉलेजिएट लड़कियों का पंछियों-सा झुंड था। ऐसे झुंड कल भी मैंने कई जगह देखे थे। माना कि बुर्क़ापोशी पिछड़ी हुई चीज़ है, पर लड़कियों में शिक्षा तो उनकी भी आम हो गई लगती है जितनी किसी और देश में। फिर वह बुर्क़ा पुराने ज़माने का तंबूनुमा बुर्क़ा नहीं है। यह हुस्न को छिपाता है या और भी निखारता है- सोचनेवाली बात है!

तांगेवाला किस-किस सड़क से होकर 'मुज़ंग' जाएगा, यह नक्शा ध्यान में नहीं आ रहा था। पर मुझे लगा कि इधर से एक सड़क बाहर ही बाहर लारेंस गार्डन की ओर जाती थी। मनुष्य का जीवन दरअसल एक जीवन नहीं है, वह अनेक पड़ावों पर पूर्ण किए अनेक जीवनों का एक समूह है। और मैंने अपने एक जीवन की शुरुआत इसी लारेंस गार्डन की ओर जानेवाली सड़क पर की थी...

ऐसी ही एक सुबह थी। मैं और मेरी प्रेयसी अपने घर से सैर का बहाना करके निकल पड़े थे और भटकते-भटकते उस सड़क पर आ निकले थे। उस दिन हाथ में हाथ नहीं थे, होंठों की खुश्की और परिस्थितियों की कटुताओं के कारण आपस में बात करना भी दूभर हो गया था। मैंने प्रस्ताव रखा था कि कहीं भाग चलने की योजना बनाये और उसने उत्तर दिया था योजना बनाने की जरूरत नहीं है, अगर भागना है तो इसी वक्त भाग चलो एक बार घर पहुंच कर मुझसे कहीं नहीं जाया जाएगा।" पर मुझे बिना तैयारी के भागना असम्भव-सा दिखता था। और उसने पूछा था, " कैसी तैयारी? किस क़िस्म की तैयारी?"

आज पच्चीस वर्ष बाद पीछे दृष्टिपात करने पर मुझे अपनी मूर्खता और उसकी चतुरता पर आश्चर्य होता है। वह बालिका, जिसने मेरी एम०ए० की डिग्री के मुकाबले में केवल मैट्रिक पास किया था, पता नहीं कहां से जान गई थी कि जहां जान की बाज़ी लगानी हो वहां योजना बनाने के सहारे ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती। हमारे प्रेम के स्वप्न-महल के बाहर चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा था। जीवन का न मुझे कोई अनुभव था, न उसे, फिर भी अंधेरे में छलांग लगाने का उसे डर नहीं था और मैं झिझक रहा था। शायद वह जान गई थी कि योजना की बातें करके वास्तव में मैं अपनी कायरता छिपा रहा था।

बड़ी भयानक दशा थी हमारी, और उसीके अनुकूल वह सड़क भी बड़ी भयानक थी, जैसे संकेतों ही संकेतों में होनी ही झलक दिखा रही हो। हर तरफ क़ब्रिस्तान, खानक़ाहें और खंडहर, अशुभ पेड़ों पर बैठे गिद्धों की क़तारें, सूलों ऐसी तीखी और मरे हुए पशुओं के जबड़ों जैसी चमकती कीकर की कांटेदार बाड़ें!...

मैंने देखा तांगेवाला उसी सड़क पर निकल आया है। मैंने तुरन्त उसे रोका, "नहीं भाई, इस सड़क से नहीं, किसी और तरफ़ से चल!"

"जी, वह आगे हम बायें हाथ को घूम जाएंगे, इस सड़क से हमें क्या लेना है?"

वैसी की वैसी ही वीरान पड़ी थी वह सड़क। ज़रा भी नहीं बदली थी। हां, क़ब्रिस्तानों में मेरे जीवन की कब्र जरूर जुड़ गई थी!

झंग, १२ अक्टूबर, १९६२

मघिआणा गेस्ट हाउस के बरामदे में कुर्सी डाल के बैठा मैं डायरी के पन्ने पूरे कर रहा हूं। सामने बेरी का पेड़ है, जिसके नीचे एक तांगा और नंगे पैर ज़मीन पर बैठकर घोड़ी को चारा खिलाता हुआ तांगेवाला मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। लिखते-लिखते बार-बार मेरी दृष्टि उनकी ओर उठ जाती है। जीवन में पहली बार मैं झंग आया हूं। बस के अड्डे से यहां आए अभी एक घण्टा भी नहीं हुआ है। अड्डा भी शहर से बाहर है, और यह गेस्ट हाउस भी। मतलब यह कि अभी मैंने शहर का मुंह भी नहीं देखा है, और न ही मेरी किसी से जान-पहचान ही हुई है। फिर भी अजीब-सा सुकून दिल को महसूस हो रहा है, जैसे दूर-दराज़ के सफ़र के बाद मैं अपने घर लौट आया होऊं।

भारत का मैं चप्पा-चप्पा छान चुका हूं, बड़े चाव और उमंगों से। पर हर नये शहर में पहुंचकर पहले एक-दो दिन ज़रूर बेगानापन महसूस करता हूं। लेकिन न जाने क्यों यहां वैसा नहीं लग रहा। गेस्ट हाउस मुझे अपना घर-सा लग रहा है। पहुंचते ही बड़े इतमीनान से नहाया-धोया, डटकर नाश्ता किया। फिर डायरी लिखने बैठ गया। जैसे किसी बात की भी जल्दी न हो, दिमाग़ की सारी बेचैनियां खत्म हो गई हों। क्यों न हो। मेरे बाप-दादों का देश, जहां मैं बचपन में खेला हूं, यहां से सिर्फ़ उतनी ही दूर रह गया है जितना बम्बई से पूना। यह बेरी गवाह है, हरे कचंग तोते गवाह है, धरती, आकाश, और हवा गवाह है।

सुबह छः बडे डा० नज़ीर अहमद के साथ मोटर में बैठकर लाहौर से चला था। उन्हें लायलपुर एग्रीकल्चरल कॉलेज के लड़कों की परीक्षा लेने जाना था। लाहौर में अभी वहुत कुछ देखना था। अनगिनत मित्रों से मिलना-मिलाना था। केवल डेढ़ दिन ही तो वहां बिताया था, पर मोटर पर इतनी लम्बी सैर का मोह मैं न छोड़ सका। मन को यह कहकर दिलासा दे लिया कि झंग, भेरा, पिंडी आदि की यात्रा समाप्त करके पाकिस्तान में अंतिम तीन-चार दिन फिर लाहौर में ही बिताऊंगा।

और सचमुच मोटर की सैर की कई अविस्मरणीय झांकियां थीं। ताज़े दुहे हुए दूध की बाल्टी से जैसी भाप उठती है वैसीहो भाप सुबह-सबेरे रावी की सतह पर होती है। रावी की भरी-भरी छाती। बारादरी, जो पहले नदी के किनारे पर थी, अब बीच में आ गई है और अजीब बहार देती है। मैंने फोंटो खींचने की ग़र्ज़से मोटर रुकवाई, पर परहेदार ने मना कर दिया। कुछ देर खड़े रहकर दोनों चुपचाप नज़ारा देखते रहे। डा० नज़ीर ने बताया कि आसपास के 'बेलों' में पैदल लम्बी सैर करने का उन्हें बड़ा शौक है। क़िस्से, कहानियों में 'बारां' और 'बेलियां' के बारे में पढ़ा था। पर यह नहीं पता था कि ये क्या होते हैं? अपनी अज्ञानता प्रकट करते हुए झिझक ज़रूर मालूम हुई, पर पूछ ही लिया। सफ़र के बीच डा० नज़ीर ने बारां भी दिखाई और बेले भी। बेले जहां भैंसें चराते हुए रांझे को हीर पूरी खिलाने जाती थी । और बारां वह जिनके ऊपर मिर्ज़े खान की घोड़ी आंधी-सी दौड़ती थी।

अज्ञानता दूर करने का ऐसा ही एक और प्रयास कुछ दिन बाद झंग से बस में सरगोधे जाते हुए भी किया। ड्राइवर ने पूछा, "क्यों जी, डाची और ऊंट में क्या फ़र्क़ होता है?" और वह हंसके बोला था, "जी वह दूध देती है।"

डा० नज़ीर के मुंह से कई और पल्ले बांधनेवाले शब्द सुने थमले, तेग़ू (इसका अर्थ अब फिर भूल गया हूं!), नूर-पाक का बेला (मतलब अमृत बेला या प्रातःकाल)। डेरा बाबा नानक के पास से गुजरे तो उन्होंने कहा, "यह हमेशा से बड़ा मर्दमखेज़ इलाक़ा रहा है"[१], कितना सुन्दर शब्द था यह मर्दमखेज़! मोड़ पर उर्दू में आदर-द्योतक बोर्ड लगा था, 'डेरा बाबा नानक साहिबजी!' आगे बढ़े तो 'टोबाटेकसिंह' नामक गांव आया। डा० नज़ीर ने बताया कि वह भी बड़े ऊंचे दर्जे का इन्सान हो गुज़रा है।

१. प्रतिभाशाली व्यक्तियों का जन्मक्षेत्र।

लाहौर और लायलपुर के बीच में एक गांव में चाय पीने को रुके। दूसरे गांवों की तरह इस गांव की आर्थिक दशा भी पहली नज़र में न बहुत गिरी हुई लगी न बहुत अच्छी। आज़ादी से पहले पश्चिमी पंजाब के गांव जैसे होते थे वैसा ही लगता था। देहात में उत्पादक योजनाओं का कुछ पता न चला। पर दावे के साथ कहने के लिए मोटर का धूल उड़ाते निकल जाना काफ़ी नहीं, गहरे अध्ययन की आवश्यकता होती है।

४

परसों शालीमार बाग में चाय पीते समय डा० नज़ीर से पूछने को जी हुआ कि उनके जीवन का दृष्टिकोण क्या है? जब मोटर फिर चली तो यह प्रश्न पूछ ही लिया।

मैं पहले ही कह चुका हूं कि डा० नज़ीर की फ़क़ीरोंवाली सादगी और स्पष्टवादिता से मैं बेहद प्रभावित हुआ था। उनकी खामोशी में भी एक प्रकार की ललकार थी, जैसे कह रही हो, 'मानव-प्रेम ही दुनिया की सबसे क़ीमती और बड़ी चीज़ है। बाक़ी सब कुछ आडम्बर है, और आडम्बरों में पड़ना जीवन को नष्ट करना है।'

नज़ीर साहब की मोटर पुराने मॉडल की बेबी मारिस है। (एक ऐसे देश में जहां मोटरों के आयात पर कोई रोक नहीं है, और हर प्रकार के नये से नये मॉडल बड़े सस्ते में मिल जाते हैं!) वह गाड़ी गवर्नमेंट कॉलेज, लाहौर के प्रिंसिपल के पद को सुशोभित नहीं करती, केवल ज़रूरत पूरी करती है। मगर जिस लगाव से ड्राइवर उसकी देखभाल करता है, जिस सावधानी से उसे बरतता है उससे स्वयं ही एक सुथरा और सुखद वातावरण पैदा हो जाता है, जिसपर नये से नये मॉडल की ग्रांडील-शैवर्ले का स्वामी भी ईर्ष्या कर सकता है। डा० नज़ीर के पैरों में साधारण-सा देहाती जूता है, बादामी रंग की पापलीन की पतलून, खाकी टवील का कोट, और सादी-सी टाई। मतलब यह कि पहनावे में ना तो सादगी का और ना ही अमीरी का विशेष प्रदर्शन है।

"मैं कोई कट्टर मज़हबी आदमी नहीं हूं।" डा० नज़ीर कहने लगे, "कुरानशरीफ़ को मैं ज़रूर मुक़द्दस (पुनीत) तस्लीम करता हूं, पर इसका यह मतलब नहीं कि दूसरे मज़हबों की किताबों का मैं एहतिराम नहीं करता। अल्लाह, भगवान या गॉड को अलग-अलग मज़हब वाले बेशक अलग-अलग ढंग से पूजते हों पर उसकी अपनी ज़ात में इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। अगर वह है तो एक है- तीन-चार खुदा नहीं हो सकते। फिर मैं एक साइन्सदां हूं। कई बार साइन्स ऐसे नतीजे निकालती है जिनके मुताबिक़ काइनात (ब्रह्माण्ड) को खुदा की कोई ज़रूरत ही नहीं रहती। कुदरत बज़ाते-खुद सब ताक़तों की मालिक दिखने लग जाती है, खुद ही कानून बनानेवाली और खुद ही उसपर अमल करने वाली। इस हिसाब से खुदा को मानना शायद ग़लत ही हो, पर जब यह शुबहा मेरे दिल में उठता है तो मैं अपने-आप से पूछता हूं, 'अगर यह दुनिया खुदा ने नहीं बनाई, अपने आप बन गई है, तो फिर यह मेरे मिज़ाज और मेरी ख्वाहिशों की इतनी मुताबिक़ क्यों है? कुदरत को मेरी पसन्द का ख्याल रखने की क्या ज़रूरत थी?"

यह दृष्टिकोण आध्यात्मिक था या वैज्ञानिक, मैं नहीं कह सकता, पर इसमें शायराना खूबसूरती ज़रूर थी, और जीवन की व्यावहारिकता में डा० नज़ीर शायद इसी खूबसूरती के अभिलाषी हैं। वे मनुष्यों, क़ौमों और देशों के अवगुणों की ओर ध्यान न देकर गुणों

और महानताओं की खोज में रहते हैं। वे साम्प्रदायिकता और संकीर्णताओं की दीवारें तोड़ना चाहते हैं। शायद इसीसे वे मेरे साथ राजनैतिक या सामाजिक प्रश्नों पर बहस नहीं करते। वे यही चाहते हैं कि पाकिस्तान में मेरा समय अच्छी तरह गुज़रे, मैं फिर भी आऊं। जनता हर जगह ऐसी ही है, उसके गुण-दोष एक ही जैसे हैं, द्वेष से कोई लाभ नहीं।

दोनों देशों में फिर से मित्रता हो जाए, सब झगड़े मिट जाएं, यही गहरी और अमिट चाह उनके बोलों और उनकी खामोशी में भी निरन्तर छलकती रहती है।

मेरे मन में विचार उठा,'भारत हज़ारों वर्षों से दर्शन का गढ़ है। जीव क्या है, प्रकृति क्या है, परमात्मा क्या है?- इन प्रश्नों के उत्तर ढूंढ़ना न केवल हमारे देश के विद्वानों का बल्कि जनता का भी शुगल रहा है। यूरोपीय आलोचकों ने हमारी इस प्रवृत्ति की काफ़ी हंसी उड़ाई है। इसे हमारी शिथिलता, ज़हालत और ग़रीबी का कारण बताया है। कहते हैं, ''ये लोग कैसे उन्नति कर सकते हैं, इनको तो इहलोक से परलोक बहुत ज़्यादा प्यारा है!''

निश्चय ही उनकी आलोचना खोखली और अनुचित है, पर क्या हमारे देश के अपने पढ़े-लिखे बुद्धिजीवी तबक़े का दृष्टिकोण उन यूरोपीयों जैसा नहीं? क्या हम भी उन्नति और विकास के प्रश्नों पर विचार करते समय धर्म और दर्शन से ऊबकर उसे बलाएताक़ नहीं रख देते? क्या किसान-मज़दूरों के प्रति हमारा चिंतन केवल उनकी आर्थिक समस्याओं तक सीमित नहीं रह जाता? जिस सीमा तक वे लोग अन्याय की पीड़ाएं सहनशीलता से झेल जाते हैं हम उन्हें जाहिल और अन्धविश्वासी कहते हैं। हमारी नज़रों में सब पौराणिक, धार्मिक पुस्तकें, सारे मत-मतांतर, सारे औलिये, महात्मा और संत विकास की राह में बाधा डालनेवाले प्रपंच हैं। हम भूल जाते है कि अपने समय में उन पूर्वजों ने जो कुछ किया सबकी भलाई को सामने रखकर किया, और निडरतापूर्वक अपनी राह पर चलकर प्राणों तक की आहुतियां दे दीं। अपनी इस अज्ञानता और विमुखता का फल यह होता है कि लोगों के लिए दिल से सच्चे हितैषी होते हुए भी हम उनके मनों से मेल नहीं रख पाते। हम भूल जाते हैं कि हमारे देश के मनुष्य की रूहानी भूख उतनी ही तीव्र है जितनी शारीरिक। यह उसके पिछड़ेपन का सबूत नहीं है, उसके श्रेष्ठ सांस्कृतिक स्तर का प्रमाण है। हमने अपने धुरप्राचीन काल से निरन्तर चली आ रही संस्कृति की अनमोल विरासत की ओर से, जो जनता की नस-नस में रमी हुई है, विमुख होकर, उसे तुच्छ और नाकारा समझकर, ऐसी जगह छोड़ दिया है जहां स्वार्थी, शरारती, लुटेरे उसे सुगमता से भ्रष्ट कर सकते हैं, उसे अपने घिनौने उद्देश्यों के लिए बरत सकते हैं, विकास के लिए परम सहायक वस्तुओं को विनाश का साधन बना सकते हैं। हमारे महापुरुषों की शिक्षाप्रगति-इच्छुकों का मार्ग दर्शन करने को बेचैन है, पर उनके द्वारा दुतकारे जाने पर वह पाखडी और धूर्त लोगों के हाथ में जा पड़ती है। फलस्वरूप जनता के दिमाग़ तो प्रगतिशीलों की ओर छलांग लगाते हैं, पर दिल प्रतिक्रियावादियों के अधीन रह जाते हैं। भला इस अपनत्व में कैसे मज़बूती आ सकती है जिसका दिलों में कोई ताल-मेल न हो?...

फिर वही ग़लती? फिर मैं हिन्दुस्तान और पाकिस्तान को एक ही देश के रूप में देखने लग गया! पर इस बंटवारे को भी तो दिमाग़ ही स्वीकारता है, दिल नहीं स्वीकारता। जिस बंटवारे को दिल स्वीकार न करे वह कितना मज़बूत हो सकता है? मुसलमानों के आगमन से पूर्व भी तो सिंध से रावी तक के क्षेत्र का कोई इतिहास था।

यही क्षेत्र तो कभी आर्यावर्त कहलाता था। शब्द 'हिन्दू' भी तो सिंध नदी के किनारे बसनेवाले लोगों के लिए प्रयुक्त किया जाता था। मोहनजोदड़ो, हड़प्पा और तक्षशिला के खण्डहर भी तो यहीं की प्राचीन सभ्यताओं के गवाह है। क्या वर्तमान मुसलमान वासियों का इन सबसे सम्बन्ध टूट गया है? भला यह कैसे हो सकता है? यह विरासत उनकी बोली, रहन-सहन, लिबास, संगीत, नृत्य, सभी चीज़ों में ही तो रमी हुई है। मिसाल के तौर पर मुझे अपने पुरखों के केवल तीसरी या चौथी पीढ़ी तक के नाम मालूम हैं। पर उनके पहले के पूर्वजों की अनेकों और भी तो पीढ़ियां हो चुकी हैं। उनके नाम-पता न होने का यह अर्थ नहीं कि मेरा और उनका खून का रिश्ता नहीं है। पता नहीं उन लोगों के विचार क्या था? मेरे विचारों से कितने भिन्न थे। पता नहीं, उनमें कौन हिन्दू थे और कौन ईरान से आए थे, कौन यूनान से और कौन अरब से, पता नहीं कितने यहां से कहीं और चले गए?...

लायलपुर से चार मील इधर ही गाड़ी का पहिया बैठ गया। सड़क के एक ओर 'कोहेनूर' मिल का फाटक था। डा० नज़ीर ने बताया कि अब लायलपुर में बीस से ज़्यादा कपड़े की मिलें बन गई हैं, जो न केवल पाकिस्तान की ज़रूरत पूरी करती हैं बल्कि विदेशों को भी बहुत-सा कपड़ा भेजती हैं। 'कोहेनूर' इनमें से सबसे बड़ी मिल है, जिसमें लगभग दस हज़ार आदमी काम करते हैं। इस मिल की इतनी ही बड़ी दूसरी शाखा रावलपिंडी में बनाई गई है। ये निजी कारखाने हैं, सरकारी नहीं हैं।

सड़क की दूसरी ओर एक कॉलेज था। पहिया ठीक होने तक डा० नज़ीर मुझे कॉलेज में ले गए। प्रिंसिपल साहब ने बड़े आदर से मुझे कॉफ़ी पिलाई, फिर बातचीत के दौरान मालूम हुआ कि मेरे परममित्र, प्रसिद्ध पत्रकार और फ़िल्मकार ख़्वाजा अहमद अब्बास के साथ वे अलीगढ़ में पढ़े हैं। अब्बास के बारे में उन्होंने बड़ी उत्कंठा से पूछताछ की फिर मुझसे वायदा लिया कि बम्बई वापस जाकर मैं ज़रूर उनका प्रेम-संदेश अब्बास तक पहुंचा दूँ।

फिर इसके थोड़ी देर बाद बस के अडडे पर मुझे उतारकर डा० नज़ीर एग्रीकल्चर कॉलेज के लड़कों की परीक्षा लेने चले गए। आगे मैं जानूं मेरा काम!

अड्डे पर बसों की भीड़ लगी हुई थी। कोई किधर जानेवाली, कोई किधर। इनमें सरकारी ट्रान्सपोर्ट की बसें भी थी और प्राइवेट भी। भारत की तरह यहां भी बसें आने-जाने का प्रमुख साधन बन गई हैं। इस भीड़-भाड़ में निःसंकोच मिल जाने का वह स्वाद प्राप्त हुआ जो फ़िल्मी आदमी को भारत में नसीब नहीं हो सकता।

झंगवाली बस पन्द्रह मिनट बाद चल पड़ी। सड़क बहुत चौड़ी न होने पर भी बड़ी अच्छी और हमवार है। ट्रकों की आवा-जाही न होने पर ध्यान ज़रूर जाता है। भारत

में आम तौर पर प्रत्येक सड़क पर ट्रक दबादब चलते हैं। लायलपुर में इतनी मिलें बन जाने पर भी लाहौर से लायलपुर और लायलपुर से झंग जाते हुए रास्ते में शायद ही कोई माल से लदा हुआ ट्रक नज़र आया होगा। हां, सवारी-बसों की ज़रूर भरमार थी। सड़क के दोनों ओर ऊंचे-ऊंचे सरूटे और दूर क्षितिज तक फैले हुए हरे-भरे खेत अजीब बहार दे रहे थे।

ज्यों-ज्यों बस झंग के निकट पहुंचती गई मैं इस इलाके को और भी ग़ौर से देखने लगा, शायद हीर सलेटी अब भी कहीं 'उकाब के पर' की तरह झूमती, सहेलियों के साथ खेलती नज़र आ जाए। और मुंहमांगी मुराद पुरी करनेवाले खुदा ने अकस्मात खेतों से गुज़रती हुई एक ऐसी मुटियार (नवयुवती) की झलक दिखा दी जिसके हुस्न को बयान करना मेरी शक्ति से बाहर है। सांवला-सा रंग था उसका। काफ़ी लम्बा-ऊंचा क़द, भरा-भरा सुडौल शरीर, अजब मस्ती-भरी अलमस्त चाल। नीले और चितकबरे कबूतर जैसा लिबास, नाक का लौंग भी बिजली की तरह चमक पड़ा था। इतनी खूबसूरत युवती मैंने अपने जीवन में शायद ही कभी देखी होगी। इसके साथ ही मेरे मन में यह ख्य़ाल उभरा कि इस इलाक़े के लोगों का रंग-रूप क्या कुछ-कुछ काठियावाड़ी लोगों से नहीं मिलता...?

उपर्युक्त विवरण डायरी में लिखकर मैंने तांगेवाले से गवर्नमेंट कॉलेज चलने को कहा। डा० नज़ीर ने मुझे अपने दो मित्रों के पते दे रखे थे, और उनको मेरे आने के बारे में फ़ोन पर खबर भी कर दी थी। एक थे अंजुम तक़ी जो स्थानीय गवर्नमेंट कॉलेज में प्रोफ़ेसर थे, और दूसरे शेर अफ़जल जाफ़री जो किसी सरकारी विभाग में काम करते थे। दोनों ही उर्दू के प्रसिद्ध शायर थे।

अंजुम तक़ी कॉलेज से घर रवाना हो चुके थे। स्टाफ़ रूम में बैठे प्रोफ़ेसर फ़िल्मी पत्रिकाओं के माध्यम से मुझसे परिचित थे। एक-दो ने मेरी फ़िल्म 'हम लोग' भी देखी थी। बड़ी अच्छी तरह पेश आए। कहने लगे, "हीर के मक़बरे की ज़ियारत (दर्शन) करने के लिए आप बम्बई से चलकर आए हैं, यह झंग-मघिआणे के लिए बड़े फ़ख्र की बात है।"

मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्हें कैसे पता चल गया कि मैं हीर के मक़बरे की ज़ियारत करने आया हूं। इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप एक ने मेरी आगे 'सिविल ऐण्ड मिलिट्री गज़ट' का उस दिन का समाचार-पत्र रख दिया। मेरे बारे में काफ़ी लम्बा-चौड़ा बयान छपा था। कुछ इसी तरह का, पर संक्षेप में 'पाकिस्तान टाइम्स' में भी छपा था। दोनों लेख बड़े सहृदयतापूर्ण थे। कहते हैं ना, घर का पीर हौला होता है। फ़िल्मी पत्रिकाओं को छोड़कर हिन्दुस्तान के किसी भी महत्त्वपूर्ण दैनिक पत्र ने कभी मुझे इतने महत्त्व का पात्र नहीं समझा! पर पाकिस्तान में जितने दिन भी मैं रहा, हर रोज़ सभी बड़े-बड़े अंग्रेज़ी और उर्दू समाचार-पत्रों में मेरी सैर के बारे में समाचार और चित्र छपते रहे। और किसीने भी कोई झूठी या द्वेषपूर्ण बात नहीं लिखी।

५

छुटपन से ही 'झंग-मघिआणा' शब्द अक्सर कानों में पड़ता रहता था परन्तु आज तक मुझे यह नहीं पता था कि झंग और मघिआणा एकसाथ जुड़े होने पर भी दो अलग-अलग शहर हैं, और हीर की क़ब्र झंग में न होकर मघिआणा में है।

पंजाब के और शहरों की गलियों जैसी एक गली में प्रोफ़ेसर अंजुम तक़ी साहब का घर था। कॉलेज से लौटकर वे जुम्मे की नमाज़ पढ़ने चले गए थे। थोड़ी प्रतीक्षा के बाद ही वे तशरीफ़ ले आए, और उनके अविस्मरणीय व्यक्तित्व से मेरा परिचय हुआ।

अंजुम तक़ी मुहाजिर हैं, मतलब बंटवारे के समय हिन्दुस्तान से हिज़रत (स्वदेश-त्याग) करते हुए यहां आकर बस गए हैं। 'शरणार्थी' शब्द की तुलना में 'मुहाजिर' मुझे बहुत अच्छा लगा। इसमें से तिरस्कार और अपमान की बू नहीं आती। अंजुम साहब पहले बदायूं में रहते थे, फ़िल्मों के प्रसिद्ध गीतकार और उर्दू के कवि शकील बदायूनी के स्कूल और कॉलेज में सहपाठी थे।

अंजुम की उम्र चालीस के लगभग होगी, पर बाल समय से पूर्व सफ़ेद हो चुके हैं, उनकी आंखों में बड़ा दर्द है, जैसे बिना पूछे कह रही हों कि ज़िन्दगी ने हद से ज़्यादा उनके ऊपर सख्तियां की हैं। बड़ा ही दुबला-पतला शरीर, जैसे हर अजाने स्पर्श से कतराने का इच्छुक हो। कहने लगे, "सामान कहां है, आपका?"

"वह तो डाक्टर नज़ीर साहब की हिदायत के मुताबिक मैं गेस्ट हाउस में छोड़ आया हूं।"

"वाह, भला यह कैसे हो सकता है। उन्होंने तो फ़ोन पर कहा था कि आप मेरे पास ही ठहरेंगे!"

"पहले आपको साथ लेकर मुझे पुलिस स्टेशन में अपने पहुंचने की रिपोर्ट लिखवानी है। उसके बाद जहां कहेंगे रात गुज़ार लूंगा।"

"रात गुज़ार लूंगा, क्या मतलब, आप हमारे शहर में सिर्फ़ एक दिन ठहरेंगे? नामुमकिन बात है। खैर, पहले आपको पुलिस स्टेशन की सैर करा दूं, बाक़ी बाद में देखा जाएगा।"

मैं खाना खा चुका था, पर दोबारा खाना पड़ा, क्योंकि उन्होंने मेरे लिए प्रबन्ध कर रखा था, बल्कि अपने एक पड़ोसी मित्र को भी बुला चुके थे। अंजुम उनको शेरी साहब कहकर सम्बोधित करते थे। शेरी साहब खास झंग के ही निवासी थे, किसी सरकारी विभाग में ऊंचे पद पर आसीन थे। उनको देखकर ऐसा लगा जैसे मैंने उनको पहले भी कहीं देखा है, या हो सकता है मेरे जान-पहचान के किसी व्यक्ति से उनकी सीरत मिलती हो। तक़ी साहब के बेवतन होकर आने पर शेरी साहब ने उनकी मदद ही नहीं की, पूरी तरह उन्हें अपना बना लिया है। सांसारिक व्यवहार के खुरदरेपन से घबरानेवाले, और घर से बेघर हुए शायर को किसी साहसी मित्र और कर्मशील व्यक्ति के सहारे की आवश्यकता थी, जो शेरी साहब ने पूरी कर दी। अंजुम को विश्वास है कि वे शेरी साहब से दूर रहकर ज़िन्दा ही नहीं रह सकते।

पुलिस स्टेशन की ओर जाते समय अंजुम तक़ी ने अनुरोध किया कि मैं उनसे शुद्ध हिन्दी में वार्तालाप करूं। विद्यार्थी-जीवन में उन्होंने बी०ए० तक संस्कृत पढ़ी थी और हिन्दी साहित्य के भी चोखे शौक़ीन थे। इसलिए संस्कृत शब्दावली बोलने-सुनने को तरसते रहते थे।

पुलिस स्टेशन पहुंचने पर पता चला कि पहले रिपोर्ट सिक्योरिटी ऑफ़िस में लिखानी पड़ेगी जो पुलिस लाइन में है। पुलिस लाइन तो पता चला कि शुक्रवार होने के कारण दफ्तर बन्द है। सिक्योरिटी अफ़सर शायद अपने घर पर मिलें। घर गए तो मालूम हुआ कि नमाज़ पढ़ने गए हैं, पता नहीं कब आएं!...

अंजुम साहब भी सुन चुके थे कि मेरे झंग आने का मुख्य कारण हीर की क़ब्र देखना था। वह इस स्थान से बिलकुल निकट थी। उन्होंने राय दी की इस बीच में उधर का ही चक्कर लगा लिया जाए जिसे मैंने बड़ी खुशी से स्वीकार कर लिया।

कच्ची और भुरभुरी सड़क पर पड़नेवाला हर क़दम मुझे मेरी कल्पना की इस बेहद प्यारी चीज़ के निकटतर ले जा रहा था। वारिसशाह की हीर संसार की सर्वोत्तम साहित्यिक उपलब्धियों में से एक है। जब-जब मैं इस अमर प्रेमकथा को उठाकर पढ़ने लगता हूं तब-तब यह वास्तविकता पहले से अधिक तीव्रता से मेरे सामने आ खड़ी होती है वारिसशाह की वाणी में उबलते झरने-सी निर्मलता और प्रवाह है। उसे पढ़ते वक्त इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध कवि कीट्स के इस वाक्य की ओर बार-बार मेरा ध्यान जाता है:

''कविता कवि के पास इस तरह आना चाहती है जैसे वृक्ष पर पत्ते आते हैं, नहीं तो अन्यथा इसे कदापि नहीं आना चाहिए!''

पाकिस्तान का प्रोग्राम बनाते वक्त मुझे झंग जाने का विचार नहीं आया था। मैं केवल, लाहौर, पिंडी, मरी, भेरा आदि उन स्थानों का ही परिभ्रमण करना चाहता था, जिसका मेरे जीवन से सीधा सम्बन्ध था। पर चलने से एक दिन पूर्व अचानक मैं कीट्स के काव्य-संग्रह में उसकी स्वयं की लिखी भूमिका पड़ने बैठ गया। इसमें कीट्स बार-बार मातृभाषा का शब्द दोहराता है, उसका नाम ले-लेकर झूमता है, जैसे जीवन में वही उसकी सबसे प्यारी चीज़ हो। फिर अचानक मुझे ख्याल आया, ज़रूर वारिसशाह को भी अपनी मातृभाषा पंजाबी से इसी प्रकार उन्माद की हद तक प्रेम होगा, और यही उसकी अद्वितीय काव्य-उड़ानों का भेद है। भला पंजाबी ज़बान का कोई शब्द ऐसा रह गया है जो उसने न प्रयोग किया हो? पंजाबी रहन-सहन और सभ्यता की कोई झांकी ऐसी है जिसे उसने न पेश किया हो? मानव-हृदय का कोई तार ऐसा है जिसे उसने न छेड़ा हो । जूलियट सरोखी विश्व साहित्य की प्रमुख प्रेमिकाओं की टोली में बैठकर भी हीर कितनी पंजाबन है-

फजर होई ते उठ के हीर जट्टी,
बैठ अंगणे बिच अशनान कीता।
ऊंची पाए के ग़मां दे विच बैठी,
राँझे यार दे वल धयान कीता।
मैं ताँ तेरा अमान हाँ रांझिआ वे,
दिलविच इकरार ईमान कीता।

तेरे बाझ न अंग ते नैण जोड़ां,
शाहद हाल दा ख्व रहिमान कीता।
किते रांझणा नज़र ना आंवदा ए,
उसे वकत ही जी ग़लतान कीता।
उभे साह लै के गुम सुम होई,
पिंडा वह के ते सुनसान कीता।
डुबी बिच दलील दे खा ग़ोता,
सैर जा पाताल डूघाण कीता।
सूरत पीर दी विच तसवीर हो के,
रुजूअ ख्व की तरफ रवान कीता।
जाता इक ख़ुदा बर हक़ जट्टी,
दूई दूर जिऊं रंद शैतान कीता।
होईआं सभ कदूरतां दूर विचों,
दिल हीर दा नूर नूरान कीता।
कबर तक ना भुलसां रांझणां वे,
मेरे नाल जो तुध अहिसान कीता।
वारसशाह फ़िराक दे नाल जट्टी,
बाराँ माह दा ज़िकर ब्यान कीता...

इन विचारों में बहते हुए ही मैंने रांझे और हीर के देश की यात्रा करने का भी निर्णय कर लिया।

शहर के बाहर की नाममात्र की आबादीवाले भाग से होकर गुज़र रहे थे। हमें आता देखकर दूर से ही एक दैत्य-सा आदमी अपने मकान के बरामदे से उठकर सड़क के बीचोंबीच आ खड़ा हुआ जैसे हमारी राह रोकना चाहता हो। उसका रंग काला स्याह था, सिर पर ब्रुश जैसे खड़े-खड़े बाल, आंखों पर मोटी-सी ऐनक, सफ़ेद मलमल का लम्बा कुरता और सलवार। दहाड़ने के से स्वर में बोला, ''क्यों प्रोफ़ेसर साहब आज इधर कैसे भूल पड़े?''

अंजुम ने पास पहुंचकर मेरा परिचय करवाया और बताया कि कैसे पंजाबी साहित्य और वारिसशाह मुझे बड़ी दूर से खींचकर यहां ले आए हैं।

अंजुम की बात अभी पूरी भी नहीं हुई थी कि वह व्यक्ति फिर अपनी गरजती आवाज़ में मेरी ओर घूमकर बोला, ''यह तो साहनी साहब, आपने बड़ा अच्छा किया। देखिए न, इंग्लैंड के एक बहुत बड़े शायर कीट्स ने भी लिखा कि शायर को उसी ज़बान में शायरी करनी चाहिए जो उसे अपनी मां के दूध में मिली हो।''

मैं हक्का-बक्का होकर बुत-सा उसकी ओर निहारता रह गया, जैसे होश-हवास गुम हो गए हों।

उसने अपने खूब ऊंचे क़द की ऊंचाई से नीचे मेरी ओर घूरते हुए कहा, "इतने हैरान क्यों हो गए, मैंने कोई ग़लत बात कही है?"

मैंने उत्तर दिया, "आपसे क्या कहूं। दूर खड़े होने पर आप मुझे कोई ग़ैबी हस्ती लगते थे। और अब यक़ीन हो गया कि सचमुच आप ग़ैबी हस्ती हैं।"

और फिर उनके मुंह से निकले कीट्स के इन शब्दों ने ही तो मुझे झंग आने को प्रेरित किया था। सुनकर वे भी आश्चर्यचकित रह गए। अलौकिक बातों में विश्वास न रखते हुए भी आज ये पंक्तियां लिखते हुए मुझे फिर भ्रम हो रहा है कि ज़रूर हमारी उस भेंट में ग़ैब का हाथ था।

हीर के मक़बरे में कोई विशेष बात नहीं है। छोटी-सी एक ढको पर यह स्मारक बना हुआ है। इसकी चार मीनारें हैं, जिन्हें देखकर गुम्बद का न होना अधूरेपन का एहसास दिलाता है। अन्दर जाकर पता लगता है कि गुम्बद बनाना शुरू तो किया गया था, पर शायद हीर की ज़िन्दगी के अधूरेपन को देखकर उसे भी अधबीच में छोड़ दिया गया। अब क़ब्र के पास खड़े होकर ऊपर देखें तो अधूरे गुम्बद के दायरे में से आसमान नज़र आता है। कहते हैं पानी बरसता है तो क़ब्र पर नहीं गिरता। यह बात तो मानना कठिन है पर यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि रात को हीर की क़ब्र पर तारों की लौ अवश्य पड़ती होगी।

क़ब्र के सिरहाने उर्दू में एक पत्थर पर लिखा है कि यह हीर और रांझे दोनों की सांझी क़ब्र है। वह पूरा लेख इतना ज़्यादा जज़्बाती है कि उसे पढ़कर पूरे मकबरे की असलियत पर शक होने लगता है।

आसपास की दीवारें पेंसिलों से लिखे नामों और वाक्यों से काली पड़ी हैं। मज़ार देखनेवालों में से कई लोगों ने अपनी दिल के दुखड़े और न जाने क्या-क्या लिख मारा है। हीर ने क़ाज़ी के सामने अपने प्रेम को, जिसका ईश्वर साक्षी था, संसार की दृष्टि में मानवीय बनाने के लिए क्या-क्या यत्न किए थे, पर उसकी हड्डियो के साथ हो रही इस बेतकल्लुफ़ी को देखकर हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि मरने के चार सौ वर्ष बाद भी वह अपने मनोरथ में सफल नहीं हुई। उदाहरणार्थ (किसी मनचले नौजवान ने लिखा था):

"अगर कोई टैडी गर्ल रुस्तमे-पाकिस्तान भोलू पहलवान से शादी करना मंजूर करे तो मैं माई हीर के मज़ार पर एक सौ नफ़ल चढ़ाऊंगा।"

हीर के मक़बरे से वापस आकर अंजुम और मैं फिर सिक्योरिटी पुलिस के इन्स्पेक्टर चौधरी साहब की खोज में लग गए।

इतना उतावला होने की वैसे कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। नियमानुसार विदेश से आनेवाले को नई जगह पहुंचने पर चौबीस घण्टे के भीतर पुलिस स्टेशन पर हाज़िरी भरनी पड़ती है। आज जुम्मे की छुट्टी थी, इस कारण यह काम कल पर छोड़ा जा सकता था। पर दुर्भाग्यवश इन बातों का मुझे अभी तक पता नहीं था। लाहौर में डॉक्टर नज़ीर के प्राइवेट सेक्रेटरी ने सारी ज़िम्मेदारी अपने सिर ले ली थी। कभी मुझसे पासपोर्ट ले जाते, कभी वापस कर जाते थे। चलते वक़्त उन्होंने मेरे हाथ में एक लम्बा-सा कोरा

काग़ज़ पकड़ा दिया था और सरसरी तौर से कहा था, "झंग पहुंच के पासपोर्ट और यह काग़ज़ पुलिस स्टेशन पर दिखा देना।" और न उन्होंने कुछ कहा और न मैंने ही कुछ पूछा। इस अज्ञानता की इतनी बड़ी सज़ा भुगतनी पड़ेगी इसका मुझे अनुमान नहीं था।

पहले हम लोग दोबारा चौधरी साहब के घर गए। वे अभी नहीं आए थे। फिर पुलिस लाइन गए, वहां भी उनका कोई पता नहीं था। प्रतीक्षा करने के सिवाय और कोई चारा नहीं था, इसलिए वहीं बगीचे में लेफ़्ट-राइट करने लगे। अंजुम तक़ी भी उतने ही अनुभवी थे जितना कि मैं।

सांझ गहरी हो चली थी, जब कहीं हमें इन्स्पेक्टर साहब दूर से आते दिखाई दिए, न जाने किस 'उड़ती चिड़िया' ने उनको पहले से ही हमारे बारे में बता दिया था, दूर ही से ऊंची आवाज़ में बोले, "मिस्टर बलराज साहनी! मुझे आपके आने की इत्तलाह मिल चुकी है।"

अपनी तरफ़ से उन्होंने स्वाभाविक स्वर में कहा हो पर मुझे ऐसा लगा जैसे उन्होंने किसी भगौड़े-मक्कार अपराधी को ललकारा हो। अपनी डयोढ़ी में, जहां उनके वृद्ध पिता खाट पर लेटे हुए थे, दो खस्ताहाल-सी फोल्डिंग आरामकुर्सियां लाए और अपने हाथ से झाड़-पोंछ के हमारे लिए बिछा दीं। इस आत्मीयता-भरे व्यवहार ने हमें बड़ा प्रभावित किया। फिर एक और कुर्सी डालकर स्वयं भी बैठ गए। निःसन्देह हमारा काम फ़टाफ़ट हो जाएगा, मैंने सोचा।

बड़े आदर से मैंने अपना पासपोर्ट और वह कोरा काग़ज़, जिसकी महत्ता आगे चलकर पासपोर्ट से भी बढ़ गई, उनकी सेवा में प्रस्तुत कर दिए। बड़ी देर तक और बड़े ग़ौर से वे उन्हें देखते रहे, फिर दूर से गुज़रते हुए एक सिपाही को पुकारकर आज्ञा दी की दफ़्तरी के क्वार्टर पर जाकर उसे पासपोर्टवाला रजिस्टर लाने को कह दे।

दफ़्तरी के आने तक फिर वे बड़ी सहृदयता से बातचीत करते रहे। चाय-पानी को पूछा, सिगरेट पेश की। हम उनकी सज्जनता और शिष्टाचार के खूब-खूब क़ायल होते जा रहे थे।

रजिस्टर, क़लम, दवात आदि लेकर दफ़्तरी भी आ गया। वह सफ़ेद सलवार-कमीज़ पहने हुए था और सिर पर नीले ब्लेज़र की गोल (बैरे) टोपी, जो बड़ी हास्यास्पद-सी लगती थी। रजिस्टर को घुटनों पर खोल के चौधरी साहब ने पासपोर्ट के पृष्ठ फिर से पलटने शुरु कर दिए।

पासपोर्ट हाथ में पकड़ने, खोलने और पृष्ठ पलटने का ढंग मैंने देखा है, हर देश में पुलिसवालों का हू-ब-हू एक-सा होता है। पता नहीं इसका क्या राज़ है? उस समय पुलिस-अधिकारी के चेहरे पर अजीब-सी भावशून्यता आ जाती है जैसे उसने अपनी मानवीय भावनाओं को मन की किस अलग अलमारी में बन्द कर दिया हो।

पासपोर्ट का निरीक्षण कर चुकने के बाद उन्होंने एक लम्बी सांस भरी और दफ़्तरी के हाथ में पकड़ी दवात में क़लम डुबो दी। इच्छित कार्य-परिणति की घड़ी आ गई जानकर तक़ी और मैं खुशी से कुर्सियों पर उचककर बैठ गए। क़लम की निब बड़ी प्रियलय के साथ स्याही लेकर दवात से निकली और रजिस्टर के ठीक पहले खाने पर

मंडराने लगी, पर उसे काग़ज़ से मिलाते-मिलाते, जैसे वे हमारी उत्सुकता को और बढ़ावा देना चाहते हों, अचानक रुक गए। और मुझे ऐसा लगा जैसे स्वदेश से चलने से पहले के मेरे जीवन की कोई भूली-बिसरी परिस्थिति आज फिर उजागर होकर सामने आ गई। कुएं के डोल-सा मेरा दिल नीचे को उतरने लगा।

अन्त में बिना कुछ लिखे, रजिस्टर बन्द करके उन्होंने दफ्तरी के हाथ में पकड़ा दिया और उठते हुए बोले "चलिए दफ्तर चलें!"

उनके पीछे-पीछे चलते हुए हम एक बार फिर पुलिस लाइन जा पहुंचे।

दफ्तर की कुर्सी पर बैठते ही उनका अफ़सरी रूप खूब निखर आया। मेज़ पर कोहनियां टिकाकर, और उसके नीचे टांगें हिला-हिलाकर उन्होंने प्रश्नों की बौछार शुरू कर दी- आप कौन हैं? क्यों पाकिस्तान आए हैं? कितने अरसे के लिए आए हैं? किस तरह वीज़ा मिला? किसने आने की दावत दी? कहां-कहां जा चुके हैं? लाहौर में कहां-कहां गए थे? किसके पास ठहरे थे? वे आपके क्या लगते हैं? उनको कब से जानते हैं? झंग में किसने बुलाया है? किस ग़र्ज़ से आए हैं? कितने दिन ठहरेंगे? फिर कहां जाएंगे? वहां किसके पास जाएंगे...?

फिर जैसे मैंने जो कुछ बताया उससे वे संतुष्ट न हुए हों, उन्होंने अंजुम की ओर जो क्षण-प्रतिक्षण भयभीत होता जा रहा था, घूमते हुए कहा, "आप इन्हें कैसे जानते हैं?"

प्रश्न करते हुए उन्होंने मेरी ओर ऐसे इंगित किया जैसे 'क़ातिल-खूनी, उचक्का, बदमाश' यह सभी विशेषण मुझपर लागू होते हों।

"जान-पहचान तो आज ही हुई है साहब, वैसे इनके बारे में सुना बहुत था। हिन्दुस्तान के एक मशहूर फिल्म एक्टर हैं, बड़े अच्छे अदीब भी है। और फिर मेरे मेहरबान अफ़सर और दोस्त डा० नज़ीर अहमद साहब के मेहमान है..."

"मगर यहां मघिआणे में तो आपके मेहमान हैं न!" अफ़सर ने टोककर पक्के झंगी लहज़े में उर्दू बोलते हुए कहा, "मैं आपसे पूछ सकता हूं, आप बाहर की हद में इनको हीर का मक़बरा दिखाने के लिए कैसे ले गए?"

तक़ी चुप। उनकी जगह मैंने उत्तर देने का साहस किया, "देखिए हीर का मक़बरा देखने की ग़र्ज़ से ही तो मैं आया हूं।" चौधरी साहब की पहले से सुर्ख आंखें और सुर्ख हो गईं। कहने लगे, "जनाब, क़ायदे से आप देख सकते हैं, बेक़ायदा आप कुछ भी नहीं देख सकते। पहले तो आपका वीज़ा ही झंग का है, मघिआणे का उसमे ज़िक्र ही नहीं है हमारी इजाज़त के बगैर आप मघिआणे के अन्दर भी नहीं घूम सकते, फिर बाहर कैसे घूम सकते हैं?"

दिल चाहा मैं भी पूछूं की अगर मेरे लिए सौ क़दम शहर की हद के बाहर जाना ग़ैर कानूनी था, तो दिन-भर उनके दफ्तर में किसी जानकार आदमी का न होना कहां का क़ानून है? पर मैं संभल गया। मैं पराये देश में था। मेरी तरफ़ से हुई कोई भी ग़लती मेरे देश को बदनाम कर सकती थी।

"आप ठहरे कहां हैं?" उन्होंने फिर रोषपूर्ण अन्दाज़ से पूछा।

"फ़िलहाल मेरा सामान गेस्ट हाउस में पड़ा है।" मैंने उत्तर दिया। मुझे आशा थी कि तक़ी अंजुम बड़े धड़ल्ले से मुझे अपना मेहमान बताएंगे, क्योंकि वे मुझे अपने घर ठहराने के लिए काफ़ी अनुरोध कर चुके थे। पर सहम के मारे वे कुछ न बोले। अब मैंने स्वयं को पूर्णरुपेण अनाथ अनुभव किया।

"गेस्ट हाउस आपके ठहरने की जगह नहीं है। वह हमारे अफ़सरों के लिए बनाया गया है। आप वहां नहीं ठहर सकते।"

"आप जहां फ़रमाएंगे हैं वहीं ठहर जाऊंगा।"

"आप इनको ज़ैल-घर में ले जाइए," उन्होंने तक़ी अंजुम से कहा, "बहुत अच्छी सराय मुसाफ़िरों के लिए बनी हुई है।"

गेस्ट हाउस से निर्वासित होकर सराय में पटके जाने का निरादर ही कम नहीं था, पर उससे ज़्यादा मुझे 'सराय' शब्द सुनते ही उसका काल्पनिक चित्र भयभीत करने लगा। आज तक मैं न कभी किसी सराय में रहा था और न कोई सराय देखी थी। और जब यह बेदर्द इन्स्पेक्टर मुझे वहां भेज रहा है तो वह अवश्य कोई गन्दी और दुःखदायी जगह होगी। न जाने वहां कैसे-कैसे लोग होंगे? न जाने एकाकी 'हिन्दू' के साथ कैसा व्यवहार करेंगे...

मुझे इन्स्पेक्टर के ऐसे शत्रुतापूर्ण व्यवहार का सिवाय इसके कोई कारण नहीं दीखा, कि वह मुझे अपनी मुट्ठी गर्माने के लिए विवश कर रहा था। पर यह तो मेरी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को झुकानेवाली बात थी जो मुझे किसी भी मूल्य पर मान्य नहीं थी। भगवान बुद्ध की मूर्ति की तरह संतोष की मुद्रा बनाकर बैठे रहना ही मुझे ठीक जंचा।

अन्त में और किसी कार्यवाही की गुंजाइश न देखकर इन्स्पेक्टर साहब ने रजिस्टर भर ही दिया, पर चलते समय अपनी रुष्टता व्यक्त करने के लिए वे एक अन्तिम वाक्य-बाण छोड़ने के लोभ का संवरण न कर सके, "यह कैमरा इस तरह कन्धे पर डालकर आप नहीं घूम सकते ।"

"क्यों फ़ोटो लेने की मनाहा है क्या ?"

"आप अपने दोस्तों के फ़ोटो ले सकते हैं। पर कैमरे को कन्धे पर उठाकर नहीं घूम सकते। इसको आप सूटकेस के अन्दर रखिए, सिर्फ़ ज़रूरत के वक्त निकालिए।"

"लेकिन लाहौर में तो मुझे किसीने नहीं रोका?"

"न रोका होगा, वह दूसरी बात है, लेकिन मैं जो क़ानून है वह आपको बता रहा हूं।"

"अच्छी बात है, मेरा किसी भी क़ानून की खिलाफ़वर्दी करने का इरादा नहीं है।"

पुलिस लाइन से निकलकर अभी कोतवाली जाना था। ऊपर से तो मैंने स्वाभाविक बनने का प्रयत्न किया पर भीतर ही भीतर मेरा भय और क्रोध से बुरा हाल था। उस समय और उस क्षण पर मैं लाख-लाख लानतें भेज रहा था, जिस वक्त मुझे पाकिस्तान की यात्रा करने का विचार आया था। 'खा गई खस्मां नूं' वह सैर, चाहे वह अपनी जन्मभूमि ही की क्यों न हो, जिसके लिए अपनी ग़ैरत और इज़्ज़त कुर्बान करनी पड़े। क्या मालूम अब कोतवाली में कैसा स्वागत होगा। क्या मालूम अगले मोड़ पर तक़ी

अंजुम भी 'सलाम आलेकुम' कहकर अपनी राह पकड़ ले? इसमें उसका भी क्या दोष है? उसे भी तो बैठे-बैठाए खाहमखा गले मुसीबत पड़ गई है। सोचता होगा, 'पता नहीं यह कौन खतरनाक आदमी है? कहीं इसके कारण पुलिस को मेरे ऊपर भी शक न पड़ जाए! कल यह तो चला जाएगा, बाद में मेरा क्या होगा!'

पर अंजुम के मुंह से एक ऐसा इन्सानियत-भरा वाक्य सुना जिसने अपनत्व से सरूर से मेरी आंखें भिगो दीं, ''साहनी साहब, मैं बहुत ही शर्मिन्दा हूं। इन लोगों को किसी बात का ख़याल नहीं रहता। भला आप भी क्या सोचते होंगे!''

कितनी सादगी और सरलता थी इन शब्दों में। अपनी विवशता पर पर्दा डालने का, बनावटी हमदर्दी जताने का, कोई दिखावा नहीं था। और न ही मुझसे पीछा छुड़ाने की कोई जल्दी थी। मैंने प्रेम से अंजुम का हाथ अपने हाथ में लेते हुए कहा, ''इसमें आप क्या कर सकते हैं, और मैं भी क्या कर सकता हूं। ये तो क़ायदे-क़ानून हैं। मुमकिन है जो कुछ आज मेरे साथ गुज़री है, पाकिस्तानी मुसाफ़िरों के साथ हिन्दुस्तान में भी वही गुज़रती हो।''

६

पुलिस लाइन से कोतवाली जाते हुए हम बड़े बाजार में से होकर गुज़रे थे। कुछ लोग मुड़-मुड़कर मेरी ओर देखने लगते जैसे पहचानने का प्रयत्न कर रहे हों। पाकिस्तान में कई वर्षों से हिन्दी फ़िल्मों का आना बन्द है, पर फ़िल्मी पत्रिकाएं खूब बिकती है। लाहौर में सुना था कि जनता भारतीय चित्रों के लिए तरसती है। डाक्टर नज़ीर की कोठी पर छात्र-छात्राओं की एक टोली मुझसे मिलने आई थी, और हिन्दी फ़िल्मों के बारे में उनकी जानकारी देखकर मैं दंग रह गया था। एक लड़की जिसे वीज़े की सहूलियत प्राप्त थी, हर पखवाड़े अमृतसर जाकर नई फ़िल्में देख आती थी और फिर सहेलियों को आसपास बैठाकर उनकी पूरी रास-लीला करके दिखाया करती थी।

अपने देश की प्रशंसा सुनकर कौन खुश नहीं होता। पर मुझे कुछ आश्चर्य भी हुआ। आखिर हमारी फ़िल्मों में ऐसी कौन-सी बात है जो पाकिस्तान के फ़िल्मकारों की सामर्थ्य के बाहर है?

मेरी दो फ़िल्में पाकिस्तान में चल चुकी हैं- एक 'हमलोग' दूसरी 'परदेसी'। 'हमलोग' तो प्रतिबन्ध लगने से पहले की गई हुई है, और 'परदेसी' हिन्दी-रूसी फ़िल्म होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के अनुसार प्रतिबन्ध-मुक्त है। मेरे आने से कुछ दिन पहले झंग के लोग शायद उसे तीसरी बार देख चुके थे। शायद इसी कारण मेरी थोड़ी-बहुत चर्चा छिड़ गई थी।

हमारे पीछे-पीछे एक छोटी-सी भीड़ भी कोतवाली पहुंच गई। उसके आने से हमारी शान कुछ बढ़ गई।

थाने का वातावरण वैसा ही था जैसा आम तौर पर थानों का हुआ करता है। दीवार से लगी दो बेंचों पर निर्धन और चिंतातुर-से लोग बैठे थे। कमरे के बीच में एक बड़ी-सी मेज़ के पीछे दो अफ़सर एक-दूसरी से सटी कुर्सियों पर बैठे थे। इनमें एक पच्चीस-छब्बीस साल का ख़ूबसूरत युवक था। ऐसा लगता था जैसे उसका ख़ानदान पुश्त-दर-पुश्त पुलिस

और फ़ौज में भरती होता आया है। और इतनी छोटी आयु में इतने अच्छे पद पर पहुंच जाने से उसके जीवन की सारी अभिलाषाएं पूरी हो गई हैं। दूसरा अफ़सर, जैसे वह कोई रिपार्ट लिख रहा था, अधेड़ आयु का था और सही अर्थों में 'पुलसिया' मालूम होता था- खिजाब लगाकार काले रंग हुए 'चिड़ीदार' बाल, मस्तानी सुरमा-भरी आंखें, ऐंठी हुई पेचदार मूंछें। छैला और सीमित बुद्धि का आदमी मालूम होता था। उसको जब पता लगा कि मैं फ़िल्म एक्टर हूं तो बड़ा खुश हुआ।

"अच्छा जी, यह तो फिर हमारी बड़ी खुशक़िस्मती है। ज़रा हमें भी अपने हुनर के जौहर दिखाइए, हैं जी! लगा दो फिर 'झंग में भी रंग'।"

मेरी कुर्सी के पास खड़े एक लड़के ने व्यंग्यपूर्वक कहा, "भाई साहब, ये फ़िल्म स्टार हैं, भांड़-नक़लची नहीं !..."

"फिर भी गाना-गूना तो गाते ही होंगे।" अफ़सर ने अपनी पतली और सुरीली आवाज़ में कहा, और साथ ही अपना लिखने का काम भी करता रहा।

छोटी उम्र के अफ़सर ने अपनी खूबसूरत आंखें उठाकर ज़रा देर के लिए मेरी ओर घूरा और फिर उठकर खड़ा हो गया जैसे अपने दफ़्तर में किसी दूसरे का प्रशंसा-केन्द्र बनना उसे पसन्द न हो। पेटी बांधते-बांधते वह यह कहकर बाहर चला गया, "इनका काम कर दो, फ़ालतू बातों से क्या फ़ायदा !"

पाकिस्तानी पुलिस के पहरावे में काफ़ी अच्छा सुधार हुआ है। लाल पट्टे और तुर्रेवाली पगड़ी, जिसे अंग्रेज़ों के ज़माने में देखकर आदमी अकारण ही डर जाता था,और जो पूर्वी पंजाब में अब भी प्रचलित हैं, नहीं रही। उसके स्थान पर हू-ब-हू फ़ौजियोंवाली वर्दी पहनी जाती है- खाकी पतलून, खाकी कमीज़ और काली बैरे टोपी। यह पोशाक ज़्यादा स्वाभाविक दिखती है।

उसके जाने के बाद दूसरे अफ़सर ने मेरे पासपोर्ट की जांच करके कोरे कागज़ पर अपने हस्ताक्षर कर दिए, फिर रजिस्टर में भी इंदराज़ कर लिया। उसके होठों पर अभी भी मुस्कराहट नाच रही थी जैसे दिल ही दिल में कह रहा हो, 'इन लौंडे-लाड़ियों को क्या पता? ये एक्टर लोग चाहे कितने अमीर और शोहरत-याफ़्ता क्यों न हों, दर्जा इनका भांड़-नक़लचियोंवाला ही होता है। पेशा ही ऐसा है- क्या करें।'

शायद उसे पुराने वक़्तों के देखे हुए मौज-मेले याद आ रहे थे, जब सफारी नाटक मंडलियां 'मंडुए' लगाया करती थीं। बड़ी-बड़ी नामी अभिनेत्रियों को पुलिस अफ़सरों के साथ बैठकर खाना-पीना पड़ता था, और छोटी-छोटी तो उनके हाथों में खिलौने बन जाती थीं। कम्पनियों के मालिक बड़े ढब से उन्हें समझाते थे, "देखना बल्ली, तेरी भी और हमारी भी रोज़ी का सवाल है। कितना खर्च करके कलकत्ते से आए हैं। सब कुछ पुलिसवालों के हाथ में होता है। उनकी मांगे पूरी किए बगैर एक शो भी नहीं कर सकते। बस, खाना-वाना खाने ही तो जाना है। तू किसी बात की फ़िक्र न कर। तेरी इज़्ज़त हमारी अपनी इज़्ज़त है।"

पासपोर्ट लौटाते हुए उसने मेरी ओर इस प्रकार देखा जैसे मैं उसके मनोभावों को बेहतर समझ सकता होऊं। इस घृणा-भरी नजर के कारण मैं कोतवाली से भी बड़ा अपमानित-सा अनुभव करता हुआ बाहर निकला।

क्या फिल्म-क्षेत्र में उतना ही कुचलन आज भी नहीं है?अंतर केवल इतना है कि अफसरी धौंस की जगह पैसे की धोंस ने ले ली है। ऊपर-ऊपर एक्टरों और एक्ट्रेसों का समाज में बड़ा मान है, पर इसकी तह में क्या वही घृणा-तिरस्कार नहीं है?

टोली के साथ-साथ हम अंधेरी और कच्ची सड़कों पर चल पड़े। लड़के बड़े उत्साह से अपना परिचय दे रहे थे। वह लड़का जो मेरे पक्ष में इन्स्पेक्टर से बोला था, मेरे जन्मस्थान रावलपिंडी का था। उसने खाकी टवील की कमीज़, खाकी सलवार और पेशावरी चप्पल पहन रखी थीं। स्कूल के समय तक मेरी भी यही पोशाक हुआ करती थी, था भी उसी तरह गोरा-चिट्टा और हंसोड़। मुंह पर लाली भी वैसी ही फूटी पड़ती थी। बाल भी उसी तरह के घने और सुनहरी थे। ऐसा लगता था जैसे मेरा अतीत साकार रूप में मेरे सामने आकर खड़ा हो गया हो। एक-दो पत्रकार थे, कुछ कॉलेज के विद्यार्थी, और कुछ दफ़्तरों में काम करने वाले। मेरे प्रगतिशील तथा मानवीय विचारों का कलाकार होने की झूठी या सच्ची खबर उन तक भी पहुंच चुकी थी। सभी बड़े प्रेम से पेश आ रहे थे, पर मुझे यह सब निरा तमाशा लग रहा था।

एक पत्रकार यह सुनकर बड़ा दुःखी हुआ कि मुझे गेस्ट हाउस छोड़ ज़ैलघर में ठहरने का हुक्म दिया गया है। कहने लगा, "आप तांगे में बैठकर गेस्ट हाउस चलें, मैं अभी ए०डी०एम०साहब से परवानगी लेकर आता हूं।" पर मैंने तल्ख़ी से इनकार कर दिया। काफ़ी सहनशीलता के बावजूद मेरे स्वभाव में कटुता आ गई थी।

गेस्ट हाउस में बैरे ने बड़े परिश्रम से मेरा कमरा सजा रखा था। बिस्तरा खोलकर पलंग पर बिछा दिया था। अंगीठी के पास पॉलिश किए हुए जूते पड़े थे। इस तरतीब को नष्ट करते हुए उसका भी दिल दुखा। मेरी हालत तो यह थी कि अपने आप पर तरस खाता हुआ रूआंसा होता जा रहा था। तक़ी साहब सामान बंधवाने में मदद करना चाहते थे, पर डरते थे कि कहीं मैं उनको भी न झिड़क दूं।

रह-रहकर मेरे मन में हौल उठते थे- न जाने कैसी जगह जा रहा हूं? न जाने मुझपर क्या गुज़रेगी? शहर 'मुहाजिरों' से भरा पड़ा है। सभी अंजुम तक़ी-से शरीफ़ तो नहीं हो सकते। शायद किसी को अपनी छाती ठण्डी करने का मौक़ा हाथ लग जाए। मुझे मां की याद आ गई। कितना रोकती थी...

छोटी-मोटी चीज़ें समेटने के बहाने मैं गुसलखाने में चला गया। दरवाज़ा भेड़कर बड़ा घुड़का अपने को। कौन-सी दुर्घटना गेस्ट हाउस में नहीं हो सकती? भला अंग्रेज़ी फ़ैशन के गेस्ट हाउसों और होटलों में रहकर मैं यहां के लोगों का असली जीवन कैसे देख सकता था? पुलिस-इन्स्पेक्टर ने तो वास्तव में मेरे ऊपर बहुत बड़ी कृपा कर दी है, साधारण लोगों के बीच रहने का मुझे अवसर दे दिया है, जो कि मुझे बम्बई में भी नहीं मिलता। यही चाह लेकर तो पाकिस्तान आया था। अब मैं लोगों की खूब-खूब बोलियां सुन सकूंगा। यह तो अपने-आप मुझे मुंहमांगी मुराद मिल गई है।

और यों सामयिक रूप से मेरा साहस लौट आया। अंजुम तक़ी भी यह परिवर्तन देखकर सन्तुष्ट हो गए, और हम लोगों ने फिर शुद्ध हिन्दी में वार्तालाप आरम्भ कर दिया।

झंग, १३ अक्टूबर, १९६२

इतना बुरा और इतना अच्छा दिन मैंने कभी नहीं देखा। (मैकबॅथ)

ज़ैलघर में रात आराम से नहीं कटी। जगह बुरी नहीं थी- मध्यवर्गीय होटल समझिए। बाज़ार में होने पर भी काफ़ी खुला था, क्योंकि आगे बगीचा था।

अन्दर खुले आंगन के चारों ओर बरामदे और कमरे थे। सौभाग्यवश मुझे कोनेवाला कमरा मिल गया, जिससे लगा हुआ ग़ुसलखाना भी था। फ़र्नीचर न होने के बराबर था, पर कमरा सुन्दर और खुला था। छत में बिजली का पंखा भी लगा हुआ था, जो चलते वक्त बड़ा ज़ोर से 'खटर-खटर' करता था! हमारे खड़े-खड़े मेहतर ने धूल उड़ा-उड़ाकर सफ़ाई कर दी और एक बूढ़े-से बहिश्ती ने टब में पानी भर दिया। खाना तक़ी साहब के घर से ही खा आया था, जितनी जल्दी हो सका दरवाज़ों की कुंडियां चढ़ाई और बिस्तर खोलकर लेटने की, की।

खिड़कियों से हल्की-हल्की ठण्डी हवा भीतर आ रही थी। किसी वृक्ष पर बुलबुल बोल रही थी। क्षण-भर के लिए मन पीछे को दौड़ पड़ा, जैसे गर्मियों की छुट्टियां बिताकर पिंडी से आज ही लाहौर आया होऊं और कॉलेज के होस्टल में डेरा डाला हो। ज़ैलघर की इमारत को देखते हुए पहली नज़र में शक भी पड़ा कि शायद किसी ज़माने में यह किसी स्कूल या कॉलेज का होस्टल होगा।

पर ये सुखदायी विचार मन में नहीं बैठ रहे थे। बारम्बार ख़्याल पुलिस के व्यवहार की ओर जाता था। मैं सिर्फ़ सैर के लिए और अपनी जन्मभूमि के दर्शनों के लिए पाकिस्तान आया था, केवल एक पाहुन के रूप में। कोई भी ऐसा व्यवहार जो एक पाहुन के लिए अनुचित हो मेरी दृष्टि में कुफ्र था। इसके बावजूद यदि मेरे साथ दोषियों जैसा व्यवहार हो और उतनी भी स्वतन्त्रता न मिले जितनी सैर के मज़े को बनाए रखने के लिए आवश्यकता है, तो फिर पैरोल पर निकले क़ैदी की तरह भटकने से क्या लाभ?

कितना मूर्ख हूं मैं? बिना कुछ पूछताछ किए मुंह उठा कर अकेले निकल पड़ा। कम से कम कोई साथी ही होता दिल का भार हल्का करने के लिए। अंजुम तक़ी क्या सोचता होगा, सम्भव है कल उसके दर्शन ही न हों। दूसरा नाम शायद डा० नज़ीर ने शेर अफ़ज़ल जाफ़री का दिया था। वे, अंजुम ने कहा था, झंग से कहीं बाहर गए हुए हैं। सचमुच गए हुए हैं, या यह, न मिलने का बहाना है?

लगभग पूरी रात करवटें बदलते निकल गई। ज़रा-सी आंख लगती फिर अचेतन के अखाड़े में दंगल शुरू हो जाते। इसका एक मज़ेदार पहलू भी था। मैंने देखा कि मेरा मन झंग की बोली बोलने लगा है, जैसे कान में पड़ी आवाज़ों का उसने रिकार्ड बना लिया हो। "केहड़ियों उमैदां ला के घरों टुरिया सी। पता तां नाई नां रेत दे किलियां वाकण ढह वैसन। जे थमाई मैंढी इत्थों खैरी-मेरी कूच वी वंजे तां, माई हीर, तैंड़े नां ते इकोदर सै नफ़ल..."

भला यह 'नफ़ल' क्या चीज़ होती है?

अन्त में मैं एक निर्णय पर पहुंचा। सबेरे अपना सबसे अच्छा सूट पहनकर सीधा डिप्टी कमिश्नर या एस०पी० से जाकर मिलूंगा। खुलकर सारी बात करूंगा। अगर उसके बाद प्रोग्राम के अनुसार आगे जाने का कोई मतलब दिखा तो ठीक, नहीं तो पहली गाड़ी से वापस लाहौर और फिर सीधा दिल्ली। इस निर्णय से मन का टिकाव तो हुआ पर नींद फिर भी नहीं आई।

फिर मुर्ग बोलने लगे और इसके साथ ही किसी ने दरवाज़ा खटखटाया। शायद नौकर चाय लाया हो, मैं उठ बैठा। पर यह कैसे हो सकता है? यह सराय है कोई होटल तो है नहीं। अनमने-से किवाड़ खोले। वही पत्रकार साहब खड़े थे जिनसे तक़ी साहब ने रात को परिचय कराया था। नाम मुझे याद नहीं रहा था। पहनावा उनका यूरोपियन था और सुबह ही सुबह मुंह मे पान दबाए हुए थे। यह कहना भी मुश्किल था कि यू०पी० के थे या पंजाब के। भला इनको इस वक्त मुझसे क्या काम पड़ गया था?

मैंने व्यवहारिक ढंग से पूछा 'फ़रमाइए?'

"मेरा नाम बिलाल ज़ुबेरी है, पाकिस्तान टाइम्स, इमरोज़ और कुछ दूसरे अखबारों का नुमाइन्दा हूं। आपको याद होगा मैं रात को आपसे मिला था। "तक़ी अंजुम मेरे प्यारे दोस्त हैं!"

"जी हां, वह तो मुझे अच्छी तरह याद है। पर इस वक्त मैं आपकी क्या खिदमत कर सकता हूं?" वह इतनी अच्छी उर्दू बोलता था कि मुझे उसके पंजाबी होने का एहसास तक न हुआ, वर्ना तकल्लुफ़ की दीवार शायद टूट ही जाती।

बिलाल ने हंसकर जवाब दिया, "खिदमत का शर्फ़ तो मैं हासिल करना चाहता हूं। अगर आप इजाज़त दें तो अंदर आ जाऊं।"

"देखिए", मैंने अपनी आवाज़ पर तुरन्त कवच चढ़ा लिए, "अभी तो सोकर ही उठा हूं। अब आप एक घण्टे बाद तशरीफ़ ला सकें तो..."

उसके माथे पर फिर भी बल नहीं पड़ा, "हां,हां अच्छी बात है, आप तैयार हो जाइए। मगर आज के लिए प्रोग्राम क्या सोचा है आपने? तक़ी अंजुम तो नौ बजे कॉलेज चले जाएंगे। आप क्या करेंगे?"

"मैं पहले डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट या पुलिस सुपरिंटेण्डेण्ट से मिलूंगा। बाक़ी प्रोग्राम बाद में बना सकूंगा।" मैंने उत्तर दिया।

"डी०एम० और एस०पी०तो किसी क़त्ल की वारदात के सिलसिले में झंग से बाहर गए हुए हैं। अगर ए०डी०एम० से मिलना हो तो मैं आपको ले चलूंगा।"

"शुक्रिया।" अब मुझे अपनी बेमुरव्वती पर लज्जित होना पड़ रहा था, "आइए बैठिए न, मैं अभी चाय मंगवाता हूं।"

"नहीं, चायबाद में पीएंगे, पहले आप तैयार हो जाइए।" यह कहकर वह चला गया।

घण्टे-डेढ़ घण्टे बाद उसने मुझे बुला लाने के लिए अपने छोटे भाई अब्बास को भेजा, उसने कहा, "भइया अपने दफ़्तर में आपका इन्तज़ार कर रहे हैं।" मैं सोच में पड़ गया-जाऊं कि नहीं? पता नहीं यह दफ़्तर कहां है? रात को कोई प्रोग्राम तय नहीं हुआ था

और न ही मैं उसे अच्छी तरह जानता था। फिर यह ख़याल भी आया कि बिलाल ज़ुबेरी से मैं पहले ही काफ़ी रुखाई से पेश आ चुका हूं। हालांकि रात फ़ैसला किया था कि कायरता को पास नहीं फटकने दूंगा, चाहे मन भीतर से कितना ही उचाट क्यों न हो! और यही सोचकर कमरे में ताला लगाया, चाबी जेब में रखी और उस लड़के के साथ चल पड़ा।

बड़े बाज़ार से निकलकर हम एक तंग-से बाज़ार में दाखिल हुए बड़ा बाज़ार भी ज्यादा साफ़-सुथरा नहीं था, पर यह छोटा तो ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते गए काफ़ी गन्दा होता गया। मक्खियों की ऐसी भरमार मैंने कभी नहीं देखी। ऐसा लगता था जैसे आकाश से उनकी वर्षा हो रही थी।

बिलाल ज़ुबेरी का दफ्तर एक तंग-सी गली में था और इतना छोटा कि खिलौना-सा नज़र आता था। पर टेलीफ़ोन लगा हुआ था, और मेज़ पर आज के अखबारों का ढेर था। बिलाल ने बड़ी सहृदयता से कहा कि वह मुझे लेने के लिए ख़ुद इसलिए नहीं आ सका कि ए०डी०एम० साहब को फ़ोन करके उनसे मिलने का समय लेना था। मेरा भटका हुआ मन अपने ओछेपन पर लजा गया।

मैं मेज़ पर पड़े उर्दू अखबार उठा-उठाकर देखने लगा- कोहिस्तान, ग़रीब, इमरोज़। एक बात देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ- हर अखबार के मुखपृष्ठ पर तारीख केवल ईसवी और हिज़री सन में ही नहीं, विक्रमी संवत में भी दी गई थी। जैसे-

१३ अक्टूबर, १९६२ बरोज़ सनीचर

१३ जमादी,अल ऑवल १२८२

२७ आसवन (असू) २०१९वि०

मैंने बिलाल से पूछा, ''इधर अखबारों में विक्रमी संवत भी छापते हैं?''

इसपर वह लापरवाही से बोला, ''इसमें हैरानी की कौन-सी बात है?''

पर मन ही मन में वह मेरे इस प्रश्न से खुश हुआ-सा लगता था। उसके चेहरे का भाव कह रहा था, 'हम लोग इतने मुतअस्सिब (धर्मान्ध) नहीं जितना कि आप हमें समझते हैं!'

पर हैरान होने की बात तो यही थी ही, जबकि पाकिस्तानी पंजाब में हिन्दुओं की संख्या आटे में नमक-सी भी नहीं रही। इसका एक ही कारण हो सकता है कि शहरों और गांवों में बसनेवाली जनता अभी तक महीनों को चैत, बैसाख, जैठ, असाढ़ आदि नामों से ही गिनती है। अखबारवालों को विवश होकर विक्रमी संवत छापनी पड़ती होगी।

टेलीफ़ोन की व्यस्तता के समाप्त होने से पूर्व ही भीतर से नाश्ते की तश्तरियां आनी शुरू हो गई- आमलेट, टोस्ट, सेब, अंगूर, केला, मिठाई, चाय...

''मैं तो नाश्ता कर आया हूं बेशक अब्बास से पूछ लीजिए।''

अब्बास दरवाज़े के पास खड़ा मुस्करा रहा था, कहने लगा, ''एक बार और कर लीजिए।''

किसीने इनकार नहीं माना। दोबारा नाश्ता करना पड़ा। नाश्ते के बाद पानदान भी सामने आ गया। दिल्ली और लखनऊ के लोग भारी संख्या में झंग में आ बसे हैं और पान खूब ज़ोर-शोर से प्रचलित कर दिया है। बिलाल निरन्तर पान खाता रहता है, इसीलिए मुझे उसके ग़ैर पंजाबी होने का शक हुआ था।

कचहरी में ए०डी०एम० साहब किसी मुक़दमे की पैरवी कर रहे थे। बड़े आदर से उन्होंने मुझे ऊपर कठघरे में अपने पास बैठा लिया। बिलाल अदालत की भीड़ में खड़ा हमारी तरफ़ ऐसे देख रहा था जैसे मुझे ऊंचे ओहदे पर पहुंचाकर ख़ुश हो रहा हो। उसकी आयु पैंतीस के लगभग होगी, पर इस समय वह बिलकुल छोकरा-सा लग रहा था।

ए०डी०एम० साहब बड़े ही सज्जन व्यक्ति थे। दिल्ली के जन्मे-पले होने के कारण बहुत ही बढ़िया और चुस्त उर्दू बोलते थे जब मैंने उन्हें अपनी आपबीती सुनाई तो उनके मुंह से स्वतः ऐसे शेर निकल पड़ा जिनमें भावनाओं की इतनी तड़प थी कि मेरा आंखें गीली हो गईं। उन्होंने कहाकि देश के परदेश हो जाने की समस्या का कोई हल नहीं है। यही समस्या उनके सामने भी आती है जब वतन की कशिश उनको दिल्ली खींच ले जाती है। इसी तरह दिल खट्टा हो जाता है, बंदिशें सहन करनी पड़ती हैं। फिर उन्होंने मेरे सफ़र के प्रोग्राम के बारे में पूछा और कुछ आवश्यक आदेश दिए मेरा अगला पड़ाव 'भेरा' था। उन्होंने बताया कि भेरा जाने के पहले मुझे सरगोधा में उतकर ज़िला सिक्योरिटी दफ्तर से आज्ञा पत्र लेना पड़ेगा। कल इतवार है, दफ्तर बन्द रहेगा। झंग से परसो रवाना होना बेहतर होगा ताकि ऐसी ही परेशानी फिर न उठानी पड़े। अंत में उन्होंने मुझे अपने बंगले पर शाम को चाय पीने का निमन्त्रण दिया, जिसे मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

वहां से निकल तांगे पर बैठके हबीब बैंक जा रहे थे कि रास्ते में साइकल पर सवार कोई गुलज़ार साहब मिल गए- काली दोपल्ली टोपी, सलेटी रंग की अचकन और सफ़ेद सलवार। उनको देख मैं सोचने लगा कि कहीं पहले भी उन्हें देखा है। बड़ी ही जानी-पहचानी मुखाकृति थी।

गुलज़ार साहब भी साइकल घुमा के हमारे तांगे के साथ-साथ हो लिए। हबीब बैंक के मैनेजर साहब के कमरे में फिर दावत तैयार थी। रसगुल्ले, गुलाबजामुन, समोसे, चाय। और जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूं- इनकार करने का सवाल ही पैदा नहीं होता था। उस सुबह से लेकर अगले तेरह दिन-जो मैंने पाकिस्तान में बिताए- मैं औसतन तीन नाश्ते, दो लंच, तीन-चार शाम की चाय और दो-तीन डिनर नित्य करता रहा। इससे वहां के लोगों की मेहमाननवाज़ी का अनुमान लगाया जा सकता है। श्राद्धों के दिनों में ब्राह्मणों की जो हालत होती है, वही मेरी थी। पर उन्हींकी तरह न मेरा हाज़मा बिगड़ा और न ही मुझे कभी दवा दारू की ज़रूरत पड़ी। हबीब बैंकवाली बैठक में तय हुआ कि गुलज़ार खां साहब कल रात को मैनेजर साहब की कोठी के अहाते में मुझे सुमी आदि लोक नृत्य दिखाने का प्रबन्ध करेंगे।

ढाई बजे के लगभग बिलाल और मैं तक़ी अंजुम के घर पहुंचे। शेरी साहब भी प्रतीक्षा कर रहे थे, और खाना भी तैयार था। कबाब, टिकियां, पुलाव, बटेर....और इनकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता था!

७

खाने के बाद हम लोग बैठक में आ बैठे! खुले दरवाज़े की चिक के पीछे एक बारह साल की बच्ची को गली का कूड़ा-करकट साफ़ करते हुए देखा। शायद किसी और जगह और किसी और अवसर पर यह दृश्य देखकर मुझमें ग़म और ग़ुस्से की भावना जाग उठती। पर इस समय कुछ और ही प्रतिक्रिया हुई। मुझे लगा जैसे मैं पिंडी में अपने छाछी मुहल्ले में बैठा हूं। पुरानी यादों-भरे किसी डिब्बे का जैसे ढक्कन खुल गया।

दो वर्ष हुए होंगे, मोगा में भी मेरे साथ यही हुआ था। जसवंत सिंह कंवल मुझे अपने एक साहित्यकार मित्र के घर ले गया था। अन्दर घुसते ही मुझे डयोढ़ी हू-ब-हू अपने पिंडीवाले मकान की डयोढ़ी सी लगी थी। उपर जानेवाली सीढ़िया भी हू-ब-हू हमारी सीढ़ियों की तरह थीं। ऊपर पहुंचे तो ममटी में कूड़ा-कचरा फेंकने के लिए जैसे हमारा ही कनस्तर रखा था। आंगन में मेंह से धुली चौड़ी ईंटों की चमकती सुर्खी भी वही, उसी तरह की लोहे की सलाखोंवाला संघ। पिछली दीवार के ठीक बीचोंबीच दिखावटीसी अंगीठी भी मौजूद थी, जिसपर पड़ी तरह-तरह की सजावटी चीज़ें जैसे ही हमारे घर से लाकर रखी गई थीं। और ऊपर स्वामी दयानन्दजी की तस्वीर टंगी थी जैसे हमारे घर में होती थी। उससे ऊपर हमारे यहां की तरह कड़ीदार छत जिसकी ईंटों पर सफ़ेदी करनेवालों से पड़ी हुई चूने की छींटें, जिनमें से मुझे छुटपन में भांति-भांति की मज़ेदार तस्वीरें नज़र आया करती थीं- और फिर जब चाय बनकर आई तो उसमें छोटी इलायची और दालचीनी की महक थी। वर्षावाले दिन मेरी माताजी को भी इसी तरह की चाय बनाने का शौक़ था। और यह सब देखके मेरी आंखों ने बरसते बादलों से बाज़ी लगा दी थी।मेरी बदनसीबी भी तो चौतरफ़ी है न ! पंजाब का एक हिस्सा मुझसे छिन गया, और दूसरा दूर हो गया। इसीसे मैं भावनाओं में बहुत जल्द बह निकलता हूं।

फिर भी, मैं सोचने लगा वे कौन-से अदृश्य जीवन-तन्तु हैं जिनकी गति मोगा के मकान में और झंग की गली में रावलपिंडी की झलकियां दिखाने लगती है, अजनबी और अपरिचित चेहरों पर पहचान की निशानियां उघाड़ देती है, सब पंजाबियों के स्वभाव, रहन-सहन, काम-काज और क्रिया-प्रतिक्रिया में समानता का रोचक रस भर देती है, उनको शेष मनुष्य-मात्र से पृथक कर देती है! इस जीवन-तन्तुओं की जड़ें न जाने कितने सौ, कितने हज़ार, कितने लाख साल पुराने अतीत में धंसी हुई हैं, जो मरकर भी नहीं मरता, बार-बार वर्तमान और भविष्य में जी उठता है। विभाजन ने पंजाबियों की धरती माता के पेट पर छुरी की नोक से केवल लकीर ही नहीं खींची, उसे बड़ी गहराई से चीर डाला है। ये जीवन-तन्तु भी नस, नाड़ियों और मांस के साथ-साथ कट गए हैं। हो सकता है जो समानताएं अब नज़र आ रही हैं, एक-दो पीढ़ी बाद लोप हो जाएं, जैसे छिपकली की टूटी हुई पूंछ काफ़ी देर तक उछल-कूद करके अन्त में ठण्डी हो जाती है।

इस प्रकार के व्यर्थ विचारों में उलझा हुआ मैं टांगें पसारकर ऊंघने ही चला था, कि बिलाल ज़ुबेरी ने, जिसने अब पूरी तरह से मुझे अपनी छत्रछाया में ले लिया था, मुझे झंझोड़कर कहा, "झंग देखने नहीं चलिएगा?"

सच्ची, मेरी ज़रूरतें मुझसे ज़्यादा उसको याद हो गई थीं। लेकिन ऐसी जल्दी भी क्या? हीर का मक़बरा तो देख ही लिया है, झंग में और विशेष क्या धरा है? जैसा

मघिआणा वैसा झंग! फिर कल का सारा दिन पड़ा है। पर दूसरे ही क्षण मैंने मन को प्रताड़ित किया। सुबह-सवेरे से बिलाल अपने सारे काम-काज छोड़कर मेरे साथ अटक रहा है। क्या कृतज्ञता इसीको कहते हैं?

गली से निकलकर जब हम मैदान में पहुंचे तो एक खाकी रंग की जीप सामने से आती दीखी। मेरी छाती पर फिर घूंसा पड़ा। कहीं पुलिस तो नहीं है? अब मुझसे कौन-सा कुसूर हो गया है?

वह एक ऊंचे सरकारी अफ़सर की जीप थी, जिसमें उनकी मित्र-मण्डली बैठी थी। परिचय के बाद कहने लगे, "हम आपकी तरफ़ आ रहे थे, चलिए आपको सैर करा लाएं।"

"बिलाल साहब और मैं ज़रा झंग की तरफ़ जा रहे थे।"

"झंग? " उन्होंने साश्चर्य मेरी ओर निहारा, "वहां जाकर क्या करेंगे?"

"करना तो कुछ नहीं है!" मैंने हंसकर उत्तर दिया।

"झंग को छोड़िए, चलिए हमारे साथ आपको त्रिमू ले चलें, जो असल में देखनेवाली जगह है।"

चिनाब और जेहलम के संगम को, जो वहां से लगभग नौ मील के फ़ासले पर है, त्रिमू कहते हैं। बड़ा प्रसिद्ध सैरगाह है। वहां एक नया और शानदार बांध भी बना है।

"पर मेरा वीज़ा तो शहर से बाहर जाने का नहीं है।" मैंने अपनी विवशता बताई।

"अरे, छोड़ो भी वीज़े को!" एक और व्यक्ति धड़ल्ले से बोला, "इस गाड़ी को कौन रोक सकता है?"

पर मैं पुलिस की आज्ञा बिना जाने को राज़ी न हुआ। दूध का जला छाछ भी फूंक-फूंककर पीता है। क्या मालूम फिर किसी बात का बतंगड़ बन जाए। मैं किसी ग़लत लोभ में नहीं पड़ना चाहता था।

पर चिनाब और जेहलम का संगम देखना कोई छोटा-मोटा लोभ नहीं था। मैंने विनती की कि अगर वे मुझे आज्ञा दिलवा दें तो सहर्ष उनके साथ चलूंगा, बल्कि आभारी होऊंगा।

लड़कों ने इस बात की जिम्मेदारी ली। बोले, "डी०सी०साहब रात तक लौट आएंगे, हम उनसे इजाज़त ले लेंगे। कल सवेरे सात बजे इंशाअल्लाह, हम आपको लेने ज़ैलघर आ जाएंगे। आप तैयार रहिएगा। देखने का सही वक्त भी वही है।"

उनको जीप घुमाके जाते हुए देखकर बिलाल दबी ज़बान में बोला, "भले आदमी हमें झंग तक तो छोड़ आते !"

यह बात मुझे भी खटकी थी। "शायद उनके अनुमान के अनुसार मैं बड़ा फ़िल्म स्टार साबित नहीं हुआ," मैंने हंसकर कहा।

"नहीं, यह बात नहीं है। बेचारे नर्वस हो गए होंगे।"

बाज़ार में पहुंचर बिलाल को ख़्याल आया कि एक बार अपने दफ़्तर का चक्कर लगा लेना चाहिए, शायद कोई चिट्ठी-इट्ठी आई हो। बात ठीक थी, मुझे क्या आपत्ति हो सकती थी। बल्कि उसके साथ आवारागर्दी करने का अब मुझे अजीब-सा मज़ा आने लग गया

था। अब मैं संकरी गलियों और मक्खियों की भिनभिनाहट को अलग दृष्टि से नहीं देख रहा था, ऐसा लगता ता जैसे वो मेरे जीवन का एक अंग बन गई हों। बिलाल के दफ़्तर के पास की एक गली में डाकखाना था। मेरी जेब में आधा दर्जन रंगीन पिक्चर-पोस्टकार्ड पड़े थे जिन्हें मैंने लाहौर के ख़ूबसूरत हवाई अड्डे की सैर करते समय खरीदा था। मैंने बिलाल से कहा, "आप अपना काम कर आएं तब तक मैं अपने सम्बन्धियों और मित्रों को यह को यह पिक्चर-पोस्टकार्ड भेज देता है । बड़े चाव से मैने प्रेम संदेश लिखे । टिकटें ख़रीद कर लगायी । कुछ टिकटें अपनी बच्ची सनोबर के लिए सौगात तौर पर रख लीं। फिर जब बाहर की सीढ़ियों पर से छलांग लगाकर उतरा तो सीधा एक साइकिलवाले व्यक्ति से जा टकराया जो मुझसे ही मिलने के लिए आ रहे थे।

आज मेरी क़िस्मत का सितारा वाक़ई बुलन्द था। इस असाधारण व्यक्तित्व के मालिक का नाम था सैयद जफ़र अली 'जफ़र'। उर्दू के मशहूर-ओ-मारुफ़ शायर होने के अलावा हिन्दी में भी बड़े ठाठ से कविता करते हैं। अपने बारे में लिखा है-

पल-पल काया-चोला बदले और घूमे आकाश।

हीर नगर का सैयदज़ादा बन गया तुलसीदास ।।

साइकिल उन्होंने बिलाल के दफ़्तर में छोड़ दी और तीनों जने हिचकोले खाते एक तांगे में बैठ के हीर की नगरी की ओर चल पड़े।

रास्ते-भर बड़ी उत्सुकता से मैं जफ़र साहब से हिन्दी रचनाएं सुनता रहा। वे अंजुम तक़ी साहब के मित्र थे और सुन चुके थे कि मैं भी हिन्दी का काफ़ी शौक़ रखता हूं। वास्तव में यही आकर्षण उन्हें मुझ तक खींचकर लाया था।

हमारे देश में आम तौर पर समझा जाता है कि हर पाकिस्तानी हिन्दी से घृणा करता है। जफ़र साहब की बड़ी अच्छी हिन्दी में लिखी कविताओं से काफ़ी हद तक यह ग़लतफ़हमी दूर हो सकती है।

अचानक बिलाल ने सामने से आते हुए एक साइकिल-सवार को आवाज़ दी, "खैरियत से आ गए खैरियत से!" और तांगा और साइकिल एक साथ खड़े हो गए। वह व्यक्ति साइकल से उतरकर हमारे पास आया। सारा लिबास सफ़ेद था। सफ़ेद पगड़ी घुटनों तक पहुंचती हुई, सफ़ेद कमीज़ और 'शां-शां' करती सफ़ेद शलवार। उसके हाथ में कपड़े का एक थैला था- किसी चीज से भरा हुआ। शायद मछलियां थीं, ठीक से याद नहीं। शक्ल बेहद काली और इसी कारण कपड़ों की सफ़ेदी आंखों को और भी चुभती थी। लम्बी, चुस्त पर एकदम सफ़ेद मूंछें। पूरा हुलिया ही किसी ऊंचे अफ़सर के खानसामे का सा था।

बिलाल ने तांगे से उतरकर उनसे बड़े गोपनीय अन्दाज़ में कानाफूसी की- और बाद को जब वे चले गए तब बताया कि वे शेर अफ़ज़ल जाफ़री है- मग़रबी पाकिस्तान के चोटी के शायर!

"यार, तुमने तो हद कर दी। मेरा परिचय तक नहीं कराया। डा० नज़ीर ने तो इनको मेरे आने की पहले से इत्तलाह दे रखी है।"

"हां, हां, पर इतने उतावले क्यों होते हैं।" बिलाल ने फिर एक योग्य प्रबन्धक होने का सबूत देते हुए कहा, "उन्होंने मुझसे कह दिया है। माफ़ी मांगते थे कि इससे पहले आपकी खिदमत में हाज़िर नहीं हो सके। चन्योट गए हुए थे। झंग से जब हम वापस लौटेंगे वे तक़ी साहब के घर पर हमारा इंतिज़ार करते होंगे।"

ज्यों-ज्यों झंग शहर के टीलों के पास आते गए मेरे मन की हालत ऐसी होती गई जैसे अभी से उनका प्रभाव मुझपर होना शुरू हो गया हो। किसी ज़माने में मैंने 'दामोदर' की हीर भी पढ़ी थी। पर उन दिनों मैं पंजाबी अटक-अटककर पढ़ता था और बहुत थक जाता था। पता नहीं कितने महीनों में मैंने किताब खत्म की थी। मैंने उसे अधिक महत्त्व भी नहीं दिया था क्योकि मेरे मन में वारिसशाह के ही सर्वोत्तम हीर-लेखक होने का ख्याल बैठा था। पर झंग के निकट आकर और झंग के लोगों की बोली सुन-सुनकर अब मुझे यह महसूस होने लग गया था कि वारिसशाह यहां बेगाना और अजनबी है। बारम्बार मेरा ध्यान दामोदार की हीर की ओर चला जाता, और वह मुझे असली और बुनियादी चीज़ लगने लगती। उसमें चन्योट का नाम भी आया था और अन्य स्थानों का भी, जो यहां कहीं आसपास के इलाके में होंगे। सिआल और खेड़े अब भी यहां के प्रसिद्ध खानदान हैं, पर और भी कितने ही खानदानों का दामोदर ने नाम लिया है। मैंने आने से पहले दामोदार की हीर एक बार और क्यों नहीं पढ़ ली? उसकी मदद से यहां मुझे कितने चिह्न मिल जाते? हीर के किस्से का अन्तिम भाग वारिसशाह ने बड़े काल्पनिक ढंग से वर्णन किया है। पर दामोदार ने वर्णन में असलियत और सच्चाई कूट-कूट-कर भरी है। उसने लिखा है, कैसे रंगपुर से भागने के बाद हीर और रांझे ने एक ऐसे क़बीले की शरण ली जो उनकी तरह ही ऊंची जाति के राठों का था, कैसे पुरानी राजपूती परम्पराओं के अनुसार इस क़बीले ने सिआलों के साथ लड़कर शरणागतों की रक्षा की थी। फिर यह मामला एक राजा के दरबार में पेश हुआ था, पर उसके काज़ी ने इंसाफ़ नहीं किया और हीर फिर से खेड़ों के हवाले कर दी गई। खेड़ों ने हीर के गले और कमर में रस्सी बांधकर उसे घोड़े के पीछे-पीछे घसीटा, सारी रात मार-मार के उसका बुरा हाल करते रहे।...भला उस राजा का शहर कितनी दूर होगा यहां से?...

तांगे से उतरकर हम एक दरवाज़े में से होकर शहर में दाखिल हुए। यह दरवाज़ा शहर की पुरानी फ़सील में है जिसके अब भग्नावशेष ही बाक़ी रह गए हैं। भीतर पहुंचकर थोड़ी दूर पर हमने नाथजी का मन्दिर देखा, जो अब भी बड़ी अच्छी हालत में सलामत खड़ा है। इसे देखकर विश्वास हो जाता है कि रांझे का नाथपंथी जोगियों की शरण में जाना अवश्य ही एक ऐतिहासिक घटना होगी। इस मंदिर के पिछवाड़े सिआलों का एक पुराना शीशमहल है जो अब ढहकर धरती से मिल गया है। हां, कहीं-कहीं दीवारें अब भी खड़ी हैं। बिलाल और जफ़र साहब ने मुझे एक दीवार सूंघने को कहा। पहले मैंने सोचा मज़ाक़ कर रहे हैं, पर जब उन्होंने आग्रह किया तो मैंने दीवार सूंघी। उसमें से चंदन की बड़ी साफ़ महक आ रही थी। उन्होंने बताया कि महल के निर्माण के समय छत, दरवाज़े, खिड़कियां आदि के लिए केवल चन्दन की लकड़ी ही प्रयोग में लाई गई थी। इसी कारण महल के नष्ट हो जाने के बाद भी उसके खंडहरों से चन्दन की महक आती है। इस दीवार का नाम ही 'चन्दन-दीवार' है।

इसी वीरान महल की ज़मीन के एक ओर सिआलों के प्रमुख नवाब बहादुरखान की हवेली है। बहुत बड़े जागीरदार है। बड़े आदर से उन्होंने हमारा स्वागत किया, चाय पिलाई और सिआलों का पूरा इतिहास सुनाया। कैसे राजा भोजराज के समय में सिआल मुसलमान हुए। कैसे धर्म-परिवर्तन के बाद भी खानदानी रस्मरिवाज़ पुश्त-दर-पुश्त चलते रहे। जैसेकि ब्याह-शादी के अवसर पर ब्राह्मण-पुरोहितों को बुलवाना, शरणागत की रक्षा, अतिथि-सत्कार आदि। कैसे उनका राज दस्तूर सिखों के समय तक बना रहा। कैसे खड़कसिंह ने हमला किया। कैसे नवाब के सरदार ने विश्वासघात किया और सिखों से जा मिला। कैसे तीसरे हमले में सिआलों की हार हो गई।

नवाब साहब का एक मुज़ारा भी पास ही बैठा था। उसने उस विश्वासघाती सरदार के बारे में शुरू से चले आ रहे निन्दापूर्ण कवित्त सुनाए। वह बहुत बढ़िया थे, वे मैंने नोट भी कर लिए। पर पता नहीं कमबख़्ती से वह काग़ज़ मुझसे कहीं खो गया है।

अन्त में नवाब साहब ने कहा, "आजकल के ज़माने में पैसा देखते हैं पहले खानदान देखते थे। आज कुत्ते की नस्ल तो दिखती है पर इंसान का ख़ून नहीं दिखता। अंग्रेज़ भरती भी करते थे तो खानदान देखकर ताकि भीड़ पड़ने पर कंपकंपी न छूट जाए। पर अब वे बातें नहीं रहीं। अब मकान हो, पैसा हो, मोटर, हो, पतलून हो!..."

८

झंग-मघिआणा को याद करते वक़्त अनेक चेहरे आंखों के आगे घूमने लगते हैं- बिलाल, अंजुम तक़ी, जफ़रअली, शेरी साहब, शारिब अनसारी, हबीब, शेर अफ़ज़ल जाफ़री...और मैं सोच-सोचकर आश्चर्य करता हूं कि कैसे इन ख़ुदा के बन्दों ने एक अभ्यागत और अपरिचित व्यक्ति को झट गले से लगा लिया।

जिस व्यक्तित्व का मुझपस सबसे ज़्यादा प्रभाव पड़ा वह था- शेर अफ़ज़ल जाफ़री, वही शायर जिसके बारे में कह चुका हूं किसी बड़े अफ़सर का खानसामा लगता था। यह व्यक्ति मुझे सार्वभौमिक मूल्यों का प्रतीक लगा। उसके साथ बैठकर मैंने स्वयं को धरती से कुछ ऊपर उठा हुआ अनुभव किया।

मुझे जीवन में कुछ अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त हस्तियों को निकट से देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है- गांधीजी, टैगोर, कश्मीरी भाषा के महाकवि ग़ुलाम अहमद महजूर, बंगाली साहित्यकार क्षितिमोहन सेन आदि, और मैं इस निर्णय पर पहुंचा हूं कि जिस स्तर पर ये लोग विचरण करते हैं उसका ज्ञान केवल उनकी रचनाएं पढ़कर ही नहीं, बल्कि उनकी बातचीत और उसमें छलकते हास्य-परिहास से भी प्राप्त होता है। रोने से हंसना और रुलाने से हंसाना कितना कठिन है। रोना निराशावादी और हानिसूचक वस्तु है, इसका कलेवर सांसारिक मोह से बंधा हुआ है। इसी कारण इसकी विभिन्न स्थितियां नहीं होतीं, और स्तर-भेद भी मामूली है। पर हास्य में निर्लिप्तता, युक्ति और उड़ान है। तभी इसके भांति-भांति के रंग-रूप हैं। यह निम्न से निम्न और ऊंचे से ऊंचे स्तर का हो सकता है। यहां तक कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति की मानसिक, भावनात्मक और नैतिक बड़ाई का अनुमान उसकी हंसी से लिया जा सकता है। मैंने देखा है कि हास्य उपर्युक्त महापुरुषों का सबसे बड़ा मनोरंजन था। इसीसे वे अपनी थकान मिटाते थे, अपने काम को और जैसे संसार को भी खेल-सा बना देते थे।

शेर अफ़ज़ल बज़ाते-खुद एक चलता-फिरता मुशायरा है। उसने मुझसे न तो मिलने पर और न ही उसके बाद कभी कोई व्यक्तिगत सवाल पूछा। मैं कौन हूं, कहां से आया हूं, क्या करता हूं, इन बातों में उसकी कोई दिलचस्पी नहीं थी। उसकी चंचल और आश्चर्यजनक हद तक ज़वान आंखें मेरे भीतर के इंसान को टटोलती हुई लगती थीं।

मेरी बड़ाई इसमें थी कि मुझे उसकी आंखों से भय नहीं लगा। मुझे उनमें वही सब मिलता जो मैं स्वयं ढूंढ़ता था, और मैं दिल ही दिल में डा० नज़ीर के कथन का समर्थन करने लगा, "सचमुच यही बड़ी 'मरदुमखेज़' धरती है!"

उस शाम जब झंग से वापस आकर हम तक़ी अंजुम के घर पर इकटठे हुए तो शेर अफ़ज़ल जाफ़री ने हंसी और चुहलों की बौछार लगा दी। उसी बीच अपने-आप कविताएं चल पड़ीं, मुशायरा शुरू हो गया। अंजुम तक़ी ने अत्यन्त करूण कविताएं सुनाई, जफ़र ने रूमानी। कुल मिलाकर दस-पन्द्रह आदमी बैठे थे। पर ऐसा रसीला समां बड़े से वड़े मुशायरों में भी कभी-कभार ही बंधता है, और फिर जब मीरे-मुशायरा (सभापति) शेर अफ़ज़ल ने अपनी ग़ज़ल सुनाई तो एक-एक शेर आकाश में उड़ानें भरने लगा। सच, अगर मु० इक़बाल वहां मौजूद होते तो :

दान करो रुग-रुग भर वसलां [१]
घुट-घुट मारो जफिआं [२]

की नौबत्त आ जाती।

जाफ़री को अपने झंग देश की बोली पर बड़ा मान है और उसकी रसना पर यह बोली पंजाब की सबसे मीठी और समर्थ बोली बन जाती है, पर वह लिखता उर्दू में है। मेरे विचार में इसका कारण हीनभावना नहीं है। वह अपने देश की राष्ट्रभाषा उर्दू को प्रबल बनाना अपना कर्तव्य समझता है। उर्दू को सीमित नहीं, व्यापक ढंग से देखना चाहता है, उसकी झोली को झंग की शब्दावली, अलंकार और उपमाओं से भरता है। जैसा कि निम्नलिखित कुछ पंक्तियों से प्रकट है।

दार का सोग-सोग हलकोरा
ज़िंदगी का सुहाग लाया है
महिवे-आबे-चनाव हो कर भी
इश्क़ ने आग राग गाया है।
फिर नया दाग़ वक्त ने बख्शा
एक दिया और मुस्कराया है।

उसके बाद की रात, झंग में मेरी आखिरी रात, जब हबीब बैंक के मैनेजर साहब की कोठी में, तारों की छांव में, 'सम्मी थ्रीस' का नागाड़ा बजा था और शेर अफ़ज़ल फिर फुलझड़ियों और महताबियों की तरह छूट-छूट पड़ा था- उसके व्यक्तित्व की महक का मैं कैसे बयान करूं? यह मेरी शक्ति के बाहर की बात है! अगर मुझे डायरी लिखने का सही ढंग आता होता तो इधर-उधर की बातें नोट करने के स्थान पर मैं उसके मुंह से निकलने वाले वाक्य ही नोट करता जाता!

१. मुट्ठियां भर कर। २. आलिंगन

पंजाब का भांगड़ा नृत्य पूरे देश में ख्याति प्राप्त कर चुका है, पर झंग के 'सम्मी' नृत्य के सामने वह कोई चीज़ ही नहीं। मेरे कथन की सचाई वही सज्जन परख सकते हैं जिन्होंने यह नृत्य अपनी आंखों से देखा है।

वास्तव में 'सम्मी' नवयुवतियों का नाच है। इसकी गति, लय और तान-सुबक और महीन हैं। इसमें भांगड़े वाला 'खरूद' (शोरगुल) बिलकुल नहीं। आज अगर यह पुरुषों के पल्ले पड़ गया है तो इस बात की ज़िम्मेदारी केवल मुसलमानों की मज़हबी तंग-नज़री पर नहीं थोपी जा सकती। मुझे पास बैठे हुए एक वृद्ध ने बताया था कि उनके बचपन में गांवों की स्त्रियां, हिन्दू और मुसलमान दोनों, एक साथ 'सम्मी थ्रीस' नाचा करती थीं। पर धीरे-धीरे नई रोशनी के पढ़े-लिखों ने इन चीज़ों को असभ्य और अश्लील क़रार दे दिया, और शहरों में रहनेवालियों की देखा-देखी जाटनियां भी इससे विमुख हो गईं।

लगभग बारह व्यक्तियों की मण्डली थी। हल्के हरे रंग की पगड़ियां, रेशमी सफ़ेद पिंडलियों तक लम्बे कुर्ते, हल्के हरे रंग की तहमदें। एक-दो के हाथ में चिमटे, बाक़ियों के हाथ में खड़तालें। जिस जवान को विशेषकर स्त्री का नाच नाचना था वह एकदम बीच में था, सुलफे की लाट-सा सुकुमार नाज़ुक और सुन्दर ! ढोलची की ताल और ठुमक के आधार पर चिमटे और खड़तालें बजतीं और बिजली की-सी तेज़ी से यो लोग छतराते, तोड़े लेते, 'पैलां' डालते और फिर तुरन्त ही एक पंक्ति में दायरा बनाकर ज़मीन को पैरों के अंगूठे से ठोकर मारते हुए ऐसे गतिशील हो जाते जैसे किसी पहियेवाली गाड़ी पर सवार हों। ढोलची तालों का अथाह सागर अपने हाथों में समेटे खड़ा था। न तो वह अधिक चलता था और न ही उसके मुंह पर कोई भाव आता था। उसका चेहरा ऐसा सपाट था जैसे किसी खुली आंखोंवाले मुर्दे का चेहरा हो। उसकी सम्पूर्ण चेतना उसके ढोल में थी।

नृत्य-स्थल के चारों ओर काफ़ी जगह छोड़कर, मूढ़ों और कुर्सियों की क़तारें बिछी थीं। सैकड़ों छोटे-बड़े, अमीर और ग़रीब जमा थे। मां एं-बहनें ऊपर कोठी के बरांडे में, चिकों के पीछे बैठकर देख रही थीं। जिस मेहमान के लिए यह सब किया गया था उसकी जेबें खाली थीं। इस कमी की पूर्ति के लिए हर ओर से यार-दोस्तों के नाम पर पैसे न्योछावर किए जा रहे थे। कलाकारों की झोलियां खूब-खूब भरी जा रही थीं। मुख्य नायक सोहिले[१] गाता थक-थक जाता था। और इस सारे चाव-मल्हार की जान थे गुलज़ार और शेर अफ़ज़ल जाफ़री।

मेरे जी में आई कि कम से कम दस रुपये की 'वेल' शेर अफ़ज़ल के नाम पर ही दे दूं। पर नोट नायक के हाथ में पकड़ाते हुए अचानक मेरे मुंह से निकल गया, 'पाकिस्तान दे कलाकारों दी वेल' और जब नायक ने इसकी घोषणा की तो चारों ओर तालियां गूंज उठीं।

अन्त में मेरे सम्मान में शेर अफ़ज़ल ने भाषण किया, पर उसका मुझे एक शब्द भी याद नहीं है। रात के बारह बज चुके थे। सवेरे छः बजे मुझे सरगोधा रवाना हो जाना था। मैं इन लोगों से कैसे हमेशा के लिए बिदाई मांग सकूंगा! इन लोगों से जो कल तक मेरे लिए अजनबी थे और अब सगे भाइयों की तरह अपने हो गए थे। गुलज़ार, अंजुम तक़ी, शारिब, बिलाल इन सबसे कैसे 'खुदा हाफ़िज' कह सकूंगा! मैं इन्हीं विचारों में डूबा हुआ था।

---

१. पैसे (इनाम) देने वालों के प्रति प्रशंसागान।

फिर मुझे भी बोलना पड़ा। इतनी दिली गहराई से और इतना उखड़ा-उखड़ा शायद ही मैं जीवन में कभी बोला होऊंगा। न जाने मेरी किस भावना ने मुझसे कहलवाया :

''भाइयों, मैं तो आंधी-तूफ़ान में उड़ते हुए रद्दी काग़ज की तरह आपके शहर की सड़कों पर आ पड़ा था। आप लोगों ने उठा लिया, पोंछ-पोंछकर साफ़ कर लिया, और उस पर अक्षर बनाने शुरू कर दिए। इतनी भारी कर दिया है इसे अक्षर बना-बनाकर! इस काग़ज़ को तो उड़कर फिर आगे जाना था, अब यह कैसे उड़ सकेगा, बताओ तो सही ?...''

और जब ज़ैलघर के दरवाज़े के सामने रात के घुप अंधेरे में अंतिम 'जफियां' (आलिंगन) डाली गईं तो शेर अफ़ज़ल ने अपनी हंसी से वातावरण को चमकाते हुए कहा, ''आज हमें यक़ीन हो गया भई कि हिन्दुओं में भी मोमिन हैं!''

न जाने दिल की किन रंजिशों और कटुताओं ने उसे यह वाक्य कहने पर मजबूर किया था? क्या उसने व्यंग्य किया था? कहीं वे मुझे ग़लत ढंग से तो नहीं देखता रहा? कहीं मैं उसके बारे में ग़लत तो नहीं सोचता रहा? क्या मैं उसकी आलोचना करूं या अपनी ?...काफ़ी देर तक बिस्तरे पर पड़े-पड़े मैं यही बात सोचता रहा...

६

काफ़ी देर से, दोपहर के कोई ढाई बजे सरगोधा पहुंचे क्योंकि सुबह डिप्टी कमिश्नर साहब के बंगले पर नाश्ते के लिए जाना पड़ा था। वे स्वयं अभी तक वापस नहीं आए थे, लेकिन उसीके परिवारवालों ने बड़ा अनुरोध किया। खिला-खिलाकर झंग के लोगों ने पहले ही दुम्बा बना दिया था, यह नाश्ता भी लंच या डिनर से कम नहीं था।

उनके परिवार का ही एक नौजवान सरगोधा तक बस में मेरे साथ चलने की ज़िद करने लगा। ये लोग नहीं चाहते थे कि कोतवाली और सिक्योरिटी अफ़सरों के द्वारा मुझे फिर परेशानी उठानी पड़े। यह बात मुझे भी जंच गई।

सरगोधा में चंडीगढ़ की तरह मुहल्लों के स्थान पर सेक्टर हैं। पहले तो मैंने सोचा यह नई ईजाद होगी, पर फिर पता चला कि अंग्रेज़ों के समय से ही ऐसा चला आ रहा है।

मेरे साथी, जिसका प्रभावशाली नाम सिकन्दर हयातखां था, का घर अठारह नम्बर सेक्टर की एक गली में था। उसका असली वतन दिल्ली था और जाति पठान, किसी ज़माने में काबुल से जलावतन होकर उसके पुरखे दिल्ली में आ बसे थे और वहां इनको अंग्रेज़ी सरकार ने जागीर दे दी थी। मुहाज़िर होकर पाकिस्तान आ जाने पर इसको अच्छा-खासा मुआविज़ा मिला है। सिकन्दर पंजाबी बोलता है पर अभी बहुत अच्छी तरह नहीं बोल पाता, उर्दू खूब लच्छेदार दिल्ली वाली बोलता है पर मुझे सुनकर झुंझलाहट होती थी। अब मैं अपने पुरखों की जन्मभूमि में प्रवेश कर रहा था। चाहता था यहां की बोली ही मेरे कानों में पड़े। मेरी आंखें इस अस्सी मील यात्रा के दौरान आसपास उसारी (निर्माण) के चिह्न भी ढूंढ़ रही थीं। पूर्वी पंजाब की धरती पर कहीं-कहीं ट्रैक्टर दिखाई पड़ जाते हैं। ट्रकों की तो भरमार है। छोटे-बड़े कारखाने भी जगह-जगह मौजूद

हैं। पर ऐसे चिह्न मुझे झंग से सरगोधा तक कोई खास दिखाई नहीं पड़े, हां जाटों की आर्थिक दशा पूर्वी पंजाब के जाटों के मुक़ाबले में कुछ बुरी नहीं लगी।

सिकन्दर की सहायता से पुलिस और सिक्योरिटी की हाज़री बिना तकलीफ़ झटपट निपट गई, परन्तु मानना पड़ेगा कि यह- क़वायद कहिए या खेल- सरगोधा में मेरा एकमात्र कार्य बना रहा। कल भेरा जाने से पूर्व ही फिर थाने जाकर वापसी की मुहर लगवानी होगा, भेरा के थाने में पहुंचने की और वहां से चलने के समय की मुहर लगवानी होगी। दोपहर के तीन बजे से पहले-पहले सरगोधा वापस लौटना होगा। वर्ना सिक्योरिटी आफ़िस बन्द हो जाएगा और परसों छः बजे सुबह की गाड़ी से रावलपिंडी के लिए रवाना होना कठिन हो जाएगा।

मैंने अपने घर में कई बार यह चर्चा सुनी थी कि हमारे कई रिश्तेदार सरगोधा शहर में या आसपास के गांव में अब भी रहते हैं। इनमें से कुछ मुसलमान हो गए हैं, और कुछ अब भी हिन्दू हैं। लायलपुर से झंग आते हुए किसीने सरगोधा के सोहनलाल साहनी वकील का नाम भी लिया था। शाम को सिकन्दर और मैं उनका पता लगाने के लिए निकल पड़े।

हमें घर ढूंढ़ने में देर नहीं लगी। श्री सोहनलाल साहनी शहर के पुराने और प्रसिद्ध वकीलों में से हैं, और शायद नगर-सभा के मेम्बर भी है। बड़ा आलीशान मकान था उनका। सिकन्दर और मैंने बड़े अदब से उनके दफ्तर में प्रवेश किया।

साठ वर्ष के वृद्ध होंगे वे। उस समय भी वकीलों वाला कातर और काला कोट पहने हुए थे, जिससे स्पष्ट होता था कि कचहरी से वापस आते ई फिर काम में जुट गए थे। मेज़ के आसपास की दूसरी कुर्सियों पर कारिंदे और मुवक्किल बैठे हुए थे, मैंने नमस्कार करके कहा, ''बम्बई से आया हूं जी, और मैं भी एक साऽनी...''

उन्होंने हाथ के इशारे से मुझे रोककर कहा, ''बैठो!''

वे ऐनक उतारकर बड़ी देर तक चुपचाप मुझे घूरते रहे। फिर जैसे बड़ी मुश्किल से कहा हो, ''तू बलराज है?''

मेरा रोम-रोम फुरफुरा उठा। जी चाहा उठकर उनका आलिंगन (भिरोची बोली में गलवंडी) कर लूं। पर अभी तक कोई रिश्ता नहीं निकल पाया था, इतना साहस कैसे करता!

''पता है मैं तेरा क्या लगता हूं?'' उन्होंने फिर पूछा।

''नहीं जी!'' मैंने बहुत ही लज्जित होते हुए कहा, कुछ साल पहले मेरे माता-पिता बम्बई आए थे, तब कई बार आपस में मेरा और सरगोधा के बिछुड़े हुए सम्बन्धियों का ज़िक्र करते थे, पर मैंने कभी उधर ध्यान नहीं दिया। कभी मुझे भी सरगोधा आने का अवसर मिलेगा, यह तो मैंने कभी सपने में भी नहीं सोचा था।

''तेरी ताई थी ना लक्ष्मी?''

''जी!''

''वह मेरी मौसी लगती थी।''....

बचपन में जब हम पिंडी होते हुए कश्मीर जाया करते थे तो उड़ी के पार सड़क की दाहिनी ओर पहाड़ के साथ-साथ एक लकड़ी की बाड़-सी दिखती थी। मौहरे के बिजलीघर की नहर थी यह। और पिताजी इसकी ओर इशारा करते हुए हमें बताया करते थे कि यह तुम्हारे ताऊजी ने बनवाई थी, शिवदास भाइयाजी ने! यहां उनका ठेका था।

भाइयाजी ने मेरे पिताजी को बेटों की तरह पाला था। मेरे जन्म से कई वर्ष पूर्व ही उनका स्वर्गवास हो गया था। मेरे भाई-बहनों में से भी किसीने उन्हें नहीं देखा था, पर ताईजी को हमने अच्छी तरह देखा है और जानते हैं। कई बार पिंडी में हमारे यहां आकर ठहरती थीं, और बड़ा प्यार करती थीं। वैसे बालविधवा हो जाने के बाद वह ज़्यादा समय अपने मायके में ही बिताती थीं- पाकिस्तान बनने के बाद भी वे सरगोधा में ही रहीं, और वहीं उनका स्वर्गवास हो गया।

वे हंसकर कहने लगे, "सुन भाई सिआणियां (बुद्धिमान), तुम लोगों की यहां जो जायदाद थी उसका तुम लोगों ने क्लेम क्यों नहीं किया?"

"यहा हमारी कौन-सी जायदाद थी?" मैंने साश्चर्य पूछा।

"तेरे भाइयाजी का यहां मकान था। उनके मरने के बाद तेरे पिताजी ने उसको तुड़वाकर दुकानें बनवा दी थी। उनका किराया तेरी ताईजी को मिलता रहता था। पर उनकी मृत्यु के बाद तुम्हीं लोग तो हो। तुमने क्यो नहीं क्लेम किया? मैंने तुम्हारे पिताजी को कई चिट्ठियां भी लिखीं, मगर उन्होंने कोई उत्तर ही नहीं दिया।"

"मुझे तो जी, इस बात का कुछ पता ही नहीं है।"

"पता है बंटवारे के समय उन दुकानों की कीमत क्या थी? कम से कम तीन लाख!"

सुनकर मैं चौंक पड़ा। क्या इस अनजाने शहर में, जिसे मैंने कभी देखा तक न था, मेरी लाखों की सम्पत्ति थी! एकदम मैं स्वयं को बहुत अमीर और 'सरगोधिया' समझने लगा।

"आपने खुद क्यों नहीं क्लेम कर लिया भाइयाजी?" मैंने पूछा।

"चीज़ तुम्हारी, हम कैसे क्लेम कर लेते?"

यह साहनियों वाली सच्ची और खरी आन थी, वर्ना उस उथल-पुथल के ज़माने में अपनी खानदानी चीज़ को हथिया लेना उनके जैसे ऊंचे व्यक्ति के लिए कोई कठिन काम नहीं था। मेरे पिताजी अगर क्लेम करते तो भारतीय सरकार की ओर से २५-३० हजार से ज़्यादा न मिलता। पर इन यहां रह जानेवालों के लिए उस समय की तीन लाख की चीज़ इस वक्त छः लाख के बराबर होती!

"बलराज, यहां आकर हमारे पास क्यों नहीं ठहरा? हमने अखबार में जब पढ़ा कि तू आया है तो हमें पूरी उम्मीद थी कि ज़रूर हमारे पास कुछ दिन आकर रहेगा।"

"मुझे पता नहीं था, भाइयाजी, कि यहां मेरा अपना घर भी है। अब तो बस कल का दिन भेरे में कटेगा, फिर वापस आकर परसों पिंडी चला जाऊंगा।"

"भेरे में किसके पास जाओगे?"

"किसके पास जाऊंगा? वहां अब अपना है ही कौन?"

''भेरे का अब अपना भी कोई नहीं रहा।''

''क्या मतलब?''

''खुद ही जाकर देख लेना। हां, वहां अपना एक-साहनी भाई है अब चौधरी गुलाम मुहम्मद नाम है उसका। साहनियों के मुहल्ले में जाना तो पूछ लेना। तुम्हारे घर के पास ही उसका घर है। और देख, अभी तो तू इनके साथ आया है इससे मैं कुछ नहीं कहता, पर कल रात रोटी हमारे साथ खाना।''

''ज़रूर जी!''

सिकन्दर ने उनको अपना परिचय दिया। वे उसके परिवार को अच्छी तरह जानते थे। बड़े खुश हुए कि मैं भले लोगों के घर में ठहरा हूं।

१६ अक्टूबर, १९६२

सुबह उठते ही सबसे पहले थाने में रिपोर्ट लिखाई, फिर बसों के अड्डे पर जा पहुंचे। भेरा भी साठ-सत्तर मील दूर था। सिकंदर साथ था, साथ ही उसके दो मित्र और भी थे। उस वक्त मैं उनके साथ की क़ीमत न आंक पाया। भेरा पहुंचने पर मेरे दिल में भावनाओं का कौन-सा तूफ़ान उमड़ पड़ना था, उस वक्त मुझे मालूम नहीं था। उस वक्त तो भेरा मुझे बहुत जोखिम-सी मुहिम लग रहा था।

बसों के अड्डे का वातावरण...

बड़े गन्दे-गन्दे भिखारी बसों के भीतर-आ-आकर भीख मांग रहे थे। भारत के और भागों का तो मुझे अनुभव नहीं, पर पंजाब के शहरों में इस प्रकार की बेक़ायदगी असंभव है। भिखारियों को बस के भीतर घुस के सवारियों को परेशान करने की छूट नहीं मिल सकती और ये भिखारी भी मुझे सही अर्थों में मोहताज नहीं लग रहे थे, सरकार और जनता की धार्मिक प्रवृत्ति का अनुचित लाभ उठाते दीख रहे थे।

बस भेरे की ओर चली जा रही थी पर मुझे विश्वास नहीं हो रहा था कि सचमुच मैं कुछ ही देर में भेरा पहुंच जाऊंगा। पिछली बार जब भेरा देखा था तब से अब तक ४० साल हो गए हैं। उस समय मेरी आयु लगभग ८-९ वर्ष की रही होगी। उन दिनों पिंडी में शायद प्लेग फैली थी। माताजी को झाड़ू देते हुए एक कमरे में बड़ा-सा चूहा दिखाई दिया और उसी शाम को पिताजी पूरे परिवार को गाड़ी में बिठाकर भेरा छोड़ आए। तब हम भेरे में छः महीने के लगभग रहे थे। इसी दौरान में मेरी बड़ी बहन की, जो अब इस संसार में नहीं हैं, सगाई और ब्याह हुआ था। ये छः महीने बड़े मज़ेदार थे। स्कूल कभी-कभी ही जाते थे। पिताजी पिंडी में थे, मां चाहे जितनी सख़्ती दिखाए, उसके पालन में कोमलता होती है। अजीब-सा स्नेह और स्वाद होता है। भेरा छोटा-सा शहर था, उसकी गली-गली और चप्पे-चप्पे की खाक छान डालते थे। खुखरान बिरादरी वालों के अपने अलग-अलग मुहल्ले थे। साहनियों का मुहल्ला सेठियों का मुहल्ला, आनन्दों का मुहल्ला, कोहलियों का मुहल्ला इत्यादि। न जाने, ये मुहल्ले कब और किस तरह बने! हर मुहल्ले का अपना दरवाज़ा होता था, मेरी बहन के ब्याह के अवसर पर चचेरे-ममेरे भाई डोली अपने कन्धों पर उठाकर इस दरवाज़े तक ले गए थे, और वहां 'कुड़मों' (लड़केवालों) के हवाले करके लौट आए थे। मुझे उस वक्त अपनी बहन पर बहुत तरस आया था कितनी घबराती होगी बेचारी अकेली डोली में बैठी-बैठी। डोली चलने के वक्त

सबको रोते देखकर मैं भी रो दिया था। मुझे रोने का कारण मालूम नहीं था। पर सबको रोते देखकर मैं भी रो पड़ा था। मैं इतना रोया कि लोगों के लिए मुझे चुप कराना मुश्किल हो गया। पर जब डोली चली और उसपर से पैसे न्योछावर होने लगे तो मैं गली के अन्य लड़कों के साथ ज़मीन पर से पैसे भी चुनने लग गया।

मेरी ताईजी सर्दी हो या गर्मी मुहल्ले की कुछ सखिनो के साथ सवेरे मुंह अंधेरे जेहलम नदीं में स्नान करने जाती थीं। कभी-कभी मैं और मेरा छोटा भाई भीष्म (भीष्म साहनी जो हिन्दी का प्रसिद्ध कहानीकार है) भी साथ हो लेते। पहला पड़ाव चिड़ीचोग, दूसरा घड़ी-भन और तीसरा औरवा-पैंडा तक का नदी जो बार-बार किनारा छोड़कर कभी पास और कभी दूर चली जाती थी।

लौटते समय वे गुरुद्वारे में मत्था टेकने जातीं तो कड़ाह-परसाद की प्रतीक्षा में बड़ा मज़ा आता। कोई-कोई 'साखी' भी पल्ले पड़ जाती। मैं आश्चर्यचकित होकर सोचता-रागी अन्धा क्यों है? 'बोर' कभी नहीं होते थे।

चिड़ीचोग के पास के मैदान में एक अनोखा-सा मेला लगा करता था। शहर-भर की लड़कियां वहां इकट्ठी होकर 'मुपला' और 'वैण' डालना सीखतीं। कभी-कभी रात को हमारे मकान के निचले आंगन में 'तरिजन' भी लगता था। मेरी माताजी के चतुर निरीक्षण में मेरी दोनों बहनें अपनी सहेलियों के साथ रात-रात भर चरखा काततीं। एक रात किसी लड़की ने झूठ-मूठ बाहर जाके 'चोर-चोर' का शोर मचा दिया था और सारा मुहल्ला मोटे-मोटे लट्ठ लेकर दौड़ पड़ा था।

उन दिनों तौरा नामक डाकू का बड़ा आतंक फैला हुआ था। कहते थे रस्सी से गोह बांधकर छतों पर फेंकता था और उसके सहारे ऊपर चढ़ जाता था। शाम को एक मैदान में जहां लकड़ी के अनगिनत शहतीर पड़े हुए थे, हमारे मुहल्ले का तेली डाकुओं और चुड़ैलों के अजीब-अजीब क़िस्से सुनाया करता था। लड़के झटपट गोलियों के खेल छोड़कर उसकी बात सुनने जमा हो जाते थे।

अश्लीलता का भी कोई अन्त नहीं था। सामाजिक जीवन अनेक पुश्त पिछड़ा हुआ था। कभी-कभी चलते-फिरते सिनेमा आते, कनातें लगाकार खेल दिखाते। ये फ़िल्में वे होती थीं जिन्हें अब ब्लु फिल्म्स कहा जाता है। एक फ़िल्म जिसे अहानिकारक क़रार देकर हमारे स्कूल के सभी बच्चों को दिखाया गया था उसकी हीरोइन शुरू से आखिर तक बिलकुल नंगी थी। बोलनेवाला, जो पर्दे के पास एक मचान पर खड़ा होकर फ़िल्म की कहानी बयान करता था (तब फ़िल्में बोलती नहीं थी) हमारे मास्टर को चुप कराने के लिए कहने लगा, "साहबान, यह नंगी नहीं है। इसने जादू की पोशाक पहन रखी है।"

इस प्रकार के घिनौने खेल सिनेमावाले पिंडी और लाहौर जैसे बड़े शहरों में दिखाने का साहस नहीं कर सकते थे। पर छोटे क़स्बों में जनता को हर तरह से धोखा देना आसान काम था। देश की अधिक आबादी गांव और क़स्बों में बसती थी। इनको अज्ञानता, कुकर्म और बर्बरता की खाई में गिराए रखना विदेशी शासकों, उनके गुर्गों और पैसे के पीरों के लिए अत्यन्त लाभदायक था।

कभी-कभी अफ़वाहें फैल जातीं कि अमुक मालिन, अमुक धोबिन, अमुक मेहतरानी अपने यार के साथ अमुक बाग़ में गई हुई है। बस लोगों के झुण्ड के झुण्ड कंकड़-पत्थर

लेकर उसे ढूंढ़ने और सबक़ सिखाने के लिए निकल पड़ते। हर दूसरे-चौथे दिन गली-मुहल्ले में कोई आतंक फैल जाता और मां हमें छिपा के कोठरी में बन्द कर देतीं। अंधेरी गलियां, अंधेरे कमरे, वर्षों से शोक मनाती आ रही स्त्रियों के मैले-कुचैले दुपट्टे, वैर, विरोध, अन्धविश्वास, अन्याय, अत्याचार...

जनता की चेतना इस पिछड़ेपन के विरुद्ध विद्रोह भी अवश्य करती होगी। एक बार गंजमण्डी के खुले मैदान में डा० किचलू का भाषण हुआ था। शायह पूरा शहर ही इकट्ठा हो गया था। तिल धरने को भी जगह नहीं थी। डा० किचलू के एक साथी को जिन्होंने काला कोट पहन रखा था, पुलिस ने भाषण करते हुए ही ग़िरफ्तार कर लिया था। और बड़ों की देखा-देखी हम बच्चे भी गली-गली होते हुए अपने-अपने घरों को दौड़ पड़े थे। उसके बाद न जाने कितने समय तक तरह-तरह के गीत और नारे सुनने में आते रहे।

"खुदाया कैसी मुसीबत में ये हिन्द वाले पड़े हुए है..."

बोलो अमा मुहम्मद अली की..."

"सरकारी नौकरी शरहन हराम है..."

कितनी ही तस्वीरें कल्पना के पर्दे पर खिंच गईं : गेहूं के हरे-भरे खेत, जिनमें आंख-मिचौनी खेला करते थे, जिनके पौधे तोड़कर पपीरियां बनाते थे, बालियां तोड़कर राहगीरों की सलवारों के पायंचों में घुसेड़ देते थे। कुओं का पानी, खेतों में से ताज़ी-ताज़ी उखाड़ी हुई गाजर और मूलियां! उस ज़माने के बाद फिर कभी भी तो मुझे गांव के जीवन का आनन्द प्राप्त नहीं हुआ।

पासवाली सीट पर एक बूढ़ी स्त्री अपने बेटे को साथ लेकर आ बैठी। मुझे लगा जैसे मेरी अपनी मां आ बैठी हो। वही पहनावा, वही बोली...मेरे अपने...बिलकुल अपने लोग...क्या बताऊं मेरे मन की क्या दशा हो गई !...

बस भुलवाल के अड्डे पर जा रुकी। मुझे मालूम नहीं था कि भुलवाल भेरे से कुल दस-बारह मील के फ़ासले पर है। बचपन में हम अक्सर गाया करते थे :

गड्डी आई, गड्डी आई भुलोवाल दी।

बुडढे दी दाढ़ी विच अग बाल दी!

ड्राइवर ने बताया कि बस यहां पौन घण्टा रुकेगी। कुल तीन घंटे ही तो रह गए थे मेरे पास भेरा देखने के लिए। इसमें से पौन घण्टा यहां नष्ट हो जाएगा! अपने साथियों से पूछे बग़ैर मैं सीधा अड्डे के प्रबंधक के पास पहुंचा जो इमारत के बरामदे में कुर्सी पर बैठा हिसाब-किताब पर रहा था। मैंने उसे बताया कि कैसे मैं चालीस साल के बाद तीन घण्टे के लिए अपना वतन देखने के क़ाबिल हुआ हूं, और कैसे मुझे अड्डे पर पौन घण्टा काटना दूभर हो रहा है। इस आदमी ने भी वही बात कही जो सोहनलालजी ने कल कही थी, "पर भेरे में अब रखा ही क्या है जिसे देखने आप जा रहे हैं?"

मेरे मुंह से निकल गया, "क्या करूं जी मट्टी खींच लाई है।"

वह अवाक-सा मेरी ओर देखने लगा। कोट-पतलून पहने हुए आदमी के मुंह से उसे ऐसा वाक्य सुनने की शायद आशा नहीं थी! पंद्रह मिनिटों के अन्दर-अन्दर उसने बस छोड़ दी।

भेरे का आकार-प्रकार तो मुझे याद नहीं था, पर वह इतना हरा-भरा और इतना रमणीक होगा, इसकी मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी। झंग या सरगोधा उसकी तुलना में रूखे-से इलाके थे।

रेलवे स्टेशन से उतरकर भेरा आएं तो साहनियों का मुहल्ला सबसे पहले पड़ता है। पर बसों का अड्डा शहर के पिछले दरवाज़े पर बना है जिसको शायद हम बलोची दरवाज़ा कहते थे। मेरे साथी यह देखकर हक्के-बक्के रह गए कि मुझे शहर की हर सड़क और गली याद थी। इस बलोची दरवाज़े के अंदर पहुंचते ही मेरी भेंट भेरे की बिसरी हुई खुशबुओं से हुई और मुझमें एक अजीब-सी खुशी की लहर दौड़ गई। छलांगे-सी लगाता हुआ मैं शहर के दूसरे छोर के गंजमंडीवाले चौराहे में जा पहुंचा। मुझे थाने का 'वकुआ' भी याद था। इन्स्पेक्टर मेरी तरह ही अधेड़ आयु का व्यक्ति था और भेरे के कितने ही साहनियों को जानता था। वह बड़े प्रेम से पेश आया। फिर आने और जाने दोनौं की खानापूरी पासपोर्ट में एक ही बार कर दी, जिससे दोबारा कोतवाली आने की मुझे ज़रूरत न पड़े।

''देखा'' मैंने साथ आए साथियों- सिकन्दर, शाकिर और मुस्तहिसिन से कहा, ''अपने और पराये शहर में यह फ़र्क़ होता है!''

वह भी और इन्स्पेक्टर भी चुप रहे है। मैं जानता था अब यह शहर उतना ही मेरा था, जितनी दिल्ली सिकन्दर की! पर मैं उस समय बुद्धिमान बनने की रौ में नहीं था। साथियों ने बहुतेरा कहा कि किसी जान-पहचानवाले को साथ ले लूं। मगर मैंने एक न मानी। गंज से उसी तरह अपने मुहल्ले की ओर दौड़ा जिस तरह डा० किचलू के भाषणवाले दिन दौड़ा था। पर अपने मुहल्ले के पास पहुंचकर भूल-भुलैयों में फंस गया। हर ओर इमारतें ढहकर ढेर हो गई थीं, सारा हुलिया ही बदला हुआ था।

हमारी गली के नुक्कड़ पर एक कुआं था। उसके ठीक सामने मेरे चाचाजी का घर था। गलियों के उस संगम में दिन-भर औरतें चरखे चलाया करती थीं। बड़ी मुश्किल से वह कुआं तो मिल गया, पर न कई गली न मकान। ऐसा लगा जैसे अभी-अभी कोई हवाई हमला हुआ है और हर तरफ़ मलबे के ढेर लग गए हैं। कोई एक-आध इमारत ही साबुत बची थी।

साथियों ने हिम्मत बंधाई। पूछते-पूछते चौधरी ग़ुलाम मोहम्मद के घर पहुंचे। थोड़ी देर इन्तज़ार करने के बाद वे बाहर आए। मेरी ही आयु के थे। देखते ही मुझे उनके बचपन का रूप याद आ गया। बचपन में हम साथ-साथ खेले थे। मैंने उन्हें अपना परिचय दिया। मेरे पिताजी का नाम सुनते ही वे मेरे गले से लग गए। और ज़ारो कतार रोना शुरू कर दिया। दोनों एक ही दादा की सन्तान थे। एक ही खून। मगर बंटवारे के बाद वे मुसलमान हो गए थे, मैं हिन्दू रह गया था। वे पाकिस्तानी थे, मैं हिन्दुस्तानी। हमारी जुड़ी हुई छाती और बांहों के बीच में एक-खाई थी, इतनी लम्बी-चौड़ी खाई कि जिस की कोई थाह न थी। एक-दूसरे के दिल की धड़कनें महसूस करते हुए भी हम इस खाई को नहीं भूल सके। इस अकल्पित पाकिस्तानी ने मुझे इतना प्रभावित किया कि मुझे रुलाई भी नहीं आई।

फिर वे हमें घर के भीतर ले गए। घर नया-नया बनवाया था। बाहर 'टिवा' (टीला) था जैसा हमारे घर के सामने होता था। इस पर से होती हुई सफ़ेद बुर्क़ा पहने, उनकी पत्नी-मेरी भाभी-मकान के पिछवाड़े चली गई। चौधरी साहब ने अंदर जाकर उनसे चाय-पानी का प्रबन्ध करने को कहा। फिर उनका अठारह वर्ष का लड़का भीतर आया। शायद अनवर नाम था उसका। उसने मेरे पैर छुए। मैंने पीठ पर हाथ फेर कर आशीर्वाद दिया।

चालीस वर्ष कुछ कम नहीं होते। और फिर जब हम बच्चों में ही भेरे के प्रति उपेक्षा भर गई तो हमारे माता-पिता को यहां आकर क्या लेना था! मैंने चौधरी साहब से अपने मकान के बारे में पूछा तो उन्होंने गोल-मोल-सा उत्तर दिया। वास्तव में उन्हें याद नहीं था कि चाचे-तायों के अनेक मकानों में कौन-सा मेरे पिताजी का था। उनकी इस अर्थहीन ख़ामोशी से मुझे शक पैदा होने लगा कि जिस मकान में मैं बैठा हुआ हूं, वही हमारा मकान है। चौधरी साहब ने गिरवाकर अपनी ज़मीन के साथ ही इसे भी मिला लिया है और ये नये कमरे बनवा लिए हैं। सामने के 'टिवे' को देख-देखकर मेरा शक और भी पक्का होता जा रहा था। लेकिन मुझे इसका कोई दुःख नही था बल्कि बड़ी तसल्ली थी कि खानदानी चींज अपने ही भाई के काम आ गई लेकिन मेरे साथियों को मेरे दिल में उठ रही इन दलीलों का क्या आभास हो सकता है? वे बार-बार समय की तंगी की ओर इशारा करते हुए कहते, ''अपना मकान भी तो ढूंढ़िए।'' और मैं उनको टालता रहा, ''नहीं, नहीं अपने भाई से मिल लिया हूं। अब मुझे मकान देखकर क्या लेना है?''

चौधरी साहब ने अपने बेटे से कहा, ''अनवर, जा वहां से दोस्त मुहम्मद को बुला ला, शायद उसे कुछ मालूम हो।'' थोड़ी देर बाद ७० वर्ष का बूढ़ा दोस्त मुहम्मद भी आकर खाट पर बैठ गया। वह सिर पर सफ़ेद पगड़ी बांधे हुए था, हू-ब-हू उसी तरह की जैसी मेरे पिताजी बांधा करते थे। लेकिन उसे भी हमारा घर भूल-भुला गया था। अगर मैं और विस्तार से निशानियां बयान करता तो शायद कुछ याद आ जाता। परन्तु हालत ही कुछ अजीब बनी हुई थी। और ग़ुलाम मुहम्मद कुर्सी पर झुका हुआ लगातार रोए जा रहा था, उधर बूढ़े दोस्त मुहम्मद की आंखों से भी जैसे गंगा-जमुना बह चली थीं। खुद मुझसे बोलना कठिन हो गया था। आख़िर सिकन्दर ने झंझोड़कर मुझे उठा दिया, ''चलिए जब तक चाय तैयार हो, बाहर का एक चक्कर लगा आएं।''

अन्यमनस्क-सा मैं फिर गली में आ गया। बिलकुल बेगानी-सी लगती थी। यक़ीन नहीं आता था कि मैं इस गली में खेला करता था। वह तो बड़ी लम्बी, खुली और सुन्दर होती थी। यह इतनी छोटी, तंग और गन्दी।

सिकन्दर ने मुझे एक सिरे से दूसरे सिरे तक चक्कर लगाने को कहा। अचानक एक घर के आगे से गुज़रते हुए मेरी नज़र उसके आंगन में पड़ी। मैं खड़ा हो गया और बोला, ''इस घर में मैं खेला करता था। मुझे अच्छी तरह याद है। इसकी छत पर भी हम चढ़ा करते थे। यहां मेरा दोस्त रहा करता था!''

सीढ़ियों के पास एक मरियल-सा आदमी चादर लपेटे पड़ा था। सिकन्दर ने उससे भीतर जाने की आज्ञा मांग ली और मुझसे कहा, ''जाइए, अन्दर, ऊपर भी जाइए!''

"नहीं, अन्दर जाकर क्या लेना है?" मैंने कहा।

इसपर इस बाईस-तेईस साल के सिकन्दर ने मुझे गली में खड़े होकर ऐसे डांटा जैसे वह मेरा कोई बुज़ुर्ग हो।

"साहनी साहब, आप कैसे बेकार-से तक़ल्लुफ़ात का शिकार हो रहे हैं? हम भी आप ही की तरह हैं। जब कभी दिल्ली जाते हैं अपने छोड़े हुए घरों का कोना-कोना छान मारते हैं; चाहे किसीको कितनी ही तकलीफ़ क्यों न हो। आपको यहां रहना थोड़ी है कि हर किसी का इतना लिहाज़ किए जा रहे हैं? दो घण्टे बाद आपको यहां से चले जाना है और फिर आपको खुदा जाने कभी इधर आना नसीब भी होगा या नहीं! यह सुस्ती छोड़िए, और यहां-वहां बैठकर वक्त गंवाने की बजाय जितना घूम सकते हैं घूम लीजिए, जितना कुछ देख सकते हैं, देखिए। बराए मेहरबानी जाइए ऊपर!"

कितना आनन्द आया उन सीढ़ियों पर फिर पैर रखकर। ऊपर छत पर पहुंच तो ठीक अपनी आंखों के सामने, दूर, मुझे अपने घर की ऊपरी बरामदा साफ़-साफ़ दिखाई पड़ गया। दाहिनी ओर की रसोई भी दीखी, और मैं चिल्ला उठा, "वह है वह है मेरा घर, उस कमरे में मेरी बहन की सगाई हुई थी। वह है हमारी रसोई..."

उस वक्त दिल में न जाने कैसा ज्वालामुखी फूट पड़ा, सिसकता और लड़खड़ाता हुआ मैं मिट्टी से पुते हुए उस फ़र्श पर ढेर हो गया। वे लोग दिलासा देने के लिए आए। मैं बके जा रहा था, "मुझे छोड़ दो। मैं घर को देखकर नहीं रो रहा हूं। मुझे बहन याद आ रही है, बहन जो अब इस संसार में नहीं है। भगवान मेरी बहन को लौटा दे, ईश्वर मेरी बहन को वापस कर दे!...."

१०

नीचे उतरकर जब फिर गली में आए तो मैंने अपने को खूब फटकारा कि क्यों मूर्खों की तरह पराये लोगों के आगे रोना-सुबकना शुरू कर दिया? क्या मालूम जिस घर को देखकर रोया था वह अपना ही था कि किसी और का? क्या मालूम भ्रम ही हुआ हो पर सिकन्दर ने जाकर अब तक मकान का पता लगा लिया था। बाहरवाला हिस्सा मैं पहचान नहीं पाया था क्यों टिबे वाली जगह पर एक और मकान बन गया था। मगर अन्दर जाने पर मेरी सारी शंकाएं दूर हो गई। वही घुप्प अंधेरी डयोढ़ी जहां हमारी गाय बंधती थी। भीतर आंगन में लकड़ी की महराबोंवाला एक बरामदा था जहां मेरा छोटा भाई भीष्म खड्डियों का खेल खेला करता था। डयोढ़ी के साथ लगी हुई एक तंग-सी कोठरी थी जिसमें एक मुसलमान पटवारी रहा करता था। पिताजी उससे किराया नहीं लेते थे, क्योंकि हमारी अनुपस्थिति में वह घर की देखभाल करता था। संध्या समय कुप्पी की नाममात्र रोशनी में चादर लपेटे बैठे और हुक्का गुड़गुड़ाते हुए पटवारी को मैं बड़ी ऊटपटांग गप्पें सुनाया करता था। और आश्चर्य की बात तो यह थी कि वह बड़े इत्मीनान और विश्वास से सुनता रहता था। मैं उससे कहता, अपने पिंडीवाले घर के सामने एक लकड़ी के टाल में मैने और मेरे दोस्तों ने मिलकर एक क़िला बना रखा है। लकड़ियों के ढेर में आने-जाने का गुप्त रास्ते भी है जो हमारे सिवाय और किसीको मालूम नहीं। क़िले में हर तरह के हथियार है- बन्दूकें, बम, मशीनगन। मशीनगनें भी हम लोगों ने स्वयं ही तैयार की हैं। नालों के किनारे उगे हुए सरकंडो की लम्बी-लम्बी नालियों को तोड़कर और उनको भीतर से खुरच के साफ़कर लेते हैं। इस तरह मशीनगन के लिए नालियां तैयार हो जाती हैं। फिर बहुत-सी नालियों को एक रस्सी में बांधकर सूरजमुखी की शक्ल का एक चक्र बना लेते हैं। उसके भीतर एक और छोटा-सा फिरतु चक्र बनाना पड़ता है जिसको घुमाने से 'कोने' की गिरी की बनाई हुई फिरतू हुई गोलियां छोटे चक्र की मैगजीन सेनिकल बड़े चक्र की नालियों से होती हुई फ़ायर करने लगती हैं...

यह प्रथम महायुद्ध की समाप्ति और जलियांवाले बाग़ के हत्याकांड का ज़माना था। पिंडी में घर-घर मशीनगनों और गोलियों की चर्चा रहती थी। एक बार हमारे छाछी मुहल्ले में पुलिस और फ़ौज की पूरी पलटन ने मार्च किया था, और वे अनगिनत लोगों को हथकड़ियां डालकर ले गए थे जिनकी ज़ंजीरों की झंकार मुझे आज तक नहीं भूली। एक दाढ़ीवाला हसीन गबरू जिसका नाम हुसैन था और जिसकी डेरी से हमारे घर दूध आया करता था, आगे बढ़कर हम लोगों के पास आ गया और पिताजी से कहने लगा, "लो बाबूजी, यह आखिरी सलाम है।" वह खद्दर का लम्बा कुरता और सलवार पहने था, और खद्दर की ही सफ़ेद पगड़ी उसके सिर पर बधीं थी।...

स्कूलों में लड़कों को गोल-गोल सुनहरे और चांदी के पदक दिए जाते थे। इनके एक ओर बादशाह की और दूसरी ओर एक गोरे और एक देशी सिपाही के बगलगीर होने की तस्वीर होती थी। हमें ठीक से पता नहीं चलता था कि वे आलिंगन कर रहे थे या कुश्ती लड़ रहे थे। कभी बड़ी चाह से हम इन पदकों को कोट के कालर पर लटका लेते थे और कभी उसी चाह से किसी बुज़ुर्ग के कहने पर उनके ऊपर थूक देते थे, ज़मीन में दबाकर उनपर पेशाब कर देते, पत्थरों से उनका चूरा कर डालते!...

ये सब दुःखपूर्ण और सुखपूर्ण घटनाएं हम बच्चों के लिए खेल का मसाला बन जाती थीं। लकड़ी का टाल सचमुच हमारी निगाह में एक क़िला था और हम हैरान थे कि क्यों उसके मालिक बख्शी-साहब हमें दाद देने की बजाय गालियां देते थे। मोर्चे बन जाने पर चाहे एक-दूसरे को कंकड़ ही मारते थे पर दिमाग़ में कल्पना बंदूकों और मशीनगनों की होती थी!

बच्चों की कल्पना बड़ी तीव्र होती है और इसीके द्वारा भविष्य में उनका चरित्र बनता है। पर मां-बाप की लाड़-भरी लापरवाही अक्सर इसे कुण्ठित कर देती है। शायद इसी कारण बच्चे बड़े शौक़ से नौकरों के क्वार्टरों की शरण लेते हैं। वहां उनको मान भी मिलता है और आज़ादी भी। मनुष्य के हर काम के पीछे कल्पना का हाथ है। पहले कल्पना शौक़ पैदा करती है, फिर हाथ-पैर कर्मशील होते हैं। इसी कारण किसी के पनपते स्वप्न को ठोकर मारना- चाहे अनजाने में ही क्यों न हो-उसके शौक़ और कर्म को निर्बल करना है। मैं सदा उस पटवारी को बड़े प्यार और आदर से याद करता हूं। उसके पास बैठकर गप्पें हांकने का अपूर्ण सुख मैं कभी नहीं भूल सकता।

मकान की इस निचली मंज़िल के पिछवाड़े एक तहखाना-सा था। इसे हम लोग केवल तभी प्रयोग में लाते थे जब कोई डाका-आका पड़ने की अफ़वाह फैलती थी। इसमें न कोई खिड़की थी न रोशनदान! फ़र्श भी कच्चा था, जिसके कारण सांप-बिच्छू का भी डर रहता था। इस समय इसके दरवाज़े पर ताला पड़ा था जिसे खुलवाने की मुझे कोई इच्छा नहीं हुई।

फिर सीढ़ियों पर पैर रखता हुआ मैं ऊपरवाली मंज़िल पर जा पहुचा जहां हमारे परिवार का अधिकतर रहन-सहन होता था। खुले वातावरण में भूली-बिसरी निशानियां चारों ओर से जैसे उछल-उछल के मेरी ओर आने लगीं- पड़ोसी दीवारें, जिनकी खंदरों में तोतों और कबूतरों के असंख्य घोंसले थे, वह शहतीरोंवाला मैदान जहां गोलियां खेला करते थे, वह आंगन-जहां जाड़े की मीठी-मीठी धूप में मां हमारे सिर धोती और 'मन-मन' भर मैल निकाला करती थीं। जिस कमरे को मैंने दूसरे घर का छत पर से पहचाना था, उसे एक आदमी ने आगे बढ़कर खोल दिया। मैंने देखा कि इसका सारा का सारा फ़र्श गिर चुका है। नीचेवाला तहखाना और यह कमरा मिलकर किसी धार्मिक संस्था के हाल कमरे जैसे दिख रहे थे। पर साथवाली रसोई सलामत थी और उसकी अंगीठी पर बर्तन ठीक उसी तरह पड़े थे जैसे छुटपन में मैं देखा करता था। ऐसा लगता था जैसे वे हमारे ही बर्तन हों पर पूछने का साहस नहीं हुआ।

फिर धड़धड़ाता, हुआ मैं ऊपर छत पर जा पहुंचा। नीचे से किसी ने आवाज़ दी, ''छत बड़ी कमज़ोर है। संभालकर पैर रखना।''

सचमुच कितनी गई-गुज़री हालत हो गई थी मकान की, जैसे वह गिरने से पहले प्रतीक्षा कर रहा था कि हममें से कोई उसे अंतिम बार आकर देख जाए। पैर धरते ही छत चप्पा-चप्पा भर लचक जाती थी। बड़ी सावधानी से सिकन्दर और मैंने छत की परिक्रमा की! एक ओर एक छोटा-सा चबूतरा था जो घर के सारे बच्चों को अपने खेल-कूद के लिए बेहद प्यारा था। यहां मेरी छोटी बहन अपनी सहेलियों के साथ गुड़िया-गुड्डे के ब्याह रचाती थी। मैं खुद एकांत में कई-कई घंटे बैठकर उसका एकाकी आनन्द प्राप्त

किया करता था। घर का यह कोना कभी-कभी बम्बई में बैठे-बैठे भी मेरी यादों में झलक पड़ता था। यहां से क्षितिज पर 'खिओड़े' की मनोरम पर्वतमाला भी दिखती थी। यह मुझे बिलकुल बिसर गई थी। आज पुनः उसे देखकर जैसे अपने किसी जीवन-रहस्य की पूर्ति-सी होती महसूस हुई। जब पहली बार मैं लाहौर गया था तो वहां क्षितिज पर पहाड़ न होने के कारण मैं चकित और दुःखित हो उठा था। मुझे ऐसा लगा था, जैसे प्रकृति के किसी अटल नियम का उल्लंघन हो गया हो। इसका कारण आज और भी स्पष्ट होकर सामने आ गया। बचपन के दिनों में पिंडी और भेरे में मेरी आंखें नित्य पहाड़ देखने की आदी हो गई थीं। पहाड़ों से मेरी कल्पना को सहारा मिलता था, मैं स्वयं को सुरक्षित अनुभव करता था। शायद इसी प्रभाव के वशीभूत जीवन में भी मुझे किसी पहाड़ जैसे व्यक्तित्व का आसरा ढूंढ़ने की आदत रही है। अपने से प्रबल व्यक्तित्व की छत्रछाया में मैं फलता-फूलता हूं। पहाड़रहित वातावरण में और पर्वत समान मित्र से वंचित रहकर मैं बड़ी निर्बलता का अनुभव करता हूं।

अचानक सिकंदर ने कहा, "बलराज साहब, आप वाक़ई बड़े शानदार आदमी हैं। इतनी बड़ी हैसियतवाले होकर आपको अपना छोटा-सा पुराना मकान इतना प्यारा लग रहा है। आम तौर पर फ़िल्म स्टार अपने ग़रीबी के ज़माने को हमेशा भुलाने की कोशिश करते हैं।"

मुझे धक्का-सा लगा। क्या हमारा घर वाक़ई छोटा और दरिद्र था? अब मैंने उसे निष्पक्ष नज़रों से देखने की कोशिश की। वह सचमुच इतना छोटा था कि उससे छोटा मकान शायद ही मैंने कभी देखा हो। सोने-बैठने के लिए एक ही तो कमरा था उसमें-वही जिसका फ़र्श गिर चुका था। इसमें कैसे हम सब लोग गुज़ारा करते होंगे, बड़ी अनोखी-सी बात लगती थी।

मेरी पारिवारिक आन-बान ने मुझे झंझोड़ा। ग़रीबों के साथ चाहें कितनी ही हमदर्दी हो, आदमी अपनी ग़रीबी को कम ही स्वीकारता है। मैंने कहा, "यह तो हमारा सौ वर्ष पुराना पुश्तैनी मकान है। हम लोग स्थायी रूप से तो रावलपिंडी में ही रहा करते थे। यहां तो हम बहुत कम आया करते थे। रावलपिंडी में मेरे वालिद शहर के बड़े रईसों में गिने जाते थे।"

मकान देखकर बाहर निकले तो मैले-कुचैले कपड़े पहने ग़रीब से लोगों की एक भीड़ हमारा बड़ा इन्तज़ार कर रही थी। मुहल्ले में जितने घर सलामत थे वे अब इन्हीं लोगों के अधिकार में थे। बोली से ये लोग मुझे करनाल या रोहतक की ओर के लगे। हमारी मंडली का मुहल्ले में इधर-उधर घूमते फिरना इन लोगों को अच्छा नहीं लगा था। जैसे इनकी अपनी सुरक्षा के लिए कोई खतरा पैदा हो गया हो। भला यह कौन भारतीय हिन्दू था जिसकी इतनी खातिरें की जा रही थीं? मुझे दिया जा रहा प्यार जैसे उन्हें बेगाना बना रहा था। मुझे उनकी आंखों में दुर्बल-से क्रोध की झलक नज़र आई, जो उनकी विवशता को और भी स्पष्ट कर रहा था। एक व्यक्ति जिसने तीन-चार साल का बालक उठा रखा था, आगे बढ़कर चीखती हुई आवाज़ में बोला, "क्या दुखड़े रो रहे हो इस दो कौड़ी के मकान के। जो कुछ हम पीछे छोड़ आए हैं, ज़ो-जो हमपर गुज़री है और गुज़र रही है, उसका भी कुछ दर्द है किसीको?"

उसकी देखा-देखी और लोगों ने भी आगे बढ़कर बोलना शुरू कर दिया। मेरे साथियों ने झटपट उन्हें डांट के पीछे हटा दिया। पर ऐसा करते हुए मुझे लगा कि वे मेरे नहीं रहे, उनके हो गए हैं और मैं एकाकी परदेशी के रूप में रह गया था। बाहर से आए मेहमान को परेशान करना सभ्यता के विरुद्ध था, वे केवल इसी कारण से उनको चुप करा रहे थे, भीतर से चाहे उनकी भावनाएं कुछ और ही हों! पर इस समय मुझसे मेहमान बनकर न रहा गया। मैंने आगे बढ़कर उस व्यक्ति का हाथ अपने हाथ में ले लिया, जो पहले बोला था।

''भइया'', मैंने कहा, ''यक़ीन मानो, मैं तुम्हारा दिल दुखाने नहीं आया हूं। मैं तुम्हारा दुःख अच्छी तरह समझ सकता हूं। मैं यहां कौन-सा-रोज़-रोज़ आऊंगा। अगर अनजाने में मुझसे कोई ग़लती हो गई हो तो मुझे माफ़ कर दो!''

मैंने उसके बच्चे को उसके कंधे से लेकर खुद उठा लिया। प्यार से उसका मुंह चूमा और पांच का नोट उसकी हथेली पर रखा और फिर हम वहां से विदा हो गए।

राह में चलते-चलते मैं सोचता रहा। अपने पुराने मकान को देखकर मुझे तो आश्चर्यजनक आनन्द प्राप्त हुआ पर जो व्यक्ति उसमें आजकल रह रहा है उसे यह मकान क्या सुख पहुंचा सकता है? उसके परिवार को तो उससे हर समय जान का खतरा ही है। न उस आदमी में इसकी मरम्मत कराने की सामर्थ्य है, और न छोड़कर कहीं जाने की। केवल मेरे मकान का ही नहीं, साहनियों के मुहल्ले के बचे-खुचे सभी मकानों का लगभग यही हाल था। ऊंची श्रेणी के लोगों को इधर-उधर गश्त करते देखकर शायद उन ग़रीबों को अनुमान हुआ हो कि कोई बड़ा अफ़सर स्थिति का मुआयना करने आया है और उनकी फ़रियाद सुनेगा। इतनी बड़ी संख्या में उनका दोपहर में जमा हो जाना क्या उनकी बेरोज़गारी का भी सबूत नहीं देता था? यह भी साफ़ दिखाई पड़ता था कि भिन्न-भिन्न प्रकार की बोली और चरित्र के कारण वे अभी तक स्थानीय लोगों के साथ हिल-मिल नहीं सके।

बस में बैठकर हम फिर सरगोधावाली सड़क पर आ गए। कुल तीन घंटे भेरे में बिताए थे। पर मैं स्वयं को इतना मालदार समझ रहा था जैसे दुनिया का सबसे क़ीमती खज़ाना मुझे मिल गया हो। सड़क के किनारे कोई वृद्ध बैठा दीखता तो वह मुझे पिता समान लगता, किसी घर के झरोखे से झांकती हुई स्त्री मुझे अपनी बेटी-बहन लगती। इससे बड़ा दुर्भाग्य क्या हो सकता था कि मैं अपने पूर्वजों की धरती की- जिसके साथ मेरा हाड़-मांस बंधा हुआ है- कोई सेवा नहीं कर सका। वहां के लोगों के किसी काम नहीं आ सका। क़िस्मत इससे बड़ा शाप और क्या दे सकती है?

पर ४० वर्षों के बाद मैं यहां लौटकर आया तो सही, मैंने अपनी धरती और उसके जायों को देखा और पहचाना तो सही। वे भी तो हैं जिन्हें अभी भी अपने गांव से, अपने हमसायों से, अपनी बोली से और अपनी सभ्यता से नफ़रत है। कम से कम उन जैसा मूर्ख तो मैं नहीं हूं न! चलो यह भी ग़नीमत है।

वापस सरगोधा पहुंचकर भी ऐसा लगता रहा जैसे इतना आह्लादमय दिन संसार में कभी उदय नहीं हुआ। तारघर जाकर अपनी माता को एक लम्बा-सा तार भेजा। रात को जब सोहनलाल साहनीजी के परिवार में बैठकर खाना खा रहा था तो वे कहने लगे, ''बलराज, आज तो बड़ी पक्की भिरोची बोली बोल रहे हो। इतनी जल्दी कैसे सीख आए...?''

११

१७ अक्टूबर, १९६२

सरगोधा से सवेरे सात बजे की चली गाड़ी ग्यारह बजे लालामूसा पहुंची। पाकिस्तान में गाड़ियों के बड़े अच्छे-अच्छे नाम रखे गए हैं...तेज़गाम, तेज रौ, सुबक गाम, सुबह रौ।...एक तेज़ गाड़ी जो कराची से पेशावर तक जाती है और जिसमें बैठकर मुझे पिंडी लौटना था, उसका नाम था 'डाची'। पता नहीं जिसमें बैठकर लालामूसा पहुंचा था, उसका क्या नाम था। ब्रांच लाइन गाड़ियों के शायद नाम नहीं रखे जाते, वरना इसका नाम ज़रूर 'सुस्त रौ' होता।

एक समय था जब पिंडी से लाहौर तक की दौड़ कारनामा मानी जाती थी। तब मेरे मन में लालामूसा की दो प्रकार की कल्पनाएं थीं। एक यह कि वह पिंडी और लाहौर को अलग करनेवाली लकीर की तरह है। दूसरी, भेरा आने-जाने वाले 'लालाओं' को यहां 'मूसणा' (रुकना) पड़ता है। यह दूसरी विशेषता तो अब भी बनी हुई है। तीन घंटे स्टेशन पर बेकार बैठकर गुज़ारने थे।

पर मुझे कोफ्त नहीं हुई। अक्तूबर का पिछला पखवारा शुरू हो चुका था। इस मौसम में भी लाहौर के दिन गर्म होते हैं, पर पोठोहार की धरती पर, पहाड़ों पर से ठंडी हवाएं उतरकर धूप में स्निग्धता और कितने ही कैरेट सोना भर देती है। यह बड़ा सुहावना मौसम होता है। और परदेश में बैठे पोठोहारी को कभी नहीं भूलता। स्मृति दुपहरी में ही सड़कों और दीवारों पर लम्बी होती हुई परछाइयों को सदा संभालकर रखती है। इस मौसम में मुझे अपना स्कूल भी अच्छा लगने लगता था क्योंकि मास्टर कुछ सुस्त हो जाते थे और कम मारते थे। स्कूल के समय बदल जाते थे। सवेरे नौ बजे मां हमें खूब खिला-पिला के रवाना करती और लौटते वक्त के लिए धीमी आंच पर दूध कढ़ने को रख देती, जिसमें बादाम होते, छुहारे होते, इलायचियां, खसखस और पता नहीं क्या-क्या होता। शाम तक यह दूध उबल-उबलकर लाल और धूप ही की तरह गाढ़ा हो जाता था।

इस विशेष धूप का मज़ा लेता हुआ मैं कितनी देर तक प्लेटफ़ार्म पर टहलता रहा। स्टेशन ज़रा भी नहीं बदला था, सिवाय इसके कि थोड़ी-थोड़ी देर के बाद लाउडस्पीकर निहायत्त शुस्ता (शुद्ध) उर्दू में गाड़ियों के आने-जाने की सूचना दे रहा था। ये लाउडस्पीकर हिन्दुस्तान के स्टेशनों पर भी लग गए हैं, पर इनपर भाषा की जो दुर्दशाकी जाती है वह अवर्णनीय है। हिन्दुस्तान के सरकारी विभागों में हिन्दी को बिगाड़कर और अंग्रेज़ी को संवारकर बोलना उच्च सभ्यता और पोज़ीशन का विज्ञापन माना जाता है। हवाई जहाज़ों में होस्टेसें भी बोलते वक्त स्वदेशी बोली को बालाए-ताक रख देती हैं। इसके विपरीत पाकिस्तानी अफ़सरों और ऊंची श्रेणी के लोगों को मैंने अंग्रेज़ी के उन्माद से मुक्त देखा।

खानसामा मेरे लिए खाना वेटिंग रूम में ही ले आया। इसके बगलवाले ड्रेसिंग रूम में एक लकड़ी की बनी हुई जाए-नमाज़ पड़ी थी। दोपहर की नमाज़ के वक्त रेलवे के छोटे और बड़े कर्मचारी बारी-बारी से अन्दर आते, जाए-नमाज़ बिछाते और नमाज़ पढ़ते। काफ़ी देर तक यह आवा-जाई लगी रही और इनको देखकर मेरा दिल चुटकियां भरता रहा।

इस इबादत (प्रार्थना) का कुछ न कुछ लाभ तो ज़रूर होता होगा, मैंने सोचा। चाहे थोड़ी देर के लिए ही हो, छोटे और बड़े कर्मचारी अपने-आप को एक-दूसरे के क़रीब और बराबर का महसूस करने लग जाते होंगे। उनके आचरण में स्वच्छता आ जाती होगी। मुसाफ़िरों के प्रति उनका व्यवहार सुधर जाता होगा!

इस्लाम की बहुमूल्य सामाजिक और जमहूरी परम्पराएं हैं। जब मैं कॉलेज में पढ़ा करता था, सर सिकन्दर हयात खान कुछ महीनों के लिए पंजाब के गवर्नर नियुक्त हुए थे। पर उन्होंने गवर्नमेंट हाउस में रहना स्वीकार नहीं किया। अपनी कोठी में ही रहते थे। उस कोठी के हाते में ही उन्होंने एक ऊंचे मस्तूल पर यूनियन जैक (झंडा) लगवा लिया था। एक शाम जब उनका लड़का शौकत, जो मेरा सहपाठी था, और मैं उनकी कोठी में गए तो अजीब नज़ारा देखने को मिला। लॉन में बिछी दरियों पर अमीर और ग़रीब दोनों तरह के मिलनेवालों की भीड़ लगी थी। इनके बिलकुल बीच में सर सिकन्दर खुद बड़ी बेतकल्लुफ़ी से बैठे सबके साथ मिलकर एक ही हुक्का पी रहे थे। जिस तांगे में हम आए थे उसका कोचवान भी झट दरी पर आ बैठा, और हुक्के का दम लगाकर चलता बना। मैं बड़ा प्रभावित हुआ था, और शौकत ने उस शाम इस्लामी इश्तिराकीयत (साम्यवाद) पर मुझे अच्छा-खासा लेक्चर भी दे डाला था।

पाकिस्तान बनने के बाद वहां की जनता ने यह आशा ज़रूर की होगी कि अब निज़ाम (व्यवस्था) इन्हीं जमहूरी और इश्तिराकी चिह्नों पर चलेगा। लुटेरे अंग्रेज़ चले गए, सूदखोर खत्री दफ़ा हो गए, अब भला कौन-सी रुकावट रह गई है?

उनकी यह आशा कहां तक पूरी हुई, वे स्वयं ही बता सकते हैं। मगर बाहर से आया हुआ एक सरसरी नज़र से देखनेवाला पाहुन इतना अवश्य कह सकता है कि वे अपनी मंज़िले-मक़सूद से शायद उतनी ही दूर हैं जितने हम स्वयं हैं। ग़रीबी-अमीरी का अंतर वैसे ही विद्यमान है, संभव है और भी गहरा हो गया हो।

हमारे हिन्दुस्तान में तो धर्मों का कोई हिसाब ही नहीं है।...हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, पारसी, बौद्ध, जैन और अनेक और मतमतान्तर है। अगर हमारे स्टेशनों पर भी इसी प्रकार कर्मचारियों को अपने-अपने ढंग से प्रार्थनाएं करने की सुविधाएं दे दी जाएं तो सम्भव है जिस प्रगति से उनका चरित्र सुधरें उससे कहीं अधिक प्रगति से रेल-विभाग का काम समाप्त हो जाए।

कल रात की एक घटना याद आई। साथी खींचतान के मुझे सिनेमा ले गए थे। पिक्चर का नाम था 'और चिराग़ जलता रहा।' इसके प्रोडयूसर-डायरेक्टर पहले भारतीय और फिर पाकिस्तानी सिविल सर्विस के एक ऊंचे अफ़सर रह चुके हैं। रिटायर होने पर फ़िल्मों के स्तर को ऊंचा उठाने के शुभ विचार से यह पहली फ़िल्म बनाई है। कला-पक्ष काफ़ी कच्चा है (फ़िल्म बनाने का काम भीतर से इतना आसान नहीं है जितना बाहर से नज़र आता है) पर विचार और आदर्श की दृष्टि से साफ़-सुथरी और शिक्षाप्रद फ़िल्म है। इसमें एक आदर्श मुसलमान परिवार की कथा दी गई है, जो बड़ी से बड़ी परीक्षाओं में भी सब्र का दामन नहीं छोड़ता। खुदा की राह पर चलता है।

वह मार्ग क्या है? हमेशा सच बोलो, बुरे से बुले दुश्मन से भी सज्जनता से पेश आओ। प्रेम और अहिंसा के द्वारा एक न एक दिन अवश्य तुम उसका मन परिवर्तित

कर दोगे। खुदा के घर देर है, अंधेर नहीं। कभी अपने दिल में मलिन भाव मत लाओ। सांसारिक लोभ और लालसा से मुक्त होने का प्रयल करो। सादा खाना, सादा पहनना, मनुष्यता की सेवा करना, यही उत्तम जीवन के लक्षण है।

पर यही शिक्षा तो आर्यसमाज के उपदेशक भी दिया करते हैं। बाबा नौधसिंह का चरित्र भी तो भाई वीरसिंह ने इसी फ़ार्मूले के अनुसार गढ़ा था। सच्चे हिन्दू या सिख की जो परिभाषा की जाती है वही इस फ़िल्म के अनुसार एक सच्चे मुसलमान की थी। मुझे ऐसा लगा जैसे प्रेमचन्द का कोई उपन्यास पढ़ रहा होऊं। महात्मा गांधी और टाल्स्टाय के भी तो यही विचार थे!

हॉल खाली पड़ा था। केवल दो सौ के लगभग दर्शक होंगे, और वे भी बड़ी अरुचि से फ़िल्म देख रहे थे। मेरे साथियों को भी फ़िल्म पसन्द नहीं आई। शो खत्म होने पर वे मेरी राय पूछने लगे। जब मैंने कहा कि पिक्चर मुझे पसंद आई है तो उन्होंने छींटाकशी करनी शुरू कर दी। कहने लगे मैं 'डिप्लोमेसी' बरत रहा हूं, दिल की बात नहीं कर रहा हूं। इस इल्ज़ाम में थोड़ा-बहुत सच्चाई भी थी। विदेश से आया हुआ आदमी घर के बच्चे की तरह खुलकर आलोचना नहीं कर सकता। पर जब मैंने निवेदन किया कि मेरे दृष्टिकोण से फ़िल्में केवल मनोरंजन का साधन नहीं होती हैं, और कोई भी फ़िल्म जो जन-सुधार के आशय से बनाई गई हो क़ाबिले-एहतिराम है, तो उन्होंने बे-यक़ीनी और खामोशी से सिर हिला दिया। प्रत्यक्ष था कि इन नवयुवकों का उन आदर्शों से ही विश्वास उठ चुका था जो इस फ़िल्म में दिखाए गए थे। उनका जीवन-अनुभव बताता था कि बहुधा इन आदर्शों का एलान करनेवाले ही भीतर-भीतर इनका गला घोंटते हैं।

एक बार फिर मुझे देश भारतवर्ष का धर्म-निरपेक्ष विधान मूल्यवान लगने लगा। उचित बात यही है कि मनुष्य धर्म की दौड़ अपने ज़मीर और अपने भगवान तक ही सीमित रखे। अगर ऐसा करने में वह सफल होता है तो सम्पूर्ण मनुष्यता के लिए उसके हृदय में प्रेम और सम्मान पैदा होगा। यही हमारे पूर्वजों की रीति रही है। धर्म का सामाजिक और राजनीतिक कार्यों में जितना कम प्रवेश हो, उतना ही उत्तम है।

भारत की जनता अपने अनुभव से धीरे-धीरे यह बात सीख रही है। यद्यपि सिरफिरों की आज भी कमी नहीं। एक समय था जब हुकूमत का स्थायित्व जनता को आपस में लड़ाने पर निर्भर थी। यह अंग्रेज़ी राज्य का समय था। इस काम के लिए चरित्रहीन और ज़मीरफ़रोश लोगों की आसानी से काम में लाया जा सकता था। पर जब स्वतंत्र सरकार के स्थायित्व के लिए एकमात्र शर्त देशव्यापी एकता है। इसके बिना न देश सलामत रह सकता है, न सरकार। कोई निपट मूर्ख भारतीय होगा जो इस बात को न समझता हो। और राज्य की ओर से भी अब उन लोगों को शह नहीं मिलती जो धर्म के नाम पर लोगों को लड़ाना चाहते हैं।

इस नीति से जनता का सन्तुष्ट होना स्वाभाविक है क्योंकि वह सुरक्षित और सुखी जीवन पसन्द करती है। ऐसे जीवन को प्रयोग में लाने के लिए 'उपज बढ़ाओ' आंदोलन की आवश्यकता है, धार्मिक नारों की नहीं। और इसी दिशा में हमारी सरकार हमें ले जा रही है।

परन्तु उपज बढ़ाने से क्या लाभ, अगर मुनाफ़ों के जखीरे मोटी तोंदों में उतरते जाएं? इस ज़खीरे का बंटवारा जमहूरी और समाजवादी ढंग से होना ज़रूरी है। हमारी सरकार इस यथार्थता को भी स्वीकारती है और इसके अनुकूल अपने प्रोग्राम ढालना चाहती है। यह भी बड़ी सन्तोषजनक बात है!

परदेश में रहते हुए मेरे दिल में पंडित नेहरू के प्रति बड़े आदर और सत्कार की भावना उमड़ पड़ी। वही इन नीतियों के आविष्कारक और कर्णधार है। उन्होंने आदर्शों को व्यावहारिक और वैज्ञानिक दृष्टि से देखा है। अमल की यथार्थ राहें ढूंढी हैं। अपनी जनता के वैचारिक स्तर को ध्यान में रखकर धीरे-धीरे आगे क़दम रखा है। उतावलेपन की छलांगें नहीं लगाईं। इसी कारण से वे जनता के दिलों में बसे हुए हैं। विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि ज्यों-ज्यों देश में जागृति आएगी, उनकी बनाई नीतियां और भी शक्तिशाली होती जाएंगी। वे ज़माने की मांग हैं!

पाकिस्तान भी एशिया के नये स्वतन्त्र हुए देशों में से है। उसके निर्माण में धर्म का चाहे कितना भी हाथ रहा हो, प्रगति और विकास के लिए उसे भी उदार जनतन्त्र और समाजवादी नियम अपनाने पड़ेंगे, जैसे कि मिस्र, अल्जीरिया आदि इस्लामी देशों ने किया है। देश से गरीबी, जहालत, बीमारी, अन्याय को दूर करने से बड़ी इबादत और कौन-सा हो सकती है?

फिर खयाल आया, राजनीति के दांव-पेंच भला तू क्या जाने! क्या भारत में ऐसी कानी बांट और भ्रष्टाचार की कोई कमी है? क्या देश का बंटवारा बज़ाते-खुद नेहरू की और हमारी क़ौमी तहरीक (राष्ट्रीय आन्दोलन) की उपज नहीं थी?

और इसके साथ ही मेरे स्वाद की मीठी-मीठी धूप पर जालासा फैलने लगा। मेरा शहर के साथ मेरी उस समय की यादें सम्बद्ध थीं, जब जीवन में किसी तरह की विषमता पैदा नहीं हुई थी। झंग और सरगोधा पहली बार देखे थे। अब मैं ऐसे इलाक़ें में पहुंच रहा था जो अच्छी और खराब, सुखदायी और दुःखदायी, दोनों ही तरह की यादों में उलझा पड़ा था। कितने दिनों से तड़प रहा था पोठोहार की धरती के दर्शनों के लिए। मैं अपना पिंडी शहर कब देखूंगा?...शाह चांद चिराग़ की गली, जहां मैं जन्मा हूं, छाछी मुहल्ला, जिसकी गलियों में और नालियों में खेल-खेलकर बड़ा हुआ, मेरा डी०ए०वी० कालेज, कम्पनी बाग़, जहां हाकी खेलते थे, तपोवन, माई वीरों की बन्ह, लंडा बाज़ार, तलवाड़ों का बाज़ार, सदर का पुल...

पर अब जब मैं वतन के बिलकुल क़रीब आ पहुंचा था तो मुझे उससे भय-सा आने लगा था। सारी चाह कहीं गुम हो गई लगती थी। 'अल्लाह-हो-अकबर' और 'हर-हर महादेव' के नारे कानों में गूंजने लगे थे, आंखों के सामने अनेकों सहमे-सहमे चेहरे घूमने लगे।

दिल्ली में एक प्रिय सज्जन ने अनुरोध किया था कि जेहलम के पुल से जब गाड़ी गुज़रे तो उनकी ओर से चांदी का एक रुपया नदी की भेंट कर दूं। बंटवारे के दिनों में यही पानी उनके परिवार के कितने ही लोगों के खून से रंग गया था। जेहलम से भागकर

दिल्ली पहुंचने तक उनके ऊपर क्या-क्या वीती, जब भी मेरा मित्र व्हिस्की या बियर का घूंट भर ले, इसे दुहराने लगता है। हम कई बार तंग भी आ जाते हैं, पर अगर सुनने लगें तो हर बार बदन के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कितने लोगों ने अपनी बहन-बेटियों को कमरों में बन्द करके अपने हाथों से जला डाला था।

उस ज़माने में मैं बम्बई में बैठा निर्विघ्न रूप से फ़िल्मों की शूटिंग कर रहा था। परिवार कश्मीर में था। उजड़े हम भी, क़बाइलियों के हमले के वक्त खतरों में भी पड़े, पर लाखों से फिर भी अच्छे रहे। मैं भी अगर क़ाफ़िलों में भागा होता, अपनी आंखों से बर्बरता-भरे क़त्लेआम देखे होते तो क्या दिल चाहता कभी इधर आने को?...

मेरा मित्र. कभी नहीं आएगा। पर वतन फिर भी उसे प्यारा है। मेरे हाथ से नदी में रुपया छुड़वाकर जैसे वह सन्देशा पहुंचा रहा हो, अपने न आ सकने के लिए माफ़ी मांग रहा हो!

अपने समय पर 'डाची' आ गई, पूरी की पूरी हरे रंग में रंगी हुई। यह हरा रंग आंखों की तरावट देता था, पर इसके कारण वातावरण एकदम अपरिचित-सा हो गया। कुली ने मेरा सामान फ़र्स्ट क्लास के एक डिब्बे में रख दिया। सरगोधा से लालामूसा तक कम्पार्टमेंट में अकेला आया था, दरवाज़े भीतर से अच्छी तरह बन्द करके। पर अब साथ में एक सहयात्री था- पाकिस्तानी फ़ौज का एक नौजवान कप्तान दूसरे सिरे पर खिड़की के पास बैठा हुआ था।

ज्यों-ज्यों जेहलम नदी क़रीब आती जा रही थीं मैं जेब में हाथ डालकर अपने भारतीय रुपये को मसले जा रहा था। फ़ौजी अफ़सर के साथ मेरी बातचीत नहीं छिड़ी थी। पर कभी-कभी वह नज़र भर के मेरी ओर देख लेता था। मेरे अपने इलाक़े का ही आदमी था, गोरा-चिट्टा और कद्दावर, शायद हज़ारे का हो। ऐसा लगता था जैसे बातचीत करने का कोई बहाना ढूंढ रहा हो। पर मैं सिकुड़ता जा रहा था। इस समय वह अवश्य मुझे अपना वतनी मुसलमान समझ रहा है। पर अगर उसने मुझे नदी में पैसा फेंकते देख लिया तो हमारे बीच की सारी स्वाभाविकता नष्ट हो जाएगी। न जाने उसके बाद वह मेरे साथ कैसे पेश आए ?

आधी नदी निकल गई, मुझे जेब से हाथ बाहर निकालने की हिम्मत नहीं हुई। अन्त में अपनी ओर से काफ़ी छुपाकर मैंने रुपया खिड़की में से उछालकर फेंक ही दिया। पर वह भांप गया कि मैंन कोई अनोखी हरकत की है। मैंने आत्मीयभाव- से, जैसे किसी अपराध के लिए सफ़ाई पेश कर रहा होऊं, अंग्रेज़ी में कहना शुरू किया, "मुझे ऐसी बातों में कोई विश्वास नहीं है, पर किसी दोस्त के कहने पर..."

उसका चेहरा गम्भीर हो गया। और बड़ी सहृदयता से उसने सिर नवाकर कहा, "ज़रूर-ज़रूर...मैं आपकी भावनाओं को समझता हूं।"

क्षण-भर को ऐसा लगा जैसे हम एक-दूसरे के बड़े क़रीब आ गए हों, पर उसके बाद हम फिर एक-दूसरे से दूर हो गए, जैसे रेल की पटरियां दूर हो जाती हैं। आपस में केवल दो-चार बातें ही हुई थीं, जैसे तपती धरती पर पानी की छीटें पड़ जाएं! काफ़ी सफ़र हमने अपनी-अपनी खिड़की से बाहर देखते हुए ही गुज़ार दिया। मुझे और चाहिए

भी क्या था। अपनी पोठोहार की धरती के लिए तो आंखें तरस रही थीं, यक़ीन नहीं आता था कि सचमुच टीले और पहाड़ देख रहा था या कोई स्वप्न! स्कूल में भूगोल का मास्टर पढ़ाया करता था कि ऐसी धरती को सतह-मुर्तफ़ा कहते हैं। कितना कठिन था यह शब्द 'सतह-मुर्तफ़ा' ! पर कितना प्यारा था! आज तक नहीं भूला हूं। अपने वतन के सम्बन्ध में जो था!

'तरक्की' का प्रसिद्ध मोड़ निकल गया। फिर सुहावा, मिसा केसवाल भी। गुजरखान पहुंचकर चाय ज़रूर पिया करते थे, साथ ठण्ठे-ठण्डे उबले हुए 'आटंडे' खाते थे। पर अबकी गाड़ी रुकी ही नहीं।...खसमांखाणी ! पहले तो फ्रण्टियर मेल भी रुकती थी।...भदरां, माणकिआला, सिहाला...अभी नाला कुरंग आएगा... वह कितनी ही प्रतीक्षा के बाद आया भी और कितनी जल्दी निकल भी गया। अच्छी तरह देख भी नहीं पाया। कितनी बेइन्साफ़ी की बात है, ज़रा धीरे नहीं चला सकता था गाड़ी को !

चकलाल आकर गाड़ी खड़ी हो गई। पिंडी वह दूर दिखाई दे रही है!...कोई विशेष तो बदला नहीं दृश्य।...वह रहा मरीड़ का पुल! झट से मरी रोड इसके नीचे से निकल गई। यह पुल मुझे जब से याद है, जब मां मुझे गोदी में लेकर गाड़ी की खिड़की के पास बैठी हुई थी, और मैं यह देखकर चकित रह गया था कि कैसे गाड़ी एकदम से नीचे सड़क पर उतरकर बिना कोई झटका खाए फिर ऊपर चढ़ आई थीं।...फिर मुझे जीवन की सबसे पहली रेल-यात्रा याद आई। रात को गाड़ी में सवार हुए थे। बड़ा लम्बा डिब्बा था, लम्बी-सी सुरंग की तरह ! बहुत लोग थे। अचानक डिब्बे की दीवारें इधर-उधर हचकोले खाने लगी थीं। रात-भर मैं डरता रहा था कि कहीं गाड़ी गिर न पड़े। पर वह नहीं गिरी। इससे मैंने अनुमान लगाया था कि गाड़ी दायें-बायें डोलती हुई आगे सरकती होगी, कीड़े की तरह। मुझे यह मालूम नहीं था कि नीचे पहिये लगे हुए हैं।...यह आया सदर का पुल।...आठवीं में पढ़ता था। इस पुल पर अकेले खड़े होकर नीचे शंटिंग करती हुई गाड़ियों का तमाशा देख रहा था। इतवार का दिन था, स्कूल में छुट्टी थी। अचानक मेरे मन में फ़िलासफ़ी की लहर दौड़ गई। जीवन रेलगाड़ी के सफ़र की तरह है। तिथि, वार, महीने, साल स्टेशन हैं। मैंने निश्चय किया कि हर इतवार को इस ख़्याल को दोहराकर अपनी जीवन-यात्रा नापा करूंगा। इस मूर्खतापूर्ण प्रण को न जाने क्यों मैं अब तक निभाता चला आ रहा हूं। कई बार इसे भुलाने का प्रयत्न किया है, पर प्रत्येक इतवार को किसी न किसी समय मेरा ध्यान इस सदरवाल पुल पर पहुंच ही जाता है।

तब जीवन गाड़ी की तरह तो लगा था पर यह नहीं सूझा था कि इसका नाम 'सुपर तेज़गाम' है!

१२

मैं गाहे-बगाहे अपने प्रोग्राम के बारे में डा० नज़ीर अहमद को लाहौर में सूचना देता रहता था। उन्हें मालूम था कि मैं कब तक पिंडी पहुंचूंगा। उसीके अनुसार उन्होंने अपने एक परिचित सज्जन से अनुरोध किया कि वे मुझे स्टेशन पर लेने आ जाएं।

ये सज्जन स्टेशन पर आए अवश्य, पर लग रहा था कि इस बात से खुश नहीं थे। फिर भी मेरे लिए उनका आना ग़नीमत था।

प्लेटफ़ार्म और ड्योढ़ी के बीच ऊंची श्रेणी के यात्रियों के लिए बना हुआ सलामीदार रास्ता पिंडी स्टेशन की खास निशानी है। जब पढ़ा करता था, तब सेकेंड क्लास का टिकट जेब में होने पर इसपर से बड़ी शान से गुज़रा करता था। आज इसके पत्थर की दरारों पर मैंने बड़े धीरे से पैर रखे, ताकि उन्हें आघात न पहुंचे। बाहर एक छोटी-सी टैक्सी में सामान रखवाया और दोनों जने उसमें बैठ गए। उन्होंने रस्मी-से खुलूस से कहा, "आप फ़्लैशमैन होटल में ठहरना पसंद फ़रमाएंगे? मैंने दोपहर को फ़ोन पर उनसे बात की थी। उस वक्त कोई कमरा खाली नहीं था। लेकिन मेरे ख्याल में अब फिर चलकर पूछ लेते हैं!"

मैंने हामी तो भर दी पर भीतर से मेरा वहां ठहरने को बिलकुल मन नही मान रहा था। एक तो मेरी आर्थिक स्थिति बहुत चोखी नहीं थी। दूसरे, मेरे ज़माने में, जब हम सदर केवल हवा-खोरी के लिए जाते थे, उस होटल में बड़े भयभीत करनेवाले अंग्रेज़ अफ़सर रहा करते थे। तीसरे, पिछले पांच-सात दिनों में मैं गलियों, मुहल्लों और सरायों में ठहरता आया था। साधारण लोगों से मिलने-जुलने और स्वतंत्र विचरण का अपूर्व अवसर मिला था, जो फ़िल्म-अभिनेता होने के कारण भारत में मुझे नसीब नहीं था। जहां तक हो सके मैं बड़प्पन की क़ैद से मुक्त रहना चाहता था, पर उनके ठंडे-ठंडे व्यवहार के कारण मैं खुलकर बातें करने की स्थिति में भी नहीं था।

अचानक टैक्सी ड्राइवर ने पीछे मुंह फेरकर कहा, "जी, माफ़ करना, आप बलराज साहनी तो नहीं है?"

मैंने सोचा किसी अखबार में उसने मेरा ज़िक्र पढ़ा होगा। रोज़ ही तो वे बड़े प्रेम से मेरे बारे में कुछ न कुछ छापते रहते थे, या हो सकता है इसने मेरी कोई फ़िल्म देखी हो। पर बात कुछ और ही निकली। "हां, भाई हूं तो वही।" मैंने कहा।

"और मेरा नाम खुर्शीद है। मुझे नहीं पहचाना?"

मेरे बदन में खुशी की लहर दौड़ गई। अंधेरे में मैंने उसका चेहरा पहचानने की बड़ी कोशिश की, पर सफल नहीं हो सका। पर अपने-आप मेरे मुंह से निकल गया, "कौन खुर्शीद? ग़नी का भाई तो नहीं?"

"वह नहीं हूं तो और कौन हूं? खुदा की क़सम खूब पहचाना?" वह ज़ोर से हंस दिया।

"फ़्लैशमैन होटल चलिए!" मेरे साथी ने उसे उर्दू में अपने फ़र्ज़ से आगाह किया।

खुर्शीद ने गाड़ी चला दी पर बातों का सिलसिला बन्द नहीं हुआ, "चलो न घर ले चलूं, होटल में ठहरोगे तो हमारे लिए बड़ी शर्म की बात हो जाएगी।"

"तू ग़म न कर, कल सबेरे मैं छाछी मुहल्ले आऊंगा ना, फिर बातें करेंगे। अभी यहां हूं चार-पांच दिन तक।"

"क़सम खुदा की सच कहता हूं, अगर किसी को पता चल गया कि तुम्हे होटल में छोड़कर आया हूं, तो मार-मार के मेरा भुरता बना देंगे।"

"इसका मैं ज़िम्मेदार हूं!..."

मेरे भाग्य से फ़्लैशमैन होटल के काउंटर के पीछे खड़े क्लर्क ने फिर ठेंगा दिखा दिया। दूसरे नम्बर का होटल था मैट्रोपोल। इसमें एक गुज़ारे लायक़ अच्छा कमरा मिल गया। मेरे मेहरबान सुबह नौ बजे फिर आने और मुझे सिक्योरिटी आफ़िस ले चलने का विश्वास दिलाकर चले गए। पर उनके चेहरे पर मुझे शंका के ऐसे चिह्न दिख रहे थे कि शायद वे न ही आएं। पर खुर्शीद के आने का मुझे पूरा विश्वास था। और मुझे चाहिए भी क्या था?

रात को सोने से पूर्व मैं होटल के चौड़े हाते में, चीड़ के ऊंचे-ऊंचे वृक्षों के नीचे, ठंडी-ठंडी घास पर बड़ी देर तक टहलता रहा। सर-सर करती हवा कभी मुझे ऐबटाबाद और कभी कोहमरी के क़िस्से सुनाने लगती, और मैं आह भरकर कहता, 'हाय री पिंडीए! इतनी खूबसूरत न होती तो तुझे भुलाना शायद आसान होता!'

रात बुरे-बुरे सपने आते रहे। एक तो बहुत ही भयानक था। यह कि मैं होटल में नहीं, अपने छाछी मुहल्ले वाले घर में जा ठहरा था। मेरे पड़ोसी और परम मित्र बोस्तान ने हमारे परिवार को कभी न कभी लौट आने की प्रतीक्षा में किसी मुहाज़िर को उसमें बसने नहीं दिया था। उन्होंने हमारे घर का सामान, जो एक तहखाने में सुरक्षित था, फिर उसी तरह वापस रखवा दिया। मेरी खुशी का कोई आर-पार नहीं था। बड़ी चाह से मैने अपने अध्ययन-कक्ष को फिर से सजाया। पढ़नेवाली किताबों की लिस्ट बनाई। लिखने का प्रोग्राम निश्चित किया और आगे के लिए तय कर लिया कि वर्ष में कम से कम छः महीने यही व्यतीत किया करूंगा। फिर मेरी भेंट एक ऐसे दोस्त से हो गई जिसे मैं बिलकुल ही भूल चुका था।

गोरा-चिट्टा और बहुत ही नाजुक बदन था वह। स्कूल में मास्टर उसे चांटा मारने से घबराते थे, क्योंकि उंगलियों के निशान दिन-भर उसके गालों से नहीं मिटते थे। उसने मुझे अपने घर पर खाना खाने की दावत दी। मैने खुशी-खुशी स्वीकार कर लीं। बड़ी शानदार दावत खिलाई थी उसने, पर अन्त में भरी महफ़िल में छुरा निकालकर कहने लगा, ''यह भी मेरा फ़र्ज़ है'' और छुरा मेरी छाती में भोंक दिया। बोस्तान, बख्शा, मुर्तज़ा, खानां और भी कई दोस्त वहां उपस्थित थे, पर किसीने भी उसका हाथ नहीं रोका।...

इस मूर्खतापूर्ण सपने के कारण दिल में भय के स्थान पर प्रसन्नतासी पैदा हुई कि एक भूले-बिसरे मित्र की याद इतने लम्बे अर्से के बाद अचानक ताज़ा हो गई। पहली कक्षा से बारहवीं कक्षा तक हम साथ ही साथ पढ़े थे। मेरी मां मेरे सभी मित्रों से ज्य़ादा उसी को प्यार किया करती थीं। हम साथ-साथ पढ़ते, साथ-साथ खेलते, कभी वह हमारे घर सो जाता, कभी मैं उसके घर! उस नाजुक-से व्यक्ति का सपने में भी किसी को छुरा मारना अनहोनी बात थी, पर इससे भी ज्य़ादा अनहोनी और नाक़ाबिल-माफ़ी बात थी मुझे उसे एकदम भुला बैठना! पिछले बीस-पच्चीस सालों से कभी एक बार भी मुझे उसका खयाल नहीं आया था। एफ़०ए० पास करने के बाद मैंने लाहौर जाकर कालेज में एडमिशन ले लिया, और वह फौज में भर्ती होकर किसी पराये देश चला गया। अब वह कहां होगा? नाम क्या था उसका? जब लगातार प्रयत्न करने पर भी मुझे उसका नाम याद न आया तो मैं झुंझला उठा। क्या अब मैं उससे मिल सकूंगा? कितनी सुन्दर पगड़ी बांधा करता था- बिलकुल पंडितों की तरह।

ठीक नौ बजे ख़ुर्शीद टैक्सी लेकर आ गया। मैं ड्राइंग रूम से निकल रहा था। उसने हाथ जोड़कर इतने ज़्यादा अदब से नमस्ते की कि मेरी हंसी निकल गई, "सुना ख़ुर्शीद, क्या हालचाल है?"

"ठीक हूं जी !"

वह बड़े सुन्दर-से असमंजस में उलझा हुआ था। एक ओर वह टैक्सी ड्राइवर, फिर उम्र में भी छोटा। दूसरी ओर उसका मुहल्ले वाला, उसके बड़े भाई का दोस्त ! साफ़ नज़र आ रहा था कि यह अदब-आदाब उससे ज़्यादा देर तक नहीं निभेगा।

मैंने कहा, "वे साहब अभी तक नहीं आए। ज़रा इन्तज़ार कर लें!"

"हां-हां, करो न!"

"तूने यह मीटर नीचे नहीं किया! यह बात ठीक नहीं है। इसे नीचे कर ले।"

"होगा ही नहीं जी। कुछ खराब हो गया है।"

"मैं कर दूं?"

"कर दीजिए। अगर हो जाए तो बड़ी ही मादर..." यह कहता हुआ वह बोनट से हटकर गाड़ी के पीछे चला गया, जैसे मुंह से गाली निकल जाने पर लज्जित हो। मुझे अपनी ग़लती का एहसास हुआ! प्यार से मैंने उसके कंधे पर हाथ रखकर कहा, "चल चाय पिएं।"

और मैं उसे अपने कमरे में ले गया। आधे घण्टे बाद हम कार में पास-पास बैठकर सिक्योरिटी ऑफ़िस चल दिए। तकल्लुफ़ की सभी सीमाएं टूट चुकी थीं। सारी राह बेझिझक होके वह उस व्यक्ति का मज़ाक उड़ाता रहा जो वायदा करने पर भी नहीं आया था।

"मैं तो रात को ही समझ गया था। उस आदमी के बच्चे की ज़बान कुछ और कहती है और दिल किसी और तरफ़ झक मारता था। टोपी नहीं देखी थी साहब बहादुर की, ऐसे कानों पर खींच रखी थी की आधा मुंह नज़र ही नहीं आता था। हमें पता है जी सारी बात का। वह डरता था कि कही आपके साथ घूमते हुए सी०आई०डी० में नम्बर न नोट हो जाए। रात के वक़्त भी पतलून ढीली हो रही थी। इधर-उधर देखकर ऊंची कर लेता था।"

इस सिक्योरिटी ऑफ़िस में और जिनमें मैं अब तक पेश होता रहा था ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ था। खूबसूरत सजा हुआ कमरा, आमने-सामने पड़ी हुई आरामकुर्सियों की क़तारें, एक कोने में अफ़सर की मेज़। इसपर फ़ाइलों का अम्बार नहीं था, न ही अरदलियों और क्लर्कों की भगदड़ थी। दो यूरोपियन स्त्रियों को खुश-खुश विदा करके अफ़सर मेरी ओर घूमा। पासपोर्ट देखकर, बड़ी नम्रता से मुझसे आज्ञा मांगकर, पांच मिनट के लिए कमरे से बाहर चला गया। ज़रूर मेरी फ़ाइल मंगवाकर पढ़ी होगी। कार्यवाही तो हर जगह एक-सी ही होती है, पर अफ़सरों का व्यवहार शहरों की अपनी बड़ी या छोटी हैसियत के अनुसार बदलता रहता है।

वापस आकर और आवश्यक नोटिंग करके उसने पासपोर्ट मुझे वापस कर दिया। फिर कुर्सी से उठकर खड़ा हो गया और मुझसे हाथ मिलाते हुए बोला, ''मुझे उम्मीद है कि आपका यहां का निवास बहुत अच्छा रहेगा।''

''क्या पुलिस स्टेशन जाना पड़ेगा?'' मैंने हैरान होकर पूछा।

''क्यों ? वह किसलिए?''

''अब तक तो मुझे हमेशा दोनों जगह जाना पड़ा है।''

''अच्छा ?'' यह तो खाहमखा की तकलीफ़ है, नहीं, और कहीं जाने की ज़रूरत नहीं। हां, लौटती बार फिर एक दफ़ा यहां आने की ज़हमत उठानी पड़ेगी आपको !''

''पर मुझे कोहमरी भी जाना है। मेरा वीज़ा है वहां का!''

''आप बड़ी खुशी से कोहमरी जाएं।''

''पर जाने से पहले यहां आने की...''

''कोई ज़रूरत नहीं।''

''वहां पहुंचकर?''

''अगर वहां रात को रहना है तो पुलिस स्टेशन पर रिपोर्ट करनी पड़ेगी, वर्ना कोई ज़रूरत नहीं।''

''यहां रावलपिंडी में कोई बंदिश...?''

''कोई बंदिश नहीं!''

''मैं टोपी पार्क जा सकता हूं?''

''बड़ी खुशी से।''

''सूहां?''

''वह ज़रा दूर है।'' उन्होंने हंसकर कहा।

''पिंडी आकर मैं सूहां न देखूं?'' उनके शिष्ट व्यवहार ने मुझमें साहस भर दिया था।

''अच्छा देख आइए सूंहा भी। पर पुल से पार न जाइएगा।''

''थैंक्यू वैरी मच!'' मैंने कृतज्ञता के आवेश में फिर उनसे हाथ मिलाया और बाहर आ गया।

खुशी से जैसे हवा में उड़ता हुआ मैं कचहरियों से गुज़रकर टैक्सी स्टैंड पर जा पहुंचा। यह किसी ज़माने में केवल तांगा स्टैंड हुआ करता था। खुर्शीद मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। मैंने उससे कहा, ''खुर्शीद, लगे हाथ 'टोपी रख' और 'सूहां' का चक्कर लगा आएं, फिर शहर चलेंगे।''

''ठीक है।''

''टोपी रख' का नाम अब अयूब पार्क है। कमल के फूलोंवाली झील के ऊपरवाली पैवेलियन पर रेस्तरां बन गया है। वहां बैठकर हमने चाय पी। खुर्शीद समझ गया था कि मैं उसकी बातें बड़े चाव से सुनता हूं। हर चीज़ की विनोदी ढंग से देखना पंजाबी स्वभाव की विशेषता और पिंडीवालों के स्वभाव की खास विशेषता है! मसलन पार्क में

एक 'टेडी ब्वाय' तो तंग पतलून पहने घूमते देखकर खुर्शीद बोला "लो यह देखो, सारंगी पर गिलाफ चढ़ा हुआ है!... यह घुस तो गया अपने बाप की पतलून में, अब निकलेगा कैसे?"

चौराहों पर ट्रैफ़िक पुलिसमैनों को सफ़ेद सोला टोपी, सफ़ेद बूट, वर्दी और दस्ताने पहने खड़े देखकर उसने कहा, "ये देखो चूने में कौआ फंसा हुआ है। नई वर्दियां बनाई गई हैं इनकी। टोपियां ग़लती से सबकी एक साइज़ की निकल आईं। किसीके पूरी आती है किसी के नहीं आती- यह इधर देखो,...देखा!"

और अब वह पाकिस्तानी फ़िल्मों को ले बैठा। लाहौर के किसी स्टूडियो में जाकर एक बार शूटिंग देख आया था। वह सारा नज़ारा उसने ब्योरेवार वर्णन किया और मुझे हंसा-हंसाकर लोट-पोट कर दिया, "बस हराम की खा-खाककर मोटे हो गए हैं। फ़िल्म बनानी इनमें से किसी को आती ही नहीं। फ़िल्म का काम है झूठ को सच करके दिखाना। यह सच को भी झूठ करके दिखाते हैं।"

फिर उतराई उतरकर हम 'सूहां' के किनारे जा बैठे। दरिया देखकर हम दोनों पर सकता-सा छा गया। मुझे पुराने ज़माने याद आ गए। तब छाछी मुहल्ले में केवल हमारा घर और उसके सामने छाछियों की बड़ी-सी हवेली- दो ही पक्की इमारतें थीं। बाक़ी हर तरफ़ कच्चे-कच्चे मकान थे, जैसे गांवों में होते हैं। तब पिंडी से कश्मीर माल की ढुलाई बैलगाड़ियों द्वारा होती थी। यही छाछियों का पेशा था। बैलगाड़ियों के लम्बे-लम्बे काफ़िले चलते थे हमारे मुहल्ले में घर घर बैलों की घंटिया सुनाई पड़ती थी। बैलों को यह छाछी मुसलमान अपने घर के लोगों से भी ज़्यादा प्यार करते थे। कोई बैल मर जाता तो औरतें दहाड़ें मार-मारकर रोतीं और छाती पीटतीं। खुर्शीद और उसका बड़ा भाई ग़नी भी छाछियों की सन्तान थे।

"ये देखो!" अचानक खुर्शीद की आवाज़ सुनकर मैं चौंक उठा, "आ गए हैं!"

उसका इशारा दूर के एक टीले पर खड़े दो सी०आई०डी० वालों की ओर था, जो मोटर साइकिल पर बैठकर कबाब में हडडी वाला रोल अदा करने के लिए हमारे पीछे-पीछे आ गए थे।

१३

अपने पुराने मकान के दर्शनों के लिए जाता हूं। पर अखबारों के प्रेस-फ़ोटोग्राफ़र मुझसे पहले वहां पहुंच चुके होते हैं। मुहल्ले में तमाशा-सा बन जाता है। जी भरकर मकान देखने की, उसे अपने हाल सुनाने की, उसके सुनने की तमन्ना एकान्त में ही पूरी हो सकती थी। बहुत-बहुत यत्न किये पर यह एकांत नसीब नहीं हुआ ।...

नये मकान-मालिक जालन्धर की तरफ़ के हैं, अव्वल दर्जे के शरीफ़, मिलनसार और नम्र। पर्दानशीन होते हुए भी बहुओं ने मुझसे पर्दा नहीं किया। बड़े आदर के साथ मुझे चाय पिलाई, कमरों में घुमाया। हमारा फ़र्नीचर उसी तरतीब से पड़ा है, जैसे हम रखते थे। मकान छूटने का रंज बिलकुल महसूस नहीं हुआ, पर इस फ़र्नीचर को देखकर दिल में अजीब-सी हलचल पैदा हो गई। जी चाहा, सभी चीज़ें उठाकर ले जाऊं ।...

एक पुराने मुहल्लेदार दोस्त की लड़की का ब्याह है। बरातियों को हमारे घर के नीचेवाले भाग में खाना खिलाया जा रहा है खिलानेवालों में मैं भी शामिल हूं। मेज़-कुर्सियां अन्दर आंगन में, पिताजी के दफ्तर में और उसके पीछे मेरे सोने के कमरे में बिछी हुई है। समय अजीब हिलोरे ले रहा है :

वारसशाह मियां गन्ना चख सारा,

मज़े वेख लै पोरिआं- पोरिआं दे।

बरातियों को खाना खिलाकर दोस्तों की टोली खुद खाने बैठती है। अचानक वह दोस्त भी आ जाता है जिसने सपने में मुझे छुरा मारकर घायल कर दिया था, और जिसका नाम मुझे अभी तक याद नहीं आया था। ठीक सपने की तरह ही साथ-साथ बैठकर खाना खाने लगे। मेरे मुंह से निकल गया, ''यार, मेरी बदनसीबी देख, तेरा नाम मुझे याद ही नहीं आ रहा ।''

एकदम उसका हाथ लगते मैला होनेवाला गोरा चेहरा गुस्से से तमतमाने लगा, जैसे अभी जेब से चाकू निकालकर सपने को सत्य में बदल डालेगा। उसने छूरा तो नहीं निकाला,पर शब्द कहे वह छुरे से कम तेज़ नहीं थे, ''वापस जाकर अपनी माता जी से पूछना। उन्हे मेरा नाम नहीं भूला होगा।''

दिल्ली लौटकर मैंने उसकी बात आज़माई। मैंने मां से कहा, ''माताजी, मेरे बचपन का वह दोस्त याद है?बड़ा भोला और गोरा-गोरा? खूबसूरत-सी पगड़ी।''

''मेरा मुख़्तार?'' माताजी ने झट टोककर कहा,''हाय, उस बेचारे को कैसे भूल सकती हूं?...''

कम्पनी बाग का नाम अब लियाकत पार्क हो गया है। इसपर अपने टैक्सी ड्राइवर मित्र खुर्शीद की एक बात याद आई। सदर बाज़ार से गुज़र रहे थे, मैंने उससे पूछा,''खुर्शीद,हमारी तरफ तो रिश्वत, सिफ़ारिश खूब चलती है, यहां का क्या हाल है?''

''लियाकतां तो गोली मार दी है न जी;''उसने झट से जवाब दिया।

''क्या?मैं समझा नहीं तेरी बात।''

''वह जी, लियाकत अली होरां को तो गोली मार डाली है न! बाकी तो रिश्वत अली और सिफ़ारिश अली ही रह गए हैं न ।''

लियाक़त पार्क में शहर के पत्रकारों ने मुझे पार्टी दी है। शोरिश मलिक, अफ़ज़ल परवेज़ (जिनकी उर्दू और पंजाबी रचनाएं भारतीय पत्रिकाओं में भी छपती हैं) और कई और सज्ञनों ने पंजाबी और उर्दू की कविताएं सुनाई। फिर मेरे अनुरोध पर उसी रात को इन्ही सज्ञनों ने दूर गांव से कलाकारों को बुलवाकर उसी पार्क में लोकगीत और लोकनृत्य का मेला भी लगवाया। जीवन में पहली, या कौन जाने आखिरी, बार मैंने अपनी जन्मभूमि के लोकनृत्य अपनी जन्मभूमि की गोद में बैठ के देखे। कई और मित्रों के परिवार भी, जो मेरे साथ अब ऐसा व्यवहार करने लगे थे जैसे न कभी मैं देश से बाहर गया था और न कभी जाऊंगा, इस 'पागलपने' में मेरा साथ दे रहे थे। गंवारू नृत्यों और गीतों पर मेरा इतना रीझना उन्हें अस्वाभाविक-सा लग रहा था।

नाचनेवालों की पगड़ियां और अंगरखे बिलकुल मारवाड़ी या काठियावाड़ी ढंग के थे। उनका डंडे बजाकर नाचना भी काठिया-वाड़ी 'डांडीआ रास' की तरह था,पर जिस मर्दानी से ये पोठोहारी गबरू उछलते और नाचते थे, वह पंजाब के अलावा किसी और प्रान्त के बस का नहीं है।

नर्तकों ने मुझे बताया कि नृत्य उनके घरानों में पुश्त-दर-पुश्त चला आ रहा है। पोशाकों के डिज़ाइन भी सदियों पुराने हैं, इनको कभी नहीं बदला जाता, न ही नृत्य के अतिरिक्त किसी और अवसर पर बरता जाता है।

रावलपिंडी के राजधानी बन जाने से इन कलाकारों का महत्त्व बढ़ गया है। विदेशों से आने वाले प्रतिष्ठित मेहमानों को स्थानीय लोककला के नमूने पेश करने के लिए सरकार की तरफ़ से इन्हें याद किया जाने लगा है। इस प्रकार इन्हें कभी-कभी अच्छी माया और प्रशंसा मिल जाती है, पर पढ़े-लिखे लड़के-लड़कियों को, हमारे देश की तरह, लोकनृत्य सीखने का चस्का अभी नहीं लगा।...

सैदपुर (जिसका दूसरा नाम रामकुण्ड था) और नूरपुर (जहां बरी अमाम का मेला लगता है) की सैर करते वक्त वह स्थान देखा जहां नई राजधानी बनेगी। सैदपुर से तीन मील दूर तखतपड़ी की पहाड़ी को केन्द्र बनाकर रमणीक पहाड़ की तराई में नगर फैलता चला जाएगा। मरी रोड के रावलां नामक स्थान पर एक नया और बहुत बड़ा बांध बनाया गया है। नीला निर्मल पानी झील के रूप में कई मील के क्षेत्र में फैल गया है। राजधानी का पूर्वी भाग इस झील को छुएगा। स्थान का चुनाव करनेवालों के विचारों पर चंडीगढ़ का काफ़ी प्रभाव पड़ा लगता है। पर इसमें कोई शक नहीं कि कोहमरी की पहाड़ियों का दृश्य शिवालक की पर्वतमाला से कहीं अधिक सुन्दर है। चंडीगढ़ किसी फ्रांसीसी आर्चीटेक्ट के विचारों का चमत्कार था। पाकिस्तान की नई राजधानी को अस्तित्व में लाने के लिए एक यूनानी आर्चीटेक्ट की सेवाएं ली गई हैं। देखें इस बादशाही दौड़ में कौन जीतता है।

अपनी नोटबुक में से

बरबस उस बुड्ढे मास्टर की याद आ रही है। गलियों के चक्कर काट रहे थे, किसीने कहा, यहां एक हिन्दू मास्टर रहते हैं। मैंने पूछा, किस स्कूल में पढ़ाते हैं? बताया, कोहमरी गवर्नमेंट स्कूल में। नाम भी बताया, पर यांद नहीं रहा। पहले तो ध्यान नहीं किया पर चार कदम आगे बढ़कर एकदम रुक गया याद आया एक बार जब कोहमरी छुट्टियों में गया था तो वहां एक लड़के से मेरी दोस्ती हो गई थी, और एक दिन वह मुझे अपने गवर्नमेंट स्कूल में झूठमूठ भर्ती कराने ले गया था। सारा दिन मैं उसकी कक्षा में बैठकर पढ़ता रहा। सोचा, मिल तो लेना ही चाहिए, शायद वही मास्टरजी निकल आए।

एक बुढ़िया छज्जे से नीचे देख रही थी। हम सीढ़ियां चढ़कर ऊपर पहुंचे। मास्टर को देखा कि यमराज के मेहमान बने कुर्सी पर बैठे हैं। लकवे से हाथ और सिर दोनों हिल रहे थे। मुझे झट याद आ गया, उस दिन इनसे हिसाब पढ़ा था। ये मास्टर आर्यसमाजी थे, और मेरे दोस्त के घर भी पढ़ाने आते थे। कितने सुन्दर जवान थे उन दिनों ! अब भी इतने बुडढे तो न होगे फिर इस दशा को कैसे पहुंच गए? आंखों से दिखता नहीं, बोल सकते नहीं। दाढ़ी और सिर के बाल सन-से सफ़ेद। बुढ़ी के हिसाब

के अनुसार उनकी उम्र पैंसठ-सत्तर से ऊपर नहीं थी। यह हालत ज़रूर दिल के ग़म ने की होगी, जो शहर हिन्दुओं से खाली हो जाने से दिल पर लगा। पहले मौत का डर, फिर लड़का मुसलमान हो गया, धर्म भ्रष्ट हो गया। अपनी पसन्दीदा दुनिया खत्म हो गई।

पर उनके मुक़ाबले में उनकी पत्नी, वह बुढ़िया, काफ़ी मज़बूत हाड़-मांस की लगती है। खुद ही बातें करने लगी हमसे, मास्टर तो बोल ही नहीं पाते थे।

''अब उठकर बैठने के क़ाबिल तो हो गए हैं। विद्यासागर ने बड़ी खिदमत की है। बस वही एक बेटा निकला है, ईश्वर उम्र दे उसे। सब उसीका हुक्म है बच्चा। मां-बाप हिन्दू और बेटा मुसलमान-एक ही घर में। कोई बात नहीं। सब एक ही तो हैं। हमें जलाया जाएगा और इनकी औलाद इनको क़ब्रों में डाल दिया करेगी। मैंने अभी तक गंगाजी के भी दर्शन नहीं किए। हमारे बर्तन अलग रखे हुए हैं। ये तो बेटे के हाथ का पानी भी नहीं पीते। (एक बुर्क़ेवाली लड़की बाहर से आवाज़ देती है, ''माताजी, सागर कहां? अभी तक नहीं आया?'') यह सागर की बीबी है। यह भी पढ़ाती है। बुर्क़ा तो आजकल कोई नहीं पहनता, यह तो कभी-कभी...मिस कामटे यहां एक हिन्दू औरत है। वह भी पढ़ाती है। हज़ार रुपया तनख्वाह लेती है...दिल मज़बूत रखना चाहिए। कोहमरी में कितने लुंगे-लपाड़ी रहते हैं। कितनी-कितनी देर तक अकेली रही हूं मैं, डरना नहीं चाहिए। रौब से रहना चाहिए।'' पोठोहारी निर्भीकता, पोठोहारी हंसी, और पोठोहारी हल्का-फुल्का इस स्त्री का शरीर, बुढ़ापे में भी उसे जवान करके दिखा रहा था। जिस मुसलमानी हौल ने मर्द का खून चूस लिया था, इस स्त्री का कुछ भी नहीं बिगाड़ सका था।

लाहौर, सरगोधा, झंग आदि शहरों में पिंडी-ब्रांड तांगे चलते देखकर मुझे बड़ा गर्व हुआ था, पर अपने ही शहर में इनकी दशा शोचनीय देखी। राजधानी बनने के बाद छोटी टैक्सियों ने आके इनका धन्धा खत्म कर दिया है।...

असलम मलिक बी०बी०सी० (इंग्लैंड की रेडियो संस्था), लन्दन में मेरे साथ काम करते थे। अब पाकिस्तान के डिप्टी चीफ़ ऑफ़ प्रोटोकाल है। मुझे अपनी कार में बैठाकर तक्षशिला दिखा लाए। बीस साल बाद आज फिर अजायबघर देखा, जिसमें गुप्त और मौर्यकालीन सभ्यता के अनमोल भण्डार हैं। असंख्य छोटे और बड़े बुत हैं यहां। हर बुत की अपनी अलग शक्ल और रूपरेखा है। जैसे आजकल फोटो खिंचवाने का रिवाज है ऐसे ही उस वक्त बुत बनवाने का चलन रहा होगा। प्राचीन काल की भारतीय सभ्यता के इतने व्यापक रूप में दर्शन करवानेवाला अजायबघर तक्षशिला के अतिरिक्त और कोई नहीं है, यह बात विश्वासपूर्वक कही जा सकती है। पाकिस्तान सरकार ने इसे आदर्श सुघड़ता से सजाकर रखा हुआ है। अगर कोई शिकायत हो सकती है तो केवल यह कि दिखानेवाले गाइड यूनानी प्रभाव का ज़िक्र इस ढंग से करते हैं जैसे बुद्धकाल के भारत ने सारी सभ्यता यूनानियों से ही सीखी हो!...

पूरे एक दिन कोहमरी की सैर की। खुर्शीद जान गया था कि सबसे ज्यादा पंजाबी बोली का आकर्षण ही मुझे पाकिस्तान लाया है, और वह बोली का माहिर था, हास्यरस का शहनशाह, दिन-भर वह मुझे हंसाता रहता।

लौटकर फिर अयूब पार्क। सिक्योरिटी आफ़िस में पासपोर्ट पर रुख्सती की मोहर लगवा ली है। रुख्सती की या देश-निकाले की? अयूबपार्क में एक बड़ा-सा ओपेन एयर थियेटर बना लिया गया है। उसकी सीढ़ियों पर खड़े हैं- खुर्शीद और मैं। एक दूसरे से दूर, जैसे आपस में कोई झगड़ा हो गया हो। न उसके आंसू रुकते हैं न मेरे।

नुक्ता चीं है ग़मे-दिल उसको सुनाए न बने
क्या बने बात जहां बात बनाए न बने!

थोड़े फ़ासले पर झाड़ियों में छुपे सी०आई०डी० के मोटर साइकिल सवार- जिन्होंने पूरे पांच दिन तक निरन्तर साथ निभाया है- हमारे ओपेन एयर ड्रामे के आखिरी सीन का खूब लुत्फ़ उठा रहे हैं। चकलाला का हवाई अडडा यहां से बस दस-एक मिनट का रास्ता है।...

१४

पोठोहार की धरती पर हवाई जहाज़ में से विहंगम दृष्टि डालना भी एक नियामत थी जिसने वतन से बिछड़ने के दुःख को कुछ हद तक हल्का कर दिया। हवाई जहाज़ चलते वक्त जब पिछली सीट से आवाज़ आई थी 'पेटी लाई घिनो!' (बेटी बांध लीजिए) तब जज़बात बेकाबू हो गए थे और कुछ तुकबन्दी भी कर ली थी, मगर वह काग़ज़पर उतारने योग्य नहीं हो पाई। पोठोहार का पहाड़ी सिलसिला ठीक जेहलम नदी के किनारे तक जा पहुंचता है। अगर कविता ज़रूर करनी हो तो इस 'सतह-मुर्तफ़ा' को एक ऊंचे और चौड़े-से पलंग से उपमा दी जा सकती है जिसपर बहुत बढ़िया बाग़ (रंगारंग रेशमी धागों से कढ़ी हुई चादर) बिछा हो। पीछे कोहमरी और कश्मीर के पहाड़ इस क़ीमती पलंग का ऊंचा ढोह (पुश्त) हैं। पाइलट ने लाउडस्पीकर पर एलान किया कि नीचे की पहाड़ियों में मंगला डैम दिखाई पड़ रहा है। कुछ क्षण पहले अखबार में पढ़ा था कि कई दिनों से इस डैम के मज़दूरों की हड़ताल चल रही है। मज़दूरों का संगठन कमज़ोर होने के कारण उनको रहने और खाने की कम से कम सुविधाएं भी नहीं मिल रही है। अखबार के कथनानुसार, मज़दूरों ने बिलकुल लाचारी की हालत में हड़ताल की थी। एयर होस्टेस ने मुझे पहचान लिया, आटोग्राफ़ लिया और अनुरोध किया कि बम्बई पहुंचकर बेबी नन्दा के हस्ताक्षरसहित फोटो उसे ज़रूर भेजूं। उड़ान के दौरान भारत के शहरों की सैर का अवसर मिल जाता है और हिन्दी फ़िल्में वह बड़े चाव से देखती है।...

फ़ैशन के लिए मशहूर शहर लाहौर का हवाई अडडा भी उसकी शान में चार चांद लगाता है। कोई आलीशान इमारत खड़ी नहीं की गई है। दूर से देखने पर किसी फ़ैक्ट्री का लम्बा-चौड़ा शेड मालूम पड़ता है, पर अंदर की सादगी और क़रीने को देखकर व्यक्ति वाह-वाह कर उठता है। काफ़ी भाग एयरकण्डीशण्ड बनाया गया है। सभी ओर दिलकश और हल्का-फुल्का फ़र्नीचर, गुलदस्ते आदि सजे हैं। ऐसा वातावरण यूरोप के हवाई अडडों में ही देखने को मिलता है जहां ऊपरी दिखावे का नहीं, सुगमता और दिलकशी का वातावरण पैदा करने का प्रयत्न किया जाता है।

हवाई जहाज़ से उतरकर जब यात्रियों के लौंज में आया तो बंगालियों की काफ़ी संख्या दिखाई पड़ी। निश्चय ही ये पूर्वी बंगाल के लोग थे। पर मेरी निगाहें उनको केवल बंगाली रूप में ही देख रही थी। बंगालियों से मुझे बहुत प्यार है। मेरा बहुत जी चाहा कि उनसे दो-चार बातें बंगाली में करूं। लाहौर में इतने बंगाली!

पासपोर्ट आदि की दिक़्क़तें निबटाने के लिए डा० नज़ीर के प्राइवेट सेक्रेटरी फिर उपस्थित हो गए थे। फिर वही सुखदायी बंगला, एक उत्तम श्रेणी के पारिवारिक जीवन

की मिठास लाहौर की अपनी विशेष आज़ाद-सी फ़िजा। कहते हैं लाहौर लाहौर ही है। मेरा अनुभव इसको आज फिर प्रमाणित कर रहा था। इसका राज़ मध्यवर्ग के समाज पर यूरोपीय सभ्यता के प्रभाव के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? अंग्रेज़ों के समय में इस प्रभाव के तारीक (स्याह) पहलू काफ़ी नुमायां (स्पष्ट) थे। आज़ादी के युग में इसे समूचे जन-जीवन के सुधार के लिए, उसे और भी उदार और नियमानुकूल बनाने के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है, पर यह तो तभी संभव है जब मध्यवर्गीय जनता में स्वयं को खपा दिया जाए। इस कार्य में लेखक और कलाकार बड़ा योगदान दे सकते हैं, बशर्ते वे सच्चे अर्थों में जनता के लेखक और कलाकार बनने की योग्यता पैदा करें। किसीसे सुना था, पता नहीं झंग में या कहीं और, कि वारिसशाह की हीर पाकिस्तानी पंजाब में अब भी लगभग एक लाख की संख्या में प्रति वर्ष बिकती है। इसके मुक़ाबले में फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़' की कविता कितनी बिकती होगी? क्या उसका प्रभाव पढ़े-लिखे मध्यवर्ग तक सीमित नहीं रह जाता? इसका यह अर्थ नहीं कि 'फ़ैज़' की कविता में कोई कमी है, निश्चय ही वह संसार के महान कवियों में से है। मेरे लिए इससे बड़े मान की और क्या बात हो सकती है कि गवर्नमेंट कॉलेज, लाहौर की बेंच पर बैठकर मैं उसके साथ पढ़ा हूं। पर मैं सोचता हूं, कितना अच्छा होता अगर वह पंजाबी में कविता करता? पर, उसके देश से तो उसकी उर्दू की और मध्यवर्ग तक असर करनेवाली कविता भी बर्दाश्त नहीं हुई। इसी दोष में आज वह जलावतनी की खाक छान रहा है। अगर इसी इनक़लाबी रंग में और कलात्मक ढंग से वह पंजाबी में कविता करता तो शायद उसे इससे भी अधिक दुःखान्त सज़ाएं मिलतीं!...

ड्राइंगरूम में अकेला बैठा-बैठा ऐसी ही बातें सोच रहा था कि उर्दू और पंजाबी के प्रसिद्ध कवि अहमद राही मिलने आ गए। मैं उनसे पहले कभी नहीं मिला था पर कभी-कभी उनकी रचनाएं अपने पंजाबी मासिक पत्रों में पढ़ी थीं। पिंडी छोड़ आने का सारा दुःख शायद उन्होंने मेरी आंखों में पढ़ लिया था और उन्हें अपना बिछड़ा शहर अमृतसर याद आ गया, जिसका जोगी-फेरा लगाते हुए उसने कुछ वर्ष पूर्व यह मशहूर कविता लिखी :

देशवालियों, आपने देश अन्दर
असीं आए हां वांग परदेसियां दे
घरांवालियो, आपने घरां अन्दर
असी आए हां वांग परौहनियां दे
[देशवालो, अपने देश में
हम आए हैं परदेसियों की तरह
घरवाले, अपने घर में
हम आए हैं मेहमानों की तरह]

यह कविता वे मुझे सुनाने लगे। जैसे-जैसे सुनता गया मेरा दुःख उनके दुःख के सामने छोटा होता चला गया। इससे बड़ा ज़ुल्म और क्या हो सकता है कि वतन केवल तीस मील की दूरी पर हो और आदमी उसके क़रीब न फटक सके। जब उन्होंने कहा:

एस मिट्टी दी कुख् च् मां मेरी
सुत्ती पई ए समयां दी हूक बण के
एक पानी नाल़ पानी होए नीर मेरे
एथे आस तड़फ़ी मेरी कूक बण के...
किसे बन दे कलड़े रुख मांगू
धुपां छावां से भारनाल डोलना हां
अपनी मां दी क़बर नूं लभणां हां
भैनां भरावां दिया हड्डियां टोलनां हां
[इस मिट्टी की कोख में मां मेरी
सोई पड़ी है, समय की हूक बनके
इस पानी के साथ पानी हुए नीर मेरे
यहां आस तड़पी मेरी कूक बन के...
किसी बन के अकेले पेड़ ऐसा
धूप-छांव के भार से डोल रहा
अपनी मां की क़बर ढूंढ़ रहा हूं
बहन-भाइयों की हड्डियां ढूंढ़ रहा हूं]

तो मैं राही के दर्द से तो बेहाल हो गया। मुझे शर्म आने लगी कि पूरे का पूरा अमृतसर उसके हवाले कर देने की क्षमता मुझमें क्यों नहीं है? पर जब वह अन्तिम बन्द पर पहुंचा तो चेतना अपने दुःख की ओर भी घून गई। मैं सोफ़े पर गिरकर रोने लगा। पता नहीं कौन-से आंसू राही के लिए थे और कौन-से अपने लिए :

आप देशवाले, आप घरोंवाले
हम बेघर, हम परदेसी
आपने हंस के सीने से लगा लिया
हमने रो के आंखों को बहला लिया
बुझे तारे फिर एक बार चमके
जिसकी आस नहीं थी वह आस पूरी हुई
जिए शहर मेरा, जिएं शहरवाले
हम आए दुआएं यह दे चले
चारों पल्लू हमारे हैं देखो खाली
हम साथ नहीं कुछ ले चले। (अनुवाद)

कभी मेरे उस्ताद 'पतरस' बुखारी ने 'लाहौर का जुगराफ़िया' (भूगोल) लिखा था। आज उनका यह नाचीज़ शार्गिद लिख रहा है। अनारकली- भीड़ उतनी ही है पर रौनक़ उतनी नहीं है। पिंडी की तरह यहां भी जहां पहले हिन्दू कपड़ा बेचता था वहां मुसलमान बेच रहा है। जिस दुकान पर बिसाती बैठता था वहीं अब भी बिसाती बैठता है। जहां

हिन्दू दूध-लस्सी बेचता था अब मुसलमान बेचता है। सिखों की कमी किसी हद तक मौलवी टाइप मुसलमानों की दाढ़ियां पूरी करती हैं, पर औरतों की अनुपस्थिति कोई भी छलावा पूरी नहीं कर सकता। उनकी सुविधा के लिए अनारकली के भीतर तंग गलियों में 'बानो मार्केट' बनाई गई है। इसके अतिरिक्त और कोई भी तरक़्क़ीपसन्द तब्दीली देखने में नहीं आती।

गलियों-मुहल्लों में से गुज़रकर, जो अब भी पहले जैसे ही हैं शाही मस्जिद की अपूर्व छटा का रसपान किया। मुख्यद्वार के सामने एक ओर महाकवि इक़बाल का और दूसरी ओर सिकन्दर हयात का मक़बरा है। बड़ी खूबसूरत और आलीशान इमारतें बनाई गई हैं पर ज़िआरत करते वक़्त यह नहीं भूलता कि सर सिकन्दर बंटवारे के कई वर्ष पूर्व उसके भयानक परिणामों और क़त्लेआम की पेशीनगोई कर चुके हैं, जिसपर गांधीजी के अलावा देश के और किसी नेता ने ध्यान नहीं दिया। इक़बाल के मज़ार पर पहुंचकर बार-बार मन में सवाल उठा था कि निम्नलिखित पंक्तियां लिखनेवाले की आत्मा यहां पूर्णरूपेण सन्तुष्ट है ?

चिश्ती ने जिस ज़मीं में पैग़ामे-हक़ सुनाया
नानक ने जिस ज़मीं में वहदत का गीत गाया
तातारियों ने जिसको अपना वतन बनाया
जिसने हिजाज़ियों से दश्ते-अरब छुड़ाया
मेरा वतन वही है, मेरा वतन वही है।
यूनानियों को जिसने हैरान कर दिया था
सारे जहां को जिसने इल्मो-हुनर दिया था
मट्टी को जिसकी हक़ ने ज़र का असर दिया था
दुनिया का जिसने दामन हीरों से भर दिया था
मेरा वतन वही है, मेरा वतन वही है।...

गुरु अर्जनदेव की समाधि भी यहीं पास ही है। यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी हिफ़ाज़त नहीं होती। बाहर कंधे पर बन्दूक़ रखे एक सिपाही ज़रूर खड़ा है, पर हालात वही है जो एक ऐतिहासिक खंडहर की होती है। भीतर जाने से पहले जूते उतारने पड़ते हैं, पर थोड़ी ही देर में जुराबें एक ज़माने से साफ़ न किए हुए फ़र्श की धूल में अट जाती हैं। पर अफ़सोस इस बात का इतना नहीं है जितना यह सोच के होता है कि मेरे मुसलमान साथियों में से किसीको भी यह ख्याल नहीं था कि यह यादगार उनकी मातृभाषा के निर्माता और मिली-जुली पंजाबी क़ौमियत के जन्मदाता, एक महान चिन्तक, दार्शनिक और कलाकार की है। उन्हें नहीं पता कि अमृतसर के गुरु मंदिर की आधारशिला इसी महापुरुष ने उनके अपने हम-मज़हब पीर मियां मीर के हाथों रखवाई थी। पर क्या इस बेक़द्री और बेकुर्बी (दूरी या उपेक्षा) के ज़िम्मेदार केवल मुसलमान ही हैं?

पुराना क़िला देखा। वे शीशे-जड़ित छतें देखीं जिनके नीचे असंख्य आज़ादी के परवानों को अनेक यातनाएं दी गई थीं। उनकी कुर्बानी ने केवल भारत ही नहीं वरन पाकिस्तान की आज़ादी का दिन भी निकट ला दिया था, पर यहां कहीं भी उनका ज़िक्र तक नहीं मिलता, कहीं कोई स्मारक नहीं। क़िला केवल एक सैरगाह बना दिया गया है।

लाहौर के नये भूगोल में उद्योग ने कोई विशेष योगदान नहीं किया नई सड़कों, बस्तियों और मकानों ने उसे अधिक सजायासंवारा है। इनमें से सबसे प्रसिद्ध और देखने योग्य बस्ती 'गुलबरगा' कहलाती है। क़ायदे-आज़म पार्क (लारेंस गार्डेन) की ओर नहर पार करती और सुन्दर सघन वृक्षों से सजी हुई सड़क उस ओर ही जाती है। अमीरों ने यहां बहुत खूबसूरत बंगले बनाए हैं। आयात की पाबन्दी न होने के कारण चमत्कारिक नमूनों की मोटरें इधर-उधर दौड़ती फिरती है। कॉलेज के एक पुराने मित्र के यहां दावत हुई। खुले लॉन में बैठकर कई घंटे बीयर पी गई। अनेक यादें और यारियां फिर से ताज़ी हो गईं। फ़राग़त, फ़ुर्सत, दिमाग़ी और जज़बाती सुकूं, प्यारी-प्यारी और गहरी यारी-दोस्तियों की बदौलत हमेशा की तरह लाहौर लाहौर ही है। इस दृष्टिकोण से शायद कोई और शहर उसका मुकाबला नहीं कर सकता। बीच-बीच में जब बम्बई के मशीनी जीवन की ओर ध्यान चला जाता, तो रूह कांप उठती। नाटक, फ़िल्म, संगीत, साहित्य आदि के विषय में ख़ूब बातें हुईं। बीच-बीच में लतीफ़ों और चुटकलों की भी झड़ी लग जाती। ऐसा लगा जैसे मैं आयु में बीस वर्ष छोटा हो गया होऊं पर मैं अपने-आपसे प्रश्न किए बिना न रह सका कि क्या बीस साल छोटा हो जाना सचमुच मुझे पसन्द है? तुरन्त ऐसा लगा जैसे मैं छोटा नहीं हुआ बीस साल से मेरे इन मित्रों का विकास रुका हुआ है। उनके दृष्टिकोण में अब भी आलोचकों जैसा तर्कपूर्ण तथा व्यंग्यात्मक घमंड है, सृजनकर्ताओं वाली जिज्ञासा और निर्माणात्मकता नहीं आई है। लतीफ़े और चुटकले भी पुराने-पुराने हैं। ऐसा महसूस हुआ जैसे समय लाहौर को पीछे छोड़ के बहुत आगे निकल गया है।

यहां से माल रोड पर 'आर्ट कौंसिल' के मेम्बरों के साथ चाय पीने जाना था। आध घण्टा देर से पहुंचा, इस अपराध के लिए शायद मैं स्वयं को कभी क्षमा नहीं कर सकूंगा।

सैयद इम्तियाज़ अली ताज, जिनके प्याले में से मैंने अभिनय कला के शौक़ का पहला घूंट भरा था, शौकत साहब, और अन्य कितनी ही माननीय हस्तियां मौन उदासी से मेरा इंतज़ार कर रही थीं। जान-बूझकर देर नहीं की थी, पर असावधानी मुझसे ज़रूर हुई थी। इस विषय में फ़िल्मी कलाकार पहले ही बदनाम हैं। न जाने क्या सोचते होंगे? पर मेरी शर्मिन्दगी को उनकी उदारता ने और भी दूना कर दिया। किसीके माथे पर बल नहीं आया। मुझे अपने में ऐसे समो लिया जैसे दूध में शक्कर घुलती है। बड़ी प्यारी शाम गुज़री वह। नेताजी सुभाष बोस के परम साथी और मेरे कॉलेज के साथी कर्नल एहसान क़ादिर के साथ बैठकर 'पदमा नदीर मांझी' नाम के बंगाली उपन्यास के आधार पर पूर्वी पाकिस्तान में बनी एक उत्तम फ़िल्म देखी। इस फ़िल्म को कुछ वर्ष पूर्व मास्को के फ़िल्म-उत्सव में पुरस्कार भी मिला था।

१५

सैयद इम्तियाज़ अली ताज ने दूसरे दिन अपने घर चाय पर निमन्त्रित किया। यों अनेक और प्रिय मित्रों से मिलने का अवसर मिला, जो किसी ज़माने में भारत के फ़िल्म-गगन के जगमगाते सितारे थे, जैसे नूरजहां, नीना, रफ़ी पीर, डब्ल्यू०ज़ेड०अहमद...

लाहौर के नये जुगराफ़िये में मुलतान रोड ने काफ़ी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। कई कारखाने बन चुके हैं और कई बन रहे हैं, पर इसकी सबसे ज़्यादा प्रसिद्धि नये फ़िल्म स्टूडियो के कारण ही है। शौकत साहब खुद अपना बहुत बड़ा स्टूडियो बना रहे हैं।

'एवर न्यू' भी एक नया और बड़े पैमाने का, नये से नये टेक्नीकल सामान से लैस स्टूडियो है। यहां पाकिस्तान के नामी फ़िल्म-प्रोडयूसरों, डायरेक्टरों और फ़िल्म स्टारों से भेंट हुई। बम्बई में फ़िल्मी वातावतण से अक्सर तंग आ जाता हूं, पर बाहर जाकर अपने इस पेशे के प्रति मन में आदर उत्पन्न हो जाता है, जो एक तुच्छ्-से व्यक्ति को भी इतनी इज़्ज़त प्रदान करवाता है।

जब भी यात्रा के दौरान समय मिला, मैं पाकिस्तानी फ़िल्में देखता और उनका जाइज़ा लेता रहा। अब तक मैं 'औ़लाद', 'सुसराल,' 'बंजारिन' 'और चिराग़ जलता रहा',चार उर्दू की दो बंगाली फ़िल्में देख चुका था। पंजाबी की प्रसिद्ध फ़िल्म 'करतार सिंह' देखने को बड़ा जी चाहता था, पर वह कहीं भी प्रदर्शित नहीं की जा रही थी। 'एवर न्यू' स्टूडियो में बन रही पांच-छः फ़िल्मों की कुछ रीलें भी देखीं।

इस बैठक के रूहे-रवां थे पाकिस्तान के प्रथम श्रेणी के सिनेकलाकार अलाउद्दीन। 'करतारसिंह' के हीरो यही थे। और 'ससुराल'- जिसमें मैंने उनका काम अपनी आंखों से देखा- 'दो बीघा ज़मीन', 'जागते रहो' और 'पाथेर पंचाली' जैसी उत्तम फ़िल्मों के टक्कर की थी।

इस फ़िल्म की सभी शूटिंग लाहौर के गली-कूचों में हुई थी। कोई एक-आधा ही सीन स्टूडियो में शूट किया गया था। इसलिए फ़िल्म में ऐसी सुन्दरता आई है जो देखते ही बनती है। प्रेमी काग़जी फुलवाड़ियों में उछलते और गीत गाते नहीं दिखाए गए, बल्कि वे अंधेरी सीढ़ियों और टूटी चिकों की ओट में चोरी-चोरी मिलते हैं, जैसा कि जीवन में होता है। मुख्य पात्र एक बैंड का तुरमची है। रोज़ शादियां होती हैं, और रोज़ वह बारात के आगे-आगे तुरम बजाता चलता है पर ग़रीब होने के कारण उसकी अपनी शादी नहीं होती। मुहल्ले के एक चुस्त व्यक्ति ने शादी कराने की एजन्सी खोल रखी है। तुरमची से खूब पैसे डकारने के बावजूद वह उसे एक बेरहम धोखे का शिकार बनाता है, सुन्दर लड़की दिखाकर कुरूपा से उसका निकाह पढ़ा दिया जाता है। इसी प्रकार मुहल्ले के अन्य पात्र भी एक-दूसरे से प्रेम करने के साथ क़दम-क़दम पर एक-दूसरे से धोखा करते दिखाए गए हैं। वे दिल के बुरे नहीं है और न ही अपनी मर्ज़ी से ऐसा करते हैं। वे सामाजिक परिस्थितियों से मजबूर हैं, और यही ज्ञान उन्हें हंस-खेल के समय बिताने की शक्ति देता है।

अलाउद्दीन कलमा की हुनरमंदी से यह सब एक्टिंग कर गए हैं, इससे भी अधिक बधाई के पात्र हैं इस फ़िल्म के प्रोडयूसर-डायरेक्टर रियाज़ शाहिद। सच बात तड़ाक से मुंह पर कहना इस नवयुवक की जीवन-आदर्श लगता है, और यही खतरनाक गुण उसकी आंखों, उसके चेहरे और कला में स्थायी तमतमाहट और तड़प बनाए रखता है। जीवन के यथार्थ से उसे इश्क़ है। इसे वह बनावटी सुन्दरता की कूंची मार के कुरूप नहीं करता

और इसीलिए उसने नई राहें खोजी हैं। कई दूसरे प्रोडयूसरों के अनुपात में, जो बम्बई से आए हैं और बम्बई की ही लकीर पर चलते हैं, उससे ठोस और उत्तम फ़िल्मकारी की अधिक आशा की जा सकती है।

स्टूडियो में नीलू, दर्पन, ज़ाफ़री, असलम परवेज़, लैला, सबीहा और कई और श्रेष्ठ फ़िल्म स्टारों के साथ उठने-बैठने का अवसर मिला। जिस प्रेम और आत्मीयता से ये लोग और स्टुडियो के टेक्नीशियन मेरे साथ पेश आए, मैं कभी नहीं भूल सकूंगा।

रिआज़ शाहिद और अलाउद्दीन (जो मेरे वतन रावलपिंडी के जन्मे-पले हैं) के कथनानुसार पाकिस्तान में ४० के क़रीब फ़िल्में हर साल बनती हैं, जिनमें से ६० प्रतिशत एकदम भारतीय और अमरीकी फ़िल्मों की नक़लें, ३० प्रतिशत परम्परागत फ़ार्मूला के अनुसार और केवल १० प्रतिशत कलात्मक होती हैं। पाकिस्तानी फ़िल्म उद्योग की मौजूदा डांवाडोल हालत सभी के लिए परेशानी का कारण बनी हुई है।

मेरे व्यक्तिगत अनुमान ये हैं :

१. पाकिस्तान के पास कलाकारों की कोई कमी नहीं है। खासकर लड़कियां तो अपने आकर्षण, हुस्न और डील-डौल के कारण 'चढ़िया हिंद ते कटक पंजाब दा' वाली कहावत को चरितार्थ करती है।

२. पाकिस्तानी लोकमत सामाजिक जीवन में पर्देदारी का, और फ़िल्मों में बेपर्दगी का समर्थक लगता है। अधनंगे अंगों का जुनून और अश्लीलता लोक नृत्य तथा शास्त्रीय नृत्य के सम्पूर्ण नियमों पर छा चुकी है। यह विरोधी तत्त्व बाहर से आनेवाले को काफ़ी हैरान करता है।

३. राज्य की ओर से दी गई अच्छी-खासी सहूलियतों और भारतीय फ़िल्मों के आयात-प्रतिबन्ध आदि का पाकिस्तानी फ़िल्म-उद्योग ने कोई विशेष लाभ नहीं उठाया है।

४. दोनों देशों में श्रेष्ठ जनवादी फ़िल्मों का आदान-प्रदान न होना बड़ी ही खेदपूर्ण वास्तविकता है। अगर पाकिस्तान में 'दो बीघा ज़मीन', 'काबुलीवाला' जैसी फ़िल्में नहीं जा सकतीं तो कम से कम अपने देश में 'करतारसिंह' और 'ससुराल' जैसी फ़िल्में तो अवश्य आनी चाहिए। यदि डिस्ट्रीब्यूटरों के लिए यह लाभप्रद न हो तो हमारी सरकार को स्वयं आगे बढ़ना चाहिए। केवल भाषण करने और बयान देने से ही दोनों देशों के सम्बन्ध मधुर नहीं बन सकते।

गवर्नमेंट कॉलेज के हॉल में, जो मेरे लिए तीर्थस्थान है, ड्रामा सोसाइटी ने मुझे डिनर की दावत दी है। सैयद इम्तियाज़ अली ताज, इम्दाद हुसैन, और कई और पुराने साथी मेरे सामने बैठे हैं। पर मेरी निगाहें उस शून्य पर जा टिकती है जहां अहमद शाह बुखारी के बे-आवाज़ क़दमों की आहट सुनाई देती है। ऐरिक डिकिन्सन गाउन उछालता निकल जाता है। मदनगोपाल सिंह का शरीर लहू-लुहान होकर तड़पता है। असंख्य यादें दिमाग़ में धमाचौकड़ी मचाती है। स्टेज की सज गया है। मलिक गुरदयाल एक कोने में खड़ा सोंधी साहब से कुछ कह रहा है। पर्दा उठ गया। लेखक की स्वर्गीय धर्मपत्नी दमों और सतीश कितना सुन्दर अभिनय कर रहे हैं !... दोनों कहां ग़ायब हो गए ? इतनी छोटी आयु में भी कोई मरता है? लाइट एकदम क्यों आफ़ हो गई? वह दूर, बहुत दूर, रौशनी

का एक बिन्दु जैसा दिखाई दे रहा है ! क्या है वह ? बड़ा होता जा रहा है, नीला-नीला। उसके भीतर नीला सूट पहने क्या मैं ही तो नहीं खड़ा हूं? हां, मैं ही हूं। आज अभिनय करने में बड़ा आनंद आया। सच, मंच पर अचानक एक तिलिस्म-सा छा गया था। मुझे अपने सारे बन्धन खुलते-से प्रतीत हो रहे थे। सारी बाधाएं, सारी रुकावटें दूर होती जा रही थीं। क्यी इसीको प्रेरणा कहते हैं? पहले तो कभी भी इतना मज़ा नहीं आया था। लोग कितनी ज़ोर-ज़ोर से तालियां पीट रहे हैं। इस नीली रोशनी के दायरे में खड़ा मैं किसी की प्रतीक्षा कर रहा हूं? दर्शकों में इम्तियाज़ साहब का चेहरा अंधेरे में नज़र आया था। क्या उनको भी मेरा अभिनय पसन्द आया है? आज मैंने अमृत चखा है। आज का दिन एक विशेष दिन है। वे आते क्यों नहीं है। पता नहीं किस वक्त आए और मुझे अपनी बांहों में समेट लिया।...यह कौन बोल रहा है? डा० नज़ीर अहमद भाषण कर करे हैं, "जब बम्बई में बलराज साहब से मुलाक़ात हुई और इन्हें मैंने अपने यहां ठहरने की दावत दी, तो मुझे बिलकुल पता नहीं था कि वे इतनी मशहूर हस्ती हैं, और उनकी वजह से मेरे घर में इतनी भीड़-भाड़ हो जाएगी!"...और अब मैं उत्तर दे रहा हूं, "जब बम्बई में डा० नज़ीर अहमद साहब से मुलाक़ात हुई तो मुझे भी यक़ीन नहीं आया कि उन जैसा फ़क़ीरनुमा आदमी गवर्नमेंट कॉलेज, लाहौर का प्रिंसिपल हो सकता है। मुझे शक हुआ था, कहीं वे मेरे साथ चार सौ बीसी तो नहीं कर रहे हैं?"...तकल्लुफ़! बे-मतलब तकल्लुफ़!! नये लड़के मुझे बड़े बे-यक़ीन नज़रों से देख रहे हैं, जैसे उनके साथ भी कोई चार सौ बीसी की जा रही हो। भला कैसे माना जा सकता है कि पहले कॉलेज किसी और तरह का होता था?...

अए ताज़ा वारिदाने-बिसारते-हवाए-गुल[१]
ज़िन्हार[२] अगर तुम्हें वहमे-नाओ-नोश[३] है
देखो मुझे जो दीदाए-इबरत-निगाह[४] हो
मेरी सुनो जो गोश नसीहत-निओश[५] है...

चुप ! वे क्या लगते हैं तेरे ? तू क्या लगता है उनका? सोच-समझकर बोल। सुबह रिआज़ शाहिद ने जो पर्चा भेजा था वह तेरी समझदारी और बुद्धिमित्ता का प्रमाण-पत्र है:

'बलराज साहब,

आप एक दिलावेज़ मुस्कराहट बनकर स्टुडियो आए और चले गए- और यह मुस्कराहट हमारी आंखों के सामने इतना कम अर्सा रही कि यह भी तमीज़ न कर सका कि यह मुस्कराहट खैर-सगाली (शुभाकांक्षा) जज़बा थी, सियासी ज़रूरत थी, इज़हारेतनज़ (व्यंग्य-प्रदर्शन) थी, या महज़ आदत। आपके चले जाने के बाद भी मैं किसी नतीजे पर नहीं पहुंच सका...।"

बस ऐसे ही किया करो। सफल अभिनय इसीको कहते हैं। आज के युग में एक्टरों की बहुत क़द्र है क्योंकि हर आदमी एक्टर बन चुका है। यह जज़बातों का नहीं जज़बातों के प्रदर्शन का युग है।

---

१. पिंजरे में नये-नये आए पुष्प-सुगन्धि के झोंके २. पनाह में आया हुआ ३. खाने-पीने का भ्रम ४. शिक्षा ग्रहण करनेवाली आंख ५. नसीहत सुननेवाले कान।

गाड़ी चलनेवाली है। वही डिब्बे और वही इंजन है जिसमें बैठकर पन्द्रह दिन पहले मैं हिन्दोस्तान से आया था। वही हिन्दू ड्राइवर है और वही सिख फ़ायरमैन। बिछोह की प्रतीक्षा में अपने उन्हीं मित्रों की छोटी-सी भीड़ में खड़ा था, जिनमें से कइयों को बीस साल बाद देखा था, और अब पता नहीं कब देखूंगा। अहमद राही भी था। एक घंटे के भीतर ही भीतर गाड़ी अमृतसर पहुंच जाएगी। अमृतसर, जो कभी उसका शहर था और अब केवल उसके ख़्वाबों का शहर है। अब्दुल्ला मलिक बम्बई-कलकत्ते की कितनी सैर किया करता था! अब दिल्ली तक जाने के लिए सौ पापड़ बेलने पड़ते हैं। इंग्लिस्तान में जैसे लोग लगातार मौसम का ज़िक्र किया करते हैं वैसे ही पाकिस्तान में 'वीज़े' की चर्चा रहती है।

बुद्धुओं की तरह खड़े थे हम सब। कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि एक-दूसरे की तरफ़ वैसे कैसे देखें और क्या कहें? क़िस्मत ने हाथ पकड़कर कल हमारी 'मिट्ठी' कराई थी और आज फिर 'कुट्टी' करा रही थी जैसे हम अभी भी स्कूली छोकरे हों। दुनिया में और बहुत-से करने योग्य काम थे, यह हिन्दू-मुसलमानों ने दो मुल्क बनाकर अपने को किस मुसीबत में फंसा लिया है? मसखरों की जोड़ी की तरह ड्राइवर और फ़ायरमैन हमारे बीच आ धमके। सिख फ़ायरमैन हंसकर कहने लगा, "क्यों, देख लिया पाकिस्तान? चलो अब अपने इण्डिया वापस चलें।" उनके इस घमंडी व्यवहार ने मुझे और भी कांटों में घसीट लिया।

चल पड़ी गाड़ी। मैं एकाकी रह गया, अकेला। ज़मीर ने मुझे गवाहोंवाले कटघरे में खड़ा कर दिया और जिरह सुरू कर दी :

ज़मीर- इस वक़्त तू खुश है या ग़मगीन?

मैं- मुझे होना तो ग़मगीन चाहिए पर मैं खुश हूँ तो फिर तू अहमद राही और दूसरे मित्रों के सामने ग़मगीन होने का केवल अभिनय कर रहा था?

मैं- हां, मैं अभिनय कर रहा था।

ज०- तेरा क्या खयाल है, क्या वे भी अभिनय कर रहे थे?

मैं- हां, हो सकता है वे भी अभिनय कर रहे हों।

ज०- इसका कारण ?

मैं- मैं केवल अपने बारे में कह सकता हूं। मुझे खुशी है कि मैं अपने घर जा रहा हूं।

ज०- घर से तेरा क्या मतलब है, बम्बई ? तेरा परिवार ?

मैं- नहीं। घर से मेरा मतलब है इण्डिया जैसे फ़यरमैन ने कहा था।

ज०- इण्डिया क्यों? हिन्द या भारत क्यों नहीं कहता तू?

मैं- क्योंकि मैं भी अपने भीतर वही घमण्ड-सा अनुभव कर हूं जिसका प्रदर्शन उस फ़ायरमैन ने किया था। मेरा जी भी वैसे लोगों की पंक्ति में खड़े होने को चाह रहा है।

ज०- अचानक यह परिवर्तन क्यों ? क्या रावलपिंडी, भेरा और लाहौर पर मुझे अभिमान नहीं है? क्या उन्हें छोड़ जाने का तुझे ग़म नहीं है?

मैं- नहीं, इस वक़्त मुझे एक महान संतोष-सा प्रतीत हो रहा है, वह यह कि मेरा शहर चाहे मुझसे छिन गया है पर मेरा देश मुझसे नहीं छिना है। मैं इण्डियन पैदा हुआ था, अब भी इण्डियन हूं और इण्डियन ही मरूंगा- इससे बड़ी बात और कोई नहीं है!

ज०- यह तो जुनून (उन्माद) वाली बात तो गई। मज़हबी जुनून ने जो गुल खिलाए हैं वही यह तेरा क़ौमी जुनून भी खिला सकता है। यूरोप के महायुद्ध इसी क़ौमी जुनून ने ही तो करवाए हैं : 'माई कण्ट्री राइट ऑर रांग' (अपने देश के लिए मर मिटना है, चाहे वह सच्चा हो चाहे झूठा)।

ले तेरी भावनाओं का विश्लेषण मैं कर दूं। जिन लोगों ने साम्राज्य से लड़कर आज़ादी प्राप्त की, उन्होंने ही तेरे देश में हुकूमत क़ायम की। जो आदमी पहले दिन प्रधानमंत्री बना वही आज भी प्रधानमंत्री है। जो पॉलीसियां उसने पहले दिन देश के सामने रखी वही आज भी तेरे देश की सफल पॉसीलियां हैं। तेरे देश के सामने एक आदर्श है। वह केवल एक जाति या एक धर्म के हित के लिए नहीं, सारी मानवता के हित के लिए है। उस लक्ष्य की ओर चल के तेरे देश में अपनी आज़ादी क़ायम रखी और उसे मज़बूत बनाया। अपनी सभ्यता और कलात्मक विरासत को संभाला है। उद्योग में काफ़ी उन्नति की है। मज़दूर-किसानों को सुविधाएं मिली है, लोक-शाही अधिकार मिलें हैं, सिर ऊंचा करके चलने की सामर्थ्य मिली है। तूने देखा नहीं, लुधियाना में कैसी घर-घर मशीनें चल रही हैं? यह मानो कि अभी बहुत कुछ करना है। नेहरू के समाजवाद का आदर्श अभी केवल स्वप्न ही लगता है, पर इसने देश के लोगों को एक नई चेतना दी है, छोटे-छोटे मज़हबों, जात-पांत और प्रान्तीयता से ऊपर उठकर देशव्यापी एकता क़ायम करने की राह दिखाई है। मज़दूरों को अपना संगठन तगड़ा करने की छूट मिली है। यह सिख फ़ायरमैन भी तो एक मज़दूर है। यह खिलखिलाहट उसके चेहरे पर उत्तम जीवन के विश्वास ही ने पैदा की है। वही विश्वास तुम्हारे भीतर भी है। इसी बात की खुशी महसूस कर रहा है तू। (अफ़सोस आज वे नहीं रहे)।

पर मुझे ज़मीर की इस लेक्चरबाज़ी ने भी अधिक क़ायल नहीं किया। अगर 'देशभक्ति' केवल एक नशा और आत्मप्रवंचना है तो 'लोकवाद' और 'समाजवाद' भी एक नशा और छलावा सिद्ध हो सकते है। बचपन में आर्यसमाजी उपदेशकों के वचनामृत सुन-सुनकर दिल में विश्वास बैठ गया था कि मरने के बाद मनुष्य की आत्मा स्वर्ग में चली जाती है। जब मेरी बहन मरी थी तब मैं मूर्खों की तरह खुश होकर किलकारियां मारता फिर रहा था, "तुम सब क्यों रोते हो? तुम्हें तो और खुश होना चाहिए कि वह स्वर्ग में चली गई है।..." क्या पता मेरी खुशी का कारण केवल यही हो कि मेरा दिल अपनी जन्मभूमि की पन्द्रह दिन की यात्रा से उन्मत्त हो गया है। मैं अघा गया हूं, सन्तुष्ट हो गया हूं। इस बिछोह की वास्तविकता अभी मन में चुभी नहीं है। देखें, 'वाघा' के पार जाने पर क्या दशा होती है?

सचमुच अब खुशी धीरे-धीरे घटती जा रही थी। प्राप्ति-अप्राप्ति में बदलती जा रही थी। 'वाघा' भी आना ही था। उसे आने से कोई रोक नहीं सकता। अचानक आकाश पर काले स्याह फ़ौलादी दरवाज़े विकराल धमाके के साथ आपस में टकराते और बन्द होते से प्रतीत हुए। मैं अब उनसे बाहर आ चुका था। अब मैं पीछे मुड़कर नहीं देख सकता। मेरी हालत उस आदमी के जैसी हो गई जो ग़म ग़लत करने के लिए टिकट खरीदकर सिनेमा में जा बैठता है। जितनी देर फ़िल्म चलती है उसका दिल बंटा रहता है। शो खत्म होने पर वह बाहर आ जाता है और ग़म फिर उसे घेर लेते हैं। मित्रों के सामने नहीं रो पाया था। अब डिब्बे के एकान्त में टप-टप आंसू गिरने लगे।

उपन्यास

बलराज साहनी

एक सफ़र एक दास्तां

उपन्यास

सूची

एक सफर एक दास्तां

कुछ शब्द

बलराज साहनी का यह अधूरा उपन्यास जिसे पहली बार न्यु-एज पब्लिकेशनन्ज अमृतसर द्वारा हिन्दी में पहली बार १९७६ में प्रकाशित किया गया था।

१२ अप्रैल की अर्द्ध रात्रि तक बलराज जी इस उपन्यास को लिखते रहे। १३ अप्रैल १९७३ को बैसाखी के दिन प्रातः 'अमानत' फिल्म की शूटिंग पर जाने से पहले दिल का दौरा पड़ा और सायं चार बजे अस्पताल (बम्बई) में उनका निधन हो गया।

लेखक : बलराज साहनी

ऐन घर से निकलते समय वरुण मलिक को पता लगा कि टिकिट फ़र्स्टक्लास का है, एअर कंडीशंड का नहीं। उसकी इन खास 'सैरों' के बारे में सिर्फ उसके ज़ाती सेकैट्ररी को ही ज्ञान होता था, और वह बहुत गुप्त ढंग से सारा प्रबन्ध करता था। मलिक हिदायतें देने के बाद फिर कोई पूछताछ नहीं करता था। रवानगी से कुछ समय पहले एक बन्द लिफ़ाफा उसके मेज़ पर आ जाता था, जिसमें उसे तमाम ज़रुरी हिदायतें लिखी हुई मिलती थीं, और साथ में रेल गाड़ी या हवाई जहाज का टिकिट होता था।

इस लिफ़ाफ़े को वह वक्त से पहले कभी नहीं खोलता था। और उसे खोलने का वक्त होता था, जब ड्राइवर उसे स्टेशन या हवाई अड्डे पर छोड़ने के लिए कोठी के फाटक से बाहर निकल चुका होता था। इसके पहले मलिक खुद को, सैर का आनन्द अनुभव करने की इजाज़त नहीं देता था। तब तक वह बाद लिफ़ाफ़ा उसके जीवन की एक विषम समस्या का प्रतीक बना रहता था।

जब उसने कार की अन्दर की बत्ती जलाकर लिफाफे का एक सिरा फाड़ा, तो कागज़ों के साथ नत्थी किये गये टिकिट का रंग देख कर ही उसे शक हुआ कि कुछ गड़बड़ है। और तब वह मन ही मन कुढ़ने लगा। पिछले कई दिनों से दिल्ली में सख्त गर्मी पड़ रही थी। फ़र्स्टक्लास में तो वह उबल जायेगा। खैर, गर्मी तो फिर भी सहन हो जायेगी, उससे भी बड़ी मुसीबत थी पहचाने जाने की। उसका रुतबा अब फ़र्स्टक्लास के सफ़र के अनुकूल नहीं था। पुरानी दिल्ली के स्टेशन पर लोगों की भीड़ में उसे पहचानने वाले निकल ही आयेंगे और उसे बड़ी शर्मिन्दगी उठानी पड़ेगी। इससे व्यापार का नुकसान पहुंच सकता है। काश, लिफ़ाफ़ा दफ़्तर में ही खोल कर देख लिया होता। तब वह गुरचरन को फ़ोन कर देता, जो बी.बी.सी. आई रेल्वे का अब टैफिक सुप्रिंटिडैंट बना हुआ है। कितनी तेज़ी से तरक्कियां हो रही हैं आजकल! अभी चार पहले, अंग्रेज़ों के राज में, इतनी तेज़ तरक्कियों की क्या कभी कल्पना की जा सकती थी? गुरचरन ने अगर अपनी नौकरी के ख़त्म होने तक इस ओहदे तक पहुंचता, तो भी अपने आपको खुशकिस्मत समझता। उसे नौकरी मिले अभी सात साल भी पूरे नहीं हुये है। दोस्तों ने कितना बड़ा जशन मनाया था। उन दिनों वह नर्विस ब्रेकडाउन के किनारे तक पहुंच चुका था - नौकरी के लिए कई किस्म के इम्तहान और इन्टरव्यू दे-देकर। यह सब अभी कल की बात लगती है। किस तेज़ी से पंख फड़फड़ाता उड़ रहा है! समय! ..... गुरचरन फ़ौरन एअरकंडीशंड डिब्बे में सीट का इन्तज़ाम कर देता, बल्कि पूरा कुपे ही रिजर्व करा देता।

उसे अपने सेक्रेटरी पर भी सख़्त गुस्सा आया। ऐसी ग़लती तो उसने कभी भी नहीं की थी। आश्चर्यजनक समझ-बूझ वाला आदमी है। उसे कोई काम कहना अलादीन का चिराग रगड़ने वाली बात है। दुनिया का कोई ऐसा काम नहीं, जो वह पुरी कुशलता से न कर सकता हो। इसीलिए तो वह उसके इतना निकट आ गया था कि उसकी पत्नी तक उससे ईर्ष्या करने लगी थी।

पर सेक्रेटरी उसका भी क्या कसूर है। इस बार सिल्विया ने ही हद कर दी है। हमेशा कई-कई हफ़्ते, कई-कई महीने के पत्रव्यवहार के बाद 'सैर' का प्रोग्राम बनता था। इस बार उसके तीन दिन का नोटिस भी नहीं दिया। अचानक उसकी तार आ गई कि १२ जून, गुरुवार को वह शिमला पहुंच रही है और होटल में ठहरेगी। गर्मी की छुट्टियों के दिन। सीट न मिलना हैरानी की बात नहीं है। हां, यह हैरानी की बात जरुर है कि सेक्रेटरी ने टैक्सी का इन्तज़ाम क्यों नहीं किया। कोई खास ही अड़चन होगी, जो उसे फ़र्स्टक्लास का टिकिट लेना पड़ा। और ऐसा डरावना सफ़र, वरुण की नज़र में, किसी ज़माने में थर्डक्लास का सफर भी नहीं होता था। हां, टिकिट के साथ नत्थी किये हुए काग़ज पर सेक्रेटरी ने इस बारे में अफ़सोस प्रकट किया हुआ था और पार्क होटल में डबल रुम के बुक हो जाने की खुशखबरी भी दी हुई थी। यह भी ग़नीमत थी।

एक सिपाही स्टेशन के पोर्च में व्यर्थ में रास्ता रोके खड़ा था। पहले तो उसने रोकने के लिए हाथ उठाया, पर ड्राइवर की चुस्त, सफ़ेद वर्दी देखकर नीचा कर लिया। मूड ख़राब करने वाली छोटी-छोटी तलख़ियों से इस देश में हमेशा वास्ता पड़ता रहता है, वरुण मलिक ने सोचा।

फ़ंटियर मेल की रवानगी में लगभग पंद्रह मिनिट रहते थे। जब वरुण कुली के पीछे-पीछे प्लेटफ़ार्म पर पहुंचा। भीड़ काफ़ी थी। ख़ासकर रेढीवाले कुलियों से हर कदम पर बचना पड़ रहा था। उसने डिब्बे में दाख़िल होकर अपना छोटा-सा बिस्तर नीचे के बर्थ पर रखवा लिया और एक रुपये का नोट निकाल कर कुली को दिया। वैसे यह काम सेक्रेटरी का था, पर अपने स्तर से नीचे के वातावरण में प्रवेश करके उसका सन्तुलन कुछ बिगड़ गया था। उसे लग रहा था, जैसे वहां अपने बड़प्पन का दिखावा करना छोटी-सी बात हो। वह सेक्रेटरी के साथ ऐसे पेश आना चाहता था, जैसे वह कोई दोस्त हो, जो उसे वहां छोड़ने आया हो। कुली एक रुपये का नोट लेते ही सलाम करके चला गया।

'बिस्तर बिछा दूं?' सेक्रेटरी ने पूछा।

'नहीं, कोई ज़रुरत नहीं', उसने कालेज के विद्यार्थियों की लापरवाही दिखाते हुए कहा। वह उससे जल्दी पीछा छुड़ाना चाहता था, पर अपनी तलख़ी को प्रकट भी नहीं करना चाहता था, जो कि डिब्बे में वातावरण को देखते हुए बढ़ती जा रही थी।

'मैं ड्राइवर को इंतज़ार करने के लिए कहा है, वह तुम्हें घर छोड़ आयेगा।'

'जी।'

पंखे ऊंची आवाज़ करते हुये चल रहे थे। गर्मी में एक ख़ास किस्म की दुर्गन्ध मिली हुई थी, जो रेल के डिब्बों में ही पाई जाती है। नीचे की दो सीटों पर साफ-सुधरे बिस्तर बिछे हुये थे, जिन पर दो आदमी आंखों को बंद कर लेते हुये सो रहे थे, या सोने की कोशिश कर रहे थे। दोनों ने धारीधार कपड़े के स्लीपिंग सूट पहने हुये थे, जदो अब पुराने फ़ैशन के कहे जा सकते थे। वरुण ने अनुमान लगाया कि वे दरमयाने दर्जे के सरकारी अफ़सर होंगे। शायद शिमला में नई-नई तबदीली हुई है। घर वालों ने नये होल्ड आल और टिफ़िन बाक्स देकर विदा किया है। एक के तकिये पर धागे से 'स्वीट ड्रीम्ज़' लिखा हुआ था, जो मलिक की घटिया-सा लगा। ऊपर वाली सीट पर एक बुजुर्ग आदमी

बैठा हुआ था, जो अटैचीकेस में से बाहर निकाली हुई चीज़ें फिर से उसमें रखा रहा था। साठ-पैंसठ की उम्र होगी उसकी। उसे देखते हुये मलिक को पता नहीं क्यों लाहौर की निस्वत रोड याद आने लगी। जरुर बेड-टी लेता होगा यह, और उसके साथ 'ट्रिब्यून' पढता होगा। तभी बुजुर्ग ने पुकारा, बेटा, सो तो नहीं गया?'

नीचे की सीट पर लेटे हुए नौजवान ने आंखे खोलीं और जानबूझ कर मद्धिम-सा जवाब दिया, 'जी।'

'यह टैचीकेस तो नीचे ही रखना पड़ेगा।'

'रैक पर रख दीजिये।'

'नहीं बेटा, यह नीचे ही रखना पड़ेगा। और ज़रा सोडेवाले को बुलाना।'

नौजवान बेदिली से उठकर बैठ गया और खिड़की में से सिर बाहर निकाल कर लाइन की ओर आवाज़ लगा रहे लेमन-सोडा वाले लड़के का रास्ता देखने लगा।

उस स्थिति में किस का पलड़ा भारी था - बाप का या बेटे का? बेशक बेटे का, वरना बाप ऊपर की सीट पर क्यों होता? रात को उतरने-चढ़ने में उसे कितनी तकलीफ होगी। वरुण के दिल में आया कि उस बुजुर्ग को अपनी नीचे की सीट दे दें। पर वह चुप रहा और कोई पत्रिका खरीदने के लिए उठकर बाहर गया। दरवाज़े के पास कंडक्टर यात्रियों के नामों की लिस्ट पकड़े खड़ा था। उसने वरुण से टिकिट मांगा। वरुण ने उसे टिकिट दिखाया तो वह आगे बढ़ गया। बुक-स्टाल की तरफ़ जाना महज़ एक बहाना है, उसने अपने मन में कहा। पर दरअसल में इसलिए उतर आया हूं कि कोई जान पहचानवाला आदमी मुंझे देख न ले। मेरे रुतबे को चोट न पहुंचे। बकवास मनोवृत्ति।

वापस आने तक घंटी बज गई और गार्ड की सीटियां भी सुनाई देने लगीं। वरुण मलिक के डिब्बे में जाने पर देखा कि उसका सामान ऊपर की सीट पर रखा हुआ था, और नीचे की सीट पर एक और व्यक्ति धारीदार स्लीपिंग सूट पहने सो रहा था। काफ़ी मोटा, तगड़ा सरदार था वह।

इस बेहद कमीनी हरकत पर वरुण को बहुत गुस्सा आया। कितने घटिया इख़लाक का सबूत था। उसने सरदार को जगाने और उसे खरी-खरी सुनाने से ख़ुद को बड़ी मुश्किल से रोका। उससे कोई फ़ायदा न होता। महज झगड़ा करके ख़ुद को ज़लील करने वाली बात थी। पर मलिक का मन तलखी से मर गया।

ऊपर की सीट पर वह बुजुर्ग बड़े स्वाद से झागदार सोडा पी रहा था। 'बेटा, तुम भी मंगा लो। बहुत बढ़िया हैं यह आइस्क्रीम-सोडा।'

नौजवान ने कोई जवाब नहीं दिया।

'ससुरे ने बर्फ़ कम डाली है', उसने ऐसे मुंह बनाया, जैसे अपने घर में बैठा हो और नौकर दूध में कम शक्कर डाल कर लाया हो।

गाड़ी चलने के लिए तैयार थी। उसी समय सोड़े वाला लड़का गिलास लेने के लिए आया। चौदह-पंद्रह साल की उम्र थी उसकी, पुरानी ख़ाकी निकर और मैली-सी बनियान।

'कितने पैसे?'

'छः आने।'

'कल तक चार आने थे, आज छः आने कैसे हो गये?'

'लेमन के चार आने होते हैं जी, आइस्क्रीम सोडे के छः आने।'

'लाओ, लिस्ट दिखाओ।'

'लिस्ट इस वक्त मेरे पास नहीं है।'

गाड़ी धीरे-धीरे चल पड़ी थी।

'क्यों नहीं है? गाड़ी के वैंडर हो न तुम?'

'जी।'

'तो फिर लिस्ट हर वक्त तुम्हारे पास होनी चाहिये।'

'गाड़ी छूट रही है, बाबूजी, आप चार आने ही दे दीजिये।'

'धोखेबाज़! मुझे पहले ही पता था कि तू बेईमानी कर रहा है। यह ले उसने एक रुपये का नोट उसकी ओर बढ़ाया।

'चिल्लर नहीं है मेरे पास।'

'क्यों नहीं रखता तू चिल्लर अपने पास?'

'बाबूजी, जल्दी कीजिये, गाड़ी तेज़ हो गई है।'

'नहीं, पहले बाकी पैसे ला, फिर नोट दूंगा।'

'अच्छा, गिलास तो दीजिये।'

'नहीं, पहले हिसाब चुकता कर।'

'क्यों परेशान करते है, बाबूजी? पैसे मैं अगले स्टेशन पर ले जाऊंगा। गिलास तो दे दीजिये।'

'गिलास के बच्चे। मैं तेरी रिपोर्ट कर दूं तो नौकरी चली जाये तेरी। भाग यहां से। बाकी पैसे ला, फिर ले जा अपना गिलास।'

लड़का लाचार होकर चलती गाड़ी से उतर गया, पर प्लेटफ़ार्म की तरफ़ से नहीं। वह चढ़ा भी दूसरी तरफ़ से ही था। शायद उसके कारोबार के लिए यह आसान था।

'देखो जी, कितनी बेईमानी हो गई दुनिया में।' बुजुर्ग ने कहा और गिलास दीवार के साथ लगे क्लिप में फंसा कर लेट गया।

चारों यात्रियों ने पंखे अपनी ओर घुमाये हुये थे। वरुण को लगा कि रात जाग कर ही काटनी पड़ेगी। उसने सूटकेस नीचे रखा, बूट-जुराबें उतारीं और बिस्तर को उसी प्रकार सिरहाने रख कर लेट गया।

'आप भी शिमला जा रहे हैं?' बुजुर्ग ने पूछा। वह काफ़ी समय से मलिक को दिलचस्पी से देख रहा था।

'जी।'

'काम पर या छुट्टी मनाने?'

'वरुण मलिक को उसकी यह पूछ-ताछ बहुत बुरी लगी।' उसने बड़ी मुश्किल से खुद को यह कहने से रोका - इट इज़ नन आफ युअर बिजनेस। और सिर्फ़ इतना ही कहा, 'माफ़ करना, मैं बेहद थका हुआ हूं।' तभी उसने रोशनी से बचने के लिए अपनी

बांह आंखों पर रख ली। बुजुर्ग अगले स्टेशन पर लड़के के आने की प्रतीक्षा करने लगा। स्टेशन आया पर लड़का नहीं आया। बुजुर्ग ने उससे अगले स्टेशन तक बत्तियां जलाये रखीं।

वरुण मलिक के मन में तलख़ी की हांडी चूल्हे पर चढ़ी हुई थी। जितना अरसा वह इंग्लैंड में रहा, उसने वहां के लोगों को एक दूसरे के साथ नम्रता से पेशे आते और ख़ुशी-ख़ुशी एक दूसरे की सहायता करते हुये देखा था। हर तरफ अच्छा व्यवहार था। पर यहां उसके बिल्कुल उलट था। हर सम्भव तरीके से दूसरे को नीचा दिखा उसका हक मारना, रुखाई से पेश आना, आम हिन्दुस्तानियों का दस्तूर बना हुआ था। और जितनी चालबाजियां पंजाबियों को आती थीं, किसी और को शायद ही आती हों। इसीलिए तो दिल्ली के पुराने निवासी पंजाबी शरणार्थियों की ताब नहीं ला सके थे और व्यापार और दूसरे क्षेत्रों में उनके सामने हथियार डाल चुके थे।

वरुण भी लड़के के बारे में सोच रहा था। भला क्यों नहीं आया? क्या इस डिब्बे में से उतर कर अपनी वैन में चढ़ सका होगा? या शायद फुटबोर्ड पर पांव रखता हुआ गया हो। दोनों तरह जाना आसान नहीं है। अगर गिर पड़ा हो तो? अगर पीछे रह गया हो तो? सारा कसूर बुजुर्ग का था। पर इसके लिए उसे सज़ा नहीं दी जा सकती। ग़रीबों के साथ कितने अन्याय होते हैं।

लड़का अगले स्टेशन पर भी न आया। उस समय बुजुर्ग शायद अपने मुंह में कोई जाप कर् रहे थे। आख़िर मलिक ने अपने मन में कहा, भाड़ में जाये, और बत्तियां बुझा दीं।

(2)

समर हिल से बैंड स्टैंड और फिर जाखू पहाड़ी का चक्कर लगा कर संजौली और छोटे शिमले में से होते हुये वापस आने पर छः मील का सफ़र तो हो ही गया होगा, वेद नारंग ने सोचा। जून महीने की मस्तानी हवा। जंगली गुलाब की मीनी-मीनी महक। सैर का मज़ा आ गया। कहीं एक हफ़्ता और यहां रहने को मिल जाता, तो सेहत बन जाती। उसे लगा, जैसे सर्दी और वरज़िश ने उसके ख़ून में नये रस भर दिये हों। कमरे में पहुंचते ही उसने घंटी बजाई। बैरा आया तो उस बरामदे में, मेज़-कुर्सी रखने और बियर लाने का आर्डर दिया। वह एक आई.सी.एस. अफ़सर का आर्डर था। बैरे ने बिजली की फुर्ती से उसका हुक्म माना। बरामदे में से लाजवाब नज़ारा दिखाई दे रहा था। वादियों की सागर जैसी गहराई, कश्तियों की तरह तैरते हुए बादल, मस्तूलों की तरह खड़े केले के पेड़। दूर पहाड़ की धुंधभरी तहों के पीछे एक चोटी पर जमी हुई बर्फ़ बड़ी सुहानी लग रही थी। ज़िंदगी में और क्या चाहिये। बियर के घूंट का स्वाद लेते हुए वेद नारंग ने मन में कहा।

बरामदे में एक और दरवाज़ा खुलने की आवाज आई। वेद की नज़र मुड़ी। एक बेहद सुन्दर यूरोपीय युवती कमरे में से वाहर निकली और जंगले पर बाहें टिका कर सामने की वादी का नज़ारा देखने लगी। उसके बाल सुनहरी धूप में चमक रहे थे। उसके ब्लाउज का रंग उसके शरीर के रंग से इस कद्र मिलता था कि वेद को पहली नज़र में उसका सुडौल वक्षस्थल नंगा प्रतीत हुआ। वह मंत्र मुग्ध-सा बना देखता रह गया। आज तो ईश्वर जैसे छप्पर फाड़कर दे रहा था।

वेद ऊधर से नज़र हटाने ही लगा था कि लड़की की नीली आंखें किसी जंगली शेर की तरह उसे घूरने लगीं। तभी उसके मुंह से निकला, 'सिल्विया।'

'ओह यू? इमैजिन!' लड़की ने आगे बढ़कर, मुस्कराते हुये, बड़े तपाक से उससे हाथ मिलाया।

'मैंने तुम्हें पहले क्यों नहीं देखा? कब आई हो?'

'आज ही।'

वही व्यंग्य भरा अंदाज, जो उसकी विशेषता थी, और जिसकी और वह कभी आकर्षित हुआ था। आज फिर आकर्षित हो रहा था। शायद इसे महसूस करते हुये सिलविया ने कहा, 'वरुण कल आ रहा है। याद है न?'

'अपने रकीब को कैसे भूल सकता हूँ। पर-'

'उठाओ बियर और बार पर चलो। मैं भी कुछ पीना चाहती हूं।'

सिलविया ने उसकी बांह में अपनी बांह डाल दी और दोनों सीढ़ियां चढ़कर बार रूम में पहुंचे। वहां ज्यादा भीड़ नहीं थी। सभी लोगों ने उनकी ओर प्रशंसा भरी नज़रों से देखा।

'तुम तो पहले से भी ज़्यादा सुन्दर बन गये हो।' सिलविया ने बार के ऊंचे स्टूल पर बैठते हुये कहा।

'क्यों मेरे ज़ख्मों को दुखाती हो। अपनी बात करो, जो गज़ब ढाह रही हो।

'ओह, मैं तो बहुत मोटी होती जा रही हूँ।'

'जब सूखी हुई-सी थीं, तब भी सुन्दर लगती थीं। अब तो और भी सुन्दर लगती हो।'

'सूखी हुई-सी' विशेषण पर सिलविया खिलखिला कर हंस पड़ी-लापरवाह हंसी, जो वेद को बहुत अच्छी लगी। अब उसमें हीनता के बजाय आत्मविश्वास आ गया था, जो हिन्दुस्तान में आने पर अंग्रेजों में बहुत जल्द आ जाता है। कुछ और भी तबदीलियां दिखाई दे रही थीं। वह अमीरीकी गोद में पल रही प्रतीत होती थी।

'झूठे।' सिलविया ने कहा।

'क्या पिओगी?'

'वर्मथ। तुम खड़े क्यों हो, बैठो न। जहाज़ में तो सारा वक्त बार के स्टूल पर ही बैठे रहते थे।'

'और कोई काम जो नहीं था।'

सिलविया उसका इशारा समझ गई और हंसी।' तुम मेरे जिस्म से खेलना चाहते थे। बस, कुछ देर के लिए। तुम कैम्ब्रेज के घटे हुए नौजवान थे। मैं तुम्हें झट भांप गई थी। हारे हुये को रुसवा नहीं करना चाहिये।'

'रुसवा कौन कर रहा है तुम्हें? मुझसे शायद गलती हो गई हो। किसी को जानना बहुत मुश्किल होता है। ...... चियर्स!'

दोनों ने गिलास टकराये और पीने लगे। कुछ देर चुप रही।

'कुर्सियों पर चल कर बैठते हैं। आराम से बैठेंगे।' कुछ देर के बाद सिलविया ने कहा। वह फिर एक गंभीर लड़की बन गई थी, जिस तरह कि सात साल पहले वेद ने उसे जहाज़ पर देखा था।

'कुछ दिन ठहरोगे न?'

'नहीं, कल सुबह चला जाऊंगा।'

'क्या वरुण से नहीं मिलोगे?'

'मुझे कल दिल्ली ज़रुर पहुंचना है। मैं सरकारी काम पर आया हुआ हूं।'

'क्या काम है? वरुण ने मुझे बताया था कि तुम इंडियन सिविल सर्विस में हो।'

'इस समय तो तुम्हारे मुल्क की सेवा के लिए आया हुआ हूं। वाइस रीगल लाज में अंग्रेज़ अफ़सरों के पीछे रह गया सामान इंग्लैंड भिजवाया जा रहा हैं। हमारी सरकार उसे सही-सलामत वापस करना चाहती है। इसीलिए मुझे यहां भेजा है। मेरा काम आज ख़त्म हो जायेगा।'

'तो मैं भी तुम्हारे साथ ही चल पडूंगी। वरुण और मैं हमेशा आधे रास्ते में ही मिलते है। एक गोगरा नाम की जगह है, जहां का चौगिर्दा बिल्कुल इंग्लैंड जैसा है। वहां एक छोटा-सा बंगला है, जिस में एक बूढ़ा-बूढ़ी रहते हैं। वे हम दोनों को बहुत प्यार करते है। कल दस बजे हम उनके साथ नाश्ता करेंगे। वहां हम दुनिया को भूल सकते हैं। तुम मुझे सड़क पर छोड़ देना। वैसे चाहो तो नाश्ता हमारे साथ कर सकते हो।'

'नहीं, मैं कबाब में हड्डी नहीं बनना चाहता। वैसे, तुम्हें अपने साथ ज़रुर ले चलूंगा और जहां चाहोगी छोड़ दूंगा। .... पर तुम्हारी शादी तो नहीं हुई थी न?'

सिलविया ने इन्कार में सिर हिलाया।

दोनों काफ़ी देर तक चुप रहे।

'तुम्हें हमारे बारे में क्या कुछ पता है?' सिलविया ने पूछा।

'बस, इतना ही, सिलबी कि तुम्हारी शादी नहीं हुई थी। और तुम इंग्लैंड वापस चली गई थी।'

सिलविया कुछ क्षण उसकी ओर एकटक देखती रही। फिर, उसने आंखे झुका लीं।

'पर मैं उसके बिना रह नहीं सकी। वह भी मेरे बगैर रह नहीं सका। .... बड़ी लम्बी कहानी है। अब मैं एक बूढ़े बंगाली करोड़पति की पत्नी हूं।'

'और पिओगी?' वेद ने उसकी मानसिक अवस्था बदलने के लिए कहा।

बातचीत पहली मुलाकात के अनुकूल नहीं रही थी।

'नहीं, तुम पिओ।'

'शाम को तुम क्या कर रही हो? क्या हम एक साथ शाम गुज़ार सकते हैं?'

'कुछ नहीं कर रही। इस समय क्या तुम्हें कोई काम है?'

'हां, लंच मुझे वाइसरीगल लाज में खाना है। बिज़नेस-लंच। आज आख़िरी दिन है न। पांच बजे तक फुर्सत पा जाऊंगा।'

'अच्छा तो मैं एक ड्रिंक और लूंगी।'

वेद ने बैरे को बुला कर ड्रिंक लाने के लिए आर्डर दिया।

(3)

दूसरी बियर उस संयम के खिलाफ थी, जो वेद पिछले दिनों से पालन करता आ रहा था। वह उसे पीनी नहीं चाहिये थी। वह एक बांकी-सी छड़ी हाथ में लिए माल पर चला जा रहा सोच रहा था कि सिलविया से मिल कर उसका सन्तुलन बिगड़ गया है। और यह बात उसे पसंद नहीं थी। एक आई.सी.एस. अफ़सर की हैसियत से और व्यक्तिगत रुप से भी उसने ख़ुद पर पूरा काबू रखना अपना निशाना बनाया हुआ था। उसके पिता लाहौर हाई-कोर्ट के जज रह चुके थे। उसने शिक्षा भी इंग्लैंड में प्राप्त की थी। यह संयम, जो ब्रिटिश जाति का विशेष गुण माना जाता है, उसे अपनी परवरिश और घर के वातावरण में से मिला था। और वह अपने तजरुबे से भी देख चुका था कि जो मज़ा निर्लिप्त रह कर जीने में है, वह भोग-विलास में ग्रस्त होने में नहीं है। इस दृष्टिकोण से उसे सिलविया और वरुण मलिक दोनों के प्रति तिरस्कार-सा था। लंच के बारे में उसने सिलिविया से झूठ बोला था। वह अवश्य उसके साथ बैठकर लंच खा सकता था। पर इस प्रकार वह सिलविया के व्यक्तिगत मामलों की ओर खींचा जाता, जिसके लिए वह तैयार नहीं था। और सिलविया की बातों से प्रकट हो गया था कि समय बीतने पर मामला सुधारा नहीं बल्कि और गंभीर हो गया था। इसमें भी शक नहीं कि सिलविया पहले से कई गुना ज़्यादा सुन्दर बन गई थी। उसके अंग-अंग में मादकता भरी हुई थी।

उन दिनों वह कितनी भद्दी और अजीब-सी लगी थी, जब उसने उसे पहली बार देखा था। उसे याद आया कि उसने घुटनों तक नीले रंग की मोटी जुराबें, पट्ट का स्कर्ट और पटट का ही कोट पहना हुआ था, मानों अपनी सुन्दरता को पूरी तरह छिपाना चाहा हो। उसने बच्चों की तरह सिर पर रुमाल बांधा हुआ था। वह ईसाई भिक्षुणियों की एक टोली में शामिल थी। जंग का ज़माना था वह। बसें 'ब्लैक आऊट' में एक दफ़्तर के सामने जा कर रुकी थीं। फिर दूसरा दफ्तर, तीसरा दफ्तर। आखिर एक जगह सब लोग उतरे थे और एक लम्बे बरामदे में से गुज़र कर एक शैड में खड़े हो गये थे, जिसके बीच में एक छुपायी अंगीठी जल रही थी। उसकी बेहद लम्बी चिमनी को देखकर लग रहा था कि वह नई ही लगाई गई थी। इतने बड़े शैड को गर्म रखने में वह असमर्थ थी।

छोटा-सा जहाज़ था वह। अच्छा ही है, वेद ने सोचा था। जान-पहचान करने में आसानी होगी। और वह ठंड में बेज़ार बने और कूद-कूद कर पांवों को गर्म रखने की कोशिश कर रहे यात्रियों में निःसंकोच होकर टहलने लग पड़ा था। उसे अपने सुदर और सलीके भरे व्यक्तित्व और बढ़िया ओवरकोट का अहसास था। उसके चेहरे का उजला रंग था, मोटी-मोटी आंखें थी, और सिर के काले, घुंघराले बाल थे। इंग्लैंड में अपनी पांच साल की रिहायश के दौरान मैं उसे किसी लड़की के साथ दोस्ती करने में कभी असफलता नहीं हुई थी। एक-दो बार उसे प्यार भी हुआ था, लेकिन उसने ख़ुद को संभाल लिया था। प्यार से फंसने पर शादी करने की उसे कोई जल्दी नहीं थी।

हम अफ़सरों का इस प्रकार जायजा लेना उसे अस्वाभाविक-सा लग रहा था। एक तलख़ी उसके मन में उठ रही थी। उसे वह भुला नहीं सका था। और कुछ संशय और

डर भी मन में उठ रहे थे। भला डोरोथी को कैसे पता लग गया कि वह लिंकन से जहाज में सवार हो रहा है? जहाजों की कम्पनी की हिदायत के मुताबिक उसने बहुत नज़दीकी दो-तीन दोस्तों के अलावा किसी को भी नहीं बताया था। आखिर जंग का जमाना था। माना का जर्मनी की हार के दिन अब बहुत दूर नहीं थे, फिर भी पनडुब्बियों का खतरा था। आख़िर डोरोथी को कैसे पता लग गया? रवानगी से संबंधित सभी झझटों से निपट कर वह अपने होटल के कमरे में आराम कर रहा था कि अचानक ड्रामा हो गया।

डोरोथी के प्रति उसे कोई विशेष आकर्षण नहीं था। वह उसके जिगरी दोस्त, चार्ल्स की पत्नी थी। चार्ल्स दो साल पहले ट्राइपास हासिल कर चुका था और सिर्फ़ समय बिताने के लिए पत्रकार बना हुआ था। वास्तव में, वह प्रतीक्षा कर रहा था कि फ़ौज की ओर से कब बुलावा आता है। इस प्रतीक्षा में तीन साल बीत गये थे। इस बारे में उनकी कई बार वहस होने लगती थी। दोनों ने राजनीति का गहरा अध्ययन किया था, दोनों मार्क्सवाद से प्रभावित होने का दावा भी करते थे। अर्नेस्ट हेमिंग्वे, आल्डेस हक्स्ले, और वर्टेंड रसल की तरह वे भी इस बात से सहमत थे कि जंग पूंजीपति वर्ग के लिए एक लाभदायक उद्योग है। तो फिर, तो चार्ल्स को फ़ौजी बुलावे की प्रतीक्षा क्यों थी? उसका चेहरा देश भक्ति की भावना से चमक उठता था और बहस बेकार हो जाती थी।

डोरोथी की ओर उसने कभी ज़्यादा ध्यान नहीं दिया था। हो सकता है कि कभी दरिया के किनारे सैर करते हुये उसका हाथ पकड़ लिया हो, या शहर में किसी सड़क पर चलते हुए, ब्लैक आऊट के दौरान, उसका चुम्बन ले लिया हो। इसका अपना रोमांस था, और यह बहुत आम-सी बात थी। जंग के जमाने में ऐसी बातों के लिए काफ़ी आज़ादी थी।

उसकी रवानगी का दिन ज्यों-ज्यों नज़दीक आता गया था, डोरोथी उसकी बहुत ख़ातिर करने लगी थी। आख़िर वह उसका पता लगा कर दो सौ मील दूर उसे आ मिलेगी। इसकी उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी।

'तुम यहां क्या कर रही हो?'

'तुम्हें मिलने आई हूं, और क्या?'

'पर जहाज की रवानगी तो गुप्त रखी गई है।'

'वह मैं जानता हूं। अब ज्यादा सवाल न करो और मुझे अपनी बाहों में ले लो। बात पूरी किये बिना तुम्हें जाना देना मुझसे सहारा नहीं गया।'

और दोनों सीधे बिस्तर पर चले गये थे। वेद चुम्बन लेने-देने लगा था। वह कितनी स्पष्टवादी और दलेर थी हालांकि उसने कभी यह प्रकट नहीं होने दिया था कि वह उसे इतना चाहती है। यह उनकी आख़िरी मुलाकात थी।

डाली होरोथी ने ब्लाउज़ के नीचे बाडिस नहीं पहना हुआ था, इसलिए वेद की अंगुलियां जल्दी ही उस तरफ चल पड़ी थीं। उस की छातियों को छू कर वह जैसे नशे में आ गया था। वैसी छातियां उसने पहले कभी किसी लड़की की नहीं देखी थी। और वे एक-दूसरे में खो गये। आखिर आनन्द की हिलोर में वेद के मुंह से निकला, 'अगर ऊपर से चार्ल्स आ जाये तो?'

'आ जाये। मैं तुम्हें प्यार करती हूं, उसे नहीं।'

चलने का समय आया। जब वे सीढ़ियां उतर कर लाज में पहुंचे तो चार्ल्स एक सोफ़े पर बैठा उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। उसे देख कर वेद ने बड़ी ग्लानि महसूस की। डाली भी ठिठक गई थी, पर यह झट ही सम्भल गई।

'तुम मेरा पीछा करते रहे हो?' उसके लहजे में गुस्सा था या शिकायत, कहा नहीं जा सकता था।

आगे से चार्ल्स ने लापरवाही से हंस कर कहा, 'तो क्या हुआ। वेद मेरा भी तो दोस्त है। वह हम दोनों का दोस्त है।'

और वे दोनों उसे होटल के बाहर खड़ी बस में बैठाकर इस प्रकार चले गये थे, जैसे कुछ हुआ ही न हो। पर वेद जानता था कि बहुत कुछ हो गुज़रा है। एक कीमती दोस्ती को बहुत सख़्त चोट लगी है, और शायद एक सुखद पारिवारिक जीवन को भी।

पर नाटक से इंग्लैंड वाले अंक पर पर्दा गिर चुका था। जो पाया था, उसके लिए धन्यवाद; जो खोया था, उसके लिए अफसोस। पीछे मुड़कर देखने का कोई फ़ायदा नहीं था। अगर डोरोथी ने जहाज़ की रवानगी का पता लगा लिया था, तो कई दूसरों ने भी पता लगा लिया होगा। जर्मनों ने भी लगा लिया होगा। शायद आज रात ही उसका खात्मा होने वाला हो। और पता नहीं कौन-सी गोली चार्ल्स का इन्तज़ार कर रही है।

यह बातें सोचने से कोई फ़ायदा नहीं है। होनी से टकराने का नाम ही ज़िन्दग़ी है। इसी में जीने का मज़ा है। और सभी हादसे मीठे नहीं होते, न ही होने चाहिये। पांच साल बाद वह अपने देश वापस जा रहा था। भूतकाल और भविष्य के बीच में यह जहाज का सफ़र एक पुल की तरह था। इससे बढ़कर इसकी कोई हैसियत नहीं थी। जितना अच्छा गुजर जाये, उतना ही अच्छा है। नहीं नहीं, दिल की बात साफ़ तौर पर कबूल करनी चाहिये। यह पांच साल स्वर्ग के गुज़ारे थे, और अब नरक की तरफ रवानगी था। अब हिन्दुस्तान की धूल-मिटटी मक्खियों और ग़रीबी से बासता पड़ेगा। साथ ही, विदेशी सरकार की अफसरशाही की रुकन होने की ज़िल्लत भी उठानी पड़ेगी। किसी न किसी यात्रा में ज़रूर उठानी पड़ेगी। यह तीन-चार हफ़्ते का समुद्री सफ़र दो दुनियाओं के बीच में लटका हुआ है। एक तरफ एक ऐसी दुनिया है, जिस में नफ़ासत है। उस दुनिया को वह छोड़ रहा था। और दूसरी तरफ़ एक ऐसी दुनिया थी, जिसका पुर्ज़ा-पुर्ज़ा बिगड़ा हुआ था। वह हिन्दुस्तान था, जिसकी तरफ़ वह जा रहा था।

लम्बे, थकावट भरे इन्तज़ार के बाद यात्रियों की भीड़ को एक और लम्बी और अंधेरी गुफा में से गुज़ार जहाज़ पर पहुंचा दिया गया था। यानी जिस जहाज में सफ़र करना था, उसे बाहर से किसी ने देखा ही नहीं था। जहाज़ पर पहुंच कर भी यकीन नहीं होता था कि जमीन छूट चुकी है।

वह कुली के पीछे-पीछे चलता हुआ अपने केबिन में पहुंचा। दरवाज़ा खुला था। जंग के ज़माने में यह आशा करना ही व्यर्थ था कि अलग कैबिन मिलेगा। पर जब उसने अपने साथियों के नाम पढ़े, तो उसका मज़ा किरकिरा हो गया। वे दोनों हिन्दुस्तानी थे, जिन में से एक का नाम मुहम्मद अनवर था और दूसरे का वरुण मलिक।

वह खुद हिन्दुस्तानी था, और कैम्ब्रिज की हिन्दुस्तानी मजलिस में सरगर्म हिस्सा लेता रहा था। जहाज कम्पनी के कर्मचारियों का उसे अपने देशवासियों के साथ नत्थी करना

स्वाभाविक था। पर उसका मज़ा किरकिरा हो गया। पता नहीं वे कैसे साथी साबित हो, कितने पढ़े-लिखे हों, कितने साफ़-सुधरे हों, शान्त तबियत के हों या शोर मचाने वाले। फिर, कैबिन भी बहुत छोटा था। यद्यपि ज़रुरत की हर चीज़ तीनों यात्रियों के लिए वहां थी। हर एक के लिए अलग वाश-बेसिन था, अलग वार्डरोब था। हां, तीनों एक ही समय उन्हें इस्तेमाल नहीं कर सकते थे, क्योंकि जगह की तंगी थी। सो, रात को सोने के अलावा उसे ज़्यादा समय बाहर ही गुज़ारना पड़ेगा। मुहम्मद अनवर और वरुण मलिक ने शायद उससे पहले ही इस बात पर अमल करना शुरु कर दिया था। जरुर घूम-फिर कर जहाज़ देख रहे होंगे। यह किस किस्म का घटियापन का अहसास है कि हर हिन्दुस्तानी दूसरे को अपने से घटिया समझता है। अपने गुलामों के मनों में यह अहसास पैदा करना ब्रिटिश हुकूमत की सबसे बड़ी कामयाबी थी। कितनी अजीब बात थी कि कोशिश करने पर भी वह इस अहसास से छुटकारा पा नहीं सकता था। लेकिन इससे छुटकारा पाना ही पड़ेगा। सारे हालत यह बता रहे थे कि जंग के बाद हिन्दुस्तान आज़ाद होकर रहेगा। और जंग ख़त्म होने में अब ज़्यादा देर नहीं है।

वह हैट और ओवरकोट उतार कर अपने बर्थ पर बैठ गया। ग़नीमत थी कि ऊपर कोई बर्थ नहीं था। सिर की ओर एक खिड़की थी, जिसमें से लेटे-लेटे समुद्र का नज़ारा देखा जा सकता था। उसे बड़ी तसल्ली हुई, हालांकि ब्लैक आउट के मोटे, काले पर्दे में से झांकने पर उसे कुछ भी दिखाई नहीं दिया - सिवा डेक के। धुंधलके में कुछ लोग टहल रहे थे। वेद को उन के सिर्फ़ धड़ ही दिखाई दिये, सिर और पांव नहीं।

उसने घड़ी देखी। सिर्फ पांच बजे थे। इस वक्त डाली और चार्ल्स क्या कर रहे होंगे? चार्ल्स इन्तज़ार करता हुआ नीचे क्यों बैठा रहा? सीधा उसके कमरे में क्यों नहीं आ गया? किस तरह जासूसों की तरह पत्नी का पीछा किया था! सचमुच, उसने ऊपर न आकर बेहद शराफ़त का सबूत दिया था, और बेहद सब्र और अक्लमंदी का भी। पर वेद ने सिर झटक कर अपना ध्यान इन बातों की ओर से हटाना चाहा। केबिन में सीट देते समय जहाज़-कम्पनी ने उसका ख़ास ख़्याल रखा था। यह सोच कर उसे तसल्ली हुई। उसने अपने कोट की अंदरुनी जेब में से बटुआ निकाल कर उस पत्र की नकल दोबारा पढ़ी, जो हिन्दुस्तान के बज़ीर ने सरकार को लिखा था, और जिसमें वेद को आई.सी.एस. में लेने की सिफ़ारिश की गई थी। सम्भव है कि जंग जल्दी ख़त्म होने की हालत में इस पत्र पर अमल न किया जाये। उसे कम्पीटीशन में बैठना पड़े। पर इस पत्र ने उसका आई.सी.एस. बनना हर हालत में यकीनी कर दिया था। और कुर्सी पर बैठने के बाद वह अपने देशवासियों को यह बताने के योग्य हो सकेगा कि जेल जाना ही देशभक्ति का एकमात्र रास्ता नहीं है। आई.सी.एस. की कुर्सी पर बैठकर भी आदमी अपने देश के लिए बहुत कुछ कर सकता है। वह उठा और बियर पीने के लिए बार की ओर चला गया।

सिलविया ने ठीक ही कहा था। सफर का पहला हफ़्ता उसने मानो बार के स्टूल पर बैठकर ही काटा था। भूरे रंग के एटलांटिक महासागर पर छः हज़ार टन का जहाज़ इस तरह हिचकोले खा रहा था जैसे बब्बर शेर की सवारी कर रहा हो। उसके केबिन के दोनों साथी अपनी बर्थों पर निढाल बने पड़े थे और लगातार उलटियां कर रहे थे।

यही हाल बाकी के भी अधिकांश यात्रियों का था। किसी-किसी समय वेद का भी दिल कच्चा-कच्चा होता, और सिरदर्द तो हमेशा ही बना रहता। पर उसे इस कमज़ोरी से सख़्त नफ़रत थी। हिन्दुस्तान से आते समय भी वह इस हालत का शिकार नहीं हुआ था। उन दिनों की याद ने उसे बल दिया था। फिर, बारमैन चार्ली ने भी उसकी मदद की थी। वेद ने पूरे विश्वास के साथ अपने आप को उसके हवाले किया हुआ था। चार्ली उसे बाकायदा नुस्खे बताता- किस समय कौन-सी शराब पीनी चाहिये, और साथ में क्या लाना चाहिये और क्या नहीं।

जहाज़ चला जा रहा था। पनडुब्बियों का ख़तरा बना हुआ था। रात को किसी इंजन केबन्द या चालू होने का ज़रा-सा भी शोर होता, तो वेद और उसके दोनों साथी उठ कर बैठ जाते। मौसम भी काफ़ी ख़राब था। ज़रा भी धूप नहीं निकलती थी। अफ़वाह थी कि जहाज़ सातवें दिन शाम के समय अचानक जिब्राल्टर की रोशनियां का प्रसार दिखाई देने लगा था। सभी यात्री डेक पर आ गये थे। हर एक के चेहरे पर ख़ुशी थी। ऐसे लग रहा था, जैसे तीस रोज़ों के बाद ईद का चांद दिखाई दिया हो।

उस रात बार में पहली बार रौनक लगी। उस दिन था भी शनिवार। वैसे, जहाज़ के सफर में सभी दिन इतवार जैसे होते हैं। पर शनिवार की शाम होने से ख़याली फ़र्क ज़रुर पड़ा था। रात के बारह बजे तक नाच होता रहा था।

सिलविया ने तब भी उसी तरह के कपड़े पहने हुये थे। बस, सिर पर रुमाल नहीं था। सिर के बाल खुले थे और कंधों तक आते थे। उनकी अनोखी रंगत थी, जैसे पहाड़ों में पतझड़ की ऋतु में मक्की में भुट्टो का रंग होता है। सिलविया की आंखों में शोख़ी थी और आंखों की पुतलियों में बालों की सी सुनहरी आभा थी। उसके कपोलों और ठुड्डी की गोलाई किसी बिल्लोरी प्याले जैसी थी। यह थी उसके गुणों की सूची। अवगुणों की सूची इससे लम्बी थी। सिलविया का माथा छोटा था और उस पर छोटे-छोटे बालों की तह-सी थी। सामने के दांतों में से एक कुछ ज़्यादा लम्बा था, जो मुंह होने पर ज़रा-सा बाहर निकला रहता। चमड़ी पर धब्बे-से थे। चाल में अक्खड़पन था। जैसे वह हाकी खेल कर आ रही हो।

वेद हैरान था अब तक कि किसी ने भी सिलविया को अपने साथ नाचने के लिए नहीं कहा था। शायद उस भिक्षुणियों के समूह से काले ही नहीं, गोरे यात्री भी भयभीत थे। आखिर वेद ने हिम्मत की और आगे बढ़कर कहा, 'क्या मैं आपके साथ डांस करने की ख़ुशी ले सकता हूं?'

सिलविया कुछ क्षण चुप रही। वेद ने सोचा कि वह ज़रुर भिक्षुणियों की ओर देखेगी। पर उसने उधर नहीं देखा और कहा, 'मुझे एतराज़ तो कोई नहीं।' तभी वह उठ खड़ी हुई और उसके साथ नाचने लगी।

उस के बोलने के लहजे से वेद ने यह जान लिया कि वह ग़रीब वर्ग की लड़की है। फिर, हाथ पकड़ने पर उसकी मोटाई और खुरदरेपन ने भी यह बात प्रकट की। नाचते समय उस के कदमों में आत्मविश्वास की कमी महसूस हो रही थी।

'तुम हिन्दुस्तान जा रही हो या रास्ते में ही कहीं उतर जाओगी?'

'रास्ते में क्यों उतर जाऊंगी? मैं तो अपने पति के पास जा रही हूँ।'

'तुम तो अभी छोटी-सी हो। शादी कैसे हो गई, तुम्हारी?'

'मैं छोटी नहीं हूं। अगले महीने बीस साल की हो जाऊंगी।'

सिलविया ने ऐसे कहा, जैसे वेद पर कोई इल्ज़ाम लगाया हो।

'तुम्हारा पति कौन है - हिन्दुस्तानी या अंग्रेज?'

'न हिन्दुस्तानी, न अंग्रेज, बल्कि पारसी है। एक पारसी राजकुमार। उसका अपना टापू है - बम्बई के नज़दीक। क्या तुम उसे जानते हो? तुम हिन्दुस्तानी हो न?'

'हां, मैं हिन्दुस्तानी हूं। पर तुम्हें कैसे पता कि पारसी हिन्दुस्तानी नहीं होते?'

'मुझे पता है। मुझे सब कुछ पताहै। अगर वह हिन्दुस्तानी होता, तो मैं उस के साथ शादी क्यों करती?'

'क्यों, हिन्दुस्तानी में क्या ख़राबी है?'

'हिन्दुस्तानी तो हमारे गुलाम हैं। क्या इससे हमारी बेइज्ज़ती नहीं होती?'

वेद को उससे बेहद नफ़रत हुई। बेशक बहुत ही मूर्ख किस्म की गंवार लड़की थी वह। इसीलिए किसी बहुत बड़े धोखे का बड़ी आसानी से शिकार हो गई थी।

'क्या नाम है तुम्हारे पति का? शायद मैं उसे जानता ही होऊ, 'वेद ने कहा।

'होमी चैकर', सिलविया ने बड़े गर्व के साथ कंहा। 'और मेरा नाम है, सिलविया-सिलविया चैकर।'

उस समय उसका वह भोलापन वेद को अच्छा लगा। उसने पूछा, 'क्या करता है वह?'

पहले रायल एअर फ़ोर्स में था। अब छोड़ कर अपनी रियासत की देख-भाल करने के लिए चला गया है। उसका बहुत बड़ा महल है। उसके पास हाथी भी हैं। मैं वहां बहुत बहुत ख़ुश रहूंगी।'

वेद को उसपर तरस आया, पर उसने उसके सपनों का महल तोड़ना उचित न समझा। नाच ख़त्म हुआ। पहले उसने सोचा था कि उसे शराब पीने के लिए कहेगा, पर उसने महसूस कर लिया था कि उससे दोस्ती वहीं हो सकती थी। सो, वह उसे वापस छोड़ कर डेक पर आ गया और जिवाल्टर की रोशनियां देखने लगा।

अजीब हादसोंवाली रात थी वह। सभी यात्री शराब पी-पी कर ख़ुशी और जोश में झूम रहे थे। आखिर सफर का एक ख़तरनाक हिस्सा कुशलता से पूरा हो गया था। स्काच, जो शहरों में किसी कीमत पर ही नहीं मिलती थी, यहां पानी के भाव बिक रही थी। चार्ली को सिर खुजलाने की फुर्सत नहीं थी। बड़ी तेज़ी से दोस्तियां हो रही थीं। निर्जीव से चले आ रहे जहाज़ में जैसे जान आ गई थी। शर्ते लग रही थीं कि जहाज जिब्राल्टर पर रुकेगा या नहीं। लोग प्रातःकाल होने पर रहीं जा कर अपने बिस्तरों पर जा कर लेटे।

अगले दिन जब वेद की आंख खुली, तो उसने अपनी खिड़की से बाहर झांका। जहाज हरकत में था। और अब वह अकेला नहीं था, बल्कि एक कानवाई का अंग बन

गया था, जिस में डिस्ट्रायर थे और सबमैरीनों थीं। ब्रिटिश साम्राज्य पूरी धाक से आगे बढ़ रहा था। झंडों द्वारा सिग्नल दिये जा रहे थे। रोम सागर का पानी ख़ालिस नील जैसा नीला था। वायु में भी नई ताज़गी थी। सफ़र की ज़िन्दगी का जैसा एक नया अध्याय शुरु हो रहा था।

उसे खिड़की के पास बैठा देख कर उसने दोनों साथी कैविन के डेक पर टहलते हुए रुक गये। मुहम्मद अनवर ने कहा, 'बाहर आओ, बादशाहो, बड़ा मज़ा है।'

वेद ड्रेसिंग गाऊन पहन कर उनके पास गया। उन्होंने डेक के दोनों ओर चक्कर लगा कर पूरी कानवाई के जहाज़ गिने। वहां से धरती का किनारा भी नज़र आ रहा था। एक जगह सिलविया कैन्वस की कुर्सी पर आंखें बन्द करके लेटी, निखरी हुई धूप का आनन्द ले रही थी। उसे देख कर अनवर ने ऊंची आवाज में कहा, 'इस का कोई वाली-वारिस नहीं है, यह मैं आपको बता दूं।'

'क्यों?' वेद ने पूछा।

यह किसी कमीने घर की लड़की है। और इन गोरों में ऊंच-नीच काहम से भी ज़्यादा झंझट है।'

अनवर की बात की सच्चाई को वेद ख़ुद महसूस कर चुका था। पर इतना बेशक नतीजा उसने नहीं निकाला था। अनपढ़ और असल होने होने के बावदूज भी वह अंग्रेज़ों के चरित्र को पूरी तरह जानता था और उस पर तीखे व्यंग्य करता था। बहुत दिलचस्प आदमी था वह। वेद उसके साथ जल्दी ही खुल गयी था। वरुण के साथ वह बिल्कुल नहीं खुल सका था, जो बहुत कम बोलने वाला व्यक्ति था।

अनवर इस बार अमरीका का चक्कर लगा कर आ रहा था। वहां उसने लगभग दस हज़ार हब्शियों को मुसलमान बनाया था, उन्हें लाल सभी टोपियां पहना दी थीं। और यकीन दिलाया था कि भविष्य में छः पैगम्बर आने वाले हैं, जो हब्शियों को गोरे अमरीकियों के ज़ुल्मों से छुटकारा दिलायेंगे। वह लगातार छः महीनों तक अपने मुरीदों में जनून पैदा करता रहा था। उसकी तकरीरें उन के जज्बात से खेलती थीं, उसकी दुखती नस को छेड़ती थीं, और उन पर जादू-सा कर देती थीं। पैगम्बर छः महीने में ज़रुर आनेवाला था। उसके आगमन का सौभाग्य प्राप्त करने के लिए अनवर ने उन्हें तावीज़ दिये थे। प्रत्येक तावीज़ पर मंत्र फूंकने की कीमत दो डालर थी। ज्यों-ज्यों पैगम्बर के आगमन का दिन नज़दीक आता गया, अनवर किसी महान नेता की तरह एक शहर से दूसरे शहर में चक्कर लगाता रहा, और हब्शियों के शौक और जनून को नमाज़ों, जलसों और तकरीरों से और ज़्यादा बढ़ाता गया। कुछ जगहों पर हब्शियों की गोरों के साथ झड़पें भी हुई। फिर, जिस दिन पैग़म्बर का आगमन होता था, उस दिन अनवर पंद्रह हज़ार डालर जेब में डालकर लंदन के लिए जहाज़ पर सवार हो गया था।

जब भी वे कैबिन में इकट्ठे होते, अनवर ऐसे किस्से सुना कर खूब हंसाता। कल रात उसने गोरे-गोरियों के हाथ देख कर पांच-सात पौंड बना लिये थे। मनुष्य के स्वभाव की कमज़ोरियों को समझना और उनसे लाभ उठाना उसे खूब आता था। वह नैतिकता के बांके-टेढ़े और अंधेरे गली-कूचों में घूमने वाला आदमी था। चौड़ी, खुली, हवादार

सड़कों पर उसका शायद सांस घुटता था। वेद ने सोचा कि कहीं इस चीज़ को सैकड़ों वर्षों की गुलामी ने हिन्दुस्तानियों की खासियत तो नहीं बना दिया है। आख़िर उस पारसी नौजवान होमी चैकर ने सिलविया के साथ भी तो ऐसा ही धोखा नहीं किया था? कह रही थी कि पारसी हिन्दुस्तानी नहीं होते, और होमी राजकुमार है - एक टापू का मालिक। पता नहीं, कैसे-कैसे सुनहरे सपने देख रही थी। और उनके पीछे अपना घर, परिवार, देश सब कुछ छोड़ कर चल पड़ी थी। जव वे सपने झूठे साबित हुये, तो क्या हालत होगी बेचारी की।

कानवाई रोम सागर के मध्य में पहुंच चुकी थी। एक दिन एक लाल और नीचे रंग की छोटी-सी चिड़िया अफ़्रीका की ओर से यूरोप की ओर से यूरोप की ओर उड़ती हुई जहाज़ के मस्तूल से बंधी तार पर आ कर बैठी और फट ही सबकी नज़रों का केन्द्र बन गई। हर एक यात्री के दिल में उसके लिए करुणा का सागर उमड़ पड़ा। इतनी छोटी-सी जान। इतने छोटे-छोटे पंख। उन में कहां से ताकत आ गई सैकड़ों मीलों की उड़ान भरने के लिए? जरुर बेचारी अपने काफ़िले से बिछुड़ गई होगी। या थक-हार कर काफ़िले का साथ छोड़ दिया होगा। क्या अब यह जहाज़ पर ही रहेगी या फिर उड़ जायेगी? उड़ कर कहां जायेगी? इस अनन्त संसार में कौन-सा ठिकाना है इसका? क्या इसे अपने ठिकाने का पता है, या यूं ही जा रही है अपनी जान को ख़तरे में डाल कर? अगर पंख थक गये, तो फिर क्या होगा? एक बिन्दु की तरह रोम सागर के पानी में गिर पड़ेगी और दफ़न हो जायेगी - इतनी सुन्दर, प्यारी, रंगीन चिड़िया!

एक सफ़ेदपोश मल्लाह ने जहाज़ के सब से ऊंचे कैबिन पर, जहां चिड़िया के लिए खाने-पीने का सामान रख दिया था, और एक तख्ती भी टांग दी थी, जिस पर लिखा था: चिड़िया की ओर ज़रुर से ज़्यादा ध्यान देना ठीक नहीं है, वरना वह ख़ुद को कुछ समझने लगेगी।'

फिर भी, उस दिन सभी यात्री डेक पर ही टहलते रहे, जैसे वहां कोई मेला लगा हुआ हो। चिड़िया वाली तार के नीचे से गुज़रते समय वे जहा धीमे बोलने लगते और चोर नज़रों से चिड़िया की ओर इस तरह देखते, जैसे बाकी यात्रियों के सामने अपने बढ़िया होने का उदाहरण पेश करना चाहते हो।

वेद को यह जमघट अच्छा नहीं लग रहा था। घटनाओं का सीधा आघात उसे पसन्द नहीं था। वह उसे आंखें बन्द करके सहने का आदी था। उस आघात के विभिन्न पक्षों को लिखित रुप में अंकित करना, और उसे समझना, महसूस करना उसे कहीं ज्यादा रोचक लगता था।

चिड़िया की ओर कुछ देर देखने के बाद वह नीचे लाऊंज में चला गया। घटना का असाधारण होना उसे कबूल था, लेकिन उसके बारे में असाधारण ढंग से सोचना उसे ठीक नहीं लग रहा था।

उसे अन्दर आते देखकर साफ़-कुर्सी पर बैठे, किताब पढ़ रहे, एक अधेड़ उम्र के अंग्रेज़ ने अपनी आंखों से ऐनक उतारते हुए कहा, 'मुझे ढूंढ़ रहे हो?'

'बिल्कुल नहीं, केली,' वेद ने रुखाई से कहा।

'मैंने सोचा, शायद मेरे दिल की तड़प तुम्हारे दिल ने सुन ली हो।'

'मैं फिर कहना चाहूंगा कि ऐसी बकवास मुझे पसन्द नहीं है।'

'पर मेरे पास बैठोगे तो सही कुछ देर। हमारा आपस आपस में कितना भी मतभेद क्यों न हो, किंग जार्ज छठे की सेवा के लिए तो हम दोनों ने अपने आप को सौंपा हुआ है।'

वेद ठहाका मार कर हंसा। कैली के बोलने का बेहद दिलकश अंदाज कुछ समय के लिए उसकी सभी बुराइयों पर पर्दा डाल देता था। उस जैसी चुस्त और जानदार अंग्रेज़ी वेद ने पहले कभी किसी अंग्रेज के मुंह से नहीं सुनी थी। एक तरफ एकदम साहित्य और दूसरी तरफ गंवारों की सी भाषा बोलने में वह सिद्धस्त था।

वेद साथ वाली कुर्सी पर बैठ गया।

'मक्खियां अभी तक शक्कर के गिर्द भिनभिना रही हैं क्या?' कैली ने पूछा।

'बड़े ज़ोर से। सभी इतने सलीके से पेश आ रहे हैं कि चिड़िया घबरा कर उड़ जायेगी।'

'नहीं, जब तक उसके पंख पूरा आराम नहीं कर लेते, वह तोप का धमाका सुन कर भी नहीं उड़ेगी। पक्षी बिल्कुल बच्चों की तरह होते हैं। पर तुम क्यों नीचे आ गये? तुम्हारे दिल की मलिका ने भी तो अपना दरबार लगाया हुआ था।'

वेद ने जवाब नहीं दिया और शेल्फ में रखी पुस्तकें देखने के लिए चला गया। बूढ़े ने ठीक ही कहा था। जिस तरह तार पर चिड़िया बैठी हुई थी, उसके बिल्कुल नीचे सिलविया नीले रंग की तंग बनियान और सफ़ेद निक्कर पहने डेक पर लेटी धूप सेक रही थी, मानो चिड़ियां के बजाय खुद आकर्षण-केन्द्र बनना चाहती हो। उसकी यह हरकत वेद को घटिया-सी लगी। उसकी बाहों और चेहरे पर के धब्बे धूप में चमकते हुये और ज़्यादा घिनौने लग रहे थे। उसके बाल आग की लपटों की तरह थे। और उसका शरीर लड़की के बजाय किसी लड़के का लग रहा था।

वेद ने महसूस किया कि केली की नज़र उस पर लगी हुई थी, और उसने उसके मनोविकार को देख लिया था। कितना विचित्र आदमी था कैली। जिस रात वेद सिलविया के साथ नाच खत्म करके जिब्राल्टर की रोशनियां देखने के लिए डेक पर आ गया था, कैली ने उसके पास आकर बिना किसी संकोच के उसकी पीठ पर हाथ रख दिया था, और कहा था, आओ, मेरे साथ एक ड्रिंक लो।'

वेद चौंक उठा था और डर गया था, जैसे अंधेरे में किसी मढगीरी ने उसे पकड़ लिया हो।

'क्यों ड्रिंक लूं मैं आपके साथ, जब कि मैं आपको जानता नहीं हूं?'

'मेरा नाम आर्थर कैली है और तुम्हारा नाम मैं जानता हूं।'

'पर मैं वह नहीं हूं, ज़ो आप समझ रहे हैं। अगर ऐसी हरकत फिर की तो मैं बुरी तरह पेश आऊंगा।'

'तुम ज़्यादती कर रहे हो। मैं तो तुम्हारे साथ दोस्ती करना चहता हूं; तुम मुझे अच्छे लगते हो।'

'मुझे आपकी दोस्ती की जरुरत नहीं है। धन्यवाद।' और वह सटपटाया हुआ-सा अंदर लाउज़ में चला गया था।

पर फिर भी वे एक दूसरे के नज़दीक आ ही गये थे। कैली बार पर कम ही आता था, पर जब भी आता, रौनक लगा देता। उसके मुंह से बातों की फुलझड़ियां निकलती। ऐसी बढ़ियां बातें करने वाला कोई आदमी वेद ने पहले शायद की कोई देखा था। फिर, पता लगा कि कैली कैम्ब्रिज का विद्यार्थी रह चुका था। कुछ साल हिन्दुस्तान की सिविल सर्विस में गुज़ार कर, पहले विश्व युद्ध के बाद, वह डिप्लोमैटिक सर्विस में शामिल होकर वह अरब देशों में चला गया था। वह लारेंस आफ़ अरेबिया को उच्छी तरह जानता था और उसके बारे में दिलचस्प किस्से सुनाता था। रुबब से वेद ने उन्हीं दिनों लारेंस की पुस्तक, 'अक्ल के सात स्तम्भ' पढ़ कर ख़त्म की थी।

पर नज़दीक आने का क्या रहा इक कारण था? वेद ने शेल्फ़ पर से एक पत्रिका उठा कर उसके पात्रों को सरसरी नज़र से देखते हुये सोचा। उसे याद आया कि जब वह छोटा-सा लड़का था, और स्कूल में नया-नया भरती हुआ था, तो उसकी कक्षा का काला-कलूटा और फुन्सियों मरे चेहरे वाला अध्यापक उसे पाठ पढ़ाने के लिए अपनी मेज़ के पास बुलाया करता था। वह उसे अपने साथ सटा कर खड़ा कर लेता और पाठ पढ़ाता हुआ उसका एक हाथ पकड़ कर मेज़ के नीचे अपनी जांघों के बीच में ले जाता, और कोई सख़्त-सी चीज़ उसे पकड़ने की कोशिश करता। वेद को बहुत घिनौना-सा लगता, पर वह अध्यापक की अवज्ञा नहीं कर सकता था? क्योंकि उसे सिखाया गया था कि अध्यापक माता-पिता के तुल्य होता है।

एक दिन पूरी छुट्टी के बाद अध्यापक बड़ी कक्षाओं के लड़कों के साथ उसे भी सफ़ाई का काम करने के लिए स्कूल की पुरानी इमारत में ले गया था। उन्होंने बड़े शौक ने नक्शे साफ़ किये थे, मिटटी की बनी हुई तरकारियां और फल अलमारियों में सजाये थे। फिर अध्यापक ने बाकी लड़कों को मेज दिया था और कहा था कि वेद को वह खुद उसके घर छोड़ आयेगी। लड़कों के जाते ही उसने वेद से अपने पाजामे में लिंग की मुट्ठियां मरवानी शुरु कर दी थीं। वेद को लगा था कि वह नौकर की तरह उसकी सेवा कर रहा था। अध्यापक कभी झुक कर उसके कपोल को मुंह में लेकर चूसता। उसका फिन्सियों मरा चेहरा वेद को बहुत घिनौना लग रहा था। वह हर बार अपने कपोल को कमीज़ की बाह से रगड़ कर पोछता। एक मौके पर अध्यापक ने अपना हाथ उसकी जांघों पर फेरा था, तो उसे ऐसा स्वाद आया था, जो उसने पहले कभी महसूस नहीं किया था। तब अचानक उसे लगा था कि अध्यापक कोई पाप कर रहा है और साथ ही उससे भी करवा रहा है। सो, वह जोर-जोर से रोने और घर जाने की ज़िक्र करने लगा था कि वह घर जाकर किसी को नहीं बतायेगा।

वेद ने वादा पूरा नहीं किया था और अपने पिता को सब कुछ बता दिया था। अगले दिन उसका पिता और चचा स्कूल जाकर अध्यापक को अपने घर ले आये थे, और उसके मुंह में कपड़ा खौंस कर उसे इतना मारा था कि वह बेहोश हो गया था।

होश आने पर उन्होंने उससे वेद के पांओं पर नाक रगड़वाया था। उसके बाद वह अध्यापक कभी दिखाई नहीं दिया था। वेद को किसी दूसरे स्कूल में दाख़िल करवा दिया गया था। पर उस घटना को वह कभी भूल नहीं सका। उसे याद करके उसे ग्लानि भी होती थी, और मज़ा भी आता था।

कैली की नज़र, सिलविया का धूप में दहक रहा चेहरा, पकी हुई मक्की जैसे उसके बाल, निक्कर में उसकी लड़कों जैसी शक्ल-यह सब चीजें वेद के अन्दर सोई हुई भावनाये जगा रही थीं, इन चीज़ों का जैसे उस घटना से कोई संबंध था। पर कुछ ही देर में वेद को यह ख़याल हास्यास्पद-सा लगा। हां, यह ख़याल उसे फिर आया कि सिलविया जैसी युवती के साथ यारी लगाने की उसे ज़रुर कोशिश करनी चाहिये। जहाज़ पर सभी स्त्रियों के मुकाबले में कही इसका हकदार था। आखिर उसे भी तो सफ़र का मज़ा लेना चाहिये।

लंच के बाद वह फिर चिड़िया को देखने का बहाना करके डेक पर चला गया था। बहुत तेज़ धूप थी। उस समय और कोई नहीं था। सिलविया उसी प्रकार लेटी हुई थी, और चिड़ियां की ओर देख रही थी, जो पंख समेटे अहिल बनी बैठी हुई थी।

‘ए पैनी फ़ॉरयुअर थाटस’, वेद ने मुस्करा कर कहा।

‘यह चिड़िया बिल्कुल मेरी ही तरह है न?’ सिलविया ने खोई हुई हालत में कहा।

वेद के मन में सवाल उठा कि कहीं वह चिड़िया के साथ बाज़ी लगा कर तो नहीं लेटी हुई? चिड़िया की जगह खुद लोगों की नज़रों का केन्द्र तो नहीं बनना चाहती? नहीं, पर इतनी मूर्ख नहीं हो सकती।

‘इस तरह क्यों सोचती हो?’ वेद ने उसके पास बैठते हुये पूछा।

‘मेरी तरह यह भी अपने साथी से बिछड़ी हुई है, और समुद्र पार करके उससे मिलने जा रही है। यह न सोचना कि मैं रोमांटिक हूं।’

‘रोमांटिक न सही, पर सुन्दर तो हो, सिलविया। ऐसे सुनहरे बाल-’

‘सिलविया नहीं, मिस राथ, प्लीज़।’

वेद आगे न बढ़ सका। उसे सूझ नहीं रहा था कि सिलविया के रवैये को कैसे नर्म करे। और उस समय लोग फिर डेक पर आने शुरु हो गये थे।

वेद एक कुर्सी पर लेट कर धूप सेकने लगा। उसने आंखें मूंदी हुई थीं, उसके दहकते दिल में एक ही ख़याल चक्कर लगा रहा था : इस लड़की को जरुर बाहों में लेना है, उसकी सुन्दरता को ज़रुर पीना है। उस सफर में यह ख़याल अब उस का पक्का निशान बन चुका था।

पर वह उस निशाने तक पहुंच न सका। एक तो उसी शाम वह न चाहते हुये भी एक चेकोस्लोवाक स्त्री के चक्कर में जा फंसा, जो अपने दस माह के बच्चे के साथ सफ़र कर रही थी। डेक पर धूमने जाते समय वह बच्चे का पालना बार की खिड़की के पास देती थी, ताकि वह चार्ली की निगरानी में रहे। बहुत ही प्यारा बच्चा था वह, और चार्ली को बहुत अच्छा लगता था। उस शाम जब वह स्त्री डेक पर घूम कर वापस आई, तो वेद बार पर खड़ा चार्ली से गप-शप कर रहा था। स्त्री पालने को उठाने लगी, तो

स्वाभाविक रुप से वेद ने उसकी सहायता करने के लिए आगे बढ़ा। दोनों ने पालने को दोनों ओर से उठाया और कैबिन में ले गये। तब स्त्री ने उसे ड्रिंक पेश किया। वेद को वहां की एकान्त सुखद लगी और उसने सारी शाम वहीं गुज़ार दी। दो-तीन पैग पीने के बाद दोनों को कपड़े उतारने और बिस्तर पर जाने में ज़रा भी संकोच नहीं हुआ।

पर दोस्ती तोड़ना दोस्ती लगाने जितना आसान साबित नहीं हुआ। आखिर वेद ने जब खुद को किसी हद तक स्वतंत्र महसूस किया, तो उसने यह अफ़वाह सुनी कि सिलविया ने उस के कैबिन के साथी वरुण मलिक के साथ नाता जोड़ लिया था।

यह अफ़वाह सच थी। एक समय था जब वेद हमेशा अपने कैबिन से बाहर और उसके साथी कैबिन में दिखाई देते थे।पर अब वरुण की गैरहाज़री खास तौर पर वहां दिखाई देने लगी। वेद उसे देखता तो हैरान बना देखता रह जाता। जहाज़ के यात्रियों ने अगर किसी यात्री का व्यक्तित्व फीका और बेरंग कहा जा सकता था, तो वह वरुण था। कभी किसी ने उसे हंसते-बोलते नहीं देखा था। वह मुहम्मद अनवर का दुमछल्ला बना हुआ था। उस में कोई भी गुण ऐसा नहीं था, जो लोगों का ध्यान उसकी ओर खींचता। देखने में वह न सुन्दर था, न असुन्दर। कद-काठ और रंग में वह बीच के मेल का था। वेद अनवर के साथ तो काफ़ी खुल गया था, पर वरुण के साथ दोस्ती करने की उसे कभी ख़्वाहिश नहीं हुई थी। वह उसे बस मिटटी कामाधो लगता था। भला सिलविया को उस में क्या दिखाई दिया था? हिन्दुस्तानियों के प्रति तो वह खास तौर पर घृणा प्रकट करती थी। आख़िर यह क्या बात बनी?

वेद ने आखिर यह सोच कर खुद को तसल्ली दी कि सिलविया का जो अपना स्तर था, उसी स्तर का उसने प्रेमी ढूंढ़ लिया था। ऐसी लड़कियां ही तो हिन्दुस्तानियों के साथ के चिन्ह डाले किसी-किसी समय वरुण को देख कर वेद के मन में ईर्ष्या उठती और वह अपनी हार की टीस महसूस करता। सिलविया का रुप और गठा हुआ शरीर अभी भी उसे आकर्षित करता था, पर अफसोस करने लायक कोई बात नहीं थी। सफ़र के साथ के लिए उस चेकोस्लोवाक स्त्री की भी अपनी बहार थी। वह उसकी हर ज़रुरत को बड़े सलीके से पूरा करती थी। उसके कैबिन में बैठे हुये वेद को ऐसा लगता जैसे वे पति-पत्नी हों। जहाज़ की ज़िन्दगी ही ऐसी होती है कि वहां हर कोई बच्चों की तरह सिर्फ वर्तमान में ही जीता है, और अपनी खेल को भी असलियत बना लेता है।

अप्रैल का महीना। रोम सागर की खिली हुई धूप। समुद्र का नगीने जैसा रंग। माहौल ही आशकाना था।

अब वेद का बहुत सारा समय आर्थर कैली के साथ भी गुज़रता।कैली के बारे में उसके पहले प्रभाव बहुत ग़लत साबित हुये थे। वास्तव में, पर एक बहुत अच्छा विद्वान, राजनीति का विशेषज्ञ, और गहरे जज़्बों वाला आदमी था। उसके मन में स्त्री का डर बैठा हुआ था। शायद उस डर की बदौलत वह नपुन्सक भी बन गया हो। शायद इसीलिए वह बड़ी-बड़ी मूछें रख कर और बढ़-चढ़ कर बातें करके वह अपनी मर्दानगी का प्रदर्शन करता था। उस रात कुछ ज़्यादा पी लेने और वीरानी का अहसास बढ़ जाने के कारण उसने वह हरकत की थी। आखिर जिब्राल्टर की रोशनियां देखकर उसका भी मानसिक तनाव कुछ ढीला पड़ा था। छोटा-सा, अकेला, बेहथियार जहाज़ अटलांटिक महासागर में

से पनडुब्बियों के ख़तरे से बच कर आ गया था। दो महा युद्धों का अनुभव रखने वाले कैली की नज़र में यह चीज़ कोई छोटी-मोटी ख़ुशी नहीं थी। पर उसे प्रकट करते समय उसने जो हरकत की थी, उसके लिए वह शर्मसार था।

वेद को कैंली के साथ दोस्ती करने में कोई एतराज़ नहीं था, बशर्ते कि बात इससे आगे न बढ़े। वे दिन का काफी हिस्सा लौज में बैठ कर बाते करने में बिताते। कैंली की नज़र में मध्य एशिया की राजनीति की धुरी हिन्दुस्तान था। जैसे ही अंग्रेज़ों की पकड़ हिन्दुस्तान पर ढीली पड़ी, पूरे मध्य एशिया में से उनका बिस्तर गोल हो जायेगा, कैली अरबी, फ़ारसी और संस्कृत जानता था। हिन्दुस्तान की प्राचीन सभ्यता के लिए उसके मन में गहरी इज़्ज़त थी, और उसे उस बात की सख्त शिकायत थी कि अंग्रेज सरकार ने उसका तिरस्कार किया है। अगर ऐसा न होता, तो महात्मा गांधी को कभी इतनी सफलता न मिलती। दूसरे विश्व युद्ध में कमज़ोर हो गये इंग्लैंड को अब हिन्दुस्तान छोड़ना ही पड़ेगा। हो सकता है कि जर्मनी की हार के बाद रुस के प्रभाव को रोकने के लिए जापान और अमरीका सुलह कर लें और एशिया में अपनी धाक जमा लें। इंग्लैंड की दुर्गति करने के लिए अमरीका कुछ भी कर गुज़रेगा। कैली को अमरीका से बेहद नफ़रत थी। ऐसी हालत में सुभाष चन्द्र बोस महात्मा गांधी को फुसला कर अपने बस में कर लेगा। तब अंग्रेज़ों को सिर्फ नेहरु पर ही आशा हो सकती है बशर्ते कि कोई नेहरु जैसा योग्य और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ इंग्लैंड में भी पैदा हो जाये। चर्चिल से यह आशा नहीं की जा सकती। कैली की नज़र से नेहरु जैसा बुद्धिमान राजनीतिज्ञ संसार में और कोई नहीं था।

वेद के मन पर प्रगतिशील विचारधारा और मार्क्सवाद का प्रभाव था। इसलिए कैली का विश्वलेषण उसे फ़रसूदा और शक्तिवादी राजनीति पर आधारित प्रतीत होता था तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति संबंधी सुभाष चन्द्र बोस के कुछ लेखों की याद दिलाता था। काफ़ी ज़्यादा मतभेद होने पर भी वह कैली की बातें बड़े गौर से सुनता था और उसकी बौधिकता, विशाल जानकारी, और बोलने के अन्दाज़ पर अश-अश कर उठता था। अरब देशों की राजनीति संबंधी जानकारी का तो उसके पास खज़ाना भरा हुआ था। इस प्रकार उन दोनों की दोस्ती गहरी होती गई थी।

पोर्ट सईद पहुंचने पर कैली जहाज से उतर गया था। वहां से उसे कहीं और जाना था, इस बारे में तो वेद को पता था, पर कहां और क्या करने, इस बारे में उसने नहीं पूछा, न ही कैली ने बताया। आख़िर जंग का जमाना था। क्या पता, उसे किसी बहुत ही महत्वपूर्ण काम के लिए भेजा जा रहा हो। सिविल सर्विस का रोमांस उसकी आंखों के सामने घूमने लगा। कैली ने कहा था, कि इंग्लैंड हिन्दुस्तान को अपने हाथ से खो चुका है। पर उसे विश्वास नहीं होता था। इतनी आसानी से कौन अपनी हुकूमत छोड़ता है। हिन्दुस्तान पहुंचने पर उसे 'टोडी बच्चा' कह कर बुलाया जायेगा। इसे सहन करने के लिए वह तैयार था। उसके परिवार में ब्रिटिश राज्य को हिन्दुस्तान के लिए हितकारी समझ गया था।

पोर्ट सईद में उसे कैली के बिछड़ने का अफ़सोस तो हुआ ही, साथ ही सफ़र का भी मज़ा जाता रहा। एशियाई ग़रीबी, गलाज़त, और पिछड़ेपन के वे सभी नज़ारे दिखाई देने लगे, जिन्हें कि वह इंग्लैंड में कहते हुए पांच साल तक भूला हुआ था। जहांज के कोयला देने वाली कश्तियों के अरब मजदूर जहां बैठ कर खाते, वहीं टट्टी-पेशाब भी

करते। उनकी हालत पशुओं से भी गई-गुज़री थी। ऐसे लगता था जैसे समाज देवलोक में से पाताल में चला गया हो। वहां वह दो दिन खड़ा रहा। यात्रियों को दिन के समय लांचों में बैठकर शहर जाने, सैर करने और चीज़ें ख़रीदने की आजादी थी। पर वेद का कहीं भी जाने को मन न हुआ। अब वह सफ़र के बाकी हिस्से की ओर से आंखे मूंद लेना चाहता था वह जानता था कि वह सफ़र दिन प्रतिदिन नीरस होता जायेगा। उसका मन यह मानने के लिए ज़िद्द कर रहा था कि पृथ्वी पर सिर्फ़ यूरोप ही मनुष्य के रहने और जीने के लायक है, और वहीं के लोगों को सही अर्थों में मनुष्य कहलाने का हक है। एक बार जब उसके पिता इंग्लैंड में तीन महीने की छुट्टी बिता कर लौटे थे, तो उन्होंने घर की एक-एक चीज़ पर अंगुली रगड़ कर कहना शुरु किया था, 'तीन महीने मैंने कहीं धूल-मिट्टी नहीं देखी। मैं जैसे भूल ही गया था कि वह क्या होती है।' यह सुनकर वेद को बहुत बुरा लगा था और पिता की बातों में हीन भाव की बू आई थी। यह सम्भव नहीं था कि घर पहुंचने पर ऐसी बात उसके मुंह से भी निकलती। पर कई बार वह अपने पिता की तरह सोचने लगता था!

स्वेज़ नहर में दाख़िल होने के बाद गर्मी भी बहुत ज़्यादा हो गई थी। यात्री हिन्दुस्तान पहुंचने तक सो गये थे। अब चर्चा का एक ही विषय था - सिलविया और वरुण का प्यार। और इस चर्चा को तेज़ करने में भिक्षुणियों का बहुत हाथ। सिलविया अब उनके प्रभाव में से निकल चुकी थी। वे जहाज में अफवाहें उड़ाती रहतीं। वेद को उनमें दिलचस्पी नहीं थी। उसकी रातें ज़्यादातर उस चैकोस्लोवाकियाई स्त्री के केबिन में ही गुजरती।

बम्बई पहुंचना एक धमाके की तरह था। गोदी से लगते ही जहाज़ के अन्दर की जिन्दगी बेमौत मर गई। सब दोस्तियां-यारिया, जो सफ़र के दौरान चिरन्तन प्रतीत होने लगी थी, रेत के घरौदों की तरह टूट गई। चेकोस्लोवाकियाई स्त्री अपने पति को देखते ही उसकी बाहों में इस प्रकार खो गई जैसे उसके किसी पराये मर्द की ओर देखना भी कभी गवारा न किया हो। वेद ने डेक पर से सिलविया और उसके पति के मिलने का दृश्य भी देखा, पर दूरी और भीड़ के कारण उसे सिर्फ़ इतना ही पता लग सका कि सिलविया के पति का सिर गंजा था। वरुण उस समय कहीं दिखाई नहीं दिया।

अगली शाम फ्रंटियर मेल के एक एअरकंडीशंड डिब्बे में वेद की वरुण से फिर मुलाकात हो गई। सफर-एजेंसी द्वारा जहाज के यात्रियों की रेल्वे बुकिंग कैबिनों के अनुसार की गई लगती थी। अनवर वरुण को स्टेशन पर छोड़ने आया था। उसे खुद बम्बई में कुछ दिन के लिए रुकना था। वह वरुण की पीठ पर हाथ फेरता हुआ दिलासा दे रहा था, 'मर्द के बच्चे बनो। औरतों के पीछे इस तरह मरना ठीक नहीं है। खूब मज़े लूट चुके हो। यह ख़ुशी मनाने की बात है या रोने-धोने की? देखिये, नारंग साहब, कल से इस सुअर के पीर ने कुछ खाया-पिया तक नहीं है। कसम ख़ुदा की, मैं ऐसे समझा-समझा कर थक गया हूं।'

वरुण की हालत सचमुच बहुत बुरी थी। रो-रोकर उसकी आंखें सूजी हुई थीं। वह अच्छा-ख़ासा मजनू बना हुआ था।

उन्होंने दिल्ली तक एकसाथ सफ़र किया। वरुण पहली रात तो ऊपर के तख़्ते पर अहिल बना लेटा रहा और वेद ने भी उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। पर अगले दिन सुबह वरुण ने उठते ही अपने आप को सम्भाल लिया। दोनों ने मिलकर नाश्ता किया।

'कैसी तबीयत है?' वेद ने पूछा।

'ठीक है।'

'धीरे-धीरे बिल्कुल ठीक हो जायेगी।'

'जी?'

'यह जहाज की यरियां ऐसी ही होती है। इन्हें दिल पर ज़्यादा नहीं लगाना चाहिये।'

'यह उस किस्म की यारी नहीं है, नारंग साहब। हम सारा प्लान बना चुके हैं। छः महीने के अन्दर-अन्दर हम अपने-अपने साथी से तलाक लेकर आजाद हो जायेंगे। सिलविया इंग्लैंड चली जायेगी और वहां हम शादी करेंगे।'

वेद मन ही मन उसकी इस शैखचिलीवाली बात पर हंसा, पर उसने उसका दिल तोड़ना न चाहा।

'कब हुई भी आपकी शादी?'

'लगभग डेढ़ साल पहले।'

'क्या इंग्लैंड में आप बस एक ही साल-?'

'बेविन व्वायेज की ट्रेनिंग बस इतनी ही होती है।'

'पर आपने इतनी जल्दी शादी क्यों करवा ली?'

'मेरी मां ने ज़िद पकड़ ली थी कि शादी किये बिना वह मुझे इंग्लैंड नहीं जाने देगी, क्योंकि वहां जाकर लड़के बिगड़ जाते हैं। बहुत पुराने ख़यालों की है मेरी मां। उसने और भी कई वादे कराये थे मुझसे - मांस नहीं खाऊंगा, डांस नहीं करूंगा ..... वगैरह।'

'फिर इंग्लैड जाने का मज़ा ही क्या है?' वेद ने हंसकर कहा।' क्या आपने वे वादे पूरे किये?'

'बिलकुल।'

'क्या मतलब? आप इंग्लैंड में साल भर इन चीज़ों से बचे रहें?'

'बिल्कुल। मैंने किसी गोरी लड़की की तरफ कभी आंख उठाकर भी नहीं देखा।

'तो फिर यह कैसे हो गया?'

'पता नहीं।'

'क्या आप को अफ़सोस नहीं हो रहा कि तलाक की बात करके अपनी मां का दिल तोड़ेंगे?'

'और कोई चारा नहीं है।'

'आप को अपनी पत्नी से प्यार नहीं है?'

'प्यार क्या होता है। वह मुझे अब पता चला है।'

'लेकिन यह तो आप जानते ही होंगे कि हिन्दुस्तान रीति से शादी करने पर तलाक नहीं हो सकता। आपने पत्नी को छोड़ दिया तो वह क्या करेगी? उसकी सारी ज़िन्दगीबरबाद नहीं हो जायेगी?'

'इस में मैं क्या कर सकता हूँ। कानून मैंने तो नहीं बनाया।'

'देखने में वह कैसी है? क्या बदसूरत है?'

'अच्छी-भली है।'

'पढ़ी-लिखी कहां तक है?'

'मैट्रिक।'

'और आप?'

'बी.एस.सी.।'

'जहाज़ पर आपने बताया था कि इंग्लैंड जाने पहले आप टाटा नगर में काम करते थे। 'किस डिपार्टमेंट में?'

'रोलिंग मिल। पर वह तो यूं ही मेरे चचा ने अप्रेन्टिस लगा लिया था। मुझे, ताकि बेविन-स्कीम में मेरा चुनाव हो सके।

'तो अब क्या करेंगे? क्या वापस टाटा नगर जायेंगे?'

'पता नही।'

कभी-कभी इसी तरह की बाते होती रही। वेद ने वरुण के बारे में काफ़ी सारी जानकारी प्राप्त कर ली। वरुण के पिता हेडमास्टर थे। खयाली तौर पर वे भी बहुत कट्टर और धार्मिक व्यक्ति थे। वरुण बड़ी सख्ती और तंगदस्ती भरे वातावरण में पला था। उसे मदद की सबसे ज़्यादा आशा एक प्रोफ़ेसर से थी, जिसने उसे अंग्रेजी साहित्य का शौक डाला था और वर्डस्वर्थ, शैले, कीटस, शेक्सपियर आदि की कविता के रहस्य। समझाये थे। उसने अपने देश की बढ़िया कविता से अंग्रेज़ी कविता की तुलना करके वरुण के सौन्दर्य बोध का निखारा था, उसके मन में नई भावनाओं को जन्म दिया था। वह प्रोफ़ेसर उसका उस्ताद ही नहीं, उसका परम मित्र भी था।

उसने उसे जल्दी शादी करने से बहुत रोका था। पर वरुण ने इंग्लैंड जाने के चाव से ख़्वाहमख़्वाह खुद को कुर्बानी का बकरा बना दिया था।

वेद को उसकी बातें बचकानी लग रही थीं, और साथ ही उस पर तरस भी आ रहा था। एक छोटे-से शहर में पला वह नौजवान इंग्लैंड में रहने के बाद भी छोटे शहर का ही आदमी लग रहा था। कालेज के एक साधारण प्रोफेसर को ईश्वर के रुप में देख रहा था।

भाग्य का चक्कर कि दो साल के बाद फिर उसकी वरुण से मुलाकात हुई। तब वह खुद सहारनपुर में डिप्टी कलक्टर लगा हुआ था। जेल का मुआयना करते हुये उसने एक बाड़ी में वरुण को फ़र्श पर लेटे हुये देखा। राजनैतिक कैदियों का वार्ड था वह। वे कैदी रशीद-डे वाले प्रदर्शन में पकड़े गये थे। देखते ही दोनो ने एक दूसरे को पहचान लिया। पर वरुण उठा नहीं। वह राजनैतिक अनुशासन का पाबंद था। सो विदेशी सरकार के कर्मचारी को कैसे इज़्ज़त देता? उसने अपने चेहरे के सामने अखबार कर ली थी।

वेद ने उसे जेलर के दफ्तर में मुलाकात के लिए बुलवाया। वहां वे दोनों अकेले ही थे। वरुण बहुत कमज़ोर लग रहा था। उसके चेहरे की हड्डियां निकल आई थीं, कनपटियों के बाल सफेद हो गये थे और आंखों में भी आग और भी तेज़ हो गई थी।

'आप इंग्लैंड वापस नहीं गये? सिलविया से शादी नहीं की?'

'नहीं।'

'क्यों?'

'यह मेरा ज़ाती मामला है,' वरुण ने सख़्ती से कहा।

'और सिलविया? वह कहां है आजकल? क्या मैं घर पूछने की गुस्ताख़ी कर सकता हूँ?'

वरुण कुछ क्षण चुप रहा, जैसे मन में उठ रहे जज़्बों को बड़ी मुश्किल से रोक रहा हो। फिर, उसने कहा, 'इग्लैंड।'

'अपने पारसी पति के साथ?'

'नहीं। उसने तलाक ले लिया है।'

वेद चुप रहा। उसका अनुमान ठीक ही निकला था। जहाज की दोस्ती थी, तो ख़त्म हो गई। वरुण ने आंखें झुकाई हुई थी। उसके चेहरे से प्रकट हो रहा था कि उसके अन्दर का जख़्म अभी तक मरा नहीं था। इस बारे में और पूछना उसने उचित न समझा।

'यहां कोई तकलीफ़ तो नहीं?' आख़िर उसने रस्मी तौर से पूछा।

'जी नहीं।'

'किसी चीज़ की ज़रुरत हो, तो-'

'जी नहीं।'

तब वेद ने हाथ मिला कर उसे विदा किया। हाथ मिलाते समय वह वरुण से आंखें न मिला सका।

वादी में कैल के जंगलों में से गुजर रही हवा की आवाजें सुनाई दे रही थीं। सड़क पर कोई इक्का दुक्का व्यक्ति ही आ-जा रहा था। जंगली गुलाब की हल्की-सी महक की बदौलत धूप नशियाई हुई थी। और सफ़ेद पंखों वाली तिललियां शिमला में जैसे कोई खास जशन मनाने के लिए आई हुई थीं। कैल और देवदार वेद के प्रिय वृक्ष थे। समर हिल की ओर आते हुए जब भी उनकी आलीशान बहुलता कम होने लगती, तो वेद को अफ़सोस होता। और वाइस रीगल लाज की इमारत तो, जिसे अब राष्ट्रपति भवन कहा जाता था, उसे बिल्कुल पसन्द नहीं थी।

उसके निकट पहुंच कर वेद को ख़याल आया कि वह यादों में किस कद्र खोया रहा था। एक कहानी, जो ख़त्म हो जानी चाहिये थी, अभी पूरी नहीं हुई थी। सिलविया की सुन्दरता उसे रह-रहकर बेचैन कर रही थी। कितनी बड़ी तबदीली आई थी उसमें। चेहरे और बाहों पर अब कोई धब्बा नहीं रह गया था। उसका शरीर संगमरमर सा बन गया था। उसके अंग सुडौल बन गये थे। और उनमें स्त्रीत्व झलकने लगा था। कितने चाव से मिली थी, जैसे कोई शिकायत मन में न रह गई हो, और जैसे गुलामों की दुनिया में से निकल कर मालिकों की दुनिया में आ गई हो। इस में कोई शक नहीं कि शाम उसके साथ बहुत बढ़िया गुजरेगी।

और वरुण? क्या उसमें भी जमीन-असमान जितनी तबदीली आ गई होगी? क्या पता। अगर सिलविया इतनी ख़ुश और सन्तुष्ट नज़र आ रही है, तो वह क्यों ख़ुश न होगा। वे अब भी एक दूसरे के प्रेमी थे। इसलिए उनके मामले में किसी किस्म का दख़ल देना बुरी बात होगी। उसने फ़ैसला कर लिया कि सिलविया के बारे में वरुण से कोई सवाल नहीं पूछेगा।

'नमस्कार शाह बादशाह,' सामने से आ रहे एक आदमी ने हाथ जोड़कर और बड़ी नम्रता से झुक कर कहा। उसका लिबास सिर से पांव तक सफ़ेद था - साफ़-सुथरी पगड़ी, चुस्त, सुन्दर शेरवानी, चूडीदार पाजामा, सफ़ेद जुराबें, सफ़ेद फ्लीटके बूट। उसकी मूछें जहांगीरी किस्म की थीं। वह लाहौर से उज़ड कर आया कोई रईस था और शिमला में पक्के पाओं पर खड़ा होने की कोशिश कर रहा था। पर उसका कोई भी निशान ठीक नहीं बैठ रहा था। अफ़सरों के साथ मेल-जोल पैदा करने में वह बहुत होशियार था, पर बनियों वाले पैतरे उसे नहीं आते थे। इसलिए हर बार उसका काम बनते-बनते रह जाता था। वास्तव में, बटवारे ने उसका दिमाग डांवाडोल कर दिया था और असलियत पर उसकी पकड़ ढीली हो गई थी।

'नमस्कार! आप तो हर जगह नज़र आ जाते हैं,' वेद ने कदम रोके बिना कहा।

'ग़ालीचों की नीलामी के बारे में पूछने आया था। शाह बादशाह हुज़ूर के ताबेदार सेवक हैं। हमें भी कोई मौका दीजिये। शिकार पर ले चलता हूं जंगल में। सुना है, आजकल रीछ मिल रहा है।'

'नहीं। कल मैं जा रहा हूं। फिर कभी सही।'

पर रईस टला नहीं और साथ-साथ चलता रहा।

'शाह बादशाह, ग़ालीचे थोक में ख़रीद लेते हैं। नीलामी की क्या जरुरत है।'

'उस काम से मेरा कोई वास्ता नहीं है। मैं जिस काम से आया था, वह हो गया है।'

'तब तो बेफ़िक्री है, शाह बादशाह। शामदास की कुटिया में चरण डालिये। डी०सी०साहब और एस०पी० साहब आ रहे हैं। रुखी-सूखी हाज़र कर दूंगा।'

'बहुत-बहुत मेहरबानी,' वेद ने कहा और छड़ी घुमाता हुआ तेजी से आगे बढ़ गया।

रईस ने जरा भी बुरा नहीं माना। वह फिर उसके सामने आया, सिर झुका कर उसने नमस्कार की और चला गया।

वेद दांत पीस कर रह गया। उसे डी.सी., एस.पी. और अन्य कई अफ़सरों द्वारा होने वाली अंधेरगर्दियों के बारे में सब कुछ पता था। मुसलमानों के घरों में का कीमती से कीमती फ़र्नीचर और दूसरा सामान उन्होंने नकली नीलामियां करवा कर कौड़ियों के मोल बेचा और अपनी जेबें भरी थीं। इस डाकाज़नी के मुकाबले में फ़सादियों द्वारा की गई लूट-मार बहुत साधारण प्रतीत होती थी। पिछले छः साल से यही चक्कर चल रहा था। और कोई इसे रोकने वाला नहीं था। अमन और इन्साफ़ के रखवाले ही उसका गला घोंट रहे थे। बाड़ ही खेत को खा रही थी।

कैली ने कई बातें कितनी सही कहीं थीं। इतिहास में हिन्दुस्तानी चरित्र एक अनोखी और गौरववान चीज़ हैं। इस कथन की पुष्टि के लिए वह सिकन्दर के ज़माने से लेकर शाहजहां के ज़माने तक विदेशों से हिन्दुस्तान में आने वाले यात्रियों की रचनाओं के हवाले देता था। धार्मिक उदारता, खुलदिली, अतिथि-सत्कार, व़फादारी, अपनी आन की ख़ातिर हंसते-हंसते जान तक दे देना - यह हिन्दुस्तानी चरित्र के परम्परागत गुण थे। पर मुनाफ़ाखोर अंग्रेजी हुकूमत ने दो सौ साल के अरसे में इन सभी गुणों को मिटाकर हिन्दुस्तानियों को दलालों की कौम बना कर रख दिया था।' अंगुलियों पर गिने जाने वाले नेताओं को छोड़कर आज़ादी के आन्दोलन के सभी छोटे-बड़े नेताओं को किसी न किसी कीमत पर खरीदा जा सकता है।'

वेद यह बात मानने के लिए हरगिज़ तैयार नहीं था। क्या लाखों स्त्रियों पुरुषों का शांतिपूर्वक लाठियां खाना और जेलों में जाना ऊंचे चरित्र की निशानी नहीं था? इस बात को तो यूरोप के बड़े-बड़े चिन्तकों ने भी स्वीकार किया है। पर कैली जवाब में ऐनक के शीशों में से अपनी नीली आंखों से उसकी ओर देखता रह जाता। एक बार उस ने मुस्करा कर कहा था', कई मौके गवाहों के ख़याल में, लाठी गोली खाने वालों के मुकाबले में भागनेवालों की संख्या ज्यादा होती है।'

वाइस रीगल लाज की ओर देखकर वेद ने सोचा, क्या इसी इमारत में हिन्दुस्तानी लीडरों ने आज़ादी के लिए दलालों की तरह सौदेबाजी नहीं की थी? और बाद में जो कुछ हुआ, क्या उसने सभ्यता और नैतिकता की सभी कद्रो-कीमतों पर पानी नहीं फेर दिया था?

बंटवारे का फ़ैसला होते ही, बंटवारे से कई महीने पहले ही, अंतिम हिंद सरकार ने, जिसके मुखिया उस समय हिन्दुस्तानी खुद थे, उसे बम्बई भेज दिया था- अंग्रेज अफसरों और गैर अफसरों को पूरी सूची तैयार करने के लिए, ताकि हिन्दुस्तान छोड़ने पर उनको ज़रा जितना भी नुकसान हो, और न ही कोई तकलीफ पेश आये। फिर, वहां से उसे मद्रास, कोचीन, और अन्य कई जगहों पर जाना पड़ा था। बंटवारे के छः साल बाद भी इस काम से उसे पूरी तरह छुटकारा नहीं मिला था। अंग्रेजों के बंगलों में टंगी तस्वीरों, बूटों और कंघियों तक को वह पूरी सावधानी से इंग्लैंड भिजवा रहा था। यह सारा काम उसने पूरी दियानतदारी से किया था और सरकार ने रुपया पानी की तरह बहाया था।

पर उसके उलट, मुसलमानों की जायदादों और असामियां के साथ क्या सलूक हुआ था? और वह भी उसी हिन्द सरकार के उच्च अधिकारियों की ओर से। क्या यह हिन्दुस्तानी नैतिकता और चरित्र की पूरी तस्वीर नहीं थी? क्या ग़ुलामाना ज़हनियत का इससे घटिया कोई और सबूत मिल सकता है?

और जो हाल अफ़सरों का था, वही उन खद्दरपोश नेताओं का भी था, जो कल तक अपना सब कुछ कुर्बान करने के वादे कर रहे थे। वेद ने कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि वे नेता इतनी जल्दी आकाश से गिर कर पाताल में गिर पड़ेंगे।

वेद को देखते ही दफ़्तर में चपरासियों, क्लर्कों और छोटे अफसरों में भाग-दौड़ मच गई, जो फ़िज़ूल और बेमतलब थी। सारा काम हो चुका था। अंग्रेज़ों का आखरी सामान बोरियों में सिला हुआ दरबार हाल की शोभा बना हुआ था। बस, मेज पर पड़े कुछ कागज़ों पर हस्ताक्षर करने बाकी थे। फिर यह सारी भाग-दौड़ क्यों? कीड़े-मकोड़े। वेद ने मन में हिकारत से कहा।

हस्ताक्षर करने के बाद वह टहलता हुआ दरबार हाल में गया और बोरियों में बंधी चीज़ों का नज़ारा देखने लगा। वहीं उसने कॉफ़ी और सैंडविच मंगा लिये। उसने महसूस किया कि वह एक ऐतिहासिक नज़ारा देख रहा है। फिर उसने मुंह उठाकर उस गैलरी की ओर देखा, जहां खड़ा होकर वाइसराय नीचे की गैलरियों में खड़े राजा महाराजाओं को दर्शन दिया करता था - हू ब हू वैसे ही, जैसे जहांगीर या शाहजहां अपने मनसबदारों और मुसाहबों को दर्शन दिया करते थे। शान-शौकत में वह इमारत भी किसी तरह कम नहीं थी, अगर फर्क था तो यह कि संगमरमर की जगह लकड़ी इस्तेमाल की गई थी। वैसे, लकड़ी संगमरमर का मुकाबला कैसे कर सकती है? समूचे तौर पर वह सारा दृश्य किसी नाटक के लिये बनाये गये सेट जैसा लग रहा था, जिसे अब समेटा जा रहा हो।

क्या हिन्दुस्तानी आज़ाद होकर सचमुच अपने पांवों पर खड़े हो सकेंगे? वेद ने कॉफ़ी पीते हुए खुद से सवाल किया। अभी तो मुल्क के सिर्फ दो टुकड़े हुये हैं। कहीं और टुकड़े तो नहीं होनेवाले? चाहे कुछ भी कहें, इस इमारत में केन्द्रित एक शक्ति ने उसे जोड़ कर रखा था। क्या सही अर्थों में उसका उत्तराधिकारी बनने का सामर्थ्य किसी अन्दरुनी शक्ति में था?

उसका ध्यान जवाहरलाल नेहरु की ओर गया - उसके अपने कैम्ब्रिज के जवाहरलाल नेहरु की ओर। उन्होंने किसी न किसी तरह देश में अमन कायम कर ही लिया था। राजाओं को भी अपने काबू में कर लिया था। नेहरु बुद्धिमान हैं, दूरदर्शी हैं, ईमानदार हैं। हिन्दुस्तानी चरित्र पर रोने की जरुरत नहीं है। अगर अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तानी चरित्र को कुचल डाला है, तो हमें ब्रिटिश सरकार की अच्छी बातें उधार लेकर काम करना पड़ेगा। इस समय उस जैसे लोगों की नेहरु को जरुरत है। कम से कम उन्हें ख़रीदा तो नहीं जा सकता। कल तक जो सिविल सर्विस देश को गुलाम बनाये रखने का हथियार थी, वही आज आज़ादी के पैर मजबूत करने का विश्वसनीय साधन बन सकती है। पर क्या आज के इस वातावरण में सिविल सर्विस अपना किरदार कायम रख करेगीं?

ख़यालों को वेद ने अपने मन में से निकाल दिया। उसे हैमलेट नहीं बनना। उसे अपने काम से मतलब है, ऐश-आराम से मतलब है।

उसका ध्यान फिर सिलविया की ओर गया, और उसने सोचा कि आज की शाम, शिमले की आखरी शाम बहुत हसीन बनकर गुज़रेगी।

(4)

नीचे की बर्थ लेनेवाले यात्री के खिलाफ़ किसी हद तक नाराज़गी प्रकट करना उचित समझते हुए वरुण ने छत पर का पंखा घुमा कर अपनी ओर कर लिया था। फिर भी, हवा गर्म थी। बर्थ का ऑयल क्लाथ बाहों से चिपकता था। बिस्तर न सही, सिर के नीचे रखने के लिए ही कुछ होता। फ़ाइबर का हैंड बैग, करवट बदलने के बाद, कुछ देर के लिए राहत देता, लेकिन फिर कान के पीछे उभरी हुई हडडी को चुमने लगता। जेहलम में शहतीर ढोने वाला एक कुली उन के घर के सामने जलती दोपहर में सिर के नीचे ईट रख कर गहरी नींद में सो जाया करता था। उसके काले जिस्म पर पसीने की धारायें बहती रहती। सामने, सड़क के उस पार, चचा ख़ुशीराम का टाल था। जहां वह काम किया करता था। शाम को, जब टाल पर से धूप हटती तो वह तीन ईटों को जोड़कर चूल्हा बनाता, आग जलाता, मोटी-मोटी रोटियां पकाता और नकम-मिर्च की चटनी के साथ उन्हें खा जाता। उसे खाते हुये देखकर भूख चमक उठती थी। उस समय वरुण कहीं सब्र, कहीं मन की शांति चाह रहा था।

अगर वह दूसरों की सलाह लेने के बजाय सिर्फ अपने दिल की आवाज़ सुनता, उस पर चलने का पक्का फ़ैसला कर लेता, छः महीने के अन्दर वापस इंग्लैंड चला जाता, सिलव्रिला से शादी कर लेता, तो वहीं सब्र और शांति पा सकता। पर उसे पूरी राहत का अहसास इन्कलाबी कामों में से भी मिला था - वहीं राहत का अहसास, जो उसे सिलविया की बाहों में मिलता था।

एक फूलों भरा, हरा-भरा गुलमोहर का पेड़ उसकी पादों में साकार हो उठा, जो उसने सहारनपुर के केन्द्रीय पुलिस स्टेशन की तीसरी मंज़िल के बरामदे में बैठे हुए देखा था। उसकी फूलों भरी छतरी बरामदे के बराबर आई हुई थी। बरसात हो रही थी। हवा में की ठंडक पलकों को छू रही थी। वह कितना शान्त बना गुलमोहर को देखता रहा था और अपनी पत्नी, प्रकाश को आखरी सलाम देता रहा था।

प्रकाश बच्चाहोने से कुछ दिन पहले सख़्त बीमार हो गई थी। डाक्टरों ने उसकी हालत ख़तरनाक बताई थी। तो घर वालों ने वरुण को पैरोल पर छुड़ाने की कोशिशें की थी। उसके मन में प्रकाश के लिए घृणा और विरक्ति कब की ख़त्म हो चुकी थी और उसकी जगह एक ऐसा पवित्र-सा जज़्बा पैदा हुआ था, जिसे प्यार या उससे भी कोई ऊंची चीज़ कहा जा सकता था। वह उसकी कामरेड थी, इन्कलाब कामों में उसकी साथिन। और जिस दिन से उसे पता लगा था। कि वह उसके बच्चे की मां बनने वाली है, उस का मन उसके प्रति एक आनन्द भरे मोह से भर गया था। वह जेल में उससे मिलने के लिए आई थी। उसका शरीर उसे खिला-खिला-सा, रसीला-रसीला-सा लगा था। जब वह कुर्सी पर बैठ रही थी, जो जर्सी में से उसकी छातियां छलकती हुई प्रतीत हुई थीं। कुछ क्षणों के बाद प्रकाश ने ख़ुद ही उसे असली बात बता दी थी। तब वरुण ने सोचा था, लड़की होगी या लड़का? वह चाहता था कि लड़की हो। उस के लिए नाम भी उसने सोचने शुरु कर दिये थे। तब उसने सिलविया को अपनी यादों में बहुत पीछे

छोड़ दिया था। उसे लग रहा था, ज़िन्दगी जैसे एक छोटी पूर्णता से किसी बड़ी पूर्णता की ओर बढ़ रही हो।

सिलविया के प्रति उसका प्यार एक व्यक्तिगत चीज़ थी, लेकिन देश-प्यार उसके मुकाबले में महान था। अपनी पत्नी के प्रति उसका जो प्यार था, वह उस देश प्यार का एक अंग था, जो उसे देश के लिए कुर्बान करने की प्रेरणा देता था। इंग्लैंड जाने से पहले सगाई कराने के लिए रजामंद हो जाना उसकी कमज़ोरी थी। फिर, शादी केलिए भी उसने हां कर दी थी, चाहे मजबूर होकर ही की थी। अपने फ़ैसलों की सज़ा पत्नी को देना ग़लत था। और अब जब वह ख़ुद उसके साथ कंधा जोड़ कर देश-भक्ति के कामों में जूझने लगी थी, तो वह उसे ज़रा-सा भी दुःख कैसे पहुंचा सकता है? जब देश आज़ाद हो जायेगा, जब देश में आर्थिक बराबरी और इन्साफ़ का युग आ जायेगा, तभी सामाजिक पिछड़ेपन और कुरीतियों को दूर करने का समय आयेगा। उनके बारे में पहले कुछ करना मूर्खता है। पहला काम है, आज़ादी, इन्कलाब। बाकी सब बाद में होगा।

कभी दिल की गहराई में से विद्रोही आवाज भी उठती जो मन में टीस पैदा करती। यह वह समय होता, जब उनके जवान शरीर सम्भोग करते समय आनन्द के शिखिर पर पहुंच जाते। उस समय वरुण जैसे सपने की हालत में से जागता और महसूस करता कि उसके साथ सिलविया नहीं, कोई और है। तब उसे लगता, वह जैसे किसी अंधेरे कुएं में ग़रक होता जा रहा हो। फिर वह ख़ुद को समझाता कि कर्तव्य के बन्धनों में ही सही आज़ादी है। उसी में सच्चा आनन्द भी है, क्योंकि उस में बलिदान की, त्याग़ की भावना है।

जब उसे ख़बर मिली कि प्रकाश को बच्चा होने वाला है और उसे जान का खतरा है, तो वह रात भर बैचेन बना जेल की कोठरी में टहलता रहा था। वह चाहता कि किसी तरह अपनी साथिन के नजदीक हो सके, उसका हाथ पकड़ कर उसे सहारा दे सके। उसे याद आया कि किस तरह उसने प्रकाश को तंग किया था, उसके साथ कैसे-कैसे अन्याय किये थे। आख़िर जब उसे अपनी ग़लती का अहसास हुआ और ठीक रास्ते पर आया, तो प्रकाश ने उसे सब कुछ माफ कर के उसके माता-पिता और अपने माता-पिता को नाराज करके, उसका साथ दिया था। वरुण बार-बार अपने दिल में कहता, भारतीय नारी, तू महान है।

अगले दिन उसे पुलिस-कमिश्नर के दफ़्तर में ले जाया गया था। उसे देखते ही कमिश्नर ने गालियां देनी शुरु कर दी थीं और कहा था कि किसी कांग्रेसी बदमाश को वह सिर्फ़ एक ही शर्त पर पैरोल देने को तैयार है कि वह लिख कर दे कि भविष्य में वह राजनीतिक कामों में हिस्सा नहीं लेगा।

तब वहां खड़ा क्लर्क उसे एक बड़े कमरे में ले गया था, जहां बहुत-से क्लर्क काम कर रहे थे। वे सब उसे हमदर्दी भरी नज़रों से देखने लगे थे, जिससे वरुण को लगा कि उसकी पत्नी की हालत बहुत नाज़ुक है। पहले क्लर्क ने उसे कुर्सी पर बैठाया और कहा, 'आप को पता होना चाहिये कि मेरे जैसों को भी आज़ादी के आन्दोलन से हमदर्दी है, लेकिन हम पेट की मजबूरी की वजह से सरकारी नौकरी कर रहे है। हम आप जैसे

देशभक्तों की दिल से कद्र करते हैं। हम कभी भी आप को गुमराह करने का पाप नहीं कर सकते। मेरी नाचीज़ राय है कि इस वक्त यह लोग जो भी आपसे लिखवाये, लिख दीजिये। बाद में आप कह सकते हैं कि वह इकरार नाम आपकी परेशानी का फ़ायदा उठा कर और आप पर नाजायज़ दबाव डाल कर लिखवाया गया था। इस वक्त आप को जल्दी से जल्दी अस्पताल पहुंचना चाहिये। ज़्यादा सोचने का वक्त नहीं है। देर करेंगे तो बाद में पछताना पड़ेगा।

उस क्लर्क के चेहरे पर सज्ञनता झलकती थी। वरुण उसे कोई जवाब नहीं दे सका था। क्लर्क उसे बांह से पकड़ कर बरामदे में ले गया था और उस बेंच पर बैठा दिया था, जिसके सामने गुलमोहर का पेड़ था। फिर उसने कहा था, यहां बैठकर सोचिये। मैं अभी आता हूं।

गुलमोहर को देखते हुये वरुण के मन में जो हल्की-सी लरज़िश आई थी, वह दूर हो गई थी। कैसी ख़ुशफ़हमी है कि कोई उससे उम्मीद करे कि वह इक़रारनामा लिख कर देगा। तब वह ख़याल ही उसके मन से निकाल दिया था। उसे यकीन था कि उसकी पत्नी बचेगी नहीं। उसने गुलमोहर को साक्षी करके पत्नी को अलविदा कहा था। फिर वह गुलमोहर को एकटक देखता रहा था, जैसे वह उसके अन्दर शक्ति भरता जा रहा हो।

वे क्षण भुलाये नहीं जा सकते थे। वरुण जब भी उन्हें याद करता उसे लगता कि वह मनुष्य की जगह देवता बन गया था। उसे गर्व होता कि उसने ऐसे क्षण भी जिये हैं।

पर उस रास्ते पर अडिग होकर चलने का सन्तोष उस की किस्मत में नहीं लिखा हुआ था।

प्रकाश बच गई थी। उसने बेटी को जन्म दिया था। और उसका अंजना नाम रखा था। वरुण जब जेल से छूटा था, तो अंजना छः महीने की थी। वह पिता की गोद में बैठी उछल-उछल कर दीवार पर रखे फूलों को गमलों की ओर हाथ बढ़ाती और 'फू-फू' करती हुई फूल कहने की कोशिश करती।

और वरुण को जेल से आये हुए दो दिन भी नहीं हुये थे कि सिलविया का पत्र आया था - इंग्लैंड से नहीं, कलकत्ता से। उसने लिखा था : 'मैं तुम्हारे बिना रह नहीं सकती। मैं एक बूढ़े बंगाली लखपति से शादी करके हिन्दुस्तान आ गई हूं। वह लंदन में मुझे मिला था और मुझ पर आशिक हो गया था। उससे शादी करने की बात मुझे तुम्हारे कारण पसन्द आ गई थी। पर यकीन रखो, मैं तुम्हारे पारिवारिक सुख में किसी प्रकार का विघ्न नहीं डालूंगी। तुम कलकत्ते आकर मुझे मिल जाओ। तब विस्तार से सारी बातें बताऊंगी।'

एकाएक वरुण के मन का सारा टिकाव जाता रहा था। ऊंचे आदर्शों का शीश महल डांवाडोल होने लगा था, जैसे घर रेत की बुनियादों पर खड़ा हो। और वरुण को लगा था कि वह उसे गिरने से बचा नहीं सकेगा।

पर वह सम्भल गया था। गांधी जी के त्यागमय जीवन का उदाहरण उसके सामने आया। त्याग भारतीय जीवन दृष्टि और सभ्यता का एक अटूट अंग बना रहा है। क्या

बुद्ध भगवान ने सत्य की खोज में शाही ऐश-आराम का त्याग नहीं किया था। वरुण ने भी तो घोर अन्धकार में भटक कर और बेचैनी की आग में झुलसे जा कर सत्य का प्रकाश देखा था कि शांति अपने आप को मनुष्यता के साथ जोड़ कर, अपने दुःखों को आम लोगों दुःखों में मिलाकर और हक और इन्साफ़ के लिए लड़ कर ही मिल सकती है।

पर वह क्या करता, जब हक और इन्साफ़ के लिए लड़ने वालो ने खुद ग़लत रास्तों पर चलना शुरु कर दिया था, जब अहिंसा का दम मरने वाले कांग्रेसी, मुसलमानों को मारने के लिए पिस्तौल और छुरे इकट्टे करने लगे थे, जब लालकिले में आजाद हिन्द फ़ौज के कैदियों के नारों, रशीद-डे, जहाज़ी बग़ावत आदि की यादें, कागज़ के पुर्ज़ों की तरह हवा में उड़ने लगी थी। उसके दिल पर सब से सख्त चोट तब लगी थी, जब हर ग़द्दार, कम्युनिस्टों को, कांग्रेस की डांवाडोल नैतिकता का फ़ायदा उठा कर उसके आगे-आगे चलते देखता, मुस्लिम लीगियों को गले से लगते और उन्हें शह देते देखता। यह लोग, जिन्होंने सन बयालीस में कांग्रेस को छोड़ कर अंग्रेज सरकार को सहयोग देने का फ़ैसला किया था, आज कांग्रेस और मुस्लिम लीग को एक ही रस्से से बांध कर, दोनों को इकट्टे होने और अंग्रेज़ों से लड़ने का उपदेश देते थे। मक्कारी का इससे बड़ा उदाहरण और क्या होगा।

जेल में एक गदरी बाबा, खेम सिंह उम्र कैद काट कर रिहाई के दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे। वे पक्के कम्युनिस्ट बन चुके थे। जेल के अन्दर ही उन्हें पार्टी का मेम्बर बनाया गया था। बड़े ही मीठे और निर्मल चरित्र के धार्मिक व्यक्ति थे। अंग्रेज जेलर बहुत सख़्त और अहंकारी था, पर बाबाजी की बहुत इज़्ज़त करता था - शायद उनकी दहकती गोरी रंगत, दूधिया सफ़ेद दाढ़ी और अंग्रेज़ों की सी भूरी आंखों के कारण। या शायद उनके कम्युनिस्ट होने के कारण। या शायद सज़ा पूरी भुगत लेने के कारण। उसने उन्हें कई प्रकार की सहूलतें दे रखी थी। उदाहरणार्थ, सबेरे उनकी कोठरी का ताला खोल दिया जाता था। कड़ाके की सर्दी में भी वे नल पर नहाते, और फिर कम्बल ओढ़ कर बड़ी सुरीली आवाज़ में गुरुवाणी का पाठ करते। वरुण को, हल्की-सी नींद की हालत में, उनकी आवाज़ कभी नज़दीक आती और कभी दूर जाती हुई बहुत अच्छी लगती। वह आवाज़ सभी जेलवासियों को अच्छी लगती थी - खासकर फांसी की सजा वाले कैदियों को। वरुण दिन के समय कभी उनके पास जाकर बैठता, तो हमेशा कम्यूनिज़्म के बारे में बाते होने लगती, जिसके बारे में वह आख़िरी दिन तक एक भी शब्द सुनने को तैयार नहीं था। कभी-कभी तो वह बाबाजी की दियानतदारी पर भी शक करने लग जाता था। इतना कट्टरता के दौर में से गुज़र रहा था वह।

मार्च महीने में जेहलम, पिंडी, पूरे पोठोहार में फ़सांद हुये थे। गांवों में हिन्दु-सिक्ख स्त्रियां अपने बच्चे समेत कुओं में छलांग लगा कर मर गई। चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था, जिसमें वरुण को अपनी सुधबुध भूली हुई प्रतीत होती थी। सबसे बड़ी हैरानी यह कि शहर में गिनती के कुछ कम्युनिस्ट, कलाकारों की यूनियन के साथ एक शाम अपनी जानों पर खेल कर फ़सादों को रोकने के लिए रह गये थे। उनमें से तीन मारे गये थे, फिर भी बाकी सब हिन्दु-मुसलमान दोनों के मोहल्लों में जाते थे।

उनके मुकाबले में उसे अपना आपा तुच्छ और कमज़ोर-सा लगने लगा था। उसका आत्मविश्वास टूटने लगा था।

उसने कई हफ़्ते तक सिलविया के पत्र का उत्तर नहीं दिया था। फिर उत्तर देने केबाद वह कई महीनों तक खुद को कलकत्ता जाने से रोकता रहा था। पर आख़िर उससे रहा नहीं गया था। उस तबाही में सिलविया उसका एकमात्र सहारा रह गई थी। प्यार, सिर्फ प्यार जीवन की एक मात्र सत्य एकमात्र कीमती असूल रह गया था। वरुण ने उसके सहारे चलने का फ़ैसला कर लिया था। सिलविया ने उसका प्यार एक ऐसी विश्वनीय सच्चाई थी, जिसे उसने ख़ुद अनुभव किया था।

पर अब फिर धागे उलझ गये थे। गाड़ी उसे हर क्षण सिलविया के नज़दीक लिये जा रही थी। और उस सच्चाई पर से उसका फिर यकीन उठ चुका था। ज़िन्दगी फिर दुविधा की दलदल में फंस गई थी। वह व्यर्थ और निरर्थक प्रतीत हो रही थी। वह कहां ग़लती कर बैठा था? क्या उस ग़लती को सुधारा नहीं जा सकता था? ज़िन्दगी में क्या ठीक है, क्या ग़लत है? यह सोचते हुए उसका मन व्याकुल हो रहा था। और डिब्बे में की गर्मी और उमस के कारण वह व्याकुलता और बढ़ रही थी।

अंधेरे में लालाजी पता नहीं क्यों फिर उठ कर बैठ गये थे। शायद पेशाब करने के लिए उठे हों, लेकिन बर्थ से नीचे उतरते और दोबारा चढ़ने के कष्ट से बचना चाहते हों। या हो सकता है। कि सोडा वाटर वाले लड़के का खयाल हो गया हो और उनकी ज़मीर उन्हें कोस रही हो।

वरुण को याद आया, मरने से दो-तीन दिन पहले उसके पिताजी भी इसी तरह आधी रात के समय बिस्तर पर उठ कर बैठ जाया करते थे। वे चुप बने इधर-उधर देखते रहते थे। फिर उसी प्रकार लेट कर आंखें मूंद लेते थे। वरुण रात भर उनके पास बैठा रहता था। पर उनके जीने या मरने से उसे कोई फर्क नहीं पड़ता था। वह बिल्कुल निर्लिप्त होकर अपना फर्ज पूरा कर रहा था। अपने पिता के प्रति उसे न प्यार था, न नफरत, न इज़्ज़त न हकारत।

देश के बंटवारे से दो महीने पहले का समय था। वरुण के पिता गिरधारी लाल, हमेशा की तरह, शाम को अकेले ही लम्बी सैर के लिए गये थे। उन्होंने दौड़ भी लगाई थी। बेहद गर्मी पड़ रही थी। वे पसीने से भागे हुए दरिया के किनारे ठंडी हवा में टहलने लगे थे। उन्हें नमूनिया हो गया था, और साथ में प्लूरसी भी। इस दिन के अन्दर-अन्दर उनका हृष्ट-पुष्ट रोबदार चेहरा एकदम क्षीण हो गया था।

वरुण की सुबह दो बजे तक जागने की ड्यूटी थी। जागते रहने की कोशिश में वह सिलविया को याद करने लगा था। जहाज़ पर पहली मुलाकात से लेकर बिछड़ने तक वह सारी मुलाकातों को एक-एक करके फिर से जीने लगा था।

जहाज़ को इग्लैंड छोड़े हुये तीन या चार दिन हुये थे। हिन्दुस्तानियों की मंडली लौंज के एक तरफ बैठी हुई थी, जिसमें विभिन्न प्रान्तों के सात-आठ व्यक्ति थे। शराब पानी से भी सस्ती थी। सभी ने बार से बियर के गिलास भर-भर कर लाने शुरु किये थे।

बाकायदा दौर चल पड़ा था - कहानियों का, दंगे चुटकलों का। वरुण को लगा वह जैसे वह शिपों में बैठा हुआ हो। ऐसी बातें उसे बिल्कुल नहीं सुननी चाहिए। पर सुनने में मज़ा भी तो ख़ूब आ रहा था। आख़िर हर्ज भी क्या था? अब वह आज़मायश में से गुज़र चुका था। इंग्लैंड में डेढ़ साल रिहायश के दौरान में उसने मांस, लड़की, शराब किसी को हाथ नहीं लगाया था और मां को दिया हुआ वचन पूरा किया था। तीन चार हफ़्तों में जहाज हिन्दुस्तान पहुंच जाने वाला था। तब किस बात की चिन्ता? बस, एक बार जहाज़ अपने ठिकाने पर सही- सलामत पहुंच जाये। फिर वह अपनी पत्नी की बाहों में होगा।

फिर भी, किसी नीली आंखों, सुनहरी बालों और गुलाबी होठों वाली गोरी को आलिंगन में लिए बगैर इंग्लैंड से वापस लौट आना उसे कभी-कभी बहुत खलता था। यह हसरत पूरी करने का मौका फिर कभी नहीं आयेगा। क्या हिन्दुस्तान पहुंचने पर उसे पछतावा नहीं होगा? क्या उसके दोस्त उस पर हंसेंगे नहीं? ख़ैर, देखा जायेगा। स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गांधी पर भी तो उनके दोस्त हंसे होंगे। रुहानी ख़ुशी से बढ़कर ज़िन्दगी में और कौन-सी ख़ुशी हो सकती है।

कुछ ही देर में वह अपने शराबी साथियों के मज़ाक का केन्द्र बन गया था। उसके कैबिन के साथियों ने ही उस का भंडाफोड़ दिया था। सुनकर सभी आश्चर्यचकित रह गये थे। भला ऐसी अनहोनी कैसे हो सकती है? इंग्लैंड में तो गोरी लड़कियां ख़ुद मर्दों को फंसाती हैं। उनसे बचना मुश्किल ही नहीं, असम्भव है। फिर वरुण जैसा सुन्दर नौजवान उनसे बच कर कैसे आ गया?

मुहम्मद अनवर ने कहा, 'क्या समझा है तुमने मेरे दोस्त को? यह इख़लाक वाले आदमी हैं। तुम क्या जानो इख़लाक क्या होता है।'

'मुझे पढ़ा रहे हो।' एक अधेड़ उम्र के व्यक्ति ने होठों पर ज़बान फिरा कर कहा।' वह देखों, गोरी खड़ी है। अगर यह उसके साथ बात कर के दिखा दे, तो मैं पांच पौंड इनाम दूं।' उसने पांच पौंड का नोट निकाल कर मेज़ पर रख दिया।

वरुण ने उसके बारे में सुना था कि एक बार उसने पांच पौंड के नोट को जला कर अपनी सिगरेट सुलगाई थी।

'शेखी न दिखाइये। जाइये वरुण जी, साली को गुड ईवनिंग कह आइये। मैं इनसे अपनी तरफ से पांच पौंड की शर्त लगाता हूं।'

'तो लग गई,' अधेड़ उम्र के व्यक्ति ने पांच का एक और नोट निकाल कर मेज़ पर रखा।

अनवर ने भी पांच का नोट मेज पर रखा।

वरुण को यह बात बड़ी हास्यास्पद-सी लगी। भला इस में क्या मुश्किल है। अपनी फ़ैक्टरी में, कैंटीन में, दुकानों में वह कई अंग्रेज़ स्त्रियों से बातें कर चुका था। वह उठा और लड़की की ओर चल दिया।

वह लड़की सिलविया थी। उसने अपने सिर पर सुनहरी रंग का रेशमी रुमाल बांधा हुआ था, जैसे कि बच्चों के सिर पर बांधा जाता है। बालों की एक सुनहरी लट रुमाल में से निकल कर उसने कपोल पैर आई हुई थी। देख कर वरुण का दिल धड़का। उसे लगा कि काम इतना आसान नहीं है। पर उसने परवाह नहीं की और आगे बढ़ता गया। पास पहुंचने पर उसका पांव एक कुंडे में अटका तो वह गिरते-गिरते बचा।

'इट्स नथिंग, इट्स नथिंग,' उसने हंस कर कहा। सिलविया उसकी ओर हैरानी से देख रही थी। वरुण ने जैसे सफ़ाई पेश करते हुए कहा, 'यू सी, एक दोस्त से मेरी शर्त लगी है। अगर मैं आपके साथ बाते करके दिखा दूं तो वह मुझे पांच पौंड देगा। उसका खयाल है कि मैं किसी लड़की से बात करने की हिम्मत नहीं कर सकता।'

सिलविया उसी प्रकार उसकी ओर देखती रही थी। आखिर उसने कहा था, 'आर यू ड्रंक?' (क्या तुम ने शराब पी हुई है?)

'नहीं। मैंने तो कभी हाथ भी नहीं लगाया शराब को।'

'तो अब बात कर ली है न मेरे साथ? और शर्त जीत ली है न? अब यहां खड़े-खड़े क्या देख रहे हैं?'

'आप बहुत सुन्दर है। ईश्वर ने आपको बहुत ही सुन्दर बनाया है।' वरुण के मुंह से निकला था।

सिलविया उसकी ओर एकटक देखे जा रही थी, जैसे उसके मुंह से कुछ और सुनना चाहती हो। तभी वरुण का ध्यान उसके चेहरे पर के धब्बों की ओर गया था और उसे लगा था जैसे उसे सुन्दर कह कर उसने कोई ग़लती कर दी हो। तब उसे सुधारने के लिए उसने कहा था, 'क्या मैं आपसे प्यार कर सकता हूं - एक भाई की तरह?'

सिलविया उसी प्रकार देखती रही थी, तो वरुण वापस चला गया था।

अगली सुबह वह सिलविया के मेज़ के पास से सिर झुकाये गुज़र गया था।

कुछ देर केबाद सिलविया लौंज में भिक्षुणियों के बीच में बैठी हुई थी। वरुण वहां से गुज़रा था, तो एक भिक्षुणी ने उसे हैलो कह कर बुलाया था और फिर हिन्दुस्तानी में कहा था, 'टुम इस लड़की को कल बहन बुलाया। आज इसको गुडमार्निंग भी नहीं बोला। यह क्या बाट?'

वरुण ने मांफ़ी मांगी और उन के पास बैठ गया। भिक्षुणी ने सिलविया के बारे में बताते हुए कहाकि उसका एक ही भाई फौज में था, जो हिन्दुस्तान में मारा गया था। लड़ाई से पहले की बात थी वह।

सिलविया उस समय भी वरुण को ऐसे देख रही थी कि उसने वहां से जल्दी से जल्दी उठने की कोशिश की।

कुछ समय केबाद उसे सिलविया की उस नज़र का रहस्य पता लगा था। इतने गहरे काले बाल, इतनी गहरी काली आंखे उसने पहले कभी नहीदेखी थी। और उनमें कितनी सिग्घता थी, इतना आकर्षण था। .....

आख़िर वह रात आई थी, जब धुंध में जिब्राल्टर की रोशनियों का जाल बिछा हुआ दिखाई दिया था। सफर का एक खतरनाक पड़ाव तै हो गया था। सिलविया वरुण के पास आई थी, 'आओ, एक साथ रोशनियां देखे,' उसने कहा था और उसका हाथ पकड़ कर एक तरफ़ ले गई थी। बातों के दौरान में उसने पूछा था, 'तुम हिन्दू लोग तो बचपन में ही शादी कर लेते हो?'

'आजकल ऐसे नहीं होता। मेरी शादी हुई तो अभी दो साल ही हुये हैं।'

'तुन अपनी पत्नी को प्यार करते हो?'

'बहुत।'

'अजीब है।'

'क्यों?'

'मैंने तो सुना है कि तुम्हारे मुल्क में प्यार की ज़रुरत ही नहीं समझी जाती। तुम्हारे माता-पिता ही तुम्हारी शादी कर देते हैं।'

'हां, पर प्यार तो फिर भी हो जाता है।'

'सैमी भी यही कहता है।'

'क्या कहता है?'

'मुझे उससे प्यार नहीं था, पर मैं उसे इन्कार भी तो नहीं कर सकती। उसका इतना एहसान जो मुझ परहै। पर उसने भी यही कहा था कि शादी के बाद प्यार अपने आप हो जाता है।'

'फिर? फिर क्या हुआ?'

'मुझे क्या पता?' सिलविया ने हंस कर कहा।' मैं तो उस के साथ रही ही नहीं। शादी के बाद जल्दी ही उसकी तबदीली हो गई थी बर्मा में। वह रायल एअर फ़ोर्स का अफ़सर है न।'

'तुम एक-दूसरे से कैसे मिले थे?'

'फिर कभी बताऊंगी।'

दोनों कुछ देर चुप बने खड़े रहे। डैक पर और कोई व्यक्ति नहीं था। पानी की हल्की-सी छप-छप के सिवा और कोई आवाज़ सुनाई नहीं दे रही थी। तब सिलविया ने सर्दी के कारण ठिठुरे हुए अपने हाथों को कोट की आस्तीनों में डालते हुए कहा, 'मुझे चूमोगे नहीं?'

'चूमूं .....! पर कैसे हो सकता है?'

'क्यों मेरे भाई बनना है, तो चूमना ही पड़ेगा।'

वरुण ने कहना चाहा कि उसके देश में भाई बहनों को नहीं चूमते, पर वह कह न पाया। तभी उसने अपना मुंह सिलविया के कपोल की ओर बढ़ाया तो सिलविया ने अपने होंठ उसकी ओर बढ़ा दिये। वरुण झिझका, पर पीछे हटने का साहस न कर सका और

सिलविया के होठों से अपने होंठ लगा दिये। बड़ा ही कोमल और बर्फ़-सा ठंडा स्पर्श था वह। भरपूर होठ थे - प्रकाश के होठों की तरह छोटे और पतले नहीं। और सिलविया के बालों में से भीनी-भीनी खुशबू आ रही थी। वरुण होठ हटाने के बजाय प्रतीक्षा करने लगा कि कब सिलविया होंठ हटाती है। पर उसने नहीं हटाये। वे काफ़ी देर तक उसी प्रकार खड़े रहे। बड़ा ही पवित्र था वह पहला चुम्बन, जिसे वरुण कभी नहीं भूल सका।

फिर वे टहलने लगे थे। सिलविया ने उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया था और पूछा था,' ठंड तो नहीं लग रही?'

'नहीं।'

'उन पांच पौंड का क्या किया?'

'कौन से पांच पौंड?'

'जो शर्त में जीते थे।'

'वह-वह मैंने नहीं लिये थे।'

'क्यों?'

'वह तो यूं ही मेरे साथियों ने शराब के नशे में शर्त लगाई थी।'

'तुम बहुत पीते हो?'

'नहीं, मैंने तो शराब को कभी हाथ भी नहीं लगाया।'

'बड़ी अच्छी बात है।'

अगले दिन चहल-पहल रही थी। वरुण किसी सरुर में डूबा हुआ था। दिन का ज़्यादा समय उसने अपने कैबिन में ही लेटे हुये गुज़ार दिया था। वह सोचता कि क्या उसने कोई ग़लत काम तो नहीं किया था। अगर गलत काम किया था तो उसकी आत्मा उसका बोझ क्यों नहीं महसूस करती? चुम्बन का हिन्दुस्तान में न सही, पर अंग्रेज़ों में आम रिवाज है। वह सिलविया से आंख चुराता रहा। एक बार जब उसकी आंखें मिली तो सिलविया ने उसकी ओर किसी पराये व्यक्ति की तरह देखा।

पर आधी रात को, जब वरुण के साथी सो गये, तो वह ड्रेसिंग गाऊन पहन कर ऊपरी डेक पर चला गया। उसने अंधेरे में सारे डेक का चक्कर लगाया। वहां कोई व्यक्ति नजर न आया। तभी सिलविया उसे अपनी ओर आती हुई दिखाई दी और उस की बाहों में समा गई। फिर उसने मुंह ऊपर उठाया था, तो वरुण के होंठ उसके होठों से लग गये थे।

उस रात वरुण को अजीब-सा सपना आया था। कपड़े की दुकान के बाहर किसी चीज में बसन्ती रंग के रेशमी कपड़े की कतरने पड़ी हुई थी। दुकान का मालिक एक सिक्ख व्यक्ति था, जो वहां खड़े अंग्रेजों की एक टोली को कह रहा था,' नो राशन, नो राशन, ख़रीद लो, चाहे उठा ले जाओ।'

तबी वरुण ने आगे बढ़कर उन कतरनों को खाना शुरु कर दिया, जैसे मलाई रबड़ी हो। और फिर उसे ख़याल आया कि सिलविया के भरपूर होंठ उसके मुंह में आते ही

रेशमी करतनों में बदल गये हो। तभी उसे अपनी मां दिखाई दी, वह उसे डांटने लगी, क्या खा रहे हो? निकालो मुंह में से!' पर वह खाता ही रहा। फिर उसे ख़याल आया कि मां नाराज़ हो जायेगी और उसी समय उसकी आंख खुल गई।

जाग आने पर भी वह कतरनों का स्वाद महसूस करता रहा।.....

और फिर वरुण के याद आई उस से अगली मुलाकात। बीमार पिता के सिरहाने बैठा हुआ वह एक-एक याद ताज़ा कर रहा था। सिलविया से दोपहर के समय भिक्षुणियों के साथ बैठी हुई कोई पुस्तक पढ़ रही थी। उसने लाल-सुर्ख स्वेटर पहना हुआ था। कहीं उससे उसे प्यार तो नहीं हो गया? उसने सोचा यार रोमियो-जूलियट जैसा, सोहनी-कहीं वाल या हीर-रांझे जैसा प्यार- रुहानी प्यार (लेकिन सिलविया इतनी सुन्दर तो नहीं थी। प्रकाश उससे कहीं ज़्यादा सुन्दर थी। प्रकाश का कद लम्बा था, जबकि सिलविया दरमयाने कद की थी। उसका जिम्म भी सख्त था, और हाथ कितने खुरदरे थे। और चेहरे पर धब्बे ही धब्बे। पर सिलविया का होठ, आंखे और बाल गजब के थे। यूरोपीय औरतों के बाल भूरे-से क्यों होते हैं, आंखें नीली क्यों होती हैं? सिलविया की आंखे तो बहुत ही नीली थीं - काश्मीर की नीली झीलों जैसी, जिनमें पहाड़ी की छायायें पड़ती है।

उस रात ऊपरी डेक पर और लोग भी थे। सिलविया उसे एक कोने में ले गई थी- रस्सो से टंगी हुई एक लाइफ़-बोट के पीछे। उसे यह अच्छा लगा था। छिपा कर रखने लायक प्यार जो था; दोनों शादीशुदा थे। जंगले के साथ लग कर वे लहरों को देखने लगे थे। फिर, वरुण ने बिना कुछ कहे सिलविया को कंधों से पकड़ कर अपने सीने से लगा लिया था और उसने नीचे के होंठ को अपने होठों में लेकर उसे छोड़ना भूल गया था। वह साहस उसमें पता नहीं कैसे आ गया था। आख़िर वह उस कौम की लड़की थी, जो उसने देश पर शासन कर रही थी। फिर, उसने उसके बालों को फ्लोसना शुरु कर दिया था और उसके कपोल से अपना कपोल लगा दिया था। यह आनन्द भी अपूर्व था। दोनों चेहरे धीरे-धीरे गर्म होने लगे। वरुण को लगा जैसे वह अपने विचारों में से निकल कर कहीं दूर चला गया हो। उस आलिंगन और चुम्बनों में अगर वासना का अभाव नहीं था, तो वह उसका कोई बड़ा पवित्र रुप था। दो आत्मायें एक दूसरे को पहचान रही थीं और एक दूसरी पर हैरान हो रही थीं कि क्या ऐसा प्यार गुनाह हो सकता है।

आखिर सिलविया ने उसकी बाहों में से अपने आपको छुड़ाया और दस्ताने पहनती हुई फिर लहरों की ओर देखने लगी, जो जहाज़ से टकराती हुई फुलझड़ी की तरह चिन्गारे छोड़ रही थीं।

'आई लव यू।'

'आई लव यू!' वरुण ने जवाब में कहा। पर उसके मन ने कहा कि वह झूठ बोल रहा है। उसने तो बम्बई पहुंचते ही सिलविया से पीछा छुड़ा लेने का फ़ैसला किया हुआ था।

'वरुण!'

वरुण चौका।' 'जी, पिताजी!'

'मेरे ऊपर कम्बल डाल दो।'

वरुण को अपनी लापरवाही पर अफ़सोस हुआ। उसे ख़याल रखना चाहिये था। जेहलम में दिन के वक्त चाहे कितनी भी गर्मी हो, आधी रात को ज़रुर ठंड हो जाती थी। उसने घड़ी देखी, अढ़ाई बजने वाले थे। दवाई देने का समय भी हो गया था।

'टेम्प्रेचर ले लूं, पिताजी?'

'ले लो।'

वरुण ने थर्मामीटर उनके मुंह में लगाया। जब निकाल कर देखा तो १०१° बुख़ार था। कल रात उस समय १०२° था।

आपका बुखार घट रहा है, पिताजी। डाक्टर ने कहा था कि अगर बुख़ार घट गया तो एक दो दिन में ही उतर जायेगा।'

'इतनी जल्दी खलासी नहीं होने वाली,' पिताजी ने जैसे ख़ुद से कहा, और पेशाब करने के लिए उठे। कमोड कमरे के कोने में रखा हुआ था।

कभी हां तो मुंह से निकलेगी नहीं, वरुण ने खीझकर मन ही मन में कहा। उसे क्या पता था कि उसके पिताजी ठीक कह रहे थे और बिस्तर से उठकर आख़िरी बार चले थे। जंब वे लौट कर आये तो उसने उन्हें दवाई पिलायी और उनका माथा दबाने लगा। कमरे में बेन्ज़ीन की गन्ध बढ़ती जा रही थी। वरुण को नींद-सी आने लगी। उसने चाहा कि उन प्यार भरे दिनों की यादों को फिर से साकार करे। वह सोना नहीं चाहता था। पर फिर वह ऊंघने लगा।

दूर गीदड़ों के चीखने की आवाज़ें आ रही थी। फिर, ऐसे लगा जैसे ढोल बज रहा हो। नहीं, शायद गाड़ी की आवाज़ थी। ढोल भी बजेंगे, एक दिन जेहलम में भी ढोल बजेंगे। उसने मन में कहा। जैसे दूर पिंडी तक गांवों में बजे थे। ख़ून की नदियां बहेंगी। शहर में दिन प्रतिदिन दहशत बढ़ती जा रही है। खान अब्दुल कादर चाहे लाख डींगें मारे, इस बार तो वह उनके मुहल्ले में भी अमन कायम नहीं रख सकेगा। दहशत बढ़ती जा रही है। सड़क पार करके बुआ के घर को जाने वाली गली में दिन के वक्त भी पांव रखते हुए डर लगता है। नयी ताकतें उभर रही है, जिन पर ख़ान अब्दुल कादर और उनके बचपन के दोस्त, उसके पिता, मास्टर देशराज का कोई काबू नहीं था। उन दोनों ने मिलकर अपने मोहल्ले में शांति का ही नहीं बल्कि प्यार का वातावरण कायम किया था। और अब तो उसके पिता बीमार पड़े हुए हैं। सब जल कर राख हो जायेगा। कितना अच्छा हो, अगर सब कुछ ही जल करराख हो जाये। तभी उसे सहगल का गाना सुनाई दिया :

उठ, और उठ कर आग लगा दे
फूंक दे पिंजरा पंख जला दे
राख यह तेरी उड़कर पंछी
पहुंचे उनके पास ....

गाड़ी किसी स्टेशन पर खड़ी हुई थी और फिर जैसे चलना भूल गयी थी। कहीं अम्बाला तो नहीं पहुंच गयी? वरुण ने वर्थ पर करवट बदली। उसकी कमीज़ पसीने से भीगी हुई थी और वर्थ के आयल क्लाथ से चिपकी हुई थी। उसने घड़ी देखी। पौने एक बजा था। अभी अम्बाला कहां? सिलविया शिमले की ठंडी फिजा में आराम से सोयी हुई होगी। किसी तरह उसे भी सो जाना चाहिये। नींद आ जाये थोड़ी देर तो अच्छा है।

कल रात बैठक में रेडियो बज रहा था। वरुण व्हिस्की के गिलास में से चुस्कियां लेता हुआ स्तालिन की किताब पढ़ रहा था : 'रुस की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास।' प्रकाश अपनी सहेलियों के साथ ताश खेल रही थी। अचानक रेडियो पर सहगल का यही गीत बजने लगा था। वरुण की नज़र किताब पर से हट कर व्हिस्की के गिलास की ओर गयी थी और उसने एक लम्बा ठंडा सांस लिया था। तभी उसने प्रकाश को अपनी ओर घूरते हुए पाया था। फिर वह कमरे में से निकल कर सोने वाले कमरे में चली गयी थी, और उसे हिस्टीरिये का दौरा पड़ा था। उसके हाथ पांव ठंडे पड़ गये थे और शरीर कांपने लगा था। उसे जैसे पता लग गया था कि वरुण को सिलविया का ख़त आने वाला है और वे आपस में मिलने वाले हैं। यही हिस्टीरिये का कारण था। जिस बात का अभी वरुण को भी ज्ञान नहीं था, उसका प्रकाश को कैसे पता लग गया था? इस रहस्य को वरुण समझ नहीं पा रहा था। उसे उस पर तरस आया था। साथ ही गुस्सा भी आया था। दोनों ने ठंडा-सा, रोगियों जैसा संभोग किया था। उनका प्यार निर्जीव-सा बन गया था। कभी उसमें कितनी गर्मी थी। लेकिन अब ठंडा हो गया था।

यही बात तब हुई थी जब उसे ज़िन्दगी में पहला ख़त आया था। तब भी ऐसे ही सख़्त गर्मी के दिन थे। उसके इंग्लैंड से लौटने की खुशियों का दौर घर में अभी भी चल रहा था। रात को मकान की छत पर सोये हुए सपना आया था कि डाकिया उसके घर के सामने लगे लेटर-बाक्स में खत डाल रहा है। वह सिलविया का खत था। उसकी सारी बेचैनी दूर हो गयी थी। वह किसी सरुर की हालत में सो गया था। सुबह धूप चमकने लगी थी, लेकिन वह अभी तक चद्दर ओढ़े सो रहा था। उठने पर उसे विश्वास था कि ख़त जरुर आयेगा। और वह इस ताक में था कि लेटर-बाक्स में डालने से पहले ही खत डाकिये से ले ले। आखिर ऐसा ही हुआ था। ख़त पर सिलविया की लिखावट वह झट पहचान गया था। उससे ऊपर उसी का ख़त था। बाकी ख़त उसने लेटर-बाक्स में डाल दिये थे।

डाक्टर के इंजैक्शन देने के बाद प्रकाश के जिस्म में गर्मी आयी थी। और फिर उसे नींद आ गयी थी। वरुण साथ वाले पलंग पर लेटा हुआ था। छत का पंखा पुरी रफ़्तार से चल रहा था। आधी रात के समय प्रकाश ने कहा था कि उसे सर्दी लग रही है। वरुण अपने जिस्म की गर्मी देने के लिए उसके साथ लेट गया था। वह जानता था कि प्रकाश उस पर अपना अधिकार जताना चाहती थी।

दफ्तर में जाने पर वरुण को सिलविया की तार मिली थी। सिलविया मानो उसका दुःख जानती थी। और उसे सहारा देना चाहती थी। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, वरुण का शरीर और मन सिलविया के लिए अधीर होता रहा था। उसके लिए एक-एक पल बिताना मुश्किल हो गया था।

घर लौटने पर उसका माथा तप रहा था और गला खुश्क हो रहा था। वह समझ नहीं पा रहा था कि प्रकाश के सामने कैसे जायेगा। कार में से उतर कर वह कोठी में दाखिल हुआ। फिर वह ड्राइंग रुम और अपने कमरे में गया। प्रकाश कहीं नज़र न आयी। वह अलमारी खोलकर अपना सामान बांधने लग गया। तभी मां आयी।

'कहीं बाहर जा रहे हो, बेटा?' उसने दरवाज़े में खड़ी होकर पूछा।

'हां, मांजी, तीन चार दिन के लिए।'....... प्रकाश कहां है?'

'वह तो सुबह की गयी हुई है अपने भाई के यहां। अभी तक लौटी नहीं है।'

'तो उसे कह देना।'

मां आकर चारपाई पर बैठ गयी। 'बेटा, एक बात कहूं?'

'बोलो।'

'बेटा, बच्ची को स्कूल से मंगा लो। उसे घर में अपने पास रखो। ही एक फूल सी लड़की है तुम्हारी। घर में खेलेगी, रौनक रहेगी। प्रकाश का दिल भी लगेगा। कौन मां है जो अपनी छः साल की बेटी को पराये हाथों में पालना चाहेगी। प्रकाश को दौरे इसीलिए पड़ते हैं। तुम बच्ची को मंगा लो। मेरी बात मानो, बेटा।'

'प्रकाश क़ो कहना कि अगर मंगाना चाहती है तो मंगा ले। उसी ने भेजा था उसे। मैं उसे रोकता हूं क्या?'

मां कुछ देर चुप रही। फिर उसने कहा, 'वह ज़िद्दी हो गयी है, तो तुम ही थोड़ा झुक जाओ। पहले तो ऐसी ज़िद्द नहीं करती थी। पता नहीं अब क्या बात है।'

'अच्छा, मांजी, फिर बात करेंगे इस बारे में। मैं क्लब जा रहा हूं। वहां से सीधा स्टेशन चला जाऊंगा। प्रकाश को बता देना।'

'पता नहीं, रात आयेगी भी या नहीं। तुम उसे फ़ोन कर दो बेटा। हाल-चाल पूछ लो।'

'हाल-चाल ठीक है उसका। मेरा ही ठीक नहीं है।

मां कुछ नहीं बोली। वरुण जानता था कि वह उससे डरती है। अब वह शराब भी पीता था। मांस भी खाता था, घर में पार्टियां भी करता था। मां को सब कुछ कबूल था, क्योंकि अब वह कमाने वाला बेटा था। उसके पास कार थी, वर्दी वाला ड्राइवर था, हर तरह का ऐश-आराम था। यह सब कुछ देखकर मां ने अपने विचार लिये थे। आख़िर वह खुद क्या थी? एक मामूली हेड मास्टर की पत्नी। उसका बेटा तो कारख़ाने का मालिक था और उसकी हज़ारों की आमदनी थी।

नहीं-नही, यह सब उसे नहीं सोचना चाहिये। इसी को भुलाने के लिए तो वह शिमला जा रहा है - ज़िन्दगी की सारी तलखियों को भुलाने के लिए। अब वह अपनी सच्चाई से दगा नहीं करेगा।

किस अजीब और हैरत भरी रफ़्तार से चली थी पर सच्चाई।

जब तक जहाज भूमध्य सागर में रहा था, वे एक दूसरे के शरीर और आत्मा को जैसे टटोलते रहे थे, पहचानते रहे थे। सिलविया धीरे-धीरे उसके अन्दर समा रही थी।

जब भी वह उसके पास आती, उसकी बांहों में समा जाती। वह हर बार नयी सुन्दरता लेकर आती- भूमध्य सागर की नीलिमा का, पहाड़ी द्वीपों का, सुनहरी धूप और ठंडी-ठंडी हवा का। दुनिया कितनी हसीन थी।

एक दिन जहाज़ के एक अफसर ने उन्हें एक दूसरे की बाहों में देखा तो आहट पाकर सिलविया ने झट अपना चेहरा कोट में छिपा लिया। अफ़सर ज़ोर से हंस पड़ा। फिर उसने कहा, 'कम आन, लव-बर्ड्स, मेरे केबिन में आओ और एक ड्रिंक पिओ मेरे साथ।'

वे उठ कर बैठ गये और उन्होंने देखा कि वे उस अफ़सर के कैबिन के दरवाज़े से सामने लेटे हुए थे।

शराब का गिलास हाथ में लेते ही सिलविया हैरान होकर अफसर की ओर देखने लगी। और उसके मुंह से निकला, 'क्या आप मिस्टर डिक मैलिट नहीं है?'

'हां। क्या तुम मुझे जानती हो?' अफ़सर ने कहा।

'मेरी मां आपके घर में काम किया करती थी।'

'क्या काम?'

'साफ़ सफ़ाई करने का।'

'ओह, अब मुझे याद आया। असल में, मैं ज़्यादातर घर से बाहर रहता था। वैल, चियर्ज।'

'चियर्ज़।'

सिलविया की आंखों के सामने अपनी मां का तलख़, चमचमाया हुआ चेहरा आया, जब उस आख़िरी रात को वह घर में बिना मतलब के बड़-बड़ करती हुई इधर-उधर घूम रही थी और उससे कोई भी काम नहीं हो रहा था। उसे यकीन था कि उस रात जर्मन हवाई जहाज़ बमबारी करेंगे। हर चीज़ का अंधेरा पहलू देखने की उसकी आदत बन गयी थी।

सिडवार्टन कस्बा हवाई अड्डे के नजदीक था। पहले भी एक दो बार जर्मन वहां बमबारी कर गये थे। सिलविया की मां अंगीठी पर पड़ी अपने बेटे की फ़ोटो की ओर गयी थी, जो पिछले साल उत्तरी अफ़्रीका में मारा गया था, और रोती हुई लड़ाई छेड़ने वालों को गालियां देने लगी थी - वे जो ग़रीबों को लूटते भी हैं। मरवाते भी है, और उनके लहू से मुनाफा कमाते हैं। उस दिन मां ने कुछ खाया-पिया नहीं था। और नहीं अगले दिन कुछ बनाया था। वह उसी हालत में काम पर चली गयी थी।

सिलविया हवाई अड्डे की एक कैन्टीन में काम करती थी, जिसे एक ठेकेदार चलाता था। वहां उसे साफ़-सफ़ाई का काम करना पड़ता था। उस दिन शाम को घर आते समय वह बाजार से मछली और चिप्स ले आयी थी। मां पहले से आयी हुई थी। बैठक में अंगीठी के सामने बैठा हुआ उसका पिता, जो मैलिट की ज़मीन पर काम करता था, पिछले हफ़्ते का समाचार पत्र, 'न्यूज आफ द वर्ल्ड' पढ़ रहा था।

जैसा कि मां ने कहा था, उस रात सायरन बजे थे, और तोपों के धमाकों से उनके मकान की दीवारे कांपने लगी थीं। गैस बुझ गयी थी। मां टार्च हाथ में लिये, सीढ़ियों में खड़ी, ऊपर के कमरे की किरायेदार लड़की और उसके पिता को शेल्टर में चलने के लिए चीख़-चीख़ कर पुकार रही थी। शेल्टर उतना ही हास्यास्पद था। जितना उसका वह मकान। मकान के पिछली तरफ़ बस एक गडढा-सा खोद कर वह शेल्टर बनाया हुआ था। वह गीला, ठंडा और अंधेरा था। उसमें बैठने के ख़याल से डर लगता था। मां के बार-बार कहने पर भी कोई उस शेल्टर में जाने को तैयार नहीं हो रहा था। तभी मां के नकली दांत और सिर के सफ़ेद बाल टार्च की रोशनी में चमके थे और फिर सब ख़त्म हो गया था।

'इस बार में सिडवार्टन जाना चाहता था, पर नहीं जा सका। घर में सब कुशल है न?' डिक मैलिट पूछ रहा था।

'आपके घर में सब कुशल हैं। हमारे घर पर बम गिरा था। मेरे माता-पिता दोनों मारे गये थे।'

'ओह, मुझे बहुत अफ़सोस है।'

वरुण सिलविया की ओर देखता रह गया था।

'जैरी (जर्मनी) का अब खात्मा समझो। बात अपने तक ही रखना। दूसरा मोर्चा खुलने ही वाला है,' डिक ने बात बदलने के इरादे से कहा। 'मेरे पास बहुत बढ़िया अमरीकन काफ़ी है। पीकर स्वाद आ जायेगा। बनाऊं तुम्हारे लिए एक एक कप? मिनटों में बन जायेगी।'

'नहीं,' सिलविया ने कहा। 'अब हम चलते हैं।'

'अभी? अभी तो हमारा एक दूसरे से परिचय भी नहीं हुआ है। तुम मेरे बारे में तो जानती हो? पर तुम कौन हो यह कौन हैं?'

'मेरा नाम सिलविया है। और इनका वरुण।'

'मुझे लगता है कि मैंने तुम्हें देखा हुआ है। पर तब तुम शायद इत्ती-सी थीं।' डिक जोर से हंसा।' मैंने तुम दोनों को पहले भी रात के अंधेरे में जहाज़ का मुआयना करते हुए देखा है। जंग का ज़माना है, कहीं किसी को शक न हो जाये कि तुम दुश्मन के जासूस हो।' वह फिर ज़ोर से हंसा।' मैं जहाज़ का कैप्टन नहीं हूं, सो मेरे केबिन में कौन सी गुप्त बात होगी। और सिलविया मेरे गांव की बहन है। मेरे केबिन के दरवाज़े तुम्हारे लिए हमेशा खुले रहेंगे। अगले सोमवार तक शाम के चार बजे से रात के बारह बजे तक मेरी ड्यूटी है।' उसने वरुण की ओर देख आंख मारी।' मैं देख चुका हूं कि तुम्हारा प्यार भी एक जरह की जंगी राज़ ही है। उसे गुप्त रखने में मदद करना मेरा भी फर्ज़ है।

सिलविया और वरुण मुस्कराये बिना न रह सके। और उसका धन्यवाद करके चले गये।

'बहुत अच्छा आदमी है,' वरुण ने कहा।

'ऊहूं, ज़रा भी नहीं। वह सिर्फ़ अपनी बढ़ाई का दिखावा कर रहा था। तुम नहीं जानते इन लोगों को। यह मालिक वर्ग के लोग हैं। मेरे पिता इनसे नफ़रत किया करते थे।'

वे बांह में बांह डाल कर टहलने लगे। बायें हाथ आधा चांद डूबने की तैयारी कर रहा था।

'कितना अच्छा है कि तुम मेरे पास हो, वरना ऐसे लगता जैसे मैं फिर सड़कों पर लावारिस बनी भटक रही हूं।

'मैं तुम्हें कभी अकेले नहीं छोड़ूंगा।'

'चलों, अन्दर चल कर बैंठे। यहां हवा बहुत तेज़ है। मैं तुम्हे सब कुछ बताना चाहती हूं।'

वरुण ने उसके माथे और बालों को चूमा।' फिर कभी सही। क्यों ग़मों को याद करती हो।'

सिलविया ने उसका हाथ पकड़ कर घोंटा।' एक ही बम से हमारी तरफ़ के सारे के सारे मकान मिट्टी में मिल गये थे। मेरी मां को अपनी मौत के बारे में चौबीस घंटे पहले ही पता लग गया था। मैं पता नहीं कैसे बच गयी। होश आने पर मैं अस्पताल में थी। मेरे हाथ-पांवों और चेहरे पर पट्टियां बंधी हुई थीं। मैं चीखती चिल्लाती थी। नर्सें आकर मुझे चुप कराती थीं।

'उन्हीं दिनों सैमी-मेरा पति-वार्ड में से गुज़रा था। उसने अपनी एअर फ़ोर्स की वर्दी पहनी हुई थी। और उसने मुझे पहचान लिया था। मैं तो उसे कई बार देख चुकी थी- गांव में सायकल चलाते हुए। कैन्टीन में भी। मेरे पास आकर उसने कहा, 'क्या तुम वह लड़की नहीं, जो हमारी कैन्टीन में काम करती हो?'

यह शब्द उसने इतनी हमदर्दी से कहे थे कि मैं अपने आंसू नहीं रोक सकी थी। फिर, उसने मेरी इतनी देख-भाल की थी कि मैं उसकी मेहरबानियों से लद गयी थी। अस्पताल में भी और बाद में भी उसने मुझे सम्माल लिया था। और मैं भी उसकी मेहरबानियां कबूल करती गयी। मेरा कोई और संसार में नहीं था न। एअर फ़ोर्स में सैमी की बहुत इज़्ज़त थी। उसने मुझे वहां काम दिलाया, मेरी रिहायश का इन्तज़ाम किया। मेरे न न करने पर भी उसने मुझ पर बेहद पैसा खर्च किया। आखिर जब उसने मुझसे शादी करने की तजवीज़ पेश की तो मैं इन्कार न कर सकी। हालांकि मुझे उससे प्यार नहीं था। मुझे तो उसकी शक्ल, कद-काठ कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। और फिर वह विदेशी था। पर उसने मुझे समझाया कि जहां एक दूसरे के लिए हमदर्दी हो, वहां प्यार अपने आप हो ज़ाता है। मुझे उसकी हर बात पर यकीन हो रहा था।'

तभी उसे लगा था कि सैमी की तारीफ़ वरुण को अच्छी नहीं लग रही है। सो, उसने कहा था, 'लेकिन डार्लिंग, यकीन करो, मैं तुम्हारी हूं। हिन्दुस्तान पहुंचते ही मैं उससे नाता तोड़ लूंगी। वह मुझे बार-बार समझाता था कि वह हिन्दुस्तानी नहीं, पारसी है, क्योंकि मुझे हिन्दुस्तानियों से नफ़रत थी। तब नफरत थी, लेकिन अब मैं उन्हें प्यार करती हूँ। तुम कितने सुन्दर हो वरुण! तुम्हारी आंखें, तुम्हारे बाल - इन जैसी सुन्दर चीज़ संसार में और कोई नहीं हो सकती।'

'यही बात मैं तुम्हारी आंखों और बालों के बारे में कहता हूँ।'

'आओं, हम अपनी आंखों और बालों को एक दूसरे में मिला दें।' सिलविया उससे लिपट गयी थी।' सैमी कहता था कि वह राजकुमार है। क्या तुम भी राजकुमार हो, वरुण?'

'नहीं, मैं एक स्कूल के हेड मास्टर का बेटा हूँ। और मैंने किसी पारसी महराजे या राजकुमार के बारे में नहीं सुना है। सैमी ने तुम से मज़ाक किया होगा।'

'नहीं, उसने बड़ी संजीदगी से कहा था।'

'नहीं, ईश्वर की कसम, बिल्कुल नहीं। मुझे वह अच्छा लगा था - इन्सान के तौर पर फ़रिश्ता। मुझे लगा था कि वह सारी उम्र मेरी रक्षा करेगा, मुझे हर तकलीफ़ से बचायेगा।'

'तो फिर वह तुम्हें छोड़ क्यों गया?'

'कौन कहता है कि छोड़ गया मुझे अस्पताल से छूटे अभी महीना भी नहीं हुआ था कि उसका बरमा - फ्रंट पर तबादला हो गया था। इसीलिए तो हमने शादी करने में इतनी जल्दी की थी। अगर वह धोरेबाज़ होता तो शादी किये बिना ही जा सकता था। जा सकता था न?'

'हां।'

'बाकायदा गिरजे में जाकर शादी हुई थी हमारी। हमारे गांव के जाहिल लोगों ने काफ़ी नाक-भौं चढ़ाया था, पर पादरी ने यह कह कर सब को ठंडा कर दिया था -' मैं अपनी इस बच्ची को मुबारकबाद देता हूँ, जिसने सीमित विचारों से ऊपर उठ कर ब्रिटिश साम्राज्य के, जो एक परिवार की तरह है, रक्षा करने वाले एक बहादुर को अपना जीवन-साथी बनाने का फैसला किया है।' उस शाम सैमी के दोस्तों ने हमें बहुत बढ़िया दावत दी थी।'

'सब कहां है सैमी?'

'बाम्बे। उसने एअर फ़ोर्स से इस्तीफा दे दिया है, जो मन्जूर हो चुका था। यही तो हमारी योजना थी कि वह एअर फोर्स की नौकरी छोड़ कर अपना टापू पर चला जाये और फिर मुझे बुला ले। उसने वहीं किया है। मेरे पास उसके पत्र हैं। देखना चाहो तो दिखा सकती हूँ।'

'तब तो शक वाली बात ही नहीं है। बड़ी खुश रहोगी तुम उसके पास।' अंतिम वाक्य सुनकर सिलविया की आंखें छलक उठीं और वह उस के कंधे से सिर लगाकर रोने लगी।

सीढ़ियों में आहट हुई। कोई ऊपर आ रहा था। सिलविया और वरुण सम्भल गये। एक भिक्षुणी ऊपर आई।

'ओह, तुम यहां हो। हमने तो सारा जहाज़ ढूंढ मारा है। सिलविया, माई डियर, क्या बात है, तुम सोई क्यों नहीं?' भिक्षुणी ने कहा।

'इन्हें अपने माता-पिता याद आ रहे थे,' वरुण ने कहा।

'बेचारी।' भिक्षुणी ने कहा और सिलविया की पीठ पर हाथ फेरने लगी। फिर उसने वरुण से कहा, 'आप मिस्टर आहुजा हैं न? मुझे बड़ी खुशी हुई आपसे मिल कर। सिलविया मुझसे आपके बारे में पूछ रही थी। मैंने कहा था कि आप बड़े शरीफ़ आदमी लगते हैं। मुझे हिन्दुस्तानियों के प्रति कोई द्वेष नहीं है। सभी एक से तो नहीं होते।'

वरुण चुप रहा।

'अब तुम सोने के लिए मेरे साथ चलना चाहोगी?' भिक्षुणी ने सिलविया से कहा।

'मैं आ रही हूँ।'

सिलविया ने वरुण से हाथ मिला कर 'थैंक्यू' और 'गुडनाइट' कहा था और चली गई थी।

उसके जाने के बाद वरुण ने बहुत ख़ाली-ख़ाली महसूस किया था। फिर वह बाहर डेक पर चला गया था। जंगले के पास कोई खड़ा था-शायद वही जहाज़ी अफ़सर। वरुण उल्टे पांव अपने कैबिन-की ओर चल दिया था। उसने रात के समय कैबिन में से निकलने या वापस जाने की ख़बर अभी तक अपने साथियों को नहीं होने दी थी। ज़ीरो पावर के बल्व के प्रकाश में उसने ड्रेसिंग गाऊन उतार कर खूंटी पर टांगा, और अपने बिस्तर पर लेट गया। नीचे के बर्थों पर अनवर और वेद सोये हुए गठरियों की ज़बान में जैसे एक दूसरे से सवाल-जवाब कर रहे थे।

चिड़ियावाली घटना अगले दिन हुई थी। सिलविया उस दिन लगभग सारा दिन ही डेक पर लेटी रही थी। जब लंच के लिए सुरीले गांग की आवाज़ सुनाई दी थी, तो भी वह उठी नहीं थी। और वरुण भी नहीं गया था। किताब पढ़ने के बहाने वह एक ऐसी जगह पर बैठा हुआ था, जहां सिलविया उसे देख सकती थी। लेकिन आज सिलविया उससे नज़रें नहीं मिला रही थी। वरुण को लग रहा था, जैसे उनकी दोस्ती टूट जाने वाली हो।

तभी उसने वेद को चिड़िया देखने के बहाने सिलविया के पास मंडराते और उसके शरीर को भूखी नज़रों से ताकते हुये देखा था। उसे बहुत बुरा लगा था। फिर वेद सिलविया के पास बैठ गया था। और बातें करने लगा था। सिलविया भी उससे हंसकर बाते कर रही थी।

वरुण के मन में ऐसी ईर्ष्या उठी थी कि वह चाहता था कि वेद को जान से ही मार डाले पर उसकी आंखों में गर्म सलाखें धंसा दे। उसे सिलविया पर भी गुस्सा आया कि वह इस तरह नंग धड़ंग होकर सब के सामने बेशर्मों की तरह लेटी हुई थी।

दूसरी तरफ सिलविया के मन में अलग बेचैनी थी। सुबह उसकी साथियों ने उसे लम्बा भाषण दिया था कि वह विदेश जा रही है - एक ऐसे देश में, जो सांपों, बिच्छुओं और अन्य जंगली जानवरों से भरा हुआ है, और जहां का जीवन इंग्लैंड की तरह सीधा और सरल नहीं है, बल्कि बेहद विषय और पेचीदा है। गोरा आदमी बाहर और अन्दर से एक सा होता है औरे उसे समझना बहुत आसान है। वह विश्वासपात्र ही होता है।

पर काला आदमी बाहर से कुछ और अन्दर से कुछ और होता है। उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। जहाज़ स्वेज़ नहर पार कर ले तो यह फ़र्क वह ख़ुद अपनी आंखों से देख लेगी। सो, उसका भला इसी में है कि वह अपने पति के पास पहुंचने तक किसी पराये मर्द की ओर आंखें उठाकर भी न देखे। एक तो यह ईश्वर की नज़र में पाप है, दूसरे, जिस मुश्किलों भरी ज़िन्दगी में वह प्रवेश करने वाली है, उसमें उसका पति ही उसका मार्गदर्शन कर सकता है। वरना वह ऐसी भटक जायेगी कि उसका कहीं पता नहीं लगेगा। .... और अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने ऐसे भयानक उदाहरण दिये थे कि सिलविया एकदम डर गई थी और उसने ख़ुद को अकेले और खोये हुए महसूस किया था।

वरुण के मन में ऐसी अधीरता थी, जो उसके पहले कभी महसूस नहीं की थी। वह प्यार के एक नये पड़ाव पर पहुंच गया था। अब तक मिलने की प्रतीक्षा बड़ी मीठी और दिल को शांति देनेवाली चीज़ थी। हर चींज-समुद्र, जहाज़, आसमान, चान्द, तारे-अदभुद्, नई और बार-बार देखने लायक बन गई थी। वरुण के अन्दर एक ताज़गी समा गई थी। वह चाहता था कि हर किसी से मिले, प्यार दे और प्यार ले।

अब वह दूसरी तरफ जंगले के पास जाकर खड़ा हो गया था। सिलविया के सामने। लेकिन तभी सिलविया मुंह उठा कर चिड़िया की ओर देखने लग गई थी।

वरुण को अपना दिल घटता हुआ महसूस हुआ। आख़िर उसका सिद्धान्त क्या था, जो वह एक अंग्रेज़ लड़की का आशिक बना हुआ था। लड़की ने कुछ समय उससे खेलना था, सो खेल लिया। गोरी लड़कियों की चालाकियों के कई किस्से वह सुन चुका था। और फिर वह शासक वर्ग की लड़की थी, और वह गुलाम कौम का आदमी था। उसने ख़ुद को धिक्कारा कि वह अपने परिवार वालों के साथ, अपनी कौम और अपने देश के साथ बेवफ़ाई कर रहा है।

लंच का गांग बज चुका था। वरुण ने डेक का पूरा चक्कर लगाया। लगभग सभी यात्री नीचे जा चुके थे। वह सिलविया के पास से गुज़रा। 'लंच के लिए नहीं जाओगी?'

'पूछने से मतलब? मैं तुम्हारे साथ तो नहीं बैठूंगी।'

'ऐसा रुखा जवाब सुनकर वरुण को धक्का लगा। उसने पूछा, 'आख़िर तुम्हें हो क्या गया है?'

'कैसा बेमतलब-सा सवाल हैं।' सिलविया एकपत्रिका उठाकर पढ़ने लगी। फिर उसने कहा, 'अब जाओ यहां से। तुमने इकरार किया है कि इस तरह खुले में नहीं मिला करेंगे।'

'ओ.के.गुड बाई।'

'गुड बाई।'

'हमेशा के लिए गुडबाई।' वरुण के होठ कांप रहे थे।

'इसी तरह सही।' सिलविया उसी प्रकार पत्रिका की ओर देखती रही।

वरुण अपमान और ग्लानि से कांपता हुआ, कुछ क्षण तक सिलविया की ओर देखता रहा, जैसे प्रतीक्षा कर रहा हो कि वह अपने बदले हुये रवैय्ये का कारण बतायेगी। पर सिलविया इस लापरवाही से पत्रिका के पन्ने उलटती रही, जैसे वरुण का वहां होना और न होना एक बराबर हो।

वरुण बिफर कर तेजी से वहां से चला गया और अपने कैबिन में दाखिल हुआ। उसके साथी खाना खाने गये हुए थे। वह वेद वाले बर्थ पर बैठ कर जोर-जोर से रोने लगा।

साथ ही उसे यह ख़याल भी आ रहा था कि बम्बई पहुंचने पर उसने खुद ही इस रिश्ते को तोड़ डालना था। सो, अगर वह पंद्रह दिन पहले टूट गया है, तो क्या फ़र्क पड़ गया है? अगर खुद उसे तोड़ने का हक है, तो लड़की को भी है। उसने खुद मां को दिया वचन तोड़ा था। इस बात की उसे रह-रह कर नमोशी हो रही थी। जो कुछ हुआ अच्छा ही हुआ है। यह सोच कर उसने अपने मन को हौसला दिया। फिर उसने मुंह धोया और खाना खाने डाइनिंग रुम में चला गया। वह अपने मेज़ पर बैठा तो उसकी नज़र उस मेज़ की ओर गई, जहां सिलविया बैठा करती थी। मेज़ ख़ाली देखकर उसके मन में टीस उठी।

खाना खाते समय उसका सिर चकरा रहा था। इतनी बड़ी काया पलट एकाएक कैसे हो गई? उससे क्या कसूर हुआ था, जो सिलविया उसे उतनी बड़ी सज़ा दे रही थी? अनवर ठीक ही कहता था कि औरत का कोई एतबार नहीं, और गोरी लड़की का तो बिल्कुल ही नहीं। हिन्दुस्तानी लड़की में कम से कम आंख की शर्म तो होती है।

खाना लगभग खत्म हो चुका था। कि उसने सिलविया को भिक्षुणियों के साथ अपने मेज की ओर आते हुए देखा। तभी उसे ख्याल आया कि यह सब उन चेड़ैलों का काम था। उन्होंने ही सिलविया को पटटी पढ़ाई होगी।

सिलविया ने गुलाबी और बसन्ती रंग के फूलों वाला बिना बाहों वाला रेशमी फ्रांक पहना हुआ था। उसे देखते ही वरुण ने मन में कहा कि वह उसके बगैर जिन्दा नहीं रह सकेगा। उसने बड़ी मुश्किल से खुद पर काबू पाया। फिर वह उठा और अपने केबिन में चला गया। वहां और कोई नहीं था। वह अपने बर्थ पर लेट कर बहुत रोया। मन कुछ हल्का हुआ तो उसे घर की, पत्नी की, मां की याद सताने लगी। उसे यह सोच कर तसल्ली हुई कि जहाज हर पल उसे देश की ओर लिए जा रहा है। और वह सो गया।

उस दिन वरुण के प्यार का पहला दौर खत्म हो गया था - हुस्न और इश्क का आनन्द लेने का दौर, जिसमें समय की गति बन्द हो गई प्रतीत हुई थी।

अब दूसरा दौर शुरु हुआ था - जल्दबाजी, वक्त की तंगी, मुश्किलों और बंदिशों का दौर।

लंच के बाद सिलविया डेक पर फिर उसी जगह जाकर बैठ गई। उसे इस बात का कोई ख्याल नहीं था कि उसने वरुण को कितना सदमा पहुंचाया था। वह जवान थी, और आत्मकेन्द्रित। वह अपने बारे में किसी पक्के फैसले पर पहुंचना चाहती थी।

चिड़िया में उसे अपना आप दिखाई दे रहा था। चिड़ियां उसके लिए जैसे कोई संदेश लेकर आई हो और वह खुद उससे कोई सलाह करना चाहती हो।

आज नाश्ते से पहले वह भिक्षुणियों के साथ डेक का चक्कर लगाने नहीं गई थी। वह बिस्तर पर लेट कर विचारों में खो गई थी। उसे लग रहा था कि वरुण से दोस्ती करके

उसने सख्त गलती की थी। उसे वापस मुड़ना पड़ेगा, वरना वह बंदनाम हो जायेगी। कौन जाने, प्यार क्या चींज है? कौन कह सकता है कि वह वरुण से प्यार करती है या नहीं। सैमी के साथ भी उसे प्यार का अहसास हुआ होगा, तभी तो उसने हां की थी। एकाएक उस का दिल बागी हो उठा। नहीं, सैमी से वह बिल्कुल प्यार नहीं करती थी। सैमी को चाहिये था कि उसे सोचने का मौका देता। उसने बिल्कुल सोचने का मौका नहीं दिया था।

फिर भी, एक औरत को आखिर क्या चाहिये? एक घर, भरा-पूरा आराम देह घर, बच्चे, बेफिक्री। सैमी उसे यह सब कुछ दे रहा था। जाते-जाते कितने सारे पौंड दे गया था। हीरे की अंगूठी दे गया था। इसकी सुरक्षा में रहने का उसे कितना सुखद अनुभव हुआ था। सिडनार्टन में उसकी बांह डाल कर चलने में वह कितना गर्व महसूस करती थी। क्या हुआ अगर वह देखने में सुन्दर नहीं है। आदमी सुन्दर या असुन्दर अपने गुणों की बदौलत होता है।

इसके उलट, वरुण में एक ऐसा आकर्षण था जो उसे उसकी ओर खींच रहा था। सैमी की निकटता सुखद प्रतीत होती थी, पर वरुण की निकटता शक्ति देती थी।

लेकिन क्या पता, यह मर्द उसे धोखा दे रहे हों। औरत को धोखा देना मर्दों के लिए कितनी आसान है। भिक्षुवी मदर सिलविया इस बारे में सचेत रहने के लिए कहा करती थी। उसने मदर को सैमी के पत्र दिखाये थे। मदर मानती थी कि सैमी एक ऊंचे अमीर पारसी घराने का लड़का होगा, लेकिन उसके राजकुमार होने पर उसे शक था। और उसका कहना था कि पारसी चाहे हिन्दुस्तानी न भी हों, पर उनमें और हिन्दुस्तानियों में ज़्यादा फ़र्क नहीं होता। यह छोटा-सा झूठ सैमी ने उसे भरोसा देने के लिए बोला होगा ताकि उसके जाने से पहले सिलविया शादी करने के लिए ही कह दे।

मदर की नज़रों में इस छोटे-से झूठ को माफ़ किया जा सकता था बशर्ते की सैमी की बाकी बातें सच हो। पर झूठ बोलने की आदत बुरी है, जो आदमी की नैतिक कमज़ोरी की निशानी है। इसलिए ज़रुरी है कि वह खुद होशियार और सचेत रहे। वह एक पराये देश और समाज में जा रही है। विदेशी आदमी से शादी करके उसने एक अनजान और मुश्किल रास्ता चुना है। वरुण के साथ उलझ कर वह उसे और मुश्किल बना लेगी।

कितना फ़र्क था सैमी और वरुण के चरित्र में। वरुण ने पहले दिन से ही उसे अपने बारे में सब कुछ सचसच बताया था। क्या पता, सैमी ने उसके आगे और कितने झूठ बोले हों। जो कि एक झूठ बोल सकता है, वह सौ झूठ भी बोल सकता है।

एकाएक सिलविया का दिल डूबने लगा। उसे लगा कि उसने अपना देश छोड़ कर बहुत बड़ी ग़लती की है। इतनी बड़ी दुनिया, इतने बड़े फ़ासले, और वह अकेली। बिल्कुल लावारिस।

दरवाजे पर दस्तक हुई। तभी कैबिन की सफ़ाई करने वाला नौकर सीटी बजाता हुआ अन्दर दाखिल हुआ। सिलविया को बिस्तर में देख कर वह चौंका।

'गुड मार्निंग, मिस। हवा ख़ोरी करने नहीं गई?'

'नहीं।'

'मैं फिर आ आऊंगा कमरा साफ करने के लिए।' वह वापस जाने के लिए मुड़ा। तभी उसने रुक कर कहा, 'शायद छोटे पक्षी के बारे में आपने नहीं सुना?'

'कौन-सा छोटा पक्षी?'

'छोटा मगरज पक्षी। कहते है कि वह मध्य अफ्रीका से उड़कर आया है और सायबेरिया जा रहा है। आज हमारा मेहमान है वह। जहाज़ का कैप्टन और दूसरे कई बड़े अफ़सर और यात्री उसके स्वागत के लिए डेक पर पहुंचे हुये हैं।' वह सीटी बजाता हुआ चला गया।

तभी सिस्टर कैथरीन हांफती हुई वहां आई और उसे खींच कर ऊपरी डेक पर ले गई।

उस चिड़िया को देख कर सिलविया की अजीब-सी हालत हो गई थी। नन्ही-सी जान सैकड़ों मील की उड़ान भर कर दम लेने के लिए जहाज़ पर आ बैठी थी। आगे और सैकड़ों मील का सफ़र था- उस पार के किनारे पर पहुंचने के लिए। कौन-सा किनारा है वह? कौन उसे रास्ता बता रहा है? कौन-सी ताकत उसे इतना लम्बा सफ़र तै कर लेने का भरोसा दे रही है? एक बार यहां से उड़ेगी तो फिर कहीं बैठ कर दम नहीं ले सकेगी। इतनी छोटी-सी चिड़िया और इतनी बड़ी हिम्मत।....

शाम की चाय के लिए गांग की आवाज़ सुन कर वरुण ने करवट बदली और नीचे के बर्थ की ओर देखा।

नीचे अनवर ताश खेल रहा था। उसने पत्ते समेटे और हाथ ऊपर उठाते हुए कहा, 'पत्ता खीचों।'

वरुण हैरान रह गया। 'तुम्हें कैसे पता लगा कि मैं जाग पाया हूं।'

'इन्हीं बातों की तो कमाई खाता हूं। क्या बात है, आज दिन के वक्त ही नींद आ गई?'

वरुण ने पत्ता खींचा। वह तिक्की थी।

'तो आज तीन पर लगाता हूं दो पौंड। जीत गया तो आधे तुम्हारे।'

कैप्टन रोज़ बोर्ड पर लिखता था कि उस दिन जहाज चौबीस घंटों में कितने नाटीकल मील चला हैं। उस संख्या का अंतिम अंक क्या होगा, इस बारे में शर्ते लगा करती थीं।

अनवर और वरुण तैयारहो कर वहां से निकले और डाइनिंग रुम में गये।

'क्या बात है, आंखे कहां लगी हुई है?' अनवर ने पूछा।

'घर की तरफ, और कहा लगेंगी।'

'दाई से पेट नहीं छिपाते। हम काम आने वाले आदमी हैं।'

'छिपाने वाली तो कोई बात नहीं है।'

तभी पता नहीं कहीं से सिलविया उनके सामने आई। उसने फ़ाखताई रंग का बड़े-बड़े बटनों और आधी बाहों वाला फ्रांक पहना हुआ था। 'हैलो वरुण, क्या अभी तुम मुझ से नाराज़ हो?' उसने कहा।

वरुण से कोई जवाव न वन पाया। वह और अनवर दोनों उठ खड़े हुये। 'बैठेंगी नहीं,' अनवर ने कहा और कुर्सी पेश की जैसे होटलों में बैरे पेश किया करते हैं।

सिलविया बैठ गई। उसने मेज़ पर से अपना दायां हाथ वरुण की ओर बढ़ाया।

वरुण ने अपने दोनों हाथों से उसका हाथ पकड़ लिया। तभी उसकी नज़रें एक दूसरी में खो गई। वरुण ने उस के चेहरे पर एक अजीब गुलाबी आमा देखी, जो पहले कभी नहीं देखी थी। जैसे कोई फूल एकाएक खिल उठा हो।

'खुदा की कसम।' अनवर के मुंह से निकला।

चाय पीने केबाद तीनों डेक पर चुपचाप टहलने लगे। सिलविया वरुण की बांह में बांह हाले उस दोनों के बीच में चल रही थी।

सूरज डूबने तक ऊपरी डेक यात्रियों से ख़ाली हो गया था। चिड़िया उसी प्रकार बैठी हुई थी।

डिक मैलिट को देखकर सिलविया ने पूछा, 'यह कुछ खाये-पियेगी नहीं?'

'तुम्हें कैसे पता कि इसने कुछ खाया-पिया नहीं है?'

'सुवह से वहीं की वहीं तो बैठी हुई है। और यह कब जायेगी?'

'रात किसी भी वक्त। सुवह यह यहां नहीं होगी। यह पक्की बात है।'

'पक्की क्यों?'

'ऐसी चिड़ियां मैंने कई बार देखी हैं।'

उनकी चिड़िया मैंने कई बार देखी है।

उनकी बातें सुनते हुए वरुण के मन में बेचैनी हो रही थी। वह सिलविया को आलिंगन में लेने के लिए लालायित था।

'मेरे केबिन की छोटी 'बार' खुली है। जब चाहों, मेरी सेहत का जाम पी लेना,' डिक ने कहा और नीचे के डेक पर चला गया।

वरुण के आलिंगन में वह शत-सी आ गई थी। सिलविया के इन्कार करने पर भी वह उसे खींच कर डिक के कैबिन में ले गया। दरवाज़ा बन्द करते ही वह सिलविया की छातियों को देखने की ज़िद करने लगा, जिन्हें कि वह बेदिंग कास्ट्यूम के किसी हद तक ही देख पाता था। लेकिन उससे आगे बढ़ने की उसे हिम्मत न हुई। सिलविया के वक्षस्थल को छूने और चूमने का अधिकार पाकर ही वह अपनी खुशी की चरम सीमा तक पहुंच गया था।

वे बाहर आये। वरुण सिलविया को कवितायें सुनाने लगा। कभी वही नाचने लगता। उसकी खुशी का अन्त नहीं था। अगर कहीं उस समय हवाई हमला हो जाता, तो वरुण सिलविया को बाहों में लिए खुशी-खुशी समुद्र में डूब सकता था।

पोर्ट सईद पहुंचने तक वरुण और सिलविया पूर्ण रुप से एक दूसरे के हो चुके थे। शायद ही कोई ऐसा मौका होता जब यात्री वरुण और सिलविया को एक दूसरे की बांह में बांह डाले न देखते।

पोर्ट शहीद की बन्दरगार पर कोयला भरनेवाली बड़ी-बड़ी कश्तियां जहाज़ के साथ आ लगीं। उसमें काम करने वाली अरबी कुली बेहद गंदे और काले-स्याह थे। वे कश्तियों में ही खाते-पीते और वहीं टट्टी-पेशाब भी करते। वरुण और सिलविया वह दृश्य देख कर सकते में आ गये। आख़िर वे पीछे हट कर कुर्सियों पर बैठ गये।

'तौबा, कितना भयानक है।' सिलविया ने कहा।

'यहां से आगे अव तुम ऐसे भयानक नज़ारे ही देखोगी।'

'तुम्हें कैसे लग रहा है?'

'बहुत बुरा।'

'तो क्या किया जाये?'

'वही जो तुम ने उस दिन कहा था।'

'क्या?'

'छः महीने के अन्दर-अन्दर तुम सैमी से छुटकारा पा कर वापस लंदन पहुंच जाओगी। मुझे ख़बर करना, मैं तुम्हारे पास आ जाऊंगा। फिर हम शादी कर लेंगे। अगला प्रोग्राम उसके बाद बनेगा।'

'क्या यह सम्भव है?'

'क्यों नहीं।'

'क्यों नहीं यही से वापस चले जायें? हम यहीं उतर जायें और कुछ दिन के बाद इंग्लैंड जाने वाले जहाज़ पर सवार हो जायें। छः महीने के बाद जो कुछ करना है, अभी कर सकते हैं।'

'पर पैसे? मेरे पास तो मुश्किल से तीस पौंड हैं।'

'मेरे पास सौ पौंड हैं। और मैं अपनी शादी की यह अंगूठी बेंच दूंगी, जिसमे हीरा जड़ा हुआ है।'

'यह तो बेइन्साफ़ी होगी।'

'हमें खुशी से मतलब है तो इन चीजों के बारे में क्यों सोचें?'

'सैमी उड़ता हुआ तुम्हारे पीछे आ जायेगा।'

'मैं उससे तलाक ले लूंगी। मेरा तो उससे शारीरिक संबंध भी नहीं हुआ है।'

वरुण ने सिलविया की ओर देखा और एकटक देखता रहा। आख़िर सिलविया इस बात को क्यों इतना महत्व दे रही थी? उसने बताया था कि शादी वाली रात सैमी ने सिडनार्टन के एक होटल में कमरा लिया था। पर वह डरी हुई थी। सो, सैमी ने उसे मजबूर नहीं किया था। और कहा था, 'हम अपना हनीमून हिन्दुस्तान में मनायेंगे - अपने टापू पर।' और अगले दिन वह चला गया था।

सिलविया ने चेहरे से प्रकट हो रहा था कि उसे इस बात का बड़ा गर्व था कि उसने सबसे पहले वरुण को अपन शरीर दिया था। वरुण के मन में कुछ कर गुज़रने की

लालसा पैदा हुई। उसे लगा कि माता-पिता के साथ रहते हुए उसने ख़ुद को हमेशा गुलाम-सा महसूस किया था और उस की ज़िन्दगी घुटन में बीती थी। हर तरफ़ रुकावटें और डर थे - कई असली, कई ख़याली। वे डर इंग्लैंड में भी उस का पीछा करते रहे थे। पर सिलविया से मिलने के बाद उसकी आत्मा जैसे जाग उठी थी।

वरुण हवाई जहाज़ पर इंग्लैंड गया था। तब भी इसी भूमध्य सागर के तट पर पहुंचने पर उसने अचानक इसी प्रकार की काया पलट देखी थी। हवाई जहाज़ पोर्ट सईद नहीं बल्कि अलेग्जैड्रिया में उतरा था। कराची से चलते समय दो अंग्रेज़ मुसाफ़िरों ने हिन्दुस्तानियों को इस प्रकार अपने से दूर रखा था, मानो वे अछूत हों। पर अलेग्ज़ांड्रिया से उड़ते ही वे उनके साथ खुलकर हंसने-बोलने लगे थे क्योंकि हवाई जहाज़ यूरोप के वातावरण में पहुंच रहा था।

अलेग्जैड्रिया की एक और घटना भी उसे भूली नहीं थी। मोटर लांच अंग्रेज़ मुसाफ़िरों को तट पर ले गया था, पर वरुण और उसके बैविन व्वाय साथी डरे हुये से जहाज़ में ही बैठे रहे थे। एक अरबी अफ़सर उनके पासपोर्ट देखने आया था और जाते समय एकाएक रुक गया था और उनकी ओर मुड़ कर उसने कहा था, 'हिन्दुस्तानी कुत्तों, तुम खुद तो गुलाम हो ही, पर हमें भी गुलाम बनाने में अंग्रेज़ों की मदद कर रहे हो।'

वरुण को उसका मतलब ठीक-ठीक समझ नहीं आया था, पर ग्लानि ज़रुर महसूस हुई थी। और अब उन गंदे अरबियों को देख कर फिर ग्लानि महसूस होने लगी थी। सिलविया की मौजूदगी में आज पहली बार उसे अपना आप छोटा लगने लगा था।

डिक मैलिट उनकी ओर आ रहा था। पास आकर उसने कहा, 'यह क्या सुन रहा हूं मैं? हमसे अलग होना चाहते हो तुम लोग?'

सिलविया और वरुण चुप बने उसकी ओर देख रहे थे।

डिक पैलिट हंस पड़ा और बोला, 'एक छोटी-सी बात तुम दोनों भूल रहे हो। बाकी तुम्हारे प्लान में कोई ख़राबी नहीं हैं। तुम भूल रहे हो कि जंग लगी हुई है। सैकेंड फ्रंट खुलने की अफ़वाहें तेज़ होती जा रही है। उस हालत में तुम दोनों को वापसी जहाज़ के इन्तज़ार में पता नहीं और कितना अरसा पोर्ट सईद में रुकना पड़े। दो-चार दिन के लिए पोर्ट सईद ठीक है, पर लम्बी रिहायश के लिए मैं उसकी सिफ़ारिश नहीं करूंगा। एक बात और। हमें इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता और न ही हमारी जहाज़ी कम्पनी आम तौर पर इन बातों की ओर ध्यान देती है, पर जब बर्सर ने मेरे साथ बात की, तो मेरा ध्यान इस ओर गया। मिस्टर अहुजा और दो अन्य हिन्दुस्तानियों के टिकिट इंडिया आफ़िस की तरफ़ से खरीदें गये हैं। इसका क्या मतलब है?'

वरुण ने बताया कि उसके साथी बेविन स्कीम के अन्तर्गत हिन्द सरकार की ओर से भेजे गये थे और उन के आने-जाने का खर्च भी हिन्द सरकार ने अपने ज़िम्मे लिया था।

'तो क्या रास्ते में उतर जाना कांटैक्ट की शर्त तोड़ने वाली बात तो नहीं होगी? हो सकता है कि हिन्द सरकार तुम्हारे ख़िलाफ़ कोई कदम उठाये।

'इस बात का मुझे ख़याल ही नहीं आया था।'

'हो सकता है कि उन्हें तुम्हारा एक अंग्रेज़ लड़की से प्यार करना पसन्द न जाये। इंग्लैंड में तो कोई ख़याल नहीं करता, पर हिन्दुस्तान में

'मैं जानता हूं,' वरुण ने उसकी बात काट कर कहा। वह सिलविया को उस कठोर असलियत के आघात से बचाना चाहता था, जिसकी ओर डिक मैटिट संकेत कर रहा था।

'तुम हिन्दुस्तान से भी तो इंग्लैंड जा सकते हो। सिलविया, तुम्हें हिन्दुस्तान देखना चाहिये। ताज महल तो ज़रुर ही देखना चाहोगी। फिर, हाथी, शेर, बंगाल टाइगर, रोप-ट्रिक-पर भी देखने लायक चीजें हैं।'

दोपहर को लगभग सभी यात्री लांच में बैठ कर किनारे पर चले गये। पर सिलविया और वरुण नहीं गये। वे एकान्त चाहते थे। तब उन्होंने एक दूसरे से जी भर कर प्यार किया, जी भर कर बातें कीं।

अगले दिन जहाज़ स्वेज़ नगर में दाखिल हुआ। अब दिन के समय बेहद गर्मी पड़ती। सुबह चढ़ने से पहले और शाम को सूरज डूबने के बाद यात्री जंगलों से लग कर खड़े होते और चारों ओर फैले शहरों और मटियाले पहाड़ों को देखते, कोहतूर और सिनाई को पहचानने की कोशिश करते और उन के बारे में बाइबल में आई कहानियों का ज़िक्र करते। वरुण और सिलविया को लगता कि उनका प्यार अमर और अनन्त बन गया था।

एक रात अनवर वरुण को बहुत नीचे जहाज़ के बी डेक पर ले गया। वहां केबिनों की जगह बड़ी-बड़ी डारीमट्रीयां थी, और खिड़कियों की जगह गोल-गोल छेद थे जिन पर कांच लगे हुये थे। एक जगह हिन्दुस्तानी यात्रियों की पार्टी हो रही थी, जिसमें शराब का दौर चल रहा था। ग्रामोफ़ोन पर सहगल का रिकार्ड बज रहा था और एक भैंगा पैडलर भंगड़ा नाच रहा था। वरुण ने देखा कि उन में दो चेहरे नये थे उनमें से व्यक्ति बहुत ही गोरा था, उसकी उपनी उम्र का, जो पठान या पोठोहारी लगता था। दूसरा चालीस वर्ष की उम्र का बंगाली था। दोनों पोर्ट सईद से सवार हुए थे। पर यह पार्टी क्यों हो रही थी? वरुण ने अपने साथियों से पूछा, जो पहले से वहां आये हुए थे। पर उसमें से किसी को पता नहीं था।

तभी अनवर ने ग्रामोफ़ोन बन्द किया और ज़ोर से ताली बजाकर कहा, 'सब आ गये, अब शुरु करो।'

एक मेज पर 'रुलट' की चकरी लगाई गई और लोग जुआ खेलने लगे।

वरुण ने वेद को बाहर जाते देखा तो उसने भी जाना चाहा, क्योंकि जुए में उसे कोई दिलचस्पी नहीं थी। वह हैरान था कि आख़िर उसे वहां क्यों लाया गया था। तभी अनवर वहां आया और उसे बांह से पकड़ कर एक कोने में ले जाकर बोला, 'यार जुआ खेलो, या फिर वैसे ही पैसे दे दो।'

'मैं समझा नहीं,' वरुण ने कहा।

'बात यह है कि वे जो नये आदमी है न, वे पोर्ट सईद से सवार हुए हैं। वे देश भक्त हैं। फ़ौजों और जहाजी बेड़ों में काम करने वाले हिन्दुस्तानी जवानों में बहुत बुरा

और भेदभाव वाला सलूक होता हैं। उन्हें अच्छी खुराक भी नहीं दी जाती। इस बारे में मिश्र में कहीं मिल-बैठ कर सोच-विचार की जायेगी कि क्या कदम उठाना चाहिये। सो उन के लिए हम चन्दा जमा कर रहे है। जुये की जीत का वहुत सारा हिस्सा उन्हें दिया जायेगा। अगर तुम्हारी माशूक तुम्हारा इन्तज़ार कर रही है, तो अभी पैसे देकर जा सकते हो। अगर जुआ खेलना चाहो तो शौक से खेल सकते हो 'वेद ने पांच पौंड दिये हैं। तुम दो तो दोगे ही।'

वरुण ने तीन पौंड निकाल कर उसे दिये और वहां से चला गया। बरामदे में से गुज़रते हुये उसने एक खुले और अंधेरे से गुसलख़ाने में एक अधेड़ उम्र की, कुरुप-सी एशियाई स्त्री को कपड़े धोते हुए देखा। उसके मन में घिनौना-सा अहसास पैदा हुआ। यूरोप में बिताये सुन्दर और सुखद जीवा का अनुभव पीछे रह गया था। उसकी निशानी के रुप में अब सिलिविया ही उसके पास थी। क्या वह उसे सम्भाल कर रख सकेगा? एक गुलाम देश की कठोर असलियतें कहीं उसे छीन तो नहीं लेंगी? नहीं, नहीं, दुनिया की कोई ताकत उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं कर सकेगी।

उसने अपनी पत्नी प्रकाश और बाकी घर वालों को याद किया, अपने शहर और दोस्तों को याद किया। इंग्लैंड में रहते हुए वे कितने याद आते थे? उन से मिलने के लिए मन कितना तरसा करता था। लेकिन अब मन नहीं तरसता था।

उस समय सिलविया को बाहों में लेने के लिए उस का मन लालायित हो उठा। उसने उसके केबिन की खिड़की पर -धीमे से दस्तक दी। सिलविया उस दस्तक को पहचान लेती थी। वह ड्रेसिंग गाऊन का कमरबन्द बांधती हुई आती तो वरुण ने उसे अपनी बाहों में ले लिया।

स्वेज़ नहर के दूसरे सिरे पर कुछ यात्री उतरे। उन में वे दो ख़तरनाक आदमी भी थे, जिन्हें जहाज के हिन्दुस्तानियों की तरफ़ से पैंतीस पौंड दिये गये थे।

(5)

लंच के बाद सिलविया माल पर टहलने के लिए चली गई। बाजार बन्द था। म्युनिसिपैलिटी के दफ़्तर के निकट पुस्तकों और पत्रिकाओं का एक स्टाल खुला हुआ था। सिलविया कुछ देर वहां पुस्तकों पर नज़र दौड़ाती रही। बड़ा अच्छा लग रहा था उसे। खुला चौक, म्युनिसिपैलिटी की इमारत, दुकाने-हर चीज़ उसे अपने कस्बे, सिडनार्टन की याद दिला रही थी। उसे लग रहा था, जैसे वह हिन्दुस्तान में नहीं, इंग्लैड में हो। लंच के समय दुकानें बन्द होने के कारण यह अहसास और भी ज़्यादा था, वरना हिन्दुस्तानियों को आते-जाते हुये देख कर वह तस्वीर बिगड़ जाती थी।

उसकी नज़र जासूसी उपन्यासों पर पड़ी तो उसने सोचा कि एक-दो ख़रीद ले, ताकि स्टालवाले को निराशा न हो, पर उन्हें वह पढ़ेगी नहीं, क्योंकि एक बार शुरु करने पर फिर छोड़ा नहीं जा सकेगा। आज की शाम तो उसे किसी से मिलना है। क्या नाम है उसका? नारंग-हां, नारंग। नार्टन से कितना मिलता है।

पुस्तकों का पैकेट लेकर वह सीढ़ियां चढ़ती हुई स्कैंडल पाइंट पर गई, जहां हर समय ख़ुशगवार हवा चलती रहती थी - साफ़ बर्फ़ानी हवा। उसकी नज़र बर्फ से ढकी पर्वत-माला की ओर गई, जो साफ़ नज़र आ रही थी। पर उसे इतनी ज़्यादा बर्फ़ अच्छी न लगीं और नकली-सी प्रतीत हुई तो उसे वह थोड़ी-सी बर्फ ज़्यादा पसन्द थी, जो उसे अपने होटल की खिड़की में से नज़र आती थी और ज़्यादा स्वाभाविक लगती थी।

गिरजा कितनी सुन्दर जगह पर बनाया गया था। सचमुच, अंग्रेजों का कमाल था, हू बहू इंग्लैंड का नज़ारा दिखा दिया था। आख़िर अपना देश कौन भूल सकता है?

सिडनार्टन में सिलविया का कोई भी नहीं था। उसके माता-पिता मारे गये थे, भाई मारा गया था, घर का नाम-निशान तक नहीं रहा था; पर फिर भी क्या वह अपने देश को कभी भूल सकती है? सिडनार्टन का गिरजा नदी के किनारे पर था। उसकी दीवारों का पत्थर इस गिरजे जैसा सलेटी नहीं बल्कि भूरे रंग का था। उसकी दीवारों पर आइवी की बेल चढ़ी थी। नदी-किनारे की तरफ दीवार के साथ पड़ा वह बैंच उसे याद आया, जिस पर उसका पिता हर इतवार को जा कर बैठा करता था और पाइप पीता था। सिलविया और उस का छोटी भाई बत्तखों को रोटी देने के बहाने कश्ती वाले के पास जाकर खड़े हो जाते थे। और वह उन्हें कभी-कभी कश्ती में बैठा लिया करता था।

और भी बहुत-सी यादें मन में उठीं, और सिलविया कुछ क्षणों के लिए उदास हो गई। फिर, वह टहलती हुई डाकखाने पहुंच गई। वहां अंग्रेज़ी डिजाइन के काउंटर पर खड़े होकर उसने अपने पति को संक्षिप्त-सा पत्र लिखा, और फिर रिक्शा में सवार होकर वापस अपने होटल में पहुंच गई। वहां रिसेप्शन पर खड़ी लड़की ने कहा, 'दिल्ली से आपके लिए मिस्टर वरुण मलिक का फ़ोन आया था। वे आज रात को दिल्ली से कालका मेल में रवाना होंगे। उन्होंने आपको अपने दफ़्तर में फ़ोन करने के लिए कहा है।'

'बहुत अच्छा। दिल्ली इस नम्बर पर अर्जेट कॉल बुक कर दें। मैं अपने कमरे में हूंगी। और सैलून वाली लेडी को कहना कि मैं अपने कमरे में हूंगी।'

कमरे में पहुंच कर वह अभी कपड़े बदल ही रही थी कि वरुण का फ़ोन आ गया।

'हेलो, माई लव।' सिलविया ने मद्धिम-सी आवाज़ में कहा और उसके अंगों में सिरहन-सी दौड़ गई।

'ठीक-ठाक हो, सिलविया?' वरुण ने पूछा।

'मर रही हूं तुम्हारे लिए।'

'आई लव यूं।'

'ब्लैस यू।' मैकडोनाल्डो से फ़ोन पर मेरी बात हुई थी। उन्होंने बताया कि उनके यहां और कोई मेहमान नहीं है और जब तक वहां रहेंगे, कोई और नहीं आयेगा। कितने अच्छे हैं बूढ़ा और बूढ़ी दोनों। है न?'

'बहुत।'

'उन्होंने यह भी बताया कि जंगली ट्यूलिप निकल आये हैं। उनसे चौगिर्दा महक रहा है।'

'यहां गर्मी ११२° है आज।'

'इतने मज़लूम न बनो। मैं भी आज ही यहां पहुंची हूं। हां, वरुण, भला बताओ तो यहां कौन मिला मुझे?-नारंग। तुम्हें याद है, जहाज़ पर एक गोरा-सा हिन्दुस्तानी था, आक्सफोर्ड इंग्लिश बोलने वाला, पक्का साहेब -'

'ओह, वेद नारंग-याद है। वहां यहां क्या कर रहा है?'

'अपने किसी सरकारी काम से आया हुआ है। क्या वह बड़ा अफ़सर है?'

'आई.सी.एस. है। बहुत सुन्दर लग रहा था।'

'जहन्नम में जाये। मैं रात उस के साथ डिनर खा रही हूं।'

'तुमने उसे हमारे बारे में तो नहीं बताया?'

'ज़्यादा नहीं, पर थोड़ा-बहुत तो बताना ही था। पर तुम उसे मिल नहीं सकोगे। वह कल सुबह यहां से कार में चला जायेगा।'

'मेरा सलाम कहना उसे।'

'अच्छा। मैं सोचती हूं, भी उसके साथ मैं कार में चली जाऊं। इस तरह तुम से पहले ही वहां पहुंच जाऊंगी और उस टीले पर खड़ी होकर तुम्हारी गाड़ी का स्वागत करूंगी।'

'मैं भी वहीं उतर जाऊंगा। सामान ज़्यादा नहीं होगा मेरे पास।'

'कितने दिन के लिये आ रहे हो?'

'दो दिन के लिए।'

'बस? यह तो कुछ भी नहीं।'

'तुम अगर पहले ख़बर दे देती तो -'

'हां-हां, कसूर तो मेरा ही है - हमेशा की तरह। अच्छा देखो, अपने बालों पर काली पेन्सिल फेर कर आना। मैं तुम्हारे बालों में एक भी सफेद बाल नहीं देखना चाहती।'

'खिजाब ही क्यों न लगा लूं,' वरुण ने हंसकर कहा। 'पेन्सिल का रंग तो मिट जायेगा।'

'बस, पहली नजर में मैं तुम्हें उसी रुप में देखना चाहती हूं, जैसा कि जहाज़ पर देखा था। वैसे, मुझे तुम्हारी कनपटियों के सफ़ेद बालों से भी प्यार है। लेकिन तोंद बिल्कुल नहीं होनी चाहिये। उससे मैं समझौता नहीं कर सकती।'

'तोंद तो मेरी ओर भी ज़्यादा निकल आई है। उस हालत में मैं न ही जाऊं तो अच्छा है।'

'नहीं।' सिलविया की चीख़ निकल गई। 'प्लीज़ ऐसे न कहो। मैं तो यूं ही मज़ाक कर रही थी।'

'मैं जानता हूं।'

वे काफ़ी देर तक बातें करते रहे। आख़िर सिलविया ने फ़ोन रखकर नाइट गाउन पहना और बिस्तर पर लेट गई। वह सोना नहीं चाह रही थी। उसके दिल में आया कि वेद को फ़ोन करके अचम्भित करें। उसने हाथ बढ़ा कर फोन उठाया और रिसेप्शन-क्लर्क से कहाकि वह वेद नारंग से बात करना चाहती है।

'मैं अभी लाइन मिलाता हूं,' क्लर्क ने कहा। 'हां, लीजिये, मिस्टर नारंग ऑन द लाइन।'

'हैलो, बहुत व्यस्त हो?' सिलविया ने वेद को कहा।

'खास नहीं। तुम क्या कर रही हो?'

'कुछ भी नहीं। मैं औरत हूँ, मर्द तो नहीं। औरत का काम है, सिर्फ इन्तज़ार करना।'

'यहां आ जाओ, तुम्हें वाइसराय का महल दिखाऊं।'

'मैं देख चुकी हूं। महारानी पटियाला दिखाने के लिए गई थी। अपना महल भी।' वाइसराय हरामी तो इंग्लैंड के शहनशाह से भी ज़्यादा ठाठ से रहते थे।'

वेद हंसा।

'वरुण का कहना है कि पं० नेहरु को चाहिये की पूंजीवादी व्यवस्था की जड़ें काट डालें। मैं उस से सहमत हूं। तुम्हारा क्या ख्याल हैं?'

'बहुत अच्छा ख़याल है,' वेद ने हंस कर कहा।

'मैंने वरुण को फोन पर तुम्हारे बारे में बताया था उसने तुम्हें सलाम भेजी है। अच्छा, अब मैं सोऊंगी। पांच बजे मेरे बाल बनाने वाली आयेगी। तुम कितने बजे आओगे?'

'कुछ कह नहीं सकता।' वेद के जवाब में कुछ रुखाई थी। वरुण का ज़िक्र सुनकर उसका चाव मर गया था। लेकिन आख़िर वह सिलविया से मिले बिना न रह सका। फिर उसने शराब मँगवाई।

'किसके नाम पियें?' उसने पूछा।

'वर्तमान और भविष्य के नाम।'

'ठीक है। भूतकाल गया जेहन्नम में।'

दोनी के गिलास मिलाये और पीने लगे। काफ़ी देर तक वे चुप बने पीते रहे। बाहर देवदारों में से गुजर रही हवा सां-सां कर रही थी।

'यह जगह मुझे कितनी अच्छी लगती है।' सिलविया ने गहरा सांस ले कर कहा। 'पहले मैंने सोचा था कि साड़ी बाँधू, पर यहाँ आकर मैं खुद को कितना अंग्रेज महसूस करती हूं। कितनी शांति मिलती है मुझे। जब बाल बनानेवाली आई तो एकाएक मुझे खयाल आया कि मैं अपनी देश की महारानी जैसे बाल बनवायें।'

'मुझे भी यही महसूस हुआ था तुम्हें देख कर।'

'मेरे पति के चाय के बागों को आस-पास बहुत से अंग्रेज़ों के चाय के बाग़ है। इलाका भी बहुत सुन्दर है। बिल्कुल अँग्रेजी वातावरण है वहां का। पर फिर भी वह बात नहीं बनती, जो शिमले के पहाड़ों में है। यहाँ आकर मैं जैसे पवित्र हो जाती हूं।'

वेद को लगा, सिलविया जैसे कोई मुखौटा पहनने की कोशिश कर रही है - हाँ। दोपहर वाली सिलविया के मुकाबले में वह उसे ठंडी-ठंडी, अलग-सी सिलविया प्रतीत होने लगी।

'तुम फिर कभी इंग्लैंड गये हो?' सिलविया ने पूछा।

'नहीं।'

'मैं तो हर साल जाती हूं। पर वरुण के विना वह मज़ा कहां? मैं उसे कितनी बार कह चुकी हूं। ..... पर नहीं, मैं यह बाते करके तुम्हें ऊबा रही हूं।'

'बिल्कुल नहीं। तुम ड्रिंक ख़त्म करो। फिर ऊपर चलते हैं। मुझे सख़्त भूख लगी है। मैंने तो लंच भी नहीं खाया।'

'नहीं-नहीं, इतनी जल्दी डिनर? एक-दो ड्रिंग और पियेंगे। मैं तो तुम्हारे साथ डांस भी करना चाहूंगी।'

'कल वरुण आ रहा है, उससे कर लेना।'

सिलविया ज़ोर से हंसी। 'अब मैं वरुण का नाम नहीं लूंगी। अब तो नाचोगे?'

'हां। आख़िर मैं भी तो इन्सान हूं। मुझे ईर्ष्या होने लगी थी।'

'सो, आज की शाम तुम्हारी और मेरी रही। गिलास टकराओ मेरे साथ और ख़ाली करो।'

दोनों ने गिलास छुआये और ख़ाली किये।

जब वे उठे तो वेद ने सिलविया को सफ़ेद और काले चौरस ख़ानों वाला कोट पहनाने में मदद की और फिर दोनों बरामदे की सीढ़ियों की ओर रवाना हुये।

फिर जब वे क्लोक रुम के कर्मचारी को अपने कोट दे रहे थे, तो लौंज की तरफ़ से आ रहा एक यूरोपीय जोड़ा उनके पास आकर रुका।

'सिलवी, माई दार्लिंग! और माई दार्लिंग!' लड़की ने फ्रांसीसी लहजे में कहा और उसे बाँहों में ले लिया।' तुम कब आई?'

'आज। और तुम?'

'मैं भी आज ही। यह है मूसिओ बुतेयर- मेरे दोस्त।'

'और यह है मेरे दोस्त, मिस्टर नारंग।'

दोनों खिलखिला कर हंसी।

फ़्रांसीसी लड़की जिस का नाम कोलेत था, पूछा, 'तुम भी पार्टी के लिए आई होगी?'

'कौन-सी पार्टी?' सिलविया के चेहरे पर हैरानी आई।

'हिज़ हाइनेस की पार्टी, और कौन-सी पार्टी? ऐसा नहीं हो सकता कि तुम्हें पता नहीं हो।'

वेद को याद आया, तीन दिन हुये उसे शिमले के डिप्टी कमिश्नर ने फ़ोन पर बताया था कि पटियाले के महाराजा उसे पार्टी पर बुलाना चाहते हैं। बाद में, महाराजा के सेक्रेटरी ने भी उसे आने के लिए कहा था। पर वेद ने इन्कार कर दिया था।

'मुझे तो कुछ भी नहीं पता, 'सिलविया ने कहा।' आज ही तो आई हूं।'

'तो क्या हुआ? तुम्हें आमंत्रण की जरुरत नहीं है। सब कितनी खुश होंगे तुम्हें देख कर। कोट वापस ले लो और चलो हमारे साथ।'

सिलविया ने वेद की ओर देखा। वेद ने बताया कि उसे बुलाया तो गया था, पर उसने इन्कार कर दिया था।

'ख़ैर कोई बात नहीं, अगर तुम चलना चाहो।'

'एक़ बार इन्कार करके जाना ठीक नहीं लगता।'

'मुसिओ नारंग, अगर आप बहुत-बहुत ही बढ़िया शाम गुजारना चाहते हैं न, तो फिर खुद को मुझ पर और सिलविया पर छोड़ जीजिये, और हम पर भरोसा रखिये,' कोलेत ने कहा।

कोलेत महाराजा की ख़ास सहेलियों में से थी। उसका हार-सिंगार पूरा कर के वह अपने दोस्त को होटल में लेने के लिए आई थी। उस दिन महारानी के जन्म-दिन की ही पार्टी थी।

वे रिक्शाओं में सवार होकर महल के लिए रवाना हो गये। फाटक के बाहर रिक्शाओं की कतार लगी हुई थी।

पार्टी में प्रवेश करते ही वेद को तसल्ली हुई कि ठीक ही फ़ैसला लिया गया था। सिलविया के साथ होने से उसका महत्व कहीं ज़्यादा बढ़ गया था। आख़िर सिलविया एक करोड़पति की पत्नी थी, और एक सुन्दर अंग्रेज़ युवती। उच्च सरकारी अफ़सर भी वहां मौजूद थे। उनकी नज़रों में वेद और ऊंचा उठ गया था।

धीरे-धीरे पार्टी में औपचारिकता कम होती जा रही थी। छोटी-छोटी टोलियां बन गई थीं। सिलविया और वेद नाचने लगे। सिलविया के चेहरे पर से इंग्लैंड की महारानी वाला मुखौटा उतर चुका था। वेद के हाथ के नर्म से दबाव के जवाब में सिलविया ने उसका हाथ दबाया। संगीत की लय और ज़्यादा नशीली बनती जा रही थी।

डिनर के बाद डांस-हाल और ज्यादा अंधेरा हो गया। वेद और सिलविया उन्माद की हालत में नाच रहे थे। उनके थिरकते हुये शरीर सौ-सौ कहानियां कह रहे थे। आख़िर वेद ने सिलविया को एक कोने में ले जाकर उसके होठो से अपने होठ लगा दिये। फिर, उस लम्बे चुम्बन के बाद उसने उसके काम में कहा, 'चलें?'

सिलविया ने नशे की हालत में उसके सीने पर अपना सिर रखते हुए कहा,' हां, डार्लिंग।'

जिस दरवाज़े में से वे बाहर निकले, उसके ऐन ऊपर एक खिड़की खुली और एक मोटा-सा गंजा आदमी, जिसने हाथ में ह्वीस्की की बोतल पकड़ी हुई थी, ऊंची आवाज में बोलने लगा, 'तुम पुलिस को बुलाने जा रहे हो? बुला आओ। मैं हिज़ हाइनेस, प्रिंस इंद्रजीत आफ़ काठियावाड़ हूं। और यह रही शराब की बोलत मेरे हाथ में। किसी की हिम्मत है, जो मुझे पकड़े?.....'

कोई उसे पकड़ कर अन्दर ले गया, और खिड़की बन्द हो गई।

वेद और सिलविया उसकी मूर्खता पर हंसे, जो काठियावाड़ में शराबबन्दी का गुस्सा जैसे शिमले में निकाल रहा था, जहां कि शराबबन्दी नहीं थी।

वेद ने सिलविया की बांह में बांह डाले चल रहा था। उस की हर हरकत में आत्मविश्वास झलक रहा था, जैसे आज की रात वह सिलविया पर अपना पूरा प्रभुत्व कायम कर चुका हो।

उनका रिक्शा जब होटल के नजदीक पहुंचा तो वेद ने सिलविया को कहा, 'थोड़ा पैदल न चलें? '

'जैसे चाहो।'

सड़क पर चान्दनी फैली हुई रथी। जब वे कुछ दूर गये, तो सिलविया ने देखा, चीड़ों के सूखे हुये पेड़ों के पीछे से बांका, टूटा हुआ और बीमार-सा चांद झांक रहा था। और जब वेद ने उसे आलिंगन में भर कर चूमतना चाहा तो वह एकाएक सिहर उठी और पीछे हट कर बोली, 'नहीं, नहीं'

'प्लीज, सिलविया। मेरी ख़ातिर।'

'नहीं, नहीं' सिलविया के चेहरे पर एक ऐसा दर्द था, जिसे देख कर वेद को लगा कि शाम का सारा जादू खत्म हो गया है। उसके मन में तलख़ी पैदा हुई, जैसे उससे कोई भद्दा मज़ाक किया गया हो। पर साथी उसके मन में सिलविया के लिए कुछ इज़्ज़त भी बढ़ी।

'तुम मुझे कितना घटिया समझ रहे होगे? मैं बहुत गिर चुकी हूं। पता नहीं क्या-क्या हो गया है। मेरी ज़िन्दगी का हुलिया ही बिगड़ गया है।'

'अपने आप को दुःखी न करो। वरुण मेरा भी दोस्त है। बाद में मुझे भी पछतावा होता,' वेद ने कहा।

'धन्यवाद। मैं लाचार हूं। मैं अभी भी उसे प्यार करती हूं। पहले ही की तरह प्यार करती हूं।'

'मैं कद्र करता हूं इस बात की।'

'सब कुछ गलत-सलत हो गया। आदमी सोचता कुछ और है, हो कुछ और ही जाता है। जब हम जहाज़ पर बिछुड़े थे तो सभी यात्रियों को हमारे प्यार के बारे में पता लग गया था। और हम ने फैसला किया था कि वरुण अपनी पत्नी से और मैं अपने पति से छुटकारा पा कर लंदन में मिलेंगे और एक दूसरे से शादी कर लेंगे। 'मेरा पति, सैमी बार-बार यही कहता था कि यह बच्चों की सी योजना है। काश, मैं उसके साथ ही रहती और इस तरह ख़्वार न होती। कितना अच्छा आदमी था सैमी।' उसने अपने हैंड बैग में से रुमाल निकाला और आंखें पोंछने लगी।

'चलो, उस बेंच पर चल कर बैठते हैं कुछ देर,' वेद ने कहा।

दोनों बैंच पर जाकर बैठ गये। वेद ने सैमी को अपनी कल्पना में देखा। वह सिलविया के स्वागत के लिए अपने परिवार सहित गोदी पर आया हुआ था। उसके सिर के बाल भूरे थे और बहुत सघन नहीं थे। उसका शरीर दुबला-सा था।

देखने में वह बुरा नहीं था। उसका पिता और साथ में बूंढी स्त्रियां अमीरी और अंग्रेज़ों की नकल का अच्छा नमूना पेश कर रही थीं।

कस्टम के बाहर निकलने पर वेद ने उन्हें एक बहुत बड़ी, चमचम करती, पर पुराने मांडल की मोटर में सवार होकर जाते देखा था। उसे लगा कि सैमी से रिश्ता तोड़ कर उसने अक्लमंदी नहीं की थी। पर रिश्ता जोड़ कर भी कहां तक अक्लमंदी की थी?..... लेकिन यह सब सोचने से क्या फ़ायदा? वेद का अपना मज़ा तो किरकिरा हो चुका था। उस की नज़र में सिलविया एक अजनवी औरत थी, जो थोड़ा सा नज़दीक आकर फिर दूर हो गई थी। फिर भी, उसमें कोई दिलचस्पी न दिखाना असभ्यता होग़ी। सो, उसने कहा, 'आख़िर तुम पति से इतना निराश क्यों हुई? जहाज की दोस्तियां तो ज्यादा देर तक टिकने वाली नहीं होती।'

'प्यार अंधा होता है न।.... पर फिर भी, अगर मैं वरुण से न भी मिलती, तो भी मैं निराश ह़ी होती। सैमी और उसके परिवार वाले बड़े नकली से लोग थे। यह तो मुझे जहाज़ पर ही पता लग गया था कि पारसियों और हिन्दूस्तानियों में कोई ख़ास फ़र्क नहीं होता, और न ही सैमी किसी शाही खानदान में से था, उसका अपना एक छोटा-सा टापू ज़रुर था, जो उसने खरीदा हुआ था। पर वह ख़ुद ज़्यादातर बम्बई में ही रहता था। मेरे आने से समाज में उसका सब रुतबा बहुत बढ़ गया था। रुतबा बढ़ाने के लिए ही उसने मुझसे शादी की थी। शादी इसलिए नहीं की थी, क्योंकि उसे मुझसे प्यार था, बल्कि इसलिए कि मेरी शक्ल-सूरत अच्छी थी और मैं अंग्रेज़ थी। शायद इसलिए भी कि मैं ग़रीब भी और मुझे आसानी से हासिल किया जा सकता था।

'तुमने वरुण के बारे में सैमी को बता दिया था?'

'शुरु में नहीं। पहले मैंने यह बात पकड़ ली कि हिन्दुस्तान मुझे पसन्द नहीं आया और मैं वापस जाना चाहती हूं। पर फिर मैं वरुण को पत्र लिखे बिना नहीं रह सकी और तब सैमी को पता लग गया। खैर, इन बातों में क्या रक्खा है। मैं अपने वादे मुताविक नियत समय पर लंदन पहुंच गई थी। पर वरुण इतना कायर साबित हुआ कि उसने मेरा दिल तोड़ डाला- एकदम तोड़ डाला।'

'वह क्यों नहीं पहुंचा था लंदन?'

'उसका छोटा-सा पत्र आया, जिसमें लिखा था कि वह अभी भी मुझे उतना ही प्यार करता है, पर कर्तव्य ने उसके पाओं में बेड़ियां डाल दी हैं। और वह कर्तव्य केवल व्यक्तिगत नहीं है, और वह कर्तव्य प्रेम से ऊंचा है। 'बस, उनके बाद उसने मुझे कोई पत्र न लिखा और न ही मेरे किसी पत्र का जवाब ही दिया। उसका ख़याल था कि मैं उसे भूल जाऊंगी। पर मेरी बदकिस्मती कि मैं उसे भूल न सकी। मुझे यक़ीन था कि वह पत्र उसने अपनी मर्ज़ी से नहीं लिखा था और वह मेरे बिना जी नहीं सकता था।

'मैं बहुत ग़रीब लड़की थी, वेद। जब सैमी मुझे मिला, तो मैं एक कैन्टीन में काम करती थी। फिर, मैंने लंदन में छोटी-मोटी नौकरियां की। मैं मेफ़ेयर होटल में काम करती थी कि यह बूढ़ा बंगाली, जिसकी मैं इस समय पत्नी हूं वह मुझे एक रात या कुछ रातों के लिए खरीदना चाहता था। पर मैंने उम्र भर के लिए बिकने का शौक ज़ाहिर किया। मैं ऐसे दिखावा किया जैसे मैं उस पर मर-मिटी हूं। सैमी तो नाम का ही राजकुमार था, पर रेमा का सचमुच राजाओं - महाराजाओं के साथ उठना-बैठना है। बेहिसाब दौलत है उसके पास। पता नहीं कितने जंगलों और चाय के बाग़ों का मालिक है।

'सो, मैं फिर हिन्दुस्तान आ गई, पर दूर भूटान के आस-पास के वीरान इलाकों में। बड़ी मुश्किलों में मैंने वरुण का पता लगाया। तब वह जेल में था। मैंने सुना कि अपने देश की आज़ादी के लिए उसने बड़ी खतरनाक लड़ाईयां लड़ी थीं, मैं गर्व से मर गई। सो, यह था वह कर्तव्य, जिसके लिए उसने प्यार की कुर्बानी दी थी, सचमुच, वह कर्तव्य प्रेम से ऊंचा था। मेरा भाई भी तो अपने देश की ख़ातिर लड़ता हुआ मारा गया था- आसाम या बर्मा के जंगलों में।

'कभी मैं सोचा करती थी कि मेरा भाई जापान से हिन्दुस्तान की रक्षा करता हुआ मारा गया है, सो वरुण अंग्रेज़ों के खिलाफ़ क्यों लड़ रहा है। मेर इर्द-गिर्द चाय के बागों में हर अंग्रेज को हिन्दुस्तानियों से नफ़रत थी। वरुण से मुलाकात होने तक खुद मुझे हिन्दुस्तानियों से नफ़रत थी। सो, हिन्दुस्तानी हम से नफरत क्यों न करें? हम उन्हें अपना गुलाम समझते थे, उन्हें काले आदमी कह कर तिरस्कार करते थे। सो, वे हम से छुटकारा पाने के लिए क्यों न लड़ें? वरुण जितना अरसा जेल में रहा, मैं अपने फैसले पर गर्व महसूस करती रही। मुझे लगता कि मुझे मुझसे दूर होता हुआ भी वह मेरे पास है। मैं जानती थी कि वह मेरा कभी नहीं हो सकता। वह वैवाहित था। शायद उसे अपनी पत्नी से भी प्यार हो गया हो। मैं उसकी ज़िन्दगी में कोई विघ्न नहीं डालना चाहती थी। बस, यही चाहती थी कि उसे देख सकूं, कभी-कभार मिल सकूं, पत्र-व्यवहार कर सकूं ....। मेरे लिए इतना ही बहुत था कि मैंने एक बढ़िया इन्सान से प्यार किया है, घटिया इन्सान से नहीं।

'और फिर हिन्दु-मुस्लिम फ़सादों की भयानक ख़बरें आने लगीं-खास कर पंजाब से। मेरी चिन्ता का कोई अन्त नहीं था। मैं किसी तरह पता लगा सकी कि वरुण जेल से बाहर आ चुका है। मैंने उसे पत्र लिखा, पर कोई जवाब न आया। फिर पाकिस्तान बना तो उसका शहर पाकिस्तान में चला गया। ख़ून की नदियां बह रही थीं। मैं मन मसोस कर रहा गई।

'और फिर हम मिले। पर वरुण वह इन्सान नहीं था, जिसे में पूजती रही थी, वह एक टूटा हुआ, कमज़ोर, डरपोक इन्सान था, जिसे प्यार करते हुये भी मैं उसकी इज़्ज़त नहीं कर सकती थी, उसने मुझे इस लिए नहीं छोड़ा था कि वह अपने देश के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करना चाहता था। वह तो उससे पहले ही टूट चुका था। वह ख़ुद को झूठे दिलासे देना चाहता था। वह मुझे कुछ बता चुका है। और जिस वातावरण में मैं रह रही थी, उसे तुम आज देख ही चुके हो। मैं कैसे साबित कर सकती थी।

'यह है संक्षेप में हमारे प्यार की कहानी। हम अब भी एक दूसरे से प्यार करते हैं - बहुत प्यार करते हैं। पर मुझे नहीं पता यह कैसा प्यार है।'

सिलविया चुप हो गई। वेद ने सिगरेट-केस खोलकर उसे पेश किया, पर सिलविया ने सिगरेट नहीं ली। वेद ने ख़ुद एक सिगार लेकर सुलगाई। तब उसने कहा, 'मुझे जेल में वरुण मिला था।'

'वह तुम मुझे बता चुके हो। चलो अब चलें।'

वेद सिगरेट फेंक कर उठ खड़ा हुआ।

'कितना घिनौना है चान्द।' सिलविया ने कहा।

'कहते हैं कि आदमी उस पर पहुंचने की कोशिश कर रहा है।'

'मैंने भी की थी,' सिलविया ने कहा और उस मज़ाक पर ख़ुद ही हंस पड़ी।

होटल के दरवाज़े केपास पहुंच कर वह रुकी और उसने कहा, 'वेद, मैं अकेली नहीं सो सकूंगी। तुम्हे एतराज़ हो तो बेशक -'

'तुम जैसी खूबसूरत लड़की के साथ सो कर यह कैसे हो सकता है।'

(6)

प्रातःकाल के समय मौसम अच्छा हो गया था। मद्धिम-सी लरज़ती हुई हवा ने जैसे अपने ठंडे पपोटों से वरुण की पलकों को बन्द कर दिया था। वह मीठी नींद का आनन्द ले रहा था। पहाड़ की चढ़ाई चढ़ रही गाड़ी भी सुस्त हो गई थी। जब भी कभी वरुण की आंख खुलती, वह चाहता कि गाड़ी उसी मंद रफ़्तार से चलती रहे, और वह लगातार सोता रहे। पर उसे क्या पता था कि कालका स्टेशन ज़्यादा दूर नहीं रह गया था।

और जब वह जागा तो गाड़ी कालका स्टेशन पर खड़ी थी। उसके साथ के कुछ यात्री उतर चुके थे और एक बूढ़ा और एक जवान उतरने की तैयारी में थे। वरुण के बर्थ पर से उतरने तक सारा डिब्बा खाली हो चुका था। पर हां, वह गिलास उसी तरह क्लिप में टंगा हुआ था।

सोडा वाटर वाले डिब्बे का लड़का गिलास लेने के लिए वहां आया, पर वह पहला लड़का नहीं था।

'वह लड़का कहां है, जो रात को यहां आया था?' वरुण ने पूछा।

'वह गाड़ी से गिर पड़ा था।'

वरुण का मन ग़ुस्से से भर गया। उसने कुली को अपना सूटकेस उठाने के लिए कहा और रेल-मोटर की तलाश में प्लेटफ़ार्म की ओर चल पड़ा।

ख़ुशकिस्मती से उसे रेल-मोटर में जगह मिल गई। वह उसमें अपना सामान रखवा ही रहा था कि एक आदमी ने उसे बांह से पकड़ लिया। वरुण ने मुड़कर देखा तो पुलिस-इन्सपेक्टर की वर्दी पहने और तुर्रे वाली पगड़ी बांधे उसका स्कूल का सहपाठी, तिलकराज खड़ा था। पर उस समय वरुण को अपने परिचित किसी भी व्यक्ति से मिल कर ख़ुशी नहीं हो सकती थी।

'के गल ए, बादशाहो। चुपचाप पास से चले जा रहे हो?'

'ओह, हैलो तिलक! तुम यहां क्या कर रहे हो?' वरुण ने बनावटी गर्मजोशी से हाथ मिलाते हुए पूछा।

'अपनी ड्यूटी, और क्या।'

'पर पहले तो पटा-'

'दो महीने हुये, मेरी पेस्टिंग यहां हो गई थी। उतारो सामान और चल मेरे साथ।

'बात यह है कि - मैं अपनी बच्ची को मिलने जा रहा हूं सनावर। इस वक्त नहीं रुक सकता।' न चाहते हुए भी वरुण के मुंह से झूठ निकल गया।

'तुम रुक क्यों नहीं सकते? मैं तुम्हें अपनी जीप में सनावर छोड़ आऊंगा - इस छकड़े से पहले। चलो, घर चल कर नाश्ता करते हैं।' और उसने कुली को सामान लेकर अपने पीछे-पीछे आने के लिए कहा।

वरुण लाचार बना उसके साथ चल पड़ा।

तिलकराज से उसकी ख़ास दोस्ती नहीं थी। बस, इतना सम्बन्ध था कि स्कूल में वे तीन-चार साल तक सहपाठी रहे थे। फिर कई साल तक मुलाकात नहीं हुई थी।

और जब दोबारा मुलाकात हुई थी, तो वह ख़ुशी का कारण नहीं बनी। वह मुलाकात वरुण के पिता के मरने से कुछ समय पहले हुई थी। तब देश के बंटवारे का फैसला हो चुका था। देश भर में हिन्दू-मुस्लिम फ़सादों की आग पैल चुकी थी। इंग्लैंड से लौटने के बाद वरुण का घर में निकम्मा होकर बैठ जाना, रेलवे में आसानी से मिल सकने वाली इंजीनियरिंग की नौकरी को ठुकरा देना और फिर कांग्रेस के कामों में लग जाना उसके पिताजी के लिए बहुत बड़ा सदमा साबित हुआ था। छोटी-छोटी बात पर बाप-बेटे की झड़पे होने लग जाती थी और कई - कई दिन तक वे एक दूसरे से बोलते नहीं थे। फिर, सिलविया से टूटने के बाद वरुण की सेहत लगातार गिरती रही थी, जिसे देखकर चिन्तातुर पिता को और भी चिन्ता होती थी। कई बार वे चुप बैठे हुए उसे घूरने लगते, जैसे उसके फ़ैसलों के पीछे छिपे हुये रहस्य को जानना चाहते हो। उन्होंने स्कूल में हैंडमास्टर और घर में मालिक के रुप में अपनी रोबदार शख़सीयत कायम की हुई थी। वरुण को बचपन से ही उन से डर लगता रहा था और उसने उनकी आशा का उल्लंघन करने का कभी साहस नहीं किया था। उनसे सामने अपना दिल खोलने का तो सवाल ही पैदा नहीं होता था।

उस समय तिलकराज के साथ चलते हुए वरुण को एकाएक ख़याल आया कि अगर उसने प्रा० कामथ के बजाय अपने पिताजी के सामने दिल खोल कर सिलविया का ज़िक्र किया होता, तो नतीजा कुछ और निकलता। बेटे की खुशी के लिए पिताजी सब कुछ कर गुजरते। तब पिताजी की याद में वरुण का मन कुछ क्षणों के लिए पसीज उठा और उसका कण्ठ भर आया।

पर उस दिनों तो एक दिन बाप-बेटे का खूब झगड़ा हुआ था। वरुण के पिताजी ने 'टिव्यून' में इश्तहार पढ़ा था कि रावलपिंडी में एक अंग्रेज अफ़सर इंग्लैंड लौटने से पहले अपना सामान बेंचना चाहता है। उस सामान में एक बन्दूक की ज़िक्र था। तब उन्होंने वरुण को अगले ही दिन रावल पिंडी जाने, अपना लायसेन्स बनवाने और बन्दूक ख़रीदने का हुक्म सुना दिया था। फिर कहा था, 'यह लो, इस पते पर जाना। मेरा पुराना स्टूडैंट और तुम्हारा अपना हमजमाती, तिलकराज वहां सब-इन्सपेक्टर लगा हुआ है। वह तुम्हारी मदद करेगा।'

वरुण को ऐसे लगा था, जैसे पिताजी जानबूझ कर उसे ज़लील करना चाह रहे थे, उससे अपना थूका हुआ चटवाना चाह रहे थे। वह एक कांग्रेसी होकर पुलिस अफ़सर की मदद ले, और वह भी एक अंग्रेज की पुरानी बन्दूक ख़रीदने के लिए। वह, जिसने अभी साल भर पहले मौत के बिस्तर पर पड़ी अपनी पत्नी से मिलने के लिए पैरोल पर जाने के शर्मनामे को हकारत से ठुकरा दिया था।

पर उसे जाना पड़ा था। कभी अपनी आत्मा की आवाज़ सुनकर और प्रो० कामथ का कहना मान कर उसने सिलविया को छोड़ने और कांग्रेस के आदर्शवाद के रास्ते पर चलने का फैसला किया था। पर फिर कांग्रेस अपना आदर्शवाद छोड़ कर अंग्रेजों की बगल में जा बैठी थी। और वरुण की जिन्दगी की किश्ती की पतवार और लंगर सब टूट गये थे और वह तूफ़ानों में थपेड़े खाने लगी थी।....

'वहुत सुस्त-से हो, क्या बात है?' तिलक राज ने पूछा।

'रात भर सोया नहीं, यार। बहुत सख़्त गर्मी थी, 'वरुण ने कहा।

'ग़म न करो। चल कर एकदम ठंडी बियर पिलाता हूं। सारी सुस्ती जाती रहेगी।'

'इस वक्त बियर।' वरुण ने घबरा कर पूछा।

'वियर का भी कोई वक्त होता है? वह तो पानी समझो। अपनी घरवाली आजकल घर में नहीं है। दोनों दोस्त बैठ कर मौज करेंगे।'

'पर, तिलक यार, मुझे सनावर जल्दी पहुंचना है। फिर, वहां से आगे शिमले जाना है। बहुत काम है मुझे।'

'सुन लिया न। क्या एक ही बात किये जा रहे हो। माना कि बहुत बड़े आदमी बन गये हो।'

वरुण ने अपने आपको कोसा। आख़िर उसमें इतना साहस क्यों नहीं है कि सही बात बता दे और उससे पीछा छुड़ाये। पर यही तो वह दीवार थी, जिसे तोड़ने की उसमें शक्ति नहीं थी। अगर वह सिलविया को दिये हुये बचन पर पूरा उतरता, तो यह दीवार टूट जाती और वह सुख का सांस लेता।

तिलक का पिता बहुत मामूली आदमी था। उसका लकड़ी का टाल था, और छोटा-सा, अंधेरा घर था। पर उस घर में कितनी आज़ादी थी। पांच-छः भाई-बहन थे तिलक के। घर में हर समय ऊधम मचा रहता। तिलक पर पिता के चेहरे पर वरुण ने कभी गुस्सा और रोब नहीं देखा था। वे बच्चों को कहानियां सुनाते, उनसे कहानियां सुनते।

लेकिन वरुण को अपने घर में बंदिशे ही बंदिशे दिखाई देती थीं। वह उन बंदिशों का पालन करके अपने पिताजी का प्यार जीतना चाहता, उन से प्रशंसा पाना चाहता। पिताजी उसे अपने साथ कुर्सी पर बैठा कर अपनी थाली में खाना खाने के लिए कहते। उस समय वरुण की ख़ुशी का ठिकाना न रहता। वह चाहता कि अपने पिताजी को अपना कोई कारनामा सुनाये। बढ़ा-चढ़ा कर, मिर्च-मसाला लगाकर। या कोई शिकायत करे, कोई चुगली करे, किसी की निन्दा करे..... कुछ भी, कुछ भी करे। पर शब्द उसके होठों पर आकर रुक जाते और वह कुछ भी न कह सकता। यह दीवार उसके मन में तभी खड़ी हुई होगी।

स्टेशन के बाहर जीप खड़ी थी। तिलक और वरुण को देखते ही एक सिपाही जीप में से कूद कर उतरा और उसने उन्हें सैल्यूट किया।

'पहले जहा थाने चलूंगा- एक-दो मिनट के लिए, 'तिलक ने कहा।' आज हमने एक कम्युनिस्ट पकड़ा है - इसी तुम्हारे वाली गाड़ी में।

'अच्छा।'

'तुम नहीं सोये तो मैं भी कहां सो पाया। रात दस बजे ख़बर मिली कि एक कामरेड आ रहा है।'

'कौन है? नाम पता है?'

'पता नहीं कौन है मादर-अंडर ग्राउंड होगा। अंडर ग्राउंड होने पर नाम बदल लेते हैं।'

जीप चढ़ाई पर दौड़ी जा रही थी।

'बड़ा कुत्ता स्टेशन है यह कालका,' तिलक ने कुछ रुक कर कहा। रोज यह गाड़ी कोई न कोई मुसीबत लेकर आती है। कभी कोई मिनिस्टर, कभी बाहर से आया कोई बी०आई०पी०। भला तुम ने कांग्रेस क्यों छोड़ दी?'

'यह बहुत मुश्किल सवाल है यार?'

'जब सूट पहनना चाहिये था, तब तुम खद्दर पहनते रहे, और अब जब खद्दर पहनने में फ़ायदा है, तुम सूट पहनने लगे हो।

'बात तो तुम ने बिल्कुल सही कहीं है,' वरुण ने हंसकर कहा।

'याद है, जब तुम्हारे लिए वह बन्दूक ख़रीदने गये थे? वह मेम तुम्हारे खद्दर के कपड़े देख कर किस तरह जल-भुन गई थी।

'हां। मैं तो हैरान हूं कि तुमने एक ही दिन में कैसे मुझे लायसेन्स दिला दिया था।'

'मैंने दिला दिया था? नहीं। उन दिनों हिन्दुओं और मुसलमानों को खुलेआम लायसैस देना सरकार की पालिसी थी। तुम्हारे पिताजी को सब बता है। मैं नया रंगरुट था - सब - इन्सेपेक्टर। मेरी क्या हैसियत थी। सारा काम तो उन्होंने क्या नाम था, जो तुम्हारे साथ आये थे?'

'मेहता सेवाराम।'

'हां, सारा काम तो उन्होंने करा दिया था। मैंने तो बस कागज़ों में तुम्हारी सिफ़ारिश की थी।

उसकी बात वरुण को सही लगी। बल्कि अब उसे सारी बात समझ आई। मेहता सेवा राम की रावलपिंडी सदर में बहुत बड़ी दुकान थी, और वे वरुण के पिताजी के गहरे दोस्त थे। वरुण पिताजी का पत्र लेकर पहले उन्हीं के पास गया था और वे उसी समय उसके साथ चल दिये थे। उन्होंने लम्बा, काला कोट पहना हुआ था और अंग्रेज़ों जैसा गोरा चेहरा था उनका। पर अफ़सर के सामने, चाहे वह गोरा हो या काला, पेश होते ही उनका स्वाभिमान ग़ायब हो जाता था। वे दिन भर झुक-झुक कर फ़र्शी सलामे करते रहे थे। वरुण को उनके साथ और ख़ुद अपने साथ भी उस दिन जितनी नफ़रत हुई थी, उसके पहले कभी नहीं हुई थी।

जब वे बन्दूक देखने के लिए अंग्रेज अफसर के बंगले पर पहुंचे थे, तो भी पत्नी ने वरुण को खद्दर के कपड़ों में बड़ी हकारत से देखा था। उसकी नज़र वरुण को जैसे सुनहरी खोले दिखाई दे रहे थे। तब वरुण ने खुद को टूटा हुआ महसूस किया था। वह कई दिन से सिलविया के पत्र का रुत्तर देने के बारे में सोच रहा था। सिलविया उसकी ख़ातिर एक बूढ़ें बंगाली से शादी करके कलकत्ते आई हुई थी। कितनी बड़ी कुर्बानी की थी उसने।

पर उस समय उस अंग्रेज़ स्त्री की आंखों में की हकारत तो उसे जैसे असलियत दिखा दी थी। और उसे लगा कि सिलविया के पत्र का उसके पास कोई जवाब नहीं है।

और जब वह मेहता के साथ दिन भर भागदौड़ करके कचहरी में पहुंचा था, तो सामने एक दरवाज़े से उस का गहरा दोस्त और मोहल्लेदार, अकरम बाहर निकला था। उसके हाथ में रिवाल्वर था, छोटा-सा, बहुत बढ़िया डिज़ाइन का। शायद उसके भी वह किसी अंग्रेज से लिया था। वह बहुत खुश नज़र आ रहा था। वरुण को देखते ही एक क्षण के लिए उसके चेहरे पर की खुशी ग़ायब हो गई थी। फिर, उसने अचानक कहना शुरु किया था।' सरकार के वफ़ादार हैं हम। हमारे घराने की तो खिवायत है यह।'

वरुण बन्दूक उठाये खड़ा उससे आंखें नहीं मिला सका था। तभी अकरम चला गया था और वरुण उसके शब्दों का अर्थ सोचता रह गया था।

जीप पुलिस-स्टेशन पहुंची। गर्मी होने के कारण, कुर्सियां मेज़ बाहर अहाते में लगे हुए ते। एक तरफ़ पीली-सी दीवार के पास पूरे रंग के खद्दर का कमीज़-पाजामा पहने एक नौजवान खड़ा था। उसे हथकड़ी लगी हुई थी। उसके कंधों पर नसवारी रंग की शाल थी। पास में सिपाही खड़ा था। वरुण ने सोचा कि वही नौजवान कम्युनिस्ट होगा। अगर उसकी जगह वह खुद होता तो कितनी खुशी होती उसे।

एक मेज़ के पास पड़ी दो कुर्सियों पर तिलक और वरुण बैठ गये। एक सिपाही ने खाकी कागज़ों वाला एक रजिस्टर खोल कर तिलक के सामने रखा। तिलक ने उसमें कुछ लिखा और फिर हस्ताक्षर करके उठ खड़ा हुआ, और उसने वरुण से कहा, 'चलो, अब घर चलें।' तभी उसने कैदी से कहा, 'तुम्हारे साथ एक और आदमी था। मैं अच्छी तरह जानता हूं। सोच तो लो अच्छी तरह, आख़िर बकना ही पड़ेगा। मैं अभी आता हूं। न बताया तो एक-एक हड्डी तोड़ कर रख दूं तुम्हारी।'

कैदी ख़ामोश खड़ा रहा। वरुण ने जानना चाहा कि उसकी आंखों में डर था या गर्व। तभी तिलक कैदी की और बढ़ा और उसने उसके मुंह पर थप्पड़ मारा।'

कैदी के चेहरे पर उसकी अंगुलियों के निशान उभर आये। पर उसका चेहरे का भाव न बदला। वह थप्पड़ खाने के लिए जैसे पहले से ही तैयार था।

तिलक वरुण को साथ लेकर जीप में बैठा और घर पहुंचा, बंगला कम और क्वार्टर ज्यादा लगता था। बैठक भी मामूली-सी थी और खास साफ़-सुथरी नहीं थी।

वरुण को लग रहा था कि वह बुरी तरह फंस गया है। रेल मोटर इस समय पहाड़ की चढ़ाई चढ़ रही होगी। बोगरे स्टेशन पर सिलविया हमेशा की तरह उससे मिलने के लिए दौड़ती हुई जायेगी, लेकिन आज पहली बार उसे निराश होना पड़ेगा। कितनी परेशानी होगी उसे। .... अब यहां से जल्दी से जल्दी छुटकारा पाना चाहिये।

तिलक ने अरदली से कहा, 'अबे, गर्म पानी रखवा साहब के नहाने के लिए। और किरपे का बुला, कहां मर गया है साला?'

'यार तिलक, सच कहता हूं, मुझे बहुत जल्दी है। इस वक्त नहाने की ज़रुरत नहीं है। बस, टैक्सी मंगा दो, और कोई तकल्लुफ़ न करो। मैं साल में दो-तीन बार आता हूं सनावर। लौटते वक्त इत्मीनान से ठहरुंगा तुम्हारे पास। इस वक्त मुझे जाने दो।'

'नाश्ता तो करोगे कि नहीं? इतनी जल्दी किस बात की है? अभी तो साढ़े सात बजे हैं। सात साल बाद मिले हैं। बड़े नख़रे कर रहे हो। मान लिया कि बहुत बड़े आदमी हो गये हो।'

वरुण उठ कर मुंह-हाथ धोने के लिए गया। इतने में नाश्ता आ गया। गोल किये हुए आमलेट, तैयार चाय, डबल रोटी के कच्चे स्लाइस। वरुण को लगा, यह सब कुछ जैसे किसी ढाबे से आया हो।

'माफ़ करना, यार, तुम्हारी भाभी यहां है नहीं। जो मिले खा जाओ, तिलक ने कहा।

'बहुत बढ़िया है। कहां गई है भाभी?'

'दिल्ली। तुम्हारे शहर। उसके माता-पिता अब वहां है।'

'तुम भी दिल्ली जाते रहते होगे?'

'कई बार। एक-दो बार तुम्हें मिलने का ख़याल भी आया था। सुना है, तुम कारखाने के मालिक बन गये हो। मैंने सोचा कि कहीं कोई फाटक के अन्दर दाख़िल ही न होने दें।'

'कैसी बातें करते हो।'

'अपनी तरफ़ के लोगों से भी मिलते हो? हमारे पिंडी वालों से तो भरी पड़ी है नई दिल्ली।'

'हां। हमारे जेहलम की तरफ़ के भी बहुत से लोग है।'

'पिंडी के मुकाबले में जेहलम कोई चीज नहीं थी, यार।'

'जेहलम वाले यहीं बात पिंडी के बारे में कह सकते हैं।'

'भला जेहलम भी कोई शहर है? वह तो गांव है। चलों छोड़ो, भाड़ में जायें पिंडी और जेहलय दोनों। तुम्हें पता है, तुम्हारी पिंडी वाली ज़मीनों का तबादला भी मैंने ही करवाया था।'

'नही, मुझे नहीं पता। हां, यह पता है कि पिछली बड़ी जंग में पिताजी ने पिंडी में सस्ते भाव में कुछ ज़मीनें खरीदी थीं, जिनकी कीमतें दूसरी बड़ी जंग में बहुत बढ़ गई थी। और पिताजी ने सही वक्त पर किसी मुसलमान की जायदाद के साथ उन का तबादला कर लिया था। उन दिनों मैं कांग्रेस के कामों में लगा हुआ था।

'पर बाद में तो वह तबादला तुम्हारे बहुत काम आया।'

'हां, इसमें कोई शक नहीं।'

'चलो, मुझे तसल्ली है कि मैंने मास्टरजी की कुछ सेवा की थी। आख़िर हमें भी तो उन्हीं का सहारा था।'

अब वरुण को बीच की बात समझ आने लगी। उसने कहा, 'तुमने पहले क्यों न बताया? पिताजी तुम्हारे उस्ताद थे, पर मैं भी तो तुम्हारा बचपन का साथी था। ईश्वर का दिया सब कुछ है। मेरे लायक कोई काम हो तो करने से कोई संकोच न करना।'

'मैंने तो यूं ही ज़िक्र किया है। ईश्वर का दिया सब कुछ है। तुम्हारी तरह दिमाग़ का तेज़ होता, तो फिर क्या बात थी। पर मैं तो इंटर भी पास न कर सका। हाकी के जोर पर पुलिस में नौकरी मिल गई। यही क्या कम है? पर यार, पुलिस की नौकरी का मज़ा अंग्रेज़ों के जमाने में था। अब तो बस बुरी हालत है। चलो, अब चलें।'

वरुण ने अपने बटुये में से विज़िटिंग कार्ड निकाल कर उसे दिया।' इस में मेरा फ़ोन नम्बर भी लिखा हुआ है। अगली बार दिल्ली आने पर मेरे पास ठहरना। भावी को भी साथ लाना। बड़ी ख़ुशी होगी। ... बच्चे कितने हैं तुम्हारे?'

'नदारत। वैसे, श्रीमती बांझ नही है। डाक्टर कहते हैं कि रिलैक्स नहीं करती, क्योंकि पुलिस से डरती है।' तिलक ज़ोर से हंसा।

जीप शिमले वाली सड़क पर चल दी थी। आबादी में से बाहर निकलते ही तिलक ने पीछे बैठे अरदली को कहा, 'अबे, बियर की बोलतें निकाल कर दे आईस बाक्स में से।'

'तिलक यार, इतनी सवेरे? अभी तो चाय पी है। कसम से, बिल्कुल दिल नहीं कर रहा।'

'भला बियर पीने का भी कोई वक्त होता है।'

दोनों बोतलें लेकर कुछ देर तक चुपचाप पीते रहे।

'उस ससुरी बन्दूक से कोई मुसलमान भी मारा था कि नहीं?'

'नहीं।'

'साथ ले आये थे कि पीछे ही छोड़ आये थे?'

'मुसलमानों ने छीन ली थी। हम तो बस तन के कपड़े ले कर ही जेहलम से निकल सके थे।'

'माल वगैरह तो पहले ही भेज चुके थे। मासूम न बनो।'

'उस बारे में मैं कुछ नहीं जानता- बिल्कुल कुछ नहीं जानता।'

'हरे छोड़ो, यह कैसे हो सकता है?'

'तुम न मानो।'

तिलक ने बोतल ख़ाली कर दी और अरदली से कहा, 'और लाओ एक-एक।'

'नहीं नहीं, मैं और बिल्कुल नहीं पिऊंगा, 'इस बार वरुण ने दृढ़ता से कहा। उसकी बोतल अभी आधी भरी हुई थी और अपना पेट एकदम भरा हुआ महसूस हो रहा था।

'पहले इसे तो ख़त्म करो, फिर और देखा जायेगा। सुना है नः गो फ़ास्ट विद बियर, स्लो विद ह्वीस्की।'

'सुना है।'

'सुनो, एक बात बताऊं। जब सुभाष बोस हिन्दुस्तान से भागा था न, मुझे पिंडी से उस के पीछे भेजा था। कोहाट से आगे मैं बस पर सवार हुआ। सुबह के कोई छः बजे होंगे। अभी हल्का-सा अन्धेरा ही था। मेरे साथ की सीट पर, खिड़की की तरफ़, एक गोरा बैठा हुआ था और उसके हाथ में बियर की बोलत थी। पांओं के पास छोटी-सी बोरी में उसने बियर की बोतलें रखी हुई थीं। वह एक बोलत ख़ाली करके फेंकता और दूसरी को मुंह लगा लेता। रीछ जैसी लाल-सुर्ख आंखें थीं उसकी। उसने जैसे बियर के

दरिया को मुंह लगाया हुआ था। देख कर वह मज़ा आया कि क्या बताऊं? तीन दिन मैं बन्नू में रहा और तीनों दिन मैं बियर पीता रहा और बटेर खाता रहा। अब भी बियर का वह मज़ा आता है कि ह्विस्की अच्छी ही नहीं लगती। अबे ला, एक और ला। तुम भी एक और लो, मगर। क्या पता, फिर कब मुलाकात हो।'

'नहीं, मेरी जान, इस वक्त मुझे अच्छी नहीं लगती। फिर भी, तुम्हारा कहना माना है और पी है।'

'तुम्हें एक बात बताऊं? कसम ईश्वर की, आज तक किसी को नहीं बताई। गांव में मेरी एक मुसलमान माशूक थी। अमतुल नाम था उसका। कितना प्यारा नाम है, अमतुल। है न?'

'बहुत सुन्दर।'

'मेरी बहनों की सहेली थी, और हमारी मोहल्लेदार। बस, पागलों सा इश्क हो गया था उससे। तुमने कभी किसी मुसलमान लड़की से प्यार किया है?'

'नहीं।'

'तो फिर पिओ, दुनिया में कुछ नहीं किया। जो चुम्बन मुसलमान लड़की देती है - नहीं, देती नहीं बल्कि लेती है - उसका जवाब नहीं है। हिन्दू लड़कियों को क्या पता, चुम्बन क्या होता है। चुम्बन का मज़ा आता है, रोगनजोश खाने वाले को दाल खाने वाली हिन्दू लड़कियों वह मज़ा क्या जाने? मैं कुंवारा था उन दिनों, और उसके पीछे पागल था। उनका परिवार बंटवारे के बाद कोइमरी चला गया था। मैं हफ़्ते में एक-आध बार वहां का चक्कर लगा आता हूं। वह भी मुझे उसी तरह प्यार करती है। बंटवारे के पहले एक रात मैं उसे मिलने गया। काश्मीर पाइंट पर उनकी कोठी थी। तब आख़री बार मिला था मैं उससे। मैं बहुत मिन्नतें की कि मेरे साथ भाग चले, पर वह मानी नहीं। बस, रोये जा रही थी, रोये जा रही थी। मेरी कोई बात ही नहीं सुनती थी। तभी कोठी में से आवाज़ें आनी शुरु हो गई : 'अमतुल! अमतुल!' कोई टार्च लेकर अहाते में आया। मैं अमतुल की बांह पकड़ कर उसे अपने साथ खाई में ले जाने लगा। वह डर कर चीख़ उठी - अब्बा।' मैंने उसको कस का थप्पड़ मारा और खाई की ओर भाग उठा। मैं भागता गया, भागता गया। गली में पहुंच गया। वहां एक दुकान पर बियर पी। एक और पी। तीसरी नहीं पी पाया। कमाल की बियर थी। बारुद। फिर जोश आया। फिर वह चढ़ाई चढ़ने लगा। पिस्तौल मेरे पास हर वक्त रहता था। उसमें गोलियां भर लीं। अमतुल और उसके अब्बा को ख़त्म कर दूंगा। ..... रास्ते में तीन मुसलमान जंगल में से आते हुए दिखाई दिये। पता नहीं क्या सूझी मुझे। 'ठहर जाओ, हरामियो!' मैं गरजा और तीनों को पिस्तौल से भून डाला। क्या पता मैं पागल ही हो गया था। रास्ता भूलकर पता नही किस तरह जा निकला था। जनरल पोस्ट आफिस के पास पहुंच कर दो मुसलमान मैंने और मार डाले।'

'कोई कार्रवाई नहीं हुई तुम्हारे खिलाफ़?'

'तुन दिनों कौन पूछता था? गोली चलना आम बात थी। रात का वक्त था। वीरान इलाका। अमतुल का गुस्सा मैंने मुसलमानों पर निकाला। पर उसे अभी भी नहीं भूल

सका। जब दिल में दर्द उठता है तो पिस्तौल की नाली उस पर रखलेता हूं। पर उसका घोड़ा दबाने की हिम्मत आज तक नहीं हुई।'

वह ज़ोर से हंसा।

वरुण ने देखा कि स्टियरिंग पर उसके हाथ हल्के-से कांप रहे थे। जवाब नहीं हिन्दुस्तानियों की बहादुरी का। उसने मन में कहा और उसे एक कहावत याद आई जो उसके पिताजी सुनाया करते थे : 'मैं कमजोर को देखता हूं तो मुझे गुस्सा आ जाता है, और ताकतवर को देखता हूं तो मुझे तरस आने लगता है।' तब उसे बंटवारे के दिनों में अपनी बहादुरी याद आई - उस भयानक रात में जेहलम शहर वारुद के ढेर की तरह दिखाई दे रहा था, जिसे कि आग लगाने की देर थी। हिन्दू-मुस्लिम दोनों तरफ़ से तैयारियां पूरी हो चुकी थी - एक तरफ़ से अपने बचाव की, जैसे कि चारों ओर से शिकारियों और उनके कुत्तों से घिर जाने पर लोमड़ी आख़िर अपनी जान देने का फ़ैसला कर लेती है। और दूसरी तरफ़ से अपनी ताकत दिलाने की, क्योंकि मुसलमानों को इर्द-गिर्द के गांवों से भरपूर मदद मिल सकती थी।

वरुण के मोहल्ले में हिन्दुओं की आबादी आटे में नमक के बराबर थी। मर्दों ने एक जगह गुप्त मीटिंग करके छोटू राम बक्षी की हवेली को अपना किला बनाने का फ़ैसला किया था। रात होने से पहले स्त्रियों और बच्चों को हवेली में पहुंचाया जाता था। वहीं खाने का प्रबन्ध करना था और हथियार जमा किये जाने थे। गुप्त मीटिंग में चितौड़ गढ़ की कसमें खाई गई थी। उन्हें आख़िरी दम तक लड़ना था, और बचाव की कोई आशा न रहने पर जौहर किया जाना था।

हवेली की सबसे ऊपरी छत पर एक बहुत बड़ी ममटी थी। उसके हिस्से में रज़ाइयों और गदेलों में भर दिया गया था। हमला होने पर स्त्रियों और बच्चों को उस ममटी में रखा जाता था। और जौहर की सूरत में रजाइयों-गदेलों पर मिट्टी का तेल डाल कर आग लगाई जाती थी। स्त्रियां बच्चे जलकर मर जायेंगे, और मर्दंग लड़कर। यह सारी योजना स्त्रियों से छिपा कर रखी गई थी, ताकि उन में हाहाकार न मच जाये।

गहरी अंधेरी रात थी। हवेली की छत पर खड़े होने पर शहर के किसी भी घर में बत्ती जलती हुई दिखाई नहीं दे रही थी। हर तरफ चुप और सहम छाया हुआ था। किसी-किसी समय 'अल्लाहों अकबर' और 'हर-हर महादेव' के नारे सुनाई दे जाते थे। एक-दो बार गोलीचलने की आवाजें सुनाई दीं। पर दंगे-फ़ंसाद न हुये।

फिर पूर्व की ओर से लपटें उठती हुई दिखाई दी। और फिर देखते-देखते आग का एक पहाड़ सा शहर के एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुंच गया। छत पर बच्चों का शोर एकाएक बन्द हो गया।

हवेली में जो हथियार जमा किए गये थे, उनमें चिड़िया मारने वाली बन्दूकें, लाठियां, गंडासे आदि थे। कुछ ज़्यादा खतरनाक चीज़ें भी थी। जैसे कि तेज़ाब और हाथबम बगैरह। चार-पांच असली बंदूकें भी थीं, जिसमें वरुण की बन्दूक भी थी। वरुण ने न तो उसके हिस्सों को जोड़ना सीखा था, न ही उसे चलाना। उसने कारतूस भी नहीं ख़रीदे

थे। उसे इस्तेमाल करने की उसे कोई ख़्वाहिश नहीं थी। अभी हफ़्ता भर पहले शहर की अमन-कमेटी सलामत थी, यद्यपि कुछ मैम्बर उसे छोड़ कर जाने लगे थे। दिन-दिन हालात बेकाबू होते जा रहे थे। कमेटी के कांग्रेसी और लीगी मैबर निराश होकर और बाकी के डर कर अपने-अपने धर्म की दलबन्दी में चले गये। थे। सिर्फ़ तीन कम्युनिस्ट बाकी रह गये थे, जो अभी भी सरगरम थे। उसमें से एक मुसलमान और दो हिन्दू थे। वे रेलवे-कालोनी में अपने विचार फैलाने की कोशिश कर रहे थे, जहां मज़दूरों ने अपना अलग चित्तौड़ गढ़ बना लिया था। रेल-मजदूरों के अलावा वहां एक लकड़ी के कारखाने के मजदूर भी आ गये थे - हिन्दू और मुसलमान दोनों। उन्होंने अपनी कालोनी में फ़साद न होने देने की कसमें खाई हुई थी। पर आज की रात वहां क्या होगा, कोई नहीं जानता था। दो हिन्दू कामरेडो में से एक हवेली के मालिक छोटू राम वक्षी का छोटा बेटा, निरंजन था। उस समय निरंजन अपने माता-पिता के पास नहीं था। उसने दोनों बड़े भाई राष्ट्रीय स्वयं सेवक दल के सदस्य थे। हवेली को 'चित्तौड़ गढ़' बनाने की योजना उन्होंने ही बनाई थी। वक्षी जी खुद कट्टर हिन्दुसभाई थे। अपने छोटे बेटे को वे कौम-नष्टच कहा करते थे और उसे हमेशा कोसते रहते थे। पर उस समय उनकी आंखों में उसके बारे में चिन्ता साफ़ दिखाई दे रही थी। साथ ही वरुण के प्रति घृणा भी थी। ममटी की दीवार के पास वे लगातार घूम रहे थे। वरुण जब भी उसके पास से गुज़रता उनकी नज़र उसे बेघती हुई प्रतीत होती और जैसे पूछती- तुम्हें तो निरंजन के साथ होना चाहिये था; तुम यहां क्या रहे हो?

वरुण को कहा गया था कि हमला होने पर वह लाउड-स्पीकर पर बोले और मुसलमानों को अमन के लिए आख़री अपील करे। यद्यपि उसका असर होने की किसी को आशा नहीं थी। वरुण खुद को बहुत ही टूटा हुआ-सा महसूस कररहा था। तभी उसके मन में विचार उठा कि हमला ज़रूर हो, स्त्रियों और बच्चों से भरी हुई ममटी को आग ज़रुर लगाई जाये, जिस में उसकी छोटी-सी बच्ची और उसकी पत्नी, प्रकाश जल कर राख हो जाये और उसे उनसे छुटकारा मिल जाये। तब वह किसी न किसी तरह जान बचा कर निकल जाये और सिलविया के पास पहुंच जाये।

वह यह सब सोच ही रहा था कि प्रकाश उसके पास आकर खड़ी हो गई। वरुण की उससे आंखे मिलीं तो उसे लगा, जैसे उसने उसके विचारों को इकसी खुली किताब की तरह पढ़ लिया हो। तब उसने खुद को बेहद कमीना, बेहद बुजदिल महसूस किया।

सौभाग्य से हमला नहीं हुआ था।

तिलक और वरुण के दरम्यान काफ़ी देर तक चुप्पी छाई थी। आखिर तिलक ने कहा, 'वह अमरीक याद है?'

'कौन अमरीक?'

'हमारे साथ सातवीं में पढ़ता था न। वही काला सांड-सा और बड़ी-बड़ी आंखों वाला। सबसे पीछे बैठा करता था। और अव्वल नम्बर का नालायक था।'

'हां-हां, हम जिस 'ढीला'कह कर बुलाया करते थे।'

'हां, बन्नू जाते वक्त जब मैं कुहाट में ठहरा तो वह मुजे एक चायखाने पर बैठा हुआ मिला। उसके हाथ में चाबुक थी। वह तांगा चलाता है।

'तांगा! पर वह तो बहुत अमीर घर का लड़का था।'

'हां, आधा कुहार शहर उसके-आप की मलकियत था। और अब बेटा उसी शहर में तांगा चलाता हैं।'

'पर क्यों?'

'उसका एक मुसलमान नाचने वाली की बेटी से इश्क हो गया था। बाप से बिगड़ बैठा। कहने लगा कि शादी करेगा तो उसी लड़की के साथ। बाप ने कहा कि उस हालत में वह उसे घर से निकाल देगा। पर उसने परवाह न की। आख़िर उसी लड़की से शादी की। और अब बाप उस शहर में मोटरों में घूमता है और बेटा तांगा चलाता हैं। उसने मुझे रात को खाने पर अपने घर बुलाया। मालूली से घर में रहता था। दो साल का फूल-सा बच्चा था उसका। मैंने देखा, वह घर नहीं स्वर्ग था। अब भी याद करता हूं तो कलेजे में ठंड पड़ जाती हैं। दो-अढ़ाई रुपये रोज़ के कमाता था, पर उस जैसा सन्तुष्ट आदमी मैंने और कोई नहीं देखा। उसके घर में ख़ुशी छलक रही थी।

वरुण के दिल में तीखी टीस उठी। और उसने मन में कहा, अमरीक और तिलक दोनों के इश्क का आख़िर दो टूक फ़ैसला तो हुआ। लेकिन उसका और सिलविया का इश्क बीच ही में लटक रहा है।

'अब भी याद आती है वह लड़की?'

'छोड़ों, याद न कराओ।'

तिलक ने बोलत ख़ाली कर के झटके से खाई में दे मारी, मानों वह किसी खरीदी हुई औरत की याद की तरह, भोगने के बाद, घृणा का पात्र बन गई हो।

अब दोनों के पास बात करने लायक कोई विषय नहीं रह गया था। जीप चीड़ों से मरे हुए कसौली के पहाड़ों में से गुज़र रही थी। ठंडी-ठंडी हवा और चारों और का हृदय कोहमरी की याद दिला रहा था।

सनावर के अहाते में दाख़िल होने पर तिलक ने जीप रुकवाई और वरुण से कहा, 'जाओ, मिल जाओ। फिर मैं तुम्हें अड्डे पर छोड़ दूंगा।'

'नहीं नहीं, पता नहीं यहां मुझे कितनी देर रुकना पड़े। तुम्हारी बड़ी मेहरबानी। अब मैं तुमसे इजाजत लूंगा' वरुण ने अरदली को अपना सूटकेस उतारने के लिए कहा।

'जितनी देर चाहो रुको, कोई फिक्र' - - -

*(१२ एप्रिल की मध्यरात्रि तक लिखा जा रहा अधूरा रह गया उपन्यास।
१३ एप्रिल दोपहर को निधन)*

•

सिनेमा

सूची

सिनेमा और स्टेज	७०२
अभिनय-कला	७०६
कलाकार जन्मजात होता है या बनता है?	७१२
मैं अभिनेता बना	७१४
फ़िल्मी दुनिया	७१८
अपने फ़िल्मी जीवन की पचीसवीं वर्षगांठ पर	७२१
कलाकार-यूनियन	७२६
स्टुडियों में : एक दिन की डायरी	७३७
विमल राय	७४०
पृथ्वीराज और नाट्यकला	७४५
भारतीय फ़िल्म-इण्डस्ट्री को पंजाबियों की देन	७६०

बलराज साहनी

सिनेमा और स्टेज

सिनेमा और स्टेज

एक ऐसे व्यक्ति के लिए, जो सिनेमा और स्टेज दोनों में दिलचस्पी रखता हो यह बताना बड़ा मुश्किल है कि वह दोनों में से कौन-सा काम ज्यादा पसंद करता है—स्टेज का या फिल्म का? सच तो यह है कि मनुष्य को अपने हर काम में आनन्द आता है, बशर्ते कि वह काम पूरी मेहनत से, पूरी आज़ादी से, और इस एहसास से किए जाए कि उससे समाज को लाभ पहुंचेगा। मैं तो यह कहूंगा कि हर मनुष्य कलाकार है, उसका प्रत्येक कर्म कलात्मक है। हमारा सामाजिक जीवन ऐसे ही लाखों-करोड़ों प्रकार के कर्मों से बना हुआ है। उनमें कोई ऐसा कर्म नहीं, जिसमें प्रवीण होकर मनुष्य कलाकार न कहला सके, कपड़े धोने का, चाहे हजामत बनाने का। बल्कि हमारे पुरखों ने तो यहां तक कहा है कि जीना भी कला है और मरना उससे भी बड़ी कला है। बशर्ते कि मनुष्य गांधी या भगत सिंह की तरह मर सके। कला जीवन से अलग होकर सातवें आसमान से उतरने वाली चीज नहीं है।

जब मैं कोई ऐसा 'पार्ट' खेलता हूं, जो मेरी भावनाओं को पूरी शक्ति से उभारता है, जिसको खेलते समय मुझे ज़रुरी सुविधाएं प्राप्त होती हैं, और मुझे एहसास होता है कि उसे देखकर दर्शक मेरी कद्र करेंगे, तो मेरी आत्मा को सच्चा आनन्द मिलता है।

मैं अकसर लोगों के मुंह से सुनता हूँ कि सिनेमा ने थिएटर को खत्म कर दिया है। शायद व्यापारिक दृष्टिकोण से यह बात ठीक है। व्यापारिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो वाक़ई नाटक और फिल्म की आपस में बड़ी दुश्मनी है। पर अगर हम ज़िन्दगी को व्यापारिक दृष्टिकोण से ही देखना शुरू कर दें, तो हर जगह भेद ही भेद नज़र आएंगे और अगर रचनात्मक ढंग से देखने लगें तो हर जगह एकता और मित्रता दिखाई पड़ेगी—ठीक वही जिसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'क्रियेटिव यूनिटी' अर्थात 'रचनात्मक एकता' कहा है।

मैं यह नहीं कहता कि सिनेमा और नाटक अलग-अलग कलाएं नहीं है। अवश्य ही ये अलग-अलग कलाएं है। पर इनके विशेष गुणों को हम तभी समझ सकेंगे, जब हम इनका प्रत्येक दूसरी कला से और सामाजिक जीवन से रिश्ता जोड़ेंगे।

मैं इस बात को ज़रा और साफ़ करना चाहता हूँ। फिल्म कला को 'आपरेशन टेबल' पर रखिए और उसकी चीर-फाड़ कीजिए तो पता चलेगा कि फिल्म-कला दरअसल एक कला का नाम नहीं, बल्कि अनगिनत कलाओं के समूह का नाम है। देखिए, एक फिल्म के बनाने में कितनी कलाएं साथ देती हैं— (१) कथानक, (२) गीत, (३) संगीत, (४) अभिनय, (५) नृत्यकला, (६) शिल्पकला, (७) चित्रकला एवं मूर्तिकला, (८) मेक-अप, (९) लाइटिंग, (१०) फोटोग्राफी, (११) साउंड-रिकार्डिंग, (१२) एडिटिंग, प्रिंटिंग, डेवलपिंग

आदि। और अगर इनके साथ उन तमाम मशीनों के बनाने की कला को भी शामिल कर लिया जाए, जो फिल्मों के लिए जरूरी हैं, तो ज़ाहिर होगा कि ललित कलाओं के साथ-साथ संसार का कोई भी छोटा-बड़ा काम नहीं, जो फिल्म बनाने के लिए इस्तेमाल नहीं होता। वास्तव में फिल्म एक सामूहिक कार्य है, जिसमें हजारों विभिन्न कलाकार शरीक होते हैं।

इसी तरह नाटक भी एक सामूहिक कला है। इसमें भी कवि से लकर दरजी, धोबी और नाई तक शरीक होते हैं।

फिल्म और नाटक दोनों की कामयाबी का रहस्य यह है कि कलाकारों ने किस हद तक मिलकर, खुशी से , भ्रातृभाव से, कंधे से कंधा मिलाकर काम किया है। ज़ाहिरा तौर पर थियेटर में पर्दा खींचने और गिराने वाला आदमी एक मामूली हैसियत रखता है। लेकिन अगर किसी दृश्य के अंत में पर्दा दो सेकंड पहले या देर से गिरे तो किस कदर कोफ्त होती है! गोया पर्दा गिराने वाले के हाथ में सिर्फ एक रस्सी नहीं, बल्कि दर्शकों की समूची भावना का सूत्र है। उसके साथ वह जिस प्रकार चाहे खेल सकता है। वह चाहे तो दर्शकों को रुला दे, चाहे तो हँसा दे। सो, थियेटर में पर्दा खींचने वाला भी एक कलाकार है, और बहुत बड़ा कलाकार है।

इन उदाहरणों से प्रकट हुआ कि फिल्म-कम्पनियां और नाटक-मंडलियां अपने-आप में एक बिरादरी हैं। यह बिरादरी जितनी मज़बूत होगी, अपनी सामूहिक रचना और सामाजिक ज़िम्मेदारी को जितनी ज्यादा महसूस करेगी, उतना ही उसका काम सफल होगा। जितना वह उससे दूर हट जाएगी, उतना ही उसका प्रयत्न निष्फल होगा।

आपने काफी-हाउस में या क्लब में बैठे हुए कई बार सुना होगा, "भई, फलां फिल्म की कहानी तो वाह-वाह है, मगर उसे 'डेवलप' ठीक नहीं किया गया। अगर 'स्क्रीन-प्ले' अच्छा होता तो चार चांद लग जाते। फिल्म को 'फोटोग्राफी' तो बड़ी शानदार है, मगर 'ऐक्टिंग' एकदम 'बोगस' है और गाने भी कितने घटिया हैं!" यानी हमारी फिल्मों के बारे में आम शिकायत यह होती है कि उनकी कोई न कोई चूल हमेशा ढीली रह जाती है।

यही हाल नाटक का है, "यार, नाटक तो बुरा नहीं था, अगर उसे ढंग से खेला गया होता। देखो न, ऐक्टिंग तो कहीं-कहीं बहुत अच्छी थी, पर लाइटिंग कितनी खराब थी!"

मुझे बहुत-सी नाटक मंडलियों का अनुभव है और मैंने देखा है कि उनकी सबसे बड़ी कमजोरी यही होती है कि उनके कारकुन अपनी मंडली की सामूहिक रचना और उसके कानून को नहीं समझते। जिन लोगों को अच्छे 'पार्ट' मिल जाते हैं वे अपने-आपको दूसरों से ऊंचा और अलग समझने लगते हैं। बहुत से नौजवान तो इन मंडलियों में सिर्फ इस खयाल से शरीक होते हैं कि स्टेज पर खड़े होकर दर्शकों के सामने अपनी नुमाइश कर सकें। मंडली के सामूहिक जीवन और दूसरे छोटे-छोटे कामों में वे लापरवाही करते हैं। 'मेक-अप,' 'ड्रेस,' 'लाइटिंग' और ऐसे दूसरे कामों को वे निचले दर्जे का समझकर दूसरों पर छोड़ देते हैं। इससे बिरादरी का वातावरण रचनात्मक नहीं रहता।

इनके मुकाबले में मैंने इंग्लैंड की 'एमेच्योर' और पेशेवर मंडलियों का वातावरण कहीं ज्यादा रचनात्मक पाया है। उनमें भावुकता कम और वैज्ञानिकता ज्यादा नज़र आई है। वहां इस सामूहिक कला के मामूली पहलू को भी बड़ी सावधानी और मेहनत से निभाया

जाता है, उसकी इज़्ज़त की जाती है, और नाटक को सर्वांग-सुन्दर बनाने की पूरी कोशिश की जाती है। इसलिए इंग्लैंड और दूसरे अनेक देशों मे भी फिल्में थिएटर को करारी चोट नहीं लगा सकीं। वहां थिएटर अपनी जगह अटल रहा है। इतना ही नहीं, फिल्मी दुनिया अच्छे अभिनेताओं और अच्छे कथानकों के लिए प्रायः थिएटर की मोहताज रहती है।

इस बात से मुझे हरगिज़ इनकार नहीं कि फिल्म के आने से हमारे देश के पेशेवर थिएटर को बहुत नुकसान पहुंचा है। पर इस हक़ीक़त को भी तस्लीम करना पड़ेगा कि पेशेवर थिएटर में कोई ऐसी बात नहीं थी, जो उसे ज्यादा दिनों तक ज़िन्दा रख सकती। इन कम्पनियों के पेश किए हुए नाटकों में कोई ऐसी विशेषता नहीं थी, जिसके आधार पर उन्हें कलात्मक रचना कहा जा सकता। इन कम्पनियों का सामूहिक जीवन अन्दर से खोखला था, और बाहर के सामाजिक जीवन से भी उनका गहरा संबंध नहीं था। जिस-जिस प्रदेश में नाटक-कम्पनियों ने अपने बुनियादी मनोरथ को समझने की कोशिश की—बंगाल या महाराष्ट्र में—वहां थिएटर अब भी जी रहा है।

आजकल की हिन्दीं फिल्में अधिकतर उन्हीं पुराने दक़ियानूसी नाटकों के रूपान्तर है, और इसीलिए उनके दीर्घजीवी होने पर लोगों को शक होने लगा है। इन फिल्मों की कहानियां वही अलिफ-लैला के क़िस्से हैं, जिनका जीवन की असलियत से कोई संबंध नहीं। इसलिए अगर आज वे व्यापारिक दृष्टिकोण से भी निष्फल हो रही हैं, तो इसमें हैरान होने की कोई बात नहीं है। कई प्रोड्यूसर यह सोचकर अपने आपको तसल्ली दे रहे हैं कि आर्थिक संकट के कारण लोगों के पास पैसा नहीं हैं, इसीलिए फिल्में फेल हो रही हैं; मगर यह उनकी भूल है। जैसा मैं पहले कह आया हूँ, कला की बीमारियों की जांच व्यापारिक दृष्टिकोण से नहीं की जा सकती।

अब मैं आपका ध्यान शेक्सपियर की लिखी कुछ पंक्तियों की तरफ आकर्षित करना चाहता हूं, जो आज से पूरे साढ़े तीन सौ वर्ष पहले लिखी गई थीं। 'हेमलेट' नाटक के तीसरे अंक में उसका नायक हेमलेट कुछ अभिनेताओं को उपदेश देता है, जो कि बादशाह के दरबार में नाटक पेश करने वाले हैं। वह उनसे कहता है:

"देखो, स्टेज पर खड़े होकर इस तरह बोलो कि सुनने वालों को रस आए, यह नहीं कि उनके कान फट जाएं। तुम अभिनेता हो, ढिंढोरची नहीं। और देखो, हाथ को कुल्हाड़े की तरह मार-मारकर हवा को मत चीरना। अभिनेता को चाहिए कि वह अपने मन को हमेशा काबू में रखे, चाहे उसके अन्दर भावनाओं के तूफान क्यों न उठ रहे हों। जो अभिनेता अपनी भावनाओं को काबू में रखकर उन्हें संयम से व्यक्त नहीं कर सकता, उसे चौराहे पर खड़ा करके चाबुक मारनी चाहिए।"

फिर वह कहता है:

"और देखो, फीके भी मत पड़ जाना। 'अंडर ऐक्टिंग' करना भी अच्छा नहीं होता। खुद अपनी सूझ-बूझ को अपना उस्ताद बनाओ, और उसी के अनुकूल चलो। अपनी चाल-ढाल को, अपने संकेतों के शब्दों के अनुकूल बनाओं, और शब्दों को संकेतों के अनुकूल और बराबर खयाल रखो कि कहीं भी वास्तविकता और असलियत पर अत्याचार

न हो। अगर कहीं भी अतिशयोक्ति से काम लिया, तो नाटक का सारा मनोरथ ही खत्म हो जाएगा। याद रखो, सैकड़ों वर्षों से नाटक का मनोरथ सिर्फ़ एक ही रहा है और भविष्य में भी वही रहेगा—असलियत के सामने आइना रख देना, ताकि अच्छाई अपना रूप देख सके, उतार-चढ़ाव भी उस आइने में साफ दिखाई दें।"

ज़रा इन पंक्तियों की कसौटी पर आप अपने देखे हुए नाटकों और फ़िल्मो को परखिए और देखिए कि वे किस हद तक पूरी उतरती हैं।

जिस दिन हमारे नाटक और हमारी फ़िल्में वास्तविकता की राह पर आ जाएंगी उसी दिन मालूम हो जाएगा कि नाटक और फ़िल्म में भाई-बहन का रिश्ता है और दोनों के दरमियान बहुत कुछ सांझा है।

इतने पर भी दोनों कलाएं अलग-अलग हैं। दोनों की अपनी अलग 'टेकनीक' है, अपना अलग इतिहास है। न हर नाटक की फ़िल्म बनाई जा सकती है, और न हर फ़िल्म नाटक के रूप में पेश की जा सकती है। एक अभिनेता की हैसियत से मेरा अनुभव है कि स्टेज का अभिनय फ़िल्म के अभिनय से बहुत अलग है। स्टेज के अभिनेता को फ़िल्मों में काम करने के लिए और फ़िल्म के अभिनेता स्टेज पर काम करने के लिए अपने आपको नये सांचे में ढालना पड़ता है, जो हमेशा आसान नहीं होता। उसे बहुत से बन्धनों को स्वीकार करना पड़ताहै। यही हाल लेखक और निर्देशक का भी है। लेकिन ऐसा करने से किसी की कलात्मक वृत्तियों पर अत्याचार नहीं होता, बल्कि ये नये बन्धन अन्त में कलाकार को औरं भी स्वाधीन बनाते हैं।

उदाहरणार्थ, सिनेमावाले के पास ऐसा हथियार है जो थिएटर को प्राप्त नहीं है। और वह है 'क्लोज़-अप'। यह हथियार वाकई सिनेमा को ज़बरदस्त ताक़त देता है। स्टेज के अभिनेता को दूर बैठे हुए दर्शकों को अपनी भावनों द्वारा प्रभावित करने के लिए बहुत कुछ करना पड़ता है, जो सिनेमा के 'क्लोज़-अप' में बिलकुल गैर-ज़रूरी है, क्योंकि 'क्लोज़-अप' अभिनेता के चेहरे को कई गुना बढ़ाकर पेश करता है। यहां एक हल्की-सी मुसकराहट या आंखों में तैरता हुआ जरा-सा पानी दर्शकों पर बिजलियां गिरा सकता है।

इसके अलावा सिनेमा की कला में एक तरह की व्यापकता है, जो उसे करोड़ों इन्सानों के पास ले जाती है, और वह भी बहुत आसानी से। अभिनेता का काम फ़िल्म पर अंकित होकर देश के कोने-कोने में व्याप्त हो जाता है, और उसे वह शोहरत मिलती है, जो उसके दिमाग़ को बड़ी आसानी से फिरा सकती है। लेकिन इसके साथ ही अभिनेता को एक लाभ भी है कि वह अपने काम को स्वयं देखकर उसकी आलोचना कर सकता है।

सिनेमा के इस व्यापक प्रभाव को हर कोई महसूस करता है। ज़ाहिर है कि अगर ऐसी शक्तिशाली कला को केवल व्यापारिक ढंग से इस्तेमाल किया जाए, और समाज का उस पर अंकुश न हो, तो बड़े खतरनाक नतीजे निकल सकते हैं। दूसरी तरफ, समाज के लिए यह भी ज़रूरी है कि नाटक के रास्ते में जो रुकावटें और असुविधाएं है, उन्हें हटाए और इस कला को सिनेमा की होड़ से बचाने का प्रयत्न करे। आज़ाद और प्रगतिशील देश में स्टेज से संबंध रखने वाला प्रत्येक कलाकार इस बात को बड़ी शिद्दत से महसूस करता है कि हर शहर और कस्बे में स्थानीय नाटक-मंडलियों को पुनः जाग्रत होने की सुविधाएं दी जाएं, और उनके द्वारा जनता की रचनात्मक प्रवृत्तियों का विकास किया जाए।

अभिनय-कला

बुनियादी तौ पर अभिनय केवल दो ही प्रकार का होता है—अच्छा अभिनय और बुरा अभिनय/बहस केवल अच्छे अभिनय की विभिन्न शैलियों के बारे में ही हो सकती है। अभिनय की शैली कहानी के प्रवाह, उसके समय और स्थान के अनुसार या फ़िल्म, रंगमंच, रेडियो आदि के माध्यमों की विशेष आवश्यकताओं के अनुसार बदल सकती है।

अभिनय अगर स्वाभाविक हो तो उसे हर कोई पसन्द करता है। लेकिन स्वाभाविक अभिनय एक तरह से भ्रांति पैदा करने वाली चीज़ हैं, क्योंकि दर्शकों को स्वाभाविक लगने वाला अभिनय करते समय हो सकता है अभिनेता को कई अस्वाभाविक बातें करनी पड़ें। उसका दृष्टिकोण दर्शक के दृष्टिकोण से भिन्न होता है। इसमें शक नहीं कि अभिनय स्वाभाविक होना चाहिए। अभिनेता इस़ बात का प्रयल करता है कि वह विशेष स्थितियों में मानव-स्वभाव को उसके सही और सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत करें। रंगमंच या फ़िल्मी पर्दे पर पेश किया जाने वाला नाटक घटनाओं की एक श्रंखला पेश करता है, जिसकी कड़ियाँ यथार्थ जीवन के नियमों से जुड़ी हुई होती है। अभिनेता अपनी कल्पना की बदौलत उन स्थितियों में समा जाता है। अगर उसे डॉक्टर की भूमिका करनी हो तो उसे खुद को डॉक्टर समझकर ही उन स्थितियों में से गुज़रना पड़ता है। सो उसके लिए सबसे पहले यह जानना ज़रूरी है कि डॉक्टर कैसा होता है। फिर उसके जीवन की घटनाओं को अच्छी तरह समझने की जरूरत है। यह सब कुछ करने पर ही वह, शेक्सपियर के शब्दों में, 'जीवन का प्रतिविम्ब' पेश करने के योग्य हो सकता है।

लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति का अभिनय बहुत स्वाभाविक है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि प्रत्येक अभिनेता की अपनी अलग तकनीक होती है, जिसे उसने गहन अध्ययन और लम्बे अभ्यास के बाद सीखा होता है। कोई चित्र, कोई संगीत अपनी रचनात्मक क्रिया में स्वाभाविक नहीं होता। लेकिन जब उसे उसके अन्तिम रूप में पेश किए जाए, तो वह स्वाभाविक होना चाहिए। उसे पेश करने के साधन कई प्रकार के हो सकते हैं, और उनकी अलग-अलग शैलियां हो सकती है। हम 'पढ़े-लिखे' अभिनेता पुराने अभिनेताओं पर नाक-मुंह चढ़ाते हैं। हम कहते हैं कि उनका अभियन स्वभावाकि नहीं था, उनमें बनावट होती थी, और वे बात को बहुत ज्यादा बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते थे। लेकिन उनके अभिनय का सही मूल्यांकन करने के लिए हमें यह देखना चाहिए कि उनका दर्शकों पर प्रभाव कैसा पड़ता था। वे जो भाव अभिव्यक्त करते थे, वे प्रायः सच्चे होते थे,और उनकी अभिनय-शैली बहुत प्रभावशाली होती थी। बाल गंधर्व जैसे अभिनेता अपनी शैली के बहुत बड़े उस्ताद थे। आग़ा हश्र के नाटक दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर देते थे।

मैं यहां एक उदाहरण देना चाहता हूँ, यद्यपि कला के क्षेत्र में यह विचित्र-सा उदाहरण है; लेकिन इसके द्वारा मैं अपनी बात ठीक तरह समझा सकूंगा। अब जैसे एक अणुबम है। उसे सही निशाने पर गिराने के लिए हवाई जहाज़, राकेट या किसी और साधन का प्रयोग किया जा सकता है। बम अपने निशाने पर पहुंचकर फट जाता है। बस इसी प्रकार बढ़िया, यथार्थवादी अभिनय होना चाहिए। उसका सही निशाने पर पहुंचना ज़रूरी है, चाहे वह किसी भी साधन या माध्यम का प्रयोग क्यों न करे। और उसकी शैली समय और स्थान की मांगों के अनुसार बदली जा सकती है।

अभिनेता जो कुछ रंगमंच पर करता है, अगर फ़िल्म के लिए उसे कैमरे के सामने हू-ब-हू दोहरा दे, तो उसका नतीजा अस्वाभाविक और हास्यास्पद होगा। अभिनेता स्वयं से कहेगा, ''मैं वही व्यक्ति हूं, और मेरे हाव-भाव भी वहीं है , जो रंगमंच पर थे; लेकिन क्या बात है कि दर्शक पसन्द नहीं कर रहे हैं?'' इसका जवाब है कि फ़िल्म के लिए अभिनय करते समय सही निशाने पर पहुंचने के लिए उसे किसी दूसरे साधन का प्रयोग करना चाहिए था, और अभिनय-शैली को उसके अनुसार बदलना चाहिए था।

इसी प्रकार अगर किसी रेडियो-नाटक में अभिनेता माइक्रोफोन के सामने वही कुछ करे, जो वह रंगमंच पर या कैमरे के सामने करता है, तो श्रोताओं के मज़ाक का कारण बनेगा। उसके संवाद अस्वाभाविक प्रतीत होंगे।

मैंने फ़िल्मों में आने से पहले कई साल तक रेडियों पर काम किया था। फिर मैंने कुछ साल तक रंगमंच पर भी काम किया। रेडियो, रंगमंच और फ़िल्म--तीनों क्षेत्रों में काम करते हुए मैंने जाना कि तीनों की अलग-अलग विशेषताएं है। यह बात पुस्तकों से नहीं, बल्कि अनुभव द्वारा पूरी तरह सीखी जा सकती है।

मैंने 'काबुलीवाला' की भूमिका रंगमंच पर भी की है, और फ़िल्म में भी। फिर, एक बार आकाशवाणी, बम्बई ने मुझे 'काबुलीवाला' को रेडियो-नाटक के रूप में प्रसारित करने के लिए बुलाया। मैं पठान नहीं हूँ, न ही पठानों की तरह बोलता या रहता हूं। उनकी बोल-चाल और उनके जीवन का रंग-ढंग सीखने के लिए मुझे बहुत मेहनत करनी पड़ी थी। लेकिन मेरे सामने सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि हर बार माध्यम के बदल जाने से अभिनय-सम्बन्धी नई समस्याओं को सुलझाना पड़ता था। फ़िल्म वाली आवाज़ रंगमंच पर की आवाज़ जितनी ऊंची नहीं हो सकती, और शारीरिक हरकतें भी बुनियादी तौर पर बदलनी पड़ती हैं। जिस किसी दृश्य में मैं रंगमंच जैसा अभिनय करने का प्रयत्न करता, वह भोंडा दिखाई देने लगता। रंगमंच पर अभिनय करते समय दर्शकों का ध्यान अपनी ओर खींचे रखने के लिए किसी हद तक शारीरिक करतब दिखाने जरूरी होते हैं। अभिनेता अचेतन रूप से ऐसा करने लगता है। उसे दर्शकों की दिलचस्पी फीकी पड़ती हुई महसूस होने लगती है, तो वह अनायास ही विशेष हरकत करता है, या आवाज ऊंची-नीची करके खास प्रभाव डालना चाहता है। लेकिन कैमरे के सामने ऐसा करने की उसे बिलकुल ज़रूरत नहीं पड़ती। तब उसे केवल कैमरा ही देख रहा होता है। कैमरे का सामने रंगमंच की-सी हरकत अभिनय को बिगाड़ देती, उसे अस्वाभाविक बना देगी।

मैं रेडियों की बात करने लगा था। एक रात हम 'काबुलीवाला' नाटक रिकार्ड करवाने के लिए रेडियो-स्टेशन पर जमा हुए। नाटक अगले दिन प्रसारित किया जाने वाला था। मुझे खुद पर पूरा भरोसा था। मैंने रंगमंच पर काबुलीवाला की भूमिका लगभग दो साल तक की थी। जब पहला दृश्य रिकार्ड हो गया, तो निर्देशक ने मुझे वह दृश्य सुनने के लिए बुलाया। मैंने कहा, ''कोई जरूरत नहीं है। अगर आपको तसल्ली है, तो मुझे भी तसल्ली है।'' तब हम अगले दृश्य की रिहर्सल करके उसे रिकार्ड कराने लगे। रात के एक बजे उस दृश्य की रिकार्डिंग खत्म हुई। मुझे खयाल आया कि तीसरा दृश्य रिकार्ड कराने से पहले दोनों दृश्यों को सुन क्यों न लिया जाए।

मैंने वे दोनों दृश्य सुने तो आश्चर्यचकित रह गया। मेरा काम बहुत ही बुरा था। मेरा पसीना छूटने लगा। मुझे पता नहीं लग रहा था कि क्या करूं। मेरे साथी शाम के आठ बजे से रिहर्सल करते रहे थे। मुझे यह सोचकर बहुत शर्म आई कि सिर्फ मेरी वजह से उनकी सारी मेहनत पर पानी फिर गया है। उस समय 'मिन्नी' का रोल करने वाली छोटी-सी लड़की को बहुत नींद आ रही थी। उसे उसके घर पहुंचाना ज़रूरी था। हम सभी उलझन में पड़े हुए थे। निर्देशक भी मुझे कुछ नहीं कह सकता था, क्योंकि मैं वही भूमिका फ़िल्म में सफलतापूर्वक निभा चुका था। बड़ी मुश्किल से मैंने संभलते हुए कहा, ''मेहरबानी करके मुझे दस-पन्द्रह मिनट आराम कर लेने दीजिए।''

मैंने बाहर जाकर पानी पिया, चाय पी और फिर सिगरेट सुलगाई। जब मन कुछ शान्त हुआ, तो मैं फिर सोचने लगा। मुश्किल का हल ढूंढ़ना ज़रूरी था। ऐसे संकट के समय ही कलाकार की परख होती है। रेडियो पर काम करने के पुराने अनुभव की बदौलत मुझे हल मिल गया। मैं कागज़-कलम मंगवा कर अपनी भूमिका के संवाद लिखने लगा। रेडियो-नाटकों में मैं हमेशा संवाद वाला कागज़ सामने रखकर ही बोला करता था। वह कागज़ मुझे श्रोताओं, स्टूडियों और वहां के साज़-सामान से निर्लिप्त रखता था। कागज़ हाथ में पकड़कर मैं अपने रोल को रेडियों के माध्यम की ज़रूरतों के अनुसार ढालने में सफल हो जाता था। रंगमंच पर जो प्रभाव मैं अपनी शारीरिक हरकतों से पैदा करता था, संवाद वाला कागज़ सामने देखकर वही प्रभाव अपनी आवाज़ द्वारा पैदा करने लगता था।

मुझे अपने संवाद लिखने में एक घंटा लगा। दूसरे कलाकार इतनी देर तक बेकार बैठे हुए हैरान हो रहे थे। मैं रह-रह कर सोच रहा था कि अगर यह तजुरबा भी नाकामयाब रहा, तो मैं किसी लायक नहीं रह जाऊंगा, और अपने साथियों की नज़रों में गिर जाऊंगा। और फिर, इतना समय बरबाद करने के लिए वे मुझ पर नाराज़ होंगे। लेकिन साथ ही मेरे अन्दर से आवाज़ आ रही थीः '' मैं जो कुछ कर रहा हूं, ठीक कर रहा हूँ। मैं मुख्य पात्र हूँ। अगर मैं अपना रोल अच्छी तरह अदा कर गया, तो बाकी के कलाकार खुद ही नब्ज़ को पकड़ लेंगे।''

सुबह के चार बजे तक बैठे रहना सबके लिए कड़ी परीक्षा थी। लेकिन सही हल मिल गया था। आखिर हम संतोषजनक काम करने में सफल हो गए।

संवाद वाला कागज़ सामने रखने से मैं अपनी भूमिका के अनुसार मन में आवश्यक एकाग्रता ला सका और खुद पर काबू पाकर अपने अन्दर वह स्थिरता पैदा कर सका जो

अच्छे अभिनय के लिए बहुत ही जरूरी होती है। जिस राकेट द्वारा मैं बम को सही निशाने पर पहुंचाना चाहता था, उसकी खास जरूरतों के अनुसार मैं खुद को बदलने में सफल हो गया था।

अभिनय में संयम का होना बहुत ज़रूरी है। अधिकांशतः बुरे अभिनय का कारण संयम का अभाव, अर्थात घबराहट होती है। जो अभिनेता अपनी तकनीक का पूरा माहिर नहीं, वह पात्र में जान नहीं डाल सकता। कई बार अनुभवी अभिनेता भी, माध्यम का विशेष दृश्य या कहानी की कड़ी को समझने में गलती खा जाने पर, संयम खो बैठते हैं। कैमरा, खासकर उस समय, जब वह बहुत निकट से फोटो ले रहा हो, अभिनेता से काम लेने में बड़ा कठोर साबित होता है। आप उसे धोखा नहीं दे सकते। संयम का मामूली-सा अभाव भी चेहरे या आंखों में प्रकट होने से नहीं रहता। दर्शक देखते ही पहचान जाने हैं कि अभिनेता किसी बात को पूरी तरह समझा नहीं है, और उसमें आत्मविश्वास की कमी है। इससे बचने का एक ही तरीका है कि अभिनेता उस विशेष दृश्य से ही नहीं, बल्कि कहानी के अगले-पिछले सभी दृश्यों से भली-भांति परिचित हो। हो सकता है कि संवाद-निर्देशक उसे पिछले कुछेक दृश्यों के संवाद फिर से सुनाए, ताकि वह उस विशेष दृश्य को उसके सही रंग में पकड़ सके, जिस प्रकार की संगीतकार अपने राग के बुनियादी स्वर पकड़ लेता है। लेकिन ऐसा करने के लिए, यानी संकट में घबराहट से बचने और सही हल ढूंढ़ने के लिए, अभिनय की तकनीक को जानना ज़रूरी है। अभिनेता अगर उस तकनीक से अनजान है, तो उसकी वैसी ही हालत होगी, जैसी की गहरे पानी में उस व्यक्ति की होती है, जिसे तैरना न आता हो। तब वह इतना घबरा जाता है कि निर्देशक समझ नहीं पाता कि उससे कैसे काम ले। ऐसी हालत में वह उसे कुछ देर आराम करने के लिए ही कह सकता है। अनजान अभिनेता, आराम करते समय, अपने चारों ओर सब लोगों को चुप देखकर और भी घबरा जाता है, और उसे लगता है कि उसी की वजह से सारा काम रोकना पड़ा है। यह बात उसके अन्दर बेचैनी पैदा करती है। सो एक बात हमेशा याद रखिएः शूटिंग करते समय निर्देशक अभिनेता को कभी अभिनय-कला नहीं सिखा सकता, और न ही उसे सिखाने की कोशिश करनी चाहिए। उस समय तो वह उसे उस खास दृश्य के बारे में ही समझा सकता है। तब अभिनेता को चाहिए की वह खुद को निर्देशक के हवाले कर दे—किसी ऐसे कोमल साज़ के रूप में, जो मामूली-सा स्पर्श पाकर भी ध्वनित है उठता हो। निर्देशक में योग्यता होनी चाहिए कि वह अभिनेता को अपनी ज़रूरत समझा सके और अभिनेता में योग्यता होनी चाहिए कि वह निर्देशक की ज़रूरत पर पूरा उतर सके। अगर अभिनेता अपनी मर्ज़ी करने की जिद करता है, तो वह अभिनेता नहीं है, बल्कि एक अहंकारी व्यक्ति हैं, क्योंकि फ़िल्म की सारी रूपरेखा उसमें नहीं, बल्कि निर्देशक के दिमाग में होती है। अभिनेता का काम है कि पूर दिल से उस रूपरेखा को समझे। अगर वह रूपरेखा उसे पसन्द न हो, तो उसे शूरू में ही उस निर्देशक के नीचे काम करना स्वीकार नहीं करना चाहिए। लेकिन एक बार स्वीकार करने के बाद उसका फ़र्ज़ बन जाता है कि वह खुद को निर्देशक के हाथों में एक साधन बना दे।

कैमरे के सामने आने के पहले अभिनेता को तैयारी करनी होती है। इस तैयारी का मतलब संवाद रटना नहीं, बल्कि कहानी के उस दृश्य को उसके हर पहलू से समझना है। अच्छे फ़िल्म-अभिनेता, शूटिंग से पहले, संवाद रटने का काम कम ही करते हैं। मेरा

तजुरबा तो यह है कि संवादों को रट लेना अच्छे अभिनय में सहायक सिद्ध होने के बजाय रुकावट डालता है।

अभिनेता को शुरु से ही कहानी के सारे संवाद याद करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। कहानी को पहली बार पढ़ने पर उसे कहानी, उसकी घटनाओं और स्थियों का धुंधला-सा ज्ञान होता है। उसे पूरी तरह पता नहीं लगता कि उसे किस किस्म का पात्र बनना है। उसे चाहिए कि कहानी एक बार पढ़कर उसे एक तरफ रख दें। हो सकता है कि दूसरे-तीसरे दिन कहानी में उसकी दिलचस्पी नये सिरे से जागे। अब जब वह कहानी को दोबारा पढ़ेगा, तो उसकी भूमिका उसके सामने साफ तौर पर उभरने लगेगी। उसे पता लगेगा कि उस पात्र के रूप में उसे कैसा बनना है। वह सपनों के संसार में पहुंच जाएगा। अच्छे अभिनय के लिए यह उसकी मानसिक तैयार होगी।

अभिनेताओं से काम लेने के लिए निर्देशक को बहुत सचेत होने की जरूरत है। यह तभी संभव है, अगर उसने खुद पूरी कहानी और उसके प्रत्येक दृश्य को अच्छी तरह समझा हो। उसे खुद सपनों के उस संसार में जीना चाहिए। तभी वह अभिनेता को प्रेरणा दे सकेगा; वरना अभिनेता ऊब उठेगा और जल्दी ही काम खत्म करके घर जाना चाहेगा। लेकिन अगर निर्देशक प्रेरणा द्वारा उसका शौक जगाए रखता है, तो वह अपना काम खत्म हो जाने पर भी कहेगा, "अगर चाहें तो मैं और कुछ देर रुक सकता हूँ। एक-दो शॉट और ले लें, मेरा मूड बना हुआ है।" हाँ, निर्देशक और अभिनेता का आपस में इस किस्म का सम्बन्ध होना चाहिए, और एक-दूसरे के बारे में अच्छी समझ होनी चाहिए। अच्छा अभिनेता कई बातें निर्देशक के कहने के बिना ही उसके आंखों या चेहरे के भाव से समझ जाता है। अगर आपका किसी लड़की से प्यार हो तो आप उसके न बोलने पर भी उसके दिल की बात समझ लेते हैं, और वह आपकी चुप में से आपके दिल की बात जाने लेती है।

मैं किसी दैवी प्रेरणा को नहीं मानता। दैवी प्रेरणा की प्रतीक्षा में बैठना सुस्त आदमियों का काम है। हम अपने देश में देखते हैं कि कुछ निर्देशक अपनी पहली फ़िल्म बहुत बढ़िया बनाकर बाद में घटिया फ़िल्में बनाने लगते हैं, क्योंकि तब वे भोग विलास या शराब में प्रेरणा ढूंढ़ने लगते हैं। लेकिन अमेरिका और अन्य देशों में अच्छे निर्देशक अपना स्तर लगातार कायम रखते हैं। अमेरिकी निर्देशक, आल्फ्रेड हिचकॉक का ही उदाहरण लीजिए। उसकी हर फ़िल्म मे कोई नई और अलग किस्म की बात होती है। हमारे देश के कुछ बड़े निर्देशक अपने निकटवर्ती साथियों के साथ भी सलाह-मशविरा नहीं करते। वे खुद को अद्वितीय और दैवी प्रेरणा वाले प्रतिभावान व्यक्ति समझते हैं। उनके कैमरामैन को भी पता नहीं होता कि अगला शॉट क्या होगा। उनका सारा काम अस्त-व्यस्त किस्म का होता है। मैं अपने तजुरबे से कह सकता हूँ कि काम करने का यह तरीका बहुत गलत है। निर्देशकों, अभिनेताओं और फिल्म से सम्बन्धित अन्य सभी व्यक्तियों को फ़र्ज़ है कि वे फ़िल्म-निर्माण की ओर वैज्ञानिक और यथार्थवादी रवैया अख्तियार करें।

एक बात और है, जिस पर अभिनेता को ध्यान देना चाहिए। वह अपने संवाद तभी अच्छी तरह बोल सकता है, अगर वह शब्दों की आवाज़ों पर ध्यान देने की बजाय उनके

अर्थ और भावों को समझे। दूसरे शब्दों में, अभिनेता भाषा की ओर जितना कम ध्यान देगा, उतना ही अच्छा है। शब्दों को भूलकर उस स्थिति में लीन होने की जरूरत है, जिसमें कि उसे वे शब्द बोलने हैं। तब शब्द स्वयं सहज-स्वाभाविक ढंग से मुंह से निकलेंगे। अभिनेताओं के चेहरों के कसे हुए होने का यही कारण होता है। मैं दक्षिण भारत के अभिनेता, शिवाजी गणेशन की बहुत कद्र करता हूं। वे शॉट से पहले निर्देशक से संवाद सुनकर अभ्यास के तौर पर सिर्फ़ एक-दो बार ही उन्हें बोलते हैं। वे शब्दों की अपेक्षा उस प्रसंग और स्थिति की ओर ज़्यादा ध्यान देते है, जिसमें कि वे बोले जाने है। इसीलिए उन्हें संवाद बहुत जल्दी याद हो जाते हैं। आम जीवन में भी हम बोलने से पहले अभ्यास नहीं करते, बल्कि स्थिति के मुताबिक शब्द अपने-आप ज़बान पर आ जाते हैं। अच्छे अभिनय का भी यही रहस्य है।

कलाकार जन्मजात होता है या बनता है?

हममें से किसी कलाकार को यह दावा करने का हक नहीं है कि वह एक अद्वितीय व्यक्ति है और ईश्वर ने उसे विशेष वरदान देकर इस संसार में भेजा है। उसे सिर्फ़ इतना ही कहने का हक है कि उसका सौभाग्य है कि उसे अभिव्यक्ति के मौके मिले हैं, जो हमारे देश में प्रत्येक व्यक्ति को नहीं मिलते।

''कलाकार पैदा होता है, बनाया नहीं जाता,'' यह सिद्धान्त पेश करने का मतलब कुछ गिने-चुने मनुष्यों को साधारण मनुष्यों से ऊंचा होने का अधिकार देना है, जिस तरह कि हिटलर ने आर्य जाति को काली और पीली जातियों से ऊंचा होने का अधिकार दिया था। कोई भी सच्चा लोकवादी कलाकार इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं कर सकता।

अब सवाल उठता है- क्या संसार में हरेक व्यक्ति अभिनेता बन सकता है?

यह बहुत ही मुश्किल सवाल है और इसका जवाब विस्तार के साथ दिया जा सकता है। यहां मैं सिर्फ़ यही कहूंगा कि जिस हक तक हर आदमी शिक्षा पाकर इंजीनियर बन सकता है, सर्जन या हवाई जहाज़ का पायलट बन सकता है, उसी हद तक वह अभिनेता, कवि या चित्रकार भी बन सकता है। हां, यह बात उसकी रुचि, मेहनत, लगन और परवान चढ़ने के लिए ज़रूरी हैं। आजकल ऐसी परिस्थितियां हैं कि कोई बनना चाहता है कवि, तो उसे बनना पड़ता है इंजीनियर, और जो इंजीनियर बनना चाहता है, उसे कुछ और बनना पड़ता है। ऐसी परिस्थितियों में हम कैसे जान सकते हैं कि हम जो काम कर रहे हैं, हम उसी के लिए पैदा हुए थे? अगर सामाजिक परिस्थितियां अनुकूल हों, तो दावे के साथ कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति अभिनय-कला सीखना चाहता है, वह उसे सीख सकता है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति अभिनेता बनना ही पसन्द करेगा, या सभी अभिनेताओं में एक-जैसी ही निपुणता आ जाएगी। न सभी कवि एक स्तर के हो सकते हैं, न सभी डॉक्टर, और न ही सभी अभिनेता।

जिस समय हमारा सामाजिक ढांचा सच्चे न्याय और बराबरी की बुनियादों पर खड़ा होगा, तब मनुष्य के हर काम की एक-सी इज़्ज़त होगी। तब उसमें हर काम कलात्मक ढंग से करने की लालसा पैदा होगी और कोई अपने आपको पैदायशी तौर पर बड़ा या छोटा नहीं समझेगा।

सो मेरे ख़याल में, अगर हम चाहते हैं कि हमारे देश में नाट्य-कला फिर से जागृत हो, तो पहले हमें इस ग़लत धारणा का पूर्ण रूप से खंडन करना होगा कि कलाकार पैदा भी होता है और बनाया भी जाता है।

नाटक-कला एक सामूहिक कला है। केवल एक व्यक्ति नाटक नहीं खेल सकता। नाटक खेलने के लिए काफ़ी बड़ी व्यवस्था की ज़रूरत होती है। इस व्यवस्था में प्रत्येक

व्यक्ति को काफ़ी हद तक अपने अहम को छोड़ना और अनुशासन स्वीकार करना पड़ता है। अगर प्रत्येक व्यक्ति खुद को दूसरों से ऊंचा, प्रतिभावान और जन्मजात कलाकार समझने लगे, तो नाटक-मंडली कभी भी सफल नहीं हो सकती।

मुझे कई नाटक-मंडलियों का अनुभव है और मैं विश्वस्त रूप से कह सकता हूं कि इन मंडलियों के विकास के रास्ते में 'जन्मजात कलाकार' होने का सिद्धान्त बहुत बड़ी रुकावट डालता है।

प्रायः देखा जाता है कि इन नाटक-मंडलियों के लोगों को रंगमंच पर काम करने का शौक तो बहुत होता है, लेकिन रंगमंच के पीछे होने वाले कामों में कोई दिलचस्पी नहीं होती। उन कामों को वे घटिया समझते हैं और अपने अभिनय को ही नाटक की सफलता का कारण मानते हैं।

नाटक देखने वाले जानते हैं कि नियत समय पर पर्दे का गिरना या उठना नाटक के लिए कितना महत्त्वपूर्ण होता है। कई बार पर्दा कुछ सेकण्ड पहले या बाद में गिरने से सारा दृश्य खराब हो जाता है। वास्तव में अभिनेताओं की तरह पर्दा भी अभिनेता है, जिसकी बागडोर अदृश्य कलाकार के हाथ में होती है। लेकिन कई नौसिखिया नाटक-मंडलियों में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा, जो पर्दा लगाने, उठाने और गिराने की कला सीखना चाहता हो। हां किसी-न-किसी पात्र की भूमिका करने के लिए हर कोई प्रयत्न करता है। "मुझे ज़रूर पार्ट दीजिए। मुझे तो बचपन से ही एक्टिंग का शौक है।" यह शब्द आमतौर पर सुनने में आते हैं।

जब कोई व्यक्ति खुद को जन्मजात कलाकार समझ लेता है, तो उसके अन्दर शिथिलता आ जाती है। वह अपनी कमज़ोरियो की ओर ध्यान नहीं देता और हर समय अपनी विशेषताओं को ही देखता रहता है। वह अपनी आलोचना न खुद कर सकता है, न ही किसी दूसरे के मुंह से सुन सकता है। अगर दर्शकों को उसका काम पसन्द न आए, तो वह कहता है, "मेरी कला को समझने और परखने की योग्यता लोगों में अभी पैदा नहीं हुई है। वास्तव में महान कलाकारों को प्रायः उनकी मौत के बाद ही पहचाना जाता है।" अगर उसके साथी उसकी आलोचना करें, तो वह कहता है, "वे मुझसे ईर्ष्या करते हैं।" अगर उसे रिहर्सलों पर ठीक समय पर आने के लिए कहा जाए, तो वह कहता है, "अरे छोड़िए, इन रिहर्सलों में क्या पड़ा है? एक्टिंग होती है प्रेरणा के साथ।"

प्रेरणा जन्मजात कलाकारों को कहां से मिलती है? यह उसे पता नहीं है और न ही वह पता करना चाहता है। वह समझता है कि जिस प्रकार कला उसे मां के दूध के साथ मिली है, उसी प्रकार प्रेरणा किसी सातवें आसमान से मिल जाएगी। प्रेरणा न हुई, आकाशवाणी हो गई। और अगर कभी प्रेरणा कहीं अटक गई, तो खुद को 'जीनियस' समझने वाला वह जन्मजात कलाकार उसे शराब के जाम पीकर बुलाने की कोशिश करता है और अगर वह जीनियस प्रगतिशील विचारों का व्यक्ति है, तो शराब के साथ 'इन्कलाब' की कल्पना करके प्रेरणा को बुलाता है। लेकिन ये साधन प्रेरणा को दूर भगाने के हैं, निकट लाने के नहीं। असली साधन है अपने 'जीनियसपन' का त्याग करना और पूरी लगन और नम्रता के साथ कला को सीखना।

मैं अभिनेता बना

मैंने कई बार सोचा है कि क्या मेरे अन्दर कोई ऐसा जन्मजात संस्कार था, जिसके विकसित होने से मैं अभिनेता बन गया।

आदमी के मन में कई ऐसे विचार उठते हैं, जिन्हें वह कोई महत्त्व नहीं देता और उनकी ओर से मुंह मोड़ लेता है। मेरी नज़र में इसी प्रकार का यह विचार है कि कलाकार जन्मजात होता है या मेहनत से बनता है। एक कलाकार के नाते मैं इसे फिज़ूल-सा सवाल समझता हूं। और अगर मैं इस पर सोच-विचार करने के लिये मज़बूर होता हूं, तो इसलिए नहीं कि मुझे इसमें कोई दिलचस्पी है, बल्कि इसलिए कि मेरे इर्द-गिर्द बहुत लोग इस भ्रम का शिकार हैं कि अभिनय-कला का एक जन्म-जात गुण है।

ज़रा अपनी बात करूं। सात पीढ़ियों से हमारे खानदान में कोई अभिनेता पैदा नहीं हुआ है। फिर पिछले दो सौ साल से पंजाब के इतिहास में थिएटर नाम की चीज़ का ज़िक्र नहीं मिलता। हां, भांड-मिरासियों की नकलों का ज़िक्र ज़रूर आता है। लेकिन मैं भांड-मिरासियों के खानदान में से नहीं हूं। अगर होता, तो लोगों के सामने अभिनय-सम्बन्धी अपने जन्मजात संस्कारों का ज़िक्र करने से भी शर्माता। तो फिर मेरे अन्दर अभिनय-कला कहां से आई?

मेरे कई दोस्त खुद को जन्मजात अभिनेता मानते हुए यह दलील देते हैं कि उन्हें बचपन से ही दूसरों की नकलें करने का शौक था। यह दलील सचमुच विचार करने योग्य है। मैं भी जब अपने बचपन के दिनों को याद करता हूं, तो वे रोल मेरे सामने आते हैं, जो मैं किया करता था।

मेरे बचपन के ज़माने में, रावलपिंडी में एक छाछी मोहल्ला, असली अर्थों में छाछियों का मोहल्ला होता था। वहां सिर्फ दो-चार खत्रियों के घरों को छोड़कर बाकी सब लोग बैलगाड़ी और तांगा चलाने वाले मुसलमान थे। उन दिनों मोटरें-बसें नई-नई ही आई थीं। तब कश्मीर का अधिकांश व्यापार तांगों-बैलगाड़ियों द्वारा होता था। छाछियों का बहुत अच्छा कारोबार था। हमारे मोहल्ले में से हर दूसरे-चौथे दिन बैलगाड़ियों का काफ़िला कश्मीर के लिए रवाना होता था या वापस आता था। बहुत रौनक होती थी। हर शुक्रवार के दिन साइयों की टोली हमारे पड़ोसी बाबा नादरू के आंगन में आती। उन साइयों के पास सितारें, तबले और कई दूसरे साज़ होते थे। उनके लम्बे बाल थे, गले में बिटौरी मालाएं थीं, और कानों में कुंडल झूलते थे। उन्होंने हरे रंग के लम्बे चोग़े पहने होते, और उनके हाथों में झंडे होते। इस सब कुछ की बदौलत एक अजीब-सा दृश्य दिखाई दिया करता। वे साई कान पर हाथ रखे बहुत लम्बी हांक लगाकर गाते। उनके हृष्ट-पुष्ट चेहरे दहकने लगते, जिन्हें देखकर मोहल्ले की औरतें कहा करती थीं, ''हाय, इनकी तो

ताब नहीं लाई जाती।'' मुझे कुछ याद नहीं कि वे क्या गाते थे, और किस सुर में गाते थे, लेकिन यह ज़रूर याद है कि हफ्ते के बाकी छः दिन मोहल्ले के बच्चे साई बनकर घूमते और उसी प्रकार कान पर हाथ रखकर गाते और काल्पनिक सितारें बजाते थे। मैं बाबा नादरू का रोल करता और मेहमानों को दूध की लस्सी पिलाता, जो कई बार वास्तव में नाली का गंदा पानी होता था। हैरानी की बात तो यह है कि मोहल्ले के बड़े-बड़े बुज़ुर्ग तक हमारा गाना सुनते थे और दाद देते थे। हमें कभी भी अपनी कला-कुशलता पर शक नहीं हुआ था।

हमारे घर के सामने खाली आहाता था। वहां चचा बख्शी का टाल था। एक तरफ़ जलाने वाली लकड़ियों के ढेर लगे होते और दूसरी तरफ पुरानी इमारती लकड़ियों के ढेर। कश्मीरी हातो उन इमारती लकड़ियों को चीरते। इमारती लकड़ियों का ढेर एक 'पहाड़'- सा लगता, जिसमें कई गुफ़ाएं थीं, कई मोर्चे थे। खाना नाम के लड़के का बाप फौज में रसालदार था। ज्यों ही शाम होती, खाना रोटी के एक टुकड़े पर भुने हुए आलू रखकर घर से निकल पड़ता और हमारे पास आकर ऊंची आवाज़ में कहता, ''हमारी गली में कुत्ता भौंका, एक घूंट पानी पी लो !'' यह आवाज़ सुनते ही मोहल्ले में चारों ओर ''पी लोऽऽ !'' की आवाज़ें सुनाई देने लगतीं, और देखते-देखते खाना के सिपाही जमा हो जाते। 'टाल' में एक किले पर खाना कब्ज़ा कर लेता, और दूसरे किले पर चचा बख्शी का बेटा, खैराती। खाना के किले में तोपें, बन्दूकें और मशीनगनें होतीं, जिनकी नालियां सरकंडों को अन्दर से साफ़ करके बनाई गई होती। वे सरकंडे कम्पनी बाग़ के पिछले हिस्से में नदी के किनारे पर बहुत बड़ी संख्या में पैदा होते थे। उन्हें वहां से उखाड़कर लाना बहुत मर्दानगी का काम था। चचा बख्शी राजपूत था, तो खैराती तलवार का धनी था। उसके किले में तलवारें, भाले, ढालें आदि होतीं। बड़ी-बड़ी लड़ाइयां लड़ी जातीं। और जब मैदाने-जंग में ज़ख्मी बहादुरों की चीख-पुकार सुनाई देती, तो उनके माता-पिता भी वहां आकर उस जंग में शामिल हो जाते, और तब मुकाबला और भी सख्त बन जाता।

कोहमरी वाली सड़क के पास एक बड़ा मैदान था, जिसे 'कमेटी' कहते थे, क्योंकि वह म्युनिसिपल कमेटी का इलाक़ा था। वहां हर साल पशुओं की मंडी लगती थी। दूर-दूर से लोग अपने पशु लेकर वहां आते और उनका सौदा होता। उस मौक़े पर कुत्तों की लड़ाई, मुर्गों की लड़ाई, बटेरों की लड़ाई आदि कई प्रकार के तमाशे होते। सरकस भी लगता; और नेज़ाबाज़ी भी होती। मंडी के खत्म होते ही वहां के खले-तमाशों की नक़ल हमारे मोहल्ले में शुरु हो जाती। बोधराज का पिता मिशन स्कूल में ड्रिल-मास्टर था। सो सरकस के मामले में बोधराज हमारा मुखिया बनता। उसने एक ऐसी चाबुक बना ली थी, जिसमें से पटाखे की-सी आवाज़ निकलती थी। फिर, उसे जादू के कई आश्चर्यजनक खेल आते थे। उसकी तीरन्दाज़ी का जवाब नहीं था। उसकी छाती पर रखकर तोड़ने के लिए हमने गलियों के सिरों पर लगे कई पत्थर उखाड़ लिए थे।

मेरे माता-पिता आर्यसमाजी विचारों के थे। सो मैं मोहल्ले में हर किसी के घर में- हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों के घरों में- यज्ञ, हवन आदि करने जाता। अज़ान होते ही मेरा छोटा भाई टीन का डिब्बा पकड़ लेता और उसे बजाता, शोर मचाता, गली-मोहल्लों में घूमता हुआ ऊंची आवाज़ में पुकारता, ''उठो मुसलमानो, रोज़े रखो !...''

यह सब अभिनय नहीं तो और क्या था? हम जो कुछ अपने से बड़ो को करते हुए देखते थे, वही खुद करने लग जाते थे। वह सब कुछ बड़ों की नज़रों में अभिनय नहीं, खेल था, हंसी की चीज़ थी। लेकिन बच्चों की नज़रों में वह खेल या हंसी की चीज़ नहीं थी। उन खेलों में हम इस प्रकार गम्भीर और एकाग्र होकर लीन हो जाते थे, जिस प्रकार महान अभिनेता कोई भूमिका करते समय उसमें खो जाते हैं। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि इन खेलों द्वारा प्राप्त की गई शिक्षा डंडे के ज़ोर से दी गई शिक्षा से कई गुना ज़्यादा लाभदायक सिद्ध होती है। खेलों द्वारा दी जानेवाली शिक्षा-पद्धति आज पूरी तरह परवान की जा चुकी है।

सो, अगर मैं कहूं कि बचपन में मुझे अभिनय का बहुत शौक था, तो साथ में मुझे यह भी मानना पड़ेगा कि मेरी उम्र के हर बच्चे को ही अभिनय का शौक था। खाना फ़ौजी परेड की नक़्ल बहुत अच्छी करता था, मैं दफ्तर लगाने और हवन आदि करने में उस्ताद था, अकरम तांगा चलाने में लाजवाब था, बोधराम शिक्षक बनने में प्रवीण था। लेकिन मेरे बचपन के इन साथियों में से कोई भी अभिनेता नहीं बना। आखिर मुझे कौन-सा सुरखाब का पर लगा हुआ था कि मैंने अभिनय को अपना पेशा बना लिया ? मेरे बचपन के वे साथी आज पता नहीं कहां हैं और क्या कर रहे हैं। मैं यह बात किस आधार पर कह सकता हूं कि मैं क्योंकि अभिनेता हूं, इसलिए कलाकार हूं, और मेरे वे साथी आज जो काम कर रहे हैं, वे कलात्मक नहीं है। यह कहना अन्याय होगा, क्योंकि मुझे अपने अन्दर ऐसा कोई बड़प्पन नज़र नहीं आता।

बचपन में मुझे स्टेज पर आने का भी तजुरबा हुआ है। जिसका ज़िक्र भी ज़रूरी है।

आर्यसमाज का सालाना जलसा था। पिताजी ने मुझे उठाया और वेदी के पास रखी मेज़ पर खड़ा कर दिया। तब एक व्यक्ति ने दर्शकों के सामने ऐलान किया कि अब यह बच्चा वेद-मंत्र सुनाएगा। मुझे कुछ याद नहीं कि मेरे मुंह से कोई मंत्र निकला था या नहीं, पर यह ज़रूर याद है कि अचानक सैकड़ों आंखों को अपनी ओर घूरते हुए देखकर मेरे दिल में दहशत पैदा हो गई थी। मेरी टांगें कांपने लगी थीं, सिर चकराने लगा था, और मैं चाहता था कि कुछ बोलूं, लेकिन मेरी बोलने की शक्ति जवाब दे चुकी थी। पता नहीं, वे मेरा मज़ाक उड़ा रहे थे या सचमुच ही मैंने कोई मंत्र सुनाया था, जिसकी वे दाद दे रहे थे। तालियां सुनकर तो मेरी रही-सही शक्ति भी जवाब दे गई थी, और मैं रोने लगा था।

हमारे स्कूल में पढ़ाई शुरु होने से पहले, सुबह प्रार्थना हुआ करती थी। सभी विद्यार्थी अहाते में कतारें बनाकर खड़े हो जाते। पंडितजी प्रार्थना करते और थोड़ा-सा उपदेश भी देते। उसके बाद कुछ लड़कों की एक टोली भजन गाती। मैं भी उसे टोली में होता और बड़े शौक से गाता। इसमें मुझे कभी झिझक महसूस नहीं हुई थी। एक बार हैडमास्टर ने मुझे आर्य-समाज के साप्ताहिक जलसे में गाने के लिए कहा। अजनबी आंखों को अपनी ओर घूरते देखकर मेरा फिर वही हाल हुआ, हालांकि उस समय मेरी उम्र बारह-तेरह साल की थी। मैं घबराहट में बहुत ऊंची आवाज़ में गाने लगा और बेसुरा हो गया। मास्टरजी ने मुझे उसी समय स्टेज से नीचे उतार दिया। उस अपमान का मेरे दिल पर इतना गहरा असर हुआ कि मेरा गाने का शौक हमेशा के लिए जाता रहा।

इसके उलट, मेरे कई साथी आर्यसमाज के जलसों में निडर होकर वेद-मंत्र पढ़ा करते थे, और स्टेज पर जाकर भजन गाया करते थे। संभव है कि उनमें अभिनेता बनने की सामर्थ्य मुझसे ज़्यादा थी। लेकिन बड़े होने पर उनमें से कोई भी अभिनेता नहीं बना। साथ ही, मैं यह कहने का भी साहस करता हूं कि अगर किसी ने मुझे भी स्टेज पर खड़ा होने और दर्शकों की आंखों का मुकाबला करने की तरकीब सिखा दी होती तो शायद मैं इतना असफल न होता।

फ़िल्मों में बच्चों को सुन्दर अभिनय करते हुए देखकर लोग कई बार यह भूल जाते हैं कि उन बच्चों को बड़ी मेहनत और सावधानी से अभिनय के गुर सिखाए गए होते हैं। अगर दूसरे बच्चों को उसी मेहनत और सावधानी से अभिनय करना सिखाया जाए, तो कोई कारण नहीं कि वे भी अच्छा अभिनय करके न दिखाएं। यह भी देखा गया है कि जो व्यक्ति बचपन में अच्छा अभिनय किया करता था, वह बड़ा होने पर प्रायः सफल अभिनेता नहीं बन सका। इसके उलट, संसार के कई ऐसे महान अभिनेता हैं, जो बचपन में कभी स्टेज पर गए ही नहीं थे।

यही कारण है कि मैं आज तक जन्मजात कलाकार होने के सिद्धान्त को मान नहीं सका हूं। मैं इस सिद्धान्त को न केवल अस्वीकार करता हूं, बल्कि कलाकार के लिए बहुत हानिकारक भी समझता हूं, क्योंकि यह उसे अहंकार, आडम्बर, आत्म-प्रदर्शन और आलस्य का शिकार बना देता है।

फिल्मी दुनिया

फिल्मी दुनिया क्या है? यह बहुत बड़ा मज़मून है, पांच-दस पृष्ठों में इसकी भुगतान नहीं हो सकती। इसके मुकाबले में यह बताना कि मैं क्या हूं और अपने फ़िल्मी संसार को किस नज़र से देखता हूं, ज्यादा आसान है। इंसान अपने बारे में हमेशा धड़ल्ले के साथ सोच और लिख सकता है, चाहे पढ़ने वाले बोर ही क्यों न हो जाएं।

ज्यों-ज्यों इंसान की उमर बढ़ती है, जीवन का अनुभव भी बढ़ता है, और जीवन के प्रति दृष्टिकोण स्थिर होते जाते हैं। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक अथवा दूसरी समस्याओं के बारे में उसकी अपनी व्यक्तिगत सोच बन जाती है, चाहे वह सही हो या ग़लत। इसी सोच की प्रेरणा से वह अपने सब काम करता है- चाहे वह व्यापार का काम करता हो या डाक्टरी का या एक्टिंग का।

यह कहना कि कलाकारों को हर समय अपनी कला का ही ध्यान रहता है, और देश या समाज की समस्याओं से वे बिलकुल अलग रहते हैं, बड़ी भारी भूल है। अभिनेता जनता के सामने जीवन पेश नहीं करता, दूसरों के जीवन की तसवीर पेश करता है। 'हम लोग' फिल्म में मैंने एक पढ़े-लिखे बेरोज़गार नौजवान का पार्ट किया, 'दो बीघा ज़मीन' में एक दुःखी किसान का, 'औलाद' में घरेलू नौकर का, 'सीमा' में एक विद्वान समाज-सेवक का, 'टकसाल' में करोड़पति का और 'काबुलीवाला' में एक मुफ़लिस पठान का। सब रोल एक-दूसरे से बिलकुल जुदा थे। अगर मैं किसानों, मज़दूरों, पठानों वगैरह का जीवन करीब से जाकर नहीं देखता तो कभी यह संभव नहीं हो सकता था कि मैं यह पार्ट अदा कर सकता। अगर उन्हें क़रीब से देखना उचित था तो उनके जीवन की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को जानना और समझना भी मेरा फ़र्ज़ था। तभी मैं उनके दिलों की धड़कनों को अपनी आंखों में और अपने शब्दों में अभिव्यक्त कर सकता था, वरना बात अधूरी ही रह जाती।

मेरा अपना दृष्टिकोण समाजवादी है, और मैं समझता हूं कि इस बात ने फ़िल्म के क्षेत्र में मेरी बड़ी सहायता की है, क्योंकि समाजवाद आज के युग की सबसे ऊंची, सबसे खरी और सबसे सुलझी हुई विचारधारा है। प्रत्येक वर्ग के आदमी के जीवन को थोड़े से समय में और गंभीरता के साथ समझ लेने की तरकीब को तरतीब से रखने वाला लाइब्रेरियन लाखों पुस्तकों के अंबार में से ज़रूरत की पुस्तक झट निकाल लेता है। अगर ऐसा न होता तो मैं अपने पात्रों की आत्मा को पकड़ने की बजाय ऊपर-ऊपर की बातों को पकड़ने में ही लगा रहता।

लोग समाजवाद की बहुत-सी परिभाषाएं करते हैं। मेरी परिभाषा हूबहू वही है जो पंडित जवाहरलाल नेहरू की है। वे मेरे आदर्श पुरुष थे, और उन्हीं के जीवन और

पुस्तकों ने मुझे समाजवाद को जानने और समझने की प्रेरणा दी है। मेरी मुराद उसी समाज से है जो आज हमारे देश का स्वीकृत लक्ष्य है। इस बात को सोचकर मैं अपने आपको धन्य मानता हूं। मैं चाहता हूं कि मेरे देश का जल्दी से जल्दी औद्योगिक विकास हो, धड़ाधड़ नये कारखाने बनें, पैदावार बढ़े, और इससे हासिल होने वाले धन का बंटवारा किसी विशेष वर्ग की जेबों में न उतर जाए, बल्कि देश की जनता का जीवन-स्तर ऊंचा करे, जात-पांत, धर्म-मज़हब, प्रान्त या भाषा की तमीज़ को सदा के लिए त्याग कर जनता सुखी हो, उसकी आंखें खुलें, वह समझ जाए कि स्वर्ग कल्पना की चीज़ नहीं, बल्कि इस धरती पर अपने हाथों से बनाया जा सकता है। भाग्य पर निर्भर रहने के बजाय वह आत्म-निर्भरता सीखे, अपने पवित्र लोकवादी गणराज्य में अपने अधिकार पहचाने और अपनी जिम्मेदारियां भी समझे। गुणवान, निस्वार्थ और ईमानदार लोगों को अपना प्रतिनिधि बनाए, ताकि शांति और मज़बूती से हम बराबर आगे बढ़ते जाएं और एक बार फिर पुराने वक्तों की तरह, हमारा देश सोने की चिड़िया कहलाने लगे।.

यह तो ठहरा मेरा दृष्टिकोण। अब इसके झरोखे से मैं अपने फ़िल्मी संसार को देखता हूं तो मुझे क्या नज़र आता है?

दो तरह के आदमी दिखाई देते हैं मुझे इस माया-नगरी में। एक तो वे जो इतने मशहूर हैं, इतने अमीर हैं, और इतने मसरूफ़ हैं, जिसका हिसाब ही नहीं। उन्हें कभी एकान्त में बैठकर यह सोचने की फ़ुरसत ही नहीं कि वे क्या कर रहे हैं, क्यों कर रहे हैं, और कब तक करते रहेंगे। उनके दिलों में भी अरमान होंगे, आदर्श भी होंगे, मगर वे ज़ेवरों, मोटरों, ट्रांजिस्टरों, टेपरिकार्डों, कैमरों और रंगीन तसवीरों के अंबार में जाने कहां दब गए, खो गए, कुछ पता नहीं रहा। फिर पता लगाया भी कैसे जाए ? चारों तरफ भिनभिनाते हुए परिस्तानों, परवानों और चमचों का झुरमुट भी तो दम नहीं लेने देता।

इन खुशक़िस्मत लोगों की, जिन पर दुनिया अश-अश करती है, संख्या बहुत कम है। इनमें केवल एक्ट्रेसें ही नहीं, प्रोडयूसर, डायरेक्टर, डिस्ट्रीब्यूटर और एग्ज़िबिटर भी शामिल हैं। यह समझ लो कि इस दुनिया के ये लोग राजा हैं, और जो मौज़-मज़ा इनको नसीब है, वह पिछले वक्तों के राजाओं को भी नसीब नहीं था। दूसरी तरफ, बहुत संख्या उन लोगों की है जिन्हें इनकी प्रजा कहा जा सकता है। छोटे कलाकार और छोटे डायरेक्टर, अनगिनत एक्स्ट्रा लड़कियां और लड़के, टेकनीशियन, लाईटमैन, साउन्ड मैन, म्यूज़ीशियन वगैरह वगैरह। यह बहुसंख्या आर्थिक और मानसिक तौर से कभी सुरक्षित नहीं होती। इनका जीवन चिन्ताओं के मारे खोखला है। जैसे रेस खेलने वाला किसी न किसी दिन घोड़ा जीतने की उम्मीद में हारता रहता है, उसी तरह ये लोग किस्मत की खिड़की खुलने की प्रतीक्षा में दिन गुज़ारते रहते है। उन्होंने लपक-झपकारे में उनको, जो कुछ भी नहीं थे, सब कुछ बनते अपनी आंखों से देखा है। बस, वे इसी आशा में जी रहे हैं, हालांकि उन्हें किस-किस अन्याय, किसी-किस अपमान और किस-किस सुःख का सामना करना पड़ता है।

व्यवहार की दुनिया आदर्शों की दुनिया से कितनी भिन्न है ! स्वाभाविक है कि मैं बार-बार निराश हो जाऊं, बार-बार ऐसे वातावरण से भागने की कोशिश करूं जहां हर आदमी अपने आपको भी और दूसरो को भी धोखा दे रहा है, और जिसमें बनने वाली फिल्में भी दर्शकों को तिलिस्मी धोखे में डालकर पैसे बटोरती हैं।

तो फिर क्या किया जाए ? जब मैं प्रोफ़ेसर था, तो एक्टरों की दुनिया अच्छी मालूम होती थी। अब एक्टर हूं तो कई बार सोचता हूं कि कितनी मूर्खता की मैंने अपना साहित्यिक क्षेत्र त्यागकर। उसमें कितनी मानसिक शान्ति मुझे मिलती, कितनी संतोष मिलता। और फिर अब अपने आस-पास नज़र डालता हूं तो हर आदमी मुझे अपने काम से और वातावरण से असंतुष्ट मालूम होता है। हर आदमी अपने काम से भागना चाहता है। अपना पेशा उसे खराब और दूसरे का सुखद मालूम होता है। हालांकि सच यह है कि जो खराबियां एक धन्धे में हैं, वही खराबियां दूसरे धन्धों में भी हैं। सिर्फ एक ही स्थान पर नहीं, हर स्थान पर इंसान लोभी और स्वार्थी बना हुआ है। परस्पर-मैत्री का आदर्श तो दूर रहा, हर इंसान दूसरे इंसान का दुश्मन बना मालूम पड़ता है !

तो फिर क्या आदर्शों की बात ही छोड़ दी जाए ? क्या यह समझ लिया जाए कि देश-कल्याण की सारी ज़िम्मेदारी पंडित नेहरू पर ही है ? क्या हमारा कर्तव्य किसी न किसी तरह समय को धक्का देना और अपने स्वार्थ पालना ही है ?

नहीं, मेरा विश्वास है कि देश का हर आदमी, जहां भी वह है, जो काम भी वह करता है और कैसे भी वातावरण में चाहे उसे कितनी भी परेशानियां और तकलीफ़ें सहनी पड़ती हों, किसी न किसी तरह से अपने काम को बेहतर ढंग से कर सकता है, अपने वातावरण पर कुछ न कुछ अच्छा प्रभाव डालने की सामर्थ्य रखता है, अपने आस-पास थोड़ी बहुत जागृति, थोड़ी बहुत स्वच्छता पैदा कर सकता है। यदि वह इस बात को समझ ले तो उसे अपने देश के आदर्श खोखले मालूम नहीं होंगे। ये आदर्श वह उसके जीवन में कुछ मतलब ले आएंगे, खुशी और तृप्ति का आभास ले आएंगे। जीवन से भाग जाने में कभी सच्ची खुशी हासिल नहीं होती।

मतलब यह कि मेरा दृष्टिकोण मुझे विफलता के आभास से बचाए रखता है, मुझे संभालता है, बल देता है, अच्छे लोगों के नज़दीक ले जाता है। मेरे लिए यह संभव बना देता है कि मैं अपनी याद-पिटारी में कई ऐसी फिल्मों को गिन सकूं, जो चाहे कितनी मुश्किलों और परेशानियों से बनी हो जिनकी खातिर मुझे स्वयं कितनी परेशानियों, मुसीबतों और बेइंसाफियों का सामना करना पड़ा हो, लेकिन जिन्होंने मेरे जीवन को आनन्द से भर दिया हो, देश का हित भी जिनमें छलका हो, और विदेश में भी जिन्हें सम्मान मिला हो। ऐसे क्षणों की तलाश में ही तो मैं इस राह पर चलता रहता हूं।

अपने फ़िल्मी-जीवन की पचीसवीं वर्षगांठ पर

फ़िल्मों में काम करते हुए मुझे पचीस वर्ष हो गए हैं। अब तक मैं सवा सौ से ऊपर फ़िल्मों में काम कर चुका हूं। ऐसे मौके पर जशन मनाना बहुत उपयुक्त और सौभाग्यशाली समझा जाता है। लेकिन, पता नहीं क्यों, मेरे दिल में जशन मनाने का उत्साह नहीं है। कॉलेज के दिनों में, मेरे अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर और ड्रामा सोसायटी के डायरेक्टर, श्री अहमद शाह बुखारी ने मुझे एक बार कहा था, "तुम्हारे अन्दर एक्टर बनने के सभी गुण हैं, लेकिन साथ ही एक बड़ी खामी भी है कि तुम बहुत सुस्त हो।" आज भी यही सुस्ती, जो मेरे स्वभाव का अमिट अंग बनी हुई है, मुझे जशन मनाने के लिए हतोत्साह कर रही प्रतीत होती है।

जशन मनाने के बजाय यह बात मुझे ज़्यादा खुशी दे सकती है कि मैं इन पिछले पचीस वर्षों की अपनी कमाई का लेखा-जोखा लूं, और उसके नफ़े-नुकसान पर ग़ौर करूं। इसमें कोई तकलीफ़ नहीं उठानी पड़ती है न। और घर के बजाय स्टुडियो में बैठकर सोच-विचार करना और भी अच्छा है। यहां मैं एकान्त में बड़े आराम से बैठा हूं, और आप लोग भी अपने-अपने घर में बैठे हुए बड़े आराम से मेरी बातें पढ़-सुन सकते हैं। अपने फ़िल्मी जीवन की पचीसवीं वर्षगांठ मनाने का यह ढंग मुझे ज़्यादा पसन्द है।

मेरे प्रोफ़ेएसर साहब ने मेरे सुस्त होने के बारे में ठीक ही कहा था। मुझे याद है कि मेरे स्वभाव में बचपन से ही एक तरह की सुस्ती चली आयी है। इसका कारण भी मैं जानता हूं। मैंने अपने माता-पिता के यहां उन दिनों जन्म लिया था, जब वे पुत्र का मुंह देखने की आशा लगभग छोड़ चुके थे। इसलिए मुझे ज़रूरत से ज़्यादा लाड़-प्यार मिला, और वह लाड़-प्यार मेरे लिए एक तरह की क़ैद बन गया। 'पेड़ पर न चढ़ो, क्योंकि गिरकर टांग-बांह टूटने का खतरा है। पतंग न उड़ाओ, क्योंकि बेध्यानी में [illegible]र-टांगे के नीचे आ जाने का खतरा है। गली-मोहल्ले से निकलकर ज़्यादा दूर न जाओ, [illegible]योंकि चोर-ठग बच्चों को उठा ले जाते हैं !'...इन बंदिशों के कारण मेरा अधिकांश समय घर की चारदीवारी में ही गुज़रता था। शायद इसीलिए मैं संकोचशील और झेंपू किस्म का बन गया। और शायद इसीलिए मेरी रुचि कहानियों, कविताओं, उपन्यासों में इस हद तक बढ़ गई थी। मेरे चरित्र का वह वाह्यमुखी विकास न हो पाया, जो एक अभिनेता के लिए बहुत सहायक सिद्ध होता है।

पुस्तकों और भाषाओं से मुझे हमेशा खास प्यार रहा है। बाल्मीकि-रामायण मैंने बारह साल की उम्र में संस्कृत में पढ़ी थी। मुझे संस्कृत के श्लोक बहुत अच्छे लगते थे। पंचतंत्र की कहानियों ने मेरे अन्दर कहानियां सुनने और लिखने का शौक पैदा किया था।

बंगाली लिपि मैने अपने घर में ठहरे हुए एक साधु से सीखी थी, जो मुझे बहुत ही सुन्दर लगी थी। मेरे पिता जी की उर्दू की लिखावट ऐसी थी, जैसे मोती पिरोये हुए हों। अंग्रेज़ी लिखते समय भी उनका हाथ बहुत साफ़ होता था। इसका भी मुझ पर प्रभाव पड़ा। अब भी मेरे बहुत बड़ी लालसा है कि मैं हिन्दुस्तान की सारी भाषाएं लिख और बोल सकूं। बंगाली, मराठी, तमिल आदि सीखने के लिए मैंने कुछ मेहनत की भी है, लेकिन अपने संकोचशील स्वभाव के कारण बोलते समय बड़ी कठिनाई पेश आती है। मेरे कई अभिनेता दोस्त बड़ी आसानी से ये भाषाएं बोल लेते हैं, हालांकि उन्हें सीखने के लिए उन्होंने मुझसे आधी मेहनत भी नहीं की है।

स्कूल और कॉलेज की शिक्षा ने भी मेरी साहित्यिक रुचियों को ही ज़्यादा बढ़ाया था। कॉलेज की ड्रामा सोसायटी में इसलिए चला जाता था कि मुझे कुदरती तौर पर अच्छे नाक-नक्शों वाला चेहरा और ऊंचा-लम्बा, सेहतमंद शरीर मिला हुआ था। मैं जब भी कोई अंग्रेज़ी फ़िल्म देखने जाता, तो लौटने पर आइने में देखकर मुझे ऐसा लगता था, जैसे मेरी शक्ल फ़िल्म के हीरो से बहुत हद तक मिलती-जुलती है। यह एहसास मुझे ही नही,मेरे दोस्तों-साथियों को भी था। अब भी कभी-कभी मुझे यह एहसास होता है। मेरे उत्साह बढ़ाने वाले लोग कई बार यहां तक कह जाते थे ! 'आप इंडियन आर्टिस्ट तो लगते ही नहीं, एकदम फ़ॉरेन आर्टिस्ट लगते हैं !'

मुझे अपने सुन्दर होने का एहसास ही कॉलेज की ड्रामा सोसायटी में खींचकर ले जाता था। मेरा शौक सच्चा और दिल से निकला हुआ नहीं था। इसीलिए प्रोफ़ेसर बुखारी मुझे सुस्त कहते थे।

मेरे पिताजी धनवान व्यक्ति थे। इसलिए एम०ए० पास करने के बाद नौकरी ढूंढ़ने और उसे अपने बाकी जीवन का सहारा बनाने की मुझे कोई मज़बूरी नहीं थी। इसलिए मैं एक जगह टिककर नहीं रह सकता था। मैंने एक-दो साल तक पिताजी के साथ व्यापार किया। फिर एक-दो साल तक मैं शांतिनिकेतन में शिक्षक बनकर रहा। फिर सेवाग्राम गया। फिर लंदन गया। फिर बम्बई लौटकर फ़िल्मों में काम करने लगा। मुझे रोज़गार की इतनी ज्यादा चिन्ता नहीं थी, सो रोज़ी कमाने के लिए मुझे अच्छे मौके मिल जाते थे। पूंजीवादी व्यवस्था में धन कमाने और उन्नति करने के मौके उस व्यक्ति को ज़्यादा मिलते हैं, जिसे पैसे की ज़्यादा परवाह न हो। जो पैसे की मज़बूरी में बंधा हुआ हो, उसकी सारी उमंगें बस हसरतें बनकर रह जाती हैं। यही कारण है कि जब लोग मेरे सामने कला को ईश्वर का वरदान मानते हैं, तो मैं उनकी बात पर हंस देता हूं, क्योंकि मैं अपने तजुरबे से जानता हूं कि पूंजीवादी व्यवस्था में कला मौके और क़िस्मत की देन है, ईश्वर की नहीं। ईश्वर ने तो सभी मनुष्यों को समान बनाया है, उन्हें समान रूप से हाथ-पांव दिए है, शरीर और दिमाग़ दिए हैं। लेकिन मज़दूर या किसान के घर में पैदा होने वाले बच्चे को ऐसे मौके कहां नसीब होते हैं कि उसकी शक्तियां विकसित हो सकें!

मैं शायद फ़िल्मों में भी ज़्यादा देर तक न रहता, अगर १९४७ में देश के बँटवारे के कारण मुझे पिताजी के धन-दौलत के आश्रय से वंचित न होना पड़ता। उनकी सारी ज़मीन-जायदाद पाकिस्तान में रह गई थी। अब मेरे लिए अपने पांवों पर खड़ा होना ज़रूरी हो गया था।

अपने पांवों पर खड़े होने के संघर्ष ने मुझसे कई और काम भी कराए। मैंने फ़िल्म-डिवीजन की डाक्यूमेंटरी फ़िल्मों की कमेंटरी बोली, विदेशी फ़िल्मों की हिन्दी 'डबिंग' में भाग लिया और स्वर्गवासी गुरूदत्त द्वारा निर्देशित की गई उनकी पहली फिल्म 'बाज़ी' की पटकथा और संवाद लिखे। यह फ़िल्म कामयाब हुई थी। तब उसके निर्माता चेतन आनन्द ने मुझे एक फ़िल्म लिखने और उसका निर्देशन करने के लिए कहा था। मेरे लिए यह बहुत अच्छा मौका था। अभिनेता बनने की बजाय लेखक और निर्देशक बनना मेरे-जैसे आलसी स्वभाव के व्यक्ति को ज्यादा रास आता। आज मुझे अफ़सोस होता है कि चेतन आनन्द की इतनी अच्छी पेशकश मैंने क्यों न शुक्रगुज़ारी के साथ कबूल की। उन्हीं दिनों जिया सरहदी की फिल्म 'हम लोग' भी बहुत कामयाब हुई थी, जिसमें मैंने मुख्य पात्र की भूमिका की थी। तब मुझे लगा था कि मैं निर्देशक के बजाय अभिनेता बनकर ज्यादा पैसे कमा सकता हूं, और ज्यादा आसानी से भी।

मैं समझता हूं कि मेरे अन्दर एक अच्छा पटकथा-लेखक और निर्देशक बनने की खूबी थी। इसका सबूत इस बात से मिलता है कि मैंने आज तक जितने भी काम किए हैं, उनके साथ-साथ मेरा लिखने का शौक कभी भी नहीं छूटा है। मैं कॉलेज के जमाने में भी लिखता था, और उन दिनों भी जब दुकान पर कपड़ा बेचा करता था। बाद में भी, शांतिनिकेतन से लेकर अब तक, मेरा लिखने का अभ्यास निरन्तर जारी रहा है।

मैं मानता हूं कि अच्छा निर्देशक बनने के लिए लेखक होना ज़रूरी नहीं है, लेकिन लेखक होना फ़ायदेमंद साबित ज़रूर हो सकता है। साहित्य के क्षेत्र में मैंने जो कलात्मक बातें सीखी हैं, उन्होंने मुझे अपने अभिनय को अच्छा बनाने में काफ़ी मदद की है। इसे देखते हुए मैं कह सकता हूं कि वे बातें अच्छा निर्देशक बनने के लिए और भी फ़ायदेमंद साबित हो सकती है। उन बातों का सम्बन्ध यथार्थवादी मूल्यों से है।

यथार्थवाद का अमृतपान मैंने अपने कॉलेज के दिनों में ही कर लिया था- अंग्रेज़ी साहित्य के अध्ययन द्वारा। तब ऐसे लगा था, जैसे मुंझे मुंहमांगी मुराद मिल गई हो, जैसे मैंने अच्छा साहित्यकार और कलाकार बनने का रहस्य पा लिया हो। यथार्थवाद का मतलब है, कला में लम्बाई, चौड़ाई और गहराई- तीन आयामों कां होना। लम्बाई और चौड़ाई पेश करना आसान है, गहराई पैदा करना बहुत मुश्किल है। और कला में महानता इस तीसरे आयाम द्वारा ही आती है।

इस तीसरे आयाम को हम गति भी कह सकते हैं।

गति जीवन का मूल गुण है। जैसे सूरज में प्रतिक्षण अणुविस्फोट होता रहता है, वैसे ही हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में भी लगातार अणु-विस्फोट होता रहता है। प्रतिक्षण परिस्थितियां बदलती रहती हैं, और उनके अनुसार हम भी प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। यह गति जिस लेखक की कहानी में जीवन की हू-ब-हू पूरी तसवीर बनकर सामने आएगी, वह कहानी सफल होगी। उसमें प्लाट का होना ज़रूरी नहीं है। जीवन किस प्रकार एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक, एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव तक चलकर गया, यह बात पाठकों को ज़रूर रोचक लगेगी। लेखक जीवन के किसी छोटे टुकड़े का वर्णन करे या विशाल टुकड़े का, उसे इस गति को ध्यान में रखना होगा। चेखव अपनी कहानियों में छोटे-छोटे टुकड़े लेता है, ताल्स्तॉय अपने उपन्यास 'युद्ध और शांति' में बहुत विशाल टुकड़ा लेता है, लेकिन दोनों की सफलता की रहस्य एक ही है। पाठक उस जीवन के बारे में सिर्फ़ पढ़ता ही नहीं, उसे जीता भी है।

मुझे कॉलेज के ज़माने में ही अपने देश के साहित्य (जितना कि उस समय तक मैंने पढ़ा था), कला और फ़िल्मों में इस तीसरे आयाम का अभाव प्रतीत होता था। इन तीनों क्षेत्रों में मुझे हर चीज़ एक चौखटे में बन्द नज़र आती थी। उस चौखटे में उसकी लम्बाई और चौड़ाई तो थी, लेकिन गहराई नहीं थी।

हिन्दी फ़िल्में मुझे आज भी इस दृष्टिकोण से निकली और निर्जीव प्रतीत होती हैं। उनमें जीवन के यथार्थ और गति की कमी है। वे अस्वाभाविक और जोड़-तोड़ कर बनाई गई कहानियों के चौखटों में बन्द होती हैं। उनमें न स्वाभाविक गति होती है, न पात्रों का विकास होता है, और न ही ऐसी परिस्थितियां होती हैं, जिनमें पात्रों का चरित्र-चित्रण हो सके।

मज़बूरी ने मुझे फ़िल्म-अभिनेता बनाया, तो मेरे स्वभाव की सुस्ती और परस्पर-विरोधी बातों ने मेरे रास्तों में कई बहुत बड़ी अड़चनें खड़ी कर दीं। लेकिन अंग्रेज़ी साहित्य से मैंने जो रोशनी हासिल की थी, वह मुझे लगातार रास्ता दिखाती रही। अगर मुझे कुदरती तौर पर अभिनेताओं वाली प्रतिभा मिली होती, तो मैंने जो कुछ दस सालों में सीखा, वह दस महीनों में सीख सकता था। मैं अपने इर्द-गिर्द कई ऐसे साथियों को देखता हूं, जो अभिनेता बनते ही कुछ ही देर में मुझसे कहीं आगे निकल गए। अब उन तक पहुंचने के लिए मुझे कछुए की तरह धीरे-धीरे लगातार चलना पड़ रहा है। वैसे मैं उन साथियों का देनदार हूं कि उन्होंने उदाहरण बनकर मुझे आगे बढ़ने और उन तक पहुंचने की प्रेरणा दी।

इन पचीस वर्षों में क्या मैं अपनी मंज़िल पर पहुंचा हूं ? मेरी सुस्ती आज भी उसी तरह क़ायम है। मैं आज भी उसी तरह अन्तर्मुखी हूं। इसीलिए फ़िल्मों में काम करने पर भी मैं फ़िल्मी दुनिया के वातावरण में अजनबी-सा महसूस करता हूं। मैं जब भी अपनी कोई पुरानी फ़िल्म देखता हूं तो दिल में टीस-सी उठती है: ''काश, कहीं यह रोल दोबारा करने का मौका मिल सके। तब मेरे काम में कितनी खामियां थीं !,,

लेकिन एक बात का संतोष मुझे जरूर है कि उन पचीस वर्षों में मैंने हर प्रकार की भूमिकाएं की है। अस्वाभाविक कहानियां और अन्य कई प्रकार की बंदिशों के बावजूद मैंने उन भूमिकाओं में गति लाने की कोशिश की है, उन्हें जीने की कोशिश की है। मैं किसान भी बना हूं, मजदूर भी, पूंजीपति भी, सिपाही भी, फौज़ी अफ़सर भी, पठान भी, क्लर्क भी, और पता नहीं क्या कुछ। अगर मैं अपनी हर भूमिका में पूरा यथार्थ पेश नहीं कर सका, तो उसे पेश करने की मैंने भरपूर कोशिश ज़रूर की है।

फिर भी, मैं सोचना हूं कि अगर अपने इसी दृष्टिकोण के साथ चेतन आनन्द के कहने पर, लेखन और निर्देशन के क्षेत्र में उतर पड़ता और उन मूल्यों के लिए संघर्ष करता, जो मेरी नज़र में महत्त्वपूर्ण हैं, तो इस समय शायद ज्य़ादा संतुष्ट होता और खुद को ज्य़ादा भरा हुआ पाता। मैं जिस हद तक भी फ़िल्म को यथार्थ के निकट ला सकता, उस हद तक यह संतोष कर पाता कि मैंने अपने देश की सेवा की है।

आज फ़िल्मों में वह मोड़ लाने का समय आ गया है, जो आज से बीस साल पहले लाना सम्भव नहीं था। अगर मैं निर्देशक बन गया होता, तो आज फ़िल्मों से रिटायर

होकर कहीं एकान्त में साहित्य-सेवा करने का सपना देखने की बजाय फ़िल्मों में और ज्यादा काम करना चाहता और ऐसी फ़िल्में बनाता, जिनमें प्रतिक्षण उसी प्रकार अणु-विस्फोट होता, जिस प्रकार कि सूरज में होता है।

लेकिन यह सब सोचने का क्या फ़ायदा ? मैं और चाहे कुछ भी कर सकूं, इन बीते हुए पचीस वर्षों को फिर से नहीं जी सकता। सो यही कहूंगा कि चलो, जितना नहाया, उतना ही पुण्य कमाया। और फिर-

ग़ालिबे खस्ता के बग़ैर कौन से काम वन्द हैं
रोइये ज़ार ज़ार क्यों, कीजिए हाय हाय क्यों ?

कलाकार-यूनियन

दिसम्बर का पूरा महीना मैं आगरा में एक फ़िल्म की शूटिंग करता रहा। यह फिल्म आम हिन्दी फिल्मों की तरह बॉक्स आफिस फिल्म नहीं थी। इसके निर्देशक, कलाकारों और टेकनीशियनों के दिलों में एक ऊंचे उद्देश्य तक पहुंचने की लालसा थी। उन नौजवानों के साथ काम करके मुझे बड़ा मज़ा आया। उनमें से कई बम्बई की 'इप्टा' (इंडियन पीपुल्स थिएटर एसोसिएशन) के साथ संबंधित थे, जिसका मैं खुद एक ज़माने से मेम्बर हूं। कई दिल्ली से आए थे, जिनका रेडियो, टेलीविजन या रंगमंच से सम्बन्ध था।

एक दिन दिल्ली से चटर्जी नाम के एक सज्जन मुझे मिलने के लिए आए। वह चाहते थे कि मैं दिसम्बर के अन्त में 'आल इंडिया रेडियो' और उनके साथ संबंधित 'सांग एण्ड ड्रामा डिवीज़न' की कलाकार-यूनियन के सम्मेलन का उदघाटन करूं। एक तो मैं भाषणों और उदघाटनों को अंग्रेजी राज्य के समय की एक निकम्मी परम्परा और कामचोरी तथा इश्तहारबाज़ी का बहाना समझता हूं, दूसरे, आगरा में पहले ही इन चीज़ों की हद हो चुकी थी, सो मैं इनकार करने लगा। तभी साथ वाली मेज़ों से मोहिनी माथुर, जुत्शी, राज वर्मा और अन्य कुछ कलाकार उठकर हमारी मेज़ पर आ बैठे। मैंने देखा कि उनके दिलों में चटर्जी के लिए बहुत आदर और उपरोक्त यूनियन के कलाकारों के संघर्ष के साथ गहरी हमदर्दी थी। आखिर मुझे अपना इनकार 'हां' में बदलना पड़ा। फ़ैसला हुआ कि शूटिंग खत्म होने पर मैं बम्बई जाते समय एक दिन के लिए दिल्ली रूक जाऊं और चटर्जी की फ़रमाइश पूरी करूं।

इसके तीन-चार दिन बाद मुझे अपने एक बहुत ही प्यारे दोस्त, जोथीरेन्द्र मित्र का तार आया, जिसमें उन्होंने कलाकार-यूनियन की फरमाइश मंजूर करने के लिए मेरा धन्यवाद किया था। जोथी-दा इप्टा की तीस वर्ष पहले की पीढ़ी में से हैं। उनके लिखे ऑपेरा 'नवजीवनेर गान' के जोशीले गीत आज भी मेरे कानों में गूंजते हैं। उनसे दोबारा मिलने की आशा ने मेरा शौक और भी बढ़ा दिया।

नई दिल्ली में पंचकुइयां रोड के नज़दीक 'महाराष्ट्र हॉल' में २ जनवरी की शाम को कलाकार-यूनियन के सम्मेलन की पहली बैठक हुई। मेरे मोटर से उतरने की देर थी कि बाहर खड़े कलाकारों ने 'बलराज साहनी की जय !' और 'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद !' के नारे लगाने शुरु कर दिए। फिर स्टेज पर पहुंचते ही मेरी गर्दन कानों तक फूलों के हारों से भर गई। बाकी जो कसर रह गई थी, वह चटर्जी ने माइक पर मेरी तारीफों के पुल बांधकर पूरी कर दी। आखिर मुझे बोलने के लिए कहा गया।

हॉल में लगभग डेढ़ सौ लोग बैठे थे। मेरे खयाल में वे सभी कलाकार थे और कलाकार-यूनियन के मेम्बर थे, उनमें बाहर का कोई व्यक्ति नहीं था। इस बात की मुझे खुशी हुई, क्योंकि दिखावे की धूमधाम करने से कई बार सम्मेलन का असली मनोरथ नष्ट हो जाता है।

मैं समझ नहीं पा रहा था कि अपने भाषण में क्या कहूं। कलाकार तो मैं खुद भी था, पर किसी भी ऐसी यूनियन का मेम्बर आज तक नहीं बना था। फ़िल्म लाइन में कलाकारों, टेकनीशियनों और अन्य कर्मचारियों का दूसरे क्षेत्रों की अपेक्षा कम शोषण या अपमान नहीं होता। फ़िल्मों में असर-रसूख वाले सिर्फ़ गिनती के कुछ व्यक्ति, जिनमें मेरा नाम भी शामिल है, ऊपर की सारी मलाई उतारकर ले जाते हैं। बाकी लोगों को उनकी मेहनत का योग्य पारिश्रमिक मिलना तो एक तरफ़ रहा, बाकायदा हर महीने तनख्वाह मिलने का भी भरोसा नहीं होता।

एक व्यक्ति, जो आज स्टुडियो में हृष्ट-पुष्ट और खुशी-खुशी काम करता हुआ नज़र आता है, अगर तीन महीने बाद भूख के कारण दुबला-पतला और मौत के किनारे खड़ा हुआ नज़र आए, तो इसमें हैरानी की बात नहीं है। फ़िल्म इंडस्ट्री में मैंने पचीस साल बिताए हैं, पर इस अंधेरगर्दी के खिलाफ कभी आवाज़ नहीं उठाई। टेकनीशियनों और अन्य कर्मचारियों की यूनियनें हैं, पर मैंने उनमें कभी कोई दिलचस्पी नहीं ली। न ही किसी मुश्किल में मैंने उनकी सहायता की है, यद्यपि हमदर्दी ज़रूर दिखाई होगी। वैसी हमदर्दी आज भी दिखा सकता था। ऊपरी मन से बातें करके मैं उनका दिल बहला सकता था। पर ऐसा करने के लिए मन न माना। जिन लोगों ने मुझे इतना प्यार और आदर दिया है, उनके साथ पाखंड क्यों करूं? खासकर जबकि जोथी-दा मेरे पास वाली कुर्सी पर बैठे हुए हैं। सो मैंने श्रोताओं के सामने ईमानदारी से अपना दिल खोलने का फैसला किया।

शुरु में मैंने कहाकि नामी व्यक्तियों की जय-जयकार करना और उन्हें फ़ूलों से लादना गुलामी के दौर की परम्पराएं हैं, जो न तो फायदेमंद है और न ही कलाकारों को शोभा देती है। कलाकारों में दोस्ती और बराबरी का रिश्ता होना चाहिए। कद्रदानी की सही मयार क़ायम करना चाहिए। ऐसे मौके पर जय-जयकार का अधिकारी वही हो सकता है, जिसने अपने कलाकार साथियों के लिए संघर्ष किया हो, कुर्बानी की हो। इस दृष्टिकोण से मेरी देन शून्य के बराबर है।

मैंने यह भी कहाकि आज के युग में हम जिस समस्या को भी हाथ में लें, उसका पहले वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विश्लेषण करना ज़रूरी है। एकमात्र जोश किसी काम नहीं आ सकता। विश्लेषण में से ही समस्या को हल करने के सही तरीके निकलेंगे। यथार्थवादी दृष्टिकोण ही संघर्ष को टिकाऊ और मज़बूत बनाएगा। इस सिलसिले में मैंने युद्ध-विद्या का उदाहरण दिया। किसी ज़माने में जीत बहादुरी और बाहुबल पर निर्भर थी। आज उसकी जगह कुटल हथियारबंदी और पैंतरेबाज़ी ने ले ली है। हर युग के अपने तौर-तरीके होते हैं।

कुछ इसी तरह की बातें करके मैंने सम्मेलन का उदघाटन किया। उसके बाद अगर मैं चाहता तो, जैसे कि नेतागण प्रायः करते हैं, वहां से जाने की इजाज़त ले सकता था। चटर्जी ने मुझसे सिर्फ आधा घंटे का समय मांगा था।

उस शाम मुझे और कोई काम नहीं था। मैंने चाहा कि बैठकर सम्मेलन की कार्यवाही सुनूं। मैं जानता था कि आखिर वे समस्याएं क्या हैं, जिन्होंने कोमल-हृदय कलाकारों को यूनियन बनाने और संघर्ष करने के लिए बाध्य कर दिया था।

वक्ताओं के भाषण सुनकर मैं भौंचक्का रह गया। मुझे यकीन ही नहीं हो रहा था कि मैं आज़ादी के पचीस साल बाद के ज़माने में जी रहा हूं। ऐसे लगा कि जहां तक आल इंडिया रेडियो का सम्बन्ध है, घड़ी की सुइयां बिलकुल नहीं हिली हैं और वहीं की वहीं रुकी हुई खड़ी हैं। समाजवाद के दावे करने वाली हमारी सरकार आज भी कलाकारों के साथ वैसा ही घटिया सलूक कर रही है, जैसा कि अंग्रेज़ों के ज़माने में होता था।

आल इंडिया रेडियो से मेरा ज़्यादा सम्बन्ध अंग्रेज़ों के ज़माने में ही रहा था-दूसरे विश्वयुद्ध से पहले, इस सदी के तीसरे दशक में। उन दिनों रेडियो स्टेशन नये-नये ही बने थे।

बड़ा अजीब ज़माना था वह। हर स्टेशन के संचालन के सभी अधिकार स्टेशन-डायरेक्टर, प्रोग्राम-डायरेक्टर और प्रोग्राम-असिस्टेंटों के हाथ में होते थे। और सरकार इन व्यक्तियों का चुनाव हूबहू वैसे ही करती थी, जैसे कि पुलिस, रेलवे, इन्कमटैक्स या अन्य विभागों के लिए करती थी। यह बात मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह रहा हूं, क्योंकि लाहौर का रेडियो स्टेशन मेरी आंखों के सामने खुला था। उसके पहले अधिकारी मेरे अपने कॉलेज (गवर्नमेंट कॉलेज, लाहौर) के विद्यार्थी थे। वे परीक्षाओं में बहुत ऊंचे नम्बर से पास हुए थे। उनके घरानों की वफ़ादारी पर कोई शक नहीं किया जा सकता था। रही बात कला की- भारतीय संगीत, साहित्य, नृत्य, नाटक आदि के बारे में उनका ज्ञान उतना ही था, जितना कि मेरा, यानी काला अक्षर भैंस बराबर। उनमें से किसी को भी माइक्रोफोन के सामने खड़े होकर बोलने का तजुरबा नहीं था, और न ही अदाकारी आती थी। लेकिन क्योंकि उन्हें अफ़सर बना दिया गया था, इसलिए मान लिया गया था कि सभी गुण उनमें पहले से ही विद्यमान है।

उन लाल बुझक्कड़ों के सामने कलाकारों की हैसियत भाड़े के टट्टूओं जैसी थी- वे कलाकार श्रोताओं के सामने पेश होते थे और उनकी प्रशंसा या निन्दा पाने का खतरा मोल लेते थे। कारण ? अंग्रेज़ों के ज़माने में भारतीय संगीत, लोकगीत, भाषा, नृत्य, नाटक आदि को बहुत घटिया और हास्यास्पद समझा जाता था। उन्हें सिर्फ़ शुग़ल की हद तक ही जायज़ माना जाता था। इसके आगे वे शरीफों के योग्य नहीं थे। जो भी पुरुष या स्त्री उन्हें रोज़ी कमाने का साधन बनाता था, वह सभ्य समाज की नज़रों में गिर जाता था।

एक दिन दिल्ली रेडियो स्टेशन से खान साहब अब्दुल करीम खान गाने वाले थे। प्रोग्राम असिस्टेंट उन्हें स्टुडियो में बैठाकर कोई पूछताछ करने चला गया। स्टुडियो में पियानो पड़ा हुआ था। उस पर रियाज़ करने के लिए एक एंग्लोइंडियन-कलाकार दाखिल हुआ। उसे वहां बैठे काले आदमी की उपस्थिति बुरी लगी और उसने चपरासी को बुलाकर खान साहब को बाहर निकलवा दिया।

ऐसी घटनाएं रोज़ देखने में आती थीं।

फ़िल्मों के प्रसिद्ध कलाकार ओमप्रकाश ने भी अपना काम लाहौर के रेडियो स्टेशन से ही शुरु किया था। देहाती प्रोग्राम में उन्हें सुनने के लिए लाखों लोग बड़े चाव से प्रतीक्षा किया करते थे। पर अफ़सरों की नज़रों में ओमप्रकाश की क़ीमत सिर्फ पच्चास रुपये माहवार थी, या शायद इससे भी कम। इतने रुपयों के लिए भी उन्हें अफ़सरों के सामने हर समय मसखरे का रोल करना पड़ता था।

आखिर ओमप्रकाश को फ़िल्म-निर्माता, दलसुख पंचोली फ़िल्मों में ले गए। देखते-देखते वे स्टेशन-डायरेक्टर से भी दुगुने पैसे कमाने लगे। आल इंडिया रेडियो पर तो जैसे ईश्वर का क़हर टूट पड़ा, और दुनिया उलट-पुलट हो गई। आज जब उन अफ़सरों के नाम तक किसी को याद नहीं है, ओमप्रकाश लोगों के दिलों पर लगातार राज करते आ रहे हैं, और अभिनय-कला के नित्य नये शिखर छू रहे हैं।

उस ज़माने में मैं खुद बेरोज़गारी के दिन काट रहा था। मुझे अच्छी तरह याद है कि कैसे दस-दस, बारह-बारह रुपयों के खातिर प्रोग्राम असिस्टेंटों के पास चक्कर लगाने पड़ते थे। यही हाल मैंने सआदत हसन मंटो, कृशन चन्दर, देवेन्द्र सत्यार्थी और अन्य कई साहित्यकारों का देखा था।

तब मेरे मन में इस बेकद्री के खिलाफ विद्रोह नहीं उठता था। एक तो मैं जवान था और ग़रीबी में 'एडवेन्चर' का मज़ा आता था। दूसरे, यह समझ-बूझ नहीं थी कि विदेशी शासन की नज़रों में कलाकार या साहित्यकार खतरनाक समझा जाता था, जिसे दबाकर रखना उसके लिए ज़रूरी था। फिर, मैंने शिक्षा भी ऐसे वातावरण में पायी थी, जिसमें स्वाभिमान का अभाव था। हां, यह सब अजीब-सा ज़रूर लगता था।

यह थी उस गुलामी के ज़माने की तसवीर। आज़ादी मिलने के बाद जहां नेतागण और नौकरशाहों ने अपनी करतूतों द्वारा देश की नाक कटवा डाली है, वहां कलाकारों और साहित्यकारों ने संसार में उसका नाम ऊंचा किया है। उन्होंने भारतीय कला को फिर से गौरव प्रदान किया है। कृशन चन्द्र, रविशंकर, सत्यजित राय आदि आज सितारों की तरह चमकने वाले नाम हैं। और यह सब अपने आप ही नहीं हो गया है और इसका रहस्य इने-गिने व्यक्तियों की महानता में नहीं है। इसके पीछे अनगिनत कलाकारों की अथक मेहनत, लगन और साधना का इतिहास है।

पर उस समय मैं स्टेज पर बैठा हुआ जो कुछ सुन रहा था, उससे तो यही प्रकट हो रहा था कि हुकूमत को उन बातों की कोई सुध-बुध ही नहीं है। ज़माना कहां का कहां पहुंच गया है, पर हुकूमत आज भी कुंभकरण की नींद ले रही है। आज भी लाल बुझक्कड़ अफ़सर महत्त्वपूर्ण कुर्सियों पर बैठे हुए हैं, और कलाकार वैसी ही बेकद्री और शोषण का शिकार हो रहे हैं।

अशोक वाजपेयी पर गैरज़िम्मेदार फ़ितनाबाज़ होने का दोष नहीं लगाया जा सकता। वे आल इंडिया रेडियो में प्रथम श्रेणी के अनाउंसर हैं और हिन्दी समाचार सुनाते हैं। यह संभव नहीं कि व्यक्तिगत रूप से उन्हें आर्थिक कठिनाइयां हों या कोई अफ़सर उनके साथ बुरा सलूक करता हो। एक कलाकार होने के नाते अपने कलाकार साथियों के लिए उनके दिल में दर्द था, और वह उनके साथ हो रहा अन्याय देखकर चुप नहीं रह सके थे। इसीलिए वह अपने व्यक्तिगत सुखों को एक ओर रखकर सबकी खातिर न्याय के लिए लड़ रहे थे। वह कलाकार-यूनियन के प्रधान थे।

वह कह रहे थे:

"हमारे आदरणीय अतिथि, आपने हमें सलाह दी है कि हम अपनी समस्याओं का विश्लेषण करें। हम इस सलाह की बड़ी कद्र करते हैं। सो, हमने जो विश्लेषण किया है, उसके कुछ नतीजे आपके सामने रखना चाहते हैं। हम आपको बताना चाहते हैं कि सरकारी विभागों में, इस महंगाई के ज़मानें में भी, कलाकारों को साठ-साठ, सत्तर-सत्तर रुपये माहवार पर नौकर रखा जाता है। उन्हें किसी भी समय और बिना कारण बताये नौकरी से बर्खास्त किया जा सकता है। उनसे बेमियाद 'ओवर टाइम' ड्यूटी ली जाती है और उसका कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाता। 'सांग एण्ड ड्रामा डिवीज़न' में कलाकारों को पहले सिर्फ़ एक साल के कांट्रैक्ट पर रखा जाता था। यूनियन बनने के बाद कांट्रैक्ट की मियाद पांच साल कर दी गई है, पर पक्की नौकरी, पेंशन, प्राविडेण्ट फ़ण्ड आदि का अभी तक कोई प्रबन्ध नहीं है। जिस कलाकार के सिर पर हमेशा ग़रीबी और बेरोज़गारी की तलवार लटकती रहे, वह कला का सृजन कैसे कर सकता है?

"सांग एंड ड्रामा डिवीज़न" के कलाकार फ़ौजी जवानों के मनोरंजन के लिए लद्दाख और नेफ़ा जैसे दूर-दराज़ इलाकों में जाते हैं। उन्हें कठिनाइयों भरे सफ़र और कई प्रकार के खतरों का मुकाबला करना पड़ता है। शायद इसी बात को ध्यान में रखकर कान्ट्रैक्ट में यह शर्त लिखी गई होती है कि कोई भी दुर्घटना होने की हालत में कलाकार किसी किस्म के मुआवज़े का हकदार नहीं होगा।

"पिछले दिनों ग्यारह कलाकारों की एक टोली फ़ौजी जवानों के मनोरंजन के लिए लद्दाख और नेफ़ा में गई थी। उनके सफ़र और रिहायश का प्रबन्ध असन्तोषजनक था। कलाकारों ने आवश्यक सहूलियतों की मांग की तो उन्हें उसी समय वापस दिल्ली मंगवा लिया गया और उनके कांट्रैक्ट खत्म कर दिए गए।

"जहां कलाकारों को, जो कि 'सांग एंड ड्रामा डिविजन' के सही मनोरथ की पूर्ति करते हैं, मामूली सहूलियतें या रियायतें मांगने का अधिकार नहीं है, वहां अफ़सरों को, चाहे वे कलात्मक सूझ-बूझ से बिलकुल कोरे क्यों न हों, हज़ारों-लाखों रुपये व्यर्थ में बरबाद करने की खुली छुट्टी है। इस सिलसिले में उन्हें कोई पूछने वाला नहीं है। ऐसा भी कुछ है कि जिस नाटक पर बीस हज़ार का खर्च सरकार को दिखाया गया, उसके लिए तैयार किये गए लिबास इतने घटिया थे कि वे कलाकारों के लिए स्टेज़ पर पहनकर जाने के लायक नहीं थे। रुपया पानी की तरह बहाया जाता है, लेकिन इस सिलसिले में न तो कलाकारों की सलाह ली जाती है, न उनकी ज़रूरतों को ध्यान में रखा जाता है।

"हमारी यूनियन के सम्बन्धित कुछ निजी नाटक-संस्थाएं भी हैं। उनमें कलाकारों की हालत इससे भी गई-गुज़री है। इन संस्थाओं की संचालिकाएं और प्रतिपालकाएं बड़े-बड़े पूंजीपतियों की पत्नियाँ है। जैसे अफ़सर के रोब के लिए कुरसी काफ़ी है, वैसे ही कला-मर्मज्ञ बनने के लिए इन महिलाओं के लिए अपने पतियों का पैसा काफ़ी है। उसी के सहारे वे 'कला की सेवा' करती है और समाज से शोभा और राष्ट्रपति से पदमश्री पाती हैं। कलाकारों को इन सरस्वतियों के चरणों का दास होकर रहना पड़ता है। उनकी आज्ञा का पालन करना, उनके आगे-पीछे चक्कर लगाना, उनका गुणगान करना, उनके

इशारों पर सरकस के सिखाये हुए, जानवरों की तरह नाचना उनका कर्तव्य होता है। बदले में उन्हें रोटी-कपड़े का दान दिया जाता है। पर कलाकार ने जहां ज़रा भी इन्सान बनने का, स्वतंत्र रूप से सोचने या बोलने का साहस किया, उसका पत्ता कट जाता है।

अशोक वाजपेयी ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में अपना भाषण समाप्त करते हुए कहा:

"आदरणीय अतिथि, हमें पता लग चुका है कि अपने हक मनवाने के लिए संघर्ष के सिवा और कोई रास्ता नहीं है। हमें संघर्ष करना ही पड़ेगा, कुर्बानियां देनी ही पड़ेंगी। वियतनाम के उदाहरण ने हमें निडर कर दिया है। वियतनाम ने हमें सिखा दिया है कि मौत का डर एक बार दिल में से निकल जाए, तो आदमी तगड़े से तगड़े दुश्मन का मुकाबला कर सकता है।"

मुझे लगा कि वाजपेयी जैसे मेरी आत्मा को चुनौती दे रहे थे। आखिर मैं भी तो कलाकार था। जो हालात वह बता रहे थे, कभी मैं भी उनमें से गुज़रा था, कभी मैंने भी उन्हें अपनी आंखों से देखा था।

सन १९५० की बात है, आल इंडिया रेडियो के डायरेक्टर जनरल, मिस्टर लायनल फील्डन मुझे बी०बी०सी० में भर्ती करने के लिए गांधीजी के आश्रम सेवाग्राम में आए थे। यह बात बड़ी अजीब लगी थी। मैं उस समय इसका कारण समझ नहीं पाया था। वास्तव में, उस उच्च विचारों वाले अंग्रेज़ ने आल इंडिया रेडियो की अफ़सरशाही व्यवस्था को तोड़ने और उसे बी०बी०सी० की व्यवस्था के अनुकूल ढालने की कोशिश की थी। बदले में वाइसराय के पिट्ठुओं ने उन्हें त्यागपत्र देने और हिन्दुस्तान छोड़ने के लिए मज़बूर कर दिया था। बी०बी०सी० को अपने एक सम्मानित कर्मचारी का अपमान पसन्द नहीं आया था, इसलिए उसने फ़ील्डन को लंदन में हिन्दुस्तानी सर्विस स्थापित करने के खुले आधिकार दे दिए थे। गांधी आश्रम में आकर मुझे भर्ती करने में फ़ील्डन का मनोरथ एक तरह से वाइसराय को अंगूठा दिखाना था।

बी०बी०सी० में काम करके मेरी आंखें खुल गई थीं और मुझे वहां की और आल इंडिया रेडियो की व्यवस्था का अन्तर साफ़ दिखाई देने लगा था। बी०बी०सी० में अपने काम के सारे अधिकार कलाकारों और साहित्यकारों के हाथ में थे।

अफ़सरशाही का काम था किसी कोने में बैठकर क्लर्की करना, यानी कलाकारों के लिए आवश्यक प्रबंध करना, उनकी मुश्किलें हल करना, उनके लिए सुविधाएं मुहैया करना आदि। बी०बी०सी० के वातावरण में हुक्म चलाने की कोई जगह नहीं थी।

बी०बी०सी०में अपने काम के दौरान कुछ घटनाओं ने मेरे दिल पर खास असर डाला था।

हमारे हिन्दुस्तानी फ़ीचर-प्रोग्रामों में 'साउंड इफेक्ट' देने के लिए बाईस-तेईस साल का एक अंग्रेज़ आया करता था। उन दिनों यह आवाज़ें तवों पर रिकार्ड की जाती थीं, और आर०पी०डी० (रिकार्ड प्रोग्राम डिपार्टमेंट) के पास उनकी पूरी लायब्रेरी थी। यह व्यक्ति उसी विभाग का था। उसका काम साधारण-सा गिना जाता था। इसलिए उसकी तनख्वाह लगभग तीन सौ पौंड सालाना था।

लेकिन उसका दिमाग तेज़ था। वह हमेशा नई-नई ब्रातें सोचा करता था। एक दिन वह कैंटीन में मेरे साथ बैठा हुआ था कि कहने लगा, ''मिस्टर साहनी, ग्रेसी फ़ील्ड अपने ज़माने में वहुत बड़ी फ़िल्म-स्टार रह चुकी है। उसके गीत लोग आज भी बड़े शौक से सुनते हैं। अगर उसकी किसी मशहूर फ़िल्म के खास-खास दृश्य भी गीतों के साथ रिकार्ड कर लिये जाएं और बढ़िया कमेन्टरी के साथ उन्हें फ़ीचर-प्रोग्राम में पेश किया जाए, तो क्या सुनने वालों को मज़ा नहीं आयगा ?''

''ज़रूर आयेगा, '' मैंने उत्साहित होकर कहा।

''पुरानी फ़िल्में प्रायः बेकार पड़ी रहती है। उनके साउण्ड ट्रैक रिकार्ड करने की इजाज़त, मेरे खयाल में, आसानी से मिल सकती है।''

''हां-हां, क्यों नहीं !''

इसके बाद, कुछ महीनों तक, उससे मुलाकात नहीं हुई। मैंने सोचा कि किसी अन्य विभाग में लग गया होगा, या शायद फ़ौज की तरफ़ से बुलावा आ गया होगा। युद्ध का ज़माना था वह।

अचानक एक दिन कैंटीन में वह दिखाई दिया। उसका रंग-ढंग ही बदला हुआ था। मुझे देखते ही वह बोल उठा, ''मिस्टर साहनी, याद है, मैंने ग्रेसी फील्ड के बारे में आपको एक खयाल बताया था। उसके बाद मैं फ़िल्म-डिस्ट्रीब्यूटरों से जाकर मिला। उन्हें भी वह खयाल पसन्द आया, बल्कि उन्होंने रिकार्ड कराने में मेरी मदद भी की। फिर, मैंने खुद कमेन्टरी लिखकर नमूने का एक प्रोग्राम तैयार किया और सीधे होमसर्विस के प्रोग्राम-डिपार्टमेंट में जाकर डायरेक्टर को सुनाया। वह खुशी से उछल पड़ा। वह प्रोग्राम ब्राडकास्ट हो चुका है और आशा से कहीं ज़्यादा लोकप्रिय हुआ है। अब मैं हर हफ्ते उस किस्म का प्रोग्राम पेश कर रहा हूं। अब मैं आर०पी०डी० नहीं रहा, मिस्टर साहनी। अब मुझे प्रोडयूसर का ओहदा मिल गया है और तनख्वाह तीन सौ पौंड की जगह डेढ़ हजार पौंड सालाना हो गई है। मेरा अपना अलग दफ्तर और सेक्रेटरी है।''

मैं सोचे बिना न रह सका कि अगर वह हिन्दुस्तान में अपने विभाग के बड़े अफ़सर की इजाज़त के बिना किसी दूसरे विभाग के अफ़सर से जाकर मिलता, तो नौकरी से ही हाथ धो बैठता।

एक बार बी०बी०सी० के सुरक्षा विभाग ने हुक्म जारी किया कि 'सेबोटाज' के खतरे से बचने के लिए विदेशी भाषाओं के प्रोग्राम ब्राडकास्ट होने के समय स्टुडियो में कोई सेंसर का व्यक्ति हाज़िर रहा करे। सो, हमारे प्रोग्राम में हिन्दुस्तानी जानने वाला एक हथियारबंद अंग्रेज़ अफ़सर आने लगा। यह बात हमें बिलकुल अच्छी न लगी। उसे देखते ही हमारी मानसिक हालत खराब हो जाती। जुलफ़िकार अली बुखारी ने हम सब से सलाह करके बी०बी०सी०के डायरेक्टर-जनरल के पास जाकर कहा, 'अगर आपको हम पर भरोसा नहीं है तो हमारे इस्तीफ़े मन्जूर कीजिये और हमें वापस हिन्दुस्तान भेज दीजिये। और अगर भरोसा है तो सेंसर बैठाकर हमारे दिल न दुखाइये।'

अगले दिन से वह अफ़सर हटा दिया गया और फिर कभी न आया। हम जो भी चाहते, माइक्रोफोन पर बोलते। कई बार तो लिखा हुआ कागज़ भी हमारे हाथ में नहीं होता था।

ईस्टर्न सर्विस के डायरेक्टर सर रशबुक विलियम्ज़ थे, जो बहुत पुराने और अनुभवी सिविल सर्वेन्ट थे। वह हिन्दुस्तान में काफ़ी अरसा रह चुके थे। सुबह दस बजे उनके कमरे में मीटिंग होती थी, जिसमें वे विभिन्न स्थानों में आयी खबरें और हिदायतें पढ़कर हमें सुनाते थे। बाद में उन पर थोड़ी-बहुत चर्चा भी होती थी। एक दिन मीटिंग खत्म होने पर उन्होंने मुझे एक तरफ़ ले जाकर कहा, 'साहनी, बाकी सभी मुझे सिर्फ़ रशबुक कहकर बुलाते हैं, तुम क्यों ख्वाहमाख्वाह 'सर, सर' कहते रहते हो? तुम तो मुझे रशबुक कहकर बुलाया करो।'

अंग्रेज़ का रूप हिन्दुस्तान में और होता है, और इंग्लैंड में और- इस बात का उस दिन मुझे एक नया सबूत मिला था।

सवाल उठता है कि इस आज़ादी के ज़माने में हिन्दुस्तानी अफ़सरशाही अपने आपको अंग्रेज़ों के इंग्लिस्तानी रूप में क्यों नहीं ढालती? और जवाब यही हो सकता है कि वह आज भी हिन्दुस्तानियों को एक गुलाम देश के नागरिक समझती है, उन से घृणा करती है, उन्हें 'काला आदमी' समझती है।

हमारी सरकार एक तरफ़ समाजवाद की डींगें मारती है, और दूसरी तरफ़ कलाकारों को वे सहूलियतें देने के लिए भी तैयार नहीं है, जो इंग्लैंड जैसे पूंजीवादी देश में कलाकारों को दी गई है। क्या यह 'हाथी के दांत खाने के और, दिखाने के और' वाली बात नहीं है?

एक समाजवादी देश में होनेवाली घटना भी याद आ गई है।

यह उस ज़माने की बात है, जब चीन और हिन्दुस्तान की आपस में गहरी दोस्ती थी। हर तरफ़ 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' सुनाई देता था। पृथ्वीराज कपूर के नेतृत्व में फ़िल्मी कलाकारों का एक दल चीन गया था। मैं भी उसमें शामिल था। चीन में हमारा बहुत ही शानदार स्वागत हुआ था।

एक जगह हमने कमाल दर्जे के नाद-उस्ताद का प्रोग्राम सुना। वह व्यक्ति अपने मुंह से सैकड़ों किस्म की आवाज़ें निकालता था- पशुओं की, पक्षियों की, अन्य कई प्रकार की। उसने हमें आश्चर्यचकित कर दिया। हमें लगा कि कला का यह कमाल मनुष्य की पहुंच के बाहर की चीज़ है।

प्रोग्राम के बाद हम उसे मुबारकबाद देने के लिए स्टेज पर गए और उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। बातों के दौरान उसने बताया कि इन्क़लाब से पहले वह एक भिखारी था। रेलगाड़ी के डिब्बो और गली-कूचों में वह कई तरह की आवाज़ें सुनाकर लोगों को रिझाता और भीख मांगा करता था। इन्क़लाब के बाद उसे 'जनता का कलाकार' बना दिया गया, जो चीन में किसी कलाकार को दिया जाने वाला बहुत ऊंचा सम्मान है। सरकार ने उसे खुद अभ्यास करने और नये शागिर्द तैयार करने के लिए एक स्टुडियो दिया हुआ था। और उसे तनख्वाह उतनी मिलती थी, जितनी सरकार के किसी मंत्री को मिलती थी।

अशोक वाजपेयी अपना भाषण खत्म करके मेरे पास आकर बैठ गए। मैंने उनसे पूछा, ''क्या हिन्द सरकार से इतना भी नहीं हो सकता कि आल इंडिया रेडियो के पुराने विधान को रद्द करके बी०बी०सी० के विधान के अनुसार ढालने की कोशिश करे?''

''मिस्टर केसकर ने थोड़ी-बहुत कोशिश की थी, पर अफ़सरशाही ने उनका बिस्तर ही गोल कर दिया।'' वाजपेयी ने कहा।

मेरे मन ने इस बात की गवाही भरी। सचमुच, समाज में अपना सही स्थान पाने के लिए हिन्दुस्तानी कलाकार को वियतनाम का रास्ता अपनाना होगा, वरना वह हमेशा की तरह सरकार और सभ्य समाज की नज़रों में तिरस्कार का पात्र बना रहेगा-भांड, मिरासी, नकलिया।

मेरा दिल जल-भुनकर कोयला हो जाता है, जब भी मैं मिनिस्टरों, गवर्नरों, मेयरों और अन्य 'महान व्यक्तियों' को सांस्कृतिक प्रोग्रामों में देर से आते और विघ्न डालते हुए देखता हूं। क्या संसार के किसी और स्वतंत्र और सभ्य देश में भी ऐसा होता है? क्या वहां देर से आने वाले के लिए दरवाज़े बन्द नहीं हो जाते और उसे मध्यान्तर तक बाहर नहीं रुकना पड़ता ? पर क्या कहने हैं इस अभागे हिन्दुस्तान के ! यहां तो जिनका अपमान होता है, वही आगे बढ़-बढ़कर हाथ जोड़ते, दांत निकालते और पुष्पमालाएं भेंट करते हैं। किस हद तक गिर चुकी है कलाकार की ग़ैरत !

एक बार हम 'इप्टा' का नाटक खेलने के लिए बम्बई से बाहर गए हुए थे। वहां हमारी रिहायश का इन्तज़ाम एक स्कूल की इमारत में किया गया था। खाने-पीने की सेवा उस स्कूल के संचालक, प्रतिपालक और शहर के मशहूर पूंजीपति ने अपने ज़िम्मे ली हुई थी। इसमें शक नहीं कि उसने हमारी बहुत अच्छी खातिर की। लेकिन अन्त में उसने एक ऐसी बुरी बात मुंह से निकाली कि अपने किए-कराये पर पानी फेर दिया। उसने कहा-

''बड़ी कृपा है आपकी, साहनी साहब, जो आपने हमारी तुच्छ सेवा स्वीकार की है। अब एक और कृपा भी आपको करनी होगी। अगले महीने मेरे बेटे की शादी है। बड़ी धूमधाम से करूंगा। मैं चाहता हूं कि उस मौके पर भी कोई बढ़िया-सा प्रोग्राम हो। आप ही बताइए, किस क़िस्म के कलाकार बुलाऊं ? बल्कि सारा इंतज़ाम आप अपने हाथ में ही ले लीजिए न? पैसे की कोई परवाह नहीं है, चाहे लाख खर्च कर डालिए। आप ही का बेटा है।''

दिल में आया कि उसके मुंह पर कसकर थप्पड़ मारूं, लेकिन यह सोचकर डूब मरा कि जिस संस्था का नाम 'जन नाटक संघ' है, वही एक पूंजीपति के टुकड़ों पर पल रही है। फिर भी, मैंने इतना कहने का साहस ज़रूर किया-

''सेठ साहब, आप भी तो किसी कलाकार से कम नहीं हैं। स्टेज पर आकर बस खड़े हो जाइए, दर्शकों का दिल खुशी से नाच उठेगा।''

पास में खड़े कुछ लोग हंस पड़े। सेठ जी का वज़न अढ़ाई-तीन मन से कम नहीं था। एक-एक सेर का तो उनका एक-एक होंठ ही था।

जब चटर्जी ने बोलना शुरु किया तो घने अंधेरे में रोशनी की किरण फूटती हुई दिखाई दी। वह कह रहे थे कि कलाकारों को यूनियन बनाने की प्रेरणा श्रीमती इंदिरा गांधी ने दी थी, जबकि वे सूचना और प्रसारण विभाग की मंत्री थीं। अब भी उनका सहयोग और सहानुभूति हर समय प्राप्त है।

यह सुनकर मुझे खुशी हुई। एक आज़ाद देश के प्रधान-मंत्री को यही शोभा देता है। नेहरू-परिवार ने हमेशा कला और कलाकार का सम्मान किया है और उसकी क़ीमत पायी है। इंदिरा गांधी तो शांति निकेतन की विद्यार्थी भी रह चुकी हैं। पर यह तो ज़रूरी है कि इंदिरा गांधी की सरकार भी उसी रास्ते पर चले।

वहां से लौटते समय मैंने वाजपेयी, चटर्जी, जोथी-दा और यूनियन के अन्य कर्मचारियों को फिर ताकीद की कि वे इंदिरा गांधी और गुजराल साहब से मांग करें कि आल इंडिया रेडियो में बी०बी०सी० का विधान लागू किया जाए और अगर कोई नतीजा न निकला तो कलाकार जो भी कदम उठाएंगे, मैं उनका पूरी तरह साथ दूंगा।

स्टुडियो में : एक दिन की डायरी

आज स्टुडियो में चार पिक्चरों की शूटिंग हो रही है, इसी कारण मुझे अच्छा मेकअप-रूम छोड़कर एक घटिया कमरे में आना पड़ा है। जिस स्टार की खातिर मैंने यह त्याग किया है, वह शायद न पैसे और न ही प्रसिद्धि के लिहाज़ से मुझसे बड़ा है, पर उसकी मोटर मेरी मोटर से बहुत बड़ी है, और सजधज के तो कहने ही क्या हैं। अभी-अभी वह सिल्क की एक चटकीली-भड़कीली बुशशर्ट पहने, कोई अंग्रेज़ी प्रेमगीत गुनगुनाता, थिरकता और नाचता हुआ मेरी खिड़की के सामने से गुज़रा है। अगल-बगल उसके 'चमचे' सुर के साथ सुर और कदम के साथ क़दम मिलाकर अपना फ़र्ज़ पूरा कर रहे हैं। पीछे-पीछे प्रशंसकों की भीड़ हैं। कैमरे के सामने निस्संकोच, लापरवाही से अभिनय करना अच्छा अभिनेता होने की निशानी है, इसीलिए हमारे फ़िल्म स्टार हर स्थान और हर अवसर पर अपने कुशल कलाकार होने का प्रमाण पेश करते हैं। यह भी एक तरह की पब्लिसिटी है, जैसे कि पहलवानों का बारीक मलमल का कुर्ता पहनकर बाज़ारों में झूम-झूमकर चलना।

काम पर देर से आना, आते ही ऊधम-भरा आतंक मचा देना, प्रोडयूसर के हाथों के तोते उड़ा देना, फ़रमाइशों की भरमार से कर्मचारियों के छक्के छुड़ा देना, डायरेक्टर के होश गुम कर देना आदि फ़िल्म स्टार होने के ये कुछेक लक्षण माने जाते हैं। ईश्वर जाने, मैं अपने अंदर क्यों ये गुण पैदा नहीं कर सका। शायद एम०ए० पास करना मेरे लिए घातक सिद्ध हुआ है, या फिर शांतिनिकेतन और सेवाग्राम की कुशिक्षा का फल है। जाने क्यों, मेरी निगाह साधारण प्रोडयूसरों की बेचारगी, मज़दूरों और टेक्नीशियनों के सूखे हुए शरीरों और धूल में लोटते हुए एक्स्ट्रा लड़के-लड़कियों पर पड़ने से नहीं रहती। पर इसका एक कारण और भी हो सकता है। वास्तव में, मैं भी उतना ही आत्मकेन्द्रित हूं, जितना कोई और। अगर दूसरे अपनी अमीरी का आडम्बर करते हैं, तो मेरी सादगी भी आडम्बर के सिवा कुछ नहीं। मेरे पिता अपने शहर के धनाढयतम व्यक्तियों में से थे। मेरे घर का वातावरण इतना सुखद और सुरक्षित था कि मुझे वह सुरक्षा खलने लगी थी, धनाढ्यपन से अरुचि-सी होने लगी थी' मैं शान्तिनिकेतन और सेवाग्राम जैसी ग़रीब जगहों पर रहा और कलकत्ता की सड़कों पर पत्रकार की हैसियत से भूखा भी फिरा, पर फिर भी मेरे लिए यह सब खेल-तमाशा था। किसी समय भी मैं अपने अमीर पिता से सहायता ले सकता था, इसीलिए अमीरी से ज़्यादा मुझे गरीबी में मज़ा आता था। टैगोर जैसे महापुरुषों के साथ रहने के कारण मुझे प्रसिद्धि भी बहुत जल्दी मिल गई थी। मेरी लिखी हुई कहानियां अच्छे-अच्छे मासिक-पत्रों में प्रकाशित होने लगी थीं। देश की प्रायः सभी भाषाओं में उनके अनुवाद भी हुए। फिर मैं विलायत चला गया...मतलब यह कि फ़िल्मों में आने

से पहले मैं बहुत से शौक पूरे कर चुका था। मेरी सादगी का मूल कारण शायद यही अभ्यास है। इसमें कोई सच्ची लगन या आदर्शवाद नहीं। मूलतः मैं भी उन्हीं जैसा हूं जिनकी मैं आलोचना करता हूं।

मेकअप रुम की खिड़की के सामने सेटिंग बनाने वाले, लकड़ी के पट्ठे में लगातार कील ठोंक रहे हैं। यह शोर असहनीय है। इन मिस्त्रियों में एक सिक्ख सरदार भी है, जिनके 'सिदक-संतोख' को देखकर मेरे दिल में हमेशा इज़्ज़त पैदा होती है। जिस दिन फ़िल्मवालों ने चीन-विरोधी युद्ध के निमित्त फ़ण्ड जमा करने के लिए जुलूस निकाला था, ये सरदार जी ट्रकों के साथ-साथ वालेंटियर बनकर पैदल चलते रहे थे- लगभग बारह-चौदह मील। किस प्रेम से उन्होंने मेरे डिब्बे में एक रुपया डाला था। उस दिन तो मेरा दिल अपने पंजाब और पंजावियों के प्रति श्रद्धा और अभिमान से भर गया था। किसी भी सरदार ने एक रुपये से कम चन्दा नहीं दिया था, बल्कि पांच-पांच, दस-दस और सौ के नोट भी दिए थे। एक रुपये से कम देना तो जैसे उनकी पंजाबी शान के ही खिलाफ़ था। फिर, उन सिक्ख वालंटियरों को कैसे भूल सकता हूं, जो सारे रास्ते स्थान-स्थान पर जुलूस वालों को पानी पिलाते रहे थे। एक जगह पानी पिलाकर वे पता नहीं किस चतुराई से अपना ट्रक भीड़ में से निकालकर आगे चले जाते और फिर से जुलूस का इन्तज़ार करते। युद्ध-फण्ड करने के समारोह में मैं अमृतसर, जालन्धर, लुधियाना, अम्बाला आदि में भी शरीक हुआ था- कोई एक सप्ताह पहले। इस बम्बई वाले जुलूस में जितना रुपया चौदह घंटों में जमा हुआ, उतना वहां हम दस मिनट में जमा करते रहे थे। अमृतसर में एक हज़ार तोला सोना स्त्रियों ने केवल एक जलसे में उतारकर दे दिया था। वाह, क्या कहने हैं मेरे पंजाब के !

वह मेहमान, जिसे मैं मोटर में बैठाकर अपने साथ लाया था, सचमुच मंहगा पड़ा। मुझे मालूम नहीं था कि डायरेक्टर पूरा दृश्य एक शॉट में लेने की तैयारी करके बैठा हुआ है। कारण यह कि मेरे साथी अभिनेता को, जो एक मशहूर कामेडियन हैं, बारह बजे से पहले दूसरे स्टूडियो में पहुंचना था। कामेडियन के साथ काम करना बड़ा कठिन होता है। एक तो उसकी हर हरकत हंसाने वाली होती है और ध्यान खींचती है। अगर कलाकार स्वंय हंस पड़े तो दर्शकों का मज़ा जाता रहता है, इसलिए अपने आपको बहुत संयमित रखने की ज़रूरत होती है। दूसरे, कामेडियन का अपना एक खास अंदाज़ होत है, एक बनाया-बनाया-सा ढांचा, जो स्वाभाविक नहीं होता, इसलिए उसके मुकाबले में अपनी भाव-भंगिमाओं को स्वाभाविक बनाए रखना बड़ा कठिन हो जाता है। शांत और गंभीर चिन्तन की आवश्यकता होती है, ताकि अपने एक-एक शब्द और इशारे में कल्पना को संचित करके कथानक के अनुसार स्वाभाविक अर्थ पैदा किया जा सके। यह काम जल्दबाज़ी में नहीं होता, लेकिन दुर्भाग्य से हमारी फ़िल्म इंडस्ट्री में आवश्यक कामों में पैसे और समय दोनों की किफ़ायत बरती जाती है और अनावश्यक कामों में दोनों चीज़ें दिल खोलकर नष्ट की जाती हैं। हमारी सामाजिक श्रृंखला भी जो कुछ ऐसी ही है, केवल फ़िल्मों को ही क्यों दोष दिया जाए? मुझे एकाग्रता और चिन्तन की आवश्यकता थी, पर मेरे साथी को नहीं। उसे बस वही कुछ करना था, जो वह सभी फ़िल्मों में करता है। और फिर उसे शाट खत्म करके जाने की भी जल्दी थी। कुछ क्षणों के लिए जैसे मेरे

ऊपर मुसीबत का पहाड़ टूट पड़ा। ऐसे समय में उस मेहमान का सामने बैठकर लगतार आलोचनात्मक दृष्टि से घूरना मुझे बुरी तरह परेशान करता रहा। उसे साथ लाकर मैं कितनी जबरदस्त मूर्खता कर बैठा ! क्यों न इसे भी दूसरों की तरह टाल दिया ?

खैर, दृश्य निभ गया। मेहमान की नज़रों में मेरी इज़्ज़त क़ायम रह गई, लेकिन उसकी बातों से स्पष्ट था कि हमारी यंत्रणा को देखकर उसका अपनी नाट्य-प्रवीणता पर विश्वास और बढ़ गया है। जो कुछ उसने देखा है, वह उसके खयाल में एकदम सरल और बच्चों के खेल जैसा था। भला उसे फ़िल्म-अभिनय की विशेषताओं और उलझनों का कौन ज्ञान कराए ? वह तो अनुभव से ही हासिल होता है। जिसे अनुभव नहीं, उसे कोई डायरेक्टर मौका देने को तैयार न होगा। और मौका मिले बिना अनुभव कैसे प्राप्त हो सकता है ? नवागन्तुक के लिए इस समस्या को भली-भांति समझ लेना भी तो दुश्वार है ! और समझाए भी तो कोई कैसे ?

लंच की छुट्टी हुई। इस बीच में एक और दिलचस्प घटना देखने को मिली। फ़्लोर नम्बर दो के बाहर वाली दीवार के एक कोने के साथ लगकर कैमरामैन रेड्डी खड़ा है। कुछ लोग उसे घेरे हुए हैं। ऐसा मालूम होता है, जैसे वह चुटकुले सुना रहा है। मैंने रेड्डी को कई वर्षों के बाद देखा है, इसलिए मैं उसके करीब चला जाता हूं। देखता हूं कि श्रोताओं में कुछ दूसरे कैमरामैन और टेकनीशियन खड़े हैं, जिन्हें किसी ज़माने में हिमांशु राय बाम्बे टाकीज़ के लिए अपने साथ लाए थे। अब विरशिंग भी हिन्दुस्तानी हो गए हैं।

"क्या बात है, रेड्डी साहब, किस मसले पर बहस हो रही है?"

"यह लो, साहनी साहब आ गए।" रेडडी साहब ने कहा, "'देश के प्राब्लेम्स' को इनसे अच्छा कौन समझेगा ? देखिए साहनी साहब ! कल ही आप लोग ने शहर में कितना बड़ा जुलूस निकाला था। उसको देश की एकता के वास्ते निकाला था, है कि नहीं? इस वक्त देश पर चीन ने हमला किया है, इस वास्ते हमारे लीडरों ने 'नेशनल यूनिटी' का नारा दिया है। ठीक है न ?"

"वह तो ठीक है।" मैंने कहा।

'फिर, जुलूस के बाद क्या होता है, यह देखना भी आपका फ़र्ज़ है। अब इसी स्टुडियो के अन्दर आकर देखिए, मैं बहुत बड़ा ईस्टमैन कलर के वास्ते सैट लगाकर खड़ा हूं। मेरे पास कैमरा भी है, लाइट भी है, आर्टिस्ट भी हैं, सब कुछ है, सिर्फ एक छोटासा लाइट-मीटर नहीं है। इसके बगैर शूटिंग नहीं कर सकता। वह इन लोगों को मुझे देना चाहिए कि नहीं ? वरना नेशनल यूनिटी का क्या मतलब है, आप मेरे को समझाइए।"

इस भाषण को सुनकर विरशिंग अंग्रेजी में कहने लगे, "रेड्डी, चाहे तुम मिस्टर साहनी को बीच में ले आओ, चाहे किसी और को, मैं तुमसे कह चुका हूं कि मैं अपने इन्स्ट्रुमेंट्स किसी को नहीं देता। ऐसा करके मैं नुकसान उठा चुका हूं। अब मैंने असूल बना लिया है। तुम मेरा फ़ैसला नहीं बदल सकते।"

रेड्डी अपनी बड़ी-बड़ी आंखों से उसकी तरफ़ देखता रहा, फिर उन्हें मेरी तरफ़ फेरकर उसी धीमी और मज़लूम आवाज़ से मुखातिब हुआ, जैसे कोई सुलझा हुआ अभिनेता

'क्लोज़-अप' दे रहा हो। ''साहनी साहब, इस वक्त हिन्दुस्तान को सारा दुनिया मदद भेजता है। अमेरिका भेजता है, इंग्लैंड, जापान, रूस, और तो और कैनाडा भी भेजता है। अभी मैं हिन्दुस्तान वाला हूं। मेरे कोभी किसी को मदद भेजना चाहिए। मैं भी 'सिनेमाटोग्राफ़र्स एसोसियेशन' का मैम्बर हूं, चाहे दो बरस से चन्दा नहीं दिया है। कल अगर शूटिंग हो जाएगा तो मेरा पेट में खाना भी जाएगा और एसोसियेशन को १७५ रुपये चन्दा भी मिल जाएगा।''

''तुम्हारा बात करने का ढंग एकदम ग़लत है, रेड्डी साहब !'' दूसरा एक टेक्नीशियन बोल पड़ा।

मैंने कहा, ''यह ठीक फ़रमाते हैं। आपको विरशिंग साहब के दफ्तर में जाकर यह बातें करनी चाहिए। तब कुछ असर हो सकता है।''

देखिए, साहनी साहब !'' रेड्डी ने फिर कहना शुरु किया, ''यह 'क्लोज़-अप' का मामला नहीं है, यह 'लौंग शाट' का मामला है। इस दीवार के इस कोने के साथ लगकर जिस तरह मैं खड़ा हूं, कोई भी आदमी दूर से देख सकता है कि यह एक दुःखी आदमी खड़ा है।''

अब मुझे ज्ञात हुआ कि दरअसल लंच-ब्रेक का पूरा मज़ा उठाने के लिए टेक्नीशियनों ने अड्डा जमा रखा है। फिल्म इंडस्ट्री में अभिनेताओं का इस प्रकार का मेल-मिलाप नहीं होता, किन्तु टेक्नीशियनों को हमेशा एक-दूसरे के सहयोग की आवश्यकता होती है। इसलिए वे हमेशा मिल-बैठने और गप्प लड़ाने का कोई न कोई बहाना ढूंढ़ लेते है। यह हो नहीं सकता कि मीटर के अभाव में कल रेड्डी की शूटिंग न हो। यह रेड्डी भी जानता है और विरशिंग भी, पर बिना चुहलबाज़ी किए न मीटर लेने में मज़ा है, न देने में। मैंने अकस्मात उनके बीच में अपने आपको फ़ालतू-सा महसूस किया। इन लोगों के भ्रातृभाव पर रश्क करता हुआ मैं अपने फ्लोर की तरफ़ चल पड़ा। काश, हम कलाकारों के दरमियान भी ऐसी मैत्री देखने में आया करती !

विमल राय

मैंने विमल राय को सन १९४६ में पहली बार देखा, जब मैं 'इप्टा' (इंडियन पीपल्स थिएटर) की बम्बई शाखा का जनरल सेक्रेटरी था। उन दिनों कुल हिन्द इप्टा की बंगाल द्वारा निर्मित फ़िल्म 'धरती के लाल' बन रही थी। इस फ़िल्म के निर्देशक ख़्वाजा अहमद अब्बास थे। शंभू मित्र, तृप्ति मित्र, रवि शंकर, स्व० शान्ति वर्द्धन, दमयन्ती साहनी एवं अनेक दूसरे कलाकार उसमें भाग ले रहे थे।

उस समय 'इप्टा' की बहुत इज़्ज़त थी। उस समय पूरे भारत में शायद ही कोई उच्चकोटि का कलाकार होगा, जिसका सम्बन्ध उससे न हो। यह आज़ादी के पहले का समय था। देशभक्ति के बलबले अभी तक ठंडे नहीं हुए थे। उन दिनों उच्च आदर्शों की जगह अभी पार्टीबाज़ी और स्वार्थ ने नहीं ली थी।

मेरा जहां तक अनुमान है, विमल राय उस ज़माने में 'इप्टा' के बहुत ज़्यादा हमदर्द थे। इसलिए 'इप्टा' की विचारधारा (सामाजिक सचाइयों का यथार्थ चित्रण निर्भय होकर करना) उन्होंने अपनी तत्कालीन सुविख्यात फिल्म 'हमराही' में पेश की। यह फ़िल्म 'न्यू थियेटर्स' में उनकी अन्तिम फ़िल्म थी। जब यह फ़िल्म बम्बई में प्रदर्शित हुई तो वह स्वयं बम्बई पधारे थे। उस समय 'धरती के लाल' के शूटिंग 'श्री साउंड स्टूडियो' में चल रही थी। वहां आकर उन्होंने उसे प्रोत्साहन दिया था।

हम सब पर उनकी सुन्दरता, नम्र स्वभाव, लम्बा क़द, मीठी वाणी और विवेकशीलता बड़ा प्रभाव डाल गई। वह उस समय पैंतीस-छत्तीस साल के व्यक्ति थे। उन्होंने फाख़्ताई रंग का सूट पहन रखा था और उसी रंग का हैट लगा रखा था। वे बड़े ही 'स्मार्ट' नज़र आ रहे थे।

दूसरी बार उनके दर्शन मुझे सन् १९५६ में रणजीत स्टुडियो में 'हम लोग' के सेट पर हुए। श्यामा के साथ उस समय एक प्रेम-दृश्य चल रहा था। दो-तीन रिहर्सल में उन्हें शायद यह अनुमान हो गया कि उनकी मौजूदगी में मैं नर्वस हो रहा हूं। इसलिए वह निर्देशक ज़िया सरहदी से बातें करने चले गए। बाद में किसी ने मुझे बतलाया कि वह मुझे ही देखने आए थे और अपनी किसी फ़िल्म में मुझे लेना चाहते थे। यह सुनकर मुझे यकीन नहीं आया कि मैं इतने महान निर्देशक के साथ काम करूंगा। पी०सी०बरूआ के बाद दूसरे नम्बर पर मैं इन्हीं को मानता था। कई रातें तो मैंने सोच-सोचकर ही बिता दीं।

फिर, कुछ समय बाद उन्होंने मुझे अपनी फिल्म 'दो बीघा ज़मीन' के लिए बुलाया तो मेरी प्रसन्नता का पारावार न रहा। मेरे पैर ज़मीन पर नहीं टिक रहे थे।

विमल राय का बम्बई आना ही हिन्दी फिल्मों पर उपकार था। यह बात तो 'दो बीघा जमीन', 'परिणीता,' 'देवदास','काबुलीवाला', 'सुजाता', 'बन्दिनी' आदि से ही स्पष्ट हो जाती है। इन फ़िल्मों ने हमारे देश के फिल्मी संसार पर बड़ा गहरा असर डाला है।

आज तक मैं लगभग साठ फिल्मों में काम कर चुका हूं, पर अभी भी जनता 'दो बीघा ज़मीन' के साथ मेरा नाम जोड़ती है। 'सबको इक दिन है जाना'- विमल राय जैसे महान व्यक्ति भी इस दुनिया से जा सकते हैं। किसी न किसी दिन मेरी भी बार आ सकती है। किन्तु मुझे विश्वास है कि मरते हुए मुझे इस बात का संतोष होगा कि मैंने 'दो बीघा ज़मीन' में अपना काम सफलतापूर्वक निभाया था।

मुझे याद आ रहा है पहले दिन की शूटिंग का पहला शाट। कितना अनोखा अनुभव था वह ! ज़मींदार की बैठक का दृश्य लगा हुआ था। ज़मींदार (मुराद) को मुझे अपनी ज़मीन बेचने को कहना था। मैं सेट पर आने के पहले बहुत ही डर रहा था। मुझे शक था कि विमल राय को मेरी विषम और कठिन किसान की भूमिका करने में विश्वास नहीं था, क्योंकि मैं विलायत से लौटकर आया था, सुशिक्षित परिवार का लड़का था और मुझे ग्राम्य जीवन का अनुभव नहीं था, ग्राम्य जीवन निकट से देखने का कभी संयोग नहीं मिला था। मेरा अनुमान था कि वह भूमिका मुझे 'इप्टा' का सदस्य होने के कारण दी गई थी। और अगर कोई एक हौसला था तो यह कि अभिनय के प्रति उनके और मेरे विचारों में मेल होगा।

मैं सैट पर कोरा ही नहीं आया था। मैंने पूरी कहानी के उतार-चढ़ाव रट रखे थे। अपनी वेश-भूषा और अपना मेकअप भी पूरी तरह से समतुलित कर लिया था। फिर भी इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि कैमरे के सामने अभिनय करने की विशेष आवश्यकता की मुझ में कमी थी। मुझे रंगमंच का ही थोड़ा-बहुत अनुभव था, इसलिए थोड़े ही समय में जान गया कि स्टेज और सैट की तकनीक में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। अतः उस समय मेरी डूबती नैया को बचाने वाली एक वस्तु थी- विमल राय का प्रेरणात्मक एवं उत्साहवर्धक व्यवहार। शूटिंग के पहले दो दिन मैंने विमल राय का चेहरा एक पहेली के रूप में देखा था। और आज भी वह चेहरा पहेली ही बना हुआ है।

रिहर्सल का समय आया। बैठक के बाहर बने हुए बरामदे में भीड़ थी। उसी समय विमल-दा ने मुझे देखा और उन्होंने केवल इतना ही कहा। "बैठक वाले दरवाज़े में पैर साफ़ करके जाना।" यह छोटी-सी बात थी, किन्तु कितनी मार्गदर्शक थी ! पहली ही रिहर्सल में मुझे पता लग गया कि मैं ज़मीदार के सामने तुच्छ जीव हूं।

विमल-दा के उस सैट पर कितना शान्त वातावरण था। फिल्म स्टूडियो में मैंने इतना शान्त वातावरण पहले कभी नहीं देखा था। हमेशा बिना मतलब की उच्छृं खलता और शोर देखा था। किन्तु यहां हर आदमी अपनी-अपनी जगह काम में इस तरह लीन था, मानो सिपाही अपनी ड्यूटी पर हो। अतः जब शॉट लेने का समय आया था मुझे ऐसा लगा कि पूरी-की-पूरी सेना लड़ाई के मैदान में अपने जनरल के इशारे की राह देख रही हो।

पूरा दृश्य एक ही शॉट में लेना था, जिसके अंतिम भाग में ज़मींदार को अपना पांव छुड़ाकर बैठक के बाहर निकल जाना था। कैमरा ट्रौली के ऊपर था और उसकी हलचल भी काफ़ी पेचीदा थी, जो बड़ी मेहनत के बाद तैयार हुई थी। अतः मुझे भी ऐसा लग रहा था कि मैं भी फ़ौज का एक अंग हूं, जिसे इशारा मिलते ही सिर-पैर की बाज़ी लगानी थी। इस अनुभव ने मेरे शरीर के खून को गर्म कर दिया। फिर विमल-दा ने अपनी साधारण आवाज़ में कहा, "स्टार्ट साउंड!" और शॉट चालू हो गया। मुझे कुछ याद नहीं कि क्या हुआ। इतना याद है कि जब ज़मींदार उठा, तो मैंने उसके पांव

पकड़कर गिड़ गिड़ाना शुरु कर दिया था। उसने उसी क्षण मुझे झटका देकर पैरा छुड़ा लिए। मुझे इतना अपमान महसूस हुआ कि मैं धाड़ मार-मार-कर रोने लगा। शॉट खत्म होने के बाद भी मैं फ़र्श पर पड़ा रोता रहा।

विमल-दा ने तारीफ़ का एक भी शब्द अपने मुंह से नहीं निकाला। उन्होंने अपनी हमेशा की-सी शान्त मुद्रा से पीछे जाकर कैमरामैन कमल बसु से 'क्लोज़-अप' लेने को कहा। मैं फर्श पर पड़ा-पड़ा उनके चेहरे को ग़ौर से देखने लगा। उनकी गंभीरता में कोई अन्तर नहीं पड़ा। चेहरे पर प्रसन्नता की आभा अवश्य दिखाई दी। वह बतला रही थी कि उन्हें मनपसन्द कलाकार मिल गया है।

'दो बीघा ज़मीन' की कहानी वास्तव में कवीन्द्र रवीन्द्र की एक उत्तम कविता पर आधारित थी।

विमल-दा की जिस दूसरी फ़िल्म में मैंने काम किया था, वह भी रवीन्द्र बाबू की 'काबुलीवाला' पर आधारित थी। पाठक जानते ही होंगे कि गुरुदेव और शान्तिनिकेतन से मेरा कितना प्रेम है। गुरुदेव की रचना पर फ़िल्म बने और तिसपर विमल-दा का निर्देशन हो। उस समय मेरी आत्मा कितनी प्रसन्न थी, उसका अनुमान आप नहीं लगा सकते। इसका वर्णन शब्दों में करना असंभव है।

जिस प्रकार कवीन्द्र रवीन्द्र को उनकी रचनाओं से अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार विमल-दा को उनकी फ़िल्मों से अलग नहीं किया जा सकता।

मुझे याद है, एक बार कलकत्ता में पत्रकारों की सभा में विमल-दा और मैं शामिल हुए थे। विमल-दा को कुछ बोलने के लिए कहा गया था। तब वह केवल इतना ही कहकर बैठ गए थे- "जो भी मुझे कहना होता है, वह मैं फिल्मों के माध्यम से कह देता हूं।"

अपने कार्यों से उन्हें कितना प्रेम था, यह उनकी एक-एक फ़िल्म के एक-एक दृश्य से प्रकट हो जाता है। 'दो बीघा ज़मीन' के बाह्य चित्रांकन के समय वह सारा दिन काम करने के बाद रात-भर हृषिकेश मुखर्जी एवं अपने साथियों के साथ गलियों-बाज़ारों में घूमा करते थे। इस प्रकार वे अपने अगले दिन की शूटिंग के लिए स्थल चुनते थे। कामचलाऊ शॉट लेना विमल-दा के नियमों के विरुद्ध था। वह कभी भी कोई काम जल्दी में नहीं करते थे। सुबह सबसे पहले स्टूडियो पहुंच जाना, रात को सबके बाद लौटना उनका प्रतिदिन का नियम था। और इस नियम को निभाने के लिए उनके साथी थे- चाय और सिगरेट। इतनी छोटी उम्र में कैंसर से मृत्यु का शिकार बनाने में चाय और सिगरेट का बहुत हाथ रहा है।

विमल-दा के दूसरे नंबर के साथी थे- स्टूडियो के कर्मचारी, टेकनीशियन आदि।

'विमल राय़ प्रोडक्शन' का ऑफ़िस मोहन स्टूडियो, अँधेरी में था। कलकत्ता से बंबई आकर अपने काम के लिए जब विमल-दा ने यह स्टूडियो लिया, तो उस समय यह बहुत बुरी दशा में था। इसके मालिक इसे बन्द करने की सोच रहे थे। वहां के कर्मचारियों ने अपनी रोटी-रोज़ी चालू रखने के लिए एक सहकारी संस्था बनाकर संचालन अपने हाथ में ले लिया था, जो बहुत ही असाध्य सिद्ध हो रहा था। किन्तु विमल-दा के चरण पड़ते ही 'दो बीघा ज़मीन', 'विराज बहू' जैसी फ़िल्में बनीं और इस तरह मोहन स्टूडियो का

नाम शीघ्र ही जगमगाने लगा। और आज वह बंबई के प्रतिष्ठित एवं मुख्य स्टूडियो में से एक है। चाहे उसका लाभ मालिक ने अधिक उठाया हो, किन्तु विमल-दा के प्रेम ने सब कार्यकर्ताओं पर इतना अच्छा प्रभाव डाला कि वर्णन नहीं किया जा सकता।

विमल-दा को फ़िल्मों से कितना लगाव था, यह उनकी मृत्यु के बाद की उनकी अन्तिम यात्रा से ही ज्ञात हो जाता है। उस समय सब कलाकार, दिग्दर्शक, निर्माता, कर्मचारी आदि यात्रा में सम्मिलित थे। सब एक ही बात कह रहे थे, ''विमल-दा एक असाधारण और अद्वितीय व्यक्ति थे।''

''ही वाज़ ए वंडरफुल कॉमरेड'', श्री बी०आर०चोपड़ा बार-बार कह रहे थे। मैं स्वयं उस दिन काफ़ी लंबी बीमारी के बाद ठीक हुआ था। मुझे फ्लू के दो-तीन हमलों ने बिलकुल बेकार-सा कर दिया था। श्मशान भूमि तीन-चार मील दूर थी। कुछ दूर तक तो मैं पैदल चला, किन्तु दूसरे कर्मचारी साथियों ने मुझे मोटर में बैठा लिया। मोटर में बैठना मुझे अपराधजनक लग रहा था। क्या मैं अपने सदा के लिए बिछुड़े हुए साथी को आदर और सम्मान के साथ विदा नहीं कर सकता? मैं उसी समय फिर उतर गया और पैदल ही चलने लगा, चाहे घर पर लौटने पर मेरी हालत फिर खराब हो गई थी।

मैं अपने आपको फिल्मों में उतना समर्पित न कर पाया जितना कि विमल-दा समर्पित थे। इसके अनेक कारणों में से एक कारण ही बतलाना चाहता हूं। कलाकार का आनन्द अपने काम से सबको सन्तुष्ट करने में है। इसके उलटे, बहुत-से निर्माता-निर्देशक दूसरों पर निर्भर रहते हैं। प्रायः या वे बहुतों को अपने ऊपर निर्भर करने वाले जीव हैं। उन्हें कलाकार की भाँति रहना नसीब नहीं है। अतः कला का सुख भी उन्हें अपने इस परिवार से ही प्राप्त होता है।

विमल-दा अपने फ़िल्मी परिवार को घर-जैसा ही प्रेम देते थे, यह भी विमल-दा के चरित्र की एक बड़ी विशेषता है। इस परिवार के कुछ प्रसिद्ध व्यक्ति हैं- हृषिकेश मुखर्जी, कमल बसु, सुधेन्दु राय, सलिल चौधरी, मणि भट्टाचार्य, असित सेन आदि। विमल राय ने कितने ही प्रतिभाशाली कलाकार दिए हैं। चाहे दूर से, चाहे पास से, सबके साथ विमल-दा का प्रेम सदा क़ायम रहा।

'दो बीघा ज़मीन' की सफलता के बाद मैंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं केवल यथार्थवादी और आदर्शवादी फिल्मों में ही काम करूंगा। लेकिन फिर मैंने एक बहुत ही घटिया किस्म की फ़िल्म में काम करना स्वीकार किया। संयोग से उस दिन विमल-दा भी सैट पर उपस्थित थे। उन्होंने बहुत ही आश्चर्य प्रकट किया। उस दिन मुझे बड़ा ही दुःख हुआ। मुझे विमल-दा की प्रसिद्धि से बहुत ईर्ष्या हुई। वह अपनी मर्ज़ी से कहानी चुन सकते थे, अपने ढंग की पटकथा लिखवा सकते थे। क्या मेरी इतनी परवशता को व्यंग्यभरी दृष्टि से देखना उन्हें शोभा देता था?

उस दिन से मेरा फ़िल्मों का रहा-सहा आदर्शवाद भी समाप्त हो गया। मैं उसे केवल रोटी-पानी के दृष्टिकोण से देखने लगा। यह मेरा सौभाग्य रहा है कभी-कभार मुझे अपनी मनचाही फ़िल्में मिल ही जाती थीं। भला और कौन मेरा समकालीन है, जिसे 'सीमा', 'गर्म कोट', 'हीरा-मोती', 'टकसाल', 'भाभी', 'हक़ीकत', 'वक्त', जैसी विभिन्न भूमिकाओं वाली फ़िल्में मिली हों? मैंने अपनी मनपसन्द फ़िल्मों की न तो राह देखी और न उस पर

निर्भर ही रहा। मैं बस घटिया फ़िल्मों में काम करना इसलिए स्वीकार कर लेता हूं कि अच्छी फ़िल्म नसीब होने के दिन का निश्चिंतता से इन्तज़ार कर सकूं।

विमल-दा काफ़ी समय तक मेरे इस व्याहारिक दृष्टिकोण को न समझ पाए, क्योंकि उनके अनुसार मेरे प्रगतिवादी आदर्श का इससे कोई मेल नहीं था।

पर दुःख है कि निष्ठुर सत्य ने समय पाकर विमल-दा को अपने आदर्शों से समझौता करने के लिए विवश कर दिया। वह यथार्थवादी से अधिक आध्यात्मिकतावादी थे। इस कारण वह कभी भी ठीक-ठीक समझ न सके कि फ़िल्म-व्यवसाय में कला को सच्ची स्वतन्त्रता मिलना और सत्यं, शिवं, सुन्दरं की कल्पना करना असंभव है। वहां तो केवल असत्यं, असन्दुरं, अशिवं ही चलता है।

इसलिए वह पिछले कई वर्षों की सीढ़ियों पर पैर रखकर आगे बढ़ने का प्रयास करते रहे। अतः धीरे-धीरे वह अपना स्वास्थ्य, सुख, चैन- सब कुछ खो बैठे। वह सदा इसी चिन्ता में पड़े रहते थे। किसी भी दो-टूक फैसले पर अड़ना उनके लिए दिनों-दिन कठिन होता जा रहा था। इस कारण उनके कई साथी उन्हें छोड़कर चले गए। विमल-दा की परेशानियों का बोझ दिनोंदिन बढ़ता गया और अन्ततः उसे संभालना कठिन हो गया।

किन्तु विमल-दा की महानता इसमें है कि अन्तिम घड़ी तक उन्होंने अपने इष्टदेव की आराधना नहीं छोड़ी। सारी विवशताओं के बावजूद वह अपनी कला को सदा सच्ची, सुन्दर एवं कल्याणमयी बनानें में लगे रहे। अपने अल्प जीवन की अन्तिम रात भी, जबकि उन्हें भली-भाँति मालूम हो चुका था कि उनके बचने की सारी आशाएं छोड़ी जा चुकी हैं, वह सुबह तक अपनी अगली फ़िल्म के कथानक पर लेखकों से विचार-विमर्श करते रहे। और जब मृत्यु का पंजा सिर पर आता हुआ दिखाई दिया, तो हँसकर उन्होंने अपनी पत्नी से अन्तिम बार सिगरेट पीने की अनुमति माँगी थी।

पृथ्वीराज और नाट्यकला

पृथ्वीराज सन १६२६ के लगभग अभिनय की भूख मिटाने के लिए अपने प्यारे शहर, पेशावर, को छोड़कर बम्बई आए थे।

यह वह ज़माना था, जब पंजाब का मध्यम-वर्ग अपनी भाषा, अपने रहन-सहन और साहित्य के प्रति विरक्त था। उस समय आज की तरह पंजाबी भाषा में अच्छे नाटक और उपन्यास नहीं लिखे जा रहे थे। आज भी पंजाबियों की बहुत बड़ी संख्या अपने नये और पुराने साहित्य से अनभिज्ञ है, लेकिन बंटवारे के ज़ख्म की पीड़ा ने दोनों तरफ़ के लोगों को उस साझे खज़ाने का एहसास ज़रूर करा दिया है, जो हर पंजाबी के खून में दबा पड़ा है और जो कभी बांटा नहीं जा सकता। वारिस शाह, फरीद, नानक, बुल्लेशाह, दमोदर इत्यादि इस खज़ाने के अनमोल मोती हैं, और इनकी फ़रमाइश आज फिर से नये रत्न पैदा कर रही है।

लेकिन वह वक्त और था। उस वक्त पंजाबी भद्र लोग नाटक और फ़िल्म को विशेष तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। बुज़ुर्ग कहते थे कि ऐसे काम शरीफ़ लड़कों के लिए नहीं है।

और उस ज़माने के नाटकों का हाल भी बुरा ही था। धंधेदार कंपनियों के पेश किए हुए नाटकों का सांस्कृतिक स्तर उतना ही गिरा हुआ था, जितना कि बदकिस्मती से कुछ वर्षों से हमारी फ़िल्मों का गिर चुका है। उनका मक़सद कलात्मक नहीं, सिर्फ़ पैसा कमाना था। उनके भाव और उनका ढंग दोनों घटिया थे। उनके लिखने वालों को पैसे की मजबूरी ने साहित्यिक वेश्या बना दिया था। श्रृंगार-रस को छोड़कर उन्हें अपने बुजुर्गों के बताए हुए बाकी सारे रस भूल चुके थे।

आखिर कालेजों और यूनिवर्सिटियों में आशा की एक नयी किरण फूट पड़ी। शेक्सपियर की यथार्थवादी परंपरा में सदियों से पले हुए यूरोपियन नाटक का असर हमारे नौजवानों पर पड़ने लगा। कालेजों की ड्रामा सोसाइटियां शेक्सपियर, बर्नार्ड शा, इब्सन, गॉल्सवर्दी इत्यादि के नाटक या तो सीधे अंग्रेज़ी में, या फिर उर्दू में अनुवाद करके खेलने लगीं। खेलने वालों की नातजुर्बेकारी की वजह से ये नाटक बहुत ज़्यादा सफल नहीं होते थे, और न ही आम जनता पर इनका कोई असर पड़ता था। लेकिन निस्संदेह इनके द्वारा नाटक-प्रेमी युवकों में एक नयी 'स्पिरिट' पैदा हो गई थी।

अहमदशाह बुखारी, गुरुदत्त सोंधी, ईश्वरचन्द्र नंदा, के० एल० सहगल, दीवान शरर, ज़ुलफ़िकार बुखारी, इम्तियाज़ अली ताज, रफ़ी पीर, पृथ्वीराज कपूर इत्यादि इस स्पिरिट की पैदावार थे, और इनमें से अधिकांश अपनी रुचि के अनुकूल वातावरण की तलाश में पंजाब से बाहर चले गए थे।

कलाकार पृथ्वीराज और उनके थिएटर को परखने के लिए यह देखना आवश्यक है कि वह नयी 'स्पिरिट' क्या थी।

शेक्सपियर से पहले यूरोप का नाटक भी हमारे प्राचीन नाटकों की तरह देवी-देवताओं या राजा-महाराजाओं की स्तुति का साधन हुआ करता था। रोजमर्रा के जीवन से उसको बहुत ही कम सम्बंध था। उस नाटक की भाषा कविता थी, वह भी ऐसी जिसमें सच्ची मानुषिक भावनाएं कम, शब्द-क्रीड़ा और अतिशयोक्ति ज्यादा थी। उनका उद्देश्य शाही दरबार की चापलूसी और शासकों का मनोरंजन था। साधारण पात्रों को अव्वल तो स्टेज पर लाया ही नहीं जाता था, और अगर कभी लाया भी जाता, तो प्रहसन मात्र के लिए।

कालिदास एक अमर और महान नाटयकार हैं, इसमें कदापि संदेह नहीं है। लेकिन विचार और टेकनीक की दृष्टि से उनके नाटक एक अंश तक उपर्युक्त प्राचीन स्पिरिट से प्रभावित मालूम पड़ते हैं जो उनका युग देखते हुए स्वाभाविक है।

लेकिन शेक्सपियर ने नाटक की दुनिया में एक ज़बर्दस्त इन्क़लाब पैदा कर दिया, और एक नये युग का आरंभ हुआ।

जिस ज़माने में शेक्सपीयर पैदा हुआ, इंगलिस्तान की सामाजिक व्यवस्था एक क्रांति के दौर में से गुज़र रही थी। व्यापारी और कारखानेदार ऊपर आ रहे थे, खानदानी मुफ्तखोर ज़मींदार और जागीरदार नीचे जा रहे थे। व्यापारियों के जहाज़ देश-देशान्तर के तटों से टकरा रहे थे, नये स्थलों की खोज कर रहे थे। उनका उद्यम विज्ञान को तरक्क़ी दे रहा था। अनपढ़ देहातियों के लिए ज़मींदारों के ज़ुल्म से भागने के लिए नयी राहें और नये उपनिवेश खुल रहे थे। सरमायादारों की अगुवाई में एक नया कौमी भाव पैदा हो रहा था, कि जागीरदारी खत्म हो, सारे देश का एक ही बादशाह हो, और देश एक पार्लियामेंट का विधान स्वीकार करे।

इस इन्क़लाबी वक्त में, जिसे साहित्य में 'रेनेसां' कहा जाता है, इंसान यह अनुभव करने लग गया था कि वह सिर्फ़ किस्मत के हाथ का खिलौना नहीं, बल्कि ज्ञान में वृद्धि करके प्रकृति पर भी काबू पा सकता है। अपनी श्रेष्ठता वह अनुभव करने लगा था।

शेक्सपीयर ने नाटक द्वारा इस नये अनुभव, इस नयी स्पिरिट का एलान किया। देवी-देवताओं को त्यागकर उसने मनुष्य का अध्ययन करना शुरु किया- चाहे वह राजा हो या रंग। मानवीय हृदय की भावनाओं को यथार्थ भाषा में पेश करने का उसने बीड़ा उठाया- चाहे वह प्रेम की भावना हो, ईर्ष्या की, वैराग्य की, या देशभक्ति की।

उसने नाटक में गद्य का प्रयोग करना शुरु किया और पद्य को भी ठोस और स्पष्ट बनाया।

उसने जनता के 'एक देश' एक बादशाह और एक पार्लियामेंट' के नारे से प्रेरित होकर दर्जनों ऐतिहासिक नाटक लिखे, जिनके द्वारा देशभक्ति की भावनाओं को विकसित किया।

शेक्सपियर ने नाटक के इतिहास में पहली बार स्त्री को इन्सान का दर्जा दिया, पात्रों को भी सजीव और यथार्थ ढंग से पेश किया। इससे पहले स्त्री का दर्जा नाटकों में सिर्फ़ यही था कि वह पुरुष की संपत्ति है।

संक्षेप में, शेक्सपियर ने ज़िन्दगी से भागने की परम्परा को खत्म करके ज़िन्दगी ही को स्टेज पर लाने की परम्परा शुरु की। उसने प्रगतिशील विचारों को अपनाया और पुराने मृत विचारों का त्याग किया। उसने नाटक की एक नयी परिभाषा क़ायम की, और वह परिभाषा आज तक पुरानी नहीं हुई है।

उसके यथार्थ विचारों ने यथार्थवादी टेकनीक को भी जन्म दिया। टेकनीक के क्षेत्र में भी शेक्सपियर की क़ायम की हुई क़द्रें आज तक पुरानी नहीं हुई है।

आज भी हैमलेट के मुंह से अभिनेताओं को दिलवाई हुई नसीहत अभिनय का सही और सच्चा मार्ग दिखाती है, जो प्रत्येक अभिनेता के लिए शिरोधार्य है। उसका एक उद्धरण यहां देना अप्रासंगिक न होगा :

''हैमलेट (एक अभिनेता से)- ठीक उसी ढंग से अपना पार्ट अदा करना, जैसा मैंने तुमसे कहा है। अपनी पंक्तियां ऐसे बोलो, जैसे वह तुम्हारी ज़बान पर नृत्य कर रही हों। अगर तुम्हें चिंघाड़ना है, तो पहले से बता दो, मैं तुम्हारा पार्ट शहर के ढिंढोरची को दे दूंगा। और देखो, अपने हाथ-रूपी कुल्हाड़े से लगातार हवा को मत चीरते रहना। अभिनेता को संयम रखना चाहिए। चाहे दिल के भीतर भावनाओं के ज्वालामुखी फूट रहे हों, फिर भी यह संयम अभ्यास से आता है और इससे अभिनय में सच्चाई पैदा होती है। तुम्हारी क़सम, मेरी आत्मा जल जाती है, जब मैं किसी भूतनाथ को स्टेज पर इधर से उधर भागते, गला फाड़ते और सच्ची भावनाओं की धज्जियां उड़ाते हुए देखता हूं। ऐसे अभिनेताओं को जूतों से पीटना चाहिए, जो कि 'हैरड' का पार्ट करते समय हैरड से भी बढ़कर हैरडपना दिखाते हैं। इस इल्लत से बाज़ आना।

अभिनेता- मैं वादा करता हूं, हुज़ूर।

हैमलेट- और देखो, 'अंडरऐक्ट' करना भी ठीक नहीं। समझ गए न ? जो बात अपने दिल और दिमाग़ को सच्ची और ठीक जंचे, वही करना। इशारे शब्दों के और शब्द इशारों के अनुकूल हों। नकलीपन कहीं न आए। अगर कहीं नकलीपन आ गया, तो समझो कि नाटक का उददेश्य ही खत्म हो गया, क्योंकि नाटक का उददेश्य सिर्फ़ एक है, और वह यह कि जीवन को नाटक के आइने में प्रतिबिंबित करना। अच्छाई को, बुराई को, नफ़रत को, प्यार को उनका असली रूप दिखाना है।

अभिनेता- हमने काफ़ी सुधार कर लिया है, जनाब।

हैमलेट- काफ़ी सुधार से कुछ न होगा, पूरा सुधार कर डालो। और अपने अभिनेताओं को, विशेषतः मसखरों को हिदायत कर दो कि जो कुछ लेखक ने उनके लिए लिखा है, सिर्फ़ वही बोलें। दर्शकों को हंसाने के लिए अपनी तरफ़ से कुछ न जोड़ें। यह बहुत बुरी आदत है। ऐसा करके यही लोग कई बार दर्शकों का ध्यान नाटक के किसी ज़रूरी अंग से हटा देते हैं। यह उनका ओछापन है, यानी अपनी नुमायश के लिए वे नाटक का सत्यानश करते हैं। जाओ, अब तैयार हो जाओ।

यथार्थवाद का सबसे बड़ा मार्गदर्शक शेक्सपियर और केवल शेक्सपियर ही है। उसके नाटकों में अनेक स्थल आते हैं, जहां वह ज़िन्दगी से भागने वाले नाटकों की निन्दा करता है।

स्वाभाविक ही था कि इस शिक्षा का हमारे शिक्षित वर्ग पर गहरा प्रभाव पड़ता और वे महसूस करते कि अपने देश की नाट्य परंपरा को उन्हें किसी दूसरे मार्ग पर लाना है। नाटक वास्तव में चरित्र को बनाने वाली चीज़ है, बिगाड़ने वाली चीज़ नहीं, बशर्ते कि वह यथार्थवादी हो।

बम्बई आने से पहले पृथ्वीराज केवल न पुरानी परंपरा का तजुरबा हासिल कर चुके थे, बल्कि नाटक की इस नयी परिभाषा को भी दिल में बैठा चुके थे।

पृथ्वीराज का परिवार उनसे एक कामयाब डॉक्टर, वकील या बड़ा अफ़सर बनने की आशा रखता था। केवल सतरह वर्ष की आयु में उनका ब्याह हो गया था,और घरेलू ज़िम्मेदारियां सिर पर आ पड़ी थी। जिस दिन अपनी क़ानूनी किताबों को अंतिम श्रद्धांजलि भेंट करके पृथ्वीराज ने अभिनेता बनने का फैसला किया, घर में तूफ़ान-सा मच गया। घर का प्रत्येक व्यक्ति स्तंभित हो उठा, जब पृथ्वीराज ने बताया कि वह अपनी सामाजिक ज़िम्मेदारियों से भागने के लिए नहीं, बल्कि उन्हें पूरा करने के लिए अभिनेता बनने जा रहे हैं, और यह कि नाटक उनकी नज़रों में बड़ी ऊंची चीज़ है।

पृथ्वीराज के दृढ़ और निर्मल चरित्र पर बुजुर्गों को पूरा भरोसा था, और इसीलिए उन्हें आशीर्वाद दे दिया। और फिर एक दिन वह भी आया, जब पृथ्वीराज ने अपना वचन पूरा करके दिखा दिया।

अभिनय का पेशा अपनाने से पहले के जीवन में पृथ्वीराज पर दो व्यक्तियों का विशेष असर पड़ा था। पहला असर उनके दादा का था। पृथ्वीराज की माता उन्हें दो-ढ़ाई वर्ष का छोड़कर चल बसी थीं। बचपन का ज़माना दादा की छत्रछाया में बीता था। यह बुजुर्ग हद से ज़्यादा उदार, मिलनसार और सर्वप्रिय थे। वह न केवल अपने निकट सम्बन्धियों का, बल्कि शहर-भर का सुख-दुःख बंटाया करते थे। वह अपने धार्मिक विचारों में भी बड़े उदार थे। हिन्दू धर्म-पुस्तकों के अलावा बाइबल क़ुरान शरीफ़ इत्यादि का भी बाकायदा अध्ययन करते थे।

उनके इस गुण को पृथ्वीराज ने भी पल्ले बांधा और निभाया है। उनकी 'पृथ्वी थिएटर्स' एक संस्था भी है, और एक परिवार भी। उसकी इमारत उनकी उदार, प्यार-भरी दुःख-सुख बांटने वाली शख्सीयत की बुनियाद पर ही खड़ी है। सच तो यह है कि इस परिवार से बाहर के विशाल मानव-समाज की मांगों को भी पृथ्वीराज ने कभी नहीं ठुकराया। अपनी इस खूबी के लिए उनके दोस्त और दुश्मन दोनों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। यही मानवीय भावना पृथ्वीराज द्वारा पेश किए गए नाटकों की मूल प्रेरणा भी मालूम पड़ती है।

पृथ्वीराज को बचपन से ही नाटकों का शौक हुआ था, जो कि उनके दादा की उदार मनोवृत्ति का ही लक्षण है। पांच वर्ष की अवस्था में पृथ्वीराज ने 'हरिश्चन्द्र नाटक' में 'गनपत' का पार्ट किया था। उसके बाद शहर की रामलीला खेलने वाली मंडली उन्हें लक्ष्मण का पार्ट दिया करती थी। एक बार उन्होंने लक्ष्मण-मूर्छा का दृश्य इस कामयाबी से अदा किया कि स्टेज पर लेटे ही लेटे सो गए और दर्शकों को चिंतित कर दिया।

इस ज़माने की एक घटना उल्लेखनीय है। पेशावर में 'हरिश्चन्द्र' नाटक खेला जा रहा था। उस ज़माने के मशहूर अभिनेता मुहम्मद हयात, तारामती का पार्ट अदा कर रहे थे। नन्हा-सा पृथ्वीराज भी दर्शकों में मौजूद था। नाटक के अन्तिम दृश्य में तारामती अपने पुत्र रोहित की लाश को हाथों में उठाए श्मशान भूमि में दाखिल हुई तो दर्शकों में से एक आवाज़ उठी, "पख्तून! (गज़ल सुनाओ) ।" इस आवाज़ के उठते ही मंडल में हर तरफ़ 'पख्तून' का शोर होने लगा। चुनांचे तारामती ने रोहित की लाश को रख दिया और आगे बढ़कर पश्तो भाषा की एक इश्किया गज़ल सुनाने लगी। नाटक का यह अपमान देखकर नन्हे पृथ्वीराज का मन विद्रोह से भर गया और यह घटना उसकी स्मृति में हमेशा के लिए अंकित हो गए। पिछले साल जब शिमला में अपना अत्यन्त सुन्दर नाटक 'पठान' खेल रहे थे तो अकस्मात यही आवाज़ 'पख्तून' फिर उनके कानों में पड़ी। उन्होंने फ़ौरन पर्दा गिरवा दिया और सख्त दुःखी हुए। अन्त में उन्होंने दर्शकों को समझाया कि उन्हें अपने दिमाग़ से नाटक की पुरानी परिभाषा निकालनी पड़ेगी, नाटक केवल तमाशा नहीं है।

दूसरा असर पृथ्वीराज पर प्रोफ़ेसर जयदयाल साहब का हुआ था, जो उन्हें कॉलेज में पढ़ाया करते थे। प्रोफ़ेसर जयदयाल ने हाल ही में एक पुस्तक लिखी है। यह पुस्तक एक आशीर्वाद भी है और श्रद्धांजलि भी। इससे बड़ी खुशी एक उस्ताद के लिए क्या हो सकती है कि जो अंकुर उसने अपने शागिर्द में फूटते देखे थे और जिनकी अपने हाथों परिवरिश की थी वे फूलें-फलें, परवान चढ़ें। पुस्तक डायरी की शक्ल में है और पृथ्वीराज के विद्यार्थी जीवन की कई यादें उसमें अंकित है। प्रोफ़ेसर साहब ने पृथ्वी थिएटर्स के नाटकों और नाट्य कला के बारे में विस्तार और गंभीरता से नहीं लिखा है। भावुकता का प्रवेश ज़रूरत से ज़्यादा है जो कि पुस्तक की कमज़ोरी है। फिर भी, यह साफ़ मालूम होता है कि पश्चिमी नाटयकला के पहले सबक पृथ्वीराज को प्रोफ़ेसर साहब से मिले थे। उनकी देख-रेख में उन्होंने बहुत-से अंग्रेज़ी एकांकी नाटकों में भाग लिया और शेक्सपियर का भी अध्ययन किया था।

इस विषय में एक और बात का भी ध्यान रखना ज़रूरी है। जहां यूरोपियन साहित्य के यथार्थवाद की अच्छी शिक्षा कॉलेजों में प्राप्त होती थी, वहां बुरी शिक्षा भी बहुत मिलती थी। हमारी शिक्षा-प्रणाली विदेशी शासकों के लिए बनाई गई थी न कि जनता के फ़ायदें के लिए शासकों का बुनियादी उद्देश्य था विद्यार्थियों को अपने देशीय साहित्य और संस्कृति से विमुख करना, उनके अन्दर दास मनोवृति पैदा करना। यह शिक्षा नौजवानों को उनकी सामाजिक ज़िम्मेदारियों की तरफ़ से लापरवाह करती थी, उनके अन्दर साधारण जनता के प्रति घृणा और अहंकार की विकृत भावनाएं पैदा करती थी, उनके दिमाग़ में यह ख्याल कूट-कूटकर भर देती थी कि पैसा कमाना और क़ामयाब होना ही ज़िन्दगी का सबसे बड़ा आदर्श है।

यह नामुमकिन था कि इस बुरे प्रभावों की छूत से पृथ्वीराज बिलकुल ही बचे रहते। यह सोचना ग़लत होगा कि अपने देश के नाटक और फ़िल्म को यथार्थवाद की ओर ले जाने के उद्देश्य से ही पृथ्वीराज ने अभिनेता बनने का फ़ैसला किथा था। मेरे खयाल में उन्होंने यह फ़ैसला इसलिए भी किया होगा कि कुदरत ने उसको भरपूर शारीरिक सौंदर्य

दिया था। फ़िल्मी दुनिया के फैशनों को देखते हुए यह अजीब बात नहीं है, अगर पृथ्वीराज ने यह सोचा हो कि इस क्षेत्र में उन्हें कामयाबी हासिल करने की बहुत बड़ी संभावना है। उनमें अहंभाव काफ़ी है, और अपने देश तथा अपनी भाषा के साहित्य का अध्ययन भी उनका आज तक अधूरा है।

लेकिन उनको श्रेय इस बात का है कि समाज-विरोध के बावजूद उन्होंने अभिनय का पेशा अख्तियार किया, जबकि इस काम की इज़्ज़त नहीं की जाती थी। वह क़ामयाब हुए और खूब क़ामयाब हुए, मगर क़ामयाबी ने उन्हें कई दूसरे अभिनेताओं की तरह दंभी और स्वार्थी नहीं बनाया। उनका हिन्दुस्तानी साहित्य का अध्ययन अधूरा सही, पर वह पश्चिमी साहित्य और कला के ऐसे ग़ुलाम नहीं बने, जैसे कि हमारे कई अन्य विद्वान और कलाकार बन गए हैं। कमज़ोरियां हर इन्सान में होती है, मगर पृथ्वीराज को श्रेय इस बात का है कि अपनी कमज़ोरियों से लड़ने की ताक़त उनमें पहले भी थी, और अब भी है। अगर ऐसा न होता, तो वह उतने महान कलाकार न बन पाते, जितने कि निःसंदेह वह इस वक्त हैं। नाटयकला के जिस शिखर पर पृथ्वीराज जा चढ़े हैं, वहां तक पहुंचने की हमारे देश के कम अभिनेताओं ने हिम्मत की है।

पृथ्वीराज का फ़िल्मों में प्रवेश और शुरु-शुरु की उलझनें एक दिलचस्प दास्तान हैं। परंतु मेरा विषय नाटक है। यहां इतना कह देना काफ़ी है कि फ़िल्मों में क़ामयाबी का मुंह देखने में पृथ्वीराज को देर न लगी। परन्तु साथ ही एक ऐसी घटना भी हुई कि फिर एक बार वह नाटक की धुन में बह गए।

यह घटना थी, बम्बई में एंडर्सन नामक एक अंग्रेज अभिनेता द्वारा नाटक-मंडली का खुलना।

कहते हैं कि देवता स्वयं इतने बड़े नहीं होते, जितने पुजारी उन्हें बना देते हैं। इंग्लैंड में नाटक की दुनिया काफ़ी विशाल है, और उसमें एंडर्सन कोई प्रसिद्ध नाम नहीं है। मुमकिन है कि वह काफ़ी ऊंचा कलाकार हो। इस बात के संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता। पर इसमें कोई शक नही कि पृथ्वीराज पर उसके व्यक्तित्व का ज़बरदस्त और चिरस्थायी असर पड़ा। 'रॉयल ऑपेरा हाउस' बम्बई की एक मशहूर नाटयशाला है। 'पृथ्वी थिएटर्स' के नाटक यही खेले जाते रहे हैं और 'रॉयल ऑपेरा हाउस' ही में पृथ्वीराज के गुरु, एंडर्सन, ने आज से लगभग बीस वर्ष पहले अपनी नाटक मंडली बनाई थी। इसी 'रॉयल ऑपेरा हाउस' में पृत्वीराज जहां दुष्यंत, कुंवर, रामकृष्ण आदि के पार्ट करते रहे हैं, वहीं एडर्सन की छाया में 'हैमलेट', 'जूलियस सीजर', 'मरचेन्ट ऑफ वेनिस', 'ट्वेल्थ नाइट', आदि शेक्सपियर के नाटकों और 'स्कूल फ़ॉर स्कैंडल', 'चित्रा', 'ऑफ मैन विद रेड हेयर' आदि दूसरे अंग्रेज़ी नाटकों में मुख्य पार्ट खेलते रहे हैं।

एंडर्सन की नाटक मंडली लगभग एक साल तक क़ायम रही। पृथ्वीराज के अलावा रफ़ी पीर, मुबारक आदि और भी कई नामी कलाकार उसमें शरीक हुए थे और इन लोगों ने मंडली को ज़िन्दा रखने के लिए हर मुमकिन कुर्बानी की थी। पृथ्वीराज तो अपने फ़िल्मों के काम को तिलांजलि देकर अपनी नाटकी सनक पूरी करने के लिए इसमें कूद पड़े थे। लेकिन अफ़सोस, यह सारी मेहनत निष्फल हुई। अंग्रेज़ी नाटकों में जनता की रुचि न होने के कारण इस मंडली को आर्थिक कठिनाइयों की छुरी के नीचे शहीद होना

पड़ा। परन्तु इसमें कोई शक नहीं कि इस एक वर्ष का तजुरबा पृथ्वीराज के लिए अमूल्य था। नाटक की सनक अब इश्क की सूरत अख्तियार कर चुकी थी।

यूरोप की नाटक-मंडलियों की सबसे बड़ी खूबी उनकी व्यवस्था होती है। यूरोप वालों ने मशीनें ईजाद की हैं, और कई सदियों से अपनी ज़िन्दगी को भी मशीनी-डिसिप्लिन में ढाला है। सैकड़ों नहीं, हज़ारों मनुष्य किस तरह से एक होकर किसी मकसद के लिए इकट्ठे काम कर सकते हैं, यह खूबी अभी तक हम में, विशेषकर हमारे मध्यम वर्ग में, बहुत कम पैदा हुई है। यह एक अंग्रेज़ की ही हिम्मत थी कि वह एक पराये देश में आकर नाटक-मंडली स्थापित कर सका और उसे लेकर देश के सभी बड़े-बड़े शहरों में घूम गया। पृथ्वीराज ने बताया है कि एंडर्सन एक महीने के अन्दर दो-दो नाटकों की रिहर्सलें पूरी कर लिया करता था, और उसकी शख्सीयत का प्रभाव इतना शक्तिशाली था कि वह अपनी टोली से हंसी-खुशी रोज़ बारह-बारह चौदह-चौदह घंटे काम करवा लिया करता था।

इस बात में कोई संदेह नहीं कि इस एक वर्ष की सचेष्ट ट्रेनिंग और लगातार दर्शकों के सम्मुख आने से पृथ्वीराज नाटक के दक्ष कलाकार बन गए। एंडर्सन की कम्पनी के साथ उन्होंने हिन्दुस्तान भर का दौरा किया था। यही नहीं, प्रबंध का भी बहुत-सा बोझ उन्होंने अपने कंधों पर उठाया था। आज जब 'पृथ्वी थिएटर्स' साल में कई बार बम्बई से बाहर चला जाता है, तो हम सोचते है कि इसी ट्रेनिंग ने पृथ्वीराज को बाहर जाकर सफल होने की शिक्षा दी होगी। हम जानते हैं कि 'पृथ्वी थिएटर्स' के दौरे कितने सफल होते हैं। आजकल के ज़माने में नब्बे के लगभग कलाकारों को लेकर, जिनमें लड़के-लड़कियां, बच्चे-बूढ़े, हर जाति, हर धर्म के, अच्छे-बुरे, शिक्षित तथा अशिक्षित सब शामिल हैं, नगर-नगर घूमना कोई सहज काम नहीं है। 'पृथ्वी थिएटर्स' की सफलता का अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि पिछले साल पंजाब के एक दौरे में सारा खर्च निकालकर थिएटर को सवा लाख रुपये का लाभ हुआ था। केवल आर्थिक दृष्टि से ही नहीं, हर दृष्टि से दौरे सफल रहे हैं। 'पृथ्वी थिएटर्स' का हर मेम्बर इन दौरों के मीठे अनुभवों की कहानियां मज़े ले-लेकर सुनाता है। इन कहानियों को सुनकर बड़ी प्रसन्नता होती है। उनके 'पृथ्वी थिएटर्स' के जीवन की सुंदर झलकें मिलती हैं और साथ ही पृथ्वीराज के शानदार चरित्र पर प्रकाश पड़ता है।

दौरों के दौरान पृथ्वीराज अपनी संस्था से बिलकुल घुल-मिलकर रहते हैं। जो सब कलाकार खाते हैं, वही वे खाते हैं, और इनका दुःख-सुख बांटते है। मेरे विचार से हिन्दुस्तान के इतिहास में आज तक किसी नाटक-मंडली ने इतनी खूबी से दौरे नहीं किए होंगे, जितनी खूबी से 'पृथ्वी थिएटर्स' करता है दौरों ने कई शानदार कंपनियों की कमर तोड़ दी है, मगर 'पृथ्वी थिएटर्स' दौरे करने से और मज़बूत होता जाता है।

एंडर्सन की कंपनी कलकत्ता जाकर टूट गई थी, और पृथ्वीराज ने मजबूर होकर फिर फ़िल्मों में काम करना शुरु किया था। सौभाग्य से उन्हें 'न्यू थिएटर्स' जैसी अच्छी फ़िल्म कंपनी में काम मिला। विश्व युद्ध छिड़ने तक वह कलकत्ता रहे और फिर बम्बई लौट आए। उन्हें लाखों की आमदनी, जिसके बारे में बहुधा चर्चा सुनी जाती है, बम्बई आने के बाद ही हुई, जबकि युद्ध-काल में 'स्टारों' की भी चांदी हो गई, और सेठों को पहली

बार मजबूर होकर अभिनेताओं और अभिनेत्रियों को अपनी लूट का भागीदार बनाना पड़ा, जिनको वे आज़ तक केवल चूसना ही जानते थे। परन्तु युद्ध का अन्त होते ही पृथ्वीराज ने 'पृथ्वी थिएटर्स' का आरंभ कर दिया और फ़िल्मों की ओर से ध्यान हटा लिया। अब भी वह कभी-कभी फ़िल्मों में काम करते हैं, क्योंकि थियेटर का लगभग बीस हज़ार का माहवारी खर्च उनके सिर पर है, और यह बोझ कभी-कभी असह्य हो जाता है।

जहां मैंने एंडर्सन कम्पनी के प्रभाव का उल्लेख किया है, वहीं कुछ ऐसे पहलुओं का ज़िक्र भी ज़रूरी है, जो मेरी अपनी राय में लाभदायक नहीं थे।

शेक्सपियर को स्टेज पर खेलने की परम्परा इंगलिस्तान में समय-समय पर बदलती रही है। पिछले बीस वर्षों में जान गिलगुड, लेज़्लीहावर्ड, लारेन्स ओलीवियर आदि सुविख्यात अभिनेताओं के नेतृत्व में इस टेकनीक में बुनियादी तबदीलियां हुई है। अभिनेता सामाजिक नाटकों में तो नाटकीय ढंग को पहले ही छोड़ चुके थे, परन्तु शेक्सपियर के नाटकों को कुदरती ढंग से निभाना बड़ा कठिन समझा जाता था। जान गिलगुड ने आगे बढ़कर यह काम करके दिखा दिया। गिलगुड से पहले भी इंग्लैण्ड में बड़े-बड़े शेक्सपिरियन अभिनेता हो चुके हैं, परन्तु जितना भाव-प्रधान अभिनय गिलगुड ने कर दिखाया, वह सचमुच एक नयी चीज़ थी।

मेरी राय में एंडर्सन या तो इस नयी परम्परा से वाक़िफ नहीं था, या उसका इससे मतभेद था। उसकी शेक्सपीरियन अभिनय-कला जान बैरीमोर से ज़्यादा सम्बन्धित मालूम होती है, जिसमें कि शरीर की तरफ़ अधिक ध्यान दिया जाता था, और अभिनय की आत्मा की ओर कम। इस लिहाज़ से देखा जाए, तो एंडर्सन की शिक्षा से पृथ्वीराज को नुकसान भी काफ़ी हुआ। एक तो उनके लिए फ़िल्मों में, जहां कि बिलकुल स्वाभाविक और भावना-प्रधान अभिनय की आवश्यकता होती है, अपने को संभालना कठिन हो गया, दूसरे उसका शेक्सपीरियन अध्ययन उतना गंभीर नहीं हो सका, जितना कि मेरी राय में उन-जैसे महान कलाकार को होना चाहिए था। एक बार एक लेखक ने पृथ्वीराज से पूछा था, "आप शेक्सपियर के किसी नाटक का हिन्दी अनुवाद करवाकर क्यों नहीं खेलते ?" उन्होंने जवाब दिया था, "मुझ पर अपने इस देश की धरती और उसकी समस्याओं का बहुत गहरा असर छा गया है।" यह बड़ा ईमानदार जवाब था। परंतु फिर भी लेखक को तृप्ति नहीं हुई। शेक्सपियर मनुष्य की आत्मा का सम्राट है, वह केवल अंग्रेजों का नहीं, बल्कि सारी दुनिया के इन्सानों का सांझा खज़ाना है। सदियों से न केवल यूरोप के बल्कि दुनिया-भर के साहित्य और नाटक शेक्सपियर की अमिट छाप है। प्रत्येक सभ्य देश की भाषा में शेक्सपियर का अनुवाद हो चुका है, और सभी देशों के कलाकार उसके नाटकों को बड़ी श्रद्धा और प्यार से खेलते हैं। और दर्शकों की भूख भी दिन-पर-दिन कम होने के बजाय बढ़ती ही जाती है। हिन्दुस्तानी भाषाओं में शेक्सपियर का अच्छा अनुवाद न होना बड़ी भारी कमी है, जिसे दूर किए बिना न तो हमारे देश के नाटक और न ही फ़िल्में सच्चे यथार्थ के मार्ग पर अग्रसर हो सकती हैं। और यह काम पृथ्वीराज से बेहतर कौन कर सकता है, जबकि वह स्वयं शेक्सपीरियन नाटक का इतना अनुभव रखते हैं ! अगर उन्हें अपने इस फर्ज़ का पूरी तरह एहसास नहीं हुआ, तो इसका मतलब यह है कि एंडर्सन उनके अन्दर शेक्सपीरियन जनून पैदा नहीं कर सका। यह दोष गुरु के हिस्से आता है, इससे पृथ्वीराज की महानता कम नहीं होती।

ब्रिटिश-इंडिया, अकाल-पीड़ित बंगाल, आई०एन०ए० का मुकदमा, जहाज़ियों का विद्रोह, पोस्टमैनों की कुल हिन्द हड़ताल, शिमला कांफ्रेंस आदि अखबारों की सुर्खियों के वातावरण में 'पृथ्वी थिएटर्स' का जन्म हुआ था।

पृथ्वीराज की गिनती उन कलाकारों में नहीं है, जो कला को राजनीति से दूर रखना चाहते हैं। जनता के आन्दोलन कलाकार को प्रभावित करते हैं, और कलाकार अपने विचारों से जनता को प्रभावित करता है- इस सत्य को वह मानते हैं। उनके मिज़ाज में छुई-मुईपना नहीं है। जुलूसों-जलसों में, क्रिकेट और फुटबाल के मैदान में भीड़ से कंधा भिड़ाना, गरजना, बरसना पृथ्वीराज को पसन्द आता है।

उस ज़माने के जन-आन्दोलनों ने नाटक के दूसरे भी कई सोये हुए शेरों को जगा दिया था। जन-नाटय-संघ ('इप्टा') का आन्दोलन देखते-देखते देश-भर में फैल गया था। इस बम्बई शहर में नेशनल थिएटर, रंगमंच ग्रुप-थिएटर और बीसियों दूसरी नाटक-मंडलियां बहार की कोंपलों की तरह फूट पड़ी थीं।

इनमें 'पृथ्वी थिएटर्स' ही एक ऐसी संस्था थी,जिसने स्टेज पर काम करने वालों के लिए दाने-पानी का प्रबंध भी किया।

सन पैंतालीस, छियालीस और सैंतालीस के वे दिन सचमुच पागलपन के दिन थे। बम्बई में बोली जाने वाली हर बाषा के प्रमुख लेखक नाटकों पर कलम चला रहे थे। खेलने वालों का उत्साह भी अपूर्व था। चौपाटी और कामगार मैदान के राजनीतिक जुलूसों में भी ये लोग खुली हवा को पर्दा और सीनरी बनाकर नाटक खेल आते थे। लेखकों और अभिनेताओं के जुलूस भी निकले, जिन में हज़ारों नहीं, लाखों आदमी शरीक हुए थे। कांग्रेस, कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट हर खयाल के लोग नाटक द्वारा अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को व्यक्त करते थे, बहसें होती थीं, झगड़े भी होते थे, और वातावरण और भी स्फूर्तिदायक हो जाता था।

इन हंगामों में 'पृथ्वी थिएटर्स' किसी से पीछे नहीं था। अगर आज अमर शेख के गीतों को सुनने के लिए शिवाजी पार्क में भीड़ लगी है, तो कल 'दीवार' की टिकटों के लिए ऑपेरा हाउस से लेकर चर्नी रोड स्टेशन तक क्यू लगा हुआ है।

संकीर्ण दृष्टि से देखने वालों की नज़रों में (जिनमें थोड़े समय के लिए लेखक भी शरीक था) 'पृथ्वी थिएटर्स' पेशेवर होने के कारण अमेच्युर मंडलियों से भिन्न था। किन्तु पृथ्वीराज ने ऐसी संकीर्णता के जवाब में खुद कभी संकीर्णता नहीं दिखाई। 'पृथ्वी थिएटर्स' ने हर संस्था को सहयोग दिया। उसने नाटकों के माध्यम से यह प्रमाणित करने की कोशिश की कि यह संस्था पेशेवर कंपनियों की तरह पैसा बटोरने के खयाल से नहीं बनाई गयी है। अगर इन नाटकों द्वारा कुछ कलाकारों को रोज़ी मिलती है, तो इसमें नाटक को लाभ पहुंचता है, पृथ्वीराज को नहीं।

'पृथ्वी थिएटर्स' का पहला नाटक था 'शकुन्तला'। यह नाटक सामाजिक वातावरण को देखते हुए बेमौका था। इसके अलावा बाद में पेश किए गए नाटकों से भी उसका जाति-भेद था। शायद यही कारण था कि बम्बई में वह ज़्यादा लोकप्रिय नहीं हुआ, हालांकि बम्बई से बाहर उसे भी काफ़ी पसन्द किया गया।

यदि गंभीरता से देखा जाए, तो कालिदास की यह अमर कृति किसी समय भी बेमौका नहीं कही जा सकती। मुझे अगर कोई शिकायत है तो यह कि 'पृथ्वी थिएटर्स' के इस प्रोडक्शन में कालिदास की 'स्पिरिट' प्रायः ग़ायब थी।

मुझे याद है कि इंग्लैंड से लौटने पर, जहाज़ से उतरते ही मैं बड़े शौक से शान्ताराम रचित 'शकुन्तला' देखने गया था। मगर देखने के बाद तबीयत कई दिनों तक उचाट रही थी। दिल्ली पहुंचकर अपने एक मित्र की अलमारी में 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' पड़ी देखी थी। मेरे मित्र को संस्कृत साहित्य से बहुत प्रेम था। हम दोनों इस पुस्तक को लेकर बैठ गए थे और सारी शाम कालिदास की अद्वितीय पंक्तियों का रसास्वादन करते रहे थे। तब जाकर फ़िल्म का असर कुछ कम हुआ था।

यदि मैं 'पृथ्वी थिएटर्स' से शेक्सपियर खेलने का अनुरोध कर सकता हूं तो मुझे उसके 'शकुन्तला' खेलने पर कभी आपत्ति नहीं हो सकती। मगर प्राचीन नाटकों को खेलते वक्त निर्माता का कर्तव्य होगा है कि दर्शकों के मनोरंजन की खातिर मूल नाटक की ऐतिहासिक और कलात्मक सच्चाइयों को कुर्बान न करे।

'कालिदास' को खेलते समय यह आवश्यक है कि उसके नाटकों का मन-गढ़न्त रूपान्तर नहीं, बल्कि प्रामाणिक और सुन्दर अनुवाद किया जाए। खेलने की टेकनीक ऐसी हो कि तत्कालीन एतिहासिक वातावरण, वेश-भूषा आदि सजीव होकर सामने आ जाएं। ऐसा उद्योग सराहनीय और प्रगतिशील होगा। पर अफ़सोस कि यह उद्योग न शान्ताराम ने किया, और न पृथ्वीराज ने।

'पृथ्वी थिएटर्स' की 'शकुन्तला' के लेखक ने कालिदास से सिर्फ प्लाट हो लिया, और उसके आधार पर एक ऐसा नाटक लिख डाला, जो कालिदास का हर्गिज़ नहीं कहा जा सकता। यह कालिदास के साथ अन्याय था- उसी प्रकार का अन्याय, जो हमारे देश की फिल्में ऐतिहासिक घटनाओं और व्यक्तियों से आये दिन करती आई हैं।

हिन्दी-उर्दू का संस्कृत से मां-बेटी का रिश्ता है, इसलिए यह कहना कि कालिदास को प्रामाणिकता से खेलना असंभव है, या जनता को यह रुचिकर नहीं है, सर्वथा ग़लत है। संस्कृत नाटक पूरी प्रामाणिकता से यूरोप की भाषाओं में अनुवादित हुए और खेले भी गए हैं। यदि विदेशी जनता उन्हें पसंद कर सकती है, तो अपने देश की जनता क्यों न करेगी ?

सच्चाई कला की सबसे बड़ी खूबी है। मुझे विश्वास है कि अगर पृथ्वीराज ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का अध्ययन मूल संस्कृत में स्वयं किया होता, तो वह इस दिशा में पुरानी रीतियों को त्याग एक नयी और स्वस्थ परंपरा क़ायम करते।

'पृथ्वी थिएटर्स' का दूसरा नाटक 'दीवार' था। इस नाटक को जो शानदार सफलता प्राप्त हुई, वह बयान से बाहर है। आज तक हज़ार बार से ज़्यादा यह नाटक स्टेज पर आ चुका है, और आज भी दर्शक उसे चाव से देखते हैं।

'दीवार' और उसके बाद के तीन 'नाटक- 'गद्दार', 'पठान',और 'आहुति'- देश में पैदा हुई एक विकट परिस्थिति को सामने रखकर लिखे गए हैं।

राष्ट्रपति महात्मा गांधी ने आज से तीस वर्ष पहले दो कठोर सत्य जनता के आगे रखे थे। पहला कि आज़ादी लड़कर ही हासिल की जा सकती है, अर्ज़ियों, दरख्वास्तों से नहीं। दूसरा यह कि इस लड़ाई में विजय तभी हो सकती है, जबकि देश की दो बड़ी धार्मिक जमातें-हिन्दू और मुस्लिम जिन्हें आपस में लड़ा-लड़ाकर अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य को मज़बूत किया, संगठित हो जाएं।

ये दोनों कठोर सत्य आज भी उतने ही सच्चे और कठोर हैं, जितने कि तीस बरस पहले थे।

गांधीजी ने किस तरह सदियों से कुचली हुई और निःशस्त्र जनता को संसार के सबसे मज़बूत और निर्दयी साम्राज्य से टक्कर लेने के क़ाबिल बना दिया, यह बीसवीं सदी का एक अचंभा है। गांधीजी के अहिंसा के सिद्धान्त की बुनियाद में यह एतिहासिक तथ्य था, कि दुनिया में सबसे बड़ी ताक़त जनता के संगठन की ताक़त है। जनता अगर अपने अधिकारों के लिए संगठित हो जाए, तो उसे बन्दूकें, तोपें और एटम बम भी नहीं हरा सकते। इस बात का सबूत न केवल हमें अपने राष्ट्रीय आन्दोलन से मिलता है, बल्कि आज कोरिया और वियतनाम में भी हम यही देख रहे हैं कि साम्राज्यवादियों को जनता के अमन और शांति के लिए किए गए दस्तखतों से भी डर लगता है।

गांधीजी का 'अहिंसा' का अर्थ कायरता हरगिज़ नहीं था। उन्होंने बार-बार कहा है कायरता से हिंसा कहीं अच्छी है।

इसी तरह हिन्दू-मुस्लिम संगठन के सिद्धान्त की बुनियाद में भी एक वैज्ञानिक और ऐतिहासिक तथ्य है- कौमों और जातियों का आत्म-निर्णय। गांधीजी ने बताया कि राष्ट्रीय धर्म का जात-पांत और छुआछूत से कोई सम्बन्ध नहीं है। राष्ट्रीय भावना इन पक्षपातों से आज़ाद होकर ही पैदा हो सकती है। गांधीजी ने चाहा कि पठान अपनी राष्ट्रीयता को समझें, पंजाबी अपनी पंजाबियत को समझें, बंगाली अपनी बंगालियत की क़द्र करें, और सब मिलकर अपने महान राष्ट्र हिन्दुस्तान का सिर ऊंचा करें- एक-दूसरे से बराबरी और इन्साफ़ का रिश्ता पैदा करके।

गांधीजी की इस शिक्षा से हिन्दुस्तान के करोड़ों आदमी प्रेरित हुए। 'पृथ्वी थिएटर्स' के उपर्युक्त नाटकों में भी इन्हीं सिद्धान्तों की प्रेरणा है।

'दीवार' के अन्त में दोनों भाई एक होकर, नकली बँटवारे के भ्रम से जागकर, साम्राज्य को ललकारते हैं, और उसे अपने घर से निकालकर बाहर करते हैं।

'पठान' में दिखाया जाता है कि पठान चाहे हिन्दू हो, चाहे मुसलमान, वह पठान है, जिस तरह कश्मीरी कश्मीरी है और पंजाबी पंजाबी हैं।

पर अफ़सोस कि गांधीजी राजनीतिक नेता से अधिक संत-महात्मा थे और पंजाबी पृथ्वीराज राजनीतिक बुद्धिवादी कम और कलाकार ज़्यादा थे।

यदि गांधीजी ठीक समय पर देख लेते कि किस प्रकार देश और विदेश की प्रतिक्रियावादी ताक़तें समझौते की आड़ में उनके सिद्धान्तों का खूनकर रही हैं, और न केवल उनको बल्कि सारे देश में स्वतंत्रता-आन्दोलन को मौत की तरफ़ घसीट रही हैं, तो शायद हमारे इतिहास के वर्तमान पन्नों को दूसरे शब्दों में लिखा जाता।

पर वक्त हाथ से निकल गया। जो हाथ आज़ादी के लिए उठे थे, वे अपनी मां-बहन की छातियां काटने में जुट गए। स्वार्थी लीडरों ने अहिंसा को कायरता में तबदील करवा दिया। कायरता की ऐसी मिसालें दुनिया में कहां मिलेंगी, जो आज़ादी के स्वागत में इस देश में प्रकट हुई ?

'दीवार' पेश करते समय कलाकार पृथ्वीराज से भी एक भारी भूल हो गई। उन्होंने परिस्थिति का गंभीरता से विश्लेषण नहीं किया। उन्होंने यह नहीं पूछा कि वह हिन्दू-मुस्लिम जनता, जो कल एक होकर 'शहीद-दिन' मना रही थी और जहाज़ी-विद्रोह के अवसर पर कंधे से कंधा मिलाए खून बहा रही थी, आज एकाएक उसे क्या हो गया कि वह एक-दूसरे पर टूट पड़ी ? क्या यह सारा दोष जनता ही का है, या जनता के लीडरों का भी?

पृथ्वीराज कलाकार थे, वह भावों की लहरों में बह जाने की ग़लती भी कर बैठे। उन्होंने यह न देखा कि इस समय कांग्रेस और लीगी दोनों ही लीडर अंग्रेज़ के हाथ का खिलौना बने हुए हैं। नतीजा यह हुआ कि कांग्रेस के असर में आई हुई हिन्दू जनता ने 'दीवार' को बेहद पसंद किया और लीग की भड़काई हुई मुस्लिम जनता ने उसे सख्त नापसन्द किया।

एक ईमानदार क़लाकार की हैसियत से पृथ्वीराज को उस समय सबसे बड़ा आघात इसी बात का हुआ। उनका मकसद मुस्लिम जनता को आकर्षित करना था, नाराज़ करना नहीं।

और सच तो यह है कि आज 'दीवार' को हिन्दू और मुसलमान दोनों ही एक नई दृष्टि से देखते हैं और सच्चे कलाकार की भविष्यवाणी को आदर के साथ सुनते हैं। पर 'अब पछताये होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गई खेत।'

ऐसा ही अंतर्विरोध हमें 'पठान' में भी मिलता है। पठानों की राष्ट्रीयता के प्रश्नों को भी पृथ्वीराज ने ठोस प्रामाणिकता से पेश करने के बजाय भावुक ढंग से पेश किया है, इसलिए दर्शकों की प्यास नहीं बुझती। उदाहरण के लिए नाटक के दौरान पठान हीरो जगह-जगह पर पंजाबी मुसलमानों की निन्दा करता है। दर्शक हैरान होता है कि पृथ्वीराज जैसा बेदार आदमी, जिसका आदर्श ही धार्मिक संकुचितता का खंडन करना है, कैसे पंजाबी कौम के एक भाग को धर्म की कसौटी पर एक पात्र के मुंह से बुरा कहलवा सकता है।

लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि इस तरह की भावुक भूलें केवल 'पृथ्वी थिएटर्स' में ही नहीं हुई। ठीक इसी तरह की भूलें लोकनाटय-संघ के कलाकारों से भी हुई। जिस तरह पृथ्वीराज ने एक विशेष राजनीतिक पक्ष की नीति को शिरोधार्य कर लिया, उसी तरह लोक-नाटय संघ में एक दूसरे राजनीतिक पक्ष के नारों पर नाटक का निर्माण करना शुरु किया। दोनों संस्थाएं स्वयं इस बात का विवेचन करने में असफल रहीं कि कौन-सी नीति किस हद तक सही है, और किस हद तक ग़लत।

आज देश की सामाजिक अथवा राजनीतिक हालत बहुत ही खराब हो चुकी है। वे पहले के तूफान खत्म हो चुके हैं। हर तरफ निराशा और किंकर्तव्यविमूढ़ता नज़र आती है। हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की तमाम बुनियादी कमज़ोरियां सामने आ रही हैं।

इस निराशा और किंकर्तव्य-विमूढ़ता का असर कला-संसार पर भी पड़ा है। बम्बई का रंगमंच आजकल प्रायः फ़िल्म-स्टारों की नुमाइश के लिए ही इस्तेमाल होता है।

'पृथ्वी थिएटर्स' के हर नाटक की अलग-अलग समालोचना करना, गुण-अवगुणं का विश्लेषण करना न तो इस लेख में संभव है, और न इसकी कोई आवश्यकता है। इन नाटकों को आज तक जनता लाखों की संख्या में देख चुकी है और मुक्त कंठ से प्रशंसा कर चुकी है। न केवल विचारशील और आदर्शवादी होने के कारण, बल्कि टेकनीक की दृष्टि से भी यथार्थवादी और अत्यन्त सुन्दर होने के कारण ये नाटक लोकप्रिय हुए हैं। पृथ्वीराज ने निर्माता-निर्देशक की हैसियत से अपनी प्रचुर ट्रेनिंग का, जिसका ज़िक्र मैं पहले विस्तार से कर चुका हूं, पूरा लाभ उठाया है और बार-बार पर्दा गिराकर तीस-तीस, चालीस-चालीस दृश्य दिखाने की परंपरा खत्म कर दी है।

अभिनय का स्तर भी पूरी तरह यथार्थवादी है। इस दिशा में 'पृथ्वी थिएटर्स' की इससे बड़ी तारीफ़ और क्या हो सकती है कि उसने इस थोड़े से समय में राज कपूर, ज़ोहरा, अज़रा, प्रेमनाथ, सज्जन जैसे कलाकार पैदा किए हैं। इन नाटकों में लाइटिंग, संगीत आदि को बड़े सहज भाव और संजीदगी से इस्तेमाल किया गया है।

स्वयं पृथ्वीराज के अभिनय की प्रशंसा करना सूरज को चिराग़ दिखाना है। फिर भी लेखक के अपने अनुभव की एक-दो बातें उल्लेखनीय हैं।

पाठक जानते हैं कि 'आहुति' नाटक के पहले अंक का घटना-स्थल रावलपिंडी है। रावलपिंडी मेरा अपना शहर है और वहां के लोगों की बातचीत के खास अन्दाज़ और इशारों से मैं बखूबी परिचित हूं। उनमें से एक अन्दाज़ यह है कि कोई बोलने वाला अगर कोई पते की कह दे, तो श्रोता के मुंह से 'आय-हाय' ज़रूर निकलेगी। और यह 'आय-हाय' अंधे रामकृष्ण का पार्ट करते वक्त पृथ्वीराज के मुंह से बराबर निकलती है। जिस दिन 'ऑपेरा हाउस' में मैंने पहली बार एक नाटक देखा, मेरे साथ वाली सीट पर रावलपिंडी के एक बुज़ुर्ग बैठे हुए थे। मैंने देखा कि जिस क्षण पृथ्वीराज के मुंह से 'आय-हाय' निकलती, ठीक उसी क्षण उस बुज़ुर्ग के मुंह से भी निकलती, और वह झूम झूम जाता, और ठंडी सांसें भरता। ऐसा मालूम होता था कि किसी बिजली के तार के इन दोनों व्यक्तियों का सम्बन्ध जोड़ दिया गया है। बताइए, भला अभिनय की इससे ऊंची मर्यादा भी कोई हो सकती है?

एक दिन जब मैं पृथ्वीराज से मिलने गया, तो मालूम हुआ कि आज थिएटर का सारा सामान- पर्दे, पोशाकें, सीनरी वगैरह- किसी बैंक के पास गिरवी रखा गया है, ताकि उसके बदले में कुछ क़र्ज़ लेकर काम चलाया जा सके। मैं ऊपर कह चुका हूं कि ऐसे मौके अकसर आते थे, क्योंकि 'पृथ्वी थिएटर्स' को माहवार खर्च बीस हज़ार के लगभग है। बम्बई में हर माह इतनी आमदनी होना दुश्वार है, क्योंकि आवश्यकतानुसार थिएटर न मिलने के कारण 'पृथ्वी थिएटर्स' को शाम के बजाय सुबह शो करने पड़ते हैं, और वह भी हफ्ते में केवल तीन या चार।

सुनकर मुझे दुःख हुआ और मेरी हैरानी की भी हद न रही जब मैंने देखा कि पृथ्वीराज के चेहरे पर कोई मलाल नहीं, बल्कि हमेशा से ज़्यादा खुश नज़र आ रहे थे।

घंटों इधर-उधर की बातें होती रहीं, जिनका थिएटर से कोई सम्बन्ध न था। विदा होते वक्त मैं पूछ ही बैठा कि आखिर इस खुशी का कारण क्या है? उस वक्त हम दोनों 'ऑपेरा हाउस' की अंधेर-घुप्प सीढ़ियों पर खड़े थे। पृथ्वीराज ने कहा, "बलराज, आज जब मैं स्टेज पर पार्ट कर रहा था, तो मैंने देखा, मेरी शलवार का इज़ारबन्द लटक रहा है। उसे ठीक करने के लिए मैं हाथ बढ़ाने ही वाला था कि मुझे खयाल आया कि मैं तो अंधे आदमी का पार्ट कर रहा हूं। उसे कैसे मालूम हो सकता है कि उसका इज़ारबन्द लोगों को दिखाई दे रहा है? सो, मैं रुक गया। बस सुबह से यह घटना बार-बार याद आती है और मैं हंस पड़ता हूं। है न फिज़ूल-सी बात?"

पृथ्वीराज का उदाहरण सामने रखते हुए महसूस होता है कि कलाकार के लिए तीन गुण बड़े ज़रूरी हैं-

१. व्यक्तिगत ईमानदारी और सचाई।

२. अपने हुनर में निपुण बनने की तीव्र इच्छा और अथक परिश्रम करने की हिम्मत।

३. सामाजिक जीवन का अनुभव, सामाजिक आन्दोलनों तथा घटनाओं को वैज्ञानिक तरीके से समझना और अपना राष्ट्रीय दृष्टिकोण भी वैज्ञानिक बनाना।

जिस कलाकार में ये तीनों गुण मौजूद हों, वह सच्चा कलाकार है। वही जनता का सच्चा मनोरंजन भी कर सकता है, और मार्गदर्शन भी।

अगर इन तीनों में से एक गुण भी ग़ायब हो जाए, तो कलाकार और उसकी कला दोनों घटिया दर्जे के हो जाते हैं।

नाटक खेलना एक सामूहिक काम है, सिर्फ एक कलाकार का नहीं, बहुत से कलाकारों का संयुक्त काम है। गोया ये तीन गुण न केवल कलाकार के लिए अनिवार्य हैं बल्कि हर नाटक-संस्था के लिए भी ज़रूरी है। लेकिन अफ़सोस कि नाटक-सम्बन्धी होने वाली बहसों में इन तीनों में से एक-न-एक को अकसर दृष्टि से परे कर दिया जाता है।

कई विद्वान टेकनीक से एकदम लापरवाही करना चाहते हैं। उनका कहना है कि विचार अच्छे हों, इरादें ठीक हों, तो नाटक ज़रूर क़ामयाब होगा। यह बात उतनी ही ग़लत है जितना यह कहना कि सुई, तागा, कपड़ा, कैंची हाथ में हो, तो पतलून अपने आप बन जाएगी। वे यह नहीं समझते कि नाटक का हुनर सदियों पुराना और बेहद सूक्ष्म है। इसको सीखने के लिए न केवल अपने देश का, बल्कि अपने देश की परम्पराओं का सक्रिय अध्ययन करना पड़ता है, चाहे उन देशों का समाज सामंतवादी हो, पूंजीवादी हो, या समाजवादी हो। अगर हमारे सर्वश्रेष्ठ, प्रगतिशील लेखक भी उतने क़ामयाब नाटक नहीं लिख पाते, जितने कि यूरोप के घटिया-से-घटिया लेखक लिख डालते हैं, जिन्होंने अपनी आत्मा तक बेच डाली है, तो इसका कारण यही है कि उन्होंने इस हुनर को सीखने में पर्याप्त परिश्रम नहीं किया है।

दूसरी ओर कई विद्वान हर वक्त टेकनीक ही की रट लगाए रखते हैं। वे भूल जाते हैं कि टेकनीक आर्ट का साधनमात्र है, उसका उद्देश्य नहीं। नाटक का उद्देश्य है, जनता का मार्गदर्शन। ऐसे समय में जबकि हमारे देश में भूख, ग़रीबी और शोषण का हाहाकार

मचा हुआ है, किसी भी कलाकार को टेकनीक के रेशमी खोल में बन्द हो जाने का अधिकार नहीं है। ऐसा करके वह अपनी कला का अपमान करता है।

इसी तरह ऐसे विद्वान भी मिलेंगे, जो कलाकार के व्यक्तिगत जीवन को उसकी कला से अलग रखना चाहते हैं। वे भूल जाते हैं कि युगों से हमारे देश के महान कलाकारों ने व्यक्तिगत जीवन के उच्चतम स्तर क़ायम किए हैं। और दूसरी बात है कि नाटक जैसे सामूहिक काम में हर आदमी को कड़े अनुशासन में रहना पड़ता है। अगर किसी संस्था में उच्छृंखल, स्वार्थी और अपने आपको महत्ता देने वाले लोगों को खुली छुट्टी दे दी जाए, तो वह संस्था कभी भी सफल नहीं हो सकती। ईमानदारी और संयम का अनुशासन बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे कलाकार के लिए आवश्यक है।

यदि मैं पृथ्वीराज को सच्चा कलाकार मानता हूं, तो इसलिए कि उनमें ये तीनों गुण मौजूद हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि मैं पृथ्वीराज को सर्वांगपूर्ण कलाकार मानता हूं। गुण-अवगुण सब में होते हैं, और मैं अच्छी तरह जानता हूं कि पृथ्वीराज को भी इन तीनों दिशाओं में और भी कड़ी तपस्या की ज़रूरत है। मुझे विश्वास है कि यह तपस्या वह करेंगे। इसलिए मैं यह कहने का साहस करता हूं कि जिस देश में पृथ्वीराज जैसे कलाकार मौजूद हों, उस देश में नाट्य कला का भविष्य उज्ज्वल है।

भारतीय फ़िल्म-इण्डस्ट्री को पंजाबियों की देन

पंजाबी सेहतमंद, सुन्दर और दर्शनीय लोग हैं। प्राचीन समय में लगभग प्रत्येक आक्रमणकारी ने पांच दरियाओं की इस धरती पर पांव रखा था। इसलिए यहां अनेक नसलों और सभ्यताओं का सम्मिश्रण मिलता है, जिसने पंजाबियों के शारीरिक और मानसिक गुणों को बढ़ाने में काफ़ी प्रभाव डाला है।

इन्हीं हमलों के कारण पंजाबियों के शरीर बलवान, दिल हिम्मती और स्वभाव उदार हैं और उनमें मेहनत और संघर्ष करने का बहुत सामर्थ्य है।

यह गुण फ़िल्में बनाने के लिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। फ़िल्में आखिर जीवन का प्रतिबिम्ब ही तो होती हैं। जो ज़िंदगी में फ़ायदेमंद है, वह फ़िल्मों में भी फ़ायदेमंद होगा। स्वाभाविक है कि पंजाबियों ने इस क्षेत्र में भी कमाल कर दिखाया है।

अंग्रेज़ी शासन के ज़माने में बेचैन रहने वाले पंजाबी जवानों की उमंगें पूरी नहीं हो पाती थीं। रोज़गार के साधनों का लगभग अभाव था ओर जो थे, वे बहुत घटिया क़िस्म के थे। उनमें ज़ौहर दिखाने और प्राप्ति के बहुत कम मौक़े थे।

हां, फ़िल्में कुछ मौक़े देती थीं, पर बनावटी-से ढंग से फ़िल्मों में आदमी योद्धा, विजेता, डॉन जुआन, अन्वेषक, पर्वतारोही, खूनी या संत जो चाहे बनने का दिखावा कर सकता है। और मज़े की बात तो यह है कि दर्शक इस सब-कुछ को सच मान लेते हैं। कलाकार पैसा और प्रसिद्धि दोनों चीज़ें पाता है।

'हकीक़त' नाम की एक फिल्म में मैंने फौज़ी मेजर का रोल किया था। तब से मुझे कई ऐसे फौज़ी जवान और अन्य लोग मिले हैं, जिन्होंने मुझे सचमुच फौज़ी बहादुर समझकर मेरा आदर किया है।

जहां तक मुझे याद हैं, फिल्मों के इस जादू ने पंजाबी नौजवानों को चुम्बक की तरह अपनी ओर खींचा है। मैंने अभी स्कूल की शिक्षा पूरी की ही थी कि पृथ्वीराज कपूर, जगदीश सेठी, जे०के०नन्दा, के०एल०सहगल आदि कलकत्ता और बम्बई जा पहुंचे थे। अपनी पीढ़ी के लोगों पर हालीवुड की फ़िल्मों के प्रभाव से मैं अच्छी तरह परिचित हूं। 'कॉसक्स' नाम की एक फ़िल्म में जैक गिलबर्ट ने बड़ी-सी समूर की टोपी पहनी हुई थी। कुछ ही दिनों में हमारे शहर में वैसी टोपियां पहनने का फ़ैशन चल पड़ा था। मेरे एक दोस्त को, जिसने हैरल्ड लॉयड के करतबों की नकल करने की कोशिश की थी, कुछ दिनों के लिए हवालात में बन्द होना पड़ा था। फ़िल्मों के लिए पंजाबियों की असाधारण दिलचस्पी का मुझे एक और कारण भी दिखाई देता है। अंग्रेज़ शासक पंजाबियों को सांस्कृतिक तौर पर पिछड़ा हुआ रखना चाहते थे, ताकि तोपों का सामना करने के लिए

उन्हें में से वफ़ादार रंगरूट मिलते रहें यह तभी हो सकता था अगर आम लोगो को ज्यादा से ज्यादा अनपढ़ और गंवार रखा जाता और दूसरे समाज के ऊपरी वर्ग के लिए ऐसी शिक्षा प्रणाली चालू की जाती, जिससे उस वर्ग के लोग साधारण जनता उसकी भाषा और सभ्यता संस्कृति से घृण करने लगे और उसमे आपसी फूट पड़ती। अगर कोई बुद्धि-जीवी पंजावी पंजाब में रहता तो उसे अपना चौगिर्दा गति हीन विरोध पूर्ण और बेचैनी भरा महसूस होता और सुख का सांस लेने के लिए उसे पंजाब से बाहर ही जाना पड़ता तो दोनो रास्ते शासको के लिए फायदे मंद थे।

मुझे अच्छी तरह याद है कि मै पंजाब से क्यों भागा था यह बात मेरे मन में पूरी तरह बैठा दी गई थी कि पंजाब के लोग असभ्य है और पंजाबी इस हद तक गंवारों की भाषा है कि उसमें साहित्य रचना नहीं हो सकती। हमारा हीन भाव यहां तक बढ़ गया था कि मै और मेरे जैसे कई और लोग यह कहते हुए शर्माते थे कि हम पंजाबी है। हमने अपनी बोल चाल, रहन सहन में पंजाबियत मिटाने की पूरी कोशिश की थी। अगर कोई हमें यूरोपीय, एंग्लो-इंडियन यहां तक कि यू०पी० का निवासी या बंगाली भी समझ लेता तो हमें खुशी होती।

ऐसा लगता था कि आज़ादी के बाद इस प्रकार में सभी ग़लत दृष्टिकोण खत्म हो जाएंगे। पर वे हमारे अन्दर इतने गहरे समा चुके हैं कि उनके जल्दी खत्म होने की कोई सूरत नज़र नहीं आ रही। पढ़े लिखे पंजाबियों में से अधिकांश अभी भी अपनी राष्ट्रीयता, भाषा, साहित्य और संस्कृति की ओर से विमुख हैं उसे वे अपनी देश भक्ति भी समझते हैं। एहसास कराना अभी बाक़ी है कि वे अच्छे भारतीय तभी बन सकते हैं अगर पहले अच्छे पंजाबी बने। क्या कारण है कि एक बंगाली खुद को बंगाली समझकर गर्व महसूस करता है, लेकिन पंजाबी खुद को पंजाबी कहने में शर्म महसूस करता है? यह बात मेरे लिए बड़ा अचम्भा थी।

उपरोक्त बातों का प्रभाव फ़िल्मों में काम करनेवाले पंजाबियों पर पूरी तरह पड़ा। हम एक तरफ़ तो बड़े मेहनती, लगन वाले और प्रभावशाली लोग हैं और इस दृष्टिकोण से हमारी बहुत बड़ी देन है। दूसरी तरफ़, हमने अपने पंजाब, अपनी भाषा और संस्कृति के लिए कुछ भी नहीं किया। हम अपनी मातृभूमि की ओर से विमुख होने के दोषी हैं।

इसके उलट, बंगालियों की देन यद्यपि बहुत कम है, पर कलात्मक दृष्टि में उन्होंने न केवल बंगाल और हिन्दुस्तान को अन्तर्राष्ट्रीय फ़िल्म-इंडस्ट्री में स्थान दिलाया है, बल्कि समूची भारतीय फ़िल्म इंडस्ट्री के कलात्मक स्तर को ऊंचा उठाने के लिए लगातार प्रयत्न किया है। संख्या में अधिक और अच्छे साधनों के होते हुए भी पंजाबियों ने आज तक पी०सी०बरुआ, देवकी बोस, बिमल राय, सत्यजित राय और अमिय चक्रवर्ती जैसी हस्तियां पैदा नहीं कीं। नाम कमाने और खुशहाली पैदा करने में हम पंजाबी बहुत आगे हैं। पर इस क्रिया में हमने कलात्मक स्तर ऊंचा किया है या नहीं ? यह एक ऐसी समस्या है, जिसका मूल्यांकन निर्लिप्त होकर करना चाहिए।

पर इस बारे में ज्यादा निराश होने की ज़रूरत नहीं है। दुनिया बदल रही है, पंजाब और पंजाबी भी बदल रहे हैं। जल्दी ही पंजाबियों के किसी भी वर्ग के लिए अमृता

प्रीतम, नानकसिंह, मोहनसिंह, शिव कुमार आदि न्नामों की ओर से आंखे या कान बन्द करना मुश्किल हो जाएगा। ये वे नाम है, जिनके ज़िक्र सारे देश में और देश से बाहर भी होता है। ऐसे कई और नाम सामने आ रहे हैं। शुतुंर्मुग की तरह रेत में सिर धंसाकर बैठना पंजाबी-स्वभाव के अनुकूल नहीं है।

ऐसे लक्षण अब साफ़ दिखाई देने लगे हैं कि पंजाबी फ़िल्म निर्माता पहले की तरह केवल नक़ल करने और व्यापारिक बातों से ही सन्तुष्ट नहीं हैं, बल्कि अपनी देन को कलात्मक, मौलिक और महत्त्वपूर्ण बनाने में लगे हुए हैं। आज़ादी के बाद पंजाबियों ने अन्य सभी क्षेत्रों में कमाल कर दिखाया है। अगर एक बार अपनी मातृभाषा, उसकी लिपि, उसके साहित्य और कला सम्बन्धी उनकी ग़लत धारणाएं दूर हो जाएं, तो वे फ़िल्मकला को भी चार चांद लगा सकते हैं।

•

आत्मकथा

बलराज साहनी

मेरी फ़िल्मी आत्मकथा

कुछ शब्द

यह पुस्तक 'मेरी फ़िल्मी आत्मकथा' हिन्दी में पहले धारावाहिक रूप में श्री अमृतराय द्वारा सम्पादित 'नई कहानियाँ' पत्रिका में छपी थी।

पंजाबी मासिक 'प्रीतलड़ी' में भी इसका धारावाहिक प्रकाशन श्री बलराज साहनी के जीवनकाल में ही हो गया था

१६७४ में आत्मकथा पुस्तककार रूप में छपी-सिनेमाप्रेमियों और बुद्धिजीवियों में यह खूब लोकप्रिय हुई।

पहला दौर

१

फ़िल्मों में एक चीज़ को 'फ़्लैश-बैक' कहते हैं, अर्थात वर्तमान से भूतकाल में छलांग लगा जाना। फ़्लैश-बैक तभी सफल होता है, जब दर्शकों को नाटक के वर्तमान का काफ़ी एहसास करा दिया जाए। फिर, उन्हें अंगुली लगाकर भूतकाल या भविष्य में कहीं भी घुमाया जा सकता है।

अपनी फ़िल्मी जीवन-कथा का फ़्लैश-बैक शुरु करने से पहले आइए ज़रा वर्तमान के उद्यान में थोड़ा टहल लें।

चैम्बूर का इलाका। स्टूडियो का मेक-अप-रूम। मेक-अप-मैन ने रीति-अनुसार मेक-अप का पहला तिलक आईने को लगाया, फिर मेरा मेक-अप करना शुरु किया। अब वह ख़त्म हो चुका है। सिर्फ़ बालों को काला करना शेष रह गया है। महीने-डेढ़ महीने से मैंने ख़िज़ाब इस्तेमाल नहीं किया इसलिए ब्रुश के साथ काली पैंसिल घिसा-घिसाकर बालों के ऊपर फेर रहा हूं, जो कि बड़े झंझट का काम है।

अभी-अभी ड्रैस-मैन मेरी मिलिट्री की वर्दी और काले डब्बली बूट रखकर गया है। उनकी तीखी पालिश की गन्ध से सारा कमरा भर गया है, जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कमरा बहुत छोटा है। दरअसल, बड़े सारे एक कमरे में दो और दीवारें डालकर तीन कम्पार्टमेंट बना दिए गए हैं। कोई दस वर्ष पहले, जब फ़िल्म-स्टार भगवान दादा ने यह स्टूडियो अपने हाथ में लिया था, तो ये मेक-अप-रूम उन्होंने स्वयं बड़े शौक से बनवाए थे। उस समय उनकी फ़िल्म, 'अलबेला' बड़ी ज़ोरदार हिट हुई थी। भगवान दादा का सवालिया अदा से ठुमक-ठुमककर नाचना लोगों को बहुत पसन्द आया था। मज़दूर-वर्ग तो सदा से ही भगवान दादा पर जान न्योछावर करता रहा है। एक बार टैक्सी-ड्राइवर के मुंह से मैंने सुना था, 'अरे एक बार वह कह दे मुझे तुम्हारी गाड़ी चाहिए, ख़ुदा की कसम, उसी वक्त चाबी हवाले करके नीचे उतर जाऊं।' राजकपूर और दिलीपकुमार निस्सदेह कई गुना अधिक लोकप्रिय है, पर गरीब-वर्ग मार-धाड़ की फ़िल्में ज़्यादा देखता है। इसलिए भगवान दादा का उनके दिलों में विशेष स्थान है। वे पर्दे पर अनपढ़ों की तरह हू-ब-हू अनपढ़ और गंवारों की तरह गंवार ही दिखाई देते हैं। लोगों को ऐसे लगता है, जैसे उनका अपना कोई सगा-सम्बन्धी उठकर इतनी ऊंची जगह पहुंच गया हो और गीता बाली जैसी हसीना के साथ रोमांस लड़ा रहा हो। भगवान दादा इससे पहले सामाजिक फ़िल्मों में कम ही आए थे।

सामाजिक, स्टंट,और धार्मिक, हिन्दी फ़िल्मों के ये तीन मुख्य क्षेत्र हैं।

एक क्षेत्र के कलाकार के लिए दूसरे क्षेत्र में कदम रखना बहुत मुश्किल काम है। इसलिए 'अलबेला' दादा ने स्वयं बनाई थी। उन्हें बड़ा लाभ हुआ था। तुरन्त यह स्टूड़ियो लीज़ पर ले लिया था। जिस मेक-अप-रूम में मैं इस समय बैठा हुआ हूं, स्टूडिओ की वर्तमान मालकिन ने, दादा के सम्मान में उनके लिए सुरक्षित रखा हुआ है। पर अब स्टूडिओ की अपनी किस्मत भी डगमगाई हुई है। दो में से एक फ़्लोर तो किसी फ़ैक्टरी के कब्ज़े में जा चुका है। वहां टेलीविजन के सैट जोड़े जा रहे हैं।

मेरा खास लिहाज़ करके चाबी भगवान दादा के घर से मंगाई गई है, क्योंकि शेष दोनों कमरे निरूपा राय और ललिता पवार के कब्ज़े में हैं। दो हीरो एक मेक-अप-रूम में भले ही समा जाएं, पर दो हीरोइनों का एक मेक-अप-रूम में समाना बहुत मुश्किल है, खास-तौर पर तब, जब वह हीरोइन से हटकर भूतपूर्व हीरोइन बन चुकी हो।

सब फ़िल्म-स्टारों को एक दिन उसी अस्ताचल के देश में जाना है। कहां गई गीता बाली? अच्छा ही हुआ जो मर गई। मुझे पता है, किस तरह अस्ताचल की सुर्ख़ रंगत जलते हुए कोयलों की तरह उनका अंग-अंग जलाती रहती थी। उन दिनों तीन-चार फ़िल्मों में हम इकटठे हीरो-हीरोइन आए थे। एक दिन एम०एण्ड०टी०स्टूडिओ में (वह भी अब एक फ़ैक्टरी में बदल चुका है) मैंने अपने कानों से उन्हें एक सहेली को कहते सुना था, "हुण तां बस ए बूथी सड़िया बलराज ही रह गया है मेरे भागां विच हीरो बनन लई।" (अब तो बस यह मुंहजला बलराज ही रह गया है मेरी किस्मत में हीरो बनने के लिए।)

इससे कुछ वर्ष पहले, जब उनकी पतंग आकाश में चढ़ी हुई थी, उन्होंने एक फ़िल्म में कहानी बेहद पसन्द आने के बावजूद काम करने से सिर्फ इसलिए इनकार कर दिया था कि निर्देशक ने मुझे हीरो लेने के बारे में सोचा हुआ था। निर्माता ने मिनटों में निर्देशक का दिमाग ठिकाने लगा दिया था।

भगवान दादा भी अब रिटायर हो चुके हैं। मेक-अप-रूम को ताला लगाकर रखना अपने-आपको तसल्ली देने वाली बात कही जा सकती है। पर क्या पता, यह उनके लिए यादों का ताजमहल हो!

हर स्टूडिओ का मेक-अप-रूम एक तरह से यादों का ताजमहल ही होता है। इसके आईने में अभिनेता-अभिनेत्री का चेहरा ही नहीं, आत्मा भी अपना प्रतिबिम्ब छोड़ जाती है। पर क्या लाभ इस किस्से को छेड़कर?

अजीब निराली दुनिया है हम तमाशे वालों की- वे जो दुनिया को हंसाते-रुलाते हैं, लोगों की कल्पना को उड़ाकर एक तिलिस्मी दुनिया में ले जाते हैं। हम स्वयं भी उसी दुनिया में जा बसते हैं, अपने वास्तविक जीवन को फ़िल्म या नाटक बना छोड़ते हैं, और इस तरह हमारे प्रशंसकों का आनन्द दुगुना-चौगुना हो जाता है।

फ़िल्म-स्टार की जितनी लम्बी-चौड़ी मोटर पास से गुज़र जाए, प्रशंसक की खुशी की सीमा नहीं रहती। इतनी ख़ुशी तो उसे शायद मोटर अपने नाम लिखवाकर भी न मिले।

बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटा फ़िल्म-स्टार अपनी तस्वीर देखने की इच्छा से फ़िल्मी पत्रिका खोलता है। हर रोज अखबार में सबसे बड़ी खबर शहर में चल रही उसकी फ़िल्म का इश्तिहार होता है। वह भले ही कई सप्ताह में क्यों न छप रहा हो, नज़र तीर की तरह उड़कर वहीं जाती है। इश्तिहार में ठीक जगह अपना नाम छपा देखकर उसे वही

खुशी होती है, जो एक सिगरेट पीने वाले को छाती में गहरा धुआ खींचकर होती है। दुनिया की कोई और ख़ुशी शायद इस काल्पनिक ख़ुशी का मुकाबला नहीं कर सकती।

काल्पनिक ख़ुशियां, जिनपर ख़ूबसूरत मेक-अप हो, और जो तेज रोशनियों में जगमगा रही हों, फ़िल्म-स्टार को बहुत अच्छी लगती हैं। इस तरह जिन्दगी के सब तूल-अरज़, विकृत, पर सुखद बन जाते हैं, जैसे गोलाकार आईने में शक्लें बेमाप हो जाती हैं और फ़िल्म काल्पनिक खुशियों का रंगीन जाम एक दिन नाज़ुक हाथों से गिरकर चूर-चूर हो जाता है। रोशनियां बुझ जाती हैं। किसी को ज़िन्दगी और किसी को मौत अपने खुरदरे हाथों से खींचकर कल्पनालोक से बाहर निकाल लाती है। उन हज़ारों और लाखों निगाहों की परछाइयां अचानक खो जाती हैं, जो फिल्म-स्टार के लिए फूलों का सेज बनी होती हैं। अगर बाकी बचे-खुचे का नाम ज़िन्दगी है, तो वह मौत से किसी भी तरह बेहतर नहीं है।

अपनी छोटी-सी ज़िन्दगी में इस मेक-अप-रूम के आईने ने क्या-क्या नहीं देखा होगा! कितना हसीन था यह कमरा जब नया-नया बना था! कल की ही बात लगती है, जब एक शाम कामेडियन राधाकृष्ण, भगवान दादा, मैं और एक-दो अन्य व्यक्तियों ने यहां बैठकर व्हिस्की पी थी। कमाल के मूड में थे राधाकृष्ण उस शाम। बोतल अभी खुली भी नहीं थी कि वे चार पैगों जितने नशे में आ गए थे। एक-एक बात ऐसी चमत्कारपूर्ण निकलती थी उनके मुंह से कि काग़ज़-पैंसिल लेकर नोट करने को दिल चाहता था और जितने गुणी, ज़ुबान के माहिर, दिलवाले और रंगीन-मिज़ाज आदमी पिछले बीस बरसों में मैंने इस फ़िल्मी दुनिया में देखे हैं, कहीं और नहीं देखे। बल्कि मैं हैरान होता रहा हूं कि इतने अच्छे व्यक्तित्वों के स्वामी इतनी थर्ड-क्लास फ़िल्में बनाने में कैसे सफल हो जाते हैं।

और अगले रोज राधाकृष्ण ने चौथी मंजिल से छलांग लगाकर आत्महत्या कर ली थी।

कमरे की एक दीवार के साथ उसकी पूरी लम्बाई जितना लम्बा, नर्म, मुलायम, लाल रंग का दीवान लगा है, जैसा कि एयर कण्डीशंड रेलवे कम्पार्टमेण्ट में होता है। कम्पार्टमेण्ट की खिड़की वाली जगह पर एक बड़ा चौकोर आईना लगा हुआ है, जिसके सामने बैठा हुआ मैं, बाल काले करने का काम लगभग समाप्त कर चुका हूं। आईने के आस-पास ऊपर-नीचे तेज़ बल्ब जल रहे हैं। मेक-अप का सामान रखने के लिए शैल्फ़ और खाने भी बने हुए हैं। दीवान के सामने वाली दीवार खाली है, सिवाय कपड़े लटकाने के लिए एक डण्डे और छोटी-छोटी चीजें रखने के लिए छोटे-छोटे शैल्फ़ों के। यह ख़ाली दीवार कमरे की वर्तमान दयनीय हालत का मुक्त कण्ठ से वर्णन कर रही है। गन्दगी और मैल की तहों पर तहें चढ़ी हुई है, जैसे किसी गीली किताब के सारे पन्ने जुड़ जाएं, और नीचे की लिखावट ऊपर वाली में गडमड हो जाए। या जैसे कोई आजकल के फ़ैशन का चित्रकार कैनवस पर खाहमखाह रंग के छींटे मारता रहा हो कि अपने-आप कोई आकृति उभर आएगी। मेक-अप के रंगदार धब्बे, पान की थूकें, रसगुल्लों की चाशनी और अन्य अनेक तरह के दाग़ है, जिनकी तरफ़ अगर ध्यान से देखा जाए तो दिल कच्चा होने लगता है। स्टूडिओ के मालिकों के लिए आजकल फ़िल्मी धंधा उतना लाभप्रद नहीं रहा, इसलिए उसे साफ़-सुथरा रखने के लिए वे एक कौड़ी तक ख़र्च करना पसन्द नहीं करते। ज़मीन-जायदाद की कीमतें आकाश पर चढ़ी हुई हैं। स्टूडिओ को बेचकर वे बिना किसी

मेहनत के बेहिसाब पूंजी प्राप्त कर सकते हैं। फिर, इस फ़िल्म के धन्धे में क्या रखा है, जहां लखपति से कंगाल होते देर नहीं लगती। इस स्टूडिओ की मालकिन भी उस दिन का बड़े चाव से इंतज़ार कर रही होगी, जब टेलीविजन-फ़ैक्टरी वाले दूसरा फ्लोर भी किराये पर ले लेंगे। फिर कर्मचारियों को स्टूडिओ से बाहर निकालने का उसे अच्छा बहाना मिल जाएगा। चूं भी नहीं कर सकेंगे वे। स्वयं ही मर-खप जाएंगे। किसी को क्या।

कितना जवान-जवान लग रहा हूं बाल काले करके! क्या हुआ अगर अब तक सारे वाल सफ़ेद हो चुके हैं! आधे बाल तो फ़िल्मों में आने से पहले ही सफेद हो चुके थे। किसी से क्या छुपाना! मुझे बाल काले करते हुए बीस साल से ऊपर हो चुके हैं। कुछ बाल पिछले विश्व-युद्ध में बमों के धमाकों से, और कुछ मेरी अल्हड़ जवानी के सिर उठाते ही गर्दन पर पड़े धक्कों और मुक्कों ने सफ़ेद कर डाले हैं। मेरी फ़िल्मों में आना एक तरह से जवानी से बुढ़ापे की ओर कदम उठाने के बराबर है।

पर अब मैं अपने-आपको और दुनिया को धोखा दे-देकर थक चुका हूं। सोचता हूं कि इतना समय क्यों न कुछ पढ़-लिख लूं। अब रह ही कितनी गई है ज़िन्दगी। शबनम का विवाह हो गया है। परीक्षित सत्ताइस बरस का जवान है।-मुझसे दूनी-चौगुनी ताकत वाला। प्रोडयूसरों की भूखी नज़रें हर समय उसका पीछा करती रहती हैं। फ़िल्मों के बारे में मैं जितना बीस साल तक सिर खपाकर सीखा हूं, वह प्रवेश करने से पहले ही सीख चुका है। फिर, यह सारी खींचातानी करने की क्या जरूरत है?

फ़ौज़ी मेजर की वर्दी पहनाने में ड्रैस-मैन ने मेरी सहायता की है। अब मैं बड़े स्मार्ट अन्दाज़ से स्टूडिओ के विशाल अहाते में से गुज़रता हुआ दफ़्तर की ओर जा रहा हूं। एक निर्माता को टेलीफ़ोन करना है जिसने कल रात बड़ी बेदर्दी से मेरा अपमान किया था। नहले का जवाब दहले से देना है।

वह निर्माता और मैं किसी ज़माने में कालेज में एकसाथ पढ़े थे। मेरे दिल में दोस्ती की बड़ी गहरी कद्र है। इसीलिए दोस्तों से जितना हो सके, दूर रहने की कोशिश करता हूं। कितने बरसों से हम दोनों अपनी-अपनी जगह सफलता की सीढ़ी चढ़ते आ रहे हैं। पता नहीं, किस मनहूस दिन मैं उसके हाथों चढ़ गया। मैंने हर मुमकिन ढंग से दोस्ती पर किसी तरह का धब्बा न आने देने की कोशिश की। पैसों की भी बात अपने मुंह से कभी नहीं की। जो उसने दिए, ले लिए- दूसरों से जो लेता हूं, उसके आधे भी नहीं। समय-असमय जब भी उसने बुलाया, दूसरों का काम छोड़कर पहले उसका काम किया। फिर भी, ज़ालिम का दिल नहीं भरा। मुश्किल से थोड़ा-सा काम बाकी रह गया था कि ठीक उस समय उसने पीछे से मुझे लात दे मारी। अच्छा, वह भी क्या याद करेगा! अपमान सहना तो मैंने भी नहीं सीखा है। पर कारण क्या है उसके इस तरह करने का? समझ में नहीं आ रहा।

रात देर तक मैं सो नहीं सका था। सुबह उठते ही फिर दिमाग़ ख़ौल उठा था। तन-बदन ऐसे जल रहा था, जैसे किसी बिच्छू ने डंक मारा हो।

कल घर से निकलने से पहले डायरी देखी थी। सेक्रेटरी ने लिखा था कि चैम्बूर की शूटिंग के बाद शाम को सात से दस बजे तक दादर में उस दोस्त की फ़िल्म के दो शॉट देने जाना है।

मै ठीक समय पर थका-हारा उसकी हाज़िरी देने के लिए जा पहुंचा था। क्या देखता हूं कि वह स्टूडिओ के अहाते में निश्चिन्त होकर किसी और आर्टिस्ट के शॉट ले रहा था। मेरी ओर उसने इस तरह घूरकर देखा जैसे बिना दस्तक दिए उसके सोने के कमरे में चला गया होऊं। फिर, वह देर तक इधर-उधर की बातें करता रहा- कभी हीरोइन के साथ, कभी हीरो के साथ। असली बात का ज़िक्र तक नहीं कि मेरा शॉट कब लेना है, लेना है भी या नहीं। या मुझे अकारण बुला लेने का ही कोई अफ़सोस किया होता। उसके नौकर-चाकरों ने भी कोई पूछताछ नहीं की। मैं वैसे ही मुंह उठाए वापिस चला आया।

राह में सोचा, शायद मुझसे ही कोई ग़लती हो गई हो, या डायरी ग़लत पढ़ी हो। घर आकर पुष्टि की। न मैंने और न मेरे सेक्रेटरी ने कोई ग़लती की थी। मेरे अन्दर गुस्से की ज्वाला भड़क उठी।

खाने की मेज़ पर मेरा बेटा अपने एक दोस्त को बता रहा था कि कैसे रूसी फ़िल्म-स्टार को उतना ही वेतन मिलता है जितना एक प्रोफ़ेसर या इंजीनियर को। साधारण लोगों की तरह ही वे बसों और ट्रेनों में बैठकर आते-जाते हैं। किसी-किसी के पास ही गाड़ी होती है। न कोई उनके काम को और न कोई उनके व्यक्तित्व को असाधारण महत्त्व देता है। बल्कि फ़िल्म के लेखक या निर्देशक अभिनेता से कहीं अधिक पैसे लेते हैं।

मैं बीच में ही बोल पड़ा, "वहां की और हमारी सामाजिक स्थिति में बड़ा फ़र्क है।

यहां हिन्दुस्तान में झूठी शान दिखाए बगैर इन्सान की अपने घर में भी कद्र नहीं होती, बाहर का क्या कहना!" मेरा बेटा और उसका दोस्त हैरान होकर मेरी ओर देखने लगे।

कुछ समय से मेरा वह निर्माता दोस्त इशारों-इशारों में अपनी अगली फ़िल्म के काण्ट्रेक्ट की बात छेड़ रहा था कि बड़ी शानदार कहानी है, बड़ा शानदार रोल है। पर मैं अनसुनी कर जाता था। जहां दिल औपचारिकता में फंसा रहे, काम करने का सच्चा आनन्द नहीं आता। शायद उसने मेरी ख़ामोशी का अर्थ मेरा अहंकार समझा हो। या शायद सोचा हो कि मैं पैसे ज्यादा मांगने की चाल चल रहा हूं। इसलिए उसने मुझे नीचा दिखाने के लिए यह तरीका सोचा। कितनी ओछी हरकत है! अच्छा पानी फेरा है पिछले तीस वर्षों की दोस्ती पर!

अब मैं स्टूडिओ की कैण्टीन के पास से गुज़र रहा था। किचन की खिड़की से दो कर्मचारी लड़के बाहर झांक रहे थे। एक सोलह वर्ष का, दूसरा बीस-पच्चीस का। उन्हें देखकर मैंने दूर से ही अपनी फ़ौजी जंगल-हैट दुरुस्त करनी शुरू कर दी थी।

"हैलो बलराज !" छोटे लड़के ने आवाज दी, जैसे मैं भी उसी की उम्र का हूं।

"हैलो।" मैंने लापरवाही से हंसकर जवाब दिया और आगे बढ़ गया। मेरी चाल कुछ और चुस्त हो गई।

"· धर्मेंदर का बाप!" दूसरे ने नारा लगाया। मेरी चाल कुछ ढीली पड़ गई।

मेरी अजीब हालत है। आजकल रवेल की फ़िल्म, 'संघर्ष' में वैजयन्तीमाला के प्रेमी का रोल कर रहा हूं। दिलीपकुमार मेरे रकीब हैं। और शाम बहल की फ़िल्म में वही वैजयन्तीमाला मेरी बेटी बनी हुई है। मैं आधी फिल्मों में जवान हूं, आधी फिल्मों में बूढ़ा।

एक बात जरूर निर्माताओं को चुभती होगी, कि उम्र ढलने के बावजूद मेरी मार्केट उतरने का नाम नहीं ले रही। बल्कि रोमांस के रोल, जो मैंने जवानी में नहीं किए थे, अब कर रहा हूं।

जवानी के दिनों में मेरे प्रशंसकों ने अपने खतों में मेरी ख़ूब-सूरती का ज़िक्र कभी नहीं किया था। अब लड़कियां लिखती हैं-''आए दिन बहार के' में सफेद सूट पहनकर आप कितने अच्छे लगते हैं! क्या आप उस पोज़ में मुझे अपनी रंगीन फ़ोटो भेज सकेंगे? और मैं सोचने पर मजबूर हो जाता हूं कि क्या मैं वही कलाकार हूं, जिसने बिमल राय की 'दो बीघा जमीन' जैसे फिल्मों में काम किया था!

उस निर्माता दोस्त की फ़िल्म में भी तो मैं एक जवान आदमी का ही रोल कर रहा हूं। शायद वह मेरी बढ़ती हुई शोहरत से चिढ़ गया हो, और मेरी चमकती हुई फ़िल्मी जवानी से। सोचता हो कि यह दूसरा अशोककुमार कहां से पैदा हो गया। मेरा अपमान करके उसने शायद अपना हीनभाव दूर करना चाहा हो।

तब तो कोई बुरी बात नहीं। दिल कुछ और फूल उठा। चाल में और ज़्यादा चुस्ती आ गई। दिमाग़ ऊंची उड़ानें भरने लगा। आगे-आगे देखिए होता है क्या? हॉलीवुड में तो अभिनेता मेरी उम्र को पहुंचकर शिखर छूते हैं। क्या पता, इस देश में उलटी गंगा बहाने की ज़िम्मेदारी मेरे कंधों पर ही पड़नी हो। अगर यह अनहोनी हो गई तो राजकपूर, दिलीपकुमार और देव आनन्द की क्या हालत होगी? वे तो सब मुझसे दस-दस, बारह-बारह वर्ष छोटे हैं। उनका तो खाना,पीना,सोना,उठना, बैठना हराम हो जाएगा।

बड़ी मुश्किल से अपने-आपको शेख़चिल्लीपन से खींचकर बाहर लाया हूं। कहां जा पहुंचा है मन? जितनी शोहरत इन कलाकारों को मिली है, मेरे सपनों में भी नहीं आ सकती। जरा अपने होश ठिकाने लगाओ।

अहाते में पुराने सैटों और धार्मिक फ़िल्मों के बेकार हुए देवी-देवताओं के ढेर लगे हुए हैं। कभी न कभी किसी ढेर के नीचे बलराज साहनी की हड्डियां भी सड़ती हुई मिलेंगी, मन में ख़याल उठा।

कहां गई सहगल, कानन बाला, पहाड़ी सान्याल, जमुना, बरूआ और चन्द्रमोहन की शोहरतें? कभी न कभी मेरे निर्माता दोस्त को भी वहीं पहुंचना है, जहां न्यू थिएटर्स और प्रभात फ़िल्म कम्पनी वाले पहुंच चुके हैं। कोई दो दिन पहले और कोई दो दिन बाद। अब तो बम्बई में स्टूडिओ भी धीरे-धीरे समाप्ति की ओर जा रहे हैं। गुरुदत्त स्टूडिओ में से सरकार सड़क निकालने पर तुली हुई है। सेण्ट्रल स्टूडिओ हस्ती से मिट चुका है। उसकी जगह दस-दस मंजिल की इमारतें बन चुकी हैं। पर जब भी मैं वहां से गुजरता हूं, इन इमारतों से अनगिनत यादें उठकर मेरे चारों तरफ उड़ने लगती हैं- चुड़ैलों की तरह। मरने से कुछ दिन पहले इसी सेण्ट्रल स्टूडिओ में याकूब ने मेरे साथ आख़िरी शूटिंग की थी। अलनासिर भी थे उस फ़िल्म में। वे कुछ अर्सा पहले मर गए थे। कई बरस फ़िल्म बन्द पड़ी रही। फिर, वह 'अकेला' के नाम से प्रदर्शित हुई। फ़िल्मी पर्दे पर थिरकने वाली परछाइयां ही तो फ़िल्मी कलाकारों के जीवन की वास्तविकता है। स्टूडिओ को नष्ट करके वह असलियत हमसे छीनने का उन्हें क्या अधिकार है? मैं उन्हें कभी माफ़ नहीं कर सकता।

और अपने निर्माता दोस्त को भी मैं माफ़ नहीं कर सकता। चाहे उसने अपमान सचमुच किया, या मुझे वहम हुआ है। बदला तो मैं ज़रूर लूंगा। बड़ी अच्छी योजना बना रखी है मैंने भी। उसके अनुसार, शिखर दोपहर में, वह और उसका पूरा यूनिट बम्बई शहर की सड़कों पर कैमरा लगाकर मेरा ख़ूब इन्तज़ार करेंगे और मैं उस समय दिल्ली की हवा खा रहा हूंगा। अपने-आप नसीहत हो जाएगी।

मैं पहुंच गया हूं टेलीफ़ोन के पास। क्या नम्बर है?३४३....आइए अब फ़्लैश-बैक शुरु करें।

२

सबसे पहले फ़िल्मी अनुभव मुझे सात-आठ साल की उम्र में हुआ था। रावलपिंडी शहर में प्लेग का ख़तरा उठ खड़ा हुआ था। मेरी मां ने घर में एक चूहा कूदता हुआ देखा। उसी दिन वे बच्चों को साथ लेकर 'भेरे' रवाना हो गई, जो साहनियों की खानदानी जगह है। वहां साहनियों का अपना अलग मुहल्ला है, सेठियों का अलग, और अन्य सभी खुखरैन और खत्री जातियों का अलग। यह कब और कैसे हुआ, भगवान जाने।

मेरी मां ने हमें शारीरिक तौर पर तो सुरक्षित कर लिया, पर मानसिक रूप से बड़े भयानक ख़तरों में धकेल दिया। भेरा कहने को तो शहर था, पर वातावरण बिलकुल गांवों जैसा था। आजकल के ग्रामीण वातावरण का अंग्रेज़ों के समय के वातावरण से कोई मुकाबला नहीं है। बेशक उस समय चीज़ें सस्ती थीं, आर्थिक निश्चिन्तता भी बहुत थी, पर पुलिस और अफ़सरी दहशत अपनी सीमा पार कर चुकी थी। मनुष्य के साथ केवल व्यवहार ही पशुओं वाला नहीं किया जाता था, बल्कि उसे पशु बना देने की, उसके अन्दर से सारी सभ्यता और मनुष्यता ख़त्म करने की उस निज़ाम ने पूरी योजना बना रखी थी। हर प्रकार की बदचलनी, जहालत और ज़ुल्म को शह दी जाती थी। शरीफ़ों के लिए इज़्ज़त से गुज़ारा करना दिन-प्रनिदिन मुश्किल होता जा रहा था। जो इस प्रवृत्ति का विरोध कर सकते थे, वे धन-दौलत के लालच में रावलपिण्डी और लाहौर जैसे बड़े शहरों को भाग जाने के मौकों की तलाश में रहते थे। गिरावट का दौरदौरा दिन-प्रतिदिन बुलन्द होता जा रहा था। १९४७ में पंजाबियों ने जिस पैशाचिकता का सबूत दिया, उसकी तैयारी की शुरुआत दूरदर्शी अंग्रेज सरकार ने तब से करनी शुरू कर दी थी।

एक दिन हमारे स्कूल में ऐलान हुआ कि सब विद्यार्थियों को बाइस्कोप दिखलाने के लिए ले जाया जाएगा। वह मडुंआ हमारे घर के नजदीक, पर शहर से बाहर एक मैदान में कनातें लगाकर बनाया गया था। छत खुली थी, इसलिए शो रात को तारों के नीचे होते थे। पर्दे के साथ एक ऊंची मचान पर बुलारा खड़ा रहता। फ़िल्में बोलती नहीं थीं। बनकर भी विलायत से आती थीं। वह बुलारा इनकी कहानी साथ-साथ बयान करता जाता।

सारा स्कूल शो देखने जा रहा था। मास्टर और हैडमास्टर भी। हमारे देश में मास्टरों को ईश्वरीय फ़रिश्ते मानने, और भेड़ों को भेड़िए का शिकार बना देने की परम्परा बहुत पुरानी है। मां ने ख़ुशी से मुझे और मेरे छोटे भाई को जाने की इजाज़त दे दी। स्कूल को शो आधी कीमत पर दिखाया जाता था। यह भी तो उसके अच्छा और फ़ायदेमन्द होने का सबूत था।

मैं पैंतालीस साल पहले की बात कर रहा हूं। उस फ़िल्म की कहानी के बारे में अब बस इतना ही याद है कि वह जासूसी नहीं थी। जो बात मुझे बहुत अच्छी तरह याद है और हमेशा रहेगी, वह यह कि कई दृश्यों में हीरोइन प्यार करते-करते एकदम नंगी हो जाती थी। और बुलारा बोलता था : ''साहिब, खयाल रखें यह नंगी नहीं है, अब इसने जादुई पोशाक पहन ली है, जिसकी मदद से यह कहीं भी जा सकती है, यह किसी को भी देख सकती है, पर इसको कोई नहीं देख सकता।''

मुमकिन है कि वह ठीक है कहता हो। नग्न अवस्था में उस मेम का चेहरा तो सफ़ेद रहता था, पर सारा शरीर काला हो जाता था। या तो उसके नंगे शरीर का काला मेक-अप कर दिया जाता होगा या कोई मोज़े जैसी चिपटी पोशाक पहना देते होंगे। न तो हमारे हैडमास्टर और न ही उपस्थित लोगों में से किसी ने इस अश्लीलता का विरोध किया। औरतों को सिनेमा दिखाने का उस समय रिवाज नहीं था। यूं ही शोर मचाकर अपना मज़ा क्यों ख़राब किया जाए? बुलारे ने कह जो दिया था कि वह नंगी नहीं है। बच्चे सरल स्वभाव के होते है। उन्होंने अवश्य उसकी बात पर यकीन कर लिया होगा। इस तरह नैतिक चोट लगने की कोई सम्भावना न रही। फिर, अपना मज़ा क्यों ख़राब किया जाए। मुमकिन है, किसी व्यक्ति को उठकर विरोध करने का ख़याल आया हो, पर आस-पास सभी को पाप का हिस्सेदार देखकर वह भी चुप रह गया हो, जैसेकि ब्लैक न करना चाहते हुए भी कई फ़िल्मी कलाकार ब्लैक करते हैं, या सौ-सौ मर्दों को एक-एक बेसहारा बेटी-बहन के साथ सरे-बाजार भोग करते देखकर भी सन सैंतालीस के दिनों लोग खामोश रहे थे। आसपास का वातावरण बड़ा बलवान होता है और पंजाबियोंके लिए वह खास तौर पर नैतिक पतन का कारण बना है।

मुझे याद नहीं, उस समय मेरे अन्दर कोई काम-भावना जागृत हुई थी या नहीं। पर जवानी के दिन बहुत दूर नहीं थे। और बालिग़ होते ही उस औरत की नंगी छातियों के क्लोज़-अप मेरे लिए एकांत में वासनाओं का स्वाद लेने का साधन बन गए। इससे मेरी कितनी शारीरिक या मानसिक हानि हुई, मैं कह नहीं सकता। पर लाभ कोई नहीं हुआ-इतना मैं ज़रूर कर सकता हूं।

दो-चार दिन बाद मैंने उससे भी गिरे हुए स्तर की फ़िल्म देखी। हमारा रसोइया मुझे साथ ले जाकर मंडुए की कनात के पिछवाड़े एक वृक्ष पर चढ़ गया, क्योंकि टिकट के लिए पैसे पास नहीं थे। वृक्ष कनात से दूर था, पर पर्दे पर चलती हुई तस्वीरें हमें अच्छी तरह दिखाई दे रही थीं। शो शुरु होने के साथ ही, पहले ही दृश्य में एक औरत और मर्द, कुत्तों-जैसी निर्लज्जता के साथ, हू-ब-हू उसी तरह भोग में जुट गए। मेरे लिए यह बड़ा ही भयानक दृश्य था, क्योंकि मैं नहीं जानता था कि वे क्या कर रहे हैं? मैं जोर-जोर से चीख उठा, और नौकर को, जो मुझसे ऊपर वाली शाख पर चढ़ा हुआ था, पैर से पकड़कर नीचे खींचने लगा। पहले तो उसने मुझे चुप रहने के लिए डांटा, पर जब मैं किसी तरह भी चुप न हुआ, तो वह नीचे उतरने पर मजबूर हो गया।

उस समय उस दृश्य के साथ मुझे केवल घृणा हुई थी। पर ज्यों-ज्यों मैं बालिग़ होने लगा, घृणा में आकर्षण का भी मिश्रण होता गया। मुझे अफ़सोस होने लगता कि मैंने क्यों रसोइयों का मज़ा बिगाड़ा था? जाने कितने अरसे बाद बेचारे को ज़िन्दगी में कोई मज़ा मिला था।

यह थी फ़िल्मों के साथ मेरी सबसे पहली जान-पहचान। यदि इसके बाद मैंने और फ़िल्म न भी देखी होती, तो भी मैं कह सकता हूं कि स्त्री को पुरुष की केवल काम-वासना-पूर्ति के पदार्थ के रूप में देखने की शिक्षा मुझे बड़ी प्रबलता के साथ दी जा चुकी थी।

आज के ज़माने में गांवों में इस दिलेरी के साथ नग्न फ़िल्में (जो गैर-कानूनी तौर पर गुप्त रूप से बाहर के देशों से मंगवाई जाती हैं) दिखाना सम्भव नहीं है। पर अन्य कई तरीकों से आज गांव के सरल और निर्दोष लोगों को शहरी पैशाचिकता का शिकार बनाकर भ्रष्ट किया जाता है। इसका मूल कारण यही है कि शिक्षित वर्ग गांवों के प्रति उदासीन रहने की उस नीति पर अमल कर रहा है, जिसे अंग्रेज़ ने शुरु किया था। अगर शहरों के अच्छे विचारों वाले लोग गांवों के साथ अपना मेल-मिलाप कायम रखें, तो बदमाश शहरी वर्ग को निडर होकर गांव में शरारत करने की छूट न मिले। इस तरह शायद हम अपने सुन्दर लोक-नृत्य और लोक-गीत भी नष्ट होने से बचा सकें। पर नक्कारखाने में तूती की आवाज़ भला कौन सुनता है!

इसके बाद मैंने कई वर्षों तक कोई और फ़िल्म नहीं देखी। रावलपिण्डी शहर में तब कोई सिनेमा नहीं था। ज़्यादा रिवाज थियेटरों का था। मेरे स्कूल के साथी उन थियेटरों के बड़े दिलचस्प किस्से सुनाते थे। पर मेरे पिताजी कटटर आर्यसमाजी थे, और मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन करने के बारे में कभी सोच भी नहीं सकता था। मेरे जीवन का वह बड़ा धार्मिक युग था। मुझे सपने भी ईश्वर और परमात्मा के आते थे। एक सपने में मैंने भगवान को पूर्वियों जैसी दोपल्ली टोपी पहिने अपने मकान की सीढ़ियों में बैठे हुए देखा था।

जब मैं दसवीं जमात में हुआ तो 'रूपर्ट आफ हेंटज़ां' नामक एक अंग्रेज़ी उपन्यास हमारे कोर्स में लगा। अचानक एक दिन खबर उड़ी कि सारी कक्षा मास्टरों और हैडमास्टरों समेत शहर में 'रोज़' नामक पहला सिनेमा खुलने के समारोह में सम्मिलित होने जा रही है। और फ़िल्म भी 'रुपर्ट आफ हेंटज़ां' दिखाई जाएगी, जो हमारे कोर्स की किताब थी।

कितने चालाक होते हैं सरमायादार !

मेरे पिताजी टहलते हुए कितनी देर सोच में डूबे रहे, कि मुझे जाने की इजाज़त दे या नहीं। नया ज़माना उनकी चेतना के दरवाज़ों पर धक्के मार रहा था। दरवाज़ा खोलें या नहीं? फ़ैसला करने में वे असमर्थ थे। आखिर उन्होंने हैडमास्टर को घर बुलाकर पूछा। मैं भी अपनी किस्मत का फैसला जानने के लिए दोनों बुज़ुर्गों के वार्तालाप सुनने लगा। हैडमास्टर ने कहा, "इतने पुराने विचारों वाले न बनिए लालाजी! फिल्में केवल मनोरंजन के लिए ही नहीं बनाई जातीं, यह तो एक आर्ट हैं। उनमें से शिक्षा भी मिलती है। यह फ़िल्म तो स्कूल की टैकस्ट-बुक के आधार पर बनाई गई है। इससे चरित्र को क्या नुकसान पहुंच सकता है? इसीलिए टिकट आधा कर दिया गया है। शहर के सब स्कूलों के इसी जमात के लड़के जा रहे हैं। नुकसान इसमें न जाने से हो सकता है, जाने से नहीं।

पिताजी ने इजाज़त दे दी। ऐसा समारोह किसी ने नहीं देखा था, जो इस दिन 'रोज़' सिनेमा के उदघाटन पर हुआ। अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर और कई राय साहब और खान साहब भी पधारे थे। सिनेमा के उदघाटन के लिए और क्या चाहिए था? फ़िल्म का हमें

कोई लाभ नहीं पहुंचा, क्योंकि जो कहानी पर्दे पर देखी, वह उपन्यास की कहानी से बहुत अलग थी। हां, एक बात ने ज़रूर प्रभावित किया कि एक ही शक्ल के दो आदमी बार-बार हीरोइन का चुम्बन लेते थे। यह बात हैडमास्टर साहब को जरूर आपत्तिजनक लगी होगी। पिताजी की तरह वह भी कट्टर आर्यसमाजी थे, और उपन्यास में चुम्बनों का कोई ज़िक्र नहीं था।

इसके बाद जब भी कभी कोई फ़िल्म देखनी होती, पिताजी को यह कहकर राज़ी किया जाता, कि वह एक ऊंचे दर्जे के नैतिक उपन्यास पर आधारित है। इजाज़त न मिले तो धीरे-धीरे चोरी से जाने का हौसला भी होने लगा।

'रोज़' सिनेमा शहर के अन्दर था। उसके बाद वहां आम तौर पर हिन्दुस्तानी फ़िल्में दिखाई जाने लगीं। कभी-कभी अंग्रेज़ी एलमों लिंकन के सीरियल भी आते थे। दो हिन्दुस्तानी फ़िल्मों का मुझपर विशेष प्रभाव पड़ा। एक थी, 'हीर-रांझा'। उसमें कहानी के पात्रों ने उतना नहीं, जितना पेड़ के नीचे बैठकर नगाड़े बजा-बजाकर गांव के एकत्रित लोगों को हीर सुनाने वाले किस्सागो ने मुझे प्रभावित किया। मौन फ़िल्म थी, पर किस्सागो का जादुई संगीत था, जिसे याद करके बार-बार मेरी आह निकल जाती थी।

एक और फ़िल्म थी, 'अनारकली'। उसमें सुलोचना की अपूर्व सुन्दरता का मुझपर काफ़ी असर हुआ। अन्तिम दृश्य में अनारकली का सारा शरीर 'ईंटों' में चिना जा चुका है, केवल चेहरा खुला रह गया है। ईंटों से घिरा बहुत ही मासूम, सुन्दर और निर्दोष चेहरा। अकबर आख़िरी ईंट लगाने का हुक्म सुनाने से पहले कितनी देर सोच में डूबा टहलता रहता है। आख़िर वह मुंह फेरकर हाथ के इशारे के साथ हुक्म दे ही देता है। अनारकली के चेहरे को ईंट-गारे के साथ पोत दिया जाता है। इससे बड़ा जुल्म दुनिया में और क्या हो सकता था! मैं कितनी रातें सो नहीं सका। गर्मियों के दिन थे। हम ऊपर छत पर सोया करते थे। सारी-सारी रात मेरे दिल में चीख़ें उठती रहतीं। अनारकली की सुन्दरता अविस्मरणीय थी। वह केवल परदे पर खेलने वाली परछाईं नहीं थी, वह मेरे दिल की गहराइयों में उतरने वाली एक सच्चाई थी। मेरे जीवन का एक अटूट हिस्सा। बेचारी को किस बेदर्दी के साथ मार दिया गया था! मैं इस बात पर यकीन करने के लिए तैयार नहीं था कि सुलोचना के चेहरे पर सचमुच ईंट नहीं रखी गई थी, बल्कि वह एक 'सिनेमा-ट्रिक' थी। अगर उस समय मुझे कोई वह ट्रिक समझाने लगता, तो शायद मैं उसके मुंह पर चांटा मार देता। मेरे लिए अनारकली सचमुच मर गई थी, सुलोचना मर गई थी। और मेरी दुनिया अंधेरी हो गई थी।

पर सुलोचना आज भी जीवित है, और कई फ़िल्मों में मेरे साथ काम कर चुकी हैं। जब भी मैं उन्हें अपने उस अल्हड़पन की उम्र के पागलपन के बारे में बताता हूं तो वे हंस देती है। आज मैं स्वयं फ़िल्म-स्टार हूं और उनके 'हंस देने' का कारण पूरी तरह समझता हूं, पर फिर भी जी चाहता है कि किसी-न-किसी तरह उन्हें समझा सकूं कि मेरा वह पागलपन मज़ाक नहीं था, वह मेरे जीवन का सचमुच पहला प्यार था।

'हकीकत' की शूटिंग के लिए हम जीपों में कश्मीर से लद्दाख जा रहे हैं। एक रात दरास नामक स्थान पर पड़ाव किया गया। फ़ौज के करनल ने हमें सम्मान सहित 'मैस' की इमारत में ठहराया। यूनिट के सारे फ़ौजी अफ़सर बड़े चाव से हमें मिलने आए। हमारे साथ धर्मेन्द्र थे, और प्रिया और इन्द्राणी मुकर्जी जैसी सुन्दर अभिनेत्रियां थी। बातों के

दौरान में अधेड़ करनल की नज़र एक कोने में पिछड़कर बैठीं सुलोचना की ओर चली गई। वह उनपर से नज़र नहीं हटा सका। धीरे-धीरे उस चेहरे ने उसकी यादों के पुराने चिह्न उभारने शुरु किए और फिर उसने उन्हें पहचान लिया-अपनी जवानी के दिनों की प्रिय अभिनेत्री को। तब उसकी जो दशा हुई वह बयान नहीं की जा सकती। उस शाम हम बाकी के सब कलाकार केवल शून्य बनकर रह गए। सुलोचना कुछ क्षणों के लिए फिर उसी पुराने सिंहासन पर विराजमान हुई, जहां से उतरे हुए उन्हें लम्बा अरसा हो चुका था। पचास वर्ष की आयु के उस करनल पर वही उन्माद था, जिसका मैं चौदह साल की उम्र में शिकार हुआ था।

जो विद्वान फ़िल्मों का नाम सुनते ही उपेक्षा से नाक-भौंह सिकोड़ लेते हैं, उन्हें सिनेमा के व्यापक स्तर पर होने वाले प्रभावों पर संजीदगी से गौर करना चाहिए।

३

स्कूल का ज़माना बीता, कालेज का ज़माना आया। चोटी जनेऊ, पाजामा रूखसत हुए, पतलून आ गई। सिर पर हैट रखने के दिनों की प्रतीक्षा होने लगी। घरवालों की ओर से साइकल, मैट्रिक पास करने का, दूसरा सर्टीफ़िकेट होता है और जब साइकल नीचे आ जाए तो सिनेमा जाने के लिए घरवालों से पूछने की ज़रूरत कहां रह जाती है!

उन दिनों रावलपिंडी शहर की अहमियत अंग्रेज़ी फ़ौजों की बड़ी छावनी होने के अतिरिक्त और कुछ न थी। लोगों की सोच की शक्ति भी सीमित थी। शिक्षित वर्ग का शरीर तो शहर में था, पर मन कैंटोनमेंट तथा सिविल लाइन के एकान्त, स्वस्थ और सभ्य वातावरण में घूमता था। स्वदेशी पोशाक, स्वदेशी ख़ुराक, स्वदेशी रहन-सहन शिक्षित वर्ग की दृष्टि में किसी न किसी मात्रा में, घटिया और पिछड़ेपन की वस्तुएं थीं। आदमी उनसे जितना ही दूर हट जाए, उतनी ही उसकी इज़्ज़त बढ़ती थी। और जिस रास्ते पर कालेज के प्रोफ़ेसर चलें, विद्यार्थियों को भी तो उसी रास्ते पर चलना था।

सदर के सिनेमा-घर साफ़-सुथरे और शानदार थे। उनमें अंग्रेज़ी फ़िल्में दिखाई जाती थीं, और देखने वालों की बहुसंख्या भी अंग्रेज़ों की थी। अगर किस्मत अच्छी हो तो किसी दिन कोई सुनहरी रूप-सुन्दरी भी साथ की सीट पर आ बैठती थी। जितनी फ़िल्में तिलिस्मी, उतना ही सिनेमा-घरों का वातावरण अलौकिक, रोमांचक, मादक। गोरी मेमों के लिबास उनके सुडौल जिस्मों से कितना न्याय करते हुए प्रतीत होते थे! किस मुक्त भाव से वे अपने प्रेमियों के बाहुपाश में आ सिमटती थीं! चुम्बन देने के लिए वे किसी उतावलेपन से लिफ़लिफ़ जाती थीं! कोई भी विलायती फ़िल्म देखने के बाद कई-कई दिन उसकी खुमारी-सी चढ़ी रहती थी।

डोलोरस कास्टैलों फ़िल्मों के उस खामोश युग की एक जगमगाती तारिका थी। जॉन बैरीमोर के साथ उसकी जोड़ी खूब जंचती थी। बहुत-सी फ़िल्मों में वे साथ-साथ आते थे। उनके प्रेम-दृश्य विशेष रूप से उत्तेजक हुआ करते थे। राजकुमारी के रूम में डोलोरस रात की गहरी नींद में सोई पड़ी है। अचानक आकाश में बादल घिर आते हैं और जोर से बिजली कड़कती है। डरी हुई डोलोरस अपने स्लीपिंग गाउन में ही उठकर कमरे से बाहर दौड़ आती है। बालों के साथ-साथ होशहवास भी बिखरे-बिखरे हैं। बाहर बरामदे में जॉन, एक जांबाज बहादुर, किले का बांका अफ़सर, उसकी घात में खड़ा है। दिन में डोलोरस

ने सारी उमर उसका मुंह न देखने की कसम खाई थी। पर अब सब कुछ भूलकर उसकी बांहों में सिमट गई है। जॉन बैरीमोर ने अपने विशेष विजयी अन्दाज़ में कैमरा बिलकुल निकट आ जाने की प्रतीक्षा की, ताकि परदे पर केवल उन दोनों के चेहरे ही रह जाएं। और फिर उसने डोलोरस का निचला होंठ अपने होंठों में समेट लिया। वह लम्बा चुम्बन अब भी कभी-कभी मेरी यादों में बिजलियां चमका जाता है। 'प्रैले गज़ट', 'पिक्चर ग्रोअर' और दूसरी फ़िल्मी पत्रिकाओं में जॉन के प्रेम-दृश्यों की तकनीक पर लम्बे-लम्बे लेख छपते थे। हम उन्हें बड़े गौर से पढ़ते और उनपर लम्बे-लम्बे तस्करे करते।

परन्तु माता-पिता के सामने हम इन फ़िल्मों के ऊंचे नैतिक स्तर और आदर्शों का ही ज़िकर करते थे। हम कहते कि वे संसार के प्रसिद्ध साहित्यकारों-विक्टर ह्यूगो, चार्ल्स डिकन्स, अलैग्ज़ांडर डयूमा, वाल्टर स्काट-की महान रचनाओं के आधार पर बनाई जाती थीं। फिर, वार्तालाप तथा कहानी के बारे में बताने के लिए परदे पर अंग्रेज़ी में लिखे टाइटल आ जाते थे। इस प्रकार मनोरंजन के साथ-साथ अभ्यास भी हो जाता था। अंग्रेज़ी में अच्छे नम्बर लाने का यह बहुत बढ़िया साधन था।

ऐसी दलीलें सुनकर माता-पिता चुप अवश्य हो जाते थे, पर उनकी तसल्ली नहीं होती थी। उन्हें इस बात पर विश्वास ही नहीं होता था कि मनोरंजन करने वाली कोई भी चीज़ इतनी निर्दोष हो सकती है।

फ़िल्मों में केवल रोमांस का पहलू ही प्रभावित करने वाला नहीं होता था, जांबाज़ी के दृश्य भी तड़पा जाते थे। 'कासैक्स' नामक फ़िल्म में जॉन गिलर्बट ने तलवारबाज़ी तथा घुड़सवारी के ऐसे बेशुमार करतब दिखाए कि अगले ही दिन सब विद्यार्थियों ने रूसी फ़ैशन की मोटी-मोटी, गोल-गोल, नाक तक लटकती फर वाली टोपियां सिलवा लीं, जो कई वर्ष पिंडी में फ़ैशन बनी रहीं। हीरो के बहादुरी के करतब देख बाहर निकलते ही स्वयं भी कुछ न कुछ कर गुज़रने के लिए मन मचल उठता था। पर लाचार होकर, साइकल चलाने के अलावा मन की भड़ास निकालने का कोई भी साधन उपलब्ध नहीं हो पाता था।

जहां फूल हैं वहां कांटे भी हैं। सदर के सिनेमा-घरों की एक खराबी सारा मज़ा किरकिरा कर देती थी। हर शो के बाद 'गॉड सेव दि किंग' के लिए खड़े होना पड़ता, जो सारी जमात के सामने अपने मुंह पर स्वयं थप्पड़ मारने वाली सज़ा की तरह था। एक बार मेरे एक मित्र ने उठने में थोड़ी ढील की, तो पीछे से कड़ाक करता एक गोरे का डंडा उसके सिर पर आकर लगा। ऐसे अपमान प्रतिदिन सहने पड़ते थे।

और एक दिन मैं वही पोस्तीन की गोल टोपी पहने, जो आम लोगों को दूर से बड़ी अजीब लगती थीं, पर जिसमें मेरे मित्रों के कथनानुसार, बल्कि खुद आईना भी गवाह था, मैं हू-ब-हू जॉन गिलर्बट दिखाई देता था, मैं माल रोड पर बेतहाशा साइकल दौड़ाए जा रहा था। उस दिन वाली फ़िल्म में गिलर्बट ने घुड़सवारी के स्थान परस्कीइंगके कमाल दिखाए थे। फ़िल्म के अन्त में उसकी प्रेमिका की बेवफ़ाई का रहस्य खुल गया था। पश्चात्ताप की अग्नि में जलता हुआ वह स्कीओं पर पांव धरे बर्फ़ से ढके पहाड़ों को चीरता हुआ अपनी भोली-भाली देवी-स्वरूप पत्नी के पास जा पहुंचा था।

तब मुझे यह नहीं मालूम था कि इतनी तेज़ स्कीएं या घोड़ा हीरो को दौड़ाने की आवश्यकता नहीं होती। केवल क्लोज़-अप ही हीरो के होते हैं, और वे बड़ी आसानी के

स्टूडिओ के भीतर ही ले लिए जाते हैं। 'लांग' और 'मीडियम' शॉटस के लिए, जिनमें शक्ल पहचाननी कठिन होती है, हीरो के स्थान पर कोई दूसरा आदमी ले लेता है, जिसे घोड़ा दौड़ाना और स्की करना सचमुच आता हो। और उसे भी सिर-धड़ की बाज़ी लगाने की आवश्यकता नहीं होती। शूटिंग करते समय कैमरे की रफ़्तार थोड़ी कम करने की ज़रूरत है, परदे पर तस्वीरें स्वयं ही दुगुनी-चौगुनी रफ़्तार से दौड़ने लगती हैं। इन्हें ट्रिक शॉट कहते हैं। तलवारबाज़ी, पिस्तौलबाज़ी, मुक्केबाज़ी, आंधी,तूफ़ान,भूचाल ऐसे खतरे वाले काम सब कैमरे की चालाकी होते हैं, जिसका एक बार पता लग जाने से सब मज़ा फीका पड़ जाता है।

अगर मुझे इन बीच की बातों का पता होता तो इस प्रकार जान जोखिम में डालकर साइकल न दौड़ाया करता। चौराहे पर पहुंचने के क्षण-भर पहले मैंने देखा, सामने से एक मोटर साइकल आ रही है। मैंने एकदम ब्रेक लगाई और जॉन गिलबर्ट के अन्दाज़ में च्युइंग गम चबाते हुए ऐन वक्त पर पैडल से पांव नीचे उतारकर सड़क पर जाम हो गया। मोटर साइकल वाले के लिए सारी सड़क खाली पड़ी थी, पर उसका सवार एक अहंकारी अंग्रेज़ था, जो बड़ी ही बदतमीज़ी से मुझे गन्दी गालियां बकता हुआ आगे निकल गया। उसके पीछे एक मेम बैठी हुई थी। इसलिए अपमान और भी अहसनीय हो उठा, हालांकि उस परी से मेरी आंखें मिलीं और मुझे उसमें सहानुभूति और एक प्रकार की उष्णता स्पष्ट नज़र आई। अगर मेरी साइकल में भी इंजन लगा होता तो मैं उस बदतमीज़ का पीछा करके अवश्य ही उसे मज़ा चखाता। लेकिन दिल मसोसकर रह गया।

पर इस तरह का दुर्व्यवहार बड़े-बड़े राय बहादुरों तथा खान बहादुरों के साथ भी होता था, फिर प्रोफ़ेसरों तथा लड़कों की तो बात ही क्या ! हर कोई उनसे बचने के अपने विशेष व्यक्तिगत ढंग सोचता था। उसमें प्रतिशोध या विरोध की कोई भावना नहीं होती थी। हर कोई स्वयं को भीतर-बाहर से पूरी तरह अंग्रेज़ी सांचे में ढालने के प्रयत्न में लगा हुआ था। हर कोई यही सपना देखता था कि कभी न कभी अंग्रेज़ उसे अपने बराबर का दर्जा दें, अपनी बिरादरी में मिला लें।

और यह कोई अनहोनी बात भी नहीं थी। पंजाब प्राचीन काल से ही आर्यों, यूनानी, तुर्की और अन्य गोरी हमलावर कौमों के लिए भारत का प्रवेश-द्वार रहा है। यहां कौमों और नस्लों का खूब सम्मिश्रण हुआ है। इसी कारण इस भाग में आश्चर्यचकित कर देने की सीमा तक गोरे, सुन्दर लोग देखने में आते हैं। इसकी पुष्टि करने के लिए केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि पंजाब सदैव से हीरो-हीरोइनों के लिए फ़िल्म-निर्माताओं की तलाशगाह रहा है। दिलीपकुमार, राजकपूर, राजकुमार, राजिन्दरकुमार, देव आनन्द, धर्मेन्द्र, शशि कपूर, शम्मी कपूर, तथा अन्य कितने ही हीरो इसी ओर के लोग हैं। इस लिहाज़ से हमारा पिंडी-पिशौर तो और भी ज़्यादा मुमताज़ रहा है।

इस नाचीज़ लेखक की भी उसके फ़िल्मी जीवन में कई बार गैरी कूपर रोनाल्ड कोलमैन, हम्फरी बोगार्ट, एन्थनी क्विन आदि से तुलना की गई है। देव आनन्द के भारतीय ग्रैगरी पैक कहलाने से तो सब परिचित हैं।

अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए शेष भारत में भारतीयों ने गांधीजी का अनुसरण किया। पर पंजाबियों के लिए नकल की राह पर चलना बहुत लाभदायक रहा, और इसे वे इस स्वतंत्रता के युग में भी छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। बल्कि सच तो यह है कि

बाकी हिन्दुस्तान भी गांधीजी की राह छोड़कर उन्हीं के रास्ते की ओर खिंचता चला आ रहा है।

हमारी फ़िल्म इंडस्ट्री में भी कभी गांधी तथा टैगोर से प्रेरणा लेकर राष्ट्रीय भावनाएं जागी थीं और न्यू थियेटर और प्रभात फिल्म कम्पनी जैसी संस्थाएं बनी थीं। लेकिन आज पंजाबियों के प्रभाव के कारण इस क्षेत्र में भी नकल का झंडा बड़ी मजबूती से गाड़ा जा चुका है।

एक तरफ से देखा जाए तो बात मज़ाक की है। पर भाग्य की विडम्बना देखिए कि मनोरंजन करने वाली वस्तु को भी गम्भीर बना दिया है।

अगर पूरी की पूरी कौम अपने-आपको धोखा दे सकती थी तो मैं तो सिर्फ़ सत्रह-अठारह वर्ष का नौजवान था। जब भी मैं कोई अंग्रेज़ी फ़िल्म देखकर लौटता, तो मेरा पहला काम होता विभिन्न कोणों में आईने में अपनी सूरत देखना। और अजीब बात है कि मुझे उसमें सदा उस फ़िल्म के हीरो की झलक साफ़ नजर आती। मैं स्वयं इस चमत्कार पर हैरान था कि कैसे एक ही आदमी की शक्ल हॉलीवुड के सभी हीरोज़ से मिल सकती है। मैं तब तक आईने का पीछा न छोड़ता जब तक पिताजी या माताजी की गुस्से-भरी आवाज़ सिर पर बम्ब (बम) की तरह सुनाई न देती। वे सख़्ती से देर से आने का कारण पूछते और मैं फ़ौरन कोई कच्चा-पक्का झूठ बोल देता।

बार-बार झूठ बोलने की इस आदत ने मुंह पर साफ़, सच्ची और खरी बात कहने की शक्ति भी मुझसे छीन ली। मुझमें स्वाभिमान की कमी नहीं है। और न ही आज तक कोई माई का लाल मुझे अपने बड़प्पन के बल पर झुका सका है। पर फिर भी प्रतिदिन के व्यवहार में, मैं हर आदमी के सामने एक दोषी की तरह पेश होता हूं, भले ही वह मुझसे बड़ा हो या छोटा। जैसे उससे मैं अपना कोई दोष छुपा रहा होऊं। मुझे अपनी फ़िल्मी सफलता और ख्याति भी एक अपराध ही दिखाई देती है। लोग मेरे स्वभाव की नम्रता का जिक्र करते है, इस नम्रता में मेरे कसूरवार होने के अहसास का काफी बड़ा हिस्सा है। मां-बाप ने बचपन से ही मुझे फ़िल्मों को गुनाह के रूप में देखने की आदत जो डाल दी है। मेरा बचपन संसार की फ़िल्म-कला के भी बचपन का जमाना था। उसके प्रति असाधारण आकर्षण केवल मुझे ही नहीं, समूची पीढ़ी को ही था। मुझे याद है, जब फ़िल्मी दुनिया में दाखिल होने से पहले बम्बई रवाना होते समय पृथ्वीराज कपूर तथा जगदीश सेठी अपने मित्रों को अलविदा कहने के लिए रावलपिंडी के नज़दीक कोह-मरी में आए थे। उनके मुकाबले में मैं अभी बहुत छोटा था। पर अपने आस-पास जो कुछ हो रहा था, बड़े ध्यान से उसे देखता था। गोरी हकूमत ने पंजाब के मनचले हसीन नौजवानों के लिए विकास के सभी रास्ते बन्द कर रखे थे। पर फिर भी उन्हें रोके रहना बहुत कठिन था। और फ़िल्म एक ऐसा साधन था, जिसके विशाल काल्पनिक घेरे में पंजाबी नौजवानों को वे सब कारनामे करने की छूट थी, जिनकी आज्ञा जीवन नहीं देता था।

हरी राम सेठी भी हमारे शहर के एक शानदार अलबेले नौजवान थे। पंजाब में सबसे पहली सरमायादार फ़िल्म कम्पनी उन्हीं की हिम्मत से रावलपिंडी में बनी थी। नाम था, 'पंजाब फिल्म कम्पनी'। पहली फ़िल्म थी, 'अबला'। उसकी शूटिंग भी रावलपिंडी में हुई थी। तिलक भसीन, बाबा भीष्म सिंह तथा मेरे कई अन्य मित्रों ने उसमें पार्ट किया था। निर्देशक हीरो को बंगाल से भरती करके लाया था। यह बात शहर के सभी नौजवानों को

बुरी लगी थी। शूटिंग के समय हम इर्द-गिर्द चक्कर काटते, और उसे अहसास कराने की कोशिश करते कि सुन्दरता के लिहाज़ से वह हमारी छोटी उंगली के बराबर भी नहीं है।

मोटा कामेडियन रामौतार, जो अब भी फ़िल्मों में काम करता है, उन्हीं दिनों पिंडी से भागकर आया था। प्रह्लाद दत्त बम्बई की फ़िल्म-इण्डस्ट्री के एक बहुत ही मनोहर और प्रतिभाशाली कैमरामैन हो गुज़रे है। उनके फ़िल्मी आविष्कारों की सराहना यूरोप तथा अमेरिका में भी हो चुकी है। आज वे इस संसार मे नहीं हैं। लेकिन मुझे याद है, वे और मेरा एक अन्य मित्र, तिलक भसीन पिंडी प्वाइंट तथा कश्मीर प्वाइंट की सैर करते समय हमेशा 'दो रीलर' कामेडियों की 'सिचुएशनें' सोचते रहते थे। एक बार किसी छिपे खज़ाने की तलाश में उन्होंने किसी अंग्रेज की कोठी के अहाते की निशानी उखाड़ फेंकी, और पुलिस के हवाले कर दिए गए। प्रह्लाद दत्त ने इसके कुछ ही वर्ष पश्चात अपने हाथ से एक 'मूवी कैमरा' बनाया था, जिसकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गई थी। अगर मैं ग़लती नहीं कर रहा, तो उन्होंने भगतसिंह की क्रांतिकारी पार्टी के लिए बम्ब आदि भी बनाए थे। उनके साथी, हरबंस भल्ला अब भी मद्रास में फ़िल्मों का काम करते हैं। उनकी अपनी प्रयोगशाला है।

जयकिशन नन्दा जिन्होंने 'इशारा' जैसी कामयाब फ़िल्में निर्देशित की हैं, उन्हीं दिनों फ़िल्मी हीरो बनने के लिए जर्मनी भाग गए थे। आर०सी०तलवार हॉलीवुड जा पहुंचे थे। मेरी जान-पहचान के और भी कितने ही लोग मुझसे पहले फ़िल्मों में आए हुए थे।

१९३० में मेरे जीवन ने एक ऐतिहासिक मोड़ लिया। मैं रावलपिंडी छोड़कर लाहौर गवर्नमेंट कालेज में बी०ए० का छात्र बना। उसी वर्ष फिल्मों ने भी बोलने के युग में प्रवेश किया। अचानक खबर उड़ी की 'आलम आरा' नामक पहली 'टॉकी' फ़िल्म कैपीटल सिनेमा में दिखाई जा रही है, जिसमें पृथ्वीराज कपूर और जगदीश सेठी काम कर रहे हैं। बड़े चाव से मैं देखने गया। भीड़ का कोई अन्त नहीं था।

इसी सिनेमा में एक सप्ताह पहले जब जीन हार्लो (उस ज़माने की मेरिलिन मुनरो, जो मेरिलिन की तरह ही भरी जवानी में ही बेमौत मरी थी) की पिक्चर 'हैल्ज़ एंजल्स' का टिकट खरीद रहा था, मुझे ख़बर मिली कि अन्दर हमारी रावलपिंडी वाली फ़िल्म, 'अबला' का प्राइवेट शो हो रहा है और इमतियाज़ अली ताज तथा अहमद शाह बुखारी जैसे विद्वान फ़िल्म देखने आए हुए हैं। बुखारी मेरे प्रोफ़ेसर थे। कुछ मिनटों के पश्चात शो ख़त्म हुआ और मैंने बड़े उत्साह से आगे बढ़कर बुख़ारी साहब से उनकी राय पूछी। वे वड़े उदास होकर कहने लगे, ''टैक्नीकल' लिहाज़ से यह फ़िल्म अच्छी-से-अच्छी अमरीकन फ़िल्म का मुकाबला कर सकती है। पर कितने अफ़सोस की बात है कि बनाने वालों को इतना रुपया खर्च करते वक्त इस बात का ख्याल न आया कि ख़ामोश फिल्मों का ज़माना खत्म हो रहा है।''

उस फ़िल्म के कारण लाला हरीराम सेठी बरबाद हो गए। पर मुझे उस समय इस बात का दुःख नहीं था। बल्कि मैं गर्व का अनुभव करता था कि आख़िर रावलपिंडी वालों ने विलायत वालों की बराबरी कर ही दिखाई।

इसके विपरीत टैक्नीकल दृष्टिकोण से 'आलम आरा' एक बहुत ही घटिया फिल्म थी। पर उसके बनाने वाले मालामाल हो गए। फ़िल्म लाइन में इस तरह की उल्टी-सीधी बातें

रोज़ ही होती है। घटिया फ़िल्में सफल हो जाती हैं, और बढ़िया असफल। लेकिन उस समय मुझे इन बातों का कुछ भी नहीं पता था। और न ही फ़िल्मों के सम्बन्धों में टैक्नीक शब्द का ठीक-ठीक क्या अर्थ होता है, इसका कुछ ज्ञान था।

मैं क्योंकि होस्टल में रहता था, इसलिए लाहौर में घर के अंकुश से स्वतंत्र था। अब फ़िल्में देखने से मुझे कोई नहीं रोक सकता था। सप्ताह में कम-से-कम तीन अमरीकी फ़िल्में तो अवश्य ही देख लेता था, और मेरी चेतना पर उनका प्रभाव दिन-प्रतिदिन गम्भीर होता जा रहा था। पर तब भी मेरे मन में फ़िल्म-अभिनेता बनने का खयाल कभी तीव्रता से नहीं उठता था। अगर अभिनेता बनना हो तो आदमी हॉलीवुड जाकर बने, हिन्दुस्तानी फ़िल्मों में पड़कर स्वयं को खराब करने से क्या लाभ!

एम०ए०तक पहुंचते-पहुंचते मेरी साहित्यिक सूझ-बूझ काफ़ी निखर चुकी थी। गवर्नमेंट कालिज की नाटक-मण्डल में भी भाग लेने लगा था, जिसके सर्वेसर्वा स्वयं बुख़ारी साहब थे। उनके साथी प्रोफेसर जी०डी०सोंधी, ईश्वरचन्द्र नन्दा और इमतियाज़ अली ताज भी देश-व्यापी प्रसिद्धि के स्वामी थे। मैं बड़े गर्व से कह सकता हूं कि यथार्थवादी नाटक और अभिनय-कला के आरम्भिक मूल्यों से सैद्धांतिक तौर पर, अंग्रेज़ी साहित्य में एम०ए० के अध्ययन और अमली तौर पर गवर्नमेंट कालिज, लाहौर की ड्रामाटिक सोसायटी ने ही पहले-पहले मुझे परिचित कराया था। जब लक्ष्य स्पष्ट हो जाए तो शेष बात लगन और मेहनत की रह जाती है। ठोकरें खाता हुआ आदमी कभी-न-कभी उस लक्ष्य तक पहुंच ही जाता है। मैंने अपने उपर्युक्त बुजुर्गों की याद को, जिन्होंने कला के क्षेत्र में मुझे सर्वोत्तम लक्ष्य के दर्शन कराए, सलाम भेजता हूं।

फिर एक और धमाका हुआ। 'न्यू थियेटर' कलकत्ता से बनकर आई 'पूरन भगत' नामक फ़िल्म लाहौर में मैक्लोड रोड के एक सिनेमा में दिखाई गई। इस फ़िल्म ने मुझे जैसे पढ़े-लिखे, अंग्रेजपरस्त, पंजाबी नौजवानों के जीवन में एक तूफ़ान-सा खड़ा कर दिया। हिन्दुस्तानी फ़िल्मों के बारे में हमें अपना दृष्टिकोण एकदम बदल देना पड़ा।

मैंने कोई छः बार 'पूरन भगत' फिल्म देखी। न केवल स्वयं देखी, बल्कि और कितने ही लोगों को खींच-खींचकर साथ ले गया। कल तक हम भारतीय संस्कृति के विरोधी और शत्रु थे, आज कट्टर देशभक्त बन गए।

'पूरन भगत' देवदास, चण्डीदास....एक के बाद एक उच्चकोटि की फिल्में....सहगल का प्रकट होना....प्रभात फिल्म कम्पनी की फिल्में, 'दुनिया न माने', 'अमृत मंथन', 'आदमी'....

पर फिर भी मुझे याद नहीं आता कि विलायती फ़िल्मों के लिए मेरा शौक किसी तरह कम हुआ हो। हिन्दी फ़िल्में अब भी मेरे निश्चित मानदंडों से बहुत नीचे थीं। ज़िन्दगी को ठीक वैसे ही रंगों में पेश कर सकने की योग्यता अभी भी उनमें नहीं आई थी।

कालिज का दौर खत्म हुआ। जीवन के क्षेत्र में उतरने का समय आया। अखाड़े में उतरते ही ऐसी चोटें पड़ीं कि कुछ मत पूछिए। नाक से ख़ून बहने लगा, मुंह-माथा सूज गया, बांह रूमाल में टांगनी पड़ी। कवि ने बड़े सुन्दर शब्दों में चित्र खींचा है:

'इकबाल' मेरे इश्क ने सब बल दिए निकाल,
मुद्दत से आरज़ू थी सीधा करे कोई!

मैंने देखा कि एम०ए० की डिग्री का जो कागज़ हाथों में लिए घूमते हैं, कारोबारी दुनिया में उसका मोल दो कौड़ी भी नहीं है। अपनी गोरी रंगत, जिसका प्रदर्शन ठंडी सड़क पर बड़े ठाठ से किया करते थे, हाकिमों की नज़रों में हमें और भी अधिक 'काला आदमी' बनाती थी। पिताजी के कहने पर मैंने अपने घर का बना-बनाया कपड़े का कारोबार संभाला। पर अधिक दिनों तक नहीं। कपड़ा बेचने वालों की दुनिया दूसरी ही तरह की होती है। एक एम०ए० पास व्यक्ति के लिए उसमें समा सकना बड़ा कठिन होता है।

१६३६ का वर्ष था शायद। घर से भागकर मैं कलकत्ता जा पहुंचा। पंडित सुदर्शनजी का दरवाज़ा जा खटखटाया। तब वे 'न्यू थियेटर्स' की चित्र कथाएं लिखा करते थे। मैंने उनसे पूछा कि मेरे फ़िल्मों में दाखिल होने के बारे में उनकी क्या राय है।

उन्होंने मुझे थोड़ा ग़लत समझा। उन्होंने शायद सोचा, मैं भी अनपढ़, भावुक युवकों की तरह घर-बार छोड़ आया हूं। वास्तव में, मैं बड़ी गम्भीरता से जीवन में अपने लिए मार्ग ढूंढ़ रहा था। मेरी बात सुनते ही वे आवेश में आ गए और फ़िल्म लाइन के बारे में एक डरावना-सा भाषण मुझे सुनाना आरम्भ कर दिया, जो मानो ऐसे अवसरों के लिए उन्होंने पहले से ही तैयार कर रखा था। वे मेरे पिताजी को जानते थे। और यह बात ठीक थी कि पिताजी किसी सूरत में भी मुझे फ़िल्मों में काम करने की आज्ञा नहीं दे सकते थे। फिर, अगर सचमुच ही मैं फ़िल्मों में दाखिल हो गया और अपनी ज़िन्दगी बरबाद कर ली, जिसकी सम्भावना इस लाइन में सफलता से कहीं अधिक थी, तो मेरे पिताजी ने सारा दोष उनपर लगाना था। वे डर गए थे।

लावारिसी के आलम में, कुछ दिन कलकत्ता शहर के गलियों के चक्कर काटकर मैं वापस रावलपिंडी पहुंच गया।

एक वर्ष और बीत गया। ज़िन्दगी की तलख़ियों से बदन पर कुछ और खराशें उभर आईं। हौसले और भी पस्त हो गए। इस बीच शादी भी हो गई। पिंडी से फिर दिल उचाट हो गया। फिर कलकत्ता भाग खड़ा हुआ। फिर पंडित सुदर्शनजी का द्वार जा खटखटाया।

इस बार मिलते ही वे मुझे आशीर्वाद पर आशीर्वाद देने लगे, और मेरी प्रशंसा के पुल बांध दिए। उन्होंने अपनी पत्नी को बुलाकर बताया कि मैं ही वह नवयुवक हूं, जिसकी वे अपने सामने इतनी बार प्रशंसा कर चुके हैं- एकमात्र नवयुवक, जिसने उनकी नसीहत पर अमल करके फौरन फ़िल्मों का इरादा छोड़ दिया था। उन्होंने मेरी पत्नी की आवभगत की, और मेरे घरवालों का हाल-चाल पूछा।

''अब तुम क्या करते हो, बेटा?'' उनकी पत्नी ने पूछा।

उस हालत में मैं भला कैसे कह सकता था कि वास्तव में मैंने फ़िल्मों का ख्याल छोड़ा नहीं, बल्कि इस बार तो मुंह फाड़कर उनकी सहायता मांगने आया हूं।

''बिज़नेस,'' मैंने उत्तर दिया, और हम पति-पत्नी उठकर चले आए।

कुछ समय और बीत गया, और विचित्र दिशाओं में भटकने के पश्चात, जिसका सम्बन्ध फिल्मों से अधिक साहित्य तथा राजनीति से था, मुझे अज्ञेय तथा हज़ारीप्रसाद द्विवेदी जी के प्रभाव से शान्ति-निकेतन में नौकरी मिल गई। इस प्रकार मेरा स्वाभिमान, जो अब तक लगभग सारे-का-सारा नष्टप्राय हो चुका था, एकबारगी ही लौट आया-सूद और असल के साथ। वेतन तो केवल मात्र पचास रुपये था, पर गुरुदेव टैगोर के नाम

के कारण (तब वे जीवित थे) शान्ति-निकेतन में अध्यापन किसी बड़ी-से-बड़ी यूनीवर्सिटी से भी अधिक महत्त्व रखता था। पूजा की छुट्टियों में जब हम रावलपिंडी पहुंचे तो लगभग सारा शहर फूलों के हार लिए स्टेशन पर हमारे स्वागत के लिए पहुंचा हुआ था।

शान्ति-निकेतन में गुज़ारे दिन बड़े अनमोल थे। मेरी पत्नी, दमयन्ती(दम्मो) को भी अपने विकास के ऐसे अवसर उपलब्ध हुए, जो रावलपिंडी के तंग दायरे में अकल्पित थे। यहीं उसने बी०ए०किया तथा अन्य सैकड़ों तरह की गतिविधियों में भाग लिया। हम दोनों बहुत सन्तुष्ट थे।

छुट्टियों में हम एक बार जब कलकत्ता गए तो अपने फ़िल्मी मित्रों के भी दर्शन किए।पृथ्वीराज कपूर,दम्मो के बड़े भाई के अभिन्न मित्र थे हम पृथ्वीराजजी के घर गए। वे बड़े प्यार से मिले। अब भी जब कभी मिल बैठते है, वे उस मुलाकात का ज़िक्र बड़े प्यार-भरे शब्दों में करते हैं। राजकपूर तब लगभग बारह वर्ष का प्यारा-सा बालक था।

पृथ्वीराज और जगदीश भापा हमें न्यू थियेटर शूटिंग दिखाने भी ले गए। सहगल और लीला देसाई की शूटिंग चल रही थी। फ़िल्म का नाम शायद 'प्रेज़ीडेंट' था। नीतिन बोस निर्देशन कर रहे थे। सहगल सैट की दीवार के पीछे छिपकर सिगरेट का कश लगा आते थे। हालांकि सैट पर सिगरेट पीने की मनाही थी, पर सहगल को रोकने की जुर्रत कौन कर सकता था! सहगल को भी नहीं मालूम था कि धुआं बाहर वालों को दिखाई दे जाता है। वे अपनी जगह चालाक बने हुए थे, नीतिन बोस अपनी जगह।

कौन सोच सकता था कि एक दिन दम्मो पृथ्वीराज जी के साथ 'दीवार' में मुख्य भूमिका निभाएगी और मैं उन्हीं लीला देसाई द्वारा निर्मित 'काबुलीवाला' में पठान बनूंगा, या अमिय चक्रवर्ती के निधन के पश्चात यही नीतिन बोस 'कठपुतली' फ़िल्म पूरी करेंगे!

एक और मज़ेदार घटना भी वर्णनीय है। दम्मो ने अगले दिन कहा, "असल में, मिलने लायक आदमी तो बरूआ हैं, उन्हें मिले बग़ैर चले जाने में क्या मजा है?"

सो अगले दिन हम पी०सी० बरुआ के घर जा पहुंचे। उनके सेक्रेटरी ने पूछ-ताछ करने की कोशिश की, लेकिन हमने उसे इस योग्य भी नहीं समझा कि उसकी ओर ध्यान देते, और सीधे बैठक में जाकर कुर्सियों पर बैठ गए। बैठक पुस्तकों से भरी हुई थी। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका का पूरा सैट वहां रखा हुआ था। हम ख़ूब प्रभावित हुए।

ऊपर जाकर सेक्रेटरी ने अवश्य ही कहा होगा कि हम शांति-निकेतन से आए हैं। शायद इसी कारण बरुआ ने हमें कुछ मिनटों के लिए बुला लिया, हालांकि उस दिन उनकी पत्नी की तबीयत ठीक नहीं थी।

पत्नी ? कौन ? जमुना ? हम जानने के लिए बेताब हो रहे थे। पर यह पूछ सकने की हिम्मत किसमें थी?

बरूआ आए। बड़े थके-थके दिखाई दे रहे थे, जैसे सारी रात सोए न हों। प्रश्नसूचक दृष्टि से हमारी ओर देखने लगे। और तो कुछ सूझा नहीं, हमने उनकी फ़िल्मों पर आलोचना करनी आरम्भ कर दी, जैसे अपनी फ़िल्मी योग्यता की धाक जमा रहे हों। आपने 'मुक्ति' का वह दृश्य ऐसे क्यों न लिया ? 'मंज़िल' में उस पार्ट के लिए अगर उसके स्थान पर उस कलाकार को ले लेते?...

बरुआ चुपचाप सुनते रहे। इस तरह के लोगों से उनका पहली बार वास्ता नहीं पड़ा था। आख़िर जब हमने बोलना बन्द किया तो वे काफी देर तक, देवदास के पात्र की तरह, चुप बैठे रहे। फिर बोले, ''आप फ़िल्मों में काम करना चाहते हैं?''

ऐसे बेबाक सवाल के लिए हम तैयार नहीं थे।

''हां-हां, क्यों नहीं,'' मुझसे पहले ही शरारत से हंसते हुए दम्मो ने कह दिया।

''अच्छी बात है। कल सुबह दस बजे आप स्टूडिओ आ जाएं।''

यह कहकर बरुआ ने हमें विदा कर दिया। सारा दिन हम हवा में उड़ते रहे। फ़िल्मों के प्रथम श्रेणी के निर्देशक ने हमें स्वयं अपने मुंह से कलाकार बनने का निमंत्रण दिया था।

तब हमें नहीं मालूम था कि निर्देशक पीछा छुड़ाने के लिए जान-बूझकर ऐसा करते हैं। सम्भव है, अगर हम अगले दिन सचमुच स्टूडिओ जा पहुंचते तो बरुआ हमें मिलने से भी इन्कार कर देते। पर एक बात से मुझे विश्वास होता है कि बरुआ ने हमें टाला नहीं था। क्योंकि बाद में जब भी शांति-निकेतन में दम्मो और मुझमें कोई छोटा-मोटा झगड़ा हो जाता, तो वह मुझे डराने के लिए बरुआ का अपने हाथों से लिखा एक पत्र दिखा देती। इसमें बरुआ ने उसे फिर विश्वास दिलाया था कि वे उसे अपनी अगली फ़िल्म में एक प्रमुख भूमिका देने को तैयार हैं।

फिर एक दिन शांति-निकेतन से हम सेवाग्राम जा पहुंचे। वहां फ़िल्मों के ख़याल से बिलकुल ही दूर हो गए। मेरी कहानियां अब हिन्दी पत्रिकाओं में आम छपने लगी थीं और उम्र के हिसाब से आवश्यकता से कुछ अधिक ही प्रसिद्धि प्राप्त हो गई थी। संसार में भी बड़े ज़बर्दस्त परिवर्तन हो रहे थे। दूसरे महायुद्ध की भूमिका बंध चुकी थी। हिटलर और मुसोलिनी की फौजें यूरोप में तबाही मचा रही थीं। सुभाष बोस को, प्रधान चुने जाने के बाद, गांधीजी ने त्यागपत्र देने के लिए विवश कर दिया था, जिससे सारे देश में बेचैनी फैली हुई थी। सेवाग्राम में हम प्रतिदिन जवाहरलाल नेहरू, बल्लभ भाई पटेल, मौलाना आज़ाद और देश के अन्य कितने ही बड़े-बड़े नेताओं के दर्शन करते। दम्मों ने सर स्टैफोर्ड क्रिप्स तथा जवाहर लाल नेहरु को एक बार अपने हाथ से चाय बनाकर पिलाई थी। जिस शिक्षा-संघ में मैं काम करता था, डाक्टर ज़ाकिर हुसैन उसके प्रधान थे। ऐसे केन्द्रीय तथा महत्त्वपूर्ण वातावरण में रहते हुए, जहां कस्तूरबा, मीरा बेन, आशा बेन, जैसे महान लोगों के साथ हमारा रोज़ का सम्पर्क था, भला फिल्म-जैसी बेमतलब चीज़ की ओर मेरा ध्यान कैसे जा सकता था?

देखते-देखते दूसरा महायुद्ध छिड़ गया। अचानक मेरे जीवन-इतिहास ने भी फिर एक करवट ली और दम्मो और मैं बी०बी०सी०लन्दन में अनाउंसर का काम संभालने के लिए सेवाग्राम को अलविदा कहकर यूरोप की ओर उड़ान भर गए।

४

लन्दन में शुरु के चार-पांच महीने रौनकें ही रौनकें देखीं। सर्दियों में हिटलर पोलैण्ड को दबाकर बैठ गया था। फिर, बहार, बल्कि गर्मियों तक उसने और कोई कदम नहीं उठाया। सारा इंगलैण्ड इस भ्रम का शिकार हुआ लगता था कि हिटलर को जो चाहिए

था, उसने ले लिया है, अब तो लड़ाई केवल नाम-मात्र की है। लोग चैन की चिड़िया उड़ा रहे थे। चैम्बरलेन-सरकार सुखकी नींद सोई पड़ी थी।

इतना धन-ऐश्वर्य, इतना हंसी-खेल, इतना सन्तुष्ट जीवन मैंने सपने में भी नहीं देखा था। बढ़िया जीना, सांसारिक सुखों का बिना संकोच के भरपूर मज़ा लूटना, यही हर किसी का उद्देश्य लगता था। सेवाग्राम और शान्तिनिकेतन में रहकर मैं इतना ज़रूर समझ गया था कि इस सारे धन-ऐश्वर्य को हमारे देश का ही खून चूसकर एकत्र किया गया है। पर मन के सचेतन संस्कारों से अचेतन संस्कार ज्यादा प्रबल होते हैं। हिन्दुस्तान में सुनहरी बालों वाली अप्सराएं दूर-दूर से ही दिखाई देती थीं, यहां चाहे हाथ मारकर जितनी झपट लें।

वहां जीवन तंगियों, चिन्ताओं, दुविधाओं,अभावों,कठोरताओं, तनाव और कलह से भरा पड़ा था, यहां बहुतायत, बेपरवाही, आज़ादी और सहूलियतों का अन्त नहीं था। बहती गंगा में नहाने को किसका दिल नहीं ललचा पड़ता ! यहां मेरे लिए कला के श्रेष्ठ पक्षों से परिचित होने के भी अच्छे अवसर थे, यह मैं भूल ही बैठा था। मैं नाटक देख सकता था, महान संगीत सुन सकता था, चित्रशालाओं का अध्ययन कर सकता था। पर इनके लिए मेरे पास वक्त नहीं था। रंगरेलियां मनाने में मेरी तनख़्वाह का इतना बड़ा हिस्सा ख़र्च हो जाता था कि सिनेमा तथा नाच-गानों के नग्न 'रिव्यू' आदि सस्ते तमाशे देखकर ही मैं सन्तुष्ट हो जाता था।

और फिर अचानक आकाश से हिटलर का कहर टूट पड़ा। देखते-ही-देखते सब ख़ुशहालियां नष्ट-भ्रष्ट होने लगीं। जवानी की उम्र में उस तबाही के तांडव का भी अपना एक नशा था। पर जब मौत नज़दीक आकर फिरं-फिर से आंखों में घूरने लगती तो डर भी लगता। पर मौत का इतना डर नहीं था, जितना परदेश में मरने का, बेमतलब मरने का। उस लड़ाई से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था, न मेरे देश का था। यह बात मेरे मन में उलझनसी पैदा किए रहती थी।

अब सिनेमा जाना केवल मनोरंजन ही नहीं रहा था, मन की चिन्ता व घबराहट से भी कुछ देर के लिए छुटकारा पाना मनोरथ होता था। मैं जितनी देर सिनेमा के अन्दर बैठा रहता, मन बहलावा होता रहता। पर बाहर आने पर फिर असलियत दुगने धमाके के साथ धावा बोल देती। कोई वक्त था, जब फ़िल्म में देखी परछाइयों का असर कितनी-कितनी देर तक दिमाग़ पर छाया रहता था। अब बाहर आते ही परछाइयां बेमतलब और फीकी महसूस होने लगतीं। ऐसा लगता, जैसे वे मुझे सारा वक्त मूर्ख बनाती रही हों। कभी फ़िल्मों को मैंने इतनी अहमियत दे रखी थी। अब मुझे साफ़ पता चल गया कि वे ज़िन्दगी की रूखी हकीकतों से छुटकारा दिलाने का वक्ती साधन-मात्र होती थीं-शराब,सिगरेट,या औरतबाज़ी की तरह एक नशा-सा।

कभी फ़िल्में मेरी नज़र में एक कला थीं। अब वे उस स्तर से बहुत नीचे उतर गईं।

पर कुछ देर बाद एक ऐसी घटना हुई, जिसने फिर मुझे अपनी राय बदलने पर मजबूर कर दिया। रूस अब लड़ाई में आ गया था, अंग्रेजों का साथी और हिमायती बन चुका था। टोटनहैम कोर्ट रोड के एक सिनेमा-घर में रूसी फ़िल्में दिखाई जाने लगीं।

पहली फ़िल्म जो मैंने देखी, उसका नाम था, 'सर्कस'। उसकी कहानी मुझे अब तक नहीं भूली। अमरीका से एक सर्कस मास्को आता है, जिसका खेल लोगों में अत्यन्त प्रिय हो जाता है। सबसे ख़तरनाक और अचरज वाला खेल हैं, एक लड़की को तोप के मुंह में भरकर पीछे से बारूद लगाकर उड़ा देना। लड़की उड़ती हुई सर्कस के तम्बू की छत के साथ जा लगती, और फिर नीचे एक जाल में संभाल ली जाती। बड़ी खूबसूरत थी वह लड़की। एक रूसी नवयुवक, जो स्वयं सर्कस का कलाबाज़ था, उसकी ओर आकर्षित होता है। वह उससे मिलने का हर सम्भव प्रयत्न करता है, मगर लड़की हमेशा टाल जाती है। वह कभी अपने कमरे से बाहर ही नहीं निकलती। रूसी लड़का सख्त हैरान है कि लड़की इतनी शर्मीली और डरपोक क्यों है। एक दिन वह चालाकी से,चोरी से उसके कमरे में जा घुसता है। क्या देखता है कि वह एक काले-स्याह नीग्रो बच्चे को छाती से लगाए दूध पिला रही है। वह हक्का-बक्का रह जाता है। पहले तो लड़की उसे डांटती-फटकारती है, फिर फूट-फूटकर रोने लगती है। रूसी लड़के की तरफ़ वह स्वयं भी आकर्षण महसूस कर रही थी, इसीलिए उससे छिपने का प्रयत्न करती थी। उसका मन आत्मग्लानि का शिकार था। पहले अमरीका में उसका एक नीग्रो लड़के के साथ प्यार हुआ था। वे लुक-छिपकर मिलते थे। पर बहुत सावधानी बरतने पर भी लड़की को गर्भ ठहर गया था। भयभीत होकर वह घर से भाग उठी। वह जानती थी कि अगर किसी को पता चल गया तो लोग भले ही उसकी जान बख़्श दें, उसके नीग्रो प्रेमी को ज़रूर जान से मार डालेंगे। मुसीबत के वक्त में एक चालाक आदमी उसका सहयोगी बनता है और सब्ज़ बाग दिखाकर उसे एक सर्कस के मालिक के आगे बेच डालता है। मालिक परिस्थिति का खूब लाभ उठाता है। वह लड़की और उसके काले-कलूटे बच्चे को शरण तो अवश्य दे देता है, पर पूरी तरह अपना ग़ुलाम बनाकर। वह उसको डराता रहता है कि अगर उसने ज़रा भी बाहर की दुनिया में कदम रखा तो वह उसका राज़ फ़ाश कर देगा और लोग उसे 'लिंच' कर देंगे। इसी डर के कारण वह अपने कमरे से बाहर नहीं निकलती थीं। इसीलिए वह रूसी नौजवान के आगे बढ़ने से कतराती थी।

रूसी नौजवान उसकी कहानी सुनकर ज़ोर से हंस पड़ता है। वह उसे बताता है कि क्रांतिकारी सोवियत देश में काले-गोरे, ऊंच-नीच, जात-पांत और धर्म-मज़हब के सब भेद-भाव सदा के लिए खत्म हो चुके हैं। सब इन्सान पूरी तरह बराबर है। उसे यहां किसी किस्म का डर नहीं।

लड़की को यकीन नहीं आता कि कोई गोरी कौम काली नस्ल को बराबरी का दरजा दे सकती है। वह डरी हुई-सी लड़के के साथ मास्को शहर में घूमती-फिरती है। उसे पता चलता है, कि लड़का सच कह रहा था। वह उसके मां-बाप से मिलती है, जिन्हें पहले ही पता है कि वह एक काले बच्चे की मां है। उनसे उसे और उसके बच्चे को ख़ूब मान और प्यार मिलता है। धीरे-धीरे लड़की में हिम्मत आ जाती है। कुछ ही दिनों में दोनों की दोस्ती प्रेम में बदल जाती है और वे निडर होकर सर्कस के मालिक के पास जाकर आपस में शादी करने का ऐलान करते हैं, जिसका अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार वह कोई विरोध नहीं कर सकता।

अमरीकन सर्कस चला जाता है। लड़की और लड़का दोनों अब एक रूसी सर्कस में काम करने लगते हैं। और फ़िल्म के अन्त में दिखाया जाता है कि किस तरह उस लड़की

का नीग्रो बच्चा न केवल सर्कस के साथियों का बल्कि सोवियत यूनियन की सब जातियों उज़बेग, ताजिक, तुर्कमानी, मंगोली, आरमीनों- की आंखों का तारा बन जाता है। यह आख़िरी दृश्य इतने कमाल के साथ दिखाया गया था कि मुझे रोमांच हो आया।

इस फ़िल्म का मेरे मन पर कितना गहरा प्रभाव पड़ा, मैं बयान नहीं कर सकता। जब मैं सिनेमा से बाहर निकला, तो हवाई हमले का सायरन बज चुका था। धुप्प अंधेरे में मेरी आंखों और मुंह को हवा में कुछ चुभता हुआ महसूस हो रहा था। बालों में भी कांच के छोटे-छोटे टुकड़ों से भरी मिट्टी गिर रही थी। कहीं नज़दीक ही बम गिरा था। पर मैं इन सारी कठिनाइयों से बेख़बर था। मेरे अन्दर एक अजीब अहसास ठाठें मार रहा था। इन्सान कितना महान है! ज़िन्दगी कितनी महान है! कितनी जीने योग्य है! मैं अपने अन्दर फ़ौलाद-सा भरता हुआ महसूस कर रहा था। मेरे सारे डर उड़ गए थे।

यह प्रभाव अमरीकी फिल्मों के प्रभाव से एकदम उलट था। अमरीकी फ़िल्में इन्सान को घटिया, अपनी परिस्थितियों और प्रवृत्तियों का ग़ुलाम दिखाती थीं। वे उसकी अन्दरूनी ताकतों के नहीं, उसकी कमज़ोरियों के राग अलापती थी।

दो-तीन दिन बाद इस फिल्म को देखने की इच्छा फिर हुई। जब मैं हाल में दाखिल हुआ, तो फ़िल्म शुरु हो चुकी थी। मैं नहीं देख सका कि मेरे आस-पास कौन बैठा हुआ था। पर जब फ़िल्म खत्म हुई और रोशनियां जलीं तो मैंने देखा कि हाल खचाखच फ़ौजी वर्दियों वाले अमरीकी नीग्रो सिपाहियों से भरा हुआ था। उनके चेहरो पर भी वही चमक थी, मैं अपने अन्दर महसूस कर रहा था। उनके साथ भी अपने देश में उसी तरह का बर्ताब होता था, जो काले आदमी की हैसियत से मैं सहता आया था।

उन अमरीकी नीग्रो सिपाहियों की भारी संख्या ने मुझे विश्वास दिलाया कि वह रूसी फ़िल्म अगर प्रोपेगेण्डा थी, तो उस प्रोपेगेण्डा में भी सच्चाई थी। मुझे तब अहसास हुआ कि प्रोपेगेण्डा झूठा भी हो सकता है और सच्चा भी। प्रोपेगेण्डा हर हालत में बुरी चीज़ नहीं। वह अच्छी चीज़ भी हो सकता है।

उसके बाद जो भी रूसी फ़िल्म उस सिनेमा-घर में आती, मैं उसे ज़रूर देखने जाता, क्योंकि वह मुझे कम से-कम कुछ दिनों के लिए डर से मुक्ति दिला देती थी। वे फ़िल्म देखकर मेरा मनुष्यता में विश्वास बढ़ता था। मैं शक्तिशाली हो जाता था।

'एलैग्ज़ेंडर नैवस्की', 'बैटलशिप पोटामकिन', 'बालटिक डैप्यूटी', 'चेपायेफ', 'शारज़', 'मां', 'गोर्की की जीवन-गाथा', 'बोल्गा-बोल्गा' और कितनी ही अन्य रूसी फ़िल्में मैंने देखीं।

मुझे सोवियत कला के बारे में और ज़्यादा जानने की इच्छा हुई। मैंने किताबें पढ़ीं और मुझे पता चला कि ये फिल्में मुझे ही अच्छी नहीं लगीं, बल्कि संसार-भर के फ़िल्मकारों ने मुक्त कंठ से उनकी प्रशंसा की है, और उन्हें फिल्म-इतिहास में शाहकार फ़िल्मों का दर्जा दिया है। मैं आइजन-स्टाइन और पुडावकिन नामों से परिचित हुआ। चरखासाफ़ के अभिनय का मैं दिल और दिमाग़ से दिवाना हो गया। तब मुझे कल्पना भी नहीं हो सकती थी कि किसी दिन मैं स्वयं चरखासाफ़ और पुडावकिन के देश जाऊंगा, और जिस तरह मैंने उनकी फ़िल्में देखी है, वे भी मेरी फ़िल्म 'दो बीघा ज़मीन' देखेंगे। वे भी हिन्दुस्तान आएंगे और मैं उनके गले में बाहें डाल सकूंगा।

इस तरह सोवियत यूनियन, मार्क्सवाद और लेनिनवाद से मेरी पहली पहचान फ़िल्मों द्वारा हुई। मैं उस देश के बारे में जानने के लिए उत्सुक हो गया, जो इतनी अच्छी फ़िल्म बनाता था। अमरीकी फिल्मों के बारे में मेरा भ्रम टूट गया। वे मुझे सोवियत फ़िल्मों के मुकाबले में फीकी और घटिया लगने लगीं।

पर इसका यह मतलब नहीं कि मैं अब भी सोवियत फ़िल्मों को शाहकार मानता हूं। अजीब-सी बात है कि लड़ाई के बाद के दिनों में सोवियत फ़िल्मों का स्तर एकदम गिर गया था। इस बात को रूसी भी मानते हैं। वे इसका दोष स्टालिन की डिक्टेटरशिप को देते हैं। इसमें कितना सच है, वही जानें। मेरा अपना अनुभव यह है कि मुझ पर सोवियत फ़िल्मों का जितना प्रभाव तब पड़ा था, वह आजकल की सोवियत फ़िल्मों का नहीं पड़ता पर इनमें भी संदेह नहीं कि जितनी सोवियत फिल्में देखने का अवसर मुझे लन्दन में मिलता था, वह आजकल हिन्दुस्तान में नहीं मिलता। इसलिए हो सकता है कि मेरा अनुमान ग़लत हो।

मार्क्सवाद के बारे में किताबें पढ़ते हुए मुझे रजनी पामदत्त और कृष्ण मेनन की किताबों का भी पता चला।

मुझे समझ आने लगा कि महायुद्ध क्यों होता है? समाजवाद और मार्क्सवाद का आदर्श कैसे मनुष्यता के लिए विकास का एक नया पड़ाव है।

सोवियत यूनियन उस समय सख़्त खतरे में से गुज़र रहा था और अत्यन्त बहादुरी से लड़ रहा था। सारे संसार की नज़रें स्टालिनग्राद और लेनिनग्राद की ओर लगी हुई थीं। हमारे अपने देश में साम्राजी ज़ुल्म का कहर पड़ा हुआ था। बंगाल के अकाल की ख़बरें, गांधी और नेहरू के कैद होने की खबरें दिल को बहुत सख़्त बेचैन करती थीं। पर इसके साथ यह भी पता था कि सारे अन्याय के बावजूद हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की आशाएं समाजवाद और जनतन्त्र की जीत के साथ जुड़ी हुई हैं, हिटलर की फ़ासिस्ट बर्बरता के साथ नहीं।

इस तरह मुझे अपने रेडियो के काम में भी एक नया आनन्द आने लगा। मैंने अपने हिन्दी और उर्दू के उच्चारण को संवारने पर बहुत मेहनत की। मैंने जान गीलगुड, टी०एस० इलियट, जार्ज आरवैल, हैरल्ड लास्की, लायनल फील्डन, गिलबर्ट हार्डिंग और अन्य कितने ही उच्चकोटि के अंगरेज चिन्तकों, साहित्यकारों और कलाकारों से मित्रताएं गांठीं। उनसे बहुत-कुछ सीखा, बहुत-कुछ प्राप्त किया। लड़ाई के ज़माने का एक लाभ यह भी था कि यूरोप और अमरीका के अच्छे से अच्छे फ़िल्म व स्टेज-अभिनेता-अभिनेत्रियां बी०बी०सी० पर अपने प्रोग्राम देने आते थे। वे नाटक खेलते थे, मनोरंजक कार्यक्रम देते थे। बॉब होप, लारैंस ऑलीवियर, माकल रैडग्रेव, बेब डेनियल, विवियन ली और अन्य कितने ही कलाकारों के काम को नज़दीक से देखने का मौका मिला। मैंने उनमें सबसे बड़ी ख़ूबी यह देखी कि वे वक्त के बड़े पाबन्द थे। रिहर्सल हो या ब्राडकास्ट, वे कभी आधे मिनट की भी देर नहीं करते थे और काम के समय दुनिया-जहान को भूल जाते थे। उनके काम का सिलसिला एक मशीन की तरह चलता था। मिलकर काम करते समय किसी को छोटे-बड़े का अहसास नहीं रहता था। सबके साथ एक-जैसा व्यवहार होता था और आपस में भी वे एक-दूसरे के साथ घुल-मिल जाते थे। लगन और तन्मयता का एक अदभुत सुन्दर वातावरण पैदा हो जाता था, जिसके मुकाबले में हम हिन्दुस्तानियों के ढुलमुल व्यवहार

यकीनन दिल को चुभते थे। प्रोग्राम में हिस्सा लेने के लिए हिन्दुस्तानी कभी भी वक्त पर नहीं आते थे। जो आते उनमें से आधे अपना पार्ट घर भूल जाते। स्क्रिप्ट वक्त पर तैयार न होता। अंग्रेज़ कलाकारों का काम देखकर मैंने एक बात जरूर गांठ बांध ली थी कि कला की प्रेरणा दिव्यलोक से नहीं आती, बल्कि संयम, मेहनत और पाबन्दी से आती है। तब अभिनय के क्षेत्र में मेरे कल्पित स्तर और ऊंचे हुए। समझ आया कि खरा क्या है और खोटा क्या है। मैंने उन दिनों बड़ी मेहनत की। हिन्दुस्तान वापस आकर इस बात की बड़ी खुशी हुई कि हमारे लन्दन से पेश किए कई ड्रामे यहां काफ़ी शौक के साथ सुने और पसन्द किए गए थे।

बी०बी०सी० में काम करते और उच्चकोटि के कलाकारों को स्टूडिओं में रिहर्सल करते हुए देखकर मैं इस नतीजे पर भी पहुंच गया था कि रेडियों पर आवाज़ के उतार-चढ़ाव नकली ढंग से पैदा करना ग़लती है।

भावना यथार्थ और सच्ची होनी चाहिए। आवाज़ की बिल्कुल परवाह नहीं करनी चाहिए कि वह कैसे निकलती है या निकलनी चाहिए। मैंने आवाज़ की ट्रेनिंग के बारे में सोचना बिल्कुल छोड़ दिया, जिसके लिए मैं अंग्रेज कलाकारों का अहसानमन्द हूं।

ज्यों-ज्यों लड़ाई संगीन होती गई, मेरा ज़िन्दगी के बारे में दृष्टिकोण भी गम्भीर होता गया। और जो मैं अपने बारे में कह रहा हूं, वह मेरी पत्नी दम्मो पर भी उतना ही लागू होता था। वह भी बी०बी०सी० में मुलाज़िम थी। कार्यक्रमों में वह भी उतना ही हिस्सा लेती थी, बल्कि माइक पर उसे मुझसे ज़्यादा अधिकार था। फ़ौजी भाइयों के लिए संगीत के सबसे पहले प्रोग्राम उसने पेश करने शुरु किए थे, और हर हफ़्ते उसे दूर-दराज़ के देशों से सैकड़ों श्रोताओं के पत्र आते थे। और कई बार अफ्रीका और आस्ट्रेलिया से जैम, पनीर, चाय और कितनी ही सौगातों के पार्सल भी आते थे।

हम दोनों लन्दन के यूनिटी थियेटर के भी मेम्बर बन गए। अब कोई भी अच्छा नाटक या कान्सर्ट हो, हम देखे बिना नहीं छोड़ते थे। अभिनय-कला के लिए हमारी रुचि बड़ी प्रबल हो चुकी थी। पर अभी भी हमारे दिल में फ़िल्मों में काम करने का खयाल नहीं उठा था। हां, दिन-प्रतिदिन देश जाने की इच्छा जरूर प्रबल होती जा रही थी। अपने लाड़ले लाल, परीक्षित को, जो मुश्किल से दस महीने का था, दम्मो,मेरी मां के पास छोड़ आई थी। मां ने लड़ाई के ज़माने में उसे साथ भेजने से साफ़ इन्कार कर दिया था। मैं दम्मो की आंखों को अपने बच्चे के लिए तरसते देखकर कई बार तड़प उठता।

पर हिन्दुस्तान रवाना होने से पहले एक और उल्लेखनीय घटना हुई। चीन भी तब लड़ने वाले देशों में शामिल हो चुका था। बी०बी०सी०का एक प्रतिनिधिमडल सारे चीन का चक्कर लगाकर आया। और उसके सदस्यों के वक्तव्य और भाषण हमारे विभाग में भी आए। उनसे पता चला कि जापान के खिलाफ़ सबसे ज्यादा बहादुरी से उत्तरीचीन की कम्युनिस्ट फ़ौजें लड़ रही थीं। उन फ़ौज़ों के विचित्र हाल उन्होंने लिखे थे। मालूम हुआ कि वे फ़ौज़ी लड़ते भी थे और किसानों के साथ मिलकर खेती भी करते थे। हर जत्थे ने अपनी नाटक-मण्डली भी बनाई हुई थी, जो युद्ध-सम्बन्धी, राजनीतिक और सामाजिक घटनाओं को लेकर तुरन्त नाटक तैयार कर लेती थी। गांव के लोगों का उन नाटकों द्वारा मनोरंजन भी होता था और उत्तम शिक्षा भी मिलती थी। उनके ज्ञानचक्षु खुलते थे। उस थियेटर का नाम 'पीपल्ज थियेटर' था।

प्रतिनिधिमंडल अपने साथ बहुत-सी चीनी संगीत भी रिकार्ड करके लाया था, जिसमें से बहुत-सा चीनी 'पीपल्ज़ थियेटर' के कलाकारों का था। कुछ-एक नाटकों के अशं भी वे लाए थे, जो हमने अनुवाद करके ब्राडकास्ट किए।

इस पीपल्ज़ थियेटर के प्रति मेरा और मेरी पत्नी का काफी आकर्षण हो गया। ऐसे थियेटर की तो हमारे भारत में भी काफ़ी ज़रूरत है। क्यों न हमारे देश में भी गांव-गांव में नाटक-मण्डलियां हों, जो लोगों की चेतना जाग्रत करें।

मैंने अपने कालेज के दिनों में नोरा रिचर्ड को एक ऐसा प्रयोग करते हुए देखा था और वह काफ़ी सफल रहा था। नोरा रिचर्ड ने ग्रामीण जीवन की झांकियां बड़े यथार्थ के साथ प्रस्तुत की थीं। कोई बड़े सैट नहीं लगाए थे, और न ही स्टेजी आडम्बर ही किया था। सारे कार्यक्रम पर मुश्किल से दस रुपये खर्च हुए होंगे। पर उन नाटकों का मैंने रावलपिंडी के रेल-मज़दूरों और उनके परिवारों पर अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ते देखा था।

इसी तरह की एक बात शांति-निकेतन में भी हुई थी, और महान चित्रकार नन्दलाल बोस से मुझे एक महत्वपूर्ण शिक्षा मिली थी। इस प्रसंग में उसका ज़िक्र मैं करना चाहूंगा।

शांति-निकेतन के एक विद्यार्थी ने बर्नार्ड शॉ के नाटक, 'आर्म्स एण्ड दि मैन' का हिन्दी अनुवाद किया था। मुझे वह अनुवाद पसन्द आया था, और मैंने उसे स्टेज पर खेलने का फैसला किया। रिहर्सलें तो मैं करता चला गया, पर बाकी तकनीकी बातों की ओर मैंने ध्यान नहीं दिया, क्योंकि मुझे उनका ज्ञान ही नहीं था। मैंने सोचा, जब खेलने का दिन नज़दीक आएगा, तो देखा जाएगा। आखिर वह दिन सिर पर आ ही पहुंचा। और जब पात्रों की पोशाकों और स्टेज की दूसरी सामग्री की सूची बनी, तो मेरा कलेजा बैठ गया। कितनी ही फ़ौजी वर्दियों की जरूरत थी। बंदूक, कारतूस, लटकाने वाली पेटियां, घुटनों तक आने वाले बूट, हैलमैट, और न जाने क्या-क्या।

एक अध्यापक साथी ने सलाह दी कि तुरन्त किसी को ये चीज़ें किराये पर ले आने के लिए कलकत्ता भेज दिया जाए। पर किराया कम से कम सौ रुपया तो जरूर ही लगेगा। वह सौ रुपये हम कहां से लाते, हमारे पास तो दस रुपये भी नहीं थे।

खबर मिली की टीकमगढ़ के हिन्दी-प्रेमी महाराजा साहेब शांति-निकेतन पधारे हुए हैं और गैस्ट हाउस में ठहरे हैं। मैं उनसे जाकर सौ रुपये मांग लाया। मुझे पता नहीं था कि इस तरह आगन्तुकों से चन्दा मांगने की सख़्त मनाही थी। बात बाहर निकल गई। अध्यक्ष महोदय ने मुझे अपने दफ़्तर में बुलाकर सख्त डांटा और आदेश दिया कि मैं फ़ौरन पैसे वापस कर आऊं। मुझे भी ग़ुस्सा आ गया। मैंने कहा, "न तो आप हमारी मदद करते हैं, और अगर हम मजबूरन किसी से मदद मांगते हैं, तो आप नाराज़ होते हैं। क्या आप यह चाहते है कि हमारा नाटक न हो?"

अध्यक्ष महोदय ख़ामोश रहे। मैंने बाहर आकर घोषणा कर दी कि नाटक नहीं होगा।

थोड़ी देर बाद जब मैं सामूहिक रसोईघर से खाना खाकर बाहर निकल रहा था तो मैंने देखा, मास्टर मोशाय (नन्दलाल बोस) मेरी प्रतीक्षा में खड़े थे। मुझे पास बुलाकर गम्भीरता से कहने लगे, "मैंने सुना है, नाटक का ऐलान करके तुमने उसे कैंसिल कर दिया है। क्या यह ठीक बात है?"

"हां जी," मैंने कहा।

"पर इस तरह शांति-निकेतन में आज तक कभी नहीं हुआ।"

"मुझे फिर ग़ुस्सा आ गया। मुझे लगा, जैसे वे भी मेरी लाचारी का मज़ाक उड़ा रहे हैं। पर उन्होंने बड़ी नम्रता से कहा, "आओ, मेरे साथ कला-भवन। तुम्हें जिन जिन चीज़ों की ज़रूरत है, हम प्राप्त करा देंगे।"

मुझे विश्वास न आया। भला वे मुझे फ़ौजी वर्दियां, बन्दूकें और पिस्तौल कहां से निकालकर दे देंगे? पर वे एक महान कलाकार थे। मैं उनकी अवज्ञा भी नहीं कर सकता था। सो, चुपचाप उनके साथ चल पड़ा।

कला-भवन पहुंचकर मैंने उन्हें अपनी सूची पढ़कर सुना दी।

"फ़ौजी वर्दियां? किस तरह की फ़ौजी वर्दिया?" वे कहने लगे।

"जैसी भी फ़ौजी वर्दियां मिल जाएं, काम चल जाएगा।"

"पर बर्नार्ड शॉ का नाटक तो सर्बिया देश के बारे में हैं। तुम्हें तो सर्बियन फ़ौजी वर्दियों और हैलमैटों की ज़रूरत होगी।"

मुझे वे फिर मज़ाक करते हुए महसूस हुए।

"मुझे क्या मालूम सर्बियन वर्दियां कैसी होती है। कोई भी वर्दियां हों, काम चल जाएगा," मैंने खीझकर कहा।

"नहीं,नहीं, हम तुम्हें सर्बियन फ़ौजी वर्दियां ही देंगे।" यह कहकर वे एक अलमारी से एक बड़ी-सी किताब निकाल लाए, जिसमें हर मुल्क के फौजी सिपाहियों की रंगीन तस्वीरें छपी हुई थीं। सर्बियन सिपाहियों और अफ़सरों की तस्वीरें भी निकल आई। तब मुझे मास्टर मोशाय की बातों पर कुछ-कुछ यकीन होना शुरु हुआ।

"दो दिन बाद आना, हम तुम्हें सब चीज़ें दे देंगे।"

उसी दिन मास्टर मोशाय ने सारे कला-भवन के विद्यार्थियों को इस काम पर लगा दिया। मिट्टी और सीमेंट मिलाकर हैलमैट बना दिए गए। गत्ते व टिशु पेपर के लम्बे बूट, पेटियां, पिस्तौलें और घर बन गए। विद्यार्थियों से ख़ाकी बरसाती कोट मांग-मांग-कर जाने उनका क्या-क्या रूप बनाया गया। दो दिन के अन्दर सारा सामान तैयार था। और जब हमने वह नाटक खेला तो स्वयं गुरुदेव टैगोर ने खूब प्रशंसा की।

शो के अन्त में मैंने देखा कि मास्टर मोशाय फिर उसी तरह हाल के बाहर मेरी प्रतीक्षा में खड़े थे, जैसे दो दिन पहले किचन के बाहर मिले थे। अब मैं ख़ुशी-ख़ुशी उनके पास गया और उनका बहुत धन्यवाद किया। वे मुस्कराकर कहने लगे।

"एक बात हमेशा याद रखना हज़ार रुपये खर्च करके कोई बुद्धू भी नाटक खेल सकता है, कलाकार वही है जो वही नाटक दस रुपये में खेलकर दिखा दे।"

चीन के पीपल्ज़ थियेटर के हाल पढ़कर, नोरा रिचर्ड और नन्दलाल बोस की शिक्षा फिर याद आई। दिल में शौक जागे, काश, अगर कभी हमारे देश में भी किसी ऐसे ही पीपल्ज़ थियेटर की लहर चल पड़े! कितना मज़ा आए ऐसे नाटक-मण्डल में काम करके!

उस वक्त मुझे कैसे ख़याल आ सकता था कि बम्बई में ख़्वाजा अहमद अब्बास और कलकत्ता में बिनाय राय और शम्भु मित्रा जैसे लोग हू-बहू इसी तरह के थियेटर की स्थापनाकर रहे हैं। और एक दिन मैं और दम्मो भी उनके साथी जा बनेंगे।

१६४४ के शुरु में जर्मनी की पराजय निश्चित हो गई। समुद्री रास्ते खुलने शुरु हो गए और हम मई महीने में लन्दन से देश की ओर रवाना हुए। बी०बी०सी० के उच्च अधिकारियों ने हमें अच्छे-अच्छे सर्टिफ़िकेट देने चाहे, पर हमने नम्रतापूर्वक इन्कार कर दिया। चाहे रेडियो की हो, चाहे कोई और, हिन्दुस्तान जाकर हमारा सरकारी नौकरी करने का हरगिज़ इरादा नहीं था। हमने एक आज़ाद देश में रहकर आज़ादी का मज़ा चखा था। उस आज़ादी को हम किसी भी हालत में गिरवी नहीं रखना चाहते थे। पर देश जाकर क्या करेंगे, इस सवाल का भी हमारे पास कोई जवाब नहीं था। रह-रहकर शांति-निकेतन ही आंखों के सामने आता था। दिल चाहता था कि वहीं वापस चले जाएं। वहां हमने बहुत ही प्यारे दिन गुज़ारे थे। पर क्या वहां हमें अब कोई वापस लेगा भी?

५

अप्रैल, १६४४ में हम लोग बम्बई में जहाज़ पर से उतरे। यहां हमारे लिए सब-कुछ अजीब-अजीब सा था-लोग, जलवायु, पहनावा। यदि उस समय मुझसे कोई पूछता कि क्या मैं स्थायी रूप से बम्बई में रहना पसन्द करूंगा, तो मैं फौरन इनकार में सिर हिला देता। पर फिर भी मुझे देश में लौट आने की बेहद ख़ुशी थी। मैंने बड़े शौक से उसी दिन पतलून उतारकर धोती बांध ली जैसे कि शान्ति-निकेतन और सेवाग्राम में बांधा करता था, पान मुंह में रखा, और जब बिजली के खम्भे के पास पीक थूकने लगा, तो दीवार पर लगे वी०शान्ताराम की नई फिल्म 'शकुन्तला' का इश्तहार पढ़ा, और पढ़ते ही मेरे शरीर में खुशी की लहर दौड़ गई।

प्रभात फिल्म कम्पनी और शान्ताराम की पिछली फिल्म 'आदमी' देखे हुए मुझे चार साल बीत चुके थे। उसका भी मैंने मराठी रुप, 'माणस' ही देखा था-ठेठ मराठी शहर पूना में। वहां मैं हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की पहली कान्फ्रेंस के मौके पर सेवाग्राम से गया हुआ था।

उस कान्फ्रेंस में अप्पा साहब पन्त के साथ मेरी दोस्ती हो गई थी, जो आजकल शायद इण्डोनेशिया में भारत के राजदूत लगे हुए हैं। तब वे ऑक्सफोर्ड की तालीम ख़त्म करके नये-नये आए थे और झट से आज़ादी के आन्दोलन में कूद पड़े थे। एक रियासत का राजकुमार इतनी बड़ी कुर्बानी करे, यह अचम्भे की बात थी। मैं उनसे बहुत प्रभावित हुआ। पूना में उनका अपना पेशवाई ठाठ-बाट वाला घर था। वहां एक शाम भोजन करने के बाद भारती साराभाई, अप्पा पन्त और मैं यह फ़िल्म देखने गए थे, जो उनके घर के नज़दीक ही चल रही थी। मैं बता नहीं सकता कि उस फिल्म का मेरे मन पर कितना गहरा असर पड़ा था। इतना यथार्थ वातावरण मैंने आज तक किसी न्यू थियेटर की फ़िल्म में भी नहीं देखा था। मुझे लगा था, जैसे मैं सिनेमा-घर में बैठकर फिर उसी पूना शहर में घूमफिर रहा हूँ। रसोईघर और गुसलखाना तक भी वही थे, जो मैं अपने निवास-स्थान में रोज़ देखता और इस्तेमाल करता था।

मैं अपने को रोक नहीं पाया था। उसी रात मैंने श्री वी०शान्ताराम को एक लम्बा प्रशंसा-पत्र लिख भेजा था। उनका जवाब भी आएगा, इसकी मुझे कैसे आस-उम्मीद हो सकती थी! पर मैं हैरान रह गया था, जब न केवल जवाब ही आया था, बल्कि उन्होंने मुझे स्टूडिओ में आकर मिलने की दावत भी दी थी।

निश्चित समय पर मैं प्रभात स्टूडिओ पहुंच गया था। फाटक पर एक सज्जन ने मेरा स्वागत किया था और बड़ी विनम्रता के साथ मुझे ऊपरवाली मंज़िल के एक कमरे में बिठाकर चला गया था। उसी कमरे में काले रंग की सादा-सी, बाबुओं वाली टोपी पहने, जिसका उन दिनों महाराष्ट्र के लोगों में बड़ा रिवाज था, एक आदमी चुपचाप पहले से बैठा था, मानो वह भी किसी का इन्तज़ार कर रहा हो। कुछ ही देर के बाद उस आदमी ने अंग्रेजी में मुझे पूछा, "क्या मिस्टर साहनी आप हैं?" "जी।" "मेरा नाम शान्ताराम है।" उसने धीमे-से अन्दाज़ में कहा और हाथ जोड़कर नमस्ते की। मैं अवाक-सा उसके चेहरे की ओर देखे जा रहा था। क्या कोई इस हद तक सीधा-सादा आदमी भी फ़िल्म-निर्देशक हो सकता है।

सादगी तो मैंने बरुआ के घर में भी देखी थी, पर वे मुझे अपने जैसे सुशिक्षित और आधुनिक ज़माने के आदमी दिखाई दिए थे। पर उस व्यक्ति का तो किसी प्राइमरी स्कूल का अध्यापक होना ज़्यादा स्वाभाविक था।

मैं अपनी कुर्सी उठाकर उनके नज़दीक ले गया और फिर उन्हें बताया कि मैं उनकी फ़िल्म से कितना प्रभावित हुआ था। उन्होंने जवाब दिया कि वे भी मेरे नाम से परिचित ही नहीं, बल्कि हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में मेरी कहानियां भी उनकी नज़रों से गुज़र चुकी हैं। मैं हक्का-बक्का-सा उनकी तरफ देखता रह गया।

"आपने-मेरी-कहानियां..." मैंने रुक-रुककर कहा।

"जी हां, 'हंस', 'विशाल भारत' और दूसरी कई हिन्दी मासिक पत्रिकाएं हमारे यहां आती हैं। अगर आपको अपनी किसी कहानी पर विश्वास हो कि उसके आधार पर अच्छी फ़िल्म बन सकती हैं, तो हमें ज़रूर भेजिए, बशर्ते कि वह छप चुकी हो। अगर किसी अन्य लेखक की कोई रचना पसन्द आए, तो वह भी भेजिए। हम उत्तम से उत्तम साहित्य को फिल्माना चाहते हैं।"

खिड़की से बाहर, स्टूडिओं के अहाते में शूटिंग के लिए बनाया हुआ दो-दो, तीन-तीन मंज़िले मकानों का एक मुहल्ला दिखाई दे रहा था। वे कपड़ों के साथ जड़ी हुई लकड़ी की चौखटें नहीं थीं, जिन्हें मैं फिल्मों में आने के बाद देख-देखकर उकता गया था। वे ईंट और गारे के पक्के मकान थे, जिनपर छतें नहीं पड़ी थीं। उनकी अधूरी सम्पूर्णता दूर से देखने पर मन में एक अजीब-सी बेचैनी पैदा करती थी। प्रभात फ़िल्म कम्पनी के निर्माताओं के यथार्थवादी दृष्टिकोण का वे एक शानदार नमूना पेश कर रही थीं।

"आप स्टूडिओ देखना चाहेंगे?" शान्ताराम ने पूछा।

"कलकत्ता में न्यू थियेटर्स का स्टूडिओ मैं देख चुका हूं, इसलिए स्टूडिओं देखने की मुझे ख़ास ज़रूरत महसूस नहीं हो रही। आपके दर्शन करके मुझे आशा से अधिक प्रसन्नता हुई है।"

मुझे यों लगा, जैसे मैं एक पवित्र जगह बैठा हुआ हूं। मुझे गर्व हो रहा था। जैसे वह भी शान्ति-निकेतन या सेवाग्राम का ही एक भाग था। ऐसे महान व्यक्ति का फ़िज़ूल बातों में वक्त खराब करना मुझे अपराध-सा लगने लगा।

यह था प्रभात स्टूडिओ और उसकी आत्मा, वी०शान्ताराम से मेरा पहला परिचय। इससे अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि चार साल बाद उनकी नई फ़िल्म मैं कितने चाव

और ऊंची आशाएं लेकर देखने गया था। कालिदास की सर्वोत्कृष्ट रचना और शान्ताराम जैसे निर्देशक का दिग्दर्शन। और किसी को क्या चाहिए था?

पर मेरी सब आशाएं खाक में मिल गई। ऐसे लगा, जैसे किसी ने पहाड़ की चोटी से मुझे नीचे पटक दिया हो। कला की सब कदरों और कीमतों पर जैसे छुरी फेर दी गई हो। संस्कृत का मुझे बचपन से शौक रहा था, और 'अभिज्ञानशाकुन्तलम' को मैं कोमल अनुभूतियों का खज़ाना मानता हूं। शान्ताराम जैसा निर्देशक उसे इतना खुरदरा और भद्दा बनाकर पेश करेगा, दिल मानने को तैयार नहीं होता था। कहीं यह कोई दूसरा शान्ताराम तो नहीं है? मेरी आत्मा व्याकुल हो उठी। गर्मी और गन्दगी के मारे मैं पहले से परेशान था, अब तो सारी भूख और प्यास भी जाती रही।

अगले रोज़ जब मैं फीरोज़शाह मेहता रोड पर पंजाब नेशनल बैंक से पैसे निकलवा रहा था तो मैंने देखा कि साथ की खिड़की पर ही खद्दर का कुर्ता-पायजामा पहने चेतन आनन्द खड़े हैं।

गवर्नमेंट कालेज, लाहौर में मैं और चेतन आनन्द इकटठे पढ़े थे, भले ही वे मुझसे दो साल पीछे थे। हम अच्छे दोस्त थे। अंग्रेज़ी में कविता लिखने और नाटक वगैरा खेलने का हम दोनों को शौक था। दोनों ही को कालेज के ख़ुश-वजह व खुश-मिज़ाज व्यक्तित्व कहकर सराहा और बिगाड़ा जाता था।

जब मैं विलायत रवाना हुआ, तो चेतन देहरादून के एक स्कूल में अध्यापक थे। अचानक ही उन्हें बम्बई में देखकर आश्चर्य भी हुआ और खुशी भी।

चेतन ने बताया कि वे पढ़ाना छोड़कर फ़िल्म लाइन में आ गए हैं और इस समय तीन-चार फ़िल्मों में हीरो है। (अगर मैं ग़लती नहीं कर रहा तो नरगिस सबसे पहले चेतन के साथ हीरोइन बनकर आई थीं)

बैंक में खड़े-खड़े ज़्यादा बातें नहीं हो सकती थीं। चेतन ने दूसरे दिन हमें लंच पर बुला लिया।

उन दिनों उनका घर बान्द्रा में पाली हिल पर था। उस पहाड़ी को देखकर हमारे चेहरों पर रौनक आ गई। ऐसे लगा, जैसे किसी हिल-स्टेशन पर आ गए हों। बम्बई शहर के नज़दीक इतनी ख़ूबसूरत पहाड़ियां भी है, यह हमें पहली बार पता चला। पहाड़ी की ढलान पर बना चेतन का घर बेहद सुन्दर, पहाड़ी बंगलों जैसा था। ऊपर की छत पर उसका एंग्लो-इंडियन मालिक स्वयं रहता था। चेतन ने बताया कि वह बड़ा ही रंगी-मिज़ाज और अलबेला नवयुवक है। सारा-सारा दिन वह अपने यार-दोस्तों के साथ बीयर पीता, बैंड बजाता और नाचता है। जितनी देर हम चेतन के यहां बैठे रहे, ऊपर लकड़ी की छत पर नाचने की आवाज़ आती रही, जो हिल-स्टेशन की तस्वीर को ओर मुकम्मिल करती थी।

उस एंग्लो-इंडियन का नाम वरनान था। तीन साल बाद देश में आज़ादी आई और बदले हुए हालात के अनुसार अपने-आपको ढालने में वह बिलकुल असमर्थ रहा। उसका घर बिक गया और फाकों की नौबत आ गई। कुछ साल बाद मैंने उसे चेतन की ड्राइवरी करते देखा। अब वह इस दुनिया में नहीं है। उसका लड़का नोइल जवान हो गया है। चेतन की फ़िल्म 'हकीकत' में वह असिस्टैंट कैमरामैन था, और दो-एक बरसों में पूरा

कैमरामैन बन जाएगा। देखने में वह भी अंग्रेज ही लगता है। पर पिता को हिन्दुस्तानी बनने में जितनी दिक्कत हुई थी, उसे नहीं हुई। मेरे दिल में उसके लिए बड़ा प्यार है।

चेतन क़े साथ गप्पें लड़ाते हुए चला कि युद्ध के दौरान फ़िल्मी दुनिया में बड़ी ज़बर्दस्त तबदीलियां आई हैं। अब केवल स्टूडिओ के मालिक ही फ़िल्में नहीं बनाते और न ही अभिनेता या निर्देशक ही तनख़्वाह लेकर काम करते हैं। फ़िल्मों की मांग बहुत बढ़ गई है, इसलिए खुद फिल्म बनाने के बजाय मालिक स्टूडिओ को किराये पर देकर ज़्यादा पैसे कमा सकता है। एक-एक स्टूडियों में दिन-रात लगातार आठ-आठ दस-दस फ़िल्मों की शूटिंग होती है। निर्माता सेठों से रुपया लेता है और निर्देशक कहानीकार, कलाकारों और तकनीशियनों से ठेका करता है। हर किसी को छूट है कि एकसाथ चाहे जितने निर्माताओं की फ़िल्मों में काम करे। ठेके पर काम करके एक लोकप्रिय कलाकार महीने में तीस-चालीस हजार तक कमा सकता है। सहगल की आमदनी इस समय हमसे भी ज़्यादा है, जबकि 'न्यू थियेटर्ज़' में काम करके उनको मुश्किल से चार-पांच हजार मिलते थे। कलाकारों की गुड्डी आसमान पर चढ़ गई है, क्योंकि उनकें नामों को ही देखकर फ़ाइनैंसर निर्माताओं को रुपया देते है और फ़िल्म बिकती भी स्टारों के सिर पर ही है। इसको 'स्टार-सिस्टम' कहते हैं।

ये बातें हमारे पल्ले कुछ भी नहीं पड़ रही थीं, और न अब तक पड़ी हैं। पर यह सुनकर जरूर ख़ुशी हुई कि सभ्य समाज में अब फ़िल्मों को उतनी बुरी नज़र से नहीं देखा जाता, जितना लड़ाई से पहले देखा जाता था। अच्छे-अच्छे घरों के लड़के-लड़कियां फ़िल्मों में आ रहे थे। कृश्न चन्दर, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सआदत हसन मन्टो, भगवन्तीचरण वर्मा, जोश मलीहाबादी, सागर और कई अन्य चोटी के लेखक, जो पहले कभी लिखने से कमाई की उम्मीद नहीं कर सकते थे, अब बम्बई में बस गए थे और फ़िल्मों के लिए कहानियां व गाने लिखकर हज़ारों रुपये कमा रहे थे।

कृश्न चन्दर भी हमारे कालेज के जमाने के साथी थे। वैसे, हम गवर्नमेंट कालेज में पढ़े थे और वे एफ़० सी० कालेज में। एक बार उन्होंने मुझे स्वयं बताया था कि मेरी कहानियां पढ़कर ही उन्हें कहानीकार बनने का खयाल आया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मेरे विलायत जाने से पहले उन्होंने उर्दू में इतना नाम नहीं कमाया था, जितना मैं हिन्दी में पैदा कर चुका था। 'दो फ़र्लांग लम्बी सड़क' उनकी पहली कहानी थी, जिसके लिए उन्हें बहुत प्रशंसा मिली थी। पर चेतन ने बताया कि लड़ाई के दिनों में उन्होंने बेहिसाब लिखा है और उर्दू साहित्य में प्रमुख स्थान हासिल कर लिया है। बंगाल के अकाल के बारे में लिखे उनके उपन्यास 'अन्नदाता' ने तहलका मचा दिया है।

इंगलैंड में मैंने पूरे चार साल कुछ भी नहीं लिखा था, पर अपने आपको साहित्यकारों में गिनने का मुझे अब भी चाव था। यह सोचकर हौसला हुआ कि अगर कोई और काम न बना, तो शायद फ़िल्मों के लिए कहानियां लिखकर रोज़ी कमाने लायक हो जाऊंगा। अभिनेता बनने का मुझे उस समय ख़याल नहीं आया था। मैं फ़िल्मों को दूर-दूर से ही देख रहा था, जैसे उनके साथ मेरा कोई सरोकार न हो।

''चेतन यार, तुम तो कहते हो कि फ़िल्मों ने तरक्की की है, पर शान्ताराम की फ़िल्म देखकर तो मुझे 'तरट्टी चौड़' का अहसास हुआ है।''

चेतन हंस पड़े और वैही समझदारी वाली मुद्रा बनाकर कहने लगे, ''यह शान्ताराम ने 'बॉक्स-आफ़िस' फिल्म बनाई है।''

दम्मो और मैं हैरान होकर उनकी तरफ देखते रह गए। यह शब्द फ़िल्मों के सिलसिले में हमने पहली बार सुना था। यह पता नहीं था कि आगे जाकर इस मनहूस शब्द से रोज़ वास्ता पड़ेगा।

''क्या मतलब?'' मैंने पूछा।

''मतलब यह कि अब फ़िल्मों की कामयाबी की शर्त उनका कलात्मक स्तर नहीं है, बल्कि यह है कि वे पैसा कितना बनाती है। शकुन्तला कलात्मक दृष्टिकोण से चाहे घटिया हो, पर व्यापारिक दृष्टि से खूब कामयाब है। बॉक्स-आफिस के सारे रिकार्ड तोड़ रही है।''

''लेकिन पहले भी तो शान्ताराम की फ़िल्में चलती ही थीं'', मैंने कहा।

''अब उतनी कामयाबी के साथ कुछ नहीं बनता। फ़िल्मों की लागत बहुत बढ़ गई है। इसके साथ लोगों की रुचि भी बदल गई है। वे गम्भीर, दुखान्त और आदर्शवादी फ़िल्में नहीं देखना चाहते। वे चाहते है मनोरंजन, नाच-गाने, हँसी-खेल।''

''तुम्हारा मतलब है कि न्यू थियेटर्स की फ़िल्मों से मनोरंजन नहीं होता था ?''

''मध्यमवर्गीय पढ़े-लिखे लोगों को ज़्यादा होता था, आम जनता का कम। और एक ही तरह कि फिल्मों को बार-बार देखकर तंग भी आ गए थे। न्यू थियेटर्स और 'प्रभात' ने केवल दुखान्त की लकीर पकड़ी हुई थी और उनकी फ़िल्मों की चाल भी सुस्त थी और गाने भी सुस्त थे। इसमें शक नहीं कि वे फिल्म को पहले से ऊंचे स्तर पर ले आए थे, पर यह भी मानना पड़ेगा कि समाज की बुनियादी हकीकतों को उन्होंने दिलेरी के साथ कभी नहीं छुआ था। वे भावुकता बहुत ले आते थे, जिससे लोगों को एकरसता महसूस होने लगी थी। इस परिस्थिति का लाहौर के एक प्रोड्यूसर ने लाभ उठाया। उसने लोकगीतों के आधार पर गीतों की सरल धुनें बनवाई, जो लोगों की ज़बान पर फ़ौरन चढ़ जाती थीं। और कहानियां भी ऐसी ढूंढीं जो लोगों को ख़ुशियों-भरे मनोरंजक संसार में ले जाएं। सुन्दर लड़कियां, चटकीले नाच, रोमांस, शरारत, थोड़ी-सी अश्लीलता व नग्नता। यह नया फ़ार्मूला सबसे पहले पंचोली साहेब की 'खज़ांची' में प्रकट हुआ और इस फ़िल्म को बेहद लोकप्रियता मिली। इसकी देखादेखी इसी तरह की और फिल्में बनने लगीं। 'न्यू थियेटर्स' और 'प्रभात' दोनों की फ़िल्मों का भट्टा बैठ गया। शान्ताराम ने वक्त की ज़रूरत को समझते हुए 'प्रभात' से रिश्ता तोड़ लिया और बम्बई आ गए। एक स्वतंत्र निर्माता के रूप में उनके पांव जमाने का यही एक रास्ता था—जनता की मांग को सामने रखकर पिक्चर बनाना। इसीलिए उन्होंने शकुन्तला का कथानक चुना, क्योंकि उसमें ज़रूरत के मसाले आसानी से और बिना बदनामी के भरे जा सकते थे। यह ठीक है कि कालिदास के साथ अन्याय हुआ है, पर कितने लोगों ने मूल नाटक पढ़ा है?''

''मुझे यह दलील वज़नी नहीं लगती,'' मैंने कहा।

"मैं जानता हूं और काफी हद तक तुमसे सहमत हूं," चेतन ने कहा। "पर इस लाइन में आदमी को कारोबारी होना ही पड़ता है। अब अगली फ़िल्म 'डाक्टर कोटनीस की अमर कहानी' में शान्ताराम ने अपनी मर्ज़ी का यथार्थ व प्रगतिवादी विषय चुना है! मेरे ख्याल में तो शान्ताराम की समझ-बूझ की दाद देनी चाहिए।"

"पर एक बार आत्मा को धोखा देने से वह कमज़ोर नहीं हो जाती ?" मैंने कहा।

"इस लाइन में आदर्शवाद की ज़्यादा गुंजाइश नहीं है," चेतन ने हंसकर जवाब दिया।

फिल्म 'खजांची' का जिक्र सुनकर दम्मो ने मेरी तरफ़ देखा था। हमें याद आया, जब इस फ़िल्म के गीत रेडियो पर बजाने के लिए हमारे पास पहले-पहले लन्दन पहुंचे थे तो हमारे सारे कर्मचारी उन्हें सुनकर हंस-हंसकर दोहरे हो गए थे।

उनमें हिन्दुस्तानी और यूरोपियन संगीत का हद से ज़्यादा ओछा और बेजोड़ मिश्रण था। एक गीत तो हमें खास तौर पर बेसुरा और हास्यास्पद लगा थाः

पंछी ऽऽऽ जा ऽऽऽ
पीछे रहा है बचपन मेरा
उसको जाकर ला...

हमने इन रिकार्डों को एक तरफ़ रख लिया था। किसी अंग्रेज़ी साथी के सामने इन्हें बजाने की हमारी हिम्मत नहीं होती थी। हमारे दिलों पर आर०सी०बोराल और पंकज मल्लिक के सुन्दर संगीत की छाप थी। सहगल, काननबाला, के०सी०डे तथा उमा शशि की आवाज़ के हम दीवाने थे। सहगल के लिए मेरी श्रद्धा लंदन जाकर और भी बढ़ गई थी। उनके हर गीत में हर गज़ल में सुन्दरता का कोई-न-कोई नया छोर मिलता था, और मन को मुग्ध कर देता था। मैंने बड़ी मेहनत से बी०बी०सी० की लाइब्रेरी में सहगल के गीतों को शामिल करवाया था और अंग्रेज़ अधिकारी सहमत हुए थे कि सचमुच वह ऊंचे दर्जे का संगीत है।

पर देखते-देखते हिन्दुस्तान से 'खज़ांची' जैसे और रिकार्ड धड़ाधड़ आने लगे थे और फौजी भाइयों की तरफ से भी ज़्यादा उन्हीं की फ़रमाइशें आती थीं। देश से दूर होने के कारण हमने इस तबदीली को सिर्फ मौसमी बुख़ार ही समझा था, उसके इन्कलाबी होने का अनुमान नहीं कर सके थे।

"तुम क्या ख़याल लेकर फिल्मों में आए हो?"मैंने चेतन से पूछा।

"आहा, यह बड़ा दिलचस्प सवाल है," चेतन ने कहा। "मेरा एक्टिंग करने का कोई इरादा नहीं है। मैं एक मौलिक, यथार्थवादी फ़िल्म बनाना चाहता हूं, जिसका नाम होगा, 'नीचा नगर'। यह हमारे देश के आर्थिक वर्गो की मुठभेड़ की कहानी होगी, जिसमें मैं किसी किस्म का बॉक्स-आफ़िस समझौता नहीं करूंगा। आजकल मैं उसकी कहानी पर काम कर रहा हूं।"

"पर तुमने तो कहा था कि इस लाइन में कारोबारी होने की ज़रूरत है। अगर शान्ताराम जैसे डायरेक्टर को समझौता करना पड़ा है, तो क्या तुम्हें नहीं करना पड़ेगा?"

"मैं इस नई परिस्थिति को एक चैलेंज के रूप में देखता हूं, बलराज ! तुम और मैं दोनों ही, साहित्य और नाटक के क्षेत्र में, सच्ची यथार्थवादी कला का अध्ययन कर चुके हैं। उसका अपना एक व्यापक आकर्षण होता है, उसकी अपनी तकनीक है। लोग अपने

जीवन को सही और सच्चे रंगों में देखने के लिए हमेशा उत्सुक रहते हैं। अगर फ़िल्मसाज़ उस भूख को मिटाने की क्षमता रखता हो, तो नाच-गाने, चटनियां-मसाले ज़रूरी नहीं रहते।''

चेतन ने यह ऐसी बात कही थी, जिसके साथ मैं स्वयं पूरी तरह सहमत था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भी मैं अपनी आंखों से एक बार देख चुका था।

गर्मी की छुट्टियां थीं। मैं लाहौर से पिंडी आया हुआ था। पता चला कि रोज़ सिनेमा में, जिसका उदघाटन 'रूपर्ट आफ हैंटजा' के साथ हुआ था, 'प्रभात' फ़िल्म कम्पनी की पिक्चर 'दुनिया न माने' लगी हुई थी मैं फ़िल्म देखने चला गया। मैं पहले कह चुका हूं कि सभ्यता के नाते उस समय पिंडी एक पिछड़ा हुआ शहर था। मुझे यकीन नहीं था कि पब्लिक उस फ़िल्म को ज़रा भी पसन्द करेगी। पर हाल खचाखच भरा हुआ था। पांच आने और दस आने वाली सीटों पर, वही पठानी किस्म के मुसलमान बैठे हुए थे, जो अपनी जहालत और अक्खड़ता के लिए मशहूर हैं। फ़िल्म में एक जगह शान्ता आप्टे, जिसकी शादी उसकी इच्छा के विरुद्ध एक बूढ़े आदमी से कर दी जाती है, अपने प्रोफ़ेसर अंग्रेज़ कवि लांगफैलो की कविता-

Tell me not in mournful numbers
Life is but an empty Dream..........

पूरी की पूरी गाकर सुनाती है। काफी लम्बी कविता है यह, पर दर्शकों का दसवां भाग भी अंग्रेज़ी नहीं समझता था। मुझे डर लगा कि कहीं सारा का सारा हाल सीटियां बजाता हुआ न उठ खड़ा हो, पर ऐसा नहीं हुआ। लोग बड़ी खामोशी और अदब के साथ कविता सुनते रहे, जिसका उन्हें कुछ भी पल्ले नहीं पड़ रहा था। उसकी भावना को वे समझ गए थे और उसके लिए उनके दिल में कद्र थी।...

चेतन कह रहे थे, ''इस समय आज़ाद प्रोडयूसर अस्तित्व में आया है। इस अस्थिर-सी परिस्थिति की आशावादी सम्भावनाएं भी हैं। इस समय अच्छे सुशिक्षित और प्रगतिशील लोग अगर हिम्मत करें तो फ़िल्म-इण्डस्ट्री को पहले से कहीं अधिक यथार्थवादी मोड़ दे सकते हैं। अगर इस मौके का फ़ायदा नहीं उठाया गया तो मैदान पूरी तरह सस्ती फिल्में बनाने वाले मनोरंजनवादियों के हाथों में चला जाएगा।''

हम बड़े ध्यान से चेतन की उत्साहपूर्ण बातें सुनते रहे। उस उत्साह में हम स्वयं कितने शरीक हो सकते हैं, हमें पता नहीं था। हम चार साल देश से बाहर बिताकर आए थे। समय एक जगह खड़ा नहीं रहता और लड़ाई का ज़माना कोई साधारण ज़माना नहीं होता। देश के जीवन के साथ फिर एक होने के लिए हमें बहुत-सी टूटी तारें जोड़नी पड़ेंगी। हमारे पीछे अकेले बंगाल में ही बीस लाख आदमी चावलों को तरस-तरस कर मर गए थे, जबकि पुडिंग बनाने के लिए लन्दन में चावल मिल जाते थे, जहां चावल पैदा नहीं होते। ऐसी घटनाएं प्रभाव डाले बिना नहीं रहतीं।

हमारा पहला कर्तव्य था, रावलपिंडी जाना और अपने परिवार से मिलना। और जब फिर पोठोहार की पहाड़िया दिखाई दीं तो हमें वतन वापस आने का असली यकीन हुआ। उस समय किसे पता था कि हम वतन को पहली बार ही नहीं आख़िरी बार भी देख रहे हैं! किसे पता था कि उससे भी और एक-दूसरे से भी सदा-सदा के लिए बिछुड़ जाने की घड़ी सिर पर मंडरा रही है!

बाझ नसीबां न पानी पीता बुके भर
कौन साईं नूं आखे इंज नहीं, इंज कर।

६

रावलपिंडी में कुछ दिन बिताने के बाद हम कश्मीर की ठंडी हवाएं खाने के लिए निकल पड़े, जहां हमारा अपना घर था। अचानक एक दिन चेतन आनन्द भी वहां पहुंच गए और हमारे पास ही ठहर गए। उन्होंने बताया कि 'नीचा नगर' बनाने की उनकी तैयारियां पूरी हो चुकी हैं, और फ़िल्म के मुख्य पात्रों की भूमिका वे मुझसे और दम्मो से करवाना चाहते हैं। मुआवज़ा बीस हज़ार रुपये।

यह सुनकर हम ऊंची हवाओं में उड़ने लगे। यकीन करना मुश्किल हो गया था। कहीं वे हमें शेख़चिल्ली का सपना तो नहीं दिखा रहे थे?

श्रीनगर से मैंने शान्ति-निकेतन में पंडित हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी को पत्र लिखा था कि वे मुझे फिर से हिन्दी भवन की शरण देना स्वीकार कर लें। उनका 'हां' में उत्तर भी आ चुका था। शान्ति-निकेतन वापस जाने और वहां अपने पुराने मित्रों को फिर से मिलने की हम दोनों की बहुत इच्छा थी। पर अब जैसे एक नया कौतुक हमें चुनौती दे रहा था।

एकदम रज़ामन्द होना मुश्किल था। मेरे पिताजी भी हमारे शान्ति-निकेतन लौटने से ज़्यादा खुश नहीं थे। वे चाहते थे कि बी०बी०सी० की नौकरी का लाभ उठाकर मैं आल इण्डिया रेडियो में किसी अच्छे ओहदे के लिए प्रयत्न करूं। अगर कहीं वे सुन लेते कि मैं फ़िल्मों में जाने वाला हूं, और अपनी पत्नी को भी अभिनेत्री बनाऊंगा, तो पता नहीं घर में कैसा तूफ़ान उठ खड़ा होता।

मैंने सोचा कि इस बीस हज़ार की रकम का आनन्द एक बार तो उठा ही लेना चाहिए। इस बात के लिए हम पति-पत्नी दोनों ही सहमत थे। पहले भी कितनी ख़ुराफात कर बैठे थे, एक और सही।

एक शाम को जेहलम दरिया के किनारे सैर करते हुए चेतन ने मुझे 'नीचा नगर' की कहानी विस्तार से सुनाई। मैं उनके कहानी सुनाने के अंदाज़ से बहुत प्रभावित न हो सका, पर कथावस्तु में हद दरजे का यथार्थ था- वही जो मैं गोर्की की कहानियों और रूसी फ़िल्मों में देखता आया था। कई दृश्य चेतन ने ऐसी ख़ूबी से बयान किए कि वे मेरी कल्पना में बार-बार घूमने लगे। निःसन्देह चेतन एक साहसपूर्ण कदम उठाने वाले थे, जिसमें उनका साथ देना किसी लिहाज़ से भी ग़लत नहीं कहा जा सकता था।

संवाद लिखने के लिए चेतन गुलमर्ग चले गए और पन्द्रह-बीस दिनों के बाद फ़िल्म-सम्बन्धी योजना की रेखाएं और भी स्पष्ट हो गईं।

फ़िल्म पूना में बननी थी, जहां हमारा २० सितम्बर तक पहुंच जाना आवश्यक था। निर्माता ने, डब्ल्यू० जैड० अहमद, जिन्होंने नवयुवक स्टूडिओ ले रखा था, और जो बड़े अरूज वाले फ़िल्मसाज थे। निर्देशन खुद चेतन का था।

जुलाई के अन्त में चेतन बम्बई वापस रवाना हो गए। चलने से पहले हमने उन्हें स्वीकृति दे दी, लेकिन परिवार से तब भी यह बात गुप्त रखी गई।

मैं ज़्यादातर तो कश्मीर की सैर ही करता रहा, पर थोड़ा-सा साहित्य-संसार के निकट भी आया। मैंने हिन्दी के प्रमुख मासिक पत्र, 'हंस' की, जिसे मुंशी प्रेमचन्द जी के सुपुत्र, श्रीपतराय निकालते थे, पिछले चार साल की फ़ाइलें मंगाकर पढ़ीं। दो रचनाओं ने मेरे हृदय पर गहरा प्रभाव डाला- एक थी विजन भट्टाचार्य का एकांकी नाटक, 'ज़बानबन्दी', जो हिन्दी में 'अन्तिम अभिलाषा' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। बंगाल के अकाल-पीड़ित गांवों के लोग कैसे अपने घर-बार छोड़कर कलकत्ता की ओर भागते है, इसका अत्यन्त हृदय-विदारक दृश्य प्रस्तुत किया गया था। हिन्दी में मैंने ऐसा नाटक इससे पहले नहीं पढ़ा था। दूसरी रचना थी, कृश्न चन्दर का उपन्यास, 'अन्नदाता' । वह भी एक शाहकार रचना थी।

विलायत से मैं अपने देश के लिए गहरा प्यार लेकर आया था, और भविष्य में लम्बे अर्से के लिए किसी पराये देश में न रहने की, भले ही वह कितना ही सुन्दर क्यों न हो, सौगन्ध उठा ली थी। पर इसका यह अर्थ नहीं कि मुझे इंगलैंड मैं चार वर्ष बिताने का अभिमान नहीं था। मैं इससे पहले भी कह चुका हूं कि संसार को अपने चारों ओर घुमाने का मानसिक रोग मुझे बचपन से ही था। मैं आईना देखकर स्वयं को बेहद सुन्दर ही नहीं समझता था, अपने व्यक्तित्व को भी विरल और अनोखा महसूस करता था। जैसे संसार पर उसकी छाप मेरे लाख प्रयत्न करने के बावजूद भी अवश्य पड़ जाएगी। यह माता-पिता के असाधारण लाड़-प्यार से उत्पन्न हुआ मनोविकार था। मेरा जन्म पांच बहनों के बाद हुआ था। मां-बाप ने तरस-तरसकर बेटे का मुंह देखा था।

पर इसके उलट एक और भी उतनी ही प्रबल प्रवृत्ति मेरे भीतर से सिर निकाल चुकी थी- हार न मानने की, अपने लक्ष्य पर पहुंचकर ही दम लेने की। मेरे इस व्यक्तिवादी रवैये को जीवन में बहुतसी सख़्त चोटें भी लगी थीं। ऐसा होना स्वाभाविक था। और ज़ख्मी हालत में जब मैं अपने चारों तरफ़ देखता था, तो पता चलता था कि सारा संसार ही दुःखी है। मेरे अन्दर अपने दुःख को दूसरों के दुःखों के साथ सांझा करने की भावना और मानवता के साथ गहरा रिश्ता जोड़ने की कामना प्रतिदिन प्रबल होती जा रही थी।

व्यक्तिवाद और समष्टिवाद का यह द्वन्द्व मेरे जीवन में सदा रहा है। इसने मेरी सहायता भी की है और मेरा रास्ता भी रोका है। यही विरोध मैंने अपनी पीढ़ी के लगभग सभी साहित्यकारों और कलाकारों में देखा है।

जब से होश संभाला है, मैं जनता के साथ घुलना-मिलना भी चाहता हूं, पर जनता से शरमाता भी हूं। न पूरी तरह व्यक्तिवाद में ही सुखी हूं और न ही समष्टिवाद में। मैं देश-कल्याण के कार्यों में भी हिस्सा लेता रहा हूं, पर अपने स्वार्थ को भी नहीं छोड़ा। मैं उस बन्दर की तरह हूं, जो आग से डरता भी है और आग से खेलने से बाज़ भी नहीं आता।

यही प्रवृत्ति मेरे समकालीन लोगों की है। नई पीढ़ी शायद हमारे चरित्र में अवगुण और पाखण्ड ही देखेगी। लेकिन मैं समझता हूं कि इस द्वन्द्व में कुछ गुण भी हैं।

विलायत से वापस आकर मैंने अंग्रेज़ी साम्राज्य का निडरता से खुल्लम-खुल्ला विरोध करना शुरु कर दिया था। यहां तक कि मेरे दोस्त कभी-कभी मेरा ध्यान डिफ़ेंस आफ़ इंडिया रूल्स की ओर भी दिलाते थे। पर इसका यह मतलब नहीं कि मैं सब-कुछ

छोड़-छाड़कर स्वतन्त्रता-आन्दोलन में कूदने के लिए तैयार हो चुका था। मेरी यह प्रतिक्रिया केवल मेरा अहंकार था। विलायत जाकर मैं अपने-आपको अंग्रेज़ों के बराबर समझने लगा था। इस अहंकार के सम्बन्ध में उस समय की एक और तस्वीर मेरे सामने आती है। विलायत जाने से पहले मेरी कहानियां 'हंस' में बाकायदा प्रकाशित होती रहती थीं। मैं उन भाग्यशाली लेखकों में से था, जिनकी भेजी हुई कोई भी रचना अस्वीकृत नहीं हुई थी। विलायत में चार साल तक मैंने एक भी कहानी नहीं लिखी थी। अभ्यास टूट चुका था। अब मैंने उसे बहाल करना चाहा। एक कहानी लिखकर 'हंस' को भेजी, तो वह वापस आ गई। मेरे स्वाभिमान को गहरी चोट लगी। इस चोट का घाव कितना गहरा था, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उसके बाद मैंने कोई कहानी नहीं लिखी।

चेतन के फ़िल्मों में काम करने के निमंत्रण ने जैसे इस चोट पर मरहम का काम किया। फिल्मों का मार्ग अपनाने का कारण यह अस्वीकृत कहानी भी थी।

फिर एक और घटना भी घटी, जिसने मेरे अहंकार में और भी वृद्धि कर दी। मुझे कृश्न चन्दर का पत्र मिला, जो उन्होंने पूना से लिखा था--डब्ल्यू०जैड० अहमद के स्टूडिओ से, जहां वे चित्रकथा-लेखक की हैसियत से काम कर रहे थे। उसमें उन्होंने सबसे पहले डब्ल्यू०जैड०अहमद के व्यक्तित्व की और उनके प्रगतिशील विचारों की प्रशंसा की थी। फिर लिखा था-चेतन द्वारा फ़िल्मों में आने की क्या ज़रूरत है? तुम्हें अपने साथियों में शामिल कर अहमद साहब को बहुत खुशी होगी।

मेरी दृष्टि में अपना महत्त्व अचानक इतना बढ़ गया कि मैंने यह सोचने की भी परवाह नहीं की कि कृश्न चन्दर ने यह पत्र शायद केवल मित्र-भावना से प्रेरित होकर ही लिखा है। आख़िर मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि डब्ल्यू०जैड०अहमद ने ख़ुद यह पत्र लिखवाया है। वे अवश्य मुझे चेतन से अलग करने की कोशिश कर रहे थे। कितनी घटिया और ग़लत बात थी यह!

मैंने बिना उत्तर दिए पत्र चेतन को भेज दिया। कृश्न चन्दर का एक और पत्र आया। वह भी मैंने चेतन को भेज दिया। पर अजीब बात यह थी कि जाने के बाद चेतन ने एक भी खत न लिखा। और इधर, न जाने कैसे, फ़िल्मों में काम करने की बात मेरे मुंह से निकल गई और फ़ौरन ही चारों ओर फैल गई। मुझे बहुत 'ख़ास' नज़रों से देखा जाने लगा, जैसे मैं अभी से फ़िल्म-स्टार बन गया था। बात पिताजी के कानों में भी पहुंची। पहले तो उन्होंने मुझे टोका, पर बीस हज़ार की बात सुनकर वे भी चुप हो गए। दम्मो के बारे में मैंने अभी किसी को नहीं बताया था।

जैसे-जैसे सितम्बर की निश्चित तारीख़ निकट आने लगी, मेरे मन की व्याकुलता बढ़ने लगी-अगर चेतन का खत न आया तो? कहीं सारे अण्डे एक ही टोकरी में रखने की मूर्खता तो नहीं कर बैठा हूं?

लम्बी प्रतीक्षा के बाद चेतन का पत्र आ ही गया, लेकिन गोल-मोल-सा। उन्होंने न तो पैसे भेजे, न ही कोई और बात पक्की थी। हां, बीस तारीख को पूना पहुंच जाने के लिए अवश्य लिख दिया था।

मेरे छोटे भाई, भीष्म को उस पत्र से बड़ी निराशा हुई। उसके आधार पर उन्होंने दम्मो और बच्चों को साथ ले जाने का सख़्त विरोध किया। अन्त में मैं अकेला ही पानी की धार देखने पूना के लिए चल दिया।

बरसात के दिन थे। सफ़र बड़ा सुहाना था। ख़ासकर पूना के निकट पहुंचकर ऐसा लगा, जैसे मैं फिर इंगलैंड में पहुंच गया होऊं। तब पता चला कि अंग्रेज़ हिन्दुस्तान से जाकर पूना को क्यों इतने प्यार से याद करते थे। वहां की जलवायु और प्राकृतिक दृश्य वास्तव में अपना जवाब नहीं रखते।

स्टेशन पर कृश्न चन्दर मुझे लेने आए हुए थे। रात को मैं उनके घर पर रहा। उन्होंने अपने पत्रों का मुझसे कोई ज़िक्र नहीं किया। मैं हैरान था कि चेतन क्यों नहीं आए। मैं कृश्न चन्दर से कुछ झेंप महसूस करता रहा। दूसरे दिन सुबह लगभग दस बजे चेतन आए, और हम दोनों स्टूडिओ के लिए रवाना हो गए।

वहां बहुत बिखरा हुआ और अस्थिर-सा वातावरण देखा। कोई शूटिंग नहीं हो रही थी। बहुत-से बेकार आदमी टोलियां बनाकर ऐसे इधर-उधर घूम रहे थे, जैसे लोग अर्थी उठने का इन्तजार करते हैं। कोई बैठने-उठने की जगह नहीं थी। टहलने वालों में कुछ जाने-पहचाने व्यक्ति मिले। डेविड अब्राहम मिले। लगभग छः साल पहले मैं उन्हें कश्मीर में मिला था, जब इनाक्षी रामाराव तथा उनके पति श्री भवनानी अपनी फ़िल्म 'हिमालय की बेटी' बनाने के लिए कश्मीर आए थे। डेविड तब उनके प्राइवेट सेक्रेटरी थे।

'हिमालय की बेटी' शायद पहली हिन्दी फ़िल्म थी, जिसको शूटिंग कश्मीर में हुई थी। यहां इस सम्बन्ध में थोड़ा विस्तार से बताना असंगत न होगा।

उन दिनों मैं शान्ति-निकेतन में अध्यापक था। इनाक्षी रामाराव गुरुदेव टैगोर को अपना नृत्य दिखाने आई थी। दम्मो से उनकी मैत्री हो गई थी। बातों-बातों में दम्मो ने उनसे ज़िक्र कर दिया कि कश्मीर में हमारा अपना घर है और गर्मियों की छुट्टियां हम वहीं बिताने जा रहे हैं। इनाक्षी ने बताया कि वे फिल्मों में भी काम करती हैं, और उनके पति भी आउटडोर शूटिंग के लिए कश्मीर जाने का प्रोग्राम बना रहे हैं। शायद वहां फिर मुलाकात होगी।

उस ज़माने में महाराजा हरीसिंह की हुकूमत थी, और आगन्तुकों पर तरह-तरह की पाबन्दियां थीं। शूटिंग के लिए रियासत के दीवान से इजाज़त लेना ज़रूरी था। कश्मीर पहुंचकर मैंने भवनानी के लिए इजाज़त हासिल करके उन्हें भेज दी। लगभग दो सप्ताह के बाद भवनानी अपने दल-बल के साथ श्रीनगर आ पहुंचे। डेविड, इनाक्षी और भवनानी पहले एक-दो दिन हमारे यहां ठहरे। इस प्रकार डेविड से मेरी जान-पहचान हुई। वे भी तब नये-नये कालिज से निकले थे। पी०जी०बुडहाउस पढ़ने का, मेरी तरह ही उनको भी बहुत शौक था। हमारी अच्छी दोस्ती हो गई। एक दिन प्रातःकाल डल झील में मैं अपने मित्रों के साथ बोटिंग कर रहा था। गगरीबल की दीवार के पास हमने देखा कि भवनानी का यूनिट शूटिंग की तैयारियां कर रहा है। तमाशा देखने के लिए हमने भी नाव किनारे पर लगा दी। पता चला कि एक लड़के का पानी में छलांग लगाने का सीन लेना है। दीवार बहुत ऊंची थी, और उस स्थान पर न सिर्फ पानी कम था, बल्कि नीचे पत्थर भी थे। मैंने भवनानी को इस बात की चेतावनी दी। पर उन्होंने मेरी तरफ इस प्रकार देखा जैसे

वे मुझे पहचान ही न सके हों। बहुत लापरवाही से मेरी बात अनसुनी कर दी गई। हमने भी नाव आगे बढ़ा दी।

जब लगभग एक घण्टे के बाद हम वापस आए, तो गगरीबल के मोड़ पर काफ़ी भीड़ जमा थी। पता चला कि जिस नौजवान ने छलांग लगाई थी, उसकी टांग टूट गई थी। और भी बहुत-सी सख्त चोटें आई थीं। मैं भवनानी की लापरवाही पर दंग रह गया।

तब मुझे पता नहीं था कि नये या छोटे-मोटे कलाकारों की जान से खेलना फ़िल्म-इंडस्ट्री का दस्तूर ही बना हुआ है।...

डेविड की गिनती अब सितारों में थी। जब वे पहले मिले थे, तो उनकी तनख़्वाह डेढ़ सौ के लगभग थी। अब एक फ़िल्म के कम से कम दस हज़ार मिल जाते थे। और उन्होंने एकसाथ पन्द्रह काण्ट्रेक्ट ले रखे थे।

श्याम भी मिले, जिनकी मौत भी फिल्मी हादसे के कारण ही लिखी हुई थी। वे भी हमारे रावलपिंडी के ही थे। उनके परिवार से हमारे सम्बन्ध अत्यन्त स्नेहमय और गहरे थे। बड़े आदर-सत्कार से मिले वे मुझे। अभी उन्होंने इतनी ख्याति अर्जित नहीं की थी। पर अब इसमें बहुत समय नहीं लगना था। अहमद साहब की दो फ़िल्मों में वे नीना के मुकाबले में आ रहे थे।

करन दीवान मिले, जो फ़िल्म 'रतन' की कामयाबी के बाद एक लोकप्रिय सितारे बन चुके थे। कालेज के दिनों में उनका बड़ा भाई हमारा दोस्त था। हम लाहौर में इकटठे ही नाटक आदि खेला करते थे।

हमीद बट्ट के दर्शन हुए, जिन्हें मैं पहले एक बार लखनऊ में मिल चुका था। उनसे सुने हुए मधुर गीत मेरी स्मृति-में अब भी ताज़ा थे।

गप-शप करते हुए काफ़ी समय गुज़र गया, और हम उकता-से गए। फ़िल्मी आदमी बनने के लिए मक्खियां मार-मारकर समय बिताने की आदत डालना बहुत ज़रूरी है। मैं अभी नया-नया था और इन बातों का मुझे ज्ञान नहीं था।

अन्त में, एक व्यक्ति ने आकर कहा, "आप मेक-अप कर लें, आपके फ़ोटो लेने हैं। साहब (डब्ल्यू०जैड०अहमद) आपको दो बजे मिलेंगे।"

एक छोटे-से कमरे में मैं मेक-अप के लिए बैठ गया। यह मेरा पहला मेक-अप था। कालेज और शांति-निकेतन में नाटक खेलने पर मैं मेक-अप करता था, पर इसमें और उनमें ज़मीन-आसमान का अन्तर था। यह उससे हज़ार गुना अधिक स्वाभाविक, सुन्दर और कलात्मक था। देखते-देखते मेक-अप-मैन ने मेरा चेहरा ऐसा चमका दिया कि मैं मेक-अप-मैन की जितनी ही तारीफ़ें करता वह उतना ही व्यंग्य से हंसकर दूसरी ओर देखने लगता।

वास्तव में, अच्छा मेक-अप फिल्मों में रोज़ाना की बात थी, उस मेक-अप-मैन ने कोई असाधारण कारनामा नहीं किया था।

मेक-अप के बाद फ़ोटो ले लिए गए। एक-डेढ़ का वक्त हो गया। अब अहमद साहब से मुलाकात का इन्तज़ार होने लगा।

दो बज गए, तीन बज गए, चार बज गए, पांच बज गए...

मैं विलायत से नया-नया आया था, जहां दस मिनट से ज़्यादा लेट पहुंचने का साहस बादशाह सलामत भी नहीं कर सकता, सो यह अपमान मुझसे कैसे सहन होता ? जो हवाई किले मैंने दिमाग़ में बनाए थे, सभी धराशायी होने शुरु हो गए। कृश्न चन्दर के पत्रों से तो मैंने अनुमान लगाया था कि अहमद साहब फूलों की माला लिए हुए स्टूडिओ के फाटक पर प्रतीक्षा करते हुए मिलेंगे। पर अब स्थिति यह थी, जैसे नौकरी के उम्मीदवार के तौर पर मैं कतार में खड़ा था। डेविड, तिवारी और दूसरे मित्रों की नज़रों के सामने मैने ख़ुद को किसी गहरे कुएं में गिरते हुए महसूस किया। मैं बार-बार चेतन की बांह पकड़कर उन्हें वहां से चलने के लिए कहता। चेतन भी अजीब शशोपंज में थे। वे इस लाइन से अधिक परिचित हो चुके थे। वे जानते थे कि प्रतीक्षा के सिवाय कोई दूसरा चारा नहीं था। न ही वे इतना अपमान महसूस कर रहे थे।

मैं कभी सोचता, चेतन को चलने के लिए कह तो रहा हूं, पर जाएंगे कहां? वापसी के टिकट कटाने के सिवाय अब दूसरा चारा भी क्या है? और श्रीनगर जाकर अब क्या मुंह दिखाऊंगा? भीतर-ही-भीतर मैं स्वयं को कोसता कि क्यों पक्की लिखा-पढ़ी किए बिना, इतनी दूर अपने ख़र्च पर भाग आया हूं। अपनी इस स्थिति का ज़िम्मेदार तो मैं स्वयं हूं।

पर जब स्वाभिमान की रक्षा का प्रश्न सामने हो, तो मैं बिना कुछ सोचे अड़ जाने वाला व्यक्ति हूं। तब मैंने अहमद साहब से मुलाकात होने पर इस अनुचित व्यवहार के ख़िलाफ रोष प्रकट करने का इरादा कर लिया।

अन्त में, लगभग छः बजे अहमद साहब ने अन्दर बुलाया। उन्होंने आंखों पर काली ऐनक लगा रखी थी, जो मेरे ख़याल में सिर के गंजेपन से पैदा होने वाली कमज़ोरी को छिपाने का प्रयास था। वैसे नक्श उनके सुन्दर थे।

वे सुबह के वक्त लिए गए मेरे फ़ोटो सामने रखे हुए बैठे थे। मेरे कुर्सी पर बैठते ही उन्होंने सिग़ार का लम्बा कश लगाते हुए फ़ोटो मेरे सामने रख दिए। उनमें से एक वास्तव में अत्यन्त सुन्दर था, उसे उन्होंने मेरे हाथों से लेकर फिर कुछ मिनट के लिए निहारा। 'बहुत अच्छा है,'' उन्होंने कहा।

मैंने जवाब में फिर उनके मेक-अप-मैन की प्रशंसा के पुल बांध दिए। तब उनके होंठों पर भी वैसी ही व्यंग्यात्मक हंसी दिखाई दी, जो मैंने मेक-अप-मैन के चेहरे पर देखी थी। फिर वे एक टाइप किया हुआ कागज़ मेरी तरफ बढ़ाते हुए कहने लगे, ''देखिए, चेतन साहब की पिक्चर बनाने का फ़िलहाल मेरा इरादा नहीं है। पहले मैं 'महाभारत' बनाना चाहता हूं। उसमें कृष्ण का रोल मैं चेतन साहब को देना चाहता हूं, और अर्जुन का आपको। चेतन साहब को डेढ़ हज़ार रुपया माहवार देने का मेरा इरादा है, और आपको एक हज़ार। अगर मंज़ूर हो तो कांट्रेक्ट पर दस्तखत कर दीजिए।'' तनख्वाह बहुत थी कि थोड़ी, इस तरफ मेरा ध्यान नहीं गया। इससे तिगुनी तनख़्वाह वाली नौकरी मैं विलायत में छोड़कर आया था। मैंने ग़ुस्से की भाप छोड़ते हुए जवाब दिया, ''नौकरी और तनख़्वाह का जिक्र करने से पहले मुझे उम्मीद थी कि आप मुझसे चार घण्टे इन्तज़ार कराने की माफ़ी मांगेंगे। बहरहाल, मैं आपसे अर्ज़ करना चाहता हूं कि मैं यहां सिर्फ़ चेतन की पिक्चर में काम के ख़याल से आया हूं, मेरा अर्जुन-वर्जुन बनने का कोई इरादा नहीं है।''

अहमद साहब खामोश हो गए। तभी नीना अन्दर आकर एक सोफ़े पर बैठ गई। गुलाबी रंग और सफेद साड़ी में उनकी सुन्दरता से कमरा महकने लगा। अहमद साहब भी अचानक सहृदय और बेतकल्लुफ़ हो गए। "साहनी साहब, मैं चाहता था कि मुलाकात से पहले तस्वीरें मेरे पास आ जाएं। कैमरा डिपार्टमेंट वालों से डिवेल्पिंग में कुछ देर हो गई और आपको ज़हमत उठानी पड़ी। नीना, साहनी साहब अर्जुन के रोल के लिए यकीनन मौजू हैं, मगर धार्मिक पिक्चर में काम करना उन्हें पसन्द नहीं आ रहा है। कोई जल्दी नहीं है, साहनी साहब ! आप सोच लीजिए। हमारी 'महाभारत' महज़ धार्मिक पिक्चर नहीं होगी, उसके कुछ तरक्की-पसन्द पहलू भी होंगे, जिन्हें आप ज़रूर पसन्द करेंगे।"

"मैंने अपना इरादा आपको बता दिया है, इससे ज्यादा न मुझे कहना है न सोचना है।" मैं उठ खड़ा हुआ और सलाम करके बाहर चला आया।

बाहर आकर देखा कि चेतन वहां नहीं थे। शायद उन्हें अहमद साहब ने किसी दूसरी तरफ़ से अन्दर बुला लिया था।

बगीचे में हमीद बट्ट, मोहसिन अब्दुल्ला, तिवारी, डेविड और मैं देर तक टहलते रहे। अन्त में, चेतन उसी दरवाज़े से प्रकट हुए, जहां से मैं निकलकर आया था।

मेरी प्रश्नसूचक दृष्टि के जवाब में चेतन ने हारे हुए अन्दाज़ में कहा, "भई मैं तो कांट्रेक्ट पर साइन कर आया हूं।"

मैं चकित रह गया। "मैंने तुम्हारी ख़ातिर इन्कार कर दिया था, और तुम साइन कर आए हो!"

अहमद साहब ने मेरे कांट्रेक्ट की बात चेतन से छिपाकर रखी थी। चेतन भी कोई कम स्वाभिमान वाले व्यक्ति नहीं थे। वे फ़ौरन पलटकर कोठी के अन्दर गए और अहमद साहब से मांग की कि कांट्रेक्ट फाड़ डाला जाए।

अहमद साहब कांट्रेक्ट फाड़ने के लिए तैयार नहीं हुए, लेकिन उन्होंने वायदा किया कि वे उन्हें काम करने के लिए मजबूर नहीं करेंगे।

इस प्रकार दूसरे दिन हम दोनों और हमीद बट्ट, जो पहले ही अहमद साहब को इस्तीफ़ा दे बैठे थे, दक्कन क्वीन में बैठकर ठन-ठन गोपाल की हालत में बम्बई की ओर चल पड़े।

डब्ल्यू०ज़ैड० अहमद और नीना अब पाकिस्तान में हैं। पिछले दिनों जब मैं लाहौर गया था, तो इमतियाज़ अली ताज के घर उन दोंनो के दर्शन हुए थे। बहुत प्यार-मुहब्बत से मिले थे। सच पूछा जाए तो अहमद साहब ने मुझपर बहुत बड़ी मेहरबानी करनी चाही थी, वरना कौन ऐसा निर्माता है, जो किसी नये कलाकार को स्टूडिओ में पैर रखते ही हज़ार रुपये की नौकरी पेश कर दें!

७

चेतन ने उस समय जितने बड़े दिल का सबूत दिया, उसकी जितनी तारीफ़ की जाए कम है। दोस्त की बात रखने के लिए उन्होंने एक अच्छा काण्ट्रेक्ट हाथ से छोड़ दिया। उनकी जगह कोई और होता, तो उल्टा मुझे अपने होश की दवा करने के लिए कहता। आज तक फ़िल्मों में कौन ऐसा नया कलाकार आया था, जिसे स्टूडिओ में पांव रखते ही

हज़ार रुपये महीने की नौकरी पेश की गई हो! इतना ही नही, उन्होंने मुझे और मेरे परिवार को भी अपने कन्धों पर उठाने की बेमियाद ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले ली।

बाद में पता नहीं बात कैसे बाहर निकल गई कि दम्मो भी फ़िल्मों में काम करेगी। मेरे माता-पिता को सख़्त सदमा पहुंचा। घर का वातावरण इतना तल्ख हो गया कि बेचारी के पास दोनों बच्चों को साथ लेकर बम्बई आने के सिवा कोई चारा न रहा। परीक्षित तब चार बरस का था, शबनम होगी कोई दस महीने की। अब हम चेतन के उसी पहाड़ी बंगले जैसे घर में थे। एक कमरे में चेतन और उनकी पत्नी उमा, दूसरे में चेतन के छोटे भाई, देव (देव आनन्द) और गोल्डी (विजय आनन्द), तीसरे में दम्मो, मैं और बच्चे, और ड्राइंगरूम में हमीद बट्ट और उनकी पत्नी, अज़रा मुंमताज ने डेरा डाल रखा था।

उमा के ऊपर इतना बड़ा बोझ बनने का दम्मो को हर वक्त मलाल रहता था। लेकिन उम्र ऐसी थी कि हम बे-आरामियों में मज़ा ढूंढ़ते थे। उमा भी हर समय हंसती-खेलती नज़र आतीं, जैसे सब मिलकर पिकनिक पर आए हों।

आज मेरे पास अपना मकान है, घर के पांच व्यक्तियों के लिए दस कमरे और पांच मोटरें हैं। चेतन, देव, विजय मुझसे भी कहीं बढ़कर अमीरी भोग रहे हैं। पर शायद वे भी इस बात को मानते होंगे कि अब ज़िन्दगी में वह मज़ा नहीं, जो तब था।

सुबह नाश्ता करके चेतन और मैं घर से निकल पड़ते और फ़्लोरा फ़ाउण्टेन के निकट 'इण्डिया कॉफी हाउस' में जाकर बैठते। बहुत रोमांटिक जगह थी वह उन दिनों। किसी टेबल पर कांग्रेसी किसी पर कम्युनिस्ट, किसी पर सोशलिस्ट बहसें चल रही होंती। इसके अतिरिक्त पत्रकारों, चित्रकारों, नर्तकों और तरह-तरह के अन्य भूखे और नीम-भूखे 'बेकार कलाकारों का जमघट रहता। उनके जीनियस पर मरने वाली तितलियां भी फड़फड़ातीं। बड़ी हरकत थी उस वातावरण में। यह विचारों और आदर्शों की हरकत थी, या उनके पीछे अपने काम संवारने की, कहा नहीं जा सकता। लेकिन हरकत बहुत थी। वक्त ही ऐसा था। युद्ध अपनी आखिरी सांसों पर था। यू०एन०ओ०के विधान बन रहे थे, गांधी-जिन्ना-मुलाकातें नज़दीक आ रही थीं।

चेतन का टेबल धीरे-धीरे केन्द्रीय टेबल बन जाता। अनेक दिलचस्प हस्तियां कुरसियां घसीट-घसीटकर इर्द-गिर्द आ बैठतीं। शहर के सुसंस्कृत हलकों में चेतन का खासा प्रभाव दिखाई देता था। भारती साराभाई चाहतीं कि वे उनका लिखा नाटक निर्देशित करें। राजा राव अपने नये उपन्यास के बारे में उनसे सुझाव लेते। रामगोपाल उन्हें अपने साथ लन्दन चलने की दावतें देते। फिर, अचानक फ़ोन की घण्टी बजती। मैनेजर कहलवा भेजता, "मिस्टर पासता ने आपको दफ्तर बुलाया है" या "मिस्टर हितेन चौधरी आपको याद कर रहे हैं।"

हम कॉफ़ी के प्याले छोड़कर फ़ौरन बाहर भाग उठते। उम्मीदें आसमान पर जा पहुंचतीं। अब जरूर 'नीचा नगर' के लिए फ़ाइनेनन्स का इन्तज़ाम हो गया होगा। मिस्टर पासता और हितेन चौधरी दोनों का विचारशील धनवानों में अच्छा रसूख था। 'नीचा नगर' जैसी फ़िल्म के लिए, जिसमें बॉक्स-आफ़िस मनोरंजन का कोई मसाला और कोई फ़िल्म-स्टार नहीं था, किसी ऐसे व्यक्ति से ही आर्थिक सहायता की आशा की जा सकती थी।

दिन में हम फोर्ट इलाके के आलीशान दफ़्तरों की सीढ़ियां चढ़ते, और शाम को कालबादेवी और ग्रांट रोड़ के सेठों की, जो फ़िल्मों को केवल मुनाफे के दृष्टिकोण से देखते थे। मुझे पता नहीं था कि यह लगातार सीढ़ियां चढ़ते रहना किस मर्ज़ की दवा साबित होगा। बस, इतना याद है कि वे सीढ़ियां हर जगह हद से ज़्यादा अंधेरी और गन्दी होती थीं।

लड़ाई का ज़माना होने से कच्ची फ़िल्म का राशन था। फिल्म सिर्फ उसी निर्माता को मिलती थी, जिसके पास लाइसेंस हो। लाइसेंस लेने के लिए लोग कई तरह की तिकड़में करते थे, क्योंकि लाइसेंस मिलते ही वह बाज़ार में डेढ़-दो लाख रुपये में बिक सकता था। मतलब यह कि जिसको सरकार से लाइसेंस मिला हो, उसके लिए स्टार-रहित फ़िल्म बनाने में भी कोई नुकसान नहीं था, बल्कि अगर फ़िल्म कामयाब हो जाए, तो मुनाफ़ा दुगुना-चौगुना। कम से कम चेतन इसी उम्मीद पर चल रहे थे। अगर चेतन मेरा और दम्मो का ख़याल छोड़कर एक-आध स्टार को घेर लेते तो सारी मुश्किलें चुटकियों में हल हो सकती थीं। पर चेतन दोस्त के साथ किए हुए वादे को निभाने पर तुले हुए थे।

दिन-प्रतिदिन मेरी आर्थिक दशा कमज़ोर होती जा रही थी। विलायत से लाई हुई थोड़ी-बहुत पूंजी पानी की तरह खर्च होती जा रही थी। घर से पैसे मंगवाने का सवाल ही नहीं उठता था। पर सबसे ज़्यादा परेशान करने वाली चीज़ थी, बेकार बैठना। वक्त को धक्का देना बहुत बड़ी समस्या हो गई थी।

फ़िल्म-निर्देशक फणी मजुमदार का घर पाली हिल में चेतन के घर के पास था। न्यू थियेटर में उन्होंने 'कपाल कुंडला' और 'डाक्टर' फिल्में बनाकर शोहरत कमाई थी, और अब बम्बई आ गए थे। उच्च कोटि के निर्देशकों में गिने जाते थे। चेतन चुपचाप उनके पास मेरी सिफ़ारिश कर आए। उन्होंने मुझे दादर अपने दफ़्तर में बुला भेजा।

दादर मेन रोड उस समय बम्बई का हॉलीवुड था। बड़े-बड़े स्टूडिओ 'श्री साऊंड', 'रणजीत', 'अमर', 'मिनर्वा', 'कारदार', 'राजकमल' उसी के पड़ोस में थे। इसलिए वहां फ़िल्म-निर्माताओं के दफ्तरों की भी भरमार थी।

अब वह बात नहीं रही। स्टूडिओ और दफ़्तर दूर-दूर बिखर गए हैं। उनके नक्शे भी बदल गए, और फ़िल्मी लोगों के रंग-ढंग भी। उस समय लम्बे बाल, तिरछी मूंछे और कलमें, आंखों में जांनिसारी, चाल में मस्ती आदि फ़िल्म-अभिनेता के जाने-पहचाने लक्षण होते थे। दादर में पैर रखते ही इनका जलवा साफ नज़र आ जाता था।

स्टेशन की ओर से दाख़िल होते ही दादर का पहला मुकाम दादर-बार था। यह एक बहुत बड़ा शराबख़ाना था, जो अब दारूबन्दी के कारण केवल एक भोजनालय बनकर रह गया है। पर पुराने वक्त के दिलफ़रेब बोर्ड अब भी बाहर लगे हुए हैं, और अन्दर जगह-जगह आदमकद आईने भी हैं। फ़िल्म-निर्माताओं, निर्देशकों और अभिनेताओं की मानी हुई जगह थी। सहगल, चन्द्र मोहन, मोतीलाल, ईश्वरलाल भी कभी न कभी वहां ज़रूर आकर बैठते होंगे, इसमें मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं है। उस समय आमदनियों में इतना आकाश-पाताल का फ़र्क नहीं आया था। शखसियतों पर पैसे के इतने स्पष्ट मापदण्ड नहीं लगे थे। मेल-मिलाप चाहे दिन-प्रतिदिन कम होता जा रहा था, पर आज की तरह बिलकुल ख़त्म नहीं हुआ था। दारूबन्दी खत्म होने से पहले एकाध बार मैंने भी दादर-बार में शराब

पी थी और अनगिनत आईनों में अपना चेहरा निहारा था-शायद ज़िया सरहदी की सोहबत में। वह बिलकुल ऐसी जगह दी, जिसके ख़िलाफ़ धर्म-स्थानों में भाषण दिए जाते हैं, या नाटकों में नक्शा बांधा जाता है। आज कोई ऊंचे दर्जे का निर्माता या अभिनेता ऐसी घटिया जगह पैर रखना पसन्द नहीं करेगा।

दादर-बार में से गुज़रता हुआ मैं कारोनेशन मैंशन में आया, जहां फणी-दा का दफ़्तर था। वे अपनी बड़ी मेज़ पर बैठे थे। उन्होंने मुझे सामने सोफ़े पर बैठने का आदेश दिया। उम्र में वे मेरे ही बराबर दिखाई देते थे। शायद साल दो साल छोटे थे। चेहरे पर कोमलता और मिठास थी, जो बंगालियों की विशेषता है। कुछ और लोग भी बैठे हुए थे। वे उनके साथ बातें करते हुए मुझे घूरते जा रहे थे, जो मेरे लिए बड़ा अजीब-सा अनुभव था। कह नहीं सकता, वे मेरे हुलिए को पसन्द कर रहे थे, जांच रहे थे, सराह रहे थे, या उसपर मोहित हो रहे थे। मैं उनकी प्रतिक्रिया स्पष्ट रूप से समझ नहीं पा रहा था। यह तो नहीं कह सकता कि पहले कभी किसी नें मेरी तरफ़ इस तरह घूरा नहीं था। पर फिर भी यह भयभीत करने वाला अनुभव था।

हो सकता है कि वे मेरे अन्दर सोई हुई कला को देख रहे हों। यह सोचकर मैं भी यथाशक्ति उनके साथ अपने दिल के तार मिलाने की कोशिश करता रहा।

थोड़ी देर के बाद बाकी लोग उठकर चले गए। शायद उनको अनुमान हो गया था कि फणी-दा ने मेरे साथ कोई व्यक्तिगत बात करनी है। यानी उन्हें उठने के लिए कोई सूक्ष्म-सा संकेत किया गया था। यह भी फ़िल्मी दुनिया में चलने वाला एक दस्तूर है। कामयाब निर्माताओं, निर्देशकों और अभिनेताओं के दरबार सदा सजे रहते हैं। दरबारियों को आम तौर पर चमचों के नाम से संबोधित किया जाता है। तख़लिये के लिए बस चुटकी बजाने की ज़रूरत है।

जब हम अकेले रह गए, तो फणी-दा (फ़िल्मों में वे इसी नाम से प्रसिद्ध हैं) कहने लगे कि अपनी वर्तमान फ़िल्म, 'जस्टिम' (इन्साफ) में वे मुझे एक छोटा-सा रोल देंगे-हीरो के दोस्त का। अगली फ़िल्म में मुझसे हीरो का तो नहीं, पर एक मुख्य रोल कराएंगे, और फिर उससे अगली फ़िल्म में हीरो का। मैंने उनका धन्यवाद किया और ख़ुशी-ख़ुशी घर चला आया। अब मुझे काण्ट्रैक्ट मिल गया था और मैं दावे के साथ अपने-आपको फ़िल्म-अभिनेता कह सकता था।

चेतन ने पूछा, ''पैसे-वैसे की कोई बात हुई कि नहीं?''

''नहीं।''

''करनी थी न।''

''उन्होंने तीन फ़िल्मों का नक्शा बना दिया मेरे सामने, उनमें से किसकी बात करता?''

चेतन चुप रहे। वे समझ गए होंगे कि मेरी अकड़ पहले से काफ़ी गिर चुकी है।

आज काण्ट्रैक्ट हुआ है, कल काम शुरु हो जाएगा-ऐसा मेरा अनुमान था। पर दिन पर दिन, हफ़्ते पर हफ़्ते बीतने लगे। न काम के, न ही पैसे के आसार नज़र आए। पर शूटिंग का ख़याल मेरे मन पर पूरी तरह छा गया था। नाई से बाल कटवाने की भी मैं पहले फणी-दा के दफ़्तर जाकर ही इजाज़त मांगता, क्योंकि किसी से सुन लिया था कि थोड़ा-बहुत फर्क पड़ जाने से 'काण्टिन्यूटी' में जम्प आ जाता है। काण्टिन्यूटी क्या बला

थी, और जम्प क्या, मुझे पता नहीं था। पर मैं ऐसा कोई कदम नहीं उठाना चाहता था, जिससे कला को नुकसान पहुंचे। क्या पता, किस दिन अचानक शूटिंग निकल आए।

ऐसी हास्यास्पद हरकतें फ़िल्मों के नये रंगरूट आम तौर पर करते हैं। वे साबुन मल-मलकर मुंह धोते हैं, क्रीमें थोपते हैं, आईने के सामने तरह-तरह के पोज़ बनाते हैं। उन्हें यह पता नहीं होता कि अभिनय-कला का ज़्यादा सम्बन्ध चिन्तन के साथ है, बाहरी चीज़ें इतना महत्त्व नहीं रखतीं। एक दिन अखबार में पढ़ा, कहीं पीपल्ज़ थियेटर का नाटक होने वाला है। चीन के पीपल्ज़ थियेटर के बारे में तो जानता था, हिन्दुस्तान में पीपल्ज़ थियेटर कहां से आ गया? चेतन से पूछा। उन्हें भी कुछ पता नहीं था। शाम को जब सीढ़ियां चढ़ने-उतरने की कवायद करते हुए हम बी०पी०सामन्त साठे से पूछ बैठा, "मिस्टर साठे" बम्बई में कोई पीपल्ज़ थियेटर भी है?"

"क्यों नहीं, मैं स्वयं उसका मेम्बर हूं," उन्होंने हंसकर जवाब दिया। "उसीकी एक मीटिंग में जा रहा हूं। चलना हो, तो आप भी चलें। ख्वाजा अहमद अब्बास अपना नया नाटक पढ़ेंगे।"

मेरे आग्रह करने पर चेतन भी साथ चल पड़े।

आपेरा हाउस के नज़दीक एक गली में प्रोफ़ेसर देवधर की संगीतशाला थी। छोटा-सा हाल भी था उसका, जिसमें सौ के लगभग व्यक्ति बैठ सकते थे। एक तरफ़ छोटी-सी स्टेज थी। वह हाल हर शाम इप्टा की सरगर्मियों का केन्द्र बन जाता था।

हाल में कोई बीस-एक लड़के-लड़कियां पंखे के नीचे बैठे हुए थे। अब्बास अपना नाटक पढ़ना शुरु करने वाले थे। मैं और अब्बास सरसरी तौर पर एक-दूसरे को जानते थे। लन्दन में मैंने उनकी कुछ उर्दू कहानियां भी पढ़ी थीं। पर हम मिले कभी नहीं थे। अब्बास ने बैठे-बैठे ही हमारे साथ हाथ मिलाए, और फिर पढ़ना शुरु किया। नाटक किस स्तर का है, इसका अनुमान केवल एक बार सुनकर नहीं हो सकता था। उसमें जज़बाती गहराई या नाटकीय उठान मुझे ज़्यादा नहीं लगी। अभी मैं ये बातें सोच ही रहा था कि अब्बास ने एक विचित्र घोषणा कर दी:

"साथियों, बड़ी खुशी की बात है कि आज हमारे बीच बलराज साहनी मौजूद हैं। अब मैं यह ड्रामा उनके हवाले करता हूं और दरख़्वास्त करता हूं कि वही इसे डायरेक्ट करें।"

मैं बुत-सा बनकर देखता रह गया, पर इन्कार करने की मूर्खता मैंने नहीं की। ख़ाली बैठ-बैठकर तंग आ गया था, कुछ करने को तो मिलेगा।

इस तरह अचानक ही ज़िन्दगी का एक ऐसा दौर शुरु हुआ, जिसकी छाप मेरे जीवन पर अमिट है। आज भी मैं अपने-आपको 'इप्टा' का कलाकार कहने में गौरव महसूस करता हूं।

उसी रात मैं इप्टा के साथियों के साथ वह नाटक देखने भी गया, जिसका इश्तिहार सुबह अखबार में पढ़ा था। नाटक का नाम था, 'मां'। निर्माता थे, मामा वरेरकर। मूल मराठी से हिन्दी अनुवाद किया गया था।

नाटक बुरा नहीं था, पर उसके प्रस्तुतीकरण ने मुझे हद से ज़्यादा निराश किया। नाटक के कलाकार ज़्यादातर ऐसे थे, जिन्हें हिन्दी ठीक बोलनी नहीं आती थी। उनका

गुजराती, मराठी, मद्रासी उच्चारण कानों को खटकता था। मैंने रेडियो के काम के लिए अपने उच्चारण से पंजाबियत निकालने की अथक मेहनत की थी। मेरा दृढ़ विश्वास था कि कलाकार को उस ज़बान का माहिर होना चाहिए, जिसमें उसे काम करना है। उस समय स्टेज पर मैं जिन्हें काम करते हुए देख रहा था, उनमें कोई थोड़ी-बहुत ही मेरी कसौटी पर पूरा उतरता था। क्या इनसे ही मुझे 'ज़ुबैदा' के पार्ट करवाने पड़ेंगे? सोच-सोचकर मेरा दिल बैठने लगा।

सारी रात मैंने सोचते हुए गुज़ारी। अगर इन कलाकारों से काम करवाया, तो बेड़ा ग़र्क होने में ज़रा भी सन्देह नहीं है। अगर इनकार किया, तो फिर सीढ़ियां चढ़ने-उतरने के सिवा कोई काम नहीं रहेगा। आख़िर करूं तो क्या करूं!

आख़िर इस नतीजे पर पहुंचा कि दिल की बात साफ़-साफ़ कह देनी चाहिए। शाम को मैंने शर्त पेश की कि पात्रों के चुनाव अथवा अन्य सब बातों के बारे में मेरे फैसलों में किसीका दख़ल नहीं होगा। अब्बास के जज़बाती स्वभाव को यह रूखी बात बुरी लगी। पर एक लम्बे बालों वाला दुबला-पतला नौजवान आगे बढ़कर बोला, ''हमें सब शर्तें मंज़ूर हैं।''

उस नौजवान का नाम था, जसवंत ठक्कर, जिनकी पिछले बीस बरसों की सेवा गुजराती नाटक के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखी जाएगी। उनकी मेहनत की बदौलत आज सौराष्ट्र के सब विश्वविद्यालयों में नाटक-विभाग खुल चुके हैं, जिनमें छात्रों को बी०ए० की डिग्री दी जाती है। उस समय जसवंत शायद इप्टा के सेक्रेटरी थे।

अगले दिन से मैंने ज़ुबैदा के पात्रों की तलाश जारी कर दी। हीरो के लिए चेतन को राज़ी करने में मुझे दिक्कत नहीं हुई। हीरो के छोटे भाई का रोल देव आनन्द ने ख़ुशी से संभाल लिया। ज़ुबैदा के पात्र के लिए अज़रा ने हां कर दी। पर पात्रों की सूची बहुत लम्बी थी, जो तीस-पैंतीस तक जा पहुंचती थी। इसलिए छोटे पात्रों के लिए मैंने ज़िद छोड़ दी, पर बड़े पात्रों के बारे में अपने फ़ैसले पर अटल रहा।

पता नहीं, किस भरोसे पर अब्बास ने निर्देशन का काम मेरे हवाले कर दिया था। स्टेज का मेरा अनुभव केवल एक-दो कालेज में और एक-दो शान्ति-निकेतन में खेले गए नाटकों तक सीमित था। पात्रों का निर्देशन थोड़ा-बहुत कर सकता था, पर निर्देशन के तकनीकी पहलुओं से मैं बिलकुल अनजान था, और अब तक हूं। यह मेरे कलात्मक जीवन का अन्धकारमय पहलू है।

मैं अपनी इस कमज़ोरी से खूब वाकिफ था। इससे उत्पन्न आत्मविश्वास की कमी और चिन्ता के कारण कई बार रिहर्सलों के दौरान मेरे चेहरे और आंखों में पथराव-सा आ जाता था। अज़रा कहती, ''आंखें झपकाओ, बलराज, आंखें झपकाओ, मुझे डर लगता है।''

आत्मविश्वास, चुस्ती,दिलेरी आदि गुण ईश्वरीय देन नहीं होते।

उदाहरण के तौर पर कोई गांव का होशियार और फुर्तीला नौजवान जब किसी बड़े शहर में आए, तो सुस्त-सा पड़ जाता है। इसका कारण यह नहीं कि बदली हुई जलवायु का उस पर एकाएक असर हो गया है। दरअसल उसे शहरी जीवन के उलझाव और बारीकियों का ज्ञान नहीं होता, और न उसकी इतनी शिक्षा होती है कि उन्हें जल्दी से

समझ सके। इसलिए वह सहम-सा जाता है। उसकी आंखों में पथराव और अंगों में सुस्ती आ जाती है।

ज्ञान की सम्पूर्णता आत्मविश्वास पैदा करती है। अज्ञान का ज़रा-सा अंश भी किसी न किसी समय मनुष्य के आत्मविश्वास, उसकी फ़ैसला करने की शक्ति, और उसकी बहादुरी को दगा दे सकता है।

अपनी तकनीकी अज्ञानता को छिपाने के लिए मैंने अपना सारा ज़ोर पात्रों के चुनाव पर लगा दिया। मैं चाहता था कि हर पात्र के लिए मुझे बाहर-भीतर से ऐसे कुशल कलाकार मिल जाएं, जो स्टेज पर पहुंचते ही ठाठ बांध दें। फिर, बाकी सब कसूर माफ़ हो जाएंगे।

मीर साहब, मिर्ज़ा, मुंशी बेदिल, सेठ साहब-इस नाटक के विशेष और दिलचस्प पात्र थे। मीर के लिए मैंने अब्बास की बांह पकड़ ली। वे बहुत छटपटाए, क्योंकि स्टेज पर काम करने का उन्होंने कभी सपना भी नहीं देखा था। पर मेरी ज़िद के आगे उन्हें झुकना ही पड़ा। पर सबसे दिलचस्प तलाश मुंशी बेदिल के पात्र की रही। एक दिन मैंने चेतन को कॉफ़ी-हाउस में एक ठिंगने, कमज़ोर-से आदमी के साथ बातें करते देखा। मुंशी बेदिल की जीती-जागती तस्वीर थी वह। उस व्यक्ति का नाम रशीद खान था (जिनको पाठक 'अनुराधा', 'गर्म कोट' और अन्य कई फ़िल्मों में देख चुके होंगे) । वे आल इण्डिया रेडियो में स्टाफ़-आर्टिस्ट थे। मैं हाथ धोकर उनके पीछे पड़ गया।

रशीद खान ने जैसे मेरी आंखों में पढ़ लिया कि मैं जल्दी हार मानने वाला आदमी नहीं हूं। वे भयभीत-से हो गए। कुर्सी खींचकर मेरे नज़दीक बैठते हुए उन्होंने संजीदगी से मुझे समझाना शुरु किया:

"देखिए साहब, नाटकों और फ़िल्मों में मैं अपने-आपको किस कदर तबाह कर चुका हूं, यह एक लम्बी दास्तान है। इस वक्त मैं इतना कह देना काफी समझता हूं कि मुझे उनके नाम से भी नफ़रत हो चुकी है। रेडियो की नौकरी से मुझे मुश्किल से दो वक्त की रोटी का सहारा मिला है। इसे मैं किसी सूरत में खतरे में नहीं डाल सकता।"

"लेकिन नाटक में काम करने से आपकी नौकरी कैसे खतरे में पड़ सकती है? दूसरे लोग भी तो काम कर रहे हैं," मैंने कहा।

"यह मैं बेहतर समझता हूं।"

"लेकिन आपको देखने के बाद अब मुझे इस रोल के लिए दूसरा आदमी जंच ही नहीं सकता। बताइए, मैं भी क्या करूं?"

"आप भाड़ में जाएं।"वे उठकर बाहर चले गए।

पूरे दो महीने नाटक की रिहर्सलें चलती रहीं, पूरे दो महीने मैं रशीद खान का इन्तजार करता रहा। कितनी-कितनी देर मैं रेडियो-स्टेशन के बरामदों में खड़ा रहता। जब भी वे आते-जाते, मैं हाथ बांधकर खड़ा हो जाता। वे पुलिस बुलाने की धमकियां देते। कई बार उन्होंने चपरासी से कहकर मुझे अपने कमरे से बाहर निकलवाया। पर मैंने भी सब्र का साथ नहीं छोड़ा। रेडियो-स्टेशन में मेरा बहुत रसूख था, बी०बी०सी० का एनाउंसर जो रहकर आया था। अगर चाहता, तो किसी ऊंचे अफ़सर की मदद से मैं रशीद को हासिल कर सकता था, पर ऐसा करना मुझे मुनासिब नहीं लगा।

इधर अब्बास और दूसरे साथी अधकचरी रिहर्सलों से तंग आ रहे थे। अनाड़ी निर्देशक पर लोगों को वैसे भी भरोसा नहीं होता। किश्ती को भंवर में फंसा देखकर किसी न किसी बहाने साथ छोड़ जाते हैं। जसवंत ठक्कर मुझे सैटों, लाइटिंग और तकनीकी बातों के बारे में पूछते। मैं गोल-मोल-सा जवाब देता। साठे और अब्बास किसी न किसी बहाने रिहर्सलें देखने के लिए अप्रकट रूप से मुझे उनकी सहायंता लेने के लिए कहते। पर मैं जानता था कि ज़रा भी आत्मविश्वास की कमी प्रदर्शित की, तो भटठा ही बैठ जाएगा। एक दिन मैंने सख्ती के साथ हस्तक्षेप न करने की शर्त फिर दुहरा दी। साथियों के चेहरों पर मायूसी के आसार साफ़ दिखाई दे रहे थे।

सिर्फ़ एक जसवन्त ठक्कर थे, जिन्होंने मुझे कभी छोटा महसूस नहीं कराया, हालांकि मेरी ख़ामियों को सबसे ज़्यादा वही पढ़ सकते थे। रिहर्सलों में वे हमेशा मुझसे पहले पहुंचते थे और छोटी-छोटी ज़रूरतों का ख्याल रखते। मेरी एक-एक हरकत को वे कद्रदानी से देखते। उनकी मौजूदगी में मैं खुला-खुला महसूस करता, जैसे कोई बहुत ही प्यारा दोस्त मिल गया हो। धीरे-धीरे मुझे यकीन हो गया कि स्टेज की तकनीकी ज़रूरतों के बारे में मुझे उनके होते हुए चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं है, और वे कोई बहुत पेचीदा भी नहीं हैं।

एक दिन एक ईरानी होटल में इकटठे चाय पीते हुए मैंने अपनी कल्पना को वेलगाम छोड़ते हुए कहा, "मेरा दिल चाहता है कि शादी वाले सीन में दूल्हे को घोड़े पर चढ़ाकर बाजे-गाजे के साथ दर्शकों के बीच से स्टेज पर लाऊं। बारात थियेटर के एक दरवाज़े में से दाखिल हो, और दूसरे में से बाहर निकल जाए। ठीक उसी वक्त पर्दा उठे और कहार डोली लाते हुए नज़र आएं। साथ में शहनाई बज रही हो।"

मेरा खयाल था कि इस बार जसवन्त ज़रूर मेरा मज़ाक उड़ाएंगे, पर वे इस तरह कुर्सी से उछल पड़े, जैसे मैं आसमान के तारे तोड़ लाया होऊं। मेरे मना करते-करते उन्होंने मेरी इस सनक को वास्तविक जामा पहनाने के प्रयत्न शुरु कर दिए। कावसजी जहांगीर हाल म्युनिसिपैलिटी के अधीन था, जिसने हाल में से जानवर लाने की इजाज़त देने के बिलकुल इन्कार कर दिया। पर जसवन्त कहां हार मानने वाले थे! उन्होंने एक वकील की मदद से अधिकारियों के आगे सबूत पेश किया कि सन १९२२ में इसी हाल की स्टेज पर बन्दर लाया गया था। अगर बन्दर आ सकता है, तो घोड़ा क्यों नहीं ? इजाज़त मिल गई।

जसवन्त अपनी धुन के मस्त मौला आदमी थे। 'इप्टा' के साथी उन्हें 'मैड कैप' के नाम से पुकारते थे। एक मैड कैप की और वृद्धि होने से भला जसवन्त को क्या एतराज़ हो सकता था!

'खूब गुज़रेगी जो मिल बैठेंगे दीवाने दो।'

हम आपस में खूब घी-खिचड़ी होने लगे। उनके साथ मैंने बम्बई के गली-कूचों की खूब सैर की। अच्छे-अच्छे नाटक देखे, अच्छे-अच्छे लोगों से मिला। अब्बास और बाकी साथियों ने कहना शुरु कर दिया, "चलो, अब यह भी कम्युनिस्ट बना कि बना।"

मैं इन बातों पर कान न देता। जसवन्त कम्युनिस्ट थे या नहीं, न तो मैंने कभी उनसे पूछा और न ही उन्होंने मेरे साथ कभी राजनीति की बात की। मुझे एक अच्छा दोस्त मिल

गया था। मुझे और कुछ नहीं चाहिए था। मैंने इस बात की परवाह न की कि वह दोस्त कम्युनिस्ट है या नहीं। इप्टा के बारे में कभी-कभी मैं सुनता था कि अन्दर ही अन्दर अलग-अलग गुटों की खींच-तान रहती है और कम्युनिस्ट मेम्बर संस्था पर हावी है। पर क्यों और कैसे, यह जानने की न मुझे .फ़ुर्सत थी, और न ही दिलचस्पी। मेरा ध्यान नाटक में लगा हुआ था।

पात्र-निर्देशन के विषय में अंग्रेज़ी साहित्य से, कालेज के ज़माने में अहमदशाह बुख़ारी जैसे उच्चकोटि के नाटक-विशेषज्ञों, और लन्दन में देखे नाटकों में हासिल की कदरें-कीमतें मेरे बहुत काम आईं। 'ज़ुबैदा' नाटक चाहे अच्छा था या बुरा, मैं अब उसे एक पवित्र धार्मिक पुस्तक की तरह देखता था। मेरा विश्वास है कि नाटक की अच्छाई-बुराई के बारे में निर्देशक को नाटक हाथ में लेने से पहले सोचना चाहिए, और एक बार हाथ में ले लेने के बाद फिर उसे कभी तकनीकी नज़र से नहीं देखना चाहिए। निर्देशक का काम अपनी कला का प्रदर्शन करना नहीं, बल्कि लेखक के आशय की पूर्ति करना है, उसे रंग रूप का वेश पहनाकर दर्शकों के सम्मुख निखारना है। जो निर्देशक रिहर्सलों के दौरान मूल नाटक में मनमाने परिवर्तन करते जाते हैं, वे अच्छा काम नहीं करते। लेखक की सलाह के बिना परिवर्तन करना ऐयारी है।

अब्बास के नाटक में बहुत कमज़ोरियां थीं। मेरे साथी कई बार उनकी तरफ मेरा ध्यान खींचते। पर अब्बास से ज़िक्र करने से पहले मैं नाटक को फिर गौर से पढ़ता, और हर सवाल का जवाब नाटक के अन्दर ही मुझे मिल जाता। मैं अब्बास की योग्यता पर अश-अश किए बिना न रहता। चाहे कुछ भी कहिए, अब्बास के नाटकों में एक मनका होता है, एक अनोखापन, एक मनोरंजक लोच, जो मैंने हिन्दी-उर्दू के किसी और नाटककार में कम ही देखी है। काश, अब्बास ने अपनी इस उपलब्धि की ओर विशेष ध्यान दिया होता ! खैर, निर्देशक की कल्पना को प्रेरणा देने के लिए अब्बास के नाटकों में भरपूर मसाले होते हैं।

रिहर्सलों पर आने से पहले मैं पात्रों की पूरी गतिविधियों का नक्शा मन में बिठा लेता, जिसके कारण कई बार वह बहुत मज़ेदार हो जाती थीं।

पर अनुभव न होने के कारण कई बार मुझे सख़्त गलतियाँ हो जाती थीं। देव आनन्द को मैं शायद .ग़ुस्से में आकर कभी कह बैठा था, ''यार, तू कभी ऐक्टर नहीं बन सकता।' मुझे नहीं याद। पर यह पक्की तरह याद है कि जब उन्हें प्रभात फ़िल्म कम्पनी से इण्टरव्यू के लिए बुलावा आया था, तो मैंने चेतन से चोरी-छिपे से पूना भगा दिया था और ताकीद की थी कि अगर वे से काण्ट्रैक्ट पेश करें तो वह किसी सूरत में इंकार न करें, चाहे शर्तें कितनी भी कठिन क्यों न हों। इस तरह देव को फिल्मों में धकेलने के लिए एक तरह से मैं ही ज़िम्मेदार हूं। फिर भी, नासमझी में कही हुई बात देव को काफी चुभी थी, और फ़िल्मी पत्रकारों ने उसे दिल खोलकर उछाला था।

इससे साफ़ ज़ाहिर है कि निर्देशक को कभी भी संयम नहीं खोना चाहिए, कभी भी ऐसी बात मुंह से नहीं निकालनी चाहिए, जिससे कलाकार का दिल दुखे या उसका हौसला पस्त हो। मैं एक बार नहीं कई बार ऐसी ग़लतियां कर चुका हूं, जिनका मुझे बहुत गहरा दुःख है। वे मेरी अज्ञानता का नतीजा थीं।

शो में केवल चार दिन बाकी रह गए थे। मुंशी बेदिल वाला मामला अभी भी हवा में लटका हुआ था। न रशीद खान अपनी ज़िद छोड़ने को तैयार थे, न मैं। पर कलाकार आख़िर कलाकार होता है। मेरी दयनीय हालत देखकर आख़िर उन्हें ही हार माननी पड़ी। पर अब संवाद याद करने का समय नहीं रहा था। मुंशी बेदिल स्टेज पर एक अखबार पढ़ते हुए दाखिल होते थे। सो, रशीद खान ने अपनी संवाद अखबार में छिपाकर रखे होते थे। हर दृश्य में वे अपने संवाद पढ़कर ही बोलते रहे। दर्शकों को इस बात का आभास तक नहीं हुआ। बल्कि 'ज़ुबैदा' नाटक की कामयाबी ज़्यादातर मुंशी बेदिल के पात्र से ही जुड़ गई। उसकी इतनी चर्चा हुई कि बेचारे रशीद खान को फिर रेडियो छोड़कर फ़िल्मों और नाटकों में आना पड़ा।

शो वाले दिन तक नाटक की किश्ती डांवाडोल रही थी। ठीक पर्दा उठने से पहले चेतन को दमे का दौरा शुरु हो गया। सो, जल्दी-जल्दी मेक-अप करके हीरो का रोल मुझे ख़ुद करना पड़ा। मैंने उसकी रिहर्सलें तो नहीं की थीं, पर नाटक शुरु से आख़िर तक मुझे याद हो चुका था, इसलिए बचाव हो गया। किस्मत से मैंने इस मुश्किल वक्त में सहायक होने के लिए अपने छोटे भाई, भीष्म साहनी को रावलपिण्डी से बुला लिया था। पहले शो में उसने एक नहीं, बल्कि तीन छोटे-छोटे पात्रों का रोल, मेक-अप बदल-बदल-कर, बहुत अच्छी तरह निभाया। एक दृश्य में वे म्युनिसिपैलिटी के कर्मचारी के रूप में गली की लालटेन जलाने आए, जिसके नीचे मूढ़ों पर बैठकर मीर साहब, मिर्ज़ा, सेठ साहब और मुंशी बेदिल की गप-गोष्ठी होती थी। संवाद न उसको याद थे, न मुंशी बेदिल को। पता नहीं किस बात पर दोनों एक-दूसरे से उलझ पड़े। वह झपट इतनी स्वाभाविक, दिलचस्प और मज़ेदार सिद्ध हुई कि हमेशा के लिए नाटक का भाग बन गई।

तमाम मुश्किलों के बावजूद नाटक को आशा से अधिक सफलता मिली। दर्शकों के ठीक बीच से जब बैंड और घोड़े समेत दूल्हे की बारात निकली, तो थियेटर की दीवारें तालियों की आवाज़ से कांप उठीं।

८

अचानक एक दिन शूटिंग का बुलावा आ गया- जीवन में मेरी पहली शूटिंग। शाम के सात बजे कारदार स्टूडिओ में पहुंचना था। इप्टा की एक मीटिंग बीच ही में छोड़कर मैंने ठीक समय पर चर्नी रोड स्टेशन से गाड़ी पकड़ी। शूटिंग शब्द सुनकर दोस्तों-साथियों पर ऐसी प्रतिक्रिया हुई, जैसे बिजली के तार को हाथ लग जाए। मैं एक क्षण में उनके लिए प्यार के बजाय ईर्ष्या का पात्र बन गया था।

और उस दिन से लेकर आज तक मैंने अपने इर्द-गिर्द-घर में भी, और घर के बाहर भी-हमेशा यही प्रतिक्रिया देखी है। हर किसी की नज़र में शूटिंग एक बड़ी अलौकिक चीज़ है। वह आदमी को दूसरे लोगों से अलग और ऊंचा बना देती है। शूटिंग कर रहे कलाकार का सिंहासन अटल लगता है, और जो न कर रहा हो, उसका डगमगाता हुआ। अगर कोई यूंही पूछ बैठे, 'आज आपकी शूटिंग नहीं है?' तो बड़े से बड़ा अभिनेता भी घबरा जाता है, जैसे उससे कोई कसूर हो गया हो। इसका कारण यह है कि इस सवाल की कहीं दूर, एक ख़तरे की घंटी बंधी हुई है, जिसकी आवाज़ फ़िल्म-स्टार के कानों को अच्छी नहीं लगती।

मुझे सात बजे का समय दिया गया था, पर स्टूडिओ जाकर पता लगा कि शिफ़्ट नौ बजे शुरु होगी। इतना पहले क्यों बुला लिया मुझे ? आठ बजे तक तो फणी-दा के सहायक ने भी दर्शन नहीं दिए। पर मैंने इस बात की ज़्यादा परवाह नहीं की। पहली शूटिंग का चाव जो था। वास्तव में ऐसे अपमान छोटे कलाकारों का दिमाग़ ठीक जगह रखने के लिए किए जाते हैं। बड़े कलाकार, अर्थात स्टार, अपनी मर्ज़ी के मालिक होते हैं, और शिफ़्ट शुरु होने से दो-दो, चार-चार घंटे देर से आते हैं। पर उनकी हर बात का मुस्काराहट से स्वागत करना निर्माता, निर्देशक और यूनिट के प्रत्येक कर्मचारी का कर्तव्य होता है। ऐसा करने से स्वाभिमान में पड़ी हुई दरारों को थूक से जोड़ने की खातिर छोटे कलाकारों को अकारण ही डांटा-फटकारा और ज़लील किया जाता है। उनकी लाचारी उन्हें मुंह बन्द रखने पर मजबूर करती है, क्योंकि किसी समय भी उन्हें काम से हटाया जा सकता है। हां, अगर किसी छोटे कलाकार की किस्मत चमक उठे, और उसे ऊपर ले जाए, तो वह गिनगिनकर बदले लेता है, और तब छोटे कलाकारों की मदद करने का, जिनमें से वह ऊपर उठा होता है, उसे भी कोई ख़याल नहीं रहता।

सैट स्टूडिओ के अहाते में लगाया गया था। किसी अमीर आदमी के आंगन और बागीचे का सैट था वह। लगभग साढ़े नौ बजे फणी-दा तशरीफ़ लाए, और कैमरामैन, घोष ने धीरे-धीरे लाइटिंग शुरु की। लगभग ग्यारह बजे फिल्म की कुछ एक मशहूर हस्तियों की मोटरें स्टूडिओ के फाटक में दाखिल हुई- चार्ली (अपने अलसेशियन कुत्ते के साथ), आगा, डेविड, कुसुम देशपांडे, सुनालिनी देवी। ये लोग ताजमहल होटल में हुई किसी डिनरपार्टी से आ रहे थे। मर्दों ने अकड़ी हुई तितली-कालर कमीज़ें और काले डिनर-सूट पहने हुए थे, जिनकी लड़ाई के ज़माने में मैंने इंगलैण्ड में मनाही-सी देखी थी। उनके आते ही मेज़ पर सफ़ेद कपड़ा बिछाया गया, चमकते हुए चीनी के सैट में सैंडविच और कॉफ़ी आदि सामान लाया गया। मैंने कभी बी०बी०सी० में भी इतने नवाबी ठाठ से काम होता नहीं देखा था। मुझे अजीब-सा लगा। क्या यह वही देश था, जहां साल-भर पहले, लाखों लोग भूख से मर गए थे, और जहां सन् ४२ के आंदोलन में पकड़े गए हज़ारों देशभक्त अभी तक जेलों में सड़ रहे थे? हिन्दुस्तान विरोधाभासों का देश है। अभी मैं उनका आदी नहीं हुआ था। मैं विदेश से नया-नया यहां आया था।

कॉफ़ी आदि पीकर स्टार चले गए। उनका काम करने का मूड नहीं बन रहा था। सैट का पहला दिन था; शायद सजावट और लाइटिंग में अभी काफ़ी समय लग जाए। फणी-दा ने बिना किसी शिकायत के काम अगले दिन पर डालकर उन्हें विदा किया। अब बाकी रह गया था मैं, और फ़िल्म के हीरो, नवीन याज्ञिक, जो स्टारपन की दहलीज तक पहुंच गए थे, पर अभी उन्होंने उसे पार नहीं किया था। जब हम कॉफ़ी पी रहे थे, तो वे अन्दर मेक-अप कर रहे थे, और अब चुपचाप एक कुरसी पर आकर बैठ गए थे। उन्होंने नीले रंग का कुर्ता-पाजामा पहना हुआ था, जो चेहरे के लाल मेक-अप के साथ मिलकर हनूमानी किस्म का प्रभाव पैदा कर रहा था। जब बातचीत शुरु हुई, तो नवीन ने बताया, "पर्दे पर इन कपड़ों का रंग सफ़ेद दिखाई देगा। एकदम सफ़ेद कपड़े, रंगीन फ़िल्म में तो पहने जा सकते हैं, पर काली-सफेद फिल्म में नहीं पहने जा सकते। उनकी चमक कैमरामैन के काम में उलझन पैदा करती है।"

"पर ऐसे कपड़े पहनकर और चेहरे पर इतना गाढ़ा मेक-अप करके क्या कलाकार के मन की स्वाभाविकता नष्ट नहीं हो जाती?" मैंने पूछा।

"आदत हो जाती है," नवीन संक्षिप्त-सा उत्तर देखकर चुप हो गए। मुझे बड़ी हैरानी हुई। अभिनय-कला के बारे में जो कुछ मैंने पढ़ा-सुना था, उसके आधार पर स्वाभाविकता सबसे ज़रूरी चीज़ थी। मेरे महत्त्वपूर्ण सवाल का हीरो ने शायद मतलब नहीं समझा था, मैंने सोचा।

नवीन का चौड़ा सपाट-सा चेहरा पहली नज़र में मुझे सुन्दर नहीं लगा था। सो, मुझे घटिया किस्म की तसल्ली हुई थी कि पर्दे पर मैं उसे ज़्यादा सुन्दर दिखाई दूंगा। पर मैंने देखा, कि हंसते समय उनके कपोलों में क्लार्क गेबल के से गडढ़े पड़ते थे, जो उनके चेहरे को बहुत आकर्षक बना देते थे। उनके गम्भीर स्वभाव ने भी मुझपर बहुत गहरा असर डाला।

नवीन की किस्मत में लम्बी ज़िन्दगी नहीं लिखी थी। उस फ़िल्म के पूरे होने के लगभग एक साल बाद ही वे मियादी बुखार का शिकार होकर स्वर्गवासी हो गए। फ़िल्मी जिन्दगी के थोड़े-से समय में उन्होंने बहुत अच्छे काम किए थे। उन्होंने एक्स्ट्राओं और स्टूडिओ-मज़दूरों की यूनियनें बनाई थीं और उनके हकों के लिए संघर्ष किया था। उनके एक साथी, कृष्णकुमार को अपनी इन सेवाओं के बदले में गुंडों के हाथों कत्ल होना पड़ा था। मैं उन दोनों नेक और निडर व्यक्तियों को प्रणाम करता हूं।

नवीन के पास से उठकर मैं भी मेक-अप करने के लिए चला गया। मेक-अप-मैन का नाम स्वामी था। आज भी स्टूडिओ में कभी-कभी उसके दर्शन हो जाते हैं। पिछले बीस वर्षों से उसकी आर्थिक दशा बिलकुल नहीं बदली है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह अपने स्तर पर कायम रही होगी। इस आदमखोर फ़िल्मी धंधे में सौ में से निन्नानवे व्यक्तियों की यही कहानी है।

मैंने अपना मेक-अप किया। इस बार चेहरा इतना पसन्द नहीं आया, जितना कि पूना में पसन्द आया था। लम्बूतरा-सा और कुछ खुरचा-खुरचा-सा लग रहा था। क्या मेक-अप ठीक नहीं हुआ था, या आईने पर बत्तियां बहुत ऊंची लगी होने के कारण ऐसा लग रहा था? या मेरी सेहत गिर गई थी?

कुछ दिन पहले लैमिंगटन रोड पर मिस्टर भवनानी मिले थे। एक बार वे मुझे और चेतन को अपने घर डिनर पर बुला चुके थे। तब आशा हुई थी कि पुरानी जान-पहचान के कारण वे ज़रूर मेरी कुछ मदद करेंगे। उन्होंने बहुत बढ़िया खाना खिलाया था। पर मेरे दिल की बात का उन्होंने ज़िक्र तक नहीं होने दिया, और लैमिंगटन रोड वाली मुलाकात में तो वे और भी निराश कर गए। उन्होंने कहा, "मेरी बात का बुरा न मानना, मिस्टर साहनी ! अब आपके चेहरे पर वह भरपूर खूबसूरती नहीं रही, जो मैंने कश्मीर में देखी थी। आप कुछ-कुछ गैरी कूपर की तरह दिखाई देने लगे है।"

गैरी कूपर ! संसार का सबसे लोकप्रिय फिल्मी हीरो। और उससे मेरी समानता भवनानी को गुण नहीं, दोष प्रतीत हो रहा था!

मुझे बहुत दुःख हुआ। कभी मैंने भवनानी को अपने घर में ठहराया था। भाग-दौड़कर उनके काम किए थे। उस समय बजाय इसके कि वे मेरी मदद करते, उलटा मेरी हिम्मत तोड़ रहे थे। किसी ने सच ही कहा है, कि 'तारीकी में साया भी जुदा इन्सान होता है।'

उन दिनों मेरा सिफ़ारिशी ख़तों का तजरुबा भी बहुत कड़वा रहा था। श्री जे०एन०साहनी, मेरे मौसेरे भाई, 'हिन्दुस्तान टाइम्ज़' और 'नेशनल कॉल' जैसे प्रसिद्ध दैनिक पत्रों के सम्पादक रह चुके थे। जब उन्हें पता लगा कि मैं फ़िल्मों में प्रवेश कर रहा हूं तो उन्होंने मेरे बारे में अपने मित्र, रायबहादुर दूनीचन्द को पत्र लिखा, जो फ़िल्मिस्तान स्टूडिओ के मालिक थे। और एक खत बॉम्बे टाकीज़ स्टूडिओ के पब्लीसिटी ऑफ़ीसर, श्री इन्द्रराज आनन्द को लिखा, जो आज पटकथा-लेखक की हैसियत से प्रसिद्धि के शिखर पर पहुंचे हुए हैं। उन दिनों दोनों स्टूडिओ फ़िल्म-इण्डस्ट्री के केन्द्र माने जाते थे। पर दोनों जगह ही मेरे साथ अच्छा सलूक नहीं हुआ।

इसी तरह अब्बास और साठे ने ज़िद करके मुझे वी० शान्ताराम के पास भेजा। मैं उन्हें बता चुका था कि प्रभात स्टूडिओ, पूना में वे मेरे साथ कितनी अच्छी तरह पेश आए थे। उन दिनों अब्बास और साठे 'डाक्टर कोटनीस की अमर कहानी' की पटकथा और संवाद लिख रहे थे। शान्ताराम के साथ उनका रोज़ का उठना-बैठना था।

पर इस दूसरी मुलाकात और पहली मुलाकात में ज़मीन आसमान का फ़र्क था। एक तो शान्ताराम ख़ुद बहुत बदल चुके थे। न उनके कमरे में वह सादगी थी, न उनका लिबास हिन्दुस्तानी था। साहबों वाला ठाठ-बाट था उनका। उनका शरीर भी पहले से स्वस्थ और सुडौल हो गया था। सफेद कमीज़-पतलून में वे इतने हृष्ट-पुष्ट और ऊंचे कद-काठ के लग रहे थे कि उन्हें पहचानना मुश्किल हो रहा था। हाथ की एक अंगुली में हीरो की अंगूठी पड़ी हुई थी, जिसे बातचीत के दौरान में वे दूसरे हाथ से मलते रहते थे।

मैं भी तो कितना बदल चुका था ! शान्ति-निकेतन या सेवाग्राम से आया हुआ आश्रमवास निस्सन्देह सम्मानपूर्ण व्यवहार का हकदार था। पर लंदन से अंग्रेज़ो का प्रॉपेगेंडा करके लौटे हुए अनाउन्सर को वही सम्मान कैसे मिल सकता था? पांच-दस मिनट की मुलाकात हम दोनों को एक-दूसरे से दूर करने के लिए काफ़ी थी। उसके बाद आज तक हम कभी एक-दूसरे से नहीं मिले है, बस दूर से ही सलाम-दुआ हुई है।

जब मैं नये अभिनेताओं को फ़िल्मों में काम पाने के लिए सिफ़ारिशी ख़त लेकर निर्माताओं, निर्देशकों और फ़िल्म-स्टारों के यहां चक्कर लगाते हुए देखता हूं, तो दिल चाहता है कि किसी तरह उन्हें समझा सकूं कि इन सिफ़ारिशी खतों की कीमत उस कागज़ जितनी भी नहीं है, जिस पर वे लिखे हुए हैं। नौकरी पाना और चीज़ है, कलाकार बनना और चीज़। नौकरी पाने के लिए सिफ़ारिशी खत भले ही काम आ सकें, पर शायद ही कोई प्रोडयूसर ऐसा होगा जो दूसरों के कहने पर किसी नये अभिनेता को कैमरे के सामने लाने का खतरा मोल ले। फ़िल्मी चक्कर और तरह चलता है, और उसे समझना बहुत जरूरी है। अधिकतर सफलता आदमी के अपने संघर्ष और भाग्य पर निर्भर होती है।

आम तौर पर सिफ़ारिशी ख़त देने वाले, लेने वालों की अपेक्षा कहीं ज़्यादा नासमझी का सबूत देते हैं। उन्हें दूर बैठे हुए अपनी जान-पहचान वाला कोई फ़िल्मी व्यक्ति ईश्वर जैसा सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान प्रतीत होने लगता है। पर असलियत कई बार उनके

अनुमान के विपरीत होती है। जिससे सहायता की आशा की जाती है, वह सहायता देने की हालत में ही नहीं होता।

उदाहरणार्थ, आज मैं कह सकता हूं कि भवनानी पर नाराज़ होना सरासर मेरी मूर्खता थी। मौन फिल्मों के ज़माने में वे बहुत सफल निर्माता रहे थे, पर फिर जब बोलने वाली फ़िल्मों का दौर शुरु हुआ, तो वे हर कदम पर असफल होते गए। जब मैं उनसे मिला था, तो वे परेशानियों में से गुज़र रहे थे। और मुझे अपनी सेहत का ख्याल रखने की बात कहकर उन्होंने अपनी सज्ञनता का सबूत दिया था। गैरी कूपर को हॉलीवुड में भले ही सुन्दर माना जाए, पर हिन्दी फिल्मों में तो गोल-मटोल चेहरों को ही पसन्द किया जाता है।

पर बेचारे नये कलाकार की एक बदकिस्मती यह भी होती है कि उसे फ़िल्मों के अन्दरूनी वातावरण का कुछ पता नहीं होता। ठोकरें खा-खाकर उसे हर किसी पर शक होने लग जाता है। वह सोचता है कि हर कोई उसकी राह रोक रहा है, उससे दुश्मनी कर रहा है।

एक बार दादर मेन रोड पर जगदीश सेठी ने भी मुझे सेहत के बारे में सचेत होने के लिए कहा था। उन दिनों चरित्र-नायक (कैरेक्टर-ऐक्टर) के तौर पर उनकी मशहूरी आसमान को छू रही थीं। उनके कहे शब्द मुझे अभी तक याद हैं: "स्क्रीन पर पतला आदमी और भी पतला दिखाई देने लगता है। सो तुम्हें अपना वज़न बढ़ाना चाहिए।"

बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही थी उन्होंने। पर उस समय वह मुझे कड़वी लगी थी। अफ़सोस की बात ये है कि जिसे कोई चीज़ मिलती है, उसकी नज़र में उसकी कीमत नहीं होती। और जिसकी नज़र में कीमत होती है, उसे वह चीज़ मिलती नहीं है।

इसमें कोई शक नहीं कि मेरी सेहत काफ़ी गिर चुकी थी। बम्बई की जलवायु मुझे रास नहीं आ रही थी। एक दिन टैक्सी में बैठे हुए, पसीने से तरबतर बने हुए मैंने अब्बास से पूछा, "यार, बम्बई में रहते हुए तुम्हें कितने साल हो गए है ?"

"सात," उन्होंने कहा।

"सात साल!" मैंने हैरानी से कहा। "मैं तो सोच भी नहीं सकता कि इस मरदूद शहर में कैसे कोई सात साल काट सकता है।"

"तुम्हें सात साल बाद पूछूंगा," अब्बास ने अखबार पर से नज़र उठाए बिना ही कहा।

उनकी भविष्यवाणी कितनी सच निकली ! बम्बई में रहते हुए आज मुझे सात के बजाय तेईस साल हो गए हैं।

सेहत गिरने का असली कारण आर्थिक परेशानी और अनियमित किस्म की ज़िन्दगी भी थी। पैसे का मुंह देखने के लिए उन दिनों मैंने क्या-क्या नहीं किया ! ट्रेडर्स बैंक की एक शाखा का मैनेजर मेरा कालेज का सहपाठी निकल आया। वह कभी-कभी बैंक की ओर से मुझे थोड़ा-बहुत कर्ज़ देता रहा। मेरे एकाउंट में दो हज़ार रुपये का ओवरड्राफ्ट हो गया। एक दिन अचानक उसे तबदीली का नोटिस आ गया। उसे एक महीने का समय मिला था, और मेरी नैतिक कर्तव्य था कि उसके जाने से पहले कर्ज़ की रकम चुका दूं।

इस कर्तव्य को पूरा करने के लिए मैंने कोशिशें कीं, वह नाखूनों से कुआं खोदने वाली बात थी। रेडियो के प्रोग्राम देने और पुस्तकों के अनुवाद करने तक ही मेरी दौड़ सीमित थी। भला इन कामों से कितनी कमाई हो सकती थी ! एक दिन किसी ने बताया कि फिल्म्ज़ डिवीजन (सरकारी सूचना-फिल्म विभाग) में छोटी फिल्म की वार्ता लिखने के लिए, और बोलने के लिए भी, पूरा डेढ़ सौ रुपया मिल जाता है। मैं उसी समय डायरेक्टर से मिलने चला गया। अपने नाम का कार्ड अन्दर भेजा। डायरेक्टर ने झट अन्दर बुला लिया। उसे देखते ही मेरी जैसे सांस रुक गई। मेरे सामने वह नौजवान खड़ा था, जो ख़ुद दो साल पहले लंदन में मेरे सामने इण्टरव्यू के लिए पेश हुआ था। ऑक्सफोर्ड की उच्च शिक्षा समाप्त करके उसने बी०बी०सी०के हिन्दुस्तानी विभाग में नौकरी के लिए अर्ज़ी दी थी। हमारे डायरेक्टर ज़ुलफकार अली बुखारी उन दिनों हिन्दुस्तान आए हुए थे, सो उसे मेरे पास भेजा गया था। मुझे उसका उर्दू-उच्चारण पसन्द नहीं आया था, इसलिए उसे नौकरी नहीं मिल सकी थी। और अब मैं उसके सामने एक मामूली-से काम के लिए सवाली बनकर खड़ा था। मुझे अपनी सारी उम्मीदों पर पानी फिरता हुआ नज़र आया। पर वह बढ़िया किस्म का आदमी साबित हुआ। उसने उसी समय मेरी अर्ज़ी मंजूर कर ली और कोई ऐसी बात मुंह से नहीं निकाली जो मुझे चुभने वाली हो। पर इस काम में से भी मैं मुश्किल से पांच छः सौ रुपये ही कमा सका, क्योंकि रिकार्डिस्टों को मेरे बोलने का अन्दाज़ पसंद नहीं था।...

अपना मेक-अप वाला चेहरा देखते हुए मुझे वे पुराने दिन याद आने लगे थे। पर मैंने निराश न होने का निश्चय किया। शूटिंग का पहला दिन था। एक तरह से मेरी किस्मत का इम्तहान था उस दिन। मैं हर हालत में फणी-दा पर अच्छा प्रभाव डालना चाहता था, पर फिर भी, मेरे न चाहने पर भी, वह मेक-अप मेरे चेहरे पर बोझ-सा बनता जा रहा था। ऐसे लगता था, जैसे चेहरे पर लगाते समय बहुत सारा पाउडर मेरी आंखों में भी चला गया हो। रह-रहकर एक खयाल मुझे तंग कर रहा था कि फ़िल्म अभिनेता को सफ़ेद की जगह नीले कपड़े पहनाकर और उसके मुंह पर सिन्दूरी रंग का प्लस्तर-सा लगाकर उससे कैसे स्वाभाविक अभिनय की आशा की जा सकती है। मुझे इस बात का पता नहीं था कि स्वाभाविक अभिनय की मंज़िल पर पहुंचने के लिए कलाकार को कई किस्म के अस्वाभाविक बन्धनों और कठिनाइयों को स्वीकार ही नहीं, बल्कि अपनाना पड़ता है। इसके लिए सुलझे हुए अध्ययन और लम्बे अभ्यास की ज़रूरत है। मेरी नज़र में स्वाभाविकता का अर्थ था, बन्धनों के प्रति लापरवाह बनकर वैसे ही करना, जैसे जीवन में होता है। नये कलाकारों से आम तौर पर यह गलती हो जाती है, और इसकी उन्हें बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है।

मैं सैट पर गया। सौभाग्य से कैमरा लांग-शॉट पर रखा हुआ था। मैं उसे भुला सकता था, सैट पर स्वतंत्रता से इधर-उधर चल-फिर सकता था, बिना किसी रुकावट के हाथ-पैर हिला सकता था।

सीन इस प्रकार थाः हीरो बरामदे में एक टेबल-लैम्प के प्रकाश में पुस्तक पढ़ रहा है। मैं, उसका फैशनपरस्त दोस्त, मस्तानी अदा में, दरवाज़े में दाख़िल होता हूं, सिर से हैट उतारकर खूंटी पर टांगता हूं, और एक आरामकुरसी पर बैठकर सिगरेट के कश

खींचता हुआ हीरो के पुरातनपन्थी विचारों और आदर्शों पर व्यंग्य करने लगता हूं। संवाद का केवल एक वाक्य बोलने के बाद शॉट कट हो जाना था।

कहते हैं कि नये जुआरी का पहला दांव हमेशा सीधा पड़ता है। इस शॉट में मैंने ऐसी स्वाभाविकता दिखाई कि हर तरफ़ से वाह-वाह होने लगी। आरामकुरसी पर बैठते ही मैं मुंह में से धुएं के गोल-गोल छल्ले निकालने लगा था, जो बड़े करतब वाली बात थी। इसके बाद एक-दो और शॉट हुए, जिनमें कैमरा थोड़ा नज़दीक आ गया। इस बार भी मैंने बहुत बढ़िया अभिनय किया, जैसे दिखा रहा होऊं कि यह सब मेरे जैसे, बी०बी०सी०से आए हुए कलाकार के बायें हाथ का खेल है। मैं ख़ुशी में झूमता हुआ प्रातः काल के समय घर पहुंचा।

तीन दिन बाद फिर उसी सैट पर दिन की शिफ़्टें शुरु हुई, तो मुझे फिर बुलाया गया। तब स्टूडिओ में बड़ी चहल-पहल देखी। एक बड़े-से कमरे में बहुत-से मर्दों का बारी-बारी मेक-अप किया जा रहा था। बरामदे के उस ओर एक उतने ही बड़े कमरे में स्त्रियों का मेक-अप किया जा रहा था। वे इस प्रकार चहक रही थीं, जैसे किसी ब्याह में एक साथ बैठी हुई हों। मुझे भी मर्दों वाले कमरे में दाख़िल कर दिया गया। मैं नहीं जानता था कि वे कौन लोग थे। अगर कोई बता देता कि वे 'एक्स्ट्रा' थे, तो भी कोई फ़र्क न पड़ता, क्योंकि मैं नहीं जानता था कि एक्स्ट्रा क्या होते हैं। उनका मेकअप होता देखकर मैंने यही सोचा कि वे भी मेरे या नवीन जैसे कलाकार होंगे। जैसे स्टेज की दुनियां में सब बराबर होते हैं, चाहे कोई बड़ा कलाकार हो, चाहे छोटा, उसी प्रकार फ़िल्मों में भी होगा। चाय-पार्टी के दृश्य के लिए मेरी तरह वे लोग भी अपने घरों से बढ़िया सूट, शेरवानियां आदि पहनकर आए थे, और बहुत अच्छे लग रहे थे। सभी अच्छे व्यवहार वाले लोग थे। उनके साथ गप्पें हांकने के लिए खुला समय मिला था। कुछ ही देर में उनके साथ मेरी दोस्ती हो गई। इंगलैंड से आया हुआ होने के कारण मैं भी उनकी आंखों में आदर का पात्र बना हुआ था। इतना प्यारा और सुखद वातावरण मैंने कभी पीपल्स थियेटर में भी नहीं देखा था। हर कोई मेरे साथ बड़ी नम्रता और अपनत्व से पेश आ रहा था, जैसे हर सम्भव तरीके से मेरे परायेपन के अहसास को दूर करना चाह रहा था। उनकी बातों से पता चला कि वे ख़ुद भी कोई मामूली आदमी नहीं थे। एक ने बताया कि शहर में उसकी चार फ़र्नीचर की दुकानें हैं। शूटिंग के लिए वह सिर्फ़ शौक पूरा करने के लिए कभी-कभी आ जाता है। और अब ख़ुद एक फ़िल्म बनाने का इरादा कर रहा है। उसमें विलेन (खलनायक) का रोल वह ज़रूर मुझे देगा, क्योंकि मैं शक्ल से बिल्कुल 'इंगलिश विलेन' जैसा लगता हूं।

हैरानी की बात यह थी कि सिर्फ़ वही नहीं, हर आदमी फ़िल्म बनाने का प्रोग्राम लिए बैठा था। हर किसी के पास कहानी थी, जो उसने खुद लिखी थी। वह बड़े-बड़े फ़िल्म-स्टारों के नाम लेता, जिनके साथ कि उसकी दोस्ती थी, और जो उसकी फ़िल्म में काम करने के लिए हां कर चुके थे।

एक ऊंचा-लम्बा पठान, जिसका नाम असलम था, बड़ी नम्रता से बोल रहा था। फिर उसने फणी-दा की बुराई करनी शुरु की। कहने लगा कि पहली फ़िल्म में उन्होंने उसे एक छोटा रोल दिया था, और वायदा किया था कि अगली फ़िल्म में मुख्य पात्र का, और फिर उससे अगली फ़िल्म में हीरो का रोल देंगे। इस हिसाब से उस फ़िल्म में, जिसकी

कि शूटिंग हो रही थी, उसे हीरो होना चाहिए था। आखिर दम तक उसे लटकाए रखा गया, और अब 'भाई लोगों' में खड़ा कर दिया गया है। 'भाई लोग शब्द मुझे अजीब-सा लगा और उस पर हंसी आई। पर मैंने देखा, असलम की आंखों से आंसू फूट पड़े थे, और उसने जेब से रुमाल निकाल लिया था। मैं एकाएक गम्भीर हो गया। मेरे साथ भी तो फणी-दा ने हू-ब-हू इसी किस्म का वादा किया था।

विश्वास करना कठिन था कि फणी-दा इस किस्म का अन्याय कर सकते हैं। मेरे मन में उनके लिए बहुत गहरी श्रद्धा थी। पर मज़े की बात यह कि आगे जाकर मेरे साथ भी वही कुछ हुआ, जो असलम के साथ हुआ था। मैं भी अपने साथ वैसा ही अन्याय देखकर बहुत दुःखी हुआ था, और हर जगह फणी-दा को कोसने लगा था। पर आज मैं फणी-दा को दोष नहीं देता। बीस साल इस 'तमाशे की दुनिया' में गुज़ारकर मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि इस दुनिया की अपनी अलग नैतिकता और अपने अलग कायदे-कानून है, जो पाठकों को   धीरे-धीरे समझ में आएंगे।

पहले दिन, उस पार्टी-सीन में मेरा कोई शॉट नहीं हुआ, और सारा दिन धूप में, कुरसियों पर इधर-उधर बैठकर, और बेकार की बातें करके मैं तंग आ गया। पर दूसरे दिन अचानक फणी-दा का कैमरामैन-घोष और दो अन्य कर्मचारी जो मेरे अस्तित्व को बिलकुल भूल चुके लगते थे मेरे पास आए। कैमरा मेरी मेज़ पर मुझ से तीन फ़ुट के फ़ासले पर टिका दिया गया। जितनी देर तक मुझपर लाइटें और रिफ़्लैक्टर डालने का प्रबन्ध होता रहा, मेरी ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। न ही किसी ने बताया कि क्या शॉट है या किस सीन में आना है, या कहानी के साथ उनका क्या सम्बन्ध है। इतना नज़दीक होने पर कैमरा ने मेरे अंगों की सारी आज़ादी छीन ली थी। मैंने उसकी ओर से लापरवाह बनने की बहुत कोशिश की, पर हर क्षण वह मेरे अंगों को जकड़ता रहा, जैसे कोई अजगर मुझे अपनी लपेट में लेकर खीचता जा रहा हो। मुझे अपनी सभी हरकतें नकली महसूस होने लगीं। लोग अजीब नज़रों से मुझे देख रहे थे। कोई मेरी हरकतों से प्रभावित नहीं हो रहा था। ऐसे लग रहा था, जैसे हर किसी को मेरे दिल की घबराहट का पता लग गया था।

फिर मेरे सामने, मेज़ पर, भुना हुआ एक पूरा मूर्गा लाकर रखा गया। फणी-दा ने समझाया कि क्लैप बजने के बाद, कैमरे के पास खड़ा असिस्टैंड ऊंची आवाज़ में कहेगा, 'लेनिन!' और मैं उसकी ओर हंसकर देखता हुआ, मुर्गे को दोनों हाथों में उठा लूंगा, और मुर्गे की ओर देखकर कहूंगा, 'जानवर!'

लेनिन जैसे महान व्यक्ति के नाम के साथ जानवर शब्द जोड़ना मुझे बहुत भद्दा लगा। पर इस बारे में सवाल-जबाव जैसे कर सकता था, जबकि शॉट लिया जाने वाला था ? शायद 'लेनिन' शब्द हीरो की ओर से बोला जा रहा था, जिसे कम्युनिस्ट विचारों का दिखाया गया होगा। उन दिनों कम्युनिस्ट लड़ाई को 'लोक-युद्ध' कहते थे, और रूस-अमरिका-इंगलैंड पक्ष का समर्थन करते थे। इसके उलट सुभाषचन्द्र बोस के अनुयायी जर्मनी-जापान के पक्ष का समर्थन करते थे और कम्युनिस्टों को गद्दार कहते थे। कांग्रेस दोनों और कदम रखती थी। वह लड़ाई को 'लोक-युद्ध' कहती थी पर कम्युनिस्टों को गद्दार घोषित करती थी। क्या पता, फणी-दा सुभाषवादी हों, और इप्टा के एक मेम्बर से, जिसे कि आम तौर पर कम्युनिस्ट समझ जाता था, लेनिन के बारे में अपमान-भरा शब्द

कहलवाकर ख़ुश होना चाहते हों। या फ़िल्म के शुरु में हीरो के कम्युनिस्ट विचारों का मज़ाक उड़ाकर, अन्त में उसे ठीक साबित करना चाहते हों, क्योंकि हीरो आख़िर हीरो होता है।

ज़्यादा सोचने का समय नहीं था। एक रास्ता था, शॉट देने से साफ इन्कार कर देना। दूसरा रास्ता था, इन बातों की ओर से ध्यान हटाकर काम में लग जाना। दूसरा रास्ता आसान था। मैं उसी रास्ते पर चला। पर इस बात का मुझे आज तक अफ़सोस है। मुझे किसी हालत में भी ऐसा शब्द बोलने के लिए मानना नहीं चाहिए था, जिससे कि एक महापुरुष का अपमान होने की सम्भावना हो। यह मेरी नैतिक कमज़ोरी थी।

इस घटना से किसी हद तक उस ज़माने के और आज के फिल्मी वातावरण पर प्रकाश पड़ता है। उस ज़माने की फिल्मों में राजनैतिक और सामाजिक विचारधाराओं का काफ़ी समावेश होता था। आज इस बात पर विश्वास करना कठिन है, क्योंकि अब फिल्मसाज़ सिर्फ भंग (भांग) घोटते हैं।

फणी-दा अपनी उस मीठी, प्यार-भरी नज़र से मुझे देख रहे थे। पहली रिहर्सल हुई। पहले मुझे 'लेनिन' कहने वाले की ओर देखकर हंसना था। पर उसी समय मेरे जबड़े सूखे हुए चमड़े की तरह अकड़ गए, और उन्होंने खुलने से इन्कार कर दिया। फिर, मैंने मुर्ग़े की ओर देखकर 'जानवर' कहा तो सही, पर साउंडरिकार्डिस्ट को सुनाई नहीं दिया। उसने ऊंची आवाज़ में बोलने के लिए कहा। मैं उस अजीब-सी परिस्थिति पर हैरान हो रहा था। मैं हंस भी रहा था और ऊंची आवाज़ में बोल भी रहा था। पर न हंसी बाहर निकल रही थी, न आवाज़।

दूसरी रिहर्सल हुई। इस बार मैंने और ज़ोर लगाया। ऐसे लगा, और इस बार मैंने ज़रूरत से ज़्यादा जबड़े खोल दिए थे। बोला भी जरूरत से ज़्यादा ऊंचा था। फिर भी, रिहर्सल के बाद फणी-दा ने 'ज़रा मुस्कराकर', और रिकार्डिस्ट ने 'ज़रा ऊंचा' बोलने के लिए कहा।

मैंने झुंझलाकर फणी-दा से कहा, ''अब टेक कीजिए, बिलकुल ठीक आएगा।''

'हां,हां, टेक,' फणी-दा ने फट सहमत होते हुए कहा। ''स्वामी, मेक-अप ठीक करो साहब का।'

स्वामी ने फिर पाउडर का पैड मेरे चेहरे पर फिराना शुरु किया। कायदे के अनुसार उसने सब ठीक किया था- कठपुतली की तरह। पर उसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं था। मेरा खयाल था कि फणी-दा मेरी आलोचना करेंगे, मुझे डांटेंगे। पर उन्होंने हमेशा की तरह बड़ी तसल्ली से नसवार की चुटकी नाक में चढ़ाते हुए कहा, ''वैरी गुड शॉट ! ओ०के०।'' उनके ओ०के० कहने पर स्टूडिओ की ओर से दो बार सीटियां बजाई गईं। अब लोग मेरे साथ हाथ मिलाते हुए मुझे मुबारकबाद देने लगे, क्योंकि फ़िल्मों में यह मेरा सबसे पहला क्लोज़-अप था। फणी-दा ने मेरे एकाउंट में रसगुल्ले मंगवाकर सबको बांटे। सभी प्रशंसा कर रहे थे। मैं बहुत हैरान हो रहा था। मुझे पता था कि वे झूठी प्रशंसा कर रहे है। पर क्यों ? आखिर क्यों ? मुझे बड़ी उलझन हो रही थी।

यह भी 'तमाशे की दुनिया' का एक राज़ है, जो पाठकों को धीरे-धीरे समझ आएगा।

हां, वे झूठी प्रशंसा कर रहे थे। स्टूडिओ की दुनिया में कोई किसी के आगे सच नहीं बोलता। सच एक-दूसरे के मुंह पर उसकी प्रशंसा और पीठ के पीछे निन्दा करते हैं। बाहर के लोगों को यह बात बहुत बुरी लगती है। पर अन्दर वालों को इसका बहुत सहारा है। फ़िल्म लाइन में किसी को मानसिक तौर पर सुरक्षा नसीब नहीं है। सभी छलावों के सहारे जीते हैं। सभी अपने-अपने सपनों के बुलबुलों में रहते हैं। वे एक-दूसरे का बुलबुला तोड़ना नहीं चाहते। यह एक तरह से पारस्परिक सहानुभूति का दिखावा है। मान लीजिए कि उस क्लोज़-अप के बाद किसी एक आदमी ने भी सही बात मेरे मुँह पर कह दी होती, तो मेरा हौसला शायद हमेशा के लिए टूट जाता, और अगले दिन मुझसे काम ही न होता।

उस दिन मैं सिर में दर्द, कमर में पीड़ा, और टांगों में टीसें लेकर घर लौटा। कैमरे ने मुझे बहुत सख़्ती से अपना अस्तित्व अनुभव करा दिया था। मैं जान गया था कि उससे बेख़बर नहीं हुआ जा सकता।

उस क्लोज़-अप, और उसके बाद बांटे गए रसगुल्लों ने 'भाई लोगों' (एक्स्ट्राओं) को अहसास करा दिया कि मैं उनमें से नहीं था। मेरा 'रनिंग रोल' (लम्बा पार्ट) था। एकाएक मुझसे उनकी बातचीत बंद हो गई। वे मेरे लिए अजनबी हो गए। अपनी दुनिया से उन्होंने मुझे निकाल दिया।

वे दिन और आज का दिन, मुझे फिर कभी एक्स्ट्राओं की दुनिया में झांकने की आज़ादी नहीं मिली। मैंने सोचा था कि फ़िल्मी दुनिया में ऊंच-नीच की दीवारें नहीं है। कितनी बड़ी भूल थी मेरी ! फ़िल्म इण्डस्ट्री में तो चप्पे-चप्पे पर दीवारें खड़ी हैं। समाज के अन्य क्षेत्रों में ये दीवारें शायद ईंट-पत्थर की बनी हुई होंगी, पर हिन्दी फिल्मों की दुनिया में ये फौलाद की बनी हुई हैं।

अगला शॉट हीरोइन, स्वर्णलता के साथ था। उन्होंने मेरे साथ रिहर्सल करने से ही इन्कार कर दिया। शॉट में वे बोलती मेरे साथ थीं, पर देखती कैमरे की ओर थीं। जितनी देर वे सैट पर रहीं, उन्होंने मुझे ऐसे महसूस कराया, जैसे मैं किसी गंदी और भयानक बीमारी का मरीज़ हूं, जिसे कोई छूना न चाहता हो।

कितनी मीठी और सुखद थी वह एक्स्ट्राओं की दुनिया, जिसमें से मैं निकाला गया था ! वह दुनिया, जिसमें हर कंगाल निर्माता बनने के सपने देखता था, कहानियां लिखता था, अपनी लम्बी निराशाओं को रंग-बिरंगी गेंद बनाकर उछाल सकता था। और कितनी अपनत्व था उस दुनिया में ! उस अनुभव को मैं भूल नहीं सकता। उसे मैं हमेशा बड़े प्यार से याद करता हूं।

६

देवधर हाल, जहां इप्टा (इंडियन पीपल्स थियेटर एसोसिएशन) की रिहर्सलें हुआ करती थीं, 'प्रगतिशील लेखक संघ' की गोष्ठियों का केन्द्र भी था। प्रगतिशील लेखक संघ ने प्रगतिवादी विचारों को कहां तक फ़ायदा पहुंचाया है और कहां तक नुकसान, इसका मैं आज तक हिसाब नहीं लगा सका हूं। उनकी बैठकों में कुछ एक सयाने और अच्छे दिल के जिन व्यक्तियों से मेरा परिचय हुआ, उनमें एक थे अयूब खां–फ़िल्मी अभिनेता दिलीप कुमार के बड़े भाई–जो अब इस संसार में नहीं हैं।

अयूब पश्चिमी ढंग के लिबास के बजाय दूधिया सफ़ेद सलवार-कमीज़ पहनने के शौकीन थे। देखने में बड़े सुशील और कमज़ोर-से लगते थे। बचपन से ही सेहत कमज़ोर रही थी। मोटे कांच की ऐनक लगाते थे, जिसमें से हर चीज़ को बड़े ध्यान और हैरानी से देखते थे, जैसे डर हो कि संसार को देखने के लिए उनके पास अधिक समय नहीं है। उनके मोटे-मोटे होंठो में से हंसी इस तरह फूटती थी, जैसे वे किसी एक बात पर नहीं, पूरे संसार पर हंस रहे हों। उनके स्याह-काले बाल सघन और घुंघराले थे जिन्हें वे बहुत संवारकर रखते थे। साहित्यिक बैठकों के उस वातावरण में उनकी स्वच्छता और नियमपरायणता अनायास ही हर किसी का ध्यान अपनी ओर खींच लेती थी। शायद यही बात हमारी दोस्ती का बुनियादी कारण बनी।

अयूब का घर भी पाली हिल पर था- चेतन के घर के बिलकुल नज़दीक। उनके पिता क्रैफ़ोर्ड मार्केट में फलों का व्यापार करते थे। एक अरसे से पेशावर से आकर बम्बई में बसे हुए थे। बहुत गौरववान, उदार और मिलनसार बुजुर्ग थे। उनका परिवार पूरी तरह पंजाबी रहन-सहन का पाबंद था। वे अयूब को बहुत प्यार करते थे। अयूब यद्यपि अपने भाइयों में दूसरे नम्बर पर थे, फिर भी पिता उन्हें अपना सलाहकार और मददगार मानते थे। परदेस में जहां का दाना-पानी मुझे पूरी तरह रास नहीं आया था, और परायापनसा महसूस होता था, अयूब का घर मेरे लिए एक ऐसा स्थान था, जहां मुझे अपनत्व का अहसास होता था।

उन दिनों यूसुफ़ (दिलीपकुमार) ने फ़िल्मों में अभी कदम रखा ही था। बॉम्बे टाकीज़ की फिल्म, 'ज्वार-भाटा' में वे हीरो का रोल कर रहे थे। अयूब दिलीप से चार साल बड़े थे। दिलीप से छोटे थे, नासिर खां, जिनकी देव आनन्द से बहुत अच्छी दोस्ती थी।

एक दिन, शायद अब्बास के कहने पर, फ़िल्मिस्तान वालों ने 'ज़ुबैदा' नाटक के कलाकारों को लंच पर बुलाया। वहां नीतिन बोस 'मज़दूर' नामक फिल्म शुरु करने वाले थे। जिन लोगों ने यह फ़िल्म देखी है, वे मेरे साथ सहमत होंगे कि आज तक हिन्दुस्तान में जितनी भी यथार्थवादी फ़िल्में बनी हैं, 'मज़दूर' उनमें पहले नम्बर पर आती है। किसी और फ़िल्म में मैंने वर्ग-संघर्ष को इतनी तीक्ष्णता से पेश किया गया नहीं देखा। किस प्रकार पूंजीपति हर सम्भव तरीके से मज़दूरों में फूट डालते हैं, मध्य वर्ग के ढिलमिल यकीन को मिट्टी में से उठाकर शीशमहल में बैठा देते हैं, ताकि वह अपनी आत्मा बेचकर, मज़दूरों का खून चूसने में, मालिकों की मदद करें, फिर किस प्रकार धर्म आदि के नाम पर मज़दूरों को गलत रास्ते पर डाला जाता है, और मज़दूरों के सच्चे नेताओं को मार डालने तक से संकोच नहीं किया जाता-ये सारी बातें इतनी स्पष्टता से इस फ़िल्म में दिखाई गई थीं कि उसके निर्माता ख़ुद उससे बेज़ार हो उठे थे। कई शहरों में यह फ़िल्म बहुत लोकप्रिय होने पर भी सिनेमाओं में से हटा ली गई थी। मुझे एक दोस्त ने बताया कि कानपुर में अंग्रेज़ डिप्टी कमिश्नर ने अपने करोड़पति हिन्दुस्तानी दरबारियों के ज़ोर देने पर इसे तीसरे-चौथे दिन सिनेमा से हटा दिया था, जिसकी बदौलत सिनेमा के मालिक को काफ़ी नुकसान उठाना पड़ा था।

उस ज़माने में बंगाल में बिमल राय 'हमराही' बना रहे थे, जिसमें पूंजीवादी व्यवस्थाके उलट कूट-कूटकर व्यंग्य भरा हुआ था। पर विमल राय अन्त तक यथार्थवाद को निभा सकने में सफल नहीं हो पाए थे। हमराही के हीरो-हिरोइन भी, जैसाकि न्यू थियेटर की

फ़िल्मों में प्रायः हुआ करता था, अन्तिम दृश्य में दूर क्षितिज की ओर जाते हुए दिखाई देते हैं, मानो संसार की समस्याओं का हल किस्मत पर छोड़ दिया गया हो। पर 'मज़दूर' फिल्म में ऐसे छायावाद का सहारा नहीं लिया गया था। न ही पूंजीपति की बेटी के साथ हीरो की शादी कराकर शेर और बकरी को एक ही घाट पर पानी पिलाया गया था, और न ही पीड़ितों-शोषितों को खुद अपनी उस हालत का ज़िम्मेदार ठहराया गया था। इसके उलट, बहुत साफ़ तौर पर कहा गया था कि मज़दूरों की भलाई का रास्ता केवल उनकी एकता में है, जिसकी मदद से वे पूंजीवादी व्यवस्था को तोड़कर लोगों को समाजवाद के रास्ते पर ला सकते हैं।

नीतिन बोस शायद चाहते थे कि इस प्रगतिशील विचारों वाली फ़िल्म में काम करने वाले कलाकार भी प्रगतिशील विचारों वाले व्यक्ति हों। और शायद इसीलिए उन्होंने ज़ुबैदा नाटक वालों को खाने पर बुलाया था।

जब गोरेगांव जाने वाली गाड़ी पकड़ने के लिए हम बांद्रा स्टेशन पर पहुंचे, तो पता नहीं कहां से घूमते-फिरते हुए नासिर ख़ां देव आनन्द से आ मिले। हमारी टोली में सभी व्यक्ति देव से बड़े थे और चेतन के दोस्त थे। देव सभी से शर्मा रहे थे। उन्होंने नासिर को ज़बर्दस्ती अपने साथ ले लिया।

उस खाने का नतीजा बहुत अजीब निकला। नीतिन बोस को हमसें से तो कोई भी पसन्द नहीं आया, पर नासिर खां को, जो यूं ही हमारे साथ चल पड़े थे, उन्होंने अगले दिन स्टूडिओं में बुलाकर हीरो का रोल दे दिया। जिन्होंने वह फ़िल्म देखी है, वे जानते हैं कि नासिर खां ने मिल-मैनेजर का रोल किस खूबी से अदा किया है, हालांकि अभिनय-कला का उन्हें कोई ज्ञान नहीं था। इसमें न सिर्फ नीतिन बोस के बढ़िया निर्देशक होने का सबूत मिलता है, बल्कि यह भी प्रकट होता है कि सही कलाकार का चुनाव किसी भी फ़िल्म या नाटक के सफल बनने के लिए पहली शर्त है।

खैर, उस समय तो हमारे अन्दर ईर्ष्या और निराशा जागने से न रह सकी। खासकर देव को तो हर समय उठते-बैठते, खाते-पीते हुए, फ़िल्मों के सपने दिखाई देने लगे। वे अपने दोस्त से पीछे नहीं रहना चाहते थे।

नासिर खां के इस प्रकार हीरो बन जाने को किस्मत जागने वाली बात ही कहा जा सकता है, क्योंकि हमारे देश में लोगों का किस्मत में बहुत गहरा विश्वास है। पर इस सिलसिले में एक बात मैं ज़रूर कहूंगा। अपने बीस साल के फ़िल्मी जीवन में मैंने सिर्फ़ मध्यवर्ग के लोगों की ही किस्मत को जागते हुए देखा है, मज़दूर वर्ग की किस्मत को जागते हुए कभी नहीं देखा। मज़दूर तो जैसे मेहनत करने और भूखों मरने के लिए ही फ़िल्म लाइन में आए हैं। हां, मध्यवर्ग का व्यक्ति ज़रूर यह आशा करता है कि कभी न कभी कोई सरपरस्त उस पर मेहरबान होगा, और उसकी सोई हुई किस्मत जाग उठेगी।

कुछ अरसे के बाद हमारे लिए भी ऐसे ही शुभ अवसर आए। पृथ्वीराज कपूर ने अपना 'पृथ्वी थियेटर' खोला, जिसमें अज़रा मुमताज़ और दमयन्ती दोनों को काम मिला। दमयन्ती को अब पांच सौ रुपये माहवार मिलने लगे थे, जो कि उस ज़माने में बहुत अच्छी आमदनी कही जा सकती थी। हमने झट जुहू की थियोसाफिकल कालोनी में एक

छोटा-सा बंगला किराये पर ले लिया, यद्यपि उसका किराया हमारी हैसियत से कुछ ज़्यादा था।

आज के और उस ज़माने के जुहू में ज़मीन-आसमान का फर्क है। उन दिनों वहां ज़्यादा आबादी नहीं थी। कुछ एक अमीर लोगों के बंगलों के अतिरिक्त अधिकांश घर नारियल के पत्तों के बने हुए थे, जिन्हें 'शैक' कहा जाता था। बी०ई०एस०टी० की बसें अभी वहां चलनी शुरु नही हुई थीं। उनकी जगह नीले रंग की छोटी-छोटी बसें चला करती थीं। वे कोयले की गैस से चलती थीं। बहुत फटीचर किस्म की सर्विस थी उनकी। वर्षा के दिनों में उनका रास्ते में ही रुक जाना आम-सी बात थी।

हमारी इप्टा की सरगर्मियां दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। रोज़ शाम को देवधर हाल में रिहर्सलें होतीं। हम भाग-दौड़ करते हुए कभी चर्नी रोड और कभी ग्रांट रोड स्टेशन से नौ बजे की लोकल-गाड़ी पकड़ते, जो दस बजे सान्ताक्रूज़ पहुंचती थी। अगर वह एक मिनट भी लेट हो जाती, तो आख़िरी बस निकल जाती। बस वाले ऐन मौके पर मुसाफ़िरों को अंगूठा दिखाकर बस ले जाते। ऐसा करने में उन्हें जैसे मज़ा आता था। हफ्ते में कम से कम दो बार तो ज़रूर हमें सान्ताक्रूज़ से पैदल चलकर जुहू आना पड़ता था। लगभग दो मील का फ़ासला था वह। रास्ते में हमें भूख सता रही होती। उस भूख को किसी हद तक शान्त करने के लिए हम भुने हुए चनों या मूंगफली की आने-दो आने वाली पुड़िया ख़रीद लेते। स्टेशनों पर ये चीज़ें आम बिकती थीं। ये चीज़ें एक तो सस्ती होतीं, दूसरे इन्हें चबाते हुए उकताहट दूर होती। एक बार कृश्न चन्दर को चने चबाने की ऐसी बुरी आदत पड़ी कि उनके मुंह में छाले पड़े रहते थे।

चेतन, उमा और दूसरे कई दोस्त कहते कि हमारा इतनी दूर रहना मूर्खता है। इसमें कोई शक नहीं कि जहां बान्द्रा से चर्चगेट पहुंचने में आधा घण्टा लगता था, वहां जुहू से चर्चगेट पहुंचने में लगभग एक घण्टा लग जाता था। अगर मैं हिसाब लगाऊं कि घर से शहर जाने-आने में मैंने अपनी ज़िंदगी का कितना समय बम्बई में बरबाद किया है तो दिल दहल उठे। पर जुहू में समुद्र का अपना आनन्द था। पहले दिन से ही हमारा समुद्र के साथ ऐसा मोह हो गया था कि जुहू छोड़कर बम्बई में किसी और जगह रहना हमें मंजूर नहीं था। सुबह हमारे दोनों बच्चे अपने हाथों में छोटी-छोटी बाल्टियां पकड़कर माहीगिरों से अपना टैक्स वसूल करने के लिए भाग उठते थे। केकड़ों को बिलों में से निकालकर अपनी अंगुलियों में उठाए फिरना उनका खास शौक था। शबनम तो जीवित मछलियों को खा जाती थी। हमें भी समुद्र की लहरों में तैरने का मज़ा आता था। मैं समझता हूं कि जितने साल हमने शहर से दूर होने के कारण, आने-जाने में बरबाद किए है, उतने साल ऐसी सेहतमन्द जगह पर रहकर अपनी ज़िंदगियों में जोड़ भी लिए है। मनुष्य की आत्मा, सीमित होने के कारण, असीम की याचक है। और समुद्र में से असीम की यह भावना प्राप्त हो सकती है। हमारा घर बिलकुल समुद्र के तट पर था। सुबह होते ही लहरों की आवाज़ हमें बुलाने लगती और हम नंगे पांव समुद्र की ओर दौड़ पड़ते।

गांधीजी को भी समुद्र से बहुत प्यार था। जेल से रिहा होने पर वे कुछ समय जुहू पर आकर रहे थे। सुबह-शाम, मंद-मंद बहती हुई लहरों में उनके लिए कुर्सी रख दी जाती, और वे उस पर बैठकर लहरों में पांव डुबो देते, और देर तक अपने विचारों में खोए रहते। वहां रेत पर टहलते हुए हम प्यारेलाल, डाक्टर सुशीला नायर, मीरा बेन और अन्य

कई मुख्य व्यक्तियों को देखते। हम दूर से ही उन्हें हसरत-भरी नज़रों से निहारते। तब हमें वे दिन याद आते, जब हमें भी आश्रमवासी होने का सौभाग्य प्राप्त था। हम उनके पास जाकर उन्हें मिलना चाहते थे। पर स्वाभिमान इजाज़त न देता, क्या पता अब वे हमारे साथ कैसा सलूक करें। पर एक दिन मुझसे रहा न गया और मैंने बापू से मिलने की आकांक्षा प्रकट करते हुए उन्हें एक पत्र लिख डाला। मुझे पता था कि वह पत्र उन तक पहुंचने के पहले कई और व्यक्तियों की नज़रों के नीचे से भी गुज़रेगा। मुझे उत्तर की बहुत कम आशा थी। एक दिन मीरा बेन हमारी कालोनी के बिलकुल नज़दीक आकर खड़ी हुई। हमारी नज़रें मिलीं। उन्होंने हमें पहचान लिया। पहले तो वे बहुत स्निग्धता से बोलीं, फिर एकाएक उनका रवैया बदल गया-इतना ज़्यादा कि मुझे अपने पत्र का जिक्र करने का भी साहस न हुआ।

मुझे विश्वास था कि गांधीजी मेरा और दम्मो (दमयन्ती) का सेवाआश्रम छोड़कर बी०बी०सी०में काम करने के लिए इंगलैण्ड जाना माफ़ कर सकते थे। यह भी तो सच था कि हम उनकी सलाह से ही लन्दन के लिए रवाना हुए थे, यद्यपि वह सलाह उन्होंने पूरे दिल से नहीं दी थी। पर उनके अन्य साथियों का हमें माफ़ करना असंभव था, क्योंकि हमारे जाने के बाद उन्हें कई मुसीबतों का सामना करना पड़ा था। हम ज़रा-सी भी शिकायत करने के लायक नहीं थे।

पर हम इतनी ज़्यादा आत्मग्लानि के शिकार भी नहीं थे। गांधीजी के प्रति हमारी श्रद्धा इतनी गहरी थी कि उसका उल्लेख नहीं किया जा सकता। खासकर दम्मो को तो बापू, कस्तूरबा, आशा-दी और आर्यम-दा से बेहिसाब प्यार मिला था। पर गांधीवाद पर से हमारा विश्वास काफी हद तक उठ गया था। यह ठीक है कि हम अपने देश की आज़ादी के लिए लड़े नहीं थे, जेलों में नहीं गए थे, पर अनगिनत रातें हमने बमों की बारिश के नीचे गुज़ारी थीं। हमने मौत के भयानक वातावरण में दिन बिताए थे। हमने चार साल उस यूरोप में गुज़ारे थे, जहां लाखों-करोड़ों लोग युद्ध के शिकार हुए थे, और जहां नाज़ियों ने निर्दोष यहूदियों की चमड़ियों के लैम्पों के शेड बनाकर पैशाचिकता का नया रिकार्ड कायम किया था। हमें विश्वास हो गया था कि वर्तमान युग की क्रांतिकारी विचारधारा गांधीवाद के बजाय मार्क्सवाद है। सिर्फ मार्क्सवाद। और यह विश्वास आज तक मज़बूत ही होता आया है।

कला और साहित्य में यथार्थवाद की शिक्षा मुझे कालेज में अंग्रेज़ी साहित्य के अध्ययन से मिली थी। मैंने उनके इतिहास का अध्ययन करते हुए यह बात जानी थी कि यूरोप में यथार्थवाद से पहले के युग की कला में लम्बाई-चौड़ाई तो होती थी, पर गहराई नहीं होती थी, जो कला का तीसरा आयाम है। 'रेनेसान्स' कला में तीसरा आयाम लाया था।

यथार्थवाद की विशेषता है कि वह कला में तीसरा आयाम लाता है।

मैंने अपने स्टेज और फ़िल्म के अभिनय में यही तीसरा आयाम लाने का प्रयास किया है। कलाकार के लिए यह सबसे मुश्किल रास्ता है और इसीमें सृजन का असली आनन्द अनुभव किया जा सकता है। कलाकार किसी पात्र का रोल करते हुए उसे कुछ इस तरह सजीव ढंग से दर्शकों के सामने पेश करना चाहता है कि वह पात्र सपाट लगने के बजाय हर कदम पर गहरा और नया बनता हुआ प्रतीत हो।

ऐसा यथार्थवाद पैदा करने के लिए यूरोप में पन्द्रहवीं सदी से विकसित होती आ रही तकनीक को ही सीखने और समझने की ज़रूरत नहीं है, यद्यपि यह भी एक ज़रूरी चीज़ है। इसके साथ यह जानने और समझने की भी ज़रूरत है कि पिछली सदियों में मानव-समाज किस ओर जा रहा था, और अब किस ओर जा रहा है। मनुष्य के सामने सबसे महत्त्वपूर्ण सवाल क्या हैं, और उनका हल कहां और कैसे खोजा जा सकता है? समाज में कौन-सी प्रवृत्तियां उभर रही हैं और कौन-सी मर रही है? व्यक्ति को समझने के लिए समूह को समझना ज़रूरी है।

मैं ज्यों-ज्यों मार्क्सवाद का अध्ययन करता गया, मेरी दिमाग़ी धुंध मिटती गई, और मेरे अन्दर रोशनी होती गई।

एक दिन मार्क्स की महान पुस्तक, 'पूंजी' के पहले अध्याय में ही पढ़ा की "जिन्स हमसे बाहर की चीज़ होती है। वह अपने गुणों से किसी न किसी प्रकार की इन्सानी ज़रूरतों को पूरा करती है। इस बात का कोई फर्क नहीं पड़ता कि वे ज़रूरतें शारीरिक है या मानसिक ।"

इस बात का मुझपर बहुत गहरा असर पड़ा। मुझे जैसे किसी महत्त्वपूर्ण समस्या का हल मिल गया था। अभिनय-कला भी अन्य दुनियावी कामों की तरह ही एक काम है। बढ़ई मेज़-कुरसी बनाकर या इंजीनियर मशीन बनाकर आदमी की कोई न कोई शारीरिक आवश्यक्ता पूरी करता है। इसी प्रकार लेखक नाटक की रचना करके या अभिनेता पात्र का रोल करके आदमी की मानसिक आवश्यकता पूरी करता है। दोनों तरह के काम एक-से ही पवित्र और प्रशंसा के हकदार है।

हमारे देश में आम तौर पर यह धारणा बनी हुई है कि कला एक ईश्वरीय देन है। कलाकार बनता नहीं, बल्कि वह जन्मजात होता है। उसे ईश्वर की ओर से प्रेरणा मिलती है। वह अलौकिक व्यक्ति होता है। जैसाकि एक प्राचीन यूनानी दार्शनिक ने कहा है, "लिखते समय कवि किसी दैवी अवस्था में पहुंच जाता है।"

अब इस धारणा में मेरा विश्वास बिलकुल खत्म हो गया था। मैं समझता हूं कि यह ठीक ही हुआ था। कला में अध्यात्मवाद को लाने के नुकसान ही नुकसान है, फ़ायदा बिलकुल नहीं है।

हम हर साल कितनी ही अमरीकी फ़िल्में देखते हैं। उनमें केवल मुख्य पात्र ही नहीं, बल्कि हर छोटे पात्र को भी इतनी सुन्दरता से पेश किया गया होता है कि कहीं कोई त्रुटि दिखाई नहीं देती। पर हमारी हिन्दुस्तानी फ़िल्मों में दो-चार मुख्य पात्रों को छोड़कर बाकी किसी पात्र के काम में अच्छे अभिनय का आभास नहीं मिलता। कई बार तो नामी कलाकार भी पैसे के लालच में एक साथ बीस-बीस फिल्मों में काम करते हुए अपनी कला का स्तर बहुत नीचे ले आते हैं।

अगर अभिनय ईश्वरीय देन है तो क्या यह हैरानी की बात नहीं कि पश्चिमी देश में, जहां धर्म का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, यह देन हर किसी को इतनी आसानी से मिल जाती है, पर हमारे देश में किसी-किसी को ही नसीब होती हैं, जहां कि दिन-रात धर्म के नाम पर घड़ियाल बजते रहते हैं।

अभिनय सिर्फ कला ही नहीं, विज्ञान भी है। वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन और अभ्यास करने पर कोई भी व्यक्ति अच्छा अभिनेता बन सकता है।

वैसे यह कहना भी गलत है कि किसी व्यक्ति को जन्म से कुछ मिलता ही नहीं है। हर किसी के संस्कार एक-से नहीं होते। कोई व्यक्ति अच्छा वैज्ञानिक बनने की प्रतिभा लेकर जन्म लेता है, तो कोई गणितज्ञ, कोई खिलाड़ी, कोई चित्रकार, संगीतकार, या अभिनेता बनने की प्रतिभा लेकर उसी व्यक्ति का पूरी तरह विकास हो सकता है, जिसकी प्रतिभा को छोटी उम्र में ही फलने-फूलने का वातावरण मिले। पर ऐसी सहूलतें हमारे देश में कितने लोगों को मिलती हैं? ग़रीबी,अज्ञान और कई किस्म के अभावों के कारण बहुत-से व्यक्तियों की आकांक्षाएं बचपन में ही कुचली जाती हैं।

अभिनेता बनने के लिए तीक्ष्ण और ऊंची उड़ान वाली कल्पना का होना ज़रूरी है। कई बच्चों की कल्पना बहुत तीव्र होती है, जिसे सूक्ष्म दृष्टि वाले माता-पिता और शिक्षक झट पहचान जाते हैं। ऐसे बच्चों में, बड़े होने पर, कला का शिखर छूने की योग्यता होती है। अच्छा कलाकार तो हर कोई बन सकता है, पर महान कलाकार कोई-कोई हीं बन सकता है।

पर यह बात शुरु में कौन कह सकता है कि अमुक कलाकार महान कलाकार बनेगा या साधारण कलाकार रह जाएगा ! बेहतर यही है कि आदमी ख़ुद को असाधारण समझने के बजाय साधारण समझे, और ईश्वरीय प्रेरणा और प्रतिभा पर भरोसा करने के बजाय अपनी लगन और मेहनत पर भरोसा करे।

मैं जब अपने बचपन के दिनों पर नज़र दौड़ाता हूं तो याद आता है कि मेरी कल्पना बहुत तीव्र थी। आम तौर पर बच्चों के खेल बड़े व्यक्तियो के कामों की नकल होते हैं। पर मैं इस नकल को इतना असली बना देता था कि बड़ी उम्र के व्यक्ति भी मेरे खेलों में शौक से शामिल हो जाया करते थे।

शिक्षा के दौरान में मेरा ज़्यादा झुकाव भाषाओं की ओर था। संस्कृत मुझे अच्छी लगती थी। आठ-दस साल की उम्र में ही मैं बाल्मीकि-रामायण पढ़ गया था। एक बार उसी शैली में मैंने श्लोक भी लिखे थे और आर्यसमाज के एक वार्षिकोत्सव में सुनाए थे। स्कूल में सबसे ज़्यादा मज़ा मुझे उस समय आता था, जब शिक्षक छोटे-छोटे सांकेतिक वाक्य लिखकर उनके आधार पर हमें कहानी लिखने के लिए कहते थे। साहित्य की पाठ्य-पुस्तकें मुझे अनायास ही ज़बानी याद हो जाया करती थीं।

मेरी साहित्यिक रुचि को माता-पिता और शिक्षकों की ओर से भी अच्छी प्रेरणा मिलती रही थी। मैंने अंग्रेज़ी साहित्य से एम०ए०किया था और कालेज से निकलते ही कहानियां और कविताएं लिखनी शुरु कर दी थीं। मुझे हमेशा ही साहित्यकार बनने का शौक रहा है। जैसाकि मैं पहले कह आया हूं, फ़िल्मी अभिनेता तो मैं संयोगवश ही बन गया हूं।

आज अगर कोई व्यक्ति मेरी प्रारम्भिक फ़िल्मों को देखे, तो उनमें मेरा काम उसे इतना घटिया लगेगा कि उसके आधार पर उसे यह विश्वास करने में कठिनाई होगी कि मैं कभी अच्छा अभिनेता बन सकूंगा। मेरे कई मित्र, जो मेरे साथ ही फ़िल्मों में दाख़िल हुए थे, बहुत अच्छा अभिनय करते थे। किसी को इस बात में संदेह नहीं था कि वे बहुत जल्द मशहूरी के सातवें आसमान को छू लेंगे। पर दुर्भाग्यवश वे खुद को असाधारण व्यक्ति

समझने का शिकार हो गए। अभिनय-कला का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने के बजाय वे ईश्वरीय प्रेरणा की प्रतीक्षा करने लगे। वे समझते थे कि जिस पात्र का रोल उन्हें करना है, वह किसी अलौकिक ढंग से खुद उनके अन्दर प्रवेश कर जाएगा। कभी वे शॉट से पहले समाधि लगाकर उसके आगमन की प्रतीक्षा करते, और कभी शराब या किसी नशीली चीज़ का सहारा लेते। सो, वे उन्नति नहीं कर सके। पर मैं अपनी साधारण प्रतिभा के बावजूद उनके अधिक सफल रहा।

जिन लोगों को मार्क्सवाद का ज्ञान नहीं है, वे उसे केवल एक राजनैतिक सिद्धान्त समझे हुए हैं। यह उनकी बहुत बड़ी भूल है। मार्क्सवाद वास्तव में एक दर्शन है, जो प्राकृतिक और सांसारिक जीवन के हर पक्ष को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखता है। हर कलाकार को यह जानने की आकांक्षा होती है कि उसकी कला का समाज में क्या महत्त्व है। उस महत्त्व के अनुसार क्या उसे वह स्थान प्राप्त है जो उसे मिलना चाहिए ? उस सिलसिले में मार्क्सवाद कई किस्म की ग़लतियों पर से पर्दा उठाकर सही रास्ता बताता है। वर्तमान युग में मार्क्सवाद का अध्ययन, मेरे ख्याल में, एक कलाकार के लिए भी उतना ही उपयोगी है, जितना कि किसी समाजशास्त्री के लिए।

मार्क्सवाद ने भाषा की समस्या को भी वैज्ञानिक ढंग से देखने का मुझे रास्ता दिखाया। टैगोर और गांधी जैसे महापुरुषों के विचारों से प्रभावित होकर मैं पहले से ही इस दृष्टिकोण की ओर आ रहा था कि हर कलाकार और साहित्यकार के लिए उसकी अपनी मातृभाषा और संस्कृति अभिव्यक्ति के लिए सबसे उत्तम साधन होता है। मार्क्सवाद के अध्ययन ने मेरा यह विश्वास और भी दृढ़ बना दिया।

'ज़ुबैदा' की सफलता के बाद इप्टा के साथी मेरी हर बात मानने के लिए तैयार थे। मैंने इस बात पर ज़ोर दिया कि विभिन्न भाषाओं की विभिन्न मण्डलियां बनाई जाएं। इप्टा सैद्धांतिक तौर पर इस बात को पहले से स्वीकार कर चुका था, पर अब उस पर अमल भी किया जाने लगा। देखते-देखते गुजराती, मराठी, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं की भी उत्तम श्रेणी की मंडलियां तैयार हो गईं। यहां तक कि तेलुगू-भाषी कलाकारों की भी एक नाटक-मण्डली बन गई। इन नाटक-मण्डलियों के अतिरिक्त इप्टा की एक अखिल भारतीय नृत्य-मण्डली भी थी, जिसकी अपनी अनोखी शान थी। उदय शंकर की मण्डली टूटने के बाद उसके लगभग सभी प्रमुख कलाकार इस सेण्ट्रल स्कैड में शामिल हो चुके थे, जिसकी श्रेष्ठता का सबूत इस बात से मिल सकता है कि उसे रविशंकर, शचीन शंकर, शान्ति वर्धन, अवनिदास गुप्ता, प्रेम वर्धन, दीना गांधी, गुल वर्धन, बिनाय राय, अली अकबर खां आदि महान कलाकारों का सहयोग प्राप्त था।

इसी प्रकार, विभिन्न नाटकीय विभागों को भी मामा वरेरकर, चन्द्रवदन मेहता, गुणवन्तराय आचार्य, पृथ्वीराज कपूर, दुर्गा खोटे आदि चोटी के कलाकारों और साहित्यकारों का सहयोग प्राप्त था। ये लोग केवल दूर बैठकर सरपरस्ती नहीं करते थे, बल्कि बाकायदा तौर पर इप्टा में आया करते थे। वे इप्टा के लिए नाटक लिखते थे, और उनमें रोल अदा करते थे। दुर्गा खोटे ने सबसे पहले इप्टा के नाटकों द्वारा ही रंगमंच पर काम करना शुरु किया था।

इप्टा का आन्दोलन बम्बई में ही नहीं, पूरे हिन्दुस्तान में तेज़ी से फैल रहा था, और हर प्रान्त के प्रसिद्ध लेखक और कलाकार उसके घेरे में आ रहे थे। विभिन्न प्रान्तों के

कलाकार अनोखे प्रेम-सूत्र में एक-दूसरे से जुड़ते जा रहे थे। आज नई पीढ़ी के कलाकारों के लिए यह विश्वास करना बहुत कठिन है कि कभी ऐसा भी होता था।

प्रश्न उठता है कि इप्टा की इतनी शीघ्र और ज़बर्दस्त लोकप्रियता का कारण क्या था। इतना बड़ा आन्दोलन अपने-आप ही खड़ा नहीं हो सकता।

इसका कारण, मैं समझता हूं, उस समय की कम्युनिस्ट पार्टी की सही नीतियां थी। उन नीतियों का लोगों के दिलों पर फ़ौरन असर पड़ता था। मुझे याद है कि हम जहां भी प्रेम धवन का कोई गीत गाते थे, लोग खड़े होकर सुनने लग जाते थे, और उनके चेहरों पर किसी गंभीर विचार का भाव झलकने लगता था। पार्टी की इन नीतियों में सच्ची राष्ट्रीयता थी, और सही अन्तर्राष्ट्रीय भी। पार्टी समस्याओं को बड़ी स्पष्टता से लोगों के सामने रखती थी, और उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ संगठित होकर लड़ने के लिए प्रेरित करती थी। वह राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ जुड़ी हुई भी थी और उसकी आलोचना भी करती थी। उसके मेम्बर इप्टा में ऐसी कुरबानी से काम करते थे कि हर कोई उन्हें आदर की दृष्टि से देखता था। वे बढ़-चढ़कर मेहनत करते थे, पर जब शोभा लेने का मौका आता तो दूसरों को आगे कर देते थे। और कम्युनिस्ट कर्मचारियों के अनुशासन की तारीफ तो उनके दुश्मनों के मुंह से भी सुनी जा सकती थी।

इसके अलावा, उस समय देश में मार्क्सवादी विचारों का एक सैलाब-सा आया हुआ था। धनवानों की संस्थाओं में भी मार्क्सवाद का ज़िक्र करना एक तरह का फ़ैशन बन गया था। शायद इसलिए भी कि कम्युनिस्ट लोग ब्रिटिश साम्राज्य के विरोधी होते हुए भी द्वितीय विश्वयुद्ध को 'लोक-युद्ध' कहते थे। और उस समय धनवानों के लिए वह नारा फ़ायदेमंद था।

जसवन्त ठक्कर से मेरी गहरी दोस्ती थी। मैं धीरे-धीरे पार्टी और अन्य कर्मचारियों से भी परिचित हो गया। सैंडहर्स्ट रोड पर 'राज-भवन' नाम की इमारत में पार्टी का केन्द्रीय दफ़्तर था। बहुत ही प्यारा और पवित्र वातावरण था वहां का । पार्टी की भोजनशाला में खाना खाने का आनन्द आता है, जो सिखों को 'गुरू के लंगर' में खाने का आनन्द आता है। राज भवन में ही मेरा परिचय पी०सी०जोशी से हुआ, और उनके साथ गहरा प्यार हो गया, जो आज तक चला आ रहा है। एक सच्चे क्रांतिकारी की तरह पी०सी० जीवन को हर पक्ष से प्यार करते थे। वे हर क्षण को जीते थे और हर क्षण अपने ज्ञान और कर्म का दायरा विस्तृत करने में विश्वास रखते थे। उनकी नज़र में कला केवल राजनैतिक नेताओं की शान को चार चांद लगाने वाली चीज़ नहीं है। वे ख़ुद उसके शैदाई और जिज्ञासु थे। अनेक बार उनकी सलाह और तजवीज़ें इप्टा के काम में हमारे लिए सहायक सिद्ध हुई थीं। हर कोई सलाह लेने के लिए पी०सी० की ओर दौड़ता था। छोटे से छोटे कारकुन के साथ भी पी०सी० प्यार-भरा सलूक करते और उसके दिल में कोई उमंग भर देते। एक अजीब-सा चुम्बकीय आकर्षण था उनके व्यक्तित्व में। जो भी उनसे एक बार मिला, उन्हें सारी उम्र भूल नहीं पाया। और हैरानी की बात यह थी कि पी०सी० के दोस्त एक-दो प्रान्तों में नहीं, बल्कि सारे हिन्दुस्तान में फैले हुए थे। तामिल और मालाबारी भी उन्हें उतना ही अपना समझते थे, जितना उनके अपने यू०पी० के लोग।

पी०सी० की पत्नी का नाम कल्पना था, जिन्होंने सोलह वर्ष की उम्र में बंगाल के अंग्रेज़ गवर्नर पर गोली चलाई थी और उम्र कैद की सज़ा पाई थी। पी०सी० और कल्पना

के साथ हमारे परिवार की मित्रता उन्हीं दिनों से अटूट चली आ रही है। पी०सी० के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर ही दम्मो और मैं कम्युनिस्ट पार्टी के मेम्बर बन गए थे।

पर यह सोचना गलत होगा कि केवल यथार्थवादी और मार्क्सवादी दृष्टिकोण अपना लेने से ही कलाकार अपनी मंज़िल पर पहुंच जाता है। सबसे पहले किसी कलाकार के लिए अपने दृष्टिकोण के अनुसार संघर्ष करना ज़रूरी है। पुराने संस्कारों को अन्दर से निकालना और नये संस्कारों को अपनाना पड़ता है। यह आसान काम नहीं है। औद्योगिक देशों के लोगों के लिए, चाहे वे पूंजीवादी देश ही क्यों न हों, यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाना आसान है, क्योंकि विज्ञान और मशीनों का उनके जीवन के हर अंग में प्रवेश हो चुका होता है। पर मेरी पीढ़ी के भारतीय कलाकारों के संस्कार सनातनी और जागीरदारी युग के है। उन पर मार्क्सवादी विचारधारा का मुलम्मा उसी प्रकार बेढ़ंगा-सा लगता है, जिस प्रकार कोई कुरुप स्त्री सुन्दर बनने के लिए अपने चेहरे पर ज़रूरत से ज़्यादा पाउडर-सुर्खी लगा ले। इस प्रकार उसकी कुरूपता और भी बढ़ जाती है।

औद्योगिक तौर पर उन्नतिशील देशों में, चाहे वे पूंजीवादी हों, चाहे समाजवादी, आपस में मिलकर और किसी क्रम से काम करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। फिर, वहां के लोग कट्टरपंथी नहीं होते। दूसरे की बात को गंभीरता से सुनने और उसे अपने जीवन-अनुभव की कसौटी पर परखने का उनमें सामर्थ्य होता है। वे 'वाद' में व्यक्तित्व को नहीं मिलाते। उनका ध्यान बोलने वाले व्यक्ति की बात की ओर होता है, उसके व्यक्तिगत जीवन की ओर नहीं।

पर हमारे संस्कार कुछ और किस्म के हैं। हम मार्क्सवाद को अपनाकर उसके बारे में भी उतने ही कट्टर हो जाते हैं, जितने कि उससे पहले अध्यात्मवादी विचारधारा या धर्म के बारे में थे। हमारे अन्दर असहनशीलता पहले ही की तरह बनी रहती है। किसी से ज़रा-सा भी मतभेद हुआ नहीं कि वह 'बूर्ज़्वा', 'प्रतिक्रियावादी', 'चिकनहार्टेड' आदि बहुत कुछ बन जाता है। नेताओं को हम वैसे ही पूजने लग जाते हैं, जैसे पहले पैगम्बरों को पूजते थे। सच्चाई के बजाय हमें अपना पक्ष ज़्यादा प्यारा हो जाता है। जो अपने पक्ष का है, वह दोस्त बन जाता है, जो नहीं है, वह दुश्मन बन जाता है। मार्क्सवाद हमें अहंकार से छुटकारा पाने की प्रेरणा देता है, पर अमली तौर पर हम दिन-प्रतिदिन अहंकारी बनते जाते हैं।

यही हाल मेरा था। पार्टी का मेम्बर बनते ही मेरे गुणों-अवगुणों में परिवर्तन आना शुरू हो गया। कला को मैंने बिलकुल राजनैतिक दृष्टिकोण से परखना शुरु कर दिया। इप्टा को मैं ऐसे देखने लगा, जैसे पार्टी की ख़ातिर काम करना ही उसका एकमात्र उद्देश्य हो। मैं एक छोटा-सा डिक्टेटर बनने लगा। पार्टी के साथियों की मदद से मैं अपनी हर बात मनवा सकता था। ग़ैरपार्टी मेम्बर मुझे सलाह देते, पर उसे मानना या न मानना मेरी मर्ज़ी पर निर्भर था। इप्टा के देशभक्ति से पूर्ण समाजवादी आदर्शों से हर कोई सहमत था, पर उसके मेम्बर यह नहीं चाहते थे कि नाटक-कला केवलमात्र प्रचार का साधन बनकर रह जाए। वे नाटक के कलात्मक और रोचक पक्ष को भी संवारना चाहते थे। पर मैं था कि जो भी व्यक्ति तकनीक की बात उठाता, हाथ धोकर उसके पीछे पड़ जाता था।

फिर भी, वे दिन बहुत सुन्दर और प्रेरणादायक थे। हमें हर समय मज़दूरों की बस्तियों, चालों, गली-मोहल्लों में नाटक खेलने का चाव चढ़ा रहता था। इस प्रकार हमें बम्बई में

लोगों के जीवन को बहुत नज़दीक से देखने के बढ़िया मौके मिले, जिनका मुझे आगे चलकर फ़िल्मों के काम में बहुत लाभ पहुंचा।

एक दिन फणी-दा ने 'जस्टिस' फिल्म का एक प्राइवेट शो किया। मैंने अपना वह मुर्ग़े वाला क्लोज़-अप देखा, तो ऐसा लगा जैसे छत में से कोई बहुत बड़ा पत्थर मेरे सिर पर आ गिरा हो। मुझे अपना चेहरा एक मुर्दे का चेहरा प्रतीत हुआ। मेक-अप के कारण वह और भी भद्दा लगा। मुझे खुद पर झुंझलाहट हुई कि क्या मेरी शक्ल इतनी ही भयानक है।

पर मैंने ज़्यादा चिन्ता नहीं की। फणी-दा ने अपने वादे के अनुसार अपनी फ़िल्म, 'दूर चलो' में मुझे एक मुख्य पात्र का रोल दिया। इतना ही नहीं, उसमें दम्मो को भी ले लिया। फ़िल्म में भी वह मेरी पत्नी का रोल कर रही थी। कमल कपूर उस फिल्म के हीरो थे और नसीम (जूनियर) हीरोइन थीं। साथी कलाकार थे-आगा, साहू, किशोर साहू के छोटे भाई, घोष (अजीब-से स्वभाव का नौजवान, जिसकी मौत भी अजीब ढंग से हुई), के०सी०डे आदि। के०सी०डे को निकट से देखने पर मुझे बेहद खुशी हुई। वे दम्मो को बेटी की तरह प्यार करने लगे थे।

इस फ़िल्म की शूटिंग ज़्यादातर आउट डोर थी। घोड़बंदर रोड पर हम कई दिन साईकल चलाते रहे। शॉट से पहले, मैंने देखा, आग़ा हमारे साथ साधारण ढंग से बात कर रहे होते ; पर कैमरा चालू होते ही उन्हें जैसे कुछ हो जाता। मानो उन पर कोई भूत सवार हो जाता। वे बहुत तेज़-तेज़ और अजीब-अजीब हरकतें करने लग जाते। मुझे लगता, जैसे वे ज़बर्दस्ती मुझे अपने साथ खींचे लिए जा रहे हैं। जैसे उन्होंने मुझपर कोई जादू कर दिया हो। जब भी उनके साथ मेरा शॉट होता, मुझे अपना अंग-अंग शिथिल हो गया प्रतीत होता। पर उनकी हरकतों को मैं मूर्खताभरा दिखावा कहकर टाल देता। मैं सोचता कि वे ओवर एक्टिंग करते हैं, जो हिन्दुस्तानी फ़िल्मों की बहुत बड़ी खराबी है। पर जब शॉट के बाद सभी उनकी हरकतों पर लोट-पोट होने लगते, तो मुझे झुंझलाहट होती। मैं सोचता कि तारीफ़ तो दरअसल मेरी होनी चाहिए, क्योंकि मैं इतनी स्वाभाविक और संयम किस्म का अभिनय कर रहा हूं। अनाड़ी अभिनेता के यही तो लक्षण होते हैं। वह सब कुछ ग़लत करता हुआ भी सोचता है कि ठीक कर रहा है। शॉट के समय आगा जैसे अपने पात्र में प्रवेश कर जाते थे। और शॉट ख़त्म होते ही वे उसमें से निकलकर फिर आग़ा बन जाते थे। इन बातों के बारे में मैं जानता ज़रूर था, पर अभी उनका अभ्यस्त नहीं हुआ था। मैं जो कुछ कैमरे के आगे करता था, उसे अभिनय का नाम देना अभिनय शब्द से अन्याय करना है।

मैंने देखा है कि मर्दो की अपेक्षा स्त्रियों में अभिनय की प्रतिभा कहीं अधिक होती है। बाहुबल की कमी स्त्री को चालाकी से काम लेने पर मजबूर करती है। इसीलिए स्त्रियों में बचपन से ही चंचलता और चपलता दिखाई देने लगती है। मर्द में संकोच अधिक होता है। मैं दम्मो को कैमरे के सामने लापरवाही से हंसते, गाते, नाचते हुए देखकर बहुत हैरान होता था। और इसमें कोई शक नहीं कि उसका स्वभाव अभिनय के बहुत अनुकूल था। और फिर एक दिन 'पृथ्वी थिएटर' के नाटक, 'दीवार' का पर्दा उठा। पहले शो में दम्मो पृथ्वीराज से ज़रा झिझकती हुई काम कर रही थी। मेक-अप भी बहुत अच्छा नहीं हुआ था। सुर्खी ज़्यादा मल दी गई थी। शो खत्म होने पर मैंने मेक-अप-रूम में जाकर दम्मो

को हौसला दिया और निडर होकर काम करने की प्रेरणा दी। आधे घण्टे के बाद दूसरे शो के लिए पर्दा उठा, तो दम्मो बदलकर कुछ और ही बन गई थी। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं है कि बम्बई में उसके नाम का तहलका मच गया था। 'दीवार' और दमयन्ती के अभिनय की चर्चा होने लगी। उसके पहले किसी नाटक को इतना सफलता नहीं मिली थी। टिकटों के लिए इतनी लम्बी लाइनें सिनेमाओं के आगे भी नहीं देखी गई थीं।

दम्मो स्टार बन चुकी थी। अगले दिन से ही फ़िल्म-निर्माताओं ने हमारे घर के चक्कर लगाने शुरु कर दिए, जो कि हमारे लिए एक अनोखी और अप्रत्याशित स्थिति थी।

१०

लड़ाई के ज़माने में प्रसिद्ध कलाकारों और संस्थाओं को भी अंग्रेज़ सरकार फिल्म बनाने के लिए लायसेन्स दे दिया करती थी। लड़ाई की हिमायत करने वालों को तो वह आर्थिक सहायता भी देती थी। पर निर्माता प्रॉपेगेंडा-फिल्में बनाने से डरते थे, क्योंकि जनता उन्हें पसन्द नहीं करती थी। सिर्फ न्यू थियेटर्स की इस किस्म की एक फ़िल्म, 'माई सिस्टर' सफल हुई थी। वह भी सहगल के अभिनय के कारण।

उदयशंकर और साधना बोस आदि ने भी लायसेन्स लेकर फ़िल्में बनाई थी। एक लायसेन्स रफ़ीक अनवर को भी मिला था, जिन्होंने बुद्ध भगवान के जीवन पर एक साधारण-सा नृत्य-नाटय लन्दन में पेश किया था। उन दिनों वे मेरे साथ बी०बी०सी०में काम किया करते थे। रफ़ीक के लायसेन्स पर आख़िर चेतन आनन्द को 'नीचा नगर' फ़िल्म बनाने का मौका मिला, पर इस शर्त पर कि हीरो ख़ुद रफ़ीक होंगे। उस हालत में चेतन को मुझे हीरो बनाने का शौक छोड़ना पड़ा, और दम्मो मेरे बिना फ़िल्म में काम करने के लिए तैयार नहीं हुई। सो, चेतन हीरोइन के रोल के लिए लाहौर से एक नई लड़की लाए, जिसका नाम कामिनी कौशल था। उन्होंने ऐसा कमाल का अभिनय किया कि फ़िल्म रिलीज़ होने से पहले ही उनकी धूम मच गई।

उस दौर में कृशन चन्दर ने भी एक फ़िल्म बनाई-अपने नाटक, 'सराय के बाहर' के आधार पर। ख़ुद ही उसका निर्देशन भी किया। प्रसिद्ध प्रगतिशील कवि, हरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय के एक उपासक ने, 'आज़ादी' नामक एक आदर्शवादी फिल्म बनाने के लिए, अपनी सारी पूंजी उनके कदमों में लाकर रख दी।

उपर्युक्त उदाहरण से अच्छा सबूत और क्या हो सकता है कि फ़िल्मी इतिहास के उस मोड़ पर हमारे बुद्धिजीवी-वर्ग को उच्च स्तर की फिल्में बनाने के लिए सहूलतों की कमी नहीं थी, बल्कि सहूलतें ख़ुद उनके कदमों में आ रही थीं। अगर उनका फ़ायदा उठाने की योग्यता उनमें होती, तो आज हिन्दी फ़िल्मों का स्तर कुछ और ही होता। पर उस वर्ग ने न फिल्म के माध्यम की विशेष आवश्यकताओं को समझने की कोशिश की, और न ही अपने व्यक्तिगत जीवन को किसी सीमा में रखा। उनकी बनाई हर फिल्म ने जनता की आशाओं पर पानी फेर दिया। सिर्फ़ यही नहीं, वे लोग अपनी ग़लत हरकतों के कारण उतने ही बदनाम हुए, जितना कि वे अपनी कहानियों में फ़िल्मीं सेठों को करते थे। आज जब भी मैं अपने बुद्धिजीवी मित्रों को जनता के घटिया स्तर और निर्माताओं की जाहिलाना

किस्म की मांगों को दोष देते हुए पाता हूं, तो मेरा मन रोष से भर जाता है, क्योंकि मैंने अच्छे से अच्छे अवसरों को बरबाद होते अपनी आंखों से देखा है।

'अब्बास और साठे की हिम्मत से इप्टा को भी एक फ़िल्म बनाने का लायसेन्स मिला, जिसके फलस्वरूप 'धरती के लाल' बनी, जो मेरे फ़िल्मी जीवन का पहला महत्त्वपूर्ण अनुभव था।

'धरती के लाल' की सारी योजना ख़्वाजा अहमद अब्बास ने ख़ुद बनाई थी। वे ही उसके लेखक और निर्देशक थे। इप्टा-रंग-मंच के, तीन विभिन्न प्रान्तों के निर्देशकों को सहयोगी निर्देशक नियुक्त किया गया। बंगाल से शंभु मित्रा, महाराष्ट्र से वसन्त गुप्ते और बम्बई से मैं।

बंगाल के अकाल सम्बन्धी तीन पुस्तकें उन दिनों शाहकार मानी जाती थीं-विजन भट्टाचार्य के दो नाटक, 'ज़बानवंदी' और 'नवान्न' और कृश्न चन्दर का काव्यमय उपन्यास, 'अन्नदाता' इन तीनों पुस्तकों को फ़िल्म का आधार बनाया गया।

पर जब अब्बास ने पटकथा की पहली रूपरेखा तैयार की, तो उसे देखकर बहुत-से साथियों को, खासकर मुझे और शंभु मित्रा को, बहुत निराशा हुई। अब्बास के नाटकों का मैं जितना प्रशंसक रहा हूं, उनकी फ़िल्मों का उतना ही कड़ा आलोचक भी हूं। फिल्म-निर्माण की जो परिभाषा अब्बास ने अपने दिमाग़ में बैठाई है, वह शान्ताराम की तकनीक की तरह बिल्कुल ग़ैर-फ़िल्मी, फ़रसूदा और ग़लत है। अब्बास कथावस्तु के हर अंग को सहज-स्वाभाविक ढंग से उभारने के बजाय चटपटे संवादों, प्रतीकात्मक अलंकारों, और चौंकाने के मोह में पड़कर उसे बनावटी बना देते हैं। उनका आशय बहुत अच्छा और प्रगतिशील होता है, पर नतीजा बोरियत पैदा करने के सिवा और कुछ नहीं। दर्शक उनकी फ़िल्मों में अपने-आपको खो नहीं पाता। वह ऐसे महसूस करता है, जैसे अब्बास उसकी गर्दन पकड़कर उसका मनोरंजन करवा रहे हैं। किसी न किसी हद तक हिन्दी फ़िल्मों के सभी निर्माता इस रोग के शिकार हैं। वे उस अनाड़ी किस्म की मां की तरह हैं, जो रो रहे बच्चे को खिलौने देकर ही चुप कराना जानती है। मिर्च-मसाला लगाए बिना, केवल कहानी द्वारा जनता को पकड़कर रखने की ख़ूबी इन्होंने सीखी नहीं है। हॉलीवुड के फ़िल्मकारों की ख़ूबी यह है कि वे झूठ को भी सच बनाकर पेश करते हैं। पर हमारे फ़िल्मकारों के हाथों में सच भी झूठ लगने लगता है। तकनीक का दिल भरकर दिखावा किए बिना उन्हें संतोष नहीं होता।

अब्बास ने जो पटकथा लिखी थी, उसमें पर्ल बक की 'गुड अर्थ', स्टाइनबेक की 'ग्रेप्स ऑफ़ रॉथ' आदि फ़िल्मों और पता नहीं कहां-कहां का मसाला लेकर घुसेड़ दिया था, जैसे उन्हें विजन भट्टाचार्य और कृश्न चन्दर की रचनाओं पर पूरा भरोसा न हो। अजीब-सी खिचड़ी पकाई गई थी उस पटकथा में।

शंभु मित्रा और मैं यथार्थवादी तकनीक का अधिक ज्ञान रखते थे। बने-बनाए रास्तों पर चलने से हमें चिढ़ थी। पर एक बात हम भी भूले हुए थे। वह यह कि बंगाल का अकाल कोई मनोरंजक घटना नहीं थी। और फ़िल्म में मनोरंजन जनता की पहली मांग होती है। अब्बास यथार्थ के रास्ते पर कदम उठाने से डर रहे थे। पर हम थे कि एक की जगह दस कदम एकसाथ उठाना चाहते थे। उस समय ज़रूरत थी एक-दूसरे के दृष्टिकोण

को धीरज से समझने की, एक सांझा दृष्टिकोण उभारने की, जो सबको पसन्द हो। पर ऐसा धीरज उम्र के तजरूबे से आता है। हम पढ़े-लिखे बेशक थे, पर तजरूबे की हममें कमी थी। बहस करते हुए हम आपस में लड़ने लगते, दूसरे का दिल जीतने के बजाय अपनी जीत चाहते।

अब्बास का दावा था कि वे फिल्म-कला को हमसे ज्यादा अच्छी तरह समझते थे। हमें इस बात का अभिमान था कि हम जनता के कलाकार थे, इन्कलाबी थे, और अपने उसूलों से बेइन्साफ़ी होती हुई नहीं देख सकते थे। कम्युनिस्ट पार्टी हमारे पीछे थी, जिसके सहयोग के बिना फ़िल्म का बनना सम्भव नहीं था। फिर हम क्यों न उछल-उछलकर अब्बास की नाक में नकेल डालते!

'धरती के लाल' फ़िल्म का निर्माण इप्टा की योजना थी, और इप्टा में बंगाली कलाकारों का पक्ष सबसे भारी और मजबूत था। अकालपीड़ितों के बारे में उनसे ज़्यादा अच्छी और कौन जानकारी दे सकता था ? पर मुश्किल यह थी कि उनमें से किसी को भी हिन्दी अच्छी तरह नहीं आती थी। वे अपनी बात न समझा पाते। बहसें और रिहर्सलें भी इतनी लम्बी हो जाती कि कई बार शूटिंग के दौरान में कैमरा और अन्य कर्मचारी प्रतीक्षा में हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते। कभी अब्बास झल्लाई हुई हालत में स्टूडिओ से बाहर निकल जाते, और हम उन्हें मनाने के लिए उनके पीछे जाते। कभी हम नाराज़ हो जाते, और अब्बास को मिन्नतें करके हमें मनाना पड़ता। शूटिंग के दौरान में ऐसे तमाशे आर्थिक दृष्टिकोण से बहुत महंगे पड़ते हैं। पर इस बात की मेरे जैसे 'सहयोगी निर्देशकों' को न जानकारी थी, न परवाह। पर इसके बावजूद और कश्ती मझदार ही में नहीं डूब गई तो इसका एकमात्र कारण था, इप्टा और कम्युनिस्ट पार्टी का अदृश्य अनुशासन, जो हर मेम्बर को सीमा में रखता था। आज जहां एक तरफ़ मैं अब्बास की फ़िल्मी गुमराहियों की और भी सख़्त आलोचना करना चाहता हूं, वहां उनकी अद्वितीय सहनशीलता और दोस्ती निभाने की योग्यता की भी दाद दिए बिना नहीं रह सकता। बम्बई में, कलाकारों की पंक्ति में खड़े होने की जगह मुझे अब्बास ने ही दिलाई थी। और बदले में मैं उनकी दाढ़ी उखाड़ने लग गया था। पर अब्बास के मुंह से कभी हाय नहीं निकली थी।

हमारी शूटिंग श्री साउंड स्टूडिओ में होती थी। उसके संचालक, रजनीकान्त पांडे बहुत बढ़िया कैमरामैन थे और उनके छोटे भाई, चन्द्रकान्त पांडे साउंड रिकार्डिंग में अद्वितीय माने जाते थे। जिस फ़िल्म में गानों की रिकार्डिंग चन्द्रकान्त पांडे के हाथों, और शूटिंग साउंड स्टूडिओ में न हुई हो, वह फ़िल्म डिस्ट्रीब्यूटरों की नज़रों में परवान नहीं चढ़ती थीं। कहानीकारों, संगीतकारों, फ़िल्म-स्टारों, निर्माताओं और निर्देशकों का दिन-रात वहां जमघट लगा रहता था। इतने बड़े स्टूडिओ का इप्टा जैसी एक ग़रीब संस्था को अपने यहां शूटिंग करने देना अब्बास के ही रसूख़ का करिश्मा था। हमें हमेशा यह डर लगा रहता था कि हमारी नित्यप्रति की बहसों, झगड़ों और अनाड़ीपन से तंग आकर स्टूडिओ वाले कहीं वहां से हमारा बिस्तरा ही गोल न कर दें।

पर धीरे-धीरे पता चला कि हम उनकी नज़रों में नीचे नहीं, बल्कि ऊंचे उठ रहे थे, क्योंकि हमारे झगड़े व्यक्तिगत नहीं होते थे। उन बहसों और झगड़ों द्वारा हम सभी फ़िल्म को ज़्यादा से ज़्यादा अच्छा बनाने की कोशिश कर रहे थे। चाहे कितने भी झगड़े हों, अन्त में हम फिर एक होकर काम में लग जाते थे। बंगाल से आए हुए व्यक्ति अब्बास

के दो कमरों के फ़्लैट में रह रहे थे। कई बार हम भी वहां जाकर शरण लेते। ख़ासकर जब दिन के समय 'दूर चले' और रात के समय 'धरती के लाल' की शूटिंग होती। उन दिनों रात की शूटिंग का बोलबाला था। किसी कलाकार का दिन-रात शूटिंग करना उसकी बड़ाई की निशानी थी। एक बार हम भी लगातार चार दिन और चार रातें सो नहीं सके थे। अब्बास का परिवार मेहमानों की भीड़-भाड़ में किस परेशानी में समय काट रहा था, उसका अनुमान लगाना मुश्किल नहीं है।

फ़िल्म जब आधी से ज़्यादा बन गई तो स्टूडिओ के छोटे-से प्रोजैक्शन-थियेटर में उसके 'रश-प्रिंट' दिखाए गए। प्रसिद्ध फिल्म-निर्देशक, महेश कौल भी वहां चुपचाप आकर बैठ गए थे। जब बाहर निकले, तो उनके चेहरे पर एक अनोखा प्रभाव था। कहने लगे, "फ़िल्मों में से मेरा विश्वास उठता जा रहा था। पर आप नौजवानों ने उसे फिर से कायम कर दिया है।" राजकपूर भी उस समय उनके पास खड़े थे। तब वे अभी फ़िल्म कलाकार के रूप में उभरे नहीं थे। केदार शर्मा के साथ सहायक के रूप में काम कर रहे थे। उन्होंने भी फ़िल्म की भरपूर प्रशंसा की।

शायद 'धरती के लाल' से प्रभावित होकर ही महेश कौल ने खुद एक यथार्थवादी फ़िल्म बनानी शुरू की। उसका नाम था, 'काशीनाथ'। 'धरती के लाल' की हीरोइन, तृप्ति भादुड़ी (अब तृप्ति मित्रा) को उन्होंने उस फिल्म में हीरोइन बनाया, और राजकपूर को हीरो। 'काशीनाथ' भी अविस्मरणीय फ़िल्म बनी थी।

हममें से कोई भी इस हैसियत का मालिक नहीं था कि कार में बैठकर स्टूडिओ जाता। फिर भी रजनीकांत पांडे से लेकर स्टूडिओ के छोटे से छोटे कर्मचारी तक हमारा बहुत आदर करते थे। अपना काम छोड़कर भी हमारी फ़रमायशें पूरी करते थे। उनकी नज़र में हम देश-सेवा का काम कर रहे थे, और इसलिए महान थे। व्यक्तिवाद के कीटाणुओं से भरे पूरे फ़िल्मी वातावरण में हमारे समूहवाद ने स्वस्थ सी सुन्दरता पैदा कर दी थी। बहुत-सी छोटी-छोटी घटनाओं से इसका सबूत मिलता है, जो मुझे कभी नहीं भूलेंगी।

उदाहरण के लिए एक रात हम कहानी के मुख्य पात्र, प्रधान मंडल के कलकत्ते की सड़कों पर भूख से सिसक-सिसककर प्राण देने की शूटिंग कर रहे थे। दृश्य इस प्रकार थाः बूढ़े किसान का शरीर बुख़ार से तप रहा है। उसकी बूढ़ी पत्नी (ऊषा सेनगुप्ता), बड़ा लड़का (मै), छोटा लड़का (अनवर), बड़ी पुत्र-वधू (दमयन्ती), छोटी पुत्र-वधू (तृप्ति भादुड़ी), और गांव के कुछ और बदनसीब लोग उसके ईर्द-गिर्द बैठे हुए हैं। बेहोशी की हालत में बूढ़े किसान को अपनी फ़सलें याद आती हैं-धान की झूमती हुई फसलें। और वह अपने बेटों को दरांतियां लेकर जाने के लिए कहता है। "काटो, जोर से काटो! " वह हंसता हुआ कह रहा है, जैसे मेड़ पर खड़ा कटाई का नज़ारा देख रहा हो। "कितना धान ! कितना ढेर-सा धान !" और वह मर जाता है।

.फ़ुटपाथ और सड़क का सैट स्टूडिओ के अन्दर ही लगा हुआ था। पहले कैमरा दूर रखकर, 'लांग-शॉट' में पूरे दृश्य की शूटिंग की गई। इसके लिए 'लाइटिंग' ठीक करने में तीन-चार घंटे लगे। पर शूटिंग करते समय सहायक निर्देशकों या कैमरा-विभाग की लापरवाही के कारण फ़ुटपाथ पर लगे हुए बिजली के खम्भों की रोशनियां जलाई न गई। इस ग़लती का अहसास तब हुआ, जब 'क्लोज़-अप' के लिए कैमरा बूढ़े किसान के निकट लाया गया। अब क्या किया जाए ? तब तक स्टूडिओ की सभी बत्तियां बुझाई जा चुकी

थीं। अंधेरी रात में, बूढ़े किसान के चेहरे पर रोशनी डालने का बहाना एकमात्र वह बिजली के खम्भे की रोशनी ही थी, जोकि लांग-शॉट में जलाई नहीं गई थी।

सब एक-दूसरे का मुंह देखने और एक-दूसरे को दोष देने लगे। पहला शॉट अगर दोबारा लिया जाता, तो लाइटिंग ठीक करने में फिर तीन-चार घंटे लग जाते और फिर शिफ्ट बरबाद हो जाती।

तभी लाइटिंग-विभाग के एक मज़दूर ने सुझाव पेश किया कि शुरु में किसान के क्लोज़-अप को अंधेरा रखा जाए, फिर जब कि वह बोल रहा हो, उसके चेहरे पर, दूर से आ रही किसी मोटर की बत्ती की रोशनी डाली जाए, और ज्यों-ज्यों वह बेहोशी के आवेश में आता जाए, रोशनी बढ़ती जाए। आखिर, उसके मरते ही, शॉट कट करके किसी और कोण से दिखाया जाए कि इधर किसान का परिवार रोता-कुरलाता हुआ उसकी लाश पर गिर पड़ता है, और उधर एक चमकती हुई मोटर, जैसे उनकी मुसीबत पर हंसती हुई, बिल्कुल पास से गुज़र जाती है।

यह सुझाव सुनकर हम आश्चर्यचकित रह गए। अब्बास, शंभु, गुप्ते, मैं कैमरामैन कपाड़िया-सब अश-अश कर उठे। बुद्धिजीवियों की गलती से पैदा हुई अड़चन को एक अनपढ़ मज़दूर ने कला में बदल दिया था।

'धरती के लाल' का संगीत रवि शंकर ने दिया था। उपर्युक्त दृश्य के पीछे उन्होंने केवल एक बांसुरी की आवाज़ भरी, जैसे मरने के बाद किसान की आत्मा सचमुच अपने खेत की ओर उड़कर चली गई हो। इस प्रकार, फ़िल्म का यह एक अत्यन्त मार्मिक दृश्य बन गया था।

और यह दृश्य एक साधारण मज़दूर की देन थी- उस वर्ग के व्यक्ति की, जो शूटिंग के समय किसी सफ़ेदपोश से बात करने का साहस भी नहीं कर सकता, सलाह-मशवरा देना तो दूर की बात है।

हम भी मुंह में ज़बान रखते हैं,
काश, पूछो कि मुद्आ क्या है।

हमारे यूनिट में झूठी शान और पैसे के अहंकार का अभाव देखकर ही उस मज़दूर को मुंह खोलने का साहस हुआ था। सच तो यह है कि प्रोलोतारी समझ-बूझ रखने वाले मज़दूर हमारी फ़िल्म को अपना ही समझने लगे थे। कम्यनिस्ट पार्टी, ट्रेड यूनियनों, और किसान-सभाओं के कहने पर सैकड़ों किसान-मज़दूर स्त्रियां, मर्द और बच्चे-छोटे-छोटे रोल करने के लिए, बिना पैसे लिए ही, 'इनडोर' और 'आउटडोर' शूटिंग में शामिल हुआ करते थे। भूखे, पीड़ित लोगों के गांव छोड़कर शहर जाने वाले दृश्य में हज़ारों किसानों ने भाग लिया था। सुबह चार बजे से इप्टा की बंगाली लड़कियों ने गांव की मराठी बहनों को बंगाली ढंग से घोती पहनना सिखाना शुरु कर दिया था। चार दिन तक 'कापड़ने' गांव के किसानों ने हमें न केवल खेतों में ऊधम मचाने की आज़ादी दे रखी थी, बल्कि मेहमानों की तरह हमें खिलाया-पिलाया भी।

पर अफ़सोस, इप्टा के आम मेम्बरों ने जो आशाएं इस फ़िल्म पर लगाई हुई थीं, वे इप्टा के नेताओं के आपसी झगड़ों और नातजरूबेकारी के कारण मिट्टी में मिल गई। हमारे आपसी भेदभाव अन्दर ही अन्दर बढ़ रहे थे। अवसरवादियों ने अपने स्वार्थों की

खातिर हमारे इर्द-गिर्द टोलियां बांधनी शुरु कर दी थीं। छोटे-मोटे फ़िल्मी कामों में भी रोज़ का हज़ारों रुपये का लेन-देन होता है। यह बात भी कमज़ोर चरित्र वाले कामरेडों की गिरावट का कारण बनी। जो काम इतने चाव से शुरु किया गया था, वह अन्त में सबके लिए सिर-दर्द बनकर रह गया। अब्बास जल्दी-जल्दी एडिटिंग ख़त्म करके लाहौर चले गए, जहां उन्हें एक और फ़िल्म का काण्ट्रैक्ट मिल गया था। उनके जाने के बाद 'धरती के लाल' फ़िल्म लावारिस बनी डिब्बो में पड़ी रही। कोई नहीं जानता था कि आगे क्या करना है।

आख़िर जिस दिन फ़िल्म रिलीज़ हुई, उसी दिन शहर में साम्प्रदायिक फ़साद शुरु हो गए। कर्फ़्यू लग गया। फ़िल्म बनाना भी, फ़सल पैदा करने की तरह, किस्मत के साथ जुआ खेलने वाली बात होती है। किसी भी पड़ाव पर, और किसी भी कारण से तीन काने हो जाते है। फ़साद तो ज़्यादा देर तक न रहे, पर लोगों के दिलों में डर बना रहा, और सिनेमा-हॉल खाली रहे। उन दिनों जो फ़िल्में रिलीज़ हुई थीं, सब फ़ेल हो गई।

पर व्यापारिक असफलता के बावजूद 'धरती के लाल' कलात्मक दृष्टि से बढ़िया फ़िल्म थी। जिसने भी उसे देखा, प्रशंसा किए बिना न रह सका। अपने देश से कहीं ज़्यादा उसकी प्रशंसा विदेशों में हुई। इंगलैंड की प्रसिद्ध ग्रन्थमाला, 'पैंग्विन' ने अपने एक अंक में उसे फ़िल्म-इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण फ़िल्म कहा। पूरे सोवियत यूनियन में यह फिल्म दिखाई गई, और कई देशों ने अपनी फ़िल्म-लायब्रेरियों में उसे स्थान दिया। बेशक, 'धरती के लाल' में ख़ामियों की भरमार थी, पर कई ख़ूबियां भी ऐसी थीं, जो अन्य फ़िल्मों में बहुत कम देखने में आई थीं। जिसे बड़े पैमाने पर किसान-मज़दूरों ने उसमें मुफ़्त भाग लिया था, वह किसी अमीर से अमीर निर्माता की भी शक्ति से बाहर की बात थी। फ़िल्म के एक-एक दृश्य में सच्चाई, दयानतदारी और मानवीय भावनाएं झलकती थीं। एक निर्माता ने फ़िल्म देखकर मुझसे कहा था, "आप लोगों ने तो यथार्थवाद में रुसियों को भी मात कर दिया है।"

बिमल राय ने 'दो बीघा ज़मीन' और सत्यजित राय ने 'पाथेर पांचाली' में वही रास्ता अपनाया, जिसके कांटे 'धरती के लाल' ने साफ़ किए थे। पर अफसोस, ख़ुद अब्बास ने वह रास्ता छोड़ दिया। उसके बाद अब्बास ने कितनी ही फ़िल्में बनाई, पर उनमें शायद ही कोई 'धरती के लाल' का मुकाबला कर सकती है। और उतनी इज़्ज़त भी अब्बास को किसी और फ़िल्म द्वारा नहीं मिली, जितनी इस फ़िल्म द्वारा मिली थी।

जिस हद तक हम मिलकर चले, 'धरती के लाल' एक सफ़ल प्रयोग रहा। अगर हमारे अन्दर धीरज होता, नम्रता होती, एक-दूसरे के प्रति सम्मान होता, सच्चे सहयोग का ज्ञान होता, तो 'धरती के लाल' न केवल एक शाहकार फ़िल्म बनती, बल्कि हम एक ऐसी संस्था भी कायम कर सकते, जो भविष्य में देश-कल्याण की फ़िल्में बनाती रहती। पर यह बात हमारी किस्मत में नहीं लिखी हुई थी।

११

'धरती के लाल' समाप्त होने तक हमारे परिवारिक जीवन का नक्शा बिल्कुल बदल चुका था। कभी वे दिन थे कि हम दस-दस के नोटों को आंखें फाड़-फाड़कर देखा करते थे, और अब सौ-सौ के नोटों के बंडलों की मोटाई देखकर ही उनकी ओर से नज़र फिरा

लेते थे। ज़्यादा कमाई दम्मो की थी, पर उसे न पैसे जमा करने का शौक था, न अपने सुख-आराम का ख़याल। बेगम पारा नूरजहान, बेबी नसीम उसकी उम्र की अभिनेत्रियां थी, और उनके साथ उसकी अच्छी दोस्ती थी। वे सब बड़ी-बड़ी मोटरों में घूमती, पर दम्मो के लिए बस और रेलगाड़ी की सवारी ही काफ़ी थी। खद्दर का सफ़ेद सूट उसका लिबास था। घर के गुज़ारे लायक पैसे रखकर बाकी सारे पैसे वह देश-सेवा की भेंट चढ़ा देती।

उन दिनों देश-सेवा का जोश भी तो बहुत था। चारों ओर तूफ़ान-सा आया हुआ था। वह रात मुझे नहीं भूलती, जब नेताजी के समर्थकों ने ग़ुस्से में आकर हज़ारों की संख्या में कम्युनिस्ट पार्टी के केन्द्रीय दफ्तर पर हमला कर दिया था। इमारत के अन्दर केवल सत्तर व्यक्ति थे, जिनमें काफ़ी संख्या स्त्रियों और बच्चों की थी। बहुत भयानक घटना थी वह। इमारत की सीढ़ियां कामरेडों के ख़ून से रंग गई थीं। मेरी अपनी पतलून और बुशशर्ट खून से तर-ब-तर थी, और मैं पागलों की सी हालत में कह रहा था, 'घबराओं नहीं, कामरेड, यह मेरा ख़ून नहीं है !' काफी देर तक मुझे सचमुच यही यकीन रहा था कि वह ख़ून अन्य साथियों का था, जिन्हें कि मैं सहारा देकर ऊपरी मंज़िल पर ले जा रहा था। बाद में पता लगा कि उस ख़ून में कुछ हिस्सा मेरे अपने खून का भी था। एक पत्थर मेरे सिर में लगा था, जिसका छोटा-सा ज़ख्म किसी कीमती सौगात की तरह आज भी मेरे सिर के ऐन बीच मौजूद है।

फिर, याद आती है जहाज़ियों की बगावत। वह भी एक समय था। सारा बम्बई शहर-क्या हिन्दू, क्या मुसलमान और क्या पारसी-एक होकर गोरों पर टूट पड़ा था। बहादुरी-भरे कारनामों की ज़्यादा खबरें मुसलमानी इलाकों में से आ रही थीं। हर एक घर पर कांग्रेस, लीग, और कम्युनिस्ट पार्टी के झंडे लहरा रहे थे, जैसे कि वे बाग़ी जहाज़ों पर लहरा रहे थे। ट्रकों पर सवार गोरे, बिना किसी सूचना के, दहशत फैलाने के लिए राह चलते लोगों पर शरीर के अन्दर जाकर फटने वाली डमडम की गोलियां चलाकर आगे बढ़ जाते थे। पर लोगों के उत्साह का क्या कहना ! इधर गोली चलती, उधर सड़कों पर फिर से लोग दिखाई देने लगते, जैसे कुछ हुआ ही न हो। मेरे साथ चल रहा आन्ध्र प्रदेश का एक कामरेड उछल-उछलकर अंग्रेज़ी में सिर्फ एक ही बात दोहराए जा रहा था, 'पीपल आर इन द स्ट्रीटस' कामरेड, दिस इज़ ए रैवोल्यूशनरी सिचुएशन ! (लोग सड़कों पर आए हुए हैं, कामरेड, यह इन्कलाबी स्थिति है !) तभी अचानक लोग़ बिजली की तेज़ी से भागने लगे। मेरा साथी और मैं एक दुकान के नीचे घुस गए थे। बम्बई के लोग भी अजीब है। बारिश के मौसम में, बूंदें पड़ने से कुछ क्षण पहले, वे इसी तरह-भागकर सिर छिपाया करते हैं। शायद उसी अभ्यास की बदौलत उन्हें पता लग गया था कि गोली चलने वाली है। हमारे छिपने की देर थी कि तड़-तड़ गोली चलने लगी। फिर दूसरे ही क्षण रुक भी गई। बम्बई की बारिश भी ऐसे ही रुक जाया करती है। दो दुकानें आगे, एक दुकान के नीचे, हमारी तरह ही, कालेज की एक लड़की ने शरण ली थी। पर पता नहीं, एक साथ कितनी गोलियां उसे बेध गई थीं। वहीं उसने जान दे दी। हम उसकी लाश को उठाकर 'गिरनी कामगार यूनियन' के दफ्तर में ले गए। वहां रेलवे मज़दूरों के नेताओं की गर्मागर्म बहस हो रही थी कि रेल की पटरियां उखाड़ डाली जाएं या नहीं।

चाहे सही चाहे गलत, मैं बार-बार यही सोचता हूं कि अगर उस समय हमारे नेताओं ने जनता का साथ न छोड़ा होता, अंग्रेज़ों में समझौता करने के बजाय बग़ावत की रहनुमाई

की होती, तो अंग्रेजों का तम्बू उसी मौके पर उखड़ जाता। उस दिन लोगों का इन्कलावी जज़्बा अपनी चरम सीमा को पहुंचा हुआ था। जहाज़ियों की हिमायत में हवाई सेना के हिन्दुस्तानी दस्तों ने भी हड़ताल कर दी थी। बम्बई की पुलिस भी बिगड़ बैठी थी। नेताजी की आज़ाद हिन्द फौज के पदचिह्नों पर चलकर सरकारी फौज द्वारा बगावती झंडा उठा लेना भी हैरानी की बात नहीं थी। तब न देश का बंटवारा होता, न ही पुरानी रिश्वतखोर नौकरशाही का ढांचा सलामत रहता, जिसने कि आज जनता की नाक में दम कर रखा है।

पर नेताओं ने जनता का साथ छोड़ दिया, और अंग्रेज़ों के साथ समझौता कर लिया। इस बात के लिए गांधीजी को दोष देना उचित नहीं है, क्योंकि वे तो हमेशा से अहिंसा को अपना परम धर्म और जीवन-सिद्धान्त मानते आए थे, जिसे कि वे किसी भी हालत में त्याग नहीं सकते थे। एक बार नहीं, कई बार वे कांग्रेस को कह चुके थे कि उन्हें राजनैतिक मार्गदर्शन के काम से छुटकारा दे दिया जाए। पर नेहरू और अन्य कांग्रेसी नेताओं को गांधीजी के कंधों पर चढ़ने की आदत जो पड़ चुकी थी। वे अपने तौर पर कोई फ़ैसला करना जानते ही नहीं थे। कहीं उस समय दूरदर्शी नेहरू ही देख लेते कि इन्कलाब की बाढ़ को रोकने से कितने भयानक नतीजे निकलेंगे, जैसाकि बाद में उन्होंने कबूल किया था। वे निर्भीक व्यक्ति थे शायद मैदान में कूद ही पड़ते। पर उस समय तो उनकी इन्कलाबी चेतना ने भी आंखें मूंद ली थीं। आज नेताजी का खयाल आता है। काश वे जीवित होते ! इसी अवसर की आशा में तो वे अपनी आत्मा तक को गिरवी रखकर जर्मन और जापानी फासिस्टों के साथ जाकर मिल गए थे। वे उस समय यहां होते, तो चुप न बैठते।

पर निश्चित रूप से कुछ भी कहा नहीं जा सकता। हमारे देश का सारा राजनैतिक नेतृत्व पूंजीपति-वर्ग की पैदावार रहा है। और इन्कलाब को उसकी मंज़िल तक पहुंचाने की लालसा केवल मज़दूरवर्ग में होती है।

उस समय मज़दूरों-किसानों की सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था कम्युनिस्ट पार्टी थी। पर वह भी कांग्रेस और लीग के पीछे-पीछे चलने लगी थी, हालांकि वह ऐसा बढ़िया मौका था कि वह आगे बढ़कर उन दोनों पार्टियों से नेतृत्व छीन सकती थी। यह भी हो सकता है कि यह जुए की बाज़ी वाली बात होती। कम्युनिस्ट पार्टी की शक्ति सारे देश में एक-सी नहीं थी, और जंग की हिमायत करने के कारण उसपर पहले ही देशद्रोही होने का इलज़ाम लग चुका था। हो सकता है कि जनता उसके पीछे चलने के बजाय उसके उलट हो जाती। वैसे, यह भी कहा जा सकता है कि अंग्रेज़ों से लोहा लेकर पार्टी देशद्रोही होने के इलज़ाम से हमेशा के लिए छुटकारा पा जाती। ईश्वर ही जाने, क्या होता। अब इतिहास ही इन बातों का निर्णय करेगा।

सरदार वल्लभ भाई पटेल और क़ायदे आज़म मुहम्मद अली जिन्नाह, दोनों मिलकर बागी जहाज़ियों के हाथों से हथियार छुड़वाने के लिए आगे आए। कठिन समय में काम करने के उपकार के बदले में आखिर अंग्रेज़ सरकार ने उन्हें आपस में ही लड़ा दिया। जो इन्कलाबी बाढ़ अंग्रेज़-साम्राज्य को बहा देना चाहती थी, वह अब अपने ही देशवासियों के पांव उखाड़ने लगी। जिस बन्दर को किसी समय भागने के लिए रास्ता दिखाई नहीं

देता था, वही आपस में लड़ रही बिल्लियों का इन्साफ़ करने के लिए बैठ गया। देखते-देखते इन्कलाबी लड़ाई साम्प्रदायिक फ़सादों में बदल गई।

जब बड़े-बड़े राजनैतिक नेता, यहां तक कि ख़ुद गांधीजी भी, उलझन में पड़े हुए थे, तो भला हम कल के लड़के किस बाग़ की मूली थे ? हमें क्या पता कि क्या हो रहा था और क्यों हो रहा था ? जो भी हो रहा था, हम जवानी के जोश में उसमें कूद पड़ने के लिए बेकरार थे। तूफ़ानों में घिरी हुई जीवन-कश्ती टूट भी सकती थी, डूब भी सकती थी- इस बात का हमें न पता था, न चिन्ता थी।

एक फ़िल्म-स्टार का जीवन भी अपनी जगह किसी छोटे-बड़े तूफ़ान से कम नहीं होता। हमारा घर उन दिनों एक तरफ कामरेडों का कैम्प, और दूसरी तरफ फ़िल्म अभिनेताओं, निर्माताओं, पत्रकारों फोटोग्राफरों और उनके इर्द-गिर्द घूमने वाले व्यक्तियों का आकर्षण-केन्द्र बना हुआ था। वहां ऐसा कोहराम मचा रहता कि पड़ोसी भी तंग आए हुए थे और मेरे छोटे-छोटे बच्चों पर बुरा असर पड़ रहा था। पर कोई अक्लमंद आदमी हमें रास्ता दिखाने वाला नहीं था। कोई हमें ख़तरों के प्रति सचेत करने वाला नहीं था। (अगर होता भी तो हम उसकी बात मानने वाले नहीं थे।) बम्बई शहर में प्रत्येक व्यक्ति अपनी दुनिया में खोया रहता है। पड़ोसी अपने पड़ोसी से परिचित नहीं होता। सभी बड़े शहरों में यही हालत होती है। यह बात हम अपने लन्दन के अनुभव से जान गए थे। पर लंदन और बम्बई में बहुत फ़र्क था। लंदन में हमें हर प्रकार की शहरी सहूलतें प्राप्त थीं, और उनमें किसी किस्म की अड़चन नहीं पड़ती थीं। यातायात के अच्छे से अच्छे साधन, बढ़िया खुराक, साफ़-सुथरा रहन-सहन, नम्रतापूर्ण व्यवहार, चप्पे-चप्पे पर अस्पताल, दिन-रात काम करने के लिए तैयार नागिरक-सेवा-विभाग, शरीफ़ पुलिस, सड़कों पर जगह-जगह पब्लिक टेलीफ़ोन...हर प्रकार का सुख था वहां। उसके उलट बम्बई में बड़े शहर की विषमताएं तो सभी थीं, पर सहूलतें न होने के बराबर थी। छोटी-सी दुर्घटना आंख फरकते ही भयानक दुःखान्त का रूप धारण कर जाती है। यही हमारे साथ भी होना लिखा हुआ था।

अमीर घरों के लोग भी हमारे साथ दोस्ती करने के लिए बेचैन रहते थे। फ़िल्म-स्टार के साथ उठने-बैठने से उनकी इज़्ज़त बढ़ती थी। जब हम उनकी घटिया पार्टियों से उकताकर पीछा छुड़ाते, तो वे इप्टा या कम्युनिस्ट पार्टी को चन्दा देकर हमें ललचाते। अभिनेता और खासकर अभिनेत्री 'बूर्ज्वा' समाज के लिए एक खिलौना है- इस तथ्य का हमें बिलकुल ज्ञान नहीं था। अभिनेत्री को दिए जाने वाले सम्मान में बहुत-सा तिरस्कार का भी अंश होता है, यह भी मुझे नहीं पता था। एक बार जब अखबार में पढ़ा कि रेस में दौड़ने वाली घोड़ियों के नाम बेगम पारा, नर्गिस, दमयंती आदि रखे गए हैं, तो मुझे बहुत ग़ुस्सा आया।

मेरा कर्तव्य था कि उस समय अपनी पत्नी की ढाल बनता, उसके कलात्मक जीवन की कद्र करता, रक्षा करता, उसे फ़िज़ूल के झमेलों से बचाता, और पारिवारिक जीवन की ज़िम्मेदारियां अपने ऊपर लेता। पर मैं अपनी संकीर्णता के कारण मन ही मन में दम्मो की प्रसिद्धि और सफलता से ईर्ष्या करने लगा था। वह स्टूडिओ से थकी-हारी हुई आती, तो मैं उससे ऐसा सलूक करता जैसे वह कोई ग़लती करके आई हो। मैं चाहता कि वह आते ही घर के काम-काज में लग जाए, जोकि मेरी नज़र में उसका असली काम था। अपने बड़प्पन का दिखावा करने के लिए मैं इप्टा और कम्युनिस्ट पार्टी के अनावश्यक

काम भी करने लग जाता। मैं मर्द था। जिन संस्कारों में मैं पला था, उनके अनुसार मर्द हर हालत में ऊंचा था। और जिन संस्कारों में दम्मो पली थी, उनके अनुसार पतिपरायणता उसका पहला कर्तव्य था। बेचारी बिना किसी शिकायत के वह सारा भार उठाती गई, जिसे उठाने का उसमें सामर्थ्य नहीं था। इन बातों को याद करके मेरे दिल में टीस उठती है। दम्मो एक अमूल्य हीरा था, जो उसके माता-पिता ने एक ऐसे व्यक्ति को सौंप दिया था, जिसके दिल में न उसकी कद्र थी, न ही कोई कृतज्ञता का भाव था ! हमारे इर्द-गिर्द एक तूफ़ान-सा मचा रहता था।

श्री साउंड स्टूडिओ में, 'धरती के लाल' के बाद, 'गुड़िया' नामक एक फ़िल्म बनी। उसके निर्माता रजनीकान्त पांडे स्वयं थे, और निर्देशक थे अच्युत राव रानाडे, जिन्होंने बाद में फ़िल्मी जीवन का त्याग करके जेल से छूटे हुए कैदियों को फिर से बसाने के काम में अपना जीवन अर्पित कर दिया था। वे बहुत विद्वान और उच्च आचरण वाले व्यक्ति थे। 'गुड़िया' का कथानक उन्होंने इब्सन के प्रसिद्ध नाटक, 'डॉल्स हाउस' के आधार पर तैयार किया था। दम्मो और मैं उसमें मुख्य पात्रों की, भूमिका कर रहे थे।

एक दिन एक गीत फिल्माया जा रहा था, जिसमें दम्मो बगीचे में बैठकर गाती है 'आज मेरे मन में चांदनी समा गई।' और मैं पास बैठकर सुनता हूं ।

शॉट की लाइटिंग हो रही थी। हम कुछ देर के लिए खुली हवा में खड़े होने के लिए बाहर निकल आए- रजनीकांत, दम्मो और मैं। उसी समय वहां पर बहुत बड़ी मोटर आकर रुकी, जिसमें से एक व्यक्ति ने के०एल०सहगल को सहारा देकर उतारा। क्या यह वही सहगल थे, जिन्हें छः साल पहले हमने कलकत्ता में 'प्रेंसीडेंट' फ़िल्म के सैट पर मज़ाक करते हुए देखा था? आंखों को यकीन नहीं हो सका। सहगल के सारे बाल सफ़ेद हो चुके थे, आंखों पर काली ऐनक थी, पर ऐसे लगता था, जैसे नज़र जवाब दे चुकी हो। सफ़ेद मलमल के कुर्ते और चूड़ीदार पाज़ामे में से उनका कंकाल बन चुका शरीर दिखाई दे रहा था। वे ऐसे लड़खड़ा रहे थे, जैसे कुछ ही दिनों के मेहमान हों। अभी तो उनकी जवानी की शिखर दोपहर थी। यह क्या हो गया था उन्हें ? कौन-सा रोग खा गया था उन्हें अन्दर ही अन्दर ? कौन-सा राक्षस निगल गया था उनकी खुशियों- बहारों को ?

वह व्यक्ति सहगल को बांह से पकड़कर हमारे पास ले आया। हमने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया।

"सहगल साहब, अब कैसी तबीयत है आपकी ?" रजनीकान्त ने अंग्रेज़ी में पूछा। पर सहगल को जैसे सुनाई नहीं दिया। रजनीकान्त ने मौके को संभालते हुए ऊंची आवाज़ में कहा, "आइए, आपका दमयंती साहनी से परिचय कराऊं, जिन्होंने इण्डस्ट्री में कदम रखते ही इतनी मशहूरी हासिल कर ली है। आज वे एक गीत फ़िल्मा रही है।"

"गीत ?" सहगल ने चौंककर कहा। उनका मुंह ऊपर उठ गया, जैसे किसी ने उन्हें दूर से पुकारा हो, या यादों में किसी गीत के बोल फिर से लौट आए हों। वे काफ़ी देर तक उसी हालत में खड़े रहे। फिर, उनके चेहरे पर मुस्कराहट आई। उन्होंने दम्मो को अपने पास खींच लिया, और प्यार से उसके सिर पर हाथ फिराने लगे। 'ए सांग ? गो एण्ड सिंग, माई डियर चाइल्ड ! देयर इज़ नथिंग इन दिस वर्ल्ड लाइक ए सांग !" उन्होंने कहा।

(गीत ? जा, जाकर गा, मेरी बच्ची ! इस दुनिया में गीत जैसी कोई चीज़ नहीं !)

दम्मो की आंखों में से आंसू फूट पड़े, और इसके पहले कि उसके जज़्बे बेकाबू हो जाते, वह दौड़कर स्टूडिओ में चली गई।

उस दिन काफ़ी देर तंक उससे काम न हो सका। अनगिनत लोगों की तरह उसकी भावनाओं में सहगल समाए हुए थे। वह रो रही थीं और बार-बार कहती, "बलराज, क्या सहगल मर जाएगा ? क्या उसे बचाने का कोई तरीका नहीं है ? क्या हम सोच भी सकते है कि एक दिन दुनिया में सहगल नहीं होगा ?"

और फिर, जैसे पलक झपकते ही इस दुनिया में न सहगल रहे, न दम्मो रही। दोनों ही यहां से हमेशा के लिए विदा हो गए। और मैं उनसे खाली हो चुकी दुनिया के बारे में सोच ही नहीं पा रहा था, उसमें सांस ले रहा था, उसकी तलख हकीकतों से टकरा रहा था।

२७ अप्रैल, १९४७ को दम्मो की मृत्यु हुई। १५ अगस्त १९४७ को पंजाब के दो टुकड़े हो गए। हमारा सारा परिवार रावलपिंडी से उजड़कर जगह-जगह बिखर गया। मेरा ताश का घर गिरकर टूट गया।

दूसरा दौर

१

दम्मो की मृत्यु के बाद मैं बच्चों को लेकर रावलपिंडी चला गया। पर वहां मौत की जैसे कोई कद्र-कीमत ही नहीं रह गई थी। इर्द-गिर्द के गांवों में हिन्दुओं-सिक्खों का भयानक कत्लेआम हो रहा था। भीष्म उन दिनों शहर की कांग्रेस-कमेटी के सेक्रेटरी थे और गांव-गांव घूमकर वारदातों की रिपोर्ट तैयार कर रहे थे। उन्होंने बताया कि सैकड़ों औरतों ने अपनी इज़्ज़त बचाने की खातिर एक कुएं में कूदकर आत्महत्या कर ली थी। कई औरतें तो अपने बच्चों को साथ लेकर कूद पड़ी थीं।

रावलपिंडी शहर में कम्युनिस्ट पार्टी का शांति-आंदोलन ज़ोरों पर था। कामरेड कांग्रेस और लीग दोनों को आपस में समझौता करने और अंग्रेज़ों के साथ डटकर लड़ने के लिए चुनौती दे रहे थे। उनकी आवाज़ जनता के दिलों में उभरती थी, पर अब अंग्रेज़ स्थिति पर पूरी तरह हावी हो चुके थे और हिन्दुस्तानियों को मनमाने नाच नचा रहे थे।

मेरे साथी कामरेडों की कुर्बानी-भरी सेवा ने मेरा दिल जीत लिया था। तब मैं भी उनके साथ मिलकर काम करता हुआ अपने व्यक्तिगत दुःख को भुलाने की कोशिश करने लगा। ''अरे अब भागो लंडन जाओ'' 'अब न गाड़ी चालै'', ''आए तीन मदारी,'' आदि प्रेमधवन के लिखे कितने ही लोकप्रिय गीत मुझे ज़बानी याद थे। मैं वे गीत गाता, भीड़ इकटठी करता, और फिर कामरेड भाषण देते।

कामरेडों को सबसे ज़्यादा भरोसा मज़दूर-वर्ग पर था। वे चाहते थे कि मज़दूरों की बस्तियां फ़सादों से सुरक्षित रहें, न केवल यह बल्कि मज़दूर आगे बढ़कर सारे शहर की रक्षा करें।

शहीद भगतसिंह के साथी, श्री धन्वन्तरी भी इस काम के लिए वहां आए। उनकी मीटिंगों में गाना भी मेरे जिम्मे लग गया। मई महीने की गर्मी में उस महान व्यक्ति को अपना सुख-आराम तो क्या, खाना-पीना तक भूला हुआ था। हम साइकिलों पर सवार होकर सारा-सारा दिन चक्कर लगाते रहते। उन दिनों मैं अच्छा खासा गवैया बन गया था।

एक दिन हम 'अटक आयल कम्पनी' के मज़दूरों की मीटिंग करने के लिए शहर से लगभग बारह मील दूर जा निकले। एक बंद कमरें में पार्टी के मेम्बरों और हमदर्दो की मीटिंग हुई। कामरेड धन्वन्तरी को चेतावनी दी गई कि वे इतनी लापरवाही से अपनी और मेरी जान खतरे में डालना छोड़ दें। गांवों में मुसलमानों को लगातार इश्तिआल किया जा रहा था। इस काम में हुकूमत के अधिकारियों का भी हाथ था। सो, वहां खुले आम मीटिंग

करने का खयाल ही पैदा न हुआ। कुछ एक मज़दूर (अटक आयल कम्पनी के सभी मज़दूर मुसलमान थे) साइकलों पर सवार होकर हमें शहर की हदों तक वापस छोड़ आए।

मैं हंगामी घटनाओं की आंधी में फंसा हुआ भी उनके महत्त्व को समझने में असमर्थ था। तब तक मैंने लेनिन की एक भी पुस्तक नहीं पढ़ी थी। मार्क्सवादी ज्ञान मनुष्य को अपने चौगिर्दे को समझने और बदलने की जांच सिखाता है। पर मैंने वह जांच तब तक नहीं सीखी थी। इसलिए, मैं घटनाओं पर अपनी ख़्वाहिशों का ही मुलम्मा चढ़ाता रहता, जोकि मध्यवर्गीय युवकों की आम कमज़ोरी है। मेरे पिताजी ज़्यादा अनुभवी थे। उन्हें विश्वास हो गया था कि पाकिस्तान बनने के बाद हिन्दुओं का वहां रहना असंभव हो जाएगा। ज़मीन-जायदाद के तबादले-सम्बन्धी, उन्हें लुधियाना से एक मुसलमान दोस्त की बार-बार चिट्ठियां आती थीं पर वे मेरी और भीष्म की सलाह लिए बिना कोई कदम नहीं उठाना चाहते थे। हम उनके सभी डर और शंकाओं को हंसी में उड़ा देते थे। हम कहते, "भला लुधियाना जैसे बदसूरत नाम वाला शहर भी कभी रहने के लायक हो सकता है?" वे भी हंस देते । मैं हैरान हूं कि हमारी हर दर्जेकी मूर्खता को भी पिताजी कैसे सहन किए हुए थे। आखिर वे अपनी लाखों की ज़मीन-जायदाद से हाथ धो बैठे।

मेरी सेहत बहुत गिरी हुई थी। डाक्टर ने मुझे कश्मीर जाने की सलाह दी। वहां भी हालात बहुत हंगामी थे, लेकिन साम्प्रदायिकता का कहीं नाम-निशान तक न था। महाराज हरीसिंह का दमन-चक्र जोरों से चल रहा था। शेख अब्दुलला, सादिक, डी०पी०धर और कई अन्य नेता जेल में थे, जिसके कारण जनता में बहुत बेचैनी थी। कई राजनैतिक कर्मचारी रूपोश होकर बगावत फैला रहे थे, और इस नेक काम में पुलिस तक उनकी मददकार थी। एक खुफिया अड्डे पर मेरी मुलाकात काश्मीर के महान मज़दूर कवि, अबदुसितार 'आसी' से हुई। रोज़ी कमाने के लिए वे एक आढ़ती की दुकान पर बोरियां ढोया करते थे। यह भी मेरी एक अमिट याद है।

मैं बम्बई से आया था, जहां कम्युनिस्ट पार्टी का केन्द्र था, इसीलिए श्रीनगर के कामरेड मुझे ज़रूरत से ज़्यादा महत्त्व दे रहे थे। मैं भी अपनी शान बनाने की कोशिश करता, हालांकि मेरी राजनैतिक सूझ-बूझ उनके मुकाबले में कम थी। घर के वातावरण और गवर्नमेंट कालेज, लाहौर की शिक्षा, दोनों ने मुझे अन्तर्मुखी बना दिया था। बड़ी से बड़ी घटनाओं की ओर से भी आंखें मूंदे रखना मेरी आदत बनी हुई थी। अपने इस रोग का इलाज मैं मार्क्सवादी ज्ञान की सहायता से भी न कर सका। कठिनाइयों में मेरी सोचने की शक्ति डांवाडोल हो जाती है। मेरी ज़हनियत उस बंदर जैसी है, जो आग से छेड़खानी करने से भी बाज़ नहीं आता, और हाथ जलने पर झट भाग भी उठता है।

काफ़ी हद तक यही कमज़ोरी मेरे समकालीन साहित्यकारों और कलाकारों की भी कही जा सकती है। सन १९४७ की मौत की आंधी हमारे सिरों पर से होकर गुज़र गई, लेकिन उसके आधार पर हम न कोई बढ़िया फ़िल्म बना सके, और न ही, उसभावुकता से ऊपर उठकर, साहित्य में उसका अमिट चित्रण ही कर पाए। मैं कुछ समय तक श्रीनगर में रहकर गुलमर्ग चला गया, जहां मेरा ध्यान प्रकृति के सुन्दर दृश्यों में लीन हो गया।

एक दिन मुझे अपने प्रिय मित्र और हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार, अमृतलाल नागर का पत्र आया कि फ़िल्म-निर्माता, वीरेन्द्र देसाई उनकी लिखी कहानी पर फ़िल्म बनाने वाले

हैं, जिसमें मुख्य पात्र के रोल के लिए मुझे लेने का फ़ैसला किया गया है। पारिश्रमिक दस हज़ार रुपये दिया जाएगा। अगर मुझे स्वीकार हो, तो जवाबी तार दूं।

तीन साल पहले, इसी गुलमर्ग से मुझे चेतन आनन्द खींचकर फ़िल्मों में ले गए थे। अब फिर एक प्यारे दोस्त ने ललचा दिया। जवान दिलों में फ़िल्मों के लिए पता नहीं कैसा आकर्षण होता है। बम्बई की जलवायु मुझे रास नहीं आई थी। वहां के लोग मुझे पराये से लगते थे। खासकर, दम्मो के मरने के बाद तो बम्बई जाने के लिए ज़रा भी दिल नहीं चाहता था। पंजाबी भाषा और पंजाबी साहित्य के लिए मेरे दिल में शौक जाग उठा था। मैं चाहता था कि पंजाब या काश्मीर में ही टिके रहने का कोई रास्ता मिल जाए। पर इन सभी इरादों पर पानी फेर देने के लिए फ़िल्मी दुनिया में से आया एक पत्र ही काफ़ी था।

मुझे बिना मांगे हीरो का रोल मिल रहा था, और दस हजार रुपये का काण्ट्रैक्ट। यह तो मेरे 'स्टार' बन जाने की निशानी थी। मेरा दिल ख़ुशी से उछलने लगा।

जुलाई १९४७ के अन्त में मैं सारे परिवार को काश्मीर छोड़कर बम्बई के लिए रवाना हुआ। रावलपिंडी में इस कद्र सहम देखा कि सड़क पर चलना मुश्किल था। लाहौर से गुज़रते समय मैंने गाड़ी में से जगह-जगह आग की लपटें देखी। पर फिर भी मैं निश्चित बना आगे बढ़ता गया, जैसे उस सब कुछ से मेरा कोई वास्ता ही नही था। मुझे काण्ट्रैक्ट जो मिल गया था।

उस फ़िल्म का नाम था, 'गुंजन'। जवानी में पांव रखने के बाद नलिनी जैवंत की वह पहली फ़िल्म थी। हीरो, बदकिस्मती से, एक के बजाय दो निकल आए। जिसके साथ लड़की का प्यार होता है, वह मैं था, पर जिसके साथ उसकी शादी होती है, वह थे त्रिलोक कपूर। वे काफ़ी अरसे से फिल्मों में काम करते आ रहे थे और अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालना खूब जानते थे। सैट पर वे दिन में एक-दो बार ज़रूर ऐलान कर देते कि असली हीरो वे खुद है। मैं मन ही मन जल-भुनकर रह जाता, जैसे कोई ज़बर्दस्ती मेरा हक छीन रहा हो। मुझे सारी-सारी रात नींद न आती। हीरो बना भी, पर पूरी तरह नहीं। आखिर 'पूरी तरह' हीरो मैं कब बनूंगा?

दूसरे शब्दों में, मेरा मन ऐसे विचारों में उलझा हुआ था, जिनका असली काम से कोई सम्बन्ध नहीं था। चरित्र-चित्रण का कोई मनोवैज्ञानिक पहलू भी होता है यह न मैं जानता था, और न ही जानने की अभी ज़रूरत महसूस हुई थी। मार्क्सवादी जोश में हम उन दिनों स्तानिस्लाव्स्की की 'बूर्ज्वा' माना करते थे। कैमरे के सामने होश-हवास खोने और जिस्म के अकड़ जाने का अनुभव मुझे बहुत हो चुका था, लेकिन रवैया अभी भी उन दिनों जैसा था, जो ठीक समय पर इलाज कराने के बजाय अपने रोग को छिपाए रहते हैं कि एक दिन वह अपने-आप ठीक हो जाएगा।

'गुंजन' की कहानी अब मुझे ज्यादा याद नहीं है। पर एक अच्छे साहित्यकार द्वारा लिखी होने के कारण उसमें विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म दांव-पेच थे। मैंने उन्हें समझ तो ज़रूर लिया, पर अभिनय में उनकी किस प्रकार अभिव्यक्ति की जाए इस तकनीक से मैं कोरा था। नागरजी खुद अभिनेता नहीं थे, इसलिए वे मेरी इस कमज़ोरी को पहचान न पाए। अगर मेरे वाला रोल दिलीपकुमार या राजकुमार से करवाया गया होता, तो 'गुंजन' एक

यादगार फिल्म बनती। लेकिन संभव है कि उन दोनों ने एक नई और अज्ञात हीरोइन के साथ काम करने से इन्कार कर दिया हो।

शूटिंग के शुरु के दिनों में न सिर्फ़ मेरा असलियत का भेद खुल गया, बल्कि निर्माता की नज़रों में नागरजी का महत्त्व भी जाता रहा। सैट पर नागरजी मुझे बड़े शौक और विस्तार से दृश्य का आगा-पीछा समझाने लगते। आजकल लेखक का ऐसा करना मेरे लिए बड़ा ही सुखद और प्रेरणादायक अनुभव होता है, पर उन दिनों मेरी कल्पना ने सहज ही अचेतन मन के दरवाज़े खोलकर पात्र के मनोभावों में दाख़िल होना नहीं सीखा था। अगर सीखा होता, तो मैं नागरजी को अपने अभिनय द्वारा वे सूक्ष्म भाव उजागर करके दिखाता, जो वे चाहते थे। पर मेरी किस्मत में यह लिखा हुआ नहीं था। यह अरमान हमेशा का पछतावा बनकर रह गया है।

फ़िल्म की शूटिंग 'चट मंगनी, पट ब्याह' वाला मामला होता है। एक-एक क्षण की कीमत रुपये, आने, पाई में गिनी जाती है। नाटक तैयार करते समय कई-कई हफ़्ते रिहर्सलें चलती रहती हैं, जिनमें नया कलाकार भी अभिनय की दो-चार सीढ़ियां तो चढ़ ही जाता है। पर फ़िल्मों में यह सहूलियत नहीं होती। फिर, कहानी सिलसिलेवार नहीं होती। उसके अगले-पिछले हिस्से टुकड़ों में फ़िल्माए जाते है। कैमरा चेहरे के इतना नज़दीक आ जाता है कि दर्शक कलाकार के चेहरे को किताब की तरह पढ़ सकते हैं। इस क्षेत्र में अनाड़ी कलाकार की खैर नहीं है।

मेरा आत्मविश्वास एकदम ज़वाब दे गया, हाथ-पांव ठंडे पड़ने लगे, गला ख़ुश्क होने लगा। नागरजी क्या कह रहे हैं या क्या नहीं कह रहे, मुझे कोई होश नहीं था। एक ओर लम्बे-लम्बे संवाद दूसरी ओर उनकी बातें। मुझे बहुत बुरा लग रहा था। अगर उस समय मेरे हाथ में तलवार होती तो मैं उनका सिर कलम कर देता। इस बात की ज़रा भी परवाह न करता कि वे मेरे मित्र हैं या उन्होंने ही मुझें काण्ट्रैक्ट दिलाया है।

निर्माता-निर्देशक, वीरेन्द्र देसाई ने ठीक समय पर बिगड़ती हुई स्थिति को भांप लिया और नागरजी को समझा-बुझाकर एक तरफ़ ले गए। मैंने सुख की सांस ली। मैं खुद के बजाय नागरजी को दोष दे रहा था, इसलिए मेरा स्वाभिमान टूटा नहीं। वीरेन्द्र देसाई ने इस बात का फ़ायदा उठाया। उन्होंने मेरा हौसला बढ़ाया और मेरे अन्दर की तलखी शांत की। मैंने जैसे-तैसे करके संवाद याद किए और हॉलीवुड के अभिनेताओं के अन्दाज़ में नकल करके काम चला लिया।

इसके बाद नागरजी ने सैट पर आना बिलकुल छोड़ दिया। पता नहीं, वे कला-सम्बन्धी क्या-क्या अरमान लेकर फ़िल्मों में आए थे और किन निराशाओं से उनका पहले से वास्ता पड़ चुका था। मैं जानता था कि उन्होंने भी मुंशी प्रेमचन्द की तरह पैसे की ख़ातिर अपनी आत्मा को धोखा देना स्वीकार नहीं किया था। 'धरती के लाल' और 'गुड़िया' के सैट पर मुझे देखकर उन्होंने पता नहीं क्या-क्या उम्मीदें लगाई होंगी। मुझे ध्यान में रखकर उन्होंने कितनी मेहनत से इतनी मार्मिक कहानी तैयार की थी और उसे फ़िल्माने की योजना में भी बढ़-बढ़कर हिस्सा लिया था। पता नहीं, कितनी तारीफ़ों के पुल बांधकर उन्होंने निर्माता-निर्देशक को मेरे हक में कायल किया था। मेरी गुमनामी के बावजूद उन्होंने उस समय के हिसाब से बहुत अच्छे पैसे दिलवाए थे, और खास तौर पर काश्मीर से बुलवाया था। उन्होंने शायद, यह भी सोचा हो कि बेचारे को पत्नी के मरने का ग़म है, काम में

पड़कर संभल जाएगा, और शायद अपने व्यक्तिगत दुःख की झलक उस दुःखान्त चित्र-कथा में भी ला सके।

उनकी उपस्थिति में मैं जैसे बेलगाम बना हुआ था। वीरेन्द्र देसाई जल्दी से जल्दी फ़िल्म खत्म करना चाहते थे। उनकी नज़र 'गुंजन' पर नहीं बल्कि अपनी पत्नी, नलिनी जैवंत पर थी। शूटिंग बॉम्बे टाकीज़ स्टूडिओ में हो रही थी, जिसके सूर्यास्त की रोशनी देविका रानी और हिमांशु राय के बिना भी काफ़ी तेज़ थी। नीतिन बोस और अमिय चक्रवर्ती जैसे प्रसिद्ध निर्देशक अब भी वहां विराजमान थे। बरामदों में सआदत हसन मंटो, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि लेखक चलते-फिरते नज़र आते थे। हर दूसरे-चौथे दिन कोई न कोई नामवर हस्ती सैट पर आ जाती। 'गुंजन' पूरी होने से पहले ही नलिनी जैवंत को शशिधर मुकर्जी ने अपनी फ़िल्म, 'साथी' में ले लिया, जिसके निर्देशक रमेश सहगल थे। नलिनी न सिर्फ कलाकार अच्छी थीं, उनकी सुन्दरता भी अनुपम थी। 'गुंजन' के जर्मन कैमरामैन, विर्शिंग ने उनके रूप को और भी चार चांद लगा दिए थे।

एक दिन डेविड के साथ मेरा दृश्य लिया जा रहा था। संवाद याद न होने के कारण मेरे 'रीटेक' पर 'रीटेक' हो रहे थे। आखिर मैंने डेविड से पूछा, 'भला डायलाग याद करने का कोई तरीका भी है? आपके 'रीटेक' नहीं होते।''

डेविड ने मुझे बड़े प्रेम से समझाया :

''वाक्य के हर शब्द के पीछे एक चित्र होता है। दूसरे शब्दों में, अगर उस वाक्य को अपनी कल्पना में देखो, तो वह चित्रों की एक श्रृंखला के रूप में दिखाई देगा। अगर बोलते समय उस चित्र-श्रृंखला की ओर ध्यान दो, तो शब्द भूलेंगे नहीं।

मैंने आज़माकर देखा तो यह बात सही निकली। मैंने इस शिक्षा को दिल में बैठा लिया। इस प्रकार फिल्म-अभिनय का मुझे पहला पाठ मिला, जिसके लिए मैं डेविड का आभारी हूं।

२

'गुंजन' बुरी तरह फ़ेल हुई। अमृतलाल नागर फ़िल्मों को तिलांजलि देकर लखनऊ चले गए और उन्होंने अपना जीवन पूर्ण रूप से साहित्य को अर्पित कर दिया।

फ़िल्म की 'रिलीज़' पर वे आए थे। मुझे आज की तरह याद है कि एक शाम नलिनी, वीरेन्द्र, नागर और मैं जुहू के समुद्र-तट पर बैठे हुए थे। काफी देर इधर-उधर की बातें होती रहीं। नागरजी को पता था कि मैं अपने अभिनय के बारे में उनकी राय की प्रतीक्षा में बैठा था। आखिर उन्होंने अपनी ऐनक में से मेरी ओर घूरकर देखते हुए कहा, ''बहुत अच्छे, बलराज भाई, बहुत अच्छे ! कड़क समालोचना हम फिर कभी करेंगे।''

उन्होंने कितना बड़ा पत्थर छाती पर रखकर यह कहा होगा! पर वे फ़िल्मों में जितना अरसा रहे, एक बात अच्छी तरह जान गए थे कि नये अभिनेता की आलोचना कभी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उसका हौसला बहुत जल्दी टूट जाता है।

मैंने कई मौकों पर खुद से पूछा है कि अगर वे उस समय खरी-खरी सुना देते, तो क्या वह मेरे लिए अच्छा होता या बुरा। इस बात का मुझे जवाब नहीं मिला है। हां, नागरजी का वह वाक्य लगातार मेरे मन में खटकता रहा है। मैं खुद को बहुत बार धोखा

देता था, पर फिर भी इस बात से आंखें नहीं मूंद सकता था कि मेरे काम में नुक्स थे। वे क्या थे? अच्छा होता कि संशय में रखने के बजाय मुझे उनके बारे में बता दिया जाता।

नागरजी ने जब भी कभी मेरे बारे में कुछ लिखा या कहा है, यह अफ़सोस ज़रूर प्रकट किया है कि फ़िल्मों ने एक साहित्यकार छीन लिया है। मैं ख़ुद इस बात को स्वीकार करता हूं। मेरी लालसा यही रही है कि साहित्यकार बनूं। फिर भी, मैं दावे के साथ नहीं कर सकता कि नागर जी का फिल्में छोड़ जाना पूरी तरह ठीक था, या मेरा न छोड़ना पूरी तरह ग़लत था। मैं नहीं कह सकता कि साहित्य के क्षेत्र में मैं क्या कर दिखाता। लेकिन फ़िल्मों के ज़रिये मैंने अभिनय-कला सीखी, और एक अभिनेता की बड़ी अजीब और बहुत सुखद मानसिक दशा का स्वाद चखा। यह भी एक प्राप्ति है।

देखते-देखते नलिनी जैवन्त चोटी की कलाकार बन गई। उन्होंने माटुंगा वाला एक कमरे का फ़्लैट छोड़ दिया, जहां वे दिनभर की शूटिंग के बाद अपने हाथ से खाना बनाती थीं, और पति-पत्नी दोनों एक ही थाली में खाते थे। उनके उस छोटे-से घर में मुझे भी बहुत आनन्द मिला करता था। अब उन्होंने चैम्बूर में बहुत बढ़िया बंगला बना लिया था, और उसकी साज-सजावट पर पानी की तरह पैसा बहाया था, जो कि फ़ालतू पैसे की अधिकता के कारण कामयाब फ़िल्मी हस्तियों की आम आदत है। मैं कभी-कभी उनसे मिलने चला जाता। दोनों मुझे बड़े प्यार से मिलते थे। वीरेन्द्र मुझे अपने घर की ख़ास-ख़ास चीज़ें दिखाते। पर मुझे उनके चेहरे पर पहले जैसी खुशी और तृप्ति दिखाई नहीं देती थी। दिन-प्रतिदिन उनके पास पैसा बढ़ता गया, प्यार घटता गया। पति-पत्नी में लड़ाई-झगड़े शुरु हो गए। आख़िर वे एक-दूसरे से अलग हो गए। मैं कभी वीरेन्द्र को बस-स्टापों पर लोगों की लाइन में खड़े देखता, तो मुंह दूसरी ओर मोड़कर गुज़र जाता। नाकामियों और ज़माने की ठोकरों से बेहाल बने वीरेन्द्र आखिर इस संसार से चलते बने।

श्याम ने भी मेरे पड़ोस में अपना बंगला बनवाया था। एक दिन ख़बर मिली की आउटडोर शूटिंग करते हुए वे घोड़े पर से गिरकर मर गए हैं। सुनकर बहुत दुःख हुआ। श्याम जी रावलपिंडी के थे, और हमारे परिवारों का आपस में बहुत प्यार था। वे मेरी बहुत इज़्ज़त करते थे।

मातमपुरसी के लिए मैं घर से पैदल चल पड़ा, क्योंकि मेरी मोटर-साइकिल का ड्राइवर नहीं आया था। यह भी अपने-आपमें एक दिलचस्प किस्सा है। मोटर के लिए ड्राइवर रखना आम बात है, पर मोटर-साइकिल के लिए ड्राइवर रखने वाला मैं इतिहास में शायद पहला आदमी था।

मैं अपने तजरुबे से बहुत जल्दी सीख गया था कि किसी फ़िल्म-स्टूडिओ के फाटक में पैदल दाख़िल होना अपमान की बात है। दरबानों और पहरेदारों को पैदल आने वाले लोगों से बुरा सलूक करके बहुत मज़ा आता है। हास्य-अभिनेता, दीक्षित अपने बीते अपमानों की याद में स्टूडिओ में दाख़िल होते समय अपनी मोटर से उतरकर दरबान को प्रणाम किया करते थे। एक दिन मेरे मित्र, मामा फसालकर ने मुझे बताया कि वी०शान्ताराम के छोटे भाई, अवधूत के पास एक बिलकुल नई, पांच हार्सपावर ए०जे०ऐस० मोटरसाइकल है, जिसे वे बेचना चाहते है। मैंने किसी न किसी तरह पैसा बटोरकर उसे खरीद लिया। पर उस शैतान के चरख़े को चलाए कौन ? उसे तो देखकर ही मुझे डर लगता था,

चलाने की तो बात ही अलग थी। मामा फंसालकर को चलानी आती थी, और चलाने का शौक भी था। उन दिनों वे थे भी बेकार। एक फ़िल्म में ख्वाजा अहमद अब्बास के सहायक बनकर वे लाहौर गए थे और वापस आने पर उन्हें कोई काम नहीं मिला था। सो, मैंने उन्हें मोटर-साइकल की ड्राइवरी का काम दे दिया। वे चलाते, मैं पीछे बैठता। बदले में वे मेरे यहां खाते और सो रहते।

उस दिन वे किसी कारणवश आए नहीं थे। सो, मुझे बस में जाना पड़ा। उन दिनों चैम्बूर का रास्ता बहुत ऊबड़-खाबड़-सा था। जब मैं सायन में बस बदलकर दूसरी पर सवार हुआ, तो सामने की सीट पर एक परिचित स्त्री को देखा। उसने 'गुड़िया' में दम्मो की सहेली का रोल किया था। वह थी भी रावलपिंडी की। मुसलमान स्त्री थी। छोटी आर्टिस्ट थी। पर दम्मो को इन बातों का कोई ख्याल नहीं होता था। वह उसके साथ बहुत अच्छी तरह से पेश आती थी, और उसकी अच्छी-खासी सहेली बन गई थी।

मैंने उसे बड़े प्रेम से हाथ जोड़कर नमस्ते की। पर उसने मुझे देखते ही आंखें फेर लीं। जब मैं चैम्बूर यूनियन-पार्क पहुंचा, तो लोगों की भीड़ का कोई अन्त नहीं था। मैं धक्के खाता और धक्के मारता हुआ आगे बढ़ा। श्याम की कहर की मौत हुई थी। उस समय मैं उनके परिवार के लोगों के साथ खड़ा होना चाहता था। जब मैं उनके पास गया तो उन लोगों ने मेरी ओर से वैसे ही मुंह फेर लिया, जैसे बस में उस स्त्री ने फेरा था। फ़िल्मी लोग जलती शमा के परवाने होते है, यह चीज़ मैंने दम्मो के मरने के बाद ही देख ली थी। पर अपने सगे-सम्बन्धी भी ऐसा व्यवहार कर सकते है, यह शिक्षा मुझे उस दिन मिल गई। मुझे ऐसे लगा, जैसे उस परिवार के लोगों की एक आंख आंसू बहा रही थी, और दूसरी उस शोक में शरीक होने वाले फ़िल्म-स्टारों की हाज़िरी लगा रही थी।

वे दिन सचमुच बहुत मुश्किलों-भरे थे। देश के बंटवारे के बाद अपना सब कुछ खोकर पिताजी दर-ब-दर हुए फिर रहे थे। किसी एक जगह उनका दिल नहीं लगता था। परिवार के बाकी लोग मेरे यहां आए हुए थे। मेरे छोटे भाई, भीष्म और उनकी पत्नी शीला, जयंत देसाई की एक फ़िल्म की डबिंग में हिस्सा लेकर घर का गुज़ारा चलाने में सहायक हो रहे थे। मैं ख़ुद कभी आल इंडिया रेडियो और कभी फ़िल्म डिवीज़न के दरवाज़े खटखटाता। ऊपर से एक और मुसीबत यह आ गई कि कम्युनिस्ट पार्टी की सन १९४८ की कांग्रेस के बाद धीरे-धीरे इप्टा का भी बेड़ा ग़रक होता जा रहा था। इप्टा का मुझे बहुत सहारा था, क्योंकि फ़िल्मों में असफल होने पर भी वहां मेरा असर-रसूख था। पर कम्युनिस्ट पार्टी की रणदिवे-नीति के अनुसार जवाहरलाल नेहरू अंग्रेज़ी और अमरीकी साम्राज्य के बग़ल-बच्चे बन गए थे। कम्युनिस्ट पार्टी ने सभी बूर्ज्वा लोगों को मज़दूर-वर्ग और देश का दुश्मन करार दे दिया था। देश की आज़ादी को कबूल करने और कांग्रेस हुकूमत के हाथ मज़बूत बनाने के बजाय उसने उसके ख़िलाफ बगावत करने का नारा बुलन्द कर दिया था। तब कम्युनिस्ट पार्टी के विभिन्न क्षेत्रों में बूर्ज्वा अंशों को दुतकारा जाने लगा। कल तक जिन्हें सम्मान दिया जा रहा था, वे अब दुश्मन-वर्ग के समझे जाने लगे। कई मेम्बर किसी न किसी बहाने पार्टी में से निकाल दिए गए, कई सरकारी दमन से डरकर भाग खड़े हुए, कई बिना कुछ कहे पार्टी छोड़ गए। ऐसे लोगों में ख़्वाजा अहमद अब्बास जैसे महत्त्वपूर्ण साथी भी थे।

नई पार्टी-लाइन के सिर-पांव का मुझे भी कुछ पता नहीं लगता था। पर दम्मो के शव को लाल झंडे से ढककर दाह-संस्कार किया गया था। पार्टी मेरे जीवन का अभिन्न अंग बनी हुई थी। पार्टी में रहकर ही मैंने अक्ल को इन्कलाबी जोश के मुकाबले में अधिक महत्त्व देना सीखा था। अब मैं उसी तेज़ी से पार्टी के सामने अक्ल के दरवाज़े बन्द करके जोश को अधिक महत्त्व देने लगा। उसी जोश से प्रभावित होकर मैंने 'जादू की कुरसी' नामक नाटक लिखा। मेरे एक साथी, रामा राव ने, जो उस समय इप्टा के जनरल सेक्रेटरी थे, मुझे बहुमूल्य सुझाव दिए। नाटक यद्यपि मेरे नाम से ही प्रसिद्ध हुआ, पर वास्तव में वह हम दोनों की सांझी रचना थी। उसमें हमने पण्डित जवाहरलाल नेहरू और उनकी नीतियों का बेहद मज़ाक उड़ाया था। मैंने ही उसमें मुख्य पात्र का रोल भी किया था। निर्देशन मोहन सहगल ने किया था, जो आज एक प्रसिद्ध फ़िल्म-निर्देशक है। नाटक को आशा से कहीं ज़्यादा सफलता मिली। हंस-हंसकर दर्शकों के पेट में दर्द होने लगता था। कृश्न चन्दर ने उसे ग्यारह बार देखा था।

जिन लोगों ने यह नाटक देखा है, मुझसे बार-बार उसकी पांडुलिपि मांगते है। पर मैं उन्हें बता नहीं सकता कि अपनी उस ग़लत हरकत पर मैं कितना शर्मिन्दा हूं। मेरे जैसे नगण्य व्यक्ति ने नेहरू जैसे महान व्यक्ति का मज़ाक उड़ाने की कोशिश की, यह सोचकर मैं शर्म से पानी-पानी हो जाता हूं। उस मनहूस नाटक की सभी कापियाँ मैंने आग लगाकर नष्ट कर दी थीं, और अब मुझे उसकी सिर्फ रुपरेखा ही धुंधली-सी याद है।

उन दिनों कोई फ़िल्म-निर्माता मुझे काम देने के लिए तैयार नहीं था। पर कई दोस्तों को मुझसे हमदर्दी थी और वे मेरी मदद करना चाहते। वीरेन्द्र देसाई की सिफ़ारिश पर महेश कौल ने मुझे बुलाया और स्क्रीन-टैस्ट लिया- यानी कैमरे के सामने मुझसे कुछ काम कराकर देखा। कैमरे के सामने आते ही मैं जैसे लकड़ी का बन गया, और होश-हवाश उसी तरह उड़ गए, जैसे कि 'गुंजन' के दिनों में उड़ जाया करते थे। कैमरे का डर अब मेरे अन्दर बहुत गहरा धंस चुका था।

बम्बई का फ़िल्मी संसार छोटा-सा है। उसमें ख़बर फैलते देर नहीं लगती। शाहिद लतीफ़ ने अपनी फ़िल्म, 'बुज़दिल' में मुझे एक अच्छा रोल देने का वादा किया हुआ था। दर्ज़ी से मेरे लिए कपड़े भी सिलवाए जा चुके थे। पर मुहूरत से एक दिन पहले, मेरी 'मशहूरी' सुनकर, शाहिद लतीफ़ ने मुझे उस रोल की जगह एक छोटा-सा रोल देने का फ़ैसला सुना दिया। यह अपमान मुझसे सहन न हो पाया और मैंने वह फ़िल्म छोड़ दी। मैं अपने मन में सारा दोष शाहिद लतीफ पर ही लगा रहा था।

इसी तरह, मेरे प्यारे दोस्त, अयूब ने अपने छोटे भाई, दिलीप कुमार को कहकर के० आसिफ की फिल्म, 'हलचल' में मुझे एक अच्छा रोल दिलवा दिया। जैसे 'गुंजन' में त्रिलोक कपूर नलिनी जैवन्त के पति थे और मैं प्रेमी था, वैसे ही 'हलचल' में दिलीप कुमार नरगिस के प्रेमी थे और मैं पति था। जब तक फ़िल्म की शूटिंग शुरू हुई, मैं यही सोच-सोचकर खुश होता रहा कि इस फ़िल्म के भी दो हीरो है, और मैं उनमें से एक हूं।

मुझे एक जेलर का रोल करना था। के० आसिफ़ हर काम को बड़े पैमाने पर करके ख़ुश होते थे। एक दिन वे मुझे आर्थर रोड जेल दिखाने ले गए, ताकि मैं अपनी आंखों से जेलर और जेल देख लूं। जेलर साहब हमारे स्वागत के लिए तैयार बैठे थे। उन्होंने पहले अपने दफ़्तर में अपनी अलग-अलग वर्दियां हमें दिखाई। दर्ज़ी हमारे साथ आया हुआ

था। उसने भी वे वर्दियां देखीं और उसी समय मेरा नाप ले लिया। फिर हमने जेल में घूमकर कैदियों का रहन-सहन देखा।

यह सन १६४६ के शुरु का ज़माना था। तोष से शादी किए मुझे दस-पन्द्रह दिन ही हुए थे। हम बलवन्त गार्गी लिखित नाटक, 'सिग्नलमैन दूली' की रिहर्सल कर रहे थे। तोष उसमें सिग्नलमैन की पत्नी का रोल कर रही थीं। निर्देशक मैं था। एक दिन रिहर्सल करते हुए ख़बर मिली की परेल के कम्युनिस्ट पार्टी का एक जुलूस निकलने वाला है, और हमें उसी समय उसमें शामिल होना चाहिए। हम दोनों पति-पत्नी मोटर-साइकल पर सवार होकर परेल पहुंच गए। मीटिंग हो रही थी। पुलिस के ज़रूरत से ज़्यादा बन्दोबस्त ने हमें हैरान ज़रूर किया, पर हमने उसे ख़ास महत्त्व न दिया। मीटिंग के बाद जब जुलूस शुरु हुआ, तो तोष स्त्रियों में और मैं मर्दों में शामिल होकर चल पड़े। हम अभी कुछ ही दूर गए थे कि धमाके सुनाई दिए। फिर लाठी, गोली, भाग-दौड़...। मैं नारे लगाता हुआ पकड़ा गया और हवालात में पहुंच गया। तोष का मुझे कुछ पता नहीं था।

मैं दो महीने वरली जेल में नज़रबन्द रहा। फिर, ए क्लास मिलने पर मैं आर्थर रोड जेल में चला गया। वहां जेलर जब भी मुझे मिलते, मेरी ओर बड़े ध्यान से देखने लगते और फिर कहते, "मैंने आपको कहीं देखा हुआ है।"

मैं उन्हें क्या बताता ? जितनी बार भी मैं उन्हें कहता कि उन्हें ग़लती लग रही है, उनका यकीन और पक्का होता जाता कि मैं पहली बार जेल नहीं आया हूं, और मुझपर खास नज़र रखने की ज़रूरत है।

३

मैं सोचा करता था कि जेल बड़ी रोमांटिक और रहस्यमय जगह होगी, पर असलियत बड़ी ही तल्ख निकली। आखिर उस शासन की बर्बरता पर क्या शक, जिसे कायम रखने के लिए मनुष्यों को जानवरों की तरह पिंजरे में बन्द करना पड़े !

जेल के पिंजरे में बन्द होने वाले लोग आम तौर पर ग़रीब या ग़रीबों की ओर से बोलने की ग़ुस्ताख़ी करने वाले व्यक्ति होते है। समाज-शास्त्री मानते है कि अपराधों का मूल स्रोत ग़रीबी ही है, यानी ग़रीब होना सबसे बड़ा अपराध है। इस बात की पुष्टि जेल में कदम रखते ही हो जाती है। पैसे वाला आदमी जितना जेल के बाहर सुख-सुविधाओं से रहता है, उतना ही जेल के अन्दर भी रह सकता है। पर ग़रीबी की बात और है। जेल के बाहर ग़रीब फिर भी शोर मचाकर लोगों का ध्यान अपने साथ होने वाले अन्याय और अत्याचारों की ओर खींच सकता है, पर जेल की चारदीवारी के अन्दर तो चाहे उसे जान से मार डाला जाए, बाहर की दुनिया को खबर तक नहीं मिल सकती।

ए क्लास मिलने के बाद मैं आर्थर रोड जेल की सुख-सुविधाओं वाली बैरक में अपने कामरेडों के साथ आ गया। नीचे की मंजिल साधारण अपराधियों के लिए थी। एक दिन उसमें लगभग पचास नाबालिग लड़कों को लाकर बन्द कर दिया गया। जगह इतनी कम थी कि वे टांगें तक नहीं फैला सकते थे। मैंने कैदियों के मुंह से सुना कि हर दूसरे-तीसरे महीने पुलिस बहुत-से आवारा लड़कों को पकड़ लाती है, जैसे म्युनिसिपैलिटी के कर्मचारी आवारा कुत्तों को पकड़ लेते हैं। फिर, उन लड़कों को दो-तीन दिन जेल में रखने के बाद बसों में बैठाकर शहर से बीस-तीस मील दूर जंगली इलाके में छोड़ दिया जाता है। कुछ

लड़के अपने घरों को लौट जाते हैं, और बाकी फिर वही कुछ करने के लिए बम्बई लौट जाते हैं।

उस रात, जब बैरक को ताला लग चुका था, और हम सोने की कोशिश कर रहे थे, निचली मंज़िल से एक लड़के की दर्दनाक चीख-पुकार सुनाई दी। हमने सोचा कि बेचारे को डर लग रहा होगा, या मां की याद आ रही होगी, या किसी साथी ने मारा-पीटा होगा। पर जब उसको रोना-चीखना बन्द होने में न आया तो हमने भी अपने सलाखों वाले दरवाज़े को खटखटाकर जेलर को बुलाने की कोशिश की। जेलर भला आदमी था। उसने आकर बताया कि लड़के के पेट में दर्द है, लेकिन फिक्र वाली बात नहीं है। डाक्टर को बुलाने के लिए आदमी भेजा गया है।

हमने कुछ देर प्रतीक्षा की। आखिर चीखें बन्द हो गई। हमने सोचा कि डाक्टर आ गया होगा, उसने लड़के को दवाई दी होगी और वह ठीक हो गया होगा।

अगले दिन पता लगा कि लड़का रात ही मर गया था। उसका अपैंडिक्स फट गया था। डाक्टर नहीं आया था। शनिवार की रात थी वह, और डाक्टर सिनेमा देखने गया हुआ था। जेलर ने किसी दूसरे डाक्टर को बुलाने की या तो ज़रूरत नहीं समझी थी, या फिर उसे अधिकार नहीं था।

एक दिन जेलर ने मुझे अपने दफ्तर में बुला भेजा। वहां के० आसिफ बैठे हुए थे। मुझे देखते ही दोनों जोर से हंस पड़े। मैं उनकी हंसी का कारण समझ गया। अब जेलर को पता लग गया था कि उन्होंने मुझे पहले कहां देखा था।

के० आसिफ पुलिस-कमिश्नर से एक अजीब आर्डर लेकर आए थे : जिस दिन स्टूडिओ में मेरी ज़रूरत पड़े, मुझे पुलिस की हिरासत में वहां से जाने की इजाज़त मिल जाया करेगी।

ए क्लास ने पहले ही जेल की ज़िन्दगी सुखद बना दी थी। इस आर्डर ने तो जैसे मुझे सुरख़ाब के पर लगा दिए। कैदी की सबसे बड़ी लालसा बाहर की दुनिया को देखने की होती है। हमारी बैरक के बाहर-बरामदे की ऊँची दीवार पर चढ़कर दूर सड़क पर आती-जाती बसें, डबल डेकर बसों की ऊपरी मंजिल देखी जा सकती थी। बस, इतना कुछ देखने के लिए हम बारी-बारी से दीवार पर चढ़ने की प्रतीक्षा किया करते थे।

लेकिन अब ! अब मुझे सारा दिन बाहर गुज़ारने की इजाज़त मिल गई थी। तब मैं अपने साथियों के लिए ही नहीं, बल्कि सभी कैदियों के लिए ईर्ष्या का पात्र बन गया।

जिस दिन मुझे शूटिंग के लिए जाना होता, जेल में काफ़ी चहल-पहल होने लगती। हर किसी को फ़िल्मी बुखार-सा चढ़ जाता। मेरे पास तरह-तरह की फ़रमाइशें आतीं। कोई ख़ुशबूदार तेल लाने के लिए कहता, कोई दांतों का मंजन, कोई दिलीप कुमार नरसिंग की फ़ोटो, कोई चाय, कोई बीड़ी, कोई खास ब्रांड की सिगरेटें। इन चीज़ों की लम्बी सूची जेब में डालकर मैं स्टूडिओ पहुंच जाता। के० आसिफ़ वह सूची अपने सहायक के हवाले कर देते। शाम तक सब चीज़ें आ जातीं।

इस मनोरंजक स्थिति का जेलर भी मज़ा ले रहे थे। उनका एक कैदी फ़िल्म में जेलर का रोल कर रहा था, इसलिए उनकी ज़िम्मेदारी भी कुछ बढ़ गई थी। मुझे भेजने से पहले

वे मेरा खास तौर पर निरीक्षण करते, मेरी हजामत देखते, और मुझे कई किस्म की हिदायतें देते। एक-दो बार तो वे मेरे साथ स्टूडिओ भी गए।

उन दिनों अजीब-अजीब घटनाएं होतीं। साहिर लुधियानवी भी कम्युनिस्ट पार्टी के नज़दीक थे और पुलिस की नज़रों से बचकर रहते थे। एक दिन उन्होंने सुना कि मैं स्टूडिओ में हूं, तो वे मुझे मिलने के लिए आए। लेकिन ज्योंही सैट पर एक पुलिस-अफ़सर को टहलते हुए देखा, वे डर के मारे झट बाहर दौड़ गए। बाहर जाकर उन्हें पता लगा कि जिसे वे पुलिस-अफ़सर समझ बैठे थे, वह वास्तव में मैं था। (पुलिस-अफ़सर और जेलर की वर्दी एक-सी होती है।)

सरकारी महकमों के तौर-तरीके निराले होते हैं। शूटिंग वाले दिन पुलिस मुझे सुबह छः बजे ही स्टूडिओ में ले जाती थी, हालांकि शूटिंग नौ बजे शुरु होती थी। वे तीन घंटे बिताने बहुत मुश्किल हो जाते थे। स्टूडिओ में कोई परिचित व्यक्ति नज़र न आता, और अगर आता भी तो पुलिस के डर से नज़दीक न आता।

उसी स्टूडिओ में (आजकल उसका नाम रूपतारा है।) राजकपूर अपनी फ़िल्म, 'बरसात' बना रहे थे। एक दिन मैं स्टूडिओ पहुंचा तो सुबह की रौशनी होने ही लगी थी। राजकपूर रात की शिफ़्ट ख़त्म करके घर जाने की तैयारी में थे। उनके बाकी साथी जा चुके थे। मुझे देखकर वे हमारे पास बैंच पर आ बैठे और कैंटीन के लड़के को चाय लाने के लिए कहा। पहले पहले मैंने समझा कि उन्होंने यह हमदर्दी के तौर पर किया है, पर बाद में उनकी बातों से पता लगा कि वे हमदर्दी देने नहीं बल्कि लेने आए थे। उन्हें इस बात का कोई पता नहीं था कि मैं कहां से आ रहा था और मेरे साथी कौन थे।

मेरे साथ एक पुलिस-इंस्पेक्टर और दो सिपाही स्टूडिओ आते थे, जिन्होंने वर्दियों के बजाय सादे कपड़े पहने होते थे। राजकपूर का खयाल था कि हम रात-भर उनकी शूटिंग देखते रहे थे। वे इस बात से बहुत ख़ुश थे और हमें और भी ज़्यादा प्रभावित करना चाहते थे। वे जब भी कोई फ़िल्म बनाते हैं, उसमें पूरी तरह खो जाते हैं। उस समय भी उनका यही हाल था। वे अपनी फ़िल्म की विशेषताओं और अपनी निजी उलझनों और परेशानियों की लम्बी कहानी हमें सुनाते रहे, हालांकि रात-भर शूटिंग करने के बाद वे बहुत थके हुए थे ' आख़िर अपना दिल हलका करके वे चले गए। उन्होंने मुझसे एक भी सवाल नही पूछा, जबकि उस दिन मुझे ख़ुद किसी की हमदर्दी की ज़रूरत थी। मेरी पत्नी सख़्त बीमार थी, और मुझे पैरोल पर छोड़ने की इजाज़त नहीं दी गई थी। मैंने बहुत ही वीरानी महसूस की।

फ़िल्मी दुनिया में हर कोई अपने-आपमें लीन रहता है। उसी बात को ध्यान में रखकर अयूब और मेरे दूसरे दोस्त मुझे सलाह दिया करते थे कि काम न होने पर भी मुझे स्टूडिओ के चक्कर लगाते रहना चाहिए, ताकि मैं फ़िल्म-निर्माताओं की नज़र में रहूं।

आज मैं दावे से कह सकता हूं कि उनकी सलाह बिलकुल ठीक थी। हमारे निर्माता और निर्देशक प्यास लगने पर ही कुआं खोदते है। 'स्टारों' के हां करने पर ही किसी फ़िल्म के बनने की योजना हरकत में आती है। क्या पता, कब हां हो जाए। इस हां की सूचना मिलते ही स्टूडिओ में निर्माता का दफ्तर एक दरबार का रूप धारण कर लेता है।

झटपट किस्मतों के फ़ैसले होने शुरु हो जाते हैं। छोटे-मोटे रोल के लिए उस समय जो भी मुर्गा अहाते में गर्दन उठाए घूम-फिर रहा हो, 'फ़िट' हो जाता है।

एक बात और । फ़िल्म-लाइन में सभी एक-दूसरे का बुरा सोचते हैं। ऊपर से तो वे बेहद प्यार-मुहब्बत से पेश आते हैं, पर मन में दूसरे की पूरी और हमेशा के लिए तबाही की कामना करते रहते है। जो व्यक्ति उनकी नज़र से दूर हो जाए, वे समझते हैं कि वह .खत्म हो गया है। इससे उन्हें .खुशी और तसल्ली मिलती है। फ़िल्मों में सफल होने की एक शर्त यह भी है कि दोस्तों-साथियों को यह .खुशी और तसल्ली प्राप्त न होने दी जाए।

उन दिनों मैं यह नहीं मानता था। मोटर-साइकल होने पर भी बिना किसी काम से स्टूडिओ के चक्कर लगाना मुझे पसन्द नहीं था। मेरे लिए यह भूलना मुश्किल था कि मैं लंडन से एक अच्छी नौकरी छोड़कर आया हूं और एक अमीर बाप का बेटा हूं। कहावत है न कि 'रस्सी जल गई पर बल न गया ।'

जेल-यात्रा ने मुझे अपनी इस ग़लती का आसानी से अहसास करा दिया।

अगस्त का महीना था। मूसलाधार बारिश हो रही थी। हमेशा की तरह, पुलिस की मोटर मुझे लेकर स्टूडिओ के फाटक पर आ पहुंची। फिर-फिर से हॉर्न बजाने पर भी 'लाला' ने फाटक न खोला। आखिर वह बारिश में भीगता हुआ बड़े .गुस्से में हमारे पास आया।

''ओ तुम किस किसम का इन्सान ए ओए ! इधर इतना फजर में आकर तुम किस वासता हमारी गां- में उं-देता है ?'' उसने कहा।

''फाटक खोलो। ज़्यादा बात से मतलब नहीं,'' इंस्पेक्टर ने कड़ककर कहा।

''ओ कैसे खोलेगा फाटक ? आज स्टूडिओ बन्द ए। तुम फ़िल्म का आदमी ए, फिर बी नहीं जानता ए, नरगिस का अम्मा गुजर गया ए।''

सुनकर मुझे सख्त सदमा हुआ। साथ ही हैरानी भी हुई। अभी दो हफ्ते पहले मैंने जद्दन बाई को अच्छी-भली हालत में देखा था। वे सिर्फ इण्डस्ट्री की सबसे बड़ी स्टार की मां ही नहीं थी, .खुद भी एक महान कलाकार और महान व्यक्तित्व वाली महिला मैंने शायद ही कोई और देखी होगी। जब भी मेरी शूटिंग होती, वे स्टूडिओ में आतीं। उन्हें बहुत गहरी हमदर्दी थी मेरे साथ, और प्रगतिशील विचारधारा थी उनकी। किसी न किसी बहाने से वे मेरी पत्नी और बच्चों को भी स्टूडिओ में बुला लेती थीं और मेक-अप-रूम में या कहीं और हमारी मुलाकात करा देतीं। उस समय अचानक उनकी मौत की खबर सुनकर मैं भौचक्का रह गया। रात को दिल की हरकत बन्द हो जाने से उनकी मौत हुई थी।

इंस्पेक्टर ने ड्राइवर को निर्लिप्त भाव से वापस जेल जाने का हुक्म दे दिया। मेरा दिल और भी बेचैन हो उठा। इतने इन्तज़ार के बाद आजादी का एक दिन नसीब हुआ था। बच्चों से मिलने, तोष का हाल मालूम करने, और दूसरी कई किस्म की आशाएं दिल में लेकर मैं जेल में से निकला था। दोस्तों-साथियों की फ़रमायशें अलग थीं। इस प्रकार निराश लौट जाना मेरे लिए असह्य था। मैंने इंस्पेक्टर को बम्बई की ज़बान में, 'मस्का लगाना' शुरु किया। मैंने उसे बताया कि जद्दन बाई फ़िल्म और संगीत की दुनिया में कितनी बड़ी हस्ती थीं। वे सिर्फ नरगिस की मां ही नहीं, .खुद भी एक महान कलाकार

रह चुकी थीं। उनके परिवार से मेरा बहुत गहरा सम्बन्ध था। क्या मुझे दो मिनट के लिए भी उनके यहां जाकर शोक करने की इजाज़त नहीं मिल सकती ?

''नहीं, नहीं। मुझे जो हुक्म है, उसी के मुताबिक चलना है। शूटिंग नहीं है तो इसका मतलब है, सीधे वापस जेल जाना ।''

''पर दो मिनट देर से गए तो क्या फर्क पड़ जाएगा? मैं सिर्फ़ अपने ही नहीं, आपके भी फ़ायदे की बात कर रहा हूं। आपको पता है कि फ़िल्म-स्टारों का कितना बड़ा जमघट लगा होगा उनके घर में ? दिलीपकुमार, कामिनी कौशल, राजकपूर, मोतीलाल, भारत भूषण, बेगम आरा, नलिनी जैवन्त, अलनासिर और पता नहीं दूसरे कितने एक्टरों-एक्ट्रेसों को आप बहुत नज़दीक से देख सकेंगे। अगर चाहेंगे तो, मैं उनके साथ आपको मिला भी दूंगा। बस, पांच मिनट अफसोस करके हम चल देंगे।''

''नहीं, नहीं ! आप कम्युनिस्ट लोगों का कोई भरोसा नहीं है कि भीड़ में कब कहीं खिसक जाएं, और मुझे नौकरी से हाथ धोने पड़े।''

पर मैंने देखा कि उसका रवैया कुछ नर्म पड़ गया था।

मैंने व्यंग्य करते हुए कहा, ''क्यों डरते हैं? पिस्तौल आपकी जेब में है, दो कांस्टेबल आपके साथ में है। बेशक मुझे बांह से पकड़े रखना।''

आखिर वह मान गया, और हम नरगिस के घर की ओर चल दिए।

तीन महीने हो गए थे मुझे समुद्र का नज़ारा देखे हुए। चर्चगेट का मोड़ मुड़कर मेरीन ड्राइव की ओर जाने पर जब मैंने बबर शेर की तरह उन्मत्त बनी, उछलती हुई लहरों को देखा, तो मन बेचैन हो उठा। उस कैद की हालत में मैं समुद्र की असीम सुन्दरता का और भी आनन्द ले रहा था।

हज़रते खिज़र गर शहीद न हों
लु त्फ़े उम्रे दराज़ क्या जानें ।

नरगिस के घर में अफ़सोस करने वाले लोगों की जैसे बाढ़ आई हुई थी। जैसा कि मुसलमानों में रिवाज है, लोग अफ़सोस करते और कुछ देर बैठकर जनाज़े का वक्त पूछकर उठ जाते। पर मैं था कि एक बार बैठकर उठने का नाम ही नहीं ले रहा था। और इंस्पेक्टर भी फ़िल्म-स्टारों को देखता हुआ जैसे खो गया था।

मुझे उस दिन महसूस हुआ कि मैं अपने दोस्तों-साथियों की याद में से किस हद तक निकल चुका था। सब मेरी ओर ऐसे देख रहे थे, जैसे कोई मुर्दा कब्र में से उठकर आ गया हो। सिर्फ दुर्गा खोटे ने मेरे पास आकर मुझसे बात की। लेकिन मेरे जेल में होने का उन्हें भी कोई पता नहीं था।

ज़रूरत सिखाती है। उस दिन से मैंने पक्का फैसला कर लिया कि दिल चाहे न भी माने, फ़िल्मी हलकों की नज़र से मैं दूर नहीं हूंगा और किसी न किसी तरह फ़िल्मी दुनिया को अपने अस्तित्व का अहसास कराता रहूंगा।

ऐसी बात नहीं है कि मेरे जेल में होने या शूटिंग के लिए जेल से लाए जाने की चर्चा नहीं थी। लेकिन इस चर्चा का फ़ायदा मुझे तभी हो सकता था, अगर मैं प्रसिद्ध कलाकार होता। तब तो पत्रकार ख़ूब मिर्च-मसाले लगाकर इस कहानी को लिखते, और

फोटो खींचने के लिए जेल के फाटक तक मेरा पीछा करते। पर मेरे स्तर के कलाकार को पब्लीसिटी देने से कोई फायदा नहीं था। और न ही ऐसी पब्लीसिटी मेरे हक में जाती थी। ऐसे कलाकार को लेने का निर्माता को क्या फायदा, जिसके बारे में कोई भरोसा न हो कि वह शूटिंग के लिए बाकायदगी से आएगा। और कम्युनिस्ट शब्द के साथ जो उन दिनों कई प्रकार के बुरे विशेषण जुड़े हुए थे।

के० आसिफ़ की फिल्मसाजी दुनिया-भर से निराली और अपनी ही किस्म की थी। उन्हें न तो पैसे की पाबन्दी थी, न ही समय की। हर बार जब मैं स्टूडिओ जाता, तो 'हलचल' की कहानी बदली हुई होती। ज़िन्दगी की तलखियों और कैमरे के डर ने पहले ही मेरे होश भुलाए हुए थे, अब उस वातावरण में मेरी अक्ल जैसे जवाब देने लगी। एक बार मेक-अप करते हुए मैं चक्कर खाकर कुर्सी से नीचे गिर पड़ा था।

कैमरे के सामने जाना मुझे सूली पर चढ़ने के बराबर लगता था। मैं अपने-आपको संभालने की बहुत कोशिश करता। कई बार रिहर्सल भी अच्छी-भली कर जाता। सभी मेरी हिम्मत बढ़ाते। पर शॉट के ऐन बीच में पता नहीं क्या हो जाता कि मुझे अपना अंग-अंग जकड़ा हुआ लगता, अपनी ज़बान हलक से नीचे उतरती हुई महसूस होती। बस, फिर रीटेक पर रीटेक होने लगते। मुझे लगता कि चारों ओर खड़े लोग जैसे मुझपर हंस रहे है। मैं उनकी ओर से ध्यान हटाने और अपना मन अभिनय की ओर लगाने की बहुत कोशिश करता, पर सब कुछ जैसे 'आउट आफ फ़ोकस' होने लगता। मैं महसूस करता, जैसे अभिनय-कला के दरवाज़े मेरे लिए हमेशा के लिए बन्द कर दिए गए हों।

एक दृश्य इस प्रकार था : नरगिस से मेरी नई-नई शादी हुई है। मैं जेल में डयूटी ख़त्म करके घर आता हूं। दिलीपकुमार, जो उम्र-कैद भुगत रहा है, मेरे बंगले में बागबानी करता है। वह शादी की मुबारकबाद देने और फूलों का गुलदस्ता मुझे और मेरी पत्नी को भेट करने के लिए आता है। नौकर चाय की ट्रे लाकर मेज़ पर रखता है। मैं नरगिस के लिए चाय का कप बनाता हुआ मीठी-मीठी बातें करने लगता हूं। वह चुप रहती है, और मैं वर्दी उतारने के लिए कमरे में चला जाता हूं। तब दिलीप नरगिस को अपने दुःख सुनाने लगता है, क्योंकि वे दोनों वास्तव में एक-दूसरे के प्रेमी होते हैं।...

शॉट के दौरान में जब भी दिलीप या नरगिस से मेरी आंखें मिलतीं, तो मुझे लगता, जैसे वे आलोचना-भरी नज़र से मुझे घूर रहे हों। मैं उनकी नज़र का मतलब समझ न पाता, और मेरा ध्यान उखड़ जाता। तभी शॉट कट हो जाता। उस नज़र का रहस्य मैं आज बता सकता हूं। शॉट से कुछ क्षण पहले तक दिलीप और नरगिस बड़े आराम से बैठे गप्पें मार रहे होते, पर शॉट शुरु होते ही वे अपने-अपने पात्र में प्रवेश कर जाते, लेकिन मैं अपने पात्र से बाहर ही रह जाता। स्वाभाविक अभिनय करने की मैं भी कोशिश करता, पर यह नहीं जानता था कि स्वाभाविक होने का मतलब है, पात्र के अन्दर प्रवेश करके स्वाभाविक होना। और पात्र के अन्दर प्रवेश करने की एक मानसिक क्रिया है। मैं उस क्रिया से अनजान था, इसलिए समझतां था कि मैं ख़ुद तो स्वाभाविक हो गया हूं, पर दिलीप और नरगिस अस्वाभाविक लग रहे है। असलियत इसके उलट थी।

उस दिन मेरी पत्नी भी स्टूडिओ के किसी कोने में बैठी शूटिंग देख रही थी। बहुत 'रीटेक' हुए। मैं चाय बनाते समय अपने संवाद भूल जाता, या संवाद बोलते समय चाय बनानी भूल जाता। बहुत दुर्गति हुई मेरी।

आखिर ओझा और आसिफ़ ने किसी न किसी तरह खींचतानकर वह दृश्य पूरा किया। मेरा काम खत्म हुआ तो दिलीप और नरगिस के संवाद शुरु हुए। मैं, इप्टा का तीसमारखां, जो फ़िल्म-अभिनेताओं को किसी गिनती में नहीं लाता था, तब पहली बार आदर और नम्रता के साथ उनकी कला की कीमत पा रहा था। मुझे लग रहा था कि मैंने खुद कला की उस सीढ़ी के पहले डंडे पर भी अभी पांव नहीं रखा था। उस दिन मुझे बहुत ज़बर्दस्त धक्का लगा।

मेरी पत्नी नई-नई इंगलैंड से आई थी। 'सिग्नलमैन दूली' की रिहर्सलों के दौरान मैं उसने मुझे डिक्टेटरों की तरह अभिनेताओं से पेश आने से रोका था। "निर्देशक का काम कलाकार को कठपुतली की तरह नचाना नहीं है," उसने कहा था। "कलाकार की हरकतें उसके अपने अन्दर से निकलनी चाहिए- उसकी कल्पना में से।" और उसने स्तानिस्लाव्स्की का हवाला दिया था, जो मेरी नज़र में बस एक बूर्ज्वा चोंचला था। मैंने पत्नी को डांटकर चुप करा दिया था। आज अपनी मूर्खता को याद करके मैं शर्म से पानी पानी हो रहा हूं।

सैट के एक ओर खड़े होकर मैंने दिलीपकुमार से जैसे भिक्षा मांगते हुए कहा, "कैमरे के आगे आप इतनी सहजता से कैसे काम कर लेते है? कुछ मुझे भी बताइए।"

दिलीपकुमार का जवाब मुझे आज तक याद है। "कुछ दूसरों को देखकर सीखा है, कुछ दोस्तों ने मदद की है।"

उनके जवाब ने मुझे निराश किया। मैं उनसे सीखने के लिए इतना उत्सुक था, पर वे मुझे टाल गए थे। मेरी गाड़ी की पहिया दलदल में फंसा देखकर भी उन्होंने मेरी मदद नहीं की थी।

पर आज मैं ख़ुद यही कहता हूं। उदाहरणार्थ, कल की बात लीजिए। मैं समुद्र-तट पर सैर कर रहा था कि कबीर बेदी मिले। उनके माता-पिता से मेरी गहरी दोस्ती रह चुकी है। मैंने उनकी कुशलता पूछी। कुछ बातों के बाद कबीर बेदी ने कहा, "मुझे राज खोसला के साथ काम करने में बड़ा मज़ा आ रहा है। मैं ख़ुद को अपने पात्र में ढालने के काबिल हो जाता हूं। पहले तो मैं कैमरे के सामने अपने-आपमें सिकुड़ा हुआ-सा महसूस करता था।"

"हां, राज खोसला बहुत बढ़िया डायरेक्टर हैं," मैंने कहा।

"पर आप तो हर किस्म के डायरेक्टरों के साथ काम कर चुके हैं, बलराज़जी। अगर डायरेक्टर अच्छा न हो तो फिर आप ख़ुद को पात्र में किस प्रकार ढाल लेते हैं ?"

"हां, डायरेक्टर अच्छा न हो तो जान मुश्किल में फंस जाती है," मैंने बात खत्म करने के अन्दाज़ में कहा।

कबीर ने सोचा होगा कि मैं बात टाल गया हूं। पर मैं क्या करता ? कला के बारे में बात करना सुई के छेद में से हाथी निकालने वाली बात है।

जज्ब़ाए बेअखतयारे शौक़ देखा चाहिए
दामने शमशीर से बाहर है दम शमशीर का।

आखिर छः महीने की कैद काटकर मैं शारीरिक और मानसिक दोनों तरह से थका-हारा हुआ बाहर आया। जिन परिस्थितियों में मैं जेल से रिहा हुआ, उनका ज़िक्र करने की यहां

ज़रूरत नहीं है। बस, इतना कहना काफी है कि मैं इप्टा के नाटक-परिवार से भी टूट गया, जो अजनबी बम्बई शहर में मेरा एकमात्र सहारा था। इप्टा की नज़रों में मैं देशद्रोही और ग़द्दार बनकर जेल से निकला था। उस परिवार में अब मेरे लिए कोई जगह नहीं थी।

यद्यपि मेरा मन ख़ुद को देशद्रोही और गद्दार मानने से इन्कार कर रहा था, फिर भी इसमें शक नहीं कि मेरे हौसलों और उमंगों की कमानी हमेशा के लिए टूट गई थी। मुझे ऐसा लगता था, जैसे मेरा अन्दर खोखला हो चुका हो, और मैं जवानी में ही बूढ़ा हो गया हूं।

'हलचल' की शूटिंग मेरे जेल से बाहर आने के बाद भी जारी रही। कभी-कभी लंच के समय ओझा, आसिफ़, दिलीपकुमार, याकूब आदि बरामदे में कुर्सियां रखवाकर बैठ जाते, और एक एक्स्ट्रा को, जिसका नाम बदरूद्दीन था, नक्लें लगाने के लिए कहते। शराबी, ज्वारी (जुआरी) और सड़कों पर भीड़ इकट्ठी करके दवाइयां बेचने वाले की नक्लें वह बहुत अच्छी लगा लेता था।

एक दिन मैंने अपने अन्दर की सारी तलख़ी उसके सामने निकालते हुए कहा, ''तुम्हें यहां रोज़ के कितने पैसे मिलते है?''

''पांच रुपये। पर उनमें से एक रुपया सप्लायर ले जाता है।''

''क्या इन चार रुपयों में नक्ले लगाकर दिखाने के पैसे भी शामिल हैं ?''

''नहीं जी ।''वह हैरानी से मेरी ओर देखने लगा।

''तो फिर तुम्हें इनके सामने बन्दरों की तरह हरकतें करते हुए शर्म नहीं आती ?''

मैं जितने महीने जेल में रहा, मेरे किसी फ़िल्मी या ग़ैर-फ़िल्मी दोस्त ने मेरे परिवार की आर्थिक सहायता नहीं की थी। सो, उस समय मैं अपनी तलखी बदरूद्दीन पर निकाल रहा था।

''आप ठीक कहते है, साहब ! पर क्या करें ? बड़े लोगों को नाराज़ भी तो नहीं कर सकते,'' उसने कहा।

''मैं तुम्हें तुम्हारी काबलियत के मुताबिक काम दिलाऊंगा,' मैंने यूंही गप्प हांकी, ''बशर्ते कि तुम ख़ुद अपने हुनर की कद्र करो। वह तुम्हारे इन तमाशबीनों की पहुंच के बाहर की चीज़ है।''

वही बदरूद्दीन एक्स्ट्रा बाद में जाकर कामेडियन जॉनी वाकर के नाम से मशहूर हुआ।

४

'हलचल' में बड़े निर्माताओं और कलाकारों के साथ काम करने का मेरा पहला तजरुबा था, जो कई प्रकार से बहुत शिक्षाप्रद भी था। मैंने देखा कि कैसे इन लोगों के पहलू में दौलत का दरिया बहता है, कैसे फ़ाइनेन्सर और डिस्ट्रीब्यूटर उनके दरवाज़ों पर नौकरों की तरह खड़े रहते है, कैसी बेदर्दी से दौलत तबाह की जाती है, कैसे ये लोग रियासती राजाओं की तरह मनमानी और ऐशपरस्ती करते हैं, कैसे उनके गिर्द जीहुज़ूरी करने वाले मूर्ख और निकम्मे लोगों की तूती बोलती है, कैसे स्वाभिमानी व्यक्तियों की

मिटटी पलीत होती है, कैसे दिन-रात मेहनत करने वालों को अपनी तनख़्वाह के लिए भी हाथ जोड़ने पड़ते है।

मैंने यह भी देखा कि इन बड़े लोगों के गिर्द चुम्बकीय आकर्षण का एक क्षेत्र होता है, जिसमें फिल्मी जनून के मारे़ हुए लोग आंखें मूंदे फंस जाते हैं और ख़ुद को तवाह कर लेते हैं।

यह ख़तरा मुझे ख़ुद के बारे में ही नहीं, बल्कि अयूब के बारे में भी महसूस होने लगा। उन दिनों दिलीपकुमार और कामिनी कौशल के रोमांस की बहुत चर्चा थी। दोनों कलाकार सफलता और प्रसिद्धि के शिखर पर थे। किसी हद तक अयूब का अपने छोटे भाई, दिलीप की इस समस्या के प्रति चिन्तित होना स्वाभाविक था। लेकिन जब यह समस्या हमारी वातचीत का विषय बनने लगी तो मैं कन्नी कतराने लगा। कुछ और घटिया किस्म की ग़लतफहमियां भी पैदा हो गईं, जिनकी वजह से हमारी आपस की बोलचाल बन्द हो गई। यहां तक कि हमारे परिवार भी एक-दूसरे से दूर हो गए।

मुझे क्या पता था कि अयूब इस दुनिया में अब कुछ दिनों के मेहमान हैं। अगर पता होता तो मैं अपनी सारी तंगनज़री और स्वार्थ को एक तरफ रखकर उन्हें सीने से लगाए रहता, और उनसे कभी दूर न होता। पर किस्मत में कुछ और ही लिखा था, पर उसके वाद ज़ियारत के लिए एक बार भी न जा सका। फिर भी, अपने उस प्यारे और नाजुक दिल वाले दोस्त को बड़ी हसरत से याद करता रहा हूं :

संभलने दे मुझे ऐ बदनसीबी क्या कयामत है
कि दामाने ख़्याले यार छूटा जाये है मुझ से।

घर की आर्थिक दुर्दशा का अहसास बच्चों को पता नहीं कैसे हो गया था। एक दिन मैं घर लौटा तो परीक्षित अपनी छोटी बहन, शबनम को कह रहा था :

"कितनी फिज़ूल चीज़ हैं पटाखे ! लोग यूं ही पैसा बरबाद करते हैं ।"

मुझे याद आया कि अगले दिन दीवाली थी। पड़ोस में एक दिन पहले से पटाखे छूट रहे थे। मेरे दिल में टीस उठी। उसी समय मैं उलटे पांव गया और एक दोस्त से पचास रुपये उधार लेकर पटाख़ों से भरा हुआ टोकरा और मिठाई लेकर वापस आया।

उन दिनों परीक्षित दस वर्ष का था। मैं दोस्ताना तौर पर, बिना पैसों के, इस बात के लिए मान गया था कि वह 'हलचल' में दिलीपकुमार के लड़कपन का रोल करेगा। बाद में, नीतिन बोस ने 'दीदार' में भी परीक्षित को लेना चाहा, तो पारिश्रमिक के तौर पर डेढ़ हजार रुपये देने की बात की। मेरी पत्नी को परीक्षित का फ़िल्मों में काम करना बिलकुल पसन्द नहीं था, क्योंकि इससे उसकी पढ़ाई का नुकसान होता था। पर मैंने उसे मना लिया, क्योंकि हमें पैसों की ज़रूरत थी। फिर, मैंने एक दोस्त की तरह परीक्षित के सामने सारी बात खोलकर रखी और कहा कि उस समय वह भी ख़ुद को घर का मर्द समझे, क्योंकि उसकी कमाई परिवार के लिए इस्तेमाल की जाएगी। परीक्षित चुप बना सुनता रहा। मैं अपनी तरफ से बड़ी अक्ल की बात कर रहा था, पर कह नहीं सकता कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से वह सही थी या ग़लत।

नावालिग बच्चे का स्टूडिओ में अकेले काम पर जाना ठीक नहीं समझा जाता। उसके साथ घर के किसी न किसी व्यक्ति का जाना ज़रूरी है। परीक्षित के साथ स्टूडिओ जाने

में मेरे स्वाभिमान को चोट पहुंचती थी। इस प्रकार मैं लोगों की नज़रों में बच्चे से काम कराने वाला बेरोज़गार बाप बन जाता। परीक्षित को तो मैंने मर्द बनने के लिए मना लिया था, लेकिन मैं ख़ुद मर्दानगी से परिस्थितियों का मुकाबला करने लायक न बन सका। मैंने यह सोचकर खुद को तसल्ली दे ली की नीतिन बोस और दिलीपकुमार परीक्षित को अपने बच्चों की तरह समझते हैं और उसका पूरा खयाल रखते होंगे। मैं यह भी देखता था कि स्टूडिओ से लौटने पर परीक्षित हमेशा ख़ुश नज़र आता था।

एक दिन मैं मोटर-साइकल पर सेण्ट्रल स्टूडिओ के सामने से गुज़र रहा था कि परीक्षित से मिलने अन्दर चला गया। बड़ा डरावना दृश्य था वह, जिसकी शूटिंग की जा रही थी। एकदम अंधेरी रात। आंधी-तूफान। वीरान जंगल। और परीक्षित एक बेसहारा, मासूम बच्चे के रूप में भटक रहा है। वह चीखता-चिल्लाता है, पर कोई उसकी मदद के लिए नहीं आता। एकाएक एक पेड़ की मोटी टहनी उसके सिर पर आकर गिरती है। लाल टेन गिरकर बुझ जाती है- यानी बच्चा हमेशा के लिए अंधा हो गया है।

'दीदार' बहुत कामयाब फ़िल्म बनी थी। देश के लगभग सभी बड़े शहरों में उसने जुबली की थी। उपर्युक्त दृश्य को देखकर लाखों दर्शक रोए होंगे। पर उस समय मैं रो नहीं सका था, बल्कि मेरी आंखों में खून उतर आया था। आंधी-तूफ़ान में धूल-मिटटी और दूसरी चीज़ों को उड़ाने के लिए बिजली के बड़े-बड़े पंखे चलाए गए थे। निर्देशक, कैमरामैन और अन्य कर्मचारी अपनी आंखों और फेफड़ो की रक्षा के लिए चेहरों पर 'गैस-मास्क' चढ़ाए हुए थे। ऐसे लगता था, जैसे वे सब लोग कोई बहुत बड़ा कारनामा करने के लिए मोर्चे पर आए हुए हों। पर जिस मासूम बच्चे को खतरे में झोका जा रहा था, उसकी किसी को चिन्ता नहीं थी।

देखते ही मैं भौचक्का रह गया और सीधे नीतिन बोस के पास जाकर उन्हें बुरा-भला कहने लगा। वे बड़े नम्र स्वभाव के व्यक्ति थे। सच पूछा जाए तो सारा प्रबन्ध ठीक से करना प्रोडक्शन-डिपार्टमेंट की ज़िम्मेदारी थी, नीतिन बोस की नहीं। फिर भी, उन्होंने बड़ा अफसोस ज़ाहिर किया और पूरी सावधानी से और जल्दी से जल्दी शॉट ख़त्म करने का प्रबन्ध किया।

उस समय महेश कौल नीतिन बोस के पास खड़े थे। मैं एक तरफ बैठकर सोचने लगा कि अगर मैं न आता तो मेरे बच्चे का क्या हाल होता। कभी मेरी नज़र महेश कौल की तरफ़ जाती तो मैं उन्हें बड़े गौर से अपनी ओर देख रहा पाता। वे शायद मुझे पहचानने की कोशिश कर रहे थे। या शायद सोच रहे थे कि नीतिन बोस के सामने इस तरह बोलने की एक मामूली कलाकार की इतनी हिम्मत कैसे हुई। यह अनहोनी-सी बात थी। बहुत-से ग़रीब माता-पिता पैसे की मजबूरी के कारण अपने बच्चों से फिल्मों में काम कराते हैं और उन्हें बहुत कुछ देखा-अनदेखा करना पड़ता है।

एक दिन मधुबाला के पति मेरे यहां तशरीफ़ लाए। मुझे लगा कि शायद मुझे अपनी फ़िल्म में काम देना चाहते हैं। पर उन्होंने परीक्षित के लिए फ़रमाइश की। अपनी निराशा को छिपाते हुए मैंने बड़ी नम्रता से इन्कार किया।

''बच्चे की पढ़ाई का हर्ज होता है,'' मैंने कहा।

वे चुप रहे और काफी देर तक मेरी ओर एकटक देखते रहे। वे मुझे बड़े सहृदय पंजाबी बुज़ुर्ग लगे। आखिर उन्होंने कहा :

"बेटा, तुम भी बाप हो, और मैं भी एक बाप हूं। मैंने भी ज़िन्दगी के बहुत उतार-चढ़ाव देखे हैं। और मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि इस दुनिया में बिना पैसे के कोई किसी का दोस्त नहीं है। ज़रा खुद ही सोचो, क्या रखा है आजकल की पढ़ाई-लिखाई में? मैंने तुम्हारे बेटे का काम देखा है। बहुत प्यारा लगता है वह स्क्रीन पर। काम भी बहुत अच्छा करता है। एक फ़िल्म रिलीज़ होने की देर है कि प्रोडयूसर उसके लिए तुम्हारे आगे-पीछे दौड़ने लगेंगे। तुम्हें दस-दस, बीस-बीस हजार की रकमें देने की बात करेंगे। और फ़िल्म में बच्चे का काम भी कितने दिन का होता है! मुश्किल से आठ-दस दिन का। एकसाथ बीस फ़िल्मों में काम कर सकता है। साल दो साल में तुम हर किस्म की आर्थिक चिन्ताओं से छुटकारा पा जाओगे। फिर, चाहे एक दर्जन मास्टर घर में बुलाकर बेटे को पढ़ा-लिखा लेना। मैं तुम्हें मजबूर नहीं करता, बेटा ! पर तुम्हारी भलाई की बात करना अपना फर्ज़ समझता हूं। सोच लो, कोई जल्दी नहीं है। अपनी बीवी से सलाह-मशवरा कर लेना। मैं कभी फिर आ जाऊंगा।"

"खान साहब, मैं आपका बहुत शुक्रगुज़ार हूं; पर मेरा फ़ैसला पक्का है," मैंने सहमी हुई सी आवाज़ में कहा।

"अच्छा, तुम्हारी मर्ज़ी।"

उनके जाने के बाद मैं देर तक विचारों में डूबा रहा। यह कैसी दुनिया है, जहां आदमी को अपने किसी भी फ़ैसले के ठीक या गलत होने का यकीन नहीं होता !

फिर भी, जब मैं मुड़कर पीछे की ओर देखता हूं, तो सोचता हू कि वे दिन इतने बुरे भी नहीं थे। ज़िन्दगी में थोड़ा-बहुत बलबला था। एक रूसी फ़िल्म 'डब' करने का छोटा-सा काण्ट्रैक्ट् मिल गया। फ़ेमस स्टूडिओ के एक कमरे में मैं और मेरी पत्नी मूविओला पर सारा-सारा दिन रूसी संवादों की जगह हिन्दी संवाद बोलते रहते तोष को थोड़ी-बहुत रूसी आती थी, जिससे काम कुछ आसान हो जाता था। बच्चों को स्कूल रवाना करके और खाने का डिब्बा अपने साथ लेकर हम मोटर-साइकल पर सवार हो जाते। पड़ोस का कुत्ता भौंकता हुआ हमें कॉलोनी के फाटक तक छोड़ जाता, और शाम को हमारे स्वागत के लिए भी हाज़िर रहता। इसका भी अपना ही मज़ा था।

फ़ेमस स्टूडिओ की इमारत में ही चेतन आनन्द की फ़िल्म कम्पनी 'नवकेतन' का भी दफ़्तर था। चेतन को भी हमारा पता लग गया होगा। एक दिन उन्होंने मेरे सामने अपनी अगली फ़िल्म के लिए, जिसका निर्देशन गुरुदत्त करने वाले थे, पटकथा (स्क्रीन-प्ले) का संवाद लिखने का प्रस्ताव रखा और पारिश्रमिक के तौर पर चार हज़ार रुपये देने की बात की। मैंने ख़ुशी से प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और उनका धन्यवाद किया।

पूना में गुरुदत्त की देव आनन्द से दोस्ती हुई थी। वहीं वे प्रसिद्ध निर्देशक ज्ञान मुकर्जी के सहायक थे। कुछ साल उन्होंने अलमोड़ा में उदयशंकर के केन्द्र में नृत्य भी सीखा था। वे बहुत अच्छी बंगाली जानते थे। निर्देशन का उन्हें यह पहला मौका मिल रहा था। साहिर लुधियानवी ने भी पहली बार इसी फ़िल्म में गीत लिखे थे।

फिल्म का नाम था, 'बाज़ी', जो बहुत कामयाब फ़िल्म बनी थी।

हिन्दी फ़िल्मों में पटकथा-सम्बन्धी दृष्टिकोण बहुत मैकेनिकी किस्म का रहा है, जोकि विदेशी फ़िल्मों के बिलकुट उलट है। विदेशी फ़िल्मों के टाइटलों में विशेष महत्त्व पटकथा और उसके लेखक को दिया जाता है। उसके नीचे छोटे अक्षरों में कहानी या उपन्यास और उसके लेखक का नाम दिया जाता है।

पर हिन्दी फ़िल्मों में विशेष महत्त्व कहानी को दिया जाता है। कहानी का चौखटा घड़ लेने के बाद दृश्य लिखने को ही पटकथा का नाम दिया जाता है। और जब सारे दृश्य लिख दिए जाते हैं, तो उनमें संवाद भर दिए जाते हैं। निर्माताओं को कहानी पर इतना भरोसा होता है कि दृश्य और संवाद कई बार सैट लगने वाले दिन तक लिखे ही नहीं जाते। कई बार तो कैमरामैन शॉट के लिए लाइटिंग ठीक करके शॉट लेने के इन्तज़ार में बैठा रहता है। प्रकट है कि ऐसी हालत में चरित्र-चित्रण की ज़्यादा गुंजाइश नहीं रहती।

उन दिनों फ़िल्मिस्तान के प्रसिद्ध निर्माता, शशिधर मुकर्जी को 'बॉक्स-आफ़िस' का जादूगर माना जाता था। उनकी कोई फ़िल्म फेल नहीं होती थी। उनका फ़ार्मूला था कि पटकथा को जान-बूझकर बनावटी और कमज़ोर रखना चाहिए, ताकि दर्शक गाने और नाच का बेसब्री से इन्तज़ार करें। अगर दर्शक कहानी में खो गए तो नाच और गाने उन्हें फिज़ूल और उकताहट-भरे लगेंगे, जो कि बॉक्स-आफिस के दृष्टिकोण से ठीक नहीं है। हिन्दी फ़िल्मों की कामयाबी की बुनियाद एक ही है-गाने।

गुरुदत्त इस फ़ार्मूले के किस हद तक कायल थे, मैं नहीं जानता था। पर इसमें शक नहीं कि नाच-गानों में उनकी बहुत दिलचस्पी थी। पटकथा को वे उनके बाद ही महत्त्व देते थे। फिर उन्हें मुश्किल से निर्देशन का मौका मिला था। और वे जल्दी से जल्दी सैट पर जाना चाहते थे।

पर मेरा दृष्टिकोण कुछ और था। गुरुदत्त की कहानी, जिसके आधार पर मुझे पटकथा लिखनी थी, मुझे बहुत कच्ची और धुंधली लग रही थी। मैं पात्रों और परिस्थितियों को उन कद्रो-कीमतों के अनुसार पेश करना चाहता था, जो मैंने साहित्य और रंगमंच से सीखी थीं। दृश्य और संवादों को अलग-अलग कर लिखना मेरी नज़र में बहुत बड़ी गलती थी। पटकथा को मैं एक पौधे की तरह देखता था, जिसकी जड़ें, तना, टहनियां और पत्ते अपने सही क्रम में धीरे-धीरे विकसित होते हैं। सो, मैंने पूरी पटकथा लिखने के लिए छः महीने मांगे। गुरुदत्त को मजबूर होकर छः महीने इन्तज़ार करना पड़ा। मैं चेतन का दोस्त था, इसलिए गुरुदत्त मुझपर एतराज़ भी नहीं कर सकते थे। लेकिन वे मन ही मन में कुढ़ते ज़रूर थे। वे चाहते थे कि मैं फ़िल्म को एक बार 'फ़्लोर' पर ले जाने दूं, फिर चाहे लिखने में कितनी ही देर लगाऊं। पर मैं अपनी बात पर अड़ा रहा। मैं जानता था कि एक बार फ़िल्म की शूटिंग शुरु हो गई तो मैं परवश हो जाऊंगा।

बड़े हंगामी दिन थे वे भी। किसी दृश्य के बारे में सोचते और बहस करते हुए हम कई रातें सड़कें नापने में बिता देते। कभी गुरुदत्त मेरे यहां आकर डेरा लगा लेते, कभी मैं माटुंगा में उनके छोटे-से फ़्लैट में जाकर टिक जाता। उनकी माताजी मुझे बहुत प्यार करने लगी थी।

उन दिनों लेखक-निर्देशक, ज़िया सरहदी मेरे पड़ोस के एक होटल में रहने लगे थे। 'हलचल' के सैट पर मैं उन्हें देखा करता था। देखने में सुन्दर थे, और ज़बान के मीठे।

उन दिनों वे के०आसिफ की अगली फ़िल्म लिख रहे थे; पर आसिफ के साथ उनका कुछ मतभेद हो गया था।

गुरुदत्त और मैं 'बाज़ी' के क्लाइमेक्स पर बुरी तरह उलझे हुए थे। कई हफ़्तों से कोई राह दिखाई नहीं दे रही थी। एक शाम हम ज़िया सरहदी के पास जा बैठे, और उनकी सलाह मांगी। उन्होंने झट हमें क्लाइमेक्स सुझा दिया। सूझा उन्हें भी किसी पुरानी अमरीकी फ़िल्म में से था, लेकिन हमारी कहानी के साथ फ़िट बैठता था। हम ख़ुशी में छलांगें लगाने लगे। हमने चाहा कि कहीं से व्हिस्की की बोतल लाएं और जश्न मनाएं। पर हम दोनों की जेबें खाली थीं। ज़िया की हालत तो हमसे भी खस्ता थी।

बहुत अरसा पहले ज़िया ने मुझे 'इप्टा' (इंडियन पीपल्स थियेटर) के एक नाटक, 'सड़क के किनारे' में रोल करते देखा था। उस शाम उन्हें उस नाटक की याद आई। अगले दिन वे मुझसे ज़िक्र किए बिना के० आसिफ वाली कहानी, जिसका नाम उन्होंने 'हम लोग' रखा था, रणजीत मूवीटोन के मालिक, सेठ चंदूलाल शाह को सुनाने चले गए। सेठजी को कहानी बहुत पसंद आई और उन्होंने आसिफ़ को किसी न किसी तरह मनाकर वह उनसे ख़रीद ली।

पर जब उन्हें यह पता लगा कि ज़िया ने जो रोल दिलीपकुमार के लिए रखा था, वह मुझ जैसे गुमनाम, बल्कि बदनाम अभिनेता से करवाना चाहते हैं, तो वे गहरी सोच में पड़ गए। और जब उन्होंने मुझे प्रत्यक्ष रूप में देखा, तब तो जैसे उनका दिल ही बैठ गया।

५

मैं जब भी मोटर-साइकल पर माहीम के इलाके में से गुज़रता, किसी न किसी जगह बदरू (जानी वाकर) मुझे ज़रूर दिखाई दे जाता। कभी वह मुझे रोक लेता और मेरा वादा याद कराता। मैं भी भूला नहीं था। बदरू को खास तौर पर ध्यान में रखकर मैंने 'बाज़ी' के कथानक में शराबी का एक छोटा-सा महत्त्वपूर्ण पात्र डाला था। पर अब सवाल यह था कि निर्माता और निर्देशक को कैसे मनाऊं कि उस पात्र के लिए वे बदरू को ही लें।

आखिर मैंने एक तरकीब सोची और वह बदरू को समझा दी।

अगले दिन सुबह जब चेतन, देव, गुरुदत्त और मैं दफ़्तर में बैठे विचार-विमर्श कर रहे थे, तो देखा कि एक शराबी नशे में धुत्त बना, चपरासी के रोकने पर भी, अन्दर घुस आया है और क्लर्कों को तंग कर रहा है। तभी वह सीधा हमारे पास पहुंच गया और देव आनन्द को सम्बोधित करके अंट-शंट बोलने लगा। उसने ऐसा ठाठ बांधा, जिसका जवाब नहीं था। हंस-हंसकर हम सबके पेट दुखने लगे। हमारी हंसी ज़रा ठंडी होती कि वह फिर कोई नया नुक्ता छेड़कर रौनक लगा देता। आधा-पौना घंटा इसी तरह होता रहा। आख़िर चेतन को दफ्तर की मर्यादा का खयाल आया। उन्होंने बेतहाशा हंस रहे कर्मचारियों को डांटा और उस शराबी को दफ्तर से ज़बर्दस्ती बाहर निकालने का हुक्म दिया।

उसी समय मैंने बदरू को सलाम करने के लिए कहा। वह उसी समय अटेन्शन हो गया और किसी मदारी की तरह सबको सलाम करने लगा। देखने वालों की हैरानी का हद-हिसाब नहीं था। कुछ क्षण पहले जो व्यक्ति मदहोश था, अब पूरी तरह होश में था।

सच तो यह है कि जिस शराब के कारण सिनेमा के लाखों दर्शक बदरूद्दीन को याद करते हैं, उसे उसने सारी उम्र कभी हाथ नहीं लगाया है।

चेतन प्रश्नवाचक दृष्टि से मेरी ओर देख रहे थे। मैंने उन्हें बताया कि यह सारा प्रपंच क्यों रचा गया था। उन्होंने बड़ी खुशी से वह रोल बदरुद्दीन को देना कबूल कर लिया।

उस छोटे-से दृश्य के आधार पर जॉनी वाकर का गुड़िया चढ़ गई। एक साल के अन्दर-अन्दर वे मुझे बहुत पीछे छोड़कर मशहूरी और अमीरी की चोटी पर जा पहुंचे।

फ़िल्मों में मौके का इन्तज़ार करना ही काफ़ी नहीं होता, अपने अन्दर यह योग्यता पैदा करना भी बहुत ज़रूरी होता है, ताकि मौका मिलने पर उसका पूरा लाभ उठाया जा सके। इस बात की ओर नये कलाकारों का ध्यान ज़्यादा नहीं जाता।

'बाज़ी' में नर्तकी के रोल के लिए गुरुदत्त गीता बाली को लेना चाहते थे। एक शाम हम दोनों कहानी सुनाने के लिए वर्सोवा में उनके बंगले पर गए। गीता बाली स्टूडिओ से काफ़ी देर से आई। उनके चेहरे पर अभी तक मेक-अप था, और लिबास भी कम्पनी का ही पहना हुआ था। वे बेहद सुन्दर लग रही थीं। एक तो किसी फ़िल्मी अभिनेत्री को कहानी सुनाने का मेरा पहला मौका था, दूसरे उनकी हरकतें ऐसी चंचल थी कि मुझे सारा समय ऐसा लगता रहा, जैसे उन्हें सख़्त उकताहट हो रही हो। लेकिन उनकी समझबूझ कमाल दर्जे की थी। मैंने स्क्रिप्ट का अभी एक-तिहाई हिस्सा ही पढ़ा था कि गीता बाली सौफे पर से उठ खड़ी हुई और उन्होंने कहा, " बहुत बढ़िया ! मैं ज़रूर आपकी फ़िल्म में काम करूंगी। बाकी बातें आप बीबीजी से कर लें।'

वे अन्दर चली गईं। हमारी ख़ुशी का कोई ठिकाना नहीं रहा। गीता बाली उन दिनों लगभग तीस फ़िल्मों में काम कर रही थीं। हम बहुत कम आशा लेकर आए थे।

'बाज़ी' और 'हम लोग' एक ही समय सैट पर गई। शूटिंग शुरु होने के बाद मैं एक बार भी गुरुदत्त के सैट पर नहीं गया। और न ही उन्होंने मुझे कभी बुलाया ही। छः महीने मेरे साथ माथापच्ची करके वे तंग आ चुके थे। मुझे लगता था, जैसे मैंने एक बच्चे को जन्म देकर उनके हवाले कर दिया हो। राज खोसला और कुलदीप कोहली उन दिनों गुरुदत्त के सहायक थे। मैं उनसे बातों-बातों में 'बाज़ी' के बारे में पूछता। वे बड़े निराशा-भरे जवाब देते। एक दिन तो कुलदीप कोहली ने साफ़ सुना दिया, "स्क्रिप्ट तो जो है सो है, पर कर रहे हैं कुछ जोड़-तोड़।"

मेरा दिल बैठ गया। मैंने कथानक में छः गानों के लिए जगह बनाई थी। मैंने सुना कि गुरुदत्त छः के बजाय नौ गाने डाल रहे थे। तीन नये गाने घुसेड़ने के लिए मुझे पूछे बिना, पता नहीं कितने दृश्य काटे जाएंगे। सोच-सोचकर मुझे रात को नींद न आती। फ़िल्मों में लेखकों की बेकद्री और बेचारगी के किस्से मैंने सुने हुए थे। मैं वैसा लेखक नहीं बनना चाहता था। मैं चेतन के सामने अपने अधिकारों का ज़रूरत से कुछ ज़्यादा प्रदर्शन करने लगा। यह बात गुरुदत्त को बुरी लगी। हमारी दोस्ती रस्मी-सी होकर रह गई। मुझे क्या पता था कि अयूब की तरह गुरुदत्त भी इतनी जल्दी इस संसार से कूच कर जाएंगे !...

(यह पंक्ति लिख ही रहा था कि सुना, मीनाकुमारी भी चल बसी हैं। - ३१.३.७२)

...१९६७ । खंडाला में 'पिंजरे के पंछी' की आउटडोर-शूटिंग। शॉट है : मीनाकुमारी आत्महत्या करने के लिए रेल की पटरी पर चली जा रही है। मैं उनके पीछे "बहू !...बहू!"

पुकारता हुआ भाग रहा हूं, और ऐन वक्त पर उन्हें गाड़ी के नीचे जाने से बचा लेता हूं। हम दोनों रेलवे-लाइन से बाहर गिर पड़ते हैं, और हमारे बीच में बड़ा जज़्बाती झगड़ा होने लगता है।

सलिल चौधरी सिर्फ़ हमारे भागने और रेलवे-लाइन से बाहर गिरने का शॉट लेना चाहते थे। गाड़ी के आने और हमारा झगड़े के शॉट के बाद में 'बैक प्रोजैक्शन' की मदद से ले सकते थे।

अचानक मुझे खयाल आया कि 'डेक्कन क्वीन' के आने का समय हो रहा है। वह खंडाला पर नहीं रुकती थी। अगर कैमरामैन जल्दी-जल्दी लाइटें फ़िक्स कर लें, तो सारा सीन एक ही शॉट में हो सकता है। मैंने सलिल चौधरी से बात की तो उन्होंने मीनाकुमारी से पूछा। वे झट मान गईं। सो, जल्दी-जल्दी सारी तैयारी कर ली गई। तब मुझे खयाल आया कि मीनाकुमारी को तो सिर्फ एक बार सुनकर संवाद याद हो जाते है, लेकिन मेरा क्या बनेगा ? काफ़ी लम्बे संवाद थे वे। पर उस समय सोचने का समय नहीं था। मैं संवाद अभी पूरी तरह सुन भी नहीं पाया था कि सामने से गाड़ी आ गई-बड़ी तेज़ रफ़्तार के साथ।

ड्राइवर ने हमें लाइन पर भागते हुए देखकर लम्बी-लम्बी सीटियां बजानी शुरु कर दीं। मुझे खीझ होने लगी। अगर वह इसी तरह सीटियां बजाता गया, तो हमारे संवाद कैसे रिकार्ड होंगे ? मुश्किले से दस गज़ का फासला रह गया होगा, जब मैं मीनाकुमारी को बाहों में भरकर लाइन के बाहर गिर पड़ा। गाड़ी के पहिये हमारे पिछे खड़-खड़ करते हुए गुज़र रहे थे। लाइटें ठीक हमारे चेहरों पर पड़ रही थीं। सब काम बड़ी खूबसूरती से हो गया। हमने ख़ुशी-ख़ुशी मेक-अप किया और होटल में पहुंचे। मेरा सारा शरीर दुख रहा था। थकावट से अंग-अंग चूर था। मैं गर्म पानी का टब भरकर उसमें लेट गया। एकाएक मुझे अपनी थकावट का कारण समझ में आया। कितना खतरनाक काम मोल लिया था हमने ! अगर हममें से किसी का भी पांव लड़खड़ा जाता तो? कितनी मूर्खतापूर्ण तजवीज़ पेश की थी मैंने ! किसी दूसरे की जान ख़तरे में डालने का क्या हक था मुझे ? मुझे बेहद पछतावा होने लगा।

नहाकर मैं कमरे से बाहर निकला। मीनाकुमारी अपनी कॉटेज के बाहर बरामदे की सीढ़ियों पर बांहों में सिर दिए बैठी हुई थीं।

मुझे देखकर उन्होंने कहा, "आज यह क्या किया, बलराजजी, आपने ? ज़िन्दगी से तंग आए हुए हैं क्या ?"

"यही सोच-सोचकर तो मेरी जान निकली जा रही है। मैं तो बेवकूफ़ी कर ही रहा था, पर तुमने मुझे क्यों नहीं रोका ?"

वे हंस दीं। वही हंसी, जो आदमी एक बार सुनकर कभी भुला नहीं सकता।

"आप शॉट जो उस समय लेना चाहते थे। भला मैं आपको कैसे रोकती ?"

तमाशे की दुनिया ! मीनाकुमारी अपना खेल खत्म करके चली गई।

इक दम दी वारसा एह दुनिया
रब बे वारिस कर मारदा ए।

(यह दुनिया एकदम की है, वारिस ! ईश्वर लावारिस बनाकर मारता है।)

'हम लोग' की शूटिंग शुरु हुई तो मेरी बुरी हालत थी। पहले दिन मैं एक भी अच्छा शॉट न दे पाया। कैमरे का डर जो पहाड़ की तरह मेरी छाती पर बैठा चला आ रहा था, अब असह्य हो उठा। उस दृश्य में अनवर हुसैन मेरे साथ काम कर रहे थे- मुर्गीचोर कुन्दन के रोल में। उनकी ओर देखते ही मेरा आत्मविश्वास टूट जाता, होश-हवास उड़ जाते। शॉट तो क्या, एक भी रिहर्सल मुझसे सिरे न चढ़ी। मेरी उस हालत का अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि एक मौके पर जब मैं हवा खाने के लिए बाहर बैंच पर जाकर लेटा, तो पतलून में मेरा पेशाब निकल गया।

लंच की छुट्टी के बाद मैं किसी हद तक अपने को संभाल सका। एक-दो शॉट भी हुए, पर जैसे मुझे हौसला देने के लिए ही ओ०के० किए गए। मैं जितना ही डरता, अनवर हुसैन उतने ही जोश में आते। फ़िल्मों की शूटिंग में आम तौर पर यही होता है। यहां खरबूज़े को देखकर खरबूज़ा रंग पकड़ता नहीं, बल्कि रंग छोड़ता है। अनवर का रोल बेहद चुलबुला था। ऐसा लग रहा था, जैसे वह उन्हीं के लिए तैयार किया गया हो।

अनवर हुसैन 'हम लोग' की जान थे। उनका अभिनय अद्वितीय था। उनके बाद पिछले बीस-बाईस वर्षों में उस स्तर का रोल उन्हें एक बार भी नहीं मिला।

ज़िया उस दिन मुझे टैक्सी में अपने साथ बैठाकर स्टूडिओ ले गए थे। शाम को भी टैक्सी में इकटठे ही वापस आए।

रास्ते में मैंने बड़ी नम्रता से कहा, "ज़िया, जो भरोसा तुमने मुझपर किया है, मैं उसके काबिल नहीं हूं। तुम्हें बड़ी मुश्किलों से फ़िल्म मिली है। अभी कुछ भी बिगड़ा नहीं है। मेरी जगह किसी और को ले लो। मैं बिलकुल बुरा नहीं मानूंगा।"

जवाब में ज़िया ने जिस अपनत्व और बड़प्पन का सबूत दिया, उसे मैं भूल नहीं सकता। अपनी आदत के अनुसार वे कुछ देर दांतों तले अपना नाखून काटते रहे। फिर उन्होंने कहा, "बलराज साहब, अब तो या इकटठे तैरेंगे, या इकटठे डूबेंगे।"

पर इस जवाब से मुझे न हौसला मिला, न ख़ुशी मिली, बल्कि अगले दिन फिर कैमरे के सामने जाने का डर और ज़्यादा सताने लगा।

घर पहुंचकर अपनी पत्नी को देखते ही मैं फूट-फूटकर रोने और दीवार से सिर टकराने लगा।

"मैं कभी ऐक्टर नहीं बन सकता, कभी नहीं !" मेरे मुंह से बार-बार निकल रहा था।

इतने में ज़िया सरहदी का द्वितीय सहायक, नागरत वहां आया। उसकी उम्र मुश्किल से उन्नीस साल की होगी। उसने मुझे उस हालत में देखा, तो लगा ऊंची आवाज़ में डांटने-फटकारने।

"कायर ! डरपोक ! बड़े कम्युनिस्ट बने फिरते हैं ! और आपकी आत्मा है कि अमीरों के जूतों में पल रही है । शर्म से डूब मरना चाहिए आपको !"

मैं भौचक्का-सा उसके चेहरे की ओर देखने लगा।

वह बोले जा रहा था :

"आप ऐक्टिंग नहीं कर सकते ? बिलकुल बकवास ! आप दूसरों से सौ दर्जा बेहतर ऐक्टिंग कर सकते है; मगर तब तक नहीं, जब तक आप उनकी मोटरों की तरफ़ देखते रहेंगे, उनकी शोहरत और अमीरी के रोब के नीचे दबे रहेंगे। अनवर अमीर है, नरगिस का भाई है; इसीलिए आपकी जान निकली जा रही है। ईर्ष्या आपको अन्दर ही अन्दर खा रही है। बड़े दावेदार बनते हैं कला के ! लेकिन असल में आपकी नज़रें कला की तरफ नहीं, दौलत की तरफ है। वही सबसे बड़ी और ऊंची चीज़ है आपकी नज़रों में। हाथी के दांत खाने के और, दिखाने के और ।..."

इप्टा का नाटक, 'सड़क के किनारे' नागरत ने भी देखा था। उसमें भी मैंने एक बेरोज़गार और बीमार नौजवान का रोल किया था। पूरे नाटक में वह पात्र पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध ज़हर उगलता है। वह रोल मैं बड़े जोशीले और प्रभावशाली ढंग से करता था। मेरे शब्द दर्शकों के दिलों में उतरते चले जाते थे, उनपर बहुत गहरा असर डालते थे। नाटक के अन्त में हॉल तालियों से गूंज उठता था। 'हम लोग' का मेरा रोल भी वैसा ही था। फिर, रो-रोकर दीवार से सिर फोड़ना कहां की अक्लमन्दी थी ?

नागरत का तीर निशाने पर बैठा। उसने मेरे रोल का रहस्य मुझे समझा दिया- नफ़रत। हर आदमी से नफ़रत। हर चीज़ से नफ़रत। पूरी जिन्दगी से नफ़रत। बेहिसाब नफ़रत।

मेरे ठंडे, निर्जीव शरीर में गर्मी आई। मेरी आत्मा पर नागरत सूरज बनकर चमक उठा। उन्नीस साल के एक नौजवान ने मेरी कठिनाई कैसे पहचान ली, यह सोचकर मैं आज भी हैरान होता हूं।

उस रात मैं अपने भीतर नफ़रत की भटठी जलाता रहा। अब मैं समझ गया था कि मेरा हौसला अकारण ही नहीं टूटा था, बल्क़ि मेरे परिवेश ने जान-बूझकर या अनजाने उसे तोड़ने की साज़िश की थी। परिवेश नये कलाकार को ऊपर उठाता नहीं, बल्कि हर संभव उपाय से कुचलना चाहता है। और उस कलाकार को तो वह हर हालत में कुलचता है, जो कोई विशेष शारीरिक या मानसिक गुण लेकर जन्म लेने का गुनाह कर बैठा हो। जो कलाकार ठीक समय पर इस बात को समझ गया और अपने बचाव के लिए डट गया, समझिए वह बच गया। जिसने अपने बारे में दूसरों की बातें कबूल कर लीं, वह ख़त्म हो गया।

उस रात मैंने अपने दोस्तों, साथियों और दूसरे लोगों को उस नफ़रत की भटठी में झोंक दिया। मैं सबको अपने दुश्मन के रूप में देखने लगा। मेरा हौसला बढ़ने लगा, सहम घटने लगा। तब मैं बेसब्री से उस पल की प्रतीक्षा करने लगा, जब अनवर से मेरा मुकाबला होगा- अपने ही जैसे परिस्थितियों के ग़ुलाम एक आदमी से। असल में मैं घोर अन्याय कर रहा था।

अगले दिन मैं ज़िया के साथ नहीं, बल्कि अपनी मोटर-साइकल पर बैठकर स्टूडिओ गया। मेक-अप-मैन, दादा परांजपे मेरे कमज़ोर झुर्रियों भरे चेहरे पर कई प्रकार के लेप और रंग लगाने लगे, ताकि मैं कैमरे के सामने सुन्दर लगूं। मैंने उन्हें रोक दिया। "मुझे कोई ज़रूरत नहीं है सुन्दर बनने की। और न मैं सिर पर नकली बाल ही लगाऊंगा। मैं जैसा हूं, वैसा ही रहने दो मुझे। पैक-केक का सादा-सा पोचा फेर दो चेहरे पर, और बस। मैं अपने चेहरे को अपना महसूस करना चाहता हूं।"

दादा परांजपे मेरे मुंह की ओर देखते रह गए। फिर बोले, "जैसे ज़िया साहब ने कहा है, वैसे ही करना होगा।"

जवाब में मैंने कड़ककर कहा, "ज़िया साहब डाइरेक्टर हैं और मैं पिक्चर का हीरो हूं। उनका दोस्त भी हूं। हम आपस में निबट लेंगे। आप वही कीजिए, जो मैं कहता हूं।"

दादा को झुकना पड़ा।

वहां से सैट तक, अहाते में, कई चमचमाती हुई मोटरें खड़ी थीं। मैंने इधर-उधर देखा और एक-दो पर थूका। फिर, बाकी मोटर पर मन ही मन थूका। जब मैं सैट पर पहुंचा तो अनवर की तरफ ऐसी हिकारत से घूरकर देखा, जैसे वे सचमुच अपनी बहन के टुकड़ों पर पलते हों। (आज यह सब सोचकर मन में बड़ी ग्लानि होती है।) और जब अनवर ने मेरी नज़र के सामने आंखें झुका लीं, तो मैंने जीत का गरूर महसूस किया।

इस समाज में हर आदमी दूसरे आदमी का दुश्मन है। इसीलिए तो इस किस्म के फ़िल्मी मुहावरे सुनाई देते हैः 'वह उसे खा गया', 'वह उस पर छा गया'। आज देखता हूं कि कौन मुझे खाता और कौन मुझपर छाता है! मैं अपने मन में बार-बार कह रहा था।

अजीब बात थी कि मुझे पूरे दृश्य के संवाद अपने-आप याद हो आए। रिहर्सल में मैं इस तरह बोला, जैसे बाज़ चिड़िया पर झपटता है। ज़िया ने मुझे सीने से लगा लिया। पास खड़े मेरे गुरुदत्त यानी नागरत की आंखें चमक रही थीं। उस दिन खुशी-भरे वातावरण में शूटिंग हुई। पूरे स्टूडिओ में जैसे नया ख़ून दौड़ गया।

कहावत है न कि चूहा सोंठ का टुकड़ा पाकर पनसारी बन बैठा था। मैं भी नफ़रत पाकर कलाकार बन गया। अगर मेरा रोल या वह दृश्य किसी और मूड का होता, तो यह नफ़रत काम न आती। और क्योंकि मुझे वह नफ़रत रास आ गई थी, इसलिए वह सब रोगों की दवा प्रतीत होने लगी। मै ज़िया की उम्मीदों पर कुछ-कुछ पूरा उतरने लगा। मैं जो कुछ कर रहा था, वह फ़िल्म-अभिनय की दृष्टि से घटिया था, पर उस पात्र के संदर्भ में वह बहुत अनुकूल और सही था। मेरी किश्ती भंवर में से निकल आई। ख़ुशकिस्मती से संवाद काव्यात्मक और नाटकीय थे।

छोटी-सी हार पर हौंसला छोड़ देना, और छोटी-सी जीत पर फूलकर कुप्पा हो जाना अनाड़ी कलाकार की पहली निशानी है। ज्योंहीं मेरी गाड़ी चल पड़ी, मैं दोस्तों-साथियों में बैठकर चढ़-चढ़कर बातें करने लगा।

रणजीत स्टूडिओ के फाटक में दाखिल होते ही पहली नज़र उस बरामदे पर पड़ती है, जहां गौहरबाई और सेठ चन्दूलाल शाह रोज़ सुबह अपना दरबार लगाते थे। फ़िल्म-लाइन की सब बड़ी-छोटी हस्तियां उनके दर्शन करने आती थीं। जिसे विशेष सम्मान देना होता, उसे सेठजी खाने के लिए रोक लेते। शाम को सेठजी अपनी पेढ़ी पर चले जाते- सट्टे के कारोबार के सिलसिले में। फिल्मों और सट्टे में उन्होंने करोड़ों रुपये कमाए थे, और करोड़ों ही हारकर बैठ गए थे।

उनका बादशाहों का सा मिज़ाज था। रेस के घोड़ों के साथ उनकी फ़ोटो आए दिन समाचार-पत्रों में छपती थीं। उनका छः फुट से ऊंचा कद था, मीठी मनमोहक मुस्कराहट, और चांदी-से सफ़ेद बाल थे। अनवर हुसैन उन्हें प्यार से 'नेगेटिव प्लेट' कहकर बुलाते थे।

वह बात मशहूर थी कि एक बार रेस के बाद पूना से बम्बई लौटते समय सेठजी अपनी पूरी फ़िल्म हार आए थे। और एक शीशमहल का दृश्य लेने के लिए उन्होंने संगमरमर के बुतों के बजाय सैट पर नंगी लड़कियां खड़ी की थीं। और भी कई किस्म की कहानियां-सच्ची या झूठी-उनके बारे में प्रचलित थीं।

सेठजी के दिल में कलाकारों के लिए बहुत कद्र थी। मेरे काम के बारे में उनकी चाहे जो राय रही हो, मेरे साथ उनका सलूक बहुत अच्छा था। काण्ट्रैक्ट करते समय उनके साथ मेरी बड़ी दिलचस्प बातचीत हुई थी। उस समय ज़िया भी पास बैठे हुए थे।

सेठजी ने कहा, "भाई सच्ची बात तो यह है कि तुम हमको इस रोल के लिए पसन्द नहीं हो। पर चलो, डाइरेक्टर तुमको ही मांगता है, तो इसमें हम क्या कर सकते हैं ! बताओ, तुमको क्या दें ?"

मैंने कहा, "मैं तो, सेठजी, बताने की पोज़ीशन में नहीं हूं। आप जो देंगे, ले लूंगा।"

"नहीं-नहीं, अब जो तुम्हें ले ही रहे हैं, तो हम चाहेंगे कि तुम ख़ुशी-ख़ुशी काम करो।"

"दस हजार दे दीजिए," मैंने कुछ क्षण सोचने के बाद कहा।

"दस?" सेठजी हंस पड़े। "हमने तो पांच सोचा था। पर पांच और दस में कौन-सा बड़ा फर्क है ! तुम दस से खुश होते हो, तो हम दस ही दे देंगे।"

मेरा हौसला बढ़ा, और मेरे मुंह से निकला, "सेठजी, आप कुछ भी दें, पर मेरी दरख्वास्त है कि मुझे बाकायदा हर महीने किस्त मिलती रहे। मेरे सिर पर कर्ज़ है, और मैं बड़ी मुश्किल के दौर में से गुज़र रहा हूं।"

"अच्छी बात है। तुम्हें हर महीने के पहले हफ्ते डेढ़ हज़ार रुपये मिल जाया करेंगे।" उसी समय उन्होंने मैनेजर को बुलाकर इस बारे में हिदायत दे दी।

उन दिनों सेठजी ख़ुद भी मुश्किल के दौर में से गुज़र रहे थे। इसीलिए वे अपनी आदत के उलट छोटे बजट की फ़िल्म बना रहे थे। 'हम लोग' के दूसरे कलाकारों को आज तक पैसे नहीं मिले, पर मेरे साथ सेठजी ने अपना वादा पूरी तरह निभाया।

उन दिनों राजकुमार पुलिस-इंस्पेक्टर थे। मैं उन्हें कई मौकों पर सेठजी के पास बैठे देखता। पुलिस की वर्दी में वे बहुत ही सुन्दर लगते थे। राजेन्द्र कुमार भी सेठजी के यहां बहुत चक्कर लगाया करते थे। इससे मुझे अनुमान होता है कि मेरे साथ काण्ट्रैक्ट करने के बाद भी सेठजी ज़िया को सही रास्ते पर लाने की कोशिशें करते रहे होंगे।

एक दिन शॉट के दौरान दुर्गा खोटे ने मेरे कान में कहा, "तुम्हारे डायलाग कुछ फ़्लैट हो रहे हैं।" यह सुनकर पहले तो मेरे आत्मविश्वास का बुर्ज ढहने लगा, पर फिर मैं संभल गया। मुझे महसूस हुआ कि नागरत की तरह उन्होंने भी मुझपर कृपादृष्टि की है। मुझे उनका आभारी होना चाहिए। कभी डेविड ने भी तो इसी तरह मुझे सही रास्ता दिखाया था। कितना काम आ रहा था उनका दिया सबक ! मैं अपनी रिहर्सलों और 'टेकों' का ख़ुद आलोचक बन गया। दुर्गा खोटे ने बिलकुल ठीक कहा था। मैं सारे वाक्य एक ही सुर में बोले जाता था; उनमें वे उतार-चढ़ाव गायब थे, जो कि स्वाभाविक बोलचाल में ज़रूरी हैं।

अब मैं रिहर्सल से पहले एक कोने में चला जाता, डेविड के बताए तरीके के मुताबिक संवाद अपने दिमाग में बैठाता, और दुर्गा खोटे की बात ध्यान में रखकर उतार-चढ़ाव पर गौर करता, ताकि उनके अन्दर छिपे हुए भाव भी साकार हों।

मैंने एक और कसौटी ढूंढ़ ली थी। मैं ख़ुद से पूछता कि अगर यही संवाद मुझे पंजाबी में बोलने हों, तो कैसे बोलूंगा? पंजाबी मेरी मातृभाषा है और वह हिन्दी के बहुत निकट है। इस प्रकार स्वाभाविक ढंग से संवाद बोलने के रास्ते में मैं एक कदम और आगे बढ़ सका।

इसी तरह कुछ ज़िया की, कुछ अपने साथियों की, और कुछ स्टूडिओ के सुखद वातावरण की सहायता से मेरा काम ज़ोर पकड़ता गया, और फ़िल्म के बारे में भी अच्छी बातें कानों में पड़ने लगीं।

स्टूडिओ के वातावरण के बारे में एक बात स्पष्ट करना चाहता हूं कि वह सबके लिए एक-सा सुखद नहीं होता। उदाहरणार्थ, ज़िया फिल्म के एडीटर के लिए एक आदमी बाहर से लाए थे, जिसकी वे बहुत तारीफ़ें करते थे, और उसे फ़िल्म इण्डस्ट्री के सबसे बढ़िया एडीटरों में गिनते थे।

बदकिस्मती से उस एडीटर के पिता दिल का दौरा पड़ने के कारण पूरे हो गए। उसके पास अन्तिम संस्कार के लिए भी पैसे नहीं थे। अपनी सहायता के लिए वह स्टूडिओ आया। सुबह के दस बजे से शाम के चार बजे तक वह पैसों के इन्तज़ार में बैठा रहा। स्टूडिओ के अन्दर हमारी शूटिंग निर्विध्न चलती रही।

उस एडीटर के दिल-दिमाग को बहुत गहरा सदमा पहुंचा। 'हम लोग' के बाद उसने काम छोड़ दिया और नीम पागल सा हो गया। वह दिन-रात शराब पीने लगा, और हर जगह निःसंकोच होकर भीख मांगने लगा। आखिर उसकी हालत बहुत ही खराब हो गई। मैं तरस खाकर कभी उसकी थोड़ी-बहुत मदद कर देता। पर इससे उसका फ़ायदा नहीं बल्कि नुकसान ही होता था। आखिर मैंने उसे पैसे देने बन्द कर दिए। अब कई सालों से उसे देखा नहीं है। पता नहीं वह ज़िन्दा है या मर गया है।

टैक्नीशियनों और मज़दूरों का ऐसी हालत में से गुज़रना हमारी फ़िल्म इण्डस्ट्री की पुरानी रवायत है।

स्टूडिओ के एक मेक-अप-रूम में मैंने मुग़ल ढंग की एक जरीदार पगड़ी एक तरफ़ फ़र्श पर पड़ी हुई देखी। मुझे बड़ा अजीब-सा लगा। मेक-अप-मैन ने बताया कि 'शाहजहां' फ़िल्म की शूटिंग के समय के०एल० सहगल यही पगड़ी सिर पर रखा करते थे। सुनकर दुःख हुआ। दूसरे देशों में ऐसी निशानियों को बड़े प्यार और आदर से संभालकर रखा जाता है। मुझे एक कहावत याद आई, जो मेरी माताजी प्रायः दोहराया करती थीं : 'आज नहीं तो कभी भी नहीं।'

उस मेक-अप-मैन का नाम स्वामी था। उसने अपने बारे में भी मुझे बड़ी दिलचस्प बात बताई। वह थाना में रहता था, जो बम्बई से लगभग पच्चीस मील दूर एक छोटा-सा शहर है। सुबह जब वह काम के लिए रवाना होता था, तो उसके बच्चे सोए हुए होते थे। रात को जब घर काम से लौटता था, तो भी बच्चे खा-पीकर सो चुके होते थे। उसने अपने बच्चों को सिर्फ़ सोने की हालत में ही बढ़ते हुए देखा था। उस ज़माने में स्टूडिओ

में इतवार की छुट्टी नहीं होती थी। आजकल महीने में एक इतवार की छुट्टी ज़रूर होती है।

'हम लोग' लगभग छः महीने में पूरी हुई। जिस शाम को स्टूडिओ में उसकी पहली 'ट्रायल' हुई, मेरी अजीब-सी हालत थी। मेरा शरीर तप रहा था, जैसे बुखार हो। कहानी का कोई सिर-पैर मेरी समझ में न आया, क्योंकि मैं सिर्फ़ अपना काम देख रहा था और उसमें मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था। फ़िल्म ख़त्म होने पर कोई कुछ न बोला। बड़ी डरावनी चुप्पी थी वह। पर स्टूडिओ के अहाते में कन्हैयालाल ने मुझे एक तरफ़ ले जाकर कहा, ''मार दी!'' और फिर मेरी बांह को ज़ोर से दबाया। मैं सोचता रह गया-क्या मतलब ?

फ़िल्म बम्बई के लिबर्टी सिनेमा में लगी, जो उन दिनों नया ही बना था। नामी कलाकार उसमें न होने के कारण तीन-चार हफ़्ते वह नरम गई। पर बाद में उसने बेहिसाब ज़ोर पकड़ लिया। लिबर्टी सिनेमा के कर्मचारियों को वह इतनी पसन्द आई कि वे टिकट-बुक हाथ में लेकर गली-गली में खुद टिकटें बेचने लगे। सारे बम्बई शहर में 'हम लोग' कम्युनिस्ट फ़िल्म कहलाने लगी, और मुझे 'कम्युनिस्ट ऐक्टर' कहा जाने लगा।

फ़िल्म रिलीज़ होने के अगले दिन सेठ चन्दूलाल शाह ने मुझे बड़े प्यार से अपने पास सोफ़े पर बैठाकर कहा, ''बलराज, तुम इण्डस्ट्री में हीरो नहीं, कैरेक्टर हीरो के तौर पर कामयाब हुए हो। इसका यह मतलब है कि बुढ़ापे तक तुम्हें काम मिलता रहेगा। हीरो की फ़िल्मी ज़िन्दगी बहुत लम्बी नहीं होती।''

हिन्दी फ़िल्मों में बड़े पक्के खाने बने हुए है। सामाजिक फ़िल्म, स्टंट फिल्म, हीरो, कैरेक्टर हीरो, साइड हीरो, कैरेक्टर आर्टिस्ट, डीसेंट एक्स्ट्रा, एक्स्ट्रा...आदि। एक ख़ाने से कूदकर दूसरे खाने में जाना बहुत मुश्किल है।

मैं भी एक ख़ाने में पड़ गया। सड़कों पर लोग मुझे पहचानने लगे। एक बार किसी फ़िल्म के प्रीमियर पर लड़कियों की एक टोली आटोग्राफ लेने के लिए मेरे पास आई। मैंने बड़े शौक से जेब में से पैन निकाला। उसी समय लड़कियों की नज़र राजकपूर पर पड़ी, तो वे आटोग्राफ-बुक मेरे हाथ से छीनकर उनकी ओर दौड़ पड़ीं।

एक दिन एक रेस्तरां में हितेन चौधरी, जिनके यहां मैंने कड़की के ज़माने में काफ़ी चक्कर लगाए थे, मेरे पास आकर बोले, ''क्यों बलराज, हाऊ इज़ इट फील टु बी सक्सेसफुल?'' (कामयाब होना कैसा लग रहा है?) मुझसे कुछ उत्तर देते न बना। नये और दिलचस्प तजरुबे थे वे !

६

'हम लोग' की सफलता के कुछ मनोरंजक नतीजे भी सामने आए। शाहों के शाह, सेठ चन्दूलाल शाह ने एक नई-नवेली हिलमैन मिंक्स कार ड्राइवर समेत ज़िया सरहदी को तोहफ़े के तौर पर दी। ज़िया का अहंकार, जो पहले से ही सीढ़ी के ऊपरी डंडे तक पहुंच चुका था, अब आसमान छूने लगा। वे जुहू में हमारा पड़ोस छोड़कर कोलाबा के एक होटल में जाकर रहने लगे। मैं एक-दो बार उनसे मिलने गया, पर उन्हें अच्छा नहीं लगा। मैंने जाना छोड़ दिया। ऐसी बातों का अब मैं आदी हो चला था।

पर सेठ चन्दूलाल शाह से बढ़कर कम्युनिस्ट पार्टी ने ज़िया सरहदी को उछाला। उसे लगा, जैसे 'समाजवादी यथार्थवाद' का मसीहा प्रकट हो गया हो। ज़िया को सम्मान देने के लिए नागपाड़ा के एक बड़े मैदान में शानदार जलसा किया गया। वहां बहुत बड़ा मंच बनवाया गया, जिसके पीछे सिनेमा के पर्दे जितनी बड़ी सफ़ेद चादर पर दो चित्र बने हुए थे-एक कामरेड स्तालिन का, और दूसरा कामरेड ज़िया सरहदी का। बाद में पता लगा कि यह सारा ख़र्च ज़िया ने खुद किया था।

मंच पर सबके बीच में कामरेड डांगे बैठे हुए थे। उनके दायें हाथ ज़िया और 'हम लोग' के सितारे थे : नूतन, श्यामा, सज्जन, दुर्गा खोटे, कन्हैयालाल, अनवर हुसैन, और मैं। बायें हाथ थे : अली सरदार जाफ़री, मुगनी अब्बास, साबिर और कुछ अन्य प्रगतिशील लेखक।

कामरेड डांगे ने अपने भाषण में ज़िया सरहदी की तो प्रशंसा करनी ही थी, उस मौके को मेरे कान खींचने के लिए भी इस्तेमाल किया। उन्होंने मेरी ओर संकेत करते हुए कहा :

"कभी यह भी हमारे साथ थे। अब साथ छोड़ गए हैं। ख़ैर, कोई बात नहीं ।..."

कुछ सीटियां बजीं, एक-दो आवाज़े 'शेम ! शेम !' की भी आई। तभी कामरेड डांगे को अपनी गलती का अहसास हुआ और उन्होंने झट भाषण का रुख मोड़ दिया। मैंने ईश्वर का शुक्र मनाया और सिर झुकाए बैठा रहा।

'हम लोग' में सारे यूनिट ने एकसाथ मिलकर भ्रातृभाव से काम किया था। सबको आंशा थी कि भविष्य में यह यूनिट और भी मज़बूत होगा, और 'हम लोग' से भी बढ़िया सामाजिक फ़िल्में बनाएगा। मुझे तो ऐसा लगता था, जैसे एक पराई दुनिया में मनमर्ज़ी का ठिकाना मिल गया हो। इसमें शक नहीं कि ज़िया ने मुझे बहुत सभांला और सम्मान दिया था। पर लिखने के काम में उन्होंने 'बाज़ी' में मेरी जितनी मदद की थी। 'हम लोग' का मुख्य पात्र ज़िया ने अमरीकी नाटक, 'टोबैको रोड' में से लिया था, पर उसे हिन्दुस्तानी परिस्थितियों के अनुसार ढालने में उन्हें मुश्किल पेश आ रही थी। इस सिलसिले में मेरी राजनैतिक और सामाजिक सूझबूझ उनके बहुत काम आई थी। फ़िल्म का क्लाइमेक्स लिखने के लिए, जो लोगोंको बेहद पसन्द आया था, ज़िया, किशन चोपड़ा और मैं रात-भर इकटठे जागे थे। अदालत में मेरा भाषण फ़िल्म का सबसे बड़ा आकर्षण था, जिसे बार-बार देखने के लिए लोग टिकट खरीदते थे। 'टाइम्स आफ इण्डिया' की समालोचक, क्लेयर ने, जिनकी याद में 'फ़िल्म फ़ेयर अवार्ड' की स्थापना की गई थी, मुझमें ओवर एक्टिंग का नुक्स ज़रूर निकाला था, लेकिन साथ ही लिखा था कि मेरा पात्र कभी भुलाया नहीं जा सकता।

ज़िया सरहदी को अगली फ़िल्म 'फुटपाथ' में मुंहमांगी मुरादें मिलीं- दिलीपकुमार और मीनाकुमारी जैसे सितारे, खर्च करने के लिए बेहिसाब पैसा, और सैद्धान्तिक विचार-विमर्श के लिए कम्युनिस्ट पार्टी के प्रसिद्ध विद्वान-अली सरदार जाफ़री, रमेश थापर, गवानकर आदि।

पर अफ़सोस कि इन सारी सहूलतों के बावजूद 'फ़ुटपाथ' बुरी तरह फेल हुई। समाजवादी यथार्थवाद का किला मज़बूत न हो सका। सेठ चन्दूलाल शाह तो हमेशा के

लिए खत्म हो गए। उनका स्टूडिओ बन्द हो गया और टैक्नीशियनों और मज़दूरों पर मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ा।

उधर 'बाज़ी' की सफलता अपने करिश्मे दिखा रही थी। देखते-देखते देव आनन्द, गीता बाली, गुरुदत्त, साहिर लुधियानवी, सचिन देव बर्मन प्रसिद्धि के शिखर पर जा बैठे, और अपनी-अपनी पीठ थपथपाने लगे। उनका गुणगान करने के लिए फ़िल्मी पत्रिकाएं भी हाज़िर हो गई। भला इस नक्कारखाने में एक अज्ञात लेखक की तूती कैसे बज सकती थी? आज भी, जब मैं किसी को बताता हूं कि 'बाज़ी' की पटकथा और संवाद मैंने लिखे थे, तो वह हैरानी से मेरी ओर देखने लग जाता है।

चेतन आनन्द ने अपनी अगली फ़िल्म की पटकथा और संवाद लिखने के लिए मुझे छः हज़ार रुपये देने की बात की। पर 'हम लोग' के बाद बीस-बीस हज़ार रुपये की पेशकशें मेरे गिर्द घूमने लगी थीं। फ़िल्मी लेखकों की बेकद्री मैं देख ही चुका था। सो मैंने चेतन की बात बेदिली से ही मंजूर की।

पर चेतन की पेशकश का एक और महत्त्वपूर्ण पहलू भी था। वे अगली फ़िल्म का निर्देशन मुझे दे रहे थे, जिसके लिए एक हज़ार रुपये माहवार मुझे अलग मिलने थे। आज जब मैं पीछे की ओर देखता हूं, तो इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि उस समय चेतन मुझपर बहुत बड़ा अहसान कर रहे थे। अभिनेता बनने के बजाय लेखक और निर्देशक बनना मेरे स्वभाव के बहुत अनुकूल था। अगर मैं अच्छा निर्देशक बन जाता, तो फिर अपने विचारों के अनुसार, अपनी मर्ज़ी की फ़िल्में बना सकता। तब मैं आज की तरह हिन्दी फ़िल्मों के घटियापन के रोने रो-रोकर दिल की भड़ास न निकालता, बल्कि उन्हें मोड़ देने की कोशिश कर सकता। मैं अभिनय और लिखने का अनुभव तो प्राप्त कर ही चुका था, अगर निर्देशक के तौर पर भी एक बार सफल हो जाता, तो आज की तरह फ़िल्मों में से भाग निकलने के सपने देखने की शायद ज़रूरत न पड़ती।

मैंने नई फ़िल्म की कहानी पर दो-तीन महीने काम किया। उसका नाम हमने 'सोलह आने' रखा। पर एक्टिंग की पेशकशें मेरा ध्यान अपनी ओर खींच रही थीं। फिर, कुछ और उलझनें उठ खड़ी हुई, जिनका ज़िक्र यहां करने की ज़रूरत नहीं है। आखिर उस फिल्म की योजना ठप कर दी गई।

ऊपर से मज़े की बात यह कि 'हम लोग' का उबाल ठंडा पड़ते ही एक्टिंग की पेशकशें भी झट ठंडी पड़ गई। मुश्किल से एक फ़िल्म मिली- 'बदनाम', जो डी०डी०कश्यप फिल्मिस्तान के लिए बनाने वाले थे। उस फ़िल्म में श्यामा हीरोइन थी और मैं हीरो था। शीला रमानी और हेलेन भी उस फ़िल्म में पहली बार आई।

हेलेन उस समय चौदह-पन्द्रह साल की बड़ी ही सुन्दर लड़की थी- बस, गुड़िया-सी लगती थी। वह अपनी मां के साथ बर्मा से नई-नई आई थी। उस समय उसे न नाचना आता था, न हिन्दी बोलनी आती थी। शिक्षा की ओर से भी वह कोरी थी। लेकिन इस सब कुछ के बावजूद वह फ़िल्मी भेड़ियों को बहुत जल्द पहचान गई। मां को तो पैसों के लालच में भविष्य उजला प्रतीत हुआ, पर हेलेन को नहीं। वह जल्दी ही अपनी मां से पीछा छुड़ाकर प्रोडयूसर पी०एन०अरोड़ा के साथ जुड़ गई, यद्यपि वह उम्र में उसके पिता के बराबर थे। इस प्रकार वह न सिर्फ़ सुरक्षित होकर जीवन बिताने लगी, बल्कि नृत्य-कला

और अभिनय में भी उसने भरपूर विकास किया। मेरे दिल में हेलेन के व्यक्तित्व के लिए गहरा सम्मान है। अगर वह मां का कहना मानकर पैसा कमाने वाली मशीन बन जाती, तो कहीं की न रहती।

इसी फ़िल्म में उल्हास और मुराद भी महत्त्वपूर्ण रोल कर रहे थे। दोनों की ज़बान पर सरस्वती विराजमान थी। उन्हें सैकड़ों-हजारों की संख्या में शे'र याद थे। हिन्दी-उर्दू उनकी मातृभाषा थी। जब वे शराब के गिलास भरकर एक-दूसरे से चोंचबाज़ी करने लगते तो सुनने वालों पर जादू-सा तारी हो जाता। इसी तरह,के०एन० सिंह, हमीद बट्ट, कामेश्वर सहगल, कन्हैयालाल, और बद्री प्रसाद जैसे कलाकारों के मुंह से भी मैं शब्दों की फुलझड़ियां छूटती हुई देखता और महसूस करता कि मैंने बी०बी०सी० की नौकरी के ज़माने में यद्यपि हिन्दी-उर्दू पर बेहद मेहनत की थी, पर फ़िल्मी कलाकार कहलाने का मैं तभी हकदार हो सकता हूं, जब मैं इन लोगों जैसी सहजता, रवानी और सुन्दरता के साथ हिन्दी बोल सकूंगा। अभिनय के मामले में मैं आवाज़ से ज्यादा खेलने का हिमायती नहीं था, पर यह ज़रूर मानता था, और आज भी मानता हूं कि जिस भाषा में अभिनेता बनना हो, उसका, उसके उच्चारण का, उसकी शब्दावली और साहित्य का आदमी को माहिर होना चाहिए, वरना उसका विकास एक जगह पर आकर रुक जाने का खतरा है। इस बात को ध्यान में रखकर मैं लगातार अभ्यास करता था, और मुझे सफलता भी ज़रूर मिलती थी, पर फिर भी उल्हास या मुराद तक पहुंचने की आशा मैं एक जन्म में तो क्या दो जन्मों में भी नहीं कर सकता था। मुझे अपनी मातृभाषा पंजाबी की ओर प्रेरित करने के लिए उल्हास और मुराद का बहुत-सा हाथ है।

उस ज़माने में फ़िल्में रंगीन नहीं होती थीं। बजट भी मामूली होता था- मुश्किल से तीन-चार लाख रुपये। इसलिए आउटडोर शूटिंग के लिए कुल्लू-काश्मीर या लंडन-पेरिस जाने का रिवाज नहीं पड़ा था। बम्बई शहर से लगभग बीस मील दूर छोटी-मोटी पहाड़ियां और जंगल थे, जिन्हें चाइना ब्रिज या घोड़बन्दर कहते हैं। बरसात शुरु होने से एक महीना पहले आसमान में बादल दिखाई देने लगते थे। रंगीन फ़िल्म में नीला आसमान सुन्दर लगता है, लेकिन काली-सफेद फ़िल्में प्राकृतिक दृश्यों में बादल जान डाल देते हैं। इसीलिए सभी फ़िल्म-कम्पनियां उस ओर निकल पड़ती थीं। बड़ा ही ख़तरनाक समय होता था वह क्योंकि जहां बैठो च्यूटियां, मक्खियां, बिच्छू, सांप आदि से सामना हो जाता था। एक दिन आम के पेड़ों से घिरे हुए एक बहुत बड़े पोखर के पास तीन-चार फिल्मों के 'लव-सीन' (प्रेम-दृश्य) फ़िल्माए जा रहे थे। बादल, पानी, जंगल-भला रोमांटिक वातावरण के लिए और क्या चाहिए था ! पानी को हिला-हिलाकर उसकी लहरों में झिलमिलाहट पैदा की जा रही थी। पर उस दिन दुर्भाग्यवश एक मेढक सांप के गले में फंस गया। उसकी चीखों ने लगभग दो घण्टे शूटिंग का काम बन्द किए रखा। कोयल कूक रही होती या बुलबुल बोल रही होती, तो और बात थी, पर सांप की वह आवाज़ तो प्रेम-दृश्यों के साथ बिलकुल मेल नहीं खाती थी।

एक दिन डी०डी० कश्यप ने (गवर्नमेंट कालेज, लाहौर में चेतन आनन्द और बी०आर०चोपड़ा की तरह वे भी मेरे सहपाठी थे) घोड़बन्दर की एक पहाड़ी जितनी बड़ी चट्टान पर कैमरा टिकाया। वह बड़ी खतरनाक जगह थी, जहां से नीचे गहरी खाई दिखाई देती थी।

"यहां कैमरा रखने का क्या मतलब हुआ, कश्यप साहब ?" मुराद ने पूछा।

"यहां हीरो और विलन की थोड़ी-सी फ़ाइट होती है- यानी आपकी और बलराज साहब की।"

मुराद चुपचाप खड़े अपनी बड़ी-बड़ी,नीली आंखों से बिटर-बिटर देखते रहे। फिर वे बोले, "आपका मतलब है कि बलराज साहब और मैं यहां खड़े होकर लड़ेंगे?"

"जी।"

"बात समझ में आ गई। अब मैं पूरी तरह से समझ गया, कश्यप साहब", मुराद ने कहा और उल्हास की ओर चल पड़े, जो दूर एक चबूतरे पर बैठे हुए थे। शराब का प्रबन्ध उल्हास ने पहले से ही कर रखा था। मुराद ने नौकरों को सोडा, बर्फ़, गिलास आदि लाने के लिए कहा।

उस जगह खड़े होकर मुक्केबाज़ी करने के खयाल से मुझे बेहद डर लग रहा था, लेकिन मुराद को इस प्रकार लापरवाह देखकर मैं चुप रहा और मेक-अप कराने लगा। जब मैं तैयार होकर फिर कश्यप के पास गया, तो मुराद और उल्हास अभी भी मज़े से बैठे खा-पी रहे थे।

कश्यप ने ऊंची आवाज़ में कहा, "मुराद साहब, आप भी तैयार हो जाइए।"

मुराद ने पहले तो जैसे सुना ही नहीं, फिर बड़े आराम से झूमते हुए कश्यप के पास आए।

"मुझे याद फरमाया, कश्यप साहब ?"

"जी हाँ। शॉट रेडी है।"

"शॉट?"

"बताया तो था आपको। बलराज साहब और आपके लड़ने का एक शॉट लेंगे यहां।"

"लड़ाई भी कई तरह की होती है, कश्यप साहब ! आपका मतलब किस किस्म की लड़ाई से है?"

"बस, यूं ही थोड़ी-सी मुक्केबाजी, जैसेकि आम फ़िल्मों में होती है," कश्यप ने हंसकर कहा।

"बात समझ में आ गई, कश्यप साहब ! अब मैं पूरी तरह से समझ गया," मुराद ने दांतों में दियासलाई घुमाते हुए कहा।

मैं बड़ी मुश्किल से अपनी हंसी रोक रहा था। "तो फिर आप तैयार हो जाइए न, वरना सूरज की पोज़ीशन बदल जाएगी।"

"मैं इस सिलसिले में आपसे कुछ अर्ज़ करना चाहूंगा, कश्यप साहब!"

"फरमाइए।"

"एक मुश्किल पेश आ रही है।"

"क्या ?"

''लड़ना तो एक तरफ रहा, कश्यप साहब, मुझ नाचीज़ से तो यहां खड़ा भी नहीं हुआ जा रहा है,'' मुराद ने कहा और वे अपना सफ़ेद कुर्ता-पाजामा झड़काते, बड़े आराम से चलते हुए फिर उल्हास के पास जाकर बैठ गए।

कुछ देर के बाद मैं उनके पास गया, तो उन्होंने मेरी ओर ध्यान नहीं दिया। मैंने साहस बटोरकर कहा, ''कश्यप साहब से कहकर अगर कैमरा थोड़ा पीछे हटा लिया जाए, तो फिर शॉट हो सकता है...''

''बलराज साहब, अच्छा यही रहता है कि इन्सान अपना खयाल करे और दूसरों के मामलें में दखल न दे।''

''लेकिन अगर काम पर आए हैं तो काम तो होना चाहिए।''

तब मुराद ने मेरी ओर मुड़कर ऐसा वाक्य कहा, जिसका मतलब मैं आज तक समझने की कोशिश कर रहा हूं।

''बलराज साहब, हमें इंडस्ट्री में काम करते हुए दस साल हो गए हैं, पर जब भी दुम उठाकर देखा है, घोड़ी ही नज़र आई है, घोड़ा आज तक नज़र नहीं आया।''

'बदनाम' की बहुत-सी आउटडोर शूटिंग मनाली में भी हुई। मेरे खयाल में इससे पहले कुल्लू-मनाली में कभी किसी फ़िल्म की शूटिंग नहीं हुई थी। कश्यप ने यह फ़िल्म के दृष्टिकोण से किया था या शीला रमानी को रिझाने के लिए, इस बारे में यूनिट के लोगों में अलग-अलग रायें थी। उन दिनों रास्ते बहुत ख़राब थे। खासकर मंडी के कुल्लू वाला रास्ता तो बहुत खतरनाक था। ऊपर से, फ़िल्मिस्तान के किसी अधिकारी ने सफर और रिहायश का ठेका पठानकोट के अपने किसी रिश्तेदार को दिला दिया था। उसने पैसे बचाने के लिए हमें एक निकम्मी-सी बस दी और ऐसे ड्राइवर के हवाले कर दिया, जिसने पहले कभी उस सड़क पर बस चलाई ही नहीं थी। हम व्यास दरिया की नज़र होते-होते बड़ी मुश्किल से बचे, फिर भी, उल्हास की मज़ेदार बातों ने हमारा हौसला बनाए रखा। वे जब व्यास को वी०एम०व्यास कहकर बुलाते, तो खतरे के बावजूद सबकी हंसी फूट पड़ती, क्योंकि वी०एम०व्यास फ़िल्म इंडस्ट्री के एक मशहूर और बेहद कंजूस निर्देशक का नाम था।

मनाली से लौटने पर मैं पहली बार पंजाबी के प्रसिद्ध उपन्यासकार, नानक सिंह के दर्शन करने के लिए अमृतसर गया।

उल्हास अब इस संसार में नहीं है। वे अद्वितीय व्यक्ति थे। उनके दोस्तों के लिए उन्हें भुला पाना बहुत मुश्किल है।

उन्हीं दिनों भगवान गार्गी ने मुझे फ़िल्म-अभिनय के बारे में एक पुस्तक पढ़ने के लिए दी, जिसका नाम था, 'माडर्न एक्टिंग'। वह हॉलीवुड के प्रसिद्ध अभिनेता, क्लार्क गेबल की पत्नी ने लिखी थी।

इस पुस्तक को पढ़ने पर मेरा बहुत नुकसान हुआ। वास्तव में, वह नौसिखिये कलाकारों के लिए नहीं, बल्कि सिद्धहस्त कलाकारों के लिए लिखी गई थी। उसमें बताया गया था कि फ़िल्म-अभिनेता के बाह्य लक्षणों और उसके व्यक्तित्व के प्रभावों को कैसे सुधारा जाए। वह यह मानकर लिखी गई थी कि अभिनेता ने अपने अन्दरूनी लक्षणों को साध लिया होगा। कैमरे के सामने हंसते समय किस प्रकार होंठों को दोनों ओर बराबर और सीधा

रखना चाहिए, उन्हें टेढ़ा नहीं होने देना चाहिए, वरना चेहरा रोनी सूरत वाला और कुरुप लगेगा। बोलते समय ऊपरी होंठ को ज़्यादा हरकत देनी चाहिए, ताकि निचले दांतों के बजाय ऊपरी दांत दिखाई पड़ें। अगर क्लोज़-अप में ऊपरी दांत अदृश्य हों और सिर्फ़ निचले दांत दिखाई दें, तो चेहरा डरावना लगेगा। क्लोज-अप में दायें-बायें देखना हो, तो पहले आंखों को और फिर गरदन को हरकत देनी चाहिए। कमरे में दाख़िल होने पर दरवाज़ा बन्द करना हो, तो मुड़े बिना हाथ पीछे करके बन्द करना चाहिए। कुर्सी पर कैसे बैठना-उठना चाहिए। अपनी चाल को कैसे आकर्षक बनाना चाहिए। बेशक वह एक बहुमूल्य पुस्तक थी। अच्छा अभिनेता बनने के लिए अपने चेहरे, बोलचाल, हर हरकतमें आकर्षण पैदा करना बहुत ज़रूरी है। क्लार्क गेबल ने अपनी संसार-प्रसिद्ध मुस्कराहट तैयार करने के लिए आईने के सामने महीनों तक अथक मेहनत की थी, ताकि वह स्वाभाविक और उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन जाए। और उसे मुस्कराहट पर लाखों स्त्रियां परवानों की तरह कुर्बान हुआ करती थीं। इसी तरह, दिलीपकुमार की बिखरी ज़ुल्फों का अंदाज़ और उनकी उदासी-भरी गहरी नज़र भी बड़ी मेहनत से तैयार की गई चीज़ें हैं। ज़िन्दगी में बहार ले आने वाली अशोक कुमार या देव आनन्द की हंसी के बारे में भी यह कहना ग़लत न होगा।

पर मेरे लिए वह पुस्तक 'समय से पहले' थी। उसने मुझे ग़लत रास्ते पर डाल दिया। 'हम लोग' में मैंने अपने भावों को समेटने और उन्हें केन्द्रित करके अपने अन्दर ले जाने का तरीका बड़ी मुश्किलों से सीखा था। इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना बाकी था। मेरी रुचि भी इसी ओर थी। अपनी शिक्षा और स्वभाव के कारण मेरी नज़र में आत्मप्रदर्शन अधिक महत्त्व नहीं रखता था।

पर 'हीरो' और 'स्टार' बनने का लालच किसे नहीं होता? मेरी भावनाएं फिर अन्दर से बाहर आने लगीं, मैं न इधर का रहा, न उधर का। कैमरे के सामने मैं क्लार्क गेबल की तरह हंसने की बहुत कोशिश करता, पर मेरे गाल सूखे चमड़े की तरह अकड़े रहते। इस बार क्लेयर ने मेरे बारे में लिखा : "ऐसा लगता है जैसे हीरो के बजाय कोई मुर्दा कब्र में से निकालकर लाया गया हो।"

'बदनाम' का रिलीज़ होना दिल तोड़ने वाला अनुभव था। मैं ऊपर उठते-उठते फिर नीचे आ गिरा। पर मेरे दोस्त, गुरुमुख सिंह ने, जो आजकल बेरूत में हिन्दुस्तानी फ़िल्मों के वितरक हैं, हाल में से बाहर निकलते ही मेरी तारीफ़ों के पुल बांध दिए । मैं जानता था कि उन्होंने यह सिर्फ़ दिखावे के तौर पर किया था; पर मैं उनका बहुत आभारी हूं कि उस समय मुझे सहारा देने वाला कोई दोस्त मेरे साथ था।

७

सुबह का समय था। मै समुद्र-तट पर बच्चों के साथ रेत के घरौंदे बना रहा था। तभी मैंने देखा, एक गोल-मटोल बंगाली बाबू अपनी धोती का सिरा पकड़े मेरी ओर आ रहा है। मैं उसे जानता नहीं था। (उस व्यक्ति का नाम असित सेन था, जो उन दिनों बिमल राय के सहायक निर्देशक थे; और बाद में हिन्दुस्तानी फिल्मों के प्रसिद्ध हास्य-अभिनेता बने।)

असित सेन ने मेरे बिलकुल निकट पहुंचकर उदास और नाकसुरी आवाज़ में कहा, ''बिमल राय दादा आपको याद कर रहे है। उन्हें फ़िल्म के बारे में बात करनी है।''

बिमल राय मुझे याद कर रहे हैं ! और वह भी फ़िल्म के बारे में बात करने के लिए। मैं विश्वास न कर सका। हां, एक बार वे 'हम लोग' के सैट पर आए थे, जबकि श्यामा के साथ मेरा 'लव-सीन' चल रहा था। उस दृश्य में श्यामा बिना किसी शर्मसंकोच के मुझपर झुकी जा रही थी, और मैं काठ की तरह अकड़ा हुआ था। मेरे उस घटिया अभिनय को देखने के बाद बिमल राय जैसे निर्देशक मुझे कभी अपनी फ़िल्म में लेना चाहेंगे, यह अनहोनी सी बात थी।

फिर भी, मैं जल्दी से तैयार होकर मोहन स्टूडिओ पहुंचा। अपने चेहरे पर मैंने हलका-सा पाउडर लगा लिया था और इंगलैंड का सिला सूट प्रेस करवाकर पहन लिया था, जो उस मौसम को देखते हुए काफ़ी भारी था।

जब मैं बिमल राय के कमरे में दाखिल हुआ, तो वे मेज़ पर बैठे कुछ लिख रहे थे। उन्होंने आंखें उठाकर मेरी ओर देखा, तो देखते ही रह गए। मुझे लगा, जैसे मैंने कोई कसूर कर दिया हो।

कुछ देर के बाद उन्होंने मुड़कर, अपने पीछे कुर्सियों पर बैठे, कुछ लोगों से बंगला में कहा, ''एईजे की चमत्कार मानुष! आमार शोंगे ढाढा कोरे छो की?'' (क्या अजीबो-गरीब आदमी पकड़ लाए हो ! मेरे साथ मज़ाक कर रहे हो क्या ?)

उन्हें शायद पता नहीं था कि मैं बंगला जानता हूं। उन्होंने मुझे बैठने को भी नहीं कहा। आखिर वे बोले, 'मिस्टर साहनी, मेरे आदमियों से ग़लती हुई है। जिस किस्म का पात्र मैं फ़िल्म में पेश करना चाहता हूं, आप उसके बिलकुल उपयुक्त नहीं है।''

इतना रूखा व्यवहार ! गैरत की मांग थी कि मैं उसी समय वहां से चला जाता। लेकिन मैं वहां जैसे गड़ा रहा। आसमान को पहुंची हुई आशाएं इनती जल्दी मिट्टी में मिल जाएंगी, इसके लिए मैं तैयार नहीं था।

''क्या पात्र है?'' मैंने गला साफ करते हुए पूछा।

''एक अनपढ़, गरीब देहाती का !'' बिमल राय के लहजे में व्यंग्य था।

मैंने फिर चाहा कि उलटे पांव वापस चला जाऊं, लेकिन पैरों ने हिलने से जवाब दे दिया, और कोई अदृश्य शक्ति उन्हें रोके हुए कह रही थी कि यह मौका दुबारा नहीं आएगा।

और उसी अदृश्य शक्ति ने मेरे मुंह से कहलवाया, ''ऐसा रोल मैं पहले कर चुका हूं।''

''कहां?''

''पीपल्स थियेटर की फिल्म, 'धरती के लाल' में।''

बिमल राय के चेहरे का भाव बदला। उनके पीछे बैठे लोगों ने भी जैसे सुख की सांस ली। तब उनमें बैठे सलिल चौधरी को मैंने पहचाना, जो ख़ुद 'इप्टा' (इंडियन पीपल्स थियेटर) के सदस्य थे, और जिनसे मैं एक-दो बार मिल चुका था। क्या पता, उन्होंने बिमल राय को मेरा नाम सुझाया हो।

"धरती के लाल में किस पात्र का रोल किया था?" बिमल राय ने पूछा।

"प्रधान के बेटे, निरंजन का। शंभु मित्रा उस फ़िल्म के सहयोगी निर्देशक थे। उन्होंने मेरी बहुत मदद की थी।"

"बोशो ।" बिमल राय ने कुर्सी की ओर संकेत करते हुए कहा।

'धरती के लाल' से भी ज़्यादा काम किया शंभु मित्रा के नाम के जादू ने। जैसे मैंने बिमल राय की निर्देशकीय योग्यता को चुनौती दी हो। मुझे रोल मिल गया।

स्टूडिओ के बगीचे में सीमेंट की एक बैंच पर बैठकर हृषीकेश मुकर्जी ने मुझे फ़िल्म की कहानी सुनाई। सुनाते समय उन्होंने मुझे भी रुलाया और ख़ुद भी रोए।

बम्बई शहर से बाहर जोगेश्वरी के इलाके में उत्तर प्रदेश और बिहार के भैंसें पालने वाले भैया लोगों की बहुत बड़ी बस्ती है। मैं अगले दिन से वहां के चक्कर लगाने लगा। मैं भैया लोगों के साथ बैठता, उनकी बातें सुनता, उन्हें काम करते हुए देखता। वे कैसे चलते हैं, क्या पहनते हैं, क्या खाते हैं, कैसे उठते-बैठते हैं- यह सब मैं बड़े गौर से देखता और अपने मन में बैठाता। भैया लोगों को सिर पर गमछा लपेटने का बहुत शौक होता है और हर कोई उसे अपने ही ढंग से लपेटता है। मैने भी एक गमछा खरीद लिया और घर में उसे सिर पर लपेटने का अभ्यास करने लगा। लेकिन वह ख़ूबसूरती पैदा न होती। मेरे सामने यह एक बहुत बड़ी समस्या थी, जिसे हल करने की मैंने पूरी कोशिश की। 'दो बीघा ज़मीन' में मेरी सफलता ज़्यादातर इसी अध्ययन का नतीजा है।

शूटिंग का दिन आ पहुंचा। इस बार मैं मन में डर लेकर नहीं, बल्कि उमंग से स्टूडिओ जा रहा था। मुझे अपनी पसन्द के मुताबिक काम मिल रहा था। मैंने बिमल-दा से प्रार्थना की कि मुझे ख़ुद अपना मेक-अप करने और कपड़े पहनने की इजाज़त दी जाए। वे मान गए। आखिर मैं 'शंभु महतो' बनकर किसानों के से अन्दाज़ में चलता हुआ उनके सामने गया, तो मुझमें पहले दिन वाले सूटेड-बूटेड आदमी की कोई बात बाकी नहीं थी। देखकर बिमल-दा बहुत ख़ुश हुए। वे अपनी खुशी कभी शब्दों द्वारा प्रकट नहीं करते थे। ऐसे मौकों पर उनका गोरा, गोल-सा चेहरा ज़रा-सा सुर्ख हो उठता था।

बिमल राय का निर्देशन बड़ा ही सूक्ष्म और कलात्मक था, यद्यपि उसमें बरूआ वाली शिद्दत नहीं थी। पहला शॉट था, जिसमें मैं ज़मींदार के दीवानख़ाने में दाख़िल होता हूं। रिहर्सलके समय बिमल राय ने मुझे हिदायत दी कि मैं पायदान पर पांव पोंछकर अन्दर जाऊं। इस यथार्थवादी स्पर्श ने मेरी कल्पना में पता नहीं और कितनी बातें जागृत कर दीं। मैंने सिर्फ पांव ही नहीं पोंछे, उस हरकत द्वारा यह भी दिखाया, जैसे किसान डर के मारे ज़मींदार के सामने पेश होने के मौके को टाल रहा हो। और मैंने देखा कि बिमल राय ने इस बात को भांप लिया था। हमारे बीच एक नई पहचान का रिश्ता पैदा होने लगा।

ज़मींदार का रोल मुराद कर रहे थे। उस दृश्य में कई शॉटों के दौरान, मुझे फिर अपनी ख़ामियों का अहसास हुआ- खासकर जब कैमरा मेरे बिलकुल नज़दीक आ जाता था। मैं अपना चेहरा जकड़ा हुआ महसूस करता। मैं वह चीज़ अभिव्यक्त न कर पाता, जो मैं अपने दिल में महसूस करता था। लेकिन स्टूडिओ का वातावरण शांत और सुखद

था, जो मुझे सहलाता हुआ प्रतीत होता था। इसके पूर्व मैंने शूटिंग के समय शोर-शराबा ही देखा था, जो मेरे होश ग़ायब कर देता था।

दृश्य के अन्तिम शॉट में मैं ज़मींदार के पांव पकड़कर गिड़गिड़ाता हूं कि वे मेरी ज़मीन न छीनें। 'टेक' से पहले बिमल राय ने मुराद के कान में कह दिया था कि जब मैं उनके पांव पकड़ूं, तो वे उसे ज़ोर से झटककर छुड़ा लें और कैमरे के दायरे से बाहर निकल जाएं। मुझे यह बात पता नहीं थी। सो, जब 'टेक' में मुराद ने झटककर अपना पांव छुड़ाया और वह मेरे मुंह पर आकर लगा, तो मैं ग़ुस्से और अपमान से बुरी तरह रो पड़ा। 'कट' होने के बाद भी मैं देर तक कालीन पर उसी तरह पड़ा सिसकियां भरता रहा। शॉट बहुत बढ़िया हुआ था। मुराद ने मुझे बाहों में लेकर माफ़ी मांगी और असली बात बताई। मैं बिमल राय का और भी कायल हो गया।

उसी दिन मेक-अप-मैन जगत बाबू से पता चला कि मेरे रोल के लिए अशोक कुमार, जयराज, भारत भूषण और अन्य कई प्रसिद्ध अभिनेताओं ने काफ़ी कोशिश की थी। यह भी पता चला कि कण्ट्रैक्ट होने के बाद भी मुझे हटाया जा सकता है। उस दिन की शूटिंग एक तरह से मेरी परीक्षा थी। मुझे लगा कि मैं पास हो गया था।

उसी दिन निरूपा राय भी सैट पर आई और हमारी पहली मुलाकात हुई। मैं उन्हें बहुत बड़ी फ़िल्मी अभिनेत्री समझे हुए था। (वास्तव में वे फ़िल्मों में नई-नई ही आई थीं।) जब उन्होंने कहा, "आपके साथ काम करने की मुझे बहुत ख़ुशी है," तो मैं समझा कि वे मेरा मजाक उड़ा रही है।

निरूपा राय का चुनाव भी बड़ी सावधानी और सोच-विचार के बाद किया गया था। निरूपा असल में किसान घराने की लड़की थीं। जो कुछ उन्हें फ़िल्म में करके दिखाना था, दो-तीन साल पहले तक वे अपने नित्यप्रति के जीवन में करती रही थीं। मैं जहां अध्ययन और अभ्यास करके किसान बन रहा था, वहां निरूपा जन्म से किसान थीं। फ़िल्म में यथार्थ का रंग ज़्यादातर उन्हीं के कारण आया था। दर्शकों ने इस बात को महसूस ज़रूर किया था, पर वे इसका विश्लेषण नहीं कर पाए थे। पति-पत्नी के रूप में हमारी जोड़ी इतनी जमी की फ़िल्मों में आज तक चली आ रही है।

दो-तीन महीने तक शूटिंग का काम बहुत अच्छी तरह चलता रहा। किसानों की वेशभूषा और चाल-ढाल तो मैं अपना चुका था लेकिन किसानों की बोल-चाल कहां से लाता? हां, यह मैं जान गया था कि संवाद एकदम स्वाभाविक ढंग से बोलने हैं। तब इतना कर पाना ही मेरे लिए बहुत था। जहां मुश्किल पेश आती, मैं दिलीपकुमार की नकल करता। फ़िल्म के संवाद-निर्देशक, पॉल महेन्द्र मुझपर खुश नहीं थे। उनके निर्देशन पर 'न्यू थियेटर्स' की शैली का बहुत असर था। मेरी नज़र में वह शैली पुरानी पड़ चुकी थी। पूर्णतः स्वाभाविक तो वह कभी भी नहीं थी, हालांकि उसमें स्वाभाविकता का दिखावा था। पॉल महेन्द्र मुझे अलग बैठाकर टोकते। मेरे कारण फ़िल्म के फेल हो जाने का ख़तरा उन्हें डरा रहा था। पता नहीं, यह खतरा और किस-किसको डरा रहा था। मैंने तो अपने-आपको बिमल राय के साथ समस्वर कर लिया था, और वे मुझे पूरी तरह संतुष्ट लगते थे। मेरा दिल भी गवाही दे रहा था कि मैं ठीक रास्ते पर चल रहा था।

कलकत्ता की आउटडोर शूटिंग का समय आ पहुंचा। वहां मुझे रिक्शा चलाना था। मैं और मेरी पत्नी यूनिट के अन्य साथियों से तीन-चार दिन पहले ही कलकत्ता के लिए रवाना हो गए- खास तौर पर रेलगाड़ी के तीसरे दर्जे के डिब्बे में। मैं अपने पात्र को पूरी तरह अनुभव करना चाहता था। मैं रास्ते में किसानों को गाड़ी में चढ़ते, उतरते, बैठते, लेटते देखना चाहता था, क्योंकि बाद में ऐसा एक दृश्य फिल्माया जाना था।

कलकत्ते में मैं रिक्शेवालों की यूनिट के दफ्तर में गया। वहां के एक साथी ने मुझे एक ही दिन में रिक्शा चलाने के सभी गुर सिखा दिए। हाथ-रिक्शा चलाना साइकल-रिक्शा चलाने से आसान है, मगर इसमें मेहनत इतनी करनी पड़ती है कि अंग-अंग टूटने लगता है। फिर कलकत्ता की धनी और तेज़ रफ्तार भीड़ में तो बहुत संभलकर चलना पड़ता है।

शूटिंग शुरु होने से पिछली शाम को मैं और मेरी पत्नी शिशिर भादुड़ी का नाटक 'चन्द्रगुप्त' देखने गए। नाटक के क्षेत्र में स्वर्गीय शिशिर भादुड़ी का वही स्थान है, जो साहित्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का। उनके अभिनय को यूरोप और अमरीका में भी सम्मान मिला है।

उनका उच्चकोटि का, नितांत सहज-स्वाभाविक, सरल, और प्रयत्नहीन अभिनय देखकर मेरा आत्मविश्वास, जो मैंने बड़ी कठिनाई से प्राप्त किया था, फिर से डगमगा उठा। उस रात मैं सो न सका। रह-रहकर मुझे लगता कि मैं अभिनय-कला में बिलकुल कोरा हूं। अपने को हौसला देने की मैंने काफ़ी कोशिश की, पर कोई लाभ न हुआ।

अगले दिन विक्टोरिया मेमोरियल के आस-पास शूटिंग आरंभ हुई। देखते-देखते मेरी फिर वही हालत हो गई, जो 'हम लोग' के शुरु के दिनों मे थी। मुझे अपने संवाद भूल-भूल जाते। जो कुछ भी मैं कहता-करता, मुझे गलत महसूस होता। मैंने दिलीप कुमार का सहारा लेना चाहा। लेकिन उनकी जगह शिशिर भादुड़ी सामने आ खड़े हो जाते। मैं उन दोनों की तरह बोलने, हरकतें करने का यत्न करता। दो मौलानाओं के बीच मुर्ग़ी हराम होने वाली बात थी।

बिमल राय हैरान थे। "क्या बात है? तबीयत ठीक नहीं है क्या ?" उन्होंने पूछा।

"हां। मैं रात ठीक से सो नहीं पाया।"

वे शायद असली बात भांप गए थे। मुझे वहीं छोड़कर वे चौरंगी में कुछ शॉट लेने चले गए। मेरा सिर बुरी तरह चकरा रहा था। मैं हताश होकर अपने रिक्शे में ही बैठ गया। इतने में एक अधेड़ उम्र का रिक्शेवाला, जो दूर खड़ा हमारा तमाशा देख रहा था, मेरे पास आया। उसका हुलिया जोगेश्वरी के भैया लोगों से काफी मिलता था; लेकिन सेहत से वह बहुत कमज़ोर था- पीले, कमज़ोर दांत बाहर की ओर निकले हुए, झुर्रियां-भरे चेहरे पर कई दिनों की बढ़ी हुई दाढ़ी, जो बीच-बीच में सफेद हो चुकी थी।

"इधर क्या होता है, बाबू?" उसने पूछा।

"फ़िल्म उतार रहे हैं," मैंने बताया।

"तुम फ़िल्म में पार्ट करते हो ?"

"हां।"

"क्या पार्ट करते हो ?"

यह सोचकर कि उससे बातें करने से मन दूसरी ओर लगेगा, मैं उसे फ़िल्म की कहानी सुनाने लगा, जैसे कभी हृषीकेश मुकर्जी ने मुझे सुनाई थी। उसपर भी वही प्रतिक्रिया हुई। उसकी आंखों से आंसू झरने लगे। फर्क सिर्फ़ यह था उसे वह अपने ही जीवन की कहानी महसूस हो रही थी।

उसने मुझे बताया कि बिहार के किसी गांव में उसकी भी दो बीघा ज़मीन थी, जो पन्द्रह साल से ज़मीदार के पास बंधक पड़ी थी। उसे छुड़ाने के लिए वह पन्द्रह साल से कलकत्ते में रिक्शा चला रहा है। पर अब उसे कोई आशा नहीं है कि वह कभी उसे छुड़ा सकेगा। मेरे पास खड़ा वह कुछ देर तक ठंडी सासें लेता रहा और फिर वह यह कहता हुआ चला गया, ''यह तो मेरी कहानी है, बाबू ! यह तो मेरी कहानी है।''

मेरे भीतर से एक नई आवाज़ उठी- अभिनय-कला की ऐसी की तैसी ! शिशिर भादुड़ी की ऐसी की तैसी ! दिलीपकुमार की ऐसी की तैसी ! मेरे जैसा ख़ुशकिस्मत और कौन होगा, जिसे एक दुःखी, लाचार इन्सान की कहानी दुनिया को सुनाने का मौका मिला है। यह ज़िम्मेदारी मुझपर डाली गई है, चाहे मैं उसे पूरा करने के योग्य हूं या नहीं। कुछ भी हो, इसे पूरा करने के लिए मुझे अपनी सारी शक्ति लगानी होगी। कर्तव्य से मुंह मोड़ना कायरता होगी, पाप होगा।

तब मैंने उस अधेड़ उम्र के रिक्शेवाले की आत्मा जैसे अपने अन्दर समा ली, और अभिनय-कला के बारे में सोचना बिलकुल छोड़ दिया। मैं समझता हूं कि मेरे उस रोल की अप्रत्याशित सफलता का असली रहस्य इसीमें है। किसी पुस्तक में से नहीं, बल्कि जीवन में से अभिनय-कला का एक बुनियादी उसूल अचानक ही मेरे हाथ लग गया था : जिस पात्र का रोल करना है, अभिनेता उसके साथ जितना ही अभिन्न हो जाएगा, उतना ही सफल होगा। अर्जुन ने तीर चलाते समय सिर्फ मछली की आंख देखी थी, जोकि उसका लक्ष्य था।

'अमृत बाज़ार पत्रिका' के समालोचक ने मेरे उस रोल के बारे में लिखा था : ''बलराज साहनी के अभिनय में प्रतिभा का स्पर्श है।' वह स्पर्श मुझे उस अधेड़ रिक्शेवाले ने दिया था।

सोवियत रूस के एक फ़िल्मकार ने कहा था, ''बलराज साहनी के चेहरे पर एक संसार चित्रित है।'' वह संसार भी उस अधेड़ रिक्शेवाले का ही था। यह शर्म की बात है कि आज भी, आज़ादी के पचीस साल बाद भी, वह संसार बदला नहीं है।

कलकत्ता की शूटिंग के दौरान में और भी कई घटनाएं हुई, जिन्होंने मेरे जीवन-अनुभव को समृद्ध बनाया।

हावड़ा-पुल पार करके शहर की ओर आते हुए पहले एक बहुत बड़ा गोलाकार चौराहा आता है जिसमें से बड़ा बाज़ार और दूसरी सड़कें निकलती है। वह चौराहा सीमेंट का बहुत बड़ा टापू सा है, जहां दिन-रात लावारिस और दुतकारे हुए कंगाल इन्सान बसेरा करते हैं।

बिमल राय ने कैमरा ट्रैफ़िक-कंट्रोल के ऊंचे कैबिन पर लगावाया था, जहां से चौराहे का पूरा दृश्य दिखाई देता था। मुझसे कहा गया था कि इशारा मिलते ही मैं देहाती लोगों की सी घबराहट में हावड़ा-पुल की ओर से आऊं और चौराहे के उन कंगाल लोगों में से

गुज़रूं। बहुत महत्त्वपूर्ण शॉट था वह। मेरी कहानी मानो सिर्फ़ मेरी नहीं, उन अभागे इंसानों की भी कहानी थी।

मुझे घबराहट का दिखावा-भर करना था ; लेकिन लोगों की भाग-दौड़ को देख मैं सचमुच घबरा गया। मैं चौराहे के पास पहुंचा ही था कि अचानक एक ट्राम आ धमकी, और मैं उसके नीचे आते आते बचा। ऐन मौके पर मैं लाइन तो पार कर गया ; लेकिन मेरे हाथ में पकड़ी हुई लाठी का निचला सिरा सीमेंट के चबूतरे से टकरा गया, और मै चारों खाने चित गिर पड़ा। साथ ही, मेरा बेटा (रतनकुमार) भी गिर पड़ा, जिसने मेरी उंगली पकड़ रखी थी। लाठी के सिरे पर टंगी हुई कपड़ों की गठरी दूर जा गिरी। ड्राइवर ट्राम रोककर मुझे तोल-तोलकर गालियां देने लगा। यह सोचकर कि कैमरा चल रहा होगा और मेरे गिरने से शॉट में और भी सुंदरता पैदा हुई होगी, मैं जल्दी से उठा और बच्चे को पकड़कर फिर आगे चल पड़ा। अपनी लाठी और कपड़ों की गठरी उठाना मैं भूल ही गया। मेरी इस हालत का कंगाल-बिरादरी पर अजीब-सा असर हुआ। कभी वे भी इसी तरह आशाएं लेकर शहर आए थे, और मेरे जैसी ही बौखलाहट उन्हें भी हुई होगी। तभी वे भागकर आए और उन्होंने मुझे घेर लिया। स्त्रियों ने बच्चे को थाम लिया और पुरुषों ने मुझे बांह से पकड़कर फ़र्श पर बैठाया। फिर, वे मुझे हौसला देने लगे।

"घबराओ मत। माथा ठंडा रखो। सब ठीक हो जाएगा। पहले-पहल सबके साथ ऐसा होता है। थोड़ा देर इधर आराम करो। हम तुमको सब कुछ बताएगा, तुम्हारा मदद करेगा। किसी बात का फिकर मत करो।"

इतने में उनमें से कोई मेरे लिए पीने का पानी ले आया।

पर मेरा ध्यान अभी भी कैमरे की ओर था।

"मैं बिलकुल ठीक हूं, मुझे काम है, मुझे जाने दो।" मैंने उठकर फिर आगे बढ़ना चाहा। उन लोगों को और भी विश्वास हो गया कि मैं होश-हवास खो चुका हूं। उन्होंने मुझे और भी मज़बूती से पकड़ लिया।

"क्या ठीक है? तुम्हारा गठरी किधर गिरा, इसका तो तुमको होश नही है। हमारा बात क्यों नहीं सुनता तुम ?"

एक स्त्री बोली, "इस बच्चा को मारना चाहता है तुम क्या?"

मैं बुरी तरह घिर गया था। मुझे यही नहीं पता था कि शॉट कब का 'कट' हो गया था और बिमल राय, हृषीकेश मुकर्जी तथा अन्य साथी भीड़ में खड़े मेरा तमाशा देख रहे थे। आखिर हृषीकेश मुकर्जी ने आगे बढ़कर मुझे छुड़ाया और उन लोगों को समझाया कि मैं असली ग़रीब नहीं हूं, बल्कि जो फिल्म खींची जा रही है, उसमें गरीब का रोल कर रहा हूं।

एकाएक मेरे चारों ओर खड़े लोगों की आंखों में इंसानी प्यार और हमदर्दी के चश्मे सूख गए। वे आंखें मुझे दूर जाती हुई प्रतीत हुई- बहुत दूर, जैसे 'ज़ूम लेंस' में से निकट का दृश्य एकाएक दूर चला जाता है। ज़िन्दगी उन लोगों के साथ रोज़ ही मज़ाक करती थी। आज मैंने उनका भेस बनाकर उनसे मज़ाक किया था। यह सबसे क्रूर मज़ाक था। यह बात उनकी आंखें कह रही थी। अब उन आंखों में नफ़रत थी। एकाएक हुए इस मौन परिवर्तन को मैं कभी भूल नहीं सकूंगा।

बिमल राय अब इस संसार में नहीं है। मैं उनसे अपने कथन की पुष्टि नहीं का सकता, लेकिन मुझे लगता है कि 'दो बीघा ज़मीन' में कंगाल बस्ती की मालकिन का पात्र उन्होंने शायद उसी भीड़ में से लिया था।

बिमल राय और हृषीकेश मुकर्जी दिन-भर शूटिंग करते और सारी रात नई 'लोकेशनों' के लिए भटकते। कलकत्ता में प्रातःकाल के समय सड़कें धोने का रिवाज है। उस वातावरण को फ़िल्माने के लिए उन्होंने मुझे रात के तीन बजे ही रिक्शा में जोत दिया। मुझे इतना ज़्यादा रिक्शा चलाना पड़ा कि भूख के मारे मेरा बुरा हाल हो गया। एक बस्ती के बाहर मैंने एक हलवाई को गर्म-गर्म दूध बेचते देखा। मैं उसके पास गया और आधा सेर दूध देने के लिए कहा।

हलवाई ने एक नज़र मुझे देखा और कड़ककर कहा, "जाओ, दूध नहीं है।"

"कड़ाही में यह क्या उबल रहा है? मैं पैसे दे रहा हूं, मुफ्त तो नहीं मांगता !"

"कह जो दिया, दूध नहीं है !" उसके ग़ुस्से का पारा और भी चढ़ गया था।

दोपहर का समय था। गर्मी बेहद थी। कैमरा एक ट्रक में छिपाकर लगाया गया था। सारो यूनिट उस ट्रक पर सवार थी। रूमाल का इशारा पाते ही मैं रिक्शा लेकर दौड़ पड़ता था। कभी सवारी उतारता, कभी नई सवारी लेता। कभी दो सवारियां, कभी तीन। प्यास के मारे बुरी हालत थी। लेकिन ट्रकवालों को रोकना संभव नहीं था। एक जगह सड़क के किनारे मैंने एक पंजाबी सरदार का ढाबा देखा, तो कुछ क्षणों के लिए रिक्शा एक ओर खड़ा करके भागता हुआ वहां गया और बड़े अपनत्व से पंजाबी में बोला, "भरा जी, बहुत सख्त प्यास लगी है। एक गिलास पानी पिलाने की किरपा कीजिए।'

"दफ़ा हो जा, तेरी बहन की...' उसने मुझे घूंसा दिखाकर कहा।

एक पंजाबी आदमी रिक्शा चलाने का घटिया काम करे, यह उसे शायद सहन नहीं हो पाया था। मेरे मन में आया कि उसे अपनी असलियत बताऊं और दो-चार खरी-खरी सुनाऊं, पर इतना समय नहीं था।

एक पानवाले की दुकान पर मैंने गोल्ड फ्लेक सिगरेट का पैकेट मांगा और साथ ही पांच रुपये का नोट उसकी ओर बढ़ाया। पानवाले ने कुछ देर मेरा हुलिया देखा, फिर नोट लेकर उसे धूप की ओर उठाकर देखने लगा कि कही नकली न हो। आखिर कुछ देर सोचने के बाद उसने मुझे सिगरेट का पैकेट दिया। अगर वह मुझे पुलिस के हवाले भी कर देता, तो कोई हैरानी न होती।

चौरंगी में शूटिंग करते समय भीड़ जमा होने लगी थी। बिमल राय ने मुझे और निरूपा राय को कुछ देर के लिए किसी होटल में चले जाने के लिए कहा। हम 'फर्पो रेस्तरा में दाखिल हुए, तो वेटरों ने हमें धक्के देकर बाहर निकाल दिया।

हम भारतीय सभ्यता और उसके मानवतावादी मूल्यों की डींगें मारते नहीं थकते; पर हमारे देश में सिर्फ पैसे की कद्र है, आदमी की कद्र नहीं है- यह बात मैंने उस शूटिंग के दौरान साफ़ तौर पर देख ली थी। हमारे देश में ग़रीब आदमी के पास पैसा हो, तो भी उसे चीज़ नही मिलती। यह हमारी सभ्यता की विशेषता है।

लेकिन सभी अनुभव कटु नहीं थे। कुछ एक बहुत मज़ेदार भी थे।

जिस दिन 'घोड़ागाड़ी' से मेरे रेस करने का दृश्य लिया गया, उस दिन दौड़-दौड़कर मेरी जो हालत हुई, उसका वर्णन नहीं कर सकता। कोलतार की तपती हुई सड़कों पर मेरे नंगे पांव जल रहे थे और उन पर बड़े-बड़े ख़ूनी छाले उभर आए थे। मैं जब भी शूटिंग बन्द करने के लिए प्रार्थना करता, बिमल राय कहते, "बस, दो शॉट और रह गए है।" उस समय मेरे चेहरे पर दुःख और पीड़ा के भाव शायद बहुत स्पष्ट और स्वाभाविक रूप में आ रहे थे। बिमल राय को उन्हें फ़िल्माने का लालच था और वे रुकने का नाम नहीं ले रहे थे। आखिर मैंने तंग पड़कर कहा, "अब तो बियर की दो बोतलें मेरे सामने टांगिएं, तभी मैं दौड़ सकूंगा, वरना नहीं।"

बिमल राय ने यकीन दिलाया कि शॉट खत्म होते ही असित सेन मुझे 'फर्पो' में ले जाएगें, और वहां मैं जितनी चाहूं बियर पी सकूंगा। यह लालच दिलाकर उन्होंने कई शॉट और लिए।

आख़िर जब असित सेन और मैं फर्पो पहुंचे, तो पता लगा कि उस दिन 'ड्राई डे' थे। मैंने बाहर निकलते ही असित सेन को गर्दन से पड़क लिया और कहा, 'जहां से भी हो, मेरे लिए बियर लाओ, वरना मैं तुम्हें जान से मार डालूंगा !'

असित सेन ने काफ़ी भटकने के बाद बियर आखिर प्राप्त कर ही ली। लेकिन तब तक मेरा जोश और जिस्म दोनों ठंडे हो चुके थे। तब मैंने ब्रांडी पीनी चाही। मैंने असित सेन से कहा, "अब मैं बियर नहीं पीऊंगा। मुझे ब्रांडी पिलाओ।'

असित सेन के सब्र की हद हो चुकी थी। सो, हमारे बीच में अच्छा खासा झगड़ा हुआ। असित सेन को बियर पिलाने का आदेश मिला था, सो वे बियर ही पिलाएंगे, ब्रांडी चाहे सस्ती ही क्यों न हो। आख़िर मुझे बियर ही पीनी पड़ी, और बाद में ठंडे पेट और बेहद थकावट के कारण जुक़ाम हो गया।

८

मरते समय अपने जीवन की कम से कम एक प्राप्ति का मुझे ज़रूर गर्व होगा कि मैंने 'दो बीघा ज़मीन' जैसी फिल्म में काम किया था।

यह कह चुकने के बाद कुछ तकनीकी नुक्ते बयान करने का भी मेरा हक बन जाता है।

इस फ़िल्म का आधार रवीन्द्रनाथ ठाकुर की इसी नाम की एक प्रसिद्ध कविता को बनाया गया था। इस सम्बन्ध में उनके प्रति बिमल राय का कहीं भी कृतज्ञता प्रगट न करना मेरे ख़याल में न्याय-संगत नहीं है।

फ़िल्म के मुख्य पात्र का कहीं भी ज़ुल्म और अन्याय के खिलाफ़ खड़ा न होना, और अपने दोस्तों, साथियों और पड़ोसियों से अलग-थलग रहना उसके चरित्र को क़ाफी कमज़ोर कर डालता है। दर्शक हमेशा अपने को कहानी के नायक के साथ जोड़ना चाहता है। पर ऐसे कमज़ोर और अपने-आपमें सिमटे हुए नायक के साथ कौन जुड़ना चाहेगा ? उस पर तो तरस ही खाया जा सकता है। इसीलिए 'दो बीघा ज़मीन' शिक्षितों में तो लोकप्रिय हुई, पर आम जनता में उतनी नहीं।

यह दोष किसी न किसी मात्रा में हमारी सारी प्रगतिवादी कला और प्रगतिवादी साहित्य में पाया जाता है। हम अपने देश की जनता के साथ जुड़ने के बजाय विदेशी कद्रों-कीमतों से जुड़ने की ज़्यादा कोशिश करते हैं। 'दो बीघा ज़मीन' की तकनीक संसार-प्रसिद्ध इतावली निर्देशक, बितोरियो डीसिका की फ़िल्म 'बाइसिकल चोर' और इतालवी नवयथार्थवाद से बहुत प्रभावित थी। उसके गानों पर रूसी धुनों की छाप थी।

शायद इसीलिए रूस में 'दो बीघा ज़मीन' के पल्ले केवल प्रशंसा ही आई, जबकि सारी लोकप्रियता राजकपूर की फिल्म 'आवारा' ले गई। साझे खेतों और कारखानों में करोड़ों मजदूर व किसान उसका गीत 'आवारा हूं' गाते फिरते थे। राजकपूर वहां रूसी फ़िल्मी कलाकारों से भी ज़्यादा लोकप्रिय कलाकार बन गए। हमारे प्रतिनिधिमंडल को इस बात का अनुमान तक नहीं था। समाजवाद के 'तीर्थ-स्थान' से हमें कही ऊंचे स्तर के सौंदर्यबोध की आशा थी। पर ध्यान से देखा जाए, तो इसमें रुसियों का कोई दोष नहीं था। 'आवारा' में सशक्त हिन्दुस्तानियत की झलक थी। यह उसी तरह की बात है, जैसे इंगलैड का अंग्रेज़ उस हिन्दुस्तानी की बोल-चाल को ज़्यादा पसंद करता है, जिसे सिर्फ़ टूटी-फूटी अंग्रेज़ी बोलनी आती हो।

अगर इश्तहारबाज़ी उतनी अच्छी न होती और रिलीज़ का प्रबन्ध बहुत बढ़िया न किया गया होता, तो 'दो बीघा ज़मीन' अगर हिन्दुस्तान में फ़ेल हो गई होती, तो अचरज की बात न होती। उससे पहले 'धरती के लाल' और 'नीचा नगर' फेल हो चुकी थीं। इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि बिमल राय ने उसके बाद ऐसी फ़िल्म बनाने का कभी साहस नहीं किया।

'दो बीघा ज़मीन' के विदेशी प्रदर्शन के अधिकार राजवंश खन्ना और उनके हिस्सेदार, राजेन्द्र सिंह होड़ा और गुरुमुख सिंह के पास थे। ये तीनों व्यक्ति प्रगतिशील विचारों वाले और विद्यार्थी-आन्दोलन के प्रसिद्ध नेता रह चुके थे। उन्होंने फ़िल्म की सफलता के लिए पूरा ज़ोर लगाया और बम्बई के 'मेट्रो' सिनेमा में उसे बड़े ठाठ-बाट से रिलीज़ कराया। रूस, चीन, फ्रांस, स्विटज़रलैड और अन्य कई देशों में फ़िल्म को जो प्रसिद्ध मिली, वह इन्हीं व्यक्तियों की अथक मेहनत का नतीज़ा था।

'दो बीघा ज़मीन' और 'परिणीता' के बाद जो सम्मान बिमल राय को मिला, वह कभी देवकी बोस, बरुआ, और वी० शान्ताराम के हिस्से भी आया था। पर उनकी तरह बिमल राय भी उसे पचाने और अपनी नम्रता को कायम रखने में असमर्थ रहे। अपने गिर्द बड़े-बड़े कलाकारों, सेठों, और डिस्ट्रीब्यूटरों की भीड़ से वे भी बच न पाए। नतीजा यह हुआ कि वे यथार्थवादी और प्रगतिशील विचारों के मामले में समझौता करने लगे। यही नहीं, अपने साथियों की प्रसिद्धि का हिस्सा भी ख़ुद ही लेने लगे। सच्चे, शुभचिन्तक और गुणी साथी उनका संग छोड़ गए, और उनका स्थान मूर्ख और चापलूस लोगों ने ले लिया। तकनीक का पलड़ा दिनों दिन भारी होता गया, और कला की आत्मा कमज़ोर पड़ती गई। विदेशों में जो स्थान उन्होंने बनाया था, वह सत्यजित राय ने ले लिया। फिर, व्यापारिक सूझ-बूझ तो उनमें थी ही नहीं। आख़िर वे कलाकार थे। ख़र्च और आडम्बर बढ़ते गए। ऐसे गोरखधन्धे में वे फंसते चले गए, जिसमें से निकलना बहुत मुश्किल था। आखिर सुख, शान्ति, सेहत सबने जवाब दे दिया, और पचपन वर्ष की अल्पआयु में उनका देहान्त हो गया। फ़िल्म-इंडस्ट्री के लिए यह बहुत बड़ा दुःखान्त था। उनके जाने से एक ऐसा अभाव

पैदा हुआ, जिसे आज तक भरा नहीं जा सका। उन जैसे अद्वितीय फ़िल्मकार रोज-रोज़ पैदा नहीं होते।

प्रसिद्धि मुझे भी 'दो बीघा ज़मीन' ने बहुत दिलाई। अचानक लोगों को याद आ गया कि मैं शान्ति-निकेतन में अध्यापक और लंडन में बी०बी०सी० का एनांउसर रह चुका हूं। तब तक मैंने संकोचवश इन बातों का कभी ज़िक्र नहीं किया था। आख़िर पंजाबी की वह कहावत सच हुई- "जिसके पल्ले में दाने,उसके पगले भी सयाने ।"

कई अक्ल के कोरे यह कहकर मुझे इन्कलाबी पँख भी लगाने लगे कि एक लखपति बाप का बेटा, जिसका दिल गरीबों के लिए धड़कता है, वह पैसे के लालच में नहीं, बल्कि फ़िल्मी दुनिया में इन्कलाबी मोड़ लाने के लिए इस मैदान में उतरा है, और सिर्फ़ उन्ही फिल्मों में काम करता है, जो मेहनतकश लोगों की आवाज़ बुलंद करती हों। और मज़े की बात यह कि समाचार-पत्रों ने मेरी जो तस्वीर पेश करनी शुरु की मैंने अचेतन रूप से अपने को उसके अनुसार ढालना भी शुरु कर दिया।

लेकिन आर्थिक दृष्टि से मैं 'हम लोग' की तरह 'दो बीघा ज़मीन' के बाद भी ठन-ठन गोपाल ही रहा। लगभग छः महीने बेरोज़गारी में काटे। मैं जब भी काम की तलाश में स्टूडिओ के चक्कर लगाता, तो लोगों की नज़रें मुझे बेधंती हुई प्रतीत होती। जेल से मिली पेचिश की सौगात के कारण मेरी सेहत पहले ही माशाल्लाह थी, अब घर में बैठ-बैठकर और भी कमज़ोर हो गई। हाथ-पैर की उंगलियों में फिर से 'एग्ज़ीमा' शुरु हो गया। यह सोचकर भी दिल डूबता था कि कहीं मेरे नाम के साथ लगा 'कम्युनिस्ट' विशेषण ही तो निर्माताओं को भयभीत नहीं कर रहा है। आखिर खुदा-खुदा करके एक फ़िल्म का काण्ट्रैक्ट मिला। फिल्म का नाम था, 'बाजूबंद' जिसका निर्देशन रामानन्द सागर कर रहे थे। मेरा रोल तो नायक का था, लेकिन काम खलनायक जैसा थे। वह एक ऐसे शराबी-कबाबी आदमी की रोल था, जो वेश्या के हुस्न का ग़ुलाम होकर अपनी सुयोग्य और सुशील पत्नी को परेशान करता है।

एक दिन सैट पर अचानक विमल-दा आए, जैसेकि कभी 'हम लोग' के सैट पर आए थे। उस समय मैं दिखावे के नशे की हालत में वेश्या का नाच देख रहा था। बिमल-दा को देखकर मुझे शर्म-सी महसूस होने लगी। तभी उन्होंने पास आकर मेरे कान में कहा, "दो बीघा ज़मीन" के बाद ऐसी फ़िल्मों में काम करने लगे हो !"

सुनकर मैं भौचक्का रह गया और एकाएक कोई जवाब देते न बना। लेकिन मेरा मन तलख़ी से भर गया। दूसरे की आलोचना करना कितना आसान होता है ! हर कोई दूसरे से ही आदर्श मनुष्य बनने और कुर्बानी करने की आशा करता है। बड़ी मुश्किल से मेरा दाना-पानी फिर से चला था। उस समय मेरी नज़र में 'बाजूबंद' की कीमत 'दो बीघा ज़मीन' से कई गुना ज्य़ादा थी। उसके ही सहारे मेरे बच्चों का पेट पल रहा था। क्या बिमल-दा के लिए ऐसा व्यंग्य करना उचित था, जबकि ख़ुद उन्होंने मेरा हाल तक नहीं पूछा था?

पर क्या पता, उन्होंने व्यंग्य न किया हो। क्या पता, मेरी तरह बिमल-दा भी अपने को दूसरों की नज़रों से देखने लग गए हों और सोचते हों कि उन्होंने इन्कलाबी फ़िल्म ही नही बनाई थी, बल्कि सचमुच इन्कलाब कर डाला था। कुछ अरसा पहले एक और बंगाली निर्देशक हेमेन गुप्ता ने 'आनन्द मठ' फ़िल्म बनाई थी। अंग्रेज़ों के ज़माने में हेमेन गुप्ता ख़ुद पिस्तौलबाज़ इन्कलाबी रह चुके थे। '१९४२' और 'भूली नाई' जैसी लाजवाब

बंगाली फ़िल्में बनाने के बाद वे बम्बई आए थे। 'आनन्द मठ' फ़िल्म बकिमचन्द्र चटर्जी के उपन्यास पर आधारित थी। यह उपन्यास इन्कलाबी आन्दोलन के बारे में था। हेमेन गुप्ता ने उस फ़िल्म की शूटिंग को भी एक इन्कलाबी महायज्ञ बना दिया था कलाकारों की जाने खतरे में डालकर शॉट लेते हुए उन्हें ऐसे लगता था, जैसे अपने देश के कुर्बानी-भरे बीते दिनों को फिर से जी रहे हों। उनके इस जोश का शिकार बड़े कलाकार तो बनने को तैयार न थे, लेकिन छोटे कलाकारों और एक्स्ट्राओ को अपनी मजबूरियो के कारण उनकी बातें मानकर ख़तरा मोल लेना पड़ रहा था। वे अपने हुक्म पर उनसे मर-मिटने की उसी प्रकार आशा करते थे, जिस प्रकार नेपोलियन अपने सिपाहियों से करता था। तीन-चार एक्स्ट्रा तो सचमुच मर गए थे। 'दो बीघा ज़मीन' में काम करने के बाद कहीं मैं भी तो बिमल-दा की नज़रों मे किसी महायज्ञ के लिए अर्पित नही हो चुका था? देश उन्हें यथार्थवादी कला का गुरु मान चुका था। फिर, मुझे उनके दूर होने का क्या हक था?

बातों का ज़ख्म मुश्किल से भरता है। हो सकता है कि बिमल-दा ने वह बात सहज भाव से कही हो, पर मैं उन्हें माफ़ न कर सका। उस समय मेरी मनोदशा ही कुछ ऐसी थी। 'इप्टा' और कम्युनिस्ट पार्टी से टूटने के बाद मेरी ज़िन्दगी डांवाडोल थी। ऊपर से पुलिस की धमकियां। मुझे मुख़विर बनाने की कोशिश भी की जा रही थी। दोस्तों-साथियों की शिकायतों और तानों ने ज़िन्दगी बिलकुल बेजार कर दी थी। और फिर, ज़िन्दगी की तलखी अलग।

बिमल राय के आने से पहले अनवर हुसैन फ़िल्म-लाइन के बड़े तलख़ किस्से सुना रहे थे। उनमें एक मुझे आज तक याद है। एक मशहूर फिल्म-निर्माता और निर्देशक ने मीनाकुमारी को अपनी फ़िल्म में लिया था। शूटिंग के पहले ही दिन दोपहर के खाने के समय निर्माता-निर्देशक ने मेज़ के नीचे मीनाकुमारी के पांव पर अपना पांव रख दिया। (ऐसी हरकतें करना निर्माता-निर्देशक अपना हक समझते है। इण्डस्ट्री में आम मशहूर है कि किसी न किसी की टांगों के नीचे से निकले बिना शायद ही कोई लड़की हीरोइन बनने की आशा कर सकती है। कई लड़कियां तो निर्माताओं के झूठे वादों पर यकीन करके ही अपनी ज़िन्दगी बरबाद कर लेती है।) उस समय मीनाकुमारी कोई मामूली अभिनेत्री नहीं थी। उन्होंने अपमान महसूस किया, और निर्माता-निर्देशक को अलग ले जाकर शराफ़त से पेश आने के लिए कहा। तब निर्माता-निर्देशक ने बदला लेने के लिए एक ऐसा दृश्य लिखवाया जिसमें नायक नायिका को ज़ोर का थप्पड़ मारता है। उस दृश्य के इकतीस रीटेक लिए गए। और नायक भी कोई मामूली अभिनेता नहीं था। वह प्रथम श्रेणी का कलाकार था, जिसके नाम की लाखों लड़कियां माला जपतीं थीं, और जिसकी, फ़ोटो सामने रखकर आहें भरती थीं। उसे अच्छी तरह पता था कि थप्पड़ क्यों मरवाए जा रहे हैं, फिर भी उसने मारने में संकोच नहीं किया। इकतीस थप्पड़ ! लेकिन मीनाकुमारी ने उफ़ तक न की। शॉट खत्म होने पर वे अपने मेक-अप-रूम में गई और रोई।

एक बात और याद आती है। उस समय मुझे गदरी बाबा गुरुमुखसिंह बहुत याद आए थे। जेल से उम्र-कैद काटकर रिहा होने के बाद वे बम्बई में कम्युनिस्ट पार्टी के दफ़्तर में आकर ठहरे थे। एक कामरेड मुझे उनके दर्शन कराने के लिए ले गया था। बाबा गुरुमुखसिंह ने मुझे घूरकर देखा था और कहा था, ''ओए बलराज ! तुम पंजाबी ! पंजाब क्यों नहीं जाते ? यहां क्या करते हो?''

मैंने उनकी बात हंसकर टाल दी थी। बम्बई शहर का जनरल सेक्रेटरी होने के नाते मैं ज़बर्दस्ती कुल हिन्द इप्टा का लीडर बना फिरता था। तब वही सवालमेरे मन में बार-बार उठा पंजाब जाकर मैं क्यों वापस आ गया इस मनहूस शहर में ? क्यों न भाग जाऊं यहां से? वहां जहा अपने लोग, अपनी ज़बान, अपना अन्न-पानी है। पर वहा जाकर क्या करूंगा? वहां तो यहां से भी बुरी हालत होगी। मेरा भाई भीष्म जगह-जगह धक्के खा रहा है। राजवंश खन्ना, राजेन्द्र सिंह बेदी, साहिर लुधियानवी, और कितने अन्य साथी रोज़गार की खातिर बम्बई आ रहे है। मेरा तो फिर भी किसी हद तक नाख़ून अड़ा हुआ है। लोग चाहे जो करते रहें, पर मैं सबसे पहले आर्थिक रूप में स्वतन्त्र होना चाहूंगा। और इसके लिए अपने काम में योग्यता पैदा करनी होगी। और ज़्यादा मेहनत करनी होगी। फ़िल्मों में मन चाहे न लगे, वातावरण चाहे कैसा भी बुरा क्यों न हो, पर मुझे कामयाब होकर दिखाना है। पंजाब जाने के बारे में सोचना एक तरह से अपसार है।

कह नहीं सकता कि मन में उठने वाले ये तर्क किस हद तक सच्चे थे, क्योंकि उसके बाद हालात बहुत अच्छो बनने लगे। कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी नेहरू-विरोधी नीति बदल दी। मेरे जैसे कम्युनिस्टों के चेहरों पर से ग़द्दार होने का दाग़ मिट गया। लगभग उन्हीं दिनों एकसाथ 'औलाद', 'टकसाल', 'आकाश', 'राही', आदि चार-पांच फ़िल्मों के काण्ट्रैक्ट मिल गए। कम से कम अगले चार-पांच साल ज़िन्दगी आराम से बीतने की आशा बंधी। अब मैं अपने तरीके से जी सकता था, फ़िल्मों के घटिया वातावरण को अच्छा बनाने के लिए संघर्ष कर सकता था।

पर इतनी बहादुरी मेरे अन्दर कहां ? कामयाबी के बाद मेरी किस्मत में भी अपनी आत्मा के साथ समझौता करना ही लिखा था। बिमल-दा का व्यंग्य सही था, मगर समय से पहले किया गया था।

मैंने चार्ली चैप्लिन की आत्मकथा बड़े शौक से पढ़ी है। मुझे लगा कि जहाँ तक वह महान कलाकार अपनी ग़रीबी और गुमनामी के दिनों का वर्णन करता है, उसकी ज़िन्दगी की कहानी बेहद दिलचस्प बनी रहती है, पर कामयाबी के दौर की शुरुआत होते ही वह फीकी पड़ने लगती है। तब चैप्लिन व्यक्तिगत समस्याओं और लार्ड-लेड़ियों की दोस्ती में खोया हुआ प्रतीत होता है, जैसे आत्मिक रूप से छोटा होता जा रहा हो, हालांकि उस दौर में उसने संसार को 'गोल्डरश', 'मार्डर्न टाइम्स', 'ग्रेट डिक्टेटर', 'मोस्यू वर्द' जैसी महान फ़िल्में दीं। अजीब-सा विरोधाभास है यह !

कहां राजा भोज, कहा गंगवां तेली ! कहां चार्ली चैप्लिन और कहां मेरे जैसा नगण्य-सा आदमी। जितना मैं नगण्य, उतनी मेरे सफलता नगण्य। फिर भी, मैं यह कहने का साहस ज़रूर करूंगा कि कलाकार की ज़िन्दगी विरोधाभासों और विषमताओं से भरी होती है। उसके चरित्र की कमज़ोरियां और सीमाएं भी कई बार उसके कलात्मक विकास का स्रोत बन जाती है।

अब तक जितनी फ़िल्मों में मैंने काम किया है, उनके नाम गिनाता आया हूं। दस सालों में दस फ़िल्में। पर अगले, यानी कामयाबी के अठारह सालों में से सौ से ज़्यादा फ़िल्मों में काम कर गया। कश्ती ठहरे हुए पानी में सपने की तरह थिरकती चली गई। निर्माता और नोटों के बंडल हवा-पानी की तरह हो गए, जिन्हें इस्तेमाल करता हुआ आदमी कभी सोचता भी नहीं है।

संतोष साहनी समग्र

नाटक

सुप्रसिद्ध उर्दू लेखक राजेन्द्र सिंह बेदी की लिखित कहानी 'गर्मकोट' में ग़रीब क्लर्क का पार्ट करते बलराज (1965-66)

अपनी पुस्तकों के लिए पंजाब साहित्य अकादमी से सम्मान पुरस्कार प्राप्त करते हुए बलराज साहनी। साथ में श्री प्रकाश सिंह बादल

एक चुनाव दौरे में श्री कृष्णमेनन के साथ बलराज

महाराष्ट्र भिवंडी में हुए साम्प्रदायिक फ़सादों के समय पीड़ितों के साथ बलराज

1955 में चीन गये प्रथम भारतीय फ़िल्म डेलीगेशन में प्रमुख कलाकार पृथ्वीराज कपूर, कृष्णचन्द्र, कामिनी कौशल, अमिता मलिक, राधु करमाकर तथा बलराज साहनी चीनी मित्रों सहित ।

पिता श्री हरबंसलाल साहनी : बम्बई - 1960

टैगोर लिखित, विमल राय निर्देशित फ़िल्म काबुलीवाला में, बलराज साहनी

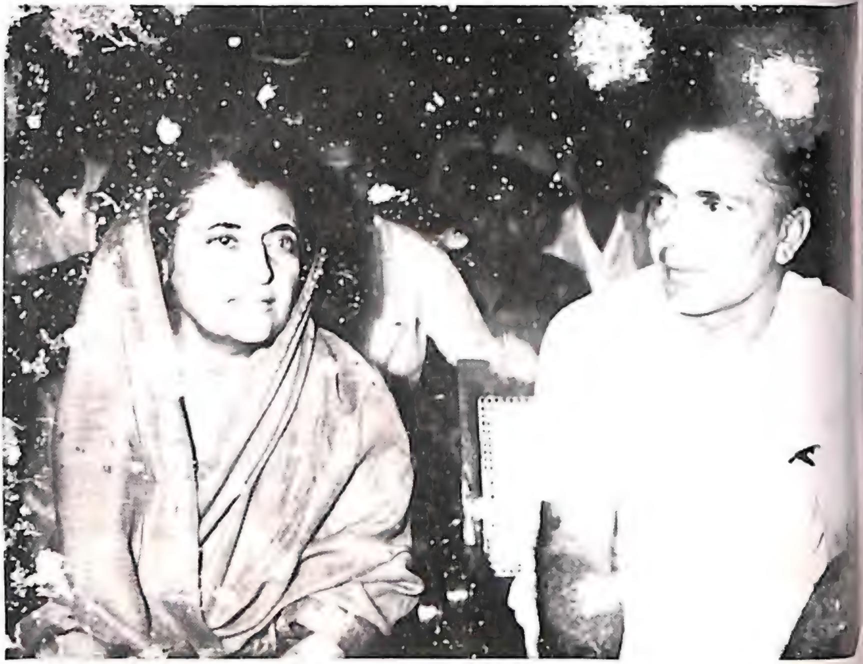

दिल्ली विज्ञान भवन में इंदिराजी के साथ बलराज साहनी

दार्जिलिंग यात्रा के दिनों में बलराज साहनी स्थानीय बच्चों के बीच में। फ़ोटो द्वारा संतोष साहनी।

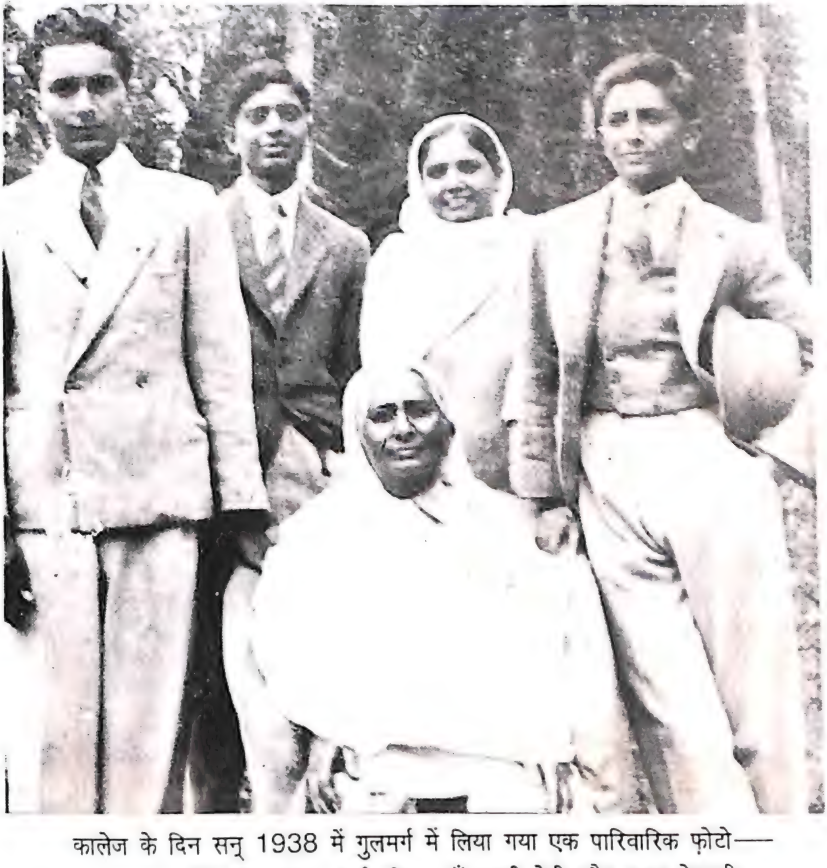

कालेज के दिन सन् 1938 में गुलमर्ग में लिया गया एक पारिवारिक फ़ोटो—
बलराज, मित्र प्रेमकृपाल, भाई भीष्म, माँ लक्ष्मी देवी और बहन वेदवती

भारतीय डेलीगेशन मास्को में ज्ञानी ज़ैलसिंह, बलराज साहनी एवं अन्य भारतीय डेलीगेट

पहली पत्नी दमयन्ती के साथ शान्ति निकेतन में (1939)

भोपाल के एक कालेज समारोह में छात्राओं को आटोग्राफ़ देते बलराज

सन् 1972, आख़िरी फ़िल्म 'गरम हवा' में हीरोइन गीता के साथ बलराज साहनी

भारत के द्वितीय राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् से सम्मान ग्रहण करते हुए बलराज साहनी

अपने घर 'इकराम' में बलराजजी की माता लक्ष्मी देवी

1958-59 बम्बई के दौरे पर आयी चीन के महान नेता सुन-यात-सेन की पत्नी श्रीमती सुन-यात-सेन के साथ बलराज साहनी और उनकी पत्नी संतोष साहनी

केन्द्रीय साहित्य अकादमी सम्मेलन के अवसर पर भाषण करते बलराज साहनी ।
साथ में कविवर हरिवंशराय 'बच्चन' ।

विश्व भारती (शान्ति निकेतन) के वार्षिक समारोह का चित्र

छात्राओं के साथ खड़ी बलराज साहनी की पहली पत्नी दमयन्ती ।
गुरुदेव टैगोर, जो बलराज साहनी, दमयन्ती और श्रीमती संतोष साहनी के प्रेरणास्रोत रहे ।

सुप्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज कपूर के पृथ्वी थियेटर के नाटकों में प्रमुख भूमिकाएँ निभा रही फ़िल्मों में सफलता से पदार्पण करती श्रीमती दमयन्ती साहनी जो यौवन ही में कालग्रास हुई ।

बेटी सनोबर को उसके जन्मदिन पर बलराज साहनी

दार्जिलिंग से एवरेस्ट दृश्य की यात्रा पर- बलराज, बेटियाँ सनोबर, शबनम
फ़ोटो द्वारा संतोष साहनी

1939 शान्ति निकेतन हिन्दी भवन के प्राध्यापकों, छात्र-छात्राओं के साथ गुरुदेव।
प्रमुख— श्री हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, उनकी पत्नी, मोहन लाल बाजपेयी, शिवानी, दमयन्ती साहनी, बलराज साहनी।

भाई भीष्म के साथ

मसूरी के एक स्टुडियो में बलराज-संतोष (1953)

बड़ी बेटी स्व० शबनम और छोटी सनोबर के साथ संतोष दार्जिलिंग की एक पहाड़ी पर बरफ़ से खेलते हुए । बलराज साहनी द्वारा लिया गया फ़ोटो ।

सुप्रसिद्ध नाटककार बर्नाड शॉ के नाटक पिगमेलियन के हिन्दी रूपान्तर 'अज़र का ख्वाब' में मुख्य भूमिका में शौकत आज़मी के साथ बलराज साहनी ।

पाकिस्तान में महाकवि इकबाल की कब्र पर बलराज व उनके मित्र

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानी काबुलीवाला पर आधारित नाटक में
बाएँ से नितिन सेठी, बलराज साहनी, संतोष साहनी

एक फ़िल्म समारोह में दिलीप कुमार, बलराज साहनी, राजकपूर

बेटे परीक्षित साहनी के साथ

संतोष साहनी
समग्र

संपादक
डॉ. बलदेवराज गुप्त

प्रचारक ग्रन्थावली परियोजना
हिन्दी प्रचारक संस्थान
पो. बा. ११०६, पिशाचमोचन, वाराणसी-२२१००१

प्रकाशक :
विजय प्रकाश बेरी
हिन्दी प्रचारक संस्थान
पो. बा. ११०६, पिशाचमोचन
वाराणसी-२२१०१०

❑ **प्रथम संस्करण १९९५**

❑ *मूल्य* : **पचहत्तर रुपये**

❑ *फोटो कम्पोजिंग*
शुभम् कम्प्यूटर्स
मीरघाट, वाराणसी

❑ *प्रोसेसिंग*
काशी ग्राफिक्स
सी-२/४१, हंकार टोला, वाराणसी
✆ : ३५५३७२

❑ *मुद्रक*
काबरा ऑफसेट्स
रवीन्द्रपुरी, भेलूपुर, वाराणसी

सन्तोष साहनी समग्र
Santosh Sahani Samagra
Edited by : Dr. Baldev Raj Gupta

विषय-सूची

❑ नाटक

अग्नि परीक्षा ५
चिड़ियों का कहना है कि ५१
चेतावनी ६५

❑ काव्यसंग्रह

विफल वसन्त ८१
थोर कमलिनी १०४
अनदेखे शिखर और अन्य कविताएँ १५७

❑ कहानी

स्थित प्रज्ञ-उफ मेरे पड़ोसी २२३
वर्षा की बूँदें २३३
यमन्ना २३५
आ गए ताजाह २४१
तफरीह २४५
अनुभव के लिए शुक्रिया २५२
तमन्ना २५५
परछाईं २६०
नेगेटिव के पेबिलिटी २६४
रिजल्ट की इंतजार में २७०

❑ लेख

आज का इंगलैण्ड २८४
कार्य व्यस्त लंदन २८७
एक शनिवार २८९
लन्दन के भिखमंगे २९४
लन्दन की पेटीकोट लेन २९७
पूर्व पूर्व है, पश्चिम पश्चिम ३०३
अंग्रेजी मौसम ३०७
कुछ अंग्रेजी बहम ३१०
शेक्सपीयर जन्मोत्सव ३१५
मनाली का वसन्तोत्सव ३२०
दर्रा रोहतांग ३२५
बड़ मंदिर का टुकड़ा समारोह एक अनुभव ३३०

❑ यादें

एक समर्पित पत्रमालिका ३४९

कस्मै देवाय हविषः

संतोष साहनी रचित साहित्य समग्र। भला यह क्यों कर? इस स्त्री ने ऐसा क्या साहित्य रचा है कि इसकी, जो भी, जैसी भी रचनाएँ हैं, वे समग्र रूप में छापने योग्य हों? तिस पर इतनी महँगाई के जमाने में। कोई भी पाठक (अगर इस समग्र को कोई पाठक मिले भी) सोचेगा।

संतोष साहनी रचित, बाल साहित्य समग्र तो आदरणीय भाई श्री कृष्णचन्द्र बेरी ने निःसंकोच प्रकाशित करना स्वीकार किया था।

इस समग्र की रचनाएं जब प्रूफ देखने के लिए, मेरे पास बम्बई पहुँचने लगीं तो अपनी अति प्राचीन, आधी कच्ची-आधी पक्की रचनाओं को, फिर से पढ़ते हुए मेरे मन का अपने दशकों पहले के जीवन की झाँकियाँ, झलकें देखना स्वाभाविक था- कि, जब मैंने यह कविता या वह कहानी या लेख लिखा था तब मेरी कितनी उमर थी, कितना था मेरा जीवन अनुभव, साहित्य अध्ययन? भाषा ज्ञान? क्या थी मेरी भावनात्मक अवस्था, परिस्थिति? साहित्य सृजन की दिशा में मेरे संस्कार क्या थें? कब, किससे प्रेरणा मिली? कौन सी घटनाओं, प्रभावों के कारण मैं लेखन कार्य शुरू करके भी अपनी सृजनात्मक क्षमता में विश्वास में खो गई? और किस आदर्श, ध्येय, आवश्यकता ने मुझे फिर से लिखने की ओर अग्रसर किया? आदि-आदि अनेक स्मृतियों, विचारों, भावनाओं का सिलसिला चलचित्र सा घूमने लगा। वह लम्बी स्मृतिमाला एक आत्मकथा सी लम्बी कहानी बनने लगी, इस प्रस्तावना की सीमाओं से बाहर-

पर अपनी अति प्राचीन से लेकर तकरीबन नवीन रचनाओं के प्रूफ देखते हुए, मैं यह सोंच हैरान भी हुई कि क्या मैं वाकई पिछले तिरपन-चौवन बरसों से कविता, कहानी, लेख, नाटक बाल एवं प्रौढ़ पाठक रचनाएं लिखती रही हूँ।

बचपन से मिले, साहित्यिक सांस्कृतिक संस्कारों की देन के लिए, आज यह पंक्तियाँ लिखते हुए मैं सर्वप्रथम कृतज्ञ हूँ अपने माता-पिता की। फिर, अपने प्रतिभाशील स्नेहमय प्रोत्साहन देने वाले भाई जयदेव जी की, और अपनी छः बहनों की जिनके साहित्य, संगीत, शिक्षा, सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में किए निस्वार्थ समर्पित कार्य मेरे लिए और हम सभी के लिए, परस्पर प्रेरणा स्रोत रहे हैं।

बलराज जी से मुझे कई वरदान मिले। सबसे अहम वरदान था, मुझे मेरी मातृभाषा पंजाबी के अध्ययन और उसमें अभिव्यक्ति की जागृति का। इस दिशा में उनके मन में प्रकाश किरण जगाई गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने। उसका प्रकाश उन्होंने मुझे दिया। हम दोनों के परिवारों में बोलचाल की भाषा ठेठ पश्चिमी पंजाब की ही थी और अब भी है। लेकिन हम सभी की पठन-पाठन-पत्र व्यवहार एवं साहित्यिक सृजन की भाषा हिन्दी और अंग्रेजी ही रही है। हमारे परिवारों के कुछेक सदस्यों ने हिन्दी और अंग्रेजी में उच्च कोटि के साहित्य का सृजन किया है। लेकिन हिन्दी-अंग्रेजी में लिखते हुए भी पंजाबी साहित्य का अध्ययन करने और उसमें गद्य-पद्य रचना करने वाले सिर्फ बलराज जी और मैं ही रहे हैं।

अपने जुहू आर्ट थियेटर के लिए बंगाली, पंजाबी, अंग्रेजी नाटकों के हिन्दी अनुवाद करने का काम मैंने अपने ही शौक से स्वीकार किया। इससे मेरा एक भाषा से दूसरी भाषा में अभिव्यक्ति का ज्ञान-अनुभव विकसित हुआ। इन्हीं दिनों से मैंने अपनी कालोनी के बच्चों के लिए बाल-गीत, नृत्य, नाटक आदि हिन्दी में लिखे और बच्चों द्वारा प्रस्तुत करने शुरू किए। टैगोर रचित नाटक 'डाकघर' बहुत सफल पुर्न प्रस्तुति रही। बाद में अपने नए घर में रहते हुए मैंने अड़ोस-पड़ोस के सर्व साधारण बालक-बालिकाओं को लेकर जुहू बाल रंगमंच की स्थापना की। बम्बई में बसे हर प्रांत, हर भाषा बोलने वाले बालक-बालिकाओं के लिए सरल सहज बोलचाल की हिन्दुस्तानी में संगीतबद्ध गीत, नृत्य नाटिकाएं लिखना और बच्चों द्वारा प्रस्तुत करवाना मेरे लिए , समाज के हर वर्ग के बच्चों के लिए और दर्शकों के लिए भी नवीन प्रयोग, लाभदायक एवं रोचक अनुभव थे। तब यह भी समझ में आने लगा कि अनुवाद का काम, विशेष तौर पर किसी अन्य देश प्रांत के भाषा के नाटक का अनुवाद, मौलिक सृजन से भी कहीं कठिन है। इसके लिए दूसरे प्रांत, देश की संस्कृति परिवेश, साहित्य वातावरण आदि के ज्ञान की भी आवश्यकता पड़ती है। नाटक की भाषा उसे रंगमंच पर बोलचाल के लिए कैसे प्रभावशाली बनाया जाए इन बातों की जरूरत भी समझ में आई।

साहित्य, संगीत दोनों ही बचपन से मेरे जीवन के अंग रहे हैं। कभी एक का पलड़ा भारी हो जाता है तो कभी दूसरे का। जब कभी

लिखना छोड़कर सिर्फ संगीत अभ्यास सृजन का निश्चय किया है, तो रेडियो किसी हिन्दी-पंजाबी बाल-प्रौढ़ पाठक पत्रिका से या कभी कभार दूरदर्शन से भी कुछ लिखने के लिए कहने पर चाव से फिर लिखने बैठी हूँ और फिर लौट आयी हूँ संगीत अध्ययन, रियाज के आनन्दमय अपार समुद्र में तैरने के लिए, कुछ सृजन के लिए। इन दोनों सखाओं के सुख-दु:ख दोनों में, मुझे ज्ञान, अनुभव, संतुलन, एकाग्रता आत्मिक बल एवं समृद्धि प्रदान की है।

मेरा जीवन, घटनाओं, परीक्षाओं, चुनौतियों से भरा रहा है। किसका नहीं होता? अचंभित होती हूँ कि मैं उनमें जीकर कैसे एक-एक कदम कुछ आगे भी बढ़ सकी। इसी संदर्भ में आज अतीव कृतज्ञता से उन कुछ हस्तियों को स्मरण करना अपना आवश्यक कर्तव्य मानूँगी, जिन्होंने मेरे यौवनकाल के कुछ विकट मोड़ों पर मुझे आत्मिक बल और सृजनात्मक प्रेरणा, प्रोत्साहन दिया।

याद कर रही हूँ अपनी कवयित्री बहन स्व. पुरुषार्थ के पति मेरे जीजाजी प्रसिद्ध साहित्यकार स्व. चन्द्रगुप्त विद्यालंकार जी को। हिन्दी में पहले पहले उनकी अनूदित 'संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ' ही मेरा पहला पाठन अनुभव था विश्व साहित्य का। अधिक अध्ययन और लिखने की प्रेरणा, प्रोत्साहन पहले पहल और सदैव उन्हीं से मिली। उन्होंने ही मेरी पहली एक दो रचनाएं 'हंस' में भेजीं जो छपीं भी। संगीत अध्ययन के लिए शान्ति निकेतन में प्रवेश भी उन्हीं द्वारा हुआ।

ऋणी हूँ मैं उर्दू के सुविख्यात साहित्यकार स्व. श्री कृशन चन्दर जी की। समय पर उनकी सुझाई दिशा और सहायता ही से मैंने एम. ए. अंग्रेजी की पढ़ाई की और अंग्रेजी साहित्य की अमीरी से लाभान्वित हुई। मेरी लेखनी को अग्रसर करने के लिए उन्होंने मेरी दो कहानियों के उर्दू अनुवाद 'मरा जाविए' नामक उर्दू पत्रिका में छापे। दिल्ली आकाशवाणी से प्रसारित हो रहे नाटकों में भाग लेने और आकाशवाणी के लिए लिखने के लिए मेरा प्रवेश उन्हीं द्वारा हुआ। वे तब वहाँ प्रोग्राम प्रोड्यूसर थे। तभी से मेरी आर्थिक स्वतंत्रता की शुरुआत भी हुई।

अतिशय कृतज्ञ हूँ मैं कि 1946 में कलकत्ता से प्रकाशित हो रही, नया समाज पत्रिका के संपादक लेखक स्व. श्री मोहन सिंह सेंगर जी की। इंग्लैण्ड प्रवास के बरसों में उनके सुझाव पर मैंने यात्रा लेख, ललित

निबंध, ऐटम चेखव के पत्रों का अनुवाद आदि लिख कर उन्हें भेजने शुरू किए जो वे 'नया समाज', 'विशाल भारत', 'आदर्श विश्वबन्धु' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित करवाते और उनका जो भी मुआवजा बनता, मुझे इंग्लैण्ड भेजते। प्रवास और वनवास के उन कठिन, पर नये अनुभवों के बरसों में अपने देश की हिन्दी पत्रिकाओं के लिए लिखने से, मिल रही मेरी और सेंगर जी की मेहनत से मिल रही वह थोड़ी सी कमाई कितनी प्रेरणा आत्मविश्वास और उत्साहवर्धक थी।

कृतज्ञता से याद कर रही हूँ, दिल्ली से प्रकाशित होने वाले अंग्रेजी साप्ताहिक 'वैनगार्ड' के प्रतिभावान सहृदय संपादक स्व. रामसिंह जी को जिनके आग्रह पर मैं लन्दन-इंग्लैण्ड के चुनिन्दा साप्ताहिक समाचार उन्हें भेजती और वे अपनी पत्रिका में प्रकाशित करते।

पर्वतों से उतरी, मैदानों की मट्टी में बही, मिली अब सागर तट पर रहती, सागर में विलीन सी होती, फिर हिमशिखरों की ओर लौटने को उतावली, नदी सी, मेरी लम्बी जीवन यात्रा में कितनी ही साधारण-असाधारण हस्तियाँ, शक्तियाँ मेरी सहायक रही हैं। छोटे-बड़े, प्रिय बन्धु बांधव, मित्र, सहयोगी, सहकर्मी एक-एक करके सभी का प्रेम से धन्यवाद पूर्वक उल्लेख करने को मन चाहता है, पर इतना ही कह सकूँगी कि सभी, सभी के लिए कृतज्ञता प्रकट करने का अवसर इस समग्र के प्रकाशन द्वारा ही आदरणीय भाई बेरी जी ने मुझे दिया है।

और अपनी बेटी, सखी, संगिनी, सतत् सहायक सनोवर के लिए अगर दो शब्द भी स्नेह आशिष, धन्यवाद के यहाँ लिखूँ तो, वह तो यही कहेगी कि मेरा जिक्र क्यों किया?

-संतोष साहनी

इकराम
बलराज साहनी मार्ग
जुहू, बम्बई 49

साहित्यकार नहीं जीता मुखौटे की ज़िन्दगी

साहित्य, कला और संगीत इन तीनों क्षेत्रों में, देश भर में साहनी परिवार का वर्चस्व रहा। फ़िल्म जगत में जो उदात्त मूल्य और अवधारणायें स्व० बलराज साहनी ने स्थापित कीं उनके कारण आज भी उनका स्मरण, राष्ट्र श्रद्धा के साथ करता है। देश-भक्ति की भावना तो बलराज जी में कूट-कूट कर भरी हुई थी और उस भावना को स्व० साहनी जी ने जीवन पर्यन्त जिया था। साहित्य के क्षेत्र में भी उनका अमूल्य योगदान रहा। उस महान व्यक्तित्व की मूल प्रेरणा थीं श्रीमती संतोष साहनी। श्रीमती संतोष साहनी ने स्वयं बलराज जी से जो अपार प्रेरणा ग्रहण की थी उसी के बल पर आज भी वे साहित्य की अनवरत सेवा कर रही हैं।

श्रीमती संतोष साहनी ने दिल्ली विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में एम० ए० किया। भारतीय शास्त्रीय संगीत तथा रवीन्द्र संगीत में विधिवत ज्ञानार्जन के लिए शांतिनिकेतन में रहीं। थियेटर, कला, पत्रकारिता तथा यूरोपियन शास्त्रीय संगीत में भी महारत हासिल की। इस सिलसिले में भारत भर के भ्रमण सहित चीन, सोवियत संघ, पोलैण्ड तथा यूरोप की भी यात्राएँ कीं।

श्रीमती साहनी ने इंग्लैण्ड बी० बी० सी० के हिन्दुस्तानी सेक्शन में कार्य किया। इसके अतिरिक्त दिल्ली में वरिष्ठ माध्यमिक पाठशाला में प्रधानाचार्य के पद पर कार्य किया। इस तरह उन्होंने एक पत्रकार, साहित्यकार तथा शिक्षाविद के रूप में पहचान कायम की। स्व० बलराज साहनी के साथ इपटा तथा जुहू आर्ट थियेटर में एक कलाकार तथा निर्देशक के रूप में लम्बे अर्से तक कार्य किया और अब भी इन संस्थाओं से बरावर जुड़ कर अपने स्व० पति के स्वप्नों को साकार करने में निमग्न हैं।

अपनी मातृभाषा पंजाबी में तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी में बाल साहित्य की वृद्धि के लिए श्रीमती संतोष साहनी नाटकों, कहानियों और बाल गीतों के माध्यम से अपना सराहनीय योगदान दे रही हैं। साहित्य, कला, संगीत और पत्रकारिता के क्षेत्र में उनके इस योगदान के लिए पंजाब साहित्य अकादमी, सोवियत नारी पत्रिका और आल इण्डिया आर्टिस्ट एसोसिएशन की ओर से इन्हें सम्मानित किया जा चुका है।

शिमला स्थित उनके निवास स्थान पर श्रीमती संतोष साहनी से मेरी लम्बी बातचीत हुई, मुझे लगा कि उन्होंने जीवन-दर्शन को एक सार्थक ढंग से समझा है और जीवन के प्रति उनके उदात्त-दृष्टिकोण को सामाजिक सत्य के साथ जोड़ना अधिक संगत है।

श्रीमती साहनी ने यथार्थ को जिया है। ज़िन्दगी के दौर में कभी राजपथ ने उनका

स्वागत किया तो कभी अति सँकरी ऊबड़-खाबड़ पथरीली पगडंडियों ने सफ़र को थकानभरा बनाया ।

श्री बलराज जी उनके लिए आदर्श पति ही नहीं गुरु भी थे । श्रीमती साहनी कहती हैं : 'बलराज जी का और मेरा, पति-पत्नी का अपने बच्चों के प्रति ज़िम्मेदार माँ-बाप का सम्बन्ध तो था ही, साथ ही साहित्य और मानवीय जीवन के अध्ययन में, गुरु-शिष्य और सहयोगी का भी सम्बन्ध था । यह सम्बन्ध उमंग, उत्साह और नित नई प्रेरणा का स्रोत था । उनके आशीर्वाद की अमृत बूँदें, हमारे बच्चों, रचनात्मक कार्यों में हमारे सहयोगियों को भी मिलती थीं ।

हिमाचल प्रदेश देवभूमि है, पर्यटन भूमि है । अतः इस प्रदेश के प्रति साहनी परिवार का विशेष लगाव रहा, श्रीमती साहनी बताती हैं, हमारे बच्चे हिमाचल प्रदेश के ही एक स्कूल में पढ़ रहे थे इसीलिए कश्मीर में कम और हिमाचल में आना अधिक हुआ । हिमाचल का सौंदर्य सदैव हमें मुग्ध करता रहा है । पहाड़ों की नज़दीक-दूर की पगडंडियों पर चैन से चलते, राहियों को देखते और हिमाचल की प्यारी मीठी बोलियों को जब सुनती हूँ, तो कई बार सोचती हूँ कि मैं एक हिन्दुस्तानी, मैं विश्वमानव, मैं प्रकृति माँ की बेटी ! सारी पृथ्वी के लोगों के रचे और गाये गीत, मेरे अपने ही गीत हैं, हम सबके साँझे सुख-दुखों के, साँझे सपनों के गीत हैं । हिमाचल की प्यारी धरती पर, मेरी लेखनी से मानवता के हित में कई गीत फूटे हैं । बहुत प्यारी है हिमाचल धरा।

वर्तमान साहित्य की सार्थकता के सम्बन्ध में श्रीमती संतोष साहनी का कहना है प्रगतिशीलता के विचार से लिखा गया साहित्य ही सार्थक साहित्य है । समाज की विषमताओं से टक्कर लेने के लिए लेखक को संघर्ष करना पड़ता है तभी साहित्य समाज-सापेक्ष मूल्यों को स्थापित करने में सफलता अर्जित करता है ।

देश व देशवासियों की हित चिन्ता संतोष जी गहराई से महसूसती हैं । 'हम हिन्दुस्तानी आज़ादी के बाद भी तीसरी दुनियाँ के लोग हैं । हमें राजनैतिक आज़ादी तो किसी हद तक मिली है तथापि हमें अपनी आर्थिक समृद्धि की ओर अग्रसर होना है । धर्म, रंगभेद, जातिगत भेदभाव की दीवारों को तोड़ना हमारे सामने सबसे बड़ी चुनौती है।

साहित्य के प्रति संतोष जी का मत बड़ा स्पष्ट है । वह कहती हैं कि साहित्य का एक-एक अक्षर अर्थपूर्ण होना चाहिए । साहित्यकार मुखौटे की ज़िन्दगी जीने वाला नहीं होना चाहिए अपितु उसे यथार्थ की धरती पर मानव-मूल्यों की सार्थकता सिद्ध करनी चाहिए ।

लेखक :

श्री ठाकुरदत्त शर्मा 'आलोक'

(अध्यक्ष पत्रकारिता विभाग)

हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय ।

प्रकाशकीय

साहित्य के क्षेत्र में विविध विधाओं पर अधिकारपूर्वक लिखना संतोष जी की लेखनी का वैशिष्ट्य है। कहानी, नाटक, एकांकी, कविता, संस्मरण, यात्रा साहित्य, बाल साहित्य उनके विशिष्ट लेखन क्षेत्र हैं। जहाँ उनकी रचनाओं में कविगुरु रवीन्द्रनाथ के विचारों की अभिव्यक्ति है वहीं वह प्रकृतिपरक रचनाओं से प्रभावित भी दिखती हैं। नाटकों में प्रगतिवादी विचारधारा की झलक पात्रों के संवादों के माध्यम से स्पष्ट दिखाई देती है।

गंभीर अध्येता, लेखिका, विचारक, नाटककार और कवि होने के साथ ही साथ हिन्दी साहित्य के प्रति संतोष जी की विशेष अभिरुचि परिवार-परम्परा से जुड़ी दिखती है।

अपने पति स्व. बलराज साहनी की तरह अभिनय के क्षेत्र में आपका अच्छा प्रवेश रहा है। सफल अभिनेत्री होने के कारण इनके द्वारा रचित नाटकों में बंगाल के मंचीय नाट्यशिल्प का प्रभाव स्पष्ट दिखता है।

बाल साहित्य के क्षेत्र में पंजाबी में उनकी बहुत सी रचनायें पुंस्तकाकार छपी हैं और लोकप्रिय हुई हैं। इनमें से कई पुस्तकें पुरस्कृत भी हुई हैं। बाल नाटकों का मंचन भी हुआ है।

इतना संतुलित लिखकर भी बहुत समय तक अपने आपको प्रकाशित न कराने का संयम उनकी स्वस्थ मानसिक प्रवृत्ति का परिचायक है। वह कहती हैं कि साहित्य को जो कुछ भी देना चाहती हूँ वह पूर्णतः मँजा हुआ रहे। बंगाल के प्रसिद्ध साहित्यकार स्व. राधारमण मित्र की पहली कृति 'कलकत्ता दर्पण' 85 वर्ष की उम्र में प्रकाशित हुई थी और उसका बहुत समादर हुआ। श्रीमती साहनी का समग्र भी उनकी एक लम्बे साहित्यिक जीवन संघर्ष की कहानी है। हमें विश्वास है कि इसका अभूतपूर्व स्वागत होगा।

उन्हें साहित्य में पूर्णता प्राप्त हो चुकी है। उनकी रचनायें आकाशवाणी, दूरदर्शन, पत्र-पत्रिकाओं में तो आ ही चुकी हैं और अब समग्र रूप में प्रकाशित हो रही हैं।

उनका प्रकाशक बनकर हमें गौरव का अनुभव हो रहा है।

-कृष्णाचन्द्र बेरी

संतोष साहनी समग्र

नाटक

- अग्नि-परीक्षा
- चिड़ियों का कहना है कि!
- चेतावनी

अग्नि-परीक्षा

(सम्पूर्ण नाटक)

समर्पित

महाराष्ट्र के एक कस्बे की उस बहादुर नवयुवती को
जिसने अन्याय के विरुद्ध खड़ा होने का साहस किया।

जालन्धर दूरदर्शन द्वारा १६७६ में पंजाबी में आगरा इप्टा द्वारा १६७८ में हिन्दी में प्रस्तुत किया गया।

पात्र–सूची

बाऊजी	:	सरला के पिता
भागवन्ती	:	सरला की मां
पंडितजी	:	शहर के एक पुरोहित
सावित्री	:	सरला की बड़ी बहन
जगदीश	:	सरला का भाई
शीला	:	सरला की बड़ी बहन
पुरुषोत्तम	:	सरला का पति
बेजी	:	शीला की सास
निर्मला	:	जगदीश की प्रियतमा
बीवीजी	:	नरेश की मां
नरेश	:	सरला का मंगेतर
प्रदीप	:	सरला के पड़ोस में एक लड़का
रामलाल	:	प्रदीप के पिता
मामा नं० १	:	सरला के मामा
मामा नं० २	:	नरेश के मामा

अन्य पात्र

सरला के रिश्तेदार, नरेश के रिश्तेदार, पड़ोसी शादी में आए मेहमान ।

●

(यह नाटक सर्व प्रथम, जालंधर दूरदर्शन के लिए पंजाबी भाषा मे लिखा और प्रसारित किया गया था। इसी नाटक का हिन्दी रूपांतर आगरा इपटा द्वारा सफलता से कुछ बार खेला गया।

दूरदर्शन पर प्रस्तुत करते समय; टाइटल्ज़ के पीछे, स्त्रियो पर अन्याय, अत्याचार के प्रतीक कुछ दृष्य समूह मोंटाज रुप मे लिखे और प्रस्तुत किए गए निम्नलिखित, विरोधाभासी दृष्य थे :–

1. गेंद गीटे खेलती छोटी भोली लड़कियां,
2. आकाश में उड़ रहे पक्षियों को गोली का निशाना बनाते मनचले युवक।
3. पुस्तकें उठाए स्कूल-कालेज जाती हंसती, बातचीत करती लड़कियां
4. किसी गाय की हो रही नीलामी की बोली का कठोर दृश्य।

अग्नि-परीक्षा

पहला दृश्य

किसी भी शहर के, आज से बीस-पच्चीस बरस पहले बनी कालोनी में एक छोटा, दोमंज़िला घर। कालोनी के घरों के बीचोबीच एक छोटा-खुला आंगन सा। कालोनी के निवासी, इस आंगन को बच्चों के खेलकूद, शादियों, धार्मिक त्यौहारों आदि के लिए इस्तेमाल करते हैं। नगर के एक, दो या तीन मंजिले नए मकानों की गलियों में फेरी वालों की कोई डरा देने वाली, कोई हंसा देने वाली, कोई उदास कर देने वाली पुकारें रह रहकर गूंजती हैं। कभी किसी वक्त किसी भिखारी या भिखारिन की पुकार भी।

घर के बाहर का दरवाज़ा पार करने पर एक छोटा-सा आंगन। आंगन में एक चारपाई, दीवार के साथ लगी एक साइकिल, फूलों के एक-दो गमले। आंगन के आर-पार बंधी रस्सी पर सूख रहे, पजामे, तौलिए, बनयानें, कमीज़ें वगैरह।

आंगन से ही आगे दो सीढ़ियां चढ़ने पर एक छोटा-सा बरामदा। फ़र्श के पुराने सीमेंट पर दरारें आ चुकी हैं। दीवारों पर रंग भी पांच छः बरस पहले करवाया गया होगा।

बरामदे में ही खाने की छोटी सी मेज़, तीन-चार कुर्सियां और एक छोटा-सा पुराना सोफ़ा। दीवार पर एक कैलेण्डर, एक-दो फ़ोटो, एक साधारण से प्राकृतिक दृश्य का चित्र।

बरामदे से रसोई की तरफ खुलता एक दरवाज़ा। बरामदे से ही दूसरे दो कमरों की तरफ़ खुलते दरवाज़े जिन पर सादे लेकिन साफ, फूलदार परदे पड़े हैं। बरामदे में किसी एक कुरसी पर बैठे पंडितजी। सुबह के अख़बार को मेज़ पर रख कर, नाक से ऐनक उतार कर कमीज़ की जेब में रखते हुए बाऊजी पंडितजी से बात कर रहे हैं।

बाऊजी : कोई नज़र में आया, पंडित जी?

पंडित जी : उंगलियों पर हैं बाबूजी, उंगलियों पर! हमारा तो काम ही यही हुआ। *(चापलूसी की हंसी हंसता है)*।

बाऊजी : मेरा मतलब है, कोई हमारे काम का?

पंडितजी : *(फिर हंसकर)* हमको तो सभी मजमानों को ख़ुश रखना हुआ जी। लड़का तो कोई भी बुरा नहीं। सिर्फ भाव चढ़े हुए हैं आजकल, कलजुग के जमाने में?

लेकिन बात भी ठीक है एक तरह से। मंहगाई का जो राज होरिया है चारों तरफ। लड़के वाले भी भाव क्यों न चढ़ाएं।

बाऊजी : *(पल भर चुप रहके)* बेटी वालों की गरदन तो हमेशा झुकी रहती है पंडितजी। अब तो बिलकुल ही मर गए हैं। रोज़ की दाल रोटी का खर्च ही नहीं पूरा पड़ता। *(ज़रा रुक कर)* इसीलिए कई लोग अपनी ज़ात-बिरादरी से बाहर शादियां करने लगे हैं......*(जरा रुक कर)* मेरी नज़रों में भी एक लड़का है। अच्छा पढ़ा-लिखा है, पढ़ाता है स्कूल में। मामूली घर का है। पर गुज़ारा चल रहा है दाल रोटी का। लड़के का बाप छोटी दुकान चलाता है बच्चों की किताबों कापियों की।

पंडितजी : अच्छा, अच्छा वोह, माई वीरां के बाजार में न!

बाऊजी : हां, अच्छी तबीयत के आदमी हैं। एक बार ज़िक्र भी छेड़ा था उन्होंने मेरी सरला के लिए-

पंडितजी : ज़ात-बिरादरी के बाहर तो लड़के बहुत मिलते हैं बाऊजी। क्या कमी है। पर बाऊजी, अगर आप जैसे ज्ञान-धरम के पालक भी टेढ़ी लाइनों में-पर चल पड़े तो फिर ज़ात-धरम में पवित्रता कहां रह जाएगी? फिर तो भारत बरस में हिन्दू धरम का अन्त समझिए। इतनी ऊंची और सुच्ची जात आपके घर की!

बाऊजी : *(ज़रा खिसियाने से होकर बात हालते हुए में)* मैं कहां वहां बेटी देने वाला हूं पंडितजी। मैं तो वैसे ही बात कर रहा था कि व्याह-शादियों के सौदे मंहगे होते जा रहे हैं। नए टैक्स ही भरना मुश्किल हो रहा है, लोगों के ब्लड प्रेशर बढ़ रहे हैं। ....वैसे सच पूछो पंडितजी, तो ज़ात-बिरादरी अब तो एक दूजे की निन्दा के लिए ही रह गई है। ज़ात बिरादरी की कीमत तो जब हो जब वक्त-बेवक्त एक दूसरे की मदद की जाती हो। आजकल, मदद तो नहीं, इज्ज़त खराब करने के लिए सब तैयार खड़े हैं। *(ज़रा रुककर)* पैसे वाले को कोई नहीं छू सकता। शामत तो हम सफ़ेद पोशों की आई रहती है हर वक्त। पल्ले कुछ भी न होते हुए सारा वक्त यही डर रहता है कहीं नाक न कट जाए बिरादरी के सामने। इसी चिन्ता में ज़िन्दगी कटती है। इज्ज़त का फिकर न धनवान को न भिखारी को।

पंडितजी : ठीक कहते हो बाऊजी। अब तो हम बाहमनों, पुरोहितों के पीछे भी पड़ गए हैं कि यह बिल भरो, यह टैक्स भरो-कहां से भरें। *(हंसता है)*

बाऊजी : आपकी आमदनी तो हम दफ़्तरियों से ज्यादा ही होगी पंडितजी। किसी का मुंडन, किसी की सगाई, किसी की शादी और किसी का अंतिम संस्कार।

पंडितजी : जब जजमानों के इतने बुरे हाल है तो पुरोहितों को क्या मिलता है जी। वह वक्त निकल गया जब बाहमनों पुरोहितों को सम्मान आदर मिलता था। आजकल तो यह धंधा भी बड़ा मुश्किल हो गया है। धरम मान कर ही अपना धंधा निभा रहा हूं। अपने जाए धी पूतने से ही इज्जत नहीं मिल रही। हमको दक्षिणा लेने वाले मां-बाप समझते हैं। इसीलिए तो अपने छोटे बेटे को पढ़ा रहा हूं। पढ़-लिख

कर कहीं नौकरी ही ठीक है। तनख्वाह के अलावा, ऊपर नीचे से भी कुछ न कुछ बना लेते हैं दफ़्तरों वाले *(बाऊजी सर उठा के पंडितजी की तरफ देखते हैं)* बाऊ जी, आप जैसे देवता तो कम ही हैं इस शहर में....मैं, तो आम दफ्तरों वालों की बात-

बाऊजी : बात तो लड़कों के बारे में हो रही थी?

पंडितजी : *(हंसकर)* लो, बाऊजी, मैं भी किस तरफ चल पड़ा। वैसे, बाऊजी, बड़ों का कहना है कि बेटी पैदा करो और सात जनम दुख पाओ। बेटी तो पैदा होते ही पराई है-अपनी सरला की, जुग-जुग जिए, क्या उमर है अब?

बाऊजी : उन्नीसवां लगा है इस फागुन में।

पंडितजी : जीती रहे, सुख पाए, राज करे, बस अब इसी बरस बात पक्की कर दीजिए। अठारहवां, उन्नीसवां टापा नहीं लड़की ने कि लड़के मिलने मुश्किल हो जाते हैं। सयानी लड़की को कौन लेता हैं!

बाऊजी : लड़कों के बारे में तो अभी तक आपने कुछ बताया ही नहीं। इधर उधर की शटल्लें लगाए जा रहे हो।

पंडितजी : अरज़ किया न बाऊजी, शहर में जो है-सो तो उंगलियों पर है। एक तो है शर्माजी का बेटा नरेश।

बाऊजी : शर्माजी, कौन से?

पंडितजी : अजी वोह अपने, प्रताप बैंक वाले। आप तो उनको जानते ही होंगे, अपनी रामलीला कमेटी के परधान।

बाऊजी : नहीं, बस कभी शादी त्यौहार के मौके पर ही राम-राम होती है दूर-दूर से। उनका बेटा क्या करता है?

पंडितजी : भगवान की दया से अभी बीए का इम्तिहान दिया है। पास भी हो ही जाएगा। होशियार लड़का है। फिर किसी ओहदे पर लगवा देंगे। लालाजी का रसूख है और देखने में भी अच्छा है लड़का।

बाऊजी : लेन-देन के बारे में कुछ पूछा आपने?

पंडितजी : हमारा तो काम ही यही हुआ महाराज। आपने हुकूम दिया और हमने पालन किया। बाऊजी लड़के वालों की अपनी ज़रूरतें है। नौकरियों के हिन्टरव्यू के लिए ही आजकल कितना देना पड़ता है। अब सोचने की बात है इन्टरव्यू के लिए इन्हें भी तो कुछ न कुछ देना ही पड़ेगा। अब इन्टरव्यू के लिए कुछ रकम की ज़रूरत होगी ही।

बाऊजी : कितनी रकम?

पंडितजी : कमज़ कम दस हजार होगी ही।

बाऊजी : दस हज़ार।

पंडितजी : जी बाऊजी। पर वोह अपने लिए तो नहीं ले रहे न जी। बेटे को नौकरी पर लगवाने के लिए लेंगे न। अब अगर कहीं अच्छी नौकरी का चांस हो तो कैसे न दे। आप तो जानते ही हो, कौन-सा स्कूल-कालेज यूनिवर्सिटी है जो

आजकल न लेती हो ऊपर नीचे से, दाखले के वास्ते और दफ्तरों, फैक्टरियों में भी तो यही हाल है। अब लड़के के मां बाप भी क्या करें जी। बेटे को किसी चंगी नौकरी पर तो लगवाना ही है न जी। और लड़का भी अच्छा है देखने में भी, सुभा में भी। उस पर शर्माजी की जात भी आप जैसी ही, ऊंची और सुच्ची।

बाऊजी : *(माथे पर पसीना पोंछते हुए)* सिरी राम।

पंडितजी : *(भी माथे पर पसीना पोंछते हुए)* सिरी राम! राधेश्याम! आज के जमाने में लड़की व्याहना पहाड़ का भार उठाना है बाऊजी। पर एक बात अच्छी है इस रिश्ते में बाऊजी। शर्माजी कहते हैं, रोका, ठाका वगैरह कुछ नहीं लेंगे। बस लड़के की हिन्टरव्यू और नौकरी लगवाने में जो खर्चा आता है उसी को रोका ठाका समझ लेवें जी। अगर लड़का अच्छी नौकरी पर लग गया तो आपकी बेटी ही सुखी रहेगी न।

बाऊजी : क्या मालूम, बाद में और क्या मांगे, मंगनी के वक्त और शादी के वक्त।

पंडितजी : बेटी का व्याह तो बेटी का ही व्याह है जी। आप पैदा की और आप ही व्याहनी है। धीआं वालों को नींद कहां। पैदा हुई कि मां-बाप पैसा जमा करने लगते हैं शादी के लिए। पर लालाजी कहते थे सगाई-व्याह के टैम पर जो आपकी खुशी हो सो देवें। वोह कुछ नहीं बोलने वाले। -बाऊजी, आखिर उनके भी लेनदेन के सम्बन्ध है न जी। तीन बेटियां व्याह चुके हैं। बेटियों के व्याह पर जो दिया तो बेटे के व्याह पर कुछ न कुछ लेना तो बनता ही है उनका। आपके जगदीशजी भी, जुग-जुग जिएं, अब शादी लायक हैं। आप भी तो, भगवान आपका भला करे, समधियों से कुछ न कुछ तो लेंगे ही। आपका हक भी है। लड़के वालों का तो सदा से ही हक है।

बाऊजी : यही तो मुसीबत है।

पंडितजी : क्यों जी?

बाऊजी : मेरा लड़का जगदीश तो कहता है कि वह इन रस्मों-रिवाज के खिलाफ़ हैं। वह तो कहता है लड़की वालों से दान-दहेज कुछ नहीं लेना चाहिए।

पंडितजी : भगवान लम्बी उमर दे जगदीशजी को। वह तो क्या नाम है उस जात-पात तोड़क सुसायटी का, उसके मेंबर हैं न। आप बुरा न मानिए मेरी बात का बाऊजी। पर यह नौजवान पार्टियां ही इस मुलक का बेड़ा गरक कर रही हैं। यह रसम-रिवाज तोड़ो, वह जुलूस निकालों। मैं तो हैरान हूं जी के आप जैसे देवता पुरुष के बेटे भी ऐसे निकम्मे कामों में पड़ गए। मां बाप पालते पढ़ाते इसीलिए हैं कि दुःख तकलीफ में बेटे काम आवें। बुढ़ापे में दुःख पाने के वास्ते तो नहीं।

बाऊजी : *(मानों अपने आप से)* सच पूछिए तो-मैं तो खुद भी इन रिवाजों से तंग आया हूं। पर अकेले इंसान में क्या ताक़त है बिरादरी के खिलाफ़ एक क़दम उठाने की भी।

पंडितजी : अगर आपकी बहू धन के साथ आपके घर की दहलीज, पर पैर रखती हो तो क्या आप उसे अन्दर नही आने देंगे? हुक्म करो बाऊजी। ऐसा रिश्ता लाऊं कि

बहु लक्ष्मी बन कर घर आए।

बाऊजी : क्यों नहीं। मगर हां, ना करना हमारे हाथ में नहीं। मेरा बेटा अपनी मरज़ी वाला है।

पंडितजी : आपके बेटे-बेटियां भगवान करे सदा सुख पाएं। पर मेरी बात का बुरा न मानना। आपने अपने बच्चों को ज़रा ज्यादा ही खुल दे रखी है। अपने बच्चों से लाड़-प्यार तो कुदरती बात है। पर उनको कुछ कंट्रोल में भी तो रखना जरूरी है न।

बाऊजी : पंडितजी आजकल जिसके बच्चे कंट्रोल में हैं? आपके बच्चे आपके कंट्रोल में हैं?

पंडितजी : *(हंस के)* वैसे तो आजकल सारे भारत बरस के ही बेटे-बेटियां कंट्रोल से बाहर हुए हैं जी। आपके भी और हमारे भी।

(दोनों ज़रा सा हंस पड़ते हैं)

बाऊजी : आप भी इस वक्त कंट्रोल से बाहर हुए हैं। बात कहां से कहां फिसल गई। बताइए न कौन-कौन लड़के आपकी उंगलियों पर हैं। क्या-क्या भाव है?

पंडितजी : हमको तो सब जजमानों को खुश रखना है जी। हमारा धंधा जो यही हुआ।

(गली में से किसी अंडे बेचने वाले की चौंका देने वाली पुकार। जैसे कोई बम गिरा हो)

अंडेवाला : अंडे ! अंडे !

(बाऊजी और पंडितजी दोनों पल भर के लिए जोर से चौंक पड़ते हैं। पल भर की खामोशी)

बाऊजी : दूसरे कौन से लड़के की बात करने लगे थे आप?

पंडितजी : एक लड़का है जी बड़ा शरीफ, पैसे वाला है। बेचारा विधवा है, मेरा मतलब रंडा है। एक बेटी बेटा हैं छोटे। पर बेचारों की दुखभाल करने वाला कोई नहीं। बड़ा शरीफ-

बाऊजी : नहीं-नहीं। हम ऐसी मुश्किल में नहीं।

पंडितजी : आपने पूछा तो मैंने बताया।

बाऊजी : अच्छा और कौन है भलमानस?

पंडितजी : यह है जी, भगवान आपका भला करे......अभी-अभी वकालत पास की है जी। यह भी खाते-पीते, पैसे के तकड़े लोग हैं। मगर घर में सारा वक्त कलह पड़ी रहती है। बड़ा बेटा बंबई डाक्टरी पढ़ने गया था। डाक्टरी पास करके साथ में मरहटन लड़की व्याह लाया। इसलिए एक, और दूसरा वह लड़की के साथ में दान-दहेज भी कम ही लाई। इसलिए सास ससुर की बहुत के साथ खटपट रहती है। बेटे के सामने तो उसे कुछ नहीं कहते। लेकिन उसकी पीठ पीछे उसकी इज्जत उतारते हैं। बेटे ने भी बेवकूफी की। भई पंजाबी होकर मराठन क्यों उठा लाए? कहता है 'लव मैरज' है। इन 'लव मैरजों' ने भी नई तबाही ला धरी है जी। न मां बाप से पूछा, न पैसा धैला खरचा और शादियां कर रहे हैं आजकल के लौंडे-लौंडियां और आप कहते हो कि ब्राह्मनों की बड़ी कमाई होती है। ख़ाक कमाई होती है।

बाऊजी : हां तो छोटे लड़के ने वकालत शुरू कर दी है?

पंडितजी : बस जी अब वकालत पास कर ली तो प्रैक्टस भी तो करेगा ही न। इसके लिए भी शुरू-शुरू में तो पैसा लगाने की जरूरत पड़ेगी। दोनों बेटों की पढ़ाई पर इतना खर्चा जो किया जी बड़े बेटे की बीवी अपने मायके से नहीं के बराबर लाई। अब छोटे बेटे की शादी वह धूमधूम से करेंगे और रही सही कसर निकालेंगे। लड़का यह भी हुश्यार है।

बाऊजी : *(कुछ घबराकर)* कितना लेंगे?

पंडितजी : बीस हज़ार तो रोकने का ही मांग रहे थे। सगाई-बिआह का अलग। लालाजी ने बेटों के पालने पोसने और ऊंची पढ़ाई पर खर्चे जो किए जी। इनके भाव तो ज़्यादा होने ही हुए जी।

बाऊजी : *(कमीज का कालर सीधा करते हुए)* पर बेटी वाले भी तो अपनी बेटियों पर खर्चा करते हैं-उसी तरह जैसे बेटे वाले पालने के, पढ़ाई के, सभी खर्चे होते हैं।

पंडितजी : सिरीराम, राधेश्याम। बेटे-बेटियों को पैदा करना आसान है जी पर पालना पढ़ाना और फिर व्याह करना। और बेटियों के व्याह तो, बस! सीताराम।

बाऊजी : *(सोचते हुए)* इन सबसे तो वह शर्माजी का घर ही कुछ बात करने लायक जान पड़ता है। शर्माजी से ज़रा बात तो कर के देखो, अगर कुछ भाव कम करते हों तो-

पंडितजी : हमें तो सबको खुश रखना हुआ बाऊजी। मैंने आपका ख्याल रखते हुए पहले ही शर्माजी से बात की थी। कहने लगे दूसरों के मुकाबले में तो पहले ही कुछ नहीं ले रहे। उनको और जगह से भी सम्बन्ध आ रहे हैं। वोह तो जब मैंने आपकी नेकनामी और सरला बेटी के सुशील स्वभाव की तारीफ की तो उन्होंने इस तरफ तवउजो दी।

पंडितजी : *(बाहर के दरवाज़े की तरफ देखते हुए)* जगदीश की मां अभी तक नहीं आई।

पंडितजी : माताजी कहां गई हैं?

बाऊजी : सब्जी-भाजी खरीदने गई थीं। किसी सहेली के साथ सतसंग में घुस गईं होंगी।

पंडितजी : हां जी वोह पधारे हैं न आजकल बाबा एक सौ आठ जी महाराज। साथ के मुहल्ले में जाप करवा रहे हैं। सुना है बड़ी विभूतियों और करामातों वाले हैं। बड़ी मुरादें पूरी करते हैं।

बाऊजी : आजकल तो कोई भी बेकार मुशटंडा बभूत रमाए संत बाबा बना बैठा है।

पंडितजी : आजकल बेरोजगारी जो बहुत बढ़ गई है जी। अब तो बड़े-बड़े फैशनेबुल स्वामी भी निकल आए हैं, अंग्रेज और जरमन और अमरीकन स्वामी। सब रामनाम की चादरें ओढ़े गली-गली घूम रहे हैं। यह एक और नुकसान हमारे धंधे को।

बाऊजी : औरतों को जाने क्या मिलता है इन सुआमीओं के सतसंगों में। एक बार घुस गई सतसंग में फिर घर बाहर की होश गंवा बैठती हैं। और स्वामिओं की मौज है। गोपियों में कान्हा बने रहते हैं। खाना पीना भी मुफ्त।

पंडितजी : मेरी पुरोहताइन भी तो वहीं घुसी रहती हैं न जी। मेरी तो मानती ही नहीं। कभी सोचता हूं किसी डेरे का संत ही होता तो अच्छा था, इससे तो।

(घंटी बजती है)

बाऊजी : यह भागो ही होगी।

(बाऊजी बरामदे का दरवाजा खोलते हैं। पोस्टमैन चिट्ठियां देता है)

बाऊजी : *(चिट्ठियां देखकर)* बिजली और पानी के बिल। महीने की आधी तनख्वाह तो इन बिलों में ही खत्म हो जाती है। *(चिट्ठियां देखते हुए)* मैं रुपये का इन्तज़ाम करता हूं। जगदीश की मां के साथ भी सलाह कर लूं और कहीं भी पता करो पंडतजी। लड़का पढ़ा-लिखा कामकाज करता हो। और मां बाप ज़्यादा भाव न खाते हों। हमारी तरह सीधी सादी तबीयत हो। पहले सुशीला के वक्त ग़लती हो गई हमसे।

पंडितजी : क्यों शीला बेटी को क्या तकलीफ़ है?

बाऊजी : नहीं, कुछ नहीं। बस, ज़रा सास तकलीफ़ देती है उसे। (ज़रा रुककर कहते है) लालची लोग न हों, मिलनसार हों। बेटी के सुख के लिए मां-बाप तो अपने आपही सब कुछ करना चाहते हैं।

पंडितजी : जी सच्ची बात है। बेटी पैदा होती ही पराई है। पर है तो मां-बाप के जिगर का टुकड़ा। अपनी प्रकाशो के लिए भी तो देख रहा हूं कोई। वह भी तो व्याहने जोग है अब। अच्छा बाऊजी, अब चलता हूं। शर्माजी किसी काम पर शहर से बाहर गए हुए हैं। वापस आ जाएं। पहला काम यही करूंगा जी। राम-राम बाऊजी।

(पंडित दरवाजे के पास जाकर लौटता है)

पंडितजी : एक अरज़ थी महाराज।

बाऊजी : बोलो जी।

पंडितजी : इस महीने कड़की है जी। कुछ मिल जाता तो-भगवान आपका भला करे।

बाऊजी : *(जेब टटोलते हुए)* कितने?

पंडितजी : यही तीस, पैंतीस रुपये मिल जाते तो......बड़ी मेहरबानी आपकी।

बाऊजी : इस वक्त तो बीस ही हैं पंडितजी। बाकी फिर जब आएंगे तो। भागवन्ती भी तो घर पर नहीं *(रुपये देते हैं)* बीस आप पिछले हफ्ते भी ले गए थे।

पंडितजी : *(पैसा लेते हुए)* भगवान भला करे। बेटी का काज बने। बस महाराज मैं पूरी-पूरी पूछताछ करके आया जल्दी ही।

(जाने लगता है। फिर घंटी बजती है। दरवाज़ा खोलता है। सब्जी की टोकरी हाथ में उठाए भागवन्ती अन्दर दाखिल होती हैं। बगल में एक बड़ा लिफ़ाफ़ा है। भागवन्ती लम्बे कद की दुबली औरत है। प्रिन्टेड सूती सरवार-कमीज पहने हुए है और सफ़ेद मलमल का दुपट्टा। देखने में आकर्षक हैं। पर अनुभव और अभाव देख चुकी हैं। अधपके बाल, अधेड़ उमर)

पंडितजी : राम-राम माताजी।

भागवन्ती : रामराम पंडितजी।

बाऊजी : पंडितजी को ख़ुद तो बुलाया और अपने आप सतसंग में चली गई होगी?

भागवन्ती : *(थकी हुई पर शान्त आवाज में)* कौन गया है सतसंग में! साग-सब्ज़ी और सूटों का कपड़ा लेने में ही इतना वक्त निकल गया।
(सोफ़े पर लिफ़ाफ़े रखकर, सब्ज़ी रखने के लिए रसोई की तरफ़ बढ़ती है। जाते हुए)

भागवन्ती : आग लगी हुई है।

पंडितजी : आग? कहां माताजी?

भागवन्ती : बाज़ार को और किसको! हर चीज़ का भाव आसमान पे चढ़ा हुआ है। शीला की सास के लिए सावित्री की सास के लिए सूटों का कपड़ा लेना था। तीन चार सौ रूपये उसी पे निकल आए।

बाऊजी : शीला की सास के लिए फिर से सूट? अभी थोड़ी देर ही तो हुई तुमने उसे कुछ भेजा था-क्या? चाँदी की सुरमेदानी?

भागवन्ती : हां पर बीस तारीख को करवा चौथ जो आ रहा है। यह भेंट तो चढ़ानी ही है। सो भी ठीक ही। मुश्किल तो यह है कि उसे जो भी भेजा, वह नाक मुंह ही चढ़ाती है।
(रसोई में जाती है)

पंडितजी : अजी बाऊजी, भगवान इन सासों से बचाए। मेरी अपनी भी ऐसी ही थी। और मेरी सास की बेटी-बस पूछिए मत-मैं ही हूं जो निभा रहा हूं। *(हंसता है)* अच्छा माताजी? मैं चलता हूं। क्या वक्त हो गया होगा बाबूजी?
(बाऊजी घड़ी देखकर)

बाऊजी : सवा दस।

पंडितजी : सवा दस? ओ हो मुझे तो लाला रामनाथ रेड की सास के संस्कार पर पहुंचना था। बुढ़िया कल की मरी पड़ी है। अभी तक लाश नहीं उठी।
(भागवन्ती रसोई से बाहर आती हैं, थाली में साग और छुरी रखके)

भागवन्ती : *(सुनकर)* क्यों? नहीं ले गए अभी तक?

पंडितजी : वह जी, बसीयतनामा जो नहीं है। सो अब बेटों, बेटियों, बहुओं की लाश के सिरहाने-पैताने बैठकर, रुपये, गहनों के लिए अन्दर ही अन्दर से खींचतान चल रही है। छोटी बहू रुपये गहनों वाली बन्द आलमारी के आगे सट कर बैठी, वैन कर रही है। मगर जब तक आपस में फैसला न हो जाए लाश नहीं उठेगी। गुरुजी ने कहा है 'देख मरदाने रंग करतार के'। अच्छा जी चलता हूं। देखूं मामला कहां तक पहुंचा है। *(नाक पर धोती का छोर रखकर....)* बुढ़िया से तो अब तक बू आने लगी होगी। अच्छा जी राम, राम?
(जाता है। थोड़ी देर खामोशी)

भागवन्ती : क्या कहते थे पंडितजी?

बाऊजी : यही, कि बाज़ार को आग लगी हुई है। भाव दिन पर दिन चढ़ रहे हैं।

भागवन्ती : *(थाली मेज़ पर रखकर, कुर्सी पर बैठकर साग काटते हुए)* आज बाज़ार में सेवारामजी की मां मिली थी। अपनी पोती के लिए जगदीश के बारे में बात करती थी। सुख से, अच्छे धन धान वाले हैं। लड़की भी दसवीं पास है, सुशील है। देखने में इतनी अच्छी न हुई तो क्या। हम भी न मांगे, तो भी सगाई व्याह पर बहुत मिलेगा। जगदीश अगर इधर रिश्ता मान लें तो हम सरला का व्याह, खुले हाथों से कर सकेंगे।

बाऊजी : पंडितजी एक और भी अच्छे घर के बारे में बता रहे थे। पर क्या जगदीश राज़ी होगा इस रिश्ते के लिए।

भागवन्ती : घर आई लछमी को कोई मूरख ही मोड़ेगा आजकल। हमने अपनी दो बेटियों के व्याहों में अपनी तौफ़ीक से बढ़कर दिया। अब हमारा हाथ तंग है। अगर जगदीश का मन किसी तरह राज़ी हो जाए तो हम लोग बेटी को ठिकाने लगा सकें।

बाऊजी : जगदीश मानेगा भी?

भागवन्ती : मैं तो पहले से ही कहती थी कि लड़कों को थोड़ा बहुत पढ़ा कर जल्दी किसी दुकान-फैक्टरी में लगा देना चाहिए। ज्यादा पढ़ाओ, बहुत खुल दो फिर बच्चे आज़ाद खयाल हो जाते हैं। पर आपने कहा बेटियों को आजकल खूब पढ़ाना चाहिए। अब भटक रहा है न जगदीश प्रोफेसरी की नौकरी के लिए-

बाऊजी : बस, बस अब बहुत भाषण मत दो। *(ज़रा चुप्पी के बाद)* जगदीश से बात करके देखो जो माने तो ठीक है। पंडितजी ने सरला के लिए जिस लड़के के बारे में बताया है वहां भी पहले ही सीधे दस हज़ार मांग रहे हैं। ....पर दूसरों के घरों में तो इससे भी ज़्यादा भाव है। सोच रहा हूं कि कुछ तो प्राविडेंट फंड में से मांग लूंगा ठाके के लिए और अगले खर्चे के लिए कुछ दूसरा इन्तज़ाम करना पड़ेगा।

भागवन्ती : जगदीश से बात कर देखती हूं।

●

दूसरा दृश्य

बाऊजी के घर का बरामदा। जगदीश नाश्ते के लिए खाने की मेज़ के करीब बैठता है। खिन्न और उदास दीखता है। मां रसोई से पराठा बनाकर लाती है।

जगदीश : *(हाथ से रोकते हुए)* बस, और नहीं चाहिए।

भागवन्ती : कुछ भी नहीं खाया तुमने। लो न एक गरम-गरम पराठा।

जगदीश : भूख नहीं।

(मां मेज पर ही पराठे वाला ढक्कन रख कर पल भर खड़ी उसकी तरफ़ देखती है। फिर सोफ़े पर बैठ जाती है। पल भर की उदास खामोशी। फिर-)

भागवन्ती : फिर, तू ले जाएगा शीला के वास्ते करवा चौथ का सामान?

जगदीश : नहीं, किसी और को भेज दीजिए।

भागवन्ती : और किसको? तेरे बाऊजी को? सबेरे के गए शाम को ओवर टाइम करके लौटते है!

जगदीश : और मैं रहा बेकार!

भागवन्ती : बेटे मेरे, ऐसे क्यों कहता है? भगवान सब पूरी करेगा। इतनी जो भाग दौड़ कर रहा है। कहीं तो नौकरी मिलेगी ही। *(जरा रुक कर)* अगर मेरी मान लो तो सबका भला है। ......लड़की दसवीं पास है-देखने में भी बुरी नहीं। ......हारमोनियम भी बजाती है। अपनी ही जात के हैं वो लोग-

जगदीश : मैं आपसे पहले भी कह चुका हूं कि जब तक मेरी नौकरी नहीं लग जाती मैं शादी नहीं करूंगा।

भागवन्ती : लड़की वाले तो यह भी कहते हैं कि वोह तुम्हें अपनी बिजनेस में साथ ले लेंगे। हरे-भरे घर की लड़की मिल जाएगी और बैठे बैठाए काम। ......और हमारा हाथ भी हल्का हो जाएगा-सरला की शादी के लिए-

जगदीश : आपका हाथ हल्का हो जाएगा, तो यह कहिए न। तो इसके लिए कुरबानी का बकरा मैं बनूं!

भागवन्ती : मां कुरबान, ऐसी बात क्यों कहते हो! मैंने तो यह कहा कि कालेज की इतनी पढ़ाई करने पर भी-दो बरस हो गए नौकरी ढूंढ़ते। ....सारी उमर तो गुज़ारा नहीं हो सकता। तेरे बाऊजी भी दो बरस में रिटायर हो जाएंगे। वक्त पर भाई-बहन दोनों की शादी कर दें तो हमारी ज़िम्मेदारी पूरी हुई।

जगदीश : घबराइए नहीं, धीरज रखिए। बोझ बन के सारी उमर नहीं बैठा रहूंगा आप दोनों पर। अपनी तरफ़ से पूरी कोशिश कर रहा हूं। कहीं न कहीं तो काम बनेगा ही। ......और बहु भी आपके लिए, एक अच्छी-सी देख रखी है। पर वह मालमत्ता कुछ नहीं लाएगी साथ। क्योंकि मुझे दान-दहेज कुछ नहीं चाहिए। खूबसूरत लड़की है। पढ़ी-लिखी। पढ़ा रही है, कमा रही है।

भागवन्ती : *(प्यार भरी उदासी से)* मैं वारी जाऊं, अपनी मन चाही लड़की ला। पर अपनी जात की भी होगी या नहीं। और सरला का व्याह-उसके बारे में भी तो सोचना है। ऐसे भाव चढ़ा रखे हैं लड़के वालों ने। दिन पर दिन बुरे ही रिवाज पड़ रहे हैं।

जगदीश : तो और करो गुलामी बुरे रिवाजों की। आप खुद भी बिरादरी के बने हुए मकड़ी

के जाल में फंसे हुए हैं और हमें भी इन्हीं में फंसाये रखना चाहते हो। क्यों दिए आपने सरला के ठाके पर दस हज़ार रुपये? आपने और बाऊजी ने मुझसे पूछा तक नहीं। अब मैं बच्चा तो नहीं। कुछ समझ तो मुझे भी है। इसी रुपये से सरला की अच्छी पढ़ाई हो सकती थी। सीधी सादी तरह किए ब्याह का सारा खर्चा निकल आता। न किसी की मिन्नत, न खुशामद। न किसी के आगे हाथ पसारने की ज़रूरत।

भागवन्ती : तेरी तरह सब सोचने लगें तो बात बने न। पर अकेला इंसान कमज़ोर है। तुम अकेले क्या कर लोगे और आजकल प्रोफ़ेसरी में भी क्या मिलता है। दाल-रोटी और घी दूध पर ही इतना खर्चा हो जाता है। यह लोग अपने आप कह रहे हैं। लड़की भी अच्छी सुशील, घरेलू टैप है। बहुत पढ़ी-लिखी लड़कियां क्या घर चलाएंगी! उनको तो दफ्तरों कालेजों से ही फ़ुरसत नहीं मिलती। सास ससुर की सेवा करनी तो अलग बात है।

जगदीश : *(टहलते हुए मानों आधी अपने से और आधी अपनी मां से)* यह चक्कर क्या है। बेटी पैदा नहीं हुई कि मां-बाप को उसके दहेज के लिए पैसा जमा करने की चिन्ता शुरू हो जाती है। लड़की को घर में बेटे के मुकाबले में नीचा दर्जा दिया जाता है। मगर उसके व्याह में, बारात की खातिरों के लिए लड़के वालों की तरफ से की फ़रमाइशों, हुज्जतों पर पैसा पानी की तरह बहाया जाता है। मां बाप पहले तो बिना सोचे समझे पैदा कर डालते हैं। फिर सारी उमर चिन्ता में बिताते हैं। एक-एक बेटी के व्याह की चिन्ता। ......और ससुराल जाकर, लड़की दान-दहेज की कमी पर, बेज़तीयां सहती हैं।

भागवन्ती : *(मां कुछ सुनती और कुछ सोचती हुई कहती है)* मैंने कम सही है सारी उमर। जिठानी से, ननदों से सास से। तेरे बाऊजी हमेशा अपनी मां की ही सुनते, अपनी बहनों की सुनते, भाइयों से डरते। तेरे दादीजी के जीते मैं तो इस घर में कभी एक लफ्ज़ भी न बोल सकी। मैके में भी यही हाल था। ....औरत का सिर हमेशा ही नीचा। मरद की कमाई पे जीना तो बोलना कैसे-

जगदीश : तो रखे रखिए सिर नीचा। न कभी खुद उठाना और न कभी अपने बाल-बच्चों को उठाने देना।

(दरवाजा खोलकर तेजी से बाहर जाने लगता है। मां सोफ़े पर पड़ा लिफाफा और दो गत्ते के डिब्बे उठा कर कहती है)

भागवन्ती : *(उदास स्वर में)* शीला की सास के लिए यह सौगात कौन ले जाएगा फिर?

(जगदीश मुड़ता है। मां के हाथ में से चीजों का थैला लेकर जल्दी से बाहर निकल जाता है। उदास सी मां उसे बाहर जाते देखती है। ....सरला, जो अपने कमरे में पढ़ रही थी, इस सारी बातचीत के दौरान में किताब हाथ में लिए अपने दरवाजे की चौखट के पीछे खड़ी सुनती रही है। बात ख़तम होने पर उदास-परेशान अपने कमरे में मुड़ने लगती है। फिर घूम कर, बरामदे में, सोफ़े

पर बैठी मां के पास जाती है)

सरला : मां, आज शाम के लिए सब्ज़ी-भाजी कौन-सी लानी है। मैं ले आती हूं।

●

तीसरा दृश्य

सरला के बाऊजी के घर की रसोई

जालीवाली अलमारी। एक तरफ खुरे में नल। सरला की बड़ी बहन और मां पटरों पर बैठी हैं। मां स्टोव पर कढ़ाई रख कर पकौड़े तल रही है। सरला की बहन सावित्री आकर्षक है लेकिन ज़रा ढीली और भारी हो गई है

सावित्री : *(ढक्कन में से गरम-गरम पकौड़े उठाकर मुंह में डालती है)* हाए, मुंह जल गया।

भागवन्ती : ज़रा सबर कर, ठंडा होने दे।

सावित्री : *(हंसकर)* और चटनी भी तो दो न!

भागवन्ती : *(चटनी की कटोरी आगे बढ़ाते हुए)* अच्छा किया तू आ गई। मैं तुझे बुलवाने ही वाली थी। सास का क्या हाल है अब?

सावित्री : पिछले दिनों में तबीयत ठीक नहीं थी। अब तो अच्छी हैं।

भागवन्ती : उमर भी तो ज़्यादा हो गई न अब। पप्पू को वहीं छोड़ आई हो।

सावित्री : बीवीजी के साथ बहुत बनती है उसकी। उनके पास रह जाता है।

भागवन्ती : *(उदास)* शीला को भी तुम्हारे जैसे सास मिलती तो-

सावित्री : बेचारी शीला! कितनी हंसने खेलनेवाली, शरारती होती थी। शीला तो अब वह शीला ही नहीं रही।

भागवन्ती : क्या पता था। अपनी तरफ़ से ठोंक बजाकर काम कारज किया था।

सावित्री : किसी बहाने बुलाओ न उसे घर। बहुत जी चाहता है, उससे मिलने को।

भागवन्ती : अब सरला की सगाई पर जगदीश ले आएगा। अभी तो करवाचौथ की सौगातें ही भेजी है उसकी सास के लिए। जो तेरी सास को देती हूं उससे बढ़कर उसकी सास को हमेशा देती हूं। पर उसकी नाक चढ़ी रहती है।

सावित्री : सरला के लिए आपने अच्छी तरह देखकर बात पक्की की न।

भागवन्ती : अपनी तरफ़ से तो भला ही सोच कर बात की है। तेरी सत्या मौसी और पंडितजी दोनों की करवाई बात है। लड़का पढ़ा-लिखा है। अपनी ही जात के हैं। नौकरी लगने वाली है। आजकल के ज़माने में कीमतें सब जगह बढ़ी हुई हैं। तुम्हें भी पता ही है। लड़के की मां भी सरला को पसन्द कर गई है।

सावित्री : फिर भी जल्दी मत करना। सरला को बता दिया है न।

भागवन्ती : उसे पता क्यों नहीं होगा। घर में ही जो हुई थी बात पक्की। मां से बात करने में संकोच करे, इसीलिए तुझे बुलाने लगी थी कि बड़ी बहन ही बताए उसे।

सावित्री : सगाई कर लीजिए बेशक अगर लड़का अच्छा है तो। पर ब्याह में जल्दी न कीजिए। सरला को थोड़ी और पढ़ाई कर लेने दीजिए। हमें तो मौका ही नहीं मिला, नहीं तो हम भी एफ.ए.बी.ए. कर लेते।

भागवन्ती : आख़िर शादी तो कहीं करनी ही है न। तेरे पिताजी भी रिटायर हो जाएंगे जल्दी। बाद में मुश्किल हो जाएगी। तुम ज़रा सरला से बात कर लेती इस बारे में-ठाके के बाद मुझसे कुछ चुप-चुप है तीन चार दिन से। ज़रा मना लो उसे।
(सावित्री उठकर बरामदे में से साथ के कमरे में जाती है, पकौड़ों के ढक्कन में चटनी की कटोरी रखे।

●

चौथा दृश्य

सरला का कमरा। दो चारपाइयां, एक पढ़ने की छोटी टेबल-कुर्सी। टेबल पर किताबें। कपड़े आदि रखने के लिए एक दीवार के साथ सटी लड़की की छोटी आलमारी। साथ ही एक खूंटी पर टंगे सलवार, कमीज़ दुपट्टा आदि। दीवारों पर एक दो .फ़ोटो, एकाध कैलेन्डर। कमरा साफ़ और साधारण-आकर्षक है। सरला .फ़र्श पर बिछी एक साधारण छोटी दरी पर पड़े रखा एक पुराने से हारमोनियम बजाती धीमे सुर में कोई गीत गा रही है। कमरे की एक खिड़की में से रौशनी सरला पर पड़ रही है। सरला की बड़ी बहन सावित्री दरवाज़े की ओट में खड़ी चुपचाप गीत सुन रही है। सरला को इसकी ख़बर नहीं। सरला कोई बड़ी गायिका नहीं पर उसकी आवाज़ में मिठास और चाव है। सरला एक गाना ख़त्म करती है और दूसरा शुरू करने को है। बहन उसके पास आकर प्यार से कहती है-

सावित्री : यह नया राग सीखा है मास्टर जी से?

सरला : हाए, सावित्री बहन जी, आप किस वक्त आई? मुझे तो पता ही नहीं लगा।
(दोनों बहनें गले मिलती है)

सावित्री : थोड़ी ही देर हुई है। मैं रसोई में माताजी के पास बैठी थी। सच्ची सरला, तुम कितना अच्छा गाती हो। उसे सुनाओगी तो वह ख़ुश हो जाएगा।

सरला : उसे किसे? जीजा जी को?

सावित्री : *(हंसकर)* नहीं री, जिसके साथ तेरा ब्याह होगा।

सरला : मैं तो किसी गाना सिखाने वाले मास्टरजी के साथ ब्याह करूंगी।

सावित्री : शित्! गाना सिखाने वाले मास्टर से क्यों ब्याह करेगी भला!

सरला : क्यों गाना सिखाने वाले मास्टर कोई बुरे होते हैं?

सावित्री : नहीं-नहीं रानी, ऐसी बात नहीं। ......अरी, मैं तो तुझे बताने आई थी पगली कि एक तेरी बात पक्की हो गई है एक लड़के से। तुझे पता है न!

सरला : *(विचलित होकर दबी हुई आवाज में)* मुझे पता है, पर क्यूं? अभी क्यों? अभी मुझे पढ़ना था!

सावित्री : *(प्यार से)* पढ़ने से तुझे कौन रोक रहा है रानी। पर माताजी और बाऊजी ने अब तेरे व्याह के बारे में सोचना ही था न। कहीं बात तो पक्की करनी ही थी न!

सरला : पर सावित्री बहन जी, मेरी सलाह के बगैर! मेरे से उन्होंने बात भी नहीं की। क्यों?

सावित्री : तुमसे बात करने से संकोच करते होंगे न। उन्होंने सोचा होगा तू अपने आप समझ जाएगी। माताजी पिताजी की तरफ से मैं अब तुझे बता रही हूं। अच्छा लड़का मिल रहा हो तो बात पक्की कैसे न करें। तेरी उमर में लड़के मुश्किल नहीं। पर बाद में ....मुश्किल हो जाएगी।

सरला : पिताजी ते कहते थे कि वोह मुझे बहुत पढ़ाएंगे और मैं पढ़ाई में होशियार हूं ही-आपको पता ही है। बी.ए. फिर एम.ए. पास करके कहीं प्रोफ़ेसर लग जाऊंगी।

सावित्री : पर देख न सरली, पिताजी दो एक सालों में रिटायर हो जाएंगे। जब तक उनकी नौकरी है, तब तक वोह अपनी ज़िम्मेदारियां पूरी कर लें तो ठीक है न। बाद में शादी के खर्चे कैसे निक़ालेंगे।

सरला : *(लड़की के भोलेपन से)* मैं अभी ही कहीं काम करके या कहीं ट्यूशन लेकर अपनी पढ़ाई का खर्चा निकाल लूंगी। इस बार मेरे नम्बर अच्छे आए हैं। मैं बाऊजी पर बोझ नहीं बनना चाहती।

सावित्री : ऐसी फिजूल सी बातें न कर। बाऊजी ने अभी तक तुझे पढ़ाई से मना किया है क्या? पर आखिरकार तुझे सारी उमर कुंआरी ही थोड़े रहना है। कहीं न कहीं व्याह तो माताजी पिताजी को करना ही है तेरा। मां बाप वर न ढूंढ़े तो और कौन ढूंढ़े। ....जवान बेटियों वाले मां बाप को रात-रात नींद नहीं आती।

सरला : बाऊजी और माताजी तो दोनों रात को बिल्कुल ठीक सोते हैं।

सावित्री : *(हंसकर)* तुझे किस तरह पता है?

सरला : खर्राटे तो दोनों इतने जोर से भरते है। इसीलिए नींद तो मुझे और जगदीश भय्या को नहीं आती।

सावित्री : हत्! ऐसे नहीं कहते माताजी पिताजी के बारे में।

सरला : क्यों? *(मैंने कोई बुराई तो नहीं की उनकी)* मैंने यह थोड़ी कहा है कि खर्राटे भरना बुरी बात है। मेरे लिए तो अच्छा ही है। मैं अपना दरवाज़ा हौले से बन्द कर लेती हूं और पढ़ने लगती हूं।

(दोनों हंसती है)

सरला : सच्ची, मैं तो बी.ए. पास करके टीचर-ट्रेनिंग कोर्स करूंगी। स्कूल में बच्चों को पढ़ाऊंगी। हमारे प्रिंसिपल कह रहे थे कि हमारे देश में अस्सी फ़ीसदी लोग अनपढ़ हैं। कहते थे जिसने भी पढ़ाई की है उसका फर्ज़ है कि दूसरों को

पढ़ाए।

सावित्री : टीचरों की भी क्या ज़िन्दगी होती है। सारी उमर चप्पल घसीटते स्कूलों में धक्के खाती फिरती है। इतनी देर तक कुंवारी बैठी रहती है।

सरला : मुझे जब मनपसंद लड़का मिलेगा-मेरी तरह सोचने वाला तो मैं खुद ही-

सावित्री : बाऊजी ने भी तो तेरे लिए अच्छा ही लड़का ढूंढ़ा है।

सरला : पर उसे तो मैं जानती भी नहीं।

सावित्री : माताजी पिताजी तो जानते हैं न!

सरला : पर वोह है कौन? हूं! उसी मोटी-सी औरत का बेटा होगा जो उस दिन हमारे घर आई थी। कैसे घूर-घूर कर देख रही थी मुझे। मै तभी समझ गई थी कि दाल मे कहीं काला है।

सावित्री : नरेश नाम है उसका। देखने में भी अच्छा है। बी.ए. का इम्तिहान दिया है इस साल, माताजी बता रही थीं मुझे।

सरला : कौन से कालेज में से।

सावित्री : यह तो मुझे पता नहीं।

सरला : तुमने देखा है? मुझसे लम्बा है या छोटा। कद में छोटा हुआ तो मैं उससे व्याह नहीं करने वाली।

सावित्री : *(हंसके)* यह तो-मुझे पता नहीं, बाऊजी ने उसे देखा है। कुछ देखकर ही बात पक्की की होगी न। तुम भी पढ़ रही हो, वह भी आगे पढ़ेगा, साथ ही साथ नौकरी लग गई तो नौकरी भी करेगा। ठाका हो गया है। सगाई, व्याह भी वक्त सिर हो जाएगा।

सरला : पहले ठाका, फिर सगाई और फिर,-'ओफ़्फ़ोह', यह क्या बुरे रिवाज हैं। कितना रुपिया दिया ठाके में?

सावित्री : यह सब बाऊजी और माताजी का डिपार्टमेंट है। तू क्यों चिन्ता करती है।

सरला : बाऊजी के पास यह सब फ़िज़ूलखर्ची करने के लिए पैसा है? कहां से लाएंगे?

सावित्री : हमारे व्याहों में वक्त इन्तज़ाम हो गया था तो तुम्हारी वारी भी हो जाएगा। मेरी ससुराल वाले तो अच्छे निकले। उन्होंने सब बाऊजी की मरज़ी पर छोड़ दिया। बस शीला की सास है लालची।

सरला : बेचारी शीला! ......लड़के की ही कीमत होती है सब जगह-लड़की की कोई कीमत नहीं। लड़की की कीमत पैसा देने पर ही होती है। क्या मेरी अपनी कोई कीमत नहीं? ....अगर मेरी सास भी लालची निकल आई तो? मुझे, मुझे डर लगता है। जो पैसा बाऊजी ठाके, सगाई पर खर्च करेंगे उसी से मैं बढ़िया पढ़ाई कर सकती हूं।

सावित्री : तुम ठीक कहती हो सरली। पर सारे एक जैसे तो नहीं होते। बाऊजी माताजी भी शीला के व्याह के कारण दुख पा चुके है। अब तो सोच समझ कर ही कुछ करेंगे। घर में तू सबसे छोटी है। तुझे माता पिताजी पर विश्वास रखना चाहिए।

सरला : *(रुलाई आने वाली स्वर में)* मैंने कब कहा मुझे विश्वास नहीं।-पर बाऊजी

कहते थे मैं तुम्हे बहुत पढ़ाऊंगा। प्रिंसिपल साहब भी मुझसे बहुत खुश हैं।

सावित्री : बाऊजी, माताजी क्या तुम्हारी व्याह अभी थोड़े ही कर रहे हैं! सगाई और व्याह की तैयारियों में ही काफ़ी वक्त निकल जाता है। महूरत निकालना होता है। डूबता-चढ़ता तारा देखना होता है।

सरला : *(दुख से)* हाए! यह कैसे रीति रिवाज है। जहां बाऊजी को मेरे व्याह के लिए कर्ज़ लेना पड़े वहां मैं व्याह नहीं करना चाहती। मैं पढ़ना चाहती हूं। मैं पढ़ना चाहती हूं।

सावित्री : कर्ज़ क्यों लेंगे! आखिर हमारे पिताजी हैं। किसी अच्छे तरीके से पैसे का इन्तज़ाम करेंगे। हमने अपने व्याह के वक्त चूं भी नहीं की थी। अब तुम ज़िद कर रही हो। एफ.ए. में अच्छे नम्बर लिए तो कोई गारंटी तो नहीं कि बी.ए. में भी अच्छे ही जाएंगे। हम सब तो तुम्हारा भला ही चाहते हैं। पर तुमसे यह जो ज़िद है न-तुम्हें हम पर विश्वास नहीं।-

सरला : *(रुलाई रोकते हुए)* मैंने कब ज़िद की है। मैंने कहा मुझे विश्वास नहीं-

●

पांचवां दृश्य

(जगदीश हाथ में एक बैग पकड़े हुए गली में से गुज़र रहा है। सामने से उसका एक दोस्त गुरमीत सिंह आ रहा है। गुरमीत हंसमुख तबीयत का सुन्दर नौजवान है। जगदीश सिर झुकाए आहिस्ता-आहिस्ता चल रहा है किसी सोच में डूबा)

गुरमीत : *(नज़दीक आकर उसे पहचानकर मुस्करा कर)* बादशाओ!

जगदीश : *(खयालों में से जागकर)* हैलो गुरमीत! कैसे हो?

गुरमीत : फ़र्स्ट क्लास! अपनी सुनाओ। फ़ौजें कौन-कौन से बार्डर पर चढ़ाई करने चली हैं?

जगदीश : *(हंसकर)* ओ यार, करवाचौथ का व्रत है न मेरी बहन शीला का। उसकी सास के लिए मोतियों वाला परान्दा, बिंदी, लिपस्टिक, सुरमा, मिठाई, नारियल छुहारे बादाम किसमिस मखमल का सूट और न जाने क्या बकवास ले जा रहा हूं।

गुरमीत : अरे वाह! बड़ी शौकीन सास है शीला की। बड़े तर माल खाती है। हर साल यह नज़राना देते हो तुम लोग।

जगदीश : साल में छः बार। जबसे शीला व्याही है यही सिलसिला चल रहा है। जितना उसकी सास को ख़ुश करने की कोशिश करते हैं उतना ही उसके नखरे बढ़ते हैं। शीला को ताने मारती हैं तेरे मैके से यह नहीं आया, वह नहीं आया।

गुरमीत : यार, दूसरे मुल्कों में लोग इतनी तरक्की कर गए हैं और हम लोग इन फ़िज़ूल-कमीने रसमों-रिवाज़ों में फंसे हुए हैं। इसीलिए तो हमारा मुल्क तरक्की नहीं करता। तुम लोगों ने शीला की शादी वहां की ही क्यों?

जगदीश : बाऊजी की कमज़ोरी। ......सुबह अख़बार पढ़ते वक्त अगर कोई दोस्त घर पर

आ जाए तो बड़ी तरक्की-पसंद बातें करते हैं उससे। मगर अगर अपने ही फ़ायदे के लिए जात-बिरादरी के खिलाफ एक कदम भी उठाना पढ़े तो इनके पसीने छूट जाते हैं। न ख़ुद ही कोई काम की बात करते हैं, न हमें ही करने देते हैं।

(दोनों टहलते-टहलते एक छोटे से मैदान में पहुंच कर एक पेड़ की छाया में बैठ जाते हैं)

गुरमीत : फिकर न कर यार। हमारे घर में भी यही हाल है। अगर दारजी एक कदम आगे बढ़ते हैं तो बीबी भी दो कदम पीछे फिसल जाती हैं, और जब बीवीजी को जरा आगे फुसलाओ तो दारजी के हाथ-पैर कांपने लगते हैं। यार, तुझे निर्मला पूछ रही थी उस दिन। उसे मिले नहीं तुम। शिकायत कर रही थी।

जगदीश : यार मैं मिला ही नहीं उसे कुछ दिनों से-

गुरमीत : क्यों। बड़े चुपचुप हो। सब ठीक है न।

जगदीश : हां!

गुरमीत : शादी कब कर रहे हो।

जगदीश : नौकरी तो पहले मिल जाए यार।

गुरमीत : यह भी ठीक है। तेरी उस इन्टरव्यू का क्या हुआ?

जगदीश : इन्टरव्यू नहीं, इन्टरव्यूज़! इस महीने में तीन इन्टरव्यूज़ के लिए बुलाया गया और तीनों में मि० जगदीश चन्द्र फ़ेल! *(एक खोखली हंसी हंसता है)* अभी-अभी एक और इन्टरव्यू से लौटा हूं नापास होकर के।

गुरमीत : *(ज़रा ख़ामोश, फिर)* आई एम वेरी सारी यार। तुम्हारे तो बहुत अच्छे चांस थे। -वजह क्या हो सकती है यार। इतने अच्छे नम्बर तुमने लिए बी.ए. में?

जगदीश : वजह क्या है? सुनो जी, एक इन्टरव्यू में मि० जगदीश चन्द्र इसीलिए फ़ेल हुए कि कैन्डीडेट पहले ही सिलेक्ट कर लेने के बाद अख़बार में इश्तिहार निकाला गया। पहले ही फ़ैसला हो चुका था कि नौकरी फैक्टरी मैनेजर के भतीजे को दी जायेगी। *(हंसता है)* और दूसरी इन्टरव्यू में श्री जगदीश चन्द्र बी.ए. जी इसलिए फ़ेल किये गए कि मैं उनके पास मैनेजिंग कमेटी के किसी बहुत ही शरीफ़ ईमानदारी मेम्बर की जेब गरम करने के लिए दो हज़ार नहीं था। *(हंसता है)* और तीसरी इन्टरव्यू में भी जगदीश चन्द्र जी बी.ए. आनर्स फ़र्स्ट क्लास नहीं चुने गए हालांकि उनके पास अपने कालेज के प्रिंसिपल का सिफ़ारिशी ख़त भी था। कारण यह कि इन्टरव्यू के लिए सिर्फ़ मैं ही एक लायक बन्दा तो नहीं था और कितने ही मेरे जितने लायक, खूबसूरत-नौजवान भी तो थे लम्बी कतार में खड़े।

गुरमीत : बस मैं भी अभी भटक ही रहा हूं यार। अपनी तरफ़ से तो पूरी कोशिश है। देखते हैं कब चांस मिलता है। *(ज़रा सोचते हुए)* यार, इन तीस-पैंतीस वर्षों में हमारे मुल्क ने कई तरफ से खूब तरक्की की है। गेहूं, चावल शक्कर वगैरह की पैदावार काफ़ी बढ़ गई है। तरह-तरह के कारोबार-धंधे निकल आए हैं।

हैज़ा, चेचक, प्लेग, तपेदिक मलेरिया जैसी बीमारियों पर हमने बहुत हद तक काबू पा लिया है। देश के लोग पहले से कुछ फीसदी उमर ज़्यादा जीने लगे हैं। मुल्क में लाखों स्कूल और हज़ारों ट्रेनिंग सेन्टर और कालेज, यूनिवर्सिटीयां खुल गई हैं। पर साथ ही साथ हिन्दुस्तान की आबादी भी पिछले तीस बरसों से तीस करोड़ से सत्तर करोड़ हो गई है। इसलिए जितने भी स्कूल कालेज खुलें उतने ही कम पड़ते हैं। जितनी भी नौकरियां निकलें, बढ़ती आबादी के कारण उतनी ही कम पड़ती हैं। यह एक बहुत बड़ा कारण है बेकारी का।

जगदीश : ठीक है। पर सिर्फ़ यही एक कारण नहीं और भी कई एक कारण है। देश में धन-माल जो भी पैदा होता है वह साधारण आदमी के पास नहीं पहुंचता। यह भी एक बहुत बड़ा कारण है? देश की जनता को उसकी भी कमाई का फल नहीं मिलता।

गुरमीत : ठीक है, कई एक कारण है। लेकिन बढ़ती आबादी भी एक मुख्य कारण है तुम्हें मानना पड़ेगा। जब तक हम इस कारण की तरफ सुलझे-ठंडे दिमाग से ध्यान नहीं देंगे, बेकारी, खाने पीने और स्कूलों-घरों की कमी बढ़ती ही जाएगी। जबरदस्ती से लड़की वालों से धन-माल लेने का भी यह एक बड़ा कारण है।

जगदीश : *(सोचते हुए)* यह भी ठीक है। पर यार वैसे हमारे देश के समाज के ढांचे में ही कुछ बुनियादी कमजोरियां हैं। ऊंच-नीच, जात-पात छूत-अछूत की बीमारी अभी तक धुन की तरह समाज को खा रही है। औरत को अभी भी समाज में मर्द के बराबर इज़्ज़त नहीं दी जाती। इसलिए लड़की और लड़की वालों को धन-माल के लिए सताना एक मामूली और नार्मल बात समझी जाती है।

गुरमीत : कल के अखबार में तुमने एक खबर पढ़ी यार?

जगदीश : कौन-सी?

गुरमीत : दिल्ली की एक कालोनी में एक नौजवान लड़की ने अपने आप पर स्टोव का तेल डालकर जला दिया।

जगदीश : दिल्ली यानी हिन्दुस्तान की राजधानी में। क्या कहने है! जवाब नहीं! पर किसलिए आत्महत्या की।

गुरमीत : सास ससुर और पति उसे सता रहे थे मैके से रुपया लाने के लिए। पैसा लाओ, वरना घर से निकल जाओ।

जगदीश : क्या पता लड़की ने ख़ुद अपने पर तेल डाला या ससुराल वालों ने।

गुरमीत : ऐसी कई एक खबरें अखबारों में रोज़ छपती हैं। खुद ही लड़की को मार डालते हैं और फिर पुलिस में रिपोर्ट कर देते हैं कि लड़की के दिमाग में कोई कसूर था इसलिए उसने आत्महत्या कर ली।

जगदीश : यूं तो दहेज के खिलाफ़ कानून पास हो चुका है पर व्यवहार में यह कैंसर और भी बढ़ गया है। मैंने ख़ुद देखा है पढ़ी-लिखी लड़कियों को भी ससुराल में कितनी बेइज़्ज़ती, ज़िल्लत सहनी पड़ती है। मुझे अपने शहर में ही ऐसे घरों का पता है जहां, टीचर, डाक्टर, नर्स और प्रोफेसर लड़कियों को भी ससुराल में

सताया जाता है और कई बार ससुराल वाले कारण यह बताते हैं कि पढ़ी-लिखी बाहर काम करने वाली बहुएं अपनी कमाई की अकड़ दिखाती हैं।

गुरमीत : *(हंसकर)* सदियों की गुलामी के बाद जब आज़ादी मिले तो कुछ ख़ुशी का नशा होता ही है। कमाई की अक्कड़ दिखाने वाली कुछ होंगी बेवकूफ़! आमतौर पर तो पढ़ी लिखी लड़कियां आज के ज़माने में घर और बाहर दोनों की ज़िम्मेदारी सम्भालती हैं। पढ़ाई खास करके लड़कियों को पढ़ाई करा के आर्थिक आत्मनिर्भरता देना जरुरी है।

जगदीश : यार दान-दहेज की इस भयंकर बीमारी को कैसे खत्म किया जा सकता है? तुम क्या सोचते हो?

गुरमीत : यार, मैं तो समझता हूं यह हमारी अपनी ज़िम्मेदारी है। हम नौजवान पढ़े-लिखे लड़कों और लड़कियों की। लड़कों की ज़िम्मेदारी लड़कियों से भी कहीं ज़्यादा है। शादी के वक्त लड़के दान-दहेज लेने से इंकार क्यों नहीं करते। शादी के बाद इस सवाल पर लड़के अपने मां-बाप के खिलाफ़ अपनी बीवी का साथ क्यों नहीं देते? कालेजों यूनिवर्सिटियों में तो लड़के तरक्की पसंद होने के बड़े दावे करते हैं। लेकिन घर समाज में ऐसे ही किसी मसले पर परीक्षा का वक्त आता है तो इनके पांव लड़खड़ा जाते हैं।

जगदीश : *(सोचते हुए)* हां, वाकई। कोई विरले ही होंगे जो अपने आदर्शों पर डंटे रहते होंगे।

(थोड़ी-सी चुप्पी। शाम ढल आई है। दरख्तों मकानों के साए लम्बे हो रहे हैं)

जगदीश : क्या वक्त हो गया है यार?

गुरमीत : *(घड़ी देखकर)* साढ़े पांच।

जगदीश : ओह, मुझे तो शीला के घर पहुंचना है।

गुरमीत : *(हंसकर)* हां, हां उसकी सास के करवा चौथ के लिए लाल परान्दा, नीला मखमल का सूट और लिपस्टिक, बादाम और छुहारे लेकर। यार मैं भी शीला की लालची सास से आंख लड़ाना चाहता हूं-

(गाता है)

इक मेरी सस जो बुरी
सस जो बुरी
मुझसे माताजी कहलवाए
मुझसे कहा ही न जाए
मुंह से बुढ़िया निकल जाए!

(दोनों ज़ोर से हंसते हैं)

गुरमीत : सच्ची मैं देखना चाहता हूं उसे! चलूं तुम्हारे साथ उसे सबक सिखाने के लिए?

जगदीश : नहीं, शुक्रिया। फिर कभी दिखाऊंगा शीलू की सास तुझे। अच्छा तो *(गुरमीत उसे जाते हुए देखता है। फिर अपने आप भी दूसरी तरफ चल पड़ता है)*

छठा दृश्य

(एक छोटे क्वार्टर का छोटा आंगन। दो-तीन कमरों का एक मंजिला घर। सास चारपाई पर बैठी है। बहु. यानि शीला, लम्बे कद की लेकिन कमज़ोर बदन, साग-सब्जी लेकर बाहर से आंगन में आती है। शीला एक सादी सी सूती साड़ी पहने हैं। शीला सब्जी की टोकरी चारपाई पर रखती है। चारपाई पर एक थाली पहले से पड़ी है। आंगन के एक कोने में नल है, प्लास्टिक की बाल्टी है। आंगन के आर-पार बंधी रस्सी पर छोटे बड़े कपड़े सूख रहे हैं)

शीला : *(सब्जी खरीदने के बाद वे पैसे को देते हुए)* लीजिए, बाकी के पैसे।

सास : *(बाकी के पैसे गिनकर)* साढ़े छः रूपये सब्जी पर ही खर्च कर दिए? इतने पैसों में तो चार वक्त की सब्जी भाजी ले आती मैं।

शीला : हर चीज का भाव चढ़ा हुआ है बी.जी.।

सास : इतना भाव नहीं बढ़ा हुआ जितना तेरा हाथ खुला हुआ है। तेरे हाथ में पैसा दिया नहीं कि खर्च हुआ। ऐसे तो गुज़ारा हो चुका। *(ताने से)* जब ऐसे ही खर्चा करना सीखा है तो मैके से दस-बीस हज़ार रुपिया लाना भी था न।

शीला : *(पहले चुप, फिर रुलाई भरी आवाज़ में)* बी.जी.! कल सेआप अपने आप ही बाज़ार से ले आया करो सब कुछ।

सास : *(भड़ककर)* मां ने सिर्फ़ पैदा ही किया था कि कुछ अक्ल भी दी थी साथ में! देखो तो, बातें कैसे करती है। *(नकल करते हुए)* अपने आप बाज़ार से ले आओ।

शीला : *(रुलाई रोकते हुए)* चुप रहती है। सब्जी टोकरी में से निकाल कर थाली में डालती है।

सास : जाने कैसे बड़ी करते हैं अपनी बेटियां! मेरी प्रकाशों कैसे गाए की तरह ससुराल में रहती है। खर्चा कैसे बचा-बचा कर खर्चा करती है और मैं भी तो हर आए दिन उसकी सास-ननदों को सौगातें भेजती रहती हूं।

शीला : *(दु:खी आवाज़ में धीमे से)* मेरी माताजी भी तो भेजती रहती हैं।

सास : हां हां क्यों नहीं भेजती, चिड़िया के दो पंख! तीन बरस व्याह हुए हो गए। अभी तक कोई काम की चीज़ भेजी है? हमें तो ऊंचे से ऊंचे सम्बन्ध आते थे। सगाई के वक्त बीस हीरों की अंगूठी और शादी के वक्त हीरों का पूरा सेट, मोटर और आइस वकस।

शीला : *(धीमी आवाज़ में)* फिर वहीं कर लेनी थी न शादी हीरे के सेट वालों के साथ!

सास : *(भड़क कर)* कैसे तड़ाक से जवाब देती है। हमारी हथेली से उठाकर खाती है और हमें ही आंखे दिखाती है। हैं, देखो तो! तेरी सत्या मौसी बार-बार मेरी मिन्नत, खुशामद न करती तो हम धोके में न आते। कहती थी लड़की गाए है

गाए! शादी में क्या-क्या माल मत्ता साथ लाएगी। यहां तो उलट मुफ़्त में खानेवाली और घर उजाड़ने वाली गले पड़ गई।

(आंगन के दरवाज़े में से शीला का पति पुरुषोत्तम दाखिल होता है। पुरुषोत्तम कोट-पतलून पहन टाई लगाए हैं। दफ़्तर से लौटा है। हाथ में दफ़्तर का बैग है)

सास : लो भई बेटाजी, अपना घर संभालो। अपना तो अब यहां गुजारा नहीं। अपना तो दाना-पानी अब यहां ख़त्म हो गया।

पुरुषोत्तम : क्या बात है? आज फिर सियापा पड़ा हुआ है घर में। घर के अन्दर घुसते झगड़ा ही सुनाई देता है। सारा दिन दफ्तर की चाकरी करो। अफ़सरों के तलवे चाटो और घर में-घुसते ही:

(शीला पुरुषोत्तम के हाथ में से बैग लेकर अन्दर रखना चाहती है। पुरुषोत्तम झटके से बैग परे हटा लेता है)

सास : ज़रा कहा भई बहु, तेरा मरद खून पसीना बहाकर कमाई करता है। जरा संभल कर पैसा खर्च किया कर। उल्टा मुझ पर ही नहीं बरस पड़ी, हां, हां मेरा मां-बाप बहुत भेजते रहते हैं। मुझसे नहीं होता घर का काम। अपने आप कर लो।

पुरुषोत्तम : कोठे भर दिए हैं न इसके मां-बाप ने हमारे। इसका यहां गुज़ारा नहीं होता तो मुड़ जाए जहां से आई थी।

सास : सवेरे का गया, थका मांदा मरद घर पर आए और उसे दो मिनट का आराम नहीं।

(शीला पानी का गिलास लेकर पुरुषोत्तम के सामने खड़ी होती है)

पुरुषोत्तम : हटाओ परे! *(पानी का गिलास जोर से परे हटाता है। गिलास शीला के माथे पर लगता है। चोट आती है। शीला माथा पकड़ कर खड़ी हो जाती है)* रोज-रोज़ की बक-बक!

सास : *(पुरुषोत्तम का शीला की तरफ बढ़ता हाथ पकड़कर)* बस अब रहने दो, मारो गोली! यह तो जैसी है वैसी ही रहेगी, उल्टी औरत! चलो-चलो बेटा अन्दर। गरम-गरम चाय बनाती हूं। ज़रा आराम कर लो।

(मां-बेटा दोनों अन्दर चले जाते हैं। शीला पत्थर-सी बनी खड़ी है-माथा पकड़े? अन्दर से बच्चे के रोने की आवाज़ और मम्मी! मम्मी! की पुकार आती है। आंगन के बाहर एक नीम के पेड़ पर ठंडी सांझ के झुटपुटे में किसी पंछी के पंखों की फड़फड़ाहट और चीत्कार। शीला बच्चे के पास जाने को है। इतने ही में कोई आंगन का दरवाजा खटखटाता है। शीला दरवाज़े पर फिर से दस्तक। शीला दरवाज़ा खोलती है। जगदीश दाखिल होता है)

शीला : *(रुलाई रोककर)* जगदीश, मेरा वीर! तू इस वक्त क्यों आया। यह घर, यह जगह-

जगदीश : *(बहन के गले मिलते हुए)* क्यूं शीला! क्या हुआ है पगली। रो रही हो क्यों? पप्पू कहां है? और पुरुषोत्तम कहां है मैं तो तेरी सासजी के लिए मखमल का

सूट लाया हूं।

शीला : क्यों, क्यों लाए हो मेरे भइया, मेरे भाई जगदीश। *(रुलाई फूट पड़ती है)* हे मेरे राम! जगदीश मेरे भइया, मेरी भावी को हमेशा सुखी रखना, उसे कभी न सताना। मेरी छोटी बहन सरला कभी दुख न पावे। *(रुलाई रोकने की कोशिश करती है, कि कहीं सास और पति न सुन लें)*

जगदीश : *(शीला को चुप कराते हुए)* शीलू, पगली बता न क्या हुआ है। मेरी बहादुर बहन। मेरी दु:खी बहन।

●

सातवां दृश्य

(नरेश के लालाजी के घर की बैठक। दीवार पर बड़ी घड़ी। एक सोफ़ा सेट पुराने स्टाइल का। उसके ऊपर क्रोशिये के कवर सजावट के लिए। कांच और चीनी के खिलौनों और छोटे बरतनों की कांच की अल्मारी। दीवारों पर लक्ष्मण, राम, सीता, हनुमान, लक्ष्मी की फ्रेम की छुई तस्वीरें। दो-तीन घर परिवार के लोगों के भी फ़ोटो। एक छोटी मेज़ पर एक जाली वाले रुमाल से ढंका दरमियाने साइज़ का आइना। एक दो कुर्सियां, तिपाइयां।

कालीन पर बैठे पंडितजी, फ़र्श के सीमेंट वाले भाग पर आटे, हल्दी वगरह से, रेखाएं खींचते है, फूल नारियल ठीक ठिकाने रख कर पूजा के मंत्र पढ़ रहे हैं। पास ही एक चौकी पर नरेश की एक फ़ोटो रखी हुई है। फ़ोटो पर फूलों की माला है। कालीन पर एक तरफ़ मिठाई के डिब्बे और तीन चार थाल नए रेशमी रुमालों से ढके रखे हैं। नरेश की फ़ोटो के आगे चांदी की कटोरी मे केसर। एक दो टोकरियां फलों की भी रखी है।

पूजा के स्थान की एक सरला के पिता माता, सरला की बड़ी बहन, सरला के नाना जी बैठे हैं।

और दूसरी तरफ नरेश के माता पिता, नरेश के मामा, चाचा, एक दो पड़ौसी, रिश्तेदार भी बैठे है।

पंडित जी मंतर पढ़ रहे है, पूजा कर रहे है। बाकी सभी सुन रहे है या आपस में फुसफुसा रहे है।

पंडितजी पूजा ख़त्म करने पर, चौकी पर रखी नरेश की फोटो को तिलक लगाते है।

पंडितजी : *(पूजा ख़त्म करके)* बधाई हो लालाजी। बधाई हो बाऊजी, बधाई हो। माताजी वह रुपियों वाला वह थाल नरेशजी के माताजी के हाथ से पवित्र करवा दीजिए, शगुन करवा दीजिए।

(सरला की मां थाल से रुमाल उठाकर,चमकते रुपियों और नए नोटों वाला चांदी का केसर लगा थाल समधिन के हाथ से छूती हैं।)

सभी लोग : बधाई हो लालाजी, बधाई हो बाऊजी, माताजी। बधाई हो बधाई।

बाऊजी : लालाजी-माताजी-आपको भी, आपको भी बधाई हो।

सरलाकी मां : *(सरला के पिता को धीमी आवाज़ में)* मुंह तो मीठा कराओ लालाजी का। *(डिब्बा खोलकर आगे बढ़ाती है। लालाजी डिब्बे में से मिठाई का टुकड़ा उठाकर मुंह में डालते हैं)*

सरलाकी मां : *(मिठाई का एक टुकड़ा नरेश की फ़ोटो के मुंह को लगाते हुए)* नरेश जी खुद मौजूद होते इस वक्त तो कितना अच्छा होता।

नरेश की मां : हां जी। आना तो था उसे। पर नहीं पहुंच सका वक्त पर। कोई बात नहीं। आप से मिलेगा ही जल्दी। अपने आप ही जाएगा अपनी ससुराल।

लालाजी : हां जी। आप भी तो मुंह मीठा करो बाऊजी।

बाऊजी : आपका मुंह मीठा हुआ तो हमारा अपने आप ही हो गया जी।
(लड़की वाले चापलूसी की हंसी हंसते हैं। बाकी सब भी हंसते हैं)

लालाजी : आजकल कौन यह परहेज़ करता है ही। यह पुराने रिवाज़ छोड़ने चाहिए जी। अब नया ज़माना है जी। *(हंसता है* फिर एक लड्डू उठाकर खुद ही खाने लगता है।) लड्डू बुरे नहीं हैं, अच्छे हैं। -हमें तो जी कहां-कहां के सम्बन्ध आ रहे थे जी। *(हंसकर)* यह साथ वाले घर से ही वह बनिया, बीस हज़ार की थैली साथ में लेकर आया जी। पांव पकड़ रहा था, अपनी लड़की के संबंध के लिए-

नरेश की मां : *(हंसकर)* छोड़िए जी, वह बात अब ख़तम हो गई।

लालाजी : *(फिर हंसकर)* लो जी, ऐसे ही बता रहा हूं मज़ाक से। आ गया जी बनियां, थैली लेकर। पजामे का नाड़ा लटक रहा था, घुटनों तक। कहने लगा, लालाजी, मेरी दो बेटियां हैं सुख से। आपका बेटा दोनों में से जिससे चाहे शादी कर ले। मैंने कहा, निकलो बाहर। मुझे जात-बिरादरी से बाहर शादी नहीं करनी है। एक धक्का दिया उसे। -और बाहर निकलते वक्त उसका सिर भी दरवाजे से टकरा गया।
(ज़ोर से हंसता है, बाकी सारे भी हंसते हैं। कोई चापलूसी भरी हंसी कोई असभ्य हंसी।)

नरेश की मां : लम्बा बड़ा है न बनियां। और हमारा दरवाज़ा देखिए न छोटा है।
लड़के वालों का एक रिश्तेदार लड़की वालों को-आप ज़रा सिर बचाकर दरवाज़ा पार करना जी।
(सारे फिर हंसते हैं। लड़की वालों की खिसियानी हंसी)

नरेश का पिता: हमने तो जी पंडितजी की बात पर विश्वास करके यह काम किया है।

पंडितजी : महाराज़, हमें तो सबको ख़ुश रखना हुआ जी। दोनों समधी, देवता लोग ठहरे। *(हाथ जोड़ता है।)*

नरेश की मां : बस, लड़की सुशील, आज्ञाकारी और घर संभालने वाली होनी चाहिए। हमें तो ज़्यादा पढ़ी-लिखी लड़की की ज़रूरत नहीं। पढ़ियों-लिखियों के दिमाग़ तो हवा में उड़ते हैं।

नरेश की बुआ: *(सरला की मां को)* आपकी किस्मत बड़ी अच्छी है जी। हीरा जमाई मिल गया आपको तो!

एक और रिश्तेदार : हीरा नहीं, हीरो मिल गया आपको। फ़ोटो देखिए तो ज़रा किसी हीरो से कम है?

नरेश की बुआ: हां जी, चाल, ढाल, बातचीत भी फ़िल्म स्टारों जैसी ही है। बड़ा समारट है अपना नरेश।

(लड़की वाले सभी प्रभावित हुए नज़र आते हैं)

सरला की मां : *(सरला के पिता को)* चलिए जी, अब चलें। *(अपने रिश्तेदारों से)* चलिए जी।

नरेश की मां : बस जी? कुछ चाय पानी तो पी कर जाते।

सरला का पिता : नहीं जी, बहुत मेहरबानी।

नरेश का पिता : बस! चल पड़े आप?

सरला का पिता : दफ्तर से सवेर की छुट्टी ले ली थी। पर अब दोपहर को तो जाऊंगा न जी। आजकल अफ़सर जल्दी बुलाता है और ओवर टाइम रखता है।

नरेश का पिता : अच्छा जी? हम तो सुनते हैं कि आजकल दफ़्तरों में काम ही कुछ नहीं होता। सुना है दफ्तरों वाले दफ्तरों में गप्पें हांकते हैं, चाय पीते हैं और ताश खेलते हैं।

सरला का पिता : *(खिसियानी हंसी हंसकर)* मैं उनमें से नहीं जी। चलो भाग, चलो भई। आज्ञा है महाराज? हमारे लायक कोई ख़िदमत हो महाराज, तो ज़रूर कहिए।

नरेश : जी हां, क्यों नहीं अब सम्बन्ध जो हो गया।

सरला का पिता : अच्छा नमस्ते जी।

(सभी नमस्ते करते है। लड़की वाले जाते हैं। लड़के वाले बाहर तक उन्हें छोड़ने जाते हैं। पंडितजी दरवाज़े के पास खड़े देखते हैं। नरेश के माता-पिता एक आध पड़ोसी और रिश्तेदार, समधियों को विदा करके लौट आते हैं कमरें में)

एक पड़ोसी : समधी बुरे नहीं आपके। सीधे सादे जान पड़ते हैं।

एक रिश्तेदार : दिया भी अच्छा है कि नहीं लालाजी?

नरेश का मां : हमने तो कुछ मांगा नहीं। जो कुछ दिया है सो आपके सामने ही है।

पड़ोसिन : वाह, देवता लोग हैं आप तो। वरना आजकल तो लोग समधियों से क्या कुछ नहीं लेते। मोटर, हीरों का जड़ाऊ सेट, सजे सजाए फ़्लैट शादी से पहले ही।

नरेश की मां : वैसे तो लड़के वालों का समधियों से लेना ही बनता है हमेशा से। पर हमें पंडितजी ने बताया कि ऊंजी जात है और लड़की भी देखने में बुरी नहीं। घरेलू टाइप ही नज़र आई मुझे।

पंडितजी : हां जी। महाराज मेरे तो घुटनों पर बैठती थी सरला बेटी बचपने में। हमें तो सबको ख़ुश रखना हुआ महाराज!

एक रिश्तेदार : लेना तो भगवान का बनाया नियम है जी। लड़की की शादी पर दो और लड़के की शादी पर लो। अच्छा लालाजी-

(दो पड़ोसी औरतें आपस में फुसफुसाती हैं) एक-

एक : अन्दर ही अन्दर जो थैली ली होगी वह कौन बताता है। और फिर नरेश की मां!

दूसरी : सब करते हैं जी। अन्दर की बात और ऊपर की बात और। *(नरेश की मां से)* बड़ा अच्छा काम हो गया जी। अब शादी का महूरत जल्दी निकरवाइए। अब चलती हूं जी।

नरेश की मां : बस! अब खाने का वक्त है खाना खाकर जाओ न।

औरत : नहीं जी, मुन्नी को घर पर अकेली छोड़ कर आई हूं। अच्छा जी नमस्ते।

एक रिश्तेदार औरत : हम भी चलते हैं अब।

लालाजी : अच्छा! कभी-कभी चक्कर लगाया कीजिए न इधर का भी।
(सभी नमस्ते, नमस्ते करते हुए जाते हैं। सिर्फ पंडितजी रह जाते हैं कमरे में नरेश के माता-पिता के साथ)

पंडितजी : अच्छा महाराज आज्ञा दो।

लालाजी : *(थालों की तरफ देखते हुए)* हूं! अच्छा पंडितजी।

पडितजी : *(नज़दीक आकर)* कुछ दक्षिणा और आज मिल जाती तो....आजकल जरा घर में कड़की है।

लालाजी : अच्छा हां जरूर पंडितजी, कल सुबह ज़रा ज़ल्दी आ जाना। आज तो अभी तक आना जाना लगा रहा है। अभी जरा यह सब चीजें भी संभालनी हैं।

पंडितजी : *(ज़रा निराश होकर)* आपका काम करा दिया लालाजी, जैसा आपने कहा। बड़े शरीफ़ है बाऊजी। अब ज़रा हम गरीबों का भी ध्यान रखिएगा। महंगाई का ज़माना है जी। हमें तो सबको खुश रखना है जी। अच्छा कल आता हूं फिर। राम-राम जी *(उदास होकर जाने लगता है)*

नरेश की मां : मुंह तो मीठा करके जाओ पंडितजी।
(डिब्बे में से तीन-चार लड्डू उठा के पंडितजी के हाथ में देती है। पंडितजी जाते हैं। लालाजी थालों पर से रुमाल उठा कर देखते हैं)

लालाजी : मिठाई बुरी नहीं और समधी भी बुरे नहीं। गरीब स्वभाव के हैं।

नरेश की मां : दीखते तो अच्छे ही हैं। सिर निवां के ही रखें तो ठीक है।

लालाजी : हां! *(रुपयों वाले थाल से रुमाल उठाते हुए)* गिन लेना, रकम पूरी है कि नहीं।

नरेश की मां : *(हंसकर)* पूरी ही होगी। उन्हें बेटी नहीं व्याहनी क्या?

लालाजी : यह भी ठीक है। पर कुछ पता नहीं होता। शायद सोच रहे हों कि हम लोग न ही गिने।
(हंसते हैं। फिर गंभीर होकर रुपया गिनने लगते हैं। रुपया गिनते हुए)

लालाजी : एक हज़ार, एक ह्ज़ार, एक हज़ार दो, दो और यह तीन और यह पांच नरेश की मां, नरेश न ही पहुंचा वक्त पर! कहा भी था शहर से बाहर मत जाओ।

नरेश की मां : इसके दोस्त इसे बिगाड़ते हैं। रोज़ पार्टियां पिकनिकें और सिनेमें।

लालाजी : तुम भी बहुत लाड़ करती हो उसे। ऐसे तो बच्चे मनमानी करने लगते हैं। पढ़ाई में भी हमेशा लापरवा रहा है। प्रोफ़ेसरों को दे दिला के तो बी.ए. में पास कराया है।

नरेश की मां : शादी हो जाएगी तो मन ठिकाने लग जाएगा। आपके साथ ही कारोबार में लग जाए कितनी अच्छी बात है।

लालाजी : वह दुकानों पर कहां बैठना चाहता है। उसे तो किसी बड़े आफिस में सूटिड-बूटिड नौकरी चाहिए।

नरेश : आजकल ज़माना ही ऐसा है न। सबके लड़के यही, जो करना चाहते हैं। जिधर उसका मन हो उधर ही ठीक है। जबरदस्ती की तो कहीं घर से ही न चला जाए।

लालाजी : तो बड़ी नौकरियां भी आजकल अच्छा माल धन दिए वगैरह थोड़े ही मिलती है। वैसे तो शहर में कौन मुझे नहीं जानता।

नरेश : यह भी शुकर है कि अब बम्बई फ़िल्मों में काम करने का ख़याल छोड़ दिया है।

लालाजी : बड़े दफ्तर में नौकरी का लालच दिया तो न!

मां : आप चिन्ता न करें! शादी के बाद उसका मन काम में भी लग जाएगा।

●

सातवां दृश्य

(एक छोटे से म्युनिसिपल बाग में एक छोटी बेंच। निर्मला और जगदीश चलते हुए बेंच पर बैठते हैं। सांवले रंग की निर्मला आकर्षक है। प्रिंटेड सूती साड़ी, चप्पल पहने हैं। जगदीश और उसकी जोड़ी अच्छी लगती है।)

निर्मला : *(उदास सी)* मेरी चिट्ठी मिल गई थी।

जगदीश : *(कुछ दबा-दबा सा)* हां शुक्रिया।
(ज़रा-सी खामोशी)

निर्मला : बड़े चुपचाप हो। इतने दिनों के बाद मिले हो फिर भी इतने चुपचाप हो। तबीयत तो ठीक है न।

जगदीश : ठीक है। तुम्हारी तबीयत कैसी है।

निर्मला : ठीक नहीं।

जगदीश : *(फिकरमंदी से)* क्यों, क्या वजह?

निर्मला : वजह तुम्हारी बेरुखी, तुम्हारा बदलता रूख जग्गी और क्या। -क्या बात है। तुम मुझसे कुछ छिपा रहे हो।

जगदीश : बस, यही कि अबकि इंटरव्यू में फिर नहीं चुना गया।

निर्मला : *(उदास होकर)* अच्छा! क्यों?

जगदीश : इसलिए कि मेरे पास साहब की जेब गरम करने के लिए धन नहीं! इंटरव्यू में बॉस पर रौब डालने के लिए स्मार्ट सूट-बूट नहीं।

निर्मला : इसमें तुम्हारा क्या दोष है.......जग्गी, मैंने पिछली बार तुझसे तुम्हारी मिन्नत की थी कि सूट के लिए पैसे तुम मुझसे ले लो-

जगदीश : *(बिगड़ कर)* निर्मल, मैंने पहले भी तुमसे कहा था, यह लफ़्ज़ अपनी ज़बान पर न लाना। मेरे पास नौकरी नहीं। लेकिन मैं अपनी इज़्ज़त तो नहीं खो बैठा।

निर्मला : सॉरी, माफ़ी-माफ़ी जग्गी। लेकिन फिर तुम इस वजह से मुझसे मिलना तो न छोड़ो। *(कुछ चुप्पी)* मुझे पक्का यकीन है तुम्हें इस साल के अन्दर ही अन्दर, कहीं न कहीं काम मिल ही जाएगा। यहां इस शहर में नहीं मिलेगा तो कहीं और कोशिश करेंगे। जहां तुम्हें नौकरी मिलेगी, अपनी वहां की नौकरी छोड़कर में भी वही नौकरी लेने की कोशिश करूंगी।

(फिर खामोशी)

जगदीश : मुझपर अपने घर की बड़ी जिम्मेदारियां हैं निम्मी। मैं उन जिम्मेदारियों से अपने आपको अलग नहीं कर सकता और तुम, तुम क्यों उन बखेड़ों में पड़ो और अपनी ज़िन्दगी खराब करो।

निर्मला : किस तरह की बातें कर रहे हो तुम! मैं कमा रही हूं। तुम्हारी भी नौकरी भी लग ही जाएगी आख़िरकार। हम दोनों कमा कर अपनी छोटी-सी गृहस्थी चलाएंगे। हम अपने-अपने परिवारों की भी मदद करेंगे।

जगदीश : मेरे मां-बाप मेरी बहनों को एसी जगह में फंसा बैठे हैं जहां अब पैसा भुगताए बिना गुज़ारा नहीं।

निर्मला : *(सोच में डूबकर)* क्या किया जा सकता है इस बारे में। -मैं हैरान हूं, शीला को दुखी देखते हुए भी तुम्हारे बाऊजी ने सरला की सगाई फिर धन देकर की!

जगदीश : मेरी तो सलाह ही किसी ने नहीं ली, शीला की शादी के बारे में और अब सरला के बारे में भी। जाल के अन्दर फंसे, वे अब मुझे भी फंसाना चाहते हैं। मेरे पीछे पड़े हुए हैं।

निर्मला : हूं। समझ गई। यानी इस समस्या का और कोई इलाज नहीं सिवाय इसके कि तुम भी किसी धनवान मां-बाप की लड़की को फंसाओ।

जगदीश : *(चुप है)*

निर्मला : तुम्हारे बाऊजी कुछ देर और इन्तज़ार नहीं कर सकते? तुम्हें काम आखिर मिल ही जाना था। .....चलो जग्गी यहां से कहीं दूर भाग जाएं-कहीं-कहीं किसी और बेहतर जगह पर जाकर ज़िन्दगी शुरू करें।

जगदीश : मैं तुम्हारे पाओं की धूल भी माथे पर लगाने के काबिल नहीं। मैं तुमसे माफ़ी भी मांगने के काबिल भी नहीं। मैं तुम्हारी कमाई पर नहीं जीना चाहता। दो बरस नौकरी की तलाश में भटकते-भटकते, मैं निराश हो रहा हूं, मैं ऊब गया हूं।

निर्मला : और अब ससुराल से आए माल पर थकावट उतारना चाहते हो। तुम्हें शर्म नहीं आएगी। तरक्की पसन्द नौज़वान पार्टी के मेम्बर!

जगदीश : मैं वहां भी नहीं जा रहा अब। मैं पार्टी का मेम्बर रहने के काबिल भी रहा नहीं अब।

(खामोशी)

जगदीश : मैं लड़की वालों से कुछ नहीं मांग रहा। लेकिन वह पैसे वाले हैं। उनकी एक अकेली लड़की है। वह मुझे अपनी बिज़नेस में लगा रहे हैं। और, बाऊजी को

सरला की शादी के लिए रुपया चाहिए। मैं कुछ तुमसे कुछ भी छिपाना नहीं चाहता। इसीलिए ढीठ होकर यहां आया। मैं शर्मसार हूं निर्मला-तुम्हें मुझसे बेहतर साथी मिलेगा कोई। -मैं तेरे लायक नहीं।

निर्मला : बस जगदीश, मैं सारी बात समझ गई हूं। इस बारे में कुछ और कहने की जरूरत नहीं।

(बेंच से उठकर, तेज़ी से लौट रही, निर्मला शाम के घिरते अंधेरे में खो सी जाती है। जगदीश बुत-सा बना उसे देखता रहता है।

●

नौवां दृश्य

लालाजी के घर के बाहर एक बैंड बिना सोचे समझे एक फ़िल्मी गीत बजा रहा है-

दो हंसों का जोड़ा बिछड़ गयो रे
गजब भयो राम जुलम भयो रे।

(बैंड यह गीत पहले विलम्बित लय और फिर द्रुत लय में बेसुरा बजा रहा है। घर के अन्दर, आंगन और कमरों में रिश्तेदारों की चहल-पहल। नए से नए फैशनों के सूट-साड़ियां-जूते, गहने, नकली बालों के किस्मों-किस्मों के जूड़े, ढंग-बेढंगे हेयर स्टाइल, मरदों और औरतों के। छोटे-बड़े बच्चे भी बड़ों की तरह सूट-साड़ियों-मैक्सियां-फ्राक पहने इधर-उधर आ, जा हंस-खेल रो-चिल्ला रहे हैं।)

(नरेश नहा धोकर, नए फ़ैशन का कीमती सूट व गुलाबी पगड़ी पहन कर चौकी पर बिठाया जा रहा है। बहन भाई को तिलक लगाती हैं। सेहरा बांधने लगती है। कमरे में मौजूद औरतें मरद खड़े देख रहे हैं। मां-बाप भाई पास खड़े हैं। औरतें गाती हैं)-

हरेया री माए
हरेया री बहना
हरेया हैं भागे भरेयाए
जिस दिहाड़े मेरा हरयोड़ा जमेया
ओ दिन भागी भरेया ए।
पुछदी पुछांदी जो मालिन
नगर जो आई
शादी वाला घर केहड़ाए।

और फिर जब सेहरे के ऊपर मुकुट बांधा जा रहा है, कमर में तलवार बांधी जा रही है तब औरतें गाती है-

मुकुट तेरा सुच्चे मोती जड़ेया

पासे लगे ने हीरे
सूहा, चन्दन और कस्तूरी
और पानों के बीड़े

(मां बेटे के सिर से रुपया वारती हैं। कुछ और रिश्तेदार भी ऐसा करते हैं।)

एक रिश्तेदार पति : *(अपनी पत्नी की कान में)* हमें भी कुछ रुपिया वारना होगा न।

बीवी : नहीं जी हमें कैसा रुपिया वारना है। इन्होंने हमारे दिनेश की शादी पर सिर वारना किया था कोई।

पति : दो रुपये वार दिए तो क्या हो गया।

बीवी : नहीं जी, ऐसे मुफ्त में!

(नरेश को कमरबन्द और तलवार बांधते वक्त दोस्त यार हंसी मजाक करते हैं।)

एक दोस्त : कमर कस ले बच्चू। वक्त आ गया है ससुराल पर चढ़ाई करने का।

(सभी हंसते हैं। औरतें हंसती-गाती हैं)

एक रिश्तेदार औरत : अपनी ससुराल में खूब रौब से रहना। खूब खातरें कराना। साले सालियां तो होंगे न इसके।

नरेश की मां : हां जी, फलता-फूलता परिवार है।

(औरतें गाती है)-

बाग मे न जा वीर
आम न तोड़ी
वे वीरा पड़ेगी हां
छटीओं की मार वे हां

नरेश का मामा : *(लालाजी के कान में)* पूरे पैसे दिए समधियों ने?

लालाजी : किश्तों में पंदरह हज़ार भेज दिए हैं। कहते हैं बाकी के शादी के बाद दे देंगे।

मामा : ओहो, पूरे पैसे पहले ले लेने चाहिए थे न! बाद में ऐसे ही मामला लटकता रहेगा।

लालाजी : मैं तो यही मानता था। पर पंडितजी लड़की के मामा के साथ आए और कहने लगे महूरत का वक्त निकल जाएगा।

मामा : पंडितजी को नज़दीक बुलाकर बीस तीस रुपये देकर महूरत का वक्त ठीक करवा लेना था। इन मामलों में पक्का रहना चाहिए। अगर लड़की वाले बाद में इंकार कर गए तो!

लालाजी : हैं तो लड़की वाले ही। इंकार करेंगे तो जाएँगे कहां।

मामा : *(हंसकर)* यह भी ठीक है। लेकिन वक्त पर जो काम हो जाए सो ही ठीक होता है।

लाला : चलो, अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा। चलने से पहले सन्देसा भेज देते हैं कि बाकी की रकम भी भेज दें।

मामा : नहीं, अब तो बारात चलने का वक्त हो गया है। वहीं चल कर बात कर लेंगे।

(बाहर बैंड बजा रहा है)-

बंबई से आया मेरा दोस्त
दोस्त को सलाम करो

नरेश की मां : *(पास आकर)* बारात किस वक्त चलेगी?

लालाजी : बस, चलने ही वाले हैं *(नरेश से)* चलो बेटा।

(बाकी सबसे।) चलिए जी, समधियों के घर जाने का वक्त हो गया है।)

(सभी तैयार होते हैं। कोई बूट पहनने लगता है कोई टोपी, पगड़ी। सभी लोग बैठक से निकल कर आंगन पहुंचकर, सड़क पर पहुंच रहे हैं।)

(बैंड और तेज़ी और जोर से बजने लगता है। औरतें गीत गाती दूल्हे के पीछे-पीछे बाहर निकलती हैं।)

●

दसवां दृश्य

(बारात का जलूस)

जैसे पंजाबी बारातों के आम जलूस होते हैं। आगे-आगे कोई प्रचलित फ़िल्मी गीत बजाता हुआ बैंड। पीछे मशालों और गैस वाले। उसके पीछे भांगड़े नाचते, बढ़िया सूट-बूट पहने नौजवान। फिर छत्र वाली सजी हुई घोड़ी पर सवार नरेश। उसके पीछे छोटी-बड़ी, मोटी-दुबली, सुन्दर-असुन्दर साधारण लड़कियां, बड़ी औरतें। साथ में कुछ उंगली पकड़े, या गोद उठाए जागते-सोए बच्चे। गुलाबी पगड़ियां नए-पुरानी किस्मों के सूट पहने अधेड़ और वृद्ध पुरुष।

लम्बी तिड़तिड़िया और पटाखे बजाए जा रहे हैं। कहीं-कहीं अनार छोड़ा जाता है।

आतिशबाज़ी।

शोर मचाता हुआ जलूस एक छोटे-तंग बाज़ार में से निकल रहा है। जलूस के आगे-पीछे दाएं-बाएं भाग रहे ग़रीब, फटे हाल बच्चे। दो-तीन भिखारिनें हाथ पसारे भीख मांग रही हैं, दुआएं दे रही हैं।

एक भिखारी : भगवान दूल्हा दुल्हिन की जोड़ी सलामत से रखे। सरकार, बाऊजी यह जोड़ी जुग-जुग जिए।

एक अधेड़ मरद : *(उसे धक्के से परे हटाते हुए)* हट, हट परे! ज़रा घर से बाहर कदम रखा नहीं कि यह मनहूस पीछे पड़ जातें है।

(बाज़ारों की ऊपरवाली छतों से, बरामदों से कहीं-कहीं कोई मरद-औरतों-बच्चे उत्सुकता से झांक, बारात जाती देखते हैं।

बारात लड़की के घर बाहर लगी, कमरानुमी कनात के दरवाजें पर रुकती है और जोर से कान फाड़ते पटाखे और अनार, तेज झंगड़ा और तेजी से बजता बैंड)

●

ग्यारहवां दृश्य

चहल-पहल। औरतें, लड़कियां और बच्चे नए-नए फैशन दिखाने के लिए खुशी और चाव तैयार हो रहे हैं। तैयार हो चुके मेहमान-रिश्तेदार आंगन-बरामदे और कमरों के अन्दर बाहर आ-जा उठ-बैठ रहे हैं। एक दूसरे से बातें कर रहे हैं। बूढ़े-बुढ़ियां भी लाल-गुलाबी दुपट्टे पगड़ियां सजाए इधर-उधर बैठे हैं। गोटे किनारी वाला लाल सूट और दुपट्टा ओढ़े सरला एक आसन पर बैठी है अपने कमरे के एक कोने में। पास चौमुखिया दिया है और पवित्र धागों से बंधा पानी का घड़ा है।

सरला का मामा सरला को चूड़ा चढ़ा रहा है। उसकी तीन-चार सहेलियां, बहनें और दूसरे रिश्तेदार पास बैठे और खड़े हैं।

औरतें गा रही हैं-

चंदन पेड़ संग
क्यूं खड़ी नी बेटी
कैसा तुझे वर चाहिए
मैं तो खड़ी सां बाबल जी दे पास
बाबल वर चाहिए
नी बेटी, किहा जिहा वर चाहिए
जी मेरे बावल, ज्यों तारेया विचों चान्छ
चादों विचों कान्ह।
कन्हैया वर लोड़िए।

और चूड़ा चढ़ाने के वक्त का कोई सुन्दर गीत गा रही हैं।

एक औरत : नज़र न लगे, क्या रूप चढ़ा है।

मामा : *(चूड़ा चढ़ाकर)* जिस घर जा रही है मेरी बच्ची, अब वही तेरा नया घर है। उस घर में इस चौमुखे दिए की तरह प्रकाश करना। सास ससुर ही अब तेरे नए माता-पिता हैं। उनकी सेवा करना तेरा धर्म है। अपने पति के साथ सुन्दर गृहस्थी चला कर अपने मैके परिवार की तारीफ़ लेना। दुःख सुख के वक्त इस घड़े में भरे पानी की तरह शीतल रहना। मां धरती की तरह सहनशील रहना बेटी। भगवान तुझे अपनी ससुराल में सब सुख दे। अपनी ससुराल में राज करो बेटी।

(औरतें, सहेलियां, रुमालों और दुपट्टों के कोरों से गीली आंखें पोंछती है। मामा सरला का माथा चूम कर उठ जाता है) भावुकता की ज़रा सी खामोशी।)

एक बूढ़ी औरत एक जवान औरत से : बहु, क्या दिया मामा ने भानजी को?

जवान औरत : पांच सौ रुपिया और गहनों का एक सैट।

बूढ़ी औरत : शाबास! अच्छा दिया है।

एक और औरत : सेट तो ठीक है पर रुपया सिर्फ पांच सौ? मामा के पास तो बहुत कुछ है।

यही तो वक्त था अपनी बहन को देने का।

बूढ़ी औरत : दहेज की चीजें कहां सजाई है बहु?

पहली जवान औरत : ऊपर के कमरे में।

(बाऊजी बाहर से अन्दर कमरे में कमरे में इधर उधर देखते हैं)

बाऊजी : सरला की मां, भागवन्ती! इधर आना ज़रा, अन्दर।

(बाऊजी खुद अन्दर चले जाते हैं। सरला की मां भी कमरे के अन्दर चली जाती है।)

बाऊजी : *(कोट की जेब से नोटों का लिफ़ाफ़ा निकाल कर देते हुए)* यह रुपये अल्मारी में रखो।

भागवन्ती : *(नोटों का लिफ़ाफ़ा अल्मारी में रख उसे बन्द करती है और अति सहनशीलता और शुक्रगुजारी के लहजे में कहती है)* रुपयों के लिए भटकते रहे आप सारा दिन।

बाऊजी : भटकता नहीं तो रुपया कैसे मिलता। पिछले सोमवार जो लाया था वह सब खत्म हो गए क्या?

भागवन्ती : *(मानों रुपया खत्म होने के लिए वह कसूरवार हो)* सारा कुनवा इकट्ठा जो हुआ है जी। अच्छी तरह खाना भी न खिलाऊं मेहमानों को। कुछ भी कमी रह गई तो कहेंगे अच्छा बुलाया था सरला के ब्याह पर। और दहेज की चीज़ें, सारी की सारी पूरी हुई समझो फिर भी आखिरी वक्त तक कुछ न कुछ कसर ही जाती है। सास के लिए गहनों का सेट तो बनवाना ही था। सो तैयार है। पर उन्होंने तो, जाने कब की मर चुकी लाला जी की मां के हिस्से का भी सूट का कपड़ा दहेज में रखने के लिए हुकुम किया है। वह तो एक-एक चीज़ देखेंगे- फ़र्नीचर वाले के पैसे दे दिए थे?

बाऊजी : नहीं अभी सारे नहीं दिए। उसे कहा है, पहले नरेश के कमरे में फ़िट बिठा देवें सभी फ़रनीचर जैसा उन्होंने कहा है-फिर बाकी के पैसे चुका दूंगा। शीलू आई या नहीं?

भागवन्ती : *(उदासी से)* नहीं। जगदीश को भेजा है तीनों जनों के आने-जाने का किराया साथ देकर। .....सरला भी बार-बार शीलू को पूछ रही है।

बाऊजी : कलेजा दुखता है शीला का सोच कर। मैं ख़ुद चला जाऊं? उसकी सास के पाओं छू कर, किसी भी तरह उसे ले आऊंगा।

भागवन्ती : नहीं, जगदीश ले ही आएगा उसे किसी तरह। चिन्ता न करो। अभी टाइम है। अगर न भी भेजें तो चिन्ता करने से क्या बनेगा।

घर का नौकर : *(दाखिल होता है)* बाबूजी, बिजली वाले आए थे। कनेक्शन काटने वाले थे। कहते थे दो महीने से बिल नहीं भरा है। जगदीश बाबूजी ने पांच-पांच रुपये तीनों जनों को दिए तो गए।

बाऊजी : *(सारी थकावट और तनाव की खीझ नौकर पर निकालते हुए)* यही वक्त था

बताने का! देखते नहीं। बिना पूछे अन्दर घुस आते हो।

बाहर से लड़कियों के ढोलकी बजाकर गाने की आवाज़। रौनक, भरा शोर।

●

बारहवां दृश्य

बारात सरला के घर के बाहर खड़ी है। सरला की मां, आंगन के दरवाज़े की चौखट को सरसों के तेल से छूने का शगुन करती है। फिर समधी आपस में मिलनी करते हैं।

फिर सरला अपनी सहेलियों बहनों के साथ बाहर आकर नरेश को जयमाला पहनाती है। सरला और नरेश को वेदी पे सहेलियां और दोस्त लाते हैं, बिठाते हैं। माता-पिता, चाचा-चाची मामा-मामी, बुआ, भाई सभी रिश्तेदार, मेहमान कनातों से बनाये कमरे में सजाये विवाह मंडप में अपने-अपने स्थान पर बैठ जाते हैं। कुछ इधर-उधर खड़े रहकर आपस में बातें करने लगते हैं। सनातन धर्म विवाह की पूजा का सभी सामान तैयार पड़ा है। पंडितजी विवाह की पूजा शुरू करते हैं।

औरतें विवाह का कोई सुन्दर सा गीत गाने लगती हैं।

सरला की सहेलियां, सरला-नरेश के पास-पास बैठ दूल्हे की जेब में से रूमाल चुपके से निकाल लेने, उसका जूता छिपा देने आदि के सदा से किये मज़ाक करने लगती हैं। वातावरण में चाव-खुशी-शान्ति है।

पंडितजी मन्त्र पढ़ रहेहैं। विवाह की रीतें करवा रहे हैं।

(नरेश के मामा नरेश के पिता के कानों में कुछ फुसफुसाकर कह रहे हैं) नरेश के पिता कुछ फुसफुसाते हैं।

सरला नरेश की गुलाबी रेशमी दुपट्टे से गठजोड़ी हो रही है। नरेश का मामा सरला के मामा के कान में कुछ फुसफुसाने लगता है। सरला के मामा के चेहरे पर शंका की झलक, जैसे कोई बात समझ में ही न आई हो।

पंडितजी पूजा के फूल की, सामग्री चावल, दही, दूध, शहद, पान, घास आदि-आदि से शादी की रस्में करवा रहे हैं।

सप्तपदी शुरू होने वाली है। लड़के का मामा लड़की के मामे के कान में फिर कुछ फुसफुसाता है।

सरला का मामा नरेश के मामा को हाथ जोड़कर कुछ कहता है, विवाह की रस्में हो रही हैं। रस्मों की तरफ इशारा करता है।

मगर नरेश का मामा सरला के मामा जैसे अपनी बात पर ज़ोर डालकर मनवाने की कोशिश कर रहा है।

विवाह की पूजा, रस्में चल रही हैं।

सरला का मामा सिर पर रखे रूमाल से अपने माथे का पसीना पोंछ रहा है और बड़ा परेशान नजर आता है। वह अपनी परेशानी को दबाने की कोशिश कर रहा है। बात को सहनशीलता से टालने की कोशिश में है।

जगदीश और सरला के पिता का ध्यान चल रही इस फुसफुसाहट पर जाता है। नरेश और उसके माता-पिता जानते-बूझते हुए भी अनजान बैठे हैं।

पंडितजी का ध्यान भी इधर जाता है। लेकिन वे मन्तर पढ़े जा रहे हैं। रस्में हो रही हैं। सरला के पिता और जगदीश कुछ-कुछ चिन्तित, सवाली नज़रों से सरला के मामा की तरफ देखते हैं। तब मामा सरला के बाऊजी के कान में फुसफुसाते हैं।

सरला के बाऊ श्री के चेहरे पर शॉक के भाव। सरला के सम्बन्धियों के चेहरों पर घबराहट के भाव।

सरला का ध्यान भी अपने सम्बन्धियों के चेहरे पर जाता है।

पंडितजी रस्में करवाये जा रहे हैं और आस-पास चली रही फुसफुसाहट पर भी नज़र डाल रहे हैं।

पंडितजी : *(धीमी आवाज़ में)* लाला जी माताजी, धरम का काम शान्तिपूर्वक होने दीजिये। लावा-फेरों का शुभ वक्त आ रहा है जी। जगदीश जी, बहन की पहली लांव का वक्त आ रहा है जी। उठिए।

पंडितजी तेज़ रफ्तार से मन्तर पढ़ने लगते हैं।

सरला और नरेश लावां फेरों के लिए खड़े होने ही वाले हैं। सरला अपने मां-बाप की तरफ देख रही है। लड़का भी दबी नज़रों से अपने मां-बाप की तरफ देख रहा है। जगदीश सब बात समझ गया है। नरेश के माता-पिता इसी वक्त तीस हज़ार रूपये मांग रहे हैं। गुस्से से जगदीश का चेहरा तमतमा उठता है।

जगदीश : *(दबे हुए गुस्से अपने माता-पिता को)* लीजिये और मज़ा।

मामा : *(जगदीश को धीमी आवाज़ में)* इस वक्त तुम शान्त रहो जगदीश बेटे। बहन की शादी हो रही है। *(नरेश के मामा-पिता को हाथ ज़ोड़कर विनम्र स्वर में। सब इन्तज़ाम हो जायेगा। शादी हो जाने दीजिये।)*

नरेश के मामा: *(सरला के मामा को)* हमने आपसे कहा था शादी से पहले यह रकम पूरी कर दीजिये। हमें उसकी सख्त जरूरत है-हमें किसी और को अदा करनी है। अभी दिलवा दीजिये। कल का क्या भरोसा।

जगदीश : क्या भरोसा। क्या समझ रखा है इन्होंने!

सरला के पिता : *(जगदीश से धीमे स्वर में)* शान्ति, शान्ति से बेटा। धीरज से।

सरला का मामा: *(सरला के पिता के कान में बात करते हैं। फिर लड़के के मामा से कहते हैं)* मैं ख़ुद जा रहा हूं रुपया लाने। अभी थोड़ी देर में आया। घबराइये नहीं। जैसे भी होगा इन्तज़ाम करूंगा। शादी की रस्में होने दीजिये पंडितजी।

नरेश के मामा: अच्छी बात है।

(पंडितजी मंत्र पढ़ते हैं। एक-दो फेरे हो चुके हैं। औरतें लावां फेरों के गीत गाती हैं)-

पहली लावां मेरी लाडली की, बने सुहाग वती।

सरला सहम सी गयी है। उसके चेहरे पर आई दुल्हन वाली लाजवन्ती मुस्कान, गायब हो गयी है। वह बेजान सी होकर पंडितजी के कहने के मुताबिक काम कर रही है। उसने एक हल्की नज़र नरेश के चेहरे की तरफ़ डालकर उसके भाव भांप लिये हैं।

नरेश सब कुछ देखते सुनते भी, और कुछ हल्के नशे में होने के कारण भी खामोश है। उसे भी मालूम है कि इन्स्टालमेंन्ट में ली जा रही नई मोटर के लिए रुपिया यहीं से लेना है।

सरला फिर अपने माता-पिता के परेशान, ज़लील हुए चेहरों पर नज़र डालती है। वह अपने पिता के शब्द सुनती हैं।

सरला के पिता: *(नरेश के पिता से)* महाराज, रुपया अभी आया कि आया। अगर पूरी रकम अभी नहीं मिल सकी इस वक्त तो बाकी की मैं जल्दी ही भर दूंगा।

विवाह की रस्में जैसे रुक गयी हैं। लड़की वालों के चेहरों पर परेशानी का रंग है। लोग धीरे-धीरे समस्या समझ गये हैं।

पंडितजी : *(धीमी आवाज़ में)* शुभ कार्य में विघ्न न डालिये महाराज। आप अपना काम करो और हमें अपना करने दो जी। लाला जी, मै खुद आपका काम पूरा करवा दूंगा जी। अब चिरंजीव नरेश और सरला बेटी को ध्रुव तारा दिखाना है। पारब्रह्म परमेश्वर इस जोड़ी का प्रेम ध्रुव तारे की तरह अटल रखे।

(सरला यकायक जैसे कुछ भी नहीं देख रही, कुछ भी नहीं सुन रही। यह पिछले चंद मिनटों से अपने पिता-माता-भाई-बहन-पति-सास-ससुर को देख भी रही है। और नहीं भी देख रही है।

वह मंत्र पढ़ भी रही है और नहीं पढ़ रही है। पंडितजी की आवाज़ और अन्य आवाजें सुन भी रही है और नहीं भी सुन रही है। आसपास बैठे-खड़े लोगों को देख भी रही है और नहीं भी देख रही।

उसकी आंखों के सामने तस्वीरें, एक फिल्म़-सी गुज़र रही है तस्वीरोंकी।

तस्वीर नं0 1

सरला की नई व्याही सहेली का पति, सहेली को ज़ोर से थप्पड़ मार रहा है। सहेली का इस तरह सहमा हुआ चेहरा।

तस्वीर नं0 2

सरला के पड़ोस में, बचपन में देखी एक घटना सास बहू से कह रही है- 'हमारी हथेली से उठाकर खाती है और हमीं से सवाल जवाब करती है।

कमज़ात न हो तो। निकल जाओ यहां से-जहां से आई थी वहीं।'

तस्वीर नं0 3

टिक २० बोतल से ज़हर से निकाल कर पी रही एक नौजवान व्याही-एक लड़की अकेली।

तस्वीर नं0 4

एक कमरे में आंखों में बेइजती ज़िल्लत सह चुके कड़वे दुःख भरे आंसू बहाती एक किसी बच्चे की मां! मां! मां कहकर रोकर किसी बच्चे की पुकार।

तस्वीर नं0 5

सास बहू से कह रही है-'आज चौथा बरस होने को आया। अभी तक एक लड़का तो पैदा नहीं कर सकी। बांझ को घर से निकालो जी। कोई कमी है भला हमें लड़कियों की। हमें तो घर बसाना है, वंश चलाना है।......'

तस्वीर नं0 ५

एक विवाहिता लड़की अपने मां-बाप के सामने गिड़गिला रही है-'मुझे मारते-पीटते हैं-*(अपने बदन पर नड़े नीले घाव दिखाते हुए)* वे मुझे मार डालेंगे। मुझे यहीं ज़हर दे दो पर मुझे ससुराल मत भेजो। मेरी मां मेरे बाबुल।

मां रोती हुई लाचार होकर कह रही है, 'बेटी, मैं क्या करूं, जो तेरी किस्मत में है उसे कौन मिटा सकता है। व्याही लड़की कितनी देर मैके रह सकती है।' यह सभी चित्र रंगमंच के पिछले परदे परप्रोजेक्टरद्वारा दिखाए जाएं। पार्श्व संगीत, किसी पड़ोसी के घर में बजता गीत *(नी बीबो घर जा अपणे)*

साथ में उसके साथ ही साथ बजता एक और गीत-

मावां ने धीआं मिल बैठियां नी माए
ते कोई कर दियां गल्लोड़ियां।
कणंका लम्मीयां, धीयां क्यों जम्मीयां नी माए
द्वार की चौखट पे खड़ी हूँ री मां मेरी
ले रही वीरों का नाम
भाबीओं मारे जंदरे नी माए
अब तो मेरा कोई दावा ना.........

तस्वीर नं0 ६

एक गर्भवती स्त्री के पेट में उसका पति लात मारता है। औरत चीखकर बेहोश हो जाती है।

तस्वीर नं0 ७

एक नौजवान विवाहिता स्त्री को उसका ससुर, पति, सास लताड़ रहे हैं। बार-बार एक के बाद एक कह रहे हैं-

'मैके से रुपिया लेकर आ नहीं तो निकल जा यहां से।'

नौजवान स्त्री गिड़गिड़ा रही है। रो-रोकर हाथ जोड़ रही है। साथ के कमरे में रो रही अपनी बच्ची के पास जाना चाह रही है। लेकिन उसे अपनी बच्ची के

पास जाने नहीं दिया जाता। स्त्री रसोई में जाकर, दरवाजा बन्द करके, अपने ऊपर मिट्टी का तेल डालकर अपने आपको जला लेती है।

फेरा लेती सरला यह सब चित्र देखती है। अग्नि परिक्रमा करने के लिए कदम उठा रही होती है कि यकायक रुक जाती है।

सरला : *(अपने आपसे)* नहीं, नहीं मैं मरना नहीं चाहती। मैं स्टोव से जलना नहीं चाहती। मैं टिक २० जहर नहीं पीना चाहती, नहीं, नहीं।

यह कहकर सरला चुप खड़ी हो जाती है। ऐसे, मानों वह विवाह मंडप में नहीं खड़ी हो। सम्मिलित हुए सभी लोगों में बेचैनी, घबराहट एक धक्का सा।

सरला के माता-पिता : *(सरला के पास आकर)* सरला बच्ची, सब ठीक है। पैसे का इन्तज़ाम हो गया है। तेरे सास-ससुर को पूरा रुपया मिल जायेगा *(सरला के सास-ससुर से)* लालाजी, बहनजी, हमारी बेटी जरा घबरा गयी है। जरा इसे हौसला दीजिये, प्यार से थपथपाइये इसे। पानी का गिलास सावित्री, पानी लाना।

(सावित्री पानी लेने जाती जल्दी)

सरला के पिता किसी निकट रिश्तेदार से बात करते है। रिश्तेदार 'जी हां' कहके जल्दी से बाहर जाता है। शायद सरला के मामा को बुलाने।

सरला का पिता: अभी-अभी रुपया आ जायेगा। सब कुछ ठीक है मेरी बच्ची, फिक्र की कोई बात नहीं।

सरला के माता-पिता बच्ची को प्यार करते हैं, अपनी दुःखभरी गीली आंखें पोंछते हैं।

शादी के लिए जमा हुए रिश्तेदारों और सम्बन्धियों की आपस में धीमी बातचीत। नौजवान लड़के लड़कियों का दबा गुस्सा। कोई हो रहे इस तमाशे को, तमाशे की नज़रों से देखते हैं, मुस्कुराते हैं।

सरला के पिता: *(बाहर के दरवाज़े की तरफ देखते हुए)* वह देख, तेरे मामाजी आ गये।

पंडितजी : *(सबका ध्यान शादी की रस्मों की तरफ खेंचने के लिए मंत्र पढ़ते हैं।)* ओम द्यावा पृथ्वी, अंतरिक्ष शान्ति ओम।.....सरला बेटी, लालाजी, शान्त रहिये। सब ठीक हो जायेगा। सिरीराम, सिरीराम। धर्म के कार्य में कैसा विघ्न पड़ गया। लालाजी, बेजी, शादी तो बस पूरी हुई ही समझो जी। अब यह आपकी ही बेटी है। इसे अपना आशीर्वाद, प्यार दीजिये। मंत्र पढ़ो बैटी सरला, बेटा नरेश कुमार।

सरला बुत बनी खड़ी है। सारी समा तमाशबीन बनी बैठी है सब अपनी-अपनी प्रतिक्रियाओं के भावों में।

एक रिश्तेदार : *(धीमी आवाज़ में दूसरे को)* शादी के वक्त ऐसी कमीनी हरकत! यह सास-ससुर हैं या डाकू। शर्म आनी चाहिए।

एक नौजवान : इनको तो पुलिस के हवाले करना चाहिये।

अधेड़ औरत : ठीक है, लेकिन अब तो आधा व्याह हो चुका है।

एक और रिश्तेदार : गरमी बहुत है। सरला को पंखा झुलाइये। कहीं बेहोश न हो जाये।

एक पड़ोसी : ऐसा बुरा जमाना आ गया है। धर्म तो रहा ही नहीं।

(सरला का मामा रुपया लेकर आ गया है। रुपयों की थैली नरेश के पिता को देने को है)

सरला के मामा : लो लाला जी, गिन लो।

सरला : *(यकायक एक कदम आगे बढ़कर शान्तिपूर्वक)* नहीं मामाजी, नहीं बाऊजी आप रुपया नहीं देंगे।

(सरला चुपचाप नरेश के साथ गठजोड़ी किये दुपट्टे की गांठ खोलने लगती है।)

नरेश के मामा : यह छोकरी क्या कर रही है। क्या फजूल बातें कर रही है। इसे होश में लाइये। अगर आप लोगों ने पहले ही अपना वादा पूरा किया होता तो यह अपशगुन की बातें न होतीं। खैर कोई बात नहीं। सरला बेटी को पानी शरबत पिलाइये। जरा पंखे की हवा दीजिये। रुपया लालाजी के हाथ में दीजिये। पंडितजी पढ़िये जी मंतर जल्दी-जल्दी। धर्म का काम पूरा कीजिये फ़टाफ़ट।

सरला : बाऊजी, माताजी, आप मेरी खातिर अपने आपको कर्ज़दार भिखारी बना रहे। हो। मैं ऐसा नहीं होने दूंगी। मैं नरेश से विवाह नहीं करना चाहती।

सरला दुपट्टे की गांठ खोलकर व्याह-वेदी मंडप से परे हट जाती है। पल भर सभी किंकर्तव्य विमूढ़ होकर देख रहे हैं। किसी की समझ में नहीं आ रहा क्या किया जाये।

पंडितजी : यह क्या किया सरला बेटी! धर्म की गांठ खोल डाली। अधर्म की बात न करो। पाप लगेगा।

नरेश का मामा : यह गांठ कैसे खुल सकती है। शादी की रस्में तकरीबन हो चुकी है। लाइये इधर रुपया।

जगदीश : कोई शादी-वादी नहीं हुई है। पहले जो आप हड़प कर गये सो गया। लेकिन इस वक्त जो कसाइयों जैसी हरकत करतूत आपने की, उसके लिए दोनों हाथ जोड़कर मैं इतना ही कह सकता हूं कि आप तशरीफ़ का टोकरा यहां से ले जाइये।

नरेश के मामा: तु चुप रहो जी। हमें पहले भी शक था तुम लोग वादा खिलाफी कर जाओगे। अब सबके सामने अपनी इज्जत बचाने के लिए ऐसी चालाकी कर रहो हो। बाऊजी, यह धरम के काम का वक्त है। अपने बेटे को समझाइये। शादी तकरीबन हो चुकी है। हम लोग बीच में विघ्न नहीं डालना चाहते। आपकी तरफ से जो देना बनता था सो हमने वक्त पर मांग लिया तो क्या बुराई हुई। वरना हमें कोई फ़िकर नहीं। आपकी इज्जत और आपकी बेटी के भविष्य का सवाल है। हम तो यही कहेंगे कि शादी की रस्म पूरी होने दीजिये। पंडितजी, बाकी बचा काम भी पूरा कीजिये।

एक रिश्तेदार :बाऊजी व सरला को वेदी पर बैठा दो जी। आप पहले ही कितना खर्चा कर चुके हैं। थोड़ा और करके मुश्किल का वक्त संभाल लीजिये। ख़ानदान की इज़्ज़त का सवाल है।

दू0 रिश्तेदार : फेरों के वक्त बिगड़ी अब क्या सुधरेगी। फिर भी बेहतर है कि आपस में समझौता कर लो कि दोनों जने। दोष लड़की और आप ही पर आयेगा, ग़लती चाहे किसी की भी हो। ज़िन्दगी भर की बदनामी और क्लेश सहेंगे।

लड़के का मामा : शहर में कोई पानी नहीं देने वाला आपको।

जगदीश : देख लेंगे किसको पानी की नहीं पूछेंगे, तुमको कि हमको। अब सरला वेदी पर नहीं बैठेगी। हमें बेशक कोई पानी की न पूछे। हम सब बरदाश्त कर लेंगे। मैं हाथ जोड़ता हूं-पांवों पड़ता हूं आप जाइये यहां से।

नरेश का एक दोस्त : देखो तो, कौन बोल रहा है। तरक्की पसन्द नौजवान पार्टी के मेम्बर!

सरला के पिता: हमने जगदीश के ससुराल पर कोई मजबूरी नहीं डाली।

नरेश : लांवा-फेरे हो चुके हैं। सरला अब मेरी धर्मपत्नी है। पंडितजी बाकी का काम खत्म करो जल्दी से। हम लड़की को घर लेकर जाएंगे।

सरला : बाऊजी मुझे जहर दे दीजिए, मेरा गला घोंट दीजिए। नरेश जी को मेरी कद्र नहीं-पैसे की कद्र है। यह शादी नहीं है-यह धोखा हैं!

(सरला की आंखों से आंसू बह रहे हैं। वह केले के पत्ते की तरह कांप रही हैं। लेकिन फिर भी वह अपने आपको स्थिर रखने की कोशिश में है)

नरेश का पिता : *(जिसे सरला से ऐसे जवाब की उम्मीद नहीं थी, पहले धक्का सा खाकर फिर)* इस छोकरी को मां-बाप ने बहुत अच्छी शिक्षा दी है। जो इस वक्त ऐसे वेद वाक्य उचर रही है वह शादी के बाद क्या गुल खिलाएगी। चलो बेटा नरेश, चलो चलें यहां से। कुत्ते, कमीने लोग! अपनी जात-बिरादरी के होकर भी। - यह सब पंडित का कसूर है। लालाजी, लड़की तो गाय है गाय और मां-बाप देवता। इतनी बेइज्जती। इस मनहूस घर में एक मिनट नहीं रूकूंगा।

पंडितजी : *(कांपते हुए, हाथ जोड़कर)* लालाजी, माताजी, बाऊजी, मैंने तो काम आप दोनों के भले के लिए किया जी। हमारा काम तो सबको खुश रखना है जी। सिरीराम! राधेश्याम! बाऊजी! लालाजी। हाथ जोड़ता हूं विनती करता हूं। इस काम को पूरा करने दीजिए।

नरेश : *(बेइज्जत होते हुए गुस्से से)* मैं, लड़की लेकर मैं, मैं यहां से हिलूंगा नहीं। यह समझती क्या है अपने आपको कम्बख्त! मैं इसे सीधा कर लूंगा। इसे भी लेकर जाऊंगा और पूरा दहेज भी। *(सरला को वेदी पर बिठाने के लिए आगे बढ़ता है)*

नरेश का मामा : नरेश बेटा, हमें कोई कमी नहीं लड़कियों की। बढ़िया से बढ़िया लड़कियां मिल सकती हैं अमीर घरों की। लड़के वालों को कभी कमी नहीं होती।

एक अधेड़ औरत : लड़की को अपनी जबान बन्द रखनी चाहिए थी। लड़कियों को शर्म-हया से रहना चाहिए। यह मामला बड़ों का है। बड़े फैसला कर लें।

सरला का मामा : सरला बेटी, आधा व्याह हो चुका। मैं सब सह लूंगा। वेदी पर बैठो बेटी।

एक बूढ़ी औरत : जो भाग में है वह कोई मिटा नहीं सकता। ऐसे तो फिर जात-बिरादरी की कोई कीमत न रही न!

(सरला चुपचाप खड़ी है शान्त, अडोल अटल। आंखों से आंसू

बराबर बह रहे हैं)

शादी में आए लोगों में से एक अधेड़ उमर का मर्द, सादा सफ़ेद पाजामा, कमीज़ पहने सीधा सादा मर्द उठता है। लोंगों के समूह में से लांघ कर सरला के पिता करीब आता है।

मर्द : बाऊजी *(जरा और ऊंची आवाज में)* बाऊजी!

सरला के पिता : *(परेशानी से तरबतर हुए मर्द से)* आप जरा ठहरिए जी! जगदीश! *(अपने आपसे)* हे मेरे राम! यह कौन से ऐसे बुरे कर्मों का फल है-

मर्द : बाऊजी, एक अर्ज़ है, एक विनती है। अगर सरला बेटी को मंज़ूर हो तो अपने बेटे के लिए मैं आपसे दरखास्त-

सरला के पिता : *(और झुंझलाकर, मर्द से)* हटाओ परे जी, क्या बातें कर रहे हो। देखते नहीं मुझ पर क्या गुज़र रही है!

नरेश का मामा : घर बुलाकर लड़के वालों की यह बेज्ज़ती। कुत्ते, बदज़ात। मिट्टी में मिलाकर छोड़ूंगा तुम लोगों को। चलो, भई फ़ौरन यहां से। पहला काम तो पुलिस को रिपोर्ट करना है ब्लैक में लेन-देन करने के लिए।

(एक साधारण पर आकर्षक शक्ल सूरत, दरमियाने कद का लड़का, साधारण लेकिन सादी कमीज़ पतलून पहने, बाऊजी की तरफ आगे बढ़ता है)

नया लड़का प्रदीप : बाऊजी, जगदीश, मांजी, मैं आपकी बेटी सरला के हाथ के लिए आपसे विनती करता हूं।

(थोड़ा और आगे बढ़कर सरला के कुछ करीब आता है)

प्रदीप : सरलाजी, अगर आप मेरे साथ शादी करना पसंद करें, यह मेरी ख़ुशकिस्मती होगी।

प्रदीप के पिता: *(ज़रा ऊंची आवाज में)* बाऊजी, शायद आपको याद हो, कुछ देर पहले भी मैंने आपसे इस बारे में जिक्र किया था-आज फिर मैं आपके सामने दरख्वास्त करता हूं-अगर आपको और आपकी बेटी को मंज़ूर हो, तो प्रदीप और मेरे लिए यह बड़ी खुशी की बात होगी।

सभी का ध्यान प्रदीप के पिता की बात की ओर जाता है। सरला के माता-पिता, जगदीश बहनें रिश्तेदार बुत बने खड़े हैं। गुस्से और अपमान और बदले की भावना से भरे घर लौटते ससुराल वाले भी खड़े हैं।

प्रदीप : *(विनम्र होकर)* सरलाजी मैं आपके जवाब की इन्तज़ार में हूं। मैं जानता हूं, यह संकट का वक्त है। गुस्ताखी माफ़ कीजिए, क्या आप मेरी दरख़्वास्त पर गौर करेंगी।

सरला : *(कांपते हुए, आंसू भरी आवाज़ में, पर पूरी शक्ति लगाते हुए)* बाऊजी, माताजी, जगदीश भय्या, मुझे प्रदीप से विवाह करना मंजूर है।

आस-पास खड़े सभी हत्बुद्ध हैं। कुछेक के चेहरों पर उत्सुकता, कुछेक के चेहरे पर तनाव से रिलीफ़ की भावनाएं।

नरेश का मामा: *(जोर से हिकारत से)* इन्होंने पहले ही कोई तिकड़मबाजी बना रखी होगी जी! मुफ़तो मुफ्त ब्याह करा देना चाहते होंगे न बेटी का, भले ही किसी सड़क पर

झाड़ू देने वाले से क्यों न हो। चलो नरेश बेटा, चलो लालाजी, यह घर यह लड़की हमारे काबिल ही नहीं।

नरेश : *(आपे से बाहर होते हुए)* इनको मैं, इनको मैं, मैं, मैं पुलिस में अभी रपट लिखवाता हूं इन तिकड़मबाजों की, ४२० करने वालों की। इनको, इनका मुंह काला करवाऊंगा, जेल, जेल न भिजवाया तो मेरा नाम नरेश नहीं-*(कहते आंगन से बाहर निकल जाता है ससुराल के बाकी सब भी उसके पीछे चले जाते हैं?)*

प्रदीप का पिता : हम ग़रीब लोग हैं। आप जैसी ऊंची जात नहीं हमारी। लेकिन हम भी अपनी मेहनत का खाते हैं। हमें आपसे दान-दहेज कुछ नहीं चाहिए। मेरा बेटा प्रदीप स्कूल में पढ़ाता है और मैं स्कूल के बच्चों की किताबों वगैरह की दुकान चलाता हूं। स्कूल के हैडमास्टर से पूछ लीजिए प्रदीप की रिपोर्ट अच्छी है। हमें-

प्रदीप : सरला जी, अपने अच्छी तरह सोच लिया है न। मेरी ज़िन्दगी कोई आसान नहीं। लेकिन अगर आप मेरा साथ देंगी तो मैं वादा करता हूं कि खूब डट कर मेहनत करूंगा, अपनी गृहस्थी सुखी बनाने के लिए।

सरला : *(आंखों में आंसू भरे, सिर झुकाए, और तूफ़ान लांघने के बाद थकी-टूटी लेकिन कुछ आशा और अचरज भरी आवाज में)* मैं मैं पढ़ना चाहती थी। मैं आगे पढ़ाई करना चाहती हूं। खुद पढ़कर मैं दूसरों को पढ़ाना चाहती हूं। मैं काम करके कमाना चाहती हूं, मैं जीना चाहती हूं।

प्रदीप : सरला, मुझे खुशी है कि आप और पढ़ना चाहती हैं, काम करके मेरा साथ देना चाहती हैं। मैं भी आपका साथ दूंगा।

सरला : *(आंसू भरे अनुरोध से)* बाऊजी, माताजी, मुझे रिश्ता मंजूर है।

जगदीश : *(अपने बुत से बने थके हारे कर्त्तव्य विमूढ़ हुए मां-बाप को)* देख क्या रहे हो! सोच क्या रहे हैं। सरला प्रदीप के सिर पर आशीर्वाद का हाथ रखिये। *(सरला को गले लगाते हुए)* मेरी बहादुर बहन!

सरला का मामा : बाऊजी, भगवन्ती बहन मेरी, धर्म के काम का वक्त तो अब हुआ है।

सावित्री : *(अनुरोध से)* बाऊजी, माताजी!

सरला का पिता : *(प्रदीप के पिता से)* मास्टर जी, आपने मुझे बचा लिया। मेरी लाज रख ली। *(पाओं छूने लगता है)*

प्रदीप के पिता : नहीं, नहीं मुझे शर्मिन्दा न कीजिए बाऊजी। बस, बच्चे सुखी रहें।

जगदीश : *(हंसकर)* प्रदीप यार, तू अब तक कहां छुपा था। *(प्रदीप के गले मिलता है)*

प्रदीप : *(हल्का हंसकर, मानों आधा अपने आपको, सरला को सम्बोधन करते हुए)* मैं कहीं छिपा सपने देख रहा था एक लड़की के, एक नई किस्म की लड़की के....

सरला का मामा : अरे भई, पंडितजी महाराज कहां पधार गए -उन्हें बुलाओ।

जगदीश : *(हंसकर)* मामाजी, पंडितजी की कोई ज़रूरत नहीं। मुझे विवाह के सारे मंत्र याद हैं। और जब लड़का लड़की राज़ी, तो क्या करेगा काज़ी। अरे भई सावित्री,

वह लड्डुओं का बड़ा थाल किधर है? आइए मामाजी, आइए सभी दूल्हा दुल्हिन का मुंह मीठा कराएं। शादी की रस्में भी कर लेंगे बाद में।

(सभी सम्बन्धी, मेहमान सरला-प्रदीप के इर्द-गिर्द इकट्ठे हो जाते हैं, खासतौर पर नौजवान लड़के लड़कियां। सावित्री लड्डुओं के दो भरे हुए थाल कमरे में से लाती हैं। जगदीश एक लड्डू का टुकड़ा, प्रदीप और एक सरला के मुंह में डालता है उनके मुंह चूमता है। बाकी सब भी बारी-बारी से यही करते हैं।

एक-दो लड़कियां दौड़कर अन्दर जाती हैं। अन्दर से ढोलकी ले आती हैं और बजाकर कोई सुन्दर सा शादी का गीत गाने लगती है।

सरला और प्रदीप बाऊजी माताजी, प्रदीप के पिता के पांव छूते हैं। आशीर्वाद पाते हैं वे और बुजुर्गों के भी पांव छूते हैं। बाऊजी माताजी इस जोड़ी को गले लगाकर मुंह चूमते हैं।

बड़ी उमर की औरतें गाने लगती है-

चन्दन के पेड़ संग
क्यों खड़ी री बेटी
कैसा तुझे वर चाहिए
मैं तां खड़ी बावल जी के पास
बाबल वर चाहिए
री बेटी किही जिहा वर लोड़िए
वे बाबल-ज्यों तारों मे चान्द
चांदो विचों कान्ह
कन्हैया वर चाहिए।

(इसी गीत के साथ नाटक समाप्त)

चिड़ियों का कहना है कि!

(व्यंग एकांकी)

समर्पित

विश्वभर की नन्ही चिड़ियों को उनके अति अनमोल विचारो के लिए!

(आकाशवाणी बम्बई से १६८८ में प्रसारित हुआ)

चिड़ियों का कहना है कि !

शहर बम्बई-चौमासे के आख़िरी दिन थे। हमारे बंगले के हरे भरे बाग के फूलों-पेड़ों-पत्तियों पर, बारिष की बूंदें, किसी अनाड़ी तबलची के अटपटे रियाज़ की तरह कभी विलम्बित, कभी मध्यम और कभी द्रुत रियाज़ की तरह बेताली-सी टिप-टुप टीप ट टीऽऽप बजा रही थी।

बाग में मोटे तने वाली बोगनविला बेल थी, गुलानारी रंग के फूल उगाती। बार-बार तराशी जाने पर भी जीने की प्रवल इच्छा रखने वाली बेल! उन दिनों उसकी रूप रेखा आकार एक बड़े साइज की बेढंगी छतरी सा हो रहा था। बोगन विला की पतली-मोटी नीची-ऊंची, तिरछी-सीधी, कुछ हरे-लाल और कुछ पूरे लाल हो चुके फूलों वाली टहनियों पर, कुछेक छोटी-बड़ी चिड़ियां, बारिष से बचने के लिए, किसी गली मुहल्ले की औरतों की तरह जमा हुई थीं। कुछ चिड़ियां टहनियों पर पंजे जमा कर चोंचों से पंख पोछने में मसरूफ़ थीं और कुछ गीली टहनियों पर पंजे टिकाने की कोशिश में ऊपर-नीचे फिसल रही थीं। बारिष का वक्त गुज़ारने के लिए उनकी आपस में जो चटक चूं गुफ्तगूं चल रही थी उसका लुत्फ़ मैं कमरे की खिड़की के पास ही सही चरवाई पर लेटी आधी जागी-आधी सोई, देख सुन रही थी, कुछ यूं-

चाची चिड़िया : *(इधर-उधर देखती, पंख पोंछती हुई)* अच्छी भली धूप खिली हुई थी। न बादल गरजे, न बिजली चमकी। कैसे, फिर निगोड़ी बूँदें बरसने लगीं। भला देखो तो!

चाचा चिड़ा : हांऽऽ। अरे भई, बादलों की बड़ी ज़्यादती है। कम से कम एक आध बार गरज-चमक कर डरावा तो देना चाहिए कि पंछिओ, अपनी-अपनी चोंच-पंख दुभ संभाल लो, हम बरसने वाले हैं।

पहली जवान चिड़िया : हं, चाचाजी, आप सोलह आने सच कहते हो। मैं अभी बाग में से-पूरी चोंच भर के घास नरम तिनके तोड़ कर लाई थी घोंसला बनाने के लिए उधर, वहां, सामने वालों के घर की छत्ती के नीचे कि मुई बारिष ने घेर लिया।

एक जवान चिड़ा : *(चिढ़ कर)* यार, कुछ करना चाहिए बादलों की ऐसी मनमानी के बारे में। भला यह भी कोई तरीका है? कि जब जी चाहे यह बरस पड़े और, साथ में तेज़ हवाएं भी तो ले आते हैं यह बादल। झिंझोड़ देती है हवाएं पेड़ों

पर बने हमारे पक्के सुन्दर घोंसले! और हम हैं कि चुपचाप सब सह जाते हैं।

चाचा चिड़ा : अरे नहीं बेटे! बादल बदमाश कम है और बेवकूफ़ ज्यादा *(हंसकर)* अभी पिछले महीने ही की तो बात है। सारा आसमान साफ़ था। मैं उस चम्पा के पेड़ की शाख पर बैठा, ऊंघ-सा रहा था पंख समेटे। आंख झपकने से पहले देखता हूं तो क्या देखता है कि, एक चूचकी-सी, रुई सी, सफ़ेद बदली, गहरे नीले आसमान में न जाने कहां से यकायक दाखिल हुई। अरी बीवियो। सच मानों! वह पानी भरी लालचन, आकाश में धीरे-धीरे यूं चल रही थी जैसे किसी तालाब का सारा का सारा पानी पीकर पेट फुलाए हो। जा तो रही थी दूर, उधर पहाड़ियों की तरफ़। बड़ी कोशिश की उसने पानी का भार संभाल-बचा कर पहाड़ियों तक पहुंचने की। लेकिन पेट में इतना पानी! कहां तक संभालती। जो होना था सो, होकर ही रहा। उधर से उलटी, उधर से उलटी! औऽर, सारी की सारी वहीं बरस कर खतम शुद हो गई।

एक जवान चिड़ा : (हस कर) अच्छा? हहऽ! भगवान ने बादलों को शरीर तो दिया है पर अक्कल नहीं।

चाची चिड़िया : *(बड़े सियानेपन से)* सच्ची बात तो यह है कि अक्कल तो भगवान ने दिल बड़ा करके, चिड़ियों ही के दी है।

प0 ज0 चिड़िया : अरी चुकचु! अबकि तू अंडे कहां दे रही है?

चुकचू चिड़िया : *(हंसकर)* अपने घोंसले में! और कहां!

प0 ज0 चिड़ियां : वह तो मुझे भी पता है। हवा में उड़ते हुए तो नहीं दोगी। मेरा मतलब था, कि कौन सी जगह चुनी है?

(छोटी-बड़ी सभी चिड़िया इस बात पर हंसती है)

चुकचु चिड़िया : इसमें हंसने की क्या बात है। वह सामने जो नारियल का पेड़ है न!

प0 ज0 चिड़िया : हां तोऽ।

चुकचु चिड़िया : उसके तने के ऐन बीचो-बीच वह पतला, खोल-सा चीर दिखाई देता है तुझे?

प0 ज0 चिड़िया : चीर? खोल? कहां? इत्ती तो बूंदा-बांदी हो रही है। हवा में नारियल के पत्ते इधर के उधर झूम रहे हैं। छोटा-सा चीर भला दिखाई देगा?

चुकचु चिड़िया : अरी बेगम! तेरी आंखें हैं या काली मिरच की गोलियां। अब क्या उड़के जाऊं और तुझे दिखाऊं! वोऽऽ सामने रहा। गर्दन उठा के देख तो।

प0 ज0 चिड़िया : अच्छा, हां! वह रहा। अब जाके दिखाई दिया। वाह-वाह! अबकि तो बड़ी हवादार जगह चुनी है।

चुकचु चिड़िया : स्वाह और मट्टी। सारा वक्त कौओं की नज़रें मेरे घोंसले पर ही अटकी रहती है।

चुकचु का पति : चुकचु! मैंने तुझे कहा भी था! उस वक्त तू मानी ही नहीं। नारियल पेड़ में पड़ा चीर भी भला कोई जगह होती है घोंसला बनाने की, अंडे देने की? और चाचा कहते हैं चिड़िया जात में बड़ी अकल होती है।

चुकचु चिड़िया : *(उदासी से)* अब क्या हो सकता है। अब तो घोंसले में अंडे दे चुकी हूं। दिन रात तो अंडों की राखी, करती हूं। अभी ज़रा सी चली आई आप सबको मिलने।

चुकचु का पति : भला मैं नहीं राखी करता। सिर्फ़ तुम ही करती हो।

चुकचू : मैंने कोई शिकायत की आपके खिलाफ़!

चाची चिड़िया : आजकल के चिड़िया बच्चे तो आफ़त है आफ़त! अंडे को चोंच से फोड़ा नहीं कि उछल-उछल कर बाहर गिरने को होते हैं। मुझे याद है, हमें तो हमारी मां ने अंडा फोड़कर अपनी चोंच से अपने आप ही बाहर निकाला था। इतनी सीधी और भोली थी मैं तो.....

तीसरी ज0 चिड़िया : बिल्कुल ठीक कहती हो चाची! आजकल तो सौ समझा कर जाओ कि हम, तुम्हारे लिए दाना लेने जा रहे हैं। अभी लौट आएंगे। पर नहीं। यह छुटके सुनते मानते ही नहीं। घोंसलों में से बाहर उलटते गिरते हैं। अब नीचे गिरी चिड़ी बच्ची को उठाकर घोंसले में कैसे ले जाएं?

चाचा चिड़ा : *(भारी, घिसटती-सी आवाज़ में)* किसी भी काम में उतावली करना बुरी आदत है। क्यों ठीक है न!

(ज़रा-सी खामोशी। बारिष की बूंदों की पहले की तरह संगीत-असंगीतमय टुप-टिप-टिपटिप।)

प0 ज0 चिड़िया : अरी चुरूर, तूने भी पिछली बार हद ही कर दी।

तीसरी ज0 चिड़िया से : बड़ी ज्यादती की हमारे साथ। जहां मैं और मेरे शौहर घोंसला बनाने वाले थे वही जगह तुम और तुम्हारे चिड़ा मियां ने संभाल ली अपने घोंसले के लिए!

तीसरी चिड़िया : क्या कहा? कौन-सी जगह संभाल ली हमने?

प0 ज0 चिड़िया : बड़ी भोली बनती हो। तुम्हें जैसे पती ही नहीं। इधर सामने के कमरे में रखे उस ऊँचे बड़े फूलदान के पीछे।

तीसरी चिड़िया : अरे वाह! वह जगह तो खाली पड़ी थी।

प0 ज0 चिड़िया : खाली कहां थी? हम तो तिनके छोड़कर अपना निशान लगा आए थे।

तीसरी चिड़िया : चिड़ियों के देवता ही जाने कौन से फूलदान की बात कर रही हो।

पहली चिड़िया : जी! जैसे तुझे मालूम ही नहीं। वही फूलदान बहनियां! जिसके पीछे पिछली बार भी तुम दोनों ने हमारे रखे तिनकों के ऊपर ही तिनके डालकर झट से अंडे दे दिए थे।

तीसरी चिड़िया : कभी हो नहीं सकता। सुबह-सुबह झूठ न बोलो।

पहली चिड़िया : लो देखो। एक तो चोरी और ऊपर से, सीनाज़ोरी।

तीसरी चिड़िया : यानि के हम दोनों चोर है, हूं।

पहली चिड़िया : चोर होगी तू। चोर होगा तेरा चिड़ा! चूं! चूं! चूं! चुख! चुख!

तीसरी चिड़िया : चटख! चटक! चीं! चीं !

(दोनों की जोर जोर से चिर, चिक, चुख़ चूं होने लगती है जिसमें पहले दोनों को समझाने के लिए, बाद में एक दूसरी की तरफ़दारी करने के लिए, बाकी चिड़ियां-चिड़े भी, शोर में शामिल हो जाते हैं और शोर को बढ़ाते हैं।

चाचा चिड़ा : अरी चिड़ी ज़ात! बस भी करो यह चीक चिहाड़ा। कहा न बस करो। अरे! सुनती ही नहीं। चिचिराती ही जी रही हैं। मैंने कहा चुऽप! बन्द करो अपना भैरव।

(चिल्लाहट बन्द होती हैं। थोड़ी देर के लिए खामोशी। पहले की तरह बारिष की मन्द टुप टिप थप टिप अब सिखिए तबलची के रियाज़ की तरह!)

चाची चिड़िया : *(ज़रा नीचे की टहनी पर बैठे एक खामोश उदास से प्यारे से चिड़िया जोड़े की तरफ देखते हुए, कुछ प्यार और हैरानी से)* इस जोड़े को तो देखो। चोंचे बन्द किए, बड़ी उदास बैठी है। अभी तक चूं भी नहीं की।

चाचा चिड़ा : *(देखते हुए)* हां भई। मेरा तो ध्यान ही नहीं गया इनकी तरफ़! क्या बात है चिरकी-चिरके? रोज़ तो चिरचिराते नहीं थकते हो और आज रौनक से परे बैठे हो?

चिरकी : *(ठंडी सांस भरकर)* कुछ नहीं! कुछ भी तो नहीं......।

चाचा चिड़ा : कुछ भी तो नहीं। तो फिर दोनों जन चोंचे बन्द किए क्यों बैठे हो गुमसुम? हूं? चाचा से नाराज़गी है क्या?

चिरकी : हुआ कुछ नहीं चाचा। अपनी किस्मत ही खराब है। *(दो पल चुप रह कर)*

चिरकी : इस दुनिया में जो ताकतवर है उसी का राज है।

चाचा चिड़ा : यह सब तो बड़ी ऊंची बातें हैं। बताओ तो सही क्या ज़ुल्म हुआ है तुम्हारे साथ?

चिरकी का पति : तू ही बता चिरकी, मैं तो हिम्मत हार बैठा हूं।

चिरकी : *(बहुत उदासी से)* अबकि, हमने, अंडे न देने का फैसला किया है।

ती० ज० चिड़िया : *(हैरानी से)* क्यों? ऐसी भी क्या परलय आ गई है।

चिरकी : *(आंसू भरी आवाज़ में)* हम अपनी चोंचों से चुन-चुन कर सूखे पतले तिनके, नरम-नरम घास, दरज़ियों की दुकानों के बाहर से सिल्क और सूती कतरने और न जाने क्या-क्या ढूंढ़-ढूंढ़ कर लाएं घोंसला बनाने के लिए और हमारे सामने, कोई आदमी का बच्चा, हमारा आधा बन चुका घोंसला, अपने जालिम हाथों से उठाकर बेरहमी और बेशरमी से, खिड़की से बाहर फेंक दे....!

चिरकी का पति : और हम, यह सब देख कर भी हैरान हों, लेकिन घबराएं नहीं। हम, फिर

उसी चाव से घोंसला शुरू से बनाने में लग जाएं।

चिरकी : और, वह हमारा आधा बना घोंसला, फिर से उठाकर खिड़की से बाहर फेंक डालें।

चिरकी का पति : और हम हक्के-बक्के होकर, कुछ डरे कुछ सहमे, कमरे के रौशनदानों पर बैठे यह जुल्म होता देखें और चूं तक न कर पाएं। उस ज़ालिम औरत के कमरे से बाहर जाने पर, चोंच में फिर तिनके भरने के लिए वाज़ की घास पर जा बैठें।

चिरकी : *(रोकर)* तीसरी बार फिर, तकरीबन बन चुका, हमारा सपने सा प्यारा घोंसला, वह देखते ही उठाकर, तोड़ मरोड़कर गली से बाहर फेंक देतोऽऽ

(सभी चिड़ियां, ख़ामोश और उदास हैं)

चाचा चिड़ा : तो सचमुच वैसी ही हालत हो सकती है जैसी तुम दोनों की है।

चाची चिड़िया : घोंसला बनाना तो चिड़िया ज़ात का धरम है।

प० ज० चिड़िया : वह चिड़िया ही कैसी जिसने घोंसला न बनाया।

(जरा सी चुप्पी)

चाचा चिड़ा : तुम लोगों ने घोंसला बनाया कहां था?

चिरकी का पति : वह जी सामने सात नम्बर वालों की बैठक की सीलिंग पर, एक उल्टा लटकाया लैंप शेड था जी, उसमें।

चिरकी : कांच का, गोल-सा, इतना खूबसूरत शेड! बिल्कुल घोंसला ही लगता था बना बनाया।

चिरकी का पति : *(उदास मुस्कान से याद करते हुए)* अपने चिड़ी बच्चों के लिए हमने जैसे कोई शीश महल ढूंढ़ लिया हो।

चाचा चिड़ा : *(शान्त लहजे में)* पर लैंपशेड को बंगले वाले भी तो काम में लाते होंगे न। कमरे में रौशनी जो करनी हुई।

चिरकी का पति : नहीं जी, बैठक खाली पड़ी रहती है। कभी कभार ही किसी महमान का आना होता है या जब कभी कोई पार्टी होती है तो बैठक खुलती है। लाखों पति चार सौ बीस बिल्डर लोग हैं उस घर के लोग। आम लोगों से पैसे लूट कर परदेशों के बैंकों में जमा करने और सैर करने जाते हैं मालिक लोग।

चाचा चिड़ा : अच्छा! हां याद आया। एक बार मैंने और तेरी चाची ने इनके सोने वाले कमरे में पंखे की टोपी में घोंसला बनाया था। तब हम दोनों ने इनके बहुत तमाशे देखें। सोने की ईंट और न जाने क्या-क्या जबरजस्त मालमत्ता रोज़ रात को फर्श तोड़कर उसके अन्दर जमा करते थे यह लोग। एक बार तो आधी रात को छापा भी पड़ा था इनके घर में। फिर दे दिला के उनको अपने ठिकाने भेजा था।

चिरकी का पति : हां जी बिल्डिंग के काम के अलावा यह लोग स्मगलरों के भी सरदार हैं।

क्या-क्या सामान रात भर इनके गुदामों में हेरा-फेरी होता है।

चाचा चिड़ा : इन्सानों के कारनामे करतूतें इन्सान ही जाने। बात तो घोंसला बनाने की चल रही थी। अगर बैठक खाना अक्सर खाली ही रहता है तो घर वालों को पता भी नहीं लगना चाहिए कि तुम दोनों ने घोंसला बनाया है।

चिरकी का पति : पिछली तो पता नहीं चला था। सभी बाहर गए हुए थे। लेकिन अबकि बार-

चिरकी : अबकि तो झाड़ू लेकर हम पर पड़ गई घर वाली मैडम......

चिरकी का पति : हम शेड के अन्दर तिनके लेकर घुसे कि बेगम साहबा ने बलब जगा दिए शेड के अन्दर।

सभी चिड़िया : अरे! बलब जगा दिए? फिर?

चिरकी : पहले तो हमें कुछ दिखाई ही नहीं दिया-

चिरकी का पति : हम चकाचौंध हो गए।

चिरकी : हमने सोचा, कि आज रात को ही सुबह हो गई है और, और सूरज की रौशनी आज एकदम से बढ़ गई है। शेड का रंग नीला था। इसलिए शेड में कुछ अंधेरा-अंधेरा सा लगा करता था। उस दिन हमने चहक कर सोचा कि यह वो अच्छा ही हुआ। ख़ूब उजाले में अपने नन्हों के लिए घोंसला बनाएंगे।

चाचा चिड़ा : अच्छा, तो फिर क्या हुआ?

चिरकी : फिर हम घबरा गए। कुछ समझ में ही न आए कि अब क्या हो रहा है। शेड में कभी रौशनी हो जाती कभी एकदम अंधेरा। बार-बार ऐसा होने लगा।

चिरकी का पति : हम दोनों डर कर बाहर उड़ आए। खिड़की पर बैठे, सोचों में पड़ गए। इधर-उधर देखने लगे।

सभी चिड़िया : फिर, फिर?

चिरकी का पति : फिर फुर क्या जी। मैंने इसे समझाया। कहा, चिन्ता मत कर चिरकी। अभी, अपने आप ही सब कुछ ठीक हो जाएगा। *(ज़रा सी खामोशी)* बैठक के सामने ज़मीन पर घास उगी थी। हम दोनों चोंचों में घास के तिनके भरने लगे।

चाची चिड़िया : *(सहानुभूति से)* घोंसला बनाना चिड़िया का धरम है।

तीसरा चिड़ा : फिर? फिर क्या किया तुमने?

चिरकी : हम चिड़ियां तो भोली होती हैं। घास के तिनक चुनते हम दोनों एकदम भूल ही गए कि शेड के अन्दर क्या बीत रही थी हम पर। अच्छे-अच्छे सूखे नरम तिनके चोंचों में भर-भर कर हम फिर उल्टे लटकाए लैंपशेड की टोपी में घोंसला बनाने लगे। कमरे में कोई भी नहीं था तब॥

सभी चिड़िया : अच्छा? फिर?

चिरकी : जल्दी-जल्दी से हम दोनों, फिर से घोंसला बनाने में लगे थे कि शेड में फिर से रौशनी-अंधेरा रौशनी-अंधेरा, रौशनी-अंधेरा होने लगा और फिर शेड में खूब रौशनी ही हो गई।

चिरकी का पति : और शेड की टोपी भी गरम होने लगी।

चाचा चिड़ा : हम चिड़ियों की ज़ात भोली भी है और निडर भी है। हम कबूतरों तोतों मैना और बुलबुलों की तरह इतने सुन्दर तो नहीं। लेकिन आखिर हम भी चिड़ियां हैं। हमें भी दाना, मानी, घर-घोंसला और आज़ादी चाहिए।

चाची चिड़िया : प्रभात के वक्त, चहक-चहक कर, गीत गाकर आलसी इन्सानों को सुबह सबेरे जगाने वाली हम चिड़ियां।

चाचा चिड़ा : *(हंसकर)* देखो बीवी, सच-सच बोलो। गाने की बदनामी न करो भाई। गीत गाना न तुम्हारा दादों-परदादों का आता था, न हम तुम को आता है और, न ही तुम्हारे दोहतों पोतों को ही आएगा। गीत गाती है कोयल, चहकती है बुलबुल। अपनी चिड़ी ज़ात तो चूं-चूं चीं-चीं से ज़्यादा कुछ नहीं बोल सकती। बहुत हुआ तो चुख़-चुख़ का शोर मचा लिया।

सभी चिड़ियां : हाय! हाय! हद हो गई। ऐसा तो न कहो चाचाजी। क्या हम सिर्फ़ शोर ही मचाती हैं? नहीं जी नहीं। बिल्कुल गलत! हम नहीं मानते। अरे वाह! अपनी ही बदनामी।

(सामूहिक चीं! चीं! का शोर। चींऽ! चींऽ! चुख! चुख! इत्यादि।

चाची चिड़िया : *(ऊंचे स्वर में समझाते हुए)* बस भई बस। अब बस भी करो अपनी चूं! चूं! चीं! चीं! अब शोर ही तो मचा रही हो।

चाचा चिड़ा : *(हंस कर)* छोड़ो जी, इस चीं चर को। इन दुःखियों की दास्तान तो अधूरी ही रह गई। हां तो बेटी चिरकी फिर क्या हुआ?

चिरकी का पति : जैसा कि हम आपको बता रहे थे चाचा कि हम दोनों, लैम्प शेड के अन्दर, बड़ी तरकीब और खूबसूरती से तिनके, कतरने सभी कुछ गोल-गोल बिठा रहे थे और घोंसला अब तकरीबन तैयार ही था कि फिर उसी मुसीबत ने हमें घेर लिया। पल भर रौशनी, पलभर अंधेरा। रौशनी-अंधेरा, रौशनी-अंधेरा। ऑफ! ऑन! ऑफ! ऑन! दिखाई दे, न दिखाई दे। हम दोनों घोंसले के अन्दर जाएं, बाहर आएं, अन्दर जाएं बाहर आएं। डरें कि क्या करें, क्या न करें। तय्यार किया घोंसला छोड़ दें कि नहीं, डरें और चिन्ता करें-

प0 ज0 चिड़िया : हाय तौबाह! अब खतम भी करो किस्सा आख़िर हुआ?

चिरकी : *(रुलाई भरी आवाज़ में)* जिस पर बीतती हैं वही जानता हैं।

चाचा चिड़ा : भई, जिसको मन है सुनने को आराम से टहनी पर बैठ कर सुने। जिसका मन उकता गया है वह बेशक उड़ पुड़ जाए। हां भई चिरकी बिटिया, फिर क्या हुआ *(तीसरे चिड़े के कान में फुसफुसाकर)* यार, जबतक बारिष खत्म

नहीं होती टाइम तो पास करना है न। हां बेटी, फिर क्या हुआ?

चिरकी : खिड़की पर बैठी मैं इन्हें बार-बार कहूं, सोच लो, देख लो कोई खतरे वाली बात तो नहीं! वह यह न मानें। कहें, चिड़िया की अकल, पूंछ में होवे। कहें, जरा सोचों तो! इतने आलीशान बंगले की बैठक में लगे बिल्लौरी, सुन्दर लैंपशेड में बनाया, इतना ख़ूबसूरत घोंसला किस चिड़ी-बच्चे को नसीब होगा प्यारी चिरकी!

चाची चिड़िया : अरे वाह! क्या कहने हैं! हमने तो सारी उमर, टूटी फूटी छतों के कोनों और सुराखों ही में अंडे दिए। मुझे तो तुम्हारे चाचाजी ते कभी भी कोई काम की जगह ढूंढ़कर न दी।

चाचा चिड़ा : तू हमेशा सबके सामने मेरी निन्दा ही करेगी। चोंच बन्द करो और इस बिटिया को अपनी बात खत्म करने दो। हां बेटी कहो-

चिरकी : मैं सोच रही थी कि कितने दिन बाकी हैं अंडे देने में यह कहे अभी आठ दिन बाकी है और मैं कहूं नहीं, सात बाकी है। मैं कहूं सात और यह आठ पे अंडे, हैं। हमारी यह तकरार हो ही रही थी कि पास ही से घसर! घसर! घीस! घीस! की आवाज़ शुरु हुई ऐसे जैसे भूचाल हो रहा हो। घोंसला क्या, सारा लैंपशेड ही हिलने लगा। चौंक कर हम बाहर उड़ जाए। खिड़की पर बैठ गए। देखते हैं तो क्या देखते हैं कि एक छोटी सीड़ी खड़ी करके, घर की बेगम साहबा ने, लैंपशेड नीचे उतार लिया है और हमारा *(रोकर)* और हमारा घोंसला बाहर निकाल कर कमरे में रखी रद्दी कागज़ की टोकरी में फेंक दिया है-

सभी चिड़ियां : उफ़! चू चू चू! चू चू चू!

(चिरकी सिसकती है)

चाची चिड़िया : भगवान ने इन्सान को न जाने किस मिट्टी से बनाया है। इसे न अपने घर-बाहर की कदर है, न दूसरों के घर बाहर की।

प0 ज0 चिड़ा : अपने बंगलों घरों और इमारतों को नाम तो देताहै 'आशियाना', घरौदा, प्रेम-कुंज, शान्ति निवास और न जाने क्या नाम। और फिर अपने प्रेम कुंज और आशियाने, खुद ही जलाता रहता है।

दू0 ज0 चिड़ा : अरे भय्या, अपने घर-आशियाने जलाता है तोड़ता है तो तोड़े। पर हमें क्यों छेड़ता है? हमारे घोंसले क्यों उजाड़ता है। अरे! इसे समझाने वाला कोई नहीं?

प0 ज0 चिड़िया : कैसा अजीब स्वभाव है इन्सान का! कोई एक इन्सान चाव से, मंदिर, इमारतें गिरजे या मस्जिदें बनाते हैं तो कोई दूसरे इन्सान उन्हें तोड़-फोड़ देते हैं, जला देते हैं।

दू0 ज0 चिड़ा : अजी, मैंने अपने हाथों, अपने ही घरों को जलाते देखा है।

चाची चिड़िया : *(परेशान सी होकर)* लेकिन यह ऐसा क्यों करते हैं?

चाचा चिड़ा : *(हंस कर)* अकल की कमी और क्या!

चुकचू चिड़िया : वाकई? पर मैंने तो सुना था कि सभी जीवों से, इन्सानों में सबसे ज्यादा अकल होती है!

चाचा चिड़ा : *(हंसकर)* हांऽऽ होती है। पर उसका इस्तेमाल ठीक-ठीक नहीं करते नहीं! लालच और अहंकार में फंस कर देवता बनने की बजाए दुष्ट बन कर रह जाते हैं। अरे! यह अपनी ज़ात का भी सत्यानाश करते हैं और दूसरे जीवों का भी। इन्होंने तो सारी दुनिया का सत्यानाश कर डाला है अपनी मूरखता और सुआरथ से। अरे! जंगलों के जंगल काट डाले हैं इन्होंने। भला बताओ जंगल खतम करेंगे तो हम पशु-पंछी कहां रहेंगे। सारी दुनिया की आवोहवा ही जीने रहने लायक ही न रहेगी।

प0 ज0 चिड़ा : यह लोग वन के पशु-पक्षियों का शिकार भी करते हैं और हमें तो भून-भून कर खाते हैं।

प0 ज0 चिड़िया : और इनके आपस के झगड़े, लड़ाइयां! तौबाह, तौबाह! अरे! छोटी-छोटी बातों पे कैसे-कैसे झगड़े करतेहैं आपस में!

प0 ज0 चिड़ा : ओ येस! याद है चुखचुखी, इस इलाके के उस सामने के घर में जब हमने घोंसला बनाया था, एक नए व्याहे नौजवान लड़के-लड़की के कमरे की परछत्ती के ऊपर! कभी तो रात भर ऐसी मीठी-मीठी बातें करते आपस में, एक दूसरे को चूमते न थकते! और किसी रात छोटी-सी फिज़ूल-सी बात पर आपस में यूं बहसें, झगड़े करते जैसे एक दूसरे के दुश्मन हों। हम दोनों को हैरानी भी होती और हंसी भी आती।

सभी चिड़िया : *(हंसती हैं)* हां! हां! हमने भी देखा है। इन लोगों का झगड़ा आपस में होता है और शूऽ! शूऽ! करके हमें बाहर निकालते हैं! हां! हां!

चाची चिड़िया : याद है चूचकी के लाला जी, एक बार हमने, एक अदालत में, एक जज साहब की कुरसी के ऐन पीछे की एक फ़ाइलों की आलमारी के ऊपर घोंसला बनाया था।

चाचा चिड़ा : *(याद करते हुए)* हैं? हां। *(हंसकर)* याद आया। अरे। क्या नज़ारे देखे हमने। हंस-हंस कर हमारे पंख, उल्टे-पुल्टे होने लगे थे। उस अदालत में आमने-साममे दो कमरे थे। एक था शादी करवाने का और दूसरा था तलाक करवाने का। कभी-कभी तो ऐसा भी होता कि *(हंसकर)* कोई पहली-पहली शादी करवाने वाला नासिखिया, अनाड़ी, भोली-भाली सूरतों वाला, झम झम पोशाकें पहनें चोरी-चोरी से शादी रजिस्टर करवाने के चाव में, भूलचूक से तलाक दिलवाने वाले कमरे की क्यू में खड़ा हो जाता और गलती मालूम होने पर शर्माता, झेंपता हंसता हुआ कमरे से बाहर निकलता।

सभी चिड़िया : *(चुह चुहु चुहु)* हंसती हैं।

चाचा चिड़ा : एक दिन एक खुबसूरत नौजवान हंसमुख जोड़ी हाथ में हाथ पकड़े, आंखों में प्यार का नशा लिए शादी करवा के कमरे से गई। और तुम मानों या न मानों बीवियों, वही जोड़ी दो महीने बाद आंखों में एक दूसरे के लिए नफ़रत लिए, जली भुनी, एक दूसरे को कोसती हुई, तलाक लेकर कमरे से बाहर निकली।

सभी चिड़िया : च् च् च्, च् च् च् च् च् च्! हाय तौबाह!

चाची चिड़िया : सच्ची उस दिन तो मैं इतनी उदास थी कि बस कड़वा करेला खाने को जी चाहता था। अरे, इतनी खूबसूरत जोड़ी, जैसे किसी देवी-देवती की मूरतें और गुस्से में आए यूं दीखते थे जैसे दान्त दिखाते, भौंकते, दो कुत्ते।

चाचा चिड़ा : अरे अरे, क्या नज़ारे देखे थे हमने अदालत में, बाप-बेटे, भाई-भाई, बिजनेस मैनों और धर्मों के रखवालों के। क्या झगड़ों और मार काट की वारदातें हमने देखी-सुनी वहां पैसे के लिए, ज़ायदाद के लिए।

चाची चिड़िया : और जो सरकारें चलाते हैं उनके आपसी मुकदमें चलतें भी हमने देखे।

चाचा चिड़ा : चोरी डाके, स्मगलिंग और एक दूजे के ए कत्ल के मुकदमें!

सभी चिड़िया : सचमुच! शेम, शेम! च् च् च्!

चाची चिड़िया : तौबाह मेरी! जितनी धोखेबाज़ी, झूठ, मनकारी खून-खराब इन्सान करते हैं, रब्ब की कसम! दुनिया का और कोई जीव नही करता।

प0 ज0 चिड़िया : क्यों? शेर, चीते, सांप, और जंगल के दूसरे जीव जानवर भी तो मारते-काटते हैं!

चाचा चिड़ा : अरे नहीं! वह तो जब जीवों पशुओं को भूख लगती है तब, या जब उन्हें इन्सान बेमतलब अपने बहशी, शौक, लालच, स्वारथ के लिए छेड़ता है, उन पर वार करता है तब।

चिरकी : इन्सान अपना भी नुकसान करते हैं और दूसरे जीवों का भी। भला इन्हें कोई अक्कल क्यों नहीं सिखाता?

चाचा चिड़िया : अरी बिटिया, सीखना चाहें तो अक्कल तो यह हम चिड़ियों से भी सीख सकते हैं।

ती0 ज0 चिड़ा : उस दिन मैंने रेडियो पर सुना कि अब तीसरी बड़ी जंग छिड़ने वाली है।

सभी चिड़िया : तीसरी जंग? च् च् च् उफ़!

चिरकी का पति : तो क्या इससे पहले दो बड़े जंग किए जा चुके हैं।

ती0 ज0 चिड़ा : रेडियो पर एक आदमी कह रहा था कि अगर अबकि जंग छिड़ी तो सारी दुनियां ही तबाह हो जाएगी कहना था कि इन्सान ने ऐसे भयंकर हथियार बनाए हैं कुल दुनियां चन्द मिनटों में खतम हो जाएगी।

सभी चिड़िया : क्या तीसरी जंग में हम सब भी मारी जाएंगी?

चाचा चिड़ा : अरे! तुमको पूछता कौन है। तुम क्या हो! चूं चूं बोलने वाली छोटी-छोटी मासूम चिड़ियां। लेकिन मेरा ख़याल है कि सारी दुनियां के तबाह हो जाने

का डर और खतरा ही इन्सान को अकल से सोचने पर मजबूर करेगा। दुनियां में दुनियां का भला भविष्य सोचने वाले इन्सान भी हैं।

चाची चिड़िया : *(प्रार्थना भरे स्वर में)* हे भगवान! सभी इन्सानों को ऐसी अकल दे कि वे, अपना भी भला करें और दूसरों का भी।

चाचा चिड़ा : *(चिरकी को उदासी में डूबे देख)* भई, फिलहाल तो हमें इस उदास, निराश छोटी-सी प्यारी-सी जोड़ी के बारे में सोचना है, इनका घोंसला तोड़कर फेंक दिया गया है।

पहली चिड़िया : चिन्ता न करो चिरकी। मेरे बच्चे दो-तीन दिन में घोंसले से उड़ कर बाहर पेड़ पर जाने वाले हैं। अरे, कितने सुन्दर पंख निकले हैं, मेरे बच्चों के, बिल्कुल रेशम से। तुम हमारे घोंसले में अंडे दे देना।

दू0 ज0 चिड़ा : नहीं री। यह बासी घोंसले में अंडे क्यों देंगे। हम सब मिल कर इनकी मदद करेंगे। कोई अच्छी-सी एकान्त सी जगह ढूंढ़ कर, इनका सुन्दर सा घोंसला बना देंगे।

चिरकी का पति : आप सबका बहुत-बहुत शुक्रिया। लेकिन चिन्ता न करें। यह मेरी चिरकी यूं ही घबरा गई है। आपकी हमदर्दी से हमारी हिम्मत बढ़ गई है। हम फिर से अपने आप ही घोंसला बनाएंगे। चल री मेरी चिरकी! चलें घोंसला बनाने।

चाचा चिड़ा : शाबाश! क्या बात है! चिड़िया ज़ात हिम्मत हारने वाली ज़ात नहीं। अपने-अपने आप ही बनाएंगे अपना घोंसला।

सभी : हां, हां, जरूर। और हम सब भी तो तुम दोनों के साथ हैं।

चाचा चिड़ा : चिड़िया ज़ात ज़िन्दाबाद!

सभी चिड़िया : ज़िन्दाबाद! चूऽ चूऽ चुख!

(सभी चिड़िया खुशी और मान से चिरकी और उसके पति की ओर देखते हैं)

चिरकी का पति : *(सभी से)* तो चलते हैं! नमस्ते चाचा जी! नमस्ते चाची जी।

चाचा-चाची : नमस्ते। जीते रहो।

चाची चिड़िया : बुरा न मनाओ बिटिया तो एक बात कहूं चिरकी?

चिरकी : आपकी बात का बुरा क्यों मनाऊंगी। कहिए न!

चाची : बेटी, लैंपशेड, ज़रा खतरनाक जगह होती है घोंसला बनाने के लिए। कांच का शेड कभी ज़्यादा गरम हो जाता है, तो अंडे सहजे नहीं पकते। बिजली है न आखिर। कभी शॉक भी लग सकता है। मेरे साथ एक दुर्घटना हो चुकी है एक बार।

प0 ज0 चिड़िया : एक और जगह भी ख़तरनाक होती है चाची। भला बूझो तो कौन सी?

चिरकी : *(घबरा कर)* कौन सी।

प0 ज0 चिड़िया : छत पर लगे बिजली के पंखे की टोपी। पंखे की घूमती फलियों पर बैठो तो उसके चलने से झूला झूलने का मज़ा तो बड़ा आता है, लेकिन....

दू0 ज0 चिड़िया : बस, बस, नाम न लो जी बिजली के पंखे का मैं तो मरते-मरते बची थी एक बार।

प0 ज0 चिड़ा : हमसे भी ऐसी ग़लती हो गई थी एक बार बिजली के पंखे की टोपी में घोंसला बनाने की। अंडे दे दिए इन्होंने। पर बाद में क्या मुसीबत आएगी इसका अन्दाज़ा नहीं था। जब अंडे फोड़ कर बच्चे निकले तो बस उड़ने की उतावली करने लगे। उड़-उड़ कर जा बैठे पंखे की फलियों पर। जब कभी पंखा चले तो झूले झूलें। लेकिन जब तेज़ पंखा चलने लगे तो घबरा कर फलियों से उड़ने लगे। एक तो बेचारा पंखे की फली से कट कर नीचे गिरा और वही ख़तम हो गया। तभी किसी घर वाले की नज़र ऊपर पड़ी तो पंखा बन्द किया।

सभी चिड़िया : च् च् च्!

चाची चिड़िया : सिरी राम! सिरी राम! दूसरे दो तो बच गए न!

प0 ज0 चिड़ा : हां चाची!

चाची चिड़िया : लाख-लाख शुकर है। हम लोग भी तो कई सारे मूरखता के काम करते हैं। सिर्फ इन्सान ही तो मूरखता नहीं करता।

दू0 ज0 चिड़ा : हम इन्सान की नासमझी की और अज्ञानता की बात नहीं कर रहे थे। हम तो उसकी स्वार्थी, विनाशकारी प्रवृत्तियों की बात कर रहे थे।

चाचा चिड़ा : एक न एक दिन, और यही प्रार्थना है कि इन्सान जल्दी ही सीखे कि एक दूसरे के संग, कुदरत और पूरी कायनात के साथ दोस्ती समझदारी और सर्व हितकारी से जीने ही में ही सुख और शान्ति है। *(ज़रा-सी खामोशी)* लो देख तो! बूंदाबांदी कैसे एकाएक बन्द हो गई!

प0 ज0 चिड़िया : *(हल्की धूप में चमकती हरियावल को देखते हुए)* अहा। बारिष के बाद कितनी मीठी-मीठी धूप खिली है!

चाचा चिड़ा : सुबह तो पंख, साफ करने की फुरसत ही नहीं मिली थी। अब अपन तो यही बैठे-बैठे पंख साफ़ कर लिए हैं। चलें अब कहीं दाना चुगने उड़ चलें। राम राम!

दू0 ज0 चिड़िया : और मेरे नन्हें तो भूख से चिल्ला रहे होंगे।

ती0 ज0 चिड़िया : *(हंसकर)* तेरे तो सिर्फ़ चिल्ला ही रहे होंगे। पर मेरे तो, घोंसले से उछल-उछल कर बाहर गिर रहे होंगे। ठहर न ज़रा सा। चाचाजी, चाचीजी से मिल कर सभी अपना सामूहिक चिड़िया गीत गाकर फिर चल पड़ेंगे अपने-अपने कामों पर। शुरू कीजिए चाचा।

चाचा चिड़ा : *(कुछ झेंपकर हंसता है)* मेरा तो आज गला खराब है। कल, उधर, सामने वालों की रसोईं में, बोतल में कुछ ख़ुशबुदार-सी चीज़ पड़ी देखी। चोंच घुसेड़ दी। मिरचों का अचार निकला। कल से ठीक सुर में बात ही नहीं हो रही।

चाची चिड़िया : इकट्ठे गाने में पता ही नहीं लगना, कौन सुर में है और कौन बेसुरा है। अब शुरू करो जी।

चाचा चिड़ा : तो हो जाए फिर! (खांस कर घसीटी हुई आवाज में गाता है-)

सभी मिलकर : चुख चुख चूँऽ चिर चिर।
फुर फुर चूँ चिख चिर चिर
चुर चुर चूँऽ चिख चुर चिर
चीं! चीं! फुर फिर, चुख चिर!

सभी चिड़ियां गीत गाती हुई एक के बाद एक करके अपने-अपने ठिकानों की ओर उड़ने लगीं। और मैं कब गहरी नींद में सो गई, पता भी नहीं चला......

एकाएक नींद से जागी तो बूंदों की किसी अनाड़ी तबलची के गलत रियाज़ सी टिप तिप ता तुप बन्द हो चुकी थी। कमरे में चौमासे के बाद की धूप की गरमी थी। खिड़की के बाहर आस्मान बिन बादल था। बोगन विला बेल के लाल फूल और हरी पत्तियां, घुले हुए, चमक रहे थे। औरऽऽ चिड़ियां! एक भी नज़र न आई!

●

चेतावनी

(एकांकी नाटक)

समर्पित

'पनें' जुहू आर्ट थियेटर' के सभी प्रिय कार्यकर्त्ताओं को जिनके संग-संग उमंग और आदर्श पूर्ण कुछ सामूहिक, क्रियात्मक, सुन्दर बरस बिताएँ।

चेतावनी

एकांकी नाटक

परदा उठता है, सुबह आठ नौ बजे की रोशनी में, सब्ज़ी-भाजी बेचनेवाले भय्याजी, तहमन कुरता बास्कट पहने, सर पर लपेटे अंगोछे के ऊपर भाजी की टोकरी उठाए, थियेटर हाल के बीच में से गुजरते हुए स्टेज पर जाती, साइड की सीढ़ियां चढ़ते दिखाई देते हैं।

स्टेज पर लकड़ी के बने हल्के जंगले के अन्दर एक छोटा आंगन सा है जिसमें एक तिपाई, दो-तीन कुर्सियां हैं। आंगन के किनारों पर फूल पत्तों के चार पांच गमले सुन्दरता से रखे हैं। सुबह की रौशनी सभी चीज़ों पर पड़ रही है।

आंगन के पिछले भाग में किसी मध्यवर्गी मकान के, परदों से ढके, दो दरवाज़े।

भय्याजी आंगन का फाटक खोल, अन्दर आते हैं। दरवाज़े पर लगा बटन दबाते हैं। आधे मिनट के बाद, ड्रेसिंग गाऊन पहने, चश्मा लगाये, अधपके बालों वाली, शांत-प्रसन्न मुख एक महिला परदा हटाकर देखती है।

भय्या : *(खिले मुंह)* नमस्ते मां जी।

महिला : *(मुस्कुराकर)* राम-राम भय्याजी, देस हो आए? कब लौटे?

भय्या : कोई पंदरह-बीस दिन हुए मां जी। टरेन में ही फलू सा हो गया था। मुश्किल से यहां अपनी खोली में पहुंचा। कितने दिन बुखार में ही पड़ रहा। अब चार-पांच रोज से धन्धा करने की ताकत आई है।

महिला : *(सहानुभूति के स्वर में)* ओ हो, मैं भी सोच रही थी आप कुछ कमज़ोर दीख रहे हैं। कुछ ताकत की चीज़ खाईये।

भय्या : पीता हूं जी, आध पाव दूध रोज।

महिला : अबकि तो काफ़ी देर लगा आए घर पर। सब ठीक है न घर पर?

भय्या : जी सब ठीक है, सब आप लोगों की, ओर *(दोनों हाथ ऊपर उठाकर)* ऊपर वाले की दया है।

महिला : खेती बाड़ी ठीक है न....

भय्या : *(प्रसन्न मुख)* हां जी। आपकी दया से बेटी की शादी भी बड़ी अच्छी तरह से हो गई।

महिला : बेटी की शादी भी हो गई। वाह, बड़ी अच्छी बात है। बधाई हो।

भय्या : *(प्रसन्न मुख)* बस जी, ऊपरवाले की दया है और आप ग्राहक लोगों का आसीरवाद।

महिला : दामाद कहां से ढूँढ़ लिया इतनी जल्दी? आप तो डेढ़ या दो महीने के लिए गए थे न गांव?

भय्या : *(प्रसन्न मुख)* जी हां।

महिला : *(भय्याजी की तरफ देखते हुए)* भय्याजी, क्या उमर होगी आपकी?

महिला : *(कुछ संकोच से)* ठीक-ठीक तो मालूम नहीं। यही होगी कोई पच्चीस और तीस में। छोकरा था जब यहां आया था। एक बाल भी न था दाढ़ी मूंछ का तब तो। तभी से कमाना शुरु किया। पहले किसी और की चाकरी की। फिर कहीं अपना धंधा शुरू किया। पहले पहले के दिन तो बहुत मुश्किल थे। चने खाकर फुटपाथ पर सोया करता था। अब पिछले तीन चार बरस से कहीं खोली मिली से रहने, सोने को।

महिला : आपके कितने बच्चे हैं भय्याजी?

भय्या : *(प्रसन्न मुख)* जी भगवान की दया से दो बाबा है और एक बेबी है।

महिला : और बेबी की क्या उमर है?

भय्या : *(स्वाभाविक प्रसन्न मुख)* जी यही कोई चार बरस की रही होगी।

महिला : *(सुनते ही यूं सुन्न हो जाती है जैसे उसे कोई बिजली का शॉक लगा हो पर भय्याजी, पहले सी सहजता से टोकरे में पड़ी कुछ इधर से उधर हुई सब्जियां ठिकाने लगानें में व्यस्त है)*

महिला : *(अभी भी अचंभे से)* चार बरस की है आपकी बेटी? चार बरस की बेटी की शादी?

भय्या : *(स्वाभाविक विनम्रता से)* हां मां जी। हमारे हमारे में होती है। इससे भी छोटी लड़की की शादी होती है।

महिला : *(शॉक से, निकलने की कोशिश में)* हूं।

भय्या : हमारे हां सादी का मामला बहुत विकट, बहुत मुश्किल हैं मांजी। जमीन जायदाद, बिलांदरी, जात सभी कुछ देख कर ही सादी करना होता है।

महिला : किसकी ज़मीन जायदाद?

भय्या : मतलब लड़का वालों के पास गाय भैंस जमीन जायदाद क्या है और हम लड़की वाले, उनको क्या दे सकते हैं। लड़की वालों को बहुत कुछ देना पड़ता है तब जाकर सादी होती है।

महिला : आपने क्या दिया?

भय्या : *(इत्मिनान औ गर्व से)* पांच हज्जार सादी से पहले दिये थे और अब सादी पर उससे भी ज्यादा खर्चा हो गया *(हाथों से दिखाते हुए)* इतना बड़ा गोनी गेहूं. असली घी के टीन और शक्कर ही कितने लग गए बारात को, तीन दिन खिलाने खिलाने में। फिर कपड़ों की जोड़ियां, बिस्तर, बरतन, सोने की दो कंठी, पांव की पैजनी, सभी कुछ दिया।

महिला : क्या नाम है आपकी बिटिया का भय्याजी?

भय्या : *(मुस्कुराकर ऐसे देखते हैं जैसे दूर-दूर गांव में, रहती प्यारी नन्हीं बेटी की सूरत आंख की पुतली में नाच उठी है)* बिटिया का नाम है मैना।

महिला : मैना! मैना पंछी! मीठी भोली बातें करने वाली मैना।

भय्या : *(खुश होकर:)* वह पंछी की तरह ही बोलती है मां जी। अभी भी तुतलाती है लाड़ से।

महिला : और आपके दामाद की क्या उमर है?

भय्या : उसकी भी तीन चार बरस की रही होगी।

महिला : दामाद का नाम क्या है?

भय्या : दामाद का नाम? नाम तो मैं भूल ही गया।

महिला : आपकी बेटी को पता है कि उसकी शादी हो गई?

भय्या : हां जी, क्यों नहीं, उसी की तो बारात आई थी।

महिला : तो आपकी बिटिया मैना, ससुराल चली गई?

भय्या : नहीं मां जी, अभी तो दो तीन बरस बाद गौना होगा। उसके दो तीन बरस बाद डौना होगा। तब कहीं बिटिया अपने ससुराल जाएगी।

महिला : आपके गांव में स्कूल है?

भय्या : हां जी स्कूल है, लड़कों का भी और लड़कियों का भी। पहले नहीं था अब है।

महिला : आपका दामाद भी स्कूल जाता होगा।

भय्या : हां जी।

महिला : आपका गांव कितना बड़ा है?

भय्या : गांव तो बड़ा है हमारा मां जी, सरयू जी नदी के किनारे, पच्चास परगने का। दो ठो इस्कूल है, एक बड़ा पुलिस इस्टेशन है। अब तो रेलवे स्टेशन भी है, सब कुछ है।

महिला : अच्छा *(कुछ सोचकर)* तो, भय्याजी, अब बिटिया के गौने के टाइम पर भी लड़के वालों को कुछ देना होगा?

भय्या : *(बिना किसी शिकायत से)* हां जी, गौने के टाइम पर भी चार-पांच हज्जार रुपया और गहना बहिना, धोती कुरते के जोड़े देने पड़ेंगे। आगे फिर डौना के टाइम पर भी जो हमार समधी कहेंगे सो देना होगा। तब ही हमार बिटिया अपने ससुराल जाने लायक होगी।

महिला : *(दु:ख और हैरानी से)* इतना पैसा आप समधियों को शादी में देंगे। यानी आपकी सारी कमाई?....

भय्या : जी हां सरकार, पर हमार एक ही तो बेटी है। हमार तरफ बेटी की सादी बहुत विकट काम है मांजी और भगवान की दया से हम कर पाए हैं।

महिला : *(सुनते और सोचते हुए)* हूं। आपके समधी क्या करते हैं।

भय्या : *(गर्व से)* वह अपनी जमीन जायदाद वाले बड़े आदमी हैं। अपनी ही जात-बिरादरी के हैं।

महिला : *(कुछ झिझककर)* भय्याजी आपको मालूम है न कि आजकल तो छोटी लड़कियों की शादी के खिलाफ कानून पास हो चुके हैं।

भय्या : *(अब कुछ अधीर होकर)* मेमसाहब जी, तो हम कहां अपनी बेटी को अभी ससुराल भेजेंगे। वह तो दो तीन बरस के बाद गौना होगा, फिर डौना होगा। फिर पंदरह सोलह बरस की बेटी ससुराल जायेगी और कानून फानून क्या कर लेगा। पुलिसवाले भी तो गांवों के हैं। उनको तो पैसा चाहिए। वह खुद भी तो अपनी बेटियों की ऐसे ही शादियां करते हैं।

महिला : फिर भी, इतनी जल्दी क्या थी भय्याजी। बिटिया पढ़ लिख कर जरा बड़ी हो जाती तब भी तो आप सगाई ब्याह कर सकते थे।

भय्या : *(अधीरज पर कंट्रोल पाते हुए)* मां जी हमारी जात बिरादरी में बाद में, लड़के मिलने मुश्किल हो जाते हैं। अभी अच्छा वर घर मिल रहा था तो शादी कर दी।

महिला : समधी को आप अच्छी तरह जानते हैं?

भय्या : हां जी, क्यों नहीं, उनकी यहां कोयले की दो ठो दुकाने हैं अपना घर है। उधर गांव में जमीन, गाय, भैंस है। यही'तो उनके साथ बात पक्की की।

महिला : *(फिर कुछ झिझककर)* भय्याजी,इन्सान की नीयत का कभी सौ फ़ीसदी भरोसा नहीं किया जा सकता। भगवान न करे अगर आपके समधियों को कहीं और से ज़्यादा रुपिया, दहेज मिले, और वह अपने लड़के का सम्बन्ध आपके घर से तोड़कर कहीं और जोड़ ले तो?

भय्या : *(ऐसे विकट सवालों से उठी झुंझलाहट पर काबू पाकर जरा मुस्कराते हुए)* मांजी हमारी जात, बाहमन की जात से भी ऊंची जात है। हमारी जात बिरादरी में ऐसे हो ही नहीं सकता।

महिला : बाहमन से भी ऊंची है आपकी जात? कैसे?

भय्या : *(गर्व से मुस्कुराकर)* हां जी....हम केवट है केवट।

महिला : केवट? यानी कि नदी में नाव चलाने वाले मल्लाह?

भय्या : हां जी। हम केवट ही तो भगवान रामचन्द्र सीताजी और लक्ष्मन जी को सरजू नदी के पार ले गए थे। हम, यानी हमारे पुरखे।

महिला : अरे हां। याद आ गई रामायण की कथा। तो आप केवट है?

भय्या : *(गर्व से)* हां जी....बहमन से भी ऊंचे। हमारी जात को भगवान ही से आदर मिला हुआ है हमारी जात में चालाकी धोखा हो ही नहीं सकता। अगर लड़के वाले ऐसी हरकत करेंगे तो उनको लड़कीवालों की दी हुई एक-एक पाई भरनी पड़ेगी सब बिरादरी के सामने। *(इस बातचीत से कुछ उकताकर बात खतम करने के लिए)* आज कुछ सब्जी भाजी नहीं लेंगी मांजी?

महिला : सब्ज़ी तो मैं कल शाम बाज़ार से ले आई थी। आप आएंगे पता नहीं था न।

भय्या : मां जी आप ही से बोहनी कर रहा हूं।

महिला : *(हंसकर)* अच्छी बात है, आप, यह बैगन, यह छोटी फूलगोभी एक ककड़ी

और दो निम्बू दे दीजिए और थोड़ा अदरक और धनिया बस। *(आवाज़ लगाती है)* नागराज, सब्ज़ी के लिए थाली लाना.......

(थाली हाथ में लिए नागराज नौकर आंगन में आता है। लकड़ी से लेकर भय्याजी छोटे-बड़े वज़नों से, सब्ज़ी तौलते हैं)

नागराज : वजन तो बराबर करो, देखो, कांटा तो कितना टेढ़ा रखा है।

भय्या : *(लकड़ी का कांटा सीधा करते कुछ तेज स्वर में)* तेरी जबान हमेशा चलेगी। सीथा ही तो है। बस मां जी?

महिला : आज इतना ही। कितने पैसे हुए?

भय्या : *(थाली में रखी सब्जी को गिनते हुए)* दो, और डेढ़ और निम्बू का एक, साढ़े तीन रुपये हुए।

महिला : *(तिपाई पर पड़ा बटुआ खोलकर दस का नोट देती है)* छुट्टा है न।

भय्या : *(नोट लेकर)* देखता हूं, *(भय्याजी कमीज़ की जेब और वास्केट के बाहर अन्दर, ऊपर नीचे, कितनी छोटी-बड़ी जेबों में से और धोती की गांठ में से चवन्नी, अठन्नी, पैसे, रुपये का छुट्टा निकालते हैं)* यह लीजिए।

महिला : (हल्का हंसकर) पाकेट तो बहुतसी सिलवा रखी है भय्याजी।

भय्या : *(झेंपते है, हंसते हैं)* अब पैसा और कहां रखें मांजी। यहीं तो संभालकर रख सकते हैं ग्राहकों से लेने देने के लिए। अरे नागराज! यह टोकरा तो उठवा। आज तो इस लम्बी बातचीत में दो तीन ग्राहक छूट गए मांजी। पहले ही कर्जे के मारे घाटे में हूं।

(नागराज भय्या का टोकरा उठाने में मदद करता है।)

महिला : कर्जे में? कैसे?

भय्या : शादी का सारा खर्चा अपने पास से थोड़ा ही दिया है। मांजी जब बाबा लोग की सादी करूंगा तो वसूल करके कुछ तो उतार ही दूंगा। लेकिन अभी तो कर्जा सर पर है न। सादी के बाद घर में बीमार औरत को अकेली छोड़कर जल्दी भाग आया इधर। यहां कुछ कमाई तो होगी। अच्छा नमस्ते मां जी। *(उदास सा मुंह लिए भय्याजी जाते हैं। महिला और नागराज उसे देखते हैं)* नागराज सब्ज़ी लेकर अन्दर चला जाता है। महिला भय्याजी की तरफ गंभीर सोच से देखती, धीरे से कुरसी पर बैठ जाती है, दूर बाहर और अन्तरतम में डूबी सी....

महिला : *(धीमी आवाज़ में)* चार बरस की बहू। चार बरस की?......

(भय्या की अदृश्य सी धीमी आवाज़) हमारी जात बिरादरी में होती है मांजी, हमारी जात बिरादरी में......

(भय्याजी की आवाज़ और धीमी पड़कर गुम हो जाने के साथ ही स्टेज पर रौशनी धुंधली हो जाती है। धीमी से हल्की ऊंची होती ग्रामीण शहनाई और ढोलक के, करीब आते सुर। स्टेज के दाएं बाएं प्रवेश द्वार में से परछाईयां सी दाखिल होने लगती है। शादी के कपड़ों में ग्रामीण स्त्री-पुरुषों-बच्चों की

परछाइयां महिला को छिपा देती है। दूल्हा के वेश में सजाए सर पर मोर मुकुट पहनाए कंधे पर सो रहे दूल्हे को उठाए समधी, द्वार की चौखट पर खड़े हैं साथ में बाराती।

दुल्हन के पिता समधी के पांव धोते हैं फिर भाग कर रुपयों की थैली लाते हैं और समधी को भेंट करते हैं। समधी थैली का हाथों से वज़न कराते हैं।

लड़की के पिता : पूरे पांच हज़्ज़ार हैं चौधरीजी। गिनवा लीजिए।

समधी : हां हां, चिन्ता मत कीजिए।

समधी खुश होकर थैली, कुरते के अन्दर की, छुपी जेब में डालते हैं। बाकी सभी इस तरफ, उस तरफ के लोग भी बड़ी तसल्ली से इस खरीद फ़रोख्त को देखते हैं।

फिर सीता-सी सजी, कंधे पर सो रही नन्हीं दुल्हन लिए पिता आते हैं। चौकियां और यज्ञकुंड रख दिया जाता है। दोनों समधीवेदियों पर बैठ जाते हैं दूल्हा दुल्हन को कंधों पर सुलाए।

पंडित, उल्टे सीधे मंतर पढ़ रहे हैं, लम्बे-लम्बे मंत्र। दूल्हा दुल्हन तो सो ही रहे हैं। फेरों के समय अगर उन्हें नीचे खड़ा करने की कोशिश की गई है तो वे नींद से जगाए जाने पर रोए हैं। उनके मुंह में कुछ मीठा डाल, पुचकाकर उनसे अधनींद में काम लेने की कोशिश की गई है। दोनों तरफ़ के लोग भी आधी नींद में हैं। कभी उंघते हुए जागने की कोशिश में कभी इस ख़ुशी के मौके पर इधर-उधर देखते मुस्कुराते हैं। फिर ऊंघने लगते हैं। एक दो, तो ख़र्राटे भी ले रहे हैं। यह आधी सुशुप्त अवस्था, मानों सारे देश की अधिकतर जनता की सुशुप्त अवस्था का, अज्ञानता, अप्रगति, नीमजड़ता की अवस्था का, प्रतीक है।

पृष्ठभूमि में एक गीत, धीमे लेकिन स्पष्ट शब्दों में, किसी ब्याह गीत की धुन पर गाया जा रहा है-

रूपिया दो तो बेटी लेंगे
वरना नहीं, नहीं।
नहीं नहीं जी, बिल्कुल नहीं,
गाय भैंस और बहू बेटी में
कोई फ़रक नहीं।
रूपिया दो तो बेटी लेंगे
वरना नहीं नहीं।
गाय जनेगी बछड़ा बैल,
तभी तो खेत रहेगा।
बहू जनेगी पूत
तभी तो वंश चलेगा

वरना नहीं, नहीं।
रूपिया दो तो बेटी लेंगे
वरना नहीं, नहीं।
सदियों की यह रीत सनातन
टूटे कभी नहीं।

नीम अंधेरे में सभी अर्ध सुशुप्त परछाइयां धीरे-धीरे गायब होती है और महिला का चेहरा अब नीम धुंधला फोकस में आता है।

महिला, गंभीर सोच भरी आंखों से, पहले की ही तरह देख रही है।

पृष्ठभूमि में महिला की उदास, प्रश्नसूचक आवाज़-'यह कौनसी शताब्दी है? और कौन-सा बरस है?'

परछाइयों का कोरस आगे बढ़ कर कहता है ''हम तो निरक्षर है, हम अंधकार में हैं। हम नही जानते यह कौन सी शताब्दी है।''

स्टेज पर अंधेरा

स्पॉट लाइट अब उजला कुरता पाजामा पहने, एक युवक पर पड़ती है। मानों वह किसी सभा में बोल रहा है-

युवक : यह उन्नीस सौ पच्चासी है। यह नौजवान अंतरराष्ट्रीय बरस है। हमें अपने देश अपने समाजको आगे, इक्कसवीं सदी में ले जाना है। हमें अपने देश से ग़रीबी, निरक्षरता, बेकारी दूर करनी है। यह प्रत्येक नौजवान, प्रत्येक देशवासी का फर्ज़ है।

स्पॉट लाइट अब युवक से हटकर-नन्हें बच्चों को कंधों पर सुलाए, फेरे लेते समधियों पर जाती है।

महिला कुर्सी पर बैठी शांत आवाज़ में-''भय्याजी, अगर आपकी बिटिया पढ़-लिख कर कुछ सयानी हो जाती और आप लड़का और लड़की की राय लेकर उनकी शादी करते तो......

भय्या : नन्ही बेटी को कंधे पर बिठाए *(फेरे लेते हुए, कुछ नाराज़गी से)* नहीं-नहीं। हमारी जात बिरादरी में ऐसा नहीं हो सकता मां जी।

स्पॉट लाइट महिला से हटकर स्टेज पर खड़ी दो शहरी नवयुवतियों पर जाती है।

एक नवयुवती : तो भी हमें धीरज से प्रयत्न करते ही जाना है। भारतीय नारी को मानसिक, शारीरिक, आर्थिक गुलामी से आज़ाद होना ही है। भारतीय महिलाएं हर क्षेत्र में आगे बढ़ रही है। यह दस बरस नारी मुक्ति के लिए घोषित किये गये हैं युनाइटेड नेशंस द्वारा।

दूसरी नवयुवती : हां, लेकिन अभी अवस्था बड़ी निराशाजनक है। देश की आज़ादी के बाद भी है अभी तक कितनी स्त्रियां, साक्षरता से स्तर पर आई हैं, तुम्हें मालूम है?

पहली युवती : हां थोड़ी बहुत। केरल में बहत्तर प्रतिशत साक्षरता आई है। महाराष्ट्र में सैंतालिस प्रतिशत। पंजाब, कश्मीर, हिमाचल में भी साक्षरता बढ़ी है।

दूसरी युवती : लेकिन उत्तर प्रदेश, बिहार, ओड़िसा, मध्यप्रदेश से बड़े प्रांतों में साक्षरता अभी

सोलह प्रतिशत से भी कम है। गरीबी, निरक्षरता और अंधी परम्परा का आपस में गहरा सम्बन्ध है।

पहली युवती : ठीक कहती हो। पिछले महीने राजस्थान में सैकड़ों ही बाल विवाह हुए। तुमने अखबारों में पढ़ा ही होगा। सभी बच्चों की उमर एक दो या तीन बरस से ज़्यादा नहीं थी। दहेज के भाव भी खूब बढ़े चढ़े थे।

दूसरी युवती : *(हाथ में पकड़े अखबार से खबर दिखाते हुए)* मध्यप्रदेश के इंदौर शहर में, एक महीने के अंदर दस विवाहित-युवतियों ने अपने आपको जलाकर आत्महत्या की।

स्पॉट लाइट दोनों नवयुवतियों से हटकर बच्चों को उठाए फेरे लेते हुए ग्रामीणों पर पड़ती है, फिर स्टेज की दूसरी तरफ अपने पर कैरोसिन डालकर आत्यहत्या करती एक दु:खी युवती पर पड़ती है।

स्टेज पर अंधेरा

पहली पुरुष आवाज : अभी अंधकार है। देश में अभी भयंकर अंधकार है।

दूसरी स्त्री आवाज : अगर ज्ञान का प्रकाश, अज्ञान और स्वार्थ के अंधकार को नहीं मिटाएगा तो, अज्ञान और स्वार्थ का अंधकार, प्रकाश की टिमटिमाती ज्योति को बुझा देगा।

पहली पुरुष आवाज़ : हम, जब अपने से कमज़ोर को, अपने धन, जात-बिरादरी अपनी विद्या और शक्ति के बल से गुलामी के बन्धन में रखकर सोचते हैं कि इससे हमारा सुख और आराम बढ़ेगा, तो हम ग़लत सोचते हैं। हम अपने स्वार्थ के अंधकार में यह नहीं समझते कि अपने से कमज़ोर को ग़रीबी और अज्ञानता के बंधन में रखने से, हम ख़ुद भी अज्ञानता और स्वार्थ के जड़बन्धन में बंधे हुए हैं।

दूसरी स्त्री आवाज़ : ज़बरदस्ती दबाकर रखने से एक दिन अज्ञानता और गरीबी के अंधकार का लावा भयंकरता से फूटेगा और ज्ञान, विज्ञान, शक्ति, सत्ता सभी को, अपनी लपेट लेकंर भस्म कर देगा।

पहली पुरुष आवाज़ : महाभारत के समय से लेकर अब तक मानव इतिहास में ऐसे विस्फोट कई बार हुए हैं जो मानव सभ्यता की प्रगति, मानवता के सुख को कहीं पीछे धकेल कर ले गए हैं। खतरे का घंटा बज रहा है, सावधान!

तीसरी पुरुष आवाज़ : हम सावधान हैं। सरकार ने सर्व साधारण को शिक्षित करने के हक में, बालविवाह और दहेज के ख़िलाफ कानून पास किये हैं।

दूसरी स्त्री आवाज़ : नहीं, नहीं, कानून पास करना ही काफी नहीं। देश के प्रत्येक शिक्षित नागरिक को, देश के घर-घर में, ज्ञान के प्रकाश को उजाला ले जाने में, सहायक बनना होगा।

पहली पुरुष आवाज़ : हम सभी को मिलकर विश्वयुद्ध की तैयारियों के ख़िलाफ आवाज बुलन्द करनी होगी। ताकि सारे विश्व की जो अपार सम्पत्ति, ज्ञान, विज्ञान विश्व मानवता के ध्वंस के लिए खर्च की जा रही है वह विश्व भर की मानवता के

सुख और कल्याण के लिए खर्च हो।

दूसरी स्त्री आवाज : कौन से देश में कहा गया था, 'ईच वन, टीच वन' यानि हर शिक्षित देशवासी अपने अशिक्षित निरक्षर देशवासी को साक्षरता और विद्या की सहायता देकर उसे आत्यनिर्भरता और आत्मविश्वास का सुख दे। इस तरह वह सारा देश शिक्षित हुआ।

पहली पुरुष आवाज : इस आदर्श पर दृढ़ता से चलकर एक नहीं, अनेक देश शिक्षित और जागृत हुए।

स्टेज के पीछे से सामूहिक उदास पुकारें-

''हम अंधकार में हैं, हम देश के सत्तर-अस्सी प्रतिशत भारतवासी, गरीबी, अशिक्षा, अज्ञान परम्परा की भयंकर बीमारियों से पीड़ित हैं। हमें जीने का सुख चाहिए, हमें ज्ञान का प्रकाश चाहिए।''

अब लाइट, कंधों पर सो रहे, नन्हें दूल्हा दुल्हन को लिए, अर्थ विहीन फेरे ले रहे, भय्याजी और उनके समधी पर पड़ रही है। साथ ही साथ स्टेज पर दूसरी तरफ़ जलकर मही पड़ी युवती पर भी।

पीछे स्टेज के मध्य में कुरसी पर पहले की तरह गंभीर सोच में आंखे खोले, महिला की धुंधली छवि है।

महिला : *(धीमे स्वरों मे)* पर एक दिन, एक दिन वह सुनहली सुबह ज़रुर होगी, जब अज्ञानता, अंध परम्परा का स्वार्थ का अंधकार मिटेगा, ज्ञान का प्रकाश उदय होगा। लेकिन अभी कितनी देर है, और कितनी देर है?...

स्टेज पर धीरे अंधेरा होता है।

समाप्त

काव्य संग्रह

विषय-सूची

- विफल बसंत
- थोर कमलिनी
- अनदेखे शिखर और अन्य कविताएँ

विफल वसंत

'तुम, प्रिय की अनुकंपा मांगो,
मैं मांगूं, अपना समकक्षी,
साथ साथ उड़ सकने वाला
एक मात्र वह कंचन पक्षी!.....

भेंट,
सुकरात को,
पिया की ओर से-

१९४६-१९४८
५ किंग्ज़ मैनशन, चेलसी
लन्दन

क्रूर नियति

पूर्ण चन्द्र को छू सकने की
क्षमता न दे लहर बनाया
क्रूर नियति ने निज क्रीड़ा का
साधन क्यों है मुझे बनाया ?

सीमाहीन कामना देकर
मुझको क्यों बलहीन बनाया
क्रूर नियति ने निज क्रीड़ा का
साधन क्यों है मुझे बनाया?

मेरे हिय में अतुल स्नेह भर
प्रिय को निष्ठुर क्रूर बनाया
कह नियति क्यों निज क्रीड़ा का
साधन तूने मुझे बनाया ?

भर मुझमें अमरत्व पिपासा
और मृत्यु का द्वार दिखाया
क्रूर नियति तूने क्रीड़ा का
साधन क्यों है मुझे बनाया?

प्रतीक्षा

पलकें तेरी राह देखतीं,
आकुल से पंछी सी रहती,
बाट जोहतीं, झुकतीं जातीं।
जगते, तुझे न पाकर प्रियतम
झरझर नीरव नीर बहातीं।

तेरी पग-ध्वनि सुनने को यह
कान चकित चौंके हरिणों से,
बजी बीन पर जगे सर्प से
घन गाथा सुनते निर्धन से,
लालायित है हे प्रिय कब से!

यह अस्थिर, चंचल, विह्वल उर
स्मृति-धारा में डूब डूब कर,
अपना तन-मन प्रक्षालित कर,
जीवन का घट बूढ़-बूढ़ कर
पाता है प्रिय, अमित स्नेह सुख!

पूर्णिमा

छिन्न-भिन्न मेघ क्यों?
अनिल थम गया है क्यों?
सरित मुग्ध सी है क्यों?
गहन अंधकार क्यों
छुप रहा लजा के आज?

जगमगा गई लहर
निशीथ के प्रथम प्रहर,
स्पर्श से गई सिहर,
शुभ्र रश्मि चूम कर
क्यों विकल हुई है आज?

पुष्प वृक्ष घास-पात
पथ, मकान, पुल अवाक!
चैत्र पूर्णिमा की रात
नील नभ, धरा पे आज
चन्द्र कर रहा है राज!

निष्ठुर प्रिय

इस पीपल के पीले पत्ते
सारी रात खनकते,
नींद नहीं मेरी आंखों में
तिस पर यह बजते।

शीतल, मन्द मलय भी मेरे
उर की दाह बढ़ाती,
प्रिय की निष्ठुरता ही के तो
है यह राग सुनाती।

शुभ्र चन्द्र की शीतल किरणें
तन में आग लगातीं,
मेरी दीन दशा पर मानो
यह धीमा मुसकातीं

मुझे अँधेरी रात सुहाती
कोयल की कुहु! कुहु!
और करुण वंशी का रोदन
जो लाए आंसू।

कवि मन

मैं मातृहीन बालक का
सहमा सा उर हूं,
चहुँ और खोजती स्नेह सुख
उसकी आंखें हूं।

मैं सहनशील नारी की
मिटती चाहें हूं,
उसके नीरव आंसू में
जलती आहें हूं।

मैं वृद्ध ह्रदय की निर्बल
कोमल स्मृतियाँ हूं,
ढलते जीवन में उसकी
सुख इछाएं हूं।

मैं सोये शिशु की भीनी
भीनी मुस्काहट,
मैं उसके स्वप्न जगत की
परियों की आहट।

मैं युवक युवती की मिलती
पहली चितवन हूं
मैं उनके अस्थिर उर की
पागल धड़कन हूं ।

जीवन के प्रथम दिवस का
अचरज भी मैं हूं
संघर्ष मृत्यु से करती
श्वासें भी मैं हूं।

फागुन का आगमन

यह पहली रात फागुन की
बुला लाई सितारों को
चुरा लाई है आंचल में
हज़ारों ही बहारों को।

नन्द कानन के कुसुमों की
है सुरभि भी चुरा लाई
स्वर्ग बाला के नीरव आंसू में
छिपी करुणा भी है लाई।

गली कूचे, गृह, सरिता पर
तरल, काली बादर छाई,
सरस भीनी सी शीतलता
लिए वायु भी है आई

न इसमें इछाओं की आग,
न इस पर स्मृति बदली छाई
है गाती अपना धीमा राग
है अपना ही सौरभ लाई।

यह भीगी रात फागुन की
लिए सपने बहारों के
नदी के नीले आंचल पे
जड़ाती दीप तारों के।

मृत्यु-सी रात

यह मृत्यु सी रात!
गहन-घुमेरी हूहू करती,
प्रेतों सी, गलियों में फिरती,
प्रलय रात्रि का रोदन बनती,
छत-छप्पर-तरु-शाख गिराती,
निर्दयता ले हाथ
यह मृत्यु-सी रात!

कोई व्याकुल दुखिया फिरता,
द्वार-द्वार पर शीश पटकता,
कुत्तों के रोदन से डरता,
दया याचना प्रभु से करता,
जोड़े दोनों हाथ
यह मृत्यु-सी रात!

नीन्द बुलाते आंखें भारी,
आज नहीं मानों है बारी
सोने की, बीती है सारी
रात अंधेरी जागे मेरी
आयेगा कब प्रात:?
यह मृत्यु-सी रात!

क्षणिक मिलन

तेरी भावुक कवि कृतियां ले
बैठी थी जीं बहलाने को,
रिम-झिम सावन की संध्या में
बीती गाथाएं गाने को।

दीप ज्योति कमरे में झिलमिल
अंधियारा-उजियारा करती,
छत पर, खिड़की पर, वर्षा की
बून्दें अविरल टिप-टिप करतीं।

भूल गई थी मैं अपनापन
तेरी सुन्दर कवि कृतियों में,
सुहा गए थे मुझे स्वप्न
तेरे बुने विविध चित्रों के।

सहसा जाग उठी मानों मैं,
एक प्रणय की कविता पढ़कर
युवक युवती के क्षणिक मिलन औ
प्रणय भंग की करुण कथा पढ़!

तेरी चित्रित वह युवती मैं
क्षणिक मिलन की कथा हमारी
भाग्य, नियति, कुछ भी कह लें हम,
से टूटी मित्रता हमारी।

भूतगर्भ में मिली कथा वह
आज नई करुणा भर लाई,
मुझ वृद्धा के निर्बल हिय में
दीपक-सी झिलमिल जग आई।

अमरनाथ यात्रा की याद में

हिम निर्मित शुभ शान्ति निकेतन,
शिव के धाम विदा!
तेरे जग का कण-कण मेरी
स्मृति में रहे सदा।

संशयवादी श्रोता सी मैं
आई तेरी सभा
तेरी पावन छवि ने मेरी
आंखे लीं भरमा।

हिम शिखरों का भाल तेरा
है जिसपे चन्द्र जगा
शेषनाग की माला तेरे
वक्ष रही लहरा

कलकल निर्झर, अगनित निर्झर
अगनित सर, सरिता
झर, झर, झर, तेरी स्तुति में
गीत रहे हैं गा।

निर्मल, पावन अमृत गंगा
में निज देह नहा
मैं पवित्र, मन शान्त हुआ है
अमृत फल को पा।

तेरे जग में विचरण करती
मैं थी मानों उमा
कण कण में बिखरी तव छवि थी
उस में गई समा।

चली जा रही छोड़ तेरा जग
हे शिव, मांग विदा
किन्तु तेरी पावन स्मृति मन में
जगती रहे सदा।

पर्वतों के आंचल में

नगर की गन्दी गलियां छोड़,
धूल गर्मी से नाता तोड़,
दूर सभ्य मानव के जग से,
दूर हुई झूठी सज-धज से।

दूर पहाड़ों के आंचल में,
इनकी सुखदायिनी गोदी में,
आ बैठी हूं छोड़ शहर को,
तंग विचारों की दुनिया को।

हरी खेतियाँ दूर बिछी हैं
दूर, क्षितिज तक को छूती हैं
खुली धूप, गहरी छायाएं,
चीड़ वृक्ष की सांए-सांए।

पर्वत-सरिता का आन्दोलन,
अविरल झर-झर झर कर गुंजन
दहलाता वन पर्वत का तन
हर्षित करता है मेरा मन।

यह सब प्रकृति-पुत्र निराले
प्रकृति की गोदी में खेलें,
नहीं मृत्यु से हैं यह डरते
प्रकृति के, प्रकृति से मिलते।

मानव भी प्रकृति का शिशु है,
बंधु सरित, बन पुष्पों का है,
फिर इनसे क्यों हुआ विलग है
उसका क्यों विरला सुख-दुःख है?

पग-पग पर क्यों उसे सताए
प्रेत जीव सा उसे मृत्यु भय
प्रकृति, जिसने जन्म दिया है
क्यों उससे मिलते डरता है?

पुनर्मिलन

मिलन की घड़ियां हमारी
थीं उषा के हास्य जैसी
छा गई जिन पर घटा
सहसा घनेरे बादलों की।

अंतहीन, असीम, काली
व्याधि और दु:स्वप्नवाली
थी बनी रोगी की रात्रि
सी विरह अवधि हमारी।

प्रात: वायु बह चली फिर
स्वर्ण रश्मि है जगी फिर
फट रहा है मेघ का हिय
फिर मिलन के दिन, मेरे प्रिय!

पतझड़ आगमन

वृक्षों को हरियाली देकर
कलि-कुसुमों को खिला-हंसा कर
पका धान, गेहूं, फल, अंकुर
दिवस-शेष पर, श्रमजीवि-सा
लौट चला है ग्रीष्म थका-सा।

शीतल सी सिहरन वायु में
कहती है धीरे कानों में
पहुंच गया पतझड़ उपवन में
देखो, पहला पीला पत्ता
पादप की शाखा से झरता।

प्रणय गीत

यह था अद्‌भुत खेल मेरे प्रिय
यह थी अद्‌भुत प्रणय कहानी
आलिंगन में हुए दूर हम
जीते जी है कथा पुरानी।

भिन्न हुए हैं मार्ग हमारे
दूर बहें जीवन नौकाएं,
भंग हुए सुख-स्वप्न हमारे
भिन्न लक्ष्य अब, भिन्न दिशाएं।

सुख-स्नेह के गृह-आंगन में
रहना था न भाग्य हमारे,
एक साथ मिल, एक सूत्र हो
जीना था न भाग्य हमारे।

तेरी द्युति, तारे सी झिलमिल,
आशा की किरणें फैलाए,
दीपक सी बल औरों के हित
अपना तन-मन-प्राण जलाए।

कम्पित, वायु कर से डरती
अपनी छोटी-सी बाती है,
एकाकी, मैली, दुबली सी,
तनिक स्पर्श से भय खाती है।

तो भी जलती ही है प्रियतम
स्नेह धूप की धूनी रमाए,
किसी घड़ी, पल, दिवस, रात्रि में
पुनः मिलन की आश लगाए।

रहें दूर जीवन भर भी यदि हम
तो भी तेरे हिय की धड़कन
गाती ही जाए वह गायन
गाया था जो प्रथम-मिलन दिन।

कभी नही भूलती प्रियतम
ज्योति तेरी का अंतिम सार
इसी अंधेरी-सी बाती में
बसा हुआ तेरा संसार।

नई सोच, नई राह

तू मृत्यु-जन्म के छोड़ प्रश्न,
तूं प्रणय-विरह के छोड़ राग,
तूं शून्यवाद की मदिरा का
प्याला अधरों से त्याग आज।

तूं अहंभाव का मोह त्याग,
संकुचित भाव, अज्ञान त्याग,
जग को निज को भी समझ आज
आलस-तंद्रा से जाग आज।

युग-युग से जीवन-मृत्यु प्रश्न
बहुतेरे सुलझाते आए,
माथा-पच्ची करते आए
वे अन्त कहीं न पहुंच पाए।

विज्ञान-धर्म और कर्म मार्ग
का मूल्य तभी यदि दें उभार
जन के सामूहिक भावों को,
जन के हित में यदि वे विचार।

तुझसे है अधिक दुखी दुनियां,
तुझसे है अधिक अकेला जग
जन-दुखों में निज दुख भुला
अपनी पीड़ा, एकाकीपन।

मन के संगमरमर के घर की,
संकीर्ण विचारों की दुनिया
के खोल द्वार, ताज़ी वायु
से उज्ज्वल अपना गेह बना।

सामन्तराज का वक्त गया
निर्धन का धक्के खाने का
भी वक्त गया, है वक्त नया
तूं भी अपना मस्तिष्क जगा।

जब तूफ़ां का बल ले जनता
तोड़ेगी अपनी ज़ंजीरें
क्या जीर्ण-शीर्ण प्रासादों की
ही देखेगी तूं तस्वीरें?

मानव पुत्री

मलिन वस्त्र पहरे यह युवती रोज़ द्वार पर आती
अपने नीलम नयनों से निर्झर सा नीर बहाती
बालक अपनी गोदी में नन्हा-सा प्रतिदिन लाती
सबके सन्मुख शीश झुका अनगिनत दुआएं देती।
चरण चूमती सबके औ आंचल है फैलाती
गायन, क्रन्दन, रोदन से करुणा जग में भर देती
अपराधी-सा मुझे बनाती, मन व्याकुल करती।

क्रूर विधाता क्यों जग में यह अत्याचार मचाता
धन से भर किसीका घर, किसी को टुकड़ों से तरसाता:
या मानव का स्वार्थ भाव ही निर्धन-धनी बनाता।
मानव ही का स्वाभिमान कौड़ी के मोल बिकाता।

सुन्दर युवती, कुत्तों-सी, गलियों में फिरती है यह
मानव की पुत्री, पशुओं-सी द्वार-द्वार पर भटके।

निश्चय

आगे कदम बढ़ा तू अपने, आगे कदम बढ़ा।
मुड़ मुड़ देख न पीछे अब तू, आगे कदम बढ़ा।
अल्हड़ तेरा बाल्यकाल था, यौवन मद-माता,
अखिल विश्व था मधुर स्वप्न, जीवन सुन्दर गाथा।
स्वप्न लोक का नीरव निर्झर कल-कल गीत सुना
मीठी नीन्दों के झूलों में देता तुझे सुला।
सहसा टूट गया सपना, जग तेरा गया हिला।

आज अकेली, खोई सी तूं कर में धर माथा,
अंधकार चहुं ओर बिछा, बढ़ता ही है जाता।
दूर हुए अनमोल मित्र, सबसे छूटा नाता,
स्मृति-लहरें पल-पल सोचों में देती तुझे डुबा।

तो भी रुक मत, दुःख न कर तूं, गा मत करुण कथा
आज अकेली ही चल तू, मन में विश्वास जमा।
ज्योति जगा अपने मन में, अपने को राह दिखा
छोड़ गई-बीती को अब तूं, मत तूं उसे पुकार

कठिन मार्ग है, अंधकार है, फिर भी चलती जा
दृढ़ निश्चय कर, पत्थर सी बन, मत मन में भय खा।
आगे बढ़ तूं, आगे बढ़ तूं, आगे कदम बढ़ा।
मुड़ मुड़ देख न पीछे अब तूं, आगे कदम बढ़ा।

व्योम कुसुम

अब तूम व्योम कुसुम आल्हाद!
देर हुई, दिन, वत्सर बीते,
मानों जन्म अनेकों बीते,
जब था तेरा-मेरा साथ!

एक अजानी सुखद घड़ी में
सरल हास्य औ निश्चिन्ता ले
आए थे तुम मेरे पास
अब तुम व्योम कुसुम आल्हाद!

अरुण रश्मियों सी आशाएं,
स्वप्नों की गूंथी मालाएं,
भी लाए थे अपने साथ
अब तुम व्योम कुसुम आल्हाद।

खेल चली थी मैं स्वप्नों से
झूल चली थी आशाओं पे
सहसा तूने छोड़ा-साथ
अब तूम व्योम कुसुम आल्हाद।

अब औरों की चितवन के प्रिय,
औरों के गृह औरों के हिय,
में ही तेरा सुखद निवास,
अब तुम व्योम कुसुम आल्हाद।

प्रिय से अस्थिर हो, निष्ठुर हो,
प्रणय वचन दे, त्याग गए हो,
जगा हिय में तृप्ति की प्यास
अब तुम व्योम कुसुम आल्हाद!

टेलीपेथी

यदि टेलीपेथी नाम की कोई शक्ति है
तो आज रात प्रिय,
इस अर्ध रात्रि में
शिरीष-वृक्षों पर झरती वर्षा-बून्दों में
मुझे तेरा संदेश मिला है।
मै जान गई हूं
तुम भी व्याकुल हो।
दूर, वहाँ भी, झरती वारिश-बून्दें
पर्वतीय सरिता का घनघोर आन्दोलन,
फूलों की जल भरी नन्हीं प्यालियाँ
तुझे भी चौंका रही है
खोई स्मृतियाँ
मन में जगा रही हैं।
एक झूठे, भयंकर स्वप्न से
मानों तुम जाग उठे हो
वर्षा-बून्दें, नन्हें-नीले फूल,
तितलियाँ, चीड़ की गंध
वृक्षों से आच्छादित पगडंडियां,
जिनमें विचरण करते
जाग गए हो तुम एक गहरी नीन्द से,
चिर सुप्त हृदय तुम्हारा
आंदोलित हो उठा है सहसा,
कामना का तीर बेध गया है तुम्हें फिर आज।
इसीलिए तो प्रिय, मेरे अनमोल प्रिय
आज अर्धरात्रि में रुनझुन करतीं
शिरीष पत्तों पर परियों सी नाचती बुंदियां,
मुझे फिर
तेरे रेनकोट की छाया तले ले आई है
मेरे चिर मृत हृदय में
फिर जोवन, जागृति ले आई है।

प्रकृति मेरी सखी

गहन, सीमाहीन, नीलाकाश में, खो जाती है जिनकी
धुंधली हेम-श्रृंखलाएं,
दोनों ओर के उन पर्वतों की ऊंची दीवारों की
छाती पर खेलती, चांदी-सोने सी चमक वाली
चिर युवती एक नदी है,
जिसके हरी-नरम घास और पीली-लाल शिशु सर्पो-सी
नन्हीं, कोमल लताओं वाले शीतल दुकूलों पर, कहीं कहीं
मटियाले रंग के
भावुक बेंत वृक्ष झुके खड़े हैं। और जहां
गहन हरित, गहन नील, दूर फैलती छायाओं वाले
चीड़ बनों से उठते
भुट्टों और हरी-काली बालियों वाले धान खेतों को
(वे जल भरे खेत जिनमें रक्त-वर्ण पांपी फूल नाच रहे हैं)
एक छोर से दूसरे छोर को छू जाते
गंभीर शान्त गुंजन पैदा करते,
शीतल समीर के झोंके
बेंत के हरे-सफेद पत्तों को
जगमगा, झिलमिला जाते हैं,
वहां, उस सुखद-मनोरम, शान्त-मौन,
सूरज और बादलों से चुपचाप
रहस्यमय धूप छांह खेलती
गहन विस्तृत घाटी में, किसी चट्टान पर
हल्की धूप में चमक रही पीले नीले फूलों वाली
रेशमी घास पर, अथवा
युवक चीड़ वृक्षों की छाया तले पड़ी
सुंगधित सूखी-कोमल चीड़ सुइयों की शय्या पर निश्चिन्त लेटी मैं

अपने आसपास, प्रकृति शिशुओं की
नन्ही क्रीड़ाओं को
जीवन भर देखती रहूं।..........

वह अकेली युवती नदी मेरी सखी है
वही घाटी
और उस घेरती हुई पर्वतों की ऊंची दीवारें
हेम मुकुट पहने
मेरे भाई-बंधु, अनुज सखा हैं।
युवक चीड़ वृक्षों ही से मुझे सतत प्रेम हैं,
वहीं मेरा रूप, सकल जीवन
सौंदर्यपूर्ण, सफल होता है
वहीं मृत्यु, मेरे लिए फिर जाग उठने को
एक मधुर, दीर्घ स्वप्न है।

मृत्यु-पुनर्जन्म

घोर अंधकारमयी, तूफानी,
भयावनी, शक्तिमयी रात
एकाकीपन, उछ्‌वासों, दु:स्वप्नों में औ
उल्लुओं की चीत्कार सुनने में बीती।
मैं तेरे आने की आशा छोड़
अन्तहीन, नरक सी रात्रि के सन्मुख
हार मान, अपना तन-मन जीवन
अपर्ण करने को थी उसे।

किन्तु तब सहसा गाया
प्रात पक्षी,
कोमल वायु के स्पर्श से
सिहरी, वृक्षों की एक-एक नन्हीं पत्ती।
नदी का शीतल निर्मल जल छलछलाया।

मेरे थके मान्दे शरीर को
मेरी दु:स्वप्न-पीड़ित आखों को सहसा
तेरे मधुर सुखमय आगमन का भान हुआ?
और तब मैं सोई
सुखद, क्लेश, ताप, चिन्तांहारिणी निद्रा गहन
फिर से किसी नए जीवन में
जाग उठने को?

थोर कमलिनी

स्वर्गीया
कवियत्री बहन पुरुषार्थ को
और
महाकवि 'निराला' जी को
(एक वादा पूरा किया)

मनाली
एक मिलन एक याद

१

पौं फूटन की बिखरती, शुभ्र धुंध में,
छिपे दीखते, नई बरफ के मुखौटे पहने
पर्वत शिखरों के चेहरे....
उनके माथों, नाकों, होठों और ठुड्डियों पर
जागने लगी पहली किरन!
ढलानों पर, पल-पल बढ़ रही
वसन्त की हरित लम्बी दूब पर
रात भर हुई बारिश की
ठंड से कंपकंपाती कनियां असंख्य....
उन पर किरण की पहली नज़र!
मेरे मुंह से निकलती सांस
धीमे उजाले में भाप बन उड़ रही है....
शिखरों से उतरती,
प्राचीन-चीड़-बनों के बीच खोई-सी व्यास नदी,
गंभीर खरज में
आलाप लेने लगी है।
यह घड़ियां अपने आप में, सम्पूर्ण हैं।

मनाली

२

कल दिन भर बारिश हुई
ठंड इतनी जैसे अभी बरफ गिरने लगेगी।
आज, खिल आई वसन्त की
पहाड़ी धूप!.....
गीली, काली पड़ गयी लकड़ी की पुरानी छतों से
हल्की भाप उड़ रहीं है।
आन पहुंचे हैं रंग-रंगीले पंछी, चुपचाप
बगीचों में
अधपके गिलास, आड़ू, आलूचे, खुमानी चखने को।.....
पीठों पर कीलडू धरे, पहाड़नें
चलीं घास काटने, ऊपरली ढलानों पर....
बेफ़िक्र ख़ामोशी, धीमे मुस्करा रही है....
अकस्मात धमाका, किसी एयरगन का!
छोटी सी वादी, हरिणी सी, चौंक गयी है,
और पेड़ों से पंछी, उड़कर
हवा में क़ागज़ों की तरह बिखर गये हैं....
पर, ज़रा ही देर के लिए....
फिर वही बेफ़िक्र ख़ामोशी....
फल-लोभी पंछी
फिर आन बैठे हैं, शाखाओं पर!....

मनाली

३

निचले परवत गिरोह
सरदियों की हिम के भार उतार चुके हैं,
ऊंठों की तरह, कूव झटक-
करवटें बदल रहे हैं,
कुछ लेटे हैं जटाधारी साधुओं से
मौन धारे।
सेबों और नाशपातियों के कच्चे कपोलों पर
लाली निखरने लगी है।
टोकरियां लिए खड़े हैं माली
पक्के गिलास तोड़ने के लिए तैयार....
आऽऽऽ हो। आऽऽऽ हो। की ऊंची पुकारें
लो पंछीओं को चेतावनी दे रही हैं।
धूप में, बुड्ढों की हड्डियां सेंकने का बल आ गया है....
फल अब जल्दी पकने लगेंगे,
जून-जुलाई-अगस्त, तीन महीने
सेब नाशपातियां, खुमानीआं
अपनी-अपनी शाखाओं पर, धूप सेंक
सहजे पलेंगे, बढ़ेंगे, पकेंगे।
टहनियां
अपने ही जायों का भार
नहीं सह सकेंगी,
झुकेंगी, टूटेंगी,
फल उतार कर ही हल्की होंगी,
और फिर गर्भवती होंगी....
ऐसे
इस सुन्दर बरस का चक्कर पूरा होगा!

मनाली

४

गिलास वृक्षों की जोड़ी
भरी-लदी-सजी!
गुलाबी-लाल, उन्नावी गिलास फलों से!....
सांझ की धूप में लहलहाते
गहरे हरे पत्तों से ढकी....
मानों कोई छैल-छबीला, पहाड़ी बनरा
मुकुट-सुनहरी झालर-फूल सेहरा-कमरबन्द बांधे,
पहाड़ी शहनाइयों, बाजों-मशालों वाली बारात लिए
गहनों लदी, रूप बिखेरती-पहाड़ी बनरी की
डोली लिये, घोड़े पे सवार
घने चीड़ जंगल के बीचों बीच की
पगडंडी से,
अपने गांव लौट रहा हो!....

मनाली

४/२

सांझ का अंतिम पहर!
पश्चिम के दूधिया शिखरों
के नोकीले किंगरों के पीछे
रह गयी एक
सूक्ष्म, अंतिम, जोगिया लकीर,
जैसे सूरज फिर से उदय होना चाहता हो,
जैसे दिन भर चलते रहने पर भी, उसे
थकावट न हुई हो।...
हल्की सोच में, झुकी संध्या - मौन।
लेकिन, वह पहाड़ी कोयल, रोज की तरह

आज भी
लम्बी पुकार वाला गीत गा रही है।
ढलानों पर
सबसे ऊपरली खेती के पीछे
घने चीड़ वन में, बज रही
एक पहाड़ी बांसुरी।...
कु- कू ऽ कू!
कु-कू ऽ कू! के बोल?
यह किसके हैं?
हां, बढ़ई पंछी के,
दरयाई घोड़े की तरह बदन है जिसका।...
सुनो! सुनो! मैं अलविदा कह रही हूं,
दूर, बहुत दूर जा रही हूं।
बांधो, मेरे आंचल की कोर में
अपनी अनुपम-अमर स्मृतियां!

मनाली

५

ढलानों की
हरी-नरम-लम्बी घासों में छिटके
नन्हें-सफ़ेद डेज़ी फूल!...
नागिन सी बल खाती,
पर्वत से उतरती,
रूम-झू म गुनगुनाती,
इकहरी-वदन जल धारा।....
खेतों की तोतिया रंगी सीढ़ियों के
शिखर पर, पहाड़ी गांव।
पर्वतों से छलांग लगाते,
पर्वतों पर झालरें सजाते

कची लस्सी से अनेक-अनेक झरने!...
काई लिपटी मीमाकार चट्टानें
ऊंचे घने चीड़ वनों में से झांके।
और मग्न
उनीन्दी लेटी, हिम देवियां।...
स्वर्गीय सौन्दर्य, अतीव सरलता...
भोले, चंचल, रागी पंछी...
खेतों में
धीरज-उत्साह से
हल चलाते किसान जोड़े...
शांति, अल्हाद भरी शान्ति चहुं दिस।...
फिर भी, तेरा मन
हारा हुआ सा, भटका हुआ सा
री परदेसन!

मनाली

६

लद्दाख़ी पश्म सी नरम बदलियां, इतनी शुभ्र कि
निर्मल, नीले गगन की आभा
उनकी कोरों पर प्रतिबिम्बित हो रही हैं।
सूर्य, पच्चिम के बादलों में छिपा हुआ है,
लेकिन, बुझती रौशनी के फीके, सफेंद
नन्हें टुकड़े, पूरब के बरफ़ीले शिखरों पर
फिर भी रह गये हैं।
छत पर हो रही बूंदा बांदी में
व्यास नदी का स्वर खो सा गया है!...
प्रभात-गीत गाने वाले पंछी
न जाने कहां उड़ गये बसेरा लेने!...

चढ़ाइयां चढ़ी गाएं, नीचे की ढलानों पर
पहुंच रही हैं
टन! टन! टन! गूंज रही हैं वादी में
उनके गले की घंटियां।
कंधों पर हल धरे किसान,
घास भरे कीलडू उठाये पहाड़नें,
धीमे स्वरों में वातें करते
अपने गांव लौट रहे हैं।...
पर, खामोश चीड़ों के पीछे छुपी ढलानों से
अभी भी किसी लकड़हारे की
लकड़ियां काटने की
आवाज आ रही है।

मनाली

७

बरफ़ीली चोटियों पर
अंतिम किरणें!
चोटियों के चेहरे, जैसे
सफेद चीनी मूर्तियां, जैसे
नृत्य के बाद ताकों पर रख दिये
नृत्यकारों के मुखौटे।
दर्शनों के लिए, जुग जुग से
विराज रहीं, गहन-रहस्यमयी स्मित लिए
मौन हिम-देवियां!
अंधेरे का परदा, धीरे-धीरे गिर रहा है,
पृथ्वी के अनन्त नाटक का
एक और अंक
समाप्त हो रहा है, और
आरंभ हो रहा है।

मनाली

८

ऊंचे हिम शिखरों ने
रात की काली कंवलिया
ओढ़ ली!...
काली लकड़ी के बने लद्दाख़ी प्याले सी
छोटी वादी को, घेर रहीं
अंधेरी पहाड़ियां।
और तारे, जैसे प्याले में जड़े
ज़हर-मोहरे के नन्हे मोती!
कितने नीचे, कितने पास-पास।...
तारों भरा गगन, काले संगमरमर सा
अंधियारा!...
घाटी के सारे कारोबार बन्द,
घाटी की सभी राहें बन्द,
घाटी के दुर्ग द्वार बन्द।
अंधेरा, चहुं दिस, तरल अंधेरा!
सिर्फ़ पहाड़ियों पर
इधर-उधर,
नीचे-ऊपर,
क़रीब-दूर,
झोपड़ियों की बत्तियां, जुगुनुओं सी
टिमटिमा रही हैं।

मनाली-दर्रा रोहतांग

६

जहां
हिम-कंदिराओं से निकसतीं
निर्मल नन्हीं जल-धाराएं
पीली-श्वेत कंकरियों तले
सिमटती-रिसती
पथरीली, अति-संकीर्ण पगडंडियों पर से
उतराईआं
चैन से उतरती हैं,
जहां
जम चुकी हिम की कठोर तहों पर
पंजे जमाते, शरीर
कंपकंपा जाता है, पर
प्यासी रूह तृप्त होने लगती है;
जहां
बरफ़ीले झंझावात
छील डालते हैं चमड़ियां
भोज वृक्षों की, चीर फेंकते है
उनकी शाखाएं, जहां
मेरे पुरखों की आत्माएं
मुक्त हुई, सुख दु:खों के
कलेवर उतार
सकल सृष्टि को असीस दे रहीं,
जहां बीतता,
एक एक पल
बरसों की चैन देता है,
वही है
मेरा पलना, मेरा खेल-मैदान
मेरी समाधि।

सच्ची सुच्ची प्रीत

आज, प्रभात के
मेघों में से
छिपी - झांकती
बरफ़ - नहाई
रश्मियां उतरीं
आ तन लागीं
मन में जागीं
जैसे पहली
और सदीव
सच्ची-सुच्ची प्रीत।

आल्हाद

गरभाए,मौसमी बादलों की
मुक्त-मगन रूहों सी परछाइयां
धीमे उड़ें। उनके धुंधले अक्स पड़ें
निर्मल ज़हर-मोहरी झील जलों पे।
छन-छन पैंजनी झनकारती
उतरीं कुछ किरनें पल भर के लिए
किनारों की तोतिया रंगी ढलानों पे।
धुंधों के बारीक घूंघट उठे झरनों पर से।
सरसराती पवनें, पासे पलटें बदलें लहरों के,
रंगे उन्हें कभी काले संगमरमर सा,
कभी सजाएं लहर-शिखरों पर हीरक कलगीयां।
छप छप छप! छप छप छप! छप छप छप!
गुनगुनाए एक कश्ती युगल
खड़ा चैन से, झील किनारे।

शगूफ़े के फूल

शगूफ़े के नाज़ुक
गुलाबी-सुगंधित फूल
अभी झरे भी न थे
कि आंसू भर, बादल
अम्बर में डोल गये...

बदलते रंग

नीले मेघों की जगमगाती बरातें
गाजतीं, ढोल बजातीं, टाप गई थीं
घाटों के तीखे कंगूरे।
अब नही थी अनथक, झर झर बरसती
बारिशें।
उड़ गये थे ज्यों असंख्य चंचल तोते
पहाड़ियों की ढलानों से,
बदल गये थे रंग हरियालियों के।
धूप में घट रही बरसाती नदियों में से
उभर आये थे, पत्थरों चट्टानों के
नंगे, नसवारी सूखे कूब!
और परवती झरने।
ज्यों अभी-अभी रुलाई बंद किये बालक के
कपांलों पे सूखते आंसू।
बहने लगी थी हवाएं
शीतल, कुछ सोच भरी, पीछे देखती...
अब राज करने आई थी ख़िज़ां
अपने दास दासियों को संग लिए...
कितनी दूर रह गयी थी
बहार! (कभी आई भी थी?...)
सिर्फ़ ; बची थी
लंबी पगडंडी के दोनों ओर
दूर दूर तक फैली
हंसलियों से छीली जा रही
चावलों की नाज़ुक पीली बालियों से

उड़ती सुगंध...
क्रीड़ाएं कर चुके
संघर्ष कर चुके
असफल, थके - हारे, टूटे,
ख़त्म हो चुके प्यार की
दिल चीरती - मीठी
याद की तरह।

बिरही आंगन

ओ नन्हीं बदली,
अनन्त चक्करों में घूमती
किसी रूह की उसास,
छिन भर रुक,
एक बूंद मेरे विरही आंगन में भी
बरस जा।

याद

प्रिय मीत की मौत की याद
चिता सी जले निरंतर अन्दर
पल-पल उठें शिखाएं।
न भुलाना चाहूं याद
न भुलाने वाली वह याद।
पर थका-हारा-टूटा तन-मन
भटके ऐसी नींद को
जिसमें - भुला सब कुछ
ताज़गी पाऊं।

विडम्बना

जिस रंगीले पलंग को
वह नासमझ - ग्रह लगा युगल,
त्याग - बिछड़ गया,
उस सेज पर पड़ी
वह तीसरी भोली
सुख -संजोग की कामना करे!

ग़लतफ़हमी ?

एक थे तुम,
एक थी मैं
और
गगन में था,
एक छोटा तारा,
एक बड़ा तारा।
बड़ा तारा छोंटे तारे के
पीछे-पीछे चला करता
हर रात।.........
पास पर लेटे हुए
तारों की जोड़ी को देखते
तुमने कहा,
'मेरा तारा सदा ही
तेरे तारे के
पीछे पीछे चलता रहेगा।'.....
कितनी सुन्दर, मदमाती,
शीतल थी वह रात!
आशा भरी, निश्चिन्त नींद भरी,
खेले जा रहे
रोचक नाटक के
अगले अंक छिपाती रात !
अगले सीन में
तुमने कहा-
'यह सब,
हमारे परस्पर संबंध,
एक ग़लत फ़हमी थी,

हम दोनों के
सपने अलग
राहें अलग
यह घर
एक ग़लतफ़हमी थी।''
एक दूसरे से
मुंह मोड़, हम दोनों
अलग-अलग राहों
पे हो गये।......
पर गगन में
बड़ा तारा, हर रात
छोटे तारे के पीछे पीछे
चला करता....।
बरसों बाद
सायंस की एक किताब में पढ़ा
कि गगन का हर तारा
ज़िन्दा नहीं।
अनेकों-अनेक तारे
अपनी अपनी जोत जगा
भस्म हो चुके हैं,
सिर्फ़ उनसे निकली,
उनसे अलग हो चुकी
प्रकाश-शिखा
करोड़ों बरसों से
शून्य में
झलक रही है।
वह छोटा तारा 'त'
उसके पीछे चलता
बड़ा तारा 'स'
चिरकाल से भस्म हो चुके हैं।

बच रही है बाकी
सिर्फ उनकी झलक।

मन में विचार जगा
इस तारों की जोड़ी ने भी
चाहा होगा इक दूजे को
कुछ काल के लिए..
या कि
यह भी एक ग़लत फ़हमी है।

अग्निपरीक्षा

पतिव्रता सीता!
सिर्फ़ तेरी ही नहीं हुई थी परीक्षा!
हर स्त्री को, जुगों जुगों से
आग में से गुज़रना पड़ा है!
हर स्त्री ने किसी न किसी घड़ी
मां धरती में शरण लेने को
प्रार्थना की है लाचार हो!...
यदि राम सा अवतार भी
तेरी अग्नि परीक्षा लेकर
सन्तुष्ट नहीं हुआ था
तो
साधारण मरदों से
क्या शिकायत!

परछाई - ख़याल

सड़क - बत्ती की धीमी, नीली रोशनी में
आधे अन्धेरे, आधे नीम रौशन
बगीचे की दीवार से परे - कुछ ऊपर
नारियलों के तने, अनेकों अनेक।
मानो लहरा रहे लंबे नीले रेशम डोरे,
कोई तीर सीधे, कोई कमान टेढ़े..
नारियल सिर जोड़
आपस में करें मश्वरे।
चकमक-पत्थर-कंकरों की तरह
खेल के दाओं में बिखरे
तारे, काले गगन में,
और कुछ, उतर आये
एक पुराने नीम की घनी पत्तियों के बीच।
बग़ीचे की दीवार के बाहर
सड़क पे भागती मोटरों के हार्न,
किसी खोमचे वाले की घंटी
टिन, टिन, टिन!
पड़ोसी झोंपड़ियों के
सड़क पर खेल रहे बच्चों का
लुभावना शोर
करीब होते हुए भी परे सा...
हर आवाज़ की गूंज के बाद
खामोशी,
शून्यता का विराम...
तरल-स्वप्नमय अन्धेरे में
अकेली बैठी का, अन्तर बाह्य

सब कुछ देखती भी
कुछ नहीं देख रहा!...
सिर्फ़ एक परछाई सी
खींचती है उसे बरबस
पीछे घूमकर देखने को,
करती है जैसे इशारा,
मौन सी कहती है जैसे कुछ...
परछाई?
नहीं,
तेरा ख्याल!

गुम हुआ चेहरा

तेरे ही चेहरे में
खोजती हूं तेरा
गुम हुआ चेहरा।
तेरे ही स्पर्श से
याद आये मेरे रोम रोम को
तेरा स्पर्श।
भटक रही हैं मेरी आंखें
तेरी निगाह में
तेरी ही नज़रों को।
तेरी ही बातों में
मेरे कान अधीर हैं आज प्रिय,
तेरे सच्चे स्वर सुनने को।

शब्दों से परे

जिस पड़ाव पर
तुम सोचती हो-अटकी पड़ी हो
वह तो तुम चिरकाल से
छोड़ चुकी हो.....
पग धर चुकी हो
कई अगली चरागाहों में,
कई और गगनों में
और नये मोड़ों
रहस्य भरे शून्यों
कई और उड़ानों में,
दुखों-वेदनाओं से ऊपर,
अनेक जन्मों मरणों से परे,
अनेक व टूटती सृष्टियों से दूर
कई नये सृजनों में
तेरी कल्पना प्रवेश कर चुकी है!......
रह गये परे, दूर
मरुस्थल
कामनाओं; आकांक्षाओं के!......
अब है जीभ पर
अमृत बूंद
अपने अन्तर से निकसी,
स्वाति बूंद
अपने अन्तर से बरसी......
शब्द वही हैं
पर
भाव-अनुभव
आगे बढ़ चुके हैं.....।

भुलावा

सांझ का सूरज,
झुकने लगी सोन किरणें
सहन जोग हुई गरमी......
आस-निरास का डोलता झूला,
नहीं कोई उमंग भरी उड़ान,
नहीं कोई सपनों की केसर-क्यारी......

बैठी हूं कोमल घास पर
दिल में छुपाये कठोरसच्चाइयोंकी दुनियां.....!

हां, घास है, नित जल पीती,
नित ताज़ाह होती,
धरती की यह लाडली कुंआरी
चैन से बैठी
अपनी हरी ओढ़नी पर
निकचू से काशनी फूलों का कसीदा काढ़ती-

अनगिनत काशनी निक्के-नन्हें फूल।
गोरे रंग पे काले तिल से बिखरे,
या ज्यों
सतरंगी इन्द्र धनुष पर झूल रहीं
वरखा कणियां-

घास!
निरंतर रचती है कविता-
नन्हें-निक्के-निकचू-काशनी, सफ़ेद-पीले फूल,
इनका क्या शब्द बखान
यह अपने आपही, सृजत सौन्दर्य,
विकसित होकर प्रसन्न
अपने आपमें मगन-
हैं यह मेरी बीत चली के लिए, नित
भुलावों का
मासूम, मोहक
माया जाल।

स्वाति बूंद

बरस जाए जो स्वाति बूंद बन
मेरे विरही चातृक-हिय पे
पलभर आये-छिन भर आये
सो ही मेरा मीत।
आए उस शिशु की कच्ची
और उदास मुस्कराहट सा
प्यार प्यासी मेरी आंखों में
खोजी जिसने, बिछड़ी
अपनी मां, की ममता-
दो पल मेरी छाती से लग
पाया था, जिसने संसार,
और पल भर की बिलख पड़ी थी
अलग हो-मेरी बांहों से।

सड़क से

ओ सड़क!
बेघरों के लिए घर,
बेपनाहों के लिए पनाह,
प्यार विहीन महलों, घरों, झोंपड़ियों से बाहर
एक अन्तहीन स्वतन्त्रता!
विद्यालय, प्रयोगशाला,
एक अनुभवी उस्ताद।
परम्परा कायम रखती,
नई लकीरें उलीकने वाली।
-तेरे वृक्षों तले शरण है
तेरी अनछती लम्बाइयां
कड़कती दोपहरों में
सिखाती हैं सहनशक्ति!
ओ दुःख हरिणी,
हर किसी की मसजिद
हर किसी का मंदिर,
हर किसी की मित्र।
हर किसी के दुःखों
सुखों के भार झेलती
ओ नदी-सी अन्तहीन बहती सड़क
तेरे कौन-कौन गुण बखानूं।

पाम्पोश की याद

मेरी दूर बस रही झील 'डल' में
हर पतझर में लजाते 'पाम्पोश' !
आज आंख खुलते ही
तेरी याद!....

सरदियां हैं परदेस में,
देस में तो अब बरफ़ें बिछ गयी होंगी
नई, ताज़ाह नरम, सेहतमंद बरफें
निष्काम।

देस की विशाल वादी में,
देस की पहाड़ियों, परबतों पे
मेरे बचपन की गलियों में
मेरे बचपन के आंगन में....
और तुम!

मेरे बेफिक्र बचपन के सखा,
झील-धरती की नरम तहों वाले
सुखदाई गर्भ की ममता में सोये
चश्मों का अमृत जल चूसते,
झील धरती की कोख में
अचेतन-अर्धचेतन
सुख हिलोरें लेते
अपने जन्म के, भविष्य के
चैन भरे, आनन्दमय, अनन्त सपने ले रहे
अभी अजन्में कमल पुष्प,
पाम्पोश!
आज, आंख खुलते
तेरी याद।

मेरी मां धरती

खिले यास्मान, खिले नरगिस,
खिले बेदमुश्क, खिले तेरा हमेश बहार, पुष्प,
मुस्काये, हंसे तेरी अमृत जल-झीलों में
कमल लाखों हज़ार!
जियें वे अनगिनत मासूम बन-फूल,
कलियां रंगों भरी,
जो तेरे परवती परदों के पीछे छिपी
तेरी लाजवन्ती, अनदेखी, कुंआरी
वादियों की ढलानों और हरी दूब पे
खिलें, सोयें, मुरझाएं।.....
अनबूझी कोमल-गंभीर मुस्कानें मुस्काएं
हर प्रभात
तेरे अभी अनछूहे हिम शिखर।
खेलें रंग होली हर वसन्त
तेरे सुवासित शगुफ़े.....
बनों की रस भरी जंगली नाखें
गिरें, फूटें बहारों में
तेरी मखमली घासों पर!
चहकें, किलकारें,
गुनगुनाएं, गायें
लें ऊंची उड़ानें गहन नील गगनों में
तेरे रागी पंछी,
छेड़े हर ब्रह्म मुहूर्त बुलबुल हज़ार दास्तान
तेरा पवन तम्बूरा।
-रहें, खुशबाश
तेरे चिरकाल से अमन पसन्द
कारीगर, तेरे किसान, तेरे कश्तियों वाले

तेरे बागों के माली
तेरे रेशम के दरख्तों के रखवाले।
और मैं
जो पली थी
तेरी मासूम, सुच्ची वादियों में,
तैरो थी बाल हंस सी
तेरी झीलों में,
षिचरी थी बेफ़िक्र बाल-हरिणी सी
तेरे फल-फूलों भरे जंगलों-बागों में,
तेरे घने चीड़ वनों में,
खेली थी आंख मिचौली
तेरी पूर्णिमाओं में,
गाई थी गीत, विचरती
तेरी केसर क्यारियों में
कभी सीता कभी हव्वा ख़ातून
कभी ललदेद के रूप में,
(मेरी रूह को पहचान है इसकी।)
बार-बार जन्म ले
बार-बार आऊं तेरी गोद
मेरी चिर युवती सखी
मेरी मां धरती
काश्मीर।

निर्लेपता-आंसू

इतने हंगामें में
इतनी शान्त, इतनी एकाकी!
चक्रव्यूह के बीचों बीच बैठी
इतनी बाहर!
देख रही हो
मानव-मानव के अन्तरतम में
जन्मते, विकसित होते, खिलते,
मिलते, अलग होते, टूटते
रस-भाव-रंग
अनगिनत शेड --!
तेरी दैवीय निर्लेपता,
अडोल परख
दैवीय दूरी, अंतर, अछूतेपन के साथ ही साथ
तेरे नेत्रों से बह रहे, अपने आप
मानवी पीर के
आंसू!

धीरा धरती

ऊंची अटारी पे खड़ी
देखूं आज सांझ
सोन किरणें अपनी लहरों में झिलमिलाती
सूरज से पीठ किए बैठी-
सूरज घड़े को समुन्दर में डुबकियां देती
धीरा धरती, पल-पल निमिष-निमिष
बदले करवट --,
मौन, मगन, अन्तरध्यान,
सुख-दुख, जनम-मरन,
आदि-प्रलय का भार उठाए
घूम रही,
काट रही ज़िंदगी का
अन्तहीन चक्कर।

बेलिहाज़ चिड़ियां!

चंचल, बेलिहाज़ चिड़ियां!
कहां से लाती
नीले पंख, सूखी घास?
चिड़ियां-चिड़े
चहकते जोड़े,
चोंचों में पकड़े
घर की बुहारियों के तिनके,
ला ला कर जोड़ें
तिनके से तिनका,
पंख से पंख,
सूखी घास पर सूखी घास!...
घर की दीवारों पे
शौक से टांगी सुंदर
पेंटिगों के पीछे
सीलिंगों पे लगाए
लैंप शेडों में
निधड़क आ जाएं,
मैले लम्बे तिनके सजाएं
चहक! चुहुक!
घोंसले बनाए।

प्लैनिंग करतीं
मस्त मगन चिड़ियां, और
मैं बैठी खीझी-सी,
देख रही पेंटिगों के पीछे

झांकते, लम्बे छोटे
बुहारियों के तीले!
पेंटिगें कम
लम्बे तिनके ज़्यादा!
चहकती चिड़ियां
मेरी शू! शू! सुन
पेंटिगों के पीछे से
झांक-झांक देखें,
हैरान होकर
मानों पूछें मुझे
आपको क्या तकलीफ़ है?

आज आओ!

आओ पास
आज चान्दनी रात
जब
समुन्दर में सिपीयां
मोतियों को जन्म दे रही है

आओ पास
आज बादलों भरी रात
जब
अछूते परवत शिखरों के शरीर पर हिम
कोमल पशम सी गिर रही है

दूर हुए, आज आओ,
पास बैठो पल भर,
डालो मेरे आंचल में
अनन्त से चुन
अमर प्यार का एक फूल!

नल के पानी से

बन्द कर गई थी
घर की मालकिन तुझे,
कह गई थी, चुप रहना
न शोर करना!
पर आदत से लाचार
नहीं रह सका तूं।
ढीले वाशर में से
बून्द बून्द हो टपका,
गुनगुनाता, गाता रहा,
बाल्टी में बजाता रहा
एक सुन्दर 'सोनाटा',
जिसे सुनता अगर बीथोवन,
रात भर जाग-,
देता इसे सिंफ़नी का रूप,
ले आता इसे संगीत प्रेमियों के सन्मुख,
अमर कर देता तेरी यह
टप-टिप, तप-तिप, ति ति ति ति
तपप टिप
ततप, ततप तिप
स रे रे, नी रे स, सनी नी
नी ध नी, रे रे रे रे, स रे रे
नी नी नी, नी स नी, स नी नी....
स्वर-श्रुतियों, रस-भावों सज्जित
एक अपूरब हार!

नोट :-१७वीं शताब्दी में हुए विश्वविखखत जर्मन संगीतकार वेथोनन

थोर - कमलिनी

थोर की मोटी नाड़ी में से
कैसे अमृत पान कर जनमी?
कोमल, गाय के मक्खन से रंग की,
मदमाती सुगंध अंग अंग में समाए हुई
ओ अद्‌भुत, अनुपम थोर-कमलिनी;
बरस में एक बार खिलती,
बरस में एक रात ही खिलती
धीरे-धीरे, अचिन्तनीय, अकथनीय विध,
एक पर एक, अनेकों
बारीक घूंघट खोलती,
अंगड़ाईयां लेती, बाहें फैलाती,
किसी रहस्य सी, खिल रही
तेरी पंखड़ियां,
सुगंध-रस-रंग भूल चुके
मेरे जीवन प्रागंण में,
आज रात फिर से
आलस्य भरीं मादकता की
हिलोर ले आई हैं,
आज पूर्णियां की आधी रात को
विकसती-खिलती तूं
सहजे सहजे पूरी खिल जाएगी,
जैसे शरत् पूर्णिमां का चान्द,
जैसे भरपूर यौवन में आई
प्रासादों में पली कोई

लाडली राजकुमारी,
जैसे पूर्णता पाने को हुआ
सफल प्यार...
नज़र से मदहोश करने वाली
सोहनी साक़ी...

और फिर
ज्यों ज्यों रात घटेगी,
एक एक करके तेरी
रेशमी पंखड़िया
बन्द होने लगेंगी,
तेरा निखरा रूप
तेरी फैलती स्वर्गीय सुगंध
अलोप हो जाएगी,
तेरी शमां बुझ जाएगी
तेरा साग़र खाली हो जाएगा...

और थोर कमलनी!
रात के अंतिम पहर ही
तुम होगी
पृथ्वी के अनन्त इतिहास में,
मिथिहास में
जनमी, विकसी, खिली,
मुरझाई, अलोप हो गई
कोई अनदेखी, अनपहचानी
थोर कमलिनी --
मेरी ही तरह।

नोट :-संस्कृत में इसे 'ब्रह्म कमल' और अंग्रेजी में फ़्लावर आप बेथलेहम कहते हैं।
'थोर कमलिनी' मेरा दिया पंजाबी-हिन्दी नाम

आज प्रभात

आज प्रभात
सागर का पानी ज़हर-मोहरी रंगा.....
सांवली, दूधिया, फूटती बदलियों बीच
महराबें बन वन झांके
मोर रंगी आकाश!....

लहराएं, कांपे, फ़र्श बिछाएं
फिसल फिसल जाएं
बदलियों के अक्स जल पर --
बदलियों के पीछे झुका सा
अस्पष्ट सा, अप्रकाशित सा श्वेत सूरज
बिसरती प्रीत सा
कभी हल्का प्रकाश झलका जाए।....
बदराया क्षितिज, छत्र-सा
झुका सागर पे।
क्षितिज की महीन धारा पे
ज्यों पंजों वल खड़ी, मछियार नौकाओं के
अडोल पाल ---

शान्त है, निश्चछल है आज सवेर का सागर....
लेकिन परे, गहराईयों में से, उठती है
कोई जोबन मदमाती युवती लहर,
उभरती उमड़ती है
चलती है वेगवती, मदहोश चाल,
आ गिरती है इस छोर,

सिरजती है झाग से
हिम श्वेत बूटियां, जाल,
उछालती है असंख्य
जगमगाते जल-बिल्लौर,
मुड़ जाती है- मिल जाती है
फिर शान्त सागर में।

तैर रहा है व्हेल मछली सा एक जेट
बादल-लहरों में बेआवाज़,
उड़ रहा है एक कूंज जोड़ा
मगन-चुपचाप,
यह कोर पृथ्वी की छोड़
किसी दूसरी कोर की तरफ
बढ़ रहा है।

बंगले के भीतर - बाहर

बड़े बंगले की आगासी पे
बिछाई गई, नई लीक-प्रूफ सीमेंट।
जमाई गई उस पर उत्तम, मट्टी-खाद की तहें।
उगाई गई कोमल, बिलायती घास,
बनाई गई फूलों की क्यारियां।
खिल गए जल्दी ही रंग रंगीले
फ़्लौस्क फूलों के गुच्छे के गुच्छे,
खाद-पानी-धून-पवन खाते पीते
तन्दरुस्त, सन्तुष्ट, मनोहर
हंसते झूमते फ़्लाक्स पुष्प
झांक-झुक देखें बंगले से बाहर!

बड़े बंगले से बाहर
झोपड़ियों के दुबले-पतले
मैले - कुचैले - अपाहिज, बच्चे,
राह गुज़रते काले-गोरे मेम-साहबों के आगे
हथेलियां पसारते 'ओ साहब, ओ मेम साहब!'

गिड़गिड़ाते, भीख मांगते
बच्चों के टोले के टोले!

कब ?

यह दो मैले
सूखे - भूखे
तिरछी हुई
उंगलियों वाले
पैर।

कीचड़, पत्थर
आग, बरफ़ पर
तपते, जलते,
मरुस्थलों पर
बोझ उठाए
चलें निरंतर
टेढ़े हुए
झुर्रीयां पड़े
यह दो पैर

चलते, ठोकरें
खाकर चलते,
कभी बाहर से
कभी भीतर से
होते रहते
लहु लोहान,
फिर भी धैर्य
सहन शक्ति की
मुस्कराहट

मेहनत लय में
मगन - अमगन
तरस योग्य और
पूजनीय यह
अधजीवित पर
जीने योग्य
यह दो पैर।

कहां वक्त
बीती सोचन का
भविष्य
आस हीन, अंधियारा
वर्तमान, बस
आज की भूख
आज की रोज़ी
आज की रोटी।
वक्त से पहले
बूढ़े होते
यह दो पैर।

अगर लगा
सकते यह धर्मी
ज्ञानवंत बन,
शक्तिमान बन,
ठुड्डा लगा
परे हटा
अन्याय सत्ता की बड़ी चट्टान
आगे बढ़ते
आशवान हो,
अपने हित
और दूजौ के हित
जीना सीख,
जीवन अर्थ
समझ यह जाते!

कब? कभी?
हाय, किस वक्त
समझेंगे,
मन से अटकै
तन से दुर्बल
चलते हुए भी
रूके हुए जो,
धक्के खाते,
खाक छानते
प्रतिनिधि
लाख-करोड़ों कै
यह
तिरछी हुई
उंगलियों वाले
भूखै-नंगे
यह दो पैर।

वह नौजवान

पड़ा था वह
चौड़ी सड़क के किनारे
लम्बा दुबला नौजवान।
सस्ते, पुराने हो गए बूट,
सस्ती, पुरानी कमीज़ पतलून बदन पर,
मुंह से फूटी लहु की धार
जमी पड़ी थी सड़क की सीमेन्ट पर।
अधखुली उसकी आंखें
देख रही थी सपने
भूत और भविष्य के..

सड़कें नापता, शायद भूखा प्यासा
लुढ़क गया था वह
अंधाधुंध भागती
किसी ट्रक का झिंझोड़ता धक्का खाकर।
सड़क पर फैली थी उसकी बांह।
हाथ के पास पड़े, झटक कर खुल गए
पुराने अटैंचीकेस में से निकल
बिखरी पड़ी थी।
शीशियां, ट्यूबें, डिब्बीएं।
सर के पास बिछा था डंडे से सिला,
नीले खद्दर पर, लाल अक्षरों में लिखा इश्तिहार
''चूहे, काकरोच, खटमल मारने की
शर्तिया दवाएं!''

अंधाधुंध भाग रही थी
टैक्सियाँ, मोटरें-ट्रकें,

तेज़ कदम आ-जा रहे थे शहरिए
महानगर की रफ़्तार के जादू के चक्कर में।
किसे फ़ुरसत थी, परवाह थी
पलभर रुके, एक आंसू बहाने की!
किसकी जुर्रत थी
उसके बारे में इत्तला देकर
अपनीजान ख़तरे में डालने की!
या, इस निज़ाम के खिलाफ
भड़क उठने की।

यह सुख

खिड़की से बाहर
मेरे बगीचे के पेड़ पर
खिले बसन्ती फूल!
चमकीले-नीले भंवरे
मंडलाएं कलियों पे,
कमरे के अंदर
प्रभात का धीमा प्रकाश,
ताज़ी शीतलता।
बाहें पसार सोई मीठी नीन्द
यौवन में पग धरती।
मेरी सुन्दर बिटिया।

होंठ ज़रा खुले
ज्यों अभी कुछ कहेंगे,
बंद पंखड़ियों-सी पलकें।
खिड़की के बाहर से झांकता
हल्का उजाला मुख पर
नज़रे, बद्दूर!
यह सुख
स्वर्ग-सा अनुपम।

वहां, दूर

नीला, झिलमिलाता समुन्दर।
क्षितिज पे उतरा, लालविम्ब
अस्त होने लगा सूरज।
मेरी उंगली पकड़े
किनारे की रेत पे खड़ी
छोटी मेरी बच्ची
अचरज-भरी देखे
कहे, मां, वहां चलो!
किश्ती में, वहां, दूर
जहां सूरज
पानी में नहा रहा है!

वरदान

बरफ़ से सफ़ेद शगूफ़ै से सजे
ओ सेब-वृक्ष!
यौवन की उस चाँदनी रात
तेरी सुगंधित छाया तले खड़ी हो
मैनें तुझसे एक वर मांगा था,
मैं तुझ जैसी बनूं
सिरजनहार, महकों भरी!

एक मौन मुस्कान
तुम मुस्कराए।

आज
बरसों की मुशक्कतों के बाद
अंधेरे, मट्टीआं, चट्टानें-चीर,
बाहर आ,
विशाल नील गगन देखती,
तेरी रहस्य-मुस्कान
का अर्थ समझ रही हूं!

चित्र

रात के उनीन्दे, उदास
लम्बे उसास भरते सागर पे
उड़ती, भटकती एक पीली तितली,
जाने कहां जा रही
किसे ढूंढ रही...

सागर की उदासी से बेमुख
खिलखिलाएं, हंसे, रेत पर उछल उछल गिरें,
इक दूजी के गले लग जाएं
लहराएं-लहराएं छोटी छोटी लहरें।

किनारे की रेत पे बैठी
मैले फटे, फ्राकवाली,
छोटी क्रिश्चियन छोकरी
अधखाया-फेंका नारियल चाट-चाट खाए
और उलीके चित्र उंगली से
रेत पर इन्सानों के,

दांत उलीके उनके दैत्यों से
और उन्हें
पैरों से मिटा, बुझावे।

आज फिर प्यार

उत्तरी हवा के
ठंडे, रूखे चुम्बन में,
कोमलांग-इकहरे वदन वृक्षों की
झील में खो जा रही
सलेटी-पीली-केसरी परछाइयों में आज,
ज्यों मृत्यु-नीन्द सोया प्यार
फिर सांस ले
कुछ सुनने लगा है।
पतझड़ की मौन दोपहरी
और नीम गरम धूप-छाओं में,
ज़रा परे
एकाकी, ख़याल मगन टहलते कदमों तले
चरमराते सूखे पत्तों में,
झील के बरौज़े रंगी पानी से उठती
नील गहन आकाश में उड़ती
ईथर रंगी भाप में, प्यार
आज, मन ही मन
एक मीठी-उदास-धुन
गुनगुना उठा है।
दूर, चिनार के
जलते, झुलसते, चटखटाते
तांबे रंगी सूखे पत्तों से
फ़व्वा रे-सी ऊपर उठती
धुंए की गंध से,
पेड़ों-परबतों की
दूर-दूर बिछने लगी
सुरमई छायाओं में, आज
उमड़ आया है
नयनों में, हृदय में
फिर प्यार।

अनदेखे शिखर और अन्य कविताएं

''यह सभी रचनाएं अपने घर 'इकराम' को समर्पित हैं। 'इकराम' फारसी शब्द है। अर्थ है 'भेंट'। बम्बई के समुद्र किनारे पर, जुहू गांव में स्थित हमारे इस घर को यह नाम 'बलराज साहनी जी' ने दिया था।

बलराज जी के संग जीते और उनकी उपस्थिति-अनुपस्थिति के बाद भी बरसों से इस घर और बगीचे ने मुझे शरण, राहत और प्रेरणा दी है।

न सिर्फ मेरे ही लिए बल्कि, निजी परिवार और देश-विदेश के अनेक-अनेकों के लिए, 'इकराम' सांस्कृतिक, चेतना, और प्रेरणा केन्द्र एवं प्रतीक रहा है.........

–सन्तोष साहनी

चिन्तन की घड़ियों में

हर रोज पढ़ती हूँ, सुनती हूँ,
कि विश्व में हर दो मिनटों में
किया जा रहा है खर्च, अरबों खरबों डालर
भयंकर जंगी हथियार बनाने में,
प्राणी मात्र, जल थल अंतरिक्ष
सभी के विनाश के लिए।

सुनती हूं, पढ़ती हूं कि शस्त्र निर्माता
चलते और चलवाते है कुटिल चालें
ताकि दुनिया के कोने कोने में
फैले परस्पर विरोध, बढ़े आतंक,
ताकि भाई भाई, कौम, कौम, देश-देश
आपस में लड़ें, लूटमार करें, करवाएं
जाति-धर्म, रंग भेद, ऊँच नीच के नाम पर
ताकि रौशन, सलमात रहे
शस्त्र व्यापरियों की सत्ता,
उनके ऐशो आराम के साधन सुविधाएं।

यह भी पढ़ती, सुनती, देखती हूं कि
युद्ध के व्यापारी, भगवान को भी
अनेक भेदों में अपने स्वार्थ के लिए बांट,
मंदिर, मसजिद चर्च गुरूद्वारे बनवा
चढ़ावों की रिश्वतें दे,
अपनी कुचालों कुनीतियों में
उसे अपना भागीदार जताते है।

पढ़ती सुनती और देखती हूं कि
बढ़ रहा है चोरी और खुले आम भी, व्यापार
दिन रात चौगुना, नशीली दवाइयों का भी,
ताकि उनके प्रभाव में घटे चेतनता

धुंधलाएं चिन्तन शक्तियाँ आम आदमी की,
और वह न समझ पाए
अपनी बुनियादी समस्याएं
समस्याओं के बुनियादी कारण।

इन कुटिल चालों, कारवाइयों के
गंभीर असर और प्रहार
रोज़ पड़ते हैं मेरे जीवन पर
मेरे घर, परिवार
मेरे गांव, शहर, प्रांत, देश पर।

रहती हूं पल पल शंकित
दहशत में आती हूँ बढ़ते आतंक से
डूबती हूँ निराशा और उदासी में
पल पल धोखा खाने के भय से।

पढ़ती, सुनती, हूँ अनुमान करती हूँ
अपने निकट, आसपास. परे और दूर देशों के
उन करोड़ों के बारे में भी, जिन पर
होते है पल पल अन्याय, अत्याचार,
जिनकी लहुलुहान चीख पुकार
दबी है भय, ग़रीबी और अज्ञानता तले,
जिनका विद्रोह, घुलना घुखता है
उनके तन-मन के भीतर,
जिनका क्रोध यदि भड़कता भी है तो
दोस्त दुश्मन में अन्तर नही समझ पाता
क्रोध जो जागृत हो, संगठित हो
उनकी केन्द्रित शक्ति, साहस नहीं दे पाता उन वीर साथियों को,
जो विपदाएं, यातनाएं झेलते
सूलियों पर लटकाए जा रहे
बन्दूकों, गनो, बमों से छलनी किए जा रहे भी
खड़े है स्थिर,उद्देशपूर्ण, दृढ
आर्थिक, राजनैतिक न्याय,
सच्चे मानवीय मूल्यों के मोर्चों पर।
वे बहादुर

जो करते है जीवनदान इसलिए
कि विश्व मानवता
भूख, ग़रीबी, बीमारी, निरक्षरता
परस्पर विरोध और हिंसा के
नरक से मुक्ति पाकर
शान्ति प्रगति और समृद्धि के
खुले, स्वच्छंद आकाश तले
शस्य श्यामला धरती पर
राहत की सांस लें।

सोचती हूं
जब कभी, हम सभी, होंगे
जागृत, जागरूक, स्पष्ट उद्देशपूर्ण
संगठित और सशक्त, तो
हर दो मिनटों में
दो अरब डालर खर्च करती
जंगी हथियार बनाने वाले व्यापारियों की
विश्व विनाशकारी फैक्टरियां, शस्त्रागार
क्या सदा के लिए बन्द न करवा देंगे?
ताकि अरसों से लूटी मारी जा रही
विश्व मानवता की अपार संपत्ति
विश्व मानवता के जीवन
सुख कल्याण के लिए प्रयोग हो.....

सिंहासन पर

सिंहासन पर विराजते ही
कभी सखा, आज राजा
तरस खाती, व्यंगभरी दृष्टि से देंख
मुस्काए! बोले-
तू?
''है तेरा भी कोई अस्तित्व, मूल्य''?
''हूँ मैं मानव,
इसीलिए महान।
सिरजनहार शक्ति का
सर्वोत्तम चमत्कार!
देव की प्रतिमा।''
या मेरा मौन, सत्य उत्तर।
नही रहा था सामर्थ्य पर
यह सुनने का
सिंहासन आ़सीन होने पर
राजा में।
उदास मुस्कान लिए
अनुभव कर रही थी
साधारण पर महान, मैं।

जीवन

(बड़ी बहन सत्यवती मलिक की गंभीर बीमारी के समय)

(एक चित्र)

मानसिक या शारीरिक
किस कारण? एकाएक
रूक गया कुछ ही देर के लिए
दिमाग की रक्त प्रवाहिनी शिरा में
एक अणु खून का
स्वस्थ, नियमित प्रवाह।
कर गया इतना बवंडर!

स्थिर है तेरे दिल की धड़कन
ठीक ही चल रही है तेरी नब्ज़
लेकिन, चेतनता! जा चुकी है प्राय:
न जाने कितने, कितने सेल दिमाग के
जो कुछ दिन पहले
रखे थे तेरा अंग प्रत्यंग
हर धमनी, शिरा, रोम रोम
स्वस्थ, सुचेतन, सक्रिय, स्वसंचालित,
अब पड़े है
निढाल, निस्पंद, मृत प्राय:

आज पड़ी है तू
मेरी विदुषी बहन
अस्पताल की शय्या पर
अर्ध चेतन, अचेतन सा तन मन लिए
झूल रही है झूला
मृत्यु-जीवन का.....

किन्तु
किसी आदर्श के लिए जीना
सदा रहा है तेरा स्वभाव
सो अब भी
कर रही तेरी आत्मा, तेरा तन-मन

जीने के लिए प्रयास।
कर रहे है, प्रयास
मानव के, व्याधि-मृत्यु पर
काबू पानेके सतत प्रयत्न के प्रतीक, डाक्टर!
सफल हो उनका प्रयत्न
सफल हो बहन
तेरे बन्धु-बांधवों की प्रार्थनाएं!
उनकी प्रेम सेवाएं...!
बैठी हूं प्रार्थना करती, आशा लिए,
आज सबेर भी तेरे पलंग के पास।
प्रबल हो, सफल हो तेरा मनोबल
जागे तेरी सुचेतनता
तेरी सुसक्रियता, स्वसंचालन,
जागे तेरी, पहले सी आदर्शपूर्ण चिन्तनशीलता।
जय हो जीवन!

प्रिय मंजु को

(दूसरा चित्र)

और आज ही शाम
थोड़ी देर के लिए,
तुमसे किए वादे के मुताबिक
आ बैठी हूं, इस थियेटर हॉल में,
तुम्हें रंगमंच पर
भरतनाट्यम नृत्य नाचते देखने के लिए
मेरी नवयुवती सखी मंजु!

सतत् कठिन अभ्यास का
विश्वास लिए, सुचेतन सुशिक्षित
उमंग भरा तेरा तन-मन!
विभिन्न लय-तालों में पिरोई
संजोई कथाओं के चरित्रों को
संतुलित सौंदर्य से बखानता
थिरकता तेरा अंग अंग!
पल पल स्वस्थ रक्त स्पंदित करती
सुप्रवाहित तेरी शिरा शिरा!

स्व सुसंचालित
रस-रंगों भरी कथाएं बखानते
तेरे भावपूर्ण नयन युगल,
दीपकों से प्रज्वलित।
कभी होती तू गतिमान,
कभी किसी स्थिर मुद्रा में
भित्ती चित्र सी,
सुन्दर पत्थर मूर्ति सी,
हमारे सम्मुख खड़ी होती तू!
इस समय सुकेंद्रित
तेरा संपूर्ण व्यक्तित्व
आश्चर्यान्वित, आनन्दित कर रहा है
मुझे और सभी दर्शकों को प्रिय मंजू।

भूल रही हूं
तेरे कला-भाव पूर्ण नृत्य में
थोड़ी देर के लिए
अस्पताल शय्या पर पड़ी
अर्ध चेतन अचेतन सा तन-मन लिए
अपनी बिदुषी, बड़ी बहन का
चित्र--

विकसित-अविकसित

स्थिर मन हो
अनुभव कर, मुस्कुरा, देख
अन्तरतम-बाहर
यह खेल--

एक जो है अभी अविकसित
कुंआरी नरम धरती!
खोद उसे ज्ञान शक्ति से,
बीज-जल-धूप-वायु दे, इसे
खिल गया यदि कोई फूल
करेगा जग सुगंधित........

स्थिर मन
अनुभव कर, मुस्कुरा, देख,
उसे भी
जो जानकार होता भी
करता विनाश सृजत सुजान का
वह भी तो है अनजान ही,
बंजर, कठोर विषैली धरती!

स्थिर मन
अनुभव कर, मुस्कुरा,
उपेक्षित हो
घायल होकर भी, देख खेल
अन्तरतम, बाहर
विकसित-अविकसित की।
हंसते, कर
कर्त्तव्य।

यह मानव मन
दैवीय शिखर न छूह ले
यदि चाहे, स्नेह स्निग्ध
प्रकाश किरण!

कौन था वह

कौन था वह ?
कहां से आया था वह पंछी?
शांत चित्त, अकेला, मनमोहन?
आया मेरे आंगन
बैठने को अमलतास की ऊंची टहनी पर
मुझे मेरा आंगन देखने,
कवि, दार्शनिक की भांति....
कभी वह बन जाता शिशु सा
चहक, जगाता मेरी ममता, वात्सल्य
मेरे बालपन की स्मृतियां....
कभी अचानक मैं देखती उसे
मेरे बगीचे की क्यारी में खिले
डेलिया फूल की नाजुक टहनी को
सहारा देने को लगाई सूखी टहनी पर
बैठकर चुपचाप सुनते
मेरे बजाए तान पूरे को,
मेरे गाए विलम्बित भैरवी आलाप को...
कमरे की खिड़की से बाहर देख
जब मेरी नज़र उस से एक होती
तो जाने क्यों, वह उड़ जाता!
नज़रों से ओझल हो, छिप जाता
बोगन विला बेल की
घनी हरी पत्तियों, लाल सफ़ेद फूलों में,
या चुपके उड़, जा बैठता
अमलतास की ऊपरली
वसंती शाख पर।

यह घर

यह घर? अब
　　　　न तेरा, न मेरा
है यह अब
　　　　एक स्मृति, जिस में
जीती, गुज़रती मैं
　　　　देखती हूं, उन्हें, जो
पार कर गए जीवन,
　　　　और उन्हें भी जो
जीवन ही में कर गए
　　　　किनारा।......

तन-मन सहलाने को
　　　　देख रही हूं, खिड़की सेबाहर
यौवन में आये
　　　　गुलमोहर, अमलतास के
दो पेड़ों को,
　　　　एक पे वासन्ती, एक पे आ रहे
केसरी फूल...
　　　　खिल रहे फूल, चुपचाप मुस्काएं
मन, भरमाएं,
　　　　देखे मुझे, देखें यह घर
देखें विश्व जीवन.......

इन वृक्षों की
　　　　बलिष्ट बाहों के बीच से झांकती

नील गगन में खेल रही
नन्ही एक बदली जोड़ी
चौमांसे के आगमन का
संकेत देती,
यही हैं सखा आज मेरे.....

होंगे शायद
उस किसी तपस्वी के भी. जो
खो चुके आपने 'घर' की
खिड़की से बाहर खिल रहे
अमलतास-गुलमोहर की
बलिष्ट बाहों बीच से
देखता होगा, नील गगन में
खिलवाड़ करती
चौमासे के आगमन का
संकेत देती, किसी
नन्ही बदली जोड़ी को।

भोला प्रेमी

सदा ही भोला
रसिया प्रेमी वह।
कभी न बूझ सका
अपनी कृड़ाओं से
खाक मिलाई है ज़िन्दगियों की
पहेलियां।

पवन

पवन, धीमे सरसरा,
कुछ कहती है कान में,
अदृष्य कोयल बन,
कुहुकती है
शायद कोई गाथा,
कोई पुराण कथा,
गुनगुनाती है कोई
आदि अंतहीन लोरी।
कहती है, बूझ! अज्ञात की
यह अनकही पहेली...
काश! मैं सो सकती
इसकी हिलोरियों में
शिशु सी!

एक प्रीत कहानी

माइंयां पड़ी कुंआरी
के हाथों पे लग रही
सुगंध, उमंग, आस भरी रंगीली मेहन्दी
के छींटे कुछ गिरे
दुल्हन के सजे कमरे के फ़र्श पर भी।
छोड़ गए अमिट सी निशानी।
आजकल वे दाग़, नित दीखें,
मुस्काएं व्यंग भरी मुस्कान,
कराएं याद, छोटी सी
कुमूल्य हुई, रद्द की गई
एक प्रीत कहानी!

तेरी चिट्ठी

रुखी, कड़वी चिट्ठी तेरी,
शुक्र है तब आई जब
चूस रही थी मैं
अमृत मीठा आम!
नहीं तो
टूट न जाता
मेरा विश्वास,
धरती पर से।

छांह-धूप

मित्र के रूप की
छांह तले बैठी वह
कांप कांप जाए,
चाहे धूप!

तन बाहर, मन भीतर

तन बाहर, सांझ किरणें
रूप बदलें पल पल
सजल,कुंआरी घास की
रंग श्रुतियों का.....।
मन अन्दर, बड़े ज़मा
उग, पल जवान प्रौढ़ हो रही
दुख की आकाश वेल....

तन बाहर
उमगती पलती, निखरती
स्वर्गीय सौंदर्य सी, सहज कल्पना प्रेरणा सी, घास...

मन भीतर
अजगर सांप सा
लपेटों में लेता

सभी सत् निचोड़ता
स्रोत सुखाता, दुख!

कलियों के प्राण

ऊँचे टीलों पर,
नील, असीम गगन तले,
कल जन्मी कोंपलो में से
आज झूमती कलियां!
रूनझुनाएं छनछनाएं, झिलमिलाए,
जगमगाए मशालों सी
गुन गुंनाए मधुमखियों सी।

बेपरवाह, लापरवाह
अल्हड़ मासूम
छोटे, सुकुमार वृक्षों पर
कुछ परसों, कुछ कल
जनमी, खिली, विहंसी
इन कलियों के, छिनभंगुर
प्राण!

सतरंगी रूप

आज देखा तेरा
सतरंगी रूप! अनुपम, अपूरव, साकार, निराकार!

सुना तेरा नाद, अनहद
जल थल जंगम में
ब्रह्मांड में,
ब्रह्मांड से भी परे,
अनगिनत श्रुतियां
गुंजन करता।

अपना जीवन दीपक

तेरी लौ की कशिश
है मोहक कितनी!
पर चाहूँ मैं जीना
ज्योर्तिमय कर
अपना जीवन-दिया भी!

अनदेखे शिखर

फिर मैं वन-पर्वत के संग!
वन-पर्वत की छुहु से
हुआ निर्मल, शान्त तन मन।
ढलवानों के तीर, छूते
विशाल झील की गहराइयां!
आकाश के रंग-शेडों की परछाईयां
झील सतह पर मृदुल हिलोरियां लेती।
मंद शीतल पवन से सरसराती, छपछपाती
बालिका लहरें....

पतझड़ के असंख्य पत्ते
पीले भूरे, सुनहरी,
याद दिलाते बीती वसन्त की....
मेरे ख़याल, भटकती भटकती सतरंगी तितलियों से,
लेते उड़ाने
गुनगुनाते, गाते बन पंछियों से....

हुई निच्चिन्त, बाल भोली मेरी आंखें
सहज खुल देखें, निहारें,
अंकित करें नए अनुभव
पहचान कुछ पुराने...

आकाश में लकीरें, नक्काशिया
लम्बे वृक्ष समूहों की,
फैली ऊँची शाखाएं....

विचरण कर रही मैं,
मगन, खोई सी, चुपचाप,
सघन वन राहों पर....
उनीदी सी पगडंडियों को
धीमे चौंकाते, खनखनाते,
पेड़ो से नीचे गिरते,
पवन झकोरों से एक दूजे के पीछे दौड़ते,

वन का मौन भंग करते
वन पंछियों के सुरो से
सुर मिनाते, ताल देते
सूखे पतझड़ी पत्ते....

वृक्ष तनों के करीब आ,
तनों से पीठ लगा
आराम करने लगी चढ़ती दोपहरी में
वृक्षों की छायाएं...

चढ़ाइयां चढ़ती वन राहों का
हर मोड़, भर रहा मन
किसी रहस्यमयी होनी से।
इससे आगे क्या?
इस मोड़ से, उस मोड़ पर
कौन सा वृक्ष, अभी अनदेखा ?
कौन सा वन-फूल-वेल ?
कौन सा उड़ता पक्षी
वन पर्वत का?
कौन सा संकेत? नई दिशा?
कौन सी नीली-काशनी
पर्वतमाला ? कौन सा
अभी अनदेखा शिखर....?

वसन्त पंचमी

वसंत पंचमी आज!
आज ज़िंदगी
कलेवर बदलना चाहे,
नए स्वर, नए राग
नई स्नेह उमंगे नई सतहें, नई गहराइयाँ खोजना चाहती,

नया समय
समय की नई परिभाषा सृजन करना चाहती!
नए अवकाश,
मानव के लिए नए सुख की
प्रार्थना करती
ज़िंदगी आज!

नए मील पत्थर गढ़ना चाहती,
नए संकेत चिन्ह, नए अर्थ
खोजती आज भाषा,
धरती नए बीज नई कोपलों को तड़पती
आज आत्मा!

नई राहों, नए मोड़ो से
नए दृश्य, नई मंजिलें देखने को उत्कंठित
आज प्राण!
आशावान प्रतीक्षा सी
वृक्षों से आच्छादित वन वीधियो पर
पग धरना चाहे जीवन।
नए रंग, नई सुगंध
नए स्पर्श

नई धूप छांह
नए जल थल
देखना छूहना
अनुभव करना चाहे जीवन
आज वसंत पंचमी को!

चेतन मनुष्य

तू है सुन्दर
मै हूं
सौदर्य पुजारिन,
जी न भर
तुझे देख देख।

पर
नही है तू
पछी पंखों सी उड़ती
कोई बदली, नील गगन में,
नहीं तू
कोई पहाड़ी झरना,
कोई झील, कोई चश्मा
तू है, चेतन मनुष्य!

नहीं दे सकता
केवल
तेरा अनुपम शारीरिक सौंदर्य
मुझे
पूर्ण, सतत आनन्द!

दे सकता है आनन्द
तेरा सुकर्म
तेरा सत् व्यवहार
तेरी मानवता।

ऋण

ऋण लौटाना था जो
किसी रूह का,
लौटा चुकी हूं शायद।
नहीं तो क्यों
इन दिनों, गीत गाता
सुबह, शाम, दोपहर
वह सुंदर पंछी जोड़ा
मेरे एकाकी आंगन के
एकांकी गुलमोहर की
कोमल शाख पर।

मित्र पक्षी

छितराई बदली से पंखों वाले
उड़ रहे ओ पक्षी
तुझे प्रभात वन्दन!
प्रभात किरणों पे आरूढ़
दुधिया पंख पसार,
किस छोर से उड़ता आया?
उड़ चला किस दिशा देश को
ओ स्वर्गीय पंक्षी
हिमालय पुत्र?
कौन है तू मित्र?
क्या है तेरा नाम पता?
है तू कोई वन मुरगावी
कोई कूंज अकेली?
ढूंड रही कोई खोया संगी?
या कोई उषाकाल प्रेमिका
उडती किसी अदृश्य गगन की ओर
या, कोई एकान्त वासिनी,
पूरब पवन पर लहर तैरती
गगन लांघती, कभी
पवन पे आसीन होती?
उषा किरणें
लांघ रही तेरे
बदली पंखों के बीच से,
टांक रही तुझे
सुनहली कन्नी,
सागर तीर की
शीतल रेत पे लेटी मैं,
देखूँ तेरे बदली पंख।
सोचूं, यदि मै भी उड़ जा सकती
दूर, दूर किसी
देश अजाने?

आनन्द

वरखा नहाए नारियल समूह।
आकाश में
सलेटी बादलों की उड़ान।
आज की सबेरे का पल पल
मेरे अंग अंग के संग
रीझ से मुझे निहारता, छूता
ओंठ चूमता, आलिंगन करता
जैसे कोई देव पुरुष....
और किसी पल वह, झलक दिखाए
किसी अनासक्त शान्त मन
जुग जुग एक ही वेश में
जोगी सा....।
छत की अगासी पर बिखरी
रात की ओस बुंदियां
कंपकपाएं, किरण-रंग झलकाएं,
नृत्य करें...
मेरा सत्-चित्त, सुने अनहत आनन्द
सकल ब्रह्मांड में गुंजन करता!

तकरीबन कामयाब

पचहत्तरवीं सीढ़ी चढ़ चुके
तकरीबन कामयाब के
आजू बाजू, इर्द गिर्द
टोलियां !
तारीफ़ कारों
लाचारों,
कलाकारों, इन शॉर्ट
 चमचों की !
गाने को गीत उसकी
पूर्ण कामयाबी के
शेष बची सीढ़ियां चढ़ने के लिए,
उसे हल्लाशेरी देने को,
ताकि वह
रेस में हार रहे
या हार चुके घोड़ों-गदहों की
पीठ सहलाता रहे उनकी परवरिश करता रहे...

मुंह उसके पे
 सच कहना उचित नहीं!
कहीं उसके अहं को
लग न जाए चोट,
और, यह भी तो,
कि कभी उसकी
आंख ही न खुल जाए
सच की।
और बंद हो जाए
रेस में हारों की
परवरिश!

कसौली में अक्टूबर सांझ

नीले गगन के क्षितिज पर लहराती
हिम पर्वत मालाओं पर बैठा
अस्त हो रहे सूर्य को निहारता
पूर्व का एक बादल
लाल हो गया अंगार सा,
जलता जलता हो गया
भस्म सा सफ़ेद, ठंडा.....

नीचे, घाटियों की झीलों, नदियों से
दिन भर की धूप से भाप बनी
ढलानों पर चढ़ने लगी
नीली पतली धुंध, बाढ़ सी,
आ पहुंची ऊपर, मेरे करीब और
कुछ दूर का, बहुत दूर की, पर्वत श्रृंखलाओं पर....

मीलों मील फ़ासले उड़ते
आ पहुँचे पक्षियों के काफ़िले
अपने अपने छिपे घोंसलों पर...
मौन संध्या, प्रार्थना सी करती....

अब तैरने लगा पर्वतीय संसार
अक्टूबरी धुंध के समुद्र में....।

निचली, ऊपरली पर्वतमालाओं पर और
नीचे वनों में से झलकने लगी बत्तियां
पर्वतीय अंधकार के
अपार, गहन, महासागर में......

अक्स

तुम हो सुन्दर
या मेरी दृष्टि सौदर्य पूर्ण
अक्स जिसका
झलके तुझ पर ?

यह नहीं जानते

नही जानते यह कि कलम में शक्ति है,
नहीं जानते यह कि कलम में ज़ोर है,
जो इनके शोर से कहीं अधिक घनघोर है,
जो इनके आतंक को लगाती मरोड़ है,
नहीं जानते यह कि कलम हस सकती है,
कि कलम पोल खोल सकती है,
कि कलम, मुखौटों की धज्जियाँ उड़ा सकती है
बेवफ़ाइयों, चालबाज़ियों के सामने डट सकती है
कि दुश्मन को जीत अन्याय को भस्म कर सकती है
कि कलम मंगल, उद्देश से सुभविष्य देख सकती है।

दीवार पर अक्स

स्टैंड पर रखी कैन्वस सी
अभी प्रत्यक्ष, सीधी, पक्की खड़ी दीवार!
इस 'घर' का जीवन इतिहास देख चुकी,
फिर भी किसी भविष्य की ओर संकेत करती !
अमावस रात सी
काले रंग की इस दीवार पर
कमरे की बाई खिड़की सें
झांकता उषाकाल का उजाला,
चित्रित करे चित्र
धुंधला, नित नया......
नदीयां, पर्वत, उतराईयां चढ़ाईयां
मरुथल
ज्वालामुखी, बादल, गुबांर
निमिष निमिष शेड बदलते
सतत् परिवर्तनशील
अद्‌भुत, अलौकिक,
जाने किस ब्रह्मांड के यह अक्स।

चिरकाल बाद

चिरकाल बाद
आज उषाकाल, फिर बहे
पवन लहर इक निर्मल, सुखद।
धुंधले सवेर, घर से बाहर
महानगरी के गोरख जाल से
विरक्त, अछूते से
फिर किसी सादे मेहनतकश के दर्शन!

बगीचे की घास पर
झलकें ओस की कणियां असंख्य....
चंपा की डार पर
फिर दूर से आए मित्र पक्षी के
शिशु बोल लगातार मुखरित हो रहे.....

कुछ पलों, शायद कुछ ही पलो के लिए
महानगरी के इस घर में
शान्ति, पहाड़ी गांव सी....
स्वास्थ्य भरी ऊँघ सी आ रही
थकी, टूटी मन शिराएं, फिर लगी जीने
लगी ताना पेटा जोड़ने, कातने....

फिर मेरा सृजनमय मौन
नई घास पर लेट निश्चिन्त
रचने लगा, शान्त, मगन हो
फूटती कोंपल सी, इक धुन.....।

सत्ताधारी

ओ सत्ता धारी;
तेरी नित नई क्रीड़ाओं के लिए
नित नए प्रयोगों के लिए
सुविधा-कुविधा से
सत्ता कायम रखने के लिए
तेरे नित बदलते विचारों का मार
नित बदलते व्यवहारों का भार
उठाएं वे, जो हुए तेरे अधीन।
सहन करें मुस्का, हंस, 'जी! जी!' कह,
विकसित मानव होकर भी
वे भय से, दें तुझे
आदर, सत्कार,
कुचलें अपने स्वतंत्र विचार,
दबा रखें अपनी रगों में जीवन पर्यन्त
निर्मल, सच्ची, मंगल सोच,
तेरी सत्ता सूर्य के तेज तले
पिघलें पल पल,
मरें पल पल।

उषा पूर्व

आज उषा पूर्व
बिरही वियोगी अन्धेरे का
झुटपुट बारीक परदा....
विनती, समर्पण करती
जागने, आत्म पहचानने सी लगी
मेरी रूह......
सुनने लगी, पास ही खड़े
वृक्ष की पत्तियों में आ छुपे
उस रसिया पक्षी के
तुकान्त अनुकान्त
अन सोचे, मधुर, मोहक गीत!
किसी भी युग के लिए
सच्ची स्वर श्रुतियां!
किस गुरु से सीखी रे?
कहां से लिए ज्ञान, कला
जग जीवन पर कामेंटरी करने के?
या सृजे
अपने ही आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए?

गायिका ज़ाहिदा

गायिका जाहिदा!
पाकिस्तान वासिनी बहन!
पाकिस्तान यानि
लाहौर, रावलपिंडी, सरगोधा
मुलतान, सिंध, पेशावर,
तुझे और मुझे
विरसे में मिली धरती!
वैसे ही जैसे
जालंधर, लुधियाना
अमृतसर, पटियाला
मुझे और तुझे
लाखों पीढ़ियों से मिली
छः नदियों वाली
अनमोल सुन्दर धरती!
और तुझे और मुझे
लाखों पीढ़ियों से मिले, मिल रहे
सच्चे मोतियों से जन्में
बनते, धड़ते, चमकते,
गाते, हंसते, रोते
भावनाओं, विचारो के समुद्र भरे
शब्द, बोल, गीत;---
सूरज की सतरंगी किरणों से
रेशम की तारों से
लाखों लाखों सुरों में
सदियों से पिरोए जा रहे
मुहावरों, छंदों कहावतों
तुको, दोहों, बैनो, काफ़िओं
कथा-गाथाओं, श्लोकों-मंत्रों में,
पहाड़ी, पोठोहारी, दोआबी, माझी
सिंधी बोलियों,उप बोलियों में

पिरोए संजोए सजाए
लाल, नीलम, हीरे पन्ने मोती से शब्द, बाकी---
मद्यानियों, चक्कीयों, कुओं
बीजाई कटाई की मेहनतों से उपजे
सुम्मी, गिद्धा, भांगड़ा के लय तालों में
थिरकते, नाचते, झूमते,
हीरों, सस्सीओं, सोहनियों की
अमर प्रेम गाथांए गाकर
हंसाते, रूलाते
पंजाबी जन जीवन की अभिव्यक्ति करते,
रब्ब खोजने, पाते,
प्रार्थनाए, इबादतें करते शब्द, गीत, गाथाएं,
आज हैं उदास, निराश
एक होते हुए भी, टूटे हुए
रब्ब पाकर भी, रब्ब को खो बैठे शब्द वाक्य·····
बुल्ले शाह, फरीद नानक की अमृतवाणियाँ
आज सभी की गई अजीवित, प्राणहीन,
मानों मानवता प्रेम हीन--

मैं तो स्वयं भूल चुकी थी
अपने देश के तन-मन के बटवारे की घटना,
अपने पंजाब की जख़्मी हुई
छलनी हुई आत्मा के बारे में, यह सोच
कि इन्सानी सभ्यता के इतिहास में
हुई हैं अनगिनत हो ऐसी नाशवान घटनाएं।
धरती माँ,तो धरती ही है।
धीरज शान्ति और कुछ सुख से जी रही हूँ
इसके किसी भाग पर रह कर
व्यस्त हूँ जीवन की रूझानों में--

हां,कभी मेरा मन
खो जाता था, न जाने कहां,
दिल हो जाता था मानो अकारण
उदास, निराश
ढूंडने लगता था, न जाने क्या खोया
समझ नहीं पाती थी ऐसे क्योंहोता है,

क्यों डूबती हूं, कैसी भावनाओं में?
इसे अपनी कमज़ोरी समझ,
मैं दिल बहला लेती थी
यात्राएं कर, मनोरंजन के साधन जुटा-

पर आज
उषाकाल के मौन की
भोली सजलता में सुना मैंने
तेरा मुलतानी काफ़ी में गाया
एक प्राचीन विरही पंजाबी लोक गीत
लाहौर से भेंट भेजे एक रिकार्ड द्वारा
बहन ज़ाहिदा।---

मेरी रग रग, रोम रोम
मेरे देश के इतिहास के
मेरे अपने जीवन इतिहास के
खो गए, मृतप्राय पन्नों को
फिर से प्राण दे गया है,
एक एक स्वर लहर
सदियों के सांझे सुख दुख की
भावनाओं भरा एक एक शब्द, वाक्य
तेज़ी से प्रवाह कर रहा है
जवान लहु की तरह, मेरे तन मन में!
(वैज्ञानिक,और परम्परा कहते हैं।
कि मानवीय संस्कार रहते हैं
सात पीढ़ियों तक जीव बीज में)---

तभी तो कोकिला ज़ाहिदा!
पंचम सुर में
मीठे, और दर्द भरे शब्दों में
गाई तेरी मुलतानी काफ़ी सुनती
जाग उठी है, व्याकुल हुई है,
बाढ़ से आए मेरे गरम आंसुओं की झड़ी में,
तेरे, मेरे, ज़ख़्मी, छलनी हुए दिल पर से,
पंजाब की सात पीढ़ियों के दिल पर से
स्वार्थों, अंधविश्वासों
धर्मकट्टरता, और चालबाज़ियों से

ज़बरदस्ती किए बटवारे के विछोड़ो का
लम्बा काफ़िला गुज़र रहा है
मेरे शरीर, मेरी रूह में से।
भूकंप सी एक कंपकपी से
कंपकपा रहा है मेरा तन मन,
चीख़ कर मेरी रुह कह रही है
'छः नदियों की नरम धरती से जनमी
ज़ाहिदा!
हमारे सांझे पुरखों से
विरसे में मिले, महान
अनमोल गीत गाती तूँ,
तुझे आज, पराई,
परदेसन कहने का पाप
क्यों करूं?'

क्षण भंगुर-अमर

रितु वसन्त!
मैदानी पहाड़ी पे खिला शगूफ़ा देखती
टूटी सी जिंदगी,
बुझती जगती, पुरानी हो चुकी रूह,
टूटे-जुड़ते ख़याल,
घिस चुके शब्द, भाषा,
चाहते नवीनता, नया जन्म।

उग रहे, लम्वे हो रहे
नए, मस फुटाने पेड़ों की कोमल शाखाओं पर,
धीमी मुस्काहट, जैसी
प्याजी फूलों की
छिन भंगुर रौनक!--

सकल सृष्टि के
जन्मते, बनते, टूटते चक्र से परे
सृष्टि के मस्तक पर
अमर कलगी सी
ग्रीवा ऊँची किए झूमती
नीम गुलाबी शगूफ़े की
यह कोमल टहनी!

मौन गीत

उस दिन, भोर बेला,
मौन पर्वत शिखर था सुनाता
गीत अनन्त का---
तभी,
रहस्यमयी लम्बी परछाइयों का समूह
विलम्बित गति चल
पहुँचा शिखर पर....
पर्वत पथ पर ठहरी
कुछ परछाईयां
सर झुकाए रहीं, चुपचाप
इंगित करती कुछं।
फिर गुज़रने लगी
सामने से, दूर जाती...
मै, खड़ी रही उन्हें देखती।
फिर,
बन गई परछाईयां
शिखर का अंग।....
लगी सुनने मैं
फिर अनुभव करने
अनन्त का मौन गीत...

टूटी कल

अन्तरतम की खड्डी की
टूटी ऐसी कोई कल
कि अब न काते, रेशम कोमल
भावना डूबी किरणों रंगी
कोई तार,
प्राणों से, न निकसे अब
सच्चे स्वर की अमृत बून्द...

कब, कहां, कैसे टूटी?
कैसे जुड़े, फिर से
कातने लगे मेरी आत्मा
गीत, तान?...

स्मृति

पास ही, खिड़की से बाहर
चहका, एक बुलबुल जोड़ा
गुलमोहर की ऊँची शाख पर।
तीसरी एक और बुलबुल
लुक छिप बैठी पत्तों में चुपचाप..

कुछ दूर, धुंधलके ने घूंघट उठा
दिखाया सागर का उनीन्दा सा चेहरा,
और धीमे प्रकाश में

गुलमोहर की कोमलत्तम पत्तियों का
फैला उमगता मायाजाल,
जिनकी छूह से
तेरे-मेरे दीर्घ संवन्ध की
सांझे किए सुख दुःखों की
स्मृतियां जागें...

प्रण

दुर्जन, चाहता है
तुझे दबाना, कुचलना,
अपने विषैले विचारों, व्यवहारों
कुनीतियों, कुचालों से
बनाना चाहेगा, अपना गुलाम,
ख़ुशी हासिल करना चाहेगा
तुझे कर अपने अधीन
बना तुझे लाचार।

लेकिन कवि मन
द्रष्टा! सृष्टा!
सौदर्य उपासक,
प्रकृति-मानवीय सुसंबधों
के रचयिता कवि मन!
तू नहीं झुकेगा,
दुर्जन के सन्मुख,
न तू आएगा उसके
मायावी मोहक मुखौटे के छल में..

तू रखेगा अपना तन-मन मस्तक
स्थिर, प्रसन्न, उज्जवल, उन्नत
सर्व हितकारी, आदर्शपूर्ण
दृढ़, सक्रिय, सद् विकासशील
अग्रसर होता
संपूर्णता की ओर!

युग पुरुष नेहरू

नीले समुद्र की क्षितिज धारा से ऊपर
पश्चिम आकाश, हर सांझ जब,
रंग जाता है लाली से
उसकी ज्योति प्रज्वलित मानो है
किसी महान की चिता के
अंतिम दृश्य सी...

एक याद, एक कहानी
खुशियों भरी, ग़मों भरी
सवाल सी बन, खड़ी है
एक औरत के सीने में...

एक मनुष्य का सतरंगी
जीवन इतिहास जो था.
कवि, राजा, प्रेमी, कलाकार
नौ रस रंग संपूर्ण!
साधारण और असाधारण
पूर्ण विकसित मन बुद्धि भावनाएं ज्ञान
कर्तव्य, कर्म, देह में संजोए दिन रात
एक युग पुरुष!...

सितारों, चन्द, सूरज सा मुख ले जन्मा,
नवम्बर की शीतल सांझ की भांति
अलोप, देह मुक्त हुआ....

उसकी जीवन गाथा,
देश-विश्व इतिहास के कुछ
स्वर्ण जटित पन्ने
सतत् अनन्त स्मृति!

दो रंगी बोगन विला बेल

बेलरिया परदेस की
तेरा कौन फूल वसन्त पंचमी?
कौन फूल, मेरे बालपन में देखा
वैसाखी का मेला?

तेरे निकचू पत्तों की छोटी सी छांह
कौन सा दिन मेरे बचपन का?
तेरे फूल पत्तों बीच से गुनगुनाती
पवन लहर
बालपन में सुनी
कौन सी मीठी लोरी?

परदेश के आंगन में खिली बेलरिया
तेरी पत्तियों पे मुस्कुराती धीमी धूप
मेरे बालपन का कौन सा सपना?

विडम्बना

बढ़ता, फैलता
संतुलन से बाहर हो रहा
मुम्बई महानगर!
महानगर के तीन ओर लहराते
समुद्र के, कटावदार किनारे पे बसा
मेरा यह प्राचीन गांव 'गवथन' भी
अब एक छोटी महानगरी हो चुका है।

काटे जा चुके है इसके बड़े तनों वाले
कद्दावर घनी छायाओं बाले
सैकड़ों ही वृक्ष, वृक्ष कुंज,
जिनमें सुशोभित थे
आम, अमरूद, बादाम, नीम
इमली, शहतूत, केले के वृक्ष
और घने नारियल वन....

वन काट-हड़पने के बाद, अब
समुद्र तट के रेतीले मैदान को भी
दे-ले कर घूस,
जितना हड़पना संभव है, हड़प कर
फ़टाफट बन रहे है बन चुके है
दैत्याकार, होटल, इमारतें
फ़टाफट अमीर हो रहे
लोग बागों के ऐशो आराम के लिए!.

फिर भी, कहीं, कोई, इक्के-दुक्के
अब अकेले, रह गए पेड़
बच ही पाए हैं
कुछ लोगों की संगठित कोशिशों से,
जिन्होंने इस ''गांवस्थान'' की प्रकृति की
बेरहम चीर फाड़, दुख दर्द को
अपना ही दुख दर्द समझा।

यह इक्के दुक्के, एकाकी रह गए पेड़,
अभी भी सुबह, शाम, दोपहर
हैं इनकी पत्तियाँ गुनगुनाती
सौंदर्य की सच्ची परिभाषा...
किसी गली, किसी चौराहे में खड़े
समुद्र तट के वासी
प्राचीन सुन्दर गांव समूह को खत्म होता देखते
मौन साक्षी, यह उदास एकाकी वृक्ष!...

विशेष तर यह इमली वृक्ष!
गांव की धरती के गहन अन्दर
अपने मजबूत पांव जमाए,
धरती से गज़ों-गज़ ऊपर
अपनी हरी, रुनकती सहस्र बाहें
नीले आकाश में फैलाए,
किसी प्रौढ़ आयु राजपूत सा
सुन्दर, सुगठित
यह इमली वृक्ष तो
बम्बई भर के वृक्षों में
सबसे सुन्दर की उपाधि भी पा चुका है।

खड़ा है अब यह
'विकसित' हुए, फ़ैशनेबल, बाज़ारी, व्यापारी....
चौराहे के ऐन बीचं,
चारों तरफ घिरा मोटरों टैक्सीओं बसों से
पांच सितारा होटलों में आते जाते
बड़े लोगो की बड़ी मोहरों की धूल से घिरा।
धूल में लिपटा फिर भी
धूल से ऊपर उठा सा,
आकाश की धूमिल नीलिमा की ओर
भुजाएं पसारे, उड़ता सा,
यह अति सुन्दर इमली वृक्ष!
जिसके तने पर चिपकाए जाते है अब
किस्म किस्म के व्यापार धंधों की
पब्लिसिटी के बदसूरत इश्तहार......
चौमासे से पहले की

गरमी भरी रातों में, उनीन्दी मैं
घूंट पाती पीने को उठती हूँ,
तो नजर पड़ती है खिड़की से बाहर...
चौराहे के इस इमली वृक्ष के नीचे
खड़ी, बैठती, टहलती,
कभी सड़क पर लेटी उस पर,
वह जो अभी भी स्त्री है न?
वह जो कभी किसी मां का
दूध पीती शिशु रही होगी,
शायद किसी झोपड़ी या घर में
पली-खेली भी होगी,
किसी की बहन और किसी की दुल्हन भी रही होगी,
शायद एक नवयुवती मां भी, बहु भी,

बहु, जो अब बालकटी,
दान दिए फटे वस्त्रों में
कभी बिना अर्थ मुस्कराती और बतियाती है।
और, उदास,कब से उनीन्दी बड़ी आंखों से
इधर उधर देखती है, शून्य में!
अपने मैले मुख तन पर अभी भी
यौवन की शक्ति और सौंदर्य की स्मृति लिए,
अपना आप भूली, सुध गंवाई
ज़िन्दा है।

अपने घर की चारदीवारी के भीतर
सुरक्षित मैं,
देखा करती हूँ, कसूरवार नज़र से
खिड़की से बाहर, इन गरमी से तपी रातों में
चौराहे में, एकाकी खड़ी,
सुन्दर एकांकी इमली वृक्ष की शरण आई इसे
जो है अरक्षित, दुत्कारित, उपहासित,
जो है बार बार मर्दों से इस्तेमाल की गई
और गंदे बदबूदार कागज़ की तरह फेंकी,
लुढ़कती है इधर उधर!

क्रियात्मक एकता

(इन्दिरा गांधी को समर्पित)

इमारत की सातवीं मंजिल पर, बिठाए
बड़े टैंक में
नीचे से पानी चढ़ाने वाली पंप
बिगड़ी पड़ी थी कई दिनों से,
परेशानी थी हम सभी फ़्लैट वालों को
नहाने, पकाने पीने के पानी की।

पंप को दुरुस्त करने के लिए,
आज आंगन में बैठे थे
पैरों के कल, खोली हुई मशीन पर आंखें गाड़े
ढक ढक करते
सादिक भाई और उनके मकैनिक साथी
रामू, जसवन्त सिंह और जार्ज।
एकजुट हुए, कर रहे थे मशवरे आपस में
बिगड़ी मशीन को दुरुस्त करने के
और साथ ही कर रहे थे हंसी मजाक भी
मकैनिकों की बम्बईया हिन्दुस्तानी में...

उन शुभ घडियों में
वे दीखे मुझे
न हिन्दु, न सिख, न मुस्लिम, न इसाई
दीखे वे मुझे
सिरजानहार विश्वकर्मा के
लाडले सपूत!
यह चारों और इन्हीं जैसे
करोड़ों करोड़ो देशवासी

किसी भी गाँव-शहर-प्रांत में
खेतों सड़कों, रेलों
मिलो फैक्टरियों दफ्तरों
शिक्षा, खोज, प्रयोगशालाओं में
समुद्र आकाश, अंतरिक्ष
उत्तर-दक्षिण ध्रुवों को जीतने वाले
एकजुट हो सोचने,खोजने और
सर्वहितकारी सृजन करने वाले,
अहं, स्वार्थ तंग दृष्टि
धर्म कट्टरता त्याग
देश की पीड़ित जनता के हित के लिए
देश की आर्थिक, राजनैतिक सांस्कृतिक
स्वतंत्रता, प्रगति के लिए
प्राण न्यौछावर करने वाले!

यही तो होंगे
भारत की आत्मविश्वासी, आत्मनिर्भर
क्रियात्मक एकता
भारत का उज्जवल भविष्य!

यही तो थे, हैं, और होंगे
धम्मपद, गीता-कुरान, गुरवाणी
और वाईबल में रचे
आडम्बर, रहित, रब्बी इबादत
मानवी प्रेम के सच्चे सुच्चे,
सपनो को साकार करने वाले
क़र्मयोगी!

यही तो थे, हैं, सदा रहेंगे
बुद्ध, नानक, गुरुगोविन्द
भगतसिंह, लाजपत राय
गांधी, नेहरु, इन्दिरा के

राजनैतिक,आर्थिक,सांस्कृतिक आज़ादी
अहिंसा, विश्वशान्ति, गुटनिरपेक्षता एवं
देश-विश्व की पीड़ित जनता के उत्थान
प्रगति के विचार-आदर्शों के
खज़ानो के वारिस, रक्षक!
जो कला, ज्ञान विज्ञान प्राप्तकर
कला ज्ञान विज्ञान के
नए मंदिर स्थापित करने वाले...

प्रभात की सुनहली किरणों से प्रकाशित
एकजुट बैठे
बिगड़ी पंप दुरुस्त कर उपयोगी बनाते
काम मगन और प्रसन्न
सादिक भाई और उनके मकैनिक साथी
रामू, जंसवत सिंह और जार्ज
सभी को देखती
सोच रही हूं...।

डावांडोल अर्जुन

आज
प्रभात की शीतलता में
करूं किसकी इबादत?
पूरब के रंगों की?
वृक्षों के हरे पत्तों की?
गाऊँ पंछीओं के संग?
सोचूं कोई खयाल?
लिखूँ कोई विचार?
देखूँ घर की अगासी से
सागर अपार?
पढ़ूँ कोई उपनिषद?
नहीं! वह आ गया
आजका ताज़ा अखबार!
चिपकाऊँ उस पे आंखें
चुंबक की तरह
पढ़ूँ छपी ख़बरें
कहां कहां हुई चोरियां डकैतियाँ
फ़साद, छोटे-बड़े जंग,
लीडर रहें कैसे
कुवेरों के संग
धन-धान होते हुए भी
कैसे रहे जनता
भूखी और नंग।
कौन देश के किस 'महान' ने
किस दूसरे 'महान' की
हकूमत छीनी, उसकी
पत्नी की इज्ज़त लूटी
किसने किसको लताड़ा

और अपना काज संवारा
इत्यादि इत्यादि..

यूं
अपना मन करूँ मैला
रात भर की नीद के बाद
सुबह ही थक गया...।

उठ रे मन
पकड़ तौलिया
चल स्नान को,
किसी पतित पावनी गंगा तीर नही
सिर्फ़
घर के नल की पतलीधार नीचे
जो कभी बहती है, कभी नहीं।
कर बदन गीला और
गा स्तुति-श्लोक
कुवेरों और उनके गुमाश्तों के
जिनकी छत्र छाह तले पड़े
लाखों करोड़ों हम
जो है स्वयं भी
महाभारत के डावांडोल अर्जुन से
खड़े युद्धक्षेत्र में
उद्देश जानते भी, उद्देश्य हीन
दिशा जानते भी दिशाहीन
ज्ञानी होकर भी अज्ञान
शक्ति एवं कर्महीन!

शारदा

इकहरे बदन की, मझले कद की
सांवले रंग की, तेरह बरस की
आकर्षक सी लड़की, शारदा।
अपनी लम्बी चोटी में
जुही की वेणी सजाएँ,
कानों में तीलीआं
नाक में पतली नथ
और साफ़, अच्छा सिला फ्राक पहने
आती है रोज़ मेरे घर में
झाड़ू-कड़का लगाने
स्कूल जाने से पहले।

शारदा, मेरे घर के अलावा
करती है काम, दो और घरों में भी,
ताके आठवीं में पढ़ती वह
अपनी स्कूल की फ़ीस दे सके,
अपनी मां की कमाई में भी
हाथ बटा सके,
घर का ख़र्चा चले और
शारदा के दहेज के लिए भी,
पैसा जमा हो सके,
क्योंकि शारदा के बाप की कमाई
तो दारू पीने में हो खर्च हो जाती है।

बम्बई महानगर की झोपड़पट्टियों में रहती
शारदा,
दूसरों के घरों में झाड़ू-कड़का लगा कर
अपनी स्कूल की फ़ीस देने वाली
अनेकों अनेक लड़कियों में से एक है
मेरे देश भारत की यह शारदाएं
अपनी ज़रूरतों के लिए मेहनत और दृढ़ता से

जी रही है छोटी उमर में ही
स्वावलंबन का जीवन।
मेरे घर में काम करती शारदा
और अन्य सभी शारदाओं के लिए मेरे मन में,
एक यही प्रार्थना है और आर्शीवाद उठता है
कि देश की धन-सम्पत्ति,
देश के वर्तमान और भविष्य के जीवन की
हर सुविधा और उपलब्धि में
इन सभी शारदाओं का भी
उतना ही अधिकार हो
जितना शारदा की उमर की
दूसरे वर्गों की शारदाओं को
बिना दूसरे घरों में काम किए,
बिना कठोर मेहनत किए,
जन्मसिद्ध अधिकार स्वरूप
मिलता रहा है, मिल रहा है
और मिलता रहेगा।

उस दिन शाम को

उस दिन शाम को दूरदर्शन पर
देख रही थी मैं
पति, पिता, पुत्र, बहन, भाई
नन्हे मासूम बच्चों के
किए गए, किए जा रहे ख़ून...
अपने सामने ही देख-भोग रही
अपनी पंजाबी बहनों, माताओं पिता पुत्रों के
दहशत, दर्द भरे चेहरे, बदन।
जो मेरे सामने चित्र से आए
चित्र से ओझल हो गए....

उन्हें देख के स्वयं भी दहशत में आई,
सिर झुकाए, सोचने लगी मैं
हमारे पंजाब, देश, विश्व को लगी
जोंक, टिड्डी, कैंसर सी लगी
इस भयंकर बीमारी के बारे में....
बीमारी जो हम सबको लगी है,
अपने अपने तुच्छ स्वार्थों के लिए
अपंनी अपनी सत्ता कायम रखने के लिए
दूसरों को खत्म करने की!...
सोच रही थी मै कि
क्या मैं और मेरे जैसे अनेकों अनेक
इस घृणित तमाशे को
चुपचाप रोज़ रोज़ देखा करेंगे?
और कायरता से
अपने ही बचाव में संतुष्ट रहेंगे?...

दिल दिमाग चीर रहे यह दृश्य देखती
मैं सोचने लगी थी कि, आतंकवादियों ने भी
मां का दूध पिया होगा,
सिरजन हार, स्वस्थ दूध।

जिससे स्वस्थ परिवार, समाज देश बनता है
विकसित होता है, उन्नति करना है...
आतंकवादियों ने भी तो सुनी होंगी बालपन में
कोई प्रेम ममता भरी लोरियाँ,
सुनी होंगी घरों-परिवारों, स्कूल-समाज में
संतों महात्माओं की
मानव-मानव एकता की पवित्र अमर वाणियाँ,
सुने होगे देश में जन्मे वीरों वीरांगनाओं के
गौरवमय गीत, गीत उनकी कुरबानियों के,
शायद कभी गाए भी होंगे।
फिर, किन रौद्र विनाशकारी विचारों
स्वार्थों, अज्ञान भरे, क्रोधी,
बदला लेने के अंधेपन में डूब गए, मर गए
वे पवित्र अमर शब्द गीत मंत्र?
कैसे बदल गए अर्थ धर्म के, इनके लिए?
धर्म जिसका अर्थ है
अपने से दुर्बल की रक्षा करना
धर्म जिसका अर्थ है
स्वार्थ और अहं व त्याग,
परस्पर विरोध वैर, असहनशीलता मिटाकर
प्राणीमात्र के सुख, विकास, कल्याण के लिए
परस्पर सहयोग!......

उस दिन शाम को दूरदर्शन पर
अपने पंजाबी भाई, बहनों, बच्चों के
दहशत दर्द भरे, अधमरे चेहरे देखती
मैं सोच रही थी....

एक चित्र

टेबल पर पड़ी
एक यूगोस्लाव पत्रिका के
मुख पृष्ट पर फोटो
टीटो, नेहरु, नासिर की।
सुन्दर एक गोल तिपाई के
इर्द गिर्द बैंठे, तीनों, कुरसियों में।
खुले होंठ, धीमी मुस्कान।
किन्हीं ख़यालों में खोई सी
दूरदर्शी, प्रकाशमयी-आंखे!
आदर्श लक्ष्य भरी
सहज बैठी शरीर मुद्राएँ।
बुन रहें सपने तीनो,
विश्वभर की मानवता की
स्वतंत्रता,
सुख, कल्याण के!

कब ?

मनुष्य एवं समाज की
बाहरी पॉलिश
चमक दमक
कला, धर्म, सुआचार, सुव्यवहार
सुविचार, सदाचार
रुहानियत, इन्सानियत के
परदे के पीछे से
लुक छिप, बार बार झांके
छिपा रह न सके,
मुंह बाए खड़ा
लम्बे दान्त, लटकती जीभ
खूनी आंखो वाला हुंकारता
दैत्य!
दूसरे का विनाश कर
अपनी सत्ता कायम रखने के लिए!

प्रकृति का अणु अणु
तत्पर, तय्यार
भगवद्गीता में वर्णित
ब्रह्मांड के अपार-विराट
विकराल रूप धारने को।
मानव,
कब देव बन
काबूं पाएगा
दैत्य पर?

अमर वसन्त!

अमर वसन्त!
क्या मैं गंवा चुकी हूँ तुझे
सदा के लिए?...

इस शरीर में अब भी,
प्राणों की रक्षा के प्रयत्न करती,
इस जीवन की
जो आरंभ हुआ सांझा, तेरा, मेरा,
अपनी अपनी प्रकृति ले जन्मा,
फिर भी इक दूजे की रग-रग
रोम रोम में समाया, संजोया, ढला
अर्ध शताब्दी जिया सांझा जीवन,
काश्मीर की स्वर्गीय रितुओं
की धरती में उपजा, विकसित हुआ
सुंगधों, उमंगों भरा
यौवन मय जीवन
क्या मैं गंवा चुकी हूँ तुझे
सदा सदा के लिए?

गुप्तचर

सीमाओं की सुरक्षित दीवारों के
अंधे अंधेरे घेरे में बन्द हो चुका था
मेरे तन-मन का सभी कि
तेरा एक बोल, शब्द,
अमृत बूंद बन
रिस आया मेरे अन्तरतम में।
किसी गुप्तचर की भांति!
किले की सभी सुरंगे
सभी अंधरे तहखानों, बन्द द्वारों को,
सुगंधित, मंद पवन सा चीर
आ विराजा
मेरे हिय आसन पर।

कहानी

तफ़रीह
और
अन्य कहानियां

विषय-सूची

- स्थित प्रज्ञा-उर्फ़-मेरे पड़ोसी
- वर्षा की बूँदें
- यमन्ना
- आ गए ताज़ाह
- तफ़रीह
- अनुभव के लिए शुक्रिया
- तमन्ना
- परछाईं
- नेगेटिव केपेबिलिटी
- रिज़ल्ट की इंतजार में

स्थित प्रज्ञा-उर्फ़-मेरे पड़ोसी

हर प्रात: एवं सायंकाल, गीता के, स्थित प्रज्ञा प्रतिष्ठित: नाम के अजर-अमर श्लोक का निष्ठापूर्वक पाठ करने के बावजूद भी मेरा मन आसन से डोल जाता है। मैं हैरान होती हूं यह पढ़-सुन-सोच कर, कि भक्त कबीरजी का मन बिल्कुल नहीं डोलता था। ऐसा क्यों कर, कैसे। और मेरा? मेरा तो पांच फ़ीसदी भी स्थिर नहीं रह पाता। हालांकि 'वह' भी (भावार्थ-मेरा मन) 'शून्य मंदिर में दीवरा बारिके, आसन से मन डोल' कर 'पिया' को पाना चाहता है। यहाँ इस कांटेक्सट. यानि संदर्भ में 'पिया' से मेरा तात्पर्य कालेज की पढ़ाई और परीक्षा में पास होने से हैं। दूसरे या तीसरे तरह के 'पिया' को मिलने या पाने की इच्छा अभी मैं तो कर-ही नहीं सकती। उस 'पिया' का तो अभी सोचना, फ़िज़ूल है, सरासर बेवकूफी! क्योंकि अभी तो मुझे एफ.ए. की परीक्षा मेंअच्छे नम्बर लेकर पास होना है। मेरा यह दृढ़ विश्वास और यह मेरी धारणा है कि किसी भी थर्ड डिविजन में एफ.ए. पास की हुई लड़की को योग्य 'पिया' नहीं मिल सकता। नम्बर पूछने मात्र से ही, उसे देखने के लिए घर आए या उसे चोरी चोरी किसी बाग़ में मिलने वाले 'पिया' का मन उपराम हो जाएगा। क्या मुझे इसका अनुभव नहीं? अनुभव पा चुकी हूँ न!

आसन से डोल जाने का दोष अधिकतर मैं अपने आपही को देती हूँ। हो सकता है, यह अवगुण, मेरे स्वभाव में, किसी हद तक मेरे पिछले अनेकों-अनेक जन्मों में किए अनेकों-अनेक कुकर्मों की वजह ही से, संस्कार बन मेरे अंतराल में धरना दिए बैठा हो। पिछले जन्मों में ही, या पिछले जन्मों से ही, इस दिशा में विशेषत: ध्यान, व मेहनत न करने की वजह से ही, मेरी आत्मा के किए, किसी बहुत ही अच्छे कर्म के फलस्वरूप या किसी शाप से मुक्त होने पर, इस जन्म में, मनुष्य देह धारण करने पर भी, यह कमज़ोरी कुछ ज़्यादा मात्रा में ही मेरे मन-तन के सूक्ष्मानि सुक्ष्म तंतुओं और स्वभाव पर छाई हो....। ऐसा भी नहीं कि मै अपनी इस कमजोरी को दुरूस्त करने की कोशिश नहीं करती। करती हूँ, बहुत करती हूं। साम,दान, दंड, भेद सभी नीतियों का प्रयोग करके अपनी प्रज्ञा को प्रतिष्ठित करने का भरसक. जी तोड़ अनथक, प्रयत्न करती रहती हूँ परीक्षा में फ़ेल हो जाने पर, एक अति अंधकारमय भविष्य के डरावे देती हूँ। या थर्ड डिविजन में पास होने पर, किसी सपनों से सुन्दर, सुघड़, सुजान, प्रतिभाशील 'पिया' के मेरी ओर से उपराम हो जाने की धमकियां भी देती है। शाम को सिनेमा हाऊस में फ़िल्म देख कर, मन को तनाव में आने से भी बचाती हूँ। एक सुस्वर्णिम भविष्य का लालच देकर उसे पढ़ाई में अग्रसर करती हूं। लेकिन, फिर भी, मेरा यह मन, आसन से डोल ही जाता है। क्यों आख़िर क्यों?

और अब मैं इस नतीजे पर पहुँची हूँ, कि मेरे मन को 'अस्थिर प्रज्ञा अप्रतिष्ठिता:' रखने में मेरे पड़ौसियों का दोष भी कम नहीं....

किसी भी ज़िम्मेदार विद्यार्थी जिसकी परीक्षा में सिर्फ़ एक महीना रह गया हो, उसकी तरह मैं भी रात को सोने से पहले, सुबह चार बजे का अलांरम लगा कर ही सोती हूँ। अगर इस जगत में अनेका-अनेक मनुष्यों को नींद न आने की बीमारी है तों मुझे दिन रात सहजता से नींद आ जाने की बीमारी भी थोड़ी सी है, विशेतया खाना खाने के बाद अगर मैने कलाकंद या आम खाए हों। इसीलिए और वैसे भी अगर मैं अलारम लगा कर न सोऊं तो ब्रह्म मुहूरत के समय जो मीठी नीद आई होती है वह तो कतई न खुले। खैर अच्छी बात यह है कि जब आधे से ज़्यादा अलारम ज़ोर से ट र्र र्र र्र! गाता बज चुकता है तो कोई मीठा आलस्यभरा सपना देखती, मैं झुंझला कर उठ बैठती हूँ और गुस्से में आ, अलारम वाला बटन दबाती हूँ। सुबह के झुटपुटे में पढ़ाई करना क्या आसान काम है? खास करके दिल्ली के जाड़े के दिनों में ऐसे दिनों में जब मोटी सी रज़ाई से बाहर नाक तक निकालते सारा बदन झर्रा जाता है। तो भी, मैं अपने सिर-पैर, रज़ाई की गुफा में ही सुरक्षित रख, इतिहास की पुस्तक को रज़ाई-ढके घुटनों पर, किसी न किसी तरीके से हिम्मत करके, खोल ही देती हूँ। पन्ना पलटने के लिए कभी कभी एक-दो सेकिन्ड के लिए बाएं हाथ का अंगूठा ज़रा बाहर से निकालती हूँ। पढ़ाई करने का यह कोई विशेष सराहनीय तरीका नही है , मैं जानती हूं। पर निगोड़ी ठंड भी तो, कहीं न कहीं से, रज़ाई के भीतर घुसने की राह ढूंढने लगती है। कभी पीठ, कभी गरदन कभी घुटनों पर हमला करती है। एक दर्रे से सरदी के आक्रमण को रोकती हूँ तो वह किसी दूसरे एकदम अज्ञात दर्रे से दाखिल होने की शान दिखाती है। हार मानते हुए, फिर भी मैं किसी न किसी तरह एक डेढ़ सफ़ा तो पढ़ लेने का संतोष और गर्व प्राप्त कर ही लेती हूँ। उसके बा ऽ ऽ द - -! होता है कि -

सामने के मकान की तेज़ बत्ती, जल उठती है। और हमारे, फ़्लैट के सामने, 'उमदा शू कम्पनी' के मैनेजर, अपने गुसलखाने का दरवाज़ा, खुला ही छोड़, फ़ुल स्पीड गर्र, गर्र, धाक थू ऽ ऽ! आइक थू ऽ । की घिनौनी आवाज़ें निकालते हुए अपने गले शरीफ़ को स्वछ-पवित्र करने लगते हैं। मैं अपने कमरे से बाहर निकल कर उन्हें, अपने बरामदे से देखने तो नही जाती। लेकिन, उधर से आ रहे 'साउन्ड इफ़ेक्टों' ही से मुझे पता लगता रहता है कि अब वे दातुन कर चुके है, अब वे गले में पांचो उंगलियाँ घुसेड़, अपने भीतर जमी, अस्वछता की तहें निकालने की कष्टमय चेष्टा में हैं। अब पूरा नल खोलकर उन्होंने अपना सर, बरफ़-ठंडे पानी की ज़ोरदार धार के नीचे रख दिया है और तभी यकायक यूँ आवाज़े आने लगती है जैसे वह कि चोर, डाकू से भीड़ रहे हो ''हरी ऽऽ हो ऽऽ मऽ! त त स त्त ऽऽ! ओ होऽम भुरऽ भुवाह स्व सुवाह ऽऽ! सवी तुर ऽऽ! वरे ऽ नी ऽ य म ऽऽ! की कभी दर्दनाक और कभी धमकियां देती आवाज़ों से मुहल्ले के सभी लोगों की नींद हराम और अगड़म-बगड़म हो जाती है। जी तो चाहता है कि रज़ाई से बाहर निकल, बरामदे में जा, इन्हें समझाऊ कि 'महाशय! आप सुबह सबेरे नाहक, अपने आपको न जाने किस किए गुनाह की वजह से सज़ा दे रहे है और दूसरों का भी सोना पढ़ना इत्यादि हराम कर रहे हैं। इतने उमदा और किस्मों किस्मों के जूते बेचने वालों को ऐसी हरकतें

नही करनी चाहिए जिससे अंततः आपके जूतों की सेल पर फ़र्क पड़ने की संभावना हो। लेकिन बस एक गीत ''कैसे समझाऊँ ऽऽ! कै ऽ सेऽऽ समझाऊँ! हे ऽ रीऽ कै से ऽऽऽ स ऽ म ऽऽ झा ऊऽ?? की पंक्ति ही मन ही मन चिढ़-कुढ़ कर गुना गुना कर, अपना ग़ुस्सा किसी कदर शान्त करने का प्रयत्न कर, अपना मन पढ़ाई में लगाती हूँ, उस पार्श्व साऊन्ड इफ़ेक्ट को भी सुनती हुई - -

पंदरह बीस मिनट, गायत्री मंत्र के भयंकरता से किए जाप की सहायता से किए इश्नान के बाद वह तौलिए से सिर रगड़ते हुए ग़ुसलखाने से बाहर निकलते हुए, पुकार उठते है ''ओए ऽऽ! बुंदेलसिंघा ऽऽ अ अभी तक उठा नहीं ऽऽ? उठ बीबा ऽ। फ़टाफट चाह तियार कर वई ऽऽ -

बुंदेलखंड सिंघ को जो इतनी कड़ाके सरदी में रात को ग्यारह बजे तक वरतन भांडे मांज कर, घोड़े बेचने वाले की कहावत की नीन्द में ग़लतान है, तड़के उठना क्यो अच्छा लगेगा। आगे से जवाब देने से, उसकी नौकरी को खतरा है इसलिए रसोई घर के फर्श पर खन्नऽ! खन्न। खऽऽनऽऽ! तीन चार पतीले ढक्कन गिरा कर ही वह अपनी भड़ास निकाल लेता है चाय बनाने से पहले, अंगीठी मे कोयला फूंकने से पहले!

तो मैनेजर साहब गायत्री-भक्ति, बरतनो के गिरने से, क्रोध, और नहाने के बाद सरदी लगी और चाय की बेताब जरुरत की मिश्रित भावनाओं से भरी, एक और आवाज लगाते है ओए नामुराद बुंदेलखंड सिंघा ऽऽ! अभी तक तेरी नीन्दर नहीं खुल्लीऽ? जरा होश में आके कम शुरू किया करो ऽऽ सुना ऽ? के नहीं सुनाऽ?

'जी बाबू जीऽ' बुंदेल खंड सिंह की बेहद उनान्दी सी आवाज़ सुनाई देती है। ब्रैकेटों से पतीले ढक्कन उठाता, गिराता, वह धौकनी से फू ऽऽ फू ऽऽ करके कोयले जलाने लगता है। इसके साथ ही साथ 'उमदा शू कम्पनी' के मालिक तार सप्तक में ''ओइम भुर ऽ! ओ ऽऽ म स्वाहा'', ओऽम अहा! उचारते संध्या-हवन करने लगते हैं। यूँ ही महसूस होता है जैसे 'शू.क.' के मालिक कड़ी शारीरिक मेहनत कर रहे हो। मुझे याद आ जा रहा है एक दृश्य काश्मीर में देखा काश्मीरी मज़दूरों का, जो ठेलों पर पत्थर-लकड़ी के भारी बोझ ढोते हुए या ऽ पी ऽ र। दस्तगीर! याऽ पीऽर! दस्तगीर ऽ! की दर्दनाक पुकारें लगाया करते थे अपने कठिन परिश्रम की पीड़ा को हल्का करने के लिए। मुझे 'शू-क!' के मालिक जी पर भी रहम आता है। बेचारे! जाने क्यों इतना भारी कष्ट अपनी जीवन मुक्ति के लिए रोज़ तड़के ही, उठाते है! काश! यह इतना कष्ट न उठाते, तो बुंदेलखंड सिंध को, मुझे, सारे मुहल्ले भर को ही नहीं बल्कि इन साहेब को खुद भी सुबह की सरदी में रज़ाई के भीतर ही रह कर, कितनी शान्ति और राहत मिलती - - !

खैर, यज्ञ-होम करके भारी भरकम मैनेजर जी धमाधम सीड़िया उतर कर अपने फ़्लैट के न जाने किस कमरे में आलोप हो जाते हैं। और भगवान को धन्यवाद देकर भी रज़ाई में से बायां अंगूठा और तरजनी का अगला भाग निकाल फिर से इतिहास अध्ययन में तल्लीन होने की पूरी कोशिश करती हूँ - -

"आलु लो ऽ! मटर लो ऽ! गोभी लो ऽ! पालक का साग लो ऽ ! बैगन लो ऽ, पियाज लो ऽ ऽ ऽ ऽ ! लम्बी हेक लगाता हुआ भाजी वाला मुहल्ले के इस मोर्चे पर डट जाता है।

फ्लैटों से भी जवाबी पुकारें मुखरित हो उठती है

"सब्जी वाले ऽऽ! ओ भाजी वाले ऽऽ! पुकारती हुई, मेरी माता जी और हमारी कई एक और पड़ौसिनी चाचीआं, भावीआं, मौसियां, रस्सीओं से बांधी अपनी अपनी टोकरियां, अपने अपने बरामदे से, नीचे लटका कर, सब्ज़ी वाले से भाव करने लगती है-

एक स्त्री 'कल तुम्हें शिमला मिरची लाने को कहा था? लाए हो कि नही?'

सब्जी वाला एक से, "हां बीबीजी।"

दूसरी से, "नहीं बीबी जी"

तीसरी से, ज़रा ठहरिए बीबी जी अभी देता हूँ आपको भी, आपको भी और चाची को भी, बारी बारी से, बारी बारी से जी!

दूसरी स्त्री आवाज "पर भाव तो ठीक लगाओ। बाजार के भाव में और तुम्हारे भाव में पूरे साढ़े चार आने का फर्क है।"

"पर बीबी जीऽ! मैं सब्जी मंडी से, इतनी दूर मुंह अंधेरे में चलता हुआ बोहनी आप ही सब से करता हूँ" इत्यादि इत्यादि - -

तब तक मेरा भी नहाने-धोने-नाश्ता करने का वक्त हो जाता है।

वैसे तो मैं कालेज की पढ़ाई के साथ ही साथ संगीत की क्लास में भी शाम को जाया करती हूँ। पर क्योंकि एफ.ए. की परीक्षा करीब आ रही है इसलिए मैं इन दिनों, संगीत में सीखे राग का अभ्यास नहाते वक्त बाथरूम में करती हूँ। आजकल वागेश्वरी की तानों का रियाज़ कर रही हूँ। मेरी छोटी बहन भरतनाट्यम सीखती है। पर स्कूल उसे भी जाने की जल्दी होती है। सो वह बाथरुम के दरवाज़े पर ही आदि ताल के बोल बजा बजा कर कहती है, 'जल्दी भी करो। मुझे नहाना है। जल्दी भी करो।"

झुंझलाकर मैं आधी ही तानों की प्रैक्टिस करके, कई बार तो आधी ही नहा कर, ड्रेसिंग गाऊन पहने बहन की तरफ घूरती, सूखाही तौलिया पकड़े वाहर निकल आती हूँ। वैसे, इतनी सरदी में सुबह सुबह कौन लम्बा चौड़ा स्नान करना चाहेगा सिवाए 'उ-शू' कम्पनी के मैनेजर साहब के!

"पढ़ाई ठीक चल रही है" "पिता जी नाश्ते के समय अख़बार और चश्मा चेहरे से हटा कर पूछते हैं।"

"जी? जी हां पिता जी --" मैं भीतर से आशंकित पर बाहर से शान्त-सौम्य रहने की कोशिश में कहती हूँ।

''अबकि डट के मेहनत करो मैट्रिक की तरह एफ.ए. में भी थर्ड क्लास आई तो आगे के लिए मुश्किलें ही मुश्किलें है'' पिताजी कहते है।

''इसकी स्कूल रिपोर्ट में हैड मिस्ट्रेस ने ठीक ही लिखा था कि दिमाग वाली लड़की है। अगर यह अपने दिमाग का ठीक इस्तेमाल करे तो कोई वजह नहीं कि यह अच्छे नम्बर ले कर पास न हो'' माताजी प्लेट में, रात को भिगोए, और सुबह को छीले बादाम मेरे मुंह में डालती हुए कहती है-

''इसे बादाम, शहद और इलायची खिलाइए रोज़। इनसे दिमाग में तरावट आती है। इमतिहान सर पर है बेचारी के।'' सुबह की सैर से लौटे चाचाजी मेरी पीठ सहलाते हुए कहते हैं।

''इस साल तो वाकई बहुत पीछे लगी हुई है, कोर्स के '' मां प्यार भरी नज़रों से देख कर कहती है।

''हां कमज़ोर भी दिख रही है। बादाम शहद खिलाइए इसे।'' चाचा भी कहते है।

अंडा, दूध, केला, बादाम, डबलरोटी आदि का नाश्ता करके मैं सीड़िया चढ़ के अपने कमरे में लौट आती हूँ फिर से पढ़ाई में जुट जाने के लिए। कमरे में हमारा नौकर चम्पीराम फर्श-दरवाज़े खिड़कियां झाड़ पोंछ रहा होता है। कहीं इधर रखी, कापी-पेन्सिल-पुस्तकें ज़रा भी उधर न हो जाए और डांट पड़े, इस मारे वह मेरी किताबों-कापियों भरी चारपाई को छूता तक नहीं। कमरे में दाखिला करते वह एक भोंदू सी हंसी हस कर कहता है, ''बहन जी आपतो बहुत ही पढ़ती है। क्या करेंगी इतना पढ़-लिखकर? कुछ खाना पकाने, सीने पिरोने के काम सीखिए। शादी के बाद आखिरकार ससुराल में यही चीज़ें काम आती है।'' यह कह कर एक बार फिर हस कर वह चल देता है। ऐसा वह तकरीबन रोज़ ही कहता है। कोई नया वाक्य है ही नहीं उसकी डिक्शनरी में।

अब, चंपीराम से कौन बहस करे। माता जी का पुराना, सरासर बिगाड़ा हुआ नौकर है। मुझे तो अफ़सोस इस बात का होता है कि यही तो कारण है मेरी पढ़ाई में एकाग्रता भंग होने के और कोसती हूँ मैं अपनी दिमागी कमज़ोरी को। दूसरों को तो पता तक नहीं चलता कि मैं किस दुविधा, द्वंद का शिकार बनी हुई हूँ। सभी यह समझ कर ख़ुश है कि मैं अबकि ज़बरदस्त तैयारी कर रही हूँ परीक्षा में फर्स्ट डिविजन लेने की - -

पढ़ाई के लिए कठिन तपस्या करने के निश्चय से मैं सीमेन्ट के ठंडे फर्श पर किताबें ले आती हूँ। अगर सुबह इतिहास की पढ़ाई एकाग्रता से नहीं हो सकती तो अब फ़िलासफी विषय की तो करनी ही होगी। इस वक्त तो आसपास कुछ शान्ति है, ख़ामोशी है... पर यह इन्डक्टिव और डिडक्टिव लॉजिक भी कितने बेहूदा विषय है। न सिर न पैर। रुखे! सूखे! इसमें कोई शक नहीं कि इतिहास का विषय भी काफी फ़ज़ूल सा विषय है। कौन सा राजा कब और क्यों पैदा हुआ उसकी कितनी रानियाँ थीं, उनमें से कितने बेटे बेटियाँ हुए हुई? राजा ने कितने युद्ध किए।

अन्य राजाओं ने उस पर कितने हमले किए और वह कौन सी ईसवी में स्वर्ग या नरक सिधारा। उसके जन्म से मरण तक की तारीखें याद करना ज़रुरी है। तौबाह! एक भी तारीख ग़लत लिख दो तो नम्बर काट लिए जाते है। ख़ैर फिर भी इतिहास इतना रुखा-सूखा नहीं जितना लॉजिक और वह भी अंग्रेज़ी भाषा में लॉजिक! आधे से ज़्यादा तो भाषा की वजह ही से समझ में नहीं आता। पता नहीं अंग्रेज़ी लॉजिक हिन्दुस्तानियों के परीक्षा कोर्सों में क्यों लगा हुआ है पिछली शताब्दी से। फिर, मेरे पिता जी और मेरे बड़े भाई दोनों ने भी एफ.ए., बी.ए. में लॉजिक विषय लिया हुआ था। मुझे तो नहीं लगता कि दैनिक जीवन में उन दोनों को कुछ भी फ़ायदा हुआ है। दोनों ही अपने जीवन में रोमांटिक और अव्यवहारिक से रहे प्रतीत होते है मुझे। पिता जी तो बस...! खैर, अब लॉजिक में रटने को कहे गए सिलाज़िज्म तो मुझे रटने ही पढ़ेंगे, अगर पास होना है और वह भी फ़र्स्ट डिविजन में नहीं तो कम से कम सैकन्ड में तो ज़रूर ही... तभी, शुरू होते है रिकार्ड, नम्बर एक *तुमने मुझको प्रेम सिखाया*

	सोए हुए हिरदय को जगाया।...
रिकार्ड नम्बर दो-	*डोले हृदय की नय्या*
	पग धरत, डरत है खेवैया...
रिकार्ड नम्बर तीन-	*छोटे से बलमा मोरे*
	आंगना में गिल्ली खेलें
रिकार्ड नम्बर चार-	*मेरे लिए जहान में*
	चैन न न ऽ करार है
रिकार्ड नम्बर पाँच-	*यारो, मैं दो जोरू वाला...*

पड़ौस के आयुर्वेदिक वैद्य जी के पास पहले तेरह रिकार्ड थे अब सत्तरह हो गए हैं जो रोज़ ऐन इसी वक्त खुले बरामदे की दूसरी तरफ़ से बजने शुरू हो जाते हैं, फ़ुल वाल्युम में। वैद्य जी मेरे विचार में किसी कबाड़ी की दुकान से यह ख़रीद के लाते है वरना साथ में खर्र, खिश, शीऽ की आवाज़ें क्यों आती। और यारो! मैं दो जोरू वाला का रेकार्ड सुन कर, तो मुझे शक होता है कि वैद्य जी स्वयं किसी ऐसी ही विपदा का शिकार है। न सिर्फ़ वैद्य जी ही बल्कि उनकी दोनों जोरुए और उनसे पैदा हुए बच्चों भी... खैऽर, मुझे उनकी घरेलू विपदाओं से क्या सरोकार! मुझे तो परीक्षा की पढ़ाई के लिए शान्ति चाहिए शान्ति। पर जब इस प्रकार के रिकार्ड मेरे कानों पर बज रहे हों तो- मैं यही कर सकती हूँ कि अपने कमरे की खिड़कियाँ दरवाज़ा बन्द करके बैठूँ। कमरों को बन्द करके किताब हाथ में लेकर बैठ जाती हूँ और ज़ोर ज़ोर से लाजिक के सिलाज़िज्म रटने लगती हूँ हालांकि पृष्ठभूमि से रेकार्डों की आवाज़ फिर भी आ ही रही होती है। लेकिन मुझे हार नहीं माननी मै बार बार रट रही हूँ एक के बाद एक करके सिलान्जिा.... तब, तभी......

आने लगती है गंधे, सुगंधे दुर्गधें हमारे फ्लैट के बरामदे के ऐन नीचे एक रेस्तरां के पिछवाड़े के आंगन से चूल्हो पर धरे, पक रहे, रोस्ट चिकन, मसालेदार मछली, पकौड़े, एसप्रेसो

काफी, चीनी स्टाइल के खाने की, जो सरद हवा के झोंकों के साथ मिलती, घुलती, बन्द दरवाज़ों के चीरों को लांघ मेरी नाक में प्रवेश करने लगती है साथ ही शुरू हो जाती है कड़ैऽ! कड़ैऽ! की दर्दनाक आवाज़ें। मुरगियों की गर्दने काटी जा रही होती हैं रस्तरां के पिछवाड़े में। बस, अब घर में बैठ कर पढ़ाई करना नामुमकिन है। कभी पकौड़े खाने को जी ललचा रहा और कभी कट रही मुंर्गियों की दर्दनाक कड़ैऽ! कड़ैऽ! से मितला रहा है।

मैं बगल में पुस्तकें दबाए घर से निकल पड़ती हूँ और पहुँच जाती हूँ ''कन्हैया लाल पार्क'' में, विशाल बाग के किसी एक छायादार वृक्ष तले।

मैं अब कालीदास की शाकुंतल के सुन्दर वर्णन, संस्कृत भाषा में पढ़ने का आनन्द ले रही हूँ। दरअसल कालीदास को घर के अंधेरों और शोरो गुल में पढ़ना ही नहीं चाहिए खास करके परीक्षा के निकटतम आने के दिनों में। अरे,कुछ चींटियां मेरी साड़ी में घुसी चली आ रही हैं, बदन के एक छोर से चलती चलती दूसरे छोरों पर पहुँच रही है। मैं एक हाथ से चीटों पकड़ कर मसल रही हूँ और दूसरे हाथ में पुस्तक का पैतीसवां पन्ना खोले प्रियवंदा और शकुन्तला की मीठी मीठी बातें पढ़ रही हूँ। अभी अभी पेड़ पर बैठा कौआ, मेरे सर पर बीट करके किसी दूसरे पेड़ पर, काय! काय करता चला गया है और वहां से मानो मुस्कुराता हुआ मेरी तरफ़ देख रहा है। लेकिन होने दीजिए। यह सब सहना होगा। अन्यथा भविष्य अंधकारमय है। मैं दुष्यन्त के आश्रम में प्रवेश करने वाले पन्ने पर हूँ-

''चना जोर गरम बाबू, मैं लाया मजेदार'' पूरी रटी कविता, रामायण की चौपाइयों के स्वर में मज़े मज़े से गाता चने वाला ऐन सामने खड़ा हुआ घूर रहा है,

चने? गरम गरम चने?

''नहीं!! जाओ, देखते नहीं मैं पढ़ रही हूँ परीक्षा सर पर सवार है।''

चने वाला मुस्कुराता है और फिर चौपाइयाँ पढ़ते आगे बढ़ता है उद्यान में अपने अपने पेड़ों तले पुस्तकें पढ़ते दूसरे विद्यार्थियों के पास। मैं सकून की सांस लेती हूँ। कोई बात नहीं। बाकी सभी विद्यार्थी भी तो ऐसे ही कष्टो में से गुज़र रहे होंगे। लेकिन उनका मन विचलित क्यों नहीं होता। होता है कि नहीं। किसी एक से पूछ कर देखूं तो। नहीं, पूछना नही चाहिए। वक्त और ज़ाया होगा। देख तो रही हूँ कि चुपचाप गुमनाम से हुए, पढ़ रहे है। कितना प्रेरणादायक दृष्य है। पढ़ना ही चाहिए।

सूरज की किरणें जब तिरछी होने को आती है तो मैं भी इतिहास, पढ़कर, फ़िलासफी के सिलाजिज़्म रह कर और कालीदास की शाकुन्तल में ''अयउत्त!'' से प्यारे शब्दों का रसास्वादन लेकर बगल में किताबे गर्व से दबाए, किसी प्रोफ़ेसर की चाल चलती घर आ जाती हूँ। तब मेरी छोटी बहन, और भाई भी स्कूल से लौट आए होते है। माता श्री मेज़ पर गरम गरम पकौड़े, दूध, चाय टोस्ट रखती है और दिन भर की मेहनत करके आए हम तीनों सवाद से खाते हैं। तभी घर के पिछले बरामदे के नीचे की गली में बोलियां बोलने वाला आ पहुँचता है और हम तीनों

बरामदे में लटक चाव से, तरह तरह के पक्षियों की बोलियों की आश्चर्यभरी नकलें सुनते है। गले में हारमोनियम लटकाए एक भिखारी संगीतज्ञ और उसकी छोटी बहन के मधुर गीत सुनते है! पड़ौसी घोड़ा डाक्टर को कुत्तों, घोड़ों को लम्बे लम्बे और सख़्त इन्जेक्शन देते देखते है, घोड़ों-कुत्तों की हिनहिनाहट चिल्लाहट सुनते है, ज़ख्मों पर मरहम पट्टी होती देखते हैं। इन सब दृष्यों में हम इतने तल्लीन होते है कि बाकी सब भूल जाते है । बल्कि अब तो मैं भी, कई एक पक्षियों की बोलियों की नक्ल, हूबहू बोलियों वाले की तरह कर लेती हूँ!

"बोलियाँ ही सुनती-बोलती रहोगी अब। पढ़ाई नहीं करनी?" माता जी की पुकार से मेरी तल्लीनता भंग होती है। काश! इतिहास और फ़िलासफी पढ़ने में भी मेरा मन उतना ही लग जाता! फिर भी पढ़ाई तो करनी है और प्रो0 साहब कह रहे थे कि इतिहास में डेट्स को याद रखना बहुत जरूरी होता है। बल्कि उन्होंने यह भी कहा था कि अबकि परीक्षा पेपर में Importance of dates in history यह प्रश्न तो ज़रूर ही आने वाला है, डेट्स यानी संवते, ईस्वीयां और तिथियां।... पर यह अंग्रेज़ी भाषा भी अजीबो ग़रीब है। इसमें एक ही शब्द के दो दो अर्थ निकलते है। मसलन डेट्स का अर्थ सन, इस्वी, तिथी ही नहीं बल्कि खजूर भी है। भला ऐसा क्यों कर हो गया? इस हिसाब से तो परीक्षक का प्रश्न The Importance of dates in arabian history भी हो सकता है। तब यह प्रश्न अधिक रोचक और रूचिकर हो सकता है। विद्यार्थी पन्ने पर पन्ने लिख डाले अरबिस्तान में खजूरो के महत्व पर। पर यह दूसरा अर्थ, तिथियां, ईस्वीयां और संवत रहने वाला प्रश्न, हाय! उफ़! तौबाह! कितना रुखा और सूखा! नीरस! फीका सा प्रश्न! चन्द्रगुप्त मौर्य का जन्म, राज, मृत्यु की तिथियां रटना भी क्या इतिहास अध्ययन है। फिर भी रटनी ही है... मुझे ऊब से, जम्हाई आ रही है...

"बहन जी, पढ़ रही है या सो रही हैं?" आइए नीचे अब। खाना लीजिए। माता जी बुला रही है। चम्पीराम अपनी मूर्खता भरी मुस्कान लिए खड़ा है।

"तुम नीचे जाओ। मैं अभी आती हूँ।" मैं बिगड़ कर कहती हूँ।

हम बहन-भाई-माता-पिताजी आराम से खाना खा रहे हैं, आपस में हसी-मजाक करते हुए सारे दिन में किए अपने कारनामें एक दूसरे को सुनाते हुए कि एकाएक माता जी चौंक कर कहती है, "लो फिर शुरू हो गया जंग", खड़े कानों से वे कहती है।

"आज कौन से घर में?" मैं प्रश्न सूचक दृष्टि से माताजी की ओर देखती हूँ। माता जी के कान जंग करने वालों की आवाज़े पहचानने की कोशिश में हैं।

"बिज़नेसमैन की आवाज़ है" पिता जी हंस कर कहते हैं।

छोटी बहन अनामिका जंग का तमाशा देखने के लिए उठ खड़ी होती है।

"खाना ख़तम करके जाओ ऽऽ!" माता जी, माता जी के रौब से कहती हैं।

"मैं तो खा चुकी।" और अनामिका बरामदे में भाग जाती है।

यह लड़ाई इतनी रोचक, लाजवाब होती है कि इसे देखने के प्रलोभन से कोई बच नहीं सकता, कोई बचना ही नहीं चाहता। बरामदों में लटक रही चिकों की ओट से हम सब देखते

हैं। गुलाब जामुन सी शकल और तरबूज़े से ही गोल पेट वाले व्यक्ति जिन्हें हमने बिजनेस मैन की उपाधि दे रखी है, दोनों बाहों में दस दस सोने की चूड़ियां, साथ ही कांच की रंग बिरंगी चूड़िया पहने, समोसे जैसी फूली हुई, अपनी धर्म पत्नि से जूझ, झगड़ रहे हैं। गाली गलौज के वार हो रहे है। भारी कदमों से, पैतरे बदलते हुए,भुजाएं इधर, उधर फैलाते, सिकोड़ते, कभी पांव पटकते, कभी भारी बूटों, से मार्च करते, कभी बुत से खड़े होते, और कभी धम! से चारपाई पर बैठते बिजनेस मैन अपने ग़ुस्से का पारा ऊपर नीचे चढ़ा रहे है। और रसोई के पटरे पर आलुओं भरी बोरी सी बैठी उनकी धर्म-पत्नि, कभी रोकर, कभी चिल्ला कर, कभी पास ही बैठे अवाक दृष्टि बच्चों को, चपत लगाकर, उत्तर देने की नाकामयाब कोशिशें कर रही है। इधर बिज़नेस मैन की दुबली पतली मानुश्री, वैसे तो खुश है कि उसकी घमंडी अनाज्ञाकारी बहु को शिक्षा एवं दीक्षा पिलाई जा रही है। दरअसल जंग शुरू भी इन्हीं की मेहरबानी से हमेशा प्रारंभ होती है। लेकिन यह जल्दी ही युद्ध विराम की कोशिशें भी शुरू कर दिया करती है। उस अवस्था में यह अपने आपको निष्पक्ष जताने के लिए ''बस, बस, बेटाऽ! अब रहने भी दोऽऽ। औरतों से मूरखता हो ही जाया करती है। आज के लिएऽ, बस इतना काफ़ी हैऽ। तुम भी थक गए होगेऽ। और वह भीऽऽ। खाना भी ठंडा हो रहा है। यह बच्चा बेचारा देखो तो कैसे सिसक रहा है।'' आदि वाक्य बीच बीच में सलमे सितारे की कढ़ाई की तरह टांक देती है। तकरीबन एक ही उमर के दो और बच्चे भी सहमे से कुछ परे यह तमाशा देख रहे हैं।

कितना बुरा आदमी है यह विजनेस मैन। हर पांचवे दिन इसके सर पर भूत सवार हो जाता है।'' माता जी देखते हुए कहती है।

शो जारी है। जल्दी खतम होने की संभावना कम ही नज़र आती है। माता जी हम सबको अपने अपने कमरों में जाकर सो जाने के लिए धकेलती हैं।

जाओ भई बच्चों। बस देख लिया न तमाशा। सुबह उठ के होम वर्क करना है। इमतिहान करीब आ रहे है। माता जी पुकारती हुई समझाती हुई कहती है।

न चाहते हुए भी बरामदा छोड़ना पड़ता है।

कमरे में जाकर, टेबल लैंप जगा कर पढ़ाई करने की कोशिश में हूँ यह नहीं कि मिस्टर और मिसिज़ बिज़नेस मैन के ऊँचे ऊँचे डायलाग बाकायदा, क्रमशः कानों के भीतर प्रवेश नहीं कर रहे। अब तो बिजनेस मैन के तीनों बच्चें रो रो कर कह रहे है ''पिता जी! माता जी, मत लड़िए आपस में। हमें भूख लगी है। हमें नींद आई है...''

मेरा भी जी छटपटा रहा है नीचे बरामदे की चिक से झांक कर कहने के लिए, ''अब बस भी करो यह घमासान युद्ध। आपके बच्चें भूखे, रो रहे है। उनपे तो तरस खाइए। और कुछ अपने पड़ौसियों का भी सोचिए। मेरी परीक्षा आ रही है। मुझे पढ़ाई करनी है।'' लेकिन क्योंकि पिता जी माता जी ने उनसे बात करने की कतई मनाही की है इसलिए बैठी हूँ ग़ुस्सा पीती, हाथ में पुस्तक लिए तारीख़े रटने की कोशिश में...

ठक! ठक! ठक! सड़क पर पहरेदार की लोहे की नोंक वाली लाठी की आवाज़ गूजने लगी है जिसे सुनते ही गली के कुत्ते, मुकाबले में पहले एक के बाद एक, और फिर सामूहिक स्वरो में भौंकने लगते हैं...

और मुझे भी जम्हाइयां आ रही है। खिड़की से बाहर काले गहन आकाश में तारे, मेरी एक ओढ़नी पर टांके सितारों की तरह झम, झम आखें झपक रहे हैं।

मैं हाथ जोड़ कर माता जी पिता जी की रात को सोने से पहले पढ़ने के लिए सिखाई प्रार्थना पढ़ती हूँ

''यत् जागृतो दूरं उदैति दैवीम्
तत् सुपतस्य तथैवै - - ''

और गीता का श्लोक ''स्थित प्रज्ञाः प्रतिष्ठितः! बड़ी निष्ठा से पढ़ती, ऊंघती, मोटी सी रज़ाई ओढ़ कर, सुबह चार बजे पढ़ाई के लिए उठ जाने के लिए, रोज़ की तरह अलारम लगा कर, दृढ़ निश्चय मन में लिए सो जाती हूँ...!

कनाट सर्कस
दिल्ली १६४२

वर्षा की बूँदे

(स्व० बहन उर्मिला की स्मृति में)

रोगिणी चारपाई पर पड़ी कराह रही है। ख़ूनकी कमी की वजह से उसे साँस लेने में इतनो मेहनत करनी पड़ती है कि उसका गला बार-बार बन्द-सा होने लगता है। वह बार-बार खाँस उठती है। किसी-किसी वक्त तो खाँसी का दौरा ऐसा उठता है कि वह बन्द होने को नहीं आता। रोगिणी का पति, भाई और बहन बेचैन हो उठते हैं। वे डाक्टर के बताए हुए या अपनी समझ के उपचार करते हैं। बहुत देरकी घबराहट और बेचैनी के बाद खाँसी रुक जाती है और रोगिणी थककर आखें मूँद लेती है।

पति रोगिणी के माथे को सहलाते हुए पूछते हैं-'अब तबीयत अछी है?'

रोगिणी जरा-सा सिर हिला देती है और फिर आँखें मूँद लेती है। भाई, बहन, पति तीनों शान्तिकी एक साँस लेते हैं; लेकिन उनके चेहरों पर बेचैनी वैसी ही बनी रहती है। दिन-रात बीमार की टहल करने से मानसिक और शारीरिक थकावट के चिन्ह उनके अंग-अंग से प्रकट हो रहे हैं; किन्तु किसी अनहोनी की चिन्ता और उस रोगिणी को किसी तरह बचा सकने के उपायों की सोच उन्हें चुस्त बनाए है।

चार महीने हो गए हैं उसे इस भयंकर बीमारी का शिकार हुए और चार महीने हो गए हैं दिन-पर-दिन बढ़ती भयंकर गर्मी को शुरू हुए। हर नया दिन अपने साथ गर्मी का तूफ़ान और अन्धड़ लाता है। बीमार के कमरे की खिड़कियों और दरवाजों पर लगे खसके पर्दों के बाहर बदन को झुलसाती लू, जलती रेत और मिट्टी, किसी प्रेतात्मा की तरह तपते हुए वातावरण में हू-हूकर अपने ही गिर्द चक्कर लगा रही हैं। रोगिणी बार-बार पुकार उठती है-'पानी, पानी!' बहन के पानी मूँह के करीब लाने पर झटके से उसे परे कर देती है और क्षुब्ध, कमज़ोर आवाज़ में कहती है-'यह पानी नहीं, वारिश, बरसात की बूँदें, आसमान से गिरती बर्फ़, पहाड़ का पानी! मैं पहाड़ पर जाना चाहती हूँ झील के किनारे, कमल के फूलों के पास, हरे पेड़ों की ठण्डी छाँह-तले। इस आग, इस अँधेरे कमरे में नहीं मरना चाहती।' बुखार की गरमी में बीमार एक अजीब कवितामय भाषा में न-जाने कौन-कौन-से कोमल, शीतल, शान्त, सौन्दर्यमय स्थलों की स्मृतियों के शब्दचित्रों से पास बैठने वालों का अन्तस्तल चीर देती है।

रोगिणी की सोलहवर्षीया बहन पार्वती बार-बार हल्के कदमों से कमरे सेबाहर जाकर देख आती है। शायद आकाश में बादल छा गए हों, शायद बूँदाबूँदी शुरू हो गई हो। वह किसी तरह जीजीकी चारपाई खिड़की के पास सरकाकर उसे झरती हुई वारिशकी बूँदें दिखा देगी। केवल

एक बार बारिश की नन्हीं शीतल बूँदें आ जायँ। एक बार! लेकिन खसके पर्दों के बाहर वही पीला मटियाला-सा आसमान, पीपल के पेड़ों के सूखे धूल में सने पत्ते और लू! भीतर और बाहरकी इसगर्मी, इस बुखार का अन्त होता दिखाई न देता था। पार्वतीको यूँ लगता, जैसे जीवन के प्रथम काल में कभी कमल के फूल थे, कभी लम्बी हरी घास से लहलहाती पहाड़ियाँ थीं, कभी आकाशपर मँडराते श्याम मेघ थे; लेकिन वह सब भ्रम-मात्र था। अब चिरकालसे केवल धूल है, गर्मी है, आग है, जो जीजी के जीवन में अभिशाप-रूप आ खड़ी हुई है।

बीमार की हालत बिगड़ती ही जा रही है। डाक्टर कह गए हैं, आज की शाम और रात खतरे से खाली नहीं। लेकिन पार्वती की सभी आशाएँ धरती से उठकर क्षितिज पर केन्द्रित होगई है। वह सोचती है, जिस समय बाहर की तपती रेत, धूल और मिट्टी पर बरसात की बूँदें टिप-टिप गिर उन्हें ठण्डा करेंगी, उस दिन जीजी की पीड़ा शान्त होगी, उसके भीतर जलती बूखार की आग भी बुझेगी। लेकिन कब, कितनी देर और बाकी है? अधैर्य और चिन्ता से उसका चित्त व्याकुल है। कुर्सी पर बैठे-बैठे उसे अनुभव होता है कि धरती के इस कोनें में चारों ओर आग-ही-आग है, जो बादलों को यहाँ तक नहीं पहुँचने देती। लेकिन बादल अधिक से अधिक शक्ति एकत्रित कर रहे हैं और आग जल्दी ही हार मान लेगी। फिर शान्त होगी, शीतलता होगी। बाहर बाग में मोतिए के फूल खिल उठेंगे और जीजी चारपाई से उठ बैठेंगी।

कुर्सी पर बैठे-बैठे जब कभी वह ऊँध जाती है, तो वह भी अपनी बीमार बहन की तरह ऊँची पर्वत-शृंखलाओं पर खेलते और इधर-उधर भाग-दौड़ करते हुए नन्हें सफ़ेद बादलों को देखतीहै। कभी किसी ऊँचे-से नीले पहाड़की चोटी पर हाथी की सी-दो छोटी-छोटी आँखें देखती है, जिनसे बर्फ-सी सफ़ेद आँसुओं की दो अविरल धाराएं नीचे मैदान की ओर बह रही हैं। फिर बौखलाते रक्तवर्ण समुद्र में से बादलों के टीले-पहाड़ उठते देखती है; किन्तु शीघ्र ही बीमार की 'पानी, पानी' की व्यथित पुकार से चौंक कुर्सी के एक बाज़ू पर टिककर सिर सीधा कर लेती है। जब भी मौका पाती है, बरामदे में जाकर दीन-मन आमन्त्रण-भरी दृष्टि से देखती है और मन में एक अजीब विश्वास लिए कमरे में वापस आ जाती है।

खाँसी का दौरा फिर शुरु हुआ है और अबकी बार बन्द होने में नहीं आता। भाई जल्दी से भागकर पड़ोस में ही रहनेवाले डाक्टर को बुला लाए हैं। डाक्टर मरीज़ की नब्ज़ और आंखों को देख कुर्सी से उठकर दरवाज़े की ओर बढ़ते हुए भाई से कह रहे हैं-'बस, कुछ ही देर और है।'

लन्दन १६४५

यमन्ना

प्रसिद्ध फ़िल्म गीत ''इक बंगला बने न्यारा'' के ही पद चिन्हों पर चलता हुआ न्यारा सा ही बन रहा था हमारा बंगला। सत्य शिवं सुन्दरं भविष्य की कामनाओं के सात चिर-सुदृढ़ नीवें, आधुनिक योजनात्मक तरीके से खूब चुस्ती और फुरती के साथ बिठा और प्रसारित दी गई थीं। और उसके बाद काम आधुनिक योजनात्मक तरीके से ही कमी सरपट होता और कभी बिल्कुल न होता। कभी तसले सर पर रखे मजदूरनें चीटियों की सी क़तारों से, बंगले के ऊपर, नीचे, अंदर बाहर दिखाई देते और कभी लंबे सूखे बांसों के जाल में कैद अधबना बेरंगा बंगला,सड़क के किनारे सुनसान अकेला मुंह बाए खड़ा होता। इसी हालत में वह अपनी तीसरी बरस गांठ मनाने जा रहा था। ठेकेदार साहब अनेकों और बंगले, मकान, दुकानें, झोपड़ियां, खोलियां, बनवा रहे थे। कोई शहर के निकट दक्षिण-पश्चिम में, तो कोई शहर के अति-दूर-पूर्व में। ठेकेदार साहब की ज़रूरत के मुताबिक मज़दूरों राज़ों बढ़इयों के टोले भी ट्रकों पर बैठे चहुं दिस भ्रमण करते।

न्यारे बंगले को बनवाने वाले ''मैं और मेरे वह'' भी ठेकेदार साहब पर पूरा भरोसा रखे बंगला सृजन के अंतहीन दिन धैर्य और अधैर्य से व्यतीत किए जा रहे थे। ज़्यादा जल्दी भी न थी और न ही इतनी, फुरसत ही थी इन्हें या मुझे कि हम, खुद सर के बल खड़े होकर,असली सीमेन्ट-कांक्रीट जैसी जड़ स्थूलतम सौंदर्य विहीन वस्तु की प्राप्ति के लिए जीवन की अनमोल घड़ियाँ समर्पण करते। इसीलिए ठेकेदार साहब की सहज सुविधा पर छोड़ा, सुमधुर,अमधुर,मंद गति से निर्माण की क्रिया में फंसा हुआ था हमारा बेचारा बंगला। वह और मैं, ''वह'' कम और मैं अधिक, हर सातवें, या आठवें, या नौवें, या दसवें दिन ड्यूटी-फ़ुली, अपने मन को ढारस देने के लिए कि, जो सुकार्य हमने अपने हाथों में लिया है और हम भूल नहीं चुके हैं, वह बराबर हमारा एक फ़र्ज बना है, बंगले की परिक्रमा कर आते। लौटते वक्त मुझे कभी-कभी यूं महसूस होता जैसे बंगला मेरी साड़ी का पल्लू पकड़कर कह रहा हो, ''मैं अकेला हूं, मैं आधा-अधूरा हूँ, मेरा भी खयाल करो कुछ, मुझे सीमेन्ट-कांक्रीट खिलाओ, मुझ पर खिड़कियाँ दरवाज़े लगाओ, मुझ पर फ़र्श बिछाओ, मुझे पूरा करो मेरे माई बाप।

क्षण भर के लिए मैं एक स्वार्थी मां की तरह महसूस करती जो अपनी यौवनमयी खिलवाड़ों के कारण अपने शिशु को भूलती रहती है।

लेकिन, मैं बंगले को अकेला, अनाथ कहां छोड़ जाती थी। भला यमन्ना नहीं था बंगले की रखवाली के लिये। उसी प्यार से सुरत लेता था जैसे कोई सुहृदय आया किसी अन्य मां के बच्चे को संभालती है।

दूर से हार्न सुनते ही और फाटक से बाहर मोटर रूकते ही, भाग कर, खट से सलाम करने वाला चौकीदार यमन्त्रा नहीं था। रंग, रूप, आकार, लिबास, भाव भांति सभी पहलुओं से यमन्त्रा इस अधबने बंगलेकेलम्बे शहतीरों, सीमेंट कांक्रीट के पड़े ढेरों, की सीढियों, अधूरी दीवारों, फ़र्शो का एक अत्यन्त अभिन्न भाग था। इसीलिए ठेकेदार साहब का रखा यह चौकीदार मुझे काफ़ी अरसे तक बंगले के भीतर बाहर की परिक्रमा करते भी नज़र नहीं आया। उस पर नज़र पड़ते हुए भी मेरी नज़र उसकी ओर नहीं खिंची, भले वह कभी सभी मज़दूरों के साथ होता या एकाकी ही बंगले की सुरत ले रहा होता। लेकिन, धीरे, धीरे, धीरे, जब आख़िर निराकार बंगला आकार के औजवल्य में आने लगा बरामदों पर जमाई चितकबरी टाइलों को पत्थर से रगड़ कर पालिश करता यमन्त्रा भी बंगले की पार्श्व भूमि से हल्का सा अलग मुझे दिखाई देने लगा-यमन्त्रा का श्याम वर्ण मुख नहीं, उसके फ़र्श रगड़ते हुए दुबले पतले सांवले हाथ ही। मुँह उठाकर देखने की ज़रुरत उसने कभी महसूस की हो ऐसा मुझे कभी नहीं हुआ। यह महसूस हुआ कि ठेकेदार साहब के हेडमैन की ओर से उसे जो कोई भी काम करने को कहा गया है उसे करना, उसके चेतन और अचेतन मन ने उसी स्वाभाविकता से महसूस किया है जैसे रात भर सो चुकने के बाद सुबह उठना या प्यास लगने पर पानी पीना। मेरा ध्यान यमन्ना की ओर आकर्षित हुआ लेकिन यमन्ना का अपने काम में लगा रहा। ठेकेदार साहब का ध्यान बहुत दफ़त बंगले से हटा। ठेकेदार साहब के हेडमैन का ध्यान बंगले पर असली सीमेंट कांक्रीट या असली लकड़ी लगाने से बहुत दफ़े हटा। लेकिन यमन्त्रा की तन्मय क्रियाशीलता शांत, शीतल, और जागरूक रही।

तुम्हारा नाम क्या है? हफ्ते में एक दिन बंगले की परिक्रमा करने का धर्म पूरा करते हुए मैने एक दिन उससे पूछा।

''यमन्त्रा''। आखें और हाथ अपने काम पर ही लगाए, धीमे स्वर में उसने उत्तर दिया।

बंगला बन जाने पर यमन्त्रा ही को चौकीदार रखेगें मैंनेइनसे कहा।

मेरी और इनकी राय कम से कम इस बारे में एक ही थी।

बंगले के सृजन कायह चतुर्थ वर्ष शुरू होने वाला था। बंगला भी अब बनने को आया था। सिर्फ़ कुछ बुनियादी ज़रूरतों की ही कमी रह गई थी। और हमें अपनी पुरानी जीर्ण प्रायः किराए की कोठी से भी तो कम लगाव न था। कभी मैं उसे छोड़ने का विचार उठते ही अपने विवाह के स्वप्नमय प्रथम दिवसों की याद कर उदास हो उठती, कभी मेरी छोटी सुपुत्रि अपने पड़ोस की सहेलियों, सहेलों से दूर न होना चाहती और कभी ''इनको'' ही कोठी की उपरली छोटी अंधेरी कोठरी ही कविताएं लिखने के लिए दुनियां का सबसे उपयुक्त कोना सुझाई देती। हम अपने नए न्यारे बंगले में जाकर ठाठ से रहना चाहते थे लेकिन अपनी पुरानी कोठी कैसे छोड़ें यह हमारे भावुक मनों की समझ में नहीं आता था। लेकिन हमारे सम्बन्धी और मित्र यथार्थवादी निकले। बंगला की बनाई खत्म होने से पहले ही कुछ गिने चुने निकटतम मित्रों ने हमें दो तीन दिन की तफ़रीह पर भेजकर हमारा सामान हमारे न्यारे बंगले में ले जाकर जहां तहां सजा दिया और फिर हमें इसकी खबर कर दी....।

हम हमारे न्यारे बंगले में पदार्पण कर चुके थे, रहने लगे थे। और जब बंगले के रहे सहे काम भी पूरे हो चुके थे। यानि कि बंगला बन ही चुका था। ठेकेदार साहब और उनकी हर प्रकार की सेना के दस्ते किला खाली कर गए थे। लेकिन सेनेटेरी फ़िटिंग बाई सुभाष एण्ड कम्पनी, टाइल्ज़ वाई जनता कोओपरेटिव, डिस्टैम्परज बाई शरीफ़ चूनावाला के विज्ञापन बोर्ड बगीचे में नारियल के पेड़ों पर अभी तक ऊँचे शोभायमान थे। बंगला हमारा बंगला न दिखाई देकर किसी एडवरटाईज़िंग कम्पनी का दफ्तर मालूम होता था।

''साहब'' के बाहर जाने पर यमन्ना मोटर वाला फाटक बन्द कर रहा था।

''यमन्ना!'' मैंने बगीचे से आवाज़ लगाई।

''जी, मे० सा०'' यमन्ना फौरन चुपचाप सर झुकाए मेरे पास आ खड़ा हुआ।

''नारियल के झाड़ों से यह बोर्ड उतारने हैं।''

''जी मे० सा०!'' यमन्ना ने बोर्ड की तरफ आँख उठाई।

''स्टोर से लम्बी सीड़ी ले आओ, पेड़ से लगा लो और माली को बुलाओ। वह सीढ़ी पकड़े रखेगा और तुम उपर चढ़कर बोर्ड उतार लेना।''

''सीढ़ी का कुच जरूरत नहीं मे०सा०। यमन्ना ने सेकन्ड भर हाथ जोड़ कर नारियल के पेड़ को प्रणाम कहा और दूसरे सेकन्ड वह एक ही कूद में मुझे नारियल की सवारी करते हुए दिखाई दिया। खटैक से सेनीटेरी फिटिंग का बोर्ड बाग में ताज़ी उगाई घास पर आ गिरा और गिलहरी की लचकीली फुरती से नीचे उतरा यमन्ना! मैं स्तब्ध खड़ी यमन्ना की तरफ़ देख रही थी। यमन्ना दूसरे नारियल के पेड़ पर सवार, दूसरे विज्ञापन बोर्ड की लोहे की तारें खोलने में तन्मय था।

न्यारे बंगले के उज्वल भविष्य पर चिंताएँ की जाने लगीं। पथरीली नमकीन मिट्टी से कोमल सुंगधमय पुष्प पैदा करने की कोशिशें की जा रही थीं। मेरा बढ़ता अधैर्य को देख माली बार बार एक धीमी भरी हंसी हंस कर कहता, ''दो तीन मास में कोई न कोई फूल किधर भी आने कु लगेंगा बाई, अजुन थोड़ा सबुर करो। और वह खाद के तसले भर भर के क्यारियों में डालने लगता।

''आखिर बागीचे में फूल आ ही गए, मैंने अंदाजा लगाया जब एक दिन सुबह सबेरे बंगले की सीड़ियाँ साफ़ करते मैंने एक गहरे लाल गुलाब का फूल यमन्ना के बाएं कान के पीछे से झांकता हुआ देखा।मैं स्तब्ध, सी कान में लगे गुलाब की तरफ़ देख रही थी लेकिन यमन्ना सीढ़ियों की लकड़ी को पालिश करने में तल्लीन रहा।

मैं क्षुब्ध सी हो, बाहर बाग में गई। बाग में उगी सबसे पहली धीरे बड़ी होती कली पर मैं कई दिन से कामनाओं भरी नज़रें लगाए बैठी थी आज फूल बन कर यमन्ना के कान के पीछे सजी थी।

'सिर्फ़ यही एक फूल ही तो नहीं खिला। और भी कलियाँ खिलेंगी मेरे बाग में मैनें उदास मन से अपने आपको तसल्ली दी।

कलियाँ खिलती रही, फूल आते रहे बेहतरीन से बेहतरीन, और उनमें से एक न एक अति बेहतरीन यमन्ना के कान पर सजता ही रहा।

मैं उसे ऐसी हरकत करने से रोक सकती थी। तनिक मालकिन सा रौब दिखा सकती थी। सोचती रही थी मैं ऐसा क्यों नहीं करती। लेकिन करना चाहते हुए भी ऐसा न कर पाती। घर में दूसरे नौकर भी थे। लेकिन वह शहरी सभ्यता, नौकरी की ग़ुलामी की मानसिक ज़ंजीरों में अपने आप ही जकड़े गए थे। शहर की सभ्यता का रौब भय, दिखावे की भावना, चालाकी आदि में उनकी स्वतंत्र, ग्रामीण अन्तरआत्मा दब सी गई थी। लेकिन यमन्ना! उसे रोकना, टोकना उसी तरह ज़ुल्म होता जैसे किसी चिड़िया को सुबह सुबह चहकने से रोकना।

बंगले का भाग्यवान 'गेस्टरूम' चहकता ही रहता। उसे हमने इतने चाव से सुसज्जित किया था कि वह किसी दोस्त के लिए सेनीटोरियम था और किसी के लिए क्रियात्मक प्रेरणा। एक दफ़ह मेरी अनुपस्थिति में दो तीन अतिथी आकर जा चुके थे। मुझे मैके से लौट आने पर ही यह मालूम हुआ। आमतौर पर यमन्ना भी इस कमरे की झाड़ पोंछ किया करता था। लेकिन फ़ुरसत पाकर एक दिन मैं इस कमरे को नए ढंग से सजाने के ख्याल से फ़र्नीचर के एंगल बदलने लगी। कपड़ों की अल्मारी खोली तो किसी मेहमान की नीली नायलन की कमीज़-टंगी पाई। जिसकी भी छूट गई है या तो वह खुद ही चिट्ठी लिखेगा या "इनसे" पूछताछ कर, पारसल करवा दूंगी मैंने निश्चिंत होकर फैसला किया और फिर कमीज़ केबारे में कतई भूल गई। जब फिर दोबारा मुझे कमीज़ की याद आई तो कमीज अलमारी में नहीं थी।

घर में नौकरों से पूछताछ की कि वह नायलान की कमीज़ जो किसी मेहमान की है कैसे ग़ायब हो गई। सब गुम सुम खड़े रहे। तब यमन्ना अपने स्वाभाविक शान्त लहजे में बोला, मे०सा० बोह खमीच मेरा है। वह सुट्टी का दिन का हमारा खमीच है, वह किसी दूसरा का तो नहीं है। कल हमारा सुट्टी का दिन ता। हम पहन के गएला ता। आज हम उसको धोया है। सूक जाएंगा तब अल्मारी में रख देएंगा।" यमन्ना भाग कर बाहर गया और हैंगर पर लटकती गीली नायलान की कमीज़ दिखाने के लिए ले आया।

एक शाम को जल्दी से बढ़िया साड़ी पहन,पुरानी आदत के मुताबिक ज़रा सी लेट, इसलिए ज़रा सी जल्दी में, शहर में हो रहे एक नाटक को देखने के लिए मोटर में बैठी। "जल्दी चलो अफ़ज़ल" मैंने ड्रायवर से कहा। ड्रायवर ने गाड़ी स्टार्ट की और चलने को था कि यमन्ना मोटर की खिड़की के पास आकर आराम से बोला, "मे०सा० मेरा भाई लोग आएला है, आपको नमस्ते बोलना चाहता है जी। एक मिलिट ठहरो अफ़जल।" ड्राइवर ने भृकुटि चढ़ाकर फिर हल्की प्रश्नसूचक दृष्टि से सर घुमाकर मोटर की पिछली सीट पर मेरी तरफ़ देखा। लेकिन तब तक यमन्ना पुकार लगा चुका था। भिन्न-भिन्न शारीरिक अवस्थाओं के तीन शान्त मुख देहाती नमस्कार की मुद्रा में मोटर की खिड़की के सामने कतार लगाए खड़े थे। हल्की शर्मीली, हल्की आश्चर्य भरी मुस्कान उनके चेहरों पर थी। आँखों में कामयाबी की हल्की चमक थी। "मेरा भाई लोग बम्बई देखने को आया है।" यमन्ना बोला।

मुझसे बिना पूछे यमन्ना अपने तीन हुष्ट पुष्ट देहाती भाइयों को आंध्र प्रदेश से बुलाकर बंगले में मेहमान ठहरा लेगा और ऐन मेरे घर से बाहर निकलते वक्त इसकी एनाउंसमेंट करेगा। मैं अपना ग़ुस्सा रोक रही थी। खिड़की के निकट आकर यमन्ना धीमी आवाज़ में बोला, "मेरा भाई लोग इधर गैराज में सोएगा और खाना पास की ईरानी होटल में खाएगा। हम सब इन्तजाम किएला है। आप कुछ फिकिर मत करना मे०सा०।" यमन्ना सादर आंखें झुकाकर अपनी पुरानी स्वाभाविकता से बोला और मोटर बाहर जाने के लिए फाटक खोलने लगा।

तीन दिन बाद जब मुझे यमन्ना के भाईयों का ख़्याल आता तो मैंने "इनसे" कहा, "अगर अब वे आ ही गए हैं तो क्यों न उन्हें एक दिन के लिए ड्राइवर के साथ मोटर में बम्बई की सैर करवा ही दें।"

"ठीक है।" यह बोले।

मैंने यमन्ना को बुलाकर कहा कि वह अपने भाईयों को एक दिन के लिए मोटर में ले जा सकता है।

"पण वह तो वापस चला गया जी" यमन्ना बोला।

"अच्छा? इतनी जल्दी?" मैंने कुछ हैरान होकर पूछा। इतनी दूर से अपने पैसे खर्च करके आए थे मैं सोच रही थी।

"बम्बई में बुहत गर्दी हैं मे०सा०। इधर उनको कुछ भी अच्छा नहीं लगा।"

यमन्ना खुद बम्बई जैसी जगह में कैसे हमेशा के लिए टिक गया। उसे यहां गर्दी नहीं महसूस हुई। उसे गांव नहीं याद आया। आख़िर एक दिन मैंने यमन्ना से पूछा "यमन्ना, तुम कैसे गांव छोड़कर आ गए? तुमको गांव अच्छा नहीं लगता था?"

"अच्छा क्यों नहीं लगता था मे०सा०। उदर अपन का खेती है, अपन का घर है।"

"फिर कैसे छोड़ दिया?" मैंने पूछा।

एक मिनट की चुप्पी के बाद यमन्ना बोला "हमारा शादी हुआ था। दूसरा बरस हमारा औरत बीमार हुआ-और खलास हो गया-फिर हमको उधर अच्छा नहीं लगता था।" यमन्ना की झुकी आंखों में नमी थीं।

"तुमने दूसरा शादी नहीं किया?"

"च् च् च्। दूसरा शादी, कैसे करेगा। वह तो मर गया।"

"बम्बई में आकर तुमने पहला नौकरी किधर किया?"

अपना मुलुक का लोग देश से इधर को आता था। उनके संग संग इधर आया। पहला नौकरी इसी बंगला में किया अपना देश का लोग के संग। पीछे हमको सेठ साहब इस बंगला में चौकीदार बनाया।

यमन्रा ने हमारे न्यारे बंगले की बनाई में शुरू से आखिर तक काम किया है। बंगले में रहते रहते उसने घर की सफ़ाई के अलावा बागवानी, रसोई, मोटर क्लीनरी, छोटा मोटा बिजली दुरुस्त करने का काम सभी में अपनी सहज निर्मल बुद्धि से हाथ डाला है और बिना झिझक के जैसे तैसे निभा भी गया है। घर के सभी प्राणियों की साधारण या विशेष ज़रूरतें वह जानता है। इसलिए घर के सभी, प्राणी किसी न किसी तरह उस पर निर्भर हैं। उसने अपनी जरूरत भी झिझक कर बताई। बम्बई में रहते हुए, समय की बहुमूल्यता को समझ उसने एक रिस्टवाच की मांग की है और साथ ही साथ मराठी की प्रथम पुस्तक की भी। अब शाम को किसी न किसी तरह वक्त निकाल कर उसे पढ़ाना ही होगा। फ़िलहाल वह फ़ुरसत के वक्त नहा धोकर रसोई घर केबाहर बैठ मेरी छोटी कन्या के अंग्रेजों के कामिकों के चित्र उल्टे सीधे रख कर आश्चर्य से देखने लगा है।

यमन्रा की उपस्थिति बंगले के लिए उतनी ही स्वाभाविक और जरूरी है जितनी बंगले की हमारे लिए या हमारी बंगले के लिए, हालांकि हम बंगले के मालिक हैं और यमन्रा का बंगले की एक ईन्ट पर भी हक नहीं? यह निकम्मा सा गंभीर खयाल कभी-कभी मेरे दिमाग़ में पहेली सा बन खड़ा होता है। लेकिन यमन्रा घर के सभी कर्मों में इतना तल्लीन रहता है उसके चेहरे पर हक नाहक, भूत भविष्य की चिन्ता की रेखा मुझे कभी दिखाई नहीं दी। इसीलिए दिन भर के कामों के बाद वह रात को इतनी गहरी नींद सोता है कि उसे जगा सकना आसान काम नहीं।

●

आ गए ताज़ाह

इस दोरंगी गुलाब का नाम है-''केयरलेस लव''! सविता बड़े फ़ख्र से अपने बगीचे के गुलाब छोटी बहन कविता को दिखा रही थी।

'वाह! वाकई किसी अल्हड़ ग्रामीण फ्रांसिसी लड़की की तरह इसका रंग रुप है,' कविता देख कर बोली।

'और यह है 'ब्लू मून!' सविता अगली झाड़ी की तरफ़ इशारा करके बोली।

'उफ़ कितनी मस्तानी खुशबू है इसकी भी!' कविता ने गहरी सांस लेकर उस हल्के नीले गुलाब को सूंघते हुए कहा।

– 'इधर,इस काले गुलाब को तो देखो।'

वाकई! जामुनी नीले, गुलानारी, केसरी, किसम किसम के गुलाब सविता की मेहनत के फलस्वरूप उसके बगीचे में महक रहे थे। स्वस्थ, मोटी, फूटने को बेताव उनकी कलियां, गहरे हरे रंग की सुन्दर विस्तृत पत्तियां, रक्तभरी धमनियों जैसी लाल-लाल पतली-मोटी टहनियां और गुलाबों की रखवाली करने वाले मज़बूत तीखे काँटे।

''गुलाब बड़ा नखरे वाला फूल है। इसकी बहुत परवरिश करनी पड़ती है, तब यह अपनी पूरी पूरी शान में खिलता है।'' सविता एक किसम के गुलाब की झाड़ी से, दूसरे किसम के गुलाब की झाड़ी की तरफ धीरे धीरे कदम बढ़ाती हुई कह रही थी।

''क्या क्या करना पड़ता है इस नख़रेबाज़ के लिए? मसलन...'' कविता ने पूछा।

–'' इसे नरम यही चाहिए, उत्तम खाद चाहिए, रात को खूब ठंड चाहिए, ओस चाहिए, और फिर, सुबह की पहली धूप... अगर इनमें से एक की भी कमी हो तो न यह ख़ुद ख़ुश होता है, न दूसरों को ही खुश करता है'', सविता बोली।

– ''हूँ, तो यह मामला है,'' कविता ने केयरलेस-लव की तरफ हल्की हसरत भरी निगाह से देखते हुए कहा और सोचा, इन्सान को भी तो महकने के लिए इन्हीं चीज़ों की जरुरत है।

''गुलाब को प्यार चाहिए प्यार! इसे प्यार दे तो यह ख़ुशबू देता है।''

''बिल्कुल ठीक।'' कविता फिर तुलनात्मक भावनाओं में डूबी हुई सोच रही थी। ''किसको प्यार नहीं चाहिए? किसको उत्तम खाद, नरम मिट्टी, सुबह की पहली किरन नहीं चाहिए?''

''हमारे बच्चे अब बड़े हैं। सभी अपने अपने कामों में व्यस्त हैं। दूर दूर के शहरों में उनकी नौकरियां हैं। बच्चों को अपनी तौफीक के माफ़िक शिक्षा दिलवा दी। उनकी मरज़ी के मुताबिक शादियां करवाई। हमने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया है। अब उनकी वे जाने। हम बच्चों के पीछे-पीछे नहीं भागते। हमसे दूर हैं। आते हैं तो अपनी ख़ुशी से आते हैं। हमें भी ख़ुशी होती है। नहीं आते तो हमने कभी शिकायत नहीं की। उनकी चिट्ठियां आती हैं तो हम खुश होते हैं। नहीं आती तो मन उदास नहीं करते। परमात्मा उन्हें सुखी रखे। अब ज़माना ही ऐसा आ गया है। पुराने पारिवारिक बंधन छूटते ही जा रहे हैं।... बस अब हम तो इन गुलाबों, इनकी रोज़-रोज़ फूटती कलियों को देखते खुश रहते हैं।'' सविता दार्शनिक अंदाज़ में कहे जा रही थी...

''मिसरी मीठे बे ऽऽऽ र! आ गए ताज़ाह... बे ऽऽर! मीठे बेर का मज़ा लूटो...

आवाज़ कविता के कानों में पड़ रही थी। लेकिन कविता का ध्यान उस तरफ नहीं था। वह गुलाब की ज़ात और ज़िन्दगी के बारे में सोच रही थी... इतने लाडले, नखरे वाले गुलाब!

''कविता ऽऽऽ बेर खाओगी? सविता ने बहन को बगीचे के फाटक से पुकारा।

- हां, कविता ने फूलों के पास खड़े-खड़े ही जवाब दिया।

फलों की चंगेर फाटक की मुंडेर पर टिकाए हुए एक बूढ़ा फल वाला खड़ा था। सर पर अधमैली गांधी टोपी, दुबले पतले बदन पर अधमैला खद्दर का कुरता, घुटनों तक की धोती, पैरों में मिट्टी से सने देसी जूते। कविता फाटक के पास आ गई। सविता सौदा कर चुकी थी। कहने लगी-बाबा, यह मेरी छोटी बहन कविता है।

- ''नमस्कार बाबा।'' कविता ने उम्र की इज़्ज़त करते हुए कहा।

''जीती रहो बेटी। तबीयत तो अच्छी है न! कुछ बीमार नज़र आती हो।''

- हां बाबा, कुछ बीमार रही हूँ। इसीलिए हवा तबदीली के लिए बहन के घर में रहने आई हूँ कुछ देर।'' कविता हल्का सा हंस कर बोली।

''अच्छा किया बेटी।''

सविता अन्दर गई थी। अन्दर से पैसे देकर नौकर को भेजा खरीदे फल लाने को। नौकर ने खरीदे बेर और संतरे उठाकर घर की टोकरी में डालते हुए घर के नौकर को रौब से कहा-क्या फल लाते हो।... फल अच्छा नहीं है।

- अबे जा, तुझे क्या पहचान है फल की। कभी फल खाया भी है?

फल देखने में ख़ास अच्छा नहीं था। सविता का नौकर ख़ुद बाज़ार जाकर बेहतर फल ला सकता था, इसी दाम में और दस बीस पैसे जेब खर्च के लिए भी बचा सकता था। नौकर ने एक बेर उठा कर दिखाया-''यह देखो, सड़ा हुआ बेर।''

''बेर नहीं सड़ा हुआ, तू सड़ा हुआ है। मालकिन माल खरीद के गई है, टोकरी में डाल और चलता बन।''

नौकर समझ गया कि कविता के कान इसी वार्तालाप की ओर हैं। खिसियाना सा हो, फल उठा कर अन्तर जाने को हुआ।

''तुम बड़ी हो कि तुम्हारी बहन बड़ी है?''

''सविता बहन मुझसे बड़ी है।'' छुटपन के लाड से कविता बोली।

''लेकिन दिखती तो तुम बड़ी हो।''

कविता के लाडलेपन पर हल्का सा ठंडा पानी पड़ा।

''कितने बच्चे हैं तुम्हारे?''

''चार''

''कितने लड़के, कितनी लड़कियाँ?''

''दो लड़के, दो लड़कियाँ।''

''और मालिक, वह क्या करते हैं? किसी बड़े ओहदे पर होंगे।''

- ''हां वकील हैं वहुत बड़े।''

- ''अच्छा। तो फिर तुम बुझी बुझी क्यों नज़र आती हो? ख़ुश तो हो न।''

- ''हां, ख़ुश हूँ, बहुत। तुम यह फल कहां से लाते हो?'' कविता ने बात टालते हुए पूछा।

- मंडी से।

''इतनी दूर से आते हो बाबा! थकते नहीं?''

''उमर बीत गई धंधा करते। काहे को थकेंगे। पचहत्तर का होने को आया अब तो। इन कोठियों को बने भला कितने बरस हो गये होंगे बीस-तीस ठीक है न?''

- ''हो ही गये होंगे।''

''इन कोठियों के बनने से पहले भी यहां आया करता था। अब भी आता हूँ... धंधा है। धंधा तो करना ही है... तुम इसी शहर में रहती हो या किसी दूसरे में?''

''कानपुर में रहती हूँ। तुम्हारे कितने बच्चे हैं बाबा?''

पल भर के लिए बाबा ख़ामोश रहा। फिर बोला-''छः हुए थे... लेकिन सब गए, सब गए। एक भी न रहा। कोई भी न रहा... और बाबा ने अपने माथे पर हाथ मारा-''तकदीर! तकदीर!''

उसकी आँखों की ज्योति बुझ गई। उसके शरीर की अक्खड़ ढिढाई एकदम शिथिल पड़ गई। कुछ क्षणों के लिए कविता को यूँ लगा जैसे बाबा लड़खड़ा कर गिर जाएगा। किन्तु कुछ पलों के लिए। पलों में बाबा की चेतना ने जैसे कोई फौलादी जिरह बख्तर पहन लिया हो। उसके चेहरे पर पहले जैसी दृढ़ता के भाव लौट आए। फल का टोकरा सहज से अपने सर पर रख कर तेज़ कदमों से वह फाटक से आगे निकल गया।

"बेऽऽर! मिसरी मीठे बेऽऽर! आ गए ताज़ाह...! और वह सड़क की नुक्कड़ से दूसरी गली में जा, कविता की आँखों से ओझल हो गया।

कुछ क्षण फाटक के पास रह, धीरे धीरे कदम उठाती हुई कविता फिर गुलाब की क्यारियों के पास आ खड़ी हुई।

- "गुलाब को सुबह की किरन, नरम नहीं चाहिए। गुलाब को प्यार चाहिए, प्यार।" सविता की कही बातें कविता का दिमाग़ दोहरा रहा था।

- और इन्सान को? इन्सान को क्या चाहिए? इन्सान को भी तो वह सोच रही थी।... और सुन रही थी, सुबह सुबह मुहल्ले भर की नींद हराम करती, मुहल्ले भर को चुनौती देती, पचहत्तर बरस के बूढ़े बेर वाले की गूंजती पुकार- आ गएऽऽ, आ गएऽऽ-ताज़ाह!

तफ़रीह

घर से निकली थी, थकावट उतारने के लिए, सकून पाने के लिए। उस वक्त चली थी जब सुबह सवेरे तेज़ क़दम सैर करने वालों की टोलियां, समंदर का किनारा ख़ाली कर गई थी।

इस वक्त, धूप निखर गई होती है। सुबह की ठंडक तो नहीं होती। लेकिन समन्दर के किनारे, हवा हमेशा चलती रहती है। इसलिए गरमी परेशान नहीं करती। और, अगर स्विमिंग कास्ट्‌युम पहन रखा हो तो इन्सान, समन्दर के किनारे पहुँचते ही अपने आपको समन्दर, रेत, आस्मान और बादलों का एक अटूट अंग समझने लगता है।

उसने सकून की एक लम्बी सांस ली और किनारे की रेत पर धीमी चाल चलने लगी लेकिन नहीं, आज भाग्य में शान्ति, एकान्त नहीं था।

पिछले कुछ बरसों से, बम्बई के समन्दरी किनारे जुहु की सुन्दरता को लगातार बन रहे अजीबोग़रीब शक्लों के होटलों और बिल्डिंग ने, बदसूरत बना डाला है। बनाए जा रहे एक कईमंज़िले, हैवान से होटल के इर्दगिर्द बिल्डिंग मज़दूरों की लावारिस सी झोपड़ियों में से, फटी मैली निकर पहने, बिना कमीज, छःसात बरस का एक छोकरा निकला और औरत को देखते ही, उसकी तरफ़ बढ़ा।

ग़रीब बालक के लिए हमदर्दी होते हुए भी वह मन ही मन कुछ खीझ सी गई।

पिछले महीने भर से, पहचाने अन पहचाने, आधे पहचाने लोगों और परेशानियों मारे हालातों में से ग़ुज़रते हुए, उसके तन मन पर थकान का इतना बोझ था कि इस वक्त उसे किसी भी संगी की ज़रुरत महसूस न हो रही थी। उसे अकेलापन ही चाहिए था। सिर्फ रेत, आस्मान, और समन्दर।

यह बच्चा कुदरतन, पैसे मांगेगा। "मेइम साहब! पेयसाऽऽ! दो दिन से खाना नहीं खाया है। दे ओ न पैसा, मेम साहब! ओ मेम साहब! की बदआवाज़ रट! वह अगर अपने साथ कुछ पैसे लाई होती तो लड़के के हाथ पर कुछ पैसे रख कर, इस समस्या से फ़ौरन निजाद पा जाती। लेकिन अब तो यह छोकरा, भीख मांगता, उसके पीछे पीछे चलता रहेगा।

औरत ने एक्टिंग करने की सोची। उसने जताया जैसे उसने बालक को देखा ही नही। तेज़ क़दम, वह समन्दर की लहरों की तरफ़ बढ़ने लगी, जैसे वह अभी तैरने लगी हो।

समुद्र भाटे में था। लहरें क़ाफी पीछे चली गई थी। पीछे गीली रेत के मैदान में अब, नरम, गोलाइयों वाले हल्के, उभार-उतार और समतल थे। और रह गए थे, छोटे बड़े गढ़े, जिनमें पानी

भर गया था, समुद्र का शफ़ाफ़ स्थिर नीला पानी, मानों पहाड़ी झीलों का। अंजलि भर कर पीने को जी चाहता। लेकिन पानी खारा था। उसे देखने में ही सुख था। उसमें टख़ने, घुटने भर गहराई में चलने या बैठ जाने से ही मन-तन को सुख-आनन्द मिल सकता था।

इन पानी भरे, छोटे-बड़े गढ़ों और तालाबों में से निकलती, सांपो सी बल खाती, छोटी-बड़ी पानी की धाराएं नज़दीक और दूर, बह रही थीं; लौट रही थी समन्दर को।

पानी की यह धाराएं उसे अपने पर्वतीय वतन की याद दिलाया करती हैं। भाटे के समन्दर के वक्त जब भी वह समन्दर के किनारे सैर के लिए आती, उन जल धाराओं के बीचों बीच, इनके बहाव के साथ टहलती। तब वह अपने आपको पहलगाम या मनाली जैसे अनुपम पर्वत स्थलों में, उनके शीतल, मीठे, नदी-नालों झरनों, चश्मों में खेलने, नहाने तैरने की कल्पना में खो जाती। और कुछ देर के लिए वह बम्बई के भीड़ भड़क्के, तेज़ रफ्तार और व्यापारी महौल से कोसों दूर पहुँच जाती।

आँख की कोर से उसने देखा। छोकरा भी अपनी ढीली निक्कर ऊपर चढ़ाता हुआ, कुछ ही परे, खारे पानी की एक छोटी धारा में सैर का मज़ा ले रहा था। औरत की खीझ दूर हो गई। वह बेफ़िक्र अपनी बड़ी जलधारा में टहलने लगी।

पानी की यह बड़ी धारा, औरत की कल्पना में ब्रह्मपुत्र नदी की तरह थी, तेज़ रफ़्तार और चंचला। यह जलधारा ज़रा ऊँचाई पर बन गए एक रेंतीले उभार में बने एक तालाब का पानी, तेज़ी से समन्दर में लौटा रही थी। उसके किनारों की रेत, पानी के ज़ोर से थप! थप! करती धारा में गिर रही थी। औरत तसव्वुर कर रही थी, बरफें पिघलने के बाद ब्रह्मपुत्र नदी का उतावला, मनचला पानी, चट्टानों, पेड़ों और झाड़ियों को रौंदता हुआ उन्हें अपनी लपेट में लेता, पहाड़ों से नीचे, नीचे, नीचे गिर रहा है।...

औरत का तन मन शान्त और मगन होता जा रहा था, जैसे बड़े शहरों से छुट्टियां मनाने आए, पर्वत प्रेमियों का, पहाड़ी स्थानों पर आने से होता है।

उसने देखा, लड़का अपनी छोटी जलधारा के ऐन बीच में खड़ा उसकी बड़ी जलधारा को देख रहा था।

''अपना दरिया का रेत, पानी में नहीं गिरता है। काहे को नही गिरता है?''

''तुम्हारा दरिया छोटा है न इस वास्ते।'' वह बोली।

''नहीऽऽ! तुम्हारा दरिया का पानी ज़ोर से भागता है न, इसी वास्ते।'' बच्चे ने दलील दी।

''हां, इसी वास्ते,'' और औरत उसकी तरफ़ देख कर सहजे मुस्कुराई। बालक भी जलधारा को देखते हुए मुस्कुराया।

वे दोनों, अपनी अपनी जलधाराओं के शीतल, सुखदायक पानियों में, मज़े मज़े से टहलते, समन्दर की तरफ बढ़ रहे थे।

समन्दर के पास पहुँचने पर, समन्दर की पीछे छूट गई इन जलधाराओं की समन्दर से मिलने की रीत, किसी सचमुच की नदी के डेल्टे की तरह ही हो जाती है। लम्बी जुदाई के बाद गंगानदी सहस्त्र धारा बन कर इसी तरह तो समन्दर के आग़ोश में आती है... ." वह सोच रही थी।

"कैसे, मेरी यह एक जलधारा, अब टूट कर, कितनी ही छोटी छोटी जलधाराओं में बदल गई है। और, और यह नन्ही जलधाराएं, अब किसी विशाल बरगद के पेड़ की शाखाओं सी दिखाई देती है।......

और यहां, ऐन किनारे की रेत समन्दरी जहाज़ों और बम्बई की मिलों-कारनामों से बहे तेल और केमिकल्ज़ के पानी में मिल जाने से, पीली नीली और नसवारी सी दिखाई दे रही है। यह जलधाराएं किसी क्लास रूम या डाक्टर की डिस्पेंसरी में टंगे इन्सानी शरीर की नीली, पीली लाल नाड़ियों दिखाने के चार्ट जैसी भी नज़र आती हैं।" कितना डर लगता था उसे बचपन में, ऐसे चार्टों को देख कर!

उसने बालक की तरफ देखा। वह भी नीली-पीली पड़ी रेत को ही देख रहा था।

"इंदर का रेती गंदा है।" वह बोला-

"हां।"

"कैसे गंदा हो गया? देखो तो, नीला पीला किचपिच हो गया। क्यो हो गया इतना गंदा?"

"मालूम नहीं।" औरत बोली।

अब तक मछियारों की कशतियां, दूर, दोमेल तक पहुँच गई थी। सुबह की धूप में कश्तियों के सफ़ेद पाल, कभी आसमान की नीली झलक लेते, कभी सफ़ेद मुरग़ाबिओं से, समन्दर में तैरते दिखाई देते....

समन्दर से मुंह मोड़ कर, औरत दूर दूर तक फैले रेतीले मैदान की तरफ चल पड़ी। मैदान में, खारे पानी के एक बड़े से तालाब में, एक बादल के पीछे से झांकते हुए सूरज की परछाईं तैर रही थी। उसी पानी में नारियल के कुछ पेड़ों और एक होटल की परछाईयां भी कांप रही थी।

समन्दर किनारे पर पैदा हुए, समन्दर किनारे के अटूट अंग, नारियल के जंगलों को चीर-काट कर, तकरीबन ख़त्म कर, उनकी जगह बनाए अनेको होटलों और ऊंची बिल्डिगों ने इस सुन्दर स्थान को अब कितना बदसूरत बना दिया है। समन्दर किनारे का पानी भी अब वैसा साफ़ नीला पानी नहीं जितना दस बारह बरस पहले हुआ करता था। औरत ने कुछ देर हुई अपने एक डाक्टर मित्र से पूछा था "समन्दर के पानी में तैरना अब सेहत के लिए नुकसानदेह तो नहीं?"

"जब तक इस पानी में मछलियां जी सकती है, तब तक शायद, हम भी नहा और तैर सकते है।" डाक्टर मित्र ने हंस कर कहा था।

डाक्टर के ऐसा कहने से उसे कुछ तसल्ली हुई थी। अखबारों में समन्दर के पानी के सेहतमन्द न रहने के बारे में मज़मून और पत्र पढ़ने के बावजूद भी वह फ़ुरसत पाकर समन्दर में तैर ही आती।

बड़े तालाब के स्थिर, साफ़ पानी में पड़ रही, नारियलों की, हरी-नीली परछाइयाँ उसे काश्मीर की 'डल झील' की याद दिला रही थी... ''काश? मैं इसी पल वहाँ पहुँच सकती! झील डल में तैर सकती! मगर, मैं तो घर बाहर के छोटे बड़े, अजीबो, ग़रीब कार्यों, उलझनों में फंसी हुई हूँ। कब, कब कब तफ़रीह पर सकूँगी? यकायक वह बहुत बेचैन हो उठी।

उसने देखा, छोकरा भी अपनी छोटी जलधारा के बीचो-बीच चलता-चलता रेतीले मैदान की तरफ़ घूम गया था। उसका ध्यान, दूर दूर तक फैले मैदान पर, चक्की के भुने हुऐ दानों की तरह दीखते, इधर-उधर बिखरे, सैकड़ों ही छोटे-बड़े केकड़ों की ओर खिंच गया था। केकड़े, रेत की अपनी छोटी-बड़ी बिलों में से, रेत की गोलियाँ बना बनाकर बाहर फेंकते जा रहे थे। मैदान पर, रेत की नन्ही-बड़ी गोलियों के, कितने ही जाल बिछ रहे थे। छोकरा केकड़ों को पकड़ने की कोशिश में कभी एक के पीछे दौड़ता कभी दूसरे के पीछे। जिस केकड़े को पकड़ने के लिए दौड़ता, वही झट से अपने सुराख में घुस जाता। बालक, इस बात से खीझता, चिढ़ता। लेकिन फिर भी, वह केकड़ों को पकड़ने के लिए भागता।

औरत बड़े तालाब में सूरज और नारियलो की परछाइयाँ देखती हुई फिर से अपनी चहेती जगह की यादों में खो गई... विशाल डलझील के, कोमल, हरी घास भरे बाएं किनारे के निर्मल नीले-हरे जल में परछाईयां झिलमिला रही हैं चरमा शाही, निशात और शंकराचार्य की पहाड़ियों की... . इन पहाड़ियों की ढलवानों पर शोभा पर रहे अखरोट, खुमानी, नाश्पाती, सेब, आलूचे, चेरी, चिनार, सफैदे और शिरीष दरख्तों, की सपनों सी परछाईयाँ.....! हाँ और इन्ही पहाड़ियों के शिखरें पर खड़े, लम्बे कद के देवदार और चीड़ पेड़ों की भी परछाईयाँ! झील के गहरे, दूर-दूर तक फैली, पानियों में कांपती, नाचती, गुनगुनाती परछाईयाँ..... .

और झील के उस पार, बाईं तरफ, शान्त, ख़ामोश सुबह के पहले उजाले में आसमान की बुलंदियां, गहराइयां छूती, पीर पंचाल की बर्फों लदी चोटियों की पवित्र परछाइयां....

इधर, करीब ही, कोमल, सुकुमार रुनझुनाते बसंत के नए पत्तों वाले, सफेदो की लम्बी परछाइयाँ... अनगिनत लय-तालों में अनहद नाद सुनती, सुनाती, बजाती, भक्ति भाव में उमड़ती, परछाइयां, झील डल में...

झील डल और उसकी गज़ों गहरी सहेली झील नगीन, दोनों ही आकाश, बादल, पर्वत बर्फ घास, पेड़ों की दिलफ़रेब, परछाइयाँ प्रभात के उजाले में अपने वसीह पानियों पर लहरा रही है।

सुबह सवेरे, अपनी अपनी छोटी-बड़ी नई-पुरानी नावें चलाते, झीलों की तहों में उग रही लम्बी घास को लम्बे पतले बासों में लपेट कर किश्तियों में भरते कश्मीरी बच्चे, जवान, बूढ़े, मर्द, औरते, सभी चुपचाप, अपने अपने कार्यों में लगे हैं। किश्तियों में हिलती उनकी शान्त

परछाईयां.....! चारो तरफ खामोशी, आनन्दमय मौन!.... सिर्फ़ किसी वक्त दूर-दूर तक बिछे पानी में, पगडंडियां सी बनाती, फिसलती, सरकती, सेहतमन्द पवन की धीमी सी सर्राहट... या किसी के चप्पू की, कश्ती के साथ टकरा जाती, वन में खड़ी अकेली हरिणी को चौंका देने वाली सी ढक। की मद्धम सी गूंज!..... परम्परा के अभ्यास से सभी लोग मेहनत करते हुए भी, इतनी आसानी से काम करते देखते हैं मानो कुछ भी न कर रहे हों... मानो चुपचाप, सुबह की नमाज़ पढ़ रहे हों...

पिछली बार जब वह काशमीर गई थी तो वहाँ वह अपने कुछ वाकिफ़ लोगो से सुनती, ''काश्मीरी आलसी लोग हैं। वे सरकारी टकों पे सिर्फ़ ऐश करना सीख गए हैं। मगर उस दिन, सुबह के उजाले में, जब वह झील के किनारे टहलती, यह मंज़र देख रही थी। तो सोच रही थी ''अगर इस वक्त उन वाकिफ़ो में से एक भी आलसी अपनी रेश्मी, रज़ाई में से निकल कर झील के किनारे टहलने आए और देखे... झील के पास ही, निशातबाग के पीछे, पहाड़ी खेतियों में, बैल हांकते पसीने से तर बतर किसान, तो क्या वह अपने हम वतनों को आलसी कहेगा? वे वाकिफ़ साहेबान, शहरियों की किसी ख़ास जमायत का ज़िक्र कर रहे होंगे।...

वैसे हिन्दुस्तान के बाकी सूबों की तरह कश्मीर में भी तो शायद काला बाजारी और रिश्वत ख़ोरी फल-फूल रही होगी... और झील डल का पानी भी तो काफी गंदा हो चुका है, यह भी तो अख़बारों में बराबर पढ़ रही हूँ। कभी झील का पानी अमृत सा पवित्र और सेहतमंद हुआ करता था-कैसे रंग रंगीले शिकारों में बैठे हम भाई-बहन, अपने आप चप्पू चलाते हुए, लालमंडी घाट से चलते चलते गगरीबल पहुँच कर डल के चश्मों का निर्मल पानी हाथों में भर-भर कर पीते थे......"कहाँ गया वह वक्त..." औरत की आंखो में आँसू थे! ''अरे, अरे! मैं अपनी सोच में किधर से किधर चली गई, छाया बेटी तो नाश्ता करके स्कूल भी चली गई होगी, और रसोइया भी फिक्र कर रहा होगा कि बीबी जी अभी तक सैर करके क्यों नहीं लौटीं। न जाने क्या वक्त हो गया है। औरत तेज़ कदम घर की तरफ लौट पड़ी।

छोकरा उसके करीब ही, बाईं तरफ रेत खोद कर अपनी छोटी जलधारा में से एक नन्ही सी नहर निकाल लाया था मैदान में। गीली रेत के ऊपर गीली रेत जमा कर वह एक मंदिर सा बना रहा था! मंदिर के आसपास रेत की एक दीवार सी बना ली थी उसने! मंदिर की लिपाई पुताई के लिए उसे पानी की ज़रुरत थी! इसीलिए यह नन्ही नहर।

''तुम क्या बनाता है?'' औरत चलते-चलते पूछ ही बैठी।

''गणपति बाबा का मंदिर बनाता है।''

''अच्छा।''

''तुम घर कु जाता है?'' बालक ने पूछा।

''हां'' वह पीछे मुंह करके बोली।

''दरिया में नहाएगा नहीं?''

"नहीं! हमको देरी हो गया!"

"तुम्हारा घर किधर है?"

"उधर गली के पीछे! तुम्हारा घर किधर कू है?

"वो होटल है न, सामने कु!"

"हां।"

"उसका बाजू में जो छोटा खोली है न।"

"हां।"

"हम उसमे रहता है।"

"तुम्हारा बाप क्या काम करता है?"

"वींट, फत्त्तर से हाटल बनाता है।"

"मां क्या करता है?"

"दाल रोटी पकाता है। कभी-कभी सालन भी पकाता है।"

"तुमने खाना खा लिया?"

"नहीं, अभी खाएगा, खोली में जा कर।"

"अच्छा हम घर कू जाता है।"

"तुम कल भी आएगा?" बालक की आंखो में इन्तज़ार का उदास सा सवाल था।

"हां, आएगा! तुम कल आएगा?"

"हाँ आएगा!" बाा भी खुश होकर बोला। और वह फिर से अपने बनाए छोटे से मन्दिर की सूखती जा रही रेत पर नन्ही नहर का पानी छिड़कने लगा।

कितने ही तरह की ज़िम्मेदारियों से आज सुबह, थोड़ी देर के लिए, इतनी आसानी से कैसे छुट्टी मिल गई आज! कैसे मन बहल गया! इस बच्चे सा हल्का-फुल्का, भोला संगी कैसे मिल गया आज!..... इसके लिए, किसका शुक्रिया करुं?... औरत सोचती ख़ुश तबीयत आगे बढ़ गई।

"मेमसाहब! ओ मेमसाहब" पीछे से पुकार आई।

बालक दौड़ता हुआ उसके करीब आ रहा था।

"मेम साहब! ओ मेम साहब! पैसा दो न। और बालक ने अपना दायाँ हाथ, औरत के आगे फैलाया...! जैसे अब वह कोई और ही बालक था, दूसरे भिखमंगे छोकरो की तरह, एक भिखमंगा छोकरा...

'ओ मेम साहब! दे ओ न पइसा, दे ओ न!'' वह मिमियाया।...

स्त्री की डेढ़ घंटे की छुट्टी ख़त्म हो गई थी। तरह तरह की ज़िम्मेदारियो का बोझ फिर से, उसके दिल-दिमाग पर ब्लड प्रेशर सा तारी होने लगा था...

और, बालक की छुट्टी भी तो ख़त्म हो गई थी शायद... जिस श्रेणी के प्रतिनिधी होने के नाते जिन ज़िम्मेदारियों का बोझ उठाए वह मेम साहब के पास आया था, या भेजा गया था, उन सबको, बालक भी तो थोड़ी देर के लिए भूल गया था शायद...

●

अनुभव के लिए, शुक्रिया

मध्य नवम्बर की हल्की शीतल, सुखद बम्बई। बेफ़िक्र सी मुस्कान लिए, फ़िरोजारंगी समुद्र और जुहु का रेतीला, लम्बा-चौड़ा किनारा। किनारे की नन्ही लहरें, किसी सांवली-सलोनी इंडियन क्रिस्चियन लड़की के टखनों लम्बे, नीले गाऊन पर टाँकी सफ़ेद झालरों की तरह लहराती, मेरे पैरों की उंगलियों से अठखेलियां खेलती, रेत पर गिरती-सरकती, आगे दौड़ती, पीछे भागतीं। इसके संग संग, छोटी बड़ी सीपियों, घोंघों, शंखों और अपने ही बनाए घरों में रहते कई एक समुद्रीय जीवों की रंग रंगीली, अपार राशि, मेरे पैरों के इर्द गिर्द अपनी जल क्रीड़ाएं करती, मेरे न चाहते हुए भी मेरे पैरों तले, नरम गीली रेत में दब जाती और फिर से उभर कर तैरने लगतीं छोटी लहरों में। कानों में गुनगुनाती, तन-मन सलहाती,समुद्र पवन में टहल रही थी मैं, घर से बाहर निकल, समुद्र किनारे आकर, किसी भी समस्या-सोच या कथा कहानी के आदि-मध्य-अंत भूलने लगी थी धीरे धीरे गगन समुद्र और आकाश की असीमता में कि-

'होश्यार! संभल के! रुकिए!!' काफ़ी करीब ही से चेतावनी देती, एक बालिका स्वर की पुकार सुनी। एकाग्रता भंग हुई। ज़रा ही आगे, नन्हीं लहरों में खड़ी थी गोल मटोल सी, साधारण रुप रंग लेकिन भोला आकर्षण लिए पांच छः बरस की एक बालिका। दाएं हाथ में कुछ लम्बे डोरे की छोर पकड़े। डोर की दूसरी छोर से बंधा था रेत पर पड़ा रुका एक न बहुत छोटा न बड़ा एक केकड़ा, हथकड़ी लगे कैदी की तरह क्षुब्ध, उदास। अब वह अपनी इच्छा शक्ति से रेत के अन्दर-ऊपर इधर-उधर क्रीड़ाएं न कर सकता था। अगर वह विद्रोह कर ज़रा भी दाएं से बाएं होने की कोशिश करता तो डोर को बाएं से दाएं खेंच बालिका उसे निष्क्रिय-परास्त कर देती। यह केकड़े का बच्चा जो अब बालिका की क्रीड़ा सम्पत्ति थी उस पर सावधानी या असावधानी से, मैं, पैर न रख दूँ, इसलिए मुझे फ़ौजी ढंग की दी गईचेतावनी। बालिका शायद, किसी फ़ौजी अफसर की बेटी थी।

''यह आपका छोटा सा कुत्ता है न!'' मैने शिष्टतापूर्ण हल्की मुस्कान से पूछा।

बालिका ने डोरे-केकड़े से नज़रें हटा कर मेरी तरफ़ फेरी। नज़रें कह रही थीं इत्ती बड़ी औरत और, इतना भी नही जानती।

''यह तो केकड़ा है, छोटा सा।'' उसने दृढ़ स्वर में फ़र्क बताया और नज़रें केकड़े-डोरे की तरफ़ फेर लीं।

''हां सच्ची, यह तो केकड़ा है। तो आप, इससे, खेल रही है?''

हाँ देखिए कितना प्यारा है, है न!'' दुविधा में पड़े केकड़े को, डोरे से पतंग की तरह अपनी तरफ़ खेंचती बालिका आत्मविश्वास भरी मुस्कान बिखेरती बोली।

''बहुत ही प्यारा है, ख़ूबसूरत है। लेकिन आपने इसे डोर से क्यों बांध रखा है?''

''इसके दांत बड़े तेज़ होते है न। काट लेता है। तो डोरे से बांध कर पकड़ लिया है। अब इसको अपने घर ले जाऊँगी।''

''किसलिए?''

''वहां भी तो खेलूंगी न इसके साथ। इसको इसको मैं पालूँगी।''

''अच्छा, तो चेन से, नहीं डोरे से बांध कर दौड़ा कर, आप, इसे अपने घर ले जा रही हैं।''

''हां ऽऽ!'' बालिका ने इस अन्दाज में कहा जैसे कि भला यह भी कोई पूछने की बात है!

''यह भागेगा, आपके पीछे पीछे?''

''हां ऽऽ। और घर पहुंच जाएगा।''

''अच्छा ऽऽ। तो आप, इसे खिलाएंगी पिलाएंगी क्या?''

''थोड़ा ऽऽ सा दू ऽ ध, थोड़ी सी डबल रोटी, कभी थोड़ी सी बिस्किट औ ऽऽ र हां पानी भी पिलाऊँगी।'' बालिका ने समुद्र की तरफ़ देख कर इतमिनान से कहा। फिर केकड़े की तरफ़ प्यारी हुक्मरानी नजर से देख,उसे डोरे से घसीट बालिका घर की दिशा में मुड़ने लगी।

''केकड़ा नमक वाला पानी ही पी सकता है, बिना नमक के नहीं।'' मैंने कुछ ऊँचे स्वर मे कहा।

रुकते हुए, बालिका ने मेरी तरफ मेरी तरफ़ कुछ अविश्वास-विश्वास से देखा। फिर कहा- ''क्यों?

''यह केकड़ा, समुन्दर के किनारे रहता है। सो यह तो समुन्दर का पानी ही पीता है।''

''मैं भी पानी मे नमक डाल कर इसे पिला दूँगी।'' विश्वास भरी लापरवाही से बालिका ने कहा।

''केकड़ा, घर के नमक वाला पानी, नही पीता। वह तोऽ, समुन्दर का नमक वाला पानी ही, पीता है। मैंने सहजता से हल्का मुस्कराकर कहा।

बालिका ने मेरी तरफ़ देखा और चुप रही। फिर उसने समुन्दर और कब आज़ादी मिलेगी, इस इन्तज़ार में उदास, केकड़े की तरफ़ देखा।

''और केकड़ा, डबलरोटी नहीं खाता। वह दूध, चाय और कोका कोला भी नहीं पीता।

क्योंकि वह समुद्र के नमकीन पानी और रेत ही में रहता, खाता, पीता, सोता और खेलता है इसीलिए वह अपने खाने पीने का इंतज़ाम भी रेत और समुन्दर ही में करता है।'' मैंने ज़रा, समझाने के लहजे में कहा।

इस बार बालिका हल्की सोच में, मेरी व्याख्या सुन रही थी। मैने फिर कहा-

''मैं भी एक केकड़ा अपने घर ले गई थी एक बार। मैं, घर से, एक बोतल लाई थी, चौड़ी सी। उस बोतल में मैने, समुन्दर का थोड़ा पानी डाला था, फिर, उसमें थोड़ी सी, यहां से उठाकर रेत गीली, दो, तीन, चार सिपियां और? और हां और घोंघे डाले ऐसे, लाल नीले रंगों वाले हूँ। और उसके बाद, एक ऐसा ही न बहुत छोटा न बहुत बड़ा केकेड़ा पकड़ कर मैने ऽऽ, बोतल में डाल दिया। और फिर बोतल को, मै घर ले गई। हर दूसरे या, तीसरे दिन, बोतल में मैं समुन्दर से थोड़ा और पानी लाकर, साथ दो तीन घोंघे भी, मैं बोतल में डाल देती। तभी वह केकड़ा ज़िन्दा रह सका बोतल में। कमज़कम, मेरा तो यही अनुभव है...।

बालिका अब ग़ौर से मेरा कथन सुन रही थी। हम दोनो की नज़र दसेक सेकेन्ड के लिए, आधी सूखी, आधी गीली रेत पर बैठे उदास केकड़े पर थी जो हमारी बातचीत का नतीजा सुनने की इन्तज़ार में था। यूँ महसूस हो रहा था कि वह भी इस बातचीत में अपनी खरी खरी राय देकर, फिर आखिरी बार पूरा ज़ोर लगा कर, डोरा काटकर रेत या लहरों मे गुम हो जाना चाहता हो। लेकिन उसकी या उसकी मालकिन की किसी भी नई हरकत से पहले ही मैं झट से, डोरा लांघ कर, फिर से सुबह के नीले समुद्र-आकाश की असीमता में खो जाने को, झालरों सी लहराती नन्हीं लहरों में, सुमंद गति से, टहलने लगी थी।

दस बीस गज़ आगे ही बढ़ी थी कि फिर से पुकार सुनी, ''आंटी ऽऽ! आं ऽऽ टी ऽऽ।''

घूम कर देखा। ''क्या बात है?'' मैंने बालिका से पूछा।

''आंटी ऽऽ! आंटी आपके अनुभव के लिए, शुक्रिया! थैंक्यू ऽऽ! आदर भरी, मीठी, लम्बी पुकार थी बालिका की।

''इट इज़ ऑल राइट। गुड वा ऽऽ ई!'' मैंने आश्चर्य भरे प्यार से पुकार दी।

''गुड, गुड बाऽऽई!'' केकड़े को बांधी डोर की गांठ खोलती, रेत पर झुकी बालिका की पुकार आई।

तमन्ना

कितने ही दिनों से, नहीं बल्कि कितने ही महीनों से, इस बरस की मानसून में, लगातार बारिष हो रही है। अलका का घर-घोंसला, जगह जगह से यूँ टपका है कि उसको और अधिक टपकने और टूटने से बचाने के लिए, कम से कम ख़र्च के उपाय सोचती और करती-करवाती, वह थकावट और कमज़ोरी के बिस्तर पर ऐसी पड़ी कि डेढ़ दो महीने हो चले है वह चारपाई नहीं छोड़ सकी है। बीमारी तो ख़त्म हो चुकी है दवाइयां खा पीकर। लेकिन कमज़ोरी। अभी भी ऐसी कि ताक़त की खुराक और गोलियां खाने पर भी दूर नहीं हुई। छोटी सी हरकत करने पर भी, यूँ महसूस होती है जैसे दम निकलना चाहता हो। बेहतर यही है कि कुछ दिन और बिस्तर ही की शरण ले और इन्तज़ार करे, ताकत-सेहत के लौट आने की।

लेकिन तन के चारपाई पर पड़े रहने से क्या मन की उधेड़ बुने, सोचें भी आराम करती है? नहीं, वे तो नज़दीक-दूर, अन्तरतम, बाहर सभी जगह के चक्कर काटती है। कभी वे जीवन के वाल्य अल्हड़काल की मीठी भोली स्मृतियों में डूब, पलायन कर राहत पाती है। कभी वर्तमान की कठिन कठोर, परिस्थितियों के साथ जूझने के उपाय खोजती है। और कभी इस शिथिल प्राय अवस्था में भी कल्पना के पुल बांधती है अपनी आकाक्षांओं, तमन्नाओ के पूरे होने के लिए...

तमन्ना ! आदर्शों, उद्देश्यों, भावनाओं सपनों सभी को अपने में समोता हुआ यह शब्द। साधारण भी और मृगतृष्णा सा मायावी भी यह शब्द!... मेरी तमन्ना है मेरी तमन्ना थी कि- तेरी तमन्ना है, थी। उसकी तमन्ना है, थी कि-

फारसी का यह लफ्ज़! भारत में कब आया? कौन था वह यात्री जो अपनी भारत खोज की तमन्ना पूरी करने आया था? पता नहीं वह अपने देस लौटा या नहीं लेकिन भूल चूक से या भेंट के तौर पर, अपनी ही परिभाषा, अर्थ, भावना, चित्त भरा यह शब्द हिन्दुस्तानी भाषा के परिवार को दे गया! कौन था वह यात्री? कवि? दृष्टा? फ़िरदौसी सा दार्शनिक कवि?... फ़ारसी काव्य साहित्य में, यार के दीदार की तमन्ना का ज़िक्र बार बार आता है, विशेष तौर पर सूफ़ी काव्य में। कहां पढ़ा था उसने इस बारे में ? हां, अपनी कालेज की पढ़ाई के दिनों में एक काव्य के इतिहास की पुस्तक में। यार का दीदार, यानी प्रेमी की प्रेमिका से मिलन की, साक्षात्कार होने की तमन्ना !- तमन्ना जो असंम्भव को संम्भव बनाने के सपने लेती है। जितनी दूर और कठिन मंज़िल उतनी ही अधिक तमन्ना की तड़प उसे पाने की। -- अगर शारीरिक रूप आकार में साक्षात्कार होने की, नज़रें मिलने की तमन्ना पूरी नहीं होती तो प्रेमी या प्रेमिका, भक्त, कवि, चित्रकार, मूर्तिकार बनकर, उस दूर, प्रत्यक्ष या अदृष्य असंम्भव को पाने की कोशिशें करता है।

कभी भक्त प्रेमी ज्ञान विज्ञान के क्षेत्रों में गहरी खोजें और अविष्कार करके, एक को पाने की तमन्ना में, अनेकानेकों का कल्याण करता है। तो कभी वह सांसारिक व्यवहारिक जीवन से दूर अलग थलग होकर, वनों पर्वतों गुफ़ाओं मे उस एक को पाने के लिए तपस्या-करता है। समाधिस्थ हो, उसे अपने अंतरतम ही में पाकर, मीरा, सूरदास, रामतीर्थ, रामकृष्ण परमहंस, नामदेव, और लालद्येद बन जाता है ...

लेकिन., उसकी तमन्ना भी कैसी होगी वह बड़ा मशहूर डाकू जो आलाह दर्जे का सूट बूट पहने देखने में भोलाभाला और सुन्दर, एक बार उसके पड़ौसियों के बंगले में, अपने को विदेश से लौटा दूर पार का रिश्तेदार जता कर आया था और रात भर के लिए उनके घर ठहरा था। और आधी रात को उनके लॉकर में से कीमती गहने और ढेर सारे काले धन के नोट कलात्मक सफ़ाई से समेट कर, चुपचाप, चंपत हो गया था। एक बरस होने को आया है पुलिस उसे खोज नहीं सकी है। चोरी डाके के धंधे में इतनी प्रवीणता महारत हासिल कर सकना ! कि जिसकी चोरी हुई हो उसे शॉक से दिल का दौरा पड़ जाए। इस स्मार्ट चोर की क्या बचपन ही से यही तमन्ना थी कि वह एक मशहूर डाकू बने या कि बचपन में उसके साथ बीती कुछेक घटनाओ परिस्थितियों ने ही उसके अन्दर ऐसी तमन्ना जागृत और पक्की की, कि अब उसका नाम सुनते ही लोगों में डर पैदा होता है ! तौबाह! यह भी कैसी तमन्ना है!... क्या हमारा सामाजिक आर्थिक विधान ही ऐसी अन्यायकारी परिस्थितियां नहीं बनाता जिसके फल स्वरूप चोरी डाके और आतंक की भयंकर समस्याएं मनुष्य समाज और व्यक्ति के सामने दैत्यों सी, विनाश लिए खड़ी हो जाती है.....

सरफ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है
देखना है ज़ोर कितना बाजुए कातिल में है
रह रवे, राहे मुहब्बत, रह न जाना राह में
हम किसी से क्या बताएं क्या हमारे दिल में है।

वलवलों भरी कविता किसने लिखी थी? ब्रिटिश साम्राज्य की जेलों में फांसी की सज़ा सुन कर भी सरफ़रोशी की तमन्ना का गीत जोश भरी बुलन्द आवाज़ में किसने गाया था अपने क्रान्तिकारी साथियों के साथ? हां, अमर शहीद कवि राम प्रसाद बिस्मिल ने! जिनकी देश की आज़ादी की तमन्ना और उसके लिए भरी जवानी में खुशी से की गई जान की कुरबानी के बारे सोच, अभी भी रूह काँप जाती है, मस्तक श्रद्धा से झुकता भी है और गौरव से ऊँचा भी होता है।... काश वह भी एक देश भक्त क्रान्तिकारी होती! अलका लेटी हुई सोच रही थी। "बीबी जी, दवाई का टाइम हो गया है।" नौकरानी बनीबाई हाथ में दवाई का कप लिए सामने खड़ी है। अलका अपनी सोचों भरी पलकें बनीबाई की ओर उठाती है। और बनीवाई को शिथिल नेत्रों से देखती है। फिर तकिए से ज़रा सा सर उठाकर, काम्पते बाए हाथ में दवाई का कप पकड़ कर दवाई पी लेती है।...

रोज़ मर्रा की तरह, बनीबाई के चेहरे पर वही हल्के सोच भरी, फीकी सी मुस्कान है। आंखो में सदा सी उदासी है। गेहुँए रंग के चेहरे पर वही थकान। इकहरे बदन की, सुन्दर कद

की बनीबाई अपने मराठी ढंग से केसरी रंग की कई बार धुल चुकी सूती साड़ी पहने, धीमी चाल चलती रसोईघर की ओर चली जाती है। और अलका फिर से आंखे बन्द कर अपने अकेलेपन में, अपने पर हावी सी हो रही, बिखरी हुई सोचों में विचरण करने लगती है...

यह बनीबाई, कभी कितनी आकर्षक रही होगी। अब भी काफी आकर्षक है। बनीबाई स्वयं भी जानती है कि वह आकर्षक थी और अब भी है। ...विधुर पिता की इकलौती बेटी। लाड, प्यार और कुछ समृद्धि सुख भी भोग चुकी बनीबाई,जवानी ही में विधवा हुई। दो बालकों की मां। कभी इसने सोचा भी था कि इसे आर्थिक मजबूरी के कारण किसी के घर नौकरी करनी पड़ेगी! मैके में पाए लाड सुख का मान, एक पत्नि होने, गृहिणी होने चुकने का मान अभी भी उसकी आंखो, उसके अंग अंग उसकी चाल, उसकी बातचीत के ढंग में है। इस घर में काम करने पर कुछ आर्थिक स्थिरता और किसी हद तक मिली सहानुभूति-समझ, पाने पर भी उसके तन मन में अपनी नवीन परिस्थितियो के प्रति सुलगता सा रोष और विद्रोह है जो कभी न कभी किसी छोटी सी घटना पर,कभी आंसू बनकर या कभी किसी को कोई कठोर शब्द कह कर झलक-फूट पड़ता है...। बनीबाई! जब कभी तुम अपने लाड सुख भरे बचपन की बात छेड़ती हो, अपने पति के एक्सिडेंट में एकाएक मृत्यु पाने की बात करती हो तो किसी का भी दिल दुखता है। अपने बड़े बालक को किसी छोटे से रेस्तरां के नौकर रखवा कर, दूसरे छोटे को एक अनाथ स्कूल के वोर्डिंग में भरती करवा कर, स्वयं नौकरी करके पैसा जमा कर रही हो, यह तमन्ना मन में लिए कि अभी तक तो काफी दूर, पर किसी एक दिन, तुम अपनी कमाई और अपने बेटों की, कमाई से एक छोटी सी खोली-झोपड़ी की मालकिन बनोगी। खोली, जिसमें एक बत्ती का प्रकाश होगा, एक स्टोव होगा खाना पकाने को और एक चारपाई होगी। फिर से तुम्हारा एक घर, अपना घर होगा।... क्या तुम्हारी यह तमन्ना पूरी होगी कभी बनीबाई? मन में यही प्रार्थना उठती है कि पूरी हो! ज़रूर पूरी हो! और क्या तुम्हारी गृहस्थी फिर से बसाने वाला कोई सहृदय मानस भी तुम्हें मिलेगा कभी इस जिंदगी में? जो तुम्हारा पति, तुम्हारे बेटों का पिता भी बनने का दिल रख सके? पर इस कठोर, क्रूर आर्थिक सामाजिक और तथाकथित धार्मिक नियमों, रीतियों वाले समाज में क्या कभी यह संभव होगा बनीबाई? कभी संभव होगा?... उफ! थक गई है अलका सोचे सोचते...

झर, झर, झर! टिप, टिप, टिप! बारिष लगातार यूँ बरस रही है जैसे अब कभी बन्द न होगी। खिड़कियों के परदों में, दीवारों में, दीवारो पर टंगे चित्रों में, सीलन आ गई है। खिड़की से बाहर सभी कुछ गीला, मटियाला, उदास, निराश सा भासता है। अलका को यूं लगता है जैसे उसके तन मन में भी सीलन आ गई है। वह अपने तन मन की शक्ति पूरी संगठित कर किसी आशामय, प्रेरणामय उद्देश्य बिन्दु पर केन्द्रित, स्थिर कर, क्रियाशील होना चाहती है लेकिन बार बार अपने को आशक्त पाती है, बिखरते पाती है, टूटते हुए पाती है, पलायन करते पाती है..... अगर वह कुछ देर के लिए गहरी नींद सो सके तो... लेकिन नहीं,जब उसे ज़रा सी झपकी आने ही लगती है तो... लो! शुरू हो गई हैं फिर से आवाज़ें, सिर की रग रग को कुरेदने वाली। धर्र! धर्र! धर्र! ढै! ढै! ठड़क, ठड़क। बन्द खिड़की के बाहर सामने घर के छोटे बगीचे की

दीवार के साथ ही सट कर, रोज़ की तरह, आज शाम भी आकर खड़ी हो गई है, भूरे रंग की ऊँची ट्रक। पास ही की रद्दी बेचने वाले की दुकान से, डिब्बे, टीन, बोतलें रद्दी कागज़ बोरियों मे भर भर कर, फिर घसीट घसीट कर ठका ठक धरे जा रहे है ट्रक पर। घसीटने, उठाने, चढ़ाने वाले है, बारिष में भीगती फटी मैली गंजियां, तहमते पहने तीन चार मज़दूर। मेहनत की कठिनता को भुलाने के लिए, उनमें से एक, गा रहा है एक गीत, उत्तर प्रदेश के किसी दूर पार गांव की मीठी देहात बोली में। उदास सी, किसी को पुकारती सी गीत की धुन! जो वातावरण को कुछ और उदास बना रही है। लम्बी सी हेक वाला गीत ...'काहे गए परदेस सजनवा?......... कब आए होंगे यह ग्रामीण अपना देस छोड़ कर बम्बई महानगर में? क्या तमन्नाए मन में लिए? सिर्फ़ रोज़ी रोटी कमाने की तमन्ना लिए? गिरवी रखी थोड़ी सी ज़मीन कर्ज़े से छुड़ाने के लिए कठिन कमाई करने के लिए? कैसे खाते, पीते, सोते है यह लोग। एक ही खोली में रहते दस-दस बारह बारह जन। खोलियों, झुग्गीओं ही में नही बल्कि दुकानों की सीढ़ियों पर फ़ुटपाथों पर भी। फ़ुटपाथों पर ही चूल्हे जला कर, तवों पर सूखी रोटियां सेंककर पेट भरते, एक एक पैसा बचाकर अपने परिवारों को अपनी कमाई भेजने वाले यह मज़दूर!... देश के आम लोगो की तमन्नाओं की उड़ान अभी तक तो दो वक्त की रोज़ी रोटी तक ही सीमित है।... लाखों, करोड़ों इन्सानों की गरीबी की रेखा से कहीं, कहीं नीचे, और करोड़ों की, ग़रीबी की रेखा पर ही झूलती, अस्थिर ज़िंदगी अर्धमानवों की ज़िंदगीयां जी रहे लोगों की तमन्नाओं के क्षितिज,सीमित न होंगे क्या? अलका के चेहरे पर अपनी ही विफलताओं की अभिव्यक्ति रूप,एक फीकी सी मुस्कान आई......

पर इधर, दाईं तरफ़ की आधी खुली खिड़की से बाहर, झर झर झरती वर्षा बून्दों के अंग-संग झरने लगे थे, नन्हें, कोमल, भोले फूल! इनको भी क्या क्या नाम दिए है इनके अभिभावक प्रेमीओं ने। बंगला भाषा में इन्हें शायद शेफाली कह कर पुकारा जाता है। उत्तर भारत की भाषाओं में इन्हें हार-सिंगार के नाम से सुशोभित किया गया है। मराठी संस्कृत और दक्षिण की अन्य भाषाओं में इन्हें पारिजात नाम से संबोधित किया जाता है। और बनीबाई जो इन्हें छोटी थाली में चुनकर अलका की चारपाई के पास की छोटी तिपाई पर रख देती है इन्हें पारवती फूल कहती है।... कितने कितने ही गीत, प्रेम कविताएं रची गई है इन इन अनुपम सौन्दर्य भरे अति कोमल अमूल्य फूलों पर!... चौमासे के अंतिम दिनों में जैसे अनायास ही अपने हरे भरे पेड़ के पत्तों में उग जाते हैं यह और हर रात, निशब्द झरने लगते है,अपनी ही प्रेरणा से प्रेरित,रचित सौंदर्य प्रतीक... इनकी क्या तमन्ना है यह जो हैं प्रकृति के अजर अटल नियम की अभिव्यक्ति। मट्टी में बीज बनना, मट्टी से बाहर उग, पेड़ बनना, फूल बन सौन्दर्य की परिभाषा कहना, सुगंध की नित सजरी भेंट का अनुभव देना और निशब्द, धरती पर झर जाना, मुरझाना और फिर मट्टी में मिल जाना मट्टी बन जाना... मृत्यु की अवस्था में,आराम पाकर फिर से फूल बनने के सपने लेना, फिर फूल बनना। ऐसे ही सतत्, सृष्टि चक्र पूरा करते रहना... यही तो बूझी अनबूझी पहेली सी, पारिजात, हारसिंगार से शेफाली, पाखती नामों से सुशोभित इन नन्हे सफ़ेद-केसरी फूलों की, ज़िन्दगी की तमन्ना है...

और बिस्तर पर पड़ी अभी भी कमज़ोर तन और शायद उसी के कारण ही अकेंद्रित विचारों सोचों, चित्रों भरा मन लिए अलका!... जीवन में उसकी क्या तमन्ना रही है? देश-विश्व के साधारण मनुष्यों की तरह जनमी, पली, शिक्षित, गृहस्थ, हुई वह, अपनी इस पैंतीस चालीस उमर में, अभी तक तो रोज़मर्रा की ज़रुरतों, सोचों विचारों व्यवहारों ही में जीती रही। जीवन में कुछ खाहिरों, तमन्नाएं की जो कभी पूरी न पनपी, रहीं सदा आधी अधूरी... लेकिन इसमें क्या उस पर हावी होती रहीं परिस्थितियों, सामाजिक, आर्थिक, विधान का ही सिर्फ़ दोष है। उसने कभी स्वयं भी कोई महान सपना देखा, बुना, कोई असाधारण महत्वाकांक्षा की? कवि, दृष्टा, समाजसेवी, कलाकार अविष्कारक होने की तमन्ना? अगर की भी तो क्या मंजिल पाने की राह पर कभी तूफ़ानों में से दृढ़ता से टक्कर ले, आगे बढ़ने की शक्ति-साहस-दृष्टि संग्रहित, केंद्रित की? नहीं शायद, नहीं। उसके सपने ही धुंधले रहे है, स्पष्ट और केंद्रित नहीं। सदा सीमाओं में कैद! सीमित दृष्टिकोण, सीमित शक्ति, सीमित इच्छाशक्ति। सदा ही आर्थिक-मानसिक निर्भरता के जाल में, देश और विश्व के करोड़ो मनुष्यों में, एक वह भी, स्वतंत्र होते हुए भी गुलाम सी। और इसी आधे अधूरेपन मे उसका शेष जीवन भी बीत जाएगा, स्वप्नहीन, आदर्शहीन, सफलता का कोई भी शिखर चूमे बिना...

लेकिन अभी एकाएक कैसे झलक सी गई एक विचार किरण, पूर्व विश्वास भरी, स्वर्णिम स्वप्नमयी, उसके अंतरतम में कि इस क्षण भंगुर जीवन में एक बार, सिर्फ़ एक बार, वह अपने तन मन आत्मा की संपूर्ण संग्रहित केंद्रित शक्ति ज्ञान, अनुभव, परिश्रम से, संपूर्ण जग-जीवन को अपने तीसरे नेत्र से देख-परख, ऐसी अभिव्यक्ति करेगी जो हो विश्व मानवता के हित के लिए होगा प्रकाश! आशा! प्रेरणा!

तब सोई अलका निश्चिन्त गहरी नीन्द।

●

परछाई

कल की तरह आज भी वह सीकचों में चेहरा पिचकाए, बाहर के विस्तृत मैदान की ओर ताक रही थी।...

पेड़, पत्ते, घास, बाहर का सभी वातावरण बारिष से धुल कर स्वछ और ताज़ाह हो गया था। सूर्य अस्त हो गया था और उसकी अंतिम आभा, बादलों और गीली घास पर, इन्द्रधनुषी रंगों मे, कुछ देर के लिए झिलमिला, जगमगा उठी थी। चारों ओर, एक विचित्र ताज़गी और शान्ति सी थी।

पिछले आठ बरसों से, वह इस जेल में है। इन आठ बरसों में बहुत कम दिन ऐसे बीते होंगे, जब वह सांझ के समय, जेल के दरवाज़े बन्द होने पर, दिन भर के काम से मुक्त होकर, लोहे के इन सीकचों के साथ सिमट कर न खड़ी हुई हो। रोज़ के आवश्यक कामों में यह भी एक आवश्यक काम था। प्रतिदिन, संध्या समय जब वह इन लोहे के छड़ों के सामने आ खड़ी होती तो उसकी आंखों के सामने, अपने गांव के हरियाले खेतों और अपने खेत के छोटे साथियों की धुंधली सी तस्वीर चलने लगती। जेल में इतने बरस रह-चुकने के बाद भी उसे यही महसूस होता कि वह अभी भी दस बरस की छोकरी है। उसका मन अपने गांव के सखी-सखाओं से खेलने के लिए अब उतावला हो उठता... गांव के पेड़, उन पर उसके परिचित पक्षियों के घोंसले... गांव के एक छोर पर बहती एक छोटी सी नदी, जिसमे वह गरमियों में, अपने साथियो संगियों के साथ कई बार, सारा सारा दिन पड़ी, तैरा करती... गांव की गली की दुकानें, उन में बैठे कोई चाचा, कोई बाबा, कोई भाई सभी एकदम सजीव होकर उसकी आखों के सामने घूमने से लगती। मानो वह गांव ही में पहुँच वही रहती होती। वह भूल जाती कि वह बरसों से जेल में है।

किन्तु यह भुलावा बहुत देर तक न रहता। मन-तन सहलाने वाला, भ्रम का मोहक जाल फिर टूटता... उसे याद आता, किस तरह एक दिन वह दुल्हन सी सजाकर, शादी करवा कर, जबरन, किसी और के घर किसी और गांव में भेज दी गई थी... दूसरो की शादियां देखने का उसे बहुत चाव था, किन्तु अपनी शादी तो उसे कतई अच्छी न लगी थी... उसे सुन्दर घाघरी चोली, चूड़ियां बालियां, कंठहार पहनना अच्छा लगता था। लेकिन जब उसकी अम्मा, बड़ी बहन और चाची ने उसे शादी के लिए गहने कपड़े पहनाए तो उसे ज़रा भी अच्छा नहीं लगा था। उसे ऐसा लगा जैसे उसे किसी ने लोहे की सांकलों से जकड़ दिया हो। शादी के कितने ही दिन बाद तक वह दिन रात दु:ख और विद्रोह के आंसू बहाती रही थी! उसके इस प्रकार के व्यवहार से

उसके ससुराल वाले तंग आ चुके थे। उसे भी ससुराल का कोई भी व्यक्ति अच्छा न लगा था, न जाने क्यों। और उसे लगता था कि वह भी ससुराल वालों को न अच्छी लगी थी। उसको समझाते मनाते उसके ससुराल वाले अब उसे घुड़कियां, गालियां, डांट डपट और चपत फटकार पर उतर आए थे। उसने सास ससुर के कहे सभी काम करने शुरू कर दिए थे पर डंडे के ज़ोर पर। मार खा खाकर वह विद्रोह और भय से आतंकित हो उठी थी। वह रोज़ अपने घर अपने गांव भाग जाना चाहती थी, इस अजनबी और हृदयहीन वातावरण से अपनी, खोई हुई स्वतंत्रता पाने के लिए। किन्तु माता पिता के पास नहीं। माता पिता ही ने उसे अपने घर से धकेल कर उसे उसके खेल के साथियों से अलग कर दिया था। ज्यों ज्यों वह कष्ट पाती उसके मन में विद्रोह और पलायन की भावना प्रबल हो उठती। किन्तु भय भी इतना था कि वह भागने का साहस भी न कर पाती।...

उसे याद आ रहा था कि वह किस प्रकार यहां जेल में पहुँची थी... वह, न जाने किस बात पर गालियां सह कर और पीटी जाकर, सास की आज्ञानुसार, खलिहान में अनाज लेने गई। खलिहान में अन्य कोई न था। क्रुद्ध, दुखी और क्षुब्ध, वह अनाज के ढेर के पास जाकर खड़ी हो गई और कुछ देर, बिना कुछ किए इन्हीं भावों मे गड़ी सी खड़ी रही... इस यातना भरे घर से निकल सकने का कोई भी रास्ता, तरीका नहीं था...।

एकाएक उसे किसी के पैरो की आवाज़ सुनाई दी... उसे पीटने के लिए कोई आ रहा है, क्योंकि वह अभी तक खलिहान से गेहूँ लेकर वापिस क्यों नहीं आई। वह नहीं जानती क्यों लेकिन यह, पहले ही से अपने बचाव के लिए, दीवार से सट कर खड़ी हो गई... वह सांवला सा, बड़ी बड़ी आंखों वाला लम्बा सा लड़का जिसके साथ उसकी शादी हुई थी वह भी भीतर, खलिहान में आया। वह डर से कांप उठी फिर भी किसी न किसी तरह अपने को स्थिर रखे, जड़ सी, वहां खड़ी रही। वह किसी भी वार को सहन करने के लिए तय्यार थी। नवयुवक के चेहरे पर झिझकती सी, काी सी, मुस्कान थी... उसकी आंखों में कुछ ऐसी चमक थी जिसे वह समझ नहीं पाई। उसका भय और भी गहरा होता गया... युवक धीमी मुस्कान मुस्काता हुआ धीरे धीरे उसकी ओर बढ़ा... और उसने अपनी लम्बी बाहें उसके गले में डाल दी और उसको ज़बरदस्ती, आनाज के ढेर के ऊपर बिठा दिया... अंधेरे, खलिहान में एक विचित्र चुप्पी, भयावह एकाकीपन था। उसमे अगर कोई भी चीज़ जीवित दीखती थी तो वे थी उस लड़के की बड़ी बड़ी आंखें और उसके खुले होठों पर एक विचित्र सी मुस्कान जो उसे भयभीत किए जा रही थी... न जाने किस आकस्मिक ज्ञान से, किस अज्ञात प्रेरणा से, वह स्वयं भी मुस्कुराई और फिर, उसने, अपनी ओढ़नी का एक छोर नवयुवक के गले मे लपेट दिया। मसफुटा लड़का, अब भी मुस्कुरा कर बड़ी बड़ी आंखो से उसकी तरफ़ देखता हुआ मुस्कुरा रहा था... सहसा उसने नवयुवक के गले मे लपेटी ओढ़नी को दोनो छोरों से इतने ज़ोर से खेंचा... कि उसने देखा, मसफुटे लड़के की आंखे, कांच के गोलों सी पथरीली होकर, बाहर की ओर खिंच आई है, मुंह खुला रह गया है और बदन ढीला सा पड़ गया है... तेज़ी से वह उठी और खलिहान की खिड़की खोल कर बाहर कूद पड़ी और उसने भागना शुरू किया... वह दौड़ती ही गई, दौड़ती ही गई, जब तक थकावट से टूट उसकी सारी शक्ति ने साथ नहीं छोड़ा... तब, वह पास की बड़ी

बड़ी झाड़ियों के झुरमुट में जाकर पड़ गई... उन कुछ क्षणों के लिए, उसके भीतर एक विचित्र सी खुशी थी... शांति थी- वह स्वतंत्र थी, किसी भी बंधन में न थी... वह अधिक न सोच सकी... उसकी आंखे तब खुली जब उसके ससुर ने उसे पांव की ठोकर से जगाया... गांव के पांच आदमी उसे घेरे खड़े थे। ससुर की लातें और जूते खाते वह पुलिस की चौकी में लाई गई... और तभी से वह कितने ही बरसों से, इस जेल में है......

उसके साथ जिस प्रकार का भी बर्ताव हुआ, जो कुछ भी हुआ, और उसने जो कुछ किया वह क्यों कर किया, इन बार बार मन में उठते प्रश्नों का उत्तर वह नहीं जानती। वह केवल इतना जानती है कि वह अपने आपको, बंधन से मुक्त कर अपने गांव लौटना चाहती थी। जिस दिन उसमें भय, विद्रोह और पलायन की भावना इतनी प्रबल हो उठी थी, उस दिन उसने कुछ भी न सोचते हुए अपने प्राण बचाने की चेष्टा की और वह ससुराल के खलिहान से भाग निकली... उस दिन से, इतने बरसों तक, वह इस जेल में प्रतिदिन, कड़ा से कड़ा काम करती रही है। वह बीमार हो या अच्छी उसके दैनिक काम में कभी फर्क नहीं पड़ा। उसके रोज़ के जीवन में मशीन सी गति और जड़ता है... केवल संध्या के कुछ क्षण, जब उसे सांस लेने की फुरसत मिलती है तो वह इन सीकचों के सामने खड़ी हो जाती है... वह अपने बाल्यकाल के सरल भोले स्वतंत्र दिनों को याद करके छटपटा उठती है... यहां बरसों से अपने आपको बंदी पाकर एक बेइलाज दर्द से बेचैन, उदास निराश होती रहती है- उपाय की राहें प्रकाशित होती है और फिर कहीं खोकर अंधेरे में डूब जाती है... अधिक सोचने की उसके पास न शक्ति है न समय ही... पहले की तरह वह फिर अपने कामों में जुट जाती है, जेल के हुकुम बजाती, पालती हुई...

किन्तु आज इन्हीं कुछ क्षणों में, उसके मेघाच्छादित जीवन के अन्तरतम की गहराईयों में, एक विद्युत सा आलोक हुआ... और फिर उसे, पहले से भी अधिक अंधकार में डुबो, जाने कहां,... शायद, क्षितिज के पानी भरे नीले बादलों में, विलीन, अलोप हो गया... उसकी आंखों में हल्की सी धुंध थी...

संध्या के धीरे धीरे क्षीण होते आलोक में, आज जब वह बाहर के मैदान और पेड़ों की अपने बचपन के घर के पेड़ो और हरे खेतों के साथ तुलना सी कर रही थी तो उसी धीमे घटते प्रकाश में उसने दो छाया मूर्तियां देखीं... एक किसान नवयुवक और एक किसान नवयुवती... दोनों ने अपना छीला घास का भार, पेड़ के पास रखा था... नवयुवक मुख पर, एक परिचित सी मुस्कान थी... उसकी बड़ी बड़ी, सुन्दर आंखों में एक पहचानी सी चमक थी... युवक ने, धीरे धीरे, आगे बढ़ अपनी लम्बी बाहें नवयुवती के गले में डाल दी... एक परिचित से रंग की ओढ़नी ओढ़े नवयुवती, युवक की ओर, मुस्कराते हुए झुकी... लेकिन पास ही से, गुज़रती किसी और परछाई से पुरुष की, आहट पाते ही वे दोनो, लाज से मुस्कुराते अपने अपने भार उठा, सीकचों के भीतर बन्दिनी की ओर पीठ किए, काली सी परछाईयां बन, आगे बढ़ गए...

घटना साधारण थी... सीकचों के बाहर, संध्या समय, अनेंका अनेंको बार वह बालक बालिकाओं, बड़ों को इधर उधर आते जाते देखा किया करती थी... किन्तु आज इस संध्या को, इन क्षणों में. उसके जीवन का एक गहनतम रहस्य दीपक की लौ सा जगमगाया... उसने देखा-

-अंधेरे खलिहान में वह गेहूँ के ढेर के पास क्षुब्ध, दुखी और एकाकी खडी है--और धीरे-धीरे उसके समीप आ रहा है एक मसफुटा नवयुवक, होठों में मुस्कान, और बड़ी बड़ी, सुन्दर आंखो में एक स्निग्ध सी चमक लिए-- और एकाएक, उसे यूँ अनुभव हुआ, जैसे उसे किसी ने पीछे से ज़ोर का झटका दिया हो-- संभलने के लिए उसने सीकचों को कस कर पकड़ लिया...

उस झिंझोड़ते झटके के साथ, उसे एक विचित्र ज्ञान सा हुआ-- वह अपराधिनी है, घोर अपराधिनी, पतिघातिनी, न केवल अपने सास-ससुर के बेटे का घात करके, बल्कि अपने भविष्य का गला अपने हाथों, ओढ़नी से घोंट-- अनजान ही, अपने जीवन के सहारे को, उमगते स्नेह की अपनी ही बाती को, स्वयं ही बुझा कर...

शून्य अंधकार में, जड़, स्तब्ध सी वह सीकचों को पकड़े, वैसी की वैसी, खड़ी थी...

आज, पहली बार, उसके मन में अपने वर्तमान के प्रति, असंतोष या विद्रोह की भावना न थी...

●

नेगेटिव केपेबिलिटी

लन्दन। उन्नीस सौ ऽऽ और कितने, कितने और बरस? कम या ज़्यादा, खास फ़र्क नहीं पड़ता।...

वह अंडरग्राउंड रेलगाड़ी के डिब्बे के एक कोने में बैठी थी-- अपने आपसे नाराज़, निराश। गोद में पड़ी थी लौट आई कहानी; और उसके साथ ही श्री संपादक जी की चिट्ठी। लिखा था-

''इतनी अन्तरमुखी है, इतना निजित्व है इसमें कि इसे कविता कहानी या लेखन कला का कोई भी रुप नहीं कहा जा सकता। अत: लौटाई जा रही है। यह भी ग़नीमत समझिए कि लौटाई जा रही है। आमतौर पर तो ऐसी तथाकथित रचनाएं हम रद्दी की...... .''

लौटाई कहानी का लिफ़ाफ़ा खोलने पर जो झुंझलाहट और गुस्से की तीव्र भावना संपादक जी! के प्रति उबल पड़ी थी, वह, अब उनकी ओर से मुंह मोड़ धीरे धीरे अपनी ओर पहुंच रही थी। पारा चढ़-उतर रहा था सोच आत्म विश्लेषण और उद्विग्रता का--

'क्यों मैं इतनी अंतरमुखी हूँ? अपने अहं को त्याग कर, बाहर के संसार को चहुंदिस देखने की शक्ति और कला मुझमे क्यों नहीं... क्यों? क्यों? क्यों मै किसी बैरागी कछुए की तरह, अपने इई गिर्द, ज़रा सी भी गति, हलचल देखते ही अपने खोल में घुस जाती हूँ? सभा, समाज, सोसाइटी, गरज़े किसी किस्म के भी जनसमूह में पांव धरते ही मै, एक रद्द किया, मरोड़ कर वेस्टपेपर बास्केट में फेंका कागज़ ही बन कर रह जाती हूँ?... मुझमें इतनी स्व-समा लोचना क्यो है?... और तो सभी, अच्छे भले है! निझक होकर, एक दूसरे से मिलते मिलाते हैं। ...घरों क्लबों, थियेटरों, सभा-सोसाइटियों में मिल-बैठ हंस-खेल चुलबुलाती गुफ़्तुगूएं, और बहस मुवहस करते है-- कितने ही नज़ारे मेरी नज़रों के सामने, अपने नौजवान, मित्र साथियों के, एक ख़ुशगवार काफ़िले की तरह गुज़रगए और मैं हवस और हल्की ईषा से उन्हें देख रही थी--

''और मै? मै? मैं खीजती हुई सोच रही थी, ''अगर मैं रूज, लिप्स्टिक, काजल-बिंदी-सेंट लगा, सुन्दर सी साड़ी ब्लाऊज पहन, पल भर के लिए भी अपने आपको, आइने में आकर्षक पाकर, चकित सी होती हूँ तो घबरा कर, फ़ौरन वह सुन्दर साड़ी उतार कर, तह करके आलमारी में टांग देती हूँ और लिपस्टिक, लाली धोने के लिए बाथरूम चली जाती हूँ--

''अगर मैं आकर्षक वस्त्र पहन आकर्षक बन, बाहर चलती फिरती दिखाई दी तो कुदरती बात है कि आने जाने वाले लोग मेरी तरफ देखेंगे। तो उफ! उनकी वह नज़र! मै तो नहीं सहार सकूँगी। कैसे बाहर जा सकूँगी झिलमिलाती साड़ी या रंगीन रेशमी कुरता-चूड़ीदार पहने, गले में सतरंगी या इकरंगी चुनरी लहराते हुए?... नहीं! कभी नहीं।

और मैं फिर अपनी कोई चार साल पहले खरीदी सूती साड़ी पहन कर, चप्पल घसीटती बाहर चल पड़ती हूँ। और फिर सड़कों, बाज़ारों और फुटपाथों पर नए से नए स्टाइल की रंगरंगीली पोशाकें पहन, स्मार्ट, लचकती, मटकती लड़कियों को देखते ही, ईर्ष्या मेरी नस नस पर सवार हो जाती है-- यह सभी कैसे चमक-दमक रही है! कैसे राह गुज़रतों का ध्यान अपनी ओर चुम्बक की तरह खेंच रही हैं। और एक मैं हूँ, जो कि गए गुज़रें ज़माने की ग़ुलामी करती आज के जमाने में रह रही हूँ और वह भी इंग्लैंड की राजधानी लन्दन जैसे मार्डन शहर में, जहाँ इस बरस मैं जर्नेलिज्म यानि पत्रकारिता का कोर्स करने आई हूँ।.....

राख और मट्टी मै पत्रकारिता का कोर्स करुँगी अगर मुझे सारा वक्त अपनी चुहिया की बिल में ही घुसे रहना है। जब मुझे हर चीज़, प्राणी, घटना को अपने ही दृष्टिकोण से देखना है, यही सोचते रहना है कि किसी वक्त भी मैं क्या, क्यों, कैसे, कर रही हूँ तो मैं क्या ख़ाक दूसरो के बारे में लिख सकूँगी। इसीलिए तो मेरी लिखी कविता, कहानियां लौट लौट कर आ रही है मेरे ही पास... मुझे कुछ करना चाहिए इस बारे में, एक सफल पत्रकार, कहानीकार बनने के लिए... मैं, मै तो पलायन कर रही हूँ अपने से बाहर की यथार्थता से...

वहां, बम्वई की लोकल रेलगाड़ियो में सफ़र करती, या अब यहां लन्दन की अन्डरग्राउंड रेलों में सफ़र करती हुई, मैं अखबारों या किताबों में ही आंखे गड़ा मुंह घुसेड़ क्यों बैठी रहती हूँ। या अपने बारे में ही क्यों सोचती रहती हूँ? मैं यही क्यों सोचती रहती हूँ कि फलाना या फ्लानी, मेरे बारे में, मेरी चाल, मेरी पोशाक मेरी चीनी नाक, आंख या गालों के उभार, या मेरी की किसी भी हरकत या कहे शब्द-वाक्य के बारे में क्या सोच रही रहा है... हाय! मैं क्यों नहीं निकल पाती लापरवाही और आत्मविश्वास से, अपने मन-तन से बाहर, बाहर की दुनिया में...

मैं बड़े बड़े लेखकों की तरह लोगों के चेहरों, उनकी ज़िन्दगियों को क्यों नहीं पढ़ सकती? इस दसवीं लौटाई कहानी से यह तो सौ फ़ीसदी, स्पष्ट हो गया है कि जब तक मै अपने आपको वाह्य मुखी नहीं बना सकती, जब तक मैं अपना अहं, अपना स्वयं, अपनी कहानियों के पात्रों में नहीं खो पाती, जब तक मैं लोगों के चेहरों, उनकी ज़िन्दगी के अन्तरतम में पहुँच उनके चरित्र उनकी जीवनियां, उनके सुख-दुःख पाप-पुण्य नही पढ़ सकती तब तक मै लेखिका नहीं बन सकती।

अंगरेजी महाकवि कीट्स ने कितनी बढ़िया बात कही है कि "हर अच्छे लेखक में नेगेटिव केपेविलिटी होती है, अन्यथा वह महान कलाकार नही बन सकता।" 'नेगेटिव केपेबिलिटी' यानी स्वयं और अहं को भूल बाह्य संसार को देख अध्ययन कर सकने की शक्ति।...

बस, आज से मेरा यही माटो, मेरा सर्वोपरि लक्ष्य है, "नगेटिव केपेबिलिटी" अपने भीतर जागृत करना। आज! इस घड़ी! इस पल ही से।

मैंने अपना अन्तरमुखता का कलेवर कमीज़ के ऊपर पहने किसी मोटे, गरमी देने वाले स्वैटर की तरह, मन से उतार कर परे फेंका। और मेरी कलापूर्ण बाहरमुखी प्रतिभा ने सलाह दी"-

अब कानों को एक खुफ़िया टेपरिकार्डर, और आंखों को बड़े सूक्ष्म लेंसो वाला चारों तरफ़ घूमता फ़ोटो लेता कैमरा बनाओ जी।''

गोद मे पड़ी लौटाई हुई कहानी और निराश विचलित मेरे मन बुद्धि एकदम चेतन होकर देखने एवं ग्रहण करने लगे। मेरी आंखों कानो और अन्य ज्ञानेन्द्रियों ने जैसे नया जन्म लिया हो! और, लीजिए साहब! माने या न माने, ऐन सामने, ट्रैजिडी, मेरे सन्मुख थी। --

ट्रैजिडी! दुखान्त! एक नवयुवती और एक नवयुवक के रूप में मेरे सामने की सीट पर से ही तो मुझे आवाहन दे रही थी।

साफ़ मालूम पड़ रहा था कि सुन्दर नवयुवती को अब जिन्दगी में किसी से भी प्यार, मोह लगाव नहीं रहा था। उसकी आंखो में एक अजीब ग़ैर दुनियाबी सा भाव दीख रहा था। रेलगाड़ी में बैठी भी मानों वह रेलगाड़ी में नहीं थी। उसकी भूरी पुतलियों वाली बड़ी बड़ी आंखे गाड़ी से बाहर, दूर किसी शून्य में डूब रही थी, डूब जाना चाहती थी --

और उसके पास बैठा, तीखे, तराशे हुए नैन नख़्शो वाला नौजवान! जबरन रोके हुए आंसू उसकी आंखों में। भरा हुआ गला। कैसे, पल पल बरसने को हो रहे आंसू, वह अन्दर ही अन्दर पी जाने की कोशिश कर रहा था। उसके पीले फीके पड़े चेहरे पर दर्द सा उभरा था। बार बार वह अपने सूखे होटों को जीभ से गीला करता। उसके अंग अंग में कितनी बेचैनी थी।

इन दोनों ने अपनी ज़िन्दगी में कोई अहम फ़ैसला किया है, कोई, दुखान्त घटना बीती है, बीत रही है इनके जीवन में! इनके जीवन का कोई अध्याय, आज समाप्त हुआ है-- नवयुवक की आंखों में रूके हुए आंसू है।कुछ देर के लिए इसकी दुनियां में अंधकार छा गया है, यूं लगता है जैसे कुछ देर ही के लिए -- यह तो फिर भी पाज़िटिव बात है -- लेकिन नवयुवती! इसकी आंखों में तो सिर्फ़ शून्य ही झलक रहा है। बिल्कुल ही नेगेटिव एक्सप्रेशन, कही यह आत्महत्या न करले, मैं भय और सहानुभूति से विचलित हो उठी ---

मैं अपना आप बिल्कुल भूल चुकी थी। मैं इन दोनो की ज़िन्दगी के बारे में सोच रही थी। स्टेशन आते गए, गुज़रते गए। क्या मैं उनको देखते हुए भी देख रही थी? नहीं! मुझे तो अब यह भी ध्यान नहीं रहा था कि मै एक अंडरग्राऊंड रेल में बैठी हूँ, और आकर्षक दीख रही हूँ कि वही सिघ्घड़ सी, चप्पल घसीटने वाली जर्नेलिज़्म की विद्यार्थी, कोई मेरी मंगोल आंखों और उभरी गालों वाली अजीब से चेहरे को देख कर मुस्कुरा रहा है या नहीं, यह सब तो, अब भूतकाल में ग़ायब हो चुकी फिज़ूल सी कहानियां, भ्रम थे-- अब तो मै इस नव नौजवान जोड़ी, एक दूसरे से विदाले रही जोड़ी के अंतरतम की गहराईयों में वेग से लहरा रही भावनाओं में डुबकियां लेने की कोशिशों का सुख ले रही थी--

'नहीं! शायद यह कोई बहन भाई है। और इनके परिवार में कोई दुर्घटना हुई है, शायद किसी की मौत। परसों, दो रेलगाड़ियों के आपस में टकरा जाने से कितने ही लोगों की मौत हुई है। उन बेचारों में शायद इनके भी मां-बाप, भाई-बहन या कोई निकट सबंधी थे। अगर यही हुआ है तो कितनी बरदाश्त है इनमे! कितनी बहादुरी से यह अपने दुःख पीड़ा पर काबू पाने की

कोशिश कर रहे है, हालांकि इतनी बरदाश्त भी उचित नहीं। दु:ख को इतना रोकने से इन्सान ख़ुद भी उसके कब्ज़े में आजाता है, बीमार हो सकता है, मर सकता है। अगर यह लड़की थोड़ा सा रो ले तो क्या इसके लिए बेहतर न हो? लेकिन, एक लोकल गाड़ी में बैठी, सबके सामने रो भी कैसे सकती है चाहे इसकी सगी मां ही क्यों न मरी हो। बेचारी! नहीं,इसका ख़ामोश रह कर, शून्य में देखने का एक्सप्रेशन ही बेहतर है।--

या यह भी तो हो सकता है कि इन दोनों को नौकरियों से बरख़ास्त कर दिया गया है और इनके पास अब न पैसा है न-

मेरी स्टडी मेरे चरित्र अध्ययन को और आगे बढ़ने का मौका न मिल सका। रेलगाड़ी 'ग' स्टेशन पर रूकी। नवयुवती अपनी सीट से उछल कर उठी। तेज़ कदमों से वह प्लेट फार्म पर जा उतरी और इधर उधर देखने लगी।

"हैलो, लीना!" नया नीला सूट पहने, स्टेशन की सीढ़ियों से एक ख़ूबसूरत नौजवान फुरती से उतरा और लीना के करीब आगया।

"डार्लिंग!" उसी उत्तेजित खुशी के स्तर में लीना ने भी खिले होठों से पुकारा।

एक दूसरे को चूमते, एक दूसरे की बाहों मे बाहें डाल वे दोनों स्टेशन से बाहर जाती सीढ़ियों की ओर बढ़ गए।

मुझे, शौक सा लगा। यह, ऐसे कैसे, क्योंकर हुआ?-- और मेरी लिखी जाने वाली ट्रैजिडी, दुखान्त का प्लाट! उसका क्या होगा? क्या मैने उस नवयुवती के चेहरे के भावों को ठीक ठीक पढ़ा?-- बड़ी बेहूदगी है। इस छोकरी को इस तरह का व्यवहार हरगिज़ नहीं करना चाहिए था। इसकी अभी की हुई सभी हरकते, इसके पहले की सभी हरकतो से कतई अलग है, उलट है। कमाल है! इस छोकरी की शख्सीयत में तो बिल्कुल स्थिरता नहीं। मैं इस छोकरी के सस्ते, ओछेपन से निराश और शर्मिन्दा हूँ। छी! यह छोकरी बेहूदा है!

मट्टी डालो जी ऐसी छोकरी पर, जो यूसफ़ से सुन्दर मित्र को छोड़कर, उसकी कोमलतम भावनाओ को पैरो तले रौंद किसी और ही छोकरे के संग इश्क लड़ाने चल पड़ी है-

उस बेवफ़ा छोकरी की ओर से अपना ध्यान हटा कर, मैने अपनी तन्मयता अपनी कहानी के दूसरे पात्र, उस निराश और बेचैन नौजवान की तरफ़ झुका ली। मेरी तन्मयता उसकी ओर इतनी हुई कि मेरी आंखे बिना झपक उस पर गड़ सी गई! और हल्की सी दर्द महसूस होने पर मुझे आभास हुआ कि मेरी आंखे नहीं बल्कि मेरी सुराहीदार गर्दन भी कुछ ज़्यादा ही आगे झुक रही थी।

नौजवान की बेचैनी बढ़ रही थी। अपने ख़ुश्क होठों पर वह बार बार जीभ फेरता। अपनी कोहनी को घुटने पर टिका अपनी अंजली पर माथा घर कर वह आंखें बन्द कर लेता। सोचें सोचता कभी जेब में से रूमाल निकाल, नासिका में आए आंसू पोछता! उसकी यह बेचैनी

मुझसे सहन नहीं की जा रही। जी चाहता अपनी सीट से उठ कर उसके पास की खाली हुई सीट पर जाकर बैठ जाऊँ। यही मौका था उसकी पीड़ा को कम करने का उससे हमदर्दी करने का, उसका जीवन इतिहास जानने का।---

एक हल्का सा झटका देकर गाड़ी रूकी। रेलगाड़ी टरमिनस स्टेशन पर पहुँच चुकी थी। यहीं से मुझे अपने किराए पर लिए ठंडे से कमरे में जाना था रोज़, सफ़र के अन्त की आदत मुताबिक, मैं सीट से उठी बाहर जाने के लिए। गाड़ी से उतरते समय, अपना काम अधूरा रह जाने वाली निराश नज़रों से मैने आखिरी बार उस नौजवान को देखा।

वह भी बाहर आरहा था, ऐन मेरे कदमों के पीछे पीछे। मेरे शरीर में ख़ुशी की कंपकंपाती हल्की लहरें लहराई। सीढ़ियां चढ़ते हुए मेरे कानो में पुकार सी आई-

''मैडमऽ?''

''जीऽ? क्या बात है? मैने अपनी सुखद भावना को कंट्रोल में रखने की कोशिश में जवाब दिया।

"पूछना तो मैं चाहता हूँ कि मामला क्या है?"

"जी जी! यही तो मै भी पूछना चाहती थी, हूँ कि यानी मै जानना चाहती कि---''

''देखिए मैडम! पूछना अच्छा तो नहीं लगता। लेकिन बात यह है कि आपका इस तरह से मुझे घूरना भी उतनी ही हिमाकत है जितना मेरा आपसे सवाल करना। क्या मै आप से पूछ सकता हूँ कि सफ़र के दौरान आप मुझे क्यों घूर रही थी'' एक स्त्री होकर भी?

''मिस्टर, मैं- मैं, आप, आप। ''मैं अकस्मात किए गए उस तरह के सवाल के लिए कतई तैयार न थी।

''आप करती क्या हैं, मेरा मतलब, क्या काम करती है?''

''मैं? जी मैं एक लेखिका हूँ। जर्नलिस्ट हूँ।'' ख़ुश होकर मैंने कहा।

''अच्छाऽ! तो यह मामला है! निहायत अफ़सोस है मैडम लेखिका। इस बार आपको किसी कहानी का प्लाट नहीं मिला। हूँ! तो तभी, आप मुझे इस माफ़ कीजिएगा, इतनी बेवकूफ़ी से ताड़ रही थी! मैडम, मेरे साथ कोई दुखान्त दुर्घटना नहीं बीती। यह ठीक है कि इस वक्त आपको मेरा चेहरा ट्रैजिक सा दीख रहा होगा। गाड़ी पर सवार होने से पहले मैने प्लेटफार्म पर लगे आईने मे देखा था। पर मैडम, वह जुकाम और हल्के बुखार की वजह से है। और मेरा गला भी काफ़ी दुख रहा है। मै अभी कैमिस्ट की दुकान से दवाई लेने जा रहा हूँ। आपको भी आंखे, नाक, कान, गरदन की सेहत के लिए किसी भी छोटी मोटी दवाई की ज़रूरत तो नहीं? एक अजीब सी व्यंग भरी मुस्कान मुस्कुराते हुए उसने मेरी तरफ घूरते हुए कहा।

''नहीं, नहीं, शुक्रिया।'' मै एक फीकी घबराई सी मुस्कान होठों पर लिए धीमे से बोली।

''उम्मीद है आप आइन्दा, रेलगाड़ियों मे सफर करती, राह जाते मुसाफिरों को यूँ न घूरा करेंगी है जी! शुभकामनाएं!और वह तेज़ कदम आगे बढ़ गया।

.फ़ुटपाथ के किनारे एक बस स्टैन्ड पर, सर्दियों की ठंडी शाम के घिरते अंधेरे में, मै बस की इन्तज़ार में खड़ी थी।

हाथ में थी श्री संपादक जी द्वारा लौटाई कहानी---

मै सोच रही थी, अगर अबकि श्री संपादक जी ने मेरी लिखी कहानी लौटाई तो, उस पर क्या रिमार्क लिखा होगा!...

●

रिज़ल्ट की इन्तज़ार में

हालिडे होटल मसूरी
रुम नम्बर 7
20 मई 19

प्रिय अविनाश भय्या,

आखिर, यहां आ ही पहुँची।

हॉलिडे होटल में एक कमरा मिल गया है। होटल भी अच्छा है और खाना भी। कमरा भी अच्छा ही हैं, हालांकि इसमें कोई ऐसी खिड़की नहीं जिससे बाहर का पर्वतीय दृष्य देख सकूँ। कमरे के बाहर एक छोटा सा बरामदा है। वहां से सामने की पर्वत शृंखलाएं कुछ कुछ दिखाई देती है किन्तु अच्छी तरह नहीं।

बरामदे के साथ ही खड़ा एक पेड़ है जिसके पत्ते सब कुछ ढक लेते है... खैर, असली बात तो इस वक्त होटल का कमरा और बाहर का दृष्य नहीं है। असली बात तो है मानसिक स्वतंत्रता, जिसे पाने के लिए मै यहां आई हूँ, भले ही यह कुछ ही दिनों के लिए सही।...

अकेली हूँ, स्वतंत्र हूँ, ख़ुश हूँ। बाहर की सैर करके जब कमरे में लौटती हूँ तो कोई पूछने वाला नहीं कि 'कहां गई थी? क्यों गई थी? देर से क्यों आई हो यह खुली साड़ी कुरसी पर क्यों पड़ी है, किताबे क्यों अस्त-व्यस्त पड़ी हैं, इत्यादि! शुक्र है ख़ुदा का, कुछ दिनों के लिए इस सबसे छुट्टी मिली। अरसे के बाद, यहां आकर सकून की सांस ली है।... यहां मौसम सुहावना है। चारों ओर पर्वतीय शांति है। सिवाय हवा में झूमते वृक्ष-पत्तों की सांय-सांय के और कोई आवाज नहीं सुनाई देती और न ही मुझे और कोई आवाज़ सुनने की चाह है-अब खाना खाने जा रही हूँ और आज के लिए इतना ही-

प्यार से, तुम्हारी बहनियां-
22 मई, हाली डे होटल
मसूरी

पुनश्च

माफ़ करना अविनाश, बीस तारीख का लिखा पत्र पोस्ट नहीं कर सकी! कारण, एक तो ख़याल था कि मेरी यहां पहुंचने की तार के जवाब में तुम्हारा पत्र आएगा ही। होटल का पता तो मैंने लिख ही दिया था। दूसरा मै भी सुबह शाम लम्बी सैरें करके और फिर पेटभर के खाना

खाकर गहरी नींद सो जाने के अलावा और कुछ नहीं कर सकी हूँ। परिवर्तन की इतनी ज़्यादा ज़रुरत थी मुझे। और तुम तो व्यस्त पत्रकार हो, मोटा चश्मा लगाए दफ़्तर मे घंटों बैठने वाले, प्रूफ़ रीडिंग करने वाले। तुम्हे घूमने घामने का अवकाश इन दिनों कहाँ। पता नहीं मेरे यह पत्र भी पढ़ने की तुम्हें फ़ुरसत होगी या नहीं।

लेकिन अविनाश भय्या, वन-पर्वतों में,सांप सलोटी ऊपर-नीचे जाती सैरे करने का आनन्द लूटती मै कभी कभी घबड़ा भी जाती हूँ क्योंकि मैने यह अनुभव किया है कि आमलोग शहर की किसी लड़की को अकेले घूमते देखकर चौंकते, हैरान से होते है! लोगों की,विशेषतौर पर शहर से आए सैलानियों की नज़र में, यह हैरानी देख कर, मैं ख़ुद कई बार सोचने लगती हूँ कि अकेले आकर शायद ग़लती की है। घूमने फिरने के लिए होटल में ठहरने के लिए और तो और गलत और ठीक सुझाने के लिए भी किसी मर्द का होना ज़रुरी है। ''औरत ज़ात का अकेले घूमना फिरना ठीक नहीं।'' यह वाक्य कौन कहा करता है हमारे परिवार में? हां, बड़े ताया जी। जो ख़ुद छोटी बड़ी सभी भतीजियों को घूरने में माहिर है। लेकिन डर तो लगता है मुझे यहां अकेलेपन में। न जाने आसपास का कोई व्यक्ति, होटल वाले ही, मेरे इस अकेलेपन का फ़ायदा उठा लें। ऐसी बातें संदेह भरी दिमाग़ में घुसी हुई है कि कदम कदम, घडी घड़ी मानसिक स्वतंत्रता के साथ ही साथ भय भी होता है। इसीलिए सैर करते, बर्फ़ीली पर्वत चोटियों को, तितलियों, वन फूलों को देखते या महज़ अपने ही ख़्यालो में खोई,कभी एकदम से चौक जाती हूँ कि कहीं कोई मनुष्य, तो बुरे खयालों से इधर नहीं आ रहा। अपने बटुए को साड़ी के भीतर छुपा लेती हूँ ताकि वह यह न समझे कि मेरे पास पैसे हैं। झट से, तरह तरह की मन घड़न्त कहानियां बनाती हूँ कि अगर ऐसी घटना हुई तो मैं बचाव के लिए कैसे करूँगी इत्यादि। लेकिन शुक्र है अभी तक ऐसा कुछ नहीं हुआ। मज़े से सैर की है। कालेज की सहेलियों को पत्र लिखे हैं। होटल के छोटे से बगीचे में बैठे बैठे होटल के नौकरों की आपस में मज़ेदार बातचीत सुनी है। होटल के मैनेजर और होटल में ठहरने वाले नित नए अतिथियों की, तरह तरह के खाने के बारे में , रहने की सुविधाओं की अजीबों ग़रीब फ़रमाइशें, शिकायतें और शिकायतों के बयान सुने हैं। कल एक बहुत खिझा हुआ रसोइयां, होटल के किसी ख़ास मेहमान के बारे में कह रहा था, अंग्रेज़ी ढंग से खाना खाना तो आता नहीं। यह भी नहीं मालूम कि कौन सी डिस के साथ कौन सी डिस खाई जाती है पर अंगरेजी पोशाकें पहने, अंगरेज़ बने बैठे है! बैरा! यह लाओ! बैरा वह लाओ। हमसे यह सब अगड़म बगड़म फरमाइश पूरा नहीं होता।''... तो उसको समझाने की कोशिश करते हुए, दूसरे नौकर ने कहा,

''देखो लाखी, इस बाग में कितनी तरह के फूल हैं?''

लाखी की समझ में यह बात नहीं आई। वह सिर झुका कर वैसे ही चिढ़चिढ़ा खड़ा रहा।

दूसरे नौकर ने ज़रा और समझाने की कोशिश करते हुए कहा, ''बहुत तरह के फूल है न!'' हालांकि जिस जगह पर खड़े होकर बातें हो रही थी वहां रुखी-सूखी ज़मीन में तीन पुरानी सी क्यारियां थीं, और उनमें, दो या तीन रंग के मामूली से फूल ज़बरदस्ती ही उगे हुए थे।

लाखी ने क्यारियों की तरफ, या फूलों की तरफ़, जब से उसने नौकरी की होगी, शायद पहली बार देखा होगा। देखकर बोला! ''हां बहुत तरह के फूल हैं।''

"तो, इसी तरह दुनियां में बहुत तरह के आदमी है। कोई किसी तरह का, कोई किसी तरह का। इस वास्ते, कोई किसी तरह का और कोई किसी तरह का खाना मांगता है।"

यह मिसाल न जाने रसोइए के दिल में, बहुत भावुकता से जाकर बैठी। मुस्कुरा कर बोला,

"हां, बात तो यह ठीक है। दुनियां में आदमी तो बहुत तरह का है" और एक बार क्यारी की तरफ फिर से देख कर, संतुष्ट हो गया।

होटल के बैरों और मेहमानों के बच्चों की आया लोगो के बारे में भी लिखने को जी चाह रहा है। वैसे भी यह एक आकर्षक विषय है। और यहां आकर दिमाग़ में ताज़गी सी आई है और इधर उधर की सुनने और देखने का मौका अधिक मिला है। इसलिए तो मैं, हर समय साथियों के साथ घूमने की शौकीन नहीं हूँ, चाहे तुम जैसा हम ख़याल प्यारा भाई ही क्यों न हो। घूमने फिरने के समय गप्पें हम समय, राजनीति की चर्चा करते हुए, मनुष्य आम तौर पर, आसपास की बहुत सी दिलचस्प बातें घटनाएं-दृष्य नहीं देख पाता।...

तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा में हूँ।

प्यार से तुम्हारी

मसूरी

25 मई

प्रिय भय्या,

फिर तुम्हें पत्र लिखने लगी हूँ। जी तो चाहता है न ही लिखूँ। न जाने तुम्हें क्या हो गया है या शायद लखनऊ में तुम्हारा पत्र आया पड़ा हो किन्तु घर वालों ने शायद पता बदल कर उसे यहां नहीं भेजा क्योंकि किसी का भी पत्र नहीं आ रहा।

आज जी चाहता है कि शाम को सैर करने के लिए कोई साथी हो। तुम तो यहां आ ही नहीं सकते क्योंकि सबसे पहले तो मेरा अपना ही पता नहीं कि किस दिन यहां से रुखसत होना पड़े। जिस दिन भी परीक्षा परिणाम निकलेगा उससे दूसरे दिन चल पड़ूँगी।

कल रात से दांत मे दर्द हो रहा है और ज़्यादा चलने से पेशावरी चप्पल ने काट खाया है। आज सैर भी नहीं जा सकूँगी। इसलिए और भी जी चाहता है कि किसी से बाचचीत करके जी बहलाऊँ...

अगर तुमसे मिल नहीं सकती तो तुम्हें एक हल्की फुल्की रुचिकर बात बताती हूँ-

मेरे साथ के कमरे में दो आयरलैण्ड निवासी ठहरे हुए हैं। एक सज्जन कोई तीस पैंतीस बरस के, और दूसरे पच्चीस-छब्बीस बरस के होंगे। दोनों शान्त, हंसमुख प्रकृति के दीखते है। युवक शानदार है देखने में। उनसे साक्षातकार खाने के हाल में ही होता है। वे दोनों अपनी अलग मेज़ के सामने बैठे होते है और मै हाल के कोने मे अपनी अलग अकेली कुरसी पर। ज्यों ही वे दोनों खाना या सुबह का नाश्ता करके अपने कमरे में जाते हैं, आर्यारश लोक गीतों के सुर

सुनाई देने लगते हैं मुझे अपने कमरे से। गीत सीटी बजा कर ही गाए जा रहे होते है। इतनी मधुर सीटी वजती है कि बांसुरी से कम नहीं। कई एक गीत तो जाने पहचाने हैं, जो मैंने आर्यारश कान्वेन्ट स्कूल में पढ़ाई करते आर्यारश नन्ज़ अध्यापिकाओं से सीखे थे। सीटी, वह युवक ही बजाता होगा। बड़ी उमर का व्यक्ति तो कुछ गंभीर दीखता है। मोटी सी फ्रेम का चश्मा पहनता है। और उसकी सीटी बजाने की तो उम्र भी ख़त्म हो चुकी। जितनी देर सीटी बजती है, मैं बिना और कुछ किए, चुपचाप सुनती हूँ। थोड़ा सा जो एकाकीपन लगने लगा है उसके लिए यह अच्छी एंटरटेनमेंट है।... तुम्हें बताऊँ, उस युवक के चेहरे में सबसे आकर्षक नख़्श कौन सा है? उसकी नाक। ...मुझे पता है, यह सब पढ़ कर तुम्हारे जी में कुछ शंकाए उठेगी-लेकिन शंका-मुक्त हो जाओ। मुझे संगीत से लगाव है और उसकी मधुर सीटी-बांसुरी बहुत आकर्षक है...

अगर तुम यहां आ सकते हो तो खत मिलते ही फौरन तार दे दो ताकि परीक्षा परिणाम के बाद भी मैं यहां ठहरी रहूँ।

बहुत प्यार से
तुम्हारी बहन-

मेरे प्यारे भय्या अविनाश,

अगर मैं यहां इतनी उदास इतनी एकांकी न होती, तो तुम्हें कभी पत्र न लिखती। तुम्हारे इस व्यवहार से हैरान और परेशान हो रही हूँ।

मै यहां से लौट भी जाती लेकिन घर वापिस जाने मे भी तो, शान में फ़र्क आता है। घर में, मैने जब यहां अकेले आने की ज़िद की तो बड़ों का यह विचार था कि अकेली रह कर इतनी तंग आ जाऊँगी कि घर भाग आने के सिवाय कोई चारा नहीं रहेगा... और यह कम्बख्त परीक्षा परिणाम भी तो निकलने में नहीं आता जिसकी इन्तज़ार का बहाना बनाकर मै यहां बैठी हुई हूँ।...

केवल एक आकर्षण है यहां और वह है आर्यारश संगीत।... कल सवेरे जब मैं नाश्ते के लिए तो उसकी नज़र्रे एक बार इस ओर उठीं और फिर वे दोनों अपनी बातचीत में तल्लीन हो गए। वे दोनों नाश्ता खत्म भी कर चुके थे। किन्तु जब तक मै उठ कर अपने कमरे में नहीं आ गई तब तक वहीं बैठे रहे। और अपने कमरे में लौटने पर फिर सीटी बजनी शुरु हुई। सीटी बजती है फिर थोड़ी देर रुक कर फिर बजने लगती है। शाम को जब मैं बाहर जाती हूँ तब भी साथ के कमरे में सीटी बज रही होती है। ...रात को यह लोग देर से आते हैं। खाना खाकर जब मैं बिस्तर में लेटी किताब पढ़ रही होती हूँ तो साथ के कमरे में भारी भारी बूट भीतर दाखिल होते है। फिर सीटी और चहलकदमी की आवाज़। उसके बाद रात के सन्नाटे में किताब या अखबार के पन्ने पलटने की हल्की आवाज़। कभी कभी खांसी भी।न जाने दोनों में से किसको जुकाम और खांसी है... तुम कहोगे, साथ के कमरे का इतना सूक्ष्म अध्ययन क्यों? लेकिन अविनाश भय्या, अगर तुम अकेले एकाकी होते तो तुम्हारा ध्यान भी इसी तरह ही आकर्षित होता...

आज इतवार है। वे लोग देर से लौटेंगे। और मैने आज इतनी लम्बी सैर की है कि बस, अब बत्ती बुझा कर सोने लगी हूँ।

यह पत्र कल सुबह पोस्ट होगा।

तुम्हारी मित्र बहन-

प्रिय प्रिय प्रिय भय्या,

तुम जान ही नहीं सकते कि तुम्हारा तार आने से, चाहे तुमने सिर्फ इतना ही लिखा है कि छुट्टी न मिल सकने की वजह से तुम्हारा यहाँ आना असंभव है मुझे कितनी खुशी हुई है। इतने दिनों के बाद संसार के किसी कोने से पहली बार मुझे कोई संदेसा मिला है और शायद पूरे सप्ताह के बाद शायद मै खुल कर मुस्कुराई हूँ, तुम्हारी तार बार बार पढ़कर! निश्चय किया है कि आज शाम को लम्बी सैर के लिए जाऊँगी।

हां, सुनो साथ के कमरे में अब भी कोई है किन्तु अब केवल एक आदमी। खाने के कमरे जाने पर मेरी आंखे ही नहीं उठती। हॉल में इतने लोग बैठे होते है कि एक नज़र में कोई यह नहीं देख सकता कि कौन कहां बैठा है। खैर- मेरे लिए वह आर्यारश बांसुरी ही काफ़ी है। इतनी आदी हो गयी हूं उसे सुनने की कि सांझ को जब वे भारी बूट चीं! ची! करते कमरे से बाहर चले जाते है तो भी सीटी के धीमी मधुर स्वर कानों में गूंजते रहते है। दो तीन बार तो मुझे भ्रम हुआ है दूसरा व्यक्ति फिर लौट आया है। लेकिन, नहीं, वह शायद चला ही गया होगा। ठीक कह नहीं सकती।

आज सवेरे नाश्ता करने के बाद जब मैं बाज़ार से कुछ चीजें खरीद कर लौट रही थी तो सामने से वह बड़ा आर्यारश कुछ किताबें बगल में दबाएं चला आ रहा था। मेरी ओर देखकर वह मित्रता भाव से धीमा मुस्कुराया। मै भी कुछ मुस्कुरा कर आगे बढ़ गई। यह बड़ा आर्यारश अब न जाने कहां रहता है। शायद किसी योरुपीयन बोर्डिंग हाऊस में रहने चला गया होगा। इस बड़े आर्यारश को तो घूमते घूमाते मैं देख ही लिया करती हूँ लेकिन वह नवयुवक वह शायद कुछ बीमार है, या वह भी मेरी तरह चिट्ठियां लिखने और कमरे में बैठे बैठे ही पढ़ने में लगा रहता है। जाने क्यों दिखाई नहीं दिया दो तीन दिन से। हालांकि सीटी तो कमरे से बराबर सुनाई दे जाती है।...

दो तीन दिन से, तीन नम्बर यानि उन लोगों के कमरे से नहाने का पानी मांगने की आवाज़ तभी आती है जब मैं बैरा से नहाने के लिए गरम पानी के लिए आवाज़ लगाती हूं। मुझे हसी आती है कि अजीब ढंग का परिचय है हमारा।

मेरा परीक्षा परिणाम अभी तक नहीं निकला न घर से ही कोई सूचना आई है। खीझ कर, अखबार लेना भी बन्द कर दिया है। तो भी इतनी व्यग्र हूँ रिज़ल्ट देखने के लिए कि दोपहर को अखबार देखने के लिए पब्लिक लाईब्रेरी भी जा पहुँची, लेकिन रिज़ल्ट का नाम निशान नहीं...।

मेरी जो स्वत्रता से अकेले रहने की चाह थी उसे पूरी तरह से सफल करने के लिए, यूँ लगता है कि हमारे विश्वविद्यालय ने भी, मेरे सभी मित्र बंधुओ के साथ निश्चय कर लिया है कि मुझे अकेलेपन में रहने का पूरा और दीर्घ अनुभव करने का मौका दिया जाय। किन्तु परीक्षा परिणाम निकले या न निकले फ़ेल हो जाऊँ या पास, चाहे वहां पहुँचने पर मित्र बंधु मेरे अपने वचन तोड़ने पर हंसे ही क्यो न, मैं परसों यहां से चल पड़ूँगी।

माफ करना मेरे अविनाश भय्या, इतने इतने लम्बे पत्रों की बौछाड़ से तुम्हारा सिर खा रही हूँ। लेकिन यह सब बस सिर्फ़ इस बार ही। फिर अगर तुम चाहोगे भी तो बड़े रौब से और बड़ी व्यस्त रह कर दो महीने में दो लाइने लिख दिया करुँगी। वैसे, राखी कब है, वह तो भेजनी ही होगी।

प्यार से, तुम्हारी छोटी बहन-

मसूरी
2 जून
रात के दस बजे

प्यारे भय्या,

अगर आप बिल्कुल अकेले हों और आपको ऐसे पड़ौसी मिल जाएं जैसे कि मुझे कल दोपहर से मिले है तो तुम क्या करो? एक और दो नम्बर के कमरों में कल दोपहर से, तीन, चार, पांच और छ: साल के सात बच्चों और उनके तीन चार माता पिता ने दो नौकरों समेत धावा बोल दिया है। बच्चें या तो रोते हैं, या चाचा! छतरी ला दो, बरफी ला दो की धूम मचाते हैं। बच्चें और बड़े सभी एक साथ बोलते, रोते, हंसते और चिल्लाते हैं। कल से यह सुनते और सहते सिर में दर्द होने लगा है। दोपहर को जब न सहा गया तो मै बाहर निकल पड़ी और एक डेढ़ घंटा, धूप में घूमती रही। शाम को जब अपने कमरे मे वापिस आई तो उस परिवार का शोरगुल धम! धम! सब उसी तरह जारी थी। यह लोग अपने इन दो कमरो ही में खाना पकाते हैं। होटल वालों ने भी इन अमीरो से पैसा बटोर कर इजाज़त दे दी है कि यह सोने वाले कमरों में खाना पका लें। ... मरदों की बातचीत बहस दुकानदारी के बारे में ऊँची नीची हो रही है, औरतों की, आलू की भुजिया, पकौड़ी के रायते और इमली की चटनी के बारे में अनुभव की खट्टी-मीठी कड़वी बाते हो रही हैं और बच्चें चाचा जलेबी ला दो, बुआ चड्डी बनियान बदल दो! चिल्ला रहे है और कमरे के बाहर के बरामदे में टट्टी कर रहे है। अपने कमरों से मेरे कमरे तक एक रसकी बंध गई है जिस पर गीली मैली स्नान धोतियां, लंगोट सूखने के लिए डाले गए है। बरामदे के जंगले पर भी तरह तरह के कपड़े सूख रहे हैं। सभी औरतों ने करीब दस दस तोले सोना अपने शरीर पर चढ़ा रखा है। मरदों ने भी दो दो अंगूठियां और सोने के बटन कमीज़ों पर लगा रखे हैं लेकिन रह इस तरह से रहे है जैसे अपनी जायदाद मुकदमें मे हार चुके हों। मैं हैरान हूँ कि होटल वालों ने इन्हें रहने को जगह कैसे दे दी है। शायद होटल वाले के कोई रिश्तेदार होंगे। तुम होते तो रात को बाहर घूमने के लिए निकल जाते और बारह एक बजे जब यह सब लोग निद्रा देवी के गर्भ में समा गए होते, तब वापिस लौटते। लेकिन, मै इस वक्त कहाँ जाऊँ!...

अभी तीन नम्बर में भी कोई वापिस नहीं आया। पर आज शाम को जब मैं अपने कमरे में वापिस आकर कुर्सी पर बैठी तो तीन नम्बर कमरे में चाय के प्याले को प्लेट पर रखने की आवाज़ से जाना कि कोई कमरे में लौटा है। फिर पंदरह बीस मिनट कमरे में चहल कदमी उसके साथ ही टूट टूट कर बज रही उदास सुरों की सीटी। फिर जैसे अधीर और क्षुब्ध होकर, आसपास की चीज़ों को उठाकर कभी मेज़ कभी ट्रंक और कभी चारपाई पर पटकने की आवाज़... किताब के कुछ पन्ने पलटे गए, फिर किताब को मेज पर पटका गया और फिर चहल कदमी..... ऐसा क्यों? मैं सोच रही थी- क्या वह भी एकाकी है?....

मन में आया कि उसे कहूँ चलो सैर के लिए चलें। किन्तु ऐसा नहीं किया। सेठ सेठानियाँ के शोरोगुल से अपने आप को बचाने के लिए, कानों में उंगलियां डाल, सिर से पैर तक अपने आपको रज़ाई से ढक कर, गायत्री मंत्र का जाप शुरु किया। भगवान से प्रार्थना की कि मुझे ऐसी गाढ़ी नीन्द आए कि यह अविरल चिल्लाहट सुनाई ही न दे। पक्का निश्चय किया कि जैसे तैसे, अगर सीट मिली तो कल यहाँ से चल पड़ूँगी।...

साढ़े ग्यारह के करीब मेरी नीन्द खुली। एक दो नम्बरों में, मौन सी खामोशी थी। किन्तु तीन नम्बर में भारी बूटों की चहल कदमी की आवाज़, चर! चर! चर! कमरे के एक कोने से दूसरे कोने तक के चक्कर। दस पंदरह मिनट के बाद बूट उतारकर एक तरफ डालने की आवाज़! फिर पुस्तक के पन्ने पलटने की आवाज़! पर्वतीय वातावरण में बारीक से बारीक ध्वनि, श्रुति भी सुनाई देती है, विशेष तोर पर अगर अपना ध्यान भी उस ओर खिंच जाय तो...

मैने भी पुस्तक उठाई और पढ़ना शुरु किया,... और न जाने कब, पुस्तक पर सिर रखे सो गई। फिर जब नीन्द खुली तो देखा तीन बजे थे। बत्ती बुझा कर फिर सो गई।...

सुबह अभी छः भी नहीं बजे थे कि बच्चों का रोना चिल्लाना, और सेठों का खांसना और बिस्तरो ही में लेटे लेटे बातचीत शुरु हो गए। कपड़े बदल, जूता पहन, घर से बाहर निकलने के सिवाय और क्या करती।

जी की खीझ निकालने के लिए आज सवेरे उस पहाड़ी की चोटी पे चढ़ी जिस पर चढ़ने का साहस पहले नहीं किया था। थकावट तो अवश्य हुई लेकिन सैर शानदार रही। अब नहा धोकर नाश्ते के लिए जाऊँगी। फिर यह चिट्ठी पोस्ट करूँगी। और सीट बुक करने जाऊँगी।

ढेर सारे प्यार से,

तुम्हारी मित्र-बहन

लखनऊ

आठ जून 19

प्यारे भय्या,

तुम्हारे दोनों पत्रों का उत्तर एक साथ दे रही हूँ।

तुम्हारा संदेसा सविता को दे दिया है। जवाब वह स्वयं देगी। ऐसे मामलों में मै टांग नहीं अड़ाना चाहती बल्कि - खैर

और अब तुम्हें मसूरी से मेरी रवानगी और मेरी छोटी सी उस कहानी का अन्त भी सुनाना चाहूँगी...

सामान बांधते, खाना खाते, मैनेजर साहब से हिसाब करते, उनकी बीवी से विदा लेते मसूरी से विदा लेने का समय हो गया था। किन्तु, जी बार बार कहता था कि तीन नम्बर कमरे वाले से भी नमस्कार कह आऊं। कुली सामान ले गया था। किन्तु कमरे में कुछ रह तो नहीं गया यह देखने के लिए, फिर अन्दर गई तो निकर कमीज़ पहने किसी व्यक्ति को चिक में से झांकते मैने देखा। मैनेजर साहब और उनकी बीवी साथ थे इसलिए ध्यान से उधर देख भी न सकी। उन्हीं दोनों को नमस्कार कह मन ही मन मसूरी और अपने बिताए दिनों से एक उदासी भरी अलविदा कह मैं चुपचाप बस के अड्डे की ओर चल पड़ी।...

सामान बस पर रखा जा चुका था। ड्राईवर मेरी ही इन्तज़ार में बस रोके खड़ा था। ज्यों ही मै बस में बैठने लगी तो पीछे से आवाज आई-

''हैलो!''

मैने पीछे मुड़ कर देखा। बड़ा आर्यारश कुछ घबड़ाया सा मुस्कुरा रहा था।

मेरा दिल धड़क उठा। तीन नम्बर से, शायद कोई संदेसा भेजा गया है।

''हैलो!'' मैने जवाब दिया।

फिर कुछ क्षण रुक कर, किन्तु यह सोच कर कि बस जाने ही वाली है अधीर होकर उसने पूछा-

''आपने मुझे पहचाना नही?'' Don't you know me?

"Yes I do. जी मै पहचानती हूँ।'' मैने भी उसी जल्दी में कहा।

"I have come to say good bye to you and have come to ask your home address. मैं अवविदा कहने आया हूँ। अपने घर का पता देंगी?'' उसने कुछ उदासी से मुस्कुराते हुए कहा।

अपने बटुए में से इस्तेमाल किए हुए लिफ़ाफ़े के टुकड़े पर अपना पता लिख कर उन्हें देकर मैने झिझकते हुए पूछा-

"Where is he? वह कहाँ हैं?''

"Who? कौन?'' उसने हैरान होकर पूछा।

"The youngman, Your companion. आपके नवयुवक साथी?''

"Why, he left Massoorie four days ago! वह तो चार दिन हुए लौट गया था।''

मुझे झटका सा लगा। मैने नीची आंखों से उसकी तरफ देखा। फिर पूछा-

"Is it you who whispered, the Irish tuncs? क्या आप आर्यारश लोक गीत बजा रहे थे?''

''हां।'' उसने कहा।

मै अवाक सी थी। उसने मेरे चेहरे के भाव एकदम से पढ़ कर कहा-

"And you Thought it was my companion!" और आपने सोचा कि मेरे साथी बजा रहे थे।

"Yes!" हां, मैने स्तब्ध खड़े हुए कहा।

एक मिनट चुप हो, वह मेरी तरफ देखता रहा फिर सिर झुका कर बोला-

"I see! well, it does not matter! अच्छा! कोई, कोई बात नहीं।'' यह कह कर उसने हाथ बढ़ाया और कहा, गुड बाई।''

''गुड बाई!'' कह, मैने भी हाथ बढ़ा दिया।

बस में बैठे सभी मुसाफिर, और ड्राइवर बाट जोह रहे थे कि कब बातचीत समाप्त हो और बस चले। बस में सवार हो मैं चुपचाप अपनी खिड़की वाली सीट पर बैठ गई। मैने नज़र उठा कर देखा, वह खड़ा था। मेरे देखने पर एक खामोश सी मुस्कान उसके चेहरे पर आई। बस चल पड़ी। मैने रुमाल हिलाया। उसने भी अपना हाथ हिलाया...

कहानी का अन्त!

यहां आए मुझे दस दिन से ऊपर हो गए हैं। लेकिन उसका कोई पत्र नहीं आया। और, आएगा भी क्यों?

और अगर मै उसे रुम नम्बर तीन हॉली डे होटल मसूरी के पते पर चिट्ठी लिखूँ। लेकिन लिखूँ क्या अपना सिर!

मसूरी में बिताए उन दिनों को याद कर कभी हल्की उदासी छा जाती है और कभी ज़ोर से हंसने को जी चाहता है। कैसी भूल भुलैय्या थी वह भी! और कैसे रहे थे रिज़ल्ट की इन्तज़ार में वे छुट्टी के दिन। वह चेहरा, वे दोनों चेहरे,कभी घूम जाते है आंखों के सामने और कभी गुनगुनाने भी लगती हूँ वे मधुर आर्यारश धुनें।...

यह सब भूल जाएगा मुझे, धीरे धीरे पढ़ाई और रोजमर्रा की चक्की सी घूमती ज़िन्दगी में... कि कभी ऐसे हुआ भी था...

कब आ रहे हो इधर। ज़रुर आने का प्रोग्राम बनाओ।

बेहद प्यार से

तुम्हारी मित्र बहन!

চতুর্থ

लेख

शेक्सपीयर जन्मोत्सव
और
अन्य यात्रा लेख

इंग्लैंड 1945–1949

विषय-सूची

- आज का इंग्लैंड
- कार्यव्यस्त लंदन
- लन्दन के भिखमंगें
- लन्दन की पेटोकोट लेन
- पूर्व-पूर्व है, पश्चिम पश्चिम!
- अंग्रेजी मौसम
- कुछ अंग्रेजी वहम
- शेक्सपीयर जन्मोत्सव
- मनाली का वसन्तोत्सव
- दर्रा रोहतांग
- बड़ मन्दिर का टुकड़ा समारोह : एक अनुभव

आज का इंग्लैण्ड

दिन भर का काम समाप्त करके सांझ समय थकी:भूखी और ठण्ड में कुड़कुड़ाती हुई 'बस' की इन्तजार में मैं एक लम्बी 'क्यू' के पीछे जा खड़ी हुई। लन्दन की प्रसिद्ध धुन्ध जिसमें दो गज़ आगे चलता आदमी दिखाई नहीं देता, जिसे अपनी आंखों से देखने का छुटपन से अजीब चाव था, इन घड़ियों में नार्मल डिग्री से बहुत नीचे जाता महसूस हुआ। उन कुछ घड़ियों के लिए अपने ६००० मील दूर के घर के लिए मैं छटपटा-सी उठी। सिर्फ़ एक घण्टे के लिए गरम-गरम चाय पीकर, बादाम, अखरोट और गाजर का हलवा खाकर अगर मैं बस लौट आ सकती। लेकिन नहीं,: कही नहीं......साठ सत्तर स्त्री-पुरूष के बीच में,मैं अपनी बस का इन्तज़ार कर रही थी, लन्दन के एक कोने में, किराये पर लिए एक ठण्डे से कमरे में पहुंचने के लिए। आज बसें विशेषतया देर से आ रही थीं। कसूर धुन्ध का था।

उस काले से अन्धियारे में, 'घर' की चाय के ध्यान में डूबी...एकाएक अजीब-सा वाक्य मेरे कानों में पड़ा, "इग्लैण्ड फ़ासिस्ट होता जा रहा है, इस लेबर सरकार की हुकूमत में" दो बुलन्द आवाज़ें-मैंने पीछे मुड़कर देखा। नए, फ़र के धारीदार कोट, कानों और गले में सुच्चे मोती पहने, लम्बी और भारी वज़न दो अंगरेज औरतें, 'पंच' के व्यगं चित्रों के लिए तैयार माडल! मेरा ध्यान देहली के चांदनी चौक और 'कनाट सर्कस' से घूमकर फ़र-कोटों की बातचीत के करीब पहुँच गया।

"फ़ासिस्ट नहीं है तो और क्या? गराज में मोटर खड़ी है, पेट्रोल सारा लेबर सरकार के हाथ में है, मोटर का क्या फ़ायदा अगर पेट्रोल न हो तो। नतीजा यह है कि, शरीफ़, बड़े घराने की औरतों को आम क्लर्कों और चाय घरों की लड़कियों के साथ बस की इन्तज़ार में कभी न खत्म होने वाली पंक्तियों में खड़ा होना पड़ता है।"

दूसरी ने कहा, "और उस पर बस कंडक्टरों की हिमाकत देखो। कहते हैं उनकी इजाज़त के बगैर कोई बस में खड़ा नहीं हो सकता। इस बात पर हड़ताल करने पर उतारू हैं। हर छोटा शख्स डिक्टेटर बनने की कोशिश में है। यह फ़ासिज्म नहीं है तो और क्या? फासिज्म कह लो, बोलशेविज्म कह लो, कोई फर्क नहीं पड़ता।"

"घर में नौकरानियों को ही देखो, कोई ढंग हैं, उनके रहन-सहन के, बातचीत करने के, वे कौन-सी 'बस कंडक्टरों' से कम है? ज़्यादा पैसे, कम काम रोज़ इसी बात पर झगड़ा होता है। और एकको निकालें तो दूसरी मिलती ही कंहा है? नई तो वे है जो W.A.F.S. और W.A.C. से लड़ाई के कामों से छुट्टी पा रही हैं। उनकी अपनी ही शान है। वे कहती हैं सिगरेट

भी पियेंगी, दोस्तों के साथ सिनेमा सैर भी करेंगी और एपरन नहीं पहनेंगी।''... इससे अधिक सुनने का सौभाग्य मुझे नहीं हुआ। इनकी बस आ पहुंची थी वह अपने मोटापे से अन्य लोगों को धकेलती तेज़ी से अपनी बस में घुस गयीं। और..... मेरी गाड़ी आकर चली गई थी। पहले-से भी अधिक अन्धेरे और जाड़े में मैं फिर बस का इन्तज़ार कर रही थी।

इन फ़र-कोटों की बातचीत से बहुत से विचार मन में आये। फ़ासिज्म और बोलशेविज्म की नई परिभाषा सीखी है-मैंने सोचा, और यह है आज का लन्दन, ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी, 'The City of Queues'! (कतारों का शहर)।

पिछले छ: साल से लम्बी क्युओं में घण्टों खड़ा होने वाले लन्दन निवासियों के सामने क्यू का नाम न लीजिये, लड़ पड़ेगे आपसे, इतनी चिढ़ और नफ़रत उन्हें 'क्यू' के नाम से हो गयी है।

अगर आपको जूता लेना हो तो पहले अपनी 'राशन बुक' में देखिये कि आपके पास कूपन है या नहीं। अगर कूपन नहीं है, तो जो जूता है उसी से अगली 'राशन बुक' मिलने तक काम चलाइये। अगर पहला जूता फटने को हो तो मरम्मत करा लीजिये। मरम्मत कराने में कम से कम एक डेढ़ माह लग जाता है। (क्योंकि जूते बाजार में नहीं आ रहे इसलिये क्रिप्स साहब ने मरम्मत के लिये दूकानों में मजबूत चमड़ा भिजवाया है,) अगर आपके पास कूपन हों तो सुबह पांच बजे उठकर, अगर आपको घर या दफ्तर के काम से छुट्टी मिल सके तो क्यू में खड़े हो जाइये। पहले दिन चार पांच छ: सात और आठ घण्टों के बाद अगर आपकी बारी भी आ जाये तो बहुत दफ़ा या तो जूते खत्म हो चुके होते हैं या आपके नाप का जूता नहीं होता। जूते के डिजाइन, स्टाइल, चमड़े की बात सोचना बचपन है, समझदारी नहीं। बच्चों के जूतों की विशेषतया कमी है। पिछले दिनों में एक बच्चों के पिता का पत्र छपा था जिसमें उन्होंने अपनी छ: सात साल की बच्ची के पास चार माह से जूते न होने की वजह से परेशानी और तकलीफ़ के बारे में शिकायत की थी।'' और इङ्गलैंड के जाड़े के दिनों में किसी के पास जूतों का न होना क्या माने रखता है, यह सभी जानते हैं।

कल शाम को एक खासे अच्छे रेस्तरां में गयी ऐसे रेस्तरां में जहां चाय पीने की इन्तज़ार में क्यू में न खड़ा होना पड़े। हाल के एक कोने में एक खाली तिपाई कुर्सी देख कुछ ख़ुशी हुई। और चाय की इन्तजार में वहां जाकर बैंठ गयी। सिर्फ़ एक औरत ही आधे हाल के लोगों की चाय पहुंचा रही थीं। पांच बज चुके थे। साढ़े पांच बजे किसी से मुलाकात करनी थी। लेकिन यहां काम बहुत धीरे-धीरे हो रहा था। दस पन्द्रह मिनट के बाद, चाय पहुंचानेवाली औरत मेरी मेज़ पर आयी। मैंने उसे रोटी, मक्खन, केक और चाय लानेको कहा। और लोगोंकी मेज़ों पर सामान रखती, उठाती, बिल के पैसे इकट्ठे करती वह दस पन्द्रह मिनटके बाद चाय ले आयी। रोटी के दो महीन टुकड़े और चाय मेज़पर रख उसने पेस्टरीके टुकड़ोंकी प्लेट मेरी ओर बढ़ायी और पूछा-कौन-सा लेंगी ?',

'यह और यह' मैंने इशारेसे बताया।

'यह या वह?' उसने फिर पूछा।

'यह और यह' मैंने झुंझलाकर फिर बताया।

'मैडम आप एक ही टुकड़ा ले सकती हैं, जो चाहे उठा लें' उसने मुस्करा कर कहा।

'हूं, समझ गई हूं' मैंने कुछ झेंपकर कहा और अपने हिस्से का केक का टुकड़ा उठा लिया। चाय पीते हुए मुझे भारतसे विदा लेते समय अपने मित्र बन्धुओंकि बार बारके दोहराये हुए एक वाक्यकी याद आयी 'Have a good time' (हैव ए गुड टाइम) मजे करना।

मज़े तो मैं लूट ही रही हूं, लेकिन उस तरहके नहीं जिस तरहके मेरे मित्र बन्धुओने सोचा था। मेरा मज़ा तो उस साहसी व्यक्तिका है जो हर तरहकी ज़िन्दगीको समझनेके लिये हर तरहकी ज़िन्दगी कुछ देरके लिये अपना लेता है।

इङ्गलैण्डकी नई सरकार को सफल होनेके लिये, इङ्गलैंड की जनता की तीन बड़ी शर्तें पूरी करनी होंगी वे शर्तें है, रोटी कपड़ा और घर। यह नहीं कि लेबर सरकार इन्हें पूरा नहीं करना चाहती। लेकिन जल्दी पूरा क्यों नहीं कर सकती, यह एक और अलग लम्बा चौड़ा सवाल है। मकान बन रहे हैं, खानेका सामान बाहरसे मंगवाया जा रहा है, कपड़ों, और जूतों पर भी ध्यान दिया जा रहा है। किन्तु इस जाड़ेके मौसममें बहुत कुछ न हो पायेगा। अभी अभी मेरी लैंडलेडीने बताया है कि एक अच्छे सूती चद्दरों के जोड़े की कीमत है पन्द्रह पौण्ड। मैंने उसपर विश्वास नहीं किया। उसका कहना है कि अगर मैं उसपर विश्वास नहीं करती तो बाज़ार जाकर पूछ आऊं।

प्रत्येक जवान और अधेड़ पुरुष-स्त्री को आधा पाइन्ट दूध रोज़ मिलता है-इससे अधिक नहीं।

आजके इङ्गलैंडकी ज़िन्दगीके कुछेक पहलुओं पर ये पंक्तियां हल्की-सी झलक हैं। इङ्गलैण्ड का War of Nerves अभी समाप्त नहीं हुआ और वह एक मैदानमें नहीं, इङ्गलैंड की ज़िन्दगीके बहुतसे मैदानों में जारी है।

●

कार्यव्यस्त लंदन

सड़क पर चलती हूँ, तो अपने आस-पास आगे-पीछे फुर्तीली चाल, तेज़ कदमों को देखकर घबरा जाती हूँ। मामला क्या है, लन्दन के लोगों की चाल में इतनी तेज़ी क्यों ? यूं लगता है कि सभी लोग कोई रेलगाड़ी पकड़ने जा रहे हैं। मैं भी अपने घर से किसी काम-काज के लिए ही बाहर निकली होती हूँ, बहुत आत्म-विश्वाससे; किन्तु लोगों को अपने से कहीं आगे निकल जाते देख, लगता है कि या तो मैं बीमार हूँ या मुझमें ताकत नहीं है, या मेरी उम्र ज़्यादा हो गयी है, तेज़ नहीं चल सकती, या फिर मैं ऐसी हस्ती हूँ, जिसे ज़िन्दगी में कोई ज़रूरी काम नहीं।

कभी-कभी यूं महसूस होता है कि मैं हिमालय की गुफ़ाओं में रहनेवाली कोई योगिन हूँ,जो दो सौ साल की समाधि के बाद गुफा से बाहर आकर हिमालय की एक ऊँची चोटी से तुच्छ मनुष्यों को आहार की खोज में उधर-इधर भागते, छीन-झपट करते देख रही हो। मैं फिर उस महान योगिन की तरह व्यंग से मुस्करा, मुंह फेर लेती हूँ.... पीछे से एक धक्का लगता है। माफ कीजिये, कह कर एक औरत आगे निकल जाती है। मैं भी लज्जित-सी होकर अपनी चाल तेज़ करने की कोशिश करती हूँ।

तने हुए जिस्म, मज़बूत टांगें, हाथों में बड़े-बड़े 'अटैची केस' या बैग पकड़े हुए मर्द-औरतें चले जा रहे हैं, न जाने किस अमृत की खोज में।

यह नहीं कि बस या ट्राम या रेल में ही जगह पा लेने के बाद पांच मिनट एक शान्ति की सांस लें, खुलकर एक दूसरे से बात कर लें, या लड़ाई ही कर लें। नहीं, वे अपनी सीट पर बैठते ही बैग या कोट के जेब में से अख़बार निकाल कर उस पर आंखें गड़ा देते हैं, चाहे अखबार Crossword puzzles से ही क्यों न भरा हो। यूं लगता है, इन्हें ज़िन्दगी से प्यार नहीं। खुलकर एक दूसरे से बात तक नहीं कर सकते। सिर से पैरों के नाख़ूनों तक कठोर। इससे अधिक विशेषण जोड़ना उचित न होगा। सीधी-सादी, सरल, धीमी चाल में बहनेवाली गम्भीर नदी की तरह, या गाँवों की बैलगाड़ी की तरह हल्के हिचकोले खाती हम पूरबियों की इन्हें ज़िन्दगी गवारा नहीं होती। ये लोग कभी जी भर रोते हैं, हंसते हैं। कभी अपनी भावनाओं को खुलकर औरों के सामने व्यक्त करते हैं। कभी लन्दन शहर की (Formality)के चक्रव्यूह से बाहर निकलते हैं ? यह प्रश्न बुहत दिनों तक मेरे दिमाग़ में रहा।

और इसका जवाब शाम के छ:सात बजे के बाद लन्दन की सुनसान गलियों, बाज़ारों और भरे-हुए सिनेमा और थियेटर-घरों ने दिया।

लन्दन में थियेटर-घर अधिक हैं और सिनेमा-हाल कम। कुल मिलाकर लन्दन में पचपन या इससे भी कुछ अधिक थियेटर-घर होंगे. लन्दन के पड़ोस के थियोटरों को मैं नहीं गिन रही। दिन भर की कठोर और व्यस्त ज़िन्दगी को लन्दन के लोग सिनेमा-हालों और थियेटरों में ढीला करते हैं। यहीं आकर उनकी दिनभर या हफ्ते भर की अशान्त ज़िन्दगी और भावनाओं को विश्राम मिलता है।

मुझे अभी तक समझ में नहीं आया कि अंग्रेज़ों की रोज़ाना ज़िन्दगी और उनके सिनेमा-थियेटरों की कहानियों में चित्रित जीवन में इतना अन्तर कयों है। लन्दन में मुझे कहीं अपनापन महसूस हुआ है, तो वह अंग्रेज़ी 'नाटकों' की कहानियों में, उनके रंगमंच पर। वहीं मैंने अंग्रेज़ी जीवन की गम्भीर और उछृङ्खल सभी तरह की भावनाओं को व्यक्त होते देखा है और अनुभव किया है; वह अनुभूतियां, भावनाएं या आकांक्षाएं, जो भारत क्या, दुनियां के किसी कोने में आदमियों की बस्ती में पायी जायेंगी। वही मैने लोगों को ठहाके से हंसते सुना है और रुमाल से आंसू पोंछते देखा है। जो मज़ाक या जो बातें या तरीके उनकी रोज़ाना आम ज़िन्दगी में 'सभ्य बर्ताव' नहीं समझे जाते, सभी सभ्य लोग उन्हें थियेटर-घर में दो-तीन घण्टों के लिए खेले मज़ाक में भूल जाते है। सभी लोग दो-तीन घण्टों के लिए अपने 'कृत्रिम व्यवहारों' का कलेवर अपने-अपने 'ओवर कोटों' के साथ उतार कर रख देते हैं। रंगमंच के नट-नटियों के साथ वे अपने आप पर मज़ाक करते हैं, अपनी समालोचना-आलोचना स्वयं कर लेते हैं.

कुछेक नाटक तो पिछले चार-पांच बरसों से चल रहे हैं, और हैरानी की बात है कि अब भी उनके थियेटरों-हाल रोज़ रात को भर जाते हैं। नोएलकावर्ड (Noelcoward) का लिखा हुआ नाटक Blithe Spirit पिछले पांच साल से डचेज़ थियेटर में चल रहा है, और रोज़ शाम को थियेटर हाल बराबर भर जाते हैं। शनि और रविवार की तो बात ही न पूछिये। तीन सौ, चार सौ, मर्द-औरतों की कतार खड़ी होती हैं-बहुत बार, उसी दिन नाटक देखने के लिए नहीं, उससे अगले शनिवार या रविवार को। नवम्बर की पन्द्रह या सोलह तारीख को मैं न्यू थियेटर में 'हेनरी दी फ़ोर्थं' के लिए टिकट लेने पहुंची। बहुत बड़ी कतार थी। गालूम हुआ कि यह कतार 'एडवांस बुकिंग, (अग्रिम टिकट) के लिए थी। ५ नवम्बर की सीटें बहुत पहले से बिक चुकी थीं। बहुत देर प्रतीक्षा करने पर मुझे २६ नवम्बर के लिए सीट मिली। थियेटर के मेम्बरों के लिए ऐसी मुश्किल नहीं पैदा होती। पांच या छः शिलिंग सालाना चन्दा देने पर कोई आदमी लन्दन के कुछ गिने-चुने अछे थियेटरों का मेम्बर बन सकता है।

लन्दन के थियेटर लन्दन के लोगों की ज़िन्दगी का काफ़ी आवश्यक भाग हैं। अगर ये न हों, तो शायद लन्दन की कालिख़, उसकी बसों, ज़मीन के अन्दर की रेलों और लन्दन की लट्टू की तरह तेज़ी से घूमती हुई ज़िन्दगी से तंग आकर थक कर, आदमी लन्दन से भी गन्दी टेम्ज़ नदी में कूद पड़े; हालांकि आजकल तो इतनी ठण्ड है कि टेम्ज़ की सूरत देखते ही आत्महत्या का विचार अपने आप काफूर हो जायेगा और आदमी किसी 'रस्तरां' में गरम-चरम चाय पीने के लिए बरबस चल पड़ेगा।

एक शनिवार

आज छुट्टी का दिन था, कोई काम-काज न था, और खुशी की बात तो यह थी कि इतने दिनों के बाद आज आस्मान बहुत हद तक साफ़ था। हल्की धूप की वजह से चारों ओर चमक और खुशी-सी थी। जल्दी से तैयार होकर मैं बाज़ार जाकर राशन-बुक के मुताबिक अपना हफ़्ते-भर का खाने का सामान और सब्ज़ी ले आई. सभी चीजें कमरे में रख मैं जल्दी से फिर घर से बाहर निकल आई। आज के खुली धूप के दिन को मैं एक क्षण भी अपने ठण्डे कमरे में गुज़ारना नहीं चाहती थी।

अभी बाहर निकली ही थी कि घर के सामने की सड़क और फ़ुटपाथ साफ़ करने वाले स्मिथ से भेंट हो गई। कालेज जाते वक्त अक्सर स्मिथ से भेंट हुआ करती है। और दिन में बस पकड़ने जल्दी में होती हूँ, तो हम एक-दूसरे को केवल गुड-मार्निंग ही कह पाते हैं, लेकिन आज मैं जल्दी में न थी। मज़े-मज़े से यूँ ही कुछ देर तक धूप में सड़कों पर घूमना और बाद को शहर पहुँच 'रायल एकेडेमी' में हो रही ग्रीक ललित-कलाओं की प्रदर्शनी देखना चाहती थी। स्मिथ ठेला एक तरफ़ टिकाए धूप में खड़ा हाथ सेकने की कोशिश कर रहा था, हालाँकि धूप में इतनी गर्मी न थी। यह गर्मी काल्पनिक ही थी। मुझे देख कुछ झेंपकर मुस्कराते हुए उसने अपने हाथ जेबों में डाल लिए। गुडमार्निंग कहकर उसने मुझसे पूछा-'धूप अच्छी लगती है या नहीं?'

'क्यों नहीं, बहुत ही अच्छी लगती है।' हिन्दुस्तान की धूप को यादकर मैंने उत्तर दिया। 'और तुम्हें?-मैंने पूछा।

'नहीं, अधिक धूप मुझे अच्छी नहीं लगती। बस, इसी तरह की हल्की धूप मुझे अच्छी लगती है। अधिक धूप में गर्मी की वजह से शरीर सुस्त हो जाता है और काम नहीं हो पाता। भारत में तो बहुत ही गर्मी होती है।'

''हां'' मैंने कहा।

मेरा एक लड़का लड़ाई के दिनों में फ़ौज में भर्ती होकर हिन्दुस्तान गया था, और अभी वहीं है। लिखता है कि गर्मियों में वह वहाँ गया था, जहाँ वाइसराय भी जाया करते हैं।'

'शिमला?'

'हाँ, शायद वहीं, मुझे नाम ठीक याद नहीं। उसने हिन्दुस्तान से हमें कुछ तौलिए भेजे हैं। हिन्दुस्तान में तो बहुत अच्छे और बड़े-बड़े तौलिए बनते हैं। सारा-का-सारा जिस्म एक तौलिए में लपेट लो। पीटर की माँ बड़ी ख़ुश हुई।इतने बड़े तौलिए!'

'अच्छा!'-मैंने भी हैरत के साथ कहा।

'हाँ।' और बिना रुके उसने बड़े गर्व से कहना शुरू किया:'और तीन लड़कियाँ भी फ़ौज में काम कर रही हैं। सबसे बड़ी २८ बरस की है।'

'अभी शादी किसी की नहीं हुई?'

'नहीं, अपने-अपने कामों में व्यस्त हैं और ख़ुश भी हैं। जब चाहेंगी, शादी कर लेंगी, उन्हें जल्दी नहीं।'-स्मिथ ने लापरवाही से कहा।

स्मिथ अभी और बातचीत करना चाहता था; लेकिन मुझे याद आया कि बटुए में पैसे बहुत कम हैं और बारह बजे से पहले-पहले बैंक पहुँच जाना जरूरी है। जल्दी से नमस्कार करके मैं बस-स्टेशन की तरफ़ भागी। बस में बैठे मुझे स्मिथ का अपनी लड़कियों के बारे में कहा अन्तिम वाक्य याद आता रहा। स्मिथ, जो ठेला लिए सड़कों और फुटपाथों पर से बर्फ़ और कूड़ा-कर्कट हटाता है, कहता है कि उसकी लड़कियाँ जब चाहेंगी, शादी कर लेंगी, वे मज़े में हैं, उन्हें जल्दी नहीं और स्मिथ को भी चिन्ता नहीं। इस तरह की बात मैं हिन्दुस्तान मैं विशेषतया किसी कूड़ा-कबाड़ा उठानेवाले के मुँह से कभी सुन सकती हूँ, अगर मैं कभी उससे सड़क पर खड़े होकर ऐसे बात करूँ भी तो! हमसे कितने भिन्न हैं इनके रीति-रिवाज!

बस से उतर कर पिकेडली सर्कस जाने के लिए टिकट लेकर में अण्डरग्राउण्ड गाड़ी मैं बैठ गईं। अण्डरग्राउण्ड स्टेशनों को एक बात जो मुझे बहुत पसन्द है, वह है उनकी अपने-आप ऊपर-नीचे जाने वाली सीढ़ियाँ। मैंने ऐसी सीढ़ियों को अमरीकन फ़िल्मों में अवश्य देखा था; लेकिन उन पर सवार होने का मौका लन्दन में आकर ही मिला। सैकड़ों आदमी इन सीढ़ियों पर ऊपर-नीचे जाने के लिए खड़े होते हैं। तरह-तरह के रंगों और फ़ैशनों के कपड़े पहने तरह-तरह के चेहरे मशीनी सीढ़ियों पर आराम से खड़े हँसते और बातचीत करते देख मुझे किसी गांव के मेले में लगे हिण्डोले याद आ जाते हैं।

मैं ऊपर जानेवाली सीढ़ियों को एक सीढ़ी पर खड़ी नीचे आती सीढ़ियों पर खड़ी औरतों की अजीब फ़ैशनों की टोपियाँ देख रही थी। मुझसे ऊपर की सीढ़ी पर खड़े एक आदमी ने मुड़कर मेरी तरफ़ देखा और ज़ोर से कहा-'हिन्दुस्तान को आज़ादी अवश्य मिल जायेगी।' एक नावाकिफ़ आदमी के मुँह से एकाएक इस तरह का वाक्य सुन मैं ना चाहते हुए भी मुस्करा पड़ी। मुझे मुस्कराते देख वह नाराज़ होकर बोला-'क्या आप मेरे कहने पर विश्वास नहीं करती?' उसका चेहरा लाल था। कपड़ों और बूटों से वह किसी मिल या फैक्टरी में काम करनेवाला दिखाई देता था। जिस तरह वह बात कर रहा था, उससे साफ़ ज़ाहिर होता था कि वह शराब के नशे में है। मैंने बात टालने के ख्याल से कहा-'हाँ, आप ठीक कहते हैं, भारत को अवश्य ही आज़ादी मिलेगी।' बात मान लेने पर वह ख़ुश हो गया और चुपचाप आगे बढ़ गया।

बैंक से पैसे लेकर मैंने वक्त देखा। रायल एकेडमी जाने के लिए अभी काफ़ी वक्त था। क्यों न इसी बीच किसी और जगह का चक्कर लगाया जाय? पिकेडली सर्कस के बीच में खड़ी कामदेवता की मूर्ति और उसके कुछ आगे दक्षिणी ध्रुव पहुँचनेवाले कप्तान स्काट तथा क्राइमिया

की लड़ाई में काम आए सिपाहियों के स्मारकों को पार करते हुए मैं सेन्ट जेम्स पार्क के उस पुल के पास पहुँची, जिसके नीचे अभी तक एक भारी जर्मन बम दबा पड़ा था और पुल के चारों ओर खतरा जतानेवाले बोर्ड लगे थे। पुल के नीचे बहता हुआ पानी लोहे की एक मोटी पाइप द्वारा शहर के किसी और हिस्से में पहुँचाया गया है। बनावटी नहर सूखी पड़ी थी। बम को ज़मीन के अन्दर ही खत्म कर देने के लिए लोग काम पर लगे थे। पुल को पार करने की आज्ञा न थी। मैं बाग़ से बाहर निकल आई और बकिंघम-महल की तरफ़ चल पड़ी।

महल भीतर से काफ़ी सुन्दर और सजा हुआ होगा; पर बाहर से उसमें कोई विशेष आकर्षण नहीं। यह महल १७०३ में बकिंघम के ड्यूक के लिए बना था। बाद में तृतीय जार्ज ने इसे ख़रीद लिया। विक्टोरिया के समय से राज-परिवार ने इसमें रहना शुरु किया। महल के बाहर विक्टोरिया-मेमोरियल, जो १६१३ में बना था, वाकई बहुत सुन्दर है। कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड आदि की ओर से भेंट किए गए बड़े-बड़े दरवाज़े और सुघड़ सुन्दर बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। वहाँ खड़ी मैं मूर्त्तियों की गढ़न देख रही थी। दो अंग्रेज़ भी वहीं मेरे पास खड़े थे। उनमें से एकने पूछा-'कैसा लगा बकिंघम-महल?'

'अच्छा है।'-मैंने कहा।

'पटियाला-महाराज के महल से तो बढ़िया नहीं है।'

मैंने पटियाला-महाराजाका महल नहीं देखा। 'क्या आप कभी भारत गए हैं?'-मैंने पूछा।

'हां' तीन बार।'-उसने उत्तर दिया।

मूर्तियाँ देखकर मैं आगे बढ़ी और चलती-चलती लन्दन के प्रसिद्ध हाइड-पार्क के दरवाज़े पर पहुँची। हाइड पार्क एक बहुत ही बड़ा बाग़ है। हज़ारों की तादाद में लोगों के बैठने के लिए बेंचें और कुर्सियाँ वहाँ पड़ी हैं। रोज़ शाम को वहाँ ट्रेड-यूनियनों, कम्युनिस्टों, लन्दन के फ़ासिस्टों, मुसलमानों और न-जाने किन-किन मतों और संस्थाओं की सभाएँ होती रहती हैं। कोई इस कोने में हो रही है, कोई उस कोने में। एक तरफ लड़के फुटबाल खेल रहे हैं, दूसरी तरफ घुड़सवारी के लिए रास्ता बना है। कहीं कोई चित्रकार बैठा चित्र बना रहा है। बीचों-बीच खाने-पीने के लिए रेस्तरां भी हैं, जो शायद दूसरे विश्व युद्ध के कारण आजकल बन्द पड़े हैं। बीच में एक बड़ी-सी झील है, जिसमें हंस, मुर्गाबियाँ आदि तैर रहे हैं। उनके साथ-ही-साथ कुछ 'सीगल' (वह पक्षी, जो तैर और उड़ सकते हैं) तैर रहे हैं। कुछ झील के उपर उड़ रहे हैं और कभी-कभी नीचे झील में आकर बैठ भी जाते हैं। झील के किनारे छोटे बच्चें, औरतें तथा मर्द हाथों में रोटी के छोटे-छोटे टुकड़े लिए खड़े हैं और हंसों, मुर्गाबियों और सीगलों को खिला रहे हैं। सैकड़ों और भी चिड़ियाँ, खाने के दानों के इन्तज़ार में आदमियों को घेरे निडर बैठी हैं। हथेली पर अनाज रख उसे कुछ आगे बढ़ा दीजिए। फ़ौरन चिड़िया हाथ पर आकर बैठ जायगी और आराम से खाना शुरू कर देगी। कई बार तो एक ही हाथ पर दो-तीन चिड़ियाँ आकर बैठ जाती हैं। यह सब पक्षी आदमियों के साथ इतने हिल-मिल गए हैं कि बिलकुल डरते नहीं। अगर आप हंसों को रोटी के टुकड़े दें, तो मुर्गाबियाँ और सीगल ज़ोरों से चिल्लाना शुरू करते हैं, और जब तक उन्हें अपना हिस्सा न मिल जाय, तब तक वे चिल्लाते रहते हैं।

हाइड पार्क पहुँचने तक धूप न-जाने कहाँ गायब हो गई थी। ठण्ड बढ़नी शुरू हो गई थी। मैंने कोटके बटन ऊपर से लेकर नीचे तक बन्द किए और सोचा, अब कहीं चलकर चाय पीनी चाहिए। बाग से बाहर मार्बल स्मारक आर्च के एक कोने में एक पुरुष एक स्त्री के हाथ फूल बेच रहा था। टोकरी में नरगिस के फूल भी थे, जो मुझे बचपन से पसन्द हैं। नरगिस के दस-बारह फूलों का एक नन्हा-सा गुलदस्ता उठाकर मैंने दाम पूछा, तो जवाब मिला, पाँच शिलिंग। फूल बड़े मंहगे थे। लाहौर में बीस-पचीस नरगिस के फूलों का गुलदस्ता दो-तीन आने में मिल जाया करता था। काश्मीर में तो घर के सामने बाग में नरगिसों का एक बड़ा-सा खेत था-क्यारी नहीं।

फूल बेचने वाले ने मेरे चेहरे के भावों को ताड़ लिया और कहने लगा-'हिन्दुस्तान में तो फूल इतने मंहगे नहीं होते होंगे।'

'नहीं, इससे बहुत सस्ते हैं।'

'पिछले हफ्ते यहाँ भी ये गुलदस्ते इससे आधे दाम में बिक रहे थे; लेकिन इस हफ्ता मंहगे हैं।'

'क्यों?'

'इस हफ्ता बर्फ़ जो पड़ी है। बहुत-से फूल खिलने ही नहीं पाए, और फिर अभी जंग के दिनों का ही भाव समझिए।'

'ये फूल कहाँ से आते हैं?'

'कार्नवाल से। वहाँ से रोज़ लन्दन के लिए फूलों से लदी स्पेशल गाड़ी चलती है। आप कार्नवाल नहीं गईं?'

'जरूर जाइए। असली इंग्लैण्ड तो आपको कार्नवाल में ही दिखाई देगा। फूलों का घर है कार्नवाल। मुझे तो यहाँ पैसा कमाने की वजह से रहना पड़ता है, नहीं तो मुझे लन्दन, इसकी कालिख और इसके बदली-भरे आस्मान से नफ़रत है। कार्नवाल ज़रूर देखिएगा।'

'जरूर देखूँगी, जब भी मौक़ा मिला।'-धन्यवाद कह और पैसे दे मैं रेस्तरां की खोज में चल पड़ी।

रेस्तरां में घुसते ही मैंने सबसे आगे की मेज़पर अपनी जान-पहचान के दो पंजाबी 'बेविन ब्यायज़' को देखा। लड़ाई के दिनों से'काम करने वालों की कमी के कारण इंग्लैण्ड के बहुत-से होटलों और रेस्तरां में अपने-आप परोसने का तरीका शुरू हो गया है। एक कोनेमें पड़ी हुई तश्तरी उठाइए, अपने-आप खानेका सामान जो आपको चाहिए और जो मिल सकता हो, उसे तश्तरीमें रखिए और फिर कोई खाली मेज़ ढूँढ़ स्वयं वहाँ तश्तरी ले आइए। अपना चायका प्याला और रोटी का टुकड़ा उठाकर मैं उन लड़कोंकी मेज़पर चली गई।

वह दोनों लड़के ब्रिटेनकी किसी फ़ैक्टरीमें डाक्टरी औज़ार बनानेका काम सीख रहे हैं।

बातचीत करते हुए उन्होंने ब्रिटेनकी फ़ैक्टरियोंके कामकाजियोंके बारेमें अपने विचार प्रकट किए। उनका कहना था कि ब्रिटेनकी मिलों और फैक्टरियोंमें काम करनेवालोंमें बहुत संगठन है और उन्हें अपने काम, भले-बुरे तथा नफ़े-नुकसानकी खूब समझ है। यह बात अभी हमारे देशके कामकाजियोंमें अधिक नहीं। उन्होंने सरकारके चुनावके वक्तके अनुभव भी सुनाए। कहीं कोई लड़ाई-झगड़ा नहीं हुआ; कहीं कोई खून-खराबी या मार-पीट नहीं हुई। प्रत्येक पार्टीने अपना कार्यक्रम छापकर या जगह-जगह व्याख्यानों द्वारा जनताके सामने रख दिया था। जनता किस योजनाको चुने, इसपर किसीने ज़बरदस्ती नहीं की, कोई धमकी नहीं दी। यह बात लोगों की अपनी समझपर छोड़ दी गई। आम-लोगोंको-विशेषतया मज़दूर-श्रेणीको-लेबर-पार्टीकी राष्ट्रीयकरणकी योजना पसन्द थी, बल्कि यह कार्यक्रम लेबर पार्टीने जनताके राजनीतिक रुखको देखकर ही बनाया।

उन लड़कोंने मुझे कुछ-एक फ़ैक्टरियाँ दिखानेका वादा किया। चाय पीकर मैं फिर अण्डरग्राउण्ड स्टेशनकी ओर चल पड़ी। मैं यह भूल ही गई थी कि मैं पुरानी और नई ग्रीक ललित-कलाओंको प्रदर्शनी देखने निकली थी। जब स्टेशनसे बाहर निकली, तो सूर्यदेवता एक बार फिर बादलोंसे बाहर निकल आए थे; लेकिन पश्चिममें छिपनेको तैयार थे। मकानोंकी बन्द खिड़कियोंके शीशे और सामनेके मैदानकी घासके छोटे-छोटे कोमल हरे तिनके सूर्यकी अन्तिम पीली किरणोंमें रँगे जाकर झिलमिला रहे थे। पक्षी भी अपने-अपने घोंसलोंमें बसेरा लेनेके लिए वापस आ रहे थे। घरसे किसीका पत्र आया कमरेमें मेरी प्रतीक्षा कर रहा होगा, इस आशासे मैंने भी अपने क़दम तेज़ किए।

लन्दनके भिखमंगे

बम्बईसे लन्दनके लिए रवाना होते समय मेरा ख़याल था कि लन्दन पहुँचनेपर मैं वहाँकी रेलें, इमारतें, सड़कें और अन्य कई चीज़ें देखकर चकाचौंध हो जाऊँगी तथा पहले-पहल कुछ घबरा सी जाऊँगी। कुछ चीज़ोंको देखने-समझनेके लिए दुबारा चश्मा पोंछनेकी ज़रूरत पड़ेगी। लेकिन न-जाने क्यों, ऐसा कुछ न हुआ। इसमें कोई शक नहीं कि वहाँ बहुत-सी चीज़ें नई थीं; लेकिन कोई ऐसा आदमी या कोई ऐसी चीज़, सड़क या इमारत न दीखी, जिसे देखकर मैं चकित रह जाती।

मुझे इस बातका अफ़सोस-सा हुआ। मैंने सोचा, शायद यह लन्दनके आसमानपर हर वक्त छाए बादलोंका क़सूर है, या शायद मेरी वह उम्र निकल गई है, जब नई चीजें, नए दृश्य मनमें एक सिहरन-सी, एक बिजलीकी लहर-सी ला देते हैं। मुझे शायद चौदह-पन्द्रह सालकी आयुमें इंग्लैण्ड आना चाहिए था। सड़कपर चलते-चलते मैं यह सोच ही रही थी कि अपने सामने एक बूढ़े अंगरेज़को मेरी तरफ़ टोपी बढ़ाए देखकर यकायक पीछे हट गई। 'मेरी उम्रपर रहम खाओ श्रीमती, कुछ मदद करो।'- वह गिड़गिड़ा रहा था। झुकी हुई कमर, फटा हुआ पाजामा और सर्दीमें काँपती-लड़खड़ाती हुई टांगें, कोटकी फटी हुई आस्तीनें-जिनमें ठण्डी हवा बख़ूबी चक्कर लगा सकती थी-और भीतर धँसी हुई आंखें! मैली-सी टोपीको, जिसमें तीन चार पैसे पड़े थे, आगे बढ़ाकर वह बार-बार कह रहा था-'आज बड़ी सर्दी है; मेरी हालतपर रहम खाओ, कुछ मदद।'

उसकी सूरत और पहनावा ऐसा था कि अगर शामके अँधेरे में इस तरह एकाएक वह किसी गलीके मोड़से निकलकर मेरे सामने खड़ा हो जाता, तो मैं डर जाती। उसकी डरावनी और दर्दनाक सूरतसे बचनेका एक ही उपाय था। मैंने बटुएसे कुछ पैसे निकालकर उसकी टोपीमें डाले और तेज़ क़दमोंसे आगे बढ़ गई। इंग्लैण्ड आनेके बाद यह पहली घटना थी, जिसने मेरे मनमें अजीब उथल-पुथल मचा दी। मेरे दिमाग़में अजीब ख़याल चक्कर लगाने लगे। वह अंगरेज़ और मैं हिन्दुस्तानी। वह ग़रीब लँगड़ाता हुआ, गँठिएकी बीमारीसे परेशान बूढ़ा अंगरेज़ क्या मेरा दुश्मन है? क्या वह भी ब्रिटिश साम्राज्यका एक साझीदार है? उसने मुझसे दयाकी याचना की, दो पैसे माँगेकि वह रोटी खा सके, इस कड़कड़ाते जाड़ेमें एक प्याला गरम चाय पी सके। क्या वह मेरा दुश्मन है? क्या वह मेरा दुश्मन हो सकता है? क्या हरएक अंगरेज़ मेरा दुश्मन हो सकता है?

ग़रीबीका वरदान एक ही क़ौम या एक ही देशके लोगोंको नहीं मिला है। ग़रीबी और घृणा सहनेके साझीदार संसारके सभी देशोंमें हैं, मैंने सोचा। मेरे ही सामने कितने ही अन्य अंगरेज़ मर्द

और औरतें अपने-आपको चमड़ेके लम्बे बूटों, दस्तानों और भारी फ़रे-कोटोंमें लपेटे उस बूढ़े-गरीबके सामनेसे निकल गए थे। किसीने उसकी ओर एक नज़र उठाकर देखनेकी तकलीफ़ भी गवारा न की थी!

अंगरेज़ी खाना मुझे पसन्द नहीं-विशेषतया आजकलका, विश्वयुद्ध के बाद भी लड़ाईके ज़मानेका खाना। रोज़ एक ही तरहकी सब्ज़ी-पिछले चार महीनोंसे रोज़ उबले हुए आलू, गाँठगोभी, गाजर और शलगम खाते-खाते तंग आ गई थी। भारतीय खाना खानेको जी तड़प रहा था। एक मित्र मुझे ईस्ट-एण्डके एक हिन्दुस्तानी रेस्तरा में ले गए। पराँठे और नीबूके अचारकी ख़ुशबू ही वहाँ जी खुश करनेको काफ़ी थी। शामके सात बजे थे। होटलके बाहर बिलकुल अँधेरा था। अपने मित्रसे बातें करते-करते तथा पराँठे और नीबूका अचार खाते-खाते एकाएक मेरा ध्यान सड़ककी तरफ़वाली शीशेकी खिड़कियों की ओर गया। दो तीन काले-काले चेहरे खिड़कियोंके शीशेसे मुँह चिपकाए अन्दर देख रहे थे। मैंने घबराकर अपने साथीसे पूछा-'क्या मामला है?'

'ये लन्दनके भिखमंगे हैं, डरो नहीं।'-साथीने हँसते हुए जवाब दिया। 'कुछ लोग बेकार हैं, कुछ लोग भिखमंगे हैं। बहुत दिनों तक बेकार रहनेपर बेकार भी भिखमंगोंकी श्रेणीमें आ जाते हैं। ये लोग शामके अँधेरेमें आहारकी खोजमें अपने बिलोंसे बाहर निकल आते हैं। वह देखो, कैसे चोरोंकी तरह झाँक रहे हैं।'-मेरे मित्रने कहा।

मेरे लिए वे तले हुए पराँठे खाना असम्भव हो गया। चार-पाँच आदमी लगातार बाहर अँधेरेमें खड़े मेरे मुँहमें जाते हुए एक-एक ग्रासको ललचाई आँखोंसे ताक रहे थे! इसी बीच दरवाज़ा खुला और एक भिखमंगा या शायद बेकार अन्दर दाख़िल हुआ। एक अछे रेस्तरा में घुसकर लज्जित, परेशान, क़सूरवार सा महसूस करता हुआ वह एक ख़ाली मेजकी ओर बढ़ा। एक बार नज़र इधर-उधर घुमा वह कुर्सीपर बैठने ही को था कि होटलके सिक्ख मैनेजरने उसे देख लिया। फिर क्या था? 'चलो, निकलो यहाँसे बाहर।'-कहकर मैनेजर उसे बाँहसे पकड़कर बाहर धकेलने लगा।

'लेकिन मेरे पास पैसे हैं।' कालिखमें रँगे मैली-फटी बोरीके कपड़े पहने उस व्यक्तिने कहा।

'पैसे हैं या नहीं, इससे मुझे कोई सरोकार नहीं। यह रेस्तरा भिखमंगोंके लिए नहीं है। चलो, निकलो बाहर।' और दो-तीन धक्के देकर सिक्ख मैनेजरने उसे बाहर निकाल दिया।

'यहाँसे चलो।'-मैंने अपने साथी से कहा।

'बस, इतनेसे घबरा गईं आप!'-मेरे मित्रने मुझे चिढ़ानेकी कोशिश करते हुए कहा।

हमेशा बादलोंसे घिरे लन्दनमें कभी दो-एक दिन ऐसे आते हैं, जब हल्की धूप निकल आती है और मौसम कुछ खुल जाता है। इन दिनों मैं अपना सभी काम-काज छोड़ हेम्पस्टेड-हीथ पहुँच जाती हूँ। मैंने वहाँ अक़सर दो तरहके लोग देखे हैं, जो हेम्पस्टीड-हीथके कोनोंमें

इधर-उधर छुपे बैठे होते हैं-प्रेमी-प्रेयसियोंके जोड़े और लन्दनके बेकार तथा भिखमंगे। भिखमंगे इसलिए छुपे बैठे रहते हैं कि पुलिस उन्हें कहीं देख न ले और इस जगहसे कहीं और आगे न धकेल दे! बेचारे थके-हारे, भूखे, फटेहाल एक जगहसे दूसरी जगह भटक रहे हैं, क्योंकि भिखमंगोंका शहरमें रहना ग़ैरक़ानूनी है।

एक दिन शामको सड़ककी पटरीपर चलते हुए पीछेसे चुपचाप एक बूढ़ी औरतने जब मेरे हाथमें एक छोटी-सी पुड़िया दी, तो मैं चौंक-सी गई। मेरी एक अंगरेज़ सहेलीने, जो मेरे साथ थी, झटसे तीन पैसे अपने बटुएसे निकाल उस औरतके हाथमें दे दिए। मेरे पूछनेपर उसने बताया, चूँकि भीख माँगना मना है, इसलिए भिखमंगोंने भीख माँगनेके कई तरीक़े ईजाद कर लिए हैं। खोलनेपर पुड़िया में से आधी फ़िनाइलकी गोली निकली।

शहरकी सड़कों पर घूमते हुए कई बार आपको फ़ुटपाथके कोनोंपर लाल-पीले-नीले रंगोंसे खिचे हुए तरह-तरहके चित्र नज़र आयेंगे। उनके पास ही टोपीमें पड़े कुछ पैसे और दूसरे कोनेमें खड़ा चित्रकार नज़र आयगा। आप पटरीपर खिंची हुई तस्वीरोंके साथ ही दीवारके साथ टिकी गत्तेपर बनी कोई तस्वीर खरीद लीजिए या योंही टोपीमें दो-एक पैसे डाल दीजिए। लन्दन आकर ही मुझे यह एहसास हुआ कि भीख माँगना भी एक कला है। इस समय मेरी मेज़के दराज़में भिखमंगोंकी दी हुई तीन निशानियाँ पड़ी हैं-एक है आधी फ़िनाइलकी गोली, दूसरी चार माचिसकी तीलियाँ और तीसरी गत्तेपर लाल पेंसिलसे बनी स्टालिनकी छोटी-सी तस्वीर!

लन्दनकी पेटीकोट-लेन

लन्दन आनेके बाद उस दिन पहली बार अपनी सहेली जोन के साथ 'ईस्ट-एण्ड' की 'पेटीकोट-लेन' देखने गई। ईस्ट-एण्ड लन्दनका वह कोना है, जहाँ आमतौर पर लन्दनके ग़रीब लोग रहते हैं। और 'पेटीकोट लेन' ईस्ट-एण्डमें ग़रीबोंके एक प्रसिद्ध बाज़ारका नाम है। इतवारके दिन लन्दनके सभी बाज़ार-दुकानें बन्द रहती हैं, लेकिन ईस्ट-एण्डकी इस गलीकी सभी दुकानें उस दिन खुली होती हैं। घरसे बाहर चलनेसे पहले जोनने मुझे कहा-'अपने बालों को अच्छी तरहसे ढँके रखना।'

'क्यों?'-मैंने हैरतसे पूछा।

'बाज़ार में चलते-चलते चुपके-से अगर किसीने तुम्हारे लम्बे बाल काट लिए, तो मैं ज़िम्मेदार नहीं!'

'तुम मज़ाक कर रही हो'-मैंने कहा-'बाज़ार में चलते-चलते भला कोई मेरे बाल क्यों काटने लगा?'

'तुम्हे फिर लन्दन के इस मशहूर पेटीकोट-लेन का कुछ पता ही नहीं। वहाँ तो चलते-चलते हाथ में से बटुए का छिन जाना, किसी के सुनहरी-पीले-काले सुन्दर बालों की चोटी का चुपचाप कट जाना कोई अचम्भे की बात नहीं। अगर तुम्हारी चोटी कट गई, तो फिर तुम उसे किसी बाल बनानेवाली दुकान के बाहर शीशे की आलमारी में ही शोभा पाते देखोगी!'

'हूँ, यह बात है।' मुझे विक्टर ह्यूगोका 'पेरिस का कुबड़ा' उपन्यास याद आने लगा और पेटीकोट गली देखने की उत्सुकता भी चौगुनी हो गई।

जोन ने कहा-'ईस्ट-एण्ड केवल लन्दन के ग़रीबों की बस्ती ही नहीं, वह लन्दन के चोर-बाज़ार का केन्द्र भी है। इस चोर-बाज़ार में चीज़ें बेच-खरीदकर कई लोग कौड़ी से लाखों के बने। और मुझे माफ़ करना'- कुछ हिचकिचाते हुए जोन ने कहा- 'इस भारी चोर-बाज़ार में तुम्हारे हिन्दुस्तानी भाइयों का भी काफ़ी हाथ है। लेकिन चोर-बाज़ार में अंगरेज़, चीनी, अरब, हिन्दुस्तानी आदि सभी भाई-भाई हैं!'

'यह बात है! तो चलो, जल्दी चलें।'

बस में बैठे लड़ाई में अपाहिज हुए एक अंगरेज़ी सिपाही को देखकर क़िस्मत, परमात्मा, प्रेतात्मा, साम्यवाद, एटम-बम और न-जाने किन-किन बातों पर बहस करते-करते हम दोनों

में लड़ाई की नौबत आ गई। लेकिन ईस्ट-एण्ड पहुँचते ही सैकड़ों आदमियों के झुण्ड-के-झुण्ड सड़कों-बाज़ारों में एक साथ चलते देख जोन ने मुझसे कहा-'अपने बटुए का ध्यान रखना।'

मैंने झट गरदन के पीछे हाथ लगाकर देखा, बालों का जूड़ा अभी तक सलामत था। साड़ी से उसे अच्छी तरह ढँक जोन का हाथ पकड़ कर मैं आगे बढ़ी।

लन्दन के बाज़ारों-सड़कों आमतौर पर काफ़ी भीड़ होती है। लेकिन जितनी भीड़ यहाँ थी, उसे देख मुझे भारत की दशहरे की भीड़ याद आ रही थी; हालांकि यह खुली धूप का एक इतवार-मात्र था। जगह-जगह पर आइसक्रीम बेचने वाले अपने छोटे-छोटे ठेले लिए खड़े थे, और हरेक कुलफ़ी बेचने वाले के आगे पचीस-तीस-चालीस मर्द-औरतों-बच्चों की मिली-जुली कतार खड़ी थी। ये औरतें-मर्द-बो लन्दन के अमीरों के या मध्य-श्रेणी के लोगों से कितने भिन्न थे! आमतौर पर लन्दन की सड़कों पर कोई बिरला ही स्त्री-पुरुष ऐसा दीखता है, जिसके बाल सँवरे हुए न हों और जिसके कपड़े इस्त्री किए न हों। लेकिन ईस्ट-एण्ड के इस हिस्से में पहुँचकर तो मुझे ऐसा महसूस होने लगा मानो मैं भारत के कुछ-कुछ क़रीब पहुँच गई हूँ। यहाँ मैंने बिखरे बाल देखे, फटे जूते देखे, पेबन्द लगे और फटे कपड़े भी। बहुत से बच्चों के मुँह गन्दे थे और उनकी नाक बह रही थी।

तीन-चार मोड़ मुड़ने पर हम पेटीकोट-लेन पहुँच गईं। पेटीकोट-लेन का भीड़-भड़क्का और हर तरह की छोटी-मोटी दुकानें देखकर मुझे नई दिल्ली के हनुमान-मन्दिर का मेला याद आ गया। केवल फ़र्क यह था कि पेटीकोट-लेन का यह मेला हनुमान-मन्दिर के मंगल के मेले से दस गुना बड़ा था। एक तरफ़ बमबारी से टूटे हुए मकान की एक अकेली बची दीवार के पास एक हट्टा-कट्टा पहलवान ज़ोर-ज़ोर से कुछ कह रहा था। नौजवानों और अधेड़ मर्द-औरतों की भीड़ उसे घेरे खड़ी थी। दीवार पर टँगे एक बड़े से गत्ते के बोर्ड पर लिखा था--'Health Crusade', अर्थात् स्वास्थ्य-अभियान। पहलवान साहब के हाथ में एक छोटी-सी डिबिया थी और वे कह रहे थे--'यह एक गोली पन्द्रह साल के लड़के को भी जवाँ मर्द बना देती है। बारह साल की लड़की को नवयुवती बना देती है। मगर भाइयों और बहनों, यह दवाई, यह पौष्टिक खुराक, आप बड़ी उम्र के लोगों के लिए है। देखिए, कोई छोटी उम्र के लोगों को देकर ग़लती न कर बैठे। इस खुराक ने सैकड़ों उजड़े घर बसाए, सैकड़ों की सूखी ज़िन्दगी हरी की...। यह देखिए, दवाई इस्तेमाल कर चुकने वालों की धन्यवाद और प्रशंसा की चिट्ठियों का भारी दस्ता। इन सबको पढ़कर मैं आपका वक्त ज़ाया नहीं करना चाहता। इस भीड़ में जो लोग इस दवाई का इस्तेमाल कर चुके हैं, वे कृपया अपने हाथ खड़े करें।' व्याख्यान इतना ज़ोरदार था और व्याख्याता इतने स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट सत्यवादी तपस्वी महात्मा मालूम पड़ते थे कि भीड़ में से बहुत-से लोगों ने अपने आसपास बहुत-से हाथ खड़े देखने को आशा से देखा। लेकिन सभी लोग देखते रह गए कि एक भी हाथ नहीं उठा! पहलवान साहब ने लोगों की ओर अपनी परेशानी और झेंप मिटाने के लिए झट् से कहा--'हूँ, तो आज की इस बैठक में सभी नए आदमी हैं! खैर जो-जो स्त्री-पुरुष दवाई लेना चाहते हैं, वे अपने-अपने हाथ खड़े करें और तीन-तीन शिलिंग तैयार रखें।'

इस Health Crusade (हेल्थ क्रूसेड) स्वास्थ्य अभियान भारी सभा से हम आगे बढ़ीं। कंघी, ब्रश, शीशे, बालों में लगाने के पिन, बटन, फ़ीते, जुराबें, बटुए, घड़ियाँ, चमचे, गिलास, परदे, बच्चों के कपड़े, छोटे कम्बल, रज़ाइयाँ, किशमिश, बादाम और न-जाने किन-किन चीज़ों की छोटे-छोटे लकड़ी के ठेलों पर दुकानें सजाए लोग सस्ते-महँगे दामों में बेच रहे थे। इस सारे सामान में बहुत-सा ऐसा माल था, जिसकी शहर की बड़ी दुकानों में सूरत भी देखने को नहीं मिलती थी। और अगर कहीं मिलती भी, तो बहुत ही महँगे दामों पर। ये फेरी वाले लोग ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए ऊँचे-ऊँचे स्वरों में अपनी-अपनी चीज़ों के गुण गा रहे थे। मिट्टी के तरह-तरह के रंगदार खिलौने बिक रहे थे। एक जगह पर बहुत-से मर्द औरत अपनी घड़ियों के पीछे नाम खुदवा रहे थे। हिन्दुस्तान में फेरी वालों का सड़कों-बाज़ारों में गा-गा कर अपनी चीज़ बेचना आम बात है। लेकिन लन्दन में फल और आइसक्रीम बेचने वालों के अलावा किसी और को इस तरह बाज़ार में सड़कों पर पुकार-पुकार कर अपनी चीज़ें बेचते न देखा था। परन्तु यहाँ का वातावरण हिन्दुस्तान के आम बाज़ारों-सा था। इन लोगों का यह वाक्य-'मिस इसे देखते जाइये। ('Have a look this side too, Miss') और ('Only a few left')'थोड़े से बचे, सुनकर मुझे दिल्ली के चाँदनी चौक और भारत के अन्य बाज़ारों में सामान बेचने वालों की ऊँची-ऊँची पुकारें याद आने लगीं। एक बच्चों के कपड़े बेचने वाले पति-पत्नी का कपड़े बेचने का तरीक़ा तो इतना प्रभावोत्पादक था कि जोन और मैं कोई बीस मिनट वहाँ खड़ीं उनके नाटकीय ढंग से कपड़े बेचने की कला देखती-सुनती रहीं। अन्त में मेरी हालत यह थी कि मेरा जी भी बच्चों के कुछ कपड़े खरीदने को मचल-सा उठा। कम-से-कम दो सौ मर्द-औरतों की भीड़ उन्हें घेरे खड़ी थी। बहुत-से कपड़े बिना कूपन के बेचे जा रहे थे। खैर, मुश्किल से किसी तरह अपने ललचाते मन पर काबू पा मैं जोन के साथ आगे बढ़ी।

'ज़रा इधर देखना तो'-जोन ने कहा। मैंने बाईं तरफ़ मुड़कर देखा, एक हिन्दुस्तानी मर्द-औरत एक ठेले के आर-पार खड़े हिन्दुस्तानी इत्र बेच रहे थे। शक्ल, सूरत, पहनावे आदि से वे महाराष्ट्र के जान पड़ते थे। एक और हिन्दुस्तानी औरत को देखकर वे कहीं झेंप न जायँ, यह सोचकर पहले मैं उनके पास जाने में हिचकिचाई। लेकिन जोन उनसे बात किए बिना आगे नहीं बढ़ना चाहती थी, सो हम उनके पास पहुँचीं। पत्नी तो अंगरेज़ मर्द-औरतों को गुलाब, ख़स, चमेली, आदि का इत्र बेचती रही, पर पति महोदय ने हमें हाथ जोड़कर नमस्कार किया। मैंने उनसे बातचीत शुरू की। झेंप और झिझक दोनों तरफ़ थी। उन दम्पत्ति ने बताया कि यहाँ काम करते उन्हें तक़रीब दस बरस हो गए हैं। और जिस तरह से ग्राहक उनके सामने छोटी-छोटी शीशियों के लिए शिलिंग फेंक रहे थे, मुझे उनसे यह पूछने की ज़रूरत ही न पड़ी कि उनका कारोबार कैसा चलता है। उनसे कुछ अगरबत्तियाँ ख़रीदकर हम आगे चल पड़ीं।

कुछ ही क़दम आगे बढ़ने पर एक और सफ़ेद पगड़ी पहने एक वृद्ध भारतीय से मुलाक़ात हुई। गले में ट्रे लटकाए वे भी भारतीय इत्र बेच रहे थे। हमने हाथ जोड़कर एक-दूसरे को नमस्कार किया। पगड़ी पहने एक हिन्दुस्तानी और साड़ी पहने एक हिन्दुस्तानी औरत को नमस्कार करते देख कुछ लोग तमाशा देखने हमारे गिर्द खड़े हो गए। वृद्ध ने कहा-'अपने देस की बेटी को मिलकर बहुत खुशी हुआ। कौन जात हो, बेटी?'

'ब्राह्मण' मेरे मुँह से निकला।

'ओह, ब्राह्मण!' उन्होंने एक बार फिर झुककर नमस्कार किया। मैं लन्दन में हूँ या गढ़मुक्तेश्वर के मेले में, मुझे कुछ देर के लिए शक हुआ। यहाँ आकर भी कोई मेरी जात-पाँत पूछेगा, इसकी मैंने कभी कल्पना भी न की थी। मैंने पूछा-'आप यहाँ कब आए? यहाँ क्या करते हैं, बाबाजी?'

'बेटी, यही सेण्ट का कारोबार करते हैं। पहले बेटा यहाँ ता, उसको ईदर रयते बहोत देरी हो गया था। उसका ईदर बिज़नस था। उसका हिन्दुस्तान में आना तो मुश्किल था। इस वजह से हम उसका माँ ओर बेन को लेकर इदर आ गया। पिछले दस बरस से ईदर ही है अब।'

'काम-रोज़गार तो अच्छा चलता है, बाबाजी?'

'हाँ बेटी, परमात्मा का दया से ईदर अपना दस-बारा बील्डिंग है, रेस्तरां है।' यह कहते-कहते उन्होंने जेब से अपना विज़िटिंग-कार्ड निकालकर मेरे हाथ में दिया और बोले-'कबी ऊदर आना जरूर, बेटी।'

'अच्छा बाबाजी, ज़रूर आऊँगी किसी दिन।' मैंने अपने बटुए में कार्ड डालते हुए कहा।

'अपना पत्नी भी ऊदर खड़ा है। मिलना चाहती हो, तो उनसे मिलो।' कहकर उन्होंने दीवार के सहारे खड़ी उस वृद्ध भारतीय महिला की ओर इशारा किया।

'ओह, अच्छा'-कहती मैं उस वृद्ध भारतीय महिला की ओर गई और उसे नमस्कार किया। उसके मराठी ढंग से पहनी हुई सफ़ेद सूती धोती थी और माथे पर मराठी ढंग का ही चौड़ा तिलक। साड़ी के ऊपर एक भारी काला मरदाना ओवरकोट और पैरों में मरदाने ही बूट थे। एक सूटकेस के पास, जिसमें सेण्ट की शीशियाँ पड़ी थीं, वह खड़ी थी। बातचीत करते हुए मैंने पूछा-'आप भारत कब जायँगी?'

'वापिस कैसा जायगा? ईदर बीज़नस जो है। बीज़नस छोड़कर कैसे जायगा?'

'अपने अंगरेज़ी भाषा तो सीख ली होगी?'

'नहीं । क्या ज़रूरत है? बाबूजी को इँगरेजी बोलना आता है। बेटा पढ़ा-लिखा है। हमको इँगरेज़ी का क्या जरूरत है?'

'हाँ, ठीक है'-मैंने सहज भाव से कहा।

'ऊदर घर में आना कबी।'

जोन बार-बार घड़ी की ओर देखकर मुझे जता रही थी कि वापस चलने का वक्त हो गया। असल में बात यह थी कि जोन हमारी बातचीत नहीं समझ पा रही थी। उसे एक तरफ़ खड़े रहना अच्छा नहीं लगता था। अत: वृद्धा से 'ज़रूर आऊँगी; अच्छा, नमस्कार' कहकर मैं उसे लेकर आगे चल पड़ी।

आज की इन मुलाकातों से मैं आश्चर्य-चकित थी। लन्दन में आकर भी मुझे कभी इस तरह के भारतीयों से मिलने का मौक़ा मिलेगा, यह सब-कुछ अजीब-सा मालूम पड़ता था। एक-दूसरे का हाथ पकड़े हम वापस जा रही थीं। चलते-चलते पीछे से किसी ने मेरे कन्धे पर ज़ोर से हाथ रखा। मेरे बालों का जूड़ा! मैंने घबराकर पीछे मुड़कर देखा। एक भारतीय नाविक खड़े मुस्करा रहे थे! बड़ी आज़िज़ी से बोले-'माफ करना, तुसानूँ, रोक लिया है। पर बड़ी देर हो गई है अपने वतन की किसी खातून को देखे।'

दाढ़ी, मूँछों और बालों में मेंहदी, आँखों में काला सुरमा, स्वस्थ और लम्बा क़द, अधेड़ उम्र का एक पठान। छुटपन में पठानों के बारे में जो हौलनाक कहानियाँ सुनी थीं, उनका डर अभी तक मेरे दिल से नहीं गया था। इन लम्बे-ऊँचे, सुडौल-स्वस्थ लोगों की आँखों में एक अजीब तरह की चमक रहती है, जिससे मुझे अब भी कुछ घबराहट होती है। किन्तु परदेस में अपने वतन के किसी आदमी से कन्नी काटना भला कैसे सम्भव है? उसने पूछा-'कब आए हो इदर? इदर क्या करते हो? तुमको देखकर, अपने वतन का आदमी को देखकर, आज रूह ठण्डा हुआ है।'

'हाँ, अपने देस के आदमी इधर हैं जो कम।'

'हाँ, हाँ बहोत खुशी हुआ है, बहोत! इछा, इदर तुम क्या करते हो?'

'पढ़ती हूँ-मैंने कहा।

'अबी इतना उमर तक पढ़ते हो? शादी-वादी कुज़ नहीं हुआ?

'नहीं।'

'शादी नहीं हुआ? अब तुमको शादी करना चइए, ज़रूर। मगर देखो, इदर किसी अंगरेज़ साहब से नहीं।'

'नहीं, अंगरेज साहब से नहीं करूँगी।'

'अब पढ़ाई जल्दी से खतम करो, घर जाओ और उदर जा के शादी-वादी करो।'

'अच्छा'-मैंने आज्ञाकारी बो की तरह कहा।

'और देखो'-वह बोला-'अपने माँ-बाप की पिसिनद का लड़का होना चइए। ख़ुद लड़की लोग को लड़का पिसिन्द नइ करना चइए। शादी माँ-बाप पर छोड़ना चइए।'

'नहीं, मैं अपने आप शादी नहीं करूँगी। अपने माँ-बाप की पसन्द पर ही छोड़ूँगी। मुझे ज़रा जल्दी है, घर वापस जाना है अच्छा, सलामालेकुम!'

'ओ, ज़रा ठेरो, कुज़ मठयाई खरीद के देगा। अपने वतन का आदमी है।'

'नहीं, शुक्रिया। मुझे जल्दी है। सलामालेकुम।'

इतना कहकर मैंने जोन का हाथ पकड़ा और तेज़ी से भीड़ को चीरती हुई बस-स्टेशन की तरफ़ भागी।

'वह बूढ़ा नाविक मुझे बहुत पसन्द आया।' क्या कहता था तुम्हें?'-जोन ने पूंछा।

'कहता था-पढ़ाई छोड़ो, घर वापस जाओ और माँ-बाँप के पसन्द के लड़के से शादी करो। उसे डर था कि कहीं मैं यहाँ, तुम लोगों की संगति में रहते-रहते बिगड़ न जाऊँ!'

बस में बैठे एक बार फिर मैंने अपने बालों के जूड़े को टटोला। वह अपने ठिकाने पर ही था!

एक बार फिर ईस्ट-एण्ड की पेटी-कोट-लेन में जाना चाहती हूँ, लेकिन इसबार कैमरा साथ लिए, अंगरेज़ी पोशाक में, एक बड़ी-सी टोपी पहने और उसे अपने चेहरे पर इस तरह झुकाए कि मेरी कोई देश-जाति न पहचान सके! चार्ल्स डिकेन्स के ज़माने को इँग्लैण्ड काफ़ी हद तक पार कर चुका है, किन्तु लन्दन की ग़रीबों की बस्तियों पर , उनके जीवन पर और लन्दन के चोर-बाज़ार पर एक बढ़िया उपन्यास लिखने के लिए अभी भी प्रचुर सामग्री यहाँ उपलब्ध है।

पूर्व पूर्व है, पश्चिम पश्चिम!

अपने दिन भर के काम-काज से निपट कर कभी-कभी शाम को मेरी मकान-मालकिन या तो मेरे कमरे में आ जाती है या अपने सोलह साल के सुन्दर, लम्बे कद के लड़के को मेरे पास भेजती हैं यह पूछने के लिए कि मैं एक प्याला 'काफ़ी' पीने के लिए नीचे आ सकती हूँ या नहीं। 'काफी' पीने की मनाही मैंने भी कभी नहीं की। मेरे कमरे में केवल एक बिजली का 'हीटर' है, जो पूरे कमरे को अछी तरह गर्म नहीं कर पाता। इन जाड़े के दिनों में कुछ देर के लिए चटखती हुई कोयले की आग के पास कौन न बैठना चाहेगा? अपनी किताब-कापियां बन्द कर मैं नीचे, मकान मालकिन की बैठक में पहुँच जाती हूँ। 'काफ़ी' मेज़ पर रुई के लिहाफ़ में ढकी पड़ी होती है-और मेरी कुर्सी आग के करीब।

मेरी मकान-मालकिन दिन भर बिल्कुल मज़दूरों की तरह काम करती हैं। सबेरे पांच-छ: बजे उठकर पहले अपने कमरे झाड़ती-पोछती है, मुर्गियों को दाना पानी देती हैं, अपने लिए और कुछेक किरायदारों के लिए नाश्ता तैयार करती हैं। उसके बाद घर में ही लोगों को फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाएं पढ़ाती हैं। तबतक घर के आठ-दस किरायेदार अपने काम काज पर घर से बाहर चले गये होते हैं। तब वह हम सबके कमरे साफ करती हैं; बिस्तरों के, तिपाई-मेज़ों के कपड़े तवदील करती हैं, सबके नहाने के लिए पानी गरम करती है; कपड़े धोती हैं, इस्त्री करती हैं। यह ठीक है कि गैस-बिजली से सभी काम जल्द हो जाते है, तो भी जितना काम वह करती हैं। उसे देखकर ही मैं थक जाती हूँ। सारे घर का काम एक अकेली वह कैसे निभा लेती हैं, यह मुझे अभी तक समझ में नहीं आया। एक बात है उनके काम के वक्त उनसे बात न कीजिए,बड़ा टेढ़ा-सा जवाब मिलेगा।

इतनी वक्त की पाबन्द और इतनी मज़बूत दिल-दिमाग़ की औरत की एक कमजोरी है! वह है 'काफी'। दो प्याले 'काफ़ी' के ठीक हैं। लेकिन तीसरा प्याला न जाने। उन पर क्या असर करता है। कुछ दिन भर की थकावट और कुछ बहुत 'काफ़ी' पी' की आदत हो जाने से उसका नशा-सा। सुबह के वक्त की सख्त और खामोश मिसेज-शाम को बिल्कुल कोई और ही औरत दीखती हैं। वहीं चेहरा है, लेकिन उसमें, नरमी आ गयी है, आंखों में उदासी है करुणा है।

हिन्दुस्तान, जर्मनी, जीन जापान, एटम बम और यू० एन० ओ० और न जाने किन-किन विषयों पर बातें करती वह अपने पर आ जाती हैं। कल हाऊस-टैक्स देना है, बाहर के पाख़ाने को मरम्मत करने वाला नहीं आया...। मैं काम करते-करते और अकेले रहते-रहते थक गयी हूँ। काम, काम, काम; मानो ज़िन्दगी में कुछ बाकी न रहा। सोचती हूँ, शादी कर लूं। मिस्टर

'प' मुझे बहुत दिनों से जानते हैं। मेरे पति की इनसे बहुत दोस्ती थी। मेरे पति की बीमारी के वक्त उन्होंने मेरी बड़ी मदद की। वह मेरी परेशानियों और सुख-दु:ख सभी जानते हैं। पैसेवाले आदमी हैं; जानते हैं कि मैं घर में किरायेदार रख और ट्यूशन करके गुजारा करती हूँ। वह मुझे चाहते हैं-और मुझसे शादी करना चाहते हैं। वह मेरे लड़के 'पॉल' को अपनी ही लड़का समझते हैं। मैं सोचती हूं, शादी कर लूं या नहीं। तुम बताओं? इतनी देर तक तो मैं टालती आयी हूँ । मिस्टर 'स' भी मुझे बहुत चाहते हैं, बड़े योग्य व्यक्ति है, बहुत शरीफ़ और नरम-दिल आदमी हैं; लेकिन मैंने कभी सोचा ही नहीं कि मैं उनसे शादी कर सकती हूँ। हम मित्र हैं, मित्र रहेंगे। लेकनि उनसे शादी......मैं । उनसे साफ-साफ कह दिया है।

ये बातें सुनते हुए मुझे ऐसा लगता कि मकान-मालकिन की उम्र पैंतालिस-पास बरस को न होकर कोई बीस-तीस बरस की है। ज़िन्दगी की लहर उसके चेहरे को, उसकी आँखों को झिलमिला-जगमगा-सी देती है। मैं चुपचाप 'काफ़ी' का प्याला हाथ में पकड़े उसकी आँखों की तरफ़, उसके चेहरे पर आते-जाते तरह-तरह के भावों को देखती रहती हूँ। धीरे-धीरे उसकी बातों की आवाज़ धीमी पड़नी शुरू हो जाती है। तब मेरा ध्यान 'काफ़ी' से उठकर कोयले की जलती आग से उठकर मकान-मालकिन की झिलमिलानी आँखों से उठकर दूर एक सांझ मथुरा के एक मन्दिर के कोने में पहुंच जाता है।

एक बंगाली परिवार। मुंह में पान बढ़िया शान्तिपुरी और ढाके की साढ़ियां पहन, माँग में लहू की धार-सा सिन्दूर भरे, सधवा स्त्रियां अपने पुरुषों के साथ, जो सोने के बटनोंवाली सिल्क की कमीजें और चमचमाती पम्प शू पहने हुए हैं मथुरा के एक मन्दिर में चक्कर लगा रहे हैं। उनके पीछे चल रही है, सिर मुड़ाये, मोटी-सी नीली चादर ओढ़े, मैली धोती पहने, पन्द्रह सोलह बरस की एक श्यामा। लाल कनेर-सी बड़ी-बड़ी, जलते हुए कोयले-सी आंखें। चाल में कर्त्तव्य, धर्म-जाति व्यवहार से जबरदस्ती लायी शिथिलता, किन्तु चेहरे पर विद्रोह। बंगाली परिवार हंस-हंसकर बातें कर रहा है। कभी कहीं किसी कोने में रखी मूर्त्तिपर फूल-बताशे चढ़ाता और आगे बढ़ा जाता है। पीछे-पीछे नीली चादर ओढ़े है वह सन्ध्या, वह कलंक-सी श्यामा, अपने बदन के एक-एक कम्पन में विद्रोह वहन किये। मैं सोच रही हूं, ये जलते हुए दो अंगारों-सी आंखे, कभी आग का बवंडर खड़ाकर सब कुछ जलायेंगी कि स्वयं ही सिसक-सिसक कर दग्ध हो जायेंगी।

"मेरी अपने पति से पहले-पहल मुलाकात हुई थी, जब मैं दूसरी दफ़ा नृत्य के लिए गयी। अब तो बूढ़ी होने लगी हूं, बूढ़ी नहीं अधेड़। मैं तुम्हें नृत्य के वक्त की अपनी तस्वीर दिखाती हूँ। उस तस्वीर को देखकर तुम यह न कह सकोगी कि वह मेरी तस्वीर है।" मिसेज 'प' कह रही हैं।

तस्वीर सचमुच बहुत-ही सुन्दर है। सोलह-सत्रह बरस की युवती, एक-एक अंग स्वस्थ और सुडौल। रंग-बिरंगी लेसों-फ़ीतों वाली फूली हुई पोशाक।

"जब मैं तीन घण्टे लगातार नाचती रही, तो 'हाल' में एक तहलका-सा मच गया था। और उस दिन शाम, आगस्टस से मेरी भेंट हुई। वह हैरान था कि मैं इतना अच्छा नाच भी सकती

हूँ। उसी शाम मैं उसे अपने माँ-बाप से मुलाकात कराने घर लायी। बीस साल मैंने अपने पति के साथ सुख से व्यतीत किये। मेरा पहला प्यार ...''

मेरी मकान-मालकिन बातें करती हुई चली जा रही हैं-''दूसरे नृत्यमें मेरी मुलाकात टामस से हुई...।'' लेकिन मैं जलते कोयलों की ओर देखती क्या सोच रही हूँ।

मेरी चचेरी बहन, पन्द्रह-सोलह साल की स्वस्थ, सुन्दर, गौरवर्ण, ऊंचे कद की सरला। शायद इस तस्वीर से मिलती-जुलती ही सरला, जिसकी सारे परिवार और अड़ोस-पड़ोस में चर्चा थी। जब होता है, खिड़की से बाहर ताकना शुरू कर देती है। शरीफ़ घरों की नौजवान लड़कियाँ कभी खिड़कियों में झुकी रहती हैं? घर के सामने सड़क है। कितने लोग, बैलगाड़ियां, मर्द-औरतें आते-जाते रहते हैं। बड़े-बड़े जवान लड़के साइकिलें लिये घूमते-फिरते हैं। कभी कोई जूलूस निकल जाता है। मकान सड़क के किनारे सभी आने-जाने वालों की आंखे ऊपर होती हैं! यह लड़की स्कूल से आते ही खिड़की सामने खड़ी हो जाती है। इसके अलावा भाइयों के दोस्तों और घर में आये मेहमानों के लड़कों के साथ ताश खेलती है, हज़ार रोको, नहीं सुनती। परिवार में बड़ी बुआ ने इस बारे में अन्य लोगों से बातचीत की है। अपना खाली वक्त वह गीता-पाठ और अड़ोस-पड़ोस के लड़के-लड़कियों की चर्चा में गुज़ारती हैं।

यह बात चाचा के कानों में पड़ गयी है। सुन्दर जवान लड़की! काई अनहोनी घटना घटी, तो क्या होगा। जीवन भर के लिए कलंक। चाचा ने एक शाम सरला को अकेले में बुलाकर डाँटा समझाया। साथ ही वर की तलाश भी शुरू हो गयी। जिस दिन सरला ने दसवीं की परीक्षा समाप्त की, उसके दूसरे दिन उसकी शादी हो गयी। विदाई के दिन सभी रोये। सबसे अधिक बड़ी बुआ।

तीन साल हुए हैं सरला की शादी को; लेकिन उसके चेहरे की रौनक न जाने कहां चली गयी है; हालांकि अब वह लाल पाउडर भी लगाती है। उसके बदन की चुस्ती भी कहीं गायब हो गयी है। उसका पेट कुछ बढ़ गया है। इन तीन वर्षों में वह दो बच्चों की मां बन गयी है। मुझे पता नहीं कि उसके पति कैसे हैं। उनसे कभी मिलने का, अच्छी तरह जान-पहचान करने का मौका नहीं मिला। इतना जानती हूँ कि वह सूती कपड़े का व्यापार करते हैं। हमारे परिवार के लोग खुश हैं कि सरला एक बड़े परविार से बड़े परिवार में गयी है। वहां सास है, पति की बुआ है, मौसी है, ननद है और अन्य बहुत से रिश्तेदार हैं-इसी तरह, जैसे उसके अपने घर में। परिवार के लोग ख़ुश हैं, सन्तुष्ट हैं। मुझे मालूम नहीं कि सरला से भी कभी किसी ने पूछा है कि वह ख़ुश है कि नहीं। चेहरे को गौर से देखने की कोशिश की है या नहीं, उसकी आंखों को गौर से पढ़ने की कोशिश की है या नहीं। उसका पति कमाता है, ससुर के तीन-चार मकान हैं, जो किराये पर चढ़ा रखे हैं। अब उसके बच्चों भी हैं। वह खुश ही होगी।

सरला जब मैके आती है, तो कभी-की घर की औरतों से शादी-ब्याह, कपड़ों-गहनों की बात कर अपने बच्चों के मुंह में दूध की बोतल डाले घर के सामने की खिड़की के सामने खड़ी हो जाती है। बड़ी बुआ अब भी उसे खिड़की में खड़ी देखती हैं; लेकिन कहती कुछ नहीं। अब वह उनकी ज़िम्मेदारी नहीं शायद।

घर के सामने की सड़क पर तेज़ भागती हुई मोटरें हैं, 'या पीर दस्तगीर' कहते हुए भारी-भारी सामान ले जाते हुए ठेलेवाले हैं, ट्राइसिकलें चलाते छोटे बो हैं और बाइसिकलें चलाते बड़े लड़के, दफ़्तरों के क्लर्क और घरों के नौकर। सड़क के आगे बाग में आंखों को ताजा करने वाली हरी-नर्म घास है, ऊंचे-ऊंचे पेड़ों की कतारें है, फूलों की क्यारियां हैं। एक तरफ घास पर बच्चे गाड़ियां पड़ी हैं, पास ही नौकर-नौकरानियों के पास बैठे, इधर-उधर दौड़ते-खेलते बच्चे हैं। दूसरी तरफ एक क्लब है, जहां बूढ़े, जवान, मर्द-औरतें टेनिस, बैडमिंटन खेल रहे हैं। कुछ लोग घास पर बैठे ताश खेल रहे हैं। कोई बेंच पर बैठा किताब पढ़ रहा है। हल्का, नीला आकाश, कहीं-कहीं रुई-से सफ़ेद छोटे-छोटे बादलों के टुकड़े तैर रहे हैं। घास पर खेलते हुए बच्चों और बादलों के टुकड़े में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता। घर के बाहर जीवन है, सौन्दर्य है, स्वतन्त्रता है।

घर के अन्दर-दोनों हाथों में दस-दस सोने की चूड़ियाँ पहने, मोटी-मोटी अंगुलियों में जरूरत से ज़्यादा अंगूठियां पहने, चौकी या चारपाई पर बैठी, सब्जी काटती, छिलके फर्श पर ही बिखेरती, तार स्वर में बातें करती बड़ी चाची हैं। पास ही दुबली-पतली हर साल गंगा-दर्शन करनेवाली विधवा बुआ है। अपनी लड़की की शादी में किसने कितनी साड़ियाँ दीं। साड़ियों पर तिल्ले का काम हलका था या भारी। गहनों में किस किस्म का सोना था। जब 'प' का पति मरा तो वह कितना रोयी थी। इस महीने कितना किराया वसूल हुआ है। किस किरायेदार ने अभी तक किराया नहीं दिया-कमीना! विमला की माँ ने नौकर रहीं रखा, कंजूस है। आज किसकी लड़की साइकिल पर सवार बाज़ार में घूम रही थी, आदि आदि। कोई अन्त नहीं है इन बातों का। पिछले बीस-पच्चीस वर्षों से ये औरतें लगातार ऐसी ही बातें करती आयी हैं। पिछले बीस वर्षों से इन औरतों की यही दिनचर्या है। इनकी बातचीत, रहन-सहन में कोई अन्तर नहीं आया, सिवाय इसके कि चाची अपने पति के कमाये धन पर दिन पर दिन मोटी होती चली जा रही हैं-और छोटी विधवा बुआ गीता-पाठ करती-करती दुबली और सिकुड़ती गयी हैं।

पूर्व-पूर्व है, पश्चिम पश्चिम है। मैं जम्हाई लेते हुए बुझते हुए कोयलों की तरफ़ देखती हुई सोचती हूं।

''तुम्हें नींद आ रही है...माफ़ करना मैं कभी-कभी तुम्हें अपनी बातों से थका देती हूँ। एक प्याला 'काफ़ी' और पिओगी। मकान-मलकिन मुझे जम्हाई लेते देखकर कहती हैं। मैं झेंप जाती हूं कि मकान मालकिन मुझे जम्हाई लेते देख लिया है।

अंग्रेजी मौसम

मुझे बी बी सी (British Broadcasting corporation) के तकरीबन सभी मजकिया प्रोग्राम अच्छे लगते हैं; लेकिन सबसे अधिक मनोरंजक लगती है मौसम के बारे नें उनकी पेशीनगोई। यह नहीं कि बी बी सी वाले यह प्रोग्राम सुननेवालों के मनोरंजन के लिए करते हैं। उनकी भविष्यवाणी तो दुश्मन के शहरों में 'बम्बारी' करने से पहले हवाई जहाज़ों द्वारा पर्चे फेंककर नगर-निवासियों के चेतावनी देने की-सी है। लेकिन हिन्दुस्तान में तीन-तीन चार-चार मास एक-सा ही मौसम देखने वाली मैं, मुझे बी बी सी की यह भविष्यवाणी मसलन, 'कल दक्षिण-पश्चिम के हिस्सों में पहले हल्की धूप, दोपहर को किसी भाग में बारिश, किसी भाग में बरफ़, उसके बाद कहीं धूप और हल्की वारिश एक ही साथ, कहीं बादल, पहले ठण्ड, बादको अधिक, आमतौर पर कल मौसम ठण्डाही होगा-उनके मज़ाकिया प्रोग्रामों का एक भाग लगती है। जबसे यहाँ पहुंची हूँ, हर रोज तकरीबन मौसम के बारे में इससे मिलती- जुलती भविष्यवाणी सुनी है।

फ़रवरी के दिनों की कड़ाके की सर्दी में एक दिन ऐसा आया कि लोगों ने दुकानों पर जाकर 'आइसक्रीम' खाना शुरू किया। आइसक्रीम के इन्तज़ार में खड़ी एक 'क्यू' में इतनी भीड़ थी कि एक औरत वहां बेहोश हो गयी। उसी शामको रेडियो से जो इत्तला मिली, उसके मुताबिक दूसरे दिन लोग छतरियां-बरसतियां लेकर बाहर निकले। वैसे बरसातियां तो लोग यहाँ तकरीबन हर समय ही पहने रहते हैं. इस जाड़े में बहुत-से लोगों के पास 'ओवरकोट' खरीदने के लिए 'कूपन' नहीं थे, सो उन्होंने, और जिन लोगों के पास ओवरकोट खरीदने के लिए पैसे नहीं थे, 'बरसातियों' से ही अपने आपको ढके रखा।

सारा-का-सारा इंगलैण्ड क्षेत्रफल में पंजाब प्रान्त के बराबर है। किन्तु एक ही दिन में इंगलैण्ड के एक-एक शहर में भिन्न-भिन्न तरह का मौसम होता है। कल ही मैनचेस्टर से आये एक हिन्दुस्तानी मित्र मिले। उन्होंने बताया कि मैनचेस्टर में उन्हें जाड़ों में भी दोपहर को ओवरकोट पहनने की ज़रूरत महसूस नहीं हुई और उनके कहने के मुताबिक लन्दन में मार्च के महीने में भी काफ़ी सर्दी थी, हालांकि मैं कल के दिन को कम ठण्ढा समझ रही थी।

इंगलैण्ड पहुंचकर किसी अंग्रेज़ से सड़क, दुकान, इमारत, स्टेशन या सिनेमा घर का रास्ता पूछने के अलावा कुछ और बात कीजिए। सबसे पहली बात जो उसके मुंह से निकलेगी, वह मौसम के बारे में होगी। मसलन, जब मैं 'रस्तरां' में खाना खाने जाती हूं, तो खाने का सामान मेज़ पर रखती हुई काम करनेवाली औरत कहती है-'आज अच्छा दिन है न!'

'हां' मैं उत्तर देती हूँ।

'लेकिन बादल हैं और ठण्ढ है।'

'हां।' मुझे पता है कि वह एक ही मिनट अपने पहले वाक्य को काट रही है। किन्तु अगर वह अकेली ही ऐसी ग़लती करती हो या अपने कहे हुए पहले वाक्य पर सुधार करती हो तो मैं उसे कुछ कहूं। हां, मौसम के बारे में इस तरह की बातें करना अंग्रेज़ो के लिए एक साधारण-सी बात है। पहले-पहल किसी अजनबी को यह अजीब मालूम पड़ता है। लेकिन धीरे-धीरे से वाक्य को सुनने की आदत पड़ जाती है।

लेकिन मैं तो इस मौसम की बातचीत से तंग आ गयी हूँ। दिन में जितनी बार नये-पुराने, किसी आदमी से मिली, उतनी बार मौसम के बारे में बातचीत होती है। कोई कहता है, 'तुम्हें तो यहां बहुत ठण्ढ लगती होगी-खासकर इस साड़ी में तो अवश्य ही?' कोई कहता है-"इंग्लैण्ड में आये कितने दिन हुए, यहां का मौसम कैसा लगा?" और फिर अपने आप ही जोड़ देता है, "रद्दी है न! तुम्हारे यहां कैसा मौसम होता है? यहां से तो जरूर ही अच्छा होता होगा?"

एक बूढ़ी औरत ने बताया कि उसकी लड़की दिल्ली के किसी अस्पताल में नर्स है, (या डाक्टर है शायद, मुझे याद नहीं रहा) और वह अपने पत्रों में दिल्ली के मौसम की बड़ी तारीफ़ें करती है।"

मैं रेलवे प्लेटफार्म पर 'अण्डरग्राउण्ड' गाड़ी के इन्तजार में खड़ी थी। बारिश और हवा का अन्धड़ चल रहा था, और बहुत ठंढ थी। एक अंग्रेज़ सिपाही भी गाड़ी के इन्तजार में इधर-उधर टहल रहा था. कुछ देर के बाद मेरे पास आकर कहने लगा-"तुम्हें इस मौसम में भारत के खुले नीले आकाश याद आते होंगे?"

'हाँ, कभी-कभी' मैंने उत्तर दिया।

"कभी-कभी?" हैरानगी से उसने मेरे शब्दों को दोहराया। "मैं अभी-अभी भारत में तीन साल रहने के बाद लौटा हूं। जब वहां से चला था, तो बड़ा ख़ुश था। लेकिन जहाज़ से उतरते ही बरसात, काला आसमान और गीली-ठण्डी सड़क देख जी चाहा कि वापिस चला जाऊं।"

सारा वक्त मौसम, सारा वक्त मौसम की बातचीत,-यह अंग्रेज़ी चरित्र का एक अभिन्न अंग बन गयी है। अपने मन के गहरे भावों को छिपाने का, मौके को टालने का भी यह एक अच्छा साधन बन गया है। जब आप बात टालना चाहें, मौसम के बारे में बात शुरू कर दीजिये। अगर आप किसी व्यक्ति से अपनी घनिष्टता नहीं बढ़ाना चाहते, तो जब भी उससे मिलें, बातचीत का विषय मौसम ही रखिये-बात आगे बढ़ने ही न दीजिये।

मैं लन्दन के उत्तरी कोनें में रहती हूं। मेरी एक अग्रेज़ सहेली लन्दन के दक्षिणी कोनें मेंरहती है। मेरी सहेली की मां मुझे अपने यहां बुलाने की बहुत इच्छुक हैं। लेकिन वह मौसम खुलने के इन्तज़ार में हैं। वह नहीं चाहती कि इतनी ठंढ और इतने बुरे मौसम में मुझे दूर आने-

जाने में किसी तरह का कष्ट हो। मैं उनके यहां उस दिन जाऊँगी, जिस दिन खुली छत पर बैठकर मैं आसपास का दृश्य देख सकूं। लेकिन वैसा दिन कब आयेगा, यह न मुझे मालूम है, न उन्हें।

मेरी मकान-मालकिन अकसर अपने लड़के के बारे में कहा करती हैं-''पीटर इतना अस्थिरचित्त है, जितना अंग्रेज़ी मौसम-आज कुछ, कल कुछ। सबेरे जो निश्चय करता है शाम तक उसे भूल जाता है।'' आदि आदि।

और जब कभी यह महसूस करती हैं कि मैं उदास हूँ तो कहती हैं-''उदास,? तुम्हें शायद घर याद आ रहा है। ऐसा स्वाभाविक ही है। लेकिन इसमें किसी हद तक अंग्रेज़ी मौसम का भी कसूर है। दिन रात बादल, सारा वक्त सांझ-सा मौसम, किसका जी उदास न होगा। लेकिन फ़िक्र न करो। जब बसन्त आयेगा, तो खूब धूप निकलेगी, नंगे-काले पेड़ों पर फूल-पत्ते आ जायेंगे, हरी घास होगी और तरह-तरह के फूल होंगे। आह बसन्त। जब वसन्त आयेगा, तो आप-से-आप तुम्हारी उदासी न जाने कहां कापूर हो जायेगी।

मैं वसन्त आने से पहले ही, सेब, गिलास (Cherry) अखरोट, नाशपाती के पेड़ों पर फूल आने से पहले ही, मकान-मालकिन के इन शब्दों से ख़ुश हो जाती हूँ और फिर अपने काम में लग जाती हूँ। लेकिन फिर भी, आज मार्च की बारह तारीख़ हो चुकी है, घर में सरसों कब की फूल चुकी होगी-सभी लोगोंने गरम कपड़े उतार कर अगले जाड़े के लिए कहीं सम्भालकर रख दिये होंगे। और यहां-अभी वही मटियाला-सा आसमान है, कमरों की खिड़कियां बन्द कर पिछले छः-सात महीनों से लोग गैस या कोयलों की अंगेठियां जलाये बेठे हैं। कभी किसी दिन घण्टे-दो घण्टे के लिए धूप निकलती है तो यह धोखा होता है कि वसन्त, नया प्रकाशमय, आह्लाद, उमंगभारा जीवन शुरू हुआ-अब फिर अन्धेरा न आयेगा। लेकिन एकाएक न जाने कहां से यम के दूत काले बादल फ़िर आकाश पर छा जाते हैं, मानो कोई अज्ञात हमारी उमंगों को किसी झील की हल्की लहरों-सा ऊपर उठता देख, ईर्ष्या से भर जाता हो और वह वायु, जिससे झील का जल हिलोरें लेने लगता है, उसकी गति रोक सभी कुछ मृत्यु-सा मौन कर देता हो।

कुछ अंग्रेजी वहम

कुछ दिन हुए, मैं और मेरी एक अंग्रेज साथिन दोनों ज़रूरत की कुछ छोटी-मोटी चीजें ख़रीदने के लिए बाज़ार गयीं। फुटपाथ पर चलते-चलते हम दोनों एक ऐसे मकान के पास पहुँची, जिसकी छत बमबारी से उड़ गयी थी, और अब उसकी मरम्मत हो रही थी। एक लम्बी-सी सीढ़ी लगा कर मज़ूदर लोग छत बनाने का काम कर रहे थे। मैं सीढ़ी के नीचे से गुजरने को ही थी कि मेरी साथिन ने मुझे जोर से एक तरफ खींच लिया।

''क्यों, क्या बात है?'' मैंने पूछा।

''सीढ़ी के नीचे से नहीं गुज़रा करते।''

उसने लापरवाही से उत्तर दिया और आगे चल पड़ी।

''सीढ़ी के नीचे से क्यों नहीं गुज़रा करते?''

''अरे कुछ नहीं, कभी कोई इसी तरह सीढ़ी के नीचे से गुज़र रहा होगा, और शायद सीढ़ी उस पर गिर पड़ी होगी, चोट लगी होगी और वह मर गया होगा। लेकिन यह अब एक वहम-सा बन गया है। अब सीढ़ी के नीचे सोई नहीं गुज़रता। यह समझा जाता है कि कोई दुर्घटना होगी।''

''तुम भी वहमों में विश्वास रखती हो?''

''नहीं, लेकिन छुटपन से कुछ आदत-सी पड़ गी है, सीढ़ी के नीचे से नहीं गुजरती, और नये चांद को खिड़की के शीशों से नहीं देखती?''

''क्या? नये चांद को क्या करती हो, कैसे देखती हो?''

झुंझलकार एक-एक शब्द पर जोर देकर धीरे-धीरे उसने कहना शुरू किया-''नये चांद को, खिड़की खोलकर, देखती हूं, बन्द खिड़की के, शीशों में से नहीं।''

''क्यों? बन्द खिड़की के शीशों में से देखने से क्या होता है?''

''रात अच्छी नहीं गुजरती।''

''क्यों?''

''मुझे नहीं पता, उसने झुंझलाकर कहा। साबुन खरीदना है या नहीं?''

''हाँ, हां चलो।''

साबुन ख़रीद कर मैंने हैलेना से कहा-हैलेना, अपने देश के कुछ और बहम बता दो।''

''अच्छा तो सुनो, सबेरे जब उठती हो, तो रज़ाई या कम्बल में से पहले दायीं टाँग बाहर निकाला करो, बांयीं नहीं।''

''क्यों?''

''अगर बार-बार 'क्यों किया, तो मैं कुछ भी न बताऊंगी। ऐसे मामलों में क्यों नहीं किया करते।''

''क्यों?'' और इस बार हम दोनों हंस पड़ी।

''देखो, अगले शनिवार को मेरे घर आना। मां तुम्हें ऐसी बहुत-सी बातें बतायेंगी, लेकिन देखना, 'क्यों' मत कहना।''

''अच्छा।''

हैलेना के यहाँ जाने से पहले मुझे जिस किसी से भी मिलने का मौका मिला, मैंने उससे कुछ और अंगेज़ी बहम मालूम करने की कोशिश की। घर में जाकर अपनी मकान-मालकिन से पूछा। वह खाना पका रही थीं; कहने लगीं कि नमक का ज़मीन पर गिरना अच्छा नहीं होता। अगर सब्जी या किसी और चीज़ में डालते-डालते नमक नीचे गिरे तो गिरे नमक को उठाकर बायें हाथ से बायें कन्धे के पीछे तीन बार गिराना चाहिए, नहीं तो अच्छा नहीं होता। मैंने उन्हें बताया कि नमक का नीचे गिरना तो हमारे यहां भी बुरा समझा जाता है।

''क्या घर के बाहर के दरवाज़े के ऊपर कील पर टंगी घोड़े की नाल तुमने नहीं देखी? घोड़े की नाल को अंग्रेज़ी अक्षर 'यू' (U) की तरह टांगने से घर में शुभ ही होता है, अशुभ नहीं।''

''और कोई बताइये।''

''और, किसी चितकबरे घोड़े को देखने पर आदमी जो भी इच्छा करे, वह पूरी हो जाती है। लेकिन उसकी पूंछ नहीं देखनी चाहिए, नहीं तो इछा पूरी नहीं होती। एक और बताऊं?''

''जी हां, जरूर।''

''जब नया चांद देखो तो जेब में पड़े पैसों को खनखना दो-धन-सम्पत्ति में वृद्धि होती है।''

''और कोई?''

'' और? और कोई तो मुझे इस वक्त याद नहीं। फिर कभी याद करके बताऊंगी।''

महीने का अन्तिम दिन था। दूध-मक्खन का बिल चुकाने मुझे 'डेरी' जाना था। मैंने वहां

बैठी काम करती हुई एक लड़की से कहा-''मैं कुछेक अंग्रेज़ी वहम जानना चाहती हूं, तुम्हें कोई याद हो बताओ।''

''वहम? अंग्रेज़ लोग वहमों में विश्वास नहीं रखते। हमारे यहां कोई वहम नहीं।'' नाक-भौं सिकोड़ कर उसने मेरी तरफ देखते हुए कहा।

''इंग्लैण्ड आने से पहले मेरा भी यही विचार था। लेकिन कही मुझे किसी अंग्रेज़ औरत ने बताया कि सड़क पर चलते-चलते बिल्ली का रास्ता काट जाना अमंगल कारी होता है।''

''कौन-सी बिल्ली, काली या भूरी?''

''शायद-काली, उसने कहा था।''

''नहीं, काली बिल्ली का रास्ता काटना तो शुभ होता है।''

''अच्छा?'' 'डेरी' से बाहर आने से पहले मैंने एक बार मुस्कराकर उसकी तरफ़ देखा। उसका मुँह लाल हो रहा था, और वह झूठमूठ अपने आपको काम में व्यस्त दिखाने की कोशिश में थी। न-जाने कैसे काली बिल्ली की बात उसके मुंह से निकल गयी थी।

वहमों की बात बड़े दिनों तक मेरे दिमाग़ में रही। एक दिन 'इण्डिया हाउस' जाकर अपने एक भारतीय मित्र से मैंने इसकी चर्चा की, तो वह अपने अनुभव बताने लगे। उन्होंने बताया कि जनवरी की पहली तारीख को, वे अपने कमरे में सोये हुए थे कि उनकी मकान-मालकिन ने सबेरे-सबेरे आकर उनके कमरे का दरवाज़ा खटखटाना शुरू किया। इतनी सुबह दरवाजा खटखटाये जाने का मौका पहले कभी नहीं आया था। वे घबराकर चारपाई से यह सोचते हुए उठे कि शायद कोई दुर्घटना हो गयी है। दरवाज़ा खोलने पर उनकी मकान-मालकिन ने उन्हें 'गुडमार्निंग' किया और फिर किवाड़ बन्द करके चली गयी। इन्हें कुछ समझ में न आया कि बात क्या हुई है। बाद को उनके बहुत पूछने पर झेंपते हुए मकान-मालकिन ने बताया कि नये वर्ष के पहले दिन सबसे पहले किसी काले रंग के आदमी का मुंह देखना मंगलकारी होता है। लेकिन उसने मेरे मित्र को यह भी बताया कि सड़क पर चलते-चलते अगर कोई काला आदमी सामने से आ रहा है, तो सड़क के एक तरफ रूक जाना और काले आदमी को गुज़र जाने देना चाहिए, नहीं तो अमंगल होता है।

आमतौर पर मेरे 'तीन बजे' को मेरे मित्र-बन्धु 'साढ़े तीन' ही समझते हैं। न जाने कहाँ, कब कोई अमंगल घटना हुई थी, मैं ज़रूरी-से ज़रूरी कामपर भी आमतौर से देर से ही पहुँचती हूँ-चाहे कितने ही वक्त की पावन्दी के मनसूबे क्यों न बनाऊं। लेकिन शनिवार को मैं वक्त से कुछ पहले ही हैलेना के घर पहुँच गयी। बातचीत शुरू होते ही मालूम हुआ कि हैलेना की मां, बहमों के विषय की बातचीत के लिए तैयार बैठी थीं। खाना खाते-खाते हैलेना की मां ने कहा-''देखना, छुरीके ऊपर कांटा न रखना, शगुन नहीं होता।''

मैं कहने वाली थी-''क्यों?'' लेकिन हैलेना की तरफ़ देखते ही मैंने कहा-''अच्छा?''

"और जिस दिन हैलेना ने अपनी चाय की प्यालावाली प्लेट में एक के बजाय दो चम्मचे रखे देखे, समझ लेना हैलेना की शादी होनेवाली है।"

"माँ, और वह छुरी-कैंची वाली क्या बात थी?" हैलेना ने कहा।

"हां, और जब हैलेना का विवाह हुआ, या उसका जन्मदिन ही हुआ तो उसे छुरी-कैंची या ऐसी ही कोई तीखी तेज़ चीज उपहार के तौर पर न देना। तीखी चीज उपहार में देने का मतलब है भविष्य में आपस में लड़ाई।"

"नहीं, मैं ऐसी चीज़ तो कभी न दूंगी, जिससे हैलेना की और मेरी आपस में लड़ाई हो जाये, अभी तो हमें एक साथ दुनिया भर का चक्कर पैदल लगाना है उसके बाद भले ही दे दूं।"

"अच्छा, और कोई।" मैंने कहा।

"और सड़क पर जाते अगर कोई कुबड़ा दिखाई दे, तो उसके पास जाकर उसके कूबड़ को अवश्य छूना चाहिए, शुभ है इसी तरह राह जाते मल्लाह को अवश्य छुना चाहिए। ठहर जाओ, दिन मैंने कागज़ पर तुम्हारे लिए कुछ लिखकर रखे थे।"

वे लिखने की मेज़ पर रखी किताब में से एक कागज़ निकाल लायी और लगीं।

"नम्बर एक, किसी लड़की की जिस दिन शादी हो, उस दिन उसे कोई नयी, कोई चीज़ पुरानी, कोई चीज मिलाकर और कोई चीज़ नीले रंग की पहननी चाहिए। शादी के दिन इस तरह के वस्त्राभूषण पहनने से विवाहित जीवन ख़ुशी से कटता है।

नम्बर दो, कमरे में छाता खोलना शुभ बात नहीं। लेकिन घर से बाहर निकलकर अगर आपको याद आये कि आप छाता घर भूल आये हैं तो घर की पहली सीढ़ी पर जाकर एक-दो मिनट बैठिये और यह विश्वास करने की कोशिश कीजिए कि जैसे आप बाहर गये ही न थे। फिर उठकर कमरे से छाता ले आइये।

नम्बर तीन, दर्पण का, या दीवार पर टंगे किसी चित्र का एकाएक फर्श पर गिरकर टूट जाना अशुभ है।

चौथा, रात को कुत्ते-बिल्ली का घर में या घर के बाहर रोना अशुभ है। किसी-न-किसी की मृत्यु होगी।

पांचवां, अगर सबेरे-सबेरे कपड़े पहनने वक्त भूल से आदमी कोई कपड़ा। उल्टा पहन जाये तो उसे वह कपड़ा उल्टा ही पहना रहना चाहिए। दिन अच्छा कटेगा।

छठा नम्बर, तेरह एक अशुभ संख्या है। खाने की मेज़ पर या कोई भी और कोई काम शुरू कर लेने से पहले यह देख लिया जाता है कि काम शुरू करनें में गिनती में तेरह नहीं। इसकी वजह यह है-ईसा की मृत्यु पहले जो अन्तिम भोज हुआ था। (Supper), उसमें मेज़ पर गिनती में तेरह थे। इसी तरह शुक्र का दिन अच्छा नहीं समझा जाता, क्योंकि इस दिन ईसा की मृत्यु

हुई। और, और...बस। फिर किसी दिन कोई याद आया तो हैलेना को बता दूंगी और वह तुम्हें बता देगी। लेकिन, यह सब कहानियां इकट्ठी करने का शौक तुम्हें क्यों सवार हुआ है? हमारा मज़ाक उड़ाने के लिए।''

''नहीं, हिन्दुस्तान के वहमों और इंगलिस्तान के वहमों की तुलना करने के लिए।''

''तो अपने यहां के कुछ वहम हमें भी बताओ।''

''बिल्ली या कुत्ते का रोना हमारे यहां भी बुरा माना जाता है। और सफ़र पर जाने से पहले किसी को छींकना नहीं चाहिए। अगर सफर से पहले कोई छींक दे, तो सफ़र भले पांच ही मिनट के लिए हो। मुलतवी कर दिया जाता है।''

''अरे, छींक के साथ तो हमारे यहां भी जुड़ा है। हमारे यहां यह कहा जाता था कि छींक के साथ छींकने की आत्मा बाहर निकलना चाहती है। छींकने वाले के पास जो भी बैठा होता या अब भी बैठा होता है, वह एक दम कहता है, परमात्मा तुम्हें बख़्शे! अच्छा देश का कोई और वहम बताओ।''

''विवाह की अंगूठी का खो जाना, अंगूठी पत्थर का गिरजाना आदि विवाहित के लिए अमंगलकारी होता है। कोई कीमती पत्थर किसी के लिए शुभ हैं। किसी के लिए अशुभ। मसलन मुझे हिन्दुस्तान में एक ज्योतिषी ने कहा था कि नीलम पत्थर मेरे लिए अच्छा नहीं।''

''हमारे यहां भी ऐसा होता है। मसलन अक्तूबर में पैदा हुए लोग ही 'ओपल' पत्थर पहन सकते हैं। औरों के लिए यह पत्थर अच्छा नहीं।'' हैलेना ने कहा-

''एक बात तो मैं अपने अनुभव से बता सकती हूँ,'' हेलैना की मां ने कहा। ''हैलेना तुम्हें याद है, वह चर्च के बाग़ के पास वाला मकान, जहां तुम्हारे पिता की मृत्यु हुई थी? यह ठीक है कि उन्हें निमोनिया हुआ था। लेकिन जिस शाम को मैंने उस घर में कदम रखा, उस शाम से तुम्हारे पिता की मृत्यु की शामतक चर्च के बाग में रोज़ रात को मैं उल्लू की आवाज़ सुना करती थी और उसकी मनहूस आवाज़ सुनते ही मेरा जी धड़कने लगता था। मैंने यह बात तुम लोगों और तुम्हारे पिता को इसलिए नहीं बतायी कि तुम लोग मेरी खिल्ली उड़ाओगे। लेकिन तुम्हें याद है मैं तुम्हारे पिता से और तुम लोगों सेहमेशा कहा करती थी कि इस घर में रहना मुझे पसन्द नहीं, घर बदल लेना चाहिए, यह घर हमारे लिए अशुभ है। लेकिन किसी ने मेरे इस बात पर ध्यान नहीं दिया। उस घर में पैर पड़ने पर और तुम्हारे पिता की मृत्यु तक मैंने रात उस उल्लू की डरावनी और मनहूस आवाज सुनी। हमें उस घर में नहीं रहना चाहिए था। यह कहते हुए उनकी आंखों में आंसू और न जाने किसके प्रति कुछ क्षोभ।

शेक्सपियर जन्मोत्सव

शेक्सपियर जन्मदिन के उपलक्ष में स्ट्रैटफ़र्ड में हर साल २३ अप्रैल को जो उत्सव मनाया जाता है, उसमें शामिल होने का सौभाग्य मुझे न हुआ। इस उत्सव में केवल शेक्सपियर के अपने देशवासी ही शामिल नहीं होते, बल्कि अन्य सभी देशों के अनेक प्रेमी भक्त भी। कुछेक कारणों से मैं उस दिन स्टैटफ़र्ड न जा सकी। उत्सव शुरू २३ अप्रैल को होता है पर स्ट्रैटफ़र्ड में शेक्सपियर के नाटकों का चक्र लगभग ६ मास तक चलता रहता है। इन महीनों में भिन्न-भिन्न देशों से अनेक प्रशंसक और भक्त इस महान कलाकार के नाटकों का रस लूटते और अपनी-अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाते हैं।

एक-एक करके दिन निकलते जा रहे थे और मैं स्ट्रैटफ़र्ड न जा सकने के लिए अपने-आपको कोस रही थी। अन्तिम मास सितम्बर भी सिर पर आ खड़ा हुआ। सोचा, अब चाहे दो ही दिन के लिए जाऊँ, जाऊँगी ज़रूर। लेकिन ठहरने का क्या होगा? आज कल के इंगलिस्तान में सैर कर सकना कोई आसान बात नहीं। ठहरने का इन्तज़ाम कर सकना बहुत ही मुश्किल काम है। खासकर इंगलिस्तान के ऐतिहासिक, स्वास्थ्यकर और सौन्दर्यमय स्थलों में। कहीं किसी जगह पर जाने से पहले कुछ-न-कुछ रूपया तो होटलों से पत्र-व्यवहार, तार, टेलीफ़ोन आदि में ही ख़र्च हो जाता है। ख़ैर, मैंने तो जाने के लिए गाँठ बाँध ली थी।

गाड़ी लन्दन से दो सौ मील दूर स्ट्रैटफ़र्ड के लिए सरपट भाग चली। इंग्लैण्ड की गाड़ियाँ भागती भी सरपट हैं। कुछ ही देर में ऊँची-ऊँची फ़ैक्टरियों, काली-मटियाली इमारतों और एक ही गढ़न में गढ़े बूटों के डिब्बों से,काम-काजियों के सैकड़ों छोटे-छोटे मकानों को पीछे छोड़ खुले वातावरण में आ पहुँची। १५-२० दिनों की बूँदा-बाँदी के बाद आज कुछ खुली धूप की दोपहरी थी, हालांकि बादलों ने अभी भी बेचारे सूरज का पीछा न छोड़ा था। मौके बेमौके कोई-न-कोई उस पर आ ही मँडराता था। खैर, मेरी नींद धीरे-धीरे खुल रही थी; मैं शहर की ज़िन्दगी की तन्द्रा से धीरे-धीरे जाग रही थी। चमकती हुई हरी कोमल धरती, उस पर खड़ी गहरे हरे रंग की हल्की धूप में ऊँघती हुई झाड़ियाँ और दो-तीन मील के बाद ऊँची धरती (जिसे न टीला कहा जा सकता है, न पहाड़ी) पर खड़ा एक छोटा-सा वन। सिर झुकाए या बड़ी-बड़ी आँखों से रेलगाड़ी और आसमान की ओर ताकती गाएँ और इधर-उधर भागती बकरियाँ। शहर की ज़िन्दगी, उसमें कितनी हो खूबियां क्यों न हों, मुझे क्यों नहीं सुहाती।खुला नीला विस्तृत आकाश, दूर तक बिछी हरियाली और पानी, ये न-जाने क्यों इतना आकर्षण रखते हैं। ज्यों-ज्यों स्ट्रैटफ़र्ड करीब आ रहा था, त्यों-त्यों प्राकृतिक सौन्दर्य भी अपनी सीमाएँ बढ़ाता चला जा रहा

था। ४ बजे लन्दन से चलकर शाम के ७ बजे मैं स्ट्रैटफ़र्ड पहुँच गई। अपना अटैची-केस होटल में, अपने कमरें में रख मैं शेक्सपियर-मेमोरियल थिएटर की तरफ़ भागी। टिकट घर पहुँची, तो ७॥ बज चुके थे। खेल शुरू हो चुका था। ख़ैर, किस्मत से एक सीट किसी के न आने पर ख़ाली थीं।

कोट उतारकर हाँफती हुई मैं अपनी सीट पर जा बैठी। 'तीन चुड़ैलें' 'मैकबेथ' के भविष्य के बारे में बातचीत कर रही थीं। 'कोई बात नहीं, तीसरा ही सीन है।' मैंने अपने-आपको तसल्ली देते हुए कहा। मेरी सीट मैकबेथ और लेडी मैकबेथ के चेहरों के हाव-भाव पढ़ सकने के लिए अच्छी न थी; किन्तु अभिनय इतना उत्तम था कि आदि से अन्त तक मैं उसमें खोई-सी रही।

दूसरे दिन दो खेल थे-एक दोपहर को और एक शाम को। दोपहर को 'ऐज़ यू लाइक इट' के खेल के लिए बहुत भीड़ थी। खेल २॥ बजे शुरू होना था; लेकिन १२ बजे तक थिएटर की १२०० सीटों में से तीन-चौथाई सीटें बिक चुकी थीं। डेढ़ शिलिंग की सीटों के लिए एक लम्बी क़तार खड़ी थी। शाम के खेल के लिए सीट बुककर मैं होटल में खाना खाने गई और वापस आकर डेढ़ शिलिंगवाली क़तार के पीछे खड़ी हो गई। डेढ़ घण्टा क़तार में क़दम-क़दम आगे बढ़ती रही; लेकिन एकाएक सारी कतार टूट गई। मालूम हुआ कि डेढ़ शिलिंग की सीटें भी भर गई है। मैं भागकर टिकटघर पहुँची और स्टूल की सीटों के लिए। पूछा। वे भी ख़त्म हो चुकी थीं। खड़े होने की जगह के लिए पूछा, तो ढाई शिलिंग पर एक टिकट मिल गया। टाँगे वैसे ही भाग-दौड़ करने और क़तार में खड़े रहने से लड़खड़ा रही थीं। कहीं मुश्किल से अन्दर जाने की जगह मिली। ढाई घण्टे एक खम्भे के सहारे खड़े रहकर मैंने खेल देखा। थकावट बहुत थी; लेकिन अभिनय इतना बढ़िया था कि थकावट बहुत दफ़ा भूल जाती। मैंने शेक्सपियर के इन्हीं नाटकों को अपनी परीक्षाओं के लिए कितनी ही बार पढ़ा था; किन्तु उस महान कलाकार के लिखे एक-एक वाक्य में जितनी जान है, कितनी गहराई है, आज से चार सौ साल पहले लिखे जाने के बावजूद उनमें कितनी नवीनता और ताज़गी है, इसका अहसास मुझे इन नाटकों को उनकी असली जगह रंगमंच पर देख कर ही हुआ। फिर अभिनेता और अभिनेत्रियाँ भी तो अपने अस्तित्वों को कितनी स्वाभाविकता से खोकर नाटकों के पात्रों के अस्तित्वों को कितनी ख़ूबी से उभार रहे थे!

शाम को 'टेम्पेस्ट' देखकर तो मुझे यह महसूस हुआ कि मैं चार सौ साल पहले के इंगलिस्तान में पहुँच गई हूँ; यूरोप में 'रेनासां' के जमाने के 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड में पहुँच गई हूँ। 'टेमपेस्ट का आखिरी एक्ट था। 'प्रास्परो' अपनी गम्भीर आवाज़ में कह रहे थे-"We are such stuff asdreams are made of..." इन्हीं राबर्ट हैरिस को मैंने कल 'मैकबेथ' के रूप में देखा था। मैंने कभी फ़िल्म स्टारों और नाटकों के अभिनेताओंकी पूजा नहीं की। लेकिन यह आदमी क्या ग़ज़ब ढा देता है? मनमें एक अजीब ख़ुशी, एक अजीब उदासी लिए मैं अपने होटल 'स्वान्स नेस्ट' के लिए रवाना हुई।

'स्वान्स नेस्ट' थियेटर के बिलकुल क़रीब है। यह होटल थियेटर की तरह, एक छोटी-सी नदी (जिसमें हंस तैरते रहते हैं) के किनारे है। नदी के किनारों पर झूमते, ठण्डी साँसें लेते

बेंत के पेड़ हैं। नदी के बीचो-बीच कहीं छोटा-सा द्वीप है। थिएटर और होटल के आगे-पीछे लम्बे-चौड़े हरी घास के मैदानों में लम्बे सफ़ेद और घने चिनार के वृक्ष खड़े हैं। हवा में ठण्ड है, लेकिन नई बर्फ़ सी ताज़गी है। सारा-का-सारा वातावरण काश्मीर के सौन्दर्य स्थलों से मिलता-जुलता है। केवल एक चीज़ के लिए मेरी आँखें बार-बार इधर-उधर दौड़ जातीं और उसे न पाकर बेचैन हो उठती थीं। यहाँ की हल्की हरी धरती कहीं-कहीं ऊपर उठ जाती है और बहुत भली मालूम देती है; लेकिन हर घड़ी रंग बदलते पहाड़ यहाँ न थे। होटल जाने से पहले कितनी देर मैं पुल पर खड़ी नदी के शान्त पानी में पड़ती चिनारों और बेंत-वृक्षों की काली छायाओं को देखती रही। कभी किसी वक्त कोई हंस बोल उठता या किसी क्षण हवाका एक हल्का झोंका पानी में पड़ती पेड़ोंकी मौन छायाओं को चौंका देता। थिएटर की इमारत के पीछे स्टैटफर्ड के 'होली ट्रिनिटी' चर्च की लम्बी-तीखी नोंक भाले की तरह आसमान को बेध रही थी। इसी चर्च में शेक्सपियर की समाधि है। कल प्रात: ही अन्य स्मारकों को देखने जाना होगा, इसलिए अब लौटकर आराम करना चाहिए। न चाहते हुए भी मैं होटल की ओर चल पड़ी।

'प्रास्परों' से मुलाकात हो सकेगी या नहीं, बिस्तर पर पड़े-पड़े बहुत देर तक मैं सोचती रही। दूसरे दिन मेरी नींद इतनी देर से खुली कि नाश्ते का वक्त भी चूक गई थी। जल्दी से तैयार होकर मैं थिएटर की ओर चल पड़ी और सीधे थिएटर के प्रेस और पब्लिक-रिलेशंस-अफ़सर टाम इंग्लिश के पास पहुंची। वहां डेढ़-दो घंटे की बातचीत में थिएटर की कम्पनी के नए अध्यक्ष सर बेरी जैक्सन से भी मुलाकात हुई। बैरी जैक्सन और टाम इंग्लिश से 'शेक्सपियर-उत्सव' के इतिहास तथा शेक्सपियर-मेमोरियल थिएटर के काम-काज और उसके भविष्य की योजना का भी बहुत कुछ पता चला। शेक्सपियर की मृत्यु के बाद ही, इंग्लैण्ड में, प्यूरिटनिज़्म की धाक जमी और बहुत दिनों तक इंग्लैण्ड में नृत्य, संगीत, नाटकादि खेलना सरकारी कानून के खिलाफ था। १५० साल तक कभी किसी ने शेक्सपियर का जन्मोत्सव खुलकर आम जनता में न मनाया। कभी किसी साल कहीं कोई दावत हो जाती और कहीं कोई नृत्य या कोई व्याख्यान हो जाता। किन्तु यह सब देश की सारी जनता की ओर से सामूहिक रूप में कभी न हुआ।

१८६४ का उत्सव एक ऐसा उत्सव था, जिसे एक राष्ट्रीय उत्सव का नाम दिया जा सकता था। उस वर्ष स्ट्रैटफ़र्ड में एक अस्थायी थिएटर बनाया गया और दो हफ्ते लगातार शेक्सपियर के नाटक खेले जाते रहे। किन्तु अभी तक किसी को यह ख़याल न आया था कि भविष्य में स्ट्रैटफ़र्ड की कितनी महत्ता होगी और किस तरह से यह स्थान शेक्सपियर के भक्तों के लिए तीर्थस्थान सा बन जाएगा। ऐसा सोचनेवाले स्ट्रैटफ़र्ड के निवासी चार्ल्स एडवर्ड फ़्लावर थे, जिन्होंने १८७४ में एवन नदी के किनारे खुले सुन्दर स्थान पर 'शेक्सपियर-मेमोरियल थिएटर' बनाने का निश्चय किया। १८७६ में 'शेक्सपियर-मेमोरियल' थिएटर 'मच एडो एबाउट नथिंग' नाटक के साथ खुला। हर साल कोई नई थिएटर-कम्पनी आती और दो-तीन हफ़्ते खेल खेलती। १६३३ का साल पहला साल था, जब छ महीने लगातार नाटक खेले गए। बड़े-बड़े प्रसिद्ध अभिनेता और अभिनेत्रियाँ स्ट्रैटफ़र्ड में रह इन सब नाटकों में भाग लेते रहे। १६२६ में मेमोरियल

थिएटर की इमारत जलकर स्वाहा हो गई। १६२६ में २४० हज़ार पौण्ड की लागत पर थिएटर की नई इमारत बनी। यह सब पैसा सभी देशों की देन था। आधे से ज़्यादा पैसा अमरीका के लोगों ने दिया। अभी तक सरकार की ओर से थिएटरको कोई सहायता नहीं मिलती है। यदि कोई मिलती भी है, तो वह इतनी ही कि सरकार इस थिएटर से कोई मनोरंजन टैक्स वसूल नहीं करती।

सर बैरी ने बताया कि उनका इरादा स्ट्रैटफ़र्ड में एक नाटक-शिक्षण-केन्द्र खोलने और एक बहुत बड़ी लाइब्रेरी बनाने का है, जहाँ न केवल इंग्लिस्तान के ही, बल्कि अन्य देशों के लोग भी नाटक-कलाके हर अंगका अध्ययन कर सकेंगे। किन्तु यह सब भविष्य की योजनाएं हैं और सर बेरी का, जो 'एपल कार्ट', 'बैक टू मैथ्यूसला', '१०६६ एण्ड आल दैट', 'हैमलेट', 'बैरेट्स आफ़ विम्पोल स्ट्रीट' आदि खेलों के संचालन के लिए नाम पा चुके हैं, स्ट्रैटफ़र्ड में यह पहला साल है। वे स्टैटफ़र्ड-मेमोरियल थिएटर में बहुत-से परिवर्त्तन लाना चाहते हैं और बहुत से परिवर्त्तन ला चुके हैं, जिनकी वजह से उन्हें कई लोगों की कड़ी बातें भी सहनी पड़ी हैं। मसलन, एक यह कि उन्होंने थिएटर के बूढ़े, पुराने अभिनेता-अभिनेत्रियों को छोटी आयु के लोगों के पार्ट न देने का ही निश्चय किया। इससे बड़ी उम्र के पुराने अभिनेताओं ने नाराज़ होकर इस्तीफ़ा दिया। 'क्या कोई ५०-६० साल का आदमी हेनरी पंचम का पार्ट खेल सकता है, चाहे वह कितना ही नामी अभिनेता क्यों न रहा हो?'-सर बेरी ने कहा। इस तरह की और भी कई झगड़े की बातें सर बेरी ने सुनाईं।

चलते-चलते बातचीत करते मैंने थिएटर का घूमता स्टेज भी देखा। जब एक सीन खेला जा रहा होता है, तो रंगमंच के पीछे दूसरे सीन का सामान तैयार खड़ा होता है। स्टेज के पिछले भाग के जिस तख़्ते पर हम खड़े थे, उस पर हेनरी पंचम के राजदरबार का सीन तैयार हो चुका था। बातचीत में ही हम लोग स्टेज पर दर्शकों की सीटों के सामने धकेल दिए गए। इन खेलों को आधी ख़ूबी तो घूमते स्टेज की प्रत्येक जल्द बदलती सेटिंग और अभिनेताओं के कपड़ों के रंगों और बनावट में है।

थिएटर से बाहर निकलते-निकलते 'कैलीबान', 'टचस्टोन', 'एरियल', 'रोज़ेलिण्ड' आदि से मुलाक़ात हुई। सभी लोग मिलनसार दिखे। उनसे बातचीत करते रत्ती-भर भी यह अहसास न हुआ कि वे अपने अभिनय की शान में हैं। 'टचस्टोन' (Hugh Griffith) ने बताया कि वे लड़ाई के ज़माने में हिन्दुस्तान में थे और कुछ ही दिन पहले वापस आए हैं। 'केलिवान' (Julian Somers) से मैंने कहा कि मुझे उनका पार्ट बहुत पसन्द आया, तो कहने लगे-'भई, मैं तो दुनिया-भर के शोषित लोगों का एक प्रतीक हूँ। मैं समझता हूँ कि शेक्सपियर ने भी अपने इस पात्र को इसी प्रतीक के रूप में जन्म दिया था।' 'एरियल' (David O'Brien) साइकिल पर सवार कहीं घूमने जाने के लिए तैयार थे। मैंने पूछा-'आप स्टेज पर जाने से घबराते नहीं?' कहने लगे-'हाँ, परदा उठने से कुछ सेकेण्ड पहले; पर फिर कुछ नहीं होता।' 'प्रास्परो साहब' (Robert Harris) से मुलाक़ात 'हेनरी पंचम' खेल ख़त्म होने के बाद हुई। टाम इंगलिश मुझे प्रास्परो के 'ड्रेसिंग-रूम' में ले गए। 'हेनरी पंचम' में आज उनका 'कोरस' का पार्ट था। आज इस प्रसिद्ध अभिनेता से मुलाक़ात होगी, यह सोच और हर बार उनका ग़ज़ब का अभिनय देख मेरी उत्सुकता और घबराहट बढ़ रही थी।

लेकिन ड्रेसिंग-रूम में पहुँच, उनसे हाथ मिलाकर कुछ अफ़सोस हुआ। रार्बट हैरिस 'कोरस' के कपड़े भी उतार चुके थे और चेहरे से रंग भी। एक ४०-४५ बरस का दुबला-सा आदमी, जिसके चेहरे और माथे पर बड़ी उम्र की लकीरें आ चुकी थीं, साधारण अंगरेज़ी पोशाक में खड़ा था। मेरी भ्रान्ति एक सपने-सी टूट गई; लेकिन जी में इस कलाकार के लिए क़द्र कुछ और बढ़ गई। कलाकार की बड़ाई किसमें है? इसी में न कि वह दर्शकों की आँखों पर अपने अभिनय का जादू डाल दे; अपनी कला के बल पर उनकी कल्पना-शक्ति को, उनकी भावनाओं, अनुभूतियों को कहीं-से-कहीं ले जाय। राबर्ट हैरिस के अभिनय ने मेरे दिल-दिमाग़ पर यही असर किया था। टाम इंगलिश ने ड्रेसिंग-रूम से बाहर निकलते हुए मुझे बताया कि राबर्ट-हैरिस की आवाज़ इंगलिस्तान के अभिनेताओं में सबसे बढ़िया आवाज़ मानी जाती है। इसमें कोई शक नहीं कि उनकी गम्भीर आवाज़ में बहुत ही आकर्षण है।

थिएटर से निकलकर मैं बाहर बहुत बड़े बाग के उस भाग में पहुँची, जहाँ एक ऊँचे-चौड़े चौकोर स्तम्भ पर शेक्सपियर की मूर्त्ति है। स्तम्भ के चारों भागों पर शेक्सपियर के नाटकों से लिए प्रसिद्ध वाक्य लिखे हैं। मूर्त्ति के चारों कोनों के चार-पाँच फुट के फ़ासले पर शेक्यपियर के नाटकों के मुख्य और प्रसिद्ध पात्रों की मूर्त्तियाँ हैं-सर को हथेली पर टिकाए, दूसरे हाथ में राज-दरबार के विदूषक 'यारिक' का कंकाल थामे, जीवन मृत्यु के गहरे प्रश्नों पर सोच करते हैमलेट; संसार के सभी हल्के-गम्भीर प्रश्नों की खिल्ली उड़ाते, हाथ में शराब का प्याला थामे, बड़े पेट वाले फ़ाल्स्टाफ; धुले साफ़ हाथों पर काल्पनिक ख़ून का धब्बा देख उससे व्याकुल-पीड़ित लेडीमैक़बैथऔर शेक्सपियर का प्रिय तथा सर्वगुण-सम्पन्न पात्र हेनरी पंचम।

इन सभी पात्रों और उनके रचयिता के महान किन्तु मानुषिक व्यक्तित्व से मैं घिरी खड़ी थी। खुले, नीले, विस्तृत आकाश में कभी-कभी बड़े-बड़े सफ़ेद बादल शेक्यपियर की मूर्त्ति के ऊपर से निकल जाते। बाग में पीले, लाल, कासनी, नीले, रंग-बिरंगे फूल थे, हरी घास थी और चिनार, सफ़ेदे और बेंतके वृक्ष थे। हर क़िस्म हर देश के लोग, अपने-अपने स्वार्थ और काम-धन्धे छोड़, कुछ देर के लिए अपनी-अपनी तुच्छ हस्ती को, अपनी तंग दायरे की दुनिया को छोड़ एक महान, एक सुन्दर दुनिया का भाग बन, सरल, प्रसन्न उस अद्‌भुत वातावरण के नन्हें कण-से बने थे। हम सबसे ऊपर एक हस्ती थी, जो हम सबकी साथी भी थी और जो अपनी चुभती हुई, कुछ न चूकने वाली, किन्तु सहानुभूति-भरी आँखों से जल-पृथ्वी-आकाश, जड़-जंगम, मानुषिक-अमानुषिक, सब देख रही थी। वह महान थी, किन्तु उसकी महानता उसके भक्तों में भय उत्पादन न कर रही थी, बल्कि उन्हें उसके क़रीब लाने के लिए आकर्षित करती थी। वह महान हस्ती थी विलियम शेक्सपीयर की!

●

मनाली का वसन्तोत्सव

आठ नौ हज़ार की ऊँचाइयों पर अभी भी बरफ़ की तह बहुत-सी ढलवानों पर जमी हुई है। लेकिन छ: हजार की ऊँचाई पर बसी मनाली की छोटी सी वादी, बरफ़ का भार उतार चुकी है। ज़मीन बहुत उपजाऊ है। साल की पहली फ़सल चावलों की खेती के लिए हल्के हरे रंग की पनीरी कुछ ही दिनों में तैयार हो गई है। बाग़ों में फलों के पेड़ों पर से वसन्त के फूल झड़ चुके हैं। खुमानी, नाशपाती और चेरी के नन्हें फल भी हरे-हरे पत्तों में से झांकने लगे हैं। मनाली गावों और पड़ोसी दो और गावोंमंदेवियों की पूजा के मौके पर हर साल होते वसन्त मेले की तैयारियां हो रही है।

वादी के एक कोने में व्यास नदी की एक सहायक पहाड़ी नदी के किनारे, एक छोटी सी खेतों से भरी पहाड़ी पर बसा, मनाली का पुराना गांव है। सहायक नदी के पार की पहाड़ी पर लकड़ी का तिब्बती और हिन्दुस्तानी, मिली-जुली बनावट का, एक आकर्षक मंदिर है।

बसन्त उत्सव से दो दिन पहले आज शाम को गांव की देवी हिडिम्बा की पूजा की जाएगी। यह ख़बर मुझे अभी भी मिली है। सो शाम के झुटपुटे में ढोलों और दुन्दुभियों की गूंजती गंभीर आवाज़ सुन कर, मैं जल्दी पगडंडी पकड़ कर पहाड़ी के ऊपर, मंदिर के पास पहुँच गई हूँ। गरम पट्टू का ढीला चोगा पहने, खुले काले बालों वाला, सांवले रंग का पुजारी, धूनी हाथ में पकड़े नंगे पाओ, हिडिम्बा देवी की झांकी के आगे-आगे चल रहा है। पीछे-पीछे पालकी पर झाँकी को उठाये भगत लोग हैं। चांदी के बने, बहुत से हसमुख चेहरों वाली, देवी की झांकी को उठाकर, मंदिर की परिक्रमा की जा रही है। गांओं का दो पहाड़ी शहनाइयों, दो दुन्दुभियों, दो झांझे और चार ढोलों वाला आरकेस्ट्रा धीरे-धीरे बिलम्बित लय में ग्राम गीत बजाता हुआ पीछे-पीछे चल रहा है। गाओं के गिने चुने बालक बालिकाएँ मर्द औरतें पूजा के लिये पहुँचे हुए हैं। ढल चुकी शाम की ठंढक में, चीड़ पेड़ों के नीचे तीन चार लालटेनों की रौशनी में परिक्रमा हो रही है। पूजा परिक्रमा में कोई पेचीदी नहीं। बल्कि एक प्राचीन, पहाड़ी गांवों वाली सादगी है। मंदिर के अन्दर कोई मूर्ति नहीं है। मंदिर के अन्दर का हिस्सा एक छोटी सी गुफ़ा सा है। गुफ़ा में ऊँचा सा मुँह किये एक चट्टान के नीचे एक दीया जल रहा है। रात के अन्धेरे में यहाँ एक प्रकाश है जो एक विचित्र गंभीरता धारण किये हैं। परिक्रमा समाप्त हुई। देवी की झांकी मंदिर के अन्दर रख दी गई है। लोग मनाली गांवों में वापस जा रहे हैं। बालक -बालिकायें अपनी प्यारी आवाज़ों में कोई लोक गीत गाते हुए तेज़ी से उतराईयां-चढ़ाइयाँ उतरते-चढ़ते गाओं की तरफ़ बढ़ रहे हैं। उनके पीछे-पीछे, मैं भी अन्धेरे में पत्थर टटोलती, किसी तरह उतर कर, होटल में पहुँच गई हूँ।

आज १५ मई की शाम है। आज शाम हिडिम्बा देवी की स्थापना मंदिर से कुछ ही दूर, चीड़े के पेड़ के नीचे बने चबूतरे पर की जायेगी। चढ़ावे के हर पीले, नीले, लाल रूमालों से सजी देवी की झांकी पालकी पर सवार मंदिर से बाहर लाई गई है। झांकी के एक आगे धूनी का प्याला पकड़े पुजारी और उसके आगे झांझ बजाते हुए कुछेक गांवों के वृद्ध पुरुष है। स्थापना से पहले बाजे बजाने बन्द करके गांवों के वृद्ध पुरुष पुजारी के सामने खड़े होकर उससे कुछ सवाल पूछते हैं। लोक भाषा के किये सवाल कुछ इस तरह से है।

''हे देवी, तू सारे ब्रह्माण्ड की देवी है। तू अन्तरयामी है। तू सब समझती है बोल! कुछ कह, हमें कुछ बता!''

देवी चुप है। पुजारी चुप है। लेकिन पुजारी देवी का रूप है। इसलिये मुखिया उससे फिर पूछते हैं। ''हे देवी, हम तुम्हें पुकार रहे है। कुछ कहो। हमारे सवालों का जवाब दो।''

पुजारी अब अपना धड़ हिलाने लगता है पहले धीरे-धीरे, फिर तेज़-तेज़। देवी उसके शरीर में दाखिल हो रही हैं। पट्टु का लम्बा चोंगा पहने, खुले काले बालों वाले नंगी, टांगों और नंगे पांवों वाले पुजारी का झुका बदन यूं हिल रहा है जैसे किसी भेड़ बकरी का। वह अपने आपको उत्तेजना की अवस्था में ला रहा है। बदन हिलाते-हिलाते वह लोगों से पूछता है।

''क्या पूछना चाहते हो? बोलो! क्या पूछना चाहते हो? आकाश की बात! धरती की बात! कौन सी बात?''

पुजारी में देवी का रूप देख कर लोगों को तसल्ली हो जाती है। धर्म, परम्परा, पुजारी में दैवीय रूप, कलयुग के इस साल तक भी कायम है। लोग एक आवाज़ ही में बोल उठते हैं।

''धरती की बात कहो देवी मां! धरती की बात कहो! इस देश की बात बताओ हमको।''

''तो पूछो देश की कौन सी बात'' पुजारी के कांपते शरीर में से देवी की आवाज़ आती है।

''पिछले साल मंदिर की मरम्मत के लिए पैसा जमा किया गया था। फिर भी मंदिर की मरम्मत ठीक से क्यों नहीं हुई?''

''मैं क्या कह सकती हूं। कलयुग है। पहले मंदिरों की देख-रेख मंदिरों के पुरोहितों के हाथों होती थी। उन के अख़्तायार होते थे। उनकी धार्मिक सत्ता थी। अब कार्पोरेशन और कमेटियां बन गई है हमारे काम अब कमेटियों के हाथों में है। अब मैं क्या जानूं। मुझ से क्या पूछते हो। मरम्मत तो की गई थी पर जिस तरह कमेटी चाहती थी।''

गावों के लोगों ने देवी से और सवाल करने ज़रूरी नहीं समझें। परम्परा की रीति पूरी हो गई। झांझरे ढोल, और दुदुंभियां फिर से बज उठी है। देवी की पालकी को उठा कर यह छोटा सा जुलूस मंदिर से कुछ ही आगे जाकर उस चबूतरे की परिक्रमा कर रहा है जिस पर देवी की स्थापना होगी।

दूर से, कुछ और ढोलों पहाड़ी शहनाइयों और दुदुंभियों की आवाज़े आ रही है। अंधेरें में बिलम्बित लय में बजते ताल सुरों से, मनाली की वादी चौंक सी गई है। कुछ उत्सुक सी हो उठी है कल लगने वाले मेले की इन्तज़ार में।

आवाज़ें नज़दीक आ पहुंची है। वह सामने, पगडंडीसे, एक और छोटा सा जुलूस आ रहा है अपना आरकेस्ट्रा लिये, पालकी पर अपने गांव की देवी को बिठाये। चीड़ के झुरमुटों के नीचे से गुज़रता जुलूस धीरे-धीरे नज़दीक आ रहा है। अपने गावों के पुजारी के पीछे, भगतों के कंधों पर सवार, चांदी के अनेक मुस्कराते चेहरों वाली, मूछों और तिलक वाली चढ़ावें की लाल पीली हरी चुन्नियों से सजी, माथे पर चांदी के सेहरे लगाये दूसरे गांवों की देवी भी मनाली मंदिर के पास आ पहुँची है। दो गांवों की देवियों का आपस में मिलाप हो रहा है। दैवियों की पालकियों को उठाने वाले, दायें बायें,पैर मार, नीचे झुक,ऊपर उठ,हौली हौली नाच रहे है।

शहनाईयां, दुंदुभियां बजाती अब तीसरे गांव की देवी की झांकी भी अपने पुजारी के पीछे-पीछे मंदिर के पास आन पहुंची है। तीनों गावों की देवियों के अनेक चेहरे, एक ही से है। देवियां स्थापना के चबूतरे की परिक्रमा कर रही है। गांव के स्त्री-पुरूषों की टोलियां, धीरे-धीरे उनके पीछे-पीछे चल रही है। बालक-बालिकायें जुलूस के आगे-पीछे दौड़ रहे है। कुल्लु की लाल धारीओं वाली टोपियां पहने, और लालधारी वाले सदरू पहने, नन्हें बच्चों को अपने चादरूओं में, पीठ पर कसे, सर पर रंगीन रूमाल बांधे, कुछ स्त्रियां भी साथ में है।

कल के मेले की तैयारियां आज शाम को ही शुरु हो गई है। चीड़ों के नीचे तम्बू लगाये, दुकानदार, अभी से अपनी चीज़ें हार, कान्टे, परान्दे, सूती कपड़े और शहर से लाई इस साल की छोटी मोटी नई चीजें सजा रहे हैं।

१६ मई की दोपहर छैल-छबीले बीस पच्चीस नौजवान अर्द्धचन्द्राकार बना कर एक दूसरे का हाथ पकड़ कर बिलम्बित लय में नाच रहे हैं। सिरों पे कलगिओं वाली, काले रंग की टोपियां। टोपियों पर चाँदी के छोटे से हरे, आंखों में सुरमे और गलों में फूलों के हार! हल्के बादामी रंग की अचकने,कमर में रंगीले पटके और सफ़ेद चूड़ीदार पैजामे। शान्त से पानी में उठ रही हल्की लहरों की तरह हल्का, सुन्दर इनका नाच है। इसमें पंजाबी भांगड़े की तरह का जोश या उत्तेजना नहीं।

अर्द्ध चन्द्राकार की दूसरी तरफ़ पालकियों पर सवार, तीन और ग्राम देवियों को उठाये भगत सेवक भी हल्के-हल्के कदम उठाकर, देवियों को नचा रहे हैं।

हर दस मिनट बाद, अब तीनों गांवों का संगठित आरकेस्ट्रा, एक नई धुन बजाता है। इसके साथ, लोक नर्तक भी अपने नृत्य में कुछ तब्दीली ले आते है। कभी पैरों की चाल बदलती है तो कभी हाथों की मुद्रा। कभी जेबों से रूमाल निकाल कर हिलाये जाते हैं तो कभी टोपियों की कलगियों की तरफ़ इशारा किया जाता है।

नर्तकों, आरकस्ट्रा और ग्राम देवियों के लिये खुली जगह छोड़ कर उनके चारों ओर गोल दायर बनाये दर्शकगण खड़े हैं। अधिकतर तीन गांवों के ही बूढ़े, नौजवान, और कच्ची उम्र के

लड़के हैं। सभी की पोशाकें नई नहीं, लेकिन पोशाकों में पहाड़ी वातावरण की नवीनता और चुस्ती है। किसी भी पुरुष या स्त्री की तोंद नहीं निकली हुई है। पहाड़ के मेहनती जीवन की चमक है तकरीबन सभी चेहरों पर। गोलदायरे के सबसे ऊपर वाले यानि पहाड़ की चढ़ाई की तरफ़ बैठी है तीनों गांवों की सुन्दर पहाड़ी स्त्रियां, बूढ़ी, जवान एवं छोकरियां। सिरों पर बांधे रंगीन रूमाल कानों में बालियां,नाक से दोहरी रंगीन तीलियां, गलों में हार, माथे में लाल तिलक। बदन पर पहने है अपने ही घरों में बुने, लालधारियों वाले चादरु। गुलाबी गालों और चमकती निर्मल आंखों वाली कुल्लू की पहाड़िनें अपने बाल-बच्चे पास लिये आराम से बैठी लोक नाच देख रही है। आपस में बातचीत हंसी मजाक कर रही हैं। कोई-कोई दुकानों पर बैठी हार चूड़ियां-परान्दे खरीद रही है कोई घर के लिये छोटी-मोटी चीजें खरीद रही है और कोई जलेबी-पकौड़ियां-चने मूंगफली, खरीद कर खा रही है।

नाचने का काम सिर्फ़ नौजवान नर्तकों का ही नहीं कोई मनचला शौकीन, नर्तकों की टोली में शामिल हो सकता है चाहे वह नौजवान हो या बूढ़ा चाहे वह मालिक हो चाहे वह नौकर हो। थोड़ी सी ढिठाई की जरूरत है। इसीलिये कुछ शौक और ढिठाई रखने वाले सैलानी भी नर्तकों की कतार में शामिल हो गये हैं। जिन्हें नाच आता है वे तो पैर के साथ पैर फ़ौरन मिला देते हैं और जिन्हें नहीं आता वे पक्के नाचकारों को देख कर झटपट पैरों की चाल की नकल करने की कोशिश कर रहे है। उनकी की हुई ग़लतियां,दर्शकों के, विशेष तौर पर दर्शक स्त्रीयों के आनन्द को और भी बढ़ा रही है। गोल दायरे के भीतर तलवार का खेल भी चल रहा है। तीन चार झूठ मूठ के योद्धा, तलवारें हाथ में लिये कब से पैतरे ही बदल रहे हैं। नर्तक तो काफी देर से अपने पांवों पर खड़े हैं और काफ़ी देर तक बिना रुके, पांवों पर खड़े रहेंगे इसलिये नाच की गति में कभी-कभी शिथिलता भी आ जाती है। ऐसे मौके पर दुन्दुभियों वाले खड़े होकर ज़ोर से दुन्दुभि बजाकर वातावरण में एक नई हरकत पैदा कर देते हैं। बीच-बीच में, रुके नर्तक, नाचने के साथ ही साथ लोक गीत भी गाने लगते हैं।

जो सैलानी इस सुन्दर मेले की याद साथ ले जाना चाहते हैं वो गोलदायरे के अन्दर-बाहर जाकर के कभी इस अंगल से और फ़ोटो ले रहे हैं।

शाम के सूरज की सुनहरी किरणें, चीड़ वृक्षों में से, चमकते हुए तीरों की तरह से लांघ रही है। वातावरण में कुछ ज्यादा रंगीली आ गई है। नाचने वाले अब विलम्बित से मध्य और मध्य से द्रुत लय पर पहुँच रहे हैं। यह नृत्य की बेहतरीन की घड़ियां हैं। आख़िर के लिये, बचा कर रखी हुई बेहतरीन पाओं और हाथों की मुद्रायें दिखाई जा रही है। दूर गांवों जाने वाले दर्शक अब उठना चाह रहे हैं।

दुन्दुभियों वाले अब उठ कर मेले की समाप्ति की सूचना दे रहे हैं। नाच में नर्तकों के साथ ही साथ पालकी पे सवार देवियां भी नाच रही है। आरकेस्ट्रा भी खड़ा होकर, अपने-अपने गांव की देवी के पीछे-पीछे हो लिया है। आगे-आगे धूनी लिये पुजारी, उसके पीछे ही, देवी की झांकी, उनके पीछे आरकेस्ट्रा और उसके आगे पीछे अपने-अपने गांव लौट रहे है। मनाली की हिडिम्बा देवी के पुजारी मंदिर की तरफ़ चल पड़े हैं।

मंदिर के पास पहुँचने तक मनाली की स्त्रियां अभी तक सारे उत्सव मे दर्शकों का ही पार्ट अदा कर रही थी। अब एक दूसरे का हाथ पकड़, गोल चक्कर बना कर धीरे-धीरे घूम कर गा और नाच रहीं है। कोई पूजा का गीत गा रही है। लोग घेरा बना कर उन्हें देख रहे हैं। यूं लगता है पुजारी जी को औरतों का नाचना पसन्द नहीं इसीलिये वे जल्दी से देवी की पालकी को आगे ले जाते हैं मनाली गांव की और जहां, कल-कल आखिरी पूजा और मेला होंगे। सो भक्तों के कंधों पर सवार हिडिम्बा देवी चढ़ाईयां-उतराइयां लांघती अपने गांव की ओर जा रही है। पीछे-पीछे नाचते हुए गाते हुये नर्तक और अन्य लोग जा रहे हैं।

सबसे पीछे जा रहे है, गांवों के बच्चे! कोई जूता पहने और कोई नंगे पाओं, कोई नये कपड़े पहने और कोई फटा हुआ उनका पजामा-कोट। निर्भीक, पतले सुरों में कोई लोक-गीत गाने में मगन बच्चे दौड़ते जा रहे हैं। यह छोटा सा जुलूस अन्धेरे में, सहायक नदी पर बना एक पुराना लकड़ी का पुल पार कर रहा है।

●

दर्रा रोहतांग

तेरह-चौदह हज़ार की ऊँची चोटियों पर बर्फ़ की चादरें कितनी ही तहें जमा कर बिछी थीं। तिब्बत और लद्दाख़ की ऊँची, ठंडीआधित्यकाओं से आ रही सर्द और तीखी हवाओं के निरन्तर थपेड़े खाकर तीखें शिखरों वाली हुई शुभ्र चोटियों से,बर्फ़, संगमरमरी धूल बनकर आकाश में उड़ती। जहाँ कहीं बरफ पिघलती, वहां से पानी, झरना बनकर, नीचे बर्फ़-चट्टानों पर गिरता और अपने ही वेग से फिर ऊपर उड़ हवा में धुएँ सा लहराता।

आठ सौ हज़ार की चढ़ाइयों पर पिघलती बरफ में से निकले पत्थर चट्टानें अपने तन-बदन धूप में सुखाने लगे थे। कहीं बिल्कुल पिघल चुकी बरफ़ की जगह नरम नन्हीं घास ने ले ली थी।

एक लम्बी बीमारी से छुटकारा पाकर मैं पहाड़ों से स्वास्थ्य का वरदान मांगने आई थी।

पहाड़ी स्थानों में ही बचपन गुज़ारने के कारण इन पर्वतों पर चढ़ना मुश्किल नहीं है मेरे लिए। लेकिन अब कि कमज़ोरी की हालत में थी। तीन-चार बरसों के बाद आई थीं मैदानों से, पहाड़ पर। इसलिए मित्र-बन्धु नहीं चाहते थे कि मैं रोहतांग की कठिन चढ़ाई चढ़ूं। मुझे भी अपनी शक्ति पर पहले-सा भरोसा न था।

लेकिन रोहतांग चढ़े बिना, पर्वतीय सौन्दर्य का सरल-शांत एवं कठिन-क्रूर रस-आनन्द पान किये बिना, अपने आपको अस्वस्थ, कमज़ोर मानती ही, बड़े शहर के कोलाहल में फिर से लौट आऊँगी इसके लिए मन भी मानता न था।

हर ऊँचे पहाड़ की चढ़ाई सुबह सबेरे ही चढ़नी होती है। बाद में जब तेज़ हवाएँ चलने लगती है तो मामला, अक्सर, खतरनाक हो जाता है। फिर, रोहतांग तो एक कठिन दर्रा है। यहां तो दस ग्यारह बजे के बाद साधारण हवा भी न जाने कितनी तेज़ स्पीड से चलती है।

मेरी ज़िद को किसी हद तक मानते हुए, मित्र बन्धुओं ने मनाली से, सुबह-सबरे बस में सवार होते हुए कहा, "अच्छी बात है। बस में रहाला पड़ाओं तक हमारे साथ चलो। वहां से जितनी चढ़ाई तुम सहज में चढ़ सको चढ़ना। थक जाओ तो वहीं बैठकर आराम करना। वहीं से रोहतांग शिखर के दर्शन कर लेना।" मैंने अनुमति में सिर हिला दिया और बस में सवार हो गयी।

और अब सुबह आठ साढ़े आठ के करीब में रहाला से तकरीबन सात-आठ सौ फुट ऊपर चढ़ चुकी थी। पिघलती हुई बरफ़ के नीचे से उग रहे तोता रंगी नरम घास के टुकड़े मैं

पार कर चुकी थी। अब पांओं के नीचे आ रही थी सिर्फ़ बर्फ़। वह भी जमी हुई, सख्त, अधिक सख़्त।

तेज़ कदम चल सकने वाले, स्वस्थ, उत्साही साथी, अपनी ही छोटी राहें बनाते अपनी अगली कठिन टेढ़ी-मेढ़ी चढ़ाईयां चढ़कर, आंखों से ओझल हो चुके थे--(बर्फ़ीली चढ़ाइयां चढ़ना भी एक कला है। उसके लिए बुद्धि, उपयुक्त स्नायु प्रयोग और अभ्यास की जरूरत है।)

चढ़ाई तीखी होती जा रही थी। पर जिस 'राह' व 'दिशा' से चढ़ाई चढ़नी थी उसके बिल्कुल पास ही, तेज़ ढलान के नीचे, पहाड़ी 'चन्द्रभागा' नदी, बड़ी-बड़ी चट्टानों से गिरती लुढ़कती, उछलती, झगड़ा करती, शोर मचाती, हर राग-रंग में हंसती-गाती, उतराइयां उतर रही थी।

सुबह की बिन बादल, पर्वतीय धूप थी। लेकिन इतने ऊनी कपड़े पहनने के बावजूद भी बर्फ़ीली हवा बदन को चीर रही थी, बदन के आर-पार हो रही थी। यूं महसूस होता था जैसे बदन पर कोई कपड़ा न हो।

बर्फ़ के किस हिस्से पर किस तरह दायां पंजा जमाना है, फिर बायां पंजा, किस वक्त बढ़ाकर आगे जमाना है। वातावरण में आक्सीजन की कमी के कारण सांस में जो तेज़ी आ गयी है, उसे किस तरह काबू में रखना है, रुक कर कब, कितना दम लेना है और फिर शान्त एकाग्रता से, मंजिल की ओर बढ़ना है, इन्हीं सभी कामों में 'ध्यान' लगाती हुई, मैं धीरे-धीरे, चढ़ रही थी।

सोच आई कि, साथी-मित्र ज़रा पीछे रुक कर देख ही लेते मुझे। लेकिन इस बारे में भी अधिक सोचने का अवसर न था। मैं चढ़ाई चढ़ते-चढ़ते एक ऐसे 'स्थान' पर पहुंच गयी थी जहां से और ऊपर चढ़ने के लिए अधिक संग्रहित शक्ति, कहीं अधिक मानसिक स्थिरता और सूझ की ज़रूरत थी। जिस थकावट की हालत में थी उसमें अब नीचे उतरना, चढ़ाई चढ़ने से भी अधिक नाज़ुक था और यहां, इस पहाड़ पर पड़ रही, दूसरे एक पहाड़ की बर्फ़ीली छाया वाले भाग में बैठ कर, आराम करना भी उचित न था। सिर्फ़ चलते रहने से ही ख़ून में गति रह सकती थी। आगे बढ़ चुकों के, बरफ़ पर पड़े पद-चिन्ह ज़रूर थे। उनको देखकर मैं अपनी दिशा ठीक रख सकती थी। लेकिन इन पद-चिन्हों पर भी मैं बहुधा, दोबारा, अपने पहाड़ चढ़ने वाले बूट नहीं रख सकती थी। फिसल जाने खतरा था। कदम बढ़ाने के लिए, मुझे अनछुही बरफ पर ही अपना संतुलित बोझ डालना था।

किस घड़ी क्या हो सकता है, यह अब नियति पर था। दर्रा रोहतांग की कठिन चढ़ाई थी और मैं थी। अपनी शक्ति की कितनी पूंजी, मैं खर्च कर चुकी थी और कितनी बाकी थी, यह अन्दाज़ मैं खो चुकी थी। हां, जीने की इच्छा, जीने के लिए मंज़िल पर पहुँचने की इच्छा कहती थी, ''संभालो, जहां तक हो सकता है, शक्ति संभालो। किसी भी तरह गतिमान रहो।'' सो, किसी भी तरह मैं चल रही थी, दम ले रही थी, ऊपर चढ़ रही थी। यह मोड़ कब खत्म होगा? होगा कि नहीं? शायद न भी हो.......

साधारण, पुराने से, गरम वस्त्र पहने, एक अधेड़ उमर साधु, मोड़ से उतरते हुए मेरे करीब आ रहे थे। पहाड़ों के मोड़ों में ऐसा ही होता है। किसी मोड़ में आगे बढ़ता कोई यकायक आंखों से ओझल हो जाता है और कोई, यकायक किसी मोड़ से निकल कर सामने आ जाता है।

इतनी वीरानी में, मन शरीर की इस हालत में किसी दूसरे मनुष्य को देखकर मुझमें मानों प्राणों का संचार हुआ।

''साधुजी पुराने से कैनवस के जूते पहन कर उतराई उतर रहे थे और मुझसे तीन-चार फ़ुट की दूरी पर थे। वे मुझसे कुछ परे हटकर, अपना रास्ता बना, चुपचाप गुज़र रहे थे।

''कहां से आ रहे हैं साधुजी'', मैंने पूछा।

''चन्द्रभागा नदी के स्रोत पर मन्दिर है। वहां से आ रहे हैं।''

''कब गये थे?''

''यही कोई दस-बारह दिन हुए गये थे। अब लौट रहे हैं।''

''आप कैसे आ-जा लेते हैं। कठिन नहीं?''

''हमें तो मन्दिर में जाना ही होता है। बरस में तीन-चार फेरे तो पड़ ही जाते हैं। बस भगवान का नाम लेते हैं और ऊपर चढ़ जाते हैं। आप पहली बार आई हो इधर?''

''जी हां।''

''इस मोड़ के बाद एक ही चढ़ाई और है। फिर तो 'मढ़ी' पहुँच जाओगी आप।''

और साधुजी आगे बढ़ गये।

मैं धीरे-धीरे ऊपर चढ़ने लगी। दो मिनट किसी से बात करके जैसे आराम मिल गया था।

नदी की तरफ़ की, तीखी ढलवान वाला मोड़ में, अपने ऊपर कड़ा संयम रखती हुई, किसी न किसी तरह चढ़ गयी। अब नदी से धीरे-धीरे परे हटती हुई दिशा से, आगे गये पद-चिन्हों को देखते हुए, गोलाई में ऊभरी हुई चढ़ाई चढ़ रही थी। चीड़, भोजपत्र और अन्य पर्वतीय वनस्पति सभी पीछे रह गये थे। अब थे सिर्फ़ बर्फ़ में से सिर निकाले बड़े-बड़े पत्थर और चट्टानें और गोल उभार।

थकावट, एकाकीपन फिर हावी हो रहे थे मुझ पर। ऊपर गये लोगों के पद-चिन्ह मेरे सामने थे। लेकिन वे लोग कहां थे, कितनी दूर, यह आंखों और कल्पना से परे था।

इतने में एक पहाड़ी कन्या सहज चाल से नीचे उतरती, जल्दी ही मेरे करीब पहुंच गयी। चौदह-पन्द्रह बरस की पहाड़न, कुल्लू मनाली की साधारण ऊनी पोशाक में। नंगे पावों बरफ़ की ढलवानें उतर रही थी। पांव लाल हो रहे थे और गाल भी ठंड से गुलाबी और रूखे।

मैं चकित रह गयी। उसने मुझ सैलानी को, एक पहाड़ी लड़की की लापरवाही और लज्जा देखा।

''कहां से आ रही हो। मैंने पूछा।''

''ऊपर होटल में दूध देने गयी थी, नीचे को जा रही हूं अब।''मीठे पहाड़ी उच्चारण में वह बोली।

''नीचे कहां?''

''अपने घर को। वहां अपनी भैंस हैं न।''

''कब गयी थी ऊपर।''

''तड़के ही गयी थी।''

''ऊपर होटल है?''

''हां सरदारजी का है। चाय बनाने के लिए दूध लेते हैं।''

''होटल कितनी दूर है?''

''बस पास ही है।'' और वह नीचे उतर गयी।

तो मैं शायद आखिरी चढ़ाई चढ़ रही थी।

आख़िरकार मुझे अपने साथी दिखाई पड़े। ग्यारह हज़ार फ़ुट की ऊंचाई पर 'मडी़' स्थान पर, चमकती धूप में, खड़े-टहलते उनके आकार दिखाई दिये।

मैं सरदार जी की छोटी-सी चाय की दुकान पर पहुँच गयी। मैं लड़खड़ा रही थी।

''ऐ शाबाश! कमाल कर दिया तुमने। हमने तो सोचा तुम रैहाला वापस चली गयी होगी। 'ब' हंसकर बोले।

''बाऊजी, ब्रांडी है ने कोल?'' सरदार जी ने मेरी हालत देख कर कहा।

''हां'' और ''ब'' ने अपने कैनवस के बैग में से ब्रांडी की छोटी बोतल निकाली।

''पानी बिच पाके झटपट बीवी होरां नू पिलाओ। ते बाद विच गरम-गरम चाह इन्हा नू पिलाओ।''

एक पुरानी-सी चाय की मेज़ पर मुझे लिटा दिया गया। ब्रांडी और चाय पीने को दी गयी। एक भारी गरम कोट मेरे ऊपर डाल दिया गया। बाकी सुश्रुषा का काम पर्वतीय धूप ने किया। मैं कब सो गयी मुझे पता ही न चला।

जब नींद खुली तो 'ब' मेरे बाल सहलाते हुए पूछ रहे थे ''कैसी तबीयत है?''

''फ़र्स्टक्लास! '' मैं हंसकर बोली और यह देखकर हैरान हुई कि मैं मनाली में अपने होटल के कमरे में नहीं, बल्कि रोहतांग की चोटी से दो हज़ार फुट नीचे की सेहतमंद धूप में, सो रही हूं।

मेरी थकावट बहुत हद तक उतर चुकी थी। मैं उठ बैठी और चारों ओर का सौन्दर्य निहारने लगी।

''बाऊजी, हुण तुसी बीवी होरां नू नाल लेके, तल्ले उतरना शुरु करो। पिछों हवा बड़ी तेज़ हो जान्दीए।'' सरदार जी बोले।

''जी हां बस नीचे ही चलना चाहिये, पर पहले एक-दो फ़ोटो ले लूं।'' ''ब'' बोले।

●

बड़ मन्दिर का टुकड़ा समारोह : एक अनुभव

''पैंतालिस बरस के बाद यह समारोह हो रहा है। इस समारोह में गुजरात प्रान्त के कम से कम दो लाख गड़रिए जमा हो रहे हैं। आइए न यह समारोह देखने के लिए।'' एक मित्र की चिट्ठी आई।

''दो लाख गड़रिए तो, कम से कम दस लाख भेड़ें भी आएंगी। इतनी गरमी में भेंडें कौन देखना चाहेगा। सर्दियां होतीं तो बात अलग थी।'' मैंने लिख भेजा।

''नहीं-नहीं गड़रिए भेड़ें छोड़कर आ रहे हैं। ज़रूर आइए, दरअसल यह तो गुजरात का एक धार्मिक समारोह है। इसमें गुजरात के मंदिरों के महंत भाग लेंगे। पैंतालिस बरसों में पहली बार। आइए भी। मित्र ने फिर लिखा।''

महन्त? गेरूआ कपड़े पहने रुन्ड-मुन्ड महन्त और दो लाख गड़रिए? यह किस किस्म का मेला है? और महन्तों की संख्या कितनी है? मैंने यह लिख भेजना चाहा, लेकिन नहीं लिखा।

''दो लाख गड़रिए अपने रंग-रंगीले सुन्दर लोक पहरावों में। पैंतालिस बरस के बाद। आइए भी तो!''

आखिरकार मेरी जन-साधारण के साथ एक होने की पवित्र भावनाएं उमड़ ही आई। दो लाख गड़रिए और ग्वालने अगर अपने लोक-पहरावों में जमा होंगे तो कुछ गाएंगे, नाचेंगे भी तो। इस लालच के मारे मैं जाने के लिए तैयार हो गई।

''जी हां, मैं आ रहीं हूं, तैयार रहिए। और मैंने दो तीन सूती साड़ियां और एक ढीठ-सी कोल्हापुरी चप्पल सूटकेस में डाली।''

नौ एप्रिल की सुबह को बम्बई से अहमदाबाद और अहमदावाद से सुरेन्द्रनगर पहुँची रात के दस बजे।

दस एप्रिल की सुबह। मित्र के बड़े से घर के चौक में एक मोर-मोरनी आराम से चहल-कदमी कर रहे हैं, मित्र की पशु-पक्षी प्रेमी पत्नी के हाथ से अनाज ले के खा रहे हैं, यह दृष्य मुझे वाण-भट्ट लिखित 'कादम्बरी' की याद दिला रहा है। अभी मैंने कैमरे में फिल्म ही नहीं डाली कि इस दृश्य को फ़ोटो-बद्ध कर लूं।

''नहा-धोकर तैयार हो जाइए बहन। ठंडे-ठंडे ही चलना चाहिए मंदिर में। बाद में गरमी हो जाएगी--'' मित्र कहते हैं। जल्दी से तैयार होकर विशेष सौराष्ट्री नाश्ता करके हम लोग तांगे पे सवार होकर चल पड़ते हैं।

''सुरेन्द्रनगर से कितनी दूर है यह मंदिर?''

''बस कोई तीनेक मील के फ़ासले पर है दूधरेज गांव का मंदिर।''

''दूधरेज शब्द का कुछ अर्थ भी है?'' मैं पूछती हूँ।

''हां दूधरेज शब्द पहले दूध रेढ़ कहलाता था, यानी वह पवित्र स्थान जहां दूध का चढ़ावा चढ़ाया जाता है। बदलते-बदलते दूधरेज हो गया है।''

हमारे तांगे के साथ ही साथ समारोह में शामिल होने वाले शहरी और ग्रामीण चले जा रहे हैं। रेलवे लाइन के फाटक बन्द होने पर भी, सिपाहियों के मना करने पर भी यह समूह, फाटक को पार करते हुए आगे बढ़ रहा है, फाटक खुलने पर रेल की पटरी पार करते हुए मैं रुकी हुई रेलगाड़ी को देखती हूं जिसकी लम्बी छत से उतर कर, ग्रामीण मंदिर की ओर जा रहे हैं। पहला फ़ोटो तो रेल की छत पर खड़ी सवारियों का ही लेना चाहिए, मेरा कैमरा सोचता है।

सुरेन्द्रनगर की सीमा लांघ कर हमारा तांगा, कट चुकी मूंगफली और कपास के विशाल खेतों के बीचोबीच बनी पक्की सड़क पर ज़रूरत से ज्यादा पों-पों-पों-पों करता गुज़र रहा है। लम्बी कतारें चल रही हैं यात्रियों की तांगें के आगे और तांगे के पीछे। खेतों में, दाएं बाएं, दूर और नज़दीक चल रहे हैं ऊंचे कद के, रौबदार बड़ी मूंछों वाले सूरज-सी शान रखने वाली पगड़ियां, कानों में सोने की बुंदियां, गले में रंगीन पत्थरों या मोतियों की मालाएं, चुन्नटदार अंगरखे, रंगीन झूलते कमरबन्द, चूड़ीदार पाजामे, पावों में कामदार ऊंचे जूते पहने, खारी ज़मीन के सुडौल पुरुष। चुनरियों, घाघरियों, चोलियों में इन्द्रधनुष और होली के रंग लिए, चित्तौड़ की पद्मिनी सी, गोपियों के संग राधा-सी कमनीय एवं गठे शरीर वाली शक्ति भरी ग्रामीण स्त्रियां! यह सहसा, मेरे कैमरे को अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं। मेरा कैमरा तसवीर लेने के लिए मचल उठता है।

''कौन-कौन-सी जाति के हैं ये लोग? कहां-कहां से आए हैं? क्या है इस समारोह का इतिहास, कितना पुराना है यह दूर से दिखाई देता सुन्दर मन्दिर? क्या है गुजरात का सच्चा इतिहास, गुजरात जिसको गुर्जर-प्रदेश भी कहते हैं। गुर्जर प्रदेश, जिसमें श्रीकृष्ण की द्वारका बसी थी। हिन्दुस्तान की पहली बंदरगाहों में से एक प्रसिद्ध बंदरगाह जिसके द्वारा हमारा परिचय अनेक विदेशों से हुआ।'' प्रश्नों की बौछार मेरा सवाली मन मुझसे कर रहा है।

''क्या नाम है इस मन्दिर का? '' मैं मित्र से पूछती हूं।

''बड़-वाला मंदिर।''

''बड़, यानी बड़ का पेड़?''

''जी हां बहन''

''तो मंदिर बनने से पहले यहां कोई वृद्ध वट-वृक्ष रहा होगा जिसकी पूजा की जाती होगी।''

''हां, वह बड़ का पेड़ अब मन्दिर की चार दीवारी के अन्दर है।''

''कौन-से धर्म के अनुयायियों का है यह मन्दिर?''

यह गुजरात की रबारी जाति के लोगों का मन्दिर है। है तो सिर्फ़ पचहत्तर बरस पुराना, लेकिन कारीगरी में दक्षिण भारत के उत्कृष्ट मन्दिरों से टक्कर लेता है।'' मित्र ने बताया।

''कौन से देवता की पूजा करते हैं रबारी लोग?''

''इनके प्राचीन देवता तो भूमि और शक्ति आदि हैं। लेकिन यह मन्दिर वैष्णव धर्म के वाम-मार्गी सम्प्रदाय का है जिसके कुछेक लाख अनुयायी सारे भारत में फैले हैं।''

''वाम मार्ग? स्कूल और कालेज की किताबों में कभी इसके बारे में पढ़ा था लेकिन याद नहीं आ रहा। क्या होता है वाम मार्ग?''

''वाममार्गी साधु, फक्कड़ साधु कहलाते हैं। उनको कृष्ण का अनुरूप मान इस सम्प्रदाय की ग्रामीण स्त्रियां अपना मन ही नहीं, बल्कि तन भी साधु को अर्पण करना कृष्ण भक्ति का एक अंग समझती हैं''

''तो इस अंधश्रद्धा के नाम से व्यभिचार भी होता होगा?''

''कुदरती बात है। मन्दिर के पिछले एक पढ़े लिखे महन्त ने इस प्रथा में सुधार लाने की कोशिश की और इसीलिए मन्दिर में उसका कत्ल हुआ। उसके मरने के बाद मन्दिर के महन्त और उनके अनुयायी भी दो दलों में बंट गए। एक इस प्रथा के खिलाफ़ और एक इसके पक्ष में। यह झगड़ा बीसियों बरस चलता रहा। इसीलिए इतने बरस यह टुकड़ा-समारोह भी नहीं हो सका।

''टुकड़ा समारोह के माने?''

''मन्दिर के प्रधान महन्त की मृत्यु के बाद उसकी यादगार में समारोह जिसमें इस सम्प्रदाय के सभी अनुयायी शामिल होते हैं। तो इस झगड़े की वजह से इसी बीच एक दो और महन्त भी स्वर्ग सिधार गए लेकिन किसी का भी टुकड़ा समारोह नहीं मनाया गया। पिछले साल दोनों ग्रुप किसी समझौते पर पहुँचे हैं।''

''समझौता क्या हुआ?''

''शायद यही कि इस प्रथा को किसी रूप में या किसी हद तक जारी रखा जाए। समझौते का और क्या मतलब हो सकता है? पिछले महन्त के कत्ल के बाद तो यह कहानी कोर्ट तक पहुँच गयी थी। आपने भी अखबारों में यह किस्सा पढ़ा होगा।

''नहीं मुझे ठीक याद नहीं।''

धर्म मन्दिर देखने का मेरा मज़ा किरकिरा हो जाता है। लेकिन यह तरह-तरह लोक पहरावनों का सागर। मारवाड़ी, गोपाल, रबारी और अन्य कई प्राचीन जातियों के स्त्री-पुरुष, बच्चे, रंगीन लहरों की तरह, विशाल सूखे खेतों के अष्टकोणों से आगे बढ़ रहे हैं। इन्हें भूख, प्यास थकावट, गरमी की परवाह नहीं। उत्साहपूर्वक कंधेसे कंधा मिलाए, किसान की धीमी, स्थिर चाल से चल रहे हैं। चेहरों पर शांति है। सहनशीलता है, शहरी जीवन की तेज़ी और घबराहट नहीं। कभी यूं लगता है जैसे कौरवों-पांडवों की सेनाएं आगे बढ़ रही है और कभी प्रसिद्ध रूसी डायरेक्टर पुडावकिन की जगत प्रसिद्ध फ़िल्म ''एलेक्ज़ेंडर नेवस्की'' फ़िल्म का एक विशाल युद्ध दृश्य दीखता है। मेरा कैमरा भी उतावला हो रहा है कभी इस ऐंगल से कभी उस ऐंगल से फ़ोटो लेने के लिए।

मंदिर के बाहर, मैदान की दाईं तरफ़ एक पुराने लख्तर यानी किले की ऊँची दीवार है जिसके अंदर दूधरेज गांव बसा हुआ है। बहुत से यात्री इसी लख्तर के भीतर लगाए गये तम्बुओं में डेरा डाले हैं। मैदान की बाईं ओर एक छोटा-सा सर्कस तम्बुओं का घेरा डाले हैं। कहीं कैनवस और कहीं मोटे कपड़े की छतें, बांसों के सहारे डाले, खिलौनों, देवताओं की मूर्तियां, पत्थर-मोती की मालाओं वगैरह की दुकानें है। चमचमाती नियान रोशनी वाले दो तीन स्टाल बीड़ी के धंधे वालों के हैं। स्टालों के ऊँचे स्टेज हैं, स्टेजों पर माइक्रोफोन हैं, माइक्रोफोनों को मुट्ठियों में कावू किए हैं। भाड़े पर लिए लोक गीत गायक। लोक गायकों द्वारा पहले किसी सौराष्ट्री लोक गीत की दो-तीन पंक्तियाँ गायी जाती हैं। बाद में कृष्ण-भगवान के नाम पर अपनी विशेष छाप की बीड़ी पर कथा-वार्ता की जाती हैं। एक स्टेज पर गत्ते के बने श्रीहनुमान, बिजली का बटन दबाने पर, गत्ते के बने सपरिवार श्रीराम को साष्टांग प्रणाम करते ही जा रहे हैं, करते ही जा रहे हैं। हनुमान जी की इस अनन्य भक्ति से विह्वल होकर भोले ग्रामीण, हनुमान बीड़ी ही ख़रीदने का फैसला, पक्का कर चुके हैं।

भीड़ को चीरते, कभी धीमे, कभी तेज़ चलते, कभी धक्के कभी हिचकोले खाते हम लोग मंदिर के बाहर के बड़े द्वारा पर खड़े मूर्तिवत् संरक्षकों को पार करते हुए अन्दर के चौंक में पहुंच जाते हैं। कैमरा जी, फ़ोटो लेते जा रहे हैं साथ ही साथ। इस अपार जन-समूह में तकरीबन एकलौता, दस-बारह की आयु का मेरा कैमरा चुम्बक-सा बनता जा रहा है ग्रामीणों के लिए। लेकिन जिनका वह फ़ोटो लेना चाहता है वे लजा के पीछे हट जाती हैं और जिनकी तरफ फूटी आंख भी नहीं देखना चाहता, वे ढिठाई से आंखें में आंख मिलाने को तैयार हैं। लचीली-लचकीली नव-वधू को सास डांट के परे हटा देती हैं तो कोई हंसती उभरती उमड़ती कुआरियों कहती हैं, म्हारा फोटू पाड़ो! पाड़ो न। कितना पैसा एक फोटू का? हमारा नाम पता लिखो अणे फोटू पाड़ो।''

मंदिर वाकई गुजराती और दक्षिणी-शैली के सम्मिश्रण का सुन्दर नमूना है। महराबों और मूर्तियों को देखती हुई मैं सोचती हूं।

''कोन थे वे मूर्तिकार और शिल्पी जिन्होंने यह मंदिर बनाया?''

''यह लोग सोमपुरिए कहलाते हैं।'' मित्र बोले।

''सोमपुरिए?'' यानी सोमनाथ के मंदिर को बनाने वाले?

''हां, वही। पीढ़ी दर पीढ़ी शिल्पियों ही का काम करने वाले।''

''अब भी हैं?''

''हां, अब भी अपने पुरखों वाला ही धंधा कर रहे हैं।''

एक खोज की बात में से दूसरी खोज की बात निकल आती है। कितना कुछ जानना चाहती हूं, मैं गुजरात के इतिहास का।

ज़रूरत के वक्त दूसरों को धक्के देते, सहनशीलता से दूसरों के धक्के खाते, हम लोग मंदिर की, पानी-मट्टी से चिकनी हुई, सीढ़ियां सावधानी से चढ़ रहे हैं। एक-एक सीढ़ी पर नज़र है, कि कहीं पांव न फिसल जाए। एक दूसरे पर नज़र है कि कहीं एक दूसरे को खो न जाएं। मंदिर के सौन्दर्य पर नज़र है, उतरते चढ़ते ग्रामीणों के चेहरों, वेष, भूषाओं की विशेषता पर नज़र है। साधारण-सा फोटो लेने वाला कैमरा इन्फ़रमेशन फ़िल्मों के मूवी कैमरा की ताकत और हरकत पकड़ना चाहता है। बेवकूफ़ पिछड़ा हुआ कैमरा। एक रंगीन फिल्म तक तो है नहीं इसके अन्दर।

मंदिर की पूजा की मूर्तियां लोहे के सीखचों के अन्दर बन्द है। सीकचों के पीछे रेशमी परदे हैं मूर्तियां दिखाई नहीं देती। वैसे भी यह मूर्तियों के आराम का वक्त होगा क्योंकि आरती शाम को ही होती है। उसी वक्त परदे हटाये जाते हैं। हिन्दुओं के धर्म मंदिरों में आरती-पूजा, कोई आकर्षण रखने वाली चींज़ भी नहीं हैं। पूजा आराधना अगर किसी ढंग से होती है तो ईसाइयों के गिरजों में, मुसलमानों की मसजिदों में, सिखों के गुरुद्वारों में, पारसियों के सिनेगागों में। हमारे मंदिर, मेरा मतलब, प्राचीन मंदिर (नये बने मंदिर तो खासे बदसूरत हैं) कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। मंदिरों की कला-कृति देखकर मूर्तिकारों और शिल्पियों को बार-बार साष्टांग प्रणाम करने को जी चाहता है। लेकिन आरती के लिए, एक भी ढंग का गायक नहीं देखा किसी मंदिर में। मंदिर में टंगी दो घंटियां भी स्वरबद्ध होकर नहीं बजाई जा सकतीं.....। यह मंदिर जब बना होगा, उसी वक्त इसको रात को रौशन करने के साधन भी बनाए पड़े दीख रहे हैं। लेकिन उनका प्रयोग करने की बजाय या उन्हीं में कोई सुन्दर सुधार लाने की बजाए, खट से महरावों पर, स्तम्भों पर लाल-पीली, नीली हरी गुलाबी, जामुनी बत्तियाँ लेमनेड की बोतलों की तरह लटका दी गयी हैं। मुझे याद आ रहा है--मदुरा का मीनाक्षी मंदिर, जिसकी अन्दर की सभी मूर्तियों को पुजारियों ने भद्दी-भद्दी साड़ियां पहनायी हुई थीं। अगर साड़ियां पहनानी होती तो शिल्पी लोग मूर्तियां तराशते वक्त ही पहना देते। ख़ुदा का शुक्र है कि वे कलाकार यह सब कुरूपता देखने के लिए ज़िन्दा नहीं है।

अचानक मेरे कान अति गम्भीर स्वरों और जोरदार कंठों की ओर खिंच गए हैं। यह कशिश मुझे,(भीड़ चीरते हुए) मंदिर के उस भाग में ले आयी है, जहां पठानी ढंग से मिलती

जुलती, सफ़ेद पगड़ियां पहने कुछ पठानी ही चेहरों वाली दस बारह की टोली, बैठी गा रही हैं। हर उम्र के गायक बैठे हैं। वहीं संगमरमर के फर्श पर खड़ी होकर सर झुकाए कान लगाए सुनने लगती हूं। गायक लोग अपने आलाप में भावना भरी तन्मयता में हैं। ताल लय के लिए हाथों में झांझें हैं।

गीत के शब्द समझ में नहीं आ रहे। गुजराती की कोई उप भाषा तक नहीं है।

''क्या गा रहे हैं यह लोग?'' पास ही खड़े मंदिर के बारे में ज्ञान रखने वाले एक जानकार सज्जन से पूछती हूं। यह सज्जन मंदिर में कुछ ही देर पहले ही हमसे मिले हैं।

''यह लोग सरदू गा रहे हैं। सरदू यानी सामवेद गान।''

''सामगान?'' मुद्दतों से मुझे शौक था एक बार साम-गान सुनने का क्या सचमुच पारम्परिक साम-गान है? यह लोग कौन हैं, कहां से आये हैं? इनके गायन के शब्द क्या हैं? मैं सज्जन से पूछती हूं।

''बम्बई से एक फ़िल्म वाली बहन आयी हुई हैं। तुम्हारे गीत के शब्द जानना चाहती हैं।'' उन्होंने गुजराती भाषा में सरदू गाने वालों से कहा है।

गानेवाले इस विघ्न से चिढ़ गए हैं। उनमें से एक, मुझ स्त्री के कैमरे की ओर तिरस्कार और अविश्वास की नजर डालते हुए उन सज्जन से कहता हूं ''हम फ़िल्म वालों को शब्द नहीं देंगे। फ़िल्म वाले तो इसका हुलिया बिगाड़ देंगे। फ़िल्म वालों को अपना धर्म गीत देने का अधर्म हम नहीं करेंगे।'' और वह हमारी तरफ से बेपरवाह होकर सरदू गायन में तल्लीन हो जाते हैं।

गुजराती में हुई इन बातों का अर्थ मुझे बता दिया जाता है।

अधैर्य से मैं उन सज्जन से कहती हूं ''मैं तो फ़िल्म वाली नहीं हूं। मैं तो संगीत की विद्यार्थिनी हूं। इसीलिए इनसे यह गायन सीखना चाहती हूं। क्या ये मुझे सिखायेंगे?''

मेरे संदेसे का अनुवाद कर दिया गया है। एक बड़ी उम्र का बालक कहता है, ''मैं पिछले आठ बरस से 'सरदू' सीख रहा हूं, मुझे सामवेदागान अभी तक नहीं आया। एक दिन में सीखेंगी क्या?''

''शब्द क्या है इस गायन के? सिर्फ़ वही लिखवा दीजिए कृपया।'' मैंने विनती की है।

''यह तो हमें भी नहीं मालूम, हम क्या बोल रहे हैं। शब्द तो हमारे अपने स्थान पर हमारे गुरू जी को मालूम हैं। वहां जाकर गुरु जी से सीख लें।'' और उत्तर देनेवाले अपने में खो जाते हैं।

संगमरमर की टाइलों पर बैठी मैं चुपचाप गायन सुनने लगती हूं। संगीत का थोड़ा बहुत ज्ञान होने की वजह से उनके गायन के चार पांच मुख्य स्वर जो बार-बार अतिविलम्बित में अति

गम्भीरता से गाए जा रहे हैं, उन्हें अपनी नोट बुक में स्वरबद्ध कर लेती हूं लेकिन इसी से मेरी तसल्ली नहीं हो सकती। क्या यह स्वर सामवेद की रचना समय कुदरत की ध्वनियों से निकाले स्वर-अंतर हैं? इसमें कोई शक नहीं। कि यह ग्रामीण टोली, सदियों की किसी परम्परा को दैवीय मान उसे अभी तक संभालें हुए हैं, संभालने की कोशिश में है। इसकी खोज करना कितना ज़रूरी है? लेकिन मैं तो सिर्फ़ तीन चार दिन के लिए यह टुकड़ा समारोह देखने आयी हूं। तीन दिन में एक प्राचीन परम्पराओं वाले प्रांत का इतिहास कैसे जाना जा सकता है? इसी गुर्जर प्रदेश के चारण आज भी दर्शकों के सामने बैठे-बैठे ही लम्बी गद्य-पद्य रचनाएं कर लेते हैं। इसी प्रांत में सोरठ नामक स्थान के सोरठ दोहों के लिए प्रसिद्ध हैं। तीन दिन में गुजरात जैसे प्रांत का सांस्कृतिक इतिहास नहीं जाना जा सकता, कम से कम इतना तो आभास हुआ।

गायन के स्वर लिख लेने पर हम लोग मंदिर की पिछली सीढ़ियां उतर कर सामूहिक लंगर के कोठों की तरफ जाते हैं। इन कोठों में क्या भरा पड़ा है? गुड़ की गंध सूंघते हुए मैं कहती हूं।

''सूखड़ी और गांठिया।''

''सूखड़ी और गांठिया क्या होता है?''

''सूखड़ी, यानी अनाज, घी और गुड़। गांठिया यानी एक किस्म के तले हुए सेम।''

''यह किसलिए?''

''यात्रियों को देने के लिए। इन आठ दिनों के समारोहों में रोज़ाना तीन हज़ार मन सूखड़ी और गांठिया बन रहा है।''

''कितने यात्री आ चुके हैं अब तक?''

''कम से कम डेढ़ लाख यात्री अब तक आ चुके हैं। कल पच्चास हज़ार से एक लाख तक और पहुंच जाएंगे। कल ध्वजारोहण का दिन है। कल तो सभी यात्रियों को खिचड़ी खिलाने का भी प्रबन्ध किया जायगा।''

''दो तीन लाख लोगों को खिचड़ी खिलाई जाएगी?''

''कैसे?''

''कल आइएगा और देखिएगा।''

''इतने बड़े पैमाने पर खाना खिलाने के लिए धन कहां से आता है?''

''यह रबारी लोगों का मंदिर है। इस समारोह के लिए घी, अनाज, पैसा अधिकतर इन्हीं लोगों का दिया है। वैसे गुजरात के वैष्णव संप्रदाय के मंदिरों से भी धन-धान्य आया है।''

''मंदिर की अपनी आमदनी कितनी है?''

''बरस भर में तकरीबन एक लाख रुपया।''

मंदिर के अंदर की भीड़ों को चीरते हुए हम लोग मंदिर के सामने के मैदान में पहुंचे जाते हैं। एक विशाल मंडप के नीचे होली मची हुई है रंगीली चुनरियों, घाघरियों की एक ओर और सफ़ेद, रंगीली चक्रीयों-सी पगड़ियों की दूसरी ओर। दोपहर की गर्मी में इतना रंग देखकर आंखें चुंधिया गयीं। कैमरा फिर कहने लगा, ''काश, मैंने रंगीन फ़िल्म चढ़ा रखी होती।''

''गुजरात के प्रसिद्ध महन्त श्री मद्‌भगवान की कथा कर रहे हैं। पूरे आठ दिन पाठ होगा।'' विद्वान सज्जन बता रहे हैं।

पल्लू से सर ढक कर मैं भी बैठ गयी हूं कथा सुनने के लिए। कथा गुजराती में हो रही है। हजारों स्त्री-पुरुष लड़के-लड़कियां बच्चे इतनी गर्मी में एक दूसरे से सटकर बैठे हैं। महन्त जी अपने श्रोताओं का मानरिक स्तर जानते हैं सो व्याख्या भी उसी स्तर पर हो रही है। ''धर्मपत्नी बैठी इंतज़ार कर रही है और पति न जाने किसकी संगत में बैठा ऐश कर रहा है। दुराचार, व्यभिचार से बचकर रहो'' इत्यादि विषयों पर माईक्रोफ़ोन और लाउडस्पीकर मीलों मील तक गरज रहे हैं। सुनने वाले लापरवाही से आपस में प्रेम प्रीति की बातें कर रहे हैं, कर रही हैं।

''मुख्य कथा करने वाले तो बाहर से बुलाए पंडित हैं। इनके पीछे बैठे एक सौ आठ महन्त और हैं।''

''कहां हैं वे १०८ महन्त? दिखाई तो नहीं दे रहे?''

''इस बड़े मंडप के पीछे एक और छोटा मंडप है। १०८ महन्त वहां बैठे हैं। चलिए, आपको दिखाएं।'' विद्वान सज्जन बोले।

एक अन्त:पुर से छोटे मंडप में, लम्बी कतार है ऊंची मेज़ों की। उन पर बैठी हैं लम्बी कतार १०८ महन्तों की। वृद्ध महन्त, युवा महन्त, छोटे महन्त, मोटे महन्त, पतले महन्त, असहाय से दीख रहे महन्त, पंक्ति लगाए ऊंची मेज़ों पर विराजमान हैं। कुछेक, सामने पड़ी श्रीमद्‌भगवात् का एक खुला पन्ना हाथ में लिए किसी भक्त से साकार होने की इंतज़ार में हैं और कई, भक्तों की भेंट की गयीं चवन्नियां गिनने में तन्मय हैं।

''यह महन्त पढ़े लिखे हैं क्या?''

''नहीं, अधिकतर काला अक्षर भैंस बराबर!''

''अच्छा, तो यही महन्त इस मंदिर की चारदीवारी में बने अनेकों कमरों में रहते हैं?''

''जी हां।''

''हूं। तो कृष्ण भगवान के अनुरूप यही हैं, मैं मन ही मन सोच रही हूं। और जर्नलिस्ट की भेदी छिपी नज़रों से इन्हें पढ़ने की कोशिश कर रही हूं। भूख से नहीं, तपस्या से नही, लेकिन आध्यात्मिक जड़ता, आलस्य, मिथ्या, दम्भ और न-जाने किन कारणों से पीली पड़ी चमड़ियों वाले चेहरों में जड़ी कुछ शून्यता भरी है, कुछ लोलुपता भरी है, कुछ उदासी है, कुछ निराशा भरी है। ये इनकी आंखें देखकर मुझे क्रोध हो आया है, हंसी आई है और डर लगता है। तो यह

है कृष्ण के अनुरूप, जिन्हें सुन्दर सुडौल रबारी स्त्रियां, परिवार की अनुमति ले भक्ति पूर्वक अपना तन अर्पण करती होंगी। कैसे कर सकती होंगी, उफ़!''

छोटे मंडप से जल्दी से बाहर निकलकर हम वापस सुरेन्द्रनगर चल पड़े हैं, इस बार तांगे में नहीं, एक जर्मन दम्पत्ति की मोटर में। उनसे अभी अभी छोटी-सी मुलाकात हुई है।

''आप लोग यहां टुकड़ा समारोह देखने के लिए आए हैं? मैं पूछती हूँ।''

''नहीं, हम लोग तो पिछले छः बरस से गुजरात को रबारी और अन्य प्राचीन जातियों के इतिहास की खोज कर रहे हैं।''

''वाह! आप बड़ी महत्वपूर्ण खोज कर रहे हैं। आपसे मैं भी कुछ जानना चाहूँगी। आप लोगों का बम्बई आने का इरादा है कभी?''

''हां, जुलाई के महीने में।''

''तो लीजिए यह रहा मेरे घर का पता। मिलिएगा जरूर।''

जर्मन दम्पत्ति की चलती गाड़ी में बैठी-बैठी मैं सोच रही हूं। खोज अध्ययन करने की लगन योरोपियन लोगों में हमसे कहीं अधिक है। यह लोग जिस काम में लगते हैं, ज़िंदगियां गुजार देते हैं उसी में। मेरी तरह नहीं, सिर्फ़ कभी-कभार छोटे-मोटे ग्रामीण मेले देख लिए और वे भी अधूरे।

ग्यारह एप्रिल की सुबह। अच्छी ख़ासी थकावट है कल की जरनलिस्टिक मटरगश्त की। नींद तो फ़ौरन आ जाती अगर सुरेन्द्र नगर के कुत्तों का आर्केस्ट्रा न शुरू हो जाता। हर रस, हर भाव, हर लय में सुर अलापे गए। फ़ोर ग्राउण्ड यानि अग्र भूमि में संगीत मच्छरों का था। इस एडिशनल प्रोग्राम की वजह से नींद बहुत देर से आयी। सुबह, दूर कपास के कटे सूखे खेतों में से आ रही हल्की ठंडी पवन के हिलोरों से जब मीठी-मीठी नींद आने लगती हैं तो घरों की छतों पर मोर मोरनी पहुँच गये हैं और कूऽ! कूऽ! अलाप कर रहे हैं। कितने सुन्दर लगते हैं गृहस्थों के आंगन छतों पर निधड़क आए राज-मोर। लेटे-लेटे, देखते ही जाने को जी चाहता है इन्हें। लेकिन आज तो मंदिर पर ध्वजारोहण का दिन है, धर्म यात्रियों को खिचड़ी खिलाने का दिन है। कैसे खिलाएंगे ढाई तीन लाख लोगों को खिचड़ी। थकावट और सुबह की मीठी नींद कहती है, ''खाने दो तीन लाख ग्रामीणों को खिचड़ी!'' ऐसी भी क्या बड़ी बात हैं कि उसके लिए नींद खराब की जाए। लेकिन ''उनिष्ट। जागृत। प्राप्य वराण्य'' वाला मन कहता है, अगर अब जन साधारण के बीचो-बीच आ ही गए हैं तो आलसी बुर्जुआओं की माफ़िक काहे को पड़े रहना। सो नादान आलस पर विजय पाकर मैं जाने के लिए फिर से तैयार हो गयी हूं।

तांगे पर सवार हो चल पड़े हैं हम तीनों, मैं, मित्र सज्जन और उनका आठवीं क्लास में पढ़ता सुपुत्र भरत। भरत सच्चे मानों में भरत है। जब मैं फ़ोटो लेने को होती हूं तो वह झट से कैमरे की लेन्स-कैप अपने हाथ में थाम लेता है, मेरा चश्मा संभाल लेता है। अगर नोट बुक में कुछ नोट करना चाहती हूं तो बैग में से फ़ौरन पेन और नोट बुक निकाल देता है। इतनी धूप

में प्यास लगती है तो फ़ौरन तांगा रुकवा कर राह के किसी 'प्याऊ' से पानी का गिलास ले आता है। मित्र भाई का कहना है कि भरत यह सब बम्बई में फ़िल्म हीरो बनने के लालच में कर रहा है। लेकिन भरत की सादगी, निर्लोप सेवा और निर्मल भोली आंखों से ऐसा ज़ाहिर नहीं होता। भरत स्वभाव से ही भरत है।

कल वाला ही रास्ता है मंदिर जाने का लेकिन आज धर्मक्षेत्र में कल से भी ज़्यादा भीड़ है। कल से ज़्यादा रंगीन! मैं भी बड़-वाले मन्दिर के देवता से विनती करती हूं कि मेरा कैमरा अपना धर्म, सुन्दरता, सुघड़ता से निबाहे। दरअसल, यह काम तो किसी न्यूज़ एजेन्सी का है लेकिन इस रोचक टुकड़ा समारोह की उन्हें ख़बर ही नहीं हुई शायद। इसलिए अंधों में काने राजा, अपने भावुक, उत्साही कैमरा राम, मन में कुछ विश्वास, कुछ शक लिए कभी तांगे के फ़ुटबोर्ड से, कभी किसी टीले से, कभी किसी पुल से, जन-साधारण के इस धार्मिक समारोह का इतिहास लिख रहे हैं। चलते-रुकते, तांगे पर सवार, चलते रुकते, हम फिर मंदिर के बाहर के अपार जन-समूह में घुस जाते हैं। श्री मद्भागवत की कथा का प्रवाह आज और भी जोरों पर है। लेकिन सुनने वाला समुदाय अधिकतर बच्चे गोद लिए स्त्रियां, अधेड़ और बूढ़े स्त्री-पुरुष हैं। युवकों और युवतियों की टोलियों के लिए पीपल के पेड़ों की छाया या मंदिर की सीढ़ियों के कोने, तराशे हुए मूर्तिमान स्तम्भों के सहारे आदि स्थान ही अधिक उपयुक्त हैं। इनके व्यावहारिक जीवन में ऐसी पेचीदा कठिनाइयां नहीं आयी हैं अभी,कि धर्म और शास्त्र का सहारा लेना पड़े। मंदिर की सीढ़ियां चढ़कर स्तम्भों के दाईं ओर बनी पत्थर की लम्बी सीट पर थकावट उतारने के लिए आकर बैठ गयी हूं। स्तम्भों से पीठ टिकाए, उनके इर्द-गिर्द खड़े, मंदिर के कामदार बरामदों, अटारियों पर झुक-झांक रहे, विभिन्न लोक पहरावों में सुसज्जित, वृद्धों, जवानों, बालकों के गेहुएँ सांवले और गोरे चेहरे। इन चेहरों में धरती, आकाश और वनस्पति जगत की सादगी सौंदर्य और गम्भीरता झलकती है। अपने देश, अपनी जाति, अपनी धरती के सामूहिक जीवन का स्पष्ट, निर्मल निखार है इनके व्यक्तित्वों में। एक अटूट, सनातन परम्परा का सौंदर्य है इनमें। एक में अनेक, अनेकों में एक, की झलक मिलती है। मैं देखते ही जाना चाहती हूं। इसी में मुझे वन, पर्वत और सागर की विशालता, स्थिरता और शांति मिलती है। इन्हीं को देखते हुए मुझे अपने देश की मजबूत नीवों का विश्वास होता है। मेरी आंखों के सामने एक विराट देश की अति प्राचीन संस्कृति के इतिहास के अनेकों पन्ने एक-एक करके खुल रहे हैं। मैं, आज के स्पुतनिक युग की निवासी हूं या धृतराष्ट्र के दरबार में बैठी हूं? स्तम्भ के पास इधर-उधर टहल आपस में बातें करने यह दो सुडौल गठीले पुरुष कौन है--अर्जुन और दुर्योधन? और इनसे ज़रा परे खड़े तीन कौन है शकुनि, कर्ण और द्रोण?.....सखियों संग अल्हड़ हंसी हंसती यह सुकुमारी कौन है, और यह लुभावनी नारी कहीं द्रौपदी तो नहीं और यह रहा अभिमन्यु...

''आराम कर लिया तो चलो बहन, चल के देखें खिचड़ी कैसे परोसी जा रही है।''

स्वप्नभंग-सी होकर मित्र की तरफ़ देखती हूं। बीसवीं सदी का सादाशहरी लिबास पहने आंखों पे काला चश्मा लगाए वे खड़े हैं लंगर की ओर जाने के लिए।

''जी हां, चलिए मैं, उत्साह पूर्वक कहती हूं।''

मंदिर के पिछवाड़े की ऊँची दीवार के पास विस्तृत मैदान में लगे विशाल शामियानों के नीचे, एक तरफ़ न जाने कितने, लोहे के भीमकाय कड़ाहे हैं। कड़ाहों के घी में खिचड़ी, कुड़-वुड़ कुड़-वुड़ कर रही हैं। गहरे चूल्हों की आग में इतनी तपश है कि पास खड़ा होना मुश्किल है। फिर भी लम्बे-लम्बे कड़छे लेकर स्वयंसेवक खड़े हैं। खिचड़ी पकाने के लिए। शामियाने के नीचे, दूसरी तरफ़ सीमेन्ट से पक्के किए लम्बे गहरे टैंक हैं जिनमें सैकड़ों मन कच्ची और पक्की खिचड़ी पड़ी है। कच्ची खिचड़ी कड़ाहों में पक कर, पक्की खिचड़ी के टैंकों में गिराई जा रही हैं। दो दो स्वयंसेवक बांसों से बंधा टाट का तसला सा लेकर खड़े हैं। टैंकों के पास खड़े स्वयंसेवक बेलचों से पकी हुई खिचड़ी उठाकर बेलचों से तसलों में डालते जाते हैं ठीक वैसे ही कोई इमारत बनाते वक्त सीमेंट-कंक्रीट टाट के पलनों या तसलों में डाला जाता है। खिचड़ी डलवा कर स्वयंसेवक भागते हैं कड़कती धूप में पत्तल लेकर बैठी सैकड़ों की लम्बी कतारों की तरफ़ और तेज़ी से पत्तलों पर कड़छों से डालने जा रहे हैं। दाल-चावल, घी की खिचड़ी खाते वाले, हर आयु हर किस्म के लोग बैठकर श्रद्धापूर्वक खा रहे हैं। दूर-दूर तक लम्बी कतारें फैली हैं खाने वालों की।

''दो तीन लाख लोग जो आए हैं, सभी को खिचड़ी मिल जाएगी।'' मैं पास ही खड़े विद्वान सज्जन से पूछती हूं।

''जी हाँ।'' विद्वान सज्जन कहते हैं।

''इतने विशाल पैमाने पर, इतनी कामयाबी से इन्तज़ाम कर सकने का ढंग क्या है, बतलाइए?''

''इन्तज़ाम बड़ा आसान है। मंदिर की तरफ़ से जब कोई समारोह करने का फ़ैसला होता है तो इस सम्प्रदाय के सभी अनुयायियों को ख़बर कर दी जाती है।''

''कैसे?''

मन्दिर में रहने वाले महन्त प्रान्त के सभी गांवों का दौरा करके ख़बर दे देते हैं समारोह शुरू होने से काफ़ी पहले। अब तो ख़ैर चिट्ठियों, तारों द्वारा भी ख़बरें भेज दी जाती हैं। अनाज, घी, गुड़ धन-धान्य जिसकी ज़रूरत हो उसकी फ़रमाइश भी साथ ही साथ कर दी जाती हैं। घर-घर में खेत-खेत से, मन्दिर-मन्दिर से, अनाज-धन इकट्ठा होकर पहुंच जाता है। यह मन्दिर तो रबारी जाति के लोगों को है। इस समारोह में अधिकतर भेंट इसी जाति की है। वैसे भी कि लाख रुपया सालाना आमदनी तो मन्दिर की अपनी है। इसी तरह स्वयं सेवकों का इन्तज़ाम भी आसान है। हर गांव के लोग अपने-अपने स्वयं सेवकों का जत्था भेजते हैं। वही अपने गांव के यात्रियों के लिए खेमे गाड़ते हैं, वही उनके खाने पीने, रहने की चीज़ें मन्दिर से ले आगे बांटते हैं और आज की खिचड़ी बांटने का इन्तज़ाम भी इसी तरह हो रहा है। अपने गांव के स्वयं सेवक अपने गांव के यात्रियों को खिला रहे हैं। स्वयं सेवकों के कुरतों पर पीली-सी हाथ-की छाप देखी आपने?

"जी हां।"

पसीने से तर स्वयं सेवक सेना उत्साह पूर्वक फुर्ती से खिचड़ी खिलाने का काम कर रही हैं। कहीं कोई झगड़ा, शिकायत, नाराज़गी नज़र नहीं आती। श्रद्धा और विश्वास के बल पर यह कार्य सम्पन्न हो रहा है। जगह-जगह पर कच्चे कुएँ खोदे गये हैं। कहीं-कहीं ट्यूबवेल भी लगाए गए हैं। रहने के लिए हज़ारों ही खेमे गाड़े गए हैं। सोच रही हूं, युद्धों की तैयारियों और इन्तज़ाम इसी तरह आसान किए जाते होंगे। पुराने जमाने में लड़ाइयां किस तरह लड़ी जाती होंगी, अब कुछ थोड़ा समझ में आया है। किताबें पढ़ने से इतना स्पष्ट कभी नहीं हुआ था।

ग्याहर एप्रिल की शाम

"मन्दिर में चलोगी बहन?" चाय के वक्त मेरे मेज़बान मित्र मुझसे पूछते हैं।

"नहीं भाई, बहुत कुछ देख लिया। अब कोई स्पेशल चीज़ देखने की नहीं रही। हां, सौराष्ट्र के अगर लोक-गीत और नाच देखने-सुनने को मिल जाते, तो तबीयत खुश हो जाती। दरअसल, लोकगीतों-नृत्यों के लिए ही तो मैं आयी थी और वही देखने सुनने को नहीं मिले।"

"यह तो ठीक है। मगर, वह तो अक्सर रात के वक्त होते हैं. आप ऐसा कीजिए, अभी और आराम कीजिए। रात को खाना खाकर घर से निकलेंगे।

"अच्छी बात।"

रात को तांगे पर सवार होकर जब हम मंदिर की तरफ़ चले तो सड़क पर रात के अंधेरे में भी उतनी ही भीड़ थी जितनी दिन के वक्त। अब भी लोग दूर स्थानों से चल कर दूधरेज पहुंच रहे थे। ज़रूरत से ज़्यादा, पों पों, पों पों करता तांगेवाला भीड़ की लहरों को किश्ती की तरह चीरता मन्दिर के बाहर के मैदान के पास पहुंचा। लोक-गीतों की गूंज हवा में लहरा रही थी।

बत्तियों की आंख झपकती रोशनियों में रात की रौनक लांघते हुए केन्द्र में पहुंचे हैं जहां एक जगह स्त्री-पुरुष चक्रव्यूह बनाये खुले, ऊँचे स्वरों में लोक-गीत गाते हुए नाच रहे हैं। कृष्ण की जगत् मोहिनी मुरली और राधा के अनन्य प्रेम के गीत गाए जा रहे हैं। सुरें हैं लेकिन भावना से भरपूर। नाच में हर आयु के स्त्री-पुरुष शामिल हैं। हालांकि, सुन्दर वस्त्राभूषणों से सज्जित युवक-युवतियों की संख्या अधिक है। राधा-कृष्ण प्रेम गीत की कड़ियां एक दूजे को सुना कर गायी जा रही हैं। हाथ पांव की हरकतें, हल्की भाव-भंगिमा, एक दूजे को रिझाने के लिए, हल्का छेड़ने के लिए की जाती हैं। रबारी जाति में स्त्रियां अधिक अधिकार रखती हैं। इसलिए उनके हल्के और राजसी भाव प्रदर्शन निर्भीक और सरल हैं। उनमें कृत्रिम लाज नहीं है। नाचना, गाना उनके दैनिक जीवन का अभिन्न अंग है। उनके नाच और गीत उनके दैनिक श्रम पूर्ण जीवन के विभिन्न पहलुओं की उपज हैं। इसलिए वे नाच होते हुए नाच मालूम नहीं पड़ते।

बड़े मैदान में कई एक ग्रुप नाच रहे हैं। जहां कोई चाहता है, ग्रुप बना के नाचने लगता है। दर्शक लोग फ़ौरन घेरा डालकर नाच का आनन्द लूटने लगते हैं।

खड़े रह-रहकर टांगे थक जाती हैं तो वहीं लाखों पैरों से रौंदी गयी मिट्टी पर बैठ जाती हूं, ग्रामीण स्त्री-पुरुषों के साथ।पता नहीं लगता किस वक्त गीत बदल जाता है,उसी के साथ ही साथ नृत्य की चाल भी बदल जाती हैं। उसकी सादगी में, किसान की धरती-सी सच्चाई गम्भीरता और सौंदर्य है। देखते ही जाने को जी चाहता है, सुनते ही जाने को जी चाहता है। जन समूह का एक अभिन्न अंग बन जाने को जी चाहता है। जी चाहता है, शहरी ज़िन्दगी से पैदा हुए मानसिक एकाकीपन, मानसिक रोकों के कवच टूटें और अन्दर दबा हुआ रिदम, लय का सोता फूट निकले और मैं इस सामूहिक जीवन में घुल-मिल कर, इनके साथ गाऊं, नाचूं....धीरे-धीरे, ग्रामीणों के सामूहिक जीवन की लय मेरी धमनियों में जैसे प्रवेश करने लगी हैं। हां, सचमुच मैं इनके साथ नाच गा सकती हूं। इनसे विश्वास, दृढ़ता, उदारता आशा जैसे अनमोल गुण सीख सकती हूं। मंदिर, अंध-श्रद्धा की जगह नहीं, मंदिर ज्ञान का घर होना चाहिए और हो सकता है। रबारी जाति एक लाख से अधिक रुपया सालाना अपने इस मंदिर के खजानें में भरती है। इसी पैसे से मंदिर की तरफ़ से स्कूल, अस्पताल और कृषि शाला यहां खुल सकती हैं। मशीन-युग की बड़ी-बड़ी मशीनें यहां भी जल्दी ही दौड़ती चली आएंगी। आनी भी चाहिए लेकिन अगर उनको उनकी हद तक सीमित न रखा गया तो औद्योगिक उन्नति करने के साथ ही साथ वे हमारे सांस्कृतिक खजानों को भी अपने लोहे के पंजों तले रौंद जाएंगी....। मैं सिर्फ़ यह धार्मिक समारोह ही देखने आयी हूं कि एक शिक्षित नागरिक होने के नाते मेरा इससे अधिक कुछ और भी कर्त्तव्य है, इस जन-समूह के प्रति नाचने, गाने वालों के चक्रव्यूह के ऐन बीच बैठी में देखती जा रही हूं, सुनती जा रही हूं, और सोचती जा रही हूं।

बारह एप्रिल की सुबह। समारोह का अन्तिम दिन। सुरेन्द्र नगर के नागरिक, जिनके लिए मंदिर, घर की मुर्गी दाल बराबर है, अभी कुछ आलसी रहे हैं। लेकिन मन्दिर की ओर इतने दिनों से लगातार जाती भीड़ का असर चुम्बक-सा हो रहा है। इसलिए आज अन्तिम प्रसाद लेने के लिए वे भी निकल पड़े हैं घरों से दूर-पार के गांवों में भी जो कोई बूढ़े, बच्चे, औरतें रह गयी थीं, सूखड़ी-प्रसाद लेने से वंचित नहीं रहना चाहते। लेकिन आज भीड़ आ भी रही है और भीड़े लौट भी जा रही हैं। जन-रज, उड़-उड़कर मंदिर की ध्वज को छू रही है सभी के नाक-कान, आंख में घुस रही हैं, रूमालों, अंगोछे से, सूखड़ी प्रसाद बांधे, ग्रामीण अपने-अपने गांव लौट रहे हैं। सारा समारोह शांति से हुआ है। लेकिन पता चला है कि आज के दिन मंन्दिर के बाहर कुछ सिर फुटौवल भी हुई है। ज्यादा नहीं, लेकिन तीन-चार सिर फूटे होंगे।

''क्यों? किसलिए? मैं पूछती हूं।''

''इसलिए कि प्रसाद लेने वालों में गांव-गांव के हरिजन भी शामिल थे। उनका काफ़ी संख्या में आकर भोज करना पसन्द नहीं किया जा रहा था। सूखड़ी के प्रसाद के लिए हाथ बढ़ाते वक्त किसी हरिजन का हाथ से छू गया। बस, इसी बात पर सिर फुटौवल हो गयी।''
''यानी भगवान भी जाति-पांत को मानते हैं।'' मैं व्यंग से कहती हूं।

''भगवान नहीं, भगवान के तथाकथित प्रतिनिधि।'' मित्र कहते हैं।

''हां, ठीक।''

चढ़ती दोपहर में आज लू के झोंके भी आ रहे हैं। सर चकराने लगा है। ''और क्या देखना बाकी रहा है भाई? मैं कुछ घबरा के कहती हूं।''

''बस वीरों की स्मृति-शिलाओं का बाड़ा भी देख लीजिए। फिर घर वापस चलते हैं।''

''यह स्मृति शिलाएं किन वीरों की है?'' मैं पत्थर की बनी चारदीवारी के अन्दर पैर रखते हुए कहती हूं।

''अपने गांव के लिए, या अपने प्रांत के राजा के लिए, जो स्थानीय योद्धा वीर गति को प्राप्त हुए, उनके नाम पर गांव की तरफ़ से यह स्मृति शिलाएं मंदिर के समाधि बड़े बाड़े में स्थापित की जाती थीं''

स्मृति शिलाओं पर चंडी, शक्ति और कई और वीर रस की प्रतीक सुन्दर पत्थर प्रतिमा गाड़ी गयी हैं। कितनी सुन्दर तराशी हुई हैं यह स्मृति-शिलाएं। एक-एक शिला, एक-एक अमर कहानी है। लेकिन किससे पूछूं, यह अमर कहानियां। कोई भी न बता सकेगा, शायद और गांव में शायद कोई ऐसा वृद्ध सज्जन हो भी कुछ बताने वाला तो लिखने वाला भी तो कोई मेघाणी जैसा ही कवि होना चाहिए।

गरमी और थकावट दूर करने के लिए समाधि बाड़े के एक पीपल के नीचे मैं बैठ गयी हूं। मेरे मित्र सज्जन को यह डर है कि सौराष्ट्र की गरमी में दौड़-धूप करने से मुझे कहीं लू न लग गयी हो। वह मेरे स्वास्थ्य के बारे में चिन्तित हैं पर मेरी अस्थिर दृष्टि, एक सुन्दर बकरी की तरफ आकर्षित हो गयी है जिसकी पीठ पर एक नटखट कौवा सवार है। एक स्वर्गीय महन्त की समाधि पर चढ़ाये गये अनाज को सुन्दर बकरी खा रही है और चहलकदमी कर रही है। इस चहलकदमी का मज़ा कौआ भी ले रहा है। आज तक मैंने कौओं को, भैंसों की सवारी करते ही पाया है। लेकिन यह कौआ परम्परा के खिलाफ चलने वाला जान पड़ता है। ''मेरा कैमरा कहां है भाई?'' जल्दी दीजिए। ऐसे मौके बार-बार नहीं आते।

''भाई, एक सवाल और पूछना चाहती हूं आपसे?''

''पूछिए।''

''यह एक सौ आठ महन्त, हमेशा इस मन्दिर में रहते हैं?''

''हां, अधिकतर। कभी-कभी बाहर गांवों का दौरा भी करते होंगे अपने भक्तों से मिलने के लिए और भिक्षा पात्र भरने के लिए।''

''यह लोग महन्त बनते कैसे हैं?''

''बचपन की अवस्था में ही यह लोग मन्दिर में ले लिए जाते हैं। मंदिर में ही इनका पालन-पोषण होता है। यही रबारी स्त्रियां अपने परिवार का एक बच्चा मन्दिर को भेंट चढ़ा जाती हैं।''

''वही बच्चा, जो रबारी स्त्री के आत्म समर्पण का परिणाम है।''

''शायद! सुरेन्द्र नगर से कुछ ही दूर एक अनाथाश्रम है। देखना चाहेंगी क्या? बहुत अच्छा अनाथाश्रम है। देखिए।''

''वापसी की सीट बुक करवाने के बाद अगर वक्त हुआ तो। लेकिन आपने अनाथाश्रम का ज़िक्र किसलिए किया भाई?''

इस अनाथाश्रम की संचालिका एक विद्वान, सहृदय महिला हैं जो स्वयं अनाथ थीं। उनका पालन-पोषण शिक्षण एक डाक्टर दम्पत्ति ने किया और अब वे इस आश्रम की अध्यक्ष हैं। वे चाहती हैं कि आप इस अनाथ आश्रम को देखें।

''अच्छी बात है, देखूंगी, लेकिन हंसी आती है एक बात सोचकर''

''कौन-सी बात?''

''कि आपके सुरेन्द्र नगर की एक दिशा में है एक सुन्दर धनाढ्य मंदिर यानी अनाथ बच्चे पैदा करने का एक आश्रम! और दूसरी दिशा में उन अनाथ बच्चों को पालने-पोसने का आश्रम। मंदिर वाले अनाथ आश्रम को पालन-पोषण के लिए कुछ चंदा तो देते ही होंगे।''

''नहीं।'' मित्र एक उदास हंसी हंसकर बोले। आश्रम को धन की बहुत ज़रूरत है और धन बहुत कम मिल रहा है।

तेरह एप्रिल की सुबह। अज्ञानता, लोलुपता, डर और स्वार्थ का परिणाम, सड़कों, गलियों, खेतों से उठाई और आश्रम में पाली जा रहीं हर उम्र की बच्चियां, हंस कर मुझे नमस्ते कर रही हैं। भाग कर पानी का ठंडा गिलास मेरे लिए ला रही हैं। अपनी पढ़ाई, सिलाई, दस्तकारी की चीज़ें दिखा रही हैं। गुजरात के सुन्दर लोकगीत और नाच सुना-दिखा रही हैं। कितनी ख़ुशी की बात है कि ये बच्चियां सुन्दर शिक्षा पा रही हैं। लेकिन क्या इन बच्चियों को वाकई पता नहीं कि मां-बाप नाम की प्रिय चीज़ भी दुनिया में कोई होती है? यानी पैदा होते ही मां-बाप, भाई-बहन, चाचा-ताया, बुआ, मौसी आदि पारिवारिक प्रेम बन्धन के शब्द इनके जीवन कोष से कट गए! इन शब्दों से, इन प्रेम बन्धनों से विहीन इनके मानसिक जीवन में क्या-क्या शून्यताएँ होंगी। धर्म मन्दिर अनाथों को पैदा करके भी धर्म मन्दिर की सच्चाई, उच्चतर पवित्रता का दावा करता है और अनाथ आश्रम चुपचाप मन्दिर का कलंक धोता-संभालता जा रहा है। लाखों आदमी मंदिर से प्रसाद लेने आए। देवताओं, पुजारियों के सन्मुख सर झुकाने आए। अनाथ आश्रम की ओर किसी ने देखा भी नहीं, अगर देखा भी तो घृणा की दृष्टि से!

तेरह एप्रिल की शाम। सुबह, शाम, रात। सुबह शाम रात, इतने दिन मित्र के घर के सामने सड़क हज़ारों ग्रामीण जूतों की ठक-ठक चर्र मर्र गम्भीर पग ध्वनि, कभी बरसात की बूंदों की तरह, कभी किसी फ़ौजी मार्च की तरह, बराबर कानों में पड़ रही थी। लेकिन आज शाम सड़क सपाट है, सूनी है। कहां गयी सूरज सी शान रखने वाली पगड़ियां और चुन्नटदार अंगरखे। मेरा मन भी एकाएक एक अजीब से एकाकीपन से, शून्यता से भर उठा है।

एक दफ़ा और मंन्दिर में जाऊंगी भाई। मैं मित्र से कहती हूं।

मन्दिर में कुछ कशिश है यानी के। मित्र से हंसकर कहते हैं।

''हां है। भीड़ चली गयी उसे अकेला छोड़कर। उदास होगा मंदिर। बम्बई लौटने से पहले एक बार उसे मिल आना चाहती हूं।''

''चलिए।''

सुरेन्द्रनगर से दूधरेज जाने वाली तीन मील लम्बी सड़क, भीड़ का भार उतार कर, हल्का महसूस कर रही है। कपास, मूंगफली के विशाल खेत उदासी में डूबे से है। पैंतालिस बरस की अवधि के बाद इतनी भीड़ उन पर से गुज़री थी!

क्षितिज पर आधे डूबे पीले सूरज की किरणें, मिट्टी के ढेलों, ऊँचे टीलों को चूम रही हैं। मंदिर के किनारों पर लहरा रही हैं।

चारों ओर एक शांत एकाकीपन, मानों यहां कभी कोई समारोह हुआ ही नहीं था।

मंदिर के बाहर खड़े हैं, घूम रहे हैं, दूधरेज गांव के थोड़े बहुत लोग, अति-साधारण कपड़ों में। कहां गयी वह आठ दिन की मोर पंखी इन्द्रधनुषी रंगीनी? रंगीनी पंछियों की तरह आयी और रंगीन पंछियों की तरह चली गयी अपने-अपने खेत, अपने-अपने गांव कहां गए, वे गत्ते के हनुमान जी, जो बिजली का बटन दबाने पर श्रीराम को हज़ारों बार प्रणाम कर रहे थे? कहां गए वे १०८ महन्त? नहीं, वे तो विराजमान होंगे इसी मन्दिर की चारदीवारी में। बस, और आगे नहीं जाऊँगी। छिः यह कैसी अंध भावुकता है मुझमें भी। लेकिन इसी क्षण सुनसान मन्दिर के अन्दर नगाड़ा गूंजने लगा है। आरती का वक्त है।

''सुना है, शाम की आरती सुन्दर होती है। मन्दिर के अन्दर चलोगी बहन?'' मित्र पूछते हैं।

''चलिए।''

आरती का अर्थ संगीत ही होता है। शायद कोई सुन्दर श्लोक, भक्ति-भजन सुनने को मिलेंगे।

मन्दिर का चौक पार करके सीढ़ियां चढ़कर हम मन्दिर के अन्तरतम भाग में, पूजा की मूर्तियों वाले भाग के पास पहुंच जाते हैं। कोई श्लोक, कोई भक्ति भजन नहीं, सिर्फ़ एक शक्तिशाली नगाड़ा गरज रहा है, गूंज रहा है चारों ओर, हर ताल, हर लय में।

लोहे के मजबूत सीखचों वाले द्वार खोल दिए गए हैं। फटे पुराने वस्त्र पहने दूधरेज के स्त्री-पुरुष बालक, आरती के लिए आ रहे हैं। वृद्धों की संख्या अधिक है। सीखचों वाले दरवाज़े के अन्दर जाने के बाद भी कोई देवता को नहीं छू सकता, क्योंकि सींखचों वाले दरवाज़े के बाद सींकचों वाले पिंजरे हैं। पिंजरों में दीपक नहीं। मन्दिर के पुराने रोशनी करने के सुन्दर साधन नहीं। जलती, बुझती, लाल, नीली, पीली, गुलाबी, जामुनी, हरी बिजली की बत्तियां अपना

सस्ता ओछा-सा चमत्कार दिखा रही हैं। उनकी चमचमाहट में अपने-अपने लौह पिंजरों के भीतर आसन जमाए बैठे हैं, भगवान राम और सीता, भगवान शिव और पार्वती, भगवान विष्णु और लक्ष्मी सभी सोने-चाँदी हीरे पन्ने, मणि मालाओं से सज लदे हुए हैं। पुजारी लोग मूर्तियों के आगे कुछ पढ़ते हुए आरती के दीपक घुमा रहे हैं और भक्तों पर आगमन की जल-बूँदें छिड़क रहे हैं। ग़रीब भक्त लोग धन्य धन्य महसूस कर रहे हैं।

मंदिर की महराबों पर मकड़ी के जाले जमे हुए हैं। एक तरफ़ मंदिर में रोशनी करने के लिए पिछले वक्तों की सुन्दर लैंपे इधर-उधर लुढ़क रही हैं। स्तम्भों पर तराशी मूर्तियों पर, महन्तों के छोटे बड़े धूलि भरे भूले-बिसरे फ़ोटो हैं। इधर-उधर कुछ बड़े-बड़े आइने, बेअर्थ लगे हुए हैं। पूजा अर्चना की रस्में सी चल रही हैं। निर्धन भक्त अपने धनाढ्य भगवानों को देख-देख संतुष्ट हो रहे हैं। भक्तों के पास कुछ नहीं तो क्या हुआ उनके भगवान तो मुक्तामणियों से लदे हैं!

बाहर, सफ़ेद पत्थर का एक शिव का बैल बैठा हुआ है। एक अति निर्धन आशाहीन आंखों वाला वृद्ध बार-बार उस बैल की परिक्रमा करता है, उसके आगे हाथ जोड़ता है, उसके सींगों की बलाएं लेता है। इस निर्धन को क्या चाहिए? अपना कोई खोया हुआ बैल, कोई खोयी हुई दो बीघा ज़मीन?... आरती की भावनाओं से विपरीत भावनाओं में खोई हुई मुझे, एक ग्रामीण वृद्धा, चोर की तरह पकड़ लेती हैं।

''मंदिर में आई हो तो भगवान की प्रार्थना करो। यूं, हाथ जोड़कर।'' वह मेरे दोनों हाथ पकड़कर स्वयं जोड़ती है। मैं चुपचाप उसकी बात मान लेती हूं और जिस जिस प्रकार से भी प्रार्थना करने को कहती है, करती हूं। वृद्धा खुश है कि इतनी जल्दी बात मानने वाली कोई मिल गयी। मेरे मित्र, मुझसे यह सब कहते देख हल्के मुस्करा रहे हैं। मंदिर की पहली सीकचों की दीवार के बाहर कुछ ग्रामीण बच्चे, अधेड़ वृद्ध खड़े होकर गा रहे हैं।

रघुपति राघव राजा राम
पतित पावन सीता राम।

बस यही दो पंक्तियां, और इनके साथ ही जुड़ा कोई भारतीय गीत, जिसका न सिर है, न पैर, जिसमें न सुर है न ताल।

●

यादें

Finis

एक
समर्पित पत्र मालिका

यहां बाकी हैं अभी कितने निशां और...

मेरे प्रिय,

बरसों की आदत है, सुबह घर से चल कर करीब ही, समुद्र किनारे सैर करने की, लहरों में तैरने की... पहले भी आया करती थी... आज भी आई हूं...

सवेरे के आठ नौ का वक्त है। सुबह तड़के, समुद्र किनारे सैर करने वालों की टोलियां लौट चुकी हैं। जुहू का लहराता, रेतीला भीगा भीगा, विशाल मैदान खाली सा, एकांत सा है।

मैं टहल रही हूं किनारे की छोटी छोटी, सरसराती लहरों में, कई कुछ सोच रही हूं... गुजरे वक्तों में खो जा रही हूं।

रोज़ सुबह हम आया करते समुद्र किनारे। जब बच्चें छोटे थे तो अधिकतर उनकी छुट्टियों के दिनों में, उनके साथ। हम सभी तब, झुक झुक कर, छोटी बड़ी सीपियां चुन चुन अपनी झोलियां भरते। छोटे बड़े घोंघे और शंख खोजते। रेत के घर पहाड़ियाँ बनाते। बच्चों को तैरना सिखाते। न सिर्फ अपने ही, बल्कि पड़ोसियों के बच्चों से भी खेलते...तुम बच्चों को तैरना सिखाते और सर के बल खड़े हो कर शीर्षासन किया करते। बीच पर टहलते लोग तुम्हें देखते हुए प्यार आदर से मुस्कराते। कभी हम अपने संबधियों, मित्रों के संग समुद्र किनारे आते। साहित्य, राजनीति, फ़िल्मों और थिएटर के बारे में बातें बहसें होती। एक बार तुमने मुझे एक एक करके, रोज मिर्ज़ा ग़ालिब की नज्मों के अर्थ और भाव बताने और समझाने का कोर्स सा शुरु किया था। सबसे पहली नज्म ही कितनी ख़ूबसूरती, गहराई और विशालता भरी थी:

नक्शे फरियादी हैकिसकीशोखिए तहरीर का
कागजी है पैरहन हर पैकरे तस्वीर का...

''इन नज़्मों को समझने के लिए ज़िंदगी और उसके उतार चढ़ावों का अनुभव होना जरूरी है,'' मैं कह रही थी।

''अनुभव होना तो ज़रूरी है लेकिन उन्हें किन शब्दों-भावों में ग़ालिब ने किस कमाल के अंदाज़ से बयान किया है,'' तुमने कहा था।

और फिर हम दोनों लहरों में तैरने लगे। मैं कम गहराई में और तुम पक्के तैराक की तरह ज़्यादा गहराइयों में। तुम तो जुहू से वरसोवा तक की दूरी तैरते चले गए। उस वक्त तुम्हारा पूरा पूरा साथ दे रही थी हमारी अलसेशियन, रूसी नाम की 'लायका'।

मैं किनारे की रेत पर आराम से लेट गई। कभी कभी किनारे पर कुछ दूर खड़े नारियल वृक्षों की भीगी भीगी परछाइयां रेत पर नजर आतीं। कभी समंदर के ऊपर उड़ते बरफ़ से सफ़ेद 'सी गल' पक्षी दिखाई देते, जिनकी नज़रें लहरों पर लगी होतीं कि कब कोई भोली मछली लहर

पर दिखाई दे और वे उस पर झपटें। दीखने में भोले पर ताक में उड़ रहे पंछियों को देखती हुई मैं कब सो गई, मझे पता नहीं।

तुम्हारे स्पर्श से मैंने आंख खोली और हैरान हुई कि मैं घर में नहीं, अपने समुद्र तट के घर में हूं। फिर हम दोनों घर की ओर चल पड़े थे।

''आज तो इतना तैरा हूं कि थकावट हो गई है। और आज तो फिल्म का सीन भी मुश्किल सा है,'' तुमने कहा था।

''रोज़ ही तो आप यही कहते हैं किआज दूर नहीं जाउंगा पर...''

''पर गहराइयों में तैरने के लुत्फ़ का तुम्हें अंदाज़ा नहीं। यह भी एक नशा है,'' तुमने समंदर की तरफ़ एक आशिक की तरह देखते हुए कहा था।

मुझे वाकई रश्क होता है, मैं क्यों नहीं गहराइयों में दूर दूर तक तैर सकती? मैं सोच रही थी।

घर पहुंचे, तैयार हो कर तुम नाश्ते के लिए आए. खाने का डिब्बा और टाइपराइटर मोटर में रख दिए गए...

''कल डायरेक्टर साहब मुझसे कुछ नाराज़ भी हुए और ख़ुश भी,'' तुमने हंस कर बताया था।

''क्यो?''

''मेरे इस टाइपराइटर की वजह से। जब कबी मेरे शांट्स नहीं हो रहे होते, तो मैं मेकअप रूम में टाइप करने लगता हूं। कल जब स्टूडियो पहुंचा तो पहले किसी और के शॉट्स लिए जा रहे थे: 'फ़िल्मी आत्मकथा' की अगली किस्त टाइप करने लगा। दरअसल अपने मेकअप रूप के एकांत में मुझे कुछ वातावरण भी ठीक मिलता है। टाइप कर रहा था कि डायरेक्टर साहब आ गए। मुझे टाइप करने में मगन देख कर कुछ नाराज़गी से कहने लगे, ''बलराजजी, आप टाइप करने में इतने मगन हैं कि लगता है कि आपको हमारी कहानी के हीरो केपार्ट की तो याद भी नहीं होगी।''

''फिर?'' मैंने कुछ सोचते हुए पूछा था।

तुमने हंस कर बताया था, ''मैंने जवाब दिया, 'मेरा ध्यान फ़िल्म के हीरो के पार्ट की तरफ़ से बिल्कुल नहीं हटा। मैं पूरी ज़िम्मेदारी से तैयार हूं। चलिए, शॉट ले लीजिए।' मैं मेकअप करके और कपड़े पहन कर तैयार तो पहले ही था। सेट पर गए। सिर्फ़ दो या तीन ही टेक हुए और शॉट बिल्कुल ठीक हुआ। सभी को पसंद आया। सारा दिन बढ़िया शूटिंग हुई। पैकअप के वक्त डायरेक्टर साहब ने बहुत प्यार से मेरे पास आ कर कहा, 'बलराजजी, आप एक सीरियस काम से दूसरे सीरियस काम पर इतनी सहजता और खूबसूरती से कैसे मन तन लगा लेते हैं? यह राज़ हमें भी सिखाइए।' 'लगन और प्रैक्टिस की बात है यार,' मैंने कहा।

मैं बात सुन रही थी और मन ही मन गर्व कर रही थी। किसी और के लिए यह असाधारण बात, मेरे लिए एक जानी मानी बात है। तुम्हारे रूप से भी ज़्यादा मुझे तुम्हारे गुणों पर मान रहा है।

नाश्ता करने के बाद, मोटर स्टार्ट करके तुम फाटक से बाहर निकल, स्टूडियो की ओर चले गए। मैं हाथ हिलाती रही...

लहरें, लहरें, लहरें... एक के बाद एक, आगे आ रही हैं, पीछे मुड़ रही हैं... मैं टहल रही हूं, लहरों में...

समंदर किनारे की ज़र्रा ज़र्रा रेत पर तुम्हारे मेरे, रोज़ संग संग टहलने के निशान अभी भी ताज़ा महसूस हो रहे हैं और लहरों में, संग संग तैरते हुए तुम्हारा स्पर्श भी। लेकिन...

इस 'लेकिन' शब्द का जवाब कौन देगा? लहरें? रेत? हवा के सरसराते झोंके?·····

तुम्हारी
तोष

●

प्रिय बलराज,

मैं बैठी हूं उसी सीढ़ी पर, जिस पर तुम ही बैठा करते थे, हर प्रभात नियम से, टाइपराइटर पर अपनी कहानी के कुछ पन्ने टाइप करने के बाद, नीचे आ कर अखबार पढ़ने और कभी चाय का एक और कप पीने के लिए।

महसूस कर रही हूं, तुम्हारी हंसमुख मनमगन मौजूदगी, निकटता, दक्षिण भारतीय ढंग से दोहरी की पहनी लुंगी में, काली फ्रेम की ऐनक लगाए, ऐसे ही एक सावन की मनचली बरसात के दिन पंचवटी से लगते शांत वातावरण में, गोरे रंग के, आधुनिक राम से दीखते तुम।

और खाने की मेज़ के पास ही मैं भी चाय का कप और एक मराठी दैनिक लिए बैठी हूं। फ़ोन की घंटी बजती है। मैं रिसीवर उठाती हूं।

''प्रोग्राम पक्का है न?'' डॉक्टर मित्र पूछ रहे हैं।

''किसका फ़ोन है?'' तुम पूछते हो।

''डॉक्टर का। पूछते हैं प्रोग्राम पक्का है?''

''हां, सौ फ़ीसदी पक्का,'' तुम अखबार पढ़ते हुए मुस्करा कर कहते हो।

''पर यह घमासान बरसात क्या जाने देगी खंडाला?'' हल्की सोच में हूं फिर भी हंस कर पूछती हूं।

''बादलों का स्टॉक अब कुछ कम होता दिखाई पड़ता है। शाम तक थम जाने के आसार हैं। देर के बाद डॉक्टर मित्रों के साथ छुट्टी मनाने का मौका बना है। जरूर जाएंगे।'' तुम दरवाज़े से बाहर झांक कर कहते हो।

''प्रोग्राम सौ फ़ीसदी पक्का है।'' मै हंस कर अपनी डॉक्टर सखी से कहती हूं।

''आज मेरे दो तीन ही शाट्स हैं स्टूडियो में। दोपहर का खाना घर में ही खाऊँगा।'' और तुम तैयार होने के लिए ऊपर चले जाते हो।

शाम की चाय के वक्त तुम कहते हो, ''जरा डॉक्टर को फोन करके पूछो कब चलना है?'' मैं फ़ोन कर पूछती हूं।

''हम तैयार ही हैं। पर दो तीन मरीज़ों को जरूर ही देखना है। उसके बाद हम फ़ोन कर देंगे। आप गाड़ी ले कर आ जाएं।'' मेरी डॉक्टर मित्र कहती है।

''एक डेढ़ घंटे से कम नहीं लगेगा इन्हें,'' मैं फिर कुछ सोच में पड़ी कहती हूं।

''जब तक मैं कुछ चिट्ठियां टाइप कर लेता हूं।'' और तुम अपनी स्टडी में चले जाते हो।

मैं भी तानपुरा छेड़, मियां मल्हार के आलाप का रियाज़ करने लगती हूं। रियाज़ कर रही हूं और देख रही हूं सामने की खिड़की के कांचों पर बरस कर लुढ़क रही, हीरे की कनियों सी बूंदें...

फ़ोन की घंटी बजती है। रिसीवर उठाती हूं। डॉक्टर दंपति कहते हैं, वे तैयार हैं।

टेलीफ़ोन की घंटी सुन कर तुम भी नीचे उतर आते हो। छोटी बेटी भी अभी अभी भीगी भीगी सी, कॉलेज से लौटी है। कह रही है,

'डैडी, ममी, इतनी बारिश में सुबह आप मुझे तो कॉलेज जाने से रोक रहे थे लेकिन इतनी बारिश में शाम के वक्त हम बच्चें आपको खंडाला जाने की इजाज़त दे रहे हैं!'

''थोड़ी सी छुट्टी ममी, डैडी और डॉक्टर अंकल आंटी को भी चाहिए थी। फिर जाने कब इकट्ठे हो सकेंगे। और अब बारिश का ज़ोर भी कम है।'' तुम बेटी को दुलार कर कहते हो।

''डॉक्टर अंकल-आंटी आपके साथ हैं, इसीलिए हमें ज़्यादा फ़िकर नहीं। वहां जा कर घर फ़ोन कर दीजिएगा। अपना ख़्याल रखिएगा। '' किताब पढ़ती बड़ी बेटी कह रही है।

इन सुखद घड़ियों में और सावन की झड़ी में हम कार में बैठते हैं। अच्छी या रद्दी, किसी भी सड़क पर कोई तकलीफ़ न देने वाला कुशल, अनुभवी हमारा ड्राइवर अफ़ज़ल जल्दी ही डॉक्टर मित्रों के घर के आगे ले आता है।

''हैलो, हैलो। आखिर प्रोग्राम बन ही गया।'' और वे बरसातियां उतार गाड़ी में आगे पीछे बैठ जाते हैं।

लगातार बारिश और खंडाला की ओर जाती बड़ी सड़क पर भारी ट्रैफ़िक की वजह से सड़क में खड्डों गड्डों की भरमार है। ढलती शाम में, बार बार धुंधला जाते कार के आगे पीछे के कांचों को पोंछते और हमसे पोंछवाते हुए कुशल ड्राइवर अफ़ज़ल, दाएं बाएं या सड़क के बीच में पड़े खड्डों से संभलता, आगे पीछे से पड़ रही चुंधियां देने वाली ट्रैफ़िक की हेडलाइटों का भी मुकाबला करता धीरे धीरे शहर छोड़ता, पहाड़ियों की ओर बढ़ रहा है। बस्तियां पीछे रह गई हैं।

गाड़ी ठीक चल रही है। लेकिन कभी कभी ऐसा झटका खा रही है कि थर्मस में से कप में उड़ेली जा रही कॉफ़ी न सिर्फ़ मेरे ही कपड़ों पर, बल्कि मेरी मित्र डॉक्टर की जींस पर भी पड़ती है लेकिन मेरे 'सॉरी, माफ़ करना' कहने से पहले ही वह रुमाल और तौलिए से अपने कपड़े पोंछ रही हैं। चौथी क्लास में पढ़ने वाली किसी लड़की की तरह है मेरी सखी की खिलखिलाहट, जिसमें हम सभी शामिल हो गए हैं। बच्चों की तरह कॉफ़ी पी कम जा रही है

और कपड़ों पर अधिक लुढ़क रही है। बढ़ते अंधेरे में सैंडविच और बर्फ़ी भी टटोल टटोल कर बैग में से निकाल कर एक दूसरे को दिए जा रहे हैं। सफ़र के दौरान घट रही छोटी छोटी घटनाओं ग़लतियों, बातों पर हंसी मज़ाक हो रहा है। कभी राहगीरों के बारे में, तो कभी अपने आप पर, कभी डॉक्टर दंपति के मरीज़ों के वहमों के बारे में, तो कभी स्टूडियोज़ में रोज़ घटती छोटी छोटी कॉमिक घटनाओं के बारे में, एक्टरों के अजीबोग़रीब वहमों के बारे में... मैं इस अपनी इस छोटी सी प्यारी सी महफ़िल का अभिन्न अंग होते हुए भी सोचती हूं कि अपने-अपने पेशों को इतनी गंभीरता और ज़िम्मेदारी से निभाने वाले मेरे यह प्रवीण कुशल प्यारे साथी, इस वक्त अगर इनको कोई देखे तो माने नहीं कि यह वही हैं। यह डॉक्टर, जिनके पास लोग अपने जीवन और स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए पूर्ण विश्वास से आते हैं। और दूसरे, मेरे सखा, मेरे पति, जो अपनी अनोखी और आदर्शपूर्ण लेखन कला और बेमिसाल अभिनय से इन्सान और समाज को, उसका असली चेहरा पेश करते हैं। कितनी कड़ी मेहनत करते हैं यह मित्र अपने अहंकाररहित सर्व हितकारी पेशों में दिन पर दिन। इनको अपनी तन मन की थकान उतारने के लिए! फ़ुरसत की ऐसी घड़ियों की कितनी ज़रूरत है, जिसमें वे थोड़े समय के लिए बच्चे बन जाएं...

हमारी इस हंसी ख़ुशी में चुपचाप शरीक और ख़ुश, अफजल भी चतुराई से अब खंडाला पहाड़ी की सर्पीली और कठिन चढ़ाई चढ़ रहा है।

बरसात का ज़ोर काफ़ी कम हो गया है लेकिन ढलानों से ऊपर चढ़ने और फैलने लगी है पहाड़ी धुंध, जिसमें राह टटोलती हमारी कार आसमान और धरती के बीच कहीं खो गई सी, उड़ती सी लगती है। कितना ख़ूबसूरत है यह पहाड़ी धुंध बरा अंधेरा। है सुंदर, पर खतरे से ख़ाली भी नहीं। हम सभी चुपचाप हैं और एक दूसरे के कितने करीब! धुंध में टिमटिमा रही गांव घरों की बत्तियां, ऊपर, नीचे, नज़दीक, दूर।

शांत शीतल सन्नाटे में धीमे से घूं-घूं गाती कार धीरे-धीरे दो तीन गुफ़ाएं भी पार करके आख़िर पहुंच ही गई है खंडाला हिल स्टेशन पर।

''क्या वक्त होगा?'' डॉक्टर अपनी कलाई घड़ी देखते हैं और कहते हैं, ''माई गॉड! दस बज चुके हैं।''

''पर पहुंच तो गए हैं न,'' तुम कह रहे हो।

हम सभी अपने एडवेंचर की सफलता से इतने खुश हैं मानो एवरेस्ट की ऊंचाई चढ़ ली हो।

''शुक्रिया अफ़ज़ल।'' हम सभी कहते हैं।

''इस वक्त कोई होटल भी खुला होगा क्या?'' मैं बाहर इधर-उधर देखती हुई कहती हूं।

''देखते हैं। पता करते हैं। रात के लिए जगह न मिली तो अपनी कार तो है ही।'' तुम कहते हो।

''हां, और केले, सैंडविच और बिस्किट भी हैं।'' मैं कहती हूं। पर कॉफ़ी नहीं बच सकी हिचकोलों की वजह से।

''वह देखो, उधर, ऊपर, ज़रा सी चढ़ाई पर। वहां बत्तियां जल रही हैं। वह होटल जरूर खुला होगा। चलो अफ़ज़ल,'' तुम कहते हो। और कार होटल की तरफ ले जाती चढ़ाई चढ़ने लगती है........

''कितना हरा भरा सुंदर लग रहा है बगीचा। बरसात से हरा भरा हुआ। है न मां जी" कोई कह रही है।'' तो मेरा ध्यान टूटता है कमरों की सफ़ाई करने आई एक सुंदर सी नवयुवती शारदा मेरे पास आ कर खड़ी कह रही है।

''हां'', मैं मुस्कराती हुई कहती हूं।

''कैसे गोल-गोल चक्कर बनाती हैं गिरती हुई बूंदें।'' शारदा कहती है।

''चक्कर बन रहे हैं और फिर ताल के पानी में गुम हुए जा रहे हैं।'' मैं कहती हूं।

मेरी आंखों में खंडाला की धुंध की नमी है पर होठों पर तुम्हारी रची कविता की एक पंक्ति भी-''रुकना है मौत, जीना है आगे बढ़ना।''

आज कौन कौन से ज़रूरी काम करने हैं, मैं सीढ़ी से उठते हुए सोच रही हूं।

-तुम्हारी

तोष

●

प्रिय बलराज,

रावलपिंडी, लाहौर, दिल्ली या बंबई में पढ़ाई और काम करने के लिए रहते हुए भी हमारा परिवार स्वभाव से पर्वतवासी ही तो रहा है न। काम से कई कई बार छुट्टी ले कर हम शहरों से भाग, पहाड़ी वनों, नदियों, झीलों, झरनों की शरण में स्वास्थ्य और शांति पाने के लिए किस उत्साह से जाते थे न।

मुझे याद आ रहा है वह वक्त जब मुझे पैराटाइफ़ाइड हो जाने से, बिस्तर पर पड़े रहना पड़ा था। बुख़ार निन्यानवे और सौ के बीच में अटक गया था। तुम चिन्तित थे। डॉक्टर ने कहा, ''यह अटका बुख़ार आबो हवा बदलने से ही ठीक होगा।''

''समझ गया डॉक्टर। तोष दरअसल पहाड़िन है। इसकी तबीयत हिमालय दर्शन करने पर ही ठीक होगी,'' तुमने हंस कर कहा था।

मैं मन ही मन खुश हुई थी और हमारी प्यारी बेटियां भी तो शिमला के पास लारेंस स्कूल में पढ़ रहीं थीं। उनके स्कूल का सालाना जलसा क़रीब आ रहा था। तुमने अपने सेक्रेटरी से शूटिंग स्थगित करने को कह कर शिमला जाने का प्रोग्राम बना लिया।

कितने चाव से तुमने मेरे लिए तरह तरह की ऊनी पोशाकें बनवाईं थीं। और मेरे अनुरोध करने पर अपने लिए भी। मेरे हाथ का बुना स्वैटर तुम्हें बहुत पसंद था।

दोपहर को हवाई जहाज से हम दिल्ली पहुंचे। दिल्ली में अपने दोस्तों से मिल कर दूसरे दिन, शिमला जाने के लिए एक टैक्सी का इंतज़ाम किया। कितना अच्छा लगा था हमें दिल्ली से हरियाणा, हरियाणा से पंजाब और पंजाब से गुजरते हुए हिमाचल प्रदेश तक का सफ़र। गर्मियां खत्म हो चुकी थीं और हवा में पतझड़ की हल्की ठंडक थी। सुबह की धूप सुखद लग रही थी। चलती टैक्सी में उत्तर भारत की ख़ुशगवार हवा आरपार हो रही थी। मीलों-मील लंबी, अच्छी बनी सड़क के दोनों ओर इमली, युकलिप्टिस आदि के छायादार पेड़, दूर-दूर तक उपजाऊ धरती। खेतों में पकी फ़सलों के बीचों बीच छोटे छोटे घर और बस्तियां, सीधे सादे से लोग। बीस पच्चीस मील चलने के बाद हम ज़रा सा कहीं रुकते फिर चल पड़ते। हम दोनों पीछे की सीट पर थे। पर जब कभी मैं बैठी हुई थक जाती तो मेरे लेटने के लिए सारी सीट दे कर तुम ड्राइवर के पास आगे बैठ जाते। लेटे लेटे ही मैं तुम्हें आकाश में उड़ते रंग रंगीले पक्षी दिखाती रही थी।

इस सफ़र के दौरान हमें अपनी टैक्सी और उसके ड्राइवर के बारे में कुछ रोचक और चिंता करने वाली बातें पता चलीं। मसलन, ड्राइवर की सीट के साथ वाला दरवाज़ा अक्सर नोटिस दिए बिना खुल जाता। ड्राइवर उसे झपाटा मार कर फिर बंद कर देता। दूसरी बात थी कि किसी पड़ाव के चौराहे के ट्रैफ़िक में अपनी गाड़ी का रिवर्स गियर काम न करता और तीसरी

बात यह कि वह ड्राइवर सिर्फ़ एक ही नज़र से देख सकता था। यह जान कर हम एक दूसरे की तरफ़ देख कर सोच में पड़े, हल्का सा मुस्कुराए भी। कल क्या 'फिल्म टैक्सी सर्विस' के मैनेजर साहब ने यही टैक्सी और यही ड्राइवर दिखाए थे? या कोई और।

''रास्ते में कहीं कोई सर्विस स्टेशन देखो और गाड़ी दुरुस्त करवा लो भाई। पहाड़ी रास्ता चढ़ना है।''

''साहेब, इस रास्ते में कहां कोई काम का सर्विस स्टेशन होगा? फिर वक्त भी जाया होगा। शिमला पहुंच कर ठीक करवा लेंगे।'' ड्राइवर ने इत्मीनान से कहा।

चंडीगढ़ से कुछ आगे पहुंचे तो चढ़ाई शुरू हुई और कालका स्टेशन के करीब, शिमला की मनोरम पहाड़ियों के दर्शन हुए। दोपहर ढल रही थी। पेड़ों के साए लंबे और गहरे हो रहे थे। पहाड़ी ठंडक का सुखद अनुभव होने लगा था। ज्यो-ज्यों टैक्सी चढ़ाई चढ़ने लगी, त्यों-त्यों पहाड़ी पौधों, पेड़ों, झाड़ियों और ढलवानों पर सीढ़ियों सी उतरती खेतियों के नज़ारे सामने आने लगे और मेरी तबीयत भी सुधरने लगी।

टैक्सी में से दीख रहे थे ढलवानों पर पीले, नीले, कासनी सफ़ेद वन फूल। जंगली अखरोट, खुमानी के पेड़ों के पत्ते सूख कर खास पर गिर बिखर रहे थे। शाम के समय जगमगाने लगे थे देवदार और चीड़ के पेड़ों के नोकीले गुच्छे। चहकते पक्षी लौट रहे थे अपने घोंसलों में। कभी पहाड़ी कोयल की कूक गूंज उठती। और अब कुछ और चढ़ाई पर तो शिमला की अनगिनत बिजलियों का हीरक हार जगमगाता दिखाई देने लगा था। पर्वत मालाओं के परे, कहीं दूर, संध्या की धुंध में ज़रा सी दिखने लगी थीं हिमाचल की बर्फ़ीली चोटियां।

अपार सौंदर्य से घिरे थे हम! मौन, मंत्रमुग्ध! धीरे धीरे, घूमती चढ़ाइयां चढ़ते, हम पहुंचे शिमला से कुछ नीचे, कसौली की मनोरम पहाड़ी पर और वहां ठहरे पहले ही से बुक किए एक होटल में। कसौली के सामने सनावर की पहाड़ी थी, जिस पर था हमारी बेटियों का लारेंस स्कूल। कल प्यारी बेटियों से मिलन होगा। वे भी हमारी राह देखती होंगी बेसब्री से।

हर तरह से बढ़िया स्कूल के वार्षिक उत्सव के तीन दिन कितने आनंद से गुज़रे थे। दूर-दूर से आए माता पिता अपने बच्चों द्वारा पेश किए गीत, नाटक, कला, खेल, प्रदर्शनियां चाव और गर्व से देख रहे थे। सभी की रंगीली गर्म पोशाकें, ठंड से गुलाबी हुए स्वस्थ बच्चों के गाल, चमकती आंखें, मुस्कराते चेहरे, हंसी खुशी, माता पिता, अध्यापकों और बच्चों का प्रीत मिलाप, पहाड़ी मेले सा वातावरण। उत्सव के बाद, बेटियों के साथ रहे होटल के कमरे में फिर उन्हें स्कूल में छोड़, हम आगे चल पड़े, शिमला की ओर, उसी टैक्सी में जिसके रिवर्स गियर, स्टीयरिंग के साथ के दरवाजे और ड्राइवर साहेब की नज़र में गड़बड़ थी।

समुद्र तट से पहले पांच हजार और अब आठ हजार की ऊंचाई पर बसे छोटा शिमले के एक होटल में खाना खा कर, कुछ और गर्म कपड़े पहन, हम चल पड़े थे आगे, नौ हज़ार फुट की ऊंचाई पर स्थित नारकंडा के लिए। रास्ते में निहारते रहे हिमाचल प्रदेश की नीली, हरी, भूरी ऊंची नीची लहराती अनगिनत पर्वत लहरें! देखते रहे शिमला शहर के शौकीन निवासियों

और सैलानियों के स्वस्थ चेहरे, रंगीली पोशाकें और पहाड़ी पोशाकों में सजे हिमाचली लोग। शाम ढले तक हम लंबा सफ़र करते पहुंच गए समतल शहरों और पहाड़ी शहरों से भी दूर, वन पर्वतों से घिरे एकांतमय सौंदर्य स्थल में दो तीन दिन रहने के लिए।मैं हिमालय की ऊंची, बर्फीली चोटियों के दर्शन कर, उन्हें मन ही मन प्रणाम कर हर तरह से स्वस्थ होने लगी थी।

रात को हम अपने कमरे की अंगीठी की गर्मी के पास बैठे खाना खा रहे थे। छोटी छोटी लकड़ियां चटख चटख जल रही थीं। सोने के लिए बिस्तरों पर रखी थीं मोटी रज़ाइयां और कंबल।

दो दिन हम टूरिस्ट गैस्ट हाउस के आसपास की ऊंची पहाड़ियां चढ़ते, उतरते रहे। कभी हम आलू की खेती करने वालों के पास बैठते और कभी खच्चरों पर पड़ाव, पड़ाव छोटा मोटा सामान ढोने वाले पहाड़ियों से दोस्ती करते। ''क्यों न हम शहर छोड़ कर यहीं आ बसें,'' हमने एक दूसरे से कहा था। काश, ऐसा हो सकता!

तीसरे दिन, हम प्रभात समय ही घोड़ों पर सवार हो कर चल पड़े थे दस हज़ार फ़ुट ऊंची 'हातू चोटी' पर चढ़ने के लिए। मैंने तुम्हें यह नहीं बताया था कि सुबह सवेरे चलने से पहले, मैं बर्फ़ जैसे ठंड पानी से नहा भी चुकी थी।

गहरे नीले, लंबे, घने चीड़ वनों के बीचों-बीच की पगडंडियां धीरे धीरे चढ़ते, राह में आए छोटे ताल पार करते, दोपहर तक हम पहुंचे थे 'हातू चोटी' पर। वहां नर्म हरी घास पर छिटके हुए थे नन्हें वन फूल। वहां था पतझड़ की ठंडी धूप वाला गहरा नीला असीम आकाश और ठंडी स्वच्छ पवन। करीब ही दीखती पर अभी भी बहुत दूर थीं उन्नीस बीस हज़ार फ़ुट ऊंची हिम भरी चोटियां हिमालय की जो अप्सराओं सी सुंदर, रहस्यमई मुस्कान बिखेरतीं:- प्रकृति के उस अनुपम अलौकिक रूप को देखते ही रह जाना, उसकी शांत आनंदमई खामोशी को चुपचाप सुनते रह जाना ही उस समय हम दोनों के प्राणों की भाषा थी। यूं महसूस होता है कि हम दोनों की रूहें अब भी वहीं हरी घास में छिटके वनफूलों में विचरण कर रही हैं।...

और अरे! मैं कैसे भूल गई? नीले, पीले, लंबे मोर पंखों वाले उस पंछी को? जो हातू चोटी से नारकंडा लौटते वक्त, हमारे घोड़ों की धीमी टाप के साथ साथ चीड़ वृक्षों की टहनी से टहनी पर उड़ता हुआ, हमें नारकंडा तक विदाई देने आया था और सूर्यास्त होने पर फिर वनों में छिप गया था।...

तुम्हारी
तोष

प्रिय बलराज,

सर्दियां धीरे धीरे जा रही हैं और मुस्कराती हुई आ रही है वसंत ऋतु। प्रकृति अपने पुराने वस्त्र उतार कर नए रंग रंगीले वस्त्र पहन रही है। पेड़ों की शाखाओं पर नए पत्ते, बेलों झाड़ियों पर नए फूल, पवन में फूलों की सुगंध। वसंत है नवयौवन की ऋतु, नए प्यार की ऋतु, पुराने प्रेम संबंधों में भी ताजगी लाने वाली ऋतु। वसंत पंचमी था हम दोनों का चहेता त्योहार क्योंकि उसके करीब ही पड़ता है मेरा जन्मदिन।

इन्हीं दिनों तुम जा रहे थे कश्मीर 'महजूर' फ़िल्म की शूटिंग के लिए। प्रगतिशील विचारों वाले कश्मीर के मुख्यमंत्री ग़ुलाम मोहम्मद सादिक तुम्हारे मित्र थे। तुम्हारे और उनके फ़ैसले से ही कश्मीरी और हिंदी दोनों भाषाओं में यह फ़िल्म बनी थी। फ़िल्म की कहानी थी कश्मीर के एक महान कवि महजूर की ज़िंदगी, उनकी कविताओं और गीतों के बारे में।

कवि महजूर भी तो तुम्हारे मित्र थे। कश्मीरी भाषा से अंग्रेज़ी में उनकी कुछ कविताओं का अनुवाद सबसे पहले तुम्हीं ने किया था। ये अनुवाद शांति निकेतन की पत्रिका 'विश्व भारती' में छपे थे। गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर ने तुम्हारे अनुवाद की तारीफ़ की थी। गुरुदेव तो चाहते थे कि उनकी 'विश्वभारती' पत्रिका भारत के सभी प्रांतों के साहित्य और संस्कृति की ही नहीं बल्कि सारे विश्व के साहित्य संस्कृति की जानकारी देने वाली, सारे विश्व के लोगों को एक दूसरे के करीब लाने वाली पत्रिका हो। शांति निकेतन नाम ही, विश्वभर के लोगों में आपसी प्रेम और शांति के लिए गुरुदेव ने अपने इस विश्वविद्यालय को दिया था।

गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर में अंग्रेज़ी साहित्य में एम.ए. करने के बाद तुम्हारे पिताजी चाहते थे कि तुम उनका कपड़े का बिज़नेस संभाल लो। लेकिन स्कूल कॉलेज के दिनों से ही तुम कविताएं, कहानियां, ललित लेख लिख रहे थे। पिताजी की ज़िम्मेदारियां संभालने की इच्छा रखते हुए भी तुम्हारा मन बिज़नेस के आंकड़ों में न लगा और तुम विद्रोह करके अपनी पत्नी दमयंती के साथ चले आए पहले लाहौर, एक पत्रिका में काम करने के लिए और फिर सीधे जा पहुंचे शांति निकेतन। वहां पचास रुपए मासिक पर एक दो बरस के लिए हिंदी के अध्यापक रहे।

तीन बरस बाद में, मैं भी शांति निकेतन में रवींद्र और शास्त्रीय संगीत सीखने के लिए कुछ समय रही थी। हम दोनों पर गुरुदेव के विचारों का गहरा प्रभाव हुआ। इन्हीं विचारों को अमल में लाते हुए तुमने 'महजूर' फ़िल्म बनाई जिसमें तुमने और परीक्षित ने बाप बेटे की भूमिकाएं निभाईं। उन दिनों हमारे घर में कश्मीरी भाषा, साहित्य, वेश, खानपान, रहन सहन का वातावरण बना रहा था।

तुम कश्मीर जाओ और मैं तुम्हारे संग न जाऊं। कश्मीर, जिसकी मिट्टी से मेरा तन मन

बना है, जहां मैंने बी.ए. तक की पढ़ाई की। मेरा मैका कश्मीर में बस गया एक पंजाबी परिवार था। बालपन ही में मां की मृत्यु के बाद रहमी नाम की एक मुस्लिम स्त्री ने मुझे पाला, मुझे कश्मीरी लोरियां सुनाईं। अब बरसों से कश्मीर से दूर रहते हुए भी, कश्मीर के भोले, अनुपम सौंदर्य में बिताए बचपन और नवयौवन के वक़्त की प्यारी यादें और फिर से वहां लौट जाने की ख़्वाहिशें मेरे अंतरतम में बसी हैं। तुम भी मेरे मन की बात जानते थे। जाने को तरसती हुई भी मैं नहीं जा सकती थी क्योंकि मुझे जाना था लखनऊ अपनी छोटी बहन के बेटे बेटी की एक साथ हो रही शादी के शुभ मौके पर। मेरी छोटी बहन तुम्हें अपनी ही बहन सी प्यारी थी लेकिन शूटिंग तय हो चुकी थी सो हम दोनों को अलग अलग प्रोग्रामों में जाने की तैयारियां करनी पड़ी थीं।

"क्या लाऊं कश्मीर से तुम्हारे लिए?" अपना सामान पैक करते हुए तुमने पूछा था।

"आप मेरे लिए 'बैदमुश्क' लाइए।"

"वह क्या होता है या होती है?"

"आपको नहीं मालूम 'बैदमुश्क' क्या है?"

"मालूम है। कोई मनगढ़ंत चीज़।" तुमने हंस कर कहा था।

"मनगढ़ंत नहीं, सच।"

"पर वह है क्या बला?"

"आप कहते हैं न कि आप कश्मीर के बारे में मुझसे ज़्यादा जानते हैं। फिर तो आपको 'बैदमुश्क' के बारे में पता होना चाहिए। संस्कृत साहित्य में इसे 'कामदेव के वाण' कहते हैं और कश्मीरी में बैदमुश्क। कश्मीर की पहाड़ियों में वसंत ऋतु में फूलती फलती अपूर्व भीनी सुगंध के गहरे पीले फूलों वाली झाड़ी का नाम है बैदमुश्क।"

"कामदेव के वाण? जो पार्वती की प्रार्थना स्वीकार करके कामदेव ने शिव की तपस्या भंग करने के लिए, शिव पर चलाए थे?"

"जी हां। पार्वती का प्रण था न, 'वरूं शंभू, नहीं तो रहूं कुंवारी।'"

"हां, और कामदेव के वाण चलाने पर शिव की तपस्या भंग हुई। शिव ने अपना तीसरा नेत्र खोला, सामने कामवाण चलाते कामदेव को देखा, तपस्या भंग करने के अपराध में उसे भस्म कर दिया। पर वहीं तो खड़ी थी न वनदेवी सी सुंदर पार्वती, जिस पर शिव एकदम से मोहित हो गए थे।"

"जी वही, कामदेव के वाण उर्फ़ बैदमुश्क की कुछ मंद सुगंधित टहनियां मेरे लिए लेते आइएगा।" मैंने प्यारभरी फरमाइश दोहराई।

"वहां जा कर मैं शूटिंग करूंगा कि वनों पर्वतों में कामदेव महाशय के प्रेम वाण ढूंढूंगा? वैसे, कौन सी ख़ास जगह से मिल सकेंगे ये वाण?" तुमने शक भरी निगाहों से मुस्कराते हुए मुझसे पूछा था।

"ये लाजवंती शर्मीली झाड़ी वनों उपवनों में लुकी छुपी उगती फूलती है वसंत ऋतु में।

आप श्रीनगर के प्रसिद्ध निशातबाग के हेडमाली ख़ालिकजी के पास जाइएगा। उनसे कहिएगा कि लाला चिरंजीवलालजी की बेटी, जो शादी के बाद बंबई में रहती है, उसने आपको सलाम भेजा है और गुज़ारिश की है कि बैदमुश्क की तीन चार छोटी टहनियां आपके हाथ अपनी बेटी के लिए भेज दें।''

''हूं। और जब वे पूछें कि मैं कौन हूं?''

''तब तो आपको अपना नाम पता बताना ही पड़ेगा।''

''कहानी दिलचस्प है,'' तुमने अपना सूटकेस बंद करते हुए कहा था।

परीक्षित और तुम कश्मीर के लिए रवाना हुए और मैं अपनी बहन के बेटे-बेटी की शादी के लिए लखनऊ की ओर। मुझे शादी में जाने का चाव था और लखनऊ पहुंचने से पहले यमुना, गंगा, सरस्वती, गोमती नदियों वाली अपने देश की हरी भरी विशाल धरती को ट्रेन और हवाई जहाज़ से निहारने का भी और लखनऊ शहर देखने का भी। लखनऊ, प्राचीन ऐतिहासिक नगर। नवाब वाजिद अली शाह ने जहां कत्थक नृत्य, ठुमरी और गज़लों और चित्रकला आदि का सुंदर विकास किया। लखनऊ, जो अठारह सौ सत्तावन में अंग्रेजी हुकूमत के ज़ुल्म के ख़िलाफ विद्रोह की अमर भूमि बनी।

लखनऊ में, बहन के घर में दो शादियों की गहमा गहमी थी, धूमधाम थी। रात को परिवार के लोग और मेहमान, बच्चे बड़े मिल कर ब्याह के मंगल गीत गाते, ढोलकी बजाते। पंजाबी और उत्तर प्रदेश का मिलाजुला वातावरण था। कोई अंग्रेज़ी स्टाइल में भांगड़ा नाचता। हंसी मज़ाक, छेड़खानी चलती। बड़े और बच्चे सभी मुझसे बार बार पूछते, ''बलराजजी क्यों नहीं आए?''

शादी की शाम सभी बाराती दुल्हन के घर जाने के लिए सजधज कर तैयार हुए, सेहरा बांधे शगुन का तिलक लगवा कर दूल्हा घर की दहलीज पार करके घोड़ी पर सवार होने को था कि एकाएक तुम अचानक वहां पहुंच गए। तुमने दूल्हे का माथा चूमा था और सभी के गले मिले। जरा सी देर के लिए सभी का ध्यान बंट सा गया। खुशी दोगुनी हो गई। ''बलराज साहनी आए हैं... बलराजजी आए हैं...'' ये शब्द सभी के होठों पर थे। तुम नहीं चाहते थे कि इस मौके पर बारातियों का ध्यान तुम्हारी तरफ़ जाए। पर लाख छुपाए भी छिपे नहीं रहे तुम। मैं गर्व से यह देखती रही...

''निशातबाग के हेड माली तुम्हारे चाचा खालिक ने तुम्हारे जन्मदिन पर कश्मीरी वसंत की यह सौगात भेजी है।'' मेरे हाथों में बैदमुश्त की टहनियां देते हुए, मुझे चूमते हुए तुमने कहा था...

तुम्हारी
तोष

प्रिय बलराज,

आज फिर आ बैठी हूं, कलम कागज़ लिए, दिल की पिटारी खोल, उसमें से मोती चुन-चुन कर यादों का एक और अपूर्व हार पिरोने...

कुछ पलों के लिए ही सही, आ बैठो पास, अपने बगीचे के आम वृक्ष की ठंडी छांह तले। आओ, आज याद करें अपनी दोस्त उस मोटर साइकिल को, जो जुहू स्थित थियॉसॉफ़िकल कॉलोनी में, किराए के एक छोटे से घर में मेरे गृह प्रवेश काल से पहले से ही तुमने ख़रीदी हुई है। वह मोटर साइकिल बाबर बादशाह की उस तगड़ी तेज़ घोड़ी के समान दीखती है, जिसने हिंदुस्तान के हाथियों को पानीपत की लड़ाई में परास्त करा दिया था।

लेकिन मैं देख रही हूं कि इस न जाने कितने ही हॉर्स पावर वाली मोटर साइकिल को तुम खुद नहीं चला रहे। इप्टा के एक कलाकार तुम्हारे दोस्त तुम्हारे ड्राइवर हैं और तुम पिछली सीट पर बैठे इधर उधर जाते हो। इसका कारण क्या हो सकता है, मैं सोचती हूं। कलाकार का कोमल दिल है तुम्हारा। शायद इसलिए मशीन की जड़ ताकत और मनमानी हरकतों पर काबू न पा सकने का भय है, हिचकिचाहट है तुममें ख़यालों की मौज में चलाने लगो और पल भर के लिए भी बेध्यानी की वजह से कंट्रोल हट जाए तो जाने क्या हादसा हो जाए। यह देख और सोच मैं मन ही मन हैरान हूं। लेकिन जैसा तुम करते हो, 'सब फ़र्स्ट क्लास है', यही मानती हुई मैं संतुष्ट, बेफिक्र हूं।

पर मेरे गृहप्रवेश के बाद धीरे से कुछ तब्दीलियां भी हो रही हैं हमारे समुद्र किनारे इस आधे नारियल चटाइयों और आधे लकड़ी ईंटों के बने खिलौने से घर में। सबसे महत्वपूर्ण तब्दीली तो यह हुई है कि तुमने अपनी मोटर साइकिल अपने आप चलानी सीख ली है। ऐसा करने की नेक सलाह और सीख तुम्हारे ड्राइवर मित्र ही ने दी है। सो अब, मोटर साइकिल की पिछली सीट पर कभी बच्चे और कभी मैं बैठा करते हैं-ख़रीद फ़रोख्त, सैर सपाटे और थिएटर की रिहर्सलों पर जाने के लिए।

तुम्हें याद है न वह शाम। हम दोनों अपने जुहू आर्ट थिएटर के एक नाटक के शो के लिए तैयार हो कर घर से बाहर आए हैं। मैं मोटर साइकिल के पास खड़ी इंतज़ार कर रही हूं कि तुम पहली ही किक लगा कर स्टार्ट करो और मैं फट से अपनी पिछली सीट पर उचक कर बैठ जाऊं और शूं... करके हम हवा में उड़ते से चल पड़े। लेकिन हुआ यह है कि मेरे दुपट्टे और कंधे का बैग संभाल कर बैठने से पहले ही तुम और मोटर साइकिल चले गए हो, यह समझ कर कि मैं अपनी सीट पर ठीक से बैठी हुई हूं। मैं सड़क पर खड़ी, यह मान कर, इंतज़ार करने लगती हूं कि अगले ही मोड़ पर तुम्हें पता लग जाएगी मेरा गैरमौजूदगी और तुम मुझे ढूंढते हुए मोटर साइकिल वापस ले आओगे।

आप जनाब लौट आए हैं, हैरत में हैं। मुझे घर के बाहर वैसी की वैसी खड़ी देख कर। मैं हंस रही हूं ज़ोर से।

''क्यों नहीं बैठीं थीं तुम?'' तुम झुंझला भी रहे हो और हंस भी रहे हो।

''आपने देखा ही नहीं कि मैं बैठ ही गई हूं या नहीं, घर्र करके चल दिए। सीट पर बैठ जाने के बाद मैं सहारे के लिए आपके कंधों पर हाथ रखा करती हूं।'' मैं फिर तुम्हारी झेंप झुंझलाहट पर हंस रही हूं।

''अच्छा,मैंने समझा तुम बैठ गई हो। मैं मोटर साइकिल चलाता रहा और तुमसे शाम के शो के बारे में क्या, कैसे करने की बातें करने लगा। और जब मैं बातें करता हूं तो आदत के मुताबिक तुम 'हूं। अच्छा। हां। फिर?' करती रहती हो पर कुछ बातें करने पर जब न तो तुम्हारी हां, अच्छा की आवाज़ ही न आई और न ही तुम्हारा हाथ अपने कंधे पर महसूस किया तो पता लगा कि तुम सीट पर नहीं हो। मैं घबरा गया, कहीं सड़क के किसी गड्ढे-खड्ढे में तो नहीं गिर गई हो। मोटर साइकिल मोड़ कर सारा रास्ता दाएं बाएं देखता, स्लो स्पीड में मोटर साइकिल चला कर लौट आया हूं।''

मैं सुन रही हूं और हंस रही हूं।

''चलो अब जल्दी से बैठो। पहले ही देर हो गई है।'' तुम भी हंस कर कह रहे हो।

''अबकी मैं बैठूं तो प्लीज़, पूछ लीजिएगा कि विराजमान हो गई हूं या नहीं।''

''हां भई हां, बताओ प्लीज़ विराजमान हो गई हो?'' मोटर साइकिल स्टार्ट करते हुए गर्दन मोड़ कर तुम ऊंची आवाज़ में पूछ रहे हो।

''जी हुजुर।'' मैं सीट पर बैठ, कंधे पर हाथ रखते हुए कहती हूं। और हम चल पड़ते हैं जुहू से चर्चगेट की तरफ स्टूडियो पहुंचने के लिए, जहां आज शाम मेरा लिखा और निर्देशित किया रेडियो सीलोन द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा धारावाहिक नाटक 'वह देख सितारा' की रेकॉर्डिंग है। हमारे जुहू आर्ट थिएटर के सभी कलाकार, युवक युवतियां हर सप्ताह अपने अपने रोल बख़ूबी निभा रहे हैं। इस धारावाहिक में तुम्हारा और मेरा पार्ट है किसी छोटे शहर से भाग के आए, ऐसे प्रेमी युवक युवती का, जो बंबई के फ़िल्म स्टूडियोज में धक्के ठोकरें खाते अपनी मेहनत और लगन से आखिर एक दिन हीरो हीरोइन के रोल पा ही जाते हैं। इस धारावाहिक को लिखने के लिए मैं तुम्हारे साथ फ़िल्म स्टूडियोज़ में तुम्हारी शूटिंग के दौरान सारे माहौल का सा और पूरा अध्ययन करने के लिए लगातार जाती रही हूं। वहाँ मैं फ़िल्म के एक्स्ट्रा लोगों से मिलती हूं। रोल पा सकने की अभिलाषा लिए, डायरेक्टरों और स्टूडियो के इर्द गिर्द चक्कर पर चक्कर काटने वाले अपने ही थिएटर के और कई एक लोगों से उनके अनुभव पूछ-पूछ कर नोट्स लेती हूं। इस विषय पर यह सबसे पहला धारावाहिक खूब पसंद किया जा रहा है। हम सभी थिएटर आर्टिस्ट भी ख़ुश हैं इस नए प्रयोग से।

मोटर साइकिल जा रही है जुहू से चर्चगेट की ओर। पंद्रह बीस मील की राह पार करके हम पहुंच गए हैं मैरीन ड्राइव। समंदर किनारे की लंबी खुली चौड़ी है यह सड़क। विशाल, नीले, गहरे लहराते समुद्र में, सांझ का सूरज, सोने के मटके की तरह डुबडुबाने लगा है और उसकी किरणें नज़दीक और दूर की लहरों पर नीली पीली झिलमिला रही हैं।

हमेशा की तरह तुम उमंग में मुझसे बातें कर रहे थे लेकिन ज्यों-ज्यों स्टूडियो नज़दीक आ रहा है मैं नर्वस सी हो रही हूं।

''चुप क्यों हो?'' तुम तनिक पीछे देख पूछते हो।

''पता नहीं आज की रिहर्सल, रेकॉर्डिंग कैसी होगी? अपना पार्ट तक दोबारा ठीक से देख नहीं पाई।'' मैं अपनी आवाज़ में आ रही घबराहट पर काबू पाने की कोशिश कर रही हूं।

तुमने मेरी बात सुनी है, ख़ामोशी से। दो तीन मिनट मोटर साइकिल चलाते रहे हो। फिर खामोशी तोड़ कर अंग्रेज़ी में कहते हो, ''अपने सर्व हितकारी मकसद पर नज़र सीधी और स्पष्ट होनी चाहिए। किसी से भी सीखने की विनम्रता, राह की कठिनाइयां पार करने की हिम्मत, लगन अपने ऊपर पूरा भरोसा रखना और जीत हार की चिंता न करना, यही तो कलाकार की ज़िंदगी है।''

सहज, मीठे सुरों में तुम बोल रहे हो। मैं समुद्र की लहरों को देखती, मोटर साइकिल के पार्श्व संगीत में तुम्हारी कही बात मन के आसन पर बिठा रही हूं। तभी, पीछे से फ़ास्ट स्पीड में आ रही एक लापरवाह मोटर साइकिलवाले की मनमानी की वजह से होने ही वाली टक्कर, तुमने अपनी सूझ बूझ से बचा ली है। अपनी चीख रोकती हुई, दबी आवाज़ में मैं 'बाप रे!' ही कह फिर शांत हो जाती हूं।

मोटर साइकिल चौराहा पार करके स्टूडियो वाली सड़क पर पहुंच गई है। मैं धारावाहिक के बारे में फिर सोचने लगती हूं लेकिन अब घबराहट नहीं। हम पहुंच गए हैं स्टूडियो के बाहर। हमारे कुछ साथी आ गए हैं, कुछ का इंतज़ार है। एक दूसरे का स्वागत कर हम रिहर्सल में लग जाते हैं।

'वह देख सितारा' धारावाहिक में हमारी मोटर साइकिल भी तो अपना पार्ट बखूबी निभा रही है। अभी पिछली ही कड़ी में हमारी छोटी बच्ची सनोबर ने एक डायलॉग कहा था, ''अंकल आ गए, मम्मी अंकल आ गए।''

''अंकल आ गए? तुम्हें कैसे पता है?'' मम्मी पूछ रही है।

''अरे? आपने सुनी नहीं उनकी मोटर साइकिल की घर्रर, घर्रर।''

''हां, हां, यह उन्हीं की मोटर साइकिल की आवाज़ है।'' माइक्रोफ़ोन के सामने खड़ी मम्मी कह रही है। स्टूडियो रूम के बाहर खड़े हमारे एक कलाकार बार-बार मोटर साइकिल स्टार्ट करके साउंड इफ़ेक्ट दे रहे हैं।

और प्रिय, तुम्हें उस ऐतिहासिक शाम की भी याद दिलाऊं, जब एक कमर्शियल फ़िल्म

के प्रीमियर पर हम 'रॉक्सी' सिनेमा हाउस गए हैं, अपनी बाबर की घोड़ी पर शाहसवार हुए। जुहू से चर्चगेट पहुंचे हैं। रेलवे प्लेटफ़ॉर्म के वॉश बेसिन के आइनों के सामने खड़े हो कर, रास्ते की धूल चेहरों से साफ़ की है, बाल फिर से संवारे हैं और जा पहुंचे हैं प्रीमियर की भीड़ चीरते हुए, मोटर साइकिल पर, जींस और बुश्शर्टों में।

फ़िल्मी सितारों और तारिकाओं की आंख चुंधिया देने वाली सजधज से सारा वातावरण जगमगा रहा है। अब तक तुम्हारी भी 'हमलोग' और 'औलाद' जैसी फ़िल्में प्रसिद्धि पा चुकी हैं। फ़िल्मी दुनिया की प्रभावशाली हस्तियां ज़रा सी भवें उठा या कनखियों से हम पर नज़रें इनायत डालतीं, न डालतीं, कभी जरा सी 'हलो' कहतीं हमारे करीब से हॉल की तरफ़ जा रही हैं। फिर भी हम बड़े ठाठ से इस पैसा बनाऊ फ़िल्म का प्रीमियर देख रहे हैं।

फ़िल्म खत्म होने पर फ़िल्मी हस्तियां आपस में बतियाती पुलिस की सुरक्षा में भीड़ चीरती अपनी अपनी बड़ी-छोटी कारों में बैठ चली गई हैं।

भीड़ भी तितर बितर हो चुकी है। रात की टिमटिमाती बत्तियों में हम दोनों अपनी मोटर साइकिल के पास खड़े हैं। तुम किक लगा रहे हो लेकिन अभी स्टार्ट नहीं हुई हमारी कुछ ठंडी पड़ी नाराज़ सी वह दोस्त! उसे बाहर अकेली जो छोड़ गए थे।

तभी हमारे आजू-बाजू खड़े कुछ लोग करीब आ कर बड़े प्यार से कहते हैं, ''बलराज शानी। यार, अभी तुम भी एक छोटा सा मोटर ख़रीद लेना! हम कुछ नही बोलेंगा।''

इप्टा नाटकों और फ़िल्मों के लोकप्रिय कलाकार हो तुम। साधारण लोगों की ज़िंदगी के सुख-दुख की कथाओं के नायक, कभी उनसे अलग परे नहीं होना चाहते। पर काम की व्यस्तता और अब सेक्रेटरी के आग्रह से, बड़ी सोच के बाद कार खरीदने का निश्चय तुमने किया है।

दिल्ली में अपने भानजे की ज़रूरत को समझते हुए अपनी दोस्त मोटर साइकिल, उनके लिए भेजी जा रही है। विदाई के समय तुम मोटर साइकिल और मैं तीनों उदास हैं। यौवन की लापरवाही व उमंग वाला युग क्या समाप्त हो गया है?.....

कलम कागज लिए बैठी हूँ आज फिर और मन ही मन में, पंछियों से चहकते अपने प्यारे बच्चों वाले अपने छोटे से खिलौना घर, घरौंदे, घोसले के बाहर की छोटी सी सड़क पर, मानो खड़ी हूं।

अपने ख़यालों में खोए से, मोटर साइकिल स्टार्ट करके चल दिए तुम तो। अभी तो मैं अपनी सीट पर बैठी भी नहीं थी प्रिय...

तुम्हारी
तोष

●

प्रिय बलराज,

कल रात भर करवटें ही बदलने मे बीती, अकेलेपन में यादों में, टूटे से सपनों में और आज अभी सुबह ब्रह्म मुहूर्त के समय अपने घर के पास चर्च की घंटियां बजने लगी हैं। नियम से, हर सुबह साढ़े पांच बजे घंटियां श्रद्धालुओं को चर्च में इकट्ठा हो कर प्रार्थना करने का संदेसा देती हैं।

अभी ही पास के किसी मंदिर की घंटियां बजने लगेंगी।

उधर मस्जिद से सुबह की नमाज़ की पुकार उठेगी और जुहू गुरुद्वारे से कीर्तन के शब्द भी गूंजने लगेंगे।

एक परमात्मा और उसकी इबादत करने के अनेक ढंग। वैसे ही जैसे रहस्यमय परमेश्वर के जाने अनजाने असंख्य रूप। बिस्तर में लेटे हुए मेरे मन में भी प्रार्थना सी उठती है कि कुल दुनिया के मंदिरों, मस्जिदों, गिरजों, गुरुद्वारों से उठती ये पुकारें इनसान को इनसान के करीब लाएं। इनसान को इनसान की मदद करने की प्रेरणा दें।

इन घंटियों और पुकारों के साथ ही साथ सुनाई देने लगी है पंछियों की चहक, उनके सुबह के मधुर गीत। मेरे लिए तो यही सुबह के बेहतरीन प्रार्थना गीत हैं।

बिस्तर छोड़ कर मैं आ गई हूं तुम्हारे पढ़ने लिखने के कमरे में। बैठ गई हूं तुम्हारे बड़े से स्टडी टेबल से सटी रिवॉल्विंग कुर्सी पर। टेबल पर पड़े हैं तीन टाइपराइटर, अंग्रेज़ी, हिंदी और पंजाबी अक्षरों के।

स्टडी टेबल पर ही कुछ कुछ चिपका कर सी रखी है कश्मीर के सौंदर्य पर्वत स्थल की दो दो एन्लार्ज की हुई फ़ोटोज। तुम्हारी ही खींची हुईं। इन दो फ़ोटोज के बीच में, ज़रा सी ऊपर है एक और फ़ोटो तुम्हारे एक प्रिय मित्र 'अमर शेख़' की। बादल की गर्जना से भी गंभीर और बुलंद स्वर और सुर वाले लोकगीतों के गायक, महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी लोक कवि अमर शेख की जो तुम्हारे साथ 'इप्टा' के मराठी, गीत नाटक विभाग में सक्रिय रहे।

सुबह सवेरे की इन घंटियों, अज़ानों और कीर्तनों के वक्त ही तुम अपने लिए चाय का प्याला बना कर बैठ जाया करते थे, अपनी इस कुर्सी पर टाइप करने कभी मन में आए विचार कभी कोई लेख, कविता, कहानी, नाटक, चिट्ठियां और अपनी फ़िल्मी आत्मकथा के कुछ पन्ने लिखते थे। दिनभर शूटिंग के अलावा घर बाहर के कई एक कामों की मसरूफ़ियत में सुबह का यही डेढ़ घंटा तुम निकाल लेते थे।

टेबल पर सामने रखे कश्मीर के शांतिपूर्ण अनुपम सौंदर्य के चित्र और अपने क्रांतिकारी मित्र के फोटो तुम्हें देते थे प्रेरणा लिखने की।

बैठी हूं तुम्हारी लिखने की टाइप करने वाली कुर्सी पर और देख रही हूं सामने की पूरी दीवार को ढक रही, ऊंचे नीचे, छोटे बड़े बहुत से खानों वाली सादी पर सुंदर सी बड़ी सी अल्मारी, जो है एक मिनी लाइब्रेरी। अल्मारी के खानों में विषय, भाषा के मुताबिक करीने से रखी हैं वेद, उनिषद, गीता, कुरान, बाइबल और कई और धर्मों की पुस्तकें। खानों में गांधीजी नेहरूजी, अब्दुल गफ्फार ख़ान, विनोबा भावे, चार्ली चैपलिन और कई असाधारण हस्तियों की जीवनियां रखी हैं। नाटकों, कहानियों, कविताओं, ग़जलों की किताबें भी तथा उपन्यास भी रखे हैं। हिंदी, उर्दू, पंजाबी, अंग्रेज़ी में तो तुम बख़ूबी पढ़ते लिखते ही हो पर इन खानों में मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगू, मलयालम, रूसी आदि भाषाओं में भी किताबें हैं जो तुम्हारे देश विदेश के साहित्यिक राजनीतिक कलाकार मित्रों ने प्यार और आदर से भेंट की हुई हैं। सभी के हस्ताक्षर है उन पर।

साहित्य, इतिहास, राजनीति की किताबें पढ़ने में बरसों से तुम्हारी गहरी रुचि है। अपना ज्ञान बढ़ाने के लिए तुम पढ़ना निहायत ज़रूरी मानते हो। सो, हर महीने, घर में नई किताबें आती हैं, जिनको पढ़ने के बाद उनके बारे में घर में चर्चा होती है, बच्चों के साथ, मेरे साथ, मित्रों के साथ।

कुर्सी पर बैठी देख रही हूं दाईं तरफ़ की खिड़की से, पेड़ों की पत्तियों, शाखाओं के पीछे से धीरे धीरे केसरी रंग में रंगा जा रहा पूरब का आकाश, जिसकी हल्की रोशनी पड़ रही है दीवारों पर सजे हमारे बच्चों, हमारे परिवार के बड़े छोटे निकट संबंधियों और हमारे कुछ निकटतम मित्रों के फ़ोटोज़ पर, एक दो पेंटिंग्ज पर।

शेल्फ़ पर रखी है एक फ़ोटो तुम्हारी पहली पत्नी स्व. दमयंती साहनी की, पृथ्वीराज कपूरजी के नाटक 'दीवार' में मुख्य भूमिका निभाते हुए। भारत के बंटवारे के खिलाफ खेला गया वह प्रसिद्ध नाटक।

और एक फ़ोटो है तुम्हारी और मेरी।

इस बड़े स्टडी कमरे में सजे है अनेक सम्मान पत्र, पुरस्कार, उपहार जो फ़िल्म इंडस्ट्री, नाटक जगत, भारत सरकार और देश के कोने-कोने से तुम्हें दिए गए थे-तुम्हारी उत्तम कला के लिए तुम्हारे विश्व शांति और देश की जनता के लिए किए गए अनेक हितकारी कामों के लिए।

कुर्सी से उठ कर किताबों और एलबमों पर नजर डालती हुई एक और बंद पड़ा खाना खोलती हूं, इस खाने में पड़ा है तुम्हारा तीन चार पावरफुल लैंसों वाला कैमरा। एक टोपी और एक काले रंग की ऐनक के साथ जुड़ी रबड़ की नाक और बड़ी मूंछें। इसे बनवा कर और पहन कर तुमने मुझसे पूछा था, ''कैसा दिखाई देता हूं?''

मैं जरा सा पीछे हो कर तुम्हारे नए चेहरे को देखती हुई कहती हूं, ''आप या तो कोई ट्रैफ़िक इंस्पेक्टर दीखते हैं या शायद अपने थानेदार मौसाजी जैसे। सिर्फ़ तोंद की कसर है, वह भी बनवा लीजिए। पर यह किसी फ़िल्म के पार्ट के लिए बनवाया है क्या?''

''नहीं नहीं। यह तो किसी और ही काम के लिए बनवाया है।''

''घर में हम सब पर रौब डालने के लिए शायद।'' मैं हंस कर कहती हूं।

''यह इसलिए कि मैं किसी भी बाज़ार गली बाग मीटिंग में बिन पहचाने जा सकूं। अभी तो जहां जाता हूं लोगों से घिर जाता हूं और जो कुछ देखना, सुनना जानना चाहता हूं वह अपनी मर्ज़ी से नहीं कर पाता। एक लेखक और कलाकार के लिए लोगों की ज़िंदगी की कड़वी मीठी सच्चाई बिल्कुल करीब हो कर देखना ज़रूरी है। अख़बारों और पत्रिकाओं में खबरें पढ़ कर मुझे तसल्ली नहीं होती'', तुमने कहा था।

''आइडिया अच्छा है। पहले वक्तों में राजा महाराजा भी तो भेस बदल कर अपनी प्रजा में घूमा करते थे। मुझे किसी ने बताया है कि आजकल भी कई एक्टर एक्ट्रेसें घर और स्टूडियो की चारदीवारी की कैद से ऊब कर भेस बदल कर बाहर जाते हैं। मैं भी एक बुर्का सिलवा लेती हूं। दोनों संग संग घूमा करेंगे।''

''मज़ाक न करो। मैं सीरियसली, यह एक्सपेरिमेंट करना चाहता हूं।'' तुम अपना मुखौटा उतारते हुए कहते हो।

''मजाक नहीं, मैं सीरियस हूं। मैं बुर्का जल्दी ही सिलवा लेती हूं। दोनों एक साथ ही जाया करेंगे।''

बरसों से आल्मारी के इस खाने में सुरक्षित रखी नाक, मूंछ और काले फ़्रेम वाली ऐनक को आज एक बार फिर देख रही हूं। सोच रही हूं क्या यह सारा स्टडी रूम एक यादगार ही है या तुम्हारे लौट आने के इंतज़ार में हैं या तुम किसी नए वेश में यहीं पर सारे घर में ही, मौजूद हो और मैं पहचान नहीं रही हूं तुम्हें।

तुम्हारी
तोष

●

मेरे प्रिय,

क्यों न आज मैं तुम्हें, तुम्हारी लिखी अनेक डायरियों की याद दिलाऊं, बिल्कुल तुम्हारी निजी अमूल्य संपत्ति। रोज़ ही तो लिखा करते थे तुम। दिन की शूटिंग के दौरान घटी कोई असाधारण घटना, कोई नया अनुभव, कैमरे के सामने अभिनय करते हुए कोई नया अनुभवं, कैमरे के सामने अभिनय करते हुए कोई नया सफल प्रयोग, सभी शब्दचित्रों भावनाओं को कलमबंद करने में तुम्हारी रुचि थी, यह तुम्हारा स्वभाव था। घर परिवार के सुखों, दुखों, यात्राओं, मुलाकातों, मीटिंगों, सेमीनारों से उपजे नए अनुभवों और विचारों को नोट करते तुम। ये डायरियां, पॉकिट साइज, बड़ी नोटबुकें, स्कूल कॉलेज की कॉपियां, मोटे रजिस्टरों से लेकर किसी भी पुराने शहर की पुरानी दुकान की पेढ़ी पर विराजमान व्यापारी की लाल पीले कपड़े के कवर से सिली रंगीन, सूती, सिल्की डोरे से बंधी बहियां भी हैं।

डायरी तुम लिखते थे, मैं लिखती थी और अपने बच्चों के कमरों में भी कभी उनकी खुली ही छोड़ी डायरियां देख कर और पढ़ कर मुस्कराती और हैरान होती कि हमारे भोले बच्चे क्या वही कुछ देखते और महसूस भी करते थे। चोरी से कभी पढ़ने का कसूर भी करती पर अधिकतर हम एक दूसरे की लिखी डायरी की प्राइवेसी की इज्ज़त करते थे।

लेकिन आज अपनी परसों ही लिखी डायरी के दो तीन पन्ने तुम्हें सुना रही हूं। सुनोगे?

कई दिनों से समंदर के किनारे सैर करने और तैरने नहीं गई थी। बेहद गर्मी के बाद चौमासेका आगमन कितना सुखद लगता है। लेकिन बरसात में घर न टपके इसका भी तो इंतज़ाम करना था। सो मुरम्मत और अन्य कई ऐसे कार्यों में लगी रही। मेरा जी समुद्र दर्शन के लिए, बारिश में भीगते हुए रेतीले किनारे पर (अब तो अकेले) सैर करने के लिए और लहरों में डुबकी लेने के लिए तरस रहा था। सो परसों सुबह कॉस्ट्यूम और कवर कोट पहन छतरी हाथ में लिए, समुद्र किनारे चली गई। कवर कोट, चप्पल और छाता अपने परिचित नारियल बेचने वाले के पास छोड़ कर सीधी लहरों में चली गई।

लहरों में मज़े से चलती, आकाश में मटियाले बादलों को रिमझिम बरसते देखती, हवा में झूमते नारियल पेड़ों को देखती अन्य लोगों को भी सैर करते देख रही थी कि एकाएक यूं महसूस हुआ जैसे शरीर के किसी भाग पर बिजली गिरी हो। मेरी कराहती नज़र अपने दाएं पांव पर गई, जिस पर 'स्टार फ़िश' नामक एक ज़हरीली बरसाती कीड़ा मछली आ चिपटी थी। न जाने किस पराशक्ति से मैंने फ़ौरन झुक कर, नीले तारे सी सुंदर कीड़ा मछली को अपने हाथ से घसीट कर पांव से अलग किया। लहरों के खारे पानी से उसके महीन रेशे पैर से साफ़ किए पर सख़्त दर्द था। पांव सूज रहा था, लाल हो रहा था। ऐसा महसूस हो रहा था कि ज़हर पांव

से टांग के ऊपर चढ़ रहा था। कहीं मैं बेहोश तो नहीं हो रही थी। नहीं होश में थी। समुद्र की स्वच्छ स्वस्थ वायु में लंबी लंबी सांस लेती प्राणायम सा कर रही थी मैं। प्रकृति से कष्ट मिला है तो प्रकृति ही कष्ट दूर करेगी, ऐसा सोचती हुई मैं अपने आपको, इधर उधर तैरती हुई दूसरी स्टार मछलियों से बचाती, अभी भी लहरों में ही चल रही थी पर दर्द कम न हुआ। ठंड और दर्द से कांपती मैं लहरों से बाहर निकल आई। नारियल वाले के पास पहुंची। उसे सब बताया। एक और सज्जन को भी बताया। दोनों ने कहा, 'दर्द तो पंद्रह बीस मिनट रहेगा पर चिंता की कोई बात नहीं।' लेकिन वहां एक और सज्जन भी खड़े देख सुन रहे थे। उन्होंने मुझे डांटा, 'क्यों गई थीं आप बरसात के समुद्र में! यह तो ज़हरीली कीड़ा मछली है। इसका ज़हर तो चढ़ता ही है। फ़ौरन घर जाइए और फिर जाइए डॉक्टर के पास।'

मैं छाता चप्पल कोट ले कर कांपती हुई घर पहुंची। बेटी को जगा कर सारी बातें बताईं और अपने पर पूरा कंट्रोल रख कर सोने की कोशिश की। मुझे कांपते हुए देख कर बिटिया घबराई। फ़ौरन डॉक्टर को फ़ोन करके बताया। डॉक्टर ने तसल्ली देते हुए कहा 'स्टार फ़िश ज़हरीली होती है पर ज़्यादा नहीं। चौबीस घंटे में दर्द तकलीफ़ दूर हो जाएगी। 'पेनकिलर' गोली ले लें, ख़ूब पानी और गर्म दूध पिएं।'

बेटी की चिंता दूर हुई। मेरे लिए गर्म चाय बना कर लाई और मुस्करा कर कहने लगी, ''शुक्र है सब ठीक है मां, मेरे साथ भी एक बार ऐसे ही हुआ था।''

''अच्छा, कब?'' मैं दर्द पर काबू पाने की कोशिश में थी। ''कुछ बरस हुए। मैं और डैडी दोनों घर से काफी दूर समंदर की लहरों में चल रहे थे कि स्टार फ़िश मेरे पांव से चिपट गई थी। मैं चीख़ी। डैडी ने देखते ही फ़ौरन मेरा पांव साफ किया और फिर मुझे प्यार से संभालते, धीरे धीरे चलाते घर ले आए।''

''बहुत दर्द हुआ था न?'' मैंने पूछा।

''हां दर्द तो बहुत था पर डैडी ने मेरा ध्यान दर्द से हटाने के लिए मुझे वीर स्पार्टेकस की कहानी ऐसे बढ़िया तरीके से सुनानी शुरू की कि मेरा ध्यान दर्द में कम और कहानी में ज़्यादा लगा रहा। कहानी घर पहुंचते पहुंचते ख़त्म हुई और तब तक मेरा दर्द भी कम हो चला था। फिर डॉक्टर के पास तो गए ही थे।''

''हूं,'' मैं मन ही मन सोच रही थी, कैसे प्यार से, तुम बच्चों का मन बहलाया करते थे, विशेषतौर पर दुख तकलीफ़ में।

मैंने बेटी से कहा, ''मुझे तो याद नहीं यह घटना। हां, पर अमरीकन उपन्यासकार हावर्ड फ़ास्ट का लिखा वह बेहतरीन उपन्यास 'स्पार्टेकस' कुछ हद तक याद आया। कितनी प्रभावित हुई थी मैं उस उपन्यास की सारी गाथा से पर ठीक ठीक कहानी याद नहीं आ रही। तुम्हें याद है?''

''मैंने उपन्यास तो नहीं पढ़ा पर डैडी की सुनाई कहानी याद है। यह उस वक्त की बात

है, जब रोम देश के बादशाहों और अमीरों ने अपने आसपास के देशों और उनके निवासियों को लूट पाट कर अपने ऐशो आराम के सभी साधन मुहैया कर रखे थे। तब वहां ग़ुलामी की भी प्रथा थी। बादशाह और अमीर अपने कुछेक ग़ुलामों को पहले तगड़े पहलवान बनाते, फिर उन्हें रोम के एक बढ़िया स्टेडियम में भूखे शेरों के आगे छोड़, उन्हें लहूलुहान होने और उनकी चीर फाड़ देखने के मज़े लूटते। यह सुपर मनोरंजन देखने के लिए रोम के अमीर बढ़िया पोशाकें पहन कर आते, अंगूर की बढ़िया शराब पीते, पशु पक्षियों का कच्चा, लज़ीज़ गोश्त खाते और ग़ुलाम पहलवान और भूखे शेर की भिड़त के वहशियाना खेल को देख कर 'अरे! ओह! आह! वाह! बहुत अच्छा! की पुकार लगाते।'' बेटी दुख और घृणा के लहजे में बोल रही थी।

''हां याद आ रही है कहानी, 'वीर स्पार्टेक्स' भी एक ग़ुलाम था न, जिसे स्टेडियम में लड़ने के लिए तैयार किया गया था भूखे शेर से।''

''और शेर ने उसे छुआ भी नहीं था, क्योंकि स्पार्टेकस ने एक बार एक जंगल में दर्द से कराह रहे उसी शेर के पांव में चुभा एक कांटा निकाला था। स्टेडियम में शेर ने स्पार्टेकस को पहचान लिया था और वह स्पार्टेकस पर झपटा नहीं था।''

''हां, स्पार्टेकस को पहचान कर शेर ने अपनी कृतज्ञता प्रकट की थी पर इस परस्पर सद्भावना से अमीर रोमन दर्शक बहुत मायूस हुए थे। उन्हें बहुत ग़ुस्सा आया, क्योंकि उन्हें तमाशा देखने को भी नहीं मिला था और नाराज़गी इस बात की भी कि क्या स्पार्टेकस इतना बलवान हो गया था कि एक भूखा शेर उससे दोस्ती कर ले। उन्हें शेर और स्पार्टेकस दोनों पर ग़ुस्सा आया। यह वारदात रोमन राज्य और उसके अमीरों की खेल संपन्नता की तौहीन थी। उन्होंने ग़ुलाम स्पार्टेकस को किसी और तरह से मरवाने की सोची।''

''मां, हम शायद दो अलग अलग कहानियां मिक्स कर रही हैं। वीर स्पार्टेकस तो वह ग़ुलाम था न, जिसने सदियों पहले प्रचलित इनसान की खरीद फ़रोख्त और ग़ुलामी की वहशियाना प्रथा के खिलाफ बहुत बड़ा विद्रोह आंदोलन चलाया था, सैकड़ों हज़ारों ग़ुलामों ने अपनी मुक्ति के लिए स्पार्टेकस के नेतृत्व में विद्रोह किया था लेकिन रोमन बादशाहों और अमीरों की ताकत के सामने विश्व की यह सबसे पहली मानव मुक्ति क्रांति,असफल रही। अपने अनेक वीर ग़ुलाम साथियों के साथ स्पार्टेकस सूली पर चढ़ा दिया गया था।''

''हां, उपन्यासकार हावर्ड फ़ास्ट ने बहुत रिसर्च करके यह उपन्यास लिखा था।'' मैंने कहा।

''कमाल है, महान लेखक कहां कहां से, कैसे कैसे गंभीर आदर्श और महत्वपूर्ण विषय खोज खोज कर लिखते हैं, एक एक पंक्ति अपनी मेहनत के खून पसीने की स्याही में डूबो कर।'' बेटी ने मेरा पैर सहलाते हुए कहा था।

''हां।''

''दर्द कुछ कम हुआ?'' बेटी ने पूछा।

''हां, जैसे एक वीर पुरुष की कहानी सुनते सुनते तुम्हारा दर्द कम हुआ था, समंदर के किनारे पर चलते चलते, अपने डैडी का हाथ पकड़े...'' हम दोनों फिर चुप थीं, स्मृति की एक भीनी मुस्कान लिए।

... लो प्रिय, अपनी निजी, प्राइवेट, अमूल्य संपत्ति, अपनी डायरी के तीन चार पन्ने तुम्हारे सम्मुख रख दिए मैंने।

तुम्हारी
तोष

●

प्रिय बलराज,

त्योहारों का मौसम चल रहा है। दीपावली जा चुकी, क्रिसमस आ रहा है। याद है मुझे, तुम्हारे साथ क्रिसमस, ईद, बैसाखी, कृष्ण जन्माष्टमी, दशहरा, पारसी पपेटी, दीपावली सभी त्योहारों में हम जोशख़रोश के साथ शामिल होते थे, ताकि आम जनता के साथ मिलने जुलने का मौका मिले, लोक परंपराओं को जानने समझने का अवसर आए... लोकमान्य तिलक भी तो यही कहा और किया करते थे... ऐसी बातें तुम हमारे थिएटर ग्रुप के कलाकारों को अक्सर ही बताया करते थे।

तुम और दमयंती साहनी 'भारतीय जन नाट्य संघ' यानी इप्टा के पहले पहले सक्रिय सदस्यों में से थे। इप्टा संस्था तब देश के हर हिस्से में, हर भाषा में, गीत, नाटक वगैरह पेश करके आम आदमी के करीब आ रही थी। अंग्रेज़ी शासन की कुनीतियां आपसी लड़ाइयां, अमीरी-ग़रीबी, अंधविश्वास, स्त्री को बराबरी का दर्जा देने जैसी कई बातों पर बेहतरीन चीज़ें लिखीं और पेश की जा रही थीं। शैलेंद्र, प्रेम धवन, साहिर लुधियानवी, मजरूह जैसे गीतकार उस समय इप्टा में थे। आज की कई एक जानी मानी फ़िल्मी हस्तियां भी उस समय इप्टा में थीं। ख़्वाजा अहमद अब्बास के निर्देशन में इप्टा ने बंगाल में पड़े भयंकर अकाल पर 'धरती के लाल' जैसी फ़िल्म बनाई। उसमें तृप्ति मित्र, शंभुमित्र, दमयंती साहनी और तुमने मुख्य भूमिकाएं निभाईं।

तभी गुणवंती रूपवती और उत्तम अभिनेत्री दमयंती साहनी का अचानक निधन हो गया। तुम्हारा घर टूटा। इधर अपने युवती जीवन में मैं भी कुछ सुख दुख भोग चुकी थी। एक ही से जीवन आदर्शों, मूल्यों का आदर करते हुए हम दोनों एक दूसरे के करीब आए। मैंने तुम्हारे जीवन में स्नेह आदर सहित प्रवेश किया, इप्टा की सदस्य बनी।

इप्टा के नाटकों की रिहर्सलें दूर, शहर में ऑपेरा हाउस के पास व देवधर संगीतशाला में होती थीं। दिन में काम करना, घर संभालना और शाम को जुहू से काफी दूर रिहर्सलें करना, रोज़-रोज़ देर से घर लौटना जरा मुश्किल होने लगा। इसलिए घर के आसपास ही रहने वाले कुछ सदस्यों, मित्रों के साथ मिल कर हमने इप्टा का एक सहयोगी थिएटर शुरू किया। वह था हमारा प्यारा 'जुहू आर्ट थिएटर।'

एक डेढ़ बरस पहले मैं लंदन से थिएटर और पत्रकारिता के कोर्स करके लौटी थी। बी.बी.सी. और बंबई के रेडियो नाटकों में भी भाग ले चुकी थी। अब घर की ज़िम्मेदारियां संभालने के साथ मैं लिख भी रही थी। मैंने विश्व शांति पर एक प्रसिद्ध अमरीकी नाटक 'बरी द डेड' का 'मुर्दों की बग़ावत' नाम से हिंदी अनुवाद किया। इस नाटक का डायरेक्शन तुम्हें सौंपा

जा रहा था। लेकिन 'धरती के लाल' और 'हम लोग' सी फिल्मों और इप्टा के नाटकों में एक्टिंग, निर्देशन, लेखन में प्रसिद्धि पा चुकने के बाद भी घर की आर्थिक हालत अच्छी नहीं थी। प्रोड्यूसरों और डायरेक्टरों के यहां चक्कर काटने होते थे। काम कर चुकने के बाद भी पैसे कम और देर से मिलते थे। फ़िल्म जगत में और कड़ी मेहनत करना हर तरह से ज़रूरी था। इसलिए अपने अनुवाद किए इस नाटक के निर्देशन का काम भी दूसरों के साथ मिल कर मैंने ही सम्हाला। घर से काम निपटा कर शाम को मैं थिएटर में होती। शूटिंग ख़त्म करके तुम शाम को थिएटर ही में मिलते। इस नाटक में तकरीबन चालीस पात्र थे। इतने लोगों के लिए रिहर्सल की जगह कैसी मिलती? किराए का हॉल ले नहीं सकते थे। सभी के पास पैसे की कमी थी। तब कभी किसी के एक कमरे के घर में रिहर्सल होती तो कभी किसी दयालु हृदय मकान मालिक के घर की छत पर शाम को लालटेन की रोशनी में नाटक पढ़ा जाता। लेकिन हम सब में जवानी की उमंग और विश्व शांति पर लिखे इस बेहतरीन नाटक को खेलने की इच्छा थी। एक परिवार की तरह रहते, काम करते, ढाबों की दाल रोटी, चटनी, फ़ाइव स्टार होटल के डिनर के स्वाद से खाते, उस परिवार के श्री बैज शर्मा, नितिन सेठी, कृष्ण चोपड़ा से कलाकार आज हमारे बीच नहीं हैं। उन्हें मैं कभी भी भूल नहीं सकूंगी। थिएटर के उन साथियों में से कई एक, आज फ़िल्म एक्टिंग, लेखन, निर्देशन जगत की जानी मानी हस्तियां हैं। कुछ समस्याओं के कारण थिएटर बंद हो गया लेकिन आज भी हम सभी, उसी प्यार से एक दूसरे से मिलते हैं।

याद आ रहे हैं नासिक में किए गए दो शो। अफ़सरी भ्रष्टाचार और रिश्वतखोरी के बारे में हास्य व्यंग्य से भरपूर नाटक में नकली इंस्पेक्टर की मुख्य भूमिका तुम बड़ी खूबी से निभा रहे थे। मूल रूप से यह रूसी नाटक था और मैंने इसका अनुवाद किया था। जगह जगह नाटक की मांग हो रही थी लेकिन बंबई में 'बदनाम' फ़िल्म की शूटिंग कैंसल नहीं हो सकती थी इसलिए तुमने और हमारे एक योग्य अनुभवी अंग्रेज़ अतिथि डायरेक्टर हरबर्ट मार्शल ने हमारे एक कलाकार को इस रोल के लिए खूब रिहर्सल कराके तैयार कर लिया। नासिक में पहले दिन का शो कामयाब रहा। लेकिन जब दर्शकों को पता चला कि तुमने नहीं बल्कि किसी और ने तुम्हारे डुप्लीकेट का काम किया है तो वे बिगड़ गए। उन्होंने अपने पैसे वापस मांगे और दूसरे शो के टाइम पर हॉल में कुर्सियां तोड़ डालने की धमकियां दी। नतीजा यह कि हमें और थिएटर संचालकों को बम्बई में फिल्म प्रोड्यूसर डायरेक्टर को इमरजेन्सी फ़ोन करने के शूटिंग मुल्तवी करने की मिन्नतें करनी पड़ी वे बेचारे तुम्हारा लिहाज़ करके मान गये। शाम को, शो शुरू होने से डेढ़ घण्टा पहले तुम थिएटर के एक और साथी जगदीश राज के साथ, ऊबड़ खाबड़ रास्ते पर अपनी शक्तिशाली मोटर साइकिल चलाते हुऐ गर्मी, धूल मिट्टी, भूख प्यास सहते हुए अपना वादा निभाने नासिक आ पहुचें। 'जुहू आर्ट थिएटर ज़िंदाबाद। बलराज साहनी ज़िंदाबाद।' के नारे बुलंद हुए....

गणपति उत्सव शुरू हो गया है। आज सातवां दिन है। घर की ऊपरी मंज़िल के तुम्हारे पढ़ने, लिखने के कमरे की खिड़की से बाहर देख रही हूं। समुद्र की ओर जाती सड़क पर जा रही हैं स्त्रियों, बच्चों, पुरुषों की टोलियां, गौरी गणपति की छोटी बड़ी सुंदर मूर्तियां, सिरों पर धारण किए या ठेलों पर सजाए हुए। 'गणपति बाप्पा मोरया, पुढया वर्षी लवकर या' की पुकारें

इलाके में गूंज रही हैं। पूजा अर्चना के बाद सभी मूर्तियां अपार समुद्र की लहरों में विसर्जित कर दी जाएंगी।

एक फ़ोटो तुम्हारी भी तो थी, किसी एलबम में सुरक्षित रखी हुई, विद्या, समृद्धि के देवता गणपति की एक छोटी मूर्ति सिर पर उठाए, एक छोटे से जनसमूह के साथ चलते हुए, जुहू आर्ट थिएटर के कलाकार युवक युवतियों और अपने साथियों के छोटे बच्चों को भी संग लिए। तुम जा रहे हो समुद्र किनारे की ओर, यह तस्वीर कौन सी एलबम में रखी थी, ढूंढ़ रही हूं।

तुम्हारी
तोष

प्रिय बलराज,

क्या वाकई एक बरस होने को आया है मेरी ओर से, तुम्हे यह बारहमास लिखते हुए?

बारहमास, यह पत्र-मालिका, या तुम्हारा-मेरा पच्चीस बरस संग संग जिया ज़िन्दगीनामा...नियति के एक झटके से टूटी सांझी, ज़िन्दगी की शेष, रही स्मृतियाँ भर... और आज, फिर, एक और पत्र लिखने बैठ गई हूँ। पर क्यों ?

शायद सच ही तो लिखा था न उन्नीसवी सदी इन्गलैन्ड के एक महान युवा कवि शैली ने अपनी एक विश्व प्रसिद्ध कविता में-

हमें प्रिय है बीती की यादें

प्रिय हैं हमें, सपने अनजान भविष्य के

संतप्त रहते है हम वर्तमान के अभावों से

हमारी गूंजती हंसी में, छिप झलती है उदासी भी सदा

हमे प्रिय हैं वही मधुर गीत

जो भरे है विरह वेदना से।

शेली तुम्हारे और मेरे भी वहुत प्रिय कवि थे। शेली जिन्होंने युवाकाल ही में स्वयं में भावनात्मक, दार्शनिक और अज्ञात सम्पूर्णता एवं शून्यता भी अनुभव कर स्वयं ही मृत्यु को आलिंगन किया। अपने वक्त के अग्रणी और अमर कवि शेली, युवा मन की युवा भावनाओं अनुभूतियो संवेदनाओं और विद्रोह को सौन्दर्य एवं शक्ति से व्यक्त करने वाले कवि शेली-

मेरे पास तुम्हारी एक बहुत ही सुन्दर, अनोखी फ़ोटो सुरक्षित है तब की जब लाहैर से अंग्रेज़ी साहित्य में एम.ए. पास करने के बाद जब तुम कश्मीर आए थे। तब तुम पर अंग्रेज़ी साहित्य और अंग्रेज़ी काव्य का बहुत प्रभाव था। वह फ़ोटो तुमने एक बड़े और सुन्दर छायादार चिनार वृक्ष के चबूतरे से बड़े तने पर बैठ कर खिंचवाई थी। इस फ़ोटो में तुम्हारी वेष भूषा तुम्हारे बैठने की मुद्रा और चेहरे के भाव बिल्कुल शेली के एक चित्र जैसे ही है। तुमने मुझे बताया भी तो था कि इस फ़ोटो में तुम शैली जैसे ही दीखना चाहते थे। तुम्हारी यह फ़ोटो मुझे हमेशा मोहती है।

पिछले साल इन्हीं दिनों में, इन्ही पत्रों द्वारा मैने बीती की बाते तुम्हें याद दिलानी शुरु की थी, इन्हीं बेहद गरमी के दिनों में, जब मेरी खिड़की से बाहर दीखते अपने प्यारे गुलमोहर पेड़

के खिले केसरी फूल किसी देहाती, पंजाबी दुल्हन की ओढ़ी केसरी फूलकारी से दीख रहे थे; उग
रहे थे वे, खिल रहे थे और फिर नीचे हरी घास पर गिर, गिर रहे थे... और घर के करीब ही
समन्दर में से उड़ उड़ कर, आकाश में टहलने लगी थी, पानी भरी बदलियां भी...
कलम कागज़ लिए घर से बाहर आ अपने मित्र गुलमोहर की छांह तले, हल्की हवा में
झूमते पत्तों तले आ बैठी हूं,... बैठी सोच रही हूं बीसवीं सदी के अन्त की तेज़ मशीनी, जेट,
सैटेलाइट रफ़्तार के बारे मे। कितनी जल्दी, कितनी जल्दी दौड़ता, भागता बीत रहा है वक्त,
ज़िन्दगी।...
सोच रही हूं, ज़िन्दगी और मौत के बीच में खेले जा रहे शह-मात के शतरंजी खेल के
बारे में... कल, जिस व्यक्ति को, जिस जीवन को हम, चकित हुए, उसकी ज्योतिपूर्व शक्ति, प्रभाव
को प्रशंसा, हैरानी और कभी ईर्ष्या से भी, सफलताओं, प्राप्तियों के उच्चतम शिखर पर पहुँचते
देख रहे थे, वह महान आत्मा, कैसे अकस्मात किसी जगमगाते सितारे की तरह, एकाएक
विलीन हो गई, अनन्त में अन्तराल में, हमसे छिन गई...। इतिहास में ऐसे, कितने कितने ही
जगमगाते सितारे, अपनी-अपनी छवि दिखला, अपनी प्रतिभा, कला, विक्रम सर्वहितकारी
कल्याण की छटा, सदा के लिए बिखेर कर अमर हुए, और हम, हम ज़िंदा है उनकी मधुर यादों
को दर्द दिलों मे संजोए, बीती की बातें कहने के लिए...
अभी परसों ही तो बाहर सड़क पर चलते हुए अपने एक पुराने मित्र दम्पति से बरसों के
बाद अकस्मात एक दुकान के बाहर मुलाकात हुई। उन्होंने तभी ही टी.वी. पर तुम्हारी एक
फ़िल्म देखी थी। उस फ़िल्म में किए तुम्हारे बेहतरीन अभिनय और तुम्हारे बारे मे बातें करते
वे ख़रीद फ़रोख्त करना भी भूल गए थे!... जब भी अपने ज़माने के मित्रों से मिलना-बैठना
होता है, हम हँस-हँस कर सांझे बिताए बीते वक्तों की छोटी-छोटी घटनाओं की बातें करते है
विशेष तौर पर अपने चलाए 'जुहू आर्ट थियेटर' के वक्तों की। कैसे हम सभी युवक युवतियां
सदस्य और हमारे छोटे बच्चें भी, एक सुसंगठित, सुसक्रिय परिवार की तरह रहा करते थे, काम
किया करते थे। सभी मित्र, तुम्हारे और उनके बीच घटी छोटी बड़ी घटनाओं और उनसे उपज़े
अपने अपने निजी अनुभवो की बातें, मुझे और एक दूसरे को सुनाते है, कई ऐसी कई घटनाए
अनुभव जिनके बारे में मुझे अभी तक न पता था-बीसवी सदी की तेज़ रफ्तार वाली, अपनी
अपनी मसरुफ़ियातो, उलझनों भरी ज़िन्दगी में उलझे हम मित्र, अब कभी कभार ही एक दूसरे
से मिल पाते है। कुछेक मित्र तो तुम्हारी ही तरह, अब हमारे बीच नहीं रहे। फिर भी, विशेषतौर
पर, तुम्हारे जन्मदिवस समारोह पर इकट्ठे होते ही है। अब, उम्रों में बड़े हुए हम सभी जानते है,
कि हम अब वह नहीं रहे जो हम कभी थे, आदर्शों की उमंगें मन में लिए, आदर्शों के लिए हर
तकलीफ़ झेलने के लिए तय्यार! हम अब बस सिर्फ उन दिनो को हँस-हँस कर याद करते है,
मन में एक गहरी उदासी लिए...
याद कर रही हूँ अपनी एक लम्बी बीमारी के दिनों को, जब तुम स्टुडियों से कभी
छुट्टी लेकर भी मेरे पास आ जाया करते थे। मैं विस्तर पर होती थी और तुम पास ही कुर्सी पर
बैठे, एक हाथ में चाय का कप और दूसरे हाथ में खुली किताब लिए चुन चुन कर मुझे बेहतरीन
अंग्रेज़ी कविताएँ सुनाया करते थे, कितनी मधुरता और जज़वात के साथ तुम कविताएँ पढ़ा करते
थे। कविताएँ सुनती हुई मैं कब सो जाती मुझे पता भी न चलता-----

फ़ुरसत की घड़ियों में, हम कभी आपस में और कभी अपने बच्चों के साथ मिल जुलकर अपने बचपन की, अपने यौवन के दिनों की मीठी प्यारी भूलों, ग़लतियों, घटनाओं को याद किया करते, देश बटवारे से पहले के अपने वतन, अब पाकिस्तानी पंजाब की, कभी काश्मीर के सौंदर्य में बिताए, अपनं और अपने पारिवारिक दिनों की बातें कहते,। और कभी हम देश, समाज, मानव सभ्यता के इतिहास की अच्छी बुरी घटनाओं की चर्चा करते, कभी अपने जीवन में हुई भूलों कों याद करके अपने भविष्य की दिशा को सुधारने की सोचें करते ....

तुम्हें अपने घर परिवार से बहुत लगाव था।घर परिवार में सभी से दुख सुख बाँटते थे तुम, किसी की भी तकलीफ़ से चिंतित हो जाते, और झट से उसकी तकलीफ़ को दूर करने का प्रयत्न करते। लेकिन तुम्हारी घर परिवार की सीमाएं विस्तृत होती जा रही थी। अपने घर परिवार के साथ तुमने देश और विश्व मानवता परिवार भी जोड़ लिया हुआ था। मुझे याद आ रहा है 'अमन' फ़िल्म का वह सीन किसमे अपने सामने खड़े लोगों के एक बहुत बड़े हजूम को देखते हुए तुम कह रहे हो ''मेरा इतना बड़ा परिवार है! मुझे ख़याल न था!''

.. शायद यही कारण है कि तुम्हारे संग संग बिताए सुंदर, छोटी-बड़ी मीठी-खट्‌टी घटनाओं, उतार-चढ़ाव भरे जीवन की यादें,मन में संजोए हुए से,अभी भी अपने आपको,अपने समाज, देश, विश्व परिवार के भूत, वर्तमान, भविष्य के साथ जुड़े हुए,विषमताओं भरे जीवन से प्यार करती हूँ, विश्व जीवन के उज्ज्वल भविष्य के सपने, आशापूर्ण नेत्रों से देखती हुई गतिमान हूँ, चाहे अब मेरी चाल कितनी ही ठिठकती, धीमी क्यों न हो, बीसवी सदी के अंत की झिझोड़ती झंझकोरती नेगेटिव और पाज़ेटिव, दिशा और दिशाहीन, धीमी रफ़्तार के बावजूद सी रफ़्तार जिससे मैं जूझ रही हूँ आज का सारा विश्व जूझ रहा है। काश तुम जान सकतें!.....

पत्र लम्बा हो गया है प्रिय;. लिखते हुए, सोचों,यादों में डूबी,मुझे पता ही नहीं चला कि बगीचे के पेड़ों के साए लम्बे होने लगे है... गुलमोहर के झरने फूलों की कार्पेट सी बिछ गई मेरे पैरों ही के कुछ ही आगे घासपर.. पेड़ की शाखाओं पर दो बुलबुलें उड़ आ बैठी है आपस में प्रेमालाप करने और याद दिलाने लगी है; फिर से, 'स्काई लार्क' पक्षी पर रची, कवि शैली की जगत प्रसिद्ध और हमारी अत्यन्त प्रिय कविता की यह पक्तियां....

धरती से उड़ान भर,

सुदूर गगन की नीलिमाओं में खोए जा रहे

मानो स्वर्ग से उतर रहे

अनुपम स्वरों के गायक

ओ स्वर्गीय पक्षी!...

दो सीख, दो वरदान मुझे

अपने आल्हाद पूर्ण संगीत के आधे अंश का भी

कि, मेरे होठों से भी हो प्रस्फुटित, मुखरित

वही आलौकिक उन्मुक्त काव्य माधुर्य

सुनेगा जिसे सकल विश्व

जैसे अब, सुन रहा हूँ मैं, तुझे!

प्यार से

तोष

●

प्रिय बलराज

आज मुझे याद आ रहे हैं वे दिन, जब चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग में अंतरराष्ट्रीय फ़िल्म उत्सव होने जा रहा था। भारत से गिने चुने फ़िल्म कलाकारों, निर्देशकों, कैमरामैनों को निमंत्रण था, तुम्हें भी बुलाया गया था।

तुम चाहते थे कि मै भी तुम्हारे साथ चलूं और उस यात्रा का आनंद लूं। इससे पहले मैं कभी कभी तुम्हारे साथ ऐसी रोचक यात्राएं कर चुकी थी। पर इस बार मैं नहीं जाना चाहती थी। मैं एक बाल नाटक लिख रही थी, जिसके लिए मुझे फ़ुर्सत और एकांत चाहिए था। साथ ही मैं अपना रोज़ का संगीत का रियाज भी नहीं छोड़ना चाहती थी। मेरे इन्कार करने पर तुम मुझसे कुछ नाराज़ हो, यह जानते हुए भी, मैं..नहीं गई। मैं सोचती रही कि बच्चोंकी छुट्टियाँ भी होने वाली है, उनके घर आने और तुम्हारे लौट आने से पहले मैं अपना काव्य नाटक छपने के लिए भेजना चाहती थी। बाद में वक्त नहीं मिलेगा। मैं भी कितनी स्वार्थी थी। अपनी ही सोच रही थी। आज अपने एकाकीपन में सोचती हूं काश मैंने इन्कार न किया होता।

प्राग से तुम्हारी चिट्ठी आई। लिखा था, ''काश, तुम यहां मेरे साथ होती। बहुत ही ख़ूबसूरत शहर है प्राग। कितना अच्छा बना है और कितना साफ़ सुथरा। यहां के ऐतिहासिक स्थान,चित्रकला प्रदर्शनियां, म्यूजियम, लोक और शास्त्रीय नृत्य,गायन थिएटर देखने को मिले है. देश विदेश के फ़िल्म कलाकार और फ़िल्में देखने का मौका तो मिला ही है। देखो, ईद आ रही है, ख़्वाजा अहमद अब्बास, साहिरजी, जाफ़रीजी और देश के अन्य मित्रों को ईद मुबारक के तार भेजना न भूलना। दीवाली से एक दिन पहले ही घर लौटने का इरादा है हम सबका।''

दिल्ली में कॉलेज की पढ़ाई कर रहे परीक्षित छुट्टियों में बंबई आए हुए थे। तुम्हारे माताजी पिताजी तो पहले से ही यहीं थे। घर में रौनक थी। तुम्हारे प्राग से लौट आने से पहले मैंने दीवाली की ख़रीद फ़रोख्त की। बच्चों को उनके दीवाली प्रेज़ेंट, उनके पहाड़ी स्कूल सनावर में पार्सल कर दिए। पर दीवाली से एक दिन पहले तुम घर नहीं पहुंचे।

दीवाली की शाम थी। दियों में तेल बत्ती डाल कर रख दी थी मैंने। घर के फाटक पर पीले गेंदे और आम के पत्तों की मालाएं सजाई। सूर्य अस्त हो रहा था और शाम का झुटपुटा अंधेरे में बदलने लगा। पड़ोस के घरों में दीपक जगमगाने लगे, फुलछड़ियाँ नाचने लगीं, पटाख़ें, अनार छूटने शुरू हुए। मेरा मन चिंतित और उदास सा था। तभी फाटक पर टैक्सी आ कर रूकी और तुम अंदर आ कर सभी के गले मिले। उस शाम फाटक पर ज्योति का पहला चौमुखिया दीपक तुम्हीं ने तो जलाया था। उसके बाद घर के मुख्य दरवाज़े और खिड़कियों पर टिमटिमाते मिट्टी के दिए हम सभी सजाने लगे थे। पड़ोसी बच्चों अपने चहेते बलराज अंकल के साथ मिल कर फुलझड़ियां अनार जलाने चले आए।

साथ ही याद आ रहा है वह समय, जब सर्दियों की छुट्टियों में दोनों बेटियां घर आई थी, डेढ़ महीने की छुट्टियों में वे वह सभी कुछ कर लेना चाहती थी जो पहाड़ी स्कूल के संयम और कायदों में संभव नहीं। बोर्डिंग, बोर्डिंग है और घर, घर। वे समुद्र तट पर सीपियां चुनना चाहती थीं, पानी में तैरना चाहती थीं, सहेलियों, दोस्तों के साथ पिकनिक पर जाना चाहती थीं और अपने डैडी की चल रही किसी पिक्चर की शूटिंग भी देखना चाहती थीं।

''हां, शूटिंग ज़रूर देखो, पिकनिक पर भी जाएंगे पर हफ़्ते में तीन बार मराठी भाषा सीखने की क्लास भी होगी। हम पंजाबी लोग महाराष्ट्र में आ कर बसे है तो सिर्फ़ पैसा ही कमाने के लिए नहीं। हम महाराष्ट्र की धरती का अन्न जल ग्रहण करते हैं। हमें इस प्रांत का इतिहास, इसकी संस्कृति, रीति रिवाज, उत्सव, गीत नृत्य और भाषा जाननी चाहिए।'' तुम बेटियों को समझाया करते थे। हफ़्ते में तीन दिन शबनम, सनोबर, मैं और तुम सभी एक मराठी सज्जन से मराठी भाषा सीखने के लिए पुस्तक, कॉपी, पेंसिल ले कर बैठा करते थे।

बेटियाँ और मैं 'गर्म कोट' फ़िल्म की शूटिंग देखने मोहन स्टूडियो अंधेरी गए थे। कहानी थी एक पोस्टल क्लर्क की, श्री राजेंद्र सिंह बेदी की लिखी। डायरेक्टर थे अमरकुमार। मुख्यपात्र तुम, निरूपा रॉय, रशीद ख़ान और बैज शर्मा। सेट था एक छोटे पोस्ट ऑफिस के एक कमरे का। दोपहर के खाने के लिए तीन क्लर्क दोस्त घर से लाए खाने के छोटे-छोटे डिब्बे खोल कर खाने बैठे हैं। सादी सी दाल रोटी, सब्ज़ी। लाइटें उन पर पड़ रही हैं, कैमरा फ़ोकस में है। क्लैपर ब्वॉँय ज़ोर से बोलते है ''साइलेंस'', सीन नं. दस, शॉट नं. तीन.'' सेट पर पिन ड्राप ख़ामोशी। कैमरा हरकत में है। बैज शर्मा, बलराज साहनी और रशीद ख़ां की दाल की कटोरी में नींबू निचोड़ते हुए कहते हैं, ''बग़ैर नींबू निचोड़े दाल का स्वाद नहीं आता।''

''कट'', डायरेक्टर बोलते हैं।

''कट क्यों हुआ मम्मी?'' छोटी बेटी ने पूछा था।

''शाट ठीक नहीं हुआ होगा न, ''बड़ी बेटी ने बताया।

यही शाट सात बार लिया गया, जिसमें करीब एक घंटा लग गया। बेटियाँ सभी कुछ देख सुन कर,खुश हुई सात बार नींबू निचुड़ता देख उन्हें मज़ा आया। हंसी आई। पर बोर भी हो गई। बस अभी घर चलो'' और हम घर लौट आई थी।

शबनम, सनोबर उस बार की छुट्टियों में दार्जलिंग जाना चाहती थीं। हिमालय की सबसे ऊंची चोटी एवरेस्ट देखने के लिए। हम दोनों भी बच्चियों को उनकी लंबी छुट्टियों में भारत का कोई नया स्थान दिखाना चाहते थे। सो सीटें बुक करवा कर हम चल पड़े। कलकत्ता और कलकत्ता से वगडोगरा स्टेशन। वहाँ से सवार हुए थे खिलौने सी दीखती मीटर गेज की छोटी सी रेलगाड़ी में। धीरे-धीरे, पहाड़ियां चढ़ते, बंगाल की शस्य श्यामला धरती, पेड़ वन पोखर देखते हुए,बंगाल का देहाती जीवन देखते हुए, हम चारों पहुंचे थे दार्जलिंग। दिसंबर की पर्वतीय सर्दी थी। सभी लोग गर्म कपड़ों में लिपटे थे। दार्जलिंग बंगालियों, भूटानियों, नेपालियों,

आसामियों का मिला जुला पहाड़ी शहर है। अंग्रेज़ी हुकूमत के वक्त के ठाठ बाट के निशान और साधारण लोगों की ग़रीबी के दृश्य दिखाता हुआ शहर। कितने सुंदर थे वहां के बालक, स्त्रियां, पुरूष। चीनी और भारतीय मिले जुले नैन नख्श वाले उनके चेहरे। बेहद सुंदर लगे थे हमें उनके त्रिकोण छतों वाले मंदिर,और होटल के कमरे की खिड़की से दीख रही थी हिमालय की तीसरी ऊंची चोटी, बर्फ़ ढकी कंचनजंघा। गगन को भेदती सी। इसे देख लेना कुछ अनमोल पा लेने जैसा ही लगा था हमें।

हम सारा दिन दार्जलिंग के सौंदर्य स्थलों बाज़ारों, मंदिरों को देखते रहें। जहां कहीं हम जाते, लोग तुम्हें पहचान कर मुस्कराते, तुमसे हाथ मिलाते, नमस्कार करते, तुम्हें प्रेम आदर देते। दूसरे दिन तड़के ही 'टाइगर हिल' जाने के लिए हमने एक जीप बुक की थी। एवरेस्ट दर्शन के लिए। कड़ाके की ठंड में सुबह चार बजे बिस्तर से कौन उठना चाहता है। लेकिन हम एवरेस्ट दर्शन के लिए ही तो वहां से आए थे, सो गर्म ओवरकोट, मफ़लर, दस्ताने, गर्म बूट पहन, कंबल साथ में ले कर बैठ गए जीप में, दार्जलिंग से कुछ ही टाइगर हिल पहुँचने तक पूर्व दिशा में ऊंची पर्वत श्रृंखलाओं के पीछे से भोर का धीमा उजाला झांकने लगा था। हम लोग दांत कटकटाते हुए खड़े रहे उस धीमे उजालें में एवरेस्ट यानी गौरी शंकर के दर्शन के लिए को , हिमालय की सबसे ऊंची चोटी के, सिर्फ़ दस या पंद्रह सेकेंड के लिए।

इसके बाद लौट पड़े थे हम दार्जलिंग की ओर। राह में तांगलू पहाड़ की दस हजार ऊंची चोटी के भी दर्शन किए थे। इस चोटी पर चढ़ने के लिए जीप तक का भी ठीक रास्ता नहीं था। जीप के तीन पहिए तो पहाड़ी पगडंडी पर होते और चौथा पहिया अधिकतर हवा ही में। ज़ीप ड्राइवर ज़रा सा भी कंट्रोल खो बैठता तो हम सभी जीप समेत पहाड़ से मीलों नीचे, न जाने कहां लुढ़क गए होते।

चोटी के नीचे एक छोटे से समतल पर जहां बर्फ़ ही बर्फ़ है, वहां हम चारों बर्फ केगोले बना बना कर एक दूसरे पर फेंकते रहे थे। बर्फ़ के पुतले बनाते रहे थे और एक दूसरे के फ़ोटो खींचते रहे थे। वही फ़ोटो सामने रखे हैं...टेबल पर....यूं महसूस होता जैसे, इस घड़ी, तुम बच्चियों और,मैं तांगलू चोटी पर ही खड़े हंस खेल रहे है।

तुम्हारी
तोष

प्रिय बलराज,

आज सुबह घर का कुछ काम काज कर के, संगीत का रियाज कर के आ गई हूं अपने कमरे में। बैठी हूं चारपाई पर गावतकिए का सहारा लिए। बारिश अभी अभी रुकी है। कमरे की खुली खिड़की से शीतल हवा के झोंके आ रहे हैं। खिड़की के बाहर है अपने बगीचे का वही अपना गुलमोहर, जिस पर चौमासे की घमासान बरसात की बौछारों के बावजूद अभी भी दो केसरी फूल, मानो अपने जिए रहने, खिलते रहने की चाह से और शायद मेरा प्यासा मन रिझाने और बहलाने के लिए मुझे सतत प्रेरणा देने के लिए,अभी भी हरी कोमल पत्तियों के बीच से झांक छिप,मुझसे आंख मिचौली खेल रहे हैं। जियो केसरी फूलों,जियो। चौमासे में आए तूफानों और आंधियों में,जहां बड़े-बड़े पेड़ अपनी गहरी जड़ें जमीन से जोड़े न रख सके, धराशाई हुए, वहां तुम,अपने आपको कायम रख सके। तुम्हें, तुम्हारे जीवन प्रेम को, तुम्हारी जीवन शक्ति को बधाई। पर क्या अगली बहार तक तुम टिक सकोगे? नहीं, प्रकृति के एक अटल नियम को तुम नहीं तोड़ सकोगे झरझर कर, सूख कर, मिट्टी से मिल कर,अगली बहार में तुम ही तो फिर फूटने को बेताब,केसरी कलियां बनोगे?

और बगीचे की दीवार के बाहर सड़क के चौराहे पर खड़े हैं, तुम्हारे-मेरे पुराने बुज़ुर्ग, दोस्त दो पठानी कद के, रुनझुन नाचती हरी पत्तियों की पोशाक पहने, सर्व सुंदर पेड़ का ख़िताब पा चुके, जनाब दो इमली वृक्ष। जिन्हें हम दोनों ने अपने मित्रों की सहायता से व्यापारियों की बेरहम कुल्हाड़ियों का शिकार होने से बचा ही तो लिया था। याद है न! कितने बरस हो गए हैं इस घटना को बीते, जो मन में अभी भी ताज़ी है, प्यार की चोट की तरह...

बैठे बैठे, राह ताकते हुए,मिर्ज़ा ग़ालिब की कही दो लाइनें होंठों पर यूं ही उभर आई हैं-

इश्क ने ग़ालिब निकम्मा कर दिया

वर्ना हम भी आदमी थे काम के ।

सोचने लगी हूं कि क्या इश्क निकम्मा कर देता है आशिक को? क्या प्रेम, प्रेमी या प्रेमियों को निकम्मा कर सकता है? युगों-युगों तक अमर रहने वाले अज़ीम शायर ग़ालिब के जज्बातों और अनुभवों से भरी गहरी, दार्शनिक शायरी की नुक्ता चीनी करने की हिमाकत मैं नाचीज़ कैसे कर रही हूं भला? हालांकि किसी भी घटना और अनुभव के बारे में सोचने और उसके बारे में ख़याल ज़ाहिर करने का हक और गुण कुदरत ने इंसान ही को तो दिया है, तो फिर क्यों न सोचूं, लिखूं, गाऊं!

सोच रही हूं कि मुझे इश्क ने गहरी चोट भी लगाई थी और जीने की, रूह को विकसित होने की प्रेरणा भी दी। तन मन को उल्लास से विभोर किया था, प्रेम दे कर प्रेम पाने की तड़प

ने मुझे असंभव को संभव कर सकने की, अभाव को संपूर्णता में खिला देने की कामना भी दी थी और दी है।

मिर्जा ग़ालिब की एक और ग़ज़ल की दो लाइनें याद आ रही हैं -

'इश्क पर ज़ोर नहीं, है ये वो आतिश ग़ालिब
कि लगाए न लगे और बुझाए न बने।'

हां, ये पंक्तियां मेरी फितरत, मेरे अनुभव के बहुत करीब हैं... इश्क ही ने तो लैला मजनूं, सस्सी पुन्नू, हीर रांझा, शीरी फ़रहाद जैसे प्रेमियों को अमर किया। प्रेम ही ने मीरा, नानक तुलसीदास, सूरदास, कबीर जैसे संतों, भक्त कवियों औरउनके काव्य को अमर किया। देशप्रेम ने ही भगत सिंह, राजगुरु, सुखदेव जैसे अनेक वीरों को आत्मबलिदान करने की ललकार दी। देश में एकता, अहिंसा, विश्व शक्ति परस्पर सद्‌भावना के प्रेम ने महात्मा गांधी, इंदिराजी और अब राजीव गांधी को निडर हो कर अपने जीवन की बलि देने तक की दृढ़ शक्ति दी....

प्रेम में प्रेरणा, साहस, सहनशीलता, उदारता, क्षमा सभी तो है। सच्चा प्रेम अधिकार देता है, अधिकार छीनता तो नहीं...

'ढाई आखर प्रेम के, पढ़े सो पंडित होय।' अगर मेरे समेत सारी दुनिया के लोग इस कथन पर चल सकते तो यह दुनिया स्वर्ग न बनने लगती? सच्चाई तो यह है कि न मैं और न दुनिया के अधिकतम लोग इस अनमोल कथनी को अमल में ला रहे हैं...

'प्रेम गली अति सांकरी' भी तो किसी ने कहा था, शायद कबीर ने प्रेम का इकरार करना और उस इकरार को निभा सकना किसी विरले के ही बस की बात है। क्या यह मेरे बस की बात हुई है? बाप रे! मैं भी बैठी बैठी किधर किधर बहक गई हूँ?

बलराज, फ़िल्मी दुनिया में तुम्हारे बारे में अक्सर कहा सुना जाता था कि बलराज साहनी कैरेक्टर रोल तो बख़ूबी निभा लेते हैं लेकिन रोमांटिक हीरो का रोल निभाना उनके बस का खेल नहीं, इसीलिए जब 'मिर्ज़ा ग़ालिब' फ़िल्म बनने जा रही थी तो पहले मिर्ज़ा ग़ालिब के रोल के लिए तुम्हें साइन कर लिया गया था, मुहूर्त हो गया, पोशाकें बन गईं लेकिन शूटिंग के पहले दिन ही स्टूडियो के ऑफ़िस में तुम्हें बताया गया कि 'आपका रोल किसी और को दिया जा रहा है, इसलिए कि सबकी राय यह है कि आप एक प्रेमी शायर का रोल नहीं निभा सकेंगे। ऐसी रिस्क हम नहीं लेंगे! जब तुम दोपहर से पहले ही घर लौट आए और बात सुनाई तो मैं तुम्हारे करीब बैठी तुम्हें देख रही थी, चुपचाप पढ़ रही थी, तुम्हारे चेहरे पर छाए अनादर, अपमान की भावनाओं को। तुम्हारे शांत मुस्कराते चेहरे को देखती मैं सोच रही थी ऐसा भी किया जाता है कभी! हां, पर किया तो गया है।

सोच रही हूं, यह ठीक है कि तुममें अपनी उम्र से आधी कच्ची आधी पक्की किसी हीरोइन के साथ बागेबहार के किसी पेड़ के इदगिर्द आंख मिचौली और उछल कूदने की 'काबलियत' नहीं थी, न ही पहाड़ी ढलानों से नीचे सरकते लुढकते या प्रेमिका को झटके पे झटका देने की क्षमता और रुचि थी। पर जिन दर्शकों ने 'गर्म कोट' में तुम्हें निरूपा रॉय के हाथ

की पकाई हाथ से खिलाई खीर का स्वाद चखते देखा है, वे एक ग़रीब क्लर्क और उसे पत्नी के इस प्रेम दृश्य को बार बार देखना चाहते थे। 'वक़्त' फ़िल्म का 'ऐ मेरी ज़ोहरा जबीं' गीत चित्र भी बार बार देखा सुना जाता है.. 'अनुराधा' और 'सीमा' सी फ़िल्मों के प्रेम संबंध को भी किस कोमलता और गंभीरता से तुमने निभाया था। और इप्टा के प्रसिद्ध नाटक 'आख़िरी शमां' में तुमने मिर्ज़ा ग़ालिब की शायरी और शखसीयत को जैसा निभाया था, आज तक कोई कलाकार उसकी विशालता, गहराई और तल्ख़ी को छू नहीं सका... तुम्हारी साहित्यिक और कलात्मक शिक्षा दीक्षा जीवन की कड़वी मीठी सच्चाइयों को सच्ची भावना से प्रकट करने के उद्देश्य से हुई थी। बनावटीपन न तुम्हारे जीवन में था, न तुम्हारी कला में।

प्रेम पाने और देने का, प्रकृति और उसके हर प्राणी का अपना अपना अलग अंदाज है। तुम्हारा भी प्रेम देने और पाने का, मेरे लिए ही नहीं, हम सबके लिए अपना ही विलक्षण ढंग और अंदाज़ था। 'बीत चुके उस युग की गाथा' नाम से रची अपनी वह लंबी कविता, जिसे तुमने कश्मीर के अनुपम सौंदर्य स्थल गुलमर्ग में रह कर लिखा था और एक प्रसिद्ध पंजाबी पत्रिका में छपवाया था, वह एक प्रेमी-प्रेमिका की ही अमर कहानी है... तुम्हें यह जान कर कितनी ख़ुशी होगी, प्रिय, कि मुक्त छंद में रची उस लंबी प्रेम गाथा का हिंदी रूपांतर मैंने अपनी तुच्छ क्षमता अनुसार किया है और अब वह गाथा तुम्हारी अन्य सभी रचनाओं के साथ 'बलराज साहनी समग्र साहित्य' रूप में एक जाने माने प्रकाशन संस्थान द्वारा प्रकाशित हो रही है ।

तुम्हें याद होगी तुम्हारी उस प्रेम गाथा की ये पंक्तियां-

इतनी साधना तपस्या से मिला
यह प्रेम मिलन वरदान
सफल, अमर होगा तभी प्रिय,
जब हम इसे सम्पूर्ण मानवता के
सुख दुख से साझा करेंगे...........

तुम्हारी
तोष

●

प्रिय बलराज

पहली मई को तुम्हारा जन्मदिन होता है। उस दिन मैं निकट संबंधियों और कुछ मित्रों को शाम के खाने के लिए बुलाया करती थी। वैसे तो तुम्हारा हर दिन किसी न किसी काम की वजह से व्यस्त होता था। अगर बंबई या बंबई से बाहर शूटिंग नहीं हो रही तो बंबई में ही या किसी और प्रांत के शहर में कोई सेमिनार होता, कोई सांस्कृतिक सम्मेलन होता या किसी कॉलेज, यूनिवर्सटी के दीक्षांत समारोह में चीफ़गेस्ट के तौर पर तुम बुलाए जाते। चुनावों में भी किसी प्रगतिशील दोस्त के लिए कैंपेन करने जाना भी कर्तव्य समझ कर, जगह-जगह चुनाव मीटिंगों के लिए टूर करते, घर में कभी कभार तुम्हें इतना एकांत नहीं मिलता कि तुम कोई ज़रूरी लेख किसी पत्रिका के लिए जल्दी से लिख सकते, इसलिए तुमने घर से कुछ दूर, समुद्र के किनारे के पास, किसी कॉटिज में एक कमरा भी किराए पर ले रखा था, जहां तुम अपना टाइप राइटर और टिफ़िन ले कर चले जाते कुछ घंटों के लिए। इसलिए अपने बच्चों और तुम्हारे जन्मदिनों की शामें, मित्र बंधुओं के साथ प्रेम मिलन की, फ़ुरसत के कुछ घंटों की ही ऐसी शामें होती थीं, जो आधी रात तक चलतीं। हंसी खुशी और मज़ाक से घर गूंज उठता था। इन महफ़िलों में कोई देश विदेश के चुटकुले किस्से चुटकुले सुनाता, तो कोई किसी प्रांत का लोकगीत।

हर ट्रिप से लौटते हुए तुम परिवार के सभी सदस्यों के लिए छोटी-छोटी सौगातों के साथ ही साथ कुछ नए सुने चुटकुले भी लाया करते और तुम्हारा अंदाज़े बयां भी अनोखा ही होता था। चुटकुले में कई बार अगर कोई खास बात न भी होती तो भी तुम्हारे सुनाने के ढंग ही से हंसी के फ़व्वारे छुटने लगते।

पूरब, पश्चिम, समूचे पंजाब के दिलोजान से प्यारे कवि वारिसशाह की लिखी अमर काव्य गाथा 'हीर रांझा' की कुछ प्रसिद्ध पंक्तियां तो तुम इतने मीठे सुरों में और भावना में डूब कर गाते कि मैं चकित होती रहती। मैं जो हर रोज़ शास्त्रीय संगीत का प्रार्थना की तरह अभ्यास करती थी, तुम्हारी तरह अच्छा क्यों नहीं गा सकती थी यही प्रसिद्ध पंक्तियाँ-

हीर आखाया, जोगिया! झूठ बोलें
कौण रुठड़े यार मनावदाई,
ऐसा कोई न मिलया, मैं ढूंढ सकी
जड़ा गयां तु, मोड़ लै आवंदाई!

अब वहीं पंक्तियां दोहराती हूं और सोचती हूं वारिसाह के ही शब्दों में 'रे जोगी झूठ कहते हो, रूठे यार को कौन मना सकता है? मैं तो ढूंढ-ढूंढ कर थक गई पर ऐसा कोई भी न मिला जो बिछड़े यार को फिर से मिला दे...'

बैठी बैठी याद कर रही हूं। तुम्हारे एक जन्मदिन से पहले के दो-तीन दिनों को, जब मैं सोच रही थी कि अबकी तुम्हें तुम्हारे जन्मदिन पर क्या भेंट दूं। एक दिन सुबह सुबह बिस्तर में लेटी हुई, कश्मीर में बिताए अपने बचपन के दिनों को याद करते-करते श्रीनगर की मनोरम, शांत, निर्मल 'डल' झील में खिले कमल फूलों को मन ही मन प्यार करती मैं इस फ़ैसने पर पहुंची कि इस बार तुम्हारे जन्मदिन पर तुम्हें कमल फूलों की ही भेंट देनी है पर बंबई में कमल के फूल! और वह भी अप्रैल मई की गर्मी में? कैसे और कहां से लाऊंगी? अपने एक पायलट मित्र, जो बंबई कश्मीर की उड़ाने भरते थे, उनसे मंगवा सकती थी। एक दिन श्रीनगर गए और दूसरे दिन बंबई ले आए पर कश्मीर की डल झील में कमल फूल तो सिंतबर अक्तूबर में खिलते हैं। मैं पहली मई की पार्टी की तैयारियां कर रही थी और सोच में पड़ी थी। अपने मन की बात किसी को बता भी नहीं रही थी। मोटर ले कर जुहू से बांद्रा स्टेशन तक गई, फल मिठाई खरीदने के लिए। लौटती बार बाद्रां कचहरी के पास की सड़क पर से गुज़रते हुए मेरी नज़र पड़ी एकाएक, मंदिर के पास ही बांद्रा के बड़े से तालाब में खिल रहे कमल फूलों पर। वहीं सड़क के किनारे मोटर रोकी मैंने। तालाब के किनारे पहुंची। किनारे पर कुछ लोग नहा रहे थे, कपड़े धो रहे थे और एक कश्ती भी तो खड़ी थी वहां! वहीं नहा रहे एक अपरिचित से, मैंने विनती की कि मुझे तालाब में से पांच छह कमल फूल तोड़ ला दे, मेहनत के पैसे दे दिए जाएंगे। अपरिचित मुस्करा कर कश्ती में बैठा और पांच दस मिनट में फूल ले कर आ गया। अकस्मात मेरी मनोकामना कैसे पूरी हो गई? मैं हैरान और खुश! कमल फूल घर में ला कर पानी भर बाल्टी में डाल कर कहीं छिपा कर रख दिए और दूसरे दिन तुम्हारे जन्मदिन की सुबह तुम्हारे नींद से जागने से पहले ही तुम्हारे पलंग के पास पड़ी टेबल पर कमल फूलों से भरा फूलदान रखा दिया। मेरे कदमों की आहट से तुम्हारी नींद खुली।

'कमल फूल! कहां से मिले तुम्हें?' तुम भी उतने ही हैरान और खुश थे जितनी मैं... कितने बरसों की घटना है वह!

अब भी तुम्हारा जन्मदिन मनाती हूं हर साल पहली मई को, तुम्हारे घर में एक छोटा सा सुंदर सांस्कृतिक समारोह करके। मित्र संबंधी, कलाकार, पड़ोसी सभी इकट्ठे होते हैं तुम्हें प्रेम और आदर से याद करने के लिए....

शाम का वक्त है। बाज़ार जा रही हूं। कल तुम्हारे जन्मदिन स्मृति समारोह के लिए कुछ ज़रूरी चीज़ें ख़रीदने के लिए। सड़क पर चलते-चलते अचानक नज़र पड़ती है पैरों के नीचे आने ही वाले, अख़बार के एक फटे पुराने पन्ने पर, पन्ने पर छपी एक परिचित सी फ़ोटो पर- उठा कर देखती हूं। गुजराती भाषा के इस अख़बार के मैले फटे पन्ने पर तुम्हारी और मेरी कभी एक साथ ली गई फ़ोटो है। फ़ोटो के नीचे लिखा है, 'बलराज साहनी अपनी पत्नी दमयंती साहनी के साथ...'

सड़क के किनारे खड़ी मैं चुपचाप वह फ़ोटो देख रही हूं। बाज़ार के लोग आ जा रहे हैं। मोटरें, साइकिलें, रिक्शे चल रहे हैं अपनी तेज़ रफ़्तार से।

इस भीड़ में किसको खबर है कि अपने एकाकीपन में मैं क्या देख रही हूं, कौन सी दुनिया में, कौन से वक्त में, अपने जीवन इतिहास का कौन सा पन्ना देख रही हूं मैं...!

बरबस आंखों से दो आंसू कांपते हुए हाथ में पकड़े इस फटे पुराने कागज़ पर छपी फ़ोटो पर आ गिरे हैं।

देख रही हूं कि एकाएक अस्त हो रहे सूर्य की अंतिम दो तीन सुनहरी किरणें, ओस से निर्मल आंसुओं पर जगमगा गई हैं।

पता नहीं लग रहा, मेरी धुंधलाई आंखों को, कि ये आंसू हैं यह वही कमल के फूल, जो मैं बांद्रा मंदिर के तालाब से तोड़ कर तुम्हे जन्मदिन भेंट देने के लिए लायी थी....

तुम्हारी
तोष

प्रिय बलराज

तुम्हारी विदाई के कुछ ही महीनों बाद एक भलेमानस मुझे कहने लगे, 'एक एक्टर की मृत्यु के बाद लोग कितनी देर उसे याद करेंगे? दो या चार साल तक। फ़िल्मी दुनिया में कई सितारे जगमगाए और ग़ायब हुए। ज़िंदगी की तेज़ रफ़्तार में लोग बलराज साहनी को भी भूल जाएंगे।'

मैं तो पहले ही घायल थी। उनकी बात से बड़ी ठेस लगी। लेकिन सब्र से जवाब दिया, 'यह तो वक्त ही बताएगा, मुझे भी और आपको भी।'

बरसों बीत गए हैं, तुम्हारी अकस्मात विदाई की शॉक देने वाली घटना को। लेकिन क्या मैं और तुम्हें दिल से चाहने वाले अनगिनत प्रेमी तथा प्रशंसक तुम्हें भुला सके हैं?

इन दिनों में तुम्हारा अभाव बड़ी शिद्दत से महसूस करने लगी हूं। मैं उन सपनों को याद करती हूं, जिन्हें हमने संजोया था। वे सपने थे, हमेशा अपना ज्ञान बढ़ाते रहने के, अपने देश को अंग्रेज़ी हुकूमत से छुड़ाने के, आंदोलन में भाग लेने के और आज़ादी मिलने पर एक ऐसा हिंदुस्तान बनाने के, जिसमें ग़रीबी या अज्ञानता न हरे, जिसमें धर्म, जात पात. ऊंच नीच के वैर विरोध न हों। हर क्षेत्र में, आपस में मिलजुल कर तरक्की करते भारत के करोड़ों लोगों के चेहरों पर सुकून कि मुस्कराहट देखने के सपने बुने थे हमने।

कॉलेज की पढ़ाई के दिनों से ही तुम कविता, कहानी, लेख लिखने लगे थे। नाटकों में भाग लेने लगे थे, फिर शांतिनिकेतन में रह कर तुम पर गुरुदेव रवीद्रनाथ टैगोर के विचारों का गहरी प्रभाव पड़ा। सेवाग्राम में रहते हुए तुम्हें और दमयंती को महात्मा गांधी, पंडित नेहरू और डॉ. ज़ाकिर हुसैन सी महान हस्तियों के साथ रहने का भी मौका मिला। दूसरे विश्वयुद्ध के समय तुम दोनों लंदन में बी.बी.सी. के हिंदुस्तानी विभाग में काम कर रहे थे युद्ध की भयंकरता और जनजीवन की तबाही ने तुम्हारे भीतर युद्धों के कारण जानने की गहरी ख़्वाहिश जगाई। तुमने मुझे बताया था कि तभी से तुमने मानव सभ्यता के इतिहास और राजीनीति पर भी पुस्तकें पढ़नी शुरू कीं और इस नतीजे पर पहुंचे कि सत्ताधारी ताकतें या हुकूमतें अपने स्वार्थों के लिए आर्थिक या किसी भी पहलू से कमज़ोर देश या वर्ग को अपने कब्ज़े में रखने के लिए धर्म, देश या जाति के प्रति खतरे के नारे लगा कर जंग करती हैं।

तुम बताया करते थे, ''कहानी, गीत, नाटक और फ़िल्म के जरिए आम आदमी अपने कष्टों, समस्याओं और उनके कारणों को सहजता से समझ सकता है, तभी वह अपनी समस्याओं के हल निकालने की कोशिश भी कर सकता है। यही उद्देश्य मन में रख, तुम और दयमंती 'भारतीय जन नाट्य संघ' के सक्रिय सदस्य बने। लोगों की समस्याओं पर लिखे कई नाटक, गीत, नृत्य आदि इप्टा ने देश के सभी प्रांतों में पेश किए। तभी इप्टा ने 'धरती के लाल'

नाम की फिल्म भी बनाई। इप्टा के निर्देशक थे ख़्वाजा अहमद अब्बास और कलाकर थे बंगला इप्टा के सुप्रसिद्ध कलाकार पति पत्नी शंभु और तृप्ति मित्र। उसमें दयंमती और तुमने भी भाग लिया था। यह फ़िल्म भारत में अंग्रेज़ी शासकों और उनके पिट्ठू हिंदुस्तानी व्यापारियों की लापरवाह बेरहमी के कारण आए बंगाल के अकाल के बारे में बनाई गई थी। इस फ़िल्म में अकाल के कारण और अकालपीड़ितों की हालत इतनी सच्चाई से दर्शाई गई थी कि अंग्रेज़ी हुकूमत ने इसे दिखाने पर रोक लगा दी थी। फिर भी इस फ़िल्म ने देश विदेश में प्रसिद्धि पाई थी।''

मेरे गृहप्रवेश के बाद जिस फ़िल्म ने देश में तहलका सा मचा दिया था, वह थी ज़िया सरहदी की बनाई 'हमलोग' इस फ़िल्म में तुमने बेकाम भटक रहे गरीब नवयुवक का रोल किया था। तुम उन दिनों कम्युनिस्ट पार्टी के कलाकार मेंबर थे और रानीतिक कैदियों के लिए जेलों में पढ़ने लिखने की सुविधाओं की मांग के एक जुलूस में भाग लेने की वजह से छह महीने की कैद काट कर बाहर आए थे और काम की तलाश में भटक रहे थे। तभी तुम्हें 'हमलोग' में यह रोल मिला था। फ़िल्म ज़बर्दस्त हिट हुई, फिर भी दो एक संपादकों ने अपनी फ़िल्म पत्रिकाओं में लिखा, 'बलराज साहनी जैसे आदमी को फ़िल्मों में काम देना ख़तरा मोल लेना होगा। क्या मालूम किस वक्त यह किस स्टूडियो को आग लगा दे? फ़िल्मों में काम करने लायक अब न इसकी उम्र है, न शक्ल सूरत।'

'हमलोग' की कामयाबी के बावजूद घर में दालरोटी मुश्किल से चल रही थी। हम पर बच्चों की और देश के बंटवारे के बाद पश्चिमी पंजाब, यानी नए बने पाकिस्तान से शरणार्थी हो कर आए परिवार की परस्थितियों की ज़िम्मेदारिया थीं, सो रेडियो, पत्रिकाओं, डॉक्यूमेंटरियों, फ़िल्मों की डबिंग वगैरह का काम खोज कर हम दोनों गुज़ारा चला रहे थे। हमारे पास धन की कमी तो थी लेकिन हमारे सपने आशाओं और आदर्शों भरे थे। शायद इसी वजह से विमल रॉयजी के असिस्टेंट ऋषिकेष मुखर्जी, जो इप्टा के नाटकों और 'धरती के लाल' फ़िल्म में तुम्हारा काम देख चुके थे, तुम्हें रवींद्रनाथ ठाकुर की कविता पर आधारित कहानी 'दो बीघा ज़मीन' में ग़रीब किसान शंभु महतो का रोल निभाने के लिए ले गए थे। इस फ़िल्म की तकरीबन सारी शूटिंग के दौरान मैं बंबई और कलकत्ता में तुम्हारे साथ ही थी। कितनी लगन से, जी जान तोड़ कर तुमने कर्ज़े में फंसे ग़रीब किसान की कष्टों भरी ज़िंदगी दर्शकों के सामने पेश की थी।

देश की आज़ादी के बाद हमारे महान नेता और तुम्हारे आदर्श पुरुष पंडित जवाहरलाल नेहरु और अन्य नेता एक तरफ अनेक योजनाएं बना कर देशवासियों के जीवन में आर्थिक सामजिक न्याय और समानता लाने के लिए कोशिशें कर रहे थे, वहीं दूसरी तरफ़ वे हिंदुस्तानियों के सभी देशों के साथ, सांस्कृतिक संपर्क और मैत्री संबंधों के दरवाजे भी खोल रहे थे। ये दरवाज़े अंग्रेज़ी राज के समय, हमारे लिए बंद थे। इन्हीं कोशिशों की वजह से राजकपूर जी की 'आवारा' और विमल रॉयजी की 'दो बीघा जमीन' जैसी फ़िल्में ले कर आज़ाद भारत का सबसे पहला फ़िल्म डेलीगेशन रूस गया। सदस्य थे विमल रॉय, राजकपूर, नरगिस, देव आनंद, सलिल चौधरी, निरूपा रॉय, तुम और कुछ अन्य बड़ी हस्तियां।

रूस की यात्रा के बाद तुमने 'मेरा रूसी सफ़रनामा' यात्रा पुस्तक लिखी, जिसके लिए तुम्हें 'सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार' इंदिरा गांधी के कर कमलों से मिला था। पुरस्कार पाते हुए इंदिरा जी के साथ ली गई फ़ोटो तुम्हारे घर की बैठक की दीवार पर आज भी शोभायमान है।

तुम्हारी रूस यात्रा के कुछ महीने बाद हमारे 'जुहू आर्ट थिएटर' को भारत सरकार के सांस्कृतिक विभाग से निमंत्रण पत्र मिला था, पांचवें अंतरराष्ट्रीय नौजवान शांति मैत्री मेले में अपने प्रतिनिधि भेजने का। मेला पोलैंड की राजधानी वारसा में हो रहा था। अपने थिएटर से मुझे भाग लेने को कहा गया और तुम्हें देश भर की, नौजवानों की कई संस्थाओं से छह सौ के करीब युवक युवतियों का नेतृत्व करने के लिए चुना गया था। उन दिनों तक तुम कई एक फ़िल्मों में काम करने लगे थे। इनमें सबसे प्रमुख फ़िल्म थी 'सीमा'। बीस-पच्चीस दिन की छुट्टी ले कर हम दोनों कैसे इटली, स्विटज़रलैंड, चेकोस्लोवाकिया होते हुए वारसा पहुंचे और स्कूलों की छुट्टियों के दिनों में एक बड़ी सी स्कूल बिल्डिंग में सभी साथियों के साथ ठहरे। हमारे इस हिंदुस्तानी एकजुट में अचला सचदेव, प्रेम धवन, फ़िल्म अभिनेता रंजन सितारवादक रईस ख़ान, निखिल बनर्जी और कितने ही दूसरे बड़े कलाकार, खिलाड़ी, लेखक आदि शामिल थे। यूरोप के देशों से भी कई विद्यार्थी हमसे आ मिले।

वारसा निवासियों के घरों को छोड़ तकरीबन बाकी सब बिल्डिगें एक सौ पैंतीस छोटे बड़े देशों से आए कम से कम पैंतीस हज़ार नौजवानों के रहने का स्थान बनी हुई थीं। तुम और मैं एक स्कूल बिल्डिग के हैडमास्टर के ऑफ़िस में रह रहे थे।सभी नौजवान अपने देश की लोक वेष भूषाएं पहने थे। सभी अपने देशों की कलाएं, खेल, नाटक, गीत दिखाने और दूसरों की कलाएं देखने आए थे। सभी अपने देशों की समस्याएं और प्राप्तियाँ एक दूसरे से सांझे कर रहे थे। एक दूसरे को छोटी यादगारी सौगातें दे रहे थे, सबसे अपूर्व अनुभव तो था वह महान विश्व एकता का मीलों लंबा विश्वशांति मित्रता का जुलूस, जो हमने वारसा की सड़कों पर निकाला था। पैंतीस हज़ार युवक-युवतियों अपने लोक वस्त्रों में, अपने अपने छोटे बड़े देशों के झंडे बुलंद किए विश्वशांति और दोस्ती के नारे लगाते, गीत गाते उमंगों में झूमते हंसते चल रहे थे। वारसा शहर और पोलैंड के दूसरे भागों से आए दर्शक स्वागत के लिए फ़ुटपाथों, घरों की खिड़कियों, बालकनियों, और छतों पर जमा थे।

बलराज, तुम नए-नए आज़ाद हुए भारत का तिरंगा उठाए हमारी डेलीगेशन के आगे चले रहे थे। तिरंगे को देखते ही दर्शक पुरज़ोर नारे लागते, 'आजाद भारत ज़िंदाबाद। नेहरू ज़िंदाबाद। विश्वशांति, मैत्री ज़िंदाबाद।' इन नारों को सुन कर हमारे माथे गर्व से ऊंचे होते थे...

आज जब दुनिया खाड़ी युद्ध की भयंकरता से दहल चुकी है, मैं दुख भरे दिल से तुम्हारे और अपने पैंतीस हज़ार लोगों के साथ संजोए शांति, दोस्ती के सपनों को याद कर रही हूं। बार बार जब हिंसा होती है, युद्ध होते हैं तो सोचती हूं कि क्या हमारे वे सुंदर सपने कभी साकार न होने वाले असंभव सपने थे? या, उन सपनों को साकार करने में हम विश्ववासी जाने अनजाने अपने ही स्वार्थों से बार-बार गंभीर ग़लतियां कर बैठते हैं, जिनका फल दुनिया की सर्वसाधारण जनता को भोगना पड़ता है?

सोचती सोचती अपनी हथेली पर रखे एक यादगारी स्वर्ण पदक को देख रही हूं, जिस पर लिखा है, 'बलराज साहनी को, विश्वशांति, मैत्री की सेवा के लिए भेंट'।

असमय और अकस्मात तुम हम सबसे विदा ले गए। पर तुम्हारी सुंदर जीवन यात्रा अपने और सभी के सपने साकार करने को समर्पित थी। वह समर्पण अमर रहेगा।

तुम्हारी

तोष

●

काश्मीर झील 'डल' में नौका चलाने का आनन्द लेती कालेज छात्रा संतोष

काश्मीर के विमल, भोले सौन्दर्य के आँचल में कालेज के प्रथम दिन (1938-39)

काश्मीर के एक सौन्दर्य स्थल में पिकनिक (1937-38)
पहले उर्मिला, भानजी कपिला, बहन शान्ता, भानजा केशव मलिक, संतोष,
बहन कान्ता, भानजा सुभाष मलिक, सत्यवती मलिक ।

धरती-आकाश के साथ एक हो, दार्जिलिंग की तांगलु चोटी पर संतोष।
फोटो द्वारा बलराज साहनी।

1 मई 1985 बलराज साहनी जन्मतिथि उपलक्ष्य में विश्वशान्ति एवं स्वदेश एकता को समर्पित कार्यक्रम के अन्त में कलाकारों का सामूहिक चित्र (फोटो : संतोष साहनी)।

आगरा इप्टा द्वारा 26 फरवरी' 84 को प्रस्तुत 'अग्नि परीक्षा' के प्रदर्शन के पूर्व उद्‌गार व्यक्त करते हुए लेखिका श्रीमती संतोष साहनी, निर्देशक जितेन्द्र रघुवंशी व स्वागताध्यक्षा श्रीमती उमालाल।

श्रीनगर के एक सौन्दर्य स्थल पर पिकनिक

बाएँ से— संतोष, छोटी बहन सुनीति, बहन शान्ता, भाई जयदेव एवं इन्दु, सत्य, विद्या, विनय, सखी उषा, सभी पारिवारिक प्रिय मित्र। (1938)

हिन्दी साहित्य परिषद् के प्रथम सम्मेलन (मेरठ) 1941 के प्रतिनिधियों के साथ लिया गया चित्र

बैठे हुए : बाएं से दूसरे श्री जैनेन्द्र जी, भगवती चरण वर्मा, श्रीमती उर्मिला शास्त्री, श्रीमती सत्यवती मलिक, श्रीमती होमवती, डॉ० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी, श्री उदयशंकर भट्ट ।

खड़े हुए : *(प्रथम पंक्ति)*—श्री देवदत्त शास्त्री, श्री एस० एन० चतुर्वेदी, डॉ० नगेन्द्र । पाँचवें चन्द्रगुप्त जी, संतोष, डॉ० हरिवंशराय बच्चन, श्री व्रजमोहन गुप्त, श्री अज्ञेय ।

(द्वितीय पंक्ति)—श्री सरस्वती कुमार दीपक, श्री लक्ष्मीनारायण प्रेमी, डॉ० चन्द्रा, विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक' ।

काश्मीरी वसन्त ऋतु में डेज़ी फूलों के आँचल में कालेज की छात्रा संतोष ।

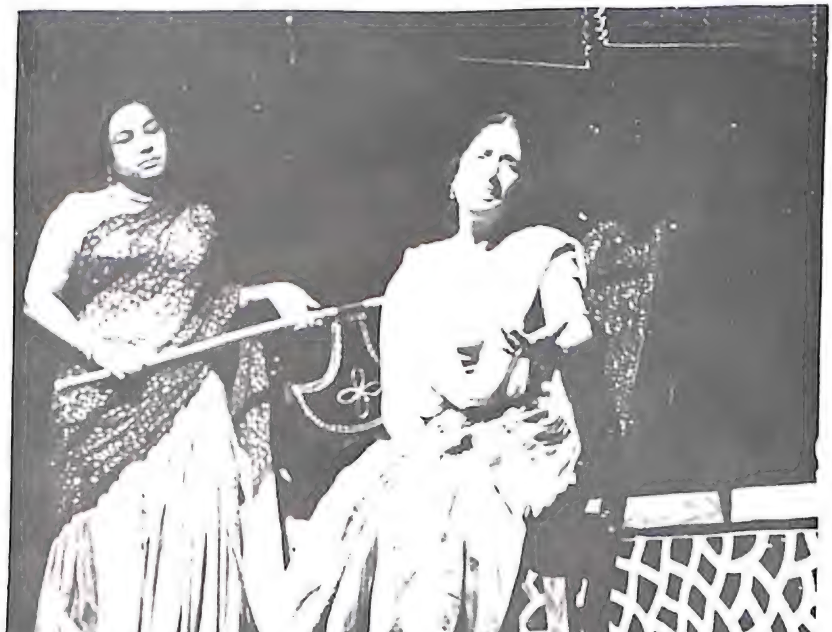

बम्बई में श्री बलराज साहनी द्वारा स्थापित पंजाबी कलाकेन्द्र के एक नाटक 'लूणा' में भाग लेते हुए संतोष साहनी (बैठी हुई)

समाज सुधारक आध्यात्मिक प्रकृति के आदरणीय पिता श्री चिरंजीव लाल
जिन्होंने सन्यास ग्रहण करने पर प्रेम भिक्षु का नाम पाया ।

स्वर्गीय कवयित्री बहन पुरुषार्थ— चन्द्रगुप्त विद्यालंकार जी की पहली पत्नी

[illegible] में समुद्रतट पर बेटी सनोबर के साथ । पृष्ठभूमि में मछियारों की बस्ती ।

सुप्रसिद्ध कवि फ़ैज अहमद फ़ैज साहेब के सम्मान में हुई पार्टी में
श्री फ़ैज अहमद फ़ैज, सनोबर साहनी, संतोष साहनी

संतोष साहनी द्वारा अनुवादित प्रसिद्ध रूसी नाटक 'इंस्पेक्टर जनरल' के पात्र
बाएँ से दाएँ——जगदीश फ़ारूकी, धवन, राजी सेठी (बैठी हुई) पीछे भगवान,
बलराज साहनी, सुदर्शन धीर और सन्तोष साहनी

शिमला में अवकाश के दिन (1985)

हिन्दी बुक सेंटर
आसफ अली रोड, नई दिल्ली-2

प्रचारक ग्रंथावली परियोजना
हिन्दी प्रचारक संस्थान
पो. बॉ. ११०६, पिशाचमोचन, वाराणसी-२२१००१
वेरोनिका प्रिंटर्स, वाराणसी